1.1

यतीन्द्र कुलतिलक आचार्य महामंडलेश्वर
अनन्त श्री विभूषित स्वामी विद्यानंद गिरिजी
का उपहार ·
२६·३·८३

श्री अभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतमाम्

श्रीकैलासविद्यालोकस्य एकत्रिंश (३१) सोपानः

बृहदारण्यकोपनिषत्

आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशाङ्करभाष्यसमेता

(द्वितीयो भागः)

'गोविन्दप्रसादिनी' टिप्पणी एवं 'कैलासविद्याप्रकाशक' क्रोडपत्र परिष्कर्ता विद्यावाचस्पति
महामण्डलेश्वर स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज

⁂

'विद्यानन्दीमिताक्षरा' व्याख्याकार वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्रीकैलासपीठाधीश्वर
महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज

⁂

'कुमुदतोषिणी' टीकाकार एवं सम्पादक
डॉ० उमेशानन्द शास्त्री
एम. ए., एल-एल. बी., पी. एच. डी., व्याकरणाचार्य

⁂

श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति, ऋषिकेश

प्रकाशक—
श्री कैलाश आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति
मुनि की रेती, ऋषिकेश (उ० प्र०)

भारत सरकार द्वारा उपलब्ध कराए गए रियायती दर के कागज़ पर मुद्रित

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन सुरक्षित

प्रथम संस्करण २२०० बसन्त पञ्चमी वि. सं. २०

—पुस्तक प्राप्ति स्थान—

१. श्री कैलास आश्रम मुनि की रेती, ऋषिकेश-२४९२०१
२. श्री कैलास आश्रम, उजेली, उत्तरकाशी-२४९१९३
३. श्री दशनाम संन्यास आश्रम, भूपतवाला, हरिद्वार-२४९४०१
४. श्री राम आश्रम, समानामण्डी, पटियाला-१४७१०१
५. श्री दक्षिणामूर्ति सं० म० विद्यालय, मिश्रपोखरा, वाराणसी-२२१००१
६. श्री चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी—२२१००१
७. श्री चौखम्बा विश्वभारती, चौक, वाराणसी-२२१००१
८. श्री मोतीलाल बनारसीदास, चौक, वाराणसी-२२१००१

मुद्रक—श्री कैलास विद्या प्रेस, श्री ब्रह्मानन्द आश्रम, मुनि की रेती, ऋषिकेश (उ०प्र०)

प्राक्कथन

श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति की ओर से प्रकाशित बृहदारण्यकोपनिषत् का द्वितीयभाग वेदान्त जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें गौरव अनुभव हो रहा है। इससे पूर्व के प्रथम भाग में बृहदारण्यकोपनिषत् के प्रथम दो अध्याय हो रखे गए थे। मधुकाण्ड में वर्णित दुरूह विषयों को टिप्पणी, क्रोडपत्र, 'मिताक्षरा' एवं "कुमुदतोषिणी" टीका के माध्यम से समझाकर जहाँ हम अपनी संस्कृति के प्रामाणिक स्रोतभूत ग्रन्थों की सुरक्षा कर पाये हैं, वहाँ पाठकों को भी इससे पर्याप्त सतुष्टि हुई है। द्वितीय भाग के लिए हमारे पास बहुत से पाठकों की माँग आती रही। भगवान् विश्वनाथ की अहैतुकी कृपा से सब कठिनाइयों को पार कर अब यह भाग भी प्रकाशित हो पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हैं।

इस द्वितीय भाग में बृहदारण्यकोपनिषत् के तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम एवं षष्ठ अध्याय इन चार अध्यायों का समावेश किया गया है। तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय का नाम याज्ञवल्कीय काण्ड है तथा पञ्चम एवं षष्ठ अध्याय का नाम खिलकाण्ड भी है। यद्यपि प्रथम एवं द्वितीय अध्याय अर्थात् मधुकाण्ड आगम प्रधान हैं तो भी वहाँ दुन्दुभ्यादि दृष्टान्त द्वारा यत्र-तत्र उपपत्ति मार्ग से तत्त्वनिर्णय किया है; जबकि याज्ञवल्कीय काण्ड उपपत्ति प्रधान है। जल्पकथारूप तृतीय अध्याय में प्रथम से नवम ब्राह्मण पर्यन्त अधिकारी भेद से सगुण एवं निर्गुणब्रह्म का निरूपण किया गया है। आदिशङ्कराचार्य सोपाधिक ब्रह्म निरूपण प्रसङ्ग में भी बीच-बीच में मुख्य मोक्ष के लिए उद्बोध कराते रहते हैं किन्तु त्वमर्थशुद्धि के लिए उसके विधान का भी अपना महत्त्व है। क्योंकि मुनिकाण्ड में प्रमाणानुग्राहक तर्कपूर्ण युक्तियों द्वारा सिद्धान्त पक्ष को बारम्बार स्थापित करना है, इसलिए भगवान् शङ्कराचार्य उस समय के बहुचर्चित मत-मतान्तरों को प्रस्तुत मार्मिक युक्तियों द्वारा उसका निराकरण कर स्वपक्ष स्थापन करते हैं। मोक्षविषयक चर्चा में उन्हें अशास्त्रीय बात बिल्कुल पसन्द नहीं है। एक स्थल पर वे लिखते हैं—

"सर्वमेतदेवमबार्हदारण्यकम्। ननु सर्वैकत्वं मोक्षः "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" इति श्रुतेः। बाढं भवत्येतदपि, न तु "ग्रामकामो यजेत पशुकामो यजेत" इत्यादिश्रुतीनां तादर्थ्यम्। यदि ह्यद्वैतार्थत्वमेवाऽऽसां ग्रामपशुस्वर्गाद्यर्थत्वं नास्तीति ग्रामपशुस्वर्गादयो न गृह्येरन्गृह्यते तु कर्मफलवैचित्र्यविशेषाः। यदि च वैदिकानां कर्मणां तादर्थ्यमेव संसार एव नाभविष्यत्"।

(बृ. उ. शा. भा. ३।२।१ पृ. ७०८)

टिप्पणकार एवं क्रोडपत्रपरिष्कर्ता स्वामी विष्णुदेवानन्द जी महाराज ने अधिकांश प्रकरणों का ब्रह्मसूत्र, वार्तिक एवं अन्य उपनिषदादि ग्रन्थों का उद्धरण देकर विशदता से समझाने का विद्वत्तापूर्ण प्रयास किया है। इनके अर्थों का मनन करने से एक अलौकिक आनन्दानुभूति होती है एवं ग्रन्थ-ग्रन्थि-भेदन सहज होता चला जाता है।

चतुर्थ ब्राह्मण में उषस्त चाक्रायण मुनि याज्ञवल्क्य को कहते हैं कि आप ब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन कराने की कृपा कीजिए। उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम अन्तःकरणादि की वृत्तिरूप दृष्टि के द्रष्टा को घटादि के समान नहीं देख सकते। शङ्कराचार्य इस प्रसङ्ग में द्विविध दृष्टियों की कल्पना करते हैं; लौकिकी एवं पारमार्थिकी। लौकिकी दृष्टि बनाई जाती है, इसलिए उसकी उत्पत्ति एवं विनष्टि

होती रहती है, स्वरूपभूता दृष्टि पारमार्थिकी है। लौकिक दृष्टि अपने को प्रकाशित करने वाले प्रत्यगात्मा को प्रकाशित नहीं कर सकती। इसलिए उस दृष्टि के प्रकाशयिता प्रत्यगात्मा को तुम नहीं देख सकते। दृष्टयादिसाक्षी स्वभाव होने के कारण उसे गो आदि के समान प्रत्यक्ष नहीं दिखलाया नहीं जा सकता। इसका वार्तिककार ने बाइस वार्तिकों द्वारा विशद विवेचन किया है (पृ. ७८३-७८६)।

पञ्चम ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य कुषीतक के पुत्र कहोल के प्रति ब्रह्मतत्त्व की मीमांसा करते हैं। यह आत्मा क्षुधा-पिपासा, शोक-मोह, जरा और मरण से रहित है। उस आत्मा को अपरोक्ष रूप से जानकर ब्राह्मण लोग एषणात्रय को त्यागकर भिक्षाचर्या करते हैं। इस प्रकरण में शङ्कराचार्य जी ने भर्तृप्रपञ्च व मीमांसकों के दुराग्रहों को प्रस्तुत कर शास्त्रीय समन्वयात्मक दृष्टि इस प्रकार प्रतिपादित की है—

"न च विद्याविद्ये एकस्य पुरुषस्य सह भवतो विरोधात्तमःप्रकाशाविव। तस्मादात्मविदोऽविद्याविषयोऽधिकारो न द्रष्टव्यः क्रियाकारकफलभेदरूपः। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति' इत्यादि निन्दितत्वात्।...यानि पारिव्राज्येऽभिहितानि वचनानि यज्ञोपवीत्येवाधीयीतेत्यादीनि तान्यविद्वत्पारिव्राज्यमात्रविषयाणीति परिहृतानि"।

(बृ उ. शा. भा. ३-५-१)

अष्टम ब्राह्मण में अक्षरतत्त्व की मीमांसा की गई है। इसमें परिमाण, महाभूत, प्राण, नाम, अन्वय कारकादि का निषेध कर ब्रह्म की पूर्णता एवं कृत्स्नता प्रदर्शित की है। श्रुति से सिद्ध होने पर भी अनुमान प्रमाण द्वारा इसे निरूपित किया जाता है। शङ्कराचार्य जी के शब्दों में—

"यथा राज्ञः प्रशासने राज्यमस्फुटितं नियतं वर्तत एवमेतस्याक्षरस्य प्रशासने हे गार्गि... सूर्याचन्द्रमसावहोरात्रयोर्लोकप्रदीपौ तादर्थ्येन प्रशासित्रा ताभ्यां निर्वर्त्यमानलोकप्रयोजनविज्ञानवता निर्मितौ विधृतौ च स्यातां साधारणसर्वप्राणिप्रकाशोपकारकत्वाल्लौकिकप्रदीपवत्"।

(बृ. उ. शा. भा. ३-८-९ पृ० ८६४)

तृतीय अध्याय के अन्त में "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" श्रुति की व्याख्या करते हुए 'आनन्द' शब्द पर विस्तृत विचार किया गया है। देह और इन्द्रियों का अभाव होने पर (आगन्तुक ज्ञान के अयोग के कारण विज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि कहो कि नित्य, अविलुप्त दृग्रूप होने के कारण परब्रह्म अपने आनन्दात्मक स्वरूप को सभी अवस्थाओं में जानता रहता है; तो ऐसा कहना नहीं बनता क्योंकि संसारी जीव भी संसार से विनिर्मुक्त होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। इसलिए "विज्ञानमानन्दम्" यह श्रुतिवाक्य यथास्थित वस्तु के स्वरूपबोधन में तत्पर है, आत्मानन्द का संवेद्यत्व बतलाने में इसका तात्पर्य नहीं है।

चतुर्थ अध्याय में छः ब्राह्मण हैं। प्रथम ब्राह्मण क्रममुक्ति, द्वितीय ब्राह्मण जाग्रदादि युक्ति द्वारा प्रत्यगात्मनिर्णय, तृतीय ब्राह्मण परलोक एवं मोक्ष का निदर्शन, चतुर्थ ब्राह्मण दार्ष्टान्तिक वस्तु प्रतिपादन, पञ्चम ब्राह्मण बोध के साधन, षष्ठ ब्राह्मण वंश निरूपण विषय को प्रद्योतित करता है। यह अध्याय राजा जनक एवं मुनि याज्ञवल्क्य के संवाद से प्रारम्भ होता है। इसी प्रकरण में षडाचार्यप्रोक्त वागादि के उपासना ज्ञान के साधन के रूप में वर्णित है।

तृतीय ब्राह्मण में एक स्थल पर जनक याज्ञवल्क्य से पूछते हैं—वाणी शान्त होने पर कौन सी ज्योति रहती है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—आत्मा ही रहता है। वह ज्योति कार्य और कारण से व्यतिरिक्त है, वह आत्मज्योति आदित्यादि ज्योति की तरह चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्रहण नहीं की जा सकती। इसी ब्राह्मण में प्रसङ्गवश भर्तृप्रपञ्च मत, बाह्यार्थवाद, क्षणभङ्गवाद, विज्ञानवाद आदि मतों का युक्ति-उपयुक्तियों द्वारा खण्डन किया गया है। इसमें टिप्पणकार एवं क्रोडपत्र परिष्कर्ता

स्वामी जी महाराज की व्याख्या विशेषरूप से मनन करने योग्य है भाष्य के जिन स्थलों को आनन्दगिरि टीका सविस्तर नहीं कह पाती, उमे यहाँ स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

चतुर्थाध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में मरणासन्न जीव की दशा बतलाकर शरीरान्तर गमन को दृष्टान्तों के द्वारा समझाते हुए 'तत्त्वज्ञानी का उत्क्रमण नहीं होता'—यह स्पष्ट किया गया है। इस ब्राह्मण में सुरेश्वराचार्य जी के वार्तिकों का पर्याप्त उपयोग किया है, साथ में टिप्पणकार ने शास्त्र-प्रकाशिका टीका को भी लेकर वेदान्त तत्त्व के जिज्ञासुओं एवं शोधकर्ताओं के लिए महान् उपकार किया है। प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की तरह चतुर्थाध्याय का चतुर्थ ब्राह्मण भी सम्पूर्ण बृहदारण्यकोपनिषत् का प्राण है। इसमें शङ्कराचार्य जी ने अद्वैत वेदान्त के ज्वलन्त विषयों को, जिन पर अन्य द्वैतमतावलम्बी सदा प्रहार करते रहे हैं, शास्त्र एवं तर्क द्वारा सूक्ष्मेक्षिकया सविस्तर विशद विवेचन किया है। एक स्थल पर अद्वैत के प्रति सुदृढ़ निष्ठा की अभिव्यक्ति करते हुए भाष्यकार लिखते हैं—

"यस्मात्कामयमान एवैवं संसरत्यथ तस्मादकामयमानो न क्वचित्संसरति। ....यस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येच्छृणुयान्मन्वीत विजानीयाद्वे वं विजानन्कं कामयेत। ज्ञायमानो ह्यन्यत्वेन पदार्थः कामयितव्यो भवति। न चासावन्यो ब्रह्मविद आप्तकामस्यास्ति।......न हि यस्याऽऽत्मैव सर्वं भवति तस्यानात्मा कामयितव्योऽस्ति। अनात्मा चान्यः कामयितव्यः सर्वं चाऽऽत्मैवाभूदिति विप्रतिषिद्धम्। सर्वात्मदर्शिनः कामयितव्याभावात्कर्मानुपपत्तिः"।

(बृ. उ. शा. भा. ४-४-६ पृ. १२१३-१५)

'द्वैतदर्शी की स्थिति कल्याणकारक नहीं' इस प्रसङ्ग में शङ्कराचार्य जी दृढतापूर्वक कहते हैं कि अविद्याजनित अध्यारोप से भिन्न परमार्थतः द्वैत नहीं है क्योंकि ब्रह्म में द्रष्टृद्रष्टव्यादि भाव से नानात्व भेद नहीं है—

"तत्र च दर्शनविषये ब्रह्मणि नेह नानास्ति किंचन किंचिदपि। असति नानात्वे नानात्वमध्यारोपयत्यविद्यया। स मृत्योर्मरणान्मृत्युं मरणमाप्नोति। कोऽसौ। य इह नानेव पश्यति। अविद्याध्यारोपणव्यतिरेकेण नास्ति परमार्थतो द्वैतमित्यर्थः"।

(बृ. उ. ४।४।१९ पृ. १२६१-६२)

प्रकरणवशात् शङ्कराचार्य जी एक स्थल पर आग्रहपूर्वक स्पष्ट करते हैं कि सोपाधिक ब्रह्म ध्यान से मात्र अभ्युदय प्राप्ति होती है, कैवल्य पद तो निरुपाधिक ब्रह्मज्ञान से ही मिलता है। वह ब्रह्म महान् अजन्मा है, जीर्णता या विपरिणाम को नहीं प्राप्त होता है, जन्मादि विकारों से वर्जित है, सब ओर व्याप्त है एवं अभयस्वरूप है।

बृहदारण्यक उपनिषत् के पञ्चम एवं षष्ठाध्याय को खिलकाण्ड की सञ्ज्ञा दी गई है। पूर्व-अनुक्त परिशिष्ट खिलशब्दवाच्य है, वस्तुतः निरुपाधिक, किन्तु अविद्या द्वारा सोपाधिक आत्मा की उन (त्रिविध) उपासनाओं, का जो पहले वर्णन नहीं की गई हैं, जो कर्म की समृद्धि के लिए हैं, प्रकृष्ट अभ्युदय को साधन तथा क्रम मुक्ति की प्रापिका हैं; उनका इसमें वर्णन है। क्योंकि प्राणी की द्वैत में प्रारम्भ से ही मिथ्यात्व बुद्धि नहीं होती, इसलिए ऐसे पुरुष को शास्त्र पहले कर्मकाण्ड रूप साधन का उपदेश करता है। उसके पश्चात् कैवल्य स्थिति के इच्छुक मुमुक्षु के लिए श्रुति ब्रह्मविद्या का उपदेश करती है। दान्त, निर्लोभी और दयालु होने पर ही साधक का सब उपासनाओं में अधिकार होता है। सोपाधिक ब्रह्म की उपासनाएँ अभ्युदयफलक हैं।

षष्ठाध्याय प्रथम ब्राह्मण में प्राणविषयक उपासना का वर्णन हैं। वागादिकों से प्राण ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ है; इसे एक रोचक आख्यायिका द्वारा सुन्दर ढंग से समझाया गया है।

बृहदारण्यकोपनिषत् षष्ठाध्याय के द्वितीय ब्राह्मण में पञ्चाग्निविद्या का निरूपण है। पञ्चाग्नि नवम मन्त्र में इस प्रकार वर्णित है—

"असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्याऽऽदित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवति"।

सर्ग के आरम्भ में प्रलयवास्था में भी अत्यन्त सूक्ष्मरूप से अग्नि अग्नित्व रूप से, समिध् समित्त्व रूप से, धूम धूमत्व रूप से, अङ्गार अङ्गारत्व रूप से, विस्फुलिङ्ग विस्फुलिङ्गत्व रूप से, आहुतिद्रव्य आहुतिद्रव्यत्व रूप से स्थित रहते हैं। शङ्कराचार्य जी के अनुसार—

"एवमग्निहोत्राहुत्यपूर्वविपरिणामात्मकं जगत्सर्वम्...इह तु कर्तुः कर्मविपाकविवक्षायां द्युलोकाऽग्न्याद्यारभ्य पञ्चाग्निदर्शनमुत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनं विशिष्टकर्मफलोपभोगाय विधित्सितम्"।

पञ्चाग्निविद्या में यजमान के शरीरवर्ती जो वागादि प्राण हैं, जाग्रदवस्था में अग्निहोत्र के ऋत्विक्स्थानीय होते हैं, वही आध्यात्मिक रूप से परिणत होकर इन्द्रादि होते हैं, वे ही द्युलोकाग्नि में हवन करने वाले हैं। अग्निहोत्र क्रिया का आश्रयभूत दुग्धरूपद्रव्य अपूर्व सूक्ष्म रूप में परिणत हो धूमादिक्रम से उस अन्तरिक्षलोक में और फिर द्युलोक में प्रवेश करता है। श्रद्धा शब्द वाच्य 'आप' (जल) द्युलोक में प्रविष्ट होकर सोम मण्डल में कर्ता का शरीर आरम्भ करते हैं। जो इस पञ्चाग्निविद्या को जानता है, वह अतिशय दीप्ति युक्त होता है। इसी पञ्चाग्निविद्या का वर्णन छान्दोग्य उपनिषत् के पञ्चमाध्यायस्थ चतुर्थ, पञ्चम एवं अष्टम ब्राह्मण में किया गया है।

बृहदारण्यकोपनिषत् के षष्ठाध्यायस्थ तृतीय एवं चतुर्थ ब्राह्मण में वित्तमन्थ एवं पुत्रमन्थविद्या का वर्णन है। लौकिक अभ्युदय के लिए इन शास्त्रीय प्रयोगों का सावधानीपूर्वक अनुष्ठान करने से अभीष्ट मनोकामना की पूर्ति हो जाती है; इसमें सन्देह नहीं। इनकी एवं पञ्चाग्निविद्या की समुचित जानकारी के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों एवं गृह्यसूत्रों का अवलोकन करना आवश्यक है। इस पर स्वतन्त्र रूप से शोध निबन्ध लिखे जाने की उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन का श्रेय श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति के अध्यक्ष एवं कैलासपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्त श्री विभूषित स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज को है; जिनके सत्यसंकल्प से एवं प्रकाशन कार्य को सर्वोच्च वरीयता देने के कारण ही यह दुर्लभ ग्रन्थ प्रकाश में लाया जा सका। इस ग्रन्थ के सम्पादन में एक वर्ष का समय लगा। इतने अल्प समय में इस बृहत् कार्य की पूर्ति भगवती मन्दाकिनी की कृपा एवं गुरुजनों के आशीर्वाद से संभव हो पाई। जिन महापुरुषों, विद्वानों ने अपने अमूल्य समय में से कुछ समय निकालकर इस ग्रन्थ के लिए शुभाशंसा सम्मतियाँ आदि लेख लिखे हैं, श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति उनके लिए हृदय से आभार अभिव्यक्त करती है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन एवं मनन से वेदान्तप्रेमियों को तत्त्वावबोध एवं ब्रह्मात्मैक्यदर्शन की दिशा में समुचित प्रेरणा मिलेगी। इससे निश्चित ही अद्वैत गरिमा की रक्षा होगी एवं इसका उत्तरोत्तर विकास होगा। ॐ शम्। श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

श्रीसद्गुरुधाम
चाँदनी, जालौन (उ० प्र०)
२७-१२-१९७९

भगवदीय
डॉ० उमेशानन्द शास्त्री

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ निरञ्जनपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्तश्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज की शुभाशंसा

भारतीय संस्कृति का उद्गम वेदों से है एवं दर्शन भाग का उद्गम वेदों के उपनिषद् भाग से है। उपनिषद् को ही ज्ञानकाण्ड कहा जाता है। यद्यपि उपनिषदों की संख्या अनिर्णीत है परन्तु ब्रह्मसूत्र के अन्दर भगवान् वेदव्यास ने जिन उपनिषदों का निचार किया, है उनकी संख्या पंद्रह या सोलह है। अतः दार्शनिक दृष्टि से यही प्रामाणिक उपनिषदें स्वीकार की जाती हैं। दूसरे शब्दों में इनको श्रौत-प्रस्थान कहा जाता है जबकि अन्य उपनिषदों को स्मार्त-प्रस्थान के अन्तर्गत माना जाता है। उपनिषदों में न केवल शब्दशः वरन् अर्थगाम्भीर्य की दृष्टि से भी बृहदारण्यक उपनिषद् सबसे बड़ी है। इसके प्रधान वक्ता याज्ञवल्क्य हैं। भगवान् सुरेश्वराचार्य के शब्दों में यह उपनिषद् "सकलाम्नायार्थसंशोधनीय" है। अर्थात् इसमें सारे ही वेदों के तात्पर्य का सम्यक् रूपेण निरूपण किया गया है। इसीलिये इस उपनिषद् का अत्यधिक माहात्म्य है।

प्रस्तुत संस्करण में उपादेय स्थलों पर तत्तद् वार्तिकों का संग्रह करके पाठक को अत्यन्त सहूलियत कर दी गई है कि वह भाष्य के उन अंशों को भली प्रकार वार्तिक के प्रकाश में अवगत कर सके। कई स्थलों पर व्याकरण इत्यादि की दृष्टि से भी टिप्पणी में सहायक संकेत मिलते हैं जिनसे दुर्गम वाक्य की रचना भी सुस्पष्ट हो जाती है। कई स्थलों में टिप्पणी में अति आवश्यक और अन्यत्र सुविधा से अनुपलब्ध संकेत भी इस का वैशिष्ट्य है।

हमारे परम प्रिय महामण्डलेश्वर श्री १००८ स्वामी विद्यानन्द गिरि जी ने इस प्रकाशन कार्य को हाथ में लेकर अद्वैत वेदान्त के ऊपर अत्यन्त कृपा की है। तथा हमें आशा है कि वह, अन्य जितने ग्रंथ हैं, उनकी भी श्री १००८ महामण्डलेश्वर स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज द्वारा लिखित टिप्पणियों का प्रकाशन करके इस कार्य को पूरा करेंगे। भगवान् विश्वनाथ से प्रार्थना है कि वह इन उद्भट विद्वान् की प्रतिभा का अतिदीर्घ काल तक आस्तिक समाज को लाभ देते रहें।

हरिद्वारस्थगुरुमण्डलपीठाधीश्वर श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महामण्डलेश्वर श्री १०८ श्री स्वामी रामस्वरूप जी महाराज वेदान्ताचार्य की शुभाशंसा

बृहदारण्यकगेयात्मा दण्डकारण्यचारितां प्राप्य बृन्दाटवीं रेमे स्तुमः आरण्यकीं श्रियम् ॥
कैलाशक्रोडसम्भूता क्रोडपत्रसुरापगा। विष्णुदेवकृपापूर्णा तूर्णमभ्यर्णतामियात् ॥
परा विद्या परे क्षेत्रे कैलाशाधित्यकामये। विद्यानन्दमयानन्दममन्दं विन्दते जगत् ॥

क्रियाप्रधान यजुर्वेद के काण्वशाखा शतपथ ब्राह्मण के परिशिष्ट षडध्यायी स्वरूप बृहदारण्यक उपनिषत् (जो ऋषीकेशस्थ कैलाश आश्रम से प्रकाशित है) मेरे सम्मुख है।

विद्वद्धौरेय कैलाश के वर्तमान पीठाधीश्वर एवं उन से पूर्व विद्वद्वर पुण्यश्लोक महाराज श्री विष्णुदेवानन्द जी की वेदान्तनिष्ठा तथा नित्य स्वाध्यायाध्यापन प्रणाली का स्मरण कर हृदय-गद्गद हो जाता है। "नयेद्वेदान्तचिन्तया" का अक्षरशः पालन इस पुनीत प्रतिष्ठान का कीर्त्तिध्वज है।

कर्म, उपासना, ज्ञान के बृहद् वन में भ्रान्त एवं क्लान्त पथिक को सानुवाद एवं सटिप्पण बृहदारण्यकोपनिषत् की उपलब्धि ऋषि गोमुख से गङ्गा की उपलब्धि उसके पुरातन पुण्य की परिचायिका है।

"महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः" इस प्राक्तन कथनानुसार अश्वमेधादि कर्मानुष्ठान परिनिष्ठित विचारवान् व्यक्ति "आत्मन्यग्नीन् समारोप्य" के क्रमानुसार उच्च मनोभूमिका में आध्यात्मिक अश्वमेधानुष्ठान द्वारा ब्राह्मी भाव को अधिगत करता है। ऋषिकाण्ड में पवित्र वक्ता के रूप में आचार पूत याज्ञवल्क्य महर्षि की भूमिका एवं श्रोता के रूप में ज्ञात ज्ञेय विदेह जनक की भूमिका अद्वैतोपलब्धि में "आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा" का सिंहावलोकन कराती है।

कैलाश कीर्तिध्वज के ब्रह्माण्डच्छत्रदण्डस्वरूप विद्वन्मूर्धन्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द जी महाराज द्वारा कैलाश शताब्दी महोत्सव के दिव्य प्रसाद रूप इस ग्रन्थरत्न का हिन्दी संस्करण सहित प्रकाशन वास्तव में स्तुत्य एव श्लाघनीय है। सुन्दरे किं न सुन्दरम्।

●

सम्मतिवचांसि

तत्राखिलानर्थमूलमूलाविद्याविनिवर्तकाखण्डब्रह्मसाक्षात्कारसाक्षात्कारणोपनिषद्रूपप्रमाणमिति समामनन्ति मनीषिणः। किन्तु तादृशीनामप्युपनिषदामतिगभीराणामापाततोऽन्यथार्थग्रहणेनानर्थं नाप्नुयाल्लोकः श्रेयसश्च न प्रतिहन्येतेति धिया व्यासशङ्करमण्डनमिश्रवाचस्पतिमिश्रकल्पतरुतत्परिमलकृच्छ्रीमधुसूदनसरस्वतीश्रीब्रह्मानन्दस्वामिचरणप्रभृतिभिराचार्यैरुपनिषदां परमं तात्पर्यमाविष्कृतम्। "यावन्नोपपन्नं तावत्सर्वं कल्प्यमिति" न्यायमाश्रित्य तात्पर्यानवबोधविजृम्भितानामवबोधेऽपि "वादी भद्रं न पश्यतीति" न्यायेन वा परप्रदत्तदोषाणां निराकरणपूर्वकपरमतात्पर्यप्रकाशनतात्पर्येणोत्तरोत्तराचार्यैः परिष्काराविष्कारैर्वेदान्तशास्त्रस्य परमं प्रामाण्यं प्रतिष्ठापितम्।

तस्यामेव परम्परायां महामण्डलेश्वरा विद्यावाचस्पतयः श्रीमन्तो विष्णुदेवानन्दगिरिमहाराजा वेदान्तसिद्धान्तप्रचारका उपदेशका अध्यापनचणाश्चासन्निति जानन्ति विज्ञाः। पूर्वं मया तेषां परिष्काराः क्रोडपत्रापराभिधेया आसन् माण्डूक्योपनिषदि दृष्टाः। तत्र च मया कानिचिद्वचांसि सम्मतिरूपेण प्रदाय पावितानि। साम्प्रतं बृहदारण्यकोपनिषदुपरि तेषां परिष्कारानवेक्ष्य नितरां मोदते मनः। श्रीमद्भगवत्पादीयं भाष्यं तदुपरि वार्तिकं भाष्यभावाभिप्रायप्रकाशकमानन्दगिरिव्याख्यानञ्चेति सर्वमतिगम्भीरमित्यत्र न संशयः। तेषु सर्वेषु व्याख्यानेषु सत्स्वपि परिष्कारा न वैयर्थ्यसरणिमाश्रयन्ते, यतो हि "सतां प्रज्ञोन्मेषः पुनरयमसीमा विजयते" इति न्यायेन तत्र तत्र जायमानानां शङ्कानां समाधानाय परिष्काराश्रयणमन्तरा कोऽपि नावेक्ष्यतेऽपर उपायः। अतो नितरामपेक्षितानां समाधानानामाधानाय श्रीमद्भिः श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठैर्विष्णुदेवानन्दगिरिमहाराजैर्महानुपकारो विहितः परिष्कारान् विलिख्य।

वेदान्तसर्वदर्शनाचार्ययतीन्द्रकुलतिलकश्रीकैलासपीठाधीश्वरमहामण्डलेश्वरस्वामिविद्यानन्दगिरिमहाराजैः कृता "विद्यानन्दीमिताक्षरा" यथानामगुणा कस्य न मोदमाधत्ते तत्रैव डॉ० उमेशानन्दशास्त्रिणा कृता "कुमुदतोषिणी" कथञ्चित्तोषमासादयति।

डॉ० देवस्वरूपमिश्रः
आचार्य एवं अध्यक्ष
वेदान्त विभाग

वाराणसी-२
१३-११-७६

❀ कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ❀

विश्वविश्रुत नैयायिकवर्य पण्डितराज श्रीराजेश्वर शास्त्रीजी द्रविड के वरिष्ठ शिष्य नैयायिकप्रवर श्री हेब्बार शास्त्रीजी की विलक्षण दृष्टि पूर्ण

❀ शुभ सम्मति ❀

बृहदारण्यकोपनिषत् एक बहुत ही विस्तृत उपनिषद् है। उसमें कौन सा विषय आलोचित नहीं है; केवल आधिदैविक आध्यात्मिक ही नहीं, आधिभौतिक का भी सम्यगालोचन है। भाष्यकार लिखते हैं कि —"एतेनाशास्त्रीयप्रज्ञातपोभ्यां स्वाभाविकाभ्यां जगत्स्रष्टृत्वमुक्तमेव भवति। स्थावरान्तस्य चानिष्टफलस्य कर्मविज्ञाननिमित्तत्वात्" (पृ० ३३७)। इससे आधुनिक सृष्ट वैज्ञानिक जगत् का स्थान और मूल्य स्पष्ट हो जाता है कैसे ? देखें—

यह भाग "सप्तान्नब्राह्मण" नाम से प्रसिद्ध है। इसमें जिस प्रकार सूत्रात्मा "यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता" कहा गया है। उसी प्रकार प्रत्येक जीवात्मा भी पूर्वकल्पीय (किसी न किसी पूर्वजन्मीय विहित-प्रतिषिद्ध ज्ञानकर्मानुष्ठान के द्वारा सर्व जन्तु अपने-अपने उत्तर-जन्म के संसार के लिये पिता ही होता है—कहा है। अर्थात् उसी के कर्मविज्ञान से तदनुरूप उसका संसार सृष्ट होता है। यही बात "यथा च स्वकर्मभिरेकैकेन सर्वभूतैरसौ लोको भोज्यत्वेन सृष्टः एवमसावपि जुहोत्यादिपाङ्क्तकर्मभिः सर्वाणि भूतानि सर्वं च जगदात्मभोज्यत्वेनासृजत। एवमेकैकः स्वकर्मविद्यानुरूप्येण सर्वस्य जगतो भोक्ता भोज्यं च सर्वस्य सर्वः कर्ता कार्यं चेत्यर्थः" पृ० ३३३ में निरूपित है।

मैं विज्ञान शब्द से यहाँ भ्रान्ति प्रतिपादन नहीं कर रहा हूँ। अन्यत्र "धीः विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः" कोशानुसार ही कर रहा हूँ। इस पर यदि प्रश्न हो कि वेद को आधुनिक वैज्ञानिक जगत् की सृष्टि मालूम कहाँ थी ? यदि थी तो क्यों नहीं सृष्टि कर दिखलाई ? तो यही बात यहाँ पर समझायी गयी है कि "एवमसावपि" इत्यादि। अर्थात् सूत्रात्मा प्रजापति (उसका भी स्रष्टा सर्वेश्वर) सदा सृष्टि, स्थिति, लयकर्ता पिता सबका ही है। उनके सृजन से ही प्रत्येक जीवात्मा अपने-अपने हिसाब से अपने-अपने संसार की सृष्टि और भोग पुनः-पुनः करता जन्मता-मरता है। इस प्रकार सर्व सृष्टिकर्ता को सब कर्मविज्ञान सिद्ध कहा है सदा उसका सृष्टि, स्थिति, संहार चक्र चलाता रहता है। यही बात यहाँ पर कही गयी है। उस सृष्टिकर्ता परमेश्वर का ज्ञान ही वेद है। "यो ब्रह्माणं विदधामि पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति यस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" अन्यत्र वेद कहता है। "शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" ब्रह्मसूत्र देवताधिकरण में भी यह बात आलोचित है। प्रजापति या परमेश्वर सब सृष्टि का प्रति क्षण कर्ता पिता है। "सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे"—मनु कहते हैं। यदि पूछो कैसे, तो यह ब्रह्माण्ड और पिण्डाण्ड सर्व वैज्ञानिक सृष्टि का प्रत्यक्ष उदाहरण है। कौन वैज्ञानिक यन्त्र उसमें कार्य कर नहीं रहा है। उसको थोड़ा बहुत अपने संस्कारानुरूप निरीक्षण अवलोकन कर कोई कुछ कर पाता है। इतने से क्या वह असिद्ध हो जायगा। इस प्रकार सृष्टिकर्ता की प्रत्यक्ष सृष्टि होते हुये भी तुम को नहीं दीखती हो तो कहना पड़ता है कि "नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति"।

विज्ञान-विज्ञान कहकर विभीषिका क्या है। कार्य-कारणभाव के ज्ञान ही को विज्ञान कहते हैं। वे भिन्न-भिन्न स्तर के भिन्न-भिन्न हैं; सात्त्विक, राजस, तामस। उदाहरणतया बछड़े के द्वारा पेन्हाकर दूध दुहा जाता है। वह दुहने का सात्त्विक विज्ञान है। वही कन्हैया को तथा वेद को प्रिय मान्य है। स्नेह और स्तन को कुछ लगाकर यों हाथ से मलते-मलते पेन्हाना राजस है। जुलाब की दवा की तरह दूध के जुलाब की सुई टोचकर, या बछड़े के चमड़े में भूसा-घास आदि भरकर पेन्हाना तामस विज्ञान है। तीनों में दुग्ध के गुणों में महदन्तर है। इसलिये इष्टानिष्ट फलस्वरूप राजस तामस है। वेद और वैदिक कर्मों में सात्त्विक विज्ञान ही देव मान्य है। यद्यपि उनमें भी तारतम्य भाव है। आध्यात्मिक विज्ञान ही शुद्ध सात्त्विक है जो प्रकृत उपनिषत् में प्रस्तुत है। इस प्रकार वेद सर्व कर्म-विज्ञान का भी आलोचक है; जंगली गीत नहीं है। शास्त्रीय अशास्त्रीय इष्टफल अनिष्टफल सब का आलोचक प्रधान सृष्टिकर्ता का ज्ञान ही वेद विषय करता है; अधूरा वैज्ञानिक जगत् चालक नहीं है।

बहुत क्यों? मन्वादिकों ने भी अशास्त्रीय कर्मविज्ञान के संबन्ध में निषेध कर हानिकरत्व बतलाया है। अत एव "महायन्त्रप्रवर्तनं, सर्वाकरेष्वधीकारः, असच्छास्त्राधिगमनम्," इत्यादि को पातकों में गिनाया है। यदि पूछो कि मन्वादिकों ने आधुनिक कर्मविज्ञान को भी जानते हुए निषेध किया है तो कर दिखायें क्यों नहीं, कर दिखलाना चाहिये था। तो जड़ सृष्टि और स्थावरान्त सृष्टि कर ही रहे हैं; अलग करने की क्या आवश्यकता है। उसी स्तर के जीवों को दीखता ही है। टीपात्र से बाष्प यन्त्र की ओर फल गिरने से न्यूटन की दृष्टि बनी, इत्यादि इतिहास ही है। अनेक अद्भुत यन्त्र रचना, ब्रह्माण्डादि-रचना एवं शरीर-रचनाओं में गर्भित दृश्य हैं। बायोनिक्स जो आधुनिक विज्ञान की एक (राडार आदि अविष्कारक) शाखा है, वह पशु आदि स्थावरान्त के निरीक्षण से ही सिद्ध होती है। इन्हीं लोकव्यवहारों के निरीक्षण से दत्तात्रेय ने चौबीस गुरुओं के नाम से इन्हीं व्यवहारों से अध्यात्मक क्षेत्र के विज्ञानसंबन्धी शिक्षा ली कही है। जो जीव जैसे कर्मविज्ञान संस्कारों से वासित है; उसको वही दीखता सूझता है। तिस पर भी सर्वब्रह्माण्ड, पिण्डाण्ड कर्ता के अतिरिक्त मन्वादिकों को भी कर दिखलाना चाहिये तो क्या निषेध करने वाले को कर दिखलाना चाहिये, चोरी मत करो, डकैती मत करो, व्यभिचार मत करो, किसी की वृथा हिंसा मत करो, पर पीड़ा न करो इत्यादि कहा तो क्या उसे कर दिखाना चाहियें; नहीं तो अज्ञान है, यही आप का विज्ञान है! इसीलिये ही क्या सारे संसार में स्वीकृति से आधुनिक वैज्ञानिक सृष्टि के द्वारा अनर्थ और अशान्ति फैला रहे हैं! मैं पूछता हूँ कि तुम को क्या मालूम कि मन्वादिकों ने कर नहीं देखा। तुम को कर दिखाकर तुम्हारा सर्टिफिकेट लेने के लिये तुम कौन होते हो। धारेश्वर राजा भोज अपने समराङ्गणसूत्रधार के यन्त्राध्याय में कहते हैं—

'यन्त्राणां घटना नोक्ता गुप्त्यर्थं नाज्ञतावशात्।
तत्र हेतुरयं ज्ञेयो व्यक्ता नैते फलप्रदाः॥
यन्त्राणि यानि दृष्टानि कीर्तितान्यत्र तान्यपि।
एतत्स्वबुद्ध्यवास्माभिः समग्रमपि कल्पितम्॥
अग्रतश्च पुनर्ब्रूमः कथितं यत्पुरातनैः" ॥

इत्यादि न्याय से मन्वादिकों ने करके भी दोष देखकर वेदोक्त निषेध का अनुस्मरण किया न होगा तुम कैसे कहते हो ? उन वैदिकों को "जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः" इत्यादि स्वल्पसाधन-साध्य निरुपद्रव दैवानुग्रहानुकूल विज्ञान ही मान्य था, उसी में वे तत्पर थे। कभी सुरों ने असुरों के साथ अमृतार्थ समुद्रमथन कार्य किया, जब उनके कर्मविज्ञान से हालाहल विष सारे जगत् में फैलने लगा; तब उन लोगों ने भगवान् शङ्कर के अनुग्रह को प्राप्त कर निवारण कर लिया। "देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ"—गीता में कहा है। ऐसा कोई प्रकार आधुनिक वैज्ञानिकों के सृजन में नहीं है। आज कल सुनते हैं कि कुछ नव्य शिक्षित व उनके गुरु पाश्चात्यों को सिखला रहे हैं कि घी जलाने से पर्यावरणदूषण शुद्ध हो जाता है। कितनी हँसी की बात है ! कितनी हीन-दीन उस नव्य शिक्षित बुद्धि की दशा है। श्रद्धा भक्तिभाव से ही देवतानुग्रह तथा ईश्वरानुग्रह से होता है कि बस घी जलाने मात्र से ! तब सुरासुर शङ्करजी की शरण में क्यों जाते !

मन्वादिकों को शास्त्रीय विज्ञान मान्य था। उसी में निरातङ्क तथा अल्पायास साध्यता होने से वे लगे रहते थे। देवतानुग्रह तथा ईश्वरानुग्रह उनके साधनों में प्राण था। उनके शास्त्रीय विज्ञान का यों दिग्दर्शन है—"जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः" नाना विहितकर्मानुष्ठान, नानाविध तत्तच्छास्त्रोक्त प्रयोग, योगविभूति, प्रयोग, व्रत, नियम और सिद्धियाँ हैं। जैसे—

"अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा।
ईशित्वं च वशित्वं च तथा कामावसायिता॥
दूरश्रवणमेवेति परकायप्रवेशनम्।
मनोयायित्वमेवेति सर्वज्ञत्वमभीप्सितम्॥
वह्निस्तम्भं क्षुत्पिपासानिद्रास्तम्भनमेव च।
कायव्यूहं च वाक्सिद्धि मृतानयनमीप्सितम्॥
सृष्टीनां करणं चैव प्राणाकर्षणमेव च।
प्राणानां च प्रदानं च लोभादीनां च स्तम्भनम्।
इन्द्रियाणां स्तम्भनं च बुद्धिस्तम्भनमेव च"॥

(—ब्रह्मवैवर्ते भागवतादौ च)

एवं नाना विद्यायें भी हैं—

"एवं शपति देवर्षौ विद्यामास्थाय फाल्गुनः।
ययौ संयमिनीमाशु यत्रास्ते भगवान् यमः॥
विप्रापत्यमक्षांणस्तत ऐन्द्रीमगात्पुरीम्।
आग्नेयीं नैर्ऋतीं सौम्यां वायव्यां वारुणीमथ॥
रसातलं नाकपृष्ठं धिष्ण्यान्यन्यान्युदायुधः।
ततोऽलब्धद्विजसुतो ह्यनिस्तीर्णप्रतिश्रुतः"॥ इत्यादि।

(—भागवते।)

इस प्रकार शास्त्रीय एवं देवतानुग्रह तथा ईश्वरानुग्रह से प्राप्य निरुपद्रव विज्ञान अल्पश्रम-साध्य में वे लगे रहने वाले मन्वादिक देवताओं के व्यवहार में स्थित विज्ञान को छोड़कर स्थावरान्ता-शास्त्रीय शोध वाले आधुनिक विज्ञान में क्यों लगेंगे ?

कुछ भी हो, प्रकृत में इसी शास्त्रीय कर्मविज्ञान की ही निन्दा में वेद का तात्पर्य है। भाष्यटीकाकार लिखते हैं कि "विवक्षितस्त्विति। शास्त्रपरवशस्य शास्त्रवशादेव साध्यसाधनभावादशास्त्रीयाद्वैमुख्यसंभवान्न तस्यात्र विवक्षितत्वमित्यर्थः"। अर्थात् शास्त्र ने स्वाभाविक साध्यसाधनभाव वैमुख्य उत्पन्न कर शास्त्रपरवश बनाया। तब उक्त शास्त्रीय पाङ्क्तकर्म में स्थापन किया। अब उससे शुद्धचित्त हुए को आगे ब्रह्मविद्या के अधिकारी देखकर उस शास्त्रीय साध्यसाधनभाव से वैमुख्य उत्पन्न कर ब्रह्मविद्या के क्षेत्र में प्रेरणा की जाती है, न कि पूर्व में त्यक्त का अथवा त्याजित का पुनरुपादान कराने के लिये यह वैमुख्य है। इस विवेक को आधुनिक कर्मविज्ञान की सृष्टि में मग्न देश-विदेश के नव्यशिक्षित वर्ग कोई भी परवाह नहीं करता। तदनुसार सारा संसार अनर्थ अशान्ति में कष्ट भोग रहा है। जैसे करें वैसे भरें। कौन क्या करें।

प्रसङ्ग से भाष्यकार लिखते हैं—"ब्रह्मविद्याविषये च सर्वैकत्वात् कामानुपपत्तेः" अर्थात् शास्त्रीय हो चाहे अशास्त्रीय सारे संसार में काम व्यप्राप्त है। ब्रह्मविद्या में सर्वैकात्मदर्शन होने से काम की उपपत्ति नहीं रहती। इस पर आनन्दगिरि लिखते हैं—"तस्या (ब्रह्मविद्यायाः) विषयो मोक्षः। तस्मिन्नद्वितीयत्वाद्रागादिपरिपन्थिनि कामापरपर्यायो रागो नावकल्पते। न हि मिथ्याज्ञाननिदानो रागः सम्यग्ज्ञानाधिगम्ये मोक्षे संभवति। श्रद्धा तु तत्र भवति तत्त्वबोधाधीनतया संसारविरोधिनी, तन्न संसारानुषक्तिर्मुक्तावित्यर्थः" इस टीका पर क्रोडपत्रकार प्रश्न करते हैं कि मोक्षेच्छा तो है। (इच्छा रागः न्यायशास्त्र में व्याख्यात है) उनकी पङ्क्ति है—"नन्वेवं मुमुक्षाया अभावेनाधिकार्यभावान्मोक्षसाधने ज्ञानेऽधिकारिणः प्रवर्तकस्य तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाऽभिगच्छेदित्यादिशास्त्रस्याऽऽनर्थक्यं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—श्रद्धा त्विति तुशब्दो। यथोक्तचोद्यव्यावृत्त्यर्थः। मुमुक्षास्थानीया श्रद्धेत्यर्थः। अस्मिन्मते विवेकादीनि त्रीण्येवाधिकारिविशेषणानि इति न किञ्चिदवद्यमिति भावः। ननु कामवत् श्रद्धापि तत्र संसारं जनयेदेव श्रद्धाकामयोर्मनःपरिणामत्वाविशेषादित्याशङ्क्याऽऽह—तत्त्वबोधेति। अविद्यासंसारविरोधितत्त्वज्ञानानुकूलतया संसारविरोधिनीत्यर्थः। तयोर्मनः परिणामत्वाविशेषेऽपि यथोक्तश्रद्धायाः सात्त्विकपरिणामत्वात्संसारविरोधित्वमिति भावः"। इसीलिये प्रह्लाद ने भागवत में कहा है कि "वैशारदीधीः श्रद्धातः स्त्रीबालानां च मे यथा"।

यद्यपि शङ्का-कुशङ्का की धारा और भी साधक की शिथिलावस्था में हो सकती है; तथापि इस पक्ष का अन्तिम परिष्कार भाष्यकार ने "तत्तु समन्वयात्" के भाष्य में स्वयं बतलाया है—"तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वं यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वं नासाववगतब्रह्मात्मभाव इत्यनवद्यम्"।

इस प्रकार बड़ी जवाबदारी के विचार स्थल-स्थल पर क्रोडपत्र में पूर्वाचार्यों का अनुसरण करते हुए क्रोडपत्रकार ने विवेकपूर्वक लिखा है। इससे तत्त्वनिर्णय में बहुत ही उपकार होगा। इतिशम्।

विषयानुक्रमणिका

विषय पृष्ठ

तृतीयोऽध्यायः

विषय	पृष्ठ
मधुकाण्ड से याज्ञवल्क्य काण्ड का संबन्ध	६७३
परीक्षापूर्वक आगमार्थ निर्धारण के लिए उपपत्तिप्रधान याज्ञवल्क्य काण्ड का प्रारम्भ	६७३
तत्त्ववेत्ताओं का सत्संग एवं संभाषण विद्याप्राप्ति का उपाय है	६७५
सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता के निर्णय के लिए राजा जनक द्वारा बहुदक्षिणा याग का आरम्भ	६७७
गौओं को ले जाने के लिए ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य का अपने शिष्य को आदेश एवं क्रुद्ध ब्राह्मणों में से अश्वल का प्रश्न	६७९
कर्मसंज्ञक मृत्यु को अतिक्रमण करने का उपाय	६८२
कर्मनिरपेक्ष काल से अतिमुक्ति का उपाय	६८६
तिथ्यादिसंज्ञक काल से अतिमुक्ति का वर्णन	६८९
संपदनिरूपण	६९३
त्वमर्थ शुद्धि विधान के अनन्तर ग्रहातिग्रहलक्षण मृत्यु से अतिमुक्ति का वर्णन	७०४
प्रवृत्ति का प्रयोजक बन्ध की निवृत्ति का प्रयोजक नहीं हो सकता	७०६
मुख्य मुक्ति एवं गौणी मुक्ति का निरूपण	७०७
याज्ञवल्क्य-आर्तभाग संवाद का आरम्भ	७११
ग्रहातिग्रह लक्षण बन्धन के नाश होने पर संसार से मुक्ति संभव	७१७
तत्त्वनिष्ठ की देहोत्क्रान्ति का क्रम निरूपण	७१९
भर्तृप्रपञ्च मत—इन्द्रियों के विलीन होने पर विदेह को आत्मसाक्षात्कार कैसे होता है	७२५
श्रुति द्वारा उक्त सिद्धान्त का विरोध	७२६
ब्रह्मसूत्र एवं वार्तिक द्वारा इसकी पुष्टि	७२८
वादियों के एक-एक पक्ष पर विचार एवं तत्त्व निर्णय	७३१
कर्म की सामान्य व्यवस्था	७३६
याथात्म्यविज्ञानवादियों का मत निरूपण एव सिद्धान्त मत का प्रतिपादन	७३८
भर्तृप्रपञ्चमत के ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का खण्डन	७४०
याज्ञवल्क्य-भुज्यु संवाद का समारम्भ	७६४
पारिक्षितों की गति का वर्णन	७६८
आख्यायिका का सारभूत अर्थ	७७३
याज्ञवल्क्य-उषस्त संवाद का प्रारम्भ	७७४
घटादि के समान आत्मा का दर्शन होना क्या संभव है	७८१
लौकिकी और पारमार्थिकी दृष्टि का निरूपण	७८७
याज्ञवल्क्य-कहोल संवाद का आरम्भ	७८९
बन्धध्वंस में हेतु संन्यास एवं सम्यक्ज्ञान का निरूपण	७९०
आत्मा की एकरूपता होने से भिन्नार्थक वचन प्रयुक्त है	७९३
उषस्त ब्राह्मण के प्रश्नों से कहोल ब्राह्मण के प्रश्नों की तुलना	७९५
नाम और रूप की उपाधि सत्ता स्वीकार करने में दोष निरूपण	७९७
'शोक' एवं 'मोहादि' पदों की श्रुत्यनुसारि व्याख्या	८००
एषणात्रयव्युत्थान पर भर्तृप्रपञ्च का सिद्धान्त एवं उसका निराकरण	८०४

विद्या और अविद्या एक साथ नहीं रह सकती ८११
संन्यास में विधान वाक्य अविद्वत्संन्यास मात्र से संबन्ध रखने वाले हैं ८१६
ब्रह्मवेत्ता किन-किन लक्षणों से युक्त होता है ८२१
याज्ञवल्क्य-गार्गी संवाद का आरम्भ ८२४
ब्रह्मलोक किसमें प्रतिष्ठित है, यह पूछने पर याज्ञवल्क्य द्वारा गार्गी को प्रताडना ८३०
अन्तर्यामी के विषय में आरुणि का प्रश्न ८३१
याज्ञवल्क्य द्वारा अन्तर्यामी निरूपण ८३८
दो प्रश्न पूछने के लिए गार्गी द्वारा ऋषियों से अनुमति माँगना ८४८
द्वैतवर्ग अव्याकृत आकाश में ओत-प्रोत है ८५२
आकाश सर्व विशेषणों से रहित, अद्वितीय तत्त्व अक्षर में ओत-प्रोत है ८५७
अनुमान प्रमाण से अक्षर तत्त्व का निरूपण ८६१
अपूर्ववादी एवं ईश्वर द्वेषी के मत का खण्डन ८६८
ईश्वर के अस्तित्व में हेत्वन्तर निरूपण ८७१
प्रधानवादी सांख्य की शङ्का एव उसका निरास ८७३
गार्गी द्वारा याज्ञवल्क्य के ब्रह्मिष्ठ होने की उद्घोषणा ८७५
वेदान्त्येकदेशी के मत से ब्रह्म की विभिन्न अवस्थाओं का निरूपण एवं उसका निरास ८७६
याज्ञवल्क्य-शाकल्य संवाद का प्रारम्भ ८७९
तैंतीस देवताओं का निरूपण ८८३
अष्ट वसुओं का वर्णन ८८३
एकादश रुद्रों का निरूपण ८८४
आदित्यादि देवताओं का विवरण ८८५
सर्वदेवतात्मक प्राण ब्रह्म के आठ भेद ८९०
देवता एवं आश्रयसहित दिशाओं के ज्ञान की प्रतिज्ञा ९०२
हृदय और देह का अन्योन्याश्रयत्व ९१२
प्राणादि सहित शरीरादि की प्रतिष्ठा, आत्मस्वरूप का निरूपण एवं शाकल्य का शिरःपात ९१३
'आनन्द' शब्द ब्रह्म का विशेषण है ९२८
मोक्षवादियों में 'सुख' विषयक मीमांसा में मतभेद एवं सिद्धान्त निरूपण ९३०
ब्रह्मानन्द को ब्रह्म, मुक्त अथवा संसारी इन तीनों में से कौन अनुभव करता है ९३३

चतुर्थोऽध्यायः

तृतीय अध्याय से चतुर्थ अध्याय के प्रथम दो ब्राह्मणों का उपाय-उपेय भावात्मक संबन्ध ९३८
जनक-याज्ञवल्क्य संवाद का प्रारम्भ ९३९
याज्ञवल्क्य द्वारा पशुधन तथा सूक्ष्म निर्णयान्त प्रश्न श्रवण की इच्छा से अपना आगमन बताना ९४०
शिष्य को उपदेश से कृतार्थ किए बिना उसकी दी दक्षिणा ग्रहण का निषेध ९४३
ज्ञान के साधन (षडाचार्य प्रोक्त)
वागादि उपासनाओं का वर्णन ९४३
शरणापन्न हो राजा जनक का याज्ञवल्क्य से प्रश्न करना ९५५
विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ का अनुवाद करके तुरीय ब्रह्म का उपदेश करना ९६०
जाग्रत्स्वप्नादि द्वारा तर्क से ब्रह्मतत्त्व निरूपण ९७४
आत्मा का देहादिव्यतिरिक्त होने में अनुमान प्रमाण का निरूपण ९८६
आत्मस्वरूप का निरूपण १००१
भर्तृप्रपञ्च मत वर्णन एवं उसका निराकरण १००५
आभास द्वारा बुद्धितादात्म्य ही दोनों लोकों में संचरण का हेतु है १०१५
बौद्ध मत (बाह्यार्थवाद) निरूपण एवं उसमें दोष कल्पना १०२०

विज्ञानवादी का प्रत्याक्षेप एवं उसका खण्डन १०२८

क्षणभङ्गवाद का सिंहावलोकन एवं उसका दूषण १०३४

जन्म-मरण के साथ देहेन्द्रिय संघात रूप पाप का ग्रहण और त्याग १०४२

आत्मा के दो स्थान १०४६

पाप फलों के अतीन्द्रिय होने के कारण उनका साक्षात् दर्शन सम्भव नहीं है १०४९

वासना उपादान विषयभूत होने से पुरुष स्वयंज्योति है १०५५

स्वप्न में रथादि के न होने से आत्मा स्वयंप्रकाश है १०५७

स्वप्नावस्था में स्वयंज्योति आत्मा अत्यन्त संसर्गशून्य हो जाता है १०६५

स्वप्न के विषय में विभिन्न विचारकों के मत का प्रतिपादन कर स्वमत निरूपण १०६८

मृत्यु आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसे उत्क्रमण करने का उपाय निरूपण १०७२

स्वप्न भोगों से आत्मा असङ्ग है १०८०

जागरित भोगों से भी आत्मा असङ्ग है १०८२

महामत्स्य दृष्टान्त के द्वारा इसका स्पष्टीकरण १०८६

श्येन वाक्य के द्वारा आत्मा का सौषुप्त रूप प्रतिपादन १०८८

नाडीखण्ड द्वारा सब अनर्थों की बीजभूता अविद्या का स्वरूप निर्धारण १०९३

अविद्या का तिरोधान एवं विद्या की काष्ठा प्राप्ति रूप सर्वात्मभाव ही मोक्ष है ११०१

स्त्री-पुरुष समिलन सुख के दृष्टान्त से मोक्ष के स्वरूप का उपपादन ११०३

सुषुप्ति में पुरुष सङ्ग एव शोकरहित होता है १११२

भर्तृप्रपञ्च के मत को प्रस्तुत कर स्वमत स्थापन एवं वैशेषिकों का खण्डन १११९

सुषुप्तावस्था में आत्मा का स्वयंज्योतिष्ट्व प्रतिपादन ११२५

निरवयव आत्मा में नानात्व कल्पना असंभव है ११४१

जाग्रत् एवं स्वप्न में विशेष ज्ञान का कारण ११४३

कर्मफलाश्रय लोक क्षयिष्णु हैं ११४९

तत्त्वज्ञानी के आनन्द की मीमांसा ११५१

संसाररूप जाग्रत् में लौटकर आना ११६१

ऊर्ध्व श्वास कब, क्यों और कैसे होता है ११६८

शरीरान्तर में जाने का प्रकार ११७३

प्राणों के देहान्तर में जाने की विधि ११७५

मरणासन्न जीव की दशा का निरूपण ११७७

लिङ्ग देह में इन्द्रियों के लय और उत्क्रमण ११८५

वासना ही अपूर्व कर्मारम्भ एवं कर्मफल में प्रयोजिका है ११९२

शरीरान्तरगमन में जोंक का दृष्टान्त ११९६

देहान्तर की प्राप्ति में स्वर्णकार का दृष्टान्त ११९८

आत्मा विज्ञानमय है १२०१

कर्मानुसार शुभाशुभ गति और निष्काम को ब्रह्म की प्राप्ति १२११

तत्त्वज्ञानी का अनुत्क्रमण १२३१

ब्रह्मज्ञानी की मोक्षप्राप्ति में प्रमाण १२४०

मोक्षसाधनमार्ग में मत-मतान्तर निरूपण १२४३

अविद्या और त्रयी-विद्या की उपासना १२४६

आत्मविद्या की दुर्लभता १२५१

आत्मविद्यारसिक कायक्लेश रहित एवं कृतकृत्य होता है १२५२

अद्वैतदर्शी का भय नहीं होता १२५६

द्वैतदर्शी की दुर्गति १२५९
विज्ञानघन रूप से ब्रह्म का दर्शन करे १२६३
अधिक शब्दों का अनुचिन्तन ब्रह्मनिष्ठा के लिए बाधक १२६७
एषणात्रय से उठकर संन्यास ग्रहण मोक्ष का साधन है १२६९
भर्तृप्रपञ्च मत का निरूपण एवं स्वमत स्थापन १२८१
वासनाशून्य राग-द्वेषरहित होना कामानशन है; भोजन निवृत्ति नहीं। १२८५
ब्रह्मवेत्ता के लिए कर्म का विधान नहीं १२९६
ब्रह्मनिष्ठा की नित्य महिमा एवं जनक का समर्पण १३०४
सोपाधिक ब्रह्म ध्यान से अभ्युदय प्राप्ति १३१५
निरुपाधिक ब्रह्मज्ञान से मुक्ति १३१६
संन्यासपूर्वक आत्मज्ञान का उपक्रम १३२०
याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद का प्रारम्भ १३२२
आत्मा में सर्वाधिक प्रेम १३२५
भेददृष्टि की निन्दा कर अभिन्न आत्मतत्त्व का उपदेश १३२७
सर्वात्मदर्शन में दृष्टान्त १३२७
ब्रह्मतत्त्व उपदेश के बाद याज्ञवल्क्य द्वारा संन्यास ग्रहण १३३५
यावज्जीवन अग्निहोत्र विधानपरक एव वैराग्यपरक श्रुतियों में सिद्धान्त पक्ष स्थापन १३३७
याज्ञवल्क्यीय काण्ड का वंश निरूपण १३५१

पञ्चमोऽध्यायः

ॐ खं ब्रह्म की उपासना १३५५
पूर्ण कारण से पूर्ण कार्य होता है—द्वैताद्वैतमत प्रस्तुत कर सिद्धान्तपक्ष की स्थापना १३६०
शास्त्र कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड का उपदेश अधिकार भेद से करता है १३६९
ब्रह्म का प्रियतम नाम ॐ है १३७५
दमादि साधनत्रय का उपदेश १३७८
सोपाधिक हृदय ब्रह्म की उपासना १३८५
सत्य ब्रह्म की उपासना १३८८
'सत्य' नाम के अक्षरों की उपासना १३९०
आदित्य मण्डलस्थ और चाक्षुष पुरुष भी सत्य नाम वाला है १३९४
आदित्य मण्डलस्थ पुरुष के अवयव १३९६
मनोमय पुरुष की उपासना १३९९
विद्युद् ब्रह्म की उपासना १४००
धेनु रूप से वाणी की उपासना १४०१
वैश्वानराग्नि की उपासना १४०३
उपासनाओं से प्राप्त होने योग्य गति १४०४
प्राण और अन्नरूप ब्रह्म की उपासना १४०८
उक्थदृष्टि से प्राण की उपासना १४१२
यजुः, साम व क्षत्त्र दृष्टि से उपासना १४१३
चतुष्पाद गायत्री की उपासना १४१५
गायत्री के मुख विधान के लिए अर्थवाद १४३२
ज्ञानकर्मसमुच्चयकारी की मार्ग याचना १४३४

षष्ठोऽध्यायः

ज्येष्ठादि दृष्टि से प्राणोपासना १४४०
वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि की वसिष्ठादि दृष्टि से उपासना १४४४
उत्कृष्टता निर्धारण के लिए वाणी आदि की परीक्षा १४४८
प्राण की श्रेष्ठता सभी इन्द्रियों द्वारा स्वीकार करना १४५२
पञ्चाग्नि विद्या निरूपण १४६२
वित्तमन्थविद्या निरूपण १५१०
पुत्रमन्थविद्या निरूपण १५२५
काण्डत्रयात्मक वंशपरम्परा निरूपण १५५१
व्याख्यापेतं शुकाष्टकम् १५५८
अकारादि क्रम से मन्त्रों की सूची १५६४

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

जनको ह वैदेह इत्यादि [1]याज्ञवल्कीयं काण्डमारभ्यते । उपपत्तिप्रधानत्वादतिक्रान्तेन [2]मधुकाण्डेन समानार्थत्वेऽपि सति न पुनरुक्तता । मधुकाण्डं [3]ह्यागमप्रधानम् । [4]आगमोपपत्ती ह्यात्मैकत्वप्रकाशनाय प्रवृत्ते शक्नुतः करतलगतबिल्वमिव दर्शयितुम्[5] । श्रोतव्यो मन्तव्य इति ह्युक्तम्[6] । [7]तस्मादागमार्थस्यैव [8]परीक्षापूर्वकं निर्धारणाय याज्ञ-

---

मधुकाण्डे त्वाष्ट्रं कक्ष्यं चेति मधुद्वयं व्याख्यातं संप्रति काण्डान्तरारम्भं प्रतिजानीते—जनक इति । ननु पूर्वस्मिन्नध्यायद्वये व्याख्यातमेव तत्त्वमुत्तरत्रापि वक्ष्यते [9]तथा च पुनरुक्तेरलं मुनिकाण्डेनेति तत्राऽऽह—उपपत्तीति । तुल्यमुपपत्तिप्रधानत्वं मधुकाण्डस्यापीति चेन्नेत्याह—मधुकाण्डं हीति । ननु [10]प्रमाणादागमादेव तत्त्वज्ञानमुत्पत्स्यते किमुपपत्त्या तत्प्रधानेन काण्डेन चेति तत्राऽऽह—आगमेति । [11]"करणत्वेनाऽऽगमस्तत्त्वज्ञानहेतुरु✽पपत्तिरुपकरणतया"[12] पदार्थपरिशोधनद्वारा तद्धेतुरित्यत्र गमकमाह—श्रोतव्य इति । करणोपकरणयोरागमोपपत्त्योस्तत्त्वज्ञानहेतुत्वे सिद्धे फलितमुपसंहरति—

(उपदेशप्रधान मधुकाण्ड की समाप्ति के पश्चात्) अब "जनको ह वैदेहः" इत्यादि श्रुतिमन्त्र से (उपपत्तिप्रधान) याज्ञवल्ककाण्ड का आरम्भ किया जाता है । पूर्वोक्त मधुकाण्ड से (याज्ञवल्ककाण्ड की) समानार्थकता होने पर भी उपपत्तिप्रधान होते हुए भी इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं है क्योंकि (प्रधान-उपपादक भेद से पुनरुक्ति प्रसिद्ध न होने से) मधुकाण्ड आगमशास्त्रप्रधान है । यदि युक्ति और शास्त्र दोनों ही आत्मैकत्व प्रकाशित करने के लिए प्रवृत्त हो जाएँ तो आत्मैकत्व को करतलगत बिल्वफल के समान दिखा सकते हैं । श्रुति पहले ही ऐसा कह चुकी है कि "श्रवण करना चाहिये, मनन करना

---

१. याज्ञवल्कीयमिति । "समाप्तो मधुकाण्डोऽयमुपदेशप्रधानकः । उपपत्तिप्रधानोऽथ याज्ञवल्काख्य उच्यते ॥ पदार्थविषया युक्तिर्वाक्यार्थे तूपदेशगीः । अतो न पुनरुक्तत्वं काण्डयोः शेषशेषिणोः ॥ काण्डोऽयं याज्ञवल्काख्यः स्यादध्यायद्वयात्मकः । जल्पवादकथाभेदादध्यायार्थौ व्यवस्थितौ ॥ तत्र जल्पकथारूपिण्यध्याये पञ्चमे नव । ब्राह्मणान्यर्थ एतेषां क्रमेणेहोपवर्ण्यते ॥ आद्ये मृत्योरतिक्रान्तिर्द्वितीये मृत्युनिर्णयः । तृतीये संसृतिव्याप्तिस्तुर्ये प्रत्यग्विनिर्णयः ॥ पञ्चमे ब्रह्मता तस्य षष्ठे तु ब्रह्मकार्यगीः । सप्तमे कारणावस्था ब्रह्मतत्त्वमथाष्टमे ॥ नवमे देवविस्तार संक्षेपद्वारतः पुनः । सगुणं निर्गुणं चोक्तं ब्रह्म सर्वाधिकारिणामिति" ॥ उच्यत इति । प्रमाणोक्त्यनन्तरभाविनी हि तदनुग्राहकतर्कोक्तिस्तद्युक्तमागमयुक्तिप्रधानयोरनयोः पौर्वापर्यमिति । मुनिकाण्डस्य पाश्चात्ये हेतुमाह—उपदेशेति । आगमप्रधान इत्यर्थः । अत्र याज्ञवल्कः, याज्ञवल्कीयमित्युभयत्रापि "आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति" इति सूत्रेण यलोपः । २. मुनिकाण्डस्य । ३. प्रधानोपपादकभेदादपौनरुक्त्यं प्रसिद्धमिति हिः । ४. आगमेति । तथा च वार्तिके—"युक्त्यागमौ हि संभूय करस्थामलकादिवत् । सुसूक्ष्ममपि सद्वस्तु शक्तौ ज्ञापयितुं यतः" ॥ १४ ॥ आगमिकेऽर्थे विपरीतभावनादिभञ्जकत्वेन युक्तीनामुपयोगाद्युक्ता तत्सङ्गतिरित्युभयत्र (भा० वा०) हिशब्दार्थः । ५. आत्मैकत्वमिति शेषः । ६. बृ० उ० २।४।५ । ७. अवतरणोक्तार्थम् । ८. उद्भावितदोषापाकरणपुरःसरम् । ९. काण्डयोः समानार्थकत्वे च । १०. प्रमाणभूतादागमादेवेत्यर्थः । ११. प्रमाणत्वेन । १२. करणसहकारितया प्रमाणानुग्राहकत्वेनेति यावत् । उपपत्तिर्हि तर्कः स च प्रमाणानुग्राहकः ।

✽उपपत्तिरुपकरणतयेत्यादि । अत्राहुर्वार्तिकाचार्याः—"न चाऽऽगमस्य स्वातन्त्र्यं युक्त्युक्तेरपनुद्यते । अर्थान्तर-

वल्कीयं काण्डमुपपत्तिप्रधानमारभ्यते । आख्यायिका तु विज्ञानस्तुत्यर्थोपाय[1]विधिपरा वा । प्रसिद्धो ह्युपायो[2] विद्वद्भिः शास्त्रेषु च दृष्टो दानम् । दानेन ह्यु[3]पनमन्ते प्राणिनः ।

तस्मादिति । यथोक्तरीत्या काण्डारम्भेऽपि किमित्याख्यायिका प्रणीयते तत्राऽऽह—आख्यायिका त्विति । विज्ञानवतां [4]'पूजा'[5]ऽत्र प्रयुज्यमाना दृश्यते । तथा च विज्ञानं महाभागधेयमिति स्तुतिरत्र विवक्षितेत्यर्थः । विद्याग्रहणे दानाख्यपायप्रकारज्ञापनपरा वाऽऽख्यायिकेत्यर्थान्तरमाह—उपायेति । कथं पुनर्दानस्य विद्याग्रहणोपायत्वं तत्राऽऽह—प्रसिद्धो हीति ।

"गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा[6]"

इत्यादौ[7] दानाख्यो विद्याग्रहणोपायो यस्मात्प्रसिद्धस्तस्मात्तस्य तदुपायत्वे नास्ति वक्तव्यमित्यर्थः । 'दाने सर्वं प्रतिष्ठितम्[8]" इत्यादिश्रुतिषु विद्वद्भिरेष विद्याग्रहणोपायो दृष्टस्तस्मान्न तस्योपायत्वे विवदितव्यमित्याह—विद्वद्भिरिति । [9]'उपपन्नं च दानस्य विद्याग्रहणोपायत्वमित्याह—दानेनेति । भवतु

चाहिये" । इसलिए शास्त्रतात्पर्य को ही (उद्भावित दोषों का परिहार करते हुए) परीक्षापूर्वक निर्धारण के लिए उपपत्तिप्रधान याज्ञवल्ककाण्ड का प्रारम्भ किया जाता है । यहाँ जो आख्यायिका है, वह विज्ञान की स्तुति के लिए उपायप्रकार ज्ञापनपरक है । लोक में दान प्रसिद्ध उपाय है और विद्वानों

---

१. प्रकारेति यावत् । २. लोके । ३. आर्जवं यन्ति । ४. नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्म इत्यादिरूपा (उत्कर्षविशेष.) । ५. अध्याये, ब्राह्मणे, आख्यायिकायां वा पूजा (बृ० उ० ३।१।२ । ६. "अथवा विद्यया विद्या चतुर्थं नैव कारणमिति" पश्चार्द्धम् । ७. लोके । ८. बृहन्नारायणोपनिषदि कं० ७६ । ९. युक्तं चेत्यर्थः ।

त्वाद्युक्तीनां प्रमाणेभ्यो यतस्ततः ॥ सर्वप्रमाणशेषत्वं युक्तीनामुपवर्णितम् । शास्त्रान्तरेष्वपि तथा नातः स्वातन्त्र्यखण्डनम् ॥ पदार्थविषया चेयं युक्तिस्तर्कोऽभिधीयते । वाक्यार्थस्त्वागमादेव निरपेक्षमतो वचः ॥ पौरुषेयवचःस्वेव युक्तेः प्राधान्यमिष्यते । अनरोक्तौ तु तात्पर्यं युक्तेरर्थो न युक्तितः ॥ प्रत्यक्षाद्यतिवर्तित्वाद्युक्त्यपेक्षा न विद्यते । आगमार्थे यथैवं स्याद्युक्त्यर्थे नाऽऽगमेक्षणम् ॥ पुंस्वभावानुरोधेन युक्तिर्वेदेऽभिधीयते । आगमस्य प्रवृत्तिस्तु मेयवृत्तव्यपेक्षया ॥ ननूक्ता मधुकाण्डेऽपि दुन्दुभ्याद्युपपत्तयः । आगमैकप्रधानत्वं कथं तस्येति भण्यते ॥ नैष दोषो यतस्तत्र युक्तीनामप्रधानता । प्राधान्यं याज्ञवल्कीये युक्तीनामभिधीयते ॥ युक्त्यागमौ हि संभूय करस्थामलकादिवत् । सुसूक्ष्ममपि सद्वस्तु शक्तौ ज्ञापयितुं यतः ॥ युक्तयोऽतोऽभिधीयन्ते पूर्वपक्षादिसंश्रयाः । याज्ञवल्कीय एतस्मिन्काण्डे जल्पोक्तिवर्त्मना ॥ उद्गीथप्रमुखा येऽर्था मधुकाण्डे पुरोदिताः । तेषामेव विशुद्ध्यर्थं विचारः क्रियतेऽधुना ॥ दर्शनस्यास्य तेनात एकवाक्यत्वमिष्यते । तथैवान्यपदार्थेषु तद्द्वयोरपि काण्डयोः" ॥६-१७॥ इति । ननु युक्त्यपेक्षत्वादागमस्यानपेक्षत्वलक्षणप्रामाण्यक्षतिस्तत्राऽऽह—न चेति । यतस्ततो निरुच्यमानयुक्तीनाममानत्वादागमस्य तदपेक्षत्वेऽपि न स्वातन्त्र्यहानिरित्यर्थः ॥ कथं तासाममानत्वमत आह—सर्वेति । उक्तं हि—अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क इति । न्यायभाष्यकारोऽप्याह—तत्त्वविषयाभ्यनुज्ञालक्षणादूहाद्भाविताऽप्रसन्नादनन्तरं प्रमाणसामर्थ्यात्तत्त्वज्ञानमुपपद्यत इति । तद्वार्तिककारश्च प्रमाणानि पुनः प्रवर्तमानानि तर्कविविक्तमर्थं यथाभूतमधिगमयन्तीति । अन्योऽप्याह—तया प्रमाणोपपत्त्येतिकर्तव्यतया प्रमाणविषयमभ्यनुजानन्त्या विशोधिते विषये प्रमाणमप्रत्यूहं प्रवर्तत इति । युक्तीनां प्रमाणशेषत्वे तदपेक्षागमस्य न स्वातन्त्र्यहानिरिति फलितमाह—तथेति । अतः सापेक्षत्वादित्येतत् ॥ अस्तु वाऽनुमानान्तर्भावेन युक्तिर्मानं

प्रभूतं हिरण्यं गोसहस्रदानं [1]चेहोपलभ्यते । [2]तस्मादन्यपरेणापि शास्त्रेण विद्याप्राप्त्युपायदानप्रदर्शनार्थाऽऽख्यायिकाऽऽरब्धा । अपि च तद्विद्यसंयोगस्तैश्च सह वादकरणं विद्याप्रा-

---

दानं विद्याग्रहणोपायस्तथाऽपीयमाख्यायिका कथं तत्प्रदर्शनपरेत्याशङ्क्याऽऽह—प्रभूतमिति । ननु समुदितेषु ब्राह्मणेषु ब्रह्मिष्ठतमं निर्धारयितुं राजा प्रवृत्तस्तत्कथमन्यपरेण ग्रन्थेन विद्याग्रहणोपायविधानायाऽऽख्यायिकाऽऽरभ्यते तत्राऽऽह—तस्मादिति । उपलम्भो यथोक्तस्तच्छब्दार्थः । इतश्चाऽऽख्यायिका विद्याप्राप्त्युपायप्रदर्शनपरेत्याह—अपि चेति । तस्मिन्वेद्येऽर्थे [3]विद्या येषां ते तद्विद्यास्तैः सह संबन्धश्च

द्वारा एवं शास्त्रों में भी इसे देखा गया है। दान से प्राणी विनम्र हो जाते हैं। इस आख्यायिका में बहुत सा सोना और हजारों गौओं का दान पाया जाता है। इसलिए शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय अन्य होने पर भी यह आख्यायिका विद्याप्राप्ति के उपायप्रकार दान को प्रदर्शित करने के लिए प्रारम्भ की जाती है। इसके अतिरिक्त वेद्य अर्थ का जिन्हें विज्ञान है, ऐसे पुरुषों का सत्सङ्ग, उनके साथ तत्त्वनिर्णय फल वाला संभाषण करना; विद्याप्राप्ति का उपाय न्यायशास्त्र में देखा गया है, उसका इस

तथाऽपि नाऽऽगमस्य स्वातन्त्र्यभङ्गो विषयभेदादित्याह—पदार्थेति ॥ वेदवाक्यस्य स्वातन्त्र्ये हेत्वन्तरमाह—पौरुषेयेति । लौकिकवाक्येष्वाप्तानाप्तोक्तत्वादिसंशयनिरासित्वेन युक्ति प्रधानीकृत्य प्रामाण्यं वेदवाक्येषु तु युक्त्या तात्पर्यनिश्चये तदनपेक्षमेवातः श्रुतिलिङ्गादियुक्त्यवगततात्पर्यस्य प्रत्यक्षादिविरोधनिरासद्वारा दृढीकरणं वाचारम्भणत्वादियुक्तिकृतमिति नाऽऽगमार्थे युक्तेः स्वतन्त्रतेत्यर्थः ॥ किं च विमतं न युक्त्यपेक्षं प्रत्यक्षाद्ययोग्यत्वाद्धर्मवदित्यनुमानादैक्यागमस्यानपेक्षतेत्याह—प्रत्यक्षादीति । स्वविषये युक्तेरागमापेक्षावत्तस्यापि स्वविषये युक्त्यपेक्षत्वं किं न स्यात्तत्राऽऽह—यथेति । न हि लोकसिद्धेऽर्थे वेदापेक्षेति भावः ॥ वेदः स्वार्थे युक्त्यनपेक्षश्चेत्कथं तर्हि तत्र सोच्यते तत्राऽऽह—पुंस्वभावेति । अयं हि पुंस्वभावो यद्ब्रह्मात्मन्युक्तेऽप्यसंभावनादिद्वाराऽऽरोपितकर्तृत्वाद्यभिमानित्वं तन्निरासानुसारेण वेदे युक्तिरिष्टेत्यर्थः । ननु वेदस्यापि पुरुषबुद्ध्यनुरोधेन प्रवृत्तेस्तर्कादविशेषस्तत्राऽऽह—आगमस्येति । न हि वस्तु पुरुषोत्प्रेक्षामनुसरति क्षणिकत्वादेरपि वस्तुत्वप्रसङ्गादतः सिद्धमर्थमागमः स्वतोऽवगमयेदध्यक्षादिवदित्यर्थः ॥ आगमप्रधानं मधुकाण्डमिदं तु युक्तिप्रधानमिति व्यवस्थया पुनरुक्तिसमाधिरुक्तः संप्रति व्यवस्थामाक्षिपन्पौनरुक्त्यतादवस्थ्यं शङ्कते—नन्विति । पूर्वत्राऽऽगमप्राधान्याद्युक्तेर्गुणत्वादत्र च वैपरीत्यादुभयत्रोभयसत्त्वेऽपि न पौनरुक्त्यमित्याह—नेत्यादिना ॥ नन्वेवं पुनरुक्तिपरिहारेऽपि किमागमगम्येऽर्थे युक्त्युपन्यासेन न हि तामनुसृत्याऽऽगमः स्वार्थं प्रमापयेदत आह—युक्तीति । आगमिकेऽर्थे विपरीतभावनादिभञ्जकत्वेन युक्तीनामुपयोगाद्युक्ता तत्संगतिरिति हिशब्दार्थः ॥ काण्डारम्भमुपसंहरति—युक्तय इति । द्विविधा कथा जल्पो वादश्च तत्र जल्पद्वारा युक्तीरुक्त्वा तदनुसारेण तत्त्वं निर्णीयते पञ्चमेनेत्यध्यायार्थमाह—जल्पेति ॥ काण्डाध्यायारम्भमुक्त्वा भाष्योक्तमाख्यायिकासंबन्धं सिद्धवत्कृत्य ब्राह्मणस्य संगतिमाह—उद्गीथेति ॥ उद्गीथब्राह्मणोक्तवागादिस्वरूपनिरूपणार्थत्वादस्य ब्राह्मणस्यात्रत्यदर्शनस्य तत्रत्योपास्तिशेषत्वादनयोर्ब्राह्मणयोरेकवाक्यतेति फलितमाह—दर्शनस्येति । न केवलमाद्यब्राह्मणस्यैव पूर्वसंगतिरपि त्वन्येषामपीत्याह—तथैवेति । अन्यैर्ब्राह्मणैरुक्तार्थेषु तर्करूपेषु मधुकाण्डोक्ततत्त्वमाद्यर्थनिर्णयदृष्टेर्युक्तं तेषां पूर्वेणैकवाक्यत्वमित्यर्थः । काण्डयोर्द्वयोरेकवाक्यत्वं निगमयति—तदिति । तदा परामृष्टमेकवाक्यत्वम् ॥

---

१. आख्यायिकायाम् । २. निरुक्तदानोपलम्भात् । ३. विज्ञानम् ।

प्त्युपायो न्यायविद्यायां दृष्टः । तच्चास्मिन्नध्याये प्राबल्येन प्रदर्श्यंते । प्रत्यक्षा च विद्वत्संयोगे प्रज्ञावृद्धिः । [1]तस्माद्विद्याप्राप्त्युपायप्रदर्शनार्थैवाऽऽख्यायिका ।

तैरेव प्रश्नप्रतिवचनद्वारा [2]वादकरणं च विद्याप्राप्तावुपाय इत्यत्र गमकमाह—न्यायविद्यायामिति ।❀तत्त्वनिर्णयफलां हि [3]वीतरागकथामिच्छन्ति । तद्विद्यसंयोगादेर्विद्याप्राप्त्युपायत्वेऽपि कथं प्रकृते [4]तत्प्रदर्शनपरत्वमत आह—तच्चेति । तद्विद्यसंयोगादीति यावत् । न केवलं [5]तर्कशास्त्रवशादेव तद्विद्यसंयोगे प्रज्ञावृद्धिः किंतु स्वानुभववशादपीत्याह—प्रत्यक्षा चेति । आख्यायिकातात्पर्यमुपसंहरति—तस्मादिति ।

अध्याय में दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन किया गया है । विद्वानों के सम्पर्क में प्रज्ञावृद्धि अनुभवसिद्ध है । इसलिए यह आख्यायिका विद्याप्राप्ति का उपाय प्रदर्शित करने के लिए ही है ।

---

१. उक्तयुक्तिकलापात् । २. तत्त्वनिर्णयफलकं संभाषणम् । ३. वीतरागेति—वीतो रागो जयादिविषयो येषां तेषां कथां वादाख्यां तत्त्वनिर्णयफलमिच्छन्ति मन्यन्ते इत्यर्थः । तदिदमुक्तं तार्किकरक्षायाम्—"तत्र प्रमाणतर्काभ्यां साधनाक्षेपसंयुता । वीतरागकथावादस्तत्फलं तत्त्वनिर्णय इति" ॥ ७७ ॥ ४. तस्य तत्प्राप्त्युपायत्वप्रदर्शनपरत्वमिति भावः । ५. तर्कशास्त्रोक्तेः ।

❀तत्त्वनिर्णयफलां हि वीतरागकथामिच्छन्तीति । तत्त्वनिर्णयफलमित्युक्त्या तद्विद्यसंयोगादेर्विद्याप्राप्त्युपायत्व ध्वनितं तत्त्वनिश्चयस्यैव विद्यात्वादस्यैव तद्धेतुत्वात्तस्य च तद्विद्यसंयोगमन्तराऽयोगात् । वीतो विनिवृत्तो रागो जयादिविषयोऽभिलाषो येषां शिष्याचार्यसब्रह्मचारिणां ते तथा तदीया कथा विचारगोचरार्थविषयो नानावक्तृको वाक्यविस्तरः कथेति लक्षणलक्षिता तामिच्छन्ति वादलक्षणत्वेनाभ्युपयन्तीत्यर्थः । तथा चोक्तं श्रीवरदराजविरचिततार्किकरक्षायां वादनिरूपणे—"तत्र प्रमाणतर्काभ्यां साधनाक्षेपसंयुता । वीतरागकथावादस्तत्फलं तत्त्वनिर्णये" ॥ ७७ ॥ इति । प्रमाणतर्काभ्यामेव स्वपक्षसाधनपरपक्षोपालम्भौ करणीयावित्यभिमानमात्रमत्र विवक्षितं न तु वस्तुत उभयोरपि तथा कर्तुमशक्यत्वात् । यथाहुः—प्रामाणिकवचनमात्राभिप्रायपूर्विका कथा वाद इति तत्त्वाध्यवसायफलत्वादस्यां वीतरागाणामेव शिष्याचार्यसब्रह्मचारिणामधिकारः न तु विजिगीषूणामिति उक्तं वीतरागकथेति । तदुक्तं तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनसूयुभिरभ्युपेयादिति । अज्ञातज्ञापनं ज्ञानस्य स्थिरीकरणं संशयनिवर्तनमिति त्रिविधस्तत्त्वनिर्णयः । तदुक्तं प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद इति । तत्रैवोक्तं कथालक्षणम्—"विचारविषयो नानावक्तृको वाक्यविस्तरः । कथा तस्याः षडङ्गानि प्राहुश्चत्वारि केचन" ॥७६॥ विचारगोचरार्थविषयो नानावक्तृको वाक्यविस्तरः कथा । तस्याः कथायाः निरूप्यनिरूपकनियमः, कथाविशेषव्यवस्था वादिप्रतिवादिनियमः, सदस्यानुविधेयसंवरणम्, निग्रहस्थानसामस्त्यासामस्त्योद्भावनप्रतिज्ञानम्, कथापर्यवसानसंवित्तिरिति षडङ्गानि । अपरे तु चत्वारि प्राहुः वादिप्रतिवादिनियमौ सदस्यानुविधेयसंवरणे च । वादजल्पवितण्डासु मध्ये वादस्य लक्षणं फलं च दर्शयति—तत्रेति । ननु जल्पवितण्डयोरपि प्रमाणतर्कसंभवाल्लक्षणमतिव्याप्तमित्याशङ्क्यावधारणस्य विवक्षितत्वान्नायं दोष इति व्याचष्टे—प्रमाणतर्काभ्यामेवेति । तेन च्छलादिनिवृत्तिस्तथा च ताभ्यामेव स्वपक्षसाधनपरपक्षोपालम्भवती कथा वाद इति लक्षणं द्रष्टव्यम् । ननु पक्षद्वयेऽपि कथं प्रमाणतर्कसंभव इत्यत उक्तमभिमानमात्रमिति । अवास्तवत्वे हेतुमाह—उभयोरपीति । वस्तुनो द्वैरूप्यासंभवादिति भावः । प्रामाणिकमात्रं प्रामाणिकमेवेदं वचनमित्यभिप्रायोऽभिमानः पूर्वो यस्याः सेत्यर्थः । नन्वेवं लक्षणे वीतरागपदं वृथेत्याशङ्क्य सत्यं किन्त्वधिकारिनिरूपणार्थमिह तत्त्वाध्यवसायेति वादस्य वीतरागमात्राधिकारित्वे सूत्रसंमतिमाह—तदुक्तमिति । तं वादमित्यर्थः । अत्राधिकारि-

ॐ जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कःस्विदेषां

विदेहदेश में रहने वाले राजा जनक ने एक बहुत बड़ी दक्षिणा वाले यज्ञ से यजन किया, उस यज्ञ में निमन्त्रित हो या स्वेच्छा से कुरु और पञ्चाल देशों के विद्वान् ब्राह्मण एकत्रित हुए। उस विदेहराज यजमान जनक को यह जिज्ञासा हुई कि इन ब्राह्मणों में प्रवचन करने में सबसे बढ़-चढ़कर प्रवक्ता

जनको नाम ह किल [1]सम्राड्राजा बभूव विदेहानां तत्र भवो[2] वैदेहः। स च बहुदक्षिणेन [3]यज्ञेन शाखान्तरप्रसिद्धो वा बहुदक्षिणो नाम यज्ञोऽश्वमेधो वा दक्षिणा-

---

[4]राजसूयाभिषिक्तः सार्वभौमो राजा सम्राडित्युच्यते। बहुदक्षिणेन यज्ञेनायजदिति संबन्धः। अश्वमेधे दक्षिणाबाहुल्यमश्वमेधप्रकरणे [5]स्थितम्। ब्राह्मणा अभिसंगता बभूवुरिति संबन्धः। कुरुपञ्चा-

---

जनक नाम का सम्राट् (जिसकी आज्ञा में अन्य राजा रहते थे) विदेह देश का राजा था; अथवा विदेह देश में होने के कारण उसका वैदेह नाम पड़ा। उसने बहुदक्षिणा वाले किसी एक यज्ञ से "एजे" यानो यजन किया। अथवा शाखान्तर में प्रसिद्ध बहुदक्षिणा नाम वाला यज्ञ यहाँ विवक्षित है,

---

१. सम्राडिति। "येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः। शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राडित्यमरः॥" २. वा। ३. येन केनचित्। ४. राजसूयकाले कृताभिषेकः। ५. निश्चितम्।

त्रैविध्यात्फलत्रैविध्यमाह—अज्ञातेत्यादिना। गुरुशिष्यवादेऽज्ञातज्ञापनं फलं सब्रह्मचारिवादे ज्ञातस्थिरीकरणम् शिष्टमुमुक्षुवादे संशयनिवर्तनमिति यथासंख्यं द्रष्टव्यम्। एवं वादस्य लक्षणाधिकारिणौ निरूप्यवादलक्षणे सूत्रसंमतिमाह—तदुक्तमिति। प्रमाणतर्काभ्यामेव साधनोपलम्भौ यस्मिन्स पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद इति लक्षणम् सिद्धान्ताविरुद्ध इति अनेन तद्विरोधेऽपसिद्धान्तेन निग्राह्य इति सूचितम्। स्वपक्षस्थापनं, तत्समर्थनं, परपक्षदूषणं, तत्समर्थनं शब्ददोषवर्जनं चेति पञ्चावयवास्तदुपपादका अन्यथा अङ्गवैकल्पात्कथाभासत्वप्रसङ्ग इति भावः। ननु विचारो विमर्शस्तद्विषयत्वं कथायां न संभवतीत्यसंभविलक्षणमित्याशङ्क्य श्लोके विचारशब्दस्य विचार्यत इति कर्मसाधनव्युत्पत्त्या विचार्यार्थपरत्वान्नायं दोष इति व्याचष्टे—विचारगोचरार्थेति। क्रमात्पदत्रयेण कलहवाक्यपञ्चावयवप्रयोगकथावाक्यस्थपदानां व्युदासः तत्राङ्गानि दर्शयति—निरूप्येत्यादिना। निरूप्यं प्रतिपाद्यमात्मतत्त्वादिकं निरूपकं तत्प्रतिपादकं प्रमाणमनुमानादि तयोर्नियमोऽनेनेदं साधयामीति प्रतिज्ञानम्। कथा विशेषो वादादिस्तस्य व्यवस्थाऽनेन कथयिष्यामीति नियमकरणम्। तथाऽनयोरयं वादी प्रतिवाद्ययमिति नियमनं नियमः॥ अनुपश्चाद्विधेयं निष्पन्नकथाफलप्रतिपादनरूपमस्यास्तीत्यनुविधेयः सभापतिस्तस्य सभ्यानां च संवरणमेते सभ्या अयमनुविधेय इति संपरिग्रहः निग्रहसामस्त्यं जल्पवितण्डयोर्वादे त्वसामस्त्यमिति स्फुटमेतन्निग्रहान्ते भविष्यति। कथापर्यवसानस्य कथासमाप्तेः संवित्तिः पक्षादौ क्वचिदेकत्र समाप्तिरिति समयबन्धः। अथ चतुरङ्गानि दर्शयति—वादीति। वादिनियमः प्रतिवादिनियमः सभ्यसंवरणमनुविधेयसंवरणं चेति चत्वार्यङ्गानि तदन्यत्सर्वं तन्नान्तरीयकत्वान्न पृथग्वाच्यमिति भावः।

ब्राह्मणानामनूचानतम इति स ह गवाᳫं सहस्रमवरुरोध
दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः ॥१॥

कौन है ? इसलिए उसने एक हजार गौएँ गोशाला में रुकवा दीं। उन रोकी हुई गौओं में प्रत्येक के सींगों में दश-दश पाद सुवर्ण बँधा हुआ था अर्थात् एक-एक सींग में पाँच-पाँच पाद (पल के चतुर्थ भाग) सुवर्ण बँधा था ॥१॥

बाहुल्याद्बहुदक्षिण इहोच्यते तेनेजेऽयजत्। तत्र तस्मिन्यज्ञे [1]निमन्त्रिता दर्शनकामा [2]वा कुरूणां देशानां पञ्चालानां च ब्राह्मणास्तेषु हि विदुषां बाहुल्यं प्रसिद्धमभिसमेता अभिसंगता बभूवुः। तत्र महान्तं विद्वत्समुदायं दृष्ट्वा तस्य ह किल जनकस्य वैदेहस्य यजमानस्य को न खल्वत्र ब्रह्मिष्ठ इति विशेषेण ज्ञातुमिच्छा विजिज्ञासा बभूव। कथं, कःस्वित्को नु खल्वेषां ब्राह्मणानामनूचानतमः सर्व इमे[3]ऽनूचानाः कः स्विदेषामतिशयेनानूचान इति। स हानूचानतमविषयोत्पन्नजिज्ञासः संस्तद्विज्ञानोपायार्थं गवां सहस्रं प्रथमवयसामवरुरोध गोष्ठे[4]ऽवरोधं कारयामास। किंविशिष्टास्ता गावोऽवरुद्धा इत्युच्यते।

लानामिति कुतो विशेषणं तत्राऽऽह—तेषु हीति। तत्र यज्ञशालायामिति यावत्। विजिज्ञासामेवाऽऽकाङ्क्षापूर्विकां व्युत्पादयति—कथमित्यादिना। अनूचानत्वम[5]नुवचनसमर्थत्वम्। एषां मध्येऽतिशयेनानूचानोऽनूचानतमः स कः स्यादिति योजना। एकस्य पलस्य चत्वारो भागा[6]स्तेषामेको भागः पाद

या अधिक दक्षिणा दी जाने के कारण अश्वमेध यज्ञ को यहाँ बहुदक्षिण यज्ञ कहा जाता है। "तत्र" अर्थात् उस यज्ञ में कुछ निमन्त्रित और कुछ दर्शन के लिए आए हुए कुरु और पञ्चाल देशों के ब्राह्मण "अभिसमेताः" अर्थात् एकत्रित हुए। उन (कुरुपञ्चाल देश के ब्राह्मणों) में विद्वान् अधिक प्रसिद्ध हैं। उस यज्ञ में विद्वानों का महान् समुदाय देख कर उस विदेहराज यजमान जनक की "विजिज्ञासा" यानी विशेषरूप से जानने की इच्छा हुई कि इस विद्वत्समुदाय में कौन ब्रह्मिष्ठ है। कैसी इच्छा हुई ? इन ब्राह्मणों में साङ्गवेद का प्रवचन करने में सबसे विचक्षण कौन है ? ये सभी तो अङ्गों सहित वेदों का प्रवचन करते ही हैं परन्तु इनमें अतिशय प्रवचन की सामर्थ्य वाला कौन है ? "सः" अर्थात् साङ्गवेद प्रवचन करने में सबसे विचक्षण कौन है, ऐसी उत्पन्न हुई जिज्ञासा वाले वैदेह ने उस विज्ञान के उपाय के लिए नयी अवस्था की एक हजार गौएं "अवरुरोध" अर्थात् गोशाला में रुकवा लीं। किस प्रकार की गौओं को रुकवा लिया—इस पर कहा जाता है। कर्ष भर सुवर्ण का नाम पाद है,

---

१. केचन निमन्त्रिताः केचिच्च दर्शनार्थमागताः। २. चार्थो वाशब्दः। ३. अनूचाना इति। "अनूचानः प्रवचने (वेदे) साङ्गेऽधीतीति। अनूचानो विनीते स्यात् साङ्गवेदविचक्षणे" इत्यमरविश्वौ। ४. वनप्रचारतः। ५. प्रवचनसमर्थत्वमिति यावत्। ६. मध्ये।

तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजतामिति । ते ह ब्राह्मणा न दधृषुरथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सोम्योदज सामश्रवा३ इति ता होदाचकार ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नो ब्रह्मिष्ठो ब्रुवीतेत्यथ ह जनकस्य वैदेहस्य

राजा जनक ने उन ब्राह्मणों से कहा—हे पूज्य ब्राह्मणगण ! आप में से जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हो, वह उन गौओं को ले जाय, किन्तु उन ब्राह्मणों में से किसी का साहस न हुआ । ब्राह्मणों को साहसहीन देखकर याज्ञवल्क्य ने अपने ब्रह्मचारी से कहा—हे सोम्य सामश्रवा ! तू इन गौओं को हमारे घर ले जा । तब वह उन गौओं को ले चला, इससे वे ब्राह्मण क्रुद्ध हो गये कि यह याज्ञवल्क्य हममें से अपने आपको ही ब्रह्मनिष्ठ कैसे कहता है ? अतः उन क्रुद्ध ब्राह्मणों में से विदेहराज जनक का होता अश्वल

[1]पलचतुर्थभागः पादः सुवर्णस्य । दश दश पादा एकैकस्या गोः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः । पञ्च पञ्च पादा एकैकस्मिञ्शृङ्गे ॥१॥

गा एवमवरुध्य ब्राह्मणांस्तान्होवाच । हे ब्राह्मणा [2]भगवन्त इत्यामन्त्र्य यो वो युष्माकं ब्रह्मिष्ठः सर्वे यूयं [3]ब्रह्माणोऽतिशयेन युष्माकं ब्रह्मा यः स एता गा उदजतामु[4]त्कालयतु स्वगृहं प्रति । ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः । ते ह किलैवमुक्ता ब्राह्मणा ब्रह्मिष्ठता-

इत्युच्यते । प्रत्येकं शृङ्गयोर्दश दश पादाः संबध्येरन्निति शङ्कां निराकर्तुं विभजते—पञ्चेति । एकैकस्मिञ्शृङ्ग आबद्धा बभूवुरिति पूर्वेण संबन्धः ॥१॥

ब्रह्माणो वेदाध्ययनसंपन्नास्तदर्थनिष्ठा इति यावत् । उत्कालयतूद्गमयतु । यतो याज्ञवल्क्याद्य-

ऐसे सुवर्ण के दश-दश पाद एक-एक गौ के सींगों में बंधे हुए थे अर्थात् एक-एक सींग में पांच-पांच पाद सोना था ॥१॥

गौओं को इस प्रकार रुकवा कर 'तान्' अर्थात् उन ब्राह्मणों को जनक "होवाच" इस प्रकार आमन्त्रित करते हुए बोले—हे पूज्य ब्राह्मणो ! "यो वो ब्रह्मिष्ठः" अर्थात् तुम सब में जिसकी वेदाध्ययन में अधिक निष्ठा हो, अङ्गसहित वेदों का प्रवचन करने वाले आप सब में जो सर्वश्रेष्ठ अनूचान हो; वह इन (सुवर्ण से विभूषित) सभी गौओं को "उदजताम्" अर्थात् अपने घर ले जाय । "ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः" अर्थात् इस प्रकार पूर्वोक्त चेतावनी दिए जाने पर उन ब्राह्मणों को अपनी ब्रह्मिष्ठता के विषय में प्रतिज्ञा करने की सामर्थ्य नहीं हुई । उन ब्राह्मणों को असमर्थ पाने के

---

१. पलेति । "गुञ्जाः पञ्चाद्यमाषकस्ते षोडशाक्षः कर्षोऽस्त्री पलं कर्षचतुष्टयम्" इत्यमरः ॥ आद्यश्चासौ माषक इति शास्त्रीयो माषो नत्वधुनातनो लौकिको ग्राह्यः । पलं तु लौकिकैर्मानैः साष्टरक्ति द्विमाषकम् तोलकत्रितयं ग्राह्य ज्योतिर्ज्ञैः स्मृतिसंमतमित्यपि कश्चित् । २. पूजार्हाः । ३. ब्राह्मणा अनूचाना इत्यर्थः । ४. नयतु ।

होताऽश्वलो बभूव स हैनं पप्रच्छ त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३ इति स होवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयꣳ स्म इति तꣳ ह तत एव प्रष्टुं दध्रे होताऽश्वलः ॥ २ ॥

था। उसने याज्ञवल्क्य से पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! क्या यह सत्य है कि हममें से तुम्हीं सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हो ? याज्ञवल्क्य ने कहा—ब्रह्मनिष्ठ को तो हम नमस्कार करते हैं, इस समय तो हम गौओं की इच्छा वाले हैं। इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ की प्रतिज्ञा वाले उस याज्ञवल्क्य से होता अश्वल ने मन ही मन प्रश्न करने का निश्चय किया ॥२॥

मात्मनः प्रतिज्ञातुं न दधृषुर्न [1]प्रगल्भाः संवृत्ताः। अप्रगल्भभूतेषु ब्राह्मणेष्वथ[2] ह याज्ञवल्क्यः स्वमात्मीयमेव ब्रह्मचारिणमन्तेवासिनमुवाचैता गा हे सोम्योदजोद्गमयास्मद्गृहान्प्रति हे सामश्रवः सामविधिं हि शृणोतीत्यतोऽर्थाच्चतुर्वेदो याज्ञवल्क्यः। ता गा होदाचकारो[3]त्कालितवानाचार्यगृहं प्रति। याज्ञवल्क्येन ब्रह्मिष्ठ[4]पणस्वीकरणेनाऽऽत्मनो ब्रह्मिष्ठता प्रतिज्ञातेति[5] ते ह चुक्रुधुः क्रुद्धवन्तो ब्राह्मणाः। तेषां क्रोधाभिप्रायमाचष्टे। कथं [6]नोऽस्माकमेकैकप्रधानानां[7] ब्रह्मिष्ठोऽस्मीति ब्रुवीतेति[8]। अथ हैवं क्रुद्धेषु ब्राह्मणेषु जनकस्य

जुर्वेदविदः सकाशाद्ब्रह्मचारी सामविधिं शृणोति [9]ऋक्षु चाध्यारूढं [10]साम गीयते त्रिष्वेव च वेदेष्वन्तर्भूतोऽथर्ववेदस्तस्मादर्थाद्यजुर्वेदिनो मुनेः शिष्यस्य सामवेदाध्ययनानुपपत्तेर्वेदचतुष्टयविशिष्टो मुनिरित्याह—अत इति। [11]निमित्तनिवेदनपूर्वकं ब्राह्मणानां सभ्यानां क्रोधप्राप्तिं दर्शयति—याज्ञवल्क्येनेति। क्रोधानन्तर्यमथशब्दार्थं कथयति—क्रुद्धेष्विति। अश्वलप्रश्नस्य प्राथम्ये हेतुः—राजेति।

पश्चात् याज्ञवल्क्य ने "स्वमेव" अपने ही "ब्रह्मचारिणम्" यानी अन्तेवासी को कहा—हे सोम्य ! "उदज" इन गौओं को हमारे घर ले जाओ। "सामश्रवा" पद संबोधन है, सामविधि को श्रवण करने से "सामश्रवा" नाम पड़ा। इससे याज्ञवल्क्य का वेदचतुष्टय का ज्ञाता होना सिद्ध होता है। "ता होदाचकार" अर्थात् तब वह शिष्य उन गौओं को अपने आचार्य याज्ञवल्क्य के घर की ओर ले गया। याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मिष्ठ होने की शर्त का धन स्वीकार कर अपने को ब्रह्मिष्ठ माना है, इससे वे ब्राह्मण "चुक्रुधुः" अर्थात् क्रोधित हो गये। उनके क्रोध का अभिप्राय कहा जाता है। "कथं नः" यानी किसलिए यह

---

१. शक्ताः। २. अनन्तरम्। ३. नीतवान्। ४. धनस्वीकरणेनेति भावः। ५. इतीति—ब्रह्मिष्ठाय निर्दिष्टानां गवामपहरणाद्याज्ञवल्क्ये न स्वात्मनो ब्रह्मिष्ठत्वस्वीकरणादस्माकमब्रह्मिष्ठता प्रतिज्ञाता यत इति मन्वाना इति यावत्। ६. अयम्। ७. अग्रे। ८. अभिप्रायः। ९. ऋग्वेदीयमन्त्रैः संमेल्येति यावत्। १०. तेन मन्त्रजातम्। ११. क्रोधप्राप्तिनिमित्तमिति यावत्।

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं मृत्युनाऽऽप्तꣳ सर्वं मृत्युनाऽभिपन्नं केन यजमानो मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इति होत्रर्त्विजाऽग्निना वाचा वाग्वै यज्ञस्य

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा—यह सब जो मृत्यु के वश में किया हुआ है और मृत्यु से व्याप्त है, उस मृत्यु की व्याप्ति को यजमान किन साधनों के द्वारा पार करता है ? (इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—) वह यजमान होता ऋत्विक्रूप अग्नि से और वाक् से उसे पार कर सकता है। वाक् ही यज्ञ

यजमानस्य होतर्त्विगश्वलो नाम बभूवाऽऽसीत् । स एनं याज्ञवल्क्यं ब्रह्मिष्ठाभिमानी राजाश्रयत्वाच्च धृष्टो याज्ञवल्क्यं पप्रच्छ पृष्टवान्। कथं, त्वं नु खलु [1]नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३ इति प्लुतिर्भर्त्सनार्था। स होवाच याज्ञवल्क्यो नमस्कुर्मो वयं ब्रह्मिष्ठाय। इदानीं गोकामाः स्मो [2]वयमिति तं ब्रह्मिष्ठप्रतिज्ञं सन्तं तत एव ब्रह्मिष्ठपणस्वीकरणात्प्रष्टुं दध्रे धृतवान्मनो होताऽश्वलः ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच [3]तत्र मधुकाण्डे पाङ्क्तेन कर्मणा दर्शनसमुच्चितेन यजमानस्य

याज्ञवल्क्यमित्यनुवादोऽन्वयप्रदर्शनार्थः। प्रश्नमेव प्रश्नपूर्वकं विशदयति—कथमित्यादिना। अनौद्धत्यं ब्रह्मविदो लिङ्गमिति [4]सूचयति—स हेति । किमिति [5]तर्हि स्वगृहं प्रति गावो ब्रह्मिष्ठपणभूता [6]नीतास्तत्राऽऽह—इदानीमिति। न तस्य तादृशी प्रतिज्ञा प्रतिभातीत्याशङ्क्याऽऽह—तत एवेति ॥२॥

[7]तत्र प्रथमं मुनेराभिमुख्यमापादयितुं संबोधयति—याज्ञवल्क्येति। उक्तरीत्याऽश्वलप्रश्ने प्रस्तुते [8]तस्योद्गीथाधिकारेण संगतिमाह—तत्रेति । मधुकाण्डे पूर्वत्र व्याख्याते यदुद्गीथप्रकरणं

याज्ञवल्क्य हम सभी प्रधान ब्रह्मिष्ठों के सामने "मैं ब्रह्मिष्ठ हूँ" ऐसा अपने को कहता है ? इस प्रकार क्रुद्ध हुए ब्राह्मणों में यजमान राजा जनक का "होता" यानी ऋत्विक् अश्वल नाम का ब्राह्मण 'बभूव' अर्थात् था। ब्रह्मिष्ठाभिमानी और राजाश्रय होने से धृष्ट उस अश्वल ने 'एनम्' अर्थात् याज्ञवल्क्य को 'पप्रच्छ' यानी पूछा। हे याज्ञवल्क्य ! हम लोगों के उपस्थित रहते हुए तुम किस प्रकार बड़े ब्रह्मिष्ठ हो गये हो। 'ब्रह्मिष्ठोऽसी३' यहाँ प्लुतप्रयोग भर्त्सनासूचक है। वह याज्ञवल्क्य बोला—हम ब्रह्मिष्ठों को नमस्कार करते हैं। वास्तव में अभी तो हम गौओं की इच्छा वाले हैं। इसी से अपने को ब्रह्मिष्ठ मानने वाले और ब्रह्मिष्ठ होने की शर्त वाला गोधन स्वीकार करने वाले याज्ञवल्क्य से होता अश्वल ने उसकी ब्रह्मिष्ठता पर सन्देह कर "प्रष्टुं दध्रे, अर्थात् पूछने का निश्चय किया ॥२॥

'हे याज्ञवल्क्य' ऐसा उसने सम्बोधन करके कहा। वहाँ मधुकाण्ड में पाङ्क्तकर्म के द्वारा दर्शनसमुच्चित यजमान की मृत्यु का नाश होता है, यह उद्गीथप्रकरण मे संक्षेप से व्याख्यान कर दिया

---

१. अस्माकमग्रे। २. वयमिति—वयं गोकामा एव स्मोऽतो गोग्रहणं कृतवन्त इत्युक्तवन्तमित्यर्थः। ३. अवतरणोक्तार्थम्। ४. सूचयतीति—सूचयन्ती श्रुतिर्याज्ञवल्क्यकृतमुत्तरं दर्शयतीत्यर्थः । ५. ब्रह्मिष्ठस्य नमस्कार्यत्वे । ६. प्रस्थापिताः। ७. प्रष्टव्ये मनसि धृते सति। ८. अश्वलप्रश्नस्य। ९. बृ० उ० १।३।१।

होता तद्येयं वाक्सोऽयमग्निः स होता स मुक्तिः
साऽतिमुक्तिः ॥ ३ ॥

का होता है, यह जो वाणी है; वही यही प्रसिद्ध अधिदैव अग्नि है। वह होतारूप अग्नि मुक्ति है अर्थात् होता को अग्निरूप देखना ही उस मृत्यु से छूटना है। इसीलिये वही अतिमुक्ति है ॥३॥

मृत्योर[1]त्ययो व्याख्यात उद्गीथप्रकरणे संक्षेपतस्तस्यैव परीक्षाविषयोऽयमिति तद्गतदर्शनविशेषार्थोऽयं विस्तर आरभ्यते। यदिदं साधनजातमस्य[2] कर्मण ऋत्विगग्न्यादि *मृत्युना [3]कर्मलक्षणेन [4]स्वाभाविकासङ्गसहितेनाऽऽप्तं [5]व्याप्तं न केवलं व्याप्तमभिपन्नं च मृत्युना

तस्मिन्नासङ्गपाप्मनो मृत्योरत्ययः [6]समुच्चितेन कर्मणा संक्षेपतो व्याख्यात इति संबन्धः। तस्यैवो[7]द्गीथदर्शनस्येति यावत्। परीक्षाविषयो विचारभूमिरयं प्रश्नप्रतिवचनरूपो ग्रन्थ इत्यर्थः। तच्छब्दः समनन्तर[8]निर्दिष्टग्रन्थविषयः। दर्शनमुद्गीथोपासनं तस्य विशेषो वागादेरग्न्याद्यात्मत्वविज्ञानं तत्सिद्ध्यर्थोऽयं प्रक्रमः। एवमवान्तरसंगतिमुक्त्वा प्रश्नाक्षरणि व्याचष्टे—यदिदमिति। मृत्युनाऽऽप्तमित्यनेन मृत्युनाऽभिपन्नमित्यस्य गतार्थत्वमाशङ्क्याऽऽह—न केवलमिति। [9]कर्मणो मृत्युत्वात्तेन मृत्योरत्यया-

गया। उसी प्राणोपासनरूप उद्गीथदर्शन की यह विचारभूमि है, इससे उस मधुकाण्ड में आये हुए दर्शन विशेष अर्थ का यहाँ विस्तार से आरम्भ किया जाता है। 'यदिदम्' अर्थात् इस पाङ्क्तकर्म का ऋत्विक् और अग्न्यादि जो साधनसमूह है, वह स्वाभाविक आसक्तिसहित (ज्ञानहीन केवल) कर्मलक्षण मृत्यु से "आप्तम्" अर्थात् संसृष्ट है। केवल ससृष्ट ही नहीं है, बल्कि मृत्यु के द्वारा "अभिपन्नम्"

---

१. नाशः। २. पाङ्क्तस्य। ३. कर्मेति—ज्ञानहीनेन केवलेन पापमिश्रितेन वा पुण्येनेत्यर्थः। ४. स्वाभाविकेति—अविद्याजनितफलासक्तिप्रयुक्तेनेत्यर्थः। ५. संसृष्टम्। ६. मुख्यप्राणदर्शनसहितेन। ७. प्राणोपासनस्य। ८. मधुकाण्डग्रन्थविषयः। ९. यदि कर्मणैवात्येति मृत्युमिति यदि याज्ञवल्क्यो ब्रूयात्तत्राह—कर्मण इति।

*मृत्युना कर्मलक्षणेनेति। अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"परिच्छेदकृदज्ञानं सासङ्गं मृत्युसंज्ञितम्। केनाऽयं यजमानोऽस्तो मृत्योराप्तेर्विमुच्यते ॥ यन्मर्त्यसाधनं साध्यं मर्त्यं तदपि जायते। साधनानुमितं साध्यं मुक्तिः केनात उच्यते ॥ होत्रर्त्विजाग्निना वाचा मृत्योराप्तेर्विमुच्यते। इति प्रश्नप्रतिवचो याज्ञवल्क्योऽप्युवाच तम् ॥ प्रवक्ता याज्ञवल्क्योऽत्र तं पृच्छन्त्यश्वलादयः। सराजके समाजेऽयं विचारः क्रियते महान् ॥ यजमानस्य येयं वाग्घोता चैतद्द्वयं यदा। अधिदैवात्मना वेत्ति स होतैवंविधो भवेत् ॥ अनन्तविग्रहः सोऽग्निर्होता मृत्योर्यथोदितात्। यजमानस्य मुक्तिः स्यादतिमुक्तिस्तथैव च ॥ आसुरात्साधनाद्दैवप्राप्तिर्मुक्तिरिहोच्यते। साध्यादप्यासुराद्दैवसाध्याप्तिरतिमुक्तिता" ॥ १९-२५ ॥ इति। को मृत्युर्येन ससाधनं कर्म संसृष्टं वशीकृतं च यस्य चाऽऽप्तेर्मुमुक्षेत्यत आह—परिच्छेदेति। ब्रह्मक्षत्त्रादिभेदकारणं भ्रान्तिज्ञानं रागादिसहितं मृत्युरित्यर्थः। केनेत्यादिवाक्यमादत्ते—केनेति। यथोक्तमृत्युनाशे ससाधनं सर्वमेव कर्म त्यक्तं स्यान्न चानतिशयपुमर्थहेतुकर्मत्यागो युक्तस्ततो नायं

वशीकृतं च। केन दर्शनलक्षणेन साधनेन [1]यजमानो मृत्योराप्तिमतीत्य मृत्युगोचरत्वमतिक्रम्य मुच्यते स्वतन्त्रो मृत्योरवशो भवतीत्यर्थः। ननूद्गीथ[2] एवाभिहितं येनातिमुच्यते [3]मुख्यप्राणात्मदर्शनेनेति। बाढमुक्तं योऽनुक्तो विशेषस्तत्र[4] तदर्थोऽयमारम्भ इत्यदोषः।

योगात्तदत्ययसाधनं किंचिद्दर्शनमेव वाच्यमित्याशयेन पृच्छति—केनेति। दर्शनविषयं प्रश्नमाक्षिपति—नन्विति। येन मुख्यप्राणात्मदर्शनेनातिमुच्यते तदुद्गीथप्रक्रियायामेवोक्तं [5]तथाच मृत्योरत्ययोपायस्य विज्ञानस्य निर्ज्ञातत्वात्केनेतिप्रश्नानुपपत्तिरिति योजना। तस्यैव परीक्षाविषयोऽयमित्यादावुक्तमादाय परिहरति—बाढमिति। उद्गीथप्रकरणे वागादेरग्न्याद्यात्मत्वदर्शनरूपो यो विशेषो वक्तव्योऽपि नोक्तस्तदुक्त्यर्थोऽयं प्रश्नप्रतिवचनरूपो ग्रन्थ [6]इति कृत्वा केनेत्यादिप्रश्नोपपत्तिरित्यर्थः।

यानी वश में किया गया है। "केन" यानी किस दर्शनलक्षण साधन से (साधनसहित कर्म का कर्ता) यजमान "मृत्योराप्तिर्मातिमुच्यते" अर्थात् मृत्युगोचरता का अतिक्रमण करके स्वतन्त्र यानी मृत्यु के अधीन नहीं रहता। (इस पर पूर्ववादी दर्शनविषयक आक्षेप करता है—) किन्तु जिस मुख्यप्राणोपासन से मुक्त हो जाता है, उसका व्याख्यान तो उद्गीथब्राह्मण में ही कर दिया गया है। (शङ्का का समाधान किया जाता है—) ठीक ही है। वहाँ वर्णन तो अवश्य है; किन्तु जिस विशेष का वहाँ वर्णन नहीं किया, उसके लिए इस ग्रन्थ का प्रारम्भ हो जाने में कोई दोष नहीं है।

---

[1] ससाधनस्य कर्मणः कर्ता। [2] ब्राह्मणे। [3] तन्मुख्यप्राणोपासनमिति इतिशब्दार्थः। [4] उद्गीथब्राह्मणे। [5] उक्तत्वे च। [6] इति मनसि निधायेत्यर्थः।

प्रश्नो युज्यते तत्राऽऽह—यन्मर्त्येति। हेतोर्नाशित्वेऽपि फलस्यानाशित्वं मोक्षवदित्याशङ्क्याऽऽह—साधनेति। कारणानुसारित्वात्कार्यस्य मुक्तेश्चाकार्यत्वान्नाशित्वं साध्यस्यावश्यंभावीति भावः। सहेतुफलस्य कर्मणो नाशित्वेन त्याज्यत्वात्तद्व्यापकस्य मृत्योरत्ययोपायो वाच्य इति प्रश्नं निगमयति—मुक्तिरिति॥ परिहारमवतारयति—होत्रेति। तमित्यश्वलस्य निर्देशः॥ अथाश्वलो याज्ञवल्क्यं जेतुं जल्पेन प्रवृत्तस्तत्र तेनापि तेनैव च्छलादि प्रयोक्तुं युक्तमहृदयवाचामहृदया एव प्रतिवाचो भवन्तीति न्यायादतो यथातत्त्वं प्रतिवचनमनुचितं जल्पस्य तत्त्वनिर्णयफलत्वानुपपत्तेस्तत्राऽऽह—प्रवक्तेति। अत्रेति जल्पकथोक्तिः। विचारस्य महत्त्वं तत्त्वनिर्णयफलत्वम्। ज्ञानवतामेवाश्वलादीनां जयादिविवक्षया प्रश्नदर्शनादुत्तरत्र निग्रहोद्भावनाच्च भवत्येषा जल्पकथा साऽपि कदाचिन्महाजनपरिगृहीता तत्त्वनिर्णयं फलति। उक्तं हि—तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवदिति। वात्स्यायनश्चाऽऽह—तानि हि प्रयुज्यमानानि परपक्षविघातेन स्वपक्षं रक्षन्तीति। अन्योऽप्याह—तत्त्वसंरक्षणार्थत्वान्नासदाचार इति। अतो वादवज्जल्पोऽपि कदाचित्तत्त्वनिर्णायक इति भावः॥ वाग्वै यज्ञस्येत्यादेरर्थमाह—यजमानस्येति। अध्यात्मं यजमानस्य वागधियज्ञं होता चेति द्वयमग्निरूपेण यदा होता ध्यायति तदा स यजमानस्याऽऽत्मश्च मृत्युनाशे हेतुः स्यादित्यर्थः॥ स मुक्तिरित्याद्यवतारयति—अनन्तेति॥ ज्ञानहीनात्केवलात्पापमिश्रिताद्वा पुण्यात्कर्मणः सूत्राद्याप्तिहेतोः समुच्चयस्याऽऽप्तिरत्र मुक्तिरित्यर्थः। अतिमुक्तिशब्दार्थमाह—साध्यादिति। आसुरसाधनफलात्स्वर्गादेर्दैवसाधनफलस्य सूत्रादेराप्तिरत्रातिमुक्तिरित्यर्थः॥

होत्रर्त्विजाऽग्निना वाचेत्याह याज्ञवल्क्यः । [1]एतस्यार्थं व्याचष्टे । कः पुनर्होता येन मृत्युमतिक्रामतीति । उच्यते—वाग्वै यज्ञस्य यजमानस्य "यज्ञो वै यजमानः" इति श्रुतेः । यज्ञस्य यजमानस्य याऽध्यात्मं वाक्सैव होता[2]ऽधियज्ञे । कथं [3]तत्तत्र येयं वाग्यज्ञस्य यजमानस्य सोऽयं प्रसिद्धोऽग्निरधिदैवतम् । [4]तदेत[5]त्त्र्यन्नप्रकरणे व्याख्यातम्[6] । [7]स चाग्निर्होता "अग्निर्वै होता" इति श्रुतेः । यदेतद्यज्ञस्य साधनद्वयंहोता चर्त्विगधियज्ञमध्यात्मं च वागेतदुभयं साधनद्वयं परिच्छिन्नं मृत्युनाऽऽप्तं [8]स्वाभाविकाज्ञानासङ्गप्रयुक्तेन कर्मणा मृत्युना प्रतिक्षणमन्यथात्वमापाद्यमानं वशीकृतम् । [9]तदनेनाधिदैवतरूपेणाग्निना [10]दृश्यमानं यजमानस्य यज्ञस्य मृत्योरतिमुक्तये भवति । [11]तदेतदाह—स मुक्तिः स[12] होताऽग्निर्मुक्ति-

कीदृक्पुनर्दर्शनं मृत्युजयसाधनं होत्रे[13]त्यादावुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—एतस्येति । व्याचष्टे वाग्वै यज्ञस्येत्यादिनेति शेषः । व्याख्यानमेव विशदयितुं पृच्छति—कः पुनरिति । [14]दर्शनविषयं दर्शयन्नुत्तरमाह—उच्यत इति । यज्ञशब्दस्य यजमाने वृद्धप्रयोगो नास्तीत्याशङ्क्याऽऽह—यज्ञ इति । यजमानस्य या वागध्यात्मं सैवाधियज्ञे होताऽस्तु [15]तथाऽपि कथं तयो[16]र्देवतात्मना दर्शनमित्याह—कथमिति । तयोरग्न्यात्मना दर्शनमुत्तरवाक्यावष्टम्भेन व्याचष्टे—तत्तत्रेति । कथं पुनर्वागग्न्योरेकत्वं तदाह—तदेतदिति । तयोरेकत्वेऽपि कुतो होतु[17]स्तदैक्यमित्याशङ्क्याऽऽह—स चेति । स मुक्तिरित्येतदवतारयितुं भूमिकां करोति—यदेतदिति । न केवलमेतदुभयं मृत्युना संस्पृष्टमेव किंतु तेन वशीकृतं चेत्याह—स्वाभाविकेति । मृत्युनाऽऽप्तं मृत्युनाऽभिपन्नमित्यनयोरर्थमनूद्य होत्रेत्यादेरर्थमनुवदति—तदनेनेति । साधनद्वयं तच्छब्दार्थः । यजमानग्रहणं होतुरुपलक्षणम् । [18]उक्तेऽर्थे समनन्तरवाक्यमवतार्य[19] व्याकरोति

याज्ञवल्क्य बोला—होता ऋत्विक्रूप अग्नि और वाक् से उसका अतिक्रमण किया जा सकता है। इसी वाक्य का अर्थ स्पष्ट किया जाता है—परन्तु वह होता कौन है, जिसके द्वारा मृत्यु का अतिक्रमण करता है ? इस पर श्रुति कहती है—वाक् ही "यज्ञस्य" अर्थात् यजमान की होता है। "यज्ञ ही यजमान है" ऐसी श्रुति भी (यज्ञके यजमानार्थक होने में) प्रमाण है। यज्ञ अथवा यजमान की जो वाणी होती है, वही यज्ञ के समीप होती है। ऐसा कैसे कहते हो? (वाक् और होता के एकरूप होने पर) वहाँ जो यह यज्ञ अथवा यजमान की वाणी है, वही प्रसिद्ध अधिदैव अग्नि है। वह (वाक् और अग्नि का एकत्व) त्र्यन्नप्रकरण में पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है। वाक् से एकता को प्राप्त वह अग्नि ही होता है, "अग्नि ही होता है" इत्यादि श्रुतिवाक्य इसमें प्रमाण हैं। इस प्रकार यज्ञ के जो दो साधन हैं, होता और ऋत्विक; अधियज्ञ एवं अधिदैवत वाक् हैं; ये दोनों साधनपरिच्छिन्न, मृत्यु से व्याप्त एवं अनादि

---

१. वाक्यस्य । २. यज्ञे इति अधियज्ञं तस्मिन् यज्ञे इत्यर्थः । ३. वाग्घोत्रोरेकत्वे सति । ४. वागग्न्योरेकत्वम् । ५. बृ० उ० १।५।३ । ६. बृ० उ० १।५।१० । ७. वागैक्यमापन्नः । ८. अनाद्यज्ञानजन्यफलासक्तिप्रयुक्तेनेत्यर्थः । ९. अध्यात्माधियज्ञीयवाग्घोतृलक्षणं साधनद्वयम् । १०. अग्न्यात्मनोपास्यमानम् । ११. भूमिकोक्तमर्थजातम् । १२. स होताऽग्निरिति—स होताऽग्निरूपेण दृष्टो मुक्तिः । १३. वाक्ये । १४. उपास्तेर्विषयम् । १५. वाग्घोत्रोरेकत्वेऽपि । १६. अग्निरूपेण । १७. अग्न्यैक्यम् । १८. भूमिकोक्तेऽर्थे । १९. संयोज्य ।

[1]रग्निस्वरूपदर्शनमेव मुक्तिः । यदैव साधनद्वयमग्निरूपेण [2]पश्यति तदानीमेव हि स्वाभाविकादासङ्गान्मृत्योर्विमुच्यत आध्यात्मिकात्परिच्छिन्नरूपादाधिभौतिकाच्च । [3]तस्मात्स होताऽग्निरूपेण दृष्टो मुक्तिर्मुक्तिसाधनं यजमानस्य ।

साऽतिमुक्तिः । [4]यैव च मुक्तिः [5]साऽतिमुक्तिर[6]तिमुक्तिसाधनमित्यर्थः । [7]साधनद्वयस्य परिच्छिन्नस्य याऽधिदेवतारूपेणापरिच्छिन्नेनाग्निरूपेण दृष्टिः सा मुक्तिः । याऽसौ मुक्तिरधिदेवतादृष्टिः सैवाध्यात्माधिभूत[8]परिच्छेदविषयासङ्गास्पदं मृत्युमतिक्रम्याधिदेवतात्वस्या[9]ग्निभावस्य [10]प्राप्तिर्या फलभूता साऽतिमुक्तिरित्युच्यते । [11]तस्या अतिमुक्तेर्मुक्तिरेव

—तदेतदाहेति । मुक्तिशब्दस्तत्साधनविषयः । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—अग्निस्वरूपेति । वाचो होतुश्चाग्निस्वरूपेण दर्शनमेव मुक्तिहेतुरिति यावत् । [12]उक्तमर्थं प्रपञ्चयति—यदैवेति । स मुक्तिरित्यस्यार्थमुपसंहरति—तस्मादिति ।

वाक्यान्तरं समुत्थाप्य व्याचष्टे—साऽतिमुक्तिरिति । मुक्त्यतिमुक्त्योर[13]संकीर्णत्वं दर्शयति—साधनद्वयस्येति । प्राप्तिरतिमुक्तिरिति संबन्धः । तामेव संगृह्णाति—या फलभूतेति । फलभूतायामग्न्यादिदेवताप्राप्तौ कथमतिमुक्तिशब्दोपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—तस्या इति । ननु वागादीनामग्न्यादि-

---

अज्ञानजन्य फलासक्ति से प्रेरित कर्मरूप मृत्यु से प्रतिक्षण अन्यथात्व को प्राप्त हो वशीकृत हो रहे हैं। वे साधनद्वय (अग्न्यात्मकरूप से) उपासित होने पर होता यजमान के यज्ञ के इस अधिदैवतरूप अग्नि के द्वारा मृत्यु का अतिक्रमण करने के लिए होते हैं। इसी प्रसंग में श्रुति कहती है—"स मुक्तिः" अर्थात् वह मुक्ति है। वह होतारूप अग्नि मुक्ति है अर्थात् होता की अग्निरूप से उपासना करना ही मुक्ति है। जिस समय भी यजमान साधनद्वय की अग्निरूप से उपासना करता है, उसी समय ही वह स्वाभाविक आसक्तिरूप मृत्यु से आध्यात्मिक और आधिभौतिक परिच्छिन्नरूप से मुक्त हो जाता है। इसलिए अग्निरूप से उपासित हुआ वह होता यजमान की "मुक्तिः" अर्थात् मुक्ति का साधन है।

जो मुक्ति है, वही अतिमुक्ति है, उक्तरूपा मुक्ति ही (वागादिफलरूपा अग्न्यादिभावापत्तिरूपा) अतिमुक्ति का साधन है। वाक् और होतृलक्षण साधनद्वय परिच्छिन्न की अधिदेवरूप अपरिच्छिन्न अग्निरूप से जो दृष्टि है, वही मुक्ति है। यह जो अधिदेवता-दृष्टिरूपा मुक्ति है, वही अध्यात्म व अधिभूत परिच्छिन्नविषयासङ्गरूप मृत्यु को अतिक्रमण करके फलभूता अधिदेवतात्व (देवान्तर उपलक्षण वाले वागादिकों) की अग्निभावप्राप्ति है; वही अतिमुक्ति कही जाती है। उस (फलभूता) अतिमुक्ति का साधन मुक्ति ही है, ऐसी व्युत्पत्ति से वह अतिमुक्ति है—ऐसा कहा गया है।

---

[1] मृत्योरतिक्रमणरूपयुक्तेः साधनमित्यभिप्रेत्याह—अग्निस्वरूपेति । [2] होता । [3] तस्मादिति—स मुक्तिरिति वाक्ये सशब्दस्याग्निरूपेण दृष्टहोतृविषयत्वात् । मुक्तिशब्दस्य च तत्साधनविषयत्वाच्चेत्यर्थः । [4] सैवेत्यन्वयः । [5] उक्तरूपा मुक्तिरेव । [6] अतीति—वागादीनां फलरूपाग्न्यादिभावापत्तिरूपातिमुक्तेः साधनमित्यर्थः । [7] वाग्घोतृलक्षणस्य । [8] परिच्छिन्नविषयासङ्गरूपमित्यर्थः । [9] देवान्तरोपलक्षणमिदम् । [10] वागादीनाम् । [11] फलभूतायाः । [12] स मुक्तिरित्येतस्यार्थम् । [13] विभक्तत्वम् ।

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वमहोरात्राभ्या[1]माप्तꣳ सर्वमहोरात्राभ्याम[2]भिपन्नं [3]केन यजमानो[4]ऽहोरात्रयो[5]राप्तिमतिमुच्यत इत्य[6]ध्वर्यु[7]णर्त्विजा

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा यह जो कुछ दृश्यमान जगत् है, सभी दिन और रात्रि से व्याप्त है। अतएव सभी दिन और रात्रि के अधीन है, ऐसी दशा में किस साधन से यजमान अहोरात्र के परिच्छेद को पार कर सकता है। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—अध्वर्यु, ऋत्विक् और नेत्ररूप आदित्य

साधनमिति[8] कृत्वा साऽतिमुक्तिरित्याह। ‘यजमानस्य ह्यतिमुक्तिर्वागादीनामग्न्यादिभाव इत्युद्गीथप्रकरणे[9] व्याख्यातम्। [10]तत्र [11]सामान्येन मुख्यप्राणदर्शनमात्रं मुक्तिसाधनमुक्तं न [12]तद्विशेषो, [13]वागादीनामग्न्यादिदर्शनमिह तद्विशेषो वर्ण्यते। मृत्युप्राप्त्यतिमुक्तिस्तु सैव फलभूता योद्गीथब्राह्मणेन व्याख्याता मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यत[14] इत्याद्या ॥३॥

याज्ञवल्क्येति होवाच। [15]स्वाभाविकाद[16]ज्ञानासङ्गप्रयुक्तात्कर्मलक्षणान्मृत्योरति-

भावोऽत्र श्रूयते यजमानस्य तु न किंचिदुच्यते तत्राऽऽह—यजमानस्येति। तर्हि तेनैव गतार्थत्वादनर्थकमिदं ब्राह्मणमित्याशङ्क्य [17]बाढमित्यादिनोक्तं स्मारयति—तत्रेति। दर्शनवत्फलेऽपि विशेषः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—मृत्युप्राप्तीति ॥३॥

प्रश्नान्तरमवतार्य तात्पर्यमाह—याज्ञवल्क्येति। आश्रयभूतानि कानि तानीत्याशङ्क्याऽऽह—

“वागादि का अग्न्यादिभाव यजमान की अतिमुक्ति है”—इसका व्याख्यान पहले ही उद्गीथप्रकरण में

---

१. व्याप्तम्। २. न केवलमाप्तमपितु वशीकृतम्। ३. दर्शनात्मकसाधनेन। ४. अहोरात्ररूपमृत्योः। ५. आप्तिमिति—प्राप्तिमतीत्य उक्तमृत्युगोचरतामतिक्रम्य मुच्यते स्वतन्त्रो भवतीत्यर्थः। ६. यजमानचक्षुरध्वर्य्वोरादित्यात्मनाऽध्वर्युकर्तृकं ध्यानं मृत्व्यतिक्रमसाधनमित्युत्तरमाह—अध्वर्युणेति। यजमानस्याध्यात्मचक्षुरधियज्ञमध्वर्युश्चेत्युभयमनवच्छिन्नस्सर्वावितैवेति साक्षाद्ध्यायन्नध्वर्युः स्वयमहोरात्राख्यान्मृत्योर्मुच्यते यजमानं च मोचयतीत्युत्तरवाक्यार्थं श्रुतिः स्वयमेव व्याचष्टे—चक्षुर्वा इत्यादिना। यज्ञस्य यजमानस्य यदध्यात्मं चक्षुस्तदेवाधियज्ञेऽध्वर्युः। तत् तत्रैवं सति यदिदं यजमानस्य चक्षुः सः प्रसिद्धोऽसावधिदैवतरूप आदित्यः। स एव चक्षुषैक्यमापन्न आदित्योऽध्वर्युः सोऽध्वर्युरादित्यरूपेण दृष्टो मुक्तिमृत्योरतिक्रमणरूपमुक्तेः साधनम्। सोक्तरूपा मुक्तिरतिमुक्तिफलरूपादित्यादिभावापत्तिरूपातिमुक्तेः साधनमित्यर्थः। ७. मुक्तेरधिकेति व्युत्पत्त्या फलं हि साधनतो ज्यायः। ८. यजमानस्येति—तथा चाध्यात्माधियज्ञीयसाधनद्वयस्य वाग्घोतृलक्षणस्य परिच्छिन्नस्यापरिच्छिन्नाधिदैवताग्निरूपेण, अहमपरिच्छिन्नाग्न्यात्मकयजमानवाग्रूपोऽग्निरित्येतादृशी यज्ञसमये होत्रा क्रियमाणा दृष्टिर्यजमानस्याध्यात्मपरिच्छेदरूपमृत्युमतिक्रम्य फलभूताग्न्यादिभावापत्तिरूपातिमुक्तिसाधनमित्यर्थः सम्पन्नः। ९. बृ० उ० १।३।१६। १०. उद्गीथब्राह्मणे। ११. वागादेरग्न्याद्यात्मत्वदर्शनराहित्येन। १२. तस्य प्राणदर्शनस्य विशेष इति भावः। १३. विशेषमेवाह—वागादीनामिति। १४. बृ० उ० १।३।१२। १५. अनाद्यविद्याजनितात्। १६. अज्ञानप्रयुक्तो य आसङ्गः फलाभिलाषस्तत्प्रयुक्तादिति। १७. बृ० उ० ३।१।३।

चक्षुषाऽऽदित्येन चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षुः सोऽसावादित्यः सोऽध्वर्युः स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥ ४ ॥

के द्वारा अधिभूत परिच्छेद को पार कर सकता है। नेत्र ही यज्ञ का अध्वर्यु है। अतः यह जो नेत्र है, वह यह आदित्य है तथा वह अध्वर्यु है, वह मुक्ति है अर्थात् आदित्य-रूप से देखा हुआ वह अध्वर्यु मुक्ति है और वही अतिमुक्ति भी है।।४।।

मुक्तिर्व्याख्याता। तस्य कर्मणः सासङ्गस्य मृत्योराश्रयभूतानां दर्शपूर्णमासादि[1]कर्मसाधनानां यो विपरिणामहेतुः कालस्तस्मात्काला[2]त्पृथगतिमुक्तिर्वक्तव्येतीदमारभ्यते। [3]क्रियानुष्ठानव्यतिरेकेणापि प्रागूर्ध्वं च क्रियायाः साधनविपरिणामहेतुत्वेन व्यापारदर्शनात्कालस्य। [4]तस्मात्पृथक्कालादतिमुक्तिर्वक्तव्येत्यत आह—यदिदं सर्वमहोरात्राभ्यामाप्तं स च कालो

दर्शपूर्णमासादीति। **प्रतिक्षणमन्यथात्वं विपरिणामः। अग्न्यादिसाधनान्याश्रित्य काम्यं कर्म मृत्युशब्दितमुत्पद्यते तेषां साधनानां विपरिणामहेतुत्वात्कालो मृत्यु[5]स्ततोऽतिमुक्तिर्वक्तव्येत्युत्तरग्रन्थारम्भ इत्यर्थः। कर्मणो मुक्तिरुक्ता चेत्कालादपि सोक्तैव [6]तस्य [7]कर्मान्तर्भावेन मृत्युत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—पृथगिति। कर्मनिरपेक्षतया कालस्य मृत्युत्वं व्युत्पादयति—क्रियेति। कालस्य पृथङ्मृत्युत्वे सिद्धे**

हो चुका है। वहाँ मुख्य प्राणदर्शनमात्र को ही (वागादि के अग्न्याद्यात्मत्व दर्शनराहित्य) सामान्य से मुक्ति का साधन कहा गया है; उस प्राणदर्शन का विशेष नहीं है। वागादि का अग्न्यादिदर्शन करना ही यहाँ विशेष का लक्षण किया गया है। किन्तु उसकी फलभूता मृत्युप्राप्ति से जो अतिमुक्ति है, वह वही है, जिसकी उद्गीथब्राह्मण के द्वारा "वह यह अग्नि परिच्छिन्न मृत्यु से परे परिच्छिन्नत्व मृत्यु को पार कर देदीप्यमान है" इस प्रकार व्याख्या की गई है।।३।।

'हे याज्ञवल्क्य!' ऐसा अश्वल ने कहा। अनादि अविद्याजनित फलाभिलाषा से प्रेरित कर्मरूप मृत्यु से अतिमुक्ति की व्याख्या कर दी गई। उस फलाभिलाषा सहित कर्मरूप मृत्यु के आश्रयभूत दर्श और पूर्णमास आदि कर्मों के साधनों के प्रतिक्षण अन्यथाभाव का जो हेतु काल है, उस काल से कर्मनिरपेक्ष अतिमुक्ति कहनी चाहिये, इसलिए आगे का ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है। कर्मानुष्ठान के अभाव होने पर भी कर्म के पूर्व-पश्चात् उसके साधनों के प्रतिक्षण अन्यथाभाव के हेतुरूप से काल का व्यापार देखा जाता है। इसलिये काल से पृथक् अतिमुक्ति का वर्णन करना आवश्यक है। इसपर श्रुति

---

१. कर्मेति। कर्मणां साधनानि—वह्निहविःकर्त्रादिकारकाणि तेषां यो विपरिणामः प्रतिक्षणमन्यथाभावस्तद्धेतुरित्यर्थः। २. कर्मनैरपेक्ष्येण। ३. क्रियेति—कर्मानुष्ठानाभावेऽपि तदनुष्ठानाभावसमयेऽपीति यावत्। तदेव विशदयति— प्रागित्यादिना। तदनुष्ठानसमयं दृष्टान्तयितुमपिशब्दः। प्रागूर्ध्वं चेति चकारोऽपि तत्समुच्चयार्थः। ४. तस्मादिति—कालस्य सर्वकर्मसाधनक्षपयितृत्वेन कर्मनिरपेक्षमृत्युत्वादित्यर्थः। ५. कालान्मृत्योः। ६. कालस्य। ७. कर्मद्वारा।

द्विरूपोऽहोरात्रादिलक्षणस्तिथ्यादिलक्षणश्च । [1]तत्राहोरात्रादि[2]लक्षणात्तावदतिमुक्तिमाह—अहोरात्राभ्यां हि [3]सर्वं जायते वर्धते [4]विनश्यति च । तथा यज्ञसाधनं च । यज्ञस्य यजमानस्य चक्षुरध्वर्युश्च शिष्टान्यक्षराणि [5]पूर्ववन्नेयानि । यजमानस्य चक्षुरध्वर्युश्च साधनद्वयमध्यात्माधिभूतपरिच्छेदं हित्वा[6]ऽधिदैवतात्मना [7]दृष्टं यत्स मुक्तिः सोऽध्वर्युरादित्यभावेन दृष्टो मुक्तिः सैव मुक्तिरेवातिमुक्तिरिति पूर्ववदादित्यात्मभावमापन्नस्य हि नाहोरात्रे संभवतः ॥४॥

फलितमाह—तस्मादिति । [8]उत्तरग्रन्थस्यप्रश्नयोर्विषयं [9]भेत्तुं कालं भिनत्ति—स चेति । आदित्यश्चन्द्रश्चेति कर्तृभेदाद्द्वैविध्यमुन्नेयम्[10] । कालस्य द्वैरूप्ये सत्याद्यकण्डिकाविषयमाह—तत्रेति । अहोरात्रयोर्मृत्युत्वे सिद्धे ताभ्यामतिमुक्तिर्वक्तव्या [11]तदेव कथमित्याशङ्क्याऽऽह—अहोरात्राभ्यामिति । यज्ञसाधनं च तथा ताभ्यां जायते वर्धते नश्यति चेति संबन्धः । [12]प्रतिवचनव्याख्याने यज्ञशब्दार्थमाह—यजमानस्येति । स मुक्तिरित्यस्य तात्पर्यार्थमाह—यजमानस्येत्यादिना । [13]तस्यैवाक्षरार्थं कथयति—सोऽध्वर्युरिति । यथोक्त[14]रीत्याऽऽदित्या[15]त्मत्वेऽपि कथमहोरात्रलक्षणान्मृत्योरतिमुक्तिरत आह—आदित्येति । 'नोदेता [16]नास्तमेता' इत्यादिश्रुतेरादित्ये वस्तुतो नाहोरात्रे स्तः । तथा च[17] तदात्मनि विदुष्यपि न ते संभवत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

कहती है—"यह जो कुछ दृश्यमान जगत् है, सभी कुछ दिन और रात्रि से व्याप्त है" । उस काल के दो रूप हैं; अहोरात्रादिसंज्ञक और तिथ्यादिसंज्ञक । उन दोनों में अहोरात्रादिसंज्ञक (कालरूप मृत्यु) से अतिमुक्ति बतलायी जाती है—अहोरात्र से यज्ञादिकर्म की उत्पत्ति, वृद्धि और विनाश होता है । उसी प्रकार यज्ञ के साधन भी अहोरात्र से उत्पत्ति एवं वृद्धि को प्राप्त होते हैं तथा विनष्ट हो जाते हैं । चक्षु यज्ञ अथवा यजमान के अध्वर्यु हैं, शेष अक्षरों की पूर्ववत् योजना कर लेनी चाहिये । यजमान के नेत्र और अध्वर्यु ये दोनों साधन अध्यात्म और अधिभूत परिच्छिन्न को त्याग कर अधिदैव (आदित्य) रूप से अध्वर्यु के द्वारा देखे जाते हैं, वह मुक्ति है । आदित्यभाव से देखा गया वह अध्वर्यु मुक्ति ही है । पूर्वमन्त्र के समान वह मुक्ति ही अतिमुक्ति है; क्योंकि आदित्यभाव को प्राप्त हुए पुरुष के लिए अहोरात्र सम्भव नहीं हैं ॥४॥

---

१. द्वयोर्मध्ये । २. कालरूपमृत्योः । ३. यज्ञादिकर्म । ४. विनश्यतीति वार्तिके स्पष्टम्—"उपस्थापयतः कर्म तथा क्षपयतो यतः । अहोरात्रे ततो मृत्युस्ताभ्यां मुक्तिः कुतो भवेदिति" ॥ ३२ ॥ ५. पूर्ववदिति—ममाध्वर्योः सम्बन्धी योऽयमात्मा यजमानस्तदवयवश्चक्षुरहं चाध्वर्युरित्युभयमंशुमानेवेति साक्षाद्ध्यानं कृत्वा यदाऽध्वर्युस्तिष्ठति तदा यजमानोऽध्वर्युश्चाहोरात्राख्यमृत्योर्मुच्यत इति योज्यानीत्यर्थः । वार्तिके यथा—"आत्माऽवयव एवाऽयं सूर्यश्चक्षुर्ममांशुमान् । अध्वर्युरहमेवेति साक्षात्कृत्वा विमुच्यते" ॥ ३४ ॥ इति । ६. आदित्यरूपेण । ७. अध्वर्युणा । ८. उत्तरग्रन्थेति—चतुर्थपञ्चमकण्डिकारूपोत्तरग्रन्थेत्यर्थः । ९. भेत्तुं कण्डिकाद्वयमादत्त इति पाठान्तरम् । १०. आरोपितं ज्ञेयम् । ११. तदेवेति—अहोरात्रयोर्मृत्युत्वमेवेत्यर्थः । १२. प्रतिवचनेति—श्रुतौ यद् अध्वर्युणेत्यादि याज्ञवल्कीयोत्तरवाक्यं तद्व्याख्यानरूपं यच्चक्षुर्वा इत्यादिवाक्यं तत्स्थयज्ञशब्देत्यर्थः । १३. स मुक्तिरिति वाक्यस्य । १४. उपास्त्या । १५. विदुषः । १६. छा० उ० ३।११।१ । १७. आदित्ये तयोर्वस्तुतोऽभावे च ।

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदँसर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामाप्तँ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामभिपन्नं केन

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा—यह जो कुछ जगत् है, सब चन्द्र के पूर्वपक्ष और अपरपक्ष से व्याप्त है। सब पूर्वपक्ष तथा अपरपक्ष के वश में किया हुआ है। इस पूर्वपक्ष और अपरपक्ष की व्याप्ति को

इदानीं तिथ्यादि[1]लक्षणादतिमुक्तिरुच्यते—यदिदं सर्वमहोरात्रयोरविशिष्टयोरादित्यः कर्ता न प्रतिपदादीनां तिथीनाम् । तासां तु वृद्धिक्षयो[2]पगमनेन प्रतिपत्प्रभृतीनां [3]चन्द्रमाः [4]कर्ता । [5]अतस्तदापत्त्या पूर्वपक्षापरपक्षात्यय आदित्यापत्त्याऽहोरात्रात्ययवत् । [6]तत्र यजमानस्य प्राणो वायुः । [7]स एवोद्गातेत्यु[8]द्गीथब्राह्मणे[9]ऽवगतं [10]वाचा च [11]ह्येव

कण्डिकान्तरस्य तात्पर्यमाह—इदानीमिति । नन्वहोरात्रादिलक्षणे काले तिथ्यादिलक्षणस्य कालस्यान्तर्भावात्ततोऽतिमुक्तावुक्तायां तिथ्यादिलक्षणादपि कालादसावुक्तंवेति कृतं पृथगारम्भेणेति तत्राऽऽह—अहोरात्रयोरिति । अविशिष्टयोर्वृद्धिक्षयशून्ययोरिति यावत् । कथं [12]तर्हि तिथ्यादिलक्षणात्कालादतिमुक्तिरत आह—अतस्तदापत्त्येति । चन्द्रप्राप्त्या [13]तिथ्याद्यत्ययो माध्यंदिनश्रुत्योच्यते काण्वश्रुत्या तु वायुभावापत्त्या तदत्यय उक्तः । [14]तथाच श्रुत्योर्विरोधे कः समाधिरित्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति । काण्वश्रुताविति यावत् । उद्गातुरपि प्राणात्मकवायुरूपत्वं [15]श्रुतिद्वयानुसारेण दर्शयति—स एवेति । न केवलमुद्गातुः प्राणत्वं प्रतिज्ञामात्रेण प्रतिपन्नं किंतु विचार्य निर्धारितं चेत्याह—

अब तिथ्यादिसंज्ञक काल से (मृत्यु की) अतिमुक्ति का वर्णन श्रुति करती है—यह जो कुछ दृश्यमान जगत् है, ये जो वृद्धि और क्षयशून्य अविशिष्ट अहोरात्र है, उन सब का कर्ता आदित्य है; प्रतिपदादि तिथियों का कर्ता नहीं है। उनके वृद्धि व क्षय होने से प्रतिपदादि तिथियों का कर्ता चन्द्रमा है। इसलिए आदित्यभाव की प्राप्ति से जैसे अहोरात्र का अतिक्रमण हो जाता है; उसी प्रकार चन्द्रभाव की प्राप्ति से पूर्वपक्ष और अपरपक्ष का अतिक्रमण हो जाता है। वहाँ यजमान की वायु प्राण है।

---

१. कालान्मृत्योः । २. सत्त्वेन । ३. चन्द्रमसि वृद्धिह्रासयो र्भावात्तिथीनामपि तयोः सत्त्वात् सादृश्यात्स तत्कर्तेत्याह—चन्द्रमा इति । ४. वृद्धिह्रासभाक्त्वसादृश्यादिति भावः । ५. यदिदं सर्वं पूर्वपक्षेत्यादिप्रश्ने ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेणेति माध्यंदिनश्रुत्या तावदुत्तरमाह—अतस्तदापत्त्येति । चन्द्रात्मना ब्रह्मणो मनसश्च ध्यानातिथ्यात्मकपक्षद्वयरूपमृत्योर्यजमानो ब्रह्मा च मुच्यत इत्यर्थः । अतः तिथीनां चन्द्रकर्तृकत्वात् । तदापत्त्या—चन्द्रप्राप्त्या । ६. तत्रेति—उद्गात्रर्त्विजा वायुना प्राणेनेति प्रकृतकाण्वश्रुतौ । वायुशब्देन यजमानस्य प्राण उच्यत इत्यर्थ इत्याहुः । वस्तुतस्तु यजमानप्राणो वाय्वभिन्नो विवक्षित इत्यर्थो भाति । ७. वाय्वात्मकं प्राण एव । ८. बृ० उ० १।३।७ । ९. अवगतमिति—तेभ्य एष प्राण उदगायदिति श्रुतेरिति शेषः । श्रुतिश्चेयम् बृ० उ० १।३।७ । १०. वाचा चेति—स उद्गाता अयास्योपासनया तद्रूपभूतो वाचा प्राणप्रधानया प्राणेन च स्वात्मभूतेन ह्येवोदगायदित्यर्थः । ११. बृ० उ० १।३।२४ । १२. तिथीनां चन्द्रकर्तृकत्वेऽपि । १३. तिथ्याद्यत्ययो माध्यंदिनश्रुत्येति—तत्र यजमानप्राणोद्गात्रोर्वायुदृष्टयाऽनन्तरकण्डिकोक्तप्रश्नोत्तरत्वेन ब्रह्मलोकप्राप्तेरभिहितत्वादिति भावः । १४. उक्तरीत्या । १५. तेभ्य एष इत्यादि, वाचेत्याद्युद्गीथीयश्रुतिद्वयानुसारेणेति ।

यजमानः पूर्वपक्षापरपक्षयोराप्तिमतिमुच्यत इत्युद्गात्रर्त्विजा वायुना प्राणेन प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता तद्योऽयं प्राणः स वायुः स उद्गाता स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥ ५ ॥

यजमान किस साधन से पारकर मुक्त होता है ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—उद्गाता, ऋत्विक् से और वायुरूप प्राण से उसका अतिक्रमण होता है क्योंकि निश्चित ही उद्गाता यज्ञ का प्राण है और यह जो प्राण है, वही वायु है, वही उद्गाता है, वही मुक्ति और वही अतिमुक्ति भी है ॥५॥

स प्राणेन चोदगायदिति च निर्धारितम् । '[1]अथैतस्य प्राणस्याऽऽपः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्र '[2]इति च । प्राणवायुचन्द्रमसामेकत्वा[3]च्चन्द्रमसा [4]वायुना चोपसंहारे[5] न कश्चिद्विशेष [6]एवंमन्यमाना श्रुतिर्वायुनाऽधिदैवतरूपेणोपसंहरति[7] । अपि च वायुनिमित्तौ हि वृद्धिक्षयौ

वाचेति । प्राणचन्द्रमसोश्चैकत्वं सप्तान्नाधिकारे निर्धारितमित्याह— अथेति । उक्तया रीत्या प्राणादीनामेकत्वे श्रुत्योरविरोधं फलितमाह—प्राणेति । मनोब्रह्मणोश्चन्द्रमसा प्राणोद्गात्रोश्च वायुनोपास्यत्वेनोपसंग्रहे मृत्युतरणे विशेषो नास्तीति श्रुत्यो[8]र्विकल्पेनोपपत्तिरित्यर्थः । उपसंहरति प्राणमुद्गातारं च [9]तद्रूपेणोपास्यतया संगृह्णाति काण्वश्रुतिरित्यर्थः । इतश्च काण्वश्रुतिरुपपन्नेत्याह— अपि चेति । [10]वायुः सूत्रात्मा तन्निमित्तौ [11]स्वावयवस्य चन्द्रमसो वृद्धिह्रासौ । सूत्राधीना हि चन्द्रादेर्ज-

वाय्वात्मक प्राण ही उद्गाता है, यह उद्गीथब्राह्मण में अवगत करा दिया गया । "अतः उस ब्रह्मदत्त ने प्राण और वाक् के ही द्वारा उद्गान किया था, यही अर्थ इस शपथ से निश्चित होता है" यह निर्णय भी किया गया । "और इस प्राण का जल शरीर (आधार) है, वह चन्द्रमा ज्योतिरूप है" ऐसी भी इसमें श्रुति है । वायु, प्राण और चन्द्रमा की एकता होने के कारण माध्यंदिन श्रुति द्वारा चन्द्रमा से और काण्व श्रुति द्वारा वायु से संग्रह करने में कोई विशिष्टता नहीं है । उक्त रीति से विशिष्टता का अभाव मानकर ही श्रुति अधिदैव वायुरूप से उद्गाता प्राण का संग्रह करती है । इसके अतिरिक्त चन्द्रमा की वृद्धि-क्षय भी वायु के कारण हैं । इसलिए वायु तिथ्यादिरूप काल के कर्ता का

---

१. अथेति—आधिदैविकयोर्वाङ्मनसयोर्विभूतिर्निर्देशानन्तरम्, एतस्य—अन्नत्वेन प्रकृतस्य प्राणस्य आपः, शरीरम् आधारः, ज्योतीरूपं—प्रकाशात्मकं करणभूतमाधेयरूपमसौ चन्द्र इत्यर्थः । २. बृ० उ० १।५।१३ । ३. माध्यंदिनश्रुत्या । ४. काण्वश्रुत्या । ५. संग्रहे । ६. उक्तरीत्या विशेषाभावं मन्यमानेति भावः । ७. प्राणमुद्गातारं च । ८. शाखाभेदेनोदितानुदितहोमवद्विकल्पेन । ९. वायुनाऽधिदैवतरूपेण । १०. "ह्रासवृद्ध्योर्यतः कर्ता वायुश्चन्द्रमसस्ततः । वायुनैवोपसंहारः प्राणोदगात्रोरयं कृतः" ॥ ३६ ॥ इति वार्तिकमभिप्रेत्याह—वायुरिति । सूत्रात्मा वायुः स्वावयवस्य चन्द्रमसो वृद्ध्यादौ कारयिता तद्यजमानप्राणस्योद्गातुश्च वाय्वात्मनैवोपसंग्रहः काण्वश्रुतौ कृतोऽतो वाय्वात्मनैवोद्गात्रादेर्ध्यानात्पक्षद्वयात्मकमृत्योरुद्गाता यजमानश्च मुच्यत इति वार्तिकार्थः । ११. स्वं सूत्रम् ।

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदमन्तरिक्षमनारम्बणमिव केनाऽऽक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेण [1]मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा—यह जो प्रसिद्ध आकाश है वह निरालम्ब सा है। फिर भला यजमान किस आलम्बन से स्वर्गलोक में जायगा। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—ब्रह्मा ऋत्विक् के द्वारा और मनरूप चन्द्रमा के द्वारा स्वर्गलोक में आरूढ़ होता है। मन ही यज्ञ का ब्रह्मा है तथा यह जो

चन्द्रमसः । [2]तेन तिथ्यादिलक्षणस्य कालस्य कर्तुरपि कारयिता वायुः । [3]अतो [4]वायुरूपापन्नस्तिथ्यादिकालादतीतो भवतीत्युपपन्नतरं भवति । [5]तेन श्रुत्यन्तरे [6]चन्द्ररूपेण दृष्टिर्मुक्तिरतिमुक्तिश्च । इह तु काण्वानां साधनद्वयस्य [8]तत्कारणरूपेण वाय्वात्मना दृष्टिर्मुक्तिरतिमुक्तिश्चेति न श्रुत्योर्विरोधः ॥५॥

मृत्योः [10]कालादतिमुक्तिर्व्याख्याता यजमानस्य । सो[9]ऽतिमुच्यमानः [11]केनावष्टम्भेन

गतश्चेष्टेत्यर्थः । वृद्ध्यादिहेतुत्वे[12] फलितमाह—तेनेति । कर्तुश्चन्द्रस्येत्यर्थः । वायोश्चन्द्रमसि कारयितृत्वेऽपि प्रकृते किमायातं तदाह—अत इति । उदितानुदितहोमवद्विकल्पमुपेत्याविरोधमुपसंहरति—तेनेति । श्रुत्यन्तरं माध्यंदिनश्रुतिः । साधनद्वयस्येत्युभयत्र[13] संबध्यते । [14]तत्राऽऽदौ[15] मनसो ब्रह्मणश्चेत्यर्थः । [16]उत्तरत्र प्राणस्योद्गातुश्चेत्यर्थः । तच्छब्दश्चन्द्रविषयः ॥५॥

यदिदमन्तरिक्षमित्यादि प्रश्नान्तरं वृत्तानुवादपूर्वकमुपादत्ते—मृत्योरिति । व्याख्यानव्याख्येय-

---

कारयिता है। इसलिए वायुरूप को प्राप्त हुआ पुरुष तिथ्यादिरूप काल का अतिक्रमण कर जाता है—यह कथन ज्यादा उपयुक्त लगता है। विकल्प के संभव होने पर अन्य श्रुति में चन्द्ररूप से जो दृष्टि है, वह मुक्ति है, वही अतिमुक्ति है। यहाँ काण्व श्रुति में प्राण और उद्गातारूप साधनद्वय के चन्द्रकारणभूत वायुभाव से जो दृष्टि है, वही मुक्ति है और वही अनिमुक्ति है, इस प्रकार श्रुतियों में कोई विरोध नहीं है ॥ ५ ॥

---

१. मनो वा इति । यज्ञस्य—यजमानस्य यदध्यात्मं मनस्तदेवाधियज्ञं ब्रह्मर्त्विक् तत् तत्रैवं सति यदिदं याजमानिकं मनः स प्रसिद्धोऽसावधिदैवतरूपश्चन्द्रः स एव मनसैक्यमापन्नश्चन्द्रो ब्रह्मा स ब्रह्मा चन्द्ररूपेण दृष्टो मुक्तिः साऽतिमुक्तिः याजमानिकमनोब्रह्मणोश्चन्द्रात्मना ब्रह्मर्त्विक्कृतं सम्यग्ध्यानमवलम्बनं तेनावष्टम्भेन यजमानो ब्रह्मा च ब्रह्मलोकं (स्वर्गम्) प्राप्नोतीति भावः । २. वायोश्चन्द्रवृद्धिह्रासहेतुत्वेन । ३. सूत्रात्मवायोश्चन्द्रवृद्ध्यादिहेतुत्वादिति । ४. वायुरूपेति—वाय्वात्मनैव स्वस्य ध्यानादुद्गाता यजमानश्च वायुरूपापन्नः पक्षद्वयात्मकमृत्योर्मुच्यत इत्यर्थः । ५. विकल्पस्य संभवेन । ६. चन्द्ररूपेणेति—उत्तरत्र निर्दिष्टं साधनद्वयस्येति पदमत्रापकृष्यते तथा च मनसो ब्रह्मणश्च चन्द्ररूपेणेति योज्यम् । ७. प्राणस्योद्गातुश्च । ८. चन्द्रकारणरूपेण । ९. कर्मणश्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । १०. कालादितः । ११. आश्रयेण साधनेनेति यावत् । १२. वायोः । १३. माध्यंदिनश्रुतौ काण्वश्रुतौ च । १४. द्वयोः । १५. माध्यंदिनश्रुतौ । १६. काण्वश्रुतौ ।

तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा स मुक्तिः
साऽतिमुक्तिरित्यतिमोक्षा अथ संपदः ॥ ६ ॥

मन है, वही यह चन्द्रमा है, वही चन्द्रमा ऋत्विक् ब्रह्मा है, वह मुक्ति है एवं वही अतिमुक्ति है। इस प्रकार परिच्छेद से अतिमुक्तियों का उपायसहित वर्णन किया। अब संपदों का वर्णन प्रारंभ किया जाता है (भावना द्वारा अन्य वस्तु में अन्यदृष्टि के आरोप को संपद् कहते हैं। उस द्रव्यसाध्य राजसूयादि यज्ञ का फल धनहीन व्यक्ति भी संपद् द्वारा प्राप्त कर सकता है। अतः संपदों का वर्णन आवश्यक है) ॥६॥

[1]परिच्छेदविषयं मृत्युमतीत्य [2]फलं प्राप्नोत्यतिमुच्यत[3] इत्युच्यते। यदिदं प्रसिद्धमन्तरिक्षमाकाशो[4]ऽनारम्बणमनालम्बनमि[5]वशब्दादस्त्येव तत्राऽऽलम्बनं तत्तु न ज्ञायत इत्यभिप्रायः। यत्तु न ज्ञायमानमालम्बनं तत्सर्वनाम्ना केनेति पृच्छ्यते। अन्यथा फलप्राप्तेरसंभवात्। येना[6]वष्टम्भेनाऽऽक्रमेण यजमानः [7]कर्मफलं प्रतिपद्यमानोऽतिमुच्यते किं तदिति प्रश्नविषयः। केना[8]ऽऽक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति स्वर्गं लोकं फलं प्राप्नोत्यतिमुच्यत इत्यर्थः। [9]ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेणेत्यक्षरन्यासः पूर्ववत्।

भावेन [10]क्रियापदे नेतव्ये। इत्येतत्प्रश्नरूपमुच्यते समनन्तरवाक्येने(णे)ति यावत्। तद्व्याचष्टे— यदिदमिति। **केनेतिप्रश्नस्य विषयमाह—**यत्त्विति। **प्रश्नविषयं प्रपञ्चयति—**अन्यथेति। **आलम्बनमन्तरेणेति यावत्। प्रश्नार्थं संक्षिप्योपसंहरति—**केनेति। **अक्षरन्यासोऽक्षराणामर्थेषु वृत्तिरिति यावत्।**

मृत्युरूप काल (और कर्म) से यजमान की अतिमुक्ति का व्याख्यान हो चुका। वह कालादि से अतिमुक्ति हुआ किस साधन से परिच्छिन्न पदार्थरूप मृत्यु का अतिक्रमण कर इस व्याख्यानफल को प्राप्त होता है (और) अतिमुक्त होता है (यह व्याख्येय है)। इस पर श्रुति कहती है—यह जो प्रसिद्ध "अन्तरिक्षं" यानी आकाश है, वह "अनारम्बणम्" अर्थात् प्राय आलम्बनरहित है। (तन्त्रोच्चरित) 'इव' शब्द से यह तात्पर्य है कि इसमें आलम्बन तो है ही, पर उसका प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता। जो ज्ञात न होने वाला आलम्बन है, वही (श्रुतिमन्त्र में) 'केन' इस सर्वनाम के द्वारा पूछा जाता है; अन्यथा फल की प्राप्ति होना संभव नहीं है। जिस साधन के द्वारा यजमान कर्मफल स्वर्ग को प्राप्त कर अतिमुक्ति हो जाता है, वह क्या है, यहाँ प्रश्न का विषय यह है। "केन" यानी किस आश्रय से यजमान "स्वर्गं लोकमाक्रमत" अर्थात् स्वर्गलोक के फल को प्राप्त करता है अथवा अतिमुक्त हो जाता

---

१. परिच्छिन्नपदार्थरूपम्। २. इदं व्याख्यानम्। ३. इदं व्याख्येयम्। ४. निःश्रेणीस्थानीयारोहसाधनरहितमिव भाति। ५. इवशब्दस्तन्त्रोच्चरितः। ६. साधनेन। ७. स्वर्गम्। ८. आश्रयेण। ९. यदध्यात्मं यजमानस्य मनः। तदधियज्ञमृत्विग्ब्रह्मैव स चाधिदैवश्चन्द्रोऽतश्चन्द्रात्मना दृष्टेन मनसा ब्रह्मणाऽवष्टम्भेन ब्रह्मलोकं यजमानो ब्रह्मा च प्राप्स्यतीत्युत्तरमाह—ब्रह्मणर्त्विजेति। १०. प्राप्तिमुक्ती।

तत्राध्यात्मं यज्ञस्य यजमानस्य यदिदं प्रसिद्धं मनः सोऽसौ चन्द्रोऽधिदैवम् । मनोऽध्यात्मं चन्द्रमा अधिदैवतमिति हि प्रसिद्धम् । स एव चन्द्रमा ब्रह्मर्त्वि[1]क्तेना[2]धिभूतं ब्रह्मणः परिच्छिन्नं रूपमध्यात्मं च मनस एतद्द्वयमपरिच्छिन्नेन चन्द्रमसो रूपेण [3]पश्यति । तेन चन्द्रमसा [4]मनसाऽवलम्बनेन कर्मफलं स्वर्गं लोकं प्राप्नोत्यतिमुच्यत इत्यभिप्रायः । [5]इतीत्युपसंहारार्थं वचनम् । [6]इत्येवंप्रकारा मृत्योरतिमोक्षाः । [7]सर्वाणि हि दर्शनप्रकाराणि [8]यज्ञाङ्गविषयाण्यस्मिन्नवसर उक्तानीति [9]कृत्वोपसंहार इत्यतिमोक्षाः । [10]एवंप्रकारा [11]अतिमोक्षा इत्यर्थः ।

मनो वै यज्ञस्येत्यादेरर्थमाह—तत्रेति । व्यवहारभूमिः सप्तम्यर्थः । वाक्यार्थमाह—तेनेति । [12]तृतीया तृतीयाभ्यां संबध्यते । दर्शनफलमाह—तेनेति । [13]वागादीनामग्न्यादिभावेन दर्शनमुक्तं त्वगादीनां तु वाय्वादिभावेन दर्शनं वक्तव्यं तत्कथं वक्तव्यशेषे सत्युपसंहारोपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वाणीति । [14]वागादावुक्तन्यायस्य त्वगादावतिदेशोऽत्र विवक्षित इत्याह—एवंप्रकारा इति ।

है। ब्रह्मारूप ऋत्विक् से एवं मनरूप चन्द्रमा से—इस प्रकार मन्त्र के अक्षरों की पूर्वमन्त्रों के समान योजना कर लेनी चाहिए। यहाँ "यज्ञस्य" अर्थात् यजमान का 'यदिदं' यानी जो यह प्रसिद्ध अध्यात्म मन है; वही यह अधिदैव चन्द्रमा है। मन का अध्यात्म और चन्द्रमा का अधिदैवत होना प्रसिद्ध ही है। वही चन्द्रमा ब्रह्मा ऋत्विक् है, इसी (शास्त्र प्रसिद्ध) ऋत्विक् से अधिभूत ब्रह्मा एवं अध्यात्म मन के जो परिच्छिन्न रूप हैं—इन दोनों को (ब्रह्मर्त्विक्) चन्द्रमा के अपरिच्छिन्नरूप से देखता है। उस चन्द्रात्मक दृष्ट मन के द्वारा ब्रह्मा को आश्रय करके कर्मफलरूप स्वर्गलोक को प्राप्त कर लेता है अर्थात् अतिमुक्त हो जाता है। मन्त्रस्थ "इत्यतिमोक्षाः" में 'इति' पद उपसंहार अर्थ के लिए प्रयुक्त है। इस प्रकार के हेतुओं से मृत्यु के अतिमोक्ष हैं। यागाङ्गभूत त्वगादिके विषय इस अवसर पर सभी दर्शनों का वर्णन कर दिया है—ऐसा मन में विचार कर यह उपसंहार किया है, "इत्यतिमोक्षाः" यानी इतने प्रकार के अतिमोक्ष हैं।

"अथ संपदः" यानी अब संपदों का वर्णन प्रारम्भ किया जाता है। किसी भी सादृश्य से

---

१. शास्त्रप्रसिद्धेन । २. अधियज्ञमित्यर्थः तथैव वा पाठचम् । ३. ब्रह्मर्त्विक् । ४. चन्द्रात्मना दृष्टेन मनसा ब्रह्मणावष्टम्भेनेत्यर्थः । ५. उत्तरवाक्यस्थेतिशब्दार्थमाह—इतीति । भाष्यसमाप्त्यर्थं इतिशब्द इत्यर्थः । ६. शक्यार्थमुक्त्वा विवक्षितमतिदेशाख्यमर्थमभिप्रेत्यातिदेशप्रकारमाह—इत्येवमिति । ७. सर्वाणीत्यादि । वागादेरग्न्यादिरूपेण दर्शनोपन्याससमये त्वगादेर्वाय्वादिरूपेण दर्शनप्रकाराणि (प्रकाराः) सर्वाण्येवोक्तानीति हृदि निधायेत्यर्थः । उक्तदर्शनस्यानुक्तदर्शनोपलक्षणत्वादिति भावः । ८. यज्ञाङ्गेति—यागाङ्गभूतानि यानि यजमान त्वगादीनि तद्विषयाणि, यद्वा यज्ञो यजमान एव । ९. मनसि निधाय । १०. एवंप्रकारा इति—यथा वागादयोऽग्न्याद्यात्मना दृष्टा मृत्योरति मोक्षहेतवस्तथाऽनुक्तास्त्वगादयोऽपि वाय्वाद्यात्मना दृष्टास्तद्धेतवो द्रष्टव्या इत्यर्थः । ११. अतिमोक्षा इति—अतिमोक्षो विद्यते आसामित्यतिमोक्षा दृष्टयः । वागादिष्वग्न्यादिदृष्टीनां मृत्युमतीत्य मोक्षहेतुत्वादित्यर्थः । १२. तृतीयात्रयं समानाधिकरणमित्यर्थः । १३. आद्यपक्षमादाय शङ्कते—वागिति । १४. अभिप्रेतद्वितीय पक्षं स्फुटयितुं तद्विषयं भाष्यमवतारयति—वागादाविति ।

अथ संपदः । अथाधुना संपद उच्यन्ते । संपन्नाम केनचि[1]त्सामान्येनाग्निहोत्रादीनां [2]कर्मणां [3]फलवतां [4]तत्फलाय [5]संपादनं संप[6]त्फलस्यैव वा [7]सर्वोत्साहेन फलसाधनानुष्ठाने प्रयततां[8] केनचि[9]द्वैगुण्येनासंभवः । [10]तदिदानीमाहिताग्निः सन्यत्किंचित्कर्माग्निहोत्रादीनां[11] यथासंभवमादायाऽऽलम्बनीकृत्य कर्मफलविद्वत्तायां सत्यां यत्कर्मफलकामो भवति तदेव [12]संपादयति । [13]अन्यथा राजसूयाश्वमेधपुरुषमेधसर्वमेध[14]लक्षणानामधिकृतानां त्रैवर्णिकानाम-

अथशब्दो [15]दर्शनप्रभेदकथनानन्तर्यार्थः । केयं संपन्नामेति पृच्छति—संपन्नामेति । उत्तरमाह—केनचिदिति । महतां फलवतामश्वमेधादिकर्मणां कर्मत्वादिना सामान्येनाल्पीयस्सु कर्मसु [16]विवक्षितफलसिद्धयर्थं संपत्तिः संपदुच्यते । यथाशक्त्यग्निहोत्रादिनिर्वर्तनेनाश्वमेधादि मया निर्वर्त्यत इति ध्यानं [17]संपदित्यर्थः । यद्वा फलस्यैव देवलोकादेरुज्ज्वलत्वादिसामान्येनाऽऽज्याद्याहुतिषु संपादनं संपदित्याह—फलस्येति । संपदनुष्ठानावसरमादर्शयति—सर्वोत्साहेनेति । असंभवोऽनुष्ठानस्य यदेति शेषः । [18]कर्मिणामेव संपदनुष्ठानेऽधिकार इति दर्शयितुमाहिताग्निः सन्नित्युक्तम् । अग्निहोत्रादीनामिति निर्धारणे षष्ठी । यथासंभवं वर्णाश्रमानुरूपमिति यावत् । आदायेत्यस्य व्याख्यानमालम्बनीकृत्येति । न केवलं कर्मित्वमेव संपदनुष्ठातुरपेक्ष्यते किंतु तत्फल[19]विद्यावत्त्वमपीत्याह—कर्मेति । तदेव कर्मफलमेवेत्यर्थः । कर्माण्येव फलवन्ति न संपदस्तत्कथं तासां कार्यतेत्याशङ्कयाऽऽह—अन्यथेति । [20]विहिता[21]ध्ययनस्यार्थज्ञानानुष्ठाना[22]दिपरम्परया [23]फलवत्त्वमिष्टम्[24] । न चाश्वमेधादिषु [25]सर्वेषामनुष्ठानसंभवः [26]कर्मस्वधिकृतानामपि त्रैवर्णिकानां[27] [28]केषांचिदनुष्ठानासंभवादत[29]स्तेषां तद[30]ध्ययना[31]र्थवत्त्वानुपपत्त्या

अग्निहोत्रादि महान् फलयुक्त कर्मों का अग्निहोत्रादि कर्मफल की सिद्धि के लिए संपादन करने का अथवा संपद् के फल का ही नाम संपद् है, जो पूर्णोत्साह से किसी फल के साधन के अनुष्ठानार्थ प्रयत्न करते हैं, उन कर्मकाण्डियों को किसी भी विघ्न के कारण अनुष्ठान असम्भव हो जाता है। इसीलिए पूर्वोक्त अवसर में आहिताग्नि होकर अग्निहोत्रादि कर्मों के मध्य जिस कर्म का अनुष्ठान करना सम्भव हो, उसी कर्म को करके, उसके आलम्बन से, कर्मफल का ज्ञान होने पर जिस कर्मफल की कामना

---

१. सादृश्येन । २. महताम् । ३. फलवतामिति—अल्पीयः सुपूर्त्तादिकर्मस्विति शेषः । ४. तत्फलाय—अग्निहोत्रादिकर्मफलसिद्धये । ५. संपादनम्—अधिकारिकर्तृकम् । संपन्नाम कर्मोच्यत इत्यर्थः । ६. फलस्यैवेति—यथाशक्त्याज्याद्याहुतिनिर्वर्तनेन देवलोकादि मया निर्वर्त्यते इति ध्यानं फलं संपदित्यर्थः । ७. पूर्णोत्साहेन । ८. कर्मिणाम् । ९. त्रुटया विघ्नेनेति वा । १०. पूर्वोक्तेऽवसरे । ११. मध्ये । १२. संपदैव साधयति । १३. संपदां फलवत्त्वानभ्युपगमे । १४. लक्षणं रूपम् कर्मणामनुष्ठानस्येति शेषः । १५. वागादीनामग्न्यादिभावेनोपासनविशेषः । १६. अभिमताश्वमेधादीयफलेत्यर्थः । १७. संपदिति—'गयाभूर्ब्राह्मणो विष्णुरन्नं ब्रह्मेति संपदा । श्राद्धे फलस्य बाहुल्यं मत्वा संपादयन्ति हि" ।। इत्येवं श्राद्धादावपि प्रसिद्धा संपत् । गयाभूः—गयाक्षेत्रोद्भवः । १८. न तूपासित्रादीनामित्येवकारार्थः । १९. ज्ञानवत्त्वमिति भावः । २०. स्वाध्यायोऽध्येतव्य इति विहितस्येति भावः । २१. वेदाध्ययनस्य । २२. आदिनाऽनुष्ठानावान्तरभेदः । २३. तत्तदात्मकदृष्टफलवत्त्वम् । २४. इष्टं सिद्धान्ते । २५. अधिकृतानधिकृतानाम् । २६. तत्र कैमुत्यगर्भं हेतुमाह—कर्मस्विति । २७. मध्ये । २८. निर्धनादीनाम् । २९. त्रैवर्णिकानाम् । ३०. अध्ययनस्य । ३१. साफल्यानुपपत्त्या ।

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्यर्ग्भिर्होताऽस्मिन्यज्ञे करिष्यतीति तिसृभिरिति कतमास्तास्तिस्र इति

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा—आज कितनी ऋचाओं द्वारा इस यज्ञ में होता शंसन करेगा ? (इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—) तीन ऋक् जातियों द्वारा । फिर अश्वल ने पूछा—वे तीन

प्य[1]संभवस्तेषां तत्पाठः स्वाध्यायार्थं एव केवलः स्यात् । यदि [2]तत्फलप्राप्त्युपायः कश्चन न स्यात् । [3]तस्मात्तेषां [4]संपदैव [5]तत्फलप्राप्ति[6]स्तस्मात्संपदामपि फलवत्त्वमतः[7] संपद आरभ्यन्ते ॥६॥

[8]याज्ञवल्क्येति होवाचाभिमुखीकरणाय । कतिभिरयमद्यर्ग्भिर्होताऽस्मिन्यज्ञे कतिभिः

संपदामपि फलवत्त्वमेष्टव्यमित्यर्थः । महतोऽश्वमेधादिफलस्य[9] कथमल्पीयस्या संपदा प्राप्तिरित्याशङ्क्य [10]शास्त्रप्रामाण्यादित्यभिप्रेत्याऽऽह—यदीति । तदा तत्पाठः स्वाध्यायार्थ एवेति पूर्वेण संबन्धः । अध्ययनस्य फलवत्त्वे वक्तव्ये फलितमाह—तस्मादिति । तेषां राजसूयादीनामिति यावत् । ब्राह्मणादीनां राजसूयाद्यध्ययन[11]सामर्थ्यात्तेषां संपदैव तत्फलप्राप्तावपि किं सिध्यति तदाह—तस्मात्संपदामिति । कर्मणामिवेतिदृष्टान्तार्थोऽपिशब्दः । तासां फलवत्त्वे फलितमाह—अत इति ॥ ६ ॥

संपदामारम्भमुपपाद्य[12] प्रश्नवाक्यमुत्थापयति—याज्ञवल्क्येतीति । प्रतीकमादाय व्याचष्टे—

वाला होता है, उसी को संपद् से सिद्ध करता है । अन्यथा (संपदों की फलवत्ता स्वीकार न करने पर) राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेधरूप कर्मों के अनुष्ठान से अधिकृत त्रैवर्णिकों को भी उनका फल मिलना असम्भव है । यदि उन राजसूयादि कर्मों के फल की प्राप्ति का कोई उपाय नहीं होगा तो उन अधिकृत त्रैवर्णिकों के लिए राजसूयादि यागों का अध्ययन केवल जपार्थ के लिए ही हो जायगा । इसलिए उन्हें उनकी संपद् से ही राजसूयादि कर्मफल की प्राप्ति हो जायगी । अतः संपदों के फलयुक्त होने से उन का वर्णन आरम्भ किया जाता है ॥ ६ ॥

अश्वल ने मुनि याज्ञवल्क्य का आभिमुख्य सम्पादन के लिए "हे याज्ञवल्क्य !" ऐसा संबोधन

---

१. असंभत्र इत्यनन्तरमत इत्यध्याहृत्य योज्यम् । तेषाम् अधिकृतत्रैवर्णिकानाम्, तत्पाठः तेषां राजसूयादीनां पाठः पठनमध्ययनमिति यावत् । स्वाध्यायार्थो जपार्थः पारायणार्थोऽदृष्टफलक एवेति यावत् । एवेति निपातद्योत्यं दृष्टफलत्वाभावं स्फुटयितुं केवल इति । २. राजसूयादिकर्मफलेति यावत् । ३. अध्ययनस्य फलवत्त्वात् । ४. तेषां राजसूयादीनां संपदा संपत्तिकरणेनेति यावत् । ५. राजसूयादिकर्मफलेति भावः । ६. प्राप्त्यन्तावतरणोक्तार्थकम् । ७. तासां फलवत्त्वात् । ८. मुनेराभिमुख्यं संपादयितुं भो याज्ञवल्क्येति संबोध्योवाचेत्यर्थः । ९. ब्रह्मलोकादिरूपस्य । १०. शास्त्रेति । अत्र वार्तिकम्—"नातिभारोऽस्ति नो बुद्धेः शास्त्रं चेत्तत्परं भवेत् । विदुषां श्रेयसेऽतोऽध्वा न क्वचित्प्रतिहन्यते" ॥५०॥ इति संपच्छास्त्रं संपदाऽप्यश्वमेधादिफलप्राप्तिरित्यत्र तात्पर्यवच्चेत्तदा प्रतिपत्तॄणां शास्त्रार्थप्रतिपत्तौ न मनः खेदो युक्तः शास्त्रस्यानतिशङ्क्यत्वादित्यर्थः । अनुष्ठानसंपदोऽपि फलवत्त्वे फलितमाह—विदुषामिति । क्वचिदिति—ब्राह्मणादीनामश्वमेधादिपाठो विवक्षितः । अनतिशङ्क्यत्वं तु पुरुषमत्युत्थनिर्मूलाप्रतिष्ठिततर्कानास्पदत्वमिति ॥ ११. सामर्थ्यम्—अन्यथाऽनुपपत्तिः । १२. संपदाख्यकर्म प्रकटयितुमश्वलेति मध्ये शेषनिवेशः ।

पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया किं ताभिर्जयतीति यत्किंचेदं प्राणभृदिति ॥ ७ ॥

कौन-सी हैं ? (याज्ञवल्क्य ने कहा—याग से पहले प्रयुक्त होने वाली ऋचाएँ) पुरोनुवाक्या हैं, (याग के समय प्रयुक्त हुई ऋचाएँ) याज्या हैं और (जो ऋचाएँ शंसन के लिये प्रयुक्त होती है वह) तीसरी शस्या कही जाती हैं। (इस पर अश्वल नें पूछा—) इन ऋचाओं से यजमान किसको जीतता है ? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया)—जितना भी प्राणी समुदाय है (उस सभी की संख्यादि में समानता होने कारण) वह समस्त फल समूह का संपादन कर लेता है ।।७।।

कतिसंख्याभिरृग्भिरृग्जातिभिरयं होतर्त्विगस्मिन्यज्ञे [1]करिष्यति[2] [3]शस्त्रं शंसत्याहेतरस्तिसृभिरृग्जातिभिरित्युक्तवन्तं प्रत्याहेतरः कतमास्तास्तिस्र इति । [4]संख्येयविषयोऽयं प्रश्नः पूर्वस्तु संख्याविषयः । पुरोनुवाक्या च प्राग्यागकालाद्याः[5] प्रयुज्यन्त ऋचः सर्ग्जातिः पुरोनुवाक्येत्युच्यते । यागार्थं याः प्रयुज्यन्त ऋचः सर्ग्जातिर्याज्या । [6]शस्त्रार्थं याः प्रयुज्यन्त ऋचः सर्ग्जातिः शस्या । सर्वास्तु याः काश्चनर्चस्ताः स्तोत्रिया वा अन्या वा सर्वा एता-

कतिभिरित्यादिना । कतिभिः कतमा इति प्रश्नयोर्विषयभेदं दर्शयति—संख्येयेति । स्तोत्रिया नामान्याऽपि काचिदृग्जातिरस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—सर्वास्त्विति । अन्या वेति [7]शस्त्रजातिग्रहः । [8]विधेयभेदात्सर्वशब्दापुनरुक्तिः । अतश्च [9]संपत्तिकरणादित्यर्थः । संख्यासामान्यात्त्रित्वाविशेषादिति

करके कहा—आज कितनी ऋचाओं द्वारा होता इस यज्ञ में शंमन करेगा, "कतिभिः" अर्थात् कितनी संख्या वाले "ऋग्भिः" अर्थात् ऋग्जातीय मन्त्रों से यह "होता" अर्थात् ऋत्विक् इस यज्ञ में "करिष्यति" यानी स्तवन करेगा ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—"तिसृभिः" अर्थात् तीन ऋग्जाति विशिष्ट मन्त्रों से स्तवन करेगा। ऐसा कहने पर फिर अश्वल ने पूछा—वह तीन ऋचाएँ कौन सी हैं? पहला प्रश्न संख्याविषयक था, दूसरा प्रश्न संख्येय के स्वरूप के विषय पर पूछा गया है। होता द्वारा याग से पहले प्रयुक्त होने वाली ऋग्जातिविशिष्ट ऋचाएँ 'पुरोनुवाक्या' कही जाती हैं। याग के लिए जो ऋग्जातिविशिष्ट ऋचाएँ प्रयोग में लाई जाती हैं, वह 'याज्या' कहलाती हैं। स्तवन के लिए जो ऋग्जातिविशिष्ट ऋचाएँ प्रयोग में आती हैं, उन्हें 'शस्या' नाम की ऋचाएँ कहा जाता है। इसके अतिरिक्त और भी जो ऋचाएँ 'स्तोत्रिया' नाम वाली हों अथवा अन्य नामों से भी विख्यात हों, वह

---

१. करिष्यतीति—शंसनमित्यादिः। तस्यैव व्याख्यानं शस्त्रं शंसतीति । अप्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं शस्त्रम् । प्रगीततत्साध्यं तु तत् स्तोत्रमिति याज्ञिकानां व्यवहारः । २. करोति । ३. स्तवनं करोति । ४. स्वरूपविषय इति यावत् । ५. होत्रेति शेषः । ६. स्तवनार्थम् । ७. अत्र शस्त्रादीति युक्तं प्रतिभाति । ८. विधेयेति—विधीयते बोध्यत इति बोध्योऽर्थः तथा च ऋक्पदवाच्यभेदादित्यर्थ इत्याहुः । वस्तुतस्तु विधेयस्योद्देश्यसकाशाद्भेदादित्यर्थः । तथा च प्रथमस्योद्देश्यकोटित्वादितरस्य च विधेयकोटिगत्वादुद्देश्यविधेयभावेन भेदान्न पौनरुक्त्यम् । यथा ये सर्वे साधनसम्पन्नास्ते सर्वे विचाराधिकारिण इत्यत्र तद्वदिति ध्येयम् । ९. संख्या साम्याल्लोकत्रयस्य पुरोऽनुवाक्यादौ संपादनात् ।

[1]याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्याध्वर्यु रस्मिन्यज्ञ आहुतीर्होष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति या हुता उज्ज्वलन्ति या हुता अतिनेदन्ते या हुता अधिशेरते किं ताभिर्जयतीति या हुता उज्ज्वलन्ति देवलोकमेव

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा—इस यज्ञ में यह अध्वर्यु आज कितनी आहुतियों का हवन करेगा ? याज्ञवल्क्य ने कहा—तीन आहुतियाँ। (अश्वल ने पूछा—) वे तीन कौन-कौन सी हैं ? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) जो घृत और समिधा की आहुतियाँ होम की जाने पर प्रज्वलित होती हैं, जो पूर्वोक्त होम की जाने पर अत्यन्त शब्द करती हैं और जो होम के बाद पृथिवी पर जाकर लीन हो जाती हैं।

स्वेव तिसृषु ऋग्जातिष्वन्तर्भवन्ति। किं ताभिर्जयतीति यत्किंचेदं प्राणभृदिति। [2]अतश्च संख्यासामान्याद्यत्किंचित्प्राणभृज्जातं तत्सर्वं जयति तत्सर्वं [3]फलजातं[4] संपादयति संख्या[5]दिसामान्येन ॥७॥

याज्ञवल्क्येति होवाचेति [6]पूर्ववत्। कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन्यज्ञ आहुतीर्होष्यतीति [7]कत्याहुतिप्रकारास्तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति पूर्ववत्। इतर आह या हुता उज्ज्व-

यावत्। प्राणभृज्जातं लोकत्रयं [8]विवक्षितम् ॥७॥

प्रथमः संख्याविषयो द्वितीयस्तु संख्येयविषयः प्रश्न इति विभागं [9]लक्षयति—पूर्ववदिति।

सभी उक्त तीन ऋग्जातिविशिष्ट ऋचाओं के ही अन्तर्गत आ जाती हैं। (इस पर अश्वल ने पूछा—) इन ऋचाओं से यजमान किसको जीतता है ? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—) सभी प्राणियों को जीत लेता है। संख्यादि में समानता होने के कारण संख्यासामान्य से तीनों लोकों में जितने भी प्राणी हैं, उन सब को जीत लेता है अर्थात् पुरोनुवाक्यादि साधन में लगाता है ॥ ७ ॥

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा "इस श्रुतिवाक्य का अर्थ पूर्वमन्त्र की तरह करना चाहिये। इस यज्ञ में यह अध्वर्यु आज कितनी आहुतियों का हवन करेगा अर्थात् कितनी आहुतिविशेष हैं ? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) तीन आहुतियाँ। (अश्वल ने पूछा—) वे तीन आहुतियाँ कौन-कौन सी है ? इत्यादि प्रश्न पूर्वमन्त्र के समान हैं। इस प्रकार याज्ञवल्क्य कहता है–जो घृत और समिधा की आहुतियाँ

---

१. अथाध्वर्युकृताहुतिषु फलसंपादनजिज्ञासया पृच्छति—याज्ञवल्क्येति। २. अतश्चेत्यादि। अयमाशयः, भूरादिलोकत्रयेऽस्ति तावन्त्रित्वसंख्या पुरोऽनुवाक्यादौ चाप्यस्ति सा। अतो लोकत्रयस्य तस्य च संख्यासाम्यात् पुरोऽनुवाक्यादौ लोकत्रयं सम्पाद्य सर्वं प्राणिजातं जयतीति। ३. लोकत्रयात्मकम्। ४. पुरोऽनुवाक्यादौ साधने। ५. आदिनाऽधऊर्ध्वमध्यत्वग्रहः। ६. आभिमुख्यायेत्यर्थः। ७. कत्याहुतिप्रकारा इति —किं संख्याका आहुतिविशेषा इत्यर्थः। प्रकारौ भेदसादृश्ये प्रकारस्तुल्यभेदयोरित्यमरमेदिन्यौ। भेदश्च विशेषः, यथा पलाण्डुभेदा गृञ्जनादयः। सादृश्ये यथा मर्कटप्रकारं करोति—मर्कटसादृश्यं करोतीत्यर्थ इति। ८. फलस्योपास्त्यनुसारित्वादिति भावः। ९. बोधयति।

ताभिर्जयति दीप्यत इव हि देवलोको या हुता अतिनेदन्ते पितृलो[1]कमेव ताभिर्जयत्यतीव [2]हि पितृलोको या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयत्यध इव हि मनुष्यलोकः ॥ ८ ॥

वे आहुतियाँ उक्त तीन संख्या वाली हैं। (फिर अश्वल ने पूछा—) इन आहुतियों से यजमान किसको जीतता है? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) जो होम की जाने पर घृत और समिधा की आहुतियाँ प्रज्वलित होती हैं, उनसे यजमान देवलोक को ही जीतता है क्योंकि देवलोक देदीप्यमान-सा हो रहा है और जो आहुतियाँ होम की जाने पर अत्यन्त शब्द करती हैं, उनसे वह यजमान पितृलोक को ही प्राप्त करता है, क्योंकि पितृलोकसम्बन्धी संयमनीपुरी में (यमराज के द्वारा यातना भोगते समय जीवों का हाय रे! मरे! छोड़ दो, छोड़ दो! ऐसा भयानक) अत्यन्त कोलाहलपूर्ण शब्द-सा होता है। जो दुग्ध और सोम की आहुतियाँ होम के बाद पृथिवी पर लीन हो जाती हैं, उनसे यजमान मनुष्यलोक को ही जीतता है क्योंकि मनुष्यलोक अधोवर्ती-सा है ॥८॥

लन्ति समिदाज्याहुतयः। या हुता अतिनेदन्तेऽतीव शब्दं कुर्वन्ति मांसाद्याहुतयः। या हुता अधिशेरतेऽध्यधो गत्वा भूमेरधः शेरते पयःसोमाहुतयः। किं ताभिर्जयतीति ताभिरेवं निर्वर्तिताभिराहुतिभिः किं जयतीति। [3]या आहुतयो हुता उज्ज्वलन्त्युज्ज्वलनयुक्ता[4] आहुतयो निर्वर्तिताः फलं च देवलोकाख्यमुज्ज्वलमेव तेन सामान्येन या मयैता उज्ज्वलन्त्य आहुतयो निर्वर्त्यमानास्ता एताः साक्षाद्देवलोकस्य कर्मफलस्य रूपं देवलोकाख्यं फलमेव मया निर्वर्त्यंत इत्येवं संपादयति। या हुता अतिनेदन्त आहुतयः पितृलोकमेव ताभिर्जयति

तेन सामान्येनोज्ज्वलत्वेनेति यावत्। उक्तमर्थं संक्षिप्याऽऽह—देवलोकाख्यमिति। कथं मांसाद्याहुतीनां

होम की जाने पर प्रज्वलित होती हैं। "या" अर्थात् जो मांसादि की आहुतियाँ होम की जाने पर "अतिनेन्दन्ते" अर्थात् बहुत जोर से शब्द करती हैं। एवं "या" अर्थात् जो दूध और सोमादि की आहुतियाँ होम की जाने पर "अधिशेरते" अर्थात् पृथ्वी के नीचे-नीचे जाकर विलीन हो जाती हैं। (फिर अश्वल ने पूछा—) इससे यजमान किसको जीतता है? "ताभिः" अर्थात् इस प्रकार सम्पादित आहुतियों के द्वारा किसको जीतता है? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) जो "हुता" अर्थात् होम की जाने पर घृत और समिधा की आहुतियाँ "उज्ज्वलन्ति" अर्थात् प्रज्वलित होती हैं, उनका देवलोकसंज्ञक फल भी उज्ज्वल है। उनमें समानता होने के कारण यजमान इस प्रकार भावना करता है कि मेरे द्वारा जो यह प्रज्वलनशील आहुतियाँ सम्पादित की जा रही हैं; वे साक्षात् इस कर्मफल के स्वरूप देवलोक का रूप हैं; अतः इन आहुतियों के द्वारा मैं देवलोकसंज्ञक फल को प्राप्त कर रहा हूँ। जो आहु-

---

१. अतीव—अतिकुत्सितशब्दवानिव। २. हि—यस्मात्। ३. या आहुतयो हुता इति—या आहुतयो हुता निर्वर्तिताः सत्य उज्ज्वलनयुक्ता भवन्ति ताभिराहुतिभिर्देवलोकमेव जयतीत्यर्थः। ४. भवन्ति।

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गोपायतीत्येकयेति कतमा सैकेति

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा--यह ब्रह्मा नामक ऋत्विक् दक्षिण की ओर निश्चित आसन पर बैठकर आज कितने देवताओं द्वारा यज्ञ की रक्षा करता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—एक ही

कुत्सितशब्दकर्तृत्वसामान्येन । पितृलोकसंबद्धायां हि संयमन्यां पुर्यां [1]वैवस्वतेन यात्यमानानां हा हताः स्मो मुञ्च मुञ्चेति शब्दो भवति । तथा[2]ऽवदानाहुतयस्तेन पितृलोकसामान्यात्पितृलोक एव मया निर्वर्त्यंत इति संपादयति । या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयति भूम्युपरिसंबन्धसामान्यादध इव ह्यध एव हि मनुष्यलोक [3]उपरितनान्साध्याँल्लोकानपेक्ष्याथवाऽधोगमनमपेक्ष्यातो मनुष्यलोक एव मया निर्वर्त्यंत इति संपादयति पयःसोमाहुतिनिर्वर्तनकाले ।।८।।

याज्ञवल्क्येति होवाचेति [4]पूर्ववत् । अयमृत्विग्ब्रह्मा दक्षिणतो ब्रह्मासने स्थित्वा

पितृलोकेन सह यथोक्तं सामान्यमत आह—पितृलोकेति । अधोगमनमपेक्ष्येति । अस्ति हि सोमाद्याहुतीनामधस्ताद्गमनमस्ति च [5]मनुष्यलोकस्य पापप्रचुरस्य [6]ताद्दग्गमनं तदपेक्ष्येत्यर्थः । अतः सामान्यादिति यावत् ।।८।।

दक्षिणत आहवनीयस्येति शेषः । प्रासङ्गिकं बहुवचनमित्युक्तं प्रकटयति—एकया हीति ।

तियाँ होम की जाने पर अतिशय शब्द करती हैं; उनसे यजमान पितृलोक को ही प्राप्त करता है क्योंकि कुत्सितशब्दकर्तृक होने से दोनों की समानता है । इसका यह भी कारण है कि पितृलोकसम्बन्धी संयमनीपुरी में यम के द्वारा यातना भोगते समय जीवों का 'हाय रे ! मरे ! छोड़ दो ! छोड़ दो' ऐसा (भयानक अत्यन्त कोलाहलपूर्ण) शब्द होता है । इस प्रकार मांमादि की आहुतियाँ भी शब्द करने वाली हैं । अतः पितृलोक से समानता होने के कारण, "इन से मेरे द्वारा पितृलोक की प्राप्ति की जाती है" ऐसी भावना करता है । जो दुग्ध और सोम की आहुतियाँ होम के बाद पृथिवी में लीन हो जाती हैं; उनसे यजमान मनुष्यलोक को ही प्राप्त करता है क्योंकि पृथिवी के ऊपर के भाग से सम्बन्ध होने से दोनों की समानता है । "अध इव" अर्थात् मनुष्यलोक अन्तरिक्षादि ऊपरी साध्यलोकों की अपेक्षा नीचे ही स्थिर है अथवा अधोगमन की अपेक्षा से वह मनुष्यलोक को प्राप्त करता है । इसलिए दूध या सोम की आहुति देते समय यजमान ऐसी भावना करता है कि इससे द्वारा मैं मनुष्यलोक की प्राप्ति करूँगा ।।८।।

अश्वल ने मुनि के आभिमुख्य-सम्पादन के लिए पूर्ववत् "हे याज्ञवल्क्य !" ऐसा सम्बोधन कर कहा—"अयं ब्रह्मा" अर्थात् यह ब्रह्मा नामक ऋत्विक् "दक्षिणतो" अर्थात् दक्षिण की ओर निश्चित

---

१. यमेन । २. मांसाद्याहुतयः । ३. अन्तरिक्षादीन् । ४. अभिमुखयितुमित्यर्थः । ५. मनुष्यलोकस्थस्य जन्तोः । ६. तिर्यगाद्यधोयोनिगमनम् ।

मन एवेत्यनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥ ९ ॥

देवता से। (अश्वल ने कहा—) वह एक देवता कौन है? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—) वह देवता मन ही है। (वृत्ति के भेद से) मन अनन्त हैं और विश्वदेव भी अनन्त लोक को जीत लेता है क्योंकि साध्य-साधन में संख्या की समानता है ॥९॥

यज्ञं गोपायति। कतिभिर्देवताभिर्गोपायतीति प्रासङ्गिकमेतद्बहुवचनम्। एकया हि देवतया गोपायत्यसौ। एवं ज्ञाते बहुवचनेन प्रश्नो नोपपद्यते स्वयं जानत[1]स्तस्मात्पूर्वयोः कण्डिकयोः प्रश्नप्रतिवचनेषु कतिभिः कति तिसृभिस्तिस्र इति [2]प्रसङ्गं दृष्ट्वेहापि बहुवचनेनैव प्रश्नोपक्रमः क्रियते। अथवा प्रतिवादिव्यामोहार्थं बहुवचनम्। इतर आहैकयेत्येका सा देवता यया दक्षिणतः स्थित्वा ब्रह्माऽऽसने यज्ञं गोपायति। कतमा सैकेति। मन एवेति मनः सा देवता। [3]मनसा हि ब्रह्मा व्याप्रियते [4]ध्यानेनैव। "[5]तस्य यज्ञस्य मनश्च वाक्च

[6]जल्पकथा प्रस्तुतेति हृदि निधाय बहूक्तेर्गत्यन्तरमाह—अथवेति। मनसो देवतात्वं साधयति—मनसेति।

आसन पर बैठ कर यज्ञ की रक्षा करता है। कितने देवताओं द्वारा यज्ञ की रक्षा करता है? यहाँ श्रुतिवाक्य में देवताशब्द में प्रासङ्गिक बहुवचन का प्रयोग है। (याज्ञवल्क्य ने कहा—) वह ब्रह्मा एक ही देवता से यज्ञ की रक्षा करता है। ऐसा निश्चय होने पर स्वयं जानते हुए भी इस प्रकार बहुवचन से प्रश्न करना उचित नहीं है। इसलिए पूर्व के दो मन्त्रों में प्रश्न और उत्तर प्रतिपादकवाक्यों में "कतिभिः" "कति" "तिसृभिः" "तिस्रः" इत्यादि बहुवचनप्रवाह को देखकर यहाँ भी बहुवचनान्त विभक्ति से प्रश्न का प्रारम्भ किया जाता है। अथवा प्रतिवादी को मोह मे डालने के लिए बहुवचनान्त प्रयोग है। याज्ञवल्क्य ने कहा—"एकया इति" अर्थात् वह एक ही देवता है, जिसके द्वारा दक्षिण की ओर ब्रह्मा के आसन पर बैठकर यज्ञ की रक्षा करता है। (अश्वल ने कहा—) वह एक देवता कौन है? "मन एवेति" अर्थात् वह देवता मन ही है। मन के द्वारा ध्यान करके ही ब्रह्मा अपने कार्य में प्रवृत्त होता है। "(यज्ञ के मन्त्रोच्चारण करने में प्रवृत्त) वाणी और (यथार्थ वस्तु के ज्ञान में प्रवृत्त) मन, ये दोनों मार्ग हैं। उन दोनों मार्गों में से एक मार्ग का ब्रह्मा नामक ऋत्विक् विवेकयुक्त मन से संस्कार

---

[1] अनुपपन्नत्वात्। [2] बहुवचनप्रवाहम्। [3] मनसैव करणेन। [4] ध्यानाभिन्नव्यापारवान् भवतीत्यर्थः। [5] ब्रह्मण उक्तव्यापारवत्वे श्रुतिं प्रमाणयति—तस्येति। तस्य उक्तविशेषणकस्य यज्ञस्य। मनश्च यथाभूतार्थज्ञाने व्यापृतम्। वाक् च मन्त्रोच्चारणे व्यापृता। वर्तनी मार्गौ (छा० उ० ४।१६।१। [6] जल्पकथेति—जल्पस्यापि क्वचित्तत्वनिर्णयफलकत्वादिति भावः। तथा चोक्तं गौतमसूत्रे—"तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवदिति" (४।२।४७)। वात्स्यायनश्चाह—"तानि हि प्रयुज्यमानानि परपक्षविघातेन स्वपक्षं रक्षन्तीति"। अन्योऽप्याह—"तत्त्वसंरक्षणार्थत्वान्नासदाचार" इति। अतो वादवज्जल्पोऽपि क्वचित्तत्त्वनिर्णायक इति।

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्योद्गाताऽस्मिन्यज्ञे स्तोत्रियाः स्तोष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया कतमास्ता

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा, इस यज्ञ में उद्गाता आज कितनी स्तोत्रिया ऋचाओं का स्तवन करेगा (प्रगीत ऋचाएँ स्तोत्रशब्द से और अप्रगीत ऋचाएँ शस्त्रशब्द से कही जाती हैं। इनमें स्तोत्र को स्तोत्रिया और शस्त्र को शस्या भी कहते हैं, याज्ञवल्क्य ने कहा–) तीन ऋचाओं का। (अश्वल ने पूछा—) वे तीन कौन-कौन सी हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—पुरोनुवाक्या, याज्या और तीसरी शस्या।

वर्तनी तयो[1]रन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा” इति श्रुत्यन्तरात्। [2]तेन मन एव देवता तया मनसा हि गोपायति ब्रह्मा यज्ञम्। तच्च मनो [3]वृत्तिभेदेनानन्तम्। वैशब्दः प्रसिद्धावद्योतनार्थः। प्रसिद्धं मनस आनन्त्यम्। [4]तदानन्त्याभिमानिनो देवाः। अनन्ता वै विश्वे देवाः[5]। [6]सर्वे देवा यत्रैकं भवन्तीत्यादिश्रुत्यन्तरात्। तेनाऽऽनन्त्यसामान्यादनन्तमेव स तेन लोकं[7] जयति ॥९॥

याज्ञवल्क्येति होवाचेति पूर्ववत्। कति स्तोत्रियाः [8]स्तोष्यतीत्ययमुद्गाता।

वर्तनी वत्मनो तयोर्वाङ्मनसयो'र्वर्त्मनोरन्यतरां वाचं मनसा मौनेन ब्रह्मा संस्करोति वाग्विसर्गे प्रायश्चित्तविधानादिति श्रुत्यन्तरस्यार्थः। [10]तथाऽपि कथं संपदः सिद्धिस्तत्राऽऽह—तच्चेति। देवाः सर्वे यस्मिन्मनस्येकं भवन्त्यभिन्नत्वं प्रतिपद्यन्ते तस्मिन्विश्वदेवदृष्ट्या भवत्यनन्तलोकप्राप्तिरिति श्रुत्यन्तरस्यार्थः। अनन्तमेवेत्यादि व्याचष्टे—तेनेति। उक्तेन प्रकारेणेति यावत्। तेन मनसि विश्वदेवदृष्ट्यध्यासेनेत्यर्थः। स इत्युपासकोक्तिः ॥९॥

पूर्ववदित्यभिमुखीकरणायेत्यर्थः। प्रतिवचनमुपादत्ते—स्तोत्रिया वेति। प्रगीतमृग्जातं

करता है” ऐसी अन्य श्रुति भी प्रमाण है। अतः मन ही देवता है। उस मन के द्वारा ब्रह्मा यज्ञ की रक्षा करता है। इसके अतिरिक्त वह मन वृत्तिभेद से अनन्त है। मन्त्र में वैशब्द प्रसिद्धार्थ का द्योतन करने के लिए है। मन का आनन्त्य तो प्रसिद्ध ही है। उस अनन्त मन के अधिष्ठातृदेवता भी अनन्त हैं। वे विश्वेदेव अनन्त हैं (इस वाक्य से भी ऐसे ही कहे जाते हैं)। अन्य श्रुति भी इसका समर्थन करती है, जैसे कि "जिस में सब देवता एक हो जाते हैं"। इस प्रकार अनन्तता में समानता होने के कारण वह उसके द्वारा अनन्तलोक को प्राप्त कर लेता है ॥९॥

अश्वल ने 'हे याज्ञवल्क्य !' इस प्रकार अभिमुख करने के लिए सम्बोधन कर कहा—इत्यादि

---

१. छा० उ० ४।१६।२। २. तेन—उद्देश्यतया देवताया यज्ञसंपादकत्ववत् वर्त्मतया मनसो यज्ञसंपादकत्वेन। ३. वृत्तिभेदे शब्दादिविषयभेदो हेतुः। ४. अनन्तमनोऽधिष्ठातारः। ५. इति वाक्येनोच्यन्त इति शेषः। ६. तेषामानन्त्ये श्रुत्यन्तरं संवादयति—सर्वे इति। ७. फलम्। ८. स्तौतीत्यर्थः। ९. मध्ये। १०. तथापि—मनसा देवेन ब्रह्मणो यज्ञरक्षकत्वेऽपि।

या अध्यात्ममिति प्राण एव पुरोनुवाक्याऽपानो याज्या व्यानः शस्या [1]किं ताभिर्जयतीति पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयत्यन्तरिक्षलोकं याज्यया द्युलोकꣳ

अश्वल ने कहा—इनमें से जो शरीरान्तर्वर्ती हैं, वे कौन सी हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—(पकार एवं प्रथमत्व की समानता से) प्राण ही पुरोनुवाक्या है। (द्वितीयत्व की समानता से) अपान याज्या है और (ऊर्ध्वत्व की समानता से) व्यान शस्या हैं। (अश्वल ने कहा—) इनसे यजमान किन लोकों को जीतता है ? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) प्रथमत्व की समानता से पुरोनुवाक्या द्वारा पृथिवीलोक को ही जीतता है।

स्तोत्रिया नाम [2]ऋक्सामसमुदायः कतिपयानामृचाम्। स्तोत्रिया वा शस्या वा याः काश्चन ऋचस्ताः सर्वास्तिस्र एवेत्याह[3]। ताश्च व्याख्याताः पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीयेति। [4]तत्र [5]पूर्वमुक्तं यत्किंचेदं प्राणभृत्सर्वं जयतीति [6]तत्केन [7]सामान्येनेत्यु[8]च्यते कतमास्तास्तिस्र ऋचो [9]या अध्यात्मं भवन्तीति। [10]प्राण एव पुरोनुवाक्या। पशब्द-

---

[11]स्तोत्रमप्रगीतं शस्त्रम्। कतमास्तास्तिस्र इत्यादेस्तात्पर्यमाह—ताश्चेति। प्रश्नान्तरं वृत्तमनूद्योपादत्ते—तत्रेति। यज्ञाधिकारः सप्तम्यर्थः। पुरोनुवाक्यादिना लोकत्रयजयलक्षणं फलं केन सामान्येनेत्य-पेक्षायां [12]संख्याविशेषेणेत्युक्तं स्मारयति—तदिति। अधियज्ञे [13]त्रयमुक्तं स्मारयित्वाऽध्यात्मविशेषं दर्शयितुमुत्तरो ग्रन्थ इत्याह—उच्यत इति। प्राणादौ पुरोनुवाक्यादौ च पृथिव्यादिलोकदृष्टिरिति प्रश्न-

---

अर्थ पूर्वग्रन्थ के समान समझ लेना चाहिए। यह उद्‌गाता कितनी स्तोत्रिया ऋचाओं से स्तुति करता है ? गीतिविशिष्ट अनिर्धारित संख्या वाली ऋचाओं का नाम स्तोत्रिया है। स्तोत्रिया हों अथवा शस्या, जो कुछ भी ऋचाएँ हैं, वे सभी तीन प्रकार की ही हैं—ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। उन तीनों की व्याख्या पहले की जा चुकी है। वे हैं—पुरोनुवाक्या, याज्या और शस्या। इस यज्ञ प्रकरण में पहले कह दिया है कि यह जो कुछ भी दृश्यमान जगत् है, उस सभी को वह प्राप्त कर लेता है। वह किससे प्राप्त कर लेता है ? सामान्य से प्राप्त कर लेता है, ऐसा कहा जाता है। वह कौन सी तीन ऋचाएँ हैं, जो

---

१. एवं प्राणादिषु पुरोऽनुवाक्यादिदृष्टिकरणस्य तत्र च (प्राणाद्यभिन्नपुरोऽनुवाक्यादौ) भूरादिलोकदृष्टेश्च फलं पृच्छति—किं ताभिरिति। त्रित्वसाम्यादादित्वमध्यत्वान्त्यत्वसाम्यैश्च भूरादीन्पुरोऽनुवाक्यादौ संपाद्य तया संपदा भूरादिलोकजय इत्यभिप्रेत्याह—पृथिवीति। २. सामसमुदाय इत्यादि। कतिपयानाम् अनिर्धारित-संख्याकानामृचाम् सामसमुदायः गीतिविशिष्टः समुदाय इत्यर्थः। गीतिविशिष्टाः पूर्वोक्ता एवर्ग्जातय इति यावत्। तथा च वार्तिके—"तिस्रः पुरोऽनुवाक्याद्या ऋचः पूर्वमुदीरिताः। यास्ता एवात्र विज्ञेयाः स्तोत्रिया अपि नापराः" ॥ ५७ ॥ इति। ३. याज्ञवल्क्यः। ४. अस्मिन्यज्ञप्रकरणे। ५. पूर्वम्—सप्तमकण्डिकायाम्। ६. प्रश्नः। ७. उत्तरः। ८. उच्यत इति—अध्यात्मं विशेष उच्यत उत्तरेण ग्रन्थेनेत्यर्थः। ९. या इति—पूर्वोक्ताः पुरोऽनुवाक्यादयो गीतरूपेण वर्तमाना अधियज्ञसंज्ञिका इति पूर्वमवगतं परन्तु केन रूपेणैताः पुनरध्यात्मं भवन्तीत्यर्थः। १०. या अध्यात्मं स्तोत्रियास्तिस्र ऋचः कास्ता इति पृष्टे उत्तरमाह—प्राण इति। ११. स्तोत्रियास्तोत्रयोरभेदाभिप्रायेणेदम्। १२. त्रित्वसंख्यासादृश्येन। १३. गीतिविशिष्टं पुरोऽनुवाक्यादिकं सप्तमकण्डिकायामुक्तम्।

शस्यया ततो ह होताऽश्वल उपरराम ॥ १० ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

मध्यमत्व की समानता से याज्या द्वारा अन्तरिक्षलोक को और ऊर्ध्वत्व की समानता से शस्या द्वारा द्यु लोक पर विजय प्राप्त करता है। इसके बाद याज्ञवल्क्य हमारे काबू में नहीं आयेगा, ऐसा समझ कर होता अश्वल चुप हो गया ॥१०॥

॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

सामान्यात् । अपानो याज्या । [1]आनन्तर्यात् । अपानेन हि प्रत्तं हविर्देवता ग्रसन्ति । यागश्च प्रदानम् । व्यानः शस्या "[2]अप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरति" इति श्रुत्यन्तरात् । किं ताभिर्जयतीति [3]व्याख्यातम् । [4]तत्र विशेषसंबन्धसामान्यमनुक्तमिहोच्यते सर्वमन्यद्व्याख्यातम्।

पूर्वकमाह—कतमा इति। अपाने याज्यादृष्टौ हेत्वन्तरमाह—अपानेन हीति। [5]हस्ताद्यादानव्यापारेणेति यावत्। [6]प्राणापानव्यापार[7]व्यतिरेकेण [8]शस्त्रप्रयोगस्य श्रुत्यन्तरे सिद्धत्वाद्व्याने शस्या दृष्टिरित्याह—अप्राणन्निति। तत्र पुरोनुवाक्यादिषु चेति यावत्। इहेत्यनन्तरवाक्योक्तिः। सर्वमन्यदिति संख्या-

अध्यात्मविशिष्ट हैं ? (इसका उत्तर दिया जाता है—) प्राण ही पुरोवाक्या है क्योंकि दोनों में पकार की समानता है। अपान याज्या है क्योंकि अपान और याज्या की प्राण और पुरोवाक्या के अनन्तर होना रूप साम्यता है। इसके अतिरिक्त देवता अपान से ही दी गई आहुतियों को ग्रहण करते हैं। याग प्रदान है। व्यान शस्या है। "(पुरुष जो मुख और नासिका द्वारा वायु का बहिर्गमन करता है; वह प्राण है, जो मुख एवं नासिका द्वारा ही वायु को भीतर खींचता है; वह अपान है तथा प्राणायाम की जो संधि है; वह व्यान है, जो व्यान है; वही वाक् है) अतएव पुरुष प्राण और अपान की क्रियाएँ न करता हुआ ही बोलता है" ऐसा अन्य श्रुति में भी कहा गया है। "उनसे क्या जीतता है" इसकी व्याख्या हो चुकी। वहाँ जो इनका विशेष सम्बन्धसामान्य नहीं कहा गया, उसे यहाँ कहा जाता है। अन्य सब संख्या सामान्यादि का तो पहले ही निरूपण कर दिया गया हैं। (याज्ञवल्क्य ने कहा—)

---

१. आनन्तर्यादिति—उभयोः प्राणपुरोऽनुवाक्याभ्यामानन्तर्यसामान्यादित्यर्थः । २. प्राणापानव्यापारमकुर्वन् (छा० उ० १।३।३) । ३. एतत्तु यत्किंचेदं प्राणभृदिति सामान्येनोक्तस्यैव विशेषतः कथनमित्यभिप्रेत्याऽऽह—व्याख्यातमिति । ४. व्याख्यातं चेत् किमिति पुनरुच्यते तत्राऽऽह—तत्रेति । ५. हस्तादीति । हस्तादीनामादानादिरूपव्यापारेणेत्यर्थः (आदानादावपानचेष्टामभिप्रेत्येदम्) । तथा च यागप्रयोजकत्वं याज्यापानयोः सादृश्यमिति भावः । ६. प्राणेत्यादि—तथा च प्राणापानव्यापारनिरपेक्षत्वं शस्याव्यानयोः सामान्यमित्यभिप्रायः । ७. नैरपेक्ष्येण । ८. अप्रगीतर्ग्जातप्रयोगस्येति यावत् ।

ख्यातम् । लोकसंबन्धसामान्येन पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयत्यन्तरिक्षलोकं याज्यया मध्यमत्वसामान्यात् । द्युलोकं शस्ययोर्ध्वत्वसामान्यात् । ततो ह तस्मादात्मनः प्रश्ननिर्णयादसौ होताऽश्वल उपरराम [1]नायमस्मद्गोचर इति ।।१०।।

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्य प्रथममश्वलब्राह्मणम् ।।१।।

अथ तृतीयध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ।

[2]आख्यायिकासंबन्धः प्रसिद्ध एव । [3]मृत्योरतिमुक्तिर्व्याख्याता काललक्षणा-

सामान्योक्तिः । किं तद्विशेषसंबन्धसामान्यं तदाह—लोकेति । पृथिवीलक्षणेन लोकेन सह [4]प्रथमत्वेन [5]संबन्धसामान्यं पुरोनुवाक्यायामस्ति [6]तेन तया पृथिवीलोकमेव प्राप्नोतीत्यर्थः । अश्वलस्य तूष्णींभावं भजतोऽभिप्रायमाह—नायमिति ।। १० ।।

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां तृतीयाध्यायस्य प्रथममश्वलब्राह्मणम् ।। १ ।।

ब्राह्मणान्तरम[7]वतारयन्नाख्यायिका किमर्थेति शङ्कमानं प्रत्याह—आख्यायिकेति । याज्ञवल्क्यो हि विद्याप्रकर्षवशादत्र[8] पूजाभागी [9]लक्ष्यते नाऽऽर्तभागस्तथा विद्यामान्द्यादतो विद्यास्तुत्यर्थेयमाख्यायिकेत्यर्थः । इदानीं ब्राह्मणार्थं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—मृत्योरिति । मृत्युस्वरूपं पृच्छति—कः पुनर-

प्रथमत्व लोकसम्बन्धी समानता से पुरोनुवाक्या द्वारा पृथिवीलोक को ही जीतता है, मध्यमत्व की समानता से याज्या द्वारा अन्तरिक्षलोक को जीतता है और ऊर्ध्वत्व की समानता से शस्या द्वारा द्युलोक पर विजय प्राप्त करता है । "ततो ह" अर्थात् उसके पश्चात् होता अश्वल याज्ञवल्क्य से अपने प्रश्नों के निश्चित उत्तर सुनकर "यह हमारे द्वारा जीता नहीं जा सकता" ऐसा विचार कर चुप हो गया ।।१०।।

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् तृतीय अध्याय के प्रथम अश्वल ब्राह्मण में
शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ।।१।।

आख्यायिका का प्रयोजन तो प्रसिद्ध ही है । काल और कर्मसंज्ञक मृत्यु से अतिमुक्ति की व्याख्या हो गयी । किन्तु जिससे अतिमुक्ति की व्याख्या की गयी है, वह मृत्यु क्या है । वह मृत्यु

---

१. अयं याज्ञवल्क्यः गोचरो जय्य इति यावत् । २. आख्यायिकाप्रयोजनमिति यावत् । ३. मृत्योरित्यादि—ब्रह्म क्षत्त्रादिपरिच्छेदहेतो रागादिसहितान्मिथ्याज्ञानात् कर्म, तस्मादुपायोपेतात् (यजमानादिसाधनसहितात् कर्मणः) कालाच्च मृत्योर्मुक्ति व्यांकुर्वता त्वमर्थशुद्धिर्विहितेति भावः । ४. प्रथमत्वेनेत्यादि—प्रथमत्वेन सह योऽस्ति संबन्धस्तद्रूपं सामान्यं प्रथमत्वप्रतियोगिकसबन्धरूपं सामान्यमित्यर्थः । यद्वा पृथिवीलोकेन सह तादात्म्यसंबन्धप्रयोजकं प्रथमत्वरूपं सामान्यमिति । ५. प्रथमत्वेन संबन्धसामान्यमिति—प्रथमत्वेनेति षष्ठ्यर्थे तृतीया । तथा च पृथिवीलक्षणेन लोकेन सह प्रथमत्वस्य यः संबन्धः प्रथमत्वप्रतियोगिक आधेयताख्यः तद्रूपं सामान्यं साधारणधर्मरूपं यत्तदस्ति पुरोऽनुवाक्यायामित्यर्थः । प्रतियोगित्वं त्वार्थिकम् तृतीया तु कर्तरि द्रष्टव्येति । ६. तेन तयेति—उक्तसामान्येन पुरोऽनुवाक्यायां भूर्लोकं संपाद्य तया संपदेत्यर्थः । ७. व्याख्यातुं पुरस्कुर्वन् । ८. ब्राह्मणे आख्यायिकायां वा । ९. प्रतीयते ।

[1]त्कर्मलक्षणाच्च। कः पुनरसौ मृत्युर्यस्मादतिमुक्तिर्व्याख्याता। स च स्वाभाविकाज्ञानासङ्गास्पदो[2]ऽध्यात्माधिभूतविषयपरिच्छिन्नो [3]ग्रहातिग्रहलक्षणो मृत्युः। [4]तस्मात्परिच्छिन्नरूपान्मृत्योरतिमुक्तस्य रूपाण्यग्न्यादित्यादीन्युद्गीथप्रकरणे व्याख्यातानि। अश्वलप्रश्ने च तद्गतो विशेषः कश्चित्। [5]तच्चैतत्कर्मणां ज्ञानसहितानां फलम्। [6]एतस्मात्साध्यसाधनरूपात्संसारान्मोक्षः कर्तव्य[7] इत्यतो बन्धनरूपस्य मृत्योः स्वरूपमुच्यते। बद्धस्य हि मोक्षः कर्तव्यः।

साविति। तत्स्वरूपनिर्धारणार्थं ब्राह्मणमुत्थापयति—स चेति। मृत्युरिति संबन्धः। स्वाभाविकं नैसर्गिकमनादिसिद्धमज्ञानं [8]तस्मादा[9]सङ्गः स [10]आस्पदमिवाऽऽस्पदं यस्य स तथेति विग्रहः। [11]तस्य [12]विषयमुक्त्वा [13]व्याप्तिमाह—अध्यात्मेति। तस्य स्वरूपमाह—ग्रहेति। यथोक्तमृत्युव्याप्ति[14]मग्न्यादीनां कथयति—तस्मादिति। तान्यपि ग्रहातिग्रहगृहीतान्येवार्थेन्द्रियसंसर्गित्वादित्यर्थः। तद्गतो विशेषोऽग्न्यादिगतो दृष्टिभेद इति यावत्। कश्चिद्व्याख्यात इति संबन्धः। सूत्रस्यापि मृत्युग्रस्तत्वमभिप्रेत्याऽऽह—तच्चेति। अग्न्यादित्याद्यात्मकं सौत्रं पदमिति यावत्। फलं यथोक्तमृत्युग्रस्तमिति शेषः। किमिति मृत्यो[15]र्बन्धनरूपस्य स्वरूपमुच्यते तत्राऽऽह—एतस्मादिति। ननु मोक्षे कर्तव्ये बन्धरूपोपवर्णनमनुपयुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—बद्धस्य हीति।

अनादि अविद्याजनित आसक्ति का स्थान, अध्यात्म और अधिभूत विषय से परिच्छिन्न, इन्द्रिय-विषयरूप है। अतः उस (आसङ्ग-पापरूप परिच्छेदाभिमान) से परिच्छिन्नरूप मृत्यु से अतिमुक्त हुए पुरुष के अग्नि-आदित्यादि रूपों की व्याख्या उद्गीथप्रकरण में की जा चुकी है। अश्वल के प्रश्न में अग्न्यादिगत दृष्टिभेद है। वह यह अग्न्यादित्यात्मक विशेष उपासनासहित कर्मों का फल है। मुमुक्षु का इस साध्यसाधनरूप संसार से मोक्ष करना है इसलिए यहाँ से बन्धनरूप मृत्यु का स्वरूप वर्णन किया जाता है क्योंकि बन्धनयुक्त पुरुष की मुक्ति करनी चाहिए।

इस के अतिरिक्त 'अतिमुक्त' का जो स्वरूप बतलाया गया है, वहाँ भी वह (स्वरूप में स्थित मृत्यु से मुक्त विद्वान्) मृत्युरूप ग्रह और अतिग्रह से पूर्णतः मुक्ति नहीं पाता। इसका श्रुति समर्थन

---

१. कर्मेति—यजमानमन्त्रर्त्विगग्न्यादिसाधनोपेतादिति ध्येयम्। २. अध्यात्मेत्यादि—अधिदैवाधियज्ञयोरप्युपलक्षणम्। तेषु विषयेषु व्याप्तस्तैः परिच्छिन्न इति। ३. इन्द्रियविषयरूप इत्यर्थः। ४. उक्तमृत्युग्रहग्रस्तत्वं प्रागेव देवताप्राप्तेरित्याशङ्क्याग्न्यादीनामुत्पत्त्यादिमत्त्वादुक्तमृत्युग्रस्ततास्तीति मत्वोक्तं स्मारयति—तस्मादिति। आसङ्गपाप्मरूपात्परिच्छेदाभिमानादित्यर्थः। ५. अग्न्यादिभावस्य मृत्युग्रस्तत्वेऽपि समुच्चयफलस्य सूत्रस्य तदग्रस्तत्वात्तत्प्राप्तिरेव मुक्तिरिति व्यर्थः सम्यग्ज्ञानार्थं श्रम इत्याशङ्क्याऽऽह—तच्चेति। यद्धि समुच्चयफलमिष्टमेतच्च घटादिवदनित्यं जन्मादिमत्त्वात्तस्मान्न सूत्रप्राप्तिर्मुक्तिरिति भावः। ६. एतस्मादिति—अग्न्यादेस्तदात्मकसूत्रस्य च जगदात्मनो जन्माद्यन्वयान्मृत्युग्रस्तत्वे ज्ञानादज्ञाननिरासेन ततो मुक्तिः कार्या इत्येतदर्थमिदं ब्राह्मणमिति भावः। ७. मुमुक्षोः। ८. तन्निमित्तः। ९. रागादिः। १०. आस्पदम् आश्रयः प्रयोजक इति यावत्। यस्य इन्द्रियविषयरूपग्रहातिग्रहलक्षणस्येत्यर्थः। इन्द्रियादौ ग्रहत्वादे रागादिप्रयोज्यत्वेन तद्द्वारा तयोरपि तत्प्रयोज्यत्वादिति भावः। ११. मृत्योः। १२. रागादिरूपमास्पदं प्रयोजकम्। १३. व्याप्तिम् अनुगतिम्। सम्बन्धसीमानमिति यावत्। १४. अग्न्यादिदेवेषु। १५. ग्रहादिरूपस्य।

यद[1]प्यतिमुक्तस्य स्वरूपमुक्तं [2]तत्रापि ग्रहातिग्रहाभ्यामविनिर्मुक्त एव मृत्युरूपाभ्याम्। तथाचोक्तम[3]शनाया हि मृत्युरेष एव मृत्युरिति[4]। आदित्यस्थं [5]पुरुषमङ्गीकृत्याऽऽहैको[6] मृत्युर्बहवा इति च। [7]तदात्मभावापन्नो हि मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इत्युच्यते। न च [8]तत्र ग्रहातिग्रहौ मृत्युरूपौ न स्तः। [9]अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं [10]ज्योतीरूपमसावादित्यः। मनश्च ग्रहः स [11]कामेना[12]तिग्राहेण [13]गृहीत इति [14]वक्ष्यति [15]प्राणो वै ग्रहः सो[16]ऽपाने-

---

अग्न्यादीनां यथोक्तमृत्युव्याप्तिमुक्तां व्यक्ती करोति—यदपीति। अविनिर्मुक्त एवातिमुक्तोऽपीति शेषः। [17]तथाऽपि कथं सूत्रस्य यथोक्तमृत्युव्याप्तिस्तत्राऽऽह—तथा चेति। [18]तथाऽपि कथमग्न्यादीनां मृत्युव्याप्तिर्न हि तत्र प्रमाणमस्ति तत्राऽऽह—एक इति। बहवा इति च्छान्दसम्। [19]तथाऽपि विदुषो मृत्योरतिमुक्तस्य न [20]तदाप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—तदात्मेति। सौत्रे पदे मृत्युव्याप्तिं प्रकारान्तरेण प्रकटयति—न चेति। मनसि कार्यकरणरूपेण दिवश्चाऽऽदित्यस्य चैक्यमस्तु [21]तथाऽपि कथं ग्रहातिग्रहगृहीतत्वं सूत्रस्येत्याशङ्क्याऽऽह—मनश्चेति। वागादेर्वक्तव्यादेश्च ग्रहत्वेऽतिग्रहत्वे च हिरण्यगर्भे किमायातमित्या-

---

करते हुए कहती है—"अशनाया ही मृत्यु है, यही मृत्यु है" इत्यादि। आदित्य में विद्यमान सूत्रात्मा पुरुष को स्वीकृत कर श्रुति कहती है—"सूत्रात्मा एक ही है, मृत्यु बहुरूपा है"। फलभूता अग्न्यादिरूपत्व को प्राप्त हुआ मनुष्य मृत्यु की प्राप्ति से अतिमुक्त हो जाता है—ऐसा कहा जाता है। किन्तु वहां (सौत्रपद में) ग्रह और अतिग्रह मृत्युरूप न हों, ऐसा कहना उचित नहीं है। "तथा प्राजापत्य अन्नरूप से कहे हुए इस मन का द्युलोक शरीर आधार है, ज्योतिरूप वह आदित्य है", "मन ही ग्रह है, वह कामरूप अतिग्रह से गृहीत है", "वायुसहित घ्राण ही ग्रह है, वह गन्धरूप अतिग्रह से गृहीत है, (अपान गंध का साथी है, इसीलिये यहाँ पर अपानशब्द से गन्ध को कहा गया है)", "वाक् ही ग्रह है, वह नामरूप अतिग्रह से गृहीत है, (क्योंकि प्राणी वाक् से ही नाम का उच्चारण करता है)" ऐसा श्रुतिमन्त्रों द्वारा आगे प्रतिपादित किया जायगा। इसके अतिरिक्त त्र्यन्नप्रकरण में हमारे द्वारा व्याख्या की जा चुकी है। वहाँ यह अच्छी तरह विचार किया जा चुका है कि जो संसारबन्ध में प्रवृत्ति का प्रयोजक है, वही उस बन्ध की निवृत्ति का प्रयोजक नहीं हो सकता।

---

१. अतिमुक्तस्येत्यादिपरिच्छेदाभिमानादासङ्गपाप्मरूपान्मृत्योरतिमुक्तस्य पुंसः स्वरूपमग्न्यादिरूपमुद्गीथब्राह्मणे उक्तम्। २. तत्रापि—उक्तस्वरूपे स्थित उक्तरूपान्मृत्योर्मुक्तोऽपि विद्वान् मृत्युरूपाभ्यां ग्रहातिग्रहाभ्यामविनिर्मुक्त एवेत्यर्थः। ३. बृ० उ० १।२।१। ४. वचनान्तरमपि। ५. सूत्रात्मानम्। ६. सूत्रात्मैव बहुरूपः। ७. तदात्मेति—फलभूताग्न्यादिरूपत्वमापन्नो हि मृत्योः प्राप्तिमतीत्य मृत्युगोचरतामतिक्रम्य मुच्यते स्वतन्त्रो मृत्योरवश्यो भवतीत्युच्यत इत्यर्थः। यदा त्वग्न्यादीनामपि मृत्युपारवश्यं तदा तत्प्राप्तानां तदधीनत्वमिति किमु वक्तव्यम्। न चातिमुच्यत इत्युक्तिविरोधः मृत्युरूपाभ्यां ग्रहातिग्रहाभ्याममुक्तत्वेऽपि परिच्छेदाभिमानादासङ्गपाप्म-मृत्योर्मुक्तत्वादिति। ८. सौत्रे पदे। ९. अथेति—आधिदैविकवाग्विभूतिव्याख्यानानन्तरम्। एतस्य—प्रजापतिरन्नत्वेन प्रकृतस्य आधिदैविकस्य मनसो द्यौः द्युलोकः शरीरं कार्यमाधारः। ज्योतिरूपं प्रकाशात्मकम् करणरूपमाधेयभूतमसावादित्य इत्यर्थः। १०. बृ० उ० १।५।१२। ११. काम्यमानविषयेण। १२. अतिग्रहसंज्ञकेन। १३. ग्रस्तः। १४. बृ० उ० ३।२।७। १५. वायुसहितः घ्राणः। १६. गन्धेन। १७. अग्न्यादौ मृत्युव्याप्तौ। १८. सूत्रे मृत्युव्याप्तौ। १९. सूत्राग्न्यादीनां मृत्युव्याप्तौ। २०. मृत्युव्याप्तौ। २१. तत्र तेन तयोरैक्येऽपि।

नातिग्राहेणेति वाग्वै ग्रहः स [1]नाम्नाऽतिग्राहेणेति च। तथा [2]त्र्यन्नविभागे[3] व्याख्यातम[4]स्माभिः। सुविचारितं चैतद्यदेव प्रवृत्तिकारणं तदेव निवृत्तिकारणं न भवतीति।

केचित्तु सर्वमेव निवृत्तिकारणं मन्यन्ते। [5]अतः कारणात्पूर्वस्मात्पूर्वस्मा[6]न्मृत्योर्मुच्यत उत्तरमुत्तरं[7] प्रतिपद्यमानो [8]व्यावृत्त्यर्थमेव प्रतिपद्यते न तु [9]तादर्थ्यमित्यत आ द्वैतक्षयात्सर्वं मृत्युर्द्वैतक्षये तु परमार्थतो मृत्योराप्तिमतिमुच्यते। [10]अतश्चाऽऽपेक्षिकी गौणी मुक्तिरन्तराले।

शङ्क्याऽऽह—तथेति। कर्मफलस्य संसारत्वाच्च [11]तत्फलं सौत्रं पदं मृत्युग्रस्तमेवेत्याह—सुविचारितं चेति। यदेव कर्म [12]बन्धप्रवृत्तिप्रयोजकं तदेव बन्धनिवृत्तेर्न कारणमतः कर्मफलं हैरण्यगर्भं पदं बन्धनमेवेत्यर्थः।

[13]स्वमतमुक्त्वा मतान्तरमाह—केचित्त्विति। सर्वमेव कर्मेति शेषः। स्वर्गकर्मवाक्ये [14]देहात्मत्वनिवृत्तिर्गोदोहनवाक्ये [15]स्वतन्त्राधिकारनिवृत्तिर्नित्यनैमित्तिक[16]विधिष्वर्थान्तरोपदेशेन स्वाभाविकप्रवृत्तिनिरोधो निषेधेषु [17]साक्षादेव नैसर्गिकप्रवृत्तयो निरुध्यन्ते तदेवं सर्वमेव कर्मकाण्डं निवृत्तिद्वारेण मोक्षपरमित्यर्थः। ननु शास्त्रीयात्कर्मणो[18] हेतोरुत्तरमुत्तरं कार्यकरणसंघातम[19]तिशयवन्तमा[20]ऽप्रजात्प्रतिपद्यमानः संघातात्पूर्वस्मान्मुच्यते [21]तत्कुतो निवृत्तिपरत्वं कर्मकाण्डस्येत्याशङ्क्याऽऽह—अतः कारणादिति। यद्धीदमुत्तरमुत्तरं सातिशयं फलं प्राजापत्यं पदं तदपि प्रासादा[22]रोहणक्रमेण व्यावृत्तिद्वारा मोक्षम[23]वतारयितुमेव न तु तत्रैव प्राजापत्ये पदे श्रुतेस्तात्पर्यं तस्यापि निरतिशयफलत्वाभावादित्यर्थः। फलितमाह—इत्यत इति। यस्मात्पूर्वं पूर्वं परित्यज्योत्तरमुत्तरं प्रतिपद्यमानस्तत्तन्निवृत्तिद्वारा

कुछ दार्शनिक तो ऐसा मानते हैं कि सभी कर्म निवृत्ति के प्रयोजक हैं। इसी से उत्तरोत्तर कार्यकरणसंघात को प्राप्त होने वाला पूर्व-पूर्व कार्यकरणसंघातरूप कर्म मृत्यु से मुक्त हो जाता है, निवृत्ति के लिए ही प्राप्त हो जाता है; उस-उस पद को प्राप्त करने के लिए नहीं होता। इस प्रकार द्वैत के क्षय होने तक सब मृत्यु ही है, एवं द्वैत के क्षय होने पर तो वह परमार्थतः मृत्यु की प्राप्ति से अतिमुक्त हो जाता है। द्वैतक्षय के बिना मुख्य मोक्ष असंभव होने के कारण मध्य में आपेक्षिकी गौणी मुक्ति बतलायी जाती है।

इस प्रकार यह सब कुछ कहना बृहदारण्यक में अप्रतिपाद्य होने से बाह्य है। (इस पर पूर्ववादी

---

१. वक्तव्येन विषयेण। २. त्र्यन्नेति। सविषयाणां वाङ्मनःप्राणानां सूत्रात्मनि सत्त्वेन ग्रहादिरूपबन्धेन तस्य बद्धत्वमिति व्याख्यातमित्यर्थः। तथा चोक्तं वार्तिके—"वाङ्मनःप्राणरूपाणां त्र्यन्नात्मन्यपि संभवात्। ग्रहातिग्रहरूपाणां नातो मुक्तः प्रजापतिरिति" ॥ ८ ॥ ३. प्रकरणे। ४. बृ० उ० १।५।१८ भाष्ये। ५. यतो निवृत्तिपरं कर्म। ६. कार्यकरणसंघातरूपम्। ७. कार्यकरणसंघातम्। ८. निवृत्त्यर्थमेव। ९. तत्तत्पदप्राप्त्यर्थम्। १०. द्वैतक्षयं विना मुख्यमोक्षस्यासंभवात्। ११. समुच्चितकर्मफलम्। १२. बन्धस्य संसारस्य प्रवृत्तिः जननं तत्प्रयोजकमित्यर्थः। १३. कर्म बन्धनिवृत्त्यप्रयोजकमिति स्वमतम्। १४. न हि देहः स्वर्गगामीति। १५. पश्वभिलाषं विना। १६. स्वाभाविकप्रवृत्तितो भिन्नार्थेति यावत्। १७. शब्दतः। १८. कर्मरूपहेतोरिति। १९. जात्याद्युत्कर्षवन्तम्। २०. सूत्रपर्यन्तम्। २१. उत्तरोत्तरोत्कर्षप्राप्तिफलकतया प्रवृत्तिकरत्वादिति भावः। २२. सोपानक्रमेण। २३. प्रापयितुम्।

सर्वमे[1]तदेवम[2]बार्हदारण्यकम् । ननु सर्वैकत्वं मोक्षः "[3]तस्मात्तत्सर्वमभवत्" इति श्रुतेः[4] । बाढं भवत्येतदपि, न तु "ग्रामकामो यजेत पशुकामो यजेत" इत्यादिश्रुतीनां तादर्थ्यम् । यदि ह्यद्वैतार्थत्वमेवाऽऽसां ग्रामपशुस्वर्गाद्यर्थत्वं[5] नास्तीति[6] ग्रामपशुस्वर्गादयो न [7]गृह्येरन्गृह्यन्ते तु कर्मफलवैचित्र्यविशेषाः । यदि च वैदिकानां कर्मणां [8]तादर्थ्यमेव संसार एव नाभविष्यत् ।

मुक्त्यर्थमेव तत्तत्प्रतिपद्यते न तु तत्तत्पदप्राप्त्यर्थमेव [9]वाक्यं [10]पर्यवसितं [11]तस्यान्तवत्त्वेना[12]फलत्वात् । तस्माद्द्वैतक्षयपर्यन्तं सर्वोऽपि फलविशेषो मृत्युग्रस्तत्वात्प्रासादा[13]रोहणन्यायेन [14]मोक्षार्थो[15]ऽवतिष्ठते हिरण्यगर्भपदप्राप्त्या द्वैतक्षये तु वस्तुतो मृत्योराप्तिमतीत्य परमात्मरूपेण स्थितो मुक्तो भवति । तथा च मनुष्यभावादूर्ध्वमर्वाक्च परमात्मभावान्मध्ये या तत्तत्पदप्राप्तिः सा खल्वापेक्षिकी सती गौणी मुक्तिर्मुख्या तु पूर्वोक्तैवेत्यर्थः ।

[16]सर्वमेतदुत्प्रेक्षामात्रेणाऽऽरचितं न तु बृहदारण्यकस्य श्रुत्यन्तरस्य वाऽर्थ इति दूषयति—सर्वमेतदिति । [17]सर्वैकत्वलक्षणो मोक्षो बृहदारण्यकार्थ एवास्माभिरुच्यते तत्कथमस्मदुक्तमबार्हदारण्यकमिति शङ्कते—नन्विति । अङ्गी करोति—बाढमिति । अङ्गीकृतमंशं विशदयति—भवतीति । एतत्सर्वैकत्वमारण्यकार्थो भवत्यपीति योजना । कथं तर्हि सर्वमेतदबार्हदारण्यकमित्युक्तं तत्राऽऽह—न त्विति । त्वदुक्तया रीत्या कर्मश्रुतीनां यथोक्त[18]मोक्षार्थत्वं न [19]घटते [20]तेन सर्वमेतदौत्प्रेक्षिकं न श्रौतमित्युक्तमित्यर्थः । कर्मश्रुतीनां मोक्षार्थत्वाभावं समर्थयते—यदि हीति । तस्मात्तासां न मोक्षार्थतेति शेषः । किंच संसारस्तावद्धर्माधर्महेतुस्तौ[21] च विधिनिषेधाधीनौ [22]तयोश्चेत्त्वदुक्तरीत्या मोक्षार्थत्वं तदा हेत्वभावात्संसार[23] एव न स्यादित्याह—यदि चेति ।

शङ्का करता है—) किन्तु सब की एकता होना मोक्ष हैं; क्योंकि "वह सर्वरूप हो गया"—ऐसी श्रुति भी है । (इस पर सिद्धान्ती पूर्णतः सहमत न होते हुए भी कहता हैं—) हाँ ठीक तो है कि यह बृहदारण्यक का विषय है, किन्तु "ग्राम की कामना वाला याग करे, पशु की कामना वाला याग करे" इत्यादि श्रुतियाँ उन-उन विषयों की प्राप्ति के लिए हैं; मोक्षप्राप्ति के लिए नहीं । यदि इन का प्रयोजन भी अद्वैत में हो तो इनका ग्राम, पशु अथवा स्वर्गादि फल के लिए होना सम्भव नहीं है । इसलिए ग्राम, पशु और स्वर्गादि फल को भी श्रुति में ग्रहण नहीं कहना चाहिये, परन्तु कर्मफल वैचित्र्यरूप विशेषों का ग्रहण किया जाता ही है । एवं यदि वेदप्रतिपादित कर्म मोक्ष के लिए होते; तो (कर्म ही संसार का हेतु होने से) संसार ही न होता ।

---

१. त्वदुक्तम् । २. बृहदारण्यके अप्रतिपाद्यत्वेन तद्बाह्यम् । ३. तस्मात्—'अहं ब्रह्मास्मि' इति ज्ञानात् तत्प्रमात्रादिसाक्षितया त्वंपदलक्ष्यम् । सर्वम्—अब्रह्मत्वाध्यारोपणाऽविद्यापगमात् तत्कार्यस्यासर्वत्वस्य निवृत्तौ स्वाभाविकसर्वत्वमभवत्प्राप्तवत् । ४. बृ० उ० १।४।१० । ५. तत्फलकत्वम् । ६. तर्हि । ७. श्रुतावुच्येरन् । ८. मोक्षार्थत्वम् । ९. विधिवाक्यमिति यावत् । १०. तात्पर्यवत् । ११. तत्तत्पदस्य । १२. नञ्तत्पुरुषः । १३. सोपानन्यायेन । १४. मोक्षफलकः । १५. भवति । १६. श्रुत्यननुसारिकल्पनामात्रेणेति । १७. सर्वात्मत्वलक्षणेत्यर्थः । १८. क्रममोक्षार्थत्वमिति । १९. संभवति । २०. तासां तदर्थत्वाभावेन । २१. धर्माधर्मौ । २२. विधिनिषेधयोः । २३. कर्मैव हि संसारहेतुः ।

अथ तादर्थ्येऽप्यनुनिष्पादितपदार्थस्वभावः संसार इति चेत्। यथा च रूपदर्शनार्थ आलोके[1] सर्वोऽपि [2]तत्रस्थः प्रकाश्यत एव। न प्रमाणा[3]नुपपत्तेः। [4]अद्वैतार्थत्वे वैदिकानां कर्मणां विद्यासहितानाम[5]न्यस्यानुनिष्पादितत्वे प्रमाणानुपपत्तिः[6]। न प्रत्यक्षं नानुमानमत एव च नाऽऽगमः। उभयमेकेन वाक्येन प्रदर्श्यत इति चेत्कुल्याप्रणयनालोकादिवत्। तन्नैवं[7] वाक्यधर्मानुपपत्तेः। न चैकवाक्यगतस्यार्थस्य[8] प्रवृत्तिनिवृत्तिसाधनत्वमवगन्तुं

विधिनिषेधयोर्निवृत्तिद्वारा मुक्त्यर्थत्वेऽपि [9]विध्यादिज्ञानादनुनिष्पादितो यः कर्मपदार्थस्तस्यायं स्वभावो यदुत कर्तारमनर्थेन संयुनक्तीति चोदयति—अथेति। मोक्षार्थमपि कर्मकाण्डं संसारार्थं भवतीति सदृष्टान्तमाह—यथेति। प्रमाणाभावेन परिहरति—नेति। तदेव व्यनक्ति—अद्वैतार्थत्व इति। अन्यस्य [10]बन्धस्येति यावत्। अनुपपत्तिं स्फोरयति—न प्रत्यक्षमिति। कर्मश्रुतिवाक्यस्यावान्तरतात्पर्यं यथाश्रुतेऽर्थे गृह्यते निवृत्तिद्वारा मुक्तौ तु महातात्पर्यमित्यङ्गीकृत्य शङ्कते—उभयमिति। कृत्रिमाः क्षुद्राः सरितः कुल्यास्तासां प्रणयनं शाल्यर्थं पानीयार्थमाचमनीयाद्यर्थं च प्रदीपश्च प्रासादशोभार्थं कृतो गमनादिहेतुरपि भवति वृक्षमूले च सेचनम[11]नेकार्थं तथा कर्मकाण्डमनेकार्थमित्युपपादयति—कुल्येति। एकस्य वाक्यस्य यथाश्रुतेनार्थेनार्थवत्त्वे संभवति नान्यत्र तात्पर्यं कल्प्यं [12]कल्पकाभावान्न च त्वदुक्तया रीत्या[13]ऽनेकार्थत्वलक्षणो धर्मो वाक्यस्यैकस्योपपद्यते[14]ऽर्थैकत्वादेकं वाक्यमिति न्यायादिति परिहरति—तन्नैवमिति। वाक्यस्यानेकार्थत्वाभावेऽपि [15]तदर्थस्य कर्मणो बन्धमोक्षाख्यानेकार्थत्वं स्यादित्या-

---

(इस पर पूर्ववादी कहता है—) यद्यपि वेदोक्त कर्म मोक्षार्थक है, तथापि इष्टसाधनत्वादि ज्ञान का अनन्तर सम्पादित होना ही संसार का धर्म है। जिस तरह प्रकाश रूपदर्शन के लिए प्रयोजक होने पर प्रकाश में स्थित सभी वस्तु प्रकाशित हो जाती है। (सिद्धान्ती आक्षेप परिहार करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इसमें प्रमाण का अभाव है। यदि विद्यासहित वैदिक कर्मों को मुक्तिरूप महातात्पर्य वाला माना जाय तो उन से किसी अन्यपदार्थ के अवान्तर तात्पर्यविषयत्व होने में प्रमाण का ही अभाव है। इसमें न तो प्रत्यक्ष प्रमाण है, न अनुमान है और इसीलिए आगम प्रमाण भी नहीं हो सकता। (इस पर पूर्ववादी कहता है—) नहर निकालने एवं प्रकाश करने के समान एक ही वाक्य से दोनों का प्रदर्शन हो जाता है। (नहरों से आचमन और सिंचन, प्रकाश से उजाला और घर की शोभा दो-दो कार्यों का होना प्रसिद्ध है) ऐसा कहना भी उचित नहीं है। ऐसे में तो वाक्य का एकार्थबोधकत्व धर्म ही विनष्ट हो जायगा। एक ही वाक्य में आए हुए कर्म का प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में साधन होना समझना संभव नहीं है। नहर निकालने और प्रकाश करने आदि में कार्य की

---

१. सति। २. आलोकस्थः। ३. अभावात्। ४. निवृत्तिद्वारा मुक्तौ महातात्पर्यवत्त्वे। ५. अवान्तरतात्पर्यविषयत्वे। ६. अभावः। ७. एवमिति—कुल्याप्रणयनादि त्वदुक्तरीत्या वाक्यस्यैकस्यानेकार्थत्वे। वाक्यस्यैकस्य धर्मः एकार्थबोधकत्वं तदनुपपत्तेरित्यर्थः। ८. कर्मणः। ९. इष्टसाधनत्वादिज्ञानानन्तरं संपादितो यो धर्मादिस्तस्य। १०. संसारस्य। ११. अनेकार्थमिति—मूले सिक्तमपि फलपत्राद्यर्थमपि भवतीति। यद्वा आलवालस्थत्वेन पक्ष्यादिपानायाऽपि भवतीत्यर्थः। १२. प्रमाणाभावात्। १३. अनेकार्थजनकत्वाख्यो धर्मः। १४. अर्थेति—अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यादिति जै० सू० २।१।४६। अर्थैकत्वादिति—एकवाक्यत्वस्य अर्थैक्यप्रयुक्तत्वादनेकार्थत्वे वाक्यभेदापत्तिरिति भावः। विस्तरस्तु ५११पृष्ठ टिप्पणतो द्रष्टव्यः। १५. वाक्यार्थस्य।

शक्यते । कुल्याप्रणयनालोकादावर्थस्य प्रत्यक्षत्वाद[1]दोषः ।

यदप्युच्यते मन्त्रा अस्मिन्नर्थे दृष्टा इति । [2]अयमेव तु तावदर्थः प्रमाणगम्यः । मन्त्राः पुनः किमस्मिन्नर्थ आहोस्विदन्यस्मिन्नर्थ इति मृग्यमेतत् । [3]तस्माद्ग्रहातिग्रहलक्षणो मृत्युर्बन्ध[4]स्तस्मान्मोक्षो वक्तव्य इत्यत[5] [6]इदमारभ्यते ।

न च जानीमो विषयसंधाविवान्तरालेऽवस्थानमर्धजरतीयं कौशलम् । यत्तु मृत्योरतिमुच्यत इत्युक्त्वा ग्रहातिग्रहावुच्यते तत्त्वर्थसंबन्धात्सर्वोऽयं साध्यसाधनलक्षणो

शङ्कयाऽऽह—न चेति । परोक्तं दृष्टान्तं विघटयति—कुल्येति ।

विद्या चाविद्यां चेत्यादयो मन्त्राः समुच्चयपरा दृष्टाः समुच्चयश्च कर्मकाण्डस्य निवृत्तिद्वारा मोक्षार्थत्वमित्यस्मिन्नर्थे[7] सिध्यतीति शङ्कते—यदपीति । कर्मकाण्डस्योक्तरीत्या मोक्षार्थत्वे नास्ति प्रमाणमिति परिहरति—अयमेवेति । मन्त्राणां समुच्चयपरत्वात्तस्य च यथोक्तार्थाक्षेपकत्वात्कुतोऽस्यार्थस्य प्रमाणागम्यतेत्याशङ्कयाऽऽह—मन्त्राः पुनरिति । तेषां न समुच्चयपरतेत्यग्रे[8] व्यक्ती भविष्यतीत्यर्थः । [9]परमतासंभवे स्वमतमुपसंहरति—तस्मादिति । बन्धनिरूपणमनुपयोगीत्याशङ्कयाऽऽह—तस्मान्मोक्ष इति ।

यत्तु कर्मकाण्डं बन्धाय मुक्तये वा न भवति किंत्वन्तरावस्थानकारणमिति तद्दूषयति—न चेति । यथा न जागर्ति न स्वपितीति [10]विषयग्रहणच्छिद्रेऽन्तरालेऽवस्थानं दुर्घटं यथा चार्धं कुक्कुट्याः पाकार्थमर्धं च प्रसवायेति कौशलं नोपलभ्यते तथा कर्मकाण्डं न बन्धाय नापि साक्षान्मोक्षायेति व्याख्यानं कर्तुं न जानीम इत्यर्थः । यत्तु [11]श्रुतिरेवोत्तरोत्तरपदप्राप्त्यभिधानव्याजेन मोक्षे पुरुष[12]मवतारयतीति तत्राऽऽह—यत्त्विति । मृत्योराप्तिमतीत्य मुच्यत इत्युक्त्वा यदेतद्ग्रहातिग्रहवचनं [13]तदयं सर्वः [14]साध्यसाधनलक्षणो बन्ध इत्यनेनाभिप्रायेणोच्यते [15]तस्यार्थेन मृत्युपदार्थेना[16]न्वयदर्शनादिति योजना

द्विरूपता स्पष्ट देखी जाती है । (वह विषम दृष्टान्त है) इसलिए इसमें कोई दोष नहीं है ।

एवं जो ऐसा कहा जाता है कि इस अर्थ में मन्त्रों का साक्षात्कार हुआ है । सो कर्मकाण्ड से मोक्षार्थत्वरूप प्रयोजन किसी भी प्रमाण से सिद्ध होने वाला नहीं हैं । फिर क्या मन्त्र इसी अर्थ में है, अथवा किसी दूसरे अर्थ में हैं ? यह बात शोध करने योग्य है । परमत के असंभव होने से ग्रहातिग्रहरूप मृत्यु बन्धन है, इसलिये मोक्ष का प्रतिपादन करना चाहिये (क्योंकि बद्ध ही मुक्त होता है) अतः इस ब्राह्मण का आरम्भ किया जाता है ।

जिस प्रकार (जाग्रत् और स्वप्नरूप) दो विषयों की संधि में स्थित होना नहीं देखा जाता,

---

१. अदोष इति—न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति न्यायात् । तथा च विषमोऽयं दृष्टान्त इति भावः । २. कर्मकाण्डस्य मोक्षार्थत्वरूपः । ३. परमतासंभवात् । ४. उपरोक्तलक्षणमृग्यात् । ५. अत इति—बद्धो हि मुच्यत इति न्यायात् । ६. इदमिति—ग्रहातिग्रहलक्षणबन्धरूपस्य मृत्योः । स्वरूपनिरूपणायेदं ब्राह्मणमारभ्यत इत्यर्थः । ७. स्वीकृते सति । ८. बृ० उ० ४।४।६ टीकायाम् । ९. सर्वं कर्मनिवृत्तिपरमिति परमतम् । १०. ग्रहणाग्रहणेति पाठः । ११. ग्रहातिग्रहप्रतिपादिका प्रकृता श्रुतिः । १२. संनिधापयति मोक्षनिकटं करोतीति यावत् । १३. वचनम् । १४. ग्रहादिरूपः । १५. उच्यमानसाध्यसाधनलक्षणस्य । १६. मृत्युग्रस्तत्वादिति यावत् ।

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति। अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति ये तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमे त इति॥ १॥

तदनन्तर उस याज्ञवल्क्य से जरत्कारु गोत्र वाले ऋतभाग के पुत्र ने पूछा। हे याज्ञवल्क्य! ऐसा आर्तभाग ने कहा—ग्रह कितने हैं और अतिग्रह कितने हैं? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं। (आर्तभाग ने कहा—) वे जो आठ ग्रह तथा आठ अतिग्रह हैं, वे कौन से हैं? (पहले 'अतिमुच्यते' कहा गया है, ग्रहगृहीत से ही मुक्ति और अतिमुक्ति हुआ करती है। अतएव ग्रह तथा अतिग्रह की प्राप्ति सामान्य रीति से होती है। इसीलिए उनकी संख्या के विषय में प्रश्न भी बनता हैं और संख्येय के विषय में विशेष जिज्ञासा भी संभव है)॥ १॥

---

[1]ग्रहातिग्रहाविनिर्मोकात्। निगडे हि निर्ज्ञाते [2]निगडितस्य मोक्षाय यत्नः कर्तव्यो भवति। [3]तस्मा[4]त्तादर्थ्येना[5]ऽऽरम्भः।

अथ हैनं हशब्द [6]ऐतिह्यार्थः। अथानन्तरमश्वल उपरते प्रकृतं याज्ञवल्क्यं जरत्कारुगोत्रो जारत्कारव ऋतभागस्यापत्यमार्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाचेत्यभिमुखी-

---

अर्थसंबन्धादित्युक्तं स्फुटयति—ग्रहातिग्रहाविनिर्मोकादिति। [7]एषा हि श्रुतिर्बन्धमेव प्रतिपादयति न तु मोक्षे पुरुषमवतारयतीति भावः। ननु पुरुषस्यापेक्षितो मोक्षः प्रतिपाद्यतां किमित्यनर्थात्मा बन्धः प्रतिपाद्यते तत्राऽऽह—निगडे हीति। बन्धज्ञानं विना [8]ततो [9]विश्लेषायोगान्मुमुक्षोः [10]सप्रयोजकबन्धज्ञानार्थत्वेनानन्तरब्राह्मणप्रवृत्तिरित्युपसंहरति—तस्मादिति।

उसी प्रकार (वैदिक कर्मों से बन्ध-मोक्ष कुछ भी न होकर कोई मध्यम वस्तु प्राप्त होती है) यह अर्धजरतीय व्याख्यानकौशल ठीक नहीं है। तथा जो "मृत्यु से अतिमुक्त हो जाता है" ऐसा कहकर ग्रह और अतिग्रह का वर्णन किया जाता है, वह तो अर्थ के प्रयोजन से है। यह सब साध्य-साधनरूप बन्धन है क्योंकि निरुक्त संसार का ग्रह और अतिग्रह से सम्बद्ध होने के कारण बन्धत्व है। बन्ध का ज्ञान होने पर बद्ध पुरुष के मोक्ष के लिए प्रयत्न करना आवश्यक हो जाता है। इसलिए बन्ध का स्वरूप जानने के लिए इसका आरम्भ किया जाता है।

"अथ हैनं" इत्यादि मन्त्र में 'ह' शब्द परम्परागत उपदेशार्थक है। "अथ" यानी अश्वल के

---

१. ग्रहातीति—निरुक्तसंसारस्य ग्रहादिसंबद्धत्वात् बन्धत्वमित्यर्थः। २. बद्धस्य। ३. बन्धज्ञानस्य तन्निवृत्तिप्रयोजकत्वात्। ४. बन्धं ज्ञातुम्—ज्ञापयितुम्। ५. तादर्थ्येनारम्भ इति। "बन्धाख्यमृत्युस्तन्मृत्युर्विदुषोऽनुत्क्रमस्तथा। प्रयोजकलयो मृत्योः प्रेरकश्चात्र पृच्छ्यते"॥ १॥ इति वार्तिकसारे समाहितम्। अत्र—ब्राह्मणे। मृत्युप्रयोजकं—विहितनिषिद्धकम्। प्रेरकं प्रयोजकम्। ६. ऐतिह्येति—ऐतिह्यं परम्परागतोपदेशः। इयमाख्यायिका आचार्यपरम्परया श्रूयत इति यावत्। परम्परोपदेशे स्यादैतिह्यमिति ह्यव्ययमित्यमरः। ७. समनन्तरयावद्ब्राह्मणरूपा। ८. बन्धात्। ९. मोक्षासंभवात्। १०. सप्रयोजकेति—प्रयोजकम् विहितप्रतिषिद्धम्। बन्धः यथोक्तग्रहातिग्रहलक्षणो मृत्युः।

करणाय। पूर्ववत्प्रश्नः कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति। इतिशब्दो [१]वाक्यपरिसमाप्त्यर्थः। [२]तत्र निर्ज्ञातेषु वा ग्रहातिग्रहेषु प्रश्नः स्यादनिर्ज्ञातेषु वा। यदि तावद्ग्रहा अतिग्रहाश्च निर्ज्ञातास्तदा तद्गतस्यापि गुणस्य संख्याया निर्ज्ञातत्वात्कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति संख्याविषयः प्रश्नो नोपपद्यते। अथानिर्ज्ञातास्तदा संख्येयविषयः प्रश्न[३] इति के ग्रहाः केऽतिग्रहा इति प्रष्टव्यं न तु कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति प्रश्नः[४]। अपि च निर्ज्ञातसामान्येषु विशेषविज्ञानाय प्रश्नो भवति यथा कतमे[५]ऽत्र कठाः कतमेऽत्र कालापा इति। न चात्र[६] ग्रहातिग्रहा नाम पदार्थाः केचन लोके प्रसिद्धाः। [७]येन विशेषार्थः प्रश्नः स्यात्। ननु चातिमुच्यत [८]इत्युक्तं ग्रहगृहीतस्य हि मोक्षः स मुक्तिः साऽतिमुक्तिरिति हि [९]द्विरुक्तम्।

कति ग्रहा इत्यादिः प्रथमः संख्याविषयः प्रश्नः कतमे त इति द्वितीयः संख्येयविषय इत्याह—पूर्ववदिति। [१०]संप्रति प्रश्नमाक्षिपति—तत्रेत्यादिना। आद्यं प्रश्नमाक्षिप्य द्वितीयमाक्षिपति—अपि चेति। विशेषतश्चाज्ञातेष्विति चशब्दार्थः। मुक्त्यतिमुक्तिपदार्थद्वयप्रतियोगिनौ बन्धनाख्यौ ग्रहातिग्रहौ सामान्येन प्राप्तौ प्रश्नस्तु विशेषबुभुत्सायामिति प्रष्टा चोदयति—ननु चेति। [११]तथाऽपि [१२]प्रश्नद्वयमनुप-

उपराम हो जाने पर उस प्रकरणस्थ याज्ञवल्क्य से "जारत्कारव" अर्थात् जरत्कारु गोत्र में उत्पन्न "आर्तभागः" ऋतभाग के पुत्र आर्तभाग ने पूछा। अभिमुख सम्पादन के लिए "हे याज्ञवल्क्य" इस सम्बोधन से (पुकार कर) कहा। कितने ग्रह हैं और कितने अतिग्रह हैं—ये प्रश्न पूर्वमन्त्र के समान ही किये गये हैं। "इति"शब्द प्रश्नवाक्य की परिसमाप्ति के लिए है। उन दोनों प्रश्नों में क्या यह प्रश्न सम्यक् ज्ञात ग्रह और अतिग्रह के विषय में है अथवा अनिर्ज्ञात ग्रह और अतिग्रह के विषय में है? यह ग्रह और अतिग्रह सम्यक्रूप से ज्ञात हों, तो उनमें रहने वाली गुणरूप संख्या भी ज्ञात हो जाने से कितने ग्रह हैं और कितने अतिग्रह हैं, इस प्रकार संख्याविषयक प्रश्न नहीं बनता। तथा यदि उन्हें अनिर्ज्ञात माना जाय तो संख्येयविषयक प्रश्न करना आवश्यक हो जाता है। ऐसे में ग्रह कौन से हैं और अतिग्रह कौन से हैं—यह पूछना चाहिये। कितने ग्रह हैं और कितने अतिग्रह हैं—यह प्रश्न पूछना संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त सामान्यस्वरूप के निर्ज्ञात होने पर विशेषस्वरूप ज्ञान के लिए प्रश्न हुआ करता है, जैसे सामान्य पाठकों में कौन से कठशाखा के हैं एवं कौन से कलापशाखा के हैं। परन्तु यहाँ लोक में ग्रह और अतिग्रह वाले कोई पदार्थ प्रसिद्ध नहीं हैं; जिनमें (कौन से ग्रह हैं, कौन से अतिग्रह हैं) विशेष अर्थ के लिए प्रश्न पूछा जाय। किन्तु पूर्वब्राह्मण में तो कहा गया है "वह अतिमुक्त हो जाता है और ग्रहगृहीत ही मोक्ष है। वह मुक्ति है, वह अतिमुक्ति है; इस प्रकार मोक्ष को दो प्रकार से कहा है। इससे ग्रह और अतिग्रह दोनों ही की प्राप्ति हो जाती है। (पूर्ववादी शङ्का करता है—) किन्तु यहाँ तो

---

[१] प्रश्नवाक्येत्यर्थः। [२] तत्र ग्रहातिग्रहेष्विति संबन्धः यद्वा प्रश्नद्वयमध्ये। [३] कर्तव्यो भवति। [४] संभवति। [५] अध्येतॄणां मध्ये; अध्येतृसामान्य इति यावत्। [६] अत्र लोक इत्यन्वयः। [७] येनेति—ग्रहातिग्रहत्वरूपसामान्यतः प्रसिद्धत्वेनेत्यर्थः। विशेषार्थः प्रश्नः—ग्रहातिग्रहत्वेन प्रसिद्धानां मध्ये कतमे ग्रहाः कतमे चातिग्रहा इति प्रश्न इत्यर्थः। [८] बृ० उ० ३।१।३-६। [९] मोक्षणं द्विधोक्तमित्यर्थः। [१०] अस्याः कथाया वादैकरूपत्वेनात्राजानान एव संदिग्धार्थं निर्णेतुं पृच्छतीत्याशयेनाह—संप्रतीति। [११] तेषां सामान्यतः प्राप्तत्वेऽपि। [१२] संख्याविषयं प्रश्नं यद्वा संख्यासंख्येयविषयं प्रश्नमिति।

[1]तस्मात्प्राप्ता ग्रहा अतिग्रहाश्च । ननु तत्रापि चत्वारो ग्रहा अतिग्रहाश्च [2]निर्ज्ञाता वाक्चक्षुःप्राणमनांसि [3]तत्र कतीति प्रश्नो नोपपद्यते निर्ज्ञातत्वात् । न, [4]अनवधारणार्थत्वात् । न हि चतुष्ट्वं तत्र विवक्षितमिह[5] तु [6]ग्रहातिग्रहदर्शने[7]ऽष्टत्व[8]गुणविवक्षया कतीति प्रश्न उपपद्यत एव । तस्मात्स मुक्तिः साऽतिमुक्तिरिति [9]मुक्त्यतिमुक्ती द्विरुक्ते ग्रहातिग्रहा अपि [10]सिद्धाः । [11]अतः कतिसंख्याका ग्रहाः कति वाऽतिग्रहा इति पृच्छति । इतर आह—अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति । [12]ये तेऽष्टौ ग्रहा अभिहिताः कतमे ते [13]नियमेन ग्रहीतव्या इति ॥ १ ॥

पन्नमित्याक्षेप्ता ब्रूते—ननु तत्रेति । वाग्वै यज्ञस्य होते[14]त्यादाविति यावत् । निर्ज्ञातत्वाद्विशेषस्येति शेषः । [15]अतिमोक्षातिदेशेन त्वगादेरपि सूचितत्वा[16]त्तेषु चतुष्ट्वस्या[17]निर्धारणादविशेषेण प्रतिप्रपन्नेषु वागादिषु विशेषबुभुत्सायां संख्यादिविषयत्वेन प्रश्नस्यो[18]पपन्नार्थत्वान्नाऽऽक्षेपोपपत्तिरिति समाधत्ते—नानावधारणार्थत्वादिति । तदेव स्पष्टयति—न हीति । तत्र पूर्वब्राह्मणे वागादिष्वति यावत् । [19]फलितां प्रथमप्रश्नोपपत्तिं कथयति—इह त्विति । ननु ग्रहाणामेव [20]पूर्वत्रोपदेशातिदेशाभ्यां [21]प्रतिपन्नत्वात्तेषु विशेषबुभुत्सायां कति ग्रहा इति प्रश्नेऽप्यतिग्रहाणामप्रतिपन्नत्वात्कथं कत्यतिग्रहा इति प्रश्नः स्यादत आह—तस्मादिति । पूर्वस्माद्ब्राह्मणादिति यावत् । वागादयो [22]वक्तव्यादयश्च चत्वारो ग्रहाश्चातिग्रहाश्च यद्यपि [23]विशेषतो निर्ज्ञातास्तथाऽप्यतिदेशप्राप्ता[24]श्चत्वारो विशेषतो न ज्ञायन्ते तेन तेषु विशेषतो ज्ञानसिद्धये प्रश्न इत्यभिप्रेत्य विशिनष्टि—नियमेनेति ।

वाक्, चक्षु, प्राण और मन इन चार ग्रहों और (नाम, रूप, गन्ध काम) अतिग्रहों का ज्ञान होता ही है । निर्ज्ञात ग्रहों और अतिग्रहों में "वे कितने हैं" ऐसा प्रश्न नहीं बनता । (सिद्धान्ती समाधान देता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि वहाँ अवधारणार्थ का अभाव है अर्थात् वहाँ यह बतलाना इष्ट नहीं है कि वे चार ही हैं । इस ब्राह्मण में ग्रह-अतिग्रह दर्शन में (पूर्वब्राह्मण से) अष्टसंख्या विवक्षा द्वारा वे कितने हैं—ऐसा प्रश्न पूछा ही जा सकता है । इसलिए "वह मुक्ति है, वह अतिमुक्ति है" इस प्रकार मुक्ति और अतिमुक्ति के दो बार कहे जाने पर ग्रह और अतिग्रह की भी सिद्धि की जा

---

१. मुक्तेः प्रतियोगिनिरूप्यत्वात् । २. निर्ज्ञाता इति—"वाग्वै यज्ञस्य होते'त्यादिना वाक्चक्षुर्घ्राणमनसां ग्रहाणाम् नामरूपगन्धकामानां चातिग्रहाणां तद्गतचतुष्ट्वस्य च प्रागेव प्राप्तेः कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इतिप्रश्नद्वयानुपपत्तिरिति भावः । ३. निर्ज्ञातग्रहातिग्रहेषु । ४. अनवधारणेति—पूर्वब्राह्मणस्थवागादिषु चतुष्ट्वस्याविवक्षितत्वेनावधारणार्थत्वाभावादित्यर्थः । ५. ब्राह्मणे । ६. ग्रहेति—ग्रहादिप्रतिपत्तौ सत्यां तत्राष्टत्व-गुण(संख्या)विवक्षयेति । यद्वा विषयसप्तमी । ७. पूर्वब्राह्मणतः । ८. संख्याविवक्षया । ९. मुक्त्यतिमुक्ती इति—अत्र मुक्त्यतिमुक्तिद्विरुक्तेरिति पुस्तकान्तरपाठः । १०. सिद्धाः मुक्त्यतिमुक्तिप्रतियोगित्वेनेति शेषः । ११. तयोर्निःशेषं सिद्धत्वात् । १२. संख्येयान्पृच्छति—ये त इति । १३. नियमेन—निश्चितस्वरूपत्वेन । १४. इत्यादौ निर्ज्ञाता इत्यर्थः । १५. अतिमोक्षातिदेशेनेति—बृ० उ० ३।१।६ । इत्यतिमोक्षा इति वागादावुक्तन्यायस्य त्वगादावतिदेशेन तेषु चतुष्ट्वस्याविवक्षितत्वादित्यर्थः । १६. वागादिषु । १७. अनिश्चितसंख्याकत्वेन । १८. संभावितविषयत्वात् । १९. सिद्धाम् । २०. चक्षुरादिचतुष्टयस्योपदेशः त्वगादि चातिदेशः । २१. ज्ञातत्वात् । २२. पूर्वत्र ब्राह्मणनिर्दिष्टाः । २३. निर्धारितरूपतया । २४. त्वगादयः स्पर्शादयश्च ।

प्राणो वै ग्रहः सो[१]ऽपानेनातिग्राहेण[२] गृहीतोऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रति ॥ २ ॥

घ्राण ही ग्रह है, वह गन्धरूप अतिग्रह से गृहीत है (अपान गंध का साथी है, इसीलिये यहाँ पर अपानशब्द से गन्ध को कहा गया है) क्योंकि अपान द्वारा लाये गये गन्धों को ही सम्पूर्ण लोक सूँघता है ॥२॥

तत्राऽऽह[३] । प्राणो वै ग्रहः प्राण इति घ्राणमुच्यते । प्रकरणात् । [४]वायुसहितः सः । अपानेनेति गन्धेनेत्येतत् । [५]अपानसचिवत्वादपानो गन्ध उच्यते । अपानोपहृतं हि गन्धं घ्राणेन सर्वो लोको जिघ्रति । [६]तदेतदुच्यतेऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रतीति ॥२॥

---

[८]द्वितीये प्रश्ने परिहारमुत्थापयति—'तत्राऽऽहेति । प्राणशब्दस्य घ्राणविषयत्वे पूर्वोत्तरग्रन्थयोर्वागादीनां प्रकृतत्वं हेतुमाह—प्रकरणादिति । [९]तस्य गन्धेन गृहीतत्वसिद्धयर्थं विशिनष्टि—वायुसहित इति । अपानशब्दस्य गन्धविषयत्वे गन्धस्यापानेना[१०]विनाभावं हेतुमाह—अपानेति । [११]तत्रैव हेत्वन्तरमाह—अपानोपहृतं हीति । [१२]अपश्वासोऽत्रापानशब्दार्थः । उक्तेऽर्थे वाक्यं [१३]पातयति—तदेतदिति ॥२॥

सकती है । इसलिए कितने ग्रह हैं और कितने अतिग्रह हैं—ऐसा प्रश्न पूछा जाता है । इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं—आठ ग्रह हैं और आठ ही अतिग्रह हैं । (आर्तभाग पूछता है–) वे जो संख्येय आठ ग्रह बतलाये गये, उनमें निश्चितस्वरूप से किन-किन को ग्रहण करना चाहिये ॥१॥

याज्ञवल्क्य इसका समाधान देते हैं । प्राण ही ग्रह है । प्राणशब्द से यहाँ घ्राणेन्द्रिय को लिया गया है क्योंकि उसी का प्रकरण भी चल रहा है । (अजहल्लक्षणा से) वह वायु के सहित है । "अपानेन" अर्थात् गन्ध से क्योंकि अपान का सहायक होने से अपान को गन्ध कहा जाता है । यह सारा संसार अपान से लाये गये गन्ध को ही घ्राणेन्द्रिय के द्वारा सूँघता है । इसी अर्थ को लेकर कहा है कि वह अपान से गन्ध को सूँघता है ॥२॥

---

१. अपानेनातिग्राहेणेति । इन्द्रियाणां ग्रहत्वं तु गृह्णन्तीति व्युत्पत्त्या विषयाणामतिग्रहत्वमुक्तं वार्तिके । तथाहि—"गन्धादिविषया धीस्थाः कर्मसंबोधिता यतः । प्रयुज्यते हि घ्राणादींस्ततस्ते स्युरतिग्रहाः" ॥ १२ ॥ इति । बुद्धौ खल्वनादिवासनारूढा विषयाः शुभाशुभेन कर्मणा प्रेरिताः स्वाकारधीसमुल्लासार्थं प्रेरयन्ति तथा च ते ग्रहानतिक्रम्य स्ववशमानयन्तीत्यतिग्रहा इति तदर्थः । विषयाणामिन्द्रियप्रेरकत्वमनुभवसिद्धमिति हिशब्दार्थः । २. अतिग्राहेणेति—दैर्घ्यं छान्दसम् । ३. समाधानमिति शेषः । ४. अजहल्लक्षणाभिप्रायकमिदम् । ५. अपानसहायकत्वात् । ६. उक्तमर्थंजातम् । ७. संख्येयविषये । ८. द्वितीये प्रश्ने । ९. घ्राणस्य । १०. अविनाभावमिति—नित्यसंबद्धत्वमित्यर्थः । मिथो बद्धत्वमिति यावत् । ग्रहीतुरप्युपलक्षणमेतत् । तदुक्तं वार्तिके—"ग्रहैर्गन्धादयो ग्रस्ता ग्रहाश्चाऽऽत्मा च गोचरैः" ॥ १० ॥ इति । ११. अपानशब्दस्य गन्धविषयत्व एव । १२. अपश्वासः अन्तर्मुखश्वासः । १३. योजयति ।

वाग्वै ग्रहः स [1]नाम्नाऽतिग्राहेण गृहीतो [2]वाचा हि नामान्यभिवदति ॥ ३ ॥

जिह्वा वै ग्रहः स रसेनातिग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान्विजानाति ॥ ४ ॥

चक्षुर्वै ग्रहः स रूपेणातिग्राहेण गृहीतश्चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति ॥ ५ ॥

श्रोत्रं वै ग्रहः स शब्देनातिग्राहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि शब्दाञ्शृणोति ॥ ३ ॥

वाक् ही ग्रह है, वह नामरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि प्राणी वाक् से ही नामों का उच्चारण करता है ॥३॥

जिह्वा ही ग्रह है, वह रसरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि प्राणी जिह्वा से ही रसों को पृथक्-पृथक् विशेषरूप से जानता है ॥४॥

नेत्र ही ग्रह है, वह रूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि चक्षु से ही रूपों को देखता है ॥५॥

श्रोत्र ही ग्रह है, वह शब्दरूप अतिग्रह से पकड़ा हुआ है क्योंकि प्राणी श्रोत्र से ही शब्दों को सुनता है ॥ ६ ॥

वाग्वै ग्रहः । वाचा ह्यध्यात्म[3]परिच्छिन्नयाऽऽसङ्गविषयास्पदयाऽसत्यानृता[4]सभ्य-[5]बीभत्सादिवचनेषु व्यापृतया गृहीतो लोको[6]ऽपहृतस्तेन वाग्ग्रहः स नाम्नाऽतिग्राहेण गृहीतः स वागाख्यो ग्रहो नाम्ना वक्तव्येन विषयेणातिग्रहेणातिग्राहेणेति दैर्घ्यं छान्दसं

वाचो ग्रहत्वमुपपादयति—वाचा हीति । आसङ्गस्य विषयः शब्दादिरेवाऽऽस्पदं यस्या वाचस्तयेति विग्रहः । [9]तत्सिद्ध्यर्थमध्यात्मपरिच्छिन्नयेति विशेषणम् । असत्यं परपीडाकरं मिथ्यावचनं तदेव स्वदृष्ट[10]मात्रविरोध्यनृतं [11]विपरीतं वा । आदिपदेनेष्टानिष्टोक्तिग्रहः । वाचि प्रकृतायां स नाम्नेति[12] कथमुच्यते तत्राऽऽह—स वागाख्य इति । वक्तव्येन वाचो वशीकृतत्वं साधयति—वक्त-

वाक् ही ग्रह है। असत्य, अनृत, सभा के अयोग्य, घृणास्पद वचनों में लगी हुई आसक्ति विषय की स्थानभूता शरीर के एक देश में रहने वाली वाक् से ही संसार आकर्षित होता है। इसलिए (लोक को आकर्षित कर लेने से) वाक् ग्रह है। वह नामरूप अतिग्रह से आकर्षित होता है। वह वाक् नामक ग्रह "नाम्ना" अर्थात् वक्तव्य विषयरूप अतिग्रह से गृहीत है। "अतिग्राहेण" में दीर्घ आकार का प्रयोग

---

१. वक्तव्येन विषयेण । २. हि यस्माल्लोको नामव्याप्तविषयावच्छिन्नया वाचा शब्दानुच्चारयति । ३. शरीरैकदेशवर्तिन्या । ४. सभानर्हः । ५. घृणाकरः । ६. आकर्षितः । ७. लोकाकर्षकत्वेन । ८. विषयः । ९. आसङ्गविषयास्पदत्वसिद्ध्यर्थम् । १०. मात्रेति—परपीडाव्यावृत्ता । ११. परेत्याद्युक्तमनृतम् स्वेत्याद्युक्तमसत्यमित्यर्थः । १२. पुंस्त्वेनेति शेषः ।

मनो वै ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीतो मनसा हि कामान्कामयते ॥ ७ ॥

हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणाऽतिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्याँ हि कर्म करोति ॥ ८ ॥

त्वग्वै ग्रहः स स्पर्शेनातिग्राहेण गृहीतस्त्वचा हि स्पर्शान्वेदयत इत्येतेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः ॥ ९ ॥

मन ही ग्रह है, वह कामरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि प्राणी मन से ही भोगों की कामना करता है ॥ ७ ॥

हस्त ही ग्रह है, वह कर्मरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि हाथों से ही प्राणी कर्म करता है ॥८॥

त्वचा ही ग्रह है, वह स्पर्शरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि त्वचा से ही स्पर्शों को प्राणी जानता है । इस प्रकार त्वक्पर्यन्त ये आठ ग्रह हैं और स्पर्शपर्यन्त ये आठ अतिग्रह हैं । उक्त मन्त्रों में "अतिग्राहेण" यहाँ पर छान्दस दीर्घ समझना चाहिये ॥ ९ ॥

---

[1]वक्तव्यार्था [2]हि वाक्तेन वक्तव्येनार्थेन तादर्थ्येन प्रयुक्ता वाक्तेन वशीकृता तेन तत्कार्यम कृत्वा नैव तस्या मोक्षः । [3]अतो नाम्नाऽतिग्राहेण गृहीता वागित्युच्यते । वक्तव्यासङ्गे हि प्रवृत्ता सर्वानर्थैर्युज्यते । समानमन्यत् । इत्येते त्वक्पर्यन्ता अष्टौ ग्रहाः स्पर्शपर्यन्तास्चैते

व्यार्थेति । तादर्थ्येन वचनकरणत्वेनेति यावत् । वचनार्थं वाचो वक्तृत्वेन वशीकृतत्वे फलितमाह—तेनेति । तत्कार्यं वचनं मोक्षश्चा[4]साधारणे [5]देवतात्मनि पर्यवसानम् । वक्तव्यार्थोक्तिं विना वाचोऽपर्यवसाने सिद्धमर्थमाह—अत इति । वाचोऽतिग्रहगृहीतत्वमनुभवेन साधयति--वक्तव्येति । वाचा हीत्यादेरपानेन हीत्यादिना तुल्यार्थत्वादव्याख्येयत्वमाह—समानमिति । घ्राणं वाग्जिह्वा चक्षुः श्रोत्रं मनो हस्तौ त्वगित्युक्तान्ग्रहान्निगमयति—इत्येत इति । गन्धो नाम रसो रूपं शब्दः कामः कर्म स्पर्श

छान्दस है । क्योंकि वाक् वक्तव्य विषय के लिए होती है; इसलिये उस वक्तव्य अर्थ से उसी के लिए प्रयुक्त की जाने वाली वाक् उसी के वशीभूत है, इसलिये उस कार्य को किये बिना उसका मोक्ष सम्भव नहीं है । इसी से श्रुति कहती है—वाक् नामरूप अतिग्रह से गृहीत है । वक्तव्य की आसक्ति से प्रयुक्त होने पर ही वह समस्त अनर्थों से युक्त होती है । यहाँ से आगे के नवम मन्त्र तक का अर्थ इसी प्रकार है।

---

१. वक्तव्यार्थेति—वक्तव्याय वाच्यार्थायेयमिति विग्रहः । यद्वा वक्तव्यो वचनार्होऽर्थो विषयो यस्याः सा वक्तव्येन विषयेण अर्थ्यते करणविधयाऽपेक्ष्यत इति वा । २. यतः । ३. अतः—तत्कार्यकरणमन्तर मोक्षासंभवात् । ४. असाधारण इत्यादि—अध्यात्मपरिच्छेदपरित्यागपुरःसरं स्वीयाऽन्यात्मकाधिदैवस्वरू तादात्म्यमित्यर्थः । ५. देवतात्मनि पर्यवसानमिति—तथा च देवतात्मनि पर्यवसितापि करोत्येव वचनमेवं देवतात्मनोऽपि न ग्रहातिग्रहमुक्तत्वमिति भावः ।

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं मृत्योरन्नं का स्वित्सा देवता यस्या मृत्युरन्नमित्यग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्नमप पुनर्मृत्युं जयति ॥ १० ॥

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा आर्तभाग ने कहा—यह जो कुछ भी व्याकृत जगत् है; वह सब मृत्यु का अन्न है। पर जिसका अन्न मृत्यु भी है, ऐसा देवता कौन है ? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) अग्नि ही मृत्यु है, वह अग्निरूप मृत्यु जल का खाद्य है (वह जल मृत्यु का भी मृत्यु है, इस प्रकार के ज्ञान से) पुरुष पुनर्मृत्यु को जीत लेता है ॥१०॥

ऽष्टावतिग्रहा इति ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

[1]उपसंहृतेषु ग्रहातिग्रहेष्वाह पुनः—याज्ञवल्क्येति होवाच। यदिदं सर्वं मृत्योरन्नं यदिदं [2]व्याकृतं सर्वं मृत्योरन्नं सर्वं जायते विपद्यते च ग्रहातिग्रहलक्षणेन मृत्युना ग्रस्तम्। का स्वित्का नु [3]स्यात्सा देवता यस्या देवताया मृत्युरप्यन्नं भवेत् "मृत्युर्यस्योपसेचनम्" इति श्रुत्यन्तरात्। अयमभिप्रायः प्रष्टुर्यदि मृत्योर्मृत्युं वक्ष्यत्यनवस्था स्यात्। अथ न वक्ष्यत्यस्माद्ग्रहातिग्रहलक्षणान्मृत्योर्मोक्षो नोपपद्यते। ग्रहातिग्रहमृत्युविनाशे हि मोक्षः

इत्यतिग्रहानपि निगमयति—स्पर्शपर्यन्तांश्चेति ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

प्रतीकमादाय व्याचष्टे—यदिदमिति। यदिदं व्याकृतं जगत्सर्वं मृत्योरन्नमिति योजना। तस्य तदन्नत्वं साधयति—सर्वमिति। मृत्योरन्नत्वसंभावनायां श्रुत्यन्तरं संवादयति—मृत्युरिति। मृत्योर्मृत्यु[4]मधिकृत्य प्रश्नस्य करटदन्तनिरूपणवदप्रयोजनत्वमाशङ्क्याऽऽह—अयमिति। सत्येव ग्रहातिग्रहलक्षणे मृत्यौ मोक्षो भविष्यतीति चेन्नेत्याह—ग्रहेति। अस्तु तर्हि ग्रहातिग्रहनाशे मुक्तिरित्यत आह

इस प्रकार से त्वक्पर्यन्त आठ ग्रह हैं और स्पर्शपर्यन्त आठ अतिग्रह हैं ॥३॥४॥५॥६॥७॥८॥९॥

ग्रह और अतिग्रहों का निष्कर्ष हो जाने पर आर्तभाग ने फिर पूछा। "हे याज्ञवल्क्य" इस प्रकार सम्बोधन कर कहा—"यदिदं सर्वं मृत्योरन्नं" यह जो कुछ भी दृश्यमान कार्यात्मक जगत् है; सभी मृत्यु का भोजन है क्योंकि ग्रह-अतिग्रहरूप मृत्यु से ग्रस्त होकर उत्पत्ति और नाश को प्राप्त होता रहता है। वह देवता कौन है, जिस देवता का मृत्यु भी भोजन है ? "(जिस आत्मा को ब्राह्मण और क्षत्रिय, ये दोनों भात हैं) तथा मृत्यु जिसके शाकादि हैं, (वह जहाँ है, उसे कौन इस प्रकार जान सकता है) ऐसा कठश्रुति में भी प्रतिपादित किया गया है। पूछने वाले का अभिप्राय यह है—यदि मृत्यु का भी मृत्यु बतलाते हो तो फिर अनवस्था दोष हो जायगा और यदि ऐसा नहीं बतलाओगे तो ग्रहाति-

---

[1] एवं ग्रहातिग्रहान् मुक्त्यतिमुक्तिप्रतियोगिभूतान् बन्धनाख्यानभिधायेदानीमतिमुक्तित्वे नोक्तस्य ज्ञानकर्मफलभूतस्यापि सूत्रपदस्य पूर्वोक्तरीत्या वागाद्यात्मकाग्न्याद्यभिन्नत्वेन ग्रहातिग्रहरूपमृत्य्वात्मकत्वात्ततोऽप्यतिमुक्त्यर्थं तन्मारकं मृत्य्वन्तरं पृच्छतीत्यभिप्रायेणाह—उपसंहृतेष्विति। [2] कार्यम्। [3] स्यादिति—अत्र वार्तिकम्—"योऽयं मृत्युरिह प्रोक्तो मृत्युस्तस्यापि चापरः। अस्ति नास्तीति वा ब्रूहि याज्ञवल्क्य यथातथम्" ॥ १३ ॥ इति। [4] निरूपणीयत्वेनोद्दिश्य।

स्यात् । [1]स यदि मृत्योरपि मृत्युः स्या[2]द्भवेद्ग्रहातिग्रहलक्षणस्य मृत्योर्विनाशः । अतो [3]दुर्वचनं प्रश्नं मन्वानः पृच्छति का स्वित्सा देवतेति । अस्ति तावन्मृत्योर्मृत्युः । नन्वनवस्था स्यात्तस्याप्यन्यो मृत्युरिति । नानवस्था । सर्वमृत्योर्मृत्य्वन्तरानुपपत्तेः । कथं पुनरवगम्यतेऽस्ति मृत्योर्मृत्युरिति । दृष्टत्वात् । अग्निस्तावत्सर्वस्य दृष्टो मृत्युर्विनाशकत्वात् । सोऽद्भिर्भक्ष्यते ❀[4]सोऽग्निरपामन्नम् । गृहाण तर्ह्यस्ति मृत्योर्मृत्युरिति । तेन सर्वं

—स यदीति । न च मृत्योर्मृत्युरस्त्यनवस्थानादित्युक्तमिति भावः । पक्षेऽनवस्थानात्पक्षे चामुक्तेरित्यतःशब्दार्थः । अस्तिपक्षं परिगृह्णाति—अस्ति तावदिति । मृत्योर्मृत्यु[5]र्ब्रह्मात्मसाक्षात्कारो विवक्षितस्तस्याप्यन्यो मृत्युरस्ति चेदनवस्था नास्ति चेत्तद्धे[6]त्वज्ञानस्यापि स्थितेरमुक्तिरिति शङ्कते—नन्विति । तत्रास्तिपक्षं परिगृह्य परिहरति—नानवस्थेति । [7]यथोक्तस्य मृत्योः [8]स्वपरविरोधित्वान्न किंचिदवद्यमित्यर्थः । [9]उक्तं पक्षं प्रश्नद्वारा प्रमाणारूढं करोति—कथमिति । दृष्टत्वं स्पष्टयति—अग्निस्तावदिति । दृष्टत्वफलमाचष्टे—गृहाणेति । [10]तस्य कार्यं कथयति—तेनेति । अप पुनर्मृत्युं जयतीत्यस्य पातनिकां

ग्रहलक्षण मृत्यु से मुक्ति होनी संभव नहीं होगी । ग्रह और अतिग्रहरूप मृत्यु का नाश होने पर ही तो मोक्ष होगा । उस लोकप्रसिद्ध मृत्यु की भी यदि मृत्यु होगी तो ग्रहातिग्रहरूप मृत्यु का भी विनाश होगा, इसलिए इसका उत्तर मिलना कठिन समझ कर आर्तभाग प्रश्न पूछता है कि वह देवता कौन है। तो ऐसा मान लें कि मृत्यु का मृत्यु है । (पूर्ववादी आक्षेप करता है—) किन्तु ऐसा मानने पर फिर 'उस मृत्यु का भी मृत्यु होगा, इस प्रकार अनवस्था दोष हो जायगा । (सिद्धान्ती समाधान करता है—) अनवस्था दोष होना संभव नहीं है क्योंकि जो सब का मृत्यु है, उसके लिए किसी दूसरी मृत्यु का होना संभव नहीं है । (इस पर पूर्ववादी कहता है—) तो फिर यह कैसे समझते हो कि मृत्यु का मृत्यु भी

---

१. प्रसिद्धः कश्चित् । २. तर्हि । ३. दुष्प्रतिवचनम् । ४. सोऽग्निरपामन्नमिति । यद्वा अग्निर्हिरण्यगर्भः आपस्तु तत्कारणमव्याकृतम् । अग्निर्वा सर्वा देवता, आपो वा इदम् (अग्रे) आसन्निति च श्रुतेः एवं मृत्योरपि मृत्युर्दृष्टः । तद्वत्सर्वमृत्युः ब्रह्मसाक्षात्कारश्चरमान्तःकरणवृत्तिरूपः कतकरेणुवत् स्वपरविरोधिभूतो वर्ततेऽतो नानवस्थेति भावः । ५. नाशकत्वसाम्यात् । ६. परम्परया । ७. साक्षात्कारलक्षणस्य । ८. स्वपरविरोधित्वादिति—उक्तसाक्षात्कारः सर्वं द्वैतजातं दग्ध्वा निरिन्धनाग्निवत् स्वयमेव दाहकान्तरनिरपेक्षः शाम्यतीति नानवस्थेति भावः । ९. अस्तिपक्षम् । १०. साक्षात्कारलक्षणस्य मृत्योः ।

❀सोऽग्निरपामन्नमिति । अस्य वाक्यस्यार्थान्तरमाहुर्वार्तिकाचार्याः—"अग्निर्हिरण्यगर्भो वा ह्यापस्तत्कारणं मताः । कार्याणां मारणान्मृत्युः कारणं प्रथितं भुवि ।। प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञानं मृत्युरज्ञानरूपिणः । संसारहेतोर्मृत्योः स्यान्नापीहास्त्यनवस्थितिः ।। निरुणद्धि यथा जन्म तन्नाशमपि तत्तथा । प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञानं नानवस्थाऽस्यतो भवेत् ।। अन्येऽस्तो मृत्यवो गौणास्तैर्मृतौ स्यात्पुनर्जनिः । प्राक्तनान्यपि जन्मानि सम्यग्ज्ञानं तु हन्ति नः ।। यथोक्त एव व्याख्याने युक्तेयं स्यात्फलश्रुतिः । न तु निःशेषसंसारविध्वंसिन्यात्मबोधने" ।। १८-२२ ।। इति । अपां हिरण्यगर्भं प्रति कारणत्वमप एव ससर्जाऽऽदौ तासु वीर्यमवासृजदित्यादौ प्रसिद्धमिति हिशब्दार्थः । सूत्राव्याकृतयोर्मृत्युत्वे हेतुमाह—कार्याणामिति । यद्वा भवत्वव्याकृताख्यानामपां सूत्राख्यहिरण्यगर्भं प्रति कारणत्वं तथाऽपि कथं तन्मृत्युत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—कार्याणामिति ।। अव्याकृतस्य मृत्युरस्ति चेदनवस्था नास्ति चेद-

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मा-

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा आर्तभाग ने कहा—जब वह मनुष्य मरता है, तब उस ब्रह्मवेत्ता के

ग्रहातिग्रहजातं भक्ष्यते मृत्योर्मृत्युना । [1]तस्मिन्बन्धने नाशिते मृत्युना भक्षिते संसारान्मोक्ष उपपन्नो भवति । बन्धनं हि ग्रहातिग्रहलक्षणमुक्तं तस्माच्च मोक्ष उपपद्यत इत्येतत्प्रसाधितम् । [2]अतो बन्धमोक्षाय पुरुषप्रयासः सफलो भवत्यतो[3]ऽपजयति पुनर्मृत्युम् ।। १० ।।

[4]परेण मृत्युना [5]मृत्यौ भक्षिते परमात्मदर्शनेन योऽसौ मुक्तो विद्वान्सोऽयं पुरुषो

करोति—तस्मिन्निति । उक्तमेव व्यक्ती करोति—बन्धनं हीति । प्रसाधितं मृत्योरपि मृत्युरस्तीति प्रदर्शनेनेति शेषः । मोक्षोपपत्तौ फलितमाह—अत इति । पुरुषप्रयासः शमादिपूर्वकश्रवणादिः । तत्फलस्य ज्ञानस्य फलं दर्शयन्वाक्यं योजयति—अत इति । ज्ञानं पञ्चम्यर्थः ।।१०।।

सम्यग्ज्ञानस्याप पुनर्मृत्युं जयतीत्युक्तं फलं विशदीकर्तुं प्रश्नान्तरमुत्थापयति—परेणेति ।

है । (उक्त आक्षेप का परिहार किया जाता है—) क्योंकि ऐसे देखा जाता है । विनाशकारी स्वभाव वाला होने के कारण अग्नि को सबका मृत्युरूप देखा जाता है । उस अग्नि को जल खा जाता है, इसलिए वह अग्नि जल का खाद्य है । इसलिए स्वीकार कर लो कि मृत्यु का भी मृत्यु है । इसलिए मृत्यु के मृत्यु द्वारा यह सभी ग्रहातिग्रहसमूह भक्षण कर लिया जाता है । उस ग्रहातिग्रहलक्षण बन्धन के नाश होने पर, मृत्यु द्वारा उसको भक्षण कर लिए जाने पर संसार से मोक्ष सिद्ध हो जाता है । बन्धन तो ग्रहातिग्रहसंज्ञक कहा गया है, उससे मोक्ष होना संभव है; इस बात की निष्पत्ति हो गयी है । इसलिए (मोक्ष के संभव होने से) उस बन्धन की मुक्ति के लिए पुरुष का प्रयास सफल होता है । अतः वह मरण को तिरस्कृत कर देता है (उसके लिए पुनः उत्पन्न नहीं होता) ।।१०।।

परमात्मदर्शन से मुख्य मृत्यु द्वारा ग्रहातिग्रहरूप बन्ध के नष्ट हो जाने पर जो "अयं पुरुषः"

---

१. ग्रहातिग्रहलक्षणे । २. मोक्षस्य संभवात् । ३. अपजयतीति— ब्रह्मसाक्षात्कारेण मृत्युना ग्रहादिविलाससहितानाद्यज्ञानमृत्यौ विनाशिते सति विद्वान् पुनर्मृत्युं मरणमपजयति तिरस्करोति तदर्थं पुनर्नैवोत्पद्यत इत्यर्थः । ४. मुख्येन । ५. ग्रहातिग्रहलक्षणे बन्धे विनाशिते सति ।

निर्मुक्तिरितिचोद्यतादवस्थ्यमाशङ्क्याऽऽह—प्रत्यगिति ।। यद्यपि ज्ञानमज्ञानं तत्कार्यं स्वात्मान च निवर्तयति तथाऽपि निवृत्तेरात्मनोऽर्थान्तरत्वान्निवर्तकान्तरापेक्षेति तदवस्थाऽनवस्थेत्याशङ्क्याऽऽह—निरुणद्धीति । तद्विज्ञानं सर्वजन्मनाशादि सनिदानं बन्धनमात्मतया निवर्तयन्निवृत्तिमपि तन्मात्रमापादयतीति नानवस्थेत्यर्थः ।। सूत्रमव्याकृतं तत्त्वधीर्यमादयश्चेति मृत्यूनां भेदादेकस्य शब्दस्यानेकार्थत्वमन्याय्यमित्याशङ्क्याऽऽह—अन्य इति । तेषां गौणमृत्युत्वे हेतुमाह—तैरिति । सम्यग्धियो मुख्यमृत्युत्वे युक्तिमाह—प्राक्तनानीति । कालत्रयवर्तिनामपि जन्मनां तन्निदाननिरासेन निरासाद्युक्तं सम्यग्धियो मुख्यमृत्युत्वमित्यर्थः ।। ज्ञानपदमध्याहृत्य कुतो व्याख्यायतेऽध्याहारप्रापकाभावादित्याशङ्क्याप पुनरित्यादिफलश्रुतिस्तत्प्रापिकेत्याह—यथेति । ज्ञानपदमध्याहृत्य व्याख्यायामेव सा युक्तेत्यत्र हेतुमाह—न त्विति । एवंविधात्मबोधे सति यतो नास्ति मृत्युरतो युक्ता फलश्रुतिरित्यर्थः । यद्वा यथाश्रुतव्याख्याने ज्ञानपदाभावादयुक्तैव फलश्रुतिः स्यादिति पूर्वार्धार्थः । त्वत्पक्षे वा कथं तदुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति । उक्तात्मबोधेऽध्याहृते फलश्रुतिर्नायुक्ता सति तस्मिन्मृत्य्वन्तराभावादित्यर्थः ।।

त्प्राणाः क्रामन्त्याहो३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो-ऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते ॥ ११ ॥

वागादि प्राणों का उत्क्रमण होता हैं या नहीं ? याज्ञवल्क्य ने कहा नहीं, ऐसा सर्वथा नहीं होता। तत्त्वज्ञानी के प्राण इस परमात्मा में ही एकीभाव को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे—समुद्र में तरंगें, (सर्व साधारण प्राणी के समान वह भी मरता तो है किन्तु उसका पुनर्जन्म नहीं होता है। अतएव सर्व-सामान्य मृत प्राणी के समान) वह फूल जाता है, धौंकनी के समान अर्थात् वायु को भीतर खींचता है और वायु से पूर्ण हुआ ही मरकर पड़ा रहता है ॥११॥

यत्र [1]यस्मिन्काले म्रियत उदूर्ध्वमस्माद्ब्रह्मविदो म्रियमाणात्प्राणा वागादयो ग्रहा नामादयश्चातिग्रहा वासनारूपा अन्तस्थाः [2]प्रयोजकाः क्रामन्त्यूर्ध्वमुत्क्रामन्त्या[3]होस्विन्नेति। नेति होवाच याज्ञवल्क्यो [4]नोत्क्रामन्त्यत्रैवास्मिन्नेव परेणाऽऽत्मना[5]ऽविभागं [6]गच्छन्ति विदुषि कार्याणि करणानि च स्वयोनौ परब्रह्म[7]सतत्त्वे समवनीयन्त एकीभावेन समव-

---

परेण मृत्युना परमात्मदर्शनेनेति संबन्धः। ग्रहातिग्रहलक्षणो बन्धः सप्तम्यर्थः । ग्रहशब्देन [8]प्रयोज्य— राशिर्गृहीतः। नामादीनां स्थूलानां बहिष्ठत्वेन [9]स्वरसतस्त्यक्तत्वात्कथं तदुत्क्रान्तिः पृच्छ्यते तत्रा —वासनारूपा इति। तेषामनुत्क्रान्तौ मुक्त्यसंभवं सूचयति—प्रयोजका इति । [10]"उत्क्रान्तिपक्षे ध्रु जन्म मृतस्य चेति न्यायात्पुनरुत्पत्तिः स्यादनुत्क्रान्तिपक्षे मरणप्रसिद्धिर्विरुध्येतेति"[11] भावः । द्विती पक्षं[12] परिहरति—नेति होवाचेत्यादिना। कार्याणि करणानि च सर्वाणि परेणाऽऽत्मना सहाविभा गच्छन्ति सन्त्यस्मिन्नेव विदुषि समवनीयन्त इति संबन्धः। तेषां विदुषि विलये हेतुमाह—स्वयोना

अर्थात् यह मुक्त हुआ विद्वान् है, वह "यत्र" अर्थात् प्रारब्धकर्म के अवसान होने के अवसर पर ज मरता है; उस समय "अस्मात्" इस म्रियमाण ब्रह्मवेत्ता के "प्राणाः" अर्थात् वागादि ग्रह और नामा अतिग्रह वासनारूप अन्तःस्थित इन्द्रियों के प्रेरयिता प्राण "उत् क्रामन्ति" अर्थात् ऊर्ध्व उत्क्रमण कर

---

१. प्रारब्धकर्मावसानावसरे। २. प्रयोजका इति—इन्द्रियाणां प्रेरयितार इत्यर्थः। प्रयोजकं सद्भावे प्र ज्योत्क्रमासंभवात् (तत्संभवेऽपि) अतिग्रहाणां सत्त्वाच्च मुक्त्यसंभव इति भावः। ३. आहो३स्विन्नेति 'विचार्यमाणानाम्' पा० अ० ८।२।९७ वाक्यानां टेः प्लुत इति प्लुत इति प्लुतिर्द्रष्टव्या। ४. नोत्क्रामन्ती —याज्ञवल्क्य उवाचेति संबन्धः। ५. अभेदम्। ६. सन्ति। ७. स्वरूपे। ८. प्रयोज्येति—विष प्रयोज्यः प्रेरयमाणो नियोज्य इति यावत् तादृशो यः करणराशिरित्यर्थः। ९. स्वभावतः। १०. प्रष्टुरा यमाह—उदिति। ११. इति भाव इति। अत्र वार्तिके यथा—"उत्क्रान्तौ स्यादनिर्मोक्षो जन्मार्थं मरणं यत अमृतिश्चाप्यनुत्क्रान्तौ सत्सु प्राणेषु का मृतिरिति" ॥२५॥ उत्क्रान्ताविति—जातस्य हीत्यादिस्मृतेरिति भाव द्वितीये मृतिप्रतीतिविरोधमाह—अमृतिश्चेति ॥ "दुःशकोत्तरमित्येवं प्रश्नं मत्वाऽन्वपृच्छत। आर्तभागो मु विद्वान्स च नेति तमब्रवीत्" ॥२६॥ जल्पवृत्तिं सूचयितुं विद्वानिति प्रष्टुर्विशेषणम्। प्रतिवचनमवतारयति स चेति ॥ १२. परिगृह्य।

सृज्यन्ते प्रलीयन्त इत्यर्थः । ऊर्मय इव समुद्रे । तथा च श्रुत्यन्तरं कलाशब्दवाच्यानां प्राणानां परस्मिन्नात्मनि प्रलयं दर्शयति—[1]'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः [2]पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्तीति । [3]इति परेणाऽऽत्मनाऽविभागं गच्छन्तीति [4]दर्शितम् । [5]न तर्हि मृतो [6]नहि मृतश्चायं[7] यस्मात्स[8] उच्छ्‌वयत्युच्छूनतां प्रतिपद्यत आध्मायति बाह्येन वायुना पूर्यते दृतिवदाध्मातो [9]मृतः शेते निश्चेष्टः । [10]बन्धननाशे [11]मुक्तस्य न क्वचिद्गमनमिति वाक्यार्थः ॥ ११ ॥

विति । विद्वानेव हि [12]पूर्वमविद्यया तेषां योनिरासीत्तस्मिन्विद्यादशायां तद्बलादविद्यायामपनीतायां परिपूर्णे तत्त्वे तेषां [13]पर्यवसानं संभवतीत्यर्थः । कारणे कार्याणां प्रविलये दृष्टान्तमाह—ऊर्मय इति । प्राणादीनां [14]कारणसंसर्गाख्यो लयश्चेत्पुनरुत्पत्तिः स्यादित्याशङ्क्य ज्ञाने सत्यज्ञानध्वंसान्नैवमित्यभिप्रेत्याऽऽह—तथा चेति । सविषयाण्येकादशेन्द्रियाणि वायवश्च पञ्चेति षोडश कलास्तासां [15]स्वातन्त्र्यमाश्रयान्तरं च वारयति—पुरुषायणा इति । तासां निवृत्तिश्च पुरुषव्यतिरेकेण नास्तीति सूचयति—पुरुषं प्राप्येति । प्राणाश्चेन्नोत्क्रामन्ति तर्हि मृतो न भवतीति[16] [17]प्रतीतिविरोधं शङ्कित्वा [18]परिहरति—न तर्हीत्यादिना । दृतिशब्दो भस्त्राविषयः । प्रकृतं वाक्यं प्रत्यक्षसिद्धदेहमरणानुवादकमित्यभिप्रेत्याऽऽह—बन्धनेति ॥११॥

हैं अथवा नहीं । इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—(उस विद्वान् के प्राण) उत्क्रमण नहीं करते । "अत्रैव" अर्थात् कार्य और करण सभी परब्रह्म से अभेद को प्राप्त हो जाते हैं एवं इसी विद्वान् की स्वप्रकृति परब्रह्मस्वरूप में "समवनीयन्ते" एकीभाव से समर्पित या प्रलीन हो जाते हैं; जिस प्रकार समुद्र में तरङ्गें उठकर उसी में लीन हो जाती हैं । तथा अन्य श्रुति भी कलाशब्दवाच्य प्राणों का परब्रह्मस्वरूप में लय होना प्रदर्शित करती है—"(जैसे समुद्र की ओर प्रवाहित होने वाली ये नदियाँ समुद्र में पहुँचकर लीन हो जाती हैं अर्थात् उनके नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं और वे "समुद्र" ऐसा कहकर पुकारी जाती हैं) इसी प्रकार इस सर्वद्रष्टा की, पुरुष के आश्रित रहने वाली एकादशेन्द्रिय एवं मनसहित ये सोलह कलाएँ उस पुरुष को प्राप्त कर विलीन हो जाती हैं" । इस प्रकार प्राण परब्रह्म से अभेद को प्राप्त हो जाते हैं—ऐसा कहा गया । विद्वान् के प्राणों के उत्क्रमण न होने से वह मरता ही न हो—ऐसी बात नहीं है । यह शरीर प्राणसंसर्गशून्य होता है क्योंकि वह मुक्तदेह "उच्छ्‌वयति", अर्थात् फूल जाता है, "आध्मायति" अर्थात् वह धौंकनी के समान शरीर को बाहरी वायु से आपूरित करता है, प्राण संसर्गशून्य होकर यह शरीर निश्चेष्ट सो जाता है (इससे देह का ही मरण सिद्ध होता है) । करणसंघात लिङ्ग के नाश होने पर करणसंघातशून्य मुक्त पुरुष का कहीं गमन बनता नहीं—यही इस श्रुतिवाक्य का अर्थ है ॥११॥

---

१. प्रलयमेव । २. पुरुषाधिष्ठानकाः । ३. इति प्रलयदर्शनाद्धेतोः । ४. उक्तम् । ५. न तर्हि मृत इति शङ्कां परिहरति । ६. नहि इति यदुक्तं तन्नेत्यर्थः । ७. देहः । ८. मुक्तदेहः । ९. मृतः प्राणसंसर्गशून्यः अतएव निश्चेष्टः शेते अतो देहस्यैव मरणमित्यर्थः । १०. करणसंघातलिङ्गनाशे । ११. करणसंघातशून्यस्य । १२. विद्यातः । १३. प्रलयः । १४. कारणे संस्कारात्मनाऽवस्थानरूपः । १५. आश्रयनिरपेक्षत्वम् । १६. इति मरणाभावात् । १७ मरणप्रतीतिरिति यावत् । १८. मरणप्रतीतेर्देहविषयत्वेन ।

याज्ञवल्क्येति होवाच [1]यत्रायं [2]पुरुषो [3]म्रियते किमेनं न जहातीति नामेत्यनन्तं वै नामानन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥१२॥

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा आर्तभाग ने कहा। जब यह पुरुष मरता है, तब इसे क्या नहीं छोड़ता? याज्ञवल्क्य ने कहा—नाम नहीं छोड़ता क्योंकि नाम नित्य और अनन्त है। विश्वेदेव भी अनन्त हैं इस प्रकार इस अनन्तत्व के अधिकारी विश्वेदेव को आत्मभाव से दर्शन कर वह पुरुष अनन्तलोक को ही जीतता है ॥ १२ ॥

मुक्तस्य किं प्राणा एव समवनीयन्त आहोस्वि[4]त्तत्प्रयोजकमपि सर्वम्। [5]अथ प्राणा एव, न तत्प्रयोजकं सर्वं, [6]प्रयोजके विद्यमाने पुनः प्राणानां [7]प्रसङ्गः। अथ सर्वमेव कामकर्मादि, ततो मोक्ष [8]उपपद्यत [9]इत्येवमर्थ उत्तरः प्रश्नः। याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति। आहेतरो [10]नामेति सर्वं समवनीयत इत्यर्थः। नाममात्रं तु न लीयत [11]आकृति[12]संबन्धात् नित्यं हि नाम। अनन्तं वै नाम। नित्यत्वमेवा-

---

प्राणा नोत्क्रामन्तीति [13]विशेषणमाश्रित्य प्रश्नान्तरमादत्ते—मुक्तस्येति। पक्षद्वयेऽपि [14]प्रयोजनं कथयति—अथेत्यादिना। यत्पुत्रक्षेत्राद्यभूत्तदधुना नाममात्रावशेषमित्युक्ते नावशिष्टं किंचिदिति यथाऽवगम्यते तथाऽत्रापि नाममात्रं म्रियमाणं विद्वांसं न जहातीत्युक्ते न किंचिदवशिष्टमिति [15]दृष्टिः [16]स्यादिति प्रत्युक्तितात्पर्यमाह—सर्वमिति। यथाश्रुतमर्थमाश्रित्य प्रत्युक्तिं व्याचष्टे—नाममात्रं त्विति। विदुषो नामनित्यत्वे हेत्वन्तरमुत्तरवाक्यावष्टम्भेन दर्शयति—नित्यं हीति। अनन्तशब्दान्नाम्नो [17]व्यक्तिप्राचुर्यं प्रतिभाति कुतो नित्यतेत्याशङ्क्याऽऽह—नित्यत्वमेवेति। व्यक्तिभेदस्य[18] प्रसिद्धत्वान्न [19]तद्वक्तव्यं ब्रह्मविदः स्वदृष्ट्या नामापि न शिष्यते परदृष्ट्या तदवशेषोक्तिः शुको मुक्त इत्यादिव्यपदेश-

---

तो क्या मुक्त पुरुष के प्राण ही एकीभाव से प्रलीन हो जाते हैं अथवा उनके प्रयोजक अविद्याकामकर्मादि सब का ही लय हो जाता है। यदि कहो कि प्राणों का ही प्रलय होता है, उनके प्रयोजक अविद्याकामकर्मादि सभी का नहीं, तो फिर प्रयोजक के विद्यमान रहने पर प्राणों में प्रयोजक के फिर होने का प्रसङ्ग आ जाएगा। और यदि अविद्याकामकर्मादि सहित सभी का लय माना जाय, तो (सर्व-

---

१. प्रारब्धकर्मावसानावसरे। २. विद्वान्। ३. तदेति शेषः। ४. अविद्याकामकर्मादि। ५. यदि। ६. तर्हि। ७. प्रयोजकात्समुद्भवः। ८. सर्वलयात्। ९. अन्यतरपक्षावधारणार्थः। १०. सर्वमेनं जहाति नाममात्रं तु न जहातीत्यर्थः। ११. आकृतिर्जातिः। १२. आकृतीति—नाम्नो जात्या (आकृत्या) सह वाचकतासंसर्गात् तस्या नित्यत्वेन तस्यापि नित्यत्वमिति भावः। आकृतेः शब्दार्थत्वम् (शक्यत्वम्) तृतीये स्थितम्। तथा च "प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागादिति"—जै॰ सू॰ १।३।३०॥ न्या॰ मा॰ "व्यक्तिर्व्रीह्यादिशब्दार्थं आकृतिर्वा क्रियान्वयात्। व्यक्तिरन्वयवेलायामाकृत्या सोपलक्ष्यते ॥ शक्तिग्रहाद्युक्तितश्च आकृतेरर्थतोचिता। क्रियापर्यवसानाय व्यक्तिस्तत्रोपलक्ष्यताम्" ॥ १३. इत्यादिवाक्ये समवनयनक्रियायां प्राणानां यद्विशेषणत्वं कर्तृत्वं तदादायेति यावत्। १४. फलम्। १५. निश्चयः। १६. भवतु। १७. अनेकत्वे बहुत्वे। १८. बाहुल्यस्य। १९. शास्त्रेण।

याज्ञवल्क्येति होवाच 'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्नि
वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः
श्रोत्रं पृथिवीँ शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वन-
स्पतीन्केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते क्वायं

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा आर्तभाग ने कहा। जब सम्यक् ज्ञान से ही सावयव मृत पुरुष की वाक् अग्नि में लीन हो जाती है, प्राण वायु में, नेत्र आदित्य में, मन चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशा में, शरीर पृथिवी में, हृदयाकाश भूताकाश में, लोम ओषधि में और केश वनस्पतियों में लीन हो जाते हैं तथा

ऽऽनन्त्यं नाम्नः। 'तदानन्त्याधिकृता अनन्ता वै विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति। तन्नामानन्त्याधिकृतान्विश्वान्देवानात्मत्वेनोपेत्य तेनाऽऽनन्त्यदर्शनेनानन्तमेव लोकं जयति ॥ १२ ॥

ग्रहातिग्रहरूपं बन्धनमुक्तं मृत्युरूपं तस्य च मृत्योर्मृत्युसद्भावान्मोक्षश्चोपपद्यते। स च मोक्षो ग्रहातिग्रहरूपाणामिहैव' प्रलयः प्रदीपनिर्वाणवत्। यद्ग्रहातिग्रहाख्यं बन्धनं

दर्शनादतो' नामनित्यत्वं व्यावहारिकमिति भावः। ब्रह्मास्मीति 'दर्शनेन 'विश्वान्देवानात्मत्वेनोपगम्या'नन्तं 'लोकं 'जयतीति ''सिद्धानुवादो ब्रह्मविद्यां स्तोतुमित्यभिप्रेत्यानन्तरवाक्यमादत्ते—तदानन्त्येति। ''तद्व्याचष्टे—तन्नामानन्त्येति ॥१२॥

यत्रास्येत्यादेस्तात्पर्यं वृत्तानुवादपूर्वकं कथयति—ग्रहातिग्रहरूपमित्यादिना। किमेनमित्यादि-

लय होने से) मोक्ष की सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार द्वितीय पक्ष के अवधारणार्थ अग्रिम प्रश्न उपस्थापित किया गया है। आर्तभाग ने "हे याज्ञवल्क्य" ऐसा सम्बोधन कर के पूछा। जब यह पुरुष मरता है, तब इसे क्या नहीं छोड़ता ? याज्ञवल्क्य ने कहा—सब कुछ तो इसे छोड़ देता है, केवल नाम इसे नहीं छोड़ता। सब कुछ प्रलीन हो जाता है किन्तु जातिसंसर्ग होने के कारण केवल नाममात्र लीन नहीं होता, क्योंकि नाम नित्य और अनन्त है। नित्यत्व ही नाम की अनन्तता है। पूर्वोक्त नाम के अनन्त होने पर उसके आश्रित विश्वेदेव भी अनन्त हैं, उससे वह अनन्तलोक को ही जीतता है। अर्थात् इस प्रकार इस अनन्तत्व के आश्रित विश्वेदेव को आत्मभाव से उपासना कर आनन्त्यदर्शन से अनन्तलोक पर विजय प्राप्त करता है ॥१२॥

ग्रहातिग्रहात्मक जो मृत्युरूप बन्धन था, उसका वर्णन कर दिया गया। उस मृत्यु की भी मृत्यु उपस्थित रहने के कारण मोक्ष को स्वीकार करना उचित है। वह मोक्ष दीपक के बुझ जाने के समान

---

१. मरणकाले। २. पूर्वोक्तं यन्नामानन्त्यं तदाश्रयाः। ३. जीवद्दशायाम् ४. विद्वद्दृष्टया नाम्नोऽनवशेषात्। ५. ज्ञानेन। ६. सर्वान्। ७. देशाद्यपरिच्छिन्नम्। ८. स्वप्रकाशम्। ९. प्राप्नोति। १०. श्रुत्यन्तरसिद्धानुवादः। ११. वाक्यम्।

तदा पुरुषो भवतीत्याहर सोम्य हस्तमार्तभागाऽऽवामे-
वैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत्सजन इति। तौ होतक्रम्य
मन्त्रयांचक्राते तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ

शुक्र-शोणित जल में स्थित हो जाते हैं, तब वह पुरुष कहाँ रहता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे प्रिय-दर्शन आर्तभाग ! तुम मुझे अपना हाथ पकड़ाओ, हम दोनों ही इस प्रश्न का उत्तर समझेंगे। यह प्रश्न जनसमुदाय में निर्णय करने योग्य नहीं है। उसके बाद उन दोनों ने उठकर एकान्त में

मृत्युरूपं तस्य यत्प्रयोजकं[1] तत्स्वरूपनिर्धारणार्थमिदमारभ्यते। याज्ञवल्क्येति होवाच। अत्र केचिद्वर्णयन्ति ग्रहातिग्रहस्य [2]सप्रयोजकस्य विनाशेऽपि किल न मुच्यते[3]। [4]नामावशिष्टोऽविद्ययो[5]षरस्थानीयया [6]स्वात्मप्रभवया परमात्मनः[7] [8]परिच्छिन्नो भोज्याच्च जगतो [9]व्यावृत्त उच्छिन्नकामकर्मान्तराले व्यवतिष्ठते। [10]तस्य परमात्मैकत्वदर्शनेन द्वैतदर्शनमपने-

वाक्यस्य स्वव्याख्यामुक्त्वा यत्रेत्यादेस्तात्पर्यं चोक्तम्। इदानीं भर्तृप्रपञ्च[11]प्रस्थानमुत्थापयति—अत्रेति। किमेनमित्यादाविति यावत्। समुच्चयानुष्ठानाद्[12]देहयोः सप्रयोजकयोर्नाशेऽपि पुंसो मुक्तिं चेत्तर्हि तस्य [13]बद्धत्वायोगात्कामसौ दशामवलम्बतामित्याशङ्क्याऽऽह—नामावशिष्ट इति। क्षितेरूषरवदवस्थितात्माविद्यया परस्मात्परिच्छिन्नश्चेदात्मा तर्हि [14]बन्धपक्षस्यैव स्यान्नतु भोज्याज्जगतो व्यावृत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—उच्छिन्नेति। सर्वस्य कर्मादिफलस्य [15]सूत्रात्मनः समुच्चयासादितस्य भोगैः प्राप्तार्थाभावात्कामासिद्ध्या [16]कर्माभावात्प्रयोजकराशेरुच्छित्तिरित्यर्थः। किमेनमित्यादा[17]वन्तरालावस्थस्य [18]विद्याधिकारिणो निर्धारणात्तदपेक्षितविद्याशेषत्वेनोषस्तप्रश्नादेरारम्भं संभावयति—[19]तस्येति।

ग्रहातिग्रहरूप बन्धनों की यहीं जीव दशा में ही प्रलीन होने का नाम है। वह जो ग्रहातिग्रहसंज्ञक मृत्युरूप बन्धन है, उसके प्रापक का स्वरूप निश्चय करने के लिए यह अग्रिम मन्त्र "याज्ञवल्क्य होवाच" प्रारम्भ किया जाता है। यहाँ (ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी भर्तृप्रपञ्च आदि) कुछ दार्शनिक इस प्रकार भी कहते हैं कि अविद्याकामकर्मादि प्रयोजकों सहित ग्रहातिग्रहरूप बन्धन का नाश हो जाने पर भी विद्वान् की संसार से मुक्ति नहीं होती। आत्मोत्पन्न ऊषरस्थानीया अविद्या के द्वारा परमात्मा से परिच्छिन्न और भोज्य जगत् से रहित नाममात्र अवशिष्ट वह विद्वान् अविद्या काम-कर्मों के नाश हो जाने पर अन्तराल अवस्था में ही रहता है। उस विद्याधिकारी की द्वैत बुद्धि को ब्रह्मात्मैकत्वदर्शन से दूर करना

---

१. प्रापकम्। २. कामकर्मादिसहितस्य। ३. विद्वान् संसारादिति शेषः। ४. नामविशिष्टोऽन्तराले। ५. व्यवतिष्ठन्न इति सम्बन्धः। अन्तरालावस्थां स्पष्टयति। ६. अविद्ययेति (आत्मोत्पन्नयेति यावत्)। अत्रत्य रहस्यम् ५५५पृष्ठे द्रष्टव्यम्। ७. सकाशात्। ८. व्यावृत्तः पृथक्कृतः। ९. रहित इति यावत्। १०. विद्याधिकारिणः। ११. मतं व्याख्यानमिति यावत्। १२. स्थूलसूक्ष्मदेहयोः। १३. बन्धप्रयोजकदेहादिनाशादिति भावः। १४. बन्धाश्रयसमुदायान्तर्गतः बद्ध इति यावत्। १५. सूत्रपदस्येति यावत्। १६. कर्म—उपासना पूर्वप्रज्ञा (वासना) चेति प्रयोजकराशिः। १७. वाक्ये। १८. ब्रह्मविद्येति भावः। १९. अन्तरालावस्थस्य।

यत्प्रशशꣳसतुः कर्म हैव तत्प्रशशꣳसतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ॥१३॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥२॥

विचार किया। उन्होंने निर्णय में जो कुछ भी कहा; वह सबका तात्पर्यरूप कर्म को ही कहा तथा (काल, कर्म, दैवादि हेतुओं में भी) जिसकी प्रशंसा की है, वह वस्तुतः कर्म की ही प्रशंसा की। वह यह है कि पुरुष पुण्यकर्म से धर्मात्मा होता है और पापकर्म से पापात्मा होता है। इस प्रकार अपने प्रश्न के उत्तर हो जाने पर जारत्कारव आर्तभाग चुप हो गया ॥ १३ ॥

तव्यमित्यतः परं परमात्मदर्शनमारब्धव्यमित्येवमपवर्गाख्यामन्तरालावस्थां परिकल्प्योत्तरग्रन्थसंबन्धं [1]कुर्वन्ति।

[2]तत्र [3]वक्तव्यं [4]विशीर्णेषु करणेषु [5]विदेहस्य परमात्मदर्शनश्रवणमनननिदिध्यासनानि कथमिति। [6]समवनीतप्राणस्य हि नाममात्रावशिष्टस्येति तैरुच्यते। मृतः शेत इति

इतिशब्दो वर्णयन्तीत्यनेन संबध्यते। [7]तर्हि यत्रो[8]षस्तप्रश्नादौ ब्रह्मविद्योच्यते [9]तस्यैवाऽऽरम्भो युक्तो यत्रास्येत्या[10]दिस्तु वृथेत्याशङ्क्य फलवद्विद्याप्राप्तिशेषत्वेन निवर्त्यमृत्युप्रयोजकनिर्धारणार्थो यत्रेत्या[11]दिरित्यभिप्रेत्याऽऽह—एवमिति।

हिरण्यगर्भादन्योऽनन्यो वा विद्याधिकारी प्रथमेऽपि मृतस्य जीवतो वा विद्याधिकारो विवक्षितस्त्वयेति पृच्छति—तत्रेति। तत्राऽऽद्यमाक्षिपति—विशीर्णेष्विति। आक्षेपं स्फुटयितुं तदीयामुक्तिमनुवदति—समवनीतेति। नाममात्रावशिष्टस्याधिकारो विद्यायामिति शेषः। समवनीतप्राणस्येत्यत्र श्रुति

है। इसलिए अग्रिमग्रन्थ से ब्रह्मात्मदर्शन का प्रतिपादन करना चाहिये। इस प्रकार वे अपवर्गसंज्ञक अन्तराल अवस्था की कल्पना करके पूर्वग्रन्थ की उत्तर ग्रन्थ से सङ्गति प्रदर्शित करते हैं।

भर्तृप्रपञ्च के प्रस्थान में यह विवेचना करनी है कि इन्द्रियों के विलीन होने पर मृत पुरुष को ब्रह्मात्मसाक्षात्कार, तथा श्रवण-मनन-निदिध्यासन किस प्रकार हो सकते हैं। उनके द्वारा युक्ति प्रस्तुत की जाती है कि उपसंहृत प्राण वाले एवं नाममात्र अवशिष्ट पुरुष का ही विद्या में अधिकार है। इसी को

---

१. पूर्वग्रन्थेनोत्तरग्रन्थस्य सङ्गतिं दर्शयन्तीत्यर्थः। २. भर्तृप्रपञ्चप्रस्थाने। ३. विवेक्तव्यम्। ४. विलीनेषु सत्सु। ५. मृतस्य। ६. उपसंहृतप्राणस्य। ७. अधिकार्यपेक्षितपरविद्याशेषत्वेनोत्तरग्रन्थस्यारब्धव्यत्वे। ८. बृ. उ. ३।४।३। ९. ग्रन्थस्य। १०. ग्रन्थः। ११. ग्रन्थः।

ह्युक्तम् । न मनोरथेनाप्येतदु[1]पपादयितुं शक्यते । अथ जीवन्नेवाविद्यामात्रावशिष्टो [2]भोज्यादपावृत्त इति परिकल्प्यते [3]तत्तु किंनिमित्तमिति वक्तव्यम् । [4]समस्तद्वैतैकत्वात्मप्राप्तिनिमित्तमिति यद्युच्येत तत्पूर्वमेव निराकृतम् । कर्मसहितेन द्वैतै[5]कत्वात्मदर्शनेन संपन्नो विद्वान्मृतः समवनीतप्राणो जगदात्मत्वं हिरण्यगर्भस्वरूपं वा प्राप्नुयादसमवनीतप्राणो भोज्याज्जीवन्नेव व्यावृत्तो विरक्तः परमात्मदर्शनाभिमुखः स्यात् ।

न चोभयमेकप्रयत्ननिष्पाद्येन साधनेन लभ्यम् । हिरण्यगर्भप्राप्ति[6]साधनं चेन्न ततो व्यावृत्तिसाधनम् । परमात्माभिमुखीकरणस्य[7] भोज्याद्व्यावृत्तेः साधनं चेन्न हिरण्यगर्भ-

---

संवादयति—मृत इति । [8]कथमेतावता यथोक्ताक्षेपसिद्धिस्तत्राऽऽह—न मनोरथेनेति । उपसंहृतप्राणस्य श्रवणाद्यधिकारित्वमेतच्छब्दार्थः । द्वितीयं शङ्कते—अथेति । अपावृत्तो विद्याधिकारीति शेषः । जीवतो भोज्याद्व्यावर्तनं सम्यग्धियं विना दुःशकमिति मत्वा पृच्छति—तत्त्विति । अप्राप्ते कामो भवति प्राप्ते निवर्तत इति प्रसिद्धेरपरविद्यया कर्मसमुच्चितया हैरण्यगर्भपदप्राप्तिरेव [9]तन्निवृत्तिकारणमिति शङ्कते—समस्तेति । [10]अपरविद्यासमुच्चितं कर्म हैरण्यगर्भभोगप्रापकं न भोग्यान्निवृत्तिसाधनमिति [11]तृतीये व्युत्पादितमिति परिहरति—तत्पूर्वमेवेति । [12]उक्तमेव व्यक्तीकुर्वन्विभजते—कर्मसहितेनेति ।

अथैकमेव समुच्चितं कर्मोभयार्थं किं न स्यादत आह—न चेति । उभयार्थत्वाभावं समर्थयते–

श्रुति में भी कहा गया है—"वह मृतक होकर पड़ा रहता है"। किन्तु मनोरथमात्र से भी इस बात को सिद्ध नहीं किया जा सकता । एवं यदि ऐसी कल्पना की जाय कि विषयानुभवरहित अविद्यामात्र अवशिष्ट जीवितपुरुष ही इस विद्या का अधिकारी है, तो फिर विषयानुभवरहित किस कारण से होता है, यह बतलाना चाहिये । यदि कहो कि समस्त द्वैत हिरण्यगर्भ की उपासना से एकत्वरूप आत्मसाक्षात्कार प्राप्ति ही इसका निमित्त है तो इसका निराकरण पहले ही किया जा चुका है । कर्मसहित द्वैतैकत्वरूप हिरण्यगर्भ की उपासना से आत्मसाक्षात्कारयुक्त विद्वान् मरने पर, प्राणों के प्रलीन होने पर या तो जगदात्मभाव को प्राप्त होगा अथवा हिरण्यगर्भ के स्वरूप को प्राप्त होगा, अप्रलीन प्राण वाला जीवित रहता हुआ विषयानुभव से रहित, विरक्त रहकर परमात्मसाक्षात्कार के अभिमुख होगा ।

दोनों फल एक ही प्रयत्न से निष्पन्न होने वाले साधन से प्राप्त नहीं हो सकते । यदि विद्यासमुच्चित कर्म हिरण्यगर्भप्राप्ति का साधन होगा; तब उससे रहित होने का साधन नहीं हो सकता और यदि वह परमात्मा के अभिमुखीकरण विषयानुभवराहित्य का साधन होगा, तो हिरण्यगर्भप्राप्ति का

---

[1] विषयीकर्तुमिति यावत् । [2] विषयानुभवरहितः । [3] भोज्याद्व्यावर्तनम् । [4] समस्तेत्यादि—समस्तद्वैतेनैकत्वं तादात्म्यं यस्यात्मनो हिरण्यगर्भस्य तस्य प्राप्तिस्तद्रूपापत्तिस्तन्निमित्तमित्यर्थः । [5] हिरण्यगर्भोपासनेन । [6] विद्यासमुच्चितं कर्म । [7] समानाधिकरणे वृद्धचौ । [8] तदीयोक्तिप्रदर्शनमात्रेण । [9] भोज्यनिवृत्तिरिति भावः । [10] अपरेत्यादि—हिरण्यगर्भपदप्राप्तिः स्वविषयककामं निवर्तयतु नाम स्वोत्तरकालीनभोगकामं तु निवर्तयितुं सा नालं तस्यास्तद्विषयत्वाभावादतोऽपरविद्यासमुच्चितं कर्मैव तन्निवर्तकं वाच्यमिति समाधानभाष्यतात्पर्यमाविष्कुर्वन्नवतारयति—अपरेति । [11] प्रथमे । [12] तृतीये व्युत्पादितमेव ।

प्राप्तिसाधनम् । न हि यद्गतिसाधनं तद्गतिनिवृत्तेरपि । अथ मृत्वा हिरण्यगर्भं प्राप्य ततः समवनीतप्राणो नामावशिष्टः परमात्मज्ञानेऽधिक्रियते । [1]ततोऽस्मदाद्यर्थं परमात्मज्ञानोपदेशोऽनर्थकः स्यात् । सर्वेषां हि ब्रह्मविद्या [2]पुरुषार्थायोपदिश्यते "तद्यो यो देवानाम्[3]" इत्याद्यया श्रुत्या । [4]तस्मादत्यन्तनिकृष्टा शास्त्रबाह्या चेयं कल्पना । [5]प्रकृतं तु [6]वर्तयिष्यामः ।

[7]तत्र केन [8]प्रयुक्तं ग्रहातिग्रहलक्षणं बन्धनमित्येतन्निर्दिधारयिषयाऽऽह—[9]यत्रास्य

हिरण्यगर्भेत्यादिना । समुच्चितं कर्म नोभयार्थमित्यत्र दृष्टान्तमाह—न हीति । हिरण्यगर्भो विद्याधिकारीति पक्षं निक्षिपति—अथेति । दूषयति—तत इति । ननु महानुभावानाम[10]स्मद्विशिष्टानामेव ब्रह्मविद्योपदिश्यमाना मोक्षं फलयति नास्माकमित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वेषामिति । न च त्वन्मतेऽपि [11]यद्द्वारा श्रवणादि कृत्वा विद्योदयस्तद्द्वारैव चिदात्मनो मुक्तिसिद्धौ कृतमितरत्र श्रवणादिनेति वाच्यम् । द्वारभेदस्या[12]नुष्ठातृविभागाधीनप्रवृत्तिप्रयुक्तप्रयोजनवद्विद्योदयस्य च काल्पनिकत्वेन [13]यथाप्रतीति व्यवस्थोपपत्तेः । वस्तुतो निर्विशेषे चिन्मात्रे नाविद्याविद्ये बन्धमुक्ती चेत्यभिप्रेत्य परपक्षनिराकरणमुपसंहृत्य श्रुतिव्याख्यानं प्रस्तौति—तस्मादिति ।

कर्तव्ये श्रुतिव्याख्याने यत्रेत्याद्याकाङ्क्षापूर्वकमवतारयति—तत्रेति । [14]तत्र पुरुषशब्देन विद्वानु-

साधन नहीं हो सकता। क्योंकि जो गति का साधन होता है वह गतिनिवृत्ति का भी साधन होता हो, ऐसा नहीं होता। यदि कहो कि विदेह होकर हिरण्यगर्भप्राप्ति करने के पश्चात् लीन प्राण और नाममात्र अवशिष्ट रहकर परमात्मज्ञान का अधिकारी होता है। हिरण्यगर्भ को ही विद्याधिकारी स्वीकार करने पर हम जैसे लोगों के लिए परमात्मज्ञान का उपदेश अनर्थक होगा। "उसे देवताओं में से जिस-जिस ने जाना वही तद्रूप हो गया" इत्यादि श्रुतिवाक्य से ब्रह्मविद्या सभी की मुक्ति के लिए होती है ऐसा उपदेश किया जाता है। अतः यह कल्पना (किसी भी तरह सिद्ध न हो सकने के कारण) अत्यन्त निकृष्ट और शास्त्रविरुद्ध है। इसलिए हम इस श्रुति का व्याख्यान करेंगे।

वह ग्रहातिग्रहरूपबन्धन किसकी प्रेरणा से प्राप्त हुआ है, यहाँ यह निर्णय करने की इच्छा से

---

१. हिरण्यगर्भस्यैव विद्याधिकारित्वस्वीकारात् । २. मुक्तये भवतीति श्रुत्योपदिश्यत इति संबन्धः । ३. बृ० उ० १।४।१० । ४. उक्तकल्पनायाः कथमप्युपपन्नत्वासंभवात् । ५. श्रुतिव्याख्यानम् । ६. करिष्यामः । ७. टीकोक्तार्थम् । ८. प्रापितम् । ९. काले । १०. अस्मदादिभ्य उत्कृष्टानाम् । ११. यद्द्वारेति—त्वन्मते सर्वत्र (देहे) आत्मन एकत्वात् कुत्रचिच्छरीरे श्रवणादिना विद्योदये तयैव तस्यैकस्यात्मनो मुक्तिसिद्धावात्मान्तरस्य बद्धस्याभावाद्देहान्तरे श्रवणादिना विद्योदयस्य वैयर्थ्यं न चैकशरीरावच्छेदेनैव विद्योदयस्येष्टत्वान्न वैयर्थ्यशङ्कावकाश इति वाच्यम् । विद्योदयानां यो यो देवानामिति श्रुतौ बहुषु श्रवणादिति भावः । १२. अनुष्ठात्रिति—यथा कर्मानुष्ठातॄणां काल्पनिकभेदान्नैकप्रवृत्त्याऽपरप्रवृत्तेर्वैयर्थ्यम् । नापि चैकप्रयोजनेन सर्वेषां प्रयोजनवत्त्वम् । तथा नैकत्र श्रवणादिनाऽपरत्र तेषां वैयर्थ्यमित्यर्थः । १३. यथाप्रतीतीति—देवादिदेहोपाधिभेदेनोपहितानां भेदप्रतीतेस्तेषां च तत्र तत्रोत्पन्नविद्यया मोक्षप्रतीतेश्च नोक्तवैयर्थ्यशङ्कावसर इति भावः । १४. प्रकृतवाक्ये ।

पुरुषस्यासम्यग्दर्शिनः शिरःपाण्यादिमतो मृतस्य [१]वागग्निमप्येति वातं [२]प्राणोऽप्येति चक्षुरादित्यमप्येतीति सर्वत्र संबध्यते। मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाशमात्मेत्य[३]त्राऽऽत्मा[४]धिष्ठानं हृदयाकाशमुच्यते । स [५]आकाशमप्येति । ओषधीरपियन्ति लोमानि । वनस्पतीनपियन्ति केशाः। अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयत इति पुनरादानलिङ्गम् । सर्वत्र हि वागादिशब्देन [६]देवताः परिगृह्यन्ते न तु करणान्येवा[७]पक्रामन्ति

क्तोऽनन्तरवाक्ये तत्संनिधेरित्याशङ्क्य वक्ष्यमाणकर्माश्रयत्वलिङ्गेन बाध्यः संनिधिरित्यभिप्रेत्याऽऽह असम्यग्दर्शिन इति । संनिधिबाधे लिङ्गान्तरमाह—निधीयत इति । 'तस्य हि पुनरादानयोग्यद्रव्य[९]निधाने प्रयोगदर्शनादि[१०]हापि पुनरादानं लोहितादेराभात्यतः प्रसिद्धसंसारिगोचर एवायं प्रश्न इत्यर्थः। अविदुषो वागादिलयाभावा[११]द्वाङ्मनसि दर्शनादिति न्यायात्तस्य[१२] चात्र श्रुतेर्विद्वानेव पुरुषस्तदीयकलाविलयस्य [१३]श्रुतिप्रसिद्धत्वादित्याशङ्क्याह—सर्वत्र हीति । अग्न्याद्यंशानां वागादिशब्दितानामप

श्रुति कहती है—जिस समय इस सम्यक्‌दर्शनशून्य शिर एवं हाथ आदि अवयवों वाले मृतक के वाक् का अधिष्ठातृदेवता अग्नि में लीन हो जाता है, प्राण का अधिष्ठातृदेवता वायु में लीन हो जाता है और चक्षु का अधिष्ठातृदेवता आदित्य में लीन हो जाता है—इस तरह "लीन हो जाता है" इस क्रिया-

---

१. अधिष्ठातृदेवता । २. घ्राणः । ३. आकाशमात्मेति प्रतीकमादायाऽऽत्मशब्दार्थमाह—अत्रेति । तथा च वार्तिके—"हृद्याकाश इहाऽऽत्मेति स्यादाकाशाप्ययत्वतः । प्रश्नस्य विषयत्वेन विज्ञानात्मोपयोगतः" ॥ १२८॥ इति ॥ मुख्यमात्मानं हित्वाऽऽत्मशब्देन हार्दाकाशग्रहे हेतुमाह—आकाशेति । आत्मनो भूताकाशे लयश्रुतेर्मुख्यस्य चातत्प्रकृतित्वेन तदयोगादित्यर्थः । किंच क्वायमिति प्रश्नविषयत्वेनात्मन उपयोगान्न तस्यात्राऽऽत्मशब्दतेत्याह—प्रश्नस्येति । ४. अधिष्ठानमिति, आत्माभिव्यक्तिस्थानमित्यर्थः । ५. महाकाशम् । ६. देवता इति। तथा च वार्तिके—"अग्न्यादिदेवतांशा ये भोगार्थं कर्मणाऽर्जिताः । वागादिशब्दैरुच्यन्ते त एवात्र न पौरुषाः ॥ १२५ ॥ इति । पुरुषेण भोक्त्राऽधिष्ठिताः करणात्मानो भावा वागादिशब्दिता न भवन्तीत्येवकारार्थमाह—नेति । नन्वग्न्याद्यंशा वागादिशब्दैरुच्यन्तां तेषामपि भोगार्थं कर्मार्जितानां तदर्थे कर्मणि सति कथमप्ययः को वा तदप्ययकर्ता कश्चांशानामंश्यभिन्नानामप्यय इत्याशङ्क्य वार्तिके समाहितम्—"पुंसः कर्मक्षये स्वांशान्संहरन्ति यथायथम् । अग्न्यादिदेवताः सोऽयमुपसंहार उच्यते" ॥ १२६ ॥ वर्तमानदेहपाते देवतांशानामुपसंहारश्चेद्देहान्तरग्रहे करणान्यधिष्ठातृदेवताशून्यानि भोगस्य घनानि न स्युरित्याशङ्क्य वार्तिके समाहितम्—"पुंसो देहग्रहे भूयो देहस्थानेषु देवताः । अंशं निदधति स्वं स्वं कर्मभोगप्रसिद्धये" ॥ १२७ ॥ इति । ७. विलीयन्ते । ८. निपूर्वस्य धाञः । ९. स्थापने । १०. प्रकृतवाक्येऽपि । ११. "वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्चेति" ब्र० सू० ४।२।१ । "अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामिति" छा० उ० ६।८।६ । अत्र संशयः किं वृत्तिमत्त्या वाच एव मनसि लयात्मकसंपत्तिरुच्यते उत वाग्वृत्ते(वचनात्मिकायाः)रेवेति । तत्र श्रुतिबलाद्वाच एव मनसि लय इति प्राप्ते ब्रूमः, उक्तिर्वागिति भावव्युत्पत्त्या वाक्छब्देन वाग्वृत्तिरुच्यते मनो वृत्तौ सत्यामेव लोके वाग्वृत्तिलयस्य दर्शनात् । तर्हि वाङ्मनसीति श्रुतेः का गतिरित्यत आह—शब्दाच्च स्वोपादाने स्वस्य लय इत्यबाधितन्यायानुसारेण वाक्छब्दो वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारात् भावव्युत्पत्त्या वा नेयः । नन्वनुपादाने वृत्तिलयोऽपि कथमिति चेन्न, अग्निवृत्तिलयस्यानुपादानेष्वप्सु दर्शनादिति १२. वागादिलयस्य । १३. "गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा"इत्यादि श्रुतिरिति भावः ।

प्राङ्मोक्षात् । तत्र देवताभिरनधिष्ठितानि करणानि न्यस्तदात्राद्युपमानानि[1] [2]विदेहश्च कर्ता पुरुषोऽस्वतन्त्रः किमाश्रितो भवतीति पृच्छ्यते—क्वायं तदा पुरुषो भवतीति। किमाश्रितस्तदा पुरुषो भवतीति। [3]यमाश्रयमाश्रित्य पुनः कार्यकरणसंघातमुपादत्ते येन ग्रहातिग्रहलक्षणं बन्धनं [4]प्रयुज्यते तत्किमिति प्रश्नः।

---

[5]क्रमणेऽपि करणानां [6]तदभावे [7]तदधिष्ठानस्य देहस्यापि भावेन भोगसंभवान्न [8]प्रश्नावकाशो[9]ऽस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति। देवतांशेषूपसंहृतेष्विति यावत्। [10]तेषां [11]ताभिरनधिष्ठितत्वे सत्यर्थक्रियाऽक्षमत्वं फलतीत्याह—न्यस्तेति। करणानामधिष्ठातृहीनानां भोगहेतुत्वाभावेऽपि कथमाश्रयप्रश्नो भोक्तुः स्यादि[12]त्याशङ्क्याह—विदेहश्चेति। प्रश्नं विवृणोति—यमाश्रयमिति।

पद का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है। इसी प्रकार मन चन्द्रमा में श्रोत्र दिशा में, शरीर पृथिवी में, आत्मा आकाश में लीन हो जाता है। "आत्मा" शब्द से यहाँ आत्माभिव्यक्ति का स्थान हृदयाकाश कहा जाता है। वह महाकाश में लीन हो जाता है। लोम औषधि में लीन हो जाते हैं, केश वनस्पति में लीन होते हैं। रक्त तथा वीर्य जल में प्रविष्ट हो जाते हैं। 'निधीयते' यह शब्द रक्त और वीर्य के पुनर्ग्रहण को सूचित करता है। यहाँ वागादि शब्दों से सभी जगह देवताओं का ग्रहण होता है। मोक्ष होने से पूर्व इन्द्रियों का विलय नहीं होता। उस समय देवताओं से अनधिष्ठित इन्द्रियाँ कर्ता के हाथ से छूटे हुए दँरात आदि औजारों के समान हो जाती हैं। अतः अस्वतन्त्र कर्ता पुरुष विदेह होने पर किसके आश्रित रहता है—यह पूछा जाता है। 'उस समय वह पुरुष कहाँ रहता है और किसके आश्रित होकर रहता है, जिसे आश्रित करके यह पुनः कार्य-करण-संघात को ग्रहण करता है, जिससे ग्रहातिग्रहरूप बन्धन प्राप्त होता है, वह क्या है—ऐसा प्रश्न है।

---

[1] भवन्तीति शेषः। [2] विदेहश्चेति—ननु स्थूलदेहविगमेऽपि मोक्षादर्वाग्जीवस्य लिङ्गाश्रयत्वात्क्वायमिति-प्रश्नानुपपत्तिरिति चेत्सत्यम्। यद्यपि जीवो लिङ्गमाश्रितस्तथापि स्थूलदेहाभावेऽधिष्ठातृहीन तन्न भोगप्रदमिति सतोऽपि तस्यासत्समत्वाद्भोगहेत्वाश्रयप्रश्नो युक्त एव। तथा च वार्तिके—"अधिष्ठातृवियुक्तानि न्यस्तदात्रोपमानि हि। वागादिकरणानीति नालं पुंभोगसिद्धये" ॥ १२९ ॥ इति। चेतनस्याधिष्ठातुः सत्त्वेऽपि स्थूलदेहं विना लिङ्गस्य भोगौपयिकत्वं नास्तीति हिशब्दार्थः। [3] यमाश्रयमिति—"किं कारणात्मतामेति किंवा केनचिदात्मना। अवतिष्ठत एवायं किंवा कर्मैव संश्रितः॥ गुणान्वा यदि वेशानं कालं वा दैवमेव वा। यदृच्छां सन्तितं शून्यं विनाशं वेति भण्यतामिति" ॥१३१-१३२॥ वार्तिकद्वयमत्र द्रष्टव्यम्। स्थूलदेहं हित्वा स्थितो जीवः साभासप्रत्यगविद्यालक्षणकारणरूपतामेतीति जीवस्यापि कार्यत्वमिच्छन्तः स्वयूथ्या वदन्ति त्यक्ते स्थूले देहे प्रतिबन्धकाभावादसाधारणेन स्वेन रूपेणैव स तिष्ठतीत्येक एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरादित्यादिच्छान्दोग्यश्रुतेरित्यर्थः। मीमांसकसांख्यतार्किकमतान्याह—किं वेति। ज्योतिर्विदां प्रक्रियामाह—कालं वेति। देवताकाण्डाभिप्रायमाह—दैवमिति। लोकायतयोगाचारमाध्यमिकमतान्याह—यदृच्छामित्यादिना। प्राक्सतो जीवस्य ध्वंसो विनाशस्तं स यातीति जीवकार्यत्ववादिनो मतान्तरमाह—विनाशमिति। उक्ताधिकरणेषु विवक्षितं वाच्यमिति प्रश्नं निगमयति—इति भण्यतामिति। [4] प्राप्यते। [5] लयेऽपि। [6] लयाभावे। [7] करणाश्रयस्य। [8] क्वायं तदा पुरुषो भवतीति प्रश्नः। [9] देहे एव संभवादिति भावः। [10] करणानाम्। [11] देवताभिः। [12] भोक्तुराश्रयस्य देहस्य विद्यमानत्वादिति शेषः।

[1]अत्रोच्यते[2]—[3]स्वभावयदृच्छाकालकर्मदैवविज्ञानमात्रशून्यानि वादिभिः परिकल्पितानि । [4]अतोऽनेकविप्रतिपत्तिस्थानत्वान्नैव जल्पन्यायेन वस्तुनिर्णयः । अत्र वस्तुनिर्णयं चेदिच्छ[5]स्याहर[6] सोम्य हस्तमार्तभाग हे *आवामेवैतस्य[7] त्वत्पृष्टस्य वेदितव्यं

आहरेत्यादिपरिहारमवतारयति—अत्रेति । [9]मीमांसका लोकायता ज्योतिर्विदो [10]वैदिका [11]देवताकाण्डीया विज्ञानवादिनो माध्यमिकाश्चेत्यनेके विप्रतिपत्तारः । जल्पन्यायेन [12]परस्परप्रचलितमात्रपर्यन्तेन विचारेणेति यावत् । अत्रेति प्रश्नोक्तिः ।

इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है । इस विषय में यह कहा जाता है कि वादियों ने स्वभाव, यदृच्छा, काल, कर्म, दैव, विज्ञानमात्र और शून्य ऐसे अनेक आश्रयस्थानों की कल्पना की है । इसलिए अनेक विरोधों का स्थान होने से केवल जल्पन्याय से वस्तु का निर्णय नहीं हो सकता । इसलिए यदि तुम वस्तु का निर्णय सुनना चाहते हो—तो हे सोम्य आर्तभाग ! (दूसरों से असाधारण प्रश्न पूछने के कारण तुमने मुझे वश में कर लिया है, मैं तुमसे प्रसन्न हूँ इसलिए) हाथ मिलाओ । तुम्हारे प्रश्न का जो वेदितव्य

---

१. प्रश्ने । २. प्रतिवचनम् । ३. स्वेति—अत्र स्वभावयदृच्छाशब्दौ पर्यायौ । तदुक्तं वार्तिके—"हठो यदृच्छा नियतिः कारणत्वेन नाऽऽश्रिताः" ।। १५० ।। इति । एते शब्दाः स्वभाववाचिनः स च (स्वभावः) न प्रवर्तको नियतहेतूपादानानर्थक्यादिति तदर्थः । ४. अत इत्यादेः—वादिविप्रतिपत्तेर्जीवाश्रयस्यानेकविप्रतिपत्तिविषयत्वादित्यर्थः । ५. तर्हि । ६. आहरेति । अत्र वार्तिकम्—"प्रश्नेन भावितस्तुष्टः पाणिमस्याग्रहीद्दृषिः । अन्यासाधारणं प्रश्नमप्राक्षीदिति विस्मितः" ।।१३३।। भावितो वशीकृतः । तुष्टत्वं पाणिग्रहणे हेतुमुक्त्वा हेत्वन्तरमाह—अन्येति । ७. एकान्ते गत्वेति शेषः । ८. तत्त्वम् । ९. भूतानि मीमांसन्त इति मीमांसका लोकायतविशेषणम् । १०. कर्मकाण्डीयाः । ११. देवतोपासकाः । १२. परस्परं प्रचलितमात्रं पर्यन्तः समाप्तिर्यस्य वस्तुनिर्णयपर्यन्तत्वं व्यवच्छेत्तुं मात्रेति ।

---

*आवामेवैतस्येति । अत्राहुर्वार्तिकाचार्याः तथाहि—"असाधारण्यसिद्ध्यर्थमावामेवेत्यतोऽवदत् । विद्यागुप्तिश्च बहुशः श्रुतावपि समीक्ष्यते ।। आवयोरेव विज्ञानं यथेदं प्रागभूदितः । आवामेव तथैवोर्ध्वं वेदिष्यावो यथोदितम् ।। सजने प्रश्न एतस्मिन्व्याख्यमाने त्वयोदितं । न सिध्येदावयोरुक्तं प्रयोजनमिदं ध्रुवम् ।। न त्वन्योक्तिपरित्रासाद्याज्ञवल्क्योऽब्रवीदिदम् । जल्पे वाद्यतिरेकेण नान्यो वक्ति यतस्ततः ।। परिशिष्टानपि प्रश्नानुत्क्रम्थ व्याकरोदसौ । सजनादिति नातः स्यादन्योक्तिभयकारणम् ।। साध्वेतदिति संभाव्य सजनादुत्ससर्पतुः । याज्ञवल्क्यार्तभागौ तावुत्क्रम्य च जजल्पतुः ।। सजनात्तावथोत्क्रम्य मिथस्तत्र तदूचतुः । तत्सर्वं श्रुतिराचख्यावस्मत्प्रियचिकीर्षया" ।। १३४-१४० ।। इति । आवामित्यादेस्तात्पर्यमाह—असाधारण्येति । प्रश्नप्रत्युक्त्यर्थज्ञानस्य प्रष्टृप्रतिवक्तृमात्रनिष्ठत्वार्थमिति यावत् । अतः पाणिग्रहानन्तरमित्यर्थः । किमर्थं ज्ञानस्यासाधारण्यं न हि तद्गोप्यं मानाभावादत आह—विद्येति । 'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम तवाहमस्मि त्वं मां पालयस्वानर्हते मानिने नैव माऽदाः । गोपाय मा श्रेयसी तेऽहमस्मि विद्यया सार्धं म्रियेत न विद्यामूषरे वपेत । ब्रह्मचारी धनदायी मेधावी श्रोत्रियः प्रियो विद्यया वा विद्यां यः प्राह तानि तीर्थानि षण्मम' इति श्रुतिः । 'आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः । शक्तोऽर्थदोऽर्थी स्वः साधुरध्याप्यादेशधर्मतः ।। विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना । आपद्यपि च घोरायां न त्वेनामीरिणे वपेत् ।। विद्या ब्राह्मणमेत्याऽऽह शेवधिस्तेऽभिरक्ष माम् । असूयकाय मा मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ।।' इति स्मृतिरप्यर्थः ।। आवामित्यादिवाक्याक्षराणि योजयति—आवयोरिति । इदं विज्ञानमिति

यत्तद्वेदिष्यावो निरूपयिष्यावः । [1]कस्मात् । [2]न नावाव्योरे[3]तद्वस्तु सजने जनसमुदाये निर्णेतुं शक्यते । अत एकान्तं गमिष्यावो विचारणाय[4] ।

तौ हेत्यादि श्रुतिवचनम् । तौ याज्ञवल्क्यार्तभागावेकान्तं गत्वा किं चक्रतुरित्युच्यते—तौ होत्क्रम्य[5] सजनाद्देशान्मन्त्रयांचक्राते । आदौ लौकिकवादिपक्षाणामेकैकं परिगृह्य विचारितवन्तौ । तौ ह विचार्य यदूचतुरपोह्य* पूर्वपक्षान्सर्वानेव तच्छृणु ।

ननु प्रष्टाऽऽर्तभागो याज्ञवल्क्यश्च प्रतिवक्तेति [6]द्वाविहोपलभ्येते । तथाच तौ हेत्यादि[7]वचनमयुक्तं तृतीयस्यात्राभावादत आह–तौ हेत्यादीति। तत्रेत्येकान्ते स्थित्वा विचारावस्थायामिति यावत् । न केवलं

तत्त्व है, उसे हम दोनों एकान्त में जाकर "वेदिष्याव:" अर्थात् निरूपण करेंगे । ऐसा क्यों ? क्योंकि तुम्हारे द्वारा पूछी हुई वस्तु का हम दोनों 'सजने' अर्थात् जनसमुदाय में निर्णय नहीं कर सकते । अतः विचार के लिए एकान्त में (इस भीड़ से) निकल चलें (यही ठीक है) ।

'तौ ह' इत्यादि श्रुतिवाक्य है । उन याज्ञवल्क्य और आर्तभाग दोनों ने एकान्त में जाकर क्या किया— इस पर श्रुति कहती है । उन्होंने भीड़ वाले स्थान से निकल कर आपस में विचार किया । प्रारम्भ में लौकिक वादियों के पक्षों में से एक-एक को लेकर व्याख्या की । दोनों ने इस प्रकार विचार कर सभी पूर्वपक्षों का निराकरण कर जो कुछ कहा, उसे सुनो । वहाँ उन्होंने कर्म को ही बार-बार भोक्ता

---

१. गमनकारणोक्तावाकाङ्क्षामुत्थापयति—कस्मादिति । २. यतः । ३. त्वत्पृष्टम् । ४. साध्वेतदिति सम्भाव्य सजनादुत्ससर्पतुरिति शेषः । ५. निर्गत्य । ६. प्रश्नप्रतिवचनयोः । ७. किंकर्तृकमिति यावत् ।

प्रयोजकगोचरमुच्यते । एतस्य प्रयोजकविज्ञानस्य यथोदितं स्वरूपमित्यर्थः ।। न नावित्यादेस्तात्पर्यमाह—सजन इति । नानाजनसमूहसहितेऽस्मिन्देशे त्वत्प्रश्ने व्याख्यायमाने बन्धनिबन्धनं ज्ञानं नाऽऽवयोरसाधारणं स्यादिति सजनान्निर्गन्तव्यमित्यर्थः ।। प्रयोजकज्ञानस्यासाधारण्यार्थं न ततो निर्गमनं किंत्वन्येऽपि मध्ये प्रक्ष्यन्ति तथाचाशक्यो निर्णयः स्यादिति भयादित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति । इदमिति प्रकृतवाक्योक्तिः । अन्यप्रश्नप्रयुक्तत्रासाभावे हेतुमाह—जल्प इति । विजिगीषुस्तत्राधिक्रियते । यथाऽऽह—विजिगीषुणा सह जल्पवितण्ड इति । तथाच तदीयशक्तिनिर्णयपर्यन्त नान्यप्रवृत्तिरित्यर्थः ।। सजनान्निर्गमनं नान्योक्तिभयादित्यत्र हेत्वन्तरमाह—परिशिष्टानिति । सजनाद्देशादुत्क्रम्य निर्गत्याऽऽर्तभागप्रश्नं व्याकरोद्दषिरिति यत्तन्नान्योक्तिभयकारणं यतस्तमेव देशमेत्य शिष्टान्भुज्युप्रभृतिप्रश्नानस्मै व्याकृतवानतो भयाद्बहिरगतः प्रयोजकज्ञानासाधारण्यार्थमेव गमनमिष्टमन्यथा तस्माद्देशादुत्क्रम्य परिशिष्टानपि प्रश्नान्न व्याकरिष्यन्न चैवं व्याकरोति च तस्मान्नान्योक्तिभयकृतं गमनमित्यर्थः ।। तौ हेत्यादेरर्थमाह—साध्विति ।। तौ ह यदित्यादेरर्थमाह—सजनादिति । श्रोतॄणामनुजिघृक्षानन्तर्यमथशब्दार्थः । तत्रेत्येकान्तदेशोक्तिः । न हि तौ होत्क्रम्येत्यादि प्रष्टुर्वक्तुर्वा वाक्यं किंतु श्रुतेः श्रोत्रनुग्रहार्थमित्यर्थः ।।

*अपोह्य पूर्वपक्षान्सर्वानेवेति । एतद्भाष्यार्थाविष्कारकानि वार्तिकानि प्राहुः—"कर्मादिपरतन्त्रत्वात्स्वाश्रयो नायमिष्यते । संसारभूमिवर्तित्वान्न चाऽऽत्मा कारणाश्रयः ।। अचित्कत्वात्प्रधानादि पुंसो न स्थानमिष्यते । न कर्म तत्फलं वेत्ति न च वस्यैति संगतिम् ।। न चेश्वरे स्थितिस्तस्य शास्त्रानारम्भसक्तितः । कृतनाशाकृतप्राप्ती प्राप्नुतो नुस्तथा सति ।। दैवाधिष्ठित एवायं कर्मकालवशानुगः । प्रवर्ततां चेत्पुरुषो नैवमप्युपपद्यते ।। जडत्वादिति पूर्वोक्तो दोषोऽत्रापि च विद्यते । सदेवताकं पूर्वोक्तं समर्थमिति चेन्मतम् ।। प्रवृत्तिरप्रवृत्तिर्वा देवतैश्वर्यतः

कर्म हैवा[1]ऽऽश्रयं पुनः पुनः कार्यकरणोपादानहेतुं तत्तत्रोचतुरुक्तवन्तौ । न केवलं[2]

कर्म कारणमूचतुः किंतु [3]तदेव कालादिषु हेतुष्वभ्युपगतेषु सत्सु प्रशशंसतुः । [4]अतः प्रशंसावचनात्कर्मणः प्राधान्यं गम्यते न तु कालादीनामहेतुत्वं तेषां कर्मस्वरूपनिष्पत्तौ कारकतया गुणभावदर्शनात्फलका-

का आश्रय एवं कार्यकरण का उपादानहेतु बतलाया । उन्होंने कथनमात्र ही नहीं किया; बल्कि स्वीकृत किये हुए काल, कर्म, दैव और ईश्वर आदि हेतुओं की भी जो प्रशंसा की; वह कर्म की ही (अपरो-

सदा । नियमे हेत्वसद्भावान्न स्यान्नैयमिकी स्थितिः ॥ न चापि केवलं कर्म पुंसः स्यादाश्रयो यतः। अचेतनत्वनित्यत्वदोषदुष्टं पुरोदितम् ॥ मयाऽयमनुयातव्यः कर्ता चायं ममाभवत् । कालादिविषयं ज्ञानं ध्वंसिनः कर्मणः कुतः ॥ यत एवमतः सर्वे कालदैवेश्वरादयः । कर्मप्रधानाः पुंसः स्यादाश्रयोऽयमनुत्तमः ॥ हठो यदृच्छा नियतिः कारणत्वेन नाऽऽश्रिताः । संततौ चानवस्थानान्नाऽऽश्रयत्वं प्रमाणतः ॥ न कर्म पूर्वस्कन्धेषु नष्टत्वादुपपद्यते । न चेह परिणामः स्यादुत्तरस्कन्धसंगतौ ॥ अनिष्ठितं न कर्मापि फलायालं भवेत्क्वचित् । न चैकत्रैकदा स्थानं विरोधाज्जन्मनाशयोः ॥ न च स्कन्धातिरेकेण स्थिरः कश्चिदपीष्यते । भोगमोक्षाभिसंबन्धी यं प्रत्येतत्प्रवर्तते ॥ अनारम्भश्च शून्येऽपि यथाऽयमुपलभ्यते । मितेश्चासंभवाच्छून्यं सर्वथा नोपपद्यते ॥ यत एवमतो न्याय्यं कर्मैवास्य समाश्रयः । संसारभूमौ पुंसः स्यात्कालादेस्तत्प्रधानतः ॥ कर्मप्राधान्यमेवातः स्वयमेवाब्रवीच्छ्रुतिः। कालदैवेश्वरादिभ्यः कालादेस्तत्प्रयुक्तितः ॥ सति कर्मणि वैचित्र्यं भूतानामुपपद्यते । कर्मशब्देन विद्या च भावना कर्म चोच्यते ॥ देहारम्भे न शुद्धस्य कर्मणः शक्तिरिष्यते । तस्मात्त्रितयमप्येतत्कर्मशब्देन भण्यते ॥ एवं तौ संप्रधार्यैतदुक्तदोषानभिप्लुतम् । यियासोः परलोकाय कर्मैवाऽऽश्रयमूचतुः ॥ कारणानां यथोक्तानां यच्च तौ प्रशशंसतुः । कर्मैवोक्तेषु सर्वेषु प्रशशंसतुरादरात् ॥ कारणत्वाविशेषेऽपि किं प्रधानमितीक्षणे । कर्मणः स्यात्प्रशंसैवं तत्प्राधान्योपपत्तितः ॥ वशीकृत्येश्वरादीनि कारणानि स्वतन्त्रवत् । कर्म सिध्यद्यतो दृष्टं प्रधानं कर्म तेन तत् ॥ क्रियां प्रत्यगुणीभूतं नेश्वराद्यपि सिध्यति । कर्मातस्तेषु सर्वेषु प्रधानमिति भण्यते ॥ यस्मादेवमतः प्रेतो देवताविरहेऽपि ना । देहादस्मात्परिभ्रष्टः कर्मप्राधान्यसंश्रयात् ॥ पुण्यः पुण्येन भवति पापः पापेन कर्मणा। इति श्रौतं वचो ज्ञेयमागमैकप्रमाणतः" ॥ १४१-१६५ ॥ इति । स्वमतशुद्ध्यर्थं केनचिदात्मनेत्यादिपक्षं दूषयति—कर्मादीति । यत्तु कारणात्मतामेतीति तत्राऽऽह—संसारेति । भोगभूमिष्ठत्वेन भोक्तृत्वादित्यर्थः ॥ यत्तु गुणान्वा कालं वा दैवमेव वेति तत्राऽऽह—अचित्कत्वादिति । न हि जड स्वातन्त्र्येण भोक्तुर्भोगायतनमित्यर्थः। यदपि कर्मैव संश्रित इति तत्राऽऽह—न कर्मेति । किंच कस्येदं फलमिति फलफलिसंबन्धमपि कर्म न बुध्यतेऽतो न तदाश्रयो भोक्तुरित्याह—न चेति । यद्वा कर्मफलवेत्ता हिरण्यगर्भो भोक्तुराश्रय इत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । विदेहदेवतो जीवः सूत्रमाश्रित्य देहान्तरमाप्नोतीत्यत्र मानाभावादिति भावः ॥ यत्तु यदि वेशानमिति तत्राऽऽह—न चेति । ईशस्य बन्धप्रयोजकत्वे स्वर्गापवर्गयोस्तदधीनत्वात्तस्य च स्वातन्त्र्यादनुपयोगिशास्त्रमनारभ्यं स्यादित्यर्थः । तत्रैव दोषान्तरमाह—कृतेति । भोक्तुरीश्वराश्रयत्वे सति तद्वशादेव भोगसिद्धेर्दोषद्वयं दुर्वारमित्यर्थः ॥ ईशाधिष्ठितो भोक्ता कालकर्माश्रयः संसरत्यतो न कृतहानादीति शङ्कते—दैवेति । केवलयोर्वा सदैवयोस्तयोराश्रयत्वमीशप्रधानयोर्वेति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—नैवमिति । अग्न्यादिदेवतानां चैतन्येऽपि स्वातन्त्र्याभावात्तद्युक्तस्य कालादेर्न भोक्त्राश्रयत्वमित्यर्थः ॥ द्वितीयमनुभाषते—सदेवताकमिति । काल-

---

१. भोक्तुः । २. उक्तवन्तावपितु । ३. कर्मैव । ४. अतः—अस्मात् प्रशंसावचनादिति समानाधिकरणे पञ्चम्यौ ।

कालकर्मदैवेश्वरेष्वभ्युपगतेषु हेतुषु यत्प्रशशंसतुस्तौ कर्म हैव तत्प्रशशंसतुः । यस्मान्निर्धारितमेतत्कर्मप्रयुक्तं ग्रहातिग्रहादिकार्यकरणोपादानं पुनः पुनस्तस्मात्पुण्यो[1] वै शास्त्रविहितेन

लेऽपि [2]तत्प्राधान्येनैव तद्धेतुत्वसंभवादित्याह—न केवलमिति । पुण्यो वै पुण्येनेत्यादि व्याचष्टे—यस्मादित्यादिना ॥ १३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां तृतीयाध्याये द्वितीयमार्तभागब्राह्मणम् ॥२॥

क्षतया) प्रशंसा थी क्योंकि बार-बार यही निर्णय लिया गया है कि ग्रहातिग्रहादिरूप कार्यकरणसंघात की कर्म से प्राप्ति होती है, इसलिए पुरुष "पुण्येन कर्मणा" अर्थात् शास्त्रविहित पुण्यकर्म के करने से

---

१. देवेषु जायमानः पुण्यात्मैव भवति । २. कर्मप्राधान्येनैव कालादीनां फलहेतुत्वसम्भवादित्यर्थः ।

कर्माख्यद्वयमग्न्यादिदेवतासहितमीशप्रधानं पुंस्प्रवृत्तौ शक्तमित्यर्थः ॥ अतिप्रसक्त्योत्तरमाह—प्रवृत्तिरिति । ईशो देवताशब्दार्थः । कदाचित्प्रवृत्तिः कदाचिन्निवृत्तिरिति व्यवस्था तत्स्वातन्त्र्येऽपि किं न स्यादत आह—नियम इति ॥ मा भूदीशप्रधानं कर्मादि प्रयोजकं केवलं तु स्यादित्याशङ्क्य न कर्मेत्यत्रोक्तं स्मारयति—न चेति ॥ न च कस्येत्यादिनोक्तं हेत्वन्तरं स्फोरयति—मयेति ॥ एकैकस्य समुदितस्य च प्रयोजकत्वायोगे कथं तन्निर्धारणमित्याशङ्क्य स्वमतमाह—यत इति । यदृच्छासंततिशून्यपक्षेष्वदूषितेषु कथं स्वपक्षसिद्धिरित्याशङ्क्य यदृच्छापक्षं प्रत्याह—हठ इति । एते शब्दाः स्वभाववाचिनः स च न प्रवर्तको नियतहेतूपादानानर्थक्यादित्यर्थः । योगाचारं प्रत्याह—संततौ चेति । न हि ज्ञानसंतानो बन्धप्रयोजको मानाभावात्तस्यावस्तुत्वेन च स्थित्ययोगादित्यर्थः ॥ संतानोऽपि ज्ञामस्कन्धो वस्तुत्वात्कर्मद्वारा प्रयोजकः स्यादिति चेत्तत्र कर्म साश्रयं निराश्रयं वा प्रथमेऽपि क्षणिकस्कन्धाश्रयं तदितरस्थिराश्रयं वाऽऽद्ये पूर्वोत्तरत्वेन वर्तमानस्कन्धमध्ये पूर्वस्कन्धेषु कर्मोत्तरस्कन्धेषु वेति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—न कर्मेति । न हि वर्तमानं कर्म देहत्यागात्पूर्वभाविषु स्कन्धेषु सिध्यतीति तेषां नष्टत्वादाश्रयत्वायोगादित्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह—न चेति । उत्तरस्कन्धेष्वाश्रितत्वेन कर्मणः संगतौ वर्तमानक्षणे तस्य नोत्पत्तिः स्यान्निराश्रयकर्मोत्पत्त्ययोगात्तदैवाऽऽश्रयसत्त्वे च क्षणिकताक्षतिरित्यर्थः ॥ निराश्रयत्वपक्षं निराह—अनिष्ठितमिति । क्वचिदनाश्रितं कर्मैव न सिध्यति नित्यपारतन्त्र्यस्वाभाव्यात्सिध्यदपि न फलवत्स्यादित्यर्थः । विज्ञानस्कन्धानां क्षणिकत्वमाश्रित्य कर्माश्रयत्वायोगमुक्त्वा क्षणिकत्वमेवायुक्तमित्याह—न चेति । तथा च क्षणभेदेन जन्मनाशयोरेकत्रावस्थानावश्यंभावात्तदाश्रयस्य क्षणद्वयसंबन्धान्न विवक्षितक्षणिकत्वसिद्धिरित्यर्थः ॥ क्षणिकस्कन्धाश्रयमनाश्रयं वा कर्मेति पक्षौ प्रनिक्षिप्य पक्षान्तरं प्रत्याह—न चेति । एतदिति कर्मोक्तिः क्षणभङ्गभङ्गेनापराद्धान्तादिति भावः ॥ शून्यनाशपक्षौ दूषयति—अनारम्भश्चेति । शून्ये नाशे वा प्रयोजके शास्त्रारम्भो न युक्तः कृत्याभावादित्यर्थः । दोषान्तरमाह—यथेति । यथाऽयं प्रपञ्चो दृश्यते न तथा शून्यं जीवनाशश्च न चोभयत्र मानान्तरमस्तीति जीवनाशधीस्त्वौपाधिकी व्याख्याता तन्न शून्यनाशो प्रयोजकावित्यर्थः । शून्यग्रहणं जीवनाशोपलक्षणम् । सर्वथा प्रमाणतो युक्तितश्चेत्यर्थः ॥ बाह्यपक्षान्प्रतिक्षिप्य स्वपक्षमुपसंहरति—यत इति । क्रियापदादुपरिष्टादितिशब्दमध्याहृत्यान्वयो द्रष्टव्यः । कालादेरपि सत्त्वादवधारणायोगमाशङ्क्याऽऽह—कालादेरिति ॥ उक्तेऽर्थे तौ हेत्यादिश्रुतिमवतारयति—कर्मेति । अतःशब्दार्थं स्पष्टयति—कालादेरिति ॥ कर्मप्रयुक्तत्वे कालादेर्युक्तिमाह—सतीति । कालादीनां प्रवर्तकत्वादिवैचित्र्यं विचित्रे कर्मणि सत्येव प्रयोजके युक्तमन्यथा प्रवृत्तिरप्रवृत्तिर्वेत्युक्ताऽव्यवस्था स्यादित्यर्थः । कर्म हैवेत्यत्र कर्मशब्दार्थमाह—कर्मेति ॥ केवलमेव

पुण्येन कर्मणा भवति [1]तद्विपरीतेन विपरीतो भवति पापः पापेनेत्येवं याज्ञवल्क्येन प्रश्नेषु निर्णीतेषु ततो[2]ऽशक्यप्रकम्प्यत्वाद्याज्ञवल्क्यस्य ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ॥१३॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्याये द्वितीयमार्तभागब्राह्मणम् ॥२॥

अथ तृतीयाध्यास्य तृतीयं ब्राह्मणम् ।

अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ । [3]ग्रहातिग्रहलक्षणं बन्धनमुक्तम् । यस्मात्स[4]प्रयोजकान्मुक्तो[5] [6]मुच्यते [7]येन वा बद्धः संसरति स मृत्युः[8] । [9]तस्माच्च मोक्ष उपपद्यते।–

ब्राह्मणान्तरमवतार्य वृत्तं कीर्तयति—अथेत्यादिना । उक्तमेव [10]तस्य मृत्युत्वं व्यक्ती करोति—यस्मादिति । [11]अग्निर्वै मृत्युरित्यादावुक्तं स्मारयति—तस्मादिति । [12]यत्रायमित्यादावुक्तमनुद्रवति

(देवादि में उत्पन्न हुआ) पुण्यात्मा होता है । उसके विपरीत शास्त्रनिषिद्ध पापकर्म करने से (स्थावरादि योनियों में उत्पन्न हुआ) पापात्मा होता है । इस प्रकार याज्ञवल्क्य द्वारा प्रश्नों का निर्णय हो जाने पर, "(निर्भय) याज्ञवल्क्य की तत्त्वदृष्टि को हिलाना कठिन है" ऐसा सोचकर जारत्कारव आर्तभाग चुप हो गया ॥१३॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् तृतीयाध्याय के द्वितीय ब्राह्मण में
शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥२॥

फिर इस याज्ञवल्क्य से लाह्यायनि भुज्यु ने पूछा । (इस मन्त्र पर विचार किया जाता है–) इन्द्रियार्थरूप ग्रहातिग्रहसंज्ञक बन्धन बतलाया गया । जिस विद्यावासना कर्मात्मक सप्रयोजकों से मुक्त

---

[1] तद्विपरीतेनेति—पापेन शास्त्रनिषिद्धेन कर्मणा स्थावरादिषु जायमानः पापात्मा भवतीत्यर्थः । [2] अशक्यं प्रकम्प्यं प्रकम्पनम् यस्य तत्त्वात् निर्भयत्वादिति यावत् । [3] इन्द्रियार्थरूपम् । [4] विद्यावासनाकर्मात्मकस्य प्रयोजकसहितात् । [5] वियुक्तः । [6] संसारमत्येति । [7] ग्रहादिना । [8] उक्तः । [9] उक्तमृत्योः सकाशात् । [10] ग्रहादेः । [11] बृ० उ० ३।२।१० । [12] बृ० उ० ३।२।१२ ।

कर्म कर्मशब्दं किं न स्यात्तत्राऽऽह—देहेति । यथा कर्मेत्यादिश्रुतेरित्यर्थः । कर्मशब्दार्थमुपसंहरति—तस्मादिति । वाक्यार्थं निगमयति—एवमिति । परपक्षेषूक्तदोषास्पृष्टं कर्मेति यावत् ॥ अथेत्यादेरर्थमाह—कारणानामिति । अविशिष्टे बहूनां कारणत्वे किमिति कर्मप्रशंसेत्याशङ्क्याऽऽह—कारणत्वेति । तुल्येऽपि सर्वेषां कारणत्वे किं प्रधानं किं वाऽप्रधानमिति वीक्षायां कर्मप्रशंसादृष्टेस्तत्प्राधान्योपपत्तेः साऽर्थवतीत्यर्थः ॥ तत्प्राधान्येऽन्वयव्यतिरेकावपि प्रमाणयति—वशीकृत्येति । उक्तं हि—वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वादिति ॥ उक्तप्रमाणफलं निगमयति—कर्मेति इति ॥ पुण्यो वै पुण्येनेत्यादेः सोपस्कारमर्थमाह—यस्मादिति ॥ कर्मप्रयुक्तं ग्रहातिग्रहात्मककार्यकरणोपादानमित्येवं यतः सिद्धमतः स्थूलदेहान्निर्गतो मृतः पुमानधिष्ठातृदेवताभागाभावेऽपि कालादिसहकृतकर्मबलात्पौनःपुन्येनसंसरतीत्यत्र मानमुपसंहरति—इतीति । कर्मैव कालादिसहकृतं मृतस्य बन्धप्रयोजकमित्यस्यालौकिकत्वेनाऽऽगममात्रगम्यत्वादस्मिन्नर्थे यथोक्तं वचो मानमित्यर्थः ॥

[१]यस्मान्मृत्योर्मृत्युरस्ति । मुक्तस्य च न गतिः क्वचित् । [२]सर्वोत्सादो नाममात्रावशेषः प्रदीपनिर्वाणवदिति चावधृतम् । तत्र [३]संसरतां [४]मुच्यमानानां च कार्यकरणानां [५]स्वकारणसंसर्गे समाने[६] मुक्तानामत्यन्तमेव पुनरनुपादानम्[७] । संसरतां तु पुनः पुनरुपादानं येन [८]प्रयुक्तानां भवति तत्कर्मेत्यवधारितं विचारणापूर्वकम् । [९]तत्क्षये च नामावशेषेण सर्वोत्सादो मोक्षः । तच्च पुण्यपापाख्यं कर्म । पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेत्यवधारितत्वात् । एतत्कृतः संसारः ।

—मुक्तस्य चेति । [१०]यत्रास्येत्यादौ निर्णीतमनुभाषते—तत्रेति । पूर्वब्राह्मणस्थो ग्रन्थः सप्तम्यर्थः । तस्य चावधारितमित्यनेन संबन्धः । संसरतां मुच्यमानानां च यानि कार्यकरणानि तेषामिति [११]वैयधिकरण्यम् । अनुपादानमुपादानमित्युभयत्र कार्यकरणानामिति संबन्धः । कर्मणो [१२]भावाभावाभ्यां बन्धमोक्षावुक्तौ [१३]तत्राभावद्वारा कर्मणो मोक्षहेतुत्वं स्फुटयति—तत्क्षये चेति । [१४]तस्य भावद्वारा बन्धहेतुत्वं प्रकटयति—तच्चेति ।

हुआ संसार को पार करता हैं और जिन ग्रहादिकों से बद्ध हुआ वह संसार को प्राप्त होता है, वह मृत्यु कही गई । इसी लिए उस मृत्यु से मोक्ष पाना सुसंगत है क्योंकि उस मृत्यु का भी मृत्यु है । एवं जो (एक बार) मुक्त हो जाता है, उसका आना-जाना मिट जाता है । सभी अर्थों का पर्यवसान प्रदीपनिर्वाण के समान नाममात्र में अवशिष्ट रह जाता है, यह पहले ही निश्चित हो चुका है । उनमें वहाँ बद्ध और जीवन्मुक्तों के स्थूलदेह और इन्द्रियों का, स्वकारण सूक्ष्मभूतों में संसर्गाख्य लय समान होने पर भी जीवन्मुक्त पुरुषों को कार्यकरणात्मकसंघात का सर्वथा अग्रहण होता है । संसरणशील बद्ध पुरुषों को उन का बार-बार ग्रहण होता है, जिससे उत्पन्न वह कर्म है—ऐसा विचारपूर्वक निर्णय कर लिया गया । उस कर्म के क्षय हो जाने पर नाममात्र अवशिष्ट रहकर शेष सबका पर्यवसान होना मोक्ष है । वह कर्म पुण्यसंज्ञक एवं पापसंज्ञक है । शास्त्रविहित पुण्यकर्मों के करने से पुण्यात्मा होता है, एवं शास्त्रनिषिद्ध पापकर्मों के आचरण से पापात्मा होता है, यह भी निर्धारित कर दिया गया । संसार इसी का किया हुआ (प्रपञ्च) है ।

---

१. कारणात् । २. निखिलानर्थोत्सादः । ३. बद्धानाम् । ४. जीवन्मुक्तानाम् । ५. स्वकारणेत्यादि—अयमाशयः कार्यस्य स्थूलदेहस्य स्वकारणसूक्ष्मभूतेषु संसर्गाख्यो लयोऽज्ञतज्ज्ञयोः समानस्तावत्स्पष्ट एव यद्यपि विद्वत्करणस्य सूक्ष्मदेहस्य पराभिन्ने विदुष्येव लयो "न तस्य प्राणा" इत्यादि श्रुतेः । अविद्वत्करणलयस्तु स्वरूपेण नैव संभवति तत्त्वज्ञानमन्तरा लिङ्गभङ्गायोगात् । तथापि यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येतीति श्रुतौ वागादिशब्देन देवताग्रहात् वागादिशब्दितानामग्न्याद्यंशानामुपसंहरणमेवाविद्वत्पक्षे स्वकारणसंसर्गशब्दितम् । तथा चावान्तरविशेषसत्त्वेऽपि विद्वदविद्वत्कार्यकरणानां नाशापरपर्याये स्वकारणसंसर्गे समानत्वमक्षतमेवेति । ६. अपि । ७. कार्यकरणानाम् । ८. जनितानाम् । ९. कर्मक्षये । १०. बृ० उ० ३।२।१३ । ११. षष्ठ्योः । १२. सत्त्वासत्त्वाभ्याम् । १३. यथोक्तबन्धमोक्षयोः स्वासत्त्वद्वारा । १४. कर्मणः ।

तत्रा[1]पुण्येन स्थावरजङ्गमेषु स्वभावदुःखबहुलेषु नरकतिर्यक्प्रेतादिषु च दुःखमनुभवति पुनः पुनर्जायमानो म्रियमाणश्चेत्येतद्राजव[2]र्त्मवत्सर्वलोकप्रसिद्धम् । यत्तु शास्त्रीयः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति[3] तत्रैवाऽऽदरः क्रियत इह श्रुत्या । पुण्यमेव च कर्म

पुण्यपापयोरुभयोरपि संसारफलत्वाविशेषात्पुण्यफलवत्पापफलमप्यत्र[4] वक्तव्यमन्यथा ततो विरागायोगादित्याशङ्क्य [5]वक्ष्यमाणस्य तात्पर्यं वक्तुं भूमिकां करोति—तत्रेति । पुण्येष्वपुण्येषु च निर्धारणार्था सप्तमी । स्वभावदुःखबहुलेष्वित्युभयतः संबध्यते । [6]तर्हि पुण्यफलमपि सर्वलोकप्रसिद्धत्वान्नात्र वक्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—यत्त्विति । शास्त्रीयः सुखानुभव इति शेषः । इहेति ब्राह्मणोक्तिः । ※शास्त्रीयं कर्म सर्वमपि संसारफलमेवेति वक्तुं [7]ब्राह्मणमित्युक्त्वा शङ्कोत्तरत्वेनापि [8]तद-

---

उनमें पापकर्म से स्वाभाविक दुखःबहुल नरक, तिर्यक् और प्रेतादि स्थावर और जंगम योनियों में पुनः-पुनः जन्म और भरण को प्राप्त हुआ दुःख अनुभव करता है—यह बात लोकव्यवहार में राजपथ के समान प्रसिद्ध है । एवं जो शास्त्रीय सुख का अनुभव है; उसका "पुण्यकर्म करने से पुण्यात्मा होता है" इस प्रकार श्रुति निरूपण करती है । उसी का श्रुति द्वारा यहाँ आदर किया जाता है । 'पुण्य कर्म

---

१. पापेन कर्मणा । २. सर्वलोकप्रसिद्धमिति—पश्वादिषु प्रेतादिषु च नानादुःखानुभवाख्यपापफलस्य लोकप्रसिद्धत्वेनापूर्वत्वाभावान्न तन्निरूपणमित्यर्थः । पुरुषार्थः श्रुत्या आद्रियते पापफलस्य चाधिकानर्थत्वान्न तत्राऽऽदरः श्रुतेरिति भावः । अधर्मोऽपि जिज्ञास्यः परिहारायेति न्यायादनर्थस्यापि तस्य जिहासया निरूपणमुचितमित्याशङ्क्याऽऽह—"स्वतश्च तज्जिहासाया: सिद्धत्वान्नेह कीर्त्यते" ।। वा० ९ ।। इति । तर्हि कर्मफलत्वाविशेषाद-श्वमेधफलेऽप्यनादरः श्रुतेरुचितो नेत्याह—"परमोदारफलता त्वश्वमेधाख्यकर्मणः" ।। वा० ९ ।। इति । अश्वमेधादेरनतिशयफलत्त्वात्ततः स्वतोवैराग्यायोगात्तदर्थं तस्य संसारत्वेनानर्थकोटिप्रविष्टत्वं प्रकटनीयमिति भावः । ३. इतिश्रुत्योक्त इति शेषः । ४. प्रस्तुतब्राह्मणे । ५. ब्राह्मणस्येति । ६. प्रसिद्धत्वेम पापफलस्यावक्तव्यत्वे । ७. ब्राह्मणतात्पर्यमुक्त्वेत्यर्थः । ८. ब्राह्मणम् ।

※शास्त्रीयं कर्म सर्वमपि संसारफलमेवेति वक्तुं ब्राह्मणमिति । ननु वैदिककर्मफलं संसाराख्यं प्रागेवोक्तं तत्किमनेन ब्राह्मणेनेत्याशङ्क्यास्यापुनरुक्तं विषयं वक्तुं कर्मफलभेदमाहुर्वार्तिकाचार्याः—साधारण्यविशेषाभ्यां कर्मणश्च व्यवस्थितिः । विशेषावस्था प्रागुक्ता सामान्यं त्वधुनोच्यते ।। संसारे कियती व्याप्तिरभिव्यक्तस्य कर्मणः । सामान्यात्मविशेषाभ्यामित्येतद्भुज्युनोच्यते ।। प्रत्यग्याथात्म्यमोहस्थ कार्यंयत्तेह भण्यते । एतस्यां सम्यगुक्तायां नानुक्तमवशिष्यतं ।। भ्रूणहत्याश्वमेधाभ्यां न परं पापपुण्ययोः । इत्येवं धर्मकाराणामपि वाक्यानि कोटिशः" ।। ४-७ ।। इति । कर्मणः समष्टिरूपेण व्यष्टिरूपेण च द्विधा फलस्थितिरित्यर्थः । व्यष्टिरूपेण तत्फलस्थितिरुद्गीथब्राह्मणे सोऽग्निरभवदित्यादिनोक्तेति परिशेषार्थं स्मारयति—विशेषेति । अथास्यापुनरुक्तं विषयमाह—सामान्यं त्विति । कर्मफलं समष्टिरूपं सौत्रं निरूपयितुमेतदित्यर्थः ।। ननु वैदिककर्मफलं सौत्रं संसाररूपमिहोच्यते तच्च समष्टिव्यष्ट्यात्मकमिति नोक्ता व्यवस्था युक्ता न च व्यष्ट्यंशमुपदिश्य समष्ट्यंशमुपदेष्टुमिदमिति श्लिष्टं तस्यापि मृत्युरस्याऽऽत्मा भवतीत्युक्तत्वादत आह—संसार इति । द्वयोरवस्थयोरुक्तत्वेऽप्यारब्धकर्मणः समष्टिव्यष्टिरूपेण कियती फलव्याप्तिरित्याशङ्कायां तत्परिमाणं संसारेऽन्तर्भूततया तन्मात्रमेवेत्येतदनेन भुज्युब्राह्मणेनोच्यते तदर्थंविशेषसिद्धिरित्यर्थः ।। ननु पूर्वमपि संसारात्मकमेव कर्मफलयुक्तं तस्य सूत्रस्य मृत्योरशनायादिमत्त्वश्रुतेरित्याशङ्क्य विवक्षितमर्थंविशेषमाह—प्रत्यगिति । ।साध्यं सर्वं स्वाविद्योत्थमेवेत्यस्मिन्ब्राह्मणे कथ्यतेऽतोऽर्थभेदाद-

[1]सर्वपुरुषार्थसाधनमिति सर्वे [2]श्रुतिस्मृतिवादाः[3] । मोक्षस्यापि पुरुषार्थत्वा[4]त्तत्साध्यता प्राप्ता । यावद्यावत्पुण्योत्कर्षस्तावत्तावत्फलोत्कर्षप्राप्तिः । [5]तस्माद्दुत्तमेन पुण्योत्कर्षेण मोक्षो भविष्यतीत्याशङ्का स्यात् । सा निवर्तयितव्या । [6]ज्ञानसहितस्य च प्रकृष्टस्य[7] कर्मण [8]एतावती गतिः । व्याकृतनामरूपा[9]स्पदत्वात्कर्मणस्तत्फलस्य च । न त्वकार्ये नित्येऽव्याकृतधर्मिण्यनामरूपात्मके क्रियाकारकफलस्वभाववर्जिते कर्मणो व्यापारोऽस्ति । यत्र च

वतारयति—पुण्यमेवेत्यादिना । मोक्षस्य पुण्यसाध्यत्वं विधान्तरेण साधयति—यावद्यावदिति । कथं तस्या निवर्तनमित्याशङ्कयाऽऽह—ज्ञानसहितस्येति । समुच्चितमपि कर्म संसारफलमेवेत्यत्र[5] हेतुमाह—व्याकृतेति । मोक्षेऽपि स्वर्गादाविव पुरुषार्थत्वाविशेषात्कर्मणो [10]व्यापारः स्यादित्याशङ्कयाऽऽह—न त्विति । अकार्यत्वमुत्पत्तिहीनत्वम् । नित्यत्वं नाशशून्यत्वम् । अव्याकृतधर्मित्वं व्याकृतनामरूपराहित्यम् । 'अशब्दमस्पर्शम्' इत्यादिश्रुतिमाश्रित्याऽऽह—अनामेति । 'निष्कलं निष्क्रियम्' इत्यादिश्रुतिमाश्रित्याऽऽह—क्रियेति । [11]चतुर्विधक्रियाफलविलक्षणे मोक्षे कर्मणो व्यापारो न संभवतीति भावः । नन्वा स्थाणोरा च प्रजापतेः सर्वत्रः कर्मव्यापारात्कथं मोक्षे प्रजापतिभावलक्षणे तद्व्यापारो नास्ति

ही धर्म-अर्थ आदि सभी पुरुषार्थों का साधन है" इसमें श्रुति, स्मृति और उक्तियाँ प्रमाण हैं । अतः पुरुषार्थ होने के कारण मोक्ष का भी कर्मसाध्य होना प्राप्त है । जितना-जितना पुण्य अधिक होता है, उतनी-उतनी ही फल की उत्कृष्टता प्राप्त होती है । इसलिए उत्तम पुण्योत्कर्ष से मोक्ष प्राप्त होगा,

---

१. धर्मार्थादिपुरुषार्थसाधनमिति । २. "स्वर्गकामो यजेत, विविदिषन्ति यज्ञेने"त्येवंविधाः श्रुतयः, "धर्मात्सुखं च ज्ञानं च" "कर्मणैव हि संसिद्धिम्" "कर्मयोगो विशिष्यते" इत्याद्याश्च स्मृतयः । ३. उक्तयः । ४. कर्म । ५. पुण्यस्याखिलपुमर्थसाधनतायाः श्रुत्याद्यवधृतत्वात् । ६. उपासनसहितस्य । ७. अश्वमेधाख्यस्य । ८. एतावती—एतत्परिमाणा हिरण्यगर्भावसानेति यावत् । गतिर्व्याप्तिः फलपरिणतिरिति यावत् । तत्राहुर्वार्तिकाचार्याः—"ज्ञानोपबृंहितस्यापि क्रतुराजस्य कर्मणः । संसारविषयैवाप्तिर्मुक्तौ सा न मनागपि ।। प्रत्यग्याथात्म्यसंमोहः क्रियाकारकरूपवान् । प्रथतेऽपास्तनिःशेषक्रियाकारवस्तुनि" ।।१२-१३।। इति । सा यथोक्ता व्याप्तिः । ज्ञानसहितमपि कर्मसंसारफलकमेवेत्यस्मिन्ब्राह्मणे व्यक्ती भविष्यति ।। नन्वाविद्यसंसारस्तत्र तत्रोच्यते स चेदत्र कर्मफलत्वेन उच्यत इति कथं पूर्वापरविरोधो न स्यादत आह—प्रत्यगिति । निर्विशेषे चिदात्मनि तद्विद्या कर्माद्यात्मना विजृम्भते तथाच बन्धस्य कर्मजत्वेऽपि नाविद्याजत्वहानिरित्यर्थः । ९. आश्रयत्वात् । १०. सामर्थ्यम् । ११. उत्पत्तिराप्तिः विकृतिः संस्कृतिरिति चतस्रो विधाः ।

गतार्थतेत्यर्थः । मोहकार्ये यत्नोक्तिफलमाह—एतस्यामिति । अनुक्तं द्वैतान्तःपातीति शेषः ।। वैदिककर्मफलस्याविद्योत्थबन्धमध्यपातित्वमेवेति वक्तुमेतद्ब्राह्मणमित्युक्तं कथं सर्वमपि कर्मफलं संसारत्वेनात्र विवक्षितमित्याशङ्कयाऽऽह—भ्रूणेति । भवतां पापानां पुण्यानां च मध्ये ब्रह्मवधोऽश्वमेधश्च महान्तौ तथाऽपि कथं सर्वं कर्मफलं संसारस्तत्राऽऽह—इत्येवमिति । इतिशब्देनोक्तब्रह्मवधादिपरामर्शः । एवंशब्देन तत्सदृशपुण्यापुण्यप्रकारोक्तिः । तथाच ब्रह्मवधेन तत्सदृशैश्च पापैरश्वमेधेन तत्तुल्यपुण्यैश्च संसारः क्रियते । यथाऽऽहुः—'श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् । चण्डालपुल्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति' इति । 'धर्मरज्ज्वा व्रजेदूर्ध्वं पापरज्ज्वा व्रजेदधः' इति च । अपिना तद्य इह रमणीयचरणा इत्यादिश्रुतीनामपीत्यर्थः ।

[1]व्यापारः [2]स संसार एवेत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनाय ब्राह्मणमारभ्यते ।

[3]यत्तु कैश्चिदुच्यते [4]विद्यासहितं कर्म [5]निरभिसंधि मन्त्रशर्करादियुक्तविषदध्यादि त्कार्यान्तरमारभत इति । तन्न । [6]अनारभ्यत्वान्मोक्षस्य । बन्धननाश एव हि मोक्षो

तत्राऽऽह—यत्र चेति । कर्मफलस्य सर्वस्य संसारत्वमेवेति कुतः सिध्यति तत्राऽऽह—इत्यस्येति ।

विद्यासहितमपि कर्म संसारफलं विद्यैव मोक्षार्थेतिस्वपक्षशुद्धयर्थं विचारयन्पूर्वपक्षयति- यत्त्विति । यथा केवलं विषदध्यादि मरणज्वरादिकरमपि मन्त्रशर्करादियुक्तं जीवनपुष्टयाद्यारभते त स्वतो बन्धफलमपि कर्म फलाभिलाषमन्तरेणानुष्ठितं विद्यासमुच्चितं मोक्षाय क्षममित्यर्थः । मुक्ते साध्यत्वाङ्गीकारे समुच्चितकर्मसाध्यत्वं स्यान्न तु तस्याः साध्यत्वं *‘धीमात्रायत्तत्वादित्युत्तरमाह-तन्नेति

ऐसी आशङ्का हो सकती है । उस की निवृत्ति करनी चाहिये । उपासनासहित अश्वमेधसंज्ञककर्म हिरण्यगर्भ में अवसानरूप फलपरिणति है क्योंकि कर्म और उसके फल व्याकृत नाम और रूप के आश्रि रहते हैं । अकार्य, नित्य अव्याकृतधर्मी, नामरूपात्मकविहीन, क्रियाकारकफलस्वभाववर्जित मोक्ष कर्म का कोई व्यापार नहीं हो सकता । जहाँ कर्म का व्यापार है, वह संसार ही है । इसी अर्थ निरूपण करने के लिए इस तृतीय ब्राह्मण का प्रारम्भ किया जाता है ।

किन्हीं याथात्म्यविज्ञान न मानने वालों का मत है कि तत्त्वज्ञानसहित निष्कामकर्म विष दधि आदि के समान कार्यान्तर का आरम्भ करता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि मोक्ष का अ र्यत्व होना प्रसिद्ध ही है । बन्धन का नाश होना ही तो मोक्ष है, वह किसी का कार्य नहीं है एवं ब

---

१. कर्मणः । २. स संसार एवेति—तथाच प्रजापतिभावस्य मुख्यमोक्षपदार्थत्वाभावान्न तत्र कर्मव्या वारयाम इति भावः । ३. यत्त्विति—उक्तरीत्या ब्राह्मणारम्भे स्थिते सति कैश्चिदनिर्ज्ञातात्मयाथात्म्यैरुः इत्यर्थः । ४. तत्त्वज्ञानसहितम् । ५. निष्कामम् । ६. अकार्यत्वात् । ७. प्रत्यग्याथात्म्यज्ञानमत्र वि ८. ज्ञानमात्राधीनत्वात् ।

---

*धीमात्रायत्तत्वादिति । ननु धीसाध्यत्ववत्क्रियासाध्यत्वमपि स्यादित्याशङ्क्याहुर्वार्तिकाचार्याः—“ब्रह्म इदमित्युक्तेः प्रागपि ज्ञानजन्मतः । जगद्ब्रह्मात्मसंसिद्धेर्नातो मुक्तिः क्रियोद्भवा ।। यदि वस्तु स्वतो मुक्तं प बद्धमिष्यते । मोक्षाय यत्नः फलवांस्तदा स्यान्न विपर्यये ।। विद्याऽभिव्यञ्जिकैवेयं स्वतः सिद्धस्य वस्तु आरम्भकत्वं जगति तस्या नैवोपपद्यते ।। अज्ञानमात्रव्यवधौ वस्तुनि व्यापृतिर्मितेः । आरभ्येऽर्थेऽफलं व्यञ्जकत्वात्प्रदीपवत् ।। न चाविद्यातिरेकेण मुक्तेर्बन्धोऽन्य इष्यते । निवृत्तिः क्रियते यस्य विद्यतेनेह कर्मण अविद्यानाशमात्रश्च मोक्ष आत्मन इष्यते । यतस्ततोऽतिरेकेण मोक्षोऽनित्यो भवेद्ध्रुवम् ।। सम्यग्ज्ञानाति न चान्येनास्ति निह्नुतिः । प्रत्यङ्मोहस्य नातः स्याज्ज्ञानकर्मसमुच्चयः” ।। १८-२४ ।। इति । ज्ञानो प्रागपि जगतः संसारिणो ब्रह्मत्वं सिद्धं ब्रह्म वा इदमग्र आसीदित्यादि श्रुतेरतो न ज्ञानसाध्या मुक्तिस्तदह न्ताभावान्न क्रियासाध्याऽपीत्यर्थः ।। किंच मुक्तिरसाध्या तथाहि किं प्रत्यग्वस्तु स्वतो मुक्तं परतो बद्धं स्वतो बद्ध परतो मुक्तं तत्राऽऽद्यमनुवदति—यदीति । तत्र बन्धहेतोः परस्यावस्तुत्वं वस्तुत्वं वा प्रत्याह—मोक्षायेति । बन्धहेतोरवस्तुत्वे सहेतुबन्धध्वस्तेः सुकरत्वादनायाससिद्धा मुक्तिर्न कर्मापेक्षेत्य बन्धहेतोर्वस्तुत्वे प्रतीचः स्वतोबद्धत्वे च मोक्षार्थप्रवृत्तेरफलतेति कल्पद्वयं दूषयति—नेति ।। मुक्तेर्विद्याज त्वाभावे हेत्वन्तरमाह—विद्येति । किमिति व्यञ्जकत्वं तस्या नियम्यते तत्राऽऽह—आरम्भकत्वमिति कारकत्वे न प्रकाशकत्वं मृदादिवदित्यर्थः ।। स्वतः सिद्धेर्व्यञ्जकत्वमप्ययुक्तं व्यक्तेः सहजत्वादित्याशङ्क्य

कार्यभूतः । बन्धनं चाविद्येत्यवोचाम । अविद्यायाश्च न कर्मणा नाश उपपद्यते । [1]दृष्टविषयत्वाच्च कर्मसामर्थ्यस्य । उत्पत्त्याप्तिविकारसंस्कारा हि कर्मसामर्थ्यस्य विषयाः । उत्पादयितुं प्रापयितुं विकर्तुं संस्कर्तुं च सामर्थ्यं कर्मणो [2]नातो व्यतिरिक्तविषयोऽस्ति कर्मसामर्थ्यस्य लोकेऽप्रसिद्धत्वात् । न च मोक्ष एषां पदार्थानामन्यतमः । अविद्यामात्रव्यवहित इत्यवोचाम ।

बाढम् । भवतु केवलस्यैव कर्मण एवंस्वभावता । [3]विद्यासंयुक्तस्य तु निरभिसं-

---

हेतुमेव साधयति—बन्धनेति । किं तद्बन्धनं तदाह—बन्धनं चेति । अविद्यानाशोऽपि कर्मारभ्यो भविष्य-
तीति चेन्नेत्याह—अविद्यायाश्चेति । मोक्षो न कर्मसाध्यो[4]ऽविद्यास्तमयत्वाद्रज्ज्वविद्यास्तमयवदित्यर्थः ।
[5]तत्रैव हेत्वन्तरमाह—दृष्टविषयत्वाच्चेति । [6]न कर्मसाध्या मुक्तिरिति शेषः । [7]तदेव स्पष्टयति—
उत्पत्तीति । [8]उक्तमेव कर्मसामर्थ्यविषयमन्वयव्यतिरेकाभ्यां साधयति—उत्पादयितुमिति । अप्रसिद्ध-
त्वादिति च्छेदः । उत्पत्त्यादीनामन्यतमत्वान्मोक्षस्यापि कर्मसामर्थ्यविषयता स्यादिति चेन्नेत्याह—न
चेति । नित्यत्वादात्मत्वात्कूटस्थत्वान्नित्यशुद्धत्वान्निर्गुणत्वाच्चेत्यर्थः । आत्मभूतो यथोक्तो मोक्षस्तर्हि
किमिति सर्वेषां न प्रथत इत्याशङ्क्याऽऽह—अविद्येति ।

उक्तं कर्मसामर्थ्यं पूर्ववाद्यङ्गी करोति—बाढमिति । अङ्गीकारमेव स्फोरयति—भवत्विति ।
एवंस्वभावतोत्पादनादौ समर्थता । [9]का तर्हि विप्रतिपत्तिस्तत्राऽऽह—विद्यासंयुक्तस्येति । अन्यथा स्वभा-

---

अविद्या है— ऐसा हम पहले ही कह आये हैं । तथा अविद्या का कर्म से नाश होना संभव नहीं है क्योंकि जिनमें कर्म की सामर्थ्य है, वे कार्य अथवा उसके विषय परिगणित ही हैं । उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार और संस्कार ये कर्म की सामर्थ्य के विषय देखे गये हैं । उत्पन्न करना, प्राप्त करना, विकारापन्न करना एवं संस्कारयुक्त करना ही कर्म की सामर्थ्य है, उत्पत्ति आदि से भिन्न कोई कार्य कर्मसामर्थ्य से होता हो, ऐसा लोक में प्रसिद्ध नहीं ही है । इनमें से कोई भी पदार्थ मोक्ष नहीं है, वह तो केवल अविद्यामात्र से आवृत है—ऐसा हम कह आये हैं ।

(पूर्ववादी शङ्का करता है—) ठीक है । केवल कर्म का ऐसा स्वभाव भले ही हो किन्तु निरु-

---

१. कार्यं यद्वा तद्विषया दृष्टा एव परिगणिता इति यावत् । २. उत्पत्त्यादितः । ३. सङ्क्षेपतश्चोद्यसमाधानं कृत्वा विस्तरेण तत्कर्तुं तावच्चोद्यं विवृणोति—विद्येति । ४. अविद्यानिवृत्तिरूपत्वात् । ५. मोक्षस्य कर्मासाध्यत्वे । ६. मुक्तिर्न कर्मसाध्या अकार्यत्वादीश्वरादिवदिति विवक्षितम् । ७. कर्मसामर्थ्यस्य दृष्टविषयत्वम् । ८. उत्पाद्यादीनाम् । ९. मदुक्तकर्मसामर्थ्याङ्गीकारदशायामावयोः को विवादः ।

—अज्ञानेति । व्यक्तिः स्वतःसिद्धाऽपि इत्यर्थः । मोक्षस्यासाध्यत्वे हेत्वन्तरमाह—आरभ्य इति । मोक्षलक्षणे फले साध्ये स्वीकृते तत्र ज्ञानस्याप्रवेशात्तदनर्थकं स्यात्तस्य हि दीपवद्व्यञ्जकत्वाद्व्यङ्ग्ये प्रवेशो न साध्ये तस्मात्तत्फलवत्त्वानुपपत्त्याऽपि न मुक्तेः साध्यतेत्यर्थः ।। मा भूद्धीसाध्या मा तत्सहितकर्मसाध्या तु स्यादज्ञानान्यतद्व्यवधानस्य समुच्चयापास्यत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । बन्धः प्रतिबन्धो व्यवधिरिति यावत् । विद्येतेन विद्यासहितेनेत्यर्थः । इहेति प्रत्यगर्थोक्तिः । मुक्तेः समुच्चयासाध्यत्वे युक्त्यन्तरमाह—अविद्येति । अविद्यानाशातिरेकेण मोक्षः साधनाधीनो भवन्ध्रुवमनित्यो भवत्यतः प्रतीचि स्वाविद्याध्वस्तिरेव मुक्तिरिति न समुच्चयावकाश इत्यर्थः ।। सैव समुच्चयसाध्येत्याशङ्क्याऽऽह—सम्यगिति ।।

धेर्भवत्यन्यथा स्वभावः। दृष्टं[1] ह्यन्यशक्तिकत्वेन निर्ज्ञातानामपि पदार्थानां [2]विषदध्यादीन विद्यामन्त्रशर्करादिसंयुक्तानामन्यविषये सामर्थ्यम्। तथा कर्मणोऽप्यस्त्विति चेत्। न [3]प्रमाणाभावात्। ※[4]तत्र हि कर्मण [5]उक्तविषयव्यतिरेकेण विषयान्तरे सामर्थ्यास्तित्वे प्रमाण

वश्चतुर्विधक्रियाफलविलक्षणेऽपि मोक्षे समर्थतेति यावत्। उत्पत्त्यादौ समर्थस्य कर्मणो विद्यासंयुक्तस्य तद्विलक्षणेऽपि मोक्षे सामर्थ्यमस्तीत्यत्र दृष्टान्तमाह—दृष्टं हीति। उक्तदृष्टान्तवशात्कर्मणोऽपि केवलस्य संसारफलस्य विद्यासंयोगान्मुक्तिफलत्वमपि स्यादित्याह—तथेति। समाधत्ते—नेत्यादिना।

दृश्य विद्यासहित कर्म का उससे विलक्षण ही स्वभाव होता है। ऐसा देखा जाता है कि केवल अन्यशक्तिक जाने गये विष और दधि आदि पदार्थों का विद्या, मन्त्र एवं शक्कर आदि से युक्त होने पर अन्य विषय में सामर्थ्य हो जाता है। इसी प्रकार विद्या से युक्त कर्म का भी दूसरा स्वभाव हो सकता है। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। प्रमाणों में कर्मों के

---

१. केवलानाम्। २. विषदध्यादीनामिति। ननु कथमेषा व्यवस्थेति चेच्छृणु वार्तिके—"पूर्वशक्तिनिरासेन शक्त्यन्तरसमुद्भवः। वस्त्वन्तरसमायोगाद्विषादेर्दृश्यते यतः" ॥३०॥ इति। अतः कर्मणोऽपि विद्यासम्बन्धात्पूर्वशक्तिनिरासेन शक्त्यन्तरस्योद्भवः स्यादिति॥ ३. प्रमाणाभावादिति—विषदध्यादेस्तु कार्यान्तरोत्पत्तौ सामर्थ्याऽस्तित्वे कार्यमेव मानं दृष्टत्वादिति भावः। ४. प्रमाणानां मध्ये। ५. उत्पत्त्यादिरूपविषयेति बोध्यम्।

※तत्र हीत्यादि न शब्दोऽस्तीत्यन्तभाष्य आहुर्वार्तिकास्तथाहि—"साध्यावृत्त्यात्मकं ज्ञानं कर्मैवावस्तुतन्त्रतः। ज्ञानं हि वस्तुतन्त्रं स्यान्न तु तत्कारकाश्रितम्" ॥ ३४ ॥ उपास्त्या ज्ञानेन वा कर्मसमुच्चयस्तत्राऽऽद्ये ज्ञानकर्मसमुच्चयाभावं वक्तुमुपास्तेर्ज्ञानत्वाभावमाह—साध्येति। साध्यं ध्येयं वस्तु तत्र प्रत्ययावृत्तिरूपोपास्तिरवस्तुतन्त्रत्वात्कर्मैवेत्यर्थः। वस्तुतन्त्रत्वाभावेऽपि ज्ञानत्वं शङ्कित्वाऽऽह—ज्ञानं हीति। मानवस्तुतन्त्रं हि ज्ञानं न कर्तृतन्त्रमुपास्तिस्तु कर्तृतन्त्रा तन्न ज्ञानमित्यर्थः॥ "कर्मैतं कर्म तेनेदृग्विद्येतं न कथंचन। क्रियासमुच्चयोऽतोऽयं न तु विद्यासमुच्चयः" ॥ ३५ ॥ तस्या ज्ञानत्वाभावे फलितमाह—कर्मेति। ईदृगित्युपास्तियुक्तं कर्मोच्यते। उक्तमेव फलितं स्फुटयति—क्रियेति। अतःशब्देनोपास्तेर्मानसक्रियात्वमाह—न त्विति। "साध्यसाधनसंबन्ध आगमैकप्रमाणकः। मुक्तेश्च साधनत्वेन कर्म नैव श्रुतं श्रुतौ" ॥ ३६ ॥ किंच समुच्चितमसमुच्चितं वा कर्म मुक्तिहेतुरित्यत्राध्यक्षादि मानमागमो वा प्रथमं प्रत्याह—साध्येति। पारलौकिक इति शेषः। द्वितीयं दूषयति—मुक्तेश्चेति। अपाम सोममित्यादि तु कर्मस्तावकत्वान्न स्वार्थे मानं मानान्तरविरोधादिति भावः॥ "अज्ञानहानं नो मुक्तिस्तस्याः कर्म न साधनम्। न हि कर्म तमो हन्ति तमसीवोत्थितं तमः" ॥ ३७ ॥ मुक्तेरकर्मसाध्यत्वे हेत्वन्तरमाह—अज्ञानेति। किमिति कर्माज्ञानहानेर्न हेतुरित्याशङ्क्य सम्यग्ज्ञानातिरेकेणेत्यत्रोक्तं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—न हीति। तमसि रज्ज्वज्ञाने समुत्पन्नं तमो भुजंगादिज्ञानमिति यावत्॥ "अविद्यैकोद्भवत्वं स्याद्यद्यपि ज्ञानकर्मणोः। मेयैकात्म्यानुरोधित्वं तथाऽप्यतिशयो धियः" ॥ ३८ ॥ कर्म नाज्ञानं निवर्तयत्यज्ञानजत्वाद्रज्जुसर्पधीवदित्ययुक्तं ज्ञानेऽपीत्थमनुमानसंभवादित्याशङ्क्य वस्त्वननुसारित्वमुपाधिरित्याह—अविद्येति॥ "नाऽऽत्माविद्यामतिक्रम्य कर्मैकात्म्यानुरोधि हि। तमोमात्राभिजनतो नातोऽविद्यां निहन्ति तत्" ॥ ३९ ॥ उपाधेरसंभवमाशङ्क्याऽऽह—नाऽऽत्मेति। हिशब्दोपात्तं हेतुमाह—तमोमात्रेति। न हि कर्तृत्वाद्यभिमानं विना कर्म ज्ञानं पुनस्तदुपमर्दीति विशेषसिद्धिरित्यर्थः। कर्मणो वस्त्वननुसारित्वे फलितमाह—नात इति॥

न प्रत्यक्षं नानुमानं नोपमानं नार्थापत्तिर्न शब्दोऽस्ति ।

उक्त उत्पत्त्यादिरूप विषय से भिन्न किसी दूसरे विषय में सामर्थ्य होने का न प्रत्यक्ष प्रमाण है, न अनुमान है, न उपमान प्रमाण है, न ही अर्थापत्ति और शब्द प्रमाण है ।

"स्वतःसिद्धात्मवस्त्वेकमात्रोत्थानत्वकारणात् । ज्ञानं हन्ति तमोऽशेषं न तु कर्म तमोन्वयात्" ॥ ४० ॥ उपाधेः साधनव्याप्तिमाशङ्क्याऽऽह—स्वत इति । स्वप्रकाशसच्चिदानन्दात्माकाराखण्डैकरसवस्त्वाकारेण वाक्याज्ज्ञानमुत्पद्यते तदशेषं तमो निवर्तयतीत्यर्थः । उपाधिफलं निगमयति—न त्विति । तमोऽनुसारित्वाद्वस्त्वननुसारित्वान्न कर्म तमोध्वंसीति यावत् ॥ "अज्ञानादित्रयं प्रत्यगाभासं यद्यपीष्यते । ज्ञानवज्ज्ञानसंभूतेर्नैव प्रागभ्युपेयते" ॥४१॥ ननु यद्वस्त्वनुसारि तदज्ञानध्वंसीति न व्यतिरेकोऽज्ञानादौ व्यभिचारादतो व्यतिरेकाशुद्धेर्नोपाधिरत आह—अज्ञानादीति । अज्ञानं मिथ्याज्ञानं संशयज्ञानमिति त्रयं ज्ञानवच्चैतन्यानुविद्धमपि प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः सहेतुबन्धध्वंसहेतु नेष्यते तस्य चैतन्याकारभाक्त्वेऽपि विपरीतप्रथाहेतुत्वेन वस्त्वनुसारित्वाभावादतो न व्यतिरेकाशुद्धिर्विमतमज्ञानध्वंसि वस्त्वनुसारित्वाद्रज्जुज्ञानवदित्यनुमानादित्यर्थः ॥ "कर्मातः कारणं मुक्तेर्न कथंचन युज्यते । साक्षादविद्याप्रध्वस्तो, पारंपर्यात्तु युज्यते" ॥ ४२ ॥ उक्तोपाधिसंभवात्प्रत्यनुमानायोगात्पूर्वोक्तानुमानं स्थितमिति फलितमाह—कर्मेति । कर्मणां साक्षान्मोक्षानुपयोगे कथं विविदिषावाक्यादि निर्वहतीत्याशङ्क्याऽऽह—अविद्येति ॥ "मुक्तौ च कर्मसाध्यायां किमेकैकं विमुक्तिदम् । किंवा संभूय सर्वाणि कर्माणि घ्नन्ति संसृतिम्" ॥ ४३ ॥ प्रत्यनुमानाभावेऽप्यज्ञानकार्यत्वहेतुर्ज्ञाने व्यभिचरतीति चेन्नैवमप्रकाशत्वस्य हेत्वर्थत्वादित्यभिप्रेत्य कर्मणां मुक्तिहेतुत्वं विकल्पयति—मुक्तौ चेति ॥ "सकृद्भूयःप्रयोगाद्वा यावज्जीवप्रयोगतः । एकादिदक्षिणास्वेवं विकल्पस्तुल्य इष्यते" ॥ ४४ ॥ पक्षद्वयेऽप्यनुष्ठाने विकल्पत्रयमाह—सकृदिति । मुक्तिरिति शेषः । अनुष्ठानवद्दक्षिणामपि विकल्पयति—एकादीति । एकस्य वा बहूनां वा सर्वस्य वा गवादेर्दक्षिणायां मुक्तिरिति विकल्पार्थः ॥ "काम्यैर्वा यदि वा नित्यैः सर्वैर्वा मुक्तिरिष्यते । श्रौतर्वा यदि वा स्मार्तैर्यदि वोभयकर्मभिः" ॥ ४५ ॥ अनुष्ठीयमानकर्मस्वेव विकल्पान्तराणि करोति—काम्यैर्वेति ॥ "तेषां च ज्ञानसंयोगे प्रधानगुणभेदतः । त्रिधा विकल्पो विज्ञेयो विमुक्तिफलसिद्धये" ॥ ४६ ॥ केवलानि कर्माणि विकल्प्य समुच्चितानि विकल्पयति—तेषां चेति । मोक्षार्थं कर्मणां ज्ञानसमुच्चये सत्युभयोः समप्रधानत्वेन गुणप्रधानत्वेन च भेदाद्विकल्पत्रयं ते हि समप्रधाने वा कर्मप्रधानं तद्गुणो ज्ञानमिति वा वैपरीत्यं वेत्यर्थः ॥ "एकैकं मुक्तिकृच्चेत्स्याद्यवव्रीह्यादिहोमवत् । एकेनैव कृतार्थत्वान्नानुतिष्ठेत्ततोऽपरम्" ॥ ४७ ॥ एकैकं कर्म मुक्तिदमित्याद्यनुवदति—एकैकमिति । यथैकैको व्रीहियवादिहोमोऽपूर्वहेतुस्तथाऽग्निहोत्रादिकमेकैकं विकल्पेन मुक्तिहेतुरित्यर्थः । तत्र कर्मान्तरवैयर्थ्यमिति दूषयति—एकेनेति । न च व्रीह्यादिवद्विकल्पेनार्थवत्त्वं मोक्षमुद्दिश्य कर्मसु तदश्रुतेरगत्या च तदाश्रयणादिति भावः ॥ "प्रयोगे दक्षिणायां च समानोऽयं परिक्रमः । अथ संभूय सर्वाणि मुक्तिं कर्माणि कुर्वते ॥ ऐककर्म्यं ध्रुवं प्रापत्सर्वेषामपि कर्मणाम् । दर्शादिवत्फलैकत्वात्तच्चानिष्टं प्रसज्यते" ॥ ४८-४९ ॥ सकृत्प्रयोगादेकदक्षिणायां च मुक्तिरिति पक्षयोरुक्तं दोषमतिदिशति—प्रयोग इति । न हि तत्र प्रयोगान्तरं दक्षिणान्तरं वा सार्थकमित्यर्थः । कल्पान्तरमनूद्य दूषयति—अथेति । ऐककर्म्ये हेतुमाह—फलैकत्वादिति । दृष्टान्तस्तु प्रागेव विवृत्तः । ऐककर्म्ये का हानिस्तत्राऽऽह—तच्चेति । न हि बृहस्पतिसवराजसूयादीनां भिन्नाधिकारिणामैककर्म्यमिति भावः । असकृद्वा यावज्जीवं वा प्रयोगाद्बहूनां वा गवादीनां सर्वस्य वा दक्षिणायां मोक्षो न सेत्स्यत्येकस्यैवासकृद्यावज्जीवं वा प्रयोगे मुक्तिश्चेत्कर्मान्तरप्रयोगवैयर्थ्यात्सर्वकर्मप्रयोगस्त्वेकस्याशक्यो न च बहूनां सर्वस्य वा दक्षिणा मोक्षहेतुरिति मानमस्ति न च हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्त इति श्रुतिर्मानं दानप्रशंसापरत्वादन्यथा निषेधश्रुतिविरोधादिति

ननु [1]फलान्तराभावे [2]चोदना[3]न्यथानुपपत्तिः प्रमाणमिति । न हि नित्यानां कर्मण

[4]अतीन्द्रियत्वात्कर्मणो मुक्तिसाधनत्वे प्रत्यक्षाद्यसंभवेऽप्यर्थापत्तिरस्तीति शङ्कते—नन्विति
नित्येषु कर्मसु मोक्षातिरिक्तस्य फलस्य श्रुतस्याभावे सति [5]तदुपलभ्यमान[6]चोदनाया मोक्षफल
विनाऽनुपपत्तिस्तेषां तत्साधनत्वे मानमित्यर्थः । ननु विश्वजिता यजेतेत्यत्र यागकर्तव्यतारूपो [7]नियोगो
ऽवगम्यते तस्य [8]नियोज्यसापेक्षत्वात्स[9] [10]स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वादिति न्यायेन स्वर्गकामो नियो
ज्योऽङ्गीकृतस्तथा नित्येष्वपि कर्मसु भविष्यति स्वर्गो नियोज्यविशेषणमत आह—न हीति । [11]जीवन्

(पुनः पूर्ववादी शङ्का करता है—) परन्तु मोक्ष के अतिरिक्त फल के अभाव होने पर नि

---

१. मोक्षातिरिक्तफलाभावे । २. चोदनेति—न च नित्यकर्मविधिरुत्पत्त्यादिमदन्यतमफलत्वेनापि स्यादित्यन्यथो
पपत्तिरिति वाच्यम् नित्यचोदनायामुत्पत्त्यादिमत्फलस्याश्रवणात् कर्मणा पितृलोक इति फलश्रुतिस्तु न नित्यकर्मप्र
रणस्थेति भावः । ३. नित्यकर्मविधेरनुपपत्तिः । ४. साध्यसाधनयोर्मुक्तिकर्मणोः । ५. तत्र नित्यकर्मणि उपलभ्य
मानेत्यर्थः । ६. तदुपलभ्येति—यावज्जीवादिश्रुतौ नित्यं कर्म विधीयते न चान्तरेण फलं तद्विधिर्नहि महायासेऽ
कर्मणि प्रेक्षावत्प्रवृत्तिः । अतो नित्यचोदनाऽनुपपत्तिर्नित्यकर्मणो मोक्षार्थत्वे प्रमाणमिति भावः । ७. विधिः। ८
अधिकारीति यावत् । ९. जैं० सू० ४।३।१५ । १०. स प्रसिद्धः स्वर्गो विश्वजित्फलं स्यात् सर्वैरभिल
माणत्वादिति सूत्रार्थः । ११. यथा विश्वजिति स्वर्गोद्भूतौ सामर्थ्यमिति स्वर्गकामो नियोज्यो
नित्यकर्मसूत्पत्त्यादिमत्फलोत्पत्तावीषदपि सामर्थ्यमिति न स नियोज्य इत्यभिप्रेत्याह—जीवन्निति । यावज्जी
मग्निहोत्रमित्यर्थः ।

चार्थः ॥ “अन्यद्धि मुक्तिफलतः काम्यानां श्रूयते फलम् । तेषां मुक्तिफलत्वं तु न श्रुतेर्नापि चान्यतः” ॥ ५०
काम्यैर्वेति पक्षं प्रत्याह—अन्यदिति । काम्यानां स्वर्गादिफलत्वे श्रुतेऽपि मोक्षफलत्वं न विरुध्यते दध्यादेर्नित्य
काम्यार्थे च श्रवणादित्याशङ्क्याऽऽह—तेषामिति । अश्रुतमपि स्मृतेर्न्यायाद्वेष्यतामित्याशङ्क्याऽऽह—नापीति
“सर्वं चाप्यप्रमाणं स्याद्यदुक्तं भेदलक्षणम् । मुक्तिं सर्वाणि कर्माणि यदि संभूय कुर्वते” ॥ ५२ ॥ यदि
नित्यैरिति पक्षमग्रे दूषयिष्यति संप्रति सर्वैर्वेत्यादिपक्षचतुष्टयं निराचष्टे—सर्वं चेति । अस्यार्थः—नित्य
काम्यानां श्रौतानां स्मार्तानां सर्वेषां वा कर्मणां मोक्षफलत्वे प्राच्यां मीमांसायां शब्दान्तराभ्यासप्रक्रियानाम
यादिभेदकं यदुक्तं सर्वं तदप्रमाणं स्यात्फलैकत्वे कर्मभेदानुपपत्तेरतो मोक्षफलत्वे सर्वकर्मणामैककर्म्याद्भेदलक्ष
विरोधः स्यादिति ॥ “साध्यसाधनबुद्धिर्नो वचनात्पारलौकिकी । न चाश्रौषं श्रुतेर्वाक्यात्कर्म मोक्षफलं क्वचि
॥ ५३ ॥ एकैकं कर्म मोक्षदमित्यादिसर्वपक्षेषु साधारणं दोषमाह—साध्येति ॥ “न तत्र दक्षिणा यन्ति विद्
तदाप्यते । वेदाहमिति मन्त्रश्च ज्ञानान्मार्गान्तरापनुत्” ॥ ५४ ॥ मानाभावं स्मारयित्वा केवलकर्मणां मोक्षहे
मानविरोधमाह—न तत्रेति । सप्तम्या प्रथमया च कैवल्यं परामृश्यते । मन्त्रे तु तमेवं विद्वानिति शेषो
संबंधेयः ॥ “न कर्मणा कनीयस्ता वृद्धिर्वा नान्तरात्मनः । नित्योऽस्य महिमेत्येवमुदर्केऽपि प्रवक्ष्यते” ॥ ५
प्रत्यग्भूते मोक्षे कर्मणोऽतिशयानाधायकत्वाच्च तदसाध्येत्याह—न कर्मणेति । वाक्यशेषादपि तदसाध्या
रित्याह—नित्योऽस्येति ॥ “क्षयी कर्मार्जितो लोको नित्यो ज्ञानजितस्तु यः । इति स्पष्टं श्रुतेर्वाक्यं कस्म
ऽद्रियते त्वया” ॥५६॥ अतश्च नित्या सा न साध्येत्याह—क्षयीति ॥ “समुच्चयश्चाप्यसकृत्पुरैव सुनिरा
भूयोऽपीह प्रवक्ष्यामः प्रसङ्गान्नातिविस्तरात्” ॥ ५७ ॥ केवलकर्मणो मोक्षहेतुत्वं निरस्य तेषां च ज्ञान
इत्यत्रोक्तं त्रेधासमुच्चयं निरस्यति—समुच्चयश्चेति । पुरेति संबन्धोक्तिः । उत्तरत्रापि प्रसङ्गात्तन्निरा

विश्वजिन्न्यायेन फलं कल्प्यते । नापि श्रुतं फलमस्ति । चोद्यन्ते च तानि । पारिशेष्या-

---

हुयादिति जीवनविशिष्टस्य नियोज्यस्य लाभान्न नित्येषु स्वर्गो नियोज्यविशेषणमित्यर्थः । ननु जीवनविशिष्टोऽपि फलाभावे न नियोज्यः स्यात्तथा[1] च कर्मणा पितृलोक इति श्रुतं फलं [2]तेषु कल्पयिष्यते नेत्याह—नापीति । नित्यविधिप्रकरणे पितृलोकवाक्यस्याश्रवणादित्यर्थः । [3]तर्हि फलाभावाच्चोदनैव मा भूदिति चेन्नेत्याह—चोद्यन्ते चेति । [4]तथाऽपि फलान्तरं कल्प्यतामित्याशङ्क्य [5]कल्पकाभावान्मैव-

---

कर्मविधि की अनुपपत्ति में अर्थापत्ति प्रमाण है । नित्यकर्मों का विश्वजित् न्याय से तो कोई फल कल्पित नहीं किया जाता, न ही उनका कोई श्रुतफल है तथा न हो उनका विधान किया जाता है । अन्ततोगत्वा

---

[1] फलं विना नियोज्यत्वासंभवे च । [2] नित्येषु । [3] नित्यप्रकरणे फलानुक्तौ । [4] फलं विना चोदनाया अनुपपन्नत्वेऽपि । [5] मोक्षेतरफलस्य ।

वक्ष्यामः । इहापि नातिविस्तरात्तन्निराकरणं संक्षेपतस्तु ब्रूम इति योजना ॥ "संनिपत्य न च ज्ञानं कर्माज्ञानं निरस्यति । साध्यसाधनभावत्वादेककालानवस्थितेः" ॥ ५८ ॥ अत्रापि समुच्चयं निरस्यामो नातिविस्तरादित्युक्तमेव दर्शयन्प्रमाणज्ञानस्य कर्मणश्चाङ्गाङ्गित्वेन समुच्चयं निरस्यति—संनिपत्येति । कर्मणोऽङ्गत्वेन संनिपत्यज्ञानं नाविद्यां निरस्यति तत्र हेतुमाह—साध्येति । शुद्धिद्वारा कर्म साधनं ज्ञानं साध्यं तथाच पूर्वोत्तरकालयोरेककालास्थितेर्नाङ्गाङ्गित्वं न च तत्साध्यस्य तदङ्गत्वमेकप्रयोगानारूढत्वाज्जन्मान्तरीयस्यापि कर्मणो ज्ञानोपायत्वाङ्गीकाराच्चेति भावः ॥ "बाध्यबाधकभावाच्च पञ्चास्योरणयोरिव । एकदेशानवस्थानान्न समुच्चयता तयोः" ॥ ५९ ॥ समप्रधानतया समुच्चयं प्रत्याह—बाध्येति । पञ्चास्यः सिंहः । उरणो मेषः । एकदेशानवस्थानादेकस्मिन्नाश्रये सहास्थितेरित्यर्थः ॥ "बाध्यबाधकभावेन काममस्तु समुच्चितिः । स्वशक्त्यनपहारेण दाह्यदाहकयोरिव" ॥ ६० ॥ ननु ज्ञानकर्मणोः सम्बन्धोऽस्ति न वाऽऽद्ये समुच्चयसिद्धिर्द्वितीये बाध्यबाधकत्वासिद्धिस्तत्राऽऽह—बाध्येति । ज्ञानगतबाधकत्वशक्तेः कर्मगतबाध्यत्वशक्तेश्चात्यागेन तयोर्बाध्यबाधकत्वेन संगतेः समुच्चितिश्चेत्सा काष्ठाग्न्योरिवेष्टैवेत्यर्थः ॥ "अयथावस्त्वविद्या स्याद्विद्यैतस्या विरोधिनी । समुच्चयस्तयोरेवं रविशार्वरयोरिव" ॥ ६१ ॥ उक्तं समुच्चयं सोपपत्तिकमुदाहरणान्तरेण दर्शयति—अयथेति ॥ "वस्त्वधीना भवेद्विद्या कर्त्रधीना क्रिया तथा । कर्त्रादि चाऽऽत्ममोहोत्थं स्वतोऽकारकताऽऽत्मनः" ॥ ६२ ॥ समुच्चयाभावे हेत्वन्तरमाह—वस्त्विति । कथमेतावता तदभावस्तत्राऽऽह—कर्त्रादीति । आत्मनः कौटस्थ्येन कर्तृत्वादेराविद्यत्वात्तज्ज्ञाने सत्ययोगान्न समुच्चय इत्यर्थः ॥ "बृहस्पतिसवे यद्वत्क्षत्रियो न प्रवर्तते । ब्राह्मणत्वानहंमानी विप्रो वा क्षत्त्रकर्मणि" ॥ ६३ ॥ किंच ज्ञानिनो न नियोगस्तदभिमानशून्यत्वात्तत्कुतः समुच्चयः इति वक्तुं दृष्टान्तमाह—बृहस्पतीति । क्षत्त्रियत्वानहंमानिनं वक्तुं वाशब्दः ॥ विदेहो वीतसंदेहो नेति नेत्येव बोधितः । देहाद्यनात्मदृक्तद्वत्तत्क्रियां वीक्षतेऽपि न" ॥ ६४ ॥ दार्ष्टान्तिकमाह—विदेह इति । स्थूलदेहाभिमानहीनो विदेहः संशयादिधर्मकसूक्ष्मदेहाभिमानशून्यश्च वीतसंदेहस्तत्र हेतुः—नेतीति ॥ "मृत्स्नेभके यथेभत्वं शिशुरध्यस्य वल्गति । अध्यस्याऽऽत्मनि देहादीन्मूढस्तद्वद्विचेष्टते" ॥ ६५ ॥ देहादौ मिथ्याभिमानवत एव कर्मसु प्रवृत्तिर्न तद्धीनस्येति कुतः समुच्चय इत्येतमर्थं दृष्टान्तान्तरेणाऽऽह—मृत्स्नेति । संस्कृतमृन्निर्मिते हस्तिनीति यावत् । वल्गति चेष्टते ॥ "स्थाणुं चोरधियाऽऽलाय भीतो यद्वत्पलायते । बुद्ध्यादिभिस्तथात्मानं भ्रान्तोऽध्यारोप्य चेष्टते" ॥ ६६ ॥ कथं संनिपत्येत्यादिना समुच्चयो निरस्यते यदेव विद्यया करोति ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीतेत्यादिना विरोधादित्याशङ्क्य यत्र निमित्तनैमित्तिकभावस्तत्र वा समुच्चयः सर्वत्र वेति विकल्प्याऽऽद्यं दृष्टान्तद्वारा स्वीकरोति—स्थाणुमिति । आलायऽऽदाय

न्मोक्षस्तेषां फलमिति गम्यते । [१]अन्यथा हि पुरुषा *[२]न प्रवर्तेरन् ।

मित्यभिप्रेत्याऽऽह—पारिशेष्यादिति । मुक्तेर्यत्कल्पकं तदेव फलान्तरस्यापि किं न स्यादित्याशङ्क्य [३]तस्य [४]निरतिशयफलविषयत्वान्मुक्तिकल्पकत्वमेवेत्यभिप्रेत्याऽऽह—अन्यथेति ।

मोक्ष ही उनका फल है—ऐसा जाना जाता है; अन्यथा मुक्ति के नित्यकर्मफलत्वाभाव होने पर पुरुषों की इसमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी ।

---

१. मुक्तेर्नित्यकर्मफलत्वाभावे । २. न प्रवर्तेरन्निति—ननु नित्यानां श्रुतं फलं नास्ति चेदफलान्येव तानि स्युर्विहितत्वाच्चानुष्ठीयेरन्नित्याशङ्क्याऽऽह—"पुरुषार्थेऽसति फले विधानं नोपपद्यते । नित्यानां कर्मणां-तस्मिन्सत्येव घटते यतः ॥ दुःखात्मकेषु नित्येषु समीक्षापूर्वकारिणः । पुरुषा न प्रवर्तेरन्न चेत्तेभ्यः फलं भवेत्" ॥ वा० ७७-७८ ॥ फलं विना विध्यसंभवे हेतुमाह—तस्मिन्निति ॥ फले सत्येव कथं विधेर्घटमानत्वं तत्राऽऽह—दुःखेति । प्रवृत्तिफलो विधिर्न च विना फलं प्रवृत्तिर्न च नित्येषु फलान्तरमतो मुक्तिस्तत्फलमित्यर्थः ॥ ३. कल्पकस्य । ४. संभवति महति फले निकृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति भावः ।

गृहीत्वा ॥ "स्थाणोः सतत्त्वविज्ञानं यथा नाङ्गं पलायने । आत्मनस्तत्त्वविज्ञानं तद्वन्नाङ्गं क्रियाविधौ" ॥६७॥ कल्पान्तरं दृष्टान्तेन निराचष्टे—स्थाणोरिति ॥ "यद्धि यस्याविरोधेन स्वभावमनुवर्तते । तत्तस्य गुणभूतं स्यान्न प्रधानाद्गुणो यतः" ॥ ६८ ॥ प्रधानत्वेनेष्टकर्मध्वंसित्वादपि न ज्ञानं तदङ्गतया समुच्चीयत इत्याह—यद्धीति । प्रधानमत्तीति प्रधानाद्यत्प्रधानविरोधि न तत्तदङ्गमतो ज्ञानमपि कर्मविरोधित्वान्न तदङ्गमित्यर्थः ॥ "अज्ञानमनिराकुर्वज्ज्ञानमेव न सिध्यति । विपन्नकारकग्रामं ज्ञानं कर्म न ढौकते" ॥ ६९ ॥ समुच्चयमिच्छताऽपि ज्ञानस्य प्रमाणत्वात्स्वार्थाज्ञानध्वंसित्वमेष्टव्यं तत्कुतः समुच्चय इत्याह—अज्ञानमिति । तथाऽपि समुच्चये किमायातं तदाह—विपन्नेति । यस्य कर्मणो विपत्तिमापादितो ज्ञानेन कारकसमुदायस्तन्न ज्ञानं स्पृशति कारकाभावेऽभावान्नहि तन्निरपेक्षा क्रियाऽऽत्मानं बिभर्तीत्यर्थः ॥ "हेतुस्वरूपकार्याणां प्रकाशतमसोरिव । मिथो विरोधवतो नातः संगतिर्ज्ञानकर्मणोः" ॥ ७० ॥ त्रिधासमुच्चयाभावे युक्त्यन्तरमाह—हेत्विति । ज्ञानस्य मानं हेतुः स्वरूपं वस्तुप्रकाशकत्वं कार्यमविद्याध्वस्तिः कर्मणो हेतुरविद्यारागादि स्वरूपप्रकाशकत्वं कार्यमुत्पत्त्यादि तेषां मिथो विरोधात्तमःप्रकाशवन्नानयोः संगतिरित्यर्थः ॥ "सकृत्प्रवृत्त्या मृद्गाति क्रियाकारकरूपभृत् । अज्ञानमागमज्ञानं सांगत्यं नास्त्यतोऽनयोः" ॥ ७१ ॥ ज्ञानस्य स्वोत्पत्तिमात्रेणाज्ञानध्वंसित्वात्कर्मभिरसमुच्चय इत्ययुक्तं वाक्योत्थज्ञानोत्तरभाविभाविनोत्कर्षजन्यसाक्षात्काराख्यज्ञानान्तरेणाज्ञानध्वस्तेरभ्यासावस्थायां समुच्चयसिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—सकृदिति । भावनायाश्चित्तैकाग्र्यहेतुतया विक्षेपध्वंसेन ज्ञानोत्पत्तावुपक्षयाज्जातमात्रमागमिकं ज्ञानं सकार्यमज्ञानं निवर्तयतीति नावसरः समुच्चयस्येत्यर्थः ॥ "सर्वथा नैव घटते ज्ञानकर्मसमुच्चयः । विद्ययैव तमोहानादकार्ये कर्म किं फलम्" ॥ ७२ ॥ तदसंभवमुपसंहरति—सर्वथेति । त्रेधाऽपीत्यर्थः । किंच ज्ञानोत्पत्तौ वा समुच्चयस्तत्फले वा नाऽऽद्योऽङ्गीकाराद्द्वितीयेऽप्यविद्याध्वस्तौ स्वरूपस्थितौ वा नाऽऽद्य इत्याह—विद्ययेति । न द्वितीय इत्याह—अकार्य इति ।। "न मानं किंचिदप्यस्ति ज्ञानकर्मसमुच्चितेः । प्रत्यक्कैवल्यसंसिद्धौ ज्ञानादेव तमोहतेः" ॥ ७३ ॥ समुच्चयाभावमुपसंहृत्य मानाभावमुपसंहरति—न मानमिति । प्रतीचो मुक्तिप्राप्तौ हेतुत्वेनेष्टसमुच्चितेर्मानमपि न किंचिदस्तीति योजना । अज्ञाननिवृत्त्यन्यथानुपपत्तिरत्र मानमित्याशङ्क्यान्यथोपपत्तिमाह—ज्ञानादिति ॥ "उत्पत्त्याद्यतिरेकेण संसारविनिवृत्तये । कर्मणोऽपि तथा मानं न किंचिदुपपद्यते" ॥ ७४ ॥ यदि वा नित्यैरित्येतदतिरिक्तानां पक्षाणां मुखतो निरासादवशिष्टं पक्षं मुखतो निराचष्टे—उत्पत्त्यादीति ॥

*नन्वित्यादि न प्रवर्तेरन्नित्यन्तभाष्योक्तचोद्यमुद्भाष्यमेव निराचक्षते वार्तिकाचार्याः । "नैवं वाक्यात्फलं यस्मान्न

[1]ननु विश्वजिन्न्याय एवा[2]ऽऽयातो [3]मोक्षस्य कल्पितत्वात् । मोक्षे वाऽन्यस्मिन्वा फलेऽकल्पिते पुरुषा न प्रवर्तेरन्निति मोक्षः फलं कल्प्यते श्रुतार्थापत्त्या यथा विश्वजिति । [4]नन्वेवं सति कथमुच्यते विश्वजिन्न्यायो न भवतीति । फलं च कल्प्यते विश्वजिन्न्यायश्च

अनुपपत्त्या चेन्नियोज्यलाभाय नित्येषु फलं कल्प्यते कथं [5]तर्हि विश्वजिन्न्यायो न प्राप्नोतीति सिद्धान्ती प्रत्याह——नन्विति । [6]उक्तमेव विवृणोति—मोक्षे वेति । अकल्पिते सतीति च्छेदः । श्रुतार्थापत्त्या विधेः श्रुतस्य प्रवर्तकत्वानुपपत्त्येति यावत् । विश्वजितीव नित्येषु मोक्षे फले कल्प्यमाने सति फलितमाह—नन्वेवमिति । कथमित्युक्तामनुपपत्तिमेव स्फुटयति—फलं चेति । [7]फलकल्पनायां

तब तो यहाँ भी विश्वजित् न्याय ही न चाहते हुए भी मानना पड़ता है क्योंकि नित्यकर्मों से मोक्षरूप फल की कल्पना की गई है। मोक्ष अथवा अन्य किसी फल की कल्पना न करने पर पुरुषों की प्रवृत्ति ही नहीं होगी, इसी लिये विश्वजित् यज्ञ के समान श्रुतार्थापत्ति मे मोक्षरूप फल की कल्पना की जाती है। ऐसा होने पर यह कैसे कहा जाता है कि यहाँ विश्वजित् न्याय नहीं है। फल की कल्पना भी की जाती है और विश्वजित् न्याय भी यहाँ नहीं है, यह तो परस्पर विरुद्ध बात कही जाती है। मोक्ष किसी का फल ही नहीं है—ऐसा कथन उचित नहीं क्योंकि इससे प्रतिज्ञाभङ्ग होती है। विष और दधि आदि के समान कर्म कार्यान्तर का प्रारम्भ करता है, इस दृष्टान्त से मुक्ति को आरभ्यमाण प्रति-

---

[1] आक्षेपे ननुर्मेवमित्यर्थः । [2] अनिच्छतोऽपि गले पतितः । [3] नित्यकर्मणाम् । [4] ननुरयं वाक्यालङ्कृतिरेव । [5] नियोज्यलाभाय फलकल्पनाया आवश्यकत्वे सतीत्यर्थः । [6] दूषणमित्यर्थः । [7] नित्येषु ।

किंचिदपि लभ्यते । तत्सामर्थ्यश्रवाभावात्फले नातो मितिश्च नः ॥ प्रमाणबलतः प्राप्तमपि भूरि न वार्यते । अणुमात्रं न तद्ग्राह्यं वस्तु यन्निष्प्रमाणकम् ॥ पुमाशयवशाच्चेयं फलक्लृप्तिस्त्वयोच्यते । अन्यानपेक्षं सन्मानं प्रमेयार्थसमर्पकम् ॥ प्रत्यवायाद्यभावश्च फलं नित्यस्य कर्मणः । क्लृप्तं सत्कल्प्यते कस्माद्विमुक्तिर्नित्यकर्मणः ॥ तावतैव कृतार्थत्वाद्विधेर्नित्यस्य कर्मणः । विमुक्तिफलसम्बन्धे न मानं विद्यते ततः" ॥ ७९-८३ ॥ इति । यावज्जीवादिवाक्यवशाद्वा तदर्थसामर्थ्याद्वा नित्यानां मुक्तिफलतेति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—नैवमिति । न हि यावज्जीवादिश्रुतिसामर्थ्यान्मोक्षोऽन्यद्वा नित्यकर्मफलं लभ्यते तत्फलसंबन्धबोधसामर्थ्यवतः पदस्यात्राश्रुतेरर्थानुपपत्तिश्च निरसिष्यते तन्नित्यानां मोक्षलक्षणे फले न मानमस्ति तस्य स्वरूपत्वेन स्वतस्तत्सिद्धेस्तद्व्यवध्यज्ञानध्वस्तेश्च धीमात्राधीनत्वादित्यर्थः ॥ नित्यानां मुक्तिफलत्वस्याप्रमाणत्वे फलितमाह—प्रमाणेति ॥ अथ काम्यनिषिद्धवर्जनादुत्तमाधमयोरप्राप्तेर्नित्यनैमित्तिकानुष्ठानात्प्रत्यवायहतेर्वर्तमानदेहपाते मुमुक्षोर्देहान्तरग्रहे हेत्वभावादनायाससिद्धा मुक्तिरत आह—पुमाशयेति । मानाभावान्नेयं कल्पना ग्राह्येत्यर्थः । अस्मदुत्प्रेक्षामपेक्ष्य यावज्जीवादिवाक्यमेतमर्थंमर्पयति तत्कुतो मानराहित्यमित्याशङ्क्याऽऽह—अन्येति । उत्प्रेक्षानपेक्षमेव तन्नित्यकर्मणो नित्यकर्तव्यत्वं बोधयन्नोक्तकल्पनायां मानमित्यर्थः ॥ नित्यकर्मफलं मुक्तिरित्यत्र वाक्याप्रामाण्यामुक्त्वा तदर्थानुपपत्तिं प्रत्याचष्टे—प्रत्यवायादीति । आदिपदं तत्फलार्थं न चोत्पत्त्यादिर्मत्किंचिदित्याद्येतेन प्रत्युक्तम् ॥ क्लृप्तकल्प्यमानयोः क्लृप्तं बलवदितिन्यायविरोधमर्थापत्तेरुक्त्वाऽन्यथैवोपपत्तिमाह—तावतेति । प्रत्यवायध्वस्त्यादिफलेनेति यावत् । तत इति—न नित्यकर्मफलं मुक्तिरिति शेषः ॥

न भवतीति विप्रतिषिद्धम[1]भिधीयते । [2]मोक्षः फलमेव न भवतीति चेत् । न । प्रतिज्ञाहानात् । कर्म कार्यान्तरं विषदध्यादिवदारभत [3]इति हि प्रतिज्ञातम् । [4]स चेन्मोक्षः कर्मण कार्यं फलमेव न भवतीति[5] सा प्रतिज्ञा [6]हीयते । कर्मकार्यत्वे च मोक्षस्य स्वर्गादिफलेभ्यो विशेषो [7]वक्तव्यः ।

अथ कर्मकार्यं न भवति नित्यानां कर्मणां फलं मोक्ष इत्यस्या [8]वचनव्यक्तेः [9]कोऽर्थ इति वक्तव्यम् । न च कार्यफलशब्दभेदमात्रेण विशेषः शक्यः कल्पयितुम् । अफलं च मोक्षो

विश्वजिन्न्यायोऽवतरति मोक्षस्तु स्वरूपस्थितित्वेनानुत्पाद्यत्वात्फलमेव न भवतीति शङ्कते—मोक्ष इति । [10]निग्रहमुद्भावयन्नुत्तरमाह—नेति । प्रतिज्ञाहानिं प्रकटयति—कर्मेत्यादिना । कर्मकार्यत्वं मुक्तेरुपेत्योक्तं[11] [12]तदेवायुक्तमित्याह—कर्मकार्यत्वे चेति ।

फलत्वेऽपि कर्मकार्यत्वं न मुक्तेरस्तीत्युक्तं [13]दोषं परिहर्तुं चोदयति—अथेति । प्रतिज्ञाविरोधं [14]प्रतिविधत्ते—नित्यानामिति । फलत्वमङ्गीकृत्य कार्यत्वेऽनङ्गीकृते कथं व्याघात इत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । विशेषोऽर्थगत इति शेषः । फलत्वमङ्गीकृत्य कार्यत्वानङ्गीकारे व्याघातमुक्त्वा [15]वैपरीत्येऽपि त

पादित किया था । यदि वह मोक्ष कर्म का कार्य यानी फल ही नहीं है, ऐसा कहते हो तो प्रतिज्ञा की हानि होती है । यदि मोक्ष कर्म का कार्य है तो उसकी स्वर्गादिफलों से विशिष्टता बतलायी चाहिये ।

एवं यदि वह कर्म का कार्य नहीं है तो "मोक्ष नित्यकर्मों का फल है" इस वाक्य के स्वरूप का अर्थ ही क्या होगा; वह बतलाना चाहिये । "कार्य" और 'फल' शब्दों के भेदमात्र से ही किसी भेद की

---

१. अभिधीयत इति—यत्तु जीवञ्जुहुयादिति जीवनविशिष्टस्य नियोज्यस्य लाभान्न नित्यानां कर्मणां विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गः फलं कल्प्यत इति तत्र तेषां फलवत्त्वमङ्गीकृत्य न्यायाभावस्तदनङ्गीकृत्य वोच्यते नाऽऽद्यो नित्यकाम्यवैषम्यासिद्धेरित्याह वार्तिके—"काम्याग्निहोत्रवन्नित्यं काम्यं चापि प्रसज्यते । फलेनास्याभिसंबन्धान्निष्कामं नित्यमुच्यते" ॥ ८५ ॥ इति । ननु फलसंबन्धेऽपि नित्यानित्यफलभेदान्नित्यकाम्यवैषम्यं किं न स्यादित्याशङ्क्य कामप्रयुक्तत्वेऽपि चित्राज्योतिष्टोमवत्काम्यविशेषत्वापत्तेर्नित्यत्वानुपपत्तिरित्याह—निष्काममिति । नित्येषु फलकल्पनायां विश्वजिन्न्यायोऽवतरति ॥ २. न च तेषु तत्कल्प्यते मोक्षस्य स्वरूपस्थितित्वेनास्यानुत्पाद्यस्याफलत्वादिति द्वितीयं शङ्कते—मोक्ष इति । इति वार्तिकीयः पन्थाः । ३. इति हि प्रतिज्ञातमिति—इति दृष्टान्तेन मुक्तेरारभ्यमाणत्वं प्रतिज्ञातमित्यर्थः । ४. सत्यं मुक्तेरारभ्यमाणता प्रतिज्ञाता न तु सा हीयते तस्याः फलत्वस्यैव निरासादत आह—स चेदिति । ५. उच्यते । ६. हीयत इति—कर्मारभ्यं हि तत्फलं तस्मान्मोक्षस्य कर्मफलत्वे निषिद्धे तदारभ्यतैव निषिद्धा इति प्रतिज्ञाहानिः स्फुटैवेत्यर्थः । ७. वक्तव्य इति—कर्मकार्यत्वे मुक्तेः स्वर्गादिभ्यो यतो विशेषो वक्तुं न शक्योऽतस्तद्वदत्रापि नाशापकर्षादौ प्राप्ते संसारवत्तत्र सुखं नेति न ते मुमुक्षा स्यादिति भावः । ८. वाक्यस्वरूपस्य । ९. कोऽर्थ इति—किं क्षेपे, न कोऽपीत्यर्थः । तथा च फलस्य कार्यत्वाविशेषात् फलं च कार्यं नेति । व्याहतमभिधानमिति भावः । १०. निग्रहस्थानं वादिपरिभवप्रयोजकं प्रतिज्ञाहानिरूपं दोषमिति यावत् । ११. प्रतिज्ञाहानिरूपं दूषणमुक्तम् । १२. तदेव मुक्तेः कर्मकार्यत्वमेव । १३. स्वर्गाद्यविशेषरूपम् । १४. निरस्यति । १५. कार्यत्वमङ्गीकृत्यफलत्वानङ्गीकारेऽपि ।

नित्यैश्च कर्मभिः क्रियते नित्यानां कर्मणां फलं न कार्यमिति चैषोऽर्थो विप्रतिषिद्धोऽभिधीयते यथाऽग्निः शीत इति ।

ज्ञानवदिति चेत् । यथा ज्ञानस्य [1]कार्यं मोक्षो ज्ञानेना[2]क्रियमाणोऽप्युच्यते तद्व[3]त्कर्मकार्यत्वमिति चेत् । न । अज्ञाननिवर्तकत्वाज्ज्ञानस्य । अज्ञानव्यवधाननिवर्तकत्वाज्ज्ञानस्य मोक्षो ज्ञान[4]कार्यमित्यु[5]पचर्यते । न तु कर्मणा [6]निवर्तयितव्यमज्ञानम् । न चाज्ञानव्यतिरेकेण मोक्षस्य व्यवधानान्तरं कल्पयितुं शक्यम् । नित्यत्वान्मोक्षस्य [7]साधकस्वरूपाव्यतिरेकाच्च । यत्कर्मणा निवर्त्येत ।

अज्ञानमेव [8]निवर्तयतीति चेत् । न । विलक्षणत्वात् । [9]अनभिव्यक्तिरज्ञानमभिव्य-

व्युत्पादयति—अफलं चेति । आद्यं व्याघातं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—नित्यानामिति ।

दृष्टान्तेन व्याघातं परिहरन्नाशङ्कते—ज्ञानवदिति चेदिति । [10]तदेव स्फुटयति—यथेति । [11]दृष्टान्तं विघटयति—नेति । ज्ञानस्य मोक्षव्यवधिभूताज्ञाननिवर्तकत्वान्मोक्षस्तेनाक्रियमाणोऽपि [12]तत्कार्यमिति व्यपदेशभाग्भवतीत्यर्थः । तदेव स्फुटयति—अज्ञानेति । [13]दार्ष्टान्तिकं निराचष्टे—न त्विति । यत्कर्मणा निवर्त्येत तन्मोक्षस्य व्यवधानान्तरं कल्पयितुं न तु शक्यमिति संबन्धः । व्यवधानध्वंसे कर्मणोऽप्रवेशेऽपि मुक्तावेव [14]तत्प्रवेशः स्यादिति चेन्नेत्याह—नित्यत्वादिति ।

नित्यकर्मनिवर्त्यं व्यवधानान्तरं मा भूदज्ञानमेव तन्निवर्त्यं भविष्यति [15]तथा च मोक्षस्य कर्मकार्यत्वं शक्य[16]मुपचरितुमिति शङ्कते—अज्ञानमेवेति । कर्मणो ज्ञानाद्विलक्षणत्वान्नाज्ञाननिवर्तकत्वमित्युत्तरमाह—न विलक्षणत्वादिति । वैलक्षण्यमेव प्रकटयति—अनभिव्यक्तिरिति । [17]इतश्च ज्ञाननिवर्त्य-

कल्पना नहीं की जा सकती । मोक्ष किसी का फल नहीं है और वह नित्यकर्मों से होता है । वह नित्यकर्मों का फल है और कार्य नहीं है—यह सब बातें तो उसी प्रकार परस्पर विरुद्ध ही कही जाती हैं, जैसे कोई कहे, अग्नि शीतल है ।

यदि कहो कि वह ज्ञान के समान है, जिस प्रकार ज्ञान का फल मोक्ष है, ज्ञान द्वारा अनारभ्यमाण होता हुआ भी मोक्ष ज्ञान का फल कहा जाता है, उसी प्रकार वह कर्मफलत्व मोक्ष का भी हो सकता है; ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान तो अज्ञान की निवृत्ति करता है। अज्ञानरूपी व्यवधान का निवर्तक होने से मोक्ष को ज्ञान का फल कहा जाता है । कर्म के द्वारा तो अज्ञान की निवृत्ति करना संभव नहीं है । जिसकी कर्म से निवृत्ति हो, ऐसे अज्ञान को छोड़कर कोई दूसरा व्यवधान भी मोक्ष में हो सकता है—ऐसी कल्पना करनी असंभव है क्योंकि मोक्ष नित्य है और

---

१. फलम् । २. अनारभ्यमाणः अकार्य इति यावत् । ३. कर्मफलत्वं मोक्षस्य । ४. फलम् । ५. उच्यते । ६. निवर्तयितुं शक्यम् । ७. साधकेति—अधिकारिस्वरूपाव्यतिरेकात् कर्मणः प्रागेव सिद्धत्वेन सिद्धं तस्य नित्यत्वमिति भावः । ८. नित्यं कर्म । ९. अप्रकाशरूपम् । १०. दृष्टान्तमेवेति यावत् । ११. दृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकानुगुण्यं निरस्यति । १२. फलम् । १३. कर्मणोऽपि व्यवधिनिरासित्वान्मुक्तिस्तत्कार्यत्वेनोपचर्यतामित्याशङ्क्यावतारयति—दार्ष्टान्तिकमिति । १४. तस्य कर्मणः, प्रवेशो जनकत्वम् । १५. नित्यकर्मणामज्ञाननिवर्तकत्वे च । १६. कल्पयितुम् । १७. ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधादेव ।

न भवतीति विप्रतिषिद्धम[1]भिधीयते । [2]मोक्षः फलमेव न भवतीति चेत् । न । प्रतिज्ञाहानात् । कर्म कार्यान्तरं विषदध्यादिवदारभत [3]इति हि प्रतिज्ञातम् । [4]स चेन्मोक्षः कर्मणः कार्यं फलमेव न भवतीति[5] सा प्रतिज्ञा [6]हीयते । कर्मकार्यत्वे च मोक्षस्य स्वर्गादिफलेभ्यो विशेषो [7]वक्तव्यः ।

अथ कर्मकार्यं न भवति नित्यानां कर्मणां फलं मोक्ष इत्यस्या [8]वचनव्यक्तेः [9]कोऽर्थ इति वक्तव्यम् । न च कार्यफलशब्दभेदमात्रेण विशेषः शक्यः कल्पयितुम् । अफलं च मोक्षो

विश्वजिन्न्यायोऽवतरति मोक्षस्तु स्वरूपस्थितित्वेनानुत्पाद्यत्वात्फलमेव न भवतीति शङ्कते—मोक्ष इति। [10]निग्रहमुद्भावयन्नुत्तरमाह—नेति । प्रतिज्ञाहानिं प्रकटयति—कर्मेत्यादिना । कर्मकार्यत्वं मुक्तेरुपेत्योक्तं[11] [12]तदेवायुक्तमित्याह—कर्मकार्यत्वे चेति ।

फलत्वेऽपि कर्मकार्यत्वं न मुक्तेरस्तीत्युक्तं [13]दोषं परिहर्तुं चोदयति—अथेति । प्रतिज्ञाविरोधेन [14]प्रतिविधत्ते—नित्यानामिति । फलत्वमङ्गीकृत्य कार्यत्वेऽनङ्गीकृते कथं व्याघात इत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । विशेषोऽर्थगत इति शेषः । फलत्वमङ्गीकृत्य कार्यत्वानङ्गीकारे व्याघातमुक्त्वा [15]वैपरीत्येऽपि तं

पादित किया था । यदि वह मोक्ष कर्म का कार्य यानी फल ही नहीं है, ऐसा कहते हो तो प्रतिज्ञा की हानि होती है । यदि मोक्ष कर्म का कार्य है तो उसकी स्वर्गादिफलों से विशिष्टता बतलायी चाहिये ।

एवं यदि वह कर्म का कार्य नहीं है तो "मोक्ष नित्यकर्मों का फल है" इस वाक्य के स्वरूप का अर्थ ही क्या होगा; वह बतलाना चाहिये । "कार्य" और 'फल' शब्दों के भेदमात्र से ही किसी भेद की

---

१. अभिधीयत इति—यत्तु जीवञ्जुहुयादिति जीवनविशिष्टस्य नियोज्यस्य लाभान्न नित्यानां कर्मणां विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गः फलं कल्प्यत इति तत्र तेषां फलवत्त्वमङ्गीकृत्य न्यायाभावस्तदनङ्गीकृत्य वोच्यते नाऽऽद्यो नित्यकाम्यवैषम्यासिद्धेरित्याह वार्तिके—"काम्याग्निहोत्रवन्नित्यं काम्यं चापि प्रसज्यते । फलेनास्याभिसंबन्धान्निष्कामं नित्यमुच्यते" ॥ ८५ ॥ इति । ननु फलसंबन्धेऽपि नित्यानित्यफलभेदान्नित्यकाम्यवैषम्यं किं न स्यादित्याशङ्क्य कामप्रयुक्तत्वेऽपि चित्राज्योतिष्टोमवत्काम्यविशेषत्वापत्तेर्नित्यत्वानुपपत्तिरित्याह—निष्काममिति । नित्येषु फलकल्पनायां विश्वजिन्न्यायोऽवतरति ॥ २. न च तेषु तत्कल्प्यते मोक्षस्य स्वरूपस्थितित्वेनास्यानुत्पाद्यस्याफलत्वादिति द्वितीयं शङ्कते—मोक्ष इति। इति वार्तिकीयः पन्थाः । ३. इति हि प्रतिज्ञातमिति—इति दृष्टान्तेन मुक्तेरारभ्यमाणत्वं प्रतिज्ञातमित्यर्थः । ४. सत्यं मुक्तेरारभ्यमाणता प्रतिज्ञाता न तु सा हीयते तस्याः फलत्वस्यैव निरासादत आह—स चेदिति । ५. उच्यते । ६. हीयत इति—कर्मारभ्यं हि तत्फलं तस्मान्मोक्षस्य कर्मफलत्वे निषिद्धे तदारभ्यतैव निषिद्धा इति प्रतिज्ञाहानिः स्फुटैवेत्यर्थः । ७. वक्तव्य इति—कर्मकार्यत्वे मुक्तेः स्वर्गादिभ्यो यतो विशेषो वक्तुं न शक्योऽतस्तद्वदत्रापि नाशापकर्षादौ प्राप्ते संसारवत्तत्र सुखं नेति न ते मुमुक्षा स्यादिति भावः । ८. वाक्यस्वरूपस्य । ९. कोऽर्थं इति—किं क्षेपे, न कोऽपीत्यर्थः । तथा च फलस्य कार्यत्वाविशेषात् फलं च कार्यं नेति । व्याहतमभिधानमिति भावः । १०. निग्रहस्थानं वादिपरिभवप्रयोजकं प्रतिज्ञाहानिरूपं दोषमिति यावत् । ११. प्रतिज्ञाहानिरूपं दूषणमुक्तम् । १२. तदेव मुक्तेः कर्मकार्यत्वमेव । १३. स्वर्गाद्यविशेषरूपम् । १४. निरस्यति । १५. कार्यत्वमङ्गीकृत्यफलत्वानङ्गीकारेऽपि ।

नित्यैश्च कर्मभिः क्रियते नित्यानां कर्मणां फलं न कार्यमिति चैषोऽर्थो विप्रतिषिद्धोऽभिधीयते यथाऽग्निः शीत इति ।

ज्ञानवदिति चेत् । यथा ज्ञानस्य [1]कार्यं मोक्षो ज्ञानेना[2]क्रियमाणोऽप्युच्यते तद्व[3]त्कर्मकार्यत्वमिति चेत् । न । अज्ञाननिवर्तकत्वाज्ज्ञानस्य । अज्ञानव्यवधाननिवर्तकत्वाज्ज्ञानस्य मोक्षो ज्ञान[4]कार्यमित्यु[5]पचर्यते । न तु कर्मणा [6]निवर्तयितव्यमज्ञानम् । न चाज्ञानव्यतिरेकेण मोक्षस्य व्यवधानान्तरं कल्पयितुं शक्यम् । नित्यत्वान्मोक्षस्य [7]साधकस्वरूपाव्यतिरेकाच्च । यत्कर्मणा निवर्त्येत ।

अज्ञानमेव [8]निवर्तयतीति चेत् । न । विलक्षणत्वात् । [9]अनभिव्यक्तिरज्ञानमभिव्य-

---

व्युत्पादयति—अफलं चेति । आद्यं व्याघातं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—नित्यानामिति ।

दृष्टान्तेन व्याघातं परिहरन्नाशङ्कते—ज्ञानवदिति चेदिति । [10]तदेव स्फुटयति—यथेति । [11]दृष्टान्तं विघटयति—नेति । ज्ञानस्य मोक्षव्यवधिभूताज्ञाननिवर्तकत्वान्मोक्षस्तेनाक्रियमाणोऽपि [12]तत्कार्यमिति व्यपदेशभाग्भवतीत्यर्थः । तदेव स्फुटयति—अज्ञानेति । [13]दार्ष्टान्तिकं निराचष्टे—न त्विति । यत्कर्मणा निवर्त्येत तन्मोक्षस्य व्यवधानान्तरं कल्पयितुं न तु शक्यमिति संबन्धः । व्यवधानध्वंसे कर्मणोऽप्रवेशेऽपि मुक्तावेव [14]तत्प्रवेशः स्यादिति चेन्नेत्याह—नित्यत्वादिति ।

नित्यकर्मनिवर्त्यं व्यवधानान्तरं मा भूदज्ञानमेव तन्निवर्त्यं भविष्यति [15]तथा च मोक्षस्य कर्मकार्यत्वं शक्य[16]मुपचरितुमिति शङ्कते—अज्ञानमेवेति । कर्मणो ज्ञानाद्विलक्षणत्वान्नाज्ञाननिवर्तकत्वमित्युत्तरमाह—न विलक्षणत्वादिति । वैलक्षण्यमेव प्रकटयति—अनभिव्यक्तिरिति । [17]इतश्च ज्ञाननिवर्त्य-

---

कल्पना नहीं की जा सकती । मोक्ष किसी का फल नहीं है और वह नित्यकर्मों से होता है । वह नित्यकर्मों का फल है और कार्य नहीं है—यह सब बातें तो उसी प्रकार परस्पर विरुद्ध ही कही जाती हैं, जैसे कोई कहे, अग्नि शीतल है ।

यदि कहो कि वह ज्ञान के समान है, जिस प्रकार ज्ञान का फल मोक्ष है, ज्ञान द्वारा अनारभ्यमाण होता हुआ भी मोक्ष ज्ञान का फल कहा जाता है, उसी प्रकार वह कर्मफलत्व मोक्ष का भी हो सकता है; ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान तो अज्ञान की निवृत्ति करता है। अज्ञानरूपी व्यवधान का निवर्तक होने से मोक्ष को ज्ञान का फल कहा जाता है । कर्म के द्वारा तो अज्ञान की निबृत्ति करना संभव नहीं है। जिसकी कर्म से निवृत्ति हो, ऐसे अज्ञान को छोड़कर कोई दूसरा व्यवधान भी मोक्ष में हो सकता है—ऐसी कल्पना करनी असंभव है क्योंकि मोक्ष नित्य है और

---

[1] फलम् । [2] अनारभ्यमाणः अकार्य इति यावत् । [3] कर्मफलत्वं मोक्षस्य । [4] फलम् । [5] उच्यते । [6] निवर्तयितुं शक्यम् । [7] साधकेति—अधिकारिस्वरूपाव्यतिरेकात् कर्मणः प्रागेव सिद्धत्वेन सिद्धं तस्य नित्यत्वमिति भावः । [8] नित्यं कर्म । [9] अप्रकाशरूपम् । [10] दृष्टान्तमेवेति यावत् । [11] दृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकानुगुण्यं निरस्यति । [12] फलम् । [13] कर्मणोऽपि व्यवधिनिरासित्वान्मुक्तिस्तत्कार्यत्वेनोपचर्यतामित्याशङ्क्यावतारयति—दार्ष्टान्तिकमिति । [14] तस्य कर्मणः, प्रवेशो जनकत्वम् । [15] नित्यकर्मणामज्ञाननिवर्तकत्वे च । [16] कल्पयितुम् । [17] ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधादेव ।

क्ति[1]लक्षणेन ज्ञानेन विरुध्यते । कर्म तु नाज्ञानेन विरुध्यते [2]तेन ज्ञानविलक्षणं कर्म । यदि ज्ञानाभावो यदि संशयज्ञानं यदि विपरीतज्ञानं वोच्यतेऽज्ञानमिति सर्वं हि तज्ज्ञानेनैव निवर्त्यते । न तु कर्मणाऽन्यतमेनापि विरोधाभावात् ।

अथादृष्टमपि कर्मणामज्ञाननिवर्तकत्वं कल्प्यमिति चेत् । न । ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तौ [3]गम्यमानायामदृष्टनिवृत्तिकल्पनानुपपत्तेः । यथाऽवघातेन व्रीहीणां तुषनिवृत्तौ गम्यमानायामग्निहोत्रादि[4]नित्यकर्मकार्याऽदृष्टा न कल्प्यते तुषनिवृत्तिः । तद्वदज्ञाननिवृत्तिरपि नित्यकर्मकार्याऽदृष्टा न कल्प्यते । ज्ञानेन विरुद्धत्वं चासकृत्कर्मणामवोचाम[5] । [6]यदविरुद्धं

मेवाज्ञानमित्याह—यदीति । अन्यतमेन नित्यादिना [7]व्यस्तेन [8]समस्तेन वा श्रौतेन स्मार्तेन वेत्यर्थः । कर्माज्ञानयोरविरोधो हेत्वर्थः ।

अज्ञाननिवर्तकत्वं कर्मणो नान्वयव्यतिरेकसिद्धं किंत्वदृष्टमेव कल्प्यमिति शङ्कते—अथेति । [9]दृष्टे सत्यदृष्टकल्पना न न्याय्येति परिहरति—न ज्ञानेनेति । उक्तमर्थं दृष्टान्तेन बुद्धावारोहयति—यथेत्यादिना । अदृष्टेति च्छेदः । अस्तु ज्ञानादज्ञानध्वस्तिः किंतु कर्मसमुच्चितादित्याशङ्क्याऽऽह—ज्ञानेनेति । ननु कर्मभिरविरुद्धमपि हिरण्यगर्भादिविज्ञानमस्ति [10]तथा च समुच्चितं ज्ञानमज्ञानध्वंसि भविष्यति नेत्याह—यदविरुद्धमिति ।

साधक के स्वरूप से अभिन्न होने के कारण कर्म से पूर्व ही सिद्ध है ।

यदि कहो कि नित्यकर्म भी अज्ञान की निवृत्ति करता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि कर्म ज्ञान से विलक्षण है । (क्या विलक्षणता है, इस पर कहते हैं—) अप्रकाशरूप अज्ञान का प्रकाशरूप ज्ञान से विरोध है । कर्म का अज्ञान से कोई विरोध नहीं है, इसलिए कर्म ज्ञान से विलक्षण है । यदि ज्ञान के अभाव, संशययुक्तज्ञान अथवा विपरीतज्ञान को अज्ञान कहा जाय, तो इन सभी की निवृत्ति ज्ञान से ही हो सकती है । किसी भी अन्य कर्म से नहीं हो सकती क्योंकि उसका इन तीनों प्रकार के अज्ञानों के साथ विरोध नहीं है ।

यदि कहो, अदृष्ट कर्मों का भी अज्ञाननिवर्तकत्व होना सिद्ध है, तो ऐसी कल्पना करना उचित नहीं है । ज्ञान से अज्ञाननिवृत्ति प्रत्यक्षसिद्ध होने पर निवृत्ति के लिये परोक्ष कल्पना करना युक्त नहीं है । जिस प्रकार मूसल से कूटने पर धान से तुषनिवृत्ति प्रत्यक्षसिद्ध होने पर अग्निहोत्रादि नित्यकर्म सामर्थ्य से जन्य तुषनिवृत्ति होती है—ऐसी परोक्ष कल्पना करना असंगत है; उसी प्रकार अज्ञाननिवृत्ति भी नित्यकर्म सामर्थ्य जन्या है, ऐसी परोक्ष कल्पना करना उचित नहीं है । कर्मों का ज्ञान से विरोध होने के कारण उनका परस्पर समुच्चय नहीं हो सकता—ऐसा हम कई

---

[1] प्रकाशरूपेण । [2] कर्मणोऽज्ञानविरोधाभावेनेत्यर्थः । [3] प्रत्यक्षसिद्धायामित्यर्थः । [4] नित्यकर्मसामर्थ्यजन्या । [5] तथा च न समुच्चय इति भावः । [6] यदविरुद्धमिति—देवतादिज्ञानस्य कर्माविरोधित्वाद्युक्तं समुच्चयः । तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थविज्ञानस्य तु कर्मविरोधित्वान्न समुच्चयोऽतस्तत्केवलमेवाज्ञानध्वंसीत्यर्थः । [7] असमुच्चितेन । [8] समुच्चितेन । [9] ज्ञानरूपे निवर्तके । [10] उक्तज्ञानकर्मणोरविरोधे च ।

ज्ञानं कर्मभिस्तद्देवलोकप्राप्तिनिमित्तमित्युक्तम् "[1]विद्यया देवलोकः" इति श्रुतेः।

किंचान्यत्कल्प्ये[2] च फले नित्यानां कर्मणां [3]श्रुतानां [4]यत्कर्मभिर्विरुध्यते [5]द्रव्यगुणकर्मणां कार्यमेव न भवति किं तत्कल्प्यताम्। [6]यस्मिन्कर्मणः सामर्थ्यमेव न दृष्टम्। किं वा [7]यस्मिन्दृष्टं [8]सामर्थ्यं यच्च कर्मणां फलमविरुद्धं तत्कल्प्यतामिति। पुरुषप्रवृत्तिजननायावश्यं चेत्कर्मफलं कल्पयितव्यम्। [9]कर्माविरुद्धविषय[10] एव श्रुतार्थापत्तेः क्षीणत्वान्नित्यो मोक्षः फलं कल्पयितुं न शक्यस्तद्व्यवधानाज्ञाननिवृत्तिर्वा। अविरुद्धत्वाद्दृष्टसामर्थ्यविष-

---

नित्यानां कर्मणां समुच्चितानामसमुच्चितानां च स्वरूपस्थितौ मोक्षे तत्प्रतिबन्धकाज्ञानध्वस्तौ वा नादृष्टं सामर्थ्यं कल्प्यमित्युक्तमिदानीं तत्कल्पनामङ्गीकृत्यापि दूषयति—किंचेति। कर्मणां नास्ति मोक्षे सामर्थ्यमित्येतदुक्तादेव कारणान्न भवति किंत्वन्यच्च[11] कारणं [12]तत्रास्तीत्यर्थः। [13]तदेव दर्शयितुं विचारयति—कल्प्ये चेति। विरोधमभिनयति—द्रव्येति। [14]कार्यत्वाभावं[15] समर्थयते—यस्मिन्निति। पक्षान्तरमाह—किं वेति। सामर्थ्यविषयं विशदयति—यच्चेति। कथमिह[16] निर्णय[17]स्तत्राऽऽह—पुरुषेति। कल्पयितव्यं फलमिति [18]संबन्धः। उत्पत्त्यादीनामन्यतमो हि कर्मभिरविरुद्धो [19]विषयः। तत्रैव नित्यकर्मचोदनानुपपत्तेरुपशान्तत्वान्नित्यकर्मफलत्वेन मोक्षस्तद्व्यवधानाज्ञाननिवृत्तिर्वा न शक्यते कल्पयितुम्। कर्माज्ञानयोर्विरोधाभावाद्दृष्टं सामर्थ्यं यस्मिन्नुत्पत्त्यादौ तद्विषयत्वाच्च कर्मण[20]स्तद्विलक्षणे मोक्षे न

बार पहले ही कह आये हैं। एवं जो देवतादिज्ञान कर्म से अविरुद्ध है; उसे तो "ज्ञान से देवलोक की प्राप्ति होती है" इस बृहदारण्यकश्रुति में देवलोकप्राप्ति का कारण बतलाया गया है।

इसके अतिरिक्त श्रुतिसम्मत नित्यकर्मों का फल अन्यकल्प्य होने पर (उत्पत्त्यादिवर्जित जो कार्यकरणरूप विलक्षण फल है) उसकी विरुद्धता हो जाती है। द्रव्य, गुण और कर्मों का कार्य नहीं होता, जिस मोक्षाख्य फल मे कर्म का सामर्थ्य ही नहीं देखा जाता, क्या उसकी कल्पना करनी चाहिये; अथवा जिस उत्पत्त्यादि वाले फल में कर्मों का सामर्थ्य देखा जाता है तथा जो कर्मों का अविरुद्ध फल है, क्या उसकी कल्पना करनी चाहिये। यदि पुरुषों की प्रवृत्ति कराने के लिये कर्मफल की कल्पना करनी आवश्यक हो; तो कर्मफल की कल्पना करनी चाहिये। तब तो श्रुतार्थापत्ति का पर्यवसान कर्म के विरोधी उत्पत्त्यादि वाले विषयों में ही होने के कारण मोक्षफल की नित्यता की कल्पना अथवा मोक्ष के व्यवधानस्वरूप अज्ञान की निवृत्ति की कल्पना करनी संभव नहीं है क्योंकि कर्म और अज्ञान का

---

१. बृ० उ० १।५।१६। २. सति। ३. श्रुतानां यत्कर्मभिर्न विरुध्यते तत्कल्प्यतां न मोक्षफलं तन्मोक्षफलं विरुध्यते द्रव्येति पाठान्तरम्। ४. यत्फलमुत्पत्त्यादिवर्जितं कार्यकारणविलक्षणम्। ५. द्रव्येति—यद्द्रव्यादिविलक्षणत्वात्तज्जन्यत्वाभावाच्चाकार्यकारणमुत्पत्त्यादिचतुष्टयातिरिक्तं कर्मविरुद्धं मोक्षाख्यं फलं किं तत्कल्प्यतामाहो इतरदिति। ६. मोक्षाख्ये फले। ७. उत्पत्त्यादिमति फले। ८. कर्मणाम्। ९. तर्हि। १०. उत्पत्त्यादिमति। ११. अन्यदपि। १२. कर्मणां मोक्षे सामर्थ्याभावे। १३. कारणान्तरम्। १४. द्रव्यादि। १५. मोक्षे। १६. अस्मिन् विचारे। १७. विचारे न्यायानुसारिणं निर्णयमाहेत्यर्थः। १८. एतदपेक्षया भाष्ये कर्मफलमित्यधिकमिति भाति। १९. फलरूपः। २०. तद्विलक्षण इति—द्रव्यादिविलक्षणे तदजन्ये अकार्यकारणे उत्पत्त्यादिचतुष्टयातिरिक्ते इत्यर्थः।

यत्वाच्चेति ।

पारिशेष्यन्यायान्मोक्ष एव कल्पयितव्य इति चेत् । [1]सर्वेषां हि कर्मणां सर्वं फलम्। [2]न चान्यदितरकर्मफलव्यतिरेकेण फलं कल्पनायोग्यमस्ति । परिशिष्टश्च मोक्षः । स चेष्टो वेदविदां फलम् । [3]तस्मात्स एव कल्पयितव्य इति चेत् । न । कर्मफलव्यक्तीनामानन्त्यात्पारिशेष्यन्याया[4]नुपपत्तेः ।

न हि पुरुषेच्छाविषयाणां कर्मफलानामे[5]तावत्त्वं नाम केनचिदसर्वज्ञेनावधृतं [6]तत्सा-

---

व्यापारः । [7]तथा च नित्यकर्मविधिवशात्पुरुषप्रवृत्तिसंपादनाय फलं चेत्कल्पयितव्यं तर्हि [8]तदुत्पत्त्यादीनामन्यतममेव [9]तदविरुद्धं कल्प्यमित्यर्थः । इतिशब्दः श्रुतार्थापत्तिपरिहारसमाप्त्यर्थः ।

[10]मोक्ष एव नित्यानां कर्मणां फलत्वेन कल्पयितव्यः पारिशेष्यन्यायादिति शङ्कते—पारिशेष्येति। पारिशेष्यन्यायमेव विशदयति—सर्वेषामिति । सर्वं स्वर्गपशुपुत्रादीति यावत् । [11]तथाऽपि मोक्षादन्यदेव नित्यकर्मफलं किं न स्यात्तत्राऽऽह—न चेति । मोक्षस्यापी[12]तरकर्मफलनिवेशमाशङ्क्याऽऽह—[13]परिशिष्टश्चेति । [14]तस्य फलत्वमेव कथं सिद्धं तत्राऽऽह—स चेति । परिशेषायातमर्थं निगमयति—तस्मादिति । पारिशेष्यासिद्ध्या [15]दूषयति—नेति ।

[16]कर्मफलव्यक्त्यानन्त्यमुक्तं व्यनक्ति—न हीति । फलवत्फलसाधनानां फलविषयेच्छानां चाऽऽन-

---

अविरोध है और जिनमें उनका सामर्थ्य देखा जाता है , वे ही उन्हीं का विषय हैं ।

(इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) पारिशेष्यन्याय से मोक्ष ही नित्यकर्मों का फल है—ऐसी कल्पना कर ली जाय तो । नित्यातिरिक्त सभी कर्मों का स्वर्ग-पशु-पुत्रादि सभी फल है । नित्यकर्मों के सान्निध्य में जो दूसरे कर्म हैं, उनके फल से भिन्न मोक्ष से अन्य, फल की कल्पना करना संभव नहीं है । ऐसे में तो फिर मोक्ष ही अवशिष्ट रहता है । मोक्ष का वही फल वेदार्थज्ञाताओं को अभीष्ट है । मोक्ष के फलस्वरूप एवं परिशेष्य होने से उसकी ही कल्पना करनी चाहिये । (सिद्धान्ती उक्त आक्षेप का परिहार करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि कर्मफल की अभिव्यक्तियाँ तो अनन्त हैं, इससे उनमें पारिशेष्यन्याय का प्रयोग करना असंभव है ।

---

[1] सर्वेषामिति—नित्यातिरिक्तानामिति शेषः । तदुक्तं वार्तिके—मोक्षात्फलान्तरैर्योगः काम्यानां स्याच्छ्रुतत्वतः । नित्यकर्माभिसंबन्धो मुक्तेः स्यात्पारिशेष्यतः" ॥ १०८ ॥ इति । विध्युद्देशेफलाश्रुतेरफलस्य च विधेरयोगादिति हेतुमाह—पारिशेष्यत इति । [2] न चान्यदिति—नित्यकर्मणः सकाशादितरद्यत्कर्म तत्फलाद्भिन्नं मोक्षाच्चान्यत्फलं कल्पनायोग्यं न चास्तीत्यर्थः । [3] तस्मात्—मोक्षस्य फलत्वात्पारिशेष्याच्च । [4] असंभवात् । [5] इयत्ता । [6] फलसाधनानामित्यर्थः । [7] निरुक्तमोक्षे कर्मव्यापाराभावे च । [8] फलम् । [9] कर्माविरुद्धम् । [10] मोक्ष इति—यद्यपि केवला नित्यकर्मचोदनाऽनुपपत्तिर्नित्यकर्मणां मुक्तिफलं न कल्पयति तथापि पारिशेष्यसहिता कल्पयिष्यतीति तदाशयः । [11] सर्वकर्मणां सर्वफलत्वेऽपि । [12] नित्येतरकर्मेति यावत् । [13] परिशिष्टश्चेति—मोक्षस्येतरकर्मफलनिवेशस्तु कल्पयितुमशक्यस्तत्कल्पकाभावादितरकर्मविध्युद्देशे मोक्षेतरतत्तत्फलश्रुतेः काम्यकर्मचोदनाया अनुपपत्त्यभावात् । तदुक्तं—"मोक्षात्फलान्तरैर्योगः काम्यानां स्याच्छ्रुतत्वत" इति शेषो द्रष्टव्यः । [14] मोक्षस्य । [15] मुक्तेः कर्मफलत्वपूर्वपक्षं परिहरतीति यावत् । [16] पारिशेष्यासंभवार्थम् ।

धनानां वा पुरुषेच्छानां वाऽनियतदेशकालनिमित्तत्वात्पुरुषेच्छा[1]विषयसाधनानां च पुरुषेष्टफलप्रयुक्तत्वात्। प्रतिप्राणि चेच्छा[2]वैचित्र्यात्फलानां तत्साधनानां चाऽऽनन्त्यसिद्धिः। [3]तदानन्त्याच्चाशक्यमे[4]तावत्त्वं पुरुषैर्ज्ञातुम्। अज्ञाते च साधनफलैतावत्त्वे कथं मोक्षस्य परिशेषसिद्धिरिति।

कर्मफलजातिपारिशेष्यमिति चेत्। सत्यपीच्छाविषयाणां तत्साधनानां चाऽऽनन्त्ये [5]कर्मफलजातित्वं नाम सर्वेषां तुल्यम्। [6]मोक्षस्त्वकर्मफलत्वात्परिशिष्टः स्यात्। तस्मात्परि-

---

न्त्यं कथयति—तत्साधनानामिति। [7]तदानन्त्ये हेतुमाह—अनियतेति। इच्छाद्यानन्त्ये हेत्वन्तरमाह—पुरुषेति। एतावत्त्वं नाम नास्तीत्युभयत्र संबन्धः। पुरुषस्येष्टं फलं [8]शोभनाध्यासविषयभूतं [9]तत्र [10]विषयिणां शोभनाध्यासेन [11]प्रयुक्तत्वादिति [12]हेत्वर्थः। इच्छाद्यानन्त्यं [13]प्राणिभेदेषु दर्शयित्वा तदानन्त्यमेकैकस्मिन्नपि प्राणिनि दर्शयति—प्रतिप्राणि चेति। इच्छाद्यानन्त्ये फलितमाह—तदानन्त्याच्चेति। साधनादिष्वेतावत्त्वाज्ञानेऽपि [14]किं स्यात्तदाह—अज्ञाते चेति। इतिशब्दः पारिशेष्यानुपपत्तिसमाप्त्यर्थः।

प्रकारान्तरेण पारिशेष्यं शङ्कते—कर्मेति। [15]तामेव शङ्कां विशदयति—सत्यपीति। [16]तथाऽपि कथं मोक्षस्य परिशिष्टत्वं तदाह—मोक्षस्त्विति। परिशेषफलमाह—[17]तस्मादिति। शङ्कितं परिशेषं

पुरुष की इच्छा के विषयभूत कर्मफलों की इयत्ता का किसी भी असर्वज्ञ जीव ने निर्धारण नहीं किया क्योंकि उनके फल के साधन अथवा पुरुष की इच्छाओं के देश, काल और निमित्त अनियत हैं, पुरुष की इच्छा, फल और उनके साधनों को उस (पुरुष) के इष्टफलों द्वारा प्रेरणा मिलती रहती है। अतः प्रत्येक प्राणी की इच्छाओं में विचित्र-शोभनाध्यास रहने के कारण फल और उनके साधनों की आनन्त्यसिद्धि होती है। इच्छादि आनन्त्य से पुरुषों को उनके साधन, फल और इच्छा की इयत्ता का ज्ञान होना सम्भव नहीं है, तथा साधन और फलों की इयत्ता का ज्ञान न होने पर मोक्ष की परिशेषता कैसे सिद्ध हो सकती है।

(इस पर पूर्ववादी कहता है—) कर्मफलों की जाति की परिशेषता तो सिद्ध हो ही सकती है। इच्छा, फल और उनके साधनों का आनन्त्य सिद्ध होने पर भी उन सब में कर्मफलत्वरूप धर्म तो समान ही है। किन्तु मोक्ष में तो कर्मफल का अभाव ही है, इसलिये वही परिशिष्ट होना चाहिये। इसलिये परिशेषतः उसी को ही नित्यकर्मों का फल कल्पना करना उचित ही है। (इस पर सिद्धान्ती

---

१. फलमिति यावत्। २. विचित्रशोभनाध्यासहेतुकतया। ३. इच्छादि। ४. साधनफलयोः इच्छायाश्च। ५. कर्मफलत्वरूपो धर्मः। ६. मुक्तेः कर्मफलत्वाभावात्। ७. फलादि। ८. शोभनमिदमित्यध्यासविषयभूतमिति बोध्यम्। ९. यथोक्तेष्टफले। १०. कामिनाम्। ११. प्रवर्तितत्वात्। १२. हेत्वर्थ इति—प्रवृत्तिप्रयोजकानामिच्छाहेतूनां शोभनाध्यासानामानन्त्यात्तत्कार्येच्छानामानन्त्यं तदानन्त्यात्तद्विषयाणां फलानामानन्त्यं तदानन्त्यात्तत्साधनानामानन्त्यमिति भावः। १३. भिन्नभिन्नेषु प्राणिष्विति यावत्। १४. सर्वप्राणिषु देशादिवशादिच्छादीनां वैचित्र्यादानन्त्येऽपि प्रकृतपारिशेष्यन्यायानुपपत्तौ किं लब्धमित्यर्थः। १५. पारिशेष्यान्तरविषयाम्। १६. सर्वेषां फलानां कर्मफलत्वेन तुल्यत्वेऽपि। १७. मोक्षस्य कर्मफलत्वाभावात्।

शेषात्स एव युक्तः कल्पयितुमिति चेत् । न । [1]तस्यापि नित्यकर्मफलत्वाभ्युपगमे कर्मफल समानजातीयत्वोपपत्तेः परिशेषानुपपत्तिः । [2]तस्मादन्यथाऽप्युपपत्तेः [3]क्षीणा श्रुतार्थापत्तिः उत्पत्त्याप्तिविकारसंस्काराणामन्यतममपि नित्यानां कर्मणां फलमुपपद्यत इति [4]क्षीणा श्रुतार्थापत्तिः ।

चतुर्णामन्यतम एव मोक्ष इति चेत् । न तावदुत्पाद्यो [5]नित्यत्वात् । अत एवावि कार्योऽसंस्कार्यश्चात एवासाधनद्रव्यात्मकत्वाच्च । साधनात्मकं हि द्रव्यं संस्क्रियते । यथा पात्राज्यादि[6] प्रोक्षणे[7]क्षणादिना । न च संस्क्रियमाणः संस्कारनिर्वर्त्यो वा यूपा[8]दिवत् ।

दूषयति—नेत्यादिना । अर्थापत्तिपरिशेषौ पराकृत्यार्थापत्तिपराकरणं प्रपञ्चयितुं प्रस्तौति—तस्मादिति अन्यथाऽप्युपपत्तिं प्रकटयति—उत्पत्तीति ।

[9]नित्यानामुत्पत्त्यादिफलत्वेऽपि मोक्षस्य तत्फलत्वं सिध्यतीति शङ्कते—चतुर्णामिति । [10]तत्र मोक्षस्योत्पाद्यत्वं दूषयति—न तावदिति । उभयत्रातःशब्दो नित्यत्वपरामर्शी । असंस्कार्यत्वे हेत्वन्तरमाह—असाधनेति । [11]तदेव व्यतिरेकमुखेन(ण) विवृणोति—साधनात्मकं हीति । इतश्च मोक्षस्यासंस्क्रियमाणत्वमित्याह—न चेति । यथा यूपस्तक्षणाष्टास्रीकरणाभ्यञ्जनादिना[12] संस्क्रियते यथा चाऽऽहवनीयः [13]संस्कारेण निष्पाद्यते न तथा मोक्षो नित्यशुद्धत्वान्निर्गुणत्वाच्चेत्यर्थः । [14]पक्षान्तरमनुभाष्य दूष

कहता है—) ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि यदि उसे भी नित्यकर्मों का फल माना जायगा, तो उसमें भी कर्मफल की समानजातीयता की उपपत्ति होने से परिशेष की उपपत्ति का अभाव रहेगा। इससे भिन्न प्रकार से भी नित्यकर्मों के फल की उपपत्ति हो सकती है, इसलिये श्रुतार्थापत्ति निरस्त हो जाती है। भावार्थ यह है कि उत्पत्ति, आप्ति, विकार और संस्कार इन चारों से भिन्न कोई भी नित्य कर्मों का फल हो सकता है, इसलिये श्रुतार्थापत्ति निरस्त हो जाती है।

(इस पर पूर्ववादी आक्षेप करता है—) तो यदि इन चारों में से किसी एक को ही मोक्ष कहा जाय, (सिद्धान्ती उक्त आक्षेप का परिहार करते हुए कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं नित्य होने से मोक्ष उत्पाद्य नहीं है (उत्पाद्यत्व और नित्यत्व में विरोध तो स्फुट ही है। इसी कारण अविकार्य है तथा असंस्कार्य है क्योंकि मोक्ष साधनात्मक द्रव्य नहीं है। साधनात्मक द्रव्य का ही संस्का

---

[1] ननु मोक्षादन्यत्र काम्यकर्मफलत्वस्य सत्त्वान्मोक्षे तदभावात्पारिशेष्यमित्याशङ्क्याऽऽह—तस्यापीति मोक्षस्यापीत्यर्थः । तदुक्तं वार्तिके—"नित्यकर्मफलत्वं चेन्मुक्तेरप्यभ्युपेयते । कर्मकार्यसजातित्वात्पारिशेष्यन कुतः" ॥ ११५ ॥ इति । [2] तस्मादिति—पारिशेष्यासंभवे तत्सहकृता, नित्यकर्मचोदनानुपपत्तिर्नित्यकर्म मुक्तिफलत्वं कल्पयतीति पक्षस्य निरस्तत्वादित्यर्थः । [3] निरस्ता । [4] क्षीणेति—उत्पत्त्यादीनां चतुर्णाम न्यतमफलत्वेनापि नित्यचोदनोपपत्तेर्न मुक्तेस्तत्फलत्वसाधिकाऽर्थापत्तिरिति भावः । [5] उत्पाद्यत्वनित्यत्वयो विरोधः स्फुट एव । [6] आदिना व्रीहिः । [7] पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति । [8] आदिना आहवनीयादि [9] नित्यानामित्यादिस्थाने सत्यं नित्यानामुत्पत्त्याद्यन्यतमफलत्वं किं तु मोक्षोऽपि तेषामन्यतम इति शङ्कत पाठान्तरम् । [10] तत्र उत्पत्त्यादिचतुर्णां मध्ये । [11] असंस्कार्यत्वमेव । [12] आदिना प्रोक्षणम् [13] संस्कारविशिष्ट उत्पाद्यते । [14] अवशिष्टमाप्यत्वपक्षम् ।

[1]पारिशेष्यादाप्यः स्यात् । नाऽऽप्योऽप्यात्मस्वभावत्वादेकत्वाच्च ।

[2]इतरैः कर्मभिर्वैलक्षण्यान्नित्यानां कर्मणां [3]तत्फलेनापि विलक्षणेन भवितव्यमिति चेत् । [4]न । कर्मत्वसालक्षण्यात्सलक्षणं कस्मात्फलं[5] न भवती[6]तरकर्मफलैः । निमित्तवैलक्षण्यादिति चेत् । [7]न । क्षामवत्यद्दिभिः समानत्वात् ।

यथा हि गृहदाहाहौ निमित्ते क्षामवत्याद्येष्टि[8]र्यथा भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोतीत्येयति—पारिशेष्यादित्यादिना ।

एकत्वं पूर्णत्वम् । साधनवैलक्षण्यं फलवैलक्षण्यं कल्पयतीति शङ्कते—इतरैरिति । हेतुवैलक्षण्यासिद्धौ कल्पकाभावात्फलवैलक्षण्यासिद्धिरिति दूषयति—न कर्मत्वेति । [9]निमित्त[10]कृतहेतुवैलक्षण्यवशात्फलवैलक्षण्यसिद्धिरिति शङ्कते—निमित्तेति । [11]निमित्तवैलक्षण्यं फलवैलक्षण्यस्यानिमित्तमिति परिहरति—न क्षामवत्यादिभिरिति ।

[12]तदेव प्रपञ्चयति—यथा हीति । [13]यस्याऽऽहिताग्नेरग्निर्गृहान्दहेदग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाक-

---

किया जाता है । जिस प्रकार पात्र, आज्य, व्रीहि का प्रोक्षण और ईक्षणादि से संस्कार किया जाता है । मोक्ष न तो संस्कृत किया जाने वाला है और न यूपादि के समान संस्कार द्वारा निष्पन्न होने वाला है । परिशेषतः मोक्ष को आप्य ही माना जा सकता है, किन्तु आत्मस्वभाव एवं एकत्वरूप होने से आप्य भी नहीं हो सकता ।

(इस पर पूर्ववादी आक्षेप करता है—) किन्तु नित्यकर्म अन्य काम्यकर्मों से विलक्षण हैं इसलिये उनका फल भी विलक्षण होना चाहिये । (सिद्धान्ती उक्त आक्षेप का परिहार करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि कर्मत्व में समान लक्षण वाले होने के कारण नित्यकर्म के फल का अन्य काम्यकर्मफलों के समान लक्षण वाला होना सिद्ध नहीं होगा । यदि कहो निमित्त में विलक्षणता होने

---

१. उत्पत्त्यादित्रयाणामसंभवेन परिशेषात् । २. अग्निहोत्रादिनित्यकर्मणो नित्यत्वसमाख्यया कर्मान्तरवैलक्षण्यात् तत्फलेऽपि नित्यतेति संज्ञावशेन शङ्कते—इतरैरिति । काम्यादिभिरित्यर्थः । ३. नित्यकर्मफलेनापीत्यर्थः । ४. समाख्यान्तरेण (कर्मेति समाख्यया) समाधत्ते—नेति । ५. नित्यकर्मफलम् । ६. काम्यकर्मफलैः । ७. नेति—न नित्यानां मोक्षफलत्वं तेषां नैमित्तिकैः क्षामवत्यादिभिरिष्टिभिस्तुल्यफलत्वादित्यर्थः । ८. विधीयते । ९. निमित्तेति—यावज्जीवमित्यादि जीवनादिनिमित्तप्रयुक्तसाधनवैलक्षण्यवशादित्यर्थः । १०. नाग्निहोत्रादिषु नित्यत्वसमाख्यया वैलक्षण्यं येन कर्मत्वसमाख्यान्तरेण तेषु फलसालक्षण्यमुच्येत किन्तु जीवनादिनिमित्तवशादित्याशयेनावतारयति—निमित्तकृतेति । ११. सत्यपि निमित्तकृते वैलक्षण्ये न नित्यानां मोक्षफलता नैमित्तिकैस्तुल्यफलत्वेनातत्फलत्वादित्यभिप्रायेण परिहारमवतारयति—निमित्तेति । १२. नित्यकर्मणां नैमित्तिकैस्तुल्यत्वम् । १३ यस्याहिताग्नेरित्यादि—अत्र क्षामवते कृशाय इति न्यायप्र० टि० न्यायप्रकाशे च पापक्षयरूपमस्याः फलमुक्तम् । शेषजातिमरणनिवृत्त्यर्थं गृहदाहनिवृत्तये चेयमिष्टिरिति श्रौतपदार्थनिर्वचनेऽवाचि । शब्दकल्पद्रुमे च क्षामवती इत्युट्टङ्कय क्षामं दोषक्षयः साध्यतयाऽस्त्यस्या मतुप् यागविशेषः । यथा भविष्ये—"क्षामवत्यादिना यद्वत् कर्मणा पृतनापते । दैवदोषादकरणे जाते दोषकदम्बके ॥ होमेनैकेन दोषाणां सर्वेषां क्षयमादिशेत्" ॥ एवं च एकप्रायश्चित्तेन अनेकदोषक्षयाय क्षामवतीष्टिः सर्वत्र दृष्टान्त इति प्रायश्चित्ततत्त्वमित्युक्तम् ।

वमादौ नैमित्तिकेषु कर्मसु न मोक्षः फलं कल्प्यते। तैश्चा[1]विशेषान्नैमित्तिकत्वेन जीवनादिनिमित्ते च[2] श्रवणात्। [3]तथा [4]नित्यानामपि न मोक्षः फलम्।

आलोकस्य [5]सर्वेषां रूपदर्शनसाधनत्वे[6] उलूकादय आलोकेन रूपं न पश्यन्तीत्युलू-

पालं निर्वपेदित्यत्र [7]दहेदिति विधिविभक्त्या प्रसिद्धार्थयच्छब्दोपहितया गृहदाहाख्यनिमित्तपरामर्शेनाग्नये क्षामवते पुरोडाशमित्यादिना [8]क्षामवती विधीयते। [9]यस्योभयं हविरार्तिमार्च्छेत्स ऐन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेदित्यत्र चाऽऽर्च्छेदिति विधिविभक्त्या निर्वपेदिति विधास्यमाननिर्वापनिमित्तं हविरार्तिमनूद्य निर्वापो विधीयते। [10]भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोत्यथ [11]यस्य [12]पुरोडाशौ क्षायतस्तं यज्ञं वरुणो गृह्णाति यदा तद्धविः संतिष्ठेताथ तदेव हविर्निर्वपेद्यज्ञो हि यज्ञस्य प्रायश्चित्तमिति च भेदनादिनिमित्तं प्रायश्चित्तमुक्तं न च तन्मुक्तिफलं तथा[13] निमित्तभेदेऽपि न नित्यं कर्म मुक्तिफलमित्यर्थः। क्षामवत्यादितुल्यत्वं नित्यकर्मणां कुतो लब्धमित्याशङ्क्याऽऽह—तैश्चेति। क्षामवत्यादिभिरिति यावत्। अविशेषे हेतुर्नैमित्तिकत्वेनेति। [14]तदेव कथमिति चेत्तत्राऽऽह—जीवनादीति। दार्ष्टान्तिकं स्पष्टयति—तथेति।

नित्यं कर्म [15]कर्मान्तराद्विलक्षणमपि न मोक्षफलमित्यत्र दृष्टान्तमाह—आलोकस्येति। चक्षुरन्त-

के कारण फल में विलक्षणता होनी ही चाहिये तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि क्षामवत्यादि इष्टियों से इसकी समानता है।

जिस प्रकार गृहदाहादि निमित्त होने पर क्षामवत्यादि इष्टियों का विधान किया जाता है, जिस प्रकार "कुम्भ्यादि पात्रभेद से हवन करे", "आज्यादि स्कन्दन को निमित्त कर के हवन करे" इत्यादि विधियों में भेदन और स्कन्दन के प्रायश्चित्तरूप से किये गये नैमित्तिककर्मों का फल मोक्ष नहीं हो सकता। नित्यकर्मों से विलक्षण न होने के कारण ये नैमित्तिककर्म भी उनके समान ही हैं क्योंकि अग्निहोत्रादि कर्मों को श्रुति जीवनादिनिमित्तक के रूप में वर्णन करती है। इसी प्रकार क्षामवत्यादि इष्टियों के समान नित्यकर्मों का फल भी मोक्ष नहीं हो सकता।

उलूकादि से इतर सभी प्राणियों के लिए प्रकाश रूपदर्शन का साधन होने पर भी उलूकादि प्रकाश से रूपादि की उपलब्धि नहीं कर पाते। इस प्रकार उल्लू के चक्षुओं की दूसरे लोगों के

---

१. नित्यकर्मणामवैलक्षण्यात्। २. सति अग्निहोत्रादिनित्यकर्मणाम्। ३. क्षामवत्यादिवत्। ४. नित्यानामपीत्यपिना निमित्तभेदेऽपीति सूच्यते। ५. उलूकादिभ्य इतरेषाम्। ६. सत्यपि। ७. दहेदित्येतत्पदघटकलिङ्भिन्नप्रत्ययरूपविभक्तिश्रुत्येत्यर्थः। ८. इष्टिः। ९. यस्योभयमित्यादि—दर्शपूर्णमासयोर्दोहौ प्रकृत्येदमाम्नातम्। तथा च उभयम्—सायंप्रातिकम् हविर्दोहरूपम्। आर्तिं विनाशम्। आर्छेद्गच्छेदित्यर्थः। १०. भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोतीति—दर्शपूर्णमासयोः कुम्भ्यादिपात्रभेदमाज्यादिस्कन्दनं च निमित्तीकृत्य होमावाम्नातौ। कुम्भ्यादीत्यत्र आदिना कपालादि ग्राह्यम्। ११. यज्ञस्य। १२. अथ यस्य पुरोडाशौ क्षायत इत्यादेरयमर्थः। यस्य यज्ञस्य पुरोडाशावाग्नेयाग्नीषोमीयौ क्षायतोऽत्यन्तदाहेन भस्मीभवतः तं यज्ञं वरुणो गृह्णाति नत्वयं यज्ञो यजमानस्य फलं प्रयच्छति। यदि तादृशहविष्को यज्ञ आसमाप्तेरनुष्ठीयेत तदा तत्प्रत्यवायपरिहाराय पुनस्तदेव हविर्निरूप्य यजमानो यज्ञमनुतिष्ठेदिति जै० अधिकरणन्यायमालायाम्। १३. जीवनादि। १४. नित्यकर्मणां नैमित्तिकत्वमेव। १५. काम्यादितः।

कादिचक्षुषो वैलक्षण्यादितरलोकचक्षुर्भिन्नं रसादिविषयत्वं परिकल्प्यते । रसादिविषये सामर्थ्यस्यादृष्टत्वात् । [1]सुदूरमपि गत्वा [2]यद्विषये दृष्टं सामर्थ्यं [3]तत्रैव कश्चिद्विशेषः कल्पयितव्यः ।

यत्पुनरुक्तं विद्यामन्त्रशर्करादिसंयुक्तविषदध्यादिवन्नित्यानि कर्माणि कार्यान्तरमारभन्त इति । आरभ्यतां [4]विशिष्टं कार्यं तदिष्टत्वादविरोधः । [5]निरभिसंधेः कर्मणो विद्यासंयुक्तस्य विशिष्टकार्यान्तरारम्भे न कश्चिद्विरोधः । देवयाज्यात्मयाजिनो[6]रात्मयाजिनो

रैरुलूकादिचक्षुषो वैलक्षण्येऽपि न रसादिविषयत्वमित्यत्र हेतुमाह—रसादीति । वैलक्षण्यं तर्हि कुत्रोपयुज्यते तत्राऽऽह—सुदूरमपीति । मनुष्यान्विहायोलूकादौ गत्वाऽपीति यावत् । यद्विषये रूपादावित्यर्थः । विशेषो दूरसूक्ष्मादिरतिशयः ।

[7]दार्ष्टान्तिकं [8]'पूर्ववादानुवादपूर्वकमाचष्टे—यत्पुनरित्यादिना । [9]तत्तत्रेति यावत् । [10]तदेव विवृणोति—निरभिसंधेरिति । विद्यासंयुक्तं कर्म विशिष्टकार्यकरमित्यत्र शतपथश्रुतिं प्रमाणयति—देवयाजीति । तदाहुरित्युपक्रम्य[11] देवयाजिनः श्रेयानित्यादौ काम्यकर्तुर्देवयाजिनः सकाशादात्मशुद्ध्यर्थं कर्म कुर्वन्नात्मयाजी श्रेयानित्यात्मयाजिनो विशेषश्रवणात्सर्वक्रतुयाजिनामात्मयाजी विशिष्यत इति स्मृतेश्च [12]"विशिष्टस्य कर्मणो"[13] विशिष्टकार्यारम्भकत्वमविरुद्धमित्यर्थः । छान्दोग्येऽपि विद्यासंयुक्तस्य कर्मणो विशिष्ट

चक्षुओं से विलक्षणता होने पर भी उस चक्षु का (रूपादि को छोड़कर) रसादि विषय कल्पना नहीं किया जा सकता क्योंकि रसादि विषय को ग्रहण करने की शक्ति चक्षु में नहीं देखी जाती । (मनुष्यों को छोड़कर उलूकादि में) सुदूर जाकर भी जिस विषय में जिसकी ग्रहण करने की शक्ति देखी जाती है, उसी में कुछ विशेष योजना की कल्पना करनी चाहिये ।

एवं जो पहले ऐसा कहा था कि विद्या, मन्त्र, शर्करादियुक्त विष और दधि आदि के समान नित्यकर्म किसी कार्यान्तर का प्रारम्भ करते हैं, सो वे भले ही (सत्त्वशुद्धि की एकाग्रताख्य) किसी विशिष्ट कार्य का प्रारम्भ करते रहें, इष्ट होने के कारण उससे हमारा कोई विरोध नहीं है । निष्काम विद्यायुक्त कर्म का विशिष्ट कार्यान्तर के आरम्भ में कोई विरोध नहीं है । " देवयाजी से आत्मयाजी श्रेष्ठ है ", "जो भी विद्या, श्रद्धा, उपनिषत् से करता है; वही अधिक वीर्यवान् होता है " इत्यादि

---

[1] अदृष्टत्वादिति—"रसादिग्रहणे शक्तिर्लोके दृष्टा न चक्षुषः । सामर्थ्यस्याग्रहात्तस्मान्न विरुद्धा प्रकल्प्यते" ॥ वा० १२३ ॥ इति । विरुद्धा रसादिविषया शक्तिरिति शेषः ।

[2] यदिति—यस्य चक्षुरादेर्यद्विषये स्वगोचरे रूपादौ सामर्थ्यं दृष्टं तस्य तत्रैवेति योज्यम् ।

[3] आलोकादिनिरपेक्षमुलूकादिचक्षुरस्मदादिचक्षुर्वत् कथं कार्यं कुर्यादत आह—तत्रैवेति । आलोकानपेक्षस्याप्युलूकादिचक्षुष स्वगोचररूपादावेव शक्त्यतिशयो न रसादावित्यर्थः ।

[4] विशिष्टमिति—सत्त्वशुद्धिस्तदेकाग्रताख्यमिति सिद्धान्त्यभिप्रेतम् । आलोकानपेक्षोलूकादिचक्षुर्वज्ज्ञानसंयुक्तमपि कर्म स्वगोचरचतुर्णामन्यनमस्यैवारम्भकमिति भावः ।

[5] निष्कामस्य ।

[6] मध्ये ।

[7] समुच्चितं कर्म ।

[8] पूर्वपक्षानुवादेति बोध्यम् ।

[9] विशिष्टकार्यान्तरारम्भे ।

[10] संयुक्तवाक्यम् ।

[11] शतपथे ।

[12] विशिष्टस्य विद्यासहितस्य निरभिसन्धेरित्यर्थः ।

[13] सत्त्वशुद्ध्यादिरूपः ।

विशेषश्रवणाद्देवयाजिनः श्रेयानात्मयाजीत्यादौ यदेव विद्यया [1]करोतीत्यादौ च ।

यस्तु परमात्मदर्शनविषये [2]मनुनोक्त आत्मयाजिशब्दः समं पश्यन्नात्मयाजीत्यत्र समं पश्यन्ना[3]त्मयाजी भवतीत्यर्थः । अथवा भूतपूर्वगत्या ।

[4]आत्मयाज्या[5]त्मसंस्कारार्थं नित्यानि कर्माणि करोति "[6]इदं मे[7]ऽनेनाङ्गं संस्क्रियते"

कार्यारम्भकत्वं दृष्टमित्याह—यदेवेति ।

नन्वात्मयाजिशब्दो नित्यकर्मानुष्ठायिविषयो न भवति।

'सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि' ।
संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति" ॥

इत्यत्र परमात्मदर्शनविषये तस्य [9]प्रयुक्तत्वादत आह—यस्त्वति । यदि समं पश्य[10]न्भवेत्तदा परेणाऽऽत्मनैकीभूतः स्वराड्भवतीत्यात्मज्ञानस्तुतिरत्र विवक्षिता । [11]"महती हीयं ब्रह्मविद्या यद्ब्रह्मविदेवा[12]ऽऽत्मयाजी भवति । नहि तस्य [13]"तदनुष्ठानं पृथगपेक्षते । ब्रह्मवित्पुण्यकृदिति[14]" च वक्ष्यतीत्यर्थः । [15]परदर्शनवत्यात्मयाजिशब्दस्य गत्यन्तरमाह—अथ वेति । भूता या [16]पूर्वस्थितिस्तामपेक्ष्याऽऽत्मयाजिशब्दो विदुषीत्यर्थः ।

[17]तदेव प्रपञ्चयति—आत्मेति । तेषां तत्संस्कारार्थत्वे प्रमाणमाह—इदमिति । तत्रैव स्मृति

श्रुतियों द्वारा देवयाजी और आत्मयाजी में आत्मयाजी की विशेषता सम्पादित की गयी है ।

"आत्मयाजी सर्वभूतप्रणियों में एक सा देखता हुआ स्वाराज्य को प्राप्त करता है" इत्यादि वाक्य से जो मनुजी ने आत्मयाजी शब्द का परमात्मदर्शन के विषय में प्रयोग किया है, उसका भावाशय यह है कि सब भूतप्राणियों में समदृष्टि से देखने वाला आत्मयाजी है अथवा यहाँ भूतपूर्व गति से इसका प्रयोग होता है ।

"मेरा यह अङ्ग अन्तःकरण इस नित्यकर्म के द्वारा संस्कारयुक्त किया जाता है" इस श्रुतिवाक्य के प्रमाण से आत्मयाजी अन्तःकरणशुद्धि के लिए नित्यकर्मों को करता है । "गर्भशुद्धि के लिए किए गये होमों से (बीजगत पाप निवृत्त हो जाते हैं)" इत्यादि प्रकरण में मनु नित्यकर्मों का प्रयोजन देहेन्द्रियसंघात का संस्कार दिखलाता है । जो आत्मयाजी उन कर्मों से संस्कारयुक्त हो गया है; वह

---

१. श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति श्रुतिशेषः । छां० उ० १।१।१० । २. मनुनेति । "निःश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत" । (१२-८२) इत्यारभ्य "वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः । अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम्" ॥ १२-८३ ॥ इत्यादिना कर्मविशेषानुक्त्वा "श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम्" ॥ १२-८६ ॥ इति चादिश्य सर्वभूतेषु चात्मानमित्यादिवदतेति शेषः । ३. आत्मयाजीति—नित्यकर्मानुष्ठायीत्यर्थः । विद्याफले सर्वफलान्तर्भावात्तयैव नित्यकर्मानुष्ठातायं सम्पन्नो न पृथक्कर्मानुष्ठानापेक्षाविद इति स्तुतिः । ४. आत्मयाजीति—आत्मसंस्कारार्थं यो नित्यानि कर्माणि करोति स समं पश्यन्नात्मयाजीति वाक्ये मनुना आत्मयाजीत्युक्त इत्यर्थः । ५. अन्तःकरणशुद्ध्यर्थम् । ६. अन्तःकरणम् । ७. नित्यकर्मणा । ८. म.स्मृ. १२।९१ । ९. प्रयुक्तत्वादिति—तथा च मनूक्तौ विद्यासमुच्चितस्य कर्मणो मुक्तिफलत्वमिष्टमित्ति शेषः । १०. अधिकारी । ११. तां दर्शयति—महतीति । १२. नित्यकर्मानुष्ठायी । १३. विदः आत्मयाजित्वम् । १४. बृ० उ० ४।४।९ । १५. परमात्मविदि । १६. नित्यकर्मानुष्ठायित्वरूपा १७. भूतपूर्वगतित्वमेव ।

इति श्रुतेः । तथा [1]गार्भै[2]र्होमैरित्यादिप्रकरणे कार्यकरणसंस्कारार्थत्वं नित्यानां कर्मणां [3]दर्शयति । संस्कृतश्च य आत्मयाजी तैः कर्मभिः[4] समं द्रष्टुं समर्थो भवति । तस्येह वा जन्मान्तरे वा [5]सममात्मदर्शनमुत्पद्यते । समं पश्यन्स्वाराज्यमधिगच्छतीत्येषोऽर्थः[6] । आत्मयाजिशब्दस्तु भूतपूर्वगत्या प्रयुज्यते । [7]ज्ञानयुक्तानां नित्यानां कर्मणां ज्ञानोत्पत्तिसाधनत्व-

प्रमाणयति—तथेति । गर्भसंबन्धिभिर्होमैर्मौञ्जीनिबन्धनादिभिश्च वैदिकमेवैनः[8] शमयतीत्यस्मि[9]न्प्रकरणे नित्यकर्मणां संस्कारार्थत्वं निश्चितमित्यर्थः । संस्कारोऽपि कुत्रोपयुज्यते तत्राऽऽह—संस्कृतश्चेति । यो हि नित्यकर्मानुष्ठायी स तदनुष्ठानजनितापूर्ववशात्परिशुद्धबुद्धिः सम्यग्धीयोग्यो भवति ।

[10] ‘[11]“महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः[12]”’

इति स्मृतेरित्यर्थः । कदा पुनरेषा सम्यग्धीरुत्पद्यते तत्राऽऽह—तस्येति । उत्पन्नस्य सम्यग्ज्ञानस्य फलमाह—सममिति । कथं पुनः[13] सम्यग्ज्ञानवत्यात्मयाजिशब्द[14] इत्याशङ्क्य पूर्वोक्तं स्मारयति—आत्मेति । किमीतीह[15] भूतपूर्वगतिराश्रितेति तत्राऽऽह—ज्ञानयुक्तानामिति । ऐहिकैरामुष्मिकैर्वा

सब जीवों में समानरूप से एक ही तत्त्व देखने के लिए समर्थ हो जाता है । उसे ही इस जन्म या जन्मान्तर में समानरूप से सर्वत्र विद्यमान आत्मा का दर्शन होता है । भावार्थ यह है कि समदर्शन करने वाला पुरुष सब प्राणियों में स्वाराज्य प्राप्त कर लेता है। यहाँ ‘आत्मयाजी’ शब्द का प्रयोग भूतपूर्व

---

१. “गार्भैर्होमैर्जातकर्मचूडामौञ्जीनिबन्धनैः । बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते” ॥ म० स्मृ० २।२७ ॥ गर्भसम्बन्धाद्बीजसम्बन्धाच्च संभावितं पापम् पुंसवनादिकर्मभिर्निवर्तते त्रैवर्णिकानामित्यर्थः । चौडेति पाठान्तरम् । २. गार्भैर्होमैरित्यत्र श्लोके कुल्लूकभट्टास्तु—ये संस्कारा गर्भशुद्धये क्रियन्ते ते गार्भाः होमग्रहणं संस्कारोपलक्षणं गर्भाधानादेः संस्कारस्याहोमत्वात् । जातस्य यत्कर्म मन्त्रवत् सर्पिः प्राशनादिरूपं तज्जातकर्म चौडं चूडाकरणकर्म मौञ्जीबन्धनमुपनयनम् । एतैर्बैजिकं प्रतिषिद्धमैथुनसंकल्पादिना पैतृकरेतोदोषाद्यद्यत्पापम् । गार्भिकं च अशुचिमातृगर्भवासजं तद्द्विजातीनामपमृज्यत इत्याहुः । ३. मनुः । ४. संस्कृत इत्यन्वयः । ५. प्रत्यक्त्वेन ब्रह्मविषयम् । ६. सर्वभूतेष्वित्यादिमनूक्तेः । ७. उपासनयुक्तानामिति भावः । ८. कर्म पापम् । ९. प्रकरणे इति—“वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् । कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च” ॥ २।१६ ॥ इति मानवे प्रकरणे । वैदिकैः वेदमूलैः, पुण्यैः शुभैः कर्मभिर्द्विजातीनां पावनः पापक्षयप्रयोजको गर्भाधानादिसंस्कारः कर्तव्यः, प्रेत्य संस्कृतस्य परलोके यज्ञादिफलसम्बन्धात् अत्र वेदाध्ययनाद्यधिकारात् । १०. “स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः”रिति पूर्वार्धम् । ११. महेति । महायज्ञास्तु—“ब्रह्मदेवमनुष्याणां पितॄणां भूतसंगिनाम् । यज्ञाः सन्ति जपो होमो दानं च तर्पणं बलिः ॥ अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् । होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनमिति” ॥ अत्र स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञश्चेत्यपि क्वचित्पाठः यज्ञैः दर्शादिभिः ब्राह्मी ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्या, स्वाध्यायेन वेदाध्ययनेन, व्रतैः मधुमांसवर्जनादिरूपैर्नियमैः, होमैः सावित्रचरुहोमादिभिः सायंप्रातर्होमैश्च, त्रैविद्येन तदाख्यव्रतेन अप्राधान्यादस्य पृथगुपन्यासः, इज्यया ब्रह्मचर्यावस्थायां देवर्षिपितृतर्पणरूपया गृहस्थावस्थायां पुत्रोत्पादनेन । महायज्ञैः पञ्चभिर्ब्रह्मयज्ञादिभिः यज्ञैः ज्योतिष्टोमादिभिः ब्राह्मी ब्रह्मप्राप्तियोग्या इयं तनुः तदवच्छिन्न आत्मा क्रियते इति कुल्लूकभट्टः । १२. म० स्मृ० २।२८ । १३. नित्यकर्मानुष्ठायिविषयत्वेन निर्णीतः । १४. प्रयुक्त इति शेषः । १५. सम्यग्ज्ञानवति ।

प्रदर्शनार्थम् ।

किं चान्यत् ।

“[1]ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः” ॥[2]

इति च देवसार्ष्टिव्यतिरेकेण भूताप्ययं दर्शयति । भूतान्यप्येति पञ्च वै । भूतान्य

---

[3]कर्मभिः शुद्धबुद्धेः श्रवणादिवशादैक्यज्ञानं मुक्तिफलमुदेति । [4]कर्म तु विद्यासंयुक्तमपि संसारफलमेवेति भावः ।

[5]तत्रैव हेत्वन्तरमाह—किंचेति । विद्यायुक्तमपि कर्म बन्धायैवेत्यत्र न केवलमु[6]क्तमेव [7]कारणं किंत्वन्यच्च तदुपपादकमस्तीत्यर्थः । [8]तदेव दर्शयति—ब्रह्मे ति । सात्त्विकीं सत्त्वगुणप्रसूतज्ञानसमुच्चित-कर्मफलभूतामिति यावत् । [9]अत्र हि विद्यायुक्तमपि कर्म संसारफलमेवेति सूच्यते ।

“[10]एष सर्वः समुद्दिष्ट[11]स्त्रिप्रकारस्य कर्मणः ।
त्रिविधस्त्रिविधः [12]कर्मसंसारः सार्वभौतिकः’ ॥”[13]

इत्युपसंहारादिति चकारार्थः । किंच—

“[14]प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति [15]सार्ष्टिताम्’

इति कर्मफलभूतदेवतासदृशैश्वर्यप्राप्तिमुक्त्वा [16]तदतिरेकेण—

‘निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यप्येति पञ्च वै’[17]”

इति [18]भूतेष्वप्ययवचनान्न समुच्चयस्य मुक्तिफलतेत्याह— देवसार्ष्टीति ।

गति से होता है क्योंकि उपासनायुक्त नित्यकर्म ज्ञानोत्पत्ति की साधना प्रदर्शित करने के लिए हैं।

इसके अलावा—“चतुर्मुख ब्रह्मा, मरीचि आदि सप्तर्षि, धर्म, महान् अव्यक्त; इन चारों गतियों को विचारवान् पुरुष उत्तम सात्त्विकी गति बतलाते हैं” । तथा “पाँच भूतों में लीन हो जाता है” यह स्मृति देवसार्ष्टि से भूतों में लय को पृथक् दिखलाती है । जो यहाँ “भूतान्यप्येति” के स्था

---

१. ब्रह्मा चतुर्वदनः, विश्वसृजो मरीच्यादिसप्तर्षयः, धर्मो यमः, महानव्यक्तमिति सांख्यप्रसिद्धतत्त्वद्वयस्याधिष्ठातृदेवताद्वयमचेतनगुणत्रयमात्रतत्त्वद्वयस्योत्तमसात्त्विकगतित्वानुपपत्तेः । एतां ब्रह्माद्यात्मिकाम् । २. म० स्मृ १२।५० । ३. निरभिसन्धिभिः । ४. साभिसन्धि । ५. यथोक्तकर्मणः संसारफलत्व एव । ६. ७५ पृष्ठभाष्ये न प्रमाणाभावादित्यादिनोक्तमेव युक्तिजातम् । ७. उपपादकम् । ८. उपपादकान्तरमेव । ब्रह्मेत्याद्युक्तस्मृतौ । १०. एष मनो वाक्कायरूपसाधनभेदेन त्रिप्रकारस्य कर्मणः सत्त्वादिभेदेन त्रिविधः ११. पुनः प्रथममध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधः सर्वप्राणिगतः समग्रो गतिविशेषः कात्स्न्र्येनोक्त इत्यर्थः । कृत्स्नः संसार इति पाठान्तरम् । १३. म०स्मृ० १२।५१ । १४. “प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं वैदिकम् । इह वामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते । निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते” ॥ १२।८९ इह काम्यं कर्म कारीर्यादि, अमुत्र तद् ज्योतिष्टोमादि, यत्कामनया क्रियते तत्संसारप्रवृत्तिहेतुत्वात् प्रवृत्तमित्यु इतरदुपासनायुक्तं निष्कामं संसारनिवृत्तिहेतुत्वान्निवृत्तम् । १५. साम्यम् । १६. तदतिरेकेण निर्ल स्वर्ग्रप्राप्त्यभावेन । १७. म०स्मृ० १२।९० । १८. भूतेषु व्यक्ताव्यक्तेषु पञ्चसु समुच्चयानुष्ठायिनोऽप्य कथनात् ।

त्येतीति पाठं ये कुर्वन्ति तेषां वेदविषये परिच्छिन्नबुद्धित्वाददोषः।

[२]न चार्थवादत्वमध्यायस्य ब्रह्मान्तकर्मविपाकार्थस्य [३]तद्व्यतिरिक्तात्मज्ञानार्थस्य च कर्मकाण्डोपनिषद्भ्यां तुल्यार्थत्वदर्शनात्। विहिताकरणप्रतिषिद्धकर्मणां च स्थावरश्वसूक-

'निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै'

इति पाठान्मुक्तिरेव समुच्चयानुष्ठानाद्विवक्षितेति चेन्नेत्याह—भूतानीति। ज्ञानमेव मुक्तिहेतुरिति प्रतिपादकोपनिषद्विरोधान्नायं पाठः साधीयानित्यर्थः।

ननु विग्रहवती देवतैव नास्ति मन्त्रमयी हि सा देवता शब्दप्रत्ययालम्बनमतो[४] ब्रह्मा विश्वसृज इत्यादेरर्थवादत्वान्न तद्बलेन नित्यकर्मणां मुक्तिसाधनत्वं निराकर्तुं शक्यमत आह—न चेति। ज्ञानार्थस्य संपश्यन्नात्मयाजीत्यादेरिति शेषः। किंच—

"अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसज्जंश्चेन्द्रियार्थेषु नरः [५]पतनमृच्छति ॥[६]
[७]शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥[८]
श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम्।
चण्डाल[९]पुल्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति" ॥[१०]

इत्यादिवाक्यैः प्रतिपादितफलानां प्रत्यक्षेणा[११]पि दर्शनाद्यथा [१२]तत्र नाभूतार्थवादत्वं तथा [१३]यथोक्ताध्यायस्यापि नाभूतार्थवादतेत्याह—विहितेति। किंच वङ्गादिदेशे [१४]छर्दिताश्यादिप्रेतानां प्रत्यक्ष-

पर "भूतान्यत्येति" ऐसा पाठ करते हैं; उनके पक्ष में उनकी बुद्धि ही वेद के विषय में संकुचित है, ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है।

ब्रह्मलोकपर्यन्त कर्मविपाक जिसका विषय है, उस कर्मफल से भिन्न आत्मज्ञान प्रयोजन वाले इस अध्याय को अर्थवाद नहीं कहा जा सकता। क्योंकि कर्मकाण्ड और उपनिषत् से इसकी तुल्यार्थता

---

१. "नान्यः पन्था विद्यते अयनाय"त्यादि श्रुत्यपरिज्ञानं सूचयति—परिच्छिन्नेति। निखिलवेदार्थमवगन्तुमपर्याप्तधीत्वादित्यर्थः। किंचन कर्मणा भूतात्ययस्तदविरोधित्वादतो ज्ञानादेव तत्सिद्धेः समुच्चयायोगादुक्तपाठ एव युक्त इति। २. ननूक्तद्वादशाध्यायस्य, षष्ठयर्थो घटकत्वम् ब्रह्मेत्यादिवाक्यस्य हिरण्यगर्भान्तो यः कर्मविपाकः (फलम्) तदर्थकस्य। ३. तद्व्यतिरिक्तेति—कर्मफलव्यतिरिक्तेत्यर्थः। ४. देवताविग्रहाभावात्। ५. पापम्। ६. म० स्मृ० ११।४४। ७. शरीरजैः कर्मदोषैरिति—शरीरकर्मजपापैरित्यर्थः। ८. म०स्मृ० १२।९। ९. ब्राह्मणाच्छूद्रकन्यायामूढायां निषाद उत्पद्यते यः संज्ञान्तरेण पारशव इत्युच्यते निषादाच्छूद्रायां जातः पुल्कसो भवति। १०. म० स्मृ० १२।५५। ११. शास्त्रवदित्यपेरर्थः। १२. अकुर्वन्नित्यादिवाक्येषु नाविद्यमानार्थप्रतिपादकत्वम्। १३. उक्तद्वादशाध्यायघटकब्रह्मेत्यादिवाक्यस्यापि। १४. छर्दिताश्यादीति—छर्दितं वान्तं तद्भोजी। आदिना यूकापूयशवपुरीषाशिनो गृह्यन्ते। तथा च मनुः—"वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः। अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः॥ मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक्। चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः" ॥ १२।७१-७२ ॥ इति। अत्रोल्कामुखकटपूतनचैलाशकास्तत्तज्जातीयप्रेतानां संज्ञाः।

रादिफल[1]दर्शनात् । वान्ताश्यादिप्रेतदर्शनाच्च ।

न च श्रुतिस्मृतिविहितप्रतिषिद्धव्यतिरेकेण विहितानि वा प्रतिषिद्धानि वा कर्माणि [2]केनचिदवगन्तुं शक्यन्ते । [3]येषामकरणादनुष्ठानाच्च प्रेतश्वसूकरस्थावरादीनि कर्म फलानि प्रत्यक्षानुमानाभ्यामुपलभ्यन्ते । न चैषामकर्मफलत्वं केनचिदभ्युपगम्यते तस्माद्विहिताकरणप्रतिषिद्धसेविनां यथैते कर्म[4]विपाकाः प्रेततिर्यक्स्थावरादयस्तथोत्कृष्टेष्वपि ब्रह्मान्तेषु कर्मविपाकत्वं वेदितव्यम् । तस्मात्स आत्मनो वपामुदखिदत्सोऽरोदीदित्यादिव

त्वाद[5]ध्ययनरहितानामपि स्त्रीशूद्रादीनां वेदोच्चारणदर्शनेन [6]ब्रह्मग्रहसद्भावावगमाच्च न ब्रह्मादिवाक्य स्यार्थवादतेत्याह—वान्तेति ।

ननु स्थावरादीनां श्रौतस्मार्तकर्मफलत्वाभावान्न तद्दर्शनेन [7]वचनानां [8]भूतार्थत्वं शक्यं कल्पयि तुमत आह—न चेति । सेवादिदृष्टकारण[9]साम्येऽपि [10]फलवैषम्योपलम्भादवश्यमतीन्द्रियं [11]कारण वाच्यम् । न च [12]तत्र श्रुतिस्मृती विहायान्यन्मानमस्ति । [13]तथा च श्रौतस्मार्तकर्मकृतान्येव [14]स्थावरादीनि फलानीत्यर्थः । संनिहितासंनिहितेषु स्थावरादिषु [15]प्रत्यक्षानुमानयोर्यथायोगं प्रवृत्तिरुन्नेया । स्थावराणां जीवशून्यत्वादकर्मफलत्वमिति केचित्तान्प्रत्याह—न चैषामिति । अस्मदादिवदेव वृक्षादीनां वृद्ध्यादिद र्शनात्सजीवत्वप्रसिद्धेस्तस्मात्पश्यन्ति पादपा इत्यादिप्रयोगाच्च[16] तेषां कर्मफलत्व[17]सिद्धिरित्यर्थः स्थावरादीनां कर्मफलत्वे सिद्धे फलितमाह—तस्मादिति । ब्रह्मादीनां पुण्यकर्मफलत्वेऽपि [18]प्रकृते स्यात्तदाह—तस्मादिति ।

देखी जाती है । तथा शास्त्रविहित कर्मों के न करने और प्रतिषिद्ध कर्मों के करने से स्थावर, कुत्ते सूकरादि योनियों की प्राप्ति प्रत्यक्षसिद्ध है । वमनभक्षण करने वाले को प्रेत की योनि प्राप्त करते दे ज़ाता है ।

इसके अतिरिक्त श्रुति-स्मृति द्वारा जो विहित एवं प्रतिषिद्ध कर्म हैं, उनसे भिन्न दूसरे वि अथवा प्रतिषिद्ध कर्मों का किसी मनुष्य को भी ज्ञान नहीं हो सकता (जिनके अनुष्ठान न करने करने से प्रत्यक्ष एवं अनुमान द्वारा प्रेत, कुत्ता, सूकर और स्थावरादि कर्मफल प्राप्त होते है । उ कर्मफलों को कोई मनुष्य मान लेता हो—ऐसी बात नहीं है । अतः शास्त्रविहित कर्मों के न करने प्रतिषिद्ध कर्मों का सेवन करने से ये प्रेत, तिर्यक् एवं स्थावरादि योनियाँ कर्मफल हैं, उसी प्र ब्रह्मापर्यन्त उत्कृष्ट पदों को भी कर्मफल ही समझना चाहिये । इसलिये "उसने अपना वीर्यपात किय

---

१. दर्शनादिति—स्थावरादियोनीनां प्रत्यक्षसिद्धत्वादित्यर्थः । २. पुंसा । ३. श्रुतिस्मृत्यतिरिक्तमाना नाम् । ४. फलानि । ५. अनधीतवेदानाम् । ६. ब्रह्मग्रहेति—ब्रह्मराक्षसादिप्रेतावेशेत्यर्थः । यथोक्तानां मानवानाम् । ८. विद्यमानार्थप्रतिपादकत्वम् । ९. फलानुगुण्येऽपीत्यर्थः । १०. फलवैगु यावत् । ११. अदृष्टरूपम् । १२. उक्तातीन्द्रियकारणे । १३. श्रुत्याद्यतिरिक्तमानासत्त्वे च । तत्र तेषामननुष्ठानद्वारा प्रयोजकत्वात् निषिद्धानां च हानार्थं श्रुत्याद्युक्ततया श्रौतत्वादिकम् । १५. प्र नुमानयोरिति—इदं लवङ्गादिफलं सकारणकम् फलवत्वात् सम्प्रतिपन्नवदित्याद्यनुमानमसंनिहितस्था विषयमुन्नेयम् । १६. महाभारते । १७. सिद्धिरिति—वृक्षादीनि कर्मफलानि सजीवत्वादुक्तप्रयोगा द्यनुमानेनेत्यर्थः । अस्मदादिवदिति निदर्शनम् १८. प्रकृते मनूक्तद्वादशाध्यायस्य शङ्किते अर्थवादत्वे ।

न्नाभूतार्थवादत्वम्।

[1]तत्राप्यभूतार्थवादत्वं मा भूदिति चेत्। भवत्वेवम्। न चैतावताऽस्य न्यायस्य बाधो भवति। न चास्मत्पक्षो वा दुष्यति। न च ब्रह्मा विश्वसृज इत्यादीनां काम्यकर्मफलत्वं शक्यं वक्तुम्। तेषां देवसार्ष्टितायाः फलस्योक्तत्वात्। तस्मात्साभिसंधीनां नित्यानां कर्मणां सर्वमेधाश्वमेधादीनां च ब्रह्मत्वादीनि फलानि।

येषां पुनर्नित्यानि निरभिसंधीन्यात्म[2]संस्कारार्थानि तेषां ज्ञानोत्पत्त्यर्थानि तानि।

[3]कर्मविपाकप्रकरणस्याभूतार्थवादत्वाभावे दृष्टान्तेऽपि तन्न स्यादिति शङ्कते—तत्रापीति। अङ्गी करोति—भवत्विति। कथं [4]तर्हि वैधर्म्यदृष्टान्तसिद्धिरत आह—न चेति। वैधर्म्यदृष्टान्ताभावमात्रेण कर्मविपाकाध्यायस्य नाभूतार्थवादतेत्यस्य [5]न्यायस्य नैव बाधः साधर्म्यदृष्टान्तादपि तत्सिद्धेरित्यर्थः। ननु 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्' इत्यादीनामभूतार्थवादत्वाभावे कथम[6]र्थवादाधिकरणं [7]घटिष्यते तत्राऽऽह—न चेति। तदघटनायामपि नास्मत्पक्षक्षतिस्तवैव तदभूतार्थवादत्वं त्यजतस्तद्विरोधादित्यर्थः। ननु कर्मविपाकप्रकरणस्यार्थवादत्वाभावेऽपि ब्रह्मादीनां काम्यकर्मफलत्वान्न ज्ञानसंयुक्तनित्यकर्मफलत्वं [8]ततो मोक्ष एव तत्फलमित्यत्र आह—न चेति। तेषां काम्यानां कर्मणामिति यावत्। देवसार्ष्टिताया देवैरिन्द्रादिभिः समानैश्वर्यप्राप्तेरित्यर्थः। उक्तत्वात् 'प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति सार्ष्टिताम्' इत्यत्रेति शेषः। ननु विद्यासंयुक्तानां नित्यानां कर्मणां फलं ब्रह्मादिभावश्चेत्कथं तानि ज्ञानोत्पत्त्यर्थान्यास्थीयन्ते तत्राऽऽह—तस्मादिति। कर्मणां मुक्तिफलत्वाभावस्तच्छब्दार्थः। साभिसंधीनां देवताभावे फले[9]ऽनुरागवतामिति यावत्।

नित्यानि कर्माणि श्रौतानि स्मार्तानि चाग्निहोत्रसंध्योपासनप्रभृतीनि निरभिसंधीनि फलाभिलाषविकलानि परमेश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणानि। आत्मशब्दो मनोविषयः। कर्मणां चित्त-

"वह रोया" इत्यादि प्रकरणों के समान इस अध्याय का अभूतार्थवादत्व नहीं है।

यदि कहो, वहाँ (प्रजापति ने वीर्यपात किया इत्यादि दृष्टान्तवाक्य में) भी अभूतार्थवादत्व नहीं मानना चाहिये। तो ऐसा ही होने दो; किन्तु इतने कहने मात्र से ही इस न्याय का बाध नहीं होता और न ही हमारे पक्ष में कोई दोष आता है। "ब्रह्मा विश्वसृजः" इत्यादि को काम्यकर्मों का फल भी नहीं बतलाया जा सकता क्योंकि उन काम्यकर्मों का फल देवसार्ष्टिता बतलाया गया है। इसलिये (कर्मों के मुक्तिरूप फल के अभाव में) ये ब्रह्मत्वादि, सकाम नित्यकर्मों और सर्वमेध अश्वमेध आदि यज्ञों के फल हैं।

किन्तु जिनके निष्काम नित्यकर्म मन की शुद्धि के लिये होते हैं, उनके लिए वे ज्ञान उत्पत्ति के निमित्तक होते हैं। जैसे शास्त्र का वचन है कि "यह शरीर ब्रह्मभाव की प्राप्ति के योग्य बनाया जाता

---

१. प्रजापतिरात्मनो वपामित्यादिदृष्टान्तवाक्येऽपि। २. संस्कारः शुद्धिः। ३. द्वादशाध्यायस्य मनुस्मृतेः। ४. दृष्टान्तेऽपि तदभ्युपगमे। ५. युक्तेः। ६. अर्थवादाधिकरणमिति—"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते" जै० सू० १।२।७। इत्याद्यधिकरणमित्यर्थः। ७. संगतं भविष्यति। ८. तेषां समुच्चितनित्यकर्मफलत्वाभावात्। ९. अधिकारिणामित्यर्थः। तथाच कर्तरि षष्ठी।

"ब्राह्मीयं क्रियते तनुः" इति स्मरणात् । तेषामा[1]रादुपकारकत्वान्मोक्षसाधनान्यपि कर्माणि भवन्तीति न विरुध्यते । यथा चायमर्थः षष्ठे जनकाख्यायिकासमाप्तौ [2]वक्ष्यामः । यत्तु विषदध्यादिवदित्युक्तं [3]तत्र प्रत्यक्षा[4]नुमानविषयत्वादविरोधः । यस्त्व[5]त्यन्तशब्दगम्यो[6]ऽर्थस्तत्र वाक्यस्याभावे तदर्थप्रतिपादकस्य न शक्यं कल्पयितुं विषदध्यादिसाधर्म्यम् ।

न च प्रमाणान्तरविरुद्धार्थविषये श्रुतेः प्रामाण्यं कल्प्यते यथा शीतोऽग्निः क्लेदयतीति । श्रुते तु तादर्थ्ये वाक्यस्य प्रमाणान्तरस्याऽऽभासत्वम् । यथा खद्योतोऽग्निरिति

शुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्त्यर्थत्वे प्रमाणमाह—ब्राह्मीति । कथं [7]तर्हि कर्मणां मोक्षसाधनत्वं केचिदाचक्षते तत्राऽऽह—तेषामिति । संस्कृतबुद्धीनामिति यावत् । कर्मणां परम्परया मोक्षसाधनत्वं कथं [8]सिद्धवदुच्यते तत्राऽऽह—यथा चेति । [9]अयमर्थस्तथेति शेषः । [10]निरस्तमप्यधिकविवक्षया पुनरनुवदति—यत्त्विति । विषादेर्मन्त्रादिसहितस्य जीवनादिहेतुत्वं प्रत्यक्षादिसिद्धमतो [11]दृष्टान्ते कार्यारम्भकत्वे विरोधो नास्तीत्याह—तत्रेति । कर्मणो विद्यासंयुक्तस्य कार्यान्तराम्भकत्वलक्षणोऽर्थः शब्देनैव गम्यते । [12]न च [13]तत्र [14]मानान्तरमस्ति । न च समुच्चितस्य कर्मणो मोक्षारम्भकत्वप्रतिपादकं वाक्यमुपलभ्यते तदभावे कर्मणि विद्यायुक्तेऽपि विषदध्यादिसाधर्म्यं कल्पयितुं न शक्यमित्याह—यस्त्विति । कर्मसाध्यत्वे च मोक्षस्यानित्यता स्यादिति भावः ।

'[15]अपाम सोमममृता अभूम' इत्यादिश्रुतेर्मोक्षस्य कर्मसाध्यस्यापि नित्यत्वमिति चेन्नेत्याह—न चेति । यत्कृतकं तदनित्यमित्यनुमानानुगृहीतं [16]तद्यथेहेत्यादिवाक्यं तद्विरोधेनार्थवादश्रुतेः स्वार्थेऽप्रामाण्यमित्यर्थः । प्रमाणान्तरविरुद्धेऽर्थे प्रामाण्यं श्रुतेर्नोच्यते चेदद्वैतश्रुतेरपि कथं प्रत्यक्षादिविरुद्धे स्वार्थे प्रामाण्यमित्याशङ्क्याऽऽह—श्रुते त्विति । तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य षड्विधतात्पर्यलिङ्गैः [17]सदद्वैतपरत्वे निर्धारिते [18]सद्भेदविषयस्य प्रत्यक्षादेरा[19]भासत्वं भवतीत्यर्थः । तदेव दृष्टान्तेन साधयति—यथेत्यादिना । यदविवेकिनां यथोक्तं प्रत्यक्षं तद्यद्यपि [20]प्रथमभावित्वेन प्रबलं निश्चितार्थं

है"। परम्परा से मोक्षप्रयोजक होने से वे कर्म मोक्ष के भी साधन होते हैं, इसलिये इसमें कोई असङ्गति नहीं है। जिससे यह मोक्ष में प्रयोजक है, उसे हम छठे अध्याय (उपनिषत् के चौथे अध्याय) की जनक आख्यायिका के अन्त में कहेंगे। एवं जो दृष्टान्त में विष-दधि आदि के समान ऐसा कहा गया है, वहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय होने के कारण विरोध नहीं है। तथा जो

---

[1] आरादुपेति—कर्मणां पारम्पर्येण मोक्षप्रयोजकत्वादित्यर्थः । [2] वक्ष्याम इति—बृ० उ० ४।४।२२ "तमेतं वेदानुवचनेने"त्यादिवाक्यव्याख्यानावसरे तद्भाष्य इति द्रष्टव्यम् । [3] दृष्टान्ते । [4] अनुमानेति । त्वद्भक्षितमिदं विषदध्यादि त्वज्जीवनपुष्ट्यादिप्रयोजकं मन्त्रशर्करादिसंस्कृतत्वान्मद्भक्षितविषदध्यादिवदिति परार्थानुमानं द्रष्टव्यम् । [5] मानान्तरागम्यत्वमत्यन्तत्वम् । [6] समुच्चितस्य कर्मणो मोक्षारम्भकत्वरूपोऽर्थः । [7] सर्वथैव मोक्षस्य कर्मासाध्यत्वे । [8] उपपादनमन्तरैवेत्यर्थः । [9] कर्मणां पारम्पर्येण मोक्षसाधनत्वरूपोऽर्थः । [10] समुच्चितस्य कर्मणो मोक्षफलकत्वम् । [11] विषादौ । [12] शब्देनैवेत्येवकारव्यावर्त्यं दर्शयति—न चेति । [13] उक्तेऽर्थे । [14] प्रत्यक्षादि । [15] पास्यामः । [16] "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवात्र पुण्यचितो लोकः क्षीयत" इति वाक्यमित्यर्थः । [17] परमार्थाद्वैतपरत्वे । [18] पारमार्थिकभेदविषयस्येति बोध्यम् । [19] मिथ्यात्वम् । [20] प्रथमप्रवृत्ततयाऽसंजातविरोधित्वेन ।

तलमलिनमन्तरिक्षमिति वा बालानां यत्प्रत्यक्षमपि तद्विषयप्रमाणान्तरस्य यथार्थत्वे निश्चिता निश्चितार्थमपि बालप्रत्यक्षमाभासी भवति।

[1]तस्माद्वेदप्रामाण्यस्याव्यभिचारात्तादर्थ्ये सति वाक्यस्य तथात्वं स्यात्। [2]न तु पुरुषमतिकौशलम्। न हि पुरुषमतिकौशलात्सविता रूपं न प्रकाशयति। तथा वेदवाक्यान्यपि नान्यार्थानि भवन्ति[3]। तस्मान्न मोक्षार्थानि कर्माणीति सिद्धम्। [4]अतः कर्मफलानां संसार-

---

च तथाऽपि तस्मिन्नेवाऽऽकाशादौ विषये प्रवृत्तस्याऽऽप्तवाक्यादेर्मानान्तरस्य यथार्थत्वे सति तद्विरुद्धं पूर्वोक्तमविवेकिप्रत्यक्षमप्याभासी भवति तथेदं द्वैतविषयं प्रत्यक्षाद्यद्वैतागमविरोधे भवत्याभास इत्यर्थः।

ननु तात्पर्यं नाम पुरुषस्य मनोधर्मस्तद्वशाच्चेदद्वैतश्रुतेर्यथार्थत्वं तर्हि प्रतिपुरुषमन्यथैव तात्पर्यदर्शनात्तद्वशादन्यथैव श्रुत्यर्थः स्यादित्याशङ्क्य दार्ष्टान्तिकं निगमयन्नुत्तरमाह—तस्मादित्यादिना। तादर्थ्यमर्थपरत्वं तथात्वं याथार्थ्यं शब्दधर्मस्तात्पर्यं तच्च षड्विधलिङ्गगम्यं [5]तथा च शब्दस्य पुरुषाभिप्रायवशान्नान्यथार्थत्वमित्यर्थः। [6]उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—न हीति। [7]विचारार्थमुपसंहरति—तस्मादिति। विद्यासंयुक्तस्यापि कर्मणो मोक्षारम्भकत्वासंभवस्तच्छब्दार्थः। मा भूत्कर्मणां मोक्षार्थत्वं [8]किं तावतेत्याशङ्क्य [9]ब्राह्मणारम्भं निगमयति—अत इति।

मानान्तरगम्यत्व कर्मसमुच्चित मोक्षारम्भकत्वरूप अर्थ है, उसके विषय में, उसके अर्थप्रतिपादक वाक्य के अभाव में, उसका विष और दधि आदि से साधर्म्य कल्पित नहीं किया जा सकता।

एवं जो विषय प्रमाणान्तर से विरुद्ध है, उसमें श्रुति के प्रामाण्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती, जैसे कोई प्रमाण से विरुद्ध बात कहे कि अग्नि शीतल होती है और भिगो देती है। वाक्य का वैसा अर्थ यदि श्रुतिसम्मत हो, तो अन्य प्रमाण प्रमाणाभास हो जाते हैं। जैसे मूर्खों को यह प्रत्यक्ष होता है कि खद्योत अग्नि है, अन्तरिक्ष का तल मलिन होता है, तथापि उनके विषय में यथार्थता का प्रमाणान्तर से निश्चय हो जाने पर वह मूर्खों के द्वारा प्रत्यक्ष किया हुआ अर्थ भी मिथ्या हो जाता है।

अतः वेद के प्रामाण्य का सर्वदा अव्यभिचार होने से उसका वैसा तात्पर्य होने पर ही वाक्य की यथार्थता होती है। पुरुषबुद्धि का धर्मरूप तात्पर्य वाक्य की यथार्थता में प्रयोजक नहीं है। पुरुषबुद्धिधर्मरूप तात्पर्य से यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि सविता रूप को प्रकाशित नहीं करता। पुरुषबुद्धिधर्मरूप तात्पर्य के कारण इसी प्रकार वेदवाक्य भी भिन्न अर्थ के बोधक नहीं हो सकते। इसलिये कर्मों का फल मोक्ष नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ। अतः (कर्मों के मोक्षार्थत्व अभाव

---

१. निर्धारिततात्पर्यकवाक्यविरुद्धस्याभासत्वादित्यर्थः। २. नत्विति—पुरुषबुद्धिधर्मरूपं तात्पर्यं नैववाक्ययाथार्थ्यप्रयोजकमित्यर्थः। ३. पुरुषमतिधर्मरूपतात्पर्यवशात्। ४. अतः—कर्मणां मोक्षार्थत्वाभावात्। ५. तथा चेति—षड्विधलिङ्गगम्यतात्पर्यस्य शब्दधर्मत्वे सतीत्यर्थः। ६. उक्तमर्थम्—पुरुषाभिप्रायवशाद्वस्तुधर्मस्यान्यथार्थत्वाभावरूपमर्थम्। ७. अर्थः प्रयोजनं फलम्। ८. किं तावता—तेषां तदर्थत्वाभावमात्रोपपादनेन किमायातम्। ९. सर्वस्य कर्मफलस्य संसारत्वप्रदर्शनायास्य ब्राह्मणस्यारम्भ इति प्रतिज्ञातं ब्राह्मणारम्भमुपसंहरतीत्यर्थः।

[1]अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच । मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम तस्याऽऽसीद्दुहिता गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत्सुधन्वाऽऽङ्गिरस इति तं यदा लोकानामन्तानपृच्छामाथैनमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्निति क्व पारिक्षिता अभवन्स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवन्निति ॥१॥

उसके बाद याज्ञवल्क्य से लह्य के पुत्र भुज्यु ने पूछा—(हे याज्ञवल्क्य !) ऐसा उसने कहा। हम अध्ययन के लिए व्रताचरण करते हुए मद्रदेश में विचर रहे थे कि कपि गोत्रोत्पन्न पतञ्चल नामक पुरुष के घर घूमते-घूमते पहुँच गये। उसकी पुत्री किसी गन्धर्व से आविष्ट थी। हमने उससे पूछा—तू कौन है ? अर्थात् तुम्हारा क्या काम और क्या स्वरूप है ? उसने कहा—मैं गोत्र से आङ्गिरस और नाम से सुधन्वा हूँ। जब हमने उससे भुवनकोशों के अन्त के विषय में पूछा और हमने अपनी प्रशंसा करते हुए उससे यह भी पूछा—परीक्षित कहाँ रहे ? (तब उस गन्धर्व ने हमें सभी बातें बता दीं। तात्पर्य यह कि हमने दिव्य प्राणी से ज्ञान प्राप्त किया है) वही हम तुमसे पूछते हैं कि परीक्षित कहाँ रहे ॥१॥

त्वप्रदर्शनायैव ब्राह्मणमारभ्यते ।

अथानन्तरमुपरते जारत्कारवे भुज्युरिति नामतो लह्यस्यापत्यं लाह्यस्तदपत्यं लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच । [2]आदावुक्तमश्वमेधदर्शनं समष्टिव्यष्टिफलश्चाश्व-

---

ब्राह्मणारम्भमेवं प्रतिपाद्य [3]तदक्षराणि व्याकरोति—अथेति । याज्ञवल्क्यमभिमुखीकृत्य भुज्युः स्वस्य पूर्वनिवृत्तां कथामकथयत् [4]तामवतारयितुमश्वमेधस्वरूपं तत्फलं च विभज्य दर्शयति—

होने से) कर्मफलों को संसारित्व प्रदर्शित करने के लिए यह ब्राह्मण आरम्भ किया जाता है।

"अथ" यानी जारत्कारव आर्तभाग के चुप हो जाने पर भुज्यु लाह्यायनि ने पूछा। लह्य की सन्तान लाह्य कही जाती है, उसकी सन्तान का 'लाह्यायनि' नाम पड़ा। उसने "हे याज्ञवल्क्य" ऐसा सम्बोधन करके पूछा। आरम्भ में (अश्वमेधब्राह्मण में) अश्वमेधदर्शन को ('उषा वा अश्वस्य शिरः' इस ग्रन्थ से) प्रतिपादन किया गया है। अश्वमेध क्रतु समष्टि और व्यष्टि फल प्रदान करने वाला है। वह केवल ज्ञानसंपादित हो अथवा ज्ञानसमुच्चित हो ; सर्व कर्मों का उत्कृष्ट विश्रान्तिस्थान है। भ्रूणहत्या से बढ़कर कोई पाप नहीं है, और अश्वमेध से श्रेष्ठ कोई पुण्य नहीं है—ऐसी स्मृति भी है।

---

१. "तृतीये ब्राह्मणे पुण्यफलावधिरुदीर्यते । अश्वमेधः परं पुण्यं ब्रह्मलोकः फलावधिः" ॥ इति वार्तिकसारे ३।३।१ । २. "उषा वा अश्वस्ये"त्यादावश्वमेधब्राह्मणे । ३. ब्राह्मणेति बोध्यम् । ४. कथाम् ।

मेधक्रतुः । [1]ज्ञानसमुच्चितो वा केवलज्ञानसंपादितो वा सर्वकर्मणां [2]परा काष्ठा । [3]भ्रूणहत्याश्वमेधाभ्यां न परं पुण्यपापयोरिति हि स्मरन्ति । तेन हि [4]समष्टिं [5]व्यष्टीश्च प्राप्नोति । [6]तत्र व्यष्टयो [7]निर्ज्ञाता [8]अण्डान्तरविषया अश्वमेधयागफलभूताः । [9]मृत्यु[10]रस्याऽऽत्मा भवत्येतासां देवतानामेको भवतीत्युक्तम्[11] ।

मृत्युश्चाशनायालक्षणो बुद्ध्यात्मा [12]समष्टिः प्रथमजो वायुः सूत्रं [13]सत्यं हिरण्यगर्भः ।

आदाविति । क्रतुरुक्त इति पूर्वेण संबन्धः । क्रतोर्द्वैविध्यमाह—ज्ञानेति । अश्वमेधस्य द्विधा विभक्तस्य सर्वकर्मोत्कर्षमुद्गिरति—सर्वकर्मणामिति । तस्य पुण्यश्रेष्ठत्वे मानमाह—भ्रूणहत्येति । समष्टिव्यष्टिफलश्चेत्युक्तं स्पष्टयति—तेनेति । अश्वमेधेन [14]सहकारिकामनाभेदेन समष्टिं [15]समनुगतरूपां व्यष्टीश्च व्यावृत्तरूपा [16]देवताः प्राप्नोतीत्यर्थः । काः पुनर्व्यष्टयो विवक्ष्यन्ते तत्राऽऽह—तत्रेति । अग्निरादित्यो वायुरित्याद्या व्यष्टयो देवताः सोऽग्निरभवदि[17]त्यादावण्डान्तर्वर्तिन्योऽश्वमेधफलभूता दर्शिता इत्यर्थः । का [18]तर्हि समष्टिर्देवतेत्युक्ते [19]तत्रैवोक्तं स्मारयति—मृत्युरिति ।

तामेव समष्टिरूपां देवतां प्रपञ्चयितुमिदं ब्राह्मणमिति वक्तुं पातनिकां करोति—मृत्युश्चेति । [20]प्राणात्मकबुद्धिधर्मो[21]ऽशनाया कथं मृत्योर्लक्षणं[22] तत्राऽऽह—बुद्ध्यात्मेति । [23]तर्हि बुद्धेर्व्यष्टित्वान्मृत्युरपि तथा स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—समष्टिरिति । प्रागेव व्यष्ट्युत्पत्तेरुत्पन्नत्वेन समष्टित्वं साधयति—प्रथमज[24] इति । सर्वाश्रयत्वं दर्शयति—सूत्रमिति । [25]तत्र वायुर्वै गौतमेत्यादि[26] वाक्यं प्रमाणमिति सूचयति—वायुरिति । [27]तथाऽपि कथं प्रथमजत्वं भूतानां[28] प्रथममुत्पत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—सत्यमिति । हिरण्यगर्भस्योक्तलक्षणत्वेऽपि किमायातं मृत्योरित्याशङ्क्याऽऽह—हिरण्यगर्भ इति । जगदेव समष्टि-

---

इसलिये उस अश्वमेध के द्वारा ही पुरुष समष्टि देवता और व्यष्टि देवता को प्राप्त करता है। व्यष्टि और समष्टि के मध्य अश्वमेध याग के फलभूत अण्ड के मध्य जिन देवताओं का आश्रय है; वे व्यष्टिरूप से प्रदर्शित किये गये हैं। "इसे मृत्यु प्राप्त नहीं करता, मृत्यु तो उसका आत्मा हो जाता है तथा वह इन देवताओं में से ही कोई एक हो जाता है (उस उपासक को यही फल प्राप्त हो जाता है)"—ऐसा कहा है।

---

१. उपासनासमुच्चित इति भावः। २. उत्कृष्टा विश्रान्तिभूः। ३. श्रेष्ठब्रह्महत्या। ४. देवताम्। ५.
देवताः। ६. व्यष्टिसमष्टिमध्ये। ७. प्रदर्शिताः। ८. अण्डान्तरेति—अण्डस्यान्तरं मध्यं विषय आश्रयो
यासां नत्वण्डाद्बहिरपीति परिच्छिन्नत्वमुक्तमासां हिरण्यगर्भापेक्षया तस्याण्डाद्बहिरपि व्याप्तत्वादिति ध्येयम्।
९. हिरण्यगर्भः। १०. उपासितुः। ११. बृ० उ० १।२।७। १२. सम्यग् अण्डाद्बहिरन्तश्च अष्टि-
र्व्याप्तिर्यस्येति समष्टिः। १३. सत्यमिति—सच्च त्यच्च सत्यम् तथा च न भूतसूत्रयोर्भेद इति भावः। १४.
नन्वेकेनाश्वमेधाख्यसाधनेन कथं फलद्वयं साध्यते इत्याशङ्क्याऽऽह—सहकारीति। कामनाभेदस्य चाश्वमेधसह-
कारित्वं तदनुष्ठातृसमवेतत्वमिति द्रष्टव्यम्। १५. हिरण्यगर्भरूपाम्। १६. अग्न्यादीन्। १७. बृ०
उ० १।३।१२। १८. व्यष्टीनां प्रदर्शितत्वेऽपि। १९. प्रथमाध्यायेऽग्निब्राह्मणे। २० प्राणे सत्येव शरीरे
बुद्धेः सत्त्वदर्शनाद् "यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राण" इति कौषीतकिश्रुतेश्च तयोरभेदाध्यवसायेनाह
—प्राणेति। २१. बुभुक्षा। २२. स्वरूपम्। २३. तर्हि—मृत्योर्बुद्ध्यात्मकत्वे। २४. व्यष्टिना तु
व्यष्टिभिः सहैवोत्पत्तव्यमिति भावः। २५. सूत्रत्वे। २६. बृ० उ० ३।७।२। २७. सर्वाश्रयत्वेऽपि।
२८. सूत्रापेक्षया।

[1]तस्य व्याकृतो विषयो यदात्मकं सर्वं द्वैतैकत्वं यः सर्वभूतान्तरात्मा लिङ्गममूर्तरसो यदाश्रितानि सर्वभूतकर्माणि यः कर्मणां कर्मसंबद्धानां च [2]विज्ञानानां परा गतिः [3]परं फलम्। [4]तस्य कियान्गोचरः कियती व्याप्तिः सर्वतः परिमण्डलीभूता सा वक्तव्या। तस्यामुक्ताय सर्वः संसारो बन्धगोचर[5] उक्तो भवति। तस्य च समष्टिव्यष्टयात्मदर्शनस्या[6]लौकिकत्वप्रदर्शनार्थमाख्यायिकामात्मनो वृत्तां [7]प्रकुरुते। [8]तेन च प्रतिवादिबुद्धिं [9]व्यामोहयिष्यामीति मन्यते।

व्यष्टिरूपं न सूत्रमित्याशङ्क्याऽऽह—यदात्मकमिति। द्वैतं व्यष्टिरूपमेकत्वं समष्टिरूपं [10]तत्सवं यदात्मकं तस्येति संबन्धः। [11]तस्योक्तप्रमाणत्वं प्रकटयति—यः सर्वेति। [12]विज्ञानात्मानं व्यावर्तयति—लिङ्गमिति। '[13]त्यस्य ह्येष रसः' इति श्रुतिमनुसृत्याऽऽह—अमूर्तेति। [14]तस्य साधनाश्रयत्वं दर्शयति—यदाश्रितानीति। तस्यैव फलाश्रयत्वमाह—यः कर्मणामिति। परा गतिरित्यस्यैव व्याख्यानं पर फलमिति। एवं भूमिकामारचय्यानन्तरब्राह्मणमवतारयति—तस्येति। प्रश्नमेव प्रकटयति—कियतीति। [15]सर्वतः परितो [16]मण्डलभावमासाद्य स्थितेति यावत्। ननु किमिति सा वक्तव्या तस्यामुक्तायामपि वक्तव्यसंसारावशेषादाकाङ्क्षाविश्रान्त्यभावादत आह—तस्यामिति। इयान्बन्धो नाधिको न्यूनो वेत्य[17]न्यव्यवच्छेदेन बन्धपरिमाण[18]परिच्छेदार्थं कर्मफलव्याप्ति[19]रत्रोच्यते [20]तत्परिच्छेदश्च मुक्तिहेतुरिति भावः। ब्राह्मणस्यैवं प्रवृत्तावपि किमिति भुज्युः स्वस्य पूर्वनिर्वृत्तां कथामाहेत्याशङ्क्याऽऽह—तस्य चेति। समष्टिव्यष्टयात्मदर्शनस्यालौकिकत्वप्रदर्शनेन वा किं[21] स्यात्तदाह—तेन चेति। इति मन्यते भुज्युरिति शेषः। जल्पे परपराजयेनाऽऽत्मजयस्येष्टत्वादित्यर्थः।

वह मृत्यु क्षुधारूप बुद्धयात्मा और समष्टि है, वह प्रथम उत्पन्न वायु, सूत्रात्मा, सत् और त्यत् हिरण्यगर्भ है। जितना भी व्यष्टि और समष्टिरूप यह जगत् है, व्याकृत प्रपञ्च उसका कार्य है। जो समस्त भूतों का अन्तरात्मा है, (विज्ञानात्मा का व्यावर्तक) लिङ्ग और अमूर्तरस है, सम्पूर्ण भूत जिसके आश्रित हैं, जो कर्मों एवं उनसे सम्बद्ध विविध उपासनाओं की परागति या पराकाष्ठा है। उस (केवल विद्यासंयुक्त कर्म के फलभूत समष्टि-व्यष्टिरूप हिरण्यगर्भ) का कितना कार्य है, सब ओर मण्डलाकार फैली हुई कितनी व्याप्ति है; उसे बतलाना चाहिये। उसके प्रतिपादित कर दिये जाने पर समस्त संसार ही बन्धनरूप प्रतिपादित हो जाता है। उस समष्टि-व्यष्टिरूप दर्शन का अलौकिकत्व

---

१. तस्येति—सूत्रस्य। व्याकृतो नामाद्यात्मनाऽभिव्यक्तः प्रपञ्चः। विषयः कार्यमित्यर्थः। २. उपासनानाम्। ३. परं फलमिति—तथा च समष्टिफलरूपत्वादस्य व्यष्टिफलानामाश्रयत्वमिति ध्येयम्। ४. तस्येति—केवलस्य विद्यासंयुक्तस्य च कर्मणः फलभूतस्य हिरण्यगर्भस्य समष्टिव्यष्टिरूपिण इत्यर्थः। ५. रूपः। ६. अलौकिकत्वप्रदर्शनार्थमिति—स्वविद्याया गुरूपदेशपूर्वकत्वं ज्ञापयितुं चेत्यपि बोध्यम्। ७. उपादत्ते। ८. तेन—तस्यालौकिकत्वप्रदर्शनेन। ९. दिव्यज्ञानविषयोऽयं प्रश्नः कथमुत्तरिष्यामीति व्यामोहो बोध्यः। १०. जगत्। ११. तस्योक्तप्रमाणत्वमिति—सूत्रस्य वायुर्वै गौतम तत्सूत्रमित्युक्तशास्त्रीयत्वमित्यर्थः। १२. प्रपञ्चम्। १३. वाय्वाकाशयोः बृ० उ० ३।३।२। १४. सूत्रस्येति बोध्यम्। १५. सर्वतः—सर्वा परित—अण्डाद्बहिरन्तश्चेति यावत्। १६. चक्राकारताम्। १७. न्यूनाधिकपरिहारेण। १८. परिज्ञानार्थम्। १९. भुज्युप्रश्ने। २०. बन्धपरिमाणपरिज्ञानञ्च। २१. फलम्।

मद्रेषु मद्रा नाम [1]जनपदास्तेषु चरका [2]अध्ययनार्थं [3]व्रतचरणा[4]च्चरका [5]अध्वर्यवो वा पर्यव्रजाम पर्यटितवन्तस्ते पतञ्चलस्य ते वयं पर्यटन्तः पतञ्चलस्य नामतः काप्यस्य कपिगोत्रस्य गृहानैम गतवन्तः । तस्याऽऽसीद्दुहिता गन्धर्वगृहीता गन्धर्वेण[6]ऽमानुषेण सत्त्वेन केनचिदाविष्टा गन्धर्वो वा [7]धिष्ण्योऽग्निर्ऋत्विग्देवता विशिष्टविज्ञानत्वादवसीयते । न हि [8]सत्त्वमात्रस्येदृशं विज्ञानमुपपद्यते । [9]तं सर्वे वयं परिवारिताः सन्तोऽपृच्छाम कोऽसीति कस्त्वमसि किंनामा [10]किंसतत्त्वः । सोऽब्रवीद्गन्धर्वः सुधन्वा नामत [11]आङ्गिरसो [12]गोत्रतः । तं यदा यस्मिन्काले [13]लोकानामन्तान्पर्यवसानान्यपृच्छामाथैनं गन्धर्वमब्रूम [14]भुवनकोशपरिमाणज्ञानाय प्रवृत्तेषु सर्वेष्वात्मानं [15]श्लाघयन्तः पृष्टवन्तो वयं कथं [16]क्व

धिष्ण्यत्वमग्नेरुपास्यत्वम् । 'अग्निर्वै देवानां होता' इति श्रुतिमाश्रित्याऽऽह—[17]ऋत्विगिति । यथोक्तगन्धर्वशब्दार्थसंग्रहे [18]लिङ्गमाह—विशिष्टेति । [19]तस्यान्यथासिद्धिं दूषयति—न हीति । अथैनमित्यादेरर्थं विवृणोति—भुवनेति । भवत्वेवं गन्धर्वं प्रति [20]भवतः [21]प्रश्नस्तथाऽपि [22]किमायातं तदाह—

प्रदर्शन करने के लिए भुज्यु आपबीती आख्यायिका का उपादान करता है और सोचता है कि इससे मैं अपने प्रतिवादी की बुद्धि को व्यामोह में डाल दूँगा ।

"मद्रेषु" अर्थात् मद्र नाम वाले देश में "चरकाः" अर्थात् वेद अध्ययन के लिए ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने वाले अध्वर्यु छात्र "पर्यव्रजाम" विचर रहे थे; "ते पतञ्चलस्य काप्यस्य" अर्थात् विचरते-विचरते कपिगोत्रीय पतञ्चल नामक पुरुष के घर "एम" अर्थात् पहुँचे। उसकी पुत्री "गन्धर्वगृहीता" अर्थात् गन्धर्वरूपी किसी अमानवीय जीव से आविष्ट थी । गन्धर्वशब्द से उपास्य अग्नि ऋत्विग्देवता का ग्रहण होता है क्योंकि केवल किसी प्राकृत प्राणीमात्र का ऐसा ज्ञान होना संभव नहीं है । हम सब ने चारों ओर से घेर कर "तमपृच्छाम" अर्थात् उस पतञ्चलदुहिता में आविष्ट गन्धर्व को पूछा—"कोऽसीति" अर्थात् तुम कौन हो, तुम्हारा नाम क्या है और तुम्हारा स्वरूप क्या है ? वह बोला—मैं सुधन्वा नाम का गन्धर्व हूँ और आङ्गिरस गोत्र में उत्पन्न हुआ हूँ । उसे 'यदा" यानी जिस समय,

---

१. देशविशेषाः । २. वेदाध्ययनार्थम् । ३. ब्रह्मचर्यव्रतेति बोध्यम् । ४. छात्राः । ५. अध्वर्यव इति—यजुःशाखाध्यायिन ऋत्विज इत्यर्थः । ६. अमानुषेणेति—पिशाचादिरूपेणेति यावत् । न तु गन्धर्वजातिदेवेनेत्यभिप्रायः । ७. उपास्यः । ८. प्राकृतस्य प्राणिमात्रस्य । ९. पतञ्चलदुहित्राविष्टं गन्धर्वम् । १०. किंस्वरूपः । ११. अनेन ब्रह्मराक्षसोऽहमित्यसूचि । १२. गोत्रेण । १३. भूरादीनाम् । १४. भुवनकोशो ब्रह्माण्डम् । १५. श्लाघयन्त इति—"अहमेतद्वद्म्यहमेतद्वेद्मीति प्रत्येकमात्मश्लाघा धन्या वयं यद्भुवनकोशपरिमाणं ज्ञातुमवसरमलप्स्महि इति वा श्लाघा समुन्नेया । १६. क्व पारिक्षिता अभवन्निति । वार्तिके यथा—"अप्रसिद्धाभिधानोक्त्या वादिव्यामोहसिद्धये । अश्वमेधकृतो वक्ति भुज्युः पारिक्षिता इति" ॥१४०॥ इति । परितः क्षीयते सर्वं ब्रह्महत्यादिदुरितमनेनेति परिक्षिदश्वमेधस्तद्याजिनः पारिक्षिता इति द्रष्टव्यम् ॥ १७. ऋत्विगिति—तथा च ऋत्विक् चासौ देवता ऋत्विजां देवता, देवतानां वा ऋत्विगिति विग्राह्यम् । १८. हेतुम् । १९. तस्यान्यथासिद्धिमिति—विशिष्टविज्ञान(त्व)स्य यथोक्तगन्धर्वशब्दार्थमन्तरेव सिद्धिमित्यर्थः । २०. भुज्योः । २१. तव प्रश्ने सत्यपि । २२. किमायातमिति—पृष्टेऽपि त्वया न किमप्युत्तरितं चेत्तेन किं तर्हि ते फलं लब्धमित्यर्थः ।

स होवाचोवाच वै सोऽगच्छन्वै [1]ते तद्यत्राश्वमेधयाजिनो[2] गच्छन्तीति क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति द्वात्रिꣳशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं [3]लोकस्तꣳ समन्तं पृथिवी [4]द्विस्ताव[5]त्पर्येति ताꣳ समन्तं पृथिवीं

उस याज्ञवल्क्य ने कहा, निःसंदेह उस गन्धर्व ने यही कहा था कि वे परीक्षित वहाँ चले ग जहाँ अश्वमेधयाजी जाते हैं। भुज्यु ने कहा—फिर अश्वमेधयाजी कहाँ जाते हैं ? (इस प्रश्न के उत्तर याज्ञवल्क्य ने भुवनकोश का वर्णन किया) यह लोक बत्तीस देवरथाह्न्य है, (आदित्य रथ की गति

पारिक्षिता अभवन्निति[6]। स च गन्धर्वः सर्वमस्मभ्यमब्रवीत्। तेन दिव्येभ्यो मया लब्ध ज्ञानं तत्तव नास्त्यतो[7] निगृहीतोऽसीत्यभिप्रायः। सोऽहं विद्यासंपन्नो [8]लब्धागमो गन्धर्वात्त्व त्वां पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवं[9]स्तत्त्वं किं जानासि हे याज्ञवल्क्य कथ पृच्छामि क्व पारिक्षिता अभवन्निति ॥ १ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्य उवाच वै [10]सः। वैशब्दः स्मरणार्थः। उवाच वै स गन्धर्व

स चेति। [11]तेन गन्धर्ववचनेनेति यावत्। दिव्येभ्यो गन्धर्वेभ्यः सकाशादित्येतत्। एतज्ज्ञानाभा त्वज्ञानमप्रतिभा अविप्लुत्वप्रतिज्ञाहानिश्चे[12]त्याह—अत इति। प्रष्टुरभिप्रायमुक्त्वा प्रश्नाक्षरा व्याचष्टे—सोऽहमिति। [13]प्रथमा तावत्क्व पारिक्षिता अभवन्नित्युक्ति[14]र्गन्धर्वप्रश्नार्था। द्वितीया तदनु रूपप्रतिवचनार्था। यो हि क्व पारिक्षिता अभवन्निति प्रश्नो गन्धर्वं प्रति कृतस्तस्य प्रत्युक्ति सर्व सोऽस्मभ्यमब्रवीदिति तत्र विवक्ष्यते। तृतीया तु मुनिं प्रति प्रश्नार्थेति[15] विभागः ॥ १ ॥

अज्ञानादि[16]निग्रहं परिहरन्नुत्तरमाह—स होवाचेति। स्मरणार्थो गन्धर्वा[17]ल्लब्धस्य ज्ञानस्येति

लोकों का "अन्तानपृच्छाम" यानी पर्यवसानविषयक प्रश्न किया, फिर ब्रह्माण्ड का परिमाण जानने लिए प्रवृत्त होने पर हम सबने अपने ज्ञान की प्रशंसा करते हुए उस गन्धर्व से पूछा। किस प्रका पूछा, यह कि पारिक्षित कहाँ रहे। उस गन्धर्व ने हमें सब कुछ बता दिया। इस प्रकार मैंने दिव्य जीवों ज्ञान प्राप्त किया है, वह तुम्हें प्राप्त नहीं है; उक्त ज्ञानाभाव के कारण तुम हरा दिये गये हो। गन्ध द्वारा विद्यासम्पन्न कर वेदार्थज्ञाता हो वही मैं तुमसे पूछता हूँ कि हे याज्ञवल्क्य ! क्या तुम जानते ह कि वह गन्धर्वोक्त पारिक्षित कहाँ रहे। बताओ मैं तुम्हीं से पूछता हूँ कि वह पारिक्षित कहाँ रहे ॥१

---

[1] ते—इदानींतनाः। [2] प्राक्तनाः। [3] लोकः ससागरः, लोक्यते सूर्यादिभिः प्रकाश्यत इति लोकः [4] द्विस्तावत्—लोकापेक्षया द्विगुणपरिमाणा। [5] पर्येति—परितो व्याप्य तिष्ठति। [6] इत्यश्वमेधया जिनां गतिं पृष्टवन्त इत्यर्थः। [7] उक्तज्ञानाभावात्। [8] लब्धवेदः। [9] तत्—गन्धर्वोक्तम्। [10] गन्धर्वः। [11] हेतौ तृतीया। [12] इति निग्रहस्थानत्रयमित्यर्थः। [13] क्व पारिक्षिता अभवन्निति त्रिरुक्तिरनर्थिका पुनरुक्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—प्रथमा तावदिति। [14] गन्धर्वं प्रति प्रश्नार्थेति पाठः। [15] इति विभाग इति। केचित्तु त्रिरुक्तेर्गतिमेवमाहुस्तथाहि—"त्रिर्याज्ञवल्क्यमुद्दिश्य प्रश्नोक्तिस्त्रासजन्मने। अत्रस्तो ऽतीन्द्रियज्ञानं दर्शयन्निदमुक्तवानिति" ॥ वा० सा० २८। [16] आदिना अप्रतिभाप्रतिज्ञाहानी। [17] भुज्युना

द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाऽऽकाशस्तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्तान्वायुरात्मनि धित्वा तत्रागमयद्यत्राश्वमेधयाजिनोऽभवन्नित्य[1]वमिव वै स वायुमेव

एक दिन में संसार के जितने भाग को मापा जाता है, उसे देवरथाह्न्य कहते हैं) उसे चारों ओर से द्विगुणी पृथिवी ने घेर रक्खा है। पुनः उस पृथिवी को द्विगुण समुद्र ने घर रक्खा है। अतः जितनी पतली छुरे की धार होती है या जितना छोटा मक्खी का पङ्ख होता है; बस उतना ही अण्डकपालों के मध्य में आकाशछिद्र है। परमेश्वर ने पङ्ख और पूँछ वाला पक्षी होकर उन परीक्षितों को वायु को दे दिया। उन्हें वायु ने अपना स्वरूपभूत बनाकर वहाँ पहुँचा दिया, जहाँ अश्वमेध यज्ञ करने वाले रहते हैं।

स्तुभ्यम्। अगच्छन्वै [2]ते पारिक्षितास्तत्तत्र क्व यत्र यस्मिन्नश्वमेधयाजिनो[3] गच्छन्तीति निर्णीते प्रश्न आह—क्व नु [4]कस्मिन्नश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति। [5]तेषां [6]गतिविवक्षया [7]भुवनकोशपरिमाणमाह—द्वात्रिंशतं वै द्वे अधिके त्रिंशद्द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्न्यानि

शेषः। किमुवाचेत्यपेक्षायामाह—अगच्छन्निति। अहोरात्रमादित्यरथगत्या यावान्पन्था मितस्तावान्देशो द्वात्रिंशद्गुणितस्तत्किरणव्याप्तः। स च चन्द्ररश्मिव्याप्तेन '[8]देशेन साकं पृथिवीत्युच्यते।

'रविचन्द्रमसोर्यावान्मयूखैरवभास्यते।
ससमुद्रसरिच्छैला तावती पृथिवी स्मृता"[9]॥

इति स्मृतेरित्याह—द्वात्रिंशतमित्यादिना। अयं लोक इत्यस्यार्थमाह—तावदिति। [10]तत्र

उस याज्ञवल्क्य ने कहा—निःसन्देह उस गन्धर्व ने यही कहा था कि वे पारिक्षित कहाँ चले गये। मन्त्र में "वै" शब्द स्मरण के लिये है। उस गन्धर्व ने निश्चय ही तुम से यह कहा था कि वे पारिक्षित "तत्" यानी वहाँ कहाँ चले गये। कहाँ? "यत्र" यानी जहाँ अश्वमेधयाजी जाते हैं। इस प्रकार प्रश्न का निर्णय होने पर श्रुति कहती है—"क्व नु" अर्थात् किस लोक में, अश्वमेध यज्ञ करने वाले जाते हैं। उन अश्वमेधयाजियों का मार्ग बतलाने की इच्छा से ब्रह्माण्ड का परिमाण बतलाया जाता है। "द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्न्यानि" अर्थात् यह ब्रह्माण्ड बत्तीस देवरथाह्न्य है। देव आदित्य का नाम है, उसके

---

१. आख्यायिकया निर्णीतमर्थं मुनिरुपसंहरत्येवमिति। हे भुज्यो सगन्धर्वस्तुभ्यं पारिक्षितगतिस्थानं सूत्रमेव प्रकथयामासेति समाप्तं मुनिवाक्यम्। यद्वाऽभवन्नित्यत्रत्येतिशब्द आख्यायिकासमाप्त्यर्थः। ते पूर्वेऽपि क्वेत्यादि प्रकृतप्रश्नस्यैव शेषभूतं श्रुतिरेव स्वमुखेनाह—एवमिति। एवमेव स गन्धर्वो वायुमेव क्रियाशक्तिप्रधानं सूत्रमेव प्रशशंस प्रशस्तमाचचक्षे अस्मिन् चराचरे जगत्यस्यैव सामान्यविशेषरूपेणान्तर्बहिश्च व्याप्यावस्थानाद् देवतान्तराणां त्वण्डाद्बहिर्निर्गमनाशक्तेरिति। २. इदानींतना। ३. प्राच्याः। ४. स्थाने। ५. अयाजिनाम्। ६. अध्वविवक्षयेति भावः। ७. भुवनकोशेति—ब्रह्माण्डेत्यर्थः। तत्परिमाणोक्तिस्त्वश्वमेधयाजिनामध्वोक्तावुपयोगितया भुवनात्मसूत्रध्यायिनां ध्यानविवक्षया वेति ध्येयम्। ८. अनेन सूर्यापेक्षया चन्द्रप्रकाशव्याप्तिरधिकेति प्रतिभाति। ९. म० स्मृ० ३-४। १०. लोकालोकयोर्मध्ये।

प्रशशꣳस तस्माद्वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद ततो ह भुज्युर्लाह्याय-निरुपरराम ॥२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार उस गन्धर्व ने परीक्षितों की गतिरूप वायु की ही प्रशंसा की थी। अतः अध्यात्मादि भाव तीन प्रकार की वायु ही व्यष्टि है और सूत्र (हिरण्यगर्भ) रूप से वायु ही समष्टि है। ऐसा जो जान है; वह पुनर्मृत्यु को जीत लेता है अर्थात् एक बार मर कर फिर नहीं मरता। तब अपने प्रश्न उत्तर सुन कर लाह्यायनि भुज्यु चुप हो गया ॥ २ ॥

॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

देव आदित्यस्तस्य रथो देवरथस्तस्य रथस्य गत्याऽह्ना[1] यावत्परिच्छिद्यते देशपरिमा [2]तद्देवरथाह्न्यं [3]तद्द्वात्रिंशद्गुणितं देवरथाह्न्यानि तावत्परिमाणोऽयं लोको लोकालो गिरिणा [4]परिक्षिप्तः। [5]यत्र वैराजं शरीरं [6]यत्र च कर्मफलोपभोगः प्राणिनां स एष लो एतावाँल्लोकोऽतः[7] परमलोकस्तं लोकं समन्तं समन्ततो लोकविस्ताराद्द्विगुणपरिमा

लोकभागं विभजते—यत्रेति। उक्तं लोकमनूद्यावशिष्टस्यालोकत्वमाह—एतावानिति। तमिति प्रती मादाय व्याचष्टे—लोकमित्यादिना। अन्वयं दर्शयितुं तं लोकमिति पुनरुक्तिः। [8]तत्र पौराणिकसंमति

रथ को देवरथ कहते हैं। देवरथ की गति से एक दिन-रात में संसार का जितना भाग मापा जाता है उतना एक देवरथाह्न्य कहलाता है, उसको बत्तीस से गुणा कर दिये जाने पर बत्तीस देवरथाह्न्य जाते हैं। लोकालोक पर्वत से चारों ओर घिरा हुआ सागरसहित यह लोक इतने परिमाण वाला है यह जो वैराजलोक शरीर है और जिसमें प्राणियों के कर्मफल का उपभोग होता है, वह यही लोक है इतना मात्र ही लोक है, इससे परे समस्त प्राणियों से शून्य निरालोक है। "तं समन्तं" यानी उस लो

---

[1] अह्नेत्युपलक्षणम्। अहोरात्रगत्येत्यर्थः। [2] एकम्। [3] देवरथा इति बोध्यम्। [4] परितो व्याप्तः [5] यत्र वैराजमिति—सप्तम्यर्थोऽविवक्षितः। यल्लोकशब्दितं वैराजं शरीरमित्यर्थः। वार्तिके यथा—"शरी मेतद्वैराजं देवताकरणं महदिति" ॥ १४४ ॥ अग्निर्मूर्द्धेत्यादिश्रुतिमाश्रित्य विशिनष्टि—देवतेति। मह स्थूलसमष्टित्वम्। [6] तस्यैव भोगभूमित्वं दर्शयति—यत्र चेति। वार्तिके हि—"इयानेव तु देशोऽयं प्राणि भोगसिद्धिकृत्। अग्न्यादिदेवतानां च व्याप्तिरेतावती मता" ॥ १४५ ॥ इति। प्राणिनामिति विशेषणात्ततो ऽन्यत्रापि देवताव्याप्तिरित्याशङ्क्योक्तमग्न्यादीति। अयमेव भाष्यस्थचार्थः। [7] अतः परम्—प्रदर्शितलोका त्परमलोकः निरालोकः। तदुक्तं वार्तिके—"लोकात्परं निरालोकः सर्वप्राणिविवर्जितः" ॥ १४६ ॥ इति तस्य भोगभूमित्वं व्यावर्तयति—सर्वेति। [8] तत्रेति—तां पृथिवीं समन्तं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येती श्रोतव्ये।

विस्तारेण परिमाणेन तं लोकं [1]परिक्षिप्ता पर्येति पृथिवी। तां पृथिवीं [2]तथैव समन्तं द्विस्तावद्द्विगुणेन परिमाणेन समुद्रः [3]पर्येति यं घनोदमाचक्षते पौराणिकाः।

* तत्राण्डकपालयोर्विवरपरिमाणमुच्यते। येन विवरेण मार्गेण [4]बहिर्[5]निर्गच्छन्तो

माह—यं घनोदमिति। उक्तं हि—

‘अण्डस्यास्य समन्तात्तु संनिविष्टोऽमृतोदधिः।
समन्ताद्घनतोयेन ‘धार्यमाणः ‘स तिष्ठति’ इति॥

तद्यावतीत्यादेस्तात्पर्यमाह—तत्रेति। लोकादिपरिमाणे यथोक्तरीत्या स्थिते सतीति यावत्। कपालविवरस्यानुपयुक्तत्वात्किं तत्परिमाणचिन्तयेत्याशङ्क्याऽऽह—येनेति। व्यवहारभूमिः सप्तम्यर्थः।

को चारों ओर से लोकविस्तार से द्विगुण परिमाण विस्तार से पृथिवी “पर्येति” व्याप्त किये हुए है। इसी प्रकार (पृथ्वीलोक को तरह ही) द्विगुण परिमाण से पृथिवी को समुद्र घेरे हुए है, जिसे पौराणिक ‘घनोद’ कहते हैं।

अब अण्डकपालों के छिद्रों का परिमाण बताया जाता है, जिस छिद्ररूपी मार्ग से

---

१. परितो व्याप्ता भवति। २. लोकं पृथ्वीव। ३. परितो व्याप्य तिष्ठति। ४. बहिर्व्याप्नुवन्तीत्यन्वयः। ५. बहिरिति—प्रस्तुतं समुद्रमतिक्रम्य लोकादेरन्यत् अण्डाद्बहिः स्थितं यद्गन्तव्यं तद्व्याप्नुवन्तीत्यर्थः। तथा च गन्तव्यप्राप्त्युपयुक्ताण्डकपालसन्धिच्छिद्रस्योपमानमनेन वाक्येनोच्यमानं नानुपयुक्तमिति। ६. पूर्णः। ७. अमृतोदधिः।

---

*तत्राण्डकपालयोरित्याद्यश्वमेधयाजिनोऽभवन्नित्यत्र भाष्ये वार्तिकाचार्याः आहुः तद्यथा—“तं समुद्रं समुत्तीर्य यदन्यत्परतस्ततः। गन्तव्यमुपमानोक्तिः क्रियते तस्य साम्प्रतम्॥ कपालसंधिगं व्योम सामर्थ्यात्परिमाणतः। यावतीत्युपमोक्तेह श्रुत्याऽऽविष्क्रियतेऽनया॥ तेन पारिक्षितान्रवेन चित्यात्मत्वमुपागतान्। अन्तः संस्थाप्य नयति समष्टिव्यष्टितामसुः॥ चित्यात्माऽत्र सुपर्णः स्यादादित्यात्माऽथवोच्यते। इमं देशं यतः प्राप्तानादित्याद्युक्तवर्त्मना॥ एवं पारिक्षितान्सर्वानग्निरिन्द्रो वियत्पथा। निर्गमय्याण्डतः प्रादाद्वायवे सूक्ष्मरूपिणे॥ अश्वमेधमखापूर्वं देवताऽग्निरिहोच्यते। वायुवेष्टनमेतच्च यदपूर्वमिहोदितम्॥ वायुरेव ततोऽपूर्वमभिव्यक्ततनुर्मतः। अनन्तरमपूर्वस्य कार्यं निर्दिश्यतेऽधुना। पारिक्षितानथाऽऽदाय वायुः स्वात्ममाश्रयान्। आपाद्य गमयामास तत्र प्राणैकरूपिणः॥ अश्वमेधकृतो यत्र पूर्वे तस्थुरितो गताः। वाय्वात्मा गमयामास समष्टिव्यष्टिताप्तये” ॥ १५४-१६२॥ तद्यावती क्षुरस्येत्याद्यवतारयति—तमिति। प्रस्तुतं समुद्रमतिक्रम्य लोकादेरन्यदण्डाद्बहिः स्थितं यद्गन्तव्यं तद्गत्युपयुक्ताण्डकपालसंधिच्छिद्रस्योपमानमनेनोच्यत इत्यर्थः। ननु तावानित्याकाशान्तरमेवोच्यते न कपालच्छिद्रं नियामकाभावादतो न तस्येयमुपमेत्याशङ्क्याऽऽह—कपालेति। समुद्रात्परस्तादण्डकपालच्छिद्रातिरेकेणातिसूक्ष्मार्थानुपपत्तेरण्डकपालसंधिस्थमेव व्योमतावानित्यादिनोच्यतेऽतः संधिस्थमेव नभो दृष्टान्तश्रुत्या परिमाणविशिष्टतया स्फुटयते नाऽऽकाशान्तरमर्थापत्तिविरोधादित्यर्थः॥ तानिन्द्र इत्यस्य विवक्षितमाह—तेनेति॥ सुपर्णशब्दार्थमाह—चित्येति। अस्मिन्वाक्ये विराट्सूत्रं वा सुपर्णः स्यादित्यत्र हेतुमाह—इममिति। अर्चिराद्युक्तमार्गेण ब्रह्मलोकं प्राप्याण्डकपालसमीपदेशं प्राप्तानश्वमेधवतो बहिर्नेतुं शक्तिर्यतः सूत्रविराजोरेवातस्तयोरन्यतरस्यैव सुपर्णतेत्यर्थः॥ सूत्रस्यान्तरिव बहिरपि व्याप्तेर्बहिर्नयनसामर्थ्येऽपि विराजोऽन्तरेव सत्त्वात्कथं तच्छक्तिरित्याशङ्क्येन्द्रशब्दार्थं वदन्वायवे प्रायच्छदित्यस्यार्थमाह—एवमिति। इन्द्रस्य चित्यात्मनो विराट्सूत्र-

व्याप्नुवन्त्यश्वमेधयाजिनः । तत्तत्र यावती यावत्परिमाणा क्षुरस्य धाराऽग्रं याव सौक्ष्म्येण युक्तं मक्षिकायाः पत्रं तावांस्तावत्परिमाणोऽन्तरेण मध्येऽण्डकपालयोराका [1]छिद्रं तेनाऽऽकाशेने[2]त्येतत् । तान्पारिक्षितानश्वमेधयाजिनः [3]प्राप्तानिन्द्रः परमेश्व योऽश्वमेधे[5]ऽग्निश्चितः[6] सुपर्णो यद्विषयं दर्शनमुक्तं [7]तस्य प्राची दिक्शिर इत्यादिना सुप पक्षी भूत्वा पक्षपुच्छाद्यात्मकः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छ[8]न्मूर्तत्वान्नास्त्यात्मनो गति स्तत्रेति । तान्पारिक्षितान्वायुरात्मनि धित्वा स्थापयित्वा स्वात्मभूतान्कृत्वा त

परमात्मानं व्यावर्तयति—योऽश्वमेध इति । सुपर्णशब्दस्य श्येनसादृश्यमाश्रित्य [9]चित्येऽग्नौ प्रवृ दर्शयति—यद्विषयमिति । उक्तार्थं [10]पदमनुवदति—सुपर्ण इति । भूत्वेत्यस्यार्थमाह—पक्षेति । न चित्योऽग्निरण्डाद्बहिरश्वमेधयाजिनो गृहीत्वा स्वयमेव गच्छतु किमिति तान्वायवे प्रयच्छति तत्राऽ —मूर्तत्वादिति । आत्मनश्चित्यस्याग्नेरिति यावत् । तत्रेत्यण्डाद्बाह्यदेशोक्तिः । इति युक्तं वाय

निकलने वाले अश्वमेधयाजी बाहर व्याप्त होते हैं। वहाँ "यावती" अर्थात् जितने परिमाण वाला छुरे क "धारा" यानी अग्रभाग होता है "यावद्वा मक्षिकायाः पत्रम्" अर्थात् जितने सूक्ष्म मक्खी के पङ्ख हों हैं, "तावानन्तरेण" उतने परिमाण वाले अण्डकपालों के मध्य से आकाश का अवकाश होता है। उ आकाश से वे जाते हैं। "तान्" अर्थात् उन प्राप्त हुए पारिक्षित अश्वमेधयाजियों को 'इन्द्रः' यानी परमे श्वर जो अश्वमेधयाग में उपासित विराट् अग्नि ही है, "सुपर्णः" जिसके विषय में "उसकी प्राच दिशा शिर है" इत्यादि श्रुति प्रमाण है—"सुपर्णो भूत्वा" पक्ष पुच्छादिरूप सुपर्ण पक्षी होकर वा को दे दिया क्योंकि स्थूल होने के कारण उसकी वहाँ अपनी गति नहीं होती, वायु ने उन पारिक्षितों क अपने में 'धित्वा' यानी स्थापित कर अथवा उन्हें स्वात्मभूत करके "तत्र" यानी वहाँ पर पहुँच

रूपस्य बहिर्गमयितृत्वयोगाद्वायवे स तानदादित्यर्थः । ननु सूत्रस्य वायोश्च वायुर्वै गौतम तत्सूत्रमित्यैक्यश्रु सूत्रात्मा कुतो बहिरण्डतो निर्गमय्य तान्वायवे प्रादादिति तत्राऽऽह—सूक्ष्मेति । ज्ञानशक्तिमतः सूत्रस्य क्रिया शक्तिमन्तं स्वात्मानमेव वायुं प्रति क्रियाज्ञानवतां नयनमुचितमिति भावः ॥ अथेन्द्रस्य यथोक्तस्यापि कथमश्व मेधयाजिषु फलदातृतेत्याशङ्क्य प्रकृतमग्निशब्दार्थं विशदयति—अश्वमेधेति । इहेति प्रकृतवाक्योक्तिः अग्निरूपा देवता चेदश्वमेधजन्यापूर्वत्वेनोच्यते तर्हि तदेव धर्मं जैमिनिरिति न्यायेन फलदमस्तु कृत वायुनेत्या शङ्क्याऽऽह—वायुवेष्टनमिति । यदत्रापूर्वं तद्वायुशरीरमेवेति यावत् ॥ वायुः शरीरी शरीरमपूर्वमिति भेदादेकस्यैव फलदत्वसंभवे किं द्वाभ्यामित्याशङ्क्याऽऽह—वायुरिति । अश्वमेधान्निर्वृत्तमपूर्वं फलदानार्थमभि व्यक्तप्रभावो वायुरेवेति नानयोर्भेद इत्यर्थः । तानित्यादेस्तात्पर्यमाह—अनन्तरमिति । अश्वमेधकृतां वाय प्रदानादिति शेषः । कार्यं फलम् ॥ अक्षराणि व्याचष्टे—पारिक्षितानिति । विराजा सूत्रेण वा प्रदानानन्तर्य मथशब्दार्थः । कुत्र गमितवानित्यपेक्षायामाह—तत्रेति । प्राणैकरूपिण इत्युपास्त्या देवभावमापन्नत्वं दे भूत्वेत्यादिश्रुतेर्दर्शयति । तत्र गतिमनूद्य तत्फलमाह—वाय्वात्मेति ॥

---

[1] अवकाशः । [2] इत्येतत्—इति शेष इति यावत् । [3] यदर्थमिदं सर्वमुक्तं तदिदानीं प्रदर्शयति—तानिति । तेनाकाशद्वारेण । इन्द्रो विराडात्मभूतोऽश्वमेधे श्येनाकारेण चितः (उपासितः) अग्निः सुप पक्षपुच्छाद्यात्मकः । [4] स्वसमीपम् । [5] विराट् । [6] उपासितः । [7] बृ० उ० १।२।३ । स्थूलत्वात् । [9] उपास्ये विराडग्नौ । [10] सुपर्णपदम् ।

तस्मिन्नगमयत् । क्व । यत्र पूर्वेऽतिक्रान्ताः पारिक्षिता अश्वमेधयाजिनोऽभवन्निति । एवमिव वा एवमेव स गन्धर्वो वायुमेव प्रशशंस पारिक्षितानां गतिम् ।

समाप्ताऽऽख्यायिका । आख्यायिकानिर्वृत्तं त्वर्थमाख्यायिकातोऽपसृत्य श्रुतिः स्वमुखेनैवाऽऽचष्टेऽस्मभ्यम् । यस्माद्वायुः स्थावरजङ्गमानां [1]भूतानामन्तरात्मा बहिश्च[2] स एव तस्मादध्यात्माधिभूताधिदैव[3]भावेन विविधा याऽष्टिर्व्याप्तिः स वायुरेव । तथा [4]समष्टिः

प्रदानमिति शेषः । आख्यायिकासमाप्ताविति शब्दः । परितो दुरितं क्षीयते येन स परिक्षिदश्वमेधस्तद्याजिनः पारिक्षितास्तेषां [5]गतिं वायुमिति संबन्धः ।

मुनिवचने वर्तमाने कथमाख्यायिकासमाप्तिस्तत्राऽऽह—समाप्तेति । [6]वायुप्रशंसायां हेतुमाह—

दिया । कहाँ पर पहुँचा दिया ? "यत्र" अर्थात् जहाँ पहले अतिक्रमित पारिक्षित रहे । इस प्रकार "सः" अर्थात् उस गन्धर्व ने, पारिक्षितों की 'वायुमेव' अर्थात् गतिरूप व्रायु की ही प्रशंसा की ।

यहाँ आख्यायिका का व्याख्यान तो पूर्ण हुआ । आख्यायिका से निकलने वाला जो अर्थ है, उसे आख्यायिका से निकाल कर श्रुति स्वमुख से हो प्रतिपादित करती है क्योंकि वायु ही स्थावर जङ्गम प्राणियों की आत्मा है, वह आत्मा बाहर भी है, अतः अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवभाव से व्यावृत रूप के द्वारा जो भी "व्यष्टिः" यानी विविधा अष्टिं या व्याप्ति है, वह वायुरूप गति ही । तथा "समष्टिः" यानी अनुगतरूप से व्याप्ति केवल सूत्रात्मा से वायुरूप गति ही है । "एवं" यानी इस प्रकार जो

---

१. भूतानामिति—इदमुपलक्षणमण्डस्यापि । तदुक्तं वार्तिके—"वायुं मुक्त्वा बहिर्यस्मान्नान्यस्या विद्यतेऽबहिः । देवताया गतिस्तस्माद्वायुर्ज्यायानिहैकलः ।। यत एवमतो ज्ञेयो वायुरेव न चापरः । व्यष्टिः समष्टिरित्येवमण्डादन्तर्बहिश्च सः ।। व्याप्तिर्विशेषरूपेण व्यष्टिरित्यभिधीयते । सामान्येन समष्टिश्च वायुरेव द्विधा स्थितः ।। वस्तु यल्लक्ष्यते किञ्चिज्जगत्यस्मिंश्चराचरे । सामान्येन विशेषेण वायुरेव तदीक्ष्यताम् ।। न सामान्यविशेषाभ्यां वायोरन्यस्य वस्तुनः । संबन्धो वायुरेवेति सावधारणवाक्यतः ।। अन्ययोगव्यवच्छेदे प्रशंसेयमसोर्भवेत् । न त्वयोगव्यवच्छेद उत्कर्षस्तादृगिष्यते ।। अश्वमेधक्रतोरेष समष्टिव्यष्टिलक्षणः । महिमाऽऽविष्कृतः श्रुत्या विद्यायुक्तस्य संभ्रमादिति" ।। १६६-१७२ ।। अण्डाद्बहिरबहिश्च वायुवद्देवतान्तरस्य यतो न गतिः किन्त्वण्डान्तरेवातो देवानां मध्ये वायुरेव महानिति तत्प्रशंसेत्यर्थः ।। तस्मादित्यादेरर्थमाह—यत इति । वायोर्ज्यायस्त्वेन प्रशस्यमानत्वादसावेव बहिर्व्याप्त्या समष्टिरन्तर्व्याप्त्या व्यष्टिश्चेत्यर्थः । अण्डादन्तर्बहिश्चेति व्यष्टिसमष्टिपदयोर्व्याख्यानम् ।। वायुरेवेत्यादेरर्थमाह—व्याप्तिरिति । सामान्येन व्याप्तिरिति पूर्वेण संबन्धः । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—वायुरेवेति ।। अन्यस्याप्युभयात्मनः संभवात्कुतोऽवधारणमित्यत आह—वस्त्विति ।। कथमेतदर्थसिद्धिरित्याशङ्क्यावधारणवशादित्याह— नेति ।। अयोगव्यवच्छेदेनापि तद्घटिष्यते नेत्याह—अन्येति । तादृगिति अन्ययोगव्यवच्छेदकृतोत्कर्षवदित्यर्थः ।। वायोरुभयरूपत्वनिरूपणं प्रकृतप्रश्नप्रत्युक्त्यनुपयुक्तं तेन तत्प्रशंसाऽपि वृथेत्याशङ्क्य विशिष्टाश्वमेधफलस्यैव श्रुत्योच्यमानत्वान्मैवमित्याह—अश्वेति । आख्यायिकातोऽपसृत्य स्वेनाऽऽत्मना श्रुतिर्यथोक्तमहिमानमाहेति तस्यास्तत्र तात्पर्यं सूचयति—संभ्रमादिति ।। २. आत्मा । ३. भावेनेति —व्यावृत्तरूपतयेति शेषः । ४. अनुगततया व्याप्तिः । ५. गन्तव्यम् । ६. वायुप्रशंसायामिति—अग्न्यादिष्वपि विद्यमानेषु कुतो वायोरेव प्रशंसेत्याशङ्क्येत्यादिः ।

केवलेन सूत्रात्मना वायुरेव । एवं वायुमात्मानं समष्टिव्यष्टिरूपात्मकत्वेनो[1]पगच्छति य ए
वेद । तस्य किं फलमित्याह—अप पुनर्मृत्युं [2]जयति सकृन्मृत्वा पुनर्न म्रियते । तत
आत्मनः प्रश्ननिर्णयाद्भुज्युर्लाह्यायनिरु[3]परराम ॥ २ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ । पुण्यपापप्रयुक्तैर्ग्रहातिग्रहैर्गृहीतः पुनः पुनर्ग्रहा
तिग्रहांस्त्यजन्नुपाददत्संसरतीत्युक्तम्[4] । [5]पुण्यस्य च पर उत्कर्षो व्याख्यातो व्याकृतविषय
समष्टिव्यष्टिरूपो [6]द्वैतैकत्वात्मप्राप्तिः । ❀ [7]यस्तु ग्रहातिग्रहैर्ग्रस्तः संसरति सोऽस्ति व

यस्मादिति । किं पुनर्यथोक्तवायुतत्त्वविज्ञानफलं तदाह—एवमिति ॥ २ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां तृतीयाध्यायस्य तृतीयं भुज्युब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

ब्राह्मणान्तरमवतारयति—अथेति । [8]तस्यापुनरुक्तमर्थं वक्तुमा[9]र्तभागप्रश्ने वृत्तं कीर्तयति—
पुण्येति । [10]भुज्युप्रश्नान्ते सिद्धमर्थमनुद्रवति—पुण्यस्य चेति । नामरूपाभ्यां व्याकृतं जगद्धिरण्यगर्भात्म
[11]तद्विषयमुत्कर्षं विशिनष्टि—समष्टीति । कथं यथोक्तोत्कर्षस्य पुण्यकर्मफलत्वं तत्राऽऽह—द्वैतेति

समष्टिव्यष्टिरूप से स्वरूपभूत वायु को जानता है, वह वायु की उपासना करता है। उसका फ
क्या है ? इस पर श्रुति कहती है "पुनर्मृत्युं" यानी अपमृत्यु पर विजय प्राप्त करता है, एक बार म
कर फिर नहीं मरता (सापेक्ष अमृतत्व को प्राप्त करता है)। इसके पश्चात् अपने प्रश्न का समीची
निर्णय सुनकर लाह्य का पुत्र भुज्यु चुप हो गया ॥२॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् शाङ्करभाष्य में तृतीय अध्याय के तृतीय ब्राह्मण
का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ३ ॥

फिर उस याज्ञवल्क्य से चक्र के पुत्र उषस्त ने पूछा। पुण्य-पाप से प्रेरित ग्रह-अतिग्रहों
गृहीत हुआ पुरुष पुनः पुनः ग्रह और अतिग्रहों को त्यागता और ग्रहण करता हुआ संसरण करता
ऐसा आर्तभाग ब्राह्मण में कहा जा चुका है। इसके अतिरिक्त अश्वमेध पुण्य के चरमोत्कर्ष का
वर्णन कर दिया गया कि वह व्याकृतविषयक समष्टिव्यष्टिरूप द्वैत की समष्टिव्यष्टिरूपा प्रा

---

[1] उपास्ते । [2] यावत्तत्रावस्थानमिति सापेक्षममृतत्वमधिगच्छति । [3] उपररामेति—ततश्च स ए
प्रतिभारूपं निग्रहं प्राप्त इत्यर्थः । [4] आर्तभागब्राह्मणे । [5] अश्वमेधस्य । [6] समष्टिव्यष्टिरूपाप्ति
[7] अधिकारी । [8] उषस्तब्राह्मणस्य । [9] द्वितीयब्राह्मणे । [10] तृतीयब्राह्मणान्ते ।
तदाश्रितम् ।

❀यस्त्वित्यादि आरभ्यत इत्यन्तभाष्यतात्पर्याविष्कराणि सार्धसप्तवार्तिकानि प्रदर्श्यन्ते तथाहि—"मुमुक्षु
नास्तीति परो ग्रन्थोऽवतार्यते ॥ देहेन्द्रियमनोबुद्धिवेदनाव्यतिरेकतः । अस्तित्वे तस्य संसिद्धे तन्मुक्त्यै य
यतः ॥ भविष्यल्लोकसंबन्धी येषामागमतो मतः । न तान्प्रति समारम्भः सिद्ध एव हि तान्प्रति ॥ कर्त्रा

नास्त्यस्तित्वे च किंलक्षण इत्यात्मन एव[1] विवेकाधिगमायोषस्तप्रश्न आरभ्यते । [2]तस्य च निरुपाधिस्वरूपस्य क्रियाकारकविनिर्मुक्तस्वभावस्याधिगमा[3]द्यथोक्ताद्बन्धनाद्विमुच्यते

[4]संप्रत्यनन्तरब्राह्मणस्य विषयं दर्शयति--यस्त्विति । माध्यमिकानामन्येषां चा[5]ऽऽद्यो [6]विवादः किंलक्षणो देहादीनामन्यतमस्तेभ्यो विलक्षणो वेति यावत् । इत्येवं विमृश्याऽऽत्मनो देहादिभ्यो विवेकेनाधिगमायेदं ब्राह्मणमित्याह—इत्यात्मन इति । विवेकाधिगमस्य भेदज्ञानत्वेनानर्थंकरत्वमाशङ्क्य [7]कहोलप्रश्न-

करना है। जो अधिकारी ग्रहों और अतिग्रहों से ग्रस्त होकर संसरण करता है, उसका अस्तित्व है अथवा नहीं और यदि है तो किस लक्षण वाला है, इस प्रकार आत्मा का ही अनात्मदेहादि से विवेक प्राप्त करने के लिए उषस्त का प्रश्न आरम्भ किया जाता है। उस निरुपाधिकस्वरूप, क्रियाकारक-

पुरा सिद्धेर्बुद्ध्याद्यव्यतिरेकतः । कर्त्रादेरिह साक्ष्यात्मा दृष्टेर्द्रष्टोच्यतेऽधुना ।। विषयो ब्रह्मविद्यया योग्यः क इति चिन्त्यते । विषयेऽवधृते यस्मादुपदेशोऽर्थवान्भवेत् ।। ब्रह्मणो वोपदेशः स्यादथवाऽब्रह्मणो भवेत् । ब्रह्मत्वस्य स्वतः सिद्धेर्ब्रह्मणि स्यादनर्थकः ।। उपदेशशतेनापि ब्रह्मत्वं न कथंचन स्वतोऽब्रह्मत्वतस्तस्य नातोऽब्रह्मण इष्यते ।। सर्वस्यैकात्म्ययाथात्म्यान्न चाब्रह्मे ह लभ्यते । क्षेत्रज्ञेश्वरसंभेदशङ्कानुत्त्यर्थमुच्यते" ।। ३-१० ।। इति । प्रमातृसाक्षी प्रमातृद्वारा स्वात्मन्यध्यस्तसंसारो मुमुक्षुस्त्वमर्थोऽत्र निर्धार्यत इत्यर्थः ।। मुमुक्षोरपेक्षितो मोक्षो वक्तव्यस्तदस्तित्वनिर्धारणं त्वनिबन्धनमत आह—देहेति । वेदना दुःखाद्यात्मिका धीवृत्तमः । साक्ष्यातिरेकेण साक्षिणः सत्त्वे निश्चिते तस्य तस्मान्मुक्त्यर्थं यत्नसंभवात्तदस्तित्वं वाच्यमित्यर्थः ।। कस्य तर्हि देहातिरिक्तत्वमस्तित्वं चोच्यते मातुरन्यस्य वा नाऽऽद्यस्तस्य कर्मकाण्डप्रामाण्यादेव सिद्धेर्नेतरस्तस्याप्रसिद्धस्य बुद्धिमनारोहतोऽशक्यप्रतिपादनत्वादित्याशङ्क्याऽऽद्यं दोषमङ्गी करोति—भविष्यदिति । स्थूलदेहाद्यतिरिक्तः परलोकी कर्मकाण्डवशादेव येषां सिद्धो न तान्प्रति प्रमातृसाधनार्थमिदं ब्राह्मणं तस्य तान्प्रति सिद्धत्वादित्यर्थः ।। द्वितीयं दोषं निरस्यति—कर्त्रिति । बुद्ध्यादिवैशिष्ट्येन कर्मकाण्डे मातुः सिद्धेस्तत्साक्षी समनन्तरब्राह्मणे विद्याधिकारित्वेन निरूप्यते न च तस्याप्रसिद्धत्वादशक्यप्रतिपाद्यत्वं मात्रादिभावाभावसाधकत्वेन सामान्यतो धर्मवत्प्रसिद्धस्य विशेषाकारेण प्रतिपादनाविरोधादिति भावः ।। आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तैरित्यादि वदद्भिराचार्यैः सुलभोऽधिकारी दर्शितस्तथाच न्यायवार्तिकं शमाय शास्त्रं जगतो जगादेति तत्र किमधिकारिचिन्तयेत्याशङ्क्याऽऽह—विषय इति । आब्रह्मेत्यादावधिकारिसत्त्वमात्रं विवक्षितं न सर्वाधिकारित्वं न हि किमपि शास्त्रं सर्वाधिकारमतो ब्रह्मविद्याया योग्यमधिकारिणं निरूपयितुं ब्राह्मणमिति भावः । विद्योपदेशे स्वयमेव श्रद्धावान्प्रवर्तिष्यते किमधिकारिचिन्तयेत्याशङ्क्याऽऽह—विषय इति । अधिकारिणं प्रत्येव तद्योगादन्यत्र तद्वैफल्यात्तच्चिन्ताऽर्थवतीत्यर्थः ।। कस्तर्हीह योग्योऽधिकारीति विकल्पयति—ब्रह्मणो वेति । आद्ये वैयर्थ्यमुपदेशस्येत्याह—ब्रह्मत्वस्येति ।। द्वितीयं प्रत्याह—उपदेशेति ।। पक्ष एवायमनुपपन्न इत्याह—सर्वस्येति । शास्त्रं सप्तम्यर्थः । तन्नाधिकारिणं निरूपयितुं ब्राह्मणमारभ्यमिति प्राप्तं तत्राऽऽह—क्षेत्रज्ञेति । प्रत्यग्ब्रह्मणोर्वास्तवभेदशङ्कानिरासेन ब्रह्मैवाविद्याव्यवहितं विद्यायोग्यमिति निश्चेतुं ब्राह्मणं न च ब्रह्मकण्डिकया गतार्थत्वमस्य तद्विवरणत्वादित्यर्थः ।।

---

१. अनात्मदेहादितः । २. आत्मनः । ३. ग्रहातिग्रहरूपात् । ४. वृत्तमनूद्येत्यर्थः । ५. प्राचीनतम इति यावत् । ६. यद्वा आद्यो विवादः भाष्यनिर्दिष्टप्रथमो विवादः । नैरात्म्यवादिनो माध्यमिका नास्तीति वदन्त्यन्ये त्वात्मवादिनोऽस्तीतीति तेषां परस्परमस्ति नास्तीति भाष्योक्तप्रथमो विवाद इत्यर्थः । अस्तित्वे च किंलक्षण इति द्वितीयस्तु माध्यमिकातिरिक्तानामिति ध्येयम् । ७. वक्ष्यमाणपञ्चमब्राह्मणेत्यर्थः ।

[1]अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो [2]यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानीति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन

फिर उस याज्ञवल्क्य से चक्र के पुत्र उषस्त ने पूछा। हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा उषस्त ने कहा। ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष है और जो सबका अन्तरात्मा है, उसकी व्याख्या तुम मेरे प्रति करो। याज्ञवल ने कहा—यह कार्यकरणसंघात के भीतर तेरा आत्मा ही सबका अन्तर्वर्ती ब्रह्मस्वरूप है। उषस्त कहा—हे याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर कौन सा है अर्थात् कार्यकरणसंघात में से किसे सर्वान्तर आत कहना चाहते हो ? याज्ञवल्क्य ने कहा—जो मुख नासिका द्वारा संचरण करने वाले प्राण से प्राण क्रिया करता है, वह विज्ञानमय ही तेरा आत्मा सर्वान्तर्वर्ती है। जो अपान से अपाननक्रिया कर

---

[3]सप्रयोजकात्। आख्यायिका[4]संबन्धस्तु प्रसिद्धः।

अथ हैनं प्रकृतं याज्ञवल्क्यमुषस्तो नामतश्चक्रस्यापत्यं चाक्रायणः पप्रच्छ। [5]यद्ब्र

तात्पर्यं संगृह्णाति—तस्य चेति। ब्राह्मण[6]संबन्धमुक्त्वाऽऽख्यायिकासंबन्धमाह—आख्यायिकेति विद्यास्तुत्यर्था सुखावबोधार्था चाऽऽख्यायिकेत्यर्थः। भुज्युप्रश्ननिर्णयानन्तर्यमथशब्दार्थः। संबोधनम

विनिर्मुक्त-स्वभाव आत्मा का ज्ञान होने पर यथोक्त ग्रहातिग्रहरूप बन्धन से कर्मों के सहित विमुक्ति जाती है, आख्यायिका का प्रयोजन तो प्रसिद्ध ही है।

"अथ हैनम्" अर्थात् इसके अनन्तर इस प्रकरणस्थ याज्ञवल्क्य से "चाक्रायणः" यानी चक्र पुत्र उषस्त नाम वाले ब्रह्मिष्ठ ने कहा। "यद्" अर्थात् जो ब्रह्म "साक्षात्" अर्थात् किसी भिन्न वस्तु

---

१. "ऐकात्म्यानवबोधस्य कार्यमुक्तमशेषतः। तन्मूलध्वस्तयेऽथोर्ध्वं परो ग्रन्थोऽवतार्यते" ॥ वा० १ ॥ "चतु ब्राह्मणे मोहयोग्यः कर्तृत्ववर्जितः। विषयो ब्रह्मविद्याया अस्त्यात्मेति निरूप्यते" ॥ ब्राह्मणतात्पर्य संक्षि नुवदति—ऐकात्म्येति। अनर्थमूलाज्ञानध्वंसिज्ञानार्थत्वेनोत्तरब्राह्मणषट्कारम्भं प्रतिजानीते—तन्मूलेति उक्तेऽनर्थे सहेतुतद्ध्वंसिहेत्वपेक्षाऽस्तीत्यथशब्दार्थः। ऊर्ध्वमित्यनन्तरब्राह्मणमात्रग्रहणव्यावृत्तिः ॥ २. प्राणेनेति—साक्षादित्यादिविशेषणकमात्मानं साक्षाद्बोधयितव्यमुपेक्ष्य किमिति लिङ्गेन बोधयितुं प्रवर्तते सत्य अनुमानेन त्वमर्थं परिशोध्य तस्योक्तविशेषणब्रह्मत्वं वाक्येन विशदयिष्यामीति मन्वानो यः प्राणेनेत्युक्त इति। ननु पदार्थशुद्धिवद्वाक्यार्थधीरपि लिङ्गादेवास्तु न वाक्यैकगम्यत्वात्तस्या इति। ३. प्रयोजकं तत्सहितात्। ४. संबन्धस्तु प्रसिद्ध इति—संबन्धः प्रयोजनम्। ५. यदिति परमात्मतत्त्वं विशेष्यं त परोक्षादित्यन्तं (ब्रह्मान्तं वा) विशेषणं परोक्षत्वादिभ्रमव्युदासार्थम्। तथा च यद्ब्रह्म बृहत्तमं साक्षात् स्व एवापरोक्षम् न तु घटादिवद्वृत्तिव्याप्यत्वेनेत्यभिप्रेत्याह—यद्ब्रह्मेति। यद्ब्रह्म द्रष्टुः साक्षादपरोक्षादित्यन्व ६. उत्थाप्योत्थापकत्वरूपम्।

व्यानीति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः ॥ १ ॥

है, वही विज्ञानमय तेरा आत्मा सर्वान्तर्वर्ती है। जो व्यान से व्याननक्रिया करता है, वही विज्ञानमय आत्मा तेरा सर्वान्तर्वर्ती है। जो उदान से उदाननक्रिया करता है, वही विज्ञानमय तेरा आत्मा कार्यकरणसंघात से विलक्षण सर्वान्तर्वर्ती है।।१।।

साक्षादव्यवहितं केनचिद्द्रष्टुरपरोक्षादगौणम्। न श्रोत्रब्रह्मादिवत्। किं तत्। य आत्मा। आत्मशब्देन प्रत्यगात्मोच्यते। तत्राऽऽत्मशब्दस्य प्रसिद्धत्वात्। सर्वस्याभ्यन्तरः सर्वान्तरः। यद्यःशब्दाभ्यां प्रसिद्ध आत्मा ब्रह्मेति। तमात्मानं मे मह्यं व्याचक्ष्वेति विस्पष्टं शृङ्गे गृहीत्वा यथा गां दर्शयति तथाऽऽचक्ष्व सोऽयमित्येवं कथयस्वेत्यर्थः।

मुखीकरणार्थम्। द्रष्टुरव्यवहितमित्युक्ते घटादिवदव्यवधानं गौणमिति शङ्क्येत तन्निराकर्तुमपरोक्षादित्युक्तम्। मुख्यमेव द्रष्टुरव्यवहितं स्वरूपं ब्रह्म। तथा च द्रष्ट्रधीनसिद्धित्वाभावात्स्वतोऽपरोक्षमित्यर्थः। श्रोत्रं ब्रह्म मनो ब्रह्मेत्यादि यथा गौणं न तथा गौणं द्रष्टुरव्यवहितं ब्रह्मा''द्वितीयत्वादित्याह—न श्रोत्रेति। उक्तमव्यवधानमाकाङ्क्षाद्वाराऽनन्तरवाक्येन(ण) साधयति—किं तदित्यादिना। तस्य परिच्छिन्नत्वशङ्कां वारयति—सर्वस्येति। "सर्वनामभ्यां प्रत्यग्ब्रह्मविशेष्यं समर्प्यंत "इतरैस्तु शब्दैर्विशेषणानीति" विभागमभिप्रेत्याऽऽह—यद्यःशब्दाभ्यामिति। इति रुच्यत इत्यनेन संबध्यते। इतिशब्दो द्वितीयः प्रश्नसमाप्त्यर्थः। तमेव प्रश्नं विवृणोति—विस्पष्टमिति।

व्यवधान को न प्राप्त हुआ, द्रष्टा से "अपरोक्षात्" यानी अपरोक्ष या अगौण है। ("श्रोत्र ही ब्रह्म है" इस श्रुति से) श्रोत्र ब्रह्मादि के समान नहीं है। वह क्या है? "य आत्मा" इस श्रुतिवाक्य में आत्मा-शब्द प्रत्यगात्मा का वाचक है क्योंकि इसी अर्थ में आत्मा की प्रसिद्धि है। जो "सर्वान्तरः" अर्थात् सब के अन्दर है। श्रुति में "यत्" और "यः" इन शब्दों से यह प्रदर्शित किया जाता है कि यह प्रसिद्ध आत्मा ब्रह्म है। उस ब्रह्म से अभिन्न आत्मा का "मे" अर्थात् मेरे प्रति "व्याचक्ष्व" यानी व्याख्यान

---

१. साक्षात्पदार्थमाह—अव्यवहितं केनचिदिति केनचिद्वृत्तिविशेषेण व्यवधानेन सहितं द्रष्टुर्न भवतीत्यर्थः। २. अपरोक्षम्। ३. यद्वा साक्षादगौणम् न तु मनो ब्रह्मेत्यादिवद्गौणमित्याशयेनाह—अगौणमिति। ४. उक्तविशेषणं ब्रह्मप्रत्यगभिन्नं तद्भिन्नं वेत्यर्थः। ५. अभिन्नमेवेत्युत्तरमाह—य इति। अत्र य इति जीवात्मा विशेष्यस्तस्य सर्वान्तर इति विशेषणं परिच्छिन्नत्वादिभ्रमव्यावृत्त्यर्थं तथा चोक्तविशेषणैः शोधितयोस्तत्त्वंपदार्थयोर्यद्य इति शब्दाभ्यां सामानाधिकरण्यादनुगतचिद्धातुप्रत्यगात्मत्वं जीवस्य स्वाभाविकं स्वरूपं पृष्टमिति ध्येयम्। ६. प्रतीचि। ७. यच्चाप्नोतीत्यादिस्मृतेश्चेत्यपि द्रष्टव्यम्। ८. ब्रह्माभिन्नमात्मानम्। ९. ब्रह्मात्मानं प्रत्यक्षं दर्शयेति यावत्। १०. द्रष्टुरभिन्नत्वात्। ११. सर्वनामभ्यामिति—तथा च ब्रह्मात्मेतिशब्दावपि विशेषणार्थावेवेति भावः। १२. साक्षादित्यादिभिः। १३. समर्प्यन्ते।

एवमुक्तः प्रत्याह याज्ञवल्क्यः—एष ते [1]तवाऽऽत्मा सर्वान्तरः सर्वस्याभ्यन्तरः सर्वविशेषणोपलक्षणार्थं सर्वान्तरग्रहणम् । यत्साक्षादव्यवहितमपरोक्षादगौणं ब्रह्म बृहत्तममात्मा सर्वस्याभ्यन्तर एतैर्गुणैः[2] समस्तैरुक्त । एषः कोऽसौ, तवा[3]ऽऽत्मा । यो[4]ऽयं कार्यकरणसंघातस्तव[5] येनाऽऽत्मना[6]ऽऽत्मवान्स एष तवा[7]ऽऽत्मा । तव कार्यकरणसंघातस्येत्यर्थः [8]तत्र पिण्डस्तस्याभ्यन्तरे लिङ्गात्मा करणसंघातस्तृतीयो यश्च संदिह्यमानस्तेषु [9]कतम ममाऽऽत्मा सर्वान्तरस्त्वया विवक्षित इत्युक्त इतर आह-[10]यः प्राणेनमुखनासिकासंचारिणा प्राणिति प्राणचेष्टां [11]करोति येन प्राणः प्रणीयत इत्यर्थः । स ते तव कार्यकरणसंघा

त्वमर्थे [12]वाक्यार्थान्वययोग्ये पृष्टे तत्प्रदर्शनार्थं प्रत्युक्तिमवतारयति—एवमुक्त इति । सर्वान्त इति [13]विशेषोक्त्या प्रश्नस्य विशेषणान्तराणाम[14]नास्थामाशङ्क्याऽऽह—सर्वविशेषणेति । एष सर्वान्त इति भागस्यार्थं विवृणोति—यत्साक्षादिति । एषशब्दार्थं प्रश्नपूर्वकमाह—कोऽसाविति । आत्मशब्दा विवृणोति—योऽयमिति । येनेत्यत्र[15] सशब्दो द्रष्टव्यः । षष्ठ्यर्थं स्पष्टयति—तवेति । प्रश्नान्तरमुत्था प्रतिवक्ति—तत्रेत्यादिना । सर्वान्तरस्तवाऽऽत्मेत्युक्ते सतीति यावत् । तृतीयो मातृसाक्षी प्रणीय

करो । जिस प्रकार सीधे ही सींगों को पकड़कर गौ दिखलाते हैं, उसी प्रकार स्पष्ट दिखलाओ कि य आत्मा है अर्थात् इस प्रकार ब्रह्मात्मा को प्रत्यक्ष दिखलाओ ।

इस प्रकार कहे जाने पर याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—यह "ते" यानी तुम्हारे संघात का आत्म "सर्वान्तरः" अर्थात् सब के भीतर है । 'सर्वान्तर' शब्द का ग्रहण सर्व विशेषण के उपलक्षण के लिए जो साक्षात्-अव्यवहित और अपरोक्ष-अगौण ब्रह्म यानी बृहत्तम आत्मा सबके भीतर है, यह इन समस विशेषणों से युक्त है । वह कौन है ? वह तुम्हारा स्वरूप ही है । यह जो तुम्हारा प्रत्यक्ष कार्यकरण संघात है, वह जिस आत्मा के द्वारा लब्ध-स्वरूप है; वह (प्रमातादि के आगम और अपाय का साक्षी तुम्हारा आत्मा ही है यानी तुम्हारे कार्यकरणसंघात का आत्मा है । भुज्यु के यह कहने पर कि पहल तो पिण्ड है, दूसरा पिण्ड के भीतर इन्द्रियसंघातरूप लिङ्गदेह है और तीसरा जिसके विषय में सन्देह है (इस प्रकार अनेक आत्मा होने से) इनमें से किसे मेरा सर्वान्तर आत्मा बतलाना चाहते हो ? ऐ पूछने पर याज्ञवल्क्य ने कहा—जो स्वयं अप्राण होकर मुख नासिका द्वारा संचरण करने वाले प्राण

---

१. संघातस्य । २. विशेषणैः । ३. स्वरूपम् । ४. प्रत्यक्षः । ५. आत्मा—आत्मत्वेनाभिमतः । लब्धस्वरूपः । ७. प्रमात्रादितदागमापाय साक्षी अत्रात्मशब्दार्थः । ८. तत्र पिण्ड इति । अत्र वार्तिके "पिण्डान्तस्तावदात्मैको लिङ्गान्तस्तु तथा परः । बुद्धिसाक्षी तृतीयः स्याद्योऽयं संदिह्यते तथा" ॥ ६३ स्थूलसूक्ष्मदेहसाक्षिभेदेनानेक आत्मान इत्यर्थः पिण्डान्तः पिण्डपर्यन्तः पिण्डरूप इति यावत् । एवं लिङ्गान्तः ९. कतम इति—यस्मादनेकात्मसंभवस्तस्मात्तेषां मध्ये कतमः साक्षादित्यादिविशेषणस्त्वया विवक्षितस्तमन्य निष्कृष्य गवादिवत्प्रत्यक्षतया वदेत्यर्थः । १०. स्वयमप्राणः प्राणभिन्न इत्यर्थः । ११. अध्यासात्स्वयम प्राणनादिक्रियावानिव भवति । १२. अखण्डवाक्यार्थेति बोध्यम् । १३. विशेषणविशेषोक्त्या । १ अनादरम्—अविवक्षितत्वम् । १५. इत्यतः प्रागिति यावत् ।

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा विब्रूयादसौ गौरसावश्व इत्येवमेवैतद्व्यपदिष्टं भवति यदेव साक्षादपरो-

तब उस उषस्त चाक्रायण ने कहा (अन्य प्रकार से प्रतिज्ञा कर फिर विपरीत भाषण करना अच्छा नहीं) जैसे कोई (चलनादि लिङ्ग से) कहे कि यह चलने वाला बैल है और दौड़ने वाला घोड़ा

तस्याऽऽत्मा [1]विज्ञानमयः । समानमन्यत् । योऽपानेनापानीति यो व्यानेन व्यानीतीति च्छान्दसं दैर्घ्यम् । सर्वाः कार्यकरणसंघातगताः प्राणनादिचेष्टा दारुयन्त्रस्येव येन क्रियन्ते । न हि चेतनावदनधिष्ठितस्य दारुयन्त्रस्येव प्राणनादिचेष्टाविद्यन्ते[2] । तस्माद्विज्ञानमयेनाधिष्ठितं[3] विलक्षणेन दारुयन्त्रवत्प्राणनादिचेष्टां प्रतिपद्यते । तस्मात्सोऽस्ति कार्यकरणसंघातविलक्षणो यश्चेष्टयति ॥१॥

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा कश्चिदन्यथा प्रतिज्ञाय पूर्वं पुन[4]र्विप्रतिपन्नो

प्राणनविशिष्टः क्रियत इति यावत् । कथमे[5]तावता संदेहोऽपाकृत इत्याशङ्क्य विवक्षितमनुमानं वक्तुं व्याप्तिमाह—सर्वा इति । या खल्वचेतनप्रवृत्तिः सा चेतनाधिष्ठानपूर्विका यथा रथादिप्रवृत्तिरित्यर्थः । येन क्रियन्ते सोऽस्तीति संबन्धः । दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यं [6]परिहरति—न हीति । संप्रत्यनुमानमारचयति —[7]तस्मादिति । विमता [8]चेष्टा चेतनाधिष्ठानपूर्विकाऽचेतनप्रवृत्तित्वाद्रथादिचेष्टावदित्यर्थः । प्रतिपद्यते प्राणादीति शेषः । अनुमानफलमाह—[9]तस्मात्सोऽस्तीति । चेष्टयति कार्यकरणसंघातमिति शेषः ॥१॥

प्रश्नप्रतिवचनयोरननुरूपत्वमाशङ्कते—स होवाचेति । दृष्टान्तमेव स्पष्टयति—असावित्यादिना ।

"प्राणिति" यानी प्राणचेष्टा किया करता है अर्थात् जिससे प्राणनादि क्रियावान् होता है । वह तुम्हारा कार्यकरणसंघात आत्मा बुद्ध्युपाधिक है, मन्त्र में अवशिष्ट वाक्य का अर्थ पूर्वोक्त के समान है । "योऽपानेनापानीति", "यो व्यानेन व्यानीति" अर्थात् इस उक्त श्रुति वाक्य में "अपानीति; व्यानीति" इन पदों में दीर्घ प्रयोग छान्दस है । अर्थात् काष्ठयन्त्र के समान देहेन्द्रियसंघात में होने वाली सभी प्राणनादि क्रियाएं जिसके द्वारा की जाती हैं (वही तेरा आत्मा सर्वान्तर है) जैसे किसी चेतन अधिष्ठाता की प्रेरणा के बिना लकड़ी का यन्त्र संचालित नहीं हो सकता । उसी प्रकार इस स्थूल की प्राणनादि क्रियाएँ भी चेतन आत्मा के बिना नहीं हो सकती । इसलिए यह प्राणादि से भिन्न विज्ञानमय आत्मा से अधिष्ठित होकर काष्ठ के यन्त्र के समान प्राणनादि क्रिया करता है । इसलिए जो इससे चेष्टा करता है ; वह कार्यकरणसंघात से विलक्षण सर्वान्तर आत्मा है ॥ १ ॥

उस चाक्रायण उषस्त ने कहा—जैसे पहले कोई अन्य प्रतिज्ञा कर के फिर उसके विपरीत

---

१. बुद्ध्युपाधिकः । २. चेष्टा उक्तसंघातस्येति शेषः । ३. प्राणादितः । ४. विप्रतिपन्न इति—प्रतिज्ञातेऽर्थे प्रतिपत्तिविकलः प्रतिज्ञापरिपालनाशक्त इति यावत् । ५. संघातचेष्टाप्रयोजकोक्तिमात्रेण । ६. परिहरतीति—परिहरन् पक्षे साध्यं पर्यवसाययतीत्यर्थः । ७. तस्मादिति—अचेतनप्रवृत्तेश्चेतनाधिष्ठानपूर्वकत्वनियमादित्यर्थः । ८. प्राणादिजडसंघातप्रवृत्तिः । ९. तस्मादिति—कार्यकरणसंघातस्य चेष्टावत्त्वोपलम्भादित्यर्थः ।

क्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः । न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतार शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः ।

है, ऐसे ही यह तुम्हारा भी प्राणनादि लिङ्गों द्वारा ब्रह्म का व्यपदेश है। (अतः गौओं के लोभ ब्रह्मवेत्ता होने के दावे को छोड़कर) जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है और जो सर्वान्तर आत्मा है, मेरे प्रति स्पष्ट रूप से बतलाओ। याज्ञवल्क्य ने कहा—यह तेरा आत्मा ही सर्वान्तर्वर्ती साक्षात् अपरो ब्रह्म है। उषस्त ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर कौन सा है अर्थात् घटादि के समान आत्मा

ब्रूयादन्यथाऽसौ गौरसावश्वो यश्चलति धावतीति वा पूर्वं प्रत्यक्षं दर्शयामीति प्रतिज्ञा पश्चाच्चलनादिलिङ्गैर्व्यपदिशत्येवमेवैतद्ब्रह्म प्राणनादिलिङ्गैर्व्यपदिष्टं भवति त्वया किं बहुना त्यक्त्वा गोतृष्णानिमित्तं [1]व्याजं यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेति । इतर आह—यथा प्रथमं प्रतिज्ञातस्तवाऽऽत्मै[2]वंलक्षण इति [3]ता प्रतिज्ञाम[4]नुवर्त एव । [5]तत्तथैव यथोक्तं मया ।

प्रत्यक्षं गामश्वं वा दर्शयामीति पूर्वं प्रतिज्ञाय पश्चाद्यश्चलत्यसौ गौर्यो वा धावति सोऽश्व इति चलना दिलिङ्गैर्यथा गवादि व्यपदिशत्येवमेव ब्रह्म प्रत्यक्षं दर्शयामीति [6]मत्प्रश्नानुसारेण प्रतिज्ञाय प्राण दिलिङ्गैस्तद्व्यपदिशतस्ते प्रतिज्ञाहानिर[7]नवधेयवचनता च स्यादित्यर्थः । प्रतिज्ञाप्रश्नावनुसर्त बुद्धिपूर्वकारिणेति फलितमाह—किं बहुनेति । प्रत्युक्तितात्पर्यमाह—यथेति । प्रतिज्ञानुवर्तनमेवा[8]भि नयति—तत्तथेति ।

भाषण करे। तुम्हें प्रत्यक्ष दिखलाऊँगा—ऐसी प्रतिज्ञा करके फिर 'जो चलती है ; वह गौ है, दौड़ता है ; वह अश्व है,' इस प्रकार चलनादि लिङ्गों से कहे—ऐसे ही इस ब्रह्म का तुम प्राणना लिङ्गों द्वारा व्यपदेश कर रहे हो। अधिक क्या कहा जाय, तुम गौओं की तृष्णा के कारण ब्रह्मवेत होने के छल को छोड़कर जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो आत्मा सबके भीतर है ; उसका उपदे करो। याज्ञवल्क्य ने कहा—जिस प्रकार मैंने पहले ही प्रतिज्ञा की थी कि तुम्हारा आत्मा ऐसे लक्षण वाला है ; उस आत्मविषयक प्रतिज्ञा को मैं अभी भी कह रहा हूँ। जिस प्रकार आत्मतत्त्व मैंने पह कहा था, उसको उसी प्रकार जानना चाहिये; अन्यथाभाव से नहीं।

---

[1] गोतृष्णानिमित्तकं छलवादमित्यर्थः । [2] एवंलक्षण इति—अविषयतयैव ज्ञातुं शक्यो नान्यथेत्येवमेष आत्मा यः प्राणेनेत्यादिना प्रथमं प्रतिज्ञात इत्यर्थः । [3] तां प्रतिज्ञाम्—आत्मविषयाम् । [4] अनुवर्ते इदानीमप्यसकृद्ब्रवीमीत्यर्थः । [5] यथा मयाऽऽत्मतत्त्वं प्रथममुक्तं तत्तथैव ज्ञातव्यं नान्यथेति ब्रूते—तत्तथैवेति [6] ननु न तथा स्वमुखेन मया प्रतिज्ञातमित्याशङ्क्याऽऽह—मत्प्रश्नानुसारेणेति । मत्प्रश्नानुरूपोत्तरप्रदानप्रव नेनेति यावत् (प्रवर्तनम्—प्रवृत्तिः) । [7] अश्रद्धेयवचनता । [8] व्यनक्ति ।

एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम ॥२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥४॥

भी स्पष्ट रूप से विषय करा दो। याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम अन्तःकरणादि के वृत्तिरूप दृष्टि के द्रष्टा को घटादि के समान नहीं देख सकते हो। वैसे ही श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते। मति के मन्ता का मनन नहीं कर सकते। बुद्धिवृत्तिरूप विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते। तेरा यह आत्मा ही सर्वान्तर है। इससे भिन्न कार्य-करण देह नश्वर है। इसके बाद उषस्त चाक्रायण चुप हो गया ॥ २ ॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

यत्पुनरुक्तं तमात्मानं घटादिव[1]द्विषयी कुर्विति [2]तदशक्यत्वान्न क्रियते। कस्मात्पुनस्तदशक्यमिति । आह । वस्तुस्वाभाव्यात् । किं पुन[3]स्तद्वस्तुस्वाभाव्यम् । [4]दृष्ट्यादि[5]द्रष्टृत्वम् । दृष्टेर्द्रष्टा [6]ह्यात्मा । दृष्टिरिति द्विविधा भवति लौकिकी पारमार्थिकी चेति ।

कतमो याज्ञवल्क्येत्यादिप्रश्नस्य [7]तात्पर्यमाह—यत्पुनरिति । न दृष्टेरित्यादिवाक्यस्य तात्पर्यं वदन्नुत्तरमाह—[8]तदशक्यत्वादिति । आत्मनो वस्तुत्वाद्घटादिवद्विषयीकरणं नाशक्यमिति शङ्कते—कस्मादिति । वस्तुस्वरूपमनुसृत्य परिहरति—आहेति । घटादेरपि [9]तर्हि वस्तुस्वाभाव्यान्मा भूद्विषयीकरणमिति मन्वानः शङ्कते—किं पुनरिति । दृष्ट्यादिसाक्षित्वं वस्तुस्वाभाव्यं [10]ततश्चाविषयत्वं न चैवं वस्तुस्वाभाव्यं घटादेरस्तीत्युत्तरमाह—दृष्टयादीति । दृष्ट्यादिसाक्षिणोऽपि दृष्टिविषयत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—दृष्टेरिति । यथा प्रदीपो [11]लौकिकज्ञानेन प्रकाश्यो न स्वप्रकाशकं ज्ञानं प्रकाशयति तथा दृष्टिसाक्षी दृष्ट्या न प्रकाश्यत इत्यर्थः । दृष्टेर्द्रष्टैव नास्तीति सौगतास्तान्प्रत्याह—

जो यह कहा कि इस आत्मा का घटादि के समान प्रत्यक्ष दर्शन करा दो। ऐसा असम्भव होने के कारण नही कराया जा सकता। ऐसा होना असम्भव क्यों है—इस पर कहते हैं। वस्तु का स्वभाव ही ऐसा होने के कारण वह असम्भव है। उस वस्तु का घटादि से विलक्षण क्या स्वभाव हैं ? वह दृष्टयादि का साक्षी है क्योंकि दृष्टि का द्रष्टा होने के कारण स्वभाव का विपरिलोप संभव नहीं है।

---

१. प्रत्यक्षेण दर्शयेत्यर्थः । २. तदात्मतत्त्वं न प्रत्यक्षेण प्रदर्श्यते तथा निर्देष्टुमशक्यत्वादित्याह—तदशक्यत्वादिति । तदुक्तं वार्तिके—"उक्तवर्त्मातिरेकेण नाऽऽत्मवस्तुघटादिवत् । शक्यते प्रतिनिर्देष्टुं प्रमाणागोचरत्वतः" ॥ ७६ ॥ इति । उक्तं वर्त्म आत्मनः प्रत्यक्त्वेनाविषयतया ज्ञानं तदतिरेकेणाऽऽत्मवस्तुविषयतया वक्तुमशक्यमित्यत्र हेतुमाह—प्रमाणेति । ३. घटादितो वैलक्षण्यमिति यावत् । ४. दृष्टयादिद्रष्टृत्वमिति । आदिना द्रष्टृदृश्ययोर्ग्रहः । तदुक्तं वार्तिके—"द्रष्टृदर्शनदृश्यानां संहतानां परस्परम् । साक्षित्वमात्मनो नित्यं वस्तुस्वाभाव्यमुच्यते" ॥ ८३ ॥ इति । ५. साक्षित्वम् । ६. स्वभावविपरिलोपासंभवो हिशब्दार्थः । ७. प्रश्नस्याप्येवमेव पूर्वमुक्तत्वादिति भावः । ८. तत्—आत्मनो विषयतया प्रदर्शनम् । ९. वस्तुस्वरूपाश्रयणे न विषयत्वाभावे । १०. आत्मनो दृष्टयादिसाक्षित्वादेव । ११. चाक्षुषेणेति यावत् ।

तत्र लौकिकी [1]चक्षुःसंयुक्तान्तःकरणवृत्तिः । [2]सा क्रियत इति जायते विनश्यति च । या त्वात्मनो [3]दृष्टिरग्न्युष्णप्रकाशादिवत्सा च द्रष्टुः स्वरूपत्वान्न जायते न विनश्यति च [4]सा [5]क्रियमाणयोपाधिभूतया[6] संसृष्टेवेति व्यपदिश्यते द्रष्टेति । [7]भेदवच्च द्रष्टा दृष्टिरिति च याऽसौ लौकिकी दृष्टिश्चक्षुर्द्वारा रूपोपरक्ता जायमानैव नित्ययाऽऽत्मदृष्ट्या संसृष्टे [8]तत्प्रतिच्छाया तया व्याप्तैव जायते तथा विनश्यति च [9]तेनोपचर्यते द्रष्टा सदा पश्यन्नपि पश्यति न पश्यति चेति । न तु पुनर्द्रष्टुर्दृष्टेः कदाचिदप्य[10]न्यथात्वम् । तथा च वक्ष्यति षष्ठे—[11]"ध्यायतीव लेलायतीव । [12]"न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यत इति च ।

दृष्टिरितीति । लौकिकीं व्याचष्टे—तत्रेति । पारमार्थिकीं दृष्टिं व्याकरोति—या त्विति । नन्वात्म नित्यदृष्टिस्वभावश्चेत्कथं द्रष्टेत्यादिव्यपदेशः सिध्यति तत्राऽऽह—सा क्रियमाणयेति । साक्ष्यबुद्धितद् वृत्तिगतं [13]"कर्तृत्वं [14]"क्रियात्वं चाऽऽध्यासिकं नित्यदृग्रूपे व्यवह्रियत इत्यर्थः । आत्मनो नित्यदृष्टिस्व भावत्वे कथं पश्यति न पश्यति चेति कादाचित्को व्यवहार इत्याशङ्क्याऽऽह—याऽसाविति । य बहुविशेषणा लौकिकी दृष्टिरसौ तत्प्रतिच्छायेति संबन्धः । तथा च या तत्प्रति[15]च्छाया तया व्याप्तैवे यावत् । किमित्यौपचारिको व्यपदेशो मुख्यस्तु किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति । दृष्टेर्वस्तुत न विक्रियावत्त्वमित्यत्र वाक्यशेषमनुकूलयति—तथा चेति ।

दृष्टि दो प्रकार की होती है ; लौकिक और पारमार्थिकी । चक्षु आदि इन्द्रिय से रूपादि विषयाका साभास बुद्धि परिणाम ही उनमें लौकिकी दृष्टि है । विक्रियमाण स्वभाव होने के कारण उसकी ज और नाश से अभिसङ्गति होती है । एवं आत्मा की स्वरूपभूता दृष्टि है, वह अग्नि के उष्णत्व औ प्रकाशादि के समान द्रष्टा का स्वरूप होने के कारण जन्म और नाश की अभिसङ्गति से रहित है वह स्वरूप दृष्टि जन्या उपाधिभूत दृष्टि के द्वारा संसृष्ट ही है, इसलिए द्रष्टा कहलाता है । तथा द्रष्ट और दृष्टि ऐसा भिन्नत्वरूप से व्यवहार होता है । एवं जो लौकिक दृष्टि है, वह चक्षु के द्वारा रूप संश्लिष्ट के समान उत्पन्न होकर ही नित्या आत्मदृष्टि के द्वारा उसकी दृक्प्रतिबिम्बा संसृष्टा उससे व्याप्त होकर उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होती है । स्वोपाधिभूत अनित्य दृष्टि योग वियोग से ऐसा उपचार होता है कि द्रष्टा सदा देखते हुए भी नहीं देखता और देख भी है । किन्तु द्रष्टा की दृष्टि में कभी विकृति नहीं होती । ऐसा छठे (उपनिषत् के चौथे) अध्याय भी कहेंगे । "वही बुद्धिवृत्ति के अनुसार चिन्तन करता हुआ सा और प्राणवृत्ति के अनुसार चेष्ट करता हुआ सा जान पड़ता है", "(वह जो सुषुप्ति में नहीं देखता है, निःसन्देह उस अवस्था देखता हुआ भी नहीं देखता है) क्योंकि द्रष्टा की दृष्टि कभी लोप नहीं होता ।"

---

१. साभासबुद्धिपरिणामश्चक्षुरादिकरणको रूपादिविषयो लौकिकी दृष्टिः । २. तस्याश्च क्रियमाणत्वाज्ज नाशाभिसङ्गतिरित्यर्थः । ३. स्वरूपभूता । ४. स्वरूपदृष्टिः । ५. जन्यया । ६. दृष्ट्या । भिन्नत्वेनेति यावत् । ८. दृक्प्रतिबिम्बा बहुव्रीहिः । ९. स्वोपाधिभूताऽनित्यदृष्टियोगवियोगेनेति याव १०. विक्रियावत्त्वम् । ११. बृ० उ० ४।३।७ । १२. बृ० उ० ४।३।२३ । १३. द्रष्टृत्वादि । दृष्टित्वादि । १५. तत्पुरुषः ।

[1]तमिममर्थमाह—लौकिक्या [2]दृष्टेः [3]कर्मभूताया द्रष्टारं [4]स्वकीयया नित्यया दृष्ट्या [5]व्याप्तारं न [6]पश्येः । याऽसौ लौकिकी दृष्टिः कर्मभूता सा रूपोपरक्ता रूपाभिव्यञ्जिका नाऽऽत्मानं स्वात्मनो व्याप्तारं प्रत्यञ्चं [7]व्याप्नोति । तस्मात्तं प्रत्यगात्मानं दृष्टेर्द्रष्टारं न न पश्येः । तथा [8]श्रुतेः श्रोतारं न शृणुयाः । तथा मतेर्मनोवृत्तेः केवलाया व्याप्तारं न मन्वीथाः । तथा विज्ञातेः केवलाया बुद्धिवृत्तेर्व्याप्तारं न विजानीयाः । [9]एष वस्तुनः स्वभावोऽतो[10] नैव दर्शयितुं शक्यते गवादिवत् ।

न दृष्टेर्द्रष्टारमित्य[11]त्राक्षराण्यन्यथा व्याचक्षते केचित् । *न दृष्टेर्द्रष्टारं दृष्टेः

---

[12]उक्तेऽर्थे न दृष्टेरित्यादिश्रुतिमवतार्य व्याचष्टे—तमिममित्यादिना । [13]उक्तमेव प्रपञ्चयति—याऽसाविति । न दृष्टेरित्यादिवाक्यार्थं निगमयति—[14]तस्मादिति । उक्तन्यायमुत्तरवाक्येष्वतिदिशति—तथेति । उक्तं वस्तुस्वाभाव्यमुपसंहृत्य फलितमाह—एष इति ।

न दृष्टेरित्यत्र स्वपक्षमुक्त्वा भर्तृप्रपञ्चपक्षमाह—न दृष्टेरिति । कथमक्षराणामन्यथा

इस प्रकार उपपादित इस संनिकृष्ट अर्थ को याज्ञवल्क्य कहता है। "दृष्टेः" यानी विषयभूता अनित्या लौकिकी दर्शनवृत्ति के "द्रष्टारम्" यानी स्वरूपभूत नित्य दृष्टि के द्वारा प्रकाशयिता को तुम देख नहीं सकते। यह जो उसकी विषयभूता लौकिक दृष्टि है, वह रूप से संश्लिष्ट एवं रूप की अभिव्यञ्जिका है, वह अपने को प्रकाशित करने वाले प्रत्यगात्मा को प्रकाशित नहीं कर सकती। इसलिये उस दृष्टि के प्रकाशयिता प्रत्यगात्मा को तुम नहीं देख सकते। इसी श्रोत्रसंयुक्त अन्तःकरणवृत्ति के श्रोता को तुम नहीं सुन सकते एवं "मतेः" यानी केवल मनोवृत्ति को प्रकाशित करने वाले का मनन नहीं कर सकते। एवं "विज्ञातेः" अर्थात् केवल बुद्धिवृत्ति के व्याप्त करने वाले विज्ञाता को नहीं जान सकते। यह वस्तु का दृष्टयादिसाक्षित्वरूप स्वभाव प्रदर्शित किया गया। उक्त स्वभाव होने के कारण उसे गौ आदि के समान प्रत्यक्ष दिखाया नहीं जा सकता।

"द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता" इस श्रुतिवाक्य में श्रुतिमन्त्र के अक्षरों की कुछ

---

१. उपपादितं संनिकृष्टमर्थम् । २. अनित्याया दर्शनवृत्तेः । ३. विषयभूतायाः । ४. स्वरूपभूतया । ५. प्रकाशयितारम् । ६. विषयीकुर्याः । ७. प्रकाशयतीति यावत् । ८. श्रोत्रसंयुक्तान्तःकरणवृत्तेः । ९. प्रदर्शितो दृष्ट्यादिसाक्षित्वरूपः । १०. उक्तस्वाभाव्यात् । ११. वाक्ये । १२. दृष्ट्यादिद्रष्टृत्वमित्यादिना भाष्येणोक्तेऽर्थे । १३. अर्थम् । १४. आत्मनो निरुक्तदृष्टिविषयत्वाभावात् ।

---

*न दृष्टेर्द्रष्टारमित्यारभ्यात्मस्वरूपनिर्धारणायेत्यन्तभाष्यतात्पर्याविष्करणपराणि वार्तिकान्युपन्यस्यन्ते । तथाहि—"दृष्टिभेदमकृत्वैव दृष्टेरित्यादिकां श्रुतिम् । केचिद्व्याचक्षते धीराः प्रसादाज्जातवेदसः" ॥ १६७ ॥ न दृष्टेरित्यादि भाष्यानुसारेण व्याख्याय भर्तृप्रपञ्चव्याख्यामनुवदति—दृष्टीति ॥ "दृष्टेः कर्तारमात्मानं न पश्येः क्रियमाणया । दृष्ट्या रूपानुपातिन्या न क्रिया कर्तृकर्मिका" ॥ १६८ ॥ कथं तद्व्याख्येत्याशङ्क्य नेत्यादिश्रुत्यक्षरार्थं तदिष्टमाह—दृष्टेरिति । दृष्टिर्हि चक्षुर्द्वारा जाता धीवृत्ती रूपं गोचरयति तया दृष्ट्या न शक्यो विषयीकर्तुमिति हेतुमाह—रूपेति । किंच न सा तं विषयी करोति तत्क्रियात्वाद्गतिरिव गन्तारमित्याह—नेति ॥ "दृष्टेरिति च षष्ठीयं क्रियमाणत्वहेतुतः । कर्मण्येव तु विज्ञेया नासावर्थान्तरे यतः" ॥ १६९ ॥ एवं व्याकुर्व-

कर्तारं दृष्टिभेदमकृत्वा [1]दृष्टिमात्रस्य कर्तारं [2]न पश्येरिति । दृष्टेरिति कर्मणि षष्ठी । सा दृष्टिः [3]क्रियमाणा घटवत्कर्म भवति । द्रष्टारमिति तृजन्तेन द्रष्टुर्दृष्टिकर्तृत्वमाचष्टे। [4]तेनासौ दृष्टेर्द्रष्टा दृष्टेः कर्तेति व्याख्यातॄणामभिप्रायः ।

व्याख्येत्याशङ्क्य तदिष्टमक्षरार्थमाह—दृष्टेरिति । इतिशब्दो व्याचक्षत इत्यनेन संबध्यते । ए व्याकुर्वतामभिप्रायमाह—दृष्टेरितीति । कर्मणि षष्ठीमेव स्फुटयति—सा दृष्टिरिति । षष्ठीं व्याख्या [5]द्वितीयां व्याचष्टे—द्रष्टारमितीति । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—तेनेति ।

दार्शनिक दूसरी प्रकार से व्याख्या करते हैं। "दृष्टेर्द्रष्टारम्" अर्थात् दृष्टि के कर्ता आत्मा को नहीं दे सकते अर्थात् बिना दृष्टिभेद किये दर्शनक्रियामात्र के कर्ता को तुम नहीं देख सकते । मन्त्र के "दृष्टेः पद में कर्म में षष्ठी प्रयुक्त की गयी है। वह दृष्टि क्रियमाणत्व हेतु से घट के समान कर्म है औ "द्रष्टारम्" इस पद के 'तृच्' प्रत्ययान्त होने से द्रष्टा का दृष्टिकर्तृत्व होना बतलाया गया है। उक्त व्यवस्थ के करने से दृष्टि का द्रष्टा यह, दृष्टि का कर्ता है—ऐसा उन व्याख्याकार दार्शनिकों का अभिप्राय है

---

१. लौकिकत्वादिना दर्शनक्रियायाः । २. न पश्येरिति—"दृष्टेः कर्तारमात्मानं पश्येः क्रियमाणया । दृष्ट्य रूपानुपातिन्या न क्रिया कर्तृकर्मिका" ॥ १६८ ॥ इति वार्तिकोक्तेः । दृष्टिर्हि चक्षुर्द्वारा जाता धीवृत्ती रू गोचरयति तया दृष्टया द्रष्टा न शक्यो विषयीकर्तुमिति हेतुमाह—रूपेति । किं च न सा तं विषयी करोति तत् क्रियात्वाद्गतिरिव गन्तारमित्याह—नेति । ३. क्रियमाणेति—"दृष्टेरिति च षष्ठीयं क्रियमाणत्वहेतुतः कर्मण्येव तु विज्ञेया नासावर्थान्तरे यतः" ॥ १६९ ॥ इति वार्तिकोक्तेः । कर्मण्येव षष्ठीत्यत्र दृष्टेरात्मन निष्पाद्यत्वं हेतुमाह—क्रियमाणत्वेति । सकर्मिकायां क्रियायां कर्मणोऽन्तरङ्गत्वं गमयितुं तुशब्दः । एवकारार्थम —नासाविति । क्रियमाणाया दृष्टेः शेषरूपस्यार्थान्तरस्य बहिरङ्गत्वादित्याह—यत इति । ४. तेन-उक्तव्यवस्थाकरणेन असावात्मा । ५. द्वितीयान्तम् ।

तामभिप्रायमाह—दृष्टेरिति चेति । कर्मण्येव षष्ठीत्यत्र दृष्टेरात्मना निष्पाद्यत्वं हेतुमाह—क्रियमाणत्वेति सकर्मिकायां क्रियायां कर्मणोऽन्तरङ्गत्वं गमयितुं तुशब्दः । एवकारार्थमाह—नेति । क्रियमाणया दृ शेषरूपस्यार्थान्तरस्य बहिरङ्गत्वादित्याह—यत इति ॥ "दृष्टिकर्तृत्वमाचष्टे तृजंन्तेम तथाऽऽत्मनः । यतो कर्मदृष्टया तं द्रष्टारं नानुपश्यति" ॥ १७० ॥ षष्ठीं व्याख्याय द्वितीयां व्याचष्टे—दृष्टीति । उक्तं षष्ठ्य दृष्टान्तयितुं तथेत्युक्तम् । अस्तु कर्मदृष्टिर्द्रष्टा च कर्ता किं ततो जातं तदाह—यत इति ।। "कर्मेप्सिततमं दृष्टेः कार्यत्वहेतुतः । चक्षुर्मनो वा बुद्धिर्वा कर्तुः करणमिष्यते" ।। १७१ ॥ कर्मत्वं दृष्टेः स्पष्टयति—कर्मेति यथाऽऽहुर्दृष्टिः क्रिया तस्या यद्रूपं तत्कर्म तद्धीप्सिततममिति । आत्मनः सा कर्म चेत्किं करणमित्युक्ते चक्षुर्म बुद्धिरिति करणानीति तद्भाष्यमनुसृत्याऽऽह—चक्षुरिति ।। "विज्ञानात्मा तु कर्ताऽत्र स्वातन्त्र्यात्सर्वकर्मसु । फ रूपोपलब्धिश्च कर्तुर्दृष्टयवसानजम्" ।। १७२ ।। जीवः परो वा द्रष्टेति संदिहानं प्रत्याह—विज्ञानेति । दृ सप्तम्यर्थः । तत्र हेतुः—स्वातन्त्र्यादिति । कारकान्तराप्रयोज्यस्य तत्प्रयोक्तृत्वं स्वातन्त्र्यं तदस्ति जीवस्य सर्वा क्रियास्विति युक्ता दृष्टिकर्तृतेत्यर्थः । विज्ञानात्मनिर्वृत्ताया दृष्टिक्रियायाः फलं रूपोपलब्धिरिति तदुक्त तद्दृष्टिफलमाह—फलमिति ॥ "साधनत्वेन कर्ताऽत्र दृष्टाववसिति गतः । क्रियासिद्ध्युत्तरे काले फलं कस्या चेष्यते" ।। १७३ ।। इत्थं व्यवस्थायां द्रष्टुर्दृष्टयविषयत्वं स्पष्टीकर्तुं कर्तृतया गुणत्वेन दृष्टौ पर्यवसानमा —साधनत्वेनेति । उक्तं हि क्रियासाधनत्वेन विनियुक्त इति । क्रियायां कर्तृत्वेन गुणत्वमुक्त्वा फलि

[1]तत्र दृष्टेरिति षष्ठ्यन्तेन दृष्टिग्रहणं निरर्थकमिति दोषं न पश्यन्ति । पश्यतां वा पुनरुक्तमसारं प्रमादपाठ इति वा नाऽऽदरः[2] । कथं पुनराधिक्यं[3] तृजन्तेनैव दृष्टिकर्तृ-

उक्तां परकीयव्याख्यां दूषयति—तत्रेति । दृष्टिकर्तृत्वविवक्षायां [4]तृजन्तेनैव तत्सिद्धेः [5]षष्ठी निरर्थिकेत्यर्थः । कथं पुनर्व्याख्यातारो यथोक्तं दोषं न पश्यन्ति तत्राऽऽह—पश्यतां वेति । षष्ठीनैरर्थक्यं प्रागुक्तमाकाङ्क्षाद्वारा समर्थयते—कथमित्यादिना । [6]कियत्तर्हीहार्थवदित्याशङ्क्याऽऽह—तदेति ।

अपनी व्याख्या इस प्रकार करने में "दृष्टेः" इस पद में षष्ठ्यन्त दृष्टिग्रहण निरर्थक हो जाता है, वे ऐसा दोष नहीं देखते है । यदि देखते भी होंगे तो यह पुनरुक्ति है, निरर्थक है, प्रमाद से ऐसा पाठ है—इस प्रकार मानकर उक्त दोषदर्शन का आदर नहीं करते । "दृष्टेः" में षष्ठी फिर क्यों

प्राधान्यमाह—क्रियेति । उक्तं हि—क्रियासिद्ध्युत्तरकाले फलं कस्यापि भविष्यतीति ।। "स्वामिनो यदि वाऽन्यस्य कर्म प्रत्येव च क्रिया । कर्म दर्शयितव्यं स्याद्दृष्ट्या द्रष्टा न दृश्यते" ।। १७४ ।। किंशब्दार्थं प्रकटयति—स्वामिन इति । स्वामी जीवोऽन्यस्तदुपाधिर्माता साभासबुद्ध्याख्यस्तयोरन्यतरस्य रूपाद्युपलब्धिः फलमित्यर्थः । फलवत्क्रियाऽपि रूपस्याऽऽत्मनो वेति विकल्प्यतामित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मेति । क्रिया हीप्सिततमं कर्म प्रत्यभिमुखीभूतेत्युक्तत्वाज्ज्ञानं संवेदनफलकं क्रिया सा रूपादिविषया नाऽऽत्मविषयेत्यर्थः । तदेव स्फोरयति—कर्मेति । यथाऽऽहुस्तद्दर्शयितव्यं न कर्त्रेति ।। "तत्रैवं सति तं दृष्टेर्द्रष्टारं कर्मभूतया । दृष्ट्या पश्येः स्वमात्मानं न कथंचन कर्तृतः" ।। १७५ ।। उक्तरीत्या स्थिते विभागे फलितमुपसंहरति—तत्रेति ।। "व्याख्यानमेतन्महतां न साधु प्रतिभाति नः । न्यायाक्षरानुपात्तत्वाद्यथा तदभिधीयते" ।। १७६ ।। उक्तां परव्याख्यां प्रत्याख्यातुं प्रक्रमते—व्याख्यानमिति ।। "यथाप्रश्नमिमं तावत्प्रत्युक्तिर्नोपपद्यते । यतो द्रष्टर्यसंभाव्यं कृत्स्नं प्रश्नविशेषणम्" ।। १७७ ।। तत्र श्रुत्यक्षरानुपात्तत्वमुपपादयति—यथेति । दृष्टिकर्तारमधिकृत्य प्रवृत्ता न दृष्टेरित्यादिप्रत्युक्तिर्यत्साक्षादित्यादिप्रश्नानुसारिणी नेत्यत्र हेतुमाह—यत इति ।। "साक्षादित्यादिकं यस्मान्न मनागपि युज्यते । विशेषणं यथोक्तं तत्कारके दृष्टिकारिणी" ।। १७८ ।। प्रश्नवाक्यस्थविशेषणजातस्य दृष्टिकर्तरि कथमसंभवस्तत्राऽऽह—साक्षादित्यादिकमिति । यथोक्तं सर्वान्तरत्वं तस्मान्न प्रश्नानुसारि परमते प्रतिवचनमिति शेषः ।। "क्षेत्रज्ञपरमात्मानौ नापि प्रश्ने विवक्षितौ । एकार्थयोगाद्वाक्यस्य नैकोक्तौ स्याद्द्वयार्थता" ।। १७९ ।। ननु प्रश्ने परापरौ विवक्षितौ तत्र यथायोगं विशेषणोपपत्तिस्तत्राऽऽह—क्षेत्रज्ञेति । तत्र हेतुः—एकार्थेति । अर्थैकत्वादेकं वाक्यमिति न्यायादित्यर्थः ।। "न चेप्सिततमत्वं स्याद्द्रष्टुर्दृष्टेरसंभवात् । द्रष्ट्यन्तरस्य द्रष्टुश्च न च द्रष्ट्रन्तरं तथा" ।। १८० ।। यत्तु दृष्टेरिति षष्ठी कर्मणीत्यङ्गीकृत्य क्रियमाणत्वेन कर्मत्वं दृष्टेरादिष्टं तन्निराकुर्वन्परव्याख्याया न्यायानुपात्तत्वमाह—न चेति । द्रष्टुरिव दृष्टेरपि न कर्मत्वं दृष्टिविषयदृष्टेरसंभवादित्यर्थः । द्रष्टान्तं साधयति—द्रष्टुश्चेति । तथेति दार्ष्टान्तिकोक्तिः ।। "तदभ्युपगमे त्वः स्यादनवस्थाऽनिवारणा । दृष्ट्यन्तरेण संव्याप्तिर्नातो दृष्टेः कथंचन" ।। १८१ ।। उभयत्र दृष्टिद्रष्ट्रन्तराभ्युपगमे को दोषस्तत्राऽऽह—तदिति । तस्या मूलक्षयकरीत्वेन दूषणत्वं प्रकटयितुमनिवारणेति विशेषणं तत्फलमाह—दृष्ट्यन्तरेणेति । द्रष्ट्रन्तरेणेत्यपि द्रष्टव्यं दृष्टेरित्यपि द्रष्टुरुपलक्षणम् ।। "तथा द्रष्टृगृहीत्यैव कामितार्थसमाप्तितः । निरर्थकमिदं च स्याद्दृष्टेरिति यदुच्यते" ।।१८२।। यत्तु दृष्टिकर्तृत्वमित्यादि तन्निराह—तथेति । यथा दृष्टेरिति षष्ठी न कर्मणीत्युक्तं तथा द्रष्टेत्यपि कर्तरि न संभव-

---

[1] स्वकीयव्याख्यायाम् । [2] उक्तदोषावेक्षणे । [3] दृष्टेरिति षष्ठ्याः । [4] द्रष्टारमित्यनेन । [5] दृष्टेरिति । [6] पदम् ।

त्वस्य सिद्धत्वाद्दृष्टेरिति निरर्थकम् । [1]तदा द्रष्टारं न पश्येरित्येतावदेव वक्तव्यम् यस्माद्धातोः परस्तृच्छ्रूयते । तद्धात्वर्थकर्तरि हि तृच्समर्यते[2] । गन्तारं भेत्तारं वा नयतीत्येतावानेव हि शब्दः प्रयुज्यते । न तु गतेर्गन्तारं भिदेर्भेत्तारमित्यसत्यर्थविशे

---

[1]तत्र हेतुमाह—यस्मादिति । क्रिया धात्वर्थः । कर्ता प्रत्ययार्थः तथा चैकेनैव पदेनोभयलाभात्पृथक् क्रियाग्रहणमनर्थकमित्यर्थः । दृष्टेरित्यस्यानर्थकत्वं दृष्टान्तेन साधयति—गन्तारमित्यादिना । [2]अर्थं

अधिक है ? दृष्टिकर्तृत्व अर्थ तो तृजन्त से सिद्ध हो जाता है, फिर "दृष्टेः" पद निरर्थक ही है। दृष्टिकर्तृत्व विवक्षा की दशा में "द्रष्टारं न पश्येः" (द्रष्टा यानी दृष्टि के कर्ता को तुम नहीं देख सकते) इतना मन्त्र होना ही पर्याप्त है। क्योंकि कृदन्त का तृच् प्रत्यय ("धातोः" इस अधिकार सूत्र से) धातु के परे ही होता है। "कर्तरि कृत्" एवं "ण्वुल्तृचौ" इन सूत्रों के सहयोग से तृच्प्रत्यय धात्वर्थ के कर्ता में ही होता है। जैसे गन्ता (गमन क्रिया के कर्ता), भेत्ता (भेदनक्रिया के कर्ता) को ले जाता है, केवल इतना ही शब्द प्रयुक्त होता है । यदि किसी अर्थविशेष का प्रतिपादन न करना हो,

---

१. दृष्टिकर्तृत्वविवक्षादशायाम् । २. कर्तरि कृत्, ण्वुल्तृचावित्याभ्यां सूत्राभ्याम् । ३. तावन्मात्रोक्तौ। ४. अग्नेर्हिमस्य भेषजत्वोक्तिवदनुवादाख्यार्थवादत्वेन ।

तीति यावत् । द्रष्टारमिति दृष्टिकर्तृत्वविवक्षायामिष्टोऽर्थो दृष्टिकर्तृत्वं तस्य द्रष्टृपदेनैव सिद्धेर्दृष्टेरित्यनर्थकमित्यर्थः । अवधारणार्थश्चकारः ।। "सदैवाव्यभिचारित्वाद्दृष्टिद्रष्ट्रोः परस्परम् । विशेषणविशेष्यत्वं व्यभिचारे सतीष्यते" ।। १८३ ।। परपक्षे दृष्टिविशेषणमधिकमित्यत्र हेत्वन्तरमाह—सदेति । नीलोत्पलयोर्मिथो व्यभिचारे सत्युत्पलस्य नीलेन विशेष्यत्वं दृष्टं न तथा द्रष्टृदृष्ट्योरन्योऽन्यं व्यभिचारो न हि द्रष्टा दृष्टिं व्यभिचरति तं वा दृष्टिरतो दृष्टेरित्यनर्थकमित्यर्थः ।। "न च प्रमादपाठोऽयं सर्वेषामविगानतः । विध्यशेषत्वतो नापि चार्थवादत्वमिष्यते" ।। १८४ ।। सत्यमनर्थकमपि प्रमादात्पठितमित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । सर्वेषामित्युभयेषां शाखिनामित्यर्थः । अर्थवादत्वेन तर्हीदमुपात्तं नेत्याह—विधीति ।। "अहंदृष्ट्यधिगम्यत्वमपि द्रष्टुरिहेष्यते । प्रत्यक्षमाविरुद्धत्वं तथाचोक्तेः प्रसज्यते" ।। १८५ ।। यत्तु कर्म दर्शयितव्यं न कर्तेति तत्राऽऽह—अहमिति । द्रष्टुरहंधीगम्यत्वे लौकिकपरीक्षकसंमतेऽपि न दृष्टेरित्यादिश्रुतौ तस्य दृष्टिविषयत्वं निरसितुं शक्यमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रत्यक्षेति ।। "मेयमानप्रमातॄणां प्रात्यक्ष्यं प्रागपीरितम् । व्याख्या व्यरोधि तेनेयं दृष्टेरित्यत्र या कृता" ।। १८६ ।। परस्य प्रमाणन्यायविरोधमुक्त्वा स्वोक्तिविरोधमाह—मेयेति । दृष्टेरहंधीगम्यत्वं अथेदानीमुक्तं तथेत्यपेरर्थः । ईरितं भर्तृप्रपञ्चैरिति शेषः ।। "यथोक्तादात्मनोऽन्यद्यत्कार्यकारणरूपकम् । आर्तं विनाशि तत्तुच्छं शुक्तिकारजतादिवत्" ।। १८७ ।। न दृष्टेरित्यादिवाक्यस्य परकीयव्याख्यां निरस्य स्वव्याख्यानं व्यवस्थाप्यातोऽन्यदार्तमित्यस्यार्थमाह—यथोक्तादिति । कारणसंसर्गरूपं विनाशित्वं निवर्तयति—तुच्छमिति । अपसिद्धान्तं परिहरति—शुक्तीति ।। "एतदेवमनार्तं स्यात्स्वतःसिद्धत्वकारणात् । सदैकानुदितालुप्तप्रत्यग्दृष्टिसतत्त्वकम्" ।। १८८ ।। शब्दार्थमुक्त्वाऽऽर्थिकमर्थमाह—एतदिति । उक्तं ह्येतदेवैकमनार्तमविनाशि कूटस्थमिति ।। "हेतूक्तिरथवाऽतः स्यादुक्तवस्तुस्वभावतः । तदन्यभावासंसिद्धेरार्तत्वं हेतुमद्भवेत्" ।। १८९ ।। अतःशब्दार्थमनूद्यार्थान्तरमाह—हेतूक्तिरिति । हेतुरूपमर्थं व्यनक्ति—उक्तेति । साक्षात्त्वादिविशेषणवतो वस्तुनः सर्वप्रत्यक्त्वेन स्वभावत्वात्तदुद्रिक्तस्य सत्त्वासिद्धेरर्थान्तरत्वेन भासमानं सर्वं तुच्छमेव स्यादेवमनात्मप्रपञ्चस्याऽऽर्तत्वमतःशब्दोक्तहेतुसहितमुपपन्नमित्यर्थः ।।

प्रयोक्तव्यः । न [1]चार्थवादत्वेन [2]हातव्यं सत्यां गतौ । न च प्रमादपाठः । सर्वेषाम[3]विगानात् । तस्माद्व्याख्यातृणामेव बुद्धिदौर्बल्यं नाध्येतृप्रमादः ।

यथा त्वस्माभिर्व्याख्यातं लौकिकदृष्टे[4]र्विविच्य नित्यदृष्टि[5]विशिष्ट आत्मा प्रदर्शयितव्यस्तथा कर्तृकर्मविशेषणत्वेन दृष्टिशब्दस्य द्विःप्रयोग उपपद्यत[6] आत्मस्वरूपनिर्धारणाय । [7]न हि द्रष्टुर्दृष्टेरिति च [8]प्रदेशान्तरवाक्येनैकवाक्यतोपपन्ना भवति । [9]तथा च "चक्षूंषि पश्यति" "श्रोत्रमिदं श्रुतम्" इति श्रुत्यन्तरेणैकवाक्यतोपपन्ना । न्यायाच्च । [10]एवमेव

वादत्वेन तर्हीदमुपात्तमित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । विधिशेषत्वाभावादस्मदुक्तगत्या चार्थवत्त्वसंभवादित्यर्थः । अथ [11]परपक्षे निरर्थकमेवेदं पदं प्रमादात्पठितमिति चेन्नेत्याह—न चेति । सर्वेषां काण्वमाध्यंदिनानामिति यावत् । कथं [12]तर्हीदं पदमनर्थकमिति परेषां प्रतीतिस्तत्राऽऽह—तस्मादिति ।

कथं पुनर्भवतामपि दृशेर्द्विरुपादानमुपपद्यते तत्राऽऽह—यथा त्विति । प्रदर्शयितव्यपदादुपरिष्टादितिशब्दो द्रष्टव्यः । कर्तृकर्मविशेषणत्वेन साक्षिसाक्ष्य[13]समर्पकत्वेनेति यावत् । तत्समर्पणमपि कुत्रो[14]पयुज्यते तत्राऽऽह—आत्मेति । दृष्ट्यादिसाक्ष्यात्मा न तद्विषय इति तत्स्वरूपनिश्चयार्थं साक्ष्यादिसमर्पणमित्यर्थः । आत्मा नित्यदृष्टिस्वभावो न दृश्याया दृष्टेर्विषय इत्येष चेन्न दृष्टेरित्यादिवाक्यस्यार्थस्तदा नहीत्यादिनाऽस्यैकवाक्यत्वं सिध्यति, [15]तस्माद्यथोक्तार्थत्वमेव न दृष्टेरित्यादिवाक्यस्येत्याह—न हीति । आत्मा कूटस्थदृष्टिरित्यत्र [16]तलवकारश्रुतिं संवादयति—तथा चेति । तस्य कूटस्थदृष्टित्वे हेत्वन्तरमाह—न्यायाच्चेति । तमेव न्यायं विशदयति—एवमेवेति । [17]विपक्षे दोषमाह—विक्रिया-

तो "गति का गन्ता" अथवा "भेदन का भेत्ता" ऐसा प्रयोग नहीं करना चाहिये और अधिक पद प्रयोग करने में यदि कोई तात्पर्य हो तो अर्थवाद से "दृष्टेः" इस पद की उपेक्षा भी नहीं करनी चाहिये और न ही यह प्रमाद से पाठ हो गया है क्योंकि सभी शाखा वाले ब्राह्मणों का इसमें अविरोध है । इसलिये यहाँ व्याख्याता दार्शनिकों की बुद्धि की अल्पता का ही परिचय होता है; अध्येताओं का प्रमाद नहीं ।

किन्तु जिस प्रकार हमने व्याख्या की है कि लौकिक दृष्टि से पारमार्थिक दृष्टि का विभाग कर नित्यदृष्टिस्वरूप आत्मा है—ऐसा प्रदर्शित करना चाहिये, एवं कर्ता और कर्म के विशेषणरूप से दृष्टिशब्द का दो बार प्रयोग है—ऐसा मानकर साक्षीरूप से आत्मा का स्वरूप निर्धारण करना युक्तियुक्त है । "द्रष्टा की दृष्टि का विपरिलोप नहीं होता" इस अन्य बृहदारण्यक श्रुति से भी इसकी एकवाक्यता सिद्ध हो जाती है । एवं " (जिसे कोई नेत्र नहीं देखता है) किन्तु जिससे नेत्रों को भी देखता है", "(जिसे कोई श्रोत्र से नहीं सुनता है) पर जिससे श्रोत्र इन्द्रिय सुनी जाती है" इत्यादि अन्य श्रुतियों से भी एकवाक्यता हो जाती है और ऐसा न्याय भी है । उसकी कूटस्थदृष्टित्व होने पर

---

१. एव । २. दृष्टेरितिपदमुपेक्षितव्यम् । ३. अविरोधात् । ४. विभज्य पारमार्थिकदृष्टिम् । ५. स्वरूपः । ६. साक्षित्वेन । ७. बृ० उ० ४।३।२३ । ८. बृ० उ० ४।३।२२ । ९. आत्मनः कूटस्थदृष्टित्वे स्वीकृते सति । १०. एवमेव हि—तस्य कूटस्थदृष्टित्वे सत्येव हि । ११. भर्तृप्रपञ्चपक्षे । १२. सर्वेषामविगाने । १३. उपस्थापकत्वेन । १४. उपकरोति । १५. तयोरेकवाक्यताया इष्टत्वात् । १६. केनोपनिषदात्मिकाम् । १७. विपक्षे—विक्रियावत्त्वाभ्युपगमे ।

ह्यात्मनो नित्यत्वमुपपद्यते विक्रियाभावे विक्रियावच्च नित्यमिति च विप्रतिषिद्धम् “[1]ध्यायतीव लेलायतीव” “[2]न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते” “[3]एष नित्यो महि ब्राह्मणस्य” इति च श्रुत्यक्षराण्यन्यथा [4]न गच्छन्ति ।

ननु द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञातेत्येवमादीन्यप्यक्षराण्यात्मनोऽविक्रियत्वे [5]न गच्छ न्तीति । न । यथाप्राप्तलौकिकवाक्यानुवादित्वात्तेषाम् । नाऽऽत्मतत्त्वनिर्धारणार्थ तानि । न दृष्टेर्द्रष्टारमित्येवमादीनामन्यार्थासंभवाद्यथोक्तार्थपरत्वमगम्यते । [6]तस्मादनव धादेव हि विशेषणं परित्यक्तं दृष्टेरिति । एष ते [7]तवाऽऽत्मा [8]सर्वैरुक्तैर्विशेषणैर्विशिष्टः

वच्चेति । [9]इतश्चाऽऽत्मनो नास्ति विक्रियावत्त्वमित्याह—ध्यायतीवेति । अन्यथा विक्रियावत्त्वे सती यावत् ।

अविक्रियत्वेऽपि[10] श्रुत्यक्षराण्यनुपपन्नानीति शङ्कते—नन्विति । न [11]तेषां विरोधो [12]दृ दृष्ट्यादिकर्तृत्वमनुसृत्य प्रवृत्ते लौकिके वाक्ये तदर्थानुवादित्वादुक्तश्रुत्यक्षराणां स्वार्थे प्रामाण्य भावादिति परिहरति—नेत्यादिना । न दृष्टेरित्यादीन्यपि [13]तर्हि श्रुत्यक्षराणि न स्वार्थे प्रमाणानीत्य शङ्क्याऽऽह—न दृष्टेरिति । अन्योऽर्थो दृष्ट्यादिकर्ता । यथोक्तोऽर्थो दृष्ट्यादिसाक्षी । द्रष्टृपदस्य साक्षिविषयत्वे सिद्धे दृष्टेरिति साक्ष्यसमर्पणा[14]त्तदर्थवत्त्वोपपत्तिरित्युपसंहरति—तस्मादिति । पक्ष न्तरं निराकृत्य स्वपक्षमुपपाद्यानन्तरं वाक्यं विभजते—एष इति । अन्यदार्तमितिविशेषण[15]सामर्थ्

विक्रियारहित आत्मा की सिद्धि हो जाती है और विकारशील वस्तु नित्य हो—ऐसा होना परस्प विप्रतिषिद्ध है। वही बुद्धिवृत्ति के अनुसार चिन्तन करता हुआ सा और प्राणवृत्ति के अनुसार चेष् करता हुआ सा जान पड़ता है”, “(वह जो सुषुप्ति में नहीं देखता है, निःसन्देह उस अवस्था में देख हुआ भी नहीं देखता है) क्योंकि द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता”, “नेति नेति” इत्या श्रुतिवाक्य द्वारा लक्षित यह ब्रह्मदर्शी की नित्य महिमा है” इस प्रकार श्रुति के अक्षर स्वार्थ प्रामाण्य नहीं प्राप्त करते ।

यदि कहो कि आत्मा के विकाररहित होने पर तो द्रष्टा श्रोता, मन्ता, विज्ञाता इत्यादि श की कोई उपपत्ति नहीं हो सकती, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि वे तो यथाप्राप्त लौकिक वा का अनुवाद करने वाले हैं, वे आत्मतत्त्व का निर्धारण के लिए नहीं हैं। “न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्ये (तुम दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देख सकते) इत्यादि श्रुतियों का अन्य अर्थ संभव न होने के कारण उन पूर्वोक्त अर्थ में ही तात्पर्यबोध होता है। इसलिए (उक्तरीति से “दृष्टेः” इस पद के सार्थक सिद्ध हो से) अन्य व्याख्याता दार्शनिकों ने बिना सोचे समझे ही “दृष्टेः” इस पद का परित्याग किया है तुम्हारा यह संघात आत्मा पूर्वोक्त सर्वान्तर आदि सभी विशेषणों से विशिष्ट है। इसलिए इस आत्

---

१. बृ० उ० ४।३।७। २. बृ० उ० ४।३।२३। ३. बृ० उ० ४।४।२३। ४. स्वार्थे प्रामाण्यं लभन्त इत्यर्थः। ५. नोपपद्यन्ते। ६. तस्मात्—उक्तरीत्या दृष्टेरितिपदस्यार्थवत्त्वोपपादनात्। संघातस्य। ८. सर्वविशेषणोपलक्षणार्थं सर्वान्तरग्रहणमित्यभिप्रेत्याह—सर्वैरिति। ९. श्रुत्यन्तरानुपपत्तेश्च १०. आत्मनः। ११. श्रुत्यक्षराणाम्। १२. अविचारितसंसिद्धम्। १३. तेषां स्वार्थे प्रामाण्याभावे १४. दृष्टेरितिपदस्य। १५. सामर्थ्यमनुपपत्तिः।

अत एतस्मादात्मनो[1]ऽन्यदार्तं कार्यं वा शरीरं करणात्मकं वा लिङ्गम्। [2]एतदेवैकमनार्तमविनाशि कूटस्थम्। [3]ततो होषस्तश्चाक्रायण [4]उपरराम ॥ २ ॥

इति बृहदारण्यकोपदिषद्भाष्ये तृतीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम्।

[5]बन्धनं सप्रयोजकमुक्तम्। [6]यश्च बद्धस्तस्याप्यस्तित्वमधिगतं व्यतिरिक्तत्वं च। [7]तस्येदानीं बन्धमोक्षसाधनं ससंन्यासमात्मज्ञानं वक्तव्यमिति [8]कहोलप्रश्न [9]आरभ्यते—

सिद्धमर्थमाह—एतदेवेति ॥२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां तृतीयाध्याये
चतुर्थमुषस्तब्राह्मणम् ॥४॥

ब्राह्मणत्रयार्थं संगतिं वक्तु[10]मनुवदति—बन्धनमिति। चतुर्थब्राह्मणार्थं संक्षिपति—यश्चेति। [11]उत्तरब्राह्मणतात्पर्यमाह—तस्येति। उषस्तप्रश्नानन्तर्यमशब्दार्थः। पूर्ववदित्यभिमुखीकरणार्थं संबो-

से भिन्न विनाशी कार्य शरीर अथवा करणात्मक लिङ्गदेह है। यह आत्मतत्त्व ही एक, विनाशरहित स्वभाव वाला, अविनाशी एवं कूटस्थ है। अपने प्रश्न के निर्णय से चाक्रायण उषस्त चुप हो गया ॥२॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् शाङ्करभाष्य में तृतीयाध्याय चतुर्थ
ब्राह्मण का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ४ ॥

प्रयोजनसहित बन्धन का निरूपण कर दिया गया। जो बद्ध है, उसका अस्तित्व तथा भिन्नत्व भी अवगत हो गया। अब उस मुमुक्षु के बन्धन से मुक्त होने के साधनस्वरूप संन्याससहित आत्मज्ञान का प्रतिपादन करना है, इसलिये (पञ्चम ब्राह्मण में कहोल का प्रश्न आरम्भ किया जाता है।

---

१. विनाशि। २. आत्मतत्त्वम्। ३. स्वीयप्रश्ननिर्णयात्। ४. मनसाप्यचिन्तनीयपराजयोऽयमित्यभिप्रायेणेति द्रष्टव्यम्। ५. बन्धनत्रयेण कर्मादिरूपप्रयोजकसहितः संसार उक्त इत्यर्थः। ६. यश्चेति—चतुर्थब्राह्मणेन कूटस्थबोधः प्रत्यगात्मा मुमुक्षुर्निश्चित इत्यर्थः। ७. मुमुक्षोः। ८. सहेतुबन्धध्वंसि ससंन्यासं सम्यग्ज्ञानं वक्तुं पञ्चमं ब्राह्मणमित्यर्थः। ९. आरभ्यत इति। ननु सम्यग्ज्ञानमेव वाच्यं तस्याज्ञानध्वंसित्वान्न संन्यासस्तस्य ज्ञानात्प्रागूर्ध्वं चानुपयोगादित्याशङ्क्य समाहितं वार्तिके तथाहि—"उत्पन्नसम्यग्ज्ञानस्य संन्यासो लक्षणं यतः। साधनं च तदुत्पत्तौ संन्यासोऽतोऽत्र भण्यते ॥ प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम्। तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान्" ॥ ३-४ ॥ इति। साधनं चेति जिज्ञासोरिति शेषः। अत्र प्रकृतज्ञानप्रकरणे ॥ तस्य तत्साधनत्वे मानमाह—प्रवृत्तीति ॥ १०. एतदध्यायस्यादितो ब्राह्मणत्रयेण सहास्य ब्राह्मणस्य संगतिं वक्तुं तदर्थमनुवदति। ११. प्रकृतपञ्चमब्राह्मणतात्पर्यमिति भावः।

[1]अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच [2]यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः । कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति ।❀एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणा-

फिर उस याज्ञवल्क्य से कुषीतक के पुत्र कहोल ने पूछा—'हे याज्ञवल्क्य' ऐसा उसने संबो किया। जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है और जो सर्वान्तर आत्मा है, तुम मेरे प्रति उसकी व्याख् करो। याज्ञवल्क्य ने कहा—यह तुम्हारा आत्मा ही सर्वान्तर्वर्ती ब्रह्म है (यहाँ पर आत्मा के वि में विशेष विवक्षा होने पर कहोल ने प्रश्न किया है, अतः कौषीतकेय और कहोल के प्रश्न को अभि मानकर पुनरुक्ति की आशंका नहीं करनी चाहिये)। कहोल ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्त कौन-सा है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—जो क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मरण को पार किये

अथ हैनं कहोलो नामतः कुषीतकस्यापत्यं कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्ये होवाचेति पूर्ववत् । [3]यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत

घितवानित्यर्थः । बन्धध्वंसिज्ञानप्रश्नो नात्र[4] प्रतिभाति कित्व[5]नुवादमात्रमित्याशङ्क्याह—यं वि

फिर उस याज्ञवल्क्य से "कौषीतकेयः कहोलः" अर्थात् कुशीतक के पुत्र कहोल नामक ब्राह्म ने पूछा। 'हे याजवल्क्य' इस प्रकार सम्बोधन अभिमुख करने के लिये किया, ऐसा अर्थ पूर्ववत् समझ चाहिये। जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी तुम मुझे व्याख्या क

---

[1] अथेति—"पञ्चमब्राह्मणे ब्रह्मबोधसंसिद्धिसाधनम् । समुत्पन्ने तत्त्वबोधे मुक्तलक्ष्म च वर्ण्यते" ।।वा. सा.

[2] यदेवेति । "उषस्तपृष्टादन्यत्वं निर्वर्तयितुमात्मनः । यदेव साक्षादित्युक्तावेवकारः प्रयुज्यते ।। उपदेश विषयस्त्वमर्थः शोधितः पुरा । न ब्रह्मत्वं सम्यगुक्तमिति पृच्छति तत्पुनः ।। अशनायादिरहिते ब्रह्मताया अभाषं न स्यात्सर्वान्तरत्वादि चिद्घने प्रत्यगात्मनि ।। इत्यभिप्रेत्य तेनोक्तं साक्षादित्यादिकं पुनः । अनूद्य सर्वं पप्र कहोलो ब्रह्मरूपतामिति" ।। वा. सा. ६-१२ ।। [3] यदेवेत्येवकारप्रक्षेपस्तु य एवात्मोषस्तेन पृष्टस्तमेव पृच्छामीति विद्यैकत्वद्योतनार्थं इति वृत्तिः । [4] ब्राह्मणे । [5] उषस्तोक्तस्य ।

❀एतं वैतमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः—"ब्रह्मप्रश्नेन पृष्टे ते तद्बोधफलसाधने । इति मत्वोत्तरत्वेन व्युत्थानं मुच्यते ।। पूर्वं विदित्वा पश्चात्तु व्युत्थायेत्यन्वयाच्छ्रुतात् । विद्वत्संन्यास आभाति ब्रह्मबोधफलात्मकः ।। आर क्षपणायैव तस्य देहः प्रवर्तते । फलात्मकोऽयं संन्यासस्तत्त्वविद्यापुरःसरः ।। व्युत्थायाऽथ विदित्वेति व्यत्ययं ऽर्थिकान्वयात् । सिद्धो विविदिषात्यागः स्पष्टः श्रुत्यन्तरेऽप्यसौ" ।। "एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रज

याश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः । [1]तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् । बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः स ब्राह्मणः

है । इसी उस आत्मा को अपरोक्षरूप से जान कर ब्राह्मण लोग पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से दूर हटकर भिक्षाचर्या किया करते हैं । जो भी पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है, और जो वित्तैषणा है, वह लोकैषणा है क्योंकि साध्य-साधन भेद से ये दोनों एषणाएँ ही हैं । अतः ब्राह्मण पूर्णरूप से आत्मज्ञान का संपादन कर आत्मज्ञानरूप बल से स्थिर रहने की इच्छा करे । पुनः बाल्य और पाण्डित्य को पूर्णरूप से प्राप्त कर वह मुनि होता है तथा अमौन एवं मौन का पूर्ण रूप से संपादन करके ब्राह्मणत्व

यं विदित्वा बन्धनात्प्रमुच्यते । याज्ञवल्क्य आह—एष ते तवाऽऽत्मा ।

किमुषस्तकहोलाभ्यामेक आत्मा पृष्टः किं वा भिन्नावात्मानौ [3]तुल्यलक्षणाविति ।

वेति । तं व्याचक्ष्वेति पूर्वेण संबन्धः ।

[4]प्रश्नयोरवान्तरविशेषप्रदर्शनार्थं [5]परामृशति—किमुषस्तेति । [6]तत्र [7]पूर्वपक्षं गृह्णाति—

जिस आत्मा को जानकर बन्धनमुक्त हो जाता है । याज्ञवल्क्य ने कहा—"यह तुम्हारा आत्मा है"

क्या उषस्त और कहोल ने एक ही आत्मा के विषय में पूछा अथवा समानस्वभाव वाली

---

१. तस्मादित्यादि । यस्मात्पूर्वे ब्राह्मणाः क्रमेण तमेतमात्मानं विदित्वा व्युत्थानादि चक्रुस्तस्मादद्यतनोऽपि ब्राह्मणः—आपातदर्शी एषणाभ्यो व्युत्थाय पाण्डित्यम्—शास्त्रोत्था बुद्धिः पण्डा तद्वान् पण्डितस्तस्य कर्म वेदान्तवाक्यविचारलक्षणं श्रवणापरपर्यायं पाण्डित्यं निर्विद्य—निःशेषं कृत्वा अनन्तरं बाल्येन श्रवणज्ञानोत्पन्नाशेषानात्मदृष्टितिरस्करणं बलं तस्य भावो बाल्यं तेन ज्ञानबलभावेन विषयानाकृष्टचित्तः सन् तिष्ठासेत् स्थातुमिच्छेत् । बाल्यशब्दाभिधेयं मननं कुर्यादिति यावत् । बाल्यं च पाण्डित्यं निर्विद्य निःशेषं कृत्वा, अथानन्तरं मुनिः मौनवान् धारावाहिकात्मप्रत्ययप्रवाहवान् तिष्ठासेदित्यनुषज्यते निदिध्यासनं कुर्यादिति यावत् । एवममौनं च उक्तार्थंपाण्डित्यबाल्यशब्दाभिधेयं श्रवणमननाख्यं मौनं चोक्तार्थमुनिशब्दवाच्यं निदिध्यासनाख्यं निर्विद्याथानन्तरं ब्राह्मणो निरुपचरितब्राह्मण्यवान्—साक्षाद्ब्रह्मैव स्यात् कृतकृत्यो भवेदिति यावत् । २. आत्मानम् । ३. सर्वान्तरत्वस्वप्रकाशत्वाशनायाद्यतीतत्वादिधर्मैः समानस्वभावावित्यर्थः । ४. उषस्तकहोलकर्तृकयोः । ५. विचारयति । ६. पूर्वोत्तरपक्षयोः । ७. सिद्धान्तविरुद्धम् ।

बृ० उ० ४।४।२२ । "स्वात्मलोकं स्वमिच्छन्तः प्रव्रजन्तीति वक्ष्यति । त्यागेनैके चामृतत्वं प्राप्ता इत्यपरा श्रुतिः ।। ब्राह्मणग्रहणश्रुत्या ब्राह्मणानामेव भाष्यकृत् । संन्यासेऽधिकृतिं प्राह चतुर्थाश्रमरूप्यसौ ।। विद्याङ्गतत्फलात्मानं गार्गीविदुरयोरपि । स्त्रीशूद्रयोर्भाष्यकारः संन्यासमनुमन्यते" ।।३३-३८।। इति वार्तिकसारोक्तिरप्यत्रोपयोगिनी ।

केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एवातोऽन्यदार्तं ततो ह कहोलः कौषीतकेय उपरराम ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य पञ्चमं कहोलब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। वह किस आचरण से ब्राह्मण होता है ? जिस आचरण से हो, वह ऐसे ही लक्षण वाला ब्राह्मण होता है। इससे भिन्न सब नश्वर है (स्वप्न, माया, मरुमरीचि के समान असार है। केवल एक आत्मा ही नित्य मुक्त है)। इस पर कहोल चुप हो गया ॥१॥

॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

*** भिन्नाविति युक्तं प्रश्नयोरपुनरुक्तत्वोपपत्तेः। यदि ह्येक आत्मोषस्तकहोलप्रश्न विवक्षितः स्तत्रैकेनैव प्रश्नेनाधिगतत्वात्तद्विषयो द्वितीयः प्रश्नोऽनर्थकः स्यात्। न**

भिन्नावितीति। 'उक्तमर्थं व्यतिरेकद्वारा विवृणोति—यदि हीत्यादिना। अर्थकं वाक्यं 'तस्यार्थवादो द्वितीयं वाक्यं नेत्याह—न चेति। द्वयोर्वाक्ययो'स्तुल्यलक्षणत्वे फलितम

विभिन्न आत्माओं के विषय में। (इस पर कहते हैं—) विभिन्न आत्माओं के विषय में ही अच्छा है क्योंकि प्रश्नों में पुनरुक्ति दोष न आना ही युक्तिसंगत है। यदि उषस्त और कहोल दो प्रश्नों से एक ही आत्मा बतलाना अभीष्ट होता, तब तो एक ही प्रश्न से अवगत हो जाने से

---

१. तथा सति। २. स्तुतिरूपत्वम्। ३. भेदपक्षम्। ४. आत्मवस्तुपरम्। ५. वस्तुनः। तुल्यलक्षणत्वे—एकात्मविषयत्वेन समानरूपत्वे।

*भिन्नाविति युक्तमित्यादि केचिद्व्याचक्षत इत्यन्तभाष्यं प्रकारान्तरेण विवृण्वन्ति वार्तिकाचार्यास्तथ "उषस्तप्रश्न एवायं कहोलेनापि पृच्छयते। तत्किमर्थं पुनः प्रश्नः स एव कृतनिर्णयः ॥ प्रष्टृभेदाददोषः प्रत्युक्तिभेदतः। एकार्थप्रश्नवाक्यस्य ह्येका प्रत्युक्तिरिष्यते ॥ पुनरुक्तं न च न्याय्यमेकप्रवचने क्वचि चेह लौकिको जल्पः प्रष्टृभेदो यतो भवेत् ॥ समानशब्दौ तेनेमौ स्यातां भिन्नार्थवाचकौ। कहोलोषस्तव प्रश्नाविति विनिर्णयः ॥ क्षेत्रज्ञमात्मानमप्राक्षीदुषस्तो न परं पदम्। अप्राक्षीत्परमात्मानं कहोलं दुःखिनम् ॥ एकदेश उपन्यासादैकार्थ्यमत्रसीयते। मिथःसंकीर्णधर्मोक्तौ यथायोगं व्यवस्थितिः ॥ यदन्त प्रागुक्तं तत्परमात्मनि। तदेकदेशाभिहितैर्विज्ञानात्मानमेष्यति ॥ शोकमोहाद्यतीतत्वं प्रकाशात्मकता विज्ञानात्मनि चोक्ताऽपि परमात्मानमेष्यति ॥ पञ्चमाध्यायशेषेण परमात्मविनिर्णयः। षष्ठे तु वक्ष्य विज्ञानात्मविनिर्णयः ॥ उपन्यासो द्वयोरत्र विज्ञानात्मपरात्मनो.। व्यज्ञाय्यपुनरुक्तत्वं न्यायमार्गसमाश्रयाद व्याचक्षते केचित् प्रश्नावेतौ यथोदितौ। न सम्यगेतद्व्याख्यानं यथा तदभिधीयते" ॥ ५-१५॥ स्वाभिप्रेतां संगतिमुक्त्वा भर्तृप्रपञ्चाभिप्रेतां वक्तुं पूर्वपक्षयति—उषस्तेति। तत्तत्रार्थभेदाभावे सतीति

ादरूपत्वं वाक्यस्य । [1]तस्माद्भिन्नावेतावात्मानौ क्षेत्रज्ञपरमात्माख्याविति [2]केचिद्व्या-
ख्क्षते ।

स्मादिति । तत्राऽऽद्यं वाक्यं [3]क्षेत्रज्ञमधिकरोति द्वितीयं [4]परमात्मानमित्यभिप्रेत्याऽऽह—क्षेत्रज्ञेति ।

विषय में दूसरा प्रश्न पूछना निरर्थक हो जाता है । तथा इस वाक्य का स्तुतिरूपत्व होना नहीं माना जा सकता । इसलिए यह क्षेत्रज्ञ और परमात्मसंज्ञक भिन्न-भिन्न आत्मा है—ऐसा कोई-कोई (भर्तृप्रपञ्च के अनुयायी) दार्शनिक मानते हैं ।

ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि मन्त्र में "तुम्हारा (यह आत्मा है)" ऐसी प्रतिज्ञा की गई है । "यह तुम्हारा आत्मा है" (उनकी एकरूपता होने पर भिन्नार्थक वचन अयुक्त हो जाने से) इस प्रकार

---

[1] तस्मात्—प्रश्नयोरेकार्थत्वे पुनरुक्त्यापातात् । [2] भर्तृप्रपञ्चानुयायिनः । [3] त्वमर्थम् । [4] तदर्थम् ।

पुनरुक्तिपरिहारं शङ्कते—प्रष्टृभेदादिति । दूषयति—नैवमिति । एकार्थस्य प्रश्नस्य भिन्नकर्तृकस्यापि प्रतिवचनमेकमेव युक्तं प्रतिवक्तृभेदाभाववदिह तु न दृष्टेर्योऽशनायेत्यादिप्रत्युक्तिभेदोऽस्त्यतो न प्रष्टृभेदः पुनरुक्तिं परिहरेदित्यर्थः ।। अस्तु तर्हि पुनरुक्तिरेव दृश्यते हि शाखाभेदे पुनर्वचनं नेत्याह—पुनरुक्तमिति । प्रवचनशब्दः शाखाविषयः । प्रष्टृभेदात्पुनरुक्तिपरिहारो नेत्यत्र हेत्वन्तरमाह—न चेति । न हि श्रुतौ लोकप्रसिद्धो जल्पोऽस्ति येन प्रष्टृभेदः पुनरुक्तिपरिहाराय स्यादपौरुषेयायां श्रुतौ वास्तवस्य प्रष्टृभेदस्यानिष्टत्वात्कल्पितस्याकल्पितपुनरुक्तिपरिहारानुपयोगित्वादित्यर्थः ।। सिद्धान्तयति—समानेति । एकार्थत्वे पुनरुक्तिस्तच्छब्दार्थः ।। कथं तयोर्भिन्नार्थत्वं तत्राऽऽह—क्षेत्रज्ञेति । यथाऽऽहुः पूर्वः प्रश्नः परमात्मविषयोऽयं विज्ञानात्मविषय इति । माध्यंदिनशाखया भाष्ये पौर्वापर्यमुन्नेयम् ।। अस्य हि विज्ञानात्मनः परमात्मन्यप्ययो वक्तव्य इति वदद्भिस्तयोरैक्यमिष्टं तन्न प्रश्नयोर्भिन्नार्थत्वे युक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—एकेति । एकस्मिन्प्रकरणे द्वयोरुक्त्या प्राकरणिकं तदैक्यं तत्रोषस्तप्रकरणे वाक्यार्थावयवो विज्ञानात्मा निरुच्यते कहोलप्रकरणे तु तद्भागः परस्तयोः समानदेशोपन्यासात्समानकार्यतेत्युक्तत्वादित्यर्थः । वाक्यार्थभागौ जीवपरौ प्रश्नविषयावित्युक्तं प्रश्नयोर्धर्मव्यत्यासादेकार्थत्वदृष्टेरित्याशङ्क्याऽऽह—मिथ इति ।। यद्यपि जीवपरधर्मौ परस्परसंकीर्णावुच्येते तथाऽपि यथासंभवं व्यवस्थितत्वेनैष्टव्यावित्येतदेव दर्शयति—यदिति । कहोलवाक्ये परमात्मधर्मत्वेनोक्तं सर्वान्तरत्वं विज्ञानात्मधर्मत्वात्तमेवोषस्तपृष्टगतं गमिष्यत्येकस्मिन्प्रकरणे द्वयोरुक्तेरन्तरतमत्व परमात्मन्युच्यमानं विज्ञानात्मनि सिद्धं भविष्यतीति तदुक्तेरित्यर्थः ।। परमात्मधर्मे दर्शितं प्रकारं विज्ञानात्मधर्मेऽपि योजयति—शोकेति । यद्यपि शोकाद्यतीतत्वं स्वप्रकाशत्वं च ज्योतिर्ब्राह्मणे जैवमुक्तं तथाऽपि तत्पाञ्चमिकं परं गमिष्यति तस्य तद्धर्मतया तेनैव संबन्धाच्छोकमोहाद्यतीतता प्रकाशमात्ररूपता च विज्ञानात्मन्युच्यमाना परमात्मनि सिद्धा भविष्यतीति तदुक्तेरित्यर्थः ।। प्रश्नयोर्विषयभेदमुक्त्वा पञ्चमशेषस्य कहोलप्रकरणेनैकवाक्यतामाह—पञ्चमेति । उक्तं हि पञ्चमाध्यायशेषेण परमात्मनो निर्णयो वक्ष्यमाण इति । ज्योतिर्ब्राह्मणादेरुषस्तप्रकरणेनैकवाक्यतामाह—षष्ठे त्विति । यथाऽऽहुः—षष्ठेन विज्ञानात्मन इति ।। प्रश्नयोर्भिन्नार्थत्वे गमकमाह— उपन्यास इति । तदुक्तमपुनरुक्तेन हि द्वितीयेन प्रश्नेन भवितव्यमिति ।। परपक्षमुपसंहरति—इति व्याचक्षत इति । ब्राह्मणद्वयेनार्थद्वयं विवक्षितमित्येतदयुक्तमित्याह—न सम्यगिति ।।

[1]तन्न । त इति प्रतिज्ञानात् । एष त आत्मेति [2]हि प्रतिवचने प्रतिज्ञात चैकस्य कार्यकरणसंघातस्य द्वावात्मानावु[3]पपद्येते । एको हि कार्यकरणसंघात एकेना नाऽऽत्मवान् । न चोषस्तस्यान्यः कहोलस्यान्यो [4]जातितो भिन्न आत्मा भवति । गौणत्वात्मत्वसर्वान्तरत्वानुपपत्तेः । यद्येकमगौणं ब्रह्म द्वयोरितरेणावश्यं गौणेन भ तथाऽऽत्मत्वं सर्वान्तरत्वं च । [5]विरुद्धत्वात्पदार्थानाम् । यद्येकं सर्वान्तरं ब्रह्माऽऽत्मा

ब्राह्मणद्वयेनार्थद्वयं विवक्षितमिति भर्तृप्रपञ्चप्रस्थानं प्रत्याह—तन्नेति । प्रश्नप्रतिवचन रूपत्वान्नार्थभेदोऽस्तीत्युक्तमुपपादयति—एष त इति । [6]तथाऽप्यर्थभेदे काऽनुपपत्तिस्तत्राऽऽह—न इति [7]तदेवोपपादयति—एको हीति । कार्यकरणसंघातभेदादात्मभेदमाशङ्क्याऽऽह—न चेति । स्वभावतो[8]ऽहमहमित्येकाकारस्फुरणादित्यर्थः । इतश्च न तत्त्वभेद इत्याह—द्वयोरिति । स्फुटयति—यदीति । द्वयोर्मध्ये यद्येकं ब्रह्मागौणं तदेतरेण गौणेनावश्यं भवितव्यं तथाऽऽत्म यद्येकस्येष्टं तदेतरस्यानात्मत्वादीति कुतः स्यादिति चेत्तत्राऽऽह—विरुद्धत्वादिति । [10]उक्तोपपाद [11]द्विःश्रवणस्याभिप्रायमाह—यदीत्यादिना । अनेकमुख्यत्वासंभवाद्वस्तुतः [12]परिच्छिन्नस्य घटवद दनात्मत्वाच्चैकमेव* मुख्यं प्रत्यग्भूतं ब्रह्मेत्यर्थः । यदि जीवेश्वरभेदाभावात्प्रश्नयोर्नार्थभेदस्त

उत्तर में प्रतिज्ञा की गयी है। एक कार्यकरणसंघात के दो आत्मा होने सभव नहीं हैं क्योंकि कार्यकरणसंघात एक ही आत्मा से आत्मवान् हुआ करता है। उषस्त का आत्मा जातित्वरूप से हो, कहोल का जातित्वरूप से अन्य हो; ऐसा होना संभव नहीं क्योंकि दोनों को आ आत्मत्व, सर्वान्तरत्व नहीं कहा जा सकता। यदि दो में एक अगौण ब्रह्म है तो दूसरे को निश्चित गौण होना ही चाहिये; इसी प्रकार उनका आत्मत्व और सर्वान्तरत्व भी संभव नहीं है क्योंकि अनेकत्व और मुख्यत्वादि पदार्थों में विरोध है। यदि एक सर्वान्तर ब्रह्म आत्मा अगौण होगा तो

---

१. तन्नेति । नात्रात्मशब्देन क्षेत्रज्ञपरमात्मानौ विवक्षितौ उभयोरपि प्रश्नयोः प्रत्युक्तौ "एष त सर्वान्तर" इति प्रतिज्ञानादित्यर्थः । २. हीति प्रश्नैकरूप्यसमुच्चयार्थो हिशब्दः तयोरेकरूपत्वे भिन्नार्थ इति कथनमयुक्तमिति भावः । ३. संभाव्येते । ४. अन्यत्वमेव विवृणोति—जातित इति । ५. त्वमुख्यत्वादीनाम् । ६. तथापि—प्रश्नप्रतिवचनयोरेकरूपत्वेऽपीत्यर्थः । ७. अनुपपन्नत्वमेव । आत्मेतिप्रत्ययस्तावदेकविषयस्तस्य वस्तुतो भिन्नविषयत्वे मानाभावात् इत्यभिप्रेत्याह—अहमहमिति । देवः सर्वभूतेषु", "एक एव हि भूतात्मा" इत्यादिश्रुतिस्मृतिविरोधाच्च वस्तुतो नात्मभेद इत्यपि ध्येयम् द्वयोस्तदनुपपन्नत्वमेव । १०. पदार्थविरोधोपपादनपूर्वकमिति बोध्यम् । ११. प्रश्नपुनरुक्तेः । वस्तुपरिच्छेदविशिष्टस्य ।

---

*एकमेवेति प्रश्नार्थात्मभेदे दोषान्तरमाहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"व्यर्थोपनिषदारब्धिर्यदि भेदो भवे अनिर्मोक्षप्रसक्तिश्च क्षेत्रज्ञपरमात्मनोः ॥ अकृत्स्नदृष्टिविषयो निषेधोऽपि न युज्यते । प्रविष्टस्य न चे विज्ञानात्मन इष्यते ॥ वस्तुवृत्तानुरोधेन नातो भेदोऽस्ति कुत्रचित् । वस्तुवृत्तानभिज्ञानाद्भेदः स्वप्नेन्द्रजा एक एव ततः प्रश्नो न प्रश्नद्वयमिष्यते" ॥ २२-२५ ॥ ब्रह्मात्मैक्यं ज्ञातुमुपनिषदारम्भो वस्तुतस्त साऽऽरम्भ्या भिन्नयोरैक्यज्ञानयोगात्कल्पितभेदे प्रश्नयोर्न भिन्नार्थतेत्यर्थः । किंच जीवेश्वरयोर्वस्तुतो भेदे ब्रह्मत्वाख्यो मोक्षो न स्यान्न चाविद्याक्षयस्तस्यापि त्वत्पक्षे हेत्वभावादेवायोगादतोऽफल शास्त्रमनारभ्यमि

नरेणासर्वान्तरेणानात्मनाऽमुख्येनावश्यं भवितव्यम् । [1]तस्मादेकस्यैव [2]द्विःश्रवणं [3]विशेष-वक्षया ।

यत्तु [4]पूर्वोक्तेन [5]समानं द्वितीये [6]प्रश्नान्तर उक्तं [7]तावन्मात्रं पूर्वस्यैवानुवाद[8]स्त-यैवानुक्तः कश्चिद्विशेषो वक्तव्य [9]इति । कः पुनरसौ विशेष इति । उच्यते—पूर्वस्मि-प्रश्नेऽस्ति [10]व्यतिरिक्त आत्मा यस्यायं [11]सप्रयोजको बन्ध उक्त [12]इति । द्वितीये तु स्यैवाऽऽत्मनोऽशनायादिसंसारधर्मातीतत्वं विशेष उच्यते । यद्विशेषपरिज्ञानात्संन्याससहि-

---

क्तिरनर्थिकेत्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति ।

[13]तर्हि स एव विशेषो दर्शयितव्यो येन पुनरुक्तिरर्थवतीत्याशङ्क्याऽऽह—यत्त्विति । अनुक्त-वशेषकथनार्थं[14]मुक्तपरिमाणं निर्णेतुमुक्तानुवादश्चेदनुक्तो विशेषस्तर्हि प्रदर्श्यतामिति पृच्छति—कः नरिति । बुभुत्सितं विशेषं दर्शयति—उच्यत इति । इतिशब्दः [15]क्रियापदेन संबध्यते । किमित्येष वशेषो निर्दिश्यते तत्राऽऽह—यद्विशेषेति । [16]अर्थभेदासंभवे फलितमाह—तस्मादिति । योऽशनाये-यादिना[17] तु विवक्षितविशेषोक्तिरिति शेषः ।

को निश्चितरूप से असर्वान्तर, अनात्म और गौण होना चाहिये । इसलिये एक का ही अनुक्त विशेष कथन की इच्छा से पुनर्वचन दिया गया है ।

इसके अतिरिक्त जो बात उषस्तब्राह्मणोक्त प्रश्नोत्तर के तुल्य द्वितीय कहोलब्राह्मणस्थ प्रश्नोत्तर में कही गयी है, उक्त प्रश्न का परिमाण पूर्वप्रश्न का ही अनुवाद है ; उसी अनूदित आत्मा का ही विशेष कथन की इच्छा से कुछ कहना चाहिये । वह विशेष क्या है ? इस पर कहा जाता है—पूर्वप्रश्न में यह बतलाया गया है कि प्रमाता आदि से भिन्न उसका साक्षी आत्मा है, जिसका कर्मादि प्रयोजक बन्ध है । दूसरे प्रश्न में उसी आत्मा का क्षुधापिपासादि सांसारिक धर्मों से अतीत होना रूप विशेष कथन प्रतिपादित किया गया है । जिस विशेष के संन्यासपूर्वक ज्ञान हो जाने से पुरुष पूर्वोक्त बन्धन से मुक्त हो जाता है । इसलिये "यह तुम्हारा आत्मा है" इस श्रुतिवाक्य तक प्रश्न एवं उत्तर दोनों की तुल्यार्थता ही है ।

---

[1] तस्मात्—आत्मपरयोर्भेदाभावेन प्रश्नयोरर्थभेदाभावात् । [2] पुनर्वचनम् । [3] विशेषविवक्षया—अनुक्तविशेषकथनेच्छया । तदुक्तं वार्तिके—"कंचिद्विशेषमापेक्ष्य पृष्टो भूयोऽपि पृच्छ्यत" इति ।। २५ ।। [4] आत्मेति शेषः । [4] उषस्तब्राह्मणोक्तेन प्रश्नोत्तरेण । [5] तुल्यं कहोलब्राह्मणस्थप्रश्नोत्तरे उक्तम् । [6] प्रश्नान्तर इत्यस्य स्थाने प्रश्नोत्तर इति पाठः । [7] उक्तप्रश्नपरिमाणम् । [8] अनूदितस्यात्मनः । [9] इति विशेषविवक्षयेति पूर्वत्रान्वयः । [10] प्रमात्रादिव्यतिरिक्तस्तत्साक्षी । [11] कर्मादिप्रयोजकम् । [12] इति पूर्वस्मिन्प्रश्ने उच्यत इत्यन्वयः । [13] विशेषविवक्षापुनरुक्तिश्चेत् । [14] उक्तपरिमाणकं प्रश्नम् । [15] उच्यत इत्यनेन । [16] प्रश्नयोः । [17] ग्रन्थेन ।

अनिर्मोक्षेति ।। वास्तवात्मभेदाभावं हेत्वन्तरमाह—अकृत्स्नेति । स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येष इत्यादि निषेधः ।। आत्मभेदं निरस्य प्रसङ्गादनात्मभेदमपनुदति—वस्त्विति । आत्मापरिच्छिन्नत्वमतःशब्दार्थः । वस्तु चेदपरिच्छिन्नं कथं परिच्छेदमानं तत्राऽऽह—वस्त्विति ।। आत्माभेदे प्रश्नैक्यं फलमाह—एक इति ।

तात्पूर्वोक्ताद्बन्धनाद्विमुच्यते । [1]तस्मात्प्रश्नप्रतिवचनयोरेष त आत्मेत्येवमन्तयोस्तुल्यार्थं

ननु [2]कथमेकस्यैवाऽऽत्मनोऽशनायाद्यतीत्वं तद्वत्त्वं चेति विरुद्धधर्मसमवायित्वमि
न । परिहृतत्वात् । नामरूपविकारकार्यकरणलक्षणसंघातोपाधिभेदसंपर्कजनितभ्रान्ति
हि संसारित्वमित्यसकृदवोचाम । विरुद्धश्रुतिव्याख्यानप्रसङ्गेन च । यथा रज्जुशुक्ति
गगनादयः सर्परजतमलिना भवन्ति पराध्यारोपितधर्मविशिष्टाः स्वतश्च केवला

एकमेवाऽऽत्मतत्त्वमधिकृत्य प्रश्नावित्यत्र चोदयति—नन्विति । विरुद्धधर्मवत्त्वान्मिथो
[3]प्रश्नार्थावित्येतद्दूषयति—नेति । परिहृतत्वमेव प्रकटयति—नामरूपेति । [4]तयोर्विकारः कार्यक
लक्षणः संघातः स एवोपाधिभेदस्तेन संपर्कस्तस्मिन्नहंममाध्यासस्तेन जनिता भ्रान्तिरहं कर्तेत्य
तावन्मात्रं संसारित्वमित्यनेकशो व्युत्पादितं तस्मान्नास्ति [5]वस्तुतो विरुद्धधर्मवत्त्वमित्यर्थः ।
सविशेषत्वनिर्विशेषत्वश्रुत्योर्विषयविभागोक्तिप्रसङ्गेन संसारित्वस्य मिथ्यात्वं [6]मधुब्राह्मणान्तेऽवो
मेत्याह—विरुद्धेति । कथं तर्हि विरुद्धधर्मवत्त्वप्रतीतिरित्याशङ्क्याऽऽह—यथेति । परेण पुरुषेणाज्ञ
वाऽध्यारोपितैः सर्पत्वादिभिर्धर्मैर्विशिष्टा इति यावत् । स्वतश्चाध्यारोपेण विनेत्यर्थः । [7]प्रतिभा

(यहाँ पूर्ववादी शङ्का करता है—) किन्तु एक ही आत्मा का क्षुधापिपासादि से अतीत
उससे युक्त होना (अन्धकार और प्रकाश के एकत्र संभव न होने के समान) यह विरुद्धधर्मसमवा
कैसे सम्भव है ? (इस आक्षेप का परिहार सिद्धान्ती करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि
शङ्का की निवृत्ति कर दी गई है । नाम-रूप का विकार जो कार्यकरणसंघात है, उस उपाधिभे
अहं-ममादि अध्यास से जनित "मैं कर्ता हूँ" इत्यादि रूप भ्रान्तिमात्र ही संसारित्व है—ऐसा
अनेक बार कह चुके हैं तथा विरुद्धार्थवाची श्रुतियों के प्रसंग में भी यही बात कही जा चुकी
जिस प्रकार रस्सी, सीप और आकाशादि दूसरों के आरोपित किये हुए धर्मों से युक्त होकर
रजत और मलिनता को प्राप्त होते हैं, वस्तुतः वे स्वयं केवल रस्सी, सीप एवं आकाश ही हैं । इस प्र

---

१. तस्मादिति—उषस्तकहोलप्रश्नोत्तरयोर्ग्थभेदासंभवादित्यर्थः । विशेषजिज्ञासया प्रश्नानन्तरप्रवृत्ति
प्रकारान्तरेणापि तत्प्रवृत्तिमाहुर्वार्तिके तथाहि—"यथाप्रश्नं प्रतिवचो न सम्यगुदितं पुरा । इति मत्वाऽथवा
क्षीत्पृष्टमर्थं पुनरूर्षिम् ।। साक्षादित्यादिना पृष्टं साक्षादित्यादिलक्षणम् । यथा संभाव्यते नेदक्प्र
किंचिदीक्ष्यते ।। असंतोषात्कहोलोऽत्र उषस्तप्रश्नमेव तु । भूयोऽप्राक्षीन्मुनिं विद्वान्याथात्म्यार्थावबुद्धये ।।
आत्मेति प्रत्युक्तिर्यः प्राणेनेति चापरा । तावन्मात्रोक्तितो नासौ प्रश्नार्थोऽवधृतो भवेदिति" ।। २९·३
कथं यथाप्रश्नं प्रतिवचो नोक्तं तत्राऽऽह—साक्षादिति ।। असंतोषहेतुमुक्त्वा तत्फलमाह—असंतोषादि
यथाप्रश्नं प्रतिवचो नोक्तं चेदुषस्तेनैव प्रष्टव्यं कथमन्यः पृच्छति तत्राऽऽह—विद्वानिति । कहोलप्रश्नस्य
जनमाह—याथात्म्येति ।। असकृत्प्रत्युक्त्योषस्तप्रश्नस्य निर्णीतत्वान्नासंतोषहेतुरस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—एष
तथाच पृष्टस्यार्थस्य सम्यगनिर्धारितत्वात्तन्निर्दिधारयिषया भूयस्तत्रैव प्रश्नोपपत्तिरिति शेषः ।। २. कथमि
—तमःप्रकाशवदेकत्र न सभावितमिति यावत् । ३. प्रश्नार्थाविति—तमःप्रकाशवदिति दृष्टान्तोऽनुसंधे
४. नामरूपयोः । ५. काल्पनिकं तु तन्न विरुद्धमिति भावः । ६. ६४६पृष्ठभाष्ये । ७. प्रतिभा
विरुद्धधर्मवत्त्वेऽपीति—प्रातिभासिकविरुद्धधर्मविशिष्टयोरपीति यावत् ।

रज्जुशुक्तिकागगनादयः । [1]न चैवं विरुद्धधर्मसमवायित्वे पदार्थानां कश्चन विरोधः ।

नामरूपोपाध्यस्तित्वे "एकमेवाद्वितीयम्" "नेह नानाऽस्ति किंचन" इति श्रुतयो विरुध्येरन्निति चेत् । न । सलिलफेनदृष्टान्तेन परिहृतत्वान्मृदादिदृष्टान्तैश्च । यदा तु परमार्थदृष्टया परमात्मतत्त्वाच्छ्रुत्यनुसारिभिरन्यत्वेन निरूप्यमाणे नामरूपे मृदादिविकारवद्वस्त्वन्तरे तत्त्वतो न स्तः सलिलफेनघटादिविकारवदेव तदा तदपेक्ष्यैकमेवाद्वितीयं नेह नानाऽस्ति किंचनेत्यादिपरमार्थदर्शनगोचरत्वं प्रतिपद्यते ।

विरुद्धधर्मवत्त्वेऽपि क्षेत्रज्ञेश्वरयोर्भिन्नत्वाद्भिन्नार्थाविव प्रश्नाविति चेन्नेत्याह—न चैवमिति ।

निरुपाधिकरूपेणासंसारित्वं सोपाधिकरूपेण संसारित्वमित्यविरोध उक्तः । इदानीमुपाध्यभ्युपगमे सद्वयत्वं [2]सतश्चैव घटादेरुपाधित्वदृष्टेरिति शङ्कते—नामेति । सलिलातिरेकेण न सन्ति फेनादयो विकारा नापि मृदाद्यतिरेकेण तद्विकाराः शरावादयः सन्तीतिदृष्टान्ताख्ययुक्तिबलादाविद्यनामरूपरचितकार्यकरणसंघातस्याविद्यामात्रत्वात्तस्याश्च विद्यया निरासान्नैवमिति परिहरति—नेत्यादिना । कार्यसत्त्वमभ्युपगम्यो[4]क्तमिदानीं [5]तदपि निरूप्यमाणे नास्तीत्याह—यदा त्विति । नेह नानाऽस्ति किंचनेत्यादिश्रुत्यनुसारिभिर्वस्तुदृष्ट्या निरूप्यमाणे नामरूपे परमात्मतत्त्वादन्यत्वेनानन्यत्वेन वा निरूप्यमाणे तत्त्वतो वस्त्वन्तरे यदा तु न स्त इति संबन्धः । मृदादिविकारवदित्युक्तं प्रकटयति—सलिलेति । तदा तत्परमात्मतत्त्वमपेक्ष्येति योजनीयम् ।

प्रातिभासिक विरुद्धधर्मसम्बन्धी होने पर भी पदार्थों के विरुद्धधर्मसमवायी होने में कोई विरोध नहीं है।

(इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) नाम और रूप की उपाधि सत्ता स्वीकार करने पर तो "(उत्पत्ति से पूर्व यह दीखने वाला नामरूपात्मक जगत्) सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य एकमात्र अद्वितीय सत ही था", "उस ब्रह्म में नाना कुछ भी नहीं है" इन श्रुतियों से विरोध होने लगेगा। (समाधान में सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना उचित नहीं है। उक्त शङ्का का समाधान जल और फेन के दृष्टान्त से तथा मृत्तिकादि के दृष्टान्त से किया जा चुका है, जिस समय श्रुति में आस्था रखने वाले पुरुषों के द्वारा अन्यरूप से निरूप्यमाण नाम और रूप पारमार्थिक दृष्टि से मृत्तिका के विकार तथा जल, फेन और घटादि के विकार के समान परमात्मतत्त्व से वस्तुतः कोई भिन्न पदार्थ नहीं होते ; तब परमात्मतत्त्व की अपेक्षा से ही "सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य एकमात्र अद्वितीय सत् ही था", "उस ब्रह्म में नाना कुछ भी नहीं है" इस (नामरूपादि कार्यजात) परमार्थदृष्टि का बोध होता है।

---

१. न चैवमित्यादि प्रातिभासिकविरुद्धधर्मसंबन्धित्वे इत्यर्थः । प्रातिभासिकविरुद्धधर्मत्वहेतुसाध्यो भेदः कल्पितोऽकल्पितो वा नाद्यः सिद्धसाध्यत्वात् द्वितीये रज्ज्वादावनैकान्त्यमिति भावः । तदुक्तं वार्तिके—"रज्जुत्वाहित्वयोर्यद्वदेकस्मिन्नपि वस्तुनि । स्वतस्तन्मोहतश्चैव संभवस्तद्वदात्मनि ॥ मुक्तत्वं च सितत्वं च परस्परविरुद्धयोः । धर्मयोः समवायः स्यान्न तु नीलोत्पलादिवदिति" ॥३६-३७॥ सितत्वं चेत्यस्मादनन्तरम् इतिशब्दाध्याहारः मुक्तत्वबद्धत्वयोरेकत्र वस्तुतो नाऽऽवेशोऽस्तीत्यत्र वैधर्म्यदृष्टान्तमाह—न त्विति । २. नामरूपादिकार्यजातमिति शेषः । ३. सत्यस्य । ४. सद्वयत्वचोद्यसमाधानमुक्तमित्यर्थः । ५. कार्यसत्त्वमपि ।

यदा तु स्वाभाविक्याऽविद्यया ब्रह्मस्वरूपं रज्जुशुक्तिकागगनस्वरूपवदेव स्वेन रूपेण वर्तमानं केनचिदस्पृष्टस्वभावमपि सन्नामरूपकृतकार्यकरणोपाधिभ्यो विवेकेन नावधार्यते नामरूपोपाधिदृष्टिरेव च भवति [1]स्वाभाविकी तदा सर्वोऽयं वस्त्वन्तरास्तित्वव्यवहारः। अस्ति चायं भेदकृतो मिथ्याव्यवहारो येषां ब्रह्मतत्त्वादन्यत्वेन वस्तु विद्यते येषां च नास्ति।

परमार्थवादिभिस्तु श्रुत्यनुसारेण निरूप्यमाणे वस्तुनि किं तत्त्वतोऽस्ति [2]वस्तु किं वा नास्तीति ब्रह्मैकमेवाद्वितीयं सर्वसंव्यवहारशून्यमिति निर्धार्यते तेन न कश्चिद्विरोधः। न हि परमार्थावधारणनिष्ठायां वस्त्वन्तरास्तित्वं [3]प्रतिपद्यामहे "एकमेवाद्वितीयम्"

कदा [4]तर्हि लौकिको व्यवहारस्तत्राऽऽह— यदा त्विति। अविद्यया स्वाभाविक्या ब्रह्म यदोपाधिभ्यो विवेकेन नावधार्यते तदा लौकिको व्यवहारश्चेत्तर्हि विवेकिनां नासौ स्यादित्याशङ्क्याह— अस्ति चेति। भेदभानप्रयुक्तो व्यवहारो विवेकिनामविवेकिनां च तुल्य एवायं वस्त्वन्तरास्तित्वाभिनिवेशस्तु विवेकिनां नास्तीति विशेषः।

ननु [5]यथाप्रतिभासं वस्त्वन्तरं पारमार्थिकमेव किं न स्यात्तत्राऽऽह—परमार्थेति। किं द्वितीयं वस्तु तत्त्वतोऽस्ति किं वा नास्तीति वस्तुनि निरूप्यमाणे सति श्रुत्यनुसारेण तत्त्वदर्शिभिरेकमेवाद्वितीयं ब्रह्माव्यवहार्यमिति निर्धार्यते तेन व्यवहारदृष्ट्याश्रयणेन भेदकृतो मिथ्याव्यवहारस्तत्त्वदृष्ट्याश्रयणेन च [6]तदभावविषयः शास्त्रीयो व्यवहार इत्युभयविधव्यवहारसिद्धिरित्यर्थः। [7]तत्र शास्त्रीयव्यवहारोपपत्तिं प्रपञ्चयति—न हीति। [8]तथा च विद्यावस्थायां शास्त्रीयोऽभेदव्यवहारस्तदितर

परन्तु जिस समय रज्जु, शुक्ति और गगन के स्वरूप के समान किसी से भी अस्पृष्ट स्वभाव वाला न होकर अपने निजरूप से विद्यमान रहते हुए भी ब्रह्म के स्वरूप का स्वाभाविकी अविद्या के कारण नामरूपजनित कार्यकरणरूप उपाधि से भिन्नरूप से निश्चित नहीं किया जा सकता और शास्त्रानाधेय नाम-रूप उपाधि की ही दृष्टि रहती है, उसी समय यह ब्रह्म से भिन्न वस्तु की सत्ता का व्यवहार होता है। इसके अतिरिक्त यह भेदबुद्धि वाला व्यवहार तो उन दोनों को ही होता है, जिनको ब्रह्म से भिन्न वस्तु की सत्ता स्वीकार है अथवा जिन्हें ऐसा स्वीकृत करना अभीष्ट नहीं भी है।

तथा परमार्थवादियों की दृष्टि में श्रुति समर्थित निरूप्यमाण वस्तु में कौन सी वस्तु तत्त्वतः द्वैतरूप है और कौन सी नहीं—इस प्रकार ही निश्चय होता है कि "ब्रह्म सर्वव्यवहार से अतीत सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य एकमात्र अद्वितीय सत् ही था" इसलिये उनका कोई विरोध नहीं है। परमार्थनिश्चय की निष्ठा में हम किसी अन्य वस्तु की सत्ता स्वीकार नहीं करते। "वह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था", "वह भीतर-बाहररूप उपाधिभेद से शून्य है" इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है

---

[1] शास्त्रानाधेया। [2] द्वैतरूपम्। [3] अवगच्छामः। [4] सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति शास्त्रीयो व्यवहारः परमात्मतत्त्वापेक्षश्चेत्तर्हीत्यर्थः। [5] प्रतीत्यनुरोधादित्यर्थः। [6] मिथ्याव्यहाराभावविषयकः [7] उभयविधव्यवहारमध्ये। [8] परमार्थनिश्चयस्थित्यवस्थायां वस्त्वन्तरसत्त्वस्याप्रतिपन्नत्वे च।

"अनन्तरमबाह्यम्" इति श्रुतेः । न च नामरूपव्यवहारकाले त्वविवेकिनां क्रियाकारकफलादिसंव्यवहारः नास्तीति प्रतिषिध्यते । [1]तस्माज्ज्ञानाज्ञाने अपेक्ष्य सर्वः संव्यवहारः शास्त्रीयो लौकिकश्च । [2]अतो न काचन विरोधशङ्का । सर्ववादिनामप्यपरिहार्यः [3]परमार्थसंव्यवहारकृतो [4]व्यवहारः ।

तत्र परमार्थात्मस्वरूपमपेक्ष्य प्रश्नः पुनः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तर इति । [5]प्रत्याहेतरो योऽशनायापिपासे । अशितुमिच्छाऽशनाया । पातुमिच्छा पिपासा । ते अशनायापिपासे योऽत्येतीति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । अविवेकिभिस्तलमलवदिव गगनं

व्यवहारस्त्वाभासमात्रमिति शेषः । अविद्यावस्थायां लौकिकव्यवहारोपपत्तिं विवृणोति—न च नामेति । उभयविधव्यवहारोपपत्तिमुपसंहरति—तस्मादिति । उक्तरीत्या व्यवहारद्वयोपपत्तौ फलितमाह—अत इति । प्रत्यक्षादिषु वेदान्तेषु चेति शेषः । ज्ञानाज्ञाने पुरस्कृत्य व्यवहारः शास्त्रीयो लौकिकश्चेति नास्माभिरेवोच्यते किंतु सर्वेषामपि [6]परीक्षकाणामेतत्संमतं संसारदशायां क्रियाकारकव्यवहारस्य मोक्षावस्थायां च तदभावस्येष्टत्वादित्याह—सर्ववादिनामिति ।

निरुपाधिके परस्मिन्नात्मनि चिद्धातावनाद्यविद्याकल्पितोपाधिकृतमशनायादिमत्त्वं वस्तुतस्तु तद्राहित्यमित्युपपाद्यानन्तरप्रश्नमुत्थाप्य [7]प्रतिवक्ति—तत्रेत्यादिना । कल्पिताकल्पितयोरात्मरूपयोर्निर्धारणार्था सप्तमी । [8]'योऽत्येति स सर्वान्तरत्वादिविशेषणस्तवाऽऽत्मेति शेषः । ननु परो नाशनायादिमानप्रसिद्धेर्नापि जीवस्तथा तस्य परस्मादव्यतिरेकादत'[9] आह—अविवेकिभिरिति । परमार्थत

एवं नाम-रूप व्यवहार काल में तो अविवेकियों की दृष्टि में क्रिया, कारक और फलादि का संव्यवहार नहीं होता—ऐसा प्रतिषेध भी नहीं किया जा सकता। इसलिये (दृष्टिद्वयप्रयुक्त व्यवहारद्वय की सिद्धि हो जाने पर) शास्त्रीय और लौकिक समस्त व्यवहार ज्ञान और अज्ञान की अपेक्षा से ही होता है। अतः (ज्ञान और अज्ञान में द्विविध व्यवहारसिद्धि से) यहाँ किसी विरोध की शङ्का नहीं की जा सकती। इसलिए ज्ञान और अज्ञानप्रयुक्त शास्त्रीय और लौकिक व्यवहार सभी वादियों के लिए अपरिहार्य है।

अब परमार्थतः आत्मस्वरूप की अपेक्षा से ही पुनः प्रश्न किया जाता है—हे याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर आत्मा कौन सा है। इस प्रकार ब्रह्मिष्ठ कहोल द्वारा पूछे जाने पर याज्ञवल्क्य उत्तर देता है—जो अशनाया-पिपासा से रहित है। भोजन करने की इच्छा का नाम 'अशनाया' है। पीने की इच्छा का नाम 'पिपासा' है। उस भूख और प्यास को जो पार कर चुका है—इस प्रकार इसका आगे

---

१. दृष्टिद्वयप्रयुक्तव्यवहारद्वयोपपत्तेः । २. ज्ञानाज्ञानाभ्यां द्विविधव्यवहारस्य । ३. ज्ञानाज्ञानप्रयुक्तः । ४. शास्त्रीयो लौकिकश्च व्यवहारः । ५. प्रत्याहेतर इति—हे याज्ञवल्क्य ! स्थूलसूक्ष्मदेहबुद्धिसाक्षिषु (मध्ये) कः सर्वान्तरत्वादि विशेषतस्तवाभिमत इति कहोलेन पृष्टो याज्ञवल्क्यो यद्विशेषकथनायायमनुवादस्तं पूर्वानुक्तं विशेषं वदन् प्रत्युत्तरं वक्तीत्यर्थः । ६. परीक्षकाणाम्—प्रमाणैरर्थनिश्चायकानाम् । ७. प्रत्युत्तरति । ८. य इति । अशनायापिपासाशोकमोहजरामृत्व इत्यूर्मिषट्कस्यासङ्गत्वाविक्रियत्वादिस्वरूपेण (स्वरूपभूतधर्मेण) विरोधात् तेनैव स्वाभाव्येन तद्—ऊर्मिषट्कमतिक्रम्य यः स्वरूपेण स्थितः सकारणसंसाररहित इत्यर्थः । ९. तथा चाप्रसक्तप्रतिषेध इति भावः ।

गम्यमानमेव तलमले अत्येति परमार्थतस्ताभ्यामसंसृष्टस्वभावत्वात् । [1]तथा मूढैरशना
यापिपासादिमद्ब्रह्म गम्यमानमपि क्षुधितोऽहं पिपासितोऽहमिति [2]ते अत्येत्येव परमार्थत
स्ताभ्यामसंसृष्टस्वभावत्वात् । "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" इति श्रुतेः । अविद्वल्लोका
ध्यारोपितदुःखेनेत्यर्थः । [3]प्राणैक[4]धर्मत्वात्समासकरणमशनायापिपासयोः ।

शोकं मोहं शोक इति कामः । इष्टं वस्तूद्दिश्य चिन्तयतो यद[5]रमणं तत्तृष्णा

---

[6]इत्युभयतः संबध्यते । ब्रह्म[8]वाखण्डं सच्चिदानन्दमनाद्यविद्यातत्कार्यबुद्ध्यादिसंबद्धमाभासद्वारादि
[7]स्वानुभवादशनायादिमद्गम्यते 'तत्त्वं वस्तुतोऽविद्याद्यसंबन्धादशनायाद्यतीतं नित्यमुक्तं तिष्ठतीत्यर्थः
अशनायापिपासादिमद्ब्रह्म गम्यमानमिति वदन्नाचार्यो[9] नानाजीववादस्यानिष्टत्वं सूचयति । परमार्थत
ब्रह्मण्यशनायाद्यसंबन्धे मानमाह—न लिप्यत इति । [10]बाह्यत्वमसङ्गत्वम् । लोकदुःखेनेत्ययुक्तं लोक
स्यानात्मनो[11] दुःखसंबन्धानभ्युपगमादित्याशङ्क्याऽऽह—[12]अविद्वदिति । अशनायापिपासयोः [13]समस्तो
पादाने हेतुमाह—प्राणेति ।

[14]अरतिवाची शोकशब्दो न [15]कामविषय इत्याशङ्क्याऽऽह—इष्टमिति । कामबीजत्वमरतेर
भवेनाभिव्यनक्ति—तेन हीति । कामस्य [16]शोको बीजमिति स कामतया व्याख्यातः"[17] । अनित्याशुचि
दुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिर्विपरीतप्रत्ययस्तस्मान्मनसि प्रभवति कर्तव्याकर्तव्याविवेकः

कहे जाने वाले वाक्य से संबन्ध है । अल्पज्ञ जीव आकाश में तलमलिनता देखते हैं । वस्तुतः आकाश
तलमलिनतादि से रहित है क्योंकि उसके स्वभाव से इसका मेल नहीं बैठता । उक्त दृष्टान्त के सम
विवेकशून्य मूढ़ लोगों के द्वारा ही ऐसा मान लिया जाता है कि मैं भूखा हूँ, मैं प्यासा हूँ, वह ब्रह्म
क्षुधा-पिपासा से युक्त है ; परमार्थतः तो अशनाया और पिपासा का अतिक्रमण हो जाता है क्यों
इन धर्मों से आत्मा का तालमेल नहीं बैठता । इसमें श्रुति भी प्रमाण है—"सम्पूर्ण भूतों का अन्तरा
एक ही (भ्रमजन्य) संसार के दुःख से लिप्त नहीं होता, बल्कि (रज्जु आदि के समान भ्रमबुद्धिज
अध्यास से) बाहर ही रहता है ।" भावार्थ यह है कि वह अल्पज्ञों द्वारा अध्यारोपित दुःख
लिपायमान नहीं होता । एक प्राण के ही धर्म होने से (प्राणोपादानक होने से) अशनाया और पिपा
में समस्त पद का प्रयोग मन्त्र में किया गया है ।

मन्त्र में 'शोकम्' और 'मोहम्' पद हैं, इनमें शोक यह काम है । इष्ट वस्तु के लिए चिन्तन क

---

१. उक्तदृष्टान्तवत् । २. अशनायापिपासे । ३. प्राणैकेति—शोकमूलकत्वाच्चेत्येकशब्दार्थः । त
वार्तिके—"शोकादासङ्गबीजाद्धि जज्ञाते ते यथोदिते । इच्छाविशेषास्ताभ्यां च जज्ञिरेऽन्ये सहस्रशः" ॥ ५
इति । "सङ्गात्संजायते काम" इति स्मृतेरासङ्गकार्याच्छोकादिशब्दितात्कामादशनायापिपासे जायेते
योजना । (अत्रासङ्गः शोभनाध्यासः) यथोक्तस्मृतिद्योती हिशब्दः । तत्रोपादानं प्राणकामो निमित्तमिति विवे
तयोः कार्यं प्रसङ्गादाह—इच्छेति । ४. प्राणोपादानकत्वात् । ५. अरमणं चित्तानवस्थितिः ।
अत्ययासंसर्गयोरित्यर्थः । ७. प्रमाणोक्तिरियम् । ८. तच्चेति पाठः । ९. भाष्यकृत् । १०. लेपा
हेतुरयम् । ११. संघातस्य । १२. अविद्वदितीति—तथा च लोकशब्दोऽविद्वज्जीव पर इति भावः ।
समासं कृत्वाभिधाने । १४. अरतिश्चित्तानवस्थितिः । १५. कामपर्यायः । १६. अरतिपर्यायः ।
जनकस्य जन्ये लक्षणयेति भावः ।

भिभूतस्य कामबीजं तेन हि कामो दीप्यते। मोहस्तु विपरीतप्रत्ययप्रभवोऽविवेको भ्रमः। ष चाविद्या[1] सर्वस्यानर्थस्य [2]प्रसवबीजम्। भिन्नकार्यत्वात्तयोः शोकमोहयोरसमासकरणम्। तौ [3]मनोधिकरणौ। तथा शरीराधिकरणौ जरां मृत्युं चात्येति। जरेति कार्यकरणसंघातविपरिणामो वलीपलितादिलिङ्गः। मृत्युरिति [4]तद्विच्छेदो [5]विपरिणामावसानः। तौ जरामृत्यू शरीराधिकरणावत्येति।

ये तेऽशनायादयः प्राणमनःशरीराधिकरणाः प्राणिष्वनवरतं वर्तमाना अहोरात्रादिवत्समुद्रोर्मिवच्च प्राणिषु संसार इत्युच्यते। योऽसौ दृष्टेर्द्रष्टेत्यादिलक्षणः साक्षादव्यवहि-

---

[6]लौकिकः सम्यग्ज्ञानविरोधाद्भ्रमोऽविद्येत्युच्यते। तस्याः सर्वानर्थोत्पत्तौ निमित्तत्वं मूलाविद्यायास्तू ादानत्वं तदेतदाह—मोहस्त्विति। कामस्य [7]शोको मोहो दुःखस्य हेतुरिति भिन्नकार्यत्वं तद्विच्छेद इत्यत्र कार्यकरणसंघातस्तच्छब्दार्थः।

संसाराद्विरक्तस्य पारिव्राज्यं वक्तुमुत्तरं वाक्यमित्यभिप्रेत्य संक्षेपतः संसारस्वरूपमाह—ये त इत्यादिना। तेषामात्मधर्मत्वं व्यावर्तयितुं विशिनष्टि—प्राणेति। तेषां [8]स्वरसतो विच्छेदशङ्कां [9]वारयति—प्राणिष्विति। प्रवाहरूपेण नैरन्तर्ये दृष्टान्तमाह—अहोरात्रादिवदिति। तेषामतिचपलत्वे दृष्टान्तः—समुद्रोर्मिवदिति। तेषां [10]हेयत्वं द्योतयति—प्राणिष्विति। ये यथोक्ताः प्राणिष्वशनायादयस्ते तेषु संसार इत्युच्यत इति योजना। एतं वै तमित्यत्र तच्छब्दार्थमुषस्तप्रश्नोक्तं त्वंपदार्थं कथयति

हुए चित्त स्थिर नहीं हुआ करता; वही तृष्णाभिभूत पुरुष के काम का बीज होता है। विपरीतप्रतीति से होने वाला अविवेकरूप भ्रम ही मोह है। वह कार्याविद्या सभी अनर्थों की उत्पत्ति कारण है। शोक और मोह इन दोनों पदों में समास इसलिए नहीं किया क्योंकि उनके कार्य पृथक्-पृथक् हैं। उन दोनों का अधिकरण मन है। इसी प्रकार शरीराधिकरण वाले जरा और मृत्यु का भी अतिक्रमण कर लेता है। यह जरा कार्यकरणसंघात का विपरिणाम है, झुर्रियाँ पड़ना, बाल पकना, इसके चिह्न हैं। यह 'मृत्यु' स्थूलसूक्ष्म कार्यकरण का परस्पर वियोग है, स्थूलदेह विनाशपर्यन्त उसका विपरिणाम है। उन शरीररूप अधिकरण वाले जरा-मृत्यु का वह अतिक्रमण कर लेता है।

ये जो अशनाया और पिपासादि हैं, वे प्राण, मन और शरीररूप अधिकरण वाले तथा प्राणियों में दिन-रात्रि के सदृश समुद्र की तरङ्गों के सदृश निरन्तर रहने वाले हैं, उसे ही लोकव्यवहार

---

१. कार्याविद्या। २. उत्पत्तिकारणम्। ३. मनोधिकरणाविति वार्तिके—"प्राणाधिकरणे पूर्वे शोकमोहौ मनोगतौ। जरामृत्यू तु देहस्य धर्माविति विनिश्चयः॥ अशनायादिसंबन्धो नाऽऽत्मनो वास्तवो मतः। अनिर्मोक्षप्रसक्तिः स्यात्तस्य चासङ्गरूपतः॥ यत एवमतः प्रत्यग्याथात्म्यानवबोधतः। अशनायादिसंबन्धः सम्यग्बोधादतो हृतिः" ॥ ६६-६८॥ इति। ननु तेषामात्मधर्मत्वान्न धीप्राणादिधर्मत्वं न हि ते चेतनादन्यत्र भान्त्यत आह—अशनायादीति। विपक्षे दोषमाह—अनिर्मोक्षेति। इतश्चाऽऽत्मन्यशनायादिसंबन्धो न वास्तवोऽस्तीत्याह—तस्य चेति॥ त्वन्मतेऽपि कथं मुक्तिस्तत्राऽऽह—यत इति। आत्मनि वस्तुतोऽशनायाद्यभावात्तस्य मोहजत्वात्तन्निवृत्तौ मुक्तिः सुकरेत्यर्थः॥ ४. तद्विच्छेद इति—तयोः कार्यकरणयोः स्थूलसूक्ष्मयोः विच्छेदः परस्परवियोग इत्यर्थः। ५. स्थूलदेहविनाशपर्यन्तः। ६. लोकप्रसिद्धः। ७. अरतिः। ८. स्वत इति यावत्। ९. अनवरतमित्युक्त्या। १०. संसारो हि हेयो भवति।

तोऽपरोक्षादगौणः सर्वान्तर आत्मा ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां भूतानामशनायापिपासादि संसारधर्मैः सदा न स्पृश्यत आकाश इव [1]घनादिमलैः। [2]तमेतं वा आत्मानं स्वं ❀ विदित्वा ज्ञात्वाऽयमहमस्मि परं ब्रह्म सदा सर्वसंसारविनिर्मुक्तं नित्यतृप्तमिति ब्राह्मण

—योऽसाविति। एतच्छब्दार्थं कहोलप्रश्नोक्तं तत्पदार्थं दर्शयति—अशनायेति। तयोरैक्यं [3]सामा धिकरण्येन सूचितमित्याह—तमेतमिति। ज्ञानमेव विशदयति—अयमित्यादिना। ज्ञात्वा ब्राह् व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्तीति संबन्धः। संन्यासविधायके वाक्ये किमित्यधिकारिणि ब्राह्म

में संसार कहा जाता है। किन्तु यह जो दृष्टि का द्रष्टा आदि लक्षणों वाला साक्षात्-अव्यवहित अपरोक्ष-अगौण, सर्वान्तर ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त भूतों का आत्मा है, उसे उसी प्र सांसारिक धर्मों का स्पर्श नहीं होता, जिस प्रकार मेघादिरूप मलों से आकाश लिप्त नहीं होता। इस आत्मा को "विदित्वा" अर्थात् जानकर कि यह सदा सम्पूर्ण, संसारधर्मों से रहित, नित्य

---

१. मेघादिरूपैर्मलैः। २. तमेतमिति। अत्र विशेषणविशेष्यत्वव्यवस्थामाहुर्वार्तिके—"उषस्तोक्तो विशेष्यं कहोलोक्तो विशेषणम्। एवं संसारविध्वस्तिस्तद्धेतोर्ज्ञानहानितः" ॥ ९८ ॥ इति। इत्थं विशेषणविशे प्रतीचो ब्रह्मत्वज्ञानात्तदज्ञानध्वस्त्या तज्जबन्धध्वस्तिफलमाह—एवमिति ॥ ३. सामानाधिकरण्यं वि भावे सति भवति। तद्भावस्तु वार्तिके स्पष्टः।

❀विदित्वा ज्ञात्वेति। अथ भाष्येऽष्टौ वार्तिकानि। "पौर्वापर्यं यथायोगं क्त्वान्तयोः पदयोर्द्वयोः। पूर्वं विदित्वेति तदा द्वेधा प्रकल्पनम् ॥ ज्ञानस्वभावाद्व्युत्थानं ज्ञेयवस्तूपरोधतः। व्युत्थाने चोदनापेक्षा नाधिकार मर्दतः ॥ शाब्दी वा प्रतिपत्तिः स्याद्व्युत्थानादेः प्रयोजिका। विध्यर्थो ह्यपि बाल्यादिस्तथोर्ध्वमपि दृश्यते व्युत्थायाथ विदित्वेति पौर्वापर्यं यदेष्यते। व्युत्थानसाधना विद्येत्ययमर्थो भवेत्तदा ॥ विदित्वा कथमि प्रत्युक्त्यर्था परा श्रुतिः। तस्मादित्यादिका योज्या न्यासहेतुत्वसिद्धये ॥ तस्मादेवंविदित्येवं तथा चोर्ध्वं प्रवक्ष्य निःशेषकर्मसंन्यासं विद्यायाः साधनं श्रुतिः ॥ संन्याससाधनं ज्ञानं निर्वक्त्यत्रापि च श्रुतिः। यथा तथा परा श्रुतयः सन्ति कोटिशः ॥ ज्ञानानुरोधिनी यद्वत्प्रवृत्तिः प्राणिनामिह। तथेहापि श्रुतिर्वक्ति प्रत्यग्याथात्म्यवेदिन ॥ १०३-११० ॥ इति। विदित्वा व्युत्थायेति यथाश्रुतं वा पौर्वापर्यमन्यथा वेति संदिहान प्रत्याह—तत्र प क्रमोऽनुस्रियते चेत्तदा वेदनं द्विविधं संभवतीत्याह—पूर्वमिति ॥ कथं तद्धि तत्त्वसाक्षात्करणं वा प्रयोजक वा तत्राऽऽद्यं प्रत्याह—ज्ञानेति। साक्षात्कारवशाद्व्युत्थानं वस्तुस्वरूपमनुसृत्य तदात्मनैव स्थितिस्तन्न तत्र वि स्वरूपे फलात्मनि विध्यभावात्साक्षात्कारेण विधिपुरुषसंबन्धस्य निरासादधिकार्यभावाच्चेत्यर्थः ॥ द्वितीयं प्रत्य शाब्दीति। अधीतसाङ्गस्वाध्यायस्य शब्दोत्था संन्यासपूर्वकश्रवणादिप्रयोजिका धीर्यदि विदित्वेत्युच्यते साक्षात्कारार्थं संन्यासादिविधिर्युक्त इत्यर्थः। नास्मिन्वाक्ये विधिरस्ति लिङाद्यश्रवणात्तत्कथमिह संन्यास विधिरित्याशङ्क्याऽऽह—विधीति। यद्यपीह विधिर्न दृश्यते तथाऽपि बाल्यादिर्विधेयः सहकार्यन्तरविधि न्यायात्तिष्ठासेदिति चोत्तरत्र विधिः स्पष्ट इत्यर्थः। उक्तन्यायद्योती हिशब्दः। पाठक्रमपक्षे वेदनं वि व्यवस्थामुक्त्वा श्रौतात्क्रमादर्थक्रमो बलवानिति पौर्वापर्यान्तरमाह—व्युत्थायेति। श्रौतक्रमव्यवच्छेदकोऽथश तत्र ज्ञानस्य श्रवणादि द्वारा संन्यासः साधनमित्युक्तं भवतीत्याह—व्युत्थानेति ॥ पाठक्रमे संन्यासस्य धीसा त्वासिद्धेर्नासावनुसरणीय इत्याशङ्क्याऽऽह—विदित्वेति। विदित्वा व्युत्थानमिति मते कथं संन्यासस्य वे साधनत्वं न हि पश्चाद्भावी पूर्वसिद्धस्य हेतुरिति चोद्यं परिहर्तुं तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यमित्याद्या श्रुतिस्तत्र

ब्राह्मणानामेवाधिकारो व्युत्थानेऽतो ब्राह्मणग्रहणम् । व्युत्थाय [1]वैपरीत्येनोत्थानं कृत्वा । [2]कुत इत्याह—पुत्रैषणायाः पुत्रार्थैषणा पुत्रैषणा । पुत्रेणेमं लोकं जयेयमिति लोकजयसाधनं पुत्रं प्रतीच्छैषणा [3]दारसंग्रहः[4] । दारसंग्रहमकृत्वेत्यर्थः । [5]वित्तैषणायाश्च कर्मसाधनस्य

तत्राऽऽह—ब्राह्मणानामिति । पुत्रार्थमिषणामेव विवृणोति—पुत्रेणेति । [6]ततो व्युत्थानं [7]संगृह्णाति—दारसंग्रहमिति । वित्तैषणायाश्च व्युत्थानं कर्तव्यमित्याह—वित्तेति । वित्तं द्विविधं मानुषं दैवं च ।

परब्रह्म मैं हूँ—ब्राह्मण लोग भिक्षाचर्या किया करते हैं। मन्त्र में 'ब्राह्मण' पद का ग्रहण इसलिए किया गया है क्योंकि विपरीत पर्यवस्थिति करने में ब्राह्मण ही समर्थ हैं। "व्युत्थाय" अर्थात् एषणाप्रतिकूल

---

१. वैपरीत्येनोत्थानं कृत्वेति—एषणाप्रातिकूल्येन निर्व्यापारतयाऽवस्थानं कृत्वेत्यर्थः । विस्तरस्तु वार्तिके । २. व्युत्थानप्रतियोगिनं पृच्छति—कुत इति । ३. दारेति । तदुक्तं वार्तिके—"पुत्रोत्पत्तिं समुद्दिश्य दारान्परिजिघृक्षति । यतो दारार्थं उद्योगस्ततः पुत्रैषणोच्यते" ॥ १११ ॥ इति । ४. विवाहः । ५. वित्तेति । अत्र वित्तशब्दार्थमाहुर्वार्तिके—"पुरुषार्थाय यन्नालं लब्धात्माऽपि कुठारवत् । अप्रविश्य प्रयोगं तद्वित्तमित्युपदिश्यते" ॥ ११२ ॥ न हि कुठारः स्वरूपेण सन्नपि बिना व्यापारावेशं दारु विदारयति यथा तथा विद्यमानमपि यन्नानुष्ठानादृते फलमङ्कुरयति तद्गवादि वित्तं प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ ६. पुत्रैषणातः । ७. संग्रहेणाह—संग्रहः संक्षेपः ।

प्रयोजकज्ञानवतः संन्यासिनः पाण्डित्यादि विधीयतेऽतः संन्यासस्य धीहेतुत्वार्थं विपरीतक्रमवद्यथाक्रमेऽपि नावद्यमित्यर्थः ॥ पौर्वापर्यंद्वये संन्यासस्य श्रवणद्वारा ज्ञानोपायत्वमुक्तं तत्र वाक्यशेषं प्रमाणयति—तस्मादिति । एवं श्रुतिरिति संबन्धः । तत्रोपरतशब्देन विद्यासाधनतया संन्यासो विवास्यते ॥ न केवलं बृहदारण्यकश्रुतावेवाऽऽत्मधीसाधनतया संन्यासविधिः किंतु श्रुत्यन्तरेऽपीत्याह—संन्यासेति । अपिकारचकारौ पूर्वोत्तरवाक्यपरामर्शार्थौ तावग्रे लेशतो दर्शयिष्यति ॥ ननु प्रामाणिकोऽपि संन्यासः कस्मात्प्रयोजकज्ञानवताऽऽद्रियते कर्मानुष्ठानादभिलषितलाभात्तत्राऽऽह—ज्ञानेति । यथेह कर्मणि कामिनां श्रौतज्ञानात्प्रवृत्तिस्तथा तत्त्यागेऽपि प्रयोजकज्ञानवतां प्रवृत्तिं वक्ति श्रुतिस्तथाच कर्मणीव संन्यासे प्रवृत्तिरवश्यंभाविनी विवेकिनामित्यर्थः ॥

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवदिति सूत्रार्थस्तु बृहदारण्यके श्रूयते—"तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं निर्विद्याथ ब्राह्मणः" इति । किमत्र निदिध्यासनाख्यं मौनं विधीयते न वेति विशये नेति पूर्वपक्षे प्राप्ते सिद्धान्तः सहकार्यन्तरविधिरिति । फलभूतसाक्षात्कारे श्रवणाद्यपेक्षया सहकार्यन्तरस्य मौनस्य निदिध्यासनाख्यस्य विधिराश्रयितव्यः अपूर्वत्वादित्यर्थः । ननु गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थ्यमितिस्मृतौ मौनशब्दस्य पारिव्राज्ये प्रयोगदर्शनात्कथमत्र मौनं निदिध्यासनं स्यादत आह—तृतीयमिति । श्रवणाद्यपेक्षया तृतीयं निदिध्यासनमेवात्र मौनं विधेयमित्यर्थः । तत्राश्रमान्तरसमभिव्याहारबलान्निदिध्यासनप्रधानं पारिव्राज्यं मौनशब्देनालक्ष्यत इत्यविरोधः । ननु कस्यायं मौनविधिरित्याशङ्क्याऽऽह—तद्वत इति । परोक्षज्ञानवतः संन्यासिनो विदित्वेति प्रकृतत्वादित्यर्थः । ननु सूक्ष्मवस्तु साक्षात्कारे निदिध्यासनस्य स्वतःप्राप्तत्वान्न विधेयत्वमत आह—पक्षेणेति । यस्मिन्पक्षे भेददर्शनप्राप्तिः तत्र पक्षे प्राप्त्यभावाद्विधिरर्थवानेवेत्यर्थः । ननु ब्रह्म परवाक्ये कथं मौनविधिरित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह—विध्यादिवदिति । प्रधानमारभ्याङ्गपर्यन्तो विधिस्तस्य विधरादिर्विध्यादिः प्रधानमिति यावत् । अत एव प्रयाजादिर्विध्यन्त इत्युच्यते । यथा दर्शपूर्णमासप्रधानपरे वाक्ये अन्वाधानादेरङ्गजातस्य विधिस्तद्वन्मौनस्येत्यर्थः । ब्राह्मण्यस्य फलत्वान्न विधिकल्पना विधिफलेति भावः ॥

[1]गवादेरुपादानमनेन कर्म कृत्वा पितृलोकं जेष्यामीति[2] विद्यासंयुक्तेन वा देव केवलया वा हिरण्यगर्भविद्यया दैवेन वित्तेन देवलोकम् ।

दैवाद्वित्ताद्व्युत्थानमेव नास्तीति [3]केचित् । यस्मात्तद्बलेन हि किल व्युत्थानमि तदसत् । [4]एतावान्वै काम इति पठितत्वादेषणामध्ये दैवस्य वित्तस्य । हिरण्यगर्भ देवताविषयैव विद्या वित्तमित्युच्यते । देवलोकहेतुत्वात् । न हि निरुपाधिकप्रज्ञान विषया ब्रह्मविद्या देवलोकप्राप्तिहेतुः । “[5]तस्मात्तत्सर्वमभवत्” “आत्मा ह्येषां स भव

मानुषं गवादि तस्य कर्मसाधनस्योपादानमुपार्जनं तेन कर्म कृत्वा केवलेन कर्मणा पितृलोकं जेष्या दैवं वित्तं विद्या तत्संयुक्तेन कर्मणा देवलोकं केवलया च विद्यया तमेव जेष्यामीतीच्छा वित्त ततश्च व्युत्थानं कर्तव्यमिति व्याचष्टे—कर्मसाधनस्येति । [6]एतेन लोकैषणायाश्च व्युत्थान वेदितव्यम् ।

दैवाद्वित्ताद्व्युत्थानमाक्षिपति—दैवादिति । तस्यापि कामत्वात्ततो व्युत्थातव्यमिति परि —तदसदिति । [7]तर्हि ब्रह्मविद्यायाः सकाशादपि व्युत्थानात्त[8]न्मूलध्वंसे तद्व्याघातः स्यादि शङ्क्याऽऽह—हिरण्यगर्भादीति । देवतोपासनाया वित्तशब्दितविद्यात्वे हेतुमाह—देवलोके [9]तत्प्राप्तिहेतुत्वं ब्रह्मविद्यायामपि तुल्यमिति चेन्नेत्याह—न हीति । [10]तत्र फलान्तरश्रवणं हेतू करो

निर्व्यापार द्वारा अवस्थान करके, भिक्षाचर्या किया करते हैं। कहाँ से अवस्थिति करते हैं—इस श्रुति कहती है। “पुत्रैषणायाः” अर्थात् पुत्रविषयिणी इच्छा से यानी मैं पुत्रोत्पत्ति कर यह जीतूँगा, इसलिये लोकजय के साधनभूत पुत्र की इच्छा के लिए विवाह होता है, उस पत्नीप्रा विवाह का परित्याग करके भिक्षाचर्या करते हैं। इसी प्रकार “वित्तैषणायाश्च” में वित्तपद क साधन गवादि का उपादान है, कर्म के साधन इस गवादिवित्त से कर्म करके मैं पितृलोक पर विजय करूँगा, इस बुद्धि से उनका उपादान करना अथवा विद्यासंयुक्त कर्म से देवलोक यानी केवल हिर विद्यारूप देववित्त से देवलोक प्राप्त करूँगा, इसी का नाम वित्तैषणा है।

भर्तृप्रपञ्चादि किन्हीं दार्शनिकों का मत है कि दैववित्त से विपरीत अवस्थिति तो होत नहीं क्योंकि उसी की शक्ति से तो व्युत्थान होता है। ऐसा कहना ठीक नहीं है—क्योंकि “बस विषय से परिच्छिन्न ही काम है” इस श्रुति में दैववित्त को भी एषणा के अन्तर्गत ही लिया गया तथा हिरण्यगर्भादि देवताविषयिणी विद्या को दैववित्त कहा गया है क्योंकि वह देवलोकप्राप्ति की है। निरुपाधिक प्रज्ञानघनविषयिणी ब्रह्मविद्या देवलोकप्राप्ति की हेतु नहीं हो सकती। “ (उत्पा

---

१. कर्मसाधनगवादिवित्ते । २. इति धिया उपादानमिति पूर्वत्रान्वयः । ३. भर्तृप्रपञ्चमतानुया ४. बृ० उ० १।४।१७ । ५. बृ० उ० १।४।१० । ६. एतेनेति—साधनैषणातो व्युत्थाननि फलैषणातो व्युत्थानं निरूपितमेव वेदितव्यमित्यर्थः ॥ लोकैषणाशब्दार्थमाहुर्वार्तिके—“लोकानुद्दि कामस्तत्साधनसमाश्रयः । लोकैषणेति तामाहुः काम्यकर्मार्थमुद्यमम्” ॥ ११७ ॥ इति । फलेच्छया तद्धेतु यः कामः स लोकैषणेत्युच्यते तां च काम्यकर्मार्थमारम्भमाहुरिति योजना ॥ ७. तर्हीति—विद्यात्म वित्ताद्व्युत्थानाभ्युपगम इत्यर्थः । विद्यात्वाविशेषादिति शेषः । ८. संन्यासात्मकव्युत्थानमूलवि व्युत्थानव्याघात इत्यर्थः । ९. देवलोकप्राप्तिहेतुत्वम् । १०. ब्रह्मविद्याया देवलो प्राप्तिहेतुत्वाभाव।

इति श्रुतेः । [1]तद्बलेन हि व्युत्थानम् “एतं वै तमात्मानं विदित्वा” इति विशेषवचनात् । तस्मात्त्रिभ्योऽप्येतेभ्योऽनात्मलोकप्राप्तिसाधनेभ्य एषणाविषयेभ्यो व्युत्थाय । एषणा [2]कामः “[3]एतावान्वै कामः” इति श्रुतेः । एतस्मिंस्त्रिविधेऽनात्मलोकप्राप्तिसाधने तृष्णामकृत्वेत्यर्थः ।

सर्वा हि साधनेच्छा फलेच्छैव । [4]अतो व्याचष्टे श्रुतिरेकैवैषणेति । कथम् । [5]या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा । [6]दृष्टफलसाधनत्वतुल्यत्वात् । या [7]वित्तैषणा सा लोकै-

तस्मादिति । इतश्च ब्रह्मविद्या दैवाद्वित्ताद्बहिरेवेत्याह—तद्बलेनेति । प्रागेव वेदनं सिद्धं चेत्किं पुनर्व्युत्थानेनेत्याशङ्क्य '[8]प्रयोजकज्ञानं '[9]तत्प्रयोजकमुद्देश्यं[10] तु तत्त्वसाक्षात्करणमिति विवक्षित्वाऽऽह—तस्मादिति । प्रयोजकज्ञानं [11]पञ्चम्यर्थः । व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्तीति संबन्धः । व्युत्थानस्वरूपप्रदर्शनार्थमेषणास्वरूपमाह—एषणेति । [12]किमेतावतेत्याशङ्क्य व्युत्थानस्वरूपमाह—एतस्मिन्निति । [13]संबन्धस्तु पूर्ववत् ।

या ह्येवेत्यादि श्रुतेस्तात्पर्यमाह—सर्वा हीति । फलं नेच्छति साधनं च चिकीर्षतीति व्याघातात्फलेच्छान्तर्भूतैव साधनेच्छा तद्युक्तमेषणैक्यमित्यर्थः । श्रुतेस्तदैक्यव्युत्पादकत्वं प्रश्नपूर्वकं

पूर्व यह नाम-रूपात्मक जगत् ब्रह्मस्वरूप ही था, उसने अपने को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ) इसी विज्ञान से वह सर्वरूप हो गया'', ''क्योंकि वह तत्त्वज्ञानी इन देवताओं का भी आत्मा ही हो जाता है'' ऐसा श्रुति भी समर्थन करती है। आत्मबुद्धि के बल से ही व्युत्थान होता है। इसी से प्रकरणस्थ मन्त्र में ''उस इस आत्मा को (मैं नित्यमुक्त नित्यतृप्त परब्रह्म हूँ, ऐसा) जानकर (भिक्षाटन करते हैं)''—ऐसा विशेष वचन है। इसलिए एषणा के विषयभूत अनात्मलोक के प्राप्ति कराने वाले इन तीनों ही साधनों से विपरीत व्यवस्थिति करके भिक्षावृत्ति का आश्रय लेते हैं। ''इतना ही काम है'' इस श्रुतिवाक्य के अनुसार एषणा ही काम्य है। अर्थात् अनात्मलोकप्राप्ति के इन तीनों साधनों में तृष्णा न करके भिक्षाटन करते हैं।

साधन की इच्छा चाहे किसी भी प्रकार की हो, सभी फल की इच्छा ही है। इसलिए (साधनेच्छा फलेच्छारूप होने से) श्रुति कहती है—एक ही एषणा है। ऐसा क्यों कहते हो ? क्योंकि जो पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है क्योंकि उनका दृष्ट फल में साधन होना समान है ; (पुत्रैषणा से

---

[1] आत्मधीबलेन । [2] काम्यः । [3] बृ० उ० १।४।१७ । [4] साधनेच्छायाः फलेच्छारूपत्वात् । [5] या ह्येवेत्यादि मूलवाक्यमित्थं योज्यम् तथाहि—फलेच्छासाधनमुपसंक्रामतीति न्यायाल्लोकैषणैवैकेत्याह—या हीति । हि प्रसिद्धा या पुत्रैषणा सैव वित्तैषणा दृष्टफलसाधनत्वादिसामान्यात् या पुत्रैषणया एकत्वमापन्ना वित्तैषणा सा लोकैषणैव साध्यलोकैषणाप्रयुक्तत्वात् (प्रयोज्यप्रयोजकैक्याभिप्रायात्) साधनैषणाया एवमेकत्वेऽपि लोकैषणाथाः साधनमन्तरेणासिद्धेः साध्यसाधनभेदेन द्वैविध्यमाह—उभे इति । हि यस्मादुभे एते साध्यसाधनरूपे एषणे एव भवत इति । [6] दृष्टेत्यादि—पुत्रवित्तैषणयोर्मिथो हेतुहेतुमद्भावाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । विस्तरस्तु वार्तिके । [7] पुत्रैषणयैक्यमापन्ना । [8] आपातज्ञानं परोक्षज्ञानं वा । [9] व्युत्थानेति यावत् । [10] व्युत्थानोद्देश्यम् । [11] तथा च प्रयोजकज्ञानबलादित्यर्थः । [12] एषणास्वरूपप्रदर्शनमात्रेण किमायातम् । [13] तृष्णामकृत्वा भिक्षाचर्यं चरन्तीति संबन्ध इत्यर्थः ।

षणा। फलार्थैव [1]सा। सर्वः फलार्थप्रयुक्त एव हि सर्वं साधनमुपादत्ते। [2]अत एकैवैषणा या लोकैषणा सा साधनमन्तरेण संपादयितुं न शक्यत [3]इति। साध्यसाधनभेदेनोभे हि यस्मादेते एषणे एव भवतः। तस्माद्ब्रह्मविदो नास्ति कर्म कर्मसाधनं वा।

[4]अतो येऽतिक्रान्ता ब्राह्मणाः सर्वं कर्म कर्मसाधनं च सर्वं देवपितृमानुषनिमि यज्ञोपवीतादि[5]। [6]तेन हि दैवं पित्र्यं मानुषं च कर्म क्रियते। "[7]निवीतं मनुष्याणाम्

व्युत्पादयति—कथमित्यादिना। फलैषणान्तर्भावं साधनैषणायाः समर्थयते—सर्व इति। उभे हीत्यादि श्रुतिमवतार्य व्याचष्टे—या लोकैषणेति।

प्रयोजकज्ञानवतः साध्यसाधनरूपात्संसाराद्विरक्तस्य कर्मतत्साधनयोरसंभवे साक्षात्कारमुद्दिश्य फलितं संन्यासं दर्शयति—अत इति। अतिक्रान्ता ब्राह्मणाः 'किं प्रजयेत्यादिप्रकाशितास्तेषां क कर्मसाधनं च यज्ञोपवीतादि नास्तीति पूर्वेण संबन्धः। देवपितृमानुषनिमित्तमिति विशेषणं विशदयति —तेन हीति। प्राचीनावीतं पितॄणामुपवीतं देवानामित्यादिशब्दार्थः। यस्मात्पूर्वे विचारप्रयोजक

अभिन्नता को प्राप्त हुई) जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है क्योंकि वह पुत्रवित्तादिरूप साधनैषणा फल के लिए ही है। लोकव्यवहार में फलरूप प्रयोजन से प्रेरित होकर ही सारे साधन सम्पादित कि जाते हैं। इसलिए एषणा एक ही है, और वह है— लोकैषणा। उसका साधन के बिना सम्पादन करन असम्भव है। क्योंकि साध्य और साधनभेद से ये दोनों ही एषणाएँ ही है; इसलिये ब्रह्मनिष्ठ विद्वा के लिए कर्म अथवा कर्म के साधन का विधान नहीं है।

अतः (विद्वान् के लिए कर्म का विधान सम्भव न होने के कारण) जो पूर्ववर्ती ब्राह्मण थे, सम्पूर्ण कर्म तथा देव, पितृ और मनुष्य लोक के निमित्त यज्ञोपवीत-शिखादि सम्पूर्ण साधनों की विपरीत अवस्थिति कर भिक्षावृत्ति स्वीकार करते थे क्योंकि यज्ञोपवीत-शिखादि से ही देव, पितृ और मनुष्य लोक प्राप्ति के लिए कर्म किए जाते हैं। जैसे श्रुति भी कहती है कि "मनुष्यलोक प्राप्ति के लिए दान सम्बन्धी कर्मों में यज्ञोपवीत को माला की भाँति गले में धारण करे"। इसलिए पहले ब्रह्मवेत्ता ब्राह्म

---

[1] पुत्रवित्तादिरूपसाधनैषणा। [2] अत इति—सर्वस्यापि फलार्थित्वेनैव साधनोपादानदर्शनादित्यर्थः वार्तिके यथा—"साध्यैषणाप्रयुक्तत्वात्पुत्रवित्तैषणात्मनः। एका लोकैषणैवेयं त्रिधाऽतो व्यपदिश्यते" ॥१३५ इति। या पुत्रैषणेत्यादिना त्रिधोक्ता सेयमेकैव लोकैषणेतरस्यास्तत्प्रयुक्तत्वादिति योजना। [3] इतीति— हि साध्यस्य साधनं विना स्वभावादुत्पत्तिः स्वभाववादनिरासादतः साध्यानुसारि साधनमेष्टव्यमित्यभिप्रायकमु हीत्यादि वाक्यमिति भावः। [4] विदुषां कर्माद्यसंभवात्। [5] आदिना शिखा ग्राह्या। [6] तेन हीत्या —यज्ञोपवीतादिना हि दैवं कर्म होमादि, पित्र्यं श्राद्धादि, मानुषं च दानादीति विवेकः। [7] 'निवी मनुष्याणामिति—मनुष्योद्देश्यकदानादिकर्मसंबन्धि ब्रह्मसूत्रं (यज्ञसूत्रं) निवीतं कुर्यादित्यर्थः। एवमुत्तरत्राप्यर्थो ऽनुसंधेयः॥ अत्रामरः—"उपवीतं ब्रह्मसूत्रं प्रोद्धृते दक्षिणे करे। प्राचीनावीतमन्यस्मिन् निवीतं कण्ठलम्बित मिति"॥ दक्षिणे करे प्रोद्धृते बहिष्कृते सति यद्ब्रह्मसूत्रं तदुपवीतमित्युच्यते वामस्कन्धार्पितमिति याव वामकरे। समानमन्यत्। कण्ठलम्बितमिति करद्वये बहिष्कृते कण्ठे मालेव ऋजुभावेनार्पितमित्यर्थः। [8] बृ उ० ४।४।२२।

इत्यादिश्रुतेः। तस्मात्पूर्वे ब्राह्मणा ब्रह्मविदो व्युत्थाय कर्मभ्यः कर्मसाधनेभ्यश्च यज्ञोपवीतादिभ्यः परमहंसपारिव्राज्यं प्रतिपद्य [1]भिक्षाचर्यं चरन्ति भिक्षार्थं चरणं भिक्षाचर्यं [2]चरन्ति त्यक्त्वा [3]स्मार्तं लिङ्गं केवलमाश्रममात्रशरणानां जीवनसाधनं पारिव्राज्यव्यञ्जकम्। विद्वाँल्लिङ्गवर्जितः। "तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञोऽव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारः" इत्यादिस्मृतिभ्यः। "अथ परिव्राड्[4]विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः" इत्यादिश्रुतेः। सशिखान्केशान्निकृत्य विसृज्य यज्ञोपवीतमिति च[5]।

ननु व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीति वर्तमानापदेशाद[6]र्थवादोऽयं न विधायकः

ज्ञानवन्तो ब्राह्मणा विरक्ताः संन्यस्य [7]तत्प्रयुक्तं [8]‘धर्ममन्वतिष्ठंस्तस्मादधुनातनोऽपि प्रयोजकज्ञानी विरक्तो ब्राह्मणस्तथा कुर्यादित्याह—तस्मादिति। ‘त्रिदण्डेन यतिश्चैव’ इत्यादिस्मृतेर्न परमहंसपारिव्राज्यमत्र विवक्षित[9]मित्याशङ्क्याऽऽह—त्यक्त्वेति। [10]तस्य दृष्टार्थत्वान्मुमुक्षुभिस्त्याज्यत्वं सूचयति—केवलमिति। अमुख्यत्वाच्च तस्य त्याज्यतेत्याह—पारिव्राज्येति। [11]तथाऽपि त्वदिष्टः [12]संन्यासो न स्मृतिकारैर्निबद्ध इति चेन्नेत्याह—विद्वानिति। [13]प्रत्यक्षश्रुतिविरोधाच्च स्मार्तसंन्यासो मुख्यो न भवतीत्याह—अथेति।

एतं वै तमित्यादिवाक्यस्य विधायकत्व[14]मुपेत्य सर्वकर्मतत्साधनपरित्यागपरत्वमुक्तमाक्षिपति

कर्म और उसके साधन यज्ञोपवीत-शिखा का परित्याग करके परमहंस परिव्राजक भाव को प्राप्त कर श्रवणादि से अवशिष्ट समय में देहस्थिति के लिए भिक्षाचरण करते हैं। भिक्षा के लिए जाने का नाम भिक्षाचर्या है। स्मृतिप्रोक्त त्रिदण्डादिरूप लिङ्ग को छोड़कर केवल पारिव्राज्य आश्रममात्र में शरणापन्न हुए देहयात्रा को चलाना संन्यास का अभिव्यञ्जक है। विद्वान् एवं बाह्य चिह्नों से वर्जित (भिक्षा करते हैं)", "इसलिए संन्यासी लिङ्गरहित, धर्मज्ञ और अव्यक्तलिङ्ग एवं अव्यक्त आचार वाला होकर रहे" इत्यादि स्मृति प्रमाण है। श्रुति भी कहती है—"संन्यासी परिव्राट्, विना श्वेत वस्त्र यानी काषायवस्त्रधारी, मुण्डी और परिग्रहरहित होकर रहे", "शिखासहित केशों का मुण्डन करके, यज्ञोपवीत को त्याग कर भिक्षाचर्या करते हैं।"

मन्त्र में "व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीति" इस वाक्य में वर्तमान काल का प्रयोग होने से

---

[1] श्रवणादिशेषकाले देहस्थित्यर्थम्। [2] कुर्वन्ति। [3] स्मृत्युक्तं त्रिदण्डादिरूपम्। [4] विगतश्वेतवर्णं काषायमित्यर्थः। [5] श्रुतेः। [6] भूतार्थवादः। [7] संन्यासप्रयुक्तम्। [8] श्रवणादिरूपं भिक्षादिरूपं च। [9] इत्याशङ्क्येति—आश्रमान्तराणि लक्षयित्वा त्रिदण्डेन यतिश्चैवेति मोक्षाश्रमं लक्षयता दक्षेण शिखायज्ञोपवीतादिपरित्यागरूपं पारिव्राज्यं निराकृतमतः शिखादिशालिनस्त्रिदण्डिनः सर्वस्मृतिप्रसिद्धाः संन्यासिनस्तेषामेव व्युत्थायेत्यादि वाक्ये ग्रहणमिति शङ्कितुराशयः। आहेति—स्मार्तसंन्यासस्य श्रुतिविरोधेन सत्त्वमेव नास्तीत्याशयेन ब्रूत इत्यर्थः। उक्तं हि वार्तिके—"मुण्डोऽपरिग्रहश्चेति प्रत्यक्षश्रुतिवाक्यतः। तद्विरुद्धं स्मृतेर्वाक्यं नापेक्ष्यं दुर्बलत्वतः" ॥ १५८ ॥ इति। [10] स्मार्तलिङ्गस्य। [11] तथाऽपीति—श्रौतवक्ष्यमाणसंन्यासापेक्षया स्मार्तसंन्यासस्य दुर्बलत्वेनामुख्यत्वात्त्याज्यत्वेऽपीत्यर्थः। [12] पारमहंस्याख्यः। [13] प्रत्यक्षश्रुतीति—स्मृत्या तन्मूलश्रुत्यनुमानेऽपि प्रत्यक्षापेक्षया दुर्बलत्वमेवानुमेयस्येत्यभिप्रायः। [14] उपेत्येति—व्युत्थायेत्यंशस्य संन्यासविधायकत्वं भिक्षाचर्यं चरन्तीत्यंशस्य तद्धर्मविधायकत्वं च प्रौढ्या स्वीकृत्येत्यर्थः।

प्रत्ययः कश्चिच्छ्रूयते लिङ्लोट्तव्यानामन्यतमोऽपि । [1]तस्मादर्थवादमात्रेण श्रुतिस्मृति विहितानां यज्ञोपवीतादीनां साधनानां न शक्यते परित्यागः कारयितुम् । यज्ञोपवीत्येवा धीयीत[2] याजयेद्यजेत वा । पारिव्राज्ये तावदध्ययनं विहितम्—

"वेदसंन्यसनाच्छूद्रस्तस्माद्वेदं न संन्यसेत्" इति ।
"[3]स्वाध्याय एवो[4]त्सृज्यमानो [5]वाचम्" इति चाऽऽपस्तम्बः ।
"[6]ब्रह्मोज्झं वेदनिन्दा च कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः ।
गर्हितान्नाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट्[7]"

इति वेदपरित्यागे दोषश्रवणात् । उपासने गुरूणां वृद्धानामतिथीनां होमे जप कर्मणि भोजन आचमने स्वाध्याये च यज्ञोपवीती स्यादिति परिव्राजकधर्मेषु

—नन्विति । इतश्च यज्ञोपवीतमपरित्याज्यमित्याह—यज्ञोपवीत्येवेति । याजनादिसमभिव्याहारा 'संन्यासिविषयमेतदित्याशङ्क्याऽऽह—पारिव्राज्ये तावदिति । वेदत्यागे दोषश्रुतेस्तदत्यागेऽपि का पारिव्राज्ये यज्ञोपवीतित्वमित्याशङ्क्याऽऽह—उपासन इति । इत्यनेन वाक्येन गुर्वाद्युपासनाङ्गत्वे यज्ञोपवीतस्य विहितत्वात्परिव्राजकधर्मेषु गुरूपासनादीनां कर्तव्यतया श्रुतिस्मृतिषु चोदितत्वाद्यज्ञो पवीतपरित्यागोऽवगन्तुं नैव शक्यत इत्यन्वयः । संप्रति प्रौढिमारूढो व्युत्थाने विधिमङ्गीकृत्या

यह भूतार्थवाद ही है । विधानप्रतिपादक लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्ययों में से यहाँ एक का भी श्र नहीं होता है । विधानप्रतिपादक प्रत्यय के अभाव में भूतार्थवाद से श्रुतिस्मृतिविहित यज्ञोपवीता साधनों में से किसी का भी परित्याग नहीं कराया जा सकता । यज्ञोपवीतधारी वेदों का अध्ययन क यज्ञ करे अथवा कराए । संन्यास में तो अध्ययन का विधान है ही ।

"वेदों के त्याग करने से शूद्र हो जाता है—इसलिये वेदों का त्याग न करे" ।

"वेदों का त्याग करने वाले को भी स्वाध्याय के लिए उचित समय निकालना चाहि ऐसा आपस्तम्ब मुनि का मत है ।

"पढ़े हुए वेद को अनभ्यासवशात् भूल जाना, वेद की निन्दा करना, कूटसाक्ष्य, मित्र का व गर्हित अन्न और पूर्व न खाने का संकल्प कर पुनः उसी को खा लेना ये छः सुरापान के सम पापकर्म हैं" । इस प्रकार वेद त्याग में दोष सुना गया है । "गुरु, वृद्ध और अतिथियों की उपासना, हो जपकर्म, भोजन, आचमन और स्वाध्याय में यज्ञोपवीत धारण किये होना चाहिये" इस प्रकार श्रु

---

१. विधायकाभावात् । २. वेदान् । ३. स्वाध्याय एवेत्यादि—अत्र स्वाध्यायोऽध्ययनोचितसमयः तत्र वेदाध्ययनं संन्यसन् शूद्रो भवतीत्यर्थः । ४. त्यजन् । ५. वेदम् । ६. ब्रह्मोज्झमिति—अत्र ब्रह्मोज्झि वेदनिन्देति चकाररहितं पाठम् । अधीतवेदस्यानभ्यासेन विस्मरणं ब्रह्मोज्झिता । असच्छास्त्रश्रवणेन वेदकु वेदनिन्दा । साक्ष्ये मृषाभिधानं कौटसाक्ष्यम् । अब्राह्मणस्य मित्रस्य वधः सुहृद्वधः । गर्हितं निषिद्धं लशुना अनाद्यं पुरीषादि । मेधातिथिस्तु न भोज्यं मया तदिति संकल्प्य यद्भुज्यते तदनाद्यमिति व्याचष्टे—तयोर्ज भक्षणम् इति मनुवचनार्थः । ७. म० स्मृ० ११।५७ । ८. यज्ञोपवीतिकर्तृकाध्ययनबोधिवाक्यम् । पूर्वपक्षी ।

गुरूपासनस्वाध्यायभोजनाचमनादीनां कर्मणां श्रुतिस्मृतिषु कर्तव्यता चोदितत्वाद्गुर्वाद्युपासनाङ्गत्वेन यज्ञोपवीतस्य विहितत्वात्तत्परित्यागो नैवावगन्तुं शक्यते । यद्यप्येषणाभ्यो व्युत्थानं विधीयत एव तथाऽपि पुत्राद्येषणाभ्यस्तिसृभ्य एव व्युत्थानं न तु सर्वस्मात्कर्मणः कर्मसाधनाच्च व्युत्थानम् । सर्वपरित्यागे चाश्रुतं[1] [2]कृतं स्याच्छ्रुतं च यज्ञोपवीतादि हापितं स्यात् । तथाच महानपराधो विहिताकरणप्रतिषिद्धाचरणनिमित्तः कृतः स्यात् । [3]तस्माद्यज्ञोपवीतादिलिङ्गपरित्यागोऽन्धपरम्परैव ।

न । "यज्ञोपवीतं वेदांश्च सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः" इति श्रुतेः । अपि चा[4]ऽऽत्मज्ञानपरत्वात्सर्वस्या उपनिषदः । आत्मा द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्य इति हि [5]प्रस्तुतं स चाऽऽत्मैव

[6]दूषयति—यद्यपीत्यादिना । एषणाभ्यो व्युत्थाने सत्येषणात्वाविशेषात्कर्मणस्तत्साधनाच्च व्युत्थानं सेत्स्यतीत्याशङ्क्य यज्ञोपवीतादेरेषणात्वमसिद्धमित्याशयेनाऽऽह—सर्वेति । अश्रुतकरणे श्रुतत्यागे च 'अकुर्वन्विहितं कर्म' इत्यादिस्मृतिमाश्रित्य दूषणमाह—तथा चेति । ननु दृश्यते यज्ञोपवीतादिलिङ्गत्यागः[7] स कस्मान्निराक्रियते तत्राऽऽह—तस्मादिति ।

नेयमन्धपरम्परेति परिहरति—नेत्यादिना । ब्रह्मचर्यादेव [8]'प्रव्रजेदित्यादिविध्यु[9]पलम्भेऽपि "[10]प्रौढवादेनाऽऽत्मज्ञान"[11]विधिबलादेव संन्यासं साधयितुमा"[12]त्मज्ञानपरत्वं तावदुपनिषदामुपन्यस्यति—अपि चेति । "[13]इतश्चास्ति संन्यासे विधिरिति यावत् । "[14]तद्विधिबलादेव संन्याससिद्धिरिति शेषः । कथं सर्वोपनिषदात्मज्ञानपरेष्यते कर्तृस्तुतिद्वारा कर्मविधिशेषत्वेनार्थवादत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—

और स्मृतियों में परिव्राजकों के धर्मों में भी गुरु उपासना, भोजन और आचमनादि कर्मों का कर्तव्यरूप से प्रतिपादित किये जाने के कारण गुरु आदि की उपासना के अङ्गस्वरूप से यज्ञोपवीत का विधान किया गया है, इसलिये उसका परित्याग उचित ठहराया नहीं जा सकता । यद्यपि एषणाओं से ऊपर उठने का विधान है ही, तथापि पुत्रादि तीन एषणाओं से ही व्युत्थान करना चाहिये, समस्त कर्म और कर्मसाधनों से व्युत्थान करने की आवश्यकता नहीं । सब का परित्याग करने पर अविहित यज्ञोपवीतादि परित्याग की कल्पना हो जायगी और विहित यज्ञोपवीतादि का अग्रहण हो जायगा । ऐसे में विहितकर्मों के आचरण न करने से एवं प्रतिषिद्धकर्मों के आचरण करने से महान् दोष हो जायगा । इसलिए यज्ञोपवीतादि लिङ्गों को त्याग करना अन्धपरम्परा ही है ।

(इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है । "संन्यासी यज्ञोपवीत और वेद सभी को छोड़ दे" ऐसा श्रुतिप्रमाण है । इसके अतिरिक्त सभी उपनिषदों का आत्मज्ञान विधिपरक

---

१. अश्रुतम्—यज्ञोपवीतादेः परित्यजनम् । २. कृतम्—कल्पितम् । ३. तस्मात्—सर्वथा यज्ञोपवीतादेः परित्यागायोगात् । ४. आत्मज्ञानविधिपरत्वात् । ५. बृ० उ० २।४।५ । ६. दूषयतीति—यज्ञोपवीतादेः परित्यागं दूषयतीत्यर्थः । ७. संन्यासिनाम् । ८. प्रव्रजेदिति—गृहाद्वा वनाद्वेति श्रुतिशेषः । ९. उपलम्भेऽपीति—संन्यासविधायकयथोक्तादिवाक्यन्तरसत्त्वेऽपीत्यर्थः । १०. प्रौढवादेनेति—तथा च वस्तुतो व्युत्थायेति न संन्यासविधायकं प्रौढयैव तस्य विधिपरत्वं साध्यत इति भावः । स्पष्टं चैतद्वार्तिके । ११. आत्मज्ञानविध्यन्यथानुपपत्तेः । १२. आत्मज्ञानविधिपरत्वम् । १३. अपि चेत्यस्यार्थमाह—इतश्चेति । १४. आत्मज्ञानविधिबलादेव ।

साक्षादपरोक्षात्सर्वान्तरोऽशनायादिसंसारधर्मवर्जित इत्येवं विज्ञेय इति तावत्[1]प्रसिद्धम् सर्वा हीयमुपनिषदे[2]वंपरेति विध्यन्तरशेषत्वं तावन्नास्त्यतो नार्थवादः । आत्मज्ञाना [3]कर्तव्यत्वात् । आत्मा चाशनायादिधर्मवान्न भवतीति साधनफलविलक्षणो ज्ञातव्य: [4]अतोऽव्यतिरेकेणाऽऽत्मनो ज्ञानमविद्या । “[5]अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति” “न स वेद” “मृत्यो स मृत्युमाप्नोति” “य इह नानेव पश्यति” “एकधैवानुद्रष्टव्यम्” “एकमेवाद्वितीयम् “तत्त्वमसि” इत्यादिश्रुतिभ्यः । क्रियाफलं साधनं चाशनायादिसंसारधर्मातीतादात्मनोऽन्य दविद्या[6]विषयम् । “[7]यत्र हि द्वैतमिव भवति” “अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति” “न स वेद “अथ येऽन्यथाऽतो विदुः” इत्यादिवाक्यशतेभ्यः ।

आत्मेत्यादिना । अस्तु यथोक्तं वस्तु विज्ञेयं तथाऽपि ‘[8]प्रस्तुते किं जातं तदाह—सर्वा हीति । ननु तस्य कर्तव्यत्वेऽपि कथं कर्मतत्साधनत्यागसिद्धिरत आह—आत्मा चेति । [9]विपक्षे दोषमाह— अत इति साधनफलान्तर्भूतत्वेनाऽऽत्मनो ज्ञानमविद्येत्यत्र प्रमाणमाह—अन्योऽसावित्यादिना । क्रियाकारकफल विलक्षणस्याऽऽत्मनो ज्ञानं कर्तव्यं [10]तत्सामर्थ्यात्साध्यसाधनत्यागः सिध्यतीत्युक्तं संप्रत्यविद्याविषयत्वात् साध्यसाधनयोर्विद्यावता त्याज्यतेत्याह—क्रियेति । [11]तस्याविद्याविषयत्वे श्रुतीरुदाहरति—यत्रेति ।

होना प्रसिद्ध ही है। और “आत्मा साक्षात्कार करने योग्य; श्रवण करने योग्य और मनन करने यो है” इस प्रकार आत्मस्वरूप प्रस्तुत किया गया है। उस आत्मा को ही साक्षात्, अपरोक्ष, सर्वान्त क्षुधा-पिपासादि संसारी धर्मों से वर्जित जानना चाहिये—ऐसा प्रसिद्ध ही है। यह सम्पूर्ण बृहदारण्य उपनिषत् भी आत्मज्ञानविधिपरक है, यह किसी दूसरी विधि का शेषभूत नहीं है, इससे अर्थवाद न है क्योंकि यह आत्मज्ञान का सम्पादन करता है। आत्मा क्षुधा-पिपासादि धर्मों वाला नहीं है, इसलि उसे साधन और फल से विलक्षण ही समझना चाहिये। आत्मा को साधन फल के अभेदरूप से जान ही अविद्या है। “यह आराध्यदेव भिन्न है और मैं उससे भिन्न हूँ, इस प्रकार जो अपने से भिन्न देव की उपासना करता है, वह अज्ञानी परमार्थतत्त्व को नहीं जानता”, “फिर भी जो इसमें नाना के समा देखता है, वह मरण से मरण को प्राप्त करता है अर्थात् अज्ञान के कारण ही उसे बार-बार मरना पड़ है”, “आचार्योपदेश के बाद उस ब्रह्म को (आकाश के समान अन्तर-बाह्यशून्य) एकमात्र (विज्ञानघन से ही) देखना चाहिये”, “(सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य) एकमात्र अद्वितीय सत् ही था”, “(सत्य है, वही आत्मा है और हे श्वेतकेतो !) वही तू है” इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। कर्मफ और उसके साधन तो क्षुधा-पिपासादि सांसारिक धर्मों से अतीत आत्मा से भिन्न अविद्या के कार्य हैं “जिस अविद्यावस्था में (परमार्थतः अद्वैत ब्रह्म में) द्वैत सा प्रतीत होता है”, “वह आराध्यदे भिन्न है और मैं उससे भिन्न हूँ, इस प्रकार जो अपने से भिन्न देवता की उपासना करता है, वह अज्ञा

---

१. प्रसिद्धमिति—आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितमिति वाक्यशेषे प्रसिद्धमित्यर्थः २. आत्मज्ञानविधिपरा । ३. संपाद्यत्वात् । ४. साधनफलतोऽभेदेनेत्यर्थः । ५. बृ० उ० १।४।१० ६. कार्यम् । ७. बृ० उ० २।४।१४ । ८. सर्वोपनिषदात्मज्ञानपरेत्यत्र किमायातम् । ९. विपक्षे साधनफलान्तर्भूतत्वे नात्मनो ज्ञाने । १०. तत्सामर्थ्यात्—आत्मज्ञानविधिबलात् । ११. तस्य—आत्म भिन्नस्य साध्यसाधनात्मकस्य वस्तुन इत्यर्थः ।

न च विद्याविद्ये एकस्य पुरुषस्य सह भवतो विरोधात्तमःप्रकाशाविव । [1]तस्मादात्मविदोऽविद्याविषयो[2]ऽधिकारो न द्रष्टव्यः क्रियाकारकफलभेदरूपः । "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति" इत्यादि निन्दितत्वात् । सर्वक्रियासाधनफलानां चाविद्याविषयाणां [3]तद्विपरीतात्मविद्यया हातव्यत्वेनेष्टत्वात् । यज्ञोपवीतादिसाधनानां च तद्विषयत्वात् । तस्मादसाधनफलस्वभावादात्मनोऽन्यविषया विलक्षणैषणा । उभे ह्येते साधनफले एषणे एव भवतः । यज्ञोपवीतादेस्तत्साध्यकर्मणां च साधनत्वात् । उभे ह्येते एषणे एवेति [4]हेतुवचनेनावधारणात् । यज्ञोपवीतादिसाधनात्तत्साध्येभ्यश्च [5]कर्मभ्योऽविद्याविषयत्वादेषणारूपत्वाच्च जिहासितव्यरूपत्वाच्च व्युत्थानं विधित्सितमेव ।

अविद्याविषयत्वेऽपि साधनादि [6]विद्यावत एव भविष्यति विद्याविद्ययोरस्मदादिषु साहित्योपलम्भादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । विद्याविद्ययोः साहित्यासंभवे फलितमाह—तस्मादिति । इतश्च प्रयोजकज्ञानवता साध्यसाधनभेदो न द्रष्टव्यो [7]विवक्षिततत्त्वसाक्षात्कारविरोधित्वादित्याह—सर्वेति । भवत्वविद्याविषयाणां विद्यावतस्त्यागस्तथाऽपि कुतो यज्ञोपवीतादीनां त्यागस्तत्राऽऽह—यज्ञोपवीतादीति । तद्विषयत्वादित्यत्र तच्छब्दोऽविद्याविषयः । एषणात्वाच्च यज्ञोपवीतादीनां त्याज्यतेत्याह—तस्मादिति । ज्ञेयत्वेन प्रस्तुतादिति यावत् । साध्यसाधनविषया [8]तदात्मिकैषणा त्याज्येत्यत्र हेतुमाह—विलक्षणेति । [9]पुरुषार्थरूपाद्विपरीता सा हेयेत्यर्थः । साध्यसाधनयोरेषणात्वं साधयति—उभे हीति । तथाऽपि यज्ञोपवीतादीनां कर्मणां च कथमेषणात्वमित्याशङ्क्य साधनान्तर्भावादित्याह—यज्ञोपवीतादेरिति । [10]तयोरेषणात्वं कथं प्रतिज्ञामात्रेण सेत्स्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—उभे हीति । तयोरेषणात्वे सिद्धे फलितमाह—यज्ञोपवीतादिति ।

परमार्थतत्त्व को नहीं जानता", "पर जो इस प्रकार से नहीं जानते, वे अन्य शासकों के अधीन होने से अन्यराट् होते हैं" इत्यादि सैंकड़ों श्रुतिवाक्य इसमें प्रमाण हैं ।

इसके अतिरिक्त एक ही पुरुष में विद्या और अविद्या दोनों नहीं रह सकतीं क्योंकि अन्धकार और प्रकाश के समान उन दोनों में परस्पर विरोध है । विद्या और अविद्या का एकसाथ रहना असंभव होने से आत्मवेत्ता में क्रिया, कारक और फल का भेदरूप अविद्याविषयक फलाधिपत्याख्य अधिकार नहीं देखना चाहिये क्योंकि "वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है" इस श्रुति से उसकी निन्दा की गई है । तथा अविद्या के विषयभूत सम्पूर्ण क्रिया, साधन और फल उससे विपरीत आत्मविद्या द्वारा परित्याज्यरूप से अभीष्ट है । एवं यज्ञोपवीतादि साधन भी उसके विषय हैं । इसलिए जो साधन-फल स्वभावरहित है, उस आत्मा से एषणा भिन्नविषयिणी एवं विलक्षण है । ये साधन और फल दोनों एषणाएँ ही हैं । यज्ञोपवीतादि और उनसे साध्य कर्म भी साधन ही हैं । "ये दोनों साध्य और साधन एषणाएँ ही हैं" इस हेतुसूचक वाक्य से यही निश्चित होता है । इसलिये यज्ञोपवीतादि साधन और

---

१. विद्याविद्ययोः साहित्यासंभवात् । २. फलाधिपत्याख्यः । ३. तद्विपरीतेति—क्रियाकारकफलादिविपरीतो य आत्मा तद्विपरीतेति यावत् । ४. हेतुवचनेनेति—ब्रह्मविदो नास्ति कर्म तत्साधनमित्यत्र हेतुप्रदर्शकेन उभे हीति वाक्येनेत्यर्थः । ५. कर्मभ्यो व्युत्थानमित्यन्वयः । ६. विद्वन्निष्ठमेव । ७. अभिमतेति भावः । ८. साध्यसाधनात्मिका । ९. आत्मनः । १०. साध्यसाधनयोः ।

ननूपनिषद [1]आत्मज्ञानपरत्वाद्व्युत्थानश्रुतिस्तत्स्तुत्यर्था न विधिः । न विधित्सितविज्ञानेन समानकर्तृकत्वश्रवणात् । न ह्यकर्तव्येन कर्तव्यस्य समानकर्तृकत्वे वेदे कदाचिदपि श्रवणं संभवति । कर्तव्यानामेव ह्यभिषवहोमभक्षणानां यथा श्रवणम भिषुत्य हुत्वा [2]भक्षयन्तीति तद्वदात्मज्ञानैषणाव्युत्थानभिक्षाचर्याणां कर्तव्यानामे समानकर्तृकत्वश्रवणं भवेत् ।

अविद्याविषयत्वादेषणात्वाच्चार्थप्राप्त आत्मज्ञानविधेरेव यज्ञोपवीतादिपरित्या न तु विधातव्य इति चेन्न । सुतरामात्मज्ञानविधिनैव [4]विहितस्य समानकर्तृकत्वश्रवणे

---

[6]आत्मज्ञानविधिरेव संन्यासविधिरि[5]त्युक्तत्वाद्व्युत्थायेत्यस्य नास्ति विधित्वमिति शङ्कते—नन्विति । व्युत्थाय विदित्वेति[7] पाठक्रममतिक्रम्य व्याख्याने भवत्येवायं विविदिषोर्विधिरिति परिहरा —न विधित्सितेति । पाठक्रमेऽपि प्रयोजकज्ञानवतो विरक्तस्य भवत्येवायं विधिरित्यभिप्रेत्याह— हीति । [8]उक्तमेवान्वयमुखेनोदाहरणद्वारा विवृणोति—कर्तव्यानामिति । अभिषुत्य सोमस्य कण्डनं कृत रसमादायेत्यर्थः ।

पाठक्रममेवाऽऽश्रित्य शङ्कते—अविद्येति । प्रयोजकज्ञानवतो विरक्तस्याऽऽत्मज्ञानविधिसा मर्थ्यलब्धस्य यज्ञोपवीतादित्यागस्य कर्तव्यात्मज्ञानेन समानकर्तृकत्वश्रवणादतिशयेनाऽऽवश्यकत सिद्धिरित्युत्तरमाह—न सुतरामिति । व्युत्थाने दर्शितं न्यायं भिक्षाचर्येऽप्यतिदिशति—तथेति भिक्षाचर्यस्य चाऽऽत्मज्ञानविधिनैकवाक्यस्य तथैव दार्ढ्योपपत्तिरिति संबन्धः । व्युत्थानादिवाक

उससे साध्य कर्मों से व्युत्थान का विधान करना इष्ट ही है क्योंकि वे अविद्या के विषय एवं एषणारू हैं और इनका त्याग करना ही अभीष्ट है ।

(इस पर पूर्वपक्षी कहता है—) किन्तु उपनिषद्वाक्य तो आत्मज्ञान का विधान करने वा हैं, इसलिये व्युत्थान-श्रुतिवाक्य स्तुति के लिये है, विधान के लिए नहीं हैं । (इस पर सिद्धान्ती कहत है—) विधान करने की इच्छा वाले विज्ञान का एक ही कर्ता है—ऐसा श्रुति में श्रवण होता है । वे में अकर्तव्य के साथ कर्तव्य का समानकर्तृत्व श्रवण होना किसी तरह भी संभव नहीं है । अभिष हुतशेष भक्षण कर्तव्यों का आत्मज्ञान, एषणाव्युत्थान व भिक्षाटनरूप कर्तव्यों की तरह ही समानकर्तृ श्रवण होगा, जैसे अभिषव कर हुतशेष भक्षण करते हैं ।

यदि कहो कि अविद्या का विषय और एषणात्वरूप होने से यज्ञोपवीतादि का परित्याग आत्मज्ञान की विधि से अर्थतः ही प्राप्त है, उसके लिए विधान करने की आवश्यकता नहीं है—ऐस कहना ठीक नहीं है क्योंकि आत्मज्ञानविधि से ही प्राप्त समानकर्तृकत्व श्रवण से यज्ञोपवीतादि त्या की जिस प्रकार दृढ़तापूर्वक पुष्टि हो जाती है, उसी प्रकार भिक्षाटन की भी पुष्टि हो जाती है । तथ जो ऐसा कहा कि वर्तमानकालिक प्रयोग होने से व्युत्थानादिवाक्य अर्थवाद मात्र ही है, ऐसा कहन

---

१. आत्मज्ञानविधायकत्वात् । २. भक्षयन्ति हुतशेषमिति भावः । ३. लब्धस्य । ४. यज्ञोपवीतादि त्यागस्य । ५. आत्मज्ञानविध्यन्यथानुपपत्त्येति यावत् । ६. अपि चेत्यादिभाष्येण । ७. इति व्याख्या इत्यन्वयः । ८. उक्तमेवेति—वेदे कर्तव्याकर्तव्ययोः समानकर्तृकत्वेन श्रवणाभावमेवेत्यर्थः ।

दार्ढ्योपपत्तिस्तथा भिक्षाचर्यस्य च। यत्पुनरुक्तं वर्तमानापदेशादर्थवादमात्रमिति। न। औदुम्बरयूपादिविधिसमानत्वाददोषः।

व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्तीत्यनेन पारिव्राज्यं विधीयते। पारिव्राज्याश्रमे च यज्ञोपवीतादिसाधनानि विहितानि लिङ्गं च श्रुतिभिः स्मृतिभिश्च। [2]अतस्तद्वर्जयित्वाऽन्यस्माद्व्युत्थानमेषणात्वेऽपीति चेत्। न। विज्ञानसमानकर्तृकात्पारिव्राज्यादेषणाव्युत्थानलक्षणात्पारिव्राज्यान्तरोपपत्तेः। यद्धि [3]तदेषणाभ्यो व्युत्थानलक्षणं पारिव्राज्यं तदात्मज्ञानाङ्गम्। आत्मज्ञानविरोध्येषणापरित्यागरूपत्वात्[4]। अविद्या[5]विषयत्वाच्चैषणायाः। [6]तद्व्यतिरेकेण चास्त्याश्रमरूपं पारिव्राज्यं ब्रह्मलोकादिफलप्राप्तिसाधनं यद्विषयं

स्यार्थवादत्वमुक्तमनूद्य दूषयति—यत्पुनरित्यादिना। औदुम्बरो यूपो भवतीत्यादौ लेट्परिग्रहेण विधिस्वीकारवदत्रापि पञ्चमलकारेण विधिसिद्धेर्नार्थवादत्वशङ्केत्यर्थः।

संप्रति प्रकृते वाक्ये पारिव्राज्यविधिमङ्गीकृत्य [7]स्वयूथ्यः शङ्कते—व्युत्थायेति। का [8]तर्हि विप्रतिपत्तिस्तत्राऽऽह—पारिव्राज्येति। लिङ्गं त्रिदण्डत्वादि। ‘पुराणे यज्ञोपवीते विसृज्य नवमुपादायाऽऽश्रमं प्रविशेत्’ ‘त्रिदण्डी कमण्डलुमान्’ इत्याद्याः श्रुतयः स्मृतयश्च। एषणात्वाद्यज्ञोपवीतादीनामपि त्याज्यत्वमुक्तमित्याशङ्क्य श्रुतिस्मृति[9]वशाद्व्युत्थाने संकोचमभिप्रेत्याह—अत इति। उदाहृतश्रुतिस्मृतीनां विषयान्तरं दर्शयन्नुत्तरमाह—नेत्यादिना। [10]तदेव विवृणोति—यद्धीत्यादिना। [11]तस्याऽऽत्मज्ञानाङ्गत्वे हेतुमाह—आत्मज्ञानेति। एषणाया[12]स्तद्विरोधित्वमेव कुतः सिद्धं तत्राऽऽह—अविद्येति। [13]तर्हि यथोक्तानां श्रुतिस्मृतीनां किमालम्बनं तदाह—तद्व्यतिरेकेणेति। आश्रमत्वेन रूप्यते वस्तुतस्तु

भी उचित नहीं। औदुम्बर-यूपादि विधान के समान होने से यह भी निर्दोष है।

“एषणात्रय से व्युत्थान करके भिक्षाटन करते हैं” इस श्रुतिवाक्य से संन्यास का ही विधान किया जाता है। पारिव्राज्य आश्रम में श्रुति-स्मृतियों द्वारा यज्ञोपवीतादि साधन एवं लिङ्ग का विधान किया गया है। इसलिए यज्ञोपवीतादि के एषणात्मक होने पर भी उन्हें छोड़ कर अन्य एषणाओं से व्युत्थान करना चाहिये। (इस पर सिद्धान्ती कहता है)—ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि विज्ञानकर्तृकसंन्यास और एषणात्रयव्युत्थानरूप संन्यास में अन्तर प्रसिद्ध ही है। पुत्रादि एषणाओं से व्युत्थानरूप जो संन्यास है, वह आत्मज्ञान का अङ्ग है क्योंकि उक्त संन्यास आत्मज्ञानविरोधी एषणापरित्यागरूप है। एषणाएँ अविद्या से उत्पन्न होती हैं। आत्मज्ञान के अङ्गरूप संन्यास से व्यतिरिक्त आश्रमरूप संन्यास ब्रह्मलोकादि फलप्राप्ति का साधन है, जिसके विषय में यज्ञोपवीतादि साधन एवं लिङ्ग का विधान किया

---

१. व्युत्थानादिवाक्यम्। २. अत इति—यज्ञोपवीतादेरेषणात्वेऽपि श्रुत्याद्यनुरोधाद्यज्ञोपवीताद्यतिरिक्तैषणापदवाच्याद्व्युत्थानानभ्युपेयमित्यर्थः। ३. तद—पुत्रादि। ४. उक्तपारिव्राज्यस्य। ५. जन्यत्वात्। ६. तद्व्यतिरेकेण—निरुक्तात्मज्ञानाङ्गपारिव्राज्यव्यतिरिक्तमित्यर्थः। ७. स्वस्यैकदेशी। ८. तर्हीति—प्रकृतवाक्ये पारिव्राज्यविध्यङ्गीकारे सतीत्यर्थः। का विप्रतिपत्तिः—आवयोर्विवाद एव कः। ९. तद्विरोधात्। १०. संग्रहवाक्यमेव। ११. उक्तपारिव्राज्यस्य। १२. आत्मज्ञानविरोधित्वमेव। १३. तर्हि—उक्तपारिव्राज्यस्यात्मज्ञानाङ्गत्वे।

यज्ञोपवीतादिसाधनविधानं लिङ्गविधानं च।

न चैषणारूपसाधनोपादानस्याऽऽश्रमधर्ममात्रेण पारिव्राज्यान्तरे विषये संभव सति सर्वोपनिष[1]द्विहितस्याऽऽत्मज्ञानस्य बाधनं युक्तम्। यज्ञोपवीताद्यविद्याविषयैष रूपसाधनोपादित्सायां[2] [3]चावश्यम[4]साधनफलरूपस्याशनायादिसंसारधर्म[5]वर्जितस्याहं ब्रह् स्मीति विज्ञानं बाध्यते। न च तद्बाधनं युक्तम्। सर्वोपनिषदां [6]तदर्थपरत्वात्।

भिक्षाचर्यं [7]चरन्तीत्येषणां ग्राहयन्ती श्रुतिः स्वयमेव [8]बाधत इति चेत् अथाप्येषणाभ्यो व्युत्थानं विधाय पुनरेषणैकदेशं भिक्षाचर्यं ग्राहयन्ती [9]तत्संबद्धम[10]न्यद

नाऽऽश्रमस्तदाभास इति यावत्। तस्याऽऽत्मज्ञानाङ्गत्वं वारयति—ब्रह्मेति।

अथ व्युत्थानवाक्योक्तमुख्यपारिव्राज्यविषयत्वमेव लिङ्गादिविधानस्य किं न स्यात्तत्राऽऽ न चेति। एषणारूपाणि साधनानि यज्ञोपवीतादीनि तेषामुपादानमनुष्ठानं तस्याऽऽश्रमधर्ममात्रेणोत् यथोक्ते संन्यासाभासे विषये सति [11]प्रधानबाधेन मुख्यपारिव्राज्यविषयत्वमयुक्तमित्यर्थः। पुनर्मुख्यपारिव्राज्यविषयत्वे यज्ञोपवीतादेरिष्टे प्रधानबाधनं तदाह—यज्ञोपवीतादीति। साध्यसा योरासङ्ग[12] [13]तद्विलक्षणस्याऽऽत्मनो ज्ञानं बाध्यते चेत्का नो हानिरित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति।

भिक्षाचर्यं तावद्विहितं विहिताऽनुष्ठानं च यज्ञोपवीतादि विना न संभवतीति श्रुत्यैवाऽऽत्म यज्ञोपवीतादिविरोधि बाधितमिति शङ्कते—भिक्षाचर्यमिति। [14]शङ्कामेव विशदयति—अथापीत्यादि

गया है।

इसके अतिरिक्त अन्यविध संन्यास में आश्रमधर्ममात्र से एषणात्रयरूप साधनों का संभव होने से समस्त उपनिषदों के तात्पर्यविषय आत्मज्ञान का बाध होना उचित है। यज्ञोपवी अविद्याजन्य एषणारूप साधनों को उपादान करने की इच्छा होने पर तो साध्यसाधनवि फलरूप एवं क्षुधादि सांसारिक धर्मों से रहित आत्मा के "मैं ब्रह्म हूँ" इस विज्ञान का अवश्य बा जाता है। और उसका बाध होना उचित नहीं है क्योंकि सभी उपनिषदें आत्मज्ञानरूप अर्थ में त वाली हैं।

(इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करता है)—"एषणात्रय से ऊपर उठकर भिक्षाटन करते हैं" इस से एषणा को ग्रहण कराने वाली श्रुति का स्वयमेव बाध हो जाता है। यदि इस प्रकार मान भी जाय तो भी एषणाओं से व्युत्थान का विधान करके पुनः एषणा के ही एकदेश भिक्षाटन का कराने के कारण भिक्षाचरण से आक्षिप्त अन्य यज्ञोपवीतादि का भी ग्रहण कराती है। (इस पर सि

---

१. तात्पर्यविषयस्य। २. सत्याम्। ३. अवश्यमिति बाध्येतेत्यन्वयः। बाधनेच्छाऽविषय बाध्येतैवेत्यर्थः। यज्ञोपवीती स्यामहं ब्रह्मास्मीति चानयोर्ज्ञानयोर्विरोधादिति भावः। ४. असाध साध्यसाधनविलक्षणस्येत्यर्थः। ५. वर्जितस्येति—आत्मन इति शेषः। ६. तदर्थेति—आत्मज्ञा तात्पर्यवत्त्वादित्यर्थः। ७. इति श्रुतिरित्यन्वयः। ८. बाधते—आत्मज्ञानमिति शेषः। ९. त भिक्षाचरणाऽऽक्षिप्तम्। १०. अन्यत्—यज्ञोपवीतादि। ११. प्रधानेति—सर्वोपनिषत्तात्पर्यवि प्रधानमात्मज्ञानं तद्बाधेनेत्यर्थः। १२. आसङ्गे—आसक्तौ सत्याम्। १३. तद्विलक्षणस्य— साधनविलक्षणस्य। १४. संगृहीतशङ्काम्।

ग्राहयतीति चेत् । न । भिक्षाचर्यस्या[1]प्रयोजकत्वाद्धुत्वोत्तरकालभक्षणवत् । [2]शेषप्रतिपत्तिकर्मत्वादप्रयोजकं हि तत् असंस्कारकत्वाच्च । [3]भक्षणं पुरुषसंस्कारकमपि स्यान्न तु भिक्षाचर्यम् । नियमदृष्टस्यापि ब्रह्मविदो[4]ऽनिष्टत्वात् ।

नियमादृष्टस्यानिष्टत्वे किं [5]भिक्षाचर्येणेति चेत् । न । [6]अन्यसाधनाद्व्युत्थानस्य

यथा हुतशेषस्य भक्षणं [7]विहितमपि न द्रव्याक्षेपकं [8]परिशिष्टद्रव्योपादानेन प्रवृत्तेस्तथा सर्वस्वत्यागे विहिते [9]परिशिष्टभिक्षोपादानेन विहितमपि भिक्षाचरणमुपवीताद्यनाक्षेपकमित्युत्तरमाह—नेत्यादिना । दृष्टान्तमेव स्पष्टयति—शेषेति । तद्भक्षणमिति संबन्धः । अप्रयोजकं द्रव्यविशेषस्यानाक्षेपकमिति यावत् । यद्वा दार्ष्टान्तिकमेव स्फुटयति—शेषेति । सर्वस्वत्यागे विहिते[10] शेषस्य कालस्य शरीरपातान्तस्य [11]प्रतिपत्तिकर्ममात्रं भिक्षाचर्यमतो न [12]तदुपवीतादिप्रापकमित्यर्थः । किंच भिक्षाचर्यस्य शरीरस्थित्यैवाऽऽक्षिप्तत्वान्न [13]तत्रापि विधिर्दूरे [14]तद्वशादुपवीतादिसिद्धिरित्याह—असंस्कारकत्वाच्चेति । [15]तदेव स्फुटयते—भक्षणमिति । 'एककालं चरेद्भैक्षम्' इत्यादि[16]नियमवशाददृष्टं सिध्यदुपवीतादिकमप्या[17]क्षिपतीति चेन्नेत्याह—नियमेति । विविदिषो[18]स्तदिष्टमपि नोपवीताद्याक्षेपकं ज्ञानोत्पादकश्रवणा[19]द्युपयोगि[20]देहस्थित्यर्थत्वेनैव [21]चरितार्थत्वादिति भावः ।

[22]तर्हि यथाकथंचिदुपनतेनान्नेन शरीरस्थितिसंभवाद्भिक्षाचर्यं चरन्तीति वाक्यं व्यर्थमिति शङ्कते—नियमादृष्टस्येति । भिक्षाचर्यानुवादेन प्रतिग्रहा[23]दिनिवृत्त्यर्थत्वाद्वाक्यस्य नाऽऽनर्थक्यमित्युत्तर-

कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि हवन करने के बाद हुतशेष भक्षण करने के समान भिक्षाचर्या उपवीतादि की अनाक्षेपक है । हवन के पश्चात् हुतशेष भोजन करना भी शेषप्रतिपत्तिक कर्म होने के कारण किसी फल का प्रयोजक नहीं है । इसके अतिरिक्त संस्कार न करने वाला होने से भी भिक्षाचरण प्रयोजक नहीं है । हुतशेष का भक्षण तो पुरुष के संस्कार का हेतु भी होता है, किन्तु भिक्षाचरण तो वैसा भी नहीं है क्योंकि नियमविधानजनित अदृष्ट भी ब्रह्मवेत्ता को अनीप्सित है ।

(इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) यदि उसे नियमविधिजनित अदृष्ट इष्ट नहीं है तो फिर

---

१. अप्रयोजकत्वात्—उपवीताद्यनाक्षेपकत्वात् । २. शेषेत्यादि—शेषस्य परिशिष्टस्य वस्तुनो यत्प्रतिपत्तिकर्म तत्त्वात् । अथप्राप्ते वस्तुनस्त्यागे शास्त्रानुमतपात्रे समर्पणत्वं च प्रतिपत्तिकर्मत्वम् । ३. भक्षणमिति—अभिषुत्य हुत्वा भक्षयन्तीति विहितं हुतशेषस्य भक्षणमित्यर्थः । तस्य च दुरितशोधकत्वात्पुरुषसंस्कारकत्वमिति ध्येयम् । ४. अनिष्टत्वात्—अनीप्सितत्वात् । ५. भिक्षाचर्यवाक्येनेत्यर्थः । ६. अन्येति—भिक्षाचर्यवाक्येन भिक्षाचर्यातिरिक्तशरीरस्थितिसाधनान्निवृत्तेरुपदिष्टत्वादित्यर्थः । ७. अभिषुत्य हुत्वा भक्षयन्तीति वाक्यविहितम् । ८. हवनपरिशिष्टद्रव्योपादानेन । ९. जीवनान्यथानुपपत्त्या परिशिष्टेत्यर्थः । १०. व्युत्थानवाक्येन । ११. प्रतिपत्तिं निर्वाहं करोतीति प्रतिपत्तिकर्म तन्मात्रम् अनायासेन कालक्षेपप्रयोजकमिति यावत् । १२. भिक्षाचर्यम् । १३. भिक्षाचर्येऽपि । १४. तद्वशादिति—भिक्षाचर्यविधिवशादित्यर्थः । विहितानुष्ठाने हि उपवीताद्यपेक्ष्य इति भावः । १५. असंस्कारकत्वमेव । १६. नियमविधिवशात् । १७. आक्षिपतीति—अदृष्टजनकविहितानुष्ठानस्योपवीताद्यन्तरानुपपत्तेरिति भावः । १८. नियमादृष्टम् । १९. अपेक्षितेत्यर्थः । २०. देहस्थितीति—निरुपद्रव (निर्विक्षिप्त) देहस्थितीत्यर्थः । नियमादृष्टं हि श्रवणादिविघातकज्वराद्युपद्रवांस्तिरयतीति भावः । २१. सफलत्वात् । २२. नियमादृष्टस्यानिष्टत्वे । २३. आदिना कृषिवाणिज्यादि ग्राह्यम् ।

विहितत्वात् । [1]तथाऽपि किं तेनेति चेत् । यदि स्याद्बाढमभ्युपगम्यते हि तत् ।
पारिव्राज्येऽभिहितानि वचनानि यज्ञोपवीत्येवाधीयीतेत्यादीनि तान्यविद्वत्पारिव्राज्यम
विषयाणीति [2]परिहृतानि । [3]इतरथाऽऽत्मज्ञानबाधः स्यादिति ह्युक्तम्[4] ।

“[5]निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ।
अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा [6]ब्राह्मणं विदुः” ॥

माह—नान्येति । निवृत्त्युपदेशेन वाक्यस्यार्थवत्त्वेऽपि [7]तदुपदेशस्य नार्थवत्त्वं कूटस्थात्मज्ञा
[8]सर्वनिवृत्तेः सिद्धेरिति शङ्कते—तथाऽपीति । यदि निष्क्रियात्मज्ञानादशेषनिवृत्तिः स्यात्तर्हि [9]त
भिरपि स्वी क्रियते सत्यमित्यङ्गी करोति—यदीति । यदि तु क्षुदादिदोषप्राबल्यादात्मानं निष्क्रि
विस्मृत्य [10]प्रार्थनादिपरो भवति तदा निवृत्त्युपदेशोऽपि भवत्यर्थवानिति भावः । [11]प्रागुक्तवाक्यवि
न्निवृत्त्युपदेशोऽशक्य इति चेत्तत्राऽऽह—यानीति । [12]मुख्यपरिव्राड्विषयत्व उक्तं दोषं स्मारय
इतरथेति । निवृत्त्युपदेशानुग्राहकत्वेन स्मृतीरुदाहरति—निराशिषमित्यादिना । अमुख्यसंन्यासि

भिक्षाचरणादि श्रुतिवाक्य का क्या प्रयोजन है । (सिद्धान्ती समाधान करता है—) ऐसा कहना
नहीं है । भिक्षाचरण से अतिरिक्त शरीरस्थिति साधन से निवृत्ति उपदिष्ट होने के कारण
करने का विधान किया गया है । इस पर भी यदि तुम उपदेश करो कि निवृत्ति का उपदेश क्यों
हो । यदि आत्मज्ञान से अशेषता निवृत्ति होती है, तो उसे हम भी स्वीकार ही करते हैं । “यज्ञो
होकर अध्ययन करे” इस प्रकार संन्यास में जो विहित वाक्य हैं, वे केवल अविद्वत्संन्यासमात्र से
रखने वाले हैं, ऐसा कहकर उनका उत्तर दे दिया गया है । यह भी पहले कहा जा चुका है कि
मानने से आत्मज्ञान का बाध हो जायगा ।

“जो आशीर्वाद देने से विमुख है; आरम्भ, नमस्कार और स्तुति करने आदि लोकपर
से परे है । जो अदीन है, जिसके कर्म क्षीण हो चुके हैं, उसको देवता ब्रह्मज्ञानी कहते हैं” इस

---

१. तथाऽपीत्यादि—निवृत्त्युपदेशेन वाक्यस्य सफलत्वेऽपि कूटस्थात्मज्ञानेनैव तत्सिद्धेः किं निवृत्त्युपदेशे
२. दत्तोत्तराणि । ३. टीकोक्तार्थम् । ४. ८१४पृष्ठभाष्ये । ५. निराशिषमिति । “प्रणमतां
शिष्टैराशीर्वादः प्रयुज्यते” । यस्य यदपेक्षितं तं प्रति तदभिवृद्धिप्रार्थनमाशीः । तथा च नराणां भिन्नरुचि
भिमतान्वेषणे व्यग्रचित्तस्य लोकवासना वर्धते स च ज्ञानविरोधिनी लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासन
देहवासनया ज्ञानं यथा वनैव जायत इति स्मरणात् एतच्चारम्भनमस्कारादिष्वपि द्रष्टव्यम् । आरम्भः
परोपकारार्थं वा गृहक्षेत्रादिसंपादनयत्नः तावेतावाशीर्वादारम्भौ विदुषा त्याज्यौ । न चाशीर्वादाभावे
नराणां खेदः शङ्कनीयः खेदलोकवासनयोः परिहाराय निखिलाशीर्वादप्रतिनिधित्वे न नारायणशब्द
स्तुतिनमस्कारौ मनुष्यविषयावेव प्रतिषिध्येते नत्वीश्वरविषयौ तयोरेव विक्षेपहेतुत्वादित्यन्यत्र
अक्षीणत्वमदीनत्वम् । “अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशनं क्वचित् । लब्ध्वा न हृष्येद्धृतिमा
दैवतन्त्रित”मिति स्मृतेः । क्षीणकर्मत्वं विधिनिषेधानधीनत्वम् । निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतामित्यादिस्मृ
ब्रह्मविदम् । ७. निवृत्त्युपदेशस्य । ८. प्रतिग्रहादिनिवृत्तेः । ९. अशेषतो निवर्तनम् । १०.
परः । ११. यज्ञोपवीत्येवाधीयीतेत्यादिवाक्येति भावः । १२. उक्तवाक्यानाम् ।

इति सर्वकर्माभावं दर्शयति स्मृतिर्विदुषः । विद्वाँल्लिङ्गवर्जितस्तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञ इति च । [1]तस्मात्परमहंसपारिव्राज्यमेव व्युत्थानलक्षणं प्रतिपद्येताऽऽत्मवित्सर्वकर्मसाधनपरित्यागरूपमिति ।

यस्मात्पूर्वे ब्राह्मणा एतमात्मानम[2]साधनफलस्वभावं विदित्वा सर्वस्मात्साधनफलस्वरूपादेषणालक्षणाद्व्युत्थाय भिक्षाचर्यं [3]चरन्ति स्म । [4]दृष्टादृष्टार्थं कर्म तत्साधनं च हित्वा । तस्माद[5]द्यत्वेऽपि ब्राह्मणो [6]ब्रह्मवित्पाण्डित्यं पण्डितभावमे[7]तदात्मविज्ञानं पाण्डित्यं निर्विद्य निःशेषं विदित्वा[8]ऽऽत्मविज्ञानं [9]निरवशेषं कृत्वेत्यर्थः । आचार्यत आग-

---

त्वासंभवान्मुख्यपरिव्राड्विषयं [10]व्युत्थानवाक्यमित्युपसंहरति—तस्मादिति । इतिशब्दो व्युत्थानवाक्यव्याख्यानसमाप्त्यर्थः ।

तस्मादित्यादिवाक्यमवतार्य व्याचष्टे—यस्मादित्यादिना । उक्तमेव व्युत्थानं स्पष्टयति—दृष्टेति । विवेकवैराग्याभ्यामेषणाभ्यो व्युत्थाय श्रुत्याचार्याभ्यां [11]कर्तव्यं ज्ञानं निःशेषं कृत्वा बाल्येन

स्मृति विद्वान् के लिए सभी कर्मों का अभाव दिखलाती है। इसी प्रकार "विद्वान् लिङ्गवर्जित होता है", "इसलिए वह लिङ्ग से रहित एवं धर्मज्ञ होता है" इत्यादि वचन भी यही प्रदर्शित करते हैं। इसलिए ब्रह्मवित को सम्पूर्ण कर्मसाधनों के परित्यागरूप व्युत्थानलक्षण परमहंस पारिव्राज्य धर्म का ही आश्रय लेना चाहिये।

क्योंकि पूर्ववर्ती ब्रह्मज्ञानी इस साध्य-साधनविलक्षणस्वरूप आत्मा को जानकर एषणात्रयलक्षण साधन और फलरूप समस्त विषयों से व्युत्थान करके अर्थात् दृष्ट और अदृष्ट यानी ऐहलौकिक और पारलौकिक फल वाले समस्त कर्मों और उनके साधनों को छोड़कर भिक्षाचरण करते थे। इसलिए

---

१. टीकोक्तार्थम् । २. साध्यसाधनविलक्षणस्वरूपम् । ३. कुर्वन्ति । ४. दृष्टेत्यादि—ऐहलौकिकपारलौकिकफलकमित्यर्थः । ५. वर्तमानकालेऽपि । ६. आपातब्रह्मदर्शी । ७. एतदात्मानविज्ञानमिति—एतस्य समीपतरवर्तिनः प्रतीचो विशिष्टं ज्ञानमित्यर्थः । अधीतसाङ्गस्वाध्यायस्य तत्त्वमादिपदश्रवणे तच्छक्तिग्रहे प्रथमं पदार्थज्ञानं ततः समानाधिकृतपदवाच्यार्थानां विशेषणविशेष्यत्वेन संबन्धस्ततो विरोधस्फूर्तौ विरुद्धांशस्य कर्तृत्वादेर्ध्वस्तिरित्थं पदसामर्थ्यादर्थत्रयज्ञानानन्तरं वाक्यस्य स्वार्थबोधनं तात्पर्यनिर्धारणमिति ब्रह्मात्मनि वेदान्तानां शक्तितात्पर्यनिश्चयरूपं चतुर्विधं ज्ञानं श्रवणाख्यं पाण्डित्यमिति यावत् । तदुक्तं वार्तिके—"पदार्थाधिगतिः पूर्वं ततस्तदभिसंगतिः । विरुद्धार्थह्नुतिः पश्चात्ततो वाक्यार्थबोधनमिति" ॥ १६६ ॥ कथं चतुर्विधं ज्ञानं पाण्डित्यमप्रसिद्धेरित्याशङ्क्य पाण्डित्यशब्दस्य प्रकृतिप्रत्ययभेदेनार्थश्चोक्तस्तथाहि वार्तिके—"पण्डेति बुद्धिनामैतत्सा जाता यस्य मानतः । तं पण्डितमिति प्राहुः सोऽत्र श्रुत्या नियुज्यते । यत्पण्डितस्य कर्म स्यात् तत्पाण्डित्यं प्रचक्षते" ॥ १७३-७४ ॥ इति । अधीतवेदान्तस्य मुमुक्षोस्तस्मादुत्पन्नं विचारप्रयोजकं ज्ञानं पण्डा साऽस्य जातेति पण्डितस्तस्य कर्म पाण्डित्यं यथोक्तं चतुर्विधं ज्ञानं तत्र प्रयोजकज्ञानी तस्मादितिश्रुत्या नियुज्यते । अत्रेत्यस्यार्थमाह—यदिति । ८. यथोक्तं चतुर्विधज्ञानम् । ९. निरवशेषमिति वार्तिके—"एकैकश्येन नीत्वाऽथ निष्ठां पाण्डित्यलक्षणामिति" ॥ १७० ॥ चतुर्विधज्ञानरूपां निश्चयेन स्थितिं क्रमेण कृत्वा स्थितस्याधिकारिणोऽनन्तरं बाल्यं कर्तुं सामर्थ्यं भवतीति तदर्थः । १०. प्रकृतव्युत्थानवाक्यमिति भावः । ११. कर्तव्यं ज्ञानम्—उक्तं चतुर्विधं ज्ञानं श्रवणाख्यम् ।

मतश्चैषणाभ्यो व्युत्थाय । [1]एषणाव्युत्थानावसानमेव हि [2]तत्पाण्डित्यम् । एषणा
स्कारोद्भवत्वादेषणाविरुद्धत्वात् । [3]एषणामतिरस्कृत्य न ह्यात्मविषयस्य पाण्डित्यस्यो
[4]इत्यात्मज्ञानेनैव विहितमेषणाव्युत्थानम् । आत्मज्ञानसमानकर्तृकक्त्वाप्रत्ययोपादान
श्रुत्या दृढीकृतम् ।

[5]तस्मादेषणाभ्यो व्युत्थाय [6]ज्ञानबलभावेन बाल्येन तिष्ठासेत्स्थातुमिच्छे

तिष्ठासेदिति व्यवहितेन संबन्धः । पाण्डित्यं निर्विद्येत्यनेनैव[7] व्युत्थानं विहितमित्याह—एषणेति ।
पाण्डित्यमेषणाभ्यो व्युत्थानस्यावसाने[9] संभवति [10]तदत्र[11] व्युत्थानविधिरित्यर्थः । [12]तदेव स्फुटय
एषणेत्यादिना । [13]तासां तिरस्कारेण पाण्डित्यमुद्भवति [15]तस्यैषणाभ्यो विरुद्धत्वात्तथा[14] च पा
निर्विद्येत्यत्र[16] [17]ताभ्यो व्युत्थानविधानमुचितमित्यर्थः । विनाऽपि व्युत्थानं पाण्डित्यमुद्भविष्य
चेन्नेत्याह—न हीति । पाण्डित्यं निर्विद्येत्यत्र व्युत्थानविधिमुक्तमुपसंहरति—इत्यात्मज्ञानेति । [18]ही
किमिति विदित्वा व्युत्थायेत्यत्र व्युत्थाने विधिरभ्युपगतस्तत्राऽऽह—आत्मज्ञानेति । [19]तेन व्युत्था
समानकर्तृकत्वे क्त्वाप्रत्ययस्योपादानमेव [20]लिङ्गभूता [21]श्रुतिस्तया दृढीकृतं नियमेन प्रापितं व्युत्
मित्यर्थः ।

बाल्येनेत्यादि वाक्यमुत्थाप्य व्याकरोति—तस्मादिति । [22]विवेकादिवशादेषणाभ्यो व्यु
पाण्डित्यं संपाद्य तस्मा[23]त्पाण्डित्याज्ज्ञानबलभावेन स्थातुमिच्छेदिति योजना । केयं ज्ञानबल

वर्तमानकाल में भी "ब्राह्मणः" अर्थात् आपात् ब्रह्मज्ञानी, "पाण्डित्यं" यानी पण्डितभाव को "यह आ
ज्ञान ही पाण्डित्य है" इसे "निर्विद्य" यानी निर्विशेषरूप से जानकर चतुर्विध आत्मज्ञान को नि
पूर्वक स्थिति करके आचार्य और शास्त्र से पूर्णतया आत्मज्ञान सम्पादन करके एषणाओं से व्यु
कर, क्योंकि यथोक्त पाण्डित्य एषणाव्युत्थान के अनन्तर ही संभव है। वह एषणाओं के तिरस्का
उत्पन्न होता है और एषणा के विरुद्ध भी है। एषणाओं का तिरस्कार किये बिना आत्मविषयक पा
का उदय ही नहीं हो सकता। इसलिये उक्त चतुर्विध आत्मज्ञान से ही एषणात्रय का व्युत्थान
है। आत्मज्ञान और व्युत्थान का एक ही कर्ता है—यह "व्युत्थाय" पद में "क्त्वा" प्रत्यय के प्रयो
लिङ्गभूता श्रुति से दृढ़ कर दिया है।

इसलिये विवेकादि के वश से एषणाओं का उत्थान करके श्रवणाख्यजन्य मननब

---

१. एषणाव्युत्थानानन्तरभाव्येव । २. यथोक्तम् । ३. अत्र टीकानुरोधान्न ह्येषणामित्यादि पाठ
भाति । ४. पाण्डित्यशब्दितोक्तचतुर्विधात्मज्ञानेनाऽपीत्यर्थः । ५. विवेकादिवशात् । ६. ज्ञानबलभा
—यथोक्तपदार्थादिविषयं ज्ञानं श्रवणाख्यं तज्जन्यबलेन मननेनेति यावत् । ७. अपि संन्यासः । ८.
चतुर्विधज्ञानरूपं श्रवणाख्यम् । ९. समाप्तौ पूर्तौ परकाष्ठाप्राप्तौ । १०. तस्मात् । ११.
१२. उक्तव्युत्थानविधानमेव । १३. एषणानाम् । १४. पाण्डित्यस्य । १५. तस्य ततो विरुद्धत्वे
१६. वाक्ये । १७. एषणाभ्यः । १८. यथाश्रुतमेवकारार्थमादाय शङ्कते—तर्हीति । पाण्डित्यं निर्वि
व्युत्थानविधानाभ्युपगम इत्यर्थः । १९. तेन—पाण्डित्यशब्दितेन निरुक्तचतुर्विधात्मज्ञानेन । २०.
रूपा । २१. क्त्वाप्रत्ययरूपा श्रुतिः । २२. विवेकादिसाधनचतुष्टयबलात् । २३. यथोक्तपा
संपत्तेरनन्तरम् ।

[1]साधनफलाश्रयणं हि बलमितरेषामनात्मविदाम्। तद्बलं हित्वा विद्वानसाधनफलस्वरूपात्मविज्ञानमेव बलं तद्भावमेव केवलमाश्रयेत्। तदाश्रयणे हि करणान्येषणा[2]विषय [3]एनं हृत्वा स्थापयितुं नोत्सहन्ते। ज्ञानबलहीनं हि [4]मूढं दृष्टादृष्टविषयायामेषणायामेवैनं करणानि नियोजयन्ति। बलं नामाऽऽत्मविद्ययाऽशेषविषयदृष्टितिरस्करणम्। [5]अतस्तद्भावेन बाल्येन तिष्ठासेत्। तथा "आत्मना विन्दते वीर्यम्" इति श्रुत्यन्तरात्। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इति च।

स्थितिरित्याशङ्क्य तां व्युत्पादयति—साधनेत्यादिना। [6]विद्वानिति विवेकित्वोक्तिः। यथोक्तबलभावावष्टम्भे करणानां विषयपारवश्यनिवृत्त्या पुरुषस्यापि तत्पारवश्यनिवृत्तिः फलतीत्याह—तदाश्रयणे हीति। [7]उक्तमेवार्थं व्यतिरेकमुखेन(ण) विशदयति—ज्ञानबलेति। नन्वद्यापि ज्ञानस्य बलं कीदृगिति न ज्ञायते तत्राऽऽह—बलं नामेति। बाल्यवाक्यार्थमुपसंहरति—अत इति। यथा ज्ञानबलेन विषयाभिमुखी दृष्टिस्तिरस्क्रियते तथेति यावत्। आत्मना तद्विज्ञानातिशयेनेत्यर्थः। वीर्यं विषयदृष्टितिरस्करणसामर्थ्यमित्येतत्। बलहीनेन विषयदृष्टितिरस्करणसामर्थ्यरहितेनायमात्मा न लभ्यो न शक्यः साक्षात्कर्तुमित्यर्थः।

बाल्य से "तिष्ठासेत्" अर्थात् स्थित रहने की इच्छा करे। दूसरे जो अनात्मज्ञ हैं, उन का बल तो कर्मादि साधन से पुत्र-स्वर्गादि फलों का आश्रयण करना ही है। उस बल को त्याग कर विद्वान् को जो असाधनफलस्वरूप आत्मविज्ञान ही बल है, उस बलभाव का ही केवल आश्रय लेना चाहिये। उसके आश्रयण से इन्द्रियाँ इस पुरुष को मोहित करके एषणाओं के विषय में झुकाने का उत्साह नहीं कर सकती। जो ज्ञानबल से युक्त नहीं है, उस अविवेकी को ही इन्द्रियाँ दृष्ट और अदृष्ट विषयों की एषणा में लगा देती हैं। ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान द्वारा समस्त विषयदृष्टि का तिरस्कार कर देना ही बल है। इसलिये (बल के उक्तस्वरूप वाला होने से) पदार्थादिज्ञान बलभाव से बाल्यरूप में अवस्थित रहने की इच्छा करे। "(अमरत्व नित्य आत्मस्वरूप से ही प्राप्त होता है) ब्रह्माकार वृत्तिरूप से तो आवरण निवृत्त करने का सामर्थ्यमात्र मिलता है" ऐसा केनोपनिषत् में कहा है। इसी प्रकार मुण्डकश्रुति

---

१. साधनफलाश्रयणमिति—साधनं कर्मादि फलं पुत्रस्वर्गादि तदाश्रयणमित्यर्थः। २. विषय इति सप्तम्यन्तम्। ३. पुरुषम्। ४. अविवेकिनम्। ५. अत इति—बलस्योक्तरूपत्वात्। तद्भावेन उक्तपदार्थादिज्ञानबलभावेनेत्यर्थः। ननु बाल्यं हि बालस्य कर्म तिष्ठन्मूत्रत्वादि तत्कथं पदार्थादिज्ञानबलभावे बाल्यपदं प्रयुक्तमित्याशङ्क्य समाहितं वार्तिके—"…कृत्स्नाऽनात्मधियो हृ्तिः ॥ बाल्यशब्दाभिधेया स्यात्…॥१७५-७६॥" भवति हि बालस्य कर्म सर्वानात्मधीवैधुर्यमप्ररूढेन्द्रियं हि बालमाहुरनाविष्कुर्वन्नन्वयादिति न्यायात्। भवति च पदार्थादिज्ञानबलभावो बाल्यमतो यथोक्तज्ञानबलरूपा सर्वानात्मधीध्वस्तिर्युक्त्यधीना बाल्यमुच्यत इत्यर्थः। आविष्कुर्वन्निति—यथा बालोऽप्ररूढेन्द्रियतया न परेष्वात्मानमाविष्कर्तुमीहते तथा ज्ञानध्यानाध्ययनाध्यापनधार्मिकत्वादिभिरात्मानमविख्यापयन् दम्भदर्पादिरहितः स्थातुमिच्छेदिति बाल्येन तिष्ठासेदित्यस्यार्थः। कुतोऽन्वयात् अस्य वाक्यस्य विद्याङ्गान्वयस्यैव संभवादित्यर्थः। ६. ब्रह्मवित्त्वोक्तिभ्रान्तिमपनुदति—विद्वानितीति। ७. ज्ञानबलाश्रितस्य करणानियोज्यत्वरूपमर्थम्।

बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य निःशेषं कृत्वाऽथ मननान्मुनि[1]र्योगी भव
एतावद्धि ब्राह्मणेन कर्तव्यं यदुत सर्वानात्मप्रत्यय[2]तिरस्करणमेतत्कृत्वा कृतकृत्यो
भवति। अमौनं चाऽऽत्म[3]ज्ञानानात्मप्रत्ययतिरस्कारौ पाण्डित्यबाल्यसंज्ञकौ निःशेषं
मौनं नामानात्मप्रत्यय[4]तिरस्करणस्य पर्यवसानं फलं तच्च [5]निर्विद्याथ [6]ब्राह्मणः कृतक
भवति। ब्रह्मैव सर्वमिति प्रत्यय उपजायते[7]। स ब्राह्मणः कृतकृत्यो[8]ऽतो ब्राह्मणः।

बाल्यं चेत्यादि वाक्यमादाय व्याचष्टे—बाल्यं चेति। [9]पूर्वोक्तयोरुत्तरत्र हेतुत्वद्योतनार्थोऽथश
"तदेवोपपादयति—एतावद्धीति। वाक्यान्तरमुत्थाप्य व्याकरोति—अमौनं चेत्यादिना। "मौना
योर्ब्राह्मण्यं प्रति सामग्रीत्वद्योतकोऽथशब्दः। ब्राह्मण्यमुपपादयति—ब्रह्मैवेति। आचार्यपरिचर्या
वेदान्तानां तात्पर्यावधारणं पाण्डित्यम्। युक्तितोऽनात्मदृष्टितिरस्कारो बाल्यम्। 'अहमात्मा परं
न मत्तोऽन्यदस्ति किंचन' इति मनसैवानुसंधानं मौनम्। "महावाक्यार्थावगतिर्ब्राह्मण्यमिति दिभा

प्रतिपादन करती है "यह आत्मा आत्मनिष्ठाजनित शक्ति से हीन पुरुष द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं
इत्यादि।

इस प्रकार बाल्य और पाण्डित्य को "निर्विद्य" अर्थात् पूर्णरूप से प्राप्त कर के पुनः
करने से वह "मुनिः" अर्थात् योगी होता है। सर्व अनात्मप्रत्ययों की उपेक्षा करना ही ब्रह्मज्ञानी
कर्तव्य है। ऐसा करके योगी कृतार्थ हो जाता है। "अमौनम्" अर्थात् श्रवणमननरूप आत्मज्ञान
अनात्मप्रत्ययपरित्याग जिनकी पाण्डित्य और बाल्य सज्ञा है; उसको पूर्णरूप से प्राप्त करके "मौ
अर्थात् अनात्मप्रत्ययों की उपेक्षा का पर्यवसान जो फल है, उसको प्राप्त करके फिर वह ब्रह्म
कृतार्थ हो जाता है। "ब्रह्म ही यह सब कुछ है" ऐसा निश्चय जिसको हो जाता है, वही ब्रा
कृतकृत्य होता है, इसलिए वह ब्रह्मवेत्ता हैं।

---

१. निदिध्यासनशीलः। २. मननम्। ३. श्रवणमनने इत्यर्थः। ४. मननस्य। ५. निर्वर्त्यं।
अथ ब्राह्मण इत्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमाहुर्वार्तिके—"अथ ब्राह्मण इत्युक्त्या फलावस्थाऽस्य भण्यते। भेदसं
हीनोऽर्थः स्वमहिम्नि व्यवस्थितः॥ साक्षादित्यादिरूपोऽथ ब्रह्म ब्राह्मण उच्यते। इमामवस्थां संप्राप्य
ब्राह्मण उच्यते॥ ब्राह्मण्यं गौणमन्यत्र पूर्वभूम्षु नाञ्जसा" ॥१९०-९१॥ इति। अस्य विदुषः। काऽसौ फला
तामाह—भेदेति। तत्त्वसाक्षात्कारानन्तर्यं फलावस्थाया वक्तुमथशब्दः। जातिविषयो ब्राह्मणशब्दः। कथ
फलावस्थायां प्रयुज्यतेऽस्ति हि क्षत्त्रियादेरपि ज्ञानिनो यथोक्ता फलावस्था तत्राऽऽह—इमामिति। ज्ञानवति
तद्रहिते च बद्धे कथमेको ब्राह्मणशब्दः सत्यां गतावेकस्यानेकार्थत्वायोगादित्याशङ्क्याऽऽह—ब्राह्मण्यमिति
ज्ञानहीनेषु ब्रह्मचार्यादिषु स्थिते ब्राह्मणत्वे गौणो ब्राह्मणशब्दः परमहंसपरिव्राजके ज्ञानिनि मुक्ते मुख्यो
नैकस्यानेकार्थता शक्तिभेदाभावादित्यर्थः। ७. यस्य। ८. अत इति—ब्राह्मण्यस्योक्तप्रत्ययरूपत्वात् तादृग् ब्रा
कृतकृत्यो भवतीति योजना। ९. पूर्वोक्तयोः—पाण्डित्यबाल्ययोः। उत्तरत्र—मौने। १०. हेतुत्वमेव।
मौनं निदिध्यासनम्। अमौनं श्रवणमनने। १२. अखण्डब्रह्मसाक्षात्कारेण तदात्मनाऽवस्थितिः।

निरुपचरितं हि [1]तदा [2]तस्य ब्राह्मण्यं प्राप्तमत [3]आह— *स ब्राह्मणः केन स्यात्केन[4] चरणेन भवेद्येन स्याद्येन चरणेन[5] भवेत्तेनेदृश एवायम्। येन केनचिच्चरणेन स्यात्तेनेदृश

---

[6]प्रागपि प्रसिद्धं ब्राह्मण्यमिति चेत्तत्राऽऽह—निरुपचरितमिति। ब्रह्मविदः [7]समाचारं पृच्छति—स इति। अनियतं तस्य चरणमित्युत्तरमाह—येनेति। उक्तलक्षणत्वं कृतकृत्यत्वम्। अव्यवस्थितं

वह विद्वान् फलावस्था में निरुपचरित ब्राह्मणत्व की प्राप्ति करता है। इसीलिए कहा जाता है—"स ब्राह्मणः केन स्यात्" अर्थात् वह ब्राह्मण किस आचरण से युक्त होकर ब्राह्मण हो सकता है। "येन" अर्थात् जिस आचरण से भी युक्त हो, "तेनेदृश एव" अर्थात् वह इस प्रकार ही होगा। तात्पर्य

---

१. फलावस्थायाम्। २. विदुषः। ३. आहेत्यस्य अथ ब्राह्मण इति पूर्वत्र संबन्धः। ४. केन चरणेन भवेदिति—केन आचरणेन युक्तः स ज्ञातो भवेदित्यर्थः। यस्मिन्सति ब्राह्मणे यस्मिंश्चासति न तादृक्तस्य लक्षणं किमिति भावः। ५. युक्तः। ६. ब्राह्मणव्यक्तावुक्तावगतितः प्रागपीत्यर्थः। ७. आचारात्मकलक्षणम्।

---

*अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"केनाथ ब्राह्मणः स स्यादिति प्रश्नमपृच्छत। उक्तोपायातिरेकेण पृच्छ्यते साधनान्तरम्॥ यज्ञादिलक्षणं तावत्पारंपर्येण साधनम्। निर्ज्ञातमागमात्तस्मात्पृच्छ्यते साधनान्तरम्॥ चतुर्णां कतमेनेति न तु प्रश्नोऽत्र युज्यते॥ कैवल्याश्रममादाय ब्राह्मणस्य समाप्तितः॥ न चाऽऽश्रमान्तरं युक्तं मुनेर्व्युत्थायिनः सतः। कृतार्थस्याकृतार्थस्य तस्य नैवाऽऽश्रमान्तरम्॥ प्रश्नोऽयं साधनज्ञप्त्यै ब्राह्मणस्येह पृच्छ्यते। किंसाधनो ब्राह्मणः स्यादिति साधनमुच्यताम्॥ प्रश्नप्रतिवचस्तेन ब्राह्मणः स्याद्यथोदितः। येनानवाप्तज्ञानोऽपि भवेदीदृश एव ना॥ उक्तब्राह्मणसादृश्यं सर्वकर्मनिरासतः। नैष्कर्म्यसाधनेनैव ब्राह्मणः स्याद्यथोदितः॥ इत्येषोऽर्थो विधेयोऽत्र येनेति वचसा श्रुतेः। स्मृतयोऽपीममेवार्थं तत्र तत्र प्रचक्षते॥ लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ इमौ द्वावेव पन्थानौ कर्मतत्त्यागलक्षणौ॥ सजातीयाद्विनिष्क्रान्तावनुक्रान्ततराविमौ॥ संन्यास एव ताभ्यां च विशेषेणातिवर्तते। तथा किं प्रजयेत्यादिः पन्थाः कर्मत्यजां श्रुतः॥ ब्रह्मचर्याश्रमादेव प्रव्रजेदिति भूरिशः। संन्यासमेव ब्रुवते मुक्तये सर्वकर्मणाम्॥ श्रुतयः स्मृतयश्चोच्चैः शुद्धन्यायसमाश्रयात्। सर्वकर्मनिरासेन ब्राह्मण्यं लभते ततः॥ केनेति यदि वाऽऽक्षेप उत्पत्त्यादेरसंभवात्। साधनानामिहैकात्म्ये तथाच प्रागवादिषम्॥ साधनेनैतदैकात्म्यं येन येन चिकीर्ष्यते। तेन तेनेदृगेवाऽऽत्मा नातिशीतिर्मनागपि॥ अथवा लक्षणोक्तिः स्याद्यथोक्तब्रह्मवेदिनः। येनेदृगेव चिह्नेन ब्राह्मणस्तेन लक्ष्यताम्॥ देहेन्द्रियमनोबुद्धिधर्मनिषोऽत्यवर्तत। प्रत्यगैकात्म्यसंबोधात्तद्धर्मैर्लक्ष्यते कथम्॥ सर्वसंसारभावोऽस्य न यथा लक्षणं तथा। सर्वाभावोऽपि नैव स्याल्लक्षणं ब्रह्मवेदिनः॥ वेद्यानुरोधतो यस्मात्तद्विदो न्यायलक्षणम्। भावाभावद्वयध्वंसि ब्रह्म वेद्यं च तद्विदः॥ येनेदृगेव तेनेति तस्मादाह श्रुतिः स्फुटम्। मुमुक्षोर्लक्षणं तादृक्श्रद्दधाना यदब्रुवन्॥ सुषुप्तेऽप्यतिमूढस्य सर्वसंसारनिह्नुतिः। गम्यते लक्षणं तादृङ्न चासौ ब्रह्मविन्मतः॥ आत्मनो ब्रह्मतेहोक्ता न त्वनात्मन ईरिता। यथोक्तज्ञानतो ध्वस्तिरार्तश्रुत्याऽत उच्यते॥ अतो ब्राह्मण्यतोऽन्यद्यत्क्रियाकारकलक्षणम्। आर्तं विनाशि तज्ज्ञेयं ब्रह्मानार्तं यतस्ततः" ॥ १९२-२१४॥ इति। स ब्राह्मणः केन स्यादिति वाक्यं प्रश्नपरत्वेनावतारयति—केनेति। ज्ञानस्य ब्राह्मण्यं प्रति साधनत्वस्य सिद्धत्वात्तद्विषयप्रश्नायोगादित्याशङ्क्याऽऽह—उक्तेति॥ अस्तु तर्हि यज्ञादि प्रश्नगोचरस्तत्राऽऽह—यज्ञादीति। आगमाद्विविदिषावाक्यादिति यावत्। साधनं मुक्तेरिति शेषः। अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैवेत्यादिन्यायादित्यर्थः॥ आश्रमस्तर्हि मुक्तिं प्रत्युपायतया पृच्छ्यते नेत्याह—चतुर्णामिति। मुक्तिः सप्तम्यर्थः। कुतो विशेषणमाश्रमान्तरेणापि मुक्तिसिद्धेरित्या-

एवोक्तलक्षण एव ब्राह्मणो भवति। येन केनचिच्चरणेनेति स्तुत्यर्थं [1]'येयं ब्राह्मण्याव
सेयं स्तूयते न तु [2]'चरणेऽनादरः[3]'। अत एतस्माद्ब्राह्मण्यावस्थानादशनायाद्यतीतात्म

चरणमिच्छतो[4] ब्रह्मविदो यथेष्टचेष्टाऽभीष्टा स्यात्तथा[5] च 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः' इति स्मृतेरि[6]तरेषा
प्याचारेऽनादरः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह–येन केनचिदिति। [7]विहितमाचरतो निषिद्धं च त्यजतः शुद्ध
श्रुताद्वाक्यात्सम्यग्धीरुत्पद्यते तस्य च [8]वासनावशाद्व्यवस्थितैव चेष्टा नाव्यवस्थितेति न यथे
चरणप्रयुक्तो [10]दोष इत्यर्थः। अतोऽन्यदित्यादि व्याकरोति—अत इति। स्वप्नेत्यादि बहुदृष्टान्तोपा

यह है कि जिस किसी भी आचरण से युक्त हो, ऐसा उक्त लक्षण वाला ही ब्राह्मण होता है। "
किसी भी आचार से युक्त हो" ऐसा प्रतिपादन स्तुति के लिए है। भावाशय यह है कि जो यह ब्रा
स्थिति है, उसकी स्तुति की जाती है, न कि श्रुति में शिष्टाचार के प्रति अनादर है। इसलिए
क्षुधा-पिपासादिरहित आत्मस्वरूप नित्यतृप्त ब्राह्मी अवस्था में स्थिति होने से जो अविद्या की वि

---

१. स्तुत्यर्थत्वमेव विशदयति—येयमिति। २. शिष्टाचारे। ३. श्रुतेः। ४. तव। ५. तस्य
अभीष्टत्वे। ६. अज्ञानाम्। ७. साधनावस्थायाम्। ८. मुमुक्षोः। ९. पूर्वसंस्कारबलाद्विहिता
एव नियतो भवतीत्यर्थः। १०. अज्ञानामाचारेऽनादरप्रसक्तिरूपः पूर्वोक्तः।

शङ्कयाऽऽह—न चेति। कृतार्थः साक्षात्कृतब्रह्मा मुनिस्तस्य त्यक्तैषणस्य नाऽऽश्रमान्तरं मोक्षोपा
खल्वेषणाभ्यो व्युत्थितेनाऽऽश्रमान्तरमाश्रयितुं शक्यम्। अकृतार्थस्तु प्रयोजकज्ञानी तस्यापि नाऽऽश्रम
मुक्तिहेतुरन्यत्र श्रवणादिद्वारा ज्ञानायोगान्नाविरक्ताय संसारादित्यादिन्यायादित्यर्थः॥ तर्हि विषयाभावात्प्रश्न
भूत्क्षेपस्तु स्यान्नेत्याह—प्रश्नोऽयमिति। इहेति वाक्योक्तिः। नायं क्षेपो हेत्वभावादिति मत्वा प्रश्नप्रकारमभि
—किमिति॥ सम्यग्ज्ञानाद्यज्ञादेराश्रमान्तराच्चातिरिक्ते मुक्तिहेतौ पृष्टे येनेत्याद्युत्तरमाह—प्रश्नो
अनुत्पन्नज्ञानोऽपि पुरुषो येन साधनेन निर्व्यापारो भवति तेन मुख्यं ब्राह्मण्यं लभ्यत इत्यर्थः॥ किं तदिति
—उक्तेति। सर्वव्यापारोपरमात्मकनैष्कर्म्यं पारमहंस्यं ज्ञानादन्यत्तेनैव मुख्यो ब्राह्मणो भवति तच्च
सर्वकर्मत्यागतो लभ्यते तस्य ब्राह्मण्यं प्रति साधनत्वं तेन सारूप्यत्वादुभयोरपि निर्व्यापारत्वाविशेषाद्धेतुफ
रैकरूप्यस्य न्याय्यत्वादित्यर्थः॥ कथं नैष्कर्म्यमधिगतं तदाह—इत्येष इति। अत्रेत्युद्देश्यमोक्षोक्तिः। परम
श्रमो नैष्कर्म्यं तस्य धीसमुच्चितस्य मोक्षोपायत्वे मानमाह—स्मृतयोऽपीति। अपिशब्दः श्रुतिसंग्रहा
तत्राऽऽदौ स्मृतीरुदाहरन्भगवद्वाक्यमाह—लोकेऽस्मिन्निति। प्राणिनिकायो लोकः। पुरेति द्वितीयाध्या
सर्गादिकालो वा पुरेत्युक्तिः। के ते निष्ठे तत्राऽऽह—ज्ञानेति। सांख्याः सम्यग्धीप्रधानास्तेषां परमहं
ज्ञानयोगो निर्व्यापाररूपं नैष्कर्म्यं तेनैव निष्ठा कर्मिणो योगिनस्तेषां कर्मयोगस्तदनुष्ठानं तेनैव नि
वदन्भगवान्नैष्कर्म्यस्य ज्ञानोपेतस्य मुक्तिसाधनत्वमभिप्रेतवानित्यर्थः॥ तत्रैव व्यासवाक्यमाह—इमा
अन्ययोगव्यवच्छेदेनोक्तौ पुमर्थमार्गौ विशिनष्टि—कर्मेति। तयोर्मिथो वैजात्यमाह—सजातीयादिति।
तयोरसकृदुक्तत्वेन प्रामाणिकत्वमाह—अनुक्रान्तेति॥ समभिव्याहारात्तयोरैकरूप्यमाशङ्क्याऽऽह—संन्यास
संन्यासिनां स्मृताविव श्रुतावपि नैष्कर्म्यमार्गो दृष्ट इत्याह—तथेति॥ ननु क्रमेण संन्यस्यतो यथोक्तो मा
विवक्षितः प्रथमाश्रमे तु संन्यासमेव न मृष्यामस्तत्राऽऽह—ब्रह्मचर्येति। इतिशब्दः पन्थाः श्रुतः श्रुता
संबध्यते। 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुरिति' श्रुतेः कस्यचित्कर्म कस्यचित्त्यागो मुक्तिहेतुरिति विकल्पमाशङ्क्या

रूपान्नित्यतृप्तादन्यदविद्याविषयमेषणालक्षणं वस्त्वन्तरमार्तं विनाश्यार्तिपरिगृहीतं स्वप्नमायामरीच्युदकसममसारमात्मैवैकः केवलो नित्यमुक्त इति । ततो[1] ह कहोलः कौषीतकेय [2]उपरराम ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

दार्ष्टान्तिकस्य बहुरूपत्वद्योतनार्थम् । अथोऽन्यदिति कुतो विशेषणमित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मैवेति ॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां तृतीयाध्यायस्य पञ्चमं कहोलब्राह्मणम् ॥५॥

भूत एषणारूप अन्य वस्तुएँ हैं, वे "आर्तम्" अर्थात् विनाशी आर्ति से परिगृहीत हैं, स्वप्न माया एवं मरुमरीचिका के जल के समान असार हैं, आत्मा ही एक, केवल व नित्यमुक्त है। इस प्रकार (अपने प्रश्न के निर्णय से) कौषीतकेय कहोल चुप हो गया ॥१॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् शाङ्करभाष्य में तृतीय अध्याय के पञ्चम कहोल-ब्राह्मण का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ५ ॥

---

[1] स्वीयप्रश्ननिर्णयात् ।　[2] मनसाऽप्यचिन्त्यपराजयोऽयमित्यभिप्रायेणोपररामेत्यर्थः ।

संन्यासमिति । उच्चैरित्युक्ततात्पर्यद्योतनार्थमभ्यासाख्यं लिङ्गं दर्शयति—भूरिश इति ॥ न च तासामन्यार्थत्वमबाधितन्यायानुग्रहादित्याऽऽह—शुद्धेति । आत्मस्वरूपभूतमुक्तेरसाध्यत्वादि न्यायः । ज्ञानातिरिक्तं नैष्कर्म्याख्यं मुक्तिहेतुमुपपाद्य येनेत्यादेरर्थमुपसंहरति—सर्वेति ॥ स इत्यादेरर्थान्तरमाह—केनेति । आक्षेपं स्फोरयति—उत्पत्त्यादेरिति । मोक्षे ज्ञानातिरिक्तकर्मादिहेतूनां केनेत्याक्षेपस्तस्य चतुर्विधकर्मकार्यत्वायोगात्तदयोगश्च संबन्धादावुक्त इत्यर्थः ॥ ज्ञानेतरसर्वहेत्वाक्षेपमुपेत्य येनेत्यादेरर्थमाह—साधनेनेति । अग्निहोत्रानुष्ठानात्प्रागूर्ध्वं च मुक्तेराकाशवदैकरूप्यादज्ञानध्वस्तेश्च ज्ञानमात्रायत्तत्वान्नैष्कर्म्यस्य च ज्ञानाद्वा तत्फलाद्वा तद्धेतोर्वाऽनतिरेकान्न मुक्त्यर्थं हेत्वन्तरं मृग्यमित्यर्थः ॥ स इत्यादेर्विधान्तरेण प्रश्नरूपमर्थमाह—अथवेति । विदुषो मुक्तस्य लक्षणं केनेति पृच्छ्यत इत्यर्थः । उक्तिशब्दः प्रश्नवचनः । येनेत्यादेरर्थमाह—येनेति । मुक्तस्य स्वरूपमेव लक्षणं न लक्षणान्तरमस्तीत्यर्थः ॥ ननु पृथिव्यादेर्गन्धवत्त्वादि स्वातिरिक्तं लक्षणं तत्कथं मुक्तस्य न लक्षणान्तरं तत्र किं शमादिर्वा संसाराभावो वा तस्य लक्षणान्तरमिति विकल्प्याऽऽद्यं प्रत्याह—देहेति । देहादेस्तद्धर्माच्च तत्त्वज्ञानेनातीतो मुक्तो नास्य बुद्ध्यादिधर्मः शमादिलक्षणं वैयधिकरण्यादित्यर्थः ॥ द्वितीयं दूषयति—सर्वेति ॥ तत्र हेतुः—वेद्येति ॥ अथ तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी सचक्षुरचक्षुरिवेत्यादिश्रुतेः स्थितप्रज्ञगुणातीतलक्षणस्मृतेश्च विदुषो मुक्तस्य लक्षणमुक्तं तत्कुतो न लक्षणान्तरं तत्राऽऽह—येनेति । प्रतिवचो हि लक्षणान्तराभावादेव प्रवृत्तं श्रुतिस्मृती तु विदुषो व्यवहारदृष्ट्या लक्षणमाचक्षाते न वस्तुतो वस्तुतस्तद्राहित्यमिह विवक्षितमिति भावः । ननु शमादिर्ज्ञानात्पूर्वं साधनमूर्ध्वं ज्ञानिलक्षणमिति संप्रदायविदो न तदन्यथयितुं युक्तमत आह—मुमुक्षोरिति । सांप्रदायिका यदास्तिकाः सन्तः शमादिलक्षणमाचचक्षिरे तत्सर्वं व्यवहारावस्थस्यैव न तदतीतस्येत्यर्थः ॥ संसाराभावस्य मुक्तलक्षणत्वाभावे हेत्वन्तरमाह—सुषुप्तेऽपीति । अब्रह्मविदोऽपि संसाराभावानुभवान्न तन्मुक्तलक्षणं न चाज्ञानाभावस्तल्लक्षणं तस्य स्वरूपत्वे लक्षणान्तरत्वायोगादस्वरूपत्वे संसाराभावादविशेषादिति भावः ॥ मुक्तस्य लक्षणान्तराभावेऽपि कथमतोऽन्यदार्तमित्युक्तं मुक्तादन्यस्यैवासत्त्वेन वाक्यस्य निर्विषयत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मन इति । पाण्डित्यादिवाक्यमिहेति परामृष्टम् ॥ अतोऽन्यदित्यादिश्रुतेरर्थान्तरमाह—अत इति । अन्यस्य नाशित्वे हेतुमाह—ब्रह्मेति । यद्वा यतोऽन्यदार्तमतो ब्रह्मैवानार्तमिति फलोक्तिः ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य षष्ठं ब्राह्मणम् ।

[1]अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति कस्मिन्नु खलु

फिर उस याज्ञवल्क्य से बचक्नु की पुत्री गार्गी ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा उसने क
यह जो कुछ (पार्थिव धातुसमुदाय) है सब जल में ओत-प्रोत है अर्थात् वस्त्र में तन्तु के आतान-वि
के समान ओत-प्रोत है । याज्ञवल्क्य ने कहा—हें गार्गी ! वायु में (जलीय या पार्थिव धातु के आ

यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तर इत्युक्तं तस्य [2]सर्वान्तरस्य स्वरू

---

[3]पूर्वब्राह्मणयोरात्मनः सर्वान्तरत्वमुक्तं तन्निर्णयार्थमुत्तरं [4]ब्राह्मणत्रयमिति [5]संगतिमा

जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म सर्वान्तर आत्मा है—ऐसा पूर्वश्रुति में प्रतिपादित किया गया,

---

१. अथेति—"षष्ठेऽस्मिन् ब्राह्मणे सर्वं ब्रह्मकार्यं विविच्यते । सर्वान्तरत्वं निर्णेयं ब्रह्मणः सर्वनिर्णया ।। वार्तिकसारे ३।६।१ ।। २. सर्वान्तरस्येति । अत्र वार्तिके—"विशेषणस्य सर्वस्य साक्षादित्यादिकस्य सर्वान्तरविनिर्णीतौ निर्णयः स्यात्कथं न्विति ।। अशनायाद्यतिक्रान्त्या प्रश्नार्थाविष्कृतिः कृता । न सम् मन्वाना गार्ग्यपृच्छदतः पुनः ।। क्षित्यादेर्वियदन्तस्य यावन्नैकात्म्यमुच्यते । निर्णीतार्थो न तावत्स्या साक्षादितीरितः ।। बुभुक्षाद्येकदेहस्थनिषेधादनिषेधतः । क्षित्यादेर्वियदन्तस्य नातः प्रश्नार्थनिर्णयः ।। पार्थिवा भावा लोष्टकुम्भादयो मताः । तेषामन्तर्बहिर्व्याप्तिः पृथिव्यैवेह लक्ष्यते ।। यथैव पार्थिवा भावाः पृ धरित्र्यपि । अद्भिरन्तर्बहिश्चेयं व्याप्तैवेह समीक्ष्यते ।। एवं दृष्टं यतस्तस्माद्गार्गी पप्रच्छ लिङ्गतः । यदिदमित्येवं याज्ञवल्क्यं महाधियमिति" ।।२-८।। ननु विशेषणान्तराण्यपि प्रकृतानि तानि विहाय किमिति स रत्वं निर्णीयते तत्राऽऽह—विशेषणस्येति । आत्मनः सर्वान्तरत्वनिर्णये साक्षात्त्वादि यतो निर्णीतमेव भवत्यत कथं सर्वान्तरत्वमिति विशेषतो निरूप्यत इत्यर्थः ।। तन्निर्णयात्तदविनाभूतसाक्षात्त्वादि निर्णयेऽपि योऽशनायेत्य सर्वान्तरत्वादेर्निर्णीतत्वात्कि पुनरारम्भेणेत्याशङ्क्याथेत्यादिप्रश्नं प्रस्तौति—अशनायादीति ।। यत्साक्षादि प्रश्नार्थस्य योऽशनायेत्यादिना कृताऽऽविष्कृतिः कथं न सम्यगिति तत्राऽऽह—क्षित्यादेरिति ।। अशनायादिनि भूतपञ्चकमपि प्रतिषिध्य प्रत्यङ्मात्रस्य निर्णीतत्वात्कथं न प्रश्नार्थे निर्णयस्तत्राऽऽह—बुभुक्षादीति । सम्यगनिर्णीतत्वबुद्ध्या गार्गी पृच्छतु तत्पृच्छा तु किंमूलेत्याशङ्क्य व्याप्तिमूलेति वक्तुं लोकप्रसिद्धां व्याप्ति —य एत इति ।। ननु पृथिव्या व्यापकत्वेऽपि । कीदृशी व्याप्तिस्त (स्त्व) दिष्टा तत्राऽऽह—यथैव यदनात्मत्वे सति व्यापकं तदन्यव्याप्यं यथा पृथिवीति व्याप्तिमुक्त्वा तन्मूलं प्रश्नं दर्शयति—एवमिति ।। उषस्तकहोलसंज्ञयोः । ४. ब्राह्मणत्रयमिति—शाकल्यब्राह्मणात्प्राक्तनं गार्ग्यन्तर्याम्यक्षराख्यं ब्राह्मणत्रयमि ५. संगतिम्—उषस्तकहोलब्राह्मणयोरुत्तरब्राह्मणत्रयस्य च मिथो निर्णयनिर्णायकभावसंबन्धमित्यर्थः ।

वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्षत्र-

लिये बिना अग्नि का स्वरूप सिद्ध नहीं होता। इसलिये अग्नि का ओत-प्रोत भाव सिद्ध नहीं होता। गार्गी ने कहा—) वायु किसमें ओत-प्रोत है ? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—) हे गार्गि ! अन्तरिक्षलोक में। गार्गी बोली—अन्तरिक्षलोक किसमें ओत-प्रोत है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि ! वह गन्धर्वलोक में ओत-प्रोत है। गार्गी बोली—गन्धर्बलोक किसमें ओत-प्रोत है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि ! आदित्यलोक में। गार्गी ने कहा—आदित्यलोक किसमें ओत प्रोत है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि ! चन्द्रलोक में। गार्गी बोली—चन्द्रलोक किसमें ओत-प्रोत है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि !

धिगमायाऽऽ [1]शाकल्यब्राह्मणाद्ग्रन्थ आरभ्यते। पृथिव्यादीनि ह्याकाशान्तानि भूतान्यन्तर्बहिर्भावेन व्यवस्थितानि तेषां यद्बाह्यं[2] [3]बाह्यमधिगम्याधिगम्य[4] [5]निराकुर्वन्द्रष्टुः [6]साक्षात्सर्वान्तरोऽगौण आत्मा सर्वसंसारधर्मविनिर्मुक्तो दर्शयितव्य इत्यारम्भः—अथ हैनं गार्गी नामतो वाचक्नवी वचक्नोर्दुहिता पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच[7]। यदिदं सर्वं

यत्साक्षादिति। उक्तमेव संबन्धं विवृणोति—पृथिव्यादीनीति। अन्तर्बहिर्भावेन सूक्ष्मस्थूलतारतम्यक्रमेणेत्यर्थः। बाह्यं बाह्यमिति वीप्सोपरिष्टात्तच्छब्दो द्रष्टव्यो यत्तदोर्नित्यसंबन्धात्। [8]निराकुर्वन्यथा मुमुक्षुः सर्वान्तरमात्मानं प्रतिपद्यते तथा स यथोक्तविशेषणो दर्शयितव्य इत्युत्तरग्रन्थारम्भ इति योजना। कहोलप्रश्ननिर्णयानन्तर्यमथशब्दार्थः। यत्पार्थिवं धातुजातं तदिदं सर्वम-

---

सर्वान्तर आत्मा के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए शाकल्यब्राह्मणपर्यन्त आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है। पृथिवी से लेकर आकाशपर्यन्त सम्पूर्ण महाभूत अन्तर्बहिभाव से व्यवस्थित हैं। उनमें से जो स्थूल-स्थूल भूत हैं, उनका ज्ञानपूर्वक निरास करते हुए, जो समस्त सांसारिक धर्मों से रहित द्रष्टा से व्यवहित, सर्वान्तर मुख्य आत्मा है, उसका दर्शन कराना है, इसलिए यह ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है। फिर उस याज्ञवल्क्य से "वाचक्नवी" अर्थात् वचक्नु की गार्गीनामा पुत्री ने पूछा। उसने मुनि का आभिमुख्य प्राप्त करने के लिए 'हे याज्ञवल्क्य' इस प्रकार सम्बोधित करके कहा। यह जो भी सब

---

१. शाकल्यब्राह्मणात्प्राक्तनो ग्रन्थः। २. स्थूलम्। ३. स्थूलं भूतम्। ४. तदधिगमपूर्वकमित्यर्थः। ५. अपोहयन्। ६. द्रष्टृव्यवहित इत्युभयोरर्थः। ७. मुनेराभिमुख्यमापादयितुं भो याज्ञवल्क्येति संबोध्योक्तवतीत्यर्थः। ८. निराकुर्वन्निति—परित्यजन्नित्यर्थः। उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वत्रान्तर्भावयन् उत्तरोत्तरापेक्षया पूर्वपूर्वत्राऽऽन्तरत्वं विभावयन्निति यावत्।

लोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु नक्षत्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति देवलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेतीन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्विन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका

नक्षत्रलोक में। गार्गी बोली—नक्षत्रलोक किसमें ओत-प्रोत है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि!
लोक में। गार्गी बोली—देवलोक किसमें ओत-प्रोत है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि ! इन्द्रलोक
गार्गी ने कहा—इन्द्रलोक किसमें ओत-प्रोत है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—प्रजापतिलोक में। गार्गी
कहा—प्रजापतिलोक किसमें ओत-प्रोत है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—ब्रह्मलोक में (यहाँ पर परस्पर

**पार्थिवं [1]धातुजातमप्सूदक ओतं च प्रोतं चौतं दीर्घपटतन्तुवत्प्रोतं तिर्यक्तन्तुवद्विपरी
वा। अद्भिः सर्वतोऽन्तर्बहिर्भूताभिर्व्याप्तमित्यर्थः। अन्यथा सक्तुमुष्टिवद्विशीर्येत।
तावदनुमानमुपन्यस्तम्। यत्कार्यं परिच्छिन्नं स्थूलं कारणेनापरिच्छिन्नेन सूक्ष्मे
[2]व्याप्तमिति दृष्टम्। यथा पृथिव्यद्भि[3]स्तथा [4]पूर्वं [5]पूर्वमु[6]त्तरेणोत्तरेण व्यापिना भवित**

प्स्वित्यादि योजनीयम्। पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—अद्भिरिति। पार्थिवस्य धातुजातस्याद्भि
प्त्यभावे दोषमाह—अन्यथेति। किमत्र[7] गार्ग्या विवक्षितमिति तदाह—इदं तावदिति।
दर्शयितुं व्याप्तिमाह—यत्कार्यमिति। कारणेन व्यापकेनेति शेषः[9]। यत्कार्यं तत्कारणेन व्या
यत्परिच्छिन्नं तद्व्यापकेन व्याप्तं यच्च स्थूलं तत्सूक्ष्मेण व्याप्तमिति त्रिप्रकारा व्याप्तिः। इतिश
[10]स्तत्समाप्त्यर्थः। [11]व्याप्तिभूमिमाह—यथेति। संप्रत्यनुमानमाह—तथेति। पूर्वं पूर्वमित्यबादे[12]र्धर्मि
निर्देशः। उत्तरेणोत्तरेण वाय्वादिना कारणेनापरिच्छिन्नेन सूक्ष्मेण व्याप्तमिति शेषः। [13]विमतं कार

कुछ पार्थिव वस्तुसमूह है, वह "अप्सु" अर्थात् जल में ओत-प्रोत है। जैसे वस्त्र की लम्बाई के
ओत एवं वस्त्र की चौड़ाई के तन्तु प्रोत होते हैं अथवा इससे विपरीत क्रम भी समझना चाहि
भावाशय यह है कि यह अपने बाहर-भीतर सब ओर विद्यमान जल से ही व्याप्त है। अन्यथा मुट्ठी
सत्तू के समान नष्ट-भ्रष्ट हो जाता। (इस प्रश्न में) यह तो अनुमान को प्रस्तुत किया गया। जो
परिच्छिन्न और स्थूल तत्त्व है, वह कारण अपरिच्छिन्न और सूक्ष्मतत्त्व से व्याप्त रहता है, ऐसा

---

१. वस्तुजातम्। २. व्याप्तमिति दृष्टमिति—अत्र टीकानुसाराद्दृष्टमित्यधिकं व्याप्तं दृष्टमितीति पाठो न्याय्यः। ३. व्याप्ता। ४. अबादि। ५. पूर्वमित्यादि—पूर्वं पूर्वमुत्तरोत्तरेण व्याप्तम्। उत्तरोत्त च पूर्वपूर्वापेक्षया व्यापिना भवितव्यमिति वाक्यं भित्त्वा योजनीयम्। ६. वाय्वादिना। ७. प्रश्ने। विवक्षितमनुमानमेव। ९. यदा भाष्येऽपरिच्छिन्नेनेति पाठाभावस्तदाऽयमिति द्रष्टव्यम्। १०. व्याप्तिव प्त्यर्थः। ११. व्याप्तिग्रहस्थलं दृष्टान्तमिति यावत्। १२. पक्षस्य। १३. अबादिकार्यम्।

ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेषु गार्गीति *कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति स होवाच गार्गि माऽतिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि गार्गि माऽतिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम ॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य षष्ठं ब्राह्मणम् ॥६॥

के संघात को अन्तरिक्षलोक शब्द से कहा गया है। एवं विराट् शरीर के आरम्भक भूतों को प्रजापति शब्द से कहा तथा ब्रह्माण्ड के आरम्भक भूतों को ब्रह्मलोक शब्द से कहा। इन सभी लोकों में सूक्ष्मता के तारतम्य से जीवों के भोगाश्रय देहाकाररूप में पंचभूत ही परस्पर संघात हो रहे हैं। इसलिये सभी जगह बहुवचन का प्रयोग किया है) गार्गी ने कहा—अच्छा तो ब्रह्मलोक किसमें ओत-प्रोत है ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि ! अतिप्रश्न न कर। अर्थात् न्यायोचित प्रकार को छोड़कर केवल अनुमान से शास्त्रगम्य देव के विषय में प्रश्न मत्त पूछ। ऐसा करने पर तेरा शिर न गिर जाय। जिसके विषय में अतिप्रश्न नहीं करना चाहिये, उस देव के विषय में तू अतिप्रश्न कर रही है। हे गार्गि ! यदि तू जीवित रहना चाहती है, तो तू अतिप्रश्न मत कर। इसके ऊपर अनिर्वचन हो गार्गी चुप हो गयी ॥ १ ॥

॥ इति षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

मित्येष आ सर्वान्तरादात्मनः प्रश्नार्थः।

व्यापकेन सूक्ष्मेण व्याप्तं कार्यत्वात्परिच्छिन्नत्वात्स्थूलत्वाच्च पृथिवीवदित्यर्थः। सर्वान्तरादात्मनोऽर्वागुक्तन्यायं सर्वत्र संचारयति—इत्येष इति।

जाता है। जिस प्रकार पृथिवी जल से व्याप्त है, उसी प्रकार पूर्व-पूर्व जलादि, अपने उत्तर-उत्तर कारण वायु आदि से व्याप्त है, ऐसा होना चाहिये। सर्वान्तर आत्मा (श्रुतिमन्त्र) पर्यन्त इस प्रश्न का यही अर्थ है।

---

१. प्राक्। २. प्राक्।

---

*कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेतीत्यादिराब्राह्मणान्तम् मूलग्रन्थस्तत्र वार्तिकानि। तथाहि—तदेतल्लोकनिर्माणमोतप्रोतात्मनोदितम्। अण्डान्तमेव व्याख्यातं किमन्यदवशिष्यते ॥ समष्टिव्यष्टिभावेन वायुः सर्वाश्रयः पुरा। व्याख्यातो यः स वक्तव्यस्तदर्थः प्रश्न उत्तरः ॥ ओताः प्रोताश्च कस्मिन्नु ब्रह्मलोका इतीर्यताम्। इति पृष्ठोऽब्रवीद्गार्गि माऽतिप्राक्षीः कथंचन ॥ माऽतीत्य प्रश्नविषयं गार्गि प्राक्षीः कथंचन। मा ते मूर्धा व्यपप्तेति त्वामहं वारयाम्यतः ॥ उचितोऽस्या भवेत्प्रश्नो देवता येन पृच्छ्यते। वर्तते यस्तमुल्लङ्घ्य सोऽतिप्रश्नोऽनुमोच्यते ॥...या तमर्हति पूर्वोक्ता साऽतिप्रश्न्येह देवता। तदन्यत्वादिमां त्वाहुरनतिप्रश्न्यनामिकाम् ॥

तत्र भूतानि पञ्च संहतान्येवोत्तरमुत्तरं सूक्ष्मभावेन व्यापकेन [1]कारणरूपे व्यवतिष्ठन्ते । न च परमात्मनो[2]ऽर्वाक्तद्व्यतिरेकेण वस्त्वन्तरमस्ति "[3]सत्यस्य सत्य

ननु [4]तथाऽपि भूतपञ्चकव्यतिरिक्तानां गन्धर्वलोकादीनामप्यान्तरत्वेनोपदेशात्कथं पञ्चकव्युदासेन [5]सर्वान्तरप्रतिपत्तिर्विवक्षितेति तत्राऽऽह—तत्रेति । उक्तनीत्या प्रश्नार्थे स्थिते स यावत् । [6]भूतात्मस्थितिनिर्धारणे वा सप्तमी । [7]अथ परमात्मभूतानन्तर्हितत्वात्पृथगेव ग

वहाँ पाँच भूत हैं जो परस्पर संहत होकर ही उत्तरोत्तर व्यापक सूक्ष्मभाव से और (ग लोकादि) कारणरूप से विद्यमान रहते हैं । परमात्मा से परे उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है—

---

१. गन्धर्वादिलोकाद्यात्मनेत्यर्थः । २. भूतपञ्चकम् । ३. बृ० उ० २।१।२० । ४. आत्मनः सर्वान्तर विशेषतो निरूपणविवक्षया प्रश्नप्रवृत्त्यभ्युपगमेऽपि । ५. यथोक्तलोकानामप्यान्तरत्वोक्त्या तदव्युदासे भा सर्वान्तरत्वासिद्धेरिति भावः । ६. भूतात्मस्थितिनिर्धारणे वा सप्तमीति । तथा च भाष्यमथतत्रेति परिणाम्यपरिणामिभूतात्मस्थित्योर्मध्य इत्यर्थः । भाष्ये च भूतान्येवेत्येवकारस्य भिन्नक्रमेणान्वय तथा चा णामस्थितिरात्मैवकारव्यवच्छेद्यः यद्वा भूतान्यत्वमेव लोकेषु तेन व्यवच्छेद्यम् । अयमाशयः—भूतराशि अपरश्चात्मराशिः, नैवास्त्याभ्यामन्यस्तृतीयः, तत्राऽऽद्यः परिणामिनित्यः कूटस्थनित्यश्च द्वितीयः तत्राऽऽद्य परिणामभूतानि गन्धर्वलोकादीनि अतस्तत्रैवान्तर्भवन्ति ततो भूतपञ्चकव्युदासेन सर्वान्तरप्रतिपत्तिविवक्षि ७. उक्ताभिप्रायमजानतो यथाश्रुतग्राहिणः कस्यचिच्छङ्कामुत्थापयति—अथेति । संहतपञ्चभूतानामेवोत्त सूक्ष्मादिरूपेणावस्थानेऽपीत्यथशब्दार्थः ।

तामेतामनतिप्रश्न्यामतिप्रश्नेन साहसात् । पृच्छन्त्या मूर्धपातस्ते स्यादेव स्वापराधतः ।। स्थूलान्यनुमया प्रष्टुं तत्त्वानि कामतः । इयं तु न तथा स्थूला यां त्वं पृच्छसि देवताम् ।। अचिन्त्या चाप्रतर्क्या च प्राण च स्थिता । नातोऽन्येन प्रमाणेन प्रष्टव्या देवताऽऽगमात् ।। एतस्मादेव हेतोस्तां तर्कशास्त्रेषु तार्किकाः । मिन्वते त्रासात्पृथिव्यादीन्यथा तथा ।। प्राणोऽयमनिरुक्तो हि कस्तं निर्वक्तुमर्हति । मानान्तरेणाऽऽगमतो प्राक्षीरित्यतो वचः" ।। १९-२९ ।। इति । प्रश्नान्तरार्थं भूमिकामाह—तदेतदिति । पृथिव्यादीनामन्त व्याप्ततया यदेतदवस्थानं पृष्टं तदुक्तप्रकारेण ब्रह्मलोकान्तं स्फुटीकृतं न चाण्डादुपरिष्टादनुमानेन प्रष्टव्यमित्य उक्ताभिप्रायाज्ञानकृतप्रश्नविषयमाह—समष्टीति । पुरेति भुज्युप्रश्नोक्तिः ।। सूत्रविषयत्वं प्रश्नस्योक्त्वा तदक्ष व्याकरोति—ओता इति । प्रत्युक्तिमादत्ते—इति पृष्ट इति ।। तां व्याचष्टे—माऽतीत्येति । आनुमानिक विषयमिन्द्रादिकमतिक्रम्य सूत्रमधिकृत्यानुमानेन सर्वथैव प्रश्नं मा कार्षीरित्यर्थः । मा ते मूर्धा व्यपप्त तात्पर्यमाह—मा त इति । व्यपप्तेति व्यपप्तदित्यस्यांशोक्तिर्माङ्योगादटो लोपेऽपि तदभावश्छान्द अनतिप्रश्न्यामित्यादेरर्थं वक्तुमतिप्रश्नशब्दार्थमाह—उचित इति । सूत्रस्याऽऽगमैकगम्यत्वात्तेन प्रश्नो यो मतिक्रान्तोऽतिप्रश्नोऽनुमेत्यर्थः ।। प्रत्ययार्थमाह—या तमिति । अण्डान्तर्वर्तिनी देवताऽतिप्रश्न्येत्यर्थः । प्रश्न्येत्यनतिप्रश्न्या सूत्रदेवता केवलागमगम्यत्वादित्याह—तदन्यत्वादिति ।। अस्त्वनतिप्रश्न्या सूत्रदेवता तावतेत्याशङ्क्य वाक्यार्थमाह—तामिति ।। इन्द्रादिवदनुमानेन सूत्रप्रश्ने कोऽपराधो देवतात्वाविशेषादि शङ्क्याऽऽह—स्थूलानीति । गार्गीत्यादिनिगमनस्य तात्पर्यमाह—अचिन्त्येति । तदभावशङ्कां वारयति—प्राणे अप्रतर्क्यत्वं समर्थयते—एतस्मादिति । त्रासान्मूर्धपातभयादिति यावत् ।। प्राणस्य सूत्रात्मनः श्रुतिष्वनिरु प्रसिद्धेश्च नानुमेयतेत्याह—प्राणोऽयमिति । निगमनवाक्यार्थमुपसंहरति—मानान्तरेणेति ।।

इति श्रुतेः। सत्यं च भूतपञ्चकं सत्यस्य सत्यं च पर आत्मा। कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति। [1]तासामपि कार्यत्वात्स्थूलत्वात्परिच्छिन्नत्वाच्च क्वचिद्ध्योतप्रोतभावेन भवितव्यम्। क्व तासामोतप्रोतभाव इत्येवमुत्तरोत्तरप्रश्नप्रसङ्गो योजयितव्यः। वायौ गार्गीति। नन्वग्नाविति वक्तव्यम्। नैष दोषः। अग्नेः [2]पार्थिवं वाऽऽप्यं[3] वा धातुमनाश्रित्येतरभूतवत्स्वातन्त्र्येणाऽऽत्मलाभो नास्तीति तस्मिन्नोतप्रोतभावो नोपदिश्यते।

कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति। तान्येव भूतानि संहतान्यन्तरिक्षलोका[4]स्तान्यपि गन्धर्वलोकेषु गन्धर्वलोका आदित्यलोकेष्वादित्यलोकाश्चन्द्रलोकेषु चन्द्रलोका नक्षत्रलोकेषु नक्षत्रलोका देवलोकेषु देवलोका इन्द्रलोकेष्विन्द्र-

---

लोकादीनि वस्त्वन्तराणि भविष्यन्ति नेत्याह—न चेति। गन्धर्वलोकादीन्यपि भूतानामेवावस्थाविशेषास्ततः[5] सत्यं भूतपञ्चकं तस्य सत्यं परं ब्रह्म नान्यदन्तराले प्रतिपत्तव्यमित्यन्यप्रतिषेधार्थौ चशब्दौ। [6]तात्पर्यमुक्त्वा प्रश्नमुत्थाप्य तदक्षराणि व्याकरोति—कस्मिन्नित्यादिना। कस्मिन्नु खलु वायुरित्यादावुक्तन्यायमतिदिशति—एवमिति। वायावित्ययुक्ता प्रत्युक्तिरपामग्निकार्यत्वादग्नाविति वक्तव्यत्वादिति शङ्कते—नन्विति। अग्नेरुदकव्यापकत्वेऽपि काष्ठविद्युदादिपारतन्त्र्यात्स्वतन्त्रेण केनचिदपां व्याप्तिर्वक्तव्येत्यग्निं हित्वा तत्कारणे वायावित्युक्तं वायोश्च स्वकारणतन्त्रत्वेऽपि नोदकतन्त्रतेति [7]तद्व्यापकत्वसिद्धिरित्युत्तरमाह—नैष दोष इत्यादिना।

अन्तरिक्षलोकशब्दार्थमाह—तान्येवेति। प्रजापतिलोकशब्दार्थं कथयति—विराडिति। अन्त-

---

"वह सत्य का सत्य है" यह श्रुति प्रमाण है। सत्य तो भूतपञ्चक है, और परमात्मा "सत्य का सत्य" है। (इसी से प्रश्न होता है—) वह किसमें ओत-प्रोत है। कार्यरूप स्थूल एवं परिच्छिन्नरूप होने से जल को भी किसी में ओत-प्रोत भाव से रहना चाहिये। उसका ओतप्रोतभाव कहाँ है—इसी प्रकार उत्तरोत्तर प्रश्नों के प्रसंग को लगा लेना चाहिये। 'हे गार्गी! वायु में ओतप्रोत है'। (इस पर शङ्का होती है—) यहाँ तो याज्ञवल्क्य को 'अग्नि में ओत-प्रोत है'—ऐसा कहना चाहिये था। (इस का परिहार करते हैं —) ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है क्योंकि अन्य भूतों के समान अग्नि की स्वरूपसिद्धि (काष्ठादि) पार्थिव अथवा विद्युदादि जलीय वस्तु का आश्रय लिए बिना नहीं होती, इसलिये उसमें ओतप्रोतभाव का उपदेश नहीं किया जाता।

(गार्गी पूछती है—) वायु किसमें ओत-प्रोत है? (याज्ञवल्क्य कहते हैं—) हे गार्गी! अन्तरिक्षलोकों में वायु ओत-प्रोत है। परस्पर संघातरूप में प्रतिष्ठित ये भूत ही अन्तरिक्षलोक हैं। अन्तरिक्षलोक में अवस्थित वे भूत भी गन्धर्वलोकों में, गन्धर्वलोक आदित्यलोकों में आदित्यलोक चन्द्रलोकों में, चन्द्रलोक नक्षत्रलोकों में, नक्षत्रलोक देवलोकों में, देवलोक इन्द्रलोकों में, इन्द्रलोक विराट् शरीर के आरम्भकभूतरूप प्रजापतिलोकों में, प्रजापतिलोक ब्रह्मलोकों में ओत-प्रोत हैं।

---

१. अपाम्। २. काष्ठादि। ३. विद्युदादि। ४. अन्तरिक्षलोकात्मनाऽवस्थितभूतानि। ५. तेषां तदवस्थाविशेषत्वात्। ६. प्रश्नस्य। ७. उदकव्यापकत्वेति यावत्।

लोका विराट्शरीरारम्भकेषु भूतेषु प्रजापतिलोकेषु प्रजापतिलोका ब्रह्मलोकेषु । [1]ब्रह्मलो
नामाण्डारम्भकाणि भूतानि । [2]सर्वत्र हि सूक्ष्मतारतम्यक्रमेण प्राण्युपभोगाश्रया
परिणतानि भूतानि संहतानि तान्येव पञ्चेति [3]बहुवचनभाञ्जि । कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलो
ओताश्च प्रोताश्चेति । स होवाच याज्ञवल्क्यो हे गार्गि माऽतिप्राक्षीः [4]स्वं प्रश्नं न्या
प्रकारमतीत्याऽऽगमेन प्रष्टव्यां देवतामनुमानेन मा प्राक्षीरित्यर्थः । पृच्छन्त्याश्च मा ते
मूर्धा शिरो व्यपप्तद्विस्पष्टं पतेत् । [5]देवतायाः स्वप्रश्न आगमविषयस्तं [6]प्रश्नविषयम
क्रान्तो गार्ग्याः प्रश्न आनुमानिकत्वात्स[7] यस्या [8]देवतायाः प्रश्नः साऽतिप्रश्न्या नातिप्रश्न

रिक्षलोकादीनां प्रत्येकमेकत्वात्कुतो बहुवचनमित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वत्र हीति । [9]पूर्ववदनुमानेन गा
पृच्छन्तीं गार्गीं प्रतिषेधति—स होवाचेत्यादिना । उक्तमेव स्पष्टयन्वाक्यार्थमाह—आगमेनेति । प्रश्नपु
षेधातिक्रमे दोषमाह—पृच्छन्त्याश्चेति । मूर्धपातप्रसङ्गं प्रकटयन्प्रतिषेधमुपसंहरति—देवता
इत्यादिना ॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां तृतीयाध्यायस्य
षष्ठं [10]गार्गिब्राह्मणम् ॥६॥

ब्रह्माण्ड के आरम्भक भूतों का नाम ब्रह्मलोक है। क्योंकि अन्तरिक्षादिलोकों में सर्वत्र सूक्ष्मता
तारतम्यक्रम से प्राणियों के उपभोग के आश्रयाकार में परिवर्तित परस्पर संहत वे ही पाँच भू
इसलिए बहुवचन का प्रयोग है। (इस पर भी जब गार्गी ने पूछा—) अच्छा तो, वे ब्रह्मलोक कि
प्रतिष्ठित हैं ? इस पर याज्ञवल्क्य बोले—हे गार्गी ! तू अपने प्रश्न को अतिप्रश्न मत कर अ
न्यायसरणी का अनाश्रय लेकर आगम के द्वारा ही पूछे जाने योग्य देवताविषयक प्रश्नों को अनुमा
मत पूछ। इस प्रकार पूछने से कहीं "ते" अर्थात् तुम्हारा "मूर्धा" यानी शिर "व्यपप्तत्" अ
स्पष्टरूप से अलग न हो जाय। सूत्रात्मादेवता का स्वरूपविषयक प्रश्न आगमकरणक है, गार्गी का
आनुमानिक होने के कारण उस प्रश्नरूप आगम विषय को अतिक्रमण कर गया है। वह आनुमा
प्रश्न जिस अण्डान्तर्वर्ती इन्द्रादि देवता के विषय में है वह 'अतिप्रश्नया' है किन्तु 'नातिप्रश्नया' अ

---

१. ब्रह्मलोकानामेत्यादि । तदुक्तं वार्तिके—"अण्डारम्भकभूतानां ब्रह्मलोकाभिधेष्यते" ॥१८॥ इति।
अन्तरिक्षलोकादिषु । ३. इति बहुवचनभाञ्जीति । अत्र वार्तिके—"आरम्भकबहुत्वाच्च बहूक्तिरिह गृ
॥१४॥ इति । ४. स्वप्रश्नमित्यादि । प्रजापत्यादिस्वरूपविषयकं प्रश्नं न्यायप्रकारम्—अनुमानकरणकम् । अ
आनुमानिकप्रश्नविषयं प्रजापत्यादिकमतिक्रम्य सूत्रमधिकृत्य अनुमानेन सर्वथैव प्रश्नं मा कार्षीरित्यर्थः ।
स्वप्रश्नं सूत्रप्रश्नं न्यायप्रकारम्—आगमिकम् अतिक्रम्यानुमानेन मा प्राक्षीरिति । हे गार्गि यस्यां ब्रह्म
ओतप्रोतभावेन वर्तन्ते तां प्राणात्मभूतां सूत्रदेवतामानुमानिकप्रश्नविषयतामतीत्य वर्तमानामनुमानेन मा
त्यर्थः । ५. देवताया सूत्रात्मनः स्वप्रश्नः स्वरूपविषयकः प्रश्नः आगमकरणकः देवताया आगमैकगम्यत्व
गमेनैव स कर्तुं युक्तः । ६. प्रश्नरूपं विषयम् अथवा प्रश्नस्य विषयं करणमागमम् । ७. आनुमानिकप्र
८. अण्डान्तर्वर्तीन्द्रादिदेवतायाः । ९. पूर्ववदिति—आनुमानिकप्रश्नविषयानिन्द्रादीन्यथाऽनुमानेनाप्राक्षी
ब्रह्मलोकाश्रयं सूत्रात्मानमित्यर्थः । १०. अत्र ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलमिति ह्रस्वत्वम् ।

अथ तृतीयाध्यायस्य सप्तमं ब्राह्मणम्।

[1]अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेष्ववसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानास्तस्याऽऽसीद्भार्या गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत्कबन्ध आथर्वण इति

फिर उस याज्ञवल्क्य से अरुण का पुत्र उद्दालक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! हम मद्रदेश में यज्ञशास्त्र का अध्ययन करते हुए कपि गोत्र में उत्पन्न पतञ्चल के घर में रहते थे। उसकी भार्या गन्धर्व से आविष्ट थी। हमने उस गन्धर्व से पूछा—तू कौन है ? उसने कहा—मैं गोत्र से अथर्वा का पुत्र कबंध नाम वाला हूँ। उस गन्धर्व ने पतञ्चल काप्य और उसके याज्ञिक शिष्यों से पूछा—हे

---

[2]ऽनतिप्रश्न्या स्वप्रश्नविषयैव केवलागमगम्येत्यर्थः। तामनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि। [3]अतो गार्गि माऽतिप्राक्षी[4]र्मर्तुं चेन्नेच्छसि। [5]ततो ह गार्गी वाचक्न[6]व्युपरराम ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्य षष्ठं ब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

इदानीं ब्रह्मलोकानामन्तरतमं [7]सूत्रं वक्तव्यमिति[8] [9]तदर्थं [10]आरम्भः। [11]तच्चाऽऽगमेनैव

पूर्वस्मिन्ब्राह्मणे [12]सूत्रादर्वाक्तनं [13]व्यापकमुक्तमिदानीं [14]सूत्रं तदन्तर्गतम[15]न्तर्यामिणं च निर्वक्तुमुत्तरब्राह्मणमिति [16]संगतिमाह—इदानीमिति। ब्राह्मणतात्पर्यमुक्त्वाऽऽख्यायिकातात्पर्यमाह—

अतिप्रश्न करने के योग्य नहीं है। वह अपने सूत्रदेवता का प्रश्नरूप विषय ही है अर्थात् केवल शास्त्रगम्य है। अतिप्रश्न के अयोग्य उस देवता के विषय में तुम अतिप्रश्न करती हो। इसलिए हे गार्गी ! यदि तुम्हारी मरने की इच्छा नहीं है, तो अतिप्रश्न मत कर। इस प्रकार (अपने प्रश्न के निर्णय हो जाने पर) वचक्नु की कन्या गार्गी चुप हो गई ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् शाङ्करभाष्य में तृतीय अध्याय के षष्ठ गार्गी
ब्राह्मण का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ६ ॥

अब ब्रह्मलोकों का जो अन्तरतम अन्तर्यामी सूत्र है, उसे बतलाना है, इसी कारण से उन दोनों

---

१. "सप्तमे ब्राह्मणे तर्कं सन्त्यज्याऽऽगममात्रतः। ब्रह्माण्डकारणं सूत्रमन्तर्यामी च वर्ण्यते" ॥वा० सा० ३.७.१॥
२. सूत्रदेवता। ३. अनतिप्रश्न्येऽतिप्रश्नस्यायोग्यत्वादित्यर्थः। ४. मर्तुं चेन्नेच्छसीति—तथा चानुग्रहार्थं एवायं निषेध इति भावः। ५. स्वीयप्रश्ननिर्णयात्। ६. उपररामेति—मनसाऽप्यचिन्त्यपराजयोऽयमित्याशयवत्युपरतवतीत्यर्थः। ७. अन्तर्यामी चेत्यपि द्रष्टव्यम्। ८. हेतोः। ९. तयोः प्रदर्शनार्थः। १०. एतद्ब्राह्मणस्य। ११. तच्चेति—समष्टिव्यष्टिलक्षणं गार्ग्यालिङ्गेन पिपृच्छिषितं यत्सूत्रं तदित्यर्थः। चकारोऽन्तर्यामिसमुच्चयार्थः। आगमेनैवेत्येवकारस्तर्कव्यवच्छेदार्थः। १२. भूतभौतिकं सूत्रकार्यजातमित्यर्थः। १३. व्यापकत्वेनोक्तम्। १४. भूतभौतिकानुस्यूतम्। १५. सूत्रस्यापि नियन्तारं जगज्जन्मादिकारणमित्यर्थः। १६. प्रसङ्गरूपां कार्यनिरुक्त्या कारणस्मरणात्।

**सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च वेत्थ नु त्वं
काप्य तत्सूत्रं येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि
च भूतानि संदृब्धानि भवन्तीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः
काप्यो नाहं तद्भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं
काप्यं याज्ञिकाꣳश्च वेत्थ नु त्वं काप्य [1]तमन्तर्यामिणं
य इमं च लोकं परं च लोकꣳ सर्वाणि च भूतानि
योऽन्तरो यमयतीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं**

काप्य ! क्या तुम उस सूत्र को जानते हो, जिसके द्वारा यह जन्म, परजन्म और ब्रह्मा से लेकर स
पर्यन्त सम्पूर्ण भूत गुथे हुए हैं। उस पर उस काप्य पतञ्चल ने कहा—भगवन् ! मैं उस सूत्रात्मा
नहीं जानता। फिर उस गन्धर्व ने उस काप्य पतञ्चल से पूछा—हे काप्य ! क्या उस अन्तर्यामी
जानते हो, जो इस लोक, परलोक और समस्त भूतों को काष्ठ यन्त्र के समान भीतर रह कर
व्यापार कराता है ? इस पर पतञ्चल काप्य ने कहा—हे भगवन् ! मैं नहीं जानता। उस गन्ध
पतञ्चल काप्य और उसके याज्ञिकों से पूछा—तुममें से जो कोई भी उस सूत्र और अन्तर्यामी को

**प्रष्टव्यमिती[2]तिहासेनाऽऽगमोपन्यासः क्रियते—अथ हैनमुद्दालको नामतोऽरुणस्यापत्यमा
[3]पप्रच्छ [4]याज्ञवल्क्येति होवाच । मद्रेषु देशेष्ववसामोषितवन्तः पतञ्चलस्य पत
नामतस्तस्यैव कपिगोत्रस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयाना यज्ञशास्त्राध्ययनं [5]कुर्वाणा**

तच्चाऽऽगमेनैवेति । आचार्योपदेशोऽत्राऽऽगमशब्दार्थः । गार्ग्या मूर्धपातभयादुपरतेरनन्तरमि
शब्दार्थः।

के प्रदर्शन के लिए इस ब्राह्मण का आरम्भ किया जाता है। उसे तो आगम प्रमाण के द्वारा ही
जाना चाहिये इसलिए आख्यायिका के द्वारा श्रुति को प्रस्तुत किया जाता है। फिर उस याज्ञवल्
"आरुणिः" अर्थात् अरुण के पुत्र उद्दालक ने पूछा। वह बोला—हे याज्ञवल्क्य ! मद्रदे
"पतञ्चलस्य काप्यस्य" अर्थात् कपिगोत्रीय पतञ्चल नामक ऋषि के घर "यज्ञमधीयाना" अ
यज्ञशास्त्र का अध्ययन करते हुए छात्र रहते थे। उस पतञ्चल की पत्नी अमानुषसत्त्वविशेष गन्धर्व

---

१. तमन्तर्यामिणं य इममित्यादि—अत्र प्रथमयच्छब्दस्तमित्यनुवादार्थ इति वृत्तिः। तथा च योऽन्तर्यामि
तं वेत्थ न्विति प्रथमान्वयः। कोऽसाविति वीक्षायां तु योऽन्तरः सन्निमं च लोकं यमयति परं चेत्येवं द्विती
इति तदाशयः। द्वितीयान्वय इति तथा च द्वितीयो विशेषणप्रदर्शनार्थं इति भावः। २. आख्यायिकाद्वारेल
३. पप्रच्छेति—ननु ज्ञातेऽज्ञाते वार्थेन प्रश्नो वैयर्थ्यादशक्यत्वाच्चेति चेन्न आद्ये परीक्षार्थं तदुपपत्तेरिति।
आभिमुख्याय संबोध्योक्तवान्। ५. छात्राः आस्म।

तं भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाँश्च
यो वै तत्काप्य सूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति स
ब्रह्मवित्स लोकवित्स देववित्स वेदवित्स भूतवित्स
आत्मवित्स सर्वविदिति तेभ्योऽब्रवीत्तदहं वेद [1]तच्चेत्त्वं
याज्ञवल्क्य सूत्रम[2]विद्वाँस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवी-
रुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यतीति वेद वा अहं गौतम
तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति [3]यो वा इदं कश्चिद्-
ब्रूयाद्वेद वेदेति यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति ॥१॥

रीति से जानता है, वही परमात्मा को जानने वाला है और वही भूरादि लोकों को जानता है, एवं वही वेदवेत्ता है, वह भूतवेत्ता है, वह आत्मवेत्ता है, वह सर्ववेत्ता है। तत्पश्चात् गन्धर्व ने उन काप्य आदि से सूत्र और अन्तर्यामी को बतलाया। इस प्रकार गन्धर्व से उपदेश प्राप्त कर मैं उसे जानता हूँ। अतः हे याज्ञवल्क्य ! यदि उस सूत्र और अन्तर्यामी को न जानकर ब्रह्मज्ञानियों की सम्पत्ति गौओं को अन्याय से ले जाओगे, तो मेरे शाप से तुम्हारा मस्तक गिर जायगा। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गौतम ! मैं उस सूत्र और अन्त्यर्यामी को जानता हूँ। उद्दालक ने कहा—अपनी प्रशंसा के लिये ऐसा तो कोई साधारण पुरुष भी कह सकता है कि मैं उसे जानता हूँ, वास्तव में यदि तुम्हें उसका ज्ञान है तो जैसा जानते हो, वैसे तुम कहो ॥ १ ॥

[4]तस्याऽऽसीद्भार्या [5]गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम[6] कोऽसीति । [7]सोऽब्रवीत्कबन्धो नामतोऽथर्वणोऽपत्यमाथर्वण इति ।

सोऽब्रवीद्गन्धर्वः पतञ्चलं काप्यंयाज्ञिकांश्च तच्छिष्यानस्मान्वेत्थ नु त्वं हे काप्य जानीषे तत्सूत्रम् । किं तत् । येन सूत्रेणायं च लोक [8]इदं च [9]जन्म परश्च

सोऽब्रवीदिति प्रतीकोपादानं [10]तस्य तात्पर्यमाह—सूत्रेति ।

आविष्ट थी। उससे हमने पूछा कि तू कौन है ? वह गन्धर्व बोला—मेरा नाम कबन्ध है, मैं "आथर्वणः" अर्थात् अथर्वण का पुत्र हूँ।

उस (में आविष्ट) गन्धर्व ने कपिगोत्रीय पतञ्चल और उसके याज्ञिक शिष्यों से पूछा—हे काप्य ! क्या तुम उस सूत्र को जानते हो ? वह कौन सा सूत्र ? जिस सूत्र से यह लोक और वर्तमान

---

१. उक्तविशेषणकं सूत्रमित्यन्वयः । २. तथा चाब्रह्मवित्सन्नित्यभिप्रायः । ३. यः कश्चिद्वै वेदाहं वेदाहमितीदं ब्रूयादिति योजना । ४. पतञ्चलस्य । ५. अमानुषसत्त्वविशेषेणाविष्टा । ६. पतञ्चलसहिता वयम् । ७. गन्धर्वः । ८. वर्तमानम् । ९. शरीरम् । १०. गन्धर्ववचनस्य ।

लोकः परं च [1]प्रतिपत्तव्यं [2]जन्म सर्वाणि च भूतानि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि संदृब्धानि संग्रथितानि स्रगिव सूत्रेण [3]विष्टब्धानि भवन्ति येन तत्किं सूत्रं वेत्थ । सोऽब्रवीदेवं [4]काप्यो नाहं तद्भगवन्वेदेति तत्सूत्रं नाहं जाने हे भगवन्निति संपूजयन्नाह । सोऽब्रवीन्मद्रकगन्धर्वं उपाध्यायमस्मांश्च वेत्थ नु त्वं काप्य [5]तमन्तर्यामिणम[6]न्तर्यामीति विशेष्यं य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरोऽभ्यन्तरः सन्यमयति नियमयति दारुयन्त्रमिव भ्रामयति स्वं स्वमुचितव्यापारं कारयतीति । सोऽब्रवीदेवमुक्तः [7]पतञ्चलः काप्यो नाहं तं जाने भगवन्निति संपूजयन्नाह ।

[8]सोऽब्रवीत्पुनर्गन्धर्वः सूत्रतदन्तर्गतान्तर्यामिणोर्विज्ञानं स्तूयते । यः कश्चिद्वै तत्सूत्रं हे काप्य विद्याद्विजानीयात्तं चान्तर्यामिणं सूत्रान्तर्गतं तस्यैव सूत्रस्य नियन्तारं विद्यात् इत्येवमुक्तेन प्रकारेण स हि ब्रह्मवित्परमात्मवित्स [9]लोकांश्च भूरादीनन्तर्यामिणा नियम्यमानाँल्लोकान्वेत्ति स देवांश्चाग्न्यादीँल्लोकिनो जानाति वेदांश्च [10]सर्वप्रमाणभूतान्वेत्ति

इतिशब्दार्थमाह—एवमिति । येनायं चेत्यादिरुक्तः प्रकारः स सर्वलोकांश्च वेत्तीति संबन्धः विशेषणोक्तिपूर्वकं तानेव लोकाननुवदति—भूरादीनिति । स ब्रह्मविदित्यादिनोक्तं संक्षिपति-

---

शरीर, परलोक और आगे प्राप्त होने वाला शरीर ब्रह्मा से स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणीसमूह 'संदृब्धानि" अर्थात् संग्रथित यानी सूत्र से माला के समान अच्छो प्रकार से प्रतिबद्ध हुए हैं, क्या उस सूत्र को जानते हो ? इस प्रकार पूछे जाने पर उस पतञ्चल काप्य ने कहा—हे भगवन् ! मैं नहीं जानता। उसने आदर पूर्वक कहा—हे भगवन्, उसे मैं नहीं जानता हूँ । इस पर वह गन्धर्व उपाध्याय और हम लोगों से फिर बोला—हे पतञ्चल काप्य ! क्या तुम उस अन्तर्यामी को जानते हो? सूत्र के अन्तर्गत होने से अन्तर्यामी विशेषण किया जाता है, जो इस लोक व परलोक के समस्त भूतप्राणियों के अन्दर रहकर "यमयति" अर्थात् नियमन करता है; दारुयोषित की तरह घुमाता है, अपना उचित व्यापार करवाता है। इस प्रकार कहे जाने पर (विनीत हुए) उस पतञ्चल काप्य ने "भगवन्" इस प्रकार सत्कार करते हुए कहा — उसे तो मैं नहीं जानता।

वह गन्धर्व पुनः बोला—अब सूत्र और उसके अन्तर्गत अन्तर्यामी के विज्ञान की स्तुति की जाती है। हे पतञ्चल काप्य ! जो कोई भी उस सूत्र को "विद्यात्" अर्थात् विस्पष्टरूप से जानता है। उस सूत्र के अन्तर्गत अन्तर्यामी एवं उसी सूत्र के नियन्ता को उक्त प्रकार से जान लेता है "ब्रह्मवित्" अर्थात् परमात्मतत्त्व का ज्ञाता है, वही अन्तर्यामी से नियम्यमान भूरादि सभी लोकों को जानता है, सभी आस्तिकों के प्रमाणभूत वेदों को जानता है तथा सूत्र से धारण किये हुए और अन्तर्गत अन्तर्यामी से नियमित होते हुए ब्रह्मादि भूतों को जानता है। वह उस अन्तर्यामी से नि

---

१. अग्रे प्राप्यम् । २. शरीरम् । ३. प्रतिबद्धानि । ४. पतञ्चलः । ५. सूत्रस्याप्यन्तर्गतम् ।
अन्तर्यामीति विशेष्यते इति—एभिरव्यवहितानन्तरप्रदर्श्यमानविशेषणैर्विशिष्टतया प्रदर्श्यत इत्यर्थः ।
विनीतः सन् । ८. विनयं दृष्ट्वा स्वस्याचार्यत्वकामः फलेन प्रलोभयितुम् । ९. सर्वलोकान् ।
सर्वेषामास्तिकानां प्रमाणभूतान् ।

भूतानि च ब्रह्मादीनि सूत्रेण ध्रियमाणानि तदन्तर्गतेनान्तर्यामिणा नियम्यमानानि वेत्ति प्र [1]आत्मानं च कर्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्टं तेनैवान्तर्यामिणा नियम्यमानं वेत्ति [2]सर्वं च जगत्तथाभूतं वेत्तीत्येवं स्तुते सूत्रान्तर्यामिविज्ञाने प्रलुब्धः काप्योऽभिमुखीभूतो वयं च, तेभ्यश्चास्मभ्यमभिमुखीभूतेभ्योऽब्रवीद्गन्धर्वः सूत्रमन्तर्यामिणं च । तदहं सूत्रान्तर्यामिविज्ञानं वेद गन्धर्वाल्लब्धागमः सन् । तच्चेद्याज्ञवल्क्य सूत्रं तं चान्तर्यामिणमविद्वांश्चेदब्रह्मवित्सन्यदि ब्रह्मगवीरुदजसे ब्रह्मविदां स्वभूता गा उदजस [3]उन्नयसि त्वमन्यायेन ततो मच्छापदग्धस्य मूर्धा शिरस्ते तव विस्पष्टं पतिष्यति । एवमुक्तो याज्ञवल्क्य प्राह—वेद जानाम्यहं हे गौतमेति [4]गोत्रतस्तत्सूत्रं यद्गन्धर्वस्तुभ्यमुक्तवान्यं गन्धर्वाद्विदितवन्तो यूयं तं चान्तर्यामिणं वेदाहमित्येवमुक्ते प्रत्याह गौतमो यः कश्चित्प्राकृत इदं यत्त्वयोक्तं ब्रूयात्कथं वेद वेदेत्यात्मानं श्लाघयन्किं तेन गर्जितेन कार्येण दर्शय यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति ॥१॥

वेति । तथाभूतं सूत्रेत्र विधृतमन्तर्यामिणा च नियम्यमानमिति यावत् । प्रस्तुतस्तुतिप्रयोजनमाह—इत्येवमिति । भवत्वेवं तव सूत्रादिज्ञानं मम किमायातमित्याशङ्क्याऽऽह—तच्चेदिति । किं तेनेत्यत्र तस्येत्यध्याहारः[5] । कार्येण दर्शयेत्युक्तं विवृणोति—यथेति ॥१॥

होते हुए कर्तृत्व-भोक्तृत्वविशिष्ट जीवात्मा को जानता है और सम्पूर्ण जगत् को ऐसा ही जानता है। सूत्र और अन्तर्यामी विज्ञान की इस प्रकार स्तुति होने पर अत्यन्त प्रलुब्ध हुए पतञ्चल काप्य और हम उसके अभिमुख हुए। इस प्रकार अपने अभिमुख हुए हम लोगों के प्रति उस गन्धर्व ने सूत्र और अन्तर्यामी का वर्णन किया। इस प्रकार मैं गन्धर्व से उपदेश प्राप्त करके उस सूत्र और अन्तर्यामी के विज्ञान को जानता हूँ। अतः हे याज्ञवल्क्य ! यदि उस सूत्र और अन्तर्यामी को "अविद्वान्" यानी अब्रह्मवित् होकर यदि "ब्रह्मगवीरुदजसे" अर्थात् ब्रह्मवेत्ताओं की स्वभूता गौओं को अन्याय से अपने घर ले जाओगे, तो मेरे शाप से दग्ध तुम्हारा मूर्धा बिल्कुल गिर जायगा। इस प्रकार कहे जाने पर याज्ञवल्क्य ने 'हे गौतम' इस प्रकार गोत्र से सम्बोधन करते हुए कहा, "तुम्हारे प्रति गन्धर्व ने जिस सूत्र का वर्णन किया है, उसे मैं जानता हूँ तथा तुम लोगों ने जिस अन्तर्यामी को गन्धर्व से जाना है, उस अन्तर्यामी को भी मैं जानता हूँ। इस प्रकार कहे जाने पर गौतम ने उत्तर दिया—"जो कोई भी सामान्य आदमी तुम्हारे द्वारा प्रतिपादित उक्त तत्त्व को कहता है"—किस प्रकार कहता है; "मैं जानता हूँ, मैं जानता हूँ" इस प्रकार अपनी श्लाघा करते हुए कहता है। परन्तु उसके गर्जने से क्या होता है, कार्य के द्वारा उसे दिखाओ अर्थात् जैसा जानते हो, वैसा कहो ॥ १ ॥

---

१. जीवम् । २. सर्वं च जगदिति । तदुक्तं वार्तिके—"सूत्रान्तर्यामिरूपेण यो वेदैतान्पुरोदितान् । स एव ब्रह्मलोकान्तान्वेदेत्येषोऽस्यसंग्रहः" ॥ ७ ॥ इति । सूत्रेण विधृतानन्तर्यामिणा च नियमितान्पूर्वब्राह्मणोक्तान्ब्रह्मलोकान्तान्पृथिव्यादीन्यो वेद स एवोक्तं सर्वं ब्रह्मादि वेदेत्येषोऽस्य स ब्रह्मवित्दित्यादेः संदर्भस्य संक्षेपः सर्वविदित्युच्यत इति तदर्थः ॥ ३. स्वगृहान् प्रापयसि । ४. गोतम इति गोत्रं यस्य । ५. तथा च तस्य गर्जितुः प्राकृतस्य तेन गर्जितेन किं फलं स्यादिति योजना ।

स होवाच [1]'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि

उस याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गौतम ! वह सूत्र वायु ही है और कुछ नहीं है । हे गौतम ! रूप सूत्र के द्वारा ही यह लोक, परलोक और सम्पूर्ण भूत जुड़े हुए हैं । हे गौतम ! इसी से मृत पु

स होवाच याज्ञवल्क्यः । ब्रह्मलोका यस्मिन्नोताश्च प्रोताश्च वर्तमाने काले पृथिव्यप्सु तत्सूत्रमागमगम्यं वक्तव्यमिति [2]'तदर्थं प्रश्नान्तरमुत्थापितमिति [3]'तन्निर्णयाया —[4]'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं नान्यद्वायुरिति सूक्ष्ममाकाशव[5]'द्विष्टम्भकं पृथिव्यादीनां यदा

याज्ञवल्क्योक्तेस्तात्पर्यमाह—ब्रह्मलोका इति । इत्यभीष्टमागमविदामित्यध्याहृत्या[6]'ऽऽद्यस्य शब्दस्य योजना । प्रश्नान्तरं सूत्रविषयं गौतमवाक्यम् । वैशब्दार्थमाह—नान्यदिति । सूक्ष्मत्वे दृष्टा माह—आकाशवदिति । वायुमेव विशिनष्टि—यदात्मकमिति । पञ्च भूतानि दश बाह्यानीन्द्रिया

वह याज्ञवल्क्य बोले । जिस प्रकार जल में पृथिवी ओत-प्रोत है, उसी प्रकार अभी ब्रह्मलोक ओत-प्रोत हैं, शास्त्र द्वारा जानने योग्य उस सूत्र का व्याख्यान करना है, इसलिये दूसरा उठाया गया, उसका निर्णय करने के लिए याज्ञवल्क्य बोले—हे गौतम ! (समष्टि-व्यष्टिरू सामान्यविशेषात्मक सर्वकर्माश्रित होने से) वायु ही वह सूत्र है, और कुछ नहीं । यहाँ यह आकाश के समान सूक्ष्मतत्त्व है और पृथिवी आदि भूतों का विधारक है; प्राणियों का

---

१. वायुर्वा इति । अत्र वार्तिके—"सर्वसाधारणं कर्म यदभिव्यक्तमिष्यते । वाय्वात्मना परिच्छिन्नं त कारणात्मनि ॥ नाऽऽत्मानं लभते कर्म यतोऽसंश्रित्य साधनम् । वाय्वाश्रितमतः कर्म स्वरूपं प्रतिपद्यते ॥ साधा यो वायुर्विशिष्टस्य च धारकः । समष्टिव्यष्टिभावेन कर्मणः सर्वदेष्यते ॥ तं वायुं तच्च कर्मेह य उपेत्य स्थितः । वायुकर्माभिमानी सन्पुमान्वायुः स उच्यते" ॥ ९-१२ ॥ इति । वायुर्वै गौतमेत्यत्र वायुशब्दार्थ स्थलशुद्धि करोति—सर्वेति । यद्धि सर्वप्राणिसाधारणं सूत्रेण यजमानावस्थायां निर्वर्तितं सामान्यविशेषा कर्मापूर्वं यजमानदेहान्ते फलदानार्थमभिव्यक्तं तत्प्रलयकाले सूत्रात्मना परिच्छिन्नं (परिणतं) तद्रूपेण मूलकारणे तिष्ठतीत्यर्थः ॥ किमिति प्रलये वाय्वात्मना परिच्छिन्नं कर्मेति विशेष्यते तत्राऽऽह— नात्मान कर्म हि कारकमनाश्रित्य स्वातन्त्र्येण नाऽऽत्मानं धारयति—साध्यमानरूपत्वादतो वायोस्तत्कारणत्वात्त तदात्मानं लभते न हि स्पन्दस्यासाधारणं प्राणादृते कारणमस्ति तद् विशेषणमर्थवदित्यर्थः ॥ अस्त्वेवं किमायातं तदाह—साधारणस्येति । यो वायुः सामान्यविशेषात्मकस्य कर्मणस्तद्भावेनाऽऽश्रयः सदा मानाद न हि क्रियाशक्तिमन्तं वायुमतिक्रम्यान्यत्र क्रिया युक्ता ॥ तं कर्माश्रयं वायुं तच्चाऽऽश्रितं कर्म संबन्धित्वेन पुंसां मध्ये यः स्थितः स तयोरात्मीयाभिमानी जीवोऽत्र फलरूपो वायुरित्यर्थः ॥ २. तदर्थमिति—आग सूत्रपरिज्ञानार्थमिति भावः । ३. आगमिकसूत्रनिर्धारणाय । ४. वायुर्वा इति—समष्टिव्यष्टि सामान्यविशेषात्मकसर्वकर्माश्रयत्वाद्वायोरात्मीयाभिमानी लिङ्गतादात्म्यापन्नो जीवोऽत्र फलरूपो वायुरु तु वायुमात्रं तस्य विधारणेऽस्वातन्त्र्यादिति बोध्यम् । ५. विधारकम् । ६. आद्यस्येति—तथा च हि हेत्वर्थकः । सूत्रात्मन्यागमगम्यत्वस्यागमविदभीष्टत्वादिति तदर्थं इत्यभिप्रायः ।

संदृब्धानि भवन्ति तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रᳪसिषतास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्यान्तर्यामिणं ब्रूहीति ॥२॥

विषय में ऐसा कहते हैं कि इसके अंग बिखर गये हैं, क्योंकि हे गौतम ! वायुरूप सूत्र से ही भली प्रकार गुँथे हुए हैं। उद्दालक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह ठीक ऐसा ही है। अब तुम उसके अन्तर्वर्ती और अन्तर्यामी नियामक को बतलाओ ॥ २ ॥

सप्तदशविधं लिङ्गं कर्मवासनासमवायि प्राणिनां यत्तत्समष्टिव्यष्टयात्मकं यस्य बाह्या भेदाः सप्तसप्त मरुद्गणाः समुद्रस्येवोर्मयस्तदेतद्वायव्यं तत्त्वं सूत्रमित्यभिधीयते । वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति संग्रथितानि भवन्तीति प्रसिद्धमेतत् । अस्ति च लोके [1]प्रसिद्धिः । कथं, यस्माद्वायुः सूत्रं वायुना विधृतं सर्वं तस्माद्वै गौतम [2]पुरुषं [3]प्रेतमाहुः [4]कथयन्ति व्यस्रंसिषत [5]विस्रस्तान्यस्य पुरुषस्याङ्गानीति । सूत्रापगमे हि मण्यादीनां प्रोतानामवस्रंसनं दृष्टमेवं वायुः सूत्रं तस्मिन्मणिवत्प्रोतानि यद्य[6]स्याङ्गानि स्युस्ततो युक्तमेतद्वाय्वपगमेऽवस्रंसनमङ्गानाम् । [7]अतो वायुना

पञ्चवृत्तिः प्राणश्चतुर्विधमन्तःकरणमिति सप्तदशविधत्वम् । कर्मणां वासनानां चोत्तरसृष्टिहेतूनां प्राणिभिरर्जितानामाश्रयत्वादपेक्षितमेव लिङ्गमित्याह—कर्मेति । [8]तस्यैव सामान्यविशेषात्मना बहुरूपत्वमाह—यत्तदिति । [9]तस्यैव लोकपरीक्षकप्रसिद्धत्वमाह—यस्येति । [10]तस्य सूत्रत्वं साधयति—वायुनेति । प्रसिद्धमेतत्सूत्रविदामिति शेषः । लौकिकीं प्रसिद्धिमेव प्रश्नपूर्वकमनन्तरश्रुत्यवष्टम्भेन स्पष्टयति—कथमित्यादिना । उक्तमेव दृष्टान्तेन व्यनक्ति—सूत्रेत्यादिना । वायोः सूत्रत्वे सिद्धे फलितमाह—अत इति ॥२॥

कर्मवासनासमवायी सत्रह अवयवों वाला लिङ्गदेह जिससे उत्पन्न हुआ है, जो समष्टिव्यष्टयात्मक रूप है तथा समुद्र की लहरों के समान उनचास मरुद्गण जिसके बाह्यभेद हैं, वह यह वायुतत्त्व सूत्र कहा जाता है। हे गौतम ! वायुरूप सूत्र के द्वारा ही यह लोक, परलोक और समस्त भूतप्राणी "संदृब्धानि भवन्ति" अर्थात् संग्रथित हैं—ऐसा प्रसिद्ध है। लोक में वायु की सूत्रत्व प्रसिद्धि है। कैसे है ?. क्योंकि वायु सूत्र है; इसलिए वायु सब का विधारक है। इसी से हे गौतम। (मृतलक्षण के जानने वाले) मृतशरीर के विषय में कहते हैं—"व्यस्रंसिषत" अर्थात् उस शरीर के अङ्ग विशीर्ण हो जाते हैं। जिस प्रकार धागे के न रहने पर उसमें संग्रथित मणि आदि बिखर जाती हैं, उसी प्रकार वायु सूत्र है और उस

---

[1] वायोः सूत्रत्वप्रसिद्धिः । [2] शरीरम् । [3] मृतम् । [4] मृतलक्षणज्ञाः । [5] विशीर्णान्यभवन् । [6] शरीरस्य । [7] वायोः सर्वाधारत्वेन सूत्रत्वात् । [8] वायोः । [9] वायोः । [10] वायोः ।

[1]यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं [2]यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥३॥

जो पृथिवी में रहने वाला है, पृथिवी के भीतर है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, जिसका श पृथिवी है और जो भीतर रहकर पृथिवी को नियमन करता है, वही तुम्हारा आत्मा अन्त अमृत है ॥ ३ ॥

हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्तीति निगमयति । एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सम्यगुक्तं तदन्तर्गतं त्विदानीं तस्यैव सूत्रस्य नियन्तारमन्तर्यामिणं ब्रूहीत्युक्त आह ॥२॥

यः पृथिव्यां [3]तिष्ठन्भवति सोऽन्तर्यामी । [4]सर्वः पृथिव्यां तिष्ठतीति सर्वत्र [5]प्रस

में उस शरीर के अङ्ग मणियों के समान पिरोये हुए हैं। इस प्रकार वायु के निकल जाने पर अङ्गों का विशीर्ण होना ठीक ही कहा है। इसी से (वायु के सर्वाधाररूप सूत्र होने से) याज्ञव निष्कर्ष निकालते हैं—हे गौतम! ये वायुरूप सूत्र से संग्रथित हैं। (आरुणि ने कहा—) याज्ञवल्क्य! यह ठीक ऐसा ही है, तुमने सूत्र का यथार्थ प्रतिपादन किया है। उसके अन्तर्गत एवं के ही नियन्ता अन्तर्यामी का वर्णन करो—ऐसा गौतम के कहने पर याज्ञवल्क्य बोले॥ २॥

जो पृथिवी में वर्तमान रहता है, वह अन्तर्यामी है। समस्त प्राणीसमूह पृथिवी में रहता इससे सर्वत्र अन्तर्यामित्व का प्रसङ्ग न हो जाय, इसलिये उसका विशेषण बतलाते हैं। पृथि

---

१. यः पृथिव्यामित्यादि संदर्भस्य तात्पर्यमाहुर्वार्तिके तथाहि—"सूत्रादप्यन्तरतमस्त्वन्तर्याम्यधुनो कार्यकारणभावोऽयं यस्मिन्नुक्ते समाप्यते" ॥ २५ ॥ इति । तस्मिन्नुक्तेऽपि वक्तव्यशेषमाशङ्क्याऽऽह—का सोऽयमुच्यत इति पूर्वेण संबन्धः ॥ २. यः पृथिवीमिति—अत्र वार्तिके—"स्वकार्यभूतां तामेव मोहवर्त्मना । तत्र लब्धविशेषः संस्तामेवायं नियच्छति ॥ अदाहकोऽपि वह्निः सन्दाह्यद्रव्यसमाश्रयात् लब्धात्मकस्तस्य दग्धा दाह्यस्य न स्वतः ॥ यथा ज्ञातैवमेवाऽऽत्मा देवताद्यात्मकार्यगः ॥ देवतादिशरीरा दीन्नियच्छति ॥ स्वतस्त्वकरणोऽदेहो निर्गुणेऽभेद एव च । चिदाभासस्वमोहोत्थकार्यैस्तद्वानिवेक्ष्यते" ॥ ३४ इति । परो हि पृथिवीं स्वमोहद्वारैव करोति कृत्वा च तामेव प्रविश्य तत्र प्राप्तकार्यकरणः सन्नियच्छ योजना ॥ ननु परस्य स्वतो नियन्तृत्वं न वाऽऽद्ये नियम्यकार्यकरणापेक्षाऽनुपपत्तिर्द्वितीये तदपेक्षयाऽपि तद रित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह—अदाहकोऽपीति । तत्र काष्ठादौ । लब्धात्मकः जाज्वल्यमानः ॥ दार्ष्टान्तिकम ज्ञातेति । उक्तदृष्टान्तानुसारेण चिद्धातुर्नियन्तव्यदेवताभूतादिस्वमोहकृतकार्यगतो देवतादीनि तदीयकार्यक नियच्छतीति योजना ॥ स्वकीयकरणादिभिर्नियन्तृत्वसंभवे किं परापेक्षयेत्याशङ्क्याऽऽह—स्वतस्त्विति । कार्यादिहीनश्चेत् कथं तद्वत्त्वधीस्तत्राऽऽह—चिदिति ॥ ३. वर्तमानः । ४. प्राणिसमूहः । ५. मित्वप्रसङ्गः ।

मा भूदिति विशिनष्टि—[1]पृथिव्या अन्तरोऽभ्यन्तरः। [2]तत्रैतत्स्यात्पृथिवी देवतैवान्तर्यामीत्यत आह—यमन्तर्यामिणं पृथिवी [3]देवताऽपि न वेद मय्यन्यः कश्चिद्वर्तत इति। यस्य पृथिवी शरीरं यस्य च पृथिव्येव शरीरं नान्यत्पृथिवीदेवताया यच्छरीरं तदेव शरीरं यस्य। शरीरग्रहणं चोपलक्षणार्थं करणं च पृथिव्यास्तस्य। स्वकर्मप्रयुक्तं हि कार्यं करणं च पृथिवीदेवतायाः। तदस्य स्वकर्माभावादन्तर्यामिणो [4]नित्यमुक्तत्वात्। [5]परार्थकर्तव्यतास्वभावत्वात्परस्य यत्कार्यं करणं च तदेवास्य न [6]स्वतः[7]स्तदाह—यस्य पृथिवी शरीरमिति। देवताकार्यकरणस्ये[8]श्वरसाक्षिमात्रसांनिध्येन हि नियमेन प्रवृत्तिनिवृत्ती

नियन्तुरीश्वरस्य लौकिकनियन्तृव[9]त्कार्यकरणवत्त्वमाशङ्क्याऽऽह—यस्य चेति। [10]पृथिव्याः [11]शरीरत्वमेव न तु शरीरवत्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—पृथिवीति। पृथिव्या यत्करणं तदेव तस्य करणं चेति योजना। कथं पृथिव्याः [12]शरीरेन्द्रियवत्त्वं तदाह—स्वकर्मेति। अन्तर्यामिणोऽपि तथा किं न स्यात्तत्राऽऽह—तदस्येति। अस्यान्तर्यामिणस्तदेव कार्यं करणं च नान्यदित्यत्र हेतुमाह—स्वकर्मेति। [13]तदेव हेत्वन्तरेण स्फोरयति—परार्थेति। यः पृथिवीमित्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—देवतेति। [14]तत्र

"अन्तरः" अर्थात् (अचेतन होने से नियन्ता की अपेक्षा होने से) भीतर है। पृथिवी के अन्तरत्व कहने पर भी पृथिवी देवता ही अन्तर्यामी है। ऐसी शङ्का होने पर कहते हैं—जिस अन्तर्यामी देवता को पृथिवी भी नहीं जानती कि मेरे भीतर और भी कोई दूसरा रहता है। "यस्य पृथिवी शरीरम्" अर्थात् पृथिवी ही जिसका शरीर है, दूसरा नहीं यानी जो पृथिवी देवता का शरीर है, वही उसका शरीर है। यहाँ शरीरशब्द उपलक्षणार्थ है, पृथिवी देवता और उसका करण एक ही है क्योंकि पृथिवी देवता का कार्य और करण स्वकर्म से प्रेरित हैं। वे ही इस अन्तर्यामी के हैं क्योंकि नित्यमुक्त होने के कारण अन्तर्यामी में स्वकर्म का अभाव है। परप्रयोजन वाली कर्तव्यता के संपादकस्वरूप होने से जो दूसरे के कार्य और करण हैं, वही इस के हैं; स्वतः इसके कोई कार्य और करण विद्यमान नहीं हैं, इसी से यह कहते हैं—जिसका पृथिवी शरीर है। देवता के कार्य और करण की प्रवृत्ति-निवृत्ति ईश्वररूप साक्षी मात्र के सांनिध्य से नियमानुसार हुआ करती है। जो ऐसा नारायणसंज्ञक ईश्वर

---

१. तस्या अचेतनत्वेन नियन्त्रपेक्षत्वात्। २. तथाप्येतादृशपृथिव्यभिमानिदेवतायामतिप्रसंगस्तस्याश्च नियम्यमानसूत्रात्मकत्वान्नान्तर्यामित्वमित्याह—तत्रैतदिति। क्षितेरान्तरत्वे उक्तेऽपीत्यर्थः। ३. अहमेव पृथिव्यधिष्ठात्री (धिष्ठिता) सर्वं जगद्बिभर्मीत्यभिमाना। ४. स्वकर्माभावे इदं हेतुः। ५. परार्थेत्यादि। परप्रयोजनस्य या कर्तव्यता तत्संपादकस्वरूपत्वादित्यर्थः। तथा च परार्थकर्तुः कुतः स्वकर्म। अपि च स्वरूपत एव परार्थसंपादनसमर्थस्य काऽपेक्षा कार्यकरणस्य यस्य त्वर्थः साध्यस्तस्य तदपेक्षितं तत्सांनिध्यं च सांनिध्यमात्रादेव च तदस्येत्युच्यते न तु तत्राभिमानादिति विभावनीयम्। ६. "न तस्य कार्यं करणं च विद्यत" इति मन्त्रवर्णात्। ७. तदाहेति—उक्तं सर्वमभिप्रेत्य श्रुतिराहेत्यर्थः। ८. ईश्वररूपसाक्षिमात्रेति भावः। ९. कार्येति—तद्वत्त्वे त्वस्मदादिवदनीश्वरत्वमिति भावः। १०. देवतायाः। ११. पृथिव्याः शरीरित्वमेव न तु शरीरत्वमिति लिखितपुस्तकपाठः। १२. कार्यकरणवत्त्वम्। १३. स्वीयकार्यकरणराहित्यमेव। १४. निरुक्ततात्पर्येऽर्थे।

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्याऽऽपः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥४॥

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥५॥

योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद

जो जल में रहने वाला जल के भीतर है, जिसे जल नहीं जानता, जल शरीर है और जो जल के भीतर रहकर लज का नियमन करता है, वह तेरा आत्मा अन्
अमृत है ॥ ४ ॥

जो अग्नि में रहने वाला अग्नि के भीतर है, जिसे अग्नि जानता नहीं, जिनका अग्नि है और जो अग्नि के भीतर रहकर उमका नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्
अमृत है ॥ ५ ॥

जो अन्तरिक्ष में रहने वाला है, अन्तरिक्ष के भीतर है, जिसे अन्तरिक्ष जानता नहीं,

---

स्यातास् । [1]य ईदृगीश्वरो नारायणाख्यः पृथिवीं पृथिवीदेवतां यमयति [2]नियम स्वव्यापारेऽन्तरोऽभ्यन्तरस्तिष्ठन्नेष त आत्मा ते [3]तव मम च सर्वभूतानां चेत्युपलक्ष मेतदन्तर्यामी यस्त्वया पृष्टोऽमृतः सर्वसंसारधर्मवर्जित इत्येतत् ॥३॥

समानमन्यत् । योऽप्सु तिष्ठन्नग्नावन्तरिक्षे वायौ दिव्यादित्ये दिक्षु चन्द्र

वाक्यमवतार्य व्याचष्टे—य ईदृगिति । नियम्यपृथिवीदेवताकार्यकरणाभ्यामेव कार्यकरणवा दृशत्वम् ॥३॥

"पृथिवीम्" अर्थात् पृथिवीदेवता को "यमयति" यानी नियम में प्रवृत्त करता है, स्वया "अन्तरः" अर्थात् भीतर रहकर "एष त आत्मा" अर्थात् संघातसहित तुम्हारा, मेरा और प्राणियों का आत्मा होकर नियमन करता है। "ते" यह कथन उपलक्षणार्थक है। यही है, जिसके विषय में तुमने पूछा है, यह "अमृतः" सम्पूर्ण संसारधर्मों से वर्जित है ॥ ३ ॥

(चतुर्थमन्त्र से चतुर्दशमन्त्र पर्यन्त) शेष व्याख्यान तृतीय मन्त्र के समान ही है। जो

---

[1] नन्वेतादृशोऽन्तर्यामी नास्त्येव तत्सत्तायां प्रमाणाभावादित्याशङ्क्य "भीषाऽस्माद्वातः पवते", "ए अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यावि"त्यादिश्रुतिप्रमाणमभिप्रेत्याह—य इति । [2] नियमेन प्र

[3] संघातसहितस्य ।

यस्यान्तरिक्षꣳ शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥६॥

यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥७॥

यो दिवि तिष्ठन्दिवोऽन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौः शरीरं यो दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥८॥

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद

शरीर अन्तरिक्ष है और जो उसके भीतर रहकर अन्तरिक्ष का नियमन करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ६ ॥

जो वायु में रहने वाला है, वायु के भीतर है, जिसे वायु जानता नहीं, जिसका शरीर वायु है और जो वायु के भीतर रहकर वायु का नियन्त्रण करता है, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ७ ॥

जो द्युलोक में रहने वाला है, द्युलोक के भीतर है, जिसे द्युलोक नहीं जानता, जिसका शरीर द्युलोक है और जो द्युलोक के भीतर रहकर द्युलोक का नियन्त्रण करता है, यही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ८ ॥

जो आदित्य में रहने वाला है एवं आदित्य के भीतर हैं, जिसे आदित्य जानता नहीं, आदित्य

आकाशे यस्तमस्यावरणात्मके बाह्ये [1]तमसि तेजसि तद्विपरीते प्रकाशसामान्य इत्येव-

पृथिवीपर्याये दर्शितं न्यायं पर्यायान्तरेष्वतिदिशति—समानमिति ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु द्युलोक सूर्य ,दिशा, चन्द्रमा, तारागण और आकाश में रहने वाला है। जो "तमः" यानी आवरणात्मक बाह्य तम में, "तेजसि" अर्थात् तम से भिन्न सामान्य प्रकाश में रहने

---

१. तमसि तेजसीति । अत्र वार्तिकम्—"तेजः सामान्यमात्रं स्यात्तदधिष्ठातृदेवता । एवं तमस्यपि ज्ञेयं क्षेत्रज्ञश्चाऽऽत्मसंज्ञितः" ॥ ४६ ॥ इति । यस्तेजसीत्यत्र तेजःशब्दस्य प्रकाशसामान्यविषयत्वमाह—तेज इति । यत्तेजो न वेदेत्यत्र विवक्षितमाह—तदिति । यस्तमसीत्यत्र तमःशब्देन तेजोविपरीतमप्रकाशमात्रं गृह्यते । यं तमो न वेदेति च तदधिष्ठातृदेवतेत्यभिप्रेत्याह—एवमिति । य आत्मनि तिष्ठन्निति माध्यंदिनास्तत्राऽऽत्मशब्दार्थमाह—क्षेत्रज्ञश्चेति । जीव इत्यर्थः ।

यस्याऽऽदित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥९॥

यो दिक्षु तिष्ठन्दिग्भ्योऽन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं यो दिशोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१०॥

यश्चन्द्रतारके तिष्ठꣳश्चन्द्रतारकान्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद यस्य चन्द्रतारकꣳ शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥११॥

य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याऽऽकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१२॥

यस्तमसि तिष्ठꣳस्तमसोऽन्तरो यं तमो न वेद यस्य

जिसका शरीर है, जो आदित्य के भीतर रहकर आदित्य का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा र्यामी अमृत है ॥ ९ ॥

जो दिशाओं में रहने वाला है, एवं दिशाओं के भीतर है, जिसे दिशाएँ जानती नहीं, जि शरीर दिशाएँ है, जो दिशाओं के भीतर रहकर दिशाओं का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा र्यामी अमृत है ॥ १० ॥

जो चन्द्रमा तथा तारों के भीतर है, जिसे चन्द्रमा और ताराएं जानती नहीं, जिसका श चन्द्रमा और ताराएं है । जो चन्द्रमा और ताराओं के भीतर रहकर चन्द्रमा और ताराओं का निय करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ११॥

जो आकाश में रहने वाला है, एवं आकाश के भीतर है, जिसे आकाश जानता नहीं, जि शरीर आकाश है, जो आकाश के भीतर रहकर आकाश का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा र्यामी अमृत है ॥ १२ ॥

जो अंधेरे में रहने वाला है एवं अंधेरे के भीतर है, जिसे अंधेरा जानता नहीं, जिसका श

मधिदैवतमन्तर्यामिविषयं [1]दर्शनं देवतासु । अथाधिभूतं भूतेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ते

वाला है । इस प्रकार यह अन्तर्यामीविषयक अधिदैवत-देवतान्तर्गत विज्ञान कहा गया । इ बाद अधिभूत विज्ञान कहा जाता है, ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यंन्त सभी भूतों में जो अन्तर्यामी

---

१. दर्शनम्—विज्ञानमुक्तमिति शेषः ।

तमः शरीरं यस्तमोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१३॥

यस्तेजसि तिष्ठꣳस्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत इत्यधिदैवतमथाधिभूतम् ॥१४॥

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यꣳ सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥१५॥

अंधेरा है, जो अंधेरे के भीतर रहकर अंधेरे का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १३ ॥

जो प्रकाश में रहने वाला है, एवं प्रकाश के भीतर है, प्रकाश जिसे जानता नहीं, जिसका शरीर प्रकाश है, जो प्रकाश के भीतर रहकर प्रकाश का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इस प्रकार यह अन्तर्यामीविषयक देवताओं के अन्तर्गत दर्शन कहा गया। अब ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण भूतों में अन्तर्यामीविषयक दर्शन कहा जाता है ॥ १४ ॥

जो सम्पूर्ण भूतों में रहने वाला है एवं सम्पूर्ण भूतों के भीतर है, जिसे सम्पूर्ण भूत जानते नहीं है, जिसके सम्पूर्ण भूत शरीर हैं और जो भीतर रहकर सभी भूतों का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। यह अधिभूत दर्शन है। अब आगे अध्यात्म दर्शन कहा जाता है ॥ १५ ॥

न्तर्यामि[1]दर्शनमधिभूतम् ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

[2]अथाध्यात्मं यः प्राणे प्राणवायुसहिते [3]घ्राणे यो वाचि चक्षुषि श्रोत्रे मनसि त्वचि

सर्वत्र प्राणादौ तिष्ठन्नन्तर्यामी तवाऽऽत्मेति संबन्धः । वाक्यान्तरं प्रश्नपूर्वकमुत्थाप्य व्याचष्टे

है—वही अधिभूतविज्ञान है ॥ ४-१४ ॥

अब अध्यात्मविज्ञान कहा जाता है। जो "प्राणे" प्राणवायुसहित घ्राणेन्द्रिय में, वाणी, नेत्र,

---

[1] दर्शनमुच्यत इति शेषः । [2] अथेति—अनन्तरं शरीरमधिकृत्य वर्तमानप्राणादिष्वन्तर्यामिदर्शनमुच्यत-इत्यर्थः । [3] घ्राण इति—प्राणशब्देन करणवद्देवतास्थानयोरपि ग्रहणं द्रष्टव्यम् । तदुक्तं वार्तिके—"देवता-स्थानकरणत्रयं प्राणगिरोच्यते । नियच्छति यतो गन्धे त्रयमप्येतदीश्वरः" ॥४७॥ इति ।देवता इन्द्रियाभिमानवती । स्थानं गोलकम् । करणमिन्द्रियम् । नियच्छति नियुङ्क्ते । एतेन यो वाचीत्यादि व्याख्यातम् ।

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१६॥

यो वाचि तिष्ठन्वाचोऽन्तरो यं वाङ्न वेद यस्य वाक्शरीरं यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१७॥

यश्चक्षुषि तिष्ठँश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१८॥

यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यँ श्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्रँ शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१९॥

जो प्राण में स्थित है एवं प्राण के भीतर है। जिसे प्राण जानता नहीं, जिसका शरीर प्रा
और जो भीतर रहकर प्राण का नियंत्रण करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १६ ॥

जो वाणी में स्थित है, और वाणी के भीतर है, जिसे वाणी जानती नहीं, वाणी जिसका श
है और जो वाणी के भीतर रहकर वाणी का नियन्त्रण करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अम
धर्मा है ॥ १७ ॥

जो नेत्र में स्थित है और नेत्र के भीतर है, जिसे नेत्र जानता नहीं, नेत्र जिसका शरी
और जो नेत्र के भीतर रहकर नेत्र का नियमन करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अम
धर्मा है ॥ १८ ॥

जो श्रोत्र के भीतर श्रोत्र में रहने वाला है, जिसे श्रोत्र जानता नहीं, श्रोत्र जिसका शरी
और जो श्रोत्र के भीतर रहकर श्रोत्र का नियमन करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १

विज्ञाने बुद्धौ रेतसि प्रजनने । [1]कस्मात्पुनः कारणात्पृथिव्यादिदेवता [2]महाभागाः स

—कस्मादित्यादिना । यथा मनसि तथा बुद्धावपि संनिधानाज्ज्ञातृतेति यावत् । तत्रेति पूर्वसंदर्भोक्ति

श्रोत्र, मन, त्वचा, विज्ञान, बुद्धि, वीर्य, जननेन्द्रिय में रहने वाला है। तो फिर किसलिए पृथिवी आ
देवता निरङ्कुश ज्ञान-ऐश्वर्य-शक्ति वाले होने पर भी मनुष्यादि के समान भीतर रहने वाले अ

---

१. कस्मादिति—यं पृथिवी न वेदेत्यादिना पृथिव्यादिक्षेत्रज्ञो नान्तर्यामिणं जानातीत्युक्तमित्यादिः । महाभागाः निरङ्कुशज्ञानैश्वर्यशक्तिमत्यः ।

यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥२०॥

यस्त्वचि तिष्ठꣳस्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ्न वेद यस्य त्वक्शरीरं यस्त्वचमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥२१॥

यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानꣳ शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥२२॥

जो मन के भीतर मन में स्थित है, जिसे मन जानता नहीं, जिसका शरीर मन है, जो मन के भीतर रहकर मन का नियमन करता है यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ २० ॥

जो त्वचा के भीतर त्वचा में रहने वाला है, जिसे त्वचा नहीं जानती, जिसका शरीर त्वचा हैं, जो त्वचा के भीतर रहकर त्वचा का नियमन करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ २१ ॥

जो बुद्धि में रहने वाला बुद्धि के भीतर है, बुद्धि जिसे जानती नहीं, जिसका शरीर बुद्धि है, जो बुद्धि के भीतर रहकर बुद्धि का नियमन करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ २२ ॥

मनुष्यादिवदात्मनि तिष्ठन्तमात्मनो[1] नियन्तारमन्तर्यामिणं न विदुरित्यत*[2]आह—अदृष्टो न दृष्टो न [3]विषयीभूत[4]श्चक्षुर्दर्शनस्य [5]कस्यचित्स्वयं तु चक्षुषि [6]संनिहितत्वाद्दृशिस्वरूप

आत्मा के नियन्ता अन्तर्यामी को नहीं जानते। इस पर कहा जाता है—"अदृष्टः" अर्थात् वह दिखायी नहीं देता यानी चक्षुवृत्ति दर्शन का विषयभूत नहीं है, तो भी स्वयं मनुष्य के चक्षु में साक्षीरूप से

---

१. स्वस्य। २. आहेति—नस्य विषयत्वमनन्तरश्रुतिर्ब्रूते विनापि विषयत्वं तत्स्वरूपं ज्ञातुं शक्यमिति ज्ञापयितुमित्यर्थः। ३. विषयत्वमनापन्नः। ४. चाक्षुषवृत्तेः। ५. पुंसः। ६. साक्षितया स्थितत्वात्।

*आहेत्यादि—नन्वस्मदादिवदन्तर्यामी कुतो न विषय इत्याशङ्क्य समाहितं वार्तिके। तद्यथा—"द्रष्टृदर्शनदृश्यानां प्रत्यग्दृष्टिसमीक्षणे। जाड्यपारार्थ्यहेतुभ्यां शक्तिर्नास्ति मनागपि ॥ न द्रष्टोर्दृश्ययोर्नापि तथा दर्शनयोर्मिथः। ग्राह्यग्राहकसंबन्धस्तत्साक्षी न च वीक्ष्यते ॥ रूपादिदर्शनान्तस्थ आगमापायसाक्ष्यसौ। नित्यात्मदृष्टिश्चिन्मात्रः पश्येत्तं पृथिवी कथम् ॥ मागोचरातिवर्तित्वादसाधारणदृष्टितः। द्रष्टुरन्यस्य चाभावान्न तं पश्यन्ति देवताः" ॥४९-५२॥ इति। किंच द्रष्ट्रादेरन्योन्याग्राह्यत्वेनान्तर्यामिग्राह्यत्वान्न तस्य तैर्ग्राह्यतेत्याह—नेत्यादिना। द्रष्ट्रोर्वा दृश्ययोर्वा दर्शनयोर्वा न मिथो ग्राह्यग्राहकत्वं समत्वात्तेषां द्रष्ट्रादीनां साक्ष्यन्तर्यामी तैश्च विषयैर्न दृश्यत इत्यर्थः॥ तत्रैव हेत्वन्तरमाह—रूपादीति। स्वीयरूपादिज्ञानसाक्षित्वात्तदागमापायसाक्षित्वादान्तरत्वाच्चिन्मात्रतया

यो रेतसि तिष्ठन्रेतसोऽन्तरो यꣳरेतो न वेद यस्य रेतः शरीर यो रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मा-ऽन्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ता-ऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति

जो प्रजनन इन्द्रिय में रहने वाला प्रजनन के भीतर रहता है, जिसे वीर्य जानता नहीं, जिसका शरीर है जो वीर्य के भीतर रहकर वीर्य का नियमन करता है, वह तेरा आत्मा अन्है, अमृत है। वह दिखायी नहीं देता, किन्तु देखता है। सुनायी नहीं देता, किन्तु सुनता है। मनन का नहीं होता, किन्तु मनन करने वाला है। जो विशेषरूप से ज्ञात नहीं होता, किन्तु विशेषरूप से

[१]इति द्रष्टा। तथाऽश्रुतः श्रोत्रगोचरत्वमनापन्नः कस्यचित्स्वयं त्वलुप्तश्रवणशक्तिः सर्वश्र संनिहितत्वाच्छ्रोता। तथाऽमतो मनःसंकल्पविषयतामनापन्नः। दृष्टश्रुते एव हि संकल्पयत्यदृष्टत्वादश्रुतत्वादेवामतोऽलुप्तमननशक्तित्वात्सर्वमनःसु संनिहितत्वाच्च मन्ता तथाऽविज्ञातो निश्चयगोचरतामनापन्नो रूपादिवत्सुखादिवद्वा स्वयं त्वलुप्तविज्ञानश त्वात्तत्संनिधानाच्च विज्ञाता। तत्र यं पृथिवी न वेद यं सर्वाणि भूतानि न विदुः

विराजमान होकर दर्शनरूप होने के कारण द्रष्टा अर्थात् देखता है। इसी प्रकार वह "अश्रुतः" किसी के श्रोत्र की विषयता को अप्राप्त है किन्तु स्वयं जिसकी श्रवणशक्ति लुप्त नहीं होती, समस्त में साक्षीरूप से स्थित होने के कारण जो सुनता है। ऐसे ही जो "अमृतः" यानी मन के संकल्प को अप्राप्त है। क्योंकि सब देखे और सुने गये पदार्थों का संकल्प करते हैं, अतः अदृष्ट और अश्रुत के कारण ही वह मनन का विषय नहीं होता। तथा मननशक्ति अलुप्त होने से सभी मनों में सा से विद्यमान रहने के कारण वह मन्ता है। इसी प्रकार "अविज्ञातः" अर्थात् रूपादि या सुखादि के निश्चयगोचरता को अप्राप्त है, किन्तु स्वयं जिसकी विज्ञानशक्ति अलुप्त होने के कारण साक्षी स्थित होने के कारण विज्ञाता है। यहाँ "जिसे पृथिवी नहीं जानती, जिसे समस्त भूत प्राणी जानते" इस उक्ति से पृथिवी क्षेत्रज्ञ आदि नियन्तव्य अन्य हैं और विज्ञाता अन्य हैं। नियन्ता अ

---

१. हेतोः। २. अनयोक्त्या।

नित्यात्मदृष्टित्वाच्चान्तर्यामिणं पृथिव्यादिक्षेत्रज्ञो न क्षमो वीक्षितुमित्यर्थः॥ इतश्चास्याविषयत्व मागोचरेति। शब्दादिहीनत्वात्स्वप्रकाशत्वाद्द्रष्ट्रन्तराभावाच्च न साक्षिणो ग्राह्यतेत्यर्थः॥ अत्र स्वीयरूपादित्यादि। स्वं देवतास्तन्निष्ठरूपादिज्ञानानामपि साक्षित्वान्नावेक्षितुं शक्यते साक्षी देवताभिर अयमाशयः—अस्मदादिभिस्तावत्साक्षी नावेक्ष्यते तत्कस्य हेतोः, अस्मज्ज्ञानानां साक्ष्यवेक्ष्यत्वात्। स हि वावेक्षणीयः, ज्ञानं च तेनैव पुरस्तादवलोकितमिति न तमवलोकयेज्ज्ञानं स्वभासकाऽभासकत्वाद् भास्य हि भानुभातो घटो भानुं भासयति। न च जाड्यादिना घटज्ञानयोर्वैजात्यम्। एवं च देवतानामपि ज्ञानं सा ऽवेक्षितं सन्न तमवलोकयितुमीष्ट इति। देवतानामप्यस्मदादिवद्रूपादिविषयगोचरमेव ज्ञानमित्यावेद रूपादीति।

श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥२३॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य सप्तमं ब्राह्मणम् ॥७॥

है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इससे भिन्न सभी नश्वर है। इसके बाद आरुणि उद्दालक चुप हो गया ॥ २३ ॥

॥ इति सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

अन्ये[1] नियन्तव्या विज्ञातारोऽन्यो नियन्ताऽन्तर्यामीति[2] प्राप्तं तदन्यत्वाशङ्कानिवृत्त्यर्थमुच्यते—[3]नान्योऽतो नान्यः। अतोऽस्मादन्तर्यामिणो नान्योऽस्ति द्रष्टा तथा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता। यस्मात्परो नास्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता योऽदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाताऽमृतः सर्वसंसारधर्मवर्जितः सर्वसंसारिणां कर्मफलविभागकर्तैष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽस्मादीश्वरादात्मनो[4]ऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ ॥ २२ ॥ २३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्य सप्तमं ब्राह्मणम् ॥ ७ ॥

---

[6]अन्वयमुपलक्षयितुमतो नान्य इत्युक्तम्। पदार्थान्व्याकरोति—अत इति। अन्यो द्रष्टा नास्तीति संबन्धः। एष त इत्यादिवाक्यस्यार्थमाह—यस्मादित्यादिना ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां तृतीयाध्यायस्य सप्तममन्तर्यामिब्राह्मणम् ॥७॥

उन सब से भिन्न है। ऐसा सिद्ध होने पर उनमें अन्यत्वशङ्का की निवृत्ति के लिए यह कहा जाता है। "नान्योऽतः" यह प्रतीक है। "अतः" अर्थात् इस अन्तर्यामी से भिन्न कोई और द्रष्टा नहीं है। इसी प्रकार इससे भिन्न कोई और श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई और मन्ता नहीं है, इससे भिन्न कोई और विज्ञाता नहीं है। जिससे परे कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता नहीं है, जो दिखायी न देने वाला किन्तु देखने वाला है; जो सुनायी नहीं देता किन्तु सुनता है। मनन का विषय नहीं होता, किन्तु मनन करने वाला है। जो विशेषरूप से ज्ञात नहीं होता, किन्तु विशेषरूप से जानना है, "अमृतः" यानी सम्पूर्ण

---

१. पृथिवीक्षेत्रज्ञादयः। २. इति प्राप्तं तदन्यत्वेत्यादि। यत्प्राप्तं सैवान्यत्वाशङ्का तन्निवृत्त्यर्थम्। अनुस्वाररहितो वा पाठः प्राप्त तदन्यत्वेति तत्र इति—उक्तविषया प्राप्ताया तयोर्विज्ञात्रन्तर्यामिणोर्नियम्यनियामकयोर्मिथोभिन्नत्वाशङ्का तन्निवृत्त्यर्थमिति विग्रहः। ३. प्रतीकोऽयम्। ४. अन्यदार्तम्—आत्मनोऽन्यद्वस्त्वन्तरं विनाशग्रस्तं स्वप्नमायामरीच्युदकादिवदसारमित्यर्थः। ५. स्वप्रश्ननिर्णयात्। ६. नान्य इत्यस्य अत इत्यनेनान्वयं प्रदर्शयितुम्।

अथ तृतीयाध्यायस्याष्टमं ब्राह्मणम् ।

[1]अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो [2]हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे[3] वक्ष्यति न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति पृच्छ गार्गीति ॥१॥

तत्पश्चात् वचक्नु की पुत्री गार्गी ने कहा—हे पूज्य ब्राह्मणगण ! यदि आप लोगों की अनु हो तो मैं इस याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न पूछूंगी, मेरे उन प्रश्नों का उत्तर यदि याज्ञवल्क्य ने दे दिया आप में से कोई इन्हें ब्रह्मसम्बन्धी वाद-विवाद में नहीं जीत सकते । इस पर ब्राह्मणों ने अनुमति दे हे गार्गि ! पूछ ॥ १ ॥

[4]अतः परमशनायादिविनिर्मुक्तं निरुपाधिकं साक्षादपरोक्षात्सर्वान्तरं वक्तव्यमित्यत आरम्भः—

अथ ह वाचक्नव्युवाच पूर्वं याज्ञवल्क्येन निषिद्धा मूर्धपातभयादुपरता सती

पूर्वस्मिन्ब्राह्मणे सूत्रान्तर्यामिणौ प्रश्नप्रत्युक्तिभ्यां [5]निर्धारितौ संप्रत्युत्तरब्राह्मणतात्पर्यमा अतः परमिति । सोपाधिकवस्तुनिर्धारणानन्तर्यमथशब्दार्थः । ननु यस्माद्भयाद्गार्गी पूर्वमुपरता [6]तदवस्थत्वात्कथं पुनः सा प्रष्टुं प्रवर्तते तत्राऽऽह—पूर्वमिति । हन्तेस्यस्यार्थमाह—[8]यदीति ।

सांसारिक धर्मों से रहित एवं समस्त संसारी मनुष्यों के कर्मफलों का विभाग करने वाला है; यह तु आत्मा अन्तर्यामी अमृत है; इस ईश्वर आत्मा से अन्य है और सब विनाशग्रस्त (स्वप्न, मृगतृष्णा समान असार) है। इस प्रकार अपने प्रश्न के निर्णय से आरुणि उद्दालक चुप हो गया ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् शाङ्करभाष्य में तृतीय अध्याय के सप्तमब्राह्मण
का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ७ ॥

(सोपाधिकब्रह्म के स्वरूप को निरूपण कर) अब क्षुधादिरहित निरुपाधिक साक्षात् अप सर्वान्तर ब्रह्म का व्याख्यान करना है, इसलिए आगे का ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है ।

---

१. अथेति—"अष्टमब्राह्मणे ब्रह्मतत्त्वं सम्यङ्निरूप्यते । सूत्रत्वमन्तर्यामित्वं यत्रौतप्रोततां व्रजेत् ॥ गों पुरा पृष्टे सूत्रान्तर्यामिवस्तुनी । ओतप्रोतात्मतां गार्गी तयोरेवान्वपृच्छत" ॥ १-२ ॥—इति वार्तिककारां तथा च सूत्रादिस्वरूपमेव प्राङ्निर्णीतं न तत्र व्याप्यव्यापकभाव उक्तः सम्प्रति सूत्रस्याव्याकृतम् । तदन्तस्य व्यापकमिति निर्णीयत इति न पूर्वेणोत्तरस्य गतार्थत्वमिति द्रष्टव्यम् ॥ २. हन्तेति निपातोऽनुमतौ । मे—मह्यम् । ४. अतः परमिति—सोपाधिकब्रह्मस्वरूपनिर्धारणानन्तरमित्यर्थः । सोपाधिकत्वेनान्तर्यामि हेयत्वात्तज्ज्ञानात्पुमर्थासमाप्तेर्निरुपाध्यक्षरज्ञानादेव तत्समाप्तेरप्रपञ्चमक्षरं साक्षात्त्वादिविशेषणं वाक्या वाच्यमित्यक्षरब्राह्मणोत्थानमिति । ५. निर्धारिताविति—तदुभयमप्यात्मनः सोपाधिकं रूपमिति शेषः । भयस्य । ७. तथैव विद्यमानत्वात् । ८. तथा च हन्तेति निपातोऽनुमतौ ।

सा होवाचाहं वै त्वा याज्ञवल्क्य यथा काश्यो वा

गार्गी ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! जैसे लोक में काशी या विदेहदेश का रहने वाला राजा वीरवंश

ष्टुं ब्राह्मणानुज्ञां प्रार्थयते । हे ब्राह्मणा भगवन्तः पूजावन्तः शृणुत मम वचो हन्ताहमिमं ज्ञवल्क्यं पुनर्द्वौ प्रश्नौ [1]प्रक्ष्यामि [2]यद्यनुमतिर्भवतामस्ति । तौ प्रश्नौ चेद्यदि वक्ष्यति थयिष्यति [3]मे [4]कथंचिन्न वै जातु कदाचिद्युष्माकं मध्य इमं याज्ञवल्क्यं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं ह्मवदनं प्रति जेता न वै कश्चिद्भवेदित्येवमुक्ता [6]ब्राह्मणा अनुज्ञां प्रददुः पृच्छ[7] र्गीति ॥ १ ॥

लब्धानुज्ञा ह याज्ञवल्क्यं सा होवाचाहं वै त्वा त्वां द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामीत्यनुषज्यते ।

त्विति प्रतीकमादाय व्याचष्टे—कदाचिदित्यादिना । अन्वयं दर्शयितुं कश्चिदिति पुनरुक्तिः ॥१॥

"अथ ह वाचक्नव्युवाच" अर्थात् पहले याज्ञवल्क्य से रोकी गई हुई शिर गिरने के भय से चुप ई वाचक्नवी पुनः प्रश्न करने के लिए ब्राह्मणों से प्रार्थना करती है। 'भगवन्तः' यानी हे पूज्य ह्मणो ! मेरी बात सुनिये। (कहीं मेरा मूर्धपात न हो) इसलिए यदि आप की आज्ञा हो तो मैं इन ज्ञवल्क्यजी से दो प्रश्न पूछना चाहती हूँ। "तौ चेन्मे वक्ष्यति" यदि मेरे इन दोनों प्रश्नों का उत्तर दे गे, तो आप में से कोई भी इन याज्ञवल्क्य को "ब्रह्मोद्यम्" अर्थात् ब्रह्मवाद में "जातु" यानी कभी कसी प्रकार भी जीतने वाला नहीं हो सकेगा। इस प्रकार वाचक्नवी द्वारा कहे जाने पर ब्राह्मणों ने भय मत करो, हे गार्गी। प्रश्न पूछो" ऐसी आज्ञा दे दी।

आज्ञा प्राप्त कर लेने पर उसने याज्ञवल्क्य से कहा—मैं "त्वा" अर्थात् तुम्हें दो प्रश्न

---

१. प्रष्टुमिच्छामीति यावत् । २. भवदनुमत्या हि मे मूर्धपातो न भवेदिति भावः । ३. मह्यम् । ४. न जेतेत्यन्वयः । ५. ब्रह्मोद्येति—भावक्यबन्तम् "भुवो भावे" इत्यतो भावे इत्यपकृष्य "वदः सुपि क्यप् च" इत्यनेन सुप्युपपदे वदेर्भावे क्यब्विधानादित्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—ब्रह्मवदनमिति । द्वितीयामुपपादयितुं प्रतीत्यध्याहृतं तथा च ब्रह्मवादे नैनं कश्चन जेतेत्यर्थः । जेतेति तु तृन्नन्तम् । अतएव "न लोकेति" निषेधात्कर्मणि द्वितीया अन्यथा (तस्य तृजन्तत्वे) "कर्तृकर्मणोः कृतीति" षष्ठ्यापत्तेरिति । तद्यथा—जेतेत्यस्य तिङन्तत्वं तु न संभाव्यं तथा सति भवेदिति भाष्यं पीड्येत । परन्तु तस्य तिङन्तत्वाभ्युपगमेऽप्यनुपपत्त्यभावाद्भवेदित्यहारभाष्यं चिन्त्यप्रयोजनम् अथवा तिङन्तत्वे तस्यानद्यतनभविष्यदर्थकत्वेन श्वःप्रभृति नैनं कश्चिज्जेष्यतीति स्यात्तथा चाद्यतनजयस्यानुमतत्वं भवेत्तन्मा भूदिति । तथा कृतमिति समाधेयम् । यद्यपि जातुपदेन सार्वदिकजयः प्रतिषिध्यते तथापि जेतेत्यस्य तिङन्तत्वाभ्युगमे तदनुरोधाज्जातुपदमप्यद्यतनातिरिक्तकाले संकुचेदित्यभिप्रायः । न तु जातुपदं वा संकुचतु तदनुरोधाज्जेतेत्येव वा विकसत्वित्यत्र विनिगमनाविरह इति चेद् अतएव चिन्त्यप्रयोजनत्वमुक्तम् । अथवा अव्ययानां तावदनेकार्थत्वं प्रसिद्धतरमिति तत्रैव संकोचविकासावर्हतो न तु तदनुरोधिन नियते प्रत्ययार्थौ तावित्येषैव विनिगमना । ननु वसन्ददर्श इत्यादौ कथं तत्रोभयोरपि प्रत्ययार्थत्वेन समबलत्वाद्व्याकर्त्रैव तथाभ्युपगमात् तदुक्तं—"धातुसंबन्धे प्रत्यया" इतीति ध्येयम् । ६. मा ते मूर्धपातभयमित्यभिप्रायाः । ७. मा भैषीः कुरु प्रश्नम् ।

वैदेहो वोग्रपुत्र [1]उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेदेवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थां तौ मे ब्रूहीति पृच्छ गार्गीति ॥२॥

में उत्पन्न प्रत्यञ्चारहित धनुष पर पुनः प्रत्यञ्चा चढ़ाकर शत्रुओं को अत्यन्त पीड़ित करने बाणों से युक्त शर हाथ में लेकर उपस्थित हो, वैसे ही दो प्रश्न लेकर मैं तुम्हारे सामने उपस्थि हूँ। (यदि तुम ब्रह्मज्ञानी हो तो) मुझे उनका उत्तर दो। तब याज्ञवल्क्य ने गार्गि ! पूछ ॥ २ ॥

कौ ताविति जिज्ञासायां तयोर्दुरुत्तरत्वं द्योतयितुं दृष्टान्तपूर्वकं तावाह—हे या यथा लोके काश्यः काशीषु भवः काश्यः प्रसिद्धं शौर्यं काश्ये वैदेहो वा विदेह राजोग्रपुत्रः शूरान्वय इत्यर्थः। उज्ज्यमवतारितज्याकं धनुः पुनरधिज्यमारोपि कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ बाणशब्देन शराग्रे यो वंशखण्डः संधीयते। [2]तेन विना भवतीत्यतो विशिनष्टि बाणवन्ताविति। द्वौ बाणवन्तौ शरौ तयोरेव विशेषणं तिव्याधिनौ शत्रोः पीडाकरावतिशयेन हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेत्समीपत आत्मानं मेवाहं त्वा त्वां शरस्थानीयाभ्यां प्रश्नाभ्यां द्वाभ्यामुपोदस्थामुत्थितवत्यस्मि त्व [3]तौ [4]मे ब्रूहीति ब्रह्मविच्चेत्। आहेतरः पृच्छ गार्गीति ॥ २ ॥

संधीयते स उच्यत इति शेषः। प्रश्नयोरवश्यप्रत्युत्तरणीयत्वे ब्रह्मिष्ठत्वाङ्गीकारो हेतु ब्रह्मविच्चेदिति ॥२॥

पूछूंगी—इस प्रकार संगति हो जाती है। वह दो प्रश्न कौन से हैं—ऐसी जिज्ञासा होने पर दुरुत्तरत्व प्रदर्शित करने के लिए गार्गी दृष्टान्त देकर बतलाती है। जिस प्रकार लोक में अर्थात् काशी प्रान्त में उत्पन्न होने वालों की वीरता प्रसिद्ध है अथवा "वैदेहः" यानी विदेह राजा "उग्रपुत्रः" यानी वीरवंश में उत्पन्न हुआ है। "उज्ज्यम्" अर्थात् जिसकी डोरी उतार ली ऐसे धनुष को "अधिज्यम्" अर्थात् पुनः डोरी चढ़ाकर दो बाणों से युक्त हो "सपत्नातिव्याधिनौ" शत्रु को पीड़ित करने वाले शर हाथ में लेकर उपस्थित हो। यहाँ बाणशब्द से शर के अगले लगे बाँस के टुकड़े से तात्पर्य है। बाण के बिना भी शर होता है इसी से "बाणवाला" यह दिया गया है। इसी प्रकार मैं "त्वा उपोदस्थाम्" अर्थात् शरस्थानीय दो प्रश्नों को लेकर तुम्हारे उपस्थित होती हूँ। यदि तुम ब्रह्मवेत्ता हो तो इनका मुझे उत्तर दो। इस पर याज्ञवल्क्य ने गार्गी ! पूछ ॥ २ ॥

---

[1] उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वेति—पूर्वं प्रष्टुकामापि मूर्धपातभयादुपरताऽऽसीदित्युज्ज्यत्वसाम्यं लब्धानु प्रष्टुमुद्यतेत्यधिज्यत्वतौल्यमिति विभावनीयम्। अथवा प्रश्नयोरत्यर्थं दुरुत्तरत्वं द्योतयितुं तथा उज्ज्यस्याधिज्यीकरणे हि कोपोज्ज्वलनमेव हेतुर्भवति प्रोज्ज्वलितकोपश्चातीव दुःसहं युध्येतेति भा बाणेन। [3] तौ—तयोरुत्तरमित्यर्थः। [4] मह्यम्।

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य [1]दिवो [2]यदवाक्पृथिव्या[3] [4]यदन्तरा [5]द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते[6] *कस्मिꣳ[7]स्तदोतं च प्रोतं चेति ॥३॥

गार्गी ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! जो द्युलोक से ऊपर है, जो पृथिवी से नीचे है, जो द्यावा-वीरूप इन अण्डकपालों के बीच में है और स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं, एवं जिन्हें , वर्तमान और भविष्यत् ऐसा कहते हैं, वे सम्पूर्ण द्वैतवर्ग किसमें ओत-प्रोत हैं ॥ ६ ॥

सा होवाच यदूर्ध्वमुपरि दिवो[8]ऽण्डकपालाद्यच्चावागधः पृथिव्या अधोऽण्डकपाला-ान्तरा मध्ये द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्योरण्डकपालयोरिमे[9] च द्यावापृथिवी यद्भूतं ातीतं भवच्च वर्तमानं स्वव्यापारस्थं भविष्यच्च वर्तमानादूर्ध्वकालभाविलिङ्गगम्यं

वह बोली "यदूर्ध्वम्" अर्थात् जो द्युलोकरूप उपरितन अण्डकपाल से ऊपर है, जो "पृथिव्याः" नी अधस्तन अण्डकपाल से नीचे है तथा जो "द्यावापृथिवी" अर्थात् द्युलोक और पृथिवीलोक के डकपालों के मध्य में है। एवं ये प्रसिद्ध द्युलोक और पृथिवीलोक है तथा जो "भूतम्" यानी अतीत वच्च" यानी अपने व्यापार में अवस्थित वर्तमान, "भविष्यच्च" अर्थात् वर्तमान के परवर्ती समय में

---

[1] दिवः—उपरितनादण्डकपालाद्यद्वस्तूर्ध्वमुपर्यस्तीत्यन्वयः। द्वे तावद्ब्रह्माण्डस्य कपाले भवतस्तत्र दिव इत्यनेन उपरितनं कपालमुच्यते पृथिवीशब्देन चाधस्तनमिति। [2] अधः। [3] अधस्तनाण्डकपालात्। [4] यच्च तयोर्मध्ये। [5] ये चेमे द्यावापृथिव्यौ। [6] आगमविदः। [7] उक्तद्वैतजातात्मसूत्रम्। [8] उपरितनाण्डकपालात्। [9] प्रसिद्धे।

---

*कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"सूत्रे तावदिदं सर्वमोतं च प्रोतमेव च। वर्तमाने जगत्काल इति तावत्सुनिश्चितम् ॥ जगच्चाप्यनभिव्यक्तमाविर्भवति सांप्रतम्। व्यक्तिश्चेयं सतो युक्ता नासतो घटते यतः ॥ अभिव्यक्तं च सदिदं पुनरव्यक्ततामिताम्। वायुना विधृतं तस्य रूपं यद्वार्तमानिकम् ॥ अतीतानागतयोस्तु कालयोर्जगदात्मनः। सत्ता येनाऽऽत्मना कस्मिन्नोता प्रोतेति भण्यताम्" ॥ ९-१२ ॥ इति। ससूत्रस्य जगतोऽत्राऽऽश्रयः पृच्छ्यते स त्र प्रश्नो वर्तमानकाले वाऽतीतानागतयोर्वेति संशये द्वितीयमादातुमाद्यं दूषयति —सूत्र इति। प्राणाख्यसूत्रस्य देहादपसर्पणे देहाङ्गानां विस्रंसनदृष्टेरन्वयव्यतिरेकाभ्यां ततोऽर्वाक्तनस्य तदाश्रयत्वं तस्य च सदाश्रयत्वं वर्तमानकाले तावन्निश्चितं वायौ सद्बुद्धिदर्शनादतो नाऽऽद्यकल्पोपपत्तिरित्यर्थः। प्रतिज्ञाद्योती द्वितीयस्तावच्छब्दः ॥ कालान्तरेऽपि जगदाश्रयो न प्रष्टव्यो नाशादूर्ध्वं प्रागुत्पत्तेश्च तस्यासत्त्वादित्याशङ्क्याऽऽह —जगच्चेति। प्रागुत्पत्तेः सदपि जगदव्यक्तं जन्मकाले नामरूपाभ्यां व्यज्यतेऽतो न भूतकाले तदसत्तेत्यर्थः। असदेव व्यज्यतामिति चेन्नेत्याह—व्यक्तिश्चेति ॥ प्रागुत्पत्तेरत्यन्तासत्त्वाशङ्कां जगतो निरस्य नाशादूर्ध्वमपि तां निरस्यति—अभिव्यक्तं चेति। अतीतानागतकालयोर्जगतः सत्त्वमुक्त्वा फलितं प्रश्नं वक्तुं पूर्वोक्तमनुवदति—वायुनेति ॥ कालद्वयेऽपि जगदाश्रयप्रश्नं परिशिष्टमाचष्टे—अतीतेति। वर्तमानकाले जगतः सत्ता येन सूत्रात्मना विहिता सा तेन सहावर्तमानकाले कस्मिन्नोतप्रोतत्वेन स्थितेति प्रश्नार्थः ॥

'स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति । ४ ।

उस याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि ! जो द्युलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे और जो
पृथिवी के बीच में है एवं स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, भविष्य,
ऐसा कहते हैं, वे सभी अव्याकृत आकाश में ओत-प्रोत हैं ॥ ४ ॥

---

[2]यत्सर्वमेतदाचक्षते कथयन्त्या[3]गमत[4]स्तत्सर्वं[5] द्वैतजातं यस्मिन्नेकी भवतीत्यर्थः । तत्
पूर्वोक्तं कस्मिन्नोतं च प्रोतं च पृथिवीधातुरिवाप्सु ॥ ३ ॥

स होवाचेतरो हे गार्गि यत्त्वयोक्तमूर्ध्वं दिव इत्यादि [1]तत्सर्वं यत्सूत्रमा
तत्सूत्रमाकाशे तदोतं च प्रोतं च ❀यदेतदव्याकृतं सूत्रात्मकं जगदव्याकृताकाशे

सूत्रस्यास्याऽऽधारे प्रष्टव्ये किमिति सर्वं जगदनूद्यते तत्राऽऽह—तत्सर्वमिति । पूर्वो
जगदात्मकमिति यावत् ॥३॥

यथाप्रश्नमनूद्य[8] प्रत्युक्तिमादत्ते—स होवाचेति । तां व्याचष्टे—यदेतदिति । यज्जग

होने वाला अनुमानगम्य भविष्यत् को जब आगमवेत्ता सूत्रात्मक कहते हैं—वह सम्पूर्ण द्वै
जिसमें एक हो जाता है । उक्त द्वैतजातात्मक जल में पृथिवी के समान किसमें ओ
प्रोत है ॥ ३ ॥

उस याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गी ! तूने जिसे 'द्युलोक से भी ऊपर' इत्यादि कहकर
है, वह सब द्वैतजात जिसे आगमवेत्ता सूत्रात्मा कहते हैं, वह आकाश में ओत और

---

१. स होवाचेत्यादि । यत्त्वयोक्तं दिव ऊर्ध्वादि तत्सूत्रं व्याकृततदात्मकं आकाशे अव्याकृते अविद्या यामिणीश्वरे नारायणाख्ये त्रिष्वपि कालेष्वोतं प्रोतं चेत्यर्थः । अत्र वार्तिकम्—"यावद्धि जनिमत्कि प्रविभागवत् । आकाशस्तस्य सर्वस्य तत्त्वमत्र विवक्षितमिति" ॥ १५ ॥ नामरूपकर्मात्मनो जगतोऽतिरिक्तं कार्यमप्रसिद्धमिति हिशब्दार्थः । अज्ञातं ब्रह्मैव जगतस्तत्त्वं कल्पितस्याधिष्ठानानतिरे
२. यत्सर्वमेतदाचक्षते इति—एतत्सर्वं यदाचक्षते (यत्सूत्रात्मकमाचक्षते) इत्यन्वयः । तदेतद्व्या द्वैतेत्यादिना । एवं च मूलस्था यच्छब्दा यदात्मकमित्यर्थका आचक्षते इत्यनेनानुयन्तीति सूचितम् । मैकगम्यस्य सूत्रस्यानुमेयत्वं प्रजापतिलोकादिवदयुक्तमिति शङ्कितदोषनिरासार्थमाह—आगमत इति पदेशादित्यर्थः । ४. आगमविदः । ५. श्रुत्युक्तं दिव ऊर्ध्वादिरूपं यद्द्वैतजातं तेन तदा विवक्षितमित्यभिप्रायेणाह—तत्सर्वमित्यादि । एकीभवतीत्यनेन सूत्रे द्वैतस्यान्तर्भावोक्त्या द्वैतं दर्श सूत्रं विवक्षितमिति सूचयति । ६. द्वैतजातम् । ७. यद् सूत्रात्मकं कथयन्त्यागमविद
८. अनूद्येति—अनुवादाभावे निग्रहप्रसक्तेस्तदावश्यकत्वम् ।

❀यदेतदव्याकृतमित्यादि वर्तत इन्यन्तभाष्यतात्पर्यमाहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"क्ष्माद्येतत्सूत्रपर्यन्तं जनेः पुरा । आकाशे तदविज्ञातं सत्तामात्रेण विद्यते ॥ यावद्धि जनिमत्किंचिन्नामादिप्रविभागवत् । आ सर्वस्य तत्त्वमत्र विवक्षितम् ॥ व्यतिरेकं सतो नेदं लभतेऽनात्मकत्वतः । नाप्यन्वयं तदव्याप्तेर्नाप्यभावः

पृथिवीधातुस्त्रिष्वपि कालेषु वर्तत उत्पत्तौ स्थितौ लये च ॥ ४ ॥

सूत्रात्मकमे[1]तदव्याकृताकाशे वर्तत इति संबन्धः । त्रिष्वपि कालेष्विति यदुक्तं तद्व्यनक्ति—उत्पत्ताविति ॥४॥

यह जो सूत्रात्मक व्याकृत जगत् है, वह जल में पृथिवी तत्त्व के समान उत्पत्ति, स्थिति और लयरूप तीनों कालों में अव्याकृत आकाश में विद्यमान है ॥ ४ ॥

[1] एतच्छब्दस्तच्छब्दार्थकोऽत्र ।

सदतो जनिमत्तत्त्वं सर्पादे रशना यथा । सत्तत्त्वव्यतिरेकेण नान्या जनिमतो गतिः ॥ सदेवेदमतः सर्वमुद्भूतिस्थितिहानिषु । सदेवेति तथा स्पष्टं छान्दोग्योपनिषद्वचः ॥ अर्वागेवाक्षराज्ज्ञेया सत्तेयं जगतो निधिः । कार्यकारणनिर्मुक्तमक्षरं वक्ष्यते यतः ॥ सर्वशक्तिरियं शक्तिर्या सदित्यभिधीयते । न च सत्तेति सामान्यं प्रत्ययार्थासमीक्षणात् ॥ न सतो व्यतिरेकेण सतोऽन्यो भाव ईक्ष्यते । अप्यभावो न लभते किमु भावोऽतिरेकताम् ॥ सदन्यबुद्धिगम्यस्य श्रुतिस्तस्मादनेकशः । अब्रवीद्भ्रान्तिमात्रत्वं मृत्तिकादिनिदर्शनैः ॥ आकाशवचसाऽऽत्मैव ज्ञेयो नान्योऽत्र कश्चन । सर्वान्तरत्वं नान्यस्य युज्यतेऽनात्मनो यतः ॥ आकाशो वा इति तथा ब्रह्मैव श्रुतिरब्रवीत् । कारणं चाऽऽत्मनो नान्यत्त्रय्यन्तेषूपलभ्यते ॥ जगज्जनिस्थितिध्वस्तिनियमाद्यर्थकार्यपि । नाऽऽत्मनः कारणादन्यः कश्चित्संभाव्यते श्रुतेः ॥ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ । माण्डूकेयश्रुतिवच इति स्पष्टमधीयते ॥ नातोऽन्तर्यामिणः कल्प्यमन्यदव्याकृतं बुधैः । अक्षरान्तेषु तत्त्वेषु नाव्याकृतवचो यतः ॥ सर्वस्यैष वशीत्युक्त्या तद्धेदमिति चात्रापि जगदेवाभिधीयते । अव्याकृतगिरा तस्य व्याकृताव्याकृतत्वतः ॥ यतस्तस्यैव वेद्यताम् । यत्नात्प्राह श्रुतिस्तस्माद्यन्ताऽव्याकृतमुच्यते" ॥ १४-२६ ॥ मुन्युक्तिं विवृणोति—क्ष्मादीति । तस्या विवक्षितमर्थमाह—यावद्धीति । नामरूपकर्मात्मनो जनिमतो जगतोऽतिरिक्तं कार्यमप्रसिद्धमिति हिशब्दार्थः ॥ अज्ञातब्रह्मैव जगतस्तत्त्वमित्येतदुपपादयितुं कल्पितत्वं तस्य साधयति—व्यतिरेकमिति । अनात्मकत्वतो निःस्वरूपप्रसङ्गादिति यावत् । तदव्याप्तेर्जडस्याजडेन तादात्म्यायोगान्मिथो विरोधादित्यर्थः । अतुच्छत्वे दृश्यत्वं हेतुः ॥ अन्वयव्यतिरेकाभावपरिहारेण सदेव जगतस्तत्त्वमिति फलितमाह—सदिति । अतःशब्दार्थं स्पष्टयति—सत्तत्त्वेति ॥ स्थितिकाले जगतः सद्रूपत्वेऽपि कालान्तरे नैवमित्याशङ्क्याऽऽह—सदेवेति । कालत्रयेऽपि जगतः सदेव तत्त्वमित्यत्र मानमाह—सदिति ॥ अज्ञातं सदेव जगतस्तत्त्वं चेत्तस्मात्परं तत्त्वं नास्तीत्याशङ्क्याऽऽह—अर्वागिति । निधिर्निदानम् ॥ न सत्ता जगतो निधिस्तत्यन्तराभावोऽतःशब्दार्थः । सदेव सोम्येत्यारभ्य या शक्तिः सच्छब्दवाच्या स्यात्तद्धेतुत्वे मानाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वशक्तिरिति । सतो भावः शक्तिरुपादानमागमप्रामाण्यादित्यर्थः । तेजोबन्नामामीक्षणपूर्वं स्रष्टृत्वे नोच्यते सा सर्वस्य जगतः शक्तिरुपादानमागमप्रामाण्यादित्यर्थः । सतो भावस्तस्य सदतिरिक्तस्यासमीक्षणं कथमिति तत्राऽऽह—नेति । सदन्यभावाभावेऽनुभवाभावं हेतुमुक्त्वा युक्तिमाह—अप्यभाव इति ॥ तदनुग्राह्यं मानं सूचयति—सदिति । घटादेर्मृदाद्यतिरेकेणाभाववज्जगतो मूलकारणाद्भेदेनाभावं वदन्ती वाचारम्भणश्रुतिर्भावाभावात्मकस्य सदतिरेकाद्यसंभवाद्भ्रान्तिमात्रत्वमाहेत्यर्थः ॥ आकाशे तदोतं चेत्यत्राऽऽकाशशब्देनाज्ञातं ब्रह्म विवक्षितमित्युक्तमन्ये त्वाकाशशब्देनाव्याकृतमादाय ततोऽभ्यन्तरमन्तर्यामिणं कल्पयन्तस्ताभ्यामन्यत्तत्त्वान्तरं परमात्मानमाहुस्तान्प्रत्याह—आकाशेति । जगतः ससूत्रस्याऽऽन्तरत्वेन श्रुतमाकाशं नाज्ञाताद्ब्रह्मणोऽर्थान्तरं सर्वान्तरत्वस्यान्यत्रायोगादित्यर्थः ॥ अथ भूताकाशे रूढाकाशश्रुत्या सर्वान्तरत्वलिङ्गं बाधित्वा तस्यैवेह ग्रहो युक्तस्तत्राऽऽह—आकाश इति । आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहितेत्यत्रापि भूता-

[1]सा होवाच नमस्तेऽतु याज्ञवल्क्य [2]यो [3]म [4]एतं
[5]व्यवोचोऽपरस्मै धारयस्वेति पृच्छ गार्गीति ॥५॥

उस गार्गी ने फिर कहा—हे याज्ञवल्क्य ! आपको नमस्कार है जो कि आपने मेरे इस प्र का उत्तर दे दिया। अब आप दूसरे प्रश्न के लिये तैयार हो जावें। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि पूछ ॥ ५ ॥

पुनः सा होवाच नमस्तेऽस्त्वित्यादि प्रश्नस्य [6]दुर्वचत्वप्रदर्शनार्थम् । यो मे ममं प्रश्नं व्यवोचो विशेषेणा[7]पाकृतवानसि । एतस्य दुर्वचत्वे कारणं सूत्रमेव तावद[8]गम्यमित रैर्दुर्वाच्यं किमुत [9]तद्यस्मिन्नोतं च प्रोतं चेत्यतो[10] नमोऽस्तु ते तुभ्यमपरस्मै द्वितीया

उसने पुनः कहा—'आपको नमस्कार है (जिन्होंने मुझे इस प्रश्न का उत्तर दे दिया)' इत्यादि मन्त्र यह प्रदर्शित करने के लिए है कि प्रश्न का उत्तर देना अत्यन्त कठिन था। जिन्होंने मेरे प्रश्न "व्यवोचः" यानी विशेषरूप से उत्तर दिया है। प्रथम तो प्रश्न की कठिनता का कारण यह है सूत्रात्मा ही आगमातिरिक्त प्रमाण से अगोचर है, इसलिए (याज्ञवल्क्यादि मन्त्रद्रष्टा ऋषियों अतिरिक्त) दूसरों से इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता फिर जिस (अन्तर्यामी आकाश) में वह ओ

---

१. एवमुत्तरितप्रथमप्रश्ना गार्गी । २. यस्त्वम् । ३. मम । ४. दुर्वचं प्रश्नम् । ५. विशेषेणोत्तरि वानसि अतस्ते नमोऽस्त्वित्यन्वयः । ६. दुरुत्तरमुत्तरन् हि नमस्कार्यो भवति । ७. उत्तरितवानसि । आगमातिरिक्तप्रमाणागोचरमत एव याज्ञवल्क्यातिरिक्तैर्दुरुत्तरम् । ९. अन्तर्यामिण्याकाशे । १०. यथो प्रश्नसमाधानात् ।

काशविषयत्वमाकाशशब्दस्य किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—कारणं चेति । अत्र हि कारणत्वमाका स्योच्यत आत्मैवाज्ञातस्तथेति च वेदान्तस्थितिस्तथाच सर्वकारणत्वनामरूपास्पृष्टत्वलिङ्गाभ्यां तद्ब्रह्म श्रुतेश्चाऽऽकाशशब्दस्य श्रुत्यन्तरे ब्रह्मविषयत्वस्याऽऽकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशादित्यत्रोक्तत्वात्प्रकृतेऽपि तद्विष न हि सति संभवे सर्वान्तरत्वं बाधितुमुचितमाकाशशब्दस्तु प्रयोगबाहुल्याद्ब्रह्मण्यपि संभवतीति दहराधिक चिन्तितमाकाशस्तल्लिङ्गादिति चोक्तमिति भावः ॥ आकाशशब्दोऽज्ञातब्रह्मविषयोऽपि नान्तर्यामिविषयस्त ततोऽन्यत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—जगदिति ॥ कारणान्तर्यामिणोर्भेदे मानाभावमुक्त्वा तदभेदे श्रुतिं प्रमाण —एष इति ॥ एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानमितिश्रुतिप्र फलमाह—नात इति । भेदे मानाभावादभेदे तद्भावाच्चेत्यतःशब्दार्थः । अन्तर्यामिणोऽन्यन्नाव्याकृतमि युक्त्यन्तरमाह—अक्षरान्तरेष्विति । ब्राह्मणत्रयेऽपि पृथिव्याद्यक्षरान्तेष्वव्याकृतशब्दाश्रवणात्ससूत्रजगदधिष्ठ त्वेनाऽऽकाशं निर्दिष्टं नान्तर्यामिणोऽर्थान्तरमव्याकृतमिति शक्यं कल्पयितुमित्यर्थः ॥ अत्राव्याकृतशब्दाभा तद्धेदमित्यत्र श्रुतमव्याकृतमिहाकाशशब्देनाऽऽकृष्यान्तर्याम्यव्याकृताक्षरभेदसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—तद्धेति । त्वदिष्टमन्तर्याम्यक्षरातिरिक्तं तत्त्वमित्येवार्थो जगतो व्यक्तस्य व्याकृतशब्दत्वमेव नाव्याकृतशब्दत्वमित्याशङ्क्या —तस्येति ॥ तद्धेत्यत्राव्याकृतशब्देन कारणावस्थं जगदुक्तं चेदत्रापि तदेवाऽऽकाशशब्देनोक्त्वा तत्र कार्या जगदोतं प्रोतं चास्तु तथाऽपि ततोऽर्थान्तरमन्तर्यामीत्याशङ्क्याऽऽह—सर्वस्येति । सर्वस्य वशी सर्वस्येशान न साधुनेत्यादिना नियन्तारमुक्त्वा तस्यैव विविदिषावाक्येन वेद्यत्वं श्रूयते न च तदज्ञातत्वं विना युक्तम मव्याकृतमिति च पर्यायोऽतोऽन्तर्याम्येवाव्याकृतमित्यर्थः ॥

[1]सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक्पृथिव्या
यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्य-
च्चेत्याचक्षते कस्मिꣳस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥६॥

उसने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! जो द्युलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे, तथा द्युलोक और पृथिवी के बीच में है, एवं जो यह स्वयं द्युलोक और पृथिवी लोक है जिन्हें 'भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्' ऐसे शब्दों से कहते हैं, वे सब किसमें ओत-प्रोत हैं ॥ ६ ॥

प्रश्नाय धारयस्य दृढी कुर्वात्मानमित्यर्थः। पृच्छ गार्गीतीतर[2] आह ॥ ५ ॥

व्याख्यातमन्यत् । सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्येत्यादिप्रश्नः प्रतिवचनं चो[3]क्तस्यैवार्थस्यावधारणार्थं पुनरुच्यते। [4]न किंचिदपूर्वमर्थान्तरमुच्यते ॥ ६ ॥

[5]वक्ष्यमाणं वाक्यमन्यदित्युच्यते। [6]तदेव प्रश्नप्रतिवचनरूपमनुवदति—सा हेति । पुनरुक्तेर[7]किंचित्करत्वं व्यावर्तयति—उक्तस्यैवेति ॥६॥

और प्रोत है, उसका तो कहना ही क्या है इसलिए (यथोक्त प्रश्न के समाधान हो जाने से) आपको नमस्कार है । अब "अपरस्मै" अर्थात् द्वितीय प्रश्न के लिए "धारयस्वेति" अर्थात् अपने को तैयार कर लीजिए। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गी ! पूछ लो ॥ ५ ॥

('सा होवाच' से 'ओतं च प्रोतं चेति' में) इसकी व्याख्या पहले ही कर दी गई है। मन्त्र में "यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य" इत्यादि प्रश्न और इसका उत्तर पहले ही कहा जा चुका है। उक्तार्थ का पुनः निश्चय करने के लिए यह कहा जाता है। यहाँ कोई अपूर्व अन्य अर्थ नहीं कहा गया ॥ ६ ॥

---

१. एवमुक्तस्यैवार्थस्यावधारणार्थं पूर्वोक्त एव प्रश्नस्तदनुवादपूर्वकमुक्तमेव प्रतिवचनं चोभाभ्यां क्रमेणानूद्यते सा होवाचेत्यारभ्य कस्मिन्नु खल्वित्यतः प्राक्तनेन प्रबन्धेन। २. याज्ञवल्क्यः। ३. उक्तस्यैवार्थस्यावधारणार्थमिति—मां प्रत्युत्तरित एवार्थे याज्ञवल्क्यस्यापि निश्चयोऽस्ति न वेत्येवं तदीयनिश्चयं निश्चेतुमित्यर्थः। न हि सकृदुक्तिमात्रेण तदर्थे तन्निश्चयोऽवगन्तुं शक्यते यतोऽविद्वानपि भूतप्रेताद्यावेशवशात्सकृच्छास्त्रं वक्ति न च तावन्मात्रेण तदर्थे तन्निश्चयः शक्यो निश्चेतुम्। तदुक्तं वार्तिके—"पृष्टं भूयोऽपि चापृच्छदुक्तधीदृढनिश्चितौ। परायत्तप्रबोधोऽपि शक्तो वक्तुं यतस्ततः" ॥ ४५ ॥ इति। परायत्तेति—भूताद्यावेशाधीनशास्त्रादिबोधोऽपि यतो वक्तुं शक्तः सकृद्वक्तृत्वसंपादकस्ततः पृष्टमेवोक्तार्थे दृढनिश्चयनिश्चयायापृच्छदित्यर्थः। याज्ञवल्क्योऽपि उक्त एवार्थे स्वनिश्चयं निश्चाययितुमुक्तमेव प्रतिवचनमेवकारघटितं पुनरुक्तवान् आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति। अथवा पृथिव्यादयोऽप्यबादिद्वाराऽऽकाश एव लीयन्ते यथा तद्वत्सूत्रमपि परम्परयैव तत्र लीयत उत साक्षादिति प्रष्टुं मुक्तस्यैव प्रश्नस्य पुनर्वचनम्। साक्षादेवेत्युत्तरितुमुक्तस्यैवोत्तरस्य एवकारघटितत्वेन पुनरुक्तिः। अत्र पक्षे एवकारः साक्षादर्थकः। तथा च पूर्वप्रश्नप्रतिवचनयोरेवैतच्छेषभूतमिति न त्रित्वप्रसक्तिरिति ध्येयम्। स्पष्टं चैतद्वार्तिके। द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि द्वाभ्यां ४. न किंचिदपूर्वमिति। एतेन यदूर्ध्वमित्यादि द्वितीय वाक्यं प्रश्नान्तरमित्यपास्तं प्रश्नाभ्यामुपोदस्थामित्युपक्रमादिति ध्येयम्। ५. सा होवाचेत्यारभ्य कस्मिन्न्वित्यतः प्राक्तनम्। ६. उक्तमेव—वक्ष्यमाणवाक्यमेव। ७. अप्रयोजकत्वं निरर्थकत्वमिति यावत्।

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥७॥

तब उस याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि ! जो द्युलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे और द्यु तथा पृथिवी के बीच में हैं एवं जो स्वयं द्युलोक तथा पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, भविष्यत् अ वर्तमान ऐसे शब्दों से कहते हैं, वे सब आकाश में ही ओत-प्रोत हैं (पूर्वोक्तवाक्य से प्रथम प्रश्नो को ही पुष्ट किया गया है, जिसे अग्रिम प्रश्न के उपक्रमरूप से गार्गी ने कहा है) । किन्तु आका किसमें ओत-प्रोत है ? (गार्गी समझती है जब आकाशतत्त्व को बतलाना कठिन है, फिर भला आका के ओत-प्रोत के स्थान को बतलाना कठिन होगा । अतः प्रश्न के उत्तर न आने पर याज्ञवल्क्य स्वयं निगृहीत हो जायगा) ॥ ७ ॥

सर्वं यथोक्तं गार्ग्या प्रत्युच्चार्य तमेव पूर्वोक्तमर्थमवधारितवानाकाश एवे याज्ञवल्क्यः । [1]गार्ग्याह—कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति । [2]आकाशं तावत्कालत्रयातीतत्वाद्दुर्वाच्यम् । ततोऽपि कष्टतरमक्षरं यस्मिन्नाकाशमोतं च प्र चातोऽवाच्यमिति कृत्वा [3]न प्रतिपद्यते सा[4]ऽप्रतिपत्तिर्नाम निग्रहस्थानं तार्किकसमं अथावाच्यमपि वक्ष्यति तथाऽपि विप्रतिपत्तिर्नाम निग्रहस्थानं विरुद्धा प्रतिपत्तिर्हि

[5]प्रतिवचनानुवादतात्पर्यमाह—गार्ग्येति । प्रश्नाभिप्रायं प्रकटयति—आकाशमेवेति ॥७॥

गार्गी के पूर्वोक्त मन्त्र को पुनः उच्चारण कर याज्ञवल्क्य ने "आकाश एव" ऐसा कह पूर्वोक्तार्थ का ही निश्चय किया है । (अब) गार्गी द्वितीय प्रश्न करती है—किन्तु वह आकाश कि ओत-प्रोत है ? कालत्रय से संस्पृष्ट न होने के कारण दुर्बोधता से पहले तो आकाश का ही प्रति करना कठिन है । अक्षर तो उससे भी क्लिष्ट है, जिसमें कि आकाश ओत-प्रोत है, अतः यह अनि है, ऐसा मन में सोचते हुए उसे कोई नहीं प्राप्त कर सकता । एवं वक्तव्य की अस्फूर्ति को नैयायिक मत में निग्रहस्थान माना जाता है । तथा यदि याज्ञवल्क्य ने इस अनिर्देश्य तत्त्व का निर्देश किया यह विप्रतिपत्तिरूप निग्रहस्थान होगा क्योंकि अनिर्देश्य को कहना यह विरुद्ध प्रतिपत्ति ही

---

१. गार्गी द्वितीयं प्रश्नं करोति । २. आकाशमेवेत्यादि—अन्तर्याम्यपरपर्यायमव्याकृतमेव तावत् काल संस्पृष्टत्वाद्दुर्ज्ञानत्वेन वक्तुमशक्यम् उक्ताकाशादप्यक्षरमतिदुर्वाच्यम् । ३. अतः—अमेयत्वैकत्वप्रत्यगि त्मकत्वाव्यावृत्ताननुगतत्वज्ञाताज्ञातभिन्नत्वादिहेतुतोऽनिर्देश्यमिति मनसि निधाय अक्षरविषयां प्रतिप लभतेऽयं याज्ञवल्क्यः । ४. वक्तव्यास्फूर्तिरिति यावत् । ५. प्रतिवचनस्य योऽनुवादस्तत्तात्पर्यम् । गार्ग्यायथोक्तं सर्वमित्यन्वयाभिप्रायेण प्रतीकमादत्ते—गार्ग्येतीति ।

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्य-
***स्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमो-**

उस याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि ! आकाश के ओत-प्रोत स्थानरूप उस इस तत्त्व को तो ब्रह्मवेत्ता पुरुष 'अक्षर' कहते हैं। वह अक्षर न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न जल का गुण द्रवरूप है, न छाया है, न अन्धेरा है, न वायु है, न आकाश है, न लाक्षादि के समान संगवाला है,

---

यदवाच्यस्य वदनमतो[1] दुर्वचनं प्रश्नं मन्यते गार्गी ॥ ७ ॥

तद्दोषद्वयमपि परिजिहीर्षन्नाह—स होवाच याज्ञवल्क्य [2]एतद्वै तद्यत्पृष्टवत्यसि कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति । किं तदक्षरं यन्न क्षीयते न क्षरतीति [3]वाऽक्षरं

अप्रतिपत्तिर्विप्रतिपत्तिश्चेति दोषद्वयं [4]सामान्येनोक्तं विशेषतो ज्ञातुं पृच्छति—किं तदिति ।

इसलिए (बोलने से विप्रतिपत्ति एवं न बोलने से पराजय के कारण दोनों ओर मुसीबत दीखने से) गार्गी इस प्रश्न को दुर्बोध मान रही है ॥ ७ ॥

उक्त दोषद्वय की निवृत्ति करने की इच्छा से याज्ञवल्क्य कहते हैं। उस याज्ञवल्क्य ने कहा—(उषस्त एवं कहोल द्वारा प्रोक्त) तूने जिसके विषय में पूछा था, "कि वह आकाश किसमें ओत-प्रोत है" वह यही है। वह क्या है ? "अक्षरम्" यानी क्षीण और क्षरित न होने वाला अक्षर है। हे गार्गी !

---

१. अत इति—वदने विप्रतिपत्तिरवदने पराजय इत्युभयतः पाशदर्शनादित्यर्थः । २. एतद्वै तदित्यत्र—उषस्तप्रश्नोक्तं साक्षिचैतन्यत्वं पदलक्ष्यमेतत्पदेन विवक्षितम् । कहोलप्रश्नोक्तः तत्पदार्थोऽथ तच्छब्दार्थः । कार्यकारणविनिर्मुक्तमद्वयं स्वप्रकाशमसङ्गं वस्तु द्योतयितुं वैशब्द इति वदन्ति । ३. प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मैव तदक्षरमिति ब्राह्मणा अभिवदन्ति । ४. एतद्वै तदित्येवं सामान्येनोक्तम् ।

---

*अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमित्यादि । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"परिमाणमहाभूतप्राणनामान्वयादयः । कारणाद्या निषिध्यन्ते क्रमेण प्राप्त्यपेक्षया ॥ प्रसज्यपर्युदासाभ्यां नञर्थः कोऽत्र गृह्यते । स्थूलापह्नुतिरेकत्र पर्युदासे तदन्यता ॥ स्थूलापह्नुतिरत्र स्याद्वस्तु यत्पारमार्थिकम् । नाभावनिष्ठोऽन्यत्रापि निषेधः किमुताक्षरे ॥ पर्युदासेऽपि क्लृप्तानां न पृथक्त्वेन संस्थितिः । रज्जुसर्पादिवत्तस्मान्नोभयत्रापि दोषता ॥ दृष्टोऽपवादो लोकेस्मिन्नुत्सर्गविषये सति । स्थूलादेरपवादोऽयं निर्द्वये घटते कथम् ॥ उत्सर्गस्यास्ति विषयो योऽनिर्ज्ञातात्मतत्त्वकः । अपवादस्य विषयो ज्ञातात्मैकसतत्त्वक. ॥ अध्यस्तदिङ्निषेधश्च व्योम्न्येकस्मिन्यथा तथा । उत्सर्गापवादविधिनिषेधा एकलात्मनि ॥ यदि वाऽक्षरयाथात्म्यं स्थूलादेरिह भण्यते । स्रग्याथात्म्यमहेर्यद्वत्तथाऽस्याक्षरमात्रतः । स्थूलादिहेतोर्दाहो वा ध्वान्तस्य प्रत्यगात्मनि । अस्थूलोक्तिसमुत्थात्मयाथात्म्यज्ञानवह्निना ॥ क्षित्यादौ वियदन्तेऽस्मिन्स्थूलादेः संभवो ननु । तदोतप्रोतवाक्येन तच्च सर्वं निराकृतम् ॥ तस्याक्षरे कः प्रसङ्गो यतस्तत्प्रतिषिध्यते । अपि खे तदसंभाव्यं किमु तत्प्रत्यगात्मनि ॥ समस्तव्यस्ततां केचिद्ब्रह्मणः प्रतिजानते । यतोऽतस्तान्निषेधार्थं निषिद्धं सन्निषिध्यते ॥ व्यक्तावस्थाऽथवैतेषां निषिद्धा कारणात्मनि । शक्त्यवस्थानिषेधोऽयं क्रियते त्वक्षरात्मनि ॥ एवं च सति तत्पूर्णं ब्रह्म कृत्स्नं च युज्यते । अन्यथाऽकृत्स्नमेव स्यादनिर्मोक्षश्च सज्यते ॥ न वा निषेधः स्थूलादेस्तस्य प्रागेव सिद्धितः । तन्निषेधानुवादेन प्रतीचि ब्रह्म बोध्यते ॥ स्थूलादिमेयमामातृनिषेधफलगं स्वयम् । विद्धि

ऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवाग-मनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तद-श्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन ॥८॥

न रस है, न गन्ध है, न नेत्रवाला है, न श्रोत्रवाला है, न मनवाला है, न तेजवाला है, न . प्राणवा न मुखवाला है, न मापवाला है, उसमें न अन्दर है, न बाहर है, किंबहुना न वह स्वयं कुछ खा न उसे कोई खाता है (तात्पर्य यह है कि न वह विशेषणरूप है और न विशेषणवाला है। वह तो विशेषणों से रहित, एक अद्वितीय तत्त्व है) ॥ ८ ॥

तदक्षरं हे गार्गि ब्राह्मणा ब्रह्मविदोऽभिवदन्ति । ब्राह्मणाभिवदनकथनेन नाहम वक्ष्यामि [1]न च न प्रतिपद्येयमित्येवं दोषद्वयं परिहरति । एवमपाकृते प्रश्ने पुन प्रतिवचनं द्रष्टव्यं [2]ब्रूहि किं तदक्षरं यद्ब्राह्मणा अभिवदन्तीत्युक्त आह—[3]अस्थूलं

---

[4]अस्थूलादिवाक्यमवतार्य व्याकरोति—एवमित्यादिना । 'यदग्ने रोहितं रूपम्' इत्यादिश्रुति

"ब्राह्मणाः" अर्थात् ब्रह्मवेत्ता उसे (प्रत्यगभिन्न ब्रह्म की ही) अक्षर कहते हैं। ब्रह्मवेत्तोक्ति क "मैं अनिर्देश्य का वर्णन नहीं करूँगा, न ही मैं अक्षरविषयिणी प्रतिपत्ति से रहित हूँ" इस प्रकार दो का परिहार करते हैं। इस प्रकार प्रश्न का निराकरण हो जाने पर पुनः गार्गी के इस प्रतिव स्वरूप समझना चाहिये। वह अक्षर बताइये, जिसे ब्रह्मवेत्ता कहा करते हैं—ऐसा कहे जाने प

---

१. न चाक्षरविषयप्रतिपत्तिविधुरोऽहम् । २. प्रतिवचनस्वरूपमाह—ब्रूहीत्यादि । ३. स्थूलादन्य तथा चास्थूलत्वान्न तच्छक्यं घटादिवन्निर्देष्टुमिति भावः । ४. अस्थूलेति—ब्राह्मणानां चेत्तत्स्वसं घटादिवन्निर्देश्यं स्यादित्याशङ्क्येत्यादिः ।

सर्वान्तरं ब्रह्म साक्षादित्यादिलक्षणम् ॥ सर्वेषामपि चोद्यानामेवं सति न संभवः । नेति नेतीतिव सर्वाऽपीह समीक्ष्यताम्" ॥ ७२-८८ ॥ अह्रस्वमित्यादीनां तात्पर्यं संगृह्णाति—परिमाणेति । आद्येना रसादिग्रहो द्वितीयेन तेजोमुखाद्युक्तिः । क्रमेण निषेधे हेतुमाह—प्राप्तीति । सर्वेषु विशेषणेषु पूर्ववा विकल्पयति—प्रसज्येति । प्रसज्यप्रतिषेधपक्षे वाक्यस्याभावनिष्ठत्वमाह—स्थूलेति । द्वितीये त्व स्थूलादीनामक्षरादन्यत्वादित्याह—पर्युदास इति ॥ सिद्धान्ती प्रथमपक्षं समाधत्ते—स्थूलेति । सप्तम्यर्थ —वस्त्विति । तर्हि वाक्यस्याभावनिष्ठत्वं नेत्याह—नाभावेति ॥ द्वितीये समाधिमाह—पर्युदा वाक्यस्याभावनिष्ठत्वमद्वैतहानिर्वा नेति निगमयति—तस्मादिति ॥ प्रथमपक्षमाक्षिपति—दृष्ट हिंस्यादित्युत्सर्गविषये सत्यग्नीषोमीयं पशुमालभेतेत्यपवादो दृष्टो न च तद्विषयभेदोऽद्वयेऽस्त्यतः स्थूला इत्यर्थः ॥ वस्तुनोऽद्वयत्वेऽपि तत्रोत्सर्गापवादव्यवस्था युक्तेति परिहरति—उत्सर्गस्येति । प्रतीच्य स्थूलादि तस्मिन्नेव ज्ञाते निषिध्यते दृश्यते च रज्ज्वामज्ञातायां प्राप्तस्य सर्पादेस्तस्यां ज्ञातायां निषेधस्त प्रतिषेधः साधीयानित्यर्थः ॥ एकत्रैवाऽऽत्मनि प्राप्तिप्रतिषेधौ स्थूलादेरित्येतद्दृष्टान्तेन स्पष्टयति—अ प्रसज्यप्रतिषेधानुरोधेनास्थूलादिवाक्यस्यार्थमुक्त्वा पर्युदासमनुसृत्यार्थान्तरमाह—यदि वेति । तदेव दृष्टान्ते स्रगिति । स्थूलादिजगतोऽद्वयत्वावेदनपरं वाक्यं न निषेधपरमित्यर्थः ॥ प्रतीचि स्थूलादिहेत्वबोधस्य वाक्य

लादन्यत् । एवं तर्ह्यणु नानणु । अस्तु तर्हि ह्रस्वमह्रस्वम् । एवं तर्हि दीर्घं नापि दीर्घमदीर्घम् । [1]एवमेतैश्चतुर्भिः परिणामप्रतिषेधैर्द्रव्यधर्मः प्रतिषिद्धो [2]न द्रव्यं तदक्षरमित्यर्थः । अस्तु तर्हि लोहितो गुणस्ततोऽप्यन्यद[3]लोहितम् । आग्नेयो गुणो लोहितः । भवतु तर्ह्यपां[4] स्नेहनं [5]नास्नेहम् । अस्तु तर्हि च्छाया [6]सर्वथाऽप्यनिर्देश्यत्वाच्छायाया

त्याऽऽह—आग्नेय इति । अवायुविशेषणेनाप्राणविशेषणस्य पुनरुक्तिमाशङ्क्याह—आध्यात्मिक इति ।

वल्क्य कहते हैं—"अस्थूलम्" स्थूल से भिन्न है (क्योंकि अस्थूल होने से घटादि के समान निर्देश्य नहीं है) । तो फिर क्या अणु है, नहीं; अणु से भिन्न है । तो फिर उसे ह्रस्व कह लें, नहीं; ह्रस्व भी नहीं है । तो उसे फिर दीर्घ कह लीजिए, नहीं; वह "अदीर्घम्" यानी दीर्घ भी नहीं है । इस प्रकार विशेषण-चतुष्टय द्वारा परिमाण का प्रतिषेध करने वाले इन चार पदों के द्वारा द्रव्यधर्म का निषेध किया गया है । अतः अक्षर में परिमाण का निषेध हो जाने पर (नैयायिकों को अभीष्ट) अक्षर द्रव्य नहीं है । तो फिर वह लोहित गुण वाला हो सकता है । नहीं, नहीं; वह उससे भी भिन्न अलोहित है (लोहित सभी रूपों का उपलक्षण है, अतः सर्वरूपविवर्जित है) । लोहित अग्नि का गुण है । तो फिर उसे जल का गुण स्नेहन मान लो, ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि वह अस्नेह (मूर्तद्रव्यभिन्न) है । तो उसे छायारूप

---

१. विशेषणचतुष्टयस्य तात्पर्यमाह—एवमिति । २. न द्रव्यमिति—अत्र वार्तिके—"स्थूलादिपरिमाणं हि द्रव्यमात्रव्यपाश्रयम् । तस्माद्द्रव्यनिषेधोऽयं परिमाणनिषेधतः ॥ सर्वथाऽपि तु यत्किंचिद्वाचो गोचरतां गतम् । प्रमाणस्य च तत्सर्वमक्षरे प्रतिषिध्यते" ॥ ८९-९० ॥ इति । सर्वथाऽपीति—उक्तविशेषनिषेधोऽनुक्तविशेषनिषेधोपलक्षणमिति भावः । ३. अलोहितमिति—उपलक्षणविधया सर्वरूपवर्जितमिति यावत् । ४. स्नेहशब्देन रागविशेषं वारयति—अपामिति । ५. अलोहितमस्नेहमिति मूर्तद्रव्यत्वनिषेधः । ६. छायादिरूपेणापि वक्तुमशक्यत्वात् ।

बाधपरं वा वाक्यमित्याद्यमेव कल्पमाश्रित्यार्थान्तरमाह—स्थूलादीति ॥ निषेधपक्षे पुनरर्थान्तरं वक्तुं पूर्वपक्षयति—क्षित्यादाविति । अस्तु तर्हि पृथिव्यादावव्याकृतान्ते स्थूलादिनिषेधो नेत्याह—तदिति । यदिदं सर्वमप्स्वित्यादिना पृथिव्याद्यव्याकृतान्तमक्षरातिरेकेण नेत्यत्रधारणान्न तत्र स्थूलादिनिषेधो धर्म्यभावादित्यर्थः ॥ अक्षरे तर्हि तन्निषेध्यतामुक्तदोषाभावादित्याशङ्क्य प्राप्त्यभावान्मैवमित्याह—तस्येति । प्राप्त्यभावं कैमुतिकन्यायेनाऽऽह—अपीति । खमव्याकृतम् ॥ एवमाक्षेपे स्वयूथ्यमतनिरासपरत्वेन वाक्यस्यार्थवत्त्वमाह—समस्तेति ॥ कारणनिषेधफलोक्त्यर्थं स्थूलादिहेतोर्दाहो वेत्युक्तमनुवदति—व्यक्तेति । यदिदं सर्वमित्यादिना व्यक्तावस्था स्थूलादीनां कारणे निरस्ता तेषामेव शक्त्यवस्था कार्यकारणविलक्षणेऽक्षरे निरस्या तदर्थमस्थूलादिवाक्यमित्यर्थः ॥ कारणनिषेधे किं फलति तदाह—एवं चेति । कार्यकारणनिषेधे सति प्रतीचि श्रुतं ब्रह्मादिपदं मुख्यार्थं स्यात्तदनिषेधे वस्तुपरिच्छेदाद्गौणार्थमेवाखण्डवस्त्वात्मनाऽवस्थानाख्यो मोक्षश्च न सिध्येत्ततो मोक्षशास्त्रबाधः स्यादित्यर्थः ॥ ओतप्रोतवाक्येन तत्त्वमादिवद्विधिमुखेन बोधकमस्थूलादिवाक्यमित्यर्थान्तरं वदन्निषेधपरत्वं त्यजति—न वेति । स्थूलादिस्थूलादिनिषेधस्य सिद्धत्वादिति हेत्वर्थः । निषेधपरत्वाभावे किंपरं वाक्यं तदाह—तन्निषेधेति ॥ स ह्रि त्रेधा स्थितस्तन्निषेधस्य निषेधमनूद्य तत्साक्षिणि त्वमर्थे ब्रह्मत्वबोधनप्रकारमभिनयति—स्थूलादीति । स हि त्रेधा स्थितस्तन्निषेधस्य फलं स्फुरणं तदात्मना गम्यमानं स्वप्रकाशं त्वंपदलक्ष्यमात्मानमुक्तविशेषणं ब्रह्म विद्धीति योजना ॥ विधिमुखेन बोधकत्वे वाक्यस्याभावनिष्ठत्वमक्षरस्य सद्वयत्वमित्यादि चोद्यमनवकाशमिति लाभं दर्शयति—सर्वेषामिति । कथं नञ्वति वाक्ये विधिमुखेन बोधकत्वं तत्राऽऽह—नेत्यादिना ॥

अप्यन्यद[1]च्छायम् । अस्तु तर्हि तमोऽतमः । भवतु वायुस्तर्ह्यवायुः । भवेत्तर्ह्याका नाकाशम् । भवतु तर्हि [3]सङ्गात्मकं जतुवद[4]सङ्गम् । रसोऽस्तु तर्ह्यरसम् । [5]गन्धोऽस्त्वगन्धम् । अस्तु तर्हि [6]चक्षुरचक्षुष्कं[7] न हि चक्षुरस्य विद्यतेऽतोऽचक्षुष्कम् । "पश्यत्यचक्षुः" इति मन्त्रवर्णात् । तथाऽश्रोत्रं स शृणोत्य [8]इति । भवतु तर्हि वागवाक् । तथाऽमनः । तथा[9]ऽतेजस्कमविद्यमानं तेजोऽस्य तेजस्कम् । न हि तेजोऽग्न्यादित्यादि[10]प्रकाशवदस्य विद्यते । अप्राणमाध्यात्मिको प्रतिषिध्यतेऽप्राणमिति । मुखं तर्हि [11]द्वारं तदमुखम् । अमात्रं मीयते येन तन्मात्रमम

अमात्रमिति [12]मानमेयान्वयो निराक्रियते । तस्येत्यात्मोक्तिः । [13]संपिण्डितमर्थमाह—सर्वेति । [14]तु

कहो, नहीं उसका छायारूप कथन सर्वथा अशक्य होने के कारण वह छायारहित है । अच्छा तो अन्धकाररूप द्रव्य मान लीजिए, नहीं; वह तमोभिन्न है । तो वायुरूप मान लो, नहीं; वह वायु भी है । तो फिर आकाश मान लें, नहीं; वह आकाशभिन्न है । (सूक्ष्म राग तो आत्मा में देखा जाता इसलिए) उसे फिर लाक्षा के समान सङ्गात्मक मान लें, नहीं; वह असङ्ग है (क्योंकि असङ्ग आ किसी में नहीं मिलता) । तो आत्मा रसस्वरूप कह लीजिये, नहीं; वह अरस है । उसे गन्धस्व मानना भी नहीं बनता क्योंकि वह अगन्ध है । तो फिर वह नेत्रस्वरूप होगा, नहीं; वह अचक्षुष्क इसके नेत्रेन्द्रिय नहीं है, इसलिए अचक्षुष्क है । श्रुति भी कहती है—"वह चक्षुरिन्द्रिय के बिना देखता है" । इस प्रकार वह अश्रोत्र है । श्रुति भी कहती है—"वह कर्णेन्द्रिय के बिना भी सुनता है अच्छा तो उसे वाक्स्वरूप मान लो, नहीं; वह वाग् से भिन्न है । इसी प्रकार वह मन से परे है । प्रकार वह "अतेजस्कम्" अर्थात् तेजवृत्तिरूप विज्ञान से परे है क्योंकि अग्न्यादि प्रकाश के स प्रकाशकवृत्तिरूप तेज उसमें विद्यमान नहीं है । "अप्राणम्" अर्थात् आध्यात्मिक वायु का उसमें प्र

---

१. अच्छायमिति । छायाऽदीप्तिस्तमोध्वान्तं तदुभयभिन्नमिति चिदतिरिक्तत्वशङ्कानिराकृतेति वृत्ति भौतिकदीप्तीनामुपलक्षणतया विशेषणान्तरैर्व्युदस्तत्वेनाग्राह्यतया चिद्दीप्तिरूपमित्यर्थकमच्छायमित्युक्तम् । त भावात्मकतया तम एवाभावात्मकाऽदीप्तितो भिन्नं भवितुमर्हतीति मा स्म शङ्कीत्यतम इति । इत्थं चा विशेषणानां सर्वनिषेधे तात्पर्येण शून्यपर्यवसायितया चित्त्वमपिनिषिद्धमेव श्रुत्येत्याशङ्काऽपनीता भवती प्रायेणाह—इति चिदतिरिक्तत्वशङ्का निराकृतेति । इति—आभ्यां विशेषणाभ्याम् । शङ्का—उक्तोत्था निराकृता—उक्तविधया निरस्तेत्यर्थः । २. वाय्वाकाशनिषेधाभ्यां भूतत्वं निषिद्धम् । ३. सूक्ष्मरागादेरा दृष्टेरिदमापादनम् । ४. "असङ्गो न हि सज्जत" इति श्रुतेः । ५. रसगन्धनिषेधाभ्यां भूतगुणनि ऽभिप्रेतः । ६. अचक्षुष्कमिति—अत्र समासद्वयेनेन्द्रियसंबन्धस्तत्तादात्म्यं च प्रतिषिध्यते तदुक्तं वार्ति "नेन्द्रियाण्यस्य विद्यन्ते नापि तत्स्वयमिन्द्रियमिति" ॥ ९८ ॥ ७. अचक्षुष्कमित्यारभ्य मन इ सर्वेन्द्रियनिषेधोपलक्षणम् । ८. मन्त्रवर्णादित्यनुषङ्गः । ९. अतेजस्कमिति—तेजोऽत्र वृत्तिरूपविज्ञान वृत्तिः । १०. अग्न्यादिप्रकाशवत्प्रकाशकं वृत्तिरूपं तेजः । ११. द्वारमिति । अत्र वार्तिके—"द्वारं प्रतीकं वा यदि वा लिङ्गमुच्यते । निषेधोऽमुखमित्येवं त्रयस्याप्यभिधीयते" ॥ १०५ ॥ इति । छिद्रालम्बनचि मुखशब्दप्रयोगदर्शनादित्यर्थः । १२. अन्वयः संबन्धः मानत्वं मेयत्वं चेति यावत् । १३. निष्कृष्ट यावत् । १४. सर्वविशेषणराहित्यम् ।

[1]एतस्य वा अक्षरस्य [2]प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ [3]विधृतौ [4]तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य

हे गार्गि ! इसी अक्षर के प्रशासन में सूर्य-चन्द्र विशेषरूप से धारण किये हुए स्थिर हैं। हे र्गि ! इस अक्षर के ही प्रशासन में निमेष, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु और संवत्सर विशेषरूप

त्रारूपं तन्न भवति न तेन किंचिन्मीयते। अस्तु तर्हि च्छिद्रवदनन्तरं नास्या[5]न्तरमस्ति। वेत्तर्हि बहिस्तस्याबाह्यम्। अस्तु तर्हि भक्षयितृ तन्न[6] तदश्नाति किंचन। भवेत्तर्हि क्ष्यं कस्यचिन्न तदश्नाति कश्चन। सर्वविशेषणरहितमित्यर्थः। एकमेवाद्वितीयं हि केन किं विशिष्यते ॥ ८ ॥

* अनेकविशेषणप्रतिषेध[7]प्रयासादस्तित्वं तावदक्षरस्यो[8]पगमितं श्रुत्या तथाऽपि

दयति—एकमिति ॥८॥

[9]अथ यथोक्तया नीत्या श्रुत्यैवाक्षरास्तित्वे ज्ञापिते वक्तव्याभावात्किमुत्तरेण ग्रन्थेनेति तत्राऽऽह

र हो जाने से वह अप्राण हैं। मुख शब्द का प्रयोग छिद्रालम्बन चिह्न में देखने से वह मुखस्वरूप है, हीं; वह अमुख है। "अमात्रम्" यानी जिससे मापा जाता है, उसे मात्रा कहते हैं। वह मात्रारूप नहीं क्योंकि उससे कुछ भी नहीं मापा जाता। तो फिर उसे अन्तरालयुक्त कहो, नहीं; क्योंकि इसमें छिद्र होने से यह अनन्तर है। तो उसमें बाह्य की सभावना तो हो सकती है, नहीं; वह अबाह्य है। च्छा तो उसे भक्षण करने वाला कह लीजिए, नहीं; क्योंकि वह तो कभी कुछ नहीं खाता। वह भक्ष्य नहीं हो सकता है, क्योंकि उसे कोई भी नहीं खाता। भावाशय यह है कि वह सर्व विशेषणों से हत है। जब वह अद्वितीय अकेला ही है तो फिर किससे, किसको विशेषणयुक्त कहा जाय ॥ ८ ॥

श्रुति ने अनेक विशेषणों की अनुपपत्तिरूप प्रयास द्वारा अक्षर का अस्तित्व यहाँ तक ज्ञापित

---

१. उक्तरूपस्य। २. आज्ञायाम्। ३. नियमितौ। ४. वर्तेते। ५. छिद्रम्। ६. अनात्मव्यक्तीनामानन्त्येन प्रत्येकं निषेधाशक्तेर्भोक्तृभोग्यात्मनैकीकृत्य निषेधति—न तदिति। तदक्षरं किंचिदपि विषयं न भुङ्क्ते कोऽपि लोकस्तदक्षरं नाश्नातीत्यर्थः। वार्तिके तु व्याप्त्यर्थकमश्धातुमभ्युपगम्योक्तम्—"व्याप्यव्यापकसंबन्धो न चाप्यक्षरवस्तुनि। न तदश्नातिवाक्येन यतस्तद्वार्यते द्वयमिति" ॥ १०८ ॥ तथाचाऽऽद्यवाक्येन व्यापकत्वस्य निषेधो द्वितीयेन व्याप्यत्वस्येति विवेकः। ७. प्रयासादिति—अनुपपत्तेरित्यर्थः। तथा च वार्तिके —"स्थूलाद्यनेकधर्माणां निषेधायासकारणात्। अस्तित्वमक्षरस्येह सिद्धं तावद्दृगात्मनः" ॥ ११४ ॥ इति। निषेध्यकल्पनाऽनुपपत्त्या निषेधाऽनुपपत्त्या चाधिष्ठानत्वेनावधित्वेन च स्वप्रकाशमक्षरं सिद्धमित्यर्थः ॥ अत्र भावाधिकरणमधिष्ठानमभावाधिकरणं (भावकल्पनाधिकरणम्) चावधिरित्युच्यत इति त्रिवेकः। ८. ज्ञापितम्। ९. ननुशब्दप्रतिनिधिरत्रायमथशब्दः। प्रश्नार्थ आक्षेपार्थो वा।

*अनेकविशेषणप्रतिषेधप्रयासादस्तित्वं तावदक्षरस्योपगमितं श्रुत्येति। अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"निषिद्धमखिलं वस्तु यत्किंचिज्जगतीक्ष्यते। अवशिष्टं च यत्तच्च न प्रमाणोपपादितम् ॥ एवं चेदक्षरं तादृक्कथमस्तीति गम्यते। न हि प्रमाणविरहादस्ति वस्त्विति वीक्ष्यते ॥ सिद्धसाध्यत्वतो नैवं तथाचोक्तोत्तरत्वतः। भावा-

प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते

से धारण किये हुए नियन्त्रित होकर स्थित हैं। हे गार्गि ! इस अक्षर के ही प्रशासन में पूर्वदि से धारण किये हुए नियन्त्रित होकर स्थित हैं। हे गार्गि ! इस अक्षर के ही प्रशासन में पूर्वदि श्वेत (हिमालय) पर्वतों से बहती हैं। तथा पश्चि ओर बहने बाली नदियाँ एवं अन्य नदियाँ जिस-जिस दिशा की ओर अनुप्रवृत्त कर दी गयी हैं, उस दिशा का अनु ओर बहने वाली नदियाँ

लोकबुद्धिमपेक्ष्याऽऽशङ्क्यते यतोऽत्तो[1]ऽस्तित्वायानुमानं प्रमाणमुपन्यस्यति—एतस्य

—अनेकेति। [2]'यदस्ति तत्सविशेषणमेवेति लौकिकी बुद्धिः। आशङ्क्यते नास्त्यक्षरं निर्विशेषणि

कर दिया है तब भी क्योंकि लोकबुद्धि की अपेक्षा से उसके अस्तित्व की शङ्का होती है, इ (अक्षरप्रतियोगिक कल्पितभेदधर्मी अन्तर्यामी का) अस्तित्व सिद्ध करने के लिए "एतस्य वा

---

१. अस्तित्वायेति—अक्षरप्रतियोगिककल्पितभेदधर्म्यन्तर्याम्यस्तित्वसिद्धये इत्यर्थः। २. यदस्तीत्यादि-चाक्षरं नास्त्येव निष्प्रकारकत्वाद्व्यतिरेकेण घटादिवदिति भावः।

भावातिरेकित्वादभ्युपेतं त्वयोच्यते ॥ मानाभावे च तन्नेति व्यतिरेकः कुतोऽन्वयम्। मानाभावं कि येनैवमभिधीयते ॥ सर्वं हि मानं लोकेऽस्मिन्वस्त्वभिव्यक्तिसाधनम्। तदभावेऽनभिव्यक्तं वस्तु नास्तीति इ स्थूलाद्यनेकधर्माणां निषेधायासकारणात्। अस्तित्वमक्षरस्येह सिद्धं तावद्दृगात्मनः ॥ स्वमहिम्ना ल सेद्धुं नैवाऽऽत्मवत्क्षमः। तत्पारार्थ्यजडत्वाभ्यां मित्यभावस्तथा समः ॥ मामेयमात्रसद्भावात्तेभ्योऽत्यन्तनि स्वमहिम्ना प्रसिद्धेश्च कुतोऽभावस्य संभवः ॥ स्वतो माफलरूपत्वान्न माकार्यं प्रमाणतः। नास्तीति मानं न सिध्येत्कुम्भवत्स्वतः ॥ कुम्भ आरोप्यते यद्वत्प्रकाशो भानुसंगतेः। भानुप्रकाशसंबन्धे भानोर्नान्य स्वतोऽवगतिसंबन्धात्तथाऽभावोऽवगम्यते। तथाऽवगतिसंबन्धे नापेक्षाऽवगतेः स्वतः ॥ अतोऽत्रगत्यभा स्वतोऽवगतिं विना। सिध्यतीह ततोऽस्तित्वं स्वत एवाक्षरात्मनः ॥ उक्तो निरन्वयोऽभावो न बौद्धादिसमा तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थविज्ञानविग्रहात्क्वचित् ॥ नान्यदज्ञानतोऽस्तित्वं द्वितीयस्याऽऽत्मनो यथा। निवृत्तिस नावगत्यात्मनोऽपरा ॥ अकार्यकारणं साक्षादित्यादिगुणलक्षणम्। कूटस्थमक्षरं ध्वान्तध्वस्तौ स्यान्नो नि नास्यास्तित्वे यथा मानमेकत्वादक्षरात्मनः। तन्नास्तित्वेऽपि च तथा तयोस्तस्मात्प्रसिद्धितः ॥ सत्त्वं वाऽसत्त्वं कार्यकारणवस्तुनः। अतद्वद्बोध एवैतत्सिध्यतीव न तु स्वतः ॥ यत एवमतो नेह कश्चिद्वि अक्षरात्मनि नास्तित्वे तस्माद्धेतूक्तिरिष्यते ॥ यतो विप्रतिपद्यन्ते त्वन्तर्यामिणि वादिनः। तत्सिद्ध्यै क्रियतेऽतः परोक्तिभिः ॥ ईशितव्यार्थसंबन्धादन्तर्याम्येतदक्षरम्। चैतन्याभासमोहाख्यवर्त्मनैव न तु अनुमानश्रुतिस्तस्मादागात्तस्यैव सिद्धये। कारणात्मनि संसिद्धे सर्वं सिद्धं भवेद्यतः" ॥ १०६-१२६ ॥ इ निर्विशेषत्वे शून्यत्वापत्तिं शङ्कते—निषिद्धमिति। अक्षरस्य शिष्टत्वान्न शून्यतेति चेन्नेत्याह—अवशि कुड्यादिव्यवहितघटादिवदप्रमितमपि तदस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—एवं चेदिति। सर्वथैवाप्रमितस्यावस्तुत्वे हि न हीति। किमक्षरस्यामेयत्वमेव साध्यते किंवा नास्तित्वमपीति विकल्प्याऽऽद्यमङ्गीकृत्य सिद्धान्तयति— द्वितीयं दूषयति—तथाचेति।अप्रमेयत्वेऽपि नाक्षरस्यासत्त्वं स्वप्रकाशतया सिद्धेरसकृदुक्तेरित्यर्थः। सि

श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमन्वे-
तस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः
प्रशꣳसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः ॥९॥

आज भी करती रहती हैं। हे गार्गि ! इसी अक्षर के प्रशासन में सुवर्णादि दान लेने वाले प्रमाणज्ञ मनुष्य दाता की प्रशंसा करते हैं तथा देवगण यजमान का और पितृगण दर्वी होम का अनुवर्तन करते हैं (उक्त सभी लिङ्गों से उस अक्षरतत्त्व का अनुमान किया जाता है)॥ ९ ॥

अक्षरस्य। 'यदेतदधिगतमक्षरं सर्वान्तरं साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्माऽशनायादिधर्मातीत

शेषः। ²अन्तर्यामिणि जगत्कारणे परिस्मन्ननुमानसिद्धे विवक्षितं निरुपाध्यक्षरं सेत्स्यति जगत्कारणत्वस्योपलक्षणतया जन्मादिसूत्रे स्थितत्वादु³पलक्षणद्वारा ब्रह्मणि स्वरूपलक्षणप्रवृत्तेरन्तर्यामिण्यनुमा⁴प्रकृतोपयुक्तेति भावः। अनुमानश्रुत्यक्षराणि व्याकरोति—यदेतदिति। प्रशासने सूर्याचन्द्रमसौ

रस्य" इस मन्त्र से अनुमान प्रमाण का उपक्रम किया जाता है। (कहोलब्राह्मणोक्त तत्पदार्थरूप) जो (उषस्तब्राह्मणोक्त त्वंपदार्थरूप) यह (अस्थूलत्वादि) श्रुतिवाक्य से जाना गया है, वह सर्वान्तर,

---

१. यदेतदिति। यत्—कहोलब्राह्मणोक्तम् तत्पदार्थरूपम्। एतत्—उषस्तब्राह्मणोक्तं त्वंपदार्थात्मकम्। अधिगतम्—अस्थूलादिवाक्येनावगमितमिति यावत्। २. नन्वक्षरास्तित्वस्य साध्यत्वे किमित्यन्तर्याम्यस्तित्वसाधनायानुमानमुपन्यस्यते नन्वन्तर्यामिण्यनुमानसिद्धेऽक्षरमपि सेत्स्यतीति चेत् तत्कथमित्याशङ्क्याऽऽह—अन्तर्यामिणीति। ३. तटस्थलक्षणद्वारा। ४. अक्षरसाधिका।

साधयति—भावेति॥ इतश्च मानाभावादक्षराभावोक्तिरयुक्तेत्याह—मानेति। आक्षेपं विशदयति—मानाभावमिति। स हि दृष्टोऽदृष्टो वा नाऽऽद्येऽक्षराभावो भावाभावसाधकस्यैव तत्त्वाद्द्वितीयेऽपि न तदभावस्तत्साधकमानाभावस्यादृष्टत्वादिति भावः॥ मानाभावे मेयाभावमुपेत्योक्त्वोपेत्यवादं त्यजति—सर्वं हीति। न हि दीपाभावे तदभिव्यङ्ग्यं घटादि तमसाऽऽवृतं नास्तीति सुवचनमिति हिशब्दार्थः॥ अथ तदस्तीत्यपि दुर्वचं निश्चायकाभावादत आह—स्थूलादीति। निषेध्यकल्पनानुपपत्त्या तन्निषेधानुपपत्त्या चाधिष्ठानत्वेनावधित्वेन च स्वप्रकाशमक्षरं सिद्धमित्यर्थः॥ अक्षरस्य स्वप्रकाशत्ववन्मानमेयाभावयोरपि तद्योगान्मानाभावे चेत्याद्ययुक्तमिति चेत्तत्राऽऽह—स्वमहिम्नेति। अभावो मेयस्येति शेषः। तथेति पाराय्य्याद्यनुक्रमः। समो मेयाभावेनेत्यर्थः॥ अक्षरसाम्यं मानाद्यभावस्य जाड्यादिनाऽपोद्याक्षरस्यासत्त्वाभावे युक्त्यन्तरमाह—मामेयेति। असङ्गोदासीनतया मात्रादिभ्योऽतिशयेन निवृत्तत्वादक्षरे तेषामप्राप्तेस्तस्य स्वप्रकाशत्वाच्च नासत्त्वाशङ्केत्यर्थः॥ विमतं मेयं वस्तुत्वाद्घटवदित्याशङ्क्य जडत्वोपाधिना मिरस्यति—स्वत इति। संविद्रूपत्वादात्मनो मानेन संविदन्तरं तत्र कार्यमिति न मानतः शक्यं वक्तुमित्यर्थः। अक्षराभावोऽपि न मानाधीनप्रकाशोऽक्षरतदभावयोरन्यतरत्वादक्षरवदित्याशङ्क्याऽऽह—नेत्यादिना। विमतं मेयं जडत्वाद्घटवदन्यथा स्वरूपहानिरिति भावः॥ अक्षरास्तित्वं स्वतः सिद्धं तदभावस्तु नैवमित्यत्र दृष्टान्तमाह—कुम्भ इति। कुम्भे हि भानुसंबन्धात्प्रकाशतेऽसावित्यारोप्यते प्रकाशो नैवं भानोरेष प्रकाशत इति स्वप्रकाशसंबन्धे कुम्भाद्यपेक्षते यथेत्यर्थः॥ दार्ष्टान्तिकमाह—स्वत इति। उक्त-

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने । यथा राज्ञः प्रशासने राज्यम[1]स्फुटितं नियतं
एवमेतस्याक्षरस्य प्रशासने हे गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ सूर्यश्च चन्द्रमाश्च सूर्याचन्द्रम
[2]होरात्रयोर्लोकप्रदीपौ तादर्थ्येन प्रशासित्रा ताभ्यां निर्वर्त्यमानलोकप्रयोजनविज्ञा

विधृतौ स्यातामिति संबन्धः । उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्फोरयति—यथेति । अत्रापि पूर्ववद
[3]जगद्व्यवस्था प्रशासितृपूर्विका व्यवस्थात्वाद्राज्यव्यवस्थादित्यर्थः । सूर्याचन्द्रमसावित्यादौ ।
क्षितमनुमानमाह—सूर्यश्चेत्यादिना । तादर्थ्येन लोकप्रकाशार्थत्वेन । प्रशासित्रा निर्मित
संबन्धः । निर्मातुर्विशिष्ट[4]विज्ञानवत्त्वमाचष्टे—ताभ्यां निर्वर्त्यमानेति । सूर्याचन्द्रमसौ तच्छब्दवा

साक्षात्, अपरोक्ष ब्रह्मरूप अक्षर है। जो अशनायादि धर्मों से अतीत आत्मा है; हे गार्गी!
प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा उसी प्रकार स्थित रहते हैं; जिस प्रकार राजा के प्रशासन में
अभिन्न मर्यादा वाला एवं नियम में रहता है। सूर्य और चन्द्रमा दिन और रात के समय लोक के
हैं और जिन्हें उनके द्वारा सिद्ध होने वाले लोक के प्रयोजन के विज्ञाता प्रशासक ने उस उद्देश्य को

---

[1] अस्फुटितम्—अभिन्नमर्यादम् । [2] अहोरात्राधिकरणौ । [3] प्रशासने इत्यत्र विवक्षितमनुमान
जगद्व्यवस्थेति । [4] सर्वज्ञत्वमिति यावत् ।

दृष्टान्तादभावो भावश्चावगतियोगादगम्यते न स्वतोऽवगतेस्त्ववगन्तव्यवदवगतिसंबन्धे नान्यापेक्षा
एवावगतिरित्यर्थः । उत्तरार्धे स्थितं नञ्पदं पूर्वार्धेऽपि संबध्यते ॥ अवगतेः स्वतस्त्वे तदभावोऽपि स्वतः
द्भावाभावयोरन्यतरत्वात्तद्भाववदित्याशङ्क्योपजीव्यभावविरोधान्नेत्याह—अत इति । विपक्षे त्ववगत
ज्जगत्यान्ध्यप्रसक्तिरित्याह—अवगतिमिति । फलितं निगमयति—तत इति ॥ अक्षरस्य स्वतः सिद्धेस्त
दुर्वचनत्वान्न स्थूलादिनिषेधेऽपि शून्यतेत्यापाद्य तत्रैव हेत्वन्तरमाह—उक्त इति । वाक्यीयवस्त्वाका
विना न क्वचिदपि स्थूलादावात्यन्तिकोऽभावो बाह्यवदस्माभिरुच्यते तन्न शून्यतेत्यर्थः ॥ स्थूलाद्यभावस्य
सैवशून्यताऽनात्मत्वे त्वद्वैतहानिरित्याशङ्क्याऽऽह—नान्यदिति ॥ अज्ञानस्याऽऽत्मानतिरेके तस्याजाड्य
तेनैव सद्वयतेत्याशङ्क्याऽऽह—अकार्येति । सम्यग्ज्ञानान्निःशेषतयाऽज्ञाननिवृत्तावद्वयमेव वस्तु स्यादि
तस्य मानानतिरेके मेयसंबन्धादसङ्गताहतिरतिरेके च सैवाद्वैतहानिरित्याशङ्क्याऽऽह—नास्येति । अक्षरस्य
ऽसत्त्वे वा न मानमस्ति सर्वत्र सत्त्वासत्त्वयोरक्षरादेव सिद्धेर्न च तस्य प्रकाशत्वेऽपि दीपवन्मानापेक्षा
सत्वादज्ञानध्वंसित्वेनापेक्षितमपि न द्वैतमावहति मृतमारणाल्लज्जन्ती सा भावमपि निर्दहेदिति न्यायादि
सर्वं स्यानात्मनोऽकार्यकारणे प्रतीचि चिद्धातौ कल्पितत्वाच्च नाद्वैतहानिरित्याह—सत्त्वं वेति ॥
प्रत्यगक्षरस्य यतोऽस्तित्वं सिद्धमतोऽस्मिन्वादिनामविवादात्तदस्तित्वे वक्ष्यमाणहेतूक्तिर्नेष्यते तथाचानुमान
परोऽनन्तरसंदर्भो वृथेति शङ्कते—यत इति । निरुपाध्यक्षरविषयत्वनानुमोक्तिवैयर्थ्येऽपि सोपाधिकर्ता
तदर्थवत्तेति समाधत्ते—यत इत्यादिना ॥ अक्षरमेवान्तर्यामीत्युक्तत्वात्तयोरनुमाविषयत्वं तदविषयत्वं
व्यवस्थायां भेदात्पूर्वापरविरोध इत्याशङ्क्याऽऽह—ईशितव्येति ॥ काल्पनिको भेदो वस्तुतश्चाभेद
कल्पितभेदमन्तर्यामिणमधिकृत्यानुमानप्रवृत्तिरिति फलितमाह—अनुमानेति । अन्तर्यामिण्यनुमान
कथमनुमानादक्षरसिद्धिस्तत्राऽऽह—कारणेति । जगत्कारणस्योपलक्षणताया जन्मादिसूत्रे स्थितत्वात्त
पूर्णमनौपाधिकमक्षरं सिध्यतीति तटस्थलक्षणद्वारा ब्रह्मणि स्वरूपलक्षणसिद्धेरतोऽन्तर्यामिण्यनुमा
पयोगिनीत्यर्थः ॥

र्मितौ विधृतौ च स्यातां साधारणसर्वप्राणिप्रकाशोपकारकत्वाल्लौकिकप्रदीपवत् ।

[1]तस्मादस्ति [2]तद्येन विधृतावी[3]श्वरौ स्वतन्त्रौ सन्तौ निर्मितौ तिष्ठतो [4]नियतदेश-
ालनिमित्तोदयास्तमयवृद्धिक्षयाभ्यां च वर्तेते [तदस्त्येवमेतयोः प्रशासित्रक्षरं प्रदीपकर्तृ-
विधारयितृवत् । एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ द्यौश्च पृथिवी च
ावयवत्वात्स्फुटनस्वभावे अपि सत्यौ गुरुत्वात्पतनस्वभावे संयुक्तत्वा[5]द्वियोगस्वभावे

---

[6]विमतौ विशिष्टविज्ञानवता निर्मितौ प्रकाशत्वात्प्रदीपवदित्यर्थः । [7]विमतौ नियन्तृपूर्वकौ विशिष्टचेष्टा-
त्त्वाद्भृत्यादिवदित्यभिप्रेत्याऽऽह—विधृताविति । प्रकाशोपकारकत्वं तज्जनकत्वं निर्मातुर्विशिष्ट-
विज्ञानसंभावनार्थं साधारणेति विशेषणं [8]साधारणः सर्वेषां प्राणिनां यः प्रकाशस्तस्य जनकत्वादिति
ावत् । दृष्टान्ते लौकिकविशेषणं [9]प्रसादादिविशिष्टदेशनिविष्टत्वसिद्ध्यर्थम् ।

अनुमानफलमुपसंहरति—तस्मादिति । विशिष्टचेष्टावत्त्वादित्युपदिष्टं हेतुं स्पष्टयति—
नियतेति । नियतौ देशकालौ नियतं च निमित्तं प्राण्यदृष्टं तद्वन्तौ सूर्याचन्द्रमसावुद्यन्तावस्तं यन्तौ च
येन [10]विधृतावुदयास्तमयाभ्यां [11]वृद्धिक्षयाभ्यां च वर्तेते । उदयश्चास्तमयश्चोदयास्तमयं वृद्धिश्च क्षयश्च
वृद्धिक्षयमिति [12]द्वंद्वं गृहीत्वा द्विवचनम् । एवं कर्तृत्वेन विधारयितृत्वेन चेत्यर्थः । [13]विमते प्रयत्नवता
विधृते सावयवत्वेऽप्यस्फुटितत्वाद्गुरुत्वेऽप्यपतितत्वा[14]त्संयुक्तत्वेऽप्यवियुक्तत्वाच्चेतनावत्त्वेऽप्यस्वतन्त्र-
त्वाच्च हस्तन्यस्तपाषाणादिवदिति द्वितीयपर्यायस्य तात्पर्यमाह—सावयवत्वादित्यादिना ।

के लिए रचा है, सामान्यरूप से सभी प्राणियों का प्रकाशरूप उपकारक होने से लोकव्यवहारसिद्ध
दीपक के समान धारण किए हुए स्थित हैं।

उक्त कारण से जिसके द्वारा ये दोनों स्वतन्त्र और चेतनावत्त्व होने से निर्मित और विधृत होकर नियत देश, काल और निमित्त से युक्त उदय-अस्त एवं वृद्धि-क्षय को प्राप्त हुए रहते हैं, वह अक्षर है तथा इस प्रकार वह अक्षर प्रदीप के कर्ता एवं विधारक के समान दोनों का प्रशासक है। हे गार्गी ! उस अक्षर के प्रशासन में "द्यावापृथिव्यौ" यानी द्युलोक और पृथिवी सावयव होने से स्फुटन-स्वभाव वाले, गुरुत्व होने से पतनस्वभाव वाले, संयुक्त होने से (संयोग का वियोग में अवसान होने से)

---

[1] तस्मात्—साधारणसर्वप्रकाशजनकत्वरूपाव्यभिचारिलिङ्गात् । [2] अक्षरम् । [3] ईश्वरौ—चेतनौ देवतात्वाच्चेतनावत्त्वं स्वातन्त्र्यं च तयोरस्तीत्यर्थः । [4] नियतदेशकालनिमित्ताविति —न्याय्यष्टीकानुरोधात् स च पाठो लेखकप्रमादात्परिभ्रष्ट इति प्रतिभाति । [5] वियोगस्वभाव अपि सत्याविति—संयोगस्य वियोगावसानत्वेऽपि द्यावापृथिव्योः संयुक्तयोर्वियोगादर्शनं नियन्तारं विनाऽनुपपद्यमानं तत्कल्पकमित्यर्थः । [6] सूर्याचन्द्रमसौ । [7] सूर्याचन्द्रमसौ । [8] सर्वान्प्रत्युत्कर्षापकर्षरहितः । [9] प्रासादादीति । एवं च चिद्रूपदीपकव्यच्छेद इति भावः इति वदन्ति । लोकप्रसिद्धत्वं लौकिकत्वमित्यभिप्रेत्याह—प्रासादादीति । प्रासादाद्युच्चप्रदेशस्थितो हि सर्वप्रकाशको भवति नान्तर्गृहकोणादिस्थः । तथा च दृष्टान्ते हेत्वसिद्धिवारणाय लौकिकविशेषणमिति भावः । [10] नियमितौ । [11] वृद्धिक्षयाभ्यामिति—एतच्च चन्द्रमात्रान्वयि दक्षिणोत्तरदिग्गतापकर्षोत्कर्षौ तदयनतया सूर्ये समारोप्य तद्रूपवृद्धिक्षयौ सूर्येऽपि वा सम्भवत इति ध्येयम् । [12] द्वन्द्वमिति—उक्तरीत्या समाहारद्वन्द्वम् अथवा समाहारद्वन्द्वेन निष्पन्नं युगलमित्यर्थः । [13] द्यावापृथिव्यौ । [14] संयुक्तत्वेऽपीति संयुक्तत्वं स्वाधारदेशसंश्लिष्टत्वम् प्रयत्नवताऽविधृतो हि पाषाणादिर्यत्र गिरिशिखरादौ स्थितस्ततः कालान्तरे विचलन् वियुज्य एव नेमे तथेति भावः ।

चेतनावदभिमानिदेवताधिष्ठितत्वात्स्वतन्त्रे अप्येतस्याक्षरस्य प्रशासने वर्तेते
तिष्ठतः ।

एतद्ध्यक्षरं [1]'सर्वव्यवस्थासेतुः सर्वमर्यादा[2]विधरणमतो[3]' नास्याक्षरस्य
द्यावापृथिव्यावतिक्रामत[4]स्तस्मात्सिद्धमस्यास्तित्वमक्षरस्य । अव्यभिचारि हि
यद्द्यावापृथिव्यौ नियते वर्तेते । चेतनावन्तं प्रशासितारमसंसारिणमन्तरेण नैतद्
"येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा" इति मन्त्रवर्णात् ।

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता इत्येते कालावयवाः
तीतानागतवर्तमानस्य जनिमतः [5]कलयितारः । यथा लोके प्रभुणा नियतो गणकः

---

[6]'किमित्येतस्य प्रशासने द्यावापृथिव्यौ वर्तेते तत्राऽऽह—एतद्धीति । पृथिव्यादि
नियन्तारं विनाऽनुपपन्ना तत्कल्पिकेत्यर्थः । [7]तथाऽपि किमित्येतेन विधृते द्यावापृथिव्याविति तत्रा
सर्वमर्यादेति । 'एष सेतुर्विधरणः' इति श्रुत्यन्तरमाश्रित्य फलितमाह—अतो नास्येति । द्वितीयप
मुपसंहरति—तस्मादिति । तच्छब्दोपात्तमर्थं स्फोरयति—अव्यभिचारीति । अव्यभिचारित्वं प्र
—चेतनावन्तमिति । पृथिव्यादेर्नियतत्वमेतच्छब्दार्थः । नियन्तृसिद्धावपि कथमीश्वरसि
शङ्कयाऽऽह—येनेति । उग्रत्वं पृथिव्यादेश्चेतनावदभिमानिदेवतावत्त्वेन स्वातन्त्र्यम् । 'येन [8]'स्वस
येन नाको यो अन्तरिक्षे[9]' [10]रजसो [11]विमानः [12]कस्मै देवाय हविषा [13]विधेम' इत्यत्र [14]हिर
धिष्ठातेश्वरः पृथिव्यादेर्नियन्तोच्यते । न हिरण्यगर्भमात्रस्यास्मिन्प्रकरणे पूर्वापरग्रन्थयो
निरङ्कुशं सर्वनियन्तृत्वं संभवतीति भावः ।

एते कालावयवा विधृतास्तिष्ठन्तीति संबन्धः । [15]तत्रानुमानं वक्तुं हेतुमाह—सर्वस्ये

वियुक्तस्वभाव वाले और चेतनावत्त्व अभिमानी देवता से अधिष्ठित होने के कारण स्वतन्त्र हों
भी इस अक्षर के प्रशासन में नियमित होकर स्थित हैं ।

यह अक्षर ही सेतु के समान सर्वविध व्यवस्था का हेतु है, समस्त मर्यादाओं का विधा
इसलिए द्यु लोक और पृथिवी इसके प्रशासन का उल्लंघन नहीं करते । इसलिए (उक्त अव्य
हेतु से) इस अक्षर का अस्तित्व सिद्ध होता है । द्यु लोक और पृथिवी जिसकी सत्ता से निय
कर विद्यमान हैं, वह अव्यभिचारी लिङ्ग है । क्योंकि किसी चेतनावान् असंसारी के बिना ऐसा
सिद्ध नहीं होता । श्रुति भी इसी का समर्थन करती है—"जिसके द्वारा द्यु लोक उग्र और पृथि
की गयी है" ।

हे गार्गी ! इसी अक्षर के प्रशासन में निमेष, मुहूर्त इत्यादि काल के अवयव समस्त
अनागत और वर्तमान उत्पन्न पदार्थों की (देवता होने के कारण) गणना करते हैं । जिस प्रकार

---

१. सेतुरिव व्यवस्थाहेतुरित्यर्थः । २. विधारकम् । ३. सर्वमर्यादाविधारकत्वात् । ४. उ
चारिहेतुजातात् । ५. देवतात्वाद्गणयितारः । ६. किमितीति—इति किमर्थं कल्प्यत इत्यर्थः
अर्थापत्त्यानियन्तृसिद्धावपि । ८. स्वस्तम्भितमिति पाठान्तरम् । ९. वर्तमानस्य । १०. लोकस्य ।
विधारयिता । १२. ब्रह्मणे । १३. परिचरेम । १४. हिरण्यगर्भस्याप्यधिष्ठातेश्वरः । १५. तृ
विवक्षितम् ।

ययं चाप्रमत्तो गणयति तथा प्रभुस्थानीय एषां कालावयवानां नियन्ता । तथा प्राच्यः ागञ्चनाः पूर्वदिग्गमना नद्यः स्यन्दन्ते स्रवन्ति श्वेतेभ्यो हिमवदादिभ्यः पर्वतेभ्यो गिरिभ्यो ङ्गाद्या नद्यस्ताश्च यथा प्रवर्तिता एव नियताः प्रवर्तन्तेऽन्यथाऽपि प्रवर्तितुमुत्सहन्त्यस्त- ितलिङ्गं [1]प्रशास्तुः । प्रतीच्योऽन्याः प्रतीचीं दिशमञ्चन्ति सिन्ध्वाद्या नद्यः । अन्याश्च ां यां दिशमनुप्रवृत्तास्तां तां न व्यभिचरन्ति तच्च लिङ्गम् ।

किंच ददतो हिरण्यादीन्[2]प्रयच्छत [3]आत्मपीडां कुर्वतोऽपि [4]प्रमाणज्ञा अपि मनुष्याः [5]प्रशंसन्ति । [6]तत्र [7]यच्च दीयते ये च ददति ये च प्रतिगृह्णन्ति तेषामिहैव समागमो

कलयिता स नियन्तृपूर्वक इति व्याप्तिभूमिमाह—यथेति । दार्ष्टान्तिकं दर्शयन्ननुमानमाह—तथेति । निमेषादयो नियन्तृपूर्वकाः कलयितृत्वात्संप्रतिपन्नवदित्यर्थः । कास्ता नद्य इत्यपेक्षायामाह—गङ्गाद्या इति । अन्यथा प्रवर्तितुमुत्सहमानत्वं तत्तद्देवतानां चेतनत्वेन स्वातन्त्र्यम् । ‘विमता नियन्तृपूर्विका नियतप्रवृत्तित्वाद्भृत्यादिप्रवृत्तिवदिति चतुर्थपर्यायार्थः । नियतप्रवृत्तिमत्त्वं तदेतदित्युच्यते । तच्चेत्य- व्यभिचारित्वोक्तिः ।

‘विमतं विशिष्टज्ञानवद्दातृकं कर्मफलत्वात्सेवाफलवदित्यभिप्रेत्य पञ्चमं पर्यायमुत्थापयति— किंचेति । दाता प्रतिग्रहीता दानं देयं वा फलं दास्यति किमीश्वरेणेत्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति । दात्रादीनामिहैव प्रत्यक्षो नाशो दृश्यते तेन तत्प्रयुक्तो दृष्टः पुरुषार्थो न कश्चिदस्तीत्यर्थः । अदृष्टं

व्यवहार में स्वामी के द्वारा नियुक्त किया हुआ लेखाकार प्रमादशून्य होकर समस्त आय-व्यय का हिसाब रखता है, उसी प्रकार इन कालावयवों का नियन्ता भी प्रभुस्थानीय है। जिस प्रकार "श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः" यानी हिमालय आदि पर्वतों से "प्राच्यः अर्थात् पूर्व दिशा की ओर गमन करने वाली अर्थात् बहने वाली गङ्गादि नदियों की, अन्य दिशा में प्रवृत्त होने की सामर्थ्य होने पर भी जिस ओर नियमित कर दी जाती हैं, उसी ओर बहती रहती हैं, यह भी उस प्रशासक की सत्ता का ज्ञापक हैं । तथा अन्य पश्चिम दिशा की ओर बहने वाली सिन्धु आदि नदियाँ हैं। अन्य नदियाँ भी जिस-जिस दिशा की ओर बहने के लिए प्रवृत्त कर दी जाती हैं, उसी दिशा की ओर ही बहती हैं। यह भी उस अक्षर प्रशासक के अस्तित्व का ज्ञापक है।

इसके अतिरिक्त (दुःख से उपार्जित किये हुए) सुवर्णादि का, मनःखेद होने पर भी दान करने वाले पुरुष की श्रुतिप्रमाणज्ञ जन प्रशंसा करते हैं। उक्त प्रशंसा में स्थित होने पर जो कुछ द्रव्यादि

---

१. प्रशास्तुरिनि—प्रशास्तृशब्दोऽयम् "तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ" उ० २।२५९ इत्युणादिसूत्रविहिततृन्तृजन्यतरान्तः अनिट्त्वमप्यत्रैवोच्यते चानिटाविति । अत्र च शास्तेः साक्षादश्रवणेऽपि क्षदादीत्यादिशब्दग्राह्यत्वं व्याख्यातृभिरुक्तम् । अत्रैव भाष्ये पूर्वमनेकशः सेट्प्रयोगास्तु "ण्वुल्तृचाविति" तृज्युत्पन्ना इति ध्येयम् । २. पुरुषान् । ३. दुःखोपार्जितस्य दाने मनःखेदः प्रसिद्धः । ४. 'हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्त' इति श्रुतिप्रमाणज्ञाः । ५. प्रशंसन्तीति—तथा चैतस्य प्रशंसनस्य फलसंबन्धपूर्वकत्वेन तत्कर्त्रक्षरं सिद्धम् । तदुक्तं— "दुःखार्जितधनत्यागिनुतिश्च जगतीक्ष्यते । नेयं युक्ताऽप्रसिद्धेशे तत्कर्मफलदायिनि" ॥ वा० १४२ ॥ इति । ६. तत्र यथोक्तप्रशंसने स्थिते सति । ७. यत्—द्रव्यादि । ८. नदीनां प्रवृत्तयः । ९. कर्मफलम् ।

विलयश्चान्वक्षो दृश्यते । अदृष्टस्तु [1]परः समागमः । [2]तथाऽपि मनुष्या ददतां दा
संयोगं पश्यन्तः प्रमाणज्ञतया प्रशंसन्ति । [3]तच्च कर्मफलेन संयोजयितरि कर्तुः क
विभागज्ञे प्रशास्तर्यसति [4]न स्यात् । दानक्रियायाः प्रत्यक्षविनाशित्वात् । [5]तस्मा
दानकर्तॄणां फलेन संयोजयिता ।

अपूर्वमिति चेन्न । [6]तत्सद्भावे प्रमाणानुपपत्तेः । प्रशास्तुरपीति चेन्न । [7]आ

पुरुषार्थं प्रत्याह—अदृष्टस्त्विति । समागमः फलप्रतिलम्भः स खल्वैहिको न भवति किंतु पारलौ
[9]स्तथा च नासाविहैव नष्टदात्रादिप्रयुक्तः संभवतीत्यर्थः । [8]तर्हि फलदातुरभावात्स्वार्थभ्रं
'मूर्खतेति'[10] न्यायाद्दातृप्रशंसैव मा भूदित्याशङ्क्याऽऽह—तथाऽपीति । फलसंयोगदृष्टौ हेतु
प्रमाणज्ञतयेति । 'हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते' इत्यादि प्रमाणम् । [11]तथाऽपि [12]कथमीश्वरसिद्धिर
—कर्तुरिति । तद्धि दातृप्रशंसनं विशिष्टे नियन्तर्यसत्यनुपपन्नं [13]तत्कल्पकमित्यर्थः । [14]दानक्रिया
तत्फलसिद्धौ कृतं नियन्त्रेति चेन्नेत्याह—दानेति । कर्मणः क्षणिकत्वात्फलस्य च कालान्तरभा
साधनत्वोपपत्तिरित्यर्थः । अनुमानार्थापत्तिभ्यां सिद्धमर्थमुपसंहरति—तस्मादिति ।

[15]अपूर्वस्यैव फलदातृत्वात्कृतमीश्वरेणेति शङ्कते—अपूर्वमिति चेदिति । स्वयमचेतनं
नधिष्ठितं चापूर्वं फलदातृ न कल्प्यमप्रामाणिकत्वादिति परिहरति—नेति । ईश्वरद्वेषी श
प्रशास्तुरिति । सद्भावे प्रमाणानुपपत्तिरिति शेषः । परिहरति—नाऽऽगमेति । कथं [16]कार्यपरस्या

दिया जाता है, जो देते हैं एवं जो ग्रहण करते हैं, उनका यहीं संयोग और वियोग प्रत्यक्ष देखा
हैं । पारलौकिक संयोग तो अदृष्ट है । तो भी दाता का दान के फल से संयोग देखने वाले पुरुष प्र
से उनकी ("हिरण्यदान करने वाले पुरुष अमृतत्व की प्राप्ति करते हैं" इस प्रकार) प्रशंसा क
दाता की प्रशंसा तो कर्मफल से संयोग कराने वाले कर्ता और कर्मफलविभाग जानने वाले प्रशा
सत्ता न होने पर संभव नहीं थी, क्योंकि दानक्रिया तो प्रत्यक्ष विनाशस्वभाव वाली है । इसलि
का फल से संयोग कराने वाला कोई तो है ही ।

यदि कहें, धर्माधर्म का अपरपर्याय अपूर्व ही फलदाता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है
उसके अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है । इस पर पुनः पूर्वपक्षी शङ्का करता है—वैसे तो प्र

---

१. पारलौकिकः । २. तथापि—नष्टानां फलदानासामर्थ्येऽपि । ३. दातृप्रशंसनं च । ४. न स्व
नष्टानां फलदानासामर्थ्यात् प्रशंसादृष्टेश्च फलदात्रेश्वरेण भवितव्यमित्यर्थः । ५. तस्मात्—उक्ता
पत्त्योर्जागरुकत्वात् । ६. जीवात्मना चेतनेनाधिष्ठितं तत्फलदातृ स्यान्नेत्याह—तत्सदिति । तत्—
अनुपपत्तिरभावः । अदृष्टसत्त्वे मानाभावान्न तत्फलदातृ स्यादित्यर्थः । ७. आगमेति—पूर्वोक्ताग
मानार्थापत्त्योरप्युपलक्षणम् । ८. अदृष्टपुरुषार्थस्य पारलौकिकत्वे च । ९. नष्टदात्रादिप्रयुक्तपु
१०. इति न्यायादिति । "अपमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा च पृष्ठतः । स्वकार्यं साधयेद्धीमानि"ति पू
निष्फलदानकर्तुः स्वार्थभ्रंशित्वेऽपि दानक्रियाप्रयुक्तप्रशंसाविषयत्वे किं बाधकं तत्राऽऽह—मूर्खतेति । स
हि मूर्खः । न च मूर्खः प्रशंसामर्हतीति भावः । ११. दातृप्रशंसने सत्यपि । १२. कथमिति—कश्चि
एव कर्मफलदाता स्यादिति भावः । १३. विशिष्टनियन्त्रीश्वरकल्पकम् । १४. दानक्रियात्मकस्य
वेत्यर्थः । १५. धर्माधर्मापरपर्यायस्य । १६. "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानामि"त्यभि
रेकते—कार्यपरस्येति ।

त्पर्यसिद्धत्वात् । [१]अवोचाम ह्यागमस्य वस्तुपरत्वम् । किंचान्यदपूर्वकल्पनायां चार्थापत्तेः [२]क्षयोऽन्यथैवोपपत्तेः । सेवाफलस्य सेव्यात्प्राप्तिदर्शनात् ।

सेवायाश्च क्रियात्वा[३]त्तत्सामान्याच्च यागादानहोमादीनां सेव्यादीश्वरादेः फलप्राप्तिरुपपद्यते । दृष्टक्रियाधर्मसामर्थ्यमपरित्यज्यैव फलप्राप्तिकल्पनोपपत्तौ दृष्टक्रियाधर्मसामर्थ्यपरित्यागो न न्याय्यः । कल्पनाधिक्याच्च । ईश्वरः [४]कल्प्योऽपूर्वं वा । तत्र क्रियायाश्च [५]स्वभावः

वस्तुपरत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—अवोचामेति । [६]कर्मविधिर्हि फलदात्रतिरेकेण नोपपद्यते न च कर्माऽऽशुतरविनाशि कालान्तरभाविफलानुकूलं [७]तदर्थापत्तिसिद्धेऽपूर्वे कथं मानासिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—किंचेति । न केवलं सद्भावे प्रमाणासत्त्वमेवापूर्वे दूषणं किन्त्वन्यच्च[८] किंचिदस्तीति यावत् । [९]तदेव प्रकटयति—अपूर्वेति ।अपूर्वस्य कल्पनायां याऽर्थापत्तिः शङ्क्यते तस्याः कल्पितमपूर्वमन्तरेणाप्युपपत्तेः क्षयः स्यादिति योजना । अन्यथाऽप्युपपत्तिं विवृणोति—सेवेति । यागादिफलमपीश्वरात्संभवतीति[१०] शेषः ।

कथमीश्वराधीना यागादिफलप्राप्तिस्तत्राऽऽह—सेवायाश्चेति । आदिपदेनेन्द्रादिदेवता गृह्यन्ते । [११]विमता विशिष्टज्ञानवता दीयमानफलवती विशिष्टक्रियात्वा[१२]त्संप्रतिपन्नवदिति भावः । [१३]इतश्चापूर्वकल्पना न युक्तेत्याह—दृष्टेति । दृष्टं सेवाया [१४]धर्मत्वेन सामर्थ्यं सेव्यात्फलप्रापकत्वं तदनुसृत्य दानादौ फलप्राप्तिसंभवे [१५]तन्निरासेनापूर्वात्तत्कल्पना न न्याय्या दृष्टानुसारिण्यां कल्पनायां[१६] तद्विरोधिकल्पनायोगादित्यर्थः । [१७]अपूर्वस्य फलहेतुत्वे दोषान्तरमाह—कल्पनेति । तदाधिक्यं वक्तुं [१८]परामृशति—ईश्वर इति । नापूर्वं कल्प्यं क्लृप्तत्वात्तन्न कल्पनाधिक्यमित्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति । व्यवहारभूमिः सप्तम्यर्थः ।

अस्तित्व में भी कोई प्रमाण नहीं है। इस पर सिद्धान्ती कहता है—उसमें तो पूर्वोक्त आगम का तात्पर्य सिद्ध हो चुका है। पूर्वसन्दर्भ में वहाँ-वहाँ हम कह आये हैं कि आगम वस्तुपरक है। इसके अतिरिक्त अपूर्व की कल्पना में जिस अर्थापत्ति का आश्रय लिया जाता है, उसका क्षय तो दूसरी तरह भी यानी अपूर्वातिरेक फलप्राप्ति द्वारा भी सिद्ध हो सकता है। सेवा करने से सेव्य द्वारा फलप्राप्ति लोकव्यवहार में देखी जाती है।

सेवा के क्रिया होने से एवं क्रियारूप से सेवातुल्य होने से याग, दान और होमादि के फल की प्राप्ति भी ईश्वरादि सेव्यों से होनी संभव है। क्रियाधर्म के दृष्ट सामर्थ्य का परित्याग किये बिना यदि फलप्राप्ति की कल्पना उत्पन्न हो सकती है तो उस दृष्टक्रिया-धर्मसामर्थ्य का परित्याग करना युक्तिसंगत नहीं है। इसके अतिरिक्त अपूर्व को स्वीकार करने में कल्पनाधिक्य दोष भी होता है। कर्मविधि

---

१. तत्र तत्र पूर्वसंदर्भे । २. क्षयः ईश्वरमादायैव चारितार्थ्यम् । तदेव स्पष्टयति—अन्यथैवेति । अन्यथाऽपीत्यर्थः । अपूर्वातिरेकेणापि फलप्राप्तेरिति यावत् । ३. क्रियात्वेन सेवातुल्यत्वात् । ४. कर्मविधिना किं कल्प्यमुपपद्यत इत्यर्थः । ५. सेव्यद्वाराफलप्रापणं क्रियास्वभावो लोके दृष्ट इत्यर्थः । ६. कर्मविधिः—स्वर्गकामो यजेतेत्येवमादिः । ७. तत्—तस्मात् । कर्मविधेः फलदात्रतिरेकेणानुपपत्तेः । यथोक्तकर्मणश्च यथोक्तफलानुकूलत्वादित्यर्थः । ८. अर्थापत्तेर्बाधकं चेत्यर्थः । ९. तदेव—दूषणान्तरमेव । १०. तथा चादृष्टमन्तरेवार्थापत्तिरुपक्षीणेति भावः । ११. यागादिक्रिया । १२. राजादिसेवावत् । १३. ननु सेवाफलं सेव्याद् युक्तं दृष्टत्वाद्दानादिफलं तु नेश्वरादप्रसिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—इतश्चेति । १४. सेवानिष्ठधर्मरूपमित्यर्थः । १५. लोकदृष्टक्रियाधर्मसामर्थ्यत्यागेन । १६. संभवन्त्याम् । १७. अपूर्वस्येति—अर्थापत्तेरन्यथैवोपपत्तिमुक्त्वेत्यादिः । १८. विचारयति ।

सेव्यात्फलप्राप्तिर्दृष्टा न त्वपूर्वान्न चापूर्वं [1]दृष्टम् । तत्रापूर्वम[2]दृष्टं कल्पयि तस्य च फलदातृत्वे सामर्थ्यं सामर्थ्ये च सति [3]दानं चा[4]भ्यधिकमिति । [5]इह त्वीश्व सेव्यस्य सद्भावमात्रं कल्प्यं नतु फलदानसामर्थ्यं दातृत्वं च । सेव्यात्फलप्राप्तिदर्शना अनुमानं च दर्शितं द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत इत्यादि[6] ।

[7]तथा च यजमानं देवा ईश्वराः सन्तो जीवनार्थे[8]ऽनुगताश्चरुपुरोडाशाद्यु[9]पजी प्रयोजनेना[10]न्यथाऽपि जीवितुमुत्सहन्तः कृपणां [11]हीनां वृत्तिमाश्रित्य स्थितास्तच्च[12] प्रश

भूमिकां कृत्वा कल्पनाधिक्यं स्फुटयति—तत्रेत्यादिना । "[13]अपूर्वस्यादृष्टत्वे सतीति यावत् । इति क धिक्यमिति शेषः । त्वन्मतेऽपि तुल्या कल्पनेत्याशङ्क्याऽऽह—इह त्विति । स्वपक्षे धर्ममात्रं परपक्षे धर्मी धर्मश्चेत्याधिक्यं "तस्मा"त्फलमत उपपत्तेरिति" न्यायेन "परस्यैव फलदातृतेति धर्मिणोऽपि प्रामाणिकत्वान्न कल्प्यत्वमित्यभिप्रेत्याह—अनुमानं चेति ।

ईश्वरास्तित्वे हेत्वन्तरमाह—तथा चेति । देवा यजमानमन्वायत्ता इति संबन्धः । जीव जीवनं निमित्तीकृत्येति यावत् । देवानामीश्वराणामपि हव्यार्थित्वेन मनुष्याधीनत्वाख्यहीनवृत्ति

द्वारा ईश्वर की कल्पना करनी उचित है अथवा अपूर्व की । किन्तु लोकव्यवहार में तो सेव्य फलप्राप्ति होना क्रिया का स्वभाव देखा गया है । अपूर्व से तो फलप्राप्ति होते नहीं दीखती और लोक-वेद में प्रामाण्य भी नहीं है । इसलिए अपूर्व कीं कल्पना निष्प्रमाणिक है और फल प्रदान करने की सामर्थ्य भी निष्प्रमाणिक है । इस प्रकार सामर्थ्य स्वीकार करने पर अधिक कल्पना की जाती है । हमारे पक्ष में तो केवल सेव्य ईश्वर के अस्तित्वमात्र की कल्पना की है, उसके फलप्रदान के सामर्थ्य और दातृत्व की नहीं, क्योंकि सेव्य से फलप्राप्ति होते देखी जा "इसके प्रशासन में द्युलोक और पृथिवी धारण किये हुए स्थित हैं" इत्यादि रूप से अनुमा दिखाया गया है ।

ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होने पर भी देवता समर्थ होते हुए भी जो जीवनधारण चरु-पुरोडाशादि के आश्रय यानी भक्षणरूप प्रयोजन से यजमान के अनुगत रहते हैं, अर्थात् अन्य से जीवित रहने में समर्थ होते हुए भी वे जो इस कृपण निकृष्ट वृत्ति को आश्रित करके स्थित र

---

१. अपूर्वमपि लोके वेदे प्रामाणिकं न दृष्टमिति कल्प्यमेव तदित्यर्थः । २. निष्प्रमाणमिति याव दातृत्वम् । ४. अभ्यधिकम्—सामर्थ्यं दानं चेति । धर्मद्वयकल्पनमधिकं धर्मिकल्पनायाः सिद्धान्तेऽपि स ५. अस्मत्पक्षे । ६. ननु न वैदिकक्रियाफलदातेश्वर ईश्वरत्वाल्लौकिकेश्वरवदिति चेन्न "यतः प्रवृत्ति येन सर्वमिदं ततम् । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव" इति स्मृतिविरोधादित्यभिप्रेत्याह दीति । ७. तथा च—तथैव ईश्वरास्तित्वे सत्येवेत्यर्थः । ८. जीवनार्थेऽनुगता इत्येतदेव विश चर्वित्यादिना । ९. उपजीवनमाश्रयणं भक्षणमिति यावत् तदात्मकप्रयोजनेन—तत्प्रयुक्ता इति यावत् । अन्यथापि—प्रकारान्तरेणापि मनुष्याधीनतां विनाऽपीत्यर्थः । ११. निकृष्टाम् । १२. देवतानामेत वृत्त्याश्रयणमक्षरास्तित्वे लिङ्गमित्यभिप्रेत्याह—तच्चेति । १३. लोकादावदर्शनादक्लृप्तत्वे । १४. धिक्यात् । १५. फलमत इति—अतः परमात्मनः सकाशात् सर्वस्य लोकस्य फलं भवितुमर्हति कर्मणस्तस्य क्षणिकत्वात् फलदातृत्वासंभवेन ईश्वरस्यैव फलदातृत्वोपपत्तेरिति सूत्रार्थः । १६. १७. परमात्मनः ।

[१]यो वा एतदक्षरं गार्ग्य[२]विदित्वाऽस्मिँ[३]ल्लोके [४]जुहोति [५]यजते [६]तप[७]स्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्य[८]न्तवदेवास्य[९] [१०]तद्भवति यो वा ततदक्षरं गार्ग्य[११]विदित्वाऽ[१२]स्माल्लोका[१३]त्प्रैति [१४]स [१५]कृपणोऽथ[१६] य एतदक्षरं गार्गि [१७]विदित्वा-[१८]ऽस्माल्लोकात्प्रैति स [१९]ब्राह्मणः ॥१०॥

हे गार्गि ! इसलोक में जो कोई इस अक्षर को जाने बिना हवन करता है, यज्ञ करता है और अनेक सहस्र वर्ष पर्यन्त तप भी करता है, उसका वह सभी कर्म नाशवान् ही होता है, क्योंकि भोग के पीछे उसका नाश होना अनिवार्य है। अतः जो कोई भी उस अक्षर को जाने बिना ही इस लोक से मर कर प्रयाण करता है; वह दीन और कृपण है। अर्थात् वह मर कर पुनः संसारबन्धन को प्राप्त हो जाता है। वह देवादिलोक में जाने पर भी पैसे से खरीदे हुए दास के समान ही रहता है। पर हे गार्गि ! जो इस अक्षर को जानकर इस लोक से मरकर जाता है, वह संसारबन्धन से मुक्त हुआ पुरुष ब्राह्मण है ॥ १० ॥

प्रशासनात्स्यात् । तथा पितरोऽपि तदर्थं दर्वीं दर्वीहोममन्वायत्ता अनुगता इत्यर्थः । समानं सर्वम[२०]न्यत् ॥ ९ ॥

इतश्चास्ति तदक्षरं यस्मा[२१]त्तदज्ञाने नियता [२२]संसारो[२३]पपत्तिर्भवितव्यं तु तेन

नियन्तृकल्पकमित्यर्थः । यो न [२४]कस्यचित्प्रकृतित्वेन विकृतित्वेन वा वर्तते स दर्वीहोमः ॥९॥

ईश्वरास्तित्वे हेत्वन्तरमाह—इतश्चेति । मोक्षहेतुज्ञानविषयत्वेनापि [२५]तदस्तीत्याह—भवितव्य-

---

वह भी प्रशासक ईश्वर के प्रशासन का ज्ञापक है। इसी प्रकार पितृगण भी जीवनधारण के लिए "दर्वीम्" अर्थात् पितृ-उद्देश्यक किये जाने वाले दर्वी होम के "अन्वायत्ताः" यानी अनुगत हैं। (पितरों का भी हीनवृत्ति आश्रयण करना ईश्वर के प्रशासन का ज्ञापक है, इसलिए) शेष सब इसी के समान कल्पना कर लेनी चाहिए ॥ ९ ॥

इसके अतिरिक्त इस अक्षर की सत्ता इसलिए भी है क्योंकि इसके अज्ञान से तीव्र अनर्थ

---

१. पुमान् । २. आत्मतया अविज्ञाय । ३. कर्मभूमौ । ४. देवतोद्देशेन संकल्पितं द्रव्यमग्नौ प्रक्षिपति । ५. देवतोद्देशेन द्रव्यं संकल्पयति । ६. चान्द्रायणादि । ७. आचरति । ८. तथाप्यन्तवत्फलकमेव भवति न नित्यमोक्षफलकम् । ९. कर्तुः । १०. साङ्गमपि क्रियमाणं कर्म । ११. अहं ब्रह्मास्मीत्येवम् । १२. कर्मलोकात् । १३. म्रियते । १४. कर्मी । १५. दीनः पणीकृतदासवत् स्वकृतकर्मफलस्यैव भोक्ता न मोक्षस्य । १६. अथ यः—यस्तु । १७. श्रुत्याचार्योपदेशेनाहं ब्रह्मेत्येवम् । १८. शरीरात् । १९. ब्रह्मीभूतो मुक्त इत्यर्थः । २०. पितॄणामीश्वराणामपि कव्यार्थित्वेन दर्वीहोमादिकर्तृमनुष्याधीनत्वाख्यहीनवृत्तिभाक्त्वं नियन्तृकल्पकमित्यभिप्रेत्याह—अन्यदिति । २१. अक्षराज्ञाने इति भावः । २२. तीव्रानर्थपरम्पराप्राप्तिः । २३. नियता संसारोपपत्तिरिति—तथा च संसारोपपत्तिनैयत्यान्यथाऽनुपपत्त्या तद्बीजाज्ञानविषयेणाक्षरेण भाव्यमिति भावः । २४. यागस्य । २५. अक्षरम् ।

यद्विज्ञाना[1]त्तद्विच्छेदो [2]न्यायोपपत्तेः । ननु [3]क्रियात एव [4]तद्विच्छित्तिः स्यादिति चेन्न
वा एतदक्षरं हे गार्ग्यविदित्वाऽविज्ञायास्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते यद्यपि ब
वर्षसहस्राण्य[5]न्तवदेवास्य[6] [7]तत्फलं भवति तत्फलोपभोगान्ते [8]क्षीयन्त एवास्य कर्मा
अपि च यद्विज्ञाना[9]त्कार्पण्यात्ययः [10]संसारविच्छेदो यद्विज्ञानाभावाच्च कर्मकृत्
[11]कृतफलस्यैवोपभोक्ता जननमरणप्रबन्धारूढः संसरति । तदस्त्यक्षरं प्रशासितृ [12]तदेत
यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स [13]कृपणः [14]पणक्रीत इव दासादिः ।
य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्मा[15]ल्लोकात्प्रैति [16]स ब्राह्मणः ॥१०॥

मिति । 'यदज्ञानात्प्रवृत्तिर्या तज्ज्ञानात्सा निवर्तते' इति न्यायः । [17]कर्मवशादेव मोक्षसिद्धेस्तद्धे
विषयत्वेनाक्षरं नाभ्युपेयमिति शङ्कते—नन्विति । [18]“उत्तरवाक्येनो(णो)[19]त्तरमाह—नेत्यादि
यस्याज्ञानादसकृदनुष्ठितानि [20]विशिष्टफलान्यपि सर्वाणि कर्माणि संसारमेव फलयन्ति तदज्ञा
नास्तीत्ययुक्तं संसाराभावप्रसङ्गादिति भावः । अक्षरास्तित्वे हेत्वन्तरमाह—अपि चेति । [21]पूर्व
जीवदवस्थपुरुषविषयमिदं[22] तु परलोकविषयमिति विशेषं मत्वोत्तरवाक्यमवतार्य व्याचष्टे—त
त्यादिना ॥ १० ॥

परम्पराप्राप्ति नियत है । जिसके जानने से संसार का विच्छेद हो सकता है, उसका होना युक्ति
है । यदि कहो, उसका विच्छेद तो कर्म से हो जायगा तो ऐसा कहना उचित नहीं है । हे गार्गि
भी कोई पुरुष इस लोक में इस अक्षर को “अविदित्वा” यानी आत्मतया न जानकर हवन, य
अनेक सहस्रवर्षपर्यन्त तप भी करता है, उसके उस कर्मानुष्ठान का फल क्षयिष्णु ही होता है
फलभोग के पश्चात् इसके कर्म क्षीण हो ही जाते हैं । इसके अतिरिक्त जिसके जान लेने से
यानी अनात्म अध्यास का ध्वंस और संसार का विच्छेद होता है तथा जिसके न जानने से क
कृपण, किए हुए कर्म के फल का उपभोक्ता और जन्म-मृत्यु की परम्परा में आरूढ़ होकर संसा
को प्राप्त होता है, वह अक्षर ही प्रशासक है । इसीलिये यह कहा जाता है—हे गार्गी ! जो कोई

---

१. संसारविच्छेदः । २. युक्तिसद्भावात् । ३. कर्मतः । ४. संसारविच्छित्तिः । ५. क्षयिष्णु
कर्मानुष्ठातुः । ७. कर्मफलम् । ८. नश्यन्ति । ९. कार्पाण्यात्यय इति—यः स्वल्पामपि वित्तक्षति
स कृपण इति लोके प्रसिद्धः । तद्विधत्वादखिलोऽप्यनात्मविदप्राप्तपुरुषार्थतया कृपणो भवति तस्य भावः
अनात्माध्यासवत्त्वम् तस्यात्ययो ध्वंस इत्यर्थः ॥ १०. एतदेव विवृणोति—संसारविच्छेद इति
स्वकृतकर्मफलस्येति । १२. तदेतदिति । तत्—अक्षराज्ञानं कार्पण्यप्रयोजकम् । एतत्—अक्षरज्ञान
च्छेदकम् । १३. कृपणः पणक्रीत इति । तथा चामरः—“कदर्ये कृपणक्षुद्रकिंपचानमितंपचा” इति
मूल्यक्रीतः । १५. देहात् । १६. स ब्राह्मण इति । नन्वक्षरविदो युक्तमकार्पण्यं कार्पण्यहेत्वज्ञा
ज्ञानेनापनयात् ब्राह्मण्यं त्वन्यस्यापि तुल्यमिति कथं तत्फलत्वेनोक्तमित्याशङ्क्य समाहितं वार्तिके—“
परिज्ञानान्मृत्युमृत्युः प्रमीयते । स एव ब्राह्मणो नान्यो जगत्यध्यवसीयताम् ॥ सर्वज्ञः सर्वकृच्चासौ नि
संसृतिः । प्राप्ताशेषपुमर्थश्च ब्राह्मणोऽत्राभिधीयते” ॥ १६९-७० ॥ इति । तस्य मुख्यं ब्राह्मण्यं प्र
सर्वज्ञ इति । १७. कर्माख्यसाधनादेव । १८. अनन्तरवाक्येन । १९. समाधानम् । २०. ब्रह्मलोकान्त
२१. पूर्ववाक्यम्—यो वा इत्यारभ्य तद्भवतिपर्यन्तम् । २२. इदम्—यो वा इत्यारभ्य ब्राह्मण इ

[1]तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतꣳ श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरं गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥ ११ ॥

हे गार्गि ! यह अक्षर किसी की दृष्टि का विषय नहीं होता, किन्तु स्वयं दृष्टिस्वरूप होने के कारण द्रष्टा है। वैसे ही श्रोत्र का विषय नहीं है, किन्तु स्वयं श्रुतिरूप होने से श्रोता है। मनन का विषय नहीं, किन्तु मतिरूप होने से मन्ता है। बुद्धि का अविषय होने से स्वयं अविज्ञाता होता हुआ भी विज्ञानस्वरूप होने से दूसरों का विज्ञाता है। इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं, इससे भिन्न कोई मननकर्ता नहीं और न इससे भिन्न कोई विज्ञाता ही है। अतः हे गार्गि ! नि सन्देह इस अक्षर में ही आकाश ओत-प्रोत है ॥ ११ ॥

अग्नेर्दहनप्रकाशकत्ववत्स्वाभाविकमस्य[2] प्रशास्तृत्वमचेतनस्यैवेत्यत आह—

तद्वा [3]एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं न केनचिद्दृष्टम[4]विषयत्वा[5]त्स्वयं तु द्रष्टृ दृष्टिस्वरूप-

---

[6]प्रधानवादिनः शङ्कामनूद्योत्तरवाक्येन(ण)निराकरोति—अग्नेरित्यादिना । इतश्चाक्षरस्य

अक्षर को आत्मतया न जानकर इस कर्मलोक से जाता है वह कर्मी उसी प्रकार दीन है, जैसे धन देकर खरीदा हुआ कोई दास होता है। तथा हे गार्गी ! जो कोई इस अक्षर को आत्मतया जानकर इस देह को छोड़ जाता है, वह ब्राह्मण है ॥ १० ॥

(साख्यदर्शन के मत में) अग्नि के दहन और प्रकाशकत्व के समान यह प्रधान अचेतन ही स्वाभाविक शासन करने वाला है, इसी से याज्ञवल्क्य कहते हैं—

हे गार्गी ! (अस्थूलादिवाक्य से अधिगमित) वह यह अक्षर अदृष्ट है, दृष्टि का विषय न होने के कारण वह किसी के द्वारा देखा नहीं गया है, किन्तु स्वयं दृष्टिस्वरूप होने के कारण द्रष्टा है। उसी

---

१. तद्वा इत्यादि वाक्यं वार्तिककारास्तावत्प्रकारान्तरेणावतारयन्ति तथाहि—"ज्ञेयत्वसिद्धये प्राह यथोक्तेश्वरवर्त्मना । अक्षरस्य श्रुतिः साक्षात्तद्वा इत्येवमादिना ॥ एतदस्य प्रशास्तृत्वं स्वमोहाभासहेतुकम् । नेति नेत्यादिवाक्येभ्यो दृष्टिमात्रात्मवस्तुनः ॥ इत्येतत्प्रतिपत्त्यर्थं तद्वा एतदिति श्रुतिः" ॥ १७१-७३ ॥ इति । सोपाधिकस्य सर्वज्ञत्वादिमतोऽक्षरस्य ज्ञानान्मुक्तिश्चेन्निरुपाध्यक्षरं नास्त्येवेत्याशङ्क्यानन्तरवाक्यमादत्ते—ज्ञेयत्वेति । अकार्यकारणप्रत्यगक्षरस्य स्वस्मिन्नारोपितेश्वरत्वादिनिरासद्वारेणापरोक्षतया प्रतिपत्त्यर्थं तद्वा इत्यादिवाक्येन श्रुतिरनौपाधिकं तदाहेत्यर्थः ॥ अग्नेरिव प्रकाशकत्वं स्वाभाविकमक्षरस्येश्वरत्वं तत्कथं तन्निरासद्वारा निरुपाध्यक्षरसिद्धिस्तत्राऽऽह—एतदिति । ईश्वरत्वादेरारोपितत्वे गमकमाह—नेतीति ॥ तस्याध्यस्तत्वे सिद्धे तन्निरासेन निरुपाध्यक्षरदृष्टयर्थमनन्तरश्रुतिर्युक्तेत्याह—इत्येतदिति । २. अस्येति—न क्षरतीति व्युत्पत्त्या अक्षराभिधस्यास्य प्रधानस्येत्यर्थः । ३. अस्थूलादिवाक्याधिगमितम् । ४. अविषयत्वात्—मा गोचरातिवर्तित्वाददृष्टं स्यात्तदक्षरम् । ५. अदृष्टमित्यमेयत्वादसत्त्वे प्राप्ते दृष्टपदमादत्ते—स्वयमिति । ६. साङ्ख्यस्य ।

त्वात् । तथाऽश्रुतं श्रोत्राविषयत्वात्स्वयं श्रोतृ श्रुतिस्वरूपत्वात् । तथाऽमतं मनसोऽविषय
त्वात् । स्वयं मन्तृ मतिस्वरूपत्वात् । तथाऽविज्ञातं बुद्धेरविषयत्वात्स्वयं विज्ञातृ विज्ञानस्व
रूपत्वात् । किं च नान्यदतो[1]ऽस्मादक्षरादस्ति नास्ति किंचिद्द्रष्टृ दर्शनक्रियाकर्तृ । एतदेवा
क्षरं दर्शनक्रियाकर्तृ [2]सर्वत्र । तथा नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ । तदेवाक्षरं श्रोतृ सर्वत्र । नान्य
दतोऽस्ति मन्तृ तदेवाक्षरं मन्तृ सर्वत्र सर्वमनोद्वारेण । नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ विज्ञानक्रिया
कर्तृ तदेवाक्षरं सर्वबुद्धिद्वारेण विज्ञानक्रियाकर्तृ नाचेतनं प्रधान[3]मन्यद्वा । एतस्मि
खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति । यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरो
ऽशनायादिसंसारधर्मातीतो यस्मिन्नाकाश ओतश्च प्रोतश्चैषा[4] परा काष्ठैषा परा गतिरे[5]तत्

नाचेतनत्वमित्याह—किंचेति । [6]नास्तीत्यन्वयप्रदर्शनम् । [7]अतोऽन्यदितिविशेषणसिद्धमर्थमाह—एतदि
अन्यद्वा [8]पूर्वोक्तमव्याकृतादिपृथिव्यन्तं निगमनवाक्यमुदाहृत्य तस्य तात्पर्यमाह—एतस्मिन्निति । प
काष्ठा परं पर्यवसानं नास्मादुपरिष्टादधिष्ठानं किंचिदस्तीत्यर्थः । [9]तस्यैव परमपुरुषार्थत्वमाह—एषेति
'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' इति हि श्रुत्यन्तरम् । ब्रह्मास्मादक्षरादन्यदस्ती
चेन्नेत्याह—एतदिति । ननु चतुर्थे सत्यस्य सत्यं ब्रह्म व्याख्यातमक्षरं तु नैवमिति चेत्तत्राऽऽह
एतत्पृथिव्यादेरिति ॥ ११ ।

प्रकार वह श्रोत्र का विषय न होने के कारण सुना नहीं गया है किन्तु स्वयं श्रुतिरूप होने से श्रोता
इसी प्रकार मन का अविषय होने के कारण यह मनन का विषय नहीं होता किन्तु स्वयं मतिरूप होने
मन्ता है । इसी प्रकार बुद्धि का अविषय होने से स्वयं अविज्ञात होता हुआ भी विज्ञानस्वरूप होने
दूसरों का विज्ञाता है । इसके अतिरिक्त इस प्रकृत अक्षर से भिन्न 'द्रष्टृ" अर्थात् कोई दर्शनक्रिया
कर्ता नहीं है । यह अक्षर ही सर्वचक्षुओं द्वारा दर्शनक्रिया का कर्ता है; इसी प्रकार इससे भिन्न
श्रोता नहीं; यह अक्षर ही सर्वश्रोत्रों के द्वारा श्रोता है । इससे भिन्न कोई मन्ता भी नहीं है, सर्व
के द्वारा वह अक्षर ही मनन करने वाला है । और इससे भिन्न कोई "विज्ञातृ" यानी विज्ञान
का कर्ता नहीं है, सर्वबुद्धियों के द्वारा वह अक्षर ही विज्ञानक्रिया का कर्ता है । अचेतन प्रधान
अन्य कोई नहीं है । हे गार्गी ! निश्चय ही इस अक्षर में ही आकाश ओत-प्रोत है । जो कि सा
अपरोक्ष ब्रह्म है, क्षुधादि सांसारिक धर्मों से अतीत सर्वान्तर आत्मा है, जिसमें आकाश ओत-

---

१. प्रकृतात् । २. सर्वत्रेति—सर्वचक्षुर्द्वारेति यावत् । ३. नान्यदतोऽस्तीत्यादि वाक्यस्य तात्पर्यमाह
अन्यद्वेति । तदुक्तं वार्तिके—"बहुद्रष्टृनिषेधार्थं नान्यदित्याद्युदीरणम् । सजातीयविजातीयवस्त्वन्तरनिषेध
कूटस्थमेकं चैतन्यं सिद्धं श्रुत्यनुसारतः" ॥ १७६ ॥ इति । प्रकरणार्थमुपसंहरति—सजातीयेति । श्रोत
वाक्येन प्रत्यगतिरिक्तं जडं निरस्तं नान्यदित्यादिना चाजडं तस्मादखण्डं वस्तु श्रुतितात्पर्यगम्यं सिद्धमित्य
४. एषा अव्याकृताकाशाधिष्ठानभूता प्रत्यक्चितिः । परा—उत्कृष्टा निरतिशया । काष्ठा—कार्यका
त्मकस्य जगतः पर्यवसानभूमिः । एषा - उक्तार्थम् । परा गतिः—सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः
पदमिति श्रुतिप्रदर्शिता परा निरवधिका । गतिः गन्तव्यफलभूता । ५. यथोक्तमक्षरम् । ६. नञोऽस्ति प
न्वयप्रदर्शनार्थं नास्तीत्युक्तमित्यर्थः । ७. अक्षरातिरिक्तस्य द्रष्टुरभावमनुभावयितुमतोऽन्यदित्येतद्द्रष्टृवि
मित्यालक्ष्याह—अतोऽन्यदितीति । ८. पूर्वोक्तम्—गार्ग्यक्षरब्राह्मणोक्तम् । ९. अक्षरस्यैव ।

सा होवाच ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति ततो ह वाचक्नव्युपरराम ॥ १२ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्याष्टमं ब्राह्मणम् ॥ ८॥

उस गार्गी ने कहा—हे पूजनीय ब्राह्मणो ! आप लोग इसी को बहुत समझो जो इनसे नमस्कार के द्वारा छूटकारा पा जाओ। आप में से कोई भी इन याज्ञवल्क्य को ब्रह्मवाद में जीत नहीं सकता, (क्योंकि पहले ही मैंने ऐसी प्रतिज्ञा की थी। आज भी मेरा यही निश्चय है कि ब्रह्मवाद में याज्ञवल्क्य के समान दूसरा कोई नहीं है) इसके बाद वचक्नु की पुत्री गार्गी चुप हो गयी ॥ १२ ॥

॥ इत्यष्टमं ब्राह्मणम् ॥

ब्रह्म[३] तत्पृथिव्यादेराकाशान्तस्य सत्यस्य सत्यम् ॥ ११ ॥

सा होवाच हे ब्राह्मणा भगवन्तः शृणुत मदीयं वचस्तदेव बहु मन्येध्वम् मन्यध्वम्। किं तद्यद[१]स्माद्याज्ञवल्क्यान्नमस्कारेण मुच्येध्वं मुचयध्वमस्मं नमस्कारं कृत्वा तदेव बहु

किं तद्वचनं तदाह—तदेवेति। बहुमानविषयभूतं वस्तु पृच्छति—किं तदिति। यदादौ मदीयं वचनं तदेव बहुमानयोग्यमित्याह—यदिति। तद्व्याकरोति—अस्मा इति। नमस्कारं कृत्वाऽस्मादनुज्ञां प्राप्येति शेषः। तदेवेति प्राथमिकवचनोक्तिः। किमिति त्वदीयं पूर्वं वचो बहु मन्यामहे जेतुं पुनरिममाशास्महे नेत्याह—जयस्त्वति। [२]तत्र प्रश्नपूर्वकं पेर्वोक्तमेव बहुमानविषयभूतं वाक्यमवतार्य व्याचष्टे

है, यह अक्षर ही परा काष्ठा (कार्यकारणात्मक जगत् की उत्कृष्टा पर्यवसान भूमि) है, यह परा गति (निरवधिक गन्तव्यफलभूता) है, यह अक्षर ही परब्रह्म है और यही पृथिवी से लेकर आकाश तक सभी सत्य का सत्य है ॥ ११ ॥

गार्गी बोली—हे पूज्य ब्राह्मणो ! मेरी बात सुनो और इसी को बहुत समझो। वह क्या है ? यह कि तुम इन याज्ञवल्क्य से नमस्कार के द्वारा ही मुक्त हो जाओ अर्थात् यदि इन्हें नमस्कार करके ही मुक्ति पा जाओ तो इसी को बहुत मानो। इनको जीतने की तो मन से भी आशा नहीं करनी

---

[१] सा—स्वीयप्रश्नद्वयनिर्णयश्रोत्री गार्गी। तदेव—प्रश्नौ चेन्मह्यं वक्ष्यति तदा न वै जातु युष्माकमिमं
कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति युष्मान्प्रति पूर्वोक्तं यन्मम वचनं तदेव वचनं बहुमन्येध्वं बहुमानविषयं कुरुध्वं प्रमाणीकुरु-
ध्वमिति यावत्। यद्यस्माद्दुर्वचौ प्रश्नाववेनोत्तरितौ तस्मादस्माद्याज्ञवल्क्यान्नमस्कारेण मुच्येध्वम् अस्मै
नमस्कारं कृत्वाऽनुज्ञां प्राप्य यूयं मुच्यध्वम्। अस्य पराजयो मनसाऽपि न शङ्कनीय इत्यर्थः। [२] अस्मादि-
त्यादि—यद्यपि नैतत्पूर्वमुक्तं न वै जात्वित्याद्येवोक्तचरं तथापि पूर्वोक्तस्य तात्पर्यगत्याऽत्रैव पर्यवसानादिदमपि
पूर्वोक्तमेवेति मन्यते श्रुतिरिति मन्तव्यम्। [३] उक्तेऽर्थे।

मन्यध्वमित्यर्थः। जयस्त्वस्य मनसाऽपि नाऽऽशंसनीयः किमुत [1]कार्यतः। कस्मान्न युष्माकं मध्ये जातु कदाचिदपीमं याज्ञवल्क्यं [2]ब्रह्मोद्यं प्रति जेता। प्रश्नौ चेन्मह्यं वक्ष्यति न वै जेता भवितेति पूर्वमेव मया प्रतिज्ञातमद्यापि ममायमेव निश्चयो ब्रह्मोद्य प्रत्येतत्तुल्यो न कश्चिद्विद्यत इति। ततो ह वाचक्नव्युपरराम।

[3]अत्रान्तर्यामिब्राह्मण एतदुक्तम्। यं पृथिवी न वेद यं सर्वाणि भूतानि न विदु रिति च। यमन्तर्यामिणं न विदुर्ये च न विदुर्यच्च तदक्षरं दर्शनादिक्रियाकर्तृत्वेन सर्वेषां [4]चेतनाधातुरित्युक्तम्। कस्त्वेषां [5]विशेषः [6]किं वा सामान्यमिति।

[7]तत्र केचिदाक्षते। परस्य महासमुद्रस्थानीयस्य ब्रह्मणोऽक्षरस्याप्रचलितस्वरूपस्येष[8]त्प्रचलितावस्थाऽन्तर्यामी। अत्यन्तप्रचलितावस्था क्षेत्रज्ञो यस्तं न वेदान्तर्यामिणम्

कस्मादित्यादिना। पराजिताया गार्ग्या वचो नोपादेयमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रश्नौ चेदिति। ततः स प्रश्ननिर्णयाद्याज्ञवल्क्यस्याप्रकम्प्यत्वं प्रतिपद्य ब्राह्मणान्प्रति हितं चोक्त्वेत्यर्थः।

अन्तर्यामी क्षेत्रज्ञोऽक्षरमित्येतेषामवान्तर[9]विशेषप्रदर्शनार्थं [10]प्रकृतत्रं दर्शयति—अत्रान्तर्यामीति। [11]तत्रान्तर्यामिणः प्रकृतत्वं प्रकटयति—यमिति। क्षेत्रज्ञस्य प्रकृततां स्फुटयति—ये चेति। अक्षरस्य प्रस्तुतत्वं प्रत्याययति—यच्चेति। सर्वेषां विषयाणां दर्शनश्रवणादिक्रियाकर्तृत्वेन चेतनाधातुरि यत्तदक्षरमुक्तमित्यन्वयः। [12]तेषु विचारमवतारयति—कस्त्विति।

तस्मिन्विचारे [13]स्वयूथ्यमतमुत्थापयति—तत्रेति। क्षेत्रज्ञस्याप्रस्तुतत्वशङ्कां वारयति—यस्त

चाहिये, फिर वाणी से तो जीतने की बात संभव ही नहीं है क्योंकि आपमें से कोई भी कभी इन याज्ञवल्क्य जी से ब्रह्मसम्बन्धी वाद में विजयी होने वाला नहीं है। मैंने तो पहले ही प्रतिज्ञा की है यदि ये मेरे दो प्रश्नों का उत्तर दे देंगे तो आप में से कोई भी विजेता नहीं होगा। आज भी मेरा यही निश्चय है कि ब्रह्मवाद में इनके समान कोई नहीं है। इतना कहकर वचक्नु की पुत्री गार्गी चुप हो गयी।

यहाँ बुद्ध्यारूढ़ अन्तर्यामी ब्राह्मण में यह कहा गया था—'जिसे पृथिवी नहीं जानती, तथा जिसे सम्पूर्ण प्राणी नहीं जानते"—इत्यादि। इस प्रकार "जिस अन्तर्यामी को नहीं जानते, जो नहीं जानते और जो वह अक्षर है, जिसको सभी विषयों की दर्शनादिक्रियाओं के कर्तारूप से चैतन्य धातु का अधिष्ठान कहा गया है" इन सब में क्या विलक्षणता है और क्या साम्य है?

प्रस्तुत विचार में कुछ दार्शनिक कहते हैं—महासमुद्रस्थानीय निश्चलरूप अक्षर परब्रह्म की किञ्चित् विकृत अवस्था का नाम अन्तर्यामी है और उसकी अत्यन्त विकृत अवस्था क्षेत्रज्ञ है, जो अन्तर्यामी को नहीं जानता, इसके अतिरिक्त वे उसकी पिण्ड, जाति, विराट् सूत्र और देव—इन अ

---

[1] वाक्. इति यावत्। [2] ब्रह्मोद्यं प्रति—ब्रह्मवादं प्रति ब्रह्मवादे इति यावत्। [3] बुद्ध्यारूढे प्रस्तुतेऽध्याये संदर्भे वा। प्रथमेऽर्थे समानाधिकरणे सप्तम्यौ। [4] चैतन्यं धातुरधिष्ठानम्। [5] वैलक्षण्य [6] किं च साम्यमित्यर्थः। [7] प्रस्तुतविचारे। [8] विकृतेति यावत्। [9] भेदप्रदर्शनार्थमिति। उक्तत्रयाणामपि प्रकृतत्वम्। [11] उक्तत्रयाणां मध्ये। [12] अन्तर्यामिक्षेत्रज्ञाक्षरेषु। [13] वेदान्त्येकदेशिमतम्।

थाऽन्याः पञ्चावस्थाः परिकल्पयन्ति । तथाऽष्टावस्था ब्रह्मणो भवन्तीति वदन्ति । न्येऽक्षरस्य शक्तय[1] एता इति वदन्त्यनन्तशक्तिमदक्षरमिति च । अन्ये त्वक्षरस्य विकारा ति वदन्ति ।

अवस्थाशक्तित्वे तावन्नोपपद्येते । अक्षरस्याशनायादिसंसारधर्मातीतत्वश्रुतेः । न अशनायाद्यतीतत्वम[2]शनायादिधर्मवदवस्थावत्त्वं चैकस्य युगपदुपपद्यते । तथा शक्तिमत्त्वं । विकारावयवत्वे च दोषाः प्रदर्शिताः[3] श्चतुर्थे । [4]तस्मादेता असत्याः सर्वाः कल्पनाः ।

नति । यथा परस्याऽऽत्मनोऽन्तर्यामी जीवश्चेत्यवस्थे द्वे कल्प्येते तथा [5]तस्यैवान्याः पञ्चावस्थाः पिण्डो जातिर्विराट् सूत्रं दैवमि[7]त्येवलक्षणा [8]महाभूतसंस्थान[9]भेदेन कल्पयन्तीत्याह—तथेति । उक्तरीत्या कल्पनायां पिण्डो जातिर्विराट् सूत्रं [11]दैवमव्याकृतं [12]साक्षी क्षेत्रज्ञश्चेत्यष्टावस्था ब्रह्मणो वन्तीति [13]वदन्तः परिकल्पयन्तीति संबन्धः । अवस्थापक्षमुक्त्वा शक्तिपक्षमाह—अन्य इति । तुशब्देनावयवपक्षं दर्शयन्विकारपक्षं निक्षिपति—अन्ये त्विति ।

[15]तत्र पक्षद्वयं प्रत्याह—अवस्थेति । अन्तर्यामिप्रभृतीनामिति शेषः । [16]तस्य सांसारिकधर्मातीतश्रुतावपि कथमवस्थावत्त्वं शक्तिमत्त्वं वा न सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । अवशिष्टपक्षद्वयराकरणं [17]प्रागेव प्रवृत्तं स्मारयति—विकारेति । परपक्षनिराकरणमुपसंहरति—तस्मादिति ।

ँच अवस्थाओं की भी कल्पना करते हैं। तथा ब्रह्म की आठ अवस्थाएं होती है—ऐसा वे कहते हैं। सरे विचारक कहते हैं कि आठ अवस्थाएँ अक्षर की शक्तियाँ हैं और वह अक्षर अनन्तशक्तिसम्पन्न । इसके अतिरिक्त दूसरे विचारक ऐसे भी कहते है कि ये अक्षर के विकार हैं।

(उपरोक्त चारों पक्षों में पक्षद्वय कहते हैं—) अक्षर की अवस्था या शक्ति होना युक्तिसंगत हीं है क्योंकि क्षुधा-पिपासादि सांसारिक धर्मों से वह परे है—ऐसा श्रुति कहती है। एक ही वस्तु का क साथ क्षुधादिधर्मों से अतीत होना और अशनायादिधर्मविशिष्ट अन्तर्यामी आदि रूप अवस्थाओं युक्त होना संभव नहीं है। इसी प्रकार अक्षर का शक्तिमान् होना भी सम्भव नहीं है। उसके विकार । अवयव मानने में जो दोष हैं, वे चतुर्थ ब्राह्मण में प्रदर्शित किये जा चुके हैं। इसलिए (उक्त चारों क्षों में दूषण होने से) ये सभी कल्पनाएँ असत्य हैं।

---

१. निरुक्ता अष्टावस्थाः । २. अशनायादिधर्मविशिष्टान्तर्याम्यादिरूपावस्थावत्त्वम् । ३. उपनिषत्क्रमेण द्वितीये । ४. उक्तपक्षचतुष्टयस्यापि दुष्टत्वात् । ५. परस्य आत्मनः । ६. पिण्ड इत्यादि—सर्वापेक्षया बाह्यो व्यष्टिस्थूलदेहः पिण्डः । जातिः—तदभ्यन्तरब्राह्मण्यादिरूपा । विराट्—ततोऽप्यान्तरः समष्टिस्थूलदेहः । सूत्रम्—विराजः प्रत्यग्भूतं समष्टिसूक्ष्मशरीरम् । दैवम्—ईश्वरतत्त्वमिति द्रष्टव्यम् । ७. इत्येवलक्षणा—इत्यत्र इत्येवंलक्षणेति पाठान्तरम् । ८. महाभूतेति—महाभूतशब्देन स्थूलसूक्ष्मभूतानि तत्कारणमव्याकृतं च विवक्षितम् । इत्थंभूतलक्षणे तृतीया । तथा च ता अवस्था महाभूतसंस्थानविशेषा एवेत्यर्थः । तत्र सूत्रान्तानां चतुर्णां तत्संस्थानविशेषत्वं व्यक्तमेव ईश्वरस्याप्यव्याकृतप्रयुक्तत्वात्तत्त्व द्रष्टव्यम् । ९. भेदेनेति—वस्तुतस्तु प्रयुक्तत्वं तृतीयार्थः तद्भेदप्रयुक्ता उक्तकल्पनेत्यर्थः । १०. भाष्यस्थद्वितीयतथाशब्दस्यार्थमाह—उक्तरीत्येति । ११. ईश्वरतत्त्वस्य कारणम् । १२. अन्तर्यामी । १३. भाष्यस्थवदन्तीत्यस्य परिणामोऽयम् । १४. तुशब्देनेत्यादि । तुशब्दविकारशब्दाभ्यामवयवविकारपक्षौ दर्शयतीत्यर्थः । १५. चतुर्षु पक्षेषु । १६. अक्षरस्य । १७. ४९२ तमपृष्टभाष्ये तत्रेत्यादिना प्रकर्षेण वृत्तं प्रवृत्तम् ।

[1]कस्तर्हि[2] भेद एषाम् । उपाधिकृत इति ब्रूमो न स्वत एषां भेदाऽभेदो वा सैं
घनवत्प्रज्ञानघनैकरसस्वाभाव्यात्[3] । "अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्" "अयमात्मा ब्र
इति च श्रुतेः । "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" इति चा[4]ऽऽथर्वणे [5]तस्मान्निरुपाधिकस्याऽऽ
निरुपाख्यत्वान्निर्विशेषत्वादेकत्वाच्च नेति नेतीति व्यवदेशो भवति । अविद्याकाम
विशिष्टकार्यकरणोपाधिरात्मा संसारी जीव उच्यते । नित्यनिरतिशयज्ञानशक्त्यु
रात्माऽन्तर्यामीश्वर उच्यते ।

[6]स एव निरुपाधिः केवलः शुद्धः स्वेन [7]स्वभावेनाक्षरं पर उच्यते तथा हिर

परकीयकल्पनाऽसंभवे पृच्छति—कस्तर्हीति । उत्तरमाह—उपाधीति । आत्मनि
विशेषाभावे हेतुमाह—सैन्धवेति । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—अपूर्वमिति । बाह्यं कार्यमभ्यन्तरं का
ताभ्यां कल्पिताभ्यां सहाधिष्ठानत्वेन सत्तास्फूर्तिप्रदतया वर्तते ब्रह्म स्वभावतस्तु जन्मादिसर्ववि-
शून्यं कूटस्थं तदित्याथर्वणश्रुतेरर्थः । आत्मनि स्वतो विशेषानवगमे फलितमाह—तस्मादि
निरुपाख्यत्वं वाचां मनसां चागोचरत्वम् । [8]तत्र निर्विशेषत्वमेकत्वं च हेतुः । निरुपाधिकस्येति
शेषत्वं साधयितुमुक्तम् । [9]तत्र च [10]वीप्सावाक्यं प्रमाणं कृतम् । कथं पुनरे[11]वंविधस्य वस्तुनः संसा
तदाह—अविद्येति । तैर्विशिष्टं यत्कार्यकरणं तेनोपाधिनोपहितः परमात्मा जीवः संसारीति
व्यपदेशभाग्भवतीत्यर्थः । [12]तथाऽपि कथं तस्यान्तर्यामित्वं तदाह—नित्येति । नित्यं निरतिशयं स
प्रतिबद्धं ज्ञानं [13]तस्मिन्सत्त्वपरिणामे सत्त्वप्रधाना मायाशक्तिरु[14]पाधिस्तेन विशिष्टः सन्नात्मेश्वरोऽ
मीति चोच्यत इत्यर्थः ।

कथं [15]तर्हि तस्मिन्नक्षरशब्दप्रवृत्तिस्तत्राऽऽह—स एवेति । निरुपाधित्वं शुद्धत्वे हेतुः । के
त्वमद्वितीयत्वम् । [16]तथाऽपि कथं तत्र हिरण्यगर्भादिशब्दप्रत्ययावित्याशङ्क्याऽऽह—तथेति । यथै

तो फिर इनका भेद किसलिए प्रयुक्त किया गया है ? हमारे विचार से इनका भेद उपा
है, स्वयं में इनका न भेद है; न ही अभेद, क्योंकि आत्मा सैन्धवघन के समान एकमात्र प्रज्ञानघन
स्वरूप है। श्रुति भी कहती है—"वह कारण और कार्य से भिन्न, अन्तररहित और अबाह्य है",
आत्मा ब्रह्म है"। मुण्डकोपनिषत् भी कहती है—"(वह अक्षरब्रह्म स्वयंप्रकाश होने के कारण निश्च
दिव्य आकाररहित, पुरुष) बाहर-भीतर सर्वत्र वर्तमान, अजन्मा (प्राणरहित, मनोरहित, परिशुद्ध
श्रेष्ठ अक्षर से उत्कृष्ट) है"। अतः निरुपाधिक अनिर्वचनीय, निर्विशेष और एक होने के का
उस आत्मा को नेति-नेति इस प्रकार व्यपदेश किया जाता है। अविद्या, काम और कर्मवि
देह एवं इन्द्रियरूप उपाधि वाला आत्मा संसारी जीव कहलाता है। नित्य निरतिशय ज्ञान श
उपाधिवाला आत्मा अन्तर्यामी ईश्वर कहा जाता है।

वह परब्रह्म ही निरुपाधिक केवल, शुद्ध अपने रूप से अक्षर कहा जाता है। तथा हि

---

१. किंप्रयुक्तः । २. अवतरणोक्तार्थम् । ३. आत्मनः । ४. मुण्डके । ५. आत्मनः स्वतो वि
योगात् । ६. स एव पर इत्यन्वयो वा । ७. रूपेण । ८. निरुपाख्यत्वे । ९. निरुपाधिकत्वे । १०.
नेतीति वाक्यम् । ११. निर्विशेषस्य । १२. उक्तोपाधिना जीवत्वादिव्यवहारभाक्त्वेऽपि । १३.
सम्पादनं इति यावत् । १४. कारणम् । १५. उक्तोपाधिना तत्रेश्वरत्वादिव्यवहारे सत्यपि । १६.
रूपेणात्मनोऽक्षरत्वेऽपि ।

गर्भ[1]व्याकृतदेवता[2]जातिपिण्डमनुष्यतिर्यक्प्रेतादिकार्यकरणोपाधिभिर्विशिष्ट[3]स्तदाख्यस्तद्रूपो भवति। तथा तदेजति तन्नैजतीति [4]व्याख्यातम्। तथा "एष त आत्मा" "एष सर्वभूतान्तरात्मा" "एष सर्वेषु भूतेषु गूढः" "तत्त्वमसि" "अहमेवेदं सर्वम्" "आत्मैवेदं सर्वम्" "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इत्यादिश्रुतयो न विरुध्यन्ते। कल्पनान्तरेष्वेताः श्रुतयो [5]न गच्छन्ति। [6]तस्मादुपाधिभेदेनैवैषां भेदो नान्यथैकमेवाद्वितीयमित्यवधारणात्सर्वोपनिषत्सु॥ १२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्याष्टमं ब्राह्मणम्॥८॥

अथ तृतीयाध्यायस्य नवमं ब्राह्मणम् ॥ ८ ॥

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ। पृथिव्यादीनां सूक्ष्मतारतम्यक्रमेण [7]पूर्वस्य

न्नेव परस्मिन्नात्मनि कल्पितोपाधिप्रयुक्तं नानात्वं तथा तदेजति तन्नैजतीत्यादि वाक्यमाश्रित्य प्रागेवोक्तमित्याह—तथेति। कल्पनया परस्य नानात्वं वस्तुतस्त्वैकरस्यमित्यत्र श्रुतीरुदाहरति—तथेत्यादिना। अवस्थाशक्तिविकारावयवपक्षेष्वपि यथोक्तश्रुतीनामु[8]पपत्तिमाशङ्क्याऽऽह—कल्पनान्तरेष्विति। औपाधिकोऽन्तर्याम्यादिभेदो न स्वाभाविक इत्युपसंहरति—तस्मादिति। स्वतो वस्तुनि नास्ति भेदः किन्त्वैकरस्यमेवेत्यत्र हेतुमाह—एकमिति॥ १२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां तृतीयाध्यायस्याष्टमं ब्राह्मणम्॥ ८॥

ब्राह्मणान्तरमुत्थापयति—अथेति। गार्गिप्रश्ने निर्णीते तया ब्रह्मवदनं प्रत्येतत्तुल्यो नास्तीति सर्वान्प्रति कथनानन्तर्यमथशब्दार्थः। संगतिं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—पृथिव्यादीनामिति। [9]यत्साक्षादित्यादि प्रस्तुत्य सर्वान्तरत्वनिरूपणद्वारा साक्षात्त्वादिकमार्थिकं [10]ब्राह्मणत्रये निर्धारितमित्यर्थः।

गर्भ, व्याकृत विराट्, इन्द्रादि देवता, ब्राह्मण्यादि जाति, शरीर पिण्ड, मनुष्य, तिर्यक्, प्रेत एवं शरीर और इन्द्रियरूप उपाधियों से विशिष्ट होकर वह उन्हीं नाम और रूपों वाला होता है। ईशोपनिषत् में "वह चलता है और नहीं भी चलता" इस प्रकार व्याख्या की गयी है। तथा "यह तेरा आत्मा (अन्तर्यामी और अमृत) है", "वही देव सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा है", "यह समस्त भूतों में अन्तर्निहित है", "वह तू है", "मैं ही यह सब कुछ हूँ", "यह सब आत्मा ही है", "इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है" इत्यादि श्रुतियों से कोई विरोध नहीं रहता। दूसरी कल्पनाओं के करने में श्रुतियाँ अपने स्वार्थ को प्राप्त नहीं करती। अतः (स्वभाव से ही एकरस होने के कारण) उपाधि के भेद से ही इनमें भेद है; अन्यथा नहीं क्योंकि "यह ब्रह्म एक ही अद्वितीय है" इस प्रकार श्रुतियों ने निर्णय किया है॥ १२॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् शाङ्करभाष्य में तृतीयाध्याय के अष्टम ब्राह्मण
का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ॥ ८॥

"इसके बाद उस याज्ञवल्क्य से शकल के पुत्र विदग्ध ने पूछा"—। पृथिव्यादि के सूक्ष्म

---

१. व्याकृतं विराट् इन्द्रादिदेवतेत्यर्थः। २. ब्राह्मण्यादिशरीरेति बोध्यम्। ३. तन्नामा। ४. बृ० उ० २।२।१। उपक्रमभाष्ये २।५।१५ भाष्ये च। ५. नोपपद्यन्ते स्वार्थं न लभन्त इति यावत्। ६. स्वत ऐकरस्यात्। ७. पृथिव्यादेः। ८. अविरोधम्। ९. बृ० उ० ३।४।१। १०. गार्ग्यन्तर्याम्यक्षराख्ये।

[1]अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा याज्ञवल्क्येति स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्व-

इसके बाद इस याज्ञवल्क्य ने शकल के पुत्र विदग्ध ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! देवता कितने इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—इस (आगे बतलायी जाने वाली निविद) देव संख्या सम्बन्धी मन्त्र ही उन देवताओं की संख्या निविद में बतलायी गयी है। वे सभी तीन और तीन एवं तीन सौ और

पूर्वस्योत्तरस्मिन्नु[2]त्तरस्मिन्नोतप्रोतभावं कथयन्सर्वान्तरं ब्रह्म [3]प्रकाशितवान्। [4]तस्य ब्रह्मणो व्याकृतविषये सूत्रभेदेषु नियन्तृत्वमुक्तम्। व्याकृतविषये व्यक्ततरं लिङ्गमिति [5]तस्यैव ब्रह्मणः साक्षादपरोक्षत्वे नियन्तव्यदेवताभेदसंकोचविकासद्वारेणाधिगन्तव्ये तदर्थं शाकल्यब्राह्मणमारभ्यते।

अथ हैनं विदग्ध इति नामतः शकलस्यापत्यं शाकल्यः पप्रच्छ कतिसंख्याका दे

अन्तर्यामिब्राह्मणे मुखतो निर्दिष्टमर्थम[6]नुद्रवति—तस्य चेति। नामरूपाभ्यां व्याकृतो विषयो द्वैतप्र स्तत्र [7]सूत्रस्य [8]भेदा ये पृथिव्यादयस्तेषु नियम्येषु नियन्तृत्वं तस्योक्तमिति योजना। किमिति व्या विषये नियन्तृत्वमुक्तमिति तत्राऽऽह—व्याकृतेति। [9]तत्र हि परतन्त्रस्य पृथिव्यादे[10]र्ग्रहणं नियम स्पष्टतरं लिङ्गमिति तत्रैव नियन्तृत्वमुक्तमित्यर्थः। वृत्तमनूद्योत्तरस्य ब्राह्मणस्य तात्पर्यमाह—तस्यैवे नियन्तव्यानां देवताभेदानां [11]प्राणान्तः संकोचो [12]विकासश्चाऽऽनन्त्यपर्यन्तस्तद्द्वारा प्रकृतस्यैव ब्रह्म साक्षात्त्वापरोक्षत्वे [13]स एष नेति नेत्यामेत्यादिना[14]ऽधिगन्तव्ये इति [15]कृत्वा प्रथमं देवतासंकोचविका क्तिरनन्तरं [16]वस्तु निर्देश इत्येतदर्थमेतद्ब्राह्मणमित्यर्थः।

ब्राह्मणारम्भमेवमुक्त्वा तदक्षराणि व्याकरोति—अथेत्यादिना। निविदि श्रूयन्ते तावन्तो दे

तारतम्यक्रम से पूर्व-पूर्व पृथिव्यादि पदार्थ का उत्तर-उत्तर अबादि पदार्थ में ओत-प्रोत भाव बतला हुए याज्ञवल्क्य ने सर्वान्तर ब्रह्म को प्रकाशित किया है। इस अक्षरब्रह्म का नामरूपात्मक द्वैतप्रप में पृथिव्यादि सूत्रभेदों में नियन्तृत्व बतलाया है। व्याकृत विषयों में ब्रह्म के नियन्ता होने में स्पष्ट लिङ्ग है। उसी अक्षरात्मा ब्रह्म का नियन्तव्य देवताभेद के संकोच और विकास द्वारा साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करना है, इसलिए शाकल्यब्राह्मण का आरम्भ किया जाता है।

इसके बाद इस याज्ञवल्क्य से विदग्ध नाम वाले "शाकल्य" यानी शकल के पुत्र ने पूछा—

---

१. अथेति—"नवमब्राह्मणे देवनिर्णयस्तदुपासनम्। अष्टधा पञ्चधा चौपनिषदश्चोच्यते क्रमात्" वा.सा. ३.९.१॥ २. अबादौ। ३. याज्ञवल्क्यो वेदो वा। ४. अक्षराभिधस्य। ५. प्रकृताक्षरात्मन ६. अनुवदतीत्यर्थः। ७. हिरण्यगर्भस्य। ८. अवयवविशेषाः। ९. व्याकृतविषये। १०. कथन अन्तर्भाव इति यावत्। ११. प्राण एव सर्वे देवा इति प्राणत्वेन संक्षेपः। १२. तत्तद्व्यक्तिभिस्त्वनन्ता इति विकासो विस्तारः। १३. बृ० उ० ३।९।२६। १४. प्रतिपादनीये इति यावत्। १५. मनसिकृत्य १६. साक्षात्त्वादिरूपब्रह्मतत्त्वोपन्यासः स एव नेतीत्यादिना।

देवस्य निविद्युच्यन्ते [1]त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिꣳशदित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षडित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञव-

हजार हैं, अर्थात् तीन हजार तीन सौ छः। तब शाकल्य ने कहा—ठीक है। उसने फिर पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! देवता कितने हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—तैंतीस। (देवताओं के संकोचविषयक देवसंख्या को सुनकर शाकल्य ने कहा—) ठीक है और फिर पूछा—याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—

हे याज्ञवल्क्येति। [2]स याज्ञवल्क्यो ह किलैतयैव वक्ष्यमाणया निविदा [3]प्रतिपेदे संख्यां यां संख्यां पृष्टवाञ्शाकल्यो यावन्तो यावत्संख्याका देवा वैश्वदेवस्य[4] शस्त्रस्य निविदि। निविन्नाम देवतासंख्यावाचकानि [5]मन्त्रपदानि कानिचिद्वैश्वदेवे शस्त्रे [6]शस्यन्ते तानि निवित्संज्ञकानि। [7]तस्यां निविदि यावन्तो देवाः श्रूयन्ते तावन्तो देवा इति। का पुनः

इत्युत्तरत्र संबन्धः। केयं निविदिति पृच्छति—निविन्नामेति। उत्तरमाह—देवतेति। पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थं कथयति—तस्यामिति। यद्यपि भाष्ये निविद्व्याख्याता तथाऽपि प्रश्नद्वारा श्रुत्या तां [8]व्याख्याति—का पुनरित्यादिना। [9]अनुज्ञावाक्यं व्याकरोति—एवमिति। [10]मध्यमा संख्या षडधिक-

याज्ञवल्क्य ! देवता कितने हैं ? इस प्रकार पूछे जाने पर शाकल्य से पूछी जाने वाली संख्या का आगे बतलायी जाने वाली निविद् से जानकर कहा—"यावन्तः" अर्थात् जितनी संख्या वाले देवता वैश्वदेवाख्य स्तोत्र के निविद् में बतलाये गये हैं। निविद् नाम देवता संख्यावाचक मन्त्रघटक पदों का है, कुछ वैश्वदेवस्तोत्र में भी पठित हैं; वे निविद्संज्ञक हैं। उस (देवतासंख्याज्ञापक मन्त्रपदरूप

---

१. त्रयश्च देवाः त्री च शता—त्रीणि च शतानि। पुनस्त्रयश्च त्री च सहस्रा त्रीणि च सहस्राणीत्यर्थः। इयं तु मध्यमा संख्या बहुवचनादुत्तमाऽनन्तसंख्याऽप्युक्ता वेदितव्या। अनन्ता वै विश्वेदेवा इति श्रुतेः। उक्तसंख्यां (षडधिकत्रिशताधिकत्रिसहस्रात्मिकां) शाकल्योऽप्यङ्गीकरोतीत्याह—ओमिति होवाचेति। पुनस्तेषामेव देवानां सङ्कोचविषयां संख्यां पृच्छति कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षट्प्रश्नान् प्रति क्रमेण त्रयस्त्रिंशत् षट् त्रयो द्वावध्यर्धं एक इति प्रतिवचने उक्ते सत्योमित्यङ्गीकारोक्तित्यर्थः। षडधिकत्रिशताधिकत्रिसहस्रसंख्याकानां देवानां त्रयस्त्रिंशद्देवेषु (तानारभ्य) तेषां षट्सु तेषां त्रिषु तेषां द्वयोः, तयोरध्यर्धे तस्यैकस्मिन् प्राणे पाठक्रमेणोपसंहारः। तद्विपरीतक्रमेण (प्राणादारभ्य) विस्तारोऽनन्तदेवपर्यन्त इति भावः। २. एवंपृष्टः। ३. ज्ञातवान् ज्ञात्वा चोत्तरितवानिति यावत्। ४. वैश्वदेवाख्यस्तोत्रस्य। ५. मन्त्रघटकानि तद्रूपाण्येव वा पदानि। ६. पठ्यन्त इति यावत्। ७. देवतासंख्याज्ञापिकायां मन्त्रपदरूपायां वाचि। ८. भाष्यकृदिति शेषः। ९. ओमिति शाकल्यस्य स्वीकारवाक्यम्। १०. अनन्तसंख्यापेक्षयाऽस्य मध्यमत्वम्।

वल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्यध्यर्ध इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्येक इत्योमिति होवाच कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति ॥१॥

छः। शाकल्य ने 'ठीक है' ऐसा कहकर पुनः प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? याज्ञवल्क कहा—तीन। शाकल्य ने कहा—'ठीक है' और ऐसा कहकर फिर पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! कितने हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—दो। शाकल्य ने 'ठीक है' ऐसा कहकर पुनः पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! कि देव हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—डेढ़। शाकल्य ने 'ठीक है' ऐसा कहकर पुनः पूछा—हे याज्ञवल्क कितने देव हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—एक। शाकल्य ने 'ठीक है' ऐसा कहकर संख्येय के विषय में —वे तीन हजार तीन सौ छः देव कौन से हैं ? ॥ १ ॥

सा निविदिति। तानि निवित्पदानि प्रदर्श्यन्ते—त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च देवा दे त्री च त्रीणि च शतानि पुनरप्येवं त्रयश्च त्री च सहस्रा सहस्राण्येतावन्तो देवा इ शाकल्योऽप्योमिति होवाच। [1]एवमेषां[2] मध्यमा संख्या सम्यक्तया ज्ञाता। पुनस्तेषां देवानां संकोचविषयां संख्यां पृच्छति। कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिंशत्षट् द्वावध्यर्ध एक इति। देवतासंकोचविकासविषयां संख्यां पृष्ट्वा पुनः संख्येयस्वरूपं पृ —कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति ॥ १ ॥

त्रिशताधिकत्रिसहस्रलक्षणा। कत्येवेत्यादि[3]प्रश्नानां पूर्वप्रश्नेन पौनरुक्त्यमाशङ्क्य परिहर पुनरित्यादिना। कतमे ते त्रयश्चेत्यादिप्रश्नस्य विषय[4]भेदं दर्शयति—देवतेति ॥ १ ॥

स्तोत्र) निविद् में जितने देवता सुने जाते हैं, उतने ही देवता हैं। किन्तु फिर वह निविद् क्या वे निविद् के पद दिखलाये जाते हैं। "त्रयश्च त्री च शता" यानी देवगण तीन और तीन तथा इसी प्रकार वे तीन और तीन सहस्र हैं। अर्थात् इतने ही सभी देवता हैं इस पर शाकल्य कहा—'ठीक है"। उक्त रीति से इन देवताओं की मध्यमा संख्या का ठीक-ठीक ज्ञान हो गया उन्हीं देवताओं की संकोचविषयिणी संख्या शाकल्य पूछता है। हे याज्ञवल्क्य ! देवता कित इस पर याज्ञवल्क्य क्रम से 'तैंतीस, छः, तीन, दो, डेढ़ और एक" ऐसा कहते हैं। देवताओं की और विकासविषयक संख्या पूछकर पुनः संख्येय के स्वरूप के विषय में पूछता है—"वे तीन और तीन सहस्र तीन देवता कौन से हैं'॥ १ ॥

---

१. उक्तरीत्या। २. देवानाम्। ३. षण्णाम्। ४. विशेषम्।

स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिꣳशत्त्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिꣳशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशाऽऽदित्यास्त एकत्रिꣳशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिꣳशाविति ॥२॥

कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चाऽऽदित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव

इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—(३३०६) इतनी संख्या तो इनकी महिमाएँ हैं, वस्तुतः देवगण तो तैंतीस ही हैं। शाकल्य ने कहा—वे तैंतीस देव कौन से हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा—आठ वसु, एकादश रुद्र और द्वादश आदित्य, ये एकतीस देवगण हैं तथा इन्द्र एवं प्रजापति इनके सहित तैंतीस हो जाते हैं ॥२॥

शाकल्य ने पूछा—अष्ट वसु कौन हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा तथा नक्षत्र ये आठ वसु हैं (क्योंकि प्राणियों के कर्मफल के आश्रय बनकर देहादिसंघातरूप से परिणत होकर सम्पूर्ण जगत् को बसा रहे हैं और स्वयं भी बसते हैं)। इन्हीं में

स होवाचेतरो[1] महिमानो विभूतय एषां [2]त्रयस्त्रिंशतां देवानामेते त्रयश्च त्री च शतेत्यादयः। परमार्थतस्तु त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति। कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्युच्यते। अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशाऽऽदित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशतां पूरणौ ॥ २ ॥

कतमे वसव इति तेषां स्वरूपं प्रत्येकं पृच्छ्यते। अग्निश्च पृथिवी चेत्यग्न्याद्या

कति [3]तर्हि देवा निविदि भवन्ति तत्राऽऽह—परमार्थतस्त्विति। त्रयस्त्रिंशतो देवानां स्वरूपं प्रश्नद्वारा निर्धारयति—कतमे त इति ॥ २ ॥

उत्तरप्रश्नपञ्चकप्रतीकं गृहीत्वा [4]तस्य तात्पर्यमाह—कतम इति। तेषां वस्वादीनां प्रत्येकं वस्वादि[5]त्रये प्रतिगणमिन्द्रे प्रजापतौ चैकैकस्येत्यर्थः। [6]तेषां वसुत्वमेतेषु हीत्यादिवाक्यावष्टम्भेन

वह याज्ञवल्क्य बोले—ये तीन सौ तीन आदि देवगण इन तैंतीसों देवताओं की "महिमानः" अर्थात् विभूति ही हैं। परमार्थतः तो तैंतीस ही देवता हैं, वे तैंतीस देवगण कौन से हैं? उसे कहते हैं—आठ वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य ये इकतीस तथा इन्द्र और प्रजापति मिलकर तैंतीस की पूर्ति करते हैं ॥ २ ॥

वसु कौन से हैं? इस प्रकार सब में से प्रत्येक का स्वरूप पूछा जाता है—अग्नि-पृथिव्यादि

---

[1] याज्ञवल्क्यः। [2] बहुवचनमिदमुद्भूताऽवयवभेदविवक्षयेति ध्येयम्। [3] षडधिकत्रिशताधिकत्रिसहस्रसंख्याकानां देवानां त्रयस्त्रिंशद्देवविभूतित्वे निविदि कति देवा निश्चिता भवन्तीत्यर्थः। [4] उत्तरत्रत्यप्रश्नपञ्चकस्य। [5] आदिना रुद्रादित्यौ। [6] अग्न्यादीनाम्।

[1]एतेषु हीदं वसु सर्वꣳ हितमिति तस्माद्वसव इति ॥३॥
कतमे रुद्रा इति दशेमे[2] पुरुषे[3] प्राणा आत्मैकादशस्ते यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥४॥

यह सब जगत् निहित है, इसलिये ये वसु हैं ॥ ३ ॥

शाकल्य ने कहा—रुद्र कौन हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—इस पुरुष में कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ ये दश प्राण और ग्यारहवाँ मन है। जिस समय प्राणियों के प्रारब्धकर्म समाप्त हो जाते हैं उस समय यही एकादश रुद्र मरणशील शरीर से उत्क्रमण करते हैं, तब ये उनके संबन्धियों को रुलाते हैं। इसलिए उत्क्रमणकाल में अपने संबन्धियों को रुलाते हैं। इसी रोदन के निमित्त होने से ये रुद्र कहे जाते हैं ॥४॥

नक्षत्रान्ता [4]एते वसवः। प्राणिनां कर्मफलाश्रयत्वेन कार्यकरणसंघातरूपेण तन्निवासत्वेन च विपरिणमन्तो जगदिदं सर्वं वासयन्ति वसन्ति च। ते यस्मा[5]द्वासयन्ति तस्माद्वसव इति ॥३॥

कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे कर्मबुद्धीन्द्रियाणि प्राणा आत्मा मन एकादश एकादशानां पूरणस्त एते प्राणा यदाऽस्माच्छरीरा[6]न्मर्त्यात्प्राणिनां कर्मफलोपभोगक्षय उत्क्रा

स्पष्टयति—प्राणिनामिति। [7]तेषां कर्मणस्तत्फलस्य चाऽऽश्रयत्वेन [8]तेषामेव निवासत्वेन च शरीरेन्द्रिय समुदायाकारेण विपरिणमन्तोऽग्न्यादयो जगदेतद्वासयन्ति स्वयं च तत्र वसन्ति तस्माद्युक्तं तेषां वसुत्वमित्यर्थः। वसुत्वं निगमयति—ते यस्मादिति ॥३॥

प्राणशब्दार्थमाह—कर्मेति। ते यदाऽस्मादित्यादि वाक्यमनुसृत्य तेषां रुद्रत्वमुपपादयन्ति—एते प्राणा इति। मरणकालः [9]सप्तम्यर्थः ॥४॥

से लेकर नक्षत्रपर्यन्त नाम आठों वसुओं के हैं। प्राणियों के कर्मफल के आश्रय होकर उनके निवासस्थान देहेन्द्रियसंघातरूप से विपरिणति को प्राप्त हुए इस सम्पूर्ण संसार को बसाते हैं और स्वयं भी रहते हैं। क्योंकि वे बसाते हैं और बसते हैं, इसलिए वसु हैं ॥ ३ ॥

रुद्र कौन से हैं ? इस पुरुषाकार देह में कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ ये दश प्राण और ग्यारहवाँ "आत्मा" यानी मन; ये ग्यारह संख्या की पूर्ति करने वाले अर्थात् ग्यारह रुद्र हैं। वे ये प्राण जिस समय म्रियमाण शरीर से उत्क्रमण करते हैं, उस समय ये उसके संबन्धियों को रुलाते हैं। क्योंकि उस समय

---

[1] एतेष्विति— हि यस्मादेतेष्वग्न्यादिषु कर्मफलसाधनात्मकं सर्वं वसु हितं स्थितं तस्मात्ते वसव इत्यर्थः। तदुक्तं वार्तिके—"वसु कर्मफलं चाऽऽहुः कर्मणः साधनं वसु। यस्मात्तदेषु निहितं तस्मात्ते वसवः स्मृताः ॥ १३ ॥" इति। एतेषु हीत्यादौ वसुशब्दार्थमाह—वस्विति। तस्मादित्यादि व्याचष्टे—यस्मादिति। तदधीनत्वात्कर्मादेरित्यर्थः। [2] इमे—प्रसिद्धाः। [3] पुरुषे—तदाकारदेहे। [4] एतन्नामानः। [5] वसन्ति चेत्यपि द्रष्टव्यम्। [6] म्रियमाणात्। [7] प्राणिनाम्। [8] प्राणिनामेव। [9] तत्रैव सप्तमी।

कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदꣳ सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदꣳ सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥५॥

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो

शाकल्य ने कहा—आदित्य कौन है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—जो बारह मास संवत्सररूप काल के अवयव प्रसिद्ध हैं, यही आदित्य है । क्योंकि पुनः पुनः बदलते हुए इन सब प्राणियों की आयु एवं कर्मफल का ग्रहण करते हुए चलते हैं, इसीलिये ये आदित्य कहे जाते हैं ॥५॥

शाकल्य ने कहा—इन्द्र कौन है और प्रजापति कौन है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—विद्युत् ही इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है । शाकल्य ने पूछा—विद्युत कौन है ? "अशनि" जो प्राणियों की

मन्ति । अथ तदा रोदयन्ति तत्संबन्धिनः । तत्तत्र यस्माद्रोदयन्ति ते तत्संबन्धिनस्तस्माद्रुद्रा इति ॥ ४ ॥

कतम आदित्या इति वै द्वादश [2]मासाः [3]संवत्सरस्य कालस्यावयवाः [4]प्रसिद्धा एत आदित्याः । कथम् । [5]एते हि यस्मात्पुनः परिवर्तमानाः प्राणिनामायूंषि [6]कर्मफलं चाऽऽददाना गृह्णन्त उपाददतो यन्ति गच्छन्ति ते यद्यस्मादेवमिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ५ ॥

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति [7]स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः

तेषामादित्यत्वमप्रसिद्धमिति शङ्कते—कथमिति । एते हीत्यादिवाक्येनोत्तरमाह—एते हीति ॥ ५ ॥

संबन्धियों को रुलाते हैं, इसलिए वे उस रोदन में निमित्त होने के कारण रुद्र कहलाते हैं ॥ ४ ॥

आदित्य कौन से हैं ? संवत्सरात्मक काल के अवयव तदभिमानी देवता बारह मास प्रसिद्ध हैं, वे ही आदित्य हैं । यह कैसे कहते हो ? क्योंकि ये मासाभिमानी देवता ही पुनः पुनः परिवर्तित होते हुए प्राणियों की आयु और कर्मफल को "आददाना" अर्थात ग्रहण या उपादान करते हुए चलते हैं । क्योंकि वे सब कुछ का इस प्रकार आददान करते हुए चलते हैं, इसलिए उनका आदित्य नाम पड़ गया ॥ ५ ॥

इन्द्र और प्रजापति कौन से हैं ? मेघनादाभिमानी देवता ही इन्द्र है और यज्ञ प्रजापति है ।

---

१. रोदयन्तीति—उपलक्षणमेतद्रुदन्ति चेत्यस्य । तदुक्तं वार्तिके—"रोदयन्तो द्रवन्त्येते रुदन्ति च यतस्ततः । रुद्रा इत्यभिधीयन्ते प्राणा एकादशोदिताः ॥ १५ ॥ इति ॥ २. तदभिमानिदेवाः । ३. संवत्सरात्मकस्य । ४. मूलस्थवैशब्दार्थोऽयम् । ५. मासाभिमानिनः । ६. कर्मफलमिति—'आयुर्वीर्यं स्मृतिं प्रज्ञां सौकुमार्यं वपुःश्रियम्" ॥ १७ ॥ इत्येवमादिवार्तिकोक्तम् । ७. स्तनयित्नुरेवेन्द्र इति—स्तनयित्नुर्मेघनादाभिमानिनी देवतैवेन्द्र इत्यर्थः ।

यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति
कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥६॥
कतमे षडित्यग्निश्च च वायुश्चान्तरिक्षं चाऽऽदित्यश्च
द्यौश्चैते षडेते हीद७ँ सर्व७ँ षडिति ॥ ७ ॥

हिंसा करता है (यह इन्द्र का ही क्रूर कर्म है)। शाकल्य ने पूछा—यह कौन है ? याज्ञवल्क्य ने दिया—यज्ञ के साधन होने से पशुगण यज्ञ है (क्योंकि यज्ञ का स्वयं अपना रूप नहीं है) ॥६॥

शाकल्य ने पूछा—छः देवगण कौन से हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्त आदित्य तथा द्युलोक बस यही छः देवगण हैं (पहले बतलाये गये वसुओं में से चन्द्रमा और नक्षत्र छोड़ देने पर शेष देवता षट्संख्याविशिष्ट होते हैं), क्योंकि ये वसु आदि तैंतीस देवताओं के अग्नि आदि छः देवगण ही हैं। इन्हीं छः के विस्तार अन्य सभी देव हैं ॥३॥

स्तनयित्नुरित्यशनिरिति। [१]अशनिर्वज्रं वीर्यं बलं यत्प्राणिनः [२]प्रमापयति स इन्द्र इन्द्रस्य हि [३]तत्कर्म। कतमो यज्ञ इति पशव इति। यज्ञस्य हि साधनानि पशवः यज्ञस्यारूपत्वात्पशुसाधनाश्रयत्वाच्च पशवो यज्ञ इत्युच्यते ॥६॥

कतमे षडिति। त एवाग्न्यादयो वसुत्वेन पठिताश्चन्द्रमसं नक्षत्राणि वर्जयित्वा षड्भवन्ति षट्संख्याविशिष्टाः। एते हि यस्मात्त्रयस्त्रिंशदादि यदुक्तमिदं सर्वं

प्रसिद्धं वज्रं व्यावर्तयति—वीर्यमिति। तदेव संघातनिष्ठत्वेन स्फुटयति—बलमिति। तद्बलमिति चेत्तत्राऽऽह—यत्प्राणिन इति। प्रमापणं हिंसनम्। कथं तस्येन्द्रत्वमु[४]पचारादित्याह—स्य हीति। पशूनां यज्ञत्वमप्रसिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—यज्ञस्य हीति। [५]कारणे [६]कार्योपचारं साधयति यज्ञस्येति। [७]अमूर्तत्वात्साधनव्यतिरिक्तरूपाभावाद्यज्ञस्य पश्वाश्रयत्वाच्च पशवो यज्ञ इत्यु इत्यर्थः ॥ ६ ॥

एते हीति प्रतीकमादाय व्याचष्टे—यस्मादिति। यत्त्रयस्त्रिंशदाद्युक्तं[८] तत्सर्वमेत

इस पर पूछते हैं—स्तनयित्नु कौन है ? अशनि है। अशनि वज्र का अपर पर्याय है, (उसका मेघनादाभिमानी इन्द्र में होने के कारण इन्द्र का इन्द्रत्व है) जो प्राणियों में अभिमान उत्पन्न कर युद्धादि में प्रवृत्त कर हिंसा करता है, वह इन्द्र है; इन्द्र का ही वह कर्म है। यह कौन सा पशुगण ही यज्ञ है क्योंकि यज्ञ के साधन पशु हैं। यज्ञ के रूपरहित एवं पशुरूप साधन के आश्रित पशु यज्ञ हैं - ऐसा कहा जाता है ॥ ६ ॥

वे छः देवता कौन से हैं ? वे अष्टवसुरूप से पूर्वमन्त्र में पठित चन्द्रमा और नक्षत्रों छोड़कर अग्नि आदि ही षट्संख्याविशिष्ट होते हैं क्योंकि ये तैंतीस आदि जो कहे गये है, वे

---

१. अशनिरिति—अशनिर्वज्रापरपर्याय बलं तस्य मेघनादाभिमानीन्द्रनिष्ठत्वादिन्द्रत्वमिति भाव
२. प्रमापयति—अभिमानमुत्पाद्य युद्धादौ प्रवर्त्य हिनस्तीत्यर्थः। ३. प्रमापणम्। ४. आरो
५. पशौ। ६. यज्ञारोपम्। ७. निरवयवत्वात्। ८. देवजातम्।

कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कतमौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्ध इति *योऽयं पवत इति ॥८॥

शाकल्य ने पूछा—वे तीन देव कौन हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—ये तीन लोक ही तीन देव हैं अर्थात् पृथिवी और अग्नि मिलाकर एक देव, अन्तरिक्ष और वायु मिलाकर दूसरे देव, एवं द्युलोक और आदित्य मिलाकर तीसरे देव हैं। इन्हीं में ये सब देवगण अन्तर्भूत हैं। शाकल्य ने पूछा—वे दो देव कौन हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—अन्न और प्राण (इन्हीं में पूर्वोक्त सभी देवताओं का अन्तर्भाव हो जाता है)। शाकल्य ने पूछा—डेढ़ देव कौन हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—जो यह बहता है, वह वायु ही डेढ़ देव है ॥८॥

एव षड्भवन्ति। सर्वो हि वस्वादिविस्तार एतेष्वेव [2]षट्स्वन्तर्भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

कतमे ते त्रयो देवा इति। इम एव [3]त्रयो लोका इति। [4]पृथिवीमग्निं चैकीकृत्यैको

यस्मात्तस्मादेते षड्भवन्तीति योजना। अक्षरार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—सर्वो हीति ॥ ७ ॥

देवगण ये छः होते है। भावाशय यह है कि वसु, रुद्र एवं आदित्यादिरूप से सम्पूर्ण देवताओं का विस्तार इन अग्न्यादि छः में ही अन्तर्भूत हो जाता है ॥ ७।

---

१. इमे—प्रसिद्धाः। २. षट्स्विति—"अग्न्यादिषु यतः षट्सु यथोक्ताः सर्वदेवताः। षट्संख्यामेव संयान्ति षडग्न्याद्यास्ततः स्मृताः" ॥ वा० २० ॥ इति षट्सु अन्तर्भूताः सत्य इति शेषः। ३. पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौरिति। ४. अत्र केषांचिद्देवनिवर्चनकर्तृणां मतं दर्शयति—पृथिवीमित्यादिना।

---

*योऽयं पवत इत्यादि तेनाध्यर्ध इतीत्यन्तग्रन्थे षड्वार्तिकानि प्रदर्शयन्ते ॥ "योऽयं पवत इत्युक्तिरध्यर्धस्य
विनिर्णये। एकत्वात्पवमानस्य तदाहुरिति चोदना ॥ एकसंख्यैव नान्याऽस्ति द्विसंख्याया यतस्ततः। पृष्टोऽध्यर्ध
इति प्राह सोपहासमृषिः सुधीः ॥ वायुर्वा देवता कृत्स्ना तदन्यस्य तदात्मनः। अर्धत्वं स्यात्कनीयस्त्वाद्व्याप्य-
स्याग्न्यादिरूपिणः ॥ ऋद्धिं प्राप्यद्यतः सर्वं वायौ सति चराचरम्। तस्मादध्यर्ध इत्येवं वायुमाचक्षते बुधाः ॥
संख्याप्राधान्यमध्यर्धे विदग्धेन विवक्षितम्। सर्वमृध्नोति यत्प्राणं तेनेति श्रुतिहृद्गतम् ॥ अन्नाशितृत्वसिद्ध्यर्थं
यथा व्युत्पत्तिरुच्यते। अन्नेनाश्नुत इत्येवमध्यर्धस्यापि योजना" ॥ २३-२८ ॥ इति। योऽयमित्यादि व्याचष्टे—
योऽयमिति। तदित्यादेस्तात्पर्यमाह—एकत्वादिति ॥ यदित्यादिप्रत्युक्तिमवतारयति—एकेति। द्वितीयसंख्यायाः
सकाशादवर्गिकत्वसंख्यैवास्ति न च संख्यान्तरमतोऽध्यर्धशब्दस्य संख्याविषयत्वायोगेऽपि तद्विषयत्वमुपेत्य कथमय-
मेकः सन्नध्यर्धः स्यादिति पृष्ट एष मुनिरयोग्यविषयत्वं प्रश्नस्य पश्यन्नुपहासपूर्वकं यदस्मिन्नित्याद्युक्तवानित्यर्थः ॥
अध्यर्धशब्दस्य संख्याविषयत्वमुपेत्य श्रुतेर्बहिः समाधिमाह—वायुर्वेति ॥ यदस्मिन्नित्यादि श्रुत्यक्षराणि व्याचष्टे
—ऋद्धिमिति ॥ प्रकरणादध्यर्धशब्दस्य संख्याविषयत्वे कथमुपहासोक्तिरत आह—संख्येति। कथं तर्हि यौगिका-
र्थोक्तिस्तत्राऽऽह—सर्वमिति। शाकल्यस्य मिथ्यावादिनो मतमपास्य सम्यग्ज्ञानिनो मुनेर्मतमुपास्यमित्यर्थः।
प्राणे सति सर्वं जगदृद्धिं यस्मादाप्नोति तेनाध्यर्धः। स इति श्रुतेर्मतमिति योजना। अध्यर्धशब्दस्य यौगिकत्वं
दृष्टान्तेनाऽऽह—अन्नेति। ऐतरेयके प्राणस्यान्नाशितृत्वमुक्तं तत्सिद्ध्यर्थमन्नेन हीदं सर्वमश्नुते प्राण इत्येवं-
प्रकारेण व्युत्पत्तिर्यथोच्यते तथाऽध्यर्धशब्दस्यापि व्युत्पत्तिरित्यर्थः ॥

तदाहुर्यदयमेक इवैव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यद-स्मिन्निदꣳ सर्वमध्याध्नोत्तेनाध्यर्ध इति कतम एको

इस विषय में ऐसा कहते हैं, यह जो वायु है, यह एक ही-सा बहता है, फिर यह अ यानी डेढ़ कैसे कहा जाता है। इसका उत्तर यह है क्योंकि इसी में यह सब जगत् अ ऋद्धि को प्राप्त होता है, इसीलिये यह वायु अध्यर्ध है यानी डेढ़ है। शाकल्य ने कहा—एक

देवोऽन्तरिक्षं वायुं चैकीकृत्य द्वितीयो दिवमादित्यं चैकीकृत्य तृतीयस्त एव त्रयो दे इति। एषु हि यस्मात्त्रिषु देवेषु सर्वे देवा अन्तर्भवन्ति तेनैत एव देवास्त्रय इत्येषां क्तानां केषांचित्पक्षः। कतमौ तौ द्वौ देवाविति अन्नं चैव प्राणश्चैतौ द्वौ देवाव सर्वेषामुक्तानामन्तर्भावः। कतमोऽध्यर्ध इति। योऽयं [2]पवते [3]वायुः ॥ ८ ॥

[4]तत्तत्राऽऽहुश्चोदयन्ति [5]यदयं वायुरेक इवैवैक एव पवते। अथ कथमध्यर्ध इति [6]यदस्मिन्निदं सर्वमध्याध्नोदस्मिन्वायौ सतीदं सर्वमध्याध्नोदधि ऋद्धिं प्राप्नोति तेन

प्रतिज्ञासमाप्तावितिशब्दः। तत्र हेतुः—एषु हीति। [7]देवलक्षणकृतां केषांचिदेष पक्षो दर्शि ऽन्येषां तु त्रयो लोका इत्यस्य [8]यथाश्रुतोऽर्थ इत्याह—इत्येष इति ॥८॥

एकस्याध्यर्धत्वमाक्षिपति—तत्तत्रेति। [9]इवशब्दस्तु कथमित्यत्र संबध्यते। परिहरति—

वे तीन देवता कौन से हैं? (इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं—) वे तीन लोक (पृथि अन्तरिक्ष और द्युलोक) ही तीन देवता हैं। पृथिवी और अग्नि मिलाकर एक देव हैं, अन्तरि और वायु को मिलाकर दूसरे देवता हो जाते हैं, तथा द्युलोक और आदित्य को मिलाकर ती देवता हो जाते हैं। ये तीन देवता हैं क्योंकि इन तीन देवताओं में सभी देवता अन्तर्भूत हैं। इसलि ये ही तीन देवता हैं—ऐसा किन्हीं निरुक्तिकारों का मत है। (अच्छा तो) वे दो देवता कौन से हैं हो? अन्न और प्राण दो देवता हैं। इन्हीं में पूर्वोक्त सभी देवता अन्तर्भूत हैं। डेढ़ देवता कौन से हैं जो यह बहता है, वह (बाह्य) वायु ही डेढ़ देवता हैं ॥ ८ ॥

अध्यर्धशब्द के वायु विषय में कहे जाने पर शाकल्य आदि वादी कहते हैं—यह जो वायु है

---

१. कथमेतावेव द्वौ देवाविति तत्राऽऽह—अनयोरिति। "एतावन्मात्रयाथात्म्यं सर्वस्य जगतस्ततः ॥ २२ इति वार्तिके। भोक्तृभोग्यात्मकमेव सर्वं जगदित्यभिप्रेत्याह—एतावदिति। तत इति—द्वावेवैतौ देवाविति शेषः। २. वाति। ३. बाह्यो वायुः। ४. तत्तत्रेति—अध्यर्धशब्दस्य वायुविषयत्वे उक्ते सति। शाकल्याद्य वादिन आहुश्चोदयन्ति यद्यतोऽयं वायुरेक एव पवते वाति। ५. अथ—अतः कथमिव अध्यर्ध इति शङ्कां योगमाश्रित्य परिहरति—यदिति। ६. यस्मादस्मिन्वायौ सति इदं सर्वं चराचरात्मकं जगद् अधि—अधिक आध्नोत् वृद्धिं प्रापत् तेन हेतुनाऽध्यर्धो वायुरित्यर्थः ॥ ७. वेदलक्षणकृतामिति पाठः। यथाश्रुतोऽर्थ इति भूर्भुवः स्वरिति त्रयो लोका एव त्रयो देवा इति यथाश्रुतोऽर्थः इत्यर्थः। ९. तथा च वाक्यालङ्कारार्थ एव इति भावः।

इति प्राण इति [1]स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥९॥

कौन है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—"प्राण" है, वह प्राण ब्रह्मस्वरूप है । उस ब्रह्म को ही परोक्षवाचक "त्यत्" इस शब्द से भी कहते हैं ॥ ९ ॥

ध्यर्ध इति । कतम एको देव इति [2]प्राण इति । स प्राणो ब्रह्म सर्वदेवात्मकत्वान्महद्ब्रह्म [3]तेन, [4]स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते त्यदिति [5]तद्ब्रह्माऽऽचक्षते[6] परोक्षाभिधायकेन शब्देन । देवानामेतदेकत्वं नानात्वं च[7] । अनन्तानां देवानां [8]निवित्संख्याविशिष्टेष्वन्तर्भावः । तेषामपि त्रयस्त्रिंशदादिषूत्तरोत्तरेषु यावदेकस्मिन्[9]प्राणे प्राणस्यैव चैकस्य सर्वोऽनन्त-

---

स्मिन्निति । प्राणस्य ब्रह्मत्वं साधयति—सर्वेति । तेन महत्त्वेनेति यावत् । तस्य परोक्षत्व[10]प्रतिपत्तौ [11]प्रयत्नगौरवार्थं कथयति–त्यदितीति । [12]उक्तमर्थं प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं [13]संगृह्णति—देवानामिति । एकत्वं प्राणे पर्यवसानम् । नानात्वमानन्त्यम् । षडधिकत्रिशताधिकत्रिसहस्रसंख्याकानामेव देवानामत्रोक्तत्वात्कथं तदानन्त्यमित्याशङ्क्य शतसहस्र[14]शब्दाभ्यामनन्तताऽप्युक्तैवेत्याशयेनाऽऽह—अनन्तानामिति । एकस्मिन्प्राणे पर्यवसानं यावद्भवति तावत्पर्यन्तमुत्तरोत्तरेषु त्रयस्त्रिंशदादिषु [15]तेषामप्यन्तर्भाव इत्याह—तेषामपीति । प्राणस्थ कस्मिन्नन्तर्भावस्तत्राऽऽह—प्राणस्यैवेति । संगृहीतमर्थमुपसं-

---

वह "एक इवैव" एक ही तरह चलता है । तो फिर इसे डेढ़ क्यों कहते हो ? क्योंकि इसी में यह सब "अध्याध्नोंत्" अर्थात् अधिऋद्धि को प्राप्त होता है यानी वायु के रहते हुए ही जगत् अधिक वृद्धि को प्राप्त होता है, इसलिए अध्यर्ध है । वह एक देव कौन सा है ? (इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं—) वह एक देवता प्राण है । वह प्राण ब्रह्म है, सर्वदेवरूप होने के कारण वह महद्ब्रह्म है । इसलिए प्राणशब्द से कहा हुआ वह ब्रह्म त्यत् है—ऐसा कहते हैं अर्थात् उस ब्रह्म को 'त्यत्' इस परोक्षवाचकशब्द से कहते हैं । इस प्रकार देवताओं का एकत्व और नानात्व कहा गया । अनन्त देवताओं का निवित्संख्याविशिष्ट देवों में अन्तर्भाव है और उनका तैंतीस आदि उत्तरोत्तर देवताओं में एक प्राण ही अन्तर्भूत है । एक प्राण का ही यह सब अनन्त संख्या के रूप में विस्तार

---

१. कोऽसावित्यपेक्षायामाह—स इति । स प्राणो ब्रह्म सूत्रात्मरूपेण सर्वकार्याणां भरणात् कारणभूतो ब्रह्मेति भण्यते तं प्राणं ब्रह्म त्यदिति परोक्षाभिधायकेन शब्देनाचक्षत प्राणविदः साक्षान्निर्देष्टुमशक्यत्वादित्यर्थः । तथाच वार्तिके—"साक्षान्निर्देशानुत्त्यर्थं कारणत्वावबुद्धये । प्राणं ब्रह्म त्यदित्याहुः पारोक्ष्येण महाधियः" ॥ ३१ ॥ इति । २. प्राण इति । "जनिमत्सर्वभूताना प्राणऽन्तर्भावहेतुतः । प्राणो देवोऽत एवैकस्तस्यैव महिमाऽपरः" ॥ वा. २९॥ इति । अपरो देवगण इत्यर्थः । ३. तेन महत्त्वेन ब्रह्मेत्यन्वयः । ४. प्राणशब्दोदितम् । ५. प्राणशब्दाभिधेयम् । ६. तद्विदः । ७. उक्तमिति शेषः । ८. निविदिति—षडधिकत्रिशताधिकत्रिसहस्रसंख्याकेष्वित्यर्थः । ९. प्राणे इति अन्तर्भाव इति पूर्वत्र संबन्धः । तथाहि—निवित्संख्याविशिष्टानां देवानां त्रयस्त्रिंशद्देवेषु तेषां षट्सु तेषां त्रिषु तेषां द्वयोः तयोरध्यर्धे तस्य प्राणे इति । १०. तदवगतौ । ११. प्रयत्नाधिक्यार्थम् । १२. उक्तमर्थमिति—बृ० उ० ३।९।१ उपक्रमभाष्ये ब्राह्मण इत्यादि ग्रन्थेनोक्तमित्यर्थः । १३. संक्षिपति । १४. शब्दाभ्यामिति—बहुवचनान्ताभ्यामिति शेषः । आनन्त्यस्याविवक्षितत्वे त्रयश्च त्री च शतं त्रयश्च त्री च सहस्रमित्येवमेव ब्रूयादिति भावः । १५. निवित्संख्याविशिष्टानाम् ।

पृथिव्येव यस्याऽऽयतनमग्निर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायण*ꣳ* स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुष*ꣳ* सर्वस्या-

शाकल्य ने पूछा—पृथिवी ही जिस देव का आश्रय है, अग्नि जिसका लोक (देखने का
है और मन जिसकी ज्योति (संकल्प-विकल्प की साधन) है, जो भी उस पुरुष को सम्पूर्ण आध्या
कार्यकरणसंघात का परम आश्रय जानता है; वही पंडित है (हे याज्ञवल्क्य ! तुम तो उसे जाने
ही पंडित होने का दम्भ कर रहे हो) । याज्ञवल्क्य ने कहा—जिसे तुम सम्पूर्ण आध्यात्मिक
करणसंघात का परम आश्रय कहते हो, उसे मैं जानता हूँ । यह जो भी शारीर पुरुष है; वही

---

[1]संख्यातो विस्तारः । [2]एवमेकश्चानन्तश्चा[3]वान्तरसंख्याविशिष्टश्च प्राण एव । तत्र
[4]देवस्यैकस्य नामरूपकर्मगुणशक्तिभेदोऽधिकारभेदात् ॥ ९ ॥

इदानीं [5]तस्यैव प्राणस्य ब्रह्मणः पुनरष्टधा भेद उपदिश्यते—

पृथिव्येव यस्य [6]देवस्याऽऽयतनमा[7]श्रयो[8]ऽग्निर्लोको यस्य लोकयत्यनेनेति

हरति—एवमिति । एकस्यानेकधाभावे किं निमित्तमित्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति । उक्तरीत्या प्रा
रूपे स्थिते सतीति यावत् । देवस्यैकस्य प्रकृतस्य प्राणस्यैवेत्यर्थः । प्राणिनां [10]ज्ञाने कर्मणि चाधिका
[11]स्वामित्वस्य भेदोऽधिकारभेदस्तन्निमित्तत्वेन [12]देवस्या[13]नेकसंस्थानपरिणामसिद्धिः । प्राणिनो
[14]ज्ञानं कर्म चानुष्ठाय सूत्रांशमग्न्यादिरूपमापद्यन्ते तद्युक्तो यथोक्तो भेद इत्यर्थः ॥ ९ ॥

संकोचविकासाभ्यां [15]प्राणस्वरूपोक्त्यनन्तरमवसरप्राप्तिरि[16]दानीमित्युच्यते । उपदिश्यते
नार्थमिति शेषः । अवयवशो वाक्यं योजयति—पृथिवीति । संपिण्डितं वाक्यत्रयार्थं कथयति—पृ

हुआ है । उक्त रीति से एक अनन्त और अन्यान्य (निविदुक्त मध्यम) संख्या से विशिष्ट
प्राण ही है । वहाँ अधिकारभेद से एक ही प्राणदेवता के नाम, रूप, कर्म, गुण और
का भेद है ॥ ९ ॥

अब उसी (अनन्त भेदभिन्न सर्वदेवतात्मक) प्राण ब्रह्म के आठ प्रकार के भेद बत
जाते हैं ।

---

[1] संख्यात इति पाठः लेखकप्रमादागत इति भाति । संख्यान्तः संख्याक इत्येव वा पाठो न्याय्यः प्रति
यथाश्रुतपाठे तु तृतीयान्तात्तसिस्तथा च तत्संख्याप्रयुक्त इत्यर्थः । यद्वा आनन्त्येन सम्यक् ख्यात इत्यर्थः ।
उक्तरीत्या । [3] निविदुक्तमध्यमसंख्या । [4] प्राणस्य । [5] अनन्तभेदभिन्नस्य सर्वदेवतात्मकस्य ।
पृथिव्यभिमानिनोऽग्निदेवस्य । [7] शरीरमिति यावत् । [8] भूमिष्ठः काष्ठाद्यारूढतया रूढोऽग्निः ।
चक्षुः । [10] उपास्तौ । [11] फलस्वामित्वस्येति बोध्यम् । [12] प्राणस्य । [13] अग्न्याद्यनेक
त्मकपरिणामसिद्धिरिति यावत् । [14] उपासनम् । [15] प्राणस्य स्वरूपमेकमनन्तं च तत्कथनान
[16] तथा चावसरप्राप्तौ सत्यामित्यर्थः । अवसरे सतीति यावत् । [17] नन्वनन्तभेदे प्राणे व्याख्याते तस्या
भेदोऽप्युक्त एवेति किं पुनरुक्त्या तत्राऽऽह—ध्यानार्थमिति । ध्यानसौकर्यार्थं संक्षेपतः पुनरुक्तिरिति भावः ।

ऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायꣳ शारीरः पुरुषः
स एष [1]वदैव शाकल्य [2]तस्य का देवतेत्यमृतमिति
होवाच ॥ १० ॥

।हे शाकल्य ! इस संबन्ध में फिर से पूछो। शाकल्य ने कहा—उस शारीर पुरुष का देवता कौन ? याज्ञवल्क्य ने कहा—वह अमृत है (शुक्र-शोणित से निष्पन्न पार्थिव शरीर को “शारीर पुरुष” शब्द से कहा गया है, जो अन्न के रस से निष्पन्न होता है) ॥ १० ॥

पश्यतीत्यग्निना पश्यतीत्यर्थः। मनोज्योति[४]र्मनसा ज्योतिषा संकल्पविकल्पादिकार्यं करोति यः सोऽयं मनोज्योतिः। पृथिवीशरीरो[५]ऽग्निदर्शनो मनसा संकल्पयिता पृथिव्यभिमानी कार्यकरणसंघातवान्देव इत्यर्थः। य [६]एवंविशिष्टं वै [७]तं पुरुषं विद्याद्विजानीया[८]त्सर्वस्याऽऽत्मन [९]आध्यात्मिकस्य कार्यकरणसंघातस्या[१०]ऽऽत्मनः परमयनं पर प्राश्रयस्तं परायणम्। मातृजेन त्वङ्मांसरुधिररूपेण क्षेत्रस्थानीयेन बीजस्थानीयस्य पितृ-

---

यादिना। वैशब्दोऽवधारणार्थः। तं परायणं य एव विजानीयात्स एव वेदिता स्यादिति संबन्धः। अथ केन रूपेण पृथिवीदेवस्य कार्यकरणसंघातं प्रत्याश्रयत्वं तदाह—मातृजेनेति। पृथिव्या [११]मातृशब्दवाच्यत्वाद्य एव देवोऽहं पृथिव्यस्मीति मन्यते स एव शरीरारम्भकमातृजकोशत्रयाभिमानितया वर्तते [१२]तथा च [१३]तस्य [१४]तेन रूपेण पितृजत्रितयं कार्यं लिङ्गं च करणं प्रत्याश्रयत्वं संभवतीत्यर्थः। पृथिवी-

---

जिस देवता का पृथिवी ही “आयतनम्” अर्थात् शरीर है, अग्नि जिसका लोक है, जिससे देखा जाता है; उसे लोक यानी चक्षु कहते हैं। “देखता है” ऐसी व्युत्पत्ति करने से अग्नि के द्वारा देखता है, ऐसा अर्थ हो जाता है। मन ज्योति है क्योंकि मनरूप ज्योति से जो संकल्प-विकल्पादि कार्य करता है, वह यह मनोज्योति है। भावाशय यह है कि यह पृथिवी का अभिमानी कार्यकरण-संघातवान् देवता पृथिवीरूप शरीर वाला, अग्निरूप नयन वाला और मन से संकल्प करने वाला है। जो उक्त प्रदर्शित विशेषण वाले पृथिव्यभिमानी पुरुष को निखिल “आत्मनः” आत्मा में अध्यारोपित

---

१. एतावता समाप्तं दर्शनमिति मन्यमानं तूष्णीं(भूतं)स्थितं शाकल्यं प्रति मुनिराह—वदैवेति। पृच्छ यद्यत्र प्रष्टव्यं विशेषणान्तरं जानासीत्यर्थः। २. तस्येति—मातृजकोशत्रयात्मकशारीरस्य का देवता किमुत्पत्तिकारणम्। अत्र प्रकरणे देवताशब्देन सर्वत्रोत्पत्तिकारणस्यैव विवक्षितत्वादित्यर्थः। ३. लोकयतीत्यस्य व्याख्यानं पश्यतीति। इतिशब्दो लोक इत्यन्तरं व्युत्पत्तिसमाप्त्यर्थकः। ४. मनसेति—तथा च मनोज्योतिः संकल्पादि साधनं यस्येति विग्रहो द्रष्टव्यः। ५. अग्निनयनः। ६. प्रदर्शितविशेषणकम्। ७. पृथिव्यभिमानिनम्। ८. निखिलस्य। ९. आत्मन्यध्यारोपितस्य। १०. अत एवाऽऽत्मनः—आत्मत्वेनाभिमतस्येत्यर्थः। ११. मातृशब्देति। तथा च कोशः—“माता गौर्दुर्गाजननीमहीति” हैमः। “माता गौर्यादिजननीगोब्रह्माण्यादिभूमिष्विति” विश्वः। १२. उक्ताभिमानित्वे च। १३. देवस्य। १४. उक्तत्रयत्वेन तदभिमानित्वेन वा।

जस्यास्थिमज्जाशुक्ररूपस्य[1] परमयनं [2]करणात्मनश्च स वै वेदिता स्याद्य [3]एतदेवं स वै वेदिता पण्डितः स्यादित्यभिप्रायः। याज्ञवल्क्य त्वं तमजानन्नेव पण्डिताभि त्यभिप्रायः।

यदि तद्विज्ञानेन पाण्डित्यं लभ्यते[4] वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः पा यमात्थ यं कथयसि तमहं वेद [5]तत्र शाकल्यस्य [6]वचनं द्रष्टव्यम्। [7]यदि त्वं वेत्थ पुरुषं ब्रूहि किंविशेषणोऽसौ[8]। [9]शृणु यद्विशेषणः सः। य एवायं शारीरः [10]पार्थिवांशे भवः शारीरो मातृजकोशत्रयरूप इत्यर्थः। स एष देवो [11]यस्त्वया पृष्टो हे शाक किंत्वस्ति [12]तत्र वक्तव्यं विशेषणान्तरं तद्वदैव पृच्छैवेत्यर्थो हे शाकल्य। [13]स [14]एवं

देवस्य परायणत्वमुपपाद्यानन्तरवाक्यमुत्थाप्य व्याचष्टे––स वै वेदितेति। [15]तथाऽपि मम किमा मित्याशङ्क्याऽऽह––याज्ञवल्क्येति।

स पुरुषो येन विशेषणेन विशिष्टस्तद्विशेषणमुच्यमानं शृण्वित्युक्त्वा [16]तदेवाऽऽह—य ए शरीरं हि पञ्चभूतात्मकं [17]तत्र [18]पार्थिवांशे जनकत्वेन स्थितः शारीर इति यावत्। [19]तस्य वारयति—मातृजेति। [20]पृथिवीदेवस्य निर्णीतत्वशङ्कां वारयति—किंत्विति। याज्ञवल्क्यो वक्ता ष्टारं शाकल्यं प्रति कथं वदैवेति कथयति तत्राऽऽह—पृच्छेति। क्षाभितस्यामर्षवशगत्वे दृष्टा

कार्यकरणसघातरूप आत्मा का "परायणम्" यानी परम अयन या परम आश्रय जानता है। मातृज क्षेत्रस्थानीय त्वचा, मांस और रुधिररूप से पितृज बीजस्थानीय अस्थि-मज्जा, और कार्य का तथा सूक्ष्म शरीर का वह परम आश्रय है, उक्त रीति से जो जानता है, वही जानता है। भावार्थ यह है कि जो इसे उक्त विधि से जानता है, वही "वेदिता" अर्थात् पण्डि हे याज्ञवल्क्य ! तुम तो पण्डितम्मन्य हो, उसे जानते नहीं हो। ऐसा इसका अभिप्राय है।

यदि उसके विज्ञान से ही पाण्डित्यप्राप्ति होती है; तो मैं उस पुरुष को तो जानता हूँ, तुम निखिल आत्मा के आश्रित बतलाते हो। "य एवायं" यहाँ यह वाक्य शाकल्य का प्रश्न चाहिये। यदि तुम उस पुरुष को जानते हो, तो मुझे बताओ कि वह किस विशेषण वाला है पर याज्ञवल्क्य कहते हैं—वह जिन विशेषणों वाला है, उसे सुनो। "शारीरः" अर्थात् पार्थि शरीर में होने वाला अर्थात् जो मातृज कोशत्रय रूप है, हे शाकल्य ! वही देव है, जिसके विष

---

१. कार्यस्येति शेषः। २. सूक्ष्मशरीरस्य च। ३. एतदेवमिति –एतत प्रदर्शितं पुरुषवस्तु। उक्तविधया। एतं देवमिति पाठान्तरम्। ४. तर्हि। ५. तत्रेति—य एवायमिति वाक्यात्पूर्वत्रेत्यर्थ इ याज्ञवल्क्येन तथोक्ते सतीति वार्थः। ६. प्रश्नः। ७. तदीयं वचनं दर्शयति—यदीति। ८. शब्दो योज्यः। ९. याज्ञवल्क्य आह—शृण्विति। १०. शरीरवृत्तिपार्थिवांशे। ११. यस्त्वया पृ —तथा च पृथिव्येव यस्यायतनमित्यादिना या सामान्याश्रिता शाकल्यपृष्टा पृथिव्यभिमानिनी देव मातृजकोशत्रयात्मनाऽवस्थिता इति मुनिना विशेषाश्रितोक्ताऽस्तो न प्रश्नप्रतिवचनयोर्वैयधिकरण्यम्। पृथिवीदेवे। १३. शाकल्यः। १४. वदैवेत्येवम्। १५. तथाऽपीति—उक्तविशेषणकपृथिव्यभिमानि वेदितुः सत्यपि पाण्डित्य इत्यर्थः। १६. विशेषणमेव। १७. तत्रत्ये। १८. पार्थिवांशे— मांसादित्रितये। स्थितः—तन्मयः सन्वर्तमानः। १९. उक्तदेवस्य। २०. उपास्यस्य।

काम एव यस्याऽऽयतनꣳ हृदयं [1]लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै

शाकल्य ने पूछा—जिसका आश्रय दाम्पत्य सुखाभिलाषारूप काम ही है, हृदयस्थ बुद्धि लोक है और मन ज्योति है; उस पुरुष को जो भी कोई सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का आश्रय

भितोऽमर्षवशग आह—[2]तोत्रार्दित इव गजस्तस्य देवस्य शारीरस्य का देवता [3]यस्मान्निष्पद्यते [4]यः स तस्य देवतेत्यस्मिन्प्रकरणे विवक्षितम् । अमृतमिति होवाचामृतमिति यो [5]भुक्तस्यान्नस्य रसो मातृजस्य लोहितस्य निष्पत्तिहेतुस्तस्माद्ध्यन्नरसाल्लोहितं निष्पद्यते स्त्रियां श्रितं [6]ततश्च लोहितमयं[7] [8]शरीरं बीजाश्रयम्[9] । समानमन्यत् ॥१०॥

काम एव [10]यस्या[11]ऽऽयतनम् । स्त्रीव्यतिकराभिलाषः कामः कामशरीर इत्यर्थः ।

तोत्रेति । [12]प्राकरणिकं देवताशब्दार्थमाह—यस्मादिति । पुरुषो [13]निष्पत्तिकर्ता षष्ठ्योच्यते । लोहितनिष्पत्तिहेतुत्वमन्नरसस्यानुभवेन साधयति—तस्माद्धीति । [14]तस्य कार्यमाह—ततश्चेति । लोहिताद्[15]द्वितीयपदार्थनिष्ठात्तत्कार्यं त्वङ्मांसरुधिररूपं बीजस्यास्थिमज्जाशुक्रात्मकस्याऽऽश्रयभूतं भवतीत्यर्थः । पर्यायसप्तकमाद्यपर्यायेण तुल्यार्थत्वान्न पृथग्व्याख्यानापेक्षमित्याह—समानमिति ॥ १० ॥

उत्तरपर्यायेषु येषां [16]पदानामर्थभेदस्तेषां तत्कथनार्थं [17]प्रतीकं गृह्णाति—काम इति । वाक्या-

---

तुमने पूछा है, किन्तु पृथिवीदेवता के संबन्ध में और भी एक विशेषण बतलाया जाना चाहिये, इसलिए हे शाकल्य ! "वदैव" यानी उसी के विषय में मुझसे पूछो । शाकल्य को इस प्रकार क्षुभित किये जाने पर उसने अंकुश से प्रताडित हाथी के समान असहनशीलता के वशीभूत हो पूछा—"उस पार्थिवांश शारीरदेव का देवता कौन सा है ? जिस कारण से जो विकार निष्पन्न होता है, वह उसका देवता है—वह इस प्रकरण में बताना इष्ट है । इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा— वह अमृत है । स्त्रो .रा खाये हुए अन्न का जो रस मातृजलोहित की निष्पत्ति का कारण होता है, वही अमृत है । उस अन्न के रस से ही स्त्रियों में लोहित की उत्पत्ति होती है, उक्त लोहित से बीज का आश्रयभूत लोहितमय शरीर होता है । अन्य अर्थ भी इसी के समान कर लेना चाहिये ॥ १० ॥

काममयदेव का काम ही शरीर है, स्त्रीव्यवाय की इच्छा का नाम काम है अर्थात् जो

---

१. अत्रापि यस्येत्यनुषज्यते । २. अंकुशताडितः । ३. कारणात् । ४. विकारः । ५. योषिज्जग्धस्य । ६. उक्तलोहितात् । ७. विकारे मयट् । ८. शरीरमिति—नन्वेवमुक्तामृतस्य शरीरहेतुत्वेऽपि कथमिदममृतं शारीरस्य हेतुरित्याशङ्क्य समाहितं वार्तिके—"रसाच्छोणितनिष्पत्तिः शोणिताद्बीजसंश्रयात् । शरीरं जायते साक्षाद्येन शारीर उच्यते" ॥ ४६ ॥ इति । साक्षादिति प्रत्यक्षयोग्यत्वमुच्यते । येन शरीरतादात्म्येनेति यावत् । ९. भवति । १०. काममयस्य देवस्य । ११. आश्रयः शरीरम् । १२. अत्र प्रकरणे विवक्षितम् । १३. निष्पद्यमानः । १४. लोहितस्य । १५. द्वितीयपदार्थनिष्ठादिति—शुक्रस्थात् तन्मिश्रितादिति यावत् । शरीरमिति पदं व्याख्याति तत्कार्यमिति—उक्तलोहितकार्यमित्यर्थः । एतेन लोहितमयमिति पदं व्याख्यातम् । १६. पूर्वपर्यायस्थपदार्थापेक्षया । १७. अर्थभेद-—त्वगिति । बीजाश्रयमित्येतद्व्याचष्टे—बीजस्येति । कथनफलकं प्रतीकग्रहणमित्यर्थः ।

वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं काममयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच ॥ ११ ।

[1]रूपाण्येव यस्याऽऽयतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं

जानता है; वही ज्ञाता है (हे याज्ञवल्क्य ! तुम तो उसे जाने बिना ही पंडित होने का दावा करते हो याज्ञवल्क्य ने कहा—जिसे तुम सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय कहते हो, मैं जानता हूँ। जो भी यह काममय पुरुष है; वही यह देव है। हे शाकल्य ! इस विषय में और पूछो। शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन है ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा—स्त्रियाँ हैं (क्योंकि से ही उक्त काम का उद्दीपन होता है) ॥ ११ ॥

शाकल्य ने पूछा—शुक्लादिरूप ही जिसका आयतन है, नेत्र लोक है और मन ज्योति

---

[2]हृदयं [3]लोको हृदयेन बुद्ध्या पश्यति। [4]य एवायं काममयः पुरुषोऽध्यात्ममपि [5]काम एव तस्य का [6]देवतेति स्त्रिय इति होवाच। स्त्रीतो हि कामस्य दीप्तिर्जायते ॥ ११

रूपाण्येव [7]यस्या[8]ऽऽयतनम्। [9]रूपाणि शुक्लकृष्णादीनि। य एवासावा

र्थमाह—कामशरीर इत्यर्थं इति। [10]स च हृदयदर्शनो मनसा संकल्पयितेति पूर्ववत्। तस्य विशे दर्शयति—य एवेति। आध्यात्मिकस्य काममयस्य पुरुषस्य [11]कारणं पृच्छति—तस्येति। [12]तस्या नि त्कारणत्वमनुभवेन व्यनक्ति—स्त्रीतो हीति ॥ ११ ॥

रूपशरीरस्य चक्षुर्दर्शनस्य मनसा संकल्पयितुर्देवस्य कथमादित्ये[13] पुरुषो विशेषणमित्याशङ्

कामरूप शरीर वाला है। हृदयदेशस्था बुद्धि चक्षु है क्योंकि हृदय यानी बुद्धि से देखता है। जो यह काममय पुरुष है अर्थात् वह कामवासनाख्य विशेषायतनवान् ही है। (इस पर शाकल्य पूछता है इसका देवता (उत्पत्तिकारण) कौन है। स्त्रियाँ ही इसकी देवता हैं क्योंकि स्त्री से ही कामो होता है ॥ ११ ॥

---

१. रूपाणि शुक्लादीन्यभास्वराणि तैः स्वप्रकाशनाय आदित्ये रविमण्डले पुरुषो विशेषायतन आरब्धः सत्यशब्दितमध्यात्मं चक्षुरुत्पादकम् चक्षोः सूर्योऽजायतेति श्रुतेः सामान्यायतनत्वेन विशेषायतनत्वेन कार चायमेव देवो रूपादिषु व्यवस्थित इति श्रुत्यर्थः। यथा पूर्वपर्यायेषु सामान्यायतनत्वादिना देवास्त्रिधोक्ता ऽऽकाशादिपर्यायेष्वपि सामान्यायतनो विशेषायतनः कारणं चेति त्रिधा। स द्रष्टव्य इति। २. ल हृदयदेशस्था बुद्धिः। ३. लोकनसाधनं चक्षुरित्यर्थः। ४. य एवेति—यस्त्वया कामायतनो देवः पृ कामवासनाख्यविशेषायतनवानेष एवेत्यर्थः। तदुक्तं वार्तिके—"स च काममयो देवः कामभावनयाऽभि ॥ ५० ॥ इति। ५. काममय एवेति—कामायतन एवेत्यर्थः। अवच्छेदा (च्छेदका) न्तराभावा ६. उत्पत्तिकारणम्। ७. आदित्यदेवस्य। ८. आश्रयः शरीरम्। ९. अभास्वराणि। १०. का देवः। ११. उत्पत्तिकारणम्। १२. स्त्रियाः। १३. आदित्यमण्डलस्थ इत्यर्थः।

पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवासावादित्ये पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति सत्यमिति होवाच ॥ १२ ॥

आकाश एव यस्याऽऽयतनꣳ श्रोत्रं लोको मनोज्यो-

जो भी उस पुरुष को सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय जानता है, वही पंडित है (हे याज्ञवल्क्य ! तुम तो उसे जाने बिना ही पंडित होने का मिथ्याभिमान कर रहे हो) । याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम जिसे समस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय कह रहे हो, उसे मैं जानता हूँ । जो भी यह आदित्य में पुरुष है; वही यह है । हे शाकल्य ! इस संबन्ध में और भी पूछो । शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन है ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा—सत्य है (क्योंकि अध्यात्म चक्षु से ही अधिदैविक आदित्य की निष्पत्ति होती है) ॥ १२ ॥

शाकल्य ने पूछा—आकाश हो जिसका आयतन है, श्रोत्र लोक है, और मन ज्योति है, जो भी

पुरुषः सर्वेषां हि रूपाणां [1]विशिष्ट कार्यमादित्ये पुरुषस्तस्य का [2]देवतेति । सत्यमिति होवाच । सत्यमिति चक्षुरुच्यते । चक्षुषो ह्यध्यात्मत[3] आदित्यस्याधिदैवतस्य निष्पत्तिः ॥ १२ ॥

आकाश एव [4]यस्या[5]ऽऽयतनम् । य एवायं श्रोत्रे भवः श्रौत्रस्तत्रापि [6]प्रतिश्रवण-

---

ऽऽह—सर्वेषां हीति । [7]रूपमात्राभिमानिनो देवस्याऽऽदित्ये पुरुषो [8]विशेषावच्छेदः । [9]स च सर्वरूपप्रकाशकत्वात्सर्वैं रूपैः स्वप्रकाशनायाऽऽरब्धः । तस्माद्युक्तं यथोक्तं विशेषणमित्यर्थः । कथं चक्षुषः सकाशादादित्यस्योत्पत्तिरित्याशङ्क्य "[10]चक्षोः सूर्यो अजायत' इति श्रुतिमाश्रित्याऽऽह—चक्षुषो हीति ॥ १२ ॥

तत्रापीति श्रोत्रोक्तिः । प्रतिश्रवणं "[11]संवादः प्रतिविषयं श्रवणं वा सर्वाणि श्रवणानि वा तद्-

---

जिस आदित्यदेवता के रूप ही शरीर हैं । (अभास्वर) रूप शुक्ल-कृष्ण आदि हैं । "य एवासावादित्ये पुरुषः" यानी सम्पूर्ण रूपों का जो विलक्षण कार्य है; वही आदित्य में पुरुष है, उसका देवता

---

१. विलक्षणम् । २. उत्पत्तिकारणम् । ३. कार्यकरणस्थादिति । ४. दिग्देवस्य । ५. आश्रयः—शरीरम् । ६. प्रतिश्रवणवेलायां विशेषतां भवतीति—आकाशायतनदेवस्य प्रतिश्रवणयुक्तं श्रोत्रं विशेषायतनमिति भावः । ७. रूपसामान्येति भावः । ८. विशेषावच्छेद इति—विशेषाकार इत्यर्थः । विशेषस्वरूप इति यावत् । साधारणरूपायतनो (रूपसामान्याश्रयो) देवो रविमण्डलरूपविशेषायतनवानिति तत्त्वम् । ९. आदित्यपुरुषः । १०. विराट्चक्षुषः । ११. संवाद इति—प्रश्नोत्तराख्यः संवाद इत्यर्थः । प्रतिविषयं श्रवणमिति—तच्च शतावधानादिसमये क्रियमाणं शतशो विभिन्नविभिन्नविषयान्प्रतिश्रवणमित्यर्थः । सर्वाणि श्रवणानि यावच्छ्रवणानीत्यर्थः ।

तिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायꣳ [1]श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति दिश इति होवाच ॥ १३ ॥

तम एव यस्याऽऽयतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै

उस पुरुष को समस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसघात का परम आश्रय जानता है, वही पंडित है (हे याज्ञवल्क्य ! तुम उसे न जानते हुए भी पंडित होने का मिथ्याभिमान कर रहे हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम जिसे समस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय कहते हो, उस पुरुष को मैं जानता हूँ। जो भी यह श्रोत्र में रहने वाला प्रातिश्रुत्क (प्रतिश्रवण के समय विशेषरूप से रहने वाला) पुरुष है; यही वह है। हे शाकल्य ! इस विषय में और पूछो ! शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन है ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा—दिशाएँ हैं (क्योंकि दिशाओं से यह आध्यात्मिक पुरुष निष्पन्न होता है) ॥ १३ ॥

शाकल्य ने कहा— अंधकार ही जिसका आश्रय है, हृदय लोक है, मन ज्योति है, जो भी

वेलायां विशेषतो भवतीति प्रातिश्रुत्कस्तस्य का देवतेति । दिश इति होवाच । दिग्भ्यो ह्यसावाध्यात्मिको निष्पद्यते ॥ १३ ॥

तम एव [2]यस्याऽऽयतनम् । तम इति शार्वरा[3]द्यन्धकारः परिगृह्यते । [4]

शायामिति यावत् । [5]दिशम्नत्राधिदैवतमिति श्रुतिमाश्रित्याऽऽह—दिग्भ्यो हीति ॥ १३ ॥

(उत्पत्तिकारण) कौन है। सत्य ही है—ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। सत्य को ही चक्षु कहा जाता है, क्योंकि कार्यकरणस्थ चक्षु मे ही अधिदैवत आदित्य की निष्पत्ति होती है ॥ १२ ॥

आकाश ही दिक् देवता का शरीर है। यह श्रोत्र में होने वाला 'श्रौत्र' है और उस को भी (प्रश्नोत्तरसंवादरूप) प्रतिश्रवण के समय विशेषरूप से रहता है. वह 'प्रातिश्रुत्क' है। उसका देवता कौन है ? दिशाएँ ही उसकी देवता हैं क्योंकि दिशाओं से ही यह आध्यात्मिक पुरुष निष्पन्न होता है ॥ १३ ॥

अज्ञानमय नाम देव का तम ही आश्रय है। तमशब्द से रात्रि-ग्रहादिनिष्ठ अन्धकार का

---

[1] श्रौत्रः प्रातिश्रुत्क इति। तथा चाकाशायतनस्य श्रोत्रदर्शनस्य मनसा सङ्कल्पयितुर्देवस्य प्रतिश्र (प्रतिश्रवणकालीनं) श्रोत्रं विशेषायतनमिति भावः।

[2] अज्ञानमयाख्यदेवस्य।

[3] आदिना गुहा न्धकारग्रहः।

[4] य एवायं छायामय इत्यादेरर्थमाह—अध्यात्ममिति। तथा च शार्वराद्यन्धका हृदयदर्शनस्य मनसा संकल्पयितुर्देवस्य विशेषायतनं छायाख्यमज्ञानमित्यर्थः।

[5] दिशम्नत्राधिदैवतं सिद्धान्ते तावद्दिशामाकाशेऽध्यस्तत्वाभ्युपगमादाकाशानतिरेकादाकाशाच्छ्रोत्रोत्पत्तिप्रसिद्ध्यापि न इति ध्येयम्।

तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं छायामयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मृत्युरिति होवाच ॥ १४ ॥

रूपाण्येव यस्याऽऽयतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै वेदिता

उस पुरुष को समस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय जानता हैं। हे याज्ञवल्क्य! वही पंडित है (तुम तो उसे जाने बिना ही पंडित होने का मिथ्याभिमान कर रहे हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम जिसे सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय कहते हो, उस पुरुष को मैं जानता हूँ। जो भी यह छायामय पुरुष है; वही यह है। हे शाकल्य! इस विषय में और भी पूछो। शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन है? तब याज्ञवल्क्य ने कहा—अव्याकृत ईश्वररूप मृत्यु ही उसका देवता है ॥ १४ ॥

शाकल्य ने पूछा—प्रकाशक रूप ही जिसका आश्रय है, नेत्र लोक है, तथा मन ज्योति है, उस पुरुष को जो कोई भी समस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय जानता है, हे याज्ञवल्क्य!

छायामयोऽज्ञानमयः पुरुषस्तस्य का देवतेति। मृत्युरिति होवाच। मृत्युरधिदैवतं तस्य निष्पत्तिकारणम् ॥१४॥

रूपाण्येव [1]यस्याऽऽयतनम्। [2]पूर्वं [3]साधारणानि रूपाण्युक्तानीह तु [4]प्रकाशकानि

अधिदैवतं मृत्युरीश्वरो [5]मृत्युनैवेदमावृतमासीदिति श्रुतेः। [6]स च तस्याज्ञानमयस्याऽऽध्यात्मिकस्य पुरुषोस्योत्पत्तिकारणमविवेकिप्रवृत्तरीश्वराधीनत्वादीश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा [7]श्वभ्रमेव वेति हि पठन्ति तदाह—मृत्युरिति ॥ १४ ॥

पुनरुक्तिं प्रत्याह—पूर्वमिति। आधारशब्दो भावप्रधानस्तथा च प्रतिबिम्बस्याऽऽधारत्वं यत्र

होता है। अध्यात्मपक्ष में "छायामयः" अर्थात् अज्ञानमय पुरुष ही तम है। उसका देवता कौन है? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—मृत्यु उसका देवता है। अधिदैवत मृत्यु ही उसकी निष्पत्ति का कारण है ॥ १४ ॥

रूप ही प्रतिबिम्बाख्य देव का आश्रय है। इस से पूर्व अभास्वर रूप के बारे में कहा गया था; यहां पूर्वोक्त विलक्षण भास्वररूपों का ग्रहण किया जाता है। भास्वररूपात्मक सामान्याश्रय देव

---

१. प्रतिबिम्बाख्यदेवस्य। २ तृतीयपर्याये। ३. अभास्वराणि। ४. भास्वराणि। ५. बृ० उ० १।२।१। ६. मृत्युशब्दवाच्य ईश्वरः। ७. नरकम्।

स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ एवायमादर्शे पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यसुरिति होवाच ॥१५॥ आप एव यस्याऽऽयतनꣳ हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो

वही पंडित है (तुम तो उसे न जानकर ही पंडित होने का दम्भ कर रहे हो)। याज्ञवल्क कहा—तुम जिसे समस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय कहते हो; उस पुरुष जानता हूँ। जो भी यह प्रतिबिम्ब के आश्रयभूत दर्पण में पुरुष है; वही यह है। हे शाकल्य! विषय में और भी पूछो। शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन है? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा— ही उसका देवता है (क्योंकि उस प्रतिबिम्ब नामक पुरुष की निष्पत्ति प्राण द्वारा दर्पण के घर्षण पर ही होती है)॥ १५॥

शाकल्य ने कहा—सर्वसाधारण जल ही जिसका आश्रय है, हृदय लोक है, तथा मन ज्यो

---

[1]विशिष्टानि रूपाणि गृह्यन्ते। [2]रूपायतनस्य देवस्य विशेषायतनं प्रतिबिम्बाधा दर्शादि तस्य का देवतेत्युसुरिति होवाच तस्य प्रतिबिम्बाख्यस्य पुरुषस्य निष्पत्ति प्राणात् ॥ १५ ॥

आप एव [3]यस्याऽऽयतनम्। [4]साधारणाः सर्वा आप आयतनं वापीकूपतडागाद्या

तदित्युक्तं भवति। आदिशब्देन स्वच्छस्वभावं खड्गादि गृह्यते। [5]प्राणेन हि निघृष्यमाणे द प्रतिबिम्बाभिव्यक्तियोग्ये[6] रूपविशेषो निष्पद्यते। [7]ततो युक्तं प्राणस्य प्रतिबिम्बकारणत्वमि प्रेत्याऽऽह—तस्येति ॥१५॥

आप एव यस्याऽऽयतनं य एवायमप्सु पुरुष इत्युभयत्र सामान्यविशेषभावो न प्रतिभा

के प्रतिबिम्बोदय आश्रयभूत आदर्शादि उसके विशेष आयतन हैं। उसका देवता कौन है? पर याज्ञवल्क्य बोले—प्राण ही उसका देवता है क्योंकि उस प्रतिबिम्बसंज्ञक पुरुष की नि प्राण से होती है॥ १५॥

जिस जलाभिमानी देवता का जल ही शरीर है। समस्त साधारण जल जिसका आयतन

---

१. पूर्वोक्तविलक्षणानि। २. रूपायतनस्येति—भास्वररूपात्मकसामान्याश्रयस्य (न्यायतनस्य) चक्षुर्द मनसा संकल्पयितुर्देवस्य प्रतिबिम्बोदयाश्रयभूतमादर्शादि विशेषायतनमित्यर्थः। ३. अबभिमानिदे ४. साधारणा इति—जलमात्रायतनस्य हृदयदर्शनस्य मनसा संकल्पयितुर्देवस्य वाप्यादिनिष्ठा आपो वि ऽऽयतनानीति भावः। ५. प्राणेन—बलापरपर्यायेण। ६. योग्य इत्यादि—सप्तम्यन्तपाठे निष्प उक्तयोग्ये दर्पणादौ रूपविशेष प्रतिबिम्ब इत्यर्थः। प्रथमान्तपाठे तु यथोक्तदर्पणादौ उक्तयोग्यः शौक्ल्या श्रयविशेष इत्यर्थः। ७. तत इति—यथोक्तप्राणस्य यथोक्तरूपविशेषनिष्पत्तिकारणत्वादित्यर्थः। तद च शेषः।

वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायमप्सु पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति वरुण इति होवाच ॥ १६ ॥

रेत एव यस्याऽऽयतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै

उस पुरुष को जो भी कोई समस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय जानता है, हे याज्ञवल्क्य ! वही विद्वान् है (तुम तो उसे जाने बिना ही विद्वान् होने का दावा कर रहे हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा—जिसे तुम समस्त कार्यकरणसंघात का परम आश्रय कहते हो; उस पुरुष को मैं जानता हूँ। जो भी यह तड़ागादि स्थित जल में विशेषरूप से पुरुष विद्यमान है; वही यह है। हे शाकल्य ! इस विषय में और भी पूछो। शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन है ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा—वरुण उसका देवता है (क्योंकि वरुण के द्वारा संघातकर्ता आध्यात्मिक जल ही स्थूल जल की निष्पत्ति का कारण है) ॥ १६ ॥

शाकल्य ने कहा—वीर्य ही जिसका आश्रय है, हृदय लोक है, और मन ज्योति है, जो भी कोई

स्वप्सु विशेषावस्थानम् । तस्य का देवतेति वरुण इति । वरुणात्संघातकर्त्र्योऽध्यात्ममाप एव वाप्याद्यपां निष्पत्तिकारणम् ॥ १६ ॥

रेत एव यस्याऽऽयतनं य एवायं पुत्रमयो विशेषायतनं रेत आयतनस्य पुत्रमय

शङ्कमानं प्रत्याह—साधारणा इति । कथं पुनर्वापीकूपादिविशेषायतनस्य वरुणो देवता न हि देवतात्मनो वरुणस्य तदधिष्ठातुस्तत्कारणत्वं तत्राऽऽह—वरुणादिति । आपो वापीकूपाद्याः पीताः सत्योऽध्यात्मं शरीरे मूत्रादिसंघातं कुर्वन्ति । ताश्च वरुणाद्भवन्ति । वरुणशब्देनाऽऽप एव रश्मिद्वारा भूमिं पतन्त्योऽभिधीयन्ते । तथा च ता एव वरुणात्मिका वाप्याद्यपां पीयमानानामुत्पत्तिकारणमिति युक्तं वरुणस्य वापीतडागाद्यायतनं पुरुषं प्रति कारणत्वमित्यर्थः ॥ १६ ॥

वाक्यद्वयं गृहीत्वा तात्पर्यमाह—विशेषेति । पुत्रमयशब्दार्थं व्याचष्टे—पुत्रमय इति ॥ १७ ॥

वापी, कूप-तडागादि में रहने वाले जल में जिसकी विशेष अवस्थिति है। उसका देवता (उत्पत्तिकारण) कौन सा है ? वह वरुण ही है क्योंकि वरुण के द्वारा संघात करने वाला अध्यात्म जल ही

---

१. उत्पत्तिकारणम् । २. वरुण इति—आयतनद्वयवतस्तस्य वरुणशब्दितमुदकं कारणमित्यर्थः ।
३. वरुणादुत्पद्यमाना अध्यात्मं संघातकर्त्र्यः आप एवेति संबन्धः । ४. पुत्रमयस्य
देवस्य । ५. रेतः सामान्यायतनस्य विशेषायतनं पुत्रस्तस्य च कारणं प्रजापतिरित्याह—रेत आयतनस्येति ।
६. देवस्य । ७. पुरुषस्य । ८. कारणम् । ९. उक्तपुरुषाधिष्ठातुरिति भावः । १०. उक्तपुरुषकारणत्वमिति बोध्यम् । ११. आदिना लोहितादिग्रहः । १२. संघातकर्त्र्य आपः । १३. तथा चेति—उक्तानामपामेव वरुणशब्दाभिधेयत्वे च । १४. ता एव—रश्मिद्वारा भूमिप्राप्ता एव । १५. वाक्यद्वयमिति—सामान्यायतनविशेषायतनप्रतिपादकं वाक्यद्वयमित्यर्थः ।

तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति प्रजापतिरिति होवाच ॥ १७ ॥

'शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वाꣳ स्विदिमे ब्राह्मणा

उस पुरुष को सभी आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय जानता है, हे याज्ञवल्क्य! पंडित है (तुम तो उसे जाने बिना ही पंडित होने का दावा कर रहे हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम सभी आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय कहते हो; उस पुरुष को मैं जानता है भी वह पुत्ररूप पुरुष है; वही यह है। हे शाकल्य ! इस विषय में और भी पूछो। शाक कहा—उसका देवता कौन है ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—प्रजापति देवता है (क्योंकि पि प्रजापति से ही पुत्र की उत्पत्ति होती है) ॥ १७ ॥

हे शाकल्य ! ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा—निःसन्देह इन ब्राह्मणों ने तुम्हें अंगारे निका

इति चास्थिमज्जाशुक्राणि पितुर्जातानि । तस्य का देवतेति । प्रजापतिरिति होवा 'प्रजापतिः पितोच्यते । 'पितृतो हि पुत्रस्योत्पत्तिः ॥ १७ ॥

'अष्टधा देवलोकपुरुषभेदेन त्रिधा त्रिधाऽऽत्मानं प्रविभज्यावस्थित एककै

शाकल्येति होवाचेत्यादिग्रन्थस्य तात्पर्यं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—अष्टधेति । लोकः 'साम

बावड़ी आदि के जल की निष्पत्ति का कारण है ॥ १६ ॥

जिस पुत्रमय देवता का रेतस् ही आश्रय है। जो भी यह शुक्ररूप आयतन वाले पुरु पुत्ररूप विशेष आयतन है, पुत्रमय का अर्थ है—पिता से उत्पन्न हुए अस्थि, मज्जा और शुक्र। उसका देवता कौन है ? प्रजापति है—ऐसा याज्ञवल्क्य बोले। प्रजापति को पिता कहा जा क्योंकि पिता से पुत्र की उत्पत्ति होती है ॥ १७ ॥

एक-एक देवता का देवलोक और पुरुषभेद से तीन-तीन भागों में विभक्त करके आठ प्रक

---

१. शाकल्येत्यादेस्तात्पर्यं वक्तुं भूमिकामाहुर्वार्तिके—"यावत्किञ्चिद्विजानाति शाकल्यः सर्वमेव त पर्यपृच्छद्यथाशक्ति मुक्त्वा दिग्ज्ञानमात्रकम्" ॥ ५८ ॥ भूमिकामुक्त्वा तस्य तात्पर्यमाह—"अवशिष्टं य तन्मां पृच्छतु कामतः। इति चेतसि संधाय याज्ञवल्क्योऽभ्यभाषत" ॥ ५६ ॥ तात्पर्यान्तरमाह— निर्बन्धतो वाऽपि निषेध्योऽयं प्रमादवान्। इत्येतद्धृदये कृत्वा कारुण्यात्तमथाऽब्रवीदिति" ॥ ६० ॥ प्रजापतिः पितेति । अत्र वार्तिके—"शुक्रस्नाय्वस्थिमज्जानो भवन्ति पितृतो यतः। प्रजापतित्वं तस्मादेतदिहोच्यते" ॥ ५७ ॥ इति । इह रेतःपर्याये । ३. तस्य तत्कारणत्वमनुभवेन व्यनक्ति—पितृत ४. अष्टधा व्यपदिष्ट इत्यन्वयः। ५. पृथिव्यादिरूपः।

अङ्गारावक्षयणमक्रता[1]३ इति ॥ १८ ॥

लिए चिमटा बना रक्खा है (क्योंकि मेरे द्वारा तुम्हारा दाह तो हो रहा है, फिर भी तुम्हें इसका पता नहीं) ॥ १८ ॥

प्राणभेद एवोपासनार्थं [2]व्यपदिष्टः। [3]अधुना दिग्विभागेन पञ्चधा [4]प्रविभक्तस्या[5]ऽऽत्मन्युपसंहारार्थमाह[6]। तूष्णींभूतं शाकल्यं याज्ञवल्क्यो [7]ग्रहेणेवाऽऽवेशयन्नाह[8]। [9]शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वां स्विदिति वितर्के। इमे नूनं ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमङ्गारा [10]अवक्षीयन्ते यस्मिन्संदंशादौ तदङ्गारावक्षयणं तन्नूनं त्वामक्रत कृतवन्तो ब्राह्मणा[11]स्त्वं तु तन्न बुध्यस आत्मानं [12]मया दह्यमानमित्यभिप्रायः ॥१८॥

कारः पुरुषो [13]विशेषावच्छेदो देव[14]स्तत्कारणमनेन प्रकारेण त्रिधा त्रिधाऽऽत्मानं प्रविभज्य स्थितो य एकैको [15]देव उक्तः स प्राण एव सूत्रात्मा [16]तद्भेदत्वात्पूर्वोक्तस्य[17] सर्वस्य [18]स चोपासनार्थम[19]ष्टधोपदिष्टो[20]ऽधस्तादित्यर्थः। [21]उत्तरस्य तात्पर्यं दर्शयति—अधुनेति। प्रविभक्तस्य जगतः सर्वस्येति शेषः। आत्मशब्दो हृदयविषयः। याज्ञवल्क्यवाक्यस्य शाकल्ये प्रष्टर्यबुद्धिपूर्वकारित्वापादकत्वं दर्शयति—ग्रहेणेति ॥१८॥

उपदेश किया है, प्राण भेद ही वह देव है, उपासना के लिए उसका विभागपूर्वक उपदेश किया गया है। अब सूत्रात्मा प्राणदेवता का पांच प्रकार का पंचदिशा विभाग प्रविभक्त समस्त जगत् का हृदयरूप आत्मा में उपसंहार करने के लिए श्रुति कहती है। चुप हुए शाकल्य को ग्रहाविष्ट सा करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा। 'हे शाकल्य' ऐसा सम्बोधन करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा। "त्वाꣳस्विद्" इस पद में 'विद्' यह निपात वितर्क अर्थ में है। "इमे ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमक्रता ३" इस मन्त्रवाक्य में जिस चिमटे आदि में अङ्गारे निरुद्ध होते हैं, उसे 'अङ्गारावक्षयण' कहते हैं। इसलिए निश्चय ही इन ब्राह्मणों ने तुम्हें अङ्गारे निरुद्ध करने वाला चिमटा बना रखा हैं क्योंकि अङ्गारस्थानीय मेरे द्वारा तुम्हारा दाह तो हो रहा है, फिर भी तुम्हें इसका पता नहीं है—यह इसका भाव है ॥ १८ ॥

---

१. प्लुतिर्विचारार्था। २. उपदिष्टः। ३. अधुनेति—यद्वा तस्यैव सूत्रात्मनः प्राणदेवस्य पचदिग्विभागेन ध्यानं वक्तव्यमित्येतदर्थं श्रुतिः प्रवर्तत इति श्रौती सङ्गतिरिति। ४. सर्वस्य जगतः। ५. हृदये। ६. श्रुतिः। ७. ग्रहाविष्टमिव कुर्वन्। ८. आहेति—अवशिष्टं यदप्यस्य तन्मां पृच्छत्वित्याशयेन यद्वा अतिप्रश्नादनर्थं करुणया मुनिराहेत्यर्थः। ९. इति संबोधयन्। १०. निरुध्यन्ते। ११. त्वं तु तन्न बुध्यस इति वार्तिके—"मय्यग्नौ शिशुन्मोहात्प्रविशन्तं न कश्चन। त्वां वारयति यत्नेन साधुब्राह्मणसंसदि ॥ सर्वेषामपि नूनं त्वं हन्तव्यत्वेन समतः। अक्रत त्वां यतो विप्राः संदंशं मयि पावके ॥ तस्मादबुध्यस्व शाकल्य महद्भयमुपस्थितम्। अतिनिर्मथनादग्निश्चन्दनादपि जायते ॥ विषायतेऽमृतमपि यथा पथ्यं मुमूर्षतः। तथैव नाग्रहीत्सूवतं शाकल्यः कालचोदितः" ॥ ६१-६४ ॥ इत्यभिप्रायः। १२. अङ्गारस्थानीयेन। १३. विशेषाकारः शारीरादिरूपः। १४. सामान्यविशेषाकारकारणममृतादिरूपम्। १५. शारीरपुरुषादिरूपः। १६. प्राणभेदत्वादित्यर्थः। १७. शारीरादिदेवस्य। १८. उक्तप्राणः। १९. शारीरपुरुषादिप्रकारेण। २०. दशमत आरभ्य। २१. शाकल्येत्यादेः।

[1]याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिदं कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वानिति[2] दिशो वेद सदेवाः सप्रतिष्ठा इति यद्दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठाः ॥ १९ ॥

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा शाकल्य ने कहा—जो यह तुमने कुरुपाञ्चालदेशीय ब्राह्मणों का द्वारा तिरस्कार किया है, वह क्या तुम वस्तुतः ब्रह्मज्ञानी हो अर्थात् ऐसा समझ कर तिरस्कार हो ? याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरा ब्रह्मज्ञान यह है कि मैं देवता तथा आश्रय के सहित दिशाओं को हूँ। शाकल्य ने कहा—यदि तुम देवता और आश्रय के सहित दिशाओं को जानते हो (अर्थात् सहित विज्ञान की प्रतिज्ञा की है) तो ॥ १९ ॥

याज्ञवल्क्येति[3] होवाच शाकल्यः । यदिदं कुरुपञ्चालानां [4]ब्राह्मणानत्य[5]रत्युक्तवानसि स्वयं भीतास्त्वामङ्गारावक्षयणं कृतवन्त इति[6] । [7]किं ब्रह्म विद्वान्स[8]मधिक्षिपसि ब्राह्मणान्[9] । याज्ञवल्क्य [10]आह ब्रह्मविज्ञानं तावदिदं मम [11]किं त वेद दिग्विषयं विज्ञानं जाने । तच्च न केवलं दिश [12]एव सदेवा देवैः सह दिगधिष्ठातृ

सर्वेषामिति ब्राह्मणानां प्रायेण हन्तव्यत्वेन संमतो भवानिति मुनेर[13]भिसंहितं शाक कालचोदितत्वा[14]त्तदनुरोधिनीम[15]न्यथाप्रतिपत्तिमेवाऽऽदाय चोदयतीत्याह—यदिदमिति । दि विज्ञानं जाने तन्ममास्तीत्यर्थः । [16]तच्च विज्ञानं केवलं दिङ्मात्रस्य न भवति किंतु देवैः प्रतिष्ठ

शाकल्य ने 'हे याज्ञवल्क्य' ऐसा सम्बोधन करते हुए कहा—यदि तुम (अत्यन्त कल्याण कुरुपाञ्चालदेशीय ब्राह्मणों को "अत्यवादीः" यानी धिक्कारते हो अर्थात् यह कहते हो कि " भययुक्त होने के कारण तुम्हें अङ्गारे निकालने का चिमटा बनाये हुए हैं" तो क्या तुम ब्रह्म होने के कारण उन ब्राह्मणों का तिरस्कार करते हो ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा ब्रह्मज्ञान तो इतना मात्र है। शाकल्य ने पूछा— वह क्या है ? "दिशो वेद" यानी मैं दिशा विज्ञान को जानता हूँ। इसमें भी केवल दिशाज्ञान ही नहीं; बल्कि "सदेवाः" अर्थात् दिग

---

१. याज्ञवल्क्येत्यादेस्तात्पर्यमुक्तं वार्तिके—"ब्राह्मणैर्घातयिष्यामि मां जिघांसन्तमाश्विमम् । इत्यर्थं को शाकल्यो मुनिरब्रवीदिति" ॥ ६५ ॥ इति । जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन पापकृद्भवेदिति न्यायं सूच जिघांसन्तमिति । आशु—शापदानात् प्रागेवेत्यर्थः । कोपकृद्याज्ञवल्क्यस्य ब्राह्मणानां चेति शेषः । ब्राह्म अहं घातयिष्यामि । ब्राह्मणैः सह मां शापेन जिघांसन्तमिति वा योजना । २. शाकल्यो होवाचेत ३. संबोधयन् । ४. अत्यन्तश्रेयोरूपान् । ५. अधिक्षिप्तवानसि धिक्कृतवानसि । ६. उक्त्वा तत् । ८. तिरस्कुरुषे । ९. इति शाकल्य उवाच । १०. आहेति—एवं तेनोक्तो याज्ञवल्क्य दिग्विषयं ब्रह्मज्ञानमस्तीत्याहेत्यर्थः । ११. किं तदिति शाकल्योक्तिः । १२. अपितु । १३. आर्ष १४. कालानुरोधिनीम् । १५. याज्ञवल्कीयहितोपदेशं विपरीतार्थं बुद्ध्वेति यावत् । १६. दिग्विषयम्

किंदेवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीत्यादित्यदेवत इति स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षु प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति [1]चक्षुषा

इस पूर्वदिशा में तुम किस देवता से युक्त होकर स्थित हो ? याज्ञवल्क्य ने कहा—वहाँ पर मैं सूर्य देवता से युक्त हूँ। शाकल्य ने कहा—वह सूर्य किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—नेत्र में। शाकल्य ने पूछा—नेत्र किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—रूपों में, क्योंकि नेत्र से ही

किंच सप्रतिष्ठाः प्रतिष्ठाभिश्च सह। [2]इतर आह। यद्यदि दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठा इति। सफलं यदि विज्ञानं त्वया प्रतिज्ञातम्' ॥ १९ ॥

'किंदेवतः का देवताऽस्य तव दिग्भूतस्य'। 'असौ हि याज्ञवल्क्यो हृदयमात्मानं दिक्षु पञ्चधा विभक्तं दिगात्मभूतं [7]तद्द्वारेण सर्वं जगदात्मत्वेनोपगम्याहमस्मि दिगात्मेति

हिता दिशो वेदेत्याह—तच्चेति। अवतारितस्य वाक्यस्यार्थं संक्षिपति—सफलमिति ॥ १९ ॥

प्राच्यां दिशि का देवतेति वक्तव्ये कथमन्यथा पृच्छ्यते तत्राऽऽह—असौ हीति। आत्मानमात्मीयमिति यावत्। [10]यथोक्तं हृदयमात्मत्वेनोपगम्येति संबन्धः। [11]तथाऽपि प्रथमं प्राचीं दिशमधिकृत्य

वताओं एवं "सप्रतिष्ठाः" प्रतिष्ठासहित दिशाओं का ज्ञान है। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा दि तुम देवताओं और प्रतिष्ठासहित दिशाओं को जानते हो, यदि तुमने फलसहित दिक्विज्ञान की प्रतिज्ञा की है (तो पूर्वदिशा में तुम किस दिशा से युक्त होकर स्थित हो—ऐसा अगले न्त्र से संबन्ध है) ॥ १९ ॥

किस अधिष्ठातृदेवता के द्वारा तुम पूर्वदिक्रूप से सम्पन्न हो ? इसका देवता कौन है ?

---

१. चक्षुषा हि रूपाणि पश्यतीति—अतो रूपारब्धं चक्षुर्व्यञ्जकस्य व्यङ्ग्यसजातीयत्वादिति भावः। अत्र वार्तिके—"रूपारब्धमिदं चक्षू रूपाणामेव तद्ग्रहात्। अभिव्यङ्ग्यसजातीयो व्यञ्जको रूपदीपवत् ॥ अशेषविषयात्मत्वं मनोबुद्ध्योर्विनिर्दिशेत्। सर्वगोचरभासित्वात्तादात्म्यं तच्च युज्यते" ॥ ७३-७४ ॥ चक्षू रूपारब्धं रूपग्राहकत्वादित्यत्र व्याप्तिमाह—अभिव्यङ्ग्येति। व्याप्तिस्थलं दर्शयति—रूपेति ॥ रूपादिग्राहित्वेऽपि मनो बुद्ध्योस्तदारब्धत्वाभावाद्व्यभिचार इति चेन्नेत्याह—अशेषेति। रूपदीपयोः साजात्येऽप्यारम्भकारम्यत्वाभावात्साध्यविकलतेति नेत्याह—तादात्म्य इति। विषयविषयिणोः साजात्यं तादात्म्ये सत्येव स्याद्विधान्तरेण तस्य दुर्वचत्वादित्यर्थः। तादात्म्यं चारम्यारम्भकयोरेवेति भावः। २. मुन्युक्तं शाकल्योऽनूद्य पृच्छतीत्याहेतर इति। ३. तर्हि किंदेवत इत्याद्यग्रिमेणान्वयः। ४. कयाधिष्ठातृदेवतया त्वं प्राचीदिग्रूपेण सम्पन्न इति यावत्। ५. असौ किंदेवतः। ६. प्राच्या दिशः का देवतेति प्रष्टव्येऽप्येवंप्रश्नकरणं तु मुनेर्दिगुपासनया तत्तादात्म्यापत्तिरिहैव जातेति बोधयितुमित्याह—असौ हीति। ७. यथोक्तहृदयद्वारेण। ८. च। ९. अन्यथेति—प्राच्यां दिशि किंदेवतोऽसीति मुनिविशेषणत्वेन देवता कथं पृच्छ्यत इत्यर्थः। १०. दिगात्मभूतम्। ११. तथाऽपीति—सदेवाः सप्रतिष्ठाश्च दिशोऽहमेवेति वादिनं प्रति प्राच्यां किंदेवतोऽसीति प्रश्ने स्थितेऽपीत्यर्थः।

हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२०॥

पुरुष नीलादिरूपों को देखता है। शाकल्य ने कहा—रूप किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य कहा—हृदय में, क्योंकि पुरुष वासनात्मक रूपों का हृदय से ही स्मरण करता है। अतः हृदय में प्रतिष्ठित है। शाकल्य ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! ठीक है ॥ २० ॥

---

[1]व्यवस्थितः। पूर्वाभिमुखः सप्रतिष्ठावचनाद्यथा याज्ञवल्क्यस्य [2]प्रतिज्ञा तथैव पृच्छ किंदेवतस्त्वमस्यां दिश्यसीति। सर्वत्र हि वेदे यां यां देवतामुपास्त [3]इहैव तद्भूतस्त प्रतिपद्यत इति[4]। तथा च वक्ष्यति[5]—देवो भूत्वा[6] देवानप्येतीति। अस्यां प्राच्यां देवता दिगात्मनस्तवाधिष्ठात्री कया [7]देवतया त्वं प्राचीदिग्रूपेण संपन्न इत्यर्थः। आहाऽऽदित्यदेवत इति। प्राच्यां दिशि ममाऽऽदित्यो देवता सोऽहमादित्यदेवतः। इत्येतदुक्तम्। सप्रतिष्ठा इति तु वक्तव्यमित्याह। स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठित इ

प्रश्ने को हेतुरिति चेत्तत्राऽऽह—पूर्वाभिमुख इति। यद्यपि दिगात्माऽहमस्तीति स्थितस्तथाऽ सर्वं जगदात्मत्वेनोपगम्य तिष्ठतीत्यवगम्यते तत्राऽऽह—सप्रतिष्ठेति। सप्रतिष्ठा दिशो वेदेति वचन मपि हृदयद्वारा जगदात्मत्वेनोपगम्य स्थितो मुनिरिति प्रतिभातीत्यर्थः। प्रतिज्ञानुसारित्वाद्यं युक्तिमानित्याह—यथेति। अहमस्मि दिगात्मेतिप्रतिज्ञानुसारिण्यपि प्रश्ने देहपातोत्तरभावी देवता पृच्छ्यते[8] सति देहे 'ध्यातु'[9]स्तद्भावायोगादित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वत्र हीति। इति न भाविदेवता प्रश्नगोचर इति शेषः। उक्तेऽर्थे वाक्यशेषमनुकूलयति—तथा चेति। प्रश्नार्थमुपसंहरति—अस्यां

यह प्रश्न इसलिए किया जाता हैं कि वे याज्ञवल्क्य दिशाओं में पांच प्रकार से विभक्त अपने हृ को दिगात्मभूत मानकर यथोक्त हृदयद्वार से सम्पूर्ण कार्यकारणजगत् को आत्मभाव से 'मैं दिगात्मा हूँ' ऐसा निश्चय करते हैं। पूर्वाभिमुख एवं प्रतिष्ठासहित दिशाओं के ज्ञान हों जैसी याज्ञवल्क्य की प्रतिज्ञा थी, वैसा ही प्रश्न शाकल्य पूछता है—तुम इस पूर्वदिशा में कौन से वाले हो? वेद में सभी जगह आता है कि पुरुष जिस-जिस देवता की उपासना करता है. इस जीवदशा में तद्रूप हुआ ही वह उस-उस देवता को प्राप्त करता है। ऐसा ही श्रुति आगे "जीवदशा में देवता होकर देवतादात्म्य को प्राप्त होता है"। अतः दिगात्मरूप से स्थित तुम्हा पूर्वदिशा में अधिष्ठातृदेवता कौन है? किस देवता के साथ तुम पूर्वदिशा के रूप में सम्पन्न हुए (इस पर) याज्ञवल्क्य ने कहा—पूर्वदिशा में आदित्य मेरा देवता है, इसलिए मैं आदित्य देवता

---

१. निश्चितः। २. अहमस्मि दिगात्मेत्येवंरूपा। ३. जीवद्दशायामेव। ४. प्रोद्घुष्यत इति शेष बृ० उ० ४।१।२। ६. जीवद्दशायामेव देवतातादात्म्यमापद्य। ७. तृतीयेयमुपलक्षणे साहित्ये वा शाकल्येन। ९. उपासितुः। १०. देवतेति भावः।

क्षुषीति । [2]अध्यात्मतश्चक्षुष आदित्यो निष्पन्न इति हि मन्त्रब्राह्मणवादाः “चक्षोः सूर्यो जायत” “चक्षुष आदित्य” इत्यादयः। कार्यं हि कारणे प्रतिष्ठितं भवति। [3]कस्मिन्नु चक्षुः तिष्ठितमिति । रूपेष्विति । [4]रूपग्रहणाय हि रूपात्मकं चक्षू रूपेण [5]प्रयुक्तम् । यैर्हि रूपैः युक्तं तैरात्मग्रहणाया[6]ऽऽरब्धं चक्षु[7]स्तस्मात्सादित्यं चक्षुः सह प्राच्या दिशा सह तत्स्थै[8]: वँ रूपेषु प्रतिष्ठितम् । चक्षुषा सह प्राची दिक्सर्वा रूपभूता तानि च कस्मिन्नु पाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच । [9]हृदयारब्धानि रूपाणि रूपाकारेण हि दयं परिणतम् । यस्माद्धृदयेन हि रूपाणि सर्वो लोको जानाति । हृदयमिति बुद्धि-नसी एकीकृत्य निर्देशः । [10]तस्माद्धृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि । हृदयेन हि स्मरणं

दित्यस्य चक्षुषि प्रतिष्ठितत्वं प्रकटयितुं कार्यकरणभावं तयोरादर्शयति—अध्यात्मतश्चक्षुष इति । क्षोः सूर्यो अजायत’ इत्यादयो मन्त्रवादास्तदनुसारिणश्च ब्राह्मणवादाः । भवतु कार्यकारणभाव-थाऽपि कथं चक्षुष्यादित्यस्य प्रतिष्ठितत्वं तत्राऽऽह—कार्यं हीति । कथं चक्षुषो रूपेषु प्रतिष्ठितत्वं त्राऽऽह—रूपग्रहणायेति । [11]तथाऽपि कथं यथोक्तमाधाराधेयत्वमत आह—यैर्हीति । चक्षुषो रूपारब्धत्वे लितमाह—तस्मादिति । उपसंहृतमर्थं [12]संगृह्णाति—चक्षुषेति । हृदयारब्धत्वं रूपाणां स्फुटयति -रूपाकारेणेति । हृदये रूपाणां प्रतिष्ठितत्वे हेत्वन्तरमाह—यस्मादिति । हृदयशब्दस्य मांसखण्डविषयत्वं ावर्तयति—हृदयमिति । कथं पुन[13]र्बहिर्मुखानि(णि) रूपाण्यन्तर्हृदये स्थातुं पारयन्ति तत्राऽऽह—

। इस प्रकार देवतासहित पूर्वदिशा कह दी; अब सप्रतिष्ठा को बताना है। इस पर शाकल्य पूछता —वह आदित्य किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य उत्तर देता है—चक्षु में प्रतिष्ठित है। शरीरस्थ क्षु से आदित्य निष्पन्न हुआ है । इसी को मन्त्र और ब्राह्मणग्रन्थ भी कहते हैं—“चक्षु से सूर्य पन्न हुआ”, “चक्षु से आदित्य हुआ” इत्यादि। कार्य कारण में प्रनिष्ठित होता है। (चक्षु का पादक कौन है, इसलिए शाकल्य पूछता है) चक्षु किसमें प्रतिष्ठित है? रूपों में, (ऐसा याज्ञवल्क्य हता है—) क्योंकि अपने रूप को ग्रहण करने के लिए रूपात्मक चक्षुरूप से नियुक्त होता है। क्योंकि न रूपों के द्वारा वह नियुक्त होता है, उन्होंने अपने को ग्रहण करने के लिए चक्षु को (आधाराधेय व से) उत्पन्न किया है। अतः आदित्य के सहित चक्षु प्राचीदिशा और उस दिशा में स्थित स्त प्राणी आदि के सहित रूपों में प्रतिष्ठित है। (शाकल्य ने पूछा—) चक्षुसहित सम्पूर्ण पूर्व-शा रूपमात्र है, किन्तु वे रूप किसमें प्रतिष्ठित हैं? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) हृदय में प्रतिष्ठित है। बुद्धि से आरम्भ होने वाले हैं; बुद्धि ही रूपाकार में परिणत होती है क्योंकि सभी लोग हृदय नी बुद्धि से ही रूप को जानते हैं। “हृदयम्” ऐसा निर्देश मन और बुद्धि को एक करके किया गया । रूपों के हृदयग्राह्य होने से हृदय में ही रूप प्रतिष्ठित हैं। वासनामय रूपों का हृदय से स्मरण

---

१. स्वोत्पत्तिकारण एव प्रतिष्ठितत्वमाह—चक्षुषीति । २. शरीरस्थात् । ३. चक्षुष उत्पादकं पृच्छति—कस्मिन्न्विति । ४. स्वग्रहणायेत्यर्थः । ५. नियुक्तम् । ६. आरब्धमिति—आरब्धारम्भकयोर्घटमृदोराधाराधेयत्वस्य दृष्टत्वात्सिद्धं तयोराधाराधेयत्वमिति भावः । ७. चक्षुषो रूपारभ्यत्वात् । ८. प्राणिप्रभृतिभिः । ९. बुद्धिरिति यावत् । १०. रूपाणां हृदयग्राह्यत्वात् । ११. चक्षुषो रूपप्रयुक्तत्वेऽपि । १२. संक्षेपतः कथयति । १३. बहिःस्थितानि ।

किंदेवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति ¹यमदेवत इति स यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति यज्ञ इति कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धतेऽथ दक्षिणां

इस दक्षिणादिशा में तुम किस देवता से युक्त होकर स्थित हो ? याज्ञवल्क्य ने कह
देवता से युक्त हूँ। शाकल्य ने पूछा—वह यम देवता किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कह
में। शाकल्य ने पूछा—यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—दक्षिणा में, क्योंकि
ऋत्विज् दक्षिणा से खरीदे हुए होते हैं। शाकल्य ने कहा—दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित है ?

**भवति रूपाणां ²वासनात्मनां³ ⁴तस्माद्धृदये रूपाणि प्रतिष्ठितानीत्यर्थः। ⁵एवमेवं
वल्क्य ॥ २० ॥**

किंदेवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति पूर्ववत्। दक्षिणायां दिशि का देवता यमदेवत इति। यमो देवता मम दक्षिणादिग्भूतस्य। स यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति इति। यज्ञे कारणे प्रतिष्ठितो यमः सह दिशा। कथं पुनर्यज्ञस्य कार्यं यम ऋत्विग्भिर्निष्पादितो यज्ञो दक्षिणया यजमानस्तेभ्यो⁶ यज्ञं निष्क्रीय तेन यज्ञेन दिशं सह यमेनाभिजयति। ⁷तेन यज्ञे यमः कार्यत्वात्प्रतिष्ठितः सह दक्षिणया

हृदयेन हीति। ⁸तथाऽपि कथं तेषां हृदयप्रतिष्ठितत्वं तत्राऽऽह—वासनात्मनामिति ॥ २० ॥

पूर्ववदित्युक्तमेव व्यनक्ति—दक्षिणायामिति। **यमस्य यज्ञकार्यत्वमप्रसिद्धमिति शङ्कित्वा** पर्यति—कथमित्यादिना। ¹⁰**तस्य यज्ञकार्यत्वे फलितमाह**—तेनेति। **यज्ञस्य दक्षिणायां**

होता है। इसलिए (मनोमात्रकल्पितरूपों के हृदयाधीन होने से) हृदय में ही रूप
हैं। शाकल्य कहता है—हे याज्ञवल्क्य ! मुझे भी ऐसा ही लगता है ॥ २० ॥

"इस दक्षिणदिशा में तुम किस देवता वाले हो" इस प्रकार मन्त्र का पूर्ववत्
चाहिए। दक्षिणदिशा में तुम्हारा कौन सा देवता है ? (याज्ञवल्क्य बोले—) धर्मराज
अर्थात् दक्षिणदिगात्मस्वरूप मेरा देवता धर्मराज है। वह यम किसमें प्रतिष्ठित है ?
बोले—) यज्ञ में प्रतिष्ठित है। "यज्ञे" अर्थात् दिशासहित यम अपने कारणभूत यज्ञ में
परन्तु यम यज्ञ का कार्य क्यों कहा जाता है—इस पर कहते हैं। ऋत्विजों द्वारा सम्पादित
दक्षिणा द्वारा यजमान ऋत्विजों से यज्ञ खरीदकर उस के द्वारा यमसहित दक्षिणदिशा

---

१. यमो धर्मराजः। २. वासनात्मनामिति—अत्र वासनात्मनेति तृतीयान्तपाठः साधीयान्
३. तथा संस्कारात्मना तात्स्थ्यम्। ४. तस्मादिति—मनोमात्रकल्पितरूपाणां हृदयाधीनस्मरणात्
मयाऽप्येवमेव ज्ञायत इति शाकल्योऽङ्गी करोति—एवमेवेति। ६. ऋत्विग्भ्यः। ७. तेन—
यमस्य यज्ञकार्यत्वेन। ८. तत्स्मरणस्य हृदयसाध्यत्वेऽपि। ९. व्युत्थापयतीति—अत्र
पाठान्तरं तदेव च सम्यक्। १० यमस्य।

दादाति श्रद्धायाᳪ ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदय इति होवाच हृदयेन हि श्रद्धां जानाति हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२१॥

कहा—भक्तिसहित आस्तिक्यबुद्धिरूप श्रद्धा में, क्योंकि जब पुरुष श्रद्धा करता है; तभी दक्षिणा ता है। अतः श्रद्धा में ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है। शाकल्य ने पूछा—श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित है? ज्ञवल्क्य ने कहा—हृदय में, क्योंकि हृदय में ही पुरुष श्रद्धा को जानता है। अतः हृदय में ही श्रद्धा तिष्ठित है। शाकल्य ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! यह बात भी ऐसी ही है॥ २१॥

स्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति। दक्षिणायामिति। दक्षिणया [1]स निष्क्रीयते। [2]तेन क्षिणाकार्यं यज्ञः। कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति। श्रद्धायामिति। श्रद्धा नाम दित्सुवमास्तिक्यबुद्धिर्भक्तिसहिता। कथं तस्यां प्रतिष्ठिता दक्षिणा। यस्माद्यदा ह्येव द्धत्ते[3]ऽथ दक्षिणां ददाति नाश्रद्दधद्दक्षिणां ददाति। तस्माच्छ्रद्धायां ह्येव दक्षिणा तिष्ठितेति। कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति। हृदय इति होवाच। हृदयस्य हि वृत्तिः द्धा यस्माद्धृदयेन हि श्रद्धां जानाति। वृत्तिश्च वृत्तिमति प्रतिष्ठिता भवति। तस्मा-

---

ाधयति—दक्षिणयेति। कार्यं च कारणे प्रतिष्ठितमिति शेषः। दक्षिणायाः श्रद्धायां प्रतिष्ठितत्वं कटयति—यस्मादिति। हृदये [4]सा प्रतिष्ठितेत्यत्र हेतुमाह—हृदयस्येति। हृदय[5]व्याप्यत्वाच्छ्रद्धायास्तत्प्रतिष्ठितत्वमित्याह—हृदयेन हीति। हृदयस्य श्रद्धा वृत्तिरस्तु तथाऽपि [6]प्रकृते किमायातं दाह—वृत्तिश्चेति॥ २१॥

ता है। इसलिए (यज्ञ को दक्षिणा द्वारा खरीद लिये जाने से) कार्य होने के कारण दक्षिणदिशा के हित यम यज्ञ में प्रतिष्ठित है। यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है? दक्षिणा में (—ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा)। योंकि यज्ञ दक्षिणा के द्वारा खरीद लिया जाता है, इसलिये यज्ञ दक्षिणा का कार्य है। दक्षिणा किसमें तिष्ठित है? दक्षिणा श्रद्धा में प्रतिष्ठित है। दाता में भक्तिसहित आस्तिक्यबुद्धि का नाम ही श्रद्धा। उसमें दक्षिणा किस तरह प्रतिष्ठित है? जब इसे श्रद्धा होती है, तभी पुरुष दान करता है, बिना द्धा के दक्षिणा नहीं देता है। इसलिए श्रद्धा में ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है। श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—श्रद्धा हृदय में प्रतिष्ठित है। हृदय की वृत्ति श्रद्धा है क्योंकि हृदय ही श्रद्धा जाना जाती है और वृत्ति वृत्तिमान् में प्रतिष्ठित रहा करती है। इसलिए हृदय

---

१. यज्ञः। २. तेन—यज्ञस्य दक्षिणया निष्क्रयेण। ३. तदा। ४. श्रद्धा। ५. ज्ञाप्यत्वादिति यावत् तथैव वा पाठः प्रमादाद्विपर्यस्तः। ६. प्रतिष्ठितत्वे।

किंदेवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति वरुणदेवत इति स वरुणः कस्मिन्प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति कस्मिन्न्वापः प्रतिष्ठिता इति रेतसीति कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति हृदय इति तस्मादपि प्रतिरूपं जातमाहुर्हृदयादिव

हे याज्ञवल्क्य ! इस पश्चिमदिशा में तुम किस देवता के सहित स्थित हो ? याज्ञव कहा—वरुण देवता से । शाकल्य ने कहा—वह वरुण किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा में । शाकल्य ने पूछा—वह जल किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—वीर्य में, क्योंकि से ही जल की रचना हुई है । शाकल्य ने कहा—वीर्य किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा-

---

हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २१ ॥

किंदेवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति । तस्यां वरुणोऽधिदेवता मम । स कस्मिन्प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति । अपां हि वरुणः [1]कार्यम् । “[2]श्रद्धा वा आपः” “ वरुणमसृजत” इति श्रुतेः । कस्मिन्न्वापः प्रतिष्ठिता इति । [4]रेतसीति । “रेतसो सृष्टाः” इति श्रुतेः । कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति । हृदय इति । यस्माद्धृदयस्य रेतः । कामो हृदयस्य [5]वृत्तिः । कामिनो हि [6]हृदयाद्रेतोऽधिस्कन्दति । तस्

रेतसो हृदयकार्यत्वं साधयति—काम इति । [7]तथाऽपि कथं रेतो हृदयस्येति । कामिनो हीति । [8]तत्रैव लोकप्रसिद्धि प्रमाणयति—तस्मादिति । अपिशब्दः संभावनार्थोऽवधा

में ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है । (इस पर शाकल्य बोला—) हे याज्ञवल्क्य ! मुझे भी ऐ लगता है ॥ २१ ॥

इस पश्चिमदिशा में तुम किस देवता वाले हो ? पश्चिमदिशा में मेरा अधिष्ठा वरुण है । वह वरुण किसमें प्रतिष्ठित है ? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) वह जल में प्रतिष्ठित है वरुण जल का कार्य है । श्रुति भी कहती है—“श्रद्धा ही जल है”, “श्रद्धा से वरुण को उत्पन्न कि जल किसमें प्रतिष्ठित है ? प्रजापति के वीर्य में । श्रुति कहती है—“वीर्य से जल की उत्पत्ति वीर्य किसमें प्रतिष्ठित है ? हृदय में, क्योंकि वीर्य हृदय का ही कार्य है । काम हृदय की क्योंकि कामी हृदय से वीर्य स्खलित होता है । इसी कारण पिता के ‘प्रतिरूपं’ यानी अनुरूप उत्पन्न

---

१. कारणे च कार्यं प्रतिष्ठितं भवतीति भावः । २. अपां हि निर्मलानां दर्शनेन स्नानाचम जागर्तीति श्रद्धाहेतुत्वादापः श्रद्धाशब्दवाच्या इत्यर्थः । ३. श्रद्धाशब्दवाच्याभ्योऽद्भ्यः । ४. प्रजापति ५. वृत्तिश्च वृत्तिमति तिष्ठत्येव । ६. कामिनो हृदयादिति पञ्चम्यौ समानाधिकरणे । ७ हृदयकार्यत्वसंभवात्तत्कार्यत्वादेवेति वार्थः । ८. कामस्य हृदयवृत्तित्वेऽपि । ९. रेतसो हृदयकार्यत्वे

सृप्तो हृदयादिव निर्मित इति हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २२ ॥

किंदेवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति सोमदेवत इति स सोमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति दीक्षायामिति कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति सत्य इति तस्मादपि दीक्षितमाहुः

में। अतएव पिता के अनुरूप उत्पन्न हुए पुत्र को 'लोक' कहते हैं। यह मानो पिता के हृदय से ही निकला है क्योंकि हृदय में ही वीर्य स्थित होता है। शाकल्य ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! यह बात भी ऐसी ही है ॥ २२ ॥

इस उत्तरदिशा में तुम किस देवता से युक्त हो? याज्ञवल्क्य ने कहा—सोमदेवता से (सोम शब्द से सोमलता और सामदेवता दोनों का वर्णन किया गया है)। शाकल्य ने पूछा—वह सोमदेवता किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा—दीक्षा में (क्योंकि दीक्षित यजमान ही सोम को खरीदकर सोम से यजन करके सोम से अधिष्ठित तत्सम्बन्धी उत्तरदिशा को प्राप्त होता है) शाकल्य ने

प्रतिरूपमनुरूपं पुत्रं जातमाहुर्लौकिकाः। अस्य पितुर्हृदयादिवायं पुत्रः सृप्तो विनिःसृतो हृदयादिव निर्मितो यथा सुवर्णेन निर्मितः [1]कुण्डलः। [2]तस्माद्धृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २२ ॥

किंदेवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति। सोमदेवत इति। सोम इति लतां सोमदेवतां चैकीकृत्य निर्देशः। स सोमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। दीक्षायामिति। दीक्षितो हि यजमानः सोमं क्रीणाति। क्रीतेन सोमेनेष्ट्वा [3]ज्ञानवानुत्तरां दिशं प्रतिपद्यते सोमदेवता-

वा ॥ २२ ।

दीक्षायां सोमस्य प्रतिष्ठितत्वं साधयति—दीक्षितो हीत्यादिना। दीक्षायाः सत्ये प्रतिष्ठित-

के विषय में लोकव्यवहार में ऐसा कहा जाता है कि यह पुत्र मानो अपने पिता के हृदय से ही निकला हुआ है। स्वर्ण से बने हुए कुण्डल के समान मानो यह उसके हृदय से ही बना है; इसलिए हृदय में ही वीर्य प्रतिष्टित है। शाकल्य बोला—हे याज्ञवल्क्य! मुझे भी ऐसा ही प्रतीत होता है ॥ २२ ॥

"इस उत्तरदिशा में तुम किस देवता वाले हो?" उत्तरदिशा में सोमदेवता वाला हूँ। सोमलता और सोमदेवता को एक मानकर 'सोम' इस शब्द से प्रतिपादन किया गया है। वह सोम किसमें प्रतिष्ठित है? सोम दीक्षा में प्रतिष्ठित है क्योंकि दीक्षित यजमान ही सोम को खरीदता है। खरीदे हुए सोम से याग करके वह उपासक सोमदेवता से अधिष्ठित सोमसंबन्धी उत्तरदिशा को

---

१. कुण्डल इति—कुण्डलं कर्णवेष्टनमित्यमरः। अर्धर्चादित्वात्पुंस्त्वमपि। २. तयोः कार्यकारणभावस्योपपन्नत्वात्। ३. उपासकः।

सत्यं वदेति सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति हृदय इति होवाच हृदयेन हि सत्यं जानाति हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२३॥

किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीत्यग्निदेवत इति सोऽग्निः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वाचीति कस्मिन्नु

पूछा—दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—सत्य में । इसलिये दीक्षित पुरुष से कहते कि 'सत्य बोलो', क्योंकि सत्य में ही दीक्षा प्रतिष्ठित है (अन्यथा कारण के नाश होने से दीक्षा कार्य का नाश होना संभव है) । शाकल्य ने पूछा—सत्य किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य कहा—हृदय में, क्योंकि हृदय से ही पुरुष सत्य को जानता है । अतः हृदय में ही सत्य प्रतिष्ठित शाकल्य ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है ॥ २३ ॥

शाकल्य ने पूछा—ध्रुवा (ऊर्ध्व) दिशा में तुम किस देवता वाले हो ? याज्ञवल्क्य ने कहा—अग्नि देवता वाला हूँ, क्योंकि ऊर्ध्व दिशा में प्रकाश बहुत है और प्रकाश ही अग्नि है । शाकल्य

धिष्ठितां सौम्याम् । कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति । सत्य इति । कथम् । यस्मात्सत्ये दी प्रतिष्ठिता तस्मादपि दीक्षितमाहुः[1] सत्यं वदेति कारणभ्रेषे कार्यभ्रेषो मा भूदिति । ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति । कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति । हृदय इति होवाच । हृ हि सत्यं जानाति । तस्माद्धृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥

किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीति । मेरोः समन्ततो[2]वसतामव्यभिचारा

त्वमप्रसिद्धमिति शङ्कित्वा समाधत्ते—कथमित्यादिना । अपिशब्दोऽवधारणार्थः । सत्यं व वदतामभिप्रायमाह—कारणेति । भ्रेषो भ्रंशो नाशः । इति तेषामभिप्राय इति शेषः । प्रकृतोपसं —सत्ये हीति ॥२३॥

कथं पुनरूर्ध्वा दिगवस्थिता ध्रुवेत्युच्यते तत्राऽऽह—मेरोरिति । [3]तत्राग्नेर्देवतात्वं प्रक

प्राप्त करता है । वह दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है ? दीक्षा सत्य में प्रतिष्ठित है । यह कैसे कहते क्योंकि दीक्षा सत्य में प्रतिष्ठित है । तभी दीक्षित हुए को पंडित कहते हैं कि "सत्य बोलो" जिस कारण का नाश न होने से कार्य का नाश न हो । इसलिए सत्य में ही दीक्षा प्रतिष्ठित है, तो सत्य किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य बोले—सत्य हृदय में प्रतिष्ठित है । शाकल्य बोला—हे वल्क्य ! मुझे भी ऐसा ही प्रतीत होता है ॥ २३ ॥

इस ध्रुवादिशा में किस देवता वाले हो ? मेरु पर्वत के चारों ओर रहने वाले समस्त प्रा

---

१. पण्डिताः । २. यावत्प्राणिनामिति यावत् । ३. ऊर्ध्वदिशि ।

वाक्प्रतिष्ठितेति [1]हृदय इति कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति ॥२४॥

पूछा—वह अग्नि किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—वाक् में। शाकल्य ने पूछा—वाक् किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हृदय में (उस समय सम्पूर्ण दिशाओं में फैले हुए हृदय क द्वारा याज्ञवल्क्य उन्हें आत्मभाव से प्राप्त था)। शाकल्य ने पूछा—हृदय किसमें प्रतिष्ठित है ? (इस वाक्य से शाकल्य ने सर्वात्मक हृदय की प्रतिष्ठा के विषय में प्रश्न किया) ॥ २४ ॥

दिग्ध्रुवेत्युच्यते । अग्निदेवत इति । ऊर्ध्वायां हि प्रकाशभूयस्त्वं प्रकाशश्चाग्निः । सोऽग्निः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति [2]वाचीति । कस्मिन्नु वाक्प्रतिष्ठितेति । [3]हृदय इति । तत्र याज्ञवल्क्यः [4]सर्वासु दिक्षु विप्रसृतेन हृदयेन[5] सर्वा दिश [6]आत्मत्वेनाभिसंपन्नः । सदेवाः [7]सप्रतिष्ठा दिश आत्मभूतास्तस्य नामरूप[8]कर्मात्मभूतस्य याज्ञवल्क्यस्य । यद्रूपं तत्प्राच्या दिशा सह हृदयभूतं याज्ञवल्क्यस्य । यत्केवलं कर्म पुत्रोत्पादनलक्षणं च ज्ञानसहितं च सह फलेनाधि-

---

—ऊर्ध्वायां हीति । 'दिशो वेद' इत्यादिश्रुत्या[9] "[10]जगतो विभागेन"[11] पञ्चधात्वं ध्यानार्थमुक्तमिदानीमुक्तविभागवादिन्याः श्रुतेरभिप्रायमाह—तत्रेति । यथोक्ते विभागे सतीति यावत् । उक्तमर्थं संक्षिपति—सदेवा इति । "[12]तत्रावान्तरविभागमाह—यद्रूपमिति । "[13]आद्ये पर्याये हृदये रूपप्रपञ्चोपसंहारो दर्शितः '"[14]हृदये ह्येव रूपाणि' इति श्रुतेरित्यर्थः । दक्षिणायामित्यादिपर्याय"[15]त्रयेण तत्रैव"[16] कर्मोपसंहार उक्त इत्याह—यत्केवलमिति । यद्धि "[17]केवलं कर्म तत्फलादिभिः सह दक्षिणादिगात्मकं हृद्युपसंह्रियते यज्ञस्य दक्षिणा"[18]दिद्वारा हृदये प्रतिष्ठितत्वोक्ते"[19]र्दक्षिणस्या दिशस्तत्फलत्वात्पुत्रजन्माख्यं च कर्म प्रतीच्यात्मके "[20]तत्रैवोपसंहृतम् । '"[21]हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितम्' इति श्रुतेः । पुत्रजन्मनश्च "[22]तत्कार्यत्वाज्ज्ञानसहितमपि

की दृष्टि में ऊर्ध्वदिशा का कभी व्यभिचार नहीं होता, इसलिए वह ध्रुवादिशा कही जाती है। (याज्ञवल्क्य बोले—) ऊर्ध्व दिशा में मैं अग्निदेवता वाला हूँ क्योंकि ऊर्ध्वदिशा में प्रकाशबाहुल्य है और प्रकाश ही अग्नि है। वह अग्नि किसमें प्रतिष्ठित है ? अग्नि वाक् में प्रतिष्ठित है। और वाक् किसमें प्रतिष्ठित है ? वाक् हृदय में प्रतिष्ठित है। उस समय सभी पाँचों दिशाओं में फैले हुए हृदय के द्वारा याज्ञवल्क्य सभी दिशाओं में स्वस्वरूप से प्राप्त था अर्थात् नाम रूप और कर्म के जगदात्मभूत

---

१. हृदयं बुद्धिः । २. स्वकारणे एव तस्य प्रतिष्ठितत्वमाह—वाचीनीनि । वाचोऽग्निरजायतेति श्रुतेस्तस्य तत्कार्यत्वमिति भावः । ३. हृदय इतीति—अत्रापि हृदयेन हि वाचं जानातीनि हेतुवाक्यमूह्यम् । ४. पञ्चसु । ५. द्वारा । ६. स्वस्वरूपत्वेन प्राप्तः । ७. सकारणाः । ८. जगदात्मनः । ९. बृ० उ० ३।६।१६ । हृदय इत्यन्तया । १०. जगदात्मकदेवस्य दिग्भेदेन । ११. श्रुत्या दिग्विभागेन पञ्चधात्वं ध्यानार्थं देवस्योक्तमिति पाठान्तरम् । १२. तत्रेति—नामरूपकर्मात्मकस्य सर्वस्य जगतो हृद्युपसंहारे सामान्येनोक्ते सतीत्यर्थः । १३. बृ० उ० ३।६।२० । १४. बृ० उ० ३।६।२० । १५. बृ० उ० ३।६।२१-२३ । १६ हृदये एव । १७. उपास्तिशून्यं वैदिकम् । १८. आदिना श्रद्धा । १९. केवलस्य कर्मणो दक्षिणदिगात्मत्वमुक्तं तत्र हेतुमाह—दक्षिणस्या इति । २०. हृदये एव । २१. बृ० उ० ३।६।२२ । २२. रेतः ।

अहँल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो यत्रैतदन्यत्रास्मन्म-

हे प्रेत ! ऐसे शब्द से संबोधित करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा—जिस समय तुम इस देह
हृदयरूप हमसे पृथक् मानते हो, यदि उस समय सचमुच में यह शरीर हमसे पृथक् हो जाय, तो

ष्ठात्रीभिश्च देवताभिर्दक्षिणाप्रतीच्युदीच्यः कर्मफलात्मिका[1] हृदयमेवाऽऽपन्नास्तस्य
ध्रुवया दिशा सह नाम सर्वं वाग्द्वारेण [3]हृदयमेवा[4]ऽऽपन्नम् । एतावद्धीदं सर्वं यदुत
वा कर्म वा नाम वेति [5]तत्सर्वं हृदयमेव तत्सर्वात्मकं हृदयं पृच्छ्यते कस्मिन्नु हृ
प्रतिष्ठितमिति ॥ २४ ॥

[6]अहँल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो [7]नामान्तरेण संबोधनं कृतवान् । यत्र यस्मिन्का

कर्म फलप्रतिष्ठादेवताभिः सहोदीच्यात्मकं तत्रैवोपसंहृतं सोमदेवताया दीक्षा[8]दिद्वारा [9]तत्प्रतिष्ठत्वश्रु
[10]दिक्त्रये सर्वं कर्म हृदि संहृतमित्यर्थः । पञ्चमपर्यायस्य तात्पर्यमाह—ध्रुवयेति । नामरूपकर्मसूपसं
ष्वपि किंचिदुपसंहर्तव्यान्तरमवशिष्टमस्तीत्याशङ्क्य निराकरोति—एतावद्धीति । प्रश्नान्तरमुत्था
—तत्सर्वात्मकमिति ॥ २४ ॥

हृदयपदेन नामाद्याधारवदहँल्लिकशब्देनापि हृदयाधिकरणं विवक्ष्यते [11]वाक्यच्छायासा

उस याज्ञवल्क्य की देवता और प्रतिष्ठा के सहित सभी दिशाएँ स्वस्वरूपभूत थी । जो रूप था,
पूर्वदिशा के सहित याज्ञवल्क्य का हृदयस्वरूप हो गया । इसी प्रकार जो केवल कर्म, पुत्रोत्पाद
कर्म और ज्ञानपूर्वक कर्म थे, वे अपने फल और अधिष्ठातृ देवताओं के साथ कर्मफलात्मिका द
पश्चिम और उत्तर दिशाओं के साथ उस याज्ञवल्क्य का हृदय हो गये । तथा ध्रुवादिशा के
वाक् के द्वारा सम्पूर्ण नाम भी याज्ञवल्क्य के हृदय को प्राप्त हो गये । यह जो कुछ रूप, कर्म
नाम है, वह सब इतना ही है और (नाम-रूप कर्मात्मक सर्वजगत् मन का विलास होने से मन
हृदय में पर्यवसित होने से) वह सब हृदय ही है, उस सर्वात्मक हृदय के विषय में प्रश्न किया जा
कि "हृदय किसमें प्रतिष्ठित है" ॥ २४ ॥

---

१. दिशः । २. याज्ञवल्क्यस्य । ३. याज्ञवल्क्यस्य । ४. आपन्नमिति—अग्निप्रतिष्ठाया वाचो
प्रतिष्ठितत्वोक्तेरिति शेषः । एवं नामरूपकर्मात्मकस्य सर्वस्य जगतो हृदये संहृतिः प्रस्तुतश्रुत्योक्तेति
५. तदिति—नामरूपकर्मात्मकं सर्वं जगन्मनोविलासरूपत्वादर्थान्मनोद्वारा हृद्येवोपसंहृतमित्यर्थः । एते
जगदुपसंहृतं हृदीत्ययुक्तमत्र प्रकरणे मनसो हृद्युपसंहाराश्रुतेरित्यपास्तं वार्तिके । तथाहि—"सामर्थ्याच्च मनो
विज्ञेयमुपसंहृतम् । रूपादिपञ्चकं यस्मात्तद्द्वारेणाऽऽश्रितं हृदीति" ॥ ७९ ॥ रूपरसादिपञ्चकं मनोविला
तद्द्वारा हृदि संहृतं न हि मनसस्तत्र संहारं विना तद्विकल्पितस्य स युक्तोऽतो मनोऽपि हृदि संहृतमित्यर्थः ।
ब्रह्मादिस्तम्बान्तं सर्वं जगत्स्वस्मिन् संहृत्य व्यवस्थितं हृदयं कस्मिन्प्रतिष्ठितमिति पृष्टो मुनिरहँल्लि
संबोध्योत्तरमाहेत्याह—अहँल्लिकेति । अहनि लीयत इति विग्रहे 'क्विप् चे'ति क्विपि 'संज्ञायां कनि'ति
'केऽण' इति ह्रस्वत्वम् । ७. शाकल्यस्य विदग्धवदिदमपि नामान्तरमित्यर्थः । पिशाचवदसौ व
केनचिद्विदुषाऽस्य तादृशं नामकृतमिति ध्येयम् । ८. आदिना सत्यम् । ९. हृदयप्रतिष्ठत्वश्रुतेरिति
१०. दिक्पर्यायत्रये । ११. प्रकृतवाक्यस्वरूपसादृश्यात् ।

न्यासै यद्ध्येतदन्यत्रास्मत्स्याच्छ्वानो वैनदद्युर्वयाꣳसि वैनद्विमथ्नीरन्निति ॥२५॥

कस्मिन्नु त्वं चाऽऽत्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति प्राण इति

त्ते खा जायँ, या पक्षी इसे चोंच मारकर मथ डालें अर्थात् शरीर, नाम, रूप वह कर्ममय होने के कारण हृदयरूप आत्मा में ही प्रतिष्ठित है ॥ २५ ॥

तुम और तुम्हारा आत्मा (हृदय) किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—देह और आत्मा

तद्धृदयमा[1]त्माऽस्य शरीरस्यान्यत्र क्वचिद्देशान्तरे[2]ऽस्मदस्मत्तो वर्तेत इति मन्यासै मन्यसे । द्धि यदि ह्येतद्धृदयमन्यत्रास्मत्स्याद्भवेच्छ्वानो वैनच्छरीरं तदाऽद्यु[3]र्वयांसि वा पक्षिणो नद्विमथ्नीरन्विलोडयेयुर्विकर्षेरन्निति [4]तस्मान्मयि शरीरे हृदयं प्रतिष्ठितमित्यर्थः । शरीरस्यापि मरूपकर्मात्मकत्वाद्धृदये प्रतिष्ठितत्वम् ॥२५॥

हृदयशरीरयोरेवम[5]न्योन्यप्रतिष्ठोक्ता [6]कार्यकरणयोर[7]तस्त्वां पृच्छामि । कस्मिन्नु

त्याशङ्क्याऽऽह—नामान्तरेणेति । अहनि लीयत इति विगृह्य प्रेतवाचिनेति शेषः । देहे हृदयं प्रतिष्ठितमिति व्युत्पादयति—यत्रेत्यादिना । तस्मिन्काले शरीरं शरीरं [8]'मृतं स्यादिति शेषः । शरीरस्य हृदयाश्रयत्वं विशदयति—यद्धीत्यादिना । देहादन्यत्र हृदयस्यावस्थाने यथोक्तं[9] दोषमिति शब्देन रामृश्य फलितमाह—इतीत्यादिना । देहस्तर्हि कुत्र प्रतिष्ठित इत्यत आह—शरीरस्येति ॥२५॥

वृत्तमनूद्य प्रश्नान्तरमुपादत्ते—हृदयेति । प्राणशब्दस्य सूत्रविषयत्वं व्यवच्छेत्तुं वृत्ति-

---

याज्ञवल्क्य ने "अहँल्लिक" ऐसा सम्बोधन करके कहा । शाकल्य को अन्य नाम से सम्बोधन या । "यत्र" अर्थात् जिस समय "एतद्" अर्थात् यह हृदय यानी आत्मभूत शरीर हमारे स्वरूपभूत रीर से किसी अन्य देश में रहता है "इति मन्यासै" ऐसा मानते हो; "यद्धि' यानी उस समय यदि स शरीर से यह आत्मभूत हृदय अन्यत्र चला जाय तो इस शरीर को या तो कुत्ते खा जायँ या गृध्रादि) पक्षी "वैनद्विमथ्नीरन्" इसे नोच-नोच कर खा जायं । इसलिये (उक्त दोष से) हृदय शरीर में प्रतिष्ठित है । शरीर भी नाम, रूप एवं कर्ममय होने के कारण हृदय में तिष्ठित है ॥ २५ ॥

---

१. आत्मभूतम् । २. अस्मत्स्वरूपशरीरात् । ३. गृध्रादयः पक्षिणः । ४. यथोक्तदोषात् । ५. अन्योन्येति । अत्र वार्तिके—"वर्नासिहवदेवैतद्द्वयमन्योन्यसंश्रयम् ॥ नर्ते लिङ्गं शरीरस्य स्थितिः काचिदिहेष्यते । न शरीरं विना लिङ्गं कस्मैचित्कर्मणे क्षमम् ॥ न ह्यन्योऽन्यातिरेकेण संहतानां क्वचित्स्थितिः । संहतं च प्रतीचोऽन्यज्जगदेतच्चराचरमिति" ॥ ८६-८८ ॥ ननु स्थूलस्य सूक्ष्मदेहमुपेक्ष्य स्थित्यभावेऽपि स्थूलं विना यावन्मोक्षमेतत् (सूक्ष्मं)स्थास्यति इति नान्योऽन्याश्रयतेति तत्राऽऽह—न शरीरमिति ॥ किंच हृदयदेहावन्योऽन्यप्रतिष्ठितौ संहतत्वात्प्रासादादिवदित्याह—न हीति । हेत्वसिद्धिं धुनीते—संहतं चेति ॥ ६. हृदयशरीरयोरित्यन्वयः । ७. कार्यत्वेन तयोः स्वातन्त्र्याभावात् । ८. मृतं स्यादिति—एतेन शरीरस्य हृदयाश्रयत्वमर्थादुक्तमिति ध्येयम् । ९. मरणात्मकम् ।

कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित इत्यपान इति कस्मिन्न्वपानः प्रतिष्ठित इति व्यान इति कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इत्युदान इति कस्मिन्नूदानः प्रतिष्ठित इति समान इति स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न

ये दोनों प्राणवृत्ति में प्रतिष्ठित हैं। शाकल्य ने पूछा—प्राण किसमें प्रतिष्ठित है? व्यान में। किसमें प्रतिष्ठित है? उदान में। उदान किसमें प्रतिष्ठित है? समान में (यदि प्राणवृत्ति से न रोकी जाए, तो वह ऊपर की ओर से बाहर निकल जाए। यदि मध्यस्थ व्यान से अपान रोकी जाए, तो वह अपान की ओर चली जाए, यदि ये तीनों वृत्तियाँ कीलस्थानीय उदान न बँधी हों, तो यह सभी ओर फैल जायँ। वैसे ही उक्त चारों ही प्राणवृत्तियाँ समान में प्रतिष्ठित जिसका मधुकाण्ड में "स एष नेति नेति" ऐसा कहकर निरूपण किया गया है, वह आत्मा

त्वं च शरीरमात्मा च तव हृदयं[2] प्रतिष्ठितौ स्थ इति। प्राण इति। देहात्मानौ प्रतिष्ठितौ स्यातां प्राणवृत्तौ[3]। कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित इत्यपान[4] इति। प्राणवृत्तिः प्रागेव[5] प्रेयादपानवृत्त्या चेन्न निगृह्येत। कस्मिन्न्वपानः प्रतिष्ठित व्यान[6] इति। साऽप्यपानवृत्तिरध एव यायात्प्राणवृत्तिश्च प्रागेव मध्यस्थया चेद् वृत्त्या न निगृह्येत। कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इति। उदान[7] इति। सर्वास्तिस्रो

विशेषणम्। प्राणस्यापाने प्रतिष्ठितत्वं व्यतिरेकद्वारा स्फोरयति—साऽपीति। प्राणापानयो व्यानाधीनत्वं साधयति—साऽप्यपानेति। तिसृणां वृत्तीनामुक्तानामुदाने निबद्धत्वं दर्शयति—सर्वा

(शाकल्य बोला—) इस प्रकार तुमने कार्य और करणरूप हृदय और शरीर की प्रतिष्ठा बतलायी। इसलिये (कार्यभाव से उनमें स्वतन्त्रता का अभाव होने के कारण) मैं तुमसे हूँ—"त्वं" यानी शरीर और तुम्हारा "आत्मा" यानी हृदय किसमें प्रतिष्ठित है? "प्राण इति" देह और हृदय, प्राण में यानी ऊर्ध्ववृत्त्यात्मक प्राण में प्रतिष्ठित हैं। वह प्राण किसमें प्रतिष्ठित अधोवृत्तिरूप अपान में। क्योंकि यदि वह प्राणवृत्ति अपानवृत्ति द्वारा रोकी न जाय तो ऊपर ही चली जाय। वो अपान किसमें प्रतिष्ठित है? (प्राण-अपान की मध्यस्थवृत्तिरूप यदि मध्यस्थवर्तिनी व्यानवृत्ति से न रोकी जाय तो अपानवृत्ति नीचे को चली जाय और ऊपर ही चली जाय। व्यान किसमें प्रतिष्ठित है? उदान में प्रतिष्ठित है। यदि ये तीनों

---

[1] इत्येतौ युवाम्। [2] आत्महृदयम्। [3] ऊर्ध्ववृत्त्यात्मके प्राणे। [4] अधोवृत्तिरूपे। [5] प्रकर्षेण गच्छेत्। [6] प्राणापानयोर्मध्यस्थवृत्तिरूपे। [7] नाभिस्थवृत्तिरूपे कीलकस्थानीये ब घनरूपे।

रिष्यति। एतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ देवा अष्टौ पुरुषाः स [1]यस्तान्पुरुषान्निरुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत्तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तं चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति। तꣳ [2]ह न मेने शाकल्यस्तस्य ह मूर्धा विपपातापि हास्य परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुरन्यन्मन्यमानाः ॥२६।

है, वह ग्रहण नहीं किया जाता। अशीर्य है, वह नष्ट नहीं होता। असंग है, वह संसक्त नहीं होता। अमूर्त होने से अबद्ध है, अतः वह व्यथित और हिंसित नहीं होता। उक्त ये आठ आयतन हैं, आठ लोक हैं, आठ देव हैं और आठ पुरुष हैं। वह जो कोई भी उन पूर्वोक्त शारीरादि आठ पुरुषों को निश्चयपूर्वक जानकर उन्हें अपने हृदय में उपसंहार कर औपाधिक क्षुधा-पिपासादि कर्मों का अतिक्रमण किये हुए हैं, मैं उसी औपनिषद पुरुष को तुमसे पूछता हूँ। यदि तुम स्पष्टरूप से मेरे प्रति उसे न कह सकोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा। उस औपनिषद पुरुष को शाकल्य सर्वथा नहीं जानता था। अतः उसका मस्तक गिर गया। इतना ही नहीं; किन्तु लुटेरों ने उसकी हड्डियों को कुछ और (धनादि) समझ कर उसके शिष्यों से छीन लिया ॥ २६ ॥

वृत्तय उदाने कीलस्थानीये चेन्न निबद्धा [3]विष्वङ्ङेवेयुः। कस्मिन्नूदानः प्रतिष्ठित इति। समान इति। [4]समानप्रतिष्ठा ह्येताः सर्वा वृत्तयः। एतदुक्तं भवति—शरीरहृदयवायवोऽन्योन्यप्रतिष्ठाः [5]संघातेन नियता वर्तन्ते [6]विज्ञानमयार्थप्रयुक्ता इति। [7]सर्वमेतद्येन

विष्वङ्ङिति नानागतित्वोक्तिः। कस्मिन्नु हृदयमित्यादेः समानान्तस्य ग्रन्थस्य तात्पर्यमाह—एतदिति। तेषां प्रवर्तकं दर्शयति—विज्ञानमयेति। स एष इत्यादेस्तात्पर्यमाह—सर्वमिति।

कीलकस्थानीय उदानवृत्ति में बँधी न हों, तो सब ओर चली जायँ। उदान किसमें प्रतिष्ठित है? समान में प्रतिष्ठित है क्योंकि ये सब वृत्तियाँ समान में ही प्रतिष्ठित हैं। (उपरोक्त विचार के सन्दर्भ में)

---

१. पूर्वोक्ताष्टकत्रयस्याप्युपलक्षणमेतत्। २. हशब्दः खेदार्थकः। ३. विष्वगिति पाठान्तरम्। ४. समानप्रतिष्ठा इति। तथा चोक्तं वार्तिके—"विहायाऽऽख्यायिकारूपं स्वेनैव वचसा श्रुतिः। पुमर्थार्थं समापित्सुः स एष इति चाऽब्रवीत् ॥ ९४ ॥ इति। ननु शाकल्ययाज्ञवल्क्ययोः संवादात्मिकेयमाख्यायिका न चात्र शाकल्येनाक्षरं पृष्टं तत्कथं तत्कथनार्थं याज्ञवल्क्यस्य प्रवृत्तिरत आह—विहायेति। विज्ञानादिवाक्ये पुरुषार्थसमाप्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्कुतोऽत्र तादर्थ्येन निर्विशेषोक्तिरित्याशङ्कायां श्रुतेरेषा त्वरा वस्तुनीति वक्तुं चशब्दः। ५. संघातेनेति—हेत्वर्थे तृतीया संहतत्वादित्यर्थः। तदुक्तं वार्तिके—"देहहृद्वायवोऽन्योन्यप्रतिष्ठाः संहतत्वतः। प्रयुक्ताः कर्मणा पुंसां वर्तन्ते भोगसिद्धये ॥ ९२ ॥ इति। तेषां प्रवर्तकं प्रवृत्तिफलं च दर्शयति—प्रयुक्ता इति। ६. विज्ञानमयेति—विज्ञानमयस्य पुरुषस्य (जीवस्य) अर्थेन भोगेन प्रवर्तिता इत्यर्थः। ७. सर्वमिति—एतद्यथोक्तमेकत्वेनानेकत्वेनाष्टधा पञ्चधा सर्वमिदमाकाशान्तं सकारणं जगद्येन नियतं प्रतिष्ठितं यस्मिन्नोतं च प्रोतं च तस्याक्षरस्येत्यर्थः। ८. शरीरादीनाम्।

[1]नियतं यस्मिन्प्रतिष्ठितमाकाशान्तमोतं च प्रोतं च तस्य निरुपाधिकस्य साक्षादपरो ब्रह्मणो निर्देशः कर्तव्य इत्ययमारम्भः ।

स एषः । स यो नेति नेतीति निर्दिष्टो मधुकाण्ड एष सः । [2]सोऽयमात्माऽगृह्य गृह्यः । कथम् । यस्मात्सर्वकार्यधर्मातीतस्तस्माद[3]गृह्यः । कुतो यस्मान्न हि गृ यद्धि करणगोचरं [4]व्याकृतं वस्तु तद्ग्रहणगोचरमिदं तु तद्विपरीतमात्मतत्त्वम् । [5]ऽशीर्यो यद्धि [6]मूर्तं संहतं शरीरादि तच्छीर्यतेऽयं तु [7]तद्विपरीतोऽतो न हि शी तथा[8]ऽसङ्गो मूर्तो मूर्तान्तरेण संबध्यमानः [9]सज्यतेऽयं च [10]तद्विपरीतोऽतो न हि स तथाऽसितो[11]ऽबद्धो यद्धि मूर्तं तद्बध्यतेऽयं तु तद्विपरीतत्वादसितोऽबद्धत्वान्न व्यथते

यस्य कूटस्थदृष्टि[12]मात्रस्यान्तर्यामित्वकल्पनाधिष्ठानस्याज्ञानवशात्प्रशासने द्यावापृथि स्थितं स परमात्मैष प्रत्यगात्मैवेतिपदयोरर्थं विवक्षित्वाऽऽह—स एष इति । निषेधद्वयं मूर्तामूर्त [13]व्याख्यातमित्याह—स यो नेति । यो मधुकाण्डे चतुर्थे नेति नेतीति निषेधमुखेन निर्दिष्टः स एष ब्राह्मणे[14] तन्मुखेनैव वक्ष्यत इति योजना । निषेधद्वारा निर्दिष्टमेव स्पष्टयति—सोऽयमिति । का शब्दादयोऽशनायादयश्च । श्रुत्युक्तं हेतुमवतार्य व्याचष्टे—कुत इत्यादिना । तद्विपरीतत्वं करणागो [15]न चक्षुषेत्यादिश्रुतेः । तद्विपरीतत्वादमूर्तत्वादिति यावत् । पूर्वत्राप्युभयत्र तद्वैपरीत्यमेतदेव ।

ऐसा कहा जाता है—शरीर,हृदय और प्राण—ये परस्पर प्रतिष्ठित हैं और विज्ञानमय के लिए होकर संहतरूप से नियमित रहते हैं। ये सब जिसके द्वारा नियम में बँधे रहते हैं, जिसमें प्रति और जिसमें आकाशपर्यन्त ओत-प्रोत हैं; उस निरुपाधिक साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म का व्याख्यान चाहिये, इसलिए आगे का ("स एषः" यह) ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है।

"स एषः" अर्थात् जिसका मधुकाण्ड में 'नेति नेति' इस प्रकार निर्देश किया गया है, वह (प्रकरणस्थ वह अक्षरब्रह्मरूप) आत्मा "अगृह्यः" ग्राह्य नहीं है। किस प्रकार ग्राह्य नहीं है? क्यों समस्त कार्यधर्मों से अतीत है, इसलिए इन्द्रिय से अगोचर है। यह अग्राह्य क्यों है? क्योंकि य नहीं किया जा सकता। जो कार्य वस्तु इन्द्रियगोचर होती है, वही ग्रहण की जा सकती है कि आत्मतत्त्व तो (इन्द्रिय से अगोचर होने के कारण) उससे विपरीत है। तथा यह आत्मतत्त्व से रहित है क्योंकि जो सावयव संहत शरीरादि है, वही अपक्षय (शैथिल्य) को प्राप्त हो आत्मतत्त्व (अमूर्त होने से) उससे विपरीत होने के कारण अपक्षय को प्राप्त नहीं होता। तथा यह धर्मशून्य है। सावयव पदार्थ ही किसी दूसरे सावयव पदार्थ से सम्बद्ध होने के कारण संश्लिष्ट हो

---

[1] नियमितम् । [2] सोऽयमात्मेति—प्राकरणिकस्याक्षरस्य ब्रह्मणः आत्मशब्देनानुवादं कुर्वाणा तयोरै श्रुतिरिति विभावनीयम् । [3] करणागोचरः । [4] कार्यम् । [5] विशरणं शैथिल्यमपक्षयस्तद्रहित [6] सावयवम् । [7] अमूर्त इत्यर्थः । [8] सङ्गित्वधर्मशून्यः । [9] संश्लिष्यते । [10] मूर्ता [11] बाह्याभ्यन्तरशून्य इति यावत् । [12] अक्षरस्य । [13] बृ० उ० २।३।४-६ । [14] ४।२।४ । [15] "न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा" ।

रिष्यति । ग्रहणविशरणसङ्गबन्धकार्यधर्मरहितत्वान्न रिष्यति न हिंसामापद्यते न विनश्यतीत्यर्थः ।

[1]क्रममतिक्रम्यौपनिषदस्य पुरुषस्याऽऽख्यायिकातोऽपसृत्य श्रुत्या [2]स्वेन रूपेण त्वरया निर्देशः कृतः । *[3]ततः [4]पुनराख्यायिकामेवाऽऽश्रित्याऽऽह । एतानि यान्युक्तान्य[5]ष्टावायत-

---

शब्दार्थं स्फुटयन्नुक्तमुपपादयति—ग्रहणेति । कार्यधर्माः शब्दादयोऽशनायादयश्च प्रागुक्ताः ।

ननु शाकल्ययाज्ञवल्क्ययोः संवादात्मिकेयमाख्यायिका [6]तत्र कथं शाकल्येनापृष्टमात्मानं याज्ञवल्क्यो व्याचष्टे तत्राऽऽह—क्रममिति । [7]विज्ञानादिवाक्ये वक्ष्यमाणत्वात्किमित्यत्र तन्निर्देश इत्याशङ्क्याऽऽह—ततः पुनरिति । निश्चयेन गमयित्वेत्येतदेव स्पष्टयति—अष्टेति । प्रत्युह्योपसंहृत्येति

मूर्त से विपरीत होने के कारण यह संश्लिष्ट नहीं होता है । तथा यह "असितः" अर्थात् अबद्ध (बाह्याभ्यन्तर शून्य) है क्योंकि जो पदार्थ मूर्त (सावयव) होता है, वही बंधता है, यह उससे विपरीत असित या अबद्ध होने के कारण 'न व्यथते' यानी विनाश को प्राप्त नहीं होता । ग्रहण, विशरण, सङ्ग, बन्धरूप कार्यधर्मों से रहित होने के कारण "न रिष्यति" अर्थात् हिंसा यानी विनाश को नहीं प्राप्त होता ।

यहाँ श्रुति ने शीघ्रता से क्रम को अतिक्रमण कर आख्यायिका से हटकर अपने मुख से औपनिषद पुरुष का निर्देश कर दिया है । श्रुति अब आख्यायिका का आश्रय लेकर पुनः कहती है । ये

---

१. क्रममिति—तावच्छाकल्यप्रश्नस्ततो मुनिकृतप्रतिवचनमित्येवं तत्प्रश्नप्रतिवचनात्मकक्रममित्यर्थः । २. स्वमुखेनेति यावत् । ३. तत इति—समान इति एतानि इत्यनयोराख्यायिकावाक्ययोर्मध्ये औपनिषदपुरुषनिर्देशानन्तरमित्यर्थः । अथवा शाकल्यप्रश्ननिर्णयानन्तरमित्यर्थः । ४. पुनरित्यादि—पूर्वमिवाख्यायिकामनुसृत्य, अयं प्रेतीभूतोऽब्रह्मवित्सन्नेव मां पृच्छतीति तस्य सापराधत्वं ज्ञापयितुं मुनिः पृच्छतीत्यर्थः । एतेन स एष इत्यादिश्रौतं वाक्यम्, एतानीत्यादि तु याज्ञवल्कीयप्रश्नवाक्यमिति विभाग उक्त इति ध्येयम् । ५. पृथिवीकामरूपाकाशतमोरूपोदकरेतांसि । ६. तस्यामाख्यायिकाम् । ७. बृ० उ० ३।९।२८ ।

---

*ततः पुनराख्यायिकामेवाश्रित्याहेति । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"श्रुतिः स्वेनैव वचसा साक्षादित्यादिलक्षणम् । समापय्याऽऽत्मविज्ञानं भूयोऽप्याख्यानरूपकम् ॥ गृहीत्वा परिपप्रच्छ शाकल्यमभिमानिनम् । याज्ञवल्क्यात्मिका भूत्वा ह्यतिनिर्बन्धकारिणम् ॥ धनं निसृष्टं राज्ञेह ब्रह्मिष्ठोद्देशतो यतः । प्रष्टुं नैवाधिकारोऽतोऽब्रह्मिष्ठस्येह विद्यते ॥ अब्रह्मिष्ठत्वसिद्ध्यर्थमतोऽप्राक्षीद्रुषाऽन्वितः । स याज्ञवल्क्यः शाकल्यं सापराधत्वसिद्धये ॥ स एष नेति नेत्याद्यः प्रश्नो वाऽयं समीक्ष्यताम् । मध्यं वाक्याच्छदोऽभावादितिशब्दस्य पूर्ववत् ॥ समासव्यासरूपेण शाकल्यो यदपृच्छत ॥ ततः परस्ताच्छाकल्यं याज्ञवल्क्योऽप्यपृच्छत ॥ ऐकात्म्ये सर्वमेवद कार्यकारणलक्षणम् । समापनीयं निःशेषं समासव्यासवर्जिते ॥ अपि शास्त्रार्थसंबन्ध उत्तरस्याः श्रुतेरयम् । तदनुक्तौ यतः पूर्वं सर्वं स्यात्तुषकण्डनम्" ॥ १००-१०७ ॥ इति । एतानष्टावित्यादिवाक्यस्य पूर्वेणासगतिमाशङ्क्य परिहरति—श्रुतिरिति ॥ विद्याभिमानित्वादतिनिर्बन्धकारित्वाच्च शाकल्य प्रति प्रष्टुं युक्तमिति वक्तुं हिशब्दः ॥ शाकल्योऽत्र प्रष्टा कथं तं प्रति प्रश्नोऽन्यस्येत्याशङ्क्य शाकल्यस्य प्रश्नाधिकारं निराचष्टे—धनमिति । इहेति बहुदक्षिणयज्ञोक्तिः । अब्रह्मिष्ठस्येति च्छेदः । द्वितीयस्त्विहशब्दो ब्रह्मवित्सभाविषयः ॥ कथं शाकल्यस्याब्रह्मिष्ठत्वं तत्राऽऽह—अब्रह्मिष्ठत्वेति । अब्रह्मिष्ठस्य प्रश्नानधिकारोऽतःशब्दार्थः । प्रश्नानधिकारिणोऽपि शाकल्यस्य प्रश्ने

नानि [1]पृथिव्येव यस्याऽऽयतनमित्येवमादीन्यष्टौ [2]लोका अग्निलोकादयोऽष्टौ [3]देवा अमृता होवाचेत्येवमादीन्यष्टौ [4]पुरुषाः शारीरः पुरुष इत्यादयः । स [5]यः [6]कश्चित्तान्पुरुषान् प्रभृतीन्निरुह्य निश्चयेनोह्य गमयित्वा[8]ऽष्टचतुष्कभेदेन लोकस्थितिमुपपाद्य पुनः [9]प्राची गादिद्वारेण प्रत्युह्य [10]स्वात्मनि हृदयेऽत्यक्रामदतिक्रान्तवानुपाधिधर्मं [11]हृदयाद्यात्मत्वं

यावत् । औपनिषदत्वं पुरुषस्य व्युत्पादयति—उपनिषत्स्वेवेति । तं हेत्यादि याज्ञवल्क्यस्य वा

जो "पृथिव्येव यस्यायतनम्" (बृ. उ. ३-९-१०) इत्यादि पूर्ववर्णित आठ आयतन, अग्निलोक आदि लोक, (अमृत, स्त्री, सत्य, दिक, मृत्यु, असु, वरुण और प्रजापतिरूप) आठ देव, तथा शरीराभि पुरुष आदि आठ पुरुष बतलाये हैं । जो कोई प्रसिद्ध ब्रह्मज्ञ इन शारीरप्रभृति आठ पुरुषों को "नि अर्थात् निश्चयपूर्वक ऊहा या ज्ञान प्राप्त करके आयतनादि आठ और चार के विभाग से लोकस्थिति उपादान कर पुनः प्राची आदि पाँचों दिशाओं के द्वारा उसका स्वात्मीय हृदय में उपसंहृत

---

१. बृ० उ० ३।९।१० । २. अग्निहृदयचक्षुःश्रोत्रहृदयचक्षुर्हृदय हृदयानि । ३. अमृतस्त्रीसत्यदिक् सुवरुणप्रजापतयः । ४. शारीरपुरुषकाममयपुत्रमयपुरुषाः आदित्यपुरुषश्रोत्रप्रातिश्रुत्कपुरुषछायाम दर्पणादिस्थप्रतिविम्बपुरुषवापीकूपाद्याभिमानि । ५. प्रसिद्धः । ६. ब्रह्मज्ञः । ७. श्रौतस्य पुरु देवता लोकायतनोपलक्षणत्वमभिप्रेत्याह—शारीर प्रभृतीनिति । आयतनादिचतुरोऽप्यष्टकानित्यर्थः । अष्टचतुष्कभेदेनेति—भेदेन विभागेन तृतीया हेत्वर्थे । तथा च अविद्याभूमौ स्थित्वा यथोक्तायतनादि स्थितिमुपपाद्य (कृत्वा) साभासाऽज्ञानादायतनादिविभागं कृत्वा तस्य लोकस्थितिहेतुतां प्रतिपाद्येति यावत् । प्राची दिगादीति—आदिशब्देन दक्षिणाप्रतीच्युदीचीध्रुवाः प्रति पर्यायमादित्यचक्षूरूपाणि यमयज्ञदक्षि वरुणजलरेतांसि सोमदीक्षासत्यानि अग्निवाचौ च गृह्यन्ते । १०. स्वात्मनि हृदये प्रत्युह्येति— स्वात्मीये स्वकारणेऽन्तर्यामिणि सर्वं जगदुपसंहृत्येति यावत् । ११. हृदयादीति—आदिना शरीरप्राणापान दानसमाना गृह्यन्ते तथा च हृदयादिलक्षणमपि समानान्तमुपाधिरूपं धर्ममतिक्रान्तवानित्यर्थः । १२. सं —कार्यकारणलक्षणाञ्शारीरादीन् निःशेषानात्मसात्कृत्वा वस्तुवृत्तस्वरूपेणैव स्वमहिम्नि प्रतिष्ठित इत्यर्थः

प्रवृत्तेस्तस्मिन्नयुक्तकारिणि कोपान्वितश्चेन्मुनिस्तर्हि तत्र शापमदत्त्वा किमिति तस्याब्रह्मिष्ठत्वसिद्ध्यर्थम त्याशङ्क्य शापहेतुज्ञापनार्थमित्याह—सापराधत्वेति ॥ स एष इत्यादि श्रौतं वाक्यमेतानीत्यादिप्रश्नवाक्य विभागः । इदानीमेकवाक्यत्वमाश्रित्याऽऽह—स इति । एकवाक्यत्वे हेतुः—मध्य इति । कस्मिन्नु हृदय सनि वाक्यभेदे तद्धेतुरितिशब्दो मध्ये दृष्टो न च न रिष्यत्येतान्यष्टावित्यत्र मध्ये वाक्यच्छिदितिशब्दो तदेकमिदं प्रश्नवाक्यमित्यर्थः ॥ वाक्यैक्येऽपि शाकल्यप्रश्ने निर्दिधारयिषिते नान्यस्य प्रश्नोऽत्रकाशवानित्याश —समाप्नेति । ततः परस्ताच्छाकल्यप्रश्ननिर्णयादूर्ध्वमित्यर्थः ॥ शाकल्यस्याब्रह्मिष्ठत्वं प्रकटीकृत्य साप मापाद्य शापं ददतो मुनेरपि कोपावेशादब्रह्मिष्ठता स्यादित्याशङ्क्य प्रष्टुरभिप्रायमाह—ऐकात्म्य उक्तमभिप्रायमुपपत्त्या साधयति—अपीति । पूर्वोत्तरश्रुतेरयमेव शास्त्रार्थसंबन्धो यदेकरसे प्रतीचि सर्व स्तद्विशेषतेत्यर्थः । मा भूत्पूर्वोत्तरश्रुतेः शास्त्रार्थसंबन्धस्तत्राऽऽह—तदनुक्ताविति । पूर्वमुत्तरं चेति द्रष्टव्यं शास्त्रार्थसंबन्धानुक्तौ पूर्वोत्तरश्रुत्योरर्थवत्त्वं तथाच तयोस्तत्त्वज्ञानशेषतया साफल्यार्थं प्रष्टुरभिप्रायो नित्यर्थः ।

वाऽऽत्मना व्यवस्थितो य औपनिषदः [1]पुरुषोऽशनायादिवर्जित [2]उपनिषत्स्वेव विज्ञेयो नान्यप्रमाणगम्यस्तं त्वा त्वां विद्याभिमानिनं पुरुषं पृच्छामि। तं चेद्यदि [3]मे न विवक्ष्यसि विस्पष्टं न कथयिष्यसि[4] मूर्धा [5]ते [6]विपतिष्यतीत्याह याज्ञवल्क्यः। तं त्वौपनिषदं पुरुषं शाकल्यो न मेने ह न विज्ञातवान्किल। [7]तस्य ह मूर्धा विपपात विपतितः। समाप्ताऽऽख्यायिका। श्रुतेर्वचनं तं ह न मेन इत्यादि।

किं चापि[8] हास्य परिमोषिणस्तस्करा अस्थीन्यपि [9]संस्कारार्थं शिष्यैर्नीयमानानि[10] गृहान्प्रत्यपजह्रुरपहृतवन्तः। किंनिमित्तम्, अन्यद्धनं नीयमानं मन्यमानाः। [11]पूर्ववृत्ता ह्याख्यायिकेह[12] सूचिता। अष्टाध्याय्यां किल शाकल्येन याज्ञवल्क्यस्य समानान्त एव

स्थस्य वा वाक्यमिति शङ्कां वारयति—समाप्तेति।

ब्रह्मविद्विद्वेषे परलोक[13]विरोधोऽपि स्यादित्याह—किंचेति। मूर्धा ते विपतिष्यतीति[14] मूर्ध्नि पतिते शापेन किमित्यग्निहोत्राग्निसंस्कारमपि शाकल्यो न प्राप्तवानित्याशङ्क्याऽऽह—पूर्ववृतेति। तामेवा-

---

'अत्यक्रामत्' यानी उपाधिधर्म हृदयादिस्वरूप का अतिक्रमण किये हुए हैं। कार्यकारणलक्षण शारीरादि को पूर्णतया आत्मसात् करके अशनायादि से रहित जो औपनिषद पुरुष अपनी महिमा में स्थित है और जो श्रुति से ही ज्ञय है; अन्य प्रमाणगम्य नहीं है उसे "त्वा" तुझ विद्याभिमानी पुरुष को मैं पूछता हूँ। उसे तू यदि मुझे "विवक्ष्यसि" यानी स्पष्ट नहीं कहेगा तो (अब्रह्मवेत्ता होने से ब्रह्मवित्त्वाभिमानी) तेरी मूर्धा गिर जायगी, ऐसा उस याज्ञवल्क्य ने कहा। (यह बड़ी दुःख की बात थी कि) वह शाकल्य उस औपनिषद पुरुष को "न मेने" यानी नहीं जानता था। इसलिए उसका मस्तक "विपतात" यानी गिर गया। "तं ह न मेने" यह (याज्ञवल्क्य अथवा अन्य किसी मध्यस्थ का वाक्य न होकर) श्रुतिवाक्य है, क्योंकि यहाँ आख्यायिका पूरी हो गयी।

इसके अतिरिक्त जब उसके शिष्य उसकी अस्थियों को अग्निहोत्राग्नि में संस्कार के लिए वस्त्रखण्ड में बाँध कर घर के प्रति ले जा रहे थे, तब "परिमोषिणः" यानी तस्करों ने उसे "अपजह्रुः" छीन लिया। छीन क्यों लिया? उन्होंने समझा कि ये किसी दूसरे का धन लिये जा रहे हैं क्योंकि कर्मप्रकरण की यह आख्यायिका विद्याप्रकरण में सूचित की गई है। (बृहदारण्यक से पूर्ववर्ती)

---

१. पूर्णः। २. उपनिषत्स्विति—"आम्वेवोपनिषत्स्वेनं यतो व्याचक्षते बुधाः। कर्मकाण्डे विरोधित्वान्नैवैनं व्याचचक्षिरे। तं त्वौपनिषदं धीरा ब्रह्मात्मानं प्रचक्षते"॥ वा० ११६-११७॥ इति। ३. मह्यम्। ४. तर्हि। ५. अब्रह्मविदो ब्रह्मवित्त्वाभिमानिनः। ६. विस्पष्टम्। ७ तस्येत्यादि। अत्र वार्तिके—"ततः स याज्ञवल्क्योत्थशापवाक्याख्यवह्निना। दग्धः सद्यो ममारैव ब्रह्मविद्द्विड्ज्वरान्वितः"॥ ११९॥ इति। ८. अपि हास्येति। अत्र वार्तिके—"परलोकविनाशोऽपि विद्वद्विद्वेषकारणात्। अग्निहोत्राग्निसंस्कारं यतो नावाप शापतः"॥ १३०॥ इति। अत्राऽपीत्यनन्तरं प्राप्तः शाकल्येनेति शेषः। तत्र हेतुर्विद्वदिति। नन्वग्निहोत्राग्निना पुत्रादिभिर्यथाविधिसंस्काराद्द्वेषकृतपापनिर्हरणात्तस्य परलोकसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—अग्निहोत्रेति। पुरेऽतिथ्ये मरिष्यसीत्यादिशापदर्शनादित्यर्थः। अतोऽस्य परलोकविनाश इति शेषः। ९. अग्निहो(त्राग्निना) त्रेण। १०. चैलखण्डे बद्ध्वा। ११. कर्मप्रकरणे। १२. विद्याप्रकरणे। १३. विघातोऽपीत्यर्थः। १४. शापेनेत्यन्वयः।

संवादो निर्वृत्तः । [1]तत्र याज्ञवल्क्येन शापो दत्तः । पुरेऽतिथ्ये मरिष्यसि न तेऽस्थी
चन गृहान्प्राप्स्यन्तीति स ह तथैव ममार । तस्य हाप्यन्यन्मन्यमानाः परिमोषिणोऽ
न्यपजह्रुः । तस्मान्नोपवादी स्यादुत[2] ह्येवंवित्परो भवतीति । सैषाऽऽख्यायिकाऽऽचा
सूचिता विद्यास्तुतये चेह ॥२६॥

[3]यस्य नेति नेती[4]त्यन्यप्रतिषेधद्वारेण ब्रह्मणो निर्देशः कृतस्तस्य विधिमुखेन
निर्देशः कर्तव्य इति[5] पुनराख्यायिकामेवाऽऽश्रित्याऽऽह[6] मूलं च जगतो वक्तव्यमिति
[8]आख्यायिकासंबन्धस्त्वब्रह्मविदो ब्राह्मणाञ्जित्वा गोधनं हर्तव्यमिति । न्यायं मत्वाऽऽ

ऽऽख्यायिकामनुक्रामति—अष्टाध्याय्यामिति । अष्टाध्यायी बृहदारण्यकात्प्राचीना कर्मविषया ।
पुण्यक्षेत्रातिरिक्ते देशे । अतिथ्ये पुण्यतिथिशून्ये काले । अस्थीनिचनेत्यत्र चनशब्दोऽप्यर्थः । उपजस
परिभवकर्ता । तच्छब्दार्थमाह—उत हीति । किमितीयमाख्यायिकाऽत्र विद्याप्रकरणे सूचितेत्याशङ्क्यल
ऽऽह—सैषेति । ब्रह्मविदि विनीतेन भवितव्यमित्याचारः महती हीयं ब्रह्मविद्या यत्तन्निष्ठावज्ञायाम
मुष्मिक[9]विरोधः स्यादिति विद्यास्तुतिः ॥२६॥

अथ हेत्याद्युत्तरग्रन्थमवतारयति—यस्येत्यादिना । जगतो मूलं च वक्तव्यमित्याख्यायिका
ऽऽश्रित्याऽऽहेति संबन्धः । आख्यायिका किमर्थेत्यत आह—आख्यायिकेति । इतिशब्दः [10]संबन्धसमाप्त
ननु ब्राह्मणेषु तूष्णींभूतेषु प्रतिषेद्धुरभावाद्गोधनं हर्तव्यं किमिति तान्प्रति याज्ञवल्क्यो वदतीत्यत आ
न्यायं मत्वेति । [11]ब्रह्मस्वं हि ब्राह्मणानुमतिमनापाद्य नीयमानमनर्थाय स्यादिति न्यायः । संबोध्योवा

अष्टाध्यायीनाम कर्मविषयक ग्रन्थ में शाकल्य से याज्ञवल्क्य का समानान्त वार्तालाप हुआ है।
अष्टाध्यायीस्थ संवाद में याज्ञवल्क्य ने शाकल्य को शाप दिया कि तुम पुण्यक्षेत्रभिन्न देश और
तिथिशून्य काल में मरोगे और तुम्हारी अस्थियाँ (संस्कार के लिए) घर तक भी नहीं पहुँचेंगी,
वह उसी प्रकार मर गया । तस्कर उसकी अस्थियों को दूसरे का धन समझकर ले गये ।
परिभवकर्ता नहीं होना चाहिये क्योंकि ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ होता है । यह आख्यायिका आचारार्थ
विद्या की स्तुति के लिए यहाँ सूचित की गई है ॥ २६ ॥

जिस ब्रह्म का 'नेति नेति' इस प्रकार अनात्मपदार्थों के निषेध के द्वारा निर्देश किया गया
उसका विधिमुख से किस प्रकार निर्देश करना चाहिये—ऐसी जिज्ञासा होने पर जगत का मूल
बतलाने के लिए श्रुति पुनः आख्यायिका का आश्रय लेकर कहती है । आख्यायिका का प्रयोजन
कि अब्रह्मवित् ब्राह्मणों को जीतकर गोधन ले जाना चाहिये । इस न्याय को स्वीकार कर याज्ञ
कहते हैं ।

---

१. तत्रत्य (अष्टाध्यायीस्थ) संवादे । २. उत हीत्यादि । यस्मादेवंविदपि ब्रह्मज्ञोऽपि । उपवादा
शत्रुर्भवति तस्मान्नोपवादी स्यादित्यर्थः । ३. यस्य ब्रह्मण इत्यन्वयः । ४. अनात्मप्रतिषेधद्वारेण।
जिज्ञासायाम् । ६. श्रुतिः । ७. हेतोः । ८. आख्यायिकाप्रयोजनमिति यावत् । ९. विघातः ।
आख्यायिकाप्रयोजनबोधकवाक्यसमाप्त्यर्थं इति यावत् । ११. ब्रह्मविद्ब्राह्मणधनम् ।

अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते स मा पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो वः कामयते तं वः पृच्छामि सर्वान्वा वः पृच्छामीति ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः ॥ २७ ॥

तान्हैतैः श्लोकैः पप्रच्छ—

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव [1]पुरुषोऽमृषा ॥ तस्य

इसके बाद ब्राह्मणों के मौन हो जाने पर याज्ञवल्क्य ने कहा—पूज्य ब्राह्मणगण ! आपमें से उसकी इच्छा हो कि मैं याज्ञवल्क्य से प्रश्न करूँ, वह क्रमशः मुझसे पूछ सकता है अथवा आप सभी ालकर मुझसे पूछ सकते हैं। ऐसे ही आपमें से जिसकी इच्छा हो कि याज्ञवल्क्य मुझसे प्रश्न करे तो समसे मैं पूछता हूँ या आप सभी से मैं पूछता हूँ। पर यह चुनौती सामना करने का साहस उन ाह्मणों को नहीं हुआ ॥ २७ ॥

याज्ञवल्क्य ने उन ब्राह्मणों से इन आगे कहे जाने वाले श्लोकों द्वारा पूछा—वनस्पति आदि णों से युक्त वृक्ष जिन धर्मों से युक्त होता है. जीव का शरीररूप पुरुष भी वैसा ही होता है, यह

अथ होवाच। [2]अथानन्तरं तूष्णींभूतेषु ब्राह्मणेषु होवाच हे ब्राह्मणा भगवन्त त्येव संबोध्य। यो वो युष्माकं मध्ये कामयत इच्छति याज्ञवल्क्यं पृच्छामीति स मा ामागत्य पृच्छतु। सर्वे वा मा पृच्छत। सर्वे वा यूयं मा मां पृच्छत। यो वः कामयते ाज्ञवल्क्यो मां पृच्छत्विति तं वः पृच्छामि सर्वान्वा वो युष्मानहं पृच्छामि। ते ह ब्राह्मणा दधृषुस्ते ब्राह्मणा एवमुक्ता अपि न [3]प्रगल्भाः संवृत्ताः किंचिदपि प्रत्युत्तरं वक्तुम् ॥२७॥

बन्धः। यो व इति प्रतीकमादाय व्याचष्टे—युष्माकमिति। व्याख्यातं [4]भागमनूद्य व्याख्येयमादाय ाकरोति—यो व इत्यादिना। यथोक्तप्रश्नानन्तरं ब्राह्मणानाम[5]प्रतिभां दर्शयति—ते हेति ॥ २७ ॥

"अथ होवाच" अर्थात् शाकल्य का शिरःपात देखकर ब्राह्मणों के चुप हो जाने के पश्चात् ाज्ञवल्क्य उन ब्राह्मणों से "हे आदरणीय ब्राह्मणो" इस प्रकार सम्बोधन करके बोले—"यो वो" र्थात् तुम में से जो भी "कामयतः" यानी चाहे कि मैं याज्ञवल्क्य से आकर प्रश्न करूँ, वह 'मा' नी मेरे पास आकर प्रश्न पूछ सकता है। 'सर्वे वा' अर्थात् अथवा तुम सब 'मा' यानी मुझसे पूछ कते हो। और आप में से यदि किसी की इच्छा हो कि याज्ञवल्क्य मुझसे प्रश्न करे, तो मैं उससे या भी से प्रश्न पूछता हूँ। "ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः" अर्थात् ऐसा कहे जाने पर भी वे ब्राह्मण कुछ भी ्युत्तर कहने में समर्थ नहीं हुए ॥ २७ ॥

---

[1] पुरुषो शरीरम्। [2] शाकल्यशिरःपातं दृष्ट्वा ब्राह्मणानां तूष्णींभावानन्तरमित्यर्थः। [3] समर्था इति यावत्। [4] "यो वः कामयत" इत्येतावन्तम्। [5] अनुत्तरताम्।

लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः ॥१॥
त्वचं एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः ॥ तस्मात्त-
दातृण्णात्प्रैति रसो वृक्षादिवाऽऽहतात् ॥२॥

सर्वथा सत्य है। वृक्ष के पत्ते होते हैं और उस पुरुष के शरीर में रोएँ होते हैं। वृक्ष के बाहरी छाल होती है और पुरुष के शरीर में त्वचा ॥ १ ॥

इस पुरुष की त्वचा से ही रक्त चूता है और वृक्ष की छाल से गोन्द निकलता है, इस वृक्ष और पुरुष की समानता है। इस समानता के कारण ही जैसे चोट खाये हुए वृक्ष से रस वैसे ही चोट खाये हुए पुरुष के शरीर से रक्त निकलता है ॥ २ ॥

तेष्वप्रगल्भभूतेषु ब्राह्मणेषु तान्हैतैर्वक्ष्यमाणैः श्लोकैः पप्रच्छ पृष्टवान्। [1]यथा वृक्षो वनस्पतिः। वृक्षस्य विशेषणं वनस्पतिरिति। तथैव पुरुषोऽमृषा। अमृषा सत्यं तस्य लोमानि। तस्य पुरुषस्य लोमानीतरस्य वनस्पतेः [2]पर्णानि। त्वगस्योत्पा बहिस्त्वगस्य पुरुषस्येतरस्योत्पाटिका वनस्पतेः ॥१॥

त्वच एव सकाशादस्य पुरुषस्य रुधिरं [3]प्रस्यन्दि वनस्पतेस्त्वच उत्पटस्त्वच एवोत [4]यस्मादेवं सर्वं समानमेव वनस्पतेः पुरुषस्य च तस्मादातृण्णाद्धिंसिता [5]त्प्रैति

स्वकीयज्ञानप्रकटनार्थमेव प्रश्नान्तरमवतारयति—तेष्विति। वृक्षो वनस्पतिरिति त्पुनरुक्तिरित्याशङ्कयाऽऽह—वृक्षस्येति। [6]तच्च [7]तस्य महत्त्वमाहेत्यपुनरुक्तिः। पुरुषस्य वृक्ष मेतदित्युच्यते। साधर्म्यमेव स्पष्टयति—तस्येत्यादिना। नीरसा त्वगुत्पाटिकेत्युच्यते ॥१॥
उत्पटो वृक्षनिर्यासः ॥२॥

बोलने में असमर्थ उन ब्राह्मणों से याज्ञवल्क्य ने आगे कहे जाने वाले श्लोकों से पूछा। लोक में जिस प्रकार वनस्पति वृक्ष जैसी होती है। वृक्ष का विशेषण वनस्पति है। उसी प्रकार पुरुष यह बात "अमृषा" यानी सत्य ही है। "तस्य लोमानि" यानी उस पुरुष के लोम हैं, उसी प्रकार वनस्पति के भी लोमस्थानीय पत्ते हैं। "त्वगस्योत्पाटिका" यानी इस पुरुष के शरीर में जो त्वच इसी प्रकार इस वनस्पति वृक्ष के बाहरी भाग में छाल है ॥ १ ॥

त्वचा के सम्पर्क से ही इस पुरुष का रुधिर निःसरणशील है, और वनस्पति की छाल गोंद निकलता है क्योंकि वह छाल से फूट कर बहता है। इस प्रकार सादृश्य होने से पुरु

---

१. जगतः कारणं प्रष्टुं पुरुषवृक्षयोस्तावच्छ्लोकत्रयेण साधर्म्यं दर्शयति—यथेति। वार्तिके यथा— सति वैधर्म्यं शक्यं प्रष्टुं यतस्ततः। साधर्म्यमुच्यते श्रुत्या तद्वनस्पतिमर्त्ययोः" ॥ १३४ ॥ इति। अन्व त्वाद्व्यतिरेकस्याऽऽदौ साधर्म्यवचनमुचितमित्यर्थः। २. लोमस्थानीयानि। ३. निःसरणशील एवमुक्तं सादृश्यमनुभवेन निगमयति—यस्मादेवमिति। ५. पुरुषात्। ६. विशेषणम्। ७. वृ

माꣳसान्यस्य शकराणि कीनाटꣳ [1]स्नाव तत्स्थिरम् ॥
अस्थीन्यन्तरतो दारूणि [2]मज्जा मज्जोपमा कृता ॥३॥

पुरुष के शरीर में माँस होता है और वृक्ष के शकर (छाल के भीतर के अंश) होते हैं, पुरुष कीं सें होती हैं और वृक्ष में किनाट (नस के समान भीतरी अंश) होते हैं। वह किनाट नसों की भाँति स्थर होती है। पुरुष के स्नायुजाल के भीतर हड्डियाँ होती हैं, वैसे ही वृक्ष के भीतर काष्ठ होता । पुरुष की मज्जा तो वृक्ष के समान ही निश्चित की गई है ॥ ३ ॥

र्गच्छति वृक्षादिवाऽऽहताच्छिन्ना द्रसः ॥२॥

एवं मांसान्यस्य पुरुषस्य वनस्पते[4]स्तानि शकराणि [5]शकलानीत्यर्थः। किनाटं क्षस्य किनाटं नाम शकलेभ्योऽभ्यन्तरं वल्कलरूपं काष्ठसंलग्नं [6]तत्स्नाव पुरुषस्य तिस्थरं तच्च किनाटं स्नाववद्दृढं हि तत्। अस्थीनि पुरुषस्य [7]स्नाव्नोऽन्तरतोऽस्थीनि वन्ति। [8]तथा किनाटस्याभ्यन्तरतो दारूणि काष्ठानि। मज्जा मज्जैव वनस्पतेः रुषस्य च मज्जोपमा कृता मज्जाया [9]उपमा मज्जोपमा नान्यो विशेषोऽस्तीत्यर्थः। यथा नस्पतेर्मज्जा तथा पुरुषस्य यथा पुरुषस्य तथा वनस्पतेः ॥३॥

विशेषाभावमेवाभिनयति—यथेति ॥३॥

नस्पति में सब कुछ समान ही है। इसीलिए "आहतात्" यानी कटे हुए वृक्ष से निकले हुए रस की ाँति "आतृण्णात्" यानी चोट लगे हुए पुरुष से रुधिर बहता है।

इसी प्रकार इस पुरुष के शरीर में माँस हैं और वनस्पति के तत्स्थानीय 'शकराणि' यानी कल हैं। वृक्ष में किनाट होता है। शकलों के भीतर काष्ठ से लगी हुई छाल को किनाट कहते हैं। त्स्थानीय पुरुष की शिराएँ हैं। 'तत्स्थिरं' यानी वह किनाट शिराओं के समान दृढ़ हैं। "अस्थीनि रुषस्य" यानी पुरुष की शिराओं के भीतर अस्थियाँ होती हैं। उसी प्रकार किनाट के भीतर "दारूणि" ानी काष्ठ होता है। "मज्जा मज्जोपमा कृता" यानी वनस्पति और पुरुष की मज्जा के उपमान में ोई विशेष अन्तर नहीं है। जिस प्रकार वनस्पति की मज्जा होती है, उसी प्रकार पुरुष की मज्जा ोती है। जैसे पुरुष की मज्जा होती है, वैसी ही मज्जा वनस्पति की होती है ॥ ३ ॥

---

१. स्नाव: पुरुषस्यास्थिसंलग्नो धातुविशेषः। २. मज्जाशब्देनोभयत्रास्थिकाष्ठगतस्नेह उच्यते। ३. निर्यासः। ४. तत्स्थानीयानि। ५. सरसाऽन्तस्त्वगत्र शकलशब्दवाच्या "शकलं त्वचि खण्डे च रागवस्तुनि वल्कले" इति विश्वः। ६. तत्स्थानीयम्। ७. स्नावस्य इति पाठान्तरम्। ८. तत्स्थानीयानि। ९. उपमानम्।

यद्वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः ॥ मर्त्यः
स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥४॥
रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत्प्रजायते । धानारुह

वृक्ष को यदि काट लिया जाता है, तो वह पुनः-पुनः अपनी जड़ से पूर्व की अपेक्षा
होकर प्रकट होता है। वैसे ही यदि मृत्यु मनुष्य को काट डाले, तो वह किस मूल से उत्पन्न
अर्थात् मृत पुरुष की उत्पत्ति कहाँ से होगी ? ॥ ४ ॥

यदि तुम कहो कि वह वीर्य से उत्पन्न होता है, तो ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि

---

[1]यद्यदि वृक्षो वृक्णश्छिन्नो रोहति पुनः प्ररोहति प्रादुर्भवति मूलात्पुनर्नवः पूर्वस्मादभिनवतरः। यदेतस्माद्विशेषणात्प्राग्वनस्पतेः पुरुषस्य च सर्वं सामान्यमवगतम् अयं तु वनस्पतौ विशेषो दृश्यते यच्छिन्नस्य प्ररोहणम्। न तु [2]पुरुषस्य मृत्युना वृक्णस्य वृक्षस्येव पुनः प्ररोहणं दृश्यते। भवितव्यं च कुतश्चित्प्ररोहणेन। तस्माद्वः पृच्छामि मर्त्यो मनुष्यः [3]स्वि[4]न्मृत्युना [5]वृक्णः कस्मा[6]न्मूलात्प्ररोहति मृतस्य पुरुषस्य कुतः प्ररोहणमित्यर्थः ॥४॥

यदि चेदेवं वदथ रेतसः[7] प्ररोहतीति मा वोचेत मैवं वक्तुमर्हथ। कस्मात्

साधर्म्ये सति वैधर्म्यं वक्तुमशक्यमित्याशयेनाऽऽह—यद्यदीति। [8]इदमपि साधर्म्यं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—यदेतस्मादिति। एतस्माद्विशेषणात्प्राग्यद्विशेषणमुक्तं तत्सर्वमुभयोः [9]साम[10]वगतमिति संबन्धः। वृक्णस्याङ्गस्येति [11]शेषः। मा भूत्तस्य प्ररोहणमिति चेन्नेत्याह—भवितव्यं चेति। 'ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इति स्मृतेरित्यर्थः ॥४॥

"यद्" अर्थात् यदि वृक्ष को "वृक्णः" यानी काट दिया जाय तो वह "पुनः रोहति" अर्थात् निकल जाता है, "मूलान्नवतरः" अर्थात् जड़ में पहले से भी नवीनतर होकर निकलता है। इस विशेषण से पूर्व वनस्पति और पुरुष के विशेषणों में समानता ज्ञात हुई थी किन्तु वनस्पति में यह विशेषता जाती है कि यह कट जाने पर भी पुनः निकल जाती है। किन्तु मृत्यु द्वारा छिन्न हो जाने पर शरीर (उपलक्षित जगत्) का पुनः प्रस्फुटित होना नहीं दिखाई देता। किन्तु वह किसी से प्ररोह तो होना ही चाहिये। इसलिये मैं आप से पूछता हूँ कि यम से विनाश किया (मरा हुआ) मनुष्य कारण से उत्पन्न होता है यानी मरा हुआ पुरुष कहाँ से उत्पन्न होता है ? ॥ ४ ॥

---

१. अथ तयोर्वैधर्म्यकथनपुरःसरं जगत्कारणं पृच्छति—यदिति। २. शरीरे तदुपलक्षिते जगतीत्यर्थः। पुनः। ४. यमेन। ५. विनाशितः। ६. कारणात्। ७. पुरुषः। ८. पुनः प्ररोहणमपि। समानो धर्मः। १०. निश्चितम्। ११. शेष इति। अयं शेषः न तु पुरुषे इत्यादि भाष्यीयाधः षष्ठीघटितपाठान्तराभिप्रायकः। तत्र पुरुषस्य जीवस्य अङ्गस्य शरीरस्य व्यधिकरणषष्ठ्यौ चैते इति अथवा यथाश्रुतभाष्यस्थसप्तमीघटितपाठेऽपि पुरुषे मृत्युना वृक्णे सति वृक्णस्याङ्गस्य शरीरस्य पुनः प्ररोहणं दृश्यते इत्येवं टीकोक्तपदद्वयमपि शेषात्मकमेव।

इव वै वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्य [1]संभवः ॥५॥
यत्समूलमावृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत्। मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥६॥

जीवित पुरुष से ही उत्पन्न होता है; मृत से नहीं। वृक्ष भी केवल तने से नहीं निकलता, किन्तु बीज भी उत्पन्न होता है। पर बीज से उत्पन्न होने वाला वृक्ष कट जाने के बाद अंकुरित होता हुआ प्रत्यक्ष खा गया है ॥ ५ ॥

यदि वृक्ष को मूल से उखाड़ दिया जाय तो वह फिर कहीं से आकर उत्पन्न नहीं होगा। वैसे ही यदि मृत्यु मनुष्य का छेदन कर डाले तो वह किस मूल से उत्पन्न होगा ? ॥ ६ ॥

यस्माज्जीवतः पुरुषात्तद्रेतः प्रजायते [2]न मृतात्। अपि च धानारुहो धाना बीजं बीजरुहोऽपि वृक्षो भवति न केवलं काण्डरुह एव। इवशब्दो[3]ऽनर्थकः। वै वृक्षोऽञ्जसा [4]साक्षात्प्रेत्य मृत्वा संभवो [5]धानातोऽपि प्रेत्य संभवो भवेदञ्जसा पुनर्वनस्पतेः ॥५॥

यद्यदि सह मूलेन धानया वाऽऽवृहेयुरुद्यच्छेयुरुत्पाटयेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत्पुनरागत्य

जीवतो हि रेतो जायते [6]स एव कुतो भवतीति विचार्यते न चा[7]सिद्धेना[8]सिद्धस्य साधनं न च पुरुषान्तरादिति वाच्यमे[9]कासिद्धावन्तरप्रयोगानुपपत्तेरिति मन्वानो हेतुमाह—यस्मादिति। वैधर्म्यान्तरमाह—अपि चेति। काण्डरुहोऽपीत्यपेरर्थः। वैशब्दः प्रसिद्धिद्योतक इत्यभिप्रेत्याऽऽह—वै वृक्ष इति। अञ्जसेत्यादेरर्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—धानातोऽपीति ॥५॥

[10]तथाऽपि कथं वैधर्म्यमित्याशङ्क्याऽऽह—यद्यदीति। पुरुषस्यापि पुनरुत्पत्तिर्मा भूदित्याशङ्क्य

यदि तुम कहो कि वीर्य से वह पुरुष पुनः उत्पन्न होता है तो ऐसा "मा वोचत" कहना उचित नहीं है। क्यों उचित नहीं है ? क्योंकि वीर्य तो जीते हुए पुरुष में होता है, मृतक (प्रलीन) शरीर में संभव नहीं। इसके अतिरिक्त "धानारुहो" वृक्ष बीज से उत्पन्न होने वाला भी होता है, केवल तने ही उत्पन्न नहीं होता। 'इव' शब्द सादृश्यार्थक न होने से वैधर्म्य दृष्टान्त के लिए है। यह प्रसिद्ध है कि वृक्ष "प्रेत्य" यानी मरकर "अञ्जसा" साक्षात् उत्पन्न हो जाता है। बीज से उत्पन्न वनस्पति कटने के बाद पुनः हो जाती है ॥ ५ ॥

---

१. संभवतीति संभवः। २. न मृतादिति—जीवंस्तु कोऽपि नास्ति मृतशब्देन प्रलीनसर्वशरीरादिजगज्जातस्यै- वोच्यमानत्वात् तस्माद्रेतोऽभावान्न तत्कारणमिति भावः। ३. अनर्थक इति—सादृश्यार्थो न भवति अपितु वैधर्म्यदृष्टान्तार्थ इति भावः। ४. अव्यवधानतः। ५. धानातोऽपीति—धाना बीज तस्या सकाशादपिशब्देन काण्डादपि वनस्पतेः प्रेत्य पुनरञ्जसाऽव्यवधानतः संभवो दृष्टः तथा च यथा वृक्षः प्रेत्य मृत्वा काण्डरुहो धानारुहश्चाञ्जसा भवतीति प्रसिद्धं न तथा मृतस्य पुरुषस्य पुनरुत्पत्तौ किंचिदपि कारणं दृश्यते भवितव्यं च तेनेत्यर्थः। ६. जीवन्पुमानेव। ७. रेतसा। ८. पुरुषस्य। ९. एकासिद्धाविति—सर्वप्रलयादूर्ध्वमधुना जायमानस्यैकस्याप्यसिद्धौ पुरुषान्तरादित्यन्तरशब्दप्रयोगो नतरां संभवतीत्यर्थः। १०. ननु सकारणकनष्टवृक्षवज्जगतोऽपि तथा नाशात्पुनरनुत्पत्तेर्न वैधर्म्यदृष्टान्तः संभवतीति कृतं तत्कारणचिन्तयेत्याशयेन वाक्यान्तरमवतारयति—तथाऽपीति। जगतः कारणाभावेऽपीत्यर्थः।

जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत्पुनः । विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद इति ॥ ७ ॥ २८ ।

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य नवमं ब्राह्मणम् ॥ ९ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

बृहदारण्यकक्रमेण पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

पुरुष तो उत्पन्न हो ही गया है, फिर वह उत्पन्न नहीं होता (तो ऐसा कहना ठीक क्योंकि मरकर पुनर्जन्म होता ही है) ऐसी स्थिति में मृत्यु के बाद पुनर्जन्म किससे होगा ? (इस का उत्तर ब्राह्मणों से न दिये जाने पर श्रुति स्वयं देती है) विज्ञान आनन्दस्वरूप ब्रह्म है, स्वयं धन का देने वाला है, कर्म कर्ता यजमान की परम गति है और ब्रह्मज्ञानी का आश्रय है ॥ ७ ॥ २८ ॥

॥ इति नवम ब्राह्मणम् ॥

---

[1]न भवेत् । [2]तस्माद्वः पृच्छामि सर्वस्यैव जगतो मूलं मर्त्यः स्विन्मृत्युना कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥६॥

[3]जात एवेति [4]मन्यध्वं [5]यदि [6]किमत्र प्रष्टव्यमिति । जनिष्यमाणस्य हि

पूर्वोक्तं निगमयति—तस्मादिति ॥६॥

[9]स्वभाववादमुत्थापयति—जात इति । इतिशब्दश्चाद्य[10]समाप्त्यर्थः । [11]तदेव स्फुट

"यद्" अर्थात् यदि वृक्ष को मूलसहित यानी बीजसहित "आवृहेयुः" यानी खींच लें उखाड़ लें, तो वृक्ष "न पुनराभवेत्" पुनः आकर उत्पन्न नहीं होगा । इसलिये (जगत् के अबाधित जाने से) मैं तुमसे समस्त संसार के मूल हेतु के संबन्ध में पूछ रहा हूँ कि यदि मृत्यु मनुष्य का कर दे तो वह किस मूल से पैदा होगा ? ॥ ६ ॥

यदि तुम पुरुष को उत्पन्न हुआ ही मानते हो तो उत्पन्न हुए पुरुष के विषय में क्या पूछना

---

१. न भवेदिति—एवं जगदपि यदि सकारणं सम्यग्बोधबाधितं न तर्हि भूयो भवति यदा त्वबाधितं कारणमस्यावश्यकमित्यर्थः । २. जगतोऽबाधितत्वात् । ३. जात एवेति—अस्तु मृतः स पुनर्न जातत्वादेव जनिष्यमाणस्य हि कारणचिन्ता न जातस्यातोऽत्र प्रश्न एवाऽनुपपन्न इति स्वभाववादिवाक्यं ४. यूयम् । ५. तर्हि । ६. जाते पुंसि । ७. सभवः—संभवत्यस्मादिति व्युत्पत्त्या कारणम् । पूर्वेति—चतुर्थमन्त्रोत्तरार्द्धेत्यर्थः । ९. स्वभावादेव सकृदुत्पन्नं न पुनर्जायते इति स्वभाववादः । स्वभाववादिशङ्कासमाप्त्यर्थः । ११. कारणप्रश्ननिराकरणमेव ।

ष्टव्यो न जातस्यायं[1] तु जात एवा[2]तो[3]ऽस्मिन्विषये प्रश्न एवं नोपपद्यत इति चेत् । न । किं तर्हि मृतः पुनरपि [4]जायत एवा[5]न्यथाऽकृताभ्यागमकृतनाशप्रसङ्गात् । अतो वः पृच्छामि को न्वेनं [7]मृतं पुनर्जनयेत् । [8]तन्न विजज्ञुर्ब्राह्मणा यतो मृतः पुनः रोहति जगतो मूलं न विज्ञातं ब्राह्मणैः । [9]अतो ब्रह्मिष्ठत्वाद्धृता गावो याज्ञवल्क्येन जिता ब्राह्मणाः । समाप्ताऽऽख्यायिका । यज्जगतो मूलं [10]येन च शब्देन [11]साक्षाद्व्यपदिश्यते ब्रह्म यद्याज्ञवल्क्यो ब्राह्मणान्पृष्टवां[12]स्तत्स्वेन [13]रूपेण श्रुतिरस्मभ्यमाह—विज्ञानं विज्ञप्तिविज्ञानं [14]तच्चा[15]ऽऽनन्दं न [16]विषयविज्ञानवद्दुःखानुविद्धं किं तर्हि प्रसन्नं शिवम[17]तुलम[18]नायासं

जनिष्यमाणस्य हीति । न जायत इति भोगेनोत्तरमाह—नेत्यादिना । स्वभाववादे दोषमाह—अन्यथेति । स्वभाववादासंभवे फलितमाह—अत इति । [19]उक्तमेव स्फुटयति—जगत इति । ब्रह्मविदां श्रेष्ठत्वे याज्ञवल्क्यस्य सिद्धे फलितमाह—अत इति । समाप्ताऽऽख्यायिकेति । ब्राह्मणाश्च सर्वे यथायथं जग्मुरित्यर्थः । [20]विज्ञानादिवाक्यमुत्थापयति—यज्जगत इत्यादिना । विज्ञानशब्दस्य [21]करणादिविषयत्वं वारयति—विज्ञप्तिरिति । आनन्दविशेषणस्य कृत्यं दर्शयति—नेत्यादिना । प्रसन्नं दुःखहेतुना काम-

---

क्योंकि उत्पन्न होने वाले का कारण पूछा जाना चाहिये, उत्पन्न हुए पुरुष का नहीं, । यह पुरुष तो उत्पन्न हुआ है, इसलिए उत्पन्न जगत् के विषय में (स्वभाववादियों के मत में) प्रश्न करना ही युक्तिसंगत नहीं है । इस पर कहते हैं—ऐसा कहना ठीक नहीं । तो क्या कहना चाहिये ? मरने पर भी तो यह पुनः उत्पन्न होता है; नहीं तो बिना कर्म के फलप्राप्ति और किये हुए कर्म के फलनाश का प्रसङ्ग आ जायगा । (स्वभाववाद के मत में दोष होने से) इसलिए मैं तुमसे पूछता हूँ कि मरने पर इस मृत पुरुष को पुनः कौन उत्पन्न करेगा । (जो मैंने पूछा) उसका ब्राह्मणों को विशेष ज्ञान नहीं था । जहाँ से मरने पर पुरुष पुनः उत्पन्न होता है, उस जगत् के मूलकारण का ज्ञान ब्राह्मणों को नहीं था । इसलिए ब्रह्मिष्ठ होने के कारण याज्ञवल्क्य ने उन गायों को प्राप्त कर लिया, (अज्ञ होने के कारण) वे ब्राह्मण जीत लिये गये । इस प्रकार यह आख्यायिका पूर्ण हुई । जो जगत् का मूल है और जिस

---

१. पुमांस्तु । २. जातत्वादेव । ३. जातजगद्विषये । ४. जायत एवेति—"ध्रुवं जन्म मृतस्य चे"ति
स्मृतेरिति भावः । तथापि कारणमन्तरैव जन्मनाशौ स्यातामिति चेन्न "सदेव सोम्येति" श्रुतेः "असदेवेद-
मि"त्यादिश्रुतेश्चानभिव्यक्तनामरूपकारणविषयत्वात् । अकारणयोश्च जन्मनाशयोरव्यवस्थितेर्न स्वभाववादो
युक्त इत्यर्थः । ५. अन्यथेति—स्वभाववादे जगतो निष्कारणतया मृतस्य पुनर्जन्माऽनभ्युपगम इत्यर्थः । ६.
अतः—स्वभाववादस्य (दुष्टत्वात्) असंभवात् । ७. पुरुषम् । ८. तन्नेति । "तत्पृष्टं जगतो मूलं न
विदुर्ब्राह्मणा यतः । अतो जिता हृता गावो याताः सर्वे यथायथम्" ॥ वा० १४७ ॥ ९. अतः—ब्राह्मणानाम-
ज्ञत्वात् । १०. येन च शब्देन—विधिमुखव्यपदेशकशब्देन । ११. विधिमुखेन । १२. ब्रह्म । १३.
स्वमुखेन । १४. विज्ञानम् । १५. आनन्दरूपम् । १६. न विषयेत्यादि—लौकिकसुखविलक्षणमित्यर्थः ।
१७. अतुलमिति—निरुपमम् अपरिमितं चेत्यर्थः । तुला सादृश्यमानयोरिति विश्वः । १८. अनायासमिति
—असाधनसाध्यं परिनिष्ठितरूपमिति यावत् । १९. ब्राह्मणानां जगन्मूलाज्ञानमेव । २०. विज्ञानमानन्दं
ब्रह्मेत्यादिवाक्यम् । २१. करणादीति—आदिना कर्मादिर्गृह्यते । तदुक्तं वार्तिके—"विज्ञानमिति चैतन्यं
कूटस्थमभिधीयते । न कारकं न धात्वर्थो नापि यत्स्यात्क्रियाफलमिति" ॥ १५१ ॥

[1]नित्यतृप्तमेकरसमित्यर्थः । किं तद्ब्रह्मोभयविशेषणवद्राती रातेः [2]षष्ठ्यर्थे धनस्येत्यर्थः । [3]धनस्य दातुः कर्मकृतो यजमानस्य परायणं परा गतिः कर्म [4]प्रदातृ । किंच व्युत्थायैषणाभ्यस्तस्मिन्नेव ब्रह्मणि [5]तिष्ठत्यकर्मकृत्तद्ब्रह्म वेत्तीति तस्य तिष्ठमानस्य च तद्विदो ब्रह्मविद इत्यर्थः । [6]परायणमिति ।

[7]अत्रेदं विचार्यते । आनन्दशब्दो लोके सुखवाची प्रसिद्धः । [8]अत्र च

क्रोधादिना संबन्धरहितम् । शिवं कामादिकारणेनाज्ञानेनापि संबन्धशून्यम् । सातिशयत्वप्रयु राहित्यमाह—अतुलमिति । साधनसाध्यत्वाधीनदुःखवैधुर्यमाह—अनायासमिति । [9]दुःखनिवृ सुखमिति पक्षं प्रतिक्षिपति—नित्यतृप्तमिति । आनन्दो ज्ञानमिति ब्रह्मण्या[10]कारभेदमाशङ्क्या एकरसमिति । [11]"फलमत उपपत्तेरि"ति न्यायेन ब्रह्मणो जगन्मूलत्वमाह—रातिरित्यादिना । संस्थोऽमृतत्वमेति' इति श्रुत्यन्तरमाश्रित्य "तस्यैव मुक्तोपसृप्यत्वमुपदिशति—किंचेति । ष्यानसमाप्ताविति शब्दः ।

सच्चिदानन्दात्मकं ब्रह्म विद्याविद्याभ्यां बन्धमोक्षास्पदमित्युक्तमिदानीं ब्रह्मानन्दे विचा तारयन्न[16]विगीतमर्थमाह—अत्रेति । [17]तथाऽपि प्रकृते वाक्ये किमायातमिति तदाह—अत्र चे

विधिमुखव्यपदेशक शब्द से ब्रह्म का साक्षात् कथन होता है और जिसके विषय में याज्ञवल ब्राह्मणों को पूछा था, उसे श्रुति स्वमुख से हमारे लिए स्वय बतलाती है। "विज्ञानम्" अर्थात् का नाम विज्ञान है, वही आनन्दरूप भी है, विषयविज्ञान के समान दुःख से अनुविद्ध नहीं है। उसका स्वरूप कैसा है ? वह प्रसन्न, कल्याणस्वरूप, अपरिमित, असाधनसाध्य, सदैव अपने सुख की अनपेक्षा वाला और एकरस है—यह इसका भाव है। वह उभय विशेषणों वाला ब्रह्म "रातिः" यह षष्ठी के अर्थ में प्रयुक्त प्रथमा विभक्ति है अर्थात् धन के "दातुः" यानी दे कर्मकाण्डी यजमान का "परायणम्" अर्थात् परा गति या कर्मफलप्रदान करने वाला है। इसी इच्छाओं से ऊपर उठकर जो उस ब्रह्म में परिनिष्ठित है, संन्यासी है, उस ब्रह्म को जानता है, "

---

१. नित्यतृप्तम्—सदैव स्वेतरसुखानपेक्षम् । २. षष्ठ्यर्थ इति—यथाश्रुतपाठे रातिर्बन्धुरित्यर्थो
३. धनस्य दातुरित्यादि । तदुक्तं वार्तिके—"अदृष्टफलसंप्रेप्सोर्दृष्टकर्मफलत्यजः । रातेर्धनस्य दातुस्त स्यात्परायणमिति" ॥ १५८ ॥ ४. प्रदात्रिति—जगत उपादानं चेत्यपि द्रष्टव्यम् । तदुक्तं वार्ति "एवं संसरतस्तावत्परं ब्रह्म परायणम् । जगतश्चाप्युपादानं स्वात्माऽविद्यासमन्वयात्" ॥ १६० ॥
५. परिव्राड् । ६. परायणमिति—परा गतिः परिसमाप्तिर्नदीनामिव समुद्र इत्यर्थः । तदिदं ब्रह्म भेदेन परायणं तद्विदां त्वभेदेनेति स्पष्टं वार्तिक इति ध्येयम् । ७. अत्र—विज्ञानवाक्ये । इदम्—
पदवाच्यं वस्तु । ८ विज्ञानवाक्ये । ९. दुःखनिवृत्तीति । दुःखाभाव एव सुखमिति साङ्ख्यादिमत
१०. स्वरूपभेदम् । ११. फलमित्यादि—अतः परमात्मनः सकाशात्सर्वस्य लोकस्य फलं भवितुमर्ह कर्मणः तस्य क्षणिकत्वात्फलदातृत्वासंभवेनेश्वरस्यैव तद्दातृत्वोपपत्तेरित्यर्थः । १२. ब्र० सू० ३।२।
१३. ब्रह्मेति—छा० उ० २।२३।१ । ब्रह्मणि संस्थाऽभेदेन निष्ठा यस्य स परिव्राडित्यर्थः । १४. ब्रह्
१५. श्रुत्यक्षरेत्यर्थः । १६. लोकसंमतमित्यर्थः । १७. तस्य तथात्वेऽपि ।

षणत्वेनाऽऽनन्दशब्दः श्रूयत आनन्दं ब्रह्मेति। श्रुत्यन्तरे च। “[1]आनन्दो ब्रह्मेति नात्” “[2]आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्” “[3]यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्” “[4]यो वै भूमा खम्” इति च। “[5]एष[6] परम आनन्दः” इत्येवमाद्याः। [7]संवेद्ये च सुख आनन्दशब्दः द्धः। ब्रह्मानन्दश्च यदि संवेद्यः स्याद्युक्ता एते ब्रह्मण्यानन्दशब्दाः। ननु च श्रुतिप्रामा-त्संवेद्यानन्दस्वरूपमेव ब्रह्म किं तत्र विचार्यमिति। न। विरुद्धश्रुतिवाक्यदर्शनात्।

केवलमत्रैवाऽऽनन्दशब्दो ब्रह्म[9]विशेषणार्थकत्वेन श्रुतः किंतु तैत्तिरीयकादावपीत्याह—श्रुत्यन्तरे । ब्रह्मणो विशेषणत्वेनाऽऽनन्दशब्दः श्रूयत इति संबन्धः। अन्याः श्रुतीरेवोदाहरति—न्द इत्यादिना। एवमाद्याः श्रुतय इति शेषः। [10]तथाऽपि कथं विचारसिद्धिस्तत्राऽऽह—य इति। लोकप्रसिद्धे[11]रद्वैतश्रुतेश्च ब्रह्मण्यानन्दः संवेद्योऽसंवेद्यो वेति विचारः कर्तव्य इत्यर्थः। भयत्र फलं दर्शयति—ब्रह्मानन्दश्चेति। [13]अन्यथा लोकवेदयोः शब्दार्थभेदाद“[14]विशिष्टस्तु वाक्यार्थ” न्यायविरोधोऽसंवेद्यत्वे पुनरद्वैतश्रुतिरविरुद्धेति भावः। विचारमाक्षिपति—नन्विति। विरुद्धश्रुत्य-र्णयार्थं विचारकर्तव्यतां दर्शयति—नेति। संग्रहवाक्यं विवृणोति—सत्यमित्यादिना। [15]एकत्वे

ात् उस ब्रह्मवेत्ता का भी परायण है।

यहाँ यह विचारा जाता है। लोकव्यवहार में आनन्दशब्द सुखवाची प्रसिद्ध है। यहाँ विज्ञान-य में आनन्दशब्द ब्रह्म के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है; “आनन्द ब्रह्म है”। अन्यान्य श्रुतियों में भी ही प्रयुक्त हुआ है। जैसे—“आनन्द ब्रह्म है—ऐसा जाना”, “उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला द्वान् पुरुष (कभी नहीं डरता)”, “यदि हृदयाकाश में स्थित यह आनन्दस्वरूप परमात्मा न होता ो भला कौन व्यक्ति अपान वायु के द्वारा प्राणन करता)”, “(सनत्कुमार ने कहा—) निश्चय ही जो न् है, वही सुखरूप है”, “यही परम उत्कृष्ट आनन्द है (जो आप्त तथा कामना से शून्य श्रोत्रिय द्वान् का आनन्द है)” इत्यादि। अनुभूयमान सुख में आनन्दशब्द प्रसिद्ध है। यदि ब्रह्मानन्द भी नुभूयमान हो, तभी ब्रह्म में ‘आनन्द’ शब्द का प्रयोग करना उचित है। (इस पर पूर्वपक्षी कहता है—) न्तु ब्रह्म संवेद्य आनन्दस्वरूप है, ऐसा श्रुति कहती है, फिर उस आनन्द के विषय में क्या विचार रना है। (सिद्धान्ती उत्तर देता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं हैं क्योंकि इस विषय में श्रुतिवाक्यों विरोध देखा जाता है। आनन्दशब्द ब्रह्म के लिए प्रयुक्त होता है, यह ठीक है; किन्तु एक होने

---

१. तै० उ० ३-६। २. तै० उ० २-४। ३. तै० उ० २-७। ४. छा० उ० ७-२४-१। ५. बृ० उ० ४-३-३२। ६. एष इति—अस्येति श्रुतिशेषः। तथा च अस्य सुषुप्तस्य पुंसः एषः स्वरूपभूतः परमः साधनाऽसाध्यो निरतिशयः आनन्द इत्यर्थः। ७. नन्वानन्दशब्दे ब्रह्मणि प्रयुक्ते ब्रह्मणो विवक्षितमानन्दरूपत्वं सिध्यत्येवेति किं विचारेणेति चेन्न तस्य वेद्यविषयत्वाद्ब्रह्मणश्चावेद्यत्वादित्याह—संवेद्ये चेति। तदुक्तं—“संवेद्ये च सुखे लोक आनन्दाख्या प्रयुज्यते” ॥१९९॥ इति। ८. आनन्दे। ९. विशेषणार्पकेति पाठान्तरम्। १०. तथाऽपीति—प्रकृतवाक्ये वाक्यान्तरे च ब्रह्मविशेषणत्वेनानन्दशब्दश्रवणेऽपीत्यर्थः। ११. वेद्यत्वस्य वेदितृसापेक्षत्वान्नाद्वैते ब्रह्मणि वेद्यानन्दत्वं संभवतीति भावः। १२. संवेद्यासंवेद्यपक्षयोः। १३. ब्रह्मानन्द-स्यासंवेद्यत्वस्वीकारे। १४. “अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः” इति। जै० सू० १।२।४०। लोके यानि पदानि ये च तेषामर्थास्तेभ्योऽविशिष्टोऽविलक्षणो वेदे पदसहितोऽर्थ इत्यर्थः॥ १५. ब्रह्मणोऽद्वयत्वे।

सत्यमानन्दशब्दो ब्रह्मणि श्रूयते विज्ञानप्रतिषेध[1]श्चैकत्वे । "[2]यत्र त्वस्य' सर्वं
भूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं 'विजानीयाद्यत्र' नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्य
स भूमा[6]" "[7]प्राज्ञेनाऽऽत्मना [8]संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद[9]" [10]इत्यादि । "[11]वि
वाक्यदर्शना[12]त्तेन कर्तव्यो विचारः । [13]तस्माद्युक्तं वेदवाक्यार्थनिर्णयाय विचारयि

मोक्षवादिविप्रतिपत्तेश्च । [14]सांख्या वैशेषिकाश्च मोक्षवादिनो नास्ति मो
संवेद्यमित्येवं विप्रतिपन्नाः । अन्ये निरतिशयं सुखं स्वसंवेद्यमिति प्रतिपन्नाः । कि

सति विज्ञानप्रतिषेधश्रुतिमेवोदाहरति—यत्रेत्यादिना । इत्यादि श्रवणमिति शेषः । फलि
विरुद्धश्रुतीति । [15]श्रुतिविप्रतिपत्तेर्विचारकर्तव्यतामुपसंहरति—तस्मादिति ।

[16]तत्रैव हेत्वन्तरमाह—मोक्षेति । तामेव विप्रतिपत्तिं विवृणोति—सांख्या
[17]विमर्शपूर्वकं पूर्वपक्षं गृह्णाति—किं तावदित्यादिना । आनन्दादिश्रवणाद्विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति

के कारण उसके विज्ञान का प्रतिषेध भी श्रुत होता है । जैसे "जहाँ इस ब्रह्मात्मवित् के
आत्मा ही हो गया है, उस विद्यावस्था में किसके द्वारा किसको देखे, किसके द्वारा किसको
"जिस भूमा तत्त्व में अन्य कुछ नहीं देखता, अन्य कुछ नहीं सुनता और अन्य कुछ नहीं जान
भूमा तत्त्व है", "यह पुरुष प्रज्ञात्मा से अत्यन्त एकीभूत परमार्थदर्शनकाल में न कुछ बाह्य
को जानता है (और न आभ्यन्तर को ही)" इत्यादि । इस प्रकार उससे विरुद्ध श्रुतिवा
जाते हैं, इसलिये विचार करना आवश्यक है । इसलिए वेद के वाक्यों का अर्थ निर्णय करने
विचार करना उचित ही है ।

विचारकर्तव्यता में यह भी हेतु है कि मोक्षवादियों में परस्पर मतभेद है । मोक्षवादी
और वैशेषिकों का ऐसा विपरीत विचार है कि मोक्ष में अनुभूयमान सुख है ही नहीं, किन्
मोक्षवादियों का मत है कि मोक्ष में निरतिशय स्वसंवेद्य सुख है । (इस पर पूर्वपक्षी कहता
आनन्दादि का श्रवण होने के कारण इनमें कौन सी बात ठीक है ? "विषयों का सेवन करता
पितादि के साथ खेलता हुआ, स्त्री आदि के साथ रमण करता हुआ (सभी ओर घूमता रहता

---

१. चैकत्व इति । चोऽप्यर्थे । एकत्वे विज्ञानप्रतिषेधोऽपि श्रूयत इति योजना । २. विद्यावस्थाया
विदुषः । ४. बृ० उ० ४-५-१५ । ५. भूमनि तत्त्वे । ६. छां० उ० ७-२४-१ । ७. स्वा
नात्मना । ८. अत्यन्तमेकीभूतः । ९. बृ० उ० ४-३-२१ । १०. इत्यादीत्यादिना "न द्रष्टेर्द्रष्टारं पश्ये
तद्विदिता"दित्यादिवाक्यं ग्राह्यम् । ११. विरुद्धेति—अविषयत्वद्योतिनां वेद्यत्वद्योतिनां च वचसां
प्रयोगादागमविप्रतिपत्तेर्विचारः कार्यं इत्यर्थः । न चोदिताऽनुदितहोमवद्विकल्पोपपत्तेरलं विचारेणेति
"क्रियायां स्याद्विकल्पोऽयं न तु वस्तुन्यसंभवात्" ॥१७५॥ इति वार्तिकोक्तेः । असंभवो वस्तुनो व्यव
(परिनिष्ठितत्वेन) विकल्पाऽयोग्यत्वम् । १२. तेनेति—विरुद्धश्रुतिवाक्यार्थनिर्णयोद्देशेनेत्यर्थः
अवतरणोक्तार्थम् । १४. सांख्या इत्यादि—अत्र नास्ति पक्षः सांख्यानाम् । सवेद्यमिति वैशेषिकाणा
अत्रेदं बोध्यम्—विप्रतिपत्तिस्तावद्द्वेधा । अस्ति नास्तीत्येका तत्र नास्तीति सांख्यवैशेषिकोभयेषां प
सिद्धान्तः संवेद्यमसंवेद्यमिति द्वितीयाऽत्र चरमः सिद्धान्तः प्रथमेऽपि संवेद्यमात्रं स्वसंवेद्यं वेति द्वैवि
१५. श्रुतीनां परस्परं विरोधात् । १६. विचारस्य कर्तव्यत्वे एव । १७. विमर्शेति—
विचारं कार्यमुक्त्येत्यादिः ।

ानन्दादिश्रवणात्। “[1]ज[2]क्ष[3]त्क्री[4]डन्रममाणः” “[5]स यदि पितृलोककामो [6]भवति” “यः ज्ञः सर्ववित्” “सर्वान्कामान्समश्नुते” इत्यादिश्रुतिभ्यो मोक्षे सुखं संवेद्यमिति। नन्वेवे ‘कारकविभागाभावाद्विज्ञानानुपपत्तिः। क्रियायाश्चानेककारकसाध्यत्वाद्विज्ञानस्य च यात्वात्। नैष दोषः। शब्दप्रामाण्याद्भवेद्विज्ञानमानन्दविषये। विज्ञानमानन्दमित्यायानन्दस्वरूपस्यासंवेद्यत्वेऽनुपपन्नानि वचनानीत्यवोचाम।

ननु वचनेनाप्यग्नेः शैत्यमुदकस्य चौष्ण्यं न क्रियत एव ज्ञापकत्वाद्वचनानाम्। न च

संवेद्यमिति युक्तमिति संबन्धः। [10]तत्रैव वाक्यान्तराण्युदाहरति—जक्षदित्यादिना। पूर्वपक्षमाक्षि—नन्विति। मोक्षे चेदिष्यते सुखज्ञानं तर्हि तदनेककारकसाध्यं वाच्यं क्रियात्वात्पाकादिवत्सर्वैत्वे च मोक्षे कारकविभागाभावान्न सुखसंवेदनं संभवतीत्यर्थः। जन्यस्य कारकापेक्षायामपि ज्ञानस्याजन्यत्वान्न तदपेक्षेत्याशङ्क्याऽऽह—क्रियायाश्चेति। या क्रिया साऽनेककारकसाध्येति प्तेर्गमनादाववगतत्वाज्ज्ञानस्यापि धात्वर्थत्वेन क्रियात्वादनेककारकसाध्यता सिद्धैवेत्यर्थः। तिप्रामाण्यमाश्रित्य पूर्ववादी परिहरति—नैष दोष इति। [12]तदेव स्फुटयति—विज्ञानमिति।

अद्वये ब्रह्मणि श्रुतिप्रामाण्यादा[13]नन्दज्ञानमु[14]क्तमाक्षिपति[15]—नन्विति। अद्वैतश्रुतिविरोधाद्णि विज्ञानक्रियाकारकविभागापेक्षा नोपपद्यते। न हि विज्ञानमानन्दमित्यादिवचनानि मानान्तररोधेन विज्ञानक्रियां ब्रह्मण्युत्पादयन्ति तेषां ज्ञापकत्वाज्ज्ञापकस्य चाविरोधापेक्षत्वाद[16]न्यथाऽति-

दि वह पितृलोक की कामना वाला हो”, “जो सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता है”, “समस्त कामों को प्राप्त ता है” इत्यादि श्रुतियों के अनुसार मोक्ष में अनुभूयमान सुख है। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) न्तु उस समय ब्रह्म के अद्वय होने के कारण कर्त्रादिविभाग का अभाव होने से विज्ञान होना संभव नहीं है क्योंकि क्रिया अनेक कारकों द्वारा साध्य होती है, और विज्ञान भी तो एक क्रिया ही है। (र्वपक्षी फिर कहता है—) इसमें कोई दोष नहीं। शब्दप्रामाण्य होने के कारण उस समय आनन्द संबन्ध में विज्ञान रहना चाहिये। यदि ब्रह्म का आनन्दस्वरूप असंवेद्य होगा तो “विज्ञानमानन्दम्” यादि श्रुतिवाक्य असिद्ध हो जाएंगे—ऐसा हम पहले ही कह चुके हैं।

(पूर्वोक्त पूर्ववादी के मत में सिद्धान्ती आक्षेप करता है—) किन्तु अग्नि की शीतलता और

---

१. जक्षदिति—“एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स
उत्तमपुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनꣳस्मरन्निदꣳ शरीरꣳ
स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः” छां० उ० ८।१२।३। २. विषयान्
भक्षयन्हसन्वा। ३. पित्रादिभिः। ४. स्त्र्यादिभिः। ५. छां० उ० ८।२।१। ६. भवतीति—
“संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन संपन्नो महीयते” इति श्रुतिशेषः। ७. ब्रह्मणोऽद्वयत्वे।
८. कर्त्रादिकारकेति यावत्। ९. क्रियात्वादिति। तथा च वार्तिके—“नातः संवेद्य आनन्दो ब्रह्मणी-
होपपद्यते” ॥१८०॥ इति ध्येयम्। १०. आनन्दस्य वेद्यत्वे एव। ११. अद्वयत्वे। १२. तदेवेति—संग्रहेणोक्त-
मानन्दविषयकं विज्ञानमेवेत्यर्थः। १३. आनन्दविषयकम्। १४. पूर्ववादिना। १५. सिद्धान्ती।
१६. अन्यथेति—ज्ञापकस्याविरोधानपेक्षत्वे इत्यर्थः। अतिप्रसङ्गादिति—अग्नेः शैत्यमुदकस्यौष्ण्यमित्यादि-
वाक्यानामपि स्वार्थे प्रामाण्यं स्यादित्यर्थः।

देशान्तरेऽग्निः शीत इति शक्यते ज्ञापयितुमगम्ये वा देशान्तर उष्णमुदकमिति प्रत्यगात्मन्यानन्दविज्ञान[1]दर्शनात् । न विज्ञानमानन्दमित्येवमादीनां वचनानां ऽग्निरित्यादिवाक्यवत्प्रत्यक्षादिविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वम् ।

अनुभूयते त्वविरुद्धार्थता । सुख्यहमिति सुखात्मकमात्मानं स्वयमेव [2]वे तस्मात्सुतरां प्रत्यक्षाऽविरुद्धार्थता । [3]तस्मादानन्दं ब्रह्मविज्ञानात्मकं सत्स्वयमेव [4]वे [5]तथाऽऽनन्दप्रतिपादिकाः श्रुतयः समञ्जसाः स्युर्जक्षत्क्रीडन्रममाण इत्येवमाद्याः पूर्वो

प्रसङ्गादित्यर्थः । लौकिकज्ञानस्य क्रियात्वेऽपि मोक्षे सुखज्ञानं क्रियैव न भवति [6]तन्न विज्ञानादि स्याद्वैतश्रुतिविरोधोऽस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । पयःपावकयोः सर्वत्रैकरूप्यवद्विज्ञान लोकवेदयोरेक'रूपत्वमेवेति भावः । मानान्तरविरोधादात्मन्यानन्दज्ञानस्य सत्त्वमेव वा निषिध्ये क्रियात्वं वा निराक्रियते तत्राऽऽद्यं दूषयति—नेत्यादिना । 'तदेव स्पष्टयति—न विज्ञानमिति ।

सुखज्ञानस्य गुणत्वाङ्गीकारात्क्रियात्वनिराकरणमिष्टमेवेति मत्वाऽऽह—अनुभूयते ति अनुभवमेवाभिनयति—सुख्यहमिति । [9]तथाऽपि [10]श्रुतिविरोधः स्यादित्याशङ्क्य [11]प्रत्यक्षानु [12]साऽपि नेतव्येत्याशयेनाऽऽह—तस्मादिति । 'आत्मन्यानन्दज्ञानस्य क्रियात्वानङ्गीकारात्कार पेक्षाभावादित्यर्थः । [13]गुणत्वपक्षे च [14]प्रत्यक्षस्यानुगुणत्वादा[15]गमस्य विरोधिन[16]स्तदनुसारेण नेत [17]विरुद्धागमस्य भूयस्त्वादित्यतिशयः । अविरुद्धार्थता विज्ञानादिश्रुतेरिति शेषः । गुणगुणि नाद्वैतश्रुतिः शक्या [18]नेतुमित्याशङ्क्य स्ववेद्यत्वपक्षमाश्रित्याऽऽह—तस्मादानन्दमिति । [19]य चिद्ब्रह्मण्यानन्दस्य वेद्यत्वे श्रुतीनामानुगुण्यमस्तीत्याह—तथेति ।

जल की उष्णता तो वाणी द्वारा भी नहीं कही जा सकती क्योंकि वचन ज्ञापक ही हैं। ऐसी बा नहीं बतलायी जा सकती कि किसी दूसरे देश में अग्नि शीतल है और किसी अगम्य देशान्तर में उष्ण है। (इस पर पूर्ववादी कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्यगात्मा में आनन्द विज्ञान प्रत्यक्ष ही है। "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतिवाक्य 'अग्नि शीतल है' इत्यादि (लौ वाक्यों के समान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाले नहीं हैं।

इनकी अविरुद्धार्थता का तो अनुभव होता है। "मैं सुखी हूँ" इस प्रकार सुखस्वरूप आत्

---

१. प्रत्यक्षत्वात । २ वेदयत इति—अनुभवतीत्यर्थः । तथा च आनन्दस्य वेद्यतायाः स्वानुभवसिद्धे नाध्यक्षादिविरोधः शङ्कनीयः । न हि स्वानुभवविरोधे मानान्तरमुद्भवतीति भावः । ३. तस्मादिति गुणिपक्षेऽद्वैतश्रुतिविरोधादिति यावत् । ४. वेदयते—अनुभवति । ५. तथेति—ब्रह्मानन्दस्य सतीत्यर्थः । ६. तन्नेति—तत् तस्मात् यथोक्तज्ञानस्य क्रियात्वानङ्गीकारेण ब्रह्मणि कारकभेदानपेक्षणा ७. क्रियात्वम् । ८. दर्शनमेव । ९. तथाऽपीति—अध्यक्षादिविरोधाभावेऽपीत्यर्थः । १०. श्रुतिवि निर्गुणं निष्क्रियमस्थूलमनर्णवत्यादिश्रुतिविरोधः । ११. . प्रत्यक्षानुसारेणेति—प्रत्यक्षसिद्ध प्रतिषेधपरत्वेनेति यावत् । १२. साऽपि—उक्तश्रुतिरपि । १३. गुणत्वपक्षे—आत्मन्यान गुणत्वाङ्गीकारे । १४. प्रत्यक्षस्येति—सुख्यहमिति प्रत्यक्षस्येत्यर्थः इत्याहुः । १५. आगमस्य निर्गुणमि १६. तदनुसारेण—प्रत्यक्षानुसारेण । १७. अविरुद्धागमस्य—यः सर्वज्ञ इत्यादेः । १८. नेतुमिति योजयितुमित्यर्थः । १९. यथाकथंचिदिति—स्वेन परेण वेति यावत् ।

न। [1]कार्यकरणाभावेऽनुपपत्तेर्विज्ञानस्य। [2]शरीरवियोगो हि मोक्ष आत्यन्तिकः। [3]शरीराभावे च [4]करणानुपपत्तिराश्रयाभावात्। ततश्च विज्ञानानुपपत्ति[5]रकार्यकरणत्वात्। देहाद्यभावे च विज्ञानोत्पत्तौ [6]सर्वेषां कार्यकरणोपादानानर्थक्यप्रसङ्गः। एकत्वविरोधाच्च। परं चेद्ब्रह्माऽऽनन्दात्मकमात्मानं [7]नित्यविज्ञानत्वा[8]न्नित्यमेव विजानीयात्। तत्र

आनन्दो वेद्यो ब्रह्मणीति चोदिते सिद्धान्तमाह—नेति। [9]आगन्तुकम[10]नागन्तुकं वा ज्ञानं मुक्तावानन्दं गोचरयति नाऽऽद्य इत्याह—कार्येति। अनुपपत्तिमेव स्फोरयति—शरीरेति। कार्यकरणयोरभावेऽपि मोक्षे ब्रह्मानन्दज्ञानं जनिष्यते संसारे हि हेत्वपेक्षेत्याशङ्क्याऽऽह—देहादीति। द्वितीयं दूषयति—एकत्वेति। न हि ब्रह्म स्वरूपज्ञानेनैव वेद्यानन्दरूपं भवितुमु[11]त्सहते विषयविषयिणोरेकत्वविरोधा[12]त्ततश्चानागन्तुकमपि ज्ञानं मुक्तौ नाऽऽनन्दम[13]धिकरोतीत्यर्थः।

किंच ब्रह्म वा मुक्तो वा संसारी वा ब्रह्मानन्दं गोचरयेत्तत्राऽऽद्यमनुवदति—परं चेदिति। तस्मिन्पक्षे न ब्रह्म स्वरूपानन्दं वेत्ति [14]तेनैक्यादेकत्र विषयविषयित्वानुपपत्तेरुक्तत्वादिति दूषयति—तत्नेति। नापि संसारी ब्रह्मानन्दं गोचरयति स खल्वनिवृत्ते संसारे संसारिणमात्मानमभिमन्यमानो न ब्रह्मानन्दमाकलयितुमलं संसारे निवृत्ते तु [15]ततो विनिर्मुक्तो ब्रह्मस्वाभाव्यं प्रतिपद्यमान[16]स्तदानन्दं

पुरुष स्वयं अनुभव करता है। इसलिए इनकी अविरुद्धार्थता सुतरां प्रत्यक्ष है। ब्रह्मानन्द के वेद्य होने पर आनन्द का प्रतिपादन करने वाली पूर्वोक्त "जक्षत् क्रीडन्रममाणः" इत्यादि श्रुतियों का सामञ्जस्य हो सकता है।

(इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना उचित नहीं क्योंकि देह और इन्द्रिय का अभाव होने पर (आगन्तुक ज्ञान के अयोग के कारण) विज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। स्थूलदेह वियोग ही आत्यन्तिक मोक्ष है। स्थूलशरीर के न रहने पर आश्रय का अभाव हो जाने से सूक्ष्मशरीर का रहना भी संभव नहीं है। अतः स्थूल और सूक्ष्मशरीर का अभाव हो जाने से फिर विज्ञान नहीं हो सकता। यदि देहादि के अभाव में भी विज्ञान की उत्पत्ति मान ली जाय तो समस्त प्राणियों के स्थूल और सूक्ष्मशरीर को ग्रहण करने की व्यर्थता का प्रसङ्ग आ जायगा। इसके सिवा एकत्व से विरोध होने के कारण भी विज्ञान होना असम्भव है।

(ब्रह्म, मुक्त अथवा संसारी इन तीनों में ब्रह्मानन्द को कौन अनुभव करता है—) यदि कहो कि नित्य अविलुप्त दृग्रूप होने के कारण परब्रह्म अपने आनन्दात्मक स्वरूप को सभी अवस्थाओं में

---

१. कार्येत्यादि—मोक्षे कार्यकरणयोः स्थूलसूक्ष्मशरीरयोरभावे आगन्तुकज्ञानस्यायोगादित्यर्थः। २. शरीरवियोगः—स्थूलदेहवियोगः। अस्यैव विशेषणम् आत्यन्तिक इति। ३. स्थूलशरीराभावे। ४. सूक्ष्मशरीरानुपपत्तिरिति बोध्यम्। ५. ततश्चेत्युक्तमेव हेतुं स्पष्टयति—अकार्यकरणत्वादिति। कार्यकरणयोरभावादित्यर्थः। यतो हेत्वभावान्मोक्षे कादाचित्कज्ञानाऽसिद्धिरिति भावः। ६. सर्वेषाम्—प्राणिनामित्यर्थः। प्राणिजातस्य हि कार्यकरणोपादानं सुखदुःखान्यतरविज्ञानात्मकभोगार्थमेव स च यद्यन्तरेणापि संघातोपादानं संभवेत् कृतं तर्हि तद्ग्रहणेनेति। ७. अविलुप्तदृग्रूपत्वात्। ८. सर्वास्ववस्थासु। ९. आगन्तुकं जन्यं कादाचित्कं वृत्तिरूपम्। १०. नित्यम्। ११. अर्हति। १२. विषयविषयिणोर्भेदादेव। १३. विषयीकरोति। १४. तेन—स्वरूपानन्देन ब्रह्मणोऽभेदादित्यर्थः। १५. संसारात्। १६. ब्रह्मानन्दम्।

संसार्यपि संसारविनिर्मुक्तः स्वाभाव्यं प्रतिपद्येत । जलाशय इवोदकाञ्जलिः प्रक्षिप्तो न पृ क्त्वेन व्यवतिष्ठत आनन्दात्मकब्रह्मविज्ञानाय । [1]तदा [2]मुक्त आनन्दात्मकमात्मानं वेदय इत्येतदनर्थकं[3] वाक्यम् ।

अथ ब्रह्मानन्दमन्यः सन्मुक्तो [4]वेदयते प्रत्यगात्मानमहमस्म्यानन्दस्वरूप इति तदैकत्वविरोधः । तथा च सति सर्वश्रुतिविरोधः । तृतीया च कल्पना नोपपद्यते । किञ्चा न्यद्ब्रह्मणश्च निरन्तरात्मानन्दविज्ञाने [5]विज्ञानाविज्ञानकल्पनानर्थक्यम् । निरन्त चेदात्मानन्दविषयं ब्रह्मणो [6]विज्ञानं तदेव तस्य स्वभाव इत्यात्मानन्दं विजानातीति कल्प ना[7]ऽनुपपन्ना । [8]अतद्विज्ञानप्रसङ्गे हि कल्पनाया अर्थवत्त्वं यथाऽऽत्मानं परं च वेत्तीति

[9]तद्वदेव विषयीकर्तुं नार्हतीति तृतीयं प्रत्याह—संसार्यपीति । मुक्तोऽपि ब्रह्मणोऽभिन्नो वेति विकल्प्य भेदपक्षमनुभाषते—जलेति । ब्रह्माभिन्नस्य मुक्तस्य [10]तदानन्दविषयीकरणमु[11]क्तन्यायेन निरस्यति—तदेति ।

भेदपक्षमनुवदति—अथेति । ब्रह्मानन्दं प्रत्यगात्मानमिति संबन्धः । वेदनप्रकारमभिनयति—अहमिति । तत्त्वमस्यादिश्रुतिविरोधेन निराकरोति—तदेति । मुक्तो ब्रह्मणः सकाशाद्भिन्नोऽभिन्नो मा भूद्भिन्नाभिन्नस्तु स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तृतीयेति । सर्वत्र भेदाभेदवादस्य दूषितत्वादित्यर्थः [12]ब्रह्मण स्वानन्दस्यावेद्यत्वे हेत्वन्तरमाह—किंचान्यदिति । [13]तदेवोपपादयति—निरन्तरं चेदिति आख्यातप्रयोगस्य [14]तर्हि कुत्रार्थवत्त्वं तत्राऽऽह—अतद्विज्ञानेति । देवदत्तो हि [15]बुद्धिपूर्वकारित्वावस्था

जानता रहता है; तो ऐसा कहना भी नहीं बनता, क्योंकि संसारी जीव भी संसार से विनिर्मुक्त हो ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है । जलाशय में फेंकी हुई जल की अञ्जलि के समान वह भी आनन्दात्म ब्रह्मविज्ञान के लिए पृथक्रूप से स्थित नहीं हो सकता । मोक्षावस्था में मुक्त (विद्वान्) आनन्दात्म आत्मा को जानता है—ऐसा कहना भ्रान्तिमूलक है ।

और यदि ऐसा कहो कि मुक्त (विद्वान्) पुरुष ब्रह्म से अलग रहकर ब्रह्मानन्द को और " आनन्दस्वरूप हूँ" इस प्रकार प्रत्यगात्मा को जानता है; ऐसा मानने पर ब्रह्म के अद्वयत्व में विरो

---

१. मोक्षकाले । २. विद्वान् । ३. मृषात्मकं भ्रान्तिमूलकमिति यावत् । ४. जानाति । ५ विषयिविष कल्पनेत्यर्थः । अथवा जानातीति प्रयोगकाले विज्ञानमन्यदात्वविज्ञानमिति । ६. आनन्दविज्ञानमेव ब्रह्मणः ७. अनुपपन्नेति—ज्ञानानन्दयोः सामानाधिकरण्यानुरोधेन ब्रह्माभेदान्मिथोऽपि तयोर्भेदायोगादानन्दं ब्रह्म जानाति स्यानन्दज्ञानयोर्विषयविषयित्वकल्पना न युक्ता न चान्यत्रकर्तृकर्मविरोधेऽपि सर्वज्ञे ब्रह्मणि तदभावान्नाि दौःस्थ्यमिति वाच्यम् । न हि क्वचिद्विरोधोऽन्यत्राविरोधो भवति न हि सर्वज्ञं ब्रह्मासन्तं सन्तं करोतीति भाव ८. अतद्विज्ञानप्रसङ्ग इति—अज्ञानान्यार्थविज्ञानप्रसक्तावेवेत्यर्थः । तदुक्तं वार्तिके—"अज्ञानान्यार्थविज्ञानप्रस वेव युज्यते । वेत्ति ब्रह्मसुखमिति न तु ज्ञानघनात्मनि" ॥१९७॥ ९. ब्रह्मवदेव । १०. ब्रह्मानन्देत्यर्थः ११. उक्तेति—न ब्रह्म स्वरूपानन्दं वेत्ति तेनैक्यादेकत्र विषयविषयित्वानुपपत्तेरित्युक्तो न्यायः । १२. कर्तृ कर्मणोः षष्ठ्यौ । १३. उक्तानर्थक्यमेव । १४. तर्हीति—स्वात्मानन्दं ब्रह्म जानातीति प्रयोगे आख्या प्रयोगस्यानर्थकत्वऽपीत्यर्थः । १५. समीक्ष्यकारित्वदशायाम् ।

न हीष्वाद्यासक्तमनसो[1] नैरन्तर्येणेषुज्ञानाज्ञानकल्पनाया अर्थवत्त्वम् ।

अथ विच्छिन्नमात्मानन्दं विजानाति । [2]विज्ञानस्याऽऽत्मविज्ञानच्छिद्रेऽन्यविषयत्वप्रसङ्गः । आत्मनश्च विक्रियावत्त्वं ततश्चानित्यत्वप्रसङ्गः । [3]तस्माद्विज्ञानमानन्दमिति [4]स्वरूपान्वाख्यानपरैव श्रुति[5]र्नाऽऽत्मानन्दसंवेद्यत्वार्था । जक्षत्क्रीडन्नित्यादिश्रुतिवि-

---

स्वात्मानमन्यं च विविच्य जानाति नान्यदेत्यु[6]भयथात्वदर्शना[7]त्तत्राऽऽख्यातप्रयोगो युज्यते नैवं [8]ब्रह्मण्यज्ञानप्रसङ्गोऽस्ति नित्यज्ञानस्वभावत्वात्तथा च [9]तत्राऽऽख्यातप्रयोगो नार्थवानित्यर्थः । ब्रह्मण्याख्यातप्रयोगानर्थक्यं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—न हीति ।

प्रत्यगात्मनि नित्यज्ञानत्वासिद्धिं शङ्कते—अथेति । विच्छिन्नमिति क्रियाविशेषणम् । परिहरति—विज्ञानस्येति । आत्मनो विज्ञानस्य छिद्रमन्तरालमसत्त्वावस्था तदाऽपि विज्ञानमस्ति चेत्तस्यान्यविषयत्वप्रसङ्ग[10]स्तथा च '[11]"यत्रान्यत्पश्यति"[12]' इत्यादिश्रुतेरात्मनो मर्त्यत्वापत्तिर्न चेत्तदा विज्ञानं तदा पाषाणवदचेतनत्वं [13]विज्ञप्तिरूपत्वानङ्गीकारादित्यर्थः । आत्मनोऽनित्यज्ञानवत्त्वे दोषान्तरमाह—आत्मनश्चेति । [14]आनन्दज्ञाने ब्रह्मणि विषयविषयित्वायोगश्चेत्कथं विज्ञानादिवाक्यमित्याशङ्क्योपसंहरति—तस्मादिति । ब्रह्मण्यानन्दस्यावेद्यत्वे श्रुतिविरोधमुक्तं स्मारयति—जक्षदिति । [15]सर्वत्राऽऽत्मनो मुक्तस्यै-

---

आता है। ऐसा हो जाने से सभी श्रुतियों में विरोध हो जाता है। उक्त दो पक्षों के अतिरिक्त तृतीय पक्ष की कल्पना करनी असंभव है। एक पक्ष यह भी है कि ब्रह्म को आत्मानन्द का निरन्तरविज्ञान मानने पर उसके विज्ञान और अविज्ञान अर्थात् विषयी-विषय कल्पना करनी भी व्यर्थ हो जाती है। यदि ब्रह्म को आत्मानन्दविषयक विज्ञान निरन्तर रहता है तो आनन्दविज्ञान ही उस ब्रह्म का स्वभाव समझना चाहिये, इसलिए वह आत्मानन्द को जानता है—यह कल्पना करनी असंभव है। इस कल्पना की अर्थवत्ता तो अज्ञान का अन्यार्थविज्ञान प्रसङ्ग होने पर ही हो सकती है; जैसे वह अपने को तथा अन्य को जानता है; जिसका मन निरन्तर बाण में आसक्त है, उसके संबन्ध में बाण के ज्ञान और अज्ञान की कल्पना सार्थक नहीं हो सकती।

और यदि वह पृथक्रूप से आत्मानन्द को जानता है, तो आत्मविज्ञान की असत्त्वावस्था में विज्ञानघन ब्रह्म का अन्यविषयक विज्ञान प्रसङ्ग होगा। इससे आत्मा में विकारित्वभाव आ जायगा तथा इससे आत्मा में अनित्यत्व प्रसङ्ग आ जायगा। इसलिए "विज्ञानमानन्दम्" यह श्रुतिवाक्य यथास्थित वस्तु के स्वरूपबोधन में तत्पर है, आत्मानन्द का संवेद्यत्व बतलाने में इसका तात्पर्य नहीं है। (इस पर पूर्ववादी कहता है—) किन्तु आत्मानन्द को असंवेद्य मानने पर "जक्षत् क्रीडन्" इत्यादि श्रुतिवाक्यों से

---

१. इषुकारस्य । २. विज्ञानघनस्य ब्रह्मणः । ३. टीकोक्तार्थम् । ४. यथास्थितवस्तुस्वरूपबोधनपरैव ।
५. ज्ञानस्य विषयित्वमानन्दस्य विषयत्वं ब्रह्मणो गुणित्वमितरयोर्गुणत्वमित्यादेर्न बोधिकेत्येवकारव्यावर्त्यमाह—
नाऽऽमानन्देति । ६. ज्ञानाज्ञानवत्त्वदर्शनात् । ७. देवदत्तादौ । ८. प्रज्ञानघनात्मके । ९. ब्रह्मणि ।
१०. अन्यविषयत्वप्रसक्तौ च । ११. छां० उ० ७-२४-१ । १२. "तदल्पं तन्मर्त्यमि"ति शेषः । १३. कादा-
चित्कज्ञानाधिकरणत्वाभ्युपगमादित्यर्थः । १४. आनन्दज्ञानात्मके । १५. योग्यादिषु ।

रोधोऽसंवेद्यत्व इति चेन्न । सर्वात्मैकत्वे यथाप्राप्तानुवादित्वात् । मुक्तस्य सर्वात्मभा सति यत्र क्वचिद्योगिषु देवेषु वा जक्षणादि प्राप्तं तद्यथाप्राप्तमेवा[1]नूद्यते[2] । [3]तत्तस्य सर्वात्मभावादिति सर्वात्मभावमोक्षस्तुतये ।

यथाप्राप्तानुवादित्वे दुःखित्वमपीति चेत् । योग्यादिषु यथाप्राप्तजक्षणादिवत्स्थावरा[4]दिषु यथाप्राप्तदुःखित्वमपीति चेत् । न । नामरूपकृतकार्यकरणोपाधि[5]संपर्कजनितभ्रान्त्य ध्यारोपितत्वात्सुखित्वदुःखित्वादिविशेषस्येति परिहृतमेतत्सर्वम् । विरुद्धश्रुतीनां

क्ये सति योग्यादिषु यथा जक्षणादि प्राप्तं तथैव तदनुवादित्वादस्याः श्रुतेर्न विरोधोऽस्तीति परिहरति-नेत्यादिना । [6]तदेव प्रपञ्चयति—मुक्तस्येति । किमनुवादे फलमिति चेत्तदाह—तत्तस्येति । मुक्तस्य योग्यादिषु सर्वत्राऽऽत्मभावादेव तत्र प्राप्तं जक्षणाद्यत्र[7] मुक्तिस्तुतयेऽनूद्यते तन्नानुवादवैयर्थ्यमित्यर्थः

विदुषः सार्वात्म्येन योग्यादिषु प्राप्तजक्षणाद्यनुवादे स्यादतिप्रसक्तिरिति शङ्कते—यथाप्राप्तेति अतिप्रसङ्गमेव प्रकटयति—योग्यादिष्विति । अविद्यात्मकनामरूपविरचितो[8]पाधिद्वयसंबन्धनिबन्ध [9]मिथ्याज्ञानाधीनत्वादात्मनि दुःखित्वादिप्रतीतेर्न तत्र वस्तुतो दुःखित्वं न च जक्षणाद्यपि वास्तवम् विद्यस्यैव मुक्तिस्तुतयेऽनुवादाद्दुःखित्वस्य हि नानुवादो[10]ऽतिहीनत्वप्राप्तेरिति परिहरति—नेत्यादिना यत्तु विरुद्धश्रुतिदृष्टेर्नाऽऽगमार्थो निर्णीतो भवतीति तत्राऽऽह—विरुद्धेति । [11]वेद्यत्वावेद्यत्वादिश्रुती

विरोध होगा । (सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि यह सर्वात्मैकत्व की अनुभू होने पर यथाप्राप्त भक्षणादि का अनुवाद करने वाली है । मुक्त (विद्वान्) पुरुष को सर्वात्मैकत्व अनुभूति होने पर यत्र-तत्र योगियों और देवताओं में भक्षणादि की प्राप्ति होती है, इसलिए श्रुति द्वा यथाप्राप्त का अनुवाद किया गया है । तात्पर्य यह है कि सर्वात्मभाव होने के कारण योगी आदि भक्षणादि उस मुक्त विद्वान् पुरुष का ही है । इस प्रकार यह सर्वात्मभाव मोक्ष की स्तुति लिए है ।

(इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) यदि यह श्रुति यथाप्राप्त भक्षणादि का अनुवाद क वाली है; तब तो उसका दुःखित्व होना भी प्राप्त होगा । योगी आदिकों में यथाप्राप्त भक्षण (वि सेवन) आदि के समान उसे स्थावरादि जीवों में यथाप्राप्त दुःखित्व की भी प्राप्ति होगी । (इस पर सिद्धा कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि सुखित्व-दुःखित्व आदि विशेषधर्म नामरूपजनित स्थूल सूक्ष्मशरीररूप उपाधि के तादात्म्यसंबन्ध से होने वाली भ्रान्ति से आरोपित हैं—इन शङ्काओं पहले ही निरास किया जा चुका है । विरुद्ध श्रुतियों का विषय भी हम पहले (मधुकाण्ड में)

---

[1] अनूद्यत इति—यथा "सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखमि"ति सर्वात्मतोच्यते । तथाऽत्रापि वि सर्वात्मताया विवक्षितत्वादानन्दावेद्यत्वमविरुद्धमिति भावः । [2] श्रुत्या । [3] तत्तस्यैवेति । तद योग्यादिषु प्राप्तं जक्षणादि । तस्य—मुक्तस्य विदुषः । [4] आदिना नारकिणो जीवा गृह्यन्ते । [5] तादा त्म्यसंबन्धेति यावत् । [6] यथाप्राप्तानुवादित्वमेव । [7] मुक्ते विदुषि । [8] स्थूलसूक्ष्मशरीरात्म भावः । [9] भ्रान्तिज्ञानाधीनत्वादिति बोध्यम् । [10] मुक्तस्य । [11] आनन्दस्य वेद्यत्वादिवादिनीना

विषयमवोचाम। तस्मादे[1]षो[2]ऽस्य [3]परम आनन्द इतिवत्सर्वाण्या[4]नन्दवाक्यानि द्रष्टव्यानि ।।७।।२८।।

इति बृहदाण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्य
नवमं ब्राह्मणम् ।।९।।

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये
तृतीयोऽध्यायः ।।३।।

* * *

सोपाधिकनिरुपाधिकविषयत्वेन मधुकाण्डे व्यवस्थोक्तेत्यर्थः। ब्राह्मणार्थमुपसंहरति—तस्मादिति। ब्रह्मण्यानन्दस्य वेद्यताया दुर्निरूपत्वं तच्छब्दार्थः। यथैषोऽस्येत्यत्र [5]भेदो न विवक्षितः सर्वात्मभावस्य प्रकृतत्वात्तथा विज्ञानादिवाक्येऽप्यानन्दस्य वेद्यता न विवक्षिता। उक्तरीत्या तद्वेद्यताया दुष्प्रतिपादत्वात्तस्मादनतिशयानन्दं [6]चिदेकतानं वस्तु सिद्धमित्यर्थः ।।७।। २८।।

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां तृतीयाध्यायस्य
नवमं ब्राह्मणम् ।। ९ ।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यश्रीमदानन्दज्ञानविरचितायां बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां
तृतीयोऽध्यायः ।। ३ ।।

* * *

चुके हैं। इसलिए आनन्दपदघटित सभी वैदिक वाक्यों को "स्वरूपानुभवलक्षण सुषुप्त पुरुष का यह (साधनासाध्यत्वरूप से) निरतिशय आनन्द है" इस श्रुतिवाक्यके समान समझना चाहिये ।।७।।२८।।

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् शाङ्करभाष्य में तृतीयाध्याय नवम ब्राह्मण का
हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ।। ३ ।।

---

[1] स्वरूपानुभवलक्षणः। [2] सौषुप्तस्य पुंसः। [3] साधनासाध्यत्वेन निरतिशयः। [4] आनन्दपदघटितानि वैदिकवाक्यानि। [5] भेद इति षष्ठयाः सत्त्वेऽपीत्यादिः। [6] चिदेकरसं चिदेकविस्तारम्।

अथ चतुर्थाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ।

जनको ह वैदेह आसांचक्रे । [1]अस्य [2]संबन्धः । [3]शारीराद्यानष्टौ [4]पुरुषा
प्रत्युह्य पुनर्हृदये दिग्भेदेन च पुनः पञ्चधा [5]व्यूह्य हृदये प्रत्युह्य हृदयं शरीरं च
रन्योन्यप्रतिष्ठं प्राणादिपञ्चवृत्त्यात्मके समानाख्ये जगदात्मनि सूत्र उपसंहृत्य जगदात

पूर्वस्मिन्नध्याये [7]जल्पन्यायेन सच्चिदानन्दं ब्रह्म निर्धारितम् । इदानीं [8]वादन्यायेन
[9]निर्धारयितुमध्यायान्तरमवतारयति—जनक इति । [10]तत्र ब्राह्मणद्वयस्यावान्तरसंबन्धं प्रतिजानी
अस्येति । [11]तमेव वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—शारीराद्यानिति । निरुह्य प्रत्युह्येति [12]विस्तार्य [13]व्यवहारमा
द्येत्यर्थः । प्रत्युह्य हृदये पुनरुपसंहृत्येति यावत् । जगदात्मनीत्य[14]व्याकृतोक्तिः । सूत्रशब्देन [15]तत्का

"जनको ह वैदेह आसांचक्रे" इन वर्तिष्यमाण ब्राह्मणद्वय का इस प्रकार संबन्ध है । शारी
आठ पुरुषों का निरूपण करके पुनः दिग्भेद से हृदय में पञ्चविध कल्पना करके पुनः उसका हृद
उपसंहार कर तथा अन्योन्य प्रतिष्ठित हृदय और शरीर का प्राणादि पाँच वृत्तियों वाले समान
जगदात्मक सूत्रात्मा में उपसंहार करके जो "नेति नेति" इस प्रकार बतलाया हुआ औपनिषद पु

---

१. अस्य—वर्तिष्यमाणब्राह्मणद्वयस्य । २. संबन्धः—वृत्ताध्यायेन साकमुपायोपेयभावात्मक उच्यत इति
इत्याहुः । वस्तुतः कार्यैक्यमेव सः । अध्यायापेक्षया ब्राह्मणद्वयसंबन्धेऽवान्तरत्वोक्तिस्तु वागाद्यधिष्ठात्रन्तर्भा
स्पष्टं टीकायामिति ध्येयम् । ३. शारीराद्यानिति । अत्रादिशब्देन काममयादित्यपुरुषौ श्रौत्रः प्रातिश्रु
छायामयो दर्पणादिस्थप्रतिबिम्बो वापीकूपाद्यभिमानी पुत्रमयश्चेत्यवशिष्टाः सप्तोक्ताः । ४. पुरुषानि
पुरुषशब्दस्य पृथिव्याद्यायतनाग्न्यादिलोकामृतादिदेवतोपलक्षणत्वाच्चतुरोऽप्यष्टकानित्यर्थः । ५. निरुह्य
प्रत्युह्य दिग्भेदेन च हृदये पञ्चधा व्यूह्य पुनर्हृदये प्रत्युह्येत्यन्वयः । अथवा निरुह्य प्रत्युह्य हृदये च पुनः दि
पञ्चधा व्यूह्य पुनर्हृदये प्रत्युह्येत्येवम् । ६. कल्पयित्वा । ७. जल्पेति—चतुरङ्गनिर्वर्त्यजयपराजयप्र
न्यायेनेति यावत् । वादिनियमः प्रतिवादिनियमः सभ्यसंवरणं सभापतिसंवरणं चेति चत्वार्यं गानिकथा
विशेषतो जल्पवितण्डयोरेवेति तार्किकरक्षायां कथाजल्पवितण्डानिरूपणप्रकरणं विस्तरः । ८. शिष्याचार्य
तत्त्वनिर्णयप्रधानन्यायेन । ९. वागाद्यधिष्ठात्रग्न्यादिदेवतासु ब्रह्मदृष्टिद्वारेति शेषः । १०. कार्यैक्यमध्या
सङ्गतिमुक्त्वा वर्तिष्यमाणब्राह्मणद्वयस्य वृत्ताध्यायेन कार्यैक्यस्यैवोपायविशेषघटिततयाऽवान्तरसङ्गतित्वमभिप्रे
—तत्रेति । अनन्तराध्याये इत्यर्थः । घटकत्वं सप्तम्यर्थः ब्राह्मणद्वयान्वयी । ११. संबन्धमेव ।
विस्तार्येति—अविद्याभूमौ स्थित्वेत्यादिः । १३. व्यवहारमापाद्येति—व्यवहारविषयीकृत्य लोकस्थितिहेतुता
पाद्येत्यर्थः । १४. अन्तर्यामीश्वरोक्तिः । १५. सूत्रस्य कारणम् ।

ॐ 'जनको ह वैदेह आसांचक्रेऽथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज । तꣳ होवाच याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः

जब प्रसिद्ध विद्वान् विदेहाधिपति राजा जनक (स्वस्थचित्त हो अपने) राजसिंहासन पर आसीन थे, तब महर्षि याज्ञवल्क्य उनके पास आये। याज्ञवल्क्य से जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य !

शरीरहृदयसूत्रात्रस्थमतिक्रान्तवान्य औपनिषदः पुरुषो 'नेति नेतीति व्यपदिष्टः स 'साक्षाच्चो'पादानकारणस्वरूपेण च निर्दिष्टो विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'ति । 'तस्यैव वागादिदेवताद्वारेण पुनरधिगमः कर्तव्य इत्यधिगमोपायान्तरार्थोऽयमारम्भो ब्राह्मणद्वयस्य । आख्यायिका 'त्वाचारप्रदर्शनार्था—

जनको ह वैदेह आसांचक्र आसनं कृतवाना'स्थायिकां दत्तवानित्यर्थः । दर्शनकामेभ्यो राज्ञः । अथ ह तस्मि'न्नवसरे याज्ञवल्क्य आवव्राजाऽऽगतवानात्मनो *योगक्षेमार्थं

गृह्यते । अतिक्रमणं तद्गुणदोषासंस्पृष्टत्वम् । अनन्तरब्राह्मणद्वयतात्पर्यमाह—तस्यैवेति । वागाद्यधिष्ठात्रीष्वग्न्यादिदेवतासु 'ब्रह्मदृष्टिद्वारेत्यर्थः । पूर्वोक्ता'न्वयव्यतिरेका"दिसाधनापेक्षयाऽन्तरशब्दः । आचार्यवता श्रद्धादिसंपन्नेन" विद्या लब्धव्येत्याचारः । अप्राप्तप्राप्तिर्योगः, प्राप्तस्य रक्षणं क्षेम इति

शरीर, हृदय और सूत्र में स्थित जगदात्मा को अतिक्रान्त किये हुए है, उसी का "वह ब्रह्म विज्ञान और आनन्द स्वरूप है" इस प्रकार साक्षात् और उपादान कारणरूप से निर्देश किया गया है। उसी औपनिषद पुरुष का वागादिदेवता द्वार से पुनः बोध कराना है। इसलिए बोध और उपायान्तर के लिए इस ब्राह्मणद्वय को प्रारम्भ किया जाता है। यहाँ यह आख्यायिका आचार प्रदर्शन करने के लिए है।

विदेह देश का राजा जनक "आसांचक्रे" अर्थात् दर्शनयोग्य (स्थानस्थिति सूचक) आसन पर स्थित था यानी राजदर्शनार्थियों के लिए ऐसा समय दे रखा था। "अथ ह" अर्थात्

१. जनको हेत्यादि । "कथितः पञ्चमे जल्पः षष्ठे वाद उदीर्यते । वादिनामपि शिष्याणां बुद्धयारोहो द्विधोक्तितः" ॥ अपिश्चार्थः ॥ "षड् ब्राह्मणानि तेष्वाद्ये उपास्तिः क्रममुक्तये । द्वितीये जाग्रदाद्युक्त्या प्रत्यगात्मविनिर्णयः" ॥ षड्ब्राह्मणानीति । अस्मिन्नध्याय इत्यादिः । "तृतीये परलोकस्य मोक्षस्याऽपि निदर्शनम् । दार्ष्टिकान्तं चतुर्थं तु पञ्चमे बोवसाधनम् ॥ षष्ठे वंश इति प्रोक्ता ब्राह्मणार्था अथोच्यते । प्रथमब्राह्मणे प्रोक्तं चतुष्पात्त्वेन चिन्तनमिति" ॥ वा० भा० १-४ ॥ २. नेति नेतीत्यादि । नेति नेतीत्येवं सकलोपाधिनिषेधेन मूर्तामूर्तब्राह्मणे निर्दिष्ट इत्यर्थः । ३. साक्षादिति । "विज्ञानमानन्दमि'ति स्वरूपप्रतिपादकेनेत्यर्थः । ४. "रातिर्दातुः परायणमि"त्युपादानस्वरूपेणेत्यर्थः । ५. तस्य—औपनिषदस्य पुरुषस्य । ६. आस्थायिकाम्—दर्शनयोग्यस्थानस्थितिसूचनामित्यर्थः । ७. राजदर्शनयोग्यावसरे । ८. ब्रह्मोपासनद्वारा । ९. अन्वयेति । आयतनलोकदेवपुरुषाणां चतुर्णामष्टकानामुत्पत्त्यादिमत्त्वेन व्यभिचारित्वं व्यतिरेकस्तेन तेषामनात्मत्वम् । औपनिषदब्रह्मणस्तु तद्राहित्यमन्वयस्तेनात्मत्वम् । १०. आदिना वाक्यतात्पर्यालोचनं साधनविशेषानुसन्धानं फलविशेषानुचिन्तनं च गृह्यते । ११. अधिकारिणा ।

---

*योगक्षेमार्थं राज्ञो वा विविदिषां दृष्ट्वाऽनुग्रहार्थमिति । अत्र वार्तिकचतुष्टयं वर्तते । तथाहि—"धनार्थं

पशूनिच्छन्नण्वन्तानिति । उभयमेव सम्राडिति होवाच ॥ १ ॥

आप किस प्रयोजन को लेकर यहाँ आये हैं ? क्या पशुरूपी धन की इच्छा से या सूक्ष्मातिसूक्ष्म अत्य गोपनीय पदार्थ के प्रश्नों को सुनने के लिये आये हैं ? (अर्थात् विभिन्न आचार्यों से श्रवण किये हमारे ज्ञान को प्रमाणित करने के लिए आये हैं ?) इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सम्राट्! मैं उ दोनों ही कार्यों के लिये आया हूँ ॥ १ ॥

राज्ञो वा विविदिषां दृष्ट्वाऽनुग्रहार्थम् । तमागतं याज्ञवल्क्यं यथावत्पूजां कृत्वावा होक्तवाञ्जनको हे याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीरागतोऽसि किं पशूनिच्छन्पुनरप्याहोस्विदण्वन्तान्सूक्ष्मान्तान्सूक्ष्मवस्तु[1]निर्णयान्तान्प्रश्नान्मत्तः [2]श्रोतुमिच्छन्निति । उभयमेव पशून्प्रश्नांश्

राजदर्शनयोग्य समय में याज्ञवल्क्य "आवव्राज" अर्थात् आए। राजा के योगक्षेम के लिए अथवा उसकी विविदिषा देखकर उसके कल्याण के लिए आये। आए हुए याज्ञवल्क्य जी की विधिपूर्वक पूजा करके जनक 'होवाच' यानी बोले—हे याज्ञवल्क्य ! किसलिए आप "अचारीः" अर्थात् आए हो ! पुनः क्या पशुओं की इच्छा से आये हो अथवा मुझसे "अण्वन्तान्" यानी सूक्ष्म वस्तु के निर्णय पर्यवसान होने वाले प्रश्नों को सुनकर उनका उत्तर देने के लिए आये हो ? (याज्ञवल्क्य बोले—) हे सम्राट् ! मैं पशु और प्रश्न दोनों के लिए आया हूँ। "सम्राट्" यह पद वाजपेय यज्ञ करने वाले

---

१. निर्णयपर्यन्तान् निर्णयफलकानिति यावत् सूक्ष्मं वस्तु ब्रह्म । २. श्रुत्वा तदुत्तरं वक्तुमिति यावत् ।

ब्राह्मणा यान्ति राजानमिति युज्यते । न त्वनापदि विद्यार्थं तं यान्तीह द्विजोत्तमाः ॥ नान्यत्र क्षत्त्रियाद्विद्या यत्र संभाव्यते क्वचित् । उपसीदन्ति तत्रैव ब्राह्मणाः क्षत्त्रियान्सदा ॥ याज्ञवल्क्यस्य शिष्यत्वे ग्रन्थच्छायाऽपि नेष्यते। जनकस्यैव शिष्यत्वे ग्रन्थच्छायोपलक्ष्यते ॥ अण्वन्तानिति शब्दोऽयं न स्यात्पशुविशेषणम् । उभयं त्वित्यतः शेषादद्व पृष्टमतो भवेत्" ॥ ५-८ ॥ इति । केचिद्याज्ञवल्क्यस्य योगक्षेमार्थं विद्यार्थं च राजगमनमिच्छन्तः सूक्ष्मार्थनिर्णयान्तान्प्रश्नान्कृत्वा मत्तो निर्धारयितुं वा त्वदागमनमित्येवमण्वन्तानित्यस्यार्थमाहुस्तान्प्रत्याह—धनार्थमिति। उपेयादीश्वरं चैव योगक्षेमार्थसिद्धय इति स्मृतेरित्यर्थः । ननु गार्ग्यप्रभृतयो ब्राह्मणा राजानमपि विद्यार्थं गच्छन्तो दृश्यन्ते नेत्याह—न त्विति । इह शास्त्रीयव्यवहारभूमौ ॥ अनापदीतिविशेषतात्पर्यमाह—नान्यत्रेति । यत्र क्षत्त्रियादन्यत्र क्वचिदपि विद्या सदैव न संभाव्यते तत्र ब्राह्मणा विद्यार्थिनः सन्तो विदुषः क्षत्त्रियानुपसीदन्तीति योजना ॥ अथात्र कस्मिंश्चिदंशे गुरुरपि मुनिर्जनकस्य शिष्यो भविष्यति । उक्तं चाऽऽचार्यत्वं हित्वेति, नेत्याह—याज्ञवल्क्यस्येति । न च तस्य शिष्यत्वे योग्यत्वं सर्वज्ञत्वादित्यपेरर्थः । तच्छृणवामेति श्रुतेस्तस्य शिष्यत्वं भातीत्याशङ्क्याऽऽह—जनकस्येति । एकवचनबहूक्तिभ्यां राज्ञो मुनेश्च शिष्याचार्यत्वे भासेते संभवति चाऽऽचार्यस्यापि शिष्यबुद्धिशोधनार्थं तं प्रति प्रश्नवाक्यमिति भावः ॥ पशूनण्वन्तानिति सामानाधिकरण्यादण्वन्तपदस्य पशुविशेषणार्पकत्वान्नात्र विकल्पधीरित्याशङ्क्याऽऽह—अण्वन्तानिति । तत्र वाक्यशेषं हेतुमाह—उभयमिति। राजवाक्ये विकल्पद्योतिवाशब्दाभावेऽपि शेषान्मुनिवचनादत्र विकल्पदृष्टिः संदिग्धस्योपक्रमे शेषान्निर्णयप्रसिद्धेरित्यर्थः । अण्वन्तशब्दस्य पशुविशेषणानर्पकत्वे फलितमाह—द्वयमिति ॥

यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे जित्वा शैलिनिर्वाग्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छैलिनिरब्रवीद्वाग्वै ब्रह्मेत्यवदतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते 'तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञ-

(याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा—हे राजन्!) जो कुछ किसी आचार्य ने आप से कहा है, उसे सुनना चाहता हूँ। तब जनक ने कहा कि शिलिन ऋषि के पुत्र जित्वा ने मुझसे कहा था कि :सन्देह वाणी देवता ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा—शैलिनि ने बहुत ठीक कहा है, जैसे माता, पिता चार्य द्वारा अच्छी प्रकार सुशिक्षित पुरुष शिष्य को उपदेश करें, वैसे ही शैलिनी ने आप से कहा है, :सन्देह वाणी ही ब्रह्म है क्योंकि न बोलने वाले या गूँगे से लोगों का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

सम्राट्। सम्राडिति वाजपेययाजिनो लिङ्गं [2]यश्चाऽऽज्ञया [3]राज्ञः प्रशास्ति स सम्राट् स्याऽऽमन्त्रणं हे सम्राडिति समस्तस्य वा भारतस्य वर्षस्य राजा ॥१॥

किं तु यत्ते तुभ्यं कश्चिदब्रवीदाचार्योऽनेकाचार्यसेवी हि भवांस्त[4]च्छृणवामेति। तर आह—अब्रवीदुक्तवान्मे ममाऽऽचार्यो जित्वा नामतः शिलिनस्यापत्यं शैलिनिर्वाग्वै

भागः। भारतस्य वर्षस्य [5]हिमवत्सेतुपर्यन्तस्य देशस्येति यावत् ॥१॥

[6]तत्र राजानं प्रति प्रश्नमुत्थापयति—किंत्विति। कश्चिदिति विशेषणस्य तात्पर्यमाह—

सूचक है। जो सब नृपतियों को अपनी आज्ञा द्वारा शासित करता है, वह सम्राट् है। "हे सम्राट्" यह उसी का संबोधन है। अथवा सम्पूर्ण भारतवर्ष के राजा को सम्राट् कहा ता है॥ १॥

किन्तु तुमसे जो किसी आचार्य ने कहा है, उस उपदेश को सत्-असत् परीक्षण करने के लिए सुनें क्योंकि तुम अनेक आचार्यों की सेवा करने वाले हो। इस पर जनक ने कहा—मुझसे लिनिः" अर्थात् शिलिन के अपत्य जित्वा नाम के आचार्य ने कहा था कि "वाग्वै ब्रह्म" अर्थात्

---

१. वाग्देवस्य ब्रह्मणः। २. यश्चाज्ञयेति। "येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः। शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राडि"त्यमरः। एकं सार्वभौमविशेषस्य अत्र विशेषणत्रयं मिलित्वा सम्राट्त्वप्रयोजकं प्रत्येकं वेति मतभेदः। मण्डलं—द्वादशराजानः। राज्ञः सर्वंनृपतीनित्याहुः। राजसूयेनेति वाजपेयस्याप्युपलक्षणमिति भाष्याविरोधः। ३. द्वितीयान्तम्। ४. शृणवामेति। उपदेशस्य सदसत्परीक्षणायेति भावः। ५. हिमवदित्यादि। तदुक्तं—"उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्। वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र संततिरिति"। "वर्षं स्थानं विदुः प्राज्ञाः। वर्षोऽस्त्री भारताब्दौ च जम्बूद्वीपाब्दवृष्टिषु" इति मेदिनी। ६. तत्र—उक्तामन्त्रणादौ वृत्ते सति। उत्थापयति—भाष्यकृत्। प्रश्नम्—अज्ञातार्थमुपदिदिक्षुणा मुनिना कृतमिति शेषः।

वल्क्य । वागेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येनदुपासीत । का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य । वागेव समा॒डिति होवाच । वाचा वै समा॒ड्बन्धुः प्रज्ञायत [1]ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च

पर यह तो बतलाइये कि उसने उसके आयतन एवं प्रतिष्ठा को भी आपसे कहा या नहीं। जन
कहा—नहीं। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—हे राजन्! तब तो ब्रह्म के एक पाद का ही यह उपदेश
किया। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! कृपया उस अवशिष्ट तत्त्व को आप बतलावें। याज्ञवल्
कहा—वाणी ही उस वागरूप ब्रह्म का आयतन है और अव्याकृत आकाश प्रतिष्ठा है।
उपासना प्रज्ञारूप से करनी चाहिये क्योंकि प्रज्ञा उस ब्रह्म का चतुर्थ पाद है। इस पर जनक ने पू
प्रज्ञता क्या है अर्थात् आयतन और प्रतिष्ठा के समान क्या उससे भिन्न है? याज्ञवल्क्य ने कह

ब्रह्मेति [2]वाग्देवता ब्रह्मेति। आहेतरो [3]यथा [4]मातृमान्माता यस्य विद्यते पुत्रस्य
गनुशास्त्र्यनुशासनकर्त्री स मातृमान्। [5]अत ऊर्ध्वं पिता यस्या[6]नुशास्ता स पितृ
उपनयनादूर्ध्वमा समावर्तनादाचार्यो यस्यानुशास्ता आचार्यवान्। एवं [7]शुद्धित्रयहेतु
स [8]साक्षादाचार्यः स्वयं न कदाचिदपि प्रामाण्याद्व्यभिचरति। स यथा ब्रूयाच्छ

अनेकेति। प्रामाण्यमा[9]प्तत्वम्। यथोक्तार्थानुमोदने युक्तिमाह—न हीति।

वाग् का अधिष्ठातृ देवता (अग्नि) ब्रह्म है। इस पर याज्ञवल्क्य जी बोले—जिस प्रकार "मातृ
यानी जिस पुत्र का ठीक प्रकार से अनुशासन करने वाली माता विद्यमान् है, वह मातृमा
माता के अनुशासन के अनन्तर पिता जिसका अनुशासक है, वह पितृमान् कहा जाता है। इसी
उपनयन से समावर्तन संस्कारपर्यन्त आचार्य जिसका अनुशासक है, उसे आचार्यवान् कहा जा
इस प्रकार जो तीन प्रकार की शुद्धि के हेतुओं से संयुक्त है, वह साक्षादाचार्य कभी भी प्रम

---

[1] ऋग्वेद इत्यादि व्याख्यानानीत्यन्तं पूर्वं मैत्रेयीब्राह्मणे बृ० उ० २।४।१० भाष्ये प्रोक्तार्थम्। [2]
ष्ठाताग्निः। [3] शैलिनिनोपदिष्टमर्थं स्तोतुकामो मुनिस्तस्याप्तत्वप्रयोजकीभूतं शुद्धित्रयमाह—
[4] मातृमानिति। "मातृमानिति हेतूक्तिः सम्यग्वक्तृत्वसिद्धये" ॥ १३ ॥ इति वार्तिके। [5] मातृ
दनन्तरम्। [6] अनुशास्तेति। शास्तेः "तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ" ॥२-९४॥ इत्युणादि
शब्दपरिगृहीतात्तृन्तृज्वा। ननु संज्ञायामिति। सत्यम्। कथं तर्हि। बहुलमन्यत्रेत्युत्तरसूत्रे बाहुलकात्।
समन्तभद्रेनाशासके पुनरन्यवदिति" च कोशः। [7] शुद्धित्रयहेत्विति। मात्राद्यात्मकं यच्छुद्धित्रयं त
हेतुरित्याहुः। वस्तुतोऽत्र शुद्धित्रयं तद्धेतुर्मात्रादित्रयमिति युक्तमुत्पश्यामः। [8] य उक्तसंयुक्तः स साक्षा
[9] आप्तत्वम्—यथार्थवक्तृत्वम्।

लोकः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट्प्रज्ञायन्ते [1]वाग्वै सम्राट्परमं ब्रह्म *नैनं [2]वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्य[3]भिक्षरन्ति [4]देवो भूत्वा देवान[5]प्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते । हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः । स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥२॥

हाराज ! वाणी ही प्रज्ञता है । हे सम्राट् ! वाणी से ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरसवेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषत्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट, हुत, आशित, पायित, यह लोक, परलोक, एवं सम्पूर्ण प्राणी जाने जाते हैं । अतः हे सम्राट् ! वाणी ही परब्रह्म है । जो पुरुष इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, उस उपासक को वाणी नहीं छोड़ती, सभी भूत भेंट लेकर उसका अनुसरण करते हैं । वह देव होकर देवों को प्राप्त करता है । इस पर विदेहराज ने कहा कि मैं इसके बदले आपको हाथी के समान बछड़ों को जन्म देने वाली एक हजार गौएँ देता हूँ । उस याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—हे राजन् ! मेरे पिता यह मानते और कहते थे कि शिष्य को उपदेश से कृतार्थ किये बिना, उसकी दी हुई दक्षिणा नहीं लेनी चाहिये ॥ २ ॥

तथाऽसौ जित्वा शैलिनिरुक्तवान्वाग्वै ब्रह्मेति । [6]अवदतो हि किं स्यादिति । न हि मूकस्येहार्थममुत्रार्थं वा [7]किंचन स्यात् ।
किंत्वब्रवीदुक्तवांस्ते तुभ्यं तस्य ब्रह्मण आयतनं प्रतिष्ठां च । आयतनं नाम

यथोक्तब्रह्मविद्यया कृतकृत्यत्वं मन्वानं राजानं प्रत्याह—किंत्विति । आयतनप्रतिष्ठयोरेकत्वा-

---

व्यभिचरित नहीं होता । वह जिस प्रकार अपने शिष्य को उपदेश करे, उसी प्रकार इस शिलिन के पुत्र जित्वा ने तुम्हें यह बतलाया है कि वाक् ही ब्रह्म है । वाक् के ब्रह्म न कहने में क्या होगा क्योंकि मूक को इहामुत्र फलक कोई साधन नहीं हो सकता ।
किन्तु क्या उन्होंने तुम्हें उस ब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलायी थी । आयतन

---

१. वाग्वा इत्यादि । अत्र षट्सु पर्यायेषु वागेवायतनमित्यादिना करणस्य स्वाधारेण देहेन सह परिग्रहाद्विराडात्मा
विवक्ष्यते । स हि स्थूलकार्यकरणात्मकः । वाग्वै ब्रह्मेत्यादिना सूत्रात्मोच्यते । स हि सूक्ष्मोपाधिरग्न्यादिदेवतारूपः ।
आकाशः प्रतिष्ठेत्यन्तर्यामिग्रहः । इत्थं चाग्न्यादिदेवतासु ब्रह्मदृष्टया सर्वं जगदुपास्यत्वेनात्र प्रकरणे विवक्षितं
सर्वस्य देवतात्वे नोच्यमानत्वात्कार्यकरणादेर्जगत इति स्पष्टं वार्तिके । २. कर्हिचिदपि वाग्विकलो न भवति । ६. वाचो
३. वर्षन्ति । ४. उपास्त्यैहैवाविर्भूतदेवभावः सन् । ५. शरीरपातादूर्ध्वं देवान् गच्छति ।
ब्रह्मत्वे मुनिरेव स्वयं हेतुमाह—अवदत इति । ७. इहामुत्रफलकम् । ८. साधनम् ।

---

*नैनं वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानित्यादि । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"एनं

शरीरम् । प्रतिष्ठा त्रिष्वपि कालेषु य आश्रयः । आहेतरो न मेऽब्रवीदिति । आह—[1]यद्येवमेकपाद्वा एतदेकः पादो यस्य ब्रह्मणस्तदिदमेकपाद्ब्रह्म त्रिभिः शून्यमुपास्यमानमपि न फलाय भवतीत्यर्थः । [2]यद्येवं स [3]त्वं [4]विद्वान्सन्नोऽस्मभ्यं

त्पुनरुक्तिमाशङ्क्य विभजते—आयतनं नामेति । एकपादत्वेऽपि ब्रह्मणस्तदुपासनादिष्टसिद्धि चेन्नेत्याह—त्रिभिरिति । ब्रूहि प्रतिष्ठामायतनं चेति शेषः ।

शरीर का पर्याय है । जो तीनों कालों में आश्रय हो, वह प्रतिष्ठा है । जनक ने कहा—यह तो नहीं बतलाया । याज्ञवल्क्य बोले—यदि ऐसा है, (तो सुनो) वह "एकपाद्" यानी एक पाद वाला है । भाव यह है कि वह तीन पादों से शून्य ब्रह्म उपासना किये जाने पर फलदायक नहीं होता । (ज बोले—) यदि ऐसा है, हे याज्ञवल्क्यजी ! चतुष्पाद ब्रह्म को आप जानते हैं तो कृपया इ

---

[1] आयतनप्रतिष्ठे तेन नोक्ते चेत्तर्हि । [2] तथा फलदं नो चेत्तर्हि । [3] अनुग्रहशीलः । [4] चतु दब्रह्म जानन् ।

भूतानि सर्वाणीत्युपासनफलाभिधा ।। देवो भूत्वेति देवान्हि प्रधानफलकीर्तनम् । विद्वान्य एवमित्युक्त्या सा साधनसंगतिः ।। देवो भूत्वेति जीवन्सन्भावनोपचयान्नरः । वैलक्षण्यमुपास्तीनां भण्यते ब्रह्मबोधतः ।। वचसोक्तिः स्याद्देवो भूत्वेति संभवात् । प्रतिवाक्यं बहूक्तिश्च षण्णामेकत्वसिद्धये ।। प्रागपि ब्रह्मविज्ञानादब्रह्मं भूद्यथा तथा । देवोपासनतः पूर्वं नाभूद्देव उपासकः ।। भावनोपचयाद्देवो भूत्वा विद्वानिहैव तु । देवान सोऽग्न्यादीञ्शरीरत्यागतः परम् ।। उत्पत्त्याद्यात्मकं कार्यं साध्यं सर्वस्य कर्मणः । उपासनं च कर्मैव युक्तमु ततः ।। ब्रह्म वा इदमित्येवं तथा ब्रह्मैव सन्निति । प्रागपि ब्रह्मविज्ञानात्सिद्धं तादात्म्यमुच्यते" ।। २२-२ इति । सर्वाणीत्यादेरर्थमाह—एनमिति ।। उपासनस्य द्विविधं फलं दृष्टमदृष्टं च दृष्टमुक्त्वाऽदृष्टं व्याचष्टे देव इति । भावनोपचयस्य देवताभावसंपादनसामर्थ्यद्योतनार्थो हिशब्दः । य एवमित्यादेस्तात्पर्यमाह—विद्वानि ज्ञानफलयोरुच्यत इति शेषः ।। देवो भूत्वेत्यादेस्तात्पर्यान्तरं वक्तुमक्षरार्थमनुवदति—देव इति । विव तात्पर्यमाह—वैलक्षण्यमिति । ब्रह्मधीवदुपास्तिरनभ्यस्ता न फलवतीत्यर्थः ।। अत्र श्रुत्यक्षरानुगुण्यमाह— उक्ततात्पर्यानुसारेण देवो भूत्वेति वचसा देवभावफलस्योक्तिर्युक्ता तस्य साध्यत्वसंभवादित्यर्थः । कथं प्रति देवानिति बहूक्तिरग्न्यादेरेकैकस्यैवोपास्यत्वदृष्टेरित्याशङ्क्याऽऽह—प्रतिवाक्यमिति । पर्यायषट्कसंबद्धोपास्ते द्योतनार्थं सर्वत्र बहुवचनं प्रतिपर्यायमुपास्तिभेदे देवमप्येतीति स्यादेकैकोपास्तेरनेकदेवताप्त्ययोगादतः देवानिति श्रुतेरेकपर्यायस्थोपास्तिरन्यपर्यायस्थोपास्त्यभिन्नेत्यर्थः ।। सर्वपर्यायिषूपास्त्यैक्येऽपि किमिति सा धीवन्न फलदेत्याशङ्क्य तयोरधिकारिद्वारा वैलक्षण्यमाह—प्रागपीति । मुमुक्षुर्ज्ञानात्पूर्वमपि ब्रह्मैवा व्यवधानमुपासकस्तु प्रागुपास्तेर्देवो नाभूत्तद्भावस्य साध्यत्वादित्यर्थः ।। फलद्वाराऽपि वैषम्यमाह—भाव जीवदवस्थायां देवभावस्तत्तादात्म्यसाक्षात्करणं मृतेरूर्ध्वं तदप्ययस्तदैक्यमिति विवेक्तव्यम् । व्यवहितफलोपास्ति प्रायणादावृत्त्यपेक्षत्वादब्रह्मधीर्नैवं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति ज्ञानफलयोर्नैरन्तर्यादिति भावः ।। इतश्च फल तयोरित्याह—उत्पत्तीति । कर्मणो हि फलमुत्पत्त्याद्यन्यतमं साध्यं च ज्ञानस्य तद्विलक्षणं नित्यसिद्धमित्य स्वरूपतोऽपि वैषम्यमाह—उपासनं चेति । मानसी क्रियोपास्तिर्नैवं धीरपुंस्तन्त्रत्वादित्यर्थः । भिन्नार्थवि पास्तिरेकरसविषया धीस्तद्विषयद्वाराऽपि वैषम्यमिति मत्वोक्तं वैषम्यं निगमयति—युक्तमिति ।। ज्ञाना मुमुक्षुर्ब्रह्मैव चेत्किं तादात्म्योक्त्येत्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मेति । अतो ज्ञानादज्ञाननिवृत्तिः फलतीति शेषः ।।

याज्ञवल्क्येति। स चाऽऽह—वागेवाऽऽयतनं वाग्देवस्य ब्रह्मणो वागेव करणमायतनं रोरमाकाशो[1]ऽव्याकृताख्यः प्रतिष्ठाऽऽश्रय उत्पत्तिस्थितिलयकालेषु। प्रज्ञेत्येनदुपासीत ज्ञेतीय[2]मुपनिषद्ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः प्रज्ञेति [3]कृत्वैनद्ब्रह्मोपासीत।

का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य [4]किं स्वयमेव प्रज्ञोत प्रज्ञानिमित्ता। यथाऽऽयतनप्रतिष्ठे ह्मणो व्यतिरिक्ते [5]तद्वत्किम्। न, कथं तर्हि, वागेव सम्राडिति होवाच वागेव ज्ञेति होवाचोक्तवान्न व्यतिरिक्ता प्रज्ञेति। कथं पुनर्वागेव प्रज्ञेति, उच्यते—वाचा सम्राड्बन्धुः प्रज्ञायते[6]ऽस्माकं बन्धुरित्युक्ते प्रज्ञायते बन्धुस्तथर्ग्वेदादि। इष्टं याग-निमित्तं धर्मजातं हुतं होमनिमित्तं [7]च। आशितमन्नदाननिमित्तं पायितं [8]पानदाननिमि-त्तमयं च लोक [9]इदं च जन्म परश्च लोकः प्रतिपत्तव्यं च जन्म सर्वाणि च [10]भूतानि [11]वाचैव सम्राट्प्रज्ञायन्ते[12]ऽतो वाग्वै सम्राट्परमं ब्रह्म नैनं यथोक्तब्रह्मविदं वाग्जहाति। सर्वाण्येनं भूतान्य[13]भिक्षरन्ति बलिदानादिभिरिह देवो [14]भूत्वा पुनः शरीरपातोत्तरकालं

प्रश्नमेव विवृणोति—किं स्वयमेवेति। प्रज्ञा निमित्तं यस्या वाचः सा तथा। द्वितीयपक्षं शदयति—यथेति। व्यतिरेकपक्षं निषेधति—नेति। आकाङ्क्षापूर्वकं [15]पक्षान्तरं गृह्णाति—कथं र्हीति। बलिदानमुपहारसमर्पणम्। आदिशब्देन स्रक्चन्दनवस्त्रालंकारादिग्रहः। विद्यानिष्क्रया-

---

वरूप मुझे बतलाइये। वह (याज्ञवल्क्य) बोले—"वागेवाऽऽयतनम्" यानी वाग्देवतारूप ब्रह्म का वाक् करण यानी शरीर है तथा उसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय के समय (अन्तर्यामी) अव्याकृतसञ्ज्ञक ाकाश ही उसकी प्रतिष्ठा है। "प्रज्ञेत्येनदुपासीत" अर्थात् प्रज्ञा यह नाम मन में धारण करके वाग्ब्रह्म उपासना करे क्योंकि प्रज्ञा नाम की उपनिषत् उस ब्रह्म का चतुर्थपाद है।

हे याज्ञवल्क्यजी! प्रज्ञता क्या है? क्या वाग्ब्रह्म स्वयं ही प्रज्ञा है अथवा उसमें भेद है? जिस कार आयतन और प्रतिष्ठा ब्रह्म से व्यतिरिक्त है, उसी प्रकार क्या प्रज्ञा भी व्यतिरिक्त है? नहीं। सा क्यों? "वागेव सम्राडिति होवाच" यानी याज्ञवल्क्य बोले—हे सम्राट्! वह वाक् ही प्रज्ञा है, ज्ञा उससे पृथक् नहीं है। वाक् ही प्रज्ञा किसलिये है? इस पर कहा जाता है—हे सम्राट्! वाणी "बन्धुः प्रज्ञायते" यानी किसी के द्वारा "यह हमारा बन्धु है" ऐसा कहने पर बन्धु का ज्ञान होता। इसी प्रकार ऋग्वेदादि वाक् से जाने जाते हैं। हे सम्राट्! "इष्टम्" यानी यागनिमित्तक धर्म हुतम्" यानी होमनिमित्तक धर्म, "आशितम्" यानी अन्नदाननिमित्तक धर्म, "पायितम्" यदाननिमित्तक धर्म, यह लोक, वर्तमान देह और परलोक, आगे प्राप्तव्य जन्म और ब्रह्मादि समस्त

---

[1] अन्तर्यामी। [2] इदंनामधेयम्। [3] एतन्नाम मनसिकृत्वाऽनेन नाम्ना वाग्ब्रह्मोपासीतेत्यर्थः। [4] किमिति—वाग्ब्रह्मेति शेषः। ब्रह्मयज्ञयोर्भेदोऽभेदो वेति भावः। [5] व्यतिरिक्ता। [6] केनचिदयम्। [7] धर्मजातमित्यनुवर्तते सर्वत्र। [8] पेयदानेति भावः। [9] वर्तमानो देहः। [10] ब्रह्मादीनि। [11] वाग्वै—वाग्देवतैव परमं ब्रह्मेति वाग्देवब्रह्मणैव। [12] अतः—बन्ध्वादिविषयकप्रकृष्टज्ञानहेतुत्वात्। वाग्वै—वाग्देवतैव परमं ब्रह्मेति चिन्तयेदिति शेषः। [13] संयोजयन्ति। [14] उपास्त्यतिशयेनात्मन्याविर्भूतदेवत्वाभिमानो भूत्वा। [15] अव्यतिरेकपक्षम्।

यदेव ते [1]कश्चिदब्रवीत्त[2]च्छृणवामेत्यब्रवीन्म उदङ्कः
शौल्बायनः [3]प्राणो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमा-
नाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छौल्बायनोऽब्रवीत्प्राणो वै
ब्रह्मेत्यप्राणतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्या-

(फिर याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा—हे राजन् !) जो भी आप से किसी ने कहा है;
सुनना चाहता हूँ । जनक ने उत्तर दिया—हे याज्ञवल्क्य ! शुल्ब ऋषि के पुत्र उदंक ने मुझसे
कि प्राण ही ब्रह्म है । इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—शौल्बायन ने बहुत ठीक कहा है । जैसे माता,
और आचार्य द्वारा पूर्ण शिक्षित पुरुष अपने शिष्य को शिक्षा देवे; वैसे ही शौल्बायन ने आप से

देवानप्येत्यपिगच्छति य एवं विद्वानेतदुपास्ते । *विद्यानिष्क्रयार्थं हस्तितुल्य
हस्त्यृषभो यस्मिन्गोसहस्रे तद्धस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेह
[4]स होवाच याज्ञवल्क्यः । [5]अननुशिष्य [6]शिष्यं कृतार्थमकृत्वा शिष्याद्धनं न हरेतेति मे
पिताऽमन्यत ममाप्ययमेवाभिप्रायः ।। २ ।।

यदेव ते कश्चिदब्रवीदुदङ्को नामतः शुल्बस्यापत्यं शौल्बायनोऽब्रवीत्प्राण

र्थमुवाचेति संबन्धः । पितुरेतन्मतमस्तु तव किमायातं तदाह—ममापीति ।।२।।

प्राणी वाग्देवतारूप ब्रह्म से ही जाने जाते हैं । इसलिए हे सम्राट् ! वाग्देवता को ही परम
समझना चाहिये । पूर्वोक्तरूप से इस ब्रह्म को जानने वाले का वाक् त्याग नहीं करती । सभी
इस पर बलिदानादि की वर्षा करते हैं । जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह
मानी होकर पुनः शरीर के विनष्ट हो जाने पर देवताओं को ही “अप्येति” यानी प्राप्त होता
तब विदेहराज जनक ने कहा—इस ब्रह्मविद्या के बदले “हस्त्यृषभं सहस्रम्” आपको हाथी के
बछड़ों को जन्म देने वाली एक हजार गौएँ देता हूँ । (जनक द्वारा ऐसा कहे जाने पर) वे
बोले—मेरे पिताजी कहा करते थे कि “अननुशिष्यः” यानी शिष्य को बिना शिक्षा दिये अथवा
कृतार्थ किये शिष्य से धन नहीं लेना चाहिए । मेरा भी ऐसा ही निश्चय है ।। २ ।।

“यदेव ते कश्चिदब्रवीत्” जो किसी आचार्य ने तुम्हें कहा है, (वह सुनें) शुल्ब की

---

१. आचार्यः । २. उपदेशस्य सदसत्परीक्षार्थम् । ३. वायुदेवतैव । ४. जनकेनैवमुक्तः । ५. शिक्षाम
६. फलितमाह—शिष्यमिति ।

---

*विद्यानिष्क्रयार्थमिति । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—“हस्त्यृषभमिति चोक्त्या भण्यते गुरुदक्षिणा । ह
नाग्रहीद्दत्तां पिता म इति हेतुगीः ।। नन्वनुशिष्ट एवायं पूर्वोक्तैरनुशासनैः । पितृव्रतोपरोधोऽत्र नातः
विद्यते ।। नाऽऽत्मविद्यातिरेकेण पितुर्वस्त्वन्तरे यतः । असमाप्तेः पुमर्थस्य मतं नास्यानुशासनम् ।। यस्मि
ऽखिलं ज्ञातं कृतमाप्तं च कामितम् । तित्यक्षितं च संत्यक्तं पितुस्तदनुशासनम् ।। यतो वस्त्वन्तरं नान्य
विद्यते परम् । सम्यक्तज्ज्ञानमेवातस्तदन्यत्र मृषा मतिः ।। आत्मज्ञानोदयायैव याज्ञवल्क्योऽप्यतो

[1]ऽऽयतनं [2]प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति [3]स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य [4]प्राण एवाऽऽयतन[5]माकाशः प्रतिष्ठा प्रियमि[6]त्येनदुपासीत [7]का प्रियता याज्ञवल्क्य [8]प्राण एव सम्राडिति होवाच प्राणस्य वै सम्राट्कामायायाज्यं याजयत्यप्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णात्यपि तत्र वधाशङ्कं भवति यां दिशमेति प्राणस्यैव

। निःसन्देह प्राण ही ब्रह्म है, क्योंकि प्राणरहित पुरुष से लोक का क्या हित हो सकता है ? पर क्या स शौल्वायन ने प्राणरूप ब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा को बतलाया ? जनक ने कहा—नहीं। इस र याज्ञवल्क्य ने कहा—हे राजन् ! तब तो एक पाद ब्रह्म का ही यह उपदेश है। जनक ने कहा—हे ाज्ञवल्क्य ! कृपया उस अवशिष्ट तत्त्व को आप ही मुझे बतलावें कि प्राणब्रह्म का आयतन और तिष्ठा क्या है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—प्राण ही उसका आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है (आयतन तलाते समय प्राणादि शब्द करण अर्थ में प्रयोग किये गये हैं)। इसकी उपासना प्रियरूप से करनी ाहिये क्योंकि "प्रिय" यह उसका चतुर्थ पाद है। तब जनक ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! प्रियता क्या

ह्मेति प्राणो वायुर्देवता पूर्ववत् । प्राण एवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठोपनिषत्प्रियमि-

यथा वागग्निर्देवता तद्वदित्याह—पूर्ववदिति । प्राण एवाऽऽयतनमित्यत्र प्राणशब्दः [1]करणविषयः ।

ौल्वायन उदङ्क नाम आचार्य ने कहा है कि प्राण ही ब्रह्म है। प्राण वायु देवता है ऐसा पूर्वमन्त्र की रह समझना चाहिये। प्राण ही आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है। इसकी "प्रिय" इस रूप से

---

१. शरीरम् । २. त्रिष्वपि कालेष्वाश्रयम् । ३. चतुष्पाद्ब्रह्म जानंस्त्वम् । ४. अध्यात्मं प्राणः—वायुमहितं घ्राणेन्द्रियम् । ५. अव्याकृताख्योऽन्तर्यामी । ६. अनयोपनिषदा नाम्ना । ७. आयतनप्रतिष्ठावदुपनिषद्भिन्नोताभिन्नोपास्यादिति प्रश्नः । ८. अभिन्नासेत्युत्तरम् । ९. वायुवृत्तिविशिष्टघ्राणेन्द्रियपरः ।

उपासनान्यशेषाणि तथा कर्माण्यशेषतः" ।। ३०-३५ ।। इति । हस्तीत्यादि व्याचष्टे—हस्तीति । शिष्यं कृतार्थमकृत्वा ततो दक्षिणा न ग्राह्येति पितुर्मम चाभिप्रायो न च त्वमद्यापि कृतार्थः परधीविरहादतस्त्वत्तो दक्षिणा न ग्राह्येत्याह—पितेति ।। राजदत्तगोधनादानेऽपि पितृव्रतभङ्गो नास्तीति शङ्कते—नन्विति ।। तत्त्वज्ञानादन्यत्र पुमर्थासमाप्तेस्तस्मादेव मुक्तिलाभात्तदनुशासनं पितुर्विवक्षितं तन्नोक्तानुशासनात्ते कृतार्थतेति परिहरति—नाऽस्मेति ।। पितुरिष्टमनुशासनमेव स्पष्टयति—यस्मिन्निति ।। न केवलं पितुरेवैतन्मतं किंतु ममापीत्याह—यत इति । आत्मनोऽन्यद्वस्तु स्वतन्त्रं परमपरं वा यतो नास्त्यतस्तद्धीरेव सम्यग्धीस्तदन्यत्र दृष्टिर्मिथ्या धीरिति ममापि मतमतस्तवाऽऽत्मज्ञानवैकल्यान्न कृतार्थतेत्यर्थः ।। तर्हि तदेवोपदेष्टव्यं किमित्युपासनानि मुनिरनुमोदते तत्राऽऽह—आत्मज्ञानेति । यथा सर्वाणि कर्माणि विविदिषाश्रुतेर्ज्ञानोदयार्थानि तथैवैतान्यप्युपासनान्यतस्तान्यनुमोदितवानित्यर्थः ।।

सम्राट्कामाय प्राणो वै सम्राट्परमं ब्रह्म नैनं प्राणो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥३॥

है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—प्राण ही प्रियता है क्योंकि हे राजन् ! प्राण के लिये अयाज्य (के अनधिकारी) पुरुष से भी यज्ञ कराते हैं तथा प्रतिग्रह के अयोग्य पुरुष से भी दान लेते हैं जिस देश में जाते हैं, वहाँ पर चोरादि से वध की आशङ्का करते हैं। हे सम्राट् ! निःसन्देह यह प्राण के लिये ही होता है। अतः हे राजन् यह प्राण परब्रह्मरूप है। जो इस प्रकार जान कर उपा करता है, उसे प्राण नहीं छोड़ता। सभी भूत उसका अनुसरण करते हैं। वह उपासक देव होकर को प्राप्त होता है। इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! इस उपदेश के बदले हाथी के बछड़े जनने वाली एक हजार गौएं देता हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरे पिता की यह मान्यता कि शिष्य को उपदेश से कृतार्थ किये बिना उसकी भेंट को स्वीकार नहीं करना चाहिये ॥ ३ ॥

त्येनदुपासीत। कथं पुनः प्रियत्वं, प्राणस्य वै हे सम्राट्कामाय प्राणस्या[1]र्थाया या याजयति [2]पतितादिकमप्यप्रतिगृह्यस्याप्युग्रादेः प्रतिगृह्णात्यपि तत्र तस्यां दिशि वधा भित्तमाशङ्कं वधाशङ्केत्यर्थो यां दिशमेति तस्कराद्याकीर्णां च तस्यां दिशि वधाश तच्चैत[4]त्सर्वं प्राणस्य प्रियत्वे भवति प्राणस्यैव सम्राट्कामाय। तस्मात्प्राणो सम्राट्परमं ब्रह्म नैनं प्राणो जहाति। समानमन्यत् ॥ ३ ॥

पतितादिकमित्यादिपदम[5]कुलीनग्रहार्थम्। उग्रो [6]जातिविशेषः। आदिशब्देन म्लेच्छगणो गृह्यते॥

उपासना करे। किन्तु इसका "प्रियत्व" किस प्रकार है ? हे सम्राट् ! "प्राणस्य कामाय" यानी प्रा रक्षा के लिए "अयाज्यम्" यानी पतितादिकों से भी याग कराते हैं, "अप्रतिगृह्यस्य" यानी उग्रादि से भी प्रतिग्रह लेते हैं। इसके सिवा जिस दिशा में जाते हैं, "वधाशङ्कम्" मारे जाने की आशङ्का हैं क्योंकि चोर और लुटेरों से आक्रान्त उस दिशा में वध की आशङ्का है। यह सब (अयाज्य-याजना प्राण की प्रियता के कारण ही हुआ करता है, प्राण की रक्षा के लिए ही होता है। इसलिए हे सम्राट् प्राण ही परम ब्रह्म है। (पूर्वोक्त रीति से जानने वाले) उस (विद्वान्) को प्राण नहीं छोड़ता। अर्थ पिछले मन्त्र के समान ही है ॥ ३ ॥

---

१. रक्षणाय । २. पतितादिकमित्यन्वयः । ३. महापातकिनम् । ४. अयाज्ययाजनादिकम् । दौष्कुलेयः । ६. जातिविशेष इति । क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां जातः क्रूरचेष्टः क्रूरकर्मरतिश्च क्षत्रशूद्रस्व पुमानुग्र इत्यर्थः ।

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे बर्कुर्वार्ष्णश्चक्षुर्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्वार्ष्णोऽब्रवीच्चक्षुर्वै ब्रह्मेत्यपश्यतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य चक्षुरेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा सत्यमित्येनदुपासीत का सत्यता याज्ञवल्क्य चक्षुरेव सम्राडिति होवाच चक्षुषा वै सम्राट्पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति स आहाद्राक्षमिति तत्सत्यं भवति चक्षुर्वै सम्राट्परमं ब्रह्म नैनं

(फिर याज्ञवल्क्य ने राजा से कहा—हे राजन् !) जो कुछ आप से किसी आचार्य ने कहा है, उसे मैं सुनना चाहता हूँ । जनक ने उत्तर दिया—हे याज्ञवल्क्य ! वृष्ण ऋषि के पुत्र बर्कु ने मुझसे कहा था कि नेत्र ही ब्रह्म है । याज्ञवल्क्य ने कहा— वृष्णपुत्र ने बहुत ठीक कहा है । जैसे माता, पिता और आचार्य के द्वारा शिक्षित पुरुष अपने शिष्य को शिक्षा देवे, वैसे ही उस वार्ष्ण ने आप से कहा है । निःसन्देह नेत्र ही ब्रह्म है, क्योंकि न देखने वाले या नेत्रहीन पुरुष से क्या लाभ हो सकता है । पर यह तो बतलावें, क्या उसने उस नेत्रब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा को भी बतलाया है ? जनक ने कहा—नहीं । इस पर याज्ञवल्क्य ! तो कृपया आप ही उस अवशिष्ट तत्त्व को बतलावें । नेत्र ही आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है । इसकी उपासना सत्यरूप से करनी चाहिये क्योंकि सत्य उसका चतुर्थ पाद है । जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! सत्यता क्या है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—नेत्र ही सत्यता है

यदेव ते कश्चिद्बर्कुरिति नामतो वृष्णस्यापत्यं वार्ष्णश्चक्षुर्वै ब्रह्मेत्यादित्यो [1]देवता चक्षुष्यु[2]पनिषत्सत्यम् । यस्माच्छ्रोत्रेण श्रुतमनृतमपि स्यान्न तु चक्षुषा [4]दृष्टम् । तस्माद्वै सम्राट्पश्यन्तमाहुर्लोका अद्राक्षीस्त्वं हस्तिनमिति स चेदद्राक्षमित्याह तत्सत्यमेव

चक्षुर्ब्रह्मणः सत्यत्वं साधयति—यस्मादिति । 'उक्तमेवोपपादयति—यस्त्वति ।।४।।

तुमसे किसी आचार्य ने जो भी कहा है (वह हम सुनें) । वृष्ण के पुत्र वार्ष्णबर्कु नाम वाले आचार्य ने मुझसे कहा है कि आदित्य ही ब्रह्म है । चक्षु अधिकरण में अधिष्ठातृ देवता आदित्य है; आदित्य ब्रह्म की 'सत्य' यह उपनिषत् है क्योंकि कर्णेन्द्रिय से सुना हुआ मिथ्या हो सकता है, किन्तु आँखों से देखा हुआ मिथ्या नहीं हो सकता है । इसलिए हे सम्राट् ! देखने वाले से कहते हैं—क्या तुमने

---

१. चक्षुरधिकरणे तदधिष्ठातृदेवताऽऽदित्यः । २. आदित्यब्रह्मणः सत्यमित्युपनिषत् । ३. अनृतं स्यादित्यनुषङ्गः । ४. दृष्टस्य सत्यत्वमेव ।

चक्षुर्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ४ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे गर्दभीविपीतो भारद्वाजः श्रोत्रं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्भारद्वाजोऽब्रवीच्छ्रोत्रं वै ब्रह्मेत्यशृण्वतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति

क्योंकि हे राजन् ! नेत्र से देखने वाले को जब पूछते हैं, क्या तुमने देखा है, तब यदि वह कहे कि मैंने देखा है तो वह बात सत्य मानी जाती है। हे सम्राट् ! नेत्र ही परब्रह्म है। जो इसे इस प्रक जानकर इसकी उपासना करता है, उसे नेत्र त्यागता नहीं। सभी प्राणी उसका अनुसरण करते और वह देव होकर देवों को प्राप्त करता है। इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! इसके ब मैं आपको हाथी के समान बछड़ों को उत्पन्न करने वाली एक सहस्र गौएं देता हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा— मेरे पिता का यह सिद्धान्त रहा है कि शिष्य को कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले चाहिये ॥ ४ ॥

(तत्पश्चात् पुनः याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा—हे राजन् !) आपसे जो कुछ कि आचार्य ने कहा है, उसे मैं सुनना चाहता हूँ। जनक ने कहा—हें याज्ञवल्क्य ! भारद्वाज गोत्र उत्पन्न गर्दभीविपीत ने मुझसे कहा था कि श्रोत्र ही ब्रह्म है। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—उसने ब ठीक कहा है। जैसे माता, पिता और आचार्य से पूर्ण शिक्षित पुरुष अपने शिष्य को बतलावे, वै ही गर्दभीविपीत ने आप से कहा है। निःसन्देह श्रोत्र ही ब्रह्म है क्योंकि न सुनने वाले या ब पुरुष से लोक का क्या हित हो सकता है। पर यह तो बतलावें कि उससे उस 'श्रोत्र' ब्रह्म के आय

भवति। यस्त्व[1]न्यो ब्रूयादहमश्रौषमिति। तद्व्यभिचरति। यत्तु चक्षुषा दृष्टं तदव्यभि चारित्वात्सत्यमेव भवति ॥ ४ ॥

यदेव ते गर्दभीविपीत इति नामतो भारद्वाजो गोत्रतः श्रोत्रं वै ब्रह्मेति। 'श्रो

हाथी देखा है ? यदि इस पर वह कहे कि देखा है, तो वह सत्य होता है। यदि द्रष्टा से भिन्न कहे—मैंने सुना है तो उसमें व्यभिचार आ सकता है। किन्तु चक्षु द्वारा देखा हुआ अव्यभिचरित के कारण वह सत्य ही होता है ॥ ४ ॥

---

१. द्रष्टुभिन्नः। २. श्रोत्राधिकरणे तदभिमानिनी दिग्देवताश्रोत्रमित्युच्यते।

स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य श्रोत्रमेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽनन्त इत्येनदुपासीत काऽनन्तता याज्ञवल्क्य दिश एव सम्राडिति होवाच तस्माद्वै सम्राडपि यां कां च दिशं गच्छति नैवास्या अन्तं गच्छत्यनन्ता हि दिशो दिशो वै सम्राट्श्रोत्रँ श्रोत्रं वै सम्राट्परमं ब्रह्म नैनँ श्रोत्रं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभँ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥५॥

ग्रौर प्रतिष्ठा को बतलाया है। जनक ने कहा—नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे महाराज ! यह उपदेश तो एक पाद ब्रह्म का है। इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! तब तो एक पाद ब्रह्म का है। इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! तब तो ग्रवशिष्ट तत्त्व का उपदेश ग्राप ही मुझे करें। याज्ञवल्क्य ने कहा—श्रोत्र ही इसका ग्रायतन है, ग्राकाश ही इसकी प्रतिष्ठा है। इस श्रोत्र ब्रह्म की ग्रनन्तरूप से उपासना करनी चाहिये क्योंकि "ग्रनन्त" यह उसका चतुर्थ पाद है। जनक ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! ग्रनन्तता क्या है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—हे राजन् ! दिशाएँ ही ग्रनन्तता हैं। हे राजन् ! इसलिए कोई भी जिस किसी दिशा में जाता है तो वह उसका ग्रन्त नहीं पाता क्योंकि दिशाएँ ही ग्रनन्त हैं। हे राजन् ! दिशाएँ ही श्रोत्र हैं ग्रौर हे सम्राट् ! श्रोत्र ही परब्रह्म है जो इस प्रकार इसकी उपासना करता है; उसे श्रोत्र कभी नहीं छोड़ता। सभी भूत भेंट ग्रादि लेकर उसका ग्रनुसरण करते हैं तथा वह देव होकर देवों का ग्रनुसरण करता है। इस रहस्यमय बात को सुनकर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! मैं इसके बदले में ग्रापको हाथी के समान बछड़े जनने वाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ। उस याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरे पिता का यह सिद्धान्त था कि शिष्य के उपदेश द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन न लेवे ॥ ५ ॥

दिग्देवताऽनन्त इत्येनदुपासीत । का[1]ऽनन्तता श्रोत्रस्य । दिश एव श्रोत्रस्याऽऽनन्त्यं यस्मात्तस्माद्वै सम्राट्प्राचीमुदीचीं वा यां कांचिदपि दिशं गच्छति नैवास्या अन्तं

तुमसे किसी ग्राचार्य ने जो भी कहा है (वह हम सुनें)। (जनक बोले—) गोत्र से भारद्वाज, गर्दभीविपीतनाम के ग्राचार्य ने मुझे बतलाया है—'श्रोत्र ही ब्रह्म है। श्रोत्राधिकरण में श्रोत्राभिमानी दिग्देवता है, उसकी 'ग्रनन्त' इस रूप से उपासना करनी चाहिये। श्रोत्र की ग्रनन्तता क्या है ? हे सम्राट् ! क्योंकि दिशाएँ ही श्रोत्र की ग्रनन्तता हैं, इसलिए पूर्व या उत्तर किसी भी दिशा की ग्रोर

---

[1] पूर्ववदभेदाभेदाभिप्रायः प्रश्नः ।

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालो मनो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तज्जाबालोऽब्रवीन्मनो वै ब्रह्मेत्यमनसो हि किँ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य मन एवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽऽनन्द इत्येनदुपासीत काऽऽनन्दता याज्ञवल्क्य मन एव सम्राडिति होवाच मनसा वै सम्राट्स्त्रियमभिहार्यते तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते स आनन्दो मनो वै सम्राट्परमं

(फिर याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा—हे राजन् !) जो कुछ भी आपसे किसी आचार्य कहा है, उसे मैं सुनना चाहता हूँ। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! जबाला के पुत्र सत्यकाम मुझसे कहा था कि मन ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा—उसने उचित कहा है। जैसे माता, पिता आचार्य के द्वारा पूर्ण शिक्षा प्राप्त पुरुष अपने शिष्य से कहे, वैसे ही सत्यकाम ने आपसे कहा नि:संदेह मन ही ब्रह्म है, क्योंकि मन के बिना कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। पर यह तो बतला उस सत्यकाम ने क्या उस मनोब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा को भी बतलाया है ? जनक ने कहा—नहीं याज्ञवल्क्य ने कहा—हे महाराज ! तब तो यह उपदेश एक पाद ब्रह्म का ही है। इस पर जनक प्रार्थना की—हे याज्ञवल्क्य ! उस अवशिष्ट तत्त्व का उपदेश आप ही करें ! इस पर याज्ञवल्क्य कहा—हे सम्राट् ! मन ही आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है। यह मनोब्रह्म की उपासना आनन्द

गच्छति कश्चिदपि। अतोऽनन्ता हि दिशः। [1]दिशो वै सम्राट्श्रोत्रम्। [2]तस्माद्दिगानन्त्यमेव श्रोत्रस्याऽऽनन्त्यम् ॥ ५ ॥

सत्यकाम इति नामतो जबालाया अपत्यं जाबालः। चन्द्रमा [3]मनसि देवता

दिशामानन्त्येऽपि श्रोत्रस्य किमायातं तदाह—दिशो वा इति ॥५॥

जाते हुए उसका अन्त नहीं है। अतः दिशाओं की अनन्तता सिद्ध हो जाती है। हे सम्राट् ! दि ही श्रोत्र हैं, अतः दिशाओं का आनन्त्य ही श्रोत्र का आनन्त्य है ॥ ५ ॥

जबाला के पुत्र जाबाल सत्यकाम नामक आचार्य थे। (उन्होंने मुझे बताया) मन में चन्द्र

---

[1] दिशो वा इति—कथमेतत्। शृणु आकाशमेव तत्तत्प्रदेशसंबद्धं सत् तत्तद्दिगाख्यां लभते तदतिरिक्त सद्भावे प्रमाणाभावादतो न काचिदनुपपत्तिरित्यर्थः। [2] तस्मात्—दिशामेव श्रोत्रत्वात्। [3] मनसि अधिकरणे तदभिमानि चन्द्रदेवताऽत्र मनोब्रह्म।

ब्रह्म नैनं मनो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ६ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमाना-

करनी चाहिये, क्योंकि 'आनन्द' यह उसका चतुर्थ पाद है। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! नन्दता क्या है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—हे राजन् ! मन ही आनन्दता है क्योंकि पुरुष मन से ही को चाहता है और उसमें अपने अनुरूप पुत्र उत्पन्न करता है। वह आनन्दप्रद है। अतः हे सम्राट् ! संदेह मन ही परब्रह्म है। जो पुरुष ऐसा जानकर उस मनोब्रह्म की उपासना करता है, उसे मन ा नहीं छोड़ता। सभी प्राणी उसका अनुसरण करते हैं और वह देव होकर देवों को प्राप्त करता है। नक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! मैं इसके बदले हाथी के समान बछड़ों को जन्म देने वाली एक सहस्र एँ देता हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरे पिता का यह मत रहा है कि शिष्य को उपदेश द्वारा कृतार्थ ये बिना उसकी भेंट न लेवे ॥ ६ ॥

(फिर याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा—हे राजन् !) जो कुछ भी किसी आचार्य ने आप से हा है—उसे मैं सुनना चाहता हूँ। जनक ने उत्तर दिया—हे याज्ञवल्क्य ! शकलपुत्र विदग्ध ने मुझसे

ानन्द इत्युपनिषत्[1] । यस्मान्मन एवाऽऽनन्दस्तस्मान्मनसा वै सम्राट्स्त्रियमभिकामयमानोऽभिहार्यते[2] प्रार्थयत इत्यर्थः । तस्माद्यां स्त्रियमभिकामयमानोऽभिहार्यते तस्यां तिरूपोऽनुरूपः पुत्रो जायते स[3] आनन्दहेतुः पुत्रः स येन मनसा[4] निर्वर्त्यते तन्मन ानन्दः ॥ ६ ॥

विदग्धः शाकल्यो[5] हृदयं वै ब्रह्मेति । [6] हृदयं वै सम्राट्सर्वेषां भूतानामायतनम् ।

[7] तथाऽपि कथमानन्दत्वं मनसः संभवति तत्राऽऽह—स येनेति ॥६॥

ता है। मानो ब्रह्म की 'आनन्द' यह उपनिषत् है। क्योंकि मन ही आनन्द है, इसलिए हे सम्राट् ! न से स्त्री की कामना करते हुए 'अभिहार्यते' यानी उसकी प्राप्ति करता है। अतः जिस स्त्री की इच्छा रते हुए प्राप्ति करता है, उसीमें "प्रतिरूपः" यानी अनुरूप पुत्र उत्पन्न करता है। पुत्र आनन्द का हेतु । वह जिस मन के द्वारा निष्पादित होता है; वह मन आनन्द है ॥ ६ ॥

---

१. मनोब्रह्मणः । २. प्रार्थयत इति—अस्य स्थाने प्राप्यत इति पाठः साधीयान् प्रतिभाति । ३. आनन्दहेतुरिति—आनन्दहेतुत्वाच्छ्रुतावानन्द इत्युक्त इति भावः । ४. निष्पाद्यते । ५. हृदयाभिमानि प्रजापतिदेवता हृदयम् । ६. हृदयस्य स्थिततां साधयति—हृदयमिति । ७. उक्तविधया पुत्रस्यानन्दत्वेऽपि ।

चार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद्धृदयं वै ब्रह्मेत्यहृदयस्य हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य [1]हृदयमेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा स्थितिरित्येनदुपासीत का स्थितता याज्ञवल्क्य हृदयमेव सम्राडिति होवाच हृदयं वै सम्राट्सर्वेषां भूतानामायतनꣳ हृदयं वै सम्राट्सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा हृदये ह्येव सम्राट्सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति हृदयं वै सम्राट्परमं ब्रह्म नैनꣳ हृदयं जहाति

कहा था, हृदय ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा—शाकल्य का कहा हुआ ठीक ही है। जैसे माता और आचार्य से पूर्ण शिक्षित पुरुष अपने शिष्य को उपदेश करे, वैसे ही शाकल्य ने नि:सन्देह हृदय ही ब्रह्म है क्योंकि हृदयशून्य पुरुष को क्या लाभ हो सकता है। पर बतलावें कि उस शाकल्य ने हृदयब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाए हैं? जनक ने नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे महाराज! यह उपदेश एक पाद ब्रह्म का ही है। इस पर कहा—हे याज्ञवल्क्य! तब तो उस अवशिष्ट तत्त्व को आप ही बतलावें। याज्ञवल्क्य ने कहा ही आयतन है, और आकाश प्रतिष्ठा है। इसकी उपासना स्थितिरूप से करनी चाहिये। पूछा—स्थितता क्या है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—हे राजन्! हृदय ही स्थितता है। हे हृदय ही सम्पूर्ण भूतों का आयतन है और हृदय ही सबका आश्रय है क्योंकि सभी भूत हृद

नामरूपकर्मात्मकानि हि भूतानि हृदयाश्रयाणीत्यवोचाम शाकल्यब्राह्मणे हृदय चेति। [2]तस्माद्धृदये ह्येव सम्राट्सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति। तस

कथं हृदयस्य सर्वभूतायतनत्वं तत्प्रतिष्ठात्वं च तदाह—नामरूपेति। तस्मादिति न्यायपरामर्शः। भूतानां हृदयप्रतिष्ठत्वे फलितमाह—तस्माद्धृदयमिति ॥७॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां चतुर्थाध्यायस्य
प्रथमं ब्राह्मणम् ॥१॥

विदग्धशाकल्य ने "हृदय ही ब्रह्म है" ऐसा मुझे उपदेश किया है। हे सम्राट्! प्राणियों का आयतन हृदय है। नाम, रूप और कर्मात्मक भूत प्राणी हृदय के आश्रित और हृदय में प्रतिष्ठित हैं—ऐसा शाकल्यब्राह्मण में प्रतिपादन किया जा चुका है।

---

[1] हृदयम् आध्यात्मिकमन्त:करणम् तदाश्रयो वपुरवयवः पलमित्यप्याहुः। [2] शाकल्यब्राह्मणोक्त अवतरणोक्तार्थम्।

सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥७॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्यायस्य
प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

(अथ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम्)

[1]जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्तेऽस्तु

थत हैं। हे महाराज ! हृदय ही परब्रह्म है। इस प्रकार जानता हुआ जो कोई इस हृदयब्रह्म की पासना करता है, उस पुरुष को हृदयब्रह्म कभी छोड़ता नहीं और सभी प्राणी उसी के पास जाते । वह देव होकर देवों को प्राप्त होता है। तब जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! मैं आपको हाथी के मान बछड़े जनने वाली एक हजार गौएँ देता हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरे पिता का यह सिद्धान्त था, शिष्य को उपदेश द्वारा कृतार्थ किये बिना उसके धन को स्वीकार करना उचित नहीं है ॥ ७ ॥

॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

विदेहराज जनक ने राजसिंहासन से उठ याज्ञवल्क्य के समीप जाकर कहा—हे याज्ञवल्क्य !

स्थितिरित्युपासीत हृदये च [2]प्रजापतिर्देवता ॥७॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य
प्रथमं ब्राह्मणम् ॥१॥

जनको ह वैदेहः । यस्मा[3]त्सविशेषणानि सर्वाणि [4]ब्रह्माणि जानाति याज्ञवल्क्य-

---

[5]पूर्वस्मिन्ब्राह्मणे [6]कानिचिदुपासनानि ज्ञानसाधनान्युक्तानि । इदानीं ब्रह्मणस्तैर्ज्ञेयस्य जागरा-

---

सम्राट् ! हृदय में भी सभी प्राणी प्रतिष्ठित रहते हैं। इसलिए हृदय की "स्थिति" इस रूप से उपासना करे। हृदयाधिकरण में हृदयाभिमानी प्रजापति देवता है ॥ ७ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् चतुर्थाध्याय में प्रथम ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य
का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ १ ॥

आत्मानं शास्त्यतो राजा यथाविद्युपसन्नवान्" ॥
१. जनको हेति । "द्वितीये ब्राह्मणे जाग्रत्स्वप्नसुप्तिमुखान्निजम् । ब्रह्मविद्याविकारत्वादित्येतदधुनोच्यते"
वा० सा० १ ॥ इति । "उपासनानां सर्वेषामैकात्म्यज्ञाननिष्ठता । मुक्तिफलत्वं वक्तुमिदं ब्राह्मणमित्यर्थः ॥
॥ वा० ३ ॥ ब्रह्मविद्याप्रकरणस्थोपास्तीनां तद्द्वारा (ब्रह्मविद्याद्वारा) ३. सविशेषणानि—आयतनादिविशेषण-
२. हृदयाधिकरणे तदभिमानिप्रजापतिदेवता ब्रह्मत्वेन चिन्तनीया । ५. षडाचार्यब्राह्मणे । ६. षड् ।
सहितानि । ४. ब्रह्माणि—वाक्प्राणचक्षुःश्रोत्रमनोहृदयाख्यानि ।

याज्ञवक्यानु मा शाधीति स होवाच यथा वै सम्राण्म-
हान्तमध्वानमेष्यन्रथं वा नावं वा समाददीतैवमेवैता-
भिरुपनिषद्भिः समाहितात्माऽस्येवं* वृन्दारक आढ्यः

आपको नमस्कार है, आप मुझे उपदेश करें । (ज्ञानित्वाभिमान त्यागकर शिष्यभाव से आ जनक के प्रति) याज्ञवल्क्य ने कहा—हे राजन् ! जैसे लम्बे मार्ग से चलने वाला पुरुष रथ या का आश्रय ले, वैसे ही पूर्वोक्त उपासनाओं (के अनुष्ठान) से तुम अत्यन्त समाहित चित्त हो

स्तस्मादा[1]चार्यकत्वं हित्वा जनकः कूर्चादासनविशेषादु[2]त्थायोपसमीपमवसर्प[3]न्पाद पतन्नित्यर्थः । उवाचोक्तवान्नमस्ते तुभ्यमस्तु हे याज्ञवल्क्यानु मा शाध्य[4]नुशाधि मामि

दिद्वारा ज्ञानार्थं ब्राह्मणान्तरमवतारयति—जनको हेति । राज्ञो ज्ञानित्वाभिमाने शिष्यत्वविरो [5]पनीते मुनिं प्रति [6]तस्य शिष्यत्वेनोपसत्तिं दर्शयति—यस्मादिति । नमस्कारोक्तेरु[7]द्देश्यमुपन्यस्य अनु मेति । [8]अभीष्टमनुशासनं कर्तुं [9]प्राचीनज्ञानस्य [10]फलाभासहेतुत्वोक्तिद्वारा परमफलहेतुरा

"जनको ह वैदेहः" (इस मन्त्र का व्याख्यान आरम्भ किया जाता है) । क्योंकि या आयतनादि विशेषणों के सहित (वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मन-हृदयाख्यरूप) ब्रह्म को जान इसलिए कुत्सित ज्ञानित्वाभिमान को छोड़कर जनक "कूर्चादुपावसर्पन्" यानी कूर्चासनवि उठकर याज्ञवल्क्य के समीप जा चरणों में गिरकर "उवाच" अर्थात् बोले —हे याज्ञवल्क आपको नमस्कार हो । "अनु मा शाधि" अर्थात् मुझे शिक्षा यानी उपदेश दीजिए । "शाधीति"

---

१. आचार्यकत्वं—कुत्सितं ज्ञानित्वाभिमानित्वम् । २. कूर्चादित्येषा ल्यब्लोपे पञ्चमीति सू उत्थायेति । संभावितोपदेशलाभार्थमिति शेषः । ३. पादयोर्निपतन्निति । जिज्ञासुभिर्मदमानादि त्यक्त्वा सेवा कार्या । "आचार्यवान् पुरुषो वेद", "आचार्योपासनं शौचमि"त्यादि श्रुतिस्मृतिभ्य आचार्यो ज्ञानार्थत्वस्य सुप्रसिद्धत्वादित्यनेन सूचितम् । ४. अनुशाधीति—शिक्षय येन विनाऽहमकृतार्थं इत्युक्तं त्वया ज्ञानमुपदिशेति यावत् । ५. अपनीत इति—नाऽननुशिष्य हरेतेत्युक्त्येत्यादिः । तदुक्तं वार्तिके—"अनु स नृपं यदा नैच्छद्धनं नृपात् । अननुशिष्टहेतूक्त्या मती राज्ञस्तदाऽभवत् ॥ यथोक्ता नानुशिष्टिश्चे शासनम् । संभावितानुशिष्टयर्थं तं राजोपससाद ह" ॥ १-२ ॥ इति । मतिमेवानुवदति—यथो तथाविधमतिजन्मानन्तरं राजा किं कृतवानिति वीक्षायामाह—संभावितेति ॥ ६. राज्ञः । ७. प्रयो ८. याज्ञवल्क्यः स्वाभीष्टमुपदेशम् । ९. पूर्वोक्तोपासनस्य । १०. उपासनफलस्य नश्वरतया फलाभासत्वं

*एवं वृन्दारक इत्यादि । अत्र दशवार्तिकानि वर्तन्ते—"एवं वृन्दारकः पूज्यः आढ्यो मानुषवित्त तथैवाधीतवेदश्च युक्तः साधनसंपदा । गतिसाधनवत्त्वाच्च गन्तव्यमनुमीयते ॥ अध्यात्मादिव्यवच्छेदान् उपासनैः । आविरिञ्चादितो भूप यास्यसि क्वेति भण्यताम् ॥ पप्रच्छ याज्ञवल्क्योऽत इतस्त्वं क्व गमि सर्वस्यैवाऽऽत्मभूतत्वाद्गन्तव्यं न स पश्यति ॥ ननूक्तोपनिषद्भिर्हि गन्तव्यं प्राक्प्रबोधितम् । देवो भूत्वेति वत्कस्मादिह पृच्छ्यते ॥ नाहं वेदेति च नृपो जानन्नप्यब्रवीत्कथम् । नैष दोषो यतोऽप्राक्षीद्याज्ञवल्क्यो नरा

सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसीति नाहं तद्भगवन्वेद यत्र गमिष्यामीत्यथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति ब्रवीतु मे भगवानिति ॥१॥

साथ ही पूज्य, धनवान्, अधीतवेद तथा उक्त उपासना से युक्त भी हो। यह सब होने पर भी यह बतलाओ तो सही कि इतने साधनसम्पन्न हो, तुम इस देह से छूटकर कहाँ जाओगे ? जनक ने कहा—हे भगवन् ! जहाँ जाऊँगा, उसे मैं जानता नहीं। तब याज्ञवल्क्य ने कहा—अब मैं उस तत्त्व को तुम्हें अवश्य बतलाऊँगा, जहाँ तुम जाओगे। जनक ने कहा—भगवन् यदि मुझपर आप प्रसन्न हैं, तो उसे अवश्य बतलावें ॥ १ ॥

इतिशब्दो वाक्यपरिसमाप्त्यर्थः । [1]स होवाच याज्ञवल्क्यो यथा [2]वै लोके हे सम्राड्महान्तं दीर्घमध्वानमेष्यन्गमिष्यन्रथं वा स्थलेन गमिष्यन्नावं वा जलेन गमिष्यन्समाददीत।

मेवेति विवक्षित्वा [3]तत्र राज्ञो जिज्ञासामापादयति—स हेत्यादिना । यथोक्तगुणसंपन्नश्चेदहं तर्हि

'इति' पद वाक्यपरिसमाप्ति के लिए है। उस याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सम्राट् ! लोकव्यवहार में जिस प्रकार 'महान्तं' यानी लम्बे मार्ग को जाने वाला पुरुष स्थल मार्ग से जाने पर रथ और जलमार्ग से

पूर्वंभूमेर्मुच्यमान उत्तरां कां गमिष्यसि। देवतोपामनाद्यैतज्ज्ञानोत्पत्त्यै विवक्षितम् ॥ उपासनानि सर्वाणि परविद्याधिकारतः। क्रममुक्तिफलानीति क्व गमिष्यसिगीरतः ॥ राज्ञस्तु तदविज्ञानान्नाहं वेदेति युज्यते" ॥६-१४॥ इति । एवमित्यादेरर्थमाह—एवमिति ॥ उक्तोपनिषत्क इत्यस्यार्थमाह—युक्त इति । आचार्यैरुक्तास्तुभ्यमुपनिषदोऽतो मुक्तिफलज्ञानसामग्र्या युक्तत्वान्न त्वं साधनमधिकृत्य प्रष्टव्योऽसीत्यर्थः। अस्तु तर्हि साध्यमधिकृत्य प्रश्नस्तत्रापि न तन्मात्रे सोऽस्तीत्याह—गतीति ॥ पारिशेष्येण साध्यविशेषे प्रश्नं वदन्निन इत्यादेरर्थमाह—अध्यात्मेति ॥ स्वयं जानन्मुनी राजानमज्ञं किमिति पृच्छति तत्राऽऽह—पप्रच्छेति। गन्तव्यं राजा न जानाति चेत्त प्रति तद्व्याख्यातव्यमित्यभिप्रायोऽतःशब्दार्थः । नाहमित्यादेस्तात्पर्यमाह—सर्वस्येति। उक्तोपास्तिफलस्याग्न्यादिभावस्य स्वरूपत्वादन्यस्य चाज्ञानादित्यर्थः ॥ गन्तव्यप्रश्नमाक्षिपति—नन्विति । गतिहेतूनां गन्तव्यमन्तरेणापर्यवसानद्योतनार्थो हिशब्दः ॥ न जानामीति प्रत्युक्तिरपि न युक्तेत्याह—नाहमिति । तत्र प्रश्नाक्षेपं परिहर्तुं प्रश्नप्रत्युक्त्योराक्षेपं परिहरति—नैष इति। आक्षेपाभावे वक्ष्यमाणं हेतुमाह—यत इति। तत्र प्रश्नस्वरूपमनुवदति—अप्राक्षीदिति। उपास्तीनां देवभावः साक्षात्फलं तत्पूर्वमेवोक्तं ज्ञानं च न च तत्र प्रश्नप्रत्युक्ती ज्ञानद्वारा ब्रह्मभावोऽपि तासां फलं तदिदानीं पृच्छ्यते मुनिनेत्यर्थः ॥ कथं तासां धीद्वारा मुक्तिफलत्वं तदाह—देवतेति । आदिपदेन शुद्धिद्वारा धीसाधनं कर्म गृह्यते ॥ प्रश्नोपपत्ति निगमयति—उपासनानीति ॥ इत इत्यादेरर्थं स्वपक्षे दर्शयित्वा प्रतिवचनोपपत्तिमाह—राज्ञस्त्विति । तदविज्ञानाद्ब्रह्मभावफलाज्ञानादित्यर्थः। भर्तृप्रपञ्चमतमाह—"अन्ये गतिविवक्षार्थं मुनेः प्रश्नं प्रचक्षते ॥ साक्षाद्ब्रह्मविदप्येष नाऽऽत्माप्तौ गतिविन्नृपः। गतिर्न विदिता तस्य तां स परमात्मैव गन्तव्यः परमात्मविदा ननु। अथ कः संशयो येन स तेनैवं नियुज्यते ॥

---

[1] मुमुक्षवे द्वयं वाच्यं ज्ञानं तत्साधनं च । तत्र ज्ञानसाधनं राज्ञोऽस्तीति दृष्टान्तपूर्वकं कथयतीत्याह—स होवाचेति । [2] वै—प्रसिद्धः कश्चन । [3] अभिप्रेत्य आत्मज्ञाने ।

एवमेवैतानि ब्रह्माण्येताभिरुपनिषद्भिर्युक्तान्युपासीनः समाहितात्माऽस्यत्यन्तमेताभिरु
निषद्भिः संयुक्तात्माऽसि । न केवलमुपनिषत्समाहित एवं वृन्दारकः पूज्यश्चाऽऽढ्य
ईश्वरो न दरिद्र इत्यर्थः । अधीतवेदोऽधीतो वेदो येन स त्वमधीतवेद उक्ताश्चोपनिष
आचार्यैस्तुभ्यं स त्वमुक्तोपनिषत्क एवं सर्वविभूतिसंपन्नोऽपि सन्भयमध्यस्थ एव परम

कृतार्थत्वान्न मे कर्तव्यमस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति । याज्ञवल्क्यो राज्ञो जिज्ञासामापाद्य पृच्छति-

---

जाने पर नौका का आश्रय ले, उसी प्रकार तुम भी "एताभिरुपनिषद्भिः" इन उपासनाओं से यु
इन ब्रह्मों की उपासना करके "समाहितात्मा" यानी अत्यन्त संयुक्तचित्त हो गया है; केवल उपासना
से संयुक्त नहीं है। इसी प्रकार 'वृन्दारकः" यानी पूज्य, "आढ्यः" यानी लौकिकधनसम्पन्न है अर्था
दरिद्र नहीं है। तुम "अधीतवेदः" वेद अध्ययन किये हुए हो, और "उक्तोपनिषत्कः" यानी
आचार्यों से उपनिषत् की शिक्षा प्राप्त किये हुए हो। इस प्रकार सम्पूर्ण विभूतियों से सम्पन्न होने

---

१. उपनिषद्भिः प्रज्ञाप्रियसत्यानन्त्यानन्दस्थितिनामभिः । २. एवमिति—समाहितस्त्वमित्यर्थं इत्याह
वस्तुतो वर्तमानावस्थाभिनायकोऽयमेवंकारः । ३. लौकिकधनसंपन्नः । ४. षड्भिः । ५. उक्तोपनि
इति । अनेन दैववित्तवित्ततोक्ता । तथा च मुक्तिफलकज्ञानसामग्र्या युक्तत्वान्न त्वं साधनमधिकृत्य (साधनवि
प्रष्टव्योऽसीति भावः । ६. भयमध्यस्थः—अविद्यातत्कार्यनिमग्नः । ७ पृच्छतीति—ज्ञानसामग्र्यां सत्या
प्रतिबन्धावशाद्राज्ञो ज्ञानं चेन्न भविष्यति तर्हि तद्वक्ष्यामीत्याशयवान् मुनिस्तदस्ति न वेति बोद्धुं ज्ञानसा
प्रनाड्योपासनफलभूतां मुक्तिं पृच्छतीत्यर्थः ।

तस्मै विवक्षति । एवमर्थमुपोद्घातमेतं स कृतवान्मुनिः ॥ श्रुतौ यद्यपि नैतस्यां श्रूयते गतिचोदना । तथा
गतिरेवेयमुत्तरत्र स्फुटं हि तत् ॥ गतिविज्ञानवैकल्यात्परमात्मविदप्यसौ । न जाने क्व गमिष्यामि कथं वे
ब्रवीन्नृपः ॥ इति व्याचक्षते केचिद्ग्रन्थमेतं महाधियः । श्रुत्यक्षरानुसारेण नायमर्थोऽत्र लभ्यते ॥ ब्रह्मवित्त्वे
राज्ञोऽस्य मितिं नोपलभामहे । ग्रन्थे नानन्तरे यस्मादात्मज्ञानं समीरितम् ॥ गत्यर्थो नापि च प्रश्नः
गमिष्यसिलक्षणः । गन्तव्यं पृच्छ्यते यस्मान्न पिपृच्छिषिता गतिः ॥ यत्साक्षादित्युपक्रम्य य आत्मेत्युपसंहृत
तदन्यस्य तदात्मत्वाद्ब्रह्मणि स्यात्कथं गतिः ॥ गतिगन्तव्यगन्त्रादेरोतप्रोतात्मवर्त्मना । ब्रह्मात्मनि समाप्तत्वाद्
का परमात्मनि ॥ अब्देशा पृथिवी कृत्स्ना तेजोदेशं तथा जलम् । वायुदेशं तथा तेजो वियद्देशोऽनिलोऽखिलः
स्वार्थदेशः परार्थोऽर्थः स्वप्नदर्शनवद्यतः । आत्ममात्रैकयाथात्म्यान्न मुक्तौ स्याद्गतिस्ततः ब्रह्मैव सन्नवाप्नो
ब्रह्मेति वचनं स्फुटम् । गन्तृगन्तव्ययोर्भेदे विरुध्येत न संशयः ॥ क्रियाकारकभेदे हि गतिः सर्वत्र दृश्यते
गन्तव्य आत्मनि कुतः क्रियाकारकसंभवः ॥ नैवात्र गतिरस्तीति स्पष्टमागमशासनम् । सर्वमात्मैव ब्रह्मैव तथ
श्रुतिशासनम् ॥ तमोमात्रातिरेकेण व्यवधानान्तरं न च । यस्मादस्ति ततो मुक्तौ नाऽऽत्मनो गतिरिष्यते
अध्यात्मादिपरिच्छेदाद्यथोक्तोपासनाश्रयात् । विमुच्यमानः क्वेतस्त्वं गमिष्यसि वदाऽऽशु मे ॥ नाहं तद्भगवन्
यत्र यास्याम्यतः परम् । देवतावर्त्मना नाहं गन्तव्यं वेद्मि किंचन ॥ देवतावाप्तिमात्रं हि त्वत्तः प्राक्श्रुतवानहं
उक्तोपासाफलं नातो गन्तव्यं वेद्मि किंचन" ॥ १४-३२ ॥ इति । गतिविवक्षार्थं जनकं प्रति ब्रह्मप्राप्ति
वक्तुम् ॥ किमिति तं प्रति गतिर्वक्तव्या तस्य ब्रह्मवित्त्वात्तत्प्राप्तिमार्गावगतेरपि संभवादित्याशङ्क्याऽऽह
साक्षादिति । परोक्तं प्रश्नाक्षेपमुत्थापयति—परमात्मैवेति । अथेत्येवं सतीत्यर्थः । सशब्दो राजविषयः । वैदे
मुनिनेत्यर्थः ॥ तदीयं परिहारमाह—गतिरिति । उक्तं हि यज्जनको वेद तत्त्वं न तत्प्रतिपत्तौ मार्गं

त्मज्ञानेन विनाऽकृतार्थ एव तावदित्यर्थः । यावत्परं ब्रह्म न वेत्सि । इतोऽस्माद्देहाद्विमुच्यमान एताभिनौं रथस्थानीयाभिः समाहितः क्व कस्मिन्गमिष्यसि किं वस्तु [1]प्राप्स्यसीति । [2]नाहं तद्वस्तु भगवन्पूजावन्वेद जाने [3]यत्र [4]गमिष्यामीति । अथ यद्येवं न जानीषे [5]यत्र

इत इति । परवस्तुविषये गतेरयोगात्प्रश्नविषयं [6]विवक्षितं संक्षिपति—किं वस्त्विति । राज्ञा स्वकीयमज्ञत्वमुपेत्य शिष्यत्वे स्वीकृते प्रत्युक्तिमवतारयति—अथेति । [7]तत्रापेक्षितमथशब्दसूचितं पूरयति—

भी परमात्मज्ञान के बिना तुम अविद्या और उसके कार्य में निमग्न हो अर्थात् तब तक तुम अकृतार्थ ही हो, जब तक परब्रह्म के स्वरूप को नहीं जानते हो । तुम "इतः" अर्थात् इस देह से छूट कर इन

१. प्राप्स्यसीति । नित्यप्राप्तस्य ब्रह्मणः प्राप्तिस्त्वविद्याव्यवधानविगमेनोपचर्यते । औषधेन ज्वरादिविगमे स्वरूपभूतस्वास्थ्यप्राप्तिवदिति ध्येयम् । २. नाहमिति—उक्तोपास्तिफलस्याग्न्यादिभावस्य स्वरूपतया (संपन्नतया) प्राप्यत्वाभावादन्यस्य (फलस्य) चाज्ञानादिति भावः । ३. यत्र गतः कृतार्थः । ४. स्यामित्यर्थः । ५. यत्रेत्यादि—यत्र गमिष्यसीति वक्ष्यमाणस्यैव विवरणमिदम् । ६. अभिप्रेतम् । ७. प्रतिवचनवाक्ये ।

तद्दर्शनेन परिशोध्य इति गतिर्विवक्षिता चेत्सैवोच्यतां किं प्रश्नेनेत्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति । गतिकथनार्थं क्व गमिष्यसीत्येवं पृष्टवानित्यर्थः । मार्गं वक्तुमुपोद्घातः प्रश्न इत्ययुक्तमिन्धो हेत्यादि प्रतिवचने गत्यनिर्देशादित्याशङ्क्याऽऽह—श्रुताविति । सैव पृच्छ्यमानेत्यत्र हेतुमाह—उत्तरत्रेति । यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरतीत्यत्र गतिवचनस्य स्पष्टत्वादित्यर्थः ।। नाहमित्यादिवाक्यस्य परोक्तमर्थमाह—गतीति । यथाऽऽहुर्जानन्नपि परमात्मानं दर्शनमार्गस्य परोक्षत्वादाहेति ।। परपक्षमुपसंहरति—इति व्याचक्षत इति । श्रुतेरनुपपत्तेर्वा गतिप्रश्नकल्पना नाऽऽद्य इत्याह—श्रुतीति । क्व गमिष्यसिवाक्यमत्रेति परामृश्यते ।। ब्रह्मविद्गन्तव्यं ब्रह्म राजा जानात्यतस्तत्प्रश्नानुपपत्तेर्गतिप्रश्न इति द्वितीयमाशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मेति । पूर्वब्राह्मणमेवात्र प्रमाणमित्याशङ्क्याऽऽह—ग्रन्थ इति ।। कथं श्रुत्यक्षरानुरोधेन गतिप्रश्नासिद्धिर्वाक्यशेषात्तदुपपत्तेरुक्तत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—गत्यर्थं इति । अपिचशब्दाववधारणे । उक्तमर्थमक्षरानुसारेण स्फोरयति—गन्तव्यमिति ।। ब्रह्मात्मनोरैक्यं श्रुतं तद्विरोधात्तद्विषयगत्यनुपपत्तेश्च न गतिप्रश्नोपपत्तिरित्याह—यदिति ।। ब्रह्मणोऽन्यच्चेदस्ति तस्य तर्हि तादात्म्यं विरुद्धं स्थितस्य नष्टस्य वाऽन्यस्यान्यत्वायोगात्तत्कथं ब्रह्मणि गत्यनुपपत्तिस्तत्राऽऽह—गतीति ।। ओतप्रोतरूपेण ब्रह्मणि सर्वस्य समाप्ति यदिदं सर्वमप्स्वित्यादिनोक्तां स्मारयति—अब्देशेति ।। भूतानामोतप्रोतभावेन नभसि पर्यवसानेऽपि कथं ब्रह्मणि गत्यभावस्तत्राऽऽह—स्वाप्रेति । स्वप्नाख्ये दर्शने दृश्यस्य द्रष्टुरविद्योत्थस्य तदतिरेकेणाभाववद्यतोऽनात्मा प्रतीचि कल्पितोऽतोऽधिष्ठानात्ममात्रस्यैव तद्रूपत्वान्न नित्यमुक्ते परस्मिन्गतिर्युक्तेत्यर्थः ।। श्रुतिविरोधाच्च तस्मिन्न गतिरित्याह—ब्रह्मैवेति ।। प्रत्यग्ब्रह्मणि गत्ययोगे हेत्वन्तरमाह—क्रियेति । दृष्टेरविगानद्योतनार्थो हिशब्दः ।। न तस्येत्यादिना गतिनिषेधाच्च न तस्मिन्गतिरित्याह—नैवेति । इदं सर्वं यदयमात्मा ब्रह्मैवेदं सर्वमित्यादिश्रुतिविरोधाच्च न ब्रह्मात्मनि गतिरित्याह—सर्वमिति ।। किंच ब्रह्मात्मनोरज्ञानमेव व्यवधानं तच्च ज्ञानादपनीयते तत्कुतोऽत्र गतिरित्याह—तमोमात्रेति ।। भर्तृप्रपञ्चपक्षं निराकृत्य स्वपक्षमनुवर्तयन्नितइत्यादिवाक्यार्थमुक्तमनुवदति—अध्यात्मादीति । निःसंदिग्धमुत्तरं श्रोतुः सुखकरमिति दर्शयितुमाशुशब्दः ।। तदुक्तमपि कस्मान्न बुध्यसे तत्राऽऽह प्रत्युक्तिमादत्ते—नाहमिति । तां व्याचष्टे—देवतेति । तदुपास्तिद्वारेत्यर्थः ।। तदतिरिक्तमपि परंपरयोपास्तिफलं ब्रह्मत्वाख्यं—देवतावाप्तीति । भवता तावन्मात्रस्योक्तत्वादिति हिशब्दार्थः । तदतिरिक्तमपि परंपरयोपास्तिफलं ब्रह्मत्वाख्यं मया विवक्षितमित्याशङ्क्याऽऽह—नात इति । अभिप्रायमात्रेण विनोक्तिमतिगम्भीरं वस्तु दुर्ज्ञानमिति भावः ।।

[1]इन्धो ह वै नामैष [2]योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तं वा एतमिन्धꣳ सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणे[3]व परोक्षप्रिया[4] इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥२॥

इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा—यह जो दाहिनी आँख में पुरुष है । निःसन्देह यह इन्ध ना वाला है, उसी प्रसिद्ध इस इन्धनामा सत्य पुरुष को "इन्द्र" ऐसे परोक्ष नाम से कहते हैं क्योंकि देवग प्रायः परोक्षप्रिय होते हैं और प्रत्यक्ष वस्तु से द्वेष करते हैं ॥ २ ॥

गतः कृतार्थः स्या अहं वै ते तुभ्यं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति । ब्रवीतु मे भगवानिति यदि प्रसन्नो मां प्रति । शृणु ॥१॥

इन्धो ह वै नाम । इन्ध इत्येवंनामा । [5]यश्चक्षुर्वै ब्रह्मेति पुरोक्त आदित्यान्तर्गत पुरुषः स एष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्नक्षणि [6]विशेषेण व्यवस्थितः । स च सत्यनामा । तं व

यद्येवमिति । [7]आज्ञापनमनुचितमिति शङ्कां वारयति—यदीति । प्रसादाभिमुख्यमात्मनः सूचयति[8]—शृण्विति ॥ १ ॥

[9]विश्वतैजसप्राज्ञानुवादेन तुरीयं ब्रह्म दर्शयितुमादौ विश्वमनुवदति—इन्ध इति । कोऽसा विन्धनामेति चेत्तमाह—यश्चक्षुरिति । अधिदैवतं पुरुषमुक्त्वाऽध्यात्मं तं दर्शयति—योऽयमिति । [10]तस [11]पूर्वस्मिन्नपि ब्राह्मणे प्रस्तुतत्वमाह—स चेति । प्रकृते पुरुषे विदुषां संमतिमाह—तं वा एतमिति

नौका और रथस्थानीय उपासनाओं से संयुक्तचित्त होकर "क्व गमिष्यसि" यानी किस वस्तु की प्रा करोगे ? (इस पर जनक बोले—) 'भगवन्' यानी हे पूज्य ! मैं उस वस्तु को नहीं जानता, जहाँ जाकर कृतार्थ हो जाऊँगा । (याज्ञवल्क्य बोले—) यदि तुम ऐसी वस्तु को नहीं जानते, जहाँ जाक कृतार्थता लाभ करोगे; तो मैं "ते" यानी तुम्हें बतलाता हूँ, जहाँ जाओगे । (जनक बोले—) हे भगवन् ! यदि मुझ पर आप प्रसन्न हैं, तो मुझे उपदेश कीजिए । (याज्ञवल्क्य जनक से बोले—) सुनो ॥ १ ॥

---

१. इन्धे दीप्यते स्थूलार्थभोक्तृत्वेन जागरे सदा स्फुरणादितीन्धो ह वै नाम प्रसिद्धः । एष आदित्यान्तर्ग चक्षुर्वै ब्रह्मेत्यादावुक्त इत्यर्थः । २. इति तदर्थमाख्याय तस्य त्वमर्थत्वविवक्षयाऽऽह—योऽयमिति । इव शब्दोऽवधारणे । ४. अत्रोभयत्र शिष्टो लोको दृष्टान्तः । ५. बृ० उ० ४।१।४ । ६. विशेषेणेति तथा चोक्तं वार्तिके—"श्रुत्येह दृष्टोऽतिशयः कश्चित्स्याद्दक्षिणेऽक्षणि । अङ्गं वा वीर्यवद्दृष्टं पुंसां प्रायं दक्षिणम् ॥ दक्षिणाक्षिग्रहस्तस्माद्भोक्तृत्वप्रतिपत्तये" ॥ ३७-३८ ॥ इति । विश्वस्य पुरस्वामिनो भोक्तृत्व लौकिकस्वामिवत् क्वचिद्व्यक्तस्य वक्तव्यं दक्षिणे चक्षुषि तद्व्यक्तिः श्रुत्यनुभवसिद्धा तेन तद्भोक्तृत्वसिद्ध विशेषोक्तिरिति फलितमाह—भोक्तृत्वेति ॥ ७. ब्रवीत्विति प्रार्थनायामधीष्टे वा लोण्न तु विधावित्याह—आज्ञापनमिति । शिष्यस्य गुरुं प्रतीत्यादिः । ८. मुनिः । ९. विश्वेति—विश्वाद्यनुवादेन वक्तव्यतया प्रति ज्ञातं तुरीयं ब्रह्म प्रतिपादयितुमादौ वैश्वानराभिन्नं विश्वं जाग्रदभिमानिनं दर्शयतीत्यर्थः । अथेत्यादि गन्तव्योक्ति प्रतिज्ञाय तां विना किमिति जागरिताद्युक्तिरित्याशङ्क्य तादर्थ्येनेति मत्वा जाग्रदभिमानिनं विश्व दर्शयति—इन्ध इतीति पाठान्तरम् । १० विश्वस्य । ११. सत्यमित्येनदुपासीतेत्यत्र बृ० उ० ४।१।४।

'अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषाऽस्य पत्नी विराट्तयोरेष सꣳस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य

इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा—यह जो बायें नेत्र में पुरुषाकार पुरुष है, यह पूर्वोक्त पुरुष ी विराट्नामा स्त्री है। जो यह हृदय में आकाश है, उन दोनों पति-पत्नी के मिलने का स्थान है।

तं पुरुषं दीप्तिगुणत्वात्प्रत्यक्षं नामास्येन्ध इति तमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते 'परोक्षेण । स्मात्परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः प्रत्यक्षनामग्रहणं द्विषन्ति । 'एष त्वं वैश्वारमात्मानं संपन्नोऽसि' ॥२॥

अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषाऽस्य पत्नी यं त्वं वैश्वानरमात्मानं संपन्नोऽसि स्यास्येन्द्रस्य भोक्तुर्भोग्यैषा पत्नी विराडन्नं भोग्यत्वादेव । तदेतदन्नं चात्ता चैकं मिथुनं स्वप्ने । कथम् । तयोरेष इन्द्राण्या इन्द्रस्य चैष संस्तावः संभूय यत्र संस्तवं कुर्वाते

न्धत्वं साधयति—दीप्तीति । 'प्रत्यक्षस्य परोक्षेणाऽऽख्याने हेतुमाह—यस्मादिति ॥ २ ॥

'एकस्यैव वैश्वानरस्योपासनार्थं "प्रासङ्गिकमिन्द्रश्चेन्द्राणी चेति मिथुनं कल्पयति—अथेत्यादिना । ासङ्गिकव्यानाधिकारार्थोऽथशब्दः । यदेतन्मिथुनं जागरिते विश्वशब्दितं तदेवैकं स्वप्ने तैजसशब्दाच्यमित्याह—तदेतदिति । "तच्छब्दितं तैजसमधिकृत्य पृच्छति—कथमिति । किं तस्य स्थानं च्छयतेऽन्नं वा प्रावरणं वा मार्गो वेति विकल्प्याऽऽद्य इत्याह—तयोरिति । संस्तवं संगतिमिति

"इन्धो ह वै नाम" अर्थात् वह 'इन्ध' इस प्रकार नाम वाला है। "चक्षु ही ब्रह्म है" इस कार जिस आदित्यान्तर्गत पुरुष का पूर्वोक्त प्रथम ब्राह्मण के चतुर्थ मन्त्र में वर्णन किया था; वह यही , जो दक्षिण नेत्र में विशिष्टरूप से स्थित है। वह सत्य नाम वाला है। दीप्ति गुण वाला होने से सका प्रत्यक्ष नाम इन्ध' है। उस इस पुरुष को इन्ध होते हुए भी विद्वान् लोग 'इन्द्र' इस परोक्ष नाम कहते हैं क्योंकि देवतागण प्रायः परोक्षप्रिय हैं; "प्रत्यक्षद्विषः" यानी 2 प्रत्यक्ष से द्वेष करते हैं। सम्राट् ! यानी विश्वात्मा तुम वैश्वानर आत्मा को प्राप्त हो गये हो ॥ २ ॥

एवं जो यह वाम नेत्र में पुरुष रूप है, यह इसकी पत्नी है, जिस वैश्वानर आत्मा से तुम युक्त ो, उस इस भोक्ता इन्द्र की यह भोग्या पत्नी है, भोग्य होने के कारण विराट् अन्न है, स्वप्न में वह ह अन्न और अत्ता एक मिथुन होते हैं। किस प्रकार? उन इन्द्राणी और इन्द्र का यह संस्ताव है।

---

१. अथैतदिति । एतद् दक्षिणेऽक्षण्युक्तं पुरुषरूपमेव वामेऽक्षणि वर्तमानं सद् अस्योक्तस्येन्द्रस्य भोक्तुर्वैश्वानरस्य एषा पत्नी विराड् भोग्यम् । २. विद्वांसः । ३. नाम्ना । ४. परोक्षप्रिया इति । देवानां परोक्षनामप्रियत्वे प्रत्यक्षनामद्विट्त्वे च हेतुर्वार्तिके त्युक्तः । तथाहि—"मा ज्ञासिष्ट कथं नाम नामतत्त्वं बहिर्जनः । परोक्षनामग्रहणं तेन देवस्य रोचते" ॥ ४२ ॥ इति । बहिर्जनोऽशिष्टजनः तेन नामतत्त्वे (प्रत्यक्षनामनि) ज्ञाते सति सतेनैव व्यवहरेदिति भावः । ५. विश्वात्मा । ६. हे सम्राट् । ७. विराट्पदस्य विवक्षितमर्थमाह—अन्नमिति । भोग्यमित्यर्थः । ८. नाम्नः । ९. एकस्यैवेति । वार्तिके यथा—"एकस्यैव हि देवस्य विभागः स्थानभेदतः । अग्नीषोमात्मना श्रुत्या ध्यानार्थमिह भण्यते" ॥ ४५ ॥ इति । स्थानमवस्थाद्वयं चक्षुर्द्वयं च । विभागोक्तिफलमाह—अग्नीति । १०. इन्द्रशब्दप्रसङ्गादागतमिति वदन्ति । ११. मिथुनशब्दितम् ।

एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डोऽथैनयोरेतत्प्रावरणं यदेत-दन्तर्हृदये जालकमिवाथैनयोरेषा सृतिः संचरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति यथा केशः सहस्रधा

जो यह हृदय के भीतर लालरंग का माँसपिण्ड है, यही इन दोनों का अन्न है और जो यह हृ के समान है, यही इन दोनों का आच्छादन (चादर) है एवं जो यह हृदय से ऊपर की ओ जाती है, यह इन दोनों (इन्द्र-इन्द्राणी) के प्रस्थान का मार्ग है। जैसे सहस्र भागों में वि

अन्योन्यं स एष संस्तावः। कोऽसौ। य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽन्तर्हृदये मांसपिण्डस्य मध्ये। अथैनयोरेतद्वक्ष्यमाणमन्नं भोज्यं स्थितिहेतुः। किं तत्। ऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डो [1]लोहित एव पिण्डाकारापन्नो लोहितपिण्डः। अन्न जा परिणमते यत्स्थूलं तदधो गच्छति। यदन्यत्तत्पुनरग्निना पच्यमानं द्वेधा परिण मध्यमो रसः स लोहितादिक्रमेण पाञ्चभौतिकं पिण्डं शरीरमुपचिनोति। योऽणि स एष लोहितपिण्ड इन्द्रस्य [2]लिङ्गात्मनो हृदये मिथुनीभूतस्य। [3]यं तैजसमा तयोरिन्द्रेन्द्राण्योर्हृदये मिथुनीभूतयोः सूक्ष्मासु नाडीष्वनुप्रविष्टः स्थितिहेतुर्भवति।

यावत्। द्वितीयं प्रत्याह—अथेति। अन्नातिरेकेण स्थितेरसंभवात्तस्य वक्तव्यत्वादित्यर्थ लोहितपिण्डं सूक्ष्मान्नरसं[4] व्याख्यातुं भक्षितस्यान्नस्य तावद्द्विभागमाह—अन्नमिति। यद योजनीयम्। तत्रेत्यध्याहृत्य यो मध्यम इत्यादिग्रन्थो योज्यः। [7]उपाध्युपहितयोरेकत्वमाश्रि यं तैजसमिति। [8]तस्यान्नत्वमुपपादयति—स तयोरिति। व्याख्यातेऽर्थे [9]वाक्यस्यान्वितावयव

जहाँ दोनों मिलकर एक दूसरे को स्तुति करते हैं, उसे संस्ताव कहते हैं। वह संस्ताव "एषो अन्तर्हृदये" अर्थात् जो यह अन्तर्हृदय यानी माँसपिण्डरूप हृदय के भीतर है। 'अथैनयो अर्थात् इन दोनों का यह वक्ष्यमाण भोज्य स्थिति का हेतु है। वह क्या है? जो कि यह मांस हृदय के भीतर "लोहितपिण्ड" यानी रक्त वर्ण ही पिण्डाकार से युक्त है। खाया हुआ अन्न से विकारभाव को प्राप्त होता है। जो स्थूल है, वह नीचे जाता है। अग्नि से पचाया जा अन्न पुनः द्विप्रकारक है। जो मध्यम रस है, वह रक्तादिक्रम से पाञ्चभौतिक पिण्डरूप विकसित करता है और जो अणुतम रस होता है, वह हृदय में मिथुनीभाव को प्राप्त हुए लि भिमानी इन्द्र का लोहितपिण्ड है। जिसे तैजस कहते हैं, वह लोहितपिण्ड सूक्ष्म नाड़ियों में होकर हृदय में मिथुनभाव को प्राप्त हुए उन इन्द्र और इन्द्राणी की स्थिति का कारण बनता अर्थ को ही श्रुति "अथैनयोरेतदन्नम्" इस मन्त्र से कहती है। इसके अतिरिक्त दूसरा प्राव

---

१. रक्तवर्ण एव। २. लिङ्गशरीराभिमानिनः। ३. यमिति। अवतरण उपाधिपदेन लोहितपि लोहितपिण्डमित्यर्थं इत्याहुः। लिङ्गात्मपरामर्शकत्वमपि यच्छब्दस्य संभवति शुद्धात्मनस्तु न तैजसत्व मवतरणमिति पश्यामः। ४. लोहितपिण्डः। ५. उक्तमर्थजातं श्रुत्या। ६. रसत्वेनाख्यातु ७. उपाधिर्लोहितपिण्डरूप इत्याहुः। ८. लोहितपिण्डस्य। ९. व्याख्यातेऽर्थे वाक्यस्यावयवा यावत्। उक्तोऽर्थोवाक्याविरुद्ध इति यावत्।

भिन्न एवम[1]स्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रति-
ष्ठिता भवन्त्येताभिर्वा एतदान्नवदास्रवति *तस्मादेष[2]
प्रविविक्ताहारतर [3]इवैव भवत्यस्माच्छारीरादा-
त्मनः ॥ ३ ॥

अत्यन्त सूक्ष्म होता है, वैसे ही हिता नाम की ये नाड़ियाँ हृदय देश में अत्यन्त सूक्ष्मरूप से स्थित
। इन्हीं नाड़ियों के द्वारा यह अन्न रसमय जाता हुआ शरीर में सब जगह पहुँचता है। इसीलिये
स्थूल शरीराभिमानो वैश्वानर आत्मा से यह सूक्ष्म शरीराभिमानी तैजस आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म
आहार ग्रहण करने वाले के समान ही होता है ॥ ३ ॥

चयतेऽथैनयोरेतदन्नमित्यादि । किंचा[4]न्यत् । अथैनयोरेत[5]त्प्रावरणम् । भुक्तवतोः स्वपतोश्च
ावरणं भवति लोके [6]तत्सामान्यं हि कल्पयति श्रुतिः । किं तदिह प्रावरणम् । यदेतद-

---

देतदिति । यदि प्रावरणं पृच्छ्यते तत्राऽऽह—किंचान्यदिति । [7]भोगस्वापानन्तर्यमथशब्दार्थः ।
ावरणप्रदर्शनस्य प्रयोजनमाह—भुक्तवतोरिति । इहेति भोक्तृभोग्ययोरिन्द्रेन्द्राण्योरुक्तिः हृदयजालक-

---

ाता है। यही इन इन्द्र और इन्द्राणी दोनों का परिधान है। लोकव्यवहार में भोजन करने वाले और
ोने वाले का परिधान होता है। क्योंकि श्रुति लोकसामान्य की कल्पना करती है। यहाँ वह प्रावरण

---

१. अस्यैता हिता नामेति । अत्र संचरणीत्वेन यैषेत्येकया नाड्योपक्रम्याग्रे भूयसीनामभिवानं
तु भोक्तुर्वक्ष्यमाणप्रविविक्ताहारतरत्वोपपादकतयेति ध्येयम् । वार्तिके पुनः श्रोत्रादीन्प्रतिशब्दाद्यन्नं
वाहयन्ति नाड्य इति प्रसङ्गादावेदयितुं बहूक्तिरिति त्वरूपि । अस्य—पुरुषस्य देहसंबन्धिन्य एता
नाड्यः । २. तैजसः । ३. इवैवेति । इमावुभावपि शब्दावुपमार्थौ । तथाहि—यथा प्रविविक्ताहारो विश्वस्तथायं
तैजसो न प्रविविक्ताहार एव किंतु ४ऽविविक्ताहारतर इव यथा च कारणात्मा प्राज्ञः प्रविविक्ताहारतर एव न
तथा तैजसात्मा किंतु प्रविविक्ताहारतर—नि । ननु प्राज्ञात्मवत्तैजसस्य प्रविविक्ताहारतरत्वमेव किं न स्यात्त-
त्राहुर्वार्तिके—"लिङ्गाहारादप्यणीयान्यतः तीत्यस त्मनस्ततः । उपमार्थमिवेत्येतत्पदमत्र प्रयुज्यत इति" ॥ ६६ ॥
प्राज्ञात्मन इति आहार इति शेषः । ४. अन्यदि विर वरणमुच्यते । ५. पूर्वोक्तयोरिन्द्रेन्द्राण्योर्वक्ष्यमाणं परिधानम् । ६.
लोकसामान्यम् । ७. भोगस्वापेति—अन्नस्थानाभ्यामानन्तर्यमित्यर्थः ।

---

*तस्मादित्यादि भवतीत्यन्तमातृतीयकण्डिकासमाप्तेः । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"प्रविविक्ततरोऽन्नांश-
स्तर्पयन्प्राणदेवताः । प्राप्नोति लिङ्गमाहारः स तस्येत्यभिधीयते ॥ चीयमानादितो देहाद्रसाद्यन्नेन भौतिकात् ।
प्रविविक्ततराहारो लिङ्गात्माऽयं पुरोदितात् ॥ रसादिः प्रविविक्तः स्यात्पुरीषादिव्यपेक्षया । रसादेरपि सूक्ष्मोऽय-
माहारो लिङ्गतृप्तिकृत् ॥ यत एवमतः प्राह तल्लिङ्गं स्थूलदेहतः । प्रविविक्ततराहारं श्रुतिः सूक्ष्मान्नसंस्थितेः ॥
यतोऽतिसूक्ष्मो लिङ्गात्मा नातोऽस्य स्थूलदेहवत् । देहाद्देहान्तरं गच्छन्केनचित्प्रतिहन्यते ॥ इवत्यनर्थकं केचिदेवार्थेन
विरोधतः । एवार्थस्योपमामन्य इवार्थे चावधारणम् ॥ लिङ्गाहारादप्यणीयान्यतः प्राज्ञात्मनस्ततः । उपमार्थ-
मिवेत्येतत्पदमत्र प्रयुज्यते । कदम्बपुष्पवत्सैषा देवता हृदयाश्रया । बहिर्गतासु नाडीषु विषक्ता हृदयादधि ॥

न्तर्हृदये [1]जालकमिवानेकनाडीछिद्रबहुलत्वाज्जालकमिव ।

अथै[2]नयोरेषा सृतिर्मार्गः संचरतोऽनयेति संचरणी स्वप्नाज्जागरितदेशागमन

योराधाराधेयत्वमविवक्षितं [3]तस्यैव तद्भावात् ।

मार्गश्चेत्पृच्छ्यते तत्राऽऽह—अथेति । नाडीभिः शरीरं व्याप्तस्यान्नस्य प्रयोजन

क्या है ? यह जो हृदय के भीतर "जालकमिव" अर्थात् अनेक नाडीछिद्रों की बहुलता के कारण के समान है ।

तथा यह इन दम्पतियों की "सृतिः" यानी मार्ग है । "संचरणी" अर्थात् इससे संचार

यथेयं देवता सर्वास्तथाऽन्या अपि देवताः ॥ साधारणत्वात्सर्वासां कार्यस्य करणस्य च ॥ तत्रैकस्या यदा दृष्ट्यादि स्यादुपस्थितम् । गुणभावं तदा यान्ति सर्वास्तां प्रति देवताः ॥ नाड्यन्तरेष्वपि तथा सर्वासां संहृत एष एव क्रमो ज्ञेयः प्राधान्यगुणभावयोः ॥ एवं च सति यावत्यो नाड्यो हृदयबन्धनाः । संवत्सराश्च ता प्रजापतयोऽग्नयः ॥ प्रतिभागं समाप्तत्वात्पूर्वोक्तस्येह वस्तुनः । देवताऽतो यथाऽध्यात्ममधिभूतं तथैव अधिदैवं च विम्बीयं द्वैतैकत्वेन विष्ठिता । यथाऽस्य नाड्यः पुंसः स्युरध्यात्मं सर्वतो गताः ॥ अधिभूतं त वायुमय्यः समन्तगाः । एतस्मादेव निःसृत्य शरीरात्सर्वतो गताः ॥ अधिभूतात्मनैवायं नाडीलक्षण आपूर्येदं जगत्सर्वं स्थित आध्यात्मिकः पुमान् ॥ नाड्य आध्यात्मिकस्येव ह्यधिदैवात्मनस्तथा । विराजो ज्ञेयाः प्रत्यंशावसितास्तथा ॥ आध्यात्मिकस्येव पुंसः कृत्स्नाऽध्यात्माधिभूतयोः । अनन्तभिन्नकार्येषु दैवतात्मनः ॥ आध्यात्मिकं परिच्छेदमुक्तदर्शनवर्त्मना । देवतासूपसंहृत्य विराज्यपि च देवताः ॥ चोपसंहृत्य प्राणविज्ञानविग्रहे । हिरण्यगर्भे तं चापि सर्वकारण आत्मनि ॥ अध्यात्मदेवताः सर्वा हृदि ऽऽत्मनस्ततः । हृदयादुक्तनाडीभिः संदध्यात्सूर्यरश्मिभिः ॥ हृं ।वहृन्मध्यगं यायात्ततो रश्मिभि हिरण्यगर्भमात्मानं ततस्तत्कारणं बुधः ॥ वैश्वानरात्तदाण्डात् प्राप्तस्य हृदि तैजसम् । हिरण्यगर्भं तं प्राणात्मन्युपसंहरेत् ॥ प्राणशब्देन चाप्यत्र कारणात्माऽभिधनीचे । बीजं कार्यस्य सर्वस्य प्राज्ञश्चेति निरू कार्याणां कारणं मुक्त्वा नान्यत्रास्त्यप्ययो यतः । तस्मात्कारणसंप्राप्त्या यायान्नेतीत्यकारणम् ॥ साश्रयः का ग्रस्ताध्यात्माधिदैवतः । प्राणात्मा एक एवाऽऽस्ते प्रज्ञानघनविग्रहः" ॥ ६०-८५ ॥ इति । तस्मादित्यादेरर्थं प्रविविक्तेति । यो यथोक्तान्नांशः स प्राणदेवताः करणान्यन्तःकरणं च लिङ्गाख्यं यस्मात्प्रीणयति तस्म प्रविविक्ततरो भवत्याहारः स लिङ्गात्मा तैजसस्तथेति बहुव्रीहिणा लिङ्गस्याऽऽहारः स इति गम्यत इत्य अस्मादित्यादेरर्थमाह—चीयमानादिति । रसाद्यन्नेन तद्धेतुना तेनेति यावत् ॥ कथमन्नस्य प्रविविक्तत्वं तद रसादिरिति । तथाऽपि कथं प्रविविक्ततरत्वं तदाह—रसादेरिति ॥ तस्य प्रविविक्ततरत्वे फलितमाह—यत अतःशब्दार्थं स्फुटयति—सूक्ष्मेति ॥ लिङ्गस्यापि स्थूलवद्देहत्वान्न सूक्ष्मता तत्कुतोऽस्य प्रविविक्ताहारतरत्वा तत्सौक्ष्म्ये गमकमाह—यत इति ॥ प्रकृतवाक्यस्थमिवशब्दं व्याख्यातुं पूर्वपक्षमाह—इवेत्यनर्थकमिति भर्तृप्रपञ्चोक्तं सिद्धान्तमाह—एवार्थस्येति । लिङ्गात्मा प्रविविक्ताहारतर एवेत्यवधार्यते तस्योपमामिव माहुरिति योजना । उक्तं हि—यथा खलु बाह्यस्य पिण्डस्योपचयार्थमाहारस्तथा तस्यापीत्येतस्मात्स

---

१. जालकमिवेति—वातायनमिवेत्यर्थः । हृदयस्य जालकवद्भाने हेतुमाह—अनेकेति । अनेकाश्च ता नाड्य नाड्यः । छिद्राणि बहुलानि यस्मिंस्तच्छिद्रबहुलम् । अनेकनाडीभिर्युक्तमनेकनाडीयुक्तम् । तच्च तच्छिद्र तद्धृदयं तस्य भावस्तत्त्वं तस्माद् जालकमिव भासमानं हृदयमित्यर्थः । २. दम्पत्योः । ३. हृ जालकत्वादित्यर्थः ।

का सा सृतिः। यैषा हृदयाद्धृदयदेशादूर्ध्वाऽभिमुखी सत्यु[1]च्चरति [2]नाडी। [3]तस्याः परिमाणमिदमुच्यते। [4]यथा लोके [5]केशः सहस्रधा भिन्नोऽत्यन्तसूक्ष्मो भवत्येवं सूक्ष्मा अस्य देहस्य संबन्धिन्यो हिता नाम हिता इत्येवं ख्याता नाड्यस्ताश्चान्तर्हृदये मांसपिण्डे प्रतिष्ठिता भवन्ति हृदयाद्[6]विप्ररूढास्ताः [7]सर्वत्र कदम्बकेसरवदे[8]ताभिर्नाडीभिरत्यन्तसूक्ष्माभिरेतदन्नमास्रवद्गच्छदास्रवति गच्छति। [9]तदेतद्देवताशरीरमनेनान्नेन [10]दामभूतेनोपचीय-

तदेतदिति। तस्मादित्यादिवाक्यमादाय व्याचष्टे—यस्मादिति। ''तथाऽपि प्रविविक्ताहार इत्येव वक्तव्ये

हैं, इसलिए यह स्वप्न से जागरित देश में आने का मार्ग है। वह 'सृति' क्या है? जो यह "हृदयात्" अर्थात् हृदयदेश से "ऊर्ध्वा" यानी अभिमुखी होकर सुषुम्नाख्या नाड़ी ऊपर जाती है। यह उसका परिणाम कहा जाता है। जिस प्रकार लोकव्यवहार में एक ही केश सहस्र भागों में बँटा हुआ अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है, इसी प्रकार इस देह से संबन्ध रखने वाली 'हिता नाम' यानी हिता नाम से विख्यात नाड़ियाँ सूक्ष्म होती हैं। तथा ये माँसपिण्डरूप हृदय के भीतर प्रतिष्ठित हैं; कदम्ब पुष्प की केसर के समान ये हृदय से देह में सब ओर फैली हुई हैं। इन सूक्ष्मतम नाड़ियों से जाता हुआ यह सूक्ष्मतम अन्न स्थूलदेह को व्याप्त करता हुआ लिङ्गशरीर को व्याप्त करता है। इसलिये यह लिङ्गाख्य

---

१. उद्गच्छति। २. सुषुम्णाख्या। ३. तस्या इति—जातावेकवचनं सर्वासां नाडीनां परिमाणं दृष्टान्तपूर्वकमुच्यत इत्यर्थः। ४. यथेति—विश्वतैजसयोरन्नविशेषो भोक्तुः सूक्ष्मता चेत्येतदुक्त्यर्थं सदृष्टान्तं नाडीपरिमाणं यथेत्यादिश्रुतिः प्रदर्शयतीति भावः। अत्र च केशस्य सहस्रधा भेदस्यासंभवेऽप्यभूतोपमैवेयम्। तथाविधस्य दृष्टान्तान्तरस्यासत्त्वादिति ध्येयम्। ५. एकः। ६. विप्ररूढाः प्ररुह्य विप्रसृता इत्यर्थः। ७. देहे। ८. नाडीनामुपयोगकथनपूर्वकं सूक्ष्मतमत्वकथनप्रयोजनमाह—एताभिरिति। एतत् पूर्वोक्तं सूक्ष्मतममन्नम्। आस्रवद् गच्छत् स्थूलदेहं व्याप्नुवत्। आस्रवति गच्छति लिङ्गशरीरं व्याप्नोतीत्यर्थः। ९. तदेतदिति—यथोक्तान्नव्याप्त्याश्रयः प्रत्यक्समीपतरवर्ति अध्यात्मदेवतानां वागादिकरणानां शरीरं लिङ्गाख्यमित्यर्थः। १०. इन्द्रेन्द्राण्योरग्नीषोमयोर्विश्वतैजसयोरन्नं शिशुब्राह्मणेऽप्युक्तमिति सूचयति—दामभूतेनेति। "अन्नं दामेति यत्पूर्वं व्याख्यातं शिशुबन्धनमिति"॥ वा० ४४॥ ११. लिङ्गस्य सूक्ष्मान्नोपचितत्वेऽपि।

त्प्रविविक्ताहारतर इवैवेति। इवैव भवतीत्यस्य स्वाभिप्रेतमर्थमाह—इवार्थे चेति। एवेत्यवधारणमिवेत्यस्मिन्नर्थे द्रष्टव्यम्। तथाच यथा प्रविविक्ताहारो विश्वस्तथाऽयमपि तैजसो न प्रविविक्ताहार एव किंतु प्रविविक्ताहारतर इवेति द्वयोरिवैवशब्दयोरर्थः॥ किमिति कारणात्मवत्तैजसस्य न प्रविविक्ताहारतरत्वमेव तत्राऽऽह—लिङ्गेति। प्राज्ञात्मन आहार इव यथाच कारणात्मा प्रविविक्ताहारतर एव न तथा लिङ्गात्मा किंतु प्रविविक्ताहारतर इवेति इति शेषः। ततो न लिङ्गस्य प्रविविक्ताहारतरत्वमेवेत्यर्थः। इवशब्दार्थवत्त्वं निगमयति—उपमार्थमिति॥ उक्तसूत्रस्य सर्वंजगद्व्याप्तिं भर्तृप्रपञ्चप्रक्रिययाऽऽचक्षाणः सैषा सूक्ष्मा देवताऽन्तर्हृदये कदम्बगोलकवद्धृदयान्नाडीषु समन्तान्निःसृतासु विषक्तेति तद्भाष्यं विभजते—कदम्बेति॥ एवमेकैका देवतेतिभाष्यार्थमाह—यथेति। यथा हृदयादारभ्य बहिर्विप्रसृतासु नाडीषु सूत्राख्यदेवता विषक्तोक्ता तथा सर्वा अप्यन्या देवतास्तासु विषक्ता भवन्तीत्यर्थः। सर्वेषां कार्यकरणस्य साधारणत्वादितिहेतुभाष्यार्थमाह—साधारणत्वादिति। करणशब्देन गोलकादिस्थानं देवताशब्देनेन्द्रियाण्युक्तानि॥ सर्वेन्द्रियाणां सर्वदेहव्यापित्वे रूपादिज्ञानं संकीर्णं स्यादित्याशङ्क्य भाष्यं व्याचष्टे—तत्रेति॥ नाड्यस्या देवताया यदा यद्दर्शनादि कार्यं तदा सर्वासामितरासां तदङ्गत्वमिति

मानं तिष्ठति । तस्माद्यस्मा[1]त्स्थूलेनानेन्नोपचितः पिण्ड इदं तु [2]देवताशरीरं लि
[3]सूक्ष्मेणान्नेनोपचितं तिष्ठति । पिण्डोपचयकरमप्यन्नं प्रविविक्तमेव मूत्रपुरीषादिस्थू
पेक्ष्य लिङ्गस्थितिकरं त्वन्नं ततोऽपि सूक्ष्मतरम् । [4]अतः प्रविविक्ताहारः पिण्डः । [5]तस्मा

प्रविविक्ताहारतर इति कस्मादुच्यते तत्राऽऽह—पिण्डेति । 'यस्मादित्यस्यापेक्षितं कथयति—अत इ

देवताशरीर इस रज्जुस्वरूप अन्न से विकास को प्राप्त होता हुआ रहता है । "तस्मात्" अर्थात् क्यों
पिण्ड भुक्त अन्न के मध्यम रस से विकसित होता है, यह (देवता) करणसमुदायरूप शरीरात्
लिङ्गदेह अन्न के अणुतम रस से पुष्ट होता हुआ स्थिर रहता है । मलमूत्रादि स्थूल भाग की अपे
तो पिण्ड की पुष्टि करने वाला अन्न अत्यन्त सूक्ष्म है । अतः पिण्ड सूक्ष्माहारी है; इसलिए उस श

---

[1] भुक्तान्नस्य मध्यमेन रसेन । [2] देवताः करणानि तत्समुदाय एव तच्छरीरम् । [3] अणिष्ठेन रसे
[4] भुक्तान्नस्य मध्यमरसेन मूत्राद्यपेक्षया प्रविविक्तेन पिण्डस्योपचितत्वात् । [5] शरीरादित्यन्वयः।
पूर्वं भाष्योक्तस्य ।

न्तरेऽपि या यदा देवताऽपेक्ष्यते सा तदा कृत्स्नदेवताविभवमङ्गीकृत्योपतिष्ठत इति भाष्यार्थमाह-
नाड्यन्तरेष्विति । अनुक्तेन्द्रियेष्विति यावत् ॥ अध्यात्मनाडीद्वारा देवताव्याप्तिमुक्त्वा हृदयबन्ध
नाडीप्रसङ्गेन प्रदेशान्तरस्थामुपास्तिं स्मारयति—एवं चेति । हृदयबन्धनत्वेन नाडीप्रसङ्गे तास्वहोरात्रा
दृष्टासु प्रजापतिरूपाग्निशब्दितेष्टकादृष्टिः कार्या यावन्तो नाडीभेदास्तावन्तः कृत्स्नाः संवत्सरा प्रजापतयो
इत्युक्तेरित्यर्थः ॥ प्रासङ्गिकीमुपास्तिं ब्रह्मविद्यार्थं स्मारयित्वा पूर्वोक्तामध्यात्मदेवताव्याप्तिं दृष्टान्तीकृत्य
भूनाधिदैवयोरपि तद्व्याप्तिमाह—प्रतिभागमिति । वस्तुनः सूत्रस्येति शेषः ॥ उक्तां देवताव्याप्तिं निगम
—बिभ्रतीति । यथाऽऽहुः—प्रत्यवयवं कृत्स्नस्य परिसमाप्तत्वात्सैषा यथाऽध्यात्ममेवमधिभूतमधिदैवं चेत्या
तदेवं देवतायाः सर्वव्याप्तिमुक्त्वा नाडीनामध्यात्ममुक्तव्याप्तिदृष्टान्तेनाधिभूतादावपि व्याप्तिमाह—यथे
उक्तं हि—यथाऽध्यात्मं नाड्यः समन्ताच्छरीरवर्तिन्य एवमस्यैव पुरुषस्याऽऽध्यात्मिकस्याधिदैवात्मना वक्ष्यमा
प्राणनाड्यो वायुमय्य इति ॥ उत्तरार्धं प्रपञ्चयति—एतस्मादिति । उक्तं च एतस्मादेव शरीरादभिनि
सर्वं जगदापूर्यावस्थिता इति ॥ नाडीनां देहाद्बहिर्व्याप्तिः किमर्थेत्याशङ्क्य तद्द्वारा क्षेत्रज्ञस्य व्याप्त्यर्थमि
—अधिभूतेति ॥ आध्यात्मिकस्य पुंसो नाडीवदाधिदैविकस्यापि नाडीस्थानीयरश्मीनां व्याप्तिमाह—
इति । युक्ता च विराजो रश्मीनां सर्वतो व्याप्तिस्तद्दशादित्यरश्मीनां व्याप्तिदर्शनादिति हिशब्दार्थः । प्र
सर्वासु व्यष्टीषु वैराजरश्मीनां समाप्तिरपि ज्ञेयेत्याह—प्रत्यंशेति ॥ आध्यात्मिकस्य पुंसो नाडीद्वारा सर्वव्या
वदाधिदैविकस्यापि सा रश्मिद्वारेत्युपसंहरति—आध्यात्मिकस्येति । यथाऽऽहुः—यथैवाऽऽध्यात्मिकस्य प्रत्य
कार्त्स्न्येन समाप्तिरेवं वैराजस्याप्यात्मनः प्रत्यवयवमाध्यात्मिकाधिभूताधिदैविकेष्विति ॥ परप्रक्रियामा
मुक्त्वा स्वमते विश्वाद्युक्तेर्ज्ञानहेतुताक्रमं दर्शयति—आध्यात्मिकमिति । उक्तव्याप्तिद्वारा शारीरं प
मग्न्यादिदेवतासु ताश्च विराजि तं च सूत्रे तच्च कारणे तदप्यद्वये प्रतीच्युपसंहृत्य पूर्णात्मना तिष्ठेदित्य
उक्तमेव प्रपञ्चयन्विश्वस्य वैश्वानरादिशब्दितस्य विराजस्तैजसे सूत्रात्मन्युपसंहारक्रममाह—अध्या
चक्षुरादिसहितादित्यादिदेवता हृदये प्रजापतिरूपे संहृत्य ततो निर्गतनाडीभी रश्मिभिश्चात्योन्यात्मभूतः
रविस्थं हृदयस्थं च लिङ्गमेकत्वेनानुसंदध्यात्ततस्तात्पर्यवानुक्तनाडीरश्मिद्वारा विवेकवुद्ध्या मण्डलहृ
सूत्रमात्मानं गच्छतीत्यर्थः । आत्मनो हृदयादिति संबन्धः ॥ विश्वस्य तैजसमात्रत्वानुसंधानानन्तरं तत्का
व्याकृतादिशब्दं विवेकी गच्छतीति तैजसस्य प्राज्ञे लयमाह—तत इति ॥ उक्तं क्रमं बुद्धिसौकर्यार्थं संक्षिप

***तस्य प्राची दिक्प्राञ्चः प्राणा दक्षिणा दिग्दक्षिणे प्राणाः प्रतीची दिक्प्रत्यञ्चः प्राणा उदीची दिगुदञ्चः प्राणा ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणा अवाची दिगवाञ्चः**

उस विद्वान् के पूर्वदिशागत प्राण पूर्व प्राण हैं, दक्षिण दिशा दक्षिण प्राण हैं, पश्चिम दिशा पश्चिम प्राण हैं, उत्तर दिशा उत्तर प्राण हैं, ऊर्ध्व दिशा ऊर्ध्व प्राण हैं, अधोदिशा नीचे के प्राण हैं।

त्प्रविविक्ताहारादपि प्रविविक्ताहारतर एष लिङ्गात्मेवैव भवत्यस्माच्छरीराच्छरीरमेव शारीरं तस्माच्छारीरात्। आत्मनो वैश्वानरात्तैजसः सूक्ष्मान्नोपचितो भवति ॥३॥

स एष [1]हृदयभूतस्तैजसः[2] सूक्ष्मभूतेन [3]प्राणेन विध्रियमाणः [4]प्राण एव भवति।

शारीरादिति श्रूयते कथं शरीरादित्युच्यते तत्राऽऽह—शरीरमेवेति। उक्तमर्थं संक्षिप्योपसंहरति—आत्मन इति ॥ ३ ॥

तस्य प्राची दिगित्याद्यवतारयितुं भूमिकां करोति—स एष इति। प्राणशब्देनाज्ञातः प्रत्य-

---

से सूक्ष्माहारी भी यह लिङ्गात्मा सूक्ष्मतर आहार करने वाला है। "अस्माच्छारीरात्" यानी इस शरीर से अर्थात् वैश्वानर आत्मा से तैजस सूक्ष्म अन्न द्वारा विकसित होता है ॥ ३ ॥

वह यह हृदयतादात्म्यापन्न तैजस अपनी अपेक्षा सूक्ष्मभूत स्वकारण प्राज्ञ प्राण से धारण किया हुआ होकर प्राज्ञ ही हो जाता है। क्रमशः (विश्वाभिन्न) वैश्वानर से (सूत्राभिन्न) तैजस को

---

[1] हृदयातादात्म्यापन्नः। [2] स्वापेक्षया। [3] स्वकारणेन प्राज्ञेन। [4] प्राज्ञः। [5] अज्ञानावृत्तः।

वैश्वानरादिति। तच्छब्दो वैश्वानरवाची। प्राप्तस्याध्यात्मादिपरिच्छेदो निवर्तते मुमुक्षोरिति शेषः। स च सूत्रस्य
कारणे संहृतो द्रष्टव्यः ॥ प्राणात्मन्युपसंहारोऽत्र सूत्रस्योच्यते न कारणात्मनीत्याशङ्क्य प्राणशब्दार्थमाह—
प्राणशब्देनेति। तैजसस्य प्राज्ञे लयाङ्गीकारात्कथं कारणे तल्लयस्तत्राऽऽह—बीजमिति ॥ तुरीयस्य सुवर्णघन-
वद्विज्ञानघनस्याऽऽप्तेरिष्टत्वात्तदेवोच्यतां कृतं स्थूलसूक्ष्मजगद्रूपविश्वतैजसयोः प्राज्ञे लयोक्त्येत्याशङ्क्याऽऽह
—कार्याणामिति ॥ अकार्यकारणं तुरीयं प्राप्तस्य विदुषः स्वरूपं प्रपञ्चयति—साश्रयैरिति। प्राणस्य
कारणस्याऽऽत्मा सत्तास्फूर्तिद इति यावत्। छान्दसास्तु त्रिसंधिमपि क्वचिदिच्छन्ति ॥
*तस्य प्राची दिगित्यादि। अत्राहुर्वार्तिकाचार्याः—"निर्विभागात्मनस्तस्य प्राञ्चः प्राणाः पुराऽस्य ये। प्राची
दिगेव संवृत्तास्तदवच्छेदहानतः ॥ दक्षिणा दक्षिणे प्राणाः प्रत्यञ्चश्चापि पश्चिमाः। उदीची दिगुदञ्चश्च सर्वे
सर्वा दिशस्तथा ॥ यत्साक्षिकी तमःसिद्धिस्तत्कार्यस्य च लक्ष्यते। तद्भावाभावयोरात्मा न कार्यं नापि कारणम् ॥
तेनैव ह्यात्मनाऽशेषं तद्ध्वान्तं ध्वान्तजं तथा। जग्ध्वा नित्यात्मना विद्वान्पूर्णदृष्ट्याऽवशिष्यते ॥ एष मार्ग उपन्यस्त
ऐकात्म्यज्ञानजन्मने। न त्वर्चिरादिवत्तस्य प्राप्तये गतिकल्पना ॥ आत्मत्वादाप्ततत्त्वोऽयं न देशाद्यन्तरायवान्।
ज्ञानं मुक्त्वा ततः प्राप्तौ नान्यत्किंचिदपेक्षते" ॥ ८६-९१ ॥ इति। विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयाण्युक्तानि तत्राऽऽद्यावेव
मृत्युक्तौ न प्राज्ञादीत्याशङ्क्य तस्य प्राचीत्याद्यवतार्य व्याकरोति—निर्विभागेति। अध्यात्मादिपरिच्छिन्नाः
प्राणाः सर्वासु दिक्षु स्थिताः प्राणशब्दाः। विदुषो हि कारणरूपस्य परिच्छेदनाशात्तत्प्राणरूपं तत्तद्दिङ्मात्रं संवृत्तं

प्राणाः सर्वा दिशः [1]सर्वे प्राणाः स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं[2] वै जनक [3]प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः ।

किंबहुना, समस्त दिशाएं उसके समस्त प्राण हैं। वह यह "नेति नेति" शब्द से बतलाया गया आ अग्राह्य है, क्योंकि वह ग्रहण नहीं किया जाता। वह अशीर्य है क्योंकि उसका नाश नहीं हो असंग है क्योंकि वह कहीं संसक्त नहीं होता। बन्धनरहित है क्योंकि वह पीड़ित तथा हिंसित किया जा सकता। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे जनक! तुम निःसन्देह अभय पद को प्राप्त कर चुके

---

[4]तस्यास्य विदुषः क्रमेण [5]वैश्वानरात् [6]तैजसं प्राप्तस्य हृदयात्मानमापन्नस्य हृदयात्मनः [7]प्राणात्मानमापन्नस्य प्राची दिक्प्राञ्चः प्राग्गताः प्राणाः। तथा दक्षिणा दिग्दक्षि

गात्मा प्राज्ञो गृह्यते। एवं भूमिकां कृत्वा वाक्यमादाय व्याकरोति—तस्येत्यादिना। तं

उससे हृदयात्मा को और हृदयात्मा से प्राणात्मभाव को प्राप्त हुए इस प्रकृत विद्वान् के प्राची दि

---

१. सर्वे प्राणा इति—तथा चोपाधिभूतानां प्राणानां कारणे लयं दर्शयन्ती श्रुतिरुपहितस्यापि सूत्राभि तैजसस्य प्राज्ञाभिन्नकारणात्मनीश्वरे उपसंहारोऽर्थादुक्त एवेति मत्वा तस्येश्वरात्मभूतस्योपासितुरीश्वर पाधिनिर्मुक्तं स्वरूपमाह—स एष इत्यादिना रिष्यतीत्यन्तेनोक्तार्थेन। २. एवं ब्राह्मणाभ्यामुक्तोपासन उत्पन्नैकात्म्यज्ञानफलं मुनिरुक्तवानित्याह—अभयमिति। संसारनिर्मुक्तं वस्तु प्रापयते संसारात्मिका गवाश्वा रूपा दक्षिणा न न्याय्येत्यालक्ष्य राजाऽपि मुनयेऽभयदक्षिणामेव प्रादादिति ध्येयम्। यद्यपि मुनिः पुरस्ता प्राप्ताभयस्तथापि पूर्वोक्तं ब्रह्मात्मनि ममानुभवान्तं ज्ञानमजनिष्टेति ज्ञापनार्थैव राजाऽभयं मुनये प्रोवा बोध्यम्। ३. प्राप्तोऽसीति निर्देशस्य तात्पर्यमाहुर्वार्तिके—"प्राप्तोऽसीति निर्देशाज्ज्ञानमेवाऽऽत्मनो ज्ञानादन्यद्गतिश्चेत्स्यात्प्राप्स्यसीत्येव तं वदेत्" ॥ ६५ ॥ इति। अर्चिरादिगतिपक्षेऽप्येवं निर्देशः स्या चेत्तत्राऽऽह—ज्ञानादिति। ४. प्रकृतस्य। ५. विश्वाभिन्नात्। ६. सूत्राभिन्नम्। ७. प्राणात्मान —तस्य विदुषः प्राञ्चः प्रागञ्चन्ति गच्छन्तीति प्राञ्चः प्राणाः नासा द्वाराऽग्रतः संचरन्तः प्राची दिगेव कारणात्मन्येव लीना इति यावत्। विदुषो हि कारणरूपस्य परिच्छेदनाशात् तत्तत्प्राणरूपं तत्तद्दिङ्मात्रं ताश्च चरमपर्यायोक्तप्राणे मूलकारणे प्राज्ञे लीयन्ते कारणं तुरीये प्रतीचीति भावः। सर्वा दिशः सर्वे प्रा इति चरमपर्यायः।

ताश्च चरमपर्यायोक्तप्राणे मूलकारणे प्राज्ञे लीयन्ते कारणं तुरीये प्रतीचीत्यर्थः ॥ कारणस्य न प्रतीचि लयस्त कारणत्वात्स्वस्मिन्नेव स्वलयायोगादित्याशङ्क्याऽऽह—यदिति ॥ अज्ञानतज्जयोस्तद्भावाभावयोश्च यतः स्तस्य प्रतीचस्तद्वैलक्षण्ये सिद्धे फलितमाह—तेनैवेति। एतेन स एष नेति नेत्यादि व्याख्यातम् ॥ विश्वा फलमुपसंहरति—एष इति। तद्द्वारा मोक्षायेत्यर्थः। मुख्यमार्गं व्यावर्तयति—न त्विति ॥ परविद्या गतिरर्चिराद्या वाच्येति केचित्तथा च तदनुगुणा नाडी श्रावितेत्याशङ्क्याऽऽह—आत्मत्वादिति। विद्वानत्र विशेष तर्हि ज्ञानमपपि नापेक्षितव्यमित्याशङ्क्य व्यवधानभङ्गार्थं तदपेक्षेति विवक्षित्वाऽऽह—ज्ञानमिति ॥

[1]स होवाच जनको वैदेहोऽभयं त्वा गच्छताद्याज्ञवल्क्य यो नो भगवन्नभयं वेदयसे नमस्तेऽ[2]स्त्विमे विदेहा अयमहमस्मि ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

व विदेहराज जनक ने कहा— हे भगवन् ! जो आपने मुझे अभय पद का बोध कराया है, उन आप द्गुरुदेव को अभय पद प्राप्त हो (क्योंकि इस अमूल्य उपदेश के बदले अन्य कुछ भी नहीं है)। तः आपको नमस्कार है। यह विदेह देश एवं हम सब आपके अधीन हैं, कृपया इन सभी को थायोग्य उपदेश करें ॥ ४ ॥

॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

णाः । तथा प्रतीची दिक्प्रत्यञ्चः प्राणाः । उदीची दिगुदञ्चः प्राणाः । ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः णाः । अवाची दिगवाञ्चः प्राणाः । सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः । [3]एवं विद्वान्क्रमेण सर्वामकं [4]प्राणमात्मत्वेनोपगतो भवति । [5]तं सर्वात्मानं प्रत्यगात्मन्युपसंहृत्य [6]द्रष्टुर्हि द्रष्टृभावं

प्तस्येत्यस्य व्याख्यानं हृदयात्मानमापन्नस्येति । उक्तमर्थं संक्षिप्याऽऽह—एवं विद्वानिति । विश्वस्य गरिताभिमानिनस्तैजसे तस्य च स्वप्नाभिमानिनः सुषुप्त्यभिमानिनि प्राज्ञे क्रमेणान्तर्भावं जानत्यर्थः । स एष नेति नेत्यात्मेत्यादेर्भूमिकां करोति—तं सर्वात्मानमिति । [7]तत्र वाक्यमवतार्य

र्वगत प्राण हैं, तथा दक्षिण दिशा दक्षिण प्राण हैं, उत्तर दिशा उत्तर प्राण हैं, ऊर्ध्व दिशा ऊर्ध्व प्राण , नीचे की दिशा नीचे के प्राण हैं और सम्पूर्ण देवता सम्पूर्ण प्राण हैं। इस प्रकार विद्वान् क्रमशः र्वात्मिक प्राज्ञभिन्न ईश्वराख्य प्राण को आत्मभाव से प्राप्त हो जाता है। उस सर्वात्मा प्राज्ञाख्य प्राण ी प्रत्यगात्मा में उपसंहार कर प्रमाता के साक्षिभूत 'नेति नेति' इस प्रकार निखिलनिषेधावधिभूत रीय आत्मा को प्राप्त हो जाता है। इस क्रम से यह विद्वान् जिसे प्राप्त होता है; वह यह 'नेति नेति'

---

१. एतावता अथवैतेहं तद्वक्ष्यामीति प्रतिज्ञातज्ञानसिद्धिर्मयि जातेति बोधयन् पूर्वं दक्षिणाया ज्ञानाननुरूपत्वेन दक्षिणान्तरं प्रतिजज्ञे इत्याह—स होवाचेति । २. इमे विदेहा इति । "भवानप्यहमेवेति यदा साक्षाद्विनिश्चयः । विदेहादि तदा विश्वं त्वत्तः कस्येति भण्यताम् ॥ ममैव भवतोऽपीदं न च किंचिदसंगतम्" ॥ वा. १११-११२॥ त्वत्तोऽन्यस्येति शेषः ॥ दक्षिणाप्रदानं तावद्व्यवहारदृष्ट्या वस्तुतस्तु—"अभावाच्च त्वदन्यस्य सर्वमात्मेति शासनात् । अहं ममेत्यविद्याधीः सहेतुर्नाशिता यदा । पूर्णात्मनि तदा दृष्टे कः कस्मै किं प्र[illegible]च्छति" ॥वा. ११३॥ इति । ३. एवं क्रमेणेत्यन्वयः । ४. प्राज्ञाभिन्नेश्वराख्यम् । ५. प्राज्ञाख्य प्राणम् । ६. प्रमातुरपि साक्षिभूतम् । ७. निरुक्तेऽर्थे ।

नेति [१]नेतीत्यात्मानं तुरीयं प्रतिपद्यते । यमेष[२] विद्वाननेन[३] क्रमेण प्रतिपद्यते स एष
नेत्यात्मेत्यादि न रिष्यतीत्यन्तं [४]व्याख्यातमेतत् । अभयं वै [५]जन्ममरणादिनिमित्तभय
जनक प्राप्तोऽसीति हैवं किलोवाचोक्तवान्याज्ञवल्क्यः । तदेत[६]दुक्तमथ वै तेऽहं तद्व
यत्र गमिष्यसीति[८] । स होवाच जनको वैदेहो*ऽभयमेव त्वा त्वामपि गच्छताद्गच्छतु

'पूर्वोक्तं व्याख्यानं स्मारयति—यमेष इति । तुरीयादपि प्राप्तव्यमन्यदभयमस्तीत्याशङ्क्या
अभयमिति । गन्तव्यं वक्ष्यामीत्युपक्रम्यावस्थात्रयातीतं तुरीयमुपदिशन्नास्मान्पृष्टः 'कोविदारानाच
म्यायविषयतां "नातिवर्ततेत्याशङ्क्याऽऽह—तदेतदिति । विद्याया दक्षिणान्तराभावमभिप्रत्या

इस प्रकार निखिलनिषेधावधिभूत आत्मा है। 'नेति नेति' से लेकर "रिष्यति" तक की
(बृ.उ.३.९.२६ में) पहले की जा चुकी है। हे जनक ! तुम "अभयम्" अर्थात जन्म-मरणादिनि
भय यानी अज्ञान से शून्य ब्रह्म को प्राप्त हो चुके हो। इस प्रकार निश्चयपूर्वक याज्ञवल्क्य "
यानी बोले। इस प्रकार इसका उपपादन कर दिया। अब तुझे (जो प्रतिज्ञा की थी) उसे वत
कि तुझे कहाँ जाना है। उस वैदेह जनक ने कहा—हे पूज्य याज्ञवल्क्यजी ! आप जो हमें ब्र
करा रहे हैं अर्थात् उपाधिकृत अज्ञान के व्यवधान का अपनोदन कर रहे हैं, इसके लिए "त्वा गच्छ

---

१. निखिलनिषेधावधिभूतम् । २. एषः प्रकृतः । विद्वान् विश्वादेस्तैजसादावन्तर्भावं जानन् । ३. प्रवि
४. बृ० उ० ३।९।२६ । ५. जन्मेति—जन्मादिनिमित्तं भयम् अज्ञानं तद्रहितं ब्रह्मैव प्राप्तोऽसीत्यर्थः।
उपपादितम् । ७. यत्प्रतिज्ञातमासीत् । ८. बृ० उ० ३।९।२६ । ९. कचनाल इति ख्यातान्।
मुनिः ।

---

*अभयं त्वा गच्छतादित्यादि । "अभयस्य प्रदातृत्वान्नन्ववाप्ताभयो गुरुः । अभयं त्वामिति कथं राज्ञाऽ
प्रतीर्यते ।। इत्यस्य परिहारोक्तिं केचिदाचक्षते बुधाः । शब्दादवाप्तमभयं न तु साक्षाच्चकार तत ।। साक्षा
सिद्ध्यर्थमतो राजाऽब्रवीन्मुनिम् । अभयं त्वामिति वचस्तद्वयस्याप्राप्तमुच्यते ।। यदि वा द्विविधो मोक्षो
शरीरके । एकः साक्षात्कृतब्रह्मा मृतेरूर्ध्वं च तल्लयः ।। एवं परिजिहीर्षन्ति न तु न्याय्योक्तिरीदृशी । प्राप्तो
मुनेरुक्तः परिहारो न युज्यते ।। तज्ज्ञानमात्रमेवोक्त्वा प्राप्तोऽसीति यतोऽवदत् । तत्साक्षात्करणान्नात्य
वाप्त इष्यते ।। शाब्दविज्ञानमात्रेण नाऽऽचार्यत्वे नियुज्यते । श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं च गुरुं यायादिति श्रुतेः ।।
वेदयसीत्येतन्न चासाक्षात्कृते परे । शाब्दमात्रपरिज्ञाने राज्ञो युक्तं प्रभाषितुम् ।। असाधारणधर्मोत्थं विज्ञानं
प्रमा । शब्दमात्रप्रमोत्थं तु न मानं वस्तुसंश्रयात् ।। साक्षात्कृतैकतत्त्वस्याप्यैकात्म्यप्रत्ययं प्रति । किं समाश
येन तदाशीः संप्रयुज्यते ।। ज्ञानानुरूपामेवातो दक्षिणां दित्सुरब्रवीत् । अभयं त्वामिति नृपो यथोक्तज्ञानानि
।। ९९-१०९ ।। इति । राज्ञा प्रयुक्तामाशिषमाक्षिपति—अभयस्येति ।। भर्तृप्रपञ्चोक्तं परिहार
इत्यस्येति । तामेव व्यनक्ति—शब्दादिति ।। परोक्षज्ञानित्वे गुरो राजाशीः सफलेति फलितमाह—साक्षा
तदपि तेन प्राप्तमेवाऽऽचार्यत्वात् "उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः" इति स्मृतेरित्याशङ्क्या
तद्धीति । नास्याभयं साक्षादाप्तमन्यथा मुक्तस्यानुशासनायोगात् । उक्तं हि—प्राप्तमभयं याज्ञवल्क्येन ना
तु साक्षात्कृतमिति । अतो राजाशीरुचितेत्यर्थः ।। तैरेवोक्तं परिहारान्तरमाह—यदि वेति । यथाऽऽ
मोक्षोऽस्मिन्नेव शरीरे साक्षात्कृतब्रह्मा मुक्त इत्युच्यते न ब्रह्मणि लीनस्तस्य शरीरपातोत्तरकालं ब्रह्म

ोऽस्मान्हे याज्ञवल्क्य भगवन्पूजावन्नभयं ब्रह्म 'वेदयसे ज्ञापयसि प्रापितवानुपाधिभूताज्ञा-
व्यवधानापनयनेनेत्यर्थः । किमन्यदहं विद्यानिष्क्रयार्थं प्रयच्छामि साक्षादात्मानमेव
त्तवते'। 'अतो नमस्तेऽस्त्वस्मे विदेहास्तव यथेष्टं भुज्यन्तामयं चाहमस्मि दासभावे

ोवाचेति । कथं पुनरन्यस्य स्थितस्य नष्टस्य वाऽन्यप्रापणमित्याशङ्क्याऽऽह—उपाधीति' । पश्चादिकं
क्षिणान्तरं संभवतीत्याशङ्क्य तस्योक्तविद्यानुरूपत्वं नास्तीत्याह—किमन्यदिति । वस्तुतो दक्षिणा-
तराभावमुक्त्वा 'प्रतीतिमाश्रित्याऽऽह—अत इति । अक्षरार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—यथेष्टमिति ।।२।।

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ।। २ ।।

र्थात् आप भी अभय को प्राप्त करें । साक्षात् आत्मा का दान करने वाले आप गुरुजी को मैं इस विद्या
के बदले क्या दूं ? इसलिये (अन्य किसी योग्य दक्षिणा के अभाव में) आपको नमस्कार है । यह विदेह

---

१. वेदयस इति । वार्तिके यथा—"यच्चाभयं वेदयस इति प्रत्यूचिवान्नृपः । तत्तमोध्वस्तितः कार्यं नान्यदस्तीति लिङ्ग्यते" ।। ९८ ।। इति । ज्ञानस्याज्ञाननिवृत्त्यतिरेकिफलं देशान्तरप्राप्त्यायत्तं नास्ति ततो न गतिरिति वर्तमानव्यपदेशात्सिद्धमिति वार्तिकार्थः । २. तुभ्यं गुरवे इति शेषः । ३. अतः—योग्यदक्षिणान्तराभावात् । ४. तथा चान्यत्वमेव नासीदिति भावः । ५. उक्तविद्यानुरूपत्वं नास्तीति । "ज्ञानतुल्याममन्वानो दक्षिणां गुरवे नृपः । अभयं त्वामिति प्राह याज्ञवल्क्यं स पार्थिवः" ।। ९६ ।। इति वार्तिकोक्तेः । ६. व्यवहारदृष्टिम् ।

द्वितीयो मोक्षः स त्वाशासितव्य इति ।। आत्यन्तिके मोक्षे साधनान्तरेणाऽऽशीर्वादादिना भाव्यमिति मत्वा परोक्तं परिहारमुपसंहरति—एवमिति । निराकरोति—न द्विधेति । कथं न्यायबाह्या द्विधापरिहारोक्तिस्तत्राऽऽह—प्राप्तोऽसीति ।। तथाऽपि कथं परिहारयोरन्याय्यत्वं तत्राऽऽह—तज्ज्ञानेति । प्रतीचो ब्रह्मत्वस्य स्वतः सिद्धेस्त-ज्ज्ञानादज्ञानहानिव्यतिरेकेण ब्रह्मसाक्षात्कारस्तल्लयो वा न संभवत्यतो नाऽऽशीर्वादाद्युपायान्तरापेक्षा मोक्षस्या-स्तीत्यर्थः ।। यत्तु मुनिना शब्दात्प्राप्तमेव पारोक्ष्येणाभयं ब्रह्म न साक्षात्कृतमिति तत्राऽऽह—शाब्देति । परोक्षज्ञानमात्रेणाऽऽचार्यत्वाभावे श्रुतिं प्रमाणयति—श्रोत्रियमिति ।। इतश्च मुनिः साक्षात्कृतब्रह्मं वेत्याह—अभयमिति । ब्रह्म वेदयसीत्युक्ते राज्ञस्तावत्तत्साक्षात्कारोऽवगम्यते वेदनस्यानुभवत्वात्तेनैव गुरोरपि सोऽनुमीयते भगवता तस्य तत्त्वदर्शित्वविशेषणादित्यर्थः ।। वेदयसीति शाब्दं परोक्षज्ञानमेव ब्रह्मविषयं किं नोच्यते तत्राऽऽह—असाधारणेति । एवमुत्सर्गेऽपि प्रस्तुते किं जातं तदाह—शब्देति । न हि परोक्षं ज्ञानं वस्त्वनुसरति तस्य साक्षादपरोक्षादित्यादिलक्षणत्वादित्यर्थः ।। यत्तु देहपातोत्तरकाल ब्रह्मणि लयो द्वितीयो मोक्षः स चाऽऽशंसितव्य इति तत्राऽऽह—साक्षादिति । तदाशीर्ब्रह्मणि लयं प्रत्याशीरिति यावत् ।। परपक्षासंभवमुक्त्वा स्वपक्षमाह—ज्ञानेति । प्राप्ताभये मुनौ किमित्येवं राजोक्तवान्दक्षिणान्तरं तु देयं तदभावे मौनमुचितमित्याशङ्क्याऽऽह—यथोक्तेति । पूर्वोक्ते ब्रह्मात्मनि ममानुभवान्तं ज्ञानं जातमिति ज्ञापनायैवमुक्तवानित्यर्थः ।।

अभयं त्वेति अभय त्वा गच्छतादित्यादि । अत्र वार्तिकसारस्तथाहि—"ज्ञानेन सदृशीमन्यामपश्यन्गुरुदक्षिणाम् । साक्षात्कृत य एषाशीरित्येवं वचसा दक्षिणामाशिषं ददौ ।। वेत्ति ब्रह्म मुनिःशब्दान्न तु साक्षाच्चकार तत् । आशीर्विदेह मोक्षायेत्याहुरन्ये द्वयं न तत् ।। केचिदूचिरे ।। साक्षात्कृतब्रह्मतत्त्वो जीवन्मुक्तो मुनिः स्थितः । जीवन्मुक्तस्य पतिते देहे शाब्दविज्ञानमात्रेण नाचार्यत्वे नियुज्यते । श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं च गुरु यायादिति श्रुतः ।। मुक्तिः सुनिश्चिता । तत्राप्याशीरतो मा भूद्दक्षिणार्थैव सा ततः ।। उत्तमा दक्षिणैवाशीर्मध्यमा तु नमस्क्रिया । स्वभूमिवपुषोर्दानं वित्तशाठ्यनिवृत्तये ।। दक्षिणा त्रिविधाप्येषा व्यावहारिकदृष्टितः । वस्तुदृष्ट्या तु नैवास्ति दक्षिणा न प्रतिग्रहः" ।। इति ।

स्थितो यथेष्टं मां राज्यं च [1]प्रतिपद्यस्वेत्यर्थः ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य
द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥२॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ।

जनकं ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगामेत्यस्या[2]भिसंबन्धः । विज्ञानमय आत्मा सा[3]दपरोक्षाद्ब्रह्म सर्वान्तरः पर एव । नान्यो[4]ऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्य[5]दतोऽस्ति द्रष्टृ श्रुतिभ्यः । [6]स एष इह प्रविष्टो वदनादिलिङ्गोऽस्ति [7]व्यतिरिक्त इति मधुकाण्डे शत्रुसंवादे प्राणादिकर्तृत्वभोक्तृत्वप्रत्याख्यानेनाधिगतोऽपि सन्पुनः प्राणनादिलिङ्गमु स्यौषस्ते प्रश्ने प्राणनादिलिङ्गो यः सामान्येनाधिगतः प्राणेन प्राणितीत्यादिना दृष्टं

पूर्वस्मिन्ब्राह्मणे जागरादिद्वारा [8]तत्त्वं निर्धारितं संप्रति ब्राह्मणान्तरमवतार्य तस्य संबन्धं प्रतिजानीते—जनकमिति । तमेव संबन्धं वक्तुं [9]तृतीये वृत्तं कीर्तयति—विज्ञानमय इति । साक्षादपरोक्षात्सर्वान्तर आत्मा स [10]पर एव [11]विज्ञानमय आत्मेत्यत्र हेतुमाह—नान्य इति । विज्ञा पर एवेत्यत्र वाक्यान्तरं पठति— स एष इति । [12]वदन्वागित्यादावुक्तमनुवदति—वदनादीति । ता मर्थमनूद्य [13]चातुर्थिकमर्थमनुवदति—अस्तीति । यदि मधुकाण्डे गार्ग्यकाश्यसंवादे प्राणादीनां कर्तृ दिनिराकरणेन तेभ्यो व्यतिरिक्तोऽस्ति विज्ञानात्मेति [14]सो[15]ऽधिगतस्तर्हि किमिति [16]पञ्चमे [17]तत्स व्युत्पाद्यते तत्राऽऽह—पुनरिति । यद्यपि विज्ञानमयसद्भावश्चतुर्थे स्थितस्तथाऽपि पुनरौषस्ते प्रश्ने

राज्य आपका ही है, इसे यथेष्ट उपभोग करें; अर्थात् भोग्यत्वरूप से राज्य को एवं दास्यभाव से को स्वीकार करें ॥ ४ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् चतुर्थाध्याय द्वितीय ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य
का हिन्दीभाषानुवाद सम्पन्न हुआ ॥ २ ॥

"जनकं ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम" इस श्रुति का अतिक्रान्त ब्राह्मण से संबन्ध विज्ञानमय आत्मा साक्षात् अपरोक्ष सर्वान्तर परब्रह्म ही है। "इस त्वंपदार्थ से भिन्न कोई नहीं है, और इस तत्पदार्थ से भिन्न कोई द्रष्टृ नहीं है" इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। "वह व्याकर्ता पुरुष इस वर्तमान देह में (नख से शिखापर्यन्त) प्रवेश किये हुए है, वदनादिलिङ्ग वाला प्राणादि से व्यतिरिक्त है", इस प्रकार प्राणादि के कर्तृत्वभोक्तृत्व के निराकरण द्वारा मधुकाण्ड अज शत्रुसंवाद में ज्ञात होने पर भी पुनः उषस्त के प्रश्न में 'जो प्राण से प्राणन करता है' इत्यादि श्रु वाक्य द्वारा प्राणनादि लिङ्ग को प्रस्तुत करके सामान्य रूप से प्राणनादि लिङ्ग वाला जाना गया

---

१. प्रतिपद्यस्व— स्वीकुरु राज्यं भोग्यत्वेन मां च दास्येनेत्यर्थः । २ अतिक्रान्तेन ब्राह्मणेन । ३. अपरोक्ष ४. इदं त्वंपदार्थोपक्रमाभिप्रायकम् । ५. इदं तत्पदार्थोपक्रमाभिप्रायम् । ६ बृ० उ० १।४।७। प्राणादिव्यतिरिक्तः । ८ तुरीय वस्तु । ९. उपनिषत्क्रमेण तृतीयाध्याये । १०. तत्पदार्थ एव । त्वंपदार्थः । १२. बृ० उ० १।४।७। १३. बृहदारण्यकक्रमेण । १४. विज्ञानात्मा । १५. त गतत्वे । १६. उपनिषत्क्रमेण तृतीये । १७. विज्ञानात्मा ।

त्यादिनाऽलुप्त[1]शक्तिस्वभावोऽधिगतः ।

तस्य च परोपाधिनिमित्तः संसारो यथा रज्जूषरशुक्तिकागगनादिषु सर्पोदकरजततलमलिनत्वादि परा[2]ध्यारोपणनिमित्तमेव न स्वतस्तथा निरुपाधिको निरुपाख्यो नेति नेतीति व्यपदेश्यः साक्षादपरोक्षात्सर्वान्तर आत्मा ब्रह्माक्षरमन्तर्यामी प्रशास्तौपनिषदः पुरुषो विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेत्यधिगतम् ।

तदेव पुनरिन्धसंज्ञः प्रविविक्ताहारस्ततोऽन्तर्हृदये लिङ्गात्मा प्रविविक्ताहारतर

---

[3]प्राणेन प्राणितीत्यादिना प्राणनादिलिङ्गमुपन्यस्य तल्लिङ्गगम्यः [4]सामान्येनाधिगतः स दृष्टेर्द्रष्टेत्यादिना [5]कूटस्थदृष्टिस्वभावो विशेषतो निश्चितस्तथा[6] च पञ्चमेऽपि तद्व्युत्पादनमुचितमित्यर्थः ।

आत्मा कूटस्थदृष्टिस्वभावश्चेत्कथं तस्य संसारस्तत्राऽऽह—तस्य चेति । [7]अज्ञानं तत्कार्यं चान्तःकरणादि परोपाधिशब्दार्थः । संसारस्याऽऽत्मन्यौपाधिकत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । [8]दार्ष्टान्तिकस्यानेकरूपत्वादनेकदृष्टान्तोपादानमित्यभिप्रेत्य दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति । यथोक्तदृष्टान्तानुसारेणाऽऽत्मन्यपि परोपाधिः संसार इति यावत् । सोपाधिकस्याऽऽत्मनः संसारित्वमुक्त्वा निरुपाधिकस्य नित्यमुक्तत्वमाह—निरुपाधिक इति । निरुपाख्यत्व वाचां मनसां चागोचरत्वम् । कथं [9]तर्हि तत्राऽऽगमप्रामाण्यं तत्राऽऽह—नेति नेतीति [10]व्यपदेश्य इति । कहोलप्रश्नोक्तमनुद्रवति—साक्षादिति । अक्षरब्राह्मणोक्तं स्मारयति—अक्षरमिति । अन्तर्यामिब्राह्मणोक्तं स्मारयति—अन्तर्यामीति । शाकल्यब्राह्मणोक्तमनुसंदधाति—औपनिषद इति ।

पाञ्चमिकमर्थमित्थमनूद्यातीते[11] ब्राह्मणद्वये वृत्तमनुभाषते—तदेवेति । यत्साक्षादपरोक्षात्सर्वान्तरं ब्रह्म तदेवाधिगमनो[12]पायविशेषोपदर्शनपुरःसरं पुनरधिगतमिति संबन्धः । षडाचार्यब्राह्मणार्थं संक्षिप्य कूर्चब्राह्मणार्थं संक्षिपति—इन्ध इत्यादिना । इन्धस्य विशेषणं प्रविविक्ताहार इति । हृदयेऽन्तर्यो [13]लिङ्गात्मा स ततो वैश्वानरादिन्धात्प्रविविक्ताहारतर इति योजना । विश्वतैजसावुक्तौ

"वही दृष्टि का द्रष्टा है" इत्यादि वाक्य से अलुप्त दृष्टि स्वभाव वाला जाना गया है।

उसे अज्ञान और उसके कार्य अन्तःकरणादिरूप परोपाधि के कारण संसार प्राप्त होता है, जिस प्रकार रज्जु, ऊसर, शुक्ति और आकाशादि में सर्प, जल, रजत और तलमलिनता आदि की प्रतीति अज्ञानप्रयुक्त अध्यारोप के कारण होती है; स्वतः नहीं, इसी प्रकार निरुपाधिक, निरुपाख्य, 'नेति नेति' इस श्रुतिवाक्य से निर्दिष्ट, साक्षात्, अपरोक्ष, सर्वान्तर, आत्मा ब्रह्म, अक्षर, अन्तर्यामी, प्रशास्ता, औपनिषद पुरुष, विज्ञान आनन्दरूप ब्रह्म है—ऐसा जान लिया गया।

वही फिर सूक्ष्म आहार करने वाला इन्धसञ्ज्ञक वैश्वानर, फिर उससे भी सूक्ष्मतर आहार

---

१. दृष्टिरित्यर्थः। २. अज्ञानप्रयुक्ताध्यारोपण निमित्तमेव। ३. प्राणोऽपि येन सचेष्टः। ४. प्राणनादि-
प्रयोजकतया चेतनत्वेनेति यावत्। ५. निर्विकारज्ञानस्वरूपः। ६. पञ्चमस्य तस्मिन् विशेषतो निश्चाय-
कत्वे। ७. ज्ञानस्वरूपो ह्यात्मा तस्माच्च परं भिन्नमज्ञानमेव भवतीत्यभिप्रेत्य परशब्दार्थमाह—अज्ञानमिति।
८. संसारस्य। ९. तस्य निरुपाख्यत्वे। १०. तथा च निषेधमुखेनैव तमागमा गायन्ति न विधिनेत्यदोष
इति भावः। ११. प्रकृताध्यायगते षडाचार्यकूर्चसंज्ञके। १२. उपायविशेषो वागादिदेवतासु ब्रह्मदृष्ट्याख्यः।
१३. तैजसः।

स्ततः परेण जगदात्मा प्राणोपाधिस्ततोऽपि प्रविलाप्य जगदात्मानमुपाधिभूतं रज्ज्वा विव सर्पादिकं विद्यया स एष नेति नेतीति साक्षात्सर्वान्तरं ब्रह्माधिगतम् । एवम परिप्रापितो जनको याज्ञवल्क्येना[1]ऽऽगमतः संक्षेपतः । [2]अत्र च [3]जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ततुरीया पन्यस्तान्यन्यप्रसङ्गेने[4]न्धः [5]प्रविविक्ताहारतरः [6]सर्वे प्राणाः [7]स एष नेति नेतीति ।

इदानीं जाग्रत्स्वप्नादिद्वारेणैव महता तर्केण विस्तरतो[8]ऽधिगमः कर्तव्यः । [9]अ

प्राज्ञतुरीये प्रदर्शयति—ततः परेणेति । ततस्तस्माद्विश्वात्तैजसाच्च [10]परेण व्यवस्थितो यो जगदा [11]प्राणोपाधिरव्याकृताख्यः प्राज्ञस्ततोऽपि [12]तमप्युपाधिभूतं जगदात्मानं केवले प्रतीचि विद्यया प्रविला स एष नेति नेतीति यत्तुरीयं ब्रह्म तदधिगतमिति संबन्धः । विद्ययोपाधिविलापने दृष्टान्तमाह रज्ज्वादाविति । अभयं वै जनकेत्यादावुक्तमनुवदति—एवमिति । कूर्चब्राह्मणोक्तमर्थमनुभा संक्षिप्याऽऽह—अत्र चेति । अन्यप्रसङ्गेनोपासनानां [13]क्रमभुक्तिफलत्वप्रदर्शनप्रसङ्गेनेति यावत् । ते मुपन्यासमेवा[14]भिनयति—इन्ध इत्यादिना ।

वृत्तमनूद्योत्तरब्राह्मणस्य तात्पर्यमाह—इदानीमिति । आदिशब्दः सुषुप्तितुरीयसंग्रहार्थः *तर्कस्य महत्त्वं [15]चतुर्विधदोषराहित्येनाबाधितत्वम् । अधिगमस्तस्यैव प्रस्तुतस्य ब्रह्मण इति शे कर्तव्य इतीदमिदानीमारभ्यत इति संबन्धः । किमिदं ब्रह्मणोऽधिगमस्य कर्तव्यत्वं नाम तदाह

करने वाला हृदयस्थ लिङ्गात्मा और पुनः उससे भी सूक्ष्म प्राणोपाधिक जगदात्मा जाना ग फिर रज्जु आदि में सर्पादि के समान उपाधिभूत जगदात्मा का भी ज्ञान द्वारा लय करके 'स नेति नेति' इस श्रुतिवाक्य द्वारा साक्षात् सर्वान्तर ब्रह्म जाना गया । इस प्रकार संक्षेपतः शास्त्र याज्ञवल्क्य से जनक अज्ञानरहित ब्रह्म को प्राप्त कराया गया है; तर्क के द्वारा नहीं । यहां प्रसङ्ग से इन्ध, विश्व प्रविविक्ताहारतर से तैजस, "सर्वे प्राणाः" से प्राज्ञ, "स एष नेति ने से तुरीय इत्यादि रूप से जाग्रत्, स्वप्न, सुषप्ति और तुरीय का व्याख्यान किया गया है ।

अब जाग्रत्, स्वप्नादि के द्वारा ही महान् तर्क से उसका विस्तारपूर्वक निश्चय कराना

---

१. न तु युक्तितः । २. टीकोक्तार्थम् । ३. विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयाणि । ४. इन्धो विश्वः । प्रविविक्ताहारतरस्तैजसः । ६. सर्वे प्राणाः प्राज्ञः । ७. स एष नेति नेतीति तुरीयः । ८. निश्चयः । अभयम्—भयहेत्वविद्यारहितं ब्रह्म । १०. भिन्नत्वेन । ११. प्राणोपाधिरिति—प्राणश्चासावुपाधिश्चे तथा प्राणकारणत्वात्प्राणः प्रतीचश्चोपाधिरव्याकृताख्यः आनन्दमयनामधेय इत्यर्थः । १२. तत इत्येतत् विभक्तिकतस्यन्तमित्यभिप्रेत्य तदर्थमाह—तमिति । १३. विश्वादिप्राप्तिक्रमेण । १४. स्पष्टयति । चतुर्विधदोषेत्यादि । व्यभिचाराऽसाधारण्याऽसिद्धिबाधानामभावेनाबाधितत्वमदुष्टत्वमित्यर्थ इत्याहुः । वस्तु हेत्वाभासचतुष्टयराहित्येन बाधाख्यपञ्चमेनापि तेन राहित्यमित्यर्थः ।

*व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः । यथा यदि धूमो वह्निव्यभिचारी स्यात्तर्हि वह्निजन्यो न स्यादि चतुर्विधदोषरहितो हि तर्कः साधुर्भवति । ते च दोषाः प्रदर्श्यन्ते—आपादकसत्त्वग्रहः, आपाद्यसत्त्व आपाद्यापादकयोर्व्यभिचारः अप्रयोजकत्वं चेति । तत्त्वं च कार्यकारणभावादिमूलकत्वाभावः । प्रकृते च तर्केऽ न्यतमोऽपि दोषस्तथाहि आपादकस्य वह्निव्यभिचारित्वस्य धूमे सत्त्वग्रहाभावादापाद्यस्य वह्निजन्यत्वाभा सत्त्वनिश्चयाभावादापाद्यापादकयोर्वह्निव्यभिचारित्ववह्निजन्यत्वाभावयोर्व्यभिचाराभावाद्वह्निधूमयोः कार्य

प्रापयितव्यम् । सद्भावश्चाऽऽत्मनो विप्रतिपत्त्याशङ्कानिराकरणद्वारेण । व्यतिरिक्तत्वं शुद्धत्वं स्वयंज्योतिष्ट्वमलुप्तशक्तिस्वरूपत्वं निरतिशयानन्दस्वाभाव्यमद्वैतत्वं चाधिगन्तव्यमिती[1]दमारभ्यते ।

आख्यायिका तु विद्यासंप्रदानग्रहणविधिप्रकाशनार्था । विद्यास्तुतये च [2]विशेषतः [3]वरदानादिसूचनात् ।

अभयमिति । अधिगन्तव्यमर्थान्तरमाह—सद्भावश्चेति । [4]प्रागपि सद्भावस्तस्याधिगतस्तत्किमर्थं पुन[5]स्तादर्थ्येन प्रयत्यसे तत्राऽऽह—विप्रतिपत्त्येति । [6]बाह्यानां [7]विप्रतिपत्त्या [8]नास्तित्वशङ्कायां तन्निरासद्वाराऽऽत्मनः सद्भावोऽधिगन्तव्य इत्यर्थः । आत्मनोऽस्तित्वेऽपि केचि[9]द्देहादौ तदन्तर्भावमभ्युपयन्ति तान्प्रत्याह—व्यतिरिक्तत्वमिति । देहादिव्यतिरिक्तोऽप्यात्मा कर्ता भोक्ता चेत्येके[10] भोक्तैव केवलमित्यपरे तान्प्रत्युक्तम्—शुद्धत्वमिति । [11]तस्य जडत्वपक्षं प्रत्याचष्टे—स्वयंज्योतिष्ट्वमिति । [12]तत्र कूटस्थदृष्टिस्वभावत्वं हेतुमाह—अलुप्तेति । [13]एतेन विज्ञानस्य गुणत्वपक्षोऽपि प्रत्युक्तो वेदितव्यः । ये त्वानन्दमात्मगुणमाहुस्तान्प्रत्याह—निरतिशयेति । आत्मनः सप्रपञ्चत्वपक्षं प्रत्यादिशति—अद्वैतत्वं चेति ।

ब्राह्मणतात्पर्यमभिधायाऽऽख्यायिकातात्पर्यमाह—आख्यायिका त्विति । विद्यायाः संप्रदानं शिष्यस्तस्य[14] ग्रहणविधिः श्रद्धादि[15]प्रकारस्तस्य प्रकाशनार्थेयमाख्यायिकेति यावत् । प्रयोजनान्तरं तस्या दर्शयति—विद्येति । कथं कर्मभ्यो विशेषतो विद्यायाः स्तुतिरत्र लक्ष्यते तत्राऽऽह—वरेति । कामप्रश्नाख्यस्य वरस्य याज्ञवल्क्येन राज्ञे [16]दत्तत्वात्तेन [17]चावसरे ब्रह्मज्ञानस्यैव पृष्टत्वादनेन [18]विधिना विद्यास्तुतेः

अभय (भयहेतुक अविद्यारहित ब्रह्म) पद की प्राप्ति कराना है। तथा विपरीत ज्ञान की शङ्का को निराकरण द्वारा आत्मा के अस्तित्व को जानना चाहिये। देहादि से व्यतिरिक्तत्व, शुद्धत्व, स्वयंप्रकाशत्व, अलुप्तदृष्टिस्वरूपत्व, निरतिशयानन्दस्वाभाव्य और अद्वैतत्व का भी बोध कराना है; इसलिए अग्रिम ज्योतिर्ब्राह्मण ग्रन्थ का प्रारम्भ किया जाता है।

आख्यायिका तो विद्या के दान और ग्रहण की विधि प्रकाशित करने के लिए तथा कर्मों से श्रेष्ठ होने के कारण विद्या की प्रशंसा करने के लिए है। विद्यादान का आदि कारण वरदान होने की सूचना से यही बात पुष्ट होती है।

---

[1] ज्योतिर्ब्राह्मणम् । [2] विशेषतः—कर्मभ्योऽधिकमिति यावत् । [3] वरदानादीति—आदिना विद्याप्रश्नो ग्राह्यस्ताभ्यां विद्यास्तुतेः सूचनादित्यर्थः । अथवा वरदानम् आदिः कारणं यस्य विद्याप्रश्नस्य तेनेति पूर्ववत् । [4] तृतीयचतुर्थपञ्चमेषु । [5] आत्मसद्भावाधिगमार्थमिति यावत् । [6] वेदनास्तिकानाम् । [7] विवादेन । [8] आत्मनः । [9] काणादादयः । [10] सांख्यादयः । [11] आत्मनः । [12] स्वयंज्योतिष्ट्वे । [13] नित्यज्ञानस्वरूपत्वकथनेन । [14] तत्कर्तृकग्रहणेत्यर्थः । [15] आदिना शमादिः । [16] पुराऽग्निहोत्रसंवादे । [17] इदानीम् । [18] प्रकारेण ।

भावमूलत्वेनोक्ता प्रयोजकत्वस्याभावाच्चेति । एतद्घटो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात्तर्हि वह्निसमानाधिकरणो न स्यादत्र चतुर्णामपि दोषाणां सत्त्वान्न सत्तर्कत्वं तथाहि आपादकस्य वह्निव्यभिचारित्वस्यैतद्घटे सत्त्वनिश्चयादापाद्यस्य वह्निसामानाधिकरण्याभावयोर्व्यभिचाराद्वह्न्येतद्घटयोः कार्यकारणभावाद्यभावेनोक्ताप्रयोजकत्वस्य सत्वाच्चेति ।

[1]जनकꣳ ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम [2]स मेने न वदिष्य इत्यथ[3] ह यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ स ह कामप्रश्नमेव वव्रे तꣳ हास्मै ददौ तꣳ ह सम्राडेव पूर्वं पप्रच्छ ॥ १ ॥

एक बार याज्ञवल्क्य विदेहाधिपति जनक के पास गये। उन्होंने ऐसा निश्चय किया था कि मैं कुछ भी नहीं बोलूँगा। पर पहले ही कभी विदेहराज जनक और याज्ञवल्क्य ने अग्निहोत्र के वि में संवाद किया था। उसी समय याज्ञवल्क्य ने जनक को वरदान दिया था और जनक की इच्छानु प्रश्न करना ही उस वरदान के रूप में माँगा था। यह वरदान याज्ञवल्क्य ने उसे दे भी दिया अतएव याज्ञवल्क्य से जनक ने आज्ञा लेने के पूर्व ही प्रश्न करना प्रारंभ कर दिया ॥ १ ॥

जनकं ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम। स च गच्छन्नेवं मेने चिन्तितवान्न वदि किंचिदपि राज्ञे। गमनप्रयोजनं [4]तु योगक्षेमार्थम्। न वदिष्य इत्येवंसंकल्पो याज्ञवल्क्यो यद्यज्जनकः पृष्टवांस्तत्त[5]त्प्रतिपेदे तत्र को हेतुः [6]संकल्पितस्यान्यथाक

---

[7]सूचनात्साऽप्यत्र[8] विवक्षितेत्यर्थः।

[1]तात्पर्यमेवमुक्त्वा व्याख्यामक्षराणामारभते—जनकमित्यादिना। संवादं न करोमीति चेत्किमिति गच्छतीत्याशङ्क्ते—गमनेति। उत्तरमाह—योगेति। अथ हेत्याद्यवतारयति—नेत्यादिना

वैदेह जनक के पास याज्ञवल्क्य गये। उन्होंने जाते हुए ऐसा "मेने" अर्थात् सोचा कि मैं रा को कुछ शिक्षा नहीं दूंगा। जनक के पास जाने का प्रयोजन तो योगक्षेम के लिए था। "शिक्षा न दूंगा" ऐसा संकल्प करने पर भी जनक ने जो-जो पूछा, उसे याज्ञवल्क्य ने बतलाया; मन में प्रतिज्ञा से अन्य करने में यहाँ हेतु क्या था, इस विषय में श्रुति आख्यायिका बतलाती है। इससे पहले क

---

१. जनकं हेति—"तृतीये ब्राह्मणे स्वप्नसुषुप्त्योरतिविस्तृतिः। क्रियते तौ हि दृष्टान्तौ परलोकविमोक्षयोः देहादिव्यतिरिक्तत्वं स्वप्रभत्वमसंगता। स्वप्नप्रसङ्गतस्त्वेतन्त्रयमत्र प्रपञ्च्यते॥ अद्वैतत्वं दृष्टयलोप आनन्द स्वभावता। इदं त्रयं सुषुप्तस्य प्रसङ्गे नोपपाद्यते" ॥ इति वा० सा० ॥ २. स मेने न वदिष्य इति— राज्ञा सहाहं संवदिष्ये इत्याशयवान्याज्ञवल्क्यो वैदेहं जनकं जगामेति वार्तिकोक्तं व्याख्यान्तरम्। ३. संवा राज्ञेति संकल्प्य तं गतवानित्यत्र वरदानमेव हेतुरित्याशयेन कर्मकाण्डवृत्तामाख्यायिकां स्मारयति—अ यदित्यादिना। ४. तुः शङ्कायां किमित्यर्थकः। ५. उक्तवान्। ६. मनसि प्रतिज्ञातस्य। ७. सूचना —विद्यायाः कर्माद्यपेक्षया श्रेष्ठ्याभावे कर्मादिविषयमेव प्रश्नं कुर्यादिति भावः। ८. आख्यायिकायाम्। प्रस्तुतब्राह्मणस्य।

त्यत्रा[1]ऽऽख्यायिकामाचष्टे। पूर्वत्र किल जनकयाज्ञवल्क्ययोः संवाद आसीद[2]ग्निहोत्रे मिते तत्र जनकस्याग्निहोत्रविषयं [3]विज्ञानमुपलभ्य परितुष्टो याज्ञवल्क्यस्तस्मै जनाय ह किल वरं ददौ। स च जनको ह [4]कामप्रश्नमेव वरं वव्रे वृतवांस्तं च वरं स्मै ददौ याज्ञवल्क्यः। तेन [5]वरप्रदानसामर्थ्येनाव्याचिख्यासुमपि याज्ञवल्क्यं तूष्णीं स्थितमपि सम्राडेव जनकः पूर्वं पप्रच्छ। तत्रैवानुक्तिर्ब्रह्मविद्यायाः कर्मणा विरुद्धत्वात्। विद्यायाश्च स्वातन्त्र्यात्। स्वतन्त्रा हि ब्रह्मविद्या सहकारिसाधनान्तरनिरपेक्षा [6]पुरुषार्थ-

---

त्रो[7]त्तरत्वेनेति शेषः। पूर्वत्रेति कर्मकाण्डोक्तिः। नन्वग्निहोत्रप्रकरणे कामप्रश्नो वरो दत्तश्चेत्किमिति [8]तत्रैवाऽऽत्मयाथात्म्यप्रश्नप्रतिवचने नासूचिषातां तत्राऽऽह—तत्रैवेति। कर्मनिरपेक्षाया ब्रह्मविद्याया ोक्षहेतुत्वादपि कर्मप्रकरणे तदनुक्तिरित्याह—विद्यायाश्चेति। [9]सर्वापेक्षाधिकरणन्यायान्न तस्याः वातन्त्र्यमित्याशङ्क्याऽऽह—स्वतन्त्रा हीति। सा हि स्वोत्पत्तौ [10]स्वफले वा कर्माण्यपेक्षते। ाऽऽद्योऽभ्युपगमात्। न द्वितीयः। [11]अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षेतिन्यायविरोधादित्यभिप्रेत्याऽऽह

नक और याज्ञवल्क्य में अग्निहोत्रविषयक संवाद हुआ था, तब अग्निहोत्र के विषय में जनक का ज्ञान धिक देखकर प्रसन्न याज्ञवल्क्य ने उस जनक को वर दिया था। उस समय जनक ने याज्ञवल्क्य से वर मांगा था कि "मैं जो चाहूँ, वही प्रश्न आप से करूँ।" याज्ञवल्क्य ने उसे यही वर दे दिया। उसी वरप्रदान के सामर्थ्य से कुछ कहने की इच्छा न होने पर भी एवं चुपचाप बैठे रहने पर भी पहले राजा नक ने ही प्रश्न किया। ब्रह्मविद्या का कर्म से विरोध होने के कारण उसका कर्मकाण्ड प्रसङ्ग में र्णन नहीं किया क्योंकि ब्रह्मविद्या स्वतन्त्र है। सहकारी साधननिरपेक्ष होने के कारण स्वतन्त्र ब्रह्मविद्या

---

१. आख्यायिकामाचष्ट इति—वरदानमेव तत्र हेतुरित्यभिधातुमिति भावः। २. तदुद्दिश्य—तद्विषयक इति।
यावत्। ३. विज्ञानातिशयम्। ४. कामप्रश्नमिति—यथेष्टमहं भवते प्रश्न करवाणीत्येवंविधं वरमित्यर्थः।
५. सामर्थ्येनेति—तथाच कामप्रश्नाख्यं वरं प्राप्य पृष्टवति राजनि दत्तवरस्य मुनेस्तूष्णीं भावो नार्हति
मिथ्यावादित्वापत्तेरतोऽयं संकल्पितस्यान्यथाकरणमपि न गणयति सत्यसंरक्षणार्थम् ऋतायन्निति श्रुतेरिति
भावः। प्रतिज्ञातं सत्यं परिपालयितुमिच्छन्निति। निर्दिष्टश्रुतिशब्दार्थः। अत्र च वार्तिकोक्तव्याख्यैवादर्तव्या।
तदुक्तम्—"राजैव पूर्वं पप्रच्छेत्येतस्माद्गम्यते शुभा। लिङ्गाद्व्याख्योत्तरा पूर्वा न साध्वीत्यप्रमाणतः॥ न
वदिष्येऽहमित्यत्र व्रते हेतुर्न वीक्ष्यते। यतोऽसंतोषतस्तस्मात्कृता व्याख्योत्तरा शुभा" ॥ १३·१४ ॥ इति।
लिङ्गादिति। अनेन कामप्रश्नवरलाभो विज्ञायत इति भावः। उत्तरा—वार्तिकोक्ता। पूर्वा—भाष्योक्ता।
प्रमाणाभावं साधयति—नेति। न हि राज्ञि कामप्रश्नं दत्तवतो न वदिष्ये तेनेति संकल्पोऽवकल्पतेऽनाप्तत्वापत्तेरिति
भावः। ६. उक्तनिरपेक्षा सती पुरुषार्थस्य प्रत्यगात्मतमोध्वस्तेः (मोक्षस्य) साधना—साधिकेत्यर्थः। ७.
समाधानतया। ८. अग्निहोत्रप्रकरणे एव। ९. न्यायादिति—युक्तेरित्यर्थः। तथाहि—"सर्वापेक्षा च
यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" ३।४।२६। विद्यायाः स्वोत्पत्तौ सर्वेषामाश्रमकर्मणामपेक्षाऽस्ति कुतः यज्ञादिश्रुतेः। "विविदि-
षन्ति यज्ञेन दानेने"त्यादिना यज्ञादिकर्मणां विविदिषाद्वारा ज्ञानसाधनत्वश्रवणादित्यर्थः। ननु परम्परया ज्ञानोत्पत्तौ
कर्मापेक्षावन्मोक्षेऽप्यस्तु तदपेक्षेति तत्राऽऽह—अश्ववदिति। यथाऽश्वो योग्यताबलाद्रथचर्यायां विनियुज्यते न
लाङ्गलाकर्षणे तथा कर्मणां मोक्षे योग्यताभावान्नापेक्षेत्यर्थः। १०. अविद्याध्वस्तौ। ११. अत एवेत्यादि
ब्र० सू० ३।४।२५। स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वादेव ब्रह्मविद्याया न अग्नीन्धनाद्यपेक्षास्ति। अत्राग्नीन्धनशब्देन स्वस्वाश्रम-
विहितानि कर्माणि लक्ष्यन्ते तथा च विद्याफले मोक्षे नास्ति कर्मापेक्षा रजतादिभ्रमनिवृत्तौ शुक्तिकादिज्ञानस्येवेत्यर्थः।

याज्ञवल्क्य [1]किंज्योतिरयं पुरुष इति । आदित्यज्योतिः सम्राडिति होवाचाऽऽदित्येनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २ ॥

हे याज्ञवल्क्य ! यह पुरुष किस ज्योति वाला है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सम्राट् ! यह आदित्य ज्योति वाला है क्योंकि यह आदित्यरूप ज्योति से बैठता है, सभी ओर जाता है, कर्म क है और कर्म करके नियत स्थान पर लौट आता है । जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसा ही है

साधनेति च ॥ १ ॥

हे याज्ञवल्क्येत्येवं संबोध्याभिमुखीकरणाय किंज्योतिरयं पुरुष इति किं पुरुषस्य ज्योतिर्येन ज्योतिषा[2] [3]व्यवहरति सोऽयं किंज्योतिरयं प्राकृतः कार्यकरणसं रूपः शिरःपाण्यादिमान्पुरुषः पृच्छ्यते । किमयं [4]स्वावयवसंघातबाह्येन ज्योतिरन्ये व्यवहरत्याहोस्वित्स्वावयवसंघातमध्यपातिना ज्योतिषा ज्योतिष्कार्यमयं पुरुषो नि यतीत्येतदभिप्रेत्य पृच्छति । किंचातो[5] यदि व्यतिरिक्तेन यदि वाऽव्यतिरिक्तेन ज्यो

—सहकारीति । [6]इत्यस्माच्च हेतोस्तत्रैवानुक्तिरिति संबन्धः ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्य[7]व्रतभङ्गे [8]हेतुमुक्त्वा जनकस्य प्रश्नमुत्थापयति—हे याज्ञवल्क्येति । अक्षरार्थं प्रश्नवाक्ये विवक्षितमर्थमाह—किमयमित्यादिना । स्वशब्दो यथोक्तपुरुषविषयः । ज्योतिष्कार्य सनादिव्यवहारोक्तिः । इत्येतदिति कल्पद्वयं परामृश्यते । पक्षद्वयेऽपि फलं पृच्छति—किंचात

मोक्षरूप पुरुषार्थ की साधिका है ॥ १ ॥

जनक द्वारा 'हे याज्ञवल्क्य' यह संबोधन अभिमुख करने के लिए है । "किंज्योतिरयं पु अर्थात् यह पुरुष किस ज्योति वाला है, जिससे अनुगृहीत आसनादि व्यवहार करता है । यह स्थूलसूक्ष्मशरीरसंघातरूप शिर और हाथ आदि अवयवों वाला पुरुष किस ज्योतिवाला है—ऐसे जाता है । क्या यह कार्यकरणसंघात अपने अवयवों से बाहर रहने वाली किसी अन्य ज्योति से व्य करता है अथवा कार्यकरणसंघात अपने अवयवों के बीच में रहने वाली ज्योति से ज्योति का पूरा करता है । इस आशय ही से जनक पूछता है । इन पक्षद्वय में बाहर रहने वाली अथवा रहने वाली किसी भी ज्योति से ज्योति का कार्य निष्पन्न होता है, इसका क्या कारण है ? जो कारण है, उसे सुनो । यदि बाहर रहने वाली व्यतिरिक्त ज्योति से ज्योति का कार्य

---

१. किंज्योतिरिति । देहः स्वतो न व्यवहारक्षमोऽचेतनत्वान्मृत्पिण्डवत् । किं चायं पराधीनव्यवह जडत्वाद्रथादिवदिति भावः । २. अनुगृहीतः । ३. आसनादिव्यवहारं करोति । ४. स्वेति । कार्य संघातात् । तदवयवेभ्यः तेषां समुदायाच्च बाह्यं तं रसं स्पृष्टमसंहितं तेनेत्यर्थं इत्याहुः । ५. अत्र पक्षद्वये किंफलमित्यर्थः । ६. स्वातन्त्र्यात्मकात् । ७. 'राज्ञा न वदिष्य' इति व्रतभङ्गे । ८. प्रश्नवरदानाख्यम् ।

ज्योतिष्कार्यं निर्वर्तयति । शृणु तत्र कारणम् । यदि व्यतिरिक्तेनैव ज्योतिषा ज्योतिष्कार्यनिर्वर्तकत्वमस्य [1]स्वभावो [2]निर्धारितो भवति [3]ततो[4]ऽदृष्टज्योतिःकार्यविषयेऽप्यनुमास्यामहे[5] व्यतिरिक्तज्योतिर्निमित्तमेवेदं कार्यमिति ।

[6]अथाव्यतिरिक्तेनैव [7]स्वात्मना ज्योतिषा व्यवहरति [8]ततोऽप्रत्यक्षेऽपि ज्योतिषि ज्योतिष्कार्यदर्शनेऽव्यतिरिक्तमेव ज्योतिरनुमेयम् । अथानियम एव व्यतिरिक्तमव्यतिरिक्तं वा ज्योतिः पुरुषस्य व्यवहारहेतु[9]स्ततो[10]ऽनध्यवसाय एव [11]ज्योतिर्विषय इत्येवं मन्वानः

सप्तम्यर्थे तसिः । उत्तरमाह—शृण्विति । तत्रेति पक्षद्वयोक्तिः । कारणं फलमिति यावत् । प्रथमपक्षमनूद्य स्वपक्षसिद्धिफलमाह—यदीत्यादिना । [12]षष्ठी पुरुषमधिकरोति । यत्र कारणभूतं ज्योतिर्न दृश्यते तत्कार्यं त्वासनाद्युपलभ्यते तत्रापि विषये स्वप्नादाविति यावत् । अनुमानमेवाभिनयति—व्यतिरिक्तेति । [13]विमतमतिरिक्तज्योतिरधीनं व्यवहारत्वात्संमतवदित्यर्थः ।

पक्षान्तरमनूद्य लोकायतपक्ष[14]सिद्धिफलमाह—अथेत्यादिना । अप्रत्यक्षेऽपीत्यव्यतिरिक्तमिति च्छेदः । [15]कल्पान्तरमाह—अथेति । अनियमं व्याकरोति—व्यतिरिक्तमिति । तस्मिन्पक्षे व्यवहारहेतौ ज्योतिष्य[16]निश्चयात्तद्विकारो व्यवहारोऽपि [17]न स्थैर्यमालम्बेतेत्याह—तत इति । व्याख्यातं प्रश्नमुप-

---

होना इसका स्वभाव व्याप्तिग्रह के समय में निश्चित किया जाय तो जहाँ कारणभूत ज्योति नहीं देखी जाती, उस कार्य के विषय में भी हम अनुमान करेंगे कि यह कार्य किसी व्यतिरिक्त ज्योति से सम्पन्न हुआ है (इसलिए सिद्धान्त की सिद्धि हो जाती है)।

और यदि यह अपने से अद्वितीय ज्योति द्वारा ही व्यवहार करता है, तो ज्योति का प्रत्यक्ष न होने पर भी ज्योति का कार्य देखने पर अव्यतिरिक्त ज्योति का ही अनुमान करना होगा। यदि कहो कि पुरुष के व्यवहार के लिए बाह्य और मध्यस्थ ज्योति है तो इसका नियम ही नहीं है, इससे तो

---

१. शीलम् । २. व्याप्तिग्रहसमये निश्चितः । ३. उक्तनिर्धारणात् । ४. अदृष्टेत्यादि । अदृष्ट कारणभूतं ज्योतिर्यस्य तथाभूतं कार्यं यस्मिंस्तत्र विषय इति विग्रहः । न च "इसुसोः सामर्थ्ये" इति षत्वं शङ्क्यं तत्र व्यपेक्षारूपसामर्थ्यस्यैव व्याख्यातत्वात्रापि "नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्ये"ति षत्वं प्राप्नोत्युत्तरपदस्थत्वादुक्तं हि—अनुत्तरपदस्थस्येति किम् । परमसर्पिःकुण्डिकेति इति ध्येयम् । ५. अतो राद्धान्तसिद्धिरिति शेषः । ६. अथेति । व्याप्तिग्रहकाले व्यवहर्तुरव्यतिरिक्तेनैव ज्योतिषाऽनुग्रहो गृह्यते चेत्तदा स्वप्नादौ व्यवहारलिङ्गेनाव्यतिरिक्तमेव ज्योतिरनुमेयं ततः सिद्धान्तक्षतिर्देहादेरेवात्मत्वप्राप्तेरित्यर्थः । ७. व्यवहर्तृस्वरूपेण । ८. निरुक्तव्यवहारात् । ९. अवतरणगाथकम् । १०. अनध्यवसाय इति बहुव्रीहिः । ११. ज्योतिर्विषय इति च षष्ठीतत्पुरुषः प्रथमान्तं पदम् । अथवा ज्योतिषो विषये व्यवहारेऽनध्यवसायोऽध्यवसायाभाव इत्येव वरम् । १२. अस्येति षष्ठी । १३. विमतमिति—जाग्रत्कालीनातिरिक्तमासनादिकार्यमित्यर्थः । स्वप्नादिकालीनं तदिति यावत् । १४. सिद्धिरूपं फलम् । १५. तृतीयम् । १६. अनिश्चितज्योतिःसाध्यः । १७. न स्थैर्यमालम्बेतेति—व्यतिरिक्तज्योतिःसाध्योऽयं व्यवहारोऽव्यतिरिक्तज्योतिःसाध्यो वाऽयमित्यन्यतरनिश्चयो न स्यात्तथा च सत्यवश्यनिर्वर्त्येऽपि कर्मणि निगाढतमे तमसि प्रवृत्तिर्न स्यादनिश्चयाद्वा कदाचिद्बाह्यं ज्योतिरनुपादायैव प्रवर्तमानो बाध्येतैव गर्तादौ निपतन् कण्टकादौ श्लिष्यन्निति व्यवहारो विप्लवेतेत्यर्थः ।

पृच्छति जनको याज्ञवल्क्यं किंज्योतिरयं पुरुष इति ।

नन्वेवमनुमानकौशले जनकस्य किं प्रश्नेन स्वयमेव कस्मान्न प्रतिपद्यत सत्यमेतत् । तथाऽपि 'लिङ्गलिङ्गिसंबन्धविशेषाणामत्यन्तसौक्ष्म्याद्दुरवबोध्यतां बहूनामपि पण्डितानां किमुतैकस्य । अत एव हि सूक्ष्मधर्मनिर्णये परिषद्व्यापार पुरुषविशेषश्चापेक्ष्यते । दशावरा परिषत्त्रयो वैको वेति ।

संहरति—इत्येवमिति ।

प्रश्नमाक्षिपति—नन्विति । व्यतिरिक्तज्योतिर्बुभुत्सया प्रश्नो भविष्यतीति चेत्तत्रा स्वयमेवेति । राज्ञोऽनुमानकौशलमङ्गी करोति—सत्यमिति । किमिति तर्हि पृच्छतीत्याशङ्क्या तथाऽपीति । व्याप्यव्यापकयोस्तत्संबन्धस्य[3] चा[4]तिसूक्ष्मत्वादेकेन दुर्ज्ञानत्वात्तज्ज्ञाने याज्ञवल्क्योऽ इत्यर्थः । कथं तेषामतिसूक्ष्मत्वं तत्राऽऽह—बहूनामपीति । लिङ्गादिष्वनेकेषामपि विवेकिनां दुर्बोधता किमुतैकस्य[5] तेषु दुर्बोधता वाच्येत्यर्थः । तेषामत्यन्तसौक्ष्म्ये मानवीं स्मृतिं प्रमाणयति—अत ए कुशलस्यापि सूक्ष्मार्थनिर्णये पुरुषान्तरापेक्षायाः सत्त्वादेवेति यावत् । पुरुषविशेषो वेदविद विदित्यादिः । [6]तत्र स्मृत्यर्थं संक्षिपति—दशेति । उक्तं [7]हि—

"धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ।।

ज्योति के विषय में कोई निश्चय ही नहीं होगा । ऐसी मन में चिन्ता करता हुआ जनक याज्ञवल् पूछता है—वह पुरुष किस ज्योति वाला है ।

(इस पर शङ्का होती है—) किन्तु अनुमानकुशल राजा जनक को प्रश्न करना क्यों अ था, उन्होंने स्वयं ही क्यों नहीं इसे जान लिया । (समाधान में कहते हैं—) यह ठीक है, तो भ साध्य-संबन्धविशेषों की अत्यन्त सूक्ष्मता के कारण राजा उन्हें बहुत से विद्वान् पण्डितों के अगम्य मानता है; एक पण्डित की तो बात ही क्या है । इसी से धर्म जैसे सूक्ष्म तत्त्व के निर्ण लिए संगोष्ठी आयोजन की आवश्यकता होती है तथा अध्यात्मतत्त्ववेत्ता विशिष्ट पुरुष की आवश्यकता होती है । (वेद के जानने वाले) दस पुरुषों, (आचारनिष्ठ) तीन पुरुषों अथवा (निष्ठ) एक पुरुष की परिषद् होना भी सम्भव है ।

---

१. हेतुसाध्यव्याप्तीनामित्यर्थः । २ राजा । ३. व्याप्तेः । ४. अतिसूक्ष्मत्वादिति—पक्षतादिविव गहनत्वादिति भावः । ५. जनकस्य । ६. कुशलस्यापि तत्र तत्सत्त्वे । ७. मनु० १२।१०९। धर्मेणेत्यादि । धर्मो ब्रह्मचर्यादिः । षडङ्गमीमांसा धर्मशास्त्रपुराणाद्युपबृंहणम् । श्रुतिप्रत्यक्षहेतव इ विघास्ते स्वयं श्रुतितदर्थप्रत्यक्षीकरणे समर्थाः श्रुतिं पठित्वा तदर्थमुपदिशन्ति चान्येभ्य इत्यर्थः । द —यदि बहवः सन्तोऽवहिता न संभवन्ति तदा दश अवरा न्यूना वक्ष्यमाणलक्षणा यस्यां सा परिषत् सभा त्र्यवरा वा सदाचारा यं धर्मं निश्चिनुयात्तं धर्मत्वेन स्वीकुर्यान्न विसंवदेदित्यर्थः ।। त्रैविद्य इति । वेदत्रय शाखात्रयाध्येतारस्त्रयः । हैतुकः श्रुतिस्मृत्यविरुद्ध न्यायशास्त्रज्ञः । तर्की मीमांसात्मकतर्कवित् । नैरुक्तो नि रुक्तवेदाङ्गज्ञः । धर्मपाठकः मानवादिधर्मशास्त्रवेत्ता । त्रयश्चेति ब्रह्मचारी गृहस्थो वानप्रस्थश्चेत्येषा द परिषत्स्यादित्यर्थः ।

तस्माद्यद्यप्यनुमानकौशलं राज्ञस्तथाऽपि तु युक्तो याज्ञवल्क्यः प्रष्टुम् । विज्ञानकौशलतारतम्योपपत्तेः पुरुषाणाम् । अथवा श्रुतिः स्वयमेवाऽऽख्यायिकव्याजेनानुमानमार्गमुपन्यस्यास्मान्बोधयति[1] [2] [3]पुरुषमतिमनुसरन्ती ।

याज्ञवल्क्योऽपि जनकाभिप्रायाभिज्ञतया[4] व्यतिरिक्तमात्मज्योतिर्बोधयिष्यञ्जनकं व्यतिरिक्तप्रतिपादकमेव लिङ्गं प्रतिपेदे यथा प्रसिद्धमादित्यज्योतिः सम्राडिति होवाच ।

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वाऽपि वृत्तस्था तं धर्मं न विचारयेत् ॥
त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाऽऽश्रमिणः पूर्वे पर्षदेषा दशावरा ॥
[5]ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये' इति ॥

[6]एको वेत्यध्यात्मविदुच्यते ।

कुशलस्यापि राज्ञो याज्ञवल्क्यं प्रति प्रश्नोपपत्तिमुपसंहरति—तस्मादिति । सूक्ष्मार्थनिर्णये पुरुषान्तरापेक्षाया [7]वृद्धसंमतत्वादिति यावत् । [8]तत्रैव हेत्वन्तरमाह—विज्ञानेति । राज्ञो याज्ञवल्क्यापेक्षामुपपाद्य पक्षान्तरमाह—अथवेति । [9]तथा चात्र राज्ञो मुनेर्वा विवक्षितत्वाभावात्किमिति राजा मुनिमनुसरतीति चोद्यं निरवकाशमिति शेषः ।

प्रश्नोपपत्तौ प्रतिवचनमुपपन्नमेवेति मन्वान[10]स्तदुत्थापयति—याज्ञवल्क्योऽपीति । अतिरिक्ते ज्योतिषि प्रष्टू राज्ञोऽभिप्रायस्तदभिज्ञतया तथाविधं ज्योती राजानं बोधयिष्यन्यथाऽतिरिक्तज्योतिरावेदकं वक्ष्यमाणं लिङ्गं गृहीतव्याप्तिकं प्रसिद्धं भवति तथा [11]तद्व्याप्तिग्रहणस्थलमादित्यज्योतिरित्यादिना

इसलिए राजा यद्यपि अनुमान करने में कुशल है, तो भी याज्ञवल्क्य से पूछना उचित ही है क्योंकि पुरुषों के विज्ञान और कौशल का तारतम्य होना संभव है। अथवा पुरुष की बुद्धि का अनुसरण करने वाली श्रुति स्वयं आख्यायिका द्वारा याज्ञवल्क्य के बहाने अनुमानमार्ग को प्रस्तुत करके हमें ज्योतिपदार्थ का बोध करा रही है ।

जनक के अभिप्राय को जान लेने पर याज्ञवल्क्य ने भी संघात से व्यतिरिक्त आत्मज्योति का बोध कराने के लिए जनक को व्यतिरिक्त ज्योति का प्रतिपादक लिङ्ग ही बतलाया । यथा—हे

---

[1] याज्ञवल्क्यादिरूपेणेति यावत् । [2] ज्योतिःपदार्थम् । [3] पुरुषमतिमनुसरन्तीति—पुरुषमतिर्हि संदिग्धार्थं वादकथैव संगृह्णातीत्यभिसंदधानेत्यर्थः । [4] संघातेति यावत् । [5] ऋग्वेदविदिति—ऋग्यजुःसामवेदशाखानां येऽध्येतारस्तदर्थज्ञाश्च त्रयः सा धर्मसंदेहनिरासार्थं त्र्यवरा परिषद्बोध्येत्यर्थः । [6] एको वेति । तदुक्तं—"एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्यो द्विजोत्तमः । स विज्ञेयः परो धर्मो नाऽज्ञानामुदितोऽयुतैरिति" ॥ मनु० १२।११३ । तदभावे एकोऽप्यध्यात्मविद्यं धर्मं निश्चिनुयात् स प्रकृष्टो धर्मो विज्ञेयो न वेदरहस्यानभिज्ञानां दशभिः सहस्रै रप्युक्त इत्यर्थः । [7] मन्वादिसंमतत्वादिति । [8] कुशलस्यापि राज्ञो मुनि प्रतिप्रश्ने । [9] दशभिः ... [10] प्रतिवचनम् । [11] तथा च—श्रुतिकर्तृकस्वयंज्योतिष्ट्वबोधनस्य प्रकृतवाक्ये विवक्षितत्वे च । व्यतिरिक्तज्योतिर्व्यवहारयोर्व्याप्तिग्रहभूमिम् ।

कथम्, आदित्येनैव *[1]स्वावयवसंघातव्यतिरिक्तेन चक्षुषोऽनुग्राहकेण ज्योतिषाऽयं पुरुष आस्त उपविशति पल्ययते [2]पर्येति क्षेत्रमरण्यं वा तत्र गत्वा कर्म कुरुते

मुनिरपि [3]प्रतिपन्नवानित्यर्थः। व्याप्तिं बुभुत्समानः [4]पृच्छति—कथमिति। [5]यो व्यवहारः ज्योतिरधीनो यथा सवित्रधीनो जाग्रद्व्यवहार इति व्याप्तिं व्याकरोति—आदित्येनेति। व्याचष्टे—स्वावयवेति। आदित्यापेक्षामन्तरेण चक्षुर्वशादेवायं[6] व्यवहारः सेत्स्यतीत्याशङ्क्या चक्षुष इति। आसनाद्यन्यतमव्यापार[7]व्यपदेशे व्याप्तिसिद्धेर्वृथा विशेषणबहुत्वमित्याशङ्क्या

सम्राट् ! वह प्रसिद्ध आदित्य ज्योति वाला है—ऐसा उन्होंने कहा। ऐसा किस प्रकार है ? प्राकृत पुरुष आदित्य से ही अपने देहावयवसंघात से भिन्न नेत्रेन्द्रिय के अनुग्राहक ज्योति के ‘आस्ते’ यानी बैठता है, ‘पल्ययते’ अर्थात् क्षेत्र या अरण्य में पर्यटन करता है, वहाँ जाकर

---

१. स्वं देहः। २. पर्यटति। ३. उक्तवान्। ४. राजा। ५. यो व्यवहार इति—जाग्रद्व्यवहा व्यवहारो व्यवहारकर्त्रतिरिक्तज्योतिःसाध्यो व्यवहारत्वाज्जाग्रद्व्यवहारवदित्युक्तमनुमानमनुसन्धेयम्। आसनादिः। ७. व्यपदेश उपन्यासः।

---

*स्वावयवसंघातव्यतिरिक्तेनेति। अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—“देहावयवसंघातजातिसंस्थानतत्क्रिया त्यन्तमभिन्नतद्विलक्षणभास्वर-स्वप्रतिष्ठैकभान्वाख्यज्योतिषैव पुमानयम्। आस्ते पल्ययते कर्म कृत्वा निवर्तते” ॥३४ ३५॥ देहश्च तदवयवाश्च तेषां संघातश्च देहगता जातिश्च स्थानं च तस्यैव क्रिया च देह च तेभ्योऽत्यन्तभिन्नं तद्विसदृशं प्रभूनप्रकाशमपरतन्त्रं प्रकाशान्तरानपेक्षं यद्भानुलक्षण ज्योतिस्तेनेति यो चैतन्यस्य बिम्बं प्रतिबिम्बं तदस्यास्ति इति स तथा चैतन्याभाससमन्वित इत्यर्थः। ‘बिम्बं तु प्रति स्यान्मण्डले बिम्बिकाफल इति हैमः। “मध्ये जडस्वभावोऽयं ज्योतिषोर्वर्तते पुमान्। बुद्ध्यादिविषया प्रत्यक्चैतन्यबिम्बितः” ॥ ३६ ॥ यथोक्तादित्यज्योतिर्वशादेव देहादिव्यवहारादलमात्मज्योतिषेत्याशङ्क्या मध्य इति। जडस्वभावं पुमांसं जडाजडज्योतिर्द्वयमध्यस्थं विशिनष्टि—बुद्ध्यादीति। चैतन्याभासानु विना बुद्ध्यादिसिद्ध्यनुपपत्तिद्योतको हिशब्दः॥ “प्रत्यगेकस्वयंज्योतिः स्थिरासंहतनिष्क्रिय-तद्विरुद्धर ज्योतिषोर्मोहहेतुकः॥ मातृमानप्रमेयात्मा कर्तृसाधनकार्यवान्। अशनायादिसंसारधर्मापायागमा ॥३७-३८॥ के ते ज्योतिषी तत्राऽऽह—प्रत्यगिति। सर्वान्तरस्य सर्वभेदरहितस्य चिदेकतानस्यासङ्गोदा प्रतीचः स्थिरत्वं कौटस्थ्यं तत्र हेतुर्निष्क्रियेति तद्विरुद्धं ततो यथोक्तज्योतिषो विपरीतं पराग्भूतमनेकं पराधी प्रकाश्यसंसृष्टं परिणामीत्यर्थः। मध्ये वर्तत इति पूर्वेण संबन्धः। पुरुषशब्दितबुद्ध्यादेरादित्यादि रतिरिक्तज्योतिरपेक्षत्वे को हेतुरिहोक्त इत्यपेक्षायामुक्तं पुरुषं विशिनष्टि—मोहेति। आत्माज्ञानजो बुद्ध र्मातृमानमेयकर्तृकर्मकार्यभोक्तृभोगभोग्यात्मा जन्मनाशवानजडज्योतिरपेक्षते स्वतोभानायोगादित्य “तद्विरुद्धात्मकेनैव ज्योतिषोद्दीपितेक्षणः। आदित्येन सदैवाऽऽस्ते यात्यायाति करोति च” ॥३९॥ अजडज्यो तर्हि बुद्ध्यादिव्यवहारसिद्धेरलमितरेणेत्याशङ्क्य दृष्टत्वान्मैवमित्याह—तद्विरुद्धेति। बुद्ध्यादिसंघाता र्विपरीतं यदादित्याख्यं ज्योतिस्तेनोत्पादितपरिणामविशेषो बुद्ध्यादिर्व्यवहरतीत्यर्थः॥ “आदित्या नाऽऽदित्यस्यावधारणे। पिण्डप्राणादिधर्मेभ्यो वैधर्म्यावधृतो यतः” ॥ ४० ॥ आदित्येनैवायमित्यादित्या देवकारश्रुतेरासनादिहेतुत्वं तस्यावधार्यते तथाऽऽदित्यज्योतिरतिरिक्तानुग्राहकज्योतिः सिद्धिरित्याशङ्क्या आदित्यादिति॥ तर्हि किमेवकारेण क्रियते तदाह—पिण्डेति। अनुग्राह्यादनुग्राहकं ज्योतिरतिवि

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किंज्योतिरेवायं पुरुष

हे याज्ञवल्क्य ! पर यह तो बतलावें कि सूर्य अस्त हो जाने पर वह पुरुष किस ज्योति वाला

विपर्येति' च यथागतम् । अत्यन्तव्यतिरिक्तज्योतिष्ट्वप्रसिद्धताप्रदर्शनार्थमनेकविशेषणम् । बाह्यानेकज्योतिःप्रदर्शनं च लिङ्गस्याव्यभिचारित्वप्रदर्शनार्थम् । 'एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२॥

अत्यन्तेति । आसनादीनामे'कैकव्यभिचारे देहस्या'न्यथाभावेऽपि नानुग्राहकं ज्योतिर'न्यथा भवति । 'अत'स्तदनुग्राह्यादत्यन्तविलक्षणमिति विवक्षित्वा व्यापारचतुष्टयमुपदिष्टमित्यर्थः । 'तथाऽपि किमर्थमादित्याद्यनेकपर्यायोपादानमेकेनैव व्याप्तिग्रहसंभवादित्याशङ्क्याऽऽह—बाह्ये ति । देहेन्द्रियमनोव्यापाररूपं "कर्म लिङ्गं तस्य व्यतिरिक्त''ज्योतिरव्यभिचारसाधनार्थमनेकपर्यायोपन्यासो बहवो हि दृष्टान्ता व्याप्तिं द्रढयन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

करता है, "विपल्येति" अर्थात् पृथिवी में जैसे गया था, वैसे ही वापिस आ जाता है। पुरुष अत्यन्त व्यतिरिक्त ज्योतिष्ट्व की प्रसिद्धि द्योतन के लिए यहाँ अनेक विशेषण दिए हैं। और संघात से बाह्य अनेक ज्योतियों का प्रदर्शन लिङ्ग का अव्यभिचारित्व प्रदर्शित करने के लिए है। जनक बोले—याज्ञवल्क्य ! (देहादि से व्यतिरिक्त ज्योति) यह ऐसी ही है ॥ २ ॥

तथा हे याज्ञवल्क्य ! आदित्य के अस्त होने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला होता है।

---

१. भूयस्ततो निवर्तते । २. संघातात् । ३. उक्तं देहादिव्यतिरिक्तं ज्योतिरङ्गी करोति—एवमेवेति । ४. एकैकेति—एकैकस्यान्यतमस्याभावे सतीत्यर्थः । ५. अन्यथाभावेऽपि—विशिष्टस्य विशेषणाभावादभावेऽपि । तत्तद्विशेषणवतो विलक्षणत्वेऽपीति यावत् । ६. अन्यथा भवति—विलक्षणं भवति । ७. अतः—ज्योतिषोऽन्यथाभावात् । ८. ज्योतिः । ९. उक्तविधया व्यापारचतुष्टयोपदेशस्य सार्थक्येऽपि । १०. क्रिया । ११ ज्योतिषा सह व्यभिचाराभावः ।

निर्धारयितुमेवकारो नाऽऽदित्यमवधारयितुमित्यर्थः ॥ "आदित्यावधृतिश्चेत्स्यान्नेन्द्वादेः स्यादनुग्रहः । तस्मात्पिण्डादिवैधर्म्यमेवेतीहावधार्यते" ॥ ४१ ॥ विपक्षे दोषमाह—आदित्येति । विवक्षितमेवकारार्थं निगमयति—तस्मादिति ॥ "नृपस्त्वेवेति संश्लेषादादित्यस्यावधारणम् । मत्वाऽस्तमित इत्येवं मुहुर्विप्रमचूचुदत्" ॥ ४२ ॥ न चेदादित्यमवधारयितुमेवकारस्तर्हि तस्मिन्नुपरतेऽपि ज्योतिरन्तरेणाऽऽसनादिसिद्धेरुत्तरप्रश्नानुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—नृपस्त्विति ॥ भ्रान्तिप्रयुक्ता समनन्तरप्रश्नप्रवृत्तिरिति भावः ॥ "आत्मैव ज्योतिरथवा रविसोमाग्न्युपाधिगम् । अवध्रियत एवेति तमेव इति च श्रुतेः" ॥ ४३ ॥ एवकारस्य पर्यायचतुष्टयनिविष्टस्यार्थान्तरमाह—आत्मैवेति । आत्मज्योतिषः सर्वावभासकत्वात्तदेवाऽऽदित्यादिरूपेणापि भासकं नान्यदित्यत्र 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वमिति' श्रुतिं संवादयति—तमिति ॥ "रवीन्द्वादिपदार्थेभ्यो ह्यनुमानैकवर्त्मना । स्वार्थं विज्ञापयिष्यामि विभज्यातः परा श्रुतिः" ॥ ४४ ॥ आदित्याद्यात्मनाऽऽत्मज्योतिरेव सर्वावभासकं चेत्पूर्वपर्यायैरेव प्रत्यग्ज्योतिः सिद्धेरात्मैवास्येत्यादिश्रुतिरनर्थिकेत्याशङ्क्याऽऽह—रवीति । आदित्यादिभ्यो विभज्य स्वतन्त्रमात्मज्योतिर्ज्ञापयिष्यामीति मुनिर्मन्यतेऽतः श्रुतिरात्मेत्याद्या परा प्रवृत्तेति योजना ॥

इति चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवतीति चन्द्रमसैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥३॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीत्यग्निनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥४॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किंज्योतिरेवायं पुरुष इति वागेवास्य ज्योतिर्भ-

है अर्थात् किस ज्योति से उक्त व्यवहार करता है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सम्राट्! उस समय पुरुष चन्द्ररूप ज्योति वाला होता है, क्योंकि वह चन्द्र ज्योति से बैठता है, सभी ओर जाता है, करता है एवं कर्म करके नियत स्थान पर लौट आता है। इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! ऐसा ही है ॥ ३ ॥

हे याज्ञवल्क्य! सूर्य के अस्त हो जाने पर तथा चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर यह पुरुष ज्योति वाला होता है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सम्राट्! उस समय यह पुरुष अग्निरूप ज्योति वाला पूर्वोक्त व्यवहार करता है क्योंकि वह अग्निरूप ज्योति से बैठता है, सभी ओर जाता है, कर्म कर और कर्म करके फिर नियत स्थान पर लौट आता है। इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! ऐसा ही है ॥ ४ ॥

हे याज्ञवल्क्य! सूर्य के अस्त हो जाने पर, चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर तथा अग्नि के शान्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला हो उक्त व्यवहार करता है? याज्ञवल्क्य ने कहा

तथाऽस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किंज्योतिरेवायं पुरुष इति चन्द्रमा एव ज्योतिः ॥ ३ ॥

अस्तमित आदित्ये चन्द्रमस्यस्तमितेऽग्निर्ज्योतिः[1] ॥ ४ ॥

शान्तेऽग्नौ वाग्ज्योतिः। वागिति शब्दः परिगृह्यते। शब्देन विषयेण श्रो

इन्द्रियं व्यावर्तयति—वागितीति। शब्दस्य ज्योतिष्ट्वं स्पष्टयितुं पातनिकां करो

(याज्ञवल्क्य बोले—) चन्द्रमा ही इसकी ज्योति होता है ॥३॥

आदित्य के अस्त होने पर और चन्द्रमा के अस्त होने पर अग्नि ज्योति वाला होता है ॥

शान्त अग्नि में वाक् ज्योति है। "वाक्" इस पद से वाक् शब्द का परिग्रहण होता है। रूप विषय से श्रोत्र इन्द्रिय में संस्कार होता है। श्रोत्रेन्द्रिय के सन्निकृष्ट होने पर मन में विषयाका

---

१. अग्निरिति—आदित्यादित्रयं प्रभावन्मण्यादीनामप्युपलक्षणं ततोऽपि पुंस्प्रवृत्तिदर्शनादिति ध्येयम्।

वतीति वाचैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति तस्माद्वै सम्राडपि यत्र स्वः पाणिर्न विनिर्ज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्चरत्युपैव तत्र न्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥५॥

हे सम्राट्! यह पुरुष वाणीरूप ज्योति वाला है क्योंकि (वर्षाकालीन निविड अन्धकारयुक्त रात्रि में भ्रान्त पुरुष वाणीरूप ज्योति से बैठता है, सभी ओर जाता है तथा कर्म करके पुनः नियत स्थान पर लौट आता है। अतः हे सम्राट्! जहाँ पर अपना हाथ भी नहीं दीखता किन्तु वाणी उच्चारण की जाती है, वहाँ अंधेरे में भी पुरुष उस वाणी के सहारे चला जाता है। इस पर राजा ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! यह ऐसा ही है ॥ ५ ॥

मिन्द्रियं [1]दीप्यते । श्रोत्रेन्द्रिये [2]संप्रदीप्ते मनसि [3]विवेक उपजायते । [4]तेन मनसा [5]बाह्यां चेष्टां [6]प्रतिपद्यते । [7]मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोतीति ब्राह्मणम् । कथं पुनर्वाज्योतिरिति वाचो ज्योतिष्ट्वमप्रसिद्धमित्यत आह—तस्माद्वै सम्राड्यस्माद्वाचा[8] ज्योतिषाऽनुगृहीतोऽयं पुरुषो व्यवहरति तस्मा[9]त्प्रसिद्धमेतद्वाचो ज्योतिष्ट्वम् । कथमपि यत्र यस्मिन्काले [10]प्रावृषि प्रायेण मेघान्धकारे सर्वज्योतिःप्रत्यस्तमये [11]स्वोऽपि पाणिर्हस्तो न विस्पष्टं

शब्देनेति । [12]तद्दीपनकार्यमाह—श्रोत्रेति । मनसि विषयाकारपरिणामे सति किं[13] स्यात्तदाह—तेनेति । [14]तत्र प्रमाणमाह—मनसा हीति । एवं पातनिकां कृत्वा वाचो ज्योतिष्ट्वसाधनार्थं पृच्छति—कथमिति । का पुनरत्रा[15]नुपपत्तिस्तत्राऽऽह—वाच इति । [16]तत्रानन्तरवाक्यमुत्तरत्वेनोत्थाप्य व्याकरोति—अत आहेत्यादिना । प्रसिद्धिमेवाऽऽकाङ्क्षापूर्वकं स्फुटयति—कथमित्यादिना । उपैवेत्यादि व्याचष्टे—

परिणाम पैदा होता है, विषयाकारपरिणत मन से बाह्य शब्दादिविषया श्रवणादिलक्षणा चेष्टा होती है। प्रथम अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण में कहा है—"मन से देखता है, मन से सुनता है" तो फिर वाक् ज्योति किस प्रकार है? वाक् का ज्योतिष्ट्व होना प्रसिद्ध नहीं है—इसलिये श्रुति कहती है। हे सम्राट्! क्योंकि यह पुरुष शब्दात्मिका वाणीरूप ज्योति से अनुग्रहीत होकर व्यवहार करता है, इसलिये इस वाणी का ज्योतिष्ट्व होना सर्वानुभवसिद्ध है। वह कैसे? "यत्र" अर्थात् जिस समय वर्षाकालीन रात्रियों में मेघ के अन्धकार में प्रायः समस्त ज्योतियों के अस्त होने पर अपना हाथ भी स्पष्टतया

---

१. दीप्यते—संस्क्रियते संनिकृष्यत इति यावत् । २. संप्रदीप्ते—संनिकृष्टे । ३. विवेकः विषयाकारेण परिणामः । ४. विषयाकारपरिणतेन । ५. बाह्यशब्दादिविषयाम् । ६. श्रवणादिलक्षणां करोति । ७. बृ० उ० १।५।३ । ८. शब्दात्मिकया । ९. सर्वानुभवसिद्धम् । १०. प्रावृड्रात्र्यादौ । ११. स्वकीयः । १२. विषयप्रयुक्तेन्द्रियदीपनकार्यमिति यावत् । १३. फलम् । १४. उक्तचेष्टायामुक्तमनसः प्रयोजकत्वे । १५. वाचो ज्योतिष्ट्वे । १६. उक्ता प्रसिद्धिर्वाचो ।

'अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्ते-ऽग्नौ शान्तायां वाचि किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मै-

हे याज्ञवल्क्य ! सूर्य के अस्त हो जाने पर, चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर, अग्नि के बुझ पर और वाणी के भी शान्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला हो उक्त व्यवहार करता

निर्ज्ञायते । अथ तस्मिन्काले सर्वचेष्टानिरोधे प्राप्ते बाह्यज्योतिषोऽभावाद्यत्र वागुच्चरति वा भषति गर्दभो वा रौत्युपैव तत्र न्येति 'तेन शब्देन ज्योतिषा' श्रोत्रमनसोर्नैर भवति तेन ज्योतिष्कार्यत्वं वाक्प्रतिपद्यते 'तेन वाचा ज्योतिषोपन्येत्येवोपगच्छत्येव संनिहितो 'भवतीत्यर्थः । तत्र च कर्म कुरुते विपल्येति । तत्र वाग्ज्योतिषो ग गन्धादीनामुपलक्षणार्थम् । 'गन्धादिभिरपि हि घ्राणादिष्वनुगृहीतेषु प्रवृत्तिनिवृत्या भवन्ति । "तेन तैरप्यनुग्रहो भवति कार्यकरणसंघातस्य । "एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ।।५।।

तेन शब्देनेति । ज्योतिष्कार्यवत्त्वं "तज्जन्यव्यहाररूपकार्यवत्त्वमिति यावत् । तत्र वाग्ज्योतिष चतुर्थपर्यायः सप्तम्यर्थः । किमिति गन्धादयः शब्देनोपलक्ष्यन्ते तत्राऽऽह—गन्धादिभिरिति । प्रश्ना मुत्थापयति—एवमेवेति । "तथाऽपि "स्वप्नादौ "तस्य प्रवृत्तिदर्शना"त्तत्कारणीभूतं ज्यो वक्तव्यमिति शेषः ।।५।।

दृष्टिगोचर नहीं होता । उस समय समस्त चेष्टाओं का निरोध प्राप्त होने पर बाह्य ज्योतियों अभाव होने पर जहाँ वाक् का उच्चारण होता है (जिस प्रदेश में पशु आदि में वाक् उत्पन्न होती कुत्ता भौंकता है अथवा गधा रेंकता है, उसी प्रदेश मार्ग गृह को चला जाता है; श्वानादि की शब्दात्मिका ज्योति से श्रोत्र और मन का निरन्तर सन्निकर्ष होता है, इससे ज्योतिष्कार्यत्व को प्राप्त हो जाती है । भावार्थ यह है कि उस वाणीरूप ज्योति से पुरुष समीप चला जाता है, उस में मार्ग या घर के निकटवर्ती हो जाता है । वहाँ वह कर्म करता है और पुनः लौट जाता है । गन्ध आदि के उपलक्षण के लिए वाक्रूप ज्योति का ग्रहण है । गन्ध (स्पर्श) आदि के द्वारा प्रा के अनुगृहीत होने पर प्रवृत्ति और निवृत्ति आदि होते हैं । इसलिए उनसे भी स्थूलसूक्ष्म संघात का अनुग्रह होता है; (जनक ने कहा—) हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है ।।५।।

---

१. एतावता यो व्यवहारः स व्यवहर्तृदेहेन्द्रियाद्यतिरिक्तज्योतिः साध्यो यथाऽऽदित्यादिसाध्यो वाग्व्यव इति व्याप्तौ सिद्धायां स्वप्नादावपि बन्धुसमागमनादिकार्यदर्शनाद्भवितव्यं तथाप्यतिरिक्तेन केनचिज्ज्यो त्यनुमानतो ज्योतिर्मात्रेऽवबुद्धेऽपि उपन्यस्तानां तत्रानुपलब्धिबाधितत्वात् किं तदिति विशेषं पृच्छति— इति । २. यस्मिन्प्रदेशे पश्वादेर्वागुद्भवति तदाह—श्वेति । ३. श्वादेः । ४. सह । ५. ६. शुनो गर्दभस्य वा । ७. तस्मिन्प्रदेशे । ८. मार्गं गृहं वा प्रतिपद्यते । ९. आदिना स्पर्शादिः । गन्धादीनामपि प्रवृत्त्यादिप्रयोजकत्वेन । ११. उक्तं देहाद्यतिरिक्तं ज्योतिरङ्गी करोत्येवमिति । —ज्योतिः । १३. तथाऽपि—देहादिव्यतिरिक्ते ज्योतिषि सिद्धेऽपि । १४. स्वप्नादाविति— ध्यानस्मृत्यवस्थादयो गृह्यन्ते । १५. तस्य—कार्यकरणसंघातस्य । १६. प्रवृत्तिः ।

वास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति ॥६॥

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—हे सम्राट् ! इस समय इस पुरुष की ज्योति आत्मा ही रहता है, क्योंकि यह आत्मा ज्योति से बैठता है और सभी ओर जाता है, कर्म करता है तथा कर्म करके नियत स्थान पर लौट आता है ॥ ६ ॥

शान्तायां पुनर्वाचि गन्धादिष्वपि च शान्तेषु बाह्येऽनुग्राहकेषु[1] *सर्वप्रवृत्तिनिरोधः प्राप्तोऽस्य पुरुषस्य । एतदुक्तं भवति । जाग्रद्विषये[2] हि बहिर्मुखानि[3] करणानि चक्षुरादीन्यादित्यादिज्योतिर्भिरनुगृह्यमाणानि[4] यदा तदा स्फुटतरः संव्यवहारोऽस्य

कथं[5] पुनरत्र[6] पृच्छ्यते ज्योतिरन्तरमित्याशङ्क्य प्रष्टुरभिप्रायमाह—एतदुक्तं भवतीति ।

वाणी के शान्त हो जाने पर तथा गन्धादि बाह्य अनुग्राहकों के भी निवृत्त हो जाने पर इस पुरुष को सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का निरोध होता है। यहाँ श्रुति यह कहती है। जिस समय जाग्रत्कालीन घटादि विषय में आदित्यादि ज्योतियों अनुगृहीत होने वाली चक्षु आदि इन्द्रियाँ बाह्यार्थप्रवण होती हैं, उस

---

१. किंज्योतिरेवायं पुरुष इति संबन्धः । २. जाग्रत्कालीनघटादिविषये । ३. बाह्यार्थप्रवणानि । ४. भवन्ति । ५. केनाभिप्रायेण । ६. वक्ष्यमाणार्थे ।

---

*सर्वप्रवृत्तिनिरोधः प्राप्तोऽस्य पुरुषस्येति । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"सर्वचेष्टानिरोधोऽस्य पुंसः प्राप्तस्तदाऽसति । यथोक्तज्योतिषि ततो न स्युश्चेष्टा यथोदिताः" ॥ ५४ ॥ प्रसिद्धज्योतिरुपरमे किमिति ज्योतिरन्तरं पृच्छ्यते चेष्टा तु पुंसः स्वतो भविष्यति नेत्याह—सर्वेति । जाग्रदवस्थायामसत्यसंहृते ज्योतिष्यासनाद्यभावः पुंसः सिद्धस्ततः स्वप्नादावादित्यादि ज्योतिरुपरतौ प्रत्यग्ज्योतिष्यसति यथोक्तासनादिचेष्टायोगात्तद्धेतुत्वेन प्रष्टव्यं प्रत्यग्ज्योतिरित्यर्थः ॥ "स्मृतिस्वप्नसमाधाने पुरुषस्य समीक्ष्यते । चेष्टाऽतः पूर्ववत्तस्य ज्योतिस्तत्रानुमीयते" ॥ ५५ ॥ प्रसिद्धज्योतिरभावे प्रवृत्तिरेव नास्ति नातस्तद्धेतुत्वेन ज्योतिरन्तरं प्रश्नमर्हतीत्याशङ्क्याऽऽह—स्मृतीति । चेष्टादृष्टिपरामर्शार्थोऽतःशब्दः । पूर्ववज्जागरादिवत् । स्वप्नादौ प्रसिद्धज्योतिरभावेऽपि पुरुषचेष्टाया दृष्टत्वात्तद्धेतुत्वेन ज्योतिरनुमाय पृच्छ्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—तस्येति ॥ "बोद्धुः कर्तुश्च पुंसोऽस्य प्रवृत्तिर्येह काचन । यथोक्तज्योतिर्विरहे नासौ दृष्टा कदाचन" ॥५६॥ अनुमातुमादौ व्याप्तिमाह—बोद्धुरिति । "भान्वाद्युद्दीपिताक्षो यो व्यवहारः सोऽसंहृतज्योतिर्निमित्तो यथाऽऽदित्याद्यधीनश्चैत्रादिव्यवहार इत्यर्थः ॥ "भान्वाद्युद्दीपिताक्षा सन्प्रमात्रादिः प्रसिध्यति । ततः कर्त्रादिसंसिद्धिः प्रमाकर्मफलं ततः" ॥५७॥ व्याप्तिभूमिं प्रपञ्चयति—भान्वादीति । आदित्याद्यनुगृहीतेन्द्रियस्तदधिष्ठातृमनोवच्छिन्नः सन्प्रमाता ततश्च कारकाप्रयोज्यत्वे सति तत्प्रयोक्तृतया कर्तृसिद्धौ प्रमातत्फलयोः कर्तृसिद्धौ क्रियातत्फलयोश्च सिद्धिरतो मैत्रस्य ज्ञानगत्यादिव्यवहारोऽतिरिक्तज्योतिर्निमित्त इत्यर्थः । प्रमेत्यादिकर्त्रादिशब्दयोरर्थः ॥ "कूटस्थानित्ययोर्भासोर्मध्यवर्ती पुमानयम् । वाङ्मनःकायकर्माणि सर्वदैव प्रपद्यते" ॥ ५८ ॥ या प्रवृत्तिः सा बाह्यज्योतिर्निमित्ता यथा जाग्रत्प्रवृत्तिरिति विपरीतव्याप्तिमाशङ्क्य किं सा तन्निमित्तैव किं वा तन्निमित्ताऽपीति विकल्प्याऽऽद्ये साध्यवैकल्यमाह—कूटस्थेति । द्वितीये व्यभिचारः स्वप्नादिव्यवहारे तददृष्टेरिति द्रष्टव्यम् ॥ "ध्वान्तादिविषयान्तोऽर्थो जडत्वान्नाऽऽत्मसिद्धिकृत् । आत्मज्योतिरभावेऽतो नाभावमपि विन्दति" ॥ ५९ ॥ किंच भावाभावव्यवहारानुपपत्त्या प्रत्यग्ज्योतिःसिद्धेरर्थापत्तिविरोध

पुरुषस्य भवतीति। एवं तावज्जागरिते स्वावयवसंघातव्यतिरिक्तेनैव ज्योतिषा ज्यो
ष्कार्यसिद्धिरस्य पुरुषस्य दृष्टा। 'तस्मात्ते[1] वयं मन्यामहे सर्वबाह्यज्योतिःप्रत्यस्तमये
स्वप्नसुषुप्तकाले जागरिते च तादृगवस्थायां स्वावयवसंघातव्यतिरिक्तेनैव ज्योति

यो व्यवहारः सोऽतिरिक्तज्योतिर्निमित्तो यथाऽऽदित्यादिनिमित्तो जाग्रद्व्यवहार इति व्याप्तिमु
निगमयति—एवं तावदिति। व्याप्तिज्ञानकार्यमनुमानमाह—तस्मादिति। तादृगवस्थायां सर्वज्यो
प्रत्यस्तमयदशायामिति यावत्। 'विमतो व्यवहारोऽतिरिक्तज्योतिरधीनो व्यवहारत्वा'त्संप्रतिपन्न

समय इस पुरुष का व्यवहार स्पष्टतर होता है, इस प्रकार जाग्रत् अवस्था में तो इस पुरुष के अपने देहा
यवसंघात से व्यतिरिक्त ज्योति के द्वारा ही देखी गयी है; उक्त व्याप्तिग्रह के बल से व्याप्तिज्ञान
हम यह समझते हैं कि स्वप्न और सुषुप्तिकाल में सम्पूर्ण बाह्य ज्योतियों के अस्त हो जाने पर
जाग्रत्काल में भी ऐसी अवस्था आने पर अपने देहावयवसंघात व्यतिरिक्त ज्योति के द्वारा इस पु

---

१. उक्तव्याप्तिग्रहबलात् । २. व्याप्तिज्ञानवन्तः । ३. विमतः—जाग्रद्व्यवहारातिरिक्तः स्वाप्नसौषु
सामाधिक इत्यर्थः। ४ जाग्रत्व्यवहारेत्यर्थः।

इत्याद्ये दोषान्तरमाह—ध्वान्तादीति। असौ जडत्वादिति संबन्धः। कैमुतिकन्यायार्थोऽपिशब्दः॥ "आगमा
यिज्योतिर्भिर्धर्माधर्मनिबन्धना। संगतिः पुरुषस्यास्य निर्हेतुः प्रत्यगात्मना" ॥ ६० ॥ नन्वादित्यादिज्योति
पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वं युक्तं प्रवर्त्यसंबन्धान्नाऽऽत्मज्योतिषस्तदभावात्तन्नाऽऽह—आगमेति ॥ "कुम्भस्य वि
यद्वन्निर्हेतुः संगतिः सदा। विनश्वरी सहेतुश्च जलक्षीरादिसंगतिः" ॥ ६१ ॥ बुद्ध्यादेरजडप्रकाशसं
स्वाभाविकीत्यत्र दृष्टान्तमाह—कुम्भस्येति। तस्य जडप्रकाशसंबन्धः सहेतुरित्यत्र दृष्टान्तो विनश्वरीति।
"यथेहासंहतान्येव भान्वादीनि प्रकुर्वते। अनुग्राह्येण पुंसेह सर्वदाऽनुग्रहं मुहुः" ॥ ६२ ॥ विवक्षितज्योति
स्वाभाविके कार्यकारणसंबन्धे तद्धर्मता स्यात्तद्गतरूपादिवदित्याशङ्क्याऽऽह—यथेति। इहेति व्यवहारभूमिरु
इह प्रवर्त्ये पुंसीत्यर्थः। असंहतानि प्रवर्त्यधर्मत्वरहितानीत्यर्थः। मुहुरिति क्रियापदेन सर्वदेत्यसंहतानीत्य
संबध्यते। तद्वदजडं ज्योतिरपीति शेषः। विमतो नानुग्राह्यधर्मश्चक्षुराद्यतिरिक्तत्वे सत्यनुग्राहकत्वादादित्यादिव
स्वाभाविके तस्य संघातसंबन्धेऽसङ्गताहतिरविद्यया तदङ्गीकारादिति भावः ॥ "अकारकात्मकान्येव पुं
कारकरूपिणः। नाकृत्वा तानि कुर्वन्ति प्रकाशं गतिवद्यतः" ॥ ६३ ॥ प्रत्यग्ज्योतिर्नानुग्राहकं सक्रियत्वापत्ते
विशेष्यासिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—अकारकेति। व्यञ्जकान्येवाऽऽदित्यादीन्यकृत्वा क्रियामप्राप्य पुरुषस्य प्रका
श्यमनुग्रहं कुर्वन्ति न तु तिष्ठतो विकारद्वारा गतिवदेतान्यनुग्राहकाण्यतो विवक्षितज्योतिष्यनुग्राहकत्वेऽपि
सक्रियतेत्यर्थः ॥ "व्यञ्जकानां हि सर्वेषां न स्वरूपातिरेकतः। व्यङ्ग्येष्वतिशयो दृष्टस्तिष्ठतो नु गतिर्य
॥ ६४ ॥ वैधर्म्यदृष्टान्तं स्पष्टयन्नुक्तं प्रपञ्चयति—व्यञ्जकानामिति। तिष्ठतो हि जन्तोः स्वरूपातिरेकेणाति
शयमपेक्ष्य गतिर्दृष्टा नैवमभिव्यङ्ग्येष्वभिव्यक्तिरभिव्यञ्जकसंनिधानातिरिक्तं विकारमपेक्षते तत्संनिधिसत्तामात्रे
तदभिव्यक्तिदर्शनादित्यर्थः ॥ "आत्मज्योतिस्तथैवेदं सदानस्तमितोदितम्। भान्वादिष्वपि सर्वेषु तदेव प्रावि
क्षितम्" ॥ ६५ ॥ दार्ष्टान्तिकं निगमयति—आत्मेति। किंचाऽऽदित्यादिवन्नाऽऽत्मज्योतिषः सक्रियत्वं तत्रा
तदसिद्धेरात्मैव ज्योतिरथवेत्यत्र तेष्वपि प्रत्यग्ज्योतिष एव भासकत्वेनावस्थानोक्तेरित्याह—भान्वादिष्विति।
"पुंस्प्रवृत्तिरियं लिङ्गं यथोक्तज्योतिषो भवेत्। सर्वत्राव्यभिचारित्वात्तथा स्वप्नादिभूमिषु" ॥ ६६ ॥ पुंव्य
हारस्यातिरिक्तज्योतिषा व्याप्तिं विपरीतव्याप्तिनिरासेनोक्त्वा व्याप्तिफलमाह—पुंस्प्रवृत्तिरिति। सर्वत्रे

ज्योतिष्कार्यसिद्धिरस्येति । दृश्यते च स्वप्ने ज्योतिष्कार्यसिद्धिर्बन्धुसङ्गमनवियोगदर्शनं देशान्तरगमनादि च । सुषुप्ताच्चो[1]त्थानं [2]सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषमिति । [3]तस्मादस्ति व्यतिरिक्तं किमपि ज्योतिः । ✽किं पुनस्तच्छान्तायां वाचि ज्योतिर्भवतीति ।

दित्यधस्तादेवानुमानमावेदितमिति भावः । हेतोरा[4]श्रयासिद्धिमाशङ्क्य परिहरति—दृश्यते चेति । आदिशब्देन देशान्तरादौ कर्मकरणं गृह्यते । [5]आश्रयैकदेशासिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—सुषुप्ताच्चेति । ध्यानशायामिष्टदेवतादर्शनं चकारार्थः । अनुमानफलं निगमयति—तस्मादिति । यथोक्तानुमाना[6]ज्ज्योतिः सिद्धं चेत्किं प्रश्नेनेत्याशङ्क्याऽऽह—किं पुनरिति । [7]सर्वज्योतिरुपशमे दृश्यमानस्य व्यवहारस्य कारणतयाऽनुमानतो ज्योतिर्मात्रसिद्धावपि तद्विशेषबुभुत्सायां प्रश्नोपपत्तिरित्यर्थः ।

ज्योतिसम्बन्धी कार्य की सिद्धि होती है; स्वप्न में बन्धुओं के संयोग-वियोग दिखायी देने और शान्तर में जाने आदि ज्योति के कार्यों की सिद्धि देखी ही जाती है, इसीं प्रकार सुषुप्ति से उठना ौर "मैं सुख से सोया, उस समय कुछ भी नहीं जाना।" (व्याप्त के हेतु का पक्षधर्मता बल से) सलिये इससे व्यतिरिक्त कोई ज्योति है। किन्तु उस वाणी के शान्त होने पर कौन ज्योति होती है।

---

१. उत्थानमिति—सुषुप्तिकालीनः (उत्थानप्राक्क्षणावच्छिन्न) उत्थानानुकूलप्रयत्नाख्यो व्यापार इत्यर्थः । २. सुखमित्यादि—एतत्स्मरणमूलभूतः सौषुप्तोऽनुभव इति भावः । ३. तस्मात्—व्याप्तस्य हेतोः पक्षधर्मताबलात् । ४. पक्षासिद्धिम् । ५. आश्रयस्य स्वाप्नसौषुप्तसामाधिकव्यवहारस्य पक्षीभूतस्यैकदेशः सौषुप्ताभिज्ञारूपो व्यवहारः—तत्कालीना सत्त्वप्रधाना सुखाकारा वृत्तिरिति यावत्तस्यासिद्धिमित्यर्थः । ६. असंहतम् । ७. आदित्यादारभ्य वाक्पर्यन्तज्योतिः ।

काले पुंसि चेत्यर्थः । व्याप्तस्य लिङ्गस्य पक्षधर्मतामाह—तथेति । पुंस्प्रवृत्तिर्दृष्टेति शेषः ।। "जाग्रत्काले नरस्यास्य भान्वादिज्योतिषा यदा । चक्षुराद्यनुगृह्येत स्फुटा व्यवहृतिस्तदा" ।। ६७ ।। उक्तां व्याप्तिं जाग्रद्विषये हीत्यादिभाष्यार्थतया स्फुटयति—जाग्रदिति ।। "एवं जागरिते तावदादित्याद्युक्तलक्षणम् । विभिन्नासंहतज्योतिनुग्रहपुरःसरः । पुंव्यापारः सदक्षोत्थप्रमाणप्रमितः स्फुटः" ।। ६८ ।। व्याप्तिमुपसंहरति—एवमिति । उक्तलक्षणत्वमेव स्फुटयति—विभिन्नेत्यादिना । सदक्षेति निर्दुष्टकरणजन्यतया यत्प्रमारूपं ज्ञानं तेन प्रमितत्वादतिस्फुटोऽयमुक्तरूपो व्यापार इत्यर्थः ।।

✽किं पुनस्तच्छान्तायां वाचि ज्योतिर्भवतीति । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"सर्वज्योतिरुपरतौ भूरिव्यापारकारणम् । स्वयंज्योतिष्कमपि तं राजा पप्रच्छ मोहतः" ।। ७३ ।। आत्मनः स्वप्रकाशत्वेन स्वतः स्फुरणाच्च तस्मिन्प्रश्नो न हि स ज्ञाते युक्तस्तदविश्रान्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वेति ।। "यत्प्रसादादविद्यादि सिध्यतीव दिवानिशम् । तमप्यपह्नुतेऽविद्या नाज्ञानस्यास्ति दुष्करम्" ।। ७४ ।। अज्ञानादपि स्वप्रकाशे न प्रश्नस्तस्यैव स्वसाधके प्रतीचः सिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—यत्प्रसादादिति । 'कुर्यान्मेरावणुधियमणौ मेरुधियं तथा । सर्वत्राप्रतिघात्येव प्रत्यगज्ञो महेश्वरः' ।। १-३ ३१३ ।। इत्यादौ चाज्ञानस्य निरङ्कुशत्वमादर्शितमिति भावः ।। कुर्यादिति अघटमानघटनपटीयस्त्वेन प्रसिद्धं मायादिशब्दितमज्ञानं तस्य साभासस्य न क्वचिदपि प्रतिहतिरित्यर्थः । प्रत्यगज्ञो महेश्वर इति निर्देशस्त्वज्ञानमुपसर्जनीकृत्य चिदात्मप्राधान्येन निर्देशस्तदस्वातन्त्र्यज्ञापनार्थमित्यर्थः ।। "स्वतो बुद्धं स्वतः शुद्धं स्वतो मुक्तं निरात्मिका । अविचारितसंसिद्धिरविद्या लिङ्क्ते कथम्" ।। ७५ ।। तस्य दुष्करं नास्ति चेत्प्रतीचि स्वसंबन्धमपि वास्तवं प्रापयेदित्याशङ्क्याऽऽह—स्वत इति ।। "निःसङ्गस्य ससङ्गेन कूटस्थस्य

उच्यते—[1]आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतीति । [2]आत्मेति [3]कार्यकरणस्वावयवसंघात
तिरिक्तं कार्यकरणावभासकमादित्यादिबाह्यज्योतिर्वत्स्वयमन्येनानवभास्यमानमभि
ज्योतिरन्तःस्थं [4]च तत्पारिशेष्यात् । कार्यकरणव्यतिरिक्तं [5]तदिति तावत्सिद्धम् ।
कार्यकरणव्यतिरिक्तं कार्यकरणसंघातानुग्राहकं च [6]ज्योतिस्तद्बाह्यं चक्षुरादिकरणैः
भ्यमानं दृष्टं न तु तथा [7]तच्चक्षुरादिभिरुपलभ्यत आदित्यादिज्योतिःषूपरतेषु । [8]का
ज्योतिषो दृश्यते यस्मात्तस्मादात्मनैवायं[9] ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येती
[10]तस्मान्नूनमन्तःस्थं ज्योतिरित्यवगम्यते । किञ्चाऽऽदित्यादिज्योतिर्विलक्षणं [11]तदभौति

प्रतिवचनमवतार्य व्याकरोति—उच्यत इत्यादिना । अवभासकत्वे दृष्टान्तमाह—आदि
दीति । [12]तत्र व्यतिरिक्तत्वं साधयति—कार्येति । अनुग्राहकत्वादादित्यादिवदिति शेषः । तच्चान्
पारिशेष्यादित्युक्तमुपपादयति—यच्चेति । उपरतेष्वात्मज्योतिरिति शेषः । [13]तदेव [14]तर्हि मा
चेन्नेत्याह—कार्यं त्विति । स्वप्नादौ दृश्यमानं व्यवहारं हेतूकृत्य फलितमाह—यस्मादित्यादि
विमतमन्तःस्थमतीन्द्रियत्वादादित्यादिवदिति व्यतिरेकीत्यर्थः । व्यतिरेकान्तरमाह— किंचेति ।

इस पर श्रुति कहती है—वह आत्मा ही इसकी ज्योति होती है, आत्मा का शब्दार्थ यह
यह स्थूल-सूक्ष्म शरीररूप अपने अवयवसंघात से व्यतिरिक्त स्थूल और सूक्ष्म शरीर का अव
तथा आदित्य आदि बाह्य ज्योतियों के समान स्वयं किसी अन्य से न भासित होने वाली ज्योति
जाता है । परिशेषतः वह ज्योति अन्तःस्थ है, कार्य और करण से व्यतिरिक्त वह आत्मज्योति है, ऐ
वैसे सिद्ध हो चुका है, और जो आदित्यरूप ज्योति स्थूल और सूक्ष्म शरीर से व्यतिरिक्त तथा
और सूक्ष्म शरीर संघात की उपकारक होती है, वह चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से उपलब्ध होती
देखी जाती है किन्तु आदित्यादि ज्योतियों के निवृत्त हो जाने पर यह आत्मज्योति उनकी तरह
आदि से उपलब्ध नहीं होती । किन्तु तब भी क्योंकि ज्योति का स्वाप्न व्यवहारात्मक कार्य
जाता है, इसलिए यह संघात आत्मज्योति से ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और फिर
आ जाता है । इसलिए (सफल होने और अतीन्द्रिय होने से) निश्चय ही यह आत्मज्योति अन्तः
ऐसा जाना जाता है । इसके अतिरिक्त वह आदित्यादिरूप ज्योति से विलक्षण और (अतीन्द्रिय

---

१. आत्मैवास्येति—स्वप्नादौ वासनारूपा धीरात्मज्योतिषा दीपिता स्वं व्यापारं करोतीति भावः।
व्यापारो बुद्धेरित्याशङ्क्य स्वप्नादिभाविन्यः स्मृतीच्छादिवृत्तयः सर्वा इत्यादिना समाहितं वार्तिके
आत्मशब्दार्थमाह—आत्मेति । अस्य ज्योतिरभिधीयत इत्यनेन संबन्धः । ३. ज्योतिर्विशिनष्टि—कार्यक
४. तच्चेत्यन्वयः । ५. आत्मज्योतिः । ६. आदित्यादिरूपम् । ७. आत्मज्योतिः । ८. स्वाप्न
भकम् । ९. संघातः । १०. सफलत्वे सत्यतीन्द्रियत्वात् । ११. तदभौतिकं चेति । आत्मज्योतिर
अतीन्द्रियत्वादादित्यादिवदिति व्यतिरेक्यनुमानान्तरम् । आदित्यादिज्योतिर्विलक्षणमित्यभौतिकस्वरूपा
अभौतिकं चेति चकारो निरुक्तव्यतिरेकसमुच्चयार्थः । १२. तत्रेति—व्यतिरिक्तत्वान्तःस्थत्वयोर्मध्ये
इत्याहुः । आत्मज्योतिषीत्यर्थो वा । १३. तदेव—आत्मज्योतिरेव । १४ तर्हि—नैवोपलभ्यते चेदि

विकारिणा । पूर्णस्यानात्मना योगो वास्तवो नोपपद्यते" ॥ ७६ ॥ अविद्यात्मनोर्वास्तवासंबन्धे पूर्वो
स्मारयति—निःसङ्गस्येति ॥

स एव हेतुर्यच्चक्षुराद्यग्राह्यत्वमादित्यादिवत् ।

[1]न, समानजातीयेनैवोपकारदर्शनात् । यदादित्यादिविलक्षणं ज्योतिरान्तरं सिद्धमित्येतद[2]सत् । कस्मात् । उपक्रियमाणसमानजातीयेनैवाऽऽदित्यादिज्योतिषा कार्यकरणसंघातस्य भौतिकस्य भौतिकेनैवोपकारः क्रियमाणो दृश्यते । यथादृष्टं [3]चेदमनुमेयम् । यदि नाम कार्यकरणादर्थान्तरं [4]तदुपकारकमादित्यादिव[5]ज्ज्योतिस्तथाऽपि कार्यकरणसंघातसमानजातीयमेवा[6]नुमेयं कार्यकरणसंघातो[7]पकारकत्वादादित्यादिज्योतिर्वत् । यत्पुनरन्तःस्थत्वादप्रत्यक्षत्वाच्च वैलक्षण्यमुच्यते [9]तच्चक्षुरादिज्योतिर्भिरनैकान्तिकम् ।

---

[10]संप्रति [11]लोकायतश्चोदयति—नेत्यादिना । [12]तत्र नञर्थं व्याचष्टे—यदिति । [13]उक्तं हेतुं प्रश्नपूर्वकं विभजते—कस्मादित्यादिना । यद्यपि देहादेरुपकार्यादुपकारकमादित्यादिसजातीयं दृष्टं तथाऽपि नाऽऽत्मज्योतिरुपकार्यसजातीयमनुमेयमित्याशङ्क्याऽऽह—यथादृष्टं चेति । [14]तदेव स्पष्टयति—यदि नामेति । विमतमन्तःस्थमतिरिक्तं चातीन्द्रियत्वादादित्यवदिति [15]परोक्तं व्यतिरेक्यनुमानमनूद्य

) अभौतिक भी है; यही कारण है कि वह आत्मज्योति आदित्यादिज्योति की तरह चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्रहण नहीं की जा सकती।

इस पर पूर्ववादी कहता है—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि लोकव्यवहार में उपकार तो समानजाति वाले से ही देखा जाता है। आदित्यादि से विलक्षण जो अन्तःज्योति सिद्ध की गयी है, वह मिथ्या है । क्यों मिथ्या है ? क्योंकि उपक्रियमाण भौतिक स्थूलसूक्ष्मशरीरसंघात का अपने समानजाति वाले भौतिक आदित्यादि ज्योति से ही उपकार होते देखा जाता है। एवं जैसा देखा गया है, वैसा ही आत्मज्योति का अनुमान भी करना चाहिये । यदि कार्यकरणसंघात की उपकारक ज्योति आदित्यादि के समान उनसे कोई भिन्न है, तो भी उसे कार्यकरणसंघात (स्थूलसूक्ष्मशरीरसंघात) के समानजाति वाली ही अनुमान करना चाहिये, क्योंकि आदित्यादि ज्योतियों के समान वह कार्यकरणसंघात का उपकार करने वाली है। इसके अतिरिक्त अन्तःस्थ और अतीन्द्रिय होने के कारण जो उसकी (देहादि से) विलक्षणता बतलायी जाती है। वह विरुद्ध होने से नेत्रादि

---

[1] नेति—आत्मज्योतिरन्तःस्थमतिरिक्तमभौतिकं च न भवितुमर्हतीत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—समानेति । [2] मिथ्या । [3] आत्मज्योतिः । [4] संघातोपकारकम् । [5] ज्योतिरिति । विमतो व्यवहारोऽतिरिक्तज्योतिरधीनो व्यवहारत्वाज्जाग्रत्कालीनव्यवहारवदिति पूर्वोक्तानुमानेन सिद्धमिति शेषः । [6] अनुमेयमिति—आत्मज्योतिर्देहादिसजातीयं तदुपकारकत्वादादित्यादिज्योतिर्वदिति फलितम् । [7] उपकारकत्वादिति । यदुपकारकं तदुपकार्यसजातीयमित्यन्वयमुक्त्वा व्यतिरेकमाहुर्वार्तिके—"शब्दादिभिर्हि घ्राणादेर्नोपकारः समीक्ष्यते । विजातीयैरतो ज्योतिर्भूतजातीयमिष्यतामिति" ॥ १३८ ॥ [8] यत्पुनरिति । अतीन्द्रियत्वलिङ्गेनात्मज्योतिष्यन्तःस्थत्वं प्रसाध्य तमपि हेतुं कृत्वा विमतं देहादिविलक्षणमन्तःस्थत्वादतीन्द्रियत्वाच्च व्यतिरेकेणादित्यवदिति यत्तस्य देहादिवैलक्षण्यमुच्यते इत्यर्थः । [9] विरुद्धतया हेतुद्वयं निरस्यति—तदिति । हेतुद्वयं साध्याभाववद्वृत्तित्वेन साधारणानैकान्तिकमित्यर्थः । [10] संप्रतीति—आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यत्रात्मा देहाद्यतिरिक्तः स्वयंज्योतिरशेषकर्तृत्वादिशून्यो ब्रह्मैवेत्युक्ते इत्यादिः । [11] देहात्मवादी । [12] प्रतिज्ञाहेत्वोर्मध्ये । [13] समानेत्यादिनोक्तम् । [14] दृष्टानुरोध्यनुमानमेव । [15] सिद्धान्त्युक्तम् ।

यतो[1]ऽप्रत्यक्षाण्यन्तःस्थानि च चक्षुरादिज्योतींषि [2]भौतिकान्येव । [3]तस्मात्तव मनोर विलक्षणमात्मज्योतिः सिद्धमिति ।

कार्यकरणसंघातभावभावित्वाच्च संघातधर्मत्वमनुमीयते ज्योतिषः । [4]सामा दृष्टस्य चानुमानस्य व्यभिचारित्वादप्रामाण्यम् । सामान्यतो दृष्टबलेन हि भवानादि वद्व्यतिरिक्तं ज्योतिः साधयति कार्यकरणेभ्यः । न च प्रत्यक्षमनुमानेन बाधितुं शक

दूषयति—यत्पुनरित्यादिना । अनैकान्तिकत्वं व्यनक्ति—यत इति । [5]अन्तःस्थान्यव्यतिरिक्ता संघातादिति द्रष्टव्यम् । व्यभिचारफलमाह—तस्मादिति । विलक्षणमन्तःस्थं चेति [6]मन्तव्यम् ।

किंच चैतन्यं शरीरधर्मस्तद्भावभावित्वाद्रूपादिवदित्याह—कार्यकरणेति । विमतं संघात तद्भासकत्वादादित्यवदित्यनुमानान्न संघातधर्मत्वं चैतन्यस्येत्याशङ्क्याऽऽह—सामान्यतो दृष्ट लोकायतस्य हि देहावभासकमपि चक्षुस्ततो न भिद्यते [7]तथा च व्यभिचारान्न त्वदनुमानप्रा मित्यर्थः । मनुष्योऽहं जानामीति प्रत्यक्षविरोधाच्च त्वदनुमानममानमित्याह—सामान्यतो दृ ननु [8]तेन प्रत्यक्षमुत्सार्यतामिति चेन्नेत्याह—न चेति । इतश्च देहस्यैव चैतन्यमित्याह—अयं

ज्योतियों के द्वारा व्यभिचरित है क्योंकि (गोलक से विलक्षण होने के कारण) अतीन्द्रिय और होने पर भी नेत्रादि ज्योतियाँ देह सजातीय (भौतिक) ही हैं । अतः (उसके साधक हेतु के न्तिक होने के कारण) "आत्मज्योति इनसे विलक्षण है" ऐसा कहना तुम्हारा मनोरथमात्र है।

इसके अतिरिक्त देहेन्द्रियसंघात होने पर ही रहती है, इसलिये यह चैतन्यज्योति संघा रूप है—ऐसा अनुमान किया जाता है । (नित्य अतीन्द्रिय अर्थानुमापकरूप) सामान्यरूप से प्रकारक अनुमान भी व्यभिचारी होने से अप्रामाण्य है । सामान्यतः दृष्ट अनुमान के बल आदित्यादि के समान ज्योति को स्थूल और सूक्ष्म शरीरों से भिन्न सिद्ध करते हैं । किन्तु अनु द्वारा प्रत्यक्ष का बाध नहीं हो सकता; यह कार्यकरणसंघात ही तो प्रत्यक्ष देखता, सुनता और

---

१. गोलकवैलक्षण्योपगमात्तेषाम् । आत्मवदिति दृष्टान्तोऽत्र द्रष्टव्यः । २. देहसजातीयान्ये तत्साधकहेतोरनैकान्तिकत्वात् । ४. सामान्यतो दृष्टस्येति । विशेषतो दृष्टं सामान्यतो दृष्टमिति च मनुमानं भवति । तत्र प्रत्यक्षयोग्यार्थानुमापकं विशेषतो दृष्टं यथा धूमादिरिति । नित्यातीन्द्रियार्थ सामान्यतो दृष्टं यथा चक्षुराद्यनुमापकं रूपादिज्ञानमिति तदुक्तमाचार्यवरदराजप्रणीतायां तार्किक दृष्ट सामान्यतो दृष्टमिति चास्य विधाद्वयम् । पूर्वं प्रत्यक्षयोग्यार्थं तदयोग्यार्थमुत्तरमिति । साम कार्यकारणभिन्नलिङ्गकं यथा पृथिवीत्वेन द्रव्यत्वानुमानमिति केचित् । सामान्यतो दृष्टमन्वयव्यति वह्निमान् धूमादित्यादीत्यपरे । ५. विमतमन्तःस्थमित्यादिटीकोक्तानुमानेऽन्तःस्थत्वं कार्यकरणसंघात स्वरूपं विवक्षितं भाष्ये त्वन्तःस्थत्वसामान्यमेव हेतूकृतं तत्र चेन्द्रियाणां करणतया तदन्तर्गतत्वरूपमेवा मादाय व्यभिचारप्रदर्शनम् । टीकोक्तानुमाने त्विन्द्रियाणामधिष्ठानत्वाभावादेव स्फुटो व्यभिचार इत्य —अन्तःस्थान्यव्यतिरिक्तानि चेति । अव्यतिरिक्तानि अविलक्षणानीत्यर्थः । ६. मन्तव्यमिति देहादिसजातीयं व्यञ्जकत्वात्प्रदीपवत् अन्तःस्थत्वादतीन्द्रियत्वाच्च चक्षुरादिवदिति प्रत्यनुमानं च द्रष्टव्य तथा चेति । देहाऽवभासकस्यापि चक्षुषो देहप्रतियोगिकभेदराहित्ये चेत्यर्थः । ८. निरुक्तानुमानेन बाध्यताम् ।

यमेव तु कार्यकरणसंघातः [2]प्रत्यक्षं पश्यति शृणोति मनुते विजानाति च । यदि नाम तिरन्तरमस्योपकारकं स्यादादित्यादिवन्न तदाऽऽत्मा स्याज्ज्योतिरन्तरमादित्यादिवदेव । एव तु प्रत्यक्षं दर्शनादिक्रियां करोति स एवाऽऽत्मा स्यात्कार्यकरणसंघातो नान्यः । यक्षविरोधेऽनुमानस्याप्रामाण्यात् ।

नन्वयमेव चेद्दर्शनादिक्रियाकर्ताऽऽत्मा संघातः कथमविकलस्यैवास्य दर्शनादिक्रियात्वं कदाचिद्भवति [3]कदाचिन्नेति । नैष दोषो [4]दृष्टत्वात् । [5]न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । हि खद्योते[6] प्रकाशाप्रकाशत्वेन दृश्यमाने [7]कारणान्तरमनुमेयम् । अनुमेयत्वे च [8]केन-

तिषो देहव्यतिरेकमङ्गीकृत्यापि दूषयति—यदि नामेति । विमतं ज्योतिरनात्मा देहोपकारकत्वादावदित्यर्थः । आत्मत्वं [9]तर्हि कस्येत्याशङ्क्याऽऽह—य एव त्विति । अनुमानादात्मनो देहव्यतिरिक्तक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रत्यक्षेति । नान्य आत्मेति पूर्वेण संबन्धः ।

देहस्याऽऽत्मत्वे कादाचित्कं द्रष्टृत्वश्रोतृत्वाद्ययुक्तमिति शङ्कते—नन्विति । [10]स्वभाववादी हरति—नैष दोष इति । कादाचित्के दर्शनादर्शने संभवतो देहस्वाभाव्यादित्यत्र दृष्टान्तमाह—न ति । [11]विमतं कारणान्तरपूर्वकं कादाचित्कत्वाद्घटवदित्यनुमानं दृष्टान्ते भविष्यतीत्याशङ्क्याग्निरुष्णतिवदुष्णमुदकमित्यपि द्रव्यत्वादिनाऽनुमीयेतेत्यतिप्रसङ्गमाह—अनुमेयत्वे चेति । ननु [13]यद्भवति

ता और जानता है । यदि आदित्यादि के समान इसका उपकार करने वाली कोई अन्य ज्योति ी, तो वह आत्मज्योति नहीं हो सकती; अपितु आदित्यादि के समान ही कोई अन्य ज्योति होगी । भी प्रत्यक्ष दर्शनादि कर्म करता है, वही आत्मा स्थूलसूक्ष्मशरीरसंघातरूप होना चाहिये; दूसरा क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के विरोध होने पर अनुमान प्रमाण की प्रामाणिकता नहीं हो सकती ।

(इस पर सिद्धान्ती कहता है—) किन्तु यदि यह संघात ही दर्शनादि क्रियाओं का करने वाला मा है, तो यह क्यों होता है कि विक्रियारहित इसमें कभी तो दर्शनादिक्रिया का कर्तृत्व रहता है र कभी नहीं रहता । (इस पर पूर्ववादी कहता है—) इसमें प्रत्यक्ष होने से कोई दोष नहीं है, कि कादाचित्कदर्शन और अदर्शन की देह में प्रत्यक्ष प्रमा होती है । जुगनु को कालभेद से शक और अप्रकाशकरूप से देखने के लिए किसी कारणान्तर का अनुमान नहीं करना चाहिये । भी से समानता होने के कारण स्वभावातिरिक्त हेतु मे अनुमय होने पर तो सब जगह सभी विषयों

---

१. यत्तु देहो नात्मा भौतिकत्वात्कुम्भवत् तथा देहः स्वव्यतिरिक्तद्रष्टृको दृश्यत्वाद्घटवदिति तत्राऽऽह—यमिति । २. प्रत्यक्षमिति—तथा चाग्न्यनुष्णतानुमानवदध्यक्षविरोधाद्देहाऽनात्मत्वानुमानाऽनुत्थानमिति भावः । ३. कदाचिन्नेति—स्वापमूर्च्छाद्यवस्थास्वित्यर्थः । तथा च देहो नात्मा चैतन्यव्यभिचारित्वाद्घटवदिति भावः । ४. दृष्टत्वादिति । कादाचित्कदर्शनादर्शनयोर्देहे प्रत्यक्षप्रमितत्वादित्यर्थः । ५. दृष्टमपि न्यायविरोधे त्याज्यमित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । न हि दृष्टं समुल्लङ्घ्य ततोऽन्यद्बलवन्मतमित्यर्थः । ६. कालभेदेन । ७. कारणान्तरमनुमेयमिति । खद्योतस्यापि भासुरत्वादिहेत्वन्तरकृतं कादाचित्कत्वाद्घटवदित्यपि न सम्यक् प्रत्यक्षविरोधादेवेति भावः । ८. केनचित्सामान्यादिति । कादाचित्कत्वेन साधर्म्यात् स्वभावातिरिक्ते हेतावनुमेये सवीत्यर्थः । ९. ज्योतिषोऽनात्मत्वे । १०. लोकायतैकदेशी । ११. खद्योतभासुरत्वादिकम् । १२. ग्निवदित्यर्थः । १३. कार्यमुत्पद्यते ।

चित्सामान्या[1]त्सवं सर्वत्रानुमेयं स्यात्। [2]तच्चानिष्टम्। न च पदार्थस्वभावो ह्यग्नेरुष्णस्वाभाव्यमन्यनिमित्तमुदकस्य वा शैत्यम्। प्राणिधर्माधर्माद्यपेक्षमिति [3]धर्माधर्मादेर्निमित्तान्तरापेक्षस्वभावत्वप्रसङ्गः। [4]अस्त्विति चेन्न तदनवस्थाप्रसङ्ग चानिष्टः।

[5]न। स्वप्नस्मृत्योर्दृष्टस्यैव दर्शनात्। यदुक्तं [6]स्वभाववादिना देहस्यैव दर्शना न व्यतिरिक्तस्येति तन्न। यदि हि देहस्यैव दर्शनादिक्रिया[7] स्वप्ने दृष्टस्यैव

तत्सनिमित्तमेव न स्वभावाद्भवतिकिंचिदस्माकं 'प्रसिद्धं' तत्राऽऽह—न चेति। अग्नेरौष्ण्य शैत्यमित्याद्यपि न निर्निमित्तं किंतु प्राण्यदृष्टापेक्षमिति शङ्कते—प्राणीति। आदिशब्देनेश्वरादि गूढाभिसंधिः स्वभाववाद्याह—धर्मेति। प्रसङ्गस्येष्टत्वं शङ्कित्वा स्वाभिप्रायमाह—अस्त्वित्यादि

सिद्धान्ती स्वप्ना[9]दिसिद्ध्यनुपपत्त्या देहातिरिक्तमात्मानमभ्युपगमयन्नुत्तरमाह—नेत्य [10]तत्र नञर्थं विभजते—यदुक्तमिति। स्वप्ने दृष्टस्यैव दर्शनादिति हेतुभागं व्यतिरेकद्वारा विवृ यदि हीति। जाग्रद्देहस्य[12] द्रष्टुः स्वप्ने नष्टत्वाद[13]तीन्द्रियस्य संस्कारस्य चानिष्टत्वाद[14]न्यदृष्टे स्वप्नायोगान्न स्वप्ने दृष्टस्यैव दर्शनं देहात्मवादे संभवतीत्यर्थः। मा भूद्दृष्टस्यैव स्वप्ने दृष्टिर स्वप्नदृष्टेरित्याशङ्क्याऽऽह—अन्ध इति। अपिशब्दोऽध्याहर्तव्यः। पूर्वदृष्टस्यैव स्वप्ने दृष्टे

के लिए अनुमान ही करना होगा, ऐसा हमें इष्ट नहीं है क्योंकि पदार्थ का कुछ अपना स्वभाव ही है; अग्नि का उष्ण स्वभाव तथा जल का शीत स्वभाव होता किसी अन्य कारण से नहीं कहो कि यह स्वभाव प्राणियों के धर्माधर्म साक्षेप है, तो धर्माधर्मादि का भी अन्य नि अपेक्षा रखने वाला स्वभाव मानने का प्रसङ्ग आ जायेगा। यदि कहो उसमें कोई हानि ऐसा कहना ठीक नहीं है। इससे अनवस्था दोष का प्रसङ्ग आ जायगा और ऐसा मानना नहीं है।

---

१. सवं सर्वत्रेति। वह्निरनुष्णो वस्तुत्वाज्जलवदित्यपि स्यात्प्रत्यक्षविरोधस्य तुल्यत्वादित्यतिप्रसङ्गो मिति भावः। २. न च वह्नेरनुष्णत्वं युक्तं धर्मिलपदार्थव्यवस्था दौःस्थ्यप्रसङ्गादित्याह—तच्चेति धर्मादेरौष्ण्यादि हेतुत्वं स्वभावो न वा स्वभावश्चेदग्न्यादेरेव सोऽस्तु लाघवात् अस्वभावश्चेत्तत्राऽऽह— धर्मादावपि धर्मान्तरसापेक्षत्वप्रसक्तेर्दुर्वारत्वादयुक्तोऽस्वभाववाद इत्यर्थः। ४. धर्मादेरग्न्यादिष्वौष्ण्या दनद्वारा फलदातृत्वे धर्मान्तरापेक्षत्वेऽपि न क्षतिरिति शङ्कते—अस्त्विति। तत्र दोषमाह—तदिति धर्मादेर्धर्मान्तरापेक्षत्वेऽनवस्थेति धर्मान्तरेऽपि प्रथमधर्मादाविव सापेक्षत्वसाम्यात् सत्यां चानवस्थायां स्याग्न्यौष्ण्यादिद्वारा सुखादेर्धर्मादिकृतत्वस्यासिद्धिरिति किंच न हि धर्मादिप्रत्यक्षं त्वयानभ्युपगमात् प्रमाणान्तरगम्यमस्मन्मते तदभावात्। अतो धर्मस्यैवाभावे धर्मान्तरापेक्षत्वं दूरनिरस्तमिति गूढाभिसंधिः नेति प्रतिज्ञा शिष्टो हेतुः। ६. देहात्मवादिना। ७. स्यात्तर्हि। ८. न स्यादिति। भवति तु तत्र दर्शनम्। तथा च वार्तिकम्—"बाह्यादित्यादिविरहे करणव्यापृतिं विना। जाग्रद्वद्वीक्षते स्वप्ने दृष्टं नरः" ॥ २६४ ॥ इति। स्वप्ने दृष्टयनुपपत्तिर्देहाद्व्यतिरिक्तस्य द्रष्टृत्वादि कल्पयतीति भावः। ९. प्र —तथा च पदार्थानां स्वभावो नाम नास्ति तत्कथं कादाचित्कदर्शनादेः स्वभावतेति भावः। १०. स्मृतिः। ११. प्रतिज्ञाहेत्वोर्मध्ये। १२. समानाधिकरणे षष्ठी। १३. अतीन्द्रियस्य—अप्र १४. प्रत्यक्षैकशरणस्य देहात्मवादिनः।

त् । अन्धः स्वप्नं पश्यन्दृष्टपूर्वमेव पश्यति न शाकद्वीपादिगतमदृष्टपूर्वम् । [1]ततश्चैतत्सिद्धं ति यः स्वप्ने पश्यति दृष्टपूर्वं वस्तु स एव [2]पूर्वं विद्यमाने चक्षुष्यद्राक्षीन्न देह इति । श्चेद्द्रष्टा[3] स येनाद्राक्षीत्तस्मिन्नु[4]द्धृते चक्षुषि स्वप्ने तदेव दृष्टपूर्वं न पश्येत् । अस्ति च के प्रसिद्धिः पूर्वं दृष्टं मया हिमवतः शृङ्गमद्याहं स्वप्नेऽद्राक्षमित्युद्धृतचक्षुषामन्धानामपि । स्मादनुद्धृतेऽपि चक्षुषि यः स्वप्नदृक्स एव द्रष्टा न देह इत्यवगम्यते ।

तथा स्मृतौ द्रष्टृस्मर्त्रोरेकत्वे सति य एव द्रष्टा स एव स्मर्ता । यदा [7]चैवं तदा मीलिताक्षोऽपि स्मरन्दृष्टपूर्वं यद्रूपं तद्दृष्टवदेव [8]पश्यतीति । तस्माद्यन्निमीलितं तन्न द्रष्टृ

व्यतिरिक्तो द्रष्टा सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—ततश्चेति । अथो[9]भयत्र देहस्यैव द्रष्टृत्वे का हानिरिति त आह—देहश्चेदिति । [10]तत्र सहकारिचक्षुरभावाच्चक्षुरन्तरस्य चोत्पत्तौ देहान्तरस्यापि समुत्पत्ति- भावादन्यदृष्टेऽन्यस्य न स्वप्नः स्यादित्यर्थः । मा भूत्पूर्वदृष्टे स्वप्नो हेत्वभावादित्याशङ्क्याऽऽह— स्ति चेति । कथं ते जात्यन्धानामोदृग्दर्शनमिति चेज्जन्मान्तरानुभववशादिति ब्रूमः । अन्धस्य स्याद्द्रष्टृत्वेऽपि चक्षुष्मतस्तस्य स्यादेव द्रष्टृत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति ।

स्वप्ने दृष्टस्यैव दर्शनादिति हेतुं व्याख्याय स्मृतौ दृष्टस्यैव दर्शनादिति हेतुं व्याचष्टे—तथेति । ट्टस्मर्त्रोरेकत्वेऽपि कुतो देहातिरिक्तो द्रष्टेत्याशङ्क्याऽऽह-यदा चेति । देहातिरिक्तस्य स्मर्तृत्वेऽपि कुतो ष्टृत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति । द्रष्टृस्मर्त्रोरेकत्वस्योक्तत्वाद्देहातिरिक्तः स्मर्ता चेद्द्रष्टाऽपि

(इस पर सिद्धान्ती कहता है—) यह प्रतिज्ञा शिष्टसम्मत नहीं है क्योंकि स्वप्न और स्मृति में खे हुए का ही दर्शन होता है । देहात्मवादी द्वारा जो यह कहा गया है कि दर्शनादिक्रिया देह की होती , उससे भिन्न किसी की नहीं होती; ऐसा कहना भी नहीं बनता । यदि देह की ही दर्शनक्रिया हो, स्वप्न में देखे हुए का दर्शन ही नहीं होता । नेत्रविहीन व्यक्ति भी स्वप्न देखने के समय पूर्वदृष्ट दार्थों को ही देखता है, शाकद्वीप आदि पूर्व अदृष्ट पदार्थों को नहीं देखता । इससे यह सिद्ध होता है, स्वप्न में पूर्वदृष्ट वस्तु देखता है उसीने जागरित में उन पदार्थों को चक्षु के विद्यमान रहते हुए देखा था; देह ने नहीं । यदि देह को द्रष्टा मानो, तो जिन नेत्रों से उसने पहले ा, उन नेत्रों से नष्ट हो जाने पर उसी पूर्वदृष्ट को स्वप्न में कभी न देखता । चक्षुविहीन अन्धों के षय में भी लोक प्रसिद्ध है कि "आज स्वप्न में मैंने पूर्वदृष्ट हिमालय का शिखर देखा" । इसलिए वप्नद्रष्टा नेत्रों के विनष्ट न होने पर भी द्रष्टा है, देह द्रष्टा नहीं है, ऐसा जाना जाता है ।

इसी प्रकार स्मृति में भी समझना चाहिये । द्रष्टा और स्मर्ता की एकता होने पर जो द्रष्टा ोता है; वही स्मर्ता होता है । जब इस प्रकार स्वीकार कर लिया जाता है, तभी तो आँख मूंद कर मरण करने वाला भी पूर्वदृष्ट रूप को उसी प्रकार देखे हुए के समान स्मरण करता है । अतः जिन्हें

---

१. स्वप्ने दृष्टस्यैव दर्शनादेव । २ जागरिते । ३. स्यात् । ४. नष्टे । ५. प्रसिद्धिः—स्वप्ने दृष्टस्यैव दर्शनमिति प्रसिद्धिः । ६. तस्मादिति—उद्धृते चक्षुषि देहादतिरिक्तस्य द्रष्टृत्वानुगमात् अन्धस्य देहस्य तदननुगमाद्देत्यर्थः । ७. एवं द्रष्टृस्मर्त्रोरेकत्वं यदाऽभ्युपेयते तदा । ८. स्मरति । ९. जाग्रत्स्वप्नावस्थयोः । १०. स्वप्ने द्रष्टुः सहकारि ।

[1]यन्निमीलिते चक्षुषि स्मरद्रूपं पश्यति तदेवानिमीलितेऽपि चक्षुषि द्रष्टासीदित्यव [2]मृते च देहे[3]ऽविकलस्यैव च रूपादिदर्शनाभावात् । देहस्यैव द्रष्टृत्वे मृतेऽपि दर्शना स्यात् । [4]तस्माद्यदपाये देहे दर्शनं न भवति यद्भावे च भवति तद्दर्शनादिक्रियाकर्तृ इत्यवगम्यते ।

चक्षुरादीन्येव दर्शनादिक्रियाकर्तॄणीति चेत् । न । यदहमद्राक्षं तत्स्पृ भिन्नकर्तृकत्वे प्रतिसंधानानुपपत्तेः । मन[5]स्तर्हीति चेत् । न । मनसोऽपि [6]विषयत्वा

तथा सिध्यतीति भावः । देहस्याद्रष्टृत्वे हेत्वन्तरमाह—मृते चेति । न तस्य द्रष्टृतेति शेषः । पादयति—देहस्यैवेति । देहव्यतिरिक्तमात्मानमुपपादितमुपसंहरति—तस्मादिति । चैतन्यं यत्त

मा भूद्देहस्याऽऽत्मत्वमिन्द्रियाणां तु स्यादिति शङ्कते—चक्षुरादीनीति । अन्यदृष्ट प्रत्यभिज्ञानादिति[8] न्यायेन परिहरति—नेत्यादिना । [9]आत्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि संभवादिति शङ्कते—मन इति । [10]ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रमिति न्यायेन परिहरति—न मनसो

मूंद रखा है । वह नेत्र द्रष्टा नहीं है, जो चैतन्य नेत्रों के मूँद लेन पर भी स्मरण किये जाने वाले देखता है, वही नेत्रों के न मूँदने पर भी द्रष्टा था, ऐसा जान पड़ता है । प्राणशून्य शरीर में अविकृत होने पर भी रूपादि के दर्शन का अभाव हो जाता है । यदि देह ही द्रष्टा होता तो होने पर उसमें दर्शनादिक्रिया होती । इसलिए जिसके देह से चले जाने पर दर्शन नहीं होता, रहने से होता है, वही दर्शनादिक्रिया का कर्ता है, देह ऐसी सामर्थ्य वाला नहीं है—ऐसा जाता है ।

यदि कहो, नेत्रादि इन्द्रियाँ ही दर्शनादिक्रिया की कर्ता हैं, तो ऐसा कहना भी नहीं

---

१. चैतन्यम् । २. प्राणशून्ये । ३. अविकृतस्यैव देहस्य । ४. मृतदेहस्य दर्शनादिक्रियाऽभावा तर्हि—आत्मेति शेषः । ६. ज्ञातुरित्यादिसूत्रस्य ज्ञातुर्ज्ञानसाधनान्युपपद्यन्ते चक्षुषा पश्यति घ्राणेन त्वचा स्पृशति एवं मन्तुः सर्वविषयस्य मतिसाधनमन्तःकरणभूतं सर्वविषयं विद्यते येनाऽय मन्यते ज्ञातरि आत्मसंज्ञा न मृष्यते त्वया मनःसंज्ञाऽभ्यनुज्ञायते मनसि च मनःसंज्ञा नाभ्युपगम्यते त्वभ्यनुज्ञायते (स्वीक्रियते) तदिदं संज्ञाभेदमात्रं नार्थे विवाद इत्येतमर्थमभिप्रेत्याह—विषयत्वादि तत्राहुर्वार्तिके—"शब्दादिखचितं साक्षात्स्मृतिस्वप्नगतं मनः । कुम्भवद्वीक्ष्यते यस्मात्तन्नात आत्मा मनो ॥ २७१ ॥ इति । ७. देहस्याद्रष्टृत्वमेव । ८. इति न्यायेनेति । न्यायश्चायम्—"सव्यदृष्ट प्रत्यभिज्ञानादिति" न्यायदर्शने ३।१।७ मूलको बोद्धव्यः । तत्सूत्रभाष्यं यथा—सव्येन खलु चक्षुषा मितरेणापि चक्षुषा दृष्ट्वा प्रत्यभिजानाति यमद्राक्षं तमेवैतर्हि पश्यामि इति । इन्द्रियचैतन्ये च नान्य प्रत्यभिजानातीति प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिरिति । अन्यदृष्टस्येत्यादिस्थले सव्यदृष्टस्येत्यादिनिरुक्तसूत्रमेव मित्यपि वदन्ति । ९. "नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि संभवादिति" न्यायदर्शने ३-१-१६ नञ्वर्जं पठति न देहादिव्यतिरिक्त आत्मा कुतः आत्मेति । दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणा (द्रष्टृत्वस्प्रष्टृत्वयोरेकाधि निश्चया) दित्येवमादीनामात्मप्रतिपादकानां हेतूनां मनसि संभवात् । मनस एकत्वात्पूर्वानुभवोत्थसंस्का भिज्ञोपपत्तेश्चेति तत्सूत्रार्थः । १०. न्याय० सू० ३।१।१७ ।

वद्द्रष्टृत्वाद्यनुपपत्तिः। [1]तस्मादन्तःस्थं व्यतिरिक्तमादित्यादिवदिति सिद्धम्।

[2]यदुक्तं कार्यकरणसंघातसमानजातीयमेव ज्योतिरन्तरमनुमेयम्। आदित्यादिभि[3]स्तत्समानजातीयैरेवोपक्रियमाणत्वादिति। तदसत्। उपकार्योपकारकभावस्यानियमदर्शनात्। कथं, पार्थिवैरिन्धनैः पार्थिवत्वसमानजातीयैस्तृणोलपादिभि[4]रग्नेः प्रज्वलनोपकारः क्रियमाणो दृश्यते। न च तावता तत्समानजातीयैरेवाग्नेः प्रज्वलनोपकारः सर्वत्रानुमेयः स्यात्। येनोदकेनापि प्रज्वलनोपकारो [5]भिन्नजातीयेन वैद्युतस्याग्नेर्जाठरस्य च क्रियमाणो दृश्यते।

[6]तस्मादुपकार्योपकारकभावे समानजातीयासमानजातीयनियमो नास्ति। कदा-

---

देहादेरनात्मत्वे फलितमाह—तस्मादिति। आत्मज्योतिः संघातादिति शेषः।

परोक्तमनुवदति—यदुक्तमिति। अनुग्राह्यसजातीयमनुग्राहकमित्यत्र हेतुमाह—आदित्यादिभिरिति। उपकार्योपकारकत्व[7]साजात्यनियमं दूषयति—तदसदिति। अनियमदर्शनमाकाङ्क्षापूर्वकमुदाहरति—कथं पार्थिवैरिति। उलपं बालतृणम्। पार्थिवस्यैवाग्निं प्रत्युपकारकत्वनियमं वारयति—न चेति। तावता पार्थिवेनाग्नेरुपक्रियमाणत्वदर्शनेनेति यावत्। तत्समानजातीयैरिति तच्छब्दः पार्थिवत्वविषयः। तत्र हेतुमाह—येनेति।

[8]दर्शनफलं निगमयति—तस्मादिति। उपकार्योपकारकभावे साजात्यनियमवदपकार्यापकारक-

---

क्योंकि दर्शन और स्पर्श भिन्नकर्तृक होनें के कारण "जिसे मैंने देखा था, उसका स्पर्श करता हूँ" ऐसा अनुभव होना असम्भव हो जाता। यदि कहो मन ही द्रष्टा है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि रूपादि की तरह विषय होने के कारण मन का द्रष्टा होना भी सिद्ध नहीं होता। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि चैतन्यज्योति अन्तःस्थ है; आदित्यादि के समान देह से पृथक् है।

जो यह कहा गया कि शरीरेन्द्रियसंघात की समानजातीय ही किसी अन्य ज्योति का स्मरण करना चाहिये क्योंकि आदित्यादि एवं उससे अनुग्राह्य समानजातीय ज्योतियों से ही संघात का उपकार होता है। ऐसा कहना मिथ्या है क्योंकि उपकार्य-उपकारकभाव का कोई (सार्वत्रिक) नियम हो—ऐसा नहीं देखा जाता। ऐसा किस प्रकार कहते हो? (इसे स्पष्ट करते हैं—) पार्थिव इन्धन एवं पार्थिवत्व समानजातीय तृण और घास आदि से पार्थिव अग्नि का प्रज्वलनरूप उपकार होते देखा जाता है। किन्तु यह सार्वत्रिक अनुमान नहीं समझ लेना चाहिये कि समानजातीय पदार्थों से ही अग्नि का प्रज्वलनात्मक उपकार होगा, क्योंकि भिन्नजातीय जल से भी विद्युद्रूप अग्नि का तथा उदरस्थ अग्नि का प्रज्वलनरूप उपकार होते देखा गया है।

इसलिए उपकार्य-उपकारकभाव में समानजातीय अथवा असमानजातीय होने का नियम

---

[1] देहादेरनात्मत्वात्। [2] ६६१पृष्ठभाष्ये। [3] अनुग्राह्येति भावः। [4] भौमस्याग्नेः। [5] पार्थिवापेक्षया भिन्नेत्यर्थः। [6] भौमस्य जाठरस्य दिव्यस्यैव पावकस्य काष्ठैरद्भिश्चोपकारदर्शनात्। [7] उपकारकोपकार्यत्वयोः साजात्यव्याप्तत्वम्। [8] अनियमदर्शनात्।

चित्समानजातीया मनुष्या मनुष्यैरेवोपक्रियन्ते कदाचित्स्थावरपश्वादिभिश्च भि जातीयैः । तस्मादहेतुः कार्यकरणसंघातसमानजातीयैरेवाऽऽदित्यादिज्योतिर्भिरुपकि माणत्वादिति ।

यत्पुन[1]रात्थ चक्षुरादिभि[2]रादित्यादिज्योतिर्वदद्दृश्यत्वादि[3]त्ययं हेतुर्ज्योतिर[4]स्यान्तःस्थत्वं वैलक्षण्यं च न साधयति *चक्षुरादिभिरनैकान्तिकत्वादिति । तदस

भावेऽपि [5]वैजात्यनियमो नास्तीत्यर्थः । [6]तत्रोपकार्योपकारकत्वे साजात्यनियमाभावमुदाहरणान्त दर्शयति—कदाचिदिति । [7]अम्भसा[8]ऽग्निना वाऽग्नेरुपशान्त्युपलम्भादपकार्यापकारकत्वे वैजात्यनियमो नास्तीति मत्वोपसंहरति—तस्मादिति । उक्तानियमदर्शनं तच्छब्दार्थः । अहेतुरात्मज्योतिषः संघा समानजातीयतायामिति शेषः ।

अनुग्राहकमनुग्राह्यसजातीयमनुग्राहकत्वादादित्यवदित्यपास्तम् । संप्रत्यतीन्द्रियत्वहेतोरनैका परोक्तमनुभाष्य दूषयति—यत्पुनरित्यादिना । विमतं [9]ज्योतिः संघातधर्मस्तद्भावभावित्वाद्रूपा

नहीं है । कभी समानजातीय मनुष्य मनुष्यों से उपकृत होते हैं; कभी भिन्नजातीय स्थावर एवं आदि से उपकृत होते हैं । अतः देहेन्द्रियसंघात के समानजातीय आदित्यादि ज्योतियों से उप होने के कारण ही आत्मज्योति संघात के समानजातीय ही होनी चाहिये—ऐसा कोई नियम नहीं है

और जो तुम (पूर्ववादी) ने कहा था कि आदित्यादि ज्योति के समान चक्षुरादि इन्द्रियों आत्मज्योति अदृश्य होने के कारण (व्यतिरेकी दृष्टान्त है) यह हेतु तो चक्षु आदि से व्यभिचा होने के कारण उस आत्मज्योति का अन्तःस्थ और विलक्षण होना सिद्ध नहीं करता । यह कहना

---

[1] ९९१ पृष्ठभाष्ये । [2] व्यतिरेकिदृष्टान्तः । [3] आत्मज्योतिषः । [4] आत्मरूपस्य । [5] वैज नियमो नास्तीति । वैद्युतोऽग्निर्भौमाग्निसंपर्कादुपशाम्यतीति प्रसिद्धम् । भौमश्चाग्निरद्भिरुपशाम्यन्नुपलभ्य तथा च वार्तिके—"अग्न्यम्बुभिश्च शमनं तथाऽग्नेरेव दृश्यत इति" । [6] उपकार्योपकार्यादौ साजात्यवै नियमाभावयोः । [7] भौमाग्नेरम्भसा । [8] दिव्याग्नेर्भौमाग्निना । [9] आत्मा ।

---

*चक्षुरादिभिरनैकान्तिकत्वादिति । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"यच्चाप्यक्षैरनैकान्त्यं हेतोरभिहितं पु तच्चाप्यसत्त्वयाऽभाणि धर्मित्वेन परिग्रहात् ॥ सेन्द्रियस्यास्य देहस्य पुरुषोक्त्या परिग्रहात् । न ह्येकदेश सा दृष्टान्तत्वाय कल्पते" ॥ २३७-२३८ ॥ इति । आत्मज्योतिरनुग्राह्यसजातीयमिति निरस्तमिदानीमतीन्द्रि त्वादन्तस्थत्वमुक्त्वाऽभौतिकत्वे हेतुद्वयमन्तस्थत्वातीन्द्रियत्वाख्यमात्मज्योतिषो विवक्षितं चक्षुरादिभिरनैका मित्युक्तमनुवदति—यच्चेति । न तावदन्तस्थत्वे साध्ये चक्षुरादिभिरतीन्द्रियत्वमनैकान्तं किंज्योतिरयं पुरुष पुरुषशब्देन कार्यकरणसंघातं गृहीत्वाऽऽत्मज्योतिषस्तदन्तस्थत्वोक्तौ सेन्द्रियस्य देहस्य धर्मित्वेन तदन्तस्थत्व विशिष्टसाध्यकोटिनिविष्टत्वेनेष्टत्वादित्याह—तच्चेति । साध्यकोटिनिवेशेऽपि साध्यवत्त्वं विना हेतुसत्त्वे न विरुद्धतेत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । साध्यैकदेशो न व्यभिचारोदाहरणं तस्य पक्षनिक्षिप्तस्य विपक्षत्वानुप चातीन्द्रिये परमाण्वादावनन्तस्थे विरुद्धतातादवस्थ्यं ज्योतिष्ट्वेन हेतोर्विशेषणादित्यर्थः । यद्वाऽऽत्मज्योतिषोऽ स्थत्वातीन्द्रियत्वहेतुभ्यामभौतिकत्वे साध्ये चक्षुरादिष्वनैकान्त्यमिति तत्रापि नान्तस्थत्वमनैकान्तमित्या तच्चेति । अनुग्राह्यान्तस्थत्वं हि हेतुस्तथा च चक्षुरादेरनुग्राह्यत्वधर्मित्वेन स्वीकारात्ततोऽन्तस्थत्वाभावा व्यभिचार इत्याह—धर्मित्वेनेति । कथमनुग्राह्यत्वधर्मित्वेन चक्षुरादेर्ग्रहणं पुरुषस्यैव तथात्वश्रुतेरित्याश

चक्षुरादिकरणेभ्योऽन्यत्वे सतीति हेतोर्विशेषणत्वोपपत्तेः । कार्यकरणसंघातधर्मत्वं ज्योतिष इति [1]यदुक्तं तन्न । अनुमानविरोधात्[2] । आदित्यादिज्योतिर्वत्कार्यकरणसंघातादर्थान्तरं ज्योतिरिति [3]ह्य[4]नुमानमुक्तं तेन विरुध्यत इयं प्रतिज्ञा कार्यकरणसंघातधर्मत्वं ज्योतिष इति । [5]तद्भावभावित्वं त्वसिद्धं मृते देहे ज्योतिषोऽदर्शनात् ।

[6]सामान्यतो दृष्टस्यानुमानस्याप्रामाण्ये सति [7]पानभोजनादिसर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गः ।

यदित्युक्तमनूद्य निराकरोति—कार्येति । अनुमानविरोधमेव साधयति—आदित्यादीति । काला[8]त्ययापदेशमुक्त्वा हेत्वसिद्धिं दोषान्तरमाह—तद्भावेति । अदर्शनादिति च्छेदः ।

*यत्पुनर्विशेषे[9]ऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाध्यतेत्यनुमानदूषणमभिप्रेत्य सामान्यतो दृष्टस्य चेत्याद्युक्तं[10] तद्दूषयति—सामान्यतो दृष्टस्येति । [11]विशेषतो दृष्टस्येत्यपि [12]द्रष्टव्यम् । [13]किमित्यनुमाना-

---

मिथ्या है । "चक्षुरादि इन्द्रियों से भिन्न होते हुए" ऐसा विशेषण लगा देने पर वह सिद्ध हो जाता है । इसके अतिरिक्त जो उस ज्योति को देहेन्द्रियसंघातधर्मी बतलाया, वह भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि हमारे अनुमान से उसमें विरोध आ जाता है । आदित्यादि ज्योति की भाँति यह ज्योति देहेन्द्रियसंघात से व्यतिरिक्त पदार्थ है—ऐसा अनुमान पहले कहा जा चुका है । उस अनुमान से "यह

---

१. ६६२ पृष्ठभाष्ये । २. अस्मदनुमानेन तवानुमानबाधादिति यावत् । ३. तत्रैव टीकायाम् । ४. अनुमानमुक्तमिति । विमतं संघाताद्भिन्नं तद्भासकत्वादादित्यादिवदित्यनुमानमुक्तमित्यर्थः । तथा च तेन बाधितोऽयं ते हेतुरिति भावः । ५ तद्भावेत्यादि । यद्यपि कार्यकरणसंघातभावभावित्वं नासिद्धं मृते करणविगमात्तथापि देहात्मवादे करणविगमासम्भवात्सांमत्यमिति ध्येयम् । ६ सामान्यतो दृष्टस्य—नित्यातीन्द्रियार्थानुमापकस्य रूपादिज्ञानस्येत्यर्थः । ७. विशेषतो दृष्टस्यानुमानस्याप्रामाण्ये दोषमाह—पानभोजनेति । यद्वा अन्वयव्यतिरेक्यनुमानमपि सामान्यतो दृष्टमित्यभ्युपगम्यते तथा च तदप्रामाण्ये दोषं वदति—पानेति । ८. बाधम् । ९. अनुमाभङ्गपङ्केऽस्मिन्निमग्नावादिदन्तिन इत्युत्तरार्धम् । विशेषेऽनुगमेति पर्वतीयादिवह्निविशेषे साध्ये महानसे तदभावाद्दृष्टान्ते साध्यविकलता वह्निमात्रे (सामान्ये) साध्ये तस्य क्वापि सिद्धतया सिद्धसाध्यता (तथा चाश्रयासिद्धि) इत्यर्थः । तथा च नानुमानं मानमिति भावः । १०. ६६२ पृष्ठभाष्ये । ११. विशेषतो दृष्टस्य—प्रत्यक्षयोग्यार्थानुमापकस्य धूमादेः द्विविधस्यापि तस्याप्रामाण्ये सतीत्यर्थः । १२. द्रष्टव्यमिति भाष्योक्तसामान्यतो दृष्टस्य इत्यस्योपलक्षणत्वादिति भावः । १३. कथम् ।

—सेन्द्रियस्येति । विशिष्टातीन्द्रियत्वहेतोर्व्यभिचारं परिहरति—न हीति । कार्यकरणसंघाताद्वैलक्षण्ये साध्ये तदेकदेशश्चक्षुरादिनं व्यभिचारोदाहरणं न हि पक्षस्य विपक्षतेत्युक्तं न च संघातैकदेशस्य तदन्तस्थत्वमास्थातुं शक्यमतीन्द्रियत्वेन चाग्राह्यत्वस्य विवक्षितत्वान्न विरुद्धतेति भावः । यद्वा नान्तस्थत्वे साध्येऽतीन्द्रियत्वमक्षेष्वनैकान्तं तेषां ग्राह्यत्वधर्मित्वेनेष्टत्वादग्राह्यत्वस्य चातीन्द्रियत्वादित्याह—धर्मित्वेनेति । कुतस्तेषां ग्राह्यत्वमत आह—सेन्द्रियस्येति । पुरुषो हि प्रकाश्यत्वेन प्रकृतस्तदन्तर्भूतान्यक्षादीन्यपि तथा तन्न तेषु विरुद्धतेत्यर्थः । एतेनाभौतिकत्वे साध्येऽप्यतीन्द्रियत्वस्य विरुद्धतोद्धृता यत्तु तस्मिन्साध्येऽन्तस्थत्वं विरुद्धमिति तत्राऽऽह—न हीति । प्रत्यग्ज्योतिरभौतिकमिति पक्षः साध्यशब्दार्थः । तस्यान्तस्थत्वमेकदेशस्तद्धि कार्यकरणसाक्षित्वेन तत्प्रत्यक्त्वं न च तादृशो हेतुरक्षेषु व्यभिचारोदाहरणत्वाय योग्यस्तेषां तत्साक्षित्वाभावादित्यर्थः ॥

---

*यत्पुनर्विशेषेऽनुगमाभाव इत्यादि । "विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाध्यता । इत्यादिदोषदुष्टत्वान्न च

स चानिष्टः । पानभोजनादिषु हि क्षुत्पिपासादिनिवृत्तिमुपलब्धवतस्तत्सामान्यात् भोजनाद्युपादानं दृश्यमानं लोके न [1]प्राप्नोति । दृश्यन्ते ह्युपलब्धपानभोजनाः सामा पुनः पानभोजनान्तरैः क्षुत्पिपासादिनिवृत्तिम[2]नुमिन्वन्तस्तादर्थ्येन प्रवर्तमानाः ।

[3]यदुक्तमयमेव तु देहो दर्शनादिक्रियाकर्तेति तत्प्रथममेव [4]परिहृतं स्वप्नस्मृ देहादर्थान्तरभूतो द्रष्टेति । अनेनैव ज्योतिरन्तरस्यानात्मत्वमपि प्रत्युक्तम् । यत्पु खद्योतादेः कादाचित्कं प्रकाशाप्रकाशात्मकत्वं तदसत् । [5]पक्षाद्यवयवसंकोचविकासनिमि

प्रामाण्ये सर्वव्यवहारहानिरित्याशङ्क्याऽऽह—पानेति । तत्सामान्यात्पानत्वभोजनत्वादिसादृश्यादि यावत् । पानभोजनाद्युपादानं दृश्यमानमित्युक्तं विशदयति—दृश्यन्ते हीति । तादर्थ्येन क्षुत्पिपासा निवृत्त्युपायभोजनपानाद्यर्थत्वेनेति यावत् ।

देहस्यैव द्रष्टृत्वमित्युक्तमनूद्य पूर्वोक्तं परिहारं स्मारयति—यदुक्तमित्यादिना । ज्योतिरन्त मादित्यादिवदनात्मेत्युक्तं[6] प्रत्याह—अनेनेति । संघातादेर्द्रष्टृत्वनिराकरणेनेति यावत् । [7]दे कादाचित्कं दर्शनादिमत्त्वं [8]स्वाभाविकमित्यत्र [9]परोक्तं दृष्टान्तमनुभाष्य निराचष्टे—यत्पुनरित्यादि

ज्योति देहेन्द्रियसंघातधर्मी है" इस प्रतिज्ञा का विरोध आ जाता है। 'देह के रहने पर चैतन्यज्यो रहती है' यह हेतु तो असिद्ध है क्योंकि मृत देह में उस ज्योति का दर्शन नहीं होता ।

सामान्यतः दृष्टप्रकारक अनुमान की अप्रामाणिकता मानने पर तो भोजन और जलपान सभी व्यवहारों का लोप प्रसङ्ग आ जायगा और वह हमें इष्ट नहीं है । क्योंकि ऐसा होने पर जलपान और भोजनादि करने से भूख और प्यास की निवृत्ति होने पर क्षुधा-पिपासानिवृत्ति दे वाले को उस की समानता से लोकव्यवहार में जलपान और भोजन ग्रहण करते दिखाई देना न बनता; किन्तु जलपान भोजन किए हुए लोग फिर भी जलपान भोजन करने से क्षुधा-पिपासादि निवृत्ति का अनुमान करके उसके लिये प्रवृत्त होते दिखाई देते हैं ।

और जो यह कहा था कि देह दर्शनादिक्रिया का कर्ता है, उसका तो 'स्वप्न और स्मृति देह से व्यतिरिक्त द्रष्टा है' ऐसा कहकर पहले ही परिहार किया जा चुका है । इसी से उस दूस

---

१. घटते । २ अनुमिन्वन्त इति । इमे पानभोजने तृट्क्षुन्निवर्तके पानभोजनत्वात्तत्पानभोजनवदि मिन्वानाः । ३. ९९३पृष्ठभाष्ये । ४. ९९४पृष्ठभाष्ये । ५. पक्षादीति । खद्योतादेः पक्षिण पक्षाद्यवयवाः तेषां संकोचविकासौ, तथा च तत्प्रकाशाप्रकाशयोरपि नैमित्तिकत्वेन स्वाभाविकत्वाभावान्न दृष्ट न्तेति भावः । ६. ९९३पृष्ठटीकायाम् । ७. देहस्येति—अनुमानप्रामाण्यं प्रसाध्य तद्बलादात्मज्योति देहाद्यतिरेक उक्तः संप्रतीत्यादिः । ८. अतिरिक्तचैतन्याऽनधीनम् । ९. ९९३ पृष्ठटीकायाम् ।

नोऽनुमितिः प्रमा" ।। १४४ ।। किंचानुमानप्रामाण्यमुपेत्योक्तं वस्तुतस्तु न तन्मानमित्याह—विशेष इति पर्वतनितम्बवर्तिनि वह्निविशेषे साध्ये महानसे तदभावाद्दृष्टान्तस्य साध्यविकलता वह्निमात्रे साध्ये क्वापि सिद्धतया सिद्धसाध्यत्वादाश्रयासिद्धिर्धूमविशेषे च हेतौ साधनवैकल्यमसिद्धिर्वेति दोषदुष्टत्वान्नानु मानमित्यर्थः । व्यक्त्योर्वा व्याप्तिर्जात्योर्वा तदाक्रान्तविशेषयोर्वा धूमवत्त्ववह्निमत्त्वयोर्वा नाऽऽद्यः सर्वोपसंहारा द्वितीयस्तयोः स्वरूपभेदाद्धर्मिभेदाच्च न तृतीय उक्तदोषान्न चतुर्थं औपाधिकधर्मस्य स्वरूपातिरिक्तस्यानिरूप त्वादिशब्दार्थः ।।

कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः [1]स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति

जनक ने पूछा—आत्मा कौन है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—जो प्राणों में बुद्धिवृत्तियों के भीतर थत विज्ञानमय ज्योतिस्वरूप पुरुष है (वही आत्मा है)। वह बुद्धिवृत्तियों के समान होता हुआ इस

वात्प्रकाशाप्रकाशकत्वस्य । यत्पुनरुक्तं धर्माधर्मयो[2]रवश्यं फलदातृत्वं स्वभावोऽभ्युपगन्तव्य ति । [3]तदभ्युपगमे [4]भवतः सिद्धान्तहानात् । एतेनानवस्थादोषः प्रत्युक्तः । [5]तस्मादस्ति यतिरिक्तं चान्तःस्थं ज्योतिरात्मेति ॥ ६ ॥

यद्यपि व्यतिरिक्तत्वादि [6]सिद्धं तथाऽपि समानजातीयानुग्राहकत्वदर्शननिमित्त-

---

द्धान्तिनाऽपि स्वभाववादस्य स्वाचदेष्टव्यत्वमुपदिष्टमनूद्य दूषयति—यत्पुनरिति । धर्मादेर्यदि त्वन्तराधीनं फलदातृत्वं तदा हेत्वन्तरस्यापि हेत्वन्तराधीनं फलदातृत्वमित्यनवस्थेत्युक्तं प्रत्याह—तेनेति । सिद्धान्तविरोधप्रसङ्गेनेति । लोकायतमतासंभवे स्वपक्षमुपसंहरति—तस्मादिति ॥६॥

नन्वात्मज्योतिः संघाताद्व्यतिरिक्तमन्तःस्थं चेति साधितं तथा च कथं कतम आत्मेति पृच्छ्यते त्राऽऽह—यद्यपीति । अनुग्राह्येण देहादिना [7]समानजातीयस्याऽऽदित्यादेरनुग्राहकत्वदर्शनान्निमित्तानुग्राहकत्वाविशेषात्मज्योतिरपि समानजातीयं देहादिनेति भ्रान्तिर्भवति तयेति यावत् । अविवेकतो

योति के अनात्मत्व का भी खण्डन कर दिया गया है। इसी प्रकार जुगनु का जो कभी प्रकाशकत्व ौर कभी अप्रकाशकत्व बतलाया, वह भी मिथ्या है क्योंकि वे प्रकाशकत्व और अप्रकाशकत्व तो पंख ादि अवयवों के संकोच और विकास के कारण हैं। इसके अतिरिक्त जो यह (पूर्ववादी ने) कहा कि र्म और अधर्म का अवश्यफलदातृत्व स्वभाव ही स्वीकार कर लेना चाहिये—सो ऐसा मान लेने पर ाप देहात्मवादी के सिद्धान्त में विरोध आएगा। इसी से तुम्हारे द्वारा पूर्वचर्चित अनवस्था दोष का भी ण्डन कर दिया गया। इसलिये (अतीन्द्रिय होने से) संघात से पृथक् और अपने भीतर सुव्यवस्थित ात्मज्योति है—यह सिद्ध हुआ ॥६॥

यद्यपि आत्मा का देहादि से व्यतिरिक्त होना अनुमानादि द्वारा निर्णीत हो चुका है तथापि

---

१. पूर्वोक्तरीत्या देहाद्व्यतिरिक्तस्य नित्यमुक्तस्यात्मनोऽविद्यया बुद्ध्यध्यासादेव संसारित्वमिति प्रदर्शयितुमाह—स समान इति । स हृद्यन्तर्ज्योतिरात्मा समानः सन् बुद्ध्या सदृशः सन्नन्योऽन्यधर्माध्यासे सति तप्तायःपिण्डवत्तादात्म्यापन्नः सन्नेव उभौ लोकौ प्रतिपन्नप्रतिपत्तव्याविहलोकपरलोकावनुक्रमेणोपात्तदेहं परित्यजन् अन्यांश्चोपाददत् संसरतीत्यर्थः । २. अवश्यमिति । न च स्तुत्यादिक्रियैव सुखादिफलदाने धर्मादिनाऽपेक्ष्यातां विनापि दर्शनात् । न च धर्माद्यन्तरमपेक्ष्यमनवस्थानात्तथा च धर्मादेः फलदानवच्चैतन्यं देहस्वभाव इति भावः । ३ तदभ्युपगमे —धर्माद्यभ्युपगमे । न च सिद्धान्त्युक्त्याऽभ्युपमम इति शक्यं वक्तुं तद्वदेवेतराभ्युपगमापातादिति भावः । ४. देहात्मवादिनः । ५. तस्मात्—पूर्वोक्तरीत्याऽनुमानमानत्वस्य सिद्धत्वेनातीन्द्रियत्वादिहेतोः सुरथत्वात् । हेतुश्च आत्मज्योतिः संघातातिरिक्तमनुग्राहकत्वात् सूर्यवत् । उक्तं ज्योतिरन्तःस्थमतीन्द्रियत्वाद्व्यतिरेके तद्वदित्याद्युक्त एव । ६. अनुमानैर्निर्णीतम् । ७. भौतिकत्वं साजात्यम् ।

ध्यायतीव लेलायतीव [1]स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोक-मतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ॥ ७ ॥

लोक परलोक दोनों में संचरण करता है। वही बुद्धिवृत्ति के अनुसार चिन्तन करता हुआ प्राणवृत्ति के अनुसार चेष्टा करता हुआ सा जान पड़ता है। वही स्वप्न होकर देहेन्द्रियसंघात लोक का लंघन कर जाता है. एवं देहेन्द्रियरूप मृत्यु के रूपों को भी पार कर जाता है ॥७॥

भ्रान्त्या करणानामेवान्यतमो व्यतिरिक्तो वेत्य*विवेकतः पृच्छति—कतम न्यायसूक्ष्मताया दुर्विज्ञेयत्वादुपपद्यते भ्रान्तिः। अथवा शरीरव्यतिरिक्ते [2]सि

निष्कृष्ट[3]दृष्ट्यभावादित्यर्थः। व्यतिरेकसाधकस्य न्यायस्य दर्शितत्वात्कुतो भ्रान्तिरित्याशङ्क्या न्यायेति। भ्रान्तिनिमित्ताविवेककृतं प्रश्नमुक्त्वा प्रकारान्तरेण प्रश्नमुत्थापयति—अथवेति। प्रश्ना

आदित्यादि समानजातीय पदार्थों का ही अनुग्राहकत्व देखने के कारण उत्पन्न भ्रान्ति से "आत्मा में से ही कोई एक है अथवा उनसे भिन्न है" इसका ज्ञान न होने से विदेहराज जनक 'कतमो' से पूछता है। तत्त्व के सूक्ष्म होने से दुर्विज्ञेय होने के कारण उसमें भ्रान्ति होनी संभव है। आत्मज्योति शरीर से व्यतिरिक्त सिद्ध होने पर सभी इन्द्रियाँ चेतनस्वभाव वाली जान प

---

१. आत्मनि ध्यानलेलायनादिकं बुद्ध्युपाधिकं न स्वाभाविकमित्यत्र हेतुमाह—स हीति। हि यस्मात स्वप्नो भूत्वा स्वप्नाकारपरिणतबुद्धिवृत्त्यवभासकत्वेन तदाकारो भूत्वेमं लोकं कार्यकरणसंघातलक्षणम् तदभिमानं त्यजतीति यावत्। तथा मृत्यो रूपाणि चातिक्रामति मृत्युरज्ञानं रूप्यते निरूप्यते यैरहंका ज्ञाप्यते तानि मृत्यो रूपाणि। अतः संचारादिकं नात्मनः स्वाभाविकं स्वभावस्य वह्न्युष्णत्वस्येव सत्यतिक्रमायोगादित्यर्थः। २. आत्मज्योतिषि। ३. संघातव्यतिरेकदृष्टिरिति यावत्।

*अविवेकतः पृच्छति कतम इति। अत्र वार्तिके प्रकारान्तरेण प्रश्नवाक्योत्थापनं तथाहि—"आत्मैवास्य पूर्वोत्तरविरुद्धताम्। आशङ्क्य जनकोऽप्राक्षीदात्माऽयं कतमो न्विति ॥ देहादिसंहतावस्यामात्मेति सुप्रसिद्धे जगत्यस्मिन्नायोषिद्बालपण्डितम् ॥ पुंव्यापारस्य संबन्धो देहादिव्यतिरेकिणा। ज्योतिषाऽना लिङ्गेन प्रतिपादितः ॥ आत्मैवास्येति वचनात्पूर्वोत्तरविरोधतः। संजातसंशयो राजा याज्ञवल्क्यमपृ अर्थान्तरं चेद्देहादेरात्मज्योतिर्विवक्षितम्। पूर्वोत्तरविरोधोऽयं तदा नैवेह ढौकते ॥ आत्मशब्दश्च लो न्प्रसिद्धोऽनेकवस्तुषु। साक्षिबुद्धिशरीरान्तेष्वात्मबुद्धिसमन्वयात् ॥ इतमच्प्रत्ययस्तस्माद्बह्वर्थस्याथ कतमो भवताऽऽत्मेति ज्योतिष्ट्वेन विवक्षितः ॥ इति पृष्टोऽनुमानेनाविरुद्धं प्रत्यपीपदत्। आत्मज्योतिः राजानं योऽयमित्यतः" ॥ २७६-२८३ ॥ इति। प्रकृतं दर्शयन्प्रश्नमुत्थापयति—आत्मेति। कथं पूर्वोत्त त्वाशङ्का यन्मूला प्रश्नप्रवृत्तिरित्याशङ्क्य तदर्थं प्रथमं प्रसिद्धिं दर्शयति—देहादीति। उक्तप्रसिद्धेर्वि हिशब्दः ॥ तथाऽपि कथं पूर्वोत्तरविरुद्धतेत्याशङ्क्य पूर्वोक्तमनुद्रवति—पुंव्यापारस्येति ॥ अथ विरोध न्प्रश्नोपपत्तिमाह—आत्मेति। आत्मत्वेन प्रसिद्धं देहं हित्वाऽनात्मना ज्योतिरन्तरेण पुंव्यापारः स्यादित्या सम्राडित्यादौ संबन्ध उक्तः। संप्रत्यात्मैवास्य ज्योतिरित्याद्युक्त्याऽऽत्मना तस्य संबन्ध उच्यते ततः पूर्वोत्त

रणानि सर्वाणि 'विज्ञानवन्तीव'[2] विवेकत आत्मनोऽनुपलब्धत्वात् । अतोऽहं पृच्छामि तम आत्मेति । कतमोऽसौ देहेन्द्रियप्राणमनःसु यस्त्वयोक्त आत्मा । येन ज्योतिषाऽऽस्त त्युक्तम् ।

अथवा योऽयमात्मा त्वयाऽभिप्रेतो विज्ञानमयः । सर्व इमे [3]प्राणा विज्ञानमया वेषु प्राणेषु कतमः । यथा [4]समुदितेषु ब्राह्मणेषु सर्व इमे तेजस्विनः कतम एषु षडङ्ग- दिति । पूर्वस्मिन्व्याख्याने कतम आत्मेत्येतावदेव प्रश्नवाक्यं योऽयं विज्ञानमय इति तिवचनम् । द्वितीये तु व्याख्याने प्राणेष्वित्येवमन्तं प्रश्नवाक्यम् । अथवा सर्वमेव प्रश्न- वयं विज्ञानमयो हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः कतम इत्येतदन्तम् । योऽयं विज्ञानमय इत्येतस्य

याचष्टे –कतमोऽसाविति । ननु ज्योतिर्निमित्तो व्यवहारो मयोक्तो न त्वात्मेत्याशङ्क्याऽऽह—येनेति । ात्मनैवायं ज्योतिषेत्युक्तत्वादासनादिनिमित्तं ज्योतिरात्मेत्यर्थः ।

प्रकारान्तरेण प्रश्नं व्याकरोति—अथवेति । सप्तम्यर्थं कथयति—सर्व इति । योऽयं त्वयाऽ- भिप्रेतो विज्ञानमयः स प्राणेषु मध्ये कतमः स्यात्तेऽपि हि [1]'विज्ञानमया इव भान्तीति योजना । उक्त- र्थं दृष्टान्तेन बुद्धावारोपयति—यथेति । व्याख्यानयोरवान्तरविभागमाह—पूर्वस्मिन्नित्यादिना । दीत्यादि प्रतिवचनमिति शेषः । पक्षान्तरमाह—अथवेति । सर्वस्य प्रश्नत्वे वाक्यं योजयति —विज्ञानेति

योंकि उनसे पृथक् आत्मा की प्राप्ति नहीं होती । इसलिये मैं पूछता हूँ—वह आत्मा कौन सा है । सका प्रतिपादन आपने किया है, वह आत्मा शरीर, इन्द्रिय, प्राण और मन इनमें से कौन सा है, जस ज्योति के द्वारा पुरुष बैठता है—ऐसा कहा गया है ।

अथवा जो यह आत्मा आपको विज्ञानमयरूप से अभीष्ट है, सो ये चक्षुरादि सभी प्राण विज्ञान- य के समान हैं, इन प्राणों में वह कौनसा है ? जिस प्रकार संघीभूत ब्राह्मणों में ये सभी तेजस्वी हैं; दों के छः अङ्गों को जानने वाला कौन है (ऐसा प्रश्न किया जाय) । पूर्व व्याख्यान में "कौनसा आत्मा " इतना ही प्रश्नवाक्य है; "जो विज्ञानमय है" यह इसका उत्तर है । दूसरे व्याख्यान में 'प्राणेषु' से हृद्यन्तर्ज्योतिः" यहाँ तक प्रश्नवाक्य है । अथवा "विज्ञानमय हृदयस्थ ज्योति वाला पुरुष कौनसा है", हाँ तक ही प्रश्नवाक्य है । "जो यह विज्ञानमय है" इस शब्द का निश्चितात्मरूपार्थपरत्व तथा "वह

---

1. चेतनानीव । 2 भान्तीति योजना । 3 चक्षुरादयः । 4. संघीभूतेषु । 5. विज्ञानरूपाः ।

योर्विरोधादात्मन्युत्पन्नसंशयो राजा तन्निर्दिधारयिषया पृच्छतीत्यर्थः ॥ विरोधशङ्कया संशयात्प्रश्नमुक्तमाक्षिपति —अर्थान्तरमिति । आत्मैवास्येत्यादावात्मशब्देन देहग्रहे पूर्वोत्तरविरोधः शङ्कनीयो देहातिरिक्तज्योतिषा पूर्वं पुंव्यापारस्याधुना च देहेन संबन्धोक्तेरात्मशब्देनार्थान्तरग्रहे त्वविरोधस्तस्माद्विरोधशङ्काधीनसंशयमूलप्रश्नाः सिद्धिरित्यर्थः ॥ समाधत्ते—आत्मशब्दश्चेति । प्रश्नानुत्थानशङ्काध्वंसार्थश्चकारः । प्रसिद्धि स्फुटयति—साक्षीति । यस्मादात्मशब्देऽनेकार्थसंभवस्तस्माद्बहूनामेकस्य निर्धारणेऽपेक्षिते कतम इति डतमच्प्रयोग इत्युक्तेऽर्थे लिङ्गमाह —डतमजिति । आत्मशब्दस्यानेकेषु प्रयोगं दृष्ट्वा संशयानः पृच्छतीति फलितमाह— कतम इति । यो भवता ज्योतिष्ट्वेनाऽऽत्मा विवक्षितः स कतम इति योजना ॥ उत्तरमाह—इति पृष्ट इति । पूर्वोक्तानुमानाविरुद्ध- मात्मज्योतिर्योऽयमित्यादिना मुनी राजानं प्रति स्पष्टमुक्तवानिति योजना ॥

शब्दस्य [1]निर्धारितार्थविशेषविषयत्वं कतम आत्मेति चेतिशब्दस्य प्रश्नवाक्यप त्यर्थत्वं [2]व्यवहितसंबन्धमन्तरेण युक्तमिति कृत्वा कतम आत्मेत्येवमन्तमेव प्रश्न योऽयमित्यादि परं सर्वमेव प्रतिवचनमिति निश्चीयते ।

योऽयमित्यात्मनः प्रत्यक्षत्वान्निर्देशः । विज्ञानमयो [3]विज्ञानप्रायो [4]बुद्धिवि पाधिसंपर्काविवेकाद्विज्ञानमय इत्युच्यते । [5]बुद्धिविज्ञानसंपृक्त एव हि यस्मादुप राहुरिव चन्द्रादित्यसंपृक्तः । बुद्धिर्हि [6]सर्वार्थकरणं तमसीव प्रदीपः पुरोवस्थितः । तमसीव ह्येव पश्यति मनसा शृणोतीति [7]ह्युक्तम् । बुद्धिविज्ञानालोकविशिष्टमेव वि विषयजातमुपलभ्यते पुरोवस्थितप्रदीपालोकविशिष्टमिव तमसि । द्वारमात्राणि त्व

स समानः सन्नित्यादि प्रतिवचनमिति शेषः ।

द्वितीयतृतीयपक्षयोररुचिं सूचयन्नाद्यं पक्षमङ्गी करोति—योऽयमिति । [8]यस्त्वया सोऽयमित्यात्मनश्चिद्रूपत्वेन प्रत्यक्षत्वादयमिति निर्देश इति पदद्वयस्यार्थः । देहव्यवच्छेदार्थं वि —विज्ञानमय इति । विज्ञानशब्दार्थमाचक्षाणस्तत्प्रायत्वं प्रकटयति—बुद्धीति । बुद्धिरेव विज्ञायतेऽनेनेति व्युत्पत्तेस्तेनोपाधिना संपर्क [9]एवाविवेकस्तस्मादिति यावत् । तत्संपर्के [10]प्रमाण बुद्धिविज्ञानेति । तस्माद्विज्ञानमय इति शेषः । [11]ननु चक्षुर्मयः श्रोत्रमय इत्यादि हित्वा वि इत्येव कस्मादुपदिश्यते तत्राऽऽह—बुद्धिर्हीति । [12]तस्याः साधारणकरणत्वे प्रमाणमाह—मनसा मनसः सर्वार्थत्वं समर्थयते—बुद्धीति । किमर्थानि तर्हि चक्षुरादीनि करणानीत्याशङ्क्याऽऽह–

आत्मा कौन सा है" इसमें इतिशब्द का प्रश्नवाक्य परिसमाप्ति के लिये होना किसी भिन्नक्रम ही होना संभव है। ऐसा जान कर "वह आत्मा कौनसा है" इसके इतिशब्दपर्यन्त ही प्रश्नव ('योऽयम्') "यह वह है" इत्यादि आगे का सारा वाक्य उत्तरवाक्य है, ऐसा निश्चय होता है।

आत्मा के प्रत्यक्ष होने के कारण "जो यह विज्ञानमय है" ऐसा निर्देश किया गया है। " मयः" अर्थात् बुद्धिसदृश बुद्ध्युपहित बुद्धिरूप विज्ञान उपाधि के सम्पर्क का विवेक न होने के विज्ञानमय कहा जाता है। बुद्धिरूप विज्ञान के सम्पर्क से है क्योंकि तन्मयता उपलब्धि होती है चन्द्र और सूर्य के सम्पर्क में आकर ही उपलब्ध होता है। बुद्धि सर्व विषयों के प्रति साधारण अनुभव प्रकाश में आती है, जिस प्रकार अन्धकार में सामने रखे हुए दीपक से विषयोपलब्धि हो "मन ही से देखता है, मन ही से सुनता है" ऐसा श्रुति बतला चुकी है। जिस प्रकार अन्धकार में पदार्थ सम्मुखस्थित दीपक के प्रकाश से युक्त होकर उपलब्ध होते हैं; उसी प्रकार सारे पदार्थ

---

१. निश्चितात्मरूपार्थपरत्वं यच्छब्देदंशब्दघटितत्वादिति भावः । २. भिन्नक्रमत्वमन्तरेण । ३ बु बुद्ध्युपहित इति यावत् । ४. धीरूपविज्ञानोपाधिरिति यावत् । ५. बुद्धिविज्ञानसंपृक्त इति । अत सीनस्य प्रतीचो वस्तुतस्तदसंबन्धोऽपि सविकल्प(कर्तृत्वादि)प्रतीतिस्तत्संपर्कादेवेति तन्मयताऽतो तस्य बुद्ध्यसंबन्धान्न विज्ञानमयतेत्युक्तमपास्तम् । ६. सर्वेति—सर्वविषयं प्रति साधारणमित्यर्थः । उ० १।५।३ । ८. योऽयमित्यात्मन इत्यादिभाष्यपङ्क्तेरर्थमाह—यस्त्वयेति । ९. तादात्म्यम् । अर्थापत्तिरूपम् । ११. नन्विति—आत्मनो बुद्ध्येव चक्षुरादिभिरपि सम्पृक्तत्वाऽविशेषादिति भावः । बुद्धेः ।

करणानि [१]बुद्धेः । [२]तस्मात्तेनैव विशेष्यते विज्ञानमय इति ।

येषां [३]परमात्मविज्ञप्तिविकार इति व्याख्यानं तेषां विज्ञानमयो मनोमय इत्यादौ विज्ञानमयशब्दस्या[४]न्यार्थदर्शनाद[५]श्रौतार्थताऽवसीयते । संदिग्धश्च पदार्थोऽन्यत्र निश्चितप्रयोगदर्शनान्निर्धारयितुं शक्यो वाक्यशेषात् । [६]निश्चितन्यायबलाद्वा । [७]सधीरिति चोत्तरत्र

त्राणीति । बुद्धेः सति प्राधान्ये फलितमाह—तस्मादिति ।

विज्ञानं परं ब्रह्म तत्प्रकृतिको जीवो विज्ञानमय इति भर्तृप्रपञ्चैरुक्तमनुवदति—येषामिति । [८]विज्ञानमयादिग्रन्थे मयटो न विकारार्थतेति तैरेवोच्यते तत्र मनःसमभिव्याहाराद्विज्ञानं बुद्धिर्न चाऽऽत्मा तद्विकारस्तस्मादस्मिन्प्रयोगे मयटो विकारार्थत्वं वदतां स्वोक्तिविरोधः स्यादिति दूषयति—तेषामिति । कथं विज्ञानमयपदार्थनिर्णयार्थं प्रयोगान्तरमनुश्रीयते तत्राऽऽह—संदिग्धश्चेति । यथा पुरोडाशं चतुर्धा कृत्वा '[९]बर्हिषद करोतीति पुरोडाशमात्रचतुर्धाकरणवाक्य[१०]मेकार्थसंबन्धिना शाखान्तरीयेणाऽऽग्नेयं चतुर्धा करोतीत्यनेन विशेषविषयतया निश्चितार्थेना[११]ऽऽग्नेय एव पुरोडाशे व्यवस्थाप्यते यथा चाक्ताः शर्करा [१२]उपदधातीत्यत्र केनाक्ततेत्यपेक्षायां तेजो वै घृतमिति वाक्यशेषान्निर्णयस्तथेहापीत्यर्थः । आत्मनो विकारत्वे [१३]मोक्षानुपपत्त्याद्यबाधितन्यायाद्वा विज्ञानमयपदार्थनिश्चय इत्याह—निश्चितेति । यदुक्तं निर्णयो वाक्यशेषादिति तदेव व्यनक्ति—सधीरिति चेति ।

विज्ञान के आलोक से विशिष्ट होकर उपलब्ध होते हैं। अन्य इन्द्रियाँ बुद्धिवृत्ति की द्वारमात्र हैं। इसलिये (इन्द्रियों में बुद्धि की प्रधानता होने के कारण) बुद्धि के द्वारा ही आत्मा को विज्ञानमय विशेषण से युक्त किया जाता है।

जिन (भर्तृप्रपञ्च आदि) के मत में 'परमात्मरूप विज्ञान का कार्य है' ऐसा व्याख्यान किया जाता है, इनका यह अर्थ "विज्ञानमय है, मनोमय है" इत्यादि तैत्तिरीय उपनिषत् में विज्ञानमय शब्द का 'प्रायः' अर्थ देखे जाने के कारण श्रुतिविरुद्ध सिद्ध होता है। जहाँ किसी पदार्थ के बारे में संदेह हो, वहाँ अन्यत्र निश्चित प्रयोग देखकर उसके अनुसार ही निश्चय किया जाता है। इसके अतिरिक्त वाक्यशेष अथवा निश्चितन्याय के बल से भी अर्थनिर्धारण किया जा सकता है। इसके सिवा मन्त्र में आगे "स हि" (वह आत्मा स्वप्न होकर इस लोक को अतिक्रमण करता है) ऐसा पाठ है। 'हृद्यन्तः'

---

१. धीवृत्तेः । २. तस्मात्—करणेषु बुद्धेः प्राधान्यात् । ३. परमात्मरूपविज्ञानस्य विकारः कार्यम् । ४. प्रायार्थदर्शनादिति भावः । ५. तेषां तद्व्याख्यानस्य वा । ६. न्यायेति । तदुक्तं प्रमाणलक्षणे—"अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वादिति" मी० सू० । स्रुवेणावद्यति स्वधितिना (कुठारेण) अवद्यति हस्तेनावद्यतीत्यत्र स्रुवादीनां सर्वावदानेषु विनियोगादनियमो वा सामर्थ्यालोचनया स्रुवस्वधितिहस्तानां यथाक्रमं द्रवमांससंगतद्रव्यावदानेषु नियमो वेति संदेहे विनियोगाविशेषाद् नियमे प्राप्ते विनियोगस्यानुष्ठानार्थत्वात्तस्य च सामर्थ्याधीनत्वात्तदनुरोधेन व्यवस्थायाः (यां) शास्त्रप्रामाण्यमिति स्थितम् सूत्रे वा शब्दोऽनियमव्यासेधार्थः । अर्थात्—सामर्थ्यात्—योग्यतावशाद् एकैकस्य स्रुवादेः एकैकस्मिन्द्रवादौ देशे संबन्धार्हत्वात् नियम इत्यक्षरार्थः । तथेहाप्यनात्मनो ब्रह्मविकारत्वमात्मनस्तु तन्मात्रत्वं शास्त्रप्रामाण्यादिति व्यवस्थेति भावः । ७. माध्यंदिनशाखीयोऽयं पाठः । अत्र तु सहीत्यादिर्वक्ष्यते । ८. बृ० उ० ४।४।५ । ९. बर्हिषि स्थितम् । १०. पुरोडाशात्मकैकार्थप्रतिपादिना । ११. अग्निदेवताके । १२. देवतासंनिधौ तत्पात्रे स्थापयतीति भावः । १३. विकारस्य विनाशित्वादिति भावः ।

पाठात् । हृद्यन्तरिति च वचनाद्युक्तं विज्ञानप्रायत्वमेव ।

प्राणेष्विति [1]व्यतिरेकप्रदर्शनार्था सप्तमी । यथा वृक्षेषु [2]पाषाण इति सामी लक्षणा[3] । प्राणेषु हि व्यतिरेकाव्यतिरेकता संदिह्यत आत्मनः । प्राणेषु प्राणे [4]व्यतिरिक्त इत्यर्थः । यो हि [5]येषु भवति स तद्व्यतिरिक्तो भवत्येव यथा पाषाणेषु वृक्षः

हृदि [6]तत्रैतत्स्या[7]त्प्राणेषु प्राणजातीयेव बुद्धिः स्यादित्यत आह—हृद्यन्तरि हृच्छब्देन पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डस्तात्स्थ्याद्बुद्धिर्हृत्तस्यां हृदि बुद्धौ[8] । अन्तरि बुद्धिवृत्ति[9]व्यतिरेकप्रदर्शनार्थम् । *ज्योतिर[10]वभासात्मकत्वादात्मोच्यते । तेन ह्यव

आधाराद्यर्था सप्तमी दृष्टा सा कथं व्यतिरेकप्रदर्शनार्थेत्याशङ्क्याऽऽह—यथेति । भवत्व सामीप्यलक्षणा सप्तमी तथाऽपि [11]कथं व्यतिरेकप्रदर्शनमित्याशङ्क्याऽऽह—प्राणेषु हीति । फलितं स र्थमभिनयति—प्राणेष्विति । [12]तेषु समीपस्थोऽपि कथं तेभ्यो व्यतिरिच्यते तत्राऽऽह—यो हीति ।

विशेषणान्तरमादाय व्यावर्त्यां शङ्कामुक्त्वा पुनरवतार्य व्याकरोति—हृदीत्यादिना । वि णान्तरस्य तात्पर्यमाह—अन्तरितीति । ज्योतिःशब्दार्थमाह—ज्योतिरिति । [13]तस्य ज्योति

वचन भी उसकी बुद्धि सदृश बुद्ध्युपहितत्व सिद्धि होती है ।

मन्त्र में "प्राणों में" यह सप्तमी भिन्नत्वप्रदर्शन करने के लिए है । जिस प्रकार (वृ पाषाणः) वृक्ष के समीप पत्थर है, यहाँ सप्तमी सामीप्य अर्थ की द्योतिका है । प्राणों में ही आत्म भिन्नता या अभिन्नता के विषय में सन्देह होता है । "प्राणेषु" अर्थात् प्राणों से भिन्न है । जो जिनमें है, वह उनसे भिन्न ही होता है, जिस प्रकार पत्थरों में होने वाला वृक्ष पत्थर से भिन्न होता है

"हृदि" अर्थात् वहाँ हृदय के समीप में यह रहता है । (प्राणसमीपस्था बुद्धि ही आत्मा प्राणों में प्राणजातीया ही बुद्धि रहेगी, इसलिये श्रुति कहती है—हृदयस्थ (ज्योति) है । 'हृदय' श कमल के आकार वाला माँसपिण्ड उसमें रहने से बुद्धि ही 'हृत्' है, उस हृदय में बुद्धि अनुगत प्रतीत होत "अन्तर्" यह शब्द बुद्धिवृत्ति से उसकी भिन्नताप्रदर्शन करने के लिए है । प्रकाशकतत्त्व होने के का

---

१. विज्ञानमयपदं व्याख्याय प्राणेष्वित्यस्य विवक्षितमर्थमाह—व्यतिरेकेति । तदुक्तं वार्तिके—"देहादि भ्योऽपि व्युत्थापन(विवक्षया)चिकीर्षया । प्राणेष्विति श्रुतिर्वक्ति प्राणाः पञ्चदशोदिताः" ।। ३२४ ।। २. वटे गावः शेरते इत्यादावपि । ३. सप्तमी । ४. व्यतिरिक्त इति—प्राणेषु तत्साक्षित्वेन योऽर्थ स आत्मेति यावत् । न हि दीपवत्करणेष्वात्मत्वसंभावनेति भावः । ५. यत्समीपः । ६. तत्रेति । प्रा सामीप्यसप्तम्यभ्युपगमे । एतत्—वक्ष्यमाणं स्याच्छङ्कितमित्यर्थः । ७. प्राणेषु—प्राणसमीपस्था बुद्धि स्यादित्यर्थः । ८. अनुगतो भातीति विशेषः । ९. व्यतिरेकेति । अत्र वार्तिके यथा —"हृदीत्याधार द्धीस्था आत्मेति शङ्क्यते । वृत्तयोऽन्तो निवृत्त्यर्थमन्तरित्युपदिश्यते" ।। ३२९ ।। परागर्थानुसारि धीवृत्तयस्ततः । विशेषणादन्तरिति व्याव(र्त्यं)तेन्ते पराक्त्वतः" ।। ३३४ ।। इति । पराक्त्वतः प्रती शेषः । १०. प्रकाशकत्वात् । ११. किमर्थमिति यावत् । १२. तत्समीपस्थोऽपि । १३ आत्मनः ।

---

*ज्योतिरवभासात्मकत्वादात्मोच्यते । तत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"कारणं तर्हि बुद्ध्यादेरात्मेत्यत्र प्र कार्यस्यान्तर्यतो दृष्टं सर्वत्रैव च कारणम् ।। जाड्यं चाऽऽत्मन इच्छन्ति कणभुङ्मतजीविनः । तेषां विप्र ज्योतिरित्यभिधीयते ।। योऽयमित्यादिना यद्वा यथोक्तस्याऽऽत्मवस्तुनः । प्रकृतज्योतिःसंबन्धो ज्योति

केनाऽऽत्मना ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते चेतनावानिव[1] ह्ययं कार्यकरणपिण्डो यथाऽऽदित्यप्रकाशस्थो घटो यथा वा मरकतादिर्मणिः क्षीरादिद्रव्ये प्रक्षिप्तः परीक्षणाया[2]ऽऽत्मच्छायमेव तत्क्षीरादिद्रव्यं करोति [3]तादृगेतदात्मज्योतिर्बुद्धेरपि[4] हृदयात्सूक्ष्मत्वाद्धृ-

स्पष्टयति—तेनेति । आत्मज्योतिषा व्याप्तस्य कार्यकरणसंघातस्य व्यवहारक्षमत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । चेतनावानिवेत्युक्तं दृष्टान्तेनोपपादयति—यथा वेति । हृदयं बुद्धिस्ततोऽपि सूक्ष्मत्वादात्मज्योतिस्तदन्तःस्थमपि हृदयादिकं संघातं च सर्वमेकीकृत्य [5]स्वच्छायं करोतीति कृत्वा यथोक्तमणिसादृश्यमुचित-

ज्योति ही आत्मा कहा गया है। उस प्रकाशक आत्मज्योति से चैतन्यवान् सा प्रतीत होता है। यह देहेन्द्रियसंघात सूर्य के प्रकाश में स्थित घट की तरह रहता है, इधर-उधर जाता है और कर्म करता है। अथवा जिस प्रकार परीक्षण के लिए दुग्धादि द्रव्य में डाली हुई मरकतादि मणि उस दुग्धादि द्रव्य को स्वाभास की तरह कर देती है, उसी प्रकार (मरकत मणि के सदृश) यह आत्मज्योति हृदयशब्दवाच्य

भिधीयते ।। उपादान हि बुद्ध्यादेरात्माविद्येति भण्यते । सकृद्विभातं चिन्मात्रं ज्योतिरित्युपदिश्यते ।। वस्तुवृत्तेन प्रध्वस्तनिःशेषाज्ञानमात्मनः । ज्योती रूपमिदं भास्वत्प्रत्यङ्मात्रसतत्त्वकम् ।। ज्योतिः संविच्चितिः प्रत्यङ्ङात्मेति व्यपदिश्यते । स्वार्थं यत्प्रथते नित्यं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।। बुद्ध्यादिषु परार्थेषु ह्यागमापायिवस्तुषु । स्वयं रूपेण यो भाति स्थास्नुः स्वार्थः स भण्यते ।। ज्योतिरित्यस्य बुद्ध्यादेरागमापायसिद्धिदः । स्वयंभातृक एवायमात्मत्वादेव कारणात् ।। अनेनैव यथोक्तेन ज्योतिषा सकलं जगत् । षड्भावविक्रियामेति निर्विकारेण भास्वता ।। अचेतनोऽपि बुद्ध्यादिश्चेतनावानिवेक्ष्यते । देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघातो वायुभिः सह ।। यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं व्यनक्तीति स्मृतेर्वचः ।। आत्मच्छायं पयोऽशेषं यथा मारकतो मणिः । परीक्षणाय प्रक्षिप्तः कुर्यादात्मा तथैव च ।। बुद्ध्यादिदेहपर्यन्तं प्रत्यगज्ञानहेतुकम् । जडस्वभावकं नित्यमवभासयति स्वयम् ।। बुद्ध्यादिष्वपि सूक्ष्मेषु यत्सूक्ष्मतममुच्यते । बुद्ध्यादिकारणं नित्यमात्माविद्येति भण्यते ।। अपि कूटस्थवपुषः प्रतीचः सङ्गकारकम् । तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थज्ञानबाध्यं च यद्विदुः ।। यन्निमित्तं च साक्षित्वं कारणत्वं तथाऽऽत्मनः । सर्वकार्यविनाशेऽपि यद्बीजमवशिष्यते ।। तदात्मज्योतिषेद्धं सन्नित्यमेवावतिष्ठते । उत्पत्तिस्थितिभङ्गानां न वेद्मीति च साक्षितः ।। कूटस्थ एव साक्ष्यत्र स्वमोहाभासहेतुतः । अविचारितसंसिद्धि तमोऽनुभवसंश्रयात् ।। निःसाक्षिके न वेद्मीति न कथंचित्प्रसिध्यति । तथा कूटस्थसंवित्के नितरां नैतदिष्यते ।। ऐश्वर्यं कारणत्वं च साक्षित्वमपि चाऽऽत्मनः । सदेशितव्यकार्यार्थसाक्ष्यार्थेनास्य संगतेः ।। आत्माज्ञानमतः प्रत्यक्चैतन्याभासवत्सदा । आत्मनः करणत्वादेः प्रयोजकमिहेष्यते ।। चैतन्याभासवत्प्रत्यङ्मोहान्तात्प्रत्यगात्मनः । बुद्ध्यादेर्विषयान्तस्य सिद्धिः स्यात्साक्षिणस्ततः" ।। ३२५·३५६ ।। इति । ज्योतिर्विशेषणव्यावर्त्यमाह—कारणमिति । अत्र सर्वत्रेति संबन्धः ।। बुद्ध्यादेर्जाड्याज्जडमेव किंचित्कारणं युक्तं कथमात्मा तथेत्याशङ्क्याऽऽह—जाड्यं चेति । विशेषणमवतारयति—तेषामिति ।। ननु प्रागेव निर्णयं व्याकुर्वता जाड्यस्याऽऽत्मनो व्यावर्तितत्वात्कथमित्थमर्थवज्ज्योतिर्विशेषणमित्याशङ्क्य तस्य तात्पर्यान्तरमाह—योऽयमित्यादिनेति । प्रस्तुतवाक्योक्तात्मवस्तुनः प्रकृतेनाऽऽत्मनैवायं ज्योतिषेत्यादावुक्तेन ज्योतिषा संबन्धो वाच्यस्तेन विशेषणमित्यर्थः ।। यत्तु बुद्ध्यादिकारणं जडमात्मवस्त्वित्येतन्निषेधार्थं विशेषणमिति तद्व्यञ्जयन्बुद्ध्यादिकारणस्वरूपमाह—उपादानमिति । बुद्ध्यादेरु

---

[1] प्रतीयते ।
[2] आत्मनश्छाया यत्रेति स्वाभासमित्यर्थः ।
[3] मरकतसदृक् ।
[4] हृदयशब्दवाच्याया बुद्धेरिति सामानाधिकरण्यम् ।
[5] स्वाभासयुक्तम् ।

ह्यन्तःस्थमपि हृदयादिकं कार्यकरणसंघातं चैकीकृत्याऽऽत्मज्योतिश्छायं करोति । पारम्
सूक्ष्मस्थूलतारतम्यात्सर्वान्तरतमत्वात् ।

मिति दार्ष्टान्तिके योजना । कथमिदमात्मज्योतिः सर्वमात्मच्छायं करोति तत्राऽऽह—पारम्पर्येण
'विषयादिषु प्रत्यगात्मान्तेषूत्तरोत्तरं सूक्ष्मतातारतम्यात्तेष्वेवाऽऽत्मादिविषयान्तेषु स्थूलतातारत
प्रतीचः सर्वस्मादन्तरतमत्वात्तत्र 'तत्र स्वाकारहेतुत्वमस्तीत्यर्थः ।

बुद्धि से सूक्ष्म होने के कारण हृदयपिण्ड में स्थित हृदयादिक और देहेन्द्रियसंघात को भी एक
आत्मज्योति की कान्ति से युक्त कर देता है क्योंकि परम्परा से सूक्ष्मस्थूलतारतम्य से यह
अपेक्षा अन्तरतम है ।

---

१ "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था" इति श्रुत्यनुसंधानेनाह—विषयादिष्विति । २. विषयादिषु ।

विद्यायाश्च जडत्वेन सारूप्यादुचितमुपादानोपादेयत्वमितिसूचनार्थो हिशब्दः । तत्र विद्वत्प्रसिद्धिं प्रमाण
इति भण्यत इति आत्मनि प्रयुक्तज्योतिःशब्दस्य तद्व्यावर्तनसामर्थ्यमाह—सकृदिति ।। अज्ञोऽहमिति ज्ञायते
प्रतीचो यथोपदिष्टज्योतिष्ट्वमश्लिष्टमिति चेत्तत्राऽऽह—वस्तुवृत्तेनेति । आत्मनो रूपमित्युक्ते भेदमाशङ्क्य
—भास्वदिति ।। ज्योतिःशब्दस्यान्यत्र रूढेर्नाऽऽत्मविषयतेत्याशङ्क्य ज्योतिर्दर्शनादिति । न्यायेनाऽऽह—
रिति । पुरुषशब्दाद्यनुगृहीतप्रकरणात्प्रकृतज्योतिषोऽपकृष्याऽऽत्मन्येवायं शब्दो नियम्यत इति भावः ।
ज्योतिष्ट्वे युक्त्यन्तरमाह—स्वार्थमिति । अवस्थात्रयेऽपि सर्वत्र जडं जन्मनाशवति यदनपेक्षं सदा भाति
तिरित्यर्थः ।। आत्मत्वादेवाऽऽत्मज्योतिषः स्वार्थत्वमनात्मनश्चानात्मत्वादेव परार्थत्वमिति वक्तुं हिशब्दः
पुत्राद्यर्थत्वदृष्टेरात्मनः स्वार्थत्वं तत्राऽऽह—स्वयमिति । स्वयं ज्योतिरिति कृत्वा यः स्वरूपेण भाति स
स्वार्थश्चेति योजना । विशिष्टस्य पारार्थ्यं नान्यस्येति भावः ।। उक्तं स्वप्रकाशत्वं साधयति—अस्येति ।।
पक्षमुपपाद्य द्वितीयं समर्थयते—अनेनेति ।। आत्मज्योतिर्भास्यं सर्वमित्यत्र गमकमाह—अचेतनो
बुद्ध्यादिशब्दार्थं विशदयति—देहेति । अनेनैव ज्योतिषेक्ष्यत इति पूर्वेण संबन्धः ।। आत्मज्योतिष सर्वाव
भगवद्वाक्यं प्रमाणयति—यथेति ।। तस्य सर्वावभासकत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—आत्मच्छायमिति ।। बु
र्भासकापेक्षत्वे हेतुमाह—जडेति ।। जडत्वार्थं प्रत्यगज्ञानहेतुकमित्युक्तं किं तत्प्रत्यगज्ञानमित्युक्ते तस्य
रूपमाह—बुद्ध्यादिष्विति । आत्मज्योतिर्व्यावृत्त्यर्थं विशिनष्टि—बुद्ध्यादीति । कारणत्वसिद्ध्यर्थं
मित्यनादित्वमुक्तम् ।। तस्यैवाऽऽच्छादकं रूपमाह—अपीति । उभयरूपे तस्मिन्वाक्यीयज्ञानस्यार्थवत्त्वा
प्रमाणयति—तत्त्वमिति ।। आत्मनः साक्षित्वाद्यनुपपत्तिरपि तदाक्षेपिकेत्याह—यन्निमित्तमिति । प्रलयादौ
कार्यस्य पुनरुत्पत्त्यनुपपत्तिरपि तत्कल्पिकेत्याह—सर्वेति । यद्बीजमुत्पत्तिस्थितिभङ्गानामिति संबन्धः ।।
स्वातन्त्र्यं व्यावर्तयति—तदात्मेति । अनुभवसिद्धत्वान्न साधकान्तरापेक्षेत्याह—नेति । साक्षितः स्वानुभवा
शेषः ।। साक्षित्वस्य वस्तुत्वाद्यन्निमित्तं च साक्षित्वमिति कथमुक्तं तत्राऽऽह—कूटस्थ इति । यद्वा परि
साक्षित्वान्न तत्राज्ञानापेक्षेत्याशङ्क्याऽऽह—कूटस्थ इति । अत्र परिणामिबुद्ध्यादाविति यावत् । तस्य
हेतुमाह—स्वमोहेति । मोहस्य वस्तुत्वान्न तत्कृतमपि तथेत्याशङ्क्याऽऽह—अविचारितेति । प्रामा
कुतोऽविचारितत्वं तत्राऽऽह—अनुभवेति ।। अनुभवादेव तमःसिद्धिं साधयति—निःसाक्षिक इति ।
साक्ष्यनपेक्षं न वेद्मीति न तद्भानं न हि मानादेवं भानं तस्य स्वनिवर्त्यासाधकत्वादित्यर्थः । आत्मा वेद
तर्हि यथा स्वरूपेण स तत्साक्षी तथाऽन्यत्रापि स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तथेति । यथा साक्षिणोऽभावे तमसो

*बुद्धि[1]स्तावत्स्वच्छत्वादा[2]नन्तर्याच्चाऽऽत्मचैतन्यज्योतिः [3]प्रतिच्छाया भवति । तेन हि विवेकिनामपि [5]तत्राऽऽत्माभिमानबुद्धिः प्रथमा । [6]ततोऽप्या[7]नन्तर्यान्मनसि चैतन्यावभासता [8]बुद्धिसंपर्कात् । तत इन्द्रियेषु । मनःसंयोगात् । ततोऽनन्तरं शरीरे । इन्द्रियसंपर्कात् एवं पारम्पर्येण कृत्स्नं कार्यकरणसंघातमात्मा चैतन्यस्वरूपज्योतिषाऽव-

---

बुद्धेरात्मच्छायत्वं समर्थयते—बुद्धिस्तावदिति । [9]लौकिक[10]परीक्षकाणां बुद्धावात्माभिमानभ्रान्तिमुवते[11]ऽर्थे प्रमाणयति—तेन हीति । बुद्धेः पश्चान्मनस्यपि चिच्छायतेत्यत्र हेतुमाह—बुद्धीति । आत्मनः सर्वावभासकत्वमुक्तमुपसंहरति—एवमिति । आत्मनः सर्वावभासकत्वे किमिति [12]कस्यचि[13]त्क्व-

---

बुद्धि प्रथम तो स्वच्छ एवं आनन्तर्य होने से आत्मचैतन्यज्योति की अवभासक होती है । इसलिये (बुद्धि के चिदाभासकत्व होने से) विद्वान् और अविद्वान् को भी बुद्धि में प्रथम आत्माभिमानी बुद्धि हो जाती है । पुनः बुद्धि के पाश्चात्य होने से बुद्धि द्वारा आत्मा-मन के संबन्ध से मन में चैतन्यावभास होता है । मन का सम्पर्क होने के कारण मन से इन्द्रियों में, फिर इन्द्रियों का शरीर से संबन्ध होने के कारण उनसे शरीर में चैतन्यावभास होता है, इस प्रकार परम्परा से समग्र कार्यकरणसंघात को

---

[1] प्रथमम् । [2] आनन्तर्यादिति—(स्वकारणाज्ञानमात्रव्यवहितत्वेऽपि) इन्द्रियाद्यपेक्षया बुद्धेराप्ताऽऽनन्तर्यादित्यर्थः । [3] आत्मचैतन्याभासवती । [4] तेन—बुद्धेश्चिदाभासवत्त्वेन । तादृगभिमाने सर्वाविसंवादद्योतनाय हिशब्दः । अविद्वत्संग्रहार्थोऽपिशब्दः । [5] बुद्धौ । [6] बुद्धेः । [7] पाश्चात्यात् । [8] बुद्धिसंपर्कात्—बुद्धिद्वाराऽऽत्मनो मनस संबन्धात् । [9] शास्त्रासंस्कृतधियो लौकिकाः । [10] प्रमाणैरर्थविचारकाः परीक्षकाः । [11] बुद्धेश्चिदाभासत्वरूपेऽर्थे । [12] न तु सर्वस्य पुंसः । [13] इन्द्रियाद्यन्यतमे एव ।

स्तथा निर्विकारचिद्रूपे तमोनपेक्षे साक्षिणि सुतरामेत्तमो न सिध्यति । 'स्वयं सेद्धुमसामर्थ्यात्साधनान्तरहानतः । बाधकस्य च सद्भावात्तमसा साक्षिता चितेः' ।। स्वपरनिर्वाहकत्वं च तस्योक्तमिति भावः ।। साक्षित्वादेराविद्यत्वमुपसंहरति—ऐश्वर्यमिति । न हि सापेक्षं स्वरूपं स्वाभाविकमस्वाभाविकं चाऽऽविद्यं रजतवदित्यर्थः । ये तु केचिदैश्वर्यमनारोपितमाश्रयन्ते ते पुनरैश्वर्यं कारणत्वं चेत्यादिवार्तिकार्थं नाऽऽलोचयन्ते ।। स्वाज्ञानं साक्षित्वादिनिर्वाहकमनुवदति—आत्मेति । आत्मनोऽसङ्गत्वादितरतःशब्दार्थः । इहेति कार्याद्युक्तिः ।। साक्षित्वमाविद्यमुक्त्वा ततः सर्वबुद्ध्यादिसिद्धिरित्युक्तं नियमयति—चैतन्येति । यश्चैतन्याभासवान्प्रत्यङ्मोहस्तदन्तः साक्षी तस्माच्च प्रतीचो बुद्ध्यादेः सिद्धिरिति यावत् ।।

*बुद्धिस्तावदित्यादि मन्त्रवर्णं इत्यन्तभाष्ये वार्तिकास्तथाहि—"स्वकारणाभिसंबन्धाच्चैतन्याभासता धियः । जायतेऽतोऽभिमानोऽस्यां जायते महतामपि ।। कारणानन्तरत्वाच्च तथा स्वच्छस्वभावतः । चैतन्याभासवत्येषा धीः पूर्वमभिजायते ।। तस्मादात्माभिमानो हि बुद्धौ जनिमतां सदा । जायते सर्वभूतानामपि सर्वविदामिह ।। चिदाभासोऽथ मनसि बुद्ध्यानन्तर्यकारणात् । मनःसंबन्धतश्चैवमिन्द्रियेष्वभिजायते ।। मनःकरणसंबन्धाद्देहेऽप्यस्योपजायते । एवमाभासयत्यात्मा कृत्स्नं कार्यं सकारणम् ।। सौक्ष्म्यस्य तारतम्येन स्थितस्य विषयावधि । आत्माभिमानधीः पुंसां जायते नियता ततः ।। नित्योऽनित्यानामिति च येन सूर्यस्तथा परः । न तत्र सूर्यो भातीतिमन्त्राम्नायो ह्यनेकशः" ।। ३५७-१६३ ।। आत्मज्योतिरधीनं सर्वं सिध्यति चेत्तत्संबन्धाविशेषात्किमित्यादौ सर्वेषां बुद्धावेवाऽऽत्मधीरित्याशङ्क्याऽऽह—स्वकारणेति । धीहेतावज्ञाने चैतन्याभाससंबन्धादनन्तरमव्यवधानेन तस्यां चैतन्याभासता जायते तदस्यामादावात्मधीः । उक्तं हि—अहंमिति तावत्प्रथमोऽध्यास इति । तत्र

मासयति । तेन हि सर्वस्य लोकस्य कार्यकरणसंघाते [1]तद्वृत्तिषु चानियतात्मा बुद्धिर्यथा[2]विवेकं जायते । तथा च भगवतोक्तं गीतासु—

"यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत" ॥
"[3]यदादित्यगतं तेजः" इत्यादि च ।

"नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" इति च काठके । "तमेव भान्तमनु

चिदेवाऽऽत्मधीरित्याशङ्क्याऽऽह—तेन हीति । बुद्ध्यादेरुक्तक्रमेणाऽऽत्मच्छायत्वं तच्छब्दार्थः । ज्योतिषः सर्वावभासकत्वे लोकप्रसिद्धिरेव न प्रमाणं किंतु भगवद्वाक्यमपीत्याह—तथा चेति । ना मयमनाशी चेतनाश्चेतयितारो ब्रह्मादयस्तेषामयमेव चेतनो यथोदकादीनामनग्नीनामग्नि दाहकत्वं तथाऽऽत्मचैतन्यनिमित्तमेव चेतयितृत्वमन्येषामित्याह—नित्य इति । [4]अनुगमनवदनुभा गतया भासा स्यादिति शङ्कां प्रत्याह—तस्येति । येनेति । [5]तत्र नावेदविन्मनुते तं बृहन्तमित्यु

चैतन्यस्वरूप ज्योति से प्रकाशित कर देता है । इसलिये सभी लोगों की कार्यकरणसंघात और इ द्यन्यतम वृत्तियों में अपने-अपने विवेक (या अविवेक) के अनुसार अनियत आत्माभिमान बुद्धि हो जाती है । इसी को भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता में कहते हैं—

"हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन ! जिस प्रकार एक सूर्य इस सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित कर उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है" ।

और भी कहते हैं—"जो आदित्य में तेज है; वह मेरा रूप है (इससे सिद्ध है, सूर्य में प्रक सामर्थ्य नहीं है)" इत्यादि ।

कठोपनिषद् में कहा है—"जो अनित्य पदार्थों में नित्य, ब्रह्मादि चेतन प्राणियों का भी

---

१. इन्द्रियाद्यन्यतमे इति यावत । २. अविवेकमित्यपि च्छिन्दन्ति । ३. न तर्हि रविं प्रकाशयति ने यदादित्येति । ४. अनुगमनवदनुभानमिति । यथा गच्छन्तमनुगच्छतीत्यत्रानुगच्छतोऽपि गतिस्तावत एवं भान्तमनुभातीत्यत्राप्यनुभानं स्वगतमेव भासा भवेदित्यर्थः । ५. मन्त्रे ।

विद्वद्भ्रान्तिरपि साधनमित्यर्थः ॥ उक्तेऽर्थे बुद्धिस्तावदित्यादित्यादिभाष्यं व्याचष्टे—कारणेति ॥ तस्मा दाभासत्वे भ्रान्तिं प्रमाणयति—तस्मादिति । तादृगभिमाने सर्वाविसंवादद्योतनार्थो हिशब्दः ॥ अविद्व दभिमानो न विदुषामित्याशङ्कायामाह—चिदिति । तत्र हेतुः—बुद्धीति । इन्द्रियेषु कथं तद्धीरिति तत्र —मन इति । एवं चैतन्याभासद्वारेणाहंधीरित्यर्थः ॥ देहे तद्धियमुपपादयति—मनःकरणेति । मनसा का संबन्धादस्याऽऽत्मनः स्थूले देहे चिदाभासात्तद्धीरित्यर्थः । उक्तं निगमयति—एवमिति ॥ तत्र हेतुः—सौक्ष्म्य बुद्ध्यादेर्विषयान्ततया स्थितस्य यत्सौक्ष्म्यं तस्य तरतमत्वहेतुनेति यावत् । ततो बुद्ध्यादिषु पूर्वोक्तात्म स्येतत् ॥ आत्मज्योतिषः सर्वावभासकत्वे कठश्रुतिं प्रमाणयति—नित्य इति । नाशिनामयमनाशी चे श्चेतयितारो ब्रह्मादयस्तेषामयमेव चेतनो यथोदकादीनामनग्नीनामग्निनिमित्तं दाहकत्वं तथा चैतन्यनि चेतयितृत्वमन्येषामित्यर्थः । तत्रैव येन सूर्यस्तपति तेजसेद्ध इत्यादिमन्त्रं पठति—येनेति । नावेदविन्म बृहन्तमित्युत्तरत्र संबन्धः । तत्रैव श्रुत्यन्तरमाह—न तत्रेति । तत्रेति विषयसप्तमी प्रकृतं ज्योतिषां ज्योति विकरोति । आत्मज्योतिषः सर्वावभासकत्वे यथा प्रकाशयतीत्याद्या स्मृतिरधस्तादेव दर्शितेति हिशब्दार्थः ॥

र्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'' इति च। "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" इति च न्त्रवर्णः। तेनायं हृद्यन्तर्ज्योतिः।

* पुरुष आकाशवत्सर्वगतत्वात्पूर्ण इति पुरुषः। निरतिशयं चास्य स्वयंज्योतिष्ट्वं र्वावभासकत्वात्स्वयमन्यानवभास्यत्वाच्च। स एष पुरुषः स्वयमेव ज्योतिःस्वभावो यं त्वं पृच्छसि कतम आत्मेति। बाह्यानां ज्योतिषां सर्वकरणानुग्राहकाणां प्रत्यस्तमयेऽन्तःकरणद्वारेण हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुष आत्माऽग्राहकः करणानामित्युक्तम्।

संबन्धः। ज्योतिःशब्दव्याख्यानमुपसंहरति—तेनेति।

हृद्यन्तःस्थितोऽयमात्मा सर्वावभासकत्वेन ज्योतिर्भवतीति योजना। पदान्तरमादाय व्याचष्टे—पुरुष इति। आदित्यादिज्योतिषः सकाशादात्मज्योतिषि विशेषमाह—निरतिशयं चेति॥ प्रतिवचनवाक्यार्थमुपसंहरति—स एष इति। स समानः सन्नित्याद्यवतारयितुं वृत्तं कीर्तयति—बाह्यानामिति।

है"। "उसके प्रकाशित होने पर ही सब कुछ प्रकाशित होता है तथा उसके प्रकाश से ही सब भासता है" इत्यादि। मन्त्र भी है—"जिसके तेज से दीप्त होकर सूर्य तपता है (उस महान् ब्रह्म को वेदों को न जानने वाला नहीं समझ सकता)"। इसलिये यह आत्मा हृदयान्तर्गत ज्योति है।

"पुरुषः" अर्थात् आकाश के समान सर्वत्र होने से पूर्ण होने से यह पुरुष है। सबका प्रकाशक एवं स्वयं दूसरों से अप्रकाश्य होने के कारण इसकी स्वयंप्रकाशता निरतिशय है। जिसको तुम 'वह आत्मा कौन सा है" ऐसा पूछ रहे हो, वह यह पुरुष स्वयं ही ज्योतिस्वभाव है। समस्त इन्द्रियों की अनुग्राहक आदित्यादि बाह्य ज्योतियों के अस्त होने पर हृदय के भीतर अन्तःज्योति स्वरूप पुरुष आत्मा अन्तःकरण द्वारा इन्द्रियों का अनुग्राहक है—ऐसा कहा जा चुका है।

---

१. येन तेजसा इद्धः सूर्यस्तपतीत्यन्वयः। अस्यैव शेषष्टीकायां नावेदविदिति। २. आदित्यादीनाम्। ३. भाष्यस्थतेनेत्यस्यायमर्थः। ४. उक्तमात्मज्योतिरनुग्रहम्।

---

*पुरुष आकाशवत्सर्वगतत्वात्पूर्णं इति पुरुषः। अत्र वार्तिकाचार्याः—"आत्मन्येवं प्रबुद्धेऽस्मिञ्ज्योतिषि ध्वान्तनाशतः। सर्वस्यैवाऽऽत्मयाथात्म्यादात्मा पुरुष उच्यते॥ आत्माज्ञानसमुच्छित्तौ तज्जस्य न हि वस्तुनः। प्रत्यग्रूपात्पृथग्रूपं संभाव्यं केनचित्क्वचित्॥ स्रगज्ञानसमुच्छित्तौ न तज्जस्यान्यतः स्रजः। रूपं संभाव्यतेऽह्यादेरेवमात्मस्वरूपतः॥ न कार्ये कारणे वाऽपि तदभावेऽथवाऽन्यतः। प्रत्यङ्मात्रैकयाथात्म्याद्रूपं संभाव्यतेऽण्वपि॥ अव्यावृत्ताननुगतप्रत्यङ्मात्रावशेषतः। पूर्णत्वात्पुरुषो ज्योतिरात्मैवैकोऽभिधीयते" ॥ ३६४-३६८॥ इति। ज्ञानादज्ञानध्वंसेऽपि ज्योतिःशब्दं व्याख्याय पुरुषशब्दार्थमाह—आत्मनीति। एवमुक्तश्रुतिस्मृतिन्यायैरिति यावत्॥ आत्मस्वरूपतोऽन्यतोऽवस्तेनं पूर्णत्वेन पुरुषतेत्याशङ्क्याऽऽह—आत्मेति॥ तद्दृष्टान्तेन स्पष्टयति—स्रगिति। पुरुषशब्दार्थमुपसंहरति—अव्यावृत्तेति। ततोऽन्यत्राणुमात्रस्यापि कार्यादिरूपस्यासंभवे हेतुमाह—प्रत्यगिति॥ ज्यत इति संबन्धः॥ तथाविधज्योतिरिति संबन्धः। तस्य पुरुषत्वे हेतुः—प्रत्यङ्मात्रेति। ज्योतिषो यथोक्तरूपत्वेऽपि किमात्मनः स्यात्तदाह—आत्मेति॥

यदाऽपि बाह्यकरणानुग्राहकाणामादित्यादिज्योतिषां [1]सद्भावस्तदाऽप्यादि ज्योतिषां [2]परार्थत्वात्कार्यकरणसंघातस्याचैतन्येन [3]स्वार्थानुपपत्तेः [4]स्वार्थं आत्मनोऽनुग्रहाभावेऽयं कार्यकरणसंघातो न व्यवहाराय कल्पते । आत्मज्योतिरनु हि सर्वदा सर्वः संव्यवहारः । “[5]यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्संज्ञानम्” इत्यादिश्रुत्य साभिमानो हि सर्वः प्राणिसंव्यवहारः । [6]अभिमानहेतुं च मरकतमणिदृष्टान्तेनावोचा

[7]यद्यप्येवमेतत्तथाऽपि जाग्रद्विषये सर्वकरणागोचरत्वादात्मज्योतिषो बुद्

---

[9]तर्हि बाह्यज्योतिःसद्भावावस्थायामकिंचित्करमात्मज्योतिरित्याशङ्क्याऽऽह—यदा व्यतिरेकमुखेनो(णो)क्तमर्थमन्वयमुखेन कथयति—आत्मज्योतिरिति । आत्मज्योतिषः सर्व कत्वे [10]प्रमाणमाह—यदेतदिति । सर्वम[11]न्तःकरणादि [12]प्रज्ञानेत्रमित्यैतरेयके श्रवणाद्युक्तमात्मन सर्वानुग्राहकत्वमित्यर्थः । किंचाचेतनानां कार्यकरणानां चेतनत्वप्रसिद्ध्यनुपपत्त्या सदा चिदा भिरेष्टव्येत्याह—साभिमानो हीति । कथमसङ्गस्य प्रतीचः सर्वत्र बुद्ध्यादावहंमान इत्याशङ्क्या अभिमानेति ।

वृत्तमनूद्योत्तरवाक्यमवतारयति—यद्यपीति । [13]यथोक्तमपि प्रत्यग्ज्योतिर्जागरिते द शक्यमिति श्रुतिः स्वप्नं प्रस्तौतीत्यर्थः । अशक्यत्वे हेतुद्वयमाह—सर्वेति । स्वप्ने [14]निष्कृष्टं ज्यो

जिस समय बाह्य इन्द्रियों की अनुग्राहक आदित्यादि ज्योतियों का सद्भाव रहता है, उस स आदित्यादि ज्योतियाँ अन्यशेषत्व और कार्यकारणसंघात अचेतन से भावप्रधान स्वार्थ असंभव है अनन्यशेष स्वार्थज्योति आत्मा के अनुग्रह के बिना यह कार्यकरणसंघात व्यवहार प्रवृत्ति के समर्थ नहीं होता क्योंकि समस्त संव्यवहार सर्वदा आत्मज्योति के अनुग्रह से ही होता है। " प्रसिद्ध निश्चयात्मिका बुद्धि और संकल्पात्मक मन है; वह अन्तःकरण वृत्तिविशेष संज्ञान है" अन्य श्रुति में भी प्रतिपादित किया है । प्राणियों का यह सब व्यवहार अभिमानपूर्वक होत मरकतमणि के दृष्टान्त से हम कह आये हैं कि आत्मा का चिदाभासत्व सर्वत्र अभिमान का हेतु है

यद्यपि प्रत्यक्ज्योति सर्वविभासकरूप से व्याख्यात है; तथापि जाग्रदवस्था में आत्म समस्त इन्द्रियों की अविषय तथा बुद्धि आदि बाह्य और आभ्यन्तर शरीर एवं इन्द्रिय के

---

१. सद्भाव इति जागरे भान्वादेः सत्त्वेऽपि जाड्यादबडज्योतिरभावे स्वसत्त्वायापि तन्नालं दूरे प्रकाश भावः । २. अन्यशेषत्वात् । ३. भावप्रधानः । ४. अनन्यशेषेति यावत् । ५. यदेतदिति । यदेत हृदयं निश्चयात्मिका बुद्धिः मनश्च संकल्पाद्यात्मकं तदुभयमन्तःकरणं तस्य वृत्तिविशेषाः संज्ञानादयः । ए लक्षणमन्तःकरणं वृत्तिरूपेण परिणतं सत् संज्ञानविज्ञानमित्यादिव्यवह्रियत इत्यर्थः । ६. अभिमानहे आत्मनश्चिदाभासं सर्वत्राभिमानहेतुम् । ७ एवमेतदिति । एतत्प्रत्यक्ज्योतिः । एवम्—सर्वविभास प्रख्यातम् । श्रुतिस्मृतिप्रमितमिति यावत् । ८. बुद्ध्यादीति—आदिना शरीरमनश्चक्षुरादयो विषया दयश्च गृह्यन्ते तद्व्यापारसांकर्यव्याप्तत्वादित्यर्थः । ९. बाह्यज्योतिषां प्रत्यस्तमये आत्मज्योतिषः ग्राहकत्वाऽभ्युपगमे । १०. श्रुत्यन्तरसंवादम् । ११. अन्तःकरणादि—आदिना तत्रोक्तं हिरण्यगर्भादि जगज्जातं गृह्यते । १२. प्रज्ञा ब्रह्म नेत्रं सत्ताप्रापकं यस्य तदित्यर्थः । १३. सर्वविभासकमपि । बुद्ध्याद्यसंकीर्णम् ।

बाह्याभ्यन्तरकार्यकरणव्यापारसंनिपातव्याकुलत्वान्न शक्यते तज्ज्योतिरात्माख्यं मुन्जेषीकावन्निष्कृष्य दर्शयितुमित्यतः स्वप्ने दिदर्शयिषुः प्रक्रमते—स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति। यः पुरुषः स्वयमेव ज्योतिरात्मा स समानः सदृशः सन्। केन। [1]प्रकृतत्वात्संनिहितत्वाच्च हृदयेन। हृदीति हृच्छब्दवाच्या बुद्धिः प्रकृता संनिहिता च। [2]तस्मात्तयैव सामान्यम्।

*किं पुनः सामान्यम्[3]अश्वमहिषवद्विवेकतो[4]ऽनुपलब्धिः। अवभास्या बुद्धिरवभासकं

शेषः। सदृशः सन्ननुसंचरतीति संबन्धः। सादृश्यस्य प्रतियोगिसापेक्षत्वमपेक्ष्य पृच्छति—केनेति। उत्तरम्—प्रकृतत्वादिति। प्राणानामपि तुल्यं [5]तदिति चेत्तत्राऽऽह—संनिहितत्वाच्चेति। हेतुद्वयं साधयति—हृदीत्यादिना। प्रकृतत्वादिफलमाह—तस्मादिति।

सामान्यं प्रश्नपूर्वकं विशदयति—किं पुनरित्यादिना। विवेकतोऽनुपलब्धि व्यक्ती कर्तुं

समूह से व्याकुल होने के कारण वह आत्मसंज्ञकज्योति मूंज से सींक के समान निकालकर पृथक् नहीं की जा सकती। इसलिये उसे स्वप्न में दिखाने की इच्छा से श्रुति कहती है—वह पुरुष समान रूप से दोनों लोकों में संचार करता है अर्थात् वह पुरुष स्वयंज्योतिस्वरूप आत्मा है, वह "समानः" अर्थात् सदृश रहकर संचरण करता है। किसके साथ रहकर? प्रकरणस्थ समीपवर्ती होने के कारण हृदय के सदृश रहकर। 'हृदि" इस शब्द से 'हृदय' शब्दवाच्य बुद्धि ही प्रकरणस्थ है, वही समीप में रहती है। अतः उक्त हेतुद्वय से उसका बुद्धि से सादृश्य है।

वह सादृश्य किस प्रकार का है? अश्व और भैंसे के समान उनका अलग-अलग अनुभव न होना

---

१. प्रकरणं प्रमाणयति—प्रेति। संनिधिं तथापयति—समिति। सधीरितिश्रुतिं समुच्चेतुं चः। २. तस्माद्हेतुद्वयात्। तया बुद्ध्या। सामान्यं—सादृश्यम्। ३. उत्तरमाह—अश्वेति। ४. अननुभवः आविद्यं तादात्म्यमिति यावत्। ५. तत्—प्रकृतत्वम्।

---

*किं पुनरित्यादि सर्वमय इति चात एव वक्ष्यतीत्यन्तभाष्ये वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"किं पुनः स्यात्समानत्वमात्मबुद्ध्यादिवस्तुनोः। विवेकतोऽननुभवो वराहोरगवत्तयोः॥ यत्तत्तयोः समानत्वं रज्जुसर्पादिवन्मतम्। आत्माविद्यैव संबन्धस्तस्मादात्मन इष्यते॥ अकारकस्वभावस्य परमार्थात्मवस्तुनः। अविद्याकल्पितैव स्यात्संगतिः खेऽसिताद्विवद्॥ कूटस्थात्मचिदाभेऽस्य प्रत्यग्ध्वान्ते हि तद्भवैः। विषयान्तैर्भवेद्भ्रान्तिः सामानाधिकरण्यतः॥ विकारिणः प्रकाशस्य नीलरक्तादिसंगतेः। नीलादिविक्रिया युक्ता परिणामस्य न त्वसौ॥ परिणामो हि मोहादेश्चिदाभासः सदेष्यते। परिणामान्तरप्राप्तिस्तस्यापीति न युज्यते॥ सुखिदुःखित्वसाक्षित्वं दुःस्थितं स्यात्तथा सति। सुखाद्यनुगमात्तस्य व्यतिरेकः सुदुर्लभः॥ नर्ते स्याद्विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः। धीविक्रियासहस्राणां साक्षतोऽहमविक्रियः॥ परिणाम्यात्मनोऽप्येवं कूटस्थावगतेरिव। न युक्तः परिणामोऽयं लौकिकस्यापि नेष्यते॥ धीस्वान्तेन्द्रियसंघाते चिदाभासैकवर्त्मना। सर्वात्मकत्वं संयात आत्माऽविद्यावशादतः" ॥ ३८९-३९८ ॥ इति। कार्यकारणाभ्यामैक्यमात्मनः समानतेत्ययुक्तं तयोस्तस्य च जाड्याजाड्याभ्यां विरोधादिति मत्वाऽऽह—किमिति॥ अश्वमहिषवदित्यादिभाष्येणोत्तरमाह—विवेकत इति॥ उक्तसमानत्वस्य मिथ्यात्वमाह—यत्तदिति। मिथ्यात्वे फलितमाह—आत्मेति। अनात्मनेति शेषः॥ कल्पिता तयोः संगतिरित्येतद्दृष्टान्तेन साधयति—अकारकेति॥ तस्यास्तथात्वेऽपि प्रतीचो बुद्ध्यादिसमानत्वं कथं कल्पितं तत्राऽऽह

तदात्मज्योतिरालोकवत् । अवभास्यावभासकयोर्विवेकतोऽनुपलब्धिः प्रसिद्धा । विशुद्ध्यालोकोऽवभास्येन सदृशो भवति । यथा रक्तमवभासयन्रक्तसदृशो रक्ताकारो भ यथा [1]हरितं नीलं लोहितं चावभासयन्नालोकस्तत्समानो भवति । तथा बुद्धिमव न्बुद्धिद्वारेण कृत्स्नं क्षेत्रमवभासयती[2]त्युक्तं मरकतमणिनिदर्शनेन । तेन सर्वेण स बुद्धि[3]सामान्यद्वारेण । सर्वमय इति चात[4] एव [5]वक्ष्यति ।

बुद्धिज्योतिषोः स्वरूपमाह—अवभास्येति । अवभासकत्वे दृष्टान्तमाह—आलोकवदिति । कथं विवेकतोऽनुपलब्धिस्तत्राऽऽह—अवभास्येति । प्रसिद्धिमेव प्रकटयति—विशुद्धत्वाद्धीति। मर्थं दृष्टान्तेन बुद्धावारोपयति—यथेत्यादिना । दृष्टान्तगतमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति— पुनरुक्तिं परिहरति—इत्युक्तमिति । सर्वावभासकत्वे कथं बुद्ध्यैव साम्यमित्याशङ्क्याऽऽह— सर्वावभासकत्वं तच्छब्दार्थः । किमर्थं 'तर्हि बुद्ध्या सामान्यमुक्तमित्याशङ्क्य द्वारत्वेनेत्याह— आत्मनः सर्वेण समानत्वे वाक्यशेषमनुकूलयति—सर्वमय इति चेति ।

बुद्धिप्रकाश्य है और प्रकाश के समान आत्मज्योति प्रकाशक हैं; प्रकाश्य और प्रकाशक का अल अनुभव न होना प्रसिद्ध ही है, विशुद्ध होने के कारण क्योंकि आलोक प्रकाश्य के समान हो जिस प्रकार रक्त वस्तु को प्रकाशित करते समय वह रक्तवर्ण के समान रक्ताकार हो जाता है। नीले और लोहित पदार्थों को प्रकाशित करते समय वह आलोक उन्हीं रंगों के समान हो जाता है प्रकार बुद्धि को प्रकाशित करते समय वह बुद्धि के द्वारा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है

---

१. हरितमित्यादि । चकारः समुच्चये । तथा च अतथमवभासयन्युगपन्नितथाकारो भवतीति न पुनरुक्तिः । २. उक्तस्मारणे न पुनरुक्तिरिति भावः । ३. सादृश्यद्वारेणेति भावः । ४. सर्वसमा ५. बृ० उ० ४।४।५ । ६. तयोरवभास्यावभासकत्वेऽपि । ७. आलोकस्यावभास्यसादृश्यम् । ८. सर्वावभासकत्वेन सर्वसमत्वे ।

—कूटस्थेति । स्वाज्ञाने साभासे निमित्ते प्रतीचस्तत्कार्यैर्मनुष्योऽहमित्यादिसामानाधिकरण्यात्तादात्म्य युक्ता समानत्वस्य मिथ्यातेत्यर्थः ।। आदित्याद्यालोकस्य नीलादियोगे तदाकारविकारवदात्मज्योतिः बुद्ध्यादियोगे विकारित्वं ज्योतिष्ट्वाविशेषादित्याशङ्क्याऽऽह—विकारिण इति ।। कथमपरिणाम बुद्ध्याद्यभिन्नस्योच्यते तत्राऽऽह—परिणामी हीति । अविद्याया बुद्ध्यादेश्च परिणामस्य सदा विदा त्वात्तस्य परिणामविशेषप्राप्तिरयुक्ता साक्षिणः साक्ष्यत्वानुपपत्तेस्तदसौ कूटस्थ एवेत्यर्थः ।। रूपप्रका सवितू रूपित्ववत्परिणामसाक्षिणोऽपि परिणामित्वमित्याशङ्क्याऽऽह—सुखीति । दौस्थ्ये हेतुः— दुःखित्वादौ सति तत्सांकर्यादात्मनः साक्ष्याद्दुःखादेर्भेदो दुर्ज्ञानो न चैकत्वे तद्भावो विरोधाद्दृष्टान्तस्तु विरुद्धो न चात्र विक्रियावत्त्वे मानं तद्युक्तमविक्रियत्वमित्यर्थः ।। अविक्रियत्वेऽपि कुतो न दुःखादिमत्वं —नेति । विक्रियावत्त्वे दोषमाह—साक्षितेति । साक्षी चेतेत्यादि श्रुतिमाश्रित्य फलितमाह—धीविक्रि मातृवदात्मनः सक्रियत्वमाशङ्क्याऽऽह—परिणामीति । द्रव्यत्वात्पयोवन्माता परिणामीत्यनुमानाकु वैकल्यं तत्राऽऽह—लौकिकस्येति । न हि तथाभूतस्य परिणामस्तथाभावविरोधान्नान्यथाभूतस्यानव च क्षीरादिपरिणामोऽपि प्रामाणिको न भवतीति भावः ।। समानत्वं निगमयति—धीस्वान्तेति। समानत्वायोगोऽतःशब्दार्थः ।।

तेनासौ[1] [2]कुतश्चित्प्रविभज्य मुञ्जेषीकावत्स्वेन ज्योतीरूपेण दर्शयितुं न शक्यत इति[3] सर्वव्यापारं तत्राध्यारोप्य नामरूपगतं ज्योतिर्धर्मं च नामरूपयोर्नामरूपे [4]चाऽऽत्मज्योतिषि सर्वो लोको मोमुह्यतेऽयमात्मा नायमात्मैवंधर्मा नैवंधर्मा कर्ताऽकर्ता शुद्धोऽशुद्धो बद्धो मुक्तः स्थितो गत आगतोऽस्ति नास्तीत्यादिविकल्पैः। [5]अतः समानः सन्नुभौ लोकौ प्रतिपन्नप्रतिपत्तव्याविहलोकपरलोका[6][7]वुपात्तदेहेन्द्रियादिसंघातत्यागान्योपादानसंतानप्रबन्धशतसंनिपातैरनुक्रमेण संचरति। [8]धीसादृश्यमेवोभयलोकसंचरणहेतुर्न [9]स्वत इति।

*तत्र नामरूपोपाधिसादृश्यं भ्रान्तिनिमित्तं यत्तदेव [10]हेतुर्न स्वत[11] इत्ये[12]तदुच्यते।

वाक्यशेषसिद्धेऽर्थे लोकभ्रान्तेर्गमकत्वमाह—तेनेति। सर्वमयत्वेनेति यावत्। आत्मानात्मनोर्विवेकदर्शनस्याशक्यत्वे[13] परस्पराध्यासस्तद्धर्माध्यासश्च स्या[14]त्ततश्च लोकानां मोहो भवेदित्याह—इति सर्वेति। धर्मिविषयं [15]मोहमभिनयति—अयमिति। धर्मविषयं मोहं दर्शयति—एवंधर्मेति। [16]तदेव स्फुटयति—कर्तेत्यादिना। विकल्पैः सर्वो लोको मोमुह्यत इति संबन्धः। स समानः सन्नित्यस्यार्थमुक्त्वावशिष्टं भागं व्याकरोति—अत इत्यादिना।

आत्मनः स्वाभाविकमुभयलोकसंचरणमित्याशङ्क्यानन्तरवाक्यमादत्ते—तत्रेति। आत्मा

रकत मणि के दृष्टान्त द्वारा पहले ही कह चुके हैं। इसलिए बुद्धि के सादृश्य के द्वारा वह सबके समान हो जाता है। सर्वसादृश्य होने से वह सर्वमय हो जाता है—ऐसा श्रुति आगे कहेगी।

इसलिये आत्मा को मूँज से सींक के समान बुद्धि आदि किसी भी अनात्मवस्तु से अलग करके अपने ज्योतिःस्वरूप से नहीं दिखलाया जा सकता। इस कारण से नामरूप के सारे व्यापारों का; नामरूपगत ज्योतिधर्म का तथा आत्मज्योति में नामरूप का अध्यास करके सम्पूर्ण लोक "यह आत्मा है, यह आत्मा नहीं है; आत्मा ऐसे धर्म वाला है, आत्मा ऐसे धर्म वाला नहीं है; कर्ता है, अकर्ता है; शुद्ध है, अशुद्ध है; बद्ध है, मुक्त हैं; स्थित है, गत है, आगत है, सत् है और असद्रूप है" इत्यादि विकल्पों से पुनः पुनः अतिशय मोहित हो रहा है। इसलिये (अविद्याजनित भ्रान्ति से) यह समान रहकर प्राप्त इहलोक और अप्राप्त परलोक, इन दोनों लोकों में (संनिपात और पतन द्वारा) प्राप्त देहेन्द्रियसंघात के ग्रहण की परम्परा से निरन्तर सैकड़ों संनिपातों के क्रम से संचरण करता रहता है। आभास द्वारा बुद्धितादात्म्य ही उसके दोनों लोकों में संचरण का हेतु है, संचरण के प्रति स्वयं हेतु नहीं है।

यहाँ जो भ्रान्तिजनित नामरूपोपाधि की सदृशता है, वही संचरण में हेतु है, स्वतः संचरण नहीं करता, ऐसा ('ध्यायतीव' आदि श्रुतिवाक्यों से) कहा जाता है। क्योंकि वह समान रहकर क्रमशः

---

१. आत्मा। २. बुद्ध्याद्यनात्मभ्यः। ३. हेतोः। ४. आत्मज्योतिश्चानात्मनामरूपयोरिति चार्थः। ५. अतः—आविद्यकभ्रान्तिवशात्। ६. प्राप्तप्राप्तव्यौ। ७. क्रमसंचरणमेव प्रपञ्चयति—उपात्तेत्यादिना। शतेषु संनिपाताः पतनानि तैः। ८. आभासद्वारा धीतादात्म्यमेव। ९. स्वतःसंचरणं प्रतीच इति शेषः। १०. संचरणे। ११. संचरणम्। १२. उच्यत इति—ध्यायतीवेत्यादिवाक्येनेति शेषः। १३. सति। १४. उभयाध्यासात्। १५. संदेहमिति यावत्। १६. उक्तमोहश्च।

---

*तत्र नामरूपोपाधिसादृश्यमित्यादि न तु परमार्थतश्चलनधर्मकं तदात्मज्योतिरित्यत्र भाष्ये वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"असंभवः स्वतो यस्मात्तदबोधाच्च संभवः। क्रियाकारकरूपस्य तस्माच्छ्रुत्याऽभिधीयते॥ क्रियाकारकरूपस्य

[1]यस्मात्स समानः सन्नुभौ लोकावनुक्रमेण संचरति [2]तदेतत्प्रत्यक्षमित्ये[3]तद्दर्शयति—ध्यायतीव ध्यानव्यापारं करोतीव चिन्तयतीव ध्यानव्यापारवतीं बुद्धिं स चित्स्वभावज्योतीरूपेणावभासयंस्तत्सदृशस्तत्समानः सन्ध्यायतीवाऽऽलोकवदेव ।

समस्यर्थः । यतःशब्दो वक्ष्यमाणातःशब्देन संबध्यते । अक्षरोत्थमर्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—ध्या ध्यानवतीं बुद्धिं व्याप्तश्चिदात्मा ध्यायतीवेत्यत्र दृष्टान्तमाह—आलोकवदिति । यथा खल्वा नीलं पीतं वा विषयं व्यश्नुवानस्तदाकारो दृश्यते तथाऽयमपि ध्यानवतीं बुद्धिं भासयन्ध्यान भवतीत्यर्थः । यथोक्तबुद्ध्यवभासकत्वमुक्तं हेतुमनूद्य फलितमाह—अत इति । इवशब्दार्थं कथ

दोनों लोकों में संचरण करता है, यह अस्वाभाविक संचरण प्रत्यक्ष ही है, उसी को श्रुतिवाक्य दिखाया जाता है—क्योंकि "ध्यायतीव" अर्थात् मानो ध्यान व्यापार करता है,यानी चिन्तन करता सा है । वह आलोक के समान ही अपने चित्स्वभाव ज्योतिरूप से अवभासित करता हुआ उसीके यह समान होकर बुद्धि को ध्यानव्यापारवती करके उससे व्याप्त होकर मानो ध्यान करता है।

---

१ अनेनैतदुच्यत इति कुतस्तत्राऽऽह—यस्मादिति । यस्मादेतद्दर्शयतीत्यन्वयः । २. तत्—समानवाक् एतद्—अस्वाभाविकं संचरणम् । ३. वाक्यम् । ४ तद्व्याप्तेन । ५. यथोक्तबुद्ध्यवभासकत्वात् ।

मिथ्यात्वं प्रत्यगात्मनि । ध्यायतीत्यादिवाक्येन प्रत्यक्कौटस्थ्यवित्तये ।। ध्यायतीव स कौटस्थ्यात्तथा चे च । ध्यानादिकारिसाक्षित्वान्नाऽऽत्मा ध्यानादिकार्यवान् ।। निःशेषबुद्धिवृत्तीनां ध्यानं स्यादुपलक्षणम् । क्रियाणां च सर्वासामुपलक्षणम् ।। ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं त्रयं स्वात्मैकसाक्षिकम् । करणं कर्म कर्ता ध्यात्रादिसाक्षिणि । बोद्धुः कर्तुश्च संबन्धो ज्ञानेन क्रियया यथा । कूटस्थसाक्षिसंबन्धो बोद्धृकर्त्रो सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वात्कूटस्थैकचिदात्मनः । अतोऽस्यानभिसंबन्धः सर्वप्रत्ययकत्वहेतुतः ।। एकनीडत्वहेतुत्वा साक्ष्यसंगतिः । न तु मोहोत्थचिद्बिम्बहेतुवृत्त्यपेक्षया ।। कूटस्थात्मैकहेतूत्थचिद्बिम्बो मोहगस्तु यः । मानुरोधित्वात्केनचिन्नास्य संगतिः ।। चिदाभासाश्रयाज्ञानात्कार्यसंगतिहेतुतः । स्वाभासान्तः परो ध्यायतीवेति वीक्ष्यते ।। प्रत्यङ्मोहैकमात्रोत्थं ध्यानलेलायनादिकम् । तन्मिथ्याप्रतिपत्त्यर्थमिवेति व्यर्थ अभ्रयानं यथाऽज्ञानाच्छशभृत्यध्वस्यति । क्रियाकारकवद्बुद्धिं तथा तत्साक्षिणीक्षते ।। धर्मधर्म्यभिसंब मोहैकसंश्रयात् । अस्पृशन्नपि नीलं खमिति संभावयेत्तथा ।। आत्मप्रत्ययगम्येऽर्थे निष्क्रियेऽकार क्रियाकारकवद्वस्तु संभावयति तज्जडः ।। तस्मात्संभावनामात्रः संसारः प्रत्यगात्मनि । उक्तेऽर्थे संशय त्प्रत्यग्दृष्ट्या समीक्ष्यताम् ।। आत्ममात्रावसायित्वाज्ज्ञानादर्थस्पृगीक्ष्यते । आत्मधीरात्मसंबन्धो नातो ईक्ष्यते" ।। ४०७-४२२ ।। ध्यायतीवेत्यादिवाक्यमादत्ते—असंभव इति ।। तन्मिथ्यात्वोक्तेरुपयो प्रत्यगिति ।। अवतारितवाक्यस्थाक्षराणि व्याचष्टे—ध्यायतीवेति । साक्षादेवास्य ध्यानादिमत्त्वं किं न स्या —कौटस्थ्यादिति । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—ध्यानादीति ।। अस्तु ध्यानमात्मन्यौपाधिकं तथाऽपि दर्शना भाविकं पञ्चमे दृष्ट्यादिस्वाभाव्यस्योपदिष्टत्वादत आह—निःशेषेति । चैतन्यमात्रस्यैव स्वाभाव्यं तत्र भावः ।। चलनस्यौपाधिकत्वेऽपि वचनादीनामनौपाधिकत्वं वदन्वागित्यादिश्रुतेरित्याशङ्क्याऽऽह—लेला न हि तत्र तत्तत्क्रियास्वाभाव्यमभिमतं तत्तत्साक्षित्वेन वागादित्वोपचारादिति भावः ।। तथाऽपि व वस्तुतोऽस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—ध्यातेति । चकारेण स्वात्मैकसाक्षिकमित्यनुकृष्यते । तत्साक्षित्वेन तात शब्दार्थः ।। ध्यात्रादेर्न साक्षिवेद्यत्वं तदसंबन्धात्तद्वत्स्वतःसिद्धत्वसिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—बोद्धुरिति ।

त चिन्तयतीति भ्रान्तिर्लोकस्य । न तु परमार्थतो [1]ध्यायति । तथा लेलायतीवात्यर्थं ीव । तेष्वेव करणेषु बुद्ध्यादिषु वायुषु च चलत्सु तदवभासकत्वात्तत्सदृशं [2]तदिति यतीव । न तु परमार्थतश्चलनधर्मकं तदात्मज्योतिः ।

कथं पुनरेतदवगम्यते [4]तत्समानत्वभ्रान्तिरेवोभयलोकसंचरणादिहेतुर्न स्वत

ति । बुद्धिधर्माणामात्मन्यौपाधिकत्वेन मिथ्यात्वमुक्त्वा प्राणधर्माणामपि तत्र तथात्वं कथयति— । आत्मनि चलनस्यौपाधिकत्वं साधयति—तेष्विति । इवशब्दसामर्थ्यसिद्धमर्थमाह—न त्विति । स हीत्याद्यनन्तरवाक्यमाकाङ्क्षाद्वारोत्थापयति—कथमित्यादिना । तच्छब्दो बुद्धिविषयः ।

द्धि के अवभासक होने के कारण) लोकव्यवहार में ऐसी भ्रान्ति होती है कि वह चिन्तन करता है । वह निःशेषधीवृत्ति से अधिक ध्यान नहीं करता । इसी तरह "लेलायतीव" अर्थात् अधिक चलता ा है, उन बुद्धि आदि इन्द्रियों के और वायु आदि के चलने पर उनका प्रकाशक होने के कारण त्मज्योति के समान जान पड़ता है, इसी से अधिक चलता है । तत्त्वतः वह आत्मज्योति चलनरूप ाली नहीं है ।

किन्तु ऐसा कैसे जाना जाता है कि धीतादात्म्य अध्यास ही आत्मा के दोनों लोकों में संचरण

ध्यायतीति । ध्यानमत्र निःशेषधीवृत्तीनामुपलक्षणम् । तेन दर्शनाद्यपि न तत्र तत्त्वत इति बोध्यम् । २. ात्मज्योतिः । ३. लेलायतीवेति—लेलायनं च सर्वासां क्रियाणामुपलक्षणं तेन वदनाद्यपि तत्रौपचारिकमेवेति ोध्यम् ४ धीतादात्म्याध्यास एव ।

क्षिणा कल्पितसंबन्धात्तद्दृश्यतेत्यर्थः ।। ध्यात्रादेः साक्षिणा संबन्धे तस्यापि स तेन स्यान्न च तस्य कल्पितत्वे तुरित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वस्येति । यद्यपि कूटस्थोऽद्वयश्चिदात्मा सर्वप्रत्यगात्मा तथाऽपि किमित्यस्य न संबन्धस्त- ाऽऽह—सर्वेति । संबन्धस्य द्विष्ठत्वादेकस्यायोगादिति भावः ।। वास्तवसंबन्धाभावे कथं साक्षित्वं तत्राऽऽह— केति । एकस्मिन्कूटस्थचैतन्ये स्थितत्वमज्ञानादिसाक्ष्यस्याऽऽभासस्य चास्ति तदन्तश्च साक्षी तस्मादेकाश्रयत्वा- संगतेर्युक्ता साक्षितेत्यर्थः । विधान्तरेण संबन्धं धुनीते—न त्विति । अज्ञानकृतश्चिदाभासस्तस्य हेतुश्चैतन्यं स्वरूपापेक्षया न साक्षित्वं किन्त्वविद्यातज्जयोश्चैतन्याभासानुवृत्त्येत्यर्थः ।। किंचाऽऽभासस्यापि वस्तुतो न नचिद्योगः किमु चैतन्यस्यातोऽविद्योत्थसंगतेरेव साक्षितेत्याह—कूटस्थेति । स्वोपादानं कूटस्थमसङ्गमात्मवस्तु दनुरोधित्वादिति यावत् ।। ध्यातृत्वादेः साक्षिणि वस्तुतोऽसत्त्वमुक्त्वा ध्यायतिवाक्यार्थमनुवदति—चिदाभासेति । दाश्रयादज्ञानात्कार्यप्रपञ्चेन साक्ष्येण संबन्धात्परोऽप्यात्मा स्वाभासविशिष्टो ध्यायतीव लेलायतीवेति प्रतीतो वतीत्यर्थः ।। इवशब्दार्थमाह—प्रत्यङ्ङिति । इवशब्दद्योतितं तन्मिथ्यात्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—अभ्रेति । ज्ञानादिति च्छेदः ।। चन्द्रमसः स्वतोऽपि गतिः संभवति प्रतीचो नैवमिति मन्वानो दृष्टान्तान्तरमाह— मेति । दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति ।। इवशब्दार्थमुपसंहरति—तस्मादिति । वस्तुतः संसारसंस्पर्शासंभवस्तच्छब्दार्थः । न विद्वदनुभवं प्रमाणयति—उक्त इति ।। ननु प्रत्यग्दृष्टिरपि संसारं प्रतीचि गोचरयति सुख्यहं दुःख्यहमिति ीऽस्तत्कुतोऽसंसारित्वं तत्राऽऽह—आत्मेति । ननु साऽऽत्ममात्रमवगाहमानाऽपि तन्निष्ठं सुखादि नान्तरीय- रत्वेनावगाहते घटदृष्टिरिव तन्निविष्टं रूपं तत्राऽऽह—आत्मसंबन्ध इति । न हि केवलमात्मानं स्पृशन्ती ीर्यान्तरं स्प्रष्टुमीष्टे तद्धीत्वव्याघातात्र चाऽऽत्मनि दुःखादियोगे कैवल्यं घटदृष्टिस्तु विशिष्टमेव विषयी रोतीति वैषम्यमिति भावः ।।

[1]इत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनाय हेतुरुपदिश्यते—[2]स आत्मा हि यस्मात्स्वप्नो भूत्वा
धिया [3]समानः सा धी[4]र्यद्यद्भवति तत्तदसावपि भवतीव तस्माद्यदाऽसौ स्व
स्वापवृत्तिं प्रतिपद्यते धीस्तदा सोऽपि स्वप्नवृत्तिं प्रतिपद्यते । यदा धीर्जि
तदाऽसावप्यत आह—स्वप्नो भूत्वा स्वप्नप्रवृत्तिमवभासयन्धियः स्वापवृत्त्याका
लोकं जागरितव्यवहारलक्षणं कार्यकरणसंघातात्मकं लौकिकशास्त्रीयव्यवहारास्पद
त्यतीत्य [5]क्रामति [6]विविक्तेन स्वेनाऽऽत्मज्योतिषा स्वप्नात्मिकां धीवृत्तिम[7]व
तिष्ठते [8]यस्मात्तस्मात्स्वयंज्योतिःस्वभाव एवासौ विशुद्धः सन्कर्तृक्रियाकार
परमार्थतो [9]धीसादृश्यमेव तूभयलोकसंचारादिसंव्यवहारभ्रान्तिहेतुः । मृत्यो

संचरणादीत्यादिशब्दो ध्याना[10]दिव्यापारसंग्रहार्थः । स्वप्नो भूत्वा लोकमतिक्रामतीति
कथमात्मा स्वप्नो भवति तत्राऽऽह—स यथेति । उक्तेऽर्थे वाक्यमवतार्य व्याकरोति—य
उक्तं हेतुमनूद्य फलितमाह—यस्मादित्यादिना । कार्यकरणातीतत्वात्प्रत्यगात्मनो न स्वतः

का हेतु है; तत्कार्यसाक्षी होने से वह स्वतः नहीं करता । इस अर्थ के प्रतिपादन के लिये का
जाता है । जिसको अनुमानों के द्वारा स्वयंज्योति देखा गया है, वह आत्मा ही स्वप्न हो
बुद्धि से तादात्म्य को प्राप्त है, वह बुद्धि जिस-जिस रूप वाली होती है; वह मानो वही-वही हो
इसलिये जिस समय वह बुद्धि स्वप्नमय होती है यानी स्वप्नवृत्ति को प्राप्त करती है; तो व
वृत्ति को प्राप्त करता है । जब बुद्धि जागने की इच्छा करती है, तो वह भी जागने की इच्छा
इसलिये श्रुति कहती है—"स्वप्नो भूत्वा" यानी बुद्धि की स्वप्नवृत्ति को प्रकाशि
हुआ स्वापवृत्त्याकार होकर "इमं लोकं" यानी जाग्रत्व्यवहारलक्षण कार्यकरणसंघातात्मक
शास्त्रीय व्यवहार के स्थान को 'प्रतिक्रामति' यानी पार करके चला जाता है (उस अभिमान
देता है)। क्योंकि उस समय यह अपने संघातव्यतिरिक्त आत्मज्योति से स्वप्नात्मिका बुद्धि
साक्षी करके अवस्थित रहता है, इसलिये वह स्वयंज्योतिस्वभाव वाला ही है। वह वि
कर्तृ, क्रिया, कारक एवं फल से रहित है। तत्त्वतः उसके दोनों लोकों में संचरणादि
भ्रान्ति की हेतु बुद्धिसादृश्य ही है। 'मृत्योः रूपाणि' यहाँ मृत्यु से काम, कर्म और अविद्यादि
चाहिये। इसके सिवा उसका स्वतः कोई रूप नहीं है। कार्य और करण ही इसके रूप हैं। इ
और फल के आश्रयभूत उन मृत्यु के रूपों को वह पार कर जाता है।

---

[1] तत्कार्यसाक्षित्वात् । [2] योऽनुमानैः स्वयंज्योतिरदर्शि । [3] तादात्म्यभावः । [4] य
—यद्यद्रूपं बिभर्तीत्यर्थः । तदुक्तं—"बुद्धिजागरणे यद्वज्जागर्मीत्यभिमन्यते । बुद्धिस्वापेऽपि तद्व
भूत्वेति मोहधीरिति" ॥ वा० ४४८ ॥ साक्ष्यं—साक्षित्वम् । मोहादात्मनि स्वप्नधीरिति फलित
इति । [5] तदभिमानं त्यजति । [6] संघातव्यतिरिक्तेन । [7] अयमेव भोगो यत्साक्षित्वमिति ना
यस्मादिति—"जाग्रल्लोकं यतो हित्वा स्वप्नलोकं प्रपद्यते । तस्मादसङ्गोऽकर्ता च स्वयंज्योति
॥ ४११ ॥ इति वार्तिके । [9] धीसादृश्यमेवेति । स्वतः संसारित्वे जागरं नातिक्रामेव । स्वभा
योगात् तत्त्वतोऽसंसारीति भावः । [10] आदिना दर्शनादिग्राह्यम् ।

त्युः कामकर्मविद्यादिर्न' तस्यान्यद्रूपं स्वतः कार्यकरणान्येवास्य रूपाणि । 'अतस्तानि रूपाण्यतिक्रामति क्रियाफलाश्रयाणि ।

'ननु नास्त्येव धिया समानमन्यद्धियोऽवभासकमात्मज्योतिः । धीव्यतिरेकेण

ह—मृत्योरिति । रूपाण्यतिक्रामतीति पूर्वेण संबन्धः । क्रियास्तत्फलानि चाऽऽश्रयो येषां, यानि याणां तत्फलानां चाऽऽश्रयस्तानीति यावत् ।

बुद्ध्यवभासकं ज्योतिरात्मेत्युक्तं श्रुत्वा 'शाक्यः शङ्कते—नन्विति । प्रमाणादतिरिक्तात्मोपल-

---

(इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) किन्तु बुद्धि के समान बुद्धिप्रकाशिका तो कोई अन्य है नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान से भी बुद्धि से भिन्न उसकी प्राप्ति नहीं होती । जिस प्रकार

---

१ न तस्येति । "न हि प्रमाणतो मृत्युः शक्यो दर्शयितुं ततः । रूपाणि मृत्योस्तेन स्युः कार्याणि करणानि च" ॥ वा० ४५८ ॥ इति । प्रमाणनिरस्यत्वं ततःशब्दार्थः । मृत्योर्मानगम्यत्वायोगे तद्गमकत्वेन रूपोपन्यास इति फलितमाह—रूपाणीति । २. यतो जागरात्स्वप्नावेशे तान्यतिक्रामति— अतः (तस्मात्) कूटस्थो निर्मलश्च प्रत्यग्धातुरिति भावः । ३. आत्मा कूटस्थास्वदिरूपः सिद्धश्चेत् किमुत्तरग्रन्थेनेत्याशङ्क्य समाहितं वार्तिके—"अस्ति शुद्धो ध्रुवश्चाऽऽत्मा स चैक इति पस्थितम् । अस्यैवार्थस्य दाढर्यार्थं पूर्वपक्ष उदीर्यते" ॥ ४६० ॥ इति पूर्वपक्षं कृत्वा तन्निरासे यथोक्तोऽर्थो दृढो भवति तदुत्तरो ग्रन्थोऽर्थवानित्यर्थः । पूर्वपक्षमुद्घाटयति—नन्विति । ४. बौद्धः ।

---

*मृत्युः कामेत्यादि क्रियाफलाश्रयाणीत्यन्तभाष्ये वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"आत्माविद्यैव मृत्युः स्यान्नित्यस्यापि मृतेस्ततः । मृत्युर्वै तम इत्याह श्रुतिरप्यात्मनिह्नवात् ॥ स्वतोमृतस्य मरणं नाविद्यातो यतोऽन्यतः । अविद्यामात्मनो मृत्युं तस्मादाहुर्विपश्चितः ॥ प्राणोत्क्रान्तिनिषेधोक्तिर्यत आत्मावबोधतः । सम्यग्ज्ञानस्य बाध्यो ध्वंस्तस्मान्मृत्युरितीर्यते ॥ रूप्यते यैरसौ मृत्युः कार्याणि करणानि च । तानि रूपाणि भण्यन्ते मृत्योस्तस्य परात्मनः ॥ विषमस्थं यतः सर्वं प्राणव्यापत्तिकारणम् । तुषाग्रमात्रमपि हि मृत्युः सर्वमिदं ततः ॥ मौढ्यं जाड्यमविद्या स्यान्नित्यबुद्धात्मवस्तुनः । अनात्मनि च तद्दृष्टं तेन मृत्युरिदं जगत् ॥ न हि प्रमाणतो मृत्युः शक्यो दर्शयितुं ततः । रूपाणि मृत्योस्तेन स्युः कार्याणि करणानि च ॥ अतिक्रामति तान्यात्मा जाग्रत्स्थानाश्रयापतः । क्रियाफलाश्रयाण्येष तस्माच्छुद्धो ध्रुवश्च सः" ॥ ४५२-४५९ ॥ इति । मृत्यो रूपाणीत्यत्र मृत्युशब्दार्थमाह—आत्मेति । तत्र हेतुमाह—नित्यस्येति । मृतेस्तदभिमानादिति यावत् । अविद्याया मृत्युशब्दत्वे श्रुतिमाह—मृत्युरिति । श्रौतेऽर्थे युक्तिमुक्तां स्मारयति—आत्मेति । तमःशब्दिताऽविद्या नित्यसिद्धमप्यात्मानं निह्नुते प्रमाणवत्त्वनादृत्य परमात्मेव तिष्ठतीति न्यायादतोऽसौ मृत्युरित्यर्थः ॥ आत्मो मृतिहेतौ मृत्युशब्देऽपि तमःशब्दो गुणविशेषवाचीत्याशङ्क्याऽऽह—स्वत इति । तत्रैव विद्वत्प्रसिद्धिमाह—अविद्यामिति । आत्माविद्यैव मृत्युरित्यत्र हेत्वन्तरमाह—प्राणेति । न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीति विदुषो मरणं निषिध्यते । न च सम्यग्ज्ञानमज्ञानादन्यन्निवर्तयत्यतस्तन्निवर्त्यो मृत्युरज्ञानमेवेत्यर्थः ॥ रूपशब्दार्थमाह—रूप्यत इति । परात्मनस्तदुपाधेः साभासस्याज्ञानस्येति यावत् ॥ आत्माविद्या मृत्युस्तस्य रूपाणि कार्यकरणानीत्युक्त्वा सर्वमनात्मजातं मृत्युरिति प्रकारान्तरमाह—विषमस्थमिति । कण्ठादिनिष्ठस्योच्छ्वासस्य निर्गन्तुमसमर्थस्याल्पीयसोऽप्यन्नपानादेर्मृतिहेतुत्वमनुभवसिद्धमिति हिशब्दार्थः ॥ तत्र हेत्वन्तरमाह—मौढ्यमिति । अज्ञानं हि मौढ्यपर्यायं मृत्युरित्युक्तं मौढ्यं चानात्मन्यपि स्वरूपतया दृश्यते तेन सोऽपि मृत्युरित्यर्थः ॥ किमित्येवं रूपस्य मृत्यो रूपाणि कार्यकरणान्युच्यन्ते

प्रत्यक्षेण वाऽनुमानेन वाऽनुपलम्भात्। [1]'यथाऽन्या तत्काल एव द्वितीया धीः। भास्यावभासकयो[2]रन्यत्वेऽपि '[3]विवेकानुपलम्भा[4]त्सादृश्यमिति[5]' घटाद्यालोकयोः। [6]त न्यत्वेनाऽऽलोकस्यो[7]पलम्भाद्[8]घटादेः संश्लिष्टयोः [9]सादृश्यं भिन्नयोरेव न च तथेह[10] धियोऽवभासकं ज्योतिरन्तरं प्रत्यक्षेण वाऽनुमानेन वोपलभामहे। धीरेव [11]हि [12]चि वभासकत्वेन [13]स्वाकारा [14]विषयाकारा च। [15]तस्मान्नानुमानतो नापि प्रत्यक्षतो भासकं ज्योतिः शक्यते प्रतिपादयितुं व्यतिरिक्तम्।

यदपि दृष्टान्तरूपमभिहितमवभास्यावभासकयोर्भिन्नयोरेव घटा

द्धिरित्याशङ्क्य प्रत्यक्षमनुमानं चेति प्रमाणद्वैविध्यनियममभिप्रेत्य ताभ्यामतिरिक्तात्मानु सावस्तीत्याह—धीव्यतिरेकेणेति। [6]तत्र दृष्टान्तमाह—यथेति। घटादिरालोकश्चेत्युभयोर्भि योर्विवेकेनानुपलम्भवदवभास्यावभासकयोर्बुद्ध्यात्मनोर्भेदेऽपि पृथगनुपलम्भादैक्यमवभासते तयोरन्यत्वमेवेति शङ्कामनुवदति—यत्त्विति। वैषम्यप्रदर्शनेनोत्तरमाह—तत्रेति। दृष्टान्तः घटादेरन्यत्वेनेति संबन्धः। ज्योतिरन्तरं नास्ति चेत्कुतो [9]ग्राह्यग्राहकसंवित्तिरित्याश धीरेवेति। बाह्यार्थवादिनोः सौत्रान्तिकवैभाषिकयोरभिप्रायमुपसंहरति—तस्मान्नेति।

इदानीं विज्ञानवादी बाह्यार्थवादिभ्यामभ्युपगतं [10]दृष्टान्तमनुवदति—यदपीति। बाह्

की अन्या बुद्धि है, उसी काल में दूसरी बुद्धि की प्राप्ति नहीं होती। और जो प्रकाश्य घटादि और आलोक का भेद होने पर भी संघातव्यतिरिक्त न हो सकने के कारण तादात्म्य है, सो वहाँ आ भिन्नरूप से प्रत्यक्ष होने के कारण उन दोनों के भिन्न होने पर भी घटादि के साथ मिलने पर हो जाता है, किन्तु यहाँ दार्ष्टान्तिक घट के समान प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से भी बुद्धि की कोई ज्योति हमें अनुभव नहीं होती, बुद्धि ही अपने चिदात्मकरूप से प्रकाशक होने से ग्राहका और प्रकाश्यरूप से ग्राह्याकार हो जाती है। इसलिये बुद्धि की प्रकाशक उससे भिन्न कोई दूसर न ही अनुमान और न ही प्रत्यक्ष से प्रतिपादित की जा सकती है।

---

१. यथेत्यादि—यथैकस्मिन् संताने पूर्वज्ञानातिरेकेण ज्ञानान्तरं तत्तुल्यकालं न प्रत्यक्षं तथाऽऽत्मापि धी न प्रत्यक्ष इत्यर्थः। २ मिथो भिन्नत्वेऽपीत्यर्थः। ३. भिन्नत्वेनापरिज्ञानादैक्यभ्रान्तिहेतोः। स्म्यम्। ५. इतीति—अनुमानमिति शेषः। तद्यथा बुद्ध्यात्मानौ मिथो भिन्नौ भास्यभासकत्वाद्घ विवेति। ६. उक्तानुमानावयवे दृष्टान्ते। ७ प्रात्यक्ष्यात्। ८. पञ्चमीयम्। ९ तादात्म्य दार्ष्टान्तिके। ११. चित्स्वरूपा धीरेवावभासकत्वेन स्वीकारेत्यन्वयः। १२. चिदात्मकं य तदवभासकत्वेनेति यावत्। १३. ग्राहकाकारा। १४. अवभास्यत्वेन विषयाकारा ग्राह्याकारा व शेषः। इदं च अनुमेयबाह्यार्थवादाभिप्रायेण नेयम्। १५. तस्मात् - बुद्धेरेव द्विधाभानात्। १ प्रत्यक्षानुमानयोर्मध्ये धीव्यतिरिक्ततत्साक्षिसाधकस्य प्रत्यक्षस्याभावे अनुमानाभावे चेत्यपि न मन्दस बुद्ध्यात्मनोर्भास्यभासकयोर्ज्ञानमित्यर्थः। १८. सिद्धान्तिनोक्तम्।

तत्राऽऽह—न हीति। प्रमाणनिरस्त्वं तताशब्दार्थः। मूर्त्योर्मानगम्यत्वायोगे तदगमकत्वेन रूपो फलितमाह—रूपाणीति॥ प्रकृतं वाक्यार्थमुपसंहरति—अतिक्रामतीति। अतःशब्दो यस्मादर्थः। ज्ञावेषे यस्मात्तान्यतिक्रामति तस्मात्कूटस्थो निर्मलश्च प्रत्यग्धातुरित्यर्थः॥

संयुक्तयोः [1]साद्दश्यमिति। तत्राभ्युपगममात्रमस्माभिरुक्तं न तु तत्र घटा[2]द्यवभास्यावभासकौ भिन्नौ। परमार्थतस्तु घटादिरेवावभासात्मकः [3]सालोकः। [4]अन्योऽन्यो हि घटादिरुत्पद्यते। विज्ञानमात्रमेव सालोकघटादिविषयाकारमवभासते। यदैवं[5] तदा न बाह्यो दृष्टान्तोऽस्ति [6]विज्ञानलक्षणमात्रत्वात्सर्वस्य। [7]एवं [8]तस्यैव विज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकाकारतामलं परिकल्प्य [9]तस्यैव पुन[10]र्विशुद्धिं परिकल्पयन्ति। [11]तद्ग्राह्यग्राहकविनिर्मुक्तं विज्ञानं स्वच्छीभूतं [12]क्षणिकं व्यवतिष्ठत इति [13]केचित्। [14]तस्यापि [15]शान्तिं केचिदिच्छन्ति। तदपि विज्ञानं [16]सांवृतं ग्राह्य-

---

प्रक्रिया न सुगताभिप्रेतेति दूषयति—तत्रेति। [17]उभयत्र दृष्टान्तस्वरूपं सप्तम्यर्थः। ननु घटादेरवभास्यादालोकोऽवभासको भिन्नो लक्ष्यते नेत्याह—परमार्थतस्त्विति। [18]तस्य स्थायित्वं व्यावर्तयति—अन्योऽन्य इति। प्रतीतं [19]विषयप्राधान्यं व्यावर्तयन्नु[20]क्तमेव व्यनक्ति—विज्ञानमात्रमिति। विज्ञानवादे यथोक्तदृष्टान्तराहित्यं फलतीत्याह— यदेति। शिष्यबुद्ध्यनुसारेण त्रिविधं बुद्धाभिप्रायमुपसंहरति—एवमित्यादिना। परिकल्प्येत्यन्तेन बाह्यार्थवादमुपसंहृत्य तस्यैवेत्यादिना विज्ञानवादमुपसंजहार। [21]तत्र विज्ञानवादोपसंहारं विवृणोति—तद्ग्राह्येति। शून्यवादिमतमाह—तस्यापीति। [22]तदेव स्फुटयति—तदपीति।

इसके अतिरिक्त व्यतिरिक्त और परस्पर संयुक्त प्रकाश्य घटादि और प्रकाशक आलोक का जो दृष्टान्तरूप से तात्पर्य प्रतिपादन किया है, उसे भी हमने स्वीकार मात्र करना कहा है। किन्तु वहाँ घट-आलोक का प्रकाश्य और प्रकाशक भिन्न नहीं है। तत्त्वतः तो आलोक के सहित घटादि ही अवभासक-रूप हैं क्योंकि प्रतिक्षण अन्य-अन्य घट उत्पन्न होता रहता है। केवल विज्ञानमात्र ही आलोकसहित घटादिरूप विषयाकार में भासित होता रहता है। जब सब कुछ विज्ञानमात्र ही है, तो वस्तुतः बाह्य दृष्टान्त नहीं है क्योंकि सब कुछ विज्ञानमात्र स्वरूप वाला है। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) सबके विज्ञानमात्र होने पर सर्वाधिष्ठान उस विज्ञान की ही ग्राह्य-ग्राह्याकारता मल की कल्पना करके सर्वाभिन्न उसीकी पुनः विशुद्धि की कल्पना करते हैं। कुछ विज्ञानवादी ऐसा कहते हैं कि विज्ञानग्राह्य-

---

१. साद्दश्यम्—तादात्म्यम्। २. आदिनाऽऽलोकग्रहः। ३. सालोक इति—नन्वालोकसंसृष्टस्यापि घटस्य कथमवभासात्मकत्वमिति चेच्छृणु यतः सालोको घटः क्षणमात्रमेवावतिष्ठतेऽतस्तयोर्भेदस्य दुर्ग्रहत्वादभेद एवेति
४. प्रतिक्षणम्। ननु सालोको घटः क्षणमात्रवृत्तिश्चेत्तर्हि कथं स्थायित्वधीरिति तत्राऽऽह—अन्योऽन्यो हीति।
अतः स्थायित्वधीभ्रान्तिरूपा तथा च दृष्टान्ते साध्यविकलतेति शेषः। ५ एवं—विज्ञानमात्रमेव
तत्त्वम्। ६. विज्ञानमात्रस्वरूपत्वात्। ७. एवं—सर्वस्य विज्ञानमात्रत्वे सति। ८. तस्यैव—
सर्वाधिष्ठानस्यैव। ९ सर्वाभिन्नस्य। १०. विशुद्धिमिति कल्पितस्य ग्राह्यग्राहकलक्षणमलस्य विज्ञान-
मात्रत्वमिति यावत्। अत्र बौद्धवाक्यमेव वार्तिकोक्तं तथाहि—"अभिन्नोऽपि हि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितबुद्धिभिः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यत इति" ॥ ४७६ ॥ इति। तस्मान्न वस्तुतो ग्राह्यग्राहकभेदोऽस्तीति शेषः।
११. विज्ञानमिति संबन्धः। १२. सिद्धान्ताद्विशेषमाह—क्षणिकमिति। १३. विज्ञानैकवादिनः। १४.
शुद्धस्यापि विज्ञानैकवादिनः। १५. अभावम्। १६. संवृतिरविद्यातत्कार्यं सांवृतमाविद्यम्। १७. तत्रेति
शब्दद्वये। १८ सालोकस्य घटादेः। १९. सालोक इत्युक्त्वा प्रतीयमानमालोकविशेषणकघटादिप्राधान्य-
मित्यर्थः। २०. परमार्थतस्त्वित्यादिना भङ्ग्यन्तरेण पारमार्थिकं वस्तुविज्ञानमात्रमेवेत्युक्तमेवेत्यर्थः। २१.
तत्र—बाह्यार्थविज्ञानवादोपसंहारयोर्मध्ये। २२. शून्यवादिमतम्।

ग्राहकांशविनिर्मुक्तं शून्यमेव घटादिबाह्यवस्तुवदित्यपरे[1] माध्यमिका आचक्षते।

सर्वा एताः कल्पना बुद्धिविज्ञानावभासकस्य[2] व्यतिरिक्तस्याऽऽत्मज्योतिषोऽपह्नव दस्य श्रेयोमार्गस्य प्रतिपक्षभूता [3]वैदिकस्य। [4]तत्र येषां बाह्योऽर्थोऽस्ति तान्प्रत्युच्यते तावत् न [5]स्वात्मानवभासकत्वाद्[6]घटादेः। तमस्यवस्थितो घटादिस्तावन्न कदाचिदपि स्वात्म नाऽवभास्यते। प्रदीपाद्यालोकसंयोगेन तु नियमेनैवावभास्यमानो दृष्टः सालोको घ इति। संश्लिष्टयोरपि घटालोकयोरन्यत्वमेव पुनः पुनः [7]संश्लेषे [8]विश्लेषे च [9]विशेष दर्शनाद्रज्जुघटयोरिव। अन्यत्वे च व्यतिरिक्तावभासकत्वं[10] न स्वमात्मनैव स्वमात्मानमव भासयति।

पक्षत्रयेऽपि दोषं संभावयति—सर्वा इति। कथममूषां कल्पनानां दूषणमित्याशङ्क्य प्रथ बाह्यार्थवादिनं प्रत्याह—तत्रेति। निर्धारणे सप्तमी। यत्तु धीरेव,वभासकत्वेन स्वाकारेति तत्राऽऽह नेति। यदवभास्यं [11]तत्स्वातिरिक्तावभास्यमवभास्यत्वाद्यथा घटादि। अवभास्या चेयं बुद्धिरित्यनुमा नाद्बुद्धिव्यतिरिक्तः साक्षी सिध्यतीत्यर्थः। दृष्टान्तं साधयति—तमसीति। [12]तस्यावभासकापेक्षां दर्शयि विशेषणम्—सालोको घट इति। [13]संश्लेषावगमान्नास्ति घटस्य व्यतिरिक्तावभास्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह संश्लिष्टयोरपीति। भवत्वन्यत्वं किं तावतेत्याशङ्क्याऽऽह—अन्यत्वे चेति। व्यतिरिक्तावभासक ताद्दशावभासक[14]साहित्यमिति यावत्। अवभासयति घटादिरिति शेषः।

ग्राहकविनिर्मुक्त विज्ञान स्वच्छीभूत और क्षणिक रहता है। शुद्ध विज्ञान का भी कुछ (शून्यवादी प्रभाव चाहते हैं। दूसरे माध्यमिक बौद्ध कहते हैं—वह विज्ञान भी अविद्या का कार्य है, घटादि बा वस्तुओं के समान ग्राह्य और ग्राहकांश से वर्जित शून्य ही है।

ये सभी कल्पनाएँ बुद्धिरूप विज्ञान के प्रकाशक संघातव्यतिरिक्त आत्मज्योति परित्याग करने वाली होने से इस वेदप्रतिपादित मोक्षमार्ग की विघ्नरूपा हैं। उन (सौत्रान्तिक, वैभाषि योगाचार और माध्यमिकों) के मध्य जो घटादि बाह्यपदार्थों की सत्ता को मानते हैं, उनके प्र कहा जाता है। घटादि स्वयं ही अपने प्रकाशक तो हो नहीं सकते। अन्धकार में रखे हुए घटादि क भी अपने आप प्रकाशित नहीं होते; प्रदीपादि के प्रकाश के संयोग होने पर 'यह घट प्रकाशयुक्त है इस प्रकार उनका नियम से प्रकाशित होना देखा जाता है। संयोग को प्राप्त घट और प्रकाश भी ए दूसरे से भिन्न ही हैं क्योंकि रस्सी और घट के समान पुनः-पुनः संयोग और वियोग होने पर उनमें भा भानात्मक भेद देखा जाता है। अन्यत्व होने पर भिन्नप्रकाशकत्व सिद्ध है। वे स्वयं ही अपने आप

---

१. अर्थाभावे कथं ज्ञानं ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति व्युत्पत्तेरिति वदन्तः। २. संघातव्यतिरिक्तस्येति यावत्। वैदिकस्य—वेदप्रोक्तस्य श्रेयोमार्गस्य मोक्षमार्गस्येत्यन्वयः। ४. तत्र—सौत्रान्तिकवैभाषिकयोगाचारमा मिकानां मध्ये यो बाह्यार्थवादिनावाद्यौ तौ प्रति दोषोक्तिस्तावत् क्रियत इति योजना। ५. धीरेव चित्स्व प्रथते ग्राहकात्मनेति यदुक्तं तन्नेति प्रतिज्ञाय हेतुमाह—स्वात्मेति। ६. सालोकस्य घटादेरालोकव्याप्त त्यर्थः। ७. संयोगे। ८. वियोगे। ९. विशेषो भानाभानात्मक इत्याहुः वस्तुतो भेदोऽत्र विशेषः। १०. सिद्धमिति शेषः। ११. स्वातिरिक्तावभास्यमिति। अत्र सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायात्। स्वा रिक्तेनैवावभास्यत्वं साध्यं बोध्यं एतच्चानुपदमेव स्फुटिष्यति। १२. घटस्य। १३. सालोको घट संश्लेषदर्शनात् संश्लेषस्तादात्म्यम्। १४. साहित्यमिति—न ताद्रूप्यमिति हृदयम्।

ननु प्रदीपः स्वात्मानमेवावभासयन्दृष्ट इति । न हि घटादिवत्प्रदीपदर्शनाय प्रकाशान्तरमुपाददते लौकिकाः । [1]तस्मात्प्रदीपः स्वात्मानं प्रकाशयति । न । अवभास्यत्वाविशेषात् । यद्यपि प्रदीपोऽन्यस्यावभासकः स्वयमवभासात्मकत्वात्तथाऽपि व्यतिरिक्तचैतन्यावभास्यत्वं न व्यभिचरति [2]घटादिवदेव । यदा [3]चैवं तदा व्यतिरिक्तावभास्यत्वं तावदवश्यंभावि । ननु यथा घटश्चैतन्यावभास्यत्वेऽपि व्यतिरिक्तमालोकान्तरमपेक्षते नत्वेवं प्रदीपोऽन्यमालोकान्तरमपेक्षते । [4]तस्मात्प्रदीपो[5]ऽन्यावभास्योऽपि सन्नात्मानं घटं चावभासयति ।

न, [6]स्वतः[7] परतो वा विशेषाभावात् । [8]यथा चैतन्यावभास्यत्वं घटस्य तथा

दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वे परिहृते व्यभिचारमाशङ्कते—नन्विति । [9]तदेव व्यतिरेकमुखेना(णा)ऽऽह—न हीति । अनैकान्तिकत्वं [10]निगमयति—तस्मादिति । प्रदीपस्य पक्षतुल्यत्वान्न व्यभिचारोऽस्तीति परिहरति—नावभास्यत्वेति । अथान्यावभासकत्वा[11]त्तस्य नान्यावभास्यत्वमिति चेत्तत्राऽऽह—यद्यपीति । अवभास्यत्वहेतोरव्यभिचारे फलितमाह—यदा चेति । व्यतिरिक्तावभास्यत्वं बुद्धेरिति शेषः । अवभास्यत्वे सत्यपि प्रदीपे स्वातिरिक्तेनैवावभास्यत्वमितिनियमासिद्धेर्व्यभिचारतादवस्थ्यमिति शङ्कते—नन्विति ।

यदि प्रदीपस्य स्वावभासनात्पूर्वमस[12]न्विशेषः [13]समनन्तरकाले स्यात्तदा स्वात्मानं भासयतीति वक्तुं युक्तं न च [14]सोऽस्तीति दूषयति—नेत्यादिना । [15]तदेव विवृणोति—यथेति । [16]अवभास्यत्वाविशेषा-

---

प्रकाशित नहीं करते ।

(इस पर पूर्वपक्षी कहता है —) किन्तु प्रदीप तो स्वयं ही अपने आप को प्रकाशित करता हुआ देखा जाता है । लोकव्यवहार में भी घटादि के समान दीपक को देखने के लिये किसी अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं है । इसलिये (प्रकाश के तुल्य होने से) दीपक स्वयं ही अपने को प्रकाशित

---

१. समत्वात् प्रकाशस्य प्रकाशान्तरानपेक्षत्वात् । २. घटादिवदेवेति—यो भास्यः स स्वेतरभास्यो यथा घटादिः भास्यश्च प्रदीप इति व्याप्तिसिद्धावुक्तानुमानं युक्तमिति भावः । ३. एवम्—उक्तहेतोरव्यभिचरितत्वम् । ४. समत्वेन प्रकाशस्य प्रकाशान्तरानपेक्षत्वात् । ५. चैतन्यावभास्योऽपि । ६. स्वपरप्रयुक्तः । ७. स्वतः परतो वा विशेषाभावादिति । स्वापेक्षया परापेक्षया वा वैलक्षण्याभावादित्यर्थः । यथाऽवभासनकाले घटत्वादिना घटान्तरतुल्योऽपि पूर्वं तमोवृतस्वरूपोऽधुना त्वनावृतरूप इति भवति स्वतो वैलक्षण्यभाग्घटः । यथा वा प्रकाशेऽवस्थितयोर्घटयोरेकस्य हस्तादिच्छाययाऽऽवृतत्वे सत्यपरस्य स्वतोऽविशेषेऽपि भवति च्छायावृतात्परतो विशेषस्तौ च विशेषौ प्रदीपादिकृताविति प्रदीपादि भास्यो भवति घटः नैवमवभासनकाले प्रदीपस्य स्वपरवैलक्षण्यमित्यर्थः । ८. यथा चैतन्यावभास्यत्वमित्यादि । प्रदीपो यद्यवभासनात्प्रागस्ति स तर्हि चैतन्यावभास्य एवाऽन्यथाऽस्तीत्येव न स्यादूर्ध्वमपि स तथैवेति स्वतो विशेषाभावः । यदि नास्ति तदा क्व विशेषोऽसन्य ऊर्ध्वं स्यात् । नापि परतो घटादितो वैशिष्ट्यं चैतन्यावभास्यत्वतौल्यादित्यर्थः । ९. स्वात्मावभासकत्वमेव । १०. उपसंहरति । ११. दीपस्य । १२. अविद्यमानस्तमोध्वंसादिरूपः । १३. स्वावभासनोत्तरसमये । १४. सः—स्वतः परतो वा स्वावभास्यत्वोपयोगी विशेषः । १५. विशेषासत्त्वमेव । १६. अविशिष्टत्वे हेतुं पूरयति—अवभास्येति ।

प्रदीपस्यापि चैतन्यावभास्यत्वमविशिष्टम्[1] । यत्तूच्यते प्रदीप आत्मानं घटं चावभासयतीति तदसत् । कस्मात् । [2]यदाऽऽत्मानं नावभासयति तदा [3]कीदृशः स्यात् । न हि [4]तदा प्रदीपस्य स्वतो वा परतो वा [5]विशेषः कश्चिदुपलभ्यते । स ह्यवभास्यो भवति यस्यावभासकसंनिधावसंनिधौ च विशेष उपलभ्यते । न हि प्रदीपस्य स्वात्मसंनिधिरसंनिधिर्वा शक्य

दित्यर्थः । [7]प्रदीपे परोक्तं '[8]विशेषमनुभाष्य दूषयति—यत्त्वित्यादिना । यदा दीपो न स्वात्मानं भासयति तदाऽनवभासमानः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । विशेषाभावेऽपि दीपस्य स्वेनैवावभास्यत्वं किं न स्यादिति चेत्तत्राऽऽह—स हीति । दीपस्य विशेषान्तराभावेऽपि स्वात्मसंनिध्यसंनिधौ विशेष

करता है। (सिद्धान्ती इस शङ्का का परिहार करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है—क्योंकि प्रकाश्यत्व में दीपक घटादि से समानता है। यद्यपि प्रदीप स्वयंप्रकाश होने के कारण दूसरों का प्रकाशक है तथापि घटादि के समान ही वह अपने से व्यतिरिक्त चैतन्य द्वारा प्रकाशित होने की योग्यता का त्याग नहीं करता। यदि ऐसा है, तो दीपक का अपने से भिन्न से प्रकाशित होना आवश्यक है। (इस पर पुनः पूर्ववादी कहता है—) किन्तु जैसे चैतन्य से प्रकाश्य घट को अपने से पृथक् आलोक की आवश्यकता होती है उसी प्रकार दीपक को तो किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती। इसलिये प्रदीप अन्य चैतन्य से प्रकाश्य होने पर भी अपने और घट को प्रकाशित करता है।

(इस पर सिद्धान्ती कहता है—) उसमें स्वप्रयुक्त और परप्रयुक्त ऐसी कोई विशेषता नहीं जिस प्रकार घट चैतन्य से प्रकाशित होता है, उसी प्रकार प्रदीप भी चैतन्य से प्रकाशित होता है इसलिये स्वप्रकाश्यतारूप विशिष्टता प्रदीप में नहीं है। एवं यह जो कहा जाता है कि प्रदीप अपने और घट को प्रकाशित करता है; यह भी मिथ्या है। ऐसा क्यों कहते हो? जब प्रदीप अपने को प्रकाशित नहीं करता; तो वह (भासमान या अभासमान) कैसा है? अपने को प्रकाशित न करने की दशा में तो दीपक का अपने या अन्य से (तमो अविनष्टिरूप) कोई विशेष अन्तर नहीं देखा जाता; वही प्रकाश्य होता है, जिसमें प्रकाशक का संयोग और वियोग होने पर कोई विशिष्टता देखी जाय। प्रदीप की तो अपने से संयुक्त और वियुक्त होने की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिये कभी-कभी होने वाले (घट

---

१. तस्मान्न स्वप्रकाश्यता प्रदीपस्येति शेषः । २. यदात्मानमित्यादि कश्चिदुपलभ्यत इत्यन्तम् । उक्तो विशेषो यदि भासनात्प्राङ्नासीन्नाभूत्तर्हि (स्वरूपत्यागेन स्वरूपिणाऽवस्थातुमशक्यत्वादिति भावः) दीप इति क्वासौ विशेषोऽसन्नवतिष्ठेत । यद्यभूत्पुरस्तात् कुतस्तर्हि तस्यावभासनकालीनत्वमेव । अथ विशेषाभावेऽपि दीपोऽस्ति भासनात्प्राक् तर्हि चैतन्यावभास्यत्वमेव सर्वसममित्यर्थः (अवभासनानवभासनावस्थे स्वस्मिन् परस्मिन्वा घटादौ तुल्यमित्यर्थः) । वस्तुतस्तूक्तविशेषाभावे दीपसत्त्वं न संभवति । ननु विशेषाभावेऽपि दीपोऽस्तीति पक्षेऽनवभासनेऽसन्नवभासने च सन् विशेषः प्रदीपः स्वात्मानं घटं च भासयतीति प्रतीतिनियामकः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—वस्तुतस्त्विति । तथा च क्व विशेषोऽसन्नित्युक्त एव दोष इति भावः । ३. भासमानोऽभासमानो वा ४. स्वात्माऽनवभासकत्वदशायाम् । ५. तमोऽध्वसादिरूपः । ६ यथा दीपासंनिधावसन् कुम्भस्य तत्संनिधौ च सन् विशेषस्तमोध्वंसो न तथा प्रदीपे विशेषो मानाभावादित्यर्थः । ७. प्रदीपे परोक्तं विशेषमिति— स्वपरभासकत्वरूपमवभासनकाले स्वपरविशेषमित्यर्थः । ८. विशेषम्—घटापेक्षया वैलक्षण्यम् ।

कल्पयितुम्। असति च कादाचित्के [2]विशेष आत्मानं प्रदीपः प्रकाशयतीति मृषै[3]वोच्यते। चैतन्यग्राह्यत्वं तु घटादिभिरविशिष्टं प्रदीपस्य। तस्माद्विज्ञानस्य[4]ऽऽत्मग्राह्य-ग्राहकत्वे न प्रदीपो दृष्टान्तः। [5]चैतन्यग्राह्यत्वं च विज्ञानस्य [6]बाह्यविषयैरविशिष्टम्। तन्यग्राह्यत्वे च[7] विज्ञानस्य किं ग्राह्यविज्ञानग्राह्यतैव किं वा ग्राहकविज्ञानग्राह्यतेति त्र संदिह्यमाने वस्तुनि यो[8]ऽन्यत्र दृष्टो [9]न्यायः स कल्पयितुं युक्तो न तु दृष्टविपरीतः। तथा च सति यथा व्यतिरिक्तेनैव ग्राहकेण बाह्यानां प्रदीपानां ग्राह्यत्वं दृष्टं तथा ज्ञानस्यापि चैतन्यग्राह्यत्वात्प्रकाशत्वे सत्यपि प्रदीपवद्व्यतिरिक्तचैतन्यग्राह्यत्वं युक्तं ल्पयितुं न [11]त्वनन्यग्राह्यत्वम्। यश्चान्यो विज्ञानस्य ग्रहीता [12]स आत्मा ज्योतिरन्तरं

त्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। दीपस्य स्वेनान्येन वा स्वस्मिन्विशेषाभावे फलितमाह—असतीति।

व्यभिचारनिरासपूर्वकं भास्यत्वानुमानमुपपाद्यानुमानान्तरमाह—चैतन्येति। यद्व्यञ्जकं त्त्वविजातीयव्यङ्ग्यं यथा सूर्यादि व्यञ्जकं च [13]विज्ञानं तस्माद्विज्ञानव्यतिरिक्तश्चिदात्मा सिध्यती-त्यर्थः। प्रदीपस्य न स्वावभास्यत्वं किं तु विजातीयचैतन्यावभास्यत्वमिति स्थिते फलितमाह—स्मादिति। यद्ग्राह्यं तद्ग्राहकान्तरग्राह्यं यथा दीपो ग्राह्यं चेदं विज्ञानमि[14]त्यनुमानान्तरमाह—तन्येति। [15]तथाऽपि कथं त्वदिष्टग्राहकसिद्धिरित्याशङ्क्य विमृशति—चैतन्यग्राह्यत्वे चेति। कथं [16]तर्हि निर्णयस्तत्राऽऽह—इति तत्र संदिह्यमान इति। अस्तु लोकानुसारी निश्चयो लोकस्तु कथमित्या-शङ्क्याऽऽह—तथा चेति। [17]तथाऽपि कुतो विवक्षितात्मज्योति[18]स्तत्राऽऽह—यश्चेति।

की अपेक्षा से) वैलक्षण्य न होने पर "प्रदीप अपने को प्रकाशित करता है" ऐसा मिथ्या ही कहा जाता है।

प्रदीप का चैतन्यग्राह्य होना घटादि के सदृश ही है; अतः (प्रदीप के स्वयंप्रकाशक न होने से) विज्ञान के स्वयंग्राह्य और ग्राहक होने में प्रदीप का दृष्टान्त नहीं बनता। विज्ञान का ज्ञानग्राह्य होना तो प्रदीपादि बाह्य विषयों के समान ही है। विज्ञान के ज्ञानग्राह्य सिद्ध होने पर क्या ग्राह्यविज्ञान की ग्राह्यता है अथवा ग्राहकविज्ञान की इस पर वस्तु में संदेह होने पर जो निश्चय लोकव्यवहार में देखा जाता है। उसकी यहाँ भी कल्पना करनी चाहिये। दृष्टनिश्चय से अन्य कल्पना करना उचित नहीं है। ऐसा होने पर जिस प्रकार व्यतिरिक्त ग्राहक द्वारा बाह्य प्रदीप की ग्राह्यता देखी जाती है, उसी प्रकार

---

[1] कल्पयितुमिति—संनिध्यसंनिध्योर्भेदघटितत्वादिति भावः। [2] विशेषम्—घटापेक्षया वैलक्षण्यम्। [3] प्रदीपस्य स्वभास्यत्वाभावात्। [4] स्वयमेव ग्राह्यं ग्राहकं च तत्त्वे। [5] ज्ञानग्राह्यत्वम्। [6] प्रदीपादिभिः। [7] अवधृते सति। [8] लोके। [9] निश्चयः। [10] तथा च सति निश्चयस्य लोकानुसारित्वे सतीत्यर्थः। [11] स्वग्राह्यत्वम्। [12] स आत्मेति वार्तिके यथा—"ग्राहकग्रहणग्राह्यभावाभावविभागवित्। ग्रहणादश्च यो भिन्नः स आत्मेत्यवगम्यताम्" ॥ ५१८ ॥ [13] विज्ञानमिति वार्तिके—"विज्ञानमपि तद्भिन्नजातिविद्-ग्राह्यमिष्यताम्। व्यञ्जकत्वाविशेषत्वाद्रविचन्द्रप्रदीपवदिति" ॥ ५१४ ॥ [14] अनुमानान्तरमिति। न च १०२२पृष्ठोक्तयदवभास्यमित्यादि भास्यत्वानुमानेन पुनरुक्तिः ज्ञानप्रकाश्यत्वस्यात्र हेतुत्वात् प्रकाशत्वमात्रं तु भास्यतेति भावः। [15] विज्ञानस्य ग्राह्यत्वेऽपि। [16] तर्हि—वस्तुनि संदेहे सति। [17] विज्ञानस्य स्वान्यचैतन्यग्राह्यत्वेऽपि। [18] सिध्यति।

विज्ञानात् ।

[1]तदाऽनवस्थेति चेत् । न । ग्राह्यत्वमात्रं हि तद्[2]ग्राहकस्य [3]वस्त्वन्तरत्वे लि न्यायतः । न त्वैकान्ततो [5]ग्राहकत्वे तद्ग्राहकान्तरास्तित्वे वा कदाचिदपि संभवति । [7]तस्मान्न तद[8]नवस्थाप्रसङ्गः ।

[9]विज्ञानस्य व्यतिरिक्तग्राह्यत्वे करणान्तरापेक्षायामनवस्थेति चेत् ।

विज्ञानस्य ग्राहकान्तरग्राह्यत्वे, तस्यापि ग्राहकान्तरापेक्षायामनवस्थाप्रसक्तिरिति तदाऽनवस्थेति चेदिति । कूटस्थबोधस्य विज्ञानसाक्षिणो[10]ऽविषयत्वान्नानवस्थेति परिहरति—यद्ग्राह्यं तत्स्वातिरिक्तग्राह्यं यथा घटादिति[11] ग्राह्यत्वमात्रं बुद्धिग्राहकस्य [12]ततो वस्त्वन्तरत्वे [13]स्वानवभास्यत्वन्यायेन [14]लिङ्गमुक्तं न च बुद्धिसाक्षिणो ग्राह्यत्वमस्ति कूटस्थदृष्टिस्वाभाव्या ऽनवस्थेत्युपपादयति—ग्राह्यत्वमात्रं हीति । साक्षी स्वातिरिक्तग्राह्यो ग्राहकत्वाद्बुद्धिवदित्याश —न त्विति । ग्राहकत्व हि ग्रहणकर्तृत्वं वा [15]तत्साक्षित्वं वा । आद्ये बुद्धिसाक्षिणो ग्रहणकर्तृत्वे न किंचि[17]ल्लिङ्गं संभवति । द्वितीये [18]तस्य ग्राहकान्तरास्तित्वे न कदाचिदपि प्रमा तत्कुतोऽनवस्थेत्यर्थः ।

[19]ग्राहकानवस्थां परिहृत्य [20]करणानवस्थामाशङ्कते—विज्ञानस्येति । [21]तस्य हि चक्षुरादिस्थानीयेन करणेन भवितव्यं [22]तस्यापि ग्राहत्वेऽन्यत्करणमित्यनवस्थां दूषयति—न नि

विज्ञान की भी चैतन्यग्राह्यता होने के कारण प्रकाशक होने पर भी दीपक के समान अपने चैतन्य द्वारा ही ग्राह्यता कल्पना करनी चाहिये । उसकी स्वग्राह्यता मानना उचित नहीं प्रकार जो विज्ञान का ग्रहीता है, वह आत्मा विज्ञान से भिन्न ज्योति है ।

यदि कहो—उस (विज्ञान के ग्राहकान्तर ग्राह्यत्व) दशा में अनवस्था दोष आ जाए ऐसा कहना ठीक नहीं है । ग्राह्यत्वमात्र में बुद्धिविज्ञान साक्षी के बुद्धिविज्ञान भिन्न होने में लिङ्ग (ज्ञापक) कहा गया है, किन्तु उस अव्यभिचरित लिङ्ग के साक्षी होने पर अथवा किसी

---

[1] विज्ञानस्य ग्राहकान्तरग्राह्यत्वदशायाम् । [2] बुद्धिविज्ञानसाक्षिणः । [3] बुद्धिविज्ञानभिन्नत्वे एकान्ततो लिङ्गमित्यन्वयः—अव्यभिचरितं लिङ्गमित्यर्थः । [5] ग्राहकत्वे साक्षिण इति शेषः प्रमाणम् । [7] तस्मात्—स्वप्रकाशस्य साक्षिणो ग्राहकान्तरानपेक्षत्वात् । [8] ग्राहकत्वप्रयुक्तानवस्था बुद्धेः । [10] अग्राह्यत्वात् । [11] व्याप्त्या । [12] ग्राह्यबुद्धितः । [13] स्वेत्यादि । स्वानव साधकयुक्तिकलापेन यदाऽऽत्मानमित्यादि न प्रदीपो दृष्टान्त इत्यन्त भाष्यप्रदर्शितेनोक्तमित्यन्वयः । लिङ्गमुक्तमिति—तच्च बुद्धिविज्ञानं स्वातिरिक्तग्राह्यं ग्राह्यत्वाद्घटादिवदिति । [15] ग्रहणसाक्षित्वम् परमार्थत इति यावत् । [17] प्रमाणम् । [18] बुद्धिसाक्षिणः । [19] ग्राहकद्वारा । [20] करण नवस्थाम् । [21] चक्षुरादिकरणकं ज्ञानमन्येन ज्ञेयं चेत् तस्य ज्ञानविषयकज्ञानस्य करणान्तरं विषयविषयिणोर्भिन्नकरणकत्वस्यैव दृष्टत्वात् । तस्यापि ज्ञानस्यान्यज्ञेयत्वेऽन्यत् करणं वक्तव्यं ग्राह्यग्रा मर्यान्तरस्य करणस्यावश्यकत्वात् । न च चिदाभासः (द्वितीयज्ञानरूपः) करणानपेक्षस्तस्याऽऽ (अनित्यत्वेन) तदपेक्षा ध्रौव्यादित्यनवस्था करणद्वारिका सुस्थेत्यभिप्रेत्याह—तस्येति । चक्षुरादिकरण रूपेत्यर्थः । [22] तस्यापि—ज्ञानविषयकज्ञानस्यापि ।

नियमाभावात् । न हि [2]सर्वत्रायं नियमो भवति । [3]यत्र वस्त्वन्तरेण गृह्यते वस्त्वन्तरं त्र ग्राह्यग्राहकव्यतिरिक्तं करणान्तरं स्यादिति [4]नैकान्तेन नियन्तुं शक्यते । [5]वैचित्र्य-र्शनात् । कथम् । घटस्तावत्स्वात्म[6]व्यतिरिक्तेना[7]ऽऽत्मना ग्राहकेण गृह्यते [8]तत्र [9]प्रदीपा-रालोको [10]ग्राह्यग्राहकव्यतिरिक्तं करणम् । न हि प्रदीपाद्यालोको घटांशश्चक्षुरंशो । घटवच्चक्षुर्ग्राह्यत्वेऽपि प्रदीपस्य [11]चक्षुः, प्रदीपव्यतिरेकेण न [12]बाह्यमालोकस्थानीयं कञ्चि[13]त्करणान्तरमपेक्षते । [14]तस्मान्नैव नियन्तुं शक्यते यत्र यत्र व्यतिरिक्तग्राह्यत्वं तत्र त्र करणान्तरं स्यादेवेति । [15]तस्माद्विज्ञानस्य व्यतिरिक्तग्राहकग्राह्यत्वे न करणद्वाराऽन-स्था नापि ग्राहकत्वद्वारा कदाचिदप्युपपादयितुं शक्यते । [16]तस्मात्सिद्धं विज्ञानव्यति-

---

दिति । नियमाभावं साधयति—न हीत्यादिना । वैचित्र्यदर्शनमाकाङ्क्षापूर्वकं स्फुटयति—कथमित्या-ना । [17]उभयव्यतिरेकं विशदयति—न हीति । [18]तथाऽपि कथं वैचित्र्यं तत्राऽऽह—घटवदिति । नियमा-वमुपसंहरति—तस्मादिति । [19]अनवस्थाद्वयनिराकरणं निगमयति—तस्माद्विज्ञानस्येति । बाह्यार्थ-ादिमतनिराकरणमुपसंहरति—तस्मात्सिद्धमिति ।

अस्तित्व में कभी कोई प्रमाण होना संभव नहीं है। इसलिये (स्वप्रकाश साक्षी की ग्राहकान्तर अपेक्षा न होने से) अनवस्था प्रसङ्ग नहीं होगा ।

यदि कहो कि विज्ञान बुद्धि को किसी अन्य से ग्राह्य मानने पर करणान्तर की अपेक्षा होने के रण अनवस्था दोष बना रहेगा, तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि (ग्राह्य ग्राहक के सम्बन्ध के लये अतिरिक्त करण कल्पना करना) कोई नियम नहीं है। ग्रहण स्थल में सर्वत्र यह नियम नहीं होता। हाँ किसी वस्तु से अन्य वस्तु ग्रहण की जाती है, वहाँ ग्राह्य और ग्राहक से भिन्न कोई दूसरी इन्द्रिय नी चाहिये। ऐसा अव्यभिचरितरूप से कहना संभव नहीं है, क्योंकि पदार्थों में वैचित्र्य देखा जाता । किस प्रकार ? घट का अपने से भिन्न आत्मीय नेत्र द्वारा ग्रहण होता है, घटग्रहण में प्रदीपादिरूप लोक घट चक्षु से भिन्न करण है क्योंकि प्रदीपादि का प्रकाश न घट का अंश है और न नेत्र का अंश है, न्तु दीपक घट के समान नेत्र से ग्राह्य होने पर भी नेत्र और दीपक से व्यतिरिक्त ग्राह्य-ग्राहकभिन्न बाह्य काशस्थानीय किसी करणान्तर की अपेक्षा नहीं करता। इस प्रकार (व्यभिचार) से ऐसा नियम संभव हीं है कि जहाँ-जहाँ अपने से व्यतिरिक्त वस्तु द्वारा ग्राह्यता होती है, वहाँ-वहाँ कोई करणान्तर होना ी चाहिये। इसलिये विज्ञान की व्यतिरिक्त ग्राहक ग्राह्यता होने पर भी न तो कभी किसी करण के

---

[1] नियमाभावादिति । ग्राह्यग्राहकाभिसंबन्धेऽतिरिक्तकरणस्य नियमाभावान्नानवस्थेत्यर्थः । [2] ग्रहणस्थले । [3] कथमित्युक्तं व्यनक्ति—यत्रेति । [4] अव्यभिचारेण वक्तुम् । [5] पदार्थानाम् । [6] घटभिन्नेन । [7] आत्मीयचक्षुषा । [8] घटग्रहणे । [9] प्रदीपादिरूपालोकः । [10] घटचक्षुर्भ्यां भिन्नम् । [11] ग्राह्यग्राहकाभ्यां दीपचक्षुर्भ्यां भिन्नत्वेन । [12] ग्राह्यग्राहकभिन्नम् । [13] चक्षुःकर्तृकमपेक्षते । [14] व्यभिचारदर्शनात् । [15] नियमाभावात् । [16] विज्ञानस्य व्यतिरिक्तग्राह्यत्वेऽनवस्थाऽभावात् । [17] प्रदीपाद्यालोके ग्राह्यग्राहकभेदस्य । [18] तथापि—घटग्रहणे ग्राह्यादिव्यतिरिक्तप्रदीपाद्यालोकस्य करणत्वेऽपि । [19] ग्राहकद्वारकरणद्वारकानवस्थाद्वयेत्यर्थः ।

रिक्तमात्मज्योतिरन्तरमिति ।

ननु नास्त्येव बाह्योऽर्थो घटादिः प्रदीपो वा विज्ञान[1]व्यतिरिक्तः । [2]यद्धि यद्व्यति नोपलभ्यते तत्तावन्मात्रं वस्तु दृष्टम् । यथा स्वप्नविज्ञानग्राह्यं घटपटादिवस्तु [3]स्वप्न नव्यतिरेकेणानुपलम्भात्स्वप्नघटप्रदीपादेः स्वप्नविज्ञानमात्रताऽवगम्यते, [4]तथा जाग घटप्रदीपादेर्जाग्रद्विज्ञानव्यतिरेकेणानुपलम्भाज्जाग्रद्विज्ञानमात्रतैव युक्ता भवितुम् । [5]तस्मा स्ति बाह्योऽर्थो घटप्रदीपादिर्विज्ञानमात्रमेव तु सर्वम् । तत्र [6]यदुक्तं [7]विज्ञानस्य रिक्तावभास्यत्वाद्विज्ञानव्यतिरिक्तमस्ति ज्योतिरन्तरं घटादेरिवेति तन्मिथ्या । विज्ञानमात्रत्वे[8] [9]दृष्टान्ताभावात् ।

※ [10]न । [11]यावत्तावदभ्युपगमात् । न तु बाह्योऽर्थो भवतैकान्तेनैव [12]नाभ्युपग

बाह्यार्थवादिनि ध्वस्ते विज्ञानवादी चोदयति—नन्विति । बाह्यार्थो विज्ञानातिरिक्तो त्यत्र [13]प्रमाणमाह—यद्धीति । नोपलभ्यते च जाग्रद्वस्तु जाग्रद्विज्ञानव्यतिरेकेणेति शेषः । समर्थयते—स्वप्नेति । दार्ष्टान्तिकं विवृणोति—तथेति । उक्तमनुमानमुपसंहरति—तस्मादिति विज्ञानमात्रमिति स्थिते फलितमाह—तत्रेति । किमिति [14]तस्य मिथ्यात्वं तत्राऽऽह—सर्वस्येति ।

[15]बाह्यार्थापलापवादिनं दूषयति—नेत्यादिना । हेतुं विशदयति—नन्विति । विज्ञानमात्रवादित्वाे

द्वारा और न ही ग्राहकस्व द्वारा ही अनवस्था दोष का प्रतिपादन संभव है । इससे सिद्ध होता विज्ञान से पृथक् आत्मज्योति अन्य ही है ।

(इस पर विज्ञानवादी कहता है—) परन्तु घटादि अथवा प्रदीपादि कोई बाह्य (मानाभाव से) विज्ञान से व्यतिरिक्त तो है नहीं । (अभिन्नता में भी तो कोई प्रमाण नहीं है कहते हैं) जो वस्तु जिससे व्यतिरिक्त अनुभव नहीं होती, वह वस्तु तत्स्वरूप ही देखी गई है प्रकार स्वप्नविज्ञान से गृहीत होने वाली घट-पटादि वस्तु स्वप्नविज्ञान से व्यतिरिक्त अनुभव न स्वप्नदृष्ट घट-प्रदीपादि की स्वप्नविज्ञानमात्रता जानी जाती है, इसी प्रकार जागरित अवस्था और प्रदीपादि की जाग्रद्विज्ञान से भिन्न अनुभव न होने से जाग्रत्विज्ञानमात्रता ही होनी उ

---

१. व्यतिरिक्त इति—मानाभावादिति हेतुरूह्यः । २. नन्वव्यतिरेकेऽपि न मानमित्याशङ्क्याऽऽह— ३. दृष्टान्ते साध्यवैकल्यमाशङ्क्याऽऽह—स्वप्नेति । ४. अनुमानं निगमयति—तथेति । ५. जाग्रद्विज्ञानव्यतिरेकेणानुपलम्भात् उक्तानुमानाद्वा । ६. यदुक्तमिति—विज्ञानं स्वव्यतिरिक्ताव भास्यत्वाद्घटादिवदिति यदुक्तमित्यर्थः । ७. क्षणिकस्य । ८. सति । ९. दृष्टान्ताभावादिति वार्तिकं यथा—"बाह्येऽर्थेऽपहृते चैवं प्रदीपादेरसंभवात् । दृष्टान्तो भवतः कः स्यात्कामितार्थसिद्धये" । कामितोऽर्थो विज्ञानातिरिक्तः प्रत्यगात्मा तद्दृष्टये । १०. सर्वस्य विज्ञानमात्रत्वं नेत्यर्थः । ११. वदिति—विज्ञानव्यतिरिक्तं वस्तु यत्किञ्चित् त्वयाप्यभ्युपगम्यत इत्यर्थः । १२. नाभ्युपगम्यत इति— द्वारलोपप्रसक्तिभयादिति शेषः । १३. जाग्रद्वस्तुजाग्रद्विज्ञानमात्रं तद्व्यतिरेकेणानुपलम्भात् स्वप्नवस्तु —अनुमानात्मकम् । १४. तस्य—मदुक्तानुमानवचनस्य । १५. विज्ञानवादिनम् ।

※ न यावत्तावदभ्युपगमादिति । अत्र वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"वस्त्वन्तराभ्युपगमाज्ज्ञानतो बाह्य

ननु मया नाभ्युपगम्यत एव[1] । न । विज्ञानं घटः प्रदीप इति च [2]शब्दार्थ[3]पृथक्त्वाद्यावत्ता-

बाह्यार्थानभ्युपगतिरिति शङ्कते—नन्विति । बाह्यार्थं [4]हठादङ्गीकारयति–नेत्यादिना । अन्वयमुखेनोक्त-

अतः घट एवं प्रदीपादि बाह्य पदार्थों की सत्ता ही नहीं है, विज्ञानमात्र ही सब कुछ है। एवं जो यह कहा गया कि घटादि के समान क्षणिकविज्ञान भी अपने से व्यतिरिक्त साक्षी द्वारा प्रकाश्य है, उससे भिन्न कोई अन्य ज्योति है, सो यह कहना मिथ्या है क्योंकि सभी कुछ विज्ञानमात्र होने पर (प्रदीपादि के असंभव होने से) दृष्टान्त का ही अभाव हो जाता है।

(इस पर सिद्धान्ती कहता है—) (विज्ञानवादी का) उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि विज्ञान से व्यतिरिक्त जो कुछ भी वस्तु है, उसको तुमने स्वीकारा है। तुम बाह्यार्थ को सर्वथा ही नहीं मानते हो — ऐसी बात तो नहीं है। (इस पर विज्ञानवादी कहता है—) मैं तो प्रमाणाभाव होने से ऐसा स्वीकार नहीं करता। (सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कथन ठीक नहीं है। क्योंकि विज्ञान, घट

---

१. मानाभावादिति भावः । २. इति च शब्देत्यादि । इत्येवमादिशब्दानामर्थस्य भिन्नत्वात् शब्दानामर्थानां च मिथो भिन्नत्वादिति वार्थः । ३. पृथक्त्वादिति—अन्यथा घटमानयेत्युक्ते पटमप्यानयेत् वह्निरित्युक्ते च मुख दह्येतेति भावः । ४. बलात् ।

दृष्टान्तोऽस्त्येव नो भूयान्न चेन्न भवतोऽप्यसौ ।। धीमानाज्ज्ञानमेवेदमभ्युपेत्य ततोऽपरम् । जाग्रत्स्वप्नादिकं वस्तु तन्मिथ्येति निषिध्यते ।। भावो वा यदि वाऽभावो ज्ञानवन्माननिश्चितः । नास्तीति ब्रुवतो लज्जा धाष्टर्यादेव न जायते ।। अपि ज्ञानातिरेकेण बाह्योऽर्थोऽभ्युपगम्यते । दीपकुम्भादिको बुद्धेर्व्यवहारप्रसिद्धये ।। सर्वस्य ज्ञानमात्रत्वान्ननु नाभ्युपगम्यते । मया ज्ञानातिरेकेण तन्मानासंभवादिह ।। ज्ञानं घटो दीप इति शब्दार्थज्ञानभित्तये ।। अवश्यमभ्युपेयोऽत्र भेदो मानप्रमेययोः ।। प्रमाणं भवता वाच्यं भेदाभेदत्वसिद्धये । नाऽऽवयोर्निष्प्रमाणोक्तं यतः संगच्छते सुधीः ।। मामेयसंगतिफलमित्यभ्युपगमस्त्वया । कार्यं ऐक्ये यतोऽमीषां व्यवहारो न सिध्यति ।। उपादित्सन्ति मानानि ह्यज्ञातार्थोपलब्धये । अतोऽभ्युपेयोऽज्ञातोऽर्थः प्रमाणत्वप्रसिद्धये ।। न च प्रमाणतः सिद्धिरज्ञातत्वस्य शक्यते । अन्योन्याश्रयतादोषः सत्येवं प्रसजेद्यतः ।। प्रमाणाच्च न तत्सिद्धिस्तस्य मानविरोधतः । मानैश्चेदविरोधः स्यात्कुतोऽज्ञातत्वनिह्नुतिः ।। न स्वरूपेऽथवा स्वांशे मानमेयत्वसंभवः । सर्वदाऽतिशयाभावाद्बोधाच्चाव्यतिरेकतः ।। प्रमाणं यदि विज्ञानं मेया नीलादिरूपता । मिथस्तयोरपेक्षा का यत उक्तं प्रसिध्यति ।। आकारतद्वतोर्भेदो यदि नामाभ्युपेयते । अस्तु कामं प्रमामेयसंगतिर्गम्यते कुतः ।। कार्यगाद्य-मिसबन्धान्मानमेयत्वसमतिः । अन्यैव तु विभिन्नात्मा वस्तुनोर्मानमेययोः ।। मानांशो यस्य मेयः स्यान्मेयांशो वा भवेत्प्रमा । संबन्धाभावतस्तस्य मानमेयौ न सिध्यतः ।। मानमेयत्वयो रूपं यस्मान्नैवेह गम्यते । मानमेयत्वसंसिद्धिर्नातस्तत्रोपपद्यते" ।। ५३८-५५४ ।। इति । तावदुद्भाव्यमेव सिद्धान्तयति—वस्त्वन्तरेति । यथा त्वया बाह्यार्थातिरिक्तं ज्ञानमिष्टं तथा ज्ञानातिरिक्तस्य घटदीपादेरप्यभ्युपगमादस्माकमतिरिक्तात्मसाधने दृष्टान्तः सुलभोऽस्त्येव ज्ञानादन्योऽर्थस्त्वया नेष्यते चेज्ज्ञानमात्रं सर्वं स्वप्नवदिति भवतोऽपि न सिध्यति दृष्टान्ताभावादित्यर्थः ।। कथं विज्ञानवादिना वस्त्वन्तरमिष्टं तत्राऽऽह—धीमानादिति । ततो ज्ञानादन्यद्भासमानं जाग्रदादिकं वस्तु यथाभानमुपेत्य धीरूपान्मानाज्ज्ञानमेवेदं वस्त्विति प्रसाध्य बहिर्भासमानं मिथ्येति भवता बाह्यं वस्तु निषिध्यते । उक्तं हि—'तस्यां यद्रूपमाभाति बाह्यमेकमिवान्यतः । व्यावृत्तमिव निस्तत्त्वं परीक्षानङ्गभावतः' इति । न हि ज्ञानस्यैव तन्मात्रत्वं मिथ्यात्वं वा साध्यते सिद्धसाध्यत्वाद्बाधाच्च तथ्यस्य मिथ्यात्वं तदस्त्यतिरिक्तमित्यर्थः ।। बाह्यार्थस्य मिथ्यात्वमसत्त्वमतो न तदस्तितेत्याशङ्क्याऽऽह—भावो वेति । ज्ञानवज्ज्ञानविषयतया तद्भासमानो घटदीपादिर्भावोऽभावो वाऽस्तु स प्रत्यक्षो नास्तीति ब्रुवन्नात्मनो निर्लज्जत्वं प्रकटयति ज्ञानस्यापि

तदपि बाह्यमर्थान्तरमवश्यमभ्युपगन्तव्यम् । विज्ञानादर्थान्तरं वस्तु न चेदभ्युप

मर्थं व्यतिरेकमुखेन(ण) विशदयति—विज्ञानादिति । ज्ञानज्ञेययोरैक्ये दोषान्तरमाह—तथेति ।

प्रदीप इत्यादि शब्द और इनके अर्थ पृथक् होने से जब तक ऐसा है, तब तक विज्ञान से व्यति
बाह्य अर्थान्तर अवश्य मानना पड़ेगा । यदि विज्ञान से भिन्न कोई अन्य पदार्थ नहीं मानते हो,
विज्ञान, घट-पटादि शब्दों का एक विज्ञानमात्र अर्थ मानने पर इनका पर्याय शब्द प्राप्त हो जायेगा ।

नास्तित्वप्रसङ्गात् । यथाऽऽह—'धर्मधर्मिव्यवस्थानं भेदोऽभेदश्च यादृश । असमीक्षिततत्त्वार्थो यथा
प्रतीयते' इति । तत्र बाह्यार्थापलाप इत्यर्थः ।। इतश्च न तदपलाप इत्याह—अपीति । बुद्धेरपीति सं
अभ्युपगममाक्षिपति—सर्वस्येति । इहेति मानभूमिरुक्ता । उक्तं हि—'ज्ञानादव्यतिरिक्तं च कथम
व्रजेत् । तस्मान्मिथ्याविकल्पोऽयमर्थेष्वेकात्मताग्रहः' इति ।। दूषयति—ज्ञानमिति । अत्रेति व्यवहारद
अन्यथा शब्दार्थभेदाभावान्मिथोव्यवहारसंकरप्रसक्तौ दहनादिपदोदाहरणे देहदाहादि स्यादिति भावः ।।
भेदस्तयोरिति वक्तुं भूमिकामाह—प्रमाणमिति । ज्ञानार्थयोर्भेदं वदता सिद्धान्तिना तत्र मानं वाच्यं
तदभेदवादिना तत्र तथैवेत्यर्थः । तत्र हेतुः—नाऽऽवयोरिति ।। अभेदे मानाभावं मन्वानो भेदे तदाह—मा
मानमेययोस्तद्विषयविषयित्वकृतफलस्य मातुश्च मिथो भेदस्त्वयेष्टव्यस्तेषामैक्ये सत्यसंकीर्णव्यवहारासिद्धेरु
पत्तिस्तद्भेदे मानम् । यथाऽऽह—'तत्तथैव समाश्रित्य साध्यसाधनसंस्थितिः । परमार्थावताराय विद्वद्
कल्प्यते' इति । तदुपेयो भेदस्तेषामित्यर्थः ।। तत्र हेत्वन्तरं वक्तुं संमतमर्थमाह—उपादित्सन्तीति । तदेत
दर्शितमिति हिशब्दार्थः । संमतमुक्त्वा विमतं हठादुपगमयति—अत इति । अज्ञातेऽर्थे मानप्रवृत्तिरतः अ
अज्ञात इति च्छेदः ।। तस्य मेयत्वमाशङ्क्याऽऽह—न चेति । अज्ञातत्वस्य मेयत्वे सति मानप्रवृत्त्यर्थमज्ञात
ज्ञातव्यं तज्ज्ञानं च मानादिति दुरुत्तरमितरेतराश्रयत्वमित्याह—अन्योन्येति ।। तस्यामेयत्वे हेत्वन्तर
प्रमाणादिति । मानविरोधं व्यतिरेकद्वारा साधयति—मानैरिति ।। मानमेयभेदं साधयता कूटस्थोऽनुभवो
त्वादिसाधकोऽभ्युपेय इत्युक्तं तत्र न मानमेयभेद एकस्मिन्नेव ज्ञाने तदंशे वा मानमेयत्वयोगादिति बाह्
र्थापवादी मन्यते तं प्रत्याह—नेत्यादिना । आद्यप्रतिज्ञायां हेतुमाह—सर्वदेति । द्वितीयस्यां युक्तिं
बोधाच्चेति । अंशयोर्ज्ञानादभेदो भेदो वा नाऽऽद्यो मानमेयव्यवस्थासिद्धेर्न द्वितीयस्तद्भेदापत्तेरि
मानमेयव्यवस्थामाशङ्कते—प्रमाणमिति । तर्हि तयोरन्योन्यमभेदाकाङ्क्षाभावाद्भेदाकाङ्क्षायाश्च सत्वात्
मैक्य न सिध्यतीत्याह—मिथ इति । व्यवहारावस्थायां नीलाद्याकारस्याऽऽकारिज्ञानस्य च भेदोपगतिमाश
आकारेति । वयमपि तत्र तद्भेदमिच्छामो न परमार्थावस्थायां तदा तयोरभावादतोऽस्तूपगतिरित्यनुजान
वस्त्विति । व्यावहारिके भेदे स्वीकृते कथमिष्टात्मसिद्धिस्तत्राऽऽह—प्रमेति । नीलतद्धियोर्मानमेयत्वसं
न सा स्ववेद्या ज्ञानमात्रत्वाभावान्नापि स्वांशज्ञानसिद्धा तस्य स्वमात्रविषयत्वान्नापि ज्ञानान्तरात्सिद्धा ज्ञा
विशेषणत्वेन तद्विषयत्वे स्वसंवेदनत्वहानात्सर्वचित्तचैत्यानामात्मा संवेदनं स्वसंवेदनमित्युपगमात्तस्मात्तत्साक्ष
स्वबोधोपगतिरिति भावः ।। नीलतद्धियोराकाराकारित्वं कार्यकारणत्वमंशांशित्वं वा मानमेयत्वसंगतिर्नि
ज्ञानाभेदेन सेत्स्यति कृतं तत्साधकेन साक्षिणेत्याशङ्क्याऽऽह—कार्येति । मृद्घटयोस्तन्तुपटयोर्दीपतद
मानमेयत्वादृष्टेस्तत्संगतेरर्थान्तरत्वात्तत्साधकसाक्षिणा भाव्यमित्यर्थः । किंच मानमेयत्वसंगतेस्तदन्यत
तत्साधकेन भाव्यं न हि ज्ञानाभेदेन तत्सिद्धिस्तस्यास्तन्मात्रत्वाभावादित्याह—विभिन्नेति । संगति
सबन्धः ।। मानमेयसंगतिसाधकं साक्षिणं साधयता ज्ञानातिरिक्तो ग्राहको ग्राह्यश्चेत्युक्तम् । इदानीं मा

---

१. विज्ञानव्यतिरिक्तम् ।

विज्ञानं घटः पट इत्येवमादीनां शब्दानामेकार्थत्वे पर्यायशब्दत्वं [1]प्राप्नोति। तथा साधनानां फलस्य [2]चैकत्वे साध्यसाधन[3]भेदोपदेशशास्त्रानर्थक्यप्रसङ्गः। तत्कर्तुरज्ञानप्रसङ्गो वा। किंचान्यत्। विज्ञानव्यतिरेकेण वादिप्रतिवादिवाददोषाभ्युपगमात्। [4]न ह्यात्मविज्ञान-

शास्त्रमुपदिशतो बुद्धस्य सर्वज्ञत्वं न स्यादित्याह—तत्कर्तुरिति। वाशब्दश्चार्थः।

इतश्च सर्वस्य नास्ति विज्ञानमात्रत्वमित्याह—किंचान्यदिति। न केवलं पूर्वोक्तोपपत्तिवशादेव बाह्यार्थोऽभ्युपेयः किन्तु [6]तत्रैवान्यदपि कारणमुच्यत इति यावत्। [5]तदेव स्फुटयति—विज्ञानेति।

साधन और फल की एकता होने से साध्य-साधनरूप भेद का उपदेश करने वाली श्रुतियाँ व्यर्थ हो जाएँगी तथा उनके रचयिता मन्त्रद्रष्टाओं पर भी अज्ञान का प्रसङ्ग आ जायगा।

इसके अतिरिक्त एक और बात यह भी है कि वादी-प्रतिवादी के वाद और दोष, ये विज्ञान से

हेत्वन्तरमाह—मानेति। तयोरभेदे मानांश एव मेयो मेयांश एव मानमित्युक्तं स्यात्तदा मानमेयत्वासिद्धिरेकत्रा-संबन्धादंशांशिनोरैक्यात्तस्माद्भेदस्तयोरित्यर्थः॥ यस्य तदभेदस्तस्य कथं भेद एकत्र तद्भावाभावानुपपत्तेरित्या-शङ्कयोक्तं स्पष्टयति—मानमेयत्वयोरिति। सप्तमीभ्यां ज्ञानं गृह्यते॥

'न। यावत्तावदित्य'न्त्यवार्तिकपद्यस्थबौद्धकारिकाः। "तस्यां यद्रूपमाभाति बाह्यमेकमिवान्यतः। व्यावृत्तमिव निस्तत्त्वं परीक्षानङ्गभावतः" ॥ १ ॥ इति। तस्यां धियि यद्बाह्यं रूपं जागरादिवस्तु अन्यत इव विज्ञाना-द्भिन्नमिव अथ च व्यावृत्तमिव मिथो भिन्नमिवाऽऽभाति तन्निस्तत्त्वं मिथ्याविज्ञानमेव त्वेकं तत्त्वम्। कुतः परीक्षानङ्गभावतः, विचारे क्रियमाणे जागरादेर्नि.स्वरूपत्वनिश्चयादिति यावत्। प्रमाणाविषयत्वादिति वा॥ "धर्मधर्मिव्यवस्थानं भेदोऽभेदश्च यादृशः। असमीक्षिततत्त्वार्थो यथालोके प्रतीयते" ॥ २ ॥ असमीक्षितं तत्त्वं यस्य सोऽर्थो घटदीपादिर्भिद्यत इति भेदो भावरूपोऽभेदोऽभावरूपो वा यादृशोऽभ्युपगम्यते लोके धर्मधर्मिव्यवस्थानं विषयविषयिभावादिव्यवस्था च सोऽस्तु परमयथा प्रतीयते यथा प्रतीयते न तथा प्रत्यक्षो नास्तीत्यर्थः। अथवा प्रतीयते यथा यादृशश्चाभ्युपगम्यतेऽस्तु परमसमीक्षितस्तत्त्वतोऽर्थः स्वरूपं यस्य स तथाऽप्रत्यक्ष इति यावत्॥ "ज्ञानादव्यतिरिक्तं च कथमर्थान्तरं व्रजेत्। तस्मान्मिथ्याविकल्पोऽयमर्थेष्वेकात्मताग्रहः" ॥ ३ ॥ चकारस्त-द्व्यतिरेकेणानुपलम्भयुक्तिं द्योतयन्न व्यतिरेकमवधारयति। अर्थान्तरं व्यतिरिक्तत्वम्। भावप्रधानो वा प्रयोगः। एकात्मता या अग्रह इति च्छेदम्। केवलार्थात्मकत्वग्रहो वार्थः। ज्ञानस्याज्ञानत्वासंभवस्तच्छब्दार्थः। तथाच ज्ञानव्यतिरेकेणानुपलम्भाज्ज्ञानैकरूपस्य घटादेस्ततो भेत्तुमशक्तेस्तत्र ग्रेक्षमर्थमात्रत्वमतिः सा भ्रान्तिरिति समुदितार्थः॥ "तत्तथैव समाश्रित्य साध्यसाधनसंस्थितिः। परमार्थावताराय विद्वद्भिरवकल्प्यते" ॥ ४ ॥ मानमेयादि यथा प्रतीतिभिन्नत्वेनाभ्युपगम्यानेनानुमानादिमानेनैतच्छून्यादि तत्त्वात्मकमेयगोचरा प्रमा प्रमातरि त्वयि जनिष्यत इत्येवं हेतुफलभावव्यवस्था शून्यादितत्त्वे शिष्याणां मतिमवगाहयितुं विद्वद्भिः प्रकल्प्योपदिश्यत इत्यर्थः।

---

१. प्राप्नोतीति—तथा च घटशब्दस्थाने पटशब्देऽपि प्रयुज्येत। २. एकत्व इति—तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमादिति भावः। ३. भेदोपदेशेति—इदमस्य साधनं नेतदस्य फलमित्येवम्। आनर्थक्यम्—निर्विषयत्वम्। तथा च योगिप्रत्यक्ष प्रक्रम्य एतच्च सर्वं भवति निवृत्तिमूलं सर्वभवविरुद्धधर्मसाक्षात्कारित्वा-दित्यादि यदुक्तं तत्प्रमत्तगीतम् स्यादित्यर्थः। ४. क्षणिकविज्ञानरूपात्ममात्रम्। ५ बाह्यार्थाभ्युपगम एव। ६. कारणान्तरमेव।

मात्रमेव वादिप्रतिवादिवादस्तद्दोषो वा[१]ऽभ्युपगम्यते निराकर्तव्यत्वात्प्रतिवाद्यादीन न ह्यात्मीयं विज्ञानं निराकर्तव्यमभ्युपगम्यते स्वयं वाऽऽत्मा [२]कस्यचित् । तथा सर्वसंव्यवहारलोपप्रसङ्गः । न च प्रतिवाद्यादयः [३]स्वात्मनैव गृह्यन्त इत्यभ्युप व्यतिरिक्तग्राह्या हि तेऽभ्युपगम्यन्ते । [४]तस्मा[५]त्तद्वत्सर्वमेव व्यतिरिक्तग्राह्यं जाग्रद्विषयत्वा[६]ज्जाग्रद्वस्तु प्रतिवाद्यादिवदिति सुलभो दृष्टान्तः । [७]संतत्यन्तरव[८]द्विज्ञान

---

[९]यद्ग्राह्यं तत्स्वव्यतिरिक्तग्राह्यं यथा प्रतिवाद्यादि जाग्रद्वस्तु चेदं ग्राह्यमित्यनुमानान्न बाह्या पसिद्धिरित्यर्थः । दृष्टान्ते विप्रतिपत्तिं प्रत्याह—न हीति । निराकर्तव्यत्वेऽपि [१०]तेषां ज्ञानमात्र न स्यादित्याशङ्क्याऽऽत्मीयज्ञानत्वमात्मज्ञानत्वं वा तेषामिति विकल्प्य क्रमेण दूषयति—न ह्यात्मी स्वकीयनिषेधे स्वनिषेधे चानिष्टापत्तिमाचष्टे—तथा चेति । त्वदङ्गीकारालोचनायामपि प्रति वादीनां विज्ञानातिरेकः सेत्स्यतीत्याह—न चेति । [१२]अन्यथा विवादाभावापातादिति भावः । कथं तेषामङ्गीकारस्तत्राऽऽह—व्यतिरिक्तेति । सिद्धे दृष्टान्ते [१३]फलितमनुमानं निगमयति—तस्मा किंच [१४]चैत्रसंतानेन मैत्रसंतानो व्यवहारादनुमीयते सर्वज्ञज्ञानेन चासर्वज्ञज्ञानानि ज्ञायन्ते भेदस्य तेऽपि सिद्धेस्तत्र[१६]दृष्टान्तान्नीलादेस्तद्धियश्च भेदः शक्यो[१७]ऽनुमातुमित्याह—संतत्यन्तरव

व्यतिरिक्त ही स्वीकार किये जाते हैं; वादी और प्रतिवादी के वाद और दोष क्षणिकविज्ञानरूप मात्र ही नहीं स्वीकार किये जाते; क्योंकि प्रतिवादी आदि के लिये इनका निराकरण करना प्रा हुआ करता है। किसी सुमूढ के लिये भी अपना विज्ञान अथवा स्वयं आत्मा ही निराकरण के नहीं होता; यदि ऐसा हो तो सभी संव्यवहारों का लोप हो जाय। 'प्रतिवादी आदि स्वयंप्रका अपनी आत्मा से ग्रहण किये जाते हैं'—ऐसा विज्ञानवादी को भी स्वीकार नहीं है। वे अपने से व्य वादी आदि के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं—ऐसा उन्हें अभिमत है। अतः उन्हीं के समान सब अपने से व्यतिरिक्त ग्राहक द्वारा ग्राह्य हैं। क्योंकि वे जाग्रत् के विषय हैं, जाग्रत्काल की

---

१. भवद्भिरस्माभिश्च । २. सुमूढस्यापि । ३. स्वयंप्रकाशतया स्वेनैवेत्यर्थः । ४. —प्रतिवाद्यादीनां स्वव्यतिरिक्तग्राह्यत्वात् । ५. तद्वत्—प्रतिवाद्यादिवत् । ६. तद्वदित्यस्य व्याख्या संतत्यन्तरवदिति । नीलपीतादिकं विज्ञानव्यतिरिक्तं विज्ञानविषयत्वान्मैत्रसंतानवत् । ८. विज्ञाना नीलादिकं विज्ञानव्यतिरिक्तं विज्ञानविषयत्वात् । यथा सर्वज्ञज्ञानविषयमसर्वज्ञज्ञानं सर्वज्ञज्ञानाद् तद्वत् । ९. ज्ञानार्थयोर्भेदं वदता सिद्धान्तिना तत्र मानमवश्यं वाच्यं भवतापि तदभेदवादिना तत्र वाच्यमित्यभिप्रेत्य अभेदे मानाभावं मन्वानो भेदे मानमाह—यद्ग्राह्यमिति । १०. वाद्यादीनाम् । तेषां स्वग्राह्यत्वे । १२. अन्यथाविवादाभावापातादिति । किमात्मकास्त इति तत्स्वरूपे स्वग्राह्याः स्व वेति तद्धर्मिको वा यो विवादस्तदभावप्रसङ्गादित्यर्थं इत्याहुः यद्वा स्वस्वसिद्धान्तोपपादकयुक्तिप्रयुक्त विशिष्टानां वाद्यादीनां स्वयं ग्राह्यत्वेऽलंवदनव्यापारेणेति मौनभूषितैव स्याद्बौद्धसभेत्यर्थः । स्वग्राह्यत्वे शक्यमेव विज्ञानमेव तत्त्वमिति विज्ञातुमिति कृतं विवादेनेति । १३. स्वग्राह्यत्वानभ्युपगमे । उपक्रान्तमिति यावत् । १४. चैत्रेत्यादि—चैत्रसंतानेनेति कर्तृपदम् । संतानः क्षणिकविज्ञानधारा । इति मैत्रः संतानवानभिवदनादिव्यवहारान्मद्वदिति । १५. तत्र—अनुमात्रनुमेयसंतानादौ । १६. संतानरूपदृष्टान्तात् । १७. अनुमातुमिति—नीलादितद्धियो मिथो भिन्ने विषयविषयित्वा वदिति ।

ाच्चेति । 'तस्माद्विज्ञानवादिनाऽपि न शक्यं विज्ञानव्यतिरिक्तं ज्योतिरन्तरं निराकर्तुम् । स्वप्ने विज्ञानव्यतिरेकाभावादयुक्तमिति चेत् । न । अभावादपि भावस्य स्त्वन्तरत्वोपपत्तेः । भवतैव तावत्स्वप्ने घटादिविज्ञानस्य भावभूतत्वमभ्युपगतम् । तदभ्युपगम्य 'तद्व्यतिरेकेण घटाद्यभाव उच्यते । स विज्ञानविषयो घटादिर्यद्यभावो दि वा भावः स्यादुभयथाऽपि घटादिविज्ञानस्य भावभूतत्वमभ्युपगतमेव । न तु तन्निवर्तयितुं शक्यते । तन्निवर्तकन्यायाभावात् । एतेन सर्वस्य शून्यता प्रत्युक्ता ।

ति न बाह्यार्थापलापसिद्धिरिति शेषः । तदपलापासंभवे फलितमाह—तस्मादिति ।

'विज्ञानादर्थभेदोक्त्या प्रत्यगात्मा विज्ञानातिरिक्त उक्तः । संप्रति 'विमतं ज्ञानभिन्नं ग्राह्यत्वा- स्वप्नग्राह्यवदित्युक्तमनुवदति—स्वप्न इति । अयुक्तं विज्ञानातिरिक्तत्वमर्थस्येति शेषः । दृष्टान्तस्य ाध्यविकलतामभिप्रेत्य परिहरति—नाभावादपीति । संग्रहवाक्यं विवृणोति—भवतैवेति । बाह्यार्थ- ादिभ्यो विशेषमाह—तदभ्युपगम्येति । 'तथाऽपि कथं दृष्टान्तस्य साध्यविकलतेत्याशङ्क्याऽऽह— इति । घटादिविज्ञानस्य भावभूतस्याभ्युपगतस्य घटादेर्भावादभावाद्वा विषयादर्थान्तरत्वाद्यस्य "कस्य- चिद्बाह्यार्थस्योपगमाद्दृष्टान्तस्य *साध्यविकलता सुप्रसिद्धेत्यर्थः । माध्यमिकमतम''तिदेशेन निरा- रोति—एतेनेति । ज्ञानज्ञेययोर्निराकर्तुमशक्यत्ववचनेनेति यावत् । आत्मनो ग्राह्यस्याहमिति प्रत्य-

---

तिवादी आदि के समान यह दृष्टान्त सुलभ है; तथा अन्यसन्तति तथा अन्यविज्ञान के सदृश भी वे स्तुएं आने से भिन्नग्राहक द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं । इसलिए (ज्ञानार्थभेद के प्रामाणिक होने से ाह्यार्थ अपलाप असंभव होने के कारण) विज्ञान से व्यतिरिक्त अन्यज्योति का निराकरण करना विज्ञानवादी द्वारा भी संभव नहीं है ।

यदि कहो, स्वप्न में तो विज्ञान के सिवा दूसरी वस्तु का अभाव है, तो ऐसा कथन ठीक हीं क्योंकि अभाव से भी भाव का वस्त्वन्तर होना सिद्ध है । घटादिविज्ञान का भावस्वरूपत्व स्वप्न होता है —ऐसा तो आप भी स्वीकार करते हो । ऐसा स्वीकार कर उससे भिन्न घटाभाव कहा जाता । घटादि का अभाव उस विज्ञान का विषय हो अथवा भाव; दोनों तरह से घटादिविज्ञान की ावरूपता तो स्वीकार कर ली गयी, घटादिविज्ञानभाव का निराकरण करना संभव नहीं है क्योंकि उसका निराकरण होने में युक्ति का अभाव है । इससे सबकी शून्यता का निरास हो गया । तथा आत्मा

---

१. तस्मात्—ज्ञानार्थभेदस्य प्रामाणिकत्वेन बाह्यार्थापलापासंभवात् । २. तत्—तत्र तस्य भावभूतत्वम् ।
३. घटादिविज्ञानव्यतिरेकेण । ४. घटविज्ञानभावम् । ५. युक्त्यभावात् । ६. मानान्मेयभेदोक्त्या ।
७. जाग्रद्वस्तु । ८. स्वप्नेति । न हि स्थायिवादिनोऽपि जाग्रद्वस्तुवत् (स्थायि) स्वप्नवस्त्वस्ति । तथा च तत्र तस्य ज्ञानमात्रत्वात्तद्दृष्टान्ताज्जाग्रद्वस्त्वपि नातिरेक्यस्तीति न दृष्टान्तासंमतिरिति भावः । ९. तथापि—स्वप्ने घटादिविज्ञानस्य भावरूपत्वमभ्युपगम्य तद्व्यतिरेकेण घटाद्यभावे स्वीकृतेऽपि । १०. भावस्याभावस्य वा । ११. अतिदेशेनेति—निष्पक्षहेतुस्मारणेनेत्यर्थः ।

---

*साध्यविकलतेति । अत्राहुर्वार्तिककारपादास्तथाहि—"विभागं लभते ज्ञानाज्ज्ञानवत्स्वप्नवस्तु चेत् । स्वमहिम्नैव तत्सिद्धेः कथं नास्तीति भण्यते ॥ ज्ञानस्यैवार्थरूपं तद्बोधवच्चेत्प्रकल्प्यते । परमार्थसतोऽसत्त्वं किमानमिति पश्यताम् ॥ विज्ञानव्यतिरेकेण नीलादिविषयो यदि । भावो वा स्यादभावो वा सोऽस्त्येवेति विनिश्चितिः ॥ स्व-

प्रत्यगात्मग्राह्यता चाऽऽत्मनोऽहमिति मीमांसकपक्षः [1]प्रत्युक्तः ।

[2]यत्तूक्तं सालोकोऽन्यश्चान्यश्च घटो जायत इति तदसत् । क्षणान्तरेऽपि स घट इति प्रत्यभिज्ञानात् । [3]सादृश्यात्प्रत्यभिज्ञानं कृत्तोत्थितकेशनखादिष्विवेति

गात्मनैव ग्राह्यतेति मीमांसकमतमपि प्रत्युक्तमेकस्यैव ग्राह्यग्राहकताया निरस्तत्वा प्रत्यगात्मेति ।

क्षणभङ्गवादिनोक्त[4]मनूद्य प्रत्यभिज्ञाविरोधेन निराकरोति—यत्तूक्तमित्यादिना । प्रत्यभिज्ञोपपत्तिं शाक्यः शङ्कते- सादृश्यादिति । दृष्टान्तं [5]विघटयन्नुत्तरमाह- न तत्रापीति ।

'अहं' प्रत्यगात्माग्राह्य है—ऐसा मीमांसकों के मत का भी निरास हो गया ।

और जो यह कहा गया था कि 'आलोकसहित अन्य-अन्य घट उत्पन्न होता है'—ऐसा भी संभव नहीं है । क्योंकि क्षणान्तर में भी यह वही घट है—ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है । यदि काटने पर पुनः बढ़े हुए केश और नखादि के समान उन घटों में समानता होने के कारण

---

१. प्रत्युक्त इति—ननु भाट्टा हि द्रव्यबोधरूपमात्मानमिच्छन्तो द्रव्यांशस्य ग्राह्यत्वं बोधांशस्य ग्राह व्यवस्थापयन्ति तदेकस्मिन्नात्मनि ग्राह्यग्राहकत्वोपपत्तिरिति चेन्न तावदात्मन्यंशांशित्वं निरंशत्वश्रुतेस्त नैकत्र ग्राह्यग्राहकत्वं तस्य द्वयोर्व्यवस्थितित्वात् तयोरात्माभेदादेकस्मिन्नेव तद्भावे एकत्र ग्राह्यग्राह त्वदोषः स्यादतो न तन्मतं साधु ।। तथा च वार्तिकम्—"अंशांशित्वेऽपि नैवं स्यात्पूर्वोक्तादेव दिति" ।। ६६१ ।। २. १०२१पृष्ठभाष्ये । ३. सादृश्यादित्यादि । सोऽयं घट इति प्रत्यभिज्ञा बन्धना प्रत्यभिज्ञात्वात् कृत्तोत्थितकेशनखादिप्रत्यभिज्ञावदिति प्रयोगोऽत्र सूच्यते । ४ सिंहावलोकन ५. साध्यवैकल्येन दूषयन् । ६. तथाऽपि क्षणिकत्वस्यासिद्धत्वेऽपि ।

प्नादौ भवतैवायं जाग्रद्वदनुभूयते । घटादिज्ञानविषयः स कथं नेष्यते त्वया ।। यद्वस्त्वनुभवप्राप्तं तन्ने भण्यते । ज्ञानेऽपि स्यादनाश्वासस्तस्यानुभवसिद्धितः ।। ज्ञानादतिशयो यद्वन्नास्तीतीह तथैव सन् । ह्यनुभूतेः सन्नास्तीति कथमुच्यते ।। तदन्यकालासंदृष्टेरिति चेदसदुच्यते । क्षणान्तरे क्षणादृष्टेरसत्त्वं वः हिमन्तेऽनुपलब्धत्वाद्ग्रीष्मघर्मापनिह्नुतिः । प्रतिज्ञातुमशक्या स्यात्तया शून्यत्वमापतेत् ।। देशकाला भेदेनैवाखिलं यतः । वस्तु सिद्धं जगत्यस्मिंस्तदपह्नूयते कथम् ।। विज्ञानव्यतिरेकेण घटो नास्तीति नास्त्यर्थोऽपि कथं जीवेदस्त्यर्थं विरहादिह ।। अस्त्यर्थवस्त्वमात्रेण नाभावोऽस्ति विना सता । यथाऽस्ति तव कुम्भाद्यपीष्यताम् ।। अस्त्यर्थव्यतिरेके हि न किंचिदपि सिध्यति ।। अस्त्यर्थव्यतिरेकेण विज्ञानादि अब्राह्मणादिवत्तस्यादसदेवेति निश्चितिः" ।। ५६४-५७६ ।। इति । स्वप्नवस्तु ज्ञानाद्भेदेन दृश्यते विकल्प्याऽऽद्यमादाय दूषयति—विभागमिति । ज्ञेयाज्ज्ञानभेदवज्ज्ञानाज्ज्ञेयभेदः स्वप्ने दृश्यते स्वाप्नस्य ज्ञानातिरेकिणः सिद्धेस्तदपलापायोगाद्दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वेत्यर्थः ।। द्वितीयमनूद्य ज्ञानस्येति । स्वाप्नं वस्तु ज्ञानाद्भेदेन न दृश्यते किंतु तन्मात्रमेवेत्यत्र न तदपलापस्तस्य ज्ञानाभिन्नत्वा जाग्रद्वस्तुनोऽपि स्वरूपापह्नवो नास्तीत्यर्थः ।। न स्वप्नजाग्रद्वस्तुनोः स्वरूपमेवापलपामस्तयोस्तु तस्मादसदुपालम्भोऽयमित्याशङ्क्याऽऽह—विज्ञानेति । अवस्थाद्वयेऽपि यथाप्रतीति बाह्यार्थो ग्राह्य यथाप्रकोपादित्यर्थः ।। जागरे ज्ञानार्थभेदेऽपि न स्वप्ने तद्भेदस्तद्ग्राहकचक्षुराद्यभावादित्याशङ्क्य स्वप्नादाविति । आदिपदेन स्मृतिसमाधानाद्युक्तिः । तत्र चक्षुराद्यभावेऽपि मनोऽस्ति तच्च समनन्तरप्रत्यय

। [1]तत्रापि क्षणिकत्वस्या[2]सिद्धत्वात्। जात्येकत्वाच्च। कृत्तेषु पुनरुत्थितेषु च केश-खादिषु केशनखत्वजातेरेकत्वात्केशनखत्वप्रत्ययस्तन्निमित्तोऽभ्रान्त एव। [3]न हि यमानलूनोत्थितकेशनखादिषु व्यक्तिनिमित्तः स एवेति प्रत्ययो भवति। [4]कस्यचिद्दीर्घ-

---

र्थं [5]तत्र प्रत्यभिज्ञेत्याशङ्क्याऽऽह—जातीति। तन्निमित्ता तेषु प्रत्यभिज्ञेति शेषः। [6]तदेव प्रपञ्चयति—कृत्तेष्विति। अभ्रान्त इति च्छेदः। किमिति जातिनिमित्तैषा धीर्व्यक्तिनिमित्ता किं न स्यादत आह—हीति। ननु सादृश्यवशाद्व्यक्तिमेव विषयीकृत्य प्रत्यभिज्ञानं केशादिषु किं न स्यात्तत्राऽऽह—

कारण ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ भी उनका क्षणिकत्व द्ध नहीं किया जा सकता। समानजातीय होने से भी ऐसा नहीं हो सकता। काटे हुए और बढ़े हुए श और नखादि की केशत्व और नखत्वरूप से समानजाति होने से तन्निमित्तक केशत्व और नखत्व ी प्रतीति भ्रान्तिमूलक ही है। साक्षात् कटे और बढ़े हुए केश और नखादि में—"यह वही है"—ऐसी तीति व्यक्तिनिमित्तक नहीं होती। किसी-किसी को दीर्घकाल के पश्चात् देखे हुए तुल्यपरिमाण

---

१. तत्रापि—कृत्तोत्थितकेशादिष्वपि। २. असिद्धत्वादिति—तथा च सादृश्याच्च केशादौ स एवायमितीक्षणमिति भावः। ३ न हीत्यादि। केशादिव्यक्तीनामनेकत्वस्य प्रामाणिकत्वात्तद्विरोधाच्च तत्र व्यक्तिकृता प्रत्यभिज्ञेत्यर्थः। ४. किं च भ्रान्तस्य सादृश्यात्प्रत्यभिज्ञानमभ्रान्तस्य वेति विकल्प्याद्यङ्गीकृत्य द्वितीयं निराकरोति—कस्यचिदिति। ५. तत्र—केशादौ। ६ तदेव—जातिनिमित्तकप्रत्यभिज्ञात्वम्।

बिन्तान्तरमिति भावः॥ द्वयोरवस्थयोरनुभवाद्बाह्यार्थसत्त्वमुक्त्वा विपक्षे दोषमाह—यद्यस्त्विति॥ ज्ञानार्थभेदे युक्त्यन्तरमाह—ज्ञानादिति। यथा व्यवहारदशायां ज्ञानादन्यो नास्त्यर्थस्तथैवास्त्यर्थोऽनुभूयमानत्वादतोऽस्त्यर्थोऽन्यो नास्तीति दुर्वचनमित्यर्थः। अतिशयशब्दोऽन्यविषयः॥ अस्त्यर्थस्य घटादेर्दर्शनकाल एवोपलम्भात्कालान्तरे चानुपलम्भादन्यत्वासिद्धिरिति शङ्कते—तदन्येति। अतिप्रसङ्गेन दूषयति—क्षणान्तर इति। व्यतिरिक्तास्त्यर्थासत्त्वं कालान्तरे स्वकाले वा नाऽऽद्योऽभ्युपगमान्नेतरः स्वक्षणे सत्त्वेन दृष्टस्य कालान्तरेऽनुपलम्भात्स्वक्षणेऽप्यसत्त्वे तेऽपि क्षणशब्दितैकज्ञानस्य ज्ञानान्तरक्षणेऽदृष्टेः स्वक्षणेऽप्यसत्त्वापत्तेः सर्वशून्यता स्यादित्यर्थः॥ स्वकाले सतोऽन्यदाऽनुपलम्भात्तत्राप्यसत्त्वमिति प्रतिज्ञा न निर्वहतीत्यत्र हेत्वन्तरमाह—हेमन्त इति। ग्रीष्मे सत्त्वेन दृष्टानामौष्ण्यादीनां हेमन्तेऽदृष्टेर्ग्रीष्मेऽप्यपह्नुतिस्ते स्यात्सा च प्रतिज्ञातुमशक्या दृष्टिविरोधात्तथा सति स्वकाले सर्वस्य यथाप्रतीति सत्त्वमेवेत्यर्थः। अशून्यत्वमिति च्छेदः। अथवा दृष्टिमनादृत्यासत्त्वप्रतिज्ञायां सर्वशून्यता स्यादिति विपक्षे दोषमाह—तथेति। इतश्च बाह्यार्थाशून्यतेत्याह—देशेति। विपक्षे विभागधीर्विरुध्येतेत्यर्थः॥ बाह्यार्थापलापिनो व्याघातापत्तेश्च तदपलापासिद्धिरित्याह—विज्ञानेति। भावाभावव्यवहारभूमिरिहेत्युक्ता॥ कुतो व्याहतिर्यथाऽस्त्यर्थो नास्त्यर्थानपेक्षस्ते सिध्यति तथा सोऽप्यस्त्यर्थानपेक्षः सेत्स्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—अस्त्यर्थवदिति। व्याघातफलमाह—यथेति। अस्त्यर्थानङ्गीकारे तत्प्रतियोगिको नास्त्यर्थो न सिध्येत्तदङ्गीकारे सर्वबाह्यार्थापलापासिद्धिस्तज्ज्ञानवज्ज्ञेयस्यापि सत्त्वमित्यर्थः॥ अस्त्यर्थं नास्त्यर्थं वा नेच्छामो विज्ञानमेव तु स्वरसभङ्गुरमविरलोदयमाश्रयामहे तत्र किंचिदनुपपन्नमित्याशङ्क्याऽऽह—अस्त्यर्थमिति॥ कथं तदभावे सर्वासिद्धिर्ज्ञानवत्क्षणिकादेरस्त्यर्थादन्यत्वेन सिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—अस्त्यर्थव्यतिरेकेणेति। न हि ब्राह्मणादेरन्यस्य ब्राह्मणादिभावस्तथा सतोऽन्यस्य न सत्तेत्यर्थः॥

कालव्यवहितदृष्टेषु च तुल्यपरिमाणेषु तत्कालीनबालादितुल्या इमे केशनखाद्या प्रत्ययो भवति [1]न तु त एवेति। घटादिषु पुनर्भवति स एवेति प्रत्ययः। [2]तस्मा दृष्टान्तः।

प्रत्यक्षेण हि प्रत्यभिज्ञायमाने वस्तुनि तदेवेदमिति न ह्यन्यत्वमनुमातुं [3]प्रत्यक्षविरोधे लिङ्गस्याऽऽभासत्वोपपत्तेः। सादृश्यप्रत्ययानुपपत्तेश्च। [4]ज्ञानस्य त्वात्। एकस्य हि वस्तुदर्शिनो वस्त्वन्तरदर्शने सादृश्यप्रत्ययः स्यात्। न तु वस्तु वस्त्वन्तरदर्शनाय क्षणान्तरमवतिष्ठते। विज्ञानस्य क्षणिकत्वात्सकृद्दृस्तत्व क्षयोपपत्तेः। तेनेदं सदृशमिति हि सादृश्यप्रत्ययो भवति। तेनेति दृष्टस्मरण

कस्यचिदिति। अभ्रान्तस्येति यावत्। दार्ष्टान्तिके वैषम्यमाह—घटादिष्विति। वैषम्यमुपसंहर तस्मादिति।

यत्सत्तत्क्षणिकं यथा प्रदीपादि सन्तश्चामी भावा इत्यनुमानविरोधाद्भ्रान्तं प्रत्य मित्याशङ्क्याऽऽह—प्रत्यक्षेणेति। अनुष्णतानुमानवत्प्रत्यक्षविरोधे क्षणिकत्वानुमानं नोदेत्य विषयत्वस्याप्यनुमित्यङ्गत्वादिति भावः। इतश्च प्रत्यभिज्ञानं सादृश्यनिबन्धनो भ्रमो न भव —सादृश्येति। तदनुपपत्तौ हेतुमाह—ज्ञानस्येति। तस्य क्षणिकत्वेऽपि किमिति सादृश्यप्र सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—एकस्येति। अस्तु तर्हि वस्तुद्वयदर्शित्वमेकस्येति चेन्नेत्याह—न उक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति—तेनेत्यादिना। भवतु किं तावतेति तत्राऽऽह—तेनेति दृष्टमिति। अर्थ

वाले केश नखादि में तो थे केश और नखादि उस समय के केशनखादि के समान है—ऐसा प्रत्यय है, परन्तु यह वही है—ऐसा प्रत्यय नहीं होता। किन्तु घटादि में तो 'यह वही है' ऐसा प्रत्यय है। इसलिये यह दृष्टान्त विषम है।

जिस वस्तु में प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा होती है कि 'यह वही है', तो उसका अन्यत्व अनुमान ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षबाध होने पर लिङ्ग का आभासत्व सिद्ध होगा और ज्ञान के क्षणिक उसमें सादृश्यभान होना भी सम्भव नहीं है। एक ही वस्तुदर्शक को वस्त्वन्तरदर्शन में सादृश्यभा सकता है। तथा एक वस्तुदर्शक दूसरी वस्तु को देखने के लिये अगले क्षण में रहता नहीं है विज्ञान के क्षणिक होने से उसका एक बार वस्तुदर्शन से ही क्षय होना सिद्ध है। 'यह उसके सदृ ऐसा सादृश्यभान हुआ करता है। तेन' (उसके) यह पद दृष्ट का स्मारक है, 'इदं' (यह) इस प वर्तमान की प्रतीति होती है। यदि "तेन" इस पद से पूर्वदृष्ट को स्मरण करके देखने वाला 'इदं

---

१. न तु त एवेतीति—केशादिष्वभ्रान्तस्य प्रत्यभिज्ञा दृश्यमाना त्वेकजातिनिमित्ता नापह्नूयत इत्युक्ति विस्मर्तव्यम्। "अभ्रान्तस्य केशादौ यदा सादृश्यधीस्तदा। पूर्वबालैरिमे बालाः सदृशा इति जायते"। वा.

२. तस्मात्—कृत्तोत्थितकेशादिषु प्रत्यभिज्ञानाभावात् घटादिषु च तस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादि

३. प्रत्यक्षेत्यादि—वह्निशैत्यानुमाने तथा दृष्टत्वाभानुमाने न प्रत्यक्षबाध इति भावः। ४. ज्ञानस्ये प्रत्यभिज्ञाश्रयस्यात्मभूतज्ञानस्येत्यर्थः। ५. अबाधितसाध्यकत्वस्यानुमितेः प्रमात्वप्रयोजकत्वादित्यर्थः।

वर्तमानप्रत्ययः। तेनेति दृष्टं स्मृत्वा यावदिदमिति वर्तमानक्षणकालमवतिष्ठेत। ततः क्षणिकवादहानिः।

अथ तेनेत्येवोपक्षीणः [1]स्मार्तः प्रत्यय इदमिति चान्य एव [2]वार्तमानिकः प्रत्ययः क्षीयते [3]ततः सादृश्यप्रत्ययानुपपत्तिस्तेनेदं सदृशमिति। अनेकदर्शिन एकस्याभावात्। व्यपदेशानुपपत्तिश्च [4]द्रष्टव्यदर्शनेनैवोपक्षया[5]द्विज्ञानस्येदं पश्याम्यदोऽद्राक्षमिति व्यपदेशानुपपत्ति[6]र्दृष्टवतो व्यपदेशक्षणानवस्थानात्। [7]अथावतिष्ठेत[8] क्षणिकवादहानिः। अथादृष्टवतो व्यपदेशः सादृश्यप्रत्ययश्च [9]तदानीं [10]जात्यन्धस्येव रूपविशेषव्यपदेश[11]स्तत्सादृश्यप्रत्ययश्च सर्वमन्धपरम्परेति [12]प्रसज्येत सर्वज्ञशास्त्रप्रणयनादि न चैतदिष्यते। अकृताभ्यागमकृत-

---

दीति शेषः।

क्षणिकत्वहानिपरिहारं शङ्कित्वा परिहरति—अथेत्यादिना। तत्र हेतुमाह—अनेकेति। रपक्षे दोषान्तरमाह—व्यपदेशेति तदेव विवृणोति—इदमिति। व्यपदेशक्षणेऽनवस्थानासिद्धि ङ्कित्वा दूषयति—अथेत्यादिना। अन्यो द्रष्टाऽन्यश्च व्यपदेष्टेत्याशङ्क्य परिहरति—अथेत्यादिना। शास्त्रप्रणयनादीत्यादिशब्देन शास्त्रीयं साध्यसाधनादि गृह्यते। क्षणिकत्वपक्षे दूषणान्तरमाह—

प्तिपर्यन्त वर्तमान क्षण (काल) तक रहेगा; तो क्षणिकवाद सिद्धान्त की असंगति हो जायगी।

यदि "तेन" इतना कहने से स्मृतिज्ञान क्षीण हो गया और "इदम्" यह अन्य ही वार्तमानिक न क्षीण होता है; तो ऐसी अवस्था में 'यह उसके समान है'—यह सादृश्यज्ञान होना सम्भव नहीं है क्योंकि अनेक वस्तुओं को देखने वाला कोई एक नहीं हो सकता। उपदेश की भी सिद्धि नहीं होगी क्योंकि द्रष्टा का विज्ञान तो द्रष्टव्य वस्तु को प्रथम बार देखकर ही क्षीण हो जाता है। "यह देखता हूँ, यह देखा" ऐसा कथन संभव नहीं है क्योंकि विज्ञान का कथनक्षण में रहना संभव नहीं है। यदि विज्ञान रहता है—ऐसा मानें तो क्षणिकवाद का लोप हो जायगा। यदि कहो, वह कथन अद्रष्टा का है और उसी को सादृश्यप्रत्यय होता है, तो उस अवस्था में वह जन्मान्ध के समान रूपविशेष कथन और उसी पूर्वदृष्ट का 'यह उसी के सदृश है' ऐसा सादृश्यभान होगा; तब तो प्रमाणाभाव होने से सर्वज्ञ, शास्त्रप्रणयनादि सर्वत्र अन्धपरम्परा की प्रसक्ति होगी। किन्तु यह इष्ट नहीं है। इस क्षणिकवाद में "विना

---

१. स्मार्त इति—दृष्टवस्तुविषयकस्मृत्यधिकरणीभूतः तत्रावगाही बोध इति यावत्। उपक्षीण इत्यन्तं यथोक्तस्मृत्याधारः सन्नेव नष्ट इत्यर्थः। २. वार्तमानिकः—वर्तमानकालिकेदन्तावगाही बोधश्चेदं तामवगाहमान एव नश्यतीत्यर्थः। तथा च न क्षणिकवादक्षतिरिति। ३ तेनेत्येवोपक्षीणं स्मार्तज्ञानमिदमित्येवोपक्षीणं च वार्तमानिकं ज्ञानमतस्तेनेदं सादृश्यमित्येकं ज्ञानं नास्ति चेत्तदा सादृश्यक्षणिकत्वयोरसिद्धिरित्यभिप्रेत्याह—तत इति। सादृश्येत्यादि क्षणिकत्वस्याप्युपलक्षणं तथा च वार्तिकम्—"स्वरूपमात्रसंबोधि नाऽऽत्मनोऽपि क्षणोदयौ। ज्ञानं प्रत्यभिजानाति ध्वंसित्वान्नापि चापरम्॥ सादृश्यक्षणिकत्वे द्वे त्वदिष्टे न प्रसिध्यतः" ।। १७५-१७६ ।। इति ।। अपरं सादृश्यम्। ४. प्रथमदर्शनेन। ५. द्रष्टुः। ६. विज्ञानस्य। ७. पूर्वार्थदर्शिविज्ञानं भविष्यदर्थदर्शनावसानम्। ८. तर्हि। ९. तदानीमिति—द्रष्टुरेव व्यपदेष्टृत्वादीति नियमाभावे। १०. जात्यन्धस्येति। अत्र वार्तिके—"जात्यन्धवच्च चादृष्ट्वा कश्चिद्व्यपदिशेदिह। सादृश्यधिषणां चेह न कश्चित्कर्तुमर्हति" ।। १८५ ।। इह—व्यवहारदशायाम्। कश्चित्—प्राचीनदर्शनशून्यः। ११. पूर्वदृष्टेन सदृशमिदमिति। १२. प्रमाणाभावादिति भावः। १३. सादृश्यानुपपत्तौ।

विप्रणाशदोषौ तु [1]प्रसिद्धतरौ क्षणवादे ।

दृष्टव्यपदेशहेतुः [2]पूर्वोत्तरसहित एक एव हि [3]शृङ्खलावत्प्रत्ययो जायत इति तेनेदं सदृशमिति च । न । [4]वर्तमानातीतयोर्भिन्नकालत्वात् । [5]तत्र वर्तमानप्रत्यय [6]शृङ्खलावयवस्थानीयोऽतीतश्चापरस्तौ प्रत्ययौ भिन्नकालौ तदुभयप्रत्ययविषयः पृथे ङ्खलाप्रत्ययस्ततः क्षणद्वयव्यापित्वादेकस्य विज्ञानस्य पुनः क्षणवादहानिः । [7]ममतव विशेषानुपपत्तेश्च सर्वसंव्यवहारलोपप्रसङ्गः । सर्वस्य[8] च स्वसंवेद्यविज्ञानमात्रत्वे विज्ञा च स्वच्छावबोधावभासमात्रस्वाभाव्याभ्युपगमा [9]त्तद्दर्शिनश्चान्यस्याभावेऽनित्यदुःख नात्मत्वाद्यनेककल्पनानुपपत्तिः ।

प्रकृतेति ।

व्यपदेशानुपपत्तिमुक्तां समादधानः शङ्कते—दृष्टेति । सादृश्यप्रत्ययश्च शृङ्खलास्था प्रत्ययेनैव सेत्स्यतीत्याह—तेनेदमिति । अपसिद्धान्तप्रसक्त्या प्रत्याचष्टे—नेत्यादिना । तावे प्रत्ययौ विषयौ तदवगाही चेन्मध्यवर्ती शृङ्खलावयवस्थानीयः प्रत्यय इति यावत् । [10]क्षणानां संबन्धस्तर्हि मा भूदिति चेत्तत्राऽऽह—ममेति । व्यपदेशसादृश्यप्रत्ययानुपपत्तिस्तु स्थितैवेति चका यत्तु विज्ञानस्य [11]दुःखाद्युपप्लुतत्वं तद्दूषयति—सर्वस्य चेति । [12]शुद्धत्वात्तत्संसर्गद्रष्ट्रभावाच्च न दुःखादिसंप्लवः[13] [14]स्वसंवेद्यत्वाङ्गीकारादित्यर्थः ।

किये हुए फल की प्राप्ति और किए हुए का फलनाश'' ये दो दोष तो प्रसिद्ध ही हैं ।

दृष्ट कथन का हेतु पूर्व और उत्तर भानों से संबद्ध श्रृङ्खला के समान एक ही भान हो तथा 'यह उसके समान है' ऐसा भी भान होता है—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि वर्तमान और प्रत्यय भिन्न-भिन्न काल में हुआ करते है । उनमें से वर्तमानप्रत्यय उभयसंबद्ध शृंङ्खला अवयवस्थानी है; अतीतप्रत्यय दूसरा है; यह दोनों प्रत्यय भिन्नकालिक हैं । यदि शृङ्खला के प्रत्यय उन दोनों प्रत्ययों के विषय को स्पर्श करता है तो एक ही विज्ञान के क्षणद्वयव्यापी होने क्षणिकवाद की हानि होती है। तथा 'मेरा-तेरा' भेद संभव न होने से सम्पूर्ण व्यवहार लोप हो जायगा । सर्व जगत् के स्वसंवेद्य विज्ञानमात्र होने पर और विज्ञान को स्वच्छ ज्ञान

---

१. प्रसिद्धतराविति-क्षणभङ्गवादे कर्तुरेव भोक्तृत्वस्य वक्तुमशक्यत्वादिति भावः । तस्मादस्माद्दृष्टः ऽस्येवस्तथा च नाकृताभ्यागमादिर्वा व्यपदेशप्रत्यभिज्ञाद्यनुपपत्तिरिति सर्वं निर्मलम् । २. पूर्वोत्त भ्यां सम्बद्धः । ३. शृङ्खलावदिति । यथा शृङ्खलाव्यवभूतानां कटकानां मिथो भिन्नत्वेऽपि सबन्धः शृङ्खलात्वे नैकत्वं च तथा मध्यवर्त्तिज्ञानस्य पूर्वोत्तराभ्यां सम्बद्धतयैकत्वाच्च व्यपदेशसादृ प्रत्यभिज्ञाद्यसिद्धिः । नाप्यकृताभ्यागमादिदोषद्वयमिति भावः । ४. प्रत्यययोः । ५. संगृहीतं विवृ तत्रेति । तयोः प्रत्यययोर्मध्ये इत्यर्थः । ६. उभयत्रान्वयीदम् । ७ ममेत्यादि—ममतव संबन्धार्थकत्वादिति भावः । ८. जगतः । ९. विज्ञाने दुःखादिसंसर्गदर्शिनः । १०. प्रत्ययानामित्यर्थः । ११. दुःखादिधर्मित्वमिति यावत् । १२ दुःखादिसंसर्गेति भावः । १३. १४. तत्संसर्गद्रष्ट्रभावे हेतुमाह—स्वसंवेद्यत्वाङ्गीकारादिति । तथा च ज्ञानस्य स्वमात्रभासकत्वं श्रितभासकत्वमिति ।

न च दाडिमादेरिव विरुद्धानेकांशवत्त्वं विज्ञानस्य । [1]स्वच्छावभासस्वाभाव्यात् । अनित्यदुःखादीनां विज्ञानांशत्वे च सत्यनुभूयमानत्वाद्व्यतिरिक्तविषयत्वप्रसङ्गः । अथानित्यदुःखाद्यात्मकत्वमेव विज्ञानस्य तदा तद्वियोगा[2]द्विशुद्धिकल्पनानुपपत्तिः । संयोगिमलवियोगाद्धि विशुद्धिर्भवति । यथाऽऽदर्शप्रभृतीनाम् । न तु स्वाभाविकेन धर्मेण कस्यचिद्वियोगो दृष्टः । न ह्यग्नेः स्वाभाविकेन प्रकाशेनौष्ण्येन वा वियोगो दृष्टः । यदपि पुष्पगुणानां [4]रक्तत्वादीनां द्रव्यान्तरयोगेन(ण) [5]वियोजनं दृश्यते तत्रापि संयोगपूर्वत्वमनु-

---

ज्ञानस्य शुद्धबोधैकस्वाभाव्यमसिद्धं दाडिमादिवन्नानाविधदुःखाद्यंशवत्त्वाश्रयणादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । [6]तत्रैव हेत्वन्तरमाह—अनित्येति । [7]तेषां [8]तद्धर्मत्वे सत्यनुभूयमानत्वात्ततो[9]ऽतिरिक्तत्वं स्याद्धर्माणां धर्मिमात्रत्वाभावान्मेयानां च मानादर्थान्तरत्वादतो यन्मेयं न तज्ज्ञानांशो यथा घटादि मेयं च दुःखादीत्यर्थः । ज्ञानस्य दुःखादि धर्मो न भवति किंतु स्वरूपमेवेति शङ्कामनुभाष्य दोषमाह—अथेत्यादिना । अनुपपत्तिमेव प्रकटयति—संयोगीत्यादिना । [10]स्वाभाविकस्यापि वियोगोऽस्ति पुष्परक्तत्वादीनां तथोपलम्भादित्याशङ्क्याऽऽह-यदपीति । *द्रव्यान्तरशब्देन [11]पुष्पसंबन्धिनोऽवयवास्तद्गत [12]रक्तत्वाद्यारम्भका विवक्षिताः । [13]विमतं संयोगपूर्वकं विभागवत्त्वा[14]न्मेषादिवदित्यनुमानाच्च

स्वरूपमात्र मानने पर विज्ञान में किसी अन्य दुःखादिसंसर्गद्रष्टा की उपस्थिति स्वीकार नहीं की जायगी, तो उसमें अनित्यत्व, दुःखत्व, शून्यत्व और अनात्मत्वादि अनेक कल्पनाएं उत्पन्न हो जाएंगी ।

अनार आदि फल के समान विज्ञान अनेक विरुद्धांशों से युक्त हो, ऐसी बात भी नहीं है क्योंकि विज्ञान का स्वच्छ और प्रकाशक स्वभाव तो तुम भी मानते हो। यदि अनित्य और दुःखात्मक को विज्ञान का अंश माना जाय तो अनुभूयमान होने के कारण उन्हें किसी दूसरे का विषय मानने का प्रसङ्ग आ जायगा और यदि विज्ञान को अनित्य और दुःखादिरूप माना जाय तो दुःखदि की वियुक्ति द्वारा विज्ञान की विशुद्धि की कल्पना करनी संभव नहीं है । लगे हुए मल को हटा देने से विशुद्धि होती है, जिस प्रकार दर्पणादि के मल को दूर किया जाता है । किन्तु अपने सहज धर्म से किसी का वियोग होते

---

१. स्वयैवतथाभ्युपगमात् । २ दुःखादिवियोगात् । ३. विज्ञानस्य । ४. शुक्लत्वादीनामित्यर्थः । ५. विभागः । ६. तस्य विरुद्धानेकांशवत्त्वासंभवे एव । ७ अनित्यदुःखादीनाम् । ८. विज्ञानधर्मत्वे । ९. विज्ञानतः । १०. पुष्पस्य स्वाभाविकोऽपि शौक्ल्यादिरलक्तकादिरसावसिक्ते पुष्पबीजेऽपगच्छति रागादि-(रक्तादि)श्चोत्पद्यते तथा विज्ञानस्यापि चतुर्विधभावनाप्रभावाद् दुःखादिस्वाभाविकमेव वियुज्यते शुद्धिश्चोत्पद्यते इत्यभिप्रेत्यावतारयति —स्वाभाविकस्यापीति । ११. रक्तत्वादिवियोजनाय पुष्पेण संबन्धं लम्भिताः अवयवा द्रव्यान्तरस्यैव । १३. द्रव्यान्तरगतरक्तत्वेति योजना । १३. विमतम्—वियुक्तं रक्तत्वादि । १४. मेषादिवदिति—वियुज्य वियुज्य युध्यमान हुड्वादिवदित्यर्थः ।

---

*द्रव्यान्तरशब्देन पुष्पसंबन्धिनोऽवयवास्तद्गतरक्तत्वाद्यारम्भका विवक्षिता इति । द्रव्यान्तरशब्देन तद्गत-रक्तत्वाद्यारम्भका द्रव्यान्तरे रक्तत्वादिजनकाः पुष्पसंबन्धिनः पुष्पीयरक्तत्वादिवियोजनाय पुष्पेण सह संबन्धं लम्भिता अवयवा अर्थाद्द्रव्यान्तरस्यैव विवक्षिता इत्यर्थः । यद्वा पुष्पसंबन्धिन इति षष्ठी । तथा च पुष्पस्थरक्तत्वादिवियोजनाय पुष्पेण संबन्धवतो द्रव्यान्तरस्य येऽवयवा द्रव्यान्तरे जनिष्यमाणरक्तत्वाद्यारम्भकास्ते द्रव्यान्तरशब्देन विवक्षिता इति । ननु द्राविडप्राणयामोऽयम् । न । वियोजनं दृश्यत इति भाष्यस्य तथोपलम्भादिति स्वोक्तस्य

मीयते । 'बीजभावनया पुष्पफलादीनां गुणान्तरोत्पत्तिदर्शनात् । 'अतो विज्ञा
विशुद्धिकल्पनानुपपत्तिः ।

'विषयविषय्याभासत्वं च यन्मलं परिकल्प्यते विज्ञानस्य तदप्य'न्यसंसर्गाभा
नुपपन्नम् । 'न ह्यविद्यमानेन' विद्यमानस्य' संसर्गः स्यात् । असति चान्यसंसर्गे यो
यस्य दृष्टः स तत्स्वभावत्वान्न तेन वियोगमर्हति । यथाऽग्नेरौष्ण्यं सवितुर्वा प्र

'स्वाभाविकस्य सति वस्तुनि नाशोऽस्तीत्यर्थः । अनुमानानुगुणं प्रत्यक्षं दर्शयति—बीजेति । कार्पा
बीजे 'द्रव्यविशेषसंपर्काद्र''क्तादिवासनया ''तत्पुष्पादीनां रक्तादिगुणोदयोपलम्भा''त्तत्संयोगिद्रव्य
मादेव ''तत्पुष्पादिषु रक्तत्वाद्यपगतिरित्यर्थः । विशुद्ध्यनुपपत्तिमुपसंहरति—अत इति ।

कल्पनान्तरमनूद्य दूषयति—विषयविषयीति । कथं पुनर्ज्ञानस्यान्येन संसर्गाभावस्तस्य वि
संसर्गादित्याशङ्क्याऽऽह— न हीति । अथान्यसंसर्गमन्तरेणापि ज्ञानस्य विषयविषय्याभा

नहीं देखा जाता । अग्नि अपने स्वाभाविक धर्म प्रकाश और उष्णता का परित्याग करते
नहीं देखो जाती । जो पुष्प के लालिमादि गुणों का अन्य द्रव्य के संयोग से वियोग होते देखा
है, वहाँ भी उनकी संयोगपूर्वता का अनुमान किया जाता है । क्योंकि बीज की वासना के द्वारा पु
फलादि में अन्य गुणों की उत्पत्ति होते देखी जाती है । इसलिए (स्वाभाविक वियोग के न हो
विज्ञान के विशुद्ध होने की कल्पना अयुक्त है ।

विज्ञान के ग्राह्य और ग्राहकरूप से आभासित जिस मल की कल्पना की जाती है, अन्य वि
से संसर्ग न होने से उसकी भी सिद्धि नहीं होती । अविद्यमान विज्ञानातिरिक्त पदार्थ का वि
विज्ञान से संसर्ग नहीं हो सकता । अन्य संसर्ग न होने से जिसका जो धर्म देखा गया है, वह

---

१. वासनया । २ स्वभाववियोगाभावात् । ३. ग्राह्यग्राहकरूपत्वम् । ४. अन्यस्य विज्ञानेन
भावात् । ५. न हीत्यादि । अयमाशयः—अन्यसंपर्कादागतस्य मलत्वप्रसिद्धेस्तत्पक्षे च ज्ञानादन्य
स्तत्प्रयुक्ततया तत्र तदयोगादिति । ६. विज्ञानातिरिक्तेन । ७. विज्ञानस्य । ८ स्वाभाविक
अस्तु वा पुष्पस्य स्वाभाविकः शुक्लत्वादिगुणस्तथापि नासौ स्वाभाविकवियोगे दृष्टान्त इत्याहुर्वार्तिक
—"द्रव्यान्तराच्छादनाद्वा सहजस्याप्यनीक्षणम् । तद्द्रव्यसंक्षये यस्मात् पूर्ववत्सहजेक्षणमिति" ॥
पुष्पशुक्लत्वस्य स्वाभाविकस्यापि द्रव्यान्तरेण च्छन्नत्वाददृष्टिर्नासत्वादित्यत्र हेतुमाह—तद्द्रव्येति ।
हि वस्त्रादौ हरिद्रादिरागापगमे यथापूर्वं शुक्लत्वमिति भावः ॥ ९ अलक्तादिद्रव्यमिति
१०. रक्तादिवासनयेति—रक्तत्वाद्याश्रयीभूतसूक्ष्मावयवसंपर्केणेति यावत् । ११. कार्पासम् । १२.
योगीति—बीजादिपरम्परया पुष्पादिसंयोगिद्रव्यं रक्तत्वाद्याश्रयीभूतसूक्ष्मावयवाख्यं द्रव्यान्तरसंयोगेन
मादेवेत्यर्थः । १४. यथोक्तकार्पासादिषु ।

चोद्घाटनार्थत्वात् । वियोजनं हि विभागस्तस्य तेन वा दर्शनमेकतो वियुज्यापरत्र दृष्टौ स्यादन्यथा
विभागः किन्तु विनाश इति स्यादतस्तदनुगुणत्वादेवस्येति । यथाश्रुते तु द्रव्यान्तरयोगेनेतिभाष्ये द्रव्या
रक्तत्वादिवियोजकद्रव्यविशेषेण योगेनेत्यर्थसंभवेऽपि नात्र द्रव्यान्तरपदं संजङ्गमीति । यत्र रक्तत्वा
पुष्पसंबन्धिभिरवयवैर्योगेन पुष्परक्तत्ववियोजनं प्रतीयमानमनुपपन्नमिव प्रतिभाति । अरक्तत्वादीति
नानुपपत्तिमवगच्छामः । तद्गतरक्तत्वाद्यारम्भका इत्यत्र रक्तत्वमादि यस्य शुक्लत्वादेरित्यतद्गुण
बहुव्रीहिर्वाऽस्त्येव इत्येके । द्रव्यान्तरशब्देनेत्यस्य तद्घटकद्रव्यशब्देनेत्यर्थं इत्यन्ये जरन्तो जगदुः ।

[1]तस्मादन्यसंसर्गेण मलिनत्वं तद्विशुद्धिश्च विज्ञानस्येतीयं कल्पनाऽन्धपरम्परैव प्रमाणशून्येत्यवगम्यते ।

[2]यदपि तस्य विज्ञानस्य निर्वाणं पुरुषार्थं कल्पयन्ति [3]तत्रापि [4]फलाश्रयानुपपत्तिः । [5]कण्टकविद्धस्य हि कण्टकवेधजनितदुःखनिवृत्तिः फलं न तु कण्टकविद्धस्य मरणे [6]तद्दुःखनिवृत्तिफलस्याऽऽश्रय उपपद्यते । [7]तद्वत्सर्वनिर्वाणेऽसति च फलाश्रये पुरुषार्थकल्पना व्यर्थैव । यस्य हि [8]पुरुषशब्दवाच्यस्य [9]सत्त्वस्याऽऽत्मनो विज्ञानस्य [10]चार्थः परिकल्प्यते तस्य पुनः पुरुषस्य [11]निर्वाणे [12]कस्यार्थः पुरुषार्थ इति स्यात् । यस्य पुनरस्त्य[13]नेकार्थदर्शी विज्ञानव्यतिरिक्त आत्मा तस्य दृष्टस्मरणदुःखसंयोगवियोगादि सर्वमेवोप-

---

स्यादिति चेत्तत्राऽऽह—असति चेति । कल्पनाद्वयमप्रमाणिकमनादेयमित्युसंहरति— तस्मादिति ।

कल्पनान्तरमुत्थापयति—यदपीति । [14]उपशान्तिर्निर्वाणशब्दार्थः । दूषयति—तत्रापीति । फल्यभावेऽपि फलं स्यादिति चेन्नेत्याह—कण्टकेति । दार्ष्टान्तिकं विवृणोति—यस्य हीति । ननु त्वन्मतेऽपि [15]वस्तुनोऽद्वयत्वात्तस्यासङ्गस्य केनचिदपि संयोगवियोगयोरयोगात्फलित्वासंभवे मोक्षासंभवादि तुल्यमित्याशङ्क्याऽऽह—यस्य पुनरिति । यद्यपि पूर्णं [16]वस्तु वस्तुतोऽसङ्गमङ्गी क्रियते तथाऽपि क्रियाकारकफलभेदस्याविद्यामात्रकृतत्वादस्मन्मते सर्वव्यवहारसंभवान्न साम्यमिति भावः । ननु बाह्यार्थवादो

और सूर्य की प्रभा उससे पृथक् नहीं हो सकती । इसीलिए "अनित्य वस्तुओं के संसर्ग से विज्ञान की मलिनता और फिर शुद्धि होती है" ऐसी कल्पना करना अन्धपरम्परा है तथा अप्रामाणिक है; यह सिद्ध होता है ।

जो 'उस विज्ञान का निर्वाण ही पुरुषार्थ है'—ऐसी कल्पना करते हैं; उक्त कल्पना में फलाश्रय की सिद्धि नहीं होती । जो काँटे से बिंधा हुआ है; उसी को कण्टकवेधजनित दुःखनिवृत्ति का फल मिलना सम्भव है, यदि कण्टकविद्ध प्राणशून्य हो जाय; तो कण्टकवेधजनित दुःखनिवृत्तिरूप फल को कैसे जानेगा । उसी प्रकार सबसे निवृत्त हो जाने पर फलाश्रय के न होने पर पुरुषार्थकल्पना ही व्यर्थ सिद्ध हो जायगी क्योंकि जिस 'पुरुष'शब्दवाच्य वस्तु का आत्मा और विज्ञान ऐसा अर्थ किया जाता है; उसी पुरुष के नाश हो जाने पर पुरुषार्थ किसके लिए होगा । जिनके मत में अनेकार्थदर्शी विज्ञान से व्यतिरिक्त आत्मा है, उसके अनुसार देखे हुए का स्मरण, दुःख के संयोग-वियोगादि, अन्य संयोगनिमित्तक मलिनता और उसके वियोग से होने वाली शुद्धि—इन सबकी सिद्धि

---

[1] मलकल्पनाया अनुपपन्नत्वात् । [2] बन्धनकल्पनां निराकृत्य निःश्रेयसकल्पनां निराकरोति—यदपीति । [3] उक्तकल्पनायामपि । [4] फलाश्रयस्य विज्ञानस्याभावः । [5] कण्टकविशुद्धस्येति पाठान्तरम् । [6] कण्टकवेधजनितेत्यर्थः । [7] दार्ष्टान्तिकमाह—तद्वदिति । सर्वनिर्वाणे सर्वस्य निवृत्तौ । [8] पुरुषशब्देति—पुरुषार्थशब्दघटकपुरुषशब्देत्यर्थः । [9] वस्तुनः । [10] अर्थः फलं चस्त्वर्थो वार्थं इति पाठान्तरम् । [11] नाशे । [12] निर्वाणे इति । तथा च वार्तिके—"न संयोगो वियोगो वा यस्य केनचिदिष्यते । विनाशतः स्वतस्तस्य कीदृशी फलसंगतिरिति" ॥ ७१३ ॥ [13] अनेकेति—भूतभविष्यदाद्यर्थेत्यर्थः । [14] निवृत्तिः । [15] आत्मनः । [16] आत्मा ।

[1]स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः पाप्मभिः [2]सꣳसृज्यते स उत्क्रामन्म्रियमाणः[3] पाप्मनो[4] [5]विजहाति ॥८॥

वह यह प्रकृत आत्मा जन्म धारण करते समय शरीर में आत्मभाव करता हुआ देहेन्द्रि पापों से युक्त हो जाता है और मरते समय उन पापों को त्याग देता है ॥८॥

पन्नमन्यसंयोगनिमित्तं कालुष्यं तद्वियोगनिमित्ता च विशुद्धिरिति । शून्यवादि सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नाऽऽदरः क्रियते ॥ ७ ॥

यथैवे[6]हैकस्मिन्देहे [7]स्वप्नो भूत्वा [8]मृत्यो रूपाणि [9]कार्यकरणा[10]न्यतिक्रम्य

विज्ञानवादश्च निराकृतौ शून्यवादो निराकर्तव्योऽपि कस्मान्न निराक्रियते तत्राऽऽह—शून्यवा समस्तस्य वस्तुनः सत्त्वेन भानान्मानानां च सर्वेषां सद्विषयत्वाच्छून्यस्य [12]चाविषयतया [13]प्राप्त निराकरणानर्हत्वा[14]त्तद्विषयत्वे च शून्यवादिनैव [15]विषयनिराकरणोक्त्या शून्यस्यापह्नवात्त [16]स्फुरणास्फुरणयोः सर्वशून्यत्वायोगात्तद्वादिनश्च सत्त्वासत्त्वयो[17]स्तदनुपपत्तेः संवृतेश्चा[18]ऽऽश्रयाभा भवा[19]त्तदाश्रयत्वे च शून्यस्य [20]स्वरूपहानान्निराश्रयत्वे[21] चा[22]संवृतित्वान्नास्माभिस्तद्वादनिरासा क्रियते [23]तत्सिद्धं बुद्ध्याद्यतिरिक्तं नित्यसिद्धमत्यन्तशुद्धं कूटस्थमद्वयमात्मज्योतिरिति भावः ॥

प्रसङ्गागतं [24]परपक्षं [25]निराकृत्य श्रुतिव्याख्यानमेवानुवर्तयन्नुत्तरवाक्यतात्पर्यमाह—

हो सकती है। किन्तु शून्यवादी का मत तो सभी प्रमाणों के विरुद्ध है। इसलिए उसके ख के लिए अधिक आदर नहीं किया जाता ॥७॥

जिस प्रकार यहाँ एक देह में स्वप्नरूप से स्थित होकर, आत्मा अज्ञान के ज्ञापक मृत्यु

---

१. सोऽयं प्रकृतः पुरुषः । जायमानो न घटादिवदुत्पद्यते स्वरूपतः किन्तु शरीरमभिसम्पद्यमानस्त गच्छन्नेव सन् पाप्मभिर्लक्षणया धर्माधर्माश्रयैः कार्यकारणैः । २. संयुज्यते । स एव पुनर्देहारम्भककर्म व्याख्या शरीरान्तरं प्रति ह उच्यत इति । ३. व्याख्येयम् । ४. कार्यकरणरूपान् । ५. अभिम रूपेण । ६. स्थिते सत्येव । ७. स्वप्नः स्वप्नाकारपरिणतस्वोपाधिधीवृत्त्यवभासकत्वेन त ८. अज्ञानस्य ज्ञापकानि । ९. अभिमानतो गृहीतानि । १०. वस्तुत आसङ्गाभावात् । ११. १२. प्रमाणाविषयतया । १३. उपस्थित्यभावेन । १४. तद्विषयत्वे चेति—शून्यस्य प्रमाण स्वीकृते सतीत्यर्थः । १५. विषयनिराकरणोक्त्येति—यत् प्रमाणविषयस्तच्छून्यमित्युक्त्वा शून्यस्य विषयत्वे शून्यस्यापि शून्यत्वलाभात्तन्निराकरणमिति भावः । १६. स्फुरणेत्यादिभाने भानमेव रिक्तमभाने च तदिति न सर्वशून्यतेत्यर्थः । १७. सर्वशून्यानुपपत्तेः । १८. अविद्यायाः । १९. विद्याश्रयत्वे । २०. स्वरूपहानादिति—आश्रयत्वधर्मवतस्तस्य निर्विशेषत्वरूपस्वरूपहानापत्तेरित्यर्थः । अविद्यायाः । २२. असंवृतित्वादिति—अविद्यायाः साश्रयत्वेनैव सर्वानुभवसिद्धत्वादहं न जाना रीत्यैव तस्या अनुभूयमानत्वादिति भावः । २३. तत्—तस्मात् विमतो व्यवहारोऽसंहतज्योति व्यवहारत्वादादित्यादिकृतव्यवहारवदित्यनुमानादिति यावत् । २४. बौद्धराद्धान्तम् । २५. प्रत्य

व आत्मज्योतिष्यास्त एवं स वै प्रकृतः पुरुषोऽयं जायमानः । [2]कथं जायमान इत्युच्यते—शरीरं देहेन्द्रियसंघातमभिसंपद्यमानः शरीर आत्मभावमापद्यमान[3] इत्यर्थः । पाप्मभिः [4]पाप्मसमवायिभि[5]र्धर्माधर्माश्रयैः कार्यकरणैरित्यर्थः संसृज्यते । [6]संयुज्यते *स एवोत्क्रामञ्छरीरान्तर[7]मूर्ध्वं क्रामन्गच्छन्म्रियमाण इत्येतस्य व्याख्यानमुत्क्रामन्निति । तानेव संश्लिष्टान्पाप्मरूपान्कार्यकरणलक्षणान्विजहाति तैर्वियुज्यते ता[8]न्परित्यजति ।

एवमात्मा देहभेदेऽपि वर्तमानं [9]जन्म त्यजञ्जन्मान्तरं चोपाददानः कार्यकरणान्यतिक्रामतीति शेषः । तः स्वप्नजागरितसंचाराद्देहाद्यतिरेकवदिहलोकपरलोकसंचारोक्त्याऽपि तदतिरेक[10]स्तस्योच्यतेऽनन्तवाक्येने(णे)त्यर्थः । संप्रत्युत्तरं वाक्यं गृहीत्वा व्याकरोति—स वा इत्यादिना । *पाप्मशब्दस्य लक्षणया [11]तत्कार्यविषयत्वं दर्शयति—पाप्मसमवायिभिरिति । पाप्मशब्दस्य [12]पापवाचित्वेऽपि [13]कार्यसाम्याद्धर्मेऽपि वृत्तिं सूचयति—धर्माधर्मेति । [14]उक्तमर्थं दृष्टान्तत्वेनानुवदति—यथेति । अवस्थाद्वय-

और इन्द्रियों को (आसक्ति अभाव से) अतिक्रमण करके स्वप्न में अपने आत्मज्योतिरूप में स्थित रहता है—इसी प्रकार "स वा अयं पुरुषो जायमानः"... यह जायमान पुरुष है इत्यादि । किस प्रकार जायमान है ? इस पर श्रुति कहती है—"शरीरम्" यानी देहेन्द्रियसंघातरूप शरीर को "अभिसंपद्यमानः" अर्थात् आत्मभाव से प्राप्त होता हुआ "पाप्मभिः" अर्थात् पापहेतुक समवायी कारण धर्म और अधर्म के आश्रय देह और इन्द्रियों से "संसृज्यते" यानी संयुक्त हो जाता है (उन्हीं को आत्मरूप से मानता है) । तथा वही फिर 'उत्क्रामन् म्रियमाणः' शरीरान्तरप्राप्ति के लिए ऊपर जाता हुआ, श्रुति में व्याख्येय 'म्रियमाणः' पद की व्याख्या 'उत्क्रामन्' पद से की गयी है । उन संश्लिष्ट देहेन्द्रिय

---

१. सोऽयं प्रकृतः जायमान एव पाप्मभिरिति संबन्धः । २. घटादिवदात्मनः स्वरूपतो जन्म देहसंपत्त्या वेति पृच्छति—कथमिति । उत्तरकल्पमादायोत्तरमाह—उच्यत इति । ३. एव । ४. पाप्महेतुकैः । ५. तत्कार्यैः । ६. संयुज्यते—तान्येवात्मत्वेनाभिमन्यते । ७. प्रति । ८. परित्यजतीति—यदा देहारम्भकं कर्म भोगेन क्षीयते वर्तमानदेहपातश्च तदा पाप्मशब्देन लक्षितलक्षणया गृहीतानि कार्यकरणानि सर्वविक्रियाशून्यः सन्नात्मा परित्यज्याभिमानत्यागमात्रेणेत्यर्थः । ९. शरीरम् । १०. आत्मनः । ११. संघातबोधित्वम् । १२. अधर्मवाचकत्वेऽपि । १३. द्वयोरपि कार्यं देह एवेति तत्साम्यम् । १४. उक्तमर्थमिति—स वा इत्यादिप्रकृतकण्डिका व्याख्यानोपक्रमे यथैवेहेत्यादिना आस्त इत्यन्तेन भाष्येणोक्तम् ।

---

*स एवेत्यादि परित्यजतीत्यन्तभाष्ये वार्तिकद्वयम्—"देहकर्मक्षये देहपातश्चास्य यदा तदा । पाप्मनः कर्मकार्याणि विजहात्यमृतोऽव्ययः ॥ जहाति मृत्यो रूपाणि मृतिस्वप्नादिभूमिषु । न तु मृत्युमृते ज्ञानाज्जहात्यात्मा निजं तमः" ॥ ८१९-८२० ॥ इति । स उत्क्रामन्नित्यादेरर्थमाह—देहेति । यदा देहारम्भकं कर्म भोगेन क्षीयते वर्तमानदेहपातश्च तदा पाप्मशब्देन लक्षितलक्षणया गृहीतानि कार्यकरणानि सर्वविक्रियाशून्यः सन्नात्मा त्यजतीत्यर्थः ॥ ननु मृत्युकार्यं देहादि ज्ञानं विना त्यजति चेन्मृत्युमपि तथा त्यक्ष्यति तथाच ज्ञानवैयर्थ्याच्छास्त्रारम्भो वृथा स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—जहातीति । नैसर्गिकमज्ञानं मृत्युस्तस्य ज्ञानं विना न त्यागो विरोध्यन्तराभावादित्यर्थः ॥

*पाप्मशब्दस्येति । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"पाप्मेति देहसंबन्धहेतुमात्रमिहोच्यते । आ विरिञ्चात्तथा-

यथाऽयं स्वप्नजाग्रद्वृत्त्योर्वर्तमान एवैकस्मिन्देहे पाप्मरूपकार्यकरणोपादानपरित्या मनवरतं संचरति धिया समानः सन्, तथा सोऽयं पुरुष उभाविहलोकपरलोकौ मरणाभ्यां कार्यकरणोपादानपरित्यागावनवरतं प्रतिपद्यमान आ संसारमोक्षात्सं [१]तस्मात्सिद्धमस्याऽऽत्मज्योतिषोऽन्यत्वं कार्यकरणरूपेभ्यः संयोगवियोगाभ्याम् । तद्धर्मत्वे सति तैरेव संयोगो वियोगो वा युक्तः ।। ८ ।।

---

[२]संचारस्य लोकद्वयसंचारं दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति । इहलोकपरलोकावनवरतं संचरतीति संचरणप्रकारं प्रकटयति—जन्मेति । जन्मना कार्यकरणयोरुपादानं मरणेन च तयोस्त्यागम लभमानो मोक्षादर्वागनवरतं संचरन्दुःखी भवतीत्यर्थः । स वा इत्यादिवाक्यतात्पर्यमुपसंहरति- दिति । तच्छब्दार्थमेव स्फुटयति—संयोगेति । कथमे[३]तावता तेभ्योऽन्यत्वं तत्राऽऽह—न हीति ।

लक्षणात्मक पापरूपों को "विजहाति" अर्थात् छोड़ देता है, उनका अभिमान परित्याग कर जिस प्रकार यह जीव एक वर्तमान शरीर में ही बुद्धि की सदृशता को प्राप्त होकर स्वप्न और वृत्तियों में पापरूप देहन्द्रिय का ग्रहण और त्याग करता हुआ निरन्तर संचरण करता रहता है प्रकार यह पुरुष जन्म-मरण द्वारा देहेन्द्रिय का निरन्तर ग्रहण और परित्याग करता हुआ, और परलोक में तब तक संचार करता रहता है, जब तक संसार से मोक्ष प्राप्त नहीं कर लेता। इन संयोग और वियोग के कारण इस आत्म-ज्योति का देहेन्द्रियरूप पापों से अन्यत्व सिद्ध स्वाभाविक धर्म होने पर उनका धर्मी से संयोग-वियोग होना सिद्ध नहीं होता ।।८।।

---

१. तस्मात्सिद्धमिति—देहादिर्नात्मस्वभावस्तद्धर्मो वा तत्संयोगित्वाद्वियोगित्वाच्च स्रगादिवदिति भाव स्थूलदेहादेरात्मत्वाद्यभावेऽपि सूक्ष्मस्याव्यभिचारित्वात्तत्स्यादिति चेन्न यथा चैत्रश्छित्त्वा त्यक्तेन तद्वानस्मीति नात्मानमभिमन्यते तथाऽवशिष्टेनापि नात्मनः संबन्धस्त्यक्तवदत्यक्तस्यापि देहस्य वि विशेषादतः सूक्ष्मोऽपि देहो नात्मा तदीयो वा तदुपाधित्वात्स्थूलवदिति । २. दृष्टान्तभूतस्य । ३. वता—ताभ्यां संयोगवियोगमात्रेण ।

ऽऽस्थाणोः सर्वं कर्मेति उच्यते ।। ब्रह्मादीनां शरीराणि श्वसूकरशरीरवत् । यतो जिहासितान्येव तस् पाप्मगीः ।। दुःखाभावः सदेहस्य नैवास्तीति श्रुतेर्वचः । तस्माद्देवोऽप्यनर्थः स्याद्देहो नाशाच्च सर्वदा ।। कर्म भते यावद्दुःखादिफलमात्मनः । असत्समं भवेत्तावत्तदपूर्वात्ना स्थितम् ।। शरीरं पाप्मनां कार्यं धर्माधर्मात्म तस्मिन्नात्माभिमानो यः सा संपत्तिरविद्यया" ।।८१४-८१८ ।। इति । पाप्मप्रातिपदिकार्थमाह—पा आ विरिञ्चादा च स्थाणोर्देहसंबन्धे हेतुर्धर्मादिस्तन्मात्रमत्र वाक्ये पाप्मप्रातिपादिकार्थः । तल्लक्षणा पाप्मशब्दितमित्यर्थः ।। उत्कर्षहेतोर्धर्मस्य पाप्मशब्देन ग्रहो धर्मकार्याणां ब्रह्मादिदेहानां सर्वस्पृहणी त्याशङ्कयाऽऽह—ब्रह्मादीनामिति ।। धर्मफलस्यापि देहस्य जिहासित्वे हेतुमाह—दुःखेति । न ह वै स त्यादिश्रुतेर्ब्रह्मादिदेहस्यापि दुःखायतनत्वेन दृष्टेर्जिहासितत्वमित्यर्थः । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—नाशा सर्वदेत्यनर्थपदेन संबध्यते ।। पाप्मशब्दस्य कर्ममात्रविषयत्वेऽपि कथं देहसंबन्धहेतुविषयत्वं कर्मण सिद्धेर्भोगवासनायास्तथात्वादित्याशङ्कयाऽऽह—कर्मेति । कर्तृभोगार्थं कर्म तदनारम्भे मानाभावाद तस्यासत्त्वप्रसङ्गान्न च देहं विना भोगस्तस्माददेहस्य देहसंबन्धहेतुराविद्यं सवासनं कर्मेत्यर्थः ।। पाप्म प्रातिपदिकार्थमुक्त्वा विभक्त्यर्थं संघातकर्तृत्वाख्यं कथयति—शरीरमिति । संसर्गशब्दार्थमाह—तस्मि

RajGuru Math, Shivala, Varaṇasi Collection

✽ ननु न स्तोऽस्योभौ लोकौ यौ जन्ममरणाभ्यामनुक्रमेण संचरति स्वप्नजागरिते इव । स्वप्नजागरिते तु प्रत्यक्षमवगम्येते न [1]त्विहलोकपरलोकौ केनचित्प्रमाणेन । तस्मादेते एव स्वप्नजागरिते इहलोकपरलोकाविति । उच्यते—

भाविकस्य हि धर्मस्य सति [3]स्वभावे कुतः संयोगवियोगौ वह्न्यौष्ण्यादिष्वदर्शनात्कार्यकरणयोश्च संयोगविभागवशादस्वाभाविकत्वे सिद्धमात्मनस्तदन्यत्वमित्यर्थः ॥८॥

तस्येत्यादिवाक्यस्य व्यावर्त्यां शङ्कामाह—नन्विति [4]अवस्थाद्वयवल्लोकद्वयसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—स्वप्नेति । कथं [5]तर्हि लोकद्वयप्रसिद्धिरत आह—तस्मादिति । [6]तत्रोत्तरत्वेनोत्तरं वाक्य-

किन्तु स्वप्न और जाग्रत् के समान यह पुरुष जन्म और मरण के द्वारा क्रमशः जिनमें संचरण करता है, वे दोनों लोक तो नहीं हैं। स्वप्न और जाग्रत् तो प्रत्यक्ष जाने जाते हैं; इहलोक और परलोक तो किसी भी प्रमाण से नहीं जाने जाते। इसलिए ये स्वप्न और जागरित ही इहलोक

---

१. यद्यपीह लोकः प्रत्यक्षेणावगम्यत एव तथापि तस्य जागरित एवान्तर्भावान्न तद्व्यतिरेकेण परलोकसमकक्षेहलोकेऽपि मानमिति भावः । २. तयोरप्रमाणकत्वात् । ३. धर्मिणि । ४. जाग्रत्स्वप्नावस्थाद्वयेति भावः । ५. तर्हि—इहलोकपरलोकयोरप्रमाणकत्वे । ६. उक्तशङ्कायाम्

✽ नन्वित्यादि उच्यत इत्यतः प्राक्तनं भाष्यं तत्र सप्त वार्तिकानि—"प्रात्यक्ष्यादस्य लोकस्य नास्त्याशङ्काऽस्ति तां प्रति । परलोकेऽपि नाऽऽशङ्का तत्सिद्धेरागमात्सदा ॥ प्रत्यक्संवित्प्रमाणत्वं परलोकेहलोकयोः । स्वप्नवन्नान्यमानत्वमित्यस्तित्वं विवक्षितम् ॥ इत्याशङ्क्योत्तरो ग्रन्थस्तस्य वा इति भण्यते । इत्येष तावत्संबन्धस्तथाऽन्योऽप्यभिधीयते ॥ आत्मा ज्योतिरिति ह्येकः समान इति चापरः । पाप्मनो विजहातीति पदार्थाः सूत्रितास्त्रयः ॥ स्वप्नेन निर्णयो वाच्य एतेषामित्यतोऽधुना । तस्येति वर्ण्यतेऽथेदं विधिना येन तच्छृणु ॥ अयं चाप्यभिसंबन्धस्तथा चान्योऽपि वर्ण्यते । स्वयंज्योतिर्यं आत्मोक्तस्तस्य विद्याक्रियोद्भवाः ॥ कर्मोपभोगसिद्ध्यर्थं वर्ण्यन्ते भूमयोऽधुना । इदं जन्म परं चैव स्वप्नस्तन्मध्यगस्तथा" ॥ ८२८-८३४ ॥ इति ॥ भाष्योक्तामाशङ्कामनूद्याऽऽक्षिपति—प्रात्यक्ष्यादिति । इहलोकस्य प्रत्यक्षत्वादस्तिता निश्चिता परलोकस्य स्वर्गकामादिवाक्यसिद्धत्वान्न तत्रापि नास्तित्वाशङ्का तेन तन्निरासार्थं नोत्तरग्रन्थारम्भ इत्यर्थः ॥ शङ्कासमर्थनपूर्वकं समाधत्ते—प्रत्यगिति । प्रतीचः संवित्स्वानुभवाख्यं प्रत्यक्षं तत्प्रमाणकत्वं यथा स्वप्नजागरितयोस्तथेहलोकयोरपि प्रत्यक्षप्रमाणकमस्तित्वं वाच्यं नाऽऽगमादिमानान्तरगम्यं तदस्तित्वमिति विवक्षितं न च परलोकास्तित्वं प्रत्यक्षं तस्मात्परलोको नास्तीत्याशङ्क्य प्रत्यक्षेणैव तत्समर्थनार्थमुत्तरो ग्रन्थ इत्यर्थः ॥ भाष्योक्तं संबन्धं निगमयति—इत्येष इति । भर्तृप्रपञ्चोक्तं संबन्धमुत्थापयति—तथेति ॥ तं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—आत्मेति । यथाऽऽहुस्तान्येतानि त्रीणि वस्तून्युपन्यस्तानीति । तथोदाहृततदीयभाष्यावद्योती हिशब्दः ॥ तस्येत्यादेरिष्टं संबन्धमाह—स्वप्नेनेति । कथमत्र आत्मज्योतिरादीनां त्रयाणां स्वप्नदृष्टान्तेन निर्णयो वाच्य इत्यतो हेतोस्तस्येति वाक्यं प्रवृत्तमित्यर्थः । इदं त्रयं येन विधिना तस्येतिवाक्ये त्रयाणां निर्णयस्तत्राऽऽह—वर्ण्यत इति । उक्तचोद्यावद्योतनार्थोऽथशब्दः । वाक्यव्याख्याने त्रयाणां निर्णयो व्यक्तो भवतीति भावः ॥ वर्ण्यते तद्विधानमुच्यमानं शृण्विति योजना । स्वाभीष्टं संबन्धान्तरमाह—उक्तं संबन्धमनुजानाति—अयं चेति । भाष्योक्तं संबन्धं दृष्टान्तयितुमपिशब्दः । इदमिति भोगभूमीरेव दर्शयति—इदमिति । तथाचेति । तदेव स्फुटयति—स्वयमिति ॥ इदं चेत्यादिवाक्यमादाय चकारसूचितमर्थमाह—स्वप्न इति ॥

[1]तस्य [2]वा [3]एतस्य पुरुषस्य द्वे [4]एव स्थाने भवत [5]इदं च [6]परलोकस्थान च [7]संध्यं तृतीयꣳ स्वप्नस्थानं तस्मिन्संध्ये स्थाने [8]तिष्ठन्नेते [9]उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च । [11]अथ [12]यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्योभयान्पाप्मन आनन्दा-

उस इस आत्मपुरुष के यह लोक और परलोकसंबन्धी दो ही स्थान हैं, तीसरा स्वप्नस्
संध्यस्थान है। उस संध्यस्थान में रहता हुआ यह पुरुष इस लोकरूप स्थान और परलोकस्
इन दोनों को देखता है। यह पुरुष परलोकस्थान के लिये जैसे साधनों से युक्त होता है, वैसे सा
आश्रय लेकर यह पाप के फलरूप दुःख और पुण्य कर्म के फलरूप सुख दोनों ही को देखता है।

**तस्यैतस्य पुरुषस्य वै द्वे एव स्थाने भवतो न तृतीयं चतुर्थं वा । के ते । इ
यत्प्रतिपन्नं वर्तमानं जन्म शरीरेन्द्रियविषयवेदनाविशिष्टं स्थानं प्रत्यक्षतोऽनुभूयमा
परलोक एव स्थानं परलोकस्थानम् । तच्च शरीरादिवियोगोत्तरकाला[12]नुभाव्यम् ।**

**मुत्थाप्य व्याकरोति—उच्यत इति । स्थानद्वयप्रसिद्धिद्योतनार्थो वैशब्दः । अवधारणं विवृणोति-
वेदना सुखदुःखादिलक्षणा । [13]आगमस्य परलोकसाधकत्वमभिप्रेत्याऽऽह—तच्चेति । [14]अवधार**

और परलोक है। इसी को श्रुति कहती है—

उस इस पुरुष के दो ही स्थान हैं, तीसरा या चौथा नहीं है। वे कौन से दो स्थान
"इदं च" अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, विषय और वेदनाविशिष्ट यह जो प्राप्त वर्तमान जन्म
अनुभूयमान हैं, (दूसरा) "परलोकस्थानम" यानी परलोक ही जो स्थान है, वह शरीर

---

१. एवमागमतः परलोकाऽस्तित्वे सिद्धेऽपि तत्र प्रत्यक्षं वाच्यमतस्तद्वक्तुं यद्वाऽऽत्मज्योतिः । स
पाप्मनो विजहाति । इत्येतान् सूत्रितांस्त्रीन्पदार्थान् स्वप्नावष्टम्भेन निर्णेतुमाह—तस्येति । २. प्र
३. प्रकृतस्य । ४. न न्यूने नाप्यधिके । ५. इदं—प्रत्यक्षतोऽनुभूयमानं वर्तमानं जन्मैकम् ।
माह—परेति । ६. भाविजन्म । ७. उभतोभयोः संधौ भवम् । ८. वर्तमानः । ९.
भाविजन्मनी । १०. लोकद्वयस्य ग्राह्यत्वाऽविशेषे कस्मादिहलोकं त्यक्त्वा परलोको व्युत्पाद्यत इ
अथेत्यादेस्तात्पर्यमाहुर्वार्तिके—"सुखेन दर्शनं तावदैहिकस्येह जन्मनः । यथा तु परलोकस्य तथाऽथेत्यभिधी
८४५ ॥ इति । ११. आक्रम इत्यादि—आक्रामत्यनेनेत्याक्रम आश्रयः विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञालक्षणोऽवष्ट
यादृशोऽस्य सोऽयं यथाऽऽक्रमः पुरुषः परलोकस्थाने प्रतिपत्तव्ये निमित्ते तत्प्राप्त्यर्थमिति यावत् ।
क्रमेण युक्तो भवति तमाक्रमं बीजभूतमाक्रम्यावष्टभ्य उभयान् पाप्मन आनन्दांश्च पापफलानि दुःखानि
फलभूतान्सुखविशेषांश्च पश्यति एवमनेन प्रकारेण धर्माद्देवताप्रसादाद्वा अन्ते वयसि यदिहाऽसंभाव्यमानं
पश्यति तत्पारलौकिकमेवेत्यर्थः । १२. अनुभवनीयं भोक्तव्यमिति यावत् । १३. प्रत्यक्षस्य त
साधकत्ववत् । १४. संध्यमित्यादिना व्यावर्त्यां शङ्कामादर्शयन् ।

ऽश्च पश्यति [1]स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति ।९।

मय यह सो जाता है उस समय इस सम्पूर्ण लोकों की मात्रा अर्थात् एक देश को लेकर अपने आप ही
स स्थूल शरीर को चेतनाशून्य करके तथा स्वयं अपने ही वासनामय स्वाप्न शरीर को रचकर
पने आत्मज्योतिरूप प्रकाश से शयन करता है। अतः इस अवस्था में यह पुरुष स्वयंज्योतिस्वरूप
होता है ॥९॥

वप्नोऽपि परलोकस्तथा च सति द्वे एवेत्यवधारणमयुक्तम् । न । कथ तर्हि । संध्यं
तत् । [3]इहलोकपरलोकयोर्यः संधिस्तस्मिन्भवं संध्यं यत्तृतीयं तत्स्वप्नस्थानम् । [4]तेन
स्थानद्वित्वावधारणम् । [5]न हि ग्रामयोः संधिस्तावेव ग्रामावपेक्ष्य तृतीयत्वपरिगण-

---

क्षिपति—नन्विति । [6]तस्य स्थानान्तरत्वं [7]दूषयति—नेति । स्वप्नस्य लोकद्वयातिरिक्तस्थानत्वाभावे
कथं तृतीयत्वप्रसिद्धिरित्याह—कथमिति । [8]तस्य संध्यत्वान्न स्थानान्तरत्वमित्युत्तरमाह—संध्यं तदिति ।
संध्यत्वं व्युत्पादयति—इहेति । यत्स्वप्नस्थानं तृतीयं मन्यसे तदिहलोकपरलोकयोः संध्यमिति संबन्धः ।
अस्य संध्यत्वे फलितमाह—न हीति । पूरणप्रत्ययश्रुत्या स्थानान्तरत्वमेव स्वप्नस्य किं न स्यादित्या-
शङ्क्य प्रथमश्रुतसंध्यशब्द[9]विरोधा[10]न्मैवमित्याह—न हीति । परलोकास्तित्वे [11]प्रमाणान्तरजिज्ञासया-

---

प्राणशून्य हो जाने पर भोगने योग्य है। (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु स्वप्न भी तो परलोक है
ऐसा होने पर 'दो ही' यह निश्चयपूर्वक कहना ठीक नहीं है। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसी
बात नहीं है। तो फिर क्या बात है? स्वप्नस्थान सन्ध्य है। ऐहिक और आमुष्मिक देह की जो
सन्धि है, उसमें होने से जो 'सन्ध्य' है, वह तीसरा स्वप्नस्थान है। उसके सन्ध्य होने से दो ही स्थानों
का निर्णय किया गया है। दो ग्रामों की संधि को उन्हीं दो ग्रामों की अपेक्षा से किया जाता है,
तृतीय ग्राम की गणना नहीं की जाती। किन्तु उस परलोकस्थान का अस्तित्व कैसे जाना जाता है,

---

[1] स खल्वात्मा बाह्यैर्ज्योतिर्भिरसंस्पृष्टः स्वयमेव यथा ज्योतिर्भवति तथेदं स्वयं ज्योतिष्ट्वं साक्षात्स्वप्ना-
वष्टम्भेनाह – स इति । स प्रकृत आत्मा यत्र काले प्रकर्षेण स्वप्नमनुभवति तदा किमाश्रयः केन प्रकारेण
स्वप्नं प्रतिपद्यत इत्याकाङ्क्षायामाह —अस्येति । [2] स्वप्नस्थानम् । [3] ऐहिकामुष्मिकदेहयोः ।
[4] तस्य संध्यत्वेन । [5] न हीति—अत्र भाष्याद्विरुद्धार्थो वार्तिके—"संध्यं तृतीयमित्युक्तिः पूरण-
प्रत्ययश्रुतेः । न स्थानान्तरनिह्नुत्यौ यत्तूक्तमवधारणम् ॥ तदयोगव्यवच्छित्त्यौ नान्ययोगव्यपेक्षया । तस्मि-
न्संध्य इतीदं च तथा सति समञ्जसमिति" ॥८३७-८३८॥ [6] स्वप्नस्य । [7] दूषयति—देहद्वयातिरिक्तः
स्वप्नदेहोऽपि पुंसोऽस्तीति अवधारणानुपपत्तिरिति चोद्यं निरस्यतीत्यर्थः । [8] स्वप्नस्य । [9] विरोधादिति
—एवकारविरोधादित्यप्यवधेयम् । [10] मैवमिति—तथा च पूरणप्रत्ययश्रुतिर्हेयेति भावः । [11] आगमा-
न्यप्रमाणेति बोध्यम् ।

नमर्हति। कथं पुनस्तस्य परलोकस्थानस्या[1]स्तित्वमवगम्यते यदपेक्ष्य स्वप्नस्थानं भवेत्। यतस्तस्मिन्संध्ये स्वप्नस्थाने तिष्ठन्भवन्वर्तमान[2] एते उभे स्थाने प के ते उभे। इदं च परलोकस्थान च। [3]तस्मात्स्तः स्वप्नजागरितव्यतिरेकेणोभौ यौ [4]धिया समानः सन्ननुसंचरति जन्ममरण[5]संतानप्रबन्धेन।

कथं पुनः स्वप्ने स्थितः सन्नुभौ लोकौ पश्यति। किमाश्रयः केन [6]विधि उच्यते—अथ कथं पश्यतीति। शृणु। यथाक्रम आक्रामत्यनेनेत्याक्रम आश्रयोऽ इत्यर्थः। [7]यादृश आक्रमोऽस्य सोऽयं यथाक्रमः। अयं पुरुषः परलोकस्थाने [8]प्रति [9]निमित्ते यथाक्रमो भवति यादृशेन परलोकप्रतिपत्तिसाधनेन विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञाल युक्तो भवतीत्यर्थः। तमाक्रमं परलोकस्थानायोन्मुखीभूतं प्राप्ताङ्कुरीभावमि

पृच्छति—कथमिति। [10]प्रत्यक्षं प्रमाणयन्नुत्तरमाह—यत इत्यादिना।

स्वप्नप्रत्यक्षं परलोकास्तित्वे प्रमाणमित्युक्तं तदेवोत्तरवाक्येन (ण) स्फुटयितुं पृ कथमिति। कथंशब्दार्थमेव प्रकटयति—किमित्यादिना। उत्तरवाक्यमुत्तरत्वेनोत्थापयति- इति। [11]तत्राथशब्दमुक्तप्रश्नार्थतया व्याकरोति—अथेति। उत्तरभागमुत्तरत्वेन व्याचष्टे-शृ यदुक्तं किमाश्रय इति तत्राऽऽह—यथाक्रम इति। यदुक्तं केन विधिनेति तत्राऽऽह—तमाक्र

जिसकी अपेक्षा से स्वप्नस्थान सन्ध्यस्थान होता है क्योंकि उस सन्ध्य स्वप्नस्थान में "तिष्ठन् विद्यमान रहते हुए विद्या-कर्म-वासना से संस्कृत आत्मा इन दोनों स्थानों को देखता है। वे दोनों कौन से हैं? यह और परलोक स्थान हैं। इसलिए स्वप्न और जागरित से व्यतिरिक्त दोनों जिनमें बुद्धि से तादात्म्यभाव को प्राप्त पुरुष जन्म-मरण पङ्क्तिपरम्परा के द्वारा निरन्तर करता रहता है।

किन्तु वह स्वप्न में स्थित हुआ दोनों लोकों को किस प्रकार देखता है, किस आश्रय औ सी विधि द्वारा देखता है? "वह कैसे देखता है" यह कहा जाता है। सुनो। "यथाक्रमः" जिससे जीव आक्रमण करता है, वह 'आक्रमः' यानी आश्रय या आधार है। इस जन्म में पर निमित्त अर्जित ज्ञानादिसाधनकलाप आक्रम जैसा इसका है, उसे 'यथाक्रम' कहा जाता है। पुरुष लब्धव्य परलोकस्थानरूप उद्देश्य में जैसे आक्रम वाला होता है अर्थात् विद्या, कर्म औ प्रज्ञारूप जिस प्रकार के परलोकप्राप्ति के साधन से युक्त होता है। "तमाक्रमम्" यानी अङ्कुर

---

१. अस्तित्वमिति। तथा च वार्तिके—"स्वप्नेहलोकयोस्तावत्सत्त्वं प्रत्यक्षगोचरम्। परलोकस्य सद् प्रमाणमितीर्यता"मिति॥ ८३९॥ २. विद्याकर्मवासनासंस्कृत आत्मा। ३. परलोकसद्भावे प्रत्यक्षस्य मानत्वात्। ४. धीसदृश — तत्तादात्म्यापन्नः। ५. पङ्क्तिपरम्परया। ६. प्रक ७. यादृश आक्रम इति इह जन्मनि परलोकार्थमार्जितज्ञानादिसाधनकलाप आक्रम शब्दार्थः। ८. पत्तव्ये लब्धव्ये भाविदेहे। ९. उद्देश्ये सति। १०. स्वप्नप्रत्यक्षं परलोकसद्भावे प्रमाणयन्। वाक्यघटकम्।

तमाक्रममाक्रम्यावष्टभ्याऽऽश्रित्योभयान्पश्यति बहुवचनं धर्माधर्मफलानेकत्वादुभयानुभयप्रकारानित्यर्थः । कांस्तान्पाप्मनः पापफलानि । न तु पुनः साक्षादेव पाप्मनां दर्शनं संभवति[1] तस्मात्पापफलानि दुःखानीत्यर्थः । आनन्दांश्च धर्मफलानि सुखानीत्येतत् । तानुभयान्पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति [2]जन्मान्तरदृष्टवासनामयान् । यानि च [3]प्रतिपत्तव्यजन्मविषयाणि क्षुद्रधर्माधर्मफलानि धर्माधर्मप्रयुक्तो देवतानुग्रहाद्वा पश्यति ।

पाप्मशब्दस्य यथाश्रुतार्थत्वे संभवति किमिति फलविषयत्वं तत्राऽऽह—न त्विति । साक्षादागमादृते प्रत्यक्षेणेति यावत् । पाप्मनामेव साक्षाद्दर्शनासंभवस्तच्छब्दार्थः । कथं पुनराद्ये[4] वयसि पाप्मनामानन्दानां च स्वप्ने दर्शनं तत्राऽऽह—जन्मान्तरेति । यद्यपि मध्यमे वयसि करणपाटवादैहिकवासनया स्वप्नो दृश्यते तथाऽपि कथमन्तिमे वयसि स्वप्नदर्शनं तदाह—[5]यानि चेति । फलानां क्षुद्रत्वमत्र[6] लेशतो भुक्तत्वम् । यानीत्युपक्रमात्तानीत्युपसंख्यातव्यम्[7] ।

प्राप्त हुए बीज के समान परलोकस्थान के प्रति उन्मुख हुए उस आक्रम को "आक्रम्य" यानी आक्रान्त कर अथवा उसका आश्रय लेकर दोनों लोकों को देखता है । 'उभयान्' इस पद में बहुवचन धर्माधर्म के फलों की अनेकता के कारण है अर्थात् दोनों प्रकार के लोकों को देखता है। उन्हें किनको देखता है ? 'पाप्मनः' अर्थात् पाप के फलों को । पापफलों के अतीन्द्रिय होने के कारण उनका साक्षात् दर्शन संभव नहीं है, इसलिए पापफल दुःखरूप है, "आनन्दांश्च" अर्थात् धर्म के फल जो सुखरूप हैं, इन जन्मान्तर दृष्ट वासनाओं के कार्य दुःख और सुख दोनों को देखता है। इसके अतिरिक्त जो भावी

---

१. तेषामतीन्द्रियत्वात् । २. कथं स्वप्नप्रत्यक्षं परलोकं गोचरयतीत्याशङ्क्य बाल्ययौवनवार्धकभेदेः संघातस्य तिस्रोऽवस्थास्तत्र बाल्यावस्थायां परलोकविषयः स्वप्नः संभवतीत्याह—जन्मान्तरदृष्टेति । तथा च वार्तिके—"भूतजन्मनि यद्भुक्तं कर्म तद्भावनाञ्जितः । पौर्वदैहिकमेवातो वयस्याद्येऽभिवीक्षते ॥ मध्ये वयसि कार्कश्यात्कारणानामिहाऽर्जिताः । प्रायेण वीक्षते स्वप्ने वासनाः कर्मणो वशात् ॥ यियासुः परलोकं तु कर्माविद्यादिसंवृतः । भाविनो जन्मनो रूपं स्वप्ने प्रायेण पश्यति" ॥ ८४१-८४३ ॥ इति । न हि तस्यामवस्थायामैहिकपुत्रादिविषयः स्वप्नस्तस्याद्याप्यनिर्वृत्तेर्न च तस्य स्वप्नो नास्त्येव निद्राणस्य तस्य क्रन्दनादिदृष्टलिङ्गानुमितस्वप्नस्याप्रत्याख्येयत्वात्तस्मादस्ति पारलौकिकस्वप्नो बालस्येति भावः ॥ तर्हि यूनोऽपि परलोकविषयः स्वप्नोऽस्तु नेत्याह—मध्य इति । कार्कश्यं स्थूलार्थग्रहणसामर्थ्यम् । इहेति वर्तमानजन्मनि । कर्मणोवशादार्जिता वासना इति संबन्धः । इहासंभावितमपि स्वप्ने कदाचिददृष्टवशात्पश्यति प्रायेणेत्युक्तम् ॥ अन्तिमे वयसि स्वप्नदर्शनस्य परलोकविषयत्वमाह—यियासुरिति । दृष्टेरनियमार्थं प्रायेणत्युक्तम् । अस्मिञ्जन्मन्यसंभावितार्थस्य स्वप्ने दर्शनं परलोकसत्त्वे मानमिति समुदायार्थः । अस्तु स्वप्नप्रत्यक्षं तत्र मानं तथाऽपि कथं स्वप्नस्य संध्यत्वं प्रत्यक्षेण वर्तमानदेहग्रहेऽपि द्वितीयापेक्षायां भूतो भावी वा देहो ग्राह्यस्तस्य संध्यत्वार्थमित्याकाङ्क्षायामाह—इह—स्वप्नस्य "भुक्तत्वादविवक्षेह व्यतिक्रान्तस्य जन्मनः । परलोकेहलोकौ तु गृह्येते संध्यसिद्धये" ॥ ८४४ ॥ संध्यत्वसिद्धौ । ३. भाविजन्माधिकरणकानि तत्र भोक्ष्यमाणानीति यावत् । ४. बाल्ये । ५. यानि चेतीति । तथा च धर्माधर्मादिकृतं तत्र तद्दर्शनमिति भावः । तथा च स्वप्नस्य संस्काराधीनत्वाद्भाविनश्चार्थस्य संस्काराभावात् कथं भाविगोचरत्वं स्वप्नस्येत्यपास्तं धर्मादेरेव तत्र हेतुत्वात् । ६. लोके जन्मनि वा । अत्र लेशतो भुक्तत्वमिति—-ईदृशमपि भवति कर्म यदत्र मनाग्भोगं प्रदाय जन्मान्तरेऽपि शेषं फलतीति कर्मवैचित्र्यसूचनायेदमिति बोध्यमित्याहुः । ७. फलानीत्यस्याग्रे ।

[1]तत्कथमवगम्यते परलोकस्थानसंबन्धिपाप्मानन्ददर्शनं स्वप्न इति । उच्य यस्मादिह जन्मन्य[2]ननुभाव्यमपि पश्यति बहु । न च स्वप्नो नामापूर्वं दर्शनम् । दृष्टस्मृतिर्हि स्वप्नः प्रायेण । [3]तेन स्वप्नजागरितस्थानव्यतिरेकेण स्त उभौ लोकौ ।

यदादित्यादिबाह्यज्योतिषामभावेऽयं कार्यकरणसंघातः पुरुषो येन व्यतिरि

ऐहिकवासनावशादैहिकानामेव पाप्मनामानन्दानां च स्वप्ने दर्शनसभवान्न स्वप्नप्र परलोकसाधकमिति शङ्कते—तत्कथमिति । परिहरति—उच्यत इति । यद्यपि स्वप्ने मनुष्य मिन्द्रादि[4]भावोऽननुभूतोऽपि भाति तथाऽपि [5]तदपूर्वमेव दर्शनमित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । स्वप्नो [6]भाविजन्मभाविनोऽपि स्वप्ने दर्शनात्प्रायेणेत्युक्तम् । [7]न च [8]तदपूर्वदर्शनमपि सम्यग्ज्ञानमुत्थानप्र बाधात् । [9]न चैवं स्वप्नधिया भाविजन्मासिद्धि[10]र्यथाज्ञानमर्थाङ्गीकारादिति भावः । प्रमाणफलमुप रति—तेनेति ।

स यत्रेत्यादिवाक्यस्य *[11]व्यवहितेन संबन्धं वक्तुं वृत्तमनूद्याऽऽक्षिपति—यदित्यादि बाह्यज्योतिरभावे सत्ययं पुरुषः कार्यकरणसंघातो येन संघातातिरिक्तेनाऽऽत्मज्योतिषा गमनागम

जन्म के अधिकरण धर्म और अधर्मों के क्षुद्र फल हैं, उन्हें भी धर्माधर्म से प्रेरित होकर अथवा दे के अनुग्रह से देखता है।

"स्वप्न में जो दुःख और सुख का दर्शन है, वह परलोकस्थानसंबन्धी है"—ऐसा कि प्रकार जाना जाता है। इस पर कहा जाता है क्योंकि इस जन्म में अननुभूत भी बहुत सी बातें देखता हैं। स्वप्न अपूर्वदर्शन को कहते हों—ऐसी बात नहीं है। प्रायः पूर्वदृष्ट स्मृति का स्वप्न है। अतः दोनों लोक स्वप्न और जागरित स्थानों से भिन्न हैं।

जिन आदित्यादि बाह्य ज्योतियों के अभाव में यह देहेन्द्रियसंघातरूप पुरुष जिन प्रपं

---

१. तत्कथमिति स्वप्ने यत्पाप्मानन्ददर्शनं तत्परलोकस्थानसंबन्धीति कथमवगम्यत इति योजना। २. अ भूतमिति यावत्। ३. तेन—परलोकसद्भावे स्वप्नप्रत्यक्षस्य मानत्वेन। ४. भावः पदार्थ इत्यर्थः ५. तदपूर्वमेवेति—न भूतगोचरं नापि भाविगोचरं तथा च न भूतं भावि वा जन्मस्वप्नदर्शनेन सेद्धुमर्ह भावः। ६. भाविजन्मनि भविष्यतो वस्तुनः। ७. ननु स्वप्नस्य स्मृतिरूपत्वे तत्रत्यार्थानां प्रत्य लब्धिर्न स्यादित्यत आह—न च तदपूर्वेति। तथा च शुक्तिरूप्यादिज्ञानवदपूर्वत्वेऽपि संस्कारजन्यत्वानुगमात् तुल्यत्वाभिप्रायेण स्मृतित्वाभिधानमिति भावः। ८. तदपूर्वदर्शनमपीति—अस्तु वा स्वप्नदर्शनमपूर्वं त न तत्प्रमा तत्र हेतुः—उत्थानेत्यादिः। भ्रान्तेश्च संस्कारजन्यत्वनियमात् सिद्धं भूतजन्मेति भावः। ९. स दर्शनस्य मिथ्यात्वे। १०. यथाज्ञानमर्थाङ्गीकारादिति। तथा च स्वप्ने ज्ञानवदर्थस्य मिथ्यात्वेऽपि तत्तुल्यनि सम्यक्त्वेन सिध्यत्येव भावि जन्मेति भावः। उक्तं हि—"सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः"। ३. २. ४. इ ११. ब्र. सू. ४. ३. ५. भाष्येण "आत्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्त" इत्यादिना सह—आक्षेपसंगतिं वक्तुमित्यर्थः

---

* व्यवहितेन संबन्धं वक्तुमित्यादि। अत्राहुर्वार्तिककारपादास्तथाहि—"यदुक्तं विरहेऽशेषसूर्यादिज्योतिषामयं पुमान्व्यवहरत्यात्मज्योतिषैवेति लिङ्गतः ॥ भान्वादिसर्वज्योतिर्भ्यो विविक्तोऽयं पुमानिति। क्व सिद्धं वक्तव्यं यथोक्तार्थप्रसिद्धये ॥ स्वयंज्योतिः प्रसिद्धिर्वा पूर्वमुक्ताऽनुमानतः। साक्षादव्यवधानेन तत्प्रसिद्धि च्यते ॥ स स्वयंज्योतिरात्मैव बाह्यज्योतिर्विवर्जितः। यथा भवति साक्षाच्च तथेदमभिधीयते" ॥

ऽऽत्मना ज्योतिषा व्यवहरती[1]त्युक्तम् । [2]तदेव नास्ति । यदादित्यादिज्योतिषामभावगमनं यत्रेदं विविक्तं स्वयंज्योतिरुपलभ्येत । येन सर्वदैवायं कार्यकरणसंघातः संसृष्ट एवोपलभ्यते । [3]तस्मादसत्समोऽसन्नेव वा स्वेन विविक्तस्वभावेन ज्योतीरूपेणाऽऽत्मेति ।

अथ [4]क्वचिद्विविक्तः स्वेन ज्योतीरूपेणोपलभ्येत [5]बाह्याध्यात्मिकभूतभौतिकसंसर्गशून्यस्ततो[6] यथोक्तं सर्वं भविष्यतीत्येतदर्थमाह—स यः प्रकृत आत्मा यत्र यस्मिन्काले प्रस्वपिति प्रकर्षेण [7]स्वापमनुभवति तदा [8]किमुपादानः केन विधिना स्वपिति संध्यं स्थानं

निर्वर्तयति तदात्मज्योतिरस्तीति यदुक्तमित्यनुवादार्थः । [9]विशिष्टस्थानाभावं वक्तुं [10]विशेषणाभावं तावद्दर्शयति—तदेवेति । आदित्यादिज्योतिरभावविशिष्टस्थानं यत्रेत्युक्तं तदेव स्थानं [11]नास्ति विशेषणाभावादिति शेषः । यथोक्तस्थानाभावे [12]हेतुमाह—येनेति । संसृष्टो बाह्यैर्ज्योतिर्भिरिति शेषः । व्यवहारभूमौ बाह्यज्योतिरभावाभावे फलितमाह—तस्मादिति ।

उत्तरग्रन्थमु[13]त्तरत्वेनावतारयति—अथेत्यादिना । यथोक्तं सर्वव्यतिरिक्तत्वं स्वयंज्योतिष्ट्वमि·

व्यतिरिक्त आत्मज्योति के द्वारा व्यवहार करता है—ऐसा कहा गया है। जो उन आदित्यादि ज्योतियों के अभाव की प्राप्ति होनी है, जहाँ कि इस विशुद्ध स्वयंज्योति आत्मा की अनुभूति होती है—वह स्थान ही नहीं है। क्योंकि वह कार्यकारणसंघात सदैव संसृष्ट ही अनुभूत होता है; अतः अपने विशुद्ध स्वभाव ज्योतिरूप से यह आत्मा असत् के समान है अर्थात् असत् ही है।

यदि यह किसी स्थान में बाह्य भूत तथा आध्यात्मिक भौतिक पदार्थों के संसर्ग से शून्य अपने विशुद्ध ज्योतिरूप से उपलब्ध होता तो (बाह्यादि से असंसृष्ट होने से) उपरोक्त सब कुछ हो सकता था; इसलिए श्रुति कहती है- "सः" अर्थात् वह यह प्रकरणस्थ आत्मा "यत्र" यानी जिस समय में "प्रस्वपिति" अर्थात् प्रकर्षरूप से स्वप्नावस्था का अनुभव करता है, तब वह किस उपादान वाला

---

१. बृ. उ. ४. ३. ६ । २. तदेवेति – तत्रेत्यादिः । ३. अवतरणोक्तार्थकम् । ४. कुत्रचित्स्थाने । ५. विविक्त इत्युक्तं विवृणोति—बाह्येति । बाह्याध्यात्मिके भूतभौतिकविशेषणे । ६. ततः—बाह्यादिभिरसंसृष्टत्वात् । ७. स्वापमनुभवतीति । जाग्रदवस्थस्थूलदेहाभिमानं त्यजतीत्यर्थः । तदभिमानशून्यतया स्वप्रधानो भवति तत्पारतन्त्र्यरहितो भवतीति यावत् । तदुक्तं वार्तिके— "जाग्रत्कर्मक्षयादात्मा बाह्यदेहाभिमानतः । व्युत्थाय स्वप्रधानः सन्स्वप्नमायां समीक्षते" ॥ ८६० ॥ इति । ८. किमुपादान इति उपादीयत इत्युपादानं साधनकलापः किंसामग्रीकः सन्नित्यर्थः । ९. बाह्यज्योतिरभावविशिष्टस्वप्नस्थानमिति भावः । १०. बाह्यज्योतिरभावात्मकविशेषणमित्यर्थः । ११. नास्तीत्यन्तस्यात्राप्यनुषङ्गशेषान्तर्गतमेव वेदम् । १२. विशेषणाभावात्मकमेवोक्तं हेतुमुपपादयतीत्यर्थः । १३. यथोक्ताक्षेपसमाधानत्वेन ।

---

८५८ ॥ इति । स यत्रेत्याद्यवतारयितुं व्यवहितं वृत्तं कीर्तयति—यदुक्तमिति । लिङ्गतः इत्यादित्यादिज्योतिरभावेऽपि दृष्टस्वप्नादिगतवासनादिव्यवहारवशादित्यर्थः । तत्र चोद्यमुल्लसतीति शेषः ॥ अनन्तरवाक्यार्थमाकाङ्क्षापूर्वकं संक्षिप्याऽऽह भान्वादीति । आदित्यादिज्योतिरस्पृष्टश्चिदात्मा कुत्र सिद्ध इति पृष्टे स जिज्ञासितं स्थानं यस्माद्वाच्यं तस्माद्बाह्यज्योतीरहितस्य स्थानस्य यथोक्तार्थस्य प्रदर्शनार्थं यत्रेत्यादिवाक्यमिति योजना ॥ संबन्धान्तरमाह—स्वयमिति । आत्मैवास्येत्यादौ व्यवहारलिङ्गानुमानतः स्वप्रकाशश्चिदात्मोक्तः । अथापरोक्षानुभवात्प्रत्यग्भावेन तत्सिद्धिर्वाच्येत्युत्तरं वाक्यमित्यर्थः । उक्तं

प्रतिपद्यत इत्युच्यते । अस्य [1]दृष्टस्य [2]लोकस्य [3]जागरितलक्षणस्य सर्वावतः [4]सर्वं
तीति सर्वावानयं लोकः कार्यकरणसंघातो [5]विषयवेदनासंयुक्तः । सर्वावत्त्वमस्य व्या
मन्नत्रयप्रकरणेऽथो[6] अयं वा आत्मेत्यादिना । सर्वा वा भूतभौतिक[7]मात्रा [8]अस्य
कारणभूता विद्यन्त इति [9]सर्ववान्सर्ववानेव [10]सर्वावांस्तस्य सर्वावतो मात्रामे[11]कदे
यवमपादायापच्छिद्याऽऽदाय गृहीत्वा ❀[12]दृष्टजन्मवासनावासितः सन्नित्यर्थः ।

त्यादि । आह स्वप्नं प्रस्तौतीति यावत् । उपादानशब्दः परिग्रहविषयः । कथ[14]मस्य सर्वावत्त्वं
सर्वावत्त्वमिति । संसर्गकारणभूताः सहाध्यात्मादिविभागेनेति शेषः । किमुपादान इत्यस्योत्त

होकर किस विधि से सोता है यानी संध्य स्थान को प्राप्त करता है । इस जाग्रद्देहलक्षण प्रत्य
की "सर्वावतः" अर्थात् सबका पालक यह लोक विषय से उत्पन्न सुखदुःखानुभवयुक्त देहेन्द्रि
है । इसका "सर्वावत्त्व" "यही वह आत्मा है"—इत्यादि श्रुतिवाक्य द्वारा अन्नत्रय के प्रकरण
दिया गया है । अथवा सम्पूर्ण भूत भौतिक संस्कार इस पुरुष के संसर्ग के कारणभूत हैं-
सर्ववान् है । सर्ववान् को ही सर्वावान् कहा गया है, उस सर्वावान् के संस्कार एकदेश जाग्रद्वा

---

१. प्रत्यक्षस्य । २. लोकस्येति—"प्रवृत्तं फलदानाय यदिदं जन्म वर्तते । अस्येतिलोकशब्देन तदेतद
॥ वा. ८६२ ॥ इति । ३. जाग्रद्देहस्य । ४. सर्वमवतीति । तथा च वार्तिके—"जुहोत्यादि
यस्मात्सर्वमत्त्यम् । सर्वावानिति तेनायमात्मा देहान्त उच्यते" ॥ ८६२ ॥ इति । अयं बुद्धयादिदेहान
संघातः पुरुषो यागादिद्वारा सर्वं देवादि यतो रक्षति तेनायं लोक्यमानः सर्वावानित्युच्यत इत्यर्थः ।
भाष्यवार्तिकटीकासु सर्वावानित्येव पाठः सर्वपुस्तकेषु लभ्यते तथापि सर्वमवतीति व्युत्पत्त्यनुसारेण
शत्रन्तपदपाठ एव समीचीनो भाति सर्वावन्निति तु सुप्सुपा समासः । ५. विषयोत्थसुखदुःखानुभवयु
बृ. उ. १. ४. १६ । ७. संस्काराः । ८. पुंसः । ९. सर्ववानिति—सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुं
१०. सर्वावानिति छान्दसं दैर्घ्यम् । ११. जाग्रद्वासनामित्यर्थः । १२. जाग्रद्वासनायुक्तः । १३.
—आत्मनो देहपाते कर्तृत्वं देवतानामिति शङ्कानिरासार्थमत्र स्वयमिति विशेषणं बोध्यम् । १४.

संबन्धद्वयमेकीकृत्य सुखप्रतिपत्त्यर्थं संगृह्णाति—स इति । स खल्वात्मा बाह्यैर्ज्योतिर्भिरस्पृष्टः स्वयं
ज्योतिर्भवति तथेदं स्वयंज्योतिष्ट्वं साक्षादनुभवयोग्यं स्वप्नदृष्टान्तेनोच्यते । उक्तं हि—स्वयंज्योति
स्तमात्मज्योतिरित्यनेनाभिधानान्तरेण तन्निर्णयार्थं स्वप्नदृष्टान्त उपादीयत इति । सर्वथाऽपि स्व
निर्णयार्थमुत्तरं वाक्यमित्यर्थः ॥

❀दृष्टजन्मवासनावासितः सन्नित्यर्थः । तथाच वार्तिके—"सर्वावतोऽस्य देहस्य स्वप्नभोगप्रसिद्धये ।
वासनामात्रां स्वप्नमायां तनोत्ययम् ॥ अध्यात्मादिविभागेन मात्रा जागरिते यथा । भोगेन
प्रचीयन्ते च कर्मभिः ॥ स्वप्नभूमावपि तथा कर्मणोत्थापिता इमाः । क्षयवृद्धिप्रबन्धेन मात्रा
सनात्मिकाः ॥ धिया धियेति च तथा प्रागेतदुपपादितम् । ह्रासवृद्धिप्रबन्धेन यथेदं वर्तते जगत्"
८६८ ॥ इति । मात्रामित्यादिव्याचष्टे—सर्वावत इति । अस्य देहस्य सर्वावत्त्वेनोक्तस्य
मात्रामादाय स्वप्नाख्यां मायां तद्भोगार्थमयं पुरुषस्तनोतीति संबन्धः ॥ वासनानां स्वप्नभोगेन
त्वोपपत्तेः सुप्तस्य मुक्तिः स्यादित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह—अध्यात्मादीति ॥ दार्ष्टान्तिकमाह—
उक्तार्थोपोद्बलकत्वेन सप्तान्नब्राह्मणोक्तं स्मारयति—धियेति ॥

त्मनैव विहत्य [1]देहं पातयित्वा [2]निःसंबोधमापाद्य। जागरिते ह्यादित्यादीनां चक्षुरा-
द्य नुग्रहो [3]देहव्यवहारार्थः। देहव्यवहारश्चाऽऽत्मनो धर्माधर्मफलोपभोगप्रयुक्त[4]स्त-
र्माधर्मफलोपभोगोपरमणमस्मिन्देह [5]आत्मकर्मोपरमकृत[6]मित्यात्माऽस्य विहन्तेत्युच्यते।
स्वयं निर्माय निर्माणं कृत्वा ❀ वासनामयं स्वप्नदेहं मायामयमिव। निर्माणमपि तत्क-

न विधिनेत्यस्योत्तरमाह—स्वयमित्यादिना। आपाद्य प्रस्वपितीत्युत्तरत्र संबन्धः। कथं पुनरात्मनो देह-
हन्तृत्वं जाग्रद्धेतुकर्मफलो[8]पभोगोपरमणाद्धि स [9]विहन्यते तत्राऽऽह—जागरिते हीत्यादिना। निर्माण-
विषयं दर्शयति—वासनामयमिति। यथा मायावी मायामयं देहं निर्मिमीते तद्वदित्याह—मायामयमि-
ति। कथं पुनरात्मनो [10]यथोक्तदेहनिर्माणकर्तृत्वं [11]कर्मकृतत्वात्तन्निर्माणस्येत्याशङ्क्याऽऽह—निर्माण-

आदाय" अपच्छेदन कर, आदान या ग्रहण करके अर्थात् दृष्ट जन्मरूप जाग्रद्वासना से युक्त होकर,
स्वयं विहत्य" यानी अपने आप ही देह को चेतनाशून्य कर, जागरित अवस्था में ही देहचेष्टाफलक
के लिए चक्षु आदि इन्द्रियों में आदित्यादि का उपकार होता है और देहचेष्टा आत्मा के धर्माधर्म के
फलोपभोग का कारण होती है तथा इस देह में उस भोग के धर्माधर्म फलोपभोग की उपरति
आत्मकर्म की उपरति के कारण है, इस प्रकार परम्परा से आत्मा इसका हननकर्ता कहा जाता है।
"स्वयं निर्माय" अर्थात् मायामय सदृश वासनामय स्वप्न देह को स्वयं निर्माण करके (शयन करता है)।

---

१. जाग्रद्देहम्। २. निश्चेष्टं कृत्वा। ३. देहचेष्टाफलकः। ४. तस्य भोगस्य। ५. आत्मकर्मो-
परमकृतमिति। अत्र वार्तिके—"स्वात्मापसर्पणाद्देहं निःसंबोधं करोति यः। सुषुप्सुः कर्मणां ध्वस्तौ विहत्ये-
त्युच्यते ततः" ॥ ८७० ॥ इति। ६. एवं परम्परया। ७. इदमपि विशेषणं पूर्ववत्। ८. भोगोप-
शान्तेः। ९. विहर्ति प्राप्नोति। १०. स्वप्नदेहेत्यर्थः। ११. कर्मकार्यत्वात्।

❀ अनुग्रह इति। अनुग्रहप्रयुक्त आत्मनो रूपादिबोध इति यावत्तथा च वार्तिकम्—"भान्वाद्यनुग्रहाद्बोध-
आत्मनश्चक्षुरादिषु। देहस्य व्यवहारार्थं देहव्यवहृतिस्तथा" ॥ ८७१ ॥ आत्मनो हि करणेषु देवतानुग्रहाद्देह-
चेष्टार्थं रूपादिबोधो जागरिते जायते तथा सति देहचेष्टा दृष्टेत्यर्थः॥ देहव्यवहारोऽपि केन प्रयुज्यते किमर्थो
वेत्याशङ्क्याऽऽह—"आत्मकर्म प्रयुक्तैव धर्मादिफलभुक्तये। कर्मणः फलभोगान्ते देहो यस्मात्पतत्ययम्" ॥८७२॥
तथाऽपि कथमात्मनस्तद्विहतिकर्तृतेत्याशङ्क्याऽऽह—कर्मण इति। तस्मात्परंपरया देहपाते हेतुरात्मेति शेषः॥
❀ वासनामयमिति। अस्य विशेषणस्य तात्पर्यमाहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"अपास्ताशेषकरणदैवतस्यापि
चाऽऽत्मनः। क्रियाकारकसिद्ध्यर्थं भावनैवास्य कारणम्॥ निर्मातव्योऽथ भोक्तव्यो यो लोकोऽभूदिहाऽऽत्मनः।
तेन तेन स्वरूपेण भावना व्यवतिष्ठते॥ अपेतकारकत्वोऽपि कर्मोत्थापितभावनः। भावनाकारकेक्षित्वादात्मैकः
कारकायते॥ तर्हि क्रियाकारकमात्रसिद्ध्यर्था भावनाऽस्तु न सा सर्वस्वप्ननिर्माणे हेतुर्नेत्याह—निर्मातव्य
इति। अथशब्दस्तथाशब्दपर्यायः। इहेति जागरोक्तिः॥ विहत्य निर्मायेति च कर्तृत्वमात्मनो न युक्तं न हि
कूटस्थाद्वयस्य कर्तृतेत्याशङ्क्याऽऽह—अपेतेति। एकविशेषणादुपरिष्टादप्यपिर्द्रष्टव्यः॥ किमर्थं भासः स्वेनेति
विशेषणमित्याशङ्क्य समादधुर्वार्तिके—"बुद्ध्यादिकरणोत्थाया व्यावृत्त्यर्थं विशेषणम्। स्वेनेति भासः प्रत्यक्-
चिदभिव्यक्तिकृतोऽभिधा॥ स्वशब्दाविह विज्ञेयावात्मीयात्मार्थवाचिनौ। भाज्योतिरनुरोधेन सामर्थ्यादिव
कारणात्॥ परार्था भावना यस्मात्स्वार्थं ज्योतिश्चिदात्मनः। उक्तार्थवाचिनौ तस्मात्स्वशब्दौ समुदाहृतौ॥
स्वयंज्योतिरिति प्रोक्तो निष्क्रियोऽकारकोऽफलः। यः स एव स्वयंज्योतिर्ज्योतिःशब्देन भण्यते॥ निःशेषलोकधी-

[1]र्मापेक्षत्वात्स्वयंकर्तृकमुच्यते । स्वेनाऽऽत्मीयेन भासा मात्रोपादानलक्षणेन भासा प्रकाशेन [2]सर्ववासनात्मकेनान्तःकरण[3]वृत्तिप्रकाशेनेत्यर्थः । [4]सा हि तत्र सर्ववासनामयी प्रकाशते । सा [5]तत्र स्वयं भा उच्यते । तेन स्वेन भासा स्वेन च ज्योतिषा [6]तद्विषयिणा [7]विविक्तरूपेणालुप्तदृक्स्वभावेन [8]तद्धारूपं [9]विषयीकुर्वन्प्रस्वपिति । [10]यदेवं वर्तनं तत्प्रस्वपितीत्युच्यते । अत्रैतस्यामवस्था न्कालेऽयं पुरुष आत्मा स्वयमेव विविक्तज्योतिर्भवति ❁[11]बाह्याध्यात्मिकभू

मपीति । स्वेन भासेत्यत्रेत्थंभावे [12]तृतीया । करणे तृतीयां व्यावर्तयति—सा हीति । तत्रेति यथोक्तान्तःकरणवृत्तेर्विषयत्वेन प्रकाशमानत्वेऽपि [13]स्वभासो भवतु करणत्वमित्याशङ्क्या तत्रति । स्वेन ज्योतिषेति कर्तरि तृतीया । स्वशब्दोऽत्राऽऽत्मविषयः । कोऽयं प्रस्वापो नाम यदेवमिति । विविक्तविशेषणं विवृणोति—बाह्येति ।

निर्माण भी आत्मकर्मापेक्ष होने से वह आत्मकर्तृक कहा गया है । "स्वेन भासा" अर्थात् मात्रोपादानरूप दीप्ति या प्रकाश से; अर्थात् सर्वदेहसंबन्धी वासनात्मक अन्तःकरण प्रकाशन से (शयन करता है) क्योंकि सर्ववासनामयी अन्तःकरणवृत्ति ही वहाँ विषय प्रकाशित होती है । उस स्वप्नावस्था में वह स्वयंप्रकाश कही जाती है । उस अपने प्रकाश से यथोक्तवृत्ति साक्षी संघात से विविक्त अलुप्त दृक् स्वभावात्मिका आत्मज्योति अपने वासनात्मक अन्तःकरणवृत्तिरूप को विषय करता हुआ तत्साक्षीरूप से अवस्थित यथोक्त साक्षित्वरूप से रहना ही "प्रस्वपिति" ऐसा कहा जाता है । यहाँ इस अवस्था में में यह पुरुष यानी आत्मा स्वयं विशुद्ध ज्योतिस्वरूप होता है, 'बाह्य' आध्यात्मिक भूत ए

---

१. आत्मकर्म । २. अतीतवर्तमानसर्वदेहसंबन्धिवासनात्मकेन । ३. वृत्तिरूपप्रकाशेन । करणवृत्तिः । ५. स्वप्ने । ६. यथोक्तवृत्तिसाक्षिणा । ७. संघाताद्विविक्तरूपेण । यथोक्तान्तःकरणवृत्तिस्वरूपम् । ९. तत्साक्षित्वेनावतिष्ठते । १०. यथोक्तसाक्षित्वेन । ११. दित्यादि आध्यात्मिकं वृत्त्यादि । १२. तथा च तदुपलक्षित इत्यर्थः । तदात्मनेत्येके । १३. भासेत्यत्रत्यस्वशब्द एवात्मीयपरतया यथोक्तान्तःकरणवृत्तित्वेन व्याख्यातस्तथापि तस्य तत्र बुद्धयैव शङ्कते- स्वभासो भवतु करणत्वमिति । १४. सा तत्रेतीति—यथोक्तान्तःकरणवृत्तिपर इति भाव इति शेषः ।

वृत्तिसाक्षिणैवाविकारिणः । प्रतीच ईदृशी वृत्तिः स्वपितीत्यभिधीयते" ।। ८७८-८८२ ।। इति । स्वेन विशेषणं प्रत्यक्चैतन्याभिव्यक्तिहेतोर्भासः स्वप्नावस्थागताया बुद्धयादिद्वारा प्रवृत्तायाः कूटस्थबोध प्रस्तुताद्व्यावृत्त्यर्थं भवति हि भावनामयी भाः स्वप्नस्था प्रत्यगभिव्यक्तिकरी तत्साक्षित्वेन तत् साधनादित्यर्थः ।। कथं स्वशब्देन कूटस्थज्योतिषो भासो व्यावृत्तिः स्वेन ज्योतिषेति ज्योतिषोऽपि दित्याशङ्क्य स्वशब्दयोर्विशेष्यवशादर्थभेदाद्भाविशेषणेनाऽऽत्मज्योतिषस्तद्व्यावर्तनं युक्तमित्याह— इहेति प्रकृतवाक्योक्तिः । कथं तदनुरोधेऽपि स्वशब्दयोरित्थमर्थव्यवस्थेत्याशङ्क्याऽऽह—सामर्थ्या तयोः सामर्थ्यं तत्राऽऽह—परार्थेति ।। स्वेन ज्योतिषेत्यत्र ज्योतिःशब्दार्थमाह— स्वयमिति ।। स्यार्थमाह—निःशेषेति ।।

❁ बाह्याध्यात्मिकभूतभौतिकसंसर्गरहितं ज्योतिर्भवतीति । अत्र वार्तिके—"भान्वादिबाह्यज्योति

र्गरहितं ज्योतिर्भवति।

नन्वस्य लोकस्य मात्रोपादानं कृतं कथं [1]तस्मिन्सत्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योति-
ती[2]त्युच्यते। नैष दोषः। विषयभूतमेव हि [3]तत्। तेनैव चात्रायं पुरुषः स्वयं ज्योति-
यितुं शक्यः। न [4]त्वन्यथाऽसति विषये कस्मिंश्चित्सुषुप्तकाल इव। [5]यदा पुनः सा मा
सनात्मिका विषयभूतोपलभ्यमाना भवति तदाऽसिः कोशादिव निष्कृष्टः सर्वसंसर्गरहितं

स्वप्ने स्वयं ज्योतिरात्मेत्युक्तमाक्षिपति—नन्वस्येति। [6]वासनापरिग्रहस्य मनोवृत्तिरूपस्य
यतया विषयित्वाभावादविरुद्धमात्मनः स्वप्ने स्वयंज्योतिष्ट्वमिति समाधत्ते—नैष दोष इति।
वासनोपादानस्य विषयत्वमित्याशङ्क्य [7]स्वयंज्योतिष्ट्वश्रुतिसामर्थ्यादित्याह—तेनेति। मात्रा-
स्य विषयत्वेनेति यावत्। [8]तदेव व्यतिरेकमुखेनाऽऽ(णाऽऽ)ह—न त्विति। यथा सुषुप्तिकाले व्यक्तस्य
यस्याभावे स्वयं ज्योतिरात्मा दर्शयितुं न शक्यते तथा स्वप्नेऽपि [9]तस्मात्तत्र स्वयंज्योतिष्ट्व-
ा मात्रादानस्य विषयत्वं प्रकाशितमित्यर्थः। भवतु स्वप्ने वासनादानस्य विषयत्वं तथाऽपि कथं
ं ज्योतिरात्मा शक्यते विविच्य दर्शयितुमित्याशङ्क्याऽऽह—यदा पुनरिति। अवभासयदवभास्यं

ों से रहित ज्योति होता है।

(इस पर शङ्का होती है—) किन्तु इसने तो इस लोक के संस्कार को ग्रहण किया है; फिर
नात्मक मात्रा शब्दित वस्तु के रहते हुए पुरुष स्वयं ज्योति किस प्रकार होता है। (सिद्धान्ती उत्तर
है—) इसमें कोई दोष नहीं है। क्योंकि वासना उपादान तो विषयभूत ही होता है। इसलिए उस
को यहाँ स्वयंज्योतिरूप से दिखाना संभव है। नहीं तो सुषुप्ति अवस्था के समान विषयशून्य
पर इस स्वयंज्योति को दिखाया नहीं जा सकता। स्वप्नकाल में जब कि वासनात्मिका ज्योति
यभूत होकर अनुभव की जाती है, उस समय म्यान से निकाली गई तलवार के समान सर्व-

---

१. वासनात्मके मात्राशब्दिते वस्तुनि। २. उच्यत इति—जाग्रद्वासनावशादेवात्मसिद्ध्युपपत्तेर्न तस्य स्वयंज्योतिष्ट्वसिद्धिरिति भावः। ३. वासनोपादानम्। ४. न त्वन्यथेति—न हि स्थूलोपाधिसत्त्वे जागरितवत् अशेषोपाध्यसत्त्वे च सुषुप्तवदात्मा स्वयंज्योतिः शक्यो दर्शयितुं तथा च स्वप्ने कृतं मिथ्याभूत-वासनाऽऽदानमात्मस्वयंज्योतिष्ट्वसाधनोपयुक्तमित्यर्थः। ५. स्वप्नकाले। ६. वासनारूपपरिग्रहस्य। ७. स्वयंज्योतिष्ट्वश्रुतिसामर्थ्यादिति—स्वयंज्योतिष्ट्वश्रुत्यन्यथाऽनुपपत्तेरित्यर्थः। मात्राऽऽदानस्य विषयि-कोटिप्रवेशे विषयाभावात्स्वयंज्योतिष्ट्वश्रुतिरुपरुध्येतेति भावः। ८. वासनाऽऽदानस्य विषयत्वमेव। ९. तस्मात्—वासनाऽऽदानस्य विषयत्वमन्तरेण स्वयंज्योतिष्ट्वास्य दर्शयितुमशक्यत्वात्।

प्रागभूदयम्। अन्यस्य ज्योतिषोऽभावात्स्वयंज्योतिः पुमानयम्॥ नान्यत्र कारणाद्वृत्तिः कार्याणां जागरेऽपि हि। कारणं च तमस्व्यात्मा नातः स्वप्ने मनस्थितिः" ॥ ८९५-८९६ ॥ इति। प्राग्जाग्रति संप्रति स्वप्नावस्थाया-मिति शेषः॥ ज्योतिरन्तराभावः स्वप्ने नास्ति मनसो ज्योतिषस्तत्र सत्त्वादन्यथा सुषुप्तादविशेषप्रसङ्गादतो न तत्र स्वयंज्योतिष्ट्वमित्याशङ्क्य संमतमर्थमाह—नान्यत्रेति। अवस्थान्तरेऽपीत्यपेरर्थः। कार्याणां स्वातन्त्र्येण दुर्निरूपितत्वादितिहेत्वर्थो हिशब्दः। अस्त्वेवं प्रस्तुते किं जातं तदाह—कारणं चेति। अज्ञातो हि प्रत्यगात्मा जगद्धेतुस्तथाच कार्यस्य मनसः स्वकारणाधीनत्वान्न स्वप्ने स्वतन्त्रतया स्थितिः स चाऽऽत्मा तत्साधको नाऽऽत्म-साधकं तद्युक्तं पराधीनत्वेन सर्पवज्जडत्वादित्यर्थः॥

चक्षुरादिकार्यकरणव्यावृत्तस्वरूपमलुप्तदृगात्मज्योतिः स्वेन रूपेणावभासयद्गृह्यते
त्राय पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवतीति सिद्धम् ॥ ९ ॥

नन्वत्र[2] कथं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्येन जागरित इव ग्राह्यग्राहकादिलक्ष
व्यवहारो दृश्यते । चक्षुराद्यनुग्राहकाश्चाऽऽदित्याद्या लोकास्तथैव दृश्यन्ते यथा जा
[3]तत्र कथं विशेषावधारणं क्रियतेऽत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवतीति । उच्यते
क्षण्यात्स्वप्नदर्शनस्य । जागरिते हीन्द्रियबुद्धिमनआलोकादिव्यापारसंकीर्णमात्म
इह तु स्वप्न इन्द्रियाभावात्तदनुग्राहकादित्याद्यालोकाभावाच्च विविक्तं केवलं
[5]तस्माद्विलक्षणम् । ननु तथैव विषया उपलभ्यन्ते स्वप्नेऽपि यथा जागरिते [6]तत्र
न्द्रियाभावाद्वैलक्षण्यमुच्यत इति । शृणु—

वासनात्मकमन्तःकरणमिति शेषः । स्वप्नावस्थायामा[7]त्मनोऽवभासकान्तराभावे फलि
तेनेति ।॥९॥

यदुक्तं स्वप्ने स्वयं ज्योतिरात्मेति तत्प्रकारान्तरेणाऽऽक्षिपति—नन्विति । अवस्थाद्वये
भावकृतं चोद्यं दूषयति—उच्यत इति । वैलक्षण्यं स्फुटयति—जागरिते इति । मनस्तु स्व
विषयत्वान्न स्वयंज्योतिष्ट्वविघातीति भावः । उक्तं वैलक्षण्यं प्रतीतिमाश्रित्याऽऽक्षिपति—न
न तत्रत्यादिवाक्यं व्याकुर्वन्नुत्तरमाह—शृण्विति । [8]प्रतीतिं घटयति—अथेति ।

संसर्गरहित, चक्षु आदि कार्यकरण से व्यावृत स्वरूप, अलुप्तदृक्स्वभाव वह आत्मज्योति अप
से प्रकाशित करती हुई स्वयं गृहीत होती है । अतः यह सिद्ध हुआ कि यहाँ यह पुरुष स्व
स्वरूप होता है ॥९॥

(इस पर शङ्का होती है—) किन्तु स्वप्नावस्था में पुरुष स्वयंज्योति कैसे हो सकता है
जागरित के समान ग्राह्य-ग्राहकादिलक्षण सर्वव्यवहार देखा जाता है । चक्षु आदि इ
अनुग्राहक आदित्यादि लोक भी उसी तरह देखे जाते हैं, जैसे जाग्रदवस्था में थे । दोनों
में कोई भेद न होने से यह विशेष निर्णय किस लिए किया जाता है कि यहाँ यह पुरुष स्व
होता है ? (इस पर सिद्धान्ती कहता है—)इसे बतलाया जाता है । क्योंकि स्वप्नदर्शन की
विशेषता है । जागरित अवस्था आत्मज्योति इन्द्रिय, बुद्धि, मन और आलोकादि व्यापार
रहती है, किन्तु यहाँ स्वप्न में तो इन्द्रियों के अभाव तथा उनके अनुग्राहक आदित्यादि के
अभाव के कारण वह विशुद्ध केवल रहती है; इसलिए विलक्षण है । (पुनः शङ्का होती है—
जिस प्रकार जाग्रदवस्था में विषयानुभूति होती है, उसी प्रकार स्वप्न में भी विषयों की उपल
है, फिर इन्द्रिय के अभाव के कारण ही उन प्रतीयमानों की विलक्षणता क्यों कही जाती है । (
में कहते हैं—) सुनो ।

---

१. अवतरणोक्तार्थकम् । २. स्वप्ने । ३. अवस्थाद्वये सत्यविशेषे । ४. वैलक्ष
देहादेः स्वप्नवृत्तावसंभवेन स्वप्नस्य जागरितवैलक्षण्यादित्यर्थः । ५. तस्माद्विलक्षणमिति—एक
भावादन्यत्र चाऽभावाज्जागरितज्ञानात्स्वप्नदर्शनं विलक्षणमित्यर्थः । ६. प्रतीयमानेषु तेषु ।
मीयम् । ८. स्वप्ने रथादीनां जायमानां प्रतीतिमुपपादयतीत्यर्थः ।

***न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो**

उस स्वप्नावस्था में न रथादि विषय हैं, न रथ में जोते गये अश्वादि हैं और न मार्ग ही है।

न तत्र विषयाः स्वप्ने रथादिलक्षणाः[1]। तथा रथयोगा रथेषु युज्यन्त इति योगा अश्वादयस्तत्र न विद्यन्ते। न च पन्थानो रथमार्गा भवन्ति। अथ रथान्रथगान्पथश्च सृजते सृजति स्वयम्।

कथं पुनः सृजते रथादिसाधनानां वृक्षादीनामभावे। उच्यते—[2]ननूक्तमस्य कस्य सर्ववतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं [3]निर्मायेत्य[4]न्तःकरणवृत्तिरस्य

'रथादिसृष्टिमाक्षिपति—कथं पुनरिति। वासनामयी सृष्टिः '[5]शिलष्टेत्युत्तरमाह—उच्यत इति। पलब्धिनिमित्तेनेत्यत्र तच्छब्देन वासनात्मिका मनोवृत्तिरेवोक्ता। '[6]उक्तमेव प्रपञ्चयति—नन्वित्या-

वहाँ उस स्वप्नावस्था में (काष्ठादि के अभाव के कारण) रथादिलक्षण विषय नहीं हैं। रथयोगाः" अर्थात् रथों में जुड़ने वाले अश्वादि भी वहाँ नहीं हैं। "न पन्थानो भवन्ति" अर्थात् ही वहाँ रथमार्ग हैं। परन्तु वह स्वयं रथ, रथ में जोते जाने वाले अश्वादि और रथ के मार्गों की बना कर लेता है।

(यहाँ शङ्का होती है—) किन्तु रथादि के साधन वृक्षादि का अभाव होने पर भी यह उनकी

---

१. दार्वाद्यभावादिति शेषः। २. ननुरवधारणे। ३. निर्मायेत्युक्तं नन्विति पूर्वत्रान्वयः। ४. अस्य लोकस्य मात्रामित्यस्यार्थमाह—अन्तःकरणेति अन्तःकरणनिष्ठाया अस्य लोकस्य वासना संस्काराख्या तामपादाय स्वपितीति संबन्धः। ५. उपपन्ना। ६. समाधानम्।

---

*न तत्र रथा न रथयोगा इत्यत्रत्यतात्पर्यमाहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"आविश्चिकीर्षुः साक्षादिममर्थं च श्रुतिः परा। न तत्रेति प्रवृत्तैषा प्रत्यगात्मविशुद्धये ॥ कर्मकृद्धिषणान्तो यः कामविद्यासमन्वितः। स्वापबोधाविमौ तस्य न तु तत्साक्षिणो दृशेः ॥ कूटस्थज्योतिषैवाऽऽस्ते स्वप्नस्थानेऽक्रियोऽद्वयः। चिदाभया वासनया तत्साक्षित्वं प्रकल्पते ॥ तत्प्रयोक्तृक्रियाभावाद्बुद्ध्यादिज्योतिषामिह। न व्यापृतिरतः प्रत्यङ्ज्योतिषा स्वेन वर्तते ॥ जाग्रद्वस्तूनि सर्वाणि भावनामात्ररूपताम्। जाग्रत्कर्मक्षये यान्ति स्वप्नकर्मोद्भवे सति" ॥ ९०४-९०८ ॥ इति। प्रत्यगर्थविशुद्धयर्थं स्वप्नस्य जाग्रतो वैलक्षण्यलक्षणमर्थं साक्षादाविष्कर्तुमिच्छन्ती न तत्रेत्याद्या श्रुतिः प्रवृत्तेति योजना ॥ तद्विशुद्धिरसिद्धा बुद्ध्यादिवदवस्थावत्त्वादित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मेति। विशिष्टस्य लक्षितस्य वाऽशुद्धिर्नाऽद्यः सिद्धत्वादिष्यते हि बुद्धिविशिष्टस्याविद्यास्मितादिदोषवतो धर्माधर्मकर्तुरवस्थावत्त्वेनाशुद्धत्वं नेतरो हेत्वसिद्धेरित्यर्थः। साक्षिणो दृष्टिकर्तृत्वमाशङ्क्याऽऽह—दृशेरिति ॥ तस्यावस्थावत्त्वाभावे हेतुमाह—कूटस्थेति। स्वप्नादौ सर्वक्रियारहितो द्वैताभावोपलक्षितो निर्विकारचैतन्यमात्रत्वेनाऽऽत्माऽवतिष्ठते तत्कुतोऽस्यावस्थावत्त्वमित्यर्थः। कूटस्थाद्वयस्य कुतः साक्षित्वं सक्रियस्य सद्वयस्यैव च लोके तद्दृष्टेरित्याशङ्क्याऽऽह—चिदाभयेति। कूटस्थाद्वयस्यैव चैतन्याभासव्याप्तजाग्रद्वासनानुसारेण स्वप्ने प्रतीचः साक्षित्वं तथाऽवस्थान्तरेऽपि काल्पनिकं स्वयंज्योतिषस्तदविरुद्धमित्यर्थः ॥ अवस्थासाक्षितयाऽऽत्मनः शुद्धत्वमुक्त्वा प्रकृतश्रुतेस्तात्पर्यं निगमयति—तदिति। बुद्ध्यादीनां तत्प्रेरककर्मणां च स्वप्ने वासनानतिरेकात्तन्मयानां तेषामात्मप्रकाश्यत्वात्तस्मिन्प्रकाशकत्वेन न प्रवृत्तिरतः स्वयमेव ज्योतिस्तत्राऽऽत्मेत्यर्थः ॥ स्वप्ने बुद्ध्यादीनां वासनातिरेकेणाभावमुक्तं व्यनक्ति—जाग्रदिति ॥

भवन्त्यथ✽ रथान्रथयोगान्पथः सृजते

वहाँ तो वह रथ, रथ में जोते गये घोड़े और रथ के मार्गों की सृष्टि स्वयं ही वासना द्वारा

---

[1]लोकस्य वासना मात्रा तामपादाय [2]रथादिवासनारूपान्तःकरणवृत्ति[3]स्तदुपलब्धि

दिना। तदुपलब्धि[4]र्वासनोपलब्धिस्तत्र यत्कर्म निमित्तं तेन चोदिता योद्भूताऽन्तःकरणवृत्ति

रचना किस प्रकार करता है। (सिद्धान्ती कहता है—) इस पर बतलाया जाता है—"इस सर्वा
की मात्रा को लेकर अपने को चैतन्यशून्य कर तथा स्वयं अपने को रचकर" ऐसा पहले श्रु
कर चुकी है। सो अन्तःकरण की वृत्ति ही इस जाग्रद्देह (लोक) की वासना की मात्रा है.

---

१. जाग्रद्देहस्य। २. निर्माणपदार्थमाह—रथादीति। रथादीनां संस्काररूपा याऽन्तःकरण परिणतिः सादृश्यत्वेन व्यवतिष्ठते इति संबन्धः। ३. कीदृशी सेत्याकाङ्क्षायामाह—तदिति॥ तस्य रथादिरूपेणोपलब्धिस्तन्निमित्तेन कर्मणा चोद्यमाना रथादिपरिणामोन्मुखीक्रियमाणा दृश्यत्वेन व्यवतिष्ठते पुरः स्थिता भवति विषयी भवतीति यावत्। तद्—उक्तरूपेणावस्थानं स्वयं निर्मा निर्मातिनोच्यत इत्यर्थः। ४. वासनोपलब्धिः—रथाद्यात्मना वासनाया उपलब्धिः। ५. पदं व्याख्यातम्।

✽ अथ रथा न रथयोगान्पथः सृजत इत्यादिश्रुतितात्पर्यं वार्तिके यथा—"ता भावना उपादाय प्रत्यङ् रिरंसया। करोत्येष रथाद्यर्थं स्वप्नभोगप्रसिद्धये॥ करणं कर्म कर्ता च कर्मैतत्कारकात्मकम्। प्रत्यङ्मो सच्चिदाभत्वात्तदात्मनि॥ कार्यकरणरूपेण कर्मैतत्प्रथते जगत्। आत्मन्येतत्समध्यस्तमात्माविद्यैकहेतुतः॥ कर्मणोऽत्यन्तमात्माऽकर्ता विलक्षणः। तत्संहतः स्वयं त्वात्माऽसंहतो निर्गुणः शुचिः॥ अविद्यया स्वमात्म मन्यते यदा। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानि तदैतानि प्रपद्यते॥ रथा दार्वाद्यसद्भावान्न सन्ति स्वप्नदर्शने। न सन्त्य द्वद्रथयोगाः सवर्त्मकाः॥ रथादीन्सृजतेऽथात्र जाग्रत्कर्मादिहेतुकान्। अविद्याकामकर्माणि सृष्टिवीजमिदं कर्मणो गमनस्येह साधनाभावहेतुना। स्वप्ने मृषात्वमाहैवं गमनादेः श्रुतिः स्वयम्" ॥९०९-९१६॥ इति रथानित्यादेस्तात्पर्यमाह—ता इति। आत्मा स्वप्ने रथादि करोति चेद्बुद्ध्याद्यपि करिष्यति स्वकृतबुद्ध्यादिप्रकाश्यतया न स्वयंज्योतिष्ट्वमित्याशङ्क्याऽऽह—स्वप्नेति। करणादिकारकरूपं वासना प्रतीचः स्वप्नभोगार्थं कर्मत्वेन प्रथते तेन न तत्प्रत्यक्प्रकाशकमित्यर्थः कथं तर्हि बुद्ध्यादेरात्मविषय स्तत्राऽऽह—प्रत्यगिति। तद्धि बुद्ध्यादि साभासाज्ञाने कल्पितं चिदाभासवत्त्वादज्ञानेन सहाऽऽत्मनि कल्प तद्विषयत्वधीरित्यर्थः॥ करणं कर्मेत्यत्रोक्तमनूद्य प्रत्यङ्मोहेत्यादिनोक्तमर्थं साधयति—कार्येति। कर्मवि मिति यावत्॥ अविद्ययाऽऽत्मन्यध्यस्तं जगदित्यत्र फलितमाह—सर्वस्येति। कर्मणो जगतो विषयस्येति अत्यन्तं विलक्षण इति संबन्धः। अकर्तेति च्छेदः। अविद्यातज्जसंबन्धादात्मनश्च सगुणत्वाद्व्याप्तिम ऽऽह—तदिति॥ आत्मा शुद्धश्चेत्कथं तस्यावस्थावत्त्वप्रथेत्यत आह—अविद्ययेति॥ न तत्रेत्यादेः स हि न्तस्य तात्पर्यमुक्त्वा नेत्यादेरक्षरार्थमाह—रथा इति। अत्रेति स्वप्नोक्तिः। दार्वादिहेत्वभावे कथं रथा रित्याह—अथेति॥ तत्रोत्तरम्—जाग्रदिति। कर्मादि रथादिसृष्टिहेतुत्वे कथमात्मा स्रष्टोच्यते तत्रा अविद्येति॥ रथादि सृज्यते चेत्कथं स्वप्ने तदभावोक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मण इति। गमनाख्यकर्महेतु निरासेन स्वप्ने गमनादेर्मिथ्यात्वं स्वयमेव श्रुतिर्दर्शयत्येवं सर्वस्यापि स्वप्नस्य मिथ्यात्वमत्र विवक्षितं

***न तत्राऽऽनन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथाऽऽनन्दान्मुदः**

ता है। उस समय वह आनन्द, मोद और प्रमोदरूप वृत्ति भी नहीं है किन्तु वह स्वप्नद्रष्टा आनन्द,

न कर्मणा चोद्यमाना दृश्यत्वेन व्यवतिष्ठते तदुच्यते स्वयं निर्मायेति । [1]तदेवाऽऽह

था तदाश्रयं तदात्मक तद्वासनारूपं दृश्यत इति योजना । [2]तथाऽपि कथमात्मज्योतिः स्वप्ने केवलं

आदि की वासनारूपा जो अन्तःकरण की वृत्ति है, वह उसकी उपलब्धि के निमित्त भूत कर्म से प्रेरित कर दृश्यरूप से स्थित रहती है। उसी को "स्वयं निर्माय" यानी स्वयं रचकर कहा जाता है—

---

[1] स्वयं निर्माणमेव विशेषरूपेणाह। [2] रथादीनां तत्र वासनामात्रत्वेऽपि।

त्विति न्यायादित्यर्थः ॥

स्वप्नमधिकृत्य बृहदारण्यके श्रूयते न तत्र रथा इत्यादि। तत्र किं स्वप्नसृष्टिर्घटादिवद्व्यावहारिकी आहोस्विच्छुक्तिरजतादिवन्मायामयीति संदेहे पूर्वपक्षी ब्रूते—'संध्ये सृष्टिराह हि' (ब्र. सू. ३. २. १.) इति। जागरितसुषुप्त्योः सन्धौभवे स्वप्ने सृष्टिर्व्यावहारिकी हि यतः। अथ रथान् रथयोगानिति श्रुतिरेवमाह—'निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च' (ब्र. सू. ३. २. २)। इदमपि पूर्वपक्षसूत्रम्। एके शाखिनः स्वप्ने कामानां निर्मातारं जीवमिव परमेश्वरमामनन्ति य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाण इति। ननु श्रुतौ कामानां बुद्धिवृत्तिविशेषाणां निर्माता परमेश्वर इति श्रूयते नार्थनिर्मातेत्याशङ्क्याऽऽह—पुत्रादयश्चेति काम्यन्त इति व्युत्पत्त्या पुत्रादय एव कामा इति परमेश्वरस्यैवार्थनिर्मातृत्वमेवं च स्वप्नसृष्टिर्व्यावहारिकसत्या परमेश्वरकर्तृकत्वात्क्षित्यादिवदित्यनेन सूत्रेण सूचितमतः श्रुत्यनुमानाभ्यां स्वप्नसृष्टिर्व्यावहारिकसत्येति पूर्वपक्षे प्राप्ते राद्धान्तः—मायामात्रं तु पूर्वपक्षनिरासीतुः शुक्तिरजतवत्स्वप्नसृष्टिर्मायामात्र कुतः कार्त्स्न्येन उचितदेशकालादिसंपत्त्याबाधाभावेन चानभिव्यक्तस्वरूपस्वात् न हि रथानानुचितो देशः स्वप्ने संभवति। देहान्तर्नाडीप्रविष्टमनाऽवच्छिन्नसाक्षिनिष्ठत्वान्नप्युचितः कालोऽस्ति घटिकामात्रवर्तिनि स्वप्ने प्रचुरवत्सरसाध्यसंसरणस्य दृष्टेस्ततो देशादिसंपत्त्यबाधरूपवस्तुधर्मेणानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् प्रातिभासिक एव स्वप्नप्रपञ्चः यदुक्तमथ रथानिति श्रुतिरेवेश्वरकर्तृकां सृष्टिमाहेति सृष्टेः सत्यत्वमिति तच्छ्रुत्यैव न तत्र रथा इत्यादिकया स्वप्ने रथाद्यभावबोधिकया परिहृतम्। अनुमाने चोचितदेशादिजन्यत्वमुपाधिर्हेत्वसिद्धिश्च सृजते स हि कर्तेति स्वयं निर्मायेत्यादिश्रुत्यन्तरे च स्वप्नसृष्टेर्जीवकर्तृकत्वश्रवणात्तथा च कामं काममिति श्रुतावपि जीव एव निर्माता विज्ञेयोऽतः स्वप्नसृष्टिर्मिथ्येति सिद्धम्। स्वयं निहत्य पूर्वदेहं निश्चेष्टं कृत्वा, स्वयं निर्माय—अपूर्वं स्वाप्नं देहं संपाद्य, स्वेन भासा स्वीयान्तःकरणवृत्त्या स्वेन ज्योतिषा स्वरूपचैतन्येन च प्रस्वपिति बुद्धिस्थवासना साक्षित्वेनावतिष्ठत इति श्रुत्यर्थः ॥

*न तत्राऽऽनन्दा इत्यादि स हि कर्तेत्यन्तम्। अत्र वार्तिके "न कर्मफलमप्यत्र स्वप्ने तद्धेत्वसंभवात्। प्रकर्षगुणसंबन्धाः नाऽऽनन्दा अपि तत्रेति ह्यतः श्रुतिरभाषत ॥ आह्लादाः स्युरिहाऽऽनन्दा हर्षाश्चात्र मुदस्तथा। इत्येवमसतामेव स्रष्टाऽऽत्मा स्वात्ममायया ॥ प्रमुदो मुद एव तु ॥ पल्वलास्त्विह वेशान्ताः प्रसिद्धार्थं तथोत्तरम्। अविचारितसंसिद्धं क्रियाकारकचिदाभकारकोद्भूतवासनाकर्महेतुकः। स्वयं निर्माय सृजत इत्यकर्मापि भण्यते ॥ कर्ताऽलक्षणम्। जाग्रद्भूमावपि मतं किमु स्वप्नैकनीडगम् ॥ रथादिवासनानीडचित्तवृत्तिसमुद्भव-कर्महेतुत्वतः कर्ताऽप्यात्माभिधीयते ॥ तदन्यस्येह कार्यत्वात्कर्ताऽऽत्मैव तमोवधिः ॥ अकर्तुरपि कर्तृत्वं स्वात्माज्ञानैकहेतुतः। अस्ति यत्राप्युपादानं स्वप्नवृत्तावुपादानं साधनं वा न विद्यते। रथादेरसतस्तस्माद्द्रष्टैवाऽऽत्मा न कारकः ॥

प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान्पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता ॥१०॥

मोद एवं प्रमोद की भी सृष्टि कर लेता है । उस समय छोटे-छोटे जलाशय, तालाव औ भी नहीं हैं । उन जलाशयों, तालाबों और नदियों की सृष्टि भी वह पुरुष कर लेता है। अतः कर्ता स्वयं स्वप्नद्रष्टा पुरुष ही माना जाता है ॥१०॥

रथादीन्सृजत इति । ननु तत्र करणं वा करणानुग्राहकाणि वाऽऽदित्यादीनि तदवभास्या वा रथादयो विषया विद्यन्ते । तद्वासनामात्रं तु केवल तदुपल निमित्तचोदितो[1]द्भूतान्तःकरणवृत्त्याश्रयं दृश्यते । तद्यस्य ज्योतिषो [2]दृश्यतेऽलुप्त दात्मज्योतिरत्र केवलमसिरिव कोशाद्विविक्तम् ।

सिध्यति तत्राऽऽह— तद्यस्येति । **यथा कोशादसिर्विविक्तो भवति तथा दृश्याया बुद्धेर्विविक्तम तिरिति कैवल्यं साधयति**—असिरिवेति ।

स्वयं निर्माण का विशिष्ट रूप कहा जाता है कि रथादि की रचना करता है । उस अवस्था में इन्द्रियों के अनुग्राहक आदित्यादि प्रकाश अथवा उनसे प्रकाश्य रथादि विषय भी नहीं हैं । अनुभूति हेतुभूत जो कर्म हैं; उन कर्मरूप निमित्त मे प्रेरित अन्तःकरण की उद्भूतवृत्ति के केवल उनकी वासनामात्र देखी जाती है । वह जिस अलुप्त दृक् स्वभाव ज्योति को दिखाई दे वह आत्मज्योति इस अवस्था में म्यान से निकाली हुई तलवार की तरह शुद्ध होती है ।

---

१. उद्भूतत्वं कार्यजननक्षमत्वं स्वप्नदर्शनानुकूलत्वम् । २. दृश्यं भवति ।

साधनं वाऽस्य जागरे । तत्राप्यात्मचिदाभासमनोबुद्ध्यादिकारकैः ॥ रथादिवासनानीडधीवृत्त्युद्भवकार निर्वर्त्यंते तेन स हि कर्तेति भण्यते ॥ भान्वादेरिव कर्तृत्वं कर्त्राद्यर्थविभासनात् । बुद्ध्यादिकर्तृसाक्षित्वा द्यात्मनो भवेत् ॥ क्रियाकर्तृत्वमेवास्य हेतुर्बुद्ध्यादिसंगतौ । यथावस्त्वपरिज्ञानाद्धीति हेतावत ९१७-९२८ ॥ इति । न तत्राऽऽनन्दा इत्यादेस्तात्पर्यमाह—न कर्मेति । स्वप्ने कर्माभावात्तत्फलाभा श्रुतिमवतारयति—नेति । हेत्वभावे फलाभावं हिशब्दोपात्तमतःशब्देनानुवदति ॥ आनन्दादिपदानामपु माह—आह्लादाः स्युरिति । इहेत्यत्रेति च प्रकृतवाक्योक्तिः । आनन्दाः सुखसामान्यानि । मुदः पुत्रादिनि प्रमुदस्तु हर्षा एव प्रकर्षविशिष्टा इति भेदः ॥ पल्वलाः क्षुद्राणि सरांसि । उत्तरं स हीत्यस्मात्प्राक्तन न तत्रेत्यादिवाक्यार्थमुपसंहरति—इत्येवमिति ॥ आत्मनो मायया स्रष्टृत्वे युक्तिमाह—चिदामेति । भासव्याप्तबुद्ध्यादिकारकाकारेणाभिव्यक्तवासनाप्रयोजकस्वप्नभोगहेतुकर्मस्वविद्यया हेतुत्वाद्वस्तुतो नि ऽप्यात्मा तत्र कर्तोच्यते । तत्र कूटस्थस्य मायिकमेव स्रष्टृत्वमित्यर्थः ॥ स्वप्नसृष्टेर्मायामयत्वे कैमुतिक अविचारितेति ॥ स हि कर्तेत्यस्यार्थमाह—रथादीति । जाग्रद्दृष्टरथाद्याकारवासनाश्रयचित्तस्थ परिणामव्यञ्जककर्महेतुत्वाद्वस्तुतोऽकर्ताऽप्यात्मा कर्तेत्युच्यते न तस्य स्रष्टृत्वादिरित्यर्थः ॥ अकर्ता कर्महेतुर्विरोधादित्याशङ्क्याऽऽह—अकर्तुरिति । आत्मनः कर्तृत्वमज्ञानकृतं चेदन्यो वस्तुतोऽस्तु कर्तृत्व

[1]तथा न तत्राऽऽनन्दाः सुखविशेषाः मुदो हर्षाः पुत्रादिलाभनिमित्ताः [2]प्रमुदस्त एव प्रकर्षोपेताः। [3]अथ चाऽऽनन्दादीन्सृजते। तथा न तत्र वेशान्ताः पल्वलाः पुष्करिण्यस्तडागाः स्रवन्त्यो नद्यो भवन्ति। [4]अथ वेशान्तादीन्सृजते वासनामात्ररूपान्। यस्मात्स हि कर्ता। तद्वासनाश्रयचित्तवृत्त्युद्भवनिमित्तकर्महेतुत्वेनेत्यवोचाम[5] तस्य कर्तृत्वं न तु साक्षादेव तत्र क्रिया संभवति साधनाभावात्। न हि कारकमन्तरेण क्रिया संभवति। न च तत्र हस्तपादादीनि क्रियाकारकाणि संभवन्ति। यत्र तु तानि विद्यन्ते जागरिते

तथा रथाद्यभाववदिति यावत्। सुखान्येव [6]विशिष्यन्त इति विशेषाः सुखसामान्यानीत्यर्थः। तथेत्यानन्दाद्यभावो दृष्टान्तितः। अल्पीयांसि सरांसि पल्वलशब्देनोच्यन्ते। स हि कर्तेत्यत्र हिशब्दार्थो यस्मादित्युक्त[7]स्तस्मात्सृजतीति शेषः। कुतोऽस्य कर्तृत्वं [8]सहकार्यभावादित्याशङ्क्या[9]ऽऽह—तद्वासनेति। तच्छब्देन [10]वेशान्तादिग्रहणम्। तदीयवासनाधारश्चित्तपरिणामस्तेनो[11]द्भवति यत्कर्म तस्य सृज्यमान[12]निदानत्वेनेति यावत्। मुख्यं कर्तृत्वं वारयति—नन्विति। तत्रेति स्वप्नोक्तिः। साधनाभावेऽपि स्वप्ने क्रिया किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। तर्हि स्वप्ने कारकाण्यपि भविष्यन्ति नेत्याह—न चेति। [13]तर्हि [14]पूर्वोक्तमपि कर्तृत्वं कथमिति चेत्तत्राऽऽह—यत्र त्विति। [15]उक्तेऽर्थे वाक्योपक्रम-

---

(स्वप्नावस्था में कर्माभाव होने से फलाभाव होता है—) इस प्रकार वहाँ "आनन्दाः" यानी सुखविशेष "मुदः" अर्थात् पुत्रादिलाभनिमित्तक हर्ष; "प्रमुदः" यानी प्रकर्ष को प्राप्त हुए वे हर्ष भी नहीं हैं। किन्तु यह आनन्दादि का स्रष्टा है। इसी प्रकार वहाँ न "वेशान्ताः" यानी छोटे तालाब हैं, "पुष्करिण्यः" यानी न तालाब हैं और न ही "स्रवन्तीः" अर्थात् नदियाँ हैं। किन्तु यह उन वासनामात्रात्मक छोटे तालाब आदि को रच लेता है क्योंकि वह कर्ता है। उन विषयों की वासनाश्रय चित्तवृत्ति के परिणामी जो कर्म हैं, उनके कारण ही उसका कर्तृत्व बतलाया जा चुका है; साधन के अभाव से साक्षात् उसमें कोई क्रिया होना संभव नहीं है क्योंकि कारक के बिना क्रिया नहीं हुआ करती और वहाँ क्रिया के कारक हाथ, पाँव आदि भी संभव नहीं हैं। एवं जहाँ जाग्रदवस्था में

---

१. स्वप्ने कर्माभावात्फलाभाव इत्यत्र श्रुतिमवतारयति—तथेति। २. हर्षा एव। ३. कथं तर्हि तत्र तेषां प्रतीतिरित्याशङ्क्य प्रतीतिमुपपादयति—अथेति। ४. तत्प्रतीतिमुपपादयति—अथेति। ५. पृ. १०५७ भाष्ये। ६. अतिरिच्यन्ते सर्वाभिलाषविषयतया दुःखादिभ्य उत्कृष्यन्ते इत्यर्थः। ७. आत्मनः कर्तृत्वात्। ८. दार्वादि। ९. आहेति—कर्मैव सहकार्यहित्यर्थः। १०. जागरितदृष्टादिग्रहणम्। ११. कार्योन्मुखीभवति। तेनोद्भवति—तदात्मना फलोन्मुखी भवतीति यावत्। १२. सहकारितया। १३. कारकाभावे। १४. स हि कर्तेति। १५. आत्मनिष्ठौपचारिककर्तृत्वरूपे।

ऽऽह—तदन्यस्येति। शास्त्रीयो व्यवहारः सप्तम्यर्थः॥ आत्मनोऽपि कथमाविद्यं रथादिकर्तृत्वं स्वप्ने तदुपादानस्य दार्वादेस्तदुपकरणस्य परश्वादेश्चासत्त्वादित्याशङ्क्याऽऽह स्वप्नेति॥ स्वप्ने रथादेरात्मा साक्षी चेत्कथं कर्तेत्युक्तिरित्याशङ्क्याज्ञानतः स्वप्नहेतुकर्मनिर्वर्तकत्वादित्याह—अस्तीति॥ अस्येति रथादिनिर्देशः॥ एवमात्मा कर्ता चेद्द्रष्टैव न कारक इति कथमुक्तं तत्राऽऽह—भान्वादेरिति। कर्ताद्यर्थावभासात्मत्वादादित्यादेरवभासकर्तृत्वं यथोपचर्यते तथाऽऽत्मनोऽपि बुद्ध्यादिकारकसाक्षित्वात्कर्तृत्वाद्युपचरितमित्यर्थः॥ स हीत्यत्र हिशब्दार्थमाह—क्रियेति। प्रत्यगज्ञानाद्बुद्ध्यादिसंबन्धाधीनं यदात्मनो धर्मादिकर्तृत्वं जाग्रति जातं तदेवास्य स्वप्ने रथादिनिर्माणे हेतुरिति हेतौ हीति पदं तस्माद्युक्तमात्मनो मायिकं स्वप्ने स्रष्टृत्वमित्यर्थः॥

तदेते श्लोका भवन्ति । स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्या-सुप्तः सुप्तानभिचाकशीति । [1]शुक्रमादाय पुनरैति

इस विषय में ये मन्त्र हैं । यह आत्मा स्वप्न के द्वारा देह को चेष्टारहित कर स्वयं न सोता सोये हुए समस्त पदार्थों को सभी ओर से प्रकाशित करता है । वह शुद्ध इन्द्रिय मात्रारूप को लेकर

तत्राऽऽत्मज्योतिरवभासितैः कार्यकरणै रथादिवासनाश्रयान्तःकरणवृत्त्युद्भवनिमित्तं निर्वर्त्यते [2]तेनोच्यते स हि कर्तेति । तदुक्तमात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म इति । [3]तत्रापि न परमार्थतः स्वतः कर्तृत्वं चैतन्यज्योतिषाऽवभासकत्वव्यतिरेके यच्चैतन्यात्मज्योतिषाऽन्तःकरणद्वारेणावभासयति कार्यकरणानि यदवभासितानि व्याप्रियन्ते कार्यकरणानि [4]तत्र कर्तृत्वमुपचर्यत आत्मनः । यदुक्तं ध्यायतीव लेलायतीव तदेवानूद्यते स हि कर्तेतीह [5]हेत्वर्थम् ॥ १० ॥

तदेत एतस्मिन्नुक्तेऽर्थ एते श्लोका मन्त्रा भवन्ति स्वप्नेन [6]स्वप्नभावेन

मनुकूलयति—तदुक्तमिति । उपक्रमे मुख्यं कर्तृत्वमिह त्वौपचारिकमिति विशेषमाशङ्क्याऽऽह—तत्रापीति । परमार्थतश्चैतन्यज्योतिषो [7]व्यापारवदुपाध्यवभासकत्वव्यतिरेकेण स्वतो न कर्तृत्वं वाक्योपक्रमेऽपि विवक्षितमित्यर्थः । आत्मनो वाक्योपक्रमे कर्तृत्वमौपचारिकमित्युपसंहरति—यदिति । कर्तेत्यौपचारिकं कर्तृत्वमित्युच्यते चेत्तस्य ध्यायतीवेत्यादिनोक्तत्वात्पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—तदेवेति मिति । अनुवादे प्रयोजनमाह—हेत्वर्थमिति । स्वप्ने रथादिसृष्टाविति शेषः ॥ १० ॥

तदेते श्लोका भवन्तीत्येतत्प्रतीकं गृहीत्वा व्याचष्टे—तदेत इति । उक्तोऽर्थः स्वयं

वे रहते हैं, वहाँ आत्मज्योति से प्रकाशित कार्य और करण द्वारा रथादिवासना की आश्रय अन्तःकरण की वृत्ति से उत्थित होने वाला कर्म निष्पन्न हो सकता है, इसी से कहा जाता है कि कर्ता है । अतः श्रुति कहती है कि "वह आत्मज्योति से ही बैठता है, इधर-उधर जाता है और करता है, फिर वापिस आ जाता है" । वहाँ भी प्रकाशक होने के अतिरिक्त इस चैतन्यज्योति तत्त्वतः कोई कर्तृत्व नहीं है । क्योंकि आत्मा अन्तःकरण द्वारा चैतन्यात्मज्योति से देह इन्द्रियों को अवभासित करता है और उससे अवभासित हुई देह और इन्द्रियाँ कर्म में प्रवृत्त हैं, इसी से देह इन्द्रिय व्यापार में आत्मा के कर्तृत्व का उपचार किया जाता है । और जो यह गया है "मानो ध्यान करता है, प्राणवृत्ति के अनुसार मानो चेष्टा करता हुआ सा जान पड़ता उसी का कर्तृत्व में हेतु दिखाने के लिये यहाँ 'वही कर्ता है" इस प्रकार अनुवाद किया गया है ॥

"तदेते" अर्थात् उक्त अर्थ में "श्लोकाः" यानी मन्त्र हैं । आत्मा "स्वप्नेन" अर्थात् वासना

---

१. अत्र "शुक्रमादायाभिचाकशीती"त्यपि योजयन्ति । २. स्वप्नरथादिप्रयोजककर्मनिर्वर्तकत्वेन । उपक्रमेऽपि । ४. कार्यकरणव्यापारे । ५. हेत्वर्थमिति—स्वाज्ञानाद्बुद्ध्यादिसंबन्धाधीनं यदात्मनो कर्तृत्वं जाग्रति जातं तदेवास्य स्वप्ने रथादिनिर्माणहेतुरित्येतदनुवादप्रयोजनं ज्ञापनम् । तस्माद्युक्तं मायिकं स्वप्ने स्रष्टृत्वमिति । ६. वासनामात्रोपग्रहेण । ७. आसनादिव्यापारविशिष्टसंघातेत्यर्थः ।

स्थानꣳ हिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः ॥ ११ ॥

प्राणेन रक्षन्नवरं [1]कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा । स ईयतेऽमृतो यत्र [2]कामꣳ हिरण्मयः पुरुष

ाग्रदवस्था में आता है। अतः वह स्वयंज्योतिस्वरूप दोनों अवस्थाओं में तथा इहलोक और रलोकादि में अकेला ही जाने वाला है ॥११॥

इस निकृष्ट देह की रक्षा प्राण द्वारा करता है (अन्यथा निद्राकाल में मृत्यु की भ्रान्ति हो कती है)। वह अविनाशी आत्मा शरीर से बाहर विचरता है। वह अकेला घूमने वाला हिरण्मय

रीरमभिप्रहृत्य [3]निश्चेष्टमापाद्यासुप्तः स्वयमलुप्तदृगादिशक्तिस्वाभाव्यात्सुप्तान्वासनाकारोद्भूतानन्तःकरणवृत्त्याश्रयान्बाह्याध्यात्मिकान्सर्वानेव [4]भावान्स्वेन[5] रूपेण प्रत्यस्तमितान्सुप्तानभिचाकशीत्य[6]लुप्तयाऽऽत्मदृष्ट्या पश्यत्यवभासयतीत्यर्थः । शुक्रं शुद्धं [7]ज्योतिष्मदिन्द्रियमात्रारूपमादाय गृहीत्वा पुनः कर्मणे जागरितस्थानमैत्यागच्छति हिरण्मयो हिरण्मय इव चैतन्यज्योतिःस्वभावः [8]पुरुष एकहंस एक एव हन्तीत्येकहंसः । एको जाग्रत्स्वप्नेहलोकपरलोकादीन्गच्छतीत्येकहंसः ॥ ११ ॥

[9]तथा प्राणेन पञ्चवृत्तिना रक्षन्परिपालयन्न[10]न्यथा मृतभ्रान्तिः स्यादवरं निकृष्ट-

---

ट्वादिः"। शारीरमिति स्वार्थे वृद्धिः । स्वयमसुप्तत्वे हेतुमाह—अलुप्तेति । व्याख्येयं पदमादाय व्याचष्टे—सुप्तानित्यादिना । उक्तमनूद्य पदान्तरम[12]वतार्य व्याकरोति—सुप्तानभिचाकशीतीति ॥ ११ ॥

तथाशब्दः स्वप्नगतविशेषसमुच्चयार्थः । किमिति स्वप्ने प्राणेन शरीरमात्मा पालयति

वप्नभाव से "शरीरमभिप्रहृत्य" अर्थात् शरीर को निश्चेष्ट बनाकर "आसुप्तः सुप्तानभिचाकशीति" र्थात् स्वयं अलुप्तदृगादिशक्तिस्वरूप होने से आसुप्त रहकर वासनारूप से उद्भूत अन्तःकरण वृत्ति आश्रित बाह्य और आध्यात्मिक सभी पदार्थों को जो अपने व्यावहारिक रूप से सोये रहते हैं, उन्हें काशित करता है अर्थात् उन्हें अपने अलुप्त आत्मज्योति से देखता है यानी प्रकाशित करता है। ह "शुक्रम्" अर्थात् दीप्तिमान् इन्द्रिय मात्रा के शुद्धरूप को "आदाय" यानी ग्रहणकर "पुनः" र्थात् फिर जागरितस्थानरूप कर्म में 'एति' अर्थात् चला जाता है। "हिरण्मयः" अर्थात् हिरण्मय समान चैतन्य ज्योतिस्वभाव वाला पुरुष "एकहंसः" अर्थात् अकेला ही विचरण करता है। वह एकाकी जाग्रत्, स्वप्न तथा इहलोक-परलोकादि में जाता है, इसलिये वह एकहंस है ॥११॥

इसी प्रकार "प्राणेन" अर्थात् प्राणापानादि पाँच वृत्त्यात्मक प्राणों से "रक्षन्" अर्थात् परि-

---

१. कौ पृथिव्यां लीयते शरीरम् । २. काम्यते इति व्युत्पत्त्या शरीरादि । ३. जाग्रत्कर्मक्षयात्स्वप्नकर्मोद्भवा च । ४. पदार्थान् । ५. व्यावहारिकेण । ६. कूटस्थया । ७. दीप्तिमत्त्वात् । ८. कार्यकरणादि सर्वं पूरयति पूर्णोऽपरिच्छिन्नश्च स्वयम् । ९. तथेति—यथा स्वप्नेन शारीरमित्यादि पूर्वमन्त्रपूर्वार्द्धे स्वप्नगतो विशेषः प्रदर्शितस्तथा प्राणेनेत्यादिमन्त्रद्वये पुनरपि स्वप्नगतो विशेष एव प्रदर्श्यत इत्यर्थः । १०. यदि परः स्वप्ने प्राणेन देहं न रक्षेत्तदा । ११. आदिना बुद्ध्याद्यतिरिक्तत्वम् । १२. आदाय ।

एकहꣳसः ॥ १२ ॥

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि । उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥ १३ ॥

अमर पुरुष वहाँ चला जाता है; जहाँ की वासना उसे होती है ॥१२॥

इसके अतिरिक्त स्वप्नावस्था में वह आत्मदेव ऊँच-नीच भावों को प्राप्त होता हुआ वासनामय रूप बना लेता है। वैसे ही वह स्त्रियों के साथ प्रसन्न होता हुआ, मित्रों के साथ हुआ और कभी व्याघ्रादि भयंकर जन्तुओं से भय का अनुभव करता हुआ-सा विचरता रहता है ॥१

मनेकाशुचिसंघातत्वादत्यन्त[1]बीभत्सं कुलायं नीडं शरीरं स्वयं तु बहिस्तस्मात्कु च्चरित्वा । यद्यपि शरीरस्थ एव स्वप्नं पश्यति तथाऽपि [2]तत्संबन्धाभावा[3]त्तत्स्थ ऽऽकाशो [4]बहिश्चरित्वेत्युच्यते । [5]अमृतः स्वयममरणधर्मेयते गच्छति यत्र कामं यत्र कामो विषयेषूद्भूतवृत्तिर्भवति तं तं [6]कामं वासनारूपेणोद्भूतं [7]गच्छति ॥ १२ ॥

किंच स्वप्नान्ते स्वप्नस्थान उच्चावचमुच्चं देवादिभावमवचं तिर्यगादि

तत्राऽऽह—अन्यथेति । बहिश्चरित्वेत्ययुक्तं शरीरस्थस्य स्वप्नोपलम्भादित्याशङ्क्याऽऽह—यद्य तत्संबन्धाभावाद्बहिश्चरित्वेत्युच्यत इति संबन्धः । देहस्थस्यैव तदसंबन्धे दृष्टान्तम तत्स्थ इति ॥ १२ ॥

स्वप्नस्थं विशेषान्तरमाह—किंचेति । उच्चावचं [8]विषयीकृत्य [9]तेन तेनाऽऽत्मना

पालन करता हुआ (यदि आत्मा स्वप्न में प्राण से देह की रक्षा न करे) अन्यथा मृतभ्रान्ति जायगी। "अवरम्" अर्थात् अनेक अपवित्र वस्तुओं का संघात होने से निकृष्ट अत्यन्त बीभत्स 'कु अर्थात् नीड़ या शरीर की रक्षा करता हुआ, स्वयं उस शरीर से बाहर विचर कर; यद्यपि यह श रहकर स्वप्न देखता है तो भी शरीर से मिथ्याभिमान आत्मसंबन्धाभाव होने से देहस्थ आका समान मानो बाहर विचर कर ऐसा कहा जाता है। 'अमृतः" अर्थात् स्वयं अमरणधर्मा होता हु "ईयते" अर्थात् वहाँ जाता है। "यत्र कामम्" अर्थात् जहाँ-जहाँ कामनाओं में उद्भूतवृत्ति रह वासनारूप से उद्भूत उन-उन काम्यमान शरीरादि कामनाविषय को प्राप्त करता है ॥ १२॥

इसके अतिरिक्त "स्वप्नान्ते" अर्थात् स्वप्नस्थान में "उच्चावचमीयमानः" अर्थात्

---

१. घृणास्पदम् । २. शरीरेण सह मिथ्याभिमानात्मसंबन्धाभावादिति भावः । ३. देहस्थः । बहिश्चरित्वेत्येतदुपपादितं वार्तिके—"नाडीस्त्यक्त्वा यतः स्वप्ने जाग्रद्भोगप्रदाः पुमान् । स्वप्नभोगप्रदा बहिर्नीडादतस्तदा" ॥ ९४० ॥ इति । ५. हंसश्चेत्तर्हि गमनागमनवत्त्वान्नाशापक्षयभागी स्य शङ्कयाऽऽह—अमृत इति । ६. काम्यमानं शरीरादि । ७. प्राप्नोति । ८. आत्मन्यध्यस्य प्रा ९. तत्तद्रूपेण ।

[1]आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चनेति। तं नाऽऽयतं बोधयेदित्याहुः। दुर्भिषज्यꣳ हास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यते। [2]अथो[3] खल्वाहुर्जागरितदेश

सभी लोग उस आत्मा की क्रीडासामग्री को तो देखते हैं, उस आत्मा को कोई देखता नहीं। स सुषुप्त पुरुष को सहसा कोई न जगावे, ऐसा (वैद्य लोग) कहते हैं। जिस इन्द्रियप्रदेश में यह ोता रहता है, सहसा जगाने पर उस प्रदेश में प्राप्त न होने के कारण उसका शरीर दुश्चिकित्स्य हो ाता है। इसीलिए निःसन्देह कोई-कोई ऐसा कहते हैं, यह स्वप्नस्थान इस पुरुष का जाग्रत् देश ही

कृष्टं तदुच्चावचमीयमानो गम्यमानः प्राप्नुवन्रूपाणि देवो [4]द्योतनावान्कुरुते निर्वर्तयति वासनारूपाणि बहुन्यसंख्येयानि। उतापि स्त्रीभिः सह [6]मोदमान इव जक्षदिव हसन्निव यस्यैः। उतेवापि भयानि बिभेत्येभ्य इति भयानि [7]सिंहव्याघ्रादीनि [8]पश्यन्निव॥ १३॥

आराममारमणमा[10]क्रीडामनेन[11] निर्मितं [12]वासनारूपामस्याऽऽत्मनः पश्यन्ति सर्वे नाः। ग्रामं नगरं स्त्रियम[13]न्नाद्यमित्यादिवासनानिर्मितमाक्रीडनरूपम्। न तं पश्यति तं न पश्यति कश्चन। कष्टं भो वर्ततेऽत्यन्त[14]विविक्तं[15] [16]दृष्टिगोचरापन्नमप्यहो भाग्य-

वयं [17]गम्यमान इति यावत्॥ १३॥

आरामं विवृणोति—ग्राममित्यादिना। न तमित्यादेस्तात्पर्यमाह—कष्टमिति। दृष्टिगोचरापन्न-

त्कृष्ट भाव और तिर्यगादि निकृष्टभाव इस प्रकार ऊंच-नीच भावों को प्राप्त होता हुआ वह द्योतनवान् व बहुत से वासनात्मक शरीरों को बना देता है। वह स्त्रियों के साथ क्रीडा करता हुआ सा, "जक्षदिव" अर्थात् अपने मित्रों के साथ हँसता हुआ सा और भय के स्थान सिंह व्याघ्रादि को देखता, ुआ सा रहता है॥ १३॥

सभी लोग इस आत्मा के "आरामम्" अर्थात् स्वप्ननिर्माणलक्षणा क्रीडा को यानी मायावी ात्मा द्वारा निर्मित वासनामय मायिकरूप को देखते हैं। वे ग्राम, नगर, स्त्री, भक्षण करने योग्य अन्न त्यादि वासनानिर्मित क्रीडा के रूपों को देखते हैं। " न तं पश्यति कश्चन" अर्थात् उस विशुद्ध

---

१. प्रदर्शितं स्वप्नप्रयोजनं स्वयंज्योतिष्ट्वमित्यभिप्रेत्याह—आराममिति। २. अपि—अन्ये। ३. स्वयंज्योतिष्ट्वविघातकमन्यदीयं मतं दुष्टमिति बोधयितुमुपन्यस्यति—अथो इत्यादि नेतीत्यन्तेन। अन्ये आहुः किम्। एष प्रसिद्धो जागरितदेश एव अस्य स्वप्नस्य विषयो न तु स्वप्नोऽतिरिक्त इति। ४. प्रकाशमानः। ५. वासनात्मकानि शरीराणि। ६. क्रीडन्निव। ७. सिंहव्याघ्रादीनीति—आविद्यकानीति ध्येयम्। ननु स्वप्ने व्याघ्रादिकृतं भयं कथमाविद्यमिति चेच्छृणु—"अविद्यया भयं चेह स्वप्ने तद्धेत्वसंभवादि"ति॥ वा. ६४३॥ अविद्येतरव्याघ्राद्यभावात्तत्कृतमेव तत्र भयमिति तदर्थः। ८. पश्यन्निवेतीवशब्देन तस्य निष्क्रियत्वं द्योत्यते। ९. भवति। १०. स्वप्ननिर्माणलक्षणाम्। ११. आत्मना मायाविना। १२. मायिकाम्। १३. अदनार्हं सिद्धमित्यर्थः। १४. विविक्तद्रूपमपि प्रत्यञ्चम्। १५. अध्यात्मादिपदार्थेभ्यः। १६. दर्शनयोग्यतापन्नम्। १७. प्रतीयमानः।

एवास्यैष इति [1]यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त इत्यत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति [2]सोऽहं [3]भगवते [4]सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीति ॥१४॥

है अर्थात् जिन पदार्थों को यह जागने पर देखता है, सोकर भी उन्हीं को देखता है। (—नि कहना ठीक नहीं—) क्योंकि इस अवस्था में यह पुरुष स्वयंज्योति होता है। राजा जनक ने पू मैं जनक आप आचार्यश्री को एक सहस्र गौएँ देता हूँ। अतः अब इसके आगे मोक्ष के लि उपदेश करें ॥१४॥

हीनता लोकस्य [5]यच्छक्यदर्शनमप्यात्मानं न पश्यतीति लोकं [6]प्रत्यनुक्रोशं द श्रुतिः। अत्यन्तविविक्तः स्वयं ज्योतिरात्मा स्वप्ने भवतीत्यभिप्रायः।

तं नाऽऽयतं बोधयेदित्याहुः। [7]प्रसिद्धिरपि लोके विद्यते स्वप्न आत्मन [8]व्यतिरिक्तत्वे। काऽसौ। तमात्मानं सुप्तमायतं सहसा भृशं न बोधयेदित्याहुरेवं क

मपि न पश्यतीति संबन्धः। कष्टमित्यादिनोक्तं प्रपञ्चयति—अहो इति। श्लोकानां तात्पर्यमु —अत्यन्तेति।

वाक्यान्तरमादाय तात्पर्यमुक्त्वाऽऽकाङ्क्षापूर्वकमक्षराणि व्याकरोति—तं नेत्यं

दृक्‌रूप प्रत्यगात्मा को कोई नहीं देखता। यह बड़े दुःख की बात है, जो अध्यात्मादि प अत्यन्त विशुद्ध दर्शनयोग्यता को प्राप्त भी, स्वात्मादेह में स्थित दर्शन के लिए शक्य होने पर आत्मा को कोई नहीं देखता। अहो! संसारी जीवों का कैसा दुर्भाग्य है। इस प्रकार श्रुति क संवेदना प्रकट करती है। भाव यह है कि स्वप्नावस्था में यह स्वयंज्योति आत्मा अत्यन्त सं हो जाता है ॥ १४ ॥

'उस सोए हुए आत्मा को सहसा न जगावे'। ऐसा लोग कहते है। स्वप्न में आत्मज संघात से व्यतिरिक्त होने की लोकव्यवहार में प्रसिद्धि भी है। वह प्रसिद्धि क्या है? उस सं आत्मा को 'आयतं' यानी सहसा-एकदम न जगावे—ऐसा चिकित्सकादि लोकव्यवहार

---

[1] एतदुपपादयन्ति—यानीत्यादि नेतीत्यन्तेन। हि यस्माद्यानि हस्त्यादीनि वस्तूनि जागरितदे तान्येव स्वप्नेऽपि पश्यति इति। तथा च जाग्रद्वत्स्वप्नेऽपि न स्वयंज्योतिष्ट्वम्। तदेतदसारं (बृ.उ.४-३- अयमित्यादिना। स्वप्नस्य जागरितभिन्नत्वेनोक्तत्वादित्यभिप्रायेण श्रुतिः स्वप्ने निरूपितं स्वयंज्योति —अत्रायं पुरुष इति। तथा चायं पूर्वपक्षस्तस्मात्सिद्धान्तग्रन्थात्प्रागेव बोध्यः। [2] स्वप्नेऽयं पुरुषः स र्भवतीति मुनिकृतोपसंहारं श्रुत्वा राजाऽऽह—सोऽहमिति। देहेन्द्रियादिविलक्षणं स्वरूपं यद्यप्युक्तं भयादिहेतुकामकर्माद्यतीतं तु तन्नोक्तमतः पृच्छति—अत इति। स्वयंज्योतिष्ट्वरूपो मुक्त्येकदेश एव नि कारणात् (स्वयंज्योतिष्ट्वाद्वा) ऊर्ध्वमनन्तरं विशेषेण मोक्षो भवत्यनेनेति विमोक्षो सम्यग्ज्ञानं तदर्थं ब्रूहि मोहत्रासादिजनकः कर्माख्यो मृत्युरात्मनः स्वभावो न भवति तथोपदिशेत्यर्थः। [3] तुभ्य गवाम्। [5] स्वात्मनि (देहे) स्थितत्वात्। [6] अनुक्रोशं दर्शयतीति। सदयं शिरस्ताडमाक्रन्द [7] बुद्ध्यादिव्यतिरिक्तत्वं स्वयंज्योतिष्ट्वमागमादात्मनः प्रतिपाद्याथ लोकतोऽपि विभाव्यते—प्रसिद्धि [8] संघातात्।

कित्सकादयो जना लोके । नूनं ते पश्यन्ति जाग्रद्देहादिन्द्रियद्वारतो[1]ऽपसृत्य [2]केवलो हिर्वर्तत इति यत आहुस्तं नाऽऽयतं बोधयेदिति । तत्र च दोषं पश्यन्ति [3]भृशं ह्यसौ ोध्यमान[4]स्तानीन्द्रिय[5]द्वाराणि सहसा प्रतिबोध्यमानो न प्रतिपद्यत इति । [6]तदेतदाह— भिषज्यं हास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यते यमिन्द्रियद्वारदेशं [7]यस्माद्देशा[8]च्छुक्रमादाया- सृतस्तमिन्द्रियदेशमेष[9] आत्मा पुनर्न प्रतिपद्यते । कदाचिद्[10]व्यत्यासेनेन्द्रियमात्राः वेशयति । [11]तत आन्ध्यबाधिर्यादिदोषप्राप्तौ दुर्भिषज्यं दुःखभिषक्कर्मता [12]हास्मै देहाय वति दुःखेन चिकित्सनीयोऽसौ देहो भवतीत्यर्थः । [13]तस्मात्प्रसिद्ध्याऽपि स्वप्ने स्वयं- योतिष्ट्वं [14]देहादिव्यतिरिक्तत्वमस्य गम्यते ।

तेषामभिप्रायमाह—नूनमिति । इन्द्रियाण्येव द्वाराण्यस्येतीन्द्रियद्वारो जाग्रद्देहस्तस्मादिति यावत् । तथाऽपि सहसाऽसौ बोध्यतां का हानिरित्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति । सहसा बोध्यमानत्वं सप्तम्यर्थः । कमत्र[16] प्रमाणमित्याशङ्क्यानन्तरवाक्यमवतार्य व्याचष्टे—तदेतदाहेत्यादिना । पुनरप्रतिपत्तौ ोषप्रसङ्गं दर्शयति—कदाचिदिति । व्यत्यासप्रवेशस्य कार्यं दर्शयन्दुर्भिषज्यमित्यादि व्याचष्टे— तत ति । उक्तां प्रसिद्धिमुपसंहरति—तस्मादिति ।

करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे देखते हैं कि आत्मा जाग्रद्देह से उसके इन्द्रियरूप द्वार से निकलकर अकेली बाहर रह जाती है, इसलिए उसे सहसा न जगावे—ऐसा कहते हैं। इसमें वे यह भी दोष देखते हैं कि झटिति जगाये जाने पर वह एकाएक जगाया हुआ उन इन्द्रियगोलकों को प्राप्त नहीं हो सकता। उक्त दूषण को उत्तरवाक्य में स्पष्ट करते हैं—"जिस इन्द्रिय प्रदेश में यह सोता रहता है—सहसा जगाने पर उस प्रदेश में प्राप्त न होने के कारण उसका शरीर चिकित्सा करने योग्य नहीं रहता"। "यम्" अर्थात् जिस इन्द्रियद्वाररूप प्रदेश से अर्थग्रहण सामर्थ्याख्य इन्द्रिय मात्रा- रूप शुक्र लेकर हट गया है, उसी इन्द्रिय देश को (सहसा जगाने पर) फिर प्राप्त नहीं करता। तथा यदि कभी विपरीतरूप से इन्द्रियमात्रा को प्रविष्ट करा देता है तो अन्धत्व-बधिरत्व आदि दोष की प्राप्ति होने पर "दुर्भिषज्यः" यानी इसकी चिकित्सा होनी कठिन हो जाती है। अर्थात् स्पष्टतया इसका शरीर दुःख से चिकित्स्य हो जाता है। अतः प्रसिद्धि से भी स्वप्न में इसका स्वयंज्योतिस्वरूप जाना जाता है।

---

१. अपसृत्येति । तदुक्तं वार्तिके—"प्रबोधनाडीस्त्यक्त्वाऽऽत्मा स्वप्ननाडीरयं गतः । इति लोकप्रसिद्धत्वात्त-
स्मिँल्लोकोऽनुशास्ति तत्" ॥ ९४७ ॥ इति । तस्मिन्—सुप्ते पुंसि । तस्मादिति पाठान्तरम् । तत् तन्नायतं
बोधयेदित्येतत् । २. एकल आत्मा । ३. झटिति । ४. प्रसिद्धानि । ५. गोलकानि । ६. उक्तं
दूषणम् । उत्तरं वाक्यं स्फुटं ब्रूते । ७. इन्द्रियद्वारप्रदेशात् । ८. अर्थग्रहणसामर्थ्याख्यमिन्द्रियमात्रारूपम् ।
९. सहसा प्रतिबोध्यमानः । १० वैपरीत्येन । ११. व्यत्यासगतेः । १२. स्फुटम् । १३. सहसा
प्रतिबोधप्रतिषेधात् अपिना मन्त्रब्राह्मणग्रहः । १४. प्रवेष्टा हि प्रवेश्यादतिरिक्तो दृष्टः । १५. चिकित्स-
कादीनाम् । १६. नाड्यन्तरप्रवेशप्रसिद्धावपि । १७. यथास्थानमप्रतिपत्तौ ।

स्वप्नो भूत्वाऽतिक्रान्तो मृत्यो रूपाणीति[1] तस्मात्स्वप्ने स्वयं ज्योति
*अथो अपि खल्वन्य आहुर्जागरितदेश एवास्यैष यः स्वप्नः । न संध्यं स्था
मिहलोकपरलोकाभ्यां व्यतिरिक्तं किं तर्हीहलोक एव जागरितदेशः[2] । यद्येवं, शि
शृण्वतो यद्भवति, यदा जागरितदेश एवायं स्वप्नस्तदाऽयमात्मा कार्यकरणेभ्यो न

वृत्तमनूद्य मतान्तरमुत्थापयति—स्वप्नो भूत्वेत्यादिना । इतिशब्दो यस्मादर्थे ।
मतान्तरं स्फोरयति— नेत्यादिना । उक्तमङ्गीकृत्य फलं पृच्छति—यद्येवमिति ।
जागरितदेश इत्येवं यदीष्टमतश्च किं स्यादिति प्रश्नार्थः । फलं प्रतिज्ञाय प्रकटयति—शृ

"यह स्वप्न होकर मृत्यु आदि रूपों को पार कर जाता है" इसी से स्वप्न में आत्मा स्व
है। इस पर कुछ विचारक ऐसा भी कहते हैं—जो यह स्वप्न है; वह आत्मा का जागरित
इहलोक और परलोक से पृथक् कोई सन्ध्यस्थान नहीं है। ऐसा मानने से क्या निष्कर्ष नि

---

१. बृ. उ. ४. ३. ७। २. स्वप्नः।

---

*अथो अपीत्यादि भवत्येवेत्यन्ते वार्तिककारपादास्तथाहि—"स्वयंज्योतिष्ट्वमारभ्य यच्छ्रुत्योक्त
उच्यते पूर्वपक्षोऽयं तस्य सिद्धान्तरूपिणः ॥ स यत्रेति ह्यतः पूर्वं पूर्वपक्षत्वहेतुतः । अथो खल्व
ग्रन्थं पश्येत्तथा क्रमात् ॥ स्वप्नस्य जाग्रत्स्थानत्वमथो खल्वितिवाक्यतः ॥ यानि ह्येवेति हेतूक्तिः
तार्थसिद्धये ॥ जाग्रत्समीक्षणं यासु पुंसो नाडीषु तास्विदम् । स्वप्नेक्षणं विजानीयान्नान्यत्रेति
स्वप्ने तमेव चाऽऽत्मानं सुप्तोऽयमभिमन्यते । यमनस्तप्रबोधस्थं न ततोऽन्यं कदाचन ॥ जाग्रद्दृ
श्वारामादिलक्षणान् । स्वप्ने प्रत्यभिजानाति तानेव न ततोऽपरान् ॥ अपूर्वमेव संपश्येत्स्वप्नदृग्जाग्र
उक्तस्वप्नो भवेदन्यो यथा पूर्वगतस्तथा ॥ इत्येवमाहुः केचित्तु न तु तद्युक्तिमद्वचः । अयुक्तिमद्यथा
प्रतिपादितम् ॥ अत्रायमित्यनेनात्र पूर्वपक्षनिराक्रिया । न्यायेनोक्तेन पूर्वेण वक्ष्यमाणेन च ध्रुवम् ॥
दृेशगः स्वप्नो जाग्रत्सामग्र्यभावतः अध्यात्माद्यर्थविरहे यतः स्वप्नान्प्रपश्यति" ॥ ६५४-६६३
खल्वित्यादिवाक्यस्य पूर्वेणासंगतिमाशङ्क्याऽऽह—स्वयंज्योतिष्ट्वमिति । स यत्र प्रस्वपितीत्याद्या
उक्तं स्वयंज्योष्ट्वं प्रत्यस्य पूर्वपक्षत्वे कथमत्र प्राप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—स यत्रेति । पूर्वपक्षत्वे
क्रमस्तत्र हिशब्दसूचितमर्थमाह—तथेति । पूर्वपक्षानन्तरभावी सिद्धान्त इति क्रमस्योचितत्वादर्थक्रमे
स्याग्निहोत्रयवागूपाकवद्भङ्गादित्यर्थः ॥ क्रमं दर्शयित्वा पूर्वपक्षं विभजते—स्वप्नस्येति । वाक्यतः
इति शेषः ॥ हेतूक्तिं व्याचष्टे— जाग्रदिति ॥ जाग्रत्स्वप्नयोरेकस्थानत्वमुक्त्वा द्रष्ट्रैक्ये हेतुमाह—
तयोर्विषयैक्यमाह—जाग्रदिति ॥ अधिकरणद्रष्टृविषयैक्यात्तयोरैक्यमुक्तं व्यतिरेकद्वारा व्यनक्ति—
यथा देशाद्देशान्तरं गतोऽपूर्वं करभादि पश्यति तथा यदि स्वप्नदृग्जागरितादपूर्वं पश्येत्तदा स्वप्नस्ततोऽन्यो
न चैवं पश्यत्यतो जाग्रदेव स्वप्न इत्यर्थः । समुपसर्गो भवेदित्यनेन संबध्यते ॥ पूर्वपक्षमुपसंहरति—
यदा जाग्रदेव स्वप्नस्तदा तत्र स्वयंज्योतिष्ट्वं दुर्वचं चेत्तुल्यं स्वप्नेऽपि दुर्वचत्वमिति तेषामाशयः ।
प्रतिजानीते—न त्विति । तदेव प्रकटयति - अयुक्तिमदिति । न तत्र रथा इत्यादावित्यर्थः ॥
परिहृत्यात्रेत्यादिवाक्यमवतार्य तात्पर्यमाह—अत्रेति । समनन्तरश्रुतौ प्राप्तस्य पूर्वपक्षस्यानेन वाक्येन
माणन्यायानुसारिणा ध्रुवं निराक्रियेति योजना ॥ उक्तवक्ष्यमाणन्यायं संक्षिप्य स्मारयति—नेत्यादि
हेतुं साधयति—अध्यात्मादीति ॥

नस्तैर्मिश्रीभूतः । अतो न स्वयं ज्योतिरात्मेत्यतः स्वयंज्योतिष्ट्व'बाधनायान्य आहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति । 'तत्र च हेतुमाचक्षते' जागरितदेशत्वे यानि हि यस्माद्धस्त्यादीनि पदार्थजातानि जाग्रज्जागरितदेशे पश्यति लौकिकस्तान्येव सुप्तोऽपि पश्यतीति । तदसत् । इन्द्रियोपरमात् । उपरतेषु हीन्द्रियेषु स्वप्ना'न्पश्यति । 'तस्मान्नान्यस्य ज्योतिषस्तत्र संभवोऽस्ति । तदुक्तं न तत्र रथा न रथयोगा इत्यादि । 'तस्मादत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवत्येव ।

※स्वयं ज्योतिरात्माऽस्तीति स्वप्ननिदर्शनेन प्रदर्शितम् । अतिक्रामति मृत्यो

मतान्तरोपन्यासस्य स्वमतविरोधित्वमाह—इत्यत इति । स्वप्नस्य जाग्रद्देशत्वं दूषयति—तदसदिति । तस्य जाग्रद्देशत्वाभावे फलितमाह—तस्मादिति । स्वप्ने बाह्यज्योतिषः संभवो नास्तीत्यत्र प्रमाणमाह—तदुक्तमिति । बाह्यज्योतिरभावेऽपि स्वप्ने व्यवहारदर्शनात्तत्र स्वयंज्योतिष्ट्वमा'क्षेप्तुमशक्यमित्युपसंहरति—तस्मादिति ।

कथं पुनर्विद्यायामनुक्तायां सहस्रदानवचनमित्याशङ्क्य वृत्तं कीर्तयति—स्वयं ज्योतिरिति । मृत्यो रूपाण्यतिक्रामतीत्यत्र च कार्यकरणव्यतिरिक्तत्वमात्मनो दर्शितमित्याह—अतिक्रामतीति ।

इससे जो होता है; वह सुनो। यदि यह स्वप्न (आत्मा का) जागरित देश ही है, उस समय यह आत्मा देह और इन्द्रियों से पृथक् नहीं होता, उनसे मिला ही रहता है। अतः आत्मा स्वयज्योति नहीं है, इसी कारण उसके स्वयज्योतिष्ट्व को बाध करने के लिए कोई-कोई विचारक कहते हैं कि यह इसका जागरित देश है। स्वप्न के जागरितदेशत्व में वे हेतु बतलाते हैं—"यानि" अर्थात् जिन हस्ती आदि पदार्थों को लौकिक पुरुष "जाग्रत्" अर्थात् जागरित देश में देखता है, उन्हीं को स्वप्नावस्था में भी देखता है। यह कहना मिथ्या है क्योंकि वहाँ तो इन्द्रियाँ उपराम हो जाती हैं। इन्द्रियों की उपरामावस्था में ही पुरुष स्वप्न देखता है। इसलिए उस अवस्था में किसी अन्य ज्योति का होना संभव नहीं है। इसी से कहा है—"न वहाँ रथ है, न रथ योग (अश्वादि) हैं" इत्यादि। इसलिए यहाँ वह पुरुष स्वयंज्योतिस्वरूप होता ही है।

आत्मा स्वयंज्योति है—यह बात स्वप्नदृष्टान्त से प्रदर्शित कर दी गयी। मृत्यु रूपों का

---

१. बाधनायेति—जागरस्वप्नयोरैक्याज्जागरे च ज्योतिरन्तरसंकरादिति । २. तत्र जागरितदेशत्वे इति समानाधिकरणे सप्तम्यौ । ३. स्वप्नस्य । ४. पश्यतीति—न खलु जागरे तदुपरमोऽभ्युपगन्तुं शक्योऽभ्युपगम्यते वेति भावः । ५. अवतरणोक्तार्थम् । ६. अवतरणोक्तम् । ७. स्वप्नस्य । ८. प्रतिपेद्धुम् ।

※ स्वयंज्योतिरात्माऽस्तीतीत्यादि तद्विदर्शयिषया प्रवृत्ते इत्यन्तभाष्ये वार्तिकाचार्यास्तथाहि —"स्वयंज्योतिष्ट्वमस्योक्तं स्वप्ने चाकारकात्मता । मृत्युरूपात्ययश्चैवं प्रतीचः पूर्ववाक्यतः ॥ कामादयः स्वभावोऽस्य मृत्यवोऽथ न वा भवेत् । इत्याशङ्क्य नृपो दोषं याज्ञवल्क्यमपृच्छत ॥ पृष्टं वस्तु सुनिर्णीतं मयेतिप्रकृतोक्तितः । निविवृत्सुं नृपो विप्रं भूयोऽपृच्छद्विमुक्तये ॥ स्वयंज्योतिष्ट्वमुदितं मुक्तेरङ्गममन्यत ॥ न चाङ्गनिर्णयोक्त्यैव निर्णयं मन्यतेऽङ्गिनः । यतोऽतो मोक्षमुद्दिश्य याज्ञवल्क्यमपृच्छत ॥ आसङ्गप्रविवेकार्थं स वा इत्यादि

रूपाणीति च[1]। क्रमेण संचरन्निहलोकपरलोकादीनिहलोकपरलोकादिव्यतिरिक्तः[2]। जाग्रत्स्वप्नकुलायाभ्यां व्यतिरिक्तः[3]। [4]तत्र च क्रमसंचारान्नित्यश्चेत्येतत्प्रतिपादितं वल्क्येन। अतो विद्यानिष्क्रयार्थं सहस्रं ददामीत्याह जनकः। सोऽहमेवं बोधित

लोकद्वयसंचारवशादुक्तमर्थमनुद्रवति— क्रमेणेति। आदिशब्दस्तत्तद्देहादिविषयः। स्थानद्व वशादुक्तमनुभाषते—तथेति। इहलोकपरलोकाभ्यामिवेति यावत्। लोकद्वये स्थानद्वये च क्रम प्रयुक्तमर्थान्तरमाह—तत्र चेति। आत्मनः स्वयंज्योतिषो देहादिव्यतिरिक्तस्य नित्यस्य ज्ञापि

अतिक्रमण करती है—इस प्रकार कार्यकरणपृथक्त्व आत्मस्वरूप दिखाया गया। आत्मा इस लोक और परलोक में संचरण करता हुआ भी इहलोक और परलोक से व्यतिरिक्त है जाग्रत् और स्वप्नशरीरों से पृथक् है। स्थानद्वय और लोकद्वय में क्रम से संचरण करने से नित्य भी है—ऐसा याज्ञवल्क्य ने प्रतिपादन किया। इसलिए जनक बोले—मैं तुमको विद्या

भण्यते। कामादिप्रविवेके हि मोक्षयोग्यत्वमात्मनः॥ कामाद्यात्मगुणश्चेत्स्यादनिर्मोक्षः प्रसज्यते गुण्यविनाशेन तद्गुणस्य निराकृतिः॥ रूपाण्येवायमात्माऽत्र मृत्योः स्वप्नेऽतिवर्तते। न तु स्वप्ने मोदत्रासादि दृश्यते। मोदत्रासादिको मृत्युः स्वभावो न यथाऽऽत्मनः। तथाऽत ऊर्ध्वं प्रब्रूहि विमुक्तये॥ सहस्रदानं तूक्तस्य स्वयंज्योतिष्ट्ववस्तुनः। निर्णयाघाटविज्ञप्त्यै नाशेषप्रश्ननिर्णयात्" ९७३॥ इति। अत ऊर्ध्वमित्याद्यवतारयितुं वृत्तं कीर्तयति—स्वमिति। अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्न अतिक्रामति मृत्यो रूपाणीत्यादिवाक्यादित्यर्थः॥ उत्तरवाक्यमादत्ते—कामादय इति। मृत्यो रूपाण्य त्युक्तत्वात्कामकर्मादिमृत्युरात्मनः स्वभावो न वेत्याशङ्क्याऽऽद्ये मोक्षायोगं मन्वानो राजाऽद्वितीय इत्यादिना मुनिमपृच्छदित्यर्थः। कतम आत्मेति प्रष्टारं राजानं प्रति निर्णेतुं प्रवृत्तो मुनिर्न तं विना तत्कथं राज्ञा सभामध्ये नियुज्यते तत्राऽऽह—पृष्टमिति। यद्धि राज्ञा पृष्टमात्मवस्तु तद्यथावदेव यो वचनवशान्निर्धारितमिति बुद्धया प्रत्युक्तितो निवृत्त्युन्मुखं मुनिमुपलभ्य पुनरपि मोक्षार्थं राजा पृष्टवा बुद्धयाद्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वोक्तेरेव मुक्तिसिद्धेस्तदर्थो न प्रश्नो युक्तिमानित्याशङ्क्याऽऽह— तर्हि मोक्षाङ्गस्वयंज्योतिष्ट्वनिर्णयादेवाङ्गिमोक्षनिर्णयसिद्धेरलं तदर्थप्रश्नेनेत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति। हि दर्शादौ निर्णीते ग्राहकग्रहणसामर्थ्यादिदमर्थ्येनाङ्गानि निर्णीयन्ते श्रुत्यादीनि तु द्वारार्पकाणि न देवाङ्गिनिर्णयो न्यायाभावादिति भावः॥ प्रश्नतात्पर्यमुक्त्वा प्रत्युक्तितात्पर्यमाह—आसङ्गेति। तत्प्रविवेको मोक्ष एवापेक्षितो व्याख्यायतामित्याशङ्क्याऽऽह—कामादीति। अतस्तत्प्रविवेको युक्त इति उक्तमर्थं व्यतिरेकद्वारा स्फुटयति—कामेति। कथमेतावता मोक्षासिद्धिरात्मगुणस्यापि तस्य निरासेन रित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। सत्यात्मनि तदीयवास्तवगुणस्य सर्वात्मना ध्वंसानुपपत्तेः सहाऽऽत्मना फल्यभावादमुक्तिरित्यर्थः॥ कामादेरात्मस्वभावत्वाभावेऽपि तत्प्रविवेकार्थं नोत्तरं वाक्यमतिक्रा रूपाणीत्यत्रैव सिद्धत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—रूपाणीति॥ प्रश्नप्रतिवचनयोस्तात्पर्यमुक्त्वा प्रश्नं मोदेति। अतः स्वयंज्योतिष्ट्वनिर्णयादिति यावत्॥ प्रश्नशेषोऽवशिष्टश्चेत्कथं सहस्रदानं तत्राऽऽह— निर्णयाघाटो निर्दिष्टेऽर्थे स्वीयनिर्णयस्य दृढता तज्ज्ञापनायेति यावत्। प्रश्नशेषाभावादेव सहस्र स्यादित्याशङ्क्य पुनः प्रश्नदर्शनान्नैवमित्याह—नाशेषेति॥

---

१. इति च कार्यकरणव्यतिरिक्तत्वमात्मनो दर्शितमिति शेषः। २. आत्मेति च दर्शितम्। ३.
त्यदर्शि। ४. स्थानद्वये लोकद्वये च।

भगवते तुभ्यं सहस्रं ददामि । [1]विमोक्षश्च कामप्रश्नो मयाऽभिप्रेतः । [2]तदुपयोग्ययं [3]ताद-
र्थ्यात्तदेकदेश एव । अतस्त्वां [4]नियोक्ष्यामि समस्तकामप्रश्ननिर्णय[5]श्रवणेन [6]विमोक्षायात
ऊर्ध्वं ब्रूहीति । येन संसाराद्विप्रमुच्येयम्, त्वत्प्रसादात् । विमोक्षपदार्थै[8]कदेशनिर्णयहेतोः
सहस्रदानम् ॥ १४ ॥

यत्प्रस्तुतमात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्त इति तत्प्रत्यक्षतः प्रतिपादितमत्रायं पुरुषः स्वयं
ज्योतिर्भवतीति[9] स्वप्ने । यत्तूक्तं स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति [10]मृत्यो [11]रूपाणीति

यतःशब्दार्थः । [12]कामप्रश्नस्य निर्णीतत्वान्निराकाङ्क्षत्वमिति शङ्कां वारयति—विमोक्षश्चेति ।
सम्यग्बोध[13]स्तद्धेतुरिति यावत् । ननु [14]स एव प्रागुक्तो नासौ वक्तव्योऽस्ति तत्राऽऽह—तदुपयोगीति ।
यमित्युक्तात्मप्रत्ययोक्तिः । तादर्थ्यात्पदार्थज्ञानस्य वाक्यार्थज्ञानशेषत्वादिति यावत् । पदार्थस्य
वाक्यार्थबहिर्भावं [15]दूषयति—तदेकदेश एवेति । कामप्रश्नो नाद्यापि निर्णीत इत्यत्रोत्तरवाक्य[16]
मकमित्याह—अत इति । कामप्रश्नस्यानिर्णीतत्वादिति यावत् । [17]तेनापेक्षितेन हेतुनेत्यर्थः ।
विमोक्षशब्दस्य सम्यग्ज्ञानविषयत्वं सूचयति—येनेति । सम्यग्ज्ञानप्राप्तौ गुरु[18]प्रसादस्य प्राधान्यं
दर्शयति—त्वत्प्रसादादिति । ननु विमोक्ष[19]पदार्थो निर्णीतोऽन्यथा सहस्रदानस्या[20]ऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्गादत
आह—विमोक्षेति ॥१४॥

उत्तरकण्डिकामवतारयितुं वृत्तं कीर्तयति—यत्प्रस्तुतमिति । आत्मनैवेत्यादिना यदात्मनः
स्वयंज्योतिष्ट्वं ब्राह्मणादौ प्रस्तुतं तदत्रायमित्यादिना प्रत्यक्षतः स्वप्ने प्रतिपादितमिति संबन्धः ।
वृत्तमर्थान्तरमनूद्य चोद्यमुत्थापयति—यत्तूक्तमिति । मृत्युं नातिक्रामतीत्यत्र हेतुमाह—प्रत्यक्षं हीति ।

बदले एक सहस्र गौएं देता हूँ यानी इस प्रकार ज्ञान प्राप्त कर आप आदरणीय के लिए मैं एक सहस्र
गौएँ देता हूँ । अब मुझे अपने मनोनुकूल अभीष्ट सम्यग्बोध मोक्षरूप प्रश्न पूछना है । यह आत्मज्ञान
वाक्यार्थबोध हेतु होने व वाक्यार्थ बोधशेषत्व होने से वाक्यार्थबोध का एकदेश ही है । इसलिए मैं
सम्पूर्ण अभीप्सित प्रश्ननिर्णय को श्रवण करने की इच्छा से आपसे प्रार्थना करता हूँ । अब आगे
मुझे सम्यग् बोधरूप मोक्ष का उपदेश कीजिये, जिससे आपकी कृपा से संसार से छूट जाऊँ । यह
सहस्र गोदान तो मोक्षपदार्थ के ज्योतिष्ट्वस्वरूप एकदेश का जो निर्णय किया है, उसके लिये है ॥१४॥

"यह पुरुष अपनी आत्मज्योति से प्रकाशित होता है" इस प्रकार जिसे प्रस्तुत किया था,
उसका स्वप्न में "यहाँ वह पुरुष स्वयंज्योति होता है" इस श्रुतिवाक्य से प्रत्यक्ष प्रतिपादन किया ।
किन्तु जो यह कहा गया कि "स्वप्न होकर इस लोक को अतिक्रमण कर जाता है । कर्माख्य मृत्यु के

---

१. सम्यग्बोधश्च ।
२. तदुपयोग्ययमिति—अयं पूर्वोक्तपदार्थबोधः वाक्यार्थबोधहेतुः ।
३. तादर्थ्यात्—वाक्यार्थबोधशेषत्वात् वाक्यार्थबोधैकदेश एवेत्यर्थः ।
४. प्रार्थयामि ।
५. श्रवणेच्छया ।
६. विशेषेण मोक्षो भवति अनेनेति विमोक्षः सम्यग्ज्ञानम् ।
७. अत ऊर्ध्वम्—आत्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वदेहाद्यतिरिक्तत्वनित्यत्वनिर्णयानन्तरम् ।
८. एकदेशः—स्वयंज्योतिष्ट्वादिः ।
९. वाक्येन ।
१०. कर्माख्यस्य ।
११. रूपकाणि कार्यकरणानि ।
१२. यथेच्छं प्रश्नस्य ।
१३. तच्छब्दो मुक्तिपरः ।
१४. सम्यग्बोध एव ।
१५. निषेधति ।
१६. अत ऊर्ध्वमित्यादि पुनः प्रश्नात्मकम् ।
१७. श्रवणात्मकेन ।
१८. कृपायाः ।
१९. सम्यग्ज्ञानम् ।
२०. निर्निमित्तकत्वप्रसङ्गात् ।

[1]स वा एष एतस्मि[2]न्संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च। पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति

वह यह स्वयंज्योति आत्मा इस सुषुप्ति काल में रमण और विहार कर पुण्य तथा देख कर ही पुनः स्वप्नस्थान को वहाँ ही वापस आ जाता है, जहाँ से आया था और जैसे आय

तत्रैतदाशङ्क्यते मृत्यो रूपाण्येवातिक्रामति न मृत्युम् । प्रत्यक्षं ह्येतत्स्वप्ने कार्य व्यावृत्तस्यापि मोदत्रासादिदर्शनम् । तस्मा[3]न्नूनं नैवायं मृत्युमतिक्रामति । कर्म मृत्योः कार्यं मोदत्रासादि दृश्यते । यदि च मृत्युना बद्ध एवायं स्वभावतस्ततो नोपपद्यते । न हि स्वभावात्कश्चिद्विमुच्यते । [4]अथ [5]स्वभावो न भवति मृत्युस्तत न्मोक्ष उपपत्स्यते । यथाऽसौ मृत्युरात्मीयो [6]धर्मो न भवति तथा [7]प्रदर्शनायात

इच्छाद्वेषादिरादिशब्दार्थः । ‘[8]तथाऽपि कुतो मृत्युं नातिक्रामति तत्राऽऽह—तस्मादिति । कारणादन्यत्र [9]प्रवृत्त्ययोगादिति यावत् । उक्तमुपपादयति—कर्मणो हीति । अतः स्वप्न मृत्युं कर्माख्यं नातिक्रामतीति शेषः । मा तर्हि मृत्योरतिक्रमो भूत्को दोषस्तत्राऽऽह—यदि स्वाभावादपि मृत्योर्विमुक्तिमाशङ्क्याऽऽह—न हीति । उक्तं हि—

“[10]न हि स्वभावो भावानां व्यावर्तेतौष्ण्यवद्रवेः” इति ॥

कथं [11]तर्हि मोक्षोपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह— अथेति । एषा च शङ्का [12]प्रागेव राजा

कार्यकरणात्मक रूपों को पार कर जाता है” । यहाँ यह शङ्का होती है कि मृत्यु के रूपों करता है, मृत्यु को तो पार करता नहीं । यह बात भी प्रत्यक्ष ही है कि स्वप्न में देह और इन्द्रि व्यावृत्त हुए पुरुष को भी आनन्द और भय का दर्शन होता है । इससे सिद्ध होता है कि पुरुष अतिक्रमण नहीं करता । आनन्द और भयादि कर्मरूप मृत्यु के ही कार्य देखे जाते हैं, यदि स्वभावतः ही मृत्यु से बद्ध है तो इसका मोक्ष असंभव है क्योंकि स्वभाव से कोई भी छूट नहीं यदि आत्मा का स्वभाव मृत्युरूप नहीं होता है, तभी उससे मोक्ष होना सिद्ध होगा । जिस प्रकार आत्मा का स्वभाव नहीं है, यह प्रदर्शन करने के लिए ‘अब आगे मोक्ष का उपदेश दीजिए’ इस

---

१. यथा मोहत्रासादिजनकः कर्माख्यो मृत्युरात्मनः स्वभावो न भवति तथोपदिशेत्येवं राजा मुनिरवस्थात्रयेऽपि तथोपदेष्टुमवस्थात्रयं कण्डिकात्रयेणाह—स वा इति । केन क्रमेण संप्रसीदतीत्या माह—रत्वेति । स्वप्ने एव रमणादि कृत्वेत्यर्थः । यद्वा संप्रसादे एव रमणादि कृत्वा तत्र रमणं स्व भवः । आनन्दभुगिति श्रुतेः । चरणमीश्वरात्मसम्पत्तिः सता सौम्येति श्रुतेः । पुण्यदर्शनमानन्दानु तत्फलत्वात् सुखमस्वाप्समित्यनुभवात् । पापदर्शनमज्ञानानुभवः तस्य तत्फलत्वान्नावेदिषमित्यनुसं

२. सुषुप्त्यवस्थायाम् । ३. अवश्यम् । ४. यदि । ५. आत्मनः । ६. स्वभावः । ७. प्रदर्श विमोक्षायेत्यन्वयः । ८. तत्र मोदत्रासादिदर्शने प्रत्यक्षे सत्यपि । ९. उत्पत्तिरिति भावः । १०. “आत्मा रूपश्चेन्मा काङ्क्षीस्तर्हि मुक्ततामि”ति पूर्वंदलम् । ११. मृत्योरात्मस्वरूपत्वे मोक्षो नोपपद्यते १२. प्रागेव—समनन्तरकण्डिकावसानेऽत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीत्यस्मिन्नेव वाक्ये ।

स्वप्नायैव [1]स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥ १५ ॥

वहाँ वह जो कुछ देखता है, उससे बंधता नहीं क्योंकि यह पुरुष असंग है । जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है । मैं श्रीमान् को सहस्र गौएँ देता हूँ । अतः इसके आगे मोक्ष के लिए ही यथार्थतत्त्व का उपदेश करें ॥१५॥

विमोक्षाय ब्रूहीत्येवं जनकेन [2]पर्यनुयुक्तो याज्ञवल्क्यस्तद्दिदर्शयिषया प्रववृते—

स [3]वै [4]प्रकृतः स्वयं ज्योतिः [5]पुरुषः । एष यः स्वप्ने प्रदर्शित एतस्मिन्संप्रसादे सम्यक्[6]प्रसीदत्यस्मिन्निति [7]संप्रसादः । [8]जागरिते देहेन्द्रियव्यापारशत[9]संनिपातजं हित्वा कालुष्यं तेभ्यो विप्रमुक्तः [10]ईषत्प्रसीदति स्वप्ने । इह तु सुषुप्ते सम्यक्प्रसीदतीत्यतः सुषुप्त संप्रसाद उच्यते । [11]तीर्णो हि [12]तदा सर्वाञ्छोकान्सलिल[13] एको द्रष्टेति हि [14]वक्ष्यति

दर्शयन्नुत्तरमुत्थापयति—यथेत्यादिना । तद्दिदर्शयिषयेत्यत्र तच्छब्देन [15]मृत्योरतिक्रमणं गृह्यते ।

वैशब्दस्य [16]प्रसिद्धार्थत्वमुपेत्य सशब्दार्थमाह—प्रकृत इति । एषशब्दमनूद्य व्याकरोति—एष इति । संप्रसादे स्थित्वा मृत्युमतिक्रामतीति शेषः । सुषुप्तस्य संप्रसादत्वं साधयति—जागरित इत्यादिना । [17]तत्र वाक्यशेषमनुकूलयति—तीर्णो हीति । अस्तु संप्रसादः सुषुप्तं स्थानं तथाऽपि

जनक द्वारा प्रार्थना किये जाने पर याज्ञवल्क्य जी उन्हें दिखाने की इच्छा से कहने लगे ।

वह यह स्वप्न में रहने वाला आत्मा स्वयंज्योति है । जिसे पहले स्वप्नावस्था में बतलाया जा चुका है । "एतस्मिन्सम्प्रसादे" अर्थात् जिसमें भली प्रकार स्वच्छ होता है; उसे सम्प्रसाद कहते हैं, जागरित अवस्था में जो देहेन्द्रिय सैंकड़ों व्यापारों के संसर्ग से क्लेश था, उसे छोड़कर उन देह और इन्द्रियों से मुक्त होने के कारण संस्कार शेष हो स्वप्न में थोड़ा प्रसन्न होता है । यहाँ सुषुप्ति में अतिशय प्रसन्न होता है, इसलिए सुषुप्ति अवस्था को सम्प्रसाद कहते हैं । श्रुतियाँ भी सुषुप्तस्थ आत्मा के संबन्ध में कहती हैं—"सुषुप्ति काल में वह सम्पूर्ण शोकों से पार हो जाता है", "सलिल के समान

---

[1] स आत्मा तत्र स्वप्ने यत्किमपि पुण्यपापफलं पश्यति तेन दृष्टेनानन्वागतोऽसंबद्धो भवति हि यस्मादयं पुरुषोऽसङ्गः तस्मादसंबद्ध इत्युक्तमङ्गीकरोति राजा एवमेवैतद्याज्ञवल्क्येति । वार्तिके तु "असङ्गोऽयं पुरुष" इति प्रतिज्ञा हि यतोऽनन्वागतस्तेन भवतीति हेतूक्तिरितिप्रकारान्तरमप्युक्तमिति तत्रैव कणे हत्य निरीक्ष्यमित्यलम् । [2] पृष्टः प्रार्थितो वा । [3] प्रसिद्धः । [4] स्वप्नावस्थः । [5] आत्मा । [6] स्वच्छी भवति । [7] संप्रसाद इति सुषुप्तं स्थानमिति शेषः । [8] संप्रसादशब्दे उपसर्गाभिप्रायमाह—जागरित इत्यादिना । [9] संसर्गः । [10] संस्कारशेषः प्रसीदति । [11] बृ. उ. ४. ३. २२ । [12] सुषुप्तिकाले । [13] सलिलवत्स्वच्छो विजातीयभेदरहित एकः सजातीयो भेदशून्यः कूटस्थज्योतिः । [14] बृ. उ. ४. ३. २२; ४. ३. ३२ । [15] कर्माख्यस्य । [16] सिद्धवत्कृत्य । [17] सुषुप्तस्य संप्रसादत्वे ।

सुषुप्तस्थमात्मानम् । *[1]स वा एष एतस्मिन्संप्रसादे [2]क्रमेण संप्रसन्नः सन्सुषुप्ते स्थित्वा, [3]कथं संप्रसन्नः । स्वप्नात्सुषुप्तं प्रविविक्षुः स्वप्नावस्थ एव [4]रत्वा रतिमनुभूय मित्रबन्धुजनदर्शनादिना चरित्वा [5]विहृत्यानेकधा चरणफलं श्रममुपलभ्येत्यर्थः । दृष्ट्वैव [6]कृत्वेत्यर्थः । [7]पुण्यं च पुण्यफलं पापं च पापफलम् । न तु पुण्यपापयोः साक्षाद्दर्शनमस्ति

किमायातमित्यत आह—स वा इति । ‘पूर्वोक्तेन क्रमेण संप्रसादे सुषुप्ते स्थित्वा संप्रसन्नः सन्मृत्युमति क्रामतीत्यर्थः । उक्तमर्थमुपपादयितुमाकाङ्क्षामाह—कथमिति । रत्वेत्यादि व्याकुर्वन्परिहरति—स्वप्नादिति । पुण्यपापशब्दयोर्यथाश्रुतार्थत्वमाशङ्क्याऽऽह—न त्विति । अवोचामोभयान्पाप्म

वह स्वच्छ, विजातीयभेदरहित, सर्वभेदशून्य, कूटस्थज्योति, द्रष्टा है” । वह स्वयंज्योतिष्ट्व आत्मा इस सम्प्रसाद में क्रम से सम्यक् प्रसन्न हुआ सुषुप्तावस्था में स्थित रहकर किस प्रकार प्रसन्न हुआ? स्वप्न से सुषुप्तावस्था में प्रवेश करने की इच्छा वाला, स्वप्नावस्था में “रत्वा” यानी स्त्री-पुत्रादि सापेक्ष मन, वाणी और शरीर की चेष्टा करके, ‘चरित्वा” अर्थात् मित्र-बन्धुजन के दर्शनादि के लिए इधर-उधर जाकर तथा संचरण में श्रमरूप फल की प्राप्ति कर “दृष्ट्वैव” अर्थात् यथाश्रुत को देखकर “पुण्यं च पापं च” पुण्य और पापफल को; पुण्यपापफल का साक्षात् दर्शन नहीं होता—ऐसा हम पह

---

१. यः स्वयं ज्योतिष्ट्वेन प्रतिपादित आत्मा । २. स्वप्ने रमणादिक्रमेण । ३. केन क्रमेणेति यावत् ४. स्त्री पुत्रादिसापेक्षां मनोवाक्कायचेष्टां कृत्वा । ५. इतस्ततो गमनं कृत्वा । ६. यथाश्रुताभिप्रायं दम् । ७. गोभिः श्रीणीत मत्सरमितिवदुपचारात् । ८. स्वप्नावस्थः संप्रसादे इति । ९. आकाङ्क्षाम्

---

*स वा एष एतस्मिन्संप्रसादे इत्यादि । अत्र वार्तिके—“सुषुप्ते नन्वसंबोधाद्रत्वादि कथमुच्यते । न लिप्त तथा वाक्यं न बाह्यं चेति वक्ष्यति ।। स्वप्ने रत्वाद्यथ मतं नैवमप्युपपद्यते । अनन्वागतगीः कुप्येत्स्वप्नेऽन्तं तत्कृतम् ।। यथा जाग्रत्कृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति । जाग्रत्स्थं स्वप्नकर्मैवं स्वप्ने समधिगच्छति ।। इत्थं चोदिते केचित्परिहारं प्रचक्षते । पदच्छेदेन कुशला अरत्वेत्येवमादिना ।। स यत्तत्रेत्यसङ्गोक्तेर्नेदमप्युत्तरं भवेत् दृष्टि तत्रापि चाध्यस्य परिहारं प्रचक्षते ।। अस्ति भोगः सुषुप्तेऽपि तथाचाऽऽनन्दभुङ्मतः । ऐश्वरो वा भोगोऽस्ति सर्वस्थानाभिमानतः ।। कार्यभूमिगतो ह्यात्मा सुषुप्तं प्रसमीक्ष्यते । कार्यस्य कारणव्याप्तं सुषुप्तपरोक्षता ।। यदि वा स्वप्न एवास्तु रत्वादि यदुदीरितम् । स्वप्नयोरभितः प्राज्ञादनन्वागतताऽप्यतः त्रिधा त्रिधा वा क्लृप्तेः स्यादेकैकस्येत्यदोषता । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानां जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ततः ।। कार्याकार्यं यत्साक्षात्प्रमाणात्प्रसमीक्षते । जाग्रज्जागरितं तादृक्तत्स्वप्नो यन्मृषेक्षणम् ।। कामादिविषयासक्तेर्न किंचिद्विनक्ति यत् । जाग्रत्सुषुप्तं तादृक्स्यान्निर्विवेकस्वभावतः ।। सुप्तोऽपि कर्म कुरुते नरः स्वप्ने प्रबोधवत् । स्वप्न जाग्रत्तथारूपं स्वप्नः स्वप्नात्मकोऽत्र यः ।। दृष्ट्वाऽपि यत्समाख्यातुं प्रबुद्धो नैव शक्नुयात् । तादृक्स्वप्नसुषु स्यात्सुषुप्तं च त्रिधोच्यते ।। सुषुप्तजाग्रन्मूढः स्याच्छ्रान्तोऽसौ स्वप्न उच्यते । ऐकात्म्यतत्त्वासंबोधः सुषुप्तः प्राज्ञ उच्यते ।। त्रिविधत्वात्सुषुप्तस्य सर्वं रत्वादि युज्यते । दृष्टान्तः संप्रसादो वा स्वप्नजाग्रदवस्थयोः ।। यथा रत्वादि संभाव्यं संप्रसादे तथैव च । इतरत्रापि विज्ञेयं तत्र वस्त्वसमीक्षणात् ।। यत एवमतः कर्मकामदोषविवर्जितः पुरुषोऽयं स्वतः सिद्धो यथोक्तेनैव वर्त्मना” ।। १०४६-१०६२ ।। इति । संप्रसादे रत्वेत्यादि यथाश्रुतमाश्रित्य शङ्कते—सुषुप्त इति । असंबोधात्पुत्रादिद्वितीयवस्त्वदृष्टेरिति यावत् । कथं तत्र द्वितीयादृष्टिस्तत्राऽऽह—नेति । न तु तदद्वितीयमस्ति न बाह्यं किंचन वेदेति वाक्याभ्यां तत्र द्वितीया दृष्टिः सिद्धेत्यर्थः ।। स्वप्नात्सुषुप्तं प्रविविक्षुः स्वप्नावस्थ एव रत्याद्यनुभूय संप्रसादे प्रसीदतीत्युपगमात्रानुपपात्तिरिति शङ्कते—स्वप्न इति । पूर्ववाद्याह—

त्यवोचाम[1]। [2]तस्मान्न पुण्यपापाभ्याम[3]नुबद्धः। यो हि करोति पुण्यपापे स ताभ्यामनुबध्यते। न हि दर्शनमात्रेण तदनुबद्धः स्यात्। [4]तस्मात्स्वप्नो भूत्वा [5]मृत्युमतिक्रामत्येव न मृत्युरूपाण्येव केवलम्।

आनन्दांश्च [7]पश्यतीत्यत्रेति शेषः। पुण्यपापयोर्दर्शनमेव न करणमित्यत्र फलितमाह—तस्मादिति। तद्द्रष्टुरपि तदनुबन्धः स्यादित्याशङ्क्यातिप्रसङ्गान्मैवमित्याह—यो हीत्यादिना। पुण्यपापाभ्यामात्मनोऽसंस्पर्शे फलितमाह—तस्मादिति।

ही कह चुके हैं। इसलिए वह अकर्ता होने से पुण्य पाप से साक्षात् संबद्ध नहीं है। जो पुरुष पुण्य-पाप करता है; वही उनसे संबद्ध होता है। दर्शनमात्र से ही वह संबद्ध नहीं होता। इसलिए (संबन्धाभाव होने से) स्वप्न होकर कर्माख्य मृत्यु को पार कर जाता है, कार्यकरणरूप केवल मृत्युरूपों को ही पार नहीं करता।

---

१. पृ. १०४६ भाष्ये। २. तदकर्तृत्वात्। ३. संबद्धः। ४. तत्संबद्धाभावात्। ५. कर्माख्यं मृत्युमपि। ६. कार्यकरणानि। ७. बृ. उ. ४. ३. ९। ८. पुण्यपापयोः।

नैवमिति। स्वप्ने रत्यादि दृष्टं चेत्स यत्तत्रेत्यादि विरुध्येत तत्र कृतस्य तद्द्रष्टृगामित्वादित्यर्थः॥ यथा स्वप्नकृतमवस्थान्तरस्थं नानुगच्छत्येवं स्वप्नस्थमपि द्रष्टारं नानुगच्छेदित्याशङ्क्याऽऽह—यथेति॥ उक्तं चोद्यमनूद्य स्वयूथ्यसमाधिमुत्थापयति—इत्येवमिति। संप्रसादेऽरत्वाऽचरित्वाऽदृष्ट्वेति नञन्वयपदच्छेदेन वाक्ये व्याख्यायमाने नावद्यमित्यर्थः॥ वाक्यशेषानुपपत्त्या दूषयति—स यदिति। न च स्वप्नायैवेतिप्रस्तुतस्वप्नस्य तत्रेति परामर्शादविरोधः शेषस्येति वाच्यं तच्छब्दस्य प्रकृतविप्रकृष्टपरामर्शित्वादन्यथोत्तरत्र स्वप्नोपन्यासवैयर्थ्यान्न च जाग्रत्यसङ्गत्वप्रतिपादनार्थस्तदुपन्यासस्तथा सति बुद्धान्तोपन्यासानर्थक्यान्न च तच्छब्देन संप्रसादपरामर्शस्तत्र पश्यतेरयोगात्तत्परिशेषाद्वाक्यशेषविरोध इति भावः। अन्येऽपि स्वप्नवत्सुप्तेऽपि दृष्ट्याद्यारोप्य नञन्वयं विनैव पदं छिन्दन्तः स यत्तत्रेति सुप्तिपरामर्शाद्वाक्यशेषं चोपपन्नं मन्वानाः परिहरन्तीत्याह—दृष्टिमिति॥ स्वापे रत्याद्यारोपे तत्फलोपलब्धिर्निमित्तमित्याह—अस्तीति। तत्र भोगास्तित्वे मानमाह—तथाचेति। आनन्दभुक्तथा प्राज्ञ इति वृद्धेरिष्टत्वादस्ति सुप्तौ सुखभोग इत्यर्थः। तत्र रत्याद्यारोपे निमित्तान्तरमाह—ऐश्वरो वेति। अस्ति हि तत्र कारणरूपेश्वरात्मना स्थितस्य जीवस्य तदीयो भोग एतस्यैवाऽऽनन्दस्येत्यादिश्रुतेरतो रत्याद्यारोप इत्यर्थः। उक्तमुपपादयति सर्वेति। सर्वकारणत्वादीश्वरोऽवस्थात्रयमात्मीयं मन्यते तेन स्वापे तदात्मना स्थितो जीवस्तद्भोगभागीत्यर्थः॥ तत्र दृष्ट्याद्यारोपे तस्यावस्थान्तरादविशेषप्रसक्तिरित्याशङ्क्य परिहारान्तरमाह—कार्येति। सुषुप्तात्कारणादुत्थितः स्वप्ने जागरे वा कार्यभूमौ स्थितः पुमान्कार्यस्य कारणेन व्याप्तेस्तत्र च स्वप्नादौ रत्यादिदृष्टेस्तल्लिङ्गेन कारणं सुषुप्तं तद्युक्तमेवानुमीयते तेन तत्र रत्वादिवाचोयुक्तिरित्यर्थः। अनुमानात्सुषुप्तिसिद्धौ परोक्षत्वेन तत्सिद्धेः स यत्तत्र किंचित्पश्यतीतिशेषानुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—नेति। सुषुप्तं नामाऽऽत्माज्ञानं बुद्धेः कारणात्मनाऽवस्थानं तदिति स्थितेस्तच्च न किंचिदवेदिषमिति व्युत्थितस्य परामर्शादपरोक्षं तत्र शेषानुपपत्तिरित्यर्थः॥ सुषुप्ते रत्यादिविशिष्टेऽनुमानादिष्टेऽपि तस्यावस्थान्तरादविशेषापत्तिस्तदवस्थेत्याशङ्क्य सिद्धान्तमाह—यदि वेति। स्वप्ने रत्याद्युच्यते चेत्तत्र कृतशुभादीनां तत्स्थस्यानुगतेरनन्वागतवाक्यविरोधः स्यादित्युक्तं तत्राऽऽह—स्वप्नयोरिति। प्राज्ञः सुषुप्तिस्थानं तस्मात्पूर्वमूर्ध्वं च यौ स्वप्नौ तयोरनन्वागतता सिध्यति स्वप्नात्सुषुप्तं गतस्ततः स्वप्नं गच्छति न च सुषुप्तात्प्राग्भाविस्वप्नस्थकर्मणा पश्चाद्भाविस्वप्नं गतोऽनु-

[1]अतो न मृत्योरात्मस्वभावत्वाशङ्का । [2]मृत्युश्चेत्स्वभावोऽस्य स्वप्नेऽपि [3]कुर्यात् न तु [4]करोति । स्वभावश्चेत्क्रिया स्यादनिर्मोक्षतैव स्यात् । न तु स्वभावः स्वप्नेऽभावात् [5]अतो विमोक्षोऽस्योपपद्यते मृत्योः[6] पुण्यपापाभ्याम् । ननु जागरितेऽस्य स्वभाव एव । न बुद्ध्याद्युपाधिकृतं हि [7]तत् । [8]तच्च प्रतिपादितं [9]साहश्याद्ध्यायतीव लेलायतीवेति[10]

मृत्योरतिक्रमणे किं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—अतो नेति । मृत्योरस्वभावत्वमुपपादयति— मृत्युश्चेदिति । इष्टापत्तिमाशङ्क्याऽऽह—न त्विति । अनन्वागतवाक्यादसङ्गवाक्याच्चेत्यर्थः मोक्षशास्त्रप्रामाण्यादपि मृत्योरस्वभावत्वमित्याह—स्वभावश्चेदिति । इतश्च मृत्युः स्वभावो भवतीत्याह—न त्विति । अभावादिति च्छेदः । तस्याऽस्वभावत्वे लब्धमर्थं कथयति—अत इति मृत्युमेव व्याचष्टे—पुण्यपापाभ्यामिति । स्वप्ने मृत्योः स्वभावत्वाभावेऽपि जाग्रदवस्थायां कर्तृत्व मात्मनः स्वभावस्तथा च नियमेन तस्य मृत्योरतिक्रमो न सिध्यतीति शङ्कते—नन्विति । औपाधि कत्वात्कर्तृत्वस्य स्वाभाविकत्वाभावादात्मनो मृत्योरतिक्रमः संभवतीति परिहरति—नेति कथमौपाधिकत्वं कर्तृत्वस्य सिद्धवदुच्यते तत्राऽऽह—तच्चेति । ध्यायतीवेत्यादौ साहश्यवाचकादि

इसलिए 'मृत्यु' आत्मा का स्वभाव है—ऐसी शङ्का करना संभव नहीं है । यदि कर्म मृत्यु इसका स्वभाव होता, तो यह स्वप्न में भी कर्म करता । किन्तु यह नहीं करता । यदि स्व होता तो उसमें क्रिया भी होती और फिर इससे विमुक्ति ही नहीं हो सकती । किन्तु स्वप्न में क्रि का अभाव होने के कारण वह इसका स्वभाव नहीं है । इसलिये इसका पापपुण्यरूप मृत्यु से छु पाना संभव ही है । (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु जागरित में तो यह इसका स्वभाव ही है (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है । यह तो बुद्धि आदि उपाधि के कारण है

---

१. अवतरणात् । २. कर्मेति यावत् । ३. कर्म कुर्यादिति भावः । ४. इन्द्रियादिसाधनाभावादि भावः । ५. अवतरणात् । ६. सकाशात् । ७. कर्तृत्वम् । ८. कर्तृत्वस्यौपाधिकत्वम् ९. धीतादात्म्यात् । १०. बृ. उ. ४. ३. ७ ।

गम्यते न च पाश्चात्यस्वप्नस्थकर्मणा प्राचीनस्वप्नस्थो लिप्यते तथा स्वप्नस्थेन शुभादिना सुषुप्तजागरयोरन् गतत्वमतोऽविद्ययाऽनुगमावगमेऽपि वस्तुनोऽवस्थात्रयेऽपि तदभावादनन्वागतवाक्यमविरुद्धमित्यर्थः ॥ संप्र रत्वादि कथमित्यत्र समाध्यन्तरमाह—त्रिधेति । जाग्रदादीनां मध्ये प्रत्येकं जाग्रदादिभेदेन त्रैविध्यक त्सुषुप्तस्थजाग्रत्स्वप्नावपेक्ष्य सुप्तावेव रत्वादेरदोषतेति स्यादित्यर्थः ॥ कथं प्रत्येकं त्रैविध्यं तत्र जागरस्य त यति—कार्येति । आदिशब्देन ज्ञेयाज्ञेयभक्ष्याभक्ष्यादि गृह्यते । तच्छब्देन जाग्रदुच्यते ॥ तस्य सुषुप्तत्वे प्र सुषुप्तिसाधर्म्यं हेतुमाह—निर्विवेकेति ॥ स्वप्नं त्रेधा विभजते—सुप्तोऽपीति । अत्र स्वप्ने यः स्वप्नात्मकोऽनु स्वप्नस्थः स्वप्न इत्यर्थः ॥ सुषुप्तं त्रैविध्येन योजयति—सुषुप्तं चेति ॥ तत्त्रैविध्यस्य प्रकृतोपयोगमाह—त्रि धत्वादिति । सुषुप्तस्योक्तरीत्या त्रैविध्यात्तद्गतस्वप्नाद्यपेक्षया तत्र रत्वाद्युपपत्तिरित्यर्थः । कार्यकरणनिर्मु प्रकाशात्मनः कर्मादिविवेकार्थं सुप्तिरुक्ता संप्रति तदुक्तेस्तात्पर्यान्तरमाह—दृष्टान्त इति ॥ दृष्टान्तदार्ष्टान्ति स्पष्टयति—यथेति । कथं तर्हि स्वप्नादौ रत्वादिदृष्टिस्तत्राऽऽह—तत्रेति । तत्त्वपाठे तु तदेव वस्तु त समीक्षणादवस्थाद्वये रत्वादीति योज्यम् ॥ प्रकरणार्थमुपसंहरति—यत इति । एवंशब्दार्थं दर्शयति— क्तेनेति । कामः कर्मगुणस्तच्च प्रयोगद्वारा कारकाश्रितमित्याद्युक्तमार्गेणेति यावत् । यतोऽयं सर्वदोषरहितो स्वतोऽकर्ता सिद्ध इति योजना ॥

मादेकान्तेनैव[२] स्वप्ने स्वरूपातिक्रमणान्न स्वाभाविकत्वाशङ्काऽनिर्मोक्षता वा। ततः
सादानुभवोत्तरकालं पुनः [३]प्रतिन्यायं यथान्यायं यथागतं निश्चित आयो न्यायः।
नमायो निर्गमनं पुनः पूर्वगमनवैपरीत्येन यदागमनं स प्रतिन्यायः। यथागतं पुनराग-
तीत्यर्थः। प्रतियोनि यथास्थानं स्वप्नस्थानाद्धि सुषुप्तं प्रतिपन्नः [४]सन्यथास्थानमेव
रागच्छति। प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव [५]स्वप्नस्थानायैव।

ननु स्वप्ने न करोति पुण्यपापे तयोः फलमेव पश्यतीति कथमवगम्यते यथा
गरिते तथा करोत्येव स्वप्नेऽपि [६]तुल्यत्वाद्दर्शनस्येति, अत आह स आत्मा यत्किंचित्तत्र

दौपाधिकत्वं कर्तृत्वस्य प्रागेव दर्शितमित्यर्थः। जागरितेऽपि कर्तृत्वस्य स्वाभाविकत्वाभावे
लितमाह—तस्मादिति। मृत्योः स्वाभाविकत्वाशङ्काभावकृतं फलमाह—अनिर्मोक्षता वेति।
शब्दो नञनुकर्षणार्थः। पुण्यं च पापं चेत्येतदन्तं वाक्यं व्याख्याय पुनरित्यादि व्याचष्टे—तत इति।
प्नाद्व्युत्थाय सुषुप्तिमनुभूयोत्तरकालमिति यावत्। स्थानात्स्थानान्तरप्राप्ताव[७]भ्यासं वक्तुं पुनःशब्दः।
तिन्यायमित्यस्यावयवार्थमुक्त्वा विवक्षितमर्थमाह—पुनरिति। संप्रसादादूर्ध्वमिति यावत्।
जागरितात्स्वप्नं ततः सुषुप्तं गच्छतीति पूर्वगमनं ततो वैपरीत्येन सुषुप्तात्स्वप्नं जागरितं वा गच्छतीति
गमनं स प्रतिन्यायः। [८]तमेव संक्षिपति—यथेति। यथास्थानमाद्रवतीत्येतद्विवृणोति—स्वप्न-
स्थानादिति। उक्तेऽर्थे वाक्यं पातयति—प्रतियोनीति। किमर्थं यथास्थानमागमनं तदाह—
स्वप्नायेति।

स यदित्यादिवाक्यस्य व्यावर्त्यामाशङ्कामाह—नन्विति। [९]तत्र वाक्यमुत्तरत्वेनावतार्य
व्याकरोति—अत आहेति। अननुबद्ध इत्यस्यार्थं स्फुटयति—नैवेति। स यदित्यादिवाक्यस्याक्षरार्थं-

---

र्तृत्व है। "ध्यान करता हुआ सा, चेष्टा करता हुआ सा" इस श्रुतिवाक्य में धीतादात्म्य से कर्तृत्व
का औपाधिकत्व प्रतिपादन किया गया। इसलिये स्वप्नावस्था में मृत्यु के रूपों का नियमतः अति-
क्रमण करने के कारण उसके स्वाभाविकत्व अर्थात् आत्मा के अनिर्मोक्ष की शङ्का नहीं हो सकती। फिर
संप्रसाद के अनुभव के पश्चात् फिर "प्रतिन्यायं" यानी यथान्याय अथवा यथागत निश्चित आय को
न्याय कहते है। 'अयन' आय का नाम है, निर्गमन—पुनः पहले जाने के विपरीत जो आगमन हो, वह
प्रतिन्याय कहा जाता है। अर्थात् जिस प्रकार गया था, उसी प्रकार पुनः वापिस आ जाता है।
"प्रतियोनिः" अर्थात् यथास्थान; स्वप्नस्थान से सुषुप्तस्थान को प्राप्त कर पुनः स्वप्नस्थान को लौट
आता है। वह यथास्थान यानी स्वप्नस्थान के लिए (स्वप्नानुभव के लिए) लौट आता है।

किन्तु यह कैसे जानते हो कि वह स्वप्न में पाप पुण्य नहीं करता, केवल उनके फल को देखता है?
जिस प्रकार जागरित में करता है, उसी प्रकार स्वप्न में भी कर्म करता हैं क्योंकि आत्मकर्तृत्वदर्शन दोनों
अवस्थाओं में समान है। इस पर श्रुति कहती है—वह आत्मा जो कुछ भी स्वप्न में पुण्य-पाप का फल

---

१. अतः। २. नियमतः। ३. प्रातिलोम्येन वैपरीत्येन न्यायं निर्गमनं यथा स्यात्तथा। ४. स्वप्न-स्थानम्। ५. स्वप्नानुभवायैव। ६. आत्मनः कर्तृत्वदर्शनस्य। ७. अभ्यासमिति—असकृद्भाव-मित्यर्थः। प्रतिदिनं ह्यसौ स्थानात्स्थानान्तरं प्राप्नोतीत्यर्थः। ८. उक्तमेवार्थम्। ९. शङ्कायाम्।

स्वप्ने पश्यति पुण्यपापफलमनन्वागतोऽननुबद्धस्तेन [1]दृष्टेन भवति नैवा[2]नुबद्धो भव यदि हि स्वप्ने कृतमेव तेन स्यात्तेनानुबध्येत । स्वप्नादुत्थितोऽपि समन्वागतः स्या न च तल्लोके स्वप्नकृतकर्मणाऽन्वागतत्वप्रसिद्धिः । न हि स्वप्नकृतेना[3]ऽऽगसाऽऽगस्का मात्मानं मन्यते कश्चित् । न च स्वप्नदृश[4] आगः श्रुत्वा लोकस्तं गर्हति [5]परिहरति [6]अतोऽनन्वागत एव [7]तेन भवति । [8]तस्मात्स्वप्ने [9]कुर्वन्निवोपलभ्यते न तु क्रिया परमार्थतः । उतेव स्त्रीभिः सह मोदमान इति श्लोक [10]उक्तः । आख्यातारश्च [11]स्वप्न सहेवशब्देनाऽऽचक्षते हस्तिनोऽद्य [12]घटीकृता धावन्तीव मया दृष्टा इति । [13]अतो न कर्तृत्वमिति ।

मुक्त्वा तात्पर्यमाह— यदि हीति । तेनाऽऽत्मनेति यावत् । स्वप्ने कृतं कर्म [15]पुन[16]स्तेनेत्युक्त अनुबन्धे दोषमाह—स्वप्नादिति । इष्टापत्तिमाशङ्क्याऽऽह—न चेति । स्वप्नकृतेन कर्मणा जाग स्थस्य पुरुषस्यान्वागतत्वप्रसिद्धिरिति यदुच्यते तन्न व्यवहारभूमौ संप्रतिपन्नमित्यर्थः । स्वप्नदृ जाग्रद्गतस्य न संगतिरित्यत्र स्वानुभवं दर्शयति— न हीति । यथोक्तेऽनुभवे लोकस्यापि संमति यति–न चेति । [17]तत्र फलितमाह—अत इति । कथं [18]तर्हि स्वप्ने कर्तृत्वप्रतीतिस्तत्राऽऽह—तस्मादि स्वप्नस्या[19]ऽऽभासत्वाच्च न तत्र वस्तुतोऽस्ति क्रियेत्याह— उतेवेति । तदाभासत्वे लोकप्रसिद्धिमनु यति—आख्यातारश्चेति । स्वप्नस्याऽऽभासत्वे फलितमाह—अत इति ।

देखता है, उस देखे हुए से वह 'अनन्वागतः' अर्थात् बिना बँधा हुआ सा रहता है अर्थात् उससे सम्ब नहीं होता है। उसने यदि स्वप्न में वैसा किया होता तो उससे वह बँध जाता और स्वप्न से पर भी उससे सम्बद्ध ही रहता किन्तु लोकव्यवहार में स्वप्नकृत कर्म से सम्बद्धता की प्रसिद्धि नहीं स्वप्न में किये हुए पाप से कोई पुरुष अपने को पापी नहीं मानता; स्वप्नद्रष्टा मनुष्य के पाप सुन समाज उसकी निन्दा या बहिष्कार नहीं करता। इसलिये वह स्वप्नदृष्ट कर्म से असम्बद्ध ही र है। इसलिए (वहाँ वास्तविक कर्तृत्व का अभाव होने से) स्वप्न में मनुष्य केवल करता हुआ दिखाई देता है, वस्तुतः उस समय वहाँ कोई क्रिया नहीं होती। इसी से 'स्त्रीसमुदाय से क्रीडा क हुआ सा दीखता है' ऐसा श्रुति कहती है। स्वप्न की बात कहने वाले भी उस 'इव' शब्द के

---

१. पुण्यपापफलेन । २. संवद्धः । ३. अपराधेन पापेन वा । ४. पुंसः । ५. बहिष्कुर्वन्ति ६. अन्वागतत्वाप्रसिद्धे. । ७. स्वप्नदृक्कर्मणा । ८. तत्र तस्य वास्तवकर्तृत्वाभावात् । ९. कु न्निवेति । अत्र वार्तिके—"तृप्तः स्वप्नेऽथ संवद्धः क्षुत्परीतः प्रबुध्यते ॥ यस्मादनृतमेवेदं यत्किञ्चिदेह वीक्ष्य प्रत्यङ्ङकारकस्तस्माल्लिप्यते न क्रियाफलैः ॥ स्वप्नस्कन्ननिमित्तं तु प्रायश्चित्तं यदुच्यते । सत्येन्द्रियविकार तच्चापि न निराश्रयम् । स्वप्नस्कन्नं यथा स्वप्ने तथा बोधेऽपि वीक्ष्यते । आत्मचैतन्यवत्तस्मात्प्रायश्चि तदुद्भवम् ''॥ १०१०-१०१३ ॥ इति । तच्च प्रायश्चित्तमुक्तं स्मृतिकारैर्यथा—"स्वप्ने चेन्द्रियदौर्बल्यात् दृष्ट्वा क्षरेद्यदि । प्रायश्चित्तं तस्योक्तं प्राणायामास्तु षोडश" इति । १०. बृ. उ. ४. ३. १३ । ११. कर्म शेषत्वे षष्ठीयम् । १२. संघीकृता वृन्दीकृताः । १३. स्वप्नस्य मिथ्यात्वात् । १४. आत्मनः १५. द्वितीयेन । १६. तेनेति शब्देनेत्यर्थः । १७. लोकगर्हाद्यभावे । १८. स्वप्ने चेदात्मा करोति । १९. मिथ्यात्वात् ।

कथं पुनरस्याकर्तृत्वमिति। कार्यकरणैर्मूर्तैः संश्लेषो मूर्तस्य[1] स तु क्रियाहेतुर्दृष्टः। ह्यमूर्तः कश्चित्क्रियावान्दृश्यतेऽमूर्तश्चाऽऽत्माऽतोऽसङ्गः। यस्माच्चासङ्गोऽयं पुरुषस्तस्माद-वागतस्तेन स्वप्नदृष्टेन। [2]अत एव न क्रियाकर्तृत्वमस्य कथंचिदुपपद्यते। कार्यकरण-लेषेण हि कर्तृत्वं स्यान्स च संश्लेषः सङ्गोऽस्य नास्ति यतोऽसङ्गो ह्ययं पुरुषः। [3]तस्मा-तः। एवमेवै[4]तद्याज्ञवल्क्य। [5]सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत[6] ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि। पदार्थैकदेशस्य कर्मप्रविवेकस्य सम्यग्दर्शितत्वात्। अत ऊर्ध्वं [7]विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥१५॥

---

[8]अनन्वागतवाक्यं प्रतिज्ञारूपं व्याख्यायासङ्गवाक्यं हेतुरूपमवतारयितुमाकाङ्क्षामाह—मिति। [9]मूर्तस्य मूर्तान्तरेण संयोगे क्रियोपलम्भादमूर्तस्य [10]तदभावादात्मनश्चामूर्तत्वेनासंयोगा-संयोगादकर्तृत्वसिद्धिरित्युत्तरं हेतुवाक्यार्थकथनपूर्वकं कथयति—कार्यकरणैरित्यादिना। आत्म-सङ्गत्वेनाकर्तृत्वमुक्तं समर्थयते—अत एवेति। अतःशब्दार्थं विशदयति—कार्येति। क्रियावत्त्वाभावे करणादिराहित्यं कौटस्थ्यं फलतीत्याह—तस्मादिदिति। [12]कर्मप्रविवेकमुक्तमङ्गी करोति—एवमिति। प्रविविक्तात्मज्ञाने दाढर्च्यं सूचयति— सोऽहमिति। [13]नैराकाङ्क्ष्यं व्यावर्तयति—अत इति। [14]तर्हि सहस्रदानमित्याशङ्क्याऽऽह—मोक्षेति। कामप्रविवेकविषय[15]नियोगमभिप्रेत्य पुनर[16]नुक्रामति अत ऊर्ध्वमिति ॥१५॥

करते हैं। जैसे "आज मैंने हाथियों को एकत्रित हुए दौड़ते हुए से देखा"। इसलिए स्वप्नद्रष्टा मा में कर्तृत्व नहीं है।

अच्छा तो इसमें अकर्तृत्व किस प्रकार है? मूर्त पदार्थों का जो मूर्त देह और इन्द्रिय आदि से द्ध है; वही क्रिया का हेतु जाना गया है। कोई अमूर्त पदार्थ क्रियावान् नहीं देखा जाता और मा अमूर्त है। इसलिए असङ्ग है। क्योंकि वह आत्मा असङ्ग है इसलिए उस स्वप्नदृष्ट पुण्य-पाप असम्पृक्त है। (असङ्ग होने से) इसलिए इसमें क्रिया का कर्तृत्व भी संभव नहीं है। देह और न्द्रिय के संसर्ग से ही कर्तृत्व होता है और इस आत्मा को वह संसर्ग नहीं है क्योंकि यह पुरुष असङ्ग । अतः यह अमृत है। (जनक बोले—)हे याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी है तो दृढ़निश्चयवाला मैं श्रीमान् को सहस्र गोएँ देता हूँ, इसके पश्चात् मुझे मोक्ष का उपदेश कीजिए। क्योंकि ऊपर तक मोक्ष पदार्थ के एकदेश कर्मप्रविवेक का अच्छी तक उपदेश कर दिया। इसलिए अब आप मुझे मोक्ष का ही उपदेश कीजिए ॥१५॥

---

१. भवति। २. असङ्गत्वादेव। ३. अवतरणोक्तत्वात्। ४. स्वप्नादौ कर्मासंबद्धत्वम्। ५. तत्र दृढनिश्चयः। ६. कर्मप्रविविक्तात्मस्वरूपप्रदर्शनानन्तरम्। ७. कामादिसंसर्गविधुरविमोक्षार्थम्। ८. वार्तिके तु अनन्वागतवाक्यं हेतुरूपम् असङ्गवाक्यं च प्रतिज्ञारूपमिति प्रकारान्तरमप्युक्तमिति ध्येयम्। ९. सावयवस्य। १०. संयोगाभावात्। ११. आत्मनः कर्माकर्तृत्वम्। १२. कर्म। १३. ज्ञेये जनकस्य। १४. नैराकाङ्क्ष्याभावे। १५. प्रार्थनाम्। १६. नियुङ्क्ते।

※[1]स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः [2]प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन

वह यह आत्मा इस स्वप्नकाल में रमण और विहार कर एवं पुण्य तथा पाप को देखक पुनः उस जाग्रत्स्थान को ही लौट आता है, जहाँ से वह आया था और जैसे आया था। वह वह

तत्रासङ्गो ह्ययं पुरुष इत्यसङ्गता[3]ऽकर्तृत्वे हेतुरुक्तः। उक्तं च पूर्वं कर्मवशात्स यत्र काममिति। कामश्च सङ्गोऽतोऽसिद्धो हेतुरुक्तोऽसङ्गो ह्ययं पुरुष इति।

[4]उत्तरकण्डिकाव्यावर्त्यां शङ्कामाह—तत्रेति। [5]पूर्वकण्डिका सप्तम्यर्थः। भवत्वकर्तृत्वे सङ्गत्वं किं तावतेत्याशङ्क्याऽऽह—उक्तं चेति। पूर्वं श्लोको[6]पन्यासदशायामिति यावत्। वशात्स्वप्नहेतुकर्मसामर्थ्यादि[7]त्यर्थः। आत्मनः स्वप्ने कामकर्मसंबन्धेऽपि किमिति नासङ्गत्वं त —कामश्चेति। हेत्वसिद्धिं परिहरति—न त्विति। न चेद्धेतोरसिद्धत्वं तर्हि कथं 'तत्सिद्धि

(यहाँ शङ्का होती है—) पूर्वमन्त्र में "यह आत्मा असङ्ग है" इस श्रुतिवाक्य से असङ्ग अन्वागतत्व में हेतु बतलायी है। इससे पूर्व प्रतिपादन किया गया था कि जहाँ इसकी इच्छा होत वहाँ यह कर्मवश चला जाता है। काम ही सङ्ग है। इसलिए 'क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है' य असिद्ध हेतु ही कहा गया है। (इसका समाधान करते हैं—) यह हेतु असिद्ध नहीं है। तो यह प्र

---

१. एवं स्वप्नवज्जागरेऽपि स्वतो वस्तुनः (आत्मनः) कर्मासंबद्धत्वमेवेति दर्शयितुमाह—स वा एष इ स संप्रसादात्प्रत्यागतः प्रकृतो वै प्रसिद्धः एष स्वयंज्योतिः पुरुषः एतस्मिन् स्वप्ने रत्वा स्त्रीपुत्रादिभिः। पूर्ववत्। प्रतियोनि जागरितस्थानं प्रति आद्रवत्या गच्छति। बुद्धान्ताय जागरणानुभवाय। २. गमनं त्येन। ३. अनन्वागतत्वे। ४. बृ. उ. ४. ३. १६। ५. बृ. उ. ४. ३. १५। ६. बृ. उ. ४. ३. ७. इत्यर्थं इति—तथा च स्वप्ने प्रतीचः कामकर्मसंसर्गविगमादसंगत्वायोगेन दूरनिरस्तमकर्तृत्वं मम लब्धमिति भाव इति शेषः। ८. हेतुसिद्धिरिति यावत्।

※स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने इत्यादि। अत्र वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"असङ्गत्वादकर्तेति नन्वसिद्धोऽयमु स्वप्ने कामस्य दृष्टत्वाद्यत्र काममिति श्रुतेः॥ इत्यस्य परिहारार्थं स वा इत्यादिकं वचः। पुनः स्वप्नसम गतत्वात्किमितीर्यते। बुद्धान्तादेर्यथा तद्वन्नातः स्यात्पुनरुक्तता॥ निशायां संप्रवृत्तायां संहृताक्षस्य निद्रया। तैजसीं भुक्त्वा स्वापो भवति देहिनः॥ स आनन्दः परो ज्ञेयः सुखदुःखविवर्जितः। सततं सर्वभूतानां पुरीतति॥ तत्र रत्वा यथाकामं कंचित्कालं यदृच्छया। तामवस्थां तिरश्चक्र आयियासुस्ततोऽपराम्॥ विग्रहो भूत्वा तत्र स्वप्नरिरंसया। उच्चावचानि वस्तूनि भावनातः करोति सः॥ गतौ प्राणवियोगः स्या कालस्य चेक्षणम्। तदसंभाव्यदेशादौ दर्शनात्तन्मृषात्मता॥ यावत्स्वप्नेऽस्ति वक्तव्यं प्राक्तदुक्तमशेषतः। न्नाऽऽसङ्गगन्धोऽपि स्वप्ने पुंसोऽस्य विद्यते"॥ १०६३-१०७०॥ इति। असङ्गो हीत्थसङ्गत्वमनन्वागतत्वे मुक्तं तदसिद्धिं चोदयति—असङ्गत्वादिति। अयमिति हेतुनिर्देशः। तत्र हेतुः—स्वप्न इति। स ईयते मृ

भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥१६॥

कुछ देखता है, वहाँ उससे बँधता नहीं क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! आप की ये बात यथार्थ ही है। इसके बदले में मैं आपको एक सहस्र गौएँ भेंट करता हूँ। अतः इसके आगे भी आप मोक्ष के विषय में उपदेश करें ॥ १६ ॥

त्येतदस्ति। कथं [2]तर्हि। असङ्गः एवेत्येतदुच्यते—स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने स व एष

पृच्छति—कथमिति । हेतुसमर्थनार्थमुत्तरग्रन्थमुत्थापयति—असङ्ग इति । प्रतियोन्याद्रवतीत्ये-

---

किस प्रकार है, इसे बतलाया जाता है। 'स वा एष एतस्मिन् स्वप्ने' अर्थात् वह यह पुरुष इस स्वप्ना-

---

[1]. हेतोरसिद्धत्वम्। २. अवतरणोक्तत्वात्।

काममिति श्रुतेः स्वप्ने कामस्य दृष्टत्वात्कामासङ्गयोश्च पर्यायत्वान्नासङ्गतेत्यर्थः। स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने रत्वेत्याद्युत्तरत्वेनाऽऽदत्ते—इत्यस्येति । स हि स्वप्नो भूत्वेत्यादिनाऽस्य स्वप्नोपन्यासस्य पौनरुक्त्यं शङ्कते—पुनरिति। अर्थभेदं वदन्परिहरति—बुद्धान्तादेरिति। यथा जाग्रत्सुषुप्त्यादेरर्थभेदात्पुनः पुनरुक्तिस्तथा स्वप्नस्याप्यसकृदुक्तिरविरुद्धा स हि स्वप्नो भूत्वेत्यत्र कार्यकरणातिरेकार्थमात्मनः स्वप्न उक्तः स यत्तत्र प्रस्वपितीत्यत्र स्वयंज्योतिष्ट्वार्थं संप्रसादे रत्वेत्यत्र कर्मविवेकार्थमत्र कामविवेकायेत्यर्थभेदान्न पौनरुक्त्यमित्यर्थः ॥ स्वप्नात्सुषुप्तिप्राप्तिमुक्तामधिकोक्त्यर्थमनुद्रवति—निशायामिति। तैजसीमवस्थां स्वप्नाख्यामिति यावत्। अक्षाणि सर्वाणीन्द्रियाणि। भुक्त्वा स्थितस्येति शेषः। स्वापः सुषुप्तिरित्येतत् ॥ सा च परानन्द इत्यधिकमभिधित्सितमाह—स इति। तस्य परत्वं स्फोरयति—सुखेति। तस्यावस्थाविशेषयोगादागन्तुकत्वमाशङ्क्य विशिनष्टि—सततमिति। तस्य सर्वप्राणिसंबन्धितया व्यापित्वमाह—सर्वेति। प्रत्यक्त्वेनात्यन्तसंनिहितत्वमाह—एष इति। पुरीतद्द्वारा ब्रह्मरूपेण स्थितिमाह—पुरीततीति ॥ यथोक्तं स्वापमारूढस्तर्हि मुक्तवन्नावस्थान्तरं गच्छेदित्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति। रत्वा पूर्वोक्तं परमानन्दं निर्विकल्पेनानुभूयेति यावत्। कंचित्कालमवस्थान्तरहेतुकर्मानभिव्यक्तयवस्थायामित्यर्थः। यद्यपि यदृच्छाशब्दो विना नियामकं यदाकदाचित्कार्योदयार्थस्तथाऽप्यत्र स्वप्नहेतुभूतमुद्भूतं कर्म यदृच्छेति द्रष्टव्यम्। तामवस्थामिति सुषुप्तिरुक्ता। अपरामिति स्वप्नोक्तिः ॥ स्वप्नं गत्वा किं करोत्यात्मेत्यपेक्षायामाह—भावनेति। स्वप्ने जाग्रद्वासनानिर्मितं देहं गृहीत्वा तत्र रतीच्छया हस्त्यादिपदार्थान्भावनावशान्निर्वर्तयत्यतः स मिथ्येत्यर्थः ॥ तन्मिथ्यात्वे युक्त्यन्तरमाह—गताविति। स्वप्ने हि द्रष्टा विप्रकृष्टं पश्यति यदि चेतो देहाद्गत्वाऽवगच्छेत्तदाऽत्र प्राणवियोगान्मृतिः स्यात्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामतीति श्रुतेर्न चात्रापि सत्त्वाददोषो विशिष्टस्यातथात्वात्तस्मादन्तरेण गतिमतिविप्रकृष्टदृष्टेः स्वप्नो मिथ्येत्यर्थः। तत्रैव हेत्वन्तरमाह—यथेति। योग्यकालवतोऽर्थस्य स्वप्ने दृष्टिरस्ति न च तत्र संयोगो विद्यते न हि क्षणमात्रेण सुप्तोत्थितस्यानेकाहोरात्रनिर्वर्त्याथाभिदृष्टौ योग्यकालसंभावनाऽस्त्यतः स्वप्नो मिथ्येत्यर्थः आर्द्रमरीचादिर्यत्र देशे काले वा न संभाव्यते तत्र तस्य स्वप्ने दृष्टेश्च तन्मिथ्यात्वमित्याह—तदसंभाव्येति ॥ किंच तन्मिथ्यात्वं स्वप्नप्रपञ्चः सर्वोऽपि वासनामात्रमेवेत्यादावुक्तमित्याह—यावदिति । स्वप्नमिथ्यात्वे फलितमाह—तस्मादिति । वासनात्मकोऽपि कामो न स्वप्नेऽस्तीति वक्तुं गन्धपदम् ॥

[1]स वा एष एतस्मिन्[2]बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति

वह यह पुरुष जाग्रत्काल में रमण और विहार कर तथा पुण्य और पापों को केवल देख फिर स्वप्न में उसी मार्ग से लौट जाता है, जिस मार्ग से वह आया था। वह वहाँ जो कुछ देखता है;

पुरुषः संप्रसादात्प्रत्यागतः स्वप्ने रत्वा चरित्वा यथाकामं दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च सर्वं पूर्ववत्। बुद्धान्तायैव [3]जागरितस्थानाय। तस्मादसङ्ग एवायं पुरुषः। यदि स्व सङ्गवान्स्यात्कामी ततस्तत्सङ्गजैर्दोषैर्बुद्धान्ताय प्रत्यागतो लिप्येत ॥१६॥

यथाऽसौ स्वप्नेऽसङ्गत्वा[4]त्स्वप्नसङ्गजैर्दोषैर्जागरिते प्रत्यागतो न लिप्यत ए जागरितसङ्गजैरपि दोषैर्न लिप्यत एव बुद्धान्ते जागरिते। [5]तदेतदुच्यते—

स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्ते जागरिते रत्वा चरित्वेत्यादि पूर्ववत्। स यत्त

तदन्तं सर्वमित्युक्तम्। स्वप्ने [6]कर्तृत्वाभावस्तच्छब्दार्थः। उक्तमसङ्गत्वं व्यतिरेकमुखेन (त विशदयति—यदीति। सङ्गवानित्यस्य व्याख्यानं—कामीति। तत्सङ्गजैस्तत्र स्वप्ने विषयविशे कामाख्यसङ्गवशादुत्पन्नैरपराधैरिति यावत्। न तु लिप्यते [7]प्रायश्चित्तविधानस्यापि स्वप्नसूचित शुभाशङ्कानिबर्हणार्थत्वा[8]द्वस्तुवृत्तानुसारित्वाभावादिति शेषः ॥१६॥

[9]उक्तमर्थं दृष्टान्तीकृत्य जागरितेऽपि निर्लेपत्वमात्मनो दर्शयति—यथेत्यादिना। [10]त

वस्था में सुषुप्ति से लौटकर स्वप्न में क्रीडा और विहार कर इच्छानुसार पुण्य और पाप को देख (जागरितस्थान को लौट जाता है) इत्यादि अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए। "बुद्धान्ताय अर्थात् जागरितस्थान के अनुभव के लिए (लौट आता है)। इसलिए यह पुरुष असङ्ग है। यदि कामनायुक्त होने के कारण स्वप्न में सङ्गवान् होता तो जागरित अवस्था में लौटने पर आसक्तिजन्य दोषों से लिप्त हो जाता ॥१६॥

जिस प्रकार यह स्वप्नावस्था में असङ्ग रहकर स्वप्न में विषयों में कामाख्यसंगव उत्पन्न अपराधों से जागरित में लौट आने पर लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जागरित अवस्था में जागरितसङ्गजन्य दोषों से लिप्त नहीं होता। यही (जागरित में इसका निर्लेपत्व) बात कही जाती है

"स वा एष एतस्मिन् बुद्धान्ते" वह यह पुरुष इस जागरितस्थान में क्रीडा और विहार

---

१. स्वप्नात्प्रत्यागतः पुरुषः। २. जागरे। ३. तदनुभवाय। ४. स्वप्ने विषयेषु कामाख्यस शादुत्पन्नैरपराधैरित्यर्थः। ५. तत्—तत्र जागरिते। एतद्—निर्लेपत्वमित्याहुः। ६. दृष्ट्वैवे रकर्तृत्वमुक्तं तच्छब्देन परामर्शार्हम्। ७. स्वप्नक्रियाऽलिप्तश्चेदात्मा कुतस्तर्हि "स्वप्ने चेन्द्रियदौर्ब त्स्त्रियं दृष्ट्वा क्षरेद्यदि। प्रायश्चित्तं तु तस्योक्तं प्राणायामास्तु षोडशे"ति प्रायश्चित्तविधानमित्याशङ्क्याह प्रायश्चित्तेति। तादृशस्वप्नेन सूचितं यद्भाव्यशुभं तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थं तदित्यर्थः। ८. वस्तुवृत्तेति पापस्य वृत्तं संबन्धः। यद्वा वस्तुनः स्वप्नदृशो वृत्तं पापसंबन्धित्वं तत्प्रयुक्तत्वाभावादित्यर्थः। ९. निर्लेपत्वे। १०. जागरे निर्लेपत्वे।

[1]स्वप्नान्तायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन
भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं
भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥१७॥

उससे बँधता नहीं क्योंकि यह पुरुष असंग है । जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! आप की ये बात यथार्थ ही है । इसके बदले में मैं आपको एक सहस्र गौएँ भेंट करता हूँ । अतः इसके आगे भी आप मोक्ष के विषय में उपदेश करें ॥ १७ ॥

बुद्धान्ते किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इति । ननु दृष्ट्वैवेति कथमवधार्यते करोति च [2]तत्र पुण्यपापे तत्फलं च [3]पश्यति । न । [4]कारकावभासकत्वेन कर्तृत्वोपपत्तेः । आत्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्त इत्यादिनाऽऽत्मज्योतिषाऽवभासितः कार्यकरणसंघातो व्यवहरति [5]तेनास्य [6]कर्तृत्वमुपचर्यते न स्वतः कर्तृत्वम् । तथा चोक्तं ध्यायतीव लेलायतीवेति । बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव न स्वतः । इह तु परमार्थापेक्षयोपाधिनिरपेक्ष उच्यते दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च न कृत्वेति तेन न पूर्वापरव्याघाताशङ्का ।

प्रमाणमाह—तदेतदिति । जाग्रदवस्थायामुक्तमकर्तृत्वमाक्षिपति—नन्विति । तत्र कल्पितं कर्तृत्वमित्युत्तरमाह—नेत्यादिना । [8]तदेव विवृणोति—आत्मनैवेति । स्वतोऽकर्तृत्वे वाक्योपक्रमं संवादयति—तथा चेति । [9]वाक्यार्थं [10]संगृह्णाति—बुद्ध्यादीति । कर्तृत्वमिति शेषः । नन्वौपाधिकं कर्तृत्वं [11]पूर्वमुक्तमिदानीं तन्निराकरणे पूर्वापरविरोधः स्यादित्यत्राऽऽह—इह त्विति । उपाधिनिरपेक्षः कर्तृ-

---

इत्यादि अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए । वह उस जागरित अवस्था में जो कुछ देखता है, उससे असम्पृक्त रहता है, क्योंकि वह पुरुष असङ्ग है । (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु यह कैसे निर्णय किया जाता है कि वह उन्हें देखकर ही लौट आता है । जागरित अवस्था में तो पुण्य-पापों को करता भी है और उसके फल को भी अनुभव करता है । (सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि बुद्ध्यादि कर्तृ-कारकों के साक्षित्वेन ही इसमें कर्तृत्व है । 'यह पुरुष आत्मज्योति के द्वारा ही रहता है' इत्यादि श्रुतिवाक्य के अनुसार आत्मज्योति से प्रकाशित देहेन्द्रियसंघात का व्यवहार करता है । उस अवभासकरूप से आत्मा के कर्तृत्व को आरोप किया जाता है, इसमें स्वतःकर्तृत्व नहीं है । श्रुति भी कहती है "ध्यान करता हुआ सा, चेष्टा करता हुआ सा" इत्यादि । इसकी कर्तृत्वबुद्धि आदि उपाधि के कारण है; स्वतः नहीं है । इस मन्त्र में उपाधि की अपेक्षा न रखकर परमार्थतः ऐसा कहा जाता है कि "वह पुण्य पाप को देखकर ही लौट जाता है; करके नहीं" । इसलिए यहाँ पूर्वापर के

---

[1] स्वप्नस्यान्तो लयो यस्मिन्निति सुषुप्तिस्तदनुभवाय । स्वप्नानुभवार्थं वेत्यर्थो वा स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं चेति वक्ष्यमाणत्वात् । २. जागरे । ३. अनुभवति । ४. बुद्ध्यादीनां कर्त्रादिकारकाणां साक्षित्वेन । ५. तदवभासकत्वेन । ६. आत्मनः । ७. बृ. उ. ४. ३. १७ । ८. संगृहीतं जागरे कल्पितं कर्तृत्वमेव । ९. ध्यायतीवेतिवाक्यार्थम् । १०. संक्षिपति । ११. ध्यायतीवेत्यादौ ।

यस्मान्निरुपाधिकः परमार्थतो न करोति न लिप्यते क्रियाफलेन । तथा च भगवतोक्तम्—

"अनादित्वान्निर्गुणत्वात्[1]परमात्माऽय[2]मव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते" इति ।

तथा सहस्रदानं तु कामप्रविवेकस्य दर्शितत्वात् । तथा स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्त इत्येताभ्यां कण्डिकाभ्याम[3]सङ्गतैव प्रतिपादिता । यस्माद् बुद्धान्ते [4]कृतेन [5]स्वप्नान्तं गतः संप्रसन्नोऽसंबद्धो भवति [6]स्तैन्यादिकार्यादर्शनात्तस्मात्त्रिष्व स्थानेषु स्वतोऽसङ्ग एवायम् । [7]अतोऽमृतः स्थानत्रयधर्मविलक्षणः प्रतियोन्याद्रव स्वप्नान्तायैव [8]संप्रसादायेत्यर्थः । दर्शनवृत्तेः स्वप्नस्य स्वप्नशब्देनाभिधानदर्शनादन्तशब्दे

त्वाभाव इति शेषः। तेनेत्युक्तं हेतुं स्फुटयति—यस्मादिति। आत्मनो लेपाभावे भगवद्वाक्यम प्रमाणमित्याह—तथा चेति ।

अवस्थात्रयेऽप्यसङ्गत्वमनन्वागतत्वं चाऽऽत्मनः सिद्धं चेद्विमोक्षपदार्थस्य निर्णीतत्वाज्जनक नैराकाङ्क्ष्यमित्याशङ्क्याऽऽह—तथेति । यथा मोक्षैकदेशस्य कर्मविवेकस्य दर्शितत्वात्पूर्वत्र[9] सहस्रदान मुक्तं तथा[10]ऽत्रापि तदेकदेशस्य कामविवेकस्य दर्शितत्वात्तद्दानं न तु [11]कामप्रश्नस्य निर्णीतत्वादित्यर्थः। [12]द्वितीयतृतीयकण्डिकयोस्तात्पर्यं संगृह्णाति—तथेत्यादिना । यथा [13]प्रथमकण्डिकया कर्मविवेकः प्रति पादितस्तथेति यावत् । कण्डिकात्रितयार्थं संक्षिप्योपसंहरति—यस्मादिति । अवस्थात्रयेऽप्यसङ्ग किं सिध्यति तदाह—अत इति । प्रतीकमादाय स्वप्नान्तशब्दार्थमाह—प्रतियोनीति । कथं पुनस्तस्य[14] सुषुप्तविषयत्वमत आह—दर्शनवृत्तेरिति । दर्शनं [15]वासनामयं[16] तस्य वृत्तिर्यस्मिन्निति व्युत्पत्त्या

व्याकोप की आशङ्का नहीं है क्योंकि निरुपाधिक होकर वह नहीं करता, न ही क्रियाफल से लिपायमा होता है । भगवान् ने भी कहा है—'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! गुण से व्ययाभाव वाला (त्वमर्थ) परमात्म अनादि और स्वरूपतः निर्गुण होने से शरीर में रहते हुए भी न करता है, न लिपायमान होता है इत्यादि ।

तथा सहस्र गौओं का दान तो कामप्रविवेक प्रदर्शित किये जाने के लिए है । इस प्रकार "व यह पुरुष स्वप्नावस्था में", "वह यह पुरुष जागरित अवस्था में", इन दोनों मन्त्रों द्वारा कामप्रविवे आत्मा असङ्ग है—ऐसा प्रतिपादन किया गया क्योंकि स्वप्नावस्था में जाकर पूर्ण प्रसन्न हुआ य पुरुष जागरितस्थान में किये गये कर्म से सम्पृक्त नहीं होता । क्योंकि इस समय इसके चौर्यादि का नहीं देखे जाते, इसलिये तीनों स्थानों में यह स्वयं असङ्ग ही है । इसलिये यह अमृत और तीनों स्थानों के धर्मों से विलक्षण है । यह उसी मार्ग से यथास्थान यानी स्वप्नस्थान अर्थात् सुषुप्ति के लिए लौट

---

१. त्वमर्थः । २. अनादित्वात्स्वरूपतो निर्गुणत्वाच्च गुणतो व्ययाभावात् । ३. कामप्रविवेक ४. कर्मणा । ५. स्वप्नस्थानम् । ६. स्तैन्यं चौर्यं तद्रूपं कार्यं तस्य वा कार्यं फलं तदननुभवादित्यर्थः ७. अवतरणात् । ८. सुषुप्तये । ९. बृ. उ. ४. ३. १५ । १०. बृ. उ. ४. ३. १६-१७ । ११. च्छप्रश्नस्य । १२. बृ. उ. ४. ३. १६-१७ । १३. बृ. उ. ४. ३. १५ । १४. स्वप्नान्तशब्दस्य १५. तद्धि दृश्यत एव न सत् । १६. वस्तु ।

विशेषणोपपत्तेः । एतस्मा अन्ताय धावतीति च सुषुप्तं [1]दर्शयिष्यति । यदि पुनरेव-
ते [2]स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वैतावुभावन्तावनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं चेति
नात्स्वप्नान्तायैवेत्यत्रापि दर्शनवृत्तिरेव स्वप्न उच्यत इति तथाऽपि न किंचिद्दुष्यत्यस-
ता हि सिषाधयिषिता सिध्यत्येव । यस्माज्जागरिते दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च रत्वा
रित्वा च स्वप्नान्तमागतो न जागरितदोषेणानुगतो भवति ॥१७॥

एवमयं पुरुष आत्मा स्वयं ज्योतिः कार्यकरणविलक्षण[3]स्तत्प्रयोजकाभ्यां
मकर्मभ्यां विलक्षणो यस्मादसङ्गो ह्ययं पुरुषोऽसङ्गत्वादित्ययमर्थः स वा एष
स्मिन्संप्रसाद इत्याद्याभिस्तिसृभिः कण्डिकाभिः प्रतिपादितः । तत्रासङ्गतैवाऽऽत्मनः कुतो

नो दर्शनवृत्तिस्तस्य स्वप्नशब्देनैव सिद्धत्वादन्तशब्दवैयर्थ्यात्तस्यान्तो लयो यस्मिन्निति व्युत्पत्त्या
प्नान्तशब्देन सुषुप्तग्रहे सत्यन्तशब्देन स्वप्नस्य व्यावृत्त्युपपत्तेरत्र[4] सुषुप्तस्थानमेव स्वप्नान्तशब्दित-
र्थः । [5]तत्रैव वाक्यशेषानुगुण्यमाह—एतस्मा इति । स्वप्नान्तशब्दस्य स्वप्ने प्रयोगदर्शना-
पि तस्यंत्र तेन ग्रहणमिति पक्षान्तरमुत्थाप्याङ्गी करोति—यदीत्यादिना । सिषाधयिषितार्थसिद्धौ
नाह—यस्मादिति ।।१७।।

[6]कण्डिकात्रयेण सिद्धमर्थमनुवदति—एवमिति । आत्मनः स्थानत्रयसंचारादसिद्धोऽसङ्गत्व-
रिति [7]शङ्कते—तत्रेति । [8]प्रतिज्ञाहेत्वोर्हेतुनिर्धारणं सप्तम्यर्थः । [9]सप्रयोजकाद्देहद्वयाद्वैलक्षण्यं तु
निरस्तमित्येवशब्दार्थः । एवं चोदिते हेतुसमर्थनार्थं महामत्स्यवाक्यमिति [10]संगतिमभिप्रेत्य

ता है। दर्शनवृत्ति स्वप्न का 'स्वप्न' शब्द से अर्थावबोध देखे जाने से एवं 'अन्त' शब्द से उसके विशेषण
सिद्धि होती है। इसी को "यह पुरुष इस सुषुप्तस्थान की ओर दौड़ता है" श्रुति कहती है। यहाँ
ताय' पद से श्रुति सुषुप्ति का ही प्रतिपादन करेगी। और यदि ऐसा कहा जाता है कि "स्वप्नान्त
रमण और विहार कर……", "उसी प्रकार यह पुरुष स्वप्नस्थान और जागरितस्थान इन दोनों
स्थानों में क्रमशः संचार करता है……"इन श्रुतिवाक्यों में ऐसा देखा जाने से "स्वप्नान्तायैव" इस
योग में भी दर्शनवृत्ति को ही स्वप्न कहा जाता है, तो भी किसी प्रकार का दोष नहीं आता। क्योंकि
ङ्गता के की सिद्धि करना हमें इष्ट है और वह सिद्ध हो ही जाती है क्योंकि जागरित अवस्था
पुण्य और पाप को देखकर ही तथा क्रीडा और रमण कर वह स्वप्नान्त में आता है किन्तु जागरित
दोष से सम्पृक्त नहीं होता।

इस प्रकार यह पुरुष आत्मा स्वयंज्योति है, कार्य और करण से विलक्षण है,
और कार्य करण के प्रयोजक काम और कर्म से भी विलक्षण है क्योंकि यह पुरुष असङ्ग ही है।
सङ्ग होने के कारण ही "वह यह आत्मा सुषुप्ति में (रमण - विहार कर लौट आता
है)" इत्यादि तीन मन्त्रों से इसी अर्थ का प्रतिपादन किया गया। इससे आत्मा की असङ्गता ही सिद्ध

---

१. बृ. उ. ४. ३. १९ । २. बृ. उ. ४. ३. ३४ । ३. कार्यकरणप्रयोजकाभ्याम् । ४. वाक्ये ।
५. स्वप्नान्तशब्दस्य सुषुप्तिपरत्वे । ६. बृ. उ. ४. ३. १५-१७ । ७. स्थानसंचाराभ्यामेव संसर्ग
मन्यमानः । ८. विलक्षणत्वासङ्गत्वरूपयोः । ९. कामकर्मसहितात् । १०. आक्षेपं कार्यैक्यं वा ।

तद्यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसंचरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च ॥१८॥

जैसे कोई बड़ा मत्स्य नदी के पर और अपर दोनों तटों पर क्रमशः संचरण करता है और जलप्रवाह के वेग से वह विवश नहीं होता, वैसे ही यह पुरुष स्वप्नस्थान और जाग्रत्स्थान इन दो ही स्थानों में (प्रारब्धकर्म से प्रेरित हुआ) क्रमशः विचरता रहता रहता है ॥१८॥

---

[1]यस्माज्जागरितात्स्वप्नं स्वप्नाच्च संप्रसादं संप्रसादाच्च पुनः स्वप्नं क्रमेण बुद्धा जागरितं बुद्धान्ताच्च पुनः स्वप्नान्तमित्येवमनुक्रमसंचारेण स्थानत्रयस्य व्यतिरे साधितः । पूर्वमप्युपन्यस्तो[2]ऽयमर्थः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपा तं विस्तरेण प्रतिपाद्य केवलं दृष्टान्तमात्रमवशिष्टं तद्वक्ष्यामीत्या[3]रभ्यते—

तत्तत्रैतस्मिन्यथाप्रदर्शितेऽर्थे [4]दृष्टान्तोऽयमुपादीयते यथा लोके महामत्स्यो महांश्च मत्स्यश्च [5]नादेयेन स्रोतसाऽहार्य इत्यर्थः । स्रोतश्च [6]विष्टम्भयति स्वच्छन्दचा कूले नद्याः पूर्वं चापरं चानुक्रमेण संचरति । संचरन्नपि कूलद्वयं तन्मध्यवर्तिनोदकस्रोतोवे

---

[1]संगत्यन्तरमाह—पूर्वमपीति । यथाप्रदर्शितोऽर्थोऽसङ्गत्वं कार्यकरणविनिर्मुक्तत्वं च । अहार्यत्व प्रकम्प्यत्वम् । स्वच्छन्दचारित्वं प्रकटयति—संचरन्नपीति । किं पुनर्दृष्टान्तेन दार्ष्टान्तिके त

होती है। वह कैसे ? क्योंकि वह जागरित से स्वप्न को, स्वप्न से सुषुप्ति को, सुषुप्ति से पुनः स्व को तथा क्रमशः "बुद्धान्तः" यानी जागरित को, जागरित से पुनः स्वप्न को इस तरह क्रमिक संच से तीनों स्थानों का व्यतिरेक सिद्ध किया गया है। "स्वप्न और मृत्युरूप इस लोक का अतिक्र किया" इस श्रुतिवाक्य द्वारा पहले भी इस (असङ्गत्व कार्यकरण विमुक्तत्वादिरूप) अर्थ का प्रतिपा किया है। उस का विस्तार से प्रतिपादन कर अब जो दृष्टान्त मात्र शेष रह गया है, उसी को कहें इसी से अग्रिम दृष्टान्त मन्त्र प्रारम्भ किया जाता है।

"तत्" अर्थात् यहाँ यथाप्रदर्शित (असङ्ग कार्यकरणविनिर्मुक्त) अर्थ में इस दृष्टान्त उपपादन किया जाता है। जिस प्रकार लोकव्यवहार में "महामत्स्यः" अर्थात् महान् मत्स्य जो के वेग से अप्रकम्प्य हो और जो नदी के वेग को रोक देता हो, वह स्वच्छन्दचारी महामत्स्य "उ कूले अनुसंचरति" अर्थात् जैसे नदी के पूर्व और अपर दोनों किनारों पर क्रमशः संच

---

१. तत्रासङ्गत्वंत्यादिभाष्ये यस्मादित्यादि वाक्यं समाधानपरतया निनीषवस्त्वित्थमवतारयन्ति । त समाधत्ते—यस्मादिति । परं तथा सति टीकाकृतामवतरणे इति शङ्कृत इत्यन्याय्यमापद्येत इत्याशङ्क्य समाध इत्यस्यैवौचित्यात् । तस्माट्टीकाकृतां सर्वाऽप्येषा पङ्क्तिशङ्कापरैवाभिमतेति प्रतिभाति । तथा च सति व्यति साधित इत्यस्य स्थाने व्यतिकरः साधित इत्येव पाठः साधीयान् । पूर्वमपीत्यादि भाष्यमेव समाधानपर विवेक्तव्यमित्यलम् । २. असङ्गत्वकार्यकरणविमुक्तत्वादिरूपः । ३. दृष्टान्तः कण्डिका वा कर्म । प्रतीचो निरासङ्गत्वसिद्ध्यर्थम् । ५. महत्त्वं स्फोरयति—नादेयेनेति । ६. निरुणद्धि । ७. दृष्टा रूपम् ।

परवशी क्रियते। एवमेवायं पुरुष एतावुभा [1]अन्ता अनुसंचरति। कौ तौ। स्वप्नान्तं बुद्धान्तं च। दृष्टान्तप्रदर्शनफलं तु मृत्युरूपः कार्यकरणसंघातः सह तत्प्रयोजकाभ्यां कामकर्मभ्याम[2]नात्मधर्मोऽयं चाऽऽत्मैतस्माद्विलक्षण इति विस्तरतो व्याख्यातम् ॥१८॥

अत्र च स्थानत्रयानुसंचारेण स्वयंज्योतिष आत्मनः कार्यकरणसंघातव्यतिरिक्तस्य कामकर्मभ्यां विविक्ततोक्ता। स्वतो नायं संसारधर्मवानुपाधिनिमित्तमेव त्वस्य संसारित्वमविद्याध्यारोपितमित्येष समुदायार्थ उक्तः। [4]तत्र च जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तस्थानानां स्थानाणां विप्रकीर्णरूप उक्तो न पुञ्जीकृत्यैकत्र दर्शितः। यस्माज्जागरिते ससङ्गः समृत्युः कार्यकरणसंघात [5]उपलक्ष्यतेऽविद्यया। स्वप्ने तु कामसंयुक्तो मृत्युरूपविनिर्मुक्त उपलभ्यते। सुषुप्ते पुनर्बुद्धान्त[6]मागतो बुद्धान्ताच्च सुषुप्ते संप्रसन्नोऽसङ्गो भवतीत्यसङ्ग-

---

माह—दृष्टान्तेति ॥ १८ ॥

श्येनवाक्यमवतारयितुं वृत्तं कीर्तयति—अत्र चेति। [7]पूर्वसंदर्भः सप्तम्यर्थः। देहद्वयेन सप्रयोजेन वस्तुतोऽसंबन्धे फलितमाह—स्वत इति। कथं तर्हि तत्र संसारित्वधीरित्याशङ्क्याऽऽह—उपाधीति। औपाधिकस्यापि वस्तुत्वमाशङ्क्याऽऽह—अविद्येति। वृत्तमनूद्योत्तरग्रन्थमवतारय[8]न्भूमिकामाह—तत्रेति। स्थानत्रयसंबन्धित्वेन विप्रकीर्णं विश्लिष्टं रूपमस्येत्यात्मा तथा। पुञ्जीकृत्य विवक्षितं सर्वं विशेषणमादायेति यावत्। एकत्रेति वाक्योक्तिः। [10]तत्र हेतुं वदञ्जाग्रद्वाक्येन विवक्षितात्मोक्तिमित्याह—यस्मादिति। ससङ्गत्वादेर्दृश्यमानरूपस्य मिथ्यात्वं सूचयति—अविद्ययेति। स्वप्नवाक्ये विवक्षितात्मसिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—स्वप्ने त्विति। [11]तर्हि सुषुप्तवाक्ये तत्सिद्धिर्नेत्याह—सुषुप्ते पुनरिति।

करता है। तथा संचार करता हुआ भी उन दोनों तीरों के मध्यवर्ती जलप्रवाह के वेग से अनियन्त्रित नहीं होता। इसी तरह यह पुरुष भी इन दोनों स्थानों में संचरण करता है। वे दोनों स्थान कौन से हैं? स्वप्नस्थान और जागरितस्थान। दृष्टान्तप्रदर्शन का फल है कि अपने प्रयोजक काम और कर्म-सहित मृत्युरूप देहेन्द्रियसंघात आत्मधर्मी नहीं है, यह आत्मा इससे विलक्षण है। इस प्रकार विस्तार से इसका व्याख्यान कर दिया गया ॥१८॥

यहाँ स्थानत्रय के क्रमशः संचरण से देहेन्द्रियसंघात से भिन्न स्वयंप्रकाश आत्मा की काम और कर्मों से पृथकता बतला दी गयी। यह स्वयं संसारधर्मी नहीं है, इसका संसारित्व अविद्या से आरोपित उपाधि के कारण ही है। इस प्रकार यह समुदायार्थ कहा गया। परन्तु पूर्व सन्दर्भ में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्त तीनों स्थानों का पृथक्-पृथक् रूप कहा गया है। सबको एकत्रित करके नहीं दिखलाया गया क्योंकि जागरित अवस्था में वह अविद्या द्वारा आसक्तियुक्त, मृत्युयुक्त और कार्यकरण-संघात से युक्त प्रतीत होता है। स्वप्नावस्था में कामसंयुक्त, मृत्युरूप विनिर्मुक्त प्रतीत होता है। सुषुप्तावस्था में पुनः स्वप्न से जागरित में आता हुआ और जागरित से सुषुप्ति में अतीव प्रसन्न और

---

१. स्थाने। २. आत्मधर्मो न भवतीत्यर्थः। ३. अविद्योच्छेदे मुक्तिरित्यवस्तुत्वफलं द्रष्टव्यम्।
४. पूर्वसंदर्भे। ५. प्रतीयते। ६. स्वप्नात्। ७. बृ. उ. ४. ३. १५-१७। ८. उत्तरग्रन्थोत्थानप्रयोजकोक्तिम्। ९. अविद्याकामकर्मासङ्गित्वरूपम्। १०. एकत्र पुञ्जानुक्तौ। ११. स्वप्नवाक्ये नो चेत्।

तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः सꣳहृत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियत एवमेवायं

जैसे इस भौतिक आकाश में बाज या श्येन पक्षी सभी ओर उड़कर थक जाने पर पं अच्छी प्रकार फैलाकर अपने घोंसले की ओर ही दौड़ने लगता है। ठीक ऐसे ही जीवात्मा (

ताऽपि दृश्यते । एकवाक्यतया तूपसंह्रियमाणं [1]फलं नित्यमुक्तबुद्धशुद्धस्वभावता नैकत्र पुञ्जीकृत्य प्रदर्शितेति [2]तत्प्रदर्शनाय कण्डिकाऽऽरभ्यते । सुषुप्ते [3]ह्ये[4]वंरूपता वक्ष्यमाणा तद्वा [5]अस्यै तद[6]तिच्छन्दा [7]अपहतपाप्माऽभयं [8]रूपमिति । [9]यस्मादेवंरूपं विल [10]सुषुप्तं प्रविविक्षति । [11]तत्कथमित्याह[12]—दृष्टान्तेनास्यार्थस्य प्रकटीभावो भवतीति दृष्टान्त [13]उपादीयते ।

---

[14]तत्राप्यविद्यानिर्मोको न प्रतिभातीति भावः । एवं पातनिकां कृत्वा श्येनवाक्यमादत्ते—एकवाक्यतं पूर्ववाक्याना(णा)मिति शेषः । कुत्र [15]तर्हि यथोक्तमात्मरूपं पुञ्जीकृत्य प्रदर्श्यते तत्राऽऽह—सु हीति । [16]तत्राभयमित्यविद्याराहित्यमुच्यते । [17]सा च सुषुप्ते स्वरूपेण सत्यपि [18]नाभिव्यक्ता भा द्रष्टव्यम् । यस्मात्सुषुप्ते यथोक्तमात्मरूपं वक्ष्यते [19]तस्मादिति यावत् । एवंरूपमित्येतदेव प्रकट विलक्षणमिति । कार्यकरणविनिर्मुक्तं कामकर्मविद्यारहितमित्यर्थः । स्थानद्वयं हित्वा [20]कथं सु प्रवेष्टुमिच्छतीति[21] पृच्छति—तत्कथमिति । स्वप्नादौ दुःखानुभवात्तत्त्यागेन सुषुप्तं प्राप्नोतीत्या आहेति । अथोत्तरा श्रुतिः स्थानान्तरप्राप्तिमभिधत्तां तथाऽपि किं दृष्टान्तवचनेनेत्याशङ्क्याऽऽ दृष्टान्तेनेति । अस्यार्थस्य सुषुप्तिप्राप्तिरूपस्येत्येतत् । स एवार्थस्तत्रेतिसप्तम्यर्थः ।

असङ्ग होता है। इस प्रकार उसकी असङ्गता देखी जाती है। इसलिए एकवाक्यतारूप जो संह्रियमाण विचार है, वह इसका नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव एक स्थान पर संग्रह करके दिखलाया गया। अतः अब उसे बतलाने के लिए यह मन्त्र प्रारम्भ किया जाता है । इसका ऐसा 'वह इसका कामरहित, पापरहित और अभयरूप है" इस श्रुतिवाक्य द्वारा बतलाया जाने वाला क्योंकि ऐसे ('कामवर्जित' आदि) विलक्षणरूप वाले सुषुप्तस्थान में प्रवेश करने की इच्छा करता है वह किस तरह ? इसे श्रुति कहती है। दृष्टान्त से इसके अर्थ का प्रकाशन होता है, इसके लिए दृष्टा का उपपादन किया जाता है।

---

[1] विचारस्य । [2] सुखप्रतिपत्त्यर्थत्वात्तत्प्रदर्शनस्येति भावः । [3] नित्यशुद्धस्वभावता । [4] आत्म
[5] एतद्रूपमिति संह्रियमाणम् । [6] कामवर्जितम् । [7] धर्मादिशून्यम् । [8] बृ. उ. ४. ३.
[9] अतिच्छन्दावाक्योक्तम् । [10] आत्मस्वरूपं सुषुप्तस्थानं प्रवेष्टुमिच्छति । [11] किमर्थम् ।
उत्तरा श्रुतिः । [13] उपादीयत इति । अत्र संबन्धान्तरमाहुर्वार्तिके—"स्वप्नबुद्धान्तयोर्वेह दृष्टान्तः संप्रदर्शि
संप्रसादस्य दृष्टान्तः श्येनेनाथाधुनोच्यते" ॥ ११५९ ॥ इति । पूर्वो दृष्टान्तो महामत्स्याख्यः । [14] सु
[15] तदर्थम् । कण्डिकारम्भेऽपि । [16] वाक्ये विशेषणेषु वा । [17] अविद्या । [18]
कारो हि व्यक्तिः । [19] यथोक्तात्मस्वरूपप्रदर्शनाय कण्डिकाऽऽरभ्यत इति पूर्वत्रान्वयः । [20] किमर्थ
[21] आत्मा ।

पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कञ्चन
कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति ॥१९॥

तथा स्वप्न में प्रारब्धानुसार कर्म फल को भोग कर थक जाने पर) इस सुषुप्तिस्थान की ओर दौड़ता है। जहाँ सोने पर यह किसी भोग की आकाँक्षा नहीं करता और न किसी स्वप्न को ही देखता है॥१९॥

---

[1]'तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे भौतिके श्येनो वा सुपर्णो वा। सुपर्णशब्देन क्षिप्रः श्येन उच्यते । यथाऽऽकाशेऽस्मिन्विहृत्य[2] विपरिपत्य श्रान्तो नानापरिपतनलक्षणेन कर्मणा परिखिन्नः संहृत्य पक्षौ [3]संगमय्य संप्रसार्य पक्षौ सम्यग्लीयतेऽस्मिन्निति संलयो नीडो [4]नीडायैव ध्रियते [5]स्वात्मनैव धार्यते स्वयमेव । यथाऽयं दृष्टान्त एवमेवायं [6]'पुरुष एतस्मा [7]एतस्मै [8]'अन्ताय [9]'धावति । *[10]अन्तशब्दवाच्यस्य [11]विशेषणं यत्र [12]तस्मिन्नन्ते [13]सुप्तो न कंचन

परमात्माकाशं व्यावर्तयितुं भौतिकविशेषणम् । महाकायो मन्दवेगः श्येनः सुपर्णस्तु वेगवा-
ल्पविग्रह इति भेदः । धारणे सौकर्यं वक्तुं [14]स्वयमेवेत्युक्तम् । स्वप्नजागरितयोरवसानमन्तमज्ञातं

जिस प्रकार इस प्रसिद्ध भौतिक आकाश में श्येन अथवा सुपर्ण हो; सुपर्ण तेज उड़ने वाले बाज का नाम है। जिस प्रकार इस आकाश में भक्ष्यार्थ विहार कर चारों ओर उड़कर "श्रान्तः" अर्थात् बार-बार उड्डयनरूप कर्म से खिन्न होकर "संहृत्य पक्षौ" यानी पङ्खों को सम्यक् फैलाकर "संलयायैव ध्रियते" घोंसले के प्रति अपने को धारण करता है। जिसमें सम्यक् प्रकार से लीन होता है, उस घोंसले का नाम 'संलय' है। जैसे यह दृष्टान्त है उसी प्रकार यह पुरुष भी जागरित आदि से खिन्न होकर "एतस्मा" अर्थात् अपने नीड के प्रति अज्ञात ब्रह्मप्राप्ति के अर्थ श्रमनिवृत्ति के लिए भागता है। अन्त-शब्दवाच्य अज्ञातब्रह्म के विशेषणद्वय "यत्र" अर्थात् जिस अज्ञातब्रह्म में सम्पन्न एकीभूत न 'कञ्चन'

---

१. तत् प्रसिद्धं निदर्शनं यथा । अस्मिन् प्रसिद्धे । २. भक्ष्यार्थम् । ३. स्वनीडागमनाभिमुख्यं पक्षयो-रापाद्य । ४. नीडप्रवेशार्थम् । ५. स्वात्मनैवेत्यादि—शरीरस्य जडत्वाच्चेतनेनैव ध्रियमाणत्वं न तु स्वतस्तथापि नीडप्रवेशसमये शरीरधारणे सौकर्यं द्योतयितुं मूले ध्रियत इति कर्मकर्तरि प्रयोगस्तदेतत्सूचयितुं भाष्ये स्वयमेव स्वात्मना धार्यत इत्युक्तमिति ज्ञेयम् । ६. जागरादौ खिन्नः । ७. स्वनीडाय । ८. अज्ञातब्रह्मप्राप्त्यर्थम् । ९. तच्छ्रमहानये । १०. अज्ञातब्रह्मणः । ११. विशेषणद्वयम् । १२. अज्ञातब्रह्मणि । १३. सम्पन्न एकीभूतः । १४. शरीरस्य जडत्वेन चेतनेनैव ध्रियमाणत्वेऽपि सौकर्यं द्योतयितुं स्वयमित्युक्तं स्थाली पचतीतिवत् । कर्मणस्तु कर्तृत्वेन विवक्षितत्वात्कर्मवद्भावेन यागादिक पच्यत ओदन इतिवत् ।

* अन्तशब्दवाक्यस्य विशेषणमिति । अत्र वार्तिके—"अन्ताय धावतीत्युक्तं तस्यान्तस्य विशेषणम् । यत्र सुप्तो न कमिति जाग्रत्स्वप्ननिषेधकृत् ॥ सुप्तस्तिसृष्ववस्थासु सामान्येन यतस्ततः । विशिनष्ट्यात्मनः स्वापं यत्र सुप्तगिरा स्फुटम् ॥ न कंचनेति कामो यः स्वप्नजाग्रदवस्थयोः । निषिध्यते सुषुप्तेऽसौ तथा स्वप्नोऽपि यस्तयोः ॥ एकैकस्यामवस्थायां स्वप्ने वा कामविरहाद्यथोक्तेनैव वर्त्मना । जाग्रत्कामनिषेधोऽतस्तत्र कामादिसंभवात् ॥ त्रय आवसथा इति तथा च श्रुतिशासनम् । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभिः । यदि वा विद्यते भेदः कंचनेति च लिङ्गतः ॥ न कंचनेति वाक्येन जाग्रत्स्वप्ननिषेधनम् । तत्र त्रयाणां स्थानानां जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानां त्रैविध्यप्रतिपादकम् ॥

न कंचिदपि [1]कामं [2]कामयते । तथा न कंचन स्वप्नं पश्यति । [3]न कंचन काममिति [4]स्वप्नबुद्धान्तयोरविशेषेण सर्वः कामः प्रतिषिध्यते [5]कंचनेत्यविशेषिताभिधानात् । तथा [6]न कंचन स्वप्नमिति[7] । जागरितेऽपि यद्दर्शनं तदपि स्वप्नं मन्यते श्रुतिरत आह न कंचन स्वप्नं पश्यतीति । [8]तथा च श्रुत्यन्तरम् "तस्य त्रय आवसथास्त्रयः [9]स्वप्नाः" इति ।

ब्रह्म । तथा न कंचन स्वप्नमिति [10]स्वप्नजागरितयोरविशेषेण सर्वं [11]दर्शनं निषिध्यत इति शेषः । [12]स्वप्नविशेषणात्स्वप्नदर्शननिषेधेऽपि कुतो जाग्रद्दर्शनं निषिध्यते तत्राऽऽह—जागरितेऽपीति । कथम-यमभिप्रायः श्रुतेरवगत इत्याशङ्क्य [13]विशेषणसामर्थ्यादित्याह—अत आहेति । जागरितस्यापि स्वप्नत्वे

अर्थात् किसी भी काम्य वस्तु की इच्छा नहीं करता । इसी प्रकार न कोई स्वप्न देखता है । "न कञ्चन कामम्" इस विशेषण के द्वारा स्वप्न और जागरित के सभी भोगों का निषेध हो जाता है, क्योंकि 'कचन' यह उक्ति कामत्वावच्छिन्न की है । इसी प्रकार "न कंचन स्वप्नम्" इस प्रकार द्वितीय विशेषण के द्वारा भी समझ लेना चाहिये । जागरित में जो कुछ देखा जाता है; उसे श्रुति स्वप्न ही मानती है; इसी से श्रुति कहती है कि कोई स्वप्न नहीं देखता । ऐसी ही एक अन्य श्रुति भी है—"उसके तीन वासस्थान हैं और तीन ही स्वप्न हैं (जागरित में यही नेत्रस्थान वाला है, स्वप्न में यह कण्ठस्थान

---

१. काम्यं विषयम् । २. इच्छति । ३. विशेषणयोः कृत्यमाह—नेति । ४. विशेषणेन । कंचनेति—कामत्वावच्छिन्नस्योक्तेरित्यर्थः । ६. द्वितीयविशेषणेन । ७. तथैव । ८. शरीरस्थाना त्रीणि स्थानानि । ९. स्वप्नतुल्यानि । १०. अविशेषिताभिधानादिति शेषः । ११. काम्यमानार्थ-ज्ञानम् । १२. दर्शने स्वप्नस्य विशेषणतयाऽन्वितत्वात् । १३. स्वप्ने कंचनेति विशेषणान्यथाऽनुपपत्तेः ।

तयोरेव ग्रहः श्रुतेः ॥ स्वप्नं न कंचनेत्युक्त्या सर्वस्वप्ननिषेधनम् । इति प्रबोधस्वप्नाभ्यां विविक्तं स्थानमुच्यते ॥ जाग्रत्स्वप्नात्मकौ पक्षौ वितत्याऽत्मात्ममोहवान् । भुक्त्वा भोगानथ श्रान्तः पक्षौ संहृत्य चाऽऽत्मनि ॥ अविद्याया-मवस्थानं तदुद्भूतस्य वस्तुनः । संहृत्यपक्षोपमया श्रुत्येह प्रतिपाद्यते ॥ संलयायेति यच्छुद्धं रूपं स्यात्प्रत्यगात्मनः । प्रत्यक्चिदाभ आगत्य ध्रियते प्रत्यगात्मने ॥ बुद्ध्यादिकार्यसंहारे प्रत्यक्चैतन्यरूपिणः । चिद्बिम्बस्यापि संहारो जलार्कप्रविलापवत्" ॥ ११६३-११७४ ॥ इति ॥ कथमन्तशब्देन ब्रह्मग्रहणमित्याशङ्क्योक्तानुवादपूर्वकं विशेषण-द्वयमादत्ते—अन्तायेति । तस्य कृत्यं दर्शयति—जाग्रदिति ॥ सुप्तविशेषणेनैव जाग्रन्निवृत्तेर्न कंचन काममित्याद्य-नर्थकमित्याशङ्क्याऽऽह—सुप्त इति । प्रत्येममवस्थानां त्रैविध्योक्तेः सामान्येनाऽऽत्माऽवस्थात्रयेऽपि सुप्तो यदि तस्माद्यत्र सुप्त इत्युक्तमात्मनः स्वापं न कंचनेत्यादिगिरा स्पष्टीकृत्य विशिनष्टीति योजना ॥ अस्त्वात्मस्वापस्य विशेषणं तथाऽपि तेन कामस्यैव निषेधाज्जाग्रत्स्वप्ननिषेधकृदित्ययुक्तमत आह—नेत्यादिना । अवस्थाद्वयस्य काम-मात्रस्य स्वापे निषेधादवस्थाद्वयमपि तत्र निषिध्यते चेद्विशेषणान्तरानर्थक्यमित्याशङ्क्याऽऽह —तथेति । स्वप्न-जागरयोः स्वप्नः सुषुप्ते द्वितीयेन विशेषणेन निषिध्यते तेन तदप्याद्यविशेषणवदर्थवदेव पूर्वत्र कामप्राधान्येनाव-स्थाद्वयनिषेध उत्तरत्र स्वप्नप्राधान्येनेति भावः ॥ आद्यविशेषणस्यार्थान्तरमाह—स्वप्ने वेति । यथोक्तेनानन्द-हीत्युक्तमार्गेणेति यावत् । असङ्गत्वन्यायेन जाग्रत्यपि रागादिराहित्यं तुल्यमित्याशङ्क्याऽऽह – तत्रेति । सर्वि मातरि बाधविधुरो जाग्रति कामादिः स्वप्ने तु नैवमित्यर्थः ॥ द्वितीयविशेषणस्यार्थान्तरमाह—एकैकस्यामिति । तत्र हेतुमाह—कंचनेतीति । न कंचन स्वप्नं पश्यतीत्यत्र कंचनेतिभेदद्योतिविशेषणादुक्तभेदसिद्धिरित्यर्थः ॥ अवस्थानां प्रत्येकं त्रैविध्यसाधकं वाक्यान्तरं चास्तीत्याह—त्रय इति ॥ सिद्धे त्रैविध्ये किं प्रकृते सिध्यति

यथा [1]दृष्टान्ते पक्षिणः परिपतनजश्रमापनुत्तये स्वनीडोपसर्पणमेवं जाग्रत्स्वप्नयोः [2]कार्य[3]करणसंयोगजक्रियाफलैः संयुज्यमानस्य पक्षिणः परिपतनज इव श्रमो भवति तच्छ्रमापनुत्तये स्वात्मनो नीडमायतनं सर्वसंसारधर्मविलक्षणं सर्वक्रियाकारकफलायासशून्यं स्वमात्मानं प्रविशति[4] ॥ १९ ॥

*यद्यस्यायं[5] स्वभावः सर्वसंसारधर्मशून्यता परोपाधिनिमित्तं चास्य संसार-

---

श्रुत्यन्तरं संवादयति—तथा चेति । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्विवक्षितमंशं दर्शयति—यथेत्यादिना । संयुज्यमानस्य 'क्षेत्रज्ञस्येति शेषः । सर्वसंसारधर्मविलक्षणमिति विशेषणं व्याचष्टे—सर्वेति ॥ १९ ॥

श्येनवाक्येनाऽऽत्मनः सौषुप्तं [7]रूपमुक्तमिदानीं [8]नाडीखण्डस्य [9]संबन्धं वक्तुं चोदयति—यद्यस्येति ।

वाला है और सुषुप्ति में हृदयस्थान वाला है)" । जिस प्रकार श्येनदृष्टान्त में उड़ने से उत्पन्न श्रम की निवृत्ति के लिए पक्षियों की स्वनीडप्राप्ति दिखायी है; इसी प्रकार जागरित और स्वप्न में देहेन्द्रिय के संयोग से होने वाले क्रियाफलों से संयुक्त जीव को, पक्षी के उड़ने से होने वाले श्रम के समान ही श्रम होता है। इसलिए श्रम से निवृत्त होने के लिए वह अपने नीड या निवासस्थान अर्थात् सम्पूर्ण संसारधर्मों से विलक्षण तथा सब प्रकार के क्रिया, कारक और फल के श्रम से रहित अपने आत्मा में क्षेत्रज्ञ जीव प्रवेश करता है ॥ १९ ॥

यदि इस आत्मा का स्वभाव सर्वसंसारधर्म से विलक्षण है तो इसका संसारधर्मी होना अन्य

---

१. श्येनदृष्टान्ते । २. स्थूलेति भावः । ३. सूक्ष्मेति यावत् । ४. क्षेत्रज्ञो जीवः । ५. आत्मनः । ६. जीवात्मनः । ७. अप्रपञ्चं सच्चिदानन्दैकतानं स्वाभाविकं रूपम् । ८. नाडीघटितवाक्यस्य ता वा इत्यादेः । ९. पूर्वग्रन्थेन संबन्धम् ।

तदाह तत्रेति । स्थानानां त्रयाणां प्रत्येकं त्रैविध्ये सिद्धे त्रिविधस्य जागरस्याऽऽद्येन त्रिविधस्य च स्वप्नस्य द्वितीयेन विशेषणेन निषेधः सिध्यतीत्यर्थः । तत्र हेतुः—तयोरिति । कामस्वप्नशब्दाभ्यां तयोरेव जाग्रत्स्वप्नयोः श्रुत्या ग्रहात्तयोः सर्वप्रकारयोर्निषेधोऽत्र विवक्षित इत्यर्थः ॥ विशेषणद्वयार्थमनुवदति—स्वप्नमिति । कामं न कचनेत्युक्त्या सर्वजाग्रन्निषेधनमित्यपि द्रष्टव्यम् । तथाऽपि प्रकृते किं सिध्यति तदाह—इति प्रबोधेति ॥ विशेषणार्थमुक्त्वाऽन्ताय धावतीत्यस्यार्थमुपसंहरति—जाग्रदिति । अन्तशब्दवाच्यब्रह्मनीडार्थं गच्छतीति शेषः । श्रान्तस्याऽऽश्रयगमनापेक्षाद्योतनार्थोऽथशब्दः ॥ संहत्यपक्षदृष्टान्तेन दार्ष्टान्तिके विवक्षितमंशमाह—अविद्यायामिति । पक्षौ संहत्य स्वात्मन्येव संकुचितावयवावापाद्य स्वाश्रये श्रमध्वंसार्थं श्येनस्तिष्ठतीति दृष्टान्तश्रुत्या साभासायामविद्यायां जगतोऽवस्थानं विवक्षितमित्यर्थः । इहाविद्यायामिति संबन्धः ॥ संलयदृष्टान्तेन दार्ष्टान्तिके विवक्षितमाह—समिति । श्येनो हि सम्यङ्निलयनार्थं स्वनीडायाऽऽत्मानं धारयतीति दृष्टान्तश्रुत्या शुद्धबुद्धादि यत्प्रतीचो रूपं तद्विवक्षितं स्यात्तस्मै प्रत्यगात्मने प्रत्यक्चिदिव भासमानः संसारी प्रत्यगज्ञाने साभासे स्वोपाधिबुद्ध्याद्युपसंहारे सत्युपहितो हिरुगवस्थातुमशक्नुवन्विम्बस्थानीयायाऽऽगत्याऽऽत्मानं बिभर्तीत्यर्थः ॥ उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—बुद्ध्यादीति । चिद्बिम्बस्य चित्प्रतिविम्बस्येति यावत् । जीवस्योपसंहारे भावत्वे सति नाशित्वाज्जन्मापि स्यात्तथाचनाऽऽत्माऽश्रुतेरित्यधिकरणविरोध इत्याशङ्क्याऽऽह—जलेति । उपाधिलये सत्युपहितस्यानुपहितमात्रत्वेनावस्थानाल्लयोक्तिर्न वस्तुत इत्यर्थः ॥

* यद्यस्यायं स्वभाव इत्यादि पराकण्डिकाऽऽरभ्यत इत्यन्ते वार्तिकाचार्याः—"एतदस्य स्वतो रूपं यदत्रोपप्रदर्शितम् । अविद्याकामकर्मादिविविक्तं यत्सुषुप्तगम् ॥ इतोऽन्यथा तु यद्रूपं जाग्रत्स्वप्नस्वलक्षणम् । तदस्य

धर्मित्वम् । यन्निमित्तं चास्य परोपाधिकृतं संसारधर्मित्वं सा चाविद्या । तस्या अविद्यायाः किं [1]स्वाभाविकत्वमाहोस्वित्कामकर्मा[2]दिवदागन्तुकत्वम् । यदि चाऽऽगन्तुकत्वं ततो विमोक्ष

परः सन्नुपाधिबुद्ध्यादिः । असङ्गत्वतः स्वतो बुद्ध्यादिसंबन्धासंभवमुपेत्याऽऽह—यन्निमित्तं चेति । [3]सिद्धान्ताभिप्रायम[4]नूद्य पूर्ववादी विकल्पयति—तस्या इति । आगन्तुकत्वम[5]स्वाभाविकत्वम् । आद्ये मोक्षानुपपत्तिं विवक्षित्वाऽऽह—यदि चेति । अस्तु [6]तर्हि द्वितीयो मोक्षोपपत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—

उपाधि के कारण है । जिस कारण से इसका अन्य उपाधि द्वारा कृत संसारधर्मित्व है, वह अविद्या है। वह अविद्या क्या (चैतन्य के समान) स्वाभाविकत्व है अथवा कामकर्मादि के समान आगन्तुकत्व है। यदि आगन्तुक है, तब तो उससे मोक्ष होना संभव है किन्तु उसके (अस्वरूपत्व) आगन्तुकत्व होने

---

१. चैतन्यवत् । २. आदिना कर्म कार्यं शरीरादिवत् । ३. सिद्धान्त्यभीत्यपि सम्यक् । ४. यदी
द्यविद्येत्यन्तेन । ५. स्वभावभिन्नत्वम् । ६. आद्ये मोक्षानुपपत्तिश्चेत् ।

परतो ज्ञेयमात्माज्ञानैकहेतुकम् ॥ यद्धेतुकमिदं रूपं साऽविद्याऽनर्थकारिणी । सा स्वतः परतो वाऽस्येत्येतद
धुनोच्यते ॥ न त्वागन्तुरविद्येयमनिर्मोक्षप्रसङ्गतः । आत्मस्वभावोऽविद्येयं न वेत्येतद्विचार्यते ॥ अविद्याका
कर्मादिप्रविविक्तमिहात्मनः । रूपं पूर्वमुपन्यस्तं तस्य साक्षाच्चिकीर्षया ॥ अविद्यायाश्च यत्कार्यं तच्च वा
मशेषतः । इत्याविष्कृतिसिद्ध्यर्थं परो ग्रन्थोऽवतार्यते ॥ नाड्यायत्ता यतोऽविद्याकार्यदृष्टिरतः परम् । नाडी
स्यादुपन्यासस्ता वा अस्येतिवाक्यतः ॥ यद्वा मृषात्वसिद्ध्यर्थं नाड्युपन्यास इष्यते । अत्यन्ततनुतो ह्यन्तर्वि
देरीक्षणं कुतः ॥ अविद्याकार्यमेतच्चेदविद्यावन्मृषेष्यते । अतो मृषात्वसिद्ध्यर्थं तनुनाडीपरिग्रहः" ॥ १२०
१२१३ ॥ श्येनवाक्येनाऽऽत्मनः सौषुप्तं रूपमुक्तमिदानीं नाडीखण्डस्य संवन्धार्थं वृत्तं कीर्तयति—एतदिति । कि
तदात्मनः स्वतो विद्यमानं रूपं तदाह—यदिति । किं पुनः श्येनवाक्ये प्रत्यक्त्वेनोक्तं रूपं तदाह—अविद्येति
आदिपदं तत्कार्यसंग्रहार्थम् । एतदेवाऽऽत्मनः स्वाभाविकं रूपं यदप्रपञ्चं सच्चिदानन्दैकतानमित्यर्थः ॥ रूपान्त
रमपि स्वप्नादिगतं कर्तृत्वादिलक्षणमस्य भाति तत्कथमवधारणमित्याशङ्क्याऽऽह—इतोऽन्यथेति । तृतीयपाद
स्फुटयति—आत्मेति ॥ उत्तरवाक्यमवतारयन्विचारविषयमाह—यद्धेतुकमिति । कर्तृत्वादि यद्रूपं तस्य
हेतुरविद्या प्रस्तुतेत्यर्थः । विचारस्वरूपमाह—सेति । अविद्या खल्वात्मनः स्वभावश्चैतन्यवदस्वभावो वा कर्मा
वदिति विचार्यास्वभावत्वमनन्तरग्रन्थेन कथ्यत इत्याह—एतदिति ॥ अविद्याऽऽत्मनः स्वभावोऽस्वभावो
नात्र चिन्त्यते किंतु सा सादिरनादिर्वेत्येतन्निरूप्यते कामकर्मादिवदागन्तुकत्वमिति भाष्ये कोटयन्तरोक्ते
शङ्क्याऽऽह—न त्विति । अविद्या चेदागन्तुकी तदा तस्या हेत्वभावे मोक्षेऽपि पुनरुन्मज्जनसंभवादनिर्मो
सहेतुत्वेऽप्यात्मातिरिक्तहेत्वभावात्तद्धेतुत्वेन ततो मोक्षेऽप्यविद्योदयसंभवात्स एव दोषस्तस्मादागन्तुकत्वाद्ययो
विद्यायाः सादिरनादिर्वेति विचारो न विवक्षित इत्यर्थः । नन्वविद्यायाः स्वभावत्वेऽपि तन्निवृत्त्याऽऽत्मनो मु
संभवस्य तुल्यत्वान्न त्वदभिमतोऽपि विचारो युज्येतेत्याशङ्क्याऽऽत्मनोऽजडत्वमिच्छतां मुक्तेरविद्यानिवृत्तेरति
त्वान्नैवमित्यभिप्रेत्य विवक्षितं विचारं निगमयति—आत्मेति । भाष्येऽप्येवंविधो विचारोऽभिप्रेतः स्वाभावि
पक्षमादाय तत्प्रतिपक्षत्वेनाऽऽगन्तुकत्वं वदता तच्छब्देनास्वभावत्वस्येष्टत्वादन्यथा तत्र मोक्षप्रतिपादनमुक्त्या
नवकाशमिति भावः ॥ नन्वविद्यायाः सादित्वपक्षेऽपि मोक्षस्याविद्यायादर्थान्तरत्वात्तदा तदुद्भवेऽपि नानिर्मो
प्रसक्तिरित्यस्मदिष्टविचारसिद्धिरित्याशङ्क्याविद्यायाः सादित्वे तद्धेतोरन्वेष्यत्वात्कूटस्थस्याऽऽत्मनो विनाऽविद्या
तद्धेतुत्वात्पूर्वाविद्यायाश्चोत्तरादिद्यानुपाद।नत्वादनाद्यविद्यात्मनस्तदुपादानत्वात्तदुक्तविचारायोगात्प्राचीनर्विचार

[1]ता [2]वा अस्यैता [3]हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताऽणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा *अथ [4]यत्रैनं[5] [6]घ्नन्-

इस (हस्त-पादादि अवयव वाले पुरुष) की वे ये हितानाम की नाड़ियाँ हैं। जिस प्रकार भागों में केश विभक्त होता है, वैसे ही ये नाड़ियाँ अत्यन्त सूक्ष्म हैं। वे सफेद, नीले, पीले, और लाल रङ्ग के रस से भरी हुई हैं। जहाँ पर इस पुरुष को स्वप्नावस्था में प्रतीत होता

पद्यते । तस्याश्चा[7]ऽऽगन्तुकत्वे कोपपत्तिः कथं वा नाऽऽत्मधर्मोऽविद्येति । सर्वानर्थबी-
ताया अविद्यायाः [8]सतत्त्वावधारणार्थं परा कण्डिकाऽऽरभ्यते—

[9]ता वा अस्य शिरःपाण्यादि[10]लक्षणस्य [11]पुरुषस्यैता[12] हिता नाम नाड्यो यथा

श्चेति । मा भूदविद्याऽऽत्मस्वभावस्तद्धर्मस्तु स्याद्धर्म्यन्तराभावादित्याह—कथं वेति । [13]तत्रोत्तर-
ग्रन्थमुत्थापयति—सर्वानर्थेति । तासां परमसूक्ष्मत्वं दृष्टान्तेन दर्शयति—यथेति । कथमन्नरसस्य

प्रमाण है तथा अविद्या आत्मधर्मी क्यों नहीं है ? इसलिए सम्पूर्ण अनर्थों की बीजभूता अविद्या
स्वरूप निर्धारण करने के लिए अग्रिम मन्त्र प्रारम्भ किया जाता है।

जो इस शिर एवं हाथ आदि लक्षणरूप तादात्म्यापन्न आत्मा पुरुष की ये हिता नाम की

---

[1] शरीरद्वयावस्थाद्वयतद्धर्मादि नानात्मनः स्वाभाविकः संबन्धस्तेषां स्वकरणे सुषुप्तेऽव्याकृताख्येऽविद्यामात्रव्यवहिते (अज्ञाते ब्रह्मणि) लीनत्वादित्युक्तं सम्प्रत्यविद्यासंबन्धोऽपि न स्वाभाविक इति दर्शयितुं तस्यास्तावत्स्वकार्यद्वारा प्रत्यक्षत्वमुपोद्घातपूर्वकमाह—ता वा इति । [2] प्रसिद्धाः । [3] हितफलप्राप्तिनिमित्तत्वाद्धिताः । [4] काले । [5] स्वप्नदृशम् । [6] शल्वादयः । [7] अस्वरूपत्वे । [8] स्वरूपावधारणार्थम् । [9] बृ. उ. २. १. १९ । [10] तत्तादात्म्यापन्नस्यात्मन इति यावत् । [11] कर्मादिकर्तुरात्मन उक्तसंघाताभिमानिनः संबन्धिन्यः । [12] बृ. उ. ४. २. ३. । [13] यथोक्तचोद्ये सति ।

द्धिरिति मत्वा विचारप्रयोजकमाह—अविद्येति । आत्मनो रूपमविद्यादिहीनं सुषुप्ते पूर्वत्रोक्तं तस्य प्रत्यक्षेण
प्रतिपादनेच्छया विचारद्वाराऽनन्तरग्रन्थारम्भ इत्यर्थः ॥ नाडीवाक्यस्याभिप्रायान्तरमाह—अविद्यायाश्चेति ।
यदविद्याकार्यं तदप्यशेषतो वाच्यमेव विवेकोपयोगादिति कृत्वा तदाविष्करणार्थमुत्तरो ग्रन्थ इत्यर्थः ॥ अविद्या-
कार्यं चेद्दिदर्शयिषितं तदेवोच्यतां कृतं नाड्युपन्यासेनेत्याशङ्क्याऽऽह—नाडीति । अविद्योत्थकर्तृत्वादिधीर्नाडीकृता
तदभावे स्वापादाविव तदनुपपत्तेरतस्तद्दृष्ट्युपयोगिनाड्युपन्यासस्तद्दृष्टिश्च व्यवहारार्थेत्यर्थः ॥ तदुपन्यासस्य
फलान्तरमाह—यद्वेति । कुतोऽवस्थाद्वयस्य मिथ्यात्वार्थं नाड्युपन्यासस्तत्राऽऽह—अत्यन्तेति । नाडीनामति-
सौक्ष्म्यात्तासु महापरिमाणस्य विन्ध्यादेरीक्षणं स्वाप्नं मिथ्यैवोचितदेशाभावत्तद्दृष्टान्ताज्जाग्रतोऽपि मिथ्या-
तेत्यर्थः ॥ पृष्टं मत्वा शङ्कते—अविद्येति । अघटमानं घटयत्यविद्येति न्यायादतः सूक्ष्मनाडीष्वतिमहतो विन्ध्या-
देर्दृष्टिरविद्योत्थेति शङ्कार्थः । तर्हि मत्पक्षसिद्धिरित्याह—अविद्यावदिति । अवस्थयोर्मिथ्यात्वार्थं नाड्युक्तिरिति
निगमयति—अत इति । कारणस्य मिथ्यात्वे कार्येऽपि तद्भावनियमादिति यावत् ॥
* अथेत्यादेरविद्यया मन्यत इत्यन्ते वार्तिके—"अथैतस्मिन्नन्नरसपरिणामे यथोदिते । प्रत्यङ्मोहस्य यत्कार्यं
मधुना तत्प्रपञ्च्यते ॥ जगदात्मनि निर्माय साधिभूताधिदैवतम् । शुक्लाद्याकृतिनाडीस्थमात्मा पश्यत्यविद्यया ॥

न्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यते[1]ऽथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदꣳ सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः ॥२०॥

है कि कोई इसे मानो मारता है, कोई मानो इसे वश में करता है और कोई इसके चारों ओर हाथी दौड़ा रहा है, या मानो स्वयं यह गर्त में गिर रहा है। इस प्रकार जो कुछ भी जाग्रदवस्था भय को देखता है, उन्हीं को स्वप्नावस्था में अविद्या के कारण सत्य मानने लगता है और जहाँ यह देवता के समान, या राजा के समान या मैं ही सब हूँ, ऐसा अपने को मानता है, यह श्रेष्ठ लोक है ।२०॥

केशः सहस्रधा भिन्नस्तावता तावत्परिमाणेनाणिम्ना[2]ऽणुत्वेन तिष्ठन्ति । ताश्च शुक्ल

वर्णविशेषप्राप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह–वातेति । भुक्तस्यान्नस्य [3]परिणामविशेषो [4]वातबाहुल्ये नीलो

नाडियाँ हैं, जिस प्रकार सहस्र भागों में विभक्त केश है, "तावता" अर्थात् उतने ही परिमाण "अणि

---

[1] एवं भयादिकार्यद्वाराऽधर्मसहकृतामविद्यामविद्यामात्मनोऽस्वभावभूतां प्रदर्श्याथ धर्मसहकृतां तां दर्शयति—अथेति । विद्यायामुत्कृष्यमाणायां सत्यां यत्र स्वप्ने जाग्रत्कालीनदेवाद्युपासनजनिततत्तद्वासना द्देव इव राजेवेति देवमिव राजानमिव चात्मानं मन्यते पश्यति । मोक्षावस्थायामस्या विनाशादपि नेयं विकीर्त्यभिप्रेत्यात्मस्वभावभूतं मोक्षस्वरूपमपि प्रत्यक्षमित्याह— अहमिति । तादृशजाग्रद्वासनावासितः इदं सर्वमहमेव चिन्मात्रं न तु मदतिरेकेण किञ्चिदस्त्यतोऽहं सर्वः पूर्णोऽस्मीति मन्यते जानाति स सर्वा ऽस्यात्मनः पूर्वोक्ताँल्लोकानपेक्ष्य परमः पूर्णो लोको विद्यया संपादितः स्वाभाविकः पूर्ववदिवशब्दप्रयोगा दित्यर्थः । [2] सूक्ष्मत्वेन । [3] नाडीस्थो रसः । [4] श्लेष्मपित्तयोश्चाल्पत्वे इत्यर्थम् ।

अविद्यायाः परा काष्ठाऽथेदानीमुच्यते स्फुटम् । तत्कार्यतारतम्येन साऽविद्या भिद्यते यतः ॥ लिङ्गादिका साऽविद्या भिद्यते सदा । स्वतस्त्वविद्याभेदोऽत्र मनागपि न विद्यते ॥ तल्लिङ्गं वासनानीडं सूक्ष्मं स्वच्छ कम् । नाडीगतरसोपाधिसंसर्गात्स्फटिकादिवत् ॥ धर्मादिप्रेरकोद्भूतरथस्त्रीहस्तिलक्षण-नानाकृति ह्यात्मनोऽलुप्तचक्षुषः । प्रथते पुरतोऽविद्यामात्रतत्त्वं विनश्वरम् ॥ एवं तावदविद्यैकनीडानामुदितो भावनानां विनिष्पत्तौ बोधे स्वप्नेऽथ भण्यते" ॥ १२४१-१२४७ ॥ इति । अथेत्यादिवाक्यतात्पर्यमाह— निमित्ते सप्तमी ॥ स्वप्ने नाविद्याकार्यमस्ति 'न तत्र रथा' इत्यादिश्रुतेस्तत्कथं तत्प्रपञ्चयितुं वाक्यमित्या ऽऽह—जगदिति । अविद्यया नानाविधं वासनामयं जगन्निर्मायाऽऽत्मा पूर्वोक्तनाडीगतत्वादेव पश्यतीति अथ योऽन्यामित्यारभ्याविद्याकार्यं प्रपञ्चितं तत्किमुत्तरवाक्येनेति तत्राऽऽह—अविद्याया इति । जाग्रद्वे विभूतिस्तत्रोक्ताऽत्र स्वप्नहेतोस्तस्या वर्ण्यते कार्यमिति विशेषः । एकैवाविद्येत्युपगच्छता कथं तद्भेदो तत्राऽऽह—तत्कार्येति । अतस्तद्भेदोपगतिरविरुद्धेति शेषः ।। स्वयूथ्यास्तु स्वाभाविकमविद्याभेदमाहुस्तान्प्रत्या लिङ्गादीति । अत्रेत्यात्मोच्यते । न हि स्वतोऽविद्याभेदो मानाभावान्न च प्रत्यात्मं तद्भेदोऽनुभूयते तद्भेद सिद्धेर्न च मायाभिरिति बहूक्त्या तत्सिद्धिः कार्यभेदलब्धतद्भेदानुवादित्वादन्यथा मायां तु प्रकृतिमित्येक विरोधान्न च व्यक्त्यैक्ये संभवति जात्यैक्यं तदर्थः । एतेन यावन्ति ज्ञानानीत्यादि व्याख्यातमिति भावः ॥

स्य[1] नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा ✻ [2]एतैः शुक्लादिभी रसविः पूर्णा इत्यर्थः । [3]एते च [4]रसानां वर्णविशेषा वातपित्तश्लेष्मणामितमेतरसंयोग-

---

ताधिक्ये पिङ्गलो जायते [6]श्लेष्मातिशये शुक्लो भवति [7]पित्ताल्पत्वे हरितः [8]साम्ये च [9]धातूनां हित [11]इति [12]तेषां मिथः [13]संयोगवैषम्यात्त[14]त्साम्याच्च विचित्रा बहवश्चा[15]न्नरसा भवन्ति तद्व्याप्तानां नामपि तादृशो वर्णो जायते ।

सूक्ष्मरूप से वे रहती हैं । वह इन शुक्ल, नील, पीत, हरित और लाल अन्न रस से पूर्ण हैं अर्थात् शुक्लत्वादिविशिष्ट रसों से पूर्ण हैं; और ये शुक्लादि अन्नरसों के वर्णविशेष हैं, जो (अन्नरस) पित्त और कफों के पारस्परिक संयोग की विशेष विषमता के कारण विभिन्न और बहुत प्रकार

---

१. शुक्लस्यान्नरसस्येत्येवमुत्तरत्रापि बोध्यम् । २. षष्ठी सर्वाऽत्र तृतीयार्था इत्यभिप्रेत्याह—एतैरिति । ३. शुक्लादयः । ४. अन्नरसानाम् । ५. श्लेष्मवातयोश्चोपसर्जनत्वे । ६. वातपित्तयोश्च मान्द्ये । ७. वात-ष्माधिक्ये च सति । ८. समप्रधानत्वे । ९. त्रयाणां वातपित्तकफरूपाणाम् । १०. रक्तः । ११. क्तरीत्या । १२. वातादीनाम् । १३. गुणप्रधानभावेन संबन्धात् । १४. संयोगसाम्यात् । १५. नाडीस्थाः ।

लिङ्गस्य जागद्रूपेणावस्थितिं वदन्नादौ नानाकार्योपलम्भोपयोगित्वेन तस्य भूयो भावनाश्रयत्वमाह—तदिति । तस्य घटादिवदग्रहे हेतुमाह—सूक्ष्ममिति । वासनाधारत्वे निमित्तमाह—स्वच्छेति । ननु नाडीनामेव नानारसपूर्णानां तत्र नीलपीतादिवासनाधारत्वमुचितं न तु लिङ्गस्येत्याशङ्क्याऽऽह—नाडीगतेति । स्वाच्छ्ये दृष्टान्तः स्फटिकादिवदिति । तस्यानेकवर्णभाक्त्वे वा हेतुमाह—नाडीति ।। उक्तरूपं लिङ्गमनूद्य तत्र साक्षिप्रत्यक्षं प्रमाणयति—धर्मादीति । जाग्रद्भोगदादृष्टादिजन्यरथादिनानाकारोपेतमशितादिपाकोत्थरससहकृतं कामाद्यात्मकं लिङ्गमात्मनो विषयत्वेन भातीत्यर्थः । तस्य जडत्वादस्ति साक्ष्यपेक्षेति वक्तुं हिशब्दः । तस्य प्रकाशान्तरापेक्षां वारयति—अलुप्तेति । लिङ्गस्य वस्तुत्वं परिहरति—अविद्येति । तत्र हेतुः—विनश्वरमिति ।। अथेत्यादेस्तात्पर्यं प्रतिज्ञाय लिङ्गस्य जाग्रद्रूपेणावस्थानमविद्याकार्यमुक्त्वा तदनूद्य स्वप्ने तत्प्रपञ्चयितुं वाक्यमित्युक्तं तात्पर्यं निगमयति—एवमिति ।।

✻ एतैः शुक्लादिभी रसविशेषैः पूर्णा इति । अत्र वार्तिके—"तास्वन्नरसपूर्णासु स आत्माऽविद्ययाऽऽत्मनः । रक्तपीतादिरूपत्वं मन्यते स्वप्नमध्यगः ।। रसवर्णानुरोधेन रक्तपीतादिरूपताम् । प्रतीचो भोगसिद्ध्यर्थं देवतैति मृषात्मिकाम् ।। वौद्धविज्ञानविक्षेपसंहारकथनाय तु । चतुर्थे नाड्युपन्यासो विज्ञानात्मविशुद्धये ।। देवतान्नरसाणुत्वज्ञानाय च पुनर्ग्रहः । षष्ठादौ सूक्ष्मनाडीनां तद्द्वाराऽऽत्मावबुद्धये ।। भोक्तुः स्वरूपविज्ञप्त्या इह नाडीपरिग्रहः । क्रियते कामकर्मादिविवेकस्य विवक्षया" ।। १२१६-१२२० ।। इति । नाडीनां शुक्लनीलादिरूपान्नरसपूर्णत्वेऽपि किमात्मनो जातं तदाह—तास्विति । स स्वप्नमध्ये द्रष्टृत्वेन स्थितो नाडीष्वन्नरसपूर्णास्वात्मा तदुपाधिः स्वस्यापि रक्तादिरूपतामविद्यया कल्पयतीत्यर्थः ।। अथाऽऽत्मनो रसगतरक्तादिरूपभजनं केन द्वारेण संपद्यते किमर्थं चेति तत्राऽऽह—रसेति । भुक्तस्यान्नस्य रसो नाडीषु प्रसृतो धातुसंबन्धान्नानावर्णो भवति तदनुसारेण नाडीस्था देवता लिङ्गादिशब्दा मिथ्याभूतां रक्तादिरूपतां गच्छति तदुपाधिरात्माऽपि स्वभोगार्थमुक्तरूपभाग्भवतीत्यर्थः ।। ननु नेयं व्यवस्था चतुर्थे षष्ठादौ च नाडीनामुक्तत्वादत्र पुनरुक्त्या तदुक्तेरेवायोगादित्याशङ्क्य चातुर्थिकनाड्युपन्यासफलमाह—वौद्धेति । ज्ञानस्य धीपरिणामस्य जागरादौ विकासः सुषुप्ते संकोचस्तयोरुक्त्यर्थं चतुर्थे नाड्यु-

वैषम्यविशेषाद्विचित्रा बहवश्च 'भवन्ति ।

तास्वेवंविधासु नाडीषु सूक्ष्मासु वालाग्रहसहस्रभेदपरिमाणासु शुक्लादिरसपू सकलदेहव्यापिनीषु सप्तदशकं लिङ्गं वर्तते । [2]तदाश्रिताः सर्वा वासना [3]उच्चावचसं धर्मानुभवजनिताः । तल्लिङ्गं वासनाश्रयं [4]सूक्ष्मत्वात्स्वच्छं[5] स्फटिकमणिकल्पं ना

‘*[6]अरुणाः शिरा वातवहा [7]नीलाः पित्तवहाः शिराः ।
असृग्वहास्तु रोहिण्यो गौर्यः श्लेष्मवहाः शिराः’ ॥

इति [8]सौश्रुते दर्शनादित्यर्थः ।

नाडीस्वरूपं निरूप्य [9]तत्र जागरिते लिङ्गशरीरस्य वृत्तिं दर्शयति—तास्विति । एवंविध त्यस्यैव विवरणं सूक्ष्मास्वित्यादि । पञ्च भूतानि दशेन्द्रियाणि प्राणोऽन्तःकरणमिति सप्तद जागरिते लिङ्गशरीरस्य स्थितिमुक्त्वा स्वाप्नीं तत्स्थितिमाह—तल्लिङ्गमिति । विवक्षितां स्वप्न

के होते हैं ।

इस प्रकार शुक्लादि रसों से पूर्ण सम्पूर्ण देह में व्याप्त बालाग्र के सहस्रांश प वाली इन सूक्ष्म नाडियों में सत्रह तत्त्वों वाला लिङ्गशरीर रहता है । लिङ्गाश्रित संसार के उत्कृष्ट- अनात्मधर्मों के अनुभव से जन्य सभी वासनाएँ हैं । वासनाओं का आश्रयभूत वह लिङ्गशरीर सूक्ष्म

---

१. अन्नरसाः । २. लिङ्गाश्रिताः । ३. उत्कृष्टनिकृष्टानात्मधर्मानुभवजनिताः । ४. अतएव च प्रत्यक्षम् । ५. अतएव वासनाश्रयः । ६. ईषद्रक्तानीलबहुलाः । ७. ईषन्नीलाः पीतबहुलाः । ८. चार्यप्रणीते ग्रन्थविशेषे । ९. उक्तरूपासु नाडीषु ।

पन्यासो धीवृत्तिरूपज्ञानसंकोचविकासौ हि द्वारभूता नाडीराकाङ्क्षेते न च तद्विकासादिवचनमकिंचित्कर शुद्ध्यर्थत्वात्तत्कथनेन हि तत्साक्षितयाऽऽत्मा शुद्धः स्यादित्यर्थः ॥ कूर्चब्राह्मणेन नाड्युक्तिफलमाह— षष्ठादौ सूक्ष्मनाडीग्रहो देवताया लिङ्गस्य स्थितिकरान्नरसस्यातिसूक्ष्मत्वज्ञापनार्थं न च तदफलं प्रविविक्त तैजसशब्दितदेवताद्वारा त्वमर्थे इष्टयर्थत्वान्न हि विश्वादिज्ञानादृते त्वमर्थो वाक्यान्वयी शक्यो ज्ञातुं न नाडीस्तैजसस्य सूक्ष्मान्नरससंबन्धस्य सिद्धिस्तद्युक्तमादौ नाडीवचनमित्यर्थः । अत्र नाड्युपन्यासस्य भोक्तुरिति । त्वमर्थज्ञापनार्थं कामादिविवेकविवक्षयाऽत्र नाडीग्रहस्तद्गतो लिङ्गात्मा कामादिशा वात्मन्यारोप्यते तस्तत्र तत्र द्वारभेदेन नाड्युपन्यासस्त्वमथशुद्ध्यर्थं इत्यर्थभेद इत्यर्थः ॥

* अरुणाः शिरा वातवहा इत्यादि । यद्यपि अद्यत्वे लभ्यमानसुश्रुतग्रन्थे पद्यमिदमन्यथैव पठ्यते । "तत्रारुणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना शिराः । पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च शीता गौर्यः स्थिराः कफात् ॥ रोहिण्यः शिरा नात्युष्णशीतलाः" ॥ इति । शरीरस्थाने ७-२० ॥ तथापि प्रकृतश्रुतौ शुक्लस्य नील मात्रस्य नाडीषु प्रदर्शितत्वेन सुश्रुतोक्तशैत्यस्थैर्यादीनां प्रकृतानुपयोगादुपयोग्यंश एव सुश्रुतपद्यादुद्धृत्य रेव पद्यात्मना परिणमय्यात्र न्यस्त इति प्रतिभाति । सौश्रुतपद्यार्थस्त्वित्थम् । तत्र शिराणां मध्ये वातवह अरुणा ईषच्छ्यामत्वे सति रक्ताः पूर्यन्ते च वायुना वायुपूरणादुच्छूनाश्च तिष्ठन्तीति । पित्तवहाश्च नीलाश्च भवन्ति । कफवहास्तु शीतलस्पर्शाः श्वेतरूपा दृढाश्च भवन्ति । रुधिरवाहिन्यस्तु रक्तवर्णा अ स्पर्शाश्चेति ।

लोपाधि[1]संसर्गवशाद्धर्माधर्म[2]प्रेरितो[3]द्भूतवृत्तिविशेषं स्त्रीरथहस्त्याद्या[4]कारविशेषै[5]र्वासनाभिः प्रत्यवभासते। अथैवं सति यत्र यस्मिन्काले केचन शत्रवोऽन्ये वा तस्करा मामागत्य घ्नन्तीति मृषैव वासनानिमित्तः प्रत्ययोऽविद्याख्यो जायते [7]तदेतदुच्यत एनं स्वप्नदृशं घ्नन्तीवेति। तथा जिनन्तीव वशी कुर्वन्तीव। न केचन घ्नन्ति नापि वशी कुर्वन्ति केवलं [8]त्वविद्यावासनोद्भवनिमित्तं भ्रान्तिमात्रम्। तथा हस्तीवैनं विच्छाययति विच्छादयति विद्रावयति धावयतीवेत्यर्थः। गर्तमिव पतति गर्तं जीर्णकूपादिकमिव पतन्तमात्मानमुपलक्षयति। तादृशी ह्यस्य[9] मृषा [10]वासनोद्भवत्यत्यन्तनिकृष्टाऽधर्मो[11]द्भासितान्तःकरणवृत्त्याश्रया दुःखरूपत्वात्।

त्वा श्रुत्यक्षराणि योजयति—अथेत्यादिना। स्वप्ने धर्मादिनिमित्तवशान्मिथ्यैव लिङ्गं नानाकारवभासते तन्मिथ्याज्ञानं लिङ्गानुगतमूलाविद्याकार्यत्वादविद्येति स्थिते सतीत्यथशब्दार्थमाह—एवंतीति। तस्मिन्काले स्वप्नदर्शनं विज्ञेयमिति शेषः। "इवशब्दार्थ"माह—नेत्यादिना। उक्तोदाहरणेन मुक्त्योदाहरणान्तरमाह—तथेति। गर्तादिपतनप्रतीतौ हेतुमाह—तादृशी हीति। तादृशत्वं विशदयति—अत्यन्तेति। यथोक्तवासनाप्रभवत्वं कथं गर्तपतनादेरवगतमित्याशङ्क्याऽऽह—दुःखेति।

के कारण (घटादि के समान प्रत्यक्ष न होने से) स्वच्छ और स्फटिकमणि के समान है, वह नाडीगत रस की (नाना वर्ण वाली) उपाधियों के सम्पर्क से धर्माधर्मजनित अभिव्यक्तवृत्तिविशेष वाला तथा स्त्री, रथ, हाथी आदि आकार वाली विशेष प्रयोजकीभूत वासनाओं से युक्त भासित होता है। "अथ" अर्थात् ऐसा होने पर "यत्र" यानी जिस काल में "घ्नन्तीव" अर्थात् वासना के कारण "कोई शत्रु अथवा अन्य चोर आदि आकर मुझे मारते हैं"—ऐसा वृथा ही अविद्याख्य प्रत्यय हो जाता है। उक्त अभिप्राय से श्रुति कहती है—इस स्वप्नद्रष्टा को मानो मारते हैं; तथा "जिनन्तीव" अर्थात् मानो वश में करते हैं। उस समय वस्तुतः न कोई मारते हैं और न ही कोई वश में करते हैं; केवल अविद्याप्रयुक्त संस्कार के उद्बोधनिमित्तक भ्रान्तिमात्र ही है। उसी प्रकार हाथी के समान कोई इसे 'विच्छाययति' अर्थात् विच्छादित करता है अथवा विद्रावित या पीछा करता है। "गर्तमिव पतति" अर्थात् जीर्णादिक कुएँ में अपने को गिरते हुआ सा देखता है। इस प्रकार इस स्वप्नद्रष्टा को मिथ्या वासना उत्पन्न हो जाती है, जो दुःखरूपा होने के कारण अत्यन्त निकृष्ट तथा अन्तःकरण की अधर्मजनित वृत्ति के आश्रित है।

---

१. अतएव नानावर्णभम्। २. जनितेति यावत्। ३. अभिव्यक्तवृत्तिविशेषम्। ४. एतदात्मना। ५. प्रयोजकीभूताभिः। ६. प्रत्यवभासत इति—अनेन तत्र साक्षिप्रत्यक्षं प्रमाणितम्। उक्तं लिङ्गमात्मनो विषयत्वेन भातीत्यर्थः। तस्य जडत्वेनास्ति साक्ष्यपेक्षेति वक्तुं प्रतिशब्द इत्याहुः। ७. उक्तमर्थमभिप्रेत्य श्रुत्योच्यते। ८. अविद्याप्रयुक्तसंस्कारोद्बोधनिमित्तम्। ९. स्वप्नदृशः। १०. वासनोद्भवतीति—जाग्रद्भोगद यदर्जितं कर्म तस्य यत्फलं तत्र भुक्तं तस्य लेशो वासना सा च स्वप्ने व्यज्यत इत्यर्थः। ११. जनितेति यावत्। १२. इवशब्दार्थमिति—ननु स्वप्नेऽपि जाग्रदवस्थायामिव हन्त्रादि भाति तत्कुतो हननादिधीर्मृषेत्याशङ्क्येत्यादिः। १३. उक्तज्ञानस्याभासत्वरूपम्।

किं बहुना यदेव जाग्र[1]द्भयं पश्यति हस्त्यादिलक्षणं तदेव भयरूपमत्रास्मिन्स्व विनैव हस्त्यादिरूपं भयम ❀[2]विद्यावासनया मृषैवो[3]द्भूतया [4]मन्यते। ❀[5]अथ पुनर्य

यदेवेत्यादिश्रुतेरर्थमाह—किं बहुनेति। भयमित्यस्य भयरूपमिति व्याख्यानम्। भयं ' येन‘ तत्कारणं 'तथा। हस्त्यादि नास्ति चेत्कथं स्वप्ने भातीत्याशङ्क्याऽऽह—अविद्येति। अथ देव इवेत्यादेस्तात्पर्यमाह—अथेति। ''तत्र ''तस्याः फलमुच्यत इति शेषः। तात्पर्योक्त्याऽथशब्दा

अधिक क्या कहा जाय—जागरित अवस्था में जो यह भय के कारण हस्त्यादि रूप को देखता इस स्वप्नावस्था में भयहेतुक हस्त्यादि रूप के बिना उदबुद्ध हुई अविद्याजनित वासना से भय रूप को, जो मिथ्या ही है, (आकाश में नीलेपन की तरह) सत्य मानने लगता है

---

१. बिभेत्यस्मादिति भयम्। जागरिते यद्भयकारणं हस्त्यादिरूपं पश्यति। २. अविद्याजनितवासनया ३. उद्बुद्धया। ४. नभसि नैल्यवत्। ५. अथेति—उत्कृष्यमाणाया अविद्यायाः कार्यप्रदर्शनानन्तरमि इत्याहुः। ६. काले। ७. उत्पद्यते। ८. इति। ९. भयरूपम्। १०. काले। ११. उत्कृष्यमा विद्यायाः।

❀ अविद्यावासनया मृषैवोद्भूतया मन्यते इति। अत्र वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"जाग्रद्विषय एवायं यद्दृ पुराऽप्यसत्। तदत्र स्वप्नेऽसंभाव्यं मन्यतेऽविद्ययैव सः। नाविद्या नापि तत्कार्यं यस्मादात्मसमीक्षणे॥ त्वेकान्ततोऽविद्याकार्यमाहुर्विपश्चितः। यतो विज्ञाततत्त्वानां भीतिर्नास्ति कुतश्चन॥ एतदुक्तं भवत्यत्र पूर्वोपात्त कर्मणः। फलं प्रबोधे यद्भुक्तं तच्छेषो भावनोच्यते॥ यदि नामावसितार्था फलं दत्त्वेह भावना। पुंभोगसमये प्रयुङ्क्ते सा पुनर्नवम्॥ उत्पत्तिभोगयोरेवं भावना कर्मणः सदा। प्रयोक्त्रीं भावनैवाऽऽत्मकर्तृ भोक्तृत्वयोर्मृषा १२५२-१२५६॥ इति। यद्रथादि जाग्रदवस्थायां पुरुषो दृष्टवांस्तत्तत्रापि मिथ्यैव वस्तुनोऽद्वयत्वात्तदेव वा मयं स्वप्नेऽसंभावितमपि स्वविद्यया संभावितं मन्यते तदाविद्यत्वात्स्वप्नो मिथ्येत्यर्थः। जागरे स्वप्ने च हस्त्या विद्यां विनाऽसंभावितत्वमुक्तं संभावयति—नाविद्येति। आत्मनः सम्यगीक्षणे वाक्यीये सकार्याज्ञानस्यात्यन्त स्तदसंभावनेत्यर्थः॥ अवस्थयोराविद्यं भयमित्युक्तेऽर्थे विद्वत्प्रसिद्धिमाह—भयं त्विति। तत्रैवान्वयव्यति वाह—यत इति। आत्मनमजानतामेव भीतिर्न तु जानतां हेत्वभावादतोऽसावविद्याकृतेत्यर्थः॥ यदेव जाग्रद्भ मिति विशेषणाद्भयस्याऽऽविद्यत्वेऽपि स्वप्ने कर्तृत्वादेर्न तथात्वमित्याशङ्क्य वाक्यस्य विवक्षितमाह—एतदि जाग्रद्भोगदं यदार्जितं कर्म तस्य यत्फलं तत्र भुक्तं तस्य लेशो वासना सा च स्वप्ने व्यज्यत इत्याह—पूर्वेति जाग्रद्भोगदस्य कर्मणस्तदा भुक्तत्वात्तद्वासनानां च स्वप्नभोगेनावसन्नत्वादुत्थानमुत्थितस्यानुष्ठानं च न स्याद भावादित्याशङ्क्याऽऽह—यदीति। यद्यपि स्वप्ने पुंसो भोगकाले जाग्रद्वासना व्यक्ता फलं दत्त्वा समाप्तस्व तथाऽपि पुनर्जागरेऽपरा वासना नूतनं कर्म कारयति न हि सत्यामविद्यायामुत्थानानुपपत्तिर्वासनानां च का चित्स्वाप्नभोगदत्वमन्यासां जाग्रत्कर्महेतुतेत्युत्थानमुत्थितस्यानुष्ठानसिद्धिरित्यर्थः॥ जागरे स्वप्ने च कर्मोत्प तत्फलभोगे च नानावासना प्रयोजिकेत्युक्तं निगमयति—उत्पत्तीति। आत्मस्थकर्तृत्वादेरपि कर्मादिद्वारा प्रयोजिकेत्याह—भावनेति। प्रयोक्त्रीति संबन्धः। सा चेत्तत्र प्रयोक्त्री प्रयोजिकाऽविद्याभ्युपगमभङ्गस्तत्राऽऽह— मृषेति॥

❀ अथ पुनरित्यादि यत्त्वित्यतोऽर्वाक्तनभाष्ये वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"कार्यमेतदविद्यायाः प्रोद्भूतायाः प्रदर्शितम् अथापकृष्यमाणायाः कार्यतः कार्यमुच्यते। देवादिविषयोद्भूतवासनाऽस्य यदा तदा। जाग्रद्भूमावथ स्व जायते सैव भावना। देवो राजेव चास्मीति स्वप्नकर्मवशाद्विभोः॥ ध्वस्तात्ममोहतत्कार्यः स्यात्प्रबोधे यदा तदा

विद्याऽपकृष्यमाणा [2]विद्या चोत्[3]कृष्यमाणा किंविषया किंलक्षणा चेत्युच्यते—अथ पुनर्यत्र मिन्काले देव इव स्वयं भवति । देवताविषया विद्या यदोद्भूता[4] जागरितकाले तदोद्-तया वासनया देवमिवाऽऽत्मानं [5]मन्यते स्वप्नेऽपि [6]तदुच्यते[7]—देव इव राजेव राज्योऽभिषिक्तः स्वप्नेऽपि राजाऽहमिति मन्यते राजवासनावासितः । एवम[8]त्यन्तप्रक्षीय-

---

क्त्वा विद्याया विषयस्वरूपे प्रश्नपूर्वकं वदन्यत्रेत्यादेरर्थमाह—किंविषयेति । [10]इवशब्दप्रयोगात्स्वप्न वत इति शङ्कां वारयति—देवतेति । विद्येत्युपास्तिरुक्ता । अभिषिक्तो राज्यस्थो जाग्रदवस्थाया-ति शेषः । अहमेवेदमित्याद्यवतारयति—एवमिति । यथाऽविद्यायामपकृष्यमाणायां [11]कार्यमुक्तं

जिस काल में अविद्या कार्यतः प्रक्षीणा और (उपासनारूप) विद्या उत्कर्ष को प्राप्त ती है, तो वह किंविषया और किंलक्षणा है? उसे श्रुति कहती है—फिर "यत्र" अर्थात् समय वह स्वयं देवता के समान हो जाता है, जब जागरित अवस्था में इस द्रष्टा में ताविषयिणी विद्या उत्पन्न हो जाती है; तब उस उत्पन्न हुई वासना से अपने को देवता समान मानता है। ऐसा ही स्वप्न में भी कहा जाता है—वह देवता के समान और राजा के समान

---

[1] प्रक्षीणा कार्यंत इति शेषः ।
[2] उपासना ।
[3] उत्कर्षं गता ।
[4] अस्य द्रष्टुरुत्पन्ना ।
[5] सा च र्तिमिथ्येव शब्दप्रयोगात् ।
[6] पूर्वोक्तम् ।
[7] श्रुत्या ।
[8] निःशेषप्रक्षीयमाणा ।
[9] तथा चाविद्याविद्ययोरुत्कर्षापकर्षयोः सतोरित्येवाथशब्दार्थ इति बोध्यम् ।
[10] देव इव स्वयं भवतीति भाष्ये ।
[11] त्कृष्यमाणाया उपासनायाः फलं राजादिभावोऽस्वाभाविकत्वात्कार्यम् आत्मभावस्त्वकार्यः स्वाभाविकत्वादिति भावः ।

र्वमस्म्यहमेवेदमिति स्वप्नेऽभिमन्यते ।। अहमेवेति चिन्मात्रमात्मनोऽत्रावधार्यते । इदंशब्देन चाविद्याकार्यमत्र विवक्षितम् ।। अविद्यायाः समुच्छित्तावलमेवमिदं वचः । सर्वः कृत्स्नोऽहमस्मीति तदैतदुपपद्यते ।। एषोऽस्य परमः पूर्णः कृत्स्नो लोकस्तु विद्यया । इतोऽपरे तु ये लोकास्तेऽस्याविद्याप्रकल्पिताः ।। देवो राजेव यत्स्वप्ने र्शनं प्रत्यगात्मनः । विद्याफलं न तन्न्याय्यमिवशब्देन संगतेः ।। घ्नन्तीवाविद्यया यद्वन्मन्यते स्वप्नभूमिगः । देवो राजेव चास्मीति मोहादेवं क्रियाफलम् ।। अहमेवेति न स्वप्नः साक्षादत्राऽऽत्मवस्तुनः । बोधेऽविद्यासहायत्वमिह त्मैव निर्द्वयः" ।। १२७०-१२७८ ।। इति । अथ यत्र देव इवेत्यादेर्वृत्तानुवादेन तात्पर्यमाह—कार्यमिति । कार्यतोऽपकृष्यमाणाया इति संबन्धः ।। तात्पर्योक्त्याऽथशब्दार्थमुक्त्वा यत्रेत्यादेरर्थमाह—देवादीति । यदा जागरे देवादिविषया विद्याऽस्य द्रष्टुर्जाता तदा तदनुसारिणी वासना जायते ततः स्वप्नभोगहेतुकर्मवशादस्य सैव पूर्वोत्पन्ना वासना देवोऽस्मीत्यादिदृष्टिरूपा स्वप्ने संपद्यते सा चेवशब्दान्मिथ्येत्यर्थः । जाग्रद्धेतुकर्मक्षयानन्तर्यमथशब्दार्थः । विभुत्वं करणस्वामित्वेन भोक्तृत्वम् ।। अहमेवेदमित्यादेरर्थमाह—ध्वस्तेति ।। संगृहीतं विवरितुं पदत्रयार्थमाह—अहमिति । सप्तम्या प्रकृतवाक्योक्तिः ।। वाक्यार्थं फलोक्तिपूर्वकमाह—अविद्याया इति । उक्तरीत्या पदानामर्थे गृहीते समानाधिकृतपदत्रयात्मकं वाक्यं चिन्मात्रं बोधयदविद्यां सकार्यामुच्छेत्तुं शक्तं स्यादित्यर्थः । तत्र वाक्यशेषानुग्रहमाह—सर्व इति । उक्तवाक्यार्थोपगमे सर्वोऽस्मीति पूर्णत्वमुच्यमानमात्मनो युज्यते परिच्छेदकाभावादित्यर्थः ।। सोऽस्येत्यादेरर्थमाह—एषोऽस्येति । परमशब्दार्थमाह—पूर्ण इति । तस्य सापेक्षत्वं व्यावर्तयति—कृत्स्न इति । विद्यया लभ्यत इति शेषः । स्वर्गादिलोकानां सत्त्वे कुतोऽस्य पूर्णतेत्याशङ्क्याऽऽह—इत इति ।। देवत्वादिज्ञानस्य पुमर्थतया विद्याफलत्वान्न तस्य पूर्णतेति चेत्तत्राऽऽह—देव इति ।।

माणाऽविद्यो[1]द्भूता च विद्या सर्वात्मविषया यदा तदा स्वप्नेऽपि [2]तद्भावभावितोऽहं वेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते । स यः सर्वात्मभावः सोऽस्याऽऽत्मनः परमो लोकः परम आत्म भावः [3]स्वाभाविकः । यत्तु सर्वात्मभावाद[4]र्वाग्वालाग्रमात्रमप्य[5]न्यत्वेन दृश्यते नाहमस्मीति तदवस्थाऽविद्या तयाऽविद्यया ये [6]प्रत्युपस्थापिता [7]अनात्मभावा [8]लोकास्तेऽपरमाः स्था रान्तास्ता[9]न्संव्यवहारविषयाँल्लोकानपेक्ष्यायं सर्वात्मभावः समस्तोऽनन्तरोऽबाह्यः सोऽ परमो लोकः ।

तद्वदित्यर्थः । यदेति जागरितोक्तिः । [10]इदं [11]चैतन्यमहमेव [12]चिन्मात्रं न तु मदतिरेकेणास्ति [13]तस्मा सर्वः पूर्णोऽस्मीति जानातीत्यर्थः । सर्वात्मभावस्य परमत्वमुपपादयति—यत्त्वित्यादिना । [14]तत्र [15] ऽऽकारेणाविद्याऽवस्थितेत्याह—तदवस्थेति । तस्याः कार्यमाह—तयेति । समस्तत्वं पूर्णत्वम् । अनन्त त्वमेकरसत्वम् । अबाह्यत्वं प्रत्यक्त्वम् । योऽयं यथोक्तो लोकः सोऽस्याऽऽत्मनो लोकाःपूर्वोक्तान परम इति संबन्धः ।

होता है, राज्य में अभिषेकपूर्वक स्थित हुआ पुरुष स्वप्न में भी उस राजवासना से वासित हो "मैं राजा हूँ" ऐसा मानता है । इसी प्रकार जब अविद्या निःशेष क्षीण हो जाती है, तब सर्वात्मवि विद्या प्रकर्ष को प्राप्त होती है । तब उस अविद्या संस्कार से संस्कृत वह स्वप्न में भी "मैं ही सर्वरू ऐसा मानता है । यह जो सर्वात्मभाव है, वह इस आत्मा का "परमो लोकः" अर्थात् (विद्याति साधन से अनपेक्ष) स्वाभाविक परम आत्मभाव है । और जो सर्वात्मभाव से प्राक् अपने को वा मात्र भी "मैं यह नहीं हूँ" इस प्रकार प्रत्यगात्मा से अतिरिक्त अन्यत्वेन देखता है, वह अविद्या अवस्था है । उस अविद्या द्वारा प्रदर्शित (प्रकल्पित) किए हुए अनात्मरूप स्वर्गादिलोक हैं; वे स पर्यन्त अपरम हैं । उन संव्यवह्रियमाण लोकों की अपेक्षा यह सर्वात्मभाव सम्पूर्ण, तथा अन्तर शून्य है वह इसका परम लोक है ।

---

१. उत्पन्ना प्रकर्षं गता वा । २. यथोक्तविद्यासंस्कारसंस्कृतः । ३. विद्यातिरिक्तसाधनानपेक्ष्यः । ४. प्र
५. नाहमस्मीत्येव मन्यत्वेन प्रत्यगात्मातिरेकेण दृश्यत इत्यन्वयः । ६. प्रदर्शिताः प्रकल्पिता इति
७. अनात्मरूपाः । ८. स्वर्गादयः । ९. संव्यवह्रियमाणान् । १०. जगत् । ११. चिन्
मदभिन्नमेव । १२. तदेव स्फुटयति—चिदिति । १३. मदतिरेकेणान्यस्याभावात् । १४.
भावप्रागवस्थायाम् । १५. तद्वस्त्वाकारेण ।

सर्वस्य चिन्मात्रत्वं पूर्णमेव विद्याफलमिति स्थिते स्वप्ने दृश्यमानदेवत्वादेर्गतिमाह—घ्नन्तीवेति । स्वप्नद्रष्टा हननादिकर्मफलमविद्ययाऽनुभवत्येवं देवत्वाद्यपि तत्फलं मोहादेव पश्यत्यतो न तस्य विद्याफलत्वं तर्हि सर्वस्य चिन्मात्रत्वमपि न तत्फलं स्वप्नदृष्टत्वात्तद्दृष्टहननादिवदित्याशङ्क्याऽऽह—अहमिति । चिन्मात्रत्वमत्र स्वप्ने भाति न तदितरस्वप्नवन्मिथ्येवशब्दं विना साक्षादेव सर्वभावश्रवणात्तस्य वस्तुत्वादित्यर्थः । जाग्रति दृष्टदेहात्मत्ववदत्रापि दृष्टं सर्वात्मत्वं मिथ्येति चेन्नेत्याह—बोध इति । जागरे विद्यासाहित्यं देहात्मत्वस्यास्ति स्वप्ने केवलमात्मैव विद्याफलभूतो वर्तते वासनारूपाविद्याभानेऽपि विद्याया जाग्रद्वदभानादतो नात्र मिथ्याशङ्केत्यर्थः । यद्वा जाग्रति बाधकबोधसाहित्यं देहात्मत्वादेरस्ति त्वात्मैव केवलो बाधकविधुरस्तिष्ठत्यतः स्वाप्नः सर्वभावो न मिथ्येत्यर्थः ॥

[1]तस्माद[2]पकृष्यमाणायाम[3]विद्यायां विद्यायां च [4]काष्ठां गतायां सर्वात्मभावो मोक्षः। था स्वयंज्योतिष्ट्वं स्वप्ने प्रत्यक्षत उपलभ्यते तद्वद्विद्याफलमुपलभ्यत इत्यर्थः। तथा-विद्यायामप्यु[5]त्कृष्यमाणायां तिरोधीयमानायां च विद्यायामविद्यायाः फलं प्रत्यक्षत एवोपभ्यतेऽथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीवेति। ते एते विद्याविद्याकार्ये सर्वात्मभावः परिच्छिन्नभावश्च। विद्यया शुद्धया सर्वात्मा भवति। अविद्यया चासर्वो भवति। [6]अन्यतः कुतश्चि[7]त्प्रविभक्तो भवति। यतः प्रविभक्तो भवति तेन विरुध्यते। विरुद्धत्वाद्धन्यते [8]जीयते [9]विच्छाद्यते च। असर्वविषयत्वे च भिन्नत्वादेतद्भवति। [10]समस्तस्तु सन्कुतो भिद्यते येन विरुध्येत विरोधाभावे केन हन्यते [11]जीयते विच्छाद्यते च। अत इदमविद्यायाः

वाक्यार्थमुपसंहरति—तस्मादिति। मोक्षो विद्याफलमित्युत्तरत्र संबन्धः। [12]तस्य प्रत्यक्षत्वं न्तेन स्पष्टयति—यथेति। विद्याफलवदविद्याफलमपि स्वप्ने प्रत्यक्षमित्युक्तमनुवदति—तथेति। विद्याफलमविद्याफलं [14]चेत्युक्तमुपसंहरति—ते एते इति। उक्तं फलद्वयं विभजते—विद्ययेति। सर्वो भवतीत्येतत्प्रकटयति—अन्यत इति। प्रविभागफलमाह—यत इति। विरोधफलं कथयति—विरुद्धत्वादिति। अविद्याकार्यं निगमयति—असर्वेति। अविद्यायाश्चेत्परिच्छिन्नफलत्वं तदा [15]तस्य भिन्नत्वादेव यथोक्तं विरोधादि दुर्वारमित्यर्थः। विद्याफलं निगमयति—समस्तस्त्विति। नन्वविद्यायाः सतत्त्वं निरूपयितुमा[16]रब्धं न च तदद्यापि दर्शितं [17]तथा च किं [18]कृतं स्यादत आह—अत इति।

इसलिए (पर-अपर लोकों के विद्या-अविद्या के अधीन होने के कारण) अविद्या का तिरोधान और विद्या की उत्कर्ष सीमा प्राप्त हो जाने पर सर्वात्मभाव ही मोक्ष है। अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न में आत्मा का स्वयंप्रकाशत्व प्रत्यक्ष अनुभव होता है, उसी प्रकार विद्या के फल मोक्ष की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है। इसी प्रकार अविद्या का उत्कर्ष और विद्या का तिरोभाव होने पर भी "जिस समय मानो इसे मारते हैं; मानो इसे वश में करते हैं" इत्यादि अविद्या का फल प्रत्यक्ष ही अनुभव होता है। वे ये सर्वात्मभाव और परिच्छिन्नात्मभाव क्रमशः विद्या और अविद्या के कार्य हैं। शुद्ध विद्या से सर्वात्मा हो जाता है। अविद्या से असम्पूर्ण हो जाता हैं। अपने से अन्य किसी के द्वारा पृथग्भूत हो जाता है। जिससे पृथग्भूत रहता है, उससे विरुद्ध रहता है। विरुद्ध रहने के कारण मारा जाता है, वशीकृत होता है तथा विद्रावित होता है। असम्पूर्ण का विषय रहने पर ही पृथक् होने के कारण यह होता हैं। यदि पूर्ण रूप रहता तो किससे भिन्न होता, जिससे कि उसका विरोध हो सकता था और विरोध न होने पर वह किसके द्वारा मारा जाता, वश में किया जाता और विद्रावित होता। अतः इस अविद्या का स्वरूप बतलाया जाता है—पुरुष सर्वात्मा होते हुए अपने को असर्वात्मा ग्रहण करता है। आत्मा से

---

१. पराऽपरलोकयोर्विद्याऽविद्याधीनत्वात्। २. अपक्षीयमाणायाम्। ३. तिरोधीनायाम्। ४. उत्कर्षसीमानम्। ५. कार्यंत उत्कर्षं गतायाम्। ६. स्वान्यतः। ७. पृथग्भूतः। ८. परिभूयते। ९. विद्राव्यते। १०. पूर्णस्तु। ११. वशी क्रियते। १२. विद्याफलमोक्षस्य। १३. प्रत्यक्षम्। १४. फलस्य अविद्यावतो वा। १५. स्वरूपम्। १६. ता वा इत्यादिकम्। १७. निरूपयितुमारब्धस्यानिरूपणे। १८. किमेतावता भवद्भिः कृतम्।

सतत्त्वमुक्तं भवति । सर्वात्मानं सन्तमसर्वात्मत्वेन ग्राहयति । आत्मनोऽन्यद्वस्त्वन्तर विद्यमानं [१]प्रत्युपस्थापयति । आत्मानमसर्वमापादयति । [२]ततस्तद्विषयः कामो भव यतो भिद्यते । कामतः [३]क्रियामुपादत्ते । [४]ततः फलम् । तदेतदुक्तम्[५] । वक्ष्यमाणं च [६] हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यतीत्यादि । इदमविद्यायाः [७]सतत्त्वं सह [८]कार्ये प्रदर्शितम् । विद्यायाश्च कार्यं सर्वात्मभावः प्रदर्शितोऽविद्याया [९]विपर्ययेण । सा चावि नाऽऽत्मनः स्वाभाविको धर्मो यस्माद्विद्यायामु[१०]त्कृष्यमाणायां स्वयमप[११]चीयमाना स काष्ठां [१२]गतायां विद्यायां [१३]परिनिष्ठिते सर्वात्मभावे [१४]सर्वात्मना निवर्तते रज्ज्वामि सर्पज्ञानं रज्जुनिश्चये । [१५]तच्चोक्तं यत्र [१६]त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्त[१७]त्केन कं पश्येदित्यादि

---

[१८]कार्यवशादिति यावत् । इदंशब्दार्थमेव स्फुटयति—सर्वात्मानमिति । ग्राहकत्वमेव व्यनक्ति—आत्म इति । वस्त्वन्तरोपस्थितिफलमाह—तत इति । कामस्य कार्यमाह—कामत इति । क्रियातः फ लभते तद्भोगकाले च रागादिना [१९]क्रियामादधातीत्यविच्छिन्नः संसार[२०]स्तद्यावन्न सम्यग्ज्ञानं तावन्मिथ्या [२१]ज्ञाननिदानमविद्या दुवरित्याह—तत इति । भेददर्शननिदानमविद्येत्य[२२]विद्यासूत्रे वृत्तमित्याह—तदे दिति । [२३]तत्रैव वाक्यशेषमनुकूलयति—वक्ष्यमाणं चेति । अविद्याऽऽत्मनः स्वभावो न वेति विचा किं निर्णीतं भवतीत्याशङ्क्य वृत्तं कीर्तयति—इदमिति । अविद्यायाः परिच्छिन्नफलत्वमस्ति [२४]तदे वैपरीत्येन विद्यायाः कार्यमुक्तं स च सर्वात्मभावो दर्शित इति योजना । संप्रति निर्णीतमर्थं दर्शयति—सा चेति । ज्ञाने सत्यविद्यानिवृत्तिरित्यत्र [२५]वाक्यशेषं प्रमाणयति—तच्चेति । अविद्य

पृथक् कोई अन्य वस्तु न होने पर भी उसे प्रदर्शित करता है और आत्मा को असम्पूर्ण प्रतिपादि करता है । फिर जिससे भेद होता है, उसके विषय में कामना होती है, कामना से कर्मानुष्ठान होत है । क्रिया से फलप्राप्ति होगी, यह कहा जा चुका है । आगे भी कहा जायगा कि "जहाँ द्वैत सा होत है, वहीं अन्य, अन्य को देखता है" इत्यादि । अविद्या का यह (अन्यथाग्राहकत्वाख्य) स्वरू (भ्रम-कामादि) कार्यसहित प्रदर्शित किया गया । विद्या का सर्वात्मभाव कार्य भी जो अविद्या के विपरीत है, प्रदर्शित किया गया । वह अविद्या आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है, क्योंकि विद्या क उत्कर्ष होने पर (रागादि कार्य उत्पन्न करने में असमर्थ होने पर) वह स्वयं क्षीण होने लगती है । एवं जिस समय विद्या का सर्वात्मभाव स्वरूप और कार्य से सुस्थिर पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, उस समय रज्जु का निश्चय होने पर रज्जु में सर्पज्ञान के समान उसकी अशेषतः निवृत्ति

---

१. प्रदर्शयति । २. वस्त्वन्तरदर्शनानन्तरम् । ३. कर्मानुतिष्ठति । ४. क्रियातः । ५. बृ. उ. १. ४. १०. । ६. बृ. उ. ४. ५. १५ । ७. अन्यथाग्राहकत्वाख्यस्वरूपम् । ८. भ्रमकामादिकार्येण । ९. वैपरीत्येन । १०. अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितायाम् । ११. रागादिकार्यजननाऽसमर्थेति यावत् । १२. असंभावनादिविधुरायाम् । १३. सुस्थिरे । १४. स्वरूपेण कार्येण च । १५. अज्ञाननिवृत्ति रूपं ज्ञानफलं च । १६. बृ. उ. २. ४. १४ । १७. बृ. उ. ४. ५. १५ । १८. अविद्याकार्यप्रदर्शन द्वारेति यावत् । १९. कर्तव्येन हृदि स्थापयति । २०. तस्मात् । २१. भ्रान्तिकारणम् । २२. "योऽन्यां देवतामुपास्ते" बृ. उ. १. ४. १० इत्यविद्यासूत्रम् अविद्यायाः संक्षेपतः प्रतिपादकवाक्यं तस्मिन् । २३. भेददर्शननिदानमविद्येत्युक्तेऽर्थे । २४. अविद्याफलात् । २५. प्रकृतवाक्यस्य तात्पर्यनिर्णायकम् ।

[1]तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयꣳ रूपम् । [2]तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नाऽऽन्तरमेवमेवायं पुरुषः [3]प्राज्ञेनाऽऽत्मना

वह इस पुरुष का रूप निःसन्देह कामनाशून्य, पापरहित और अभय स्वरूप है। जैसे व्यवहार पनी प्यारी पत्नी का आलिङ्गन करके पुरुष न कुछ बाह्य वस्तु को और न आभ्यन्तर वस्तु को ही नता है, ऐसे ही यह पुरुष प्रज्ञात्मा से आलिङ्गित हुआ परमार्थदर्शन काल में न कुछ बाह्य विषय

स्मान्नाऽऽत्मधर्मोऽविद्या । न हि स्वाभाविकस्योच्छित्तिः कदाचिदप्युपपद्यते सवितुरिष्ण्यप्रकाशयोः । [5]तस्मात्तस्या [6]मोक्ष उपपद्यते । २० ॥

इदानीं योऽसौ सर्वात्मभावो मोक्षो विद्याफलं क्रियाकारकफलशून्यं स प्रत्यक्षतो र्दिश्यते [7]यत्राविद्याकामकर्माणि न सन्ति । तदेत[8]त्प्रस्तुतं यत्र सुप्तो न कंचन कामं

ऽऽत्मनः [9]स्वभावो निवर्त्यत्याद्रज्जुसर्पवदित्याह—तस्मादिति । निवर्त्यत्वेऽप्यात्मस्वभावत्वे हानिरित्या[10]शङ्क्याऽऽह—न हीति[11] । अविद्यायाः स्वाभाविकत्वाभावे फलितमाह—स्मादिति ॥ २० ॥

तद्वा अस्यैतदित्यनन्तरवाक्यतात्पर्यमाह—इदानीमिति । [12]विद्याविद्ययो[13]स्तत्फलयोश्च प्रदर्शनान्तरमिति यावत् । मोक्षमेव विशिनष्टि—यत्रेति । [14]पदद्वयस्यान्वयं दर्शयन्विवक्षितमर्थमाह—तदेतदिति ।

हो जाती है। इसीसे श्रुति में कहा है—"जहाँ इसके लिए सब कुछ आत्मस्वरूप ही हो जाता है—तब ससे किसको देखे" इत्यादि। इसलिए अविद्या आत्मधर्मी नहीं है क्योंकि उष्णता और प्रकाश के मान सूर्य के स्वाभाविक धर्मों का कभी विच्छेद नहीं हो सकता इसलिए उसके प्रकाश से मोक्ष होना संभव है ॥२०॥

अब जो विद्या का फल क्रिया-कारक-फलशून्य सर्वात्मभाव मोक्ष है, जिसमें अविद्याजनित म और कर्मों का अभाव है, उसका प्रत्यक्ष निर्देश किया जाता है। प्रकरणस्थ मोक्षाख्य ब्रह्म को

---

१. सर्वोऽस्मीत्यादिना संगृहीतमेवात्मलोकं व्यक्ताऽविद्याहीनां सुषुप्त्यवस्थामवलम्ब्य कण्डिकाद्वयेन प्रकटीकरोति—तद्वा इत्यादिना । वै प्रसिद्धम् । अस्य सर्वात्मभावापन्नस्य विदुषस्तदेतद्रूपमित्यन्वयः । अतिच्छन्दा इत्यादि, रूपस्य विशेषणत्रयम् । २. नन्वविद्याकामकर्मादीनामिवोक्तस्वयंज्योतिष्ट्वस्यापि सुषुप्तावदर्शनात्तदपि नात्मनः स्वाभाविकमित्याशङ्कायां तत्र तददर्शने विशेषज्ञानाभाव एव हेतुरिति दृष्टान्तपूर्वकमाह—तद्यथेति । सुषुप्तावेकत्वे सति विशेषज्ञानाभावेऽयं दृष्टान्त इत्यर्थः । ३. अविद्यासाक्षिणा स्वाभाविकेनात्मना । ४. आत्मज्ञाननिरूपणात् । ५. अवतरणोक्तात् । ६. सकाशात् । ७. मोक्षे । ८. प्रकृतं मोक्षाख्यं ब्रह्मेत्यर्थः । ९. आत्मज्ञाननिवर्त्यत्वात् । १०. व्यभिचारमाशङ्क्येत्यर्थः । ११. तथा च हेत्वसिद्ध्यापातोऽनुकूलस्तर्क इति भाव इति शेषः । १२. ज्ञानाज्ञानयोः । १३. मोक्षबन्धयोः । १४. तदेतदितिपदद्वयस्य ।

संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नाऽऽन्तरं *[1]तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामꣳ रूपꣳ शोकान्तरम् ॥२१॥

को जानता है और न आभ्यन्तर को ही। यह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोक स्वरूप है ॥२१॥

कामयते न कंचन स्वप्नं [2]पश्यतीति । तदेतद्वा[3] अस्य[4] रूपं यः सर्वात्मभावः सो परमो लोक [5]इत्युक्त[6]स्तदतिच्छन्दा अतिच्छन्दमित्यर्थः । [7]रूपपरत्वात् । छन्दः कामो [8]यत्रेत्यन्तशब्दितं ब्रह्मोच्यते ।

व्याख्यातं पदद्वयमनूद्य वैशब्दस्य प्रसिद्धार्थत्वं मन्वानो रूप [9]षष्ठ्याः संबन्धं दर्शयति—तदिति । अतिच्छन्दमिति प्रयोगे हेतुमाह—रूपपरत्वादिति । कथं च्छन्दमित्यात्मरूपं विवक्ष्यते तत्राऽऽह— छन्द इति । छन्दःशब्दस्य गायत्र्यादिच्छन्दोविषयस्य

इस प्रकार "जहाँ सोया हुआ पुरुष कुछ कामना नहीं करता, कोई स्वप्न नहीं देखता" इत्यादि श्रु वाक्य से प्रस्तुत कर दिया गया। इस प्रसिद्ध आत्मा का यह रूप जो सर्वात्मभाव है तथा 'यह परम लोक है" इस प्रकार कहा गया, वह आत्मरूप "अतिच्छन्दा" अर्थात् कामरहित है क्योंकि

---

१. प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमतिच्छन्दवाक्योक्तमेव रूपं स्पष्टयति—तद्वा इति । अस्य सुषुप्तौ सर्वात्मत्वमा त्मनस्तदेव प्रकृतं रूपमाप्तकामत्वादिविशेषणकमित्यर्थः । २. इत्यत्र वाक्ये प्रस्तुतमित्यन्वयः । ३. प्रसिद्ध ४. आत्मनः । ५. इति वाक्येन । ६. तदात्मरूपम् । ७. रूपविशेषणत्वात् । ८. यत्रेति पदेन मेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावतीतिवाक्यस्थान्तशब्देनोक्तं ब्रह्म भण्यत इत्यर्थः । ९. अस्येत्यस्याः ।

---

* तद्वा अस्यै तदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम् । अत्र वार्तिके—"निरविद्यं तु यद्रूपमन सिद्धिकम् । तद्वा अस्यैतदिति तच्छ्रुत्या निर्वर्ण्यतेऽधुना ॥ सर्वैकात्म्यमिदं यस्मादात्मनो रूपमीदृशम् । ष्क्रियते तस्मात्करविन्यस्तबिल्ववत् ॥ आत्मनो यदविद्योत्थं रूपं संसारभूमिगम् । अनाप्तकामं तत्सर्व मिहोच्यते ॥ आप्तकामादिकं सर्वं वस्तुवृत्तव्यपेक्षया । आप्ताप्तव्यादिहीनत्वादानन्दैकात्म्यवस्तुनः ॥ कामशब्दार्थो नान्योऽर्थः काम्यते यतः । आप्ताशेषपुमर्थोऽयं सर्वसाधननिस्पृहः ॥ सत्यकामादिशब्देन भाषितम् । एतद्वाक्यानुरोधेन व्याख्येयं तदपि स्फुटम् ॥ आत्ममात्रं समुत्सृज्य सत्यत्वं नान्यतो यतः । निरधार्यैतद्यत्र नान्यदिति श्रुतेः ॥ सुखसंविद्धि काम्योऽर्थो बाह्यसाधनसाधनः । संविदेव सुखं कामिदं ततः ॥ कामकामिप्रभेदेन प्रतीचोऽस्याऽऽप्तकामता । हिरण्यगर्भवत्किवा निर्भेदस्येह भण्यते ॥ कामा निःशेषा नाऽऽत्मरूपप्रभेदतः । आत्मैवेदं सर्वमिति प्रत्यङ्मात्रावशेषतः ॥ समस्तव्यस्तताशङ्का चोत्तरं वचः । अकाममित्यतो ध्वस्तसमस्तव्यस्तरूपकम् ॥ आप्तकामात्मकामत्ववचसैव निराकृता । सर्वेऽकाममिति तथाऽपि पुनरुच्यते ॥ आत्माश्रयत्वं कामानां केचिद्व्याचक्षतेऽबुधाः । अतस्तत्प्रतिषेधार्थं ऽकाममितीरणम् ॥ कामादिहेतुकः शोकः कामाद्यज्ञानहेतुकम् । तदभावादथैकात्म्यं शोकान्तरमितीर्यते ॥ वा शोकवद्वस्तु शोकशब्देन भण्यते । गुणत्वाच्छोकशब्दस्य मतुपो लुप्तता भवेत् ॥ शोकार्हवत्पदार्थेभ्यो रमिदं यतः । अहेतुफलरूपत्वाच्छोकान्तरमतो मतम् । शोकस्य प्रत्यगात्मा वा शोकान्तरगिरोच्यते । प्रत्यङ्ङात्मा स्याच्छोकवान्कथम् ॥ अशोकान्तरमिति वा श्रुत्यन्तरसमाश्रयात् । अशोकादपरोऽशोको

च्छन्दो यस्माद्रूपात्तदतिच्छन्दं रूपम् । अन्योऽसौ सान्तश्छन्दःशब्दो गायत्र्यादिच्छन्दो-
वी । [1]अयं तु कामवचनोऽतः स्वरान्त एव । [2]तथाऽप्यतिच्छन्दा इति पाठः स्वाध्याय-
र्मो द्रष्टव्यः । अस्ति च लोके [3]कामवचनप्रयुक्तश्छन्दः(न्द)शब्दः [4]स्वच्छन्दः परच्छन्द
त्यादौ । [5]अतोऽतिच्छन्दमित्येव[6]मुपनेयं कामवर्जितमेतद्रूपमित्यस्मिन्नर्थे ।

विषयत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—अन्योऽसाविति । गायत्र्यादिविषयत्वं त्यक्त्वा [7]छन्दः(न्द)शब्दस्य
विषयत्वमतःशब्दार्थः । यद्यात्मरूपं कामवर्जितमित्येतदत्र[8] विवक्षितं किमिति तर्हि दैर्घ्यं
च्यते तत्राऽऽह— तथाऽपीति । स्वाध्यायधर्मत्वं छान्दसत्वम् । वृद्धव्यवहारमन्तरेण कामवाचित्वं
(न्द)शब्दस्य कथमित्याशङ्क्याऽऽह—अस्ति चेति । तस्य कामवचनत्वे सति सिद्धं पदरूप-
तस्यार्थमुपसंहरति—अत इति ।

प है । 'छन्द' काम का नाम है । अतः जिस रूप से काम की निवृत्ति हो गयी है । उसे अतिच्छन्द रूप
ते हैं । एक छन्दस्' शब्द सान्त भी है, जो गायत्री आदि छन्दों का ज्ञापक है । यहाँ 'छन्द' शब्द तो
वाची है, स्वरान्त ही है । स्वरान्त होने पर भी "अतिछन्दा" यहाँ दीर्घान्त पाठ छान्दस है ।
व्यवहार में "स्वच्छन्द-परच्छन्द" इत्यादि शब्दों में 'छन्द' शब्द का कामरूप अर्थकथन में प्रयोग है ।
लिए कामवर्जित इस अर्थ में इस रूप का "अतिच्छन्दम्' इस प्रकार प्रयोग कर लेना चाहिए ।

---

[1] प्रकृतवाक्यपठितः । [2] तस्य स्वरान्तत्वेऽपि । [3] कामरूपार्थकथनायोच्चरितः । [4] स्वस्य च्छन्दः काम इच्छा । [5] कामार्थस्याजन्तत्वात् । [6] प्रयोक्तव्यम् । [7] कोष्ठगं सुष्ठु । [8] अतिच्छन्दा इति पदे ।

मितीर्यते ।। शोकायोग्यः शुचा हीनोऽशोकशब्देन भण्यते । यद्वाऽन्तरयते शोकमानन्दैकस्वभावतः । शैत्यं हुताश-
वत्तस्माच्छोकान्तरमिदं भवेत् ।। शोकादेर्जनकं यद्वा तच्छोकान्तं भवेत्तमः । तस्यारं छिद्रमेतत्स्याच्छान्दसी
वर्णनिह्नुतिः ।। अविद्याकामकर्माणि निःसङ्गत्वस्वभावतः । अतिवर्तत आत्माऽयं वस्तुवृत्तानुरोधतः ।। स्वतो बुद्धं
यतो वस्तु स्वतः शुद्धमतोऽद्वयम् । स्वतो मुक्तमतः सिद्धमविद्यातज्जहानतः"।। १३३३-१३५४ । इति । अतिच्छन्द-
वाक्योक्तं रूपमागन्तुकं चैतन्यमिति शङ्कां स्त्रीवाक्येन निरस्यातिच्छन्दवाक्यार्थमेवोपस्कर्तुमाप्तकामादिवाक्यमा-
दत्ते—निरवद्यं त्विति । अतिच्छन्दवाक्यार्थस्य किमित्याप्तकामवाक्येन स्पष्टीकरणमित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वेति ।
यस्मादिदमात्मरूपं सर्वस्य कार्यकरणद्वैतस्य कल्पितस्यानुपचरितं स्वरूपं परमानन्दतया परमपुरुषार्थात्मकं च
तस्मादाप्तकामश्रुत्या प्रत्यक्षयोग्यतया तत्प्रतिपादितमित्यर्थः । ईदृशमिति पुरुषार्थोक्तिः ।। आप्तकामवाक्यस्य
विशेषणान्यवतारयति—आत्मन इति । रूपं कार्यकारणात्मकमव्याकृतसूत्रादिलक्षणमित्यर्थः । श्रुतिः सप्तम्यर्थः ।
तेषां तात्पर्यमाह— वस्त्विति । आनन्दैकरूपस्य वस्तुनो वास्तवस्वरूपापेक्षया सर्वभेदहीनत्वाद्युक्तमाप्तकामत्वा-
दीत्यर्थः ।। कामशब्दार्थं सहेतुमाह—पुमर्थ इति । कामशब्दस्योक्तार्थत्वे सोऽनेनाऽऽप्त इति व्युत्पत्त्याऽन्यस्यैव
तवाप्तं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—आप्तेति । आत्मत्वेन नित्याप्तेरात्मा पुमर्थतयाऽकाम्यत्वाच्च सर्वानपेक्षः सन्नाप्तश्च
कामश्चेत्याप्तकाम इत्यर्थः ।। सत्यकामः सत्यसंकल्प इत्यादौ छान्दोग्ये कामशब्दस्याऽऽत्मसंबन्धिताश्रुतेर्न तच्छब्द-
स्योक्तार्थतेत्याशङ्क्याऽऽह — सत्येति । इह तावत्स्वरूपसुखं निर्मृष्टनिखिलदुःखं कामशब्दार्थं आत्मकामादिविशे-
षणात्तथा चैतदनुसाराच्छान्दोग्योक्तमपि नेतव्यं परविषयत्वेन वाक्ययोरेकत्वात्तस्माद्युक्ताऽत्र कामशब्दस्योक्तार्थ-
तेत्यर्थः । एतद्वाक्यानुसारेण तद्वाक्यव्याख्यानमुचितमेकविषयत्वेनैकवाक्यस्य स्फुटत्वादिति हेतुमाह—स्फुटमिति ।।

तथाऽपहतपाप्म । पाप्मशब्देन धर्माधर्मावुच्येते । [1]पाप्मभिः संसृज्यते पाप्म विजहातीत्युक्तत्वात् । अपहतपाप्म [2]धर्माधर्मवर्जितमित्येतत् । किंच, [3]अभयम् । भयं नामाविद्याकार्यम् । अविद्यया भयं मन्यत इति [4]ह्युक्तम् । [5]तत्कार्यद्वारेण कारणप्रतिषेधोऽयम् । अभयं रूपमित्यविद्यावर्जितमित्येतत् । [6]यदेतद्विद्याफलं सर्वात्मभावस्तदेतद

तथा कामवर्जितत्ववदित्येतत् । नन्व[7]त्राधर्मवर्जितत्वमेव प्रतीयते न धर्मवर्जितत्वं पाप्मश स्याधर्ममात्रवचनत्वादत आह—पाप्मशब्देनेति । [8]उपक्रमानुसारेण पाप्मशब्दस्योभयविषय विशेषणमनूद्य विवक्षितमर्थं कथयति—अपहतेति । [9]तर्हि कार्यमेवाविद्याया निषिध्यते नेत्याह तत्कार्येति । तस्मादर्थे तच्छब्दः । [10]वाक्यार्थमुपसंहरति—यदेतदिति । कूर्चब्राह्मणान्तेऽपीदं रूपमु

इसी प्रकार वह पापरहित है । 'पाप' शब्द से धर्माधर्म कहे जाते हैं । जैसा कि "पापों (देह और इन्द्रियों से) संश्लिष्ट हो जाता है", "(उत्क्रमण करते समय) पापों को त्याग देता है" इन श्रुतिवाक्यों में कहा गया है । अतः "अपहतपाप्मा" का अर्थ है, धर्माधर्म से वर्जित । इसके अतिरि आत्मरूप अभय है । भय तो अविद्या का कार्य है । "अविद्या से भय मानता है" ऐसा पहले कहा चुका है । भय अविद्या का कार्य होने से अविद्याकार्य द्वारा कारण का प्रतिषेध किया जाता है 'अभयरूपम्" अर्थात् जो अविद्या से विवर्जित है, यह मोक्षाख्य अपरोक्ष ब्रह्म जो विद्या का

---

१. बृ. उ. ४. ३. ८ । २. धर्माधर्मेति—ननु पापोऽहं पापकर्मेत्यादि भण्यते लोके । न । अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादित्यादिश्रुतेस्तस्याविद्यत्वादिति ध्येयम् । ३. तदात्मरूपम् । ४. बृ. उ. ४. ३. २० । ५. भयस्या विद्याकार्यत्वात् । ६. मोक्षाख्यमपरोक्षं ब्रह्म । ७. विशेषणे । ८. यथोक्तोपक्रमवाक्यानुरोधेन । ९. अविद्याकार्यस्य भयस्य निषेधविषयत्वे । १०. अतिच्छन्दवाक्यार्थम् ।

सत्यकामवाक्ये कामशब्दो यथोक्तसुखवाचीत्यत्र हेत्वन्तरमाह आत्ममात्रमिति । अतो निरतिशयसुखमात्मतत्त्वं सत्यकामपदवेदनीयमिति शेषः । तदेव कुतः सिद्धमित्याशङ्क्य भूमवाक्यादित्याह—तत्रैवेति । छान्दोग्यश्रुतौ यत्र नान्यत्पश्यतीत्यादिश्रुत्या दर्शनादिनिषेधे भूमलक्षणमाचक्षाणया प्रत्यगात्मनो भूम्नः सत्यत्वं सुखत्वं चेदं निर्धारितमित्यर्थः ।। श्रुत्यन्तरविरोधशङ्कामुन्मूल्याऽऽप्तकामत्वमुपसंहरन्नादौ लोकप्रसिद्धिमाह—सुखेति । बाह्यानि स्रगादीनि साधनानि यस्योत्पादकानि स काम्योऽर्थः सुखसाक्षात्कारः प्रसिद्ध इत्यर्थः । तथाऽप्यात्मनि किमायातं तदाह—संविदेवेति । विज्ञानमानन्दमिति श्रुतेरात्मातिरिक्तसुखतत्संविदोरभावादात्मरूपं कर्मधारयादाप्तकाम मित्यर्थः ।। आप्तकामपदमाकाङ्क्षापूर्वकमादाय व्याकरोति—कामेति । इहेति श्रुतिरुक्ता ।। आत्मनो भेदेन का न सन्तीत्यत्र हेतुमाह—आत्मेति । नाऽऽत्मनो हिरण्यगर्भवदाप्तकामत्वमन्वयादिपरिहाण्या सर्वस्याऽऽत्ममात्र श्रुतेस्तस्मात्तस्य निर्भेदस्यैवाऽऽप्तकामतेत्यर्थः ।। अकाममित्यस्यार्थमाह—समस्तेति । वक्ष्यमाणपक्षेण समुच्चयार्थ अकारः । विशेषणफलमाह—अत इति । कामादिसर्वभेदरहितमात्मरूपं तस्मिन्सत्यपि स्वापादौ तदभावान्न व्यस्ताभावे तदपेक्षसमस्तसंभवोऽतोऽकामत्वात्तदेकरसमिति भावः ।। पुनरुक्तिं शङ्कते—आप्तेति । तदन पौनरुक्त्यादिति शेषः । न च समस्तव्यस्तत्वशङ्कां समुच्छेत्तुमिति वाच्यमाप्तकामादिवचसैव तत्सिद्धेरिति भावः । पुनरुक्तिमङ्गीकृत्य तस्याः सार्थत्वमाह—आत्मेति । कामकामिविभागे प्रत्युक्ते कथं कामाश्रयत्वमात्मनः शक्यशङ्क मित्याशङ्क्याऽऽह—अबुधा इति । मन्दमतीनां मतनिरासार्थं विशेषणमर्थवदिति फलितमाह—अत इति । शोकान्तरमित्यस्यार्थमाह—कामादीति । तदभावात्सुषुप्तौ व्यक्ताज्ञानाभावादित्येतत् ।। कुतोऽशोकत्वं तदाह

न्दा अपहतपाप्माभयं रूपं सर्वसंसारधर्मवर्जितमतोऽभयं रूपमेतत् । इदं च पूर्वमेवोपन्यस्त-तीतानन्तरब्राह्मणसमाप्तावभयं[1] वै जनक प्राप्तोऽसीत्यागमतः । इह तु तर्कतः प्रपञ्चितं तागमार्थप्रत्ययदार्ढ्याय ।

अयमात्मा स्वयं चैतन्यज्योतिःस्वभावः सर्वं स्वेन चैतन्यज्योतिषाऽवभासयति[2] । यत्तत्र किंचित्पश्यति रमते चरति जानाति चेत्युक्तम् । स्थितं चैतन्न्यायतो नित्यं

त्याह—इदं चेति । आगमवशात्तत्रोक्तं चेत्किमित्यत्र पुनरुच्यते तत्राऽऽह—इह त्विति । निर्विशेषत्वं चेदात्मत्वा’नुपपत्तिरित्यादिस्तर्कः । आगमसिद्धे किं तर्कोपन्यासेनेत्याशङ्क्याऽऽह—ढ्येति ।

’स्त्रीवाक्यस्य संगतिं वक्तुं वृत्तमनुद्रवति—अयमिति । अनन्वागतवाक्ये चाऽऽत्मनश्चैतनत्व-क्तमित्याह—स यदिति । आत्मनः सदा चैतन्यज्योतिष्ट्वं स्वरूपं न केवलमुक्तादागमादेव सिद्धं

त्मभाव है, वह कामरहित, पुण्य-पापरहित एवं अभयरूप है; यह समस्त सांसारिक धर्मों से अतीत है, इसलिए अभयरूप है। पूर्ववर्ती ब्राह्मण की समाप्ति के अवसर पर 'हे जनक! तुम अभयरूप को प्राप्त हो गए हो' इस श्रुतिवाक्य द्वारा वर्णन कर दिया है। यहाँ तो पूर्वप्रदर्शित श्रुतिवाक्यार्थ के दृढ़ प्रत्यय करने के लिए तर्क द्वारा समझाया जाता है।

स्वयं चैतन्य ज्योति स्वरूप यह आत्मा अपनी चैतन्य ज्योति से सबको प्रकाशित करता रहता है। "वह जो कुछ उस अवस्था में देखता है, क्रीडा करता है, विचरता है, जानता है (उससे असङ्ग रहता है)" यह कह गया। यह चैतन्य ज्योतिष्ट्व आत्मा का नित्य स्वरूप है—ऐसा युक्ति से सिद्ध होता है।

---

१. बृ. उ. ४. २. ४. । २. इत्युक्तमित्यन्वयः । ३. उक्तात्मरूपस्य । ४. घटादिवत् । ५. तद्यथेत्यादिस्त्रीघटितवाक्यस्य ।

संबन्धादित्याशङ्कामथशब्देनानूद्यार्थान्तरं ब्रुवाणः शोकशब्दार्थमाह—यदि वेति । अन्तःकरणं शोकशब्दित-मित्यत्र हेतुमाह—गुणत्वादिति । तद्वाचित्वादिति यावत् । किमिति तर्हि शोकवदिति नोच्यते तत्राऽऽह—मतुप इति । लुप्तता छान्दसीति शेषः ॥ तथाऽपि किं शोकान्तरं तदाह—शोकार्हेति । आत्मरूपं हेतुफलविलक्षणतया शोकयोग्यबुद्ध्यादिभ्योऽर्थान्तरत्वात्प्रामाणिकैः शोकान्तरमधिगतमित्यर्थः ॥ द्वैतप्रसक्तिमाशङ्क्यार्थान्तरमाह—शोकस्येति । कथं तर्हि तस्य शोकराहित्यं न हि तदात्मा तद्रहितस्तत्राऽऽह—शोकेति । अपिः शोकसमुच्चयार्थः । न हि सर्पस्य रज्जुं विना सत्त्वाभावे तस्यास्तद्वत्त्वं वस्तुतोऽस्तीति भावः ॥ अशोकान्तरमितिमाध्यन्दिनपाठमु-त्थापयति—अशोकेति । तं व्युत्पादयति—अशोकादिति ॥ अशोकशब्दार्थमाह—शोकेति । ईश्वरो मायाविशिष्टः सर्वनियन्ता शोकायोग्यत्वादशोकः केवलश्चिद्धातुरविद्यातज्जरूपया शुचा हीनत्वाद्विशिष्टादर्थान्तरत्वेनाशोकान्तर-मित्यर्थः । यत्तु काण्वपाठे शोकस्य प्रत्यक्तया शोकान्तरमिति तत्र प्रतीचस्तद्वत्त्वाभावेऽपि तत्त्वापत्तेरित्याशङ्क्या-र्थान्तरमाह—यद्वेति । आत्मरूपं शोकं तिरयतीत्यत्र हेतुः—आनन्देति । तस्य तत्तिरस्कर्तृत्वे दृष्टान्तः—शैत्यमिति । दार्ष्टान्तिकं निगमयति—तस्मादिति ॥ आत्मनः शोकहेतुयोगे सुखत्वेऽपि न सर्वथा तत्तिरस्कर्तृतेत्याशङ्क्या-र्थान्तरमाह—शोकादेरिति । तर्हि शोकान्तरमिति स्यान्नेत्याह—छान्दसीति ॥ कथमात्मनः शोकहेतुराहित्यम-विद्यादिमत्त्वप्रतीतेरित्याशङ्क्याऽऽह—अविद्येति । प्रतीतिविरोधं परिहर्तुं द्वितीयपादार्थं स्फुटयति—वस्त्विति ॥ वस्तुवृत्तमेव दर्शयन्नाप्तकामवाक्यार्थमुपसंहरति—स्वत इति ॥

स्वरूपं चैतन्यज्योतिष्ट्वमात्मनः । 'स यद्यात्माऽत्राविनष्टः स्वेनैव रूपेण वर्तते' दयमहमस्मीत्यात्मानं वा बहिर्वेमानि भूतानीति जाग्रत्स्वप्नयोरिव न 'जानातीत्यत्रो शृण्वत्राज्ञानहेतुम् । 'एकत्वमेवाज्ञानहेतुः । तत्कथमिति । उच्यते । दृष्टान्तेन हि प्रत्य भवति 'विवक्षितोऽर्थ इत्याह—तत्तत्र यथा लोके प्रिययेष्टया स्त्रिया संपरिष्वक्तः

किन्तु 'पूर्वोक्तादनुमानाच्च स्थितमित्याह- स्थितं चेति । वृत्तमनूद्य संबन्धं वक्तुकामश्चोद —स यदीति । अत्रेति सुषुप्तिरुक्ता । ❀'चैतन्यस्वभावस्यैव सुषुप्ते विशेषज्ञानाभावं —उच्यत इति । सुषुप्तिः सप्तम्यर्थः । अज्ञानं विशेषज्ञानाभावः । कोऽस्यावज्ञानहेतुस्तमाह एकत्वमिति । जीवस्य परेणाऽऽत्मना यदेकत्वं तत्कथं सुषुप्ते विशेषज्ञानाभावे कारणं 'तस्मि त्यपि चैतन्यस्वभावानिवृत्तेरिति शङ्कते—तत्कथमिति । तत्र 'स्त्रीवाक्यमुत्तरत्वेनोत्थापयि उच्यत इति । 'तत्र दृष्टान्तभागमाचष्टे— दृष्टान्तेनेति । एकत्वकृतो विशेषज्ञानाभावो विवक्षितो

इस सुषुप्तावस्था में यदि यह आत्मा अविनष्ट हो अपने स्वरूप में स्थित रहता है तो जाग्रत् स्वप्न के समान 'मैं यह हूँ" इस प्रकार अपने को और अपने से बाहर इन भूतों को क्यों नहीं जान इस पर श्रुति कहती है-उसके अज्ञान का जो हेतु है; उसे सुनिए । जीव की परब्रह्म से एकता है, वि ज्ञानाभाव में हेतु है । ऐसा कैसे कहते हो ? इस पर बतलाया जाता है । दृष्टान्त से अभिमत अर्थ प्रत्यक्ष होता है. इसलिए कहा जाता है । लोकव्यवहार में जिस प्रकार अपने को चाहने वाली "प्रिय अर्थात् इष्ट स्त्री से कामुक होकर "सम्परिष्वक्तः" अर्थात् सम्यक् परिष्वजित होता हुआ पुरुष "बा

---

१. उक्तविशेषणः । २. तर्हि । ३. तथा चोक्तं चैतन्यस्वयंज्योतिष्ट्वं कामादिवदागन्तुकमिति ४. जीवस्य परेण ब्रह्मणा । ५. अभिमतः । ६. बृ. उ. ४. ३. २ । ७. आत्मनः स्वयं चैतन्यज्योति ऽपीत्यर्थः । ८. एकत्वे । ९. उक्तचोद्ये । १०. स्त्रीघटितवाक्ये ।

❀ चैतन्यस्वभावस्यैव सुषुप्ते विशेषज्ञानाभावमिति । तथा चोक्तम्— "नैतदेवं यतो भेदज्ञानं मोहोत्थका संश्रयादेव न पुनर्मोहाभावे तदिष्यते ॥ यत्र वा अन्यदित्येवं भेदज्ञानमभाषत । सत्येव प्रत्यगज्ञाने तस्या समन्वयात् ॥ यत्र त्वस्येति विध्वस्त आत्माज्ञाने प्रबोधतः । तत्केन कमिति श्रुत्या भेददृष्टिर्निषिध्यते" ॥ १३०७-१३०९ ॥ इति । 'स्वयंज्योतिष्ट्वमुक्तं यदात्मनः प्राक्प्रयत्नतः । तदप्यात्मन आगामि कामकर्मवत् ॥ यस्मात्सुषुप्त आत्माऽयं नाऽऽत्मानं नाप्यनात्मनः । जाग्रद्वद्वेत्ति तेनास्य चैतन्यं काम वत्" ॥ वा. १३०५-१३०६ ॥ इति पद्याभ्यामुक्तं चोद्यं परिहरति—नैतदिति । चैतन्यस्याऽऽगन्तुकत्वं सुप्तावसत्त्वमिष्टं तत्र हि किं स्वरूपज्ञानं निषिध्यते किंवा विशेषज्ञानं नाऽऽद्यो यः सुप्तः सोऽहमित्युत्थि प्रतिसन्धानविरोधात्पश्यन्वै तन्न पश्यतीति च श्रुतेर्नेतरस्तस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां मोहोत्थकारकजन्यत्वात् चाज्ञोऽहमितिव्यक्ताज्ञानाभावात्कारकग्रामस्य च दूरोत्सारितत्वात्तत्र तन्निषेधस्येष्टत्वादित्यर्थः ॥ यत्राज्ञानं विशेषज्ञानमित्यन्वये मानमाह—यत्रेति । तत्र तस्य भेदज्ञानस्येति यावत् ॥ यत्र नाज्ञानं तत्र न विशेषज्ञान व्यतिरेके मानमाह—यत्र त्विति । यत्र त्वस्येत्युपक्रम्य तत्केन कमिति श्रुत्येति संबन्धः ॥ सुषुप्ते विशेषज्ञा भावे हेत्वन्तरमाह "एकत्वमेव तेनात्र भेदादर्शनकारणम्" । तेन परेण जीवस्यैकत्वं सुप्तौ विशेषज्ञाना हेतुरिति यावत् । तत्र स्त्रीवाक्यमवतारयति–"स्त्रीपुंदृष्टान्तवचसा तदेतत्प्रतिपाद्यते" ॥ वा. १३१० ॥ तदेतदे विशेषादर्शने कारणमित्यर्थः ॥

रिष्वक्तः कामयन्त्या कामुकः सन्न बाह्यमात्मनः[1] किंचन किंचिदपि वेद मत्तोऽन्य-स्त्विति न चाऽऽन्तरमयमहमस्मि सुखी दुःखी वेति । अपरिष्वक्तस्तु तया प्रविभक्तो नाति सर्वमेव बाह्यमाभ्यन्तरं च । परिष्वङ्गोत्तरकालं त्वेकत्वापत्तेर्न [2]जानाति ।

एवमेव यथा दृष्टान्तोऽयं पुरुषः क्षेत्रज्ञो भूतमात्रासंसर्गतः [3]सैन्धवखिल्यवत्प्रवि-क्तो जलादौ चन्द्रादिप्रतिबिम्बवत्कार्यकरण इह प्रविष्टः सोऽयं पुरुषः प्राज्ञेन परमार्थेन स्वाभाविकेन स्वेना[4]ऽऽत्मना [5]परेण ज्योतिषा संपरिष्वक्तः सम्यक्परिष्वक्त एकीभूतो निरन्तरः सर्वात्मा न बाह्यं किंचन वस्त्वन्तरं नाप्यान्तरमा[8]त्मन्ययमहमस्मि सुखी

रिष्वङ्गप्रयुक्तसुखाभिनिवेशादज्ञानं[9] किमिति कल्प्यते [10]स्वाभाविकमेव तत्किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह —अपरिष्वक्तस्त्विति । [11]तर्हि परिष्वङ्गवतोऽपि स्वभावविपरिलोपासंभवाद्विशेषविज्ञानं स्यादिति न्नेत्याह—परिष्वङ्गेति । स्त्रीपुंस[12]लक्षणयोर्व्यामिश्रत्वं परिष्वङ्गस्तदुत्तरकालं संभोग[13]फलप्राप्ति-त्वापत्तिस्तद्वशाद्विशेषाज्ञानमित्यर्थः[14] ।

दार्ष्टान्तिकं व्याकरोति—एवमेवेति । भूतमात्राः शरीरेन्द्रियलक्षणास्ताभिश्चिदात्मनस्तादा-त्म्याध्यासात्तत्र[15]प्रतिबिम्बो जातस्ततो[16] विभक्तवद्भातीत्यत्र दृष्टान्तमाह—सैन्धवेति । [17]तस्य देहादौ वेशं दृष्टान्तेन दर्शयति—जलादाविति । [18]उपसर्गबललब्धमर्थं कथयति—एकीभूत इति । [19]तादात्म्यं वर्तयितुं निरन्तर इत्युक्तम् । परमात्माभेदप्रयुक्तम[20]नवच्छिन्नत्वमाह—सर्वात्मेति । एवं स्त्रीवाक्याक्षराणि

नी अपने से बाहर "किंचन" अर्थात् किसी भी वस्तु को नहीं जानता; "मुझ से अन्य वस्तु है" ऐसा नहीं जानता; न ही वह भीतर ही 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ" ऐसा जानता है । उससे अपरिष्वजित तो से भिन्न रहकर बाहर और अन्दर की सब बातों को जानता है । परिष्वजन के पश्चात् एकत्वभाव ने से वह सब कुछ नहीं जानता ।

जिस प्रकार यह दृष्टान्त है कि क्षेत्रज्ञ पुरुष भूतमात्रा के संसर्ग से लवणखण्ड के समान विभक्त होकर, जलादि में चन्द्रादि के प्रतिबिम्ब के समान इस देहेन्द्रिय में प्रविष्ट हो रहा है, उसी प्रकार यह रुष "प्राज्ञेनात्मना" अर्थात् अविद्या साक्षी स्वाभाविक आत्मा से यानी अनागन्तुक पारमार्थिक आत्मा स्वरूप से, कार्यकरण से अस्पृष्ट ज्योति से "संपरिष्वक्तः" अर्थात् सम्यक् परिष्वजित या एकीभूत हुआ अव्यवहित सर्वात्मा बाह्य किसी अन्य वस्तु को नहीं जानता; न आत्मा में ही 'मैं सुखी हूँ,

---

[1] पञ्चमी । [2] न जानातीति—तथा चान्वयव्यतिरेकाभ्यां परिष्वङ्ग एव विशेषज्ञानाभावहेतुरिति भावः । [3] सैन्धवेति—लवणखण्डो यथा समुद्रात् प्रविभक्तः । [4] अनागन्तुकेन । [5] स्वरूपेण । [6] कार्य-करणास्पृष्टेन । [7] अव्यवहितः । [8] आत्मनि न वेदेत्यन्वय इत्याहुः । [9] विशेषज्ञानाभावः । [10] निर्निमित्तम् । [11] अपरिष्वक्तस्य विशेषज्ञानस्वीकारे । [12] भगमेढ्रयोः । [13] सुखसाक्षात्कारः फलम् । [14] अत्र च विशेषज्ञानाभावस्योभयसाधारणत्वेऽपि प्राधान्यात्पुरुषनिष्ठतोक्तिरिति ध्येयम् । [15] तासु प्रतिबिम्बो यस्य तथाभूतः । [16] प्रतिबिम्बवशात् । [17] चिदात्मनः । [18] सम्परीति यावत् । [19] भेदेन सहाभेदं संघातेन यथा । [20] अपरिच्छिन्नत्वम् ।

दुःखी वेति वेद । तत्र चैतन्यज्योतिःस्वभावत्वे कस्मादिह न जानातीति [1]यदप्राक्षीस्तत्र हेतुर्मयोक्त एकत्वं यथा स्त्रीपुंसयोः संपरिष्वक्तयोः । [2]तत्रार्थान्नानात्वं विशेषविज्ञानहेतु रित्युक्तं भवति । नानात्वे च कारण[3]मात्मनो वस्त्वन्तरस्य [4]प्रत्युपस्थापिकाऽविद्येत्युक्तम् । तत्र चाविद्याया यदा प्रविविक्तो भवति तदा सर्वेणैकत्वमेवास्य भवति । [5]तत ज्ञानज्ञेयादिकारकविभागेऽसति कुतो विशेषविज्ञानप्रादुर्भावः कामो वा संभवति [6]स्वाभा विके स्वरूपस्थ आत्मज्योतिषि ।

यस्मादेवं सर्वैकत्वमेवास्य रूपमतस्तद्वा अस्याऽऽत्मनः स्वयंज्योतिः स्वभावस्यैतद्रू माप्तकामं यस्मा[7]त्समस्तमे[8]तत्तस्मादाप्ताः [9]कामा अस्मिन्रूपे तदिदमाप्तकामम् ।

व्याख्याय चोद्यपरिहारं प्रकटयति—तत्रेति । प्रत्यगात्मनीति यावत् । इहेति सुषुप्तिरुच्यते । यथा परिष्व क्तयोः स्त्रीपुंसयोरेकत्वं पुंसो विशेषविज्ञानाभावे कारणं तथा परेणाऽऽत्मना सुषुप्ते जीवस्यैकत्वं विशे विज्ञानाभावे [11]तस्य [12]तत्र कारणमुक्तमित्यर्थः । स्त्रीवाक्ये [13]श्रौतमर्थमभिधाया[14]ऽऽर्थिकमर्थमाह-तत्रेति कि पुनर्नानात्वे कारणमिति तदाह—नानात्वे चेति । उक्तमथ[15] योऽन्यामित्यादावित्यर्थः । [16]किमेताव सुषुप्ते विशेषविज्ञानाभावस्याऽऽयातं तत्राऽऽह—तत्रेति । विशेषविज्ञाने नानात्वं तत्र चाविद्या कारणमि स्थिते सतीति यावत् । यदा तदेति सुषुप्तिर्विवक्षिता । प्रविविक्तत्वं कार्यकारणाविद्याविरहितत्व सर्वेण परमात्मना सहेत्यर्थः । विज्ञानात्मा षष्ठ्योच्यते । एकत्वफलमाह—ततश्चेति ।

उक्तमुपजीव्याऽऽप्तकामवाक्यमवतार्य व्याचष्टे—यस्मादिति । आप्तकामत्वं समर्थयते—यस्मा त्समस्तमिति । [17]तदेव व्यतिरेकमुखेन(ण) विशदयति—यस्य हीत्यादिना । [18]विशेषणान्तरमाकाङ्क्षा

मैं दुःखी हूँ" ऐसा मानता है । इस प्रकार तुमने जो पूछा था कि चैतन्यात्म ज्योतिस्वरूप होने पर वह इस अवस्था में क्यों नहीं जानता. उसके विशेषज्ञान के अभाव में मैंने एकत्व हेतु बतलाया जिस प्रकार परस्पर परिष्वजित स्त्री पुरुष का ऐक्य होता है । इससे "नानात्व विशेषविज्ञान में हे है" ऐसा स्वतः सिद्ध हो जाता है । नानात्व का कारण आत्मा से वस्त्वन्तर की प्रत्यायिका अविद्या है— ऐसा कहा जा चुका है । जिस समय अविद्या से पृथक् हो जाता है; उस समय इसकी सबके साथ एक ही हो जाती है । एकत्व होने से आत्मज्योति के अपने अनागन्तुक स्वरूप में स्थित हो जाने पर ज्ञा ज्ञेयादि कारक विभाग के न रहने पर विशेषविज्ञान का प्रादुर्भाव तथा कामना कैसे संभव है ?

क्योंकि इस प्रकार सबके साथ एकता ही इसका स्वरूप है, इसलिये इस स्वयं ज्योतिस्व आत्मा का यह रूप आप्तकाम है । क्योंकि यह इसका सर्वात्मकरूप है; इसलिए इस रूप में सुखादि सभी काम प्राप्त रहते हैं; इसीसे यह रूप आप्तकाम है । जिसका विषय अपने से अन्य रूप में विभ

---

१. विशेषज्ञानाभावे । २. तत्रेति—स्त्रीवाक्ये एकत्वस्य विशेषज्ञानाऽभावहेतुत्वे सतीति वाऽर्थः । ३. पञ्च मोऽयम् । ४. प्रत्यायिका । ५. एकत्वाच्च । ६. अनागन्तुके । ७. सर्वात्मकम् । ८. आत्मरूपम् । ९. सुखादयः । १०. देवदत्तादेः । ११. प्रतीचः । १२. विशेषज्ञानाभावे । १३. शाब्दम् । १४. फलितम् । १५. बृ. उ. १. ४. १० । १६. विशेषविज्ञाने नानात्वं तत्र चाविद्याकारणमित्युक्तिमात्रेण । १७. आप्तकामत्वमेव । १८. आत्मकामविशेषणान्तरम् ।

न्यत्वेन[1] प्रविभक्तः [2]कामस्तदनाप्तकामं भवति। यथा जागरितावस्थायां देवदत्तादिरूपं
[3]त्विदं तथा कुतश्चित्प्रविभज्यतेऽतस्तदाप्तकामं भवति। [4]किमन्यस्माद्वस्त्वन्तरान्न
विभज्यत आहोस्विदात्मैव [5]तद्वस्त्वन्तरमत आह—नान्यदस्त्यात्मनः। कथम्। यत
त्मकाममात्मैव कामा यस्मिन्रूपेऽन्यत्र प्रविभक्ता इवान्यत्वेन काम्यमाना यथा जाग्र-
त्स्वप्नयोस्तस्याऽऽत्मैवा[6]न्यत्वप्रत्युपस्थापकहेतोर[7]विद्याया अभावादात्मकाममत[8] एवाकाम-
मेतद्रूपं [10]काम्यविषयाभावाच्छोकान्तरं शोकच्छिद्रं शोकशून्यमित्येतच्छोकमध्यमिति वा
र्वथाऽप्यशोकमेतद्रूपं शोकवर्जितमित्यर्थः।२१॥

कमादाय व्याचष्टे—किमन्यस्मादित्यादिना। सुषुप्तेर[11]न्यत्राऽऽत्मनः सकाशादन्यत्वेन प्रविभक्ता
व काम्यमानाः सुषुप्तावात्मैव कामास्[12]तस्मादात्मकाममात्मरूपमित्येतद्दृष्टान्तेनाऽऽह—यथेति।
वस्थाद्वये खल्वात्मनः सकाशादन्यत्वेन प्रविभक्ता इव कामाः काम्यन्त इति कामाः। न चैवं सुषुप्त्य-
वस्थायामात्मनस्ते भिद्यन्ते किंतु सुषुप्तस्या[14]ऽऽत्मैव कामा इत्यात्मकाममेतद्रूपमित्यर्थः। [15]तस्याऽऽत्मैवे-
त्र'' हेतुमाह—अन्यत्वेति। यद्यपि सुषुप्तेऽविद्या विद्यते तथाऽपि न [16]साऽभिव्यक्ताऽस्तीत्यनर्थपरिहारोप-
त्तिरित्यर्थः। [17]कामानामात्माश्रयत्वपक्षं प्रतिक्षेप्तुं तृतीयं विशेषणम्। शोकमध्यं शोकस्यान्तरं
प्रत्यग्भूतमिति यावत्। [19]तर्हि शोकवत्त्वं [20]प्राप्तं नेत्याह—सर्वथेति। पक्षद्वयेऽपि शोकशून्यमात्म-

---

ता है, वह अनात्मकाम होता है; जिस प्रकार जागरित अवस्था में देवदत्तादिरूप। किन्तु यह आत्म-
उनकी तरह किसी से विभक्त नहीं होता, इसलिए आप्तकाम होता है। क्या आत्मा का वस्त्वन्तर
अभेद है अथवा वस्त्वन्तर का आत्मा से अभेद है। इस पर कहते हैं—वस्त्वन्तर आत्मा नहीं है।
ों नहीं है? क्योंकि वह रूप आत्मकाम है। जिस प्रकार जाग्रत् और स्वप्नावस्था में आत्मा से
न्यत्र विभक्त के समान और अन्य रूप से कामना किये जाने वाले काम होते हैं, उसी प्रकार सुषुप्ति में
प्रत्यायक (व्यक्त) अविद्यारूप हेतु का अभाव होने के कारण आत्मा ही उसके काम हैं, इसलिए
आत्मकाम है। इसीसे सुषुप्तावस्था में काम्यमान विषयों का अभाव होने के कारण सौषुप्त रूप
काम है; "शोकान्तरम्" अर्थात् शोकच्छिद्र यानी शोकशून्य है अथवा यह शोकमध्य है। भावार्थ यह
है कि यह रूप सर्वथा ही अशोक है यानी शोकवर्जित है ॥२१॥

---

१. स्वस्मात्। २. विषयः। ३. आत्मरूपम्। ४. आत्मनो वस्त्वन्तरेणाभेदः। ५. वस्त्वन्तर-
स्यात्मनाऽभेदः वस्त्वन्तरमात्मरूपमात्मा वा वस्त्वन्तररूप इति द्वयोरर्थः। ६. भेदप्रत्यायकः। ७. व्यक्तायाः।
८. आत्मकामम्। ९. सौषुप्तम्। १०. सुषुप्ते काम्यमानविषयाभावात्। ११. जाग्रत्स्वप्नयोः। १२.
तस्मादात्मरूपमात्मकाममित्यन्वयः। १३. स्वरूपमेव। १४. सुषुप्तपुंसः। १५. आत्मैव कामा इत्युक्तेऽर्थे।
१६. अज्ञोऽहमिति प्रतीयमाना कार्योन्मुखीति यावत्। १७. कामानामित्यादि। यद्यपि आप्तकाममात्मकाम-
मिति विशेषणद्वयस्य यथा भाष्योक्तार्थकत्वेनात्मनि कामाः प्रसज्जन्ते तथापि "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा
येऽस्य हृदि स्थिता (श्रिता)" इति श्रुत्यन्तरे। हृदीति विशेषणादात्माश्रया अपि केचित्कामा प्रतीयन्ते कामानां
हृदयमात्राश्रितत्वे हृदीति विशेषणं व्यर्थं स्यादिति तदनुसारेणात्राप्युक्तविशेषणद्वयं निनीषतां मन्दधियां मतं
निरसितुमकाममिति विशेषणमित्यर्थः। १८. शोकस्याप्यधिष्ठानत्वात्। १९. आत्मनः शोकस्यापि
प्रत्यक्त्वे। २०. प्राप्तमिति—न हि तदात्मा तद्रहितो भवतीति भावः।

***अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः । अत्र स्तेनोऽ-**

इस सुषुप्तावस्था में पिता अपिता हो जाता है, माता अमाता हो जाती है अर्थात् वहाँ जन् जनकभाव संबन्ध नहीं रह जाता । लोक अलोक हो जाते हैं, देव अदेव और वेद अवेद हो जाते हैं अर्थात् सभी साध्य-साधन का अभाव हो जाता है । वहाँ पर चोर अचोर हो जाता है । भ्रूणहत्या

प्रकृतः स्वयंज्योतिरात्माऽविद्याकामकर्मविनिर्मुक्त इत्युक्तम् । [१]असङ्गत्वादात्म आगन्तुकत्वाच्च [२]तेषाम् । तत्र कामकर्मादिवत्स्वयंज्योतिष्ट्वमप्यस्याऽऽत्मनो न स्वभाव रूपम् । [३]न हि शोको [४]येनाऽऽत्मवांस्तस्य[५] शोकवत्त्वं शोकस्याऽऽत्माधीनसत्तास्फूर्तेरात्मातिरेकेणाभाव दित्यर्थः ॥२१॥

अत्र पितेत्यादिवाक्यमवतारयितुं वृत्तमनुद्रवति—प्रकृत इति । अविद्यादिनिर्मोके हेतुद्वयमाह—असङ्गत्वादिति । यद्यपि नाऽऽगन्तुकत्वमविद्याया [६]युक्तं तथा[७]ऽप्यभिव्यक्ता साऽनर्थहेतुरागन्तुकी द्रष्टव्यम् । स्त्रीवाक्य[८]निरस्यां शङ्कामनुवदति—तत्रेति । कामादिविमोके दर्शिते सतीति याव

प्रकरणस्थ वह स्वयंज्योति आत्मा अविद्या, काम और कर्म से रहित है—ऐसा कहा गया । क्योंकि आत्मा का असङ्गत्व रूप है और अविद्यादि का आगन्तुकत्वरूप है । यहाँ काम-कर्मादि के समान स्वयंज्योतिष्ट्व भी इस आत्मा का स्वभाव नहीं है क्योंकि सुषुप्तावस्था में स्वयंज्योतिष्

---

१. असङ्गत्वादित्यादि । अत्रोच्यते—"निःसङ्गस्य ससङ्गेन कूटस्थस्य निरात्मना । आत्मनोऽनात्मना यो वास्तवो नोपपद्यते ॥ वा. ११७६ । इति । २. अविद्यादीनाम् । ३. न हि शोक इत्यादि—न हि सर्प रज्जुं विना सत्त्वाभावे तस्यास्तद्वत्त्वं वस्तुतोऽस्तीति भावः । ४. आत्मना । ५. आत्मरूपस्य । युक्तमिति—तस्या अनादित्वाभ्युपगमविरोधादिति भावः । ७. अज्ञोऽहमित्येवमभिव्यक्ता । ८. निरस्तामि यावत् ।

---

* अत्र पिताऽपिता भवतीत्यादि । अत्र वार्तिके "यत एवमिदं वस्तु अतिच्छन्दादिलक्षणम् । निःशेषध्वान्त संबन्धव्यतिक्रान्तमिदं ततः ॥ जन्यकारणसंबन्धात्कार्यकारणसंगतेः । जन्यहेत्वतिवृत्तत्वात्पिताऽप्यत्रापिता ततः । अविद्यैव यतो हेतुः कर्तृत्वस्य न वस्तुतः । कर्तृत्वे सति कर्माणि नान्यथाऽकर्तुरात्मनः ॥ अविद्यायामतोऽस नाऽऽत्मनः कर्तृकर्मणी । पितृपुत्रादिसंबन्धो नातोऽस्तीह सुषुप्तगे ॥ असङ्गोऽयं स्वतो यस्मान्नातः केनचिदात्मनः । सर्वावस्थासु संबन्धः संबन्धोऽतोऽस्य मोहतः" ॥ १३५५-१३५९ ॥ इति । अत्रेत्यादेस्तात्पर्यमाह—यत इति । प्रतिपदं व्याकुर्वन्नत्र पिताऽपितेत्यस्यार्थमाह—जन्येति । पुत्रस्य कारणं धर्मादि तेन संबन्धात्पितापुत्रयोः कार्य कारणत्वोपगमात्सुप्तौ च तत्संबन्धाभावात्तन्निबन्धनकार्यकारणत्वव्यावृत्तेर्जागरादौ पिताऽपि सुषुप्ते भवत्यपि पुत्रेऽपि तुल्यमेतदित्यर्थः ॥ आत्मनः सुषुप्ते धर्मादिसंबन्धाभावार्थं कर्तृत्वाद्यभावमाह—अविद्येति । व्यक्ताविद्य कर्तृत्वस्य हेतुर्न स्वतस्तदस्ति मोक्षाभावप्रसङ्गान्न च सुप्तौ तादृगविद्या तद्भङ्गात्तन्न तदा कर्तृतेत्यर्थः । तदभावेऽपि कर्मसंबन्धः स्यादिति चेन्नेत्याह— कर्तृत्व इति । अकर्तुरिति च्छेदः । विपक्षे त्वनिर्मुक्तिरिति भावः ॥ सुषुप्ते व्यक्ताविद्याभावे फलितमाह—अविद्यायामिति । कर्तृत्वस्यावास्तवत्वमकर्तुः कर्माभावश्चातःशब्दार्थः । कर्मा संबन्धे फलितमाह—पित्रिति ॥ सुषुप्तगविशेषणात्पितापुत्राद्यसंबन्धस्तत्रैव न सदेत्याशङ्क्याऽऽह—असङ्गोऽयमिति संबन्धबुद्धेर्गतिमाह—संबन्ध इति । वास्तवसंबन्धायोगोऽतःशब्दार्थः ॥

स्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसो-*ऽनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य भवति ॥२२॥

अभ्रूणहा हो जाता है। चाण्डाल चाण्डाल नहीं रह जाता है। पौल्कस अपौल्कस हो जाता है (शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न संतान को चाण्डाल कहते हैं, शूद्रा में ब्राह्मण से उत्पन्न संतान को निषाद कहते हैं एवं निषाद से क्षत्रिया में उत्पन्न संतान को पुल्कस कहते हैं)। परिव्राजक अपरिव्राजक और वानप्रस्थी अतापस हो जाता है अर्थात् किसी वर्णाश्रम धर्म की या पुण्य-पाप की प्रतीति नहीं होती। उस समय यह पुरुष पुण्य से असंबद्ध तथा पाप से भी सम्वन्धरहित हो जाता है। किंबहुना उस अवस्था में हृदयस्थ समस्त शोकों को पार कर जाता है॥ २२।

यस्मात्संप्रसादे नोपलभ्यत[1] इत्येवमाशङ्कायां प्राप्तायां तन्निराकरणाय स्त्रीपुंसयोर्दृष्टान्तोपादानेन विद्यमानस्यैव स्वयंज्योतिष्ट्वस्य सुषुप्तेऽग्रहणमेकीभावाद्धेतोर्न तु कामकर्मादिवदागन्तुकम्[2]। इत्येतत्प्रासङ्गिकमभिधाय यत्प्रकृतं तदेवानुवर्तयति। अत्र चैतत्प्रकृत-

स्वभावस्यापायो न संभवतीत्यभिप्रेत्य हेतुमाह—यस्मादिति। शङ्कोत्तरत्वेन स्त्रीवाक्यमवतार्य तत्तात्पर्यं पूर्वोक्तमनुकीर्तयति—एवमिति। वृत्तमनूद्योत्तरग्रन्थमुत्थापयति—इत्येतदिति। स्वयंज्योतिष्ट्वस्य स्वाभाविकत्वमेतच्छब्दार्थः। प्रासङ्गिकं कामादेरागन्तुकत्वोक्तिप्रसङ्गादागतमिति यावत्। प्रकृतमेव दर्शयति—अत्र चेति। [3]अनिच्छन्दादिवाक्यं सप्तम्यर्थः। प्रत्यक्षतः स्वरूपचैतन्यवशा[4]द्यथोक्तात्मरूपस्य सुषुप्ते

की उपलब्धि नहीं होती, इस प्रकार आशङ्का होने पर उसका निराकरण करने के लिए ‘स्त्री-पुरुष” दृष्टान्त के उपपादन से एकीभावरूप हेतु के कारण सुषुप्तावस्था में विद्यमान स्वयंज्योतिष्ट्व का ही ग्रहण नहीं होता क्योंकि स्वयंज्योतिष्ट्व कामकर्मादि की तरह आगन्तुक नहीं है। इस प्रकार इस प्रासङ्गिक ज्योतिष्ट्व का प्रतिपादन करके जो प्रकरणस्थ है. उसी का श्रुति अनुगमन करती है।

---

१. स्वयंज्योतिष्ट्वम्। २. स्वयंज्योतिष्ट्वमित्यतस्तदग्रहणम्। ३. आदिनाऽप्रकामादिवाक्यम्।
४. अविद्याकामकर्मादिविनिर्मुक्तात्मस्वरूपस्य।

* अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेनेत्यादि। अत्र वार्तिके—“पुण्यापुण्ये हि निखिलसंबन्धस्येह कारणम्। प्राज्ञोऽनन्वागतस्ताभ्यां कर्महेत्वसमन्वयात् ॥ परं रूपं समापन्नः कर्माविद्यानिमित्तकम्। पितृमात्रादिसंबन्धं सुषुप्ते सोऽतिवर्तते ॥ जीवत्येव शरीरेऽस्मिंस्तत्स्थ एव कथं पुनः। सर्वसङ्गव्यतीतोऽयं भवतीत्यभिधीयते ॥ यतोऽनन्वागतं रूपं सुषुप्तेऽस्याऽऽत्मनः स्वतः। उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां कुतस्तदपि चेन्मतम् ॥ हृदयातिक्रमाद्यस्मात्तद्धर्मानतिवर्तते। कर्मप्रयोजकान्कामांस्तस्मात्सुस्थं यथोदितम्। हृदयस्यैव धर्मास्ते शोककामादयो यतः। तीर्णबुद्धिर्हि तद्धर्मास्तस्मादेषोऽतिवर्तते ॥ पुण्यपापाभिसंबन्धः स्वप्ने हृदयसंगतेः। वासनामात्रया त्वत्र साऽपि प्राज्ञे निवर्तते ॥ करणत्वं विहायेह केवलज्ञानमात्रकम्। स्वप्न आस्ते मनोरूपं वासनामयविग्रहम् ॥ वासनामय

मविद्याकामकर्मविनिर्मुक्तमेव तद्रूपं यत्सुषुप्त आत्मनो [1]गृह्यते [2]प्रत्यक्षत इति । तदेत[3]द्यथाभूतमेवाभिहितं सर्वसंबन्धातीतमेतद्रूपमिति । यस्मादत्रैतस्मिन्सुषुप्तस्थाने[4]ऽतिच्छन्दा[5]पहतपाप्मा[6]भयमे[7]तद्रूपं तस्मादत्रास्मिन्सुषुप्तेऽपि पिता जनकः । [8]तस्य च जनयितृत्वाद्यत्पितृत्वं पुत्रं प्रति [9]तत्कर्मनिमित्तं तेन च कर्मणा[10]ऽयमसंबद्धो[11]ऽस्मिन्काले तस्मात्पितापुत्र-

---

गृह्यमाणत्वमुत्थितस्य [12]परामर्शादवधेयम् । [13]कामादिसंबन्धवदात्मन[14]स्तद्रहितमपि रूपं कल्पितमेवेत्याशङ्क्याऽऽह—तदेतदिति । प्रकृतमर्थमुक्त्वोत्तरवाक्यस्थ[15]सप्तम्यर्थमाह—एतस्मिन्निति । जनकोऽप्यत्रापिता भवतीति संबन्धः । पिताऽप्यत्रापिता भवतीत्युपपादयति—तस्य चेत्यादिना । यथाऽस्मिन्काले पिता

यहाँ प्रकरण यह चल रहा है कि सुषुप्ति में आत्मा जिस स्वप्रकाश रूप से अनुभव की जाती है वह अविद्या, काम और कर्म से रहित ही है। इसलिए यह तथ्य ही कहा गया है कि यह रूप सभी संबन्धों से अतीत है; क्योंकि यहाँ सुषुप्तस्थान में यह अपरोक्ष रूप कामरहित, धर्माधर्मादिशून्य, निरविद्य है इसलिए यहाँ सुषुप्तावस्था में भी "पिता" अर्थात् जनक अपिता हो जाता है । जन्म दे

---

१. अनुभूयते । २. स्वप्रकाशतया । तथ्यमेव । ४. कामरहितम् । ५. धर्माधर्मादिशून्यम् । ६. निरविद्यम् । ७. अपरोक्षम् । ८. जनकस्य । ९. पुत्रीयधर्मादप्रयुक्तम् । १०. पुत्रः पितेत्येके । ११. पुत्रीयसुषुप्तिकाले । १२. सुखमस्वाप्सम् । १३. कामादीनां संबन्धवत् । १४. बहुव्रीहिणा कामादिसंबन्धविशिष्टाविद्यकात्मरूपवदिति वार्थः । तद्रहितं कामादिरहितम् । १५. अत्र पितेत्यादिवाक्यस्यात्र पदार्थम् ।

एवातो भुङ्क्ते स्वप्ने क्रियाफलम् । न 'ह स्वप्नदृशो योगः स्वप्नेऽन्येनास्ति केनचित् ।। स्वाभासवर्त्मनैवाऽसौ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु । अविद्याकामकर्मादि विभर्तीव न तु स्वतः'' ।। १३६८-१३७७ ।। इति । अनन्वागतमित्यादेरर्थमाह—पुण्ये त । इहेत्यात्मोक्तिः । पञ्चमेऽप्युक्तमेतदिति 'हशब्दार्थः । स्वापे पुण्यपापाभ्यां पुंसोऽस्पृष्टत्वे हेतुमाह—कर्मेति । अज्ञानोत्थं कारकं तद्धेतुस्तस्य स्वापेऽनन्वयादिति यावत् ।। तत्र हेतुमाह—परमिति । कर्माद्यनिबन्धनं ब्रह्म यतः स्वापे प्रतिपद्यते 'सता सोम्य तदा संपन्न' इति श्रुतेरतस्तद्गतः पित्रादिसंबन्धहीनः पुरुषो भवतीत्याह—पित्रिति ।। व्याख्यातमनन्वागतवाक्यं शङ्कोत्तरत्वेन व्याख्यातुं शङ्कयति—जीवत्येवेति । एवदुत्तरत्वेन वाक्यमावतारयति—अभिधीयत इति ।। व्याचष्टे—यत इति । अतः सर्वसङ्गव्यतीत इति शेषः । कर्मासंबद्धत्वमप्यसिद्धमिति शङ्कते—कुतः इति ।। तीर्णो हीत्याद्युत्तरत्वेनाऽऽदत्ते हृदयेति । यथोदितं सुप्ते कर्मासंबन्धादशेषसंबन्धराहित्यमिति यावत् ।। हृदयस्य शोकानतिक्रामतीत्ययुक्तं शोकशब्दितकामादीनामात्मधर्मत्वादिति केचित्तान्प्रत्याह हृदयस्येति । शोकान्हृदयस्येति संबन्धस्य हृदि श्रिता इति हृदयाश्रितत्वस्यैतत्सर्वं मन इति तादात्मस्य च श्रवणान्न तेषामात्मधर्मता किंतु मनोधर्मत्वमतः सुप्तस्तदतिक्रमात्तद्धर्मान्कामादीनतिक्रामतीत्यर्थः । धर्मिसंबन्धाभावे तद्धर्मसंबन्धाभावः सुतरामिति हशब्दार्थः ।। स्वप्नवत्सुप्तौ कामाद्ययोगेऽपि कर्मयोगः किं न स्यात्तत्राऽऽह—पुण्ये त ।। स्वप्ने मनसः सत्त्वात्कथं वासनामात्रया कर्मयोगस्तत्राऽऽह—करणत्वमिति ।। स्वप्ने स्वरूपेण मनो न तिष्ठति चेत्कथं भोगस्तत्राऽऽह—वासनेति । वासनामयत्वं तत्प्रधानत्वं वासनाविग्रहस्य मनसोऽवशेषादित्यतः शब्दार्थः । जागरवत्स्वप्नेऽपि स्थूलो भोगः किं न स्यात्तत्राऽऽह—न हीति । स्वप्नसुप्त्योर्वस्तुतोऽन्येनायोगेऽपि जागरे सोऽस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—स्वाभासेति । बुद्ध्यादिस्थचित्प्रतिबिम्बद्वारेणाऽऽत्मा सदाऽविद्यादिना युज्यते न स्वतोऽसङ्गत्वश्रुतेरित्यर्थः । आदिशब्देन वासना गृह्यते ।

संबन्धनिमित्तात्कर्मणो विनिर्मुक्तत्वा[१]त्पिताऽप्यपिता भवति। तथा पुत्रोऽपि पितुरपुत्रो भवतीति [२]सामर्थ्याद्गम्यते। [३]उभयोर्हि [४]संबन्धनिमित्तं कर्म [५]तदयमतिक्रान्तो वर्तते। अपहतपाप्मेति ह्युक्तम्।

तथा [६]माताऽमाता लोकाः कर्मणा [७]जेतव्या [८]जिताश्च [९]तत्कर्मसंबन्धाभावाल्लोका अलोकाः। तथा देवाः [१०]कर्माङ्गभूतास्तत्कर्मसंबन्धात्ययाद्देवा अदेवाः। तथा वेदाः साध्यसाधनसंबन्धाभिधायका [११]मन्त्रलक्षणाश्चाभिधायकत्वेन कर्माङ्गभूता अधीता अध्येतव्याश्च कर्मनिमित्तमेव [१२]संबध्यन्ते पुरुषेण, [१३]तत्कर्मातिक्रमणादेतस्मिन्काले वेदा अप्यवेदाः संपद्यन्ते।

पुत्रस्यापिता भवति तद्वदित्याह—तथेति। नास्यार्थस्य[१४] प्रतिपादकः[१५] शब्दोऽस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—सामर्थ्यादिति। तदेव सामर्थ्यं दर्शयति—उभयोरिति। सुषुप्ते कर्मातिक्रमे प्रमाणमाह—अपहतेति। पुनर्लोकदेवशब्दावनुवादार्थौ।

वाक्यान्तरमादाय व्याचष्टे—तथेत्यादिना। साध्यसाधनसंबन्धाभिधायका [१६]ब्राह्मणलक्षणा इति शेषः। अभिधायकत्वेन [१७]प्रमाणत्वेन प्रमेयत्वेन चेत्यर्थः।

पिताभाव होता है, वह (पुत्रीयधर्मादिप्रयुक्त) कर्म रूप निमित्त से के कारण जनक का पुत्र के प्रति है उस कर्म से यह पिता सुषुप्तावस्था में असम्बद्ध रहता है। इसलिए पिता-पुत्र संबन्ध प्रयुक्त कर्म से रहित रहने के कारण पिता भी अपिता हो जाता है। इसी प्रकार पिता का पुत्र भी अपुत्र हो जाता है—ऐसा (सुषुप्ति में कर्मातिक्रमण बलरूप) सामर्थ्य से जाना जाता है क्योंकि पिता-पुत्र को जन्य-जनकभाव संबन्ध प्रयुक्त कर्म का यह अतिक्रमण कर जाता है, तथा इसे धर्माधर्मादिशून्य कहा गया है।

उसी प्रकार माता अमाता हो जाती है। लोक अलोक हो जाते है क्योंकि लोक कर्म से सम्पाद्य तथा सम्पादित हैं, उस कर्म का सम्वन्ध न रहने से अलोक हो जाते हैं। इसी प्रकार "देवाः" यानी कर्माङ्गीभूत कर्मों के करते समय आत्मा में संत्रन्धाभाव होने के कारण देवता अदेवता हो जाते हैं। इसी प्रकार "वेदाः" यानी साध्य-साधन संत्रन्ध के प्रत्यायक, अभिवायकरूप से कर्माङ्गभूत मन्त्रलक्षणात्मक वेद; अधीत या अध्येतव्य वे कर्म निमित्त ही अध्येय-अध्येतृभाव से पुरुष संवन्धवान् होते हैं। उक्त सबन्ध निबन्धनकर्म के अतिक्रमण होने से इस सुषुप्ति अवस्था में वेद भी अवेद हो जाते हैं।

---

[१] पुत्रस्य पितुरित्येके। [२] सुपुप्ते कर्मातिक्रमणबलात्। [३] पितृपुत्रयोः। [४] जन्यजनकभावसंबन्धनिमित्तम्। [५] अयं पिता पुत्र इत्येके। [६] मातापुत्रयोर्लोकलोकिनोश्च यः संबन्धस्तत्प्रयोजककर्मणः सुषुप्तावात्मन्यसंबन्धात्। [७] संपाद्याः। [८] सपादिताश्च। [९] तत्कर्मेति अस्यैवार्थो मातेत्यादिपङ्क्त्युपरि न्यस्तो भ्रमात्। [१०] अङ्गीभूतकर्मणस्तत्काले आत्मनि संबन्धाभावात्। [११] कर्मसमवेतार्थाभिधायकाः। [१२] अध्येयाध्येतृभावसंबन्धवन्तो भवन्ति। [१३] निरुक्तसंबन्धनिबन्धनकर्म। [१४] "पुत्रोऽप्यपुत्रो भवती"त्यस्य। [१५] श्रुतौ। [१६] स्वर्गकामो यजेतेति ब्राह्मणं यागः स्वर्गसाधनमिति साध्यसाधनयोः संबन्धमभिधत्ते। [१७] प्रमाणत्वेन प्रमेयत्वेनेति—वेदकर्मणोः प्रमाणप्रमेयभावसंबन्धेनाङ्गाङ्गीभाव इति भावः।

न केवलं शुभकर्मसंबन्धातीतः किं तर्ह्यशुभैरप्यत्यन्तघोरैः कर्मभिरसंबद्ध एवायं वर्तत इत्येतमर्थमाह[2]—अत्र स्तेनो ब्राह्मणसुवर्णहर्ता भ्रूणघ्ना सह पाठादवगम्यते। [3]स [4]तेन [5]घोरेण कर्मणैतस्मिन्काले विनिर्मुक्तो भवति। येनायं कर्मणा महापातकी स्तेन उच्यते। तथा भ्रूणहाऽभ्रूणहा तथा चाण्डालो न केवलं प्रत्युत्पन्नेनैव कर्मणा विनिर्मुक्तः किं तर्हि [6]सहजनाप्यत्यन्तनिकृष्टजातिप्रापकेणापि विनिर्मुक्त एवायम्। चाण्डालो नाम शूद्रेण ब्राह्मण्यामुत्पन्नश्चण्डाल एव चाण्डालः। स [7]जातिनिमित्तेन कर्मणाऽसंबद्धत्वादचाण्डालो भवति। पौल्कसः पुल्कस एव पौल्कसः शूद्रेणैव क्षत्रियायामुत्पन्न-

अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवतीत्यादेस्तात्पर्यमाह—न केवलमिति। स्तेनशब्दोऽत्र चोरमात्रे भाति कथं [8]'विशेषणमित्याशङ्क्याऽऽह—भ्रूणघ्नेति। [9]'भ्रूणहा च वरिष्ठब्रह्महन्तोच्यते। तदेव घोरं कर्म विशिनष्टि—येनेति। महत्पातकमस्येति व्युत्पत्त्या महापातकी स्तेनः। स्तेनादिवाक्येन चाण्डालादिवाक्यस्य गतार्थत्वमाशङ्क्याऽऽह—नेत्यादिना। प्रत्युत्पन्नमागन्तुकम्।

"ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतो वैश्याद्वैदेहकस्तथा।
शूद्राज्जातस्तु चाण्डालः सर्वधर्मबहिष्कृतः"।

इति स्मृतिमाश्रित्याऽऽह—चाण्डालो नामेति।

'जातो निषादाच्छूद्रायां जात्या भवति पुल्कसः'।

इति स्मृतेः [10]"शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातो निषादः स च जात्या शूद्रस्तस्मात्क्षत्रियायां जातः पुल्कसो भवतीति व्याख्यानमुपेत्याऽऽह—शूद्रेणैवेति। तथा चाण्डालवदिति यावत्। श्रमणादिवाक्यस्य

वह केवल शुभ कर्मों से ही अतीत नहीं होता तो फिर क्या होता है? वह अशुभ, अत्यन्त घोर कर्मों से भी असम्पृक्त रहता है। इसी अर्थ को श्रुति कहती है। यहाँ 'भ्रूणहन्ता' के साथ पाठ होने से 'स्तेन' का अर्थ ब्राह्मण के सुवर्ण का हर्ता है। वह आत्मा उस समय उस (विप्रसुवर्ण के हरणरूप) घोर कर्म से मुक्त हो जाता है, जिस कर्म से उसे महापापी चोर कहा जाता है। उसी प्रकार भ्रूणहत्यारा अभ्रूणहन्ता हो जाता है। इसी प्रकार चाण्डाल भी केवल आगन्तुक कर्म से विनिर्मुक्त नहीं होता। तो फिर और किस कर्म से मुक्त होता है? वह अत्यन्त निकृष्ट जाति की प्राप्ति कराने वाले अपने प्रारब्धात्मक कर्म से भी विनिर्मुक्त हो जाता है। शूद्र पुरुष से ब्राह्मण कन्या में उत्पन्न सन्तान को चाण्डाल कहते हैं। चण्डाल ही चाण्डाल है। वह जातिप्रयोजक कर्म से असम्पृक्त रहने के कारण अचाण्डाल हो जाता है। शूद्र पुरुष से क्षत्रिय कन्या में उत्पन्न पुल्कस ही पौल्कस कहा जाता है; वह

---

१. सौपुप्त आत्मा। २. श्रुतिः। ३. प्रकृतस्वरूप आत्मा। ४. विप्रेण। ५. हाटकहरणादिरूपेणाति-भयावहेन। ६. प्रारब्धात्मकेनापीति यावत्। जातेः प्रयोजकेन। ८. ब्राह्मणसुवर्णेति विशेषणम्। ९. ननु भ्रूणघ्ना सह पठितोऽपि स्तेनो ब्राह्मणसुवर्णहर्तेति कुतो नियम्यते तत्राह—भ्रूणहा चेति। १०. शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातो निषाद इति। "विप्रान्मूर्धावसिक्तो हि क्षत्रियायां विशः स्त्रियाम्। अम्बष्ठः शूद्रयां निषादो जातः पारशवोऽपि वे"ति स्मृतेः। मूर्द्धावसिक्तः क्षत्रियः। इति स्मृतेरिति व्याख्यानमुपेत्येत्यन्वयः। तथा चोक्तभाष्यानुरोधात् स्मृतौ शूद्राशब्दः क्षत्रियायामेव शूद्रसंबन्धादौपचारिको बोध्य इति भावः।

णा सोऽप्यपुल्कसो भवति । [1]तथाऽऽश्रमलक्षणैश्च कर्मभिरसंबद्धो भवतीत्युच्यते । श्रमणः रिव्राड्यत्कर्मनिमित्तो भवति [3]स तेन विनिर्मुक्तत्वादश्रमणः । तथा तापसो वानप्रस्थो-पसः सर्वेषां वर्णाश्रमादीनामुपलक्षणार्थमुभयोर्ग्रहणम् ।

[4]किं बहुना[5]ऽनन्वागतं नान्वागतमनन्वागतमसंयद्धमित्येतत्पुण्येन शास्त्रविहितेन र्मणा तथा पापेन [6]विहिताकरणप्रतिषिद्धक्रियालक्षणेन । [7]रूपपरत्वान्नपुंसकलिङ्गम् । भयं रूपमिति ह्यनुवर्तते । किं [9]पुनरसंबद्धत्वे कारणमिति [10]तद्धेतुरुच्यते—तीर्णोऽति-न्तो हि यस्मादेवंरूपस्तदा [11]तस्मिन्काले सर्वाञ्छोकाञ्शोकाः कामाः । इष्टविषय-[12]र्थना हि [13]तद्विषयवियोगे शोकत्वमापद्यते । इष्टं हि विषयमप्राप्तं वियुक्तं चोद्दिश्य

यमाह—तथेति । परिव्राट्तापसयोरेव ग्रहणात्तत्कर्मायोगेऽपि सौषुप्तस्य वर्णाश्रमान्तरकर्मयोगं ङ्कत्वाऽऽह—सर्वेषामिति । आदिशब्देन [14]वयोवस्थादि गृह्यते ।

सौषुप्ते पुरुषे प्रकृते कथमनन्वागतमिति नपुंसकप्रयोगस्तत्राऽऽह—रूपपरत्वादिति । [15]तत्परत्वे मनुषङ्गं दर्शयति—अभयमिति । [16]हेतुवाक्यमाकाङ्क्षापूर्वकमुत्थाप्य व्याचष्टे—किं पुनरित्यादिना । स्माद[17]तिच्छन्दादिवाक्योक्तस्वभावोऽयमात्मा सुषुप्तिकाले हृदयनिष्ठान्सर्वाञ्छोकानतिक्रामति स्मादेतदात्मरूपं पुण्यपापाभ्यामनन्वागतं युक्तमित्यर्थः । शोकशब्दस्य कामविषयत्वं साधयति—इष्टेति । यं [18]तस्याः शोकत्वापत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—इष्टं हीति । तेषां पर्यायत्वेऽपि [19]प्रकृते किमायातं

अपोल्कस हो जाता है । इसी प्रकार श्रमप्रापक आश्रमलक्षण कर्मों से भी असम्पृक्त हो जाता है—कहा जाता है । "श्रमणः" यानी सर्वस्व त्यागरूप कर्म प्रयोजक जो संन्यासी है; वह उससे विनि-होने के कारण अश्रमण हो जाता है । इसी प्रकार "तापसः" यानी वानप्रस्थ अतापस हो जाता है । श्रमण और तापस इन दोनों का ग्रहण सम्पूर्ण वर्णाश्रमों के उपलक्षण के लिए है ।

अधिक क्या कहें, वह आत्मरूप 'पुण्येन" यानी शास्त्रविहित कर्म से "अनन्वागतम्" अर्थात् न्वागत नहीं है यानी असंबद्ध है तथा "पापेन" यानी विहित कर्म के न करने एवं निषिद्ध के करने रूप पाप से भी असंबद्ध है । पुरुष रूपपरक होने से "अनन्वागतम्" में नपुंसक लिङ्ग का प्रयोग है क्योंकि "अभयं रूपम्" की यहाँ अनुवृत्ति की जाती है । किन्तु पुण्य-पाप के असंबद्धत्व में कारण क्या है ? इसका हेतु कहा जाता है । "तीर्णो हि तदा शोकान्" क्योंकि उस सुषुप्तावस्था में यह पुरुष सभी शोकों यानी

---

१. आश्रमलक्षकैराश्रमप्रापकैरिति वा । २. श्रमणशब्दस्य क्षपणके रूढिमाशङ्क्याऽऽह—परिव्राडिति । तदुक्तं वार्तिके—'परिव्राट्श्रमणो ज्ञेयस्तापसाश्रमसंनिधेरिति' ॥ १३६५ ॥ तापसो वानप्रस्थः । ३. श्रमणः ।। ४. संवत्यजनकानां कर्मणामानन्त्याद्द्विधोपसंहृत्य तदतीतत्वमाह—किं बहुनेति । ५. असंबद्धम् आत्मरूप-मित्यनुवर्तते । ६. विहितेत्यादि—द्वे अपि ते सुषुप्ते पुंसि निवर्तेते तद्धेतुव्यक्ताऽविद्याभावादिति भावः । ७. रूपेति—तथा च पुरुषरूपमत्र विशेष्यमनुवर्तत इति भावः । ८. तदेव स्फुटयति—अभयमित्यादिना । ९. पुण्यपापासंबन्धत्वे । १०. पुण्यपापास्पर्शहेतुरुच्यते । ११. सुषुप्तौ । १२. कामना । १३. तस्या विषयवियोगे । १४. वयोऽवस्थादीति—वयः शतवर्षादिरूपमायुः । अवस्था बाल्यादिरिति विवेकः । पुरुष-रूपादि चाऽऽदिशब्दग्राह्यम् । १५. प्रकृतवाक्यस्य रूपपरत्वे रूपानुवृत्त्यात्मक हेतुम् । १६. स्वापे पुंसः पुण्य-पापाऽस्पर्शे हेतुबोधकवाक्यम् । १७. एवंरूप इत्यस्यायमर्थः । १८. प्रार्थनायाः । १९. आत्मनः पुण्याद्यस्पृष्टत्वे ।

चिन्तयानस्तद्गुणान्संतप्यते पुरुषो[1]ऽतः शोको रतिः काम इति पर्यायाः । यस्मात्सर्वका
तीतो ह्यत्रायं भवति । न कंचन कामं [2]कामयतेऽतिच्छन्दा[3] इति ह्युक्तं [4]तत्प्रक्रियापति
ऽयं शोकशब्दः कामवचन एव भवितुमर्हति । कामश्च कर्महेतुः । वक्ष्यति हि[5] "स य
कामो भवति तत्क्रतु[6]र्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते" इति । अतः सर्वकामातितो
त्वाद्युक्तमनन्वागतं पुण्येनेत्यादि ।

हृदयस्य हृदयमिति पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डस्तत्स्थमन्तःकरणं बुद्धिर्हृदयमि
च्यते । तात्स्थ्यान्मञ्चक्रोशनवत् । हृदयस्य बुद्धेर्ये शोकाः कामाः । बुद्धिसंश्रया हि

तदाह—यस्मादिति । अत्रेति सुषुप्तिरुच्यते । अतः सर्वकामातितीर्णत्वादित्युत्तरत्र संबन्धः । न के
शोकशब्दस्य कामविषयत्वमुपपन्नमेव किंतु संनिधेरपि सिद्धमित्याह—न कंचनेति । शोकश
कामविषयत्वेऽपि [9]तदत्ययमात्रात्कथं [10]कर्मात्ययः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—कामश्चेति । [11]तत्र वाक्य
प्रमाणयति—वक्ष्यति हीति । कामस्य कर्महेतुत्वे सिद्धे फलितमाह—अत इति ।

हृदयस्य शोकानतिक्रामतीत्यत्र हृदयशब्दार्थमाह—हृदयमितीति । मांसपिण्डविशेषवि
हृदयपदं कथं बुद्धिमाहेत्याशङ्क्याऽऽह—तात्स्थ्यादिति । यथा मञ्चाः क्रोशन्तीति मञ्चक्रोशनमुच्यमा
मञ्चस्थान्पुरुषानु[12]पचारादाह तथा हृदयस्थत्वाद्बुद्धेरुपचाराद्बुद्धिं हृदयशब्दो दर्शयतीत्यर्थः
हृदयशब्दार्थमुक्त्वा [13]तस्य संबन्धं दर्शयति—हृदयस्येति ।ताननतिक्रान्तो भवतीति शेषः । आत्म
श्रयास्ते न बुद्धिमाश्रयन्तीत्याशङ्क्याऽऽह—बुद्धीति । कथं [14]तर्हि [15]केचित्कामाश्रयत्वं [16]तेषां वद

कामनाओं को पार कर जाता है । क्योंकि मनोवाञ्छित विषय की कामना ही उस विषय का वियो
होने के कारण शोकरूप हो जाती है । अप्राप्त और वियुक्त हुए इष्ट विषय के निमित्त से उसके गुणों
चिन्तन करता हुआ पुरुष सन्तप्त होता है । इसलिए शोक, रति और काम ये पर्यायवाची शब्द
क्योंकि उस अवस्था में पुरुष समस्त कामनाओं को पार कर जाता है । "वह किसी की कामना न
करता", "वह कामरहित है" ऐसा श्रुति कह चुकी है । इसलिए उस प्रकरण में पठित यह "शो
शब्द कामवाची ही हो सकता है । काम कर्म में हेतु है । इसी को आगे कहा जायगा "वह जै
काम वाला होता है, वैसा संकल्प करता है, जैसे संकल्प करता है वैसा कर्म करता है" । इसलि
(काम के कर्महेतुक होने से) सुषुप्ति में सर्वकर्म से अतीत होने के कारण "वह पुण्य से असम्पृक्त है
यह श्रुतिवचन सुसंगत ही है ।

"हृदयस्य भवति" यहाँ हृदय कमल के आकार वाले माँसपिण्ड को कहते हैं । उसमें स्थि
अन्तःकरण या बुद्धि भी हृदय ही है । "मञ्च चिल्लाते हैं" इस वाक्य में मञ्चस्थ पुरुष का बो

---

[1] अत—निरुक्तप्रार्थनाया एवोक्तविधया शोकात्मना परिणतत्वात् । [2] बृ. उ. ४. ३. १९ । [3] बृ. उ.
४. ३. २१ । [4] कामप्रकरणपठित । [5] बृ. उ. ४. ४. ५. । [6] क्रतुरध्यवसायः संकल्पः क्रियाहेतु
[7] कामकर्महेतुत्वात् । [8] सुषुप्तौ । [9] कामातिक्रममात्रेण । [10] पुण्यपापास्पर्शः । [11] कामस्य
कर्महेतुत्वे । [12] जहल्लक्षणयेति यावत् । [13] तस्य संबन्धमिति हृदयशब्दार्थस्य बुद्धेः शोकशब्दार्थेन
कामादिना सह संबन्धमाश्रयाश्रयित्वरूपमित्यर्थः । [14] कामानां हृदयाश्रितत्वे । [15] तार्किकादयः ।
[16] कामानाम् ।

मः संकल्पो विचिकित्सेत्यादि सर्वं मन एवेत्युक्तत्वात्। वक्ष्यति च[2] "काम येऽस्य हृदि ताः" इति,[3] आत्मसंश्रयभ्रान्त्यपनोदाय हीदं वचनं, हृदि श्रिता [4]हृदयस्य शोका इति । [5]हृदयकरणसंबन्धातीतश्चायमस्मिन्कालेऽतिक्रामति [6]मृत्यो रूपाणीति ह्युक्तम्। यकरणसंबन्धातीतत्वा[7]त्तत्संश्रयकामसंबन्धातीतो भवतीति [8]युक्ततरं वचनम्।

ये तु वादिनो हृदि श्रिताः कामा वासनाश्च हृदयसंबन्धिनमात्मानमुपसृप्योपश्लि- ति [9]हृदयवियोगेऽपि चाऽऽत्मन्यवतिष्ठन्ते पुटतैलस्थ इव पुष्पादिगन्ध इत्याचक्षते। षां [10]"कामः संकल्पो, [11]"हृदये ह्येव रूपाणि हृदयस्य शोका इत्यादीनां वचनानामानर्थक्य- व। हृदयकरणोत्पाद्यत्वादिति चेत्। न। हृदि श्रिता इति विशेषणात्। न हि हृदयस्य

ङ्क्य भ्रान्तिवशादित्याह—आत्मेति। भवति कामानां [12]"हृदयाश्रितत्वं तथाऽपि [13]"तत्संबन्धद्वारा दाश्रयत्वसंभवात्कथमात्मा सुषुप्ते कामानतिवर्तते तत्राऽऽह—हृदयेति। [15]"तत्संबन्धातीतत्वे श्रुति- द्धे फलितमाह—हृदयकरणेति।

भर्तृप्रपञ्च[16]"प्रस्थानमुत्थापयति—ये त्विति। सत्येव हृदये तन्निष्ठानां कामादीनामात्मन्युपश्लेषो [17]"तन्निवृत्तावित्याशङ्क्याऽऽह—हृदयवियोगेऽपीति। तन्मते श्रुतिविरोधमाह—तेषामिति। हृदयेन णेनो[18]"त्पाद्यत्वादात्मविकाराणामपि कामादीनां हृदयसंबन्धसंभवान्नाऽऽनर्थक्यं श्रुतीनामिति युङ्क्ते—हृदयेति। न [19]"कामादिसंबन्धमात्रं हृदयस्य श्रुत्यर्थः किंत्वाश्रयाश्रयित्वं तच्च करणत्वे न स्यात्। न हि चक्षुराद्याश्रयं रूपादिज्ञानं दृष्टमिति परिहरति—न हृदीति। चकाराद्वचनं न समञ्ज-

---

ता है। उसी प्रकार हृदयस्थ बुद्धि को भी समझना चाहिये। "हृदयस्थ" यानी बुद्धि के जो शोक है, वे बुद्धि के ही आश्रित होते हैं क्योंकि "काम, संकल्प और विचिकित्सा; यह सब मन में ही " ऐसा कहा गया है। तथा "जो काम इसके हृदय में आश्रित हैं" ऐसा श्रुति आगे कहेगी। कामनाओं के आत्मसंश्रयरूप भ्रान्ति के अपनोदन के लिए "हृदि श्रिताः" "हृदयस्य शोकाः" ये श्रुतिवचन हैं। इस सुषुप्तावस्था में यह पुरुष हृदयाख्य करण के संबन्ध से अतीत हो जाता है। जैसा कि "वह मृत्यु के रूपों को पार कर जाता है" ऐसा श्रुति प्रतिपादन कर चुकी है। इसलिए हृदयाख्य करण के संबन्ध से अतीत होने के कारण हृदय से आश्रित काम संबन्ध से अतीत हो जाता है, यह कहना अधिक संगत जान पड़ता है।

किन्तु जो भर्तृप्रपञ्चादि विचारक ऐसा कहते हैं कि हृदय में स्थित काम और वासनाएँ हृदयसंबन्धी आत्मा के पास जाकर उसका परिष्वजन करती हैं तथा सुषुप्तावस्था में हृदय का वियोग होने पर भी पुटतैल में स्थित पुष्पादि की गन्ध के समान, वे आत्मा में विद्यमान रहती हैं, उनके लिए "काम और संकल्प सब मन ही है", "रूपों के हृदयग्राही होने के कारण ये सब रू। हृदय

---

[1] बृ. उ. १. ५. ३। [2] बृ. उ. ४. ४. ७। [3] कामानाम्। [4] हृदयस्य शोकानिति तु प्रकृतवाक्ये पाठः। [5] हृदयाख्यकरणेति यावत्। [6] बृ. उ. ४. ३. ७। [7] हृदयेति भावः। [8] धर्मिसंबन्धाभावे तद्धर्मसंबन्धाभावः सुतरामिति तत्करणम्। [9] संप्रसादादौ हृदयापगमेऽपि। [10] बृ. उ. १. ५. ३। [11] बृ. उ. ३. ९. २०। [12] बुद्धिस्थत्वम्। [13] ब्रह्म। [14] आत्मेति बोध्यम्। [15] हृदयसंबन्धातीतत्वे। [16] मतम्। [17] हृदयनिवृत्तौ। [18] आत्मनि। [19] जन्यजनकत्वसंबन्धमात्रम्।

करणमात्रत्वे हृदि श्रिता इति वचनं [1]समञ्जसं हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानीति [2]आत्मविशुद्धेश्च [3]विवक्षितत्वाद्धृच्छ्रयणवचनं [4]यथार्थमेव युक्तम् । ध्यायतीव लेलायतीव च श्रुतेरन्यार्थासंभवात् ।

कामा येऽस्य हृदि श्रिता इति विशेषणादात्माश्रया अपि सन्तीति चेत् । न [5]अनाश्रितापेक्षत्वात् । [6]नात्राश्रयान्तरमपेक्ष्य ये हृदीति विशेषणं किं तर्हि ये हृद्यनाश्रिताः कामा[7]स्तानपेक्ष्य विशेषणम् । ये त्वप्ररूढा [8]भविष्यन्तो भूताश्च प्रतिपक्षतो निवृत्ता नैव हृदि श्रिताः संभाव्यन्ते च ते । [9]अतो युक्तं तानपेक्ष्य विशेषणम् [10]ये प्ररू

समिति संबध्यते । प्रदीपायत्तं घटज्ञानमिति [11]वदन्तःकरणायत्तमात्माश्रितं [12]कामादिनि [13]तदाश्रयत्ववचनमौ[14]पचारिकमित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मविशुद्धेश्चेति । इतश्चेदं यथार्थमेवेत्याह— ध्यायतीवेति । अन्यार्थासंभवाद्बुद्ध्याश्रयणवचनस्येति शेषः ।

दक्षिणेनाक्ष्णा पश्यतीत्युक्ते वामेन न पश्यतीतिवत्प्रमुच्यन्ते हृदि श्रिता इति विशेषण श्रित्याऽऽशङ्कते—कामा य इति । [15]प्रकारान्तरेण विशेषणस्यार्थवत्त्वं दर्शयति—नेत्यादिना । प्रकृतश्रुत्युक्तिः । आश्रयान्तरं बुद्ध्यतिरिक्तमात्माख्यम् । बुद्ध्यनाश्रिताः कामा एव न सन्ति यदपेक्ष हृदयाश्रयत्वविशेषणमित्याशङ्क्याऽऽह—ये त्विति । प्रतिपक्षतो विषयदोषदर्शनादिति यावत् । कामा वर्तमानत्वनियमाभावाद्भूतभविष्यतामपि संभवे फलितमाह—अत इति ।

में ही प्रतिष्ठित हैं" तथा "हृदय के शोक (निवृत्त हो जाते हैं)" इत्यादि वचनों की व्यर्थता हो यदि कहो कि कामादि हृदयाख्य करण से उत्पाद्य होने के कारण हृदय से सम्बद्ध हैं; तो ऐसा कह ठीक नहीं है क्योंकि "जो काम इसके हृदय में स्थित हैं", यहाँ "श्रिताः" विशेषण है । हृदय के कर मात्र होने में "हृदि श्रिताः" यह श्रुतिवाक्य असंगत हो जायगा । इसी प्रकार "हृदय में ही सब प्रतिष्ठित है" यह श्रुतिवाक्य भी अनर्थक हो जायगा । किन्तु यहाँ (त्वंपदार्थ शोधन में) आत्मा की विशुद्धि विवक्षित होने क कारण इस प्रकरण में "हृदय का आश्रयण" यह वचन मुख्य है और उचि भी है क्योंकि "वह मानो ध्यान करता हुआ सा, चेष्टा करता हुआ सा" इस श्रुति का कोई दूसरा अ असंभव है ।

यदि कहो "जो काम इसके हृदय में स्थित हैं" इस श्रुति में ऐसा विशेषण देने से सिद्ध होता है कि कुछ काम आत्मा के आश्रित भी हैं; तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि ऐसा हृदय में अनाश्रित कामों की अपेक्षा से है । यहाँ "जो काम इसके हृदय में" ऐसा विशेषण कामों के किसी दूसरे आश्रय की अपेक्षा से नहीं है । तो किसलिये है ? जो काम हृदय के अनाश्रित हैं, उनकी अपेक्षा से यह विशेषण है । और भविष्य में होने वाले जो काम हृदय में अप्ररूढ हैं तथा जो भूतकाल में होकर विरोध के कारण

---

[1] संगतम् । [2] त्वंपदार्थशोधनस्य । [3] अत्र प्रकरणे । [4] मुख्यमेव । [5] हृदयानाश्रितकामव्यावृत्तये इति यावत् । [6] समग्रहृद्वाक्यं विवृणोति—नेति । [7] तद्व्यावृत्त्यर्थमिति यावत् । [8] अप्ररूढविवरणमिदम् । [9] अवतरणोक्तत्वात् । [10] एवं सति वाक्यार्थमाह—ये प्ररूढा इति । [11] अन्तःकरणंति च्छेदः । [12] अन्तःकरणाधीनत्वात् । [13] हृदयाश्रितवचनम् । [14] गौणम् । [15] स्वाभिमतप्रकारात् ।

माना विषये ते सर्वे प्रमुच्यन्त इति ।

[2]तथाऽपि विशेषणानर्थक्यमिति चेत् । न । [3]तेषु यत्नाधिक्याधेयार्थत्वात् । [4]इतरथाऽश्रु-निष्टं च कल्पितं स्यादात्माश्रयत्वं कामानाम् । न कंचन कामं कामयत इति प्राप्त-षेधादात्माश्रयत्वं कामानां श्रुतमेवेति चेत् । न । सधीः स्वप्नो भूत्वेति[5] पर[6]निमित्तत्वा-माश्रयत्वप्राप्तेर[7]सङ्गवचनाच्च । न हि कामाश्रयत्वेऽसङ्गवचनमुपपद्यते । सङ्गश्च काम वोचाम[8] । [9]आत्मकाम इति श्रुतेरात्मविषयोऽस्य कामो भवतीति चेत् । न । [10]व्यतिरिक्त-

---

हृदयानाश्रितभूतभविष्यत्कामसंभवेऽपि सर्वकामनिवृत्तेर्विवक्षितत्वाद्वर्तमानविशेषणमनर्थकमिति ते—तथाऽपीति । अतीतानागतकामाभावः संभवति स्वतः सिद्धो न तन्निवृत्तौ यत्नोऽपेक्ष्यते दिदृक्षुणा तु मुमुक्षुणा वर्तमानकामनिरासाय यत्नाधिक्यमा[11]धेयमिति ज्ञापयितुं वर्तमानग्रहणमिति हरति—न तेष्विति । यदि यथोक्तं व्याख्यानमनादृत्याऽऽत्माश्रयत्वमेव कामानामाश्रीयते तदाऽश्रुतं मोक्षासंभवेनानिष्टं च कल्पितं स्यादित्याह—इतरथेति । अश्रुतत्वमसिद्धमिति शङ्कते—न कंचनेति । र्थादात्माश्रयत्वं श्रुतमेव कामानामित्येतद्दूषयति—नेत्यादिना । निषेधो हि प्राप्तिमपेक्षते न वास्तवं नामात्मधर्मत्वं प्राप्तिस्तु भ्रान्त्याऽपि संभवति । तस्मादात्मनो वस्तुतो न कामाद्याश्रयत्वमित्यर्थः । त्वाऽऽत्मनो न कामाद्याश्रयत्वमित्याह—असङ्गेति । नन्वसङ्गवचनमात्मनः सङ्गाभावं [14]साधयत्तस्य[15] मित्वे न [16]विरुध्यते तत्राऽऽह—सङ्गश्चेति । [17]कामश्च सङ्गस[18]ततोऽसिद्धो [19]हेतुर[20]त्रेति शेषः । वाक्यान्तरमाश्रित्याऽऽत्मनि कामाश्रयत्वं शङ्कित्वा दूषयति—आत्मेत्यादिना ।

वृत्त हो गये हैं, वे हृदय में स्थित नहीं हैं । उनकी संभावना हो सकती थी । इसलिये उनकी अपेक्षा ऐसा विशेषण देना उचित है कि "जो प्ररूढ विषय में वर्तमान हैं; वे सब ही मुक्त हो जाते हैं" ।

यदि कहो कि ऐसा मानने पर भी विशेषण का आनर्थक्य ज्यों का त्यों बना रहता है; तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि वर्तमान कामादिकों की निवृत्ति के लिए यत्नाधिक्य की अपेक्षा होने से रूढ काम हेय है । नहीं तो 'कामनाएँ आत्मा के आश्रित हैं' ऐसी अश्रुत और अनिष्ट कल्पना जाती । यदि कहो कि "वह किसी काम की कामना नहीं करता" इस श्रुतिवाक्य से प्राप्त वस्तु के षेधत्व नियम से कामों का आत्माश्रय तो श्रुतिसम्मत है । तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि वह बुद्धिसहित स्वप्न होकर" इस श्रुतिवाक्य के अनुसार आत्मा का कामाश्रयत्व की प्राप्ति अन्य (बुद्धि) के कारण ही है । "यह पुरुष असङ्ग है" इस श्रुतिवचन से भी यही सिद्ध होता है । कामा-

---

१. प्ररूढविवरणं विषये वर्तमाना इति । २. अवतरणोक्तत्वात् । ३. वर्तमानकामादिषु तन्निवृत्त्यर्थं यत्नाधिक्यज्ञापनार्थत्वाद्विशेषणस्य (वर्तमानग्रहणस्य) इत्यर्थः । ४. कामस्य हृदयाश्रयत्वानभ्युपगम्य आत्माश्रयत्वाभ्युपगमनम् । ५. वचनात् । ६. धीसंसर्गनिमितत्वात् । ७. "असङ्गो ह्ययं पुरुष"इति । ८. बृ. उ. ४. ३. १६ । ९. बृ. उ. ४. ४. ६ । १०. आत्मातिरिक्तेत्यर्थः । ११. अनुष्ठेयम् । १२. मोक्षवादिनो हि तव मोक्षासंभवोऽनिष्ट इति भावः । १३. अप्राप्तप्रतिषेधानुपपत्तेः । १४. बोधयत् । १५. आत्मनः । १६. न हि कामः सङ्गो नामेति पूर्ववाद्यभिप्रायः । १७. अवोचामेति सूचितं स्थलं दर्शयति—कामश्चेत्यादिना । तथा चात्र कामश्च सङ्गोऽतोऽसिद्धो हेतुरित्यत्रेत्येव युक्तः पाठः । १८. कामस्यैव सङ्गत्वात् । १९. श्रुतत्वम् । २०. कामित्वे ।

कामाभावार्थत्वात्तस्याः[1] ।

[2]वैशेषिकादितन्त्रन्यायोपपन्नमात्मनः कामाद्याश्रयत्वमिति चेत् । न हृदि श्रि इत्यादिविशेषणश्रुतिविरोधाद[3]नपेक्ष्यास्ता वैशेषिकादितन्त्रोपपत्तयः । श्रुतिविरोधे न्याय [4]भासत्वोपगमात् । स्वयंज्योतिष्ट्वबाधनाच्च । कामादीनां च स्वप्ने [5]केवलदृशिमा विषयत्वात्स्वयंज्योतिष्ट्वं स्थितं बाध्येत । [6]आत्मसमवायित्वे तद्दृश्यत्वानुपपत्तेश्चक्षु

इच्छादयः क्वचिदाश्रिता गुणत्वाद्रूपादिवदि[7]त्यनुमाना[8]त्परिशेषात्कामाद्याश्रयत्वमात्मनः से तीति शङ्कते—वैशेषिकादीति । [9]श्रुत्यवष्टम्भेन निराचष्टे—नेत्यादिना । स्वयंज्योतिष्ट्वबाधना नाऽऽत्माश्रयत्वं कामादीनामिति शेषः । [10]तदेव विवृणोति—कामादीनामिति । स्थितं [11]चानुमाना शेषः । यद्यत्र समवेतं तत्तेन न दृश्यते । यथा चक्षुर्गतं कार्ष्ण्यं तेनैव चक्षुषा न दृश्यते तथा कामादी मात्मसमवायित्वे तद्दृश्यत्वं न स्यात्तद्दृश्यत्वबलेनैव स्वयंज्योतिष्ट्वं साधितं [12]तथा च [13]तद्बाधे [14]पूर्वो

श्रयत्व होने पर असङ्ग श्रुति निरर्थक हो जायगी और "सङ्ग ही काम है" यह श्रुतिवचन जा चुका है। यदि कहो "आत्मकामः" ऐसी श्रुति होने के कारण इसे आत्मविषयक काम ही है; तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि यह श्रुति आत्मातिरिक्त काम का अभाव बतलाती है।

यदि कहो कि वैशेषिकादि सिद्धान्तों में जो न्याय है, उनकी उपपत्तियों द्वारा आत्मा कामाश्रयत्व सिद्ध हो जाता है; तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि "हृदय में जो काम स्थित इत्यादि विशेष श्रुति से विरोध होने के कारण वैशेषिकादि शास्त्रों की वे उपपत्तियाँ अनादरणी तथा श्रुतिविरोध होने से उनको न्यायभ्रान्तत्व माना गया है और इसको स्वीकार कर आत्मा का स्वयंज्योतिष्ट्व भी बाधित हो जाता है। स्वप्न में केवल साक्षी मात्र भास्य होने से का के सिद्ध और प्रतिष्ठित स्वयंज्योतिष्ट्व का बाध हो जायगा क्योंकि कामों के आत्मसम होने पर, नेत्रगत विशेष की तरह वे आत्मा के दृश्य नहीं हो सकेंगे। द्रष्टा से दृश्य भिन्न

---

१. श्रुतेः । २. आदिना गौतमादयो गृह्यन्ते तदीयतन्त्रेषु ये न्याया उपपत्तयस्तत्सिद्धम् । ३. नादर ४. भ्रान्तत्वमिति यावत् । ५. केवलेत्यादि—केवलसाक्षिमात्रभास्यत्वादित्यर्थः । केवलेति चक्षुराद्यन मात्रेति मनोनपेक्षत्वं विवक्षितम् । ६. बाध्यत्वे हेतुमाह—आत्मेति । कामानामिति शेषः । तत्र दृष्टान्तमा चक्षुरिति । ७. इत्यनुमानादिति—इति सामान्यानुमानेनेच्छादीनां साश्रयत्वसिद्धाविति यावत् । ८. शेषादिति—इच्छादयः पृथिव्याद्यनाश्रिताश्चेतनत्वसामानाधिकरण्येन प्रतीयमानत्वाद्यन्नैवं तन्नैवं यथा रू परिशेषानुमानादित्यर्थः । तथा चेच्छादय आत्माश्रिताः साश्रयत्वे सति पृथिव्याद्यनाश्रितत्वाद रूपादिवदित्यनुमानं फलितमित्यभिप्रेत्याह—कामादीति । ९. श्रुत्यवष्टम्भेन निराचष्ट इति—यद्यपि चे सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानत्वं प्रतीतिसामान्यघटितत्वे व्यभिचार्येव पृथिव्याद्याश्रितस्यापि रूपस्य गौ मिति तत्त्वेन प्रतीतेरिति न तन्निराकरणाय श्रुत्यवष्टम्भ आवश्यकस्तथापि तस्य प्रमाघटितत्वाभि हेतोरसिद्धिसिद्धयर्थमिच्छादीनां तथाप्रतीतेर्भ्रमत्वापादनायान्ततः श्रुतिरेव कामः संकल्पो विचिकि शरणं तद्वरमादावेव तदवष्टम्भ इति भावः । १०. बाधनमेव । ११. आत्मा स्वयंज्योतिर्भासकत्वादा दिवदित्यनुमानम् । १२. तथा चेति—तेषां तत्समवेतत्वे । १३. स्वयंज्योतिष्ट्वबाधकतदृश्यत्वाभावे स्वयंज्योतिष्ट्वबाधे चेत्यर्थः । १४. पूर्वोक्तानुमानमिति—स्वयंज्योतिष्ट्वस्थापकानुमानम् । तच्च बृ. उ. ४. टीकायां द्रष्टव्यम् ।

षवत् । [1]द्रष्टुर्हि दृश्यमर्थान्तरभूतमिति[2] द्रष्टुः स्वयंज्योतिष्ट्वं सिद्धम् । [3]तद्बाधितं
यदि कामाद्याश्रयत्वं परिकल्प्येत ।

सर्वशास्त्रार्थविप्रतिषेधाच्च । परस्यैकदेशकल्पनायां कामाद्याश्रयत्वे च सर्वशास्त्रार्थं
तं कुप्येत । एतच्च विस्तरेण [4]चतुर्थेऽवोचाम । महता हि [5]प्रयत्नेन कामाद्याश्रयत्व-
ल्पनाः प्रतिषेद्धव्या आत्मनः परेणैकत्व[6]शास्त्रार्थसिद्धये । तत्कल्पनायां पुनः क्रिय-
नायां शास्त्रार्थ एव बाधितः स्यात् । यथेच्छादीनामात्मधर्मत्वं कल्पयन्तो वैशेषिका
यायिकाश्चो[7]पनिषच्छास्त्रार्थेन न संगच्छन्ते, [8]तथेयमपि कल्पनोपनिषच्छास्त्रार्थबाधना-
ऽवरणीया ॥ २२ ॥

मानमपि बाध्येतेत्यर्थः । कथं कामादीनामात्मदृश्यत्वमाश्रित्य स्वप्ने स्वयंज्योतिष्ट्वस्योपदिष्टत्वं
ऽऽह—द्रष्टुरिति । 'तथाऽपि तेषामात्माश्रयत्वे काऽनुपपत्तिस्तत्राऽऽह—तद्बाधितमिति ।

यत्तु परमात्मैकदेशं जीवमाश्रित्य तदाश्रितं कामादीति" तत्राऽऽह – सर्वशास्त्रेति । "तदेव
ष्यति—परस्येति । शास्त्रार्थजातं निरवयवत्वप्रत्यगेकत्वादि तस्य कथं कोपः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह–
त्नेति । चतुर्थे चेद्भर्तृप्रपञ्चमतं निरस्तं तर्हि पुनर्निराकरणमकिंचित्करमित्याशङ्क्याऽऽह—महतेति ।
रेण सह प्रत्यगात्मनो यदेकत्वं तस्य शास्त्रार्थस्य सिद्धयर्थमिति यावत् । अंशत्वादिकल्पनायामपि
स्त्रार्थसिद्धिमाशङ्क्याऽऽह – तत्कल्पनायामिति । भर्तृप्रपञ्चकल्पनाया हेयत्वमुपसंहरति—
त्यादिना ॥२२॥

ता है" इस कारण से द्रष्टा (आत्मा) का स्वयंज्योतिष्ट्व होना सिद्ध हो जाता है। इसलिये यदि
त्मा में कामादि के आश्रयत्व की कल्पना की जायगी, तो वह बाधित हो जायगा।

सम्पूर्ण शास्त्रों के तात्पर्यार्थ से भी विरोध होने के कारण उक्त कल्पना अमान्य है। निरवयव
मात्मा की एकदेश कल्पना तथा आत्मा कामादि का आश्रय है–ऐसा मानने से तो सम्पूर्ण शास्त्र का
यं ही विप्रतिषिद्ध हो जायगा। यह बात हमने "चतुर्थे" यानी उपनिषत् के द्वितीय अध्याय में (अजात-
त्रु ब्राह्मण में) विस्तारपूर्वक कही है। आत्मा-परमात्मा का एकत्व यही शास्त्रप्रमेय सिद्ध करने के
लिए "आत्मा कामादि का आश्रय है" इस कल्पना का बार-बार महान् प्रयत्न करके प्रतिषेध करना
चाहिये। पुनः इस कल्पना के करने पर तो शास्त्र का तात्पर्यार्थ ही बाधित हो जायगा। जिस प्रकार
च्छादि को आत्मधर्मी मानने वाले वैशेषिकों और नैयायिकों की उपनिषत् सम्मत शास्त्रतात्पर्य से
संगति नहीं बैठती; उसी प्रकार (भर्तृप्रपञ्च की) यह कल्पना उपनिषत् शास्त्र के तात्पर्यार्थ की
बाधिका होने के कारण हेय है ॥२२॥

---

१. सकाशात् । २. हेतोः । ३. तद् उक्तरीत्या सिद्धं स्थितं च स्वयंज्योतिष्ट्वम् । ४. द्वितीयेऽध्याये
अजातशत्रुब्राह्मणे पृ.४९३भाष्ये "अत्र केचिदि"त्यारभ्याऽऽब्राह्मणसमाप्तिपर्यन्तम् । ५. भूयो भूय इति
यावत् । ६. शास्त्रप्रमेयेति भावः । ७. उपनिषच्छास्त्रार्थेन—कामादीनां मनोधर्मत्वाख्येन । न संगच्छन्ते
संवादिनो न भवन्तीत्यर्थः । ८. भर्तृप्रपञ्चीयापि । ९. उक्तरीत्या स्वयंज्योतिष्ट्वे सिद्धेऽपि । १०. मतम्
केषांचित् भर्तृप्रपञ्चादीनाम् । ११. विप्रतिषिद्धत्वमेव । १२. परमात्मना ।

*स्त्रीपुंसयोरिवैक[1]त्वान्न पश्यतीत्युक्तं स्वयं ज्योतिरिति च। स्वयंज्योतिष्ट्वं [2]चैतन्यात्मस्वभावता। [3]यदि ह्यग्न्युष्णत्वादिवच्चैतन्यात्मस्वभाव आत्मा स कथमेकत्वे स्वभावं [4]जह्यान्न जानीयात्। अथ न जहाति कथमिह सुषुप्ते न पश्यति। [5]विप्रतिषिद्ध

यद्वै तन्न पश्यतीत्यादेः [6]संबन्धं वक्तुं वृत्तं कीतर्यति—स्त्रीपुंसयोरिति। चकारादुक्तं ज्योतिष्ट्वमिति संबध्यते। किमिदं स्वयंज्योतिष्ट्वमिति तदाह—स्वयंज्योतिष्ट्वं नामेति। वृत्तमनूद्योत्तरवाक्यव्यावर्त्यां शङ्कामाह—यदीत्यादिना। स्वभावत्यागमेवाभिनयति—न जानीयादि [7]तत्त्यागाभावे सुषुप्ते विशेषविज्ञानराहित्यमयुक्तमित्याह—अथेत्यादिना। आत्मा चिद्रूपोऽपि विशेषं न जानाति चेत्किं दुष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—विप्रतिषिद्धमिति। परिहरति—नेति। उभयं

(यहाँ शङ्का होती है—) सुषुप्ति में स्त्री और पुरुष के समान परमात्मा के साथ जीव की होने के कारण 'वह नहीं देखता है' तथा 'वह स्वयं ज्योति है' ऐसा कहा गया। चैतन्य आत्मस्व जिसका हो; उसे स्वयज्योतिष्ट्व कहते हैं। यदि अग्नि के उष्णत्वादि के समान आत्मा रूप है, तो परमात्मा के साथ एकत्व होने पर वह अपने स्वभाव को कैसे छोड़ देता है अर्थात् कैसे जानता है? यदि वह स्वभाव को नहीं छोड़ता तो यहाँ सुषप्तावस्था में क्यों नहीं देखता है? चैतन्य आत्मस्वभाव वाला हैं और आत्मा नहीं जानता—यह कथन तो परस्पर विरुद्ध है। इस

---

[1] परेण सह जीवस्य। [2] चैतन्यमात्मस्वभावो यस्य तत्ता। [3] यदीति—आत्मा चिद्रूपश्चेत्कामादिवच्च न त्यजेत् स्वभावस्य त्यागायोगादतश्चैतन्यं नास्य स्वाभाविको धर्मः सत्येवात्मनि स्वापे तदभावात् संयोगा दागन्तुकत्वेऽपि नासावात्मनः स्वतो धर्मः तद्धर्मत्वेऽपि तथैव (चैतन्यवदेव) सुषुप्तौ तन्नाशः (आत्मनाशः धर्मि धर्मिनाशात्) स्यादात्मा जड एवेति भावः। [4] स्वभावं जह्यादित्यस्यैव विवरणमिदम्। [5] विप्रतिषिद्धमिति आदित्योऽप्रकाश इतिवत्स्वयंज्योतिर्न पश्यतीति व्याहतमित्यर्थः। [6] पूर्ववाक्येन सह। [7] स्वभावत्यागाभा

---

* स्त्रीपुंसयोरित्यादि न जानाति चेतीत्यन्ते वार्तिके यथा—"चैतन्यमपि नैव स्यादात्मनः कामकर्मवत्। न्वयतः प्राज्ञ इत्येवमभिचोदिते ॥ स्त्रीपुंदृष्टान्तवाक्येन परिहारश्च दर्शितः। विभागहेत्वसद्भावाज्जाग्र लभ्यते ॥ अविभागात्मतां यातं न पुनः कामकर्मवत्। साधितं च प्रयत्नेन स्वयंज्योतिष्ट्वमात्मनः। स्वयंज्योतिः कामकर्मादिवत्कथम्। सुषुप्तेऽस्य स्वभावत्वाज्जह्याच्चैतन्यमित्यतः ॥ नास्य धर्मो भवेदेतत् तददर्शनात्। नाऽऽत्मधर्मो विनष्टत्वात्तस्माच्चैतन्यमत्र तत् ॥ अपि विप्रतिषिद्धं च यत्स्वयंज्योतिरात्म प्रत्यग्वस्तु न वेत्तीति भवतेहाभिधीयते ॥ ऐक्यादनुपलब्धिश्चेदनैकान्तिकता तथा। यतोऽभावेऽप्यसंवित्ति स्येह दृश्यते ॥ इत्यस्य परिहारार्थं परो ग्रन्थोऽवतार्यते। यद्वै तदित्युपक्रम्य प्रत्यग्वस्तुविशुद्धये" ॥ १३८५ ॥ इति। यद्वै तन्न पश्यतीत्यादेः संबन्धार्थं वृत्तं कीर्तयति—चैतन्यमिति। धर्मः कामादिस्तद्वच्चैतन्य सुप्तौ हेत्वभावेन सत्त्वायोगादिति हेत्वर्थः ॥ उक्तमेव परिहारमनुद्रवति—विभागेति। बाह्यो घटादिरान्त सुखादिर्विभागस्तस्य हेतुर्व्यक्तमज्ञानं तदभावादिति यावत्। चैतन्यमिति शेषः ॥ हेत्वन्तरमाह—अविभागेति अद्वयब्रह्मणैकीभूतमिति यावत्। नासत्त्वमनुपलब्धिहेतुरित्याह—न पुनरिति। तदेव तत्राऽदृष्टिकारणं स्यात्तत्राऽऽह—साधितं चेति। आत्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वं वागादिवदौपचारिकमित्याशङ्क्य तस्यान्यानवभास तस्य सर्वावभासकत्वान्मैवमित्याह—प्रयत्नेनेति ॥ तत्र चोदयति—यदीति। आत्मा चिद्रूपश्चेत्कामादिवच्च न त्यजेत्स्वभावस्य त्यागायोगादतश्चैतन्यं नास्य स्वाभाविको धर्मः सत्येवाऽऽत्मनि स्वापे तदभावात्संयो

[1]यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति *न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्॥ २३॥

वह जो सुषुप्ति में नहीं देखता है, निःसन्देह उस अवस्था में देखता हुआ ही नहीं देखता है, योंकि द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता। वह तो अविनाशी है। उस अवस्था में उससे भिन्न ोई अन्य वस्तु नहीं रह जाती, जिसे कि वह देखे ॥२३॥

चैतन्यमात्मस्वभावो न [2]जानाति चेति। न विप्रतिषिद्धमुभयमप्येतदुपपद्यत एव। कथम्—

भावत्वं विशेषविज्ञानराहित्यं चेत्यर्थः। उभयस्वीकारे शङ्कितं विप्रतिषेधमाकाङ्क्षापूर्वकं श्रुत्या राकरोति—कथमित्यादिना। यद्वै तदित्यादिवाक्यं [3]चोदितार्थानुवादस्तत्परिहारस्तु पश्यन्नित्यादि-

---

िद्धान्ती कहता है—ये परस्पर विरुद्ध कथन नहीं है, दोनों बातें कहना सुसंगत ही है। किस प्रकार? (इस पर श्रुति कहती है—)

---

[1] स्त्रीपुंसपरिष्वङ्गदृष्टान्तेनैकत्वापत्तिवशाद्विशेषज्ञानाभावो न स्वयंज्योतिष्ट्वाभावादित्युमेव चोद्यपूर्वकं स्पष्टयति—यद्वा इति। तत्तत्र सुषुप्तौ आत्मा न वै नैव पश्यतीति यज्जानीषे तन्न तथा यतस्तत्र स्वरूपचैतन्येन सर्वसाक्षित्वा-पश्यन्नेव सन् द्रष्टव्यमर्थजातं न पश्यतीत्यपि संभवतीति स्वरूपदर्शनं विशेषादर्शनं च प्रतिज्ञायते इत्यर्थः। तत्र प्रथमप्रतिज्ञायां हेतुमाह—न हीति। द्रष्टुः प्रमातुर्या सर्वसाक्षिभूता दृष्टिर्यद्वा द्रष्टुः कूटस्थचिन्मात्ररूपस्य स्वरूपभूता या दृष्टिस्तस्या हि यस्माद्विपरिलोपो विनाशो न विद्यतेऽग्न्युष्णत्ववत् तत्रापि हेतुमाह—अविनाशित्वादिति। विनाशहेतुपरिणामहीनत्वादित्यर्थः। विशेषज्ञानाभावरूपद्वितीयप्रतिज्ञायां हेतुमाह—न त्विति। तत्तत्र सुषुप्तौ आत्मस्वरूपात् द्वितीयं प्रमातृरूपं साभासान्तःकरणाख्यम्। आत्मस्वरूपादन्यच्च चक्षुरादि करणं विभक्तं च रूपादिप्रमेयं न त्वस्ति यत् प्रमेयं प्रमाता प्रमाणेन पश्येदित्यर्थः। [2] आत्मा। [3] यच्छब्द-योगात्।

वदागन्तुकत्वेऽपि नासावात्मनः स्वतो धर्मस्तद्धर्मत्वेऽपि तथैव सुप्तौ तन्नाशस्तस्मादात्मा जड एवेत्यर्थः॥ किंचा-ऽऽदित्योऽप्रकाश इतिवत्स्वयंज्योतिर्न पश्यतीति व्याहतमित्याह—अपीति। इहेति स्वापोक्तिः॥ स्त्रीवाक्योक्तं समाधिं शङ्कते—ऐक्यादिति। ब्रह्मणैक्यं विद्यमानस्यैव चैतन्यस्यानुपलब्ध्या न नियतमिति दूषयति—अनैकान्तिकेति। तथेत्यैक्यादनुपलम्भस्वीकारे सतीत्यर्थः। अनैकान्तिकत्वे हेतुमाह—यत इति। लोके पाषाणादौ चैतन्यस्याभावेऽप्यनुपलब्धेरैक्यस्य तत्प्रयोजकत्वं व्यभिचारीत्यर्थः॥ उत्तरमादत्ते—इत्यस्येति। स्वप्रकाशं तन्न जडमिति तद्विशुद्धिस्तदर्थं चोद्यं समाधेयं तदर्थेन यद्वै तदित्यादिप्रवृत्तिरित्यर्थः॥

* न हि द्रष्टुर्दृष्टेरित्यादौ वार्तिके—"न हीतिहेतुवचनं प्रतिज्ञातार्थसिद्धिकृत्। द्विप्रकारो विनाशश्च द्विर्हेतूक्त्या निषिध्यते॥ निरन्वयो विनाशोऽस्य न हीत्युक्त्या निषिध्यते। अविनाशीति चाप्यत्र विकारापह्नुतेर्वचः॥ सर्वोच्छित्त्यात्मसाक्षित्वादुच्छित्तेश्चाप्यसंभवात्। तथा सर्वविकाराणां प्रत्यङ्मात्रैकसाक्षिता॥ पश्यन्नेवायमत्राऽऽस्ते सान्वयानन्वयौ ध्रुवः। अविनाशीति मैत्रेय्यां द्विधानाशनिषेधकृत्। वचनं प्रागुपन्यस्तं तदेवात्रापि हेतवे॥ न हीति तु प्रतिज्ञोक्तिर्नाशौ यस्मादतः सिद्ध आत्मा कूटस्थदर्शनः॥ पश्यन्न पश्यतीत्येतत्स्वतन्त्रं चाऽऽगमं वचः।

यद्वै सुषुप्ते तन्न पश्यति पश्यन्वै तत्तत्र[1] पश्यन्नेव न पश्यति । यत्तत्र सुषुप्ते न
पश्यतीति जानीषे तन्न तथा गृह्णीयाः । कस्मात् । पश्यन्वै भवति तत्र ।

वाक्यमिति विभजते—यत्तत्रेति ।

जो यह सुषुप्ति में नहीं देखता; सो उस सुषुप्तावस्था में वह देखते हुए भी नहीं देखता। तुम जो
ऐसा जानते हो कि वह वहाँ सुषुप्ति में नहीं देखता, उसे वैसा मत मान लो । क्यों ? क्योंकि वह वहाँ

---

[1] सुषुप्तौ ।

रनुमोक्त्यनुसारिणी ।। हेतूक्तिरविनाशित्वादित्युक्तार्थप्रसिद्धये । विनाशशक्त्यभावोक्तेर्न प्रतिज्ञैकदेशता ॥ प्रति-
वचसी द्वे वा पश्यन्नित्यादिनोदिते । न हीति हेतुवचसी द्वे स्यातामुत्तरे तयोः ।। पश्यन्नेवाऽऽस्त इत्यस्याः प्रतिज्ञां
प्रसिद्धये । हेतुर्न हीतिवचनमुत्तरस्यापि चोत्तरम् ।। निरन्वयविनाशस्य निषेधोऽत्र विवक्ष्यते । प्रथमे हेतुवर्ण
परिणामस्तथोत्तरे ॥ द्वौ वा हेतू यथोक्तार्थौ द्वयोरपि प्रतिज्ञयोः । आभ्यां संभूय सिद्धोऽर्थ एवं सति भवेद्यतः"।
१४९६-१५०६ ।। इति । प्रतिज्ञावाक्यं पाठद्वयेऽपि व्याख्याय हेतुवाक्यमनूद्य तस्यार्थमाह—न हीतीति । आत्मा
कूटस्थदृष्टिरिति प्रतिज्ञातोऽर्थस्तत्साधकत्वेन न हीत्यादिवाक्यमित्यर्थः । एकेनैव हेतुना प्रतिज्ञार्थसिद्धेर्व्यर्थं हेत्वन्त-
मित्याशङ्क्याऽऽह—द्विप्रकार इति ।। कौ तौ नाशस्य द्वौ प्रकारौ तयोर्वा कस्य केन निषेध इत्याशङ्क्यां
विभजते—निरन्वय इति । विपरीत्युपसर्गद्वयवशादित्यर्थः । अविनाशित्वादित्यस्य तात्पर्यमाह—अविनाशी
चेति । विकारस्यापह्नुतिः कारणसंसर्गः सावशेषो नाशस्तत्संबन्ध्यविनाशित्वादिति वचोऽस्मिन्वाक्ये प्रत्युक्तं
निरवशेषनाशवत्सावशेषनाशस्याप्ययोगात्कूटस्थदृष्टिरात्मेत्यर्थः ।। चतुर्थे च नाशद्वयं निरस्तमित्याह—अवि-
नाशीति । अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मेत्यत्र नाशद्वयं निषिद्धं चेत्किमितीह निषिध्यते तत्राऽऽह—
तदेवेति । आत्मा कूटस्थदृष्टिरिति प्रतिज्ञातेऽर्थे नाशद्वयाभावरूपहेतुसिद्ध्यर्थं चातुर्थिकमेव वाक्यमत्राऽऽकृ-
मित्यर्थः ।। आत्मनो निरन्वयनाशाभावे हेतुमाह—सर्वेति । सर्वात्मनोच्छित्तिर्निरन्वयो नाशस्तत्राऽऽत्म
साक्षित्वान्न तद्वत्तेत्यर्थः । आत्मनः सावशेषनाशाभावे हेतुमाह—उच्छित्तेश्चेति । उच्छित्तिः सावशेषो नाशो हे
संसर्गो नाऽऽत्मनो युज्यते हेत्वभावात्तत्रापि साक्षित्वाच्च तदसौ नित्यदृष्टिरेवेत्यर्थः । सावशेषनाशाभावे हेत्वन्त-
माह—तथेति । सर्वेषु विकारेषु प्रत्यङ्मात्रस्य साक्षित्वात्तस्याविकारित्वान्न कारणसंसर्गो नाश इत्यर्थः ।।
आत्मनो द्विधानाशाभावे फलितमाह—पश्यन्निति । विधान्तरेण वाक्यं विभजते—पश्यन्नित्यादिना । आगमस्य
हि वचो न हेतुमाकाङ्क्षते निरपेक्षप्रमाणत्वादित्यर्थः । न हीत्यादाविष्टं विभागमाह—नेति । यथा वह्निमानि
प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये धूमवत्त्वादिति हेतुरुच्यते तथैव दृष्टेर्नित्यत्वं प्रतिज्ञाय तस्यैव प्रतिज्ञातस्य सिद्ध्यर्थमनुमाना-
नुसारिणी हेतुक्तिरविनाशित्वादिति प्रयुज्यते तथाचानुमानवत्साधकतेत्यर्थः । आत्मदृष्टेर्नाशाभावं प्रतिज्ञाया-
विनाशित्वादिति हेतुं वदतः साध्याविशिष्टतेत्याशङ्क्याऽऽह—विनाशेति । न विनश्यतीति प्रतिज्ञा विनङ्
मयोग्यत्वं हेतुस्तन्नानयोरेकार्थतेत्यर्थः ।। प्रकारान्तरेण विभागमाह—प्रतिज्ञेति ।। तमेव विभागं प्रक-
यति—पश्यन्नेवेति । उत्तरस्य न पश्यतीत्यस्येति यावत् । उत्तरमविनाशित्वादिति वाक्यमित्यर्थः ।। हेत्वोरैका-
र्थ्यमाशङ्क्याऽऽह—निरन्वयेति । परिणामो निषिध्यत इति शेषः ।। प्रतिज्ञाद्वये हेतुद्वयं योज्यमिति विधान्तर
माह—द्वौ वेति । यथोक्तार्थौ सावशेषो निरवशेषश्चेत्युक्तावित्यर्थः । द्वयोरिति पश्यन्न पश्यतीत्यनयोरित्यर्थः।
अस्मिन्पक्षे लाभमाह—आभ्यामिति । आभ्यां हेतुभ्यां संभूय स्थिताभ्यामात्मनो दृष्टित्वमनाशश्च विवक्षितोऽर्थो
यतः सिध्यतः यतो हेतुद्वयं प्रतिज्ञाद्वयेऽपि योज्यमेव वाक्यद्वये स्थिते कूटस्थदृष्टित्वमात्मनः स्थितमित्यर्थः ।।

नन्वेवं[1] न पश्यतीति सुषुप्ते जानीमो यतो न चक्षुर्वा मनो वा दर्शने करणं व्यापृतमस्ति । व्यापृतेषु हि [2]दर्शनश्रवणादिषु पश्यतीति [3]व्यवहारो भवति शृणोतीति वा । न च व्यापृतानि करणानि [4]पश्यामः । [5]तस्मान्न पश्यत्येवायम् । न हि । [6]किं [7]तर्हि पश्यन्नेव भवति । कथम् । न हि यस्माद्द्रष्टुर्[8]दृष्टिकर्तुर्या [9]दृष्टिस्तस्या दृष्टेर्विप-

---

न हीत्यादिवाक्यनिरस्यामाशङ्कामाह—नन्विति । चक्षुरादिव्यापाराभावेऽपि सुषुप्ते दर्शनादि किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—व्यापृतेष्विति । अस्तु [10]तर्हि [11]तत्रापि करणव्यापारो नेत्याह—न चेति । यमिति सुषुप्तपुरुषोक्तिः । न पश्यत्येवेति नियमं निषेधति—न हीति । [12]तत्र हेतुं वक्तुं प्रश्नपूर्वकं प्रतिज्ञां [13]प्रस्तौति—किं तर्हीति । [14]तत्राऽऽकाङ्क्षापूर्वकं हेतुवाक्यमुत्थाप्य व्याचष्टे—कथमित्यादिना ।

ता ही रहता है ।

(पुनः शङ्का होती है —) किन्तु हम जानते हैं कि सुषुप्तावस्था में वह इस प्रकार नहीं देखता क्योंकि वहाँ चक्षु या मन कोई भी इन्द्रिय दर्शनरूप व्यापार करने वाली नहीं होती । चक्षु और श्रोत्रादि के दर्शन-श्रवणादि व्यापार में लगे रहने पर देखता है अथवा सुनता है—ऐसा व्यवहार होता है। और वहाँ हम इन्द्रियों को व्यापार में लगी हुई अनुभव नहीं करते । इसलिये यह नहीं ही देखता है। (इस पर सिद्धान्ती कहता है —) ऐसा कहना ठीक नहीं है । फिर क्या है ? यह देखता ही रहता रहता है। किस प्रकार ? क्योंकि "द्रष्टुः" यानी दृष्टि के कर्ता प्रमाता की जो साक्षीरूपा दृष्टि है, उस

---

१. इत्येवं जानीम इत्यन्वयः । २. चक्षुः श्रोत्रादिषु । ३. जात्यन्धादौ तथाव्यवहारादर्शनात् । ४. अनुभवामः । ५. व्यापृतकरणाभावात् । ६. किम् कोऽयं नियम इत्यर्थः । ७. तर्हि—न पश्यतीति नियमाभावे । ८. प्रमातुः । ९. साक्षिरूपा । १०. तर्हि—व्यापृतेषु करणेषु पश्यतीत्यादि व्यवहारे सति । ११. सुषुप्तौ । १२. उक्तनियमनिषेधे । १३. स्थापयति । १४. पश्यन्नेवेति प्रतिज्ञातेऽर्थे ।

---

* नन्वेवमित्यारभ्य यावद्द्रष्टृभाविनी हि सेत्यन्तभाष्ये वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"न पश्यत्येव नन्वत्र चक्षुरादेरसंभवात् । कारणान्यन्तरेणेह जात्यन्धादिर्न वीक्षते ॥ नैतदेवं यतो द्रष्टुः कारकस्य समीक्षणे । करणानि व्यपेक्ष्यन्ते न त्वकारकवीक्षणे ॥ स्वप्नेऽपि चक्षुरादीनामपीतिः श्रूयते श्रुतौ । कुतः सुषुप्तौ तानि स्युर्यत्र तद्वासनाऽपि न ॥ न पश्यतीति वचनं कारकादेरसंभवात् । वास्तवं वृत्तमापेक्ष्य पश्यन्नै तदितीर्यते ॥ पश्यन्नेवायमत्राऽऽस्त इत्येतच्चेत्कुतो भवेत् । इत्यस्य हेतुसिद्ध्यर्थं न हि द्रष्टुरितीरणम् ॥ मेयमानप्रमातॄणां व्यभिचारेऽपि चाऽऽत्मनः । अनन्यानुभवादेव सिद्धिस्तद्ध्वंससाक्षितः ॥ प्रमात्राद्यनभिव्याप्तं वस्तु पूर्वं समीक्ष्य हि । नाद्राक्षमिति संधत्ते दृष्टवत्स्वचिदात्मना ॥ यस्माद्द्रष्टुर्हि या दृष्टिर्यया द्रष्टा प्रसिध्यति । तस्या विपरिलोपोऽयं हेत्वभावान्न युज्यते ॥ नाशोत्पत्त्यादयो धर्मा हेतुमद्वस्तुनो यतः । निर्हेतुसाक्षिणो न स्युरागमापायिसाक्षितः ॥ नाशादि न स्वयं सिध्येद्विना नाशादिसाक्षिणा । नातो विपरिलोपः स्याद्द्रष्टुर्दृष्टेः कदाचन ॥ द्रष्टुरात्मैव या दृष्टिः प्रत्यग्दृष्ट्या समीक्ष्यते । तस्या विपरिलोपोऽत्र न कथंचन युज्यते ॥ आत्मैवाऽऽत्मीयभूतस्य या दृष्टिरविनश्वरी । द्रष्टुर्विनाशिनस्तस्या नोच्छित्तिरुपपद्यते ॥ आगमापायिनो द्रष्टुर्दृष्टिस्तत्साक्षिणी तु या । द्रष्ट्रादिलोपसाक्षित्वात्तस्या लोपो न युज्यते ॥ सत्येव साक्षिणि यतो भावाभावौ प्रसिध्यतः । जगतोऽतो न नाशः स्यादात्मदृष्टेः कुतश्चन" ॥ १४१४-१४२७ ॥ इति । पश्यन्नेवेत्युक्तमाक्षिपति—नेति । चक्षुराद्यभावेऽपि स्वापे दर्शनं किं न स्यात्तत्राऽऽह—करणानीति । तथा सुषुप्तोऽपीत्यर्थः ॥ द्रष्टुरागन्तुकज्ञानस्य करणापेक्षा साक्षिणस्तु नैवं नित्य-

रिलोपे विनाशः स न विद्यते। यथाऽग्नेरौष्ण्यं यावदग्निभावि तथाऽयं चाऽऽत्मा द्रष्टा विनाश्यतोऽविनाशित्वादात्मनो दृष्टिरप्यविनाशिनी यावद्द्रष्टृभाविनी हि सा।

ननु विप्रतिषिद्धमिदमभिधीयते द्रष्टुः सा दृष्टिर्न विपरिलुप्यत इति च। दृष्टिश्च द्रष्ट्रा [1]क्रियते। दृष्टिकर्तृत्वाद्धि द्रष्टेत्युच्यते। [2]क्रियमाणा च द्रष्ट्रा दृष्टिर्न विपरिलुप्यत

अविनाशित्वादित्येतद्व्याकुर्वन्दृष्टेर्विनाशाभावं स्पष्टयति—यथेत्यादिना।

द्रष्टुर्दृष्टिर्न नश्यतीत्यत्र विरोधं चोदयति—नन्विति। विप्रतिषेधमेव साधयति—दृष्टिश्चेति।

दृष्टि का "विपरिलोपः" यानी विनाश नहीं होता। जिस प्रकार अग्नि की उष्णता अग्नि की सत्ता तक रहने वाली है; उसी प्रकार यह द्रष्टा आत्मा तो अविनाशी है। अतः आत्मा के अविनाशी होने कारण आत्मा की दृष्टि भी अविनाशी है अर्थात् द्रष्टा की सत्ता तक ही वह रहने वाली है।

(इस पर शङ्का होती है—) किन्तु वह द्रष्टा की दृष्टि है और उसका लोप नहीं होता, दोनों बातें तो परस्पर विरुद्ध हैं। द्रष्टा द्वारा किये जाने से दृष्टि कार्य है। दृष्टि का कर्ता होने से द्रष्टा कहा जाता है। द्रष्टा की कार्यभूता दृष्टि है और उसका लोप नहीं होता। (कार्यनाश के अवश्यंभा होने से) ऐसा कहना असंभव ही है। यदि कहो कि 'लोप नहीं होता' इस श्रुतिवचन के अनुसार

ज्ञानत्वादित्याह—नैतदिति॥ किंच प्रमातुरपि न चक्षुराद्यपेक्षानियमः स्वप्ने दृष्ट्यादिव्यापारेऽपि करणोपसंहार श्रुतेरित्याह—स्वप्नेऽपीति। असुप्तः सुप्तानित्याद्या श्रुतिः। सौषुप्तस्य साक्षिणश्चक्षुराद्यपेक्षायोगेऽपिना सुप्तिं कैमुतिकन्यायमाह—कुत इति। तच्छब्दश्चक्षुरादिविषयः॥ अविरोधमुपसंहरति—नेत्यादिना। न हीत्यादि वाक्यमाकाङ्क्षापूर्वकमादत्ते—पश्यन्निति। पश्यन्नेवाऽऽस्ते सुप्तावात्मेत्यस्यापेक्षितो हेतुः स्वरूपज्ञानाविनाशस्त स्तत्प्रतिपत्त्यर्थं न हीत्यादिवाक्यमित्यर्थः॥ कुतो मानाद्यतिरेकेण स्वरूपज्ञानादेवाऽऽत्मनः सिद्धिस्तत्राऽऽह—मेयेति। मात्राद्यभावसाक्षित्वादात्मा तदभावेऽपि स्वरूपज्ञानादेव सिध्यतीत्यर्थः॥ तत्रैव हेत्वन्तरमाह—प्रमात्रा दीति। पूर्वं प्रमाणादिप्रवृत्तेः प्रागवस्थायामित्यर्थः। प्राचीनानुभवपुरःसरमनुसंधानमित्यत्र प्रसिद्धिद्योतको हिशब्दः। प्रमाणतो दृष्टस्य पुनरनुसंधानवत्तेनादृष्टस्यापि स्वरूपचिता प्रतिपन्नस्यानुसंधानदर्शनात्तदविनाशि त्यर्थः॥ तात्पर्यमुक्त्वा न हीत्याद्यक्षराणि व्याचष्टे—यस्मादिति। दृष्टिं विशिनष्टि—ययेति। मनोवृत्तिव्युदा विशेषणार्थः। तस्मादात्मा पश्यन्नेव सुप्तौ तिष्ठतीति शेषः। श्रौतो हिशब्दो हिशब्देनाकृतः। तृतीयेत्थंभावे। आत्मा चायं दृष्टिरूपः स्फुरति सा तस्य स्वरूपत्वान्नाशकाभावाद्यतो न लुप्यतेऽतः सुप्तावात्मा पश्यन्नेवेति योजना। हेत्वभावं प्रपञ्चयन्नविनाशित्वादित्यस्यार्थमाह—नाशेति। अतो हेतुहीनसाक्षिणो नाशादयो नेत्य हेत्वन्तरमाह—आगमेति। तस्य साक्षिगम्यत्वासिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—नाशादीति। अन्यथा जडताहानिरि भावः। आत्मनस्तत्साधकत्वे फलितमाह—नात इति॥ प्रमात्रा तत्सिद्धेरलं साक्षिणेत्याशङ्क्य तद्भावाभावयो स्तदसिद्धेर्मैवमिति मत्वाऽऽह—द्रष्टुरिति। तत्रानुभवं प्रमाणयति—प्रत्यगिति। आत्मदृष्टेः सर्वसाधकत्वे किमायातं तदाह—तस्या इति। स्वापः सप्तम्यर्थः। कथंचन स्वतो वा परतो वेत्यर्थः॥ साऽपि दृष्टित्वान्मा दृष्टिवदुच्छिद्येतेत्याशङ्क्याऽऽह—आत्मेति। नाशयोग्यत्वमुपाधिरिति भावः॥ साधनव्याप्तिमाशङ्क्याऽऽह— आगमेति॥ आत्मदृष्टेर्नित्यत्वे हेत्वन्तरमाह—सत्येवेति। जगतो भावाभावयोर्जडत्वेनाऽऽत्मसाक्षिकत्वादात्म- स्वरूपभूता साक्षिदृष्टिरविनाशिनीत्यर्थः। इहेति हेतुवाक्योक्तिः॥

---

१. तथा च कार्यमेव सेति भावः। २. द्रष्टुः कार्यभूता।

[1]वाशक्यं वक्तुम्। ननु न विपरिलुप्यत इति वचनादविनाशिनी स्यात्। न। वचनस्य कत्वात्। न हि [2]न्यायप्राप्तो विनाशः [3]कृतकस्य वचनशतेनापि वारयितुं शक्यते। वनस्य यथाप्राप्तार्थज्ञापकत्वात्।

[5]*नैष दोषः। आदित्यादिप्रकाशकत्ववद्दर्शनोपपत्तेः। यथाऽऽदित्यादयो नित्यकाशस्वभावा एव सन्तः स्वाभाविकेन नित्येनैव प्रकाशेन [6]प्रकाशयन्ति। न ह्यप्रकाशा-

---

स्यापि वचनादविनाशः स्यादिति शङ्कते—नन्विति। [7]तस्याकारकत्वान्नैवमिति परिहरति—न नस्येति। [8]तदेव स्फुटयति—न हीति। यत्कृतकं तदनित्यमितिव्याप्त्यनुगृहीतानुमानविरोधाद्वचो कार्यनित्यत्वबोधकमित्यर्थः।

कूटस्थदृष्टिरेवात्र द्रष्टृशब्दार्थो न दृष्टिकर्ता तन्न विप्रतिषेधोऽस्तीति सिद्धान्तयति—नैष दोष इ। आदित्यादिप्रकाशकत्ववदित्युक्तं दृष्टान्तं व्याचष्टे—यथेति। दृष्टान्तेऽपि विप्रतिपन्नं प्रत्याह—न

अविनाशी होनी चाहिये। तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि वचन तो ज्ञापक है। कार्य का अनुमानप्राप्त है। अतः उसको सैकड़ों श्रुतिवाक्यों से भी रोका नहीं जा सकता क्योंकि वचन यथाप्राप्त अर्थ को ज्ञापित करता है।

(इस शङ्का का समाधान किया जाता है)—यह कहना दोष नहीं है क्योंकि आदित्यादि के काशकत्व के समान दर्शन सिद्ध ही है। जिस प्रकार आदित्यादि नित्यप्रकाशक स्वभाव होते हुए ही नित्य स्वाभाविक प्रकाश से प्रकाशित करते हैं, वे स्वयं अप्रकाशस्वरूप होकर अपने से

---

[1] कार्यस्य नाशावश्यंभावात्। [2] न्यायोऽनुमानम्। [3] कार्यस्य। [4] यद्यपि मानान्तरविरुद्धमर्थं वचो न बोधयति तथापि तं करोतीत्याशङ्क्याऽऽह—वचनस्येति। तदुक्तं वार्तिके—"सिद्धस्य व्यञ्जकं मानं न तु तत्कारकं यतः। उक्तेर्नातोऽविनाशित्वं द्रष्टुर्दृष्टेरिहेष्यते" ॥ १४३१ । इति। इहशब्दः पूर्वार्धगामी मानभूमिविषयश्च। उक्तेर्वचनादित्यर्थः। [5] नैष दोष इति—वार्तिके तु द्रष्टुर्दृष्टेरिति समानाधिकरणे षष्ठ्यौ दृष्टेरिति च द्रष्टुरित्यस्य विशेषणं तथा च दृष्टिरूपस्य द्रष्टुरित्येवमर्थोऽत्र वर्णितः। [6] प्रकाशयन्तीत्येवं प्रकाशकर्तृत्वेनोच्यन्त इत्यर्थः। [7] वचनस्य। [8] अकारकत्वमेव।

---

*नैष दोष इत्यादि न विप्रतिषेधगन्धोऽप्यस्तीत्यन्तभाष्ये वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"नैष दोषो यतो द्रष्टुः श्रुतिराह विशेषणम्। द्रष्टुर्दृष्टेरिति ततो द्रष्टा नैवेह कारकम् ॥ देहान्तो दृष्टिकारी यो द्रष्टा धर्मादिहेतुमान्। दृष्टेर्द्रष्टुश्च लोपोऽत्र प्रत्यग्दृष्ट्येकसाक्षिकः ॥ प्राक्प्रमात्रादिसंभूतेर्या तु दृष्टिकर्तृका। द्रष्ट्रादिनाशसाक्षित्वात्सा दृष्टिरविनश्वरी ॥ दृष्टिरेव तु सा द्रष्टा न तु कारकलक्षणः। द्रष्टुर्विशेषणत्वेन दृष्टेरिति परिग्रहात् ॥ परिलोपो हि कार्याणां लोके सिद्धः स्वकारणे। नातः कारणरूपस्य नाप्यकारकवस्तुनः ॥ अभावस्य च भावत्वाद्भावसिद्धेश्च दृष्टितः। दृष्टौ नाभावशङ्काऽतः सर्वसिद्धेस्तदन्वयात् ॥ न सुषुप्तप्रसिद्धिः स्याद्दृष्टेर्लोपो भवेद्यदि। जन्मनाशादिहानेयमतो दृष्टिः परात्मनः" ॥ १४३२-१४३८ ॥ इति। कूटस्थदृष्टिरेवात्र द्रष्टृशब्देनोच्यते न दृष्टिकर्ता तत्र विप्रतिषेधोऽस्तीत्याह—नेति। न हि द्रष्टुरिति श्रुतिर्दृष्टेरिति विशेषणं द्रष्टुराचष्टे षष्ठ्योः सामानाधिकरण्यादतो द्रष्टा साक्षी न कर्तेत्यविरोध इत्यर्थः ॥ षष्ठ्योः सामानाधिकरण्यमुपेत्य कूटस्थदृष्टिरात्मेत्यादिष्टमथ तयोर्वैयधिकरण्येऽपि तथेत्याह—देहान्त इति। यो धर्मादिमान्बुद्ध्यादिर्देहान्तो दृष्टिकारी द्रष्टा तस्य तद्गतायाश्च दृष्टेर्नाशः स्वापादौ प्रत्यग्दृष्टिमात्रात्प्रसिध्यत्यतो द्रष्टुर्या साक्षिभूता दृष्टिस्तस्याः प्रतिच्या न नाश इत्यर्थः ॥

त्मानः सन्तः प्रकाशं कुर्वन्तः प्रकाशयन्तीत्युच्यन्ते । किं तर्हि स्वभावेनैव नित्येन प्रका
तथाऽयमप्यात्माऽविपरिलुप्तस्वभावया दृष्ट्या नित्यया द्रष्टेत्युच्यते । गौणं [1]तर्हि द्र
त्वम् । [2]नैवमेव मुख्यत्वोपपत्तेः । यदि ह्यन्यथाऽप्यात्मनो द्रष्टृत्वं[3] दृष्टं तदाऽ[4]स्य द्र
त्वस्य गौणत्वं[5] न त्वात्मनोऽन्यो दर्शनप्रकारोऽस्ति । तदेवमेव मुख्यं द्रष्टृत्वमुपपद्य

होति । दर्शनोपपत्तेरित्युक्तं दार्ष्टान्तिकं विभजते—तथेति । आत्मनो नित्यदृष्टित्वे दोषमाशङ्कते
गौणमिति । गौणस्य मुख्यापेक्षत्वा[6]न्मुख्यस्य चान्यस्य [7]द्रष्टृत्वस्याभावान्मैवमित्युत्तरमाह—नेत्यादि
तामेवोपपत्तिमुपदर्शयति—यदि हीत्यादिना । अन्यथा कूटस्थदृष्टित्वमन्तरेणेति यावत् । दर्शनप्र
स्यान्यत्वं क्रियात्मत्वम् । [8]तस्य निष्क्रियत्वश्रुतिस्मृतिविरोधादिति शेषः । दृष्टृत्वान्तरानुप

भिन्न प्रकाश उत्पन्न करके प्रकाशित करते हैं—ऐसा उनके लिए नहीं कहते । तो फिर क्या है
अपने स्वभावरूप नित्य प्रकाश से प्रकाशकर्तृत्व कहे जाते हैं । इसी प्रकार यह आत्मा भी अ
स्वभावा नित्यदृष्टि होने के कारण 'द्रष्टा' कहा जाता है । (यहाँ शङ्का होती है—) तब तो (
विकार के प्रकाशकत्व होने से) इसका द्रष्टृत्व गौण है । (इसका समाधान देते है—) नहीं ।
प्रकार नित्य दृष्टित्व से ही इसका मुख्यत्व सिद्ध हो सकता है । यदि आत्मा का द्रष्टृत्व किसी
तरह से देखा गया होता तो इसके (कूटस्थ दृष्टिरूप) द्रष्टृत्व की गौणता हो सकती थी; किन्तु आ
दर्शन का कोई दूसरा प्रकार तो है ही नहीं; इसलिए इसी प्रकार आत्मा का मुख्य द्रष्टृत्व संभव

आत्मा कूटस्थदृष्टिरित्युक्तमुपपादयति—प्रागिति । स्वापादौ तादृशी दृष्टिरसिद्धेत्याशङ्क्याह—द्रष्टादीति ॥
धिकरण्यपक्षं हित्वा पक्षान्तरमाश्रित्याऽऽह—दृष्टिरिति । सा दृष्टिरेव द्रष्टा न तत्कर्तेत्यत्रोक्तं हेतुं स्मार
द्रष्टुरिति । आत्मदृष्टेरनाशे हेत्वन्तरं वक्तुं सामान्यन्यायमाह—परिलोपो हीति । आत्मदृष्टेस्तु कार्यत्वे
न्नोक्तनाशसिद्धिरित्याह—नात इति । परिलोपोऽस्तीति शेषः । अज्ञानवदात्यन्तिकनाशमाशङ्क्य कारणैवैत
न्नैवमित्याह—नापीति ॥ तदपरिलोपे युक्त्यन्तरमाह—अभावस्येति । न हि स भावाद्भिद्यते भेदस्य भा
तन्निष्ठत्वायोगादभावत्वेऽपि स एव दोषस्तथाच तस्य भावातिरेकिणोऽभावात्तत्सिद्धेश्च दृष्ट्यधीनत्वात्तस्मान्न
शङ्केत्यर्थः । भावादभावस्यान्यत्वेऽपि सर्वदृष्टेर्दृष्ट्यधीनत्वादात्मा कूटस्थदृष्टिरेवेत्याह—अत इति ॥ इतश्चा

---

१. तर्हीति – नित्यदृष्टित्वे नैवाऽत्मनो द्रष्टृत्वे । गौणम् विना विकारं प्रकाशकत्वम् । अग्निर्माणवक इतिवद्
मेव स्यान्न मुख्यमित्याशयः । २. नित्यदृष्टित्वेनैव । ३. भवेत् । ४. कूटस्थदृष्टिरूपस्य । ५.
६. मुख्यस्य चान्यस्येति विकाररूपस्येत्यर्थः । ७. द्रष्टृत्वस्याभावादिति—नन्वस्त्येव प्रमातरि दर्शन
कर्तृत्वं विकाररूपं मुख्यं द्रष्टृत्वमिति चेन्न दर्शनस्य नित्यचिद्रूपतया क्रियात्वाभावेन तत्कर्तृत्वस्य कु
संभवात् दर्शनोपाधेर्वृत्तेरेव चक्षुरादिजन्यतया प्रमातरि तथा प्रतीतिरौपाधिकी । वस्तुतस्तु वृत्तेरपि वस्तु
संबन्धमात्राधीनजन्मतया न प्रमातृकृतिसाध्यत्वं कुतस्तरां चिद्दर्शनस्य प्रमां प्रति कर्तृत्वव्यव
प्रमोत्पत्त्यनुकूलविषयेन्द्रियसंबन्धानुकूलकृतिमत्त्वात्प्रमातर्यौपचारिक एव । किं च चेतनश्चेतनानामित्यादि
रात्मद्रष्टृत्वाधीनमेव प्रमातुर्द्रष्टृत्वम् । एवं च सत्यात्मद्रष्टृत्वं गौणं प्रमातुश्च तन्मुख्यं वदन् ग्रीवास्थमुख
गौरं दर्पणस्थमुखगौरत्वं च मुख्यं ब्रुवता तुल्यः स खलूपेक्षणीय एव परीक्षकाणामापद्येतेत्यलम् । ८.
त्मकदर्शनस्यात्मनो वा ।

न्यथा। यथाऽऽदित्यादीनां प्रकाशयितृत्वं नित्येनैव स्वाभाविकेनाक्रियमाणेन प्रकाशेन व प्रकाशयितृत्वं मुख्यं प्रकाशयितृत्वान्तरानुपपत्तेः। [2]तस्मान्न द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलुप्यत ति न विप्रतिषेधगन्धोऽप्यस्ति।

नन्वनित्यक्रियाकर्तृविषय एव तृचप्रत्ययान्तस्य शब्दस्य प्रयोगो दृष्टो यथा छेत्ता ता गन्तेति तथा द्रष्टे[3]त्यत्रापीति चेत्। न। [4]प्रकाशयितेति दृष्टत्वात्। भवतु प्रकाश-

---

तमाह—तदेवमेवेति। नित्यदृष्टित्वेनैवेत्यर्थः। उक्तेऽर्थे दृष्टान्तमाह—यथेत्यादिना। तथाऽऽत्मनोऽपि त्वं नित्येनैव स्वाभाविकेन चैतन्यज्योतिषा सिध्यति तदेव च द्रष्टृत्वं मुख्यं द्रष्टृत्वान्तरानुप-त्तेरिति शेषः। आत्मनो नित्यदृष्टिस्वभावत्वे फलितमाह—तस्मादिति।

तृजन्तं द्रष्टृशब्दमाश्रित्य शङ्कते—नन्विति। अत्राप्यनित्यक्रियाकर्तृविषयस्तृजन्तशब्दप्रयोग ति शेषः। तृजन्तशब्दप्रयोगस्यानित्यक्रियाकर्तृविषयत्वं व्यभिचारयन्नुत्तरमाह—नेति। वैषम्य-ङ्कते—भवत्विति। आदित्यादिषु [5]स्वाभाविकप्रकाशेन प्रकाशयितृत्वमस्तु कादाचित्कप्रकाशेन

ता है; किसी दूसरी तरह से नहीं। जिस प्रकार आदित्यादि का प्रकाशकत्व नित्य, स्वाभाविक और यमाण प्रकाश के कारण है और वही मुख्य प्रकाशकत्व भी है क्योंकि उसका कोई अन्य प्रकाशक नहीं होता। इसलिए "द्रष्टा की दृष्टि का विपरिलोप नहीं होता" इस श्रुतिवाक्य में परस्पर रोध की गन्ध भी नहीं है।

(इस पर शङ्का होती है—) किन्तु 'तृच'प्रत्ययान्त शब्द का प्रयोग तो अनित्य क्रिया के कर्ता के य में भी देखा गया है, जिस प्रकार छेत्ता, भेत्ता और गन्ता इत्यादि हैं; इसी तरह 'द्रष्टा' पद समझना हिये। (इसका समाधान दिया जाता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि (कादाचित्क क्रिया के ना भी सूर्य के विषय में) प्रकाशयिता ऐसा प्रयोग देखा जाता है। (प्रतिवादी पुनः शङ्का करता है—)

---

१. नान्यथेति—प्रतीचोऽक्रियबोधस्य सन्निधिमात्रेण सर्वजगत्प्रतीतिरेव तद्भासकत्वं न तु तद्विकारद्वारा तथा-विधभासकत्वे मानाभावात् तदिदमेव मुख्यमिति भावः। २. अवतरणोक्तत्वात्। ३. इत्यत्र। ४. प्रकाश-यितेति—कादाचित्कक्रियां विनापि सविता प्रकाशयिता व्याप्तृ वियदिति तृचःप्रयोगदर्शनाद्दृष्टिस्वरूपोऽप्यात्मा द्रष्टेत्यविरुद्धमित्यर्थः। ५. स्वरूपभूतप्रकाशेन।

ष्टिरनाशिनीत्याह—नेत्यादिना। न चानुमानादेव तत्सिद्धेरलं कूटस्थदृष्ट्येति युक्तं तद्व्याप्तलिङ्गाभावे तद-नुत्थानान्न चाहं स्वप्नजागरान्तराले दुःखाद्यनुभवशून्यस्तत्कालीनतदीयस्मरणविरहित्वात्पाषाणवदिति वाच्यं तदीयस्मृत्यभावस्योपेक्षणीयतृणादावनुभवाभावासाधकत्वेन व्यभिचारित्वादतो दृष्टिरेव कूटस्था तत्साधिकेति भावः। कूटस्थदृष्टिरात्मेत्युक्तमुपसंहरति—जन्मेति॥

न्वित्यादि दृष्टत्वादित्यन्तभाष्ये वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"शतृतृजन्तश्रवणाद्दृष्टिश्चेत्स्यात्सकर्तृका। पश्य-न्द्रष्टुरिति ह्येवं नैवं कर्त्राद्यसंभवात्॥ नेह बुद्ध्यादिसद्भावस्तदाऽपीति श्रुतेर्भवेत्। सुषुप्तेऽतो न धात्वर्थः प्रत्ययार्थश्च नेष्यते॥ कर्त्रादिकारकं नो चेत्सुषुप्ते विद्यते कथम्। पश्यन्द्रष्टुरिति वचः कूटस्थ उपपद्यते॥ यथाऽवकाशदात्रिति भण्यते निष्क्रियं वियत्। शतृतृजन्तवचसा तथाऽऽत्मा भण्यते ध्रुवः" ॥१४३९-१४४२॥ इति। पश्यन्निति शत्रन्तस्य द्रष्टुरिति तृजन्तस्य च श्रवणाद्धात्वर्थरूपा सकर्तृका दृष्टिर्न कूटस्थेति शङ्कते—न्विति। प्रयोगद्वयस्य क्रियापेक्षकत्वं प्रसिद्धमिति हिशब्दार्थः। धातुप्रत्ययार्थयोः सुप्तावयोगाद्दृष्टिकौटस्थ्य-

केष्वन्यथाऽसंभवान्न त्वात्मनीति चेत् । न । दृष्टचविपरिलोप[1]श्रुतेः । [2]पश्यामि न
मीत्यनुभवदर्शनान्नेति चेत् । न । करणव्यापारविशेषापेक्षत्वात् । [3]उद्धृतचक्षुषां च
आत्मदृष्टेरविपरिलोपदर्शनात् । [4]तस्मादविपरिलुप्तस्वभावैवाऽऽत्मनो दृष्टिः । [5]अतस्त
ऽविपरिलुप्तया दृष्टचा स्वयंज्योतिःस्वभावया [6]पश्यन्नेव भवति सुषुप्ते ।

प्रकाशयितृत्वस्य तेष्व[7]संभवान्न त्वात्मनि नित्या दृष्टिरस्ति [8]तन्मानाभावात् । [9]तथा च कादाचि
दृष्टचैव तस्य दृष्टृतेत्यर्थः । प्रतीचश्चिद्रूपत्वस्य श्रौतत्वात्कर्तृत्वं विना प्रकाशयितृत्वमविशि
त्युत्तरमाह—न दृष्टीति । कूटस्थदृष्टिरात्मेत्युक्ते प्रत्यक्षविरोधं शङ्कते—पश्यामीति । द्विविधे
भवस्तस्य कूटस्थदृष्टित्वम[10]नुगृह्णाति चक्षुरादिव्यापारभावाभावापेक्षया पश्यामि न पश्या
धियोरात्मसाक्षिकत्वादित्युत्तरमाह—न करणेति । आत्मदृष्टेर्नित्यत्वे हेत्वन्तरमाह—[11]उद्धृते
आत्मदृष्टेर्नित्यत्वमुपसंहरति—तस्मादिति । तन्नित्यत्वोक्तिफलमाह—अत इति ।

प्रकाशकों में अन्यथा असंभव होने से भले ही ऐसा प्रयोग होता हो किन्तु आत्मा के विषय में तो
नहीं कहा जा सकता । (इस पर वादी कहता है—) ऐसा समझना ठीक नहीं, क्योंकि यहां
दृष्टि के लोप न होने की प्रतिपादिका श्रुति है । (प्रतिवादी कहता है—) "मैं देखता हूं—मैं
देखता" ऐसा अनुभवसिद्ध होने से आत्मदृष्टि नित्य नहीं हो सकती । (वादी उक्त मत का
प्रस्तुत करता है-) ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि यह अनुभव तो चक्षु इन्द्रिय के विशेष
की अपेक्षा से है । अन्धों को भी स्वप्न दृष्टि अनुभव होती है, इसलिए आत्मदृष्टि नित्य है । अत
अविनाशिनी दृष्टि से सुषुप्ति में देखता ही रहता है ।

---

१. श्रुतेरिति—"स्वयंज्योतिष्ट्वशास्त्राच्च प्रत्यगात्मा प्रकाशकः । ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमेवेति च शास्त्र
वा. १४६५-६६ ॥ इति । चकारो द्रष्ट्रादेः (प्रमात्रादेः) जाड्यान्न स्वतो भानमिति युक्तिसमुच्चयार्थः । २. प
त्यादि—एवं कादाचित्कदर्शनवत्वप्रतीतेर्न कूटस्थदृष्टिरात्मेति भावः । ३. उद्धृतेति—अन्धानामपि स्वप्ने
रनुभूयतेऽतो नित्या आत्मदृष्टिः । स्वप्ने वासनामय्येव सा सत्यं जात्यन्धे तु वासनापि नो तत्र जन्मान्त
चेज्जन्मान्तरसाधककूटस्थदृष्टिध्रौव्यान्नित्या दृष्टिरेष्टव्येत्यर्थः । ४. तस्मात्—आत्मदृष्टेर्नित्यत्वे
भावात् साधकस्य च सत्त्वात् । आगमापायिनः सर्वस्य प्रत्यग्दृष्टचेकसाक्षित्वाच्चेत्यर्थः । ५. अवत
त्वात् । ६. पश्यन्नेव भवतीति । तथा च वार्तिके—"पश्यामीति यथाऽद्राक्षीरात्मदृष्टचैव जागरे । न
मीत्यपि तथा नित्यदृष्टचैव वीक्षसे" ॥ १४७४ ॥ इति ॥ ७. असंभवादिति—तेषां प्रकाशकत्व
भावः । ८. तन्मानाभावादिति—तथा च विकारेण भाव्यमिति ब्रवीति । ९. तथा चेति—आत्मनो
दृष्टित्वे मानाभावे सतीत्यर्थः । १०. साधयति । ११. उद्धृतेतीति । नित्या चेदात्मदृष्टिस्तर्हि सर्वे
किमिति नानुभूयत इत्याशङ्क्य समाहितं वार्तिके तथाहि—"ज्योतिषामपि तज्ज्योतिरस्मद्धीपरिमा
तमोरूपमिवाऽऽभाति भानुर्नक्तदृशामिवे"ति शेषः ॥ १४७१ ॥ नक्तंदृश उलूकादयः ।

मित्याह—नैवमिति ॥ हेतुं साधयति—नेति । प्राणं तर्हि वागप्येतीत्याद्या श्रुतिः । कारकाभावे फलित
सुषुप्त इति ॥ कादाचित्की दृष्टिस्तत्कर्ता च स्वापे नास्ति कारकाभावादित्यत्र शङ्कते—कर्त्रादीति ।
समाधत्ते—यथेति ॥

कथं [1]तर्हि न पश्यतीति । उच्यते । न तु तदस्ति । किं तत् । द्वितीयं विषयभूतम् । किंविशिष्टम् । ततो द्रष्टुरन्यदन्यत्वेन विभक्तं यत्पश्येद्यदुपलभेत । यद्धि तद्विशेषदर्शनकारणमन्तःकरणं चक्षू रूपं च तदविद्यया[2]ऽन्यत्वेन [3]प्रत्युपस्थापितमासीत् । तदेतस्मिन्काल एकीभूतम् । [4]आत्मनः [5]परेण [6]परिष्वङ्गात् । [7]द्रष्टुर्हि [8]परिच्छिन्नस्य विशेषदर्शनाय करणान्य[9]न्यत्वेन व्यवतिष्ठन्ते । अयं तु [10]सर्वात्मना [11]संपरिष्वक्तः स्वेन परेण प्राज्ञेनाऽऽत्मना प्रिययेव पुरुषः । [12]तेन न पृथक्त्वेन व्यवस्थितानि करणानि विषयाश्च । [13]तदभावाद्विशेषदर्शनं नास्ति । करणादिकृतं हि [14]तन्नाऽऽत्मकृतम् । आत्मकृतमिव प्रत्यव-

वाक्यान्तरमाकाङ्क्षापूर्वकमुत्थाप्य व्याचष्टे—कथमित्यादिना । द्वितीया[15]दिपदानां पौनक्त्यमाशङ्क्यार्थभेदं दर्शयति—यद्धीत्यादिना । साभासमन्तःकरणं यत्पश्येदिति[16] विशेषदर्शनकारणं [17]प्रमातृ [18]द्वितीयं तस्माद[19]न्यच्चक्षुरादि प्रमाणं रूपादि च प्रमेयं [20]विभक्तं तत्सर्वं जाग्रत्स्वप्नयोरविद्या[21]प्रतिपन्नं सुषुप्तिकाले कारणमात्रतां गतमभिव्यक्तं नास्तीत्यर्थः । सुषुप्ते [22]द्वितीयं प्रमातृरूपं नास्तीत्येतदुपपादयति—आत्मन इति । प्रमातृरूपं पृथङ्नास्तीति शेषः । [23]तथाऽपि करणव्यापारकृतं विषयदर्शनमात्मनः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—द्रष्टुरिति । सुषुप्तस्यापि परिच्छिन्नत्वमाशङ्क्याऽऽह—अयं त्विति । [24]तस्य परेणैकीभावफलमाह—तेनेति । विषयेन्द्रियाभावकृतं फलमाह—तदभावादिति । किमिति विषयाद्यभावाद्विशेषदर्शनं निषिध्यते सत्त्वमेव [25]तस्याऽऽत्मसत्त्वाधीनं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—करणादीति । [26]नन्ववस्थाद्वये विशेषदर्शनमात्मकृतं प्रतिभाति [27]तस्य [28]प्रधानत्वादत

(इस पर प्रतिवादी कहता है—) ‘वह नहीं देखता है—’ ऐसा क्यों कहा जाता है ? (वादी समाधान देता है—) इसे बतलाया जाता है । यहाँ तो वह वस्तु ही नहीं है । वह क्या है ? द्वितीय विषयभूत वस्तु । किस विशिष्टता वाली है ? उस द्रष्टा से ‘अन्यत्” अर्थात् अन्य रूप से विभक्त, जिसे कि वह देखे, अनुभव करे । क्योंकि जो उस विशेष दर्शन का कारण चक्षुरूप अन्तःकरण था; वह अविद्या से आत्मभिन्न प्रत्यायित था । वह इस समय प्रमाता आत्मा का परमात्मा के साथ एकीभाव होने से वह एकरूप हो गया है । (जाग्रत् स्वप्नावस्था वाले) प्रमाता द्रष्टा के विशेष दर्शन के लिए ही इन्द्रियाँ आत्मभिन्न रूप से प्रतिष्ठित रहती हैं । किन्तु इस समय जैसे पुरुष अपनी प्रिया से परिष्वजित होता है, उसी प्रकार वह अपरिच्छिन्न रूप से अपने पर स्वरूप प्राज्ञात्मा से एकीभूत रहता है । इसलिये उस अवस्था में इन्द्रिय और विषय पृथक् रूप से प्रतिष्ठित नहीं रहते और पृथग्विषयादि का अभाव होने के कारण विशेष दर्शन भी नहीं होता । क्योंकि वह तो इन्द्रियादि

---

[1] पश्यन्नेवायमत्रास्त उक्ते सति । [2] आत्मभिन्नत्वेन । [3] प्रत्यायितम् । [4] प्रमातुः । [5] परमात्मना । [6] एकीभावात् । [7] जाग्रत्स्वप्नावस्थस्य । [8] प्रमातुः । [9] आत्मभिन्नत्वेन । [10] अपरिच्छिन्नेन । [11] एकीभूतः । [12] अवतरणोक्तत्वात् । [13] पृथग्विषयाद्यभावात् । [14] विशेषदर्शनम् । [15] आदिना अन्यद्विभक्तमिति पदद्वयं ग्राह्यम् । [16] इत्येतत्पदवाच्यम् । [17] श्रौतद्वितीयपदार्थः । [18] प्रमातुः । [19] अन्यशब्दार्थः । [20] विभक्तपदार्थः । [21] प्रतीयमानम् । [22] द्वितीयपदाभिधेयम् । [23] अभेदेन पृथक्प्रमात्रभावेऽपि । [24] सुषुप्तस्य । [25] विशेषदर्शनस्य । [26] जाग्रत्स्वप्नावस्थाद्वये । [27] आत्मनः । [28] करणाद्यपेक्षया ।

यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन्वै तन्न जिघ्रति न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रेत् ॥ २४ ॥

यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै तन्न रसयते न हि रसयितू रसयतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्रसयेत् ॥ २५ ॥

वह जो उस अवस्था में सूँघता नहीं (इसका यह अर्थ नहीं है कि उसकी गन्धग्रहण करने वाली शक्ति का सर्वथा लोप हो गया है) वह तो सूँघता हुआ भी नहीं सूँघता, सूँघने वाले की सूँघने की शक्ति का सर्वथा लोप होता ही नहीं क्योंकि वह नाशरहित है। हाँ यह बात सत्य है कि उस समय उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं रहती, जिसे कि वह सूँघे ॥ २४ ॥

वहाँ पर वह जो रस नहीं लेता, निःसन्देह वह रस लेता हुआ ही रस नहीं लेता है। रसग्रहण करने वाले को रसग्रहणशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी है। किन्तु उस अवस्था में उससे भिन्न कोई वस्तु रहती ही नहीं, जिसका कि वह रस लेवे ॥ २५ ॥

भासते। तस्मात्तत्कृतेयं भ्रान्तिरात्मनो दृष्टिः परिलुप्यत इति ॥ २३ ॥

समानमन्यत्। यद्वै तन्न जिघ्रति। यद्वै तन्न रसयते। यद्वै तन्न वदति। यद्वै तन्न शृणोति। यद्वै तन्न मनुते। यद्वै तन्न स्पृशति। यद्वै तन्न विजानातीति। 'मनन-

आह— आत्मकृतमिवेति। नन्वित्यादेस्तात्पर्यमुपसंहरति—तस्मादिति। प्रमातृकरणविषयकृतत्वाद्विशेषदृष्टेस्तेषां च सुषुप्तावभावात्तत्कार्याया विशेषदृष्टेरपि यावत्। तत्कृता जागरादावात्मकृतत्वेन भ्रान्तिप्रतिपन्नविशेषदर्शनाभावप्रयुक्तेत्यर्थः ॥ २३ ॥

यद्वै तन्न पश्यतीत्यादावुक्तन्यायमुत्तरवाक्येष्वतिदिशति—समानमन्यदिति। मनोबुद्ध्योः[1] [2]साधारणकरणत्वात्पृथग्व्यापाराभावे कथं [3]पृथङ्निर्देशः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—मननेति।

द्वारा किया हुआ है, आत्मा द्वारा किया हुआ नहीं है। आत्मा का किया हुआ सा है—ऐसा केवल लगता है। अतः उसी के कारण ऐसी भ्रान्ति होती है कि आत्मदृष्टि का लोप होता है ॥२३॥

'जो यह सुषुप्तावस्था में नहीं सूँघता, वह सूँघते हुए भी नहीं सूँघता है'। 'जो यह सुषुप्तावस्था में रस का आस्वादन नहीं करता, वह रस का स्वाद लेते हुए भी रसास्वादन नहीं करता'। 'जो यह सुषुप्तावस्था में बोलता नहीं; वह बोलते हुए भी नहीं बोलता है'। 'जो यह सुषुप्तावस्था में नहीं सुनता, वह सुनते हुए भी नहीं सुनता है'। 'जो यह सुषुप्तावस्था में मनन नहीं करता, वह मनन करते

---

[1] मनोबुद्धिजन्ययोः। [2] चक्षुरादीन्प्रति साधारणत्वात्तज्जन्यवृत्त्यतिरिक्तवृत्त्यभावे। [3] यद्वै तन्न मनुते यद्वै तन्न विजानातीति चक्षुरादिभ्यः पृथङ्निर्देशः।

यद्वै तन्न वदति वदन्वै तन्न वदति न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्वदेत् ॥ २६ ॥

यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन्वै तन्न शृणोति न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यच्छृणुयात् ॥ २७ ॥

जो वह बोलता नहीं, निःसन्देह वह बोलता हुआ ही नहीं बोलता, वक्ता की वदन्शक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता क्योंकि वह नाशरहित है। सत्य बात यह है कि उस अवस्था में उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं, जिसके विषय में वह बोले ॥ २६ ॥

वहाँ जो नहीं सुनता है, वह निःसन्देह सुनता हुआ ही नहीं सुनता है। श्रोता की श्रवणशक्ति सर्वथा लोप नहीं होता क्योंकि वह नाशरहित है। सत्य यह है कि उस अवस्था में उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसे कि वह सुने ॥ २७ ॥

विज्ञानयो[1]र्दृष्ट्यादिसहकारित्वेऽपि सति [2]चक्षुरादिनिरपेक्षो भूतभविष्यद्वर्तमान[3]विषयव्यापारो विद्यत इति पृथग्ग्रहणम् ।

किं पुनर्दृष्ट्या[4]दीनामग्नेरौ[5]ष्ण्यप्रकाशनज्वलनादिवद्धर्मभेद आहोस्विद[6]भिन्नस्यैव

वाक्यानि व्याख्याय स्वसिद्धान्तस्फुटीकरणार्थं विचारयति—किं पुनरिति । धर्मभेदो धर्माणां तां मिथो धर्मिणश्च भेदोऽस्तीति यावत् । धर्मस्य दृष्ट्यादिपदार्थस्येत्यर्थः । परोपाधिनिमित्तं चक्षु-

---

हुए भी नहीं करता है'। 'जो यह सुषुप्तावस्था में स्पर्श करता है, वह स्पर्श करते हुए भी नहीं करता'। जो यह सुषुप्तावस्था में नहीं जानता है, वह जानते हुए भी नहीं जानता'। इस प्रकार इन सभी मन्त्रों के अर्थ पूर्व मन्त्र के समान हैं। मनन और विज्ञान का इसलिये पृथक् ग्रहण है क्योंकि इनके मन और बुद्धि होने से दृष्टि आदि में अन्तर्भाव होने पर भी इनका चक्षु आदि इन्द्रियों से स्वतन्त्र रहकर भूत, भविष्यत् और वर्तमान विषयसंबन्धी व्यापार (और रागादि वृत्ति) की विद्यमानता सिद्ध है।

किन्तु क्या (विज्ञान और मनन में) अग्नि के धर्म औष्ण्य, प्रकाश और ज्वलनादि के समान दृष्टि आदि धर्मों की भिन्नता है अथवा आत्मा से अभिन्न दृष्ट्यादि पदार्थ धर्म का ही चक्षुरादि उपाधि के कारण धर्मत्व और धर्मी में परस्पर अन्यत्व है। यहाँ कुछ विचारक इस प्रकार कहते हैं।

---

१. दृष्ट्यादावन्तर्भावेऽपि । २. स्वातन्त्र्येण । ३. रागादिवृत्तिश्चेत्यपि बोध्यम् । ४. आदिना घ्रात्यादयो ग्राह्याः । ५. यथौष्ण्यादयो धर्मा अग्नेर्भिन्नाभिन्ना मिथश्च भिन्नास्तद्वत् । ६. आत्माभिन्नस्य ।

यद्वै तन्न मनुते मन्वानो वै तन्न मनुते न हि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यन्मन्वीत ॥ २८ ॥

यद्वै तन्न स्पृशति स्पृशन्वै तन्न स्पृशति न हि स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्स्पृशेत् ॥२९॥

जो वह वहाँ पर मनन नहीं करता, सो मनन करता हुआ ही मनन नहीं करता है। मनन क वाले की मननशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता क्योंकि वह नाशरहित हैं। सच्ची बात यह है कि अवस्था में उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसे कि वह मनन करे ॥ २८ ॥

वह जो उस समय स्पर्श नहीं करता, वह वस्तु का स्पर्श करता हुआ ही स्पर्श नहीं करता स्पर्श करने वाले की स्पर्शनशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी है। हाँ अवस्था में उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसे वह स्पर्श करे ॥ २९ ॥

धर्मस्य परोपाधिनिमित्तं धर्मान्यत्वमिति । अत्र केचिद्व्याचक्षते । आत्मवस्तुनः [1]स्व एवैकत्वं नानात्वं च यथा गोर्गोद्रव्यतयैकत्वं [2]सास्नादीनां धर्माणां परस्परतो भेदः । यथा स्थूलेष्वेकत्वं नानात्वं च तथा निरवयवेष्व[3]मूर्तवस्तुष्वेकत्वं नानात्वं चानुमेयम् । [4]सर्वत्रा

राद्युपाधिकृतमित्येतत् । धर्मान्यत्वं धर्मत्वं धर्मिणो मिथोऽन्यत्वं चेत्यर्थः । भर्तृप्रपञ्चमतेन पूर्वप गृह्णाति—अत्रेति । गवादीनां सावयवत्वाद्रूपभेदसंभवादेकेन रूपेणाभिन्नत्वं रूपान्तरेण भिन्नत्वमित्यु भयथात्वेऽपि निरवयवेष्वात्मादिषु[1] कथमनेकरसत्वसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—यथा स्थूलेष्विति । एक रूपत्वे वस्तुनो दृष्टान्तादृष्टेर्नानारूपत्वे गवादिदृष्टान्तदर्शना[5]त्तदेवानुमेयम् । [6]विमतं भिन्नाभिन्न वस्तुत्वाद्गवादिवदित्यर्थः । यद्यपि गगनादिषु भिन्नाभिन्नत्वमनुमीयते तथाऽपि कथमात्मनि तदनुमान मित्याशङ्क्य वस्तुत्वस्य नानारूपत्वेनाव्यभिचारादात्मन्यपि यथोक्तमनुमानं [8]निरङ्कुशप्रसरमित्याह सर्वत्रेति । यथोक्तानुमानानुग्रहाद्यद्वै तदित्यादेर्भिन्नाभिन्ने वस्तुनि तात्पर्यमिति भावः ।

आत्म वस्तु का स्वाभाविक ही भेद और अभेद है जिस प्रकार गो का गोद्रव्यत्वरूप से अभेद है और तत्तत् सास्नादिमद् व्यक्ति से भेदधर्मों का परस्पर भेद है। जिस प्रकार (सावयव) स्थूल पदार्थों में अभेद और भेद है; उसी प्रकार निरवयव (सूक्ष्म) आकाशादि अमूर्त पदार्थों में अभेद और भेद का

---

१. स्वाभाविकावेव भेदाभेदावित्यर्थः । २. तत्तत्सास्नादिमद्व्यक्त्या भेदः । ३. वियदादिषु । ४. सू सूक्ष्मव्यभिचारेति भावः । ५. आदिना गगनादिग्रहः । ६. नानात्वमेव । ७. गगनादि । ८. अप्रति बद्धप्रचारम् ।

यद्वै तन्न विजानाति विजानन्वै तन्न विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात् ॥ ३० ॥

उस सुषुप्तावस्था में वह जो जानता है, वह वस्तुतः जानता हुआ ही नहीं जानता है। विज्ञाता विज्ञानशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता क्योंकि वह तो नित्य है। हाँ उस समय उससे भिन्न कोई नहीं रह जाती, जिसे कि वह विशेष रूप से जाने ॥ ३० ॥

चारदर्शनादात्मनोऽपि [1]तद्वदेव दृष्टयादीनां परस्परं [2]नानात्वमा[3]त्मना चैकत्व-ति ।

नान्यपरत्वात् । न हि दृष्टयादिधर्मभेदप्रदर्शनपरमिदं वाक्यं यद्वै तदित्यादि । तर्हि यदि[4] चैतन्यात्मज्योतिः कथं न जानाति सुषुप्ते नूनमतो[5] न चैतन्यात्मज्योति-वमाशङ्काप्राप्तौ तन्निराकरणायैतदारब्धं यद्वै तदित्यादि । यदस्य[6] जाग्रत्स्वप्नयो-राद्यनेकोपाधिद्वारं चैतन्यात्मज्योतिःस्वाभाव्यमु[7]पलक्षितं [8]'दृष्टयाद्यभिधेयव्यवहारा-

भर्तृप्रपञ्चोक्तं वाक्यतात्पर्यं निराकरोति—नेत्यादिना । चैतन्याविनाशे वाक्यतात्पर्यं तर्हि दृष्ट्यादिभेदवचनमित्याशङ्क्याऽऽह—यदस्येति । 'तद्धि सुषुप्त्यवस्थायामुपाधेरन्तः-स्य चक्षुरादिभेदाधीन[10]परिणामव्यापारनिवृत्तौ सत्यामुपाधिभेदस्यानुद्भास्यमानत्वात्तेन[11] भिन्न-नुपलक्ष्यमाणस्वभावं यद्यपि तथाऽपि चक्षुर्द्वारेण जायमानायां बुद्धिवृत्तौ व्यक्तं चैतन्यं दृष्टिर्घ्राण-जातायां तस्यां व्यक्तं घ्रातिरित्युपाधिभेदात्प्राप्तभेदानुवादेन चैतन्यस्याविनाशित्वे वाक्यतात्पर्य-

न करना चाहिए। (स्थूल और सूक्ष्म) सर्वत्र व्यभिचार दर्शन से वियदादि के समान आत्मा दृष्टि आदि का तो परस्पर भेद है, किन्तु आत्मत्वरूप से अभेद है।

किन्तु यह विचार अनुचित है क्योंकि इन वाक्यों का तात्पर्य (इसमें न होकर) अन्य ही है। इस सुषुप्तावस्था में—" इत्यादि श्रुतिवाक्य दृष्टयादि धर्मों का भेद प्रदर्शित करने के लिए नहीं नो फिर किसलिए हैं? यदि आत्मा चैतन्यात्मज्योति है, तो वह सुषुप्तावस्था में क्यों नहीं जानता? ए (सुषुप्ति में विशेष ज्ञान का अभाव होने से) आत्मा निश्चय ही चैतन्यात्मज्योति नहीं है। इस र शङ्का होने पर, उसका निराकरण करने लिए "यद्वै तत" इत्यादि मन्त्रों का प्रतिपादन या गया है। जाग्रत् और स्वप्नावस्था में जो इस आत्मा का चैतन्यात्मज्योतिस्वभाव चक्षु आदि उपाधियों के द्वारा दृष्टयादिशब्दवाच्य व्यवहारयुक्त उपलब्ध हुआ है, सुषुप्तावस्था में

---

१. वियदादिवदेव । २. भिन्नत्वम् । ३. आत्मत्वेन । ४. आत्मा । ५. सुषुप्ते विशेषज्ञानाभावात् । ६. आत्मनः । ७. उपलब्धम् । ८. दृष्ट्यादिशब्दवाच्यव्यवहारयुक्तम् । ९. व्यवहारापन्नमित्यस्यस्याग्रे तदमध्याहरति । १०. वृत्तिव्यापारेति भावः । ११. उपाधिभेदेन ।

पन्नं सुषुप्त उपाधिभेदव्यापारनिवृत्तावनुद्भास्यमानत्वादनुपलक्ष्यमाणस्वभावमप्युपाधि भिन्नमिव यथाप्राप्तानुवादेनैव विद्यमानत्वमुच्यते । [1]तत्र दृष्टयादिधर्मभेदकल्पना विव [2]तार्थाऽनभिज्ञतया । सैन्धवघनवत्प्रज्ञानैकरस[3]घनश्रुतिविरोधाश्च । 'विज्ञानमान 'सत्यं ज्ञानम्' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । *शब्दप्रवृत्तेश्च । लौकिकी च[4] प्रवृत्तिश्चक्षुषा रूपं विजानाति श्रोत्रेण शब्दं विजानाति रसनेनान्नस्य रसं विजाना [5]च '[6]सर्वत्रैव च '[7]दृष्टयादिशब्दाभिधेयानां विज्ञानशब्दवाच्यतामेव दर्शयति । प्रवृत्तिश्च प्रमाणम् ।

मित्यर्थः । उक्ते वाक्यतात्पर्ये स्थिते फलितमाह—तत्रेति । [8]इतश्च दृष्टयादिभेदकल्पना न श्लिष्ये —सैन्धवेति । [9]तदेव स्पष्टयति—विज्ञानमिति । न दृष्टयादिभेदकल्पनेति शेषः । यथा घटा मठाकाश [10]इत्येकशब्दविषयत्वादुपाधिभेदेऽप्याकाशस्यैकत्वमिष्टं तथैक[11]शब्दप्रवृत्तेरेकत्वं वि स्वीकर्तव्यं [12]तत्कुतो दृष्टयादिभेदसिद्धिरित्याह—शब्दप्रवृत्तेश्चेति । [13]तामेव विवृणोति—लौकि चेति ।

उपाधिभेदरूप व्यापार की निवृत्ति हो जाने पर वह अनुद्भास्य और अनुपलब्ध रहता है। यथाप्राप्त भेद का अनुवाद करते हुए उपाधिभेद से भिन्न के समान विद्यमानता कही जाती अतः दृष्टयादि धर्मभेद कल्पना यथोक्तश्रुति के तात्पर्य की अनभिज्ञता से है। (ऐसी कल्पना करने आत्मा सैन्धवखण्ड के समान प्रज्ञान एकरसस्वरूप है—इस श्रुति से विरोध आ जाएगा। श्रुतियों से विरोध हो जाता है। जैसे 'वह विज्ञान और आनन्दरूप है (विषय विज्ञान के दुःखानुविद्ध नहीं है क्योंकि लौकिकसुख विलक्षण है)', 'वह सत्य ज्ञानस्वरूप (अनन्त, ब्रह्म) है 'प्रज्ञान ब्रह्म है' इत्यादि । शब्द की प्रवृत्ति से भी भेदकल्पना असंगत है। चक्षु से रूप का ज्ञान है. श्रोत्र से शब्दज्ञान करता है और रसना से अन्न रस का ज्ञान करता है; इस प्रकार शब्द लौकिकी और वैदिकी प्रवृत्ति भी (लोक और वेद में) सर्वत्र ही दृष्टि आदि शब्दों के वाच्यों विज्ञानशब्दवाच्यता दिखलाती है। तथा शब्द की प्रवृत्ति भी प्रमाण है।

---

१. अवतरणोक्तत्वात् । २. यथोक्तश्रुतितात्पर्यानभिज्ञतया । ३. स्वरूप इत्यर्थः । ४. चाक्षु ५. चात्त्वग्घ्राणग्रहः । ६. लोके वेदे च । ७. दृष्टिघ्रात्यादीनाम् । ८. वक्ष्यमाणकारणात् । कारणमेव । १०. उभयत्रानुगताकाशशब्दविषयत्वात् । ११. विज्ञानशब्दप्रवृत्तेरिति भावः । १२ एकत्वात् । १३. शब्दप्रवृत्तिमेव ।

---

* शब्दप्रवृत्तेश्चेत्यादि शब्दप्रवृत्तिश्च प्रमाणमित्यन्तभाष्ये वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"दृष्टयादिवचसां लोके ज्ञान एव च । दर्शनाज्ज्ञप्तिमात्रं स्यादर्थस्तेषां प्रसिद्धितः ॥ पञ्च श्रोत्रादिभिः साक्षाज्जानामीति शब्दादीनिह लोकेऽतो दृष्टयादेर्ज्ञानवाच्यता ॥ येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान् । एतेनैव तीन्यपि च श्रुतिशासनम् ॥ लावकः पाचको वेति कारकस्य सतो यतः । संभेदोऽयं क्रियाभिः स्यात्रातो तान्वितः ॥ गच्छतः पठतो भोक्तृन्नानाकर्मकृतो रविः । यथा प्रकाशयत्येकरूप एव तथा धियः ॥ भिन्नचेष्टास्ता भिन्नदेशादिलक्षणाः । एकरूपं परं ज्योतिरेकं सद्वीक्षते धियः ॥ किंज्योतिरित्युपक्रम्य

दृष्टान्तोपपत्तेश्च । यथा हि लोके स्वच्छस्वाभाव्ययुक्तः स्फटिकस्तन्निमित्तमेव
त्तं हरितनीललोहिताद्युपाधिभेदसंयोगात्तदाकारत्वं भजते । न च स्वच्छस्वाभाव्य-
तिरेकेण हरितनीललोहितादिलक्षणा धर्मभेदाः स्फटिकस्य कल्पयितुं शक्यन्ते । तथा
राद्युपाधिभेदसंयोगात्प्रज्ञानघनस्वभावस्यैवाऽऽत्मज्योतिषो दृष्टयादि[1]शक्तिभेद

यत्तु सिद्धान्ते दृष्टान्तो नास्तीति[2] तत्राऽऽह—दृष्टान्तेति । किमेकरूपत्वे [3]वस्तुनो दृष्टान्तो नास्ति
वा मिथ्यात्वे [4]तन्नानारूपत्वस्येति वक्तव्यम् । नाऽऽद्यः । [5]नानारूपवस्तुवादिभिरप्येकैकरूपस्या-
वस्थापरिहारार्थम[6]नानारूपत्वाङ्गीकारादस्माकं [7]दृष्टान्तसिद्धे[8]र्वस्तुत्वहेतोश्च [9]तत्रैवानैकान्तिकत्वा-
[10]त्तस्मादेकरूपमेव [11][12]वस्तु स्वीकर्तव्यमिति भावः । द्वितीयं दूषयति—यथा हीति । तन्निमित्तमेवेत्यत्र
शब्देन स्वच्छस्वाभाव्यं परामृश्यते । स्फटिके हरितादिधर्माणां स्वाभाविकत्वं किं न स्यादित्या-
शङ्क्याऽऽह—न चेति । [13]तस्य हि[14] स्वच्छस्वाभाव्यं तद्वशेन हरिताद्यु[15]पाधिभेदसंबन्धव्यतिरेकेणेति
वत् । एकस्य नानारूपत्वं मिथ्येत्यत्र दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति । आत्मा [16]मिथ्यानाना-

---

इसमें दृष्टान्त भी संभव है । जिस प्रकार लोकव्यवहार में स्वच्छ धर्म वाली स्फटिक मणि हरित,
न तथा लोहितादि उपाधि भेद के संसर्ग से केवल उन्हीं उपाधियों के निमित्त से तदाकार हो जाती
स्वाभाविक स्वच्छ स्फटिक मणि में शुद्धत्व से व्यतिरिक्त हरित, नील एवं लोहितादि धर्मभेदों की
रना असंभव है । तथा चक्षु आदि उपाधिभेद के संयोग से ही प्रज्ञानघनस्वरूप आत्मज्योति के दृष्टि

---

[1] रूपभेदः । [2] उक्तं ११३६पृष्ठटीकायाम् । [3] आत्मवस्तुनः । [4] आत्मनो नानारूपत्वस्येति । [5] नानारूपवस्तुवादिभिरिति—भिन्नत्वाभिन्नत्वादिना वस्तुमात्रमनेकरूपमिति वादिभिरित्यर्थः । [6] अनव-
स्थेति—यथैकैकरूपस्यावयविनो घटादेरवयवात्मनाऽनेकत्वम् (घटत्वेनावयवित्वेन वैकरूपस्य सतः) तथा तद-
वयवानामपि कपालादीनां स्वावयवात्मनाऽनेकत्वं तथा तदवयवानामपि स्वावयवात्मनाऽनेकत्वमित्यनवस्था ।
न च परमाणोर्निरवयवत्वात्तत्र विश्रान्तिस्तस्यापि वस्तुत्वेनानेकत्वानुमानात् । न च तस्यापि गुणाद्यात्मनाऽने-
कत्वस्येष्टत्वान्नानुमानविरोधः गुणादीनामपि वस्तुत्वेन प्रत्येकमनेकत्वानपहारादनवस्था तदवस्थैवेति भावः ।
[7] ऐकरूप्यस्यावश्यमङ्गीकरणीयत्वादित्यर्थः । [8] दृष्टान्तसिद्धेरिति—तथा च आत्मा एकरूपो वस्तुत्वाद्-
घटादिवदिति सुप्रयोजकमिति भावः । [9] तव च नानारूपत्वसाधकत्वाभिमतो वस्तुत्वहेतुर्व्यभिचारीत्याह—
वस्तुत्वहेतोश्चेति । [10] तत्रैव—अनवस्थापहारायाभ्युपगमनीये एकरूपे वस्तुनि । [11] तस्मात्—मम
दृष्टान्तसिद्धेस्तव च वस्तुत्वहेतोरनैकान्तिकत्वादित्यर्थः । [12] आत्मवस्तु । [13] स्फटिकस्य । [14]
यत् । [15] उपाधिच्छायेति यावत् । [16] मिथ्याऽनेकप्रतीत्याश्रयः ।

स्वतो दृशिः । द्रष्टा
महताऽऽदरात् । अर्थोऽयमेव निर्णीतस्तद्विरुद्धं किमुच्यते ।। मोहोत्थोपाधिसंबन्धादभिन्नोऽपि
श्रोतेति नानात्वं याति यद्वदलक्तकम् ।। रक्तादिभेदतो भेदः प्रकाशस्य प्रकाश्यतः । यथैवमात्मनो भेदो
ज्योतिष्ट्वाद्भास्यभेदतः" ।। १७६९-१७७७ ।। इति । दृष्टयादीनां भिन्नाभिन्नत्वे भिन्नत्वे वा यद्वै तदित्या-
देनं तात्पर्यमिति ब्रुवता स्वपक्षे दृष्टान्तः परपक्षे तदभावश्चोक्तः । इदानीं तेषां भिन्नत्वाभावे हेत्वन्तरमाह—
दृष्टयादीति उक्तं हेतुं संक्षिप्याऽऽह—प्रसिद्धित इति ।। दृष्टयादिशब्दानां ज्ञानमात्रवाचित्वं प्रसिद्धमित्येतत्प्रकटयति ।

[1]उपलक्ष्यते । प्रज्ञानघनस्य स्वच्छस्वाभाव्यात्स्फटिकस्वच्छस्वाभाव्यवत्स्वयंज्योतिश्च यथा चाऽऽदित्यज्योति[2]रवभास्यभेदैः संयुज्यमानं हरितनीलपीतलोहितादिभेदैरविभा [3]तदाकाराभासं भवति, [4]तथा च कृत्स्नं जगदवभासयच्चक्षुरादीनि च [5]तदाकारं भव तथा चोक्तमात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्त इत्यादि ।

निर्भास उपहितत्वात्स्फटिकवदित्यर्थः । किंचाऽऽत्मा मिथ्यानानात्वाधारः स्वच्छत्वात्[8]संप्रति दित्याह—प्रज्ञानेति । किंचाऽऽत्मा कल्पितनानात्वाधारो ज्योतिष्ट्वादादित्यादिज्योतिर्वदित्या स्वयमिति । आदित्यादावकल्पितोऽपि [9]भेदोऽस्तीत्याशङ्क्य विवक्षितं साम्यमाह—यथा चेत्यादि अविभाग्यं [9]वस्तुतो विभागायोग्यमिति यावत् । चक्षुरादीनि चावभासयदिति संबन्धः । आत्म सर्वावभासकत्वे वाक्योपक्रमं प्रमाणयति—तथा चेति ।

आदि रूपभेद प्रतीत होते हैं । प्रज्ञानघन स्वाभाविक स्वच्छ स्फटिक मणि के समान स्वच्छ स्वभाव और यह स्वयंज्योतिष्ट्व भी है । जिस प्रकार आदित्य ज्योति हरितादि प्रकाश्यविशेषों से संपृक्त पर हरित, नील, पीत और लोहितादि भेदों से अभिन्न और हरितादि के आकार का प्रतीत होता उसी प्रकार समस्त जगत् और चक्षु आदि को प्रकाशित करने वाली चैतन्यात्मज्योति कल्पित ना आकार वाली हो जाती है । इसीसे श्रुति कहती है—"सुषुप्तावस्था में (देहावयवसंघात व्यतिरिक्त) यह प्राकृत पुरुष आत्मज्योति से ही बैठता है" ।

---

१. प्रतीयते । २. हरितादिप्रकाश्यविशेषैः । ३. हरिताद्याकारेण प्रतीतं भवति । ४. दार्ष्टा योजयति—तथा चेति । ५. कल्पितनानाकारम् । ६. आत्मज्योतिः । ७. स्फटिकादिवत् । सजातीयादिप्रतियोगिकः । ९. वस्तुत इति—हरितादिभास्यसंनिधानेन प्रतीयमानहरितादिविभाग वस्तुत इत्यर्थः ।

पञ्चेति । दृष्ट्यादेस्तत्पदस्येति यावत् । ज्ञानमेव वाच्यं यस्य तस्य भावस्तत्तेति विग्रहः ॥ दृष्ट्यादीनां ज्ञा मात्रत्वे काठकश्रुतिं प्रमाणयति— येनेति । येनैतेन साक्षिचैतन्येन लोको रूपादीञ्जानाति तस्मिञ्ज्ञाते शिष्यते तज्ज्ञेयमिति वदद्वाक्यं दृष्ट्यादीनां ज्ञानमात्रत्वं श्रावयति जानातेः सर्वत्र प्रयोगादित्यर्थः ॥ चक्षु करणाधीनो दर्शनादिक्रियाभेदोऽपि लोकसिद्धत्वान्न निरासमर्हतीत्याशङ्क्य दृष्ट्यादिवाच्यार्थस्य साभा निष्ठस्य भेदेऽपि लक्ष्यार्थस्याऽऽत्ममात्रतया न भेदोऽस्तीत्यभिप्रेत्याऽऽह—लावक इति ॥ दृष्ट्यादेरीक्षितृ दात्मनोऽकारकत्वमसिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—गच्छत इति । धियो वीक्षत इति संबन्धः ॥ दार्ष्टान्तिकं प्र यति—दृष्ट्यादीति । देशशब्देन चक्षुराद्युक्तिः । आदिशब्दस्तु कालविषयः । लक्षणशब्दो निमित्तपरः ॥ कूटस्थमेकरसं ज्योतिरात्मेति प्रतिपाद्य तस्य दृष्ट्यादिक्रियावत्त्वोक्तौ पूर्वापरविरोधः स्यादित्याह—किमि परपक्षनिरासद्वारा स्वपक्षसाधनं यत्नस्तस्य महत्त्वं साधनदूषणयोर्विवृतत्वमादरो दृष्टान्तोक्तिः ॥ आ कूटस्थदृष्टिश्चेत्कथं तस्य द्रष्टा श्रोतेत्यादिनानात्वदृष्टिरित्याशङ्क्याऽऽह—मोहेति । यथा स्वच्छस्वभावः स्फटि मणिरलक्तकमुपाध्यन्तरं वा संनिहितमपेक्ष्य लोहिताद्यनेकरूपतामेति तथेत्याह—यद्वदिति ॥ स्फटिकादे प्रकाशस्योपाधितोऽन्यथा प्रथनेऽपि कथं प्रकाशात्मनोऽन्याधीनतयाऽन्यथा प्रथेत्याशङ्क्याऽऽह—रक्तादीति । प्रदीपादिप्रकाशस्य प्रकाश्यरक्तादिभेदवशात्तद्भेदो भाति तथाऽऽत्मनो ज्योतिष्ट्वाविशेषाद्भास्यद्रष्टव्यादिभेदव द्द्रष्टेत्यादिनानात्वं सिद्धमित्यर्थः ॥

❀न च [1]निरवयवेष्वनेकात्मता शक्यते कल्पयितुम् । दृष्टान्ताभावात् । यदप्याकाशस्य सर्वगतत्वादिधर्मभेदः परिकल्प्यते परमाण्वादीनां च गन्धरसाद्यनेकगुणवत्त्वं तदपि [2]निरूप्यमाणं परोपाधिनिमित्तमेव भवति । आकाशस्य तावत्सर्वगतत्वं नाम न [3]स्वतो धर्मोऽस्ति । [4]सर्वोपाधिसंश्रयाद्धि [5]सर्वत्र स्वेन[6] रूपेण [7]सत्त्वमपेक्ष्य सर्वगतत्वव्यवहारो न त्वाकाशः क्वचिद्गतो वाऽऽगतो वा स्वतः । गमनं ही नाम देशान्तरस्थस्य देशान्तरेण संयोगकारणम् । सा च क्रिया नैवा[8]विशेषे संभवति । [9]एवं धर्मभेदा नैव सन्त्याकाशे ।

यत्तु निरवयवेष्वपि नानारूपत्वमनुमेयमिति"[10] तत्राऽऽह—न चेति । आकाशादीनां दृष्टान्तत्वमाशङ्क्य निराचष्टे—यदपीत्यादिना । कथमाकाशस्यानेकधर्मवत्त्वमौपाधिकमित्याशङ्क्य तस्य सर्वगतत्वं तावदौपाधिकमिति साधयति—आकाशस्येति । कथं [11]"तर्हि तत्र सर्वगतत्वव्यवहारस्तत्राऽऽह—सर्वोपाधीति । नन्वाकाशस्य सर्वत्र गमनमपेक्ष्य सर्वगतत्वं किमिति न व्यवह्रियते तत्राऽऽह—न त्विति । आकाशे गमनायोगं वक्तुं [12]"तत्स्वरूपमाह—गमनं हीति । ननु [13]"कुतश्चिद्विभागे"[14] संयोगे च केनचिद्देशेन [15]"तत्कारणीभूता क्रियाऽपि श्येनादाविवाऽऽकाशे भविष्यति नेत्याह—सा चेति । सावयवे हि श्येनादौ क्रिया दृश्यत आकाशं त्वविशेषं निरवयवं कुतस्तत्र क्रियेत्यर्थः । [16]"तथाऽपि धर्मान्तराण्याकाशे भविष्यतीत्याशङ्क्य तेषामपि क्रियापूर्वकाणामुक्तन्यायकवलीकृतत्वमाह—एवमिति । भेदाभेदाभ्यां [17]"दुर्वचत्वाच्च तत्र धर्मधर्मिभावो न संभवतीति भावः ।

निरवयव आत्मादि में नानात्वकल्पना संभव नहीं है क्योंकि इसमें दृष्टान्त का अभाव है। आकाश की जो सर्वगतत्वादि धर्म भेद और परमाणु आदि की गन्ध-रसादि अनेकगुणरूपता की ल्पना की जाती है, वह भी विचार्यमाण अन्य उपाधि निमित्त ही है । सर्वगतत्व आकाश का स्वाभाविक धर्म नहीं है । समस्त उपाधियों के अनुगत होने के कारण सर्व उपाधियों में आकाश-रूप से उसकी विद्यमानता है। इसीसे आकाश में सर्वगतत्व व्यवहार होता है; स्वाभाविकरूप से आकाश में गमन-आगमन नहीं है। किसी देशान्तर में स्थित वस्तु के किसी अन्य देश से संयोग होने के

---

[1] आत्मादिषु । [2] विचार्यमाणम् । [3] स्वाभाविकः । [4] सर्वोपाध्यनुगतत्वात् । [5] उपाधिषु । [6] आकाशत्वेन । [7] विद्यमानत्वम् । [8] निरवयवे । [9] एवमिति—उक्तेनैव ज्यायेनेत्यर्थः । सर्वगतत्वधर्मवदिति वा । [10] उक्तं ११३३ पृष्ठभाष्ये । [11] तर्हि सर्वगतत्वस्य स्वतो धर्मत्वानभ्युपगमे । [12] गमनस्वरूपम् । [13] देशात् । [14] आकाशस्य । [15] संयोगविभागकारणीभूता । [16] सर्वगतत्वस्य स्वतोऽभावेऽपि । [17] दुर्वचत्वादिति—आकाशधर्मत्वेनाभिमतानामाकाशभिन्नत्वे हिमवद्विन्ध्ययोरपि धर्मधर्मिभावापत्तिः अभिन्नत्वे स्वमपि स्वस्य धर्मः स्यादिति भावः ।

❀न च निरवयवेष्वनेकात्मता शक्यते कल्पयितुमिति । अत्र वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"निरंशेषु न चाप्येवं भिन्नाभिन्नत्वकल्पने । सभागेष्विव वस्तुषु । भिन्नाभिन्नात्मता शक्या कर्तुं साक्षादपीश्वरैः ॥ न चापीह निरंशेषु भिन्नाभिन्नत्वं मिथश्च भिन्ने- दृष्टान्तः कश्चिदप्यस्ति जगत्यस्मिंश्चराचरे" ॥ १७७८-१७७९ ॥ दृष्ट्यादीनां द्रष्टुर्भिन्नाभिन्नत्वं मिथश्च भिन्नेत्येतन्निरस्तमधुना स्थूलेषु यद्वदित्यादिनोक्तं निरस्यति—निरंशेष्विति ॥ तत्र दृष्टान्ताभावं हेतुमाह - न चेति । गोत्वादेः साध्यतुल्यत्वमप्यर्थः ॥

तथा परमाण्वादावपि[1] । परमाणुर्नाम पृथिव्या [2]गन्धघनायाः परमसूक्ष्मोऽवयवो गन्धात्मक एव न तस्य पुनर्गन्धवत्त्वं नाम शक्यते कल्पयितुम् । अथ [3]तस्यैव रसादिमत्त्वं स्यादिति चेन्न । [4]तत्राप्यबादिसंसर्गनिमित्तत्वात् । [5]तस्मान्न [6]निरवयवस्या[7]नेकधर्मवत्त्वे दृष्टान्तोऽस्ति । *[8]एतेन दृगादिशक्तिभेदानां पृथक्चक्षूरूपादिभेदेन परिणामभेदकल्पना परमात्मनि प्रत्युक्ता ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

आकाशे दर्शितन्यायमन्यत्रापि संचारयति—तथेति । पार्थिवत्वं परमाणोरेकं रूप गन्धवत्त्वं चापरमित्यनेकरूपत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—परमाणुर्नामेति । न हि पार्थिवत्वातिरेकि गन्धवत्त्वं प्रामाणिकमिति भावः । वैशेषिकपरिभाषामाश्रित्य शङ्कयति—अथेति । पार्थिवे परमाणौ रसादिमत्त्वमनौपाधिकं न भवति जलादिसंसर्गकृतत्वात्तथा[9] च निरुपाधिकभेदे नेदमुदाहरणमिति परिहरति—न तत्रापीति । उक्तन्यायस्य दिगादावपि समत्वं मत्वोपसंहरति —तस्मादिति । सन्ति परस्मिन्नात्मनि दृगादिशक्तिभेदास्तेषां मध्ये दृक्शक्तिश्चक्षुरात्मना रूपात्मना च पृथगेव परिणमते घ्रातिशक्तिश्च घ्राणात्मना गन्धात्मना चेत्यनेन क्रमेण परस्मिन्परिणामकल्पना भर्तृप्रपञ्चैर्या कृता साऽपि "परस्यैकरूपत्वोपपादनेन निरस्तेत्याह—एतेनेति ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

कारण को गमन कहते हैं । वह गमनक्रिया किसी निरवयव वस्तु में होनी संभव नहीं है । इस प्रकार (सर्वगतत्व धर्म के समान) आकाश में धर्मभेद नहीं रहते हैं ।

इसी प्रकार परमाणु आदि में भी धर्मभेद नही हैं । गन्धैकमूर्ति पृथिवी का जो अत्यन्त सूक्ष्म गन्धात्मक अवयव है, उसे परमाणु कहते हैं; उसके गन्धवत्त्व होने की कल्पना नहीं की जा सकती । यदि कहो कि उस गन्धात्मक परमाणु का रसादिमत्व होना संभव है तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि पार्थिक परमाणु के रसादिमत्त्व होने में जलादि ससर्ग निमित्त होता है । इसलिये (आकाशादि दृष्टान्त के निरास से) निरवयव आत्मा के (स्वतः) अनेक धर्म होने में कोई दृष्टान्त नहीं है । इसीसे परमात्मा में दृष्ट्यादि रूप भेदों से पृथक् चक्षुरूपादिभेद से परिणाम भेदों की कल्पना की गई है, उसका भी यहाँ निराकरण हो गया ।। २४-३० ।।

---

[1] नैव सन्ति धर्मभेदा इति पूर्वत्र संवन्धः । [2] गन्धैकमूर्तेः । [3] गन्धात्मकपरमाणोरेव । [4] पार्थिवपरमाणोरसादिमत्त्वेऽपि । [5] आकाशादेर्दृष्टान्तत्वनिरासात् । [6] आत्मनः । [7] स्वतोऽनेकधर्मवत्त्वे । [8] अवतरणोक्तत्वात् । [9] तत्र रसादेर्जलादिसंसर्गप्रयुक्तत्वे च । [10] आत्मनः ।

---

* एतेन दृगादिशक्तिभेदानामित्यादि प्रत्युक्तेत्यन्तभाष्ये वार्तिकाचार्यास्तथाहि –"दृगादिशक्तिभेदानां चक्षूरूपादिभेदतः । विकारकल्पनैतेन न्यायेनाऽऽत्मन्यपाकृता ॥ कार्यलिङ्गाद्धि शक्तीनामस्तित्वं कारणत्वतः । यतोऽवगम्यं नातोऽकारके शक्तिरात्मनि ॥ शक्तिशक्तिमतोरैक्यं तयोर्भेदान्न युक्तितः । प्रतिपत्तुं क्वचिच्छक्यं प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः ॥ प्रकृत्यर्थेऽथवाऽयं स्यान्मतुब्यद्वा ततोऽन्यतः । पक्षासिद्धिर्हि पूर्वस्मिन्भेदान्नैक्यं तथोत्तरे ॥ आत्मविद्यैव न शक्तिः सर्वशक्यस्य सर्जने । नातोऽन्यथा शक्तिवादः प्रमाणेनावसीयते ॥ अशक्तं शक्तिमच्छक्त्या शक्तिमता तथा । अशक्तैति कथं योगमन्योन्यं हेत्वसंभवात् ॥ शक्तयः सन्ति भूयस्यस्तयोरपि मतं यदि । तत्रापि तुल्यचोद्यत्वादनवस्था प्रसज्यते ॥ तस्मादज्ञात आत्मैव शक्तिरित्यभिधीयते । आकाशादेस्ततो उक्त यस्माच्छ्रुत्याऽभिधीयते" ॥ १७८०-१७८७ ॥ इति । आत्मनि दृष्ट्यादीनां भिन्नाभिन्नत्वनिरासित्यादे

[1]यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्यद्रसयेदन्योऽन्यद्वदेदन्योऽन्यच्छृणुयादन्यो-

जिस जाग्रत् या स्वप्न में आत्मा से भिन्न अन्य सी-वस्तु होती है, वहाँ ही अन्य अन्य को देखता है, अन्य अन्य को सूँघता है, अन्य अन्य को चखता है, अन्य अन्य को बोलता है, अन्य अन्य

---

[2]जाग्रत्स्वप्नयोरिव यद्विजानीयात्तद्[3]द्वितीयं प्रविभक्तमन्यत्वेन नास्तीत्युक्तमतः सुषुप्ते न विजानाति विशेषम्। ननु [4]यद्यस्या[5]यमेव स्वभावः किंनिमित्तमस्य [6]विशेषविज्ञानं स्वभावपरित्यागेन। अथ विशेषविज्ञानमेवास्य स्वभावः कस्मादेष विशेषं न [7]विजानातीति

औपाधिको दृष्ट्यादिभेदो न वास्तवोऽस्तीत्युपपाद्य वृत्तम'नुद्रवति—जाग्रदिति। यत्रेत्याद्युत्तरवाक्यव्यावर्त्यामाशङ्कां दर्शयति—नन्विति। किमस्य' विशेषविज्ञानराहित्यं स्वरूपं किं वा विशेष-

---

जाग्रत् और स्वप्न के समान सुषुप्तावस्था में जिसे पुरुष जाने, ऐसी उससे अन्य रूप से विभक्त अपने से भिन्न वस्तु नहीं है—यह बात पहले कही जा चुकी है। इसलिए सुषुप्तावस्था में उसे कोई विशिष्टज्ञान नहीं होता। (इस पर शङ्का होती है—) यदि इस आत्मा का निर्विशेष दृष्टि ही स्वभाव है तो फिर अपना स्वभाव त्यागकर इसे जाग्रत्-स्वप्न का विशिष्ट ज्ञान किंनिमित्तक

---

१. एवं सुषुप्तावविद्योत्थद्वैताभावाद्विशेषज्ञानाभाव इति व्यतिरेकमुक्त्वा जाग्रदादौ तु तस्मिन्सति तदित्यन्वयमाह—यत्रेति। यस्मिञ्जागरिते स्वप्ने वा अन्यदिवेत्यादिभाष्ये स्पष्टम्। २. सुषुप्ते। ३. द्वितीयं स्वस्माद्भिन्नम्। प्रविभक्तं ज्ञेयजातम् स्वभिन्नत्वेन नास्ति। अतः सुषुप्ते विशेषं न विजानातीत्युक्तमिति संबन्धः। ४. आत्मनः। ५. निर्विशेषदृष्टिरेव। ६. जागरस्वप्नयोः। ७. सुषुप्तौ। ८. आत्मनः।

किंचाऽऽत्मनि दृगादिशक्तिश्चक्षुरादिना रूपादिना च परिणमत इति कल्पनाऽपि निरस्तेत्याह—दृगादीति॥ कारणशक्तिरेव नास्ति मानाभावादित्याह—कार्येति। कार्यमेव लिङ्गं तद्गम्यं तासामस्तित्वमित्यत्र हेतुमाह—

त्वत इति। शक्तिमत्कारणं तच्च कार्यलिङ्गं तथा च विशेषणत्वेन शक्तिमत्त्वमपि तल्लिङ्गमित्यर्थः॥ आत्मन्य-

कारकत्वादेव शक्तिर्नास्ति चेत्प्रधानादेव जगज्जन्मादिशक्तिरस्तु तत्कारकत्वादित्याशङ्क्य प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः

शक्तिशक्तिमतोरभेदो भेदो वेति विकल्प्याऽऽद्ये दोषमाह—शक्तीति। न च तयोर्भेदप्रतीतौ स एवास्तु हिमव-

द्विन्ध्ययोरिव शक्तितद्वद्भावायोगादिति द्रष्टव्यम्॥ उक्तमर्थं स्फोरयितुं शक्तिमानित्यत्र मतुबर्थं विकल्पयति—

प्रकृतीति। प्रकृत्यर्थः शक्तिरेव मत्वर्थश्चेच्छक्तिमत्कारणमितिपक्षासिद्धिरित्याद्यं दूषयति—पक्षेति। शक्तेरेव

कारणत्वप्रसङ्गात्तस्याश्चाऽऽश्रयविषयव्यतिरेकेणायोगादिति हिशब्दार्थः। प्रकृत्यर्थाच्छक्तेरर्थान्तरे मतुबर्थे शक्तित-

द्वतोर्भेदात्तयोरैक्यं विवक्षितं न सिध्येन्न च तयोर्भिन्नतैव शक्तितद्वद्भावायोगादिति कल्पान्तरं निरस्यति—

भेदादिति॥ ननु भेदाभेदविकल्पाभ्यां शक्तिवादो नापवादमर्हति त्वयाऽपि शक्तेराश्रितत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—

आत्मेति॥ आत्माविद्यातिरिक्तशक्तिवादो न प्रमाणवानित्येतत्कथमिति तत्र किं शक्तिशक्तिमतोर्मिथः संबन्धे

प्रत्येकं शक्तिरस्ति न वा द्वितीयं दूषयति—अशक्तमिति। आद्यमनूद्य प्रत्याह—शक्तय इति। तत्रापि तत्तच्छ-

क्तितद्वतोरपीत्यर्थः। तुल्यस्य चोद्यस्य सत्त्वं नाम तत्र तत्र शक्तिमत्त्वस्याऽऽवश्यकत्वम्॥ परपक्षं निराकृत्य

स्वपक्षमुपसंहरति—तस्मादिति। तत्र मानमाह—आकाशादेरिति। कारणं हि शक्तिमदिष्टमन्यथाऽतिप्रसङ्गाद-

ज्ञातश्चाऽऽत्मा विश्वस्य कारणं श्रूयते तस्मादात्माज्ञानमेव शक्तिरित्यर्थः॥

ऽन्यन्मन्वीतान्योऽन्यत्स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात् ॥ ३१ ॥

*** [1]सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः**

का मनन करता है, अन्य अन्य का स्पर्श करता है और अन्य अन्य को जानता है, अर्थात् अविद्या की विक्षेपशक्ति से उत्पन्न हुई वस्तु को देखता हुआ-सा प्रतीत होता है ॥३१॥

जैसे जल विशुद्ध और एक है, वैसे ही सुषुप्ति में अद्वैत आत्मा द्रष्टा एक है। हे राजन्! यही

उच्यते शृणु। यत्र यस्मिञ्जागरिते स्वप्ने वा अन्यदिवाऽऽत्मनो वस्त्वन्तरमिवाविद्यया प्रत्युपस्थापितं भवति [2]तत्र [3]तस्मादविद्याप्रत्युपस्थापितादन्योऽन्यमिवाऽऽत्मानं मन्यमानोऽसत्यात्मनः प्रविभक्ते वस्त्वन्तरेऽसति चाऽऽत्मनि [4]ततः प्रविभक्ते[5]ऽन्यो[6]ऽन्यत्पश्येदुपलभेत।

विज्ञानवत्त्वम्। आद्ये [7]जाग्रत्स्वप्नयोर[8]नुपपत्तिः। द्वितीये सुषुप्तेर[9]सिद्धिरिति भावः। प्रतीचश्चिन्मात्रज्योतिषो विशेषविज्ञानराहित्यमेव स्वरूपं तथाऽपि स्वाविद्याकल्पितविशेषविज्ञानवत्त्वमाश्रित्यावस्थाद्वयं

होता है? यदि जाग्रत्-स्वप्न का विशिष्ट ज्ञान ही इसका स्वभाव है तो यह सुषुप्तावस्था में जाग्रत्-स्वप्न विशेष को क्यों नहीं जानता? (इसका समाधान करते हैं—)इसे बतलाया जाता है—सुनो। "यत्र" अर्थात् जिस जागरित अथवा स्वप्नावस्था में "अन्यदिव" अर्थात् अविद्या द्वारा प्रत्युस्थापित की हुई आत्मा से भिन्न कोई-कोई वस्तु होती है, वहाँ आत्मा से भिन्न वस्तु न होने पर

---

१. प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तस्य यद्वै तन्न पश्यतीत्यादिना विस्तरेणोक्तं स्वरूपमुपसंहरति – सलिल इति। यस्मादेवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामाविद्यक एवान्तःकरणादिसंबन्धस्तस्मात्सलिलः सलिलवत्स्वच्छः विजातीयभेदशून्यः एकः सजातीयभेदशून्य अतएवाद्रष्टा। यद्वा जडत्वशङ्काव्यावृत्तये द्रष्टेति पदच्छेदः। कूटस्थज्योतिः अद्वैतः एकरसः स्वगतभेदशून्य इति यावत्। अत ऊर्ध्वमित्यादि पुनः पुनः पृष्टस्योत्तरं मुनिरुक्तवानिति श्रुतिराह—एष इति। एषः संनिहितः सुषुप्त्यवस्थामापन्नः प्रत्यगात्मा। अस्य बुद्ध्याद्युपाधिकस्य। एषा अतिच्छन्दवाक्योक्ता। अस्य विज्ञानम् यस्य परमा उत्कृष्टा संपद् विभूतिः अकृतकत्वात्। अस्य विज्ञानमयस्य एष यथोक्तः सुषुप्तौ परमात्मैकलक्षणः परमो मोक्षरूपो लोकः। अस्य सुषुप्तस्य एष स्वरूपानुभवलक्षणः आनन्दः परमः साधनासाध्यो निरतिशय इति यावत्। २. तस्मिन्नवस्थाविशेषे। ३. वस्तुनो भ्रमाद्वा। ४. प्रमेयात्। ५. अन्वयार्थमिदम्। ६. स्वस्माद्भिन्नम्। ७. षष्ठ्यन्तम्। ८. अनुपपत्तिरिति—तयोर्विशेषविज्ञानवत्त्वस्वाभाव्यात्। तच्च विज्ञानं (जागरे) व्यावहारिकं (स्वप्ने) प्रातीतिकं वेत्यन्यदेतदिति भावः। ९. तस्या निखिलविशेषविज्ञानविलयस्वाभाव्यादिति भावः।

* सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोक इति। अत्र वार्तिकाचार्या आहुस्तथाहि—"यद्वै तदित्युपक्रम्य व्याख्यातुं वस्तु विस्तरात्। सलिलादिगिरा तस्य क्रियतेऽत्रोपसंहृतिः ॥ अविद्यैव यतो हेतुः कार्यकारणतां प्रति। सम्यग्ज्ञानादतस्तस्यां ध्वस्तायामात्ममात्रता ॥ नाविद्यामनुपादाय प्रतीचोऽनात्मसंगतिः। यतो विध्वंसने तस्या नाऽऽत्मनोऽन्योऽवशिष्यते ॥ स्वतोऽवबोधमात्रत्वात्कुतोऽविद्यादिसंप्लुतिः ॥ तस्मात्सलिलवच्छुद्धः कार्यकारणहानतः ॥ अन्तरेणापि संबन्धं कार्यकारणवस्तुनः। स्वतोऽनेकात्मकं तत्स्यादित्याशङ्क्यैक उच्यते ॥ न कपिलादिवत्तत्त्वं स्वतोऽनेकस्वभावकम्। उक्त्वा सलिलवत्तस्मादेक इत्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥ सजातीयनिषेधो वा ह्येकशब्देन

सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषाऽस्य परमा

लोक है। ऐसा याज्ञवल्क्य ने जनक को उपदेश दिया। यही इस पुरुष की परम गति है। यह इसकी

दर्शितं स्वप्ने प्रत्यक्षतो घ्नन्तीव जिनन्तीवेति । तथाऽन्योऽन्यज्जिघ्रेद्रसयेद्वदेच्छृणु-
मन्वीति स्पृशेद्विजानीयादिति ॥ ३१ ॥

यत्र पुनः साऽविद्या सुषुप्ते [1]वस्त्वन्तरप्रत्युपस्थापिका शान्ता तेनान्यत्वेनाविद्या-

---

यतीत्युत्तरवाक्यमवलम्ब्योत्तरमाह—उच्यत इत्यादिना। तच्चेत्याविद्यं दर्शनमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

[2]पूर्वोक्तवस्तूपसंहारार्थं सलिलवाक्यमुत्थापयति—यत्रेत्यादिना । तेनाविद्यायाः शान्तत्वेनेति

अविद्या द्वारा वस्तु के भ्रम से प्रत्युपस्थापित वस्तु से अपने को अन्य के समान मानता हुआ; अन्य को देखता यानी उपलब्ध करता है। उसी को “स्वप्न में मानो मारते हैं, मानो वश में ते हैं” इस अनुभव द्वारा दिखाया गया है। इसी प्रकार अन्य अन्य को सूँघ सकता है, रस ग्रहण र सकता है, बोल सकता है, सुन सकता है, मनन कर सकता है, स्पर्श कर सकता है, जान ता है ॥ ३१ ॥

---

१. आत्मभिन्नवस्तुप्रत्यायिका । २ पूर्वोक्तेत्यादि। तथा च वार्तिके—“यद्वै तदित्युपक्रम्य व्याख्यातं वस्तु विस्तरात्। सलिलादिगिरा तस्य क्रियतेऽत्रोपसंहृतिः” ॥ १७६५ ॥ इति ॥ तस्य प्रत्यगभिन्नवस्तुनः । वस्तूप-संहारश्च वस्तुनि वक्तव्योपसंहारः ।

भण्यते। सलिलोक्त्या विजातीयसंबन्धो हि निवारितः ॥ एकशब्दो न संख्यार्थः संख्येयासंभवादिह । अद्वितीयार्थतैवातो द्वितीयार्थनिषेधतः ॥ सदेवेत्यादिना चास्य तथा सत्यविरुद्धता ॥ प्रत्यङ्मात्रावसायित्वं प्रत्यग्दृष्टेर्वतस्ततः। अकारकस्वभावत्वादद्रष्टेत्यभिधीयते ॥ यत्र हि द्वैतमित्युक्तेर्यत्र त्वस्येति चेरणात्। स्वतः पूर्णात्मकं ज्योतिरद्रष्टेत्यभिधीयते ॥ यस्मादेवमतोऽद्वैतोऽविद्यातत्कार्यलङ्घनात् । न ह्यविद्यादिविरहे द्वैतधीरुपपद्यते ॥ द्विधेतं द्वीतमित्याहुस्तद्भावो द्वैतमुच्यते । तन्निषेधेन चाद्वैतं प्रत्यग्वस्त्वभिधीयते ॥ द्विधा त्रिधा वा बहुधा कारणं सद्भवेदिह। तस्याऽऽत्मनि निषिद्धत्वादात्माऽद्वैतो भवेत्ततः ॥ भेदसंसर्गहानार्थमेवंयत्नामपि श्रुतिम् । अनाद्दृत्यान्यथा प्राहुरहो विद्या महीयसी ॥ मिथो विभागसंसिद्धिर्धर्मिणां नाऽऽत्मसंश्रयात् । धर्मधर्म्यभिसंबन्धो दृश्यत्वाद्रष्टृपेक्षया ॥ द्रष्टा सलिलवच्छुद्धो निःसङ्गः काद्वयस्तथा। श्रुत्युक्तोऽतो विरुद्धोऽर्थो निर्ह्रीकैरिह वर्ण्यते ॥ तमोंशत्वं यथा भानो सतश्चाप्यसदंशता। वियतो मूर्ततैवं स्याद्भिन्नाभिन्नत्वमात्मनः ॥ अत ऊर्ध्वं विमोक्षायेत्युक्तं प्रागयत्पुनः पुनः। तद्विमुक्तेः समाप्तत्वादेष इत्यभ्यधान्मुनिः ॥ प्रत्यग्दृष्ट्यव्यवहितेः प्रात्यक्ष्यादात्मवस्तुनः । एष इत्यात्मनिर्देशो यत्साक्षादिति च श्रुतिः ॥ अव्यावृत्ताननुगतं निःसामान्यविशेषतः। ब्रह्मेति मुख्यवृत्त्येह वस्तु श्रुत्याऽभिधीयते ॥ यथा लोकयतेर्धातोर्दर्शनार्थत्वहेतुतः । प्रकृतत्वात्तथा दृष्टेर्लोकनं लोक उच्यते ॥ कर्मधारय एवातः समासोऽत्रोपपद्यते । न तु षष्ठीसमासोऽत्र विभागस्याप्रसिद्धितः ॥ श्रुतं चैकविभक्तित्वं युक्तं नाश्रुतकल्पना। सामानाधिकरण्यं कल्पनाहेत्वसद्भावे निराकाङ्क्षे तथा श्रुतेः ॥ षष्ठ्यादिकल्पनाऽसाध्वी तस्मादत्रेति भण्यते। न विशेषणविशेष्यता ॥ लक्ष्यलक्षणसंबन्धो ब्रह्मलोकाभिधानयोः। ब्रह्मेति चाऽऽत्मयाथात्म्यं लक्ष्यते नाभिधीयते ॥ न हि लोकातिरेकेण तथा लोकगिरा ब्रह्मतत्त्वमात्मोपलक्ष्यते । मुख्यमैकार्थ्यमेवं स्याद्ब्रह्मलोकपदार्थयोः ॥

गतिरेषाऽस्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक

परमसंपत्ति है, यह इसका परमलोक है, यह इसका परमानन्द है। इसी आनन्द की (अविद्या द्वा

प्रविभक्तस्य [1]वस्तुनोऽभावा[2]त्तत्केन कं पश्येज्जिघ्रेद्विजानीयाद्वा । [3]अतः स्वेनैव

यावत् । वस्तुनोऽभावात्तत्रेति शेषः । सुषुप्ते विशेषविज्ञानाभावप्रयुक्तं फलमाह—अत इति । [4]पूर्वमेव

किन्तु जहाँ सुषुप्तावस्था में आत्मभिन्न वस्तु की प्रत्यायिका वह अविद्या शान्त हो जाती है वहाँ उससे भिन्न रूप से अविद्या द्वारा विभक्त दृश्यादि वस्तु का अभाव होने के कारण उस आत्मव

---

१. दृश्यादेः । २. आत्मवस्तु । ३. अवतरणोक्तत्वात् । ४. स्त्रीवाक्ये बृ. उ. ४. ३. २१ ।

ब्रह्मत्वमुपपद्यते । ब्रह्मणो व्यतिरेकेण प्रत्यक्ता नान्यतस्तथा ॥ अनयोरैक्यसंमोहात्पारोक्ष्यद्वयकल्पने संसारोऽयमतो मोहसमुच्छित्तौ विमुक्तता ॥ अतोऽशेषमहानर्थहेतोर्मोहस्य हानये । एष इत्यादिवाक्यों सम्यग्दर्शनजन्मने" ॥ १७९५-१८२४ ॥ इति । सलिलादिवाक्यं तात्पर्योक्तिपूर्वकमादत्ते—यदिति ॥ सलि पदार्थोक्त्यर्थं पातनिकां करोति—अविद्येति ॥ सर्वस्याऽऽत्ममात्रत्वं प्रपञ्चयति—नेत्यादिना ॥ आत्म स्वाविद्यां विनाऽनात्मासंबन्धे हेतुमाह—स्वत इति । सर्वस्याऽऽविद्यस्य विद्यया ध्वस्तावात्ममात्रत्वपरि फलितं सलिलपदार्थमाह—तस्मादिति ॥ एकशब्दमाशङ्कोत्तरत्वेनोत्थापयति—अन्तरेणेति ॥ तात्पर्यार्थमाह— नेत्यादिना । सलिलपदादात्मानं शुद्धमुक्त्वा पुनरेकपदं प्रयुञ्जाना श्रुतिरैकस्यं तस्य विवक्षत्यन्यथा विशे वैयर्थ्यादित्यर्थः ॥ एकशब्दस्यार्थन्तरमाह—सजातीयेति । तत्रापि तच्छब्दस्य सामर्थ्यमस्तीति द्योतनार्थो हि एकपदे सर्वभेदनिवारके संभवति किं सजातीयविशेषणेनेत्याशङ्क्य सलिलशब्दस्यार्थान्तरमाश्रित्याऽऽह— सलिलेति । सर्वं सलिलाद्यात्ममात्रमिति निर्देशादनात्मभेदस्य निषिद्धत्वादेकपदमात्मभेदनिरासार्थमित्यर्थः। एकशब्दस्य संख्यावाचिनो गुणगुणिसंबन्धपरत्वान्न विवक्षितार्थतेत्याशङ्क्याऽऽह एकेति । इहेत्यात्मोक्तिः। न हि तस्मिन्नेकत्वं गुणो निर्गुणत्वश्रुतेरित्यर्थः । संख्यावाचित्वासंभवे सिद्धमाह—अद्वितीयेति ॥ एकशब्द वृद्धव्यवहारे संख्यावाचित्वप्रसिद्धेर्नाद्वितीयार्थतेत्याशङ्क्य श्रुत्यन्तरविरोधान्मैवमित्याह—सदिति । तत् सत्येकपदस्याद्वयार्थत्वे सतीति यावत् ॥ अकारकत्वे हेतूक्तिपूर्वकमद्रष्टेत्यस्यार्थमाह—प्रत्यगिति ॥ द्रष्टे पदच्छेदमाशङ्क्य दूषयति—यत्रेति ॥ सजातीयविजातीयभेदविरही कूटस्थो यस्मादात्मा तस्मादसौ स्वगतभेदशू इत्यद्वैतपदार्थमाह—यस्मादिति । अविद्यातज्जाभावेऽपि स्वगतभेदभानं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति हेत्वभावे फलाभावस्य प्रसिद्धत्वादिति भावः ॥ ननु नञर्थे त्रैविध्यादन्यतमनिर्धारणादृते कथमद्वैतं निर्वा तेत्याशङ्क्याद्वैतशब्दस्यावयवशोऽर्थमाह—द्विधेति । अभावावसानत्वमद्वैतस्य व्यावर्तयति—प्रत्यगिति ॥ अ द्वैतनिषेधवत्त्वसिद्धिस्तत्राऽऽह—द्विधेत्यादिना । इह चेदात्मनि द्वैतकारणमनिषिद्धं तदा तस्मिन्बहुप्रकारं स्यात्तस्य च कारणस्यात्यन्ताद्वैतपदेन निषिद्धत्वादात्यन्तिकद्वैतनिषेधसंभवादद्वैतो भवेदात्मेति योजना। सलिलादिवाक्यादेकरस्यमात्मनो निर्धार्य भिन्नाभिन्नत्ववादिनां तद्वाक्यविरोधमाह—भेदेति । श्रुतिनि धीर्यात्मनो भिन्नाभिन्नत्ववादिनां विद्या महतीत्युपहसता तेषामज्ञत्वं प्रतिज्ञातमिदानीं तत्साधकन्याय माह—मिथ इति । दृष्ट्यादिधर्माणामात्माश्रयत्वे ततो भेदस्य दुर्वचत्वान्मिथोऽपि तेषां भेदासिद्धिस्तस्मा ऽऽत्मधर्मतेत्यर्थः । दृष्ट्यादीनामात्मनो न भिन्नत्वं नाप्यभिन्नत्वं धर्मधर्मित्वायोगात्किंतु भिन्नाभिन्न तत्सिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—धर्मेति । द्रष्ट्रपेक्षया दृश्यत्वादेव रूपघटादिषु धर्मधर्मिसंबन्धो दृष्टो न चाऽऽत्मधर्मता तद्दृश्यत्वमात्मनोऽपि तत्प्रसङ्गान्न च स्वेनैव स्वस्य दृश्यत्वं न च द्रष्ट्रन्तरमतो दृष्ट्यादीनां नाऽऽत्मधर्मत्वं

***एषोऽस्य परम आनन्द [1]एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि [2]मात्रामुपजीवन्ति[3] ॥ ३२ ॥**

…स्थित विषय और इन्द्रियों के संबन्ध से होने वाली) कला के आश्रित दूसरे जीव जीते रहते हैं ॥३२॥

…ज्ञेनाऽऽत्मना स्वयंज्योतिःस्वभावेन [4]संपरिष्वक्तः [5]समस्तः [6]संप्रसन्न [7]आप्तकाम

…र्यस्योक्तत्वं द्योतयितुं हिशब्दः । संपरिष्वङ्गफलं समस्तत्वमपरिच्छिन्नत्वं तत्फलं संप्रसन्नत्वम् । …संप्रसादो हि परिच्छेदाभिमानकृतः । संप्रसन्नत्वे हेत्वन्तरमाह—आप्तकाम इति । तदेव संप्र-

---

…किस इन्द्रिय से देखे, सूंघे अथवा जाने ? इसलिये अपने ही स्वयंज्योतिष्ट्व पारमार्थिक स्वरूप

---

[1]. ब्रह्मस्वरूपस्य । [2].विषयेन्द्रियसंवन्धकाले विभाव्यमानाम् । [3]. तदन्यस्यानन्दस्याभावादिति भावः । [4]. पारमार्थिकेन स्वरूपेण । [5]. एकीभूतः । [6]. अपरिच्छिन्नः । [7]. अत्यन्तस्वच्छः । [8]. आप्ताः …सुखादयो यस्मिन् । [9]. कर्तृत्वादिमालिन्यम् ।

…भावः ॥ सलिलादिवाक्यार्थमनुवदन्भेदाभेदवादिनां तद्विरोधमुपसंहरति—द्रष्टेति । अर्थशब्दो भिन्नाभिन्नत्व…विषयः । इहेत्यात्मोच्यते ॥ आत्मनो भिन्नाभिन्नत्वस्य श्रुतिन्यायविरोधमुक्त्वा तदसंभवं दृष्टान्तैर्निगमयति—…तम इति ॥ एष ब्रह्मलोक इत्यादिवाक्यस्थमेषशब्दमादत्ते—अत इति । उक्तं पृष्टमिति यावत् । आत्मा संनिहि…त्वादेषशब्दवाच्यः ॥ न च तस्यानिदमाकारस्य शास्त्रैकगम्यस्यैतच्छब्दार्हतेत्याशङ्क्याऽऽह—प्रत्यगिति । …तदव्यवहितत्वं तदात्मत्वं ततश्च प्रत्यक्षत्वादेषशब्दार्हत्वमात्मनोऽस्तीत्यर्थः । आत्मनः प्रत्यक्षत्वे मानमाह—…वदिति ॥ ब्रह्मशब्दार्थमाह—अव्यावृत्तेति । तत्र हेतुः—निःसामान्येति । अस्ति कमलासनादिविशेषवदपि ब्रह्मेति …नेत्तत्राऽऽह—मुख्येति । इहेति ब्रह्मलोकशब्दनिर्देशः । अव्यावृत्ताननुगतं वस्तु ब्रह्मेति श्रुत्याऽभिधीयत इति …संबन्धः ॥ लोकशब्दस्य भोगभूमिविषयत्वं प्रकरणादिना व्यावर्तयन्विवक्षितमाह—तथेति ॥ अवयवार्थमुक्त्वा …ब्रह्मलोकशब्दस्य समासमाह—कर्मेति । ब्रह्मशब्देन तत्पदार्थस्य लोकशब्देन त्वंपदार्थस्य चोक्तरीत्याऽभिधान…मतःशब्दार्थः । ननु निषादस्थपत्यधिकरणपूर्वपक्षन्यायेन समासान्तरे संभाविते कथं कर्मधारयो नियम्यते …तत्राऽऽह—न त्विति । तत्र हि भेदमादाय समासान्तरं शङ्कितं न चात्र तत्त्वमर्थयोर्भेदे मानमस्ति तथाच तदीय…सिद्धान्तन्यायेन कर्मधारय इत्यर्थः ॥ तत्रैव युक्त्यन्तरमाह—श्रुतं चेति । अस्यार्थः । लोकशब्दस्य तावत्प्रथमा…न्तत्वं श्रुतं तेन समभिव्याहृतो ब्रह्मशब्दः समासान्तर्वर्ती लुप्तविभक्तिको विभक्तिमपेक्षते तथा च संनिहितलोक…शब्दवशादस्यापि प्रथमान्तत्वं युक्तं कल्पकसद्भावाल्लाघवाच्च न त्वस्य षष्ठ्यन्तता कल्प्या तद्धेत्वभावाद्गौरवाद…श्रुतषष्ठीकल्पनायां प्रकरणविरोधाच्च तत्र हेतोरसत्त्वे ब्रह्मलोकशब्दे च श्रुते प्रथमयैव निराकाङ्क्षे सति न …मा कल्प्येति षष्ठीकल्पनावच्चतुर्थ्यादिकल्पनाऽपि न युक्तेति ॥ समासान्तरत्यागेन कर्मधारयस्यैव स्वीकार्यत्वमुप…संहरति—षष्ठ्यादीति । अत्र ब्रह्मलोकपदे षष्ठीचतुर्थ्यादिकल्पना न साध्वीति कृत्वा कर्मधारयो भण्यत इति …योजना ॥ समासं व्यवस्थाप्य वाक्यवृत्तिं व्याचष्टे—सामानाधिकरण्यं चेति । ब्रह्मलोकपदयोः सामानाधिकरण्यं …तदर्थयोर्वाच्ययोर्विशेषणविशेष्यत्वं तयोरेव लक्ष्यवाच्ययोर्लक्ष्यलक्षणसंबन्धस्तत्त्वमसीतिवदित्यर्थः ॥ ब्रह्मशब्देना…नात्मनो लोकशब्देन चाब्रह्मणो लक्ष्यत्वान्नाखण्डार्थत्वमन्यथा पदान्तरवैयर्थ्यादित्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मेतीति । न च …पदान्तरवैयर्थ्यं व्यावर्त्यभेदादिति भावः । पदाभ्यां ब्रह्मात्मनोर्वाच्यत्वमेव किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—नाभि…धीयत इति ॥ शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य षष्ठ्यादेरभावादित्यर्थः । उक्तनीत्या लक्ष्यलक्षणभावोपगमे फलितमाह—…मुख्यमिति ॥ मुख्यैक्ये युक्तिमाह—न हीति ॥ ब्रह्मात्मनोरैक्यमस्ति चेत्कथं संसारप्रतीतिस्तत्प्रतीतौ वा कथं …ब्रह्मणो नित्यमुक्ततेति तत्राऽऽह—अनयोरिति ॥ वाक्यतात्पर्यमुपसंहरति—अत इति । मोहध्वस्तौ मुक्तिरतः…शब्दार्थः ।

* एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्येत्यादौ वार्तिके—"आनन्दः परमोऽस्यैष सुखोत्कर्षसमाप्तितः । सर्वा-

[1]आत्मकामः सलिलवत्स्वच्छीभूतः [2]सलिल इव सलिल एको [3]द्वितीयस्याभावात्
अविद्यया हि द्वितीयः प्रविभज्यते । सा च शान्ता[4]ऽत्रात एको [5]द्रष्टा दृष्टेरविपरि
त्वादात्मज्योतिःस्वभावाया अद्वैतो द्रष्टव्यस्य द्वितीयस्याभावात् । [6]एतदमृत[7]मभयमे
ब्रह्मलोको [9]ब्रह्मैव [10]लोको [11]ब्रह्मलोकः पर एवा[12]यमस्मिन्काले व्यावृत्तकार्यकरणोपाधिभि

सन्नत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—सलिलवदिति । उक्तेऽर्थे वाक्याक्षराणि योजयति—सलिल इवेति
द्वितीयस्याभावं सुषुप्ते व्यक्ती करोति—अविद्ययेति । अद्रष्टा द्रष्टेति वा छेदः । एकोऽद्वैत इत्यस्या
स[13]स्तात्पर्यलिङ्गं [14]तस्य परमपुरुषार्थत्वं दर्शयन्कूटस्थत्वमाह—एतदिति । किमिति षष्ठीसमासमु

प्राज्ञात्मा से एकीभूत, अपरिच्छिन्न, अत्यन्त स्वच्छ, आप्तकाम, आत्मकाम, सलिल के समान स्वच्छी
"सलिल एकः" अर्थात् सलिल के समान एक है क्योंकि निरवयव होने के कारण उसमें द्वितीयत्व
अभाव है। द्वितीय विभाजन तो अविद्यावस्था में होता है। वह यहाँ सुषुप्तावस्था में शान्त हो गई है
इसलिये दृग्रूप द्रष्टा एक है, आत्मज्योतिस्वभाव दृष्टि का लोप न होने के कारण वह द्रष्टा है
अन्य द्रष्टव्य का अभाव होने के कारण अद्वैत है। यह आत्मतत्त्व (षड्भावविकारशून्य) अमृत,

---

१. आत्मैव कामः सुखसात्क्षाकारो यस्मिन्निति न हिरण्यगर्भतुल्यः । २. सलिल इव सलिल इति—
स्याविद्यस्य (विद्यया) ध्वस्तावात्ममात्रत्वपरिशेषे कार्यकारणयोरभावेन तत्संबन्धाभावात्सलिलवच्छुद्ध इत्यर्थं
३. एक इति—सलिलपदादात्मानं शुद्धमुक्त्वा पुनरेकपदं प्रयुञ्जाना श्रुतिस्तस्यैकरस्यम् (निरवयवत्वं
विवक्षत्यन्यथाविशेषणवैयर्थ्यादिति वार्तिकानुसारी पन्थाः । ४. सुषुप्तौ । ५. दृग्रूपः । ६. यथं
मात्मतत्त्वम् षड्भावविकारशून्यम् । ७. भयहेत्वविद्याशून्यम् । ८. प्रत्यक् । ९. तत्पदार्थः । १
त्वंपदार्थः । ११. कर्मधारयात्तयोरैक्यम् । १२. आत्मा । १३. श्रुतेर्निर्विशेषवस्तुनि तात्पर्यं
इत्यर्थः । १४. यथोक्तात्मनः ।

नन्दातिशायित्वात्तथाचैवं प्रवक्ष्यते ॥ विषयस्पर्शजानन्दाः साधनानुविधानतः । आद्यन्तवत्त्वस्वाभाव्याद्दुःखं
एव ते । कूटस्थात्मस्वभावत्वात्सर्वसाधननिस्पृहः । सर्वानन्दातिवर्तित्वादानन्दः परमो मतः ॥ आनन्दः पर
ऽस्यैष इत्युक्तार्थप्रसिद्धये । एतस्यैवेति वचसा समर्थो हेतुरुच्यते ॥ एतस्यैव यथोक्तस्य सर्वानन्दातिवर्तिन
उपजीवन्ति भूतानि ब्रह्मानन्दस्य विप्लुषम् । एष एवंविधो यस्मादानन्दः परमस्ततः । आनन्दानतिशेतेऽन्यान
नस्यैव कृत्स्नतः ॥ कृत्स्नोऽपि चैष आनन्दस्तदविद्यैकहेतुजः । बुद्धयाद्युपाध्यवच्छेदान्मात्रेति व्यपदिश्यते
१८३६-१८४२ ॥ इति । एषोऽस्य परम आनन्द इत्यस्यार्थमाह—आनन्द इति । आत्मानन्दस्य परमत्वे हे
—सुखेति । आनन्दातिशयस्याऽऽत्मनि कथं समाप्तिस्तत्राऽऽह—सर्वेति । तदेव कथं तदाह—तथाचेति । आ
ऽऽनन्दोत्कर्षस्याऽऽत्मनि समाप्तिस्तथा सर्वानन्दातिशायित्वमात्मनि स यो मनुष्याणामित्यादिप्रकारेण वक्ष्यत इ
यावत् ॥ विषयानन्दानामपि हिरण्यगर्भादीनां परमत्वात्कथं तेनाऽऽत्मानन्दो विशेष्यते तत्राऽऽह—विषयेति
तर्हि तद्वदात्मसुखस्यापि सुखत्वाविशेषान्न परमतेत्याशङ्क्याऽऽह—कूटस्थेति ॥ आत्मसुखमेवोत्कृष्टं सुखनि
रुत्कृष्टमित्यत्राबाधितहेतूक्त्यर्थमुत्तरं वाक्यमित्याह—आनन्द इति ॥ वाक्यं योजयति—एतस्यैवेति । य
क्तस्येत्यस्य व्याख्यानम्—सर्वानन्देत्यादि ॥ हेत्वर्थमनूद्य साध्यार्थं निगमयति—एष इति । परमत्वं व्याकरोति
आनन्दानतीति । तत्र हेतुः—अस्येति ॥ आत्मानन्दस्य कृत्स्नत्वे कथं मात्रेति व्यपदेशस्तत्राऽऽह—कृत्स्नोऽपीति
पूर्णस्याऽऽनन्दस्याविद्योत्थबुद्धयादिसंबन्धान्मात्रेतिव्यपदेशार्हतेत्यर्थः ॥

आत्मज्योतिषि शान्तसर्वसंबन्धे वर्तते। हे सम्राडिति हैवं हैनं [1]जनकम[2]नुशशासानु-
ष्टवान्याज्ञवल्क्यं इति श्रुतिवचनमेतत्।

[3]कथं वाऽनुशशास। [4]एषाऽस्य विज्ञानमयस्य [5]परमा [6]गतिः। यास्त्वन्या देहग्रहण-
लक्षणा ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ता अविद्याकल्पितास्ता गतयो[7]ऽतो[8]ऽपरमा अविद्याविषयत्वात्।
यं तु देवत्वादिगतीनां कर्मविद्यासाध्यानां[9] परमोत्तमा यः [10]समस्तात्मभावो यत्र
ान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानातीत्येषैव च परमा [11]संपत्सर्वासां संपदां विभू-
तीनामियं परमा स्वाभाविकत्वादस्याः कृतका[12] ह्यन्याः संपदः। तथैषोऽस्य परमो लोकः।
येऽन्ये कर्मफलाश्रया लोकास्तेऽस्माद[13]परमाः। ❀[14]अयं तु न केनचन कर्मणा मीयते स्वाभा-

---

धारयो गृह्यते तत्राऽऽह—पर एवेति। अस्मिन्काले सुषुप्त्यवस्थायामित्येतत्।

परमत्वं साधयति—यास्त्विति। प्रस्तुतं समस्तात्मभावं विशेषविज्ञानराहित्येन विशिनष्टि—
त्वेति। सर्वात्मभावाख्यस्य लोकस्य परमत्वमुपपादयति—येऽन्य इति। मीयते परिच्छिद्यते साध्यत

तुक अविद्या से शून्य है। "एष ब्रह्मलोकः" अर्थात् त्वंपदार्थ लोक तत्पदार्थ ब्रह्म ही है। इसलिये
उनके ऐक्य होने से ब्रह्मलोक है। हे सम्राट्! इस समय अपनी देहेन्द्रियरूप उपाधि से छूटकर
सब संबन्धों से मुक्त हो परमात्मा ही अपनी आत्मज्योति में वर्तमान रहता है। इस प्रकार याज्ञवल्क्य
ने इस जनक को "अनुशशास" यानी उपदेश किया, यह श्रुतिवाक्य है।

किस प्रकार से उपदेश किया? यह इस विज्ञानमय की नैष्ठिकी अवस्था है। इससे भिन्न जो
ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त देहग्रहणलक्षणा अवस्थाएँ हैं; वे सब अविद्याकल्पित हैं, अतः अविद्या
की विषय होने के कारण वे क्षय होने वाली है। किन्तु यह जो अपरिच्छिन्न आत्मभाव है, वह कर्म
और उपासना द्वारा साध्य देवत्वादि गतियों में "परमा" यानी उत्तम गति है, जहाँ कि पुरुष अन्य कुछ
नहीं देखता, अन्य कुछ नही सुनता, अन्य कुछ नहीं जानता। "एषाऽस्य परमा संपत्" अर्थात् सम्पूर्ण
संपदाओं या विभूतियों में यह अतिशय उत्कर्ष वाली संपत् है; क्योंकि यह स्वाभाविक है और दूसरी
तरह की संपदाएँ जन्या हैं। इसी प्रकार यही इसका परम लोक है। जो अन्य कर्मफलाश्रय लोक हैं; वे

---

१. मुमुक्षुम्। २. अविद्यापनोदनाय। ३. केन वाऽन्येन प्रकारेणेत्यर्थः। ४. अतिच्छन्दवाक्योक्ता।
५. नैष्ठिकी। ६. अवस्था। ७. सकाशात्। ८. क्षयिण्यः। ९. मध्ये। १०. अपरिच्छिन्नः।
११. उत्कर्षातिशयः। १२. जन्याः। १३. कृतकत्वात्। १४. आत्मलोकस्तु।

❀ मोक्षस्यापि तुल्यं कर्मज्ञानरूपक्षयिष्णुसाधनसाध्यत्वेन क्षयित्वमत आह—अयं त्विति। प्रतिबन्धध्वस्तौ
ब्रह्मज्ञानस्योपयोगेऽपि कर्म साक्षान्मोक्षे नोपकरोतीति भावः। तथा चोक्तं वार्तिके—'ब्रह्मैव सन्स्वतो यस्मादब्रह्मा-
पेत्यवबोधतः। तदविद्यानिरासेन मुक्तिर्नातोऽन्यसाधनात्॥ लोकशब्दस्य मुख्योऽर्थ आत्मैवेह यतस्ततः।
कर्मादिहेतुसाध्येषु गौणी लोकार्थता भवेत्॥ न कर्मणा कनीयस्ता वृद्धिर्वा नान्तरात्मनः। इति बाहुमिवोद्धृत्य
वेदान्तैर्घोषणा कृता"॥ १८३३-३५॥ इति। ब्रह्मलोकशब्दितस्य लोकत्वात्कथं न कर्मफलत्वं स्वर्गवदित्या-
शङ्क्याऽऽह—लोकेति। रूढिव्युत्पत्तिभ्यामात्मैव लोकशब्दार्थश्चेत्कर्मफलेषु स्वर्गादिषु कथं तच्छब्द इत्याशङ्क्या-
न्याय्यं चानेकार्थत्वमिति न्यायेनाऽऽह—कर्मादीति। एकस्य शब्दस्य मुख्यया वृत्त्याऽनेकार्थवाचित्वमनुचित-

विकत्वादेषोऽस्य परमो लोकः। तथैषोऽस्य परम आनन्दः। यान्यन्यानि विषयेन्द्रिय संबन्धजनितान्यानन्दजातानि तान्यपेक्ष्यैषोऽस्य परम आनन्दो नित्यत्वात्। "यो वै भूमा तत्सुखम्" इति श्रुत्यन्तरात्।

"यत्रान्यत्पश्यत्यन्यद्विजानाति तदल्पं मर्त्यममुख्यं सुखमिदं तु तद्विपरीतम्"। अत एवैषोऽस्य परम आनन्दः। 'एतस्यैवाऽऽनन्दस्य मात्रां कलामविद्याप्रत्युपस्थापितां विषयेन्द्रियसंबन्धकाले विभाव्यामन्यानि भूतान्युपजीवन्ति। कानि तानि "तत एवाऽऽनन्दादविद्यया प्रविभज्यमानस्वरूपाण्यन्यत्वेन तानि ब्रह्मणः परिकल्प्यमानान्यन्यानि

इति यावत्। सौषुप्तस्य सर्वात्मभावस्य परमानन्दत्वं विशदयति—यानीति। आत्मनोऽनवच्छिन्नानन्दत्वे छान्दोग्यश्रुतिं संवादयति—यो वै भूमेति।

ननु वैषयिकमेकं सुखमात्मरूपं चापरमिति सुखभेदाङ्गीकारादपसिद्धान्तः स्यादित्याशङ्क्य मुख्यामुख्यभेदेन तदुपपत्तेर्मैवमित्याह—यत्रेत्यादिना। किंच वस्तुतो नास्त्येवाऽऽत्मसुखातिरिक्तं वैषयिकं सुखमित्याह—एतस्येति। ब्रह्मातिरिक्तचेतनाभावे कान्युपजीवकानि स्युरित्याशङ्क्य परिहरति-

---

(कृतक होने के कारण) क्षयिष्णु हैं। आत्मलोक तो किसी कर्म से मापा नहीं जा सकता क्योंकि वह स्वाभाविक है; इसलिए यह इसका परम लोक है, तथा यह इसका परम आनन्द है क्योंकि अन्य जो विषय और इन्द्रियों के संबन्ध से होने वाले आनन्द हैं, उनकी अपेक्षा यह सुषुप्त का आनन्द नित्य होने से साधनासाध्यत्व से निरतिशय है। अन्य श्रुति में कहा गया है कि "जो भूमा है, निश्चय ही वह सुख है"।

जहाँ अन्य कुछ देखता है, अन्य कुछ जानता है वह अल्प, मर्त्य, अमुख्य सुख है, किन्तु यह उससे विपरीत अमुख्य है, इसीसे यह सुषुप्त का कृत्स्न आनन्द है। ब्रह्मात्मक आनन्द की अविद्या प्रत्यायित तथा विषयेन्द्रिय के संबन्ध के समय प्रतीत होने वाली मात्रा कला के आश्रित ब्रह्मातिरिक्त सभी जीव उपभोग करते हैं। वे जीव कौन हैं? जो उस ब्रह्मस्वरूप के आनन्द से ही अविद्यावश विभक्त

---

१. सुषुप्तस्य। २. साधनासाध्यत्वेन निरतिशयः। ३. मुख्यम्। ४. सुषुप्तस्य। ५. कृत्स्न इति यावत्। ६. ब्रह्मात्मकस्य। ७. नन्वात्मानन्दस्य पूर्णत्वे कथं मात्रेति व्यपदेशस्तत्राऽऽह—अविद्येति। कृत्स्नस्यापि तस्याविद्योत्थबुद्ध्यादिसंबन्धान्मात्रेति व्यपदेशार्हता तदुक्तं वार्तिके—"कृत्स्नोऽपि चैष आनन्दस्तदविद्यैकहेतुजः। बुद्ध्याद्युपाध्यवच्छेदान्मात्रेति व्यपदिश्यते" ॥ १८४२ ॥ इति ॥ ८. प्रतीयमानाम्। ९. अन्यानि—ब्रह्मातिरिक्तत्वेन प्रतीयमानानि ब्रह्मादिपिपीलिकान्तानि। १०. उपभुञ्जते। ११. ब्रह्म स्वरूपादेव। १२. निरतिशया।

मिति न्यायार्थः। न्यायश्चायम् "अन्यायश्चानेकशब्दत्वमिति" (१. ३. २६) ॥ न्यायं प्रणयता परमर्षिणा जैमिनिना कटाक्षित इति बोध्यम्। युक्तेस्तुल्यत्वात्। सा च गौरवं तच्च यथैकस्यार्थस्यानेकेषु शब्देषु कल्पनायां शक्तौ तथैवानेकेष्वर्थेष्वेकस्य शब्दस्येति। यद्वा तस्यैवेदमर्थान्तरम्। तस्य हि वाचका अनेके शब्दा यस्येति व्युत्पत्त्या नानाशब्दवाच्यत्वमेकस्यार्थस्यान्याय्यमित्यर्थः। अनेकमर्थं शब्दयतीति व्युत्पत्त्याऽनेकेषामर्थानां शब्दो वाचक इत्यनया वा यथोपरिष्टान्निर्दिष्ट इति ॥ ननु लोकस्य कर्मसाध्यत्वप्रसिद्धेरात्मैव लोकश्चेत्कर्मसाध्यः सोऽपि भविष्यति नेत्याह—नेति ॥

[1]स यो मनुष्याणाꣳ राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दो*ऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितृणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवा-

मनुष्यों में वह जो भी कोई सम्पूर्ण अंगों से युक्त, भोगसामग्री से सम्पन्न, दूसरों का स्वतन्त्र विपति और मनुष्यसंबन्धी सम्पूर्ण भोगसामग्री के कारण सबसे बढ़ा-चढ़ा हो, वह मनुष्यों का परम न्द है—अर्थात् मनुष्यलोक में ऐसे व्यक्ति का आनन्द सर्वश्रेष्ठ माना गया है। ऐसे मनुष्यों के सौ गुणे आनन्द हैं, वह पितृलोक को जीतने वाले पितृगणों का एक आनन्द माना जाता है और पितृलोक को जीतने वाले पितृगणों के सौ आनन्द हैं, वह गन्धर्वलोक का एक आनन्द माना जाता

त्युपजीवन्ति भूतानि विषयेन्द्रियसंपर्कद्वारेण विभाव्यमानाम् ॥३२॥

[2]यस्य परमानन्दस्य मात्रा अवयवा ब्रह्मादिभिर्मनुष्यपर्यन्तैर्भूतैरु[3]पजीव्यन्ते नन्दमात्राद्वारेण मात्रिणं परमानन्दम[5]धिजिगमयिषन्नाह सैन्धवलवणशकलैरिव लवण-

---

नीत्यादिना। विभाव्यमानामानन्दस्य मात्रामिति पूर्वेण संबन्धः ॥ ३२ ॥

स यो मनुष्याणामित्यादिवाक्यतात्पर्यमाह—यस्येति। यथा सैन्धवावयवैः सैन्धवाचलं लोको धयति तथा तस्याऽऽनन्दस्य मात्रा नामावयवास्तत्प्रदर्शनद्वारेणावयविनं परमानन्दमधिगमयितु-

---

रूप तथा ब्रह्म से पृथक्रूप से परिकल्पित अन्य जीव हैं, वे विषय और इन्द्रियों के सम्पर्क द्वारा आनन्द की प्रतीयमान मात्रा का उपयोग करते है ॥३२॥

ब्रह्मा से लेकर मनुष्यपर्यन्त सभी जीव जिस ब्रह्मस्वरूप परमानन्द की मात्रा अवयव को अनुभव करते हैं, उस ब्रह्मानन्द की मात्रा के द्वारा सैन्धव नमक के टुकड़े से सैन्धव पर्वत का ज्ञान कराने

---

१. एतमेव परमानन्दं सातिशयानन्दप्रतिपादनद्वारा बोधयति—स य इत्यादिना। २. ब्रह्मस्वरूपस्य। ३. भुज्यन्तेऽनुभूयन्ते। ४. ब्रह्मानन्देति भावः। ५. अनुमिमापयिषन्।

---

* अथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितृणामिति। अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"शतकृत्वो मनुष्याणामानन्दो गुणितस्तु यः। पितृणामेक आनन्दस्तेन तुल्यप्रमाणतः॥ यत्सुखं साधनाधीनं दुःखमेव तदुच्यते। निरस्तातिशयानन्दो अनन्यसाधनं तस्मात्स्वात्मस्थं परमं सुखम्॥ तस्मादात्मपरिज्ञानात्कार्यज्ञेयसमाश्रितः। शुद्धेस्तरतमत्वाच्च सुखं तरतमं भवेत्॥ भवतीत्यस्य निर्णयः॥ तारतम्यादुपायानां शुद्धिस्तरतमा धियः। यावद्यावद्घनीभावो यावद्यावन्मलो व्येति बुद्धेर्धर्मादिसंचयात्। तावत्तावद्धियः स्वास्थ्यं तावत्तावत्सुखोन्नतिः॥ पितृलोको जितो यैः स्यात्पितृयज्ञादिबुद्धेः पापादिसंगतेः। तावत्तावद्धियोऽस्वास्थ्यं दुःखोद्भूतिस्तथा तथा॥

नामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्तेऽथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतमाजान-

है। तथा जो गन्धर्वलोक के सौ आनन्द हैं, वह अग्निहोत्रादि श्रौतकर्म के द्वारा देवत्व को प्रा हुए कर्म देवों का एक आनन्द है। इसी प्रकार कर्म देवों के जो सौ आनन्द हैं, वह आजान (

शैलम्[1]। स यः कश्चिन्मनुष्याणां मध्ये राद्धः संसिद्धोऽविकलः [2]समग्रावयव इत्यर्थः समृद्ध [3]उपभोगोपकरणसंपन्नो भवति। किंचान्येषां समानजातीयानामधिपतिः स्वतन्

मिच्छन्ननन्तरो ग्रन्थः प्रवृत्त इत्यर्थः। तात्पर्यमुक्त्वाऽक्षराणि व्याचष्टे—स यः कश्चिदित्यादिना राद्धत्वमविकलत्वं चेत्समृद्धत्वेन पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—समग्रेति। [4]तदेव समृद्धत्वमपीत्याशङ्क्य व्याकरोति—उपभोगेति। [5]अन्तर्बहिःसंपत्तिभेदादपुनरुक्तिरिति भावः। न केवलमुक्तमेव तस्य विशेषणं किंतु विशेषणान्तरं चास्तीत्याह—किंचेति। विशेषणतात्पर्यमाह—द्वितीयेति। तदनिवर्तने

के समान मात्री परमानन्द का ज्ञान कराने की इच्छा से श्रुति कहती है—"स यो मनुष्याणां राद्ध अर्थात् वह जो मनुष्यों में सब तरह से सिद्ध अविकल यानी सम्पूर्ण अवयवों से युक्त, समृद्ध अर्था उपभोग सामग्री से सम्पन्न रहता है, "एषामधिपतिः" इसके अतिरिक्त अन्य सजातीय पुरुषों का स्वतन्

---

१. सैन्धवेति। "सैन्धवोऽस्त्री शीतशिवं माणिमन्थं च सिन्धुजे" इत्यमरः। सिन्धौ देशविशेषे भवः कच्छादिभ्यश्चेत्यण्। चत्वारि सिन्धुजे लवणे। २. भोगक्षमाऽशेषावयवः। ३. स्रक्चन्दनवनितादिनिखिलवाह्यो सामग्रीकः। ४. समग्रावयवत्वमेव। ५. अन्तरित्यादि। संपत्तिः साधनम्। अत्र वार्तिकम्—"बाह्यैराध्यात्मिकैरेवं साधनैरन्वितः पुमानिति"॥ १८४६॥ इति॥ ६. पुंसः।

कर्मभिः। जितलोकास्त उच्यन्ते पितरो दिव्यभोगिनः॥ य एष दक्षिणः पन्थाः पितृलोकः स उच्यते। मनुष्या नन्दतः सोऽयं गुणितः स्याच्छताधिकः॥ उत्तरेष्वपि वाक्येषु यथोक्तमुपपादयेत्। शताधिकोऽयमानन्दः स्मादुत्तरः क्रमात्॥ नक्षत्रलोकशब्देन ये पूर्वं प्रतिपादिताः। देवलोकगिरा तेऽत्र भण्यन्ते सूक्ष्ममूर्तयः १८५०-१८५६॥ इति। अथेत्यादेरर्थमाह—शतेति। प्रमाणं परिमाणम्॥ परंपरयोच्यमानो ब्रह्मानन्दो परमो हिरण्यगर्भाद्यानन्दस्यानुभूतसजातीयस्य परमत्वसंभवादित्याशङ्क्याऽऽह—यदिति॥ वैषयिकसुखस्य वि संबद्धदुग्धवद्दुःखात्मत्वादात्मसुखस्यैव परमत्वात्तन्निर्धारणार्थं परंपरेति फलितमाह—तस्मादिति॥ ननु सुखमात्मेष्यते तत्कथं तारतम्यवत्स्यादात्मनोऽनतिशयत्वात्तत्राऽऽह—तारतम्यादिति। व्यञ्जकबुद्धिशुद्धिवैषम्या स्मिन्वैषम्यधीरित्यर्थः। कथं तेषामुपायतारतम्याच्छुद्धितारतम्यं तत्राऽऽह—यावदिति। बुद्धिशुद्धितारतम्या नन्दे तारतम्यधीरित्येतन्निगमयति—तावदिति। उपायतारतम्याधीनशुद्धितारतम्यकृतं सुखतारतम्यमित्येतद्व्य तिरेकमुखेनाऽऽह—यावदिति। मनुष्यानन्दादारभ्य हिरण्यगर्भानन्दान्तानामानन्दानां तारतम्ये हेतुं वदता एकः पितॄणामित्यन्तं व्याख्यातम्। इदानीं जितलोकानामित्यस्यार्थमाह—पितृलोक इति॥ कोऽयं पितृलोक स्तत्राऽऽह—य इति। गतेर्गन्तव्यैक्यमौपचारिकम्। तस्य स एक आनन्द इत्यनेन संगतिमाह—मनुष्येति॥ अथ ये शतमित्यादिवाक्येषूक्तन्यायमतिदिशति—उत्तरेष्विति। सर्वपर्यायेषु सिद्धमर्थं संकलयति—शताधि इति॥ काण्वपाठेन सर्वपर्यायतात्पर्यमुक्त्वाऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दा स एको देवलोक आनन्द इति माध्यंदिनपाठे देवलोकशब्दार्थमाह—नक्षत्रेति। पूर्वमिति गार्गिब्राह्मणोक्तिः॥

देवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो*ऽथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः

) देवों का एक आनन्द है। तथा आजानदेवों के जो सौ आनन्द हैं, वह प्रजापति का एक न्द है एवं जो पाप तथा कामनारहित श्रोत्रिय विद्वान् है, उसका भी वह आनन्द माना है और जो प्रजापतिलोक के सौ आनन्द हैं, वह हिरण्यगर्भ ब्रह्मा का एक आनन्द है। एवं आप्त तथा कामना से शून्य श्रोत्रिय विद्वान् का आनन्द है, वह भी वही है। यही परम उत्कृष्ट न्द है। हे राजन्! यही ब्रह्मलोक है, ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। इस पर राजा जनक ने कहा—

तं [1]माण्डलिकः सर्वैः समस्तैर्मानुष्यकैरिति[2]। दिव्यभोगोपकरणनिवृत्त्यर्थं मनुष्यामेव यानि भोगोपकरणानि तैः संपन्नानामप्यतिशयेन संपन्नतमः [3]स मनुष्याणां म आनन्दः।

माणगन्धर्वादिष्वन्तर्भावः स्यादिति भावः। अतिशयेन संपन्न इति[4] शेषः।

क है किसी सीमित प्रदेश के प्रशासक होने से माण्डलिक नहीं है, "मानुष्यकैः" अर्थात् सम्पूर्ण ष्यसंबन्धी भोगों द्वारा सम्पन्नतम है। दिव्यभोगों से निवृत्ति के लिए "मानुष्यकैः" यह विशेषण दिया है अर्थात् मनुष्यों की जितनी भोग वस्तुएँ हैं; उनसे जो लोग सम्पन्न हैं, उनमें भी सम्पन्नतम है; वह पुरुष मनुष्यों का परम आनन्द है।

---

[1] माण्डलिक इति—"चक्रवर्ती सार्वभौमो नृपोऽन्यो मण्डलेश्वर" इत्यमरोक्त्या सार्वभौमादन्य इत्यर्थः॥
[2] विशेषणम्। [3] पुमान्। [4] एतच्छेषानुरोधाद्भाष्ये संपन्नपदं प्रक्षिप्तं वेद्यम्।

* अथैष एव परम आनन्द इति। अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"अतः परमनन्तत्वादगणितं विनिवर्तते। यत एवमतः प्राहाथैष एवेति नः श्रुतिः॥ अनेनातिशयवता ह्यस्मद्गोचरवर्तिना। अपास्तातिशयानन्दं सुखेनेहानुमीयते॥ ध्वस्तातिशयनिष्ठत्वाल्लोके सातिशयात्मनः। यतोऽतोऽतिशयता गम्यतेऽनतिशयं सुखम्॥ यत्रैतानि समस्तानि निष्ठां यान्ति परात्मनि। परमोऽसाविहाऽऽनन्दः सर्वानन्दातिलङ्घनात्॥ एषोऽस्येति प्रतिज्ञात आनन्दः मोऽनुमानतः। निष्ठां प्रतीचि गमित उत्तरोत्तरवृद्धितः॥ अविज्ञातपरानन्दान्प्रत्येषाऽनुमितिर्मता। साक्षाज्ज्ञातामतत्त्वानां प्रत्यक्षतममेव तत्॥ अकामहतधीगम्य आनन्दः प्रत्यगात्मनि। यः स एव यथोक्तेभ्यः परमः स्यादनन्ततः॥ तथाच भगवान्व्यासः सर्ववेदार्थतत्त्ववित्। स्वयं प्राहेममेवार्थं कामानर्थजिहासया॥ यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥ यतो यतो निवर्तते ततस्ततो

सोऽहं[1] भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीत्यत्र[2] ह याज्ञवल्क्यो [3]बिभयांचकार मेधावी राजा सर्वेभ्यो मा[4]ऽन्तेभ्य [5]उदरौत्सीदिति ॥ ३३ ॥

मैं इसके बदले श्रीमान् को एक सहस्र गौएं देता हूँ। अतः इसके आगे भी आप बन्धन से करने के लिये ही उपदेश करें। इस बात को सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य भयभीत हो गये कि बुद्धिमान् राजा ने तो मुझे मोक्ष के साधन रूप में सम्पूर्ण प्रश्नों के सम्यक्निर्णय देने के लिये लिया है (कामप्रश्न के बहाने से यह मेरा सारा विज्ञान ले लेना चाहता है) ॥ ३३ ॥

तत्राऽऽनन्दानन्दिनोरभेदनिर्देशान्नार्थान्तरभूतत्वमित्येतत् । परमानन्दस्यैव विषयविषय्याकारेण मात्रा प्रसृतेति ह्युक्तं [6]यत्र वा अन्यदिव स्यादित्यादिवाक्येन [7]तस्माद्युक्तोऽयं स परम आनन्द इत्यभेदनिर्देशः । युधिष्ठिरादितुल्यो राजाऽत्रोदाहरणम्

अभेदनिर्देशस्याभिप्रायमाह— तत्रेति । प्रकृतं वाक्यं सप्तम्यर्थः । आत्मनः सकाशादानन्दस्य शेषः । औपचारिकत्वमभेदनिर्देशस्य भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— परमानन्दस्येति । 'तस्यैव विषय विषयित्वमिति स्थिते फलितमाह—तस्मादिति । यथोक्तो मनुष्यो न दृष्टिपथमवतरतीत्याशङ्क्या

यहाँ आनन्द और आनन्दवान् के अभेद दर्शन से आत्मा से आनन्द कोई भिन्न पदार्थ नहीं है विषय और विषयी रूप से यह परमानन्द की मात्रा ही सर्वत्र फैली हुई है। यह बात "जहाँ (जाग्रत् या स्वप्नावस्था में) आत्मा से भिन्न अन्य सा होता है" इस श्रुतिवाक्य से कही गयी है। इस "वह मनुष्यों का परम आनन्द है" यह अभेदोक्ति सुसंगत ही है। इसमें युधिष्ठर आदि के समान रा

---

[1] सोऽहमित्यादेर्ब्रूहीत्यन्तस्यायमर्थः । जनकराजस्य मुक्तिफलकसम्यग्ज्ञानाय प्रश्नः प्रवृत्तस्तस्यार्थे सम्यक् यथोक्तरीत्या निर्धारितेऽपि तन्निर्धारणात्प्रागिव राजा मुनिं यन्मुक्तये परं साधनं तदस्मादूर्ध्वं मह्यं ब्रूहि विद्यानिष्क्रयणपूर्वकं पप्रच्छेति । [2] अत्र—विमोक्षायैव ब्रूहीत्येतस्मिन् वाक्ये श्रुते सतीत्यर्थः । भीतवान् । [4] अन्तेभ्यः प्रश्ननिर्णयावसानेभ्यः । [5] उदरौत्सीत्—आवृणोत् पुनः पुनरत्ररोधं कृ मदीयं सर्वस्वं कामप्रश्नव्याजेन ग्रहीतुमित्यर्थः । [6] बृ. उ. ४. ३. ३१ । [7] आनन्दाऽऽनन्दिनोरभेद पक्रान्तत्वात् । [8] आत्मनः ।

विमुच्यते । निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥ सलिलादिगिरा योऽर्थः प्रत्यज्ञायि पुराऽखिलः । लोकान्तवाक्येन तस्य स्यादुपसंहृतिः" ॥ १८७६-१८८६ ॥ इति । अथैष इत्यादिवाक्यमादत्ते—अतः परमिति आत्मसुखे गणनायोगात्तदेवानतिशयमित्यर्थः ॥ कथमिदं प्रमीयते तत्राज्ञान्प्रति प्रमाणमाह—अनेनेति । सुखेनेति संबन्धः । सातिशयस्य निरतिशयेन व्याप्तिं वक्तुं हिशब्दः । आत्मतत्त्वमिति शेषः । इहेत्यनुमान भूमिरुक्ता ॥ कथमनुमानं तत्र व्याप्तिमाह—ध्वस्तेति । व्याप्तिसिद्धिरिति शेषः । तामनूद्यानुमानमाह—यत इति सुखोत्कर्षतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं तरतमभावत्वात्परिमाणतारतम्यवदिति भावः ॥ हिरण्यगर्भानन्दे तत्तारतम्य विश्रान्तेरर्थान्तरत्वमाशङ्क्याऽऽह—यत्रेति । एतानीति लौकिकसुखोक्तिः । इहेति प्रकृतानन्दभेदा गृह्यन्ते

दं मनुष्यानन्दसादिं[2] कृत्वा शतगुणोत्तरोत्तरक्रमेणो[3]न्नीय परमानन्दं[4] यत्र भेदो निवर्तते धिगमयति । [5]अत्रायमा[6]नन्दः शतगुणोत्तरोत्तरक्रमेण वर्धमानो [7]यत्र वृद्धि[8]काष्ठामनुति । यत्र [9]गणितभेदो निवर्ततेऽन्यदर्शनश्रवणमननाभावात्तं परमानन्दं विवक्षन्नाह ये मनुष्याणामेवंप्रकाराः शतमानन्दभेदाः स एकः पितृणाम् । तेषां विशेषणं जितकामिति । श्राद्धादिकर्मभिः पितॄंस्तोषयित्वा तेन कर्मणा जितो लोको येषां ते जितकाः पितरस्तेषां पितृणां जितलोकानां मनुष्यानन्दशतगुणीकृतपरिमाण एक आनन्दो

ठरादीति । अथ ये शतं मनुष्याणामित्यादेस्तात्पर्यमाह—दृष्टमिति । शतगुणेनोत्तरोत्तरत्रास्योत्कर्षप्रदर्शनक्रमेण परमानन्दमुन्नीय तमधिगमयत्युत्तरेण ग्रन्थेनेति संबन्धः । परमानन्दमेव निष्टि—यत्रेति । भेदः संख्याव्यवहारः । उक्तमेव प्रपञ्चयति—अत्रेत्यादिना । परमानन्दे विवृद्धिणां हेतुमाह—अन्येति । यद्यपि [10]"यस्येत्यादिनोक्तमे"तत्तथाऽपीहाक्षरव्याख्यानावसरे [11]"तदेव विवृतविरोधः" । तत्तदानन्दप्रदर्शनान्तर्यं तत्र तत्राथशब्दार्थः । तत्तद्वाक्योपक्रमो वा । एवंप्रकारत्वं त्वादि । पितृणामानन्द इति संबन्धः । श्राद्धादिकर्मभिरित्यादिशब्देन पिण्ड[14]पितृयज्ञादि गृह्यते ।

रण है । श्रुति अनुभूत मनुष्यों के आनन्द से आरम्भ करके उसका क्रमशः उत्तरोत्तर सौ-सौ गुणा दिखाते हुए जिस परमानन्द में भेद की निवृत्ति हो जाती है, उस परमानन्द को बतलाती है । मीमांसा प्रकरण में यह मनुष्यानन्द क्रमशः उत्तरोत्तर सौगुणा बढ़ता हुआ जहाँ (निरतिशय न्द में) वर्धन की विश्रान्ति अनुभव करता है, जहाँ अन्य दर्शन, श्रवण और मनन का अभाव ने के कारण गणना विशेष भेद की निवृत्ति हो जाती है । उस परमानन्द का वर्णन करने की इच्छा ति कहती है । इस प्रकार मनुष्यों के आनन्द के जो सौ आनन्द हैं, वह (एकत्र हुआ) पितृगण का आनन्द है । "जितलोकानाम्" उन्हीं पितरों का विशेषण है । जिन्होंने श्राद्धादि कर्मों से पितरों को प्रकार से) तृप्त कर उस कर्म से पितृलोक जीत लिया है, वे जितलोक पितृगण ही हैं । मनुष्या-

---

[1] अनुभूतम् । [2] आरभ्येति द्वयोरर्थः । [3] उन्नीयेति—जन्यानन्दः क्वचित्काष्ठां गतः सातिशयात् रिमाणवदित्येवं जन्यानन्दतारतम्यावधित्वेन निरतिशयस्वाभाविकब्रह्मानन्दमनुमीयेत्यर्थः । [4] परमानन्दे । [5] आनन्दमीमांसाप्रकरणे । [6] मनुष्यानन्दः । [7] निरतिशयानन्दे । [8] वर्धनविश्रान्तिम् । [9] णनाविशेषः । [10] ११५१ पृष्ठभाष्ये । [11] यथोक्तं वाक्यतात्पर्यम् । [12] उक्तमेव तात्पर्यम् । [13] अपौनरुक्त्यम् । [14] पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।

थानुमानात्परानन्दे परमात्मनि सिध्यत्यपि प्रत्यगात्मा कथं परानन्दी भवितुमुत्सहते तत्राऽऽह —एषोऽस्येति । ज्ञानप्रत्यनुमानमुक्त्वाऽऽत्मज्ञान्प्रत्याह—अविज्ञातेति । उक्तं हि स एष परमानन्दो वितृष्णश्रोत्रियप्रत्यक्षोऽधिगत इति ॥ आत्मानन्दस्य परमत्वं साधयति—अकामेति ॥ तस्य परमत्वे प्रमाणमवतारयति—तथाचेति । कामहतत्वकृतमुत्तमं सुखमिति वदतोऽभिप्रायमाह—कामेति ॥ तदेवोदाहरति—यच्चेति ॥ तदीयमेव वाक्यान्तरं पठति—यत इति ॥ एष इत्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—सलिलादीति । ब्रह्मलोकान्तवाक्येन ब्रह्मलोकपदमन्ते मध्ये यस्यास्ति तेनेति यावत् । सलिल एको द्रष्टेत्युपक्रम्य मात्रामुपजीवन्तीत्यन्तेन कार्यकरणनिर्मुक्तोऽनतिशयानन्दो यः प्रत्यगात्मा परिपूर्णः प्रतिज्ञातः स पुनः स यो मनुष्याणामित्यारभ्याथैष एवेत्यन्तेन प्रतिपादितस्तस्येदानीमेष इत्यादिवाक्येनोपसंहारः कृत इत्यर्थः ॥

भवति। [1]सोऽपि शतगुणीकृतो गन्धर्वलोक एक आनन्दो भवति। स च शतगुणी
कर्मदेवानामेक आनन्दो भवति।

[2]अग्निहोत्रादिश्रौतकर्मणा ये देवत्वं प्राप्नुवन्ति ते कर्मदेवाः। तथैवाऽऽजानदेवा
मेक आनन्दः। आजानत एवोत्पत्तित एव ये देवास्त [3]आजानदेवाः। यश्च श्रोत्रियो
तवेदोऽवृजिनो वृजिनं पापं तद्रहितो [5]यथोक्तकारीत्यर्थः। अकामहतो वीततृष्ण आ

के ते कर्मदेवा नाम तत्राऽऽह—अग्निहोत्रादीति। यथा गन्धर्वानन्दः शतगुणीकृतः कर्मदे
मेक आनन्दास्तथा कर्मदेवानन्दः शतगुणीकृतः सन्नाजानदेवानामेक आनन्दो भवतीत्याह—तथे
कुत्र वीततृष्णत्वं 'तदाऽऽह—आजानदेवेभ्य इति। श्रोत्रियादिवाक्यस्य प्रकृता[6]संगतिमाशङ्क्याऽ

नन्द का शतगुणीकृत परिमाण उन जितलोक पितृगण का एक आनन्द होता है। वह भी शतगुण
जाने पर गन्धर्वलोक का एक आनन्द होता है। वह शतगुण करने पर कर्मदेवों का एक आनन्द है।

अग्निहोत्रादि श्रोत्र कर्म द्वारा जो देवत्व प्राप्त करते हैं, उन्हें कर्मदेव कहा जाता है।
प्रकार वह शतगुण करने पर आजानदेवों का एक आनन्द है। 'आजानतः' अर्थात् उत्पत्ति से ही दे
होते हैं; वे निसर्गसिद्ध आजानदेव हैं। एवं जो 'श्रोत्रियः' अर्थात् वेदों की एक शाखा का
अध्ययन करने वाला "अवृजिनः" अर्थात् पापरहित यानी शास्त्रप्रतिपादित अशेष कर्मों का अनु

---

१. पित्रानन्दोऽपि। २. अग्निहोत्रादीत्यादिना तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम् आतिथ्यं वैश्वदेवं च
३. आजानदेवा इति—निसर्गसिद्धाः सृष्ट्यादिभूता यष्टव्या इति यावत्। अमी च कर्मदेवापेक्षया
शरीराणि चामीषां व्यापीनीत्येवमादिहेतुकस्तेषामानन्दः शतगुणाधिक इति स्पष्टं वार्तिके। ४.
शाखाऽध्ययनवान्। ५. अशेषचोदितानुष्ठायीति यावत्। ६. असङ्गतिरनन्वितत्वम्।

❀ यश्चेत्यादि चशब्दादित्यन्तभाष्ये वार्तिकाचार्यास्तथाहि— "श्रोत्रियोऽधीतवेदः स्याज्ज्ञातवेदार्थ एव
कृत्स्नचोदितकारित्वात्सर्वपापविवर्जितः॥ आजानदेवावधिककामानुपहताशयः। ततः परेषु भोगेषु जात
यः पुमान्॥ आजानदेवानन्देन समं तस्य च यत्सुखम्। अस्याकामहतत्वेन सुखोत्कृष्टिरिहोच्यते॥
वृजिनत्वे द्वे तुल्ये एवाऽविरिञ्चितः। अकामहतताहेतोर्वृद्धौ ह्लादो विवर्धते॥ पूर्वपूर्वोपभोगेभ्यो
वन्निवर्तते। कामो विवर्धते पुंसस्तावत्तावत्सुखं हृदि॥ कामैकक्षयतन्त्रैव यस्मात्पुंसः सुखोन्नतिः।
तैवातः पूर्वाभ्यां साधनं परम्॥ साधनत्वं समानं स्यात्त्रयाणामिह यद्यपि। कामक्षयप्रकर्षोऽत्र
साधनम्। समुच्चयविवक्षाऽत्र न मनागपि युज्यते। कर्तृत्वादिसमुच्छेदिज्ञानस्येहाऽऽश्रितत्वतः॥
निवृत्त्यर्थं न्यायश्चापि पुरोदितः। नातः समुच्चयाशेह कर्तव्या सूक्ष्मदर्शिभिः॥ साधनत्वं यतस्त्वं
यावृजिनत्वयोः। अवरेष्वपि भोगेषु न चोत्तमसुखं ततः॥ अकामहततैवात्र तारतम्यात्मकत्वतः।
सौख्यस्य साधनं चोत्तमा भवेत्॥ युवा साधुयुवेत्येवं तैत्तिरीयश्रुतीरणात्। अधरेष्वपि वाक्येषु
विवक्षितम्"॥ १८६३-१८७४॥ इति। यश्चेत्यादौ श्रोत्रियशब्दं व्याचष्टे श्रोत्रिय इति अर्थज्ञान
यनमेकशाखाविषयं यस्यास्ति स श्रोत्रियो विवक्षित इति यावत्। अवृजिनशब्दार्थमाह कृत्स्नेति॥
पदार्थमाह—आजानेति। तदानन्दादर्वाचीनानन्देषु वीतरागोऽत्राकामहत इत्यर्थः। वैराग्यस्य निरङ्
मित्याशङ्क्याऽऽह—तत इति। आजानदेवानन्दमारभ्योत्तरानन्देषु प्रवृत्ततृष्णश्च यो भवति सोऽकामहत

वेभ्योऽर्वाग्यावन्तो विषयास्तेषु[1]। तस्य चैवंभूतस्याऽऽजानदेवैः समान आनन्द त्येतदन्वाकृष्यते चशब्दा[2]त्तच्छतगुणीकृतपरिमाणः प्रजापतिलोक एक आनन्दो विराट्शरीरे। तथा [3]तद्विज्ञानवाञ्छ्रोत्रियोऽधीतवेदश्चावृजिन इत्यादि पूर्ववत्। तच्छतगुणीकृतपरिमाण एक आनन्दो ब्रह्मलोके हिरण्यगर्भात्मनि।

तस्य चेति। एवंभूतस्य विशेषणत्रयविशिष्टस्येति यावत्। प्रजापतिलोकशब्दस्य ब्रह्मलोकशब्दादर्थभेदमाह—विराडिति। यथा विराडात्मन्याजानदेवानन्दः शतगुणीकृतः सन्नेक आनन्दो भवति तथा विराडात्मोपासिता श्रोत्रियत्वादिविशेषणो [5]विराजा तुल्यानन्दः स्यादित्याह—तथेति। तच्छतगुणीकृतेति तच्छब्दो विराडानन्दविषयः।

करने वाला; "अकामहतः" अर्थात् तृष्णारहित है यानी आजानदेवताओं से नीचे के जितने विषय हैं, उनकी तृष्णा नहीं करता। "च" शब्द का यह अर्थ निकाला जा सकता है कि इस प्रकार के पुरुष का आनन्द आजानदेवताओं के समान होता है। आजानदेवानन्द का शतगुणीकृत परिमाण वाला आनन्द "प्रजापतिलोके" यानी विराट् शरीर में एक आनन्द है। तथा विराट् के उपासक श्रोत्रिय, अधीतवेद निष्पाप को भी समान आनन्द है—ऐसा अर्थ पूर्वमन्त्र के समान समझ लेना चाहिये। उसका शतगुणीकृत परिमाण वाला आनन्द "ब्रह्मलोके" अर्थात् हिरण्यगर्भात्मा का एक आनन्द है।

---

१. तदितरेषु तु सतृष्ण इति भावः। २. आजानदेवानन्देति यावत्। ३. विराडुपासकः। ४. मनुष्यदेहे वर्तमानस्यैव। ५. विराडानन्देनेति यावत्।

चशब्दार्थमाह—आजानदेवेति। उक्तविशेषणवतो मनुष्यदेहे वर्तमानस्यैव यत्सुखं तदाजानदेवानन्देन तुल्यं भवतीति यावत्। श्रोत्रियत्वादीनां तुल्यमानन्दोत्कर्षे हेतुत्वमविशेषश्रुतेरित्याशङ्क्याऽऽह—अस्येति। मनुष्यदेहस्थस्याधिकृतस्येति यावत्। इहेति निर्धारणे सप्तमी॥ तत्र हेतुः—श्रोत्रियेति। ते हि मनुष्यानन्दादारभ्य शतानन्दान्तेषु तुल्ये दृष्टे तदकामहतत्वोत्कर्षादुत्कर्षः सुखस्येत्यर्थः। तस्यापि सर्वत्र तद्वदैकरूप्यात्कथं तदुत्कर्षादानन्दोत्कर्षस्तत्राऽऽह—अकामेति॥ तत्रानुभवं प्रमाणयति—पूर्वेति॥ अकामहतत्वस्येतराभ्यामुत्कृष्टत्वं फलितमाचष्टे—कामेति॥ कथं साधारणश्रुतेरेष विभागस्तत्राऽऽह—साधनत्वमिति। इहेत्यानन्दाप्तिरुक्ता। अत्रेत्यधिकृतपुरुषोक्तिः। अबाधितस्वानुभवप्राप्तो विभागो न साधारणश्रुत्या शक्यो भेत्तुमित्यर्थः। उक्तेऽर्थे स्वानुभवमनुकूलयितुं हिशब्दः॥ अथाकामहतशब्देन ब्रह्मज्ञानं विवक्ष्यते श्रोत्रियावृजिनशब्दाभ्यां कर्म तथाच विशेषणत्रयवतोऽनतिशयानन्दाप्तिं वदन्ती श्रुतिर्ज्ञानकर्मसमुच्चयं विवक्षति नेत्याह—समुच्चयेति। अत्रेति वाक्यं ज्ञानकर्मणी मुक्तिर्वोक्ता। अयुक्तत्वे हेतुः—कर्तृत्वादीति। इह खल्वन्तिमे पर्याये यथोक्तज्ञानस्याकामहतशब्देनेष्टत्वान्न मोक्षे समुच्चयो विवक्षित इत्यर्थः॥ केन पुनर्न्यायेन समुच्चयो निरस्यते तत्राऽऽह—समुच्चयेति। पुरा संबन्धग्रन्थादावित्यर्थः। फलितमाह—नेति। मानयुक्तिविरोधोऽतःशब्दार्थः। इहेति मुक्तेरुक्तिः॥ किंचाकामहतशब्दितज्ञानस्य परमसुखोपायत्वादितरयोस्तदभावान्न समुच्चय इत्याह—साधनत्वमिति॥ अर्वाचीनसुखसाधनत्वाविशेषादकामहतत्वस्यापि श्रोत्रियत्वादिवन्न मुक्तिहेतुतेत्याशङ्क्याऽऽह—अकामेति। प्रकृतसाधनेष्वकामहतत्वस्योत्कर्षापकर्षसंभवादपकृष्टं तत्कादाचित्कार्वाचीनसुखहेतुरुत्कृष्टं ज्ञानाव्यतिरिक्तमोक्षोपायस्तन्न समुच्चयान्मुक्तिरित्यर्थः॥ नाऽऽजानदेवेभ्योऽर्वाक्तनभोगहेतुत्वं श्रोत्रियत्वादेरकामहतत्ववदस्ति श्रवणाश्रवणयोः साम्यादित्याशङ्क्य तस्य तद्धेतुत्वं विवक्षितमित्येतन्मानतो दर्शयति—युवेति। साधुयुवेत्यवृजिनत्वमध्यायक इति श्रोत्रियत्वमित्युभयं पूर्वभूमिष्वपि युवा स्यात्साधुयुवाऽध्यायक इत्यत्रोक्तमतो येषु पर्यायेषु तन्न श्रुतं तत्रापि द्रष्टव्यमित्यर्थः॥

यश्चेत्यादि पूर्ववदेव । [1]अतः परं गणितनिवृत्तिः । [2]एष परम आनन इत्युक्तः । यस्य च [3]परमानन्दस्य ब्रह्मलोकाद्यानन्दा मात्रा उदधेरिव विप्रुषः । एवं शतगुणोत्तरोत्तरवृद्ध्युपेता आनन्दा यत्रैकतां यान्ति यश्च [4]श्रोत्रियप्रत्यक्षोऽयं एव संप्रसादलक्षणः परम आनन्द[5]स्तत्र हि नान्यत्पश्यति नानन्यच्छृणोति । [6]श्रो [7]भूमा भूमत्वादमृतः[8] । [9]इतरे [10]तद्विपरीताः । [11]अत्र च श्रोत्रियत्वावृजिनत्वे [12]तुल्ये। [13]अकामहतत्वकृतो [14]विशेष आनन्दशतगुणवृद्धिहेतुः । अत्रैतानि साधनानि श्रोत्रिय-

---

श्रोत्रियत्वादिविशेषणवानपि हिरण्यगर्भोपासकस्तेन[15] तुल्यानन्दो भवतीत्याह—यश्चेति । हिरण्यगर्भानन्दादुपरिष्टादपि ब्रह्मानन्दे गणितभेदे प्राकरणिके प्राप्ते प्रत्याह – अतः परमिति । एषोऽस्य परम आनन्द इत्युपक्रम्य[16] किमित्या[17]नन्दान्तरमु[18]पदर्शितमित्याशङ्क्याऽऽह – एष इति । [19]तथाऽपि सौषुप्तं सर्वात्मत्वमु[20]पेक्षितमिति चेन्नेत्याह—यस्य चेति । प्रकृतस्य ब्रह्मानन्दस्यापरिच्छिन्नत्वमाह—तत्र हीति । अनवच्छिन्नत्वफलमाह—भूमत्वादिति । ब्रह्मानन्दादितरे परिच्छिन्ना [21]मर्त्याश्चेत्याह—इतर इति । [22]अथ यत्रान्यत्पश्यतीत्यादिश्रुतेरिति भावः । श्रोत्रियादिपदानि व्याख्याय तात्पर्यं दर्शयति—अत्र चेति । मध्ये विशेषणेषु त्रिष्विति यावत् । तुल्ये सर्वपर्यायेष्विति शेषः। विशेषणान्तरे विशेषमाह—अकामहतत्वेति । यथोक्तं [23]विभागमुपपादयितुं [24]सिद्धमर्थमाह–

"यश्च" इत्यादि श्रुतिवाक्य का अर्थ पूर्ववत् समझ लेना चाहिये । हिरण्यगर्भानन्द के बाद गणनाविशेष की निवृत्ति हो जाती है । (इसी से सलिलवाक्य में) यही परम आनन्द है—ऐसा कहा गया है । जिस सुषुप्तावस्था के परमानन्द के यह सब हिरण्यगर्भात्मा के आनन्द समुद्र की बूंद के समान केवल अंशमात्र हैं । इस प्रकार उत्तरोत्तर शतगुण वृद्धि को प्राप्त हुए आनन्द जहाँ जाकर एकीभूत हो जाते हैं और जो विद्वदनुभवसिद्ध है, वही सम्प्रसादलक्षण परम आनन्द है । वहाँ (प्रकृत ब्रह्मानन्द में) न कोई अन्य कुछ देखता है और न ही अन्य कुछ सुनता है । इसलिए वह अपरिच्छिन्न है और अपरिच्छिन्न होने के कारण अनश्वर है । अन्य आनन्द उससे विपरीत (अमुख्य) हैं। यहाँ

---

१. अतः परमिति—हिरण्यगर्भानन्दादुपरिष्टादित्यर्थः । तदुक्तं वार्तिके—"अतः परमनन्तत्वादगणितं विनिवर्तते । यत एवमतः प्राहाऽथैष एवेति नः श्रुतिः" ॥ १८७६ ॥ इति । आत्मसुखे गणनाऽयोगात्तदेवाऽनतिशयमित्यर्थः । सुखोत्कर्षतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं तरतमभावत्वात् परिमाणतारतम्यवदित्यनुमानादिति भावः।
२. एष इति—उपदर्शितसातिशयानन्दविश्रामभूमिः परमात्मरूप एव सलिलवाक्ये परम आनन्द इत्युक्त इत्यर्थः । यद्वा एष इति मौलिकं पदं व्याख्येयं सलिलवाक्ये परम आनन्द इति य उक्त इति तद्व्याख्या।
३. सौषुप्तानन्दस्य । ४. विद्वदनुभवसिद्धः । ५. प्रकृतेब्रह्मानन्दे । ६. मातृमानादेरभावात् । ७. अपरिच्छिन्नः। ८. अनश्वरः । ९. आनन्दाः । १०. टीकायाम् । ११. विशेषणत्रयमध्ये । १२. तारतम्यरहिते । १३. अकामहतत्वनिष्ठ इति यावत् । १४. उत्कर्षः । १५. हिरण्यगर्भीयानन्देनेति यावत्। १६. सलिलवाक्ये बृ. उ. ४. ३. ३२ । १७. आनन्दान्तरमिति—सलिलवाक्योक्तादनतिशयानन्दात् पूर्णात्प्रत्यगात्मनः सकाशादित्यर्थः । १८. अत्रोपसंहृतमिति यावत् । १९. आनन्दस्योपक्रान्तस्यैवोपसंहृतत्वेऽपि। २०. नोपसंहृतमिति यावत् । २१. विनश्वराः । २२. छा. उ. ७. २४. १ । २३. विशेषणगतम्। २४. सर्वसंमतम् ।

[..]वृजिनत्वाकामहतत्वानि तस्य तस्याऽऽनन्दस्य प्राप्ताव[1]र्थादभिहितानि । यथा कर्माण्य[..]ग्निहोत्रादीनि देवानां देवानन्दप्राप्तौ ।

तत्र च श्रोत्रियत्वावृजिनत्वलक्षणे कर्मणी [2]अधर[3]भूमिष्वपि समाने इति [..]त्तरा[4]नन्दप्राप्तिसाधने अभ्युपेयेते । अकामहतत्वं तु वैराग्यतारतम्योपपत्तेरुत्तरोत्तर[..]भूम्यानन्दप्राप्तिसाधनमित्यवगम्यते । स एष परम आनन्दो वितृष्णश्रोत्रियप्रत्यक्षोऽधि[..]तः । तथा च वेदव्यासः—

[..]र्तानीति । यश्चेत्यादिवाक्यं सप्तम्यर्थः । तस्य तस्याऽऽनन्दस्येति दैवप्राजापत्यादिनिर्देशः । [..]र्थादभिहितत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । ये कर्मणा देवत्वमित्यादिश्रुतिसामर्थ्याद्देवानन्दाप्तौ यथा [..]र्माणि साधनान्युक्तानि तथा यश्चेत्यादिश्रुतिसामर्थ्यादेतान्यपि श्रोत्रियत्वादीनि तत्तदानन्दप्राप्तौ [..]साधनानि विवक्षितानीत्यर्थः ।

ननु त्रयाणामविशेषश्रुतौ कथं श्रोत्रियत्वावृजिनत्वयोः सर्वत्र तुल्यत्वं न हि ते पूर्वभूमिषु श्रुते [..]था चाकामहतत्ववदानन्दोत्कर्षे तयोरपि हेतुतेति तत्राऽऽह—तत्र चेति । निर्धारणार्था सप्तमी । [..]हि श्रोत्रियत्वादिशून्यः सार्वभौमादिसुखमनुभवितुमु[7]त्सहते । तथा च सर्वत्र श्रोत्रियत्वादेस्तु[..]ल्यत्वात्त "तदानन्दातिरेकप्राप्तवसाधारणं साधनमित्यर्थः । यदुक्तमानन्दशतगुणवृद्धिहेतुरकामहत[..]कृतो विशेष इति तदुपपादयति—अकामहतत्वं त्विति । पूर्वपूर्वभूमिषु वैराग्यमुत्तरोत्तरभूम्या[..]नन्दप्राप्तिसाधनं वैराग्यस्य तरतमभावेन परम[11]काष्ठोपपत्तेर्निरतिशयस्य [12]तस्य परमानन्दप्राप्ति[..]साधनत्वसंभवादित्यर्थः । यश्चेत्यादिवाक्यस्येत्थं तात्पर्यमुक्त्वा प्रकृते परमानन्दे विद्वदनुभवं प्रमा[..]यति—स एष इति । निरतिशयमकामहतत्वं परमानन्दप्राप्तिहेतुरित्यत्र प्रमाणमाह—तथा चेति ।

[..]विशेषणत्रय में श्रोत्रियत्व और निष्पाप तो तारतम्यरहित विशेषण है, किन्तु अकामहतत्वनिष्ठ जो [..]त्कर्ष है; वह आनन्द की शतगुणीकृत वृद्धि का हेतु है। जिस प्रकार अग्निहोत्रादि कर्म देवताओं के [..]देवानन्द प्राप्ति के कारण हैं; उसी प्रकार वहाँ ये श्रोत्रियत्व, अवृजिनत्व और अकामहतत्व भी उस-उस [..]आनन्द की प्राप्ति में साधन हैं; यह बात अर्थापत्ति से कह दी गयी।

वहाँ श्रोत्रियत्व और अवृजिनत्वरूप कर्म तो आजानदेव के पहले की भूमियों के समान हैं, [..]इसलिए आनन्दोत्कर्ष प्राप्ति के साधन नहीं स्वीकार किये जाते। किन्तु अकामहतत्व तो वैराग्य का [..]तारतम्य होने से आगे-आगे की भूमियों के आनन्द की प्राप्ति का साधन है—ऐसा जाना जाता है। [..]वही तृष्णारहित श्रोत्रिय को प्रत्यक्ष होने वाला परम आनन्द है। इसी को भगवान् व्यास कहते हैं:—

---

१. सामर्थ्यात्—अर्थापत्तेः । २. अधरेति—यद्यप्यधरभूमिषु त्रयमेव वर्तते तैत्तिरीयेणास्यैकवाक्यत्वात्तथा च
वार्तिके—"युवा साधुयुवेत्येवं तैत्तिरीयश्रुतीरणात् । अधरेष्वपि वाक्येषु श्रोत्रियादिविवक्षितम्" ॥ १८७४ ॥
इति । साधुयुवेत्यवृजिनत्वमध्यायक इति श्रोत्रियत्वं तत्र विवक्षितम् । तथापि श्रोत्रियत्वावृजिनत्वे सर्वत्र
समाने उत्कर्षापकर्षशून्ये इत्यर्थः । ३. आजानात्प्राच्यासु । ४. आनन्दोत्कर्षे इति यावत् । ५. आजान-
पर्यायात्पूर्वपर्यायेषु । ६. अकामहतत्ववत्तयोः पूर्वश्रवणादिति यावत् । ७. पारयति । ८. अनुत्सहने
च । ९. पर्यायेषु । १०. श्रोत्रियत्वमवृजिनत्वं च । ११ निःसीमता निरतिशयता । १२.
वैराग्यस्य ।

"यच्च [1]कामसुखं लोके यच्च दिव्यं [2]महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्" इति ।

[3]'एष ब्रह्मलोको हे सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहमेवमनुशिष्टो भगव तुभ्यं सहस्रं ददामि गवाम् । अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति व्याख्यातमेतत् । अ ह विमोक्षायेत्यस्मिन्वाक्ये[4] याज्ञवल्क्यो बिभयांचकार भीतवान् । याज्ञवल्क्यस्य भय कारणमाह श्रुतिः । ❀न याज्ञवल्क्यो वक्तृत्वसामर्थ्याभावाद्भीतवान[5]ज्ञानाद्वा कि

प्रकृतं प्रत्यग्भूतं परमानन्दमेष इति परामृशति । श्रुतिर्मेधावीत्याद्या तां व्याचष्टे— नेत्यादिना ।

"लोक में जो स्वच्छन्द चक्रवर्ती सम्राट् का सुख है और जो इन्द्र का दिव्य महान् सुख है; वे सुख तृष्णाक्षय से प्राप्त होने वाले सुख की सोलहवीं कला भी नहीं हो सकते" ।

जनक को 'हे सम्राट्' इस प्रकार से संबोधन कर याज्ञवल्क्य बोले—"यह ब्रह्मलोक है"। (जनक ने कहा)—क्योंकि आपने मुझे शिक्षा प्रदान की है; इसलिए मैं आदरणीय आपको एक सह गौएँ देता हूँ । अब इसके बाद मोक्षविषयक उपदेश ही दीजिए । इस प्रकार इसकी व्याख्या पहले ही की जा चुकी है । यहाँ "विमोक्षाय" इस वाक्य को सुनने पर याज्ञवल्क्य "बिभयाञ्चकार" अर्था भयभीत हो गये । श्रुति ही याज्ञवल्क्य के भयभीत होने में हेतु बतलाती है । बोलने की सामर्थ्य न होने अथवा उत्तर न देते बनने से भयभीत नहीं हुए, तो फिर किसलिए हुए; इसलिए कि

---

१. स्वच्छन्दं चक्रवर्तिनः सुखम् । २. ऐन्द्रम् । ३. एष ब्रह्मलोक इति—सलिल एको द्रष्टेत्युपक्रम्य मात्रा मुपजीवन्तीत्यन्तेन कार्यकरणनिर्मुक्तोऽनतिशयानन्दो यः प्रत्यगात्मा परिपूर्णः प्रतिज्ञातः । स पुनः स यो मनुष्या णामित्यारभ्य एष एवेत्यन्तेन प्रतिपादितस्तस्येदानीमेष इत्यादिवाक्ये नोपसंहारः कृत इति ध्येयम् । ४. श्रु सति । ५. उत्तराज्ञानात् । तस्य सर्वज्ञत्वादिति भावः ।

❀ न याज्ञवल्क्यो वक्तृत्वसामर्थ्याभावाद्भीतवानिति । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"याज्ञवल्क्योऽपि राज्ञे पृष्टः सन्पूर्ववत्तदा । अबिभेदन्यतो हेतोर्न त्वसामर्थ्यकारणात् ॥ सर्वज्ञत्वान्मुनेर्नाभूत्प्रश्नार्थाज्ञानतो भयम् । कारणं त्वन्यदेवातो यतः श्रुतिरभाषत ॥ अविवक्षुमयं राजा कामप्रश्नबलाश्रयात् । किंज्योतिरित्येवमादि प्राक्षीन्मां पुनः पुनः ॥ अप्रत्याख्येयो ह्यर्थश्च सत्यस्यावश्यरक्षणात् । स्वयंज्योतिश्च निर्णीतिः कृताऽतोऽनवशेषतः ॥ निर्णीतिऽप्यथ मां राजा पुनः पुनरपृच्छत । अत ऊर्ध्वमिति गिरा निरुणद्धयेव मां नृपः ॥ कामप्रश्नाङ्कुशेन मां वशीकृत्य मद्गतम् । समादित्सति निःशेषं ज्ञानं राजाऽतिपण्डितः ॥ इत्येष भयहेतुः स्याद्याज्ञवल्क्य नान्यतः । भयहेतोरविद्यायाः सर्वज्ञत्वादसंभवात् ॥ असकृन्निर्णयोऽकारि पृष्टे वस्तुन्यशेषतः । अरंतिं तथाऽप्येष सर्वस्वादित्सया नृपः ॥ मेधावी पण्डितोऽतोऽयं ब्रह्मस्वादानकारणात् । न बिभेति यतस्तस्माद्भेतव्यं जनकाद्भृशम्" ॥ १८८८-१८९६ ॥ अत्र हेत्वादेरर्थमाह—याज्ञवल्क्योऽपीति । वक्तृत्वासामर्थ्यादुत्तराज्ञानाद्वा मुनेर्भयमित्येतन्निरस्यति—अन्यत इति ॥ असामर्थ्यमज्ञानं वा न तस्य भयहेतुरित्यत्र हेतुमाह—सर्वज्ञत्वादिति । ब्रह्मीभूतश्च याज्ञवल्क्यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च न तस्य प्रश्नोत्तरीभूतार्थाज्ञानात्तदुक्त्यसामर्थ्याद्वा भयं संभवतीत्यर्थः । किं तर्हि तस्य तत्कारणमित्यपेक्षायामन्यतो हेतोरित्युक्तं व्यक्ती कर्तुं मेधावीत्याद्युत्थापयति—कारणं त्विति ॥ तद्व्याकर्तुं भूमिकां करोति—अविवक्षुमिति ॥ ननु दुराग्रहग्रस्तो राजा पृच्छतु त्वया तु प्रत्युत्तरं न देयं न हि पथि कृतं मौनव्रतमकस्मादेव हातव्यं तत्राऽऽह—अप्रत्याख्येयो हीति । हिशब्दार्थमेव विशदयति—सत्यस्येति ।

[1]स वा एष एतस्मिन्स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव

(जाग्रत् से स्वप्नान्त द्वारा सुषुप्ति में गया हुआ) वह यह पुरुष इस स्वप्नान्त में रमण और

---

[2]मेधावी राजा सर्वेभ्यो मा मामन्तेभ्यः प्रश्ननिर्णयावसानेभ्य उदरौत्सीदाव्‌रोधं कृतवानित्यर्थः । यद्यन्मया निर्णीतं प्रश्नरूपं [3]विमोक्षार्थं तत्तदेकदेशत्वे- कामप्रश्नस्य गृहीत्वा पुनः पुनर्मां [4]पर्यनुयुङ्क्त एव मेधावित्वादित्ये[5]तद्भयकारणं मदीयं विज्ञानं कामप्रश्नव्याजेनो[6]पादित्सतीति ॥ ३३ ॥

अत्र [7]विज्ञानमयः स्वयं ज्योतिरात्मा स्वप्ने प्रदर्शितः । स्वप्नान्तबुद्धान्तसंचारेण

ष्यापि किं तद्भयकारणं तदाह—यद्यदिति । मेधावित्वात्प्रज्ञातिशयशालित्वादिति यावत् । तदेव कारणं प्रकटयति—सर्वमिति ॥ ३३ ॥

स वा एष एतस्मिन्नित्याद्युत्तरग्रन्थस्य संबन्धं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—अत्रेति । अत्रायं पुरुषः ज्योतिर्भवतीति वाक्यं सप्तम्यर्थः । वृत्तमर्थान्तरमनुद्रवति—स्वप्नान्तेति । कार्यकरणव्यति-

---

शाली राजा ने "सर्वेभ्यो माऽन्तेभ्यः" अर्थात् सभी प्रश्नों के निर्णय के लिए 'उदरौत्सीत्' अर्थात् द्ध कर लिया या रोक लिया । मैंने ज्ञान के लिए जिन-जिन प्रश्नों का निर्णय किया है; उसे यह शाली होने के कारण कामप्रश्न के एकदेश रूप से ग्रहण करके पुनः-पुनः मुझे प्रेरित करता है । के भय का हेतु यही है कि कामप्रश्न के बहाने ही (यह गुह्य वस्तु का) उपदेश कराना ता है ॥३३॥

---

[1] वार्तिके तु स्वप्नान्तपदं स्वप्नस्यान्तो लयो यत्र ते व्युत्पत्त्या सुषुप्तिपरतयाऽपि व्याख्यातम् । तत्र च रमणं नाम स्वरूपानन्दानुभवः । आनन्दभुगिति श्रुतेः । चरणं तु तत्रेश्वरात्मसंपत्तिः सता सोम्येति श्रुतेः । पुण्यदर्शनं नानन्दानुभवस्तस्य तत्फलत्वात् सुखमस्वाप्समित्यनुसंधानाच्च पापदर्शनं त्वज्ञानानुभवस्तस्य तत्फलत्वान्न किंचिदवेदिषमित्यनुसंधानादिति च । [2] प्रज्ञाशाली । [3] ज्ञानार्थम् । [4] प्रेरयत्येव । [5] सर्वस्वापहारप्रसङ्गो भयहेतुरित्युपसंहरति—एतदिति । [6] उपादित्सतीति—यद्यपि राजा योग्यो योग्यपात्रे च विद्याप्रदानं नानुचितं तथापि गुह्यं वस्तु सहसा नोपदेष्टव्यमिति भावः । [7] विज्ञानोपाधिः । [8] राज्ञो मेधावित्वे नावरोधकत्वेऽपि ।

र्हि पृष्टं बुभुत्सितं निःशेषं विशदी क्रियतामत आह—स्वयमिति । प्रागुक्तहेतुपरामर्शार्थोऽतःशब्दः ॥ तर्हि कृत- निर्णयस्य ते कुतो भयमुपस्थितं तत्राऽऽह—निर्णीतेऽपीति । अथशब्दोऽतःशब्दपर्यायो निरुणद्धीत्यस्मात्पूर्वं संबध्यते ॥ ननु राजा गुरुं निरुन्धन्नविवेकी न विद्यापात्रं नेत्याह—कामेति ॥ सर्वस्वापहारप्रसङ्गो भयहेतुरित्युपसंहरति— र्त्वेण इति । नान्यतो भयहेतुरित्यत्र हेतुमाह—भयेति ॥ विद्यायोग्यो हि राजा मुनिगतं ज्ञानमादित्सते तथा न तस्मै तद्दातुं किमिति गुरुर्बिभेति न हि परस्मै दत्तं तदात्मनि ह्रसतीत्याशङ्क्याऽऽह—असकृदिति ॥ तस्य श्रुत्युक्तं मेधावित्वं साधयति—मेधावीति । अतःशब्दार्थमेव स्फुटयति—ब्रह्मेति । ब्रह्मणो ब्राह्मणस्य स्वं ज्ञानं तस्याऽऽदानादित्यर्थः । मोक्षफलकं ज्ञानं पालयितुमिच्छता जनकाद्भयं कर्तव्यमिति फलितमाह—तस्मादिति । योग्येऽपि पात्रे मुक्तिफलं ज्ञानं सहसा नोपदेष्टव्यमिति वाक्यार्थः ॥

* स वा एप एतस्मिन्स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वेत्यादि । अत्र वार्तिके—"ननु प्रश्ना यथोक्ताश्चेन्निर्णीतार्थाः

पुण्यं च पापं च पुनः [1]प्रतिन्यायं [2]प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव ॥ ३४ ॥

विहार कर, पुण्य तथा पाप को केवल देखकर ही पुनः जाने के मार्ग से ही अपने नियत स्थान अवस्था में ही लौट आता है ॥ ३४ ॥

कार्यकरणव्यतिरिक्तत्वम् । कामकर्मप्रविवेकश्चासङ्गतया महामत्स्यदृष्टान्तेन शितः । पुनश्चाविद्याकार्यं स्वप्न एवैनं घ्नन्तीवेत्यादिना प्रदर्शितम् । [3]अर्थादविद्या [4]सतत्त्वं निर्धारितम[5]तद्धर्माध्यारोपणरूपत्वमनात्मधर्मत्वं च । [6]तथा विद्यायाश्च

रिक्तत्वं प्रदर्शितमिति संबन्धः । उक्तमर्थान्तरमाह—कामेति । अथ यत्रैनं घ्नन्तीवेत्यादावुक्त भाषते—पुनश्चेति । किं तत्कार्यप्रदर्शनसामर्थ्यान्निर्धारितमविद्यायाः सतत्त्वं तदाह—अतद्धर्मे अनात्मधर्मत्वामात्मनि चैतन्यवदस्वाभाविकत्वम् । अविद्याकार्यवद्विद्याकार्यं च स्वप्ने सर्वात्म

यहाँ विज्ञानोपाधि आत्मा को स्वप्न में स्वयं ज्योति दिखलाया गया है। स्वप्नस्थान जागरितस्थान में संचरण के द्वारा उसकी देह और इन्द्रिय से भिन्नता दिखलाई गई। तथा महा के दृष्टान्त से असङ्गता से उसका काम और कर्मों से विविक्तता भी दिखलायी गयी। फिर "इसे हुए से" इत्यादि श्रुतिवाक्य से यह प्रदर्शित किया गया कि अविद्या का कार्य स्वप्न ही है। इस (कार्य प्रदर्शन सामर्थ्य) से अनात्मधर्मों का आत्मा में आरोपण करना तथा अनात्मधर्मी होना का स्वरूप निर्धारित किया गया। तथा "मैं सर्वात्मा हूँ, ऐसा मानता है, वह इसका परमलोक इस श्रुतिवाक्य द्वारा प्रत्यक्ष रूप से स्वप्न में ही सर्वात्मभाव विद्या का कार्य दिखलाया गया।

---

१. पूर्वगमनवैपरीत्येन । २. यथास्थानम् । ३. अर्थात्—अविद्याकार्यप्रदर्शनसामर्थ्यात् । ४. स्व
५. अनात्मधर्माणामात्मन्यारोपणरूपत्वम् । ६. अवतरणोक्तत्वात् ।

पुरोक्तिभिः । अनिर्णीतं किमुद्दिश्य नृपोऽप्राक्षीन्मुनिं पुनः ॥ स्वप्नबुद्धान्तसंचार आत्मनो यः पुरो दृष्टान्तत्वेन राज्ञाऽसौ सर्वोऽपीह विवक्षितः ॥ तस्य दार्ष्टान्तिको योऽर्थो यावत्साक्षान्न कथ्यते। मुमु तावत्तं राजा प्रश्नार्थशेषतः ॥ दृष्टान्तस्य सुषुप्तेश्च नार्थं दार्ष्टान्तिकं जगौ । ब्रह्मास्मीत्यागमाद्बोधः सुषु मतः । दार्ष्टान्तिकोऽर्थः प्राज्ञस्य दृष्टान्तस्यावशेषतः ॥ उक्ते दार्ष्टान्तिकेऽर्थेऽस्मिन्प्रश्नार्थस्य समाप्तितः । भवेद्यस्मादतः सोऽर्थोऽधुनोच्यते ॥ असङ्गो मत्स्यवत्प्रत्यङ्कामकर्मादिभिः क्रमात् । समेति स्वप्नबुद्धान्तौ स्ववशस्तथा ॥ सहेतुरस्य संसारः परलोकेहलोकयोः । सविस्तरः स वक्तव्य इत्यर्थेयं परा श्रुतिः ॥ बन्धो हेतुश्च मोक्षस्तद्धेतुरेव च । सविस्तरः प्रवक्तव्यस्तदुक्त्यर्था परा श्रुतिः ॥ जाग्रत्स्थानात्ततः पूर्वं स्व प्रवेशितः । जाग्रद्भूमिं स नेतव्यो दार्ष्टान्तिकविवक्षया ॥ आनन्दनिर्णयान्तं तु संप्रसादवचो यदा। निगमनार्थं तत्प्रतिज्ञातार्थगोचरम् । अलुप्तदृष्टिरात्माऽयं यथोक्तं स्वप्नबोधयोः । प्राज्ञेऽपि च तथैवायं वाक्यतः ॥ अतिकारकहेतुश्च यश्चाऽऽत्माऽयं सुषुप्तगः । कूटस्थदृष्टिमात्रत्वात्तथा स्वप्नप्रबोधयोः । इत्थं सिद्धेऽर्थे निगमार्थं पुनर्वचः । स वा इत्यादिकं ज्ञेयं न तु नाशादिशङ्कया" ॥ १८६७-१९०६ ॥ इति । एष इत्याद्याक्षिपति—नन्विति । यथोक्ताः प्रश्नाः किंज्योतिरमित्यादय आदित्यज्योतिरित्याद्यास्तु पुरो

र्शितं सर्वात्मभावः स्वप्न एव प्रत्यक्षतः सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोक
ति[1] । [2]तत्र च सर्वात्मभावः स्वभावोऽस्यैवमविद्याकामकर्मादिसर्वसंसारधर्मसंबन्धा-
तं रूपमस्य साक्षात्सुषुप्ते [3]गृह्यत इत्येतद्विज्ञापितं स्वयं ज्योतिरात्मैष परम आनन्दः ।
य विद्याया विषयः । स एष परमः [4]संप्रसादः सुखस्य च परा काष्ठेत्येतदेवमन्तेन
न्थेन व्याख्यातम् । [5]तच्चैतत्सर्वं विमोक्षपदार्थस्य दृष्टान्तभूतं बन्धनस्य च । ते चैते

रणं प्रत्यक्षत एव प्रदर्शितमित्याह—तथेति । सुषुप्तेऽपि स्वप्नवदे[6]तद्दर्शितमित्याह—तत्र चेति ।
क्षात्स्वरूपचैतन्यवशादित्येतत् । [7]अन्यथोत्थितस्य सुखपरामर्शो न स्यादिति भावः । उक्तं
द्याकारं निगमयति— एष इति । तमेव विद्याविषयं विशदयति—स एष इति । वृत्तानुवादमुपसंहरति
-इत्येतदिति । एवमन्तेन ग्रन्थेन ब्रह्मलोकान्तवाक्येनेति यावत् । सोऽहमित्यादेस्तात्पर्यमनुवदति—
त्येति । यतो राजेत्थं मन्यतेऽतस्तस्य सहस्रदाने युक्ता प्रवृत्तिरित्यर्थः । अत ऊर्ध्वमित्यादेरभिप्राय-
नुवदति— ते चेति । यद्यपि [8]यथोक्तलक्षणे मोक्षबन्धने प्रागेवोपदिष्टे तथाऽपि पूर्वोक्तं सर्वं दृष्टान्त-

---

विद्या और अविद्या कार्यों में) सर्वात्मभाव इसका स्वरूप है । इससे बतलाया गया है कि सुषुप्तावस्था
इस आत्मा का अविद्या, काम और कर्मादि समस्त सांसारिक धर्मों के संबन्ध से अतीत रूप प्रत्यक्ष
नुभव किया जाता है । आत्मा स्वयं ज्योति स्वरूप है, यह परम आनन्दरूप है, यह विद्या का विषय
; वह यह आत्मा ही उत्कृष्ट, स्वच्छस्वभाव सुख की पराकाष्ठा है—यह सब यहाँ तक के ग्रन्थ से
तपादित कर दिया गया । तथा यह सब (विद्या-अविद्या का कार्य) मोक्षपदार्थ तथा बन्धन का दृष्टान्त
प है । विद्या और अविद्या के कार्यभूत उन इन मोक्ष और बन्धन को कामकर्मादि हेतु सहित सविस्तर

---

[1] इति वाक्येन । [2] विद्याऽविद्याकार्ययोर्मध्ये । [3] अनुभूयते । [4] स्वच्छस्वभावः । [5] विद्या-
ऽविद्ययोः कार्यम् । [6] एतत्—विद्याकार्यं सर्वात्मभावलक्षणम् । [7] आत्मन आनन्दरूपत्वाभावे । [8]
विद्याऽविद्याकार्यरूपे स्थानत्रयसंचाराख्ये ।

इहेति
ऊर्ध्वमितिप्रश्नायोगे प्रत्युक्तिरपि न युक्तेति भावः ॥ अनिर्णीतं दर्शयन्प्रश्नप्रत्युक्ती समर्थयते—स्वप्नेति । इहेति
लोकद्वयसंचाराख्यसंसारोक्तिः ॥ तथाऽपि कथं प्रश्नावकाशस्तत्राऽऽह—तस्येति । स यावदिति वक्तव्यं योऽर्थं
इत्युपक्रमात्तमित्याचार्यस्तच्छब्दार्थः । प्रश्नार्थस्य बन्धरूपस्य दार्ष्टान्तिकस्य वक्तव्यस्य शिष्टत्वादिति यावत् । अव-
स्थाद्वयसंचारो लोकद्वयसंचाराख्यसंसारस्य दृष्टान्ततयोक्तोऽथ तस्यैव दार्ष्टान्तिकस्योक्त्यर्थमुत्तरो ग्रन्थ इत्यर्थः ॥
संसारप्रकरणस्यार्थवत्त्वमुक्त्वाऽथाकामयमान इत्यादेरर्थवत्त्वमाह—दृष्टान्तस्येति । अतोऽपि प्रश्नस्य सावकाश-
त्वमिति शेषः । कोऽसौ दार्ष्टान्तिकोऽर्थस्तमाह —ब्रह्मेति । यतः स्वापदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकोऽर्थो वक्तव्यत्वेनाव-
शेषितोऽतस्तादर्थ्येन मोक्षप्रकरणमागमिष्यतीत्याह —प्राज्ञस्येति ॥ दार्ष्टान्तिकद्वये निर्दिष्टेऽपि वक्तव्यान्तरशेषा-
दाकाङ्क्षानिवृत्तेः प्रश्नतादवस्थ्यमित्याशङ्क्याऽऽह—उक्त इति ॥ प्रकरणद्वयमवतार्याऽऽदौ संसारप्रकरणमुत्था-
पयति—असङ्ग इति । यथा महामत्स्यो नद्या द्वे कूले क्रमात्क्रमते तथाऽयं कामादिभिर्वस्तुतोऽस्पृष्टोऽपि जाग्र-
त्स्वप्नौ स्वतन्त्रः सन्ननुसंचरति तथाऽस्य लोकद्वये संचाराख्यो बन्धो हेतुसहितो विस्तरसहितश्च वाच्यो वैराग्या-
र्थमिति संसारप्रकरणं प्रवृत्तमित्यर्थः ॥ प्रकरणद्वयार्थं प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं संक्षिपति—बन्ध इति । इतरसंदर्भ-
मवतार्य स वा एष इत्यादेस्तात्पर्यमाह—जाग्रदिति । बुद्धान्ते रत्वेत्यादिवाक्याज्जागरितादात्मा स्वप्नान्तायैवेति
स्वप्नं प्रवेशितः स चेदानीं ततो जाग्रदवस्थां संसारप्रकारप्रदर्शनार्थं प्रापयितव्यो न हि स्वप्नावस्थायामेव

मोक्षबन्धने [1]सहेतुके [2]सप्रपञ्चे निर्दिष्टे विद्याविद्याकार्ये तत्सर्वं दृष्टान्तभूतमेवे तद्दार्ष्टान्तिकस्थानीये मोक्षबन्धने सहेतुके कामप्रश्नार्थभूते त्वया वक्तव्ये इति पु पर्यनुयुङ्क्ते जनकोऽत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ।

[3]तत्र महामत्स्यवत्स्वप्नबुद्धान्तावसङ्गः संचरत्येक आत्मा स्वयं ज्योतिरि क्तम् । यथा चासौ कार्यकरणानि [4]मृत्युरूपाणि परित्यजन्नुपाददानश्च महामत्स्य वत्स्वप्नबुद्धान्तावनुसंचरति तथा जायमानो म्रियमाणश्च [5]तैरेव मृत्युरूपैः संयुज्यो

मूतमेव [6]तयोरिति यतो राजा [7]आम्यत्यतो मोक्षबन्धने [8]दार्ष्टान्तिकभूते वक्तव्ये याज्ञवल्क्येनेति म मानस्तं प्रेरयतीत्यर्थः ।

बन्धमोक्षयोर्वक्तव्यत्वेन प्राप्तयोरपि प्रथमं बन्धो वर्ण्यत इति वक्तुं दृष्टान्तं स्मारयति—तत्रेति [9]दृष्टान्तमनूद्य दार्ष्टान्तिकस्य बन्धस्य सूत्रितत्वं दर्शयति— यथा चेत्यादिना । उभौ लोकावित्यत्र प्रथ

निरूपित किया गया, यह सब तो दृष्टान्तरूप ही है । अतः कामप्रश्न के विषयभूत तथा उनके दार्ष्टान्तिक स्थानीय मोक्ष और बन्धन का आपको (कामकर्मादि) हेतु सहित व्याख्यान करना चाहिए, इसीसे जनक पुनः प्रेरित करता है कि अब आगे आप मोक्षविषयक उपदेश दीजिए ।

बन्ध और मोक्ष के मध्य महामत्स्य के समान स्वप्न और जागरित में एक ही स्वयंप्रका असङ्ग आत्मा संचरण करता है । जिस प्रकार यह (अविद्याकार्य) मृत्युरूप देह और इन्द्रियों को त्या एवं ग्रहण करता हुआ महामत्स्य के समान क्रमशः स्वप्न और जागरित स्थानों में संचरण करता है

---

१. कामकर्मादिहेतुके । २. सविस्तरे । ३. बन्धमोक्षमध्ये । ४. अविद्याकार्याणि । ५. कार्यकर ६. मोक्षबन्धनयोः । ७. मन्यते । ८. तत्रावस्थाद्वयसंचारस्य लोकद्वयसंचारो दार्ष्टान्तिकः स्वापस्य मो इति वन्धमोक्षौ दार्ष्टान्तिकौ बन्धः संसारः । ९. दृष्टान्तभूतबन्धम् ।

दार्ष्टान्तिको बन्धः स्पष्टयितुं शक्यतेऽतः स्वप्नाज्जाग्रदापत्तिकथनार्थमनन्तरवाक्यमित्यर्थः ।। तस्यैवोक्तार्थविरो नार्थान्तरमाह—आनन्देति । यदा स्वप्नान्तायेत्यत्र स्वप्नान्तं सुषुप्तं तथा महामत्स्यवाक्यमारभ्यार्थप एव प आनन्द इत्येतदन्तं वाक्यं तद्विषयं ततश्च प्रतिज्ञातार्थमधिकृत्य निगमनार्थमनन्तरवाक्यं तदाऽपि स्वापाज्जाग पत्तिरात्मनोऽत्र विवक्षिताऽन्यथा संसारप्रकारप्रदर्शनायोगादित्यर्थः ।। कोऽसौ प्रतिज्ञातोऽर्थस्तमाह—अलुप्तेति यथा स्थानद्वये प्रत्यगात्माऽपि नष्टदृष्टिस्तथा स्वापेऽपीत्येतद्दृष्टिपरीक्षायामुक्तमित्यर्थः ।। प्रतिज्ञातमर्थान्तरमाह— अतिकारकेति । यथाऽऽत्मा स्वापे मात्रादिद्वैतरहितस्तथा स्थानद्वयेऽपि कूटस्थदृष्टित्वाविशेषादिति च तत्रैवो मित्यर्थः ।। प्रतिज्ञातं स्मारयित्वा तन्निगमनार्थत्वमुत्तरस्योपन्यस्यति—इत्येवमिति । आत्मनो नित्यदृष्टि मात्रादिद्वैतराहित्यं चेत्युभयमत्र स्वप्नान्तपदेन निगम्यते स्वप्नशब्देन हि विशेषदर्शनमुच्यते तस्यान्तः सुप्तमि मात्रादिहीनं तत्त्वं सिध्यति तद्धानिश्च तत्काले कूटस्थबोधाधीना साधकान्तराभावादतः स्वप्नान्तपदेनो निगमयद्वाक्यं स्वप्नादात्मनो जागरापत्तिं दर्शयतीत्यर्थः । ननु सुप्तो मृतवन्नष्टो देशान्तरं गतो वेति श तस्य व्यादितास्यत्वादिना मृतेन तुल्यत्वात्तथाच तन्निराचिकीर्षयाऽनन्तरवाक्यमिति नेत्याह—न त्विति । खल्वात्मनो नाशं देशान्तरगमनं वा शङ्कित्वा वाक्यमित्येतत्प्रवृत्तं नित्यसिद्धे निष्क्रिये प्रतीचि तदाशङ्कानव शान्न च सुप्तो मृतेन तुल्यः प्रसन्नवदनतादिवैसादृश्यादित्यर्थः ।।

युज्यते च । उभौ लोकावनुसंचरतीति[1] संचरणं स्वप्नबुद्धान्तानुसंचारस्य दार्ष्टान्तित्वेन सूचितम् । तदिह विस्तरेण सनिमित्तं संचरणं वर्णयितव्यमिति तदर्थोऽयारम्भः[2] । तत्र च [3]बुद्धान्ता[4]त्स्वप्नान्तमयमात्माऽनुप्रवेशितः । [5]तस्मात्संप्रसादस्थानं मोक्षदृष्टान्तभूतम् । [6]ततः प्रच्याव्य [7]बुद्धान्ते संसारव्यवहारः प्रदर्शयितव्य इति तेनाऽस्य संबन्धः । स वै बुद्धान्तात्स्वप्नान्तक्रमेण [8]संप्रसन्न एष एतस्मिन्संप्रसादे स्थित्वा [9]ततः पुनरीषत्प्रच्युतः[10] स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वेत्यादि पूर्ववद्[11]बुद्धान्तायैवाऽऽद्रवति ॥ ३४ ॥

शब्दो द्रष्टव्यः । वृत्तमनूद्यानन्तरप्रकरणमुत्थापयति—तदिहेति । अज्ञः संसारी सप्तम्यर्थः । सनिमित्तं मादिना निमित्तेन सहितमित्येतत् । प्रकरणारम्भमुक्त्वा समनन्तरवाक्यस्य [12]व्यवहितेन संबन्ध-ह—तत्र चेति । स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्ते रत्वेत्युपक्रम्य स्वप्नान्तायैवेति [13]वाक्यं सप्तम्या परा-ते । स्वप्नान्तशब्दस्य स्वप्नविषयव्यावृत्त्यर्थं विशिनष्टि—संप्रसादेति । कथं पुनः [14]संप्रसन्नस्य रो[15]पवर्णनमित्याशङ्क्याऽऽह—तत इति । प्रागुक्तः सप्तम्यर्थो व्यवहितो [16]ग्रन्थस्तेनेति परामृश्यते । नन्तरग्रन्थः षष्ठ्योच्यते । वाक्यस्य व्यवहितेन संबन्धमुक्त्वा तदक्षराणि योजयति—स वै बुद्धान्ता-ति । स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वेत्यादि बुद्धान्तायैवाऽऽद्रवतीत्येतदन्तं पूर्ववदिति योजना ॥ ३४ ॥

प्रकार जन्म और मरण को प्राप्त होता हुआ भी कार्यकरणात्मक मृत्युरूपों से संयुक्त और वियुक्त है । "दोनों लोकों में क्रम से संचरण करता है" इस श्रुतिवाक्य द्वारा संचार को स्वप्न-जागरित संचार के दार्ष्टान्तिकरूप से सूचित किया गया है । निमित्तसहित उस संचरण का यहाँ विस्तार से करना चाहिये—इससे आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है । वहाँ इस आत्मा का जागरित से नावस्था में अनुप्रवेश कराया गया । सुषुप्ति में अनुप्रवेशित हो जाने से सम्प्रसादस्थान मोक्ष का न्तभूत है । सुषुप्ति से च्युत कर जागरित में संसार का व्यवहार प्रदर्शित करना है । अतः उसी से अग्रिम वाक्य का संबन्ध है । जागरित से स्वप्नावस्था में प्रविष्ट होने रूप क्रम द्वारा सम्प्रसाद (षुप्ति) को प्राप्त हुआ वह यह पुरुष सुषुप्ति में स्थित रहकर 'उससे थोड़ा च्युत हो स्वप्नावस्था रमण और विहार कर" इत्यादि श्रुत्यर्थ पूर्ववत् जागरित भोगों के अनुभव के लिए जागरित स्थान लौट आता है ॥ ३४ ॥

---

१. वाक्येन । २. बृ. उ. ४. ४. ६ "इति नु कामयमान" इत्यन्तः तदूर्ध्वं तु मोक्षार्थः । ३. जाग्रत्स्थानीयः । ४. स्वप्नस्यान्तोऽत्रेति सुषुप्तं न तु मोक्षमिति मोक्षस्य दृष्टान्तः सः । ५. सुषुप्तेऽनुप्रवेशितत्वात् । ६. संप्रसादात् । ७. जाग्रदवस्थायाम् । ८. सुषुप्तिरप्राप्तः । ९. संप्रसादात् । १०. सन् । ११. बुद्धान्तं जागरितस्थानं तस्मै जागरितभोगानुभवायैवेति यावत् । १२. बृ. उ. ४. ३. १७ । १३. बृ. उ. ४. ३. १७ । १४. सुषुप्तस्य । १५. तत्र लोकद्वयसंचाराख्यसंसाराऽसंभवात् । १६. बृ. उ. ४. ३. १७ । १७. बृ. उ. ४. ३. ३४ ।

तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेवमेवायꣳ शारीर आत्मा प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन्याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥ ३५ ॥

लोक में जैसे बहुत बोझ से भरा हुआ छकड़ा चलते समय शब्द करता हुआ चलता है, वैसे ही यह शरीरी आत्मा स्वयंप्रकाश परमात्मा से प्रकाशित हो शब्द करता हुआ जाता है, जबकि यह ऊ श्वास लेता हुआ लिङ्गोपाधिक मर्मस्थानों को छोड़ने लगता है ॥ ३५ ॥

इत आरभ्यास्य[1] संसारो वर्ण्यते । यथाऽयमात्मा स्वप्नान्ताद्बुद्धान्तमागत ए मयमस्माद्देहाद्देहान्तरं प्रतिपत्स्यत इत्याहात्र दृष्टान्तम् । तत्तत्र यथा लोके शकटं सुसमाहितं सुष्ठु भृशं वा समाहितं भाण्डोपस्करणेनोलूखलमुसलशूर्पपिठ दिनाऽन्नाद्येन संपन्नं संभारेणाऽऽक्रान्तमित्यर्थः । [2]तथा भाराक्रान्तं सदुत्सर्जच्छ कुर्वद्यथा यायाद्[4]गच्छे[5]च्छाकटिकेनाधिष्ठितं सत् । एवमेव यथोक्तो [6]दृष्टान्तो शारीरः [7]शरीरे भवः । कोऽसौ । आत्मा [8]'लिङ्गोपाधिः' । यः स्वप्नबुद्धान्ता

तद्यथेत्यादेरिति[10] नु कामयमान इत्यन्तस्य संदर्भस्य तात्पर्यं [11]"तदिहेत्यत्रोक्तमनुवर्द्ति— आरभ्येति । तद्यथेत्यस्माद्वाक्यादित्येतत् । [12]"दृष्टान्तवाक्यमु[13]त्थाप्य व्याकरोति—यथेत्यादिना । इ दृष्टान्तमाहेति योजना । भाण्डोपस्करणेन भाण्डप्रमुखेन(ण) गृहोपकरणेनेति यावत् । तदेवोपकर विशिनष्टि—उलूखलेति । पिठरं पाकार्थं [14]भाण्डम् । अन्वयं दर्शयितुं यथाशब्दोऽनूद्यते । लिङ्गविशि

अब यहाँ से लेकर आत्मा का संसार वर्णन किया जाता है । जिस प्रकार यह आत्मा (क्रमश स्वप्नस्थान से जागरित स्थान में आया है, उसी प्रकार यह इस देह से दूसरी देह प्राप्त करेगा— श्रुति दृष्टान्त प्रस्तुत करती है । "तद्यथा" अर्थात् जिस प्रकार लोकव्यवहार में "सुसमाहितम्" अ सम्यक् या अतिशयसमाहित अर्थात् गृहसामग्री ऊखल, मूसल, सूप और पिठरादि से तथा खाद्यसामग्री सम्पन्न "अनः" यानी छकड़ा अर्थात् उपरोक्त बोझ से लदा हुआ छकड़ा गाड़ीवान से (गुरुभार प्रपीडित हो) "उत्सर्जत्" यानी शब्द करते हुए "यायाद्" ले जाया जाता है । "एवमेत्र" अर्थात्

---

१. आत्मनः । २. उपदर्शितभारेणाक्रान्तम् । ३. गुरुभारप्रपीडितत्वान्नानाविधं शब्दं कुर्वन् । ४. देशान्तरम् । ५. शाकटिकेनेति—शकटतद्गतार्थाभ्यां विलक्षणेन अनन्यशेषेण शकटस्वामिनेत्यर्थः । उक्तदृष्टान्तवत् । ७. स्थूले । ८. लिङ्गोपाधिरिति । अत्र वार्तिके—"भुक्तदेहादिदं लिङ्गमुत्क्रान्तं भोगसंस्कार याति देहान्तरं तद्वत्कर्मविद्यादिसंभृतम् ॥ वियुक्तं देवताभिः सत्कर्मसंभारसंभृतम् । अनोवल्लिङ्गमेतेत गात्मार्थसिद्धये" ॥ १६१४-१५ ॥ इति । अत्र तद्वत्प्रकृतशकटवत् । वियुक्तमित्यादि देवतानुग्रहरहितमित्य प्रत्यगात्मार्थसिद्धिः जन्मान्तरे भोगसिद्धिः । तथा च लिङ्गमेवोत्क्रामति तदुपाधित्वादात्मन्युत्क्रमणोपचार ध्येयम् । ९. लिङ्गदेहोपहितः । १०. बृ. उ. ४. ४. ६ । ११. ११६५पृष्ठभाष्ये । १२. तद्यथे यायदित्यन्तम् । १३. अवतार्य ।१४. स्थाली ।

न्ममरणाभ्यां पाप्मसंसर्गवियोगलक्षणाभ्यामिहलोकपरलोकावनुसंचरति । यस्योत्क्रम-
मनु प्राणाद्युत्क्रमणं [1]स प्राज्ञेन परेणाऽऽत्मना स्वयंज्योतिःस्वभावेनान्वारूढोऽधिष्ठि-
ोऽवभास्यमानः । तथा चोक्तमात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययत इति । [2]उत्सर्ज-
न्याति [3]तत्र चैतन्यात्मज्योतिषा भाष्ये लिङ्गे प्राणप्रधाने गच्छति सति तदुपाधिर-
ात्मा गच्छतीव[4] । तथा च श्रुत्यन्तरम्—"[5]कस्मिन्न्वहम्" इत्यादि "ध्यायतीव" इति
व । [6]अत एवोक्तं प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढ इति । [7]अन्यथा [8]प्राज्ञेनैकीभूतः शकटव-
कथमुत्सर्जन्याति ।

त्मानं विशिनष्टि—यः स्वप्नेति । जन्ममरणे विशदयति—पाप्मेति । [9]कार्यकरणानि पाप्मशब्देनो-
न्ते । शारीरस्य प्राधान्यं द्योतयति—यस्येति । उत्सर्जन्यातीति चेत्तदाऽङ्गीकृतमात्मनो गमनमित्या-
ङ्क्याऽऽह—तत्रेति । [10]लिङ्गोपाधेरात्मनो गमनप्रतीतिरित्यत्राऽऽथर्वणश्रुतिं प्रमाणयति—तथा चेति ।
त्सर्जन्यातीति श्रुतेर्मुख्यार्थत्वार्थमात्मनो वस्तुतो गमनं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—ध्यायतीवेति
ति । औपाधिकमात्मनो गमनमित्यत्र [11]लिङ्गान्तरमाह—अत एवेति । [12]कथमेतावता निरुपाधेरात्मनो
मनं नेष्यते तत्राऽऽह—अन्यथेति ।

ष्टान्त की तरह ही "शारीरः" अर्थात् स्थूल शरीर में रहने वाला । वह कौन है ? वह लिङ्ग देह
उपहित आत्मा है । जो स्वप्न और जागरित स्थानों के समान पाप के संयोग और वियोग रूप जन्म
ौर मरण के द्वारा क्रमशः इस लोक और परलोक में अनुसंचरण करता है । और जिसके उत्क्रमण के
ाथ ही प्राणादि का उत्क्रमण हो जाता है, वह लिङ्गोपाधि 'प्राज्ञेनात्मना' अर्थात् स्वयज्योतिस्वरूप
रमात्मा से "अन्वारूढः" अर्थात् अधिष्ठित या अवभासित हुआ; कहा भी है—"यह आत्मज्योति से
बैठता है, इधर उधर जाता है" । हिक्कादि शब्द करते हुए जाता है । उपाधि और उपहित के मध्य
चैतन्यज्योति से अवभासित प्राणप्रधान लिङ्गदेह के जाने पर उस लिङ्गदेह उपाधि वाला आता हुआ भी
जाता हुआ सा प्रतीत होता है । अन्य श्रुति भी कहती है—"किसके उत्क्रान्त हो जाने पर मैं उत्क्रान्त
ो जाऊँगा", "ध्यान करता हुआ सा" इत्यादि । इसी से कहा है—प्राज्ञ आत्मा द्वारा अधिष्ठित
आत्मा से (शब्द करता हुआ जाता है); नहीं तो प्राज्ञ आत्मा से एकीभूत होने पर यह शकट के
मान शब्द करते हुए कैसे जाता ।

---

१. लिङ्गोपाधिः । २. मरणकाले अनेन वेदनार्ततया हिक्कादिशब्दं कुर्वन् । ३. उपाध्युपहितयोर्मध्ये ।
४. भाति । ५. प्र. उ. ६. ३ । उत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि । ६. अत एव – आत्मगमनस्यौपचारिकत्वादेव ।
७. अन्यथेत्यादि । निरुपाधिकस्यात्मनो गमने हि उपाधिपरित्यागे प्राज्ञेन परमात्मनैकीभूतः परमात्मस्वरूप एव
स खलु शकटवत् कथमुत्सर्जन्यातुं शक्नोति । अपरिच्छिन्नत्वान्नैव शक्नोतीत्यभिप्रायेण श्रुत्या प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ
इत्युक्तमित्यर्थः । निरुपाधिकस्यापि गमनसंभवे तु प्राज्ञेनेत्यादि न वक्तव्यमिति भावः । ८. प्राज्ञात्मा यातीत्येव
वा वक्तव्यम् । ९. तेषां पाप्मकार्यत्वात्—धर्माधर्मौ च पाप्मशब्दार्थः । १०. लिङ्गरूपादुपाधितः । ११.
लिङ्गान्तरमिति—एतेन पूर्वे अपि श्रुती लिङ्गत्वेनैवोपन्यस्ते इति सूचयति । प्रकृतार्थस्य तत्राप्यार्थिकत्वादिति
ध्येयम् । १२. प्राज्ञेनेत्याद्युक्तिमात्रेण ।

स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपता[1] वाऽणिमानं निगच्छति तद्यथाऽऽम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा

वह यह हस्त-पादादि अवयव वाला देह वृद्धावस्थादि कतिपय कारणों से जब कृशता को प्राप्त होता है, तब जैसे आम, गूलर, पीपल के फल बन्धन से छूट जाते हैं, ठीक वैसे ही यह शा

---

[2]तेन लिङ्गोपाधिरात्मोत्सर्जन्मर्मसु निकृत्यमानेषु [3]दुःखवेदनयाऽऽर्तः [4]शब्दं कुर्वन्याति गच्छति तत्कस्मिन्काल इति । उच्यते—यत्रैतद्भवति । एतदिति क्रियाविशेषणम् । ऊर्ध्वोच्छ्वासी यत्रोर्ध्वोच्छ्वासित्वमस्य भवतीत्यर्थः । [5]दृश्यमानस्याप्यनुवदनं वैराग्यहेतोः । ईदृशः [6]कष्टः खल्वयं संसारः । [7]येनोत्क्रान्तिकाले मर्मसूत्कृत्यमानेषु स्मृतिलोपो दुःखवेदनार्तस्य [8]पुरुषार्थसाधनप्रतिपत्तौ चासामर्थ्यं परवशीकृतचित्तस्य । [9]तस्माद्यावदियमवस्था नाऽऽगमिष्यति तावदेव पुरुषार्थसाधनकर्तव्यताया[10]मप्रमत्तो भवेदित्याह कारुण्याच्छ्रुतिः ॥ ३५ ॥

तद[11]स्योर्ध्वोच्छ्वासित्वं कस्मिन्काले किंनिमित्तं [12]कथं [13]किमर्थं वा स्यादि

प्रमाणफलं निगमयति—तेनेति । तत्कस्मिन्नित्यत्र तच्छब्देनाऽऽर्तस्य शब्दविशेषकरणपूर्वकं गमनं गृह्यते । एतदूर्ध्वोच्छ्वासित्वमस्य यथा स्यात्तथाऽवस्था यस्मिन्काले भवति तस्मिन्काले तद्गमनमित्युपपादयति—उच्यत इत्यादिना । किमिति प्रत्यक्षमर्थं श्रुतिरनुवदति तत्राऽऽह—दृश्यमानस्येति । [14]कथं संसारस्वरूपानुवादमात्रेण वैराग्यसिद्धिस्तत्राऽऽह—ईदृश इति । ईदृशत्वमेव विशदयति—येनेत्यादिना । अनुवादश्रुतेरभिप्रायमुपसंहरति—तस्मादिति ॥ ३५ ॥

प्रश्नचतुष्टय[15]मनूद्य तदुत्तरत्वेन स यत्रेत्यादि वाक्यमादाय व्याकरोति—तदस्येत्यादिना । प्रश्न-

---

उक्त प्रमाण से लिङ्गोपाधिक आत्मा मर्मस्थानों के निकल जाने पर दुःखानुभूति से व्याकुल हुआ (हिक्कादिलक्षण) शब्द करता हुआ जाता है । यह किस समय होता है—इस पर कहा जाता है कि "यत्रैतद्" यानी जब यह होता है । यहाँ "एतद्" क्रियाविशेषण है । "ऊर्ध्वोच्छ्वासी भवति" अर्थात् जहाँ इसका ऊर्ध्वश्वास हो जाता है । प्रत्यक्षसिद्ध अर्थ का पुनः कथन वैराग्य के लिए है । यह संसार ऐसा दुःखात्मक है । जहाँ कि कष्ट से देहोत्सर्ग काल में मर्मस्थानों से निकलने पर दुःखानुभूति से व्याकुल हुए पुरुष की स्मृति नष्ट हो जाती है; तथा उस परवशीकृत चित्त वाले पुरुष का मोक्षसाधन प्राप्ति में कोई सामर्थ्य नहीं रह जाता । इसलिए (मरणकाल में कुछ कर्तव्य संभव न होने से) जब तक यह अवस्था नहीं प्राप्त होती; तब तक ही पुरुष को मोक्ष के साधनों को करने में सावधान रहना

---

१. युवा चेदिति ध्येयम् । २. उक्तप्रमाणेन । ३. दुःखानुभूत्या । ४. हिक्कादिलक्षणम् । ५. प्रत्यक्षसिद्धस्यापि अर्थस्य । ६. दुःखात्मकः । ७. यतः कष्टेनेति वा । ८. मोक्षसाधनप्राप्तौ । ९. मरणे कर्तव्याऽसामर्थ्यात् । १०. सावधानः । ११. मुमूर्षोः । १२. स्वरूपप्रश्नः । १३. प्रयोजनप्रश्नः । १४. संसारस्वरूपे प्रत्यक्षे वैराग्यं नोत्पद्यते चेत् । १५. अनूद्येति—श्रुत्यभिप्रेतस्य भाष्योक्तेरनुवादत्वमिति भावः ।

बन्धनात्प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः [1]प्रतिन्यायं [2]प्रतियोन्या[3]द्रवति [4]प्राणायैव ॥ ३६ ॥

भी इन अंगों से छूटकर पुनः जिस मार्ग से आया था; उसी मार्ग से (अपने कर्मानुसार यथासंभव)
योनि में प्राणादि की अभिव्यक्ति के लिये चला जाता है (क्योंकि प्राणादि की विशेषाभिव्यक्ति
ना कर्मफलभोग का होना सम्भव नहीं है) ॥ ३६ ॥

च्यते—सोऽयं प्राकृतः शिरःपाण्यादिमान्पिण्डो यत्र यस्मिन्कालेऽणिमान-
र्भावमणुत्वं कार्श्यमित्यर्थः । न्येति निगच्छति । किंनिमित्तं [5]जरया वा स्व-
कालपक्वफलवज्जीर्णः कार्श्यं गच्छति । उपतपतीत्युपतपञ्ज्वरादिरोगस्तेनो[6]प-
वा । उपतप्यमानो हि रोगेण विषमाग्नितयाऽन्नं भुक्तं न [7]जरयति [8]ततो-
रसेनानुपचीयमानः पिण्डः कार्श्यमापद्यते [9]तदुच्यत उपतपता वेति । अणिमानं
च्छति । यदाऽत्यन्तकार्श्यं प्रतिपन्नो जरादिनिमित्तैस्तदोर्ध्वोच्छ्वासी भवति ।
र्ध्वोच्छ्वासी तदा भृशाहितसंभारशकटवदुत्सर्जन्याति । [10]जराभिभवो [11]रोगादिपीडनं

कार्श्यनिमित्तं स्वाभाविकमागन्तुकं चेति दर्शयति—किंनिमित्तमित्यादिना । कथं ज्वरादिना
कार्श्यप्राप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—उपतप्यमानो हीति । यथोक्तनिमित्तद्वयवशात्कार्श्यप्राप्तिं निगमयति—
मानमिति । कस्मिन्काले तदूर्ध्वोच्छ्वासित्वमस्येति प्रश्नस्योत्तरमुक्तया विधया सिद्धमित्याह—
ति । अवशिष्टप्रश्नत्रयस्योत्तरमाह—यदोर्ध्वोच्छ्वासीति । [12]तत्र हि कार्श्यनिमित्तं संभृतशकटव-
ब्दकरणं स्वरूपं शरीरविमोक्षणं च प्रयोजनमित्यर्थः । स यत्रेत्यादिवाक्यादर्थसिद्धमर्थमाह

र । इस प्रकार श्रुति करुणा के वशीभूत हो कहती है ॥३५॥

इसका ऊर्ध्वोच्छ्वास किस समय, किस कारण से, किस प्रकार और किसलिए होता है ; इस
श्रुति कहती है—"सोऽयम्" अर्थात् यह शिर एवं हाथ-पाँवादि अवयवों वाला प्राकृत पिण्ड 'यत्र'
जिस समय में "अणिमानं न्येति" अणुभाव यानी कार्श्यरूप अणुत्व को, प्राप्त हो जाता है।
कारण से होता है ? "जरया वा" अर्थात् (स्वाभाविक रूप)काल से पकाये फल के समान जीर्ण
कृशता को प्राप्त होता है। अथवा (यदि युवा हो तो) "उपतपता" अर्थात् उपतपन करने
ज्वरादि रोगों से (कृश हो जाता है) क्योंकि रोग से उपतप्त हुआ मनुष्य विषम अग्नि हो
के कारण खाये हुए अन्न को पचा नहीं सकता। फिर अन्न के रस से अपचय को प्राप्त हुआ
कृशता को प्राप्त हो जाता है। इसी से कहा है "ज्वरादि रोगों से कृशता को प्राप्त होता है।

---

१. प्रतिगमनं यथा तथा । २. योनिं योनिम्प्रति । ३. आगच्छति । ४. प्राणानां स्थानविशेषविन्या-
नावस्थानायेत्यर्थः । देहान्तरग्रहणायेति यावत् । ५. इदं स्वाभाविकम् । ६. इदमागन्तुकम् । ७.
पाचयति । ८. तत इत्यादि—अन्नपरिपाकाभावात्परिक्वान्नरसपूर्णत्वगादिधातुप्रयुक्तोपचयमप्राप्यमाण इत्यर्थः ।
९. उक्तमर्थजातमभिप्रेत्य श्रुत्योच्यत इत्यर्थः । १०. जरन् हि स्वजनैरपि नाऽऽद्रियते । ११. रोगादि-
प्रयुक्तं दुःखम् । १२. निमित्तस्वरूपप्रयोजनेषु ऊर्ध्वोच्छ्वासित्वे वा ।

कार्श्यापत्तिश्च शरीरवतोऽवश्यंभाविन एतेऽनर्था इति वैराग्यायेदमुच्यते ।

यदा[1]ऽसावुत्सर्जन्याति तदा कथं शरीरं विमुञ्चतीति दृष्टान्त उच्यते— यथाऽऽम्रं वा फलमुदुम्बरं[2] वा फलं पिप्पलं वा फलम् । [3]विषमानेकदृष्टान्तो दानं मरणस्यानियतनिमित्तत्वख्यापनार्थम् । अनियतानि हि मरणस्य निमित्ता ख्यातानि च । [4]एतदपि वैराग्यार्थमेव । यस्माद[5]यमनेकमरणनिमित्तवांस्तस्मात्स मृत्योरास्ये वर्तत इति । बन्धनाद्बध्यते [6]येन वृन्तेन सह स बन्धनका रसो यस्मिन्वा बध्यत इति वृन्तमेवोच्यते [7]बन्धनं तस्माद्र[8]साद्वृन्ताद्वा बन्धना

—जरेति ।

तद्यथेत्यादिवाक्यं प्रश्नपूर्वकमादाय व्याचष्टे—यदेत्यादिना । फलं बन्धनात्प्रमुच्यत संबन्धः । [9]किमिति विषमानेकदृष्टान्तोपादानमेकेनापि विवक्षितसिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह— विष कथं मरणस्यानियतान्यनेकानि निमित्तानि संभवन्तीत्याशङ्क्यानुभवमनुसृत्याऽऽह—अनियतानि अथ मरणस्यानेकानियतनिमित्तवत्त्वसंकीर्तनं कुत्रोपयुज्यते तत्राऽऽह—एतदपीति । तदर्थत्वमेव सम —यस्मादिति । इत्य[10]प्रमत्तैर्भवितव्यमिति शेषः । वृन्तेन सह फलं [11]येन रसेन संबध्यते स रसो ब कारणभूतो बन्धनं वृन्तमेव वा बन्धनं यस्मिन्फलं बध्यते रसेनेति व्युत्पत्तेस्तस्माद्बन्धनाद[12]नेकनि वशात्पूर्वोक्तस्य फलस्य भवति प्रमोक्षणमित्याह—बन्धनादित्यादिना । लिङ्गात्मोपाधि

जिस समय जरादि निमित्तों से शरीर अत्यन्त कृश हो जाता है, उस समय जीव ऊर्ध्वोच्छ्वा जाता है । जब ऊर्ध्वोच्छ्वासी हो जाता है तो उस समय भारी बोझ से लदे हुए छकड़े के समान करता हुआ जाता है" । सभी प्राणियों के लिए जरा से अभिभव, रागादि प्रयुक्त दुःख और कृ प्राप्ति; ये अनर्थ अवश्यंभावी हैं । इसलिए इसे वैराग्य के लिए कहा जाता है ।

जब यह लिङ्गात्मा शब्द करते हुए जाता है तो किस प्रकार शरीर छोड़ता है—इसे द्वारा कहा जाता है । वहाँ जिस प्रकार आम्रफल, गूलरफल अथवा पिप्पलफल (बन्धनों से छूट है) । अनेक विषम दृष्टान्तों का उपपादन मृत्यु के अनियत निमित्तत्व बताने के लिए है । निमित्त अनियत और असंख्य हैं । यह भी वैराग्य के लिए कहा जा रहा है । क्योंकि यह लिङ्ग ता वान्, संसारी, अनेकमरणनिमित्तवान् है, इसलिए सदा ही मृत्यु के मुख में पड़ा रहता है । "ब प्रमुच्यते" यानी बन्धन से छूट जाता है । जिस अपक्व रस वृन्त से बँधता है, वह बन्धन कारण है

---

१. लिङ्गात्मा । २. फलम् । ३. विषमेति—वैषम्यं त्वमीषामाम्रत्वोदुम्बरत्वादिधर्मेण । विच्छे निमित्तवैषम्येण च बोध्यम् । आम्रं तावत्पक्वं सदन्तरेणापि वातादिवाह्यनिमित्तं वृन्तरसक्लेदादेव पतच्च तद्वृन्तरहितमेव पतति । उदुम्बरं वृन्तेन सह वातादिना । पिप्पलं पक्वमपि शकुन्तादिभिरेव वातमात्रेणेति । ४. अवतरणोक्तार्थमपि । ५. लिङ्गतादात्म्यवान् संसारी । ६. अपक्वरसेन । अपक्वेन रसेन । ८. रसादिति—रसो हि पाकावस्थायां क्लेदमापद्यमानोऽबलः सन् नोत्सहते फलम मिति भावः । ९. किमर्थम् । १०. मोक्षाय ज्ञानसाधनेषु । ११. अपक्वेन । १२. गुरुत्वरस शकुन्तसंबन्धादिनिमित्तेत्यर्थः ।

ते [1]वाताद्यनेकनिमित्तमेवमेवायं पुरुषो लिङ्गात्मा लिङ्गोपाधिरेभ्योऽङ्गेभ्यश्चक्षु-देहा[2]वयवेभ्यः संप्रमुच्य सम्यङ्[3]निर्लेपेन प्रमुच्य। न सुषुप्तगमनकाल इव प्राणेन रक्षन्। किं तर्हि सह वायुनोपसंहृत्य। पुनः त्यायं पुनःशब्दात्पूर्वमप्ययं[4] देहाद्देहान्तरमसकृद्गतवान्यथा स्वप्नबुद्धान्तौ पुनः पुन-ति तथा पुनः प्रतिन्यायं प्रतिगमनं यथागतमित्यर्थः। प्रतियोनि योनिं [5]योनिं कर्म[6]श्रुतादिवशादाद्रवति। किमर्थम्। प्राणायैव [7]प्राणव्यूहायैवेत्यर्थः। [8]सप्राण

शिष्टः शारीरस्तथोच्यते। संप्रमुच्याऽऽद्रवतीति [10]संबन्धः।

[11]समित्युपसर्गस्य तात्पर्यमाह—नेत्यादिना। यदि [12]स्वप्नावस्थायामिव मरणावस्थायां प्राणेन रक्षन्नाद्रवतीति नाऽऽद्रियते केन प्रकारेण तर्हि [13]तदा देहान्तरं प्रति गमनमित्याशङ्क्याऽऽह—किं ति। वायुना प्राणेन सह करणजातमुपसंहृत्याऽऽद्रवतीति पूर्ववत्संबन्धः। पुनः प्रतिन्यायमिति प्रतीक-य पुनःशब्दस्य तात्पर्यमाह—पुनरित्यादिना। तथा पुनराद्रावतीति संबन्धः। यथा पूर्वमिमं देहं वान्पुनरपि तथैव देहान्तरं गच्छतीत्याह—प्रतिन्यायमिति। देहान्तरगमने कारणमाह—कर्मेति। शब्देन [14]पूर्वप्रज्ञा गृह्यते। प्राणव्यूहाय प्राणानां [15]विशेषाभिव्यक्तिलाभायेति यावत्। प्राणायेति

था वृन्त बन्धन कहा जाता है। उस रस या वृन्तरूप बन्धन से वायु आदि अनेक कारणों से फल जाता है। उसी प्रकार "अयं पुरुषः" अर्थात् यह लिङ्गोपाधिक लिङ्गात्मा "एभ्योऽङ्गेभ्यः" त् सम्यक् निःशेषतः मुक्त हो कर (पूर्वागत मार्ग से चला जाता है)।

जिस प्रकार सुषुप्तावस्था में जाने के समय प्राण के द्वारा रक्षा करने के समान नहीं; तो प्रकार? प्राण वायु के सहित चक्षुरादि गोलकों का उपसंहार करके। "पुनः प्रतिन्यायं" यहाँ पुनः कथन से यह प्रयोजन है कि जिस प्रकार जीव पुनः पुनः जागरित और स्वप्न अवस्था में जाता उसी प्रकार पहले भी यह लिङ्गात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में गया था। अतः पुनः जिस

---

१. वाताद्यनेकनिमित्तादिति यावत्। निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्। २. गोलकेभ्यः। ३. सम्यक्त्वं व्यनक्ति—निर्लेपेनेति निःशेषमिति यावत्। स्वप्नसुषुप्त्यादौ हि प्राणावशेषो लिङ्गोपसंहारो मरणे तु प्राणेन सहैवेत्यर्थः। ४. लिङ्गात्मा। ५. शरीरम्। ६. श्रुतमुपासनम्। ७ प्राणव्यूहायैवेति—प्राणानां यथा गोलकमवस्थानायेत्यर्थः न तु प्राणग्रहणायेत्येवकारार्थः। सप्राणस्यैव गमनादित्यनुपदमेव स्फुटी भवति। ८. सप्राण एव हि गच्छतीति—तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामतीति श्रुतेरिति हृदयम्। ९. पर्यव-सानं तु विशेषणे एवेति ध्येयम्। १०. संबन्ध इति—अत्रेदमवधेयम् लिङ्गस्य स्थूलेऽवस्थितिस्तु अन्नरस-निबन्धनाऽन्नं दामेति श्रुतेः। रसश्चान्नस्याणिष्ठः परिणामः। स च यावत्सबलस्तावदेवात्रावतिष्ठते लिङ्गं स्थूले तस्य जरारोगादिना दुर्बलत्वे तु वृन्तरसपरिपाकाद्वृन्तात्फलमिव स्थूलाद्वियुज्यत एव लिङ्गात्मेति स्पष्टं चैतत्स-विस्तरं वार्तिकामृत इत्यधिकं तत एवावगन्तव्यमित्यलम्। ११. अक्षरार्थस्तु निर्लेपेनेत्युक्तः। १२. भाष्ये सुषुप्ते गमनं यस्माद् (यद्द्वारा) इति विग्रहमभिप्रेत्याह—स्वप्नेति। इदं च प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायमिति श्रुतेः स्वप्नपरत्वानुरोधेनेति ध्येयम्। १३. मरणकाले। १४. संस्कारः। १५. चक्षुरिदं श्रोत्रमिद-मित्येवम्।

कार्श्यापत्तिश्च शरीरवतोऽवश्यंभाविन एतेऽनर्था इति वैराग्यायेदमुच्यते ।

यदा[1]ऽसावुत्सर्जन्याति तदा कथं शरीरं विमुञ्चतीति दृष्टान्त उच्यते— यथाऽऽम्रं वा फलमुदुम्बरं[2] वा फलं पिप्पलं वा फलम् । [3]विषमानेकदृष्टान्तोपादानं मरणस्यानियतनिमित्तत्वख्यापनार्थम् । अनियतानि हि मरणस्य निमित्ता ख्यातानि च । [4]एतदपि वैराग्यार्थमेव । यस्माद[5]यमनेकमरणनिमित्तवांस्तस्मा मृत्योरास्ये वर्तत इति । बन्धनाद्बध्यते [6]येन वृन्तेन सह स बन्धनका रसो यस्मिन्वा बध्यत इति वृन्तमेवोच्यते [7]बन्धनं तस्माद्र[8]साद्वृन्ताद्वा बन्धना

—जरेति ।

तद्यथेत्यादिवाक्यं प्रश्नपूर्वकमादाय व्याचष्टे—यदेत्यादिना । फलं बन्धनात्प्रमुच्यत संबन्धः । [9]किमिति विषमानेकदृष्टान्तोपादानमेकेनापि विवक्षितसिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह— विषमे कथं मरणस्यानियतान्यनेकानि निमित्तानि संभवन्तीत्याशङ्क्यानुभवमनुसृत्याऽऽह—अनियतानि अथ मरणस्यानेकानियतनिमित्तवत्त्वसंकीर्तनं कुत्रोपयुज्यते तत्राऽऽह—एतदपीति । तदर्थत्वमेव सम —यस्मादिति । इत्य[10]प्रमत्तैर्भवितव्यमिति शेषः । वृन्तेन सह फलं [11]येन रसेन संबध्यते स रसो कारणभूतो बन्धनं वृन्तमेव वा बन्धनं यस्मिन्फलं बध्यते रसेनेति व्युत्पत्तेस्तस्माद्बन्धनाद[12]नेकनि वशात्पूर्वोक्तस्य फलस्य भवति प्रमोक्षणमित्याह—बन्धनादित्यादिना । लिङ्गमात्मोपाधि

जिस समय जरादि निमित्तों से शरीर अत्यन्त कृश हो जाता है, उस समय जीव ऊर्ध्वोच्छ्वा जाता है। जब ऊर्ध्वोच्छ्वासी हो जाता है तो उस समय भारी बोझ से लदे हुए छकड़े के समान करता हुआ जाता है"। सभी प्राणियों के लिए जरा से अभिभव, रागादि प्रयुक्त दुःख और कृश प्राप्ति; ये अनर्थ अवश्यंभावी हैं। इसलिए इसे वैराग्य के लिए कहा जाता है।

जब यह लिङ्गात्मा शब्द करते हुए जाता है तो किस प्रकार शरीर छोड़ता है—इसे द्वारा कहा जाता है। वहाँ जिस प्रकार आम्रफल, गूलरफल अथवा पिप्पलफल (बन्धनों से छूट है)। अनेक विषम दृष्टान्तों का उपपादन मृत्यु के अनियत निमित्तत्व बताने के लिए है। निमित्त अनियत और असंख्य हैं। यह भी वैराग्य के लिए कहा जा रहा है। क्योंकि यह लिङ्ग वान्, संसारी, अनेकमरणनिमित्तवान् है, इसलिए सदा ही मृत्यु के मुख में पड़ा रहता है। "ब प्रमुच्यते" यानी बन्धन से छूट जाता है। जिस अपक्व रस वृन्त से वँधता है, वह बन्धन कारण है

---

१. लिङ्गात्मा। २. फलम्। ३. विषमेति—वैषम्यं त्वमीषामाम्रत्वोदुम्बरत्वादिधर्मेण । विच्छे निमित्तवैषम्येण च बोध्यम्। आम्रं तावत्पक्वं सदन्तरेणापि वातादिवाह्यनिमित्तं वृन्तरसक्लेदादेव पतच्च तद्वृन्तरहितमेव पतति। उदुम्बरं वृन्तेन सह वातादिना। पिप्पलं पक्वमपि शकुन्तादिभिरेव वातमात्रेणेति। ४. अवतरणोक्तार्थमपि। ५. लिङ्गतादात्म्यवान् संसारी। ६. अपक्वरसेन। अपक्वेन रसेन। ८. रसादिति—रसो हि पाकावस्थायां क्लेदमापद्यमानोऽबलः सन् नोत्सहते फलम मिति भावः। ९. किमर्थम्। १०. मोक्षाय ज्ञानसाधनेषु। ११. अपक्वेन। १२. गुरुत्व शकुन्तसंवन्धादिनिमित्तेत्यर्थः।

[1]'वाताद्यनेकनिमित्तमेवमेवायं पुरुषो लिङ्गात्मा लिङ्गोपाधिरेभ्योऽङ्गेभ्यश्चक्षु-देहा[2]वयवेभ्यः संप्रमुच्य सम्यङ्[3]निर्लेपेन प्रमुच्य।

न सुषुप्तगमनकाल इव प्राणेन रक्षन्। किं तर्हि सह वायुनोपसंहृत्य। पुनः त्यायं पुनःशब्दात्पूर्वमप्ययं[4] देहाद्देहान्तरमसकृद्गतवान्यथा स्वप्नबुद्धान्तौ पुनः पुन-ति तथा पुनः प्रतिन्यायं प्रतिगमनं यथागतमित्यर्थः। प्रतियोनि योनिं [5]योनिं कर्म[6]श्रुतादिवशादाद्रवति। किमर्थम्। प्राणायैव [7]प्राणव्यूहायैवेत्यर्थः। [8]'सप्राण

शारीरस्तथोच्यते। संप्रमुच्याऽऽद्रवतीति [10]संबन्धः।

[11]समित्युपसर्गस्य तात्पर्यमाह—नेत्यादिना। यदि [12]स्वप्नावस्थायामिव मरणावस्थायां प्राणेन रक्षन्नाद्रवतीति नाऽऽद्रियते केन प्रकारेण तर्हि [13]तदा देहान्तरं प्रति गमनमित्याशङ्क्याऽऽह—किं। वायुना प्राणेन सह करणजातमुपसंहृत्याऽऽद्रवतीति पूर्ववत्संबन्धः। पुनः प्रतिन्यायमिति प्रतीक-पुनःशब्दस्य तात्पर्यमाह—पुनरित्यादिना। तथा पुनराद्रावतीति संबन्धः। यथा पूर्वमिमं देहं पुनरपि तथैव देहान्तरं गच्छतीत्याह—प्रतिन्यायमिति। देहान्तरगमने कारणमाह—कर्मेति। शब्देन [14]पूर्वप्रज्ञा गृह्यते। प्राणव्यूहाय प्राणानां [15]विशेषाभिव्यक्तिलाभायेति यावत्। प्राणायेति

वृन्त बन्धन कहा जाता है। उस रस या वृन्तरूप बन्धन से वायु आदि अनेक कारणों से फल जाता है। उसी प्रकार "अयं पुरुषः" अर्थात् यह लिङ्गोपाधिक लिङ्गात्मा "एभ्योऽङ्गेभ्यः" सम्यक् निःशेषतः मुक्त हो कर (पूर्वागत मार्ग से चला जाता है)।

जिस प्रकार सुषुप्तावस्था में जाने के समय प्राण के द्वारा रक्षा करने के समान नहीं; तो प्रकार? प्राण वायु के सहित चक्षुरादि गोलकों का उपसंहार करके। "पुनः प्रतिन्यायं" यहाँ पुनः कथन से यह प्रयोजन है कि जिस प्रकार जीव पुनः पुनः जागरित और स्वप्न अवस्था में जाता प्रकार पहले भी यह लिङ्गात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में गया था। अतः पुनः जिस

---

१. वाताद्यनेकनिमित्तादिति यावत्। निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्। २. गोलकेभ्यः। ३. सम्यक्त्वं व्यनक्ति—निर्लेपेनेति निःशेषमिति यावत्। स्वप्नसुषुप्त्यादौ हि प्राणावशेषो लिङ्गोपसंहारो मरणे तु प्राणेन सहैवेत्यर्थः। ४. लिङ्गात्मा। ५. शरीरम्। ६. श्रुतमुपासनम्। ७ प्राणव्यूहायैवेति—प्राणानां यथा गोलकमवस्थानायेत्यर्थः न तु प्राणग्रहणायेत्येवकारार्थः। सप्राणस्यैव गमनादित्यनुपदमेव स्फुटी भवति। ८. सप्राण एव हि गच्छतीति—तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामतीति श्रुतेरिति हृदयम्। ९. पर्यव-मानं तु विशेषणे एवेति ध्येयम्। १०. संबन्ध इति—अत्रेदमवधेयम् लिङ्गस्य स्थूलेऽवस्थितिस्तु अन्नरस-निबन्धनाऽन्नं दामेति श्रुतेः। रसश्चान्नस्याणिष्ठः परिणामः। स च यावत्सवलस्तावदेवात्रावतिष्ठते लिङ्गं स्थूले तस्य जरारोगादिना दुर्बलत्वे तु वृन्तरसपरिपाकाद्वृन्तात्फलमिव स्थूलाद्वियुज्यत एव लिङ्गात्मेति स्पष्टं चैतत्स-विस्तरं वार्तिकामृत इत्यधिकं तत एवावगन्तव्यमित्यलम्। ११. अक्षरार्थस्तु निर्लेपेनेत्युक्तः। १२. भाष्ये सुषुप्ते गमनं यस्माद् (यद्द्वारा) इति विग्रहमभिप्रेत्याह—स्वप्नेति। इदं च प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायमिति श्रुतेः स्वप्नपरत्वानुरोधेनेति ध्येयम्। १३. मरणकाले। १४. संस्कारः। १५. चक्षुरिदं श्रोत्रमिद-मित्येवम्।

एव हि गच्छति [1]ततः प्राणायैवेति [2]विशेषणमनर्थकम् । प्राणव्यूहाय हि ग देहाद्देहान्तरं प्रति । [3]तेन ह्यस्य कर्मफलोपभोगार्थसिद्धिर्न प्राणसत्तामात्रेण । [4]तस त्तादर्थ्यार्थं युक्तं विशेषणं [5]प्राणव्यूहायेति ॥ ३६ ॥

तत्रा[6]स्येदं[7] शरीरं परित्यज्य गच्छतो नान्यस्य देहान्तरस्यो[8]पादाने सामर्थ्यम [9]देहेन्द्रियवियोगात् । न चान्ये[10]ऽस्य भृत्यस्थानीया गृहमिव [11]राज्ञे शरीरान्तरं कृत्वा प्रती

श्रुतिः किमर्थमित्थं व्याख्यायते[12] तत्राऽऽह—सप्राण इति । [13]एतच्च तदन्तरप्रतिपत्त्यधिक निर्धारितम् । प्राणायेति [14]विशेषणस्याऽऽनर्थक्याद्युक्तं प्राणव्यूहायेति [15]विशेषणमित्याह—प्राणे [16]नन्वस्य प्राणः सह वर्तते चेत्तावतैव भोगसिद्धेरलं प्राणव्यूहेनेत्याशङ्क्याऽऽह—तेन हीति । [17]अन् सुषुप्तिमूर्छयोरपि भोगप्रसक्तेरित्यर्थः । तादर्थ्यार्थं प्राणस्य [18]भोगशेषत्वसिद्ध्यर्थमिति यावत् ॥ ३

तद्यथा राजानमित्यादिवाक्यव्यावर्त्यामाशङ्कामाह—तत्रेति । मुमूर्षावस्था सप्तम्यर्थः अथास्य स्वयमसामर्थ्येऽपि शरीरान्तरकर्तारोऽन्ये भविष्यन्ति यथा राज्ञो भृत्या गृहनिर्मातारस्तत्रा —न चेति । स्वयमसामर्थ्यमन्येषां चासत्त्वमिति स्थिते फलितमाह—अथेति । तद्यथेत्यादिवाक्

प्रकार आया था, वैसे ही दूसरे शरीर में चला जाता है। "प्रतियोन्याद्रवति" अर्थात् अपने कर्म उपासना के अनुसार प्रत्येक शरीर में जाता है । किसलिए जाता है ? "प्राणायंव" अर्थात् प्राणों यथागोलक में प्रतिष्ठा के लिए। प्राणसहित तो जाता ही है; अतः "प्राणायैव" यह विशेषण होगा। यथागोलक अवस्थिति के लिए प्राणों का एक शरीर से दूसरे शरीर में गमन होता है, व्यूहस्थ प्राण से इसके कर्म फलोपभोगार्थ की सिद्धि होती है; केवल प्राणों के अस्तित्व मात्र से होती। इसलिये प्राण का भोगोपयोगित्व सिद्ध करने के लिए "प्राणव्यूहाय" यह विशेषण देना ही है ॥३६॥

(इस पर शङ्का होती है—) मरणावस्था में वर्तमान शरीर को छोड़कर जाने वाले में दूसरे शरीर को ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं है; क्योंकि उसको देहविशिष्ट इन्द्रियों का प वियोग हो जाता है। एवं जिस प्रकार राजा के लिए भृत्य गृहनिर्माण कर प्रतीक्षा करते हैं,

---

१. ततः—सप्राणस्यैव गमनात् । २. विशेषणमिति—प्राणग्रहणायेत्यर्थकं चेदिति शेषः । ३. व्यूहा प्राणेन । ४. तस्मात्—तत्तद्गोलकेषु करणस्थापनमन्तरा भोगाभावादित्यर्थः । ५. एतदर्थे प्राणायेति ६. भोक्तुः । ७. वार्तमानिकम् । ८. निर्माणे इति यावत् । ९. देहविशिष्टेन्द्रियस्य वियोगात् दे याणां मिथो वियोगादिति वार्थः । १०. भोक्तुः । ११. षष्ठ्यन्तं पाठान्तरम् राज्ञ इति । १२. न प्राणग्रहणायेतीति भावः । १३. एतच्चेति—प्राणेन सहैव जीवस्य देहान्तरं प्रतिगमनमित्यर्थः । "तदन्त प्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्" (ब्र. सू. ३. १. १.) देहान्तरप्राप्तौ तदारम्भकैः पञ्च भूतभागैः प्राणाधारभूतैर्वेष्ठितो जीवो रंहति गच्छति । "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भव (छा. उ. ५. ३. ३) इति प्रश्नस्य तदुत्तरस्य चैतदर्थानुगुण्यादिति सूत्राक्षरार्थः । १४. प्राणग्रहणायेत्यर्थक १५. विशेषणव्याख्यानम् । १६. लिङ्गात्मनो भोक्तुः । १७. प्राणसत्तामात्रेण भोगोपगमे । भोगोपयोगित्वसिद्ध्यर्थम् ।

तद्यथा राजानमायान्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्यो-

और जैसे अपने राष्ट्र में आते हुए राज्याभिषिक्त राजा की उग्रकर्मा एवं (चौरादि को दण्ड

माणा विद्यन्ते। अथैवं[1] सति कथमस्य शरीरान्तरो[2]पादानमिति । उच्यते—[3]सर्वं ह्यस्य जगत्स्वकर्मफलोपभोगसाधनत्वायोपात्तं स्वकर्मफलोपभोगाय चायं प्रवृत्तो देहाद्देहान्तरं प्रतिपित्सुस्तस्मात्सर्वमेव जगत्स्वकर्मणा प्रयुक्तं तत्कर्मफलोपभोगयोग्यं साधनं कृत्वा प्रतीक्षत एव । "कृतं लोकं पुरुषोऽभिजायते" इति श्रुतेः । यथा स्वप्नाज्जागरितं प्रतिपित्सोः ।

'तत्कथमिति' लोकप्रसिद्धो दृष्टान्त उच्यते—

तात्पर्यं दर्शयन्नुत्तरमाह—उच्यत इति । भवत्वज्ञस्य स्वकर्मफलोपभोगे साधनत्वसिद्धचर्थं सर्वं जगदुपात्तं तथाऽपि देहाद्देहान्तरं प्रतिपित्समानस्य किमायातमित्याशङ्कयाऽऽह—स्वकर्मेति । स्वकर्मणेत्यत्र स्वशब्दस्तत्कर्मफलोपभोगयोग्यमित्यत्र तच्छब्दश्च प्रकृतभोक्तृविषयौ । [7]तत्र प्रमाणमाह—कृतमिति । पुरुषो हि त्यक्तवर्तमानदेहो भूतपञ्चका[8]दिना निर्मितमेव देहान्तरमभिव्याप्य व्यज्यत इति श्रुतेरर्थः। उक्तमेवार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेति । स्वप्नस्थानाज्जागरितस्थानं प्रतिपत्तुमिच्छतः शरीरं पूर्वमेव कृतं नापूर्वं क्रियते तथा देहाद्देहान्तरं प्रतिपित्समानस्य पञ्चभूतादिना कृतमेव देहान्तरमित्यर्थः ।

प्रकार इस भोक्ता के लिए दूसरा शरीर बनाकर इन्द्रियादि प्रतीक्षा नहीं करतीं। ऐसा होने पर इसका दूसरा शरीर निर्माण कैसे संभव है ? (वादी समाधान करता है—) इस पर कहा जाता है। इस भोक्ता को यह सारा संसार अपने कर्मफल उपभोग के साधनरूप मे प्राप्त हुआ है और स्वकर्मफलोपभोग के लिए ही यह एक शरीर से दूसरे शरीर की प्राप्ति की इच्छा से प्रवृत्त होता है। इसलिए स्वकर्म से प्रेरित सम्पूर्ण संसार उसके कर्मफलोपभोग योग्य साधन होने से उसकी प्रतीक्षा करता ही है। श्रुति कहती है—"पुरुष देहान्तर को व्याप्त करके अभिव्यक्त होता है"। जैसे स्वप्नावस्था से जागरित स्थान को प्राप्त करने की इच्छा वाले पुरुष का शरीर पूर्व ही रचा रहता है।

यह कैसे कहते हो ? ऐसी जिज्ञासा होने पर लोक दृष्टान्त कहा जाता है—

---

१. अवतरणोक्तत्वात् । २. निर्माणम् । ३. सर्वं ह्यस्येति—अस्येति कर्तरि षष्ठी। हि यस्मादनेन भोक्त्रा पुंसा स्वकर्मफलोपभोगसाधनत्वार्थं सर्वमिन्द्रादिजगदुपात्तं स्वायत्तीकृतं तस्मात्सर्वमेवेन्द्रादिजगत् स्वामिभोगयोग्यं देहं कृत्वा भोक्तारं प्रतीक्षत एवेति योजना। तथा चोक्तं—"कर्मोपात्तानि भूतानि तत्प्रयुक्तानि देहिनः । कृत्वा देहान्तरं योग्यं तस्थू राज्ञोऽग्रगा इव" ॥ १९५८ ॥ इति । भोक्त्रुपचितकर्मोपार्जितानीन्द्रादिभूतानि तत्प्रेरितानि तत्फलाभिमुखानि तिष्ठन्तीत्याह—कर्मेति । भूतानामात्मकर्मोपार्जितत्वे सिद्धमर्थमाह—देहिन इति । ४. कृतं लोकमित्यादिश्रुतेर्देहान्तरनिर्मात्रन्तरसत्त्वे एव प्रमाणतयोपन्यासो बोध्यो देहारम्भकभूतैः। स हैवात्मनो गमनस्य रंहत्यधिकरणे सिद्धान्तितत्वात् । ५. अवतरणोक्तम् । ६. वीक्षायाम् । ७. तत्रेति—अस्य स्वयमसामर्थ्येऽपि देहान्तरनिर्मातारोऽन्ये सन्तीत्यस्मिन्नर्थे इत्यर्थः । ८. आदिना कर्मदेवतादि ग्राह्यम् ।

ऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छतीत्येवꣳ[1] हैवं[2]विदꣳ [3]सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त [4]इदं ब्रह्माऽऽयातीदमागच्छतीति ॥ ३७ ॥

देने के लिये) पापकर्म में नियुक्त सूत और गाँव के नेता लोग अन्नदान तथा निवासस्थान भोग्यवस्तु को तैयार रखकर "ये आये, ये आये" इस प्रकार कहते हुए प्रतीक्षा करते हैं, वैसे ही "यह ब्रह्म आता है, यह आता है" इस प्रकार कहते हुए इस कर्मफल के ज्ञाता की सभी भूत प्रतीक्षा करते हैं ॥३७॥

तत्तत्र[5] [6]यथा राजानं राज्याभिषिक्तमायान्तं स्वराष्ट्र [7]उग्रा जातिविशेषाः [8]क्रूरकर्माणो वा प्रत्येनसः प्रत्येनसि पापकर्मणि नियुक्ताः [9]प्रत्येनसस्तस्करादिदण्डनादौ नियुक्ताः [10]सूताश्च ग्रामण्यश्च सूतग्रामण्यः सूता वर्णसंकरजातिविशेषा ग्रामण्यो ग्रामनेतारस्ते पूर्वं

सर्वेषां भूतानां देहान्तरं कृत्वा संसारिणि परलोकाय प्रस्थिते प्रतीक्षणं केन प्रकारेणेति प्रश्नपूर्वकं दृष्टान्तवाक्यमुत्थाप्य व्याचष्टे—तत्तत्रेत्यादिना । [11]तत्र पापकर्मणि नियुक्तत्वमेव व्यनक्ति—तस्करादीति । आदिपदेनान्येऽपि [12]निग्राह्या गृह्यन्ते । दण्डनादावित्यादिशब्दो हिंसाप्रभेदसंग्रहार्थः । 'ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतः' इति स्मृतिमाश्रित्य सूतशब्दार्थमाह—वर्णसंकरेति । भोज्यभक्ष्यादिप्रकारं

"तद्यथा" अर्थात् जिस प्रकार "राजानमायान्तम्" अर्थात् अपने राष्ट्र में आते हुए राज्याभिषिक्त राजा की उग्र जाति विशेष अथवा क्रूरकर्मा "प्रत्येनसः" अर्थात् तस्करादि को दण्ड देने रूप पापकर्म में नियुक्त, "सूतग्रामण्यः" अर्थात् वर्णसंकर जातिविशेष सूत तथा ग्राम के नेता लोग

---

१. एवमेव । २. एवंविदमित्यनुवादो विधिर्वेति पक्षद्वयमपि वार्तिक उक्तम् । ३. सर्वाणि भूतानि शरीरारम्भकाणि चादित्यादीनि शरीरिणं भोक्तारं प्रति कल्पन्ते प्रतीक्षन्त उग्रादय इवायान्तं राजानम् । दृष्टान्तश्चायं शरीरारम्भकमात्मनो विद्यत इत्येतावत्यंशे एव विवक्षितो न तु पूर्वं भूतानि राजभृत्यवद् देहमारभ्य प्रतीक्षन्ते पश्चादात्मा राजवत्तत्र गच्छतीत्यंशेऽपि शरीरारम्भकभूतैः स हैवात्मनो गमनमिति राद्धान्तादिति ध्येयम् । ४. इदं ब्रह्माऽऽयातीत्यादि । "मुमूर्षुणा भाविदेहबन्धवः कर्मणाऽर्जिताः । एनं पुत्रादिभावाय प्रतीक्षन्तेऽखिलाः सदा ॥ ऋतावस्मिन्समायाति ब्रह्म पुत्रादिरूपतः । ऋतावनन्तरे वाऽयमायास्यत्येव सर्वथा ॥ क्षीरं पातुमियं धेनुरियं दोलाऽस्य लालने । इति संपाद्य तद्भोग्यमासते राजभृत्यवत् ॥ अनेन जीवेनेत्यादिप्रवेशस्य विवक्षया । ब्रह्मैव पुत्ररूपेण समायातीत्यभिज्ञगीः" ॥ ४४२-४४५ ॥ इति वार्तिकसारे तु प्रतीक्षमाणानि भूतानि मातापित्रादिरूपाणि वर्णितानीति ध्येयम् । ५. देहिनो देहान्तरग्रहे सहायाः सन्तीत्यस्मिन्नर्थे । ६. यथा दृष्टान्तः । ७. उग्रा जातिविशेषा इति । यथाह मनुः—"क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान् । क्षत्त्रशूद्रवपुर्जन्तुरुग्रो नाम प्रजायते" । इति । ८. क्रूरकर्माण इति—पापिजनानां शिरश्छेदादिक्रूरकर्मणि ये राज्ञा नियुक्तास्तेऽत्र तथा विवक्षिताः । ९. प्रत्येनस इति—प्रतिपापं दण्डादौ नियुक्ता इत्यर्थः । उग्रास्तु उग्रपापप्रतिकारे यथोक्ता इत्यनयोर्भेदो वार्तिकेऽभिहितः । १०. सूताश्च ग्रामण्यश्चेति । उभयत्र वार्तिके—"रथावाहाश्च सूताः स्यू रथवाहनकोविदाः । ग्रामण्यो ग्रामनेतारः सेनाधिपतयो मताः" ॥ १९६३ ॥ इति । ११. प्रत्येनःशब्दिते । १२. दण्डयाः ।

तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्राम-

जैसे जाने के लिये तैयार हुए राजा के सामने होकर उग्रकर्मा और पापकर्म में नियुक्त सूत

व राज्ञ आगमनं बुद्ध्वाऽन्नैर्भोज्यभक्ष्यादिप्रकारैः पानैर्मदिरादिभिरावसथैश्च प्रासादादिभिः प्रतिकल्पन्ते निष्पन्नैरेव प्रतीक्षन्तेऽयं राजाऽऽयात्ययमागच्छतीत्येवं वदन्तः । यथाऽयं दृष्टान्त [1]'एवं हैवंविदं कर्मफलस्य वेदितारं संसारिणमित्यर्थः । [2]'कर्मफलं हि प्रस्तुतं तदेवंशब्देन परामृश्यते । सर्वाणि [3]भूतानि शरीरकर्तॄणि करणानुग्रहीतॄणि चाऽऽदित्यादीनि तत्कर्मप्रयुक्तानि [4]'कृतैरेव कर्मफलोपभोगसाधनैः प्रतीक्षन्ते । इदं ब्रह्म भोक्तृ कर्तृ चास्मामायाति तथेदमागच्छतीत्येवमेव कृत्वा प्रतीक्षन्त इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

[5]'तमेव जिगमिषुं के सह गच्छन्ति । ये वा गच्छन्ति ते किं तत्क्रियाप्रणुन्ना

रित्यादिशब्देन लेह्यचोष्ययोः संग्रहः । मदिरादिभिरित्यादिपदेन क्षीरादि गृह्यते । प्रासादादिभिरित्यादिशब्दो [6]'गोपुरतोरणादिग्रहार्थः । विद्वन्मात्रे प्रतीयमाने किमिति कर्मफलस्य वेदितारमिति विशेषोपादानमित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मफलं हीति । तत्कर्मप्रयुक्तानीत्यत्र तच्छब्दः संसारिविषयः । संसारिणो वस्तुतो [7]"ब्रह्माभिन्नत्वा[8]'त्तस्मिन्ब्रह्मशब्दः । अभ्यासस्तू[9]'भयत्राऽऽदरार्थः ॥ ३७ ॥ तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमित्यादिवाक्यव्यावर्त्यं चोद्यमुत्थापयति—तमेवमिति । वागादय-

---

पहले से ही राजा के आने का समाचार पाकर 'अन्नैः" अर्थात् भोज्यभक्ष्यादि प्रकार के अन्नों से, "पानैः" अर्थात् मदिरादि से तथा "आवसथैः" यानी महलों आदि के द्वारा "प्रतिकल्पन्ते" अर्थात् तैयार हुए "यह राजा आता है, यह राजा आता है' इस प्रकार कहते हुए प्रतीक्षा करते हैं। जिस प्रकार यह दृष्टान्त है, "एवं हैवंविदं" अर्थात् इसी प्रकार ऐसा कर्मफल के जानने वाले जीव की (सम्पूर्ण भूत प्रतीक्षा करते हैं) । यहाँ उत्क्रान्त्यादिरूप कर्मफल का प्रसङ्ग है; उसीका 'एवं' शब्द से ग्रहण होता है। (भोक्ता के द्वारा अपने कर्म से अर्जित) शरीर की रचना करने वाले समस्त भूत तथा इन्द्रियों के अनुग्राहक सूर्यादि देवता, उसके कर्मों से प्रेरित होकर निष्पन्न कर्मफलोपभोग साधनों सहित प्रतीक्षा करते रहते हैं। "इदं ब्रह्म" यानी कर्ता भोक्ता जीव हमारे पास आ रहा है, तथा यह आ रहा है, इस प्रकार कहकर वे प्रतीक्षा करते रहते हैं, यह इसका भावार्थ है ॥३७॥

और जो परलोक शरीर के रचयिता इस प्रकार जाने की इच्छा वाले किन के साथ जाते हैं,

---

१. एवं ह—एवमेव । २. उत्क्रान्त्यादिरूपम् । ३. भोक्त्रा स्वकर्मणार्जितानि । ४. निष्पन्नैरेव । ५. तमेवमित्यादि—उक्तरीत्या देहान्तरं जिगमिषुं संसारिणं केऽनुगच्छन्तीत्यर्थः । अन्वर्थे सह शब्दोऽतो नात्र तृतीयाविभक्तेः शङ्कावसरः । ६. पुरद्वारं तु गोपुरम् । ७. ब्रह्माभिन्नत्वादिति—संसारित्वस्याविद्यकत्वादिति भावः । जीवस्यात्मस्वरूपे ब्रह्मास्मीति बुद्ध्युत्पादनाय जीवे ब्रह्मशब्दप्रयोग इति श्रुतितात्पर्यमुक्तं वार्तिके—"कथं नाम मतिस्तस्य ब्रह्मास्मीति भवेदिह । श्रुतिस्तत्तत्त्वबोधार्थं ब्रह्मेत्याह ततो नरम्" ॥ १९६८ ॥ इति । इह आत्मनि । ८. संसारिणि जीवे । ९. उभयत्र—दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः ।

ण्योऽभिसमायन्त्येवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥३८॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

एवं गाँव के मुखिया लोग एकत्रित हो जाते हैं; वैसे ही जब यह ऊर्ध्व श्वास लेने लगता है, तो अन्त काल में सभी प्राण इस जीवात्मा के सम्मुख होकर इसके साथ जाते हैं, अर्थात् जीव के साथ-साथ चक्षुरादि प्राण भी जाते हैं ॥ ३८ ॥

॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

आहोस्वित्तत्कर्मवशात्स्वयमेव गच्छन्ति परलोकशरीरकर्तॄणि च भूतानीति । [1]अत्रोच्यते दृष्टान्तः—तद्यथा राजानं प्रयियासन्तं प्रकर्षेण यातुमिच्छन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्यस्तं यथाऽभिसमायन्त्याभिमुख्येन समायन्त्येकी[2]भावेन तम[3]भिमुखा आयन्त्यनाज्ञप्ता एव राज्ञा केवलं तज्जिगमिषाभिज्ञाः, एवमेवेममात्मानं [4]भोक्तारमन्तकाले मरणकाले सर्वे प्राणा [5]वागादयोऽभिसमायन्ति । [6]यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवतीति व्याख्यातम् ॥३८॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥३॥

स्तमनुगच्छन्ती[7]त्याशङ्क्याऽऽह[8]—ये वेति । तत्क्रियाप्रगुणास्तस्य गन्तुर्वागादिव्यापारेण प्रेरिताः समाहूता इति यावत् । यानि च भूतानि परलोकशब्दितं शरीरं कुर्वन्ति यानि वा करणानुग्रहीतॄण्यादित्यादीनि तेष्वपि यथोक्तप्रश्नप्रवृत्तिं दर्शयति—परलोकेति । नाऽऽद्यः परलोकार्थं [9]प्रस्थितस्य वागादिव्यापाराभावादाह्वानानुपपत्तेः । न द्वितीयो भोक्तृकर्मणाऽपि वागादिष्वचेतनेषु स्वयं प्रवृत्तेरनुपपत्तेरिति चोदयितुरभिमानः । उत्तरवाक्येनो(णो)त्तरमाह—अत्रेत्यादिना । मरणकालमेव विशिनष्टि—यत्रेति । अचेतनानामपि रथादीनां चेतनप्रेरितानां प्रवृत्तिदर्शनाद्वागादीनामपि भोक्तृकर्मवशात्तदाहूतत्व-

आदित्यादि भूत जाते हैं, क्या वे उसके वागादि व्यापार से समाहूत होकर जाते हैं, अथवा उसके कर्म वशात् अपने आप जाते हैं? इसमें दृष्टान्त कहा जाता है—जिस प्रकार "प्रयियासन्तं राजानम्" अर्थात् जाने की उत्कट इच्छा वाले राजा के अभिमुख होकर उसके क्रूरकर्मा, तस्करादि को दण्ड देने के लिए नियुक्त पापकर्मा, सूत और गाँव के नेता लोग "अभिसमायन्ति" अर्थात् संघीभूत होकर राजा के समक्ष आते हैं, बिना राजा की आज्ञा के केवल गमन की इच्छा जानकर ही उद्यत हो जाते हैं। उसी प्रकार मरणासन्न होने पर वागादि सम्पूर्ण प्राण (बिना किसी के बुलाए कर्म से प्रेरित होकर)

---

१. अत्रेति । आत्मकर्मप्रेरिता वागादयोऽनुगच्छन्तीत्येतस्मिन्नर्थ इत्यर्थः । एतेन तद्यथेत्यत्रत्यतत्पदार्थो व्याख्यातः । २. संघीभूयेति यावत् । ३. राजसंमुखाः । ४. कर्मफलस्य भोक्तारम् । ५. अनाहूता एव तत्कर्मप्रणुन्नाः । ६. यत्रैतदित्यादि—वार्तिके त्वेवंविदमित्यत्र विधिपक्षस्याप्यङ्गीकारात् मरणसमये वागादय इतरान् क्लेशयन्तोऽपि यथाशास्त्रमुत्क्रान्तिवेदिनं संसृतावनास्थावन्तं त्वक्लेशयन्त एवानुवर्तन्त इति वर्णितमित्यलम् । ७. इत्याशङ्क्य—इति मनस्येव समाधानं कृत्वा । ८. आह—चोद्यान्तरमित्यर्थः । ९. जीवस्य ।

(अथ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम्)

स यत्रायमात्मा । *संसारोपवर्णनं [1]प्रस्तुतम् । तत्रायं [2]पुरुष [3]एभ्योऽङ्गेभ्यः

मुच्येत्युक्तम् । तत्संप्रमोक्षणं कस्मिन्काले कथं वेति सविस्तरं संसरणं वर्णयितव्य-

---

ता प्रवृत्तिः संभवतीति भावः ॥ ३८ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां चतुर्थाध्यायस्य ज्योतिर्ब्राह्मणं तृतीयम् ॥३॥

ब्राह्मणान्तरमुत्थापयति—स यत्रेति । *तस्य संबन्धं[4] वक्तुमुक्तं कीर्तयति—संसारेति । प्रमाणोपयोगित्वेनोक्तमर्थान्तरमनुद्रवति—तत्रेति । संसारप्रकरणं सप्तम्यर्थः । संप्रत्याकाङ्क्षापूर्वक-

---

ना आत्मा के समक्ष एकत्रित हो जाते हैं । ‘जहाँ यह ऊर्ध्वोच्छ्वासी हो जाता है’—इसकी व्याख्या की जा चुकी है ॥३८॥

इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषत् में चतुर्थ अध्याय तृतीय ब्राह्मण के
शाङ्करभाष्य का हिन्दी भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥३॥

“वह यह आत्मा जिस समय (दुर्बलता को प्राप्त हो)” यहाँ संसार के उपवर्णन का प्रसङ्ग है । “यह लिङ्गात्मा चक्षुरादि स्थानों से पूर्णतया मुक्त होकर” ऐसा कहा गया है । आत्मा की वह या मुक्ति किस समय और कैसे होती है—इस प्रकार संसरण का विस्तारपूर्वक वर्णन करना है ।

---

[1] प्रस्तुतं तद्यथाऽनः सुसमाहितमित्यादिना । [2] लिङ्गात्मा । [3] चक्षुरादिस्थानेभ्यः । [4] समासव्यास-भावात्मकं समानविषयत्वरूपं वा ।

---

*संसारोपवर्णनमित्यादीत्यारभ्यत इत्यन्तभाष्ये वार्तिकाचार्यास्तथाहि—“यत उत्क्रान्तिरुक्तेयं विशिष्टफलसंगतेः । सर्वेषामविशिष्टाऽतः स यत्रेत्युच्यतेऽधुना ॥ करणानां समुत्क्रान्तिर्गमनं च तयोः समम् । प्रागुक्तं तत्र यन्नोक्तं तदेवेहोच्यतेऽधुना ॥ संसारस्याधिकारोऽयमा श्लोकोदाहृतेर्मतः । स यत्रेत्यत आरभ्य पुंसः संसारवर्णनम् ॥ पुंसः संसरणं पूर्वं सूत्रितं यत्समासतः । विस्तरस्तस्य वक्तव्य इत्यर्था वा परा श्रुतिः ॥ तत्संप्रमोक्षणं कस्मिन्पुंसः कालेऽभिजायते । कथं वेत्यादिकोऽत्रार्थो विस्तरेणोपवर्ण्यते” ॥१-५॥ इति । पूर्वस्मिन्ब्राह्मणे कार्यकरणसंघाता-तिरिक्तस्याऽऽत्मनः स्वयंज्योतिषोऽवस्थात्रयातीतस्याविद्याकामकर्मनिर्मुक्तस्यानतिशयानन्दस्यापि दुरपह्नवानाद्य-विद्यानिमित्तकामादिकृतमिहलोकपरलोकसंचरणमवस्थाद्वयसंचारदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकं मोक्षोदाहरणं च सुषुप्त-व्याख्यातम् । अधुना मोक्षस्यैव सुषुप्तिदार्ष्टान्तिकस्य शिष्टत्वात्तस्मिन्वक्तव्ये पुनः संसारोक्तिरयुक्ता पुनरुक्तेरित्या-शङ्क्य ब्राह्मणान्तरमवतारयति—यत इति । वैशिष्ट्ये हेतुमाह—फलेति । एवंविदं सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इति श्रुतेरित्यर्थः ॥ एवंवित्त्वविधिपक्षे संबन्धमुक्त्वा तदनुवादपक्षे तमाह—करणानामिति । तयोर्जीवप्राणयोरिति यावत् । प्रागुक्तं तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमित्यादावित्यर्थः । यन्नोक्तं तेजोमात्रादानादीत्यर्थः ॥ सर्वस्यैव ब्राह्मण-स्य संसारविषयत्वं व्यावर्तयितुं संसारप्रकरणपरिमाणमाह—संसारस्येति । स यत्रायमित्यस्मादारभ्य तदेव सक्तः कर्मणेति श्लोकसहितार्वाक्तनग्रन्थेन संसारप्रकरणं यतो निवृत्तमतोऽकामयमानवाक्यात्प्रागेव वैराग्यहेतोः संसार-वर्णनमित्यर्थः ॥ भाष्याद्बहिरेव संबन्धद्वयोक्त्या पुनरुक्तिं समाधाय भाष्योक्तसंबन्धमनुसृत्य तां समाधत्ते—पुंस इति ॥ विस्तरप्रकारमेवाऽऽह—तदिति ।देहाङ्गानि च सर्वनाम्ना गृहीतानि तानि हि पुंसो देहान्मुच्यमानस्या-पादानभूतानि । आदिपदेन देहान्तरोपादानोपकरणारम्भादि गृह्यते । अत्रेति वक्ष्यमाणसंसारप्रकरणोक्तिः ॥

* तस्य संबन्धं वक्तुमुक्तं कीर्तयतीति । संबन्धोऽत्र समासव्यासभावो विज्ञेयः । पूर्वं संक्षेपेणोक्तस्यैव संसरण-

[1]स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्य संमोहमिव न्येत्य[2]थैन-मेतें प्राणा अभिसमायन्ति ❀स एतास्तेजोमात्राः

वह आत्मा जब दुर्बलता को प्राप्त हो मानो संमूढता (विवेकाभाव) को प्राप्त होता है, वागादि प्राण सामने एकत्रित हो जाते हैं, वह इन प्राणों की तेजोमात्रा को सम्यक् प्रकार से

मित्यारभ्यते—

सोऽयमात्मा [3]प्रस्तुतो यत्र [4]यस्मिन्कालेऽबल्यम[5]बलभावं नि एत्य गत्वा। यद् देहस्य दौर्बल्यं तदात्मन एव दौर्बल्यमित्यु[6]पचर्यतेऽबल्यं न्येत्येति । न ह्यसौ [7]स्वतो[8]ऽमूर्त

मुत्तरब्राह्मणमादत्ते—तत्संप्रमोक्षणमिति । एवं ब्राह्मणमवतार्य तदक्षराणि व्याकरोति—सोऽयमि दिना । गत्वा संमोहमिव न्येतीत्युत्तरत्र संबन्धः । कथमात्मनो दौर्बल्यं तदाह—यद्देहस्येति । त्युपचारो मुख्यमेवाऽऽत्मनो दौर्बल्यं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । यथाऽयमबलभावं च्छति तथा संमोहं संमूढतामिव प्रतिपद्यते । विवेकाभावो हि संमोहः । [9]तथा च संमूढतामिव

इसलिए आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता हैं ।

वह यह प्रकरणस्थ आत्मा "यत्र" अर्थात् मरणासन्न होने पर "अबल्यं" यानी जरा-रोगादि दुर्बलता को 'न्येत्य' अर्थात् प्राप्त होकर । जो शरीर की दुर्बलता है; वही आत्मा का दौर्बल्य है। प्रकार तादात्म्याध्यास से उपचरित होता है—"आत्मा दुर्बलता को प्राप्त होकर"। अशरीर होने कारण देह-तादात्म्य अध्यास के बिना स्वयं यह दुर्बलता को प्राप्त नहीं होता । उसी प्रकार "संमो

---

[1] एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्येत्यादिना वैराग्यार्थं सूचितं संप्रमोक्षणं कस्मिन् काले कथं वेति जिज्ञासायां सवि तद्वर्णयितुं शारीरकब्राह्मणं इति नु कामयमान इत्यन्तं प्रवर्तते । यद्वा—"तृतीयब्राह्मणे प्रोक्ता देहे स्वप्नादिसं देहान्तरे तु संसारो मुक्तिश्चाथात्र वर्ण्यते" ॥ वा. सा. ४. ४. १ ॥ इति स इत्यादिना । [2] न्येतीत्य मुमूर्षोर्बाह्यामवस्थामुक्त्वाऽथान्तरीं तामाह—अथैनमित्यादिना । [3] तद्यथाऽनः सुसमाहितमित्यादौ प्रकृ [4] मरणावसरे । [5] जरारोगादिभिर्दौर्बल्यं कार्श्यम् । [6] तादात्म्याध्यासात् । [7] देहतादात्म्या विना । [8] अशरीरत्वात् । [9] तथा चेति—विवेकैकरूपस्य तदभावत्वानर्हत्वात् । तस्य तदभाववत्त्वसं दिति वार्थः ।

स्यात्र विस्तरेण वर्णयितव्यात् । आहुश्चाच वार्तिककारपादाः—"पुंसः संसरणं पूर्वं सूत्रितं यत्समासतः । विस्त स्तस्य वक्तव्य इत्यर्था वा परा श्रुतिः" ॥ ४ ॥ इति । समासव्यासौ च व्याख्येयव्याख्यानाभ्यां नात्यन्त रिच्यते । समानविषयत्वमेव वा संबन्धः संसरणस्यैवोभयत्र प्रतिपाद्यमानत्वात् । न च सङ्गतेः षोढात्वेन नि त्वात्कथमिमौ संबन्धाविति रेकणीयम् । षोढात्वेन नियतस्य हि संबन्धत्वं ग्रन्थयोः पौर्वापर्यनियामकत्वप्रयु तन्नियामकत्वस्य चानयोरप्यविशिष्टत्वादिति ।

❀ स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददान इति । अत्र वार्तिकानि—"कथं तमभिसंयान्तीत्युक्ते श्रुत्याऽभिधीयते । आत्मानमभिसंयान्ति वागादीनि यथा स्फुटम् ॥ स आत्मा प्रकृतस्त्वेताश्चक्षुः श्रोत्रादिलक्षणाः । तेजोमात्रा देशं समये मृतिकर्मणः । उद्भूताकूतविज्ञानो मृतिं प्रति यदा तदा । आकूतानुविधायीनि जायन्ते करणा

समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति [1]स यत्रैष चाक्षुषः पराङ्पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति ॥ १ ॥

में ही अभिव्यक्त विज्ञान वाला होता है। जब यह चाक्षुष पुरुष सभी ओर से पृथक् हो जाता है, यह मरणासन्न पुरुष रूपादि ज्ञान से हीन हो जाता है ॥ १ ॥

लभावं गच्छति । तथा संमोहमिव संमूढता संमोहो विवेकाभावः [2]संमूढतामिव न्येति गच्छति । न चास्य स्वतः संमोहोऽसंमोहो वाऽस्ति [3]नित्यचैतन्यज्योतिःस्वभावत्वात् । इवशब्दः संमोहमिव न्येतीति । उत्क्रान्तिकाले हि [5]करणोपसंहारनिमित्तो व्याकुलीभाव आत्मन इति लक्ष्यते [6]लौकिकैः । तथा च वक्तारो भवन्ति संमूढः संमूढोऽयमिति ।

तीति युक्तमित्याह—तथेति । इवशब्दार्थमाह—न चेति । कथं पुनरात्मनः [8]समारोपितोऽपि संमोहः नित्यचैतन्यज्योतिष्ट्वादित्याशङ्क्याऽऽह—उत्क्रान्तीति । व्याकुलीभावो लिङ्गस्येति शेषः । [7]तत्र लौकिकीं [9]वार्तामनुकूलयति—तथेति ।

न्येति" यानी (मूर्च्छादि में) संमूढता या विवेक शून्य सा हो जाता है। नित्य चैतन्य ज्योतिस्वरूप से इसमें स्वयं संमोह या असंमोह नहीं है। इसी से "संमोहमिव न्येति" इस वाक्य में 'इव' शब्द प्रयोग है क्योंकि प्राणोत्क्रमण के समय इन्द्रियों के उपसंहार के कारण होने वाली व्याकुलता विवेकियों को आत्मा के समान ही जान पड़ती है और इसीसे लोगों से सुनने को मिलता है; "संमूढः" अर्थात् यह निश्चेष्ट हो गया है।

---

[1] स यत्रैष इत्यादि । यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ्पर्यावर्तते । अथ—तदा । स—मुमूर्षुररूपज्ञो भवति रूपं न जानातीत्यर्थः । [2] मूर्च्छादावित्यर्थः । [3] नित्यचैतन्येति । तथा चोक्तं वार्तिके—"बोधमात्रैकयाथात्म्यान्नायं संमोहभाग्यतः । संमूढबुद्धिसाक्षित्वात्संमूढ इव भात्यतः" ॥ ६ ॥ इति । [4] तेनेति—उक्तस्वाभाव्यादात्मनः स्वतः संमोहासंमोहयोरभावेन संमोहमिव न्येतीतीवशब्दः प्रयुक्त इति योजना । [5] करणेत्यादि—करणानां स्वस्थानाऽदार्ढ्यहेतुकः स्वगोचरेष्वशक्तिविशेष इत्यर्थः । [6] अविवेकिभिः । [7] कल्पितोऽपि । [8] आत्मनः समारोपितसंमोहम् । [9] जनश्रुतिम् ।

स्वाकूतानुविधायित्वं यत्तदा करणात्मनाम् । अभ्याददान इति तत्कर्तृत्वं स्यादिहाऽऽत्मनः ॥ एतत्कर्तृत्वमापेक्ष्य श्रुत्यैवमभिधीयते । अभ्याददान इति तु तेजोमात्राः स्वदेशतः ॥ मीयन्ते विपया याभिर्मात्रास्ताश्चक्षुरादयः । तेजोविकृतिहेतुत्वात्तेजोमात्राश्च ताः स्मृताः ॥ सत्त्वं तेजोऽत्र विज्ञेयं तदेव करणात्मना । प्रविभक्तं हि तच्छब्दस्पर्शाद्यर्थविभासनात् ॥ पित्ताख्यं वा भवेत्तेजस्तदंशाश्चक्षुरादयः । इत्येवमायुर्वेदज्ञाः करणानि प्रचक्षते ॥ यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । इति प्रकाशरूपत्वं करणानां श्रुतिर्जगौ ॥ भौतिकस्तु प्रकाशोऽयं भौतिकार्थप्रकाशनात् । प्रदीपवन्न भूतेभ्यो जात्यन्तरमतो भवेत् ॥ स्पष्टं च वक्ष्यतेऽथोर्ध्वमेतेभ्य इति हि श्रुतिः । अक्षाणि भौतिकान्येव नातः शक्तय आत्मनः ॥ लिङ्गात्मकानां भूतानां निर्देशोऽविद्यया सह । तन्नाशमनु नाशः स्याद्यतो दुःखात्मनस्ततः ॥ पिण्डनाशेऽपि नैवास्य नाशः संसारिणो यतः । अविद्यादीनि भूतानि तत्रोच्यन्ते ततो ध्रुवम् ॥

अथवोभयत्रेवशब्दप्रयोगो योज्योऽबल्यमिव न्येत्य संमोहमिव न्येतीति । 'उभय ²परोपाधिनिमित्तत्वाविशेषात् । समानकर्तृकनिर्देशाच्च । अथा³स्मिन्काल एते प्रा

यथाश्रुतमिवशब्दं गृहीत्वा वाक्यं व्याख्याय पक्षान्तरमाह—अथवेति । इवशब्दप्रयोग भयत्र योजनामेवाभिनयति—अबल्यमिति । उभयत्र तद्योजने हेतुमाह—उभयस्येति । ल्यप्प्रत्यये बल्यसंमोहयोरेककर्तृकत्वनिर्देशादप्युभयत्रेवकारो द्रष्टव्य इत्याह—समानेति । अथेत्यादि वाक्य

अथवा 'इव' शब्द का प्रयोग दोनों जगह जोड़ लेना चाहिए । "दुर्बल सा हो जाता है, सा हो जाता है" क्योंकि कार्श्य और संमोह दोनों का देह और बुद्धि आदि से उपाधिकृत होना समा तथा दोनों का ही समान कर्ता उपपादित किया गया है । एवं इस समय ये वागादि प्राण, इन्द्रियाँ

---

१. कार्श्यसंमोहरूपस्य । २. देहबुद्ध्याद्युपाधिरिति भावः । ३. प्रारब्धकर्मावसानानन्तर्यमथशब्दार्थं प्रेत्याह—अस्मिन्निति । अत्र यस्मिन्निति पाठोऽपि नान्याय्यः ।

मात्रासंसर्ग एवास्य तथाचैव प्रचक्ष्यते । विज्ञानेनाथ विज्ञानमादायेत्यपि चावदत् ॥ अस्य लोकस्य चेत्युक्तं मित्यादि चापरम् । सर्वेष्वेषु प्रदेशेषु भूतमात्राग्रहः श्रुतौ । भूतेभ्यो नापरं वस्तु यस्मादात्मन ईक्ष्यते ॥ विवेको भूतानां यः परोऽतीव शुद्धितः । तेजोमात्रादिवचसा स एवात्राभिधीयते ॥ इन्द्रियाणीन्द्रियार्था विकारः परात्मनः । अतो न जायत इति तद्विकारनिषेधतः ॥ जन्मादिविक्रियाषट्कं साक्षान्न परमात्म अपूर्वानपराद्युक्तेर्नेति नेत्यादिवाक्यतः ॥ न च वेदान्तसिद्धान्ते परमात्मातिरेकतः । इष्टं विकारवद्वस्तु कापिलशासने ॥ स्वतः कूटस्थतत्त्वस्य तदसंबोधतस्ततः । जन्मादिविक्रियाषट्कसंगतिः स्यात्परात्मनः । आत्मकारणवादोऽयमेवं सत्युपपद्यते । न तु विध्वस्तनिःशेषजन्मनाशादिकारणे ॥ तेजोऽतो भौतिकं सर्वं परमात्मनः । स्वयंज्योतिः प्रसङ्गेन तदुक्तं प्रागपि श्रुतौ ॥ आदित्यादीनि तेजांसि तथाऽध्यात्माधिभूत भौतिकान्येव तानीति प्रत्यङ् तेभ्यो विलक्षणः" ॥ १९-४२ ॥ इति । स एता इत्याद्याकाङ्क्षापूर्वकमात्म कथमिति ॥ यथाऽऽत्मानं करणानि सामस्त्येनाऽऽभिमुख्येन गच्छन्ति तथा स्फुटमुच्यते वाक्येनेति तात्पर्यं तद्व्याचष्टे—स इति । अविद्वानात्मा तत्तद्देशात्करणान्यादाय मृतिकाले हृदि गच्छतीत्यर्थः ॥ समभ्याद इत्यस्यार्थं वक्तुं पातनिकां करोति—उद्भूतेति । यथोक्ताकूतस्य तदनुविधायित्वस्य च हेतुहेतुमत्त्वद्योतना ऽथशब्दः ॥ संप्रति शानचोऽर्थमाह—स्वाकूतेति । अविद्वानात्मा मुमूर्षुः स्वशब्दार्थः । तदेति मुमूर्षावस्थो इहेति प्रकृतवाक्योक्तिः ॥ करणानामात्माभिप्रायानुसारित्वमेव तस्य तदादानकर्तृतेति कस्मादुच्यते धनादिविषये प्रसिद्धमादानकर्तृत्वमत्रापि किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—एतदिति । ध्यायतीवेत्यादिविव त्करणान्तराभावाच्च तदादानकर्तृताऽऽत्मनोऽमुख्येत्यर्थः ॥ तेजोमात्रा इत्यस्यार्थमाह—मीयन्त इति । तेज विकृतिः साभासस्याज्ञानस्य तां हेतूकृत्य प्रवृत्तत्वात्तेजसो मात्राः करणानीत्यर्थः ॥ मात्राशब्दार्थं समासं तेजःशब्दार्थं सांख्याभिप्रेतमाह—सत्त्वमिति । तत्र सांख्यप्रसिद्धिद्योतको हिशब्दः । कथं सत्त्वगुणश्च करणरूपेण परिणत इति ज्ञायते तत्राऽऽह—तच्छब्देति । सत्त्वमहंकारावस्थितं शब्दाद्यर्थविभासकत्वात्कर परिणतं सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारादित्युक्तेरित्यर्थः ॥ पूर्वपक्षान्तरमाह—पित्ताख्यं तत्र प्रमाणमाह—इत्येवमिति । उक्तं हि—'अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितानि शुभाशुभा करोती'ति । अन्योऽप्याह—'आमाशयाश्रयं पित्तं रञ्जकं रसरञ्जनात् । बुद्धिमेधाभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थसाधनात् साधकं हृद्गतं पित्तं रूपालोचनतः स्मृतम् । दृक्स्थमलोचकं त्वक्स्थं भ्राजकं भ्राजनात्त्वचः' ॥ इति ॥ सिद्धान्त यितुं करणानां प्रकाशरूपत्वं सप्रमाणमाह—यदेति ॥ तेषां प्रकाशरूपत्वेऽपि कथं ते सिद्धान्तसिद्धिरत आह—

वागादय [1]एनमात्मानमभिस[2]मायन्ति तदा[3]ऽस्य [4]शारीरस्याऽऽत्मनोऽङ्गे[6]भ्यः संप्रमोक्षणम् । कथं पुनः संप्रमोक्षणं केन वा प्रकारेणाऽऽत्मानमभिसमायन्तीति । उच्यते—[5]स आत्मैतास्तेजो-

---

तायं व्याकुर्वन्कस्मिन्काले ‘तत्संप्रमोक्षणमित्यस्योत्तरमाह—अथेत्यादिना । कथं वेत्युक्तं प्रश्नमनूद्य प्रश्नान्तरं [7]प्रस्तौति—कथमिति । [8]अत्रोत्तरत्वेनोत्तरं वाक्यमादाय व्याकरोति—उच्यत इत्यादिना ।

स्वामी आत्मा के पास आते हैं; तब (प्रारब्ध समाप्ति काल में) इस लिङ्गोपाधिक जीवात्मा का अङ्गों से सर्वथा मोक्ष हो जाता है। किन्तु वह मोक्ष किस प्रकार होता है अथवा किस प्रकार ये आत्मा के सम्मुख आते हैं? इसे श्रुति कहती है—वह अज्ञ जीव "तेजोमात्राः" अर्थात् तेज की मात्रा

---

१. एनम् करणस्वामिनमात्मानमुच्चिक्रमिषुम् । २. अभिसमायन्तीति । अत्र वार्तिके—"अभीति चाऽऽभिमुख्येऽर्थे सं तु सामस्त्य इष्यते । अवध्यर्थे तथाऽऽङत्र यन्तीत्यस्य विशेषणम्" ॥ १७ ॥ इति । तथाचात्मावधिकं सामस्त्येन तेषामभिगमनमित्यर्थः । ३. प्रारब्धावसानावसरे । ४. लिङ्गोपाधेः । ५. प्रकृतोऽज्ञो जीवः । ६. तस्यात्मनः तेभ्योऽङ्गेभ्य इति वा । ७. उत्थापयति । ८. अत्र—प्रश्नद्वयविषये, उत्तरत्वेन—समाधानत्वेन ।

भौतिकस्त्वविति । तेजःशब्देन भूतपञ्चकमुच्यते तत्कार्यं करणजातं भौतिकप्रकाशत्वादालोकवत् । तदाहुर्भर्तृप्रपञ्चाः—‘प्रकाशः पुनरयं भौतिको न जात्यन्तरं भूतेभ्य इति । आयुर्वेदविदश्चाऽऽहुः—‘एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि च’ इति । "खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाऽष्टमः । भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराः षोडशैव तु ॥ बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च । समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः" इति च ॥ करणानां भौतिकत्वे वाक्यशेषसंवादमाह—स्पष्टं चेति । एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थायेत्यत्र भूतशब्देन कार्यकरणान्युच्यन्ते तथा च शरीरवदिन्द्रियाण्यपि भूतकार्यण्येवेति श्रुतिर्वक्ष्यति भाष्यकारादिभिश्चायमर्थो वक्ष्यते तस्माद्भौतिकत्वमिन्द्रियाणामविवादमित्यर्थः । आयुर्वेदे श्रुत्यन्तरे च यथा करणानां भौतिकत्वमुक्तं तथा वाक्यशेषेऽपीत्यथशब्दार्थः । भौतिकत्वे तेषामात्मविकारत्वमपि स्वयूथ्याभीष्टं प्रत्यादिष्टमित्याह—नात इति ॥ यथोक्ते वाक्ये करणानां भौतिकत्वं न भाति तत्कथं तत्र वाक्यशेषस्य संवादितेत्याशङ्क्याऽऽह—लिङ्गेति । साविद्यं सप्तदशकलिङ्गाकारपरिणतं भूतपञ्चकमत्र भूतशब्दार्थः । तथाच भूतेषु करणानामन्तर्भावात्कार्यंतैव परिशिष्यत इत्यर्थः । तत्र भूतशब्दस्योक्तार्थत्वे हेतुमाह—तन्नाशमिति । तान्येवानुविनश्यतीति जीवस्यापि भूतनाशेन नाशो यतः श्रूयतेऽतो भूतशब्देनोक्तलिङ्गग्रह इत्यर्थः ॥ स्थूलदेहनाशेऽपि शारीरनाशात्तद्विषयमेव भूतपदमित्याशङ्क्याऽऽह—पिण्डेति । तथाऽपि सूक्ष्मदेहगृहीतस्य स्थितिसंभवादित्यर्थः ॥ साविद्यं लिङ्गशरीरं वाक्यशेषे भूतशब्दितमित्युक्त्वा करणानां भौतिकत्वे पूर्वोक्तवाक्यस्थमेव लिङ्गमुपन्यस्यति—मात्रेति । तेषां भौतिकत्वानुसारेण प्रकृतवाक्य एव मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवतीति वक्ष्यते ॥ तथाच भूतेभ्यो मात्राभ्यश्च समुत्थायेति पूर्वत्र विवक्षितं न च भूतानां मात्रास्तेजोमात्राभ्यो भिद्यन्ते तेन मात्रासंसर्गश्रुत्या भौतिकत्वमिन्द्रियाणामिष्टमिति भावः । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—विज्ञानेनेति । विज्ञानेन विज्ञानमादायान्तर्हृदये शेत इति वदता विज्ञानमात्रत्वं करणानामुक्तं न च तन्मात्रास्तेजोमात्राभ्यो भिन्नास्तद्यथोक्तवाक्यादपीन्द्रियाणां भौतिकत्वमित्यर्थः । करणानां भौतिकत्ववदभौतिकत्वे न श्रुतिरस्तीतिद्योतनार्थोऽथशब्दः ॥ किंचास्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय प्रस्वपितीतिब्राह्मणोक्तोऽर्थः शुक्रमादाय पुनरैति स्थानमित्यादिमन्त्रेणापि प्रकाश्यते तेनात्रापि स्वप्नप्रकरणे करणानां भौतिकत्वं विवक्षितमित्याह—अस्येति । अथोदाहृतवाक्येषु करणानां भौतिकत्वं न भातितत्राऽऽह—सर्वेष्विति । आत्मनोऽतिरिक्तं वस्तु श्रुतिगतोक्तवाक्येषु भूतमात्राभ्योऽतिरिक्तग्रहणं किं न स्यात्तत्राऽऽह—भूतेभ्य इति ।

मात्रास्तेजसो [1]मात्रास्तेजोमात्रास्तेजोऽवयवा रूपादिप्रकाशकत्वाच्चक्षुरादीनि करणानीत्यर्थः। [2]ता [3]एता समभ्याददानः सम्यङ्निर्लेपेनाभ्याददान आभिमुख्येनाऽऽददानः संहरमाणस्तत्स्वप्नापेक्षया विशेषणं समिति। न तु स्वप्ने निर्लेपेन सम्यगादानम्। अस्ति त्वादानमात्रम्। [4]गृहीता वाग्[5]गृहीतं चक्षुरस्य[6] लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय [7]शुक्रमादायेत्यादिवाक्येभ्यः[8]।

रूपादिप्रकाशनशक्तिमत्सत्त्वप्रधान[9]भूतकार्यत्वात्तेजोमात्राश्चक्षुरादिनीत्युक्तं संप्रति समभ्याददान इत्यस्यार्थमाह—ता एत इति। संहरमाणो हृदयमन्ववक्रामतीत्यन्वयः। तत्समिति विशेषणं स्वप्नापेक्षयेति संबन्धः। कथं स्वप्नापेक्षया विशेषणं तदाह—न त्विति। आदानमात्रमपि स्वप्ने नास्तीति कुतस्तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणमित्याशङ्क्याऽऽह—अस्तीति।

यानी रूपादि की प्रकाशक होने के कारण चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही तेज की अवयव हैं। इन तेजोमात्रा इन्द्रियों का "समभ्याददानः" अर्थात् सम्यक् या निर्लेप भाव से अभ्यादान, अभिमुख होकर, आदान या उपसंहार कर (हृदय में ही अभिव्यक्त ज्ञानवान् होता है)। "समभ्याददानः" में 'सम्' यह विशेषण स्वप्न की अपेक्षा से है क्योंकि स्वप्नावस्था में निर्लेप भाव से आदान नहीं होता; केवल आदान मात्र ही होता है। जैसा कि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं "यहाँ वाक् उपसंहृत ही जाती है, चक्षु उपसंहृत हो जाती है", "(जिस समय यह सोता है) उस समय सर्वावान् लोक की मात्रा को

---

१. मीयन्ते विषया याभिस्ता मात्राः। २. व्याख्याताः। ३. तेजोमात्राः। ४. बृ. उ. २. १. १७। ५. उपसंहृतम्। ६. बृ. उ. ४. ३. ९। ७. शुक्रं शुद्धं ज्योतिष्मदिन्द्रियादिमात्रारूपम्। ८. बृ. उ. ४. ३. ११। ९. भूतानि खादीनि।

भूतभौतिकेभ्यो नापरं दृश्यते तस्माद्भूतात्मातिरिक्तविषयत्वे भौतिकविषयत्वस्याऽऽवश्यकत्वाद्युक्तमत्र सर्वत्र भूतमात्राग्रहणमित्यर्थः॥ उक्तवाक्यानां भूतमात्रार्थत्वात्तदनुसारेण प्रकृतवाक्येऽपि तद्ग्रहणमुचितमिति फलितमाह—अत इति। यो भूतानामुत्तमो विवेकापरपर्यायः परिणामोऽत्यन्तप्रकाशरूपः करणसमुदायः स एव तेजोमात्राः समभ्याददान इति वाक्ये तेजो मात्राशब्देनोच्यत इत्यर्थः॥ केचित्तु सविषयाणां करणानां न भौतिकत्वमात्मविकारत्वादित्याहुस्तान्प्रत्याह—इन्द्रियाणीति। उक्तं चैतन्नातः शक्तय आत्मन इति। तत्र हेतुमाह—अत इति। अतोऽन्यदार्तं न जायते म्रियते वा विपश्चिदित्यादिनाऽऽत्मनः सर्वविकारनिषेधान्न तद्विकारत्वमिन्द्रियादेरित्यर्थः॥ तत्रैव हेत्वन्तरमाह—जन्मादीति। साक्षादित्यविद्यां विनेत्यर्थः॥ तर्हि तदतिरिक्तमेव किंचित्परमार्थतो विकारि भविष्यति नेत्याह—न चेति॥ परस्य कूटस्थत्वे विकारिणश्चान्यस्यानुपगमे निष्कारण विश्वं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—स्वत इति। मायां तु प्रकृतिमित्यादिश्रुतेराविद्यं कारणत्वं तस्यैव परस्याऽऽश्रयमित्यर्थः॥ आत्मनो यदि कारणत्वं तर्हि वस्तुतोऽस्तु किं तदबोधेनेत्याशङ्क्याऽऽह—आत्मेति। एवं सत्यविद्याकृते कारणत्वे स्वीकृते सतीति यावत्। निरविद्ये ह्यात्मन्यङ्गीकृते नैवमपूर्वादिश्रुतेरित्याह—न त्विति। अज्ञानहीनस्य कूटस्थस्य कारणत्वानुपपत्तेरात्माज्ञानजन्यभूतकार्यत्वमिन्द्रियादेरित्युपसंहरति—तेज इति। ब्रह्मैव तेज एवेत्यत्र व्यभिचारमाशङ्क्याऽऽह—अन्यत्रेति। किंच करणादेर्भौतिकत्वं ज्योतिर्ब्राह्मणादावपि साधितमित्याह—स्वयमिति। उक्तमेव स्मारयति—आदित्यादीनीति। इति यत्तदुक्तमिति संबन्धः। सर्वस्य भौतिकत्वोक्तिफलमाह—प्रत्यङ्ङिति॥

*हृदयमेव पुण्डरीकाकारमन्ववक्रामत्यन्वागच्छति हृदयेऽभिव्यक्त[1]विज्ञानो भवतीत्यर्थः। बुद्धयादिविक्षेपोपसंहारे सति। न हि तस्य[2] स्वतश्चलनं विक्षेपोपसंहारादिविक्रिया वा। ध्यायतीव लेलायतीवेत्युक्तत्वात्। बुद्धयाद्युपाधिद्वारैव हि सर्वविक्रिया-

---

स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददान इत्येतद्व्याख्याय हृदयमेवेत्यादि व्याचष्टे—हृदयमित्यादिना। [3]सविज्ञानो भवतीति[4] वाक्यशेषमाश्रित्य वाक्यार्थमाह—हृदय इति। कथमात्मनो निष्क्रियस्य तेजोमात्रादानकर्तृत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—बुद्धयादीति। [5]तेषां तद्विक्षेपस्य चोपसंहारे सत्यात्मन[6]स्तदादानकर्तृत्वमौ[7]पचारिकमित्यर्थः। [8]तर्हि [9]तद्विक्षेपोपसंहर्तृत्वव[10]त्तदादानकर्तृत्वमपि मुख्यमेव भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। आदिशब्देन क्रियाविशेषः सर्वो गृह्यते। कथं [11]"तर्हि प्रतीचि कर्तृत्वा-

---

लेकर ......(अपने प्रकाश से शयन करता है, इस अवस्था में यह पुरुष स्वयंज्योतिःस्वरूप है)", 'वह शुद्ध-इन्द्रिय मात्रा रूप को लेकर (पुनः जागरित स्थान में आता है)"।

पुण्डरीकाकार हृदय में ही, "अन्ववक्रामति" अर्थात अनुगमन करता है अर्थात् हृदय में अभिव्यक्त भावी देहविषयक विज्ञान से युक्त होता है। ऐसा बुद्धयादिविक्षेप के उपसंहार होने पर संभव है। आत्मा में चलन, विक्षेप और उपसंहार आदि विकार अपने आप नहीं हुआ करते। जैसा कि "ध्यान करता हुआ सा, चेष्टा करता हुआ सा" इस प्रकार श्रुति कह चुकी है। उसमें सब विकारों का अध्यारोप तो बुद्धि आदि उपाधि के द्वारा ही होता है। किन्तु उसकी तेजोमात्राओं का उपसंहार

---

[1] विज्ञानं भाविदेहविषयम्। [2] आत्मनः। [3] मुमूर्षुः पुमानुत्क्रान्तिकाले सविज्ञानो भाविदेहविषयकेण कर्मोद्भासितसंस्कारजनितेन ज्ञानेन सह वर्तमानः स्वप्ने इव भवतीत्यर्थः। [4] बृ. उ. ४. ४. २। [5] बुद्धयादीनाम्। [6] तेजोमात्रादानकर्तृत्वम्। [7] अमुख्यम्। [8] तर्हि—आत्मनो बुद्धयादितद्विक्षेपोपसंहर्तृत्वेऽभ्युपगते सति। [9] बुद्धयादिविक्षेपेति यावत्। [10] तेजोमात्रादानकर्तृत्वम्। [11] तर्हि—प्रतीचः सर्वथा निष्क्रियत्वे।

---

*हृदयमेवेत्यादि कदा पुनरित्यतः प्राक्तनभाष्ये वार्तिकानि। "अभ्याददान एवायमन्ववक्रामतीश्वरः। न त्वाक्रम्य समादत्ते कथं तदिति भण्यते॥ विशेषज्ञानलाभोऽस्य लिङ्गात्मानुविधानतः। ततस्तदपकर्षेण विज्ञानात्मोपसंहृतिः॥ तद्वयाप्तौ चापि संव्याप्तिरापादतलमस्तकम्। स्वतस्तु व्याप्तिसंहाररहितत्वात्परात्मनः॥ सैन्धवादिरसव्याप्ते पीयमाने यथोदके। पानं सलवणस्यैवं लिङ्गात्मानुविधायिता॥ योऽभ्यादानस्य कर्ताऽत्र लिङ्गं योऽस्मीति मन्यते। आक्रामद्धृदयं लिङ्गमन्वक्रामतीव सः॥ तथा हृदयशब्देन तत्स्था धीरभिधीयते। एवेत्यववृतिश्चात्र स्वप्नप्राज्ञनिवृत्तये॥ विशेषकार्यवाहिभ्यः स्रोतोभ्यः स्वप्नभूमिगः। विशेषाननुसृप्याऽऽत्मा यात्वा हृदयमाश्रयम्॥ पुरीतत्प्रमुखं देहं वृत्त्या सामान्यरूपया। तप्तलोहादिवद्व्याप्य शेते प्राणात्मतां गतः॥ इह त्वेवेति निःशेषा लिङ्गस्यास्योपसंहृतिः। विशेषेभ्योऽविशेषेभ्यो युक्तं प्रत्यवसर्पणम्॥ अवदध्रेऽत एवेति मा भूत्स्वप्नादिवत्स्थितिः। सामान्यं वा विशेषो वा न यतोऽत्रावशिष्यते। कार्त्स्न्येन हृदय एव पिण्डीभावं व्रजत्यतः" ॥ ४४-५३ ॥ इति ॥ करणाभ्यादानस्य हृदयाक्रमणस्य च पौर्वापर्यमाशङ्क्य शातचा विवक्षितं यौगपद्यमाह—अभ्याददान इति। ईश्वरत्वं करणस्वामित्वं वस्तुतो वा परमात्मत्वम्। आत्मनः स्वात्मोपसंहारः करणादानं च युगपन्नोपपद्यते स्थितिगतिवद्व्यापारद्वययौगपद्यायोगादित्याक्षिपति—कथमिति। सप्तदशकलिङ्गोपाधिकत्वादात्मनो व्यापारद्वयाभावान्न क्रमप्राप्तिरित्याह—भण्यत लिङ्गसंकोचविकासावेवाऽऽत्मनः संकोचविकासौ न स्वतोऽतो

ऽध्यारोप्यते तस्मिन्। कदा पुनस्तस्य तेजोमात्राभ्यादानमिति। [1]उच्यते—स [2]यत्रैष चक्षुषि भवश्चाक्षुषः पुरुष [3]आदित्यांशो भोक्तुः कर्मणा प्रयुक्तो यावद्देहधारणं तावच्चक्षुषोऽनुग्रहं कुर्वन्वर्तते। मरणकाले त्वस्य[4] चक्षुरनुग्रहं परित्यजति स्वमादित्यात्मानं प्रतिपद्यते।

[5]तदेतदुक्तं [6]यत्रास्य[7] पुरुषस्य [8]मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्य-

---

दिप्रथेत्याशङ्क्याऽऽह—बुद्ध्यादीति। स यत्रेत्यादि वाक्यमाकाङ्क्षापूर्वकमवतार्य व्याकरोति—कदा पुनरित्यादिना। [9]तस्य पुरुषशब्दाद्धोक्तृत्वे प्राप्ते विशिनष्टि—आदित्यांश इति। [10]तस्य चाक्षुषत्वं साधयति—भोक्तुरित्यादिना। यावद्देहधारणमिति कुतो विशेषणं तत्राऽऽह—मरणकाले त्विति। आदित्यांशस्य चक्षुरग्रहम[11]कुर्वतः [12]स्वातन्त्र्यं वारयति—स्वमिति।

मरणावस्थायां चक्षुराद्यनुग्राहकदेवतांशानामधिदेवतात्मनोपसंहारे श्रुत्यन्तरं संवादयति—

कब होता है? इस प्रकार श्रुति कहती है—"स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः" अर्थात् जिस समय यह चाक्षुष पुरुष (सब ओर से व्यावृत होता है) चक्षु में रहने वाला चक्षु का अनुग्राहक आदित्यांश है, जो भोक्ता के कर्म से प्रेरित होकर जब तक देह की स्थिति रहती है, तब तक नेत्रों पर कृपा करता हुआ विद्यमान रहता है। मरणकाल में भोक्ता के चक्षु पर अनुग्रह करना परित्याग कर देता है। वह अपने आदित्य

---

१. उच्यत इति—करणाऽऽदानप्रकारमुक्त्वा मुमूर्षोर्मृतिकाले शब्दाद्यज्ञानप्रकार उच्यत इति तत्त्वमित्याहुः। २. यस्मिन्काले। ३. चक्षुरनुग्राहकः। ४. भोक्तुः। ५. अवतरणोक्तोपसंहरणम्। ६. काले। ७. प्रमातुर्भोक्तुः। ८. मरणोन्मुखस्य। ९. चाक्षुषस्य। १०. आदित्यांशस्य। ११. मरणकाले। १२. आदित्याऽनधीनत्वम्।

इति॥ तदेव वार्तिकाभ्यां प्रपञ्चयति—विशेषेत्यादिना। अस्य जीवस्य तदपकर्षेण लिङ्गस्य देहादवसर्पणेन तद्व्याप्तौ देहे लिङ्गस्य व्याप्तौ सत्यामित्यर्थः॥ लिङ्गसंकोचविकासावेव तदुपाधेरात्मनस्तावित्यत्र हेतुमाह—स्वतस्त्विति॥ एतद्दृष्टान्तेन साधयति—सैन्धवादीति। उपहितस्य लिङ्गानुविधायित्वेऽपि करणादानहृदयप्रवेशकर्तुस्ततो भेदाद्व्यर्थं तस्य लिङ्गानुविधायित्वमित्याशङ्क्याऽऽह—स इति। यः सप्तदशकलिङ्गात्मन्यहमभिमानी सोऽस्मिन्वाक्ये करणादानस्य कर्ता स एव च बहिष्करणरूपं लिङ्गमन्तःकरणं प्रविशदनुप्रविशति तदुपाधित्वात् च तस्य वस्तुतः प्रवेशो निर्व्यापारत्वादित्यर्थः॥ हृदयमेवेत्यत्र हृदयशब्दार्थमाह – तथेति। यथाऽभ्याददानोऽन्वव-क्रामतीत्युभयत्रापि कर्तोपहितो विवक्षितस्तद्वदित्यर्थः। एवकारकृत्यमाह—एवेतीति॥ कथमनेनावधारणवाचिना स्वप्नस्वापयोर्व्यवच्छित्तिरित्याशङ्क्य तयोः स्वरूपं तावदाह—विशेषेत्यादिना। स्वप्नस्थो हि पुरुषो रूपादिवासनाश्रयनाडीविशेषवशाद्वासनाभयान्विशेषानुभवति स च स्वप्ननिर्वर्तककर्मक्षये सत्यन्तःकरणं प्राप्य प्राणशब्दिताज्ञातब्रह्मतां गतस्तप्तलोहादौ वह्निरिव समस्तं देहं निर्विकल्पकचिदाभासेन व्याप्यावतिष्ठते तथाच साभासाया बुद्धेः शरीरे सामान्यव्याप्तिर्द्वयोस्तुल्या वासनारूपेण द्रष्टेत्यादिविशेषव्याप्तिः स्वप्न एवेत्यर्थः॥ द्वयोर्वृत्तमुक्त्वा मृतावेवकारः सर्वप्रकारव्याप्तिं निरस्यतीत्याह—इह त्विति। लिङ्गस्य निःशेषोपसंहारे तदुपाधेरात्मनोऽपि तथा संभवतीत्याह—विशेषेभ्य इति॥ एवकारार्थं निगमयति—अवदध्र इति। स्वप्नसुप्त्योरिव मरणेऽपि स्थितिरात्मनो लिङ्गस्य च मा भूदिति यस्मान्मन्यते श्रुतिस्तस्मादेवेत्यवधृतवतीति यावत्। हृदयमित्यादेरर्थमुपसंहरति—सामान्यं वेति॥

[1]एकी भवति [2]न पश्यतीत्याहुरेकी भवति न जिघ्रती-

नेत्रेन्द्रिय लिङ्गात्मा से जब एक रूप हो जाता है, तब लोग कहते हैं, अब यह देखता नहीं।

त्यादि पुनर्देहग्रहणकाले संश्रयिष्यन्ति । तथा स्वप्स्यतः प्रबुध्यतश्च । तदे[3]तदाह—क्षुषः पुरुषो यत्र यस्मिन्काले [4]पराङ्पर्यावर्तते परि समन्तात्पराङावर्तत इति । [5]अथा-स्मिन्कालेऽरूपज्ञो भवति मुमूर्षू [6]रूपं न जानाति [7]तदाऽयमात्मा चक्षुरादितेजोमात्राः भ्याददानो भवति स्वप्नकाल इव ॥१॥

एकी भवति करणजातं स्वेन [8]लिङ्गात्मना । तदैनं पार्श्वस्था आहुर्न पश्यतीति ।

तदिति । [9]तर्हि देहान्तरे वागादिराहित्यं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—पुनरिति । संश्रयिष्यन्ति वागादयस्त-द्देवताधिष्ठिता [10]यथास्थानमिति शेषः । मुमूर्षोरिव स्वप्स्यतः सर्वाणि करणानि लिङ्गात्मनो- संह्रियन्ते प्रबुध्यमानस्य चोत्पित्सोरिव तानि [11]यथास्थानं प्रादुर्भवन्तीत्याह—तथेति[12] । उक्तेऽर्थे यं [13]पातयति—तदेतदाहेति । पराङावर्तत इति [14]रूपवैमुख्यं चाक्षुषस्य विवक्षितमिति शेषः ॥१॥

[15]तर्हि भोक्त्रोपसंहृतं चक्षुरत्यन्ताभावीभूतमित्याशङ्क्याऽऽह—एकीति । उक्तेऽर्थे लोकप्रसिद्धि

रूपको प्राप्त कर लेता है ।

इसीसे यह कहा है "जिस समय इस मरणोन्मुख प्रमाता की वाक् इन्द्रिय अग्नि में, प्राण वायु और नेत्र आदित्य में लीन हो जाते हैं" इत्यादि । ये देह ग्रहण के समय उन-उन का आश्रय ले लेंगे । ा ही साने और जागने वाले पुरुष के विषय में होता है । इसी बात को श्रुति कहती है—यह चाक्षुष जिस समय 'पराङ्पर्यावर्तते" अर्थात् विपरीत होकर सब ओर से लौट आता है । "अथ" उस "अरूपज्ञो भवति" अर्थात् अरूपज्ञ हो जाता है । (जब चक्षु का देवतांश अपने अंशी देवता को कर लेता है; तब चक्षु रूपग्राहकता में अक्षम हो जाती है) मुमूर्षु को रूप का ज्ञान नहीं रहता । समय स्वप्नकाल के समान यह आत्मा चक्षु आदि तेजोमात्राओं को सब ओर से उपसंहृत कर

---

१. मुमूर्षति पुरुषे देवताकरणच्युतिरेवारूपज्ञत्वे हेतुरित्यत्र लोकप्रसिद्धिमनुकूलयति—एकी भवतीति । देवता-च्युतिरनुग्राहकनिवृत्तिः करणच्युतिः स्थानभ्रंशः देवतांशे स्वांशिदेवतास्वरूपेण सहैकीभूते सति यदा चक्षुर्लिङ्गा-त्मनैकीभवति तदा मुमूर्षुः पार्श्वस्थान्न पश्यतीत्याहुरित्यर्थं इत्येके एवमग्रेऽपि । २. न पश्यतीति—अत्र चक्षुराद्येकीभावे श्रुत्युक्तक्रमस्तु न विवक्षितः कस्यचिद्वाचोऽप्यादौ निरोधदर्शनात् नापि यौगपद्यमेव करणनिरोधे नियतमनुभवविरोधादित्यनियतः क्रम इति ध्येयम् । ३. सोपपत्तिकं ससंवादमुक्तमर्थजातं स्वमुखेन श्रुतिराह । ४. विपरीतः सन् । ५. यदा देवतांशस्य देवतैक्यं भवति तदेति यावत् । ६. रूपं न जानातीति—देवतां-शश्चाक्षुषो यदा स्वांशिनं देवमापद्यते चक्षुरपि तदा करणं स्वस्थानाद्व्यावृत्तं लिङ्गमेवाऽऽगच्छतीति न तस्य कार्यक्षमतेति ध्येयम् । ७. कदा पुनरित्युपक्रान्तं प्रश्नमुपसंहरति—तदेति । ८. स्वांशिना सह । ९. तर्हि—मरणकाले तत्तद्देवताऽधिष्ठितवागादीनामुपसंहारे सति । १०. स्वस्वगोलकम् । ११. यथागोलकम् । १२. तथा च कुतो देहान्तरे वागादिराहित्यमिति शेषः । १३. योजयति । १४. रूपवैमुख्यमित्यादि । तथा च वार्तिकम्—"निरनुग्रहतैवास्य पर्यावर्तनमुच्यते" ॥ ५८ ॥ इति । १५. मृतिकाले लिङ्गस्य निःशेषोप-संहारे सति ।

त्याहुरेकी भवति न रसयत इत्याहुरेकी भवति न
वदतीत्याहुरेकी भवति न शृणोतीत्याहुरेकी भवति
[1]न मनुत इत्याहुरेकी भवति न स्पृशतीत्याहुरेकी भवति
न विजानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्र प्रद्योतते

घ्राणेन्द्रिय जब एक रूप हो जाती है, तब कहते हैं कि यह सूँघता नहीं। जब रसनेन्द्रिय एक रूप जाती है, तब यह कहते हैं कि यह चखता नहीं। वागिन्द्रिय जब एक रूप हो जाती है, तब कहते हैं यह बोलता नहीं। श्रोत्रेन्द्रिय जब एक रूप हो जाती है, तब यह कहते हैं कि यह सुनता नहीं। जब एक रूप हो जाता है, तब कहते हैं कि यह मनन करता नहीं। जब त्वगिन्द्रिय एकरूप हो जाती है,

---

तथा घ्राणदेवतानिवृत्तौ घ्राणमेकी भवति लिङ्गात्मना[2]। तदा न जिघ्रतीत्याहुः। समा मन्यत्। जिह्वायां सोमो वरुणो वा देवता तन्निवृत्त्यपेक्षया न रसयत इत्याहुः। तथा वदति न शृणोति न मनुते न स्पृशति न विजानातीत्याहुः। [3]तदोपलक्ष्यते देवतानिवृत्ति करणानां च हृदय एकीभावः। तत्र हृदय [4]उपसंहृतेषु करणेषु योऽन्तर्व्यापारः स [5]कर

दर्शयति—तदेति। चक्षुषि दर्शितं न्यायं घ्राणेऽतिदिशति—तथेति। यथा चक्षुर्देवताया निवृ लिङ्गात्मना चक्षुरेकी भवति तथा घ्राणदेवतांशस्य घ्राणानुग्रहनिवृत्तिद्वारेणांशिदेवतयैक्ये लिङ्गात्म घ्राणमेकी भवतीत्यर्थः। तन्निवृत्त्यपेक्षया वरुणादिदेवताया जिह्वायामनुग्रहनिवृत्तौ जिह्वाया लिङ्गा त्मनैक्यव्यपेक्षयेत्यर्थः। तत्तदनुग्राहकदेवतांशस्य [6]तत्र तत्रानुग्रहनिवृत्त्या तत्तदंशिदेवताप्राप्तौ [7]तत्तत्क रणस्य लिङ्गात्मनैक्यं भवतीत्यभिप्रेत्याऽऽह—तथेति। मरणदशायां रूपादिदर्शनराहित्यमर्थद्वयसा कमित्याह—तदेति। तस्य हैतस्येत्यादि वाक्यमुपादत्ते—तत्रेति। मुमूर्षावस्था सप्तम्यर्थः। [8]केना

लेता है ॥ १ ॥

जब इन्द्रियसमुदाय स्वांशी सहित अपने लिङ्गात्मा से एकीभूत हो जाता है; तब समीप हुए लोग कहते हैं— "यह नहीं देखता"। इसी प्रकार जब घ्राण देवता के निवृत्त हो जाने पर लिङ्गा के साथ घ्राणेन्द्रिय एकीभूत हो जाती है; तब "यह नहीं सूँघता" ऐसा कहते हैं। अवशिष्ट श्रुति अर्थ इसी तरह समझ लेना चाहिये। जिह्वा में सोम अथवा वरुण देवता हैं; उनके निवृत्त हो पर "यह नहीं बोलता", "यह नहीं सुनता", "यह मनन नहीं करता", "यह स्पर्श नहीं करता", नहीं जानता" ऐसा कहते हैं। मरणकाल में इन्द्रियाभिमानी देवताओं की निवृत्ति और इन्द्रियों हृदय में एकीभाव, ऐसा उपलक्षित होता है। उस समय हृदय में इन्द्रियों का उपसंहार हो जाने

---

१. न मनुते न विजानातीति—न च मनोबुद्धिदेवतोत्क्रान्तौ नास्ति लिङ्गं रूपाऽज्ञानादिरिव चक्षुरादिदेव त्क्रान्ताविति शङ्क्यम्। मुमूर्षुर्हि कदाचिद्रूपं पश्यन्नपि न विविनक्त्ययमसावित्येतस्यैव लिङ्गत्वादिति। २ यदा। ३. मरणकाले। ४. उपसंहृताऽशेषकरणस्यात्मनो निष्क्रमणसाधनीभूतः। ५. तस्येत्यादिवाक्यं
६. वागादौ। ७. वागादेः। ८. करणानामुपसंहृतत्वात्करणमाशङ्कते—केनायमिति। प्रद्योतो भाविदे
विषयं ज्ञानम्।

तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तꣳ सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति [1]सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति । तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥ २ ॥

कहते हैं कि यह स्पर्श करता नहीं । जब बुद्धि लिङ्गात्मा से एक रूप हो जाती है, तब कहते हैं, यह जानता नहीं। उस समय इस हृदय का बाहर जाने वाला मार्ग अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है। उसी से यह आत्मा नेत्र द्वारा, शिर द्वारा या शरीर के किसी अन्य भाग द्वारा बाहर निकल जाता है। उसके निकलते ही उसके साथ प्राण भी निकल जाता है और प्राण के निकलने पर सभी इन्द्रियाँ निकल जाती है। उस समय यह जीव विशेष विज्ञान वाला होता है और विज्ञानयुक्त प्रदेश को ही जाता है। उस समय इसके साथ-साथ ज्ञान, कर्म और पूर्वानुभवजन्य संस्कार जाता है ॥२॥

—'[2]तस्य हैतस्य' प्रकृतस्य[4] [5]हृदयस्य हृदयच्छिद्रस्येत्येतत् । अग्रं नाडीमुखं निर्गमनद्वारं [6]प्रद्योतते स्वप्नकाल इव स्वेन भासा तेजोमात्रादानकृतेन स्वेनैव ज्योतिषाऽऽत्मनैव च । तेनाऽऽत्मज्योतिःप्रद्योतेन [7]हृदयाग्रेणैष आत्मा विज्ञानमयो लिङ्गोपाधिर्निर्गच्छति

प्रद्योतो भवतीत्यपेक्षायामाह—स्वप्नेति । यथा स्वप्नकाले स्वेन '[8]भासा स्वेन ज्योतिषा '[9]प्रस्वपितीति ख्यातं तथा'[10]ऽत्रापि तेजोमात्राणां यदादानं ,[11]"तत्कृतेन वासनारूपेण [12]"प्राप्यफलविषयबुद्धिवृत्तिपेण स्वेन भासा स्वेन चाऽऽत्मना चैतन्यज्योतिषा हृदयाग्रप्रद्योतनमित्यर्थः । [13]"तस्यार्थ"[14]क्रियां दर्शयति

(आत्मा का निष्क्रमण साधनीभूत) जो अन्तर्व्यापार है, उसे कहा जाता है—"तस्य हैतस्य" अर्थात् लिङ्गोपाधिक आत्मा मुमूर्षुसंबन्धी "हृदयस्य अग्रम्" अर्थात् हृदयच्छिद्र का नाडीमुख यानी निर्गमनद्वार "प्रद्योतते" अर्थात् (भावीदेहविषयक) ज्ञानवान् हो जाता है अर्थात् जिस प्रकार स्वप्नास्वथा में आत्मज्योति से स्थित रहता है, इस समय भी तेजोमात्राओं के ग्रहण करने के कारण आत्मज्योति तथा

---

१. सविज्ञान इत्यादि – मुमूर्षुः सविज्ञानः श्रुतकर्मोद्भासितसंस्कारजनितेन विज्ञानेन भाविदेहविषयकेण सह वर्तमानः स्वप्ने इव विशेषविज्ञानो भवत्युत्क्रान्तिसमये अत एवोत्क्रान्त्यनन्तरमपि सविज्ञानमेव विशेषविज्ञानोद्भासितमेव गन्तव्यमन्ववक्रामत्यनुगच्छतीत्यर्थः । २. लिङ्गोपाधिकस्य । ३. आत्मनः । ४. मुमूर्षोः । ५. संबन्धिनः । ६. मरणकाले भाविदेहविषयज्ञानवद्भवति कर्मवशात् । ७. द्वारभूतेन । ८. बृ. उ. ४. ३. ९ । व्याख्यातम् ज्योतिर्ब्राह्मणे ४. ३. ९. इत्यत्र । ९. प्रस्वपितीति—स्वप्नमनुभवतीत्यर्थः । स्वप्नसाक्षित्वेनावतिष्ठत इति यावत् । १०. मरणकालेऽपि । ११. मात्रादानस्य भाविविषयवृत्तिप्रयोजकत्वं स्वप्नं प्रतीव । १२. प्राप्यफलविषयबुद्धिवृत्तिरूपेणेति—भाविदेहविषयधीवृत्त्येत्यर्थः । तथा च स्वप्नवन्मरणे बुद्धिर्नोपसंहृतेति सैव करणमिति भावः । १३. प्रद्योतस्य । १४. कार्यम् ।

निष्क्रामति । तथाऽऽथर्वणे "कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रति-ष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति[1] स प्राणमसृजत" इति ।

तत्र चाऽऽत्मचैतन्यज्योतिः सर्वदाऽभिव्यक्ततरम् । [3]तदुपाधिद्वारा ह्यात्मनि जन्म-मरणगमनागमनादिसर्वविक्रियालक्षणः संव्यवहारः । [4]तदात्मकं हि द्वादशविधं करणं [5]बुद्ध्यादि तत्सूत्रं तज्जीवनं सोऽन्तरात्मा [6]जगत[7]स्तस्थुषश्च । तेन प्रद्योतेन हृदया-प्रकाशेन निष्क्रममाणः केन मार्गेण निष्क्रामतीति । उच्यते—'चक्षुष्टो वा । आदित्यलोक-प्राप्तिनिमित्तं ज्ञानं कर्म वा यदि स्यात् । [9]मूर्ध्नो वा ब्रह्मलोकप्राप्तिनिमित्तं चेत् । अन्ये

—तेनेति । किमिति [10]"लिङ्गद्वाराऽऽत्मनो निर्गमनं प्रतिज्ञायते तत्राऽऽह—[11]"तथेति ।

यदि मरणकाले तेजोमात्रादानं न तर्हि सदा लिङ्गोपाधिरात्मेत्याशङ्क्याऽऽह—तत्र चेति । सप्तम्या लिङ्गमुच्यते । सर्वदेति लिङ्गसत्तादशोक्तिः । आत्मोपाधिभूते लिङ्गे किं प्रमाणमित्याशङ्क्य-ऽऽत्मनि कूटस्थे संव्यवहार[12]दर्शनमित्याह—तदुपाधीति । चक्षुरादिप्रसिद्धिरपि [13]प्रमाणमित्याह—तदा-त्मकं हीति । एकादशविधं करणमित्यभ्युपगमात्कुतो द्वादशविधत्वमित्याशङ्क्य विशिनष्टि—[14]बुद्ध्या-दीति । 'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रम्' इत्यादिश्रुतिरपि यथोक्ते लिङ्गे प्रमाणमित्याह—तत्सूत्रमिति । [15]जगतो जीवनमपि तत्र [16]मानमित्याह—तज्जीवनमिति । '[17]एष सर्वभूतान्तरात्मा' इति श्रुतिर यथोक्तं लिङ्गं साधयतीत्याह—सोऽन्तरात्मेति । लिङ्गोपाधेरात्मनो यथोक्तप्रकाशेन मरणकाले हृद-यान्निष्क्रमणे मार्गं प्रश्नपूर्वकमुत्तरवाक्येनो(णो)पदिशति—तेनेत्यादिना । चक्षुष्टो वेति विकल्पं निमित्तं सूचयति—आदित्येति । मूर्ध्नो वेति विकल्पे हेतुमाह—ब्रह्मलोकेति । [18]तत्प्राप्तिनिमित्तं चेज्ज्ञानं कर्म वा स्यादिति पूर्वेण संबन्धः । देहावयवान्तरेभ्यो निष्क्रमणे नियामकमाह—यथेति । कथं पर-

---

स्वयं से प्रकाशित हो जाता है । उस आत्मज्योति प्रकाश से यह लिङ्गोपाधिक विज्ञानमय आत्मा हृदय द्वार से "निर्गच्छति" अर्थात् निकल जाता है । जिस प्रकार आथर्वण उपनिषत् में कहा है-"मैं किस के उत्क्रमण हो जाने पर उत्क्रान्त हो जाऊँगा, किसके प्रतिष्ठित हो जाने पर प्रतिष्ठा लाभ करूंगा, ऐसा विचार कर उसने प्राण सृष्टि की" इत्यादि ।

उस लिङ्गात्मा में आत्मचैतन्यज्योति सर्वदा अधिकतर अभिव्यक्त होता है । उस लिङ्ग उपाधि के द्वारा ही आत्मा में जन्म-मरण, गमन-आगमन आदि सर्व विकारात्मक व्यवहार होता है। बारह प्रकार की बुद्ध्यादि इन्द्रियाँ हैं, वह लिङ्गात्मक है, वह सूत्रात्मा है, वह जीवन है तथा जङ्गम और स्थावर का अन्तरात्मा है । उस "प्रद्योतेन" यानी हृदयाग्र प्रकाश में निकलने वाला आत्मा किस मार्ग से

---

१. विचार्य । २. लिङ्गात्मनि । ३. लिङ्गरूपोपाधिद्वारा । ४. लिङ्गात्मकम् । ५. तल्लिङ्गं समष्टि-रूपं सूत्रात्मत्वेन श्रूयते । ६. जङ्गमस्य । ७. स्थावरस्य । ८. चक्षुर्द्वारा । ९. ब्रह्मरन्ध्रद्वारा । १०. लिङ्गद्वारेत्यादि लिङ्गनिर्गमनाधीनमात्मनिर्गमनं किमिति । स्वतन्त्रवेवात्मनिर्गमनं किं न स्यादित्याशयः । ११. उक्तश्रुतिवशादौपाधिक एवात्मनिर्गमो न स्वतो निष्क्रियस्य निरवयवस्य विभोः स्वयं निर्गमासंभवादिति भाव इति शेषः । १२. दर्शनान्यथाऽनुपपत्तिरिति यावत् । १३. प्रत्यक्षात्मकम् । १४. तथा च ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं मनो बुद्धिश्चेति द्वादश । १५. स्थूलदेहस्य । १६. न हि लिङ्गं विना स्थूलं जीवति । १७. लिङ्गदेहः । १८ ब्रह्मलोकप्राप्तिनिमित्तम् ।

वा शरीरदेशेभ्यः [1]शरीरावयवेभ्यो यथाकर्मं यथाश्रुतम्। तं [2]विज्ञानात्मानमुत्क्रामन्तं लोकाय प्रस्थितं परलोकायो[3]द्भूताकूतमित्यर्थः। प्राणः सर्वा[4]धिकारिस्थानीयो राज्ञ नूत्क्रामति। तं च प्राणमनूत्क्रान्तं [6]वागादयः सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति।

यथाप्रधानान्वाचिख्यासेयं न तु क्रमेण सार्थवद्गमनमिह[7] विवक्षितम्। तदैष त्मा सविज्ञानो भवति स्वप्न इव [8]विशेषविज्ञानवान्भवति कर्मवशान्न स्वतन्त्रः। स्वातण हि सविज्ञानत्वे सर्वः [9]कृतकृत्यः स्यात् नैव तु [10]तल्लभ्यते। [11]अत एवाऽऽह

---

[12]प्रस्थितमित्युच्यते प्राणगमनाधीनत्वाद्विज्ञानात्मगमनस्येत्याशङ्क्याऽऽह—परलोकायेति।

[13]ननु जीवस्य प्राणादितादात्म्ये सति कथमनुशब्देन क्रमो विवक्ष्यते तत्राऽऽह—यथाप्रधानेति। नमनतिक्रम्य हीयम[14]न्वाख्यानेच्छा। [15]तथा च जीवादेः [16]प्राधान्याभिप्रायेणानुशब्दप्रयोगो न भिप्रायेण देशकाल[17]भेदाभावादित्यर्थः। सार्थे समूहे व्यक्तिषु क्रमेण गमनं दृश्यते न तथा प्राणादिति [18]व्यतिरेकः। यदुक्तं हृदयाग्रप्रद्योतनं तत्सविज्ञानश्रुत्या प्रकटयति—तदेति। कर्मवशादिति विशेतं साधयति—नेति। विपक्षे दोषमाह—स्वातन्त्र्येणेति। इष्टापत्तिमाशङ्क्याऽऽह—नैवेति। मुमूर्षो-

---

कलता है। इस पर श्रुति कहती है—"चक्षुष्टो वा" अर्थात् चक्षुद्वार से निकलता है। यदि उसका ज्ञान कर्म आदित्यलोक की प्राप्ति में हेतु होता है, यदि ब्रह्मलोक की प्राप्ति में हेतु होता है तो ब्रह्मरन्ध्र में निकलता है। इसी प्रकार अपने कर्म और उपासना के अनुसार वह शरीर के अन्यान्य देशों या यवों से निकल जाता है। उस विज्ञानात्मा के "उत्क्रामन्तम्" अर्थात् परलोक के लिये प्रस्थित अथवा लोक के लिये प्रकटित अभिप्राय वाला होने पर राजा के मन्त्री के समान प्राण उसके साथ-साथ क्रान्त होने पर (परिवारस्थानीय) वागादि सारे प्राण उसके साथ-साथ उत्क्रमण करते हैं।

यहाँ जनसमूह की तरह क्रम से जाना अभीष्ट नहीं है, बल्कि उनके प्रधान के अनुसार उसका न करना इष्ट है। उस समय यह आत्मा विज्ञानसहित होता है, स्वप्न के समान कर्मवश भावी विषयक विशेष ज्ञानवान् होता है; स्वतन्त्रता से नहीं होता। यदि स्वतन्त्ररूप से विज्ञानवान् हो

---

१. श्रोत्रादिभ्यः सकाशात्। २. राजस्थानीयम्। ३. प्रकटिताभिप्रायम्। ४. मन्त्रिस्थानीयः। ५. अभिप्रायमनुसृत्य क्रामतीत्यर्थः। ६. परिवारस्थानीयाः। ७. आत्मादिषु। ८. विशेषविज्ञानवान्—भाविदेहविषयकज्ञानवान्। ९. कृतकृत्यः स्यादिति—मरणसमये हि यस्य ज्ञानं तदुत्तरत्र लभ्यते तत्र ज्ञाने स्वतन्त्रस्तु को नामापकृष्टं भावयेद्ब्रह्मैवात्मानं भावयित्वा मुक्तः स्यादिति भावः। १०. कृतकृत्यत्वम्। ११. तस्याऽस्वातन्त्र्यादेव। १२. प्रस्थितं विज्ञानात्मानमनु प्राण उत्क्रामतीति कथमुच्यत इत्यर्थः। १३. नन्वित्यादि। अत्र वार्तिकम्—"नन्वात्मप्राणवागादेरन्योऽन्यव्यतिमिश्रणात्। देशकालाद्यसंभेदात्क्रमेणोत्क्रमणं कथम्" ॥ ८८ ॥ इति। मिथस्तादात्म्यवतां सहैव गमनं न्याय्यमिति भावः। १४. तत्तद्गमने पाश्चात्यत्वकथनेच्छा। १५. तथा च—अन्वाख्यानेच्छायाः प्राधान्यानुरोधित्वे चेत्यर्थः। १६. प्राधान्येति—जीवस्य प्राधान्यं प्राणस्य गुणत्वं तस्य प्राधान्यं वागादीनां गुणत्वमित्यभिप्रायेणेत्यर्थः। १७. एकस्मादेव देशादेकस्मिन्नेव काले सर्वेषां निर्गमादिति यावत्। १८. व्यतिरेकी दृष्टान्तः।

व्यासः "सदा तद्भावभावितः" इति । कर्मणा तूद्भाव्यमानेनान्तःकरणवृत्तिविशेषाश्रि
वासनात्मकविशेषविज्ञानेन सर्वो लोक एतस्मिन्काले सविज्ञानो भवति । सविज्ञानमेव
गन्तव्यमन्ववक्रामत्यनुगच्छति विशेषविज्ञानोद्भासितमेवेत्यर्थः । तस्मा[1]त्तत्काले स्वातन्त्र्या
योगधर्मानुसेवनं परिसंख्यानाभ्यासश्च विशिष्टपुण्योपचयश्च श्रद्दधानैः परलोकार्थिभिर
प्रमत्तैः कर्तव्य इति ।

सर्वशास्त्राणां यत्नतो विधेयोऽर्थो दुश्चरिताच्चोपरमणम्[2] । न हि तत्काले शक
किंचित्संपादयितुम् । कर्मणा नीयमानस्य स्वातन्त्र्याभावात् । 'पुण्यो वै पुण्येन कर्म
भवति [4]'पापः पापेनेत्युक्तम्[5] । '[6]एतस्य ह्यनर्थस्योपशमोपायविधानाय सर्वशास्त्रोपनि

रस्वातन्त्र्ये मानमाह—अत एवेति । कर्मवशादुक्तं सविज्ञानत्वमुपसंहरति— कर्मणेति । अन्तःकर
वृत्तिविशेषो भाविदेहविषयस्तदाश्रितं तद्रूपं यद्वासनात्मकं विशेषविज्ञानं तेनेति यावत् । म्रियमा
सविज्ञानत्वे सत्यर्थसिद्धमर्थमाह—सविज्ञानमेवेति । गन्तव्यस्य सविज्ञानत्वं विज्ञानाश्रयत्वमित्याशङ्
विशिनष्टि— विशेषेति । प्रागेवोत्क्रान्तेः सविज्ञानत्ववादिश्रुतेस्तात्पर्यमाह—तस्मादिति । पुरुषस्य क
नुसारित्वं तच्छब्दार्थः । योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । तस्य [8]धर्मा यमनियमप्रभृतयः । तेषामनुसेवनं पु
पुनरावर्तनम् । परिसंख्यानाभ्यासो योगानुष्ठानम् । कर्तव्य इति प्रकृतश्रुते[9]र्विधेयोऽर्थ इति शेषः ।

किंच पुण्योपचयकर्तव्यतारूपेऽर्थे सर्वमेव विधिकाण्डं [10]पर्यवसितमित्याह—सर्वशास्त्राणामि
सर्वस्मादागामिदुश्चरितादुपरमणं कर्तव्यमित्यस्मिन्नर्थे निषेधशास्त्रमपि पर्यवसितमित्याह—दुश्च
ताच्चेति । ननु पूर्वं यथेष्टचेष्टां कृत्वा मरणकाले सर्वमेतत्संपादयिष्यते नेत्याह—न हीति । कर्म
नीयमानत्वे मानमाह—पुण्य इति । [11]तर्हि पुण्योपचयादेव यथोक्ता[12]नर्थनिवृत्तेर्व्यर्थं तत्त्वज्ञानमित्या
ङ्क्याऽऽह—एतस्येति । उपशमोपायस्तत्त्वज्ञानं तस्य विधानं प्रकाशनं तदर्थमिति यावत् । देवता

जाता, तो मरणकाल में सभी कृतकृत्य हो जाते । किन्तु वह कृतकृत्यता तो सभी को प्राप्त नहीं है
इसी से भगवान् व्यास ने कहा है—"हृदय से सदा उस भाव में भावित रहने से (वह प्राप्त होता है)"
इसलिये इस समय सब लोग कर्म द्वारा उद्भूत अन्तःकरण की वृत्तिविशेष के आश्रित वासनात्म
विशेषविज्ञान से विज्ञानवान् होते हैं । इस प्रकार "सविज्ञानमेव" अर्थात् विशेषविज्ञान से उद्भासि
होकर ही अपने गन्तव्य स्थान को "अन्ववक्रामति" अर्थात् अनुगमन करता है । इसलिये परलोक की
इच्छा वाले श्रद्धावान् मनुष्यों को मरण के समय स्वातन्त्र्यप्राप्ति के लिये सावधान होकर निरन्त
योगधर्मों का सेवन, योगानुष्ठान और विशिष्ट पुण्य की संचय करना चाहिये ।

सम्पूर्ण शास्त्रों के विधेय अर्थ का अनुष्ठान करना चाहिये तथा दुष्कर्म से उपरति धार
करनी चाहिये । प्राणोत्क्रमण काल में कुछ भी साधन निष्पन्न नहीं किया जा सकता क्योंकि कर्म
द्वारा लें जाये जाते हुए जीव में उस समय स्वतन्त्रता का अभाव रहता है । "पुण्य कर्म से देवादि ए

---

१. मृतिकाले । २. यत्नतः कर्तव्यमितीति शेषः । ३. देवादिः । ४. स्थावरादिः । ५. बृ. ३.
३. २. १३ । ६. अपरोक्षस्य जननादेः । ७. मृतिकाले कर्मानुसारित्वम् । ८. अङ्गानि । ९. अभिसंबं
१०. तात्पर्यवत् । ११. जीवस्य सर्वथा कर्मानुसारित्वे । १२. जननादि ।

ताः । न हि तद्विहितोपायानुसेवनं मुक्त्वा[1]ऽऽत्यन्तिकोऽस्यानर्थस्यो[2]पशमोपायोऽस्ति ।
स्मादत्रैवोपनिषद्विहितोपाये यत्नपरैर्भवितव्यमित्येष प्रकरणार्थः ।

शकटवत्संभृत[4]संभार उत्सर्जन्याती[5]त्युक्तं, ※किं पुनस्तस्य[6] परलोकाय [7]प्रवृत्तस्य
व्यदनं शाकटिकसंभारस्थानीयं गत्वा वा परलोकं यद्भुङ्क्ते शरीराद्यारम्भकं च यत्त-
कर्ममिति । उच्यते—तं परलोकाय गच्छन्तमात्मानं विद्याकर्मणी विद्या च कर्म च विद्या-
र्मणी '[8]विद्या सर्वप्रकारा विहिता प्रतिषिद्धा चाविहिताऽप्रतिषिद्धा च । तथा कर्म
विहितं प्रतिषिद्धं चाविहितमप्रतिषिद्धं च समन्वारभेते सम्यगन्वारभेते अन्वालभेते अनु-

---

नर्थो निवर्तिष्यते किं तत्त्वज्ञानेनेत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । तद्विहितेति तच्छब्देन प्रकृताः सर्व-
शाखोपनिषदो गृह्यन्ते । विधा[9]न्तरेणानर्थध्वंसासिद्धौ फलितमाह—तस्मादिति । ज्ञापितः सविज्ञान-
त्ययेनेति शेषः ।

वृत्तमनूद्य प्रश्नपूर्वकमुत्तरवाक्यमवतार्य व्याचष्टे—शकटवदित्यादिना । विहिता विद्या [10]ध्यानात्मिका । प्रतिषिद्धा नग्नस्त्रीदर्शनादिरूपा । अविहिता घटादिविषया । अप्रतिषिद्धा पथि पतिततृणादिविषया । विहितं कर्म यागादि । प्रतिषिद्धं ब्रह्महननादि । अविहितं गमनादि । अप्रतिषिद्धं नेत्र-
विक्षेपादि ।

कर्म से स्थावरादि योनियों की प्रप्ति होती है'' ऐसा श्रुति कह चुकी है । प्रत्यक्ष जननादि रूप
र्थ की शान्ति का उपाय बतलाने के लिये ही सभी शाखाओं की उपनिषदें प्रवृत्त हुई हैं । उन
निषदों द्वारा विधान किये हुए उपायों का निरन्तर सेवन किये बिना इस अनर्थ की आत्यन्तिक निवृत्ति
अन्य कोई उपाय नहीं है । इसलिए यहाँ पर ही उपनिषत् प्रतिपादित उपाय के अनुष्ठान में लगे
ना चाहिये— यही इस प्रकरण का अर्थ है ।

पिछले ब्राह्मण में यह कहा गया है कि गाड़ी के समान जिसने (विद्या, कर्म एवं पूर्वप्रज्ञारूप)
र धारण किया है; वह जीव शब्द करता हुआ जाता है । किन्तु गाडीवान् (पथिक) के पाथेय के
मान परलोक के लिए प्रस्थित इस जीवात्मा के मार्ग की भोजनसामग्री क्या है, जिसे परलोक में जाकर
ता है तथा उसके शरीरादि का प्रारम्भक क्या है ? इसपर श्रुति कहती है -परलोक में जाते हुए उस
जीवात्मा के साथ 'विद्याकर्मणी' यानी विद्या और कर्म (साथ जाते हैं) । सब प्रकार की विहित
और प्रतिषिद्ध तथा अविहित और अप्रतिषिद्ध विद्या ही यहाँ अभिप्रेत है । इसी प्रकार विहित और
प्रतिषिद्ध तथा अविहित और अप्रतिषिद्ध कर्म ही कर्म हैं । ये विद्या और कर्म "समन्वारभेते" अर्थात्

---

१. उपाये आत्यन्तिकत्वम् आत्यन्तिकोपशमजनकत्वादौपचारिकम् वेदितव्यम् । २. उपशमोपाय इति—
उपशमः अपाय इति वा छेदः अपाय उपशमविवरणम् । ३. तस्मादिति—तत्त्वज्ञानं विनोपायान्तरेणानर्थ-
स्यात्यन्तिकनिवृत्त्यभावादित्यर्थः । ४. संभारः—विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञारूपः । ५. बृ. उ. ४. ३. ३५ । ६.
जीवात्मनः । ७. प्रस्थितस्य । ८. विद्या सर्वप्रकारेति—विद्याऽत्र बन्धहेतुरेव ज्ञानमात्रं ग्राह्यं कर्मसाह-
चर्यन्ते तु सर्वप्रकारेत्युक्त्या अज्ञज्ञानमपीति स्पष्टं वार्तिके । ९. तत्त्वज्ञान विना । १०. उपासनरूपा ।

※ किं पुनस्तस्येत्यादि विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञाख्यमित्यन्तभाष्ये वार्तिकानि—"मात्रालक्षणमादान कृत्वा स्वप्नस्य

गच्छतः पूर्वप्रज्ञा च पूर्वानुभूतविषया प्रज्ञा पूर्वप्रज्ञाऽतीतकर्मफलानुभववासनेत्यर्थः[1]।

सा च वासनाऽपूर्वकर्मारम्भे कर्मविपाके[3] चाङ्गं[4] भवति। तेनासावप्यन्वारभते। न तथा वासनया विना कर्म कर्तुं फलं चोपभोक्तुं शक्यते। न ह्यनभ्यस्ते विषये कौशलमि न्द्रियाणां भवति। पूर्वानुभववासनाप्रवृत्तानां त्विन्द्रियाणामिहाभ्यासमन्तरेण कौशलमुप- पद्यते। दृश्यते च केषांचित्कासुचित्क्रियासु चित्रकर्मादिलक्षणासु विनैवेहाभ्यासेन जन्म

विद्याकर्मणोरुपभोगसाधनत्वप्रसिद्धेर[5]न्वारम्भेऽपि किमित्यन्वारभते [6]'वासनेत्याशङ्क्या —सा चेति। अपूर्वकर्मारम्भादावङ्गं पूर्ववासनेत्यत्र हेतुमाह—न हीति। उक्तमेव हेतुमुपपादयति— न हीत्यादिना। इन्द्रियाणां विषयेषु कौशलमनुष्ठाने प्रयोजकं [7]तच्च फलपभोगे हेतुः। न चान्तरे- भ्यासमिन्द्रियाणां विषयेषु कौशलं संभवति। तस्मादनुष्ठानाद्यभ्यासाधीनमित्यर्थः। [8]'तथापि क पूर्ववासना कर्मानुष्ठानादावङ्गमित्याशङ्क्याऽऽह—पूर्वानुभवेति। [9]'तत्र लोकानुभवं प्रमाणयति—दृ चेति। चित्रकर्मादीत्यादिशब्देन प्रासादनिर्माणादि गृह्यते। पूर्ववासनोद्भवकृतं कार्यमुक्त्वा तदभा

सम्यक् अन्वालम्भन या अनुगमन करते हैं। इसी प्रकार "पूर्वप्रज्ञा" यानी पूर्वानुभूतविषयिणी प्र अथवा पूर्वोत्पन्न विद्याकर्म अनुभव की वासना साथ जाती है।

वह वासना ही अपूर्व कर्मारम्भ एवं कर्मफल में प्रयोजिका हुआ करती है, अतः यह भी उस साथ जाती है। उस वासना के विना न ही कर्म किया जा सकता है, न ही उसका फलोपभोग किया ज सकता है। अनभ्यस्त विषय में इन्द्रियों को कुशलता नही होती। यहाँ पूर्वानुभव वासना से प्रवृत्त हु इन्द्रियों के बिना अभ्यास के कुशलता होनी संभव है। लोक में देखा जाता है किन्हीं का किन्हीं चि कर्मादिलक्षण क्रियाओं में बिना अभ्यास के जन्मजात कौशल होता है. और किन्हीं-किन्हीं प्रत्य

---

१. पूर्वोत्पन्नविद्याकर्मेत्यर्थः। २. कार्यकारणकोटयोर्द्वैराश्यसिद्धयर्थं समासतदकरणे। ३. फले। ४. प्रयोजकम्। ५. गच्छन्तमात्मानमनुगमनेऽपि। ६. फलोपभोगे तस्या अनुपयुक्तत्वादिति शङ्कितुराशय। ७. अनुष्ठानम्। ८. अनुष्ठानादेरभ्यासाधीनत्वेऽपि। ९. इहाभ्यासं विनापि कौशलोपपत्तौ।

सर्जनम्। यथेह न तथा किंचिदुपादानं समीक्ष्यते॥ अथैवं देवतात्यक्ते लिङ्गे देहाद्बहिर्गते। लोकान्तर हेतुर्लोकारम्भे च भण्यताम्॥ आत्मनः परलोकाय यत्स्याद्गमनकारणम्। भुङ्क्ते गत्वा च यत्तत्र देहारम्भे कारणम्॥ लिङ्गानस इतो देहाद्देहमन्यं निगच्छतः। संभारः कोऽस्य गत्यर्थो देहारम्भे च कथ्यताम्॥ जिगमिषु विद्याकर्मणी ये पुराऽर्जिते। तं समन्वारभेते ते या चाभूत्पूर्ववासना॥ विज्ञानं संशयज्ञानं मिथ्याज्ञान मथापि वा। प्रमाणतोऽप्रमाणाद्वा सर्वं विद्येति भण्यते॥ संसारकारणध्वंसि यत्तु ज्ञानं परात्मगम्। तदत्र परिग्राह्यं सर्वोपत्कारणापनुत्॥ संसारकारणं तस्मादात्माज्ञानाविरोधि यत्। अप्राप्तपरमार्थं ज्ञानमत्र जिघृक्षितम्॥ वाङ्मनःकायसाध्यं च शास्त्रतो यदि वाऽन्यतः। दृष्टादृष्टार्थरूपं यत्तच्च कर्मेति गृह्यते। अन्वारभेते गच्छन्तं यथोक्ते ज्ञानकर्मणी। गच्छन्तं पुरुषं यस्मादन्वेते स्वस्वभावतः। गच्छतोऽतोऽनुशब्दोऽत्र पश्चादर्थे प्रयुज्यते॥ गमनादिविधौ पुंसः साधनत्वं निगच्छतः। कर्मणः क्रियामाणस्य संस्कारो यो हृदि स्थितः। तत्फलस्य च भुक्तस्य पूर्वप्रज्ञेति सोच्यते॥ पूर्वोपचितसंस्कारहेतुभ्यः साऽभिजायते॥ षण्मासशेषप्रोद्भूता वासना याऽस्य देहिनः। मरिष्यतोऽन्यदेहार्थं पूर्वप्रज्ञेति तां विदुः॥ समर्था सैव ते यस्मादुद्वोढुं ज्ञानकर्मणी। नरस्यातः प्रधानत्वात्पृथक्तस्या ग्रहः कृतः॥ समासेनैव निर्दिष्टे कारणत्वाविशेषतः। अन्योन्यकारणत्वा

व कौशलं कासुचिदत्यन्तसौकर्ययुक्तास्वप्यकौशलं केषांचित् । तथा विषयोपभोगेषु स्वभा-त एव केषांचित्कौशलाकौशले दृश्येते । तच्चै[1]तत्सर्वं पूर्वप्रज्ञोद्भवानुद्भवनिमित्तम् । [4]तेन र्वप्रज्ञया विना कर्मणि वा फलोपभोगे वा न कस्यचित्प्रवृत्तिरुपपद्यते । [5]तस्मादेतत्त्रयं ाकटिकसंभारस्थानीयं परलोकपथ्यदनं विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञाख्यम् । यस्माद्विद्याकर्मणी पूर्व-

---

ं कार्यमाह—कासुचिदिति । रज्जुनिर्माणादिष्विति यावत् । [2]तत्रैवोदाहरणसौलभ्यमाह—तथेति । त्र हेत्वन्तरमाशङ्क्य परिहरति– तच्चेति । कर्मानुष्ठानादौ पूर्वप्रज्ञाया हेतुत्वमुपसंहरति—तेनेति । न्वारम्भवचनार्थं निगमयति—तस्मादिति । [6]तस्यैव तात्पर्यार्थमाह—यस्मादिति ॥ २ ॥

म क्रियाओं में भी कुशलता नहीं होती । उसी प्रकार विषयोपभोग में भी किन्हीं-किन्हीं की स्वा-ाविक कुशलता या अकुशलता देखी जाती है । कौशल और अकौशलादि पूर्वप्रज्ञा से ही उत्पन्न या नुत्पन्न होते हैं । इसलिये पूर्वप्रज्ञा के बिना कर्म या फलोपभोग में किसी की भी प्रवृत्ति होनी संभव हीं है । इसलिये गाड़ीवान् के मार्गव्यय सामग्री के समान ये विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा नामक तीन लोक के पाथेय हैं क्योंकि विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा—ये देहान्तर की प्राप्ति और उपभोग के

---

१. कौशलाऽकौशलादि । २. अवतरणोक्तेन । ३. तस्मादिति—परलोकनिर्माणे तद्भोगे च त्रयाणां कारण-त्वात् । ४. कर्मानुष्ठानादौ पूर्वप्रज्ञायाः कारणत्वे एव । ५. निरुक्तकौशलादौ । ६. समन्वारम्भ-वचनस्यैव ।

श्रुत्येह ज्ञानकर्मणी ॥ पूर्वप्रज्ञात उद्भूतिर्विद्यायाः कर्मणो यतः । ताभ्यां च भावनोद्भूतिर्निर्देशोऽतो यथोदितः ॥ कर्मणो भुज्यमानस्य परिशेषो हि भावना । मूलं च जायमानस्य प्रधानं तेन भण्यते ॥ परिच्छेत्त्री विनिर्मात्री विद्या लोकान्तरस्य हि । विकर्तृ कर्म वोढ्री च पूर्वप्रज्ञेह पूर्वयोः" ॥ १०७-१२५ ॥ इति । सविज्ञान इत्यादि व्याख्याय तं विद्येत्यादिवाक्यव्यावर्त्यमाह—मात्रेति । यथा स्वप्ननिर्माणं जाग्रद्वासना-कर्मभ्यामिष्टं तथा लोकान्तरनिर्माणकारणं न किंचिदृष्टमित्यर्थः ॥ कार्यकरणतदधिष्ठातृदेवतावशाद्देहान्तर-गतिस्तदारम्भश्चेत्याशङ्क्याऽऽह—अथेति । अथारूपज्ञो भवतीत्यादावुक्तन्यायेनाऽऽह—एवमिति ॥ आत्मनस्तर्हि विनैव कारणं देहान्तरगमनादि स्यादत आह—आत्मन इति । कथ्यतामित्युत्तरेण संबन्धः । कारणं विना कार्यायोगादिति भावः ॥ लिङ्गमेव तर्हि केवलं गत्यादिहेतुरित्याशङ्क्य स्थूलदेहानपेक्षस्य तस्या किंचित्करत्वा-नैवमित्याह—लिङ्गेति । अस्य लिङ्गानस इति संबन्धः । लिङ्गमेवानो यस्य सोऽयं लिङ्गानास्तस्येति यावत् ॥ परलोकनिर्माणे तद्गतौ भोगे च कारणं वक्तुं तं विद्येत्यादिवाक्यमिति मन्वानस्तदादत्ते—इत इति ॥ विद्यां व्याचष्टे—विज्ञानमिति । ज्ञानमात्रमत्र विद्येत्यर्थः ॥ ब्रह्मज्ञानमपि तर्हि विद्याशब्देनात्र ग्राह्यमित्याशङ्क्याऽऽह —संसारेति । तस्याग्राह्यत्वे हेतुः—सर्वेति । विद्येत्यत्र बन्धहेतुर्गृह्यते तद्धेतुकर्मादिसाहचर्यात् । ब्रह्मज्ञानं तु तद्ध्वंसित्वान्नेह विद्याशब्दमर्हतीत्यर्थः ॥ तस्यात्राग्रहे फलितमाह—संसारकारणमिति । तदविरोधित्वे हेतुमाह—अप्राप्तेति ॥ कर्मशब्दार्थमाह—वागिति । व्यापारमात्रमत्र कर्मेत्यर्थः ॥ उक्तविद्याकर्मानुवादपूर्वकं तं समन्वारभेते इतिभागमादत्ते—अन्वारभेते इति । तात्पर्यार्थमाह—गच्छन्तमिति । स्वस्वभावतो ज्ञानकर्मणो-राश्रयपारतन्त्र्यस्वाभाव्यादित्यर्थः ॥ यत्तु संभारः कोऽस्येत्यादि तत्राऽऽह—गमनादीति । आदिपदेन देहेन देहान्तरारम्भो गृह्यते ॥ पूर्वप्रज्ञां व्याचष्टे—कर्मण इति ॥ अन्तःकरणाश्रिता कर्मतत्फलसंस्कारसंज्ञिता पूर्वप्रज्ञा तदभिव्यक्तिकारणमाह—पूर्वेति । उपात्तकर्मापूर्वाख्यहेतुभ्यां मृतिकाले पूर्वोक्ता पूर्वप्रज्ञा कार्याभिमुख्ये-

प्रज्ञा च देहान्तरप्रतिपत्त्युपभोगसाधनं तस्माद्विद्याकर्मादि शुभमेव समाचरे'द्यथेष्टदेहसं गोपभोगौ स्यातामिति प्रकरणार्थः ॥ २ ॥

एवं विद्यादिसंभार[2]संभृतो देहान्तरं प्रतिपद्यमानो मुक्त्वा पूर्वं देहं पक्षीव वृक्षा न्तरं प्रतिपद्यते । अथ वाऽऽतिवाहिकेन शरीरान्तरेण कर्मफलजन्मदेशं नीयते । किंचात्र स्थस्यैव[3] सर्वगतानां करणानां [4]वृत्तिलाभो भवत्याहोस्वि[5]च्छरीरस्थस्य संकुचितानि णानि मृतस्य भिन्नघटप्रदीपप्रकाशवत्सर्वतो व्याप्य पुनर्देहान्तरारम्भे संकोचमुपगच्छन्ति किंच मनोमात्रं वैशेषिकसमय इव देहान्तरारम्भदेशं प्रति गच्छति किंवा कल्पनान्तरं

तृणजलायुकावाक्यमवतारयितुं वृत्तमनूद्य वादिविवादान्दर्शयन्नादौ दिगम्बरमतमाह— मित्यादिना । देवतावादिमतमाह—अथ वेति । देवता येन शरीरेण विशिष्टं जीवं परलोकं न तदातिवाहिकं शरीरान्तरं तेनेति यावत् । सांख्यादिमतमाह—किंचेति । सिद्धान्तं सूचयति आहोस्विदिति । वैशेषिकादिपक्षमाह—किंचेति । न्यूनत्वनिवृत्त्यर्थमाह—किंवा कल्पनान्तरमिति

साधन हैं । इसलिये ऐसी शुभ विद्या और कर्मादि का अनुष्ठान करे, जिससे कि इष्ट देह के संभोग उपभोग प्राप्त हों—यही इस प्रकरण का तात्पर्यार्थ है ।। २ ।।

इस प्रकार विद्यादि के भार से आक्रान्त देहान्तर को प्राप्त करने वाला जीव पूर्वदेह को कर एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष को जाने वाले पक्षी की तरह देहान्तर की प्राप्ति करता है । अथवा आतिवा शरीरान्तर से (जिस शरीर से देवता विशिष्ट जीव को परलोक ले जाता है) कर्मफल के उत्पत्ति देश को ले जाया जाता है । (इस पर शङ्का होती है—) क्या उसे यहाँ अपनी महिमा में प्रतिष्ठित ही सर्वव्यापी इन्द्रियों की स्वरूपाभिव्यक्ति हो जाती है अथवा शरीरस्थ जीवित आत्मा की संकु इन्द्रियाँ, फूटे हुए घड़े के प्रकाश के समान मृतक में सर्वत्र व्याप्त होकर पुनः देहान्तर की सृष्टि होने संकोच को प्राप्त हो जाती हैं अथवा वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार मन ही देहान्तर के आरम्भक जाता है, अथवा वेदान्त सिद्धान्त की यह कल्पान्तर ही है। (सिद्धान्ती समाधान देता है—)

---

१. येनेत्यर्थको यथाशब्दः । २. आक्रान्तः । ३. स्वमहिमप्रतिष्ठस्यैव । ४. वृत्तिलाभः स्वरूपाभि व्यक्तिरिति यावत् । ५. जीवत एवात्मनः ।

नाऽऽविर्भवन्तीत्यर्थः ॥ पूर्वप्रज्ञाशब्दस्यार्थान्तरमाह—षण्मासेति ॥ तस्या विद्याकर्मभ्यां पृथक्कथने को हे त्राऽऽह— समर्थेति । न हि मृतस्य विद्याकर्मणी स्वरूपेण स्थातुमर्हतः कारकभेदाभावादतो वासनात्मनैव स्तयोस्तत्प्राधान्यात्तस्या युक्ता पृथगुक्तिरित्यर्थः ॥ तर्हि पूर्वप्रज्ञावदसमासकरणं विद्याकर्मणोरपि स्यान्नेत्या समासेनेति । ज्ञानकर्मणा हि पूर्वप्रज्ञायां कारणत्वाविशेषात्तत्करणं श्रुत्या समासेनैवोक्ते एकस्मिन्कार्ये का त्वेनैकरूप्यात्तस्य युक्तत्वादित्यर्थः । किंच प्रज्ञाया विद्याकर्मणोश्चान्योन्यं कार्यकारणभावात्कार्यकारणकोट्यो द्वैराश्यमित्याह—अन्योन्येति । इह ज्ञानकर्मपूर्वप्रज्ञाख्यार्थेषु मिथोहेतुफलभावाज्ज्ञानकर्मणी श्रुत्या पृ पूर्वप्रज्ञा च ताभ्यां पृथक्कृतेति योजना । तदेव स्फुटयते—पूर्वेति ॥ तस्यास्तयोश्च मिथो हेतुहेतुमत्त्वे मविशेषात्कथं पूर्वप्रज्ञाप्राधान्यमित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मण इति । परिशेषो नाम फलवासना । हि फलितमाह—प्रधानमिति ॥ त्रयाणां कार्यविशेषोक्तिपूर्वकं वाक्यार्थमुपसंहरति—परिच्छेत्त्रीति । परि विद्याया विकर्तृत्वं च कर्मणो लोकसिद्धमिति हिशब्दार्थः । सप्तमी निर्धारणे ॥

न्तसमय इति । [1]उच्यते—"[2]त एते सर्व एव समा सर्वेऽनन्ताः"[3] इति श्रुतेः सर्वात्म-नि तावत्करणानि । [4]सर्वात्मकप्राणसंश्रयाच्च । तेषामाध्यात्मिकाधिभौतिकपरिच्छेदः णिकर्मज्ञानभावनानिमित्तः । [5]अतस्तद्वशात्स्वभावतः सर्वगतानामनन्तानामपि प्राणानां र्मज्ञानवासनानुरूपेणैव देहान्तरारम्भवशात्प्राणानां [6]वृत्तिः संकुचति विकसति च । तथा लोकम्[7]"समः [8]प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण"[9] इति । तथा चेदं वचनमनुकूलम्—"स यो हैताननन्तानुपास्ते[11]" इत्यादि "तं यथा यथो-

---

सिद्धान्तस्य प्रामाणिकत्वेनोपादेयत्वं वदन्कल्पनान्तराणामप्रामाणिकत्वेन त्याज्यत्वमभिप्रेत्याऽऽह उच्यत इति । [2]तेषां सर्वात्मकत्वे हेत्वन्तरमाह—सर्वात्मकेति । कथं तर्हि करणानां परिच्छिन्नत्व-मित्याशङ्क्याऽऽह—तेषामिति । आधिदैविकेन रूपेणापरिच्छिन्नानामपि करणानामाध्यात्मिकादि-णेण परिच्छिन्नतेति स्थिते फलितमाह—अत इति । तद्वशादुदाहृतश्रुतिवशादित्येतत् । स्वभावतो देवतास्वरूपा[12]नुसारेणेति यावत् । कर्मज्ञानवासनानुरूपेणेत्यत्र भोक्तुरिति शेषः । [13]उभयत्र संबन्धार्थं प्राणानामिति द्विरुक्तम् । तेषां वृत्तिसंकोचादौ प्रमाणमाह—तथा चेति । परिच्छिन्नापरिच्छिन्नप्राणो-पासने गुणदोषसंकीर्तनमपि प्राणसंकोचविकासयोः सूचकमित्याह—तथा चेदमिति ।

हा जाता, है । "वे जो पहले अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव में कहे गये हैं; वे ये वाक्, मन और प्राण सभी तुल्य हैं और कार्यकरणात्मक संसार को व्याप्त करके स्थित होने से अनन्त हैं" इस श्रुति से सर्वात्मक प्राण के आश्रय में रहने से इन्द्रियाँ भी सर्वात्मक हैं । उनका आध्यात्मिक और आधि-भौतिक रूप विभाग तो प्राणियों के कर्म, ज्ञान और भावना के कारण है । इसलिये उनके वशीभूत होने से स्वभावतः सर्वगत और अनन्त होने पर भी प्राणों के कर्म, ज्ञान और वासना के अनुरूप ही दूसरी देह के आरम्भवशात् प्राणों के स्वरूप का संकोच या विकास होता है । श्रुति में कहा भी है—"यह प्राण चींटी के शरीर के समान है; मच्छर के शरीर के समान है; हाथी के शरीर के समान है; त्रैलोक्यात्मक विराट् शरीर के समान है; इस समस्त जगद्रूप हिरण्यगर्भ से चींटी आदि शरीरों में सर्वावयवावच्छेद रूप से व्याप्त है" । इसीसे ये श्रुतिवाक्य भी इसी का समर्थन करते हैं —"वह जो कोई भी प्रजापति के आत्मभूत इन परिच्छिन्न अनन्तवान् प्राणों की अध्यात्म या अधिभूत रूप से उपासना करता है (वह उस उपासना के फलस्वरूप अन्तपरिणामी लोकों पर विजय प्राप्त कर लेता है" एवं "उसकी जो

---

१. उच्यत इत्यादिः—सर्वगतत्वपक्षमाश्रित्य श्रुतिप्रवृत्तेस्तद्विरुद्धानि पक्षान्तराणि त्याज्यानीति भावः । २. त एत इत्यादि—वागादय आधिदैविकरूपेणाशेषजगद्व्याप्तिमन्तो यावत्संसारभाविनश्चेत्यर्थः । ३. बृ. उ. १. ५. १३ । ४. सर्वात्मकेति—प्राणसंवादे हि ज्यायस्त्वपरीक्षायां पराभूतैः करणैः प्राणाश्रयत्वं प्राणात्म-कत्वमात्मनोऽङ्गीकृतमिति । ५. अतः—आधिदैविकरूपेणापरिच्छिन्नानामपि तेषामाध्यात्मिकादिरूपेण परि-च्छेदस्यापि संभवादित्यर्थः । ६. स्वरूपम् । ७. बृ. उ. १. ३. २२ । ८. प्लुषिणा—प्लुषिशरीरेण । एवमग्रेऽपि । त्रिभिर्लोकैः—त्रैलोक्यात्मकविराट्छरीरेण । सर्वेण—हिरण्यगर्भजगद्रूपेण समः प्राणः । ९. बृ. उ. १. ३. २२ । १०. इतीति—उक्तश्रुतिवाक्यात्प्राणानां सर्वप्राणिषु ज्ञानकर्मानुरोधेन स्थितिगतिपरिच्छेद-संकोचविकासा निश्चिताः इत्यर्थः । ११. बृ. उ. १. ५. १३ । १२. करणानाम् । १३. आधिदैविकस्वरूपेण । १४. वृत्तिपरिच्छेदयोः ।

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुपसꣳहरत्येवमेवायमात्मेदꣳ शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुपसꣳहरति ॥ ३ ॥

जैसे घास पर चलने वाले तृणजलोंका नामक कीड़ा एक तृण के अन्तिम भाग पर पहुँच क दूसरे तृण रूप आश्रय को पकड़कर अपने शरीर को सिकोड़ लेता है, वैसे ही यह जीवात्मा इस वर्तमा देह को मारकर अचेतनावस्था को प्राप्त कराकर दूसरे शरीर रूप आश्रय का आधार ले अपना उपसंह कर लेता है, अर्थात् उसी देह में आत्मभाव करने लगता है। यही देहान्तर के आरम्भ की विधि है॥

पासते" इति च।

तत्र वासना पूर्वप्रज्ञाख्या विद्याकर्म[1]तन्त्रा जलूकाव[2]त्संततैव स्वप्नकाल इव '[3]कर्म कृतं देहान्तरमुपस्पृशति हृदयस्थैव पुनर्देहान्तरं पूर्वाश्रयं विमुञ्चतीत्येतस्मिन्नर्थं दृष्टान्त उपादीयते—

तत्तत्र देहान्तरसंचार इदं निदर्शनम् । यथा येन प्रकारेण तृणजलायुका तृणस्यान्त मवसानं गत्वा प्राप्यान्यं तृणान्तरमाक्रममाक्रम्यत इत्याक्रमस्तमाक्रममाक्रम्याऽऽश्रित्य

आधिदैविकेन रूपेण सर्वगतानामपि करणानामाध्यात्मिकाधिभौतिकरूपेण परिच्छिन्नत्वात् '[4]त्परिवृतस्य गमनं सिध्यतीति सिद्धान्तो दर्शितः । इदानीं तृणजलायुकादृष्टान्ताद्देहान्तरं गृहीत्व पूर्वदेहं मुञ्चत्यात्मेति '[5]स्थूलदेहविशिष्टस्यैव परलोकगमनमिति पौराणिकप्रक्रियां प्रत्याख्यातुं दृष्टान्त वाक्यस्य तात्पर्यमाह—तत्रेत्यादिना । देहनिर्गमनात्प्रागवस्था सप्तम्यर्थः । '[6]तदैव "[7]यथोक्ता वासना हृदयस्था विद्याकर्मनिमित्तं भाविदेहं '[8]स्पृशति जीवोऽपि तत्राभिमानं करोति '[9]पुनश्च पूर्वदेहं त्यजति यथा स्वप्ने देवोऽहमित्यभिमन्यमानो "[10]देहान्तरस्थ एव भवति तथोत्क्रान्तावपि"[11] "[12]तस्मान्न पूर्वदे

जिस प्रकार उपासना करता है" इत्यादि।

वहाँ विद्या-कर्मजन्या पूर्वप्रज्ञा नामक वासना जोंक के समान विस्तृत रहते हुए ही हृदयस्थ हो स्वप्न के समान विद्या-कर्मप्रयुक्त देहान्तर का उपस्पर्श करती है, फिर पूर्वाश्रित देहान्तर का परित्या कर देती है —इस संबन्ध में दृष्टान्त का उपपादन किया जाता है।

"तत्" शब्द वहाँ देहान्तर संचरण में निर्देश करने के लिए है। 'यथा' यानी जिस प्रक 'तृणजलायुका" अर्थात् तृण की जोंक, तृण के "अन्तं" यानी किनारे "गत्वा" अर्थात् पहुँचकर "अन्य अर्थात् दूसरे तृणरूपी "आक्रमम्" जहाँ आश्रित हुआ जाय; वह आक्रम है, उस आधार का "आक्रम

---

१. जन्या। २. विस्तृतैव। ३. कर्मकृतम्—विद्याकर्मप्रयुक्तम्। ४. वेष्टितस्य जीवस्य। ५. स्थूले —पूर्वदेहाभिमानविशिष्टस्यैवेत्यर्थ इत्याहुः। ६. देहनिर्गमात्प्राक्। ७. विद्याकर्मोत्पन्नफलभोगजनितसंस्का रूपा पूर्वप्रज्ञाख्या। ८. गोचरयति। ९. अभिमानान्तरम्। १०. देहान्तरस्थः सुप्तदेहादन्यो देवादि देहस्थः देवादिदेहश्च स्वाप्निको बोध्यः। ११. देहान्तरस्थः। १२. उत्क्रान्तिकाले देहान्तरस्थत्वात्।

त्मानमात्मनः [1]पूर्वावयवमु[2]पसंहरत्यन्त्यावयवस्थाने । एवमेवायमात्मा यः प्रकृतः संसारीदं रीरं पूर्वोपात्तं [3]निहत्य स्वप्नं प्रतिपित्सुरिव [4]पातयित्वा[5]ऽविद्यां गमयित्वाऽचेतनं कृत्वा त्मोपसंहारेणान्यमाक्रमं तृणान्तरमिव तृणजलूका [6]शरीरान्तरं गृहीत्वा प्रसारितया सनयाऽऽत्मानमुपसंहरति । तत्रा[7]ऽऽत्मभावमारभते यथा स्वप्ने देहान्तरमारभते [8]स्वप्नान्तरस्थ इव शरीरारम्भदेश आरभ्यमाणे देहे जङ्गमे स्थावरे वा ।

तत्र च कर्मवशात्करणानि [9]लब्धवृत्तीनि [10]संहन्यन्ते । बाह्यं च [11]कुशमृत्तिकास्थानीयं रीरमारभ्यते । तत्र च करणव्यूहम[12]पेक्ष्य वागाद्यनुग्रहायाग्न्यादिदेवताः संश्रयन्ते[13] । एष देहान्तरारम्भविधिः ।

तत्र देहान्तरारम्भे नित्योपात्तमेवो[15]पादानमु[16]पमृद्योपमृद्य देहान्तरमा[17]रभत आहोस्वि-

---

शिष्टस्यैव परलोकगमनमित्यर्थः । स्वात्मोपसंहारो देहे पूर्वस्मिन्नात्माभिमानत्यागः । प्रसारितया सनया शरीरान्तरं गृहीत्वेति संबन्धः । उपसंहारस्य स्वरूपमाह—तत्रेति । सप्तम्यर्थं विवृणोति—रभ्यमाण इति ।

आरब्धे देहान्तरे सूक्ष्मदेहस्याभिव्यक्तिमाह—तत्र चेति । कर्मग्रहणं विद्यापूर्वप्रज्ञयोरुपक्षणम् । ननु लिङ्गदेहबलादेवार्थक्रियासिद्धौ कृतं स्थूलशरीरेणेत्याशङ्क्य तद्व्यतिरेकेणेतरस्यार्थयाकारित्वं नास्तीति मत्वाऽऽह—बाह्यं चेति । आरब्धे देहद्वये करणेषु देवतानामनुग्राहकत्वेनावनं दर्शयति—तत्रेति । स्थूलो देहः सप्तम्यर्थः । करणव्यूहस्तेषामभिव्यक्तिः ॥ ३ ॥

पेशस्कारिवाक्यव्यावर्त्यामाशङ्कामाह—तत्रेति । संसारिणो हि प्रकृते देहान्तरारम्भे किमु-

---

थानं आश्रय लेकर "आत्मानमुपसंहरति" अर्थात् अपने पूर्वार्द्ध अवयवों को पश्चार्ध अवयव स्थान में र्पित कर देता है। इसी प्रकार यह प्रकरणस्थ संसारी आत्मा अपने इस पूर्वप्राप्त देह के कर्मों के से.स्वप्नप्राप्ति के इच्छुक के समान निश्चेष्ट कर अपनी आत्मा के उपसंहार द्वारा "अविद्यां गमत्वा" अर्थात् जड़ करके एक तृण से दूसरे तृण में जाने वाले तृण-जोंक के समान प्रसारित वासना रा आरभ्यमाण अन्य शरीरान्तर आधार को ग्रहण करके अपना उपसंहार कर लेता है।

वहाँ कर्मवश इन्द्रियाँ भी अभिव्यक्ति को प्राप्त हुई संबद्ध होती हैं तथा तृण-मृत्तिका निर्मित स्थानीय बाह्य शरीर का भी आरम्भ हो जाता है। फिर वहाँ इन्द्रियव्यूह की अभिव्यक्ति को देख र वागादि इन्द्रियों का उपकार करने के लिए अग्नि आदि देवता इन्द्रियों का आश्रय लेते हैं। इसी कार देहान्तर की प्राप्ति होती है ॥३॥

वहाँ देहान्तर की प्राप्ति में नित्यप्राप्त भूतपञ्चक पूर्व-पूर्व देह को विनष्ट कर करके देहान्तर

---

१. पूर्वावयवमिति—अनेन तस्याः पश्चार्धगामित्वं सूच्यते । २. स्थापयति । ३. कर्मणः क्षयात् । ४. निश्चेष्टमापाद्य । ५. जाड्यम् । ६. आरभ्यमाणम् । ७. अहमित्यात्मभावं प्रतिपद्यते । ८. स्वप्नदेहान्तरस्थ इति स्वप्नाश्रयस्थूलदेहमध्यस्थ इत्यर्थः । ९. लब्धाभिव्यक्तीनि । १०. संबध्यन्ते । ११. कुशेत्यादि—तृणमृत्तिकानिर्मितगृहस्थानीयमित्यर्थः । १२. समीक्ष्य । १३. करणानीति शेषः । १४. देहान्तरप्राप्तिप्रकारः । १५. भूतपञ्चकम् । १६. पूर्वं पूर्वं देहम् । १७. उत्पादयति ।

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदꣳ शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ रूपं

जैसे सोनार सोने की मात्रा को लेकर उससे नूतन और अत्यन्त सुन्दर रूप की रचना क है, वैसे ही यह जीवात्मा इस वर्तमान देह को नष्ट कर केवल अचेतनावस्था को प्राप्त कराकर

दपूर्वमेव पुनः पुनरा[1]दत्त इति । [2]अत्रोच्यते दृष्टान्तः—

तत्तत्र[3]तस्मिन्नर्थे । यथा पेशस्कारी पेशः सुवर्णं तत्करोतीति पेशस्कारी सुवर्णका पेशसः सुवर्णस्य मात्रापादायापच्छिद्य गृहीत्वाऽन्यत्पूर्वस्माद्रचनाविशेषान्नवान्नवतरमभि वतरं कल्याणात्कल्याणतरं रूपं तनुते निर्मिनोति । एवमेवायमात्मेत्यादि पूर्ववत् ।

[4]नित्योपात्तान्येव पृथिव्यादीन्याकाशान्तानि पञ्च भूतानि यानि [5]द्वे वाव ब्रह्म

पादानमस्ति किं वा नास्ति नास्ति चेन्न [6]भावरूपं कार्यं सिध्येत् । अस्ति चेत्तत्किं भूतपञ्चकमुतान्य आद्येऽपि तन्नित्योपात्तमेव पूर्वपूर्वदेहोपमर्देनान्यमन्यं देहमारभते किंवाऽन्यदन्यद्भूतपञ्चकमन्यम देहं जनयति । नाऽऽद्यः । भूतपञ्चकस्य तत्तद्देहोपादानत्वे मायायाः सर्वकारणत्वस्वीकारविरोधा न द्वितीयो भूतपञ्चकोत्पत्तावपि कारणान्तरस्य मृग्यत्वात्तस्यैव देहान्तरकारणत्वसंभवान्ने देहस्य पाञ्चभौतिकत्वप्रसिद्धिविरोधादिति भावः । उत्तरं वाक्यमुत्तरत्वेनाऽऽदत्ते--अत्रेति [7]तच्छब्दार्थमपेक्षितं पूरयन्नाह—दृष्टान्त इति । अवशिष्टं भागमादाय व्याचष्टे—यथेत्यादिना ।

किं पुनरुपादान[8]मेतावता देहान्तरारम्भेऽभ्युपगतं भवति तत्राऽऽह—नित्योपात्तानीति [9]शरीरद्वयारम्भकाणीति शेषः । तेषामु[10]भयारम्भकत्वेन मूर्तामूर्तब्राह्मणे प्रस्तुतत्वं दर्शयति—यानीति

की सृष्टि करता है अथवा पहली वाली देह को पुनः उत्पन्न करता है । इसका समाधान दृष्टान्त से बतलाती है—

'तत्' अर्थात् इस संबन्ध में जिस प्रकार "पेशस्कारी" अर्थात् सुवर्ण का काम करने वाला कार "पेशसः" अर्थात् सुवर्ण की मात्रा को "अपादाय" यानी अपच्छेदन अथवा ग्रहण कर पहले रचनाविशेष से भिन्न नवीन से नवीनतर और कल्याण से भी कल्याणतर रूप "तनुते" अर्थात् बना

---

१. उत्पादयति । २. यथोक्तशङ्कायां सत्यां समाधानमुच्यत इत्यर्थः । ३. एतस्मिन्नर्थे—नित्योपात्तमेव पञ्चकं देहान्तरारम्भकमित्यत्रार्थे । ४. नित्योपात्तान्येवेति—"देहारम्भकभूतानि यानि पूर्वाणि वेष्टितः । तैर्लिङ्गोपाधिको यातीत्येवं सूत्रकृदब्रवीत् ॥ पञ्चीकृतास्तु भूतांशाः स्थूलदेहस्य हेतवः । अल्पत्वेनाऽपि सूक्ष्म स्तैर्लिङ्गं तिष्ठति वेष्टितम् ॥ निर्मितस्तैरयं देहः पोषितः पितृवीर्यतः । मृतौ कञ्चुकवत्त्याज्यो बाह्यांशो निर्मितः ॥ सारस्त्वान्तरभूतांशो लिङ्गेन सह गच्छति । निष्पाद्यन्ते भाविदेहास्तेनांऽशेन पुनः पुनः" ॥ ५८-६१ ॥ इति वार्तिकसारे । ५. बृ. उ. २. ३. १ । ६. अभावस्त्वन्तरेणाप्युपादानं सिध्यतीत्यत भावरूपमिति । ७. अपेक्षितं पूरयंस्तच्छब्दार्थमाहेत्यन्वयः । ८. ग्रन्थेन । ९. स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयं भावः । १०. स्थूलसूक्ष्मशरीरारम्भकत्वेन ।

कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा
ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम् ॥ ४ ॥

तर, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्मा या अन्य प्राणियों के नूतन तथा अत्यन्त सुन्दर रूप की रचना करता है ॥४॥

इति [1]चतुर्थे व्याख्यातानि पेशस्थानीयानि [2]तान्येवोपमृद्योपमृद्यान्यदन्यच्च देहान्तरं [3]नवतरं कल्याणतरं रूपं संस्थानविशेषं देहान्तरमित्यर्थः । कुरुते [4]पित्र्यं वा पितृभ्यो हितं पितृलोकोपभोगयोग्यमित्यर्थः । गान्धर्वं गन्धर्वाणामुपभोगयोग्यं तथा देवानां दैवं प्रजापतेः [5]प्राजापत्यं ब्रह्मण इदं [6]ब्राह्मं वा । [7]यथाकर्म यथाश्रुतमन्येषां वा [8]भूतानां संबन्धि शरीरान्तरं कुरुत इत्यभिसंबध्यते ॥ ४ ॥

* [9]येऽस्य बन्धनसंज्ञका उपाधिभूता [10]यैः संयुक्तस्तन्मयोऽयमिति [11]विभाव्यते ते पदार्थाः

हविकल्पे नियामकमाह—यथाकर्मेति ॥ ४ ॥

शरीरारम्भे मायात्मकभूतपञ्चकमुपादानमिति [13]वदता भूतावयवानामपि सहैव गमनमित्युक्तम् । इदानीं स वा अयमात्मेत्यादेस्तात्पर्यमाह— येऽस्येति । तानेवोपाधिभूतान्पदार्थान्विशिनष्टि

है। इसी प्रकार इस आत्मा के संबन्ध में समझ लेना चाहिये —इत्यादि अर्थ पूर्ववत् ही है।

जो नित्यप्राप्त पृथिवी से लेकर आकाशपर्यन्त पञ्च महाभूत सुवर्णस्थानीय हैं, "ये (भूत-आत्मक और भूतद्वयात्मक) दो ही ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त रूप है"। इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषत् के दूसरे अध्याय में उनका व्याख्यान किया गया है। उन्हीं को बार-बार विनष्ट करके, अन्यान्य देह को बनाता है। अर्थात् पूर्वदेह से नवीनतर और कल्याणतर रूप संस्थान विशेष देहान्तर को बनाता है। (किस प्रकार के शरीर बनाता है —) "पित्र्यम्" अर्थात् पितृगण के हितकारक अर्थात् पितृलोक में उपयोग के योग्य, "गान्धर्वम्" अर्थात् गन्धर्वों के उपयोग के योग्य। इसी प्रकार "दैवं" यानी देवताओं के, "प्राजापत्यम्" यानी विराट् प्रजापति के, "ब्राह्म" यानी हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के उपभोग योग्य शरीरान्तर की उनके कर्म और उपासना के अनुसार अथवा प्रेततिर्यगादि शरीरों से

---

[1] चतुर्थे व्याख्यातानीति । तत्र "यच्चक्षुर्य एष तपतीति" च स्थूलो देहो लक्षितो "योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुष इति" च । सूक्ष्मो देहो गृहीतस्तत्र "सतो ह्येष रसस्त्यस्य ह्येष रस" इति च तयोर्भूतपञ्चकारब्धत्वमुक्तमतो (उक्तब्राह्मणे नित्योपात्तभूतपञ्चकस्यैव स्थूलसूक्ष्मदेहारम्भकत्वोक्तेः)ऽत्रापि नित्योपात्तमेव तदारम्भकमिष्टं न च मायावादविरोधः प्रत्यक्चैतन्याश्रितमायाविवर्तभूतपञ्चकपरिणामो जगदिति स्थितेरिति भावः । [2] द्वितीयान्तम् । [3] नवतरमिति—पूर्वदेहस्य नवत्वविवक्षयाऽस्य नवतरत्वं विवक्ष्यत इति ध्येयम् । [4] किं तद्देहान्तरं यत्कुरुते तत्राऽऽह—पित्र्यमिति । [5] वैराजम् । [6] हैरण्यगर्भम् । [7] अस्तु यथोक्तं देहाद्युपादानं तन्निमित्तं तु वाच्यमित्याशङ्क्याऽऽह—यथाकर्मेति । [8] प्रेततिर्यगादीनाम् । [9] पदार्थाः । [10] आत्मनः । [11] पदार्थैः । [12] प्रतीयते । [13] भाष्ये ।

* येऽस्येत्यादि योऽशनायाद्यतीत इत्यन्तभाष्ये वार्तिकानि । तथाहि—"न तु चैतन्यवत्साक्षात्संसारोऽस्य स्वतो

पुञ्जीकृत्येहैकत्र[1] प्रतिनिर्दिश्यन्ते—

—यैरिति । ननु पूर्वमप्येते पदार्था दर्शिताः किं पुनस्तत्प्रदर्शनेनेत्याशङ्क्याऽऽह—पुञ्जीकृत्येति

संबन्धी शरीरान्तरों की रचना करता है—यह इसका तात्पर्य है ।।४।।

जो पदार्थ आत्मा के बन्धनसंज्ञक उपाधिभूत हैं, जिन पदार्थों से संयुक्त "यह तन्मय है" प्रतीत होता है—उन सभी पदार्थों को एकत्रित कर इस एक ही मन्त्र में प्रदर्शित किया जाता है।

---

[1] एकस्यां कण्डिकायाम् ।

मतः । इत्यर्थमाजगामोत्तरं वचः ॥ यच्चास्य वास्तवं रूपं यच्चाविद्योत्थमात्मनः । स वा इत्यादिना
निर्णयः क्रियतेऽधुना । तन्निर्णयादशेषोऽर्थोऽनिर्णीतः स्यात्कथं च्विति ॥ संसारी यो यथोक्तेन ग्रन्थेन प्रतिपादि
तद्गृहीत्यै सशब्दोऽयं तत्स्मृत्यर्थं तथाच वै ॥ अनात्मभूत एतस्मिन्कार्यकारणलक्षणे । संसारे प्रथते
आत्मनाऽनन्यमानगः ॥ यत्साक्षिकौ यथोक्तस्य भावाभावौ प्रसिध्यतः । संसारवस्तुनः सोऽयमात्मेत्यत्राभिधी
व्यभिचारो न यस्यास्ति सर्वेषु व्यभिचारिषु । तदवष्टम्भतः सिद्धेर्व्यभिचारस्य सर्वदा । प्रत्यक्तयाऽस्य साक्षा
दक्रियाकारकत्वतः । अनन्यबोधमानत्वादयमित्युच्यते ततः ॥ निःशेषानात्मतद्धेतुनिराकरणवर्त्मना । आत्म
मात्मनः सिध्येन्नान्यशेषमनात्मवत् ॥ असाधारणसिद्धयैव सिद्धिः स्यादात्मवस्तुनः । यतोऽत आत्मव
कार्यकारणवज्जगत् ॥ न हीदमात्मनः स्थानं ततोऽन्यत्रापि वाऽश्नुते । आत्मनोऽव्यतिरेकेण यतोऽना
प्रसिध्यति ॥ आत्मा त्वनात्मप्रत्यक्त्वाद्व्यतिरेकं न सोऽर्हति । स्रजीव सर्पदण्डादेः स्रगविद्योत्थवस्तुनः ।
व्यतिरेकेण सिद्धिर्नान्यत्र कुत्रचित् ॥ न चाभावावसाय्येतदभावस्यापि भाववत् । प्रत्यङ्मात्रैकयाथात्म्य
श्रुतत्वान्न चार्थतः ॥ अनूद्य निखिलं विश्वं तत्तत्त्वप्रतिपत्तये । आत्मैवेति श्रुतं यस्मान्नातोऽन्यत्किंचिदि
प्रत्याख्याय न चाऽऽत्मानमनात्मा व्यतिरिच्यते । व्यतिरेकस्वभावत्वान्नापि चाऽऽत्मनि सिध्यति ॥ प्रत्या
श्रुतिरतः सर्वं नेतीति चाऽऽत्मनि । सर्वमात्मेति च तथा व्यतिरेकं निषेधति ॥ अपूर्वानपरानन्तराबाह्यं
लक्षणम् । उक्तात्मवस्तुस्वभाव्यादात्मा ब्रह्मेत्यतो वचः ॥ प्रत्यक्त्वं ब्रह्मणस्तत्त्वं ब्रह्मत्वं चाऽऽत्मनस्त
परोक्षद्वयहानेन ह्यात्मा ब्रह्मेति बोध्यते ॥ अव्यावृत्ताननुगतो ब्रह्मशब्दार्थ इष्यते । नाऽऽत्मनोऽन्यत्र लभ्यं
नाप्यात्मा ब्रह्मणोऽन्यतः ॥ आत्मनोऽपि परोक्षत्वं ब्रह्मणोऽविद्यया यथा । आत्मनः सद्वितीयत्वं ब्रह्मणोऽपि
मम ॥ अतोऽविद्यासमुच्छित्तौ यथावस्त्ववबोधतः । आत्मा ब्रह्मैव सन्नेष ब्रह्माप्येति स्वतोऽद्वयम् ॥ यथो
बोधविरहादस्यानर्थपरंपरा । विज्ञानाद्यभिसंबन्धो यथा तदधुनोच्यते ॥ आत्मा ब्रह्मैव सन्नेष धर्मैर्यविद्धिरन्वित
अज्ञानात्संसरत्यत्र वर्ण्यते तत्समासतः ॥ ततोऽविद्यान्वयेऽशेषसंसारानर्थसंगतिः । तद्ध्वस्तावात्मनस्त
त्पुरुषार्थः समाप्यते ॥ अविद्यामात्रहेतूत्था ह्यात्मनोऽनर्थसंगतिः । इत्यस्य प्रतिपत्त्यर्थं परो ग्रन्थोऽवतार्यते
यद्यविद्यैकहेतु स्यात्संसारित्वं तदाऽऽत्मनः । विद्यार्थोऽयं समारम्भो युज्यते नान्यथा सति" ॥ १४७-१५१
इति । यथोक्तः संसारश्चैतन्यवदात्मनः स्वाभाविकः स्यादित्याशङ्क्य स वा अयमित्याद्यवतारयति—न त्विति
तस्य तात्पर्यमाह—यच्चेति । आत्मनो वास्तवावास्तवरूपद्वयनिर्णये वेदार्थः सर्वोऽपि निर्णीतः स्यादि
फलितमाह—तदिति ॥ सवैशब्दयोरर्थमाह—संसारीति ॥ अयंशब्दार्थमाह—अनात्मेति । अविद्यातत्कार्य
निर्मुक्तस्वप्रकाशोऽर्थोऽत्रायमित्युच्यत इत्यर्थः ॥ आत्मशब्दार्थमाह—यदिति । कूटस्थसाक्षी चिद्धातुरा
ऽऽत्मेत्यर्थः ॥ कूटस्थत्वं साधयति—व्यभिचार इति । सोऽत्राऽऽत्मेति पूर्वेण संबन्धः । तस्याव्यभिचारे
हेतुमाह—तदिति ॥ भावाभावविभागविधुरस्य सर्वसाधकस्याऽऽत्मनः संप्रयुक्तपुरोवर्तित्वाभावादयमिति कथं व्य
देशस्तत्राऽऽह—प्रत्यक्तयेति । संनिहितत्वादपरोक्षत्वाच्चाऽऽत्मनोऽयंशब्दवाच्यतेत्यर्थः । साक्षात्त्वं साधयति—

[1]स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः

वह यह आत्मा ही ब्रह्म है। वह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय,

[1]स वा [2]अयं य एवं संसरत्या[4]त्मा[5] [6]ब्रह्मैव[7] पर एव योऽशनायाद्यतीतो विज्ञानमयो [8]विज्ञानं

स वा अयमात्मा ब्रह्मेति भागं व्याकुर्वन्नात्मनो ब्रह्मैक्यं वास्तवं [9]वृत्तं दर्शयति—स वा इति। [10]तस्यैवावास्तवं रूपमुपन्यस्यति—विज्ञानमय इत्यादिना। ज्योतिर्ब्राह्मणेऽपि व्याख्यातं विज्ञानमयत्व-

"स वा अयम्" अर्थात् जो इस प्रकार संसरण करता है; वह (स्वप्रकाश, अपरोक्ष, संनिहित, कूटस्थ.साक्षी) आत्मा (अपूर्व अपरादिलक्षणा) परब्रह्म ही है, जो भूख-प्यासादि से रहित है।

अनन्येति। तदेव कथमिति तदाह—अक्रियेति॥ घटादिवदयंशब्दवाच्यत्वादात्मा परिच्छिन्नः स्यादिति चेन्नेत्याह—निःशेषेति॥ कथमनात्मतद्धेतुनिरासद्वाराऽऽत्मसिद्धिरात्मातिरिक्तस्य कार्यकारणवस्तुनः सत्त्वादित्याशङ्क्याऽऽह असाधारणेति। अद्वितीयस्वप्रकाशात्मनि जगतोऽध्यासात्तत्पूर्णता युक्तेत्यर्थः॥ आत्मनि जगतोऽध्यस्तत्वं समर्थयते – न हीति। इदमा प्रकृतं जगन्निर्दिश्यते। उभयत्र हेतुमाह—आत्मन इति। न हि व्यतिरेकाव्यतिरेकाभ्यामनात्मसिद्धिर्व्यतिरेके निःस्वरूपत्वादव्यतिरेकस्य जडाजडयोरयोगादतोऽनात्माऽध्यस्त इत्यर्थः। इहापि पूर्वार्धगं नञ्पदमनुकृष्यते॥ आत्मनोऽनात्मव्यतिरेकवदनात्माऽपि ततोऽतिरिच्यतामिति चेन्नेत्याह—आत्मा त्विति। आत्मनो भेदाभेदाभ्यामनात्मा न सिध्यतीत्यत्र दृष्टान्तः—स्रजीति। न हि स्रजि भासतस्तदविद्याकल्पितस्य सर्पादेस्तदतिरेकेणान्यत्र सिद्धिर्नापि तदात्मनैव तत्सिद्धिस्तथाऽऽत्मनो व्यतिरेकाव्यतिरेकाभ्यां नानात्मसिद्धिरित्यर्थः॥ अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जगतोऽसिद्धिश्चेदभावावसायितेति नेत्याह—न चेति। किंच जगतोऽभावनिष्ठत्वं श्रुत्या कल्प्यते तदर्थापत्त्या वा नाऽऽद्य इत्याह—अश्रुतत्वादिति। नेति नेतीत्यादिश्रुतिर्जगतो भावममृष्यन्ती तस्याभावनिष्ठत्वमर्थादाहेति द्वितीयमाशङ्क्याऽऽह—न चेति॥ बलीयस्या श्रुत्या दुर्बलायास्तदर्थापत्तेर्बाध्यत्वं हेतुमाह—अनूद्येति। जगतः शून्यत्वमन्यदित्युच्यते॥ अभावनिष्ठत्वं जगतो निरस्यान्वयादिनिरासमनुवदति—प्रत्याख्यायेति। आत्मानं विहायानात्मा न स्वातन्त्र्येण सिध्यति निःस्वरूपत्वापत्तेरुक्तत्वान्नाप्यभिन्नतयाऽऽत्मनि तत्सिद्धिर्जडत्वेनाजडाद्व्यतिरिक्तत्वादित्यर्थः॥ जगतोऽन्वयाभावे मानमाह—प्रत्याचष्ट इति। व्यतिरेकाभावे मानमाह—सर्वमिति। स वा अयमात्मेत्येतद्व्याख्याय ब्रह्मशब्दार्थमाह—अपूर्वेति। सामानाधिकरण्यतात्पर्यमाह—उक्तेति सामान्यविशेषादिहीनं ब्रह्म तत्र तत्रोक्तं तस्याऽऽत्मस्वरूपत्वादात्मा ब्रह्मेत्यात्मनो ब्रह्मत्वं सामानाधिकरण्यश्रुत्योच्यते तेन तयोरैक्यमित्यर्थः॥ कथं तयोरैक्यं पारोक्ष्यसद्वयत्वाभ्यां विरोधादत आह—प्रत्यक्त्वमिति। विरुद्धभागत्यागादैक्यं सोऽयमित्यत्र प्रसिद्धमिति हिशब्दार्थः॥ ब्रह्मणस्तत्त्वं प्रत्यक्त्वमित्येतद्ब्रह्मशब्दार्थमनूद्य प्रकटयति—अव्यावृत्तेति। आत्मनो ब्रह्मत्वं तत्त्वमित्येतद्व्यनक्ति—नापीति॥ तथाऽपि कथं पारोक्ष्यसद्वयहानमित्याशङ्क्य तद्वक्तुं पारोक्ष्यादेराविद्यत्वमाह—आत्मनोऽपीति॥ तस्याऽऽविद्यत्वे फलितमाह—अत इति। एष खल्वात्मा स्वतो ब्रह्मैव सन्नज्ञानादब्रह्मवत्प्रतिपन्नः सम्यग्ज्ञानादज्ञानध्वंसे ब्रह्मैवा-

---

१. योऽयमात्मनः संसारबन्धः स वास्तवो न भवति कि त्वौपाधिक एवेति निरुपाधिकस्वरूपं प्रदर्शयंस्तानुपाधीन् पुञ्जीकृत्य प्रदर्शयति—स वा अयमिति। यद्वा यथोक्तः संसारश्चैतन्यवदात्मनः स्वाभाविकः स्यादिति तत्राह—स वा इति। २. प्रकृतः। ३. स्वप्रकाशोऽपरोक्षः संनिहितः। ४. कूटस्थसाक्षी। ५. सः। ६. अपूर्वानपरादिलक्षणम्। ७. अवधारणं सामानाधिकरण्यलभ्यम्। ८. योऽशनायाद्यतीतः स पर एव सन् विज्ञानमयो बुद्धिप्रायस्तदैक्याध्यासादित्याह—विज्ञानमिति। विज्ञानमयमनोमयौ क्रमेण चित्तमयाहंकारमययोरुपलक्षणाविति द्रष्टव्यम्। ९. रूपम्। १०. आत्मनः।

प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयो-

जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोम, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय और सर्वमय है (अर्थात् बुद्धि, मन, प्राण, नेत्रादि, पृथिव्यादि एवं अन्तःकरण के कामादि श्रो

बुद्धिस्तेनोपलक्ष्यमाणस्तन्मयः । [1]कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषिवति ह्युक्तम् । *[2]विज्ञानमयो विज्ञानप्रायो यस्मा[3]त्तद्धर्मत्वमस्य विभाव्यते [4]ध्यायतीव लेला-

---

मित्याह—कतम इति । **कस्मिन्नर्थे मयट् प्रयुज्यते** तत्राऽऽह–विज्ञानेति । **उक्ते मयडर्थे हेतुमाह** —यस्मादिति । **बुद्धय[5]क्याध्यासा[6]त्तद्धर्मस्य कर्तृत्वादेरात्मनि प्रतीतिरित्यत्र मानमाह**—ध्यायती-

---

"विज्ञानमयः" अर्थात (भूख-प्यासादि धर्मों से परे होते हुए भी) बुद्धि मे उपलक्षित हाने के कारण विज्ञानमय अथवा बुद्धिप्राय है। "(देह,इन्द्रिय और प्राणों में) आत्मा कौन सी हैं, वह बुद्धिरूप विज्ञान की उपाधि के सम्पर्क के अविवेक से विज्ञानमय है; प्राणों से व्यतिरिक्त है" ऐसे पहले ही श्रुति प्रतिपादित कर चुकी है। विज्ञानमय का अर्थ विज्ञानप्राय यानी बुद्धि सदृश बुद्धयुपहित है क्योंकि "ध्यान करता हुआ सा, चेष्टा करता हुआ सा" इस श्रुति में आत्मा का विज्ञानधर्मत्व प्रतीत होता है। इसी

---

१. बृ. उ. ४. ३. ७। २. विज्ञानाधिष्ठानमपि तत्तादात्म्याध्यासात्तन्मयो स्रगिव सर्पमयी । ३. विज्ञान-धर्मत्वमात्मनः प्रतीयते। ४. बृ. उ. ४. ३. ७। ५. बुद्धिधर्मस्य ।

ऽऽपद्यत इत्यर्थः ।। आत्मनो वास्तवं वृत्तमुक्त्वा विज्ञानमय इत्यादेस्तात्पर्यमाह—यथोक्तेति । तामेव स्फुटयति —विज्ञानादीति ।। उक्तेऽर्थे यस्येत्यादि भाष्यं योजयति—आत्मेति । विज्ञानमयादिवाक्यमत्रेति परामृश्यते। अज्ञानादेष विज्ञानादियोगद्वारा संसरतु किं तावता ते लभ्यते तदाह—यत इति ।। अविद्यावशादात्मनो बन्ध-श्चेदुक्तं सिध्येन्न चासावाविद्यो मानाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—अविद्येति । अत्रान्वयव्यतिरेकौ हेतूकर्तुं हिशब्दः । तत्रैव श्रुतिं संवादयति—इत्यस्येति ।। बन्धस्याऽऽविद्यत्वे युक्तिमाह—यदीति । शास्त्रारम्भस्य विद्यार्थत्वात्तस्य समूलानर्थध्वंसार्थत्वाद्विद्याविद्ययोरेव विरोधप्रसिद्धेराविद्यो बन्धो युक्तोऽन्यथा शास्त्रारम्भासंभवादित्यर्थः । * विज्ञानमय इत्यादि तत्तन्मयो भवतीत्यन्तभाष्ये वार्तिकानि । तथाहि—"प्राणात्मत्वाभिमानी सन्यतः प्राणः प्रसूयते । प्राणप्राणोऽपि सन्मोहात्प्राणनादि प्रपद्यते ।। ततो बुद्धिसमुत्पत्तौ विज्ञानोऽस्मीतिभावतः । विज्ञान-मयतामेति स्रक्सर्पमयतामिव ।। मनसो ग्रहणं चात्र बुद्धिवृत्त्युपलक्षणम् । असुबुद्धी यतो हेतु सर्वेषामिन्द्रिया-त्मनाम् । कर्मेन्द्रियाणां सार्थानां प्राणः कारणमुच्यते । स एव बुद्धयतिशयः श्रोत्रादेरपि कारणम् ।। स्वाभ्यस्त-भावनातोऽस्य श्रुतकर्मानुरोधतः । प्राणो बुद्धिर्मनश्चक्षुःश्रोत्राद्यज्ञस्य जायते ।। प्रायार्थे च मयङ्ज्ञेयो विकारा-देर्निषेधनात् । अविज्ञातात्मतत्त्वस्य विकारो वाऽस्त्वदोषतः ।। सर्पादयो यथा रज्ज्वा विकारः स्युरबोधतः । अज्ञानादात्मनस्तद्वत्तेजोवन्नादिविक्रिया ।। न हि वेदान्तसिद्धान्ते ह्यज्ञातात्मातिरेकतः । सांख्यानामिव सिद्धान्ते लभ्यते कारणान्तरम् ।। प्राणादिमयतां यात्वा तद्वृत्तीनामवोधतः । आत्माऽकर्ताऽपि कर्तृत्वमेति तासां समुद्भवे ।। चक्षुपश्चक्षुरप्येवं यथा चक्षुर्मयस्तथा । श्रोत्रादिमयताऽप्यस्य व्याख्येया प्रत्यगात्मनः । स विज्ञानमनः-प्राणचक्षुःश्रोत्रादि मोहजम् । मन्वानोऽविद्ययाऽऽत्मैति तन्मयत्वं न तु स्वतः" ।। १७२-१८२ ।। इति । उत्तर-ग्रन्थतात्पर्यमुक्त्वा पाठक्रममविवक्षित्वा प्राणमय इत्यस्यार्थमाह—प्राणेति । यस्मात्प्रतीचः सकाशात्प्राणो जायते

ऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमय[1]स्तद्यदेतदिदंमयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पाप-

कार हैं, इनमें से जिनके साथ वह तन्मय होता है, उस समय वह तद्रूप ही प्रतीत होने लगता है)। हुना—जो कुछ इदंमय प्रत्यक्ष वस्तु और अदोमय परोक्ष वस्तु है; सब वह ब्रह्म ही है। वह जैसा ने वाला तथा जैसा आचरण वाला होता है, उसके साथ तादाम्य हुआ वैसा हो प्रतीत होने लगता है। पुरुष शुभ कर्म करते समय उसमें तन्मयता के कारण शुभ होता है और पापकर्मा पुरुष पापी हो

तीवेति। तथा [1]मनोमय [2]मनःसंनिकर्षान्मनोमयः। तथा प्राणमयः प्राणः पञ्चवृत्तिस्त-मयो येन चेतनश्चलतीव लक्ष्यते। तथा चक्षुर्मयो रूपदर्शनकाले। एवं श्रोत्रमयः शब्द-श्रवणकाले। [3]एवं [4]तस्य [5]तस्येन्द्रियस्य व्यापारोद्भवे [6]तत्तन्मयो भवति।

वेति। मनःसंनिकर्षा[7]त्तेन द्रष्टव्यतया संबन्धादिति यावत्। चक्षुर्मयत्वादेरुपलक्षणत्वमङ्गीकृत्याऽऽह—एवमिति।

प्रकार "मनोमयः" अर्थात् मन के तादात्म्य होने से मनोमय है। इसी प्रकार "प्राणमयः" अर्थात् पञ्च-वृत्यात्मक प्राण वाला है क्योंकि वह चलता हुआ सा देखा जाता है। इसी प्रकार रूपदर्शन करने के समय वह चक्षुर्मय है। इसी प्रकार शब्द श्रवण काल में वह श्रोत्रमय है। चक्षुर्मयत्वादि के समान उस अनुक्त ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के व्यापार का उद्भव होने से वह त्वगादिमय और वागादिमय होता है।

---

१. व्यक्ताव्यक्तस्य जगतो धर्माधर्मकार्यत्वाद्धर्माधर्मयो भूत्वा सर्वमयो भवतीत्युक्तं तत्राऽव्यक्तमयत्वं कथमवगन्तुं शक्यते इत्यपेक्षायां दृश्यमानचेष्टादिलक्षणेन इदंमयत्वलिङ्गेन तत्कारणीभूतं परोक्षमपि भावनात्मकमदोमयत्व-मनुमेयमित्यभिप्रेत्याह—तदिति। तदेतत् सर्वमयत्वं सिद्धं यत् यस्माद् इदंमयस्तेन चादोमय इति। असङ्गा-द्वितीयस्यात्मनः प्राणादिमयत्वे हेतुमाह—यथाकारीत्यादिना। यथेत्यादि व्याकरोति—साध्विति। २. मन-स्तादात्म्यात्। ३. चक्षुर्मयत्वादिवत्। ४. अनुक्तस्य। ५. ज्ञानेन्द्रियस्य कर्मेन्द्रियस्य च। ६. त्वगादिमयो वागादिमयश्च। ७. तेनेति—मनसैवेदमाप्तव्यमित्यादिश्रुतेर्मनो द्रष्टव्यत्वमात्मनो मनः संबन्ध इत्याहुः।

एतस्माज्जायते प्राणः स प्राणमसृजतेत्यादिश्रुतेः स प्राणस्य प्राणमिति श्रवणात्प्राणप्राणोऽपि मोहात्प्राणोऽस्मीति-तादात्म्याभिमानी भूत्वा प्राणनादिक्रियां प्राप्नोतीत्यर्थः॥ चलनं विना विज्ञानादिमयत्वायोगादादौ प्राणमयत्वं प्रदर्श्य विज्ञानमयत्वं व्याचष्टे—तत इति। मनोमय इत्यस्यार्थमाह—बुद्धीति॥ बुद्धिर्मनस्तच्च बुद्धिवृत्ती-नामनुक्तज्ञानेन्द्रियाणां प्राणवृत्तीनां च कर्मेन्द्रियाणामुपलक्षणमतस्त्वगादिमयत्वं वागादिमयत्वं चाऽऽत्मनो द्रष्टव्य-मित्याह—मनस इति। कथमिन्द्रियाणां बुद्धिप्राणवृत्तिमत्त्वमात्मवृत्तित्वोपगमादित्यत आह—असुबुद्धी इति। अतस्तेषां तत्कार्यत्वेन तद्वृत्तित्वान्नाऽऽत्मधर्मतेति शेषः॥ ननु मनः सर्वेन्द्रियाणि चेत्यात्मकार्यत्वेन तद्धर्मत्व-मिन्द्रियाणां श्रूयते तत्कथं प्राणादिकार्यत्वेन तद्वृत्तितेत्याशङ्क्य कारणत्वं तेषु प्राणबुद्ध्योर्विविच्य दर्शयति—कर्मेति। प्राण एव बुद्धिलक्षणविलक्षणाकारो भूत्वा श्रोत्रादेः सविषयस्य हेतुर्मनःस्पन्दनमेव द्वैतमिति स्थितेरित्याह

कारी पापो भवति [1]पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन । [2]अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति [3]तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति [4]तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते [5]तदभिसंपद्यते ॥ ५ ॥

जाता है । (ब्रह्म स्वरूप को भूल कर कर्म तथा उनके साधनों में तन्मयता के कारण ही) पुरुष पुण्य कर्म से पुण्यात्मा होता है और पाप कर्म से पापी होता है । फिर भी कुछ लोग कहते हैं—यह पुरुष काममय है । वह जैसी कामना वाला होता है, वैसा ही संकल्प करता है । जैसे संकल्प वाला होता है, वैसे ही शरीरादि साधनों से आचरण करता है (अतः ब्रह्म के सर्वमयत्व और संसारित्व में कामना ही कारण है) ॥ ५ ॥

एवं बुद्धिप्राणद्वारेण चक्षुरा[6]दिकरणमयः सञ्शरीरारम्भकपृथिव्यादिभूतमयो भवति। [7]तत्र पार्थिवशरीरारम्भे पृथिवीमयो भवति । तथा वरुणादिलोकेष्वाप्यशरीरारम्भ आपोमयो

उक्तमनूद्य [8]सामान्येन भूतमयत्वमाह—एवं बुद्धीति । भूतमयत्वे सत्यवान्तरविशेषमाह—तत्रेत्यादिना । न चाऽऽकाशपरमाण्वभावादाकाशस्य शरीरानारम्भकत्वं श्रुतिविरुद्धारम्भप्रक्रियान-

इस प्रकार बुद्धि और प्राण के द्वारा वह चक्षुरादि इन्द्रियों से सूक्ष्म शरीर विशिष्ट होकर शरीरारम्भक पृथिव्यादि भूतमय यानी स्थूलदेहविशिष्ट हो जाता है । सामान्यतः भूतमय होने पर पार्थिवशरीर के आरम्भ में पृथिवीमय हो जाता है। इसी प्रकार वरुणादि लोकों में जलीय शरीर

---

१. सकृदनुष्ठानादपि फलति कर्म पौनःपुन्यं तु फलेऽतिशयप्रयोजकमित्यभिप्रायेण ताच्छील्यप्रत्ययं विहाय उद्दिष्टमेवार्थं स्पष्टयति—पुण्य इत्यादिना । २. पुण्यापुण्ययोरेव संसारासाधारणकारणत्वमित्युक्तं पूर्वपक्षीकृत्याविद्यामूलकः काम एव संसारासाधारणकारणमिति सिद्धान्तमाह—अथो इति । उक्तपूर्वपक्षान्तरम् । कामो विषयादीच्छा तन्मय एव धर्मादीनामपि काममूलकत्वात् । ३. तादृक्क्रतुः । ४. तादृक् । ५. तदीयफलम्। ६. सूक्ष्मशरीरविशिष्टः सन् स्थूलदेहविशिष्टो भवतीति यावत् । ७. सामान्यतो भूतमयत्वे सति । ८. भूतत्वजात्याक्रान्तत्वेनेत्यर्थः ।

—स एवेति । आत्मा हि भूतानि सृष्ट्वा तदात्मना प्राणो भूत्वा शक्तिद्वयावष्टम्भेन सर्वमिन्द्रियवर्गं सृजतीत्याथर्वणश्रुत्यर्थः पाठक्रमस्याकिंचित्करत्वात्तद्युक्तं प्राणबुद्धिकार्यत्वेन तद्वृत्तित्वमिन्द्रियाणामिति भावः ॥ ननु प्राणादीनामसङ्गोदासीनात्मकार्यत्वे किं कारणमित्याशङ्क्य निमित्तकारणमाह—स्वाभ्यस्तेति । उपादानकारणमाह—अज्ञस्येति ॥ अस्मिन्प्रकरणे श्रूयमाणस्य मयटोऽर्थमाह—प्रायार्थं इति । तत्र हेतुः—विकारादेरिति । प्राणादिविकारत्वतत्स्वरूपत्वतदधीनत्वादेरात्मन्यप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो न जायते म्रियते वेत्यादिश्रुत्या निषेधादित्यर्थः। मयटो विकारार्थत्वमुपेत्यापि स्वमते दोषराहित्यमाह—अविज्ञातेति । विकारो वा मयडर्थोऽस्त्वज्ञातस्याऽऽत्मनः

ति । तथा वायव्यशरीरारम्भे वायुमयो भवति । तथाऽऽकाशशरीरारम्भ आकाशमयो ति । [1]एवमेतानि [2]तैजसानि देवशरीराणि । तेष्वारभ्यमाणेषु तन्मयस्तेजोमयो भवति । तो व्यतिरिक्तानि पश्वादिशरीराणि नरकप्रेतादिशरीराणि [4]चातेजोमयानि तान्यपेक्ष्या-तेजोमय इति । [5]एवं कार्यकरणसंघातमयः सन्नात्मा प्राप्तव्यं वस्त्वन्तरं पश्यन्निदं प्राप्तमदो मया प्राप्तव्यमित्येवं विपरीतप्रत्ययस्तदभिलाषः [6]काममयो भवति ।

मादित्यभिप्रेत्याऽऽह—तथाऽऽकाशेति । कथं पुनर्धर्मादिमयत्वे कामादिमयत्वमुपयुज्यते तत्राऽऽह

म्भ में आपोमय हो जाता है । इसीं तरह वायव्य शरीर के आरम्भ में वायुमय हो जाता है । तथा श शरीरारम्भ में आकाशमय हो जाता है । इस प्रकार यह पूर्वोक्त पुण्य के प्रभाव से उत्पन्न तैजस शरीर है । उनके आरम्भ होने पर तेजोमय हो जाता है । तैजस शरीरों से भिन्न पाप से उत्पन्न दि शरीर नारकीय एवं प्रेतादि के शरीर हैं; उन्हें देखकर श्रुति में "अतेजोमयः" कहा जाता है । प्रकार यह आत्मा देहेन्द्रियसंघातमय होकर प्राप्त करने योग्य दूसरी वस्तु को देखता हुआ 'यह प्राप्त है, यह प्राप्त करनी शेष है" इस प्रकार विपरीत प्रत्यययुक्त होकर उसकी अभिलाषा मे

---

१. एवमेतानीति—एतानि पूर्वोक्तानि । तैजसानि—पुण्यप्रभवानीति यावत् । देवेति—दिव्यानि स्तुत्यानि प्रशस्तानि शरीराणीति यावत् । पूर्वोक्तशरीराणां तैजसत्वख्यापनाय मूले तेजोमयस्यान्ते ग्रहणं कृतमन्यथा आपोमयाऽनन्तरमेव पठ्येत अपां तेजःकार्यत्वादिति विभावनीयम् । त्वग्गतदीप्तिविशेषशालित्वाद्वा तानि तैजसानि । २. एवमेतानि तैजसानि देवशरीराणीति—वाक्प्रधानत्वात्तानि तैजसानि "तेजोमयी वागि"ति श्रुतेः । शक्यते हि मनुष्यादिभिरृगादिरूपा वाग्यथेष्टमुच्चारयितुं पश्वादिभिस्तु नैवमिति तेषामतैजसानि शरीराणि तैजसत्वादेव च तानि देवशरीराणि दिव्यानीत्यर्थः । स्तुत्यानि प्रशस्तानीति यावत् । यद्वा तैजसानि पुण्यप्रभवानि । पुण्यं हि तेजः सत्त्वप्रभवत्वात् सत्त्वं च प्रकाश इति । त्वग्गतदीप्तिविशेषशालित्वाद्वा तैजसानि । ३. यथोक्ततैजसशरीरेभ्यः । ४. पापप्रभवानीति यावत् । ५. विज्ञानमय इत्यारभ्य पृथिवीमय इत्यतः प्राक्तन-वाक्येन सूक्ष्मो लिङ्गदेहो व्यापित्वात् प्रधानो व्याख्यातः । पृथिवीमय इत्यारभ्य काममय इत्यतोऽर्वाक्तनवाक्येन स्थूलो देहो व्याप्यतया गुणो दर्शितस्तौ च पाञ्चभौतिकौ मिथश्च कार्यकारणभूतौ पूर्वोक्तरीत्योपदिष्टौ तत्सिद्ध-मात्मनो देहद्वयमयत्वमित्यभिप्रेत्याह —एवमिति । ६. तत्तादात्म्यापन्नः ।

कारणत्ववत्प्राणादिविकारत्वे दोषाभावादित्यर्थः ॥ परस्याज्ञानात्कारणत्वं दृष्टान्तेनाऽऽह- -सर्पादय इति । किमित्यात्मनोऽज्ञस्य कारणत्वं प्रधानादिकारणान्तरसंभवादत आह—न हीति । स्वसिद्धान्तस्य श्रुतिस्मृतिन्याया-नुसारित्वं हिशब्दार्थः ॥ परस्याज्ञानात्कारणत्वे श्रुतिसिद्धेऽपि प्रकृते किमायातं तदाह—प्राणादीति । परो हि प्राणाद्युत्पाद्य तद्रूपेण स्थित्वा तद्विकाराणामिन्द्रियाणां च वस्तुतोऽकर्ताऽप्यबोधतस्तदुद्भवे कर्ता भवतीत्यर्थः । उक्तं हि—"कारणं पुरुषस्तस्मात्कारणज्ञैरुदाहृतः । न चेत्कारणमात्मा स्यात्खादयः स्युरहेतुकाः" इति ॥ चक्षुर्मय इत्यादेरर्थमाह—चक्षुष इति । प्राणादेः प्राणादिरपि यथा प्राणादिमयस्तथा चक्षुषश्चक्षुरपि यथाऽऽत्मा चक्षुर्मयस्तथाऽस्य श्रोत्रादिमयताऽप्यज्ञानाधीना द्रष्टव्येति योजना ॥ प्राणादिमयत्वमस्य वास्तवमस्तु किमज्ञाने-नेत्याशङ्क्याऽऽह—स विज्ञानेति । आत्मा विज्ञानाद्यज्ञानजन्यमहंत्वेनाभिमन्यमानस्तन्मयत्वं भ्रान्त्या निगच्छति वस्तुतस्तु कूटस्थासङ्गाद्वितीयो न तन्मयो भवतीत्यर्थः । उक्तं हि—'अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः' इति ॥

तस्मिन्कामे दोषं पश्यतस्तद्विषयाभिलाषप्रशमे चित्तं प्रसन्नम[1]कलुषं शान्तं भवति तन्म ऽकाममयः। [2]एवं तस्मिन्विहते कामे केनचित्स कामः क्रोधत्वेन परिणमते [3]तेन तन्म भवन्क्रोधमयः। स क्रोधः केनचिदु[4]पायेन निवर्तितो यदा भवति तदा [5]प्रसन्नम[6]नाकुलं चि सदक्रोध उच्यते [7]तेन तन्मयः। [8]एवं कामक्रोधाभ्यामकामक्रोधाभ्यां च तन्मयो भूत्वा ध मयोऽधर्ममयश्च भवति। न हि कामक्रोधादिभिर्विना धर्मादिप्रवृत्तिरुपपद्यते।

"यद्यद्धि कुरुते कर्म तत्तत्कामस्य चेष्टितम्"

—न हीति। कथं धर्मादिमयत्वं सर्वमयत्वे कारणमित्याशङ्क्याऽऽह—समस्तमिति।

तादात्म्यापन्न हो जाता है। उस इच्छा में दोष देखने पर तद्विषयक अभिलाषा से उपरत हो पर चित्त प्रमन्न, कामकालुष्यरहित, विक्षेपवर्जित हो जाता है, उस प्रकार का चित्त अकाममय है। काममय और अकाममय के समान ही किसी के द्वारा काम में विघ्न प्रस्तुत करने पर काम में बदल जाता है, तादात्म्यापन्न होकर क्रोधमय हो जाता है। वह क्रोध जब (विचारादि) किसी से निवत्त हो जाता है, तब चित्त स्वच्छ, आकुलतारहित हुआ अक्रोध कहा जाता है, उस चित्त तादात्म्यवान् अक्रोधमय कहाता है। इस प्रकार कामक्रोधमय और अकाम-अक्रोधमय होकर ध और अधर्ममय होता है क्योंकि काम-क्रोधादि के बिना धर्मादि में प्रवृत्ति संभव नहीं है। इसीका समर्थन करती है। "जो-जो कुछ भी जीव कर्म करता है, वह सब काम की चेष्टा करता है"।

---

१. अकलुषम्—कामकालुष्यरहितमत एव प्रसन्नं स्वच्छं शान्तं विक्षेपवर्जितम् तन्मयः तादृशचित्तताद इत्यर्थः। २. एवम्—कामाकाममयत्ववत्। ३. तादात्म्यापन्नः। ४. विचारादिना। ५. स्व ६. व्याकुलत्वरहितम्। ७. तादृशचित्तेन सह तादात्म्यवान्। ८. एवं कामक्रोधाभ्यामकामक्रोधा तन्मयो भूत्वा धर्ममयोऽधर्ममयश्च भवतीति। नात्र यथासंख्यमन्वयः अपितु कामे न धर्ममयोऽधर्ममयश्च स्येवं प्रत्येकं धर्माधर्ममयत्वान्वयः। सत्कामनया हि धर्मे प्रवर्तमानो धर्ममयो भवति कामेन असत्का चाधर्ममयः कामेन, एवं क्रोधेनापि प्रवर्तमानो धर्मे युद्धादौ क्षत्रियादिर्धर्ममयः क्रोधेन चाधर्मे प्रवर्तमानोऽ एवमसत्कामं जिहासन्धर्ममयोऽकामेन विहितेष्वप्यकामतोऽप्रवर्तमानः प्रत्यवायादधर्ममयोऽकामेन एव दहिंसन् धर्ममयोऽक्रोधेन दण्डानप्यक्रोधेनादण्डयन्नधर्ममयो भवत्यक्रोधेन राजेति। यथासङ्ख्य मन्वये त्वि चिद्योज्यं तथाहि—अकामक्रोधाभ्यामित्यस्य कामक्रोधाभावरूपाभ्यामित्यर्थः। धर्ममयोऽधर्ममयश्चेत्यत्र धर्मशब्दौ विहितप्रवृत्तिमयः कामक्रोधाभावरूपाभ्यामक्रोधाभ्यां च तन्मयो भूत्वा विहितप्रवृत्त्यभावमयश्च तदर्थः। धर्मादिप्रवृत्तिरित्यस्य धर्मादिरूपा प्रवृत्तिरित्यर्थः। तथा च कामक्रोधावन्तरेण विहितप्रवृ [1]प्रवृत्तिर्यथोक्ताकामक्रोधावृते विहितप्रवृत्त्यभावाभिन्ना प्रवृत्तिश्च नैव संभवतीति तदर्थः। व्याकृतमित्यस्य क्षाख्यमुच्चावचयोन्यात्मकं वेत्यर्थः। तथा च धर्मशब्दितविहितप्रवृत्तेः फलं [2]बन्धोऽधर्मशब्दितस्य विहितप्र भावस्य विवेकादिपुरःसरत्वे मोक्षः फलं विवेकादिपूर्वकत्वाभावे तु तस्य तिर्यगाद्यवचयोनिः फलं यथो फलं तु बन्धाख्यदेवाद्युच्चयोनिरूपमेवेति तदर्थ इत्यप्याहुः।

१. प्रवृतिः प्रकृष्टा अचला वृत्तिः स्थितिरौदासीन्यस्थितिरिति यावत्। २. बन्धो देवाद्युच्चयोन्याख्यः।

इति स्मरणात् । धर्ममयोऽधर्ममयश्च भूत्वा सर्वमयो भवति । समस्तं धर्माधर्मयोः यावत्किञ्चि[1]द्व्याकृतं तत्सर्वं धर्माधर्मयोः फलं तत्प्रतिपद्यमानस्तन्मयो भवति ।

किं बहुना [2]तदेतत्सिद्ध[3]मस्य[4] [5]यदयमिदंमयो [6]गृह्यमाणविषयादिमयस्तस्मादयम[7]दो-
अद इति [8]परोक्षं कार्येण [9]गृह्यमाणेन [10]निर्दिश्यते । अनन्ता ह्यन्तःकरणे [11]भावना-
षाः । नैव ते विशेषतो निर्देष्टुं शक्यन्ते । तस्मिंस्तस्मिन्क्षणे कार्यतोऽवगम्यन्त इद-
हृदि वर्ततेऽदोऽस्येति । तेन गृह्यमाणकार्येणेदंमयतया[12] निर्दिश्यते परोक्षोऽन्तःस्थो
हारोऽयमिदानीमदोमय इति । संक्षेपतस्तु यथा कर्तुं यथा वा चरितुं शीलमस्य सोऽयं

तद्यदेतदित्यादेरर्थमाह—किं बहुनेति । विषयः शब्दादिस्ततो[13]ऽन्यदपि प्रत्यक्षतो गृह्यमाणमादि-
र्थः । इदंमयत्वमदोमयत्वे गमकमित्याह—तस्मादिति । विशेषत[14]स्तन्मयत्वोक्ति विना किमिति
न्योक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—अनन्ता हीति । तदस्तित्वे मानमाह—तस्मिन्निति । अवगतिप्रकार-
यति—इदमस्येति । इदंमयत्वमदोमयत्वं चोपसंहरति—तेनेत्यादिना । परोक्षत्वं व्याकरोति—
स्थ इति । [15]व्यवहितविषयव्यवहारवानिति यावत् । इदानीमित्यस्मादुपरिष्टादपि तेनेति संबध्यते ।
रोक्षत्वावस्थेदानीमित्युक्ता । [17]तृतीयया [18]च प्रकृतो व्यवहारो निर्दिश्यते । इतिशब्दः सर्वमयत्वोप-

---

अधममय होकर सर्वमय हो जाता है । जितना कुछ नामरूप से अभिव्यक्त होता है, वह सभी कुछ
और अधर्म का कार्य है, वह सब धर्म और अधर्म का फल है । उन्हें प्राप्त करने वाला धर्ममय-
र्ममय हो जाता है ।

अधिक क्या कहा जाय । इस आत्मा का सर्वमयत्व सिद्ध है क्योंकि यह "इदंमयः" यानी प्रत्यक्ष
माण विषयादिमय है, इसी से यह अदोमय (परोक्षविषयादिमय) है । प्रत्यक्ष कार्य से गृह्यमाण परोक्ष
मूह का "अदः" इस शब्द से निर्देश किया जाता है । क्योंकि अन्तःकरण में रागादिरूप अनन्त
नाविशेष हैं । उन सभी का अलग-अलग निर्देश करना संभव नहीं है । उस-उस क्षण में उनके कार्य
जाना जाता है कि इसके हृदय में यह है और उसके हृदय में वह है । उस गृहमाण कार्य इदंमयत्व
किया जाता है और जो अन्तःकरण में स्थित परोक्ष व्यवहार है; वह इस समय अदोमय है ।
तः जिसका जैसा करने का स्वभाव है; वह यथाकारी है, तथा जिसका जैसा आचरण करने के स्व-
है; वह यथाचारी है । इस प्रकार वह यथाकारो और यथाचारी हो जाता है । 'करण' नाम मानाधीन

---

१. नामरूपाभ्यामभिव्यक्तम् । २. सर्वमयत्वम् । ३. आत्मनः । ४. कुतः । ५. यस्मात् । ७.
प्रत्यक्षतः । ७. परोक्षविषयादिमयः । ८. वस्तुजातम् । ९. प्रत्यक्षेण । १०. निर्दिश्यत इति—
यत्किमपि कर्म शुभाशुभचेष्टारूपं साक्षादालक्ष्य ते तदिदमित्येवोच्यते तेन प्रत्यक्षेण लिङ्गेन भावनारूपं परोक्ष-
मदःशब्दितं तद्धेतुत्वेनानुमीयते तेन चेदंमयत्वेन लिङ्गेनादोमयत्वमात्मनोऽनुमेयमिदंमयत्वादोमयत्वयोर्धूमाग्न्यो-
रिव संबन्धस्यात्मनि दृष्टत्वाद्युक्तं हि कार्येण कारणनुमानमिति भावः । ११. रागादिरूपाः । १२. मयत्वेन ।
१३. घटादि । १४. अदोमयत्वोक्तिम् । १५. अदोमयःशब्दार्थमाह—व्यवहितेति । १६. विषयस्य ।
१७. तेनेत्यनया । १८. तथाचेदंमयत्वे नेति यावत् ।

यथाकारी यथाचारी स तथा भवति। करणं नाम [1]नियता क्रिया विधिप्रतिषेधादि चरणं [2]नामानियतमिति विशेषः। साधुकारो साधुर्भवतीति यथाकारीत्यस्य [3]विशेषणं कारो पापो भवतीति च यथाचारीत्यस्य।

ताच्छील्यप्रत्ययोपादानादत्यन्ततात्पर्यतयैव तन्मयत्वं न [4]तु तत्कर्ममात्रेणेत्याशङ्क्य ऽऽह [5]पुण्यः [6]पुण्येन कर्मणा भवति [7]पापः पापेनेति। पुण्यपापकर्म[8]मात्रेणैव [9]तन्मयता स्या तु ताच्छील्यमपेक्षते[10]। [11]ताच्छील्ये तु [12]तन्मयत्वातिशय इत्ययं विशेषः। [13]तत्र क क्रोधादिपूर्वकपुण्यापुण्यकारिता सर्वमयत्वे हेतुः संसारस्य कारणं [14]देहाद्देहान्तरसंचार च। [15]एतत्प्रयुक्तो [16]ह्यन्यदन्यद्देहान्तरमुपादत्ते। [17]तस्मात्पुण्यापुण्ये संसारस्य कारण

संहारार्थः। विज्ञानमयादिवाक्यार्थं संक्षिपति—संक्षेपतस्त्विति। करणचरणयोरक्येन पौनरुक्त्य शङ्कयाऽऽह—करणं नामेति। आदिशब्दः शिष्टाचारसंग्रहार्थः।

वाक्यान्तरं शङ्कोत्तरत्वेनोत्थाप्य व्याचष्टे–ताच्छील्येत्यादिना। कुत्र [18]तर्हि ताच्छील्य युज्यते तत्राऽऽह—ताच्छील्ये त्विति। [19]पूर्वपक्षमुपसहरति—तत्रेत्यादिना[20]। कर्मणः संसारकार मुपसहरति—एतत्प्रयुक्तो हीति। संसारप्रयोजके कर्मणि प्रमाणमाह—एतद्विषयौ हीति। कथं यद

क्रिया का है; जो विधि और प्रतिषध शास्त्र से नियन्त्रित होती हो, 'चरण' नाम मान से निरपेक्ष नाम है, यही इसमे विशेषता है। 'यथाकारी' इसीका विवरण है कि साधुकारी साधु हो जाता 'यथाचारी' का विवरण है कि पापचारण करने वाला पापी हो जाता है।

"यथाकारी और यथाचारी में" ताच्छील्यार्थक 'णिनि' प्रत्यय होने से कर्म में अत्यन्त तत्पर शील होना ही तन्मयता है। सकृद् अनुष्ठित कर्म से ही तन्मयता नहीं आती। इसी आशङ्का से कहती है—पवित्र शास्त्रीय कर्म से उत्कृष्ट देवादि की प्राप्ति एवं शास्त्रप्रतिषिद्ध पाप कर्म से तिर्य पाप योनियों की प्राप्ति होती है अर्थात् पुण्यपापमय कर्ममात्र से तत्फलभाक्ता आती है; उसके ताच्छील्य की कोई अपेक्षा नहीं। (अभ्यासरूप) ताच्छील्य होने पर फलातिशय होगा; यही विशेषता है। इस प्रकार कामक्रोधादि पूर्वक पुण्य और अपुण्य का अनुष्ठान करना जीव के सर्व

---

१. मानाधीनेति यावत्। २. मानाधीनम्। ३. विवरणम्। ४. पुण्यपापयोर्भूयोऽभ्यासेनैव त भाक्त्वं कर्तुः स्यान्न तु सकृदनुष्ठितेन कर्मणेत्यर्थः। ५. उत्कृष्टो देवादिः। ६. पवित्रेण शास्त्रीयेण। कामक्रोधादिभूयिष्ठस्तिर्यगादिः। ८. सकृदनुष्ठानमात्रत इति यावत्। ९. तत्फलभाक्ता। १०. तदनुष्ठानवैफल्यादिति भावः। ११. अभ्यासे सति। १२. फलातिशय इति यावत्। १३. त पुण्यादेः फलप्रदानेऽभ्यासानपेक्षत्वे सतीत्यर्थः। १४. देहाद्देहान्तरेत्यादि—संसारस्येत्यस्यैवेदं विशेषणम्। धर्मात्मकं कर्म संसारानर्थकारणमिति यावत्। १५. कर्मप्रयुक्तः। १६. यस्मात्। १७. त देहान्तरोपादानस्योक्तकर्मप्रयुक्तत्वात्। १८. सकृदनुष्ठानादेव फलसिद्धौ। १९. पूर्वपक्षमिति— पुण्येन कर्मणा भवती"ति वाक्येन पुण्यपापयोरेव संसारासाधारणकारणत्वमित्युक्तं पूर्वपक्षमित्यर्थः। यद्वा यथाकारीत्यारभ्य अथो खल्वाहुरित्यतः प्राक्तनवाक्यस्य तात्पर्यमनुभाषते—तत्रेतीत्यवतरणान्तरं २०. साफल्यमितीत्यन्तेन।

यौ[1]। [2]अत्र शास्त्रस्य साफल्यमिति।

[3]अथो अप्यन्ये बन्धमोक्षकुशलाः [4]खल्वाहुः—सत्यं [5]कामादिपूर्वके पुण्यापुण्ये शरीर- णकारण तथाऽपि कामप्रयुक्तो [6]हि पुरुषः पुण्यापुण्ये कर्मणी [7]उपचिनोति कामप्रहाणे

विषयत्वं विधिनिषेधयोरित्याशङ्क्याऽऽह—अत्रेति। इतिशब्दः पूर्वपक्षसमाप्त्यर्थः।

सिद्धान्तमवतारयति—अथो इति। [8]संसारकारणस्याज्ञानस्य प्राधान्येन [9]कामः सहकारीति सिद्धान्तं समर्थयते—सत्यमित्यादिना। कामाभावेऽपि कर्मणः [10]सत्त्वं दृष्टमित्याशङ्क्याऽऽह—काम-

हेतु, उसके संसार का कारण तथा देह से देहान्तर संचरण में हेतु है क्योंकि इन कर्मों से प्रयुक्त जीव न्य देहान्तर को प्राप्त करता है। इसलिये पुण्य और पाप संसार के कारण हैं। विधि और षेध संसार प्रयोजक और प्रतिपादक हैं। यही कमकाण्डरूप शास्त्र की सफलता है।

यहाँ बन्ध-मोक्ष प्रतिपादन करने में प्रवीण अन्य विचारक जोर से कहते हैं। यह ठीक नहीं है

---

१. एतद्विषयौ संसारप्रयोजककर्मप्रतिपादकौ। २. अत्रेति—यथोक्तकर्मप्रतिपादकत्वे सति। शास्त्रस्य कर्मकाण्डस्य। तथा च कर्मण एव शुभाशुभफलहेतुषु प्रधानत्वाच्छुभमेव कर्मानुष्ठेयमभ्युदयमभीप्सुभिरित्यत्रैव कर्मकाण्डपर्यवसानमित्यवधेयम्। ३. अथो इति—पूर्वपक्षानन्तरं सिद्धान्तप्राप्तेर्योग्यताद्योतकोऽथोशब्दः। ४. खलुशब्दश्चात्र उच्चैरित्यर्थकः। ५. कामादिपूर्वके पुण्यापुण्ये शरीरग्रहणकारणमिति—अत्र शरीरग्रहणकारण-भिन्नमेकं पुण्यापुण्ये इत्येवं कारणान्तपदोत्तरविभक्त्यर्थैकत्वस्य पुण्यापुण्यपदार्थेऽन्वयबोधस्य पुण्यापुण्यपदार्थस्य द्वित्वावरुद्धत्वेन बाधाच्छरीरग्रहणकारणतावच्छेदकैककर्मत्ववती पुण्यापुण्ये इत्येवं कर्मत्वविशिष्टपुण्यापुण्यपदार्थै-कदेशे कर्मत्व एव निरुक्तैकत्वान्वयबोधो बोध्यः। यथा वेदाः प्रमाणमित्यत्र वेदपदार्थस्य चतुष्ट्वसंख्याऽवरुद्धतया प्रमाणपदोत्तरविभक्त्यर्थैकत्वान्वयायोग्यत्वेन प्रमाणाभिन्न एको वेदा इत्यन्वयबोधस्य बाधात्प्रमाणत्वविशिष्ट-वेदपदार्थैकदेशे प्रमाणत्व एवोक्तैकत्वान्वयेन प्रमितिजनकतावच्छेदकैकप्रमाणत्ववन्तो वेदा इति शाब्दबोधस्त-द्वत्। न च शक्तं पदमित्यभ्युपगमाद्विभक्त्यर्थैकत्वस्य पदार्थतया पदार्थेनान्वयो न्याय्यो न तु पदार्थैकदेशे कर्मत्वादौ पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेनेति नियमादिति साम्प्रतम्। निरुक्तनियमस्यौत्सर्गिकतया-ऽसति बाधके एव न्याय्यत्वात् कथमन्यथोत्पन्नो घटो नष्टो घट इत्यादौ घटत्वविशिष्टघटपदार्थैकदेशस्य व्यक्ते-रेवोत्पत्तिविनाशपदार्थयोरन्वयः सर्वाभिमतः। अत्र यथा जातेर्नित्यत्वं विशिष्टान्वयबोधबाधकं तथा प्रकृतेऽपि पदार्थस्य द्वित्वादिविरुद्धसंख्यावरुद्धत्वमिति। एवं पुण्यपापे संसारस्य कारणमित्यादौ सर्वत्रायमेव पन्थाः। ६. वाङ्मनःकायसाध्यायाः प्रवृत्तेः काममूलतेत्यत्रान्वयव्यतिरेकयोरानुकूल्यं वक्तुं हिशब्दः। ७. समनुतिष्ठति सम्पादयति। ८. ननु कामस्य संसारप्रयोजकावसानभूमित्वाभ्युपगमे प्रत्यगज्ञानं तन्मूलमिति सिद्धान्तहानिरित्या-शङ्क्याऽऽह—संसारकारणस्येति। तदुक्तं वार्तिके—"प्रयोजकत्वे कर्मादेः कामप्राधान्यमीरितम्। प्रयोजकानां निष्ठात्वे न तु कामो विवक्षितः॥ यथा वस्त्वपरिज्ञानं कामस्यापि प्रयोजकम्"॥ २१३-१४॥ इति। यद्यपि प्रकृतवाक्ये कामहेतुरज्ञानं न श्रुतं तथाप्यज्ञाते प्रमाणप्रवृत्तिनियमादात्मनि श्रुतिप्रामाण्येऽज्ञानमश्रुतमपि तत्र तत्प्रवृत्तिहेतुतयेष्टं तथाच प्रतीचि दृश्यमानं कामादि कारणान्तराभावादज्ञानमेव तत्त्वेन स्वीकरोतीति भावः। वार्तिके यथा—"प्रयोजकत्वेऽविद्येयं यदि नामेह न श्रुता। मितिप्रवृत्तिहेतुत्वात्तथाप्यत्राऽऽश्रितैव सा" ॥ २१८ ॥ इति। ९. न तु कर्मेति भावः। १०. सत्त्वमिति "नेह कश्चित्क्षणमपी"ति स्मृतेः।

तु कर्म विद्यमानमपि [1]पुण्यापुण्योपचयकरं न भवति। उपचिते अपि पुण्यापुण्ये कामशून्ये [2]फलारम्भके न भवतः। [3]तस्मात्काम एव संसारस्य मूलम्। तथाचोक्तमा[4] "कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र" इति। [5]तस्मा[6]त्काममय पुरुषो यदन्यमयत्वं तद[7]कारणं विद्यमानमपीत्यतोऽवधारयति काममय एवेति।

यस्मात्स[8] च [9]काममयः सन्यादृशेन[10] कामेन यथाकामो भवति [11]तत्क्रतुर्भवति[12] स ईषदभिलाषमात्रेणाभिव्यक्तो यस्मिन्विषये भवति [13]सो[14]ऽविहन्यमानः [15]स्फुटीभवन्क्रतुत्व पद्यते। क्रतुर्नामाध्यवसायो निश्चयो यदनन्तरा क्रिया प्रवर्तते। यत्क्रतुर्भवति यादृक्

प्रहाणे त्विति। ननु कामाभावेऽपि नित्याद्यनुष्ठाना[16]त्पुण्यापुण्ये [17]संचीयेते तत्राऽऽह—उपचिते इति। हि पशुपुत्रस्वर्गादीननतिशयपुरुषार्थान्मन्यमानस्तानेव कामयते स तत्तद्भोगभूमौ तत्तत्कामसंयुक्तो तीत्याथर्वणश्रुतेरर्थः। श्रुतियुक्तिसिद्धमर्थं निगमयति—तस्मादिति। धर्मादिमयत्वस्यापि धारणानुपपत्तिमाशङ्क्याऽऽह - यदिति।

स यथाकामो भवतीत्यादि व्याचष्टे—यस्मादित्यादिना। यस्मादित्यस्य तस्मादिति

कि कामादिपूर्वक पुण्य और पाप ही शरीरग्रहण में कारण हैं, तथापि काम से प्रेरित पुरुष ही अपुण्य कर्मों को संपादित करता हैं। काम के न रहने पर तो वर्तमान कर्म भी पुण्यापुण्य का (अदृष्ट उत्पत्ति का प्रयोजक) नहीं होता। तथा कामनारहित होने पर (अपूर्वरूप में) संचित पापकर्म फलारम्भ में समर्थ नहीं होते। इसलिये काम ही संसार का मूल है। इसी को मुण्डकोप में बतलाया गया है, "जो कामनाओं को ही सब कुछ मानता हुआ उनकी इच्छा करता है, वह कामनाओं से उस-उस पद को प्राप्त होता है"। इसलिए वह पुरुष काममय ही है; इसका जो मयत्व है. वह विद्यमान रहते हुए भी कारण नहीं है। इसी से श्रुति निर्धारित करती है—'यह काममय ही है"।

क्योंकि वह आत्मा सामान्यतः काममय होने से "यथाकामः" अर्थात जिस प्रकार के का से युक्त रहता है; "तत्क्रतुः" अर्थात् वैसे निश्चय वाला हो जाता है। जरा सी अभिलाषा लेकर हुई कामना जिस विषय के प्रति होती है, उस कामनाविषयक गुणस्मरण के अभ्यास से प्रतिक्षण बढ़ते हुए निश्चय को धारण करती है। "क्रतु" नाम अध्यवसाय या निश्चय का है,

---

१. अदृष्टोत्पत्तिप्रयोजकम्। २. फलारम्भके न भवत इति—रागं विना प्रमादोपनतेऽपि पुरुषस्य दोषाल्पत्वं धर्मशास्त्रेपूक्तम्—"चण्डालान्नं प्रमादेन यदि भुञ्जीत यो द्विजः। कुर्यान्मासमेकं व्रतं चरेदि"ति ॥ तस्मादकामपूर्वकं कर्माफलमिति भावः। ३. तस्माद् पूर्विकायाः कायिकादिः त्रिविधप्रवृत्तेः सफलत्वात्। ४. आथर्वण इति—इहापि प्रागुक्तं "आ आसीदेक एव सोऽकामयतेति"। "यद्यद्धि कुरुते जन्तुरिति" स्मृतेश्चेत्यपि बोध्यम्। ५. तस्मात् प्राधान्येन कामस्यैव प्रयोजकत्वात्। ६. काममय इति —"कामो गर्धोऽभिलाषश्च तृष्णेत्येकार्थवाचकाः ७. अकारणम्—कामं विना फलाजनकम्। ८. आत्मा। ९. सामान्यतः काममयेत्यर्थः। १०. विशेषेण युक्तः। ११. तादृगध्यवसायः। १२. कामस्यैव क्रतुत्वं वक्तुं पातनिकामाह—सकाम भवन्नित्यन्तेन। १३. कामः। १४. अविहन्यमानः तद्विषयगुणस्मरणाभ्यासात् अप्रतिबद्धः। १५. क्षणं वर्धमानः। १६. अपूर्वाख्ये। १७. उत्पद्येते।

[१]तदेष श्लोको भवति। तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य[२]। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै

उस विषय में यह मन्त्र भी है। इसका मन प्रधान लिङ्गदेह जिसमें अत्यन्त आसक्त होता है; में ही अभिलाषा प्रकट कर कर्म के सहित उसी फल को वह प्राप्त करता है। इस संसार में यह व जो कुछ भी करता है; उस कर्म का फल प्राप्त करके उस लोक से कर्म करने के लिए पुनः

यॅण क्रतुना[३] यथारूपः क्रतुरस्य सोऽयं यत्क्रतुर्भवति यत्कर्म कुरुते [४]यद्विषयः क्रतुस्तत्फलवं तये यद्योग्यं कर्म तत्कुरुते निर्वर्तयति। यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते, तदीयं लमभिसंपद्यते। तस्मात्सर्वमयत्वेऽस्य संसारित्वे च काम एव हेतुरिति॥ ५॥

[५]तत्तस्मिन्नर्थ एष श्लोको मन्त्रोऽपि भवति[६]। तदेवेति [७]तदेव गच्छति सक्त आसक्तस्तत्रोद्भूताभिलाषः सन्नित्यर्थः। कथमेति। सह कर्मणा यत्कर्म, फलासक्तः सन्नकरोत्तेन कर्मणा सहैव तदेति तत्फलमेति। किं तल्लिङ्गं मनः। मनःप्रधानत्वा[८]ल्लिङ्गस्य मनो लिङ्गमित्युच्यते।

न्वयः। इतिशब्दो ब्राह्मणसमाप्त्यर्थः[९] ॥५॥

तत्रेति गन्तव्य[१०]फलपरामर्शः। तदेव गन्तव्यं फलं विशेषतो ज्ञातुं पृच्छति—किं तदिति। लोकमादाय व्याचष्टे—लिङ्गमिति। [११]योऽवगच्छति स प्रमात्रादिसाक्षी येन साक्ष्येण मनसाऽवगम्यते

के अनन्तर प्रवृत्त होती है। "यत्क्रतुर्भवति" अर्थात् जिस प्रकार के काम कार्यरूप निश्चय से तु यानी यथारूप क्रतु वाला होता है; "तत्कर्म कुरुते" अर्थात् जिस फलविषयक निश्चय होता है, स फल की सिद्धि के लिए जो कर्म उपयुक्त है, उसे निष्पन्न करता है। जो कर्म करता है, "तदभिसंपद्यते" अर्थात् उसीका फल प्राप्त करता है। इसलिए इस आत्मा के सर्वमयत्व और ससारित्व में काम ही हेतु है ॥५॥

"तदेष श्लोको भवति" अर्थात् उस ब्राह्मणोक्त अर्थ में यह पूर्वार्ध मन्त्र है—"तदेवेति" ानी स्वर्गादिफल को जाता है, "सक्तः" अर्थात् आसक्त हो अथवा उसमें अपनी जागृत इच्छा रखते है। किस प्रकार जाता है? "सह कर्मणा" अर्थात् जिस कर्म को फलासक्त होकर किया, उस कर्म थ वह (स्वर्गादि) फल को प्राप्त होता है। उसका लिङ्ग क्या है? मन ही है। सत्तरह लिङ्गों में न ही प्रधान होने से मन ही 'लिङ्ग' शब्द से विशिष्ट है। अथवा जिससे प्रतीत होता है, जाना जाता

---

[१] तत् तत्र ब्राह्मणोक्तेऽर्थे एष श्लोकः मन्त्रः सार्धः। [२] संसारिणः। [३] युक्तः। [४] यत्फलविषयः।
[५] पुमान् काममय एव कर्मादेः स्यात्प्रयोजक इत्यनन्तरपूर्वसन्दर्भोक्तेऽर्थे। [६] सार्धः। [७] स्वर्गादिफलमेव।
[८] सप्तदशकस्य। लिङ्गम् मन इति विशेष्यत इत्यर्थः। [९] ब्राह्मणवाक्यस्य मन्त्रस्य। अग्रे तु मन्त्रः
प्रवर्त्स्यंतीति भावः। [१०] स्वर्गादिफलम्। [११] प्रमात्रादि भासयति।

लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽथा[1]कामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम [2]आत्मकामो [3]न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ॥ ६ ॥

इस मनुष्यलोक में आ जाता है (क्योंकि यह मनुष्यलोक ही कर्म प्रधान है, पर फलासक्ति के का पुनः परलोक में जाता है, निःसन्देह कामना वाला पुरुष ही कर्मानुसार ऐसी शुभाशुभ गति को प्रा होता रहता है)। अब जो अकाम पुरुष हैं, उसके विषय में कहते हैं। जो अकाम, निष्काम, आप्त और आत्मकाम होता है, उस तत्त्वज्ञानी के लिङ्गदेह रूप प्राणों का उत्क्रमण शरीरान्तर के लिए न होता। वह तत्त्ववेत्ता पुरुष ब्रह्मस्वरूप होता हुआ ही ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

अथ वा लिङ्ग्यते[4]ऽवगम्यतेऽवगच्छति येन [5]तल्लिङ्गं तन्मनो [6]यत्र यस्मिन्निषक्तं निश्चये सक्तमुद्भूताभिलाषमस्य संसारिणः। [8]तदभिलाषो हि [9]तत्कर्म कृतवान्। तस्मा[10]न्मनोऽभिषङ्गवशादेवास्य तेन कर्मणा तत्फलप्राप्तिः। [11]तेनैतत्सिद्धं भवति कामो मू संसारस्येति। [12]अत उच्छिन्नकामस्य विद्यमानान्यपि कर्माणि ब्रह्मविदो वन्ध्यप्रसवा भवन्ति। "पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्विहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः" इति श्रुतेः।

तन्मनो लिङ्गमिति पक्षान्तरमाह—अथवेति। यस्मिन्निश्चयेन संसारिणो मनः सक्तं तत्फलप्राप्तिस्तस्मै संबन्धः। [13]तदेवोपपादयति—तदभिलाषो हीति। पूर्वार्धार्थमुपसंहरति—तेनेति। कामस्य संसारमूलत्वे सत्यर्थसिद्धमर्थमाह—अत इति। वन्ध्यप्रसवत्वं निष्फलत्वम्। पर्याप्तकामस्य प्राप्तपरमपुरुषार्थस्येति यावत्। कृतात्मनः शुद्धबुद्धेर्विदितस[14]तत्त्वस्येत्यर्थः। इहेति जीवदवस्थोक्तिः।

है, प्रमाता भासता है; वह लिङ्ग है। लिङ्गात्मक मन "यत्र" अर्थात् जिस (स्वर्गादिफल) में जीव "निषक्तः" दृढ़तापूर्वक आसक्त है अर्थात् उत्पन्न अभिलाषा वाला होता है क्योंकि उस फ भिलाषा से युक्त होकर इसने कर्म किया था। इसलिए उस फल में मन के लगे रहने से इसे उस क से उस फल की प्राप्ति हो जाती है। इस पूर्वार्ध मन्त्र से यह सिद्ध होता है कि काम ही संसार का है। इसलिये आप्तकाम उस ब्रह्मवेत्ता के विद्यमान कर्म भी वन्ध्या स्त्री के पुत्र के समान हैं। इसी श्रुति कहती है—"परम पुरुषार्थ को प्राप्त हुए कृतात्मा पुरुष की सारी कामनाएं यहीं प्रविल हो जाती हैं"।

---

[1] अकामयमानत्वं नाम कामनयाऽप्रवर्तमानत्वं कामनाप्रयुक्तप्रयत्नशून्यत्वमिति यावत्। तत्र हेतुरकाम इ—शब्दादिविषयकस्थूलकामनारहित इत्यर्थः। अकामत्वे हेतुर्निष्कामत्वम्। तच्च (अतिग्रहसंज्ञि कामवासनाराहित्यम्। एवमग्रेपि उत्तरं पूर्वहेतुः। [2] आत्मातिरिक्ते कामाभाववान्। [3] न तस्येति—यतस्तस्य विदुषः प्राणा वागादयो नोत्क्रामन्ति कामाभावेन कर्माभावे सति गमनकारणाभावादतः स जीवन्ने ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति प्राप्नोति देहाद्यावरणविच्छेदापेक्षयाऽप्येतीवेत्युपचर्यते नित्यप्राप्तत्वादेवेत्यर्थः। योऽवगच्छति प्रमात्रादि भासयति स येन लिङ्ग्यते। [5] तन्मनः लिङ्गमिति विशेष्यत इत्यर्थः। स्वर्गादिफले। [7] आसीत्। [8] फलाभिलाषवान्। [9] फलानुकूलं कर्म। [10] तत्र फले। मन्त्रपूर्वार्धेन। [12] अवतरणोक्तार्थत्वात्। [13] फलकामनैव तत्फलप्राप्तिमूलमित्येतदेव। स्वरूपस्य।

किंच प्राप्यान्तं कर्मणः प्राप्य भुक्त्वाऽन्तमवसानं यावत्कर्मणः फलपरिसमाप्ति त्वेत्यर्थः । कस्य कर्मणोऽन्तं प्राप्येत्युच्यते—तस्य यत्किंच कर्मेहास्मिँल्लोके करोति र्वर्तयत्ययं तस्य कर्मणः फलं भुक्त्वाऽन्तं प्राप्य [1]तस्माल्लोकात्पुनरैत्यागच्छत्यस्मै लोकाय [3]कर्मणेऽयं हि लोकः कर्मप्रधानस्तेनाऽऽह कर्मण इति पुनः कर्मकरणाय पुनः र्म कृत्वा फलासङ्गवशात्पुनरमुं लोकं यातीत्येवम् । इति न्वेवं [5]नु कामयमानः संसरति । यस्मात्कामयमान एवैवं संसरत्यथ तस्मादकामयमानो न [6]क्वचित्संसरति ।

कामप्रधानः संसरति चेत्कर्मफलभोगानन्तरं कामाभावान्मुक्तिः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— त्वेति । इतश्च संसारस्य कामप्रधानत्वमास्थेयमित्यर्थः । यावदवसानं तावद्भुक्त्वेति संबन्धः । उक्त- संक्षिपति—कर्मण इति । इत्थेवं पारम्पर्येण संसरणादृते ज्ञानान्न मुक्तिरिति शेषः । संसारप्रकरण- मुपसंहरति—इति न्विति । [7]अवस्थाद्वयस्य दार्ष्टान्तिकं [8]बन्धं [9]प्रबन्धेन दर्शयित्वा [10]सुषुप्तस्य दार्ष्टान्तिकं मोक्षं वक्तुमथेत्यादि वाक्यं तत्राथशब्दार्थमाह—यस्मादिति ।

तथा "प्राप्यान्तं कर्मणा" अर्थात् जहाँ तक कर्मों का अवसान है; वहाँ तक उसे भोगकर र्थात् उसकी फलसमाप्ति करके । "किस कर्म का पर्यवसान करके" इस पर श्रुति कहती है "तस्य त्किंचेह करोत्ययम्" अर्थात् वह जो कुछ भी कर्म इस लोक में करता है, वह उस कर्म का फल भोग- कर यानी अन्त पाकर भुक्त भोग लोक से पुनः कर्म करने के लिए इस देह में आ जाता है क्योंकि यह लोक कर्मप्रधान है । इसी से कहा है—"कर्मण इति" अर्थात् पुनः कर्म करने के लिए । पुनः कर्म करके लासक्ति वशात् पुनः परलोक जाता है । "इति नु" अर्थात् इस प्रकार ही, कामनायुक्त हो संसरण रता रहता है । क्योंकि यह कामनायुक्त होकर संसरण करता है, अकामयुक्त (इस लोक परलोक में) हीं भी संसरण नहीं करता ।

---

१. भुक्तभोगात् । २. देहाय । ३. कर्मकरणार्थम् । ४. वार्तिके तु इति नु इत्यनयोर्निपातयोः खेदाऽनु- कम्पे अर्थावुक्तौ । ५. खलु । ६. इहामुत्र वेत्यर्थः । ७. अवस्थाद्वयस्येत्यादि—चतुर्थाध्यायतृतीय- ब्राह्मणे अष्टादशादिकण्डिकोक्तस्य जागराद्यवस्थाद्वयसंचारस्येत्यर्थः । यथा जागरात्स्वप्नमेति स्वप्नाच्च जागरं तथाऽस्माल्लोकादमुं लोकममुष्मात्पुनरिममेतीत्यर्थः । ८. लोकाल्लोकान्तरसंसरणाख्यम् । ९. एतावता ग्रन्थेन । १०. सुषुप्तस्येति—यथा योषिदालिङ्गने पुंसो रूपं स्त्रीवाक्येन श्रुतिरवदत् तथा सौषुप्तस्थानं प्राप्तस्य कामादिहीनं रूपमतिच्छन्दावाक्येन मोक्षदृष्टान्तभूतमुक्तं तस्य दृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकं मोक्ष- मित्यर्थः ।

❀ यस्मादित्यादि मुच्यत एवेत्यन्तभाष्ये अन्तर्निहितार्थाविष्कारपराणीमानि वार्तिकानि । तथाहि—"अथ- शब्दोऽत्र हेत्वर्थ उक्तस्य तदपेक्षतः । काम्येव हि यतोऽजस्रं संसरत्यविचक्षणः ।। तद्भावभाविहेतुत्वादतोऽकामो विमुच्यते । नरोऽकामयमानः स्यात्कामहेतोर्निराकृतेः ।। स्वत एवाखिलसुखप्राप्ततत्त्वे स्व आत्मनि । निरस्ता- शेषदुःखे च मोहात्तत्र विपर्ययः ।। अप्राप्तं दुःखवन्मोहान्मन्वानः सुखमुत्तमम् । सुखं मे स्यादिति सदा नरः कामयतेऽबुधः ।। तथा परिहृताशेषदुःखहेतुः स्वतोऽपि सन् । मा भूद्दुःखं ममेत्येवं जाड्यात्कामयतेऽनिशम् ।। कृत्स्नानन्दस्य चानाप्तिरवाप्तिरसुखस्य च । नाऽऽत्मवस्त्वनुरोधेन तदबोधात्तदश्नुते ।। वस्तुतन्त्रा भवेद्विद्या कर्तृतन्त्रैव च क्रिया । अतः कामयमानत्वं कर्तृतन्त्रमबोधतः ।। कारकाण्युपमृद्नाति विद्याबीजमिवोषरम् ।

फलासक्तस्य [१]हि गतिरुक्ता। अकामस्य [२]हि क्रियानुपपत्तेरकामयमानो मुच्य एव। कथं पुनरकामयमानो भवति। योऽकामो भवत्यसावकामयमानः। कथमकामतेत्यु च्यते—यो निष्कामो यस्मान्निर्गताः कामाः सोऽयं निष्कामः। कथं कामा निर्गच्छन्ति। य आप्तकामो भवत्याप्ताः कामा येन स [३]आप्तकामः। कथमाप्यन्ते कामा आत्मकाम त्वेन यस्याऽऽत्मैव नान्यः कामयितव्यो वस्त्वन्तरभूतः पदार्थो भवति। आत्मैवानन्तरो ऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एकरसो नोर्ध्वं न तिर्यङ्नाध आत्मनोऽन्यत्कामयितव्यं वस्तु

कामरहितस्य संसाराभावं साधयति—फलासक्तस्येति। विदुषो निष्कामस्य क्रियाराहि [४]नैष्कर्म्यमयत्नसिद्धमिति भावः। अकामयमानत्वे प्रश्नपूर्वकं [५]हेतुमाह—कथमित्यादिना। बाह्ये शब्दादिषु विषयेष्वा[६]सङ्गराहित्याद[७]कामयमानतेत्यर्थः। अकामत्वे हेतुमाकाङ्क्षापूर्वकमाह—क मिति। वासनारूपकामाभावादकामतेत्यर्थः। निष्कामत्वे प्रश्नपूर्वकं हेतुमुत्थाप्य व्याचष्टे—क मिति। प्राप्तपरमानन्दत्वान्निष्कामतेत्यर्थः। आप्तकामत्वे हेतुमाकाङ्क्षापूर्वकमाह—कथमित्यादिना। हेतुमेव साधयति—यस्येति। [८]तस्य युक्तमाप्तकामत्वमिति शेषः। उक्तमर्थं प्रमाणप्रदर्शनार्थं प्रपञ्चयति

फलासक्त की गति बतला दी गई। पर्याप्तकाम में क्रिया संभव न होने के कारण अका युक्त मुक्त हो जाता है। किन्तु यह अकामयमान किस प्रकार होता है? जो कामशून्य हो; वही अका यमान होता है। कामशून्य कैसे होता है, इस पर श्रुति कहती है। "निष्कामः" अर्थात् जिसकी कामनाएं निर्गत हो गयी हैं, वह निष्काम है। कामनाएँ निर्गमन कैसे करती हैं? जो आप्तका हो जाता है अर्थात् (परमानन्द में स्वर्गादि सभी कामनाओं का अन्तर्भाव हो जाने से) जिसने स कामनाओं को प्राप्त कर लिया है। कामनाओं की प्राप्ति कैसे होती है? आत्मकाम होने से; जिसकी कामना का विषय आत्मा से भिन्न और कुछ पदार्थ नहीं होता। आत्मा अनन्तर, अबाह्य, पूर्ण, प्रज्ञा घन और एकरस है, आत्मा से भिन्न कामना करने योग्य वस्तु न ऊपर है; न इधर-उधर है; न नी

---

१. कामस्यानर्थमूलत्वमनुभवानुसारीति हिशब्दार्थः। २. पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु "अकामस्य क्रि काचिदि"ति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिद्योतको द्वितीयो हिशब्दः। ३. प्राप्तपरमानंन्दः परमानन्दे च स्वर्गादि कामान्तर्भावान्निर्वासनः। ४. कैवल्यम्। ५. हेतुम्—अकामत्वाख्यम्। ६. कामराहित्यात्। ७. का प्रयुक्तप्रयत्नशून्यता। ८. आप्तकामस्य विदुषः।

तत्कारणोपमर्दित्वाज्जन्मनैव न कारकम्। यत एवमतो विद्वान्कामहेतूपमर्दनात्। स्यादकामयमानोऽत्र त्वविद्वान्कथंचन" ॥ २५५-२६३ ॥ इति। यस्मादित्यादिभाष्येणाथशब्दार्थमाह—अथशब्द इति ॥ तत्र हेतु— उक्तस्येति। उक्तो बन्धस्तस्य कामापेक्षत्वाद्यस्मात्कामी संसरति तस्मादकामो मुच्यत इत्यत्र विवक्षितमित्यर्थः। संसारस्य कामापेक्षां साधयति—काम्येवेति। कामस्यानर्थमूलत्वमनुभवानुसारीति हिशब्दार्थः। यतःशब्दस्यो रेणातःशब्देन संबन्धः। कामित्वे हेतुः—अविचक्षण इति ॥ काम्येव संसारीत्यत्र हेतुमाह—तद्भावेति। तत्र कामस्य भावे बन्धस्य भावाद्विपर्यये चाभावात्तस्य तं प्रति हेतुत्वसिद्धेरित्यर्थः। कामी संसारीति सिद्धे फलितमाह—अत इति। सत्यमकामो मुच्यते कथं त्वकामत्वं तदाह—नर इति। यद्वा नाकामो मुच्यते मुमुक्षो कामस्यापि पुनरुत्थानादित्याशङ्क्याऽऽह—नर इति ॥ कस्तर्हि कामहेतुस्तत्राऽऽह—स्वत इति ॥ निरतिशयसुखे प्रतीचि मोहकृतं विपर्ययमभिनयति—अप्राप्तमिति ॥ निरस्तसमस्तदुःखे तस्मिन्नविद्यातो विपर्ययमुदाहरति—

तरम् । यस्य[1] सर्वमात्मैवाभू[2]त्तत्केन कं पश्येच्छृणुयान्मन्वीत विजानीयादेवं विजानन्कं कामयेत । ज्ञायमानो ह्यन्यत्वेन पदार्थः कामयितव्यो भवति । न चासावन्यो ब्रह्मविद आप्तकामस्यास्ति । [3]य एवाऽऽत्मकामतयाऽऽप्तकामः स निष्कामोऽकामोऽकामयमानश्चेति मुच्यते । न हि यस्याऽऽत्मैव सर्वं भवति तस्यानात्मा कामयितव्योऽस्ति । अनात्मा चान्यः कामयितव्यः सर्वं चाऽऽत्मैवाभूदिति विप्रतिषिद्धम् । सर्वात्मदर्शिनः कामयितव्याभावात्कर्मानुपपत्तिः ।

ये तु प्रत्यवायपरिहारार्थं कर्म कल्पयन्ति ब्रह्मविदोऽपि तेषां नाऽऽत्मैव सर्वं

-आत्मैवेति । कामयितव्याभावं ब्रह्मविदः श्रुत्यवष्टम्भेन स्पष्टयति—यस्येति । इति विद्यावस्था यस्य विदुषोऽस्ति सोऽन्यमविजानन्न कंचिदपि कामयेतेति योजना । पदार्थोऽन्यत्वेनाविज्ञातोऽपि कामयितव्यः स्यादिति चेन्नेत्याह—ज्ञायमानो हीति । अनुभूते [4]स्मरणविपरिवर्तिनि कामनियमादित्यर्थः । अन्यत्वेन ज्ञायमानस्तर्हि पदार्थो विदुषोऽपि कामयितव्यः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । आप्तकामस्य ब्रह्मविदो दर्शितरीत्या कामयितव्याभावे मुक्तिः सिद्धेत्युपसंहरति—य एवेति । कथं कामयितव्याभावोऽनात्मन[6]स्तथात्वादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । सर्वात्मत्वमनात्मकामयितृत्वं च स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—अनात्मा चेति । अथेत्यादिवाक्ये [7]श्रौतमर्थमुक्त्वाऽर्थसिद्धमर्थं कथयति—सर्वात्मदर्शिन इति ।

कर्मजडानां मतमुत्थाप्य [8]श्रुतिविरोधेन प्रत्याचष्टे—ये त्विति । ब्रह्मविदि प्रत्यवायप्राप्ति-

---

है। "जिस ब्रह्मात्मवेत्ता के लिए सब कुछ आत्मस्वरूप हो गया है, वह किसके द्वारा किसे देखे, किसे सुने, किसे मनन करे, किसे जाने" । इस प्रकार जानने वाला किसकी कामना करे। अन्यत्व रूप से जानने योग्य पदार्थ ही कामना का विषय होता है और आप्तकाम ब्रह्मवेत्ता की दृष्टि में कुछ अन्य पदार्थ है ही नहीं। जो भी इस प्रकार आत्मकाम होने से आप्तकाम होता है; वह (हेतुहेतुमद्भाव से) निष्काम, अकाम और अकामयमान है, इसीसे मुक्त हो जाता है। जिसके लिए आत्मा ही सब कुछ है; उसके लिए आत्मभिन्न वस्तु कामयितव्य नहीं हो सकती। अन्य अनात्म पदार्थ कामयितव्य रहे; "सब कुछ आत्मा ही हो गया" इस श्रुतिवाक्य से ब्रह्मात्मैक्य अनुभूति भी रहे—दोनों परस्पर विरुद्ध बातें हैं। सर्वात्मदर्शी के लिए अन्य कामयितव्य पदार्थ का अभाव होने से कर्म होना संभव ही नहीं है।

जो लोग प्रत्यवाय के परिहार के लिए ब्रह्मवेत्ता के लिए भी कर्म का विधान करते हैं,

---

[1] विज्ञातुः ।

[2] तस्मात् ।

[3] अथेत्यादि वाक्यस्यार्थं हेतुहेतुमद्भावेनोक्तमुपसंहरति—य एवेत्यादिना ।

[4] स्मरणविषयी भवति वस्तुनीत्यर्थः ।

[5] ज्ञायमानस्यैव कामविषयत्वनियमे ।

[6] कामयितव्यात् ।

[7] अक्षरोत्थं शाब्दम् ।

[8] सर्वस्यात्मत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधेन ।

तथेति ।। सुखस्याप्राप्तिर्दुःखस्य प्राप्तिश्चेत्युभयमाविद्यं तत्प्रपञ्चयति—कृत्स्नेति ।। कामस्य स्वाविद्या हेतुरित्युक्तं तत्रैव हेत्वन्तरं वक्तुं सामान्यन्यायमाह—वस्त्विति । अस्तु प्रस्तुते किं जातं तदाह—अत इति । कामस्य क्रियारूपत्वेन कर्तृतन्त्रत्वात्कर्तुश्चाज्ञानजत्वात्तस्यापि तज्जन्यत्वसिद्धिरित्यर्थः ।। क्रियावद्विद्याऽपि कर्तृतन्त्रेत्याशङ्क्याऽऽह—कारकाणीति । कथं कारकोपमर्दित्वं विद्यायाः सिद्धं तत्राऽऽह—तदिति । विद्या जन्ममात्रेणैव कारकं न सिध्यति तस्याः स्वोदयमात्रेण तत्कारणाविद्योपमर्दित्वादित्यर्थः ।। स्वाविद्या कामहेतुरिति स्थिते फलितमाह—यत इति । अत्रेत्यधिकारिनिर्धारणे सप्तमी ।।

भवति[1]। प्रत्यवायस्य जिहासितव्यस्याऽऽत्मनोऽन्यस्याभिप्रेतत्वात् । येन चाशनायाद्यतीतं नित्यं प्रत्यवायासंबद्धो विदित आत्मा तं वयं ब्रह्मविदं ब्रूमः । नित्यमेवाशनायाद्यतीतमात्मानं पश्यति । यस्माच्च जिहासितव्यमन्यमुपादेयं वा यो न पश्यति तस्य कर्म न शक्य एव संबद्धु(न्धु)म् । यस्त्वब्रह्मवित्तस्य भवत्येव प्रत्यवायपरिहारार्थं कर्मेति न विरोधः। अतः कामाभावादकामयमानो न जायते *मुच्यत एव ।

मङ्गीकृत्योक्तमिदानीं तत्प्राप्तिरेव तस्मिन्नास्तीत्याह—येन चेति । यथोक्तस्यापि ब्रह्मविदो विहितत्वा नित्याद्यनुष्ठानं स्यादिति चेन्नेत्याह—नित्यमेवेति । यो हि सदैवासंसारिणमात्मानमनुभवति न च हेयमादेयं वाऽऽत्मनोऽन्यत्पश्यति । यस्मादेवं तस्मात्तस्य कर्म संस्प्रष्टुमयोग्यम् । यथोक्तब्रह्मविद कर्माधिकार[3]हेतूनामुपमृदितत्वादित्यर्थः । कर्मसंबन्ध[4]स्तर्हि कस्येत्याशङ्क्याऽऽह—यस्त्विति । न विरो [5]विधिकाण्डस्येति शेषः । [6]श्रुत्यर्थाभ्यां सिद्धमर्थमुपसंहरति—अत इति । विद्यावशादित्येतत् कामाभावा[7]त्कर्माभावाच्चेति द्रष्टव्यम् । अकामयमानोऽकुर्वाणश्चेति शेषः ।

उनके लिए आत्मा ही सब कुछ नहीं है (इससे श्रुति विरोध होता है) क्योंकि प्रत्यवाय तो त्यागने योग्य होना अभीष्ट है, जो आत्मा से भिन्न ही है। जिसने आत्मा को अशनायादि षडूर्मिरहित, नित्य प्रत्यवाय से असंबद्ध जान लिया, उसे ही हम ब्रह्मवेत्ता कहते हैं। वह हमेशा क्षुधा-पिपासातीत आत्मा का ही देखता है। क्योंकि वह त्याग या ग्रहण करने योग्य अन्य कुछ भी नहीं देखता, इसलिये उसे कर्म बाँधने में समर्थ नहीं हो सकते। एवं जो अब्रह्मवित् है; उसी के लिए प्रत्यवाय परिहारार्थ कर्म का विधान है। इसमें कोई श्रुतिविरोध नहीं आता। इसलिये कामना के अभाव के कारण अकामयमान उत्पन्न नहीं होता; मुक्त हो जाता है।

---

[1] तथा च श्रुतिविरोधः। [2] षडूर्मिरहितः । [3] वर्णित्वाद्यभिमानादीदाम् । [4] यथोक्तब्रह्मविद कर्मसंसर्गायोग्यत्वे । [5] कर्मकाण्डस्य । [6] अक्षरतात्पर्याभ्याम् । [7] कर्माभावादिति—तत्राधिकार भावादिति यावत् ।

---

* मुच्यत एवेत्यादि देहादित्यन्तभाष्ये वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"संसारानर्थबीजस्य प्रध्वंसादात्मबोधतः। तस्मादात्मनि विज्ञाते कामहेतोरसंभवात् ॥ कामकर्माद्यसद्भावात्पूर्ण आत्माऽवतिष्ठते । न तस्येत्युत्तरो यथोक्तोऽर्थः समर्थ्यते ॥ अपास्तानर्थहेतुत्वं यदुक्तं प्रत्यगात्मनः । योऽकाम इत्यादिगिरा यो वेदाऽऽत्मानमागमात्॥ जिघृक्षत्यायसं तप्तं शास्त्राचार्यात्मनिश्चयात् । तस्योत्क्रामन्ति न प्राणा आसते नापि तत्र ते ॥ स्थित्युत्क्रान्त्योर्हि यो हेतुरात्माविद्यादिलक्षणः । ध्वस्तत्वात्तस्य सर्वस्य प्रत्यग्याथात्म्यदर्शनात् ॥ यत एवमतः प्राग सम्यग्ज्ञानस्य जन्मनि । नोत्क्रामन्ति न तिष्ठन्ति न च नश्यन्त्यहेतुतः ॥ रज्जुसर्पो यथालोकेऽज्ञातरज्जुसतत्त्वकः। नोत्क्रामति न चाप्यास्ते न च नश्यति रज्जुतः । स्थित्युत्क्रान्तिविनाशानां रज्जुस्तत्त्वं यतस्ततः । रज्जुज्ञान-समुत्पत्तौ रज्ज्वा नान्योऽत्रशिष्यते ॥ अविद्यातज्जनिर्मुक्तं वस्त्वत्रैवेति भण्यते । समित्यैकात्म्यमात्रेण प्राणानां स्थितिरुच्यते ॥ अवनीयन्त इत्युक्त्या नाशादिभ्योऽन्यतो गतिः । प्रत्यङ्मात्रैकनिष्ठत्वान्न भावाभावयोः स्थितिः॥ तादात्म्यमेव सर्वस्य कार्यकारणवस्तुनः । उत्क्रान्त्यादेश्च कृत्स्नस्य सर्वमात्मेतिशास्त्रतः" ॥ २८३-२९३ ॥ ईदृं मुक्तिर्न हि सा निर्धारिता वादिविप्रतिपत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—संसारेति । ज्ञानादज्ञानतज्जध्वंसादपूर्णतः हेत्व-भावात्पूर्णरूपेणावस्थानं मुक्तिरित्यर्थः ॥ तत्र विप्रतिपत्तिनिरासार्थं न तस्ये यादिवाक्यद्वयमवतारयति—नेति ॥ यथोक्तमर्थमेव व्यनक्ति— अपास्तेति । अखण्डब्रह्मात्मरूपेणावस्थानलक्षणं मोक्षं पूर्ववाक्योक्तमनन्तर-

तस्यैवमकामयमानस्य कर्माभावे गमनकारणाभावात्प्राणा वागादयो नोत्क्रामन्ति र्ध्वं क्रामन्ति देहात् । स च विद्वानाप्तकाम 'आप्तकामतयेहैव' ब्रह्मभूतः। सर्वात्मनो हि ब्रह्मणो दृष्टान्तत्वेन प्रदर्शितमेतद्रूपं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपमिति'। तस्य हि दार्ष्टान्तिकभूतोऽयमर्थ उपसंह्रियतेऽथाकामयमान इत्यादिना । स कथमे-

देशान्तरप्राप्त्यायत्ता मुक्तिरित्येतन्निराकर्तुं न तस्येत्यादि व्याचष्टे—तस्येत्यादिना । ब्रह्मैव त्येतदवतारयति—स चेति । कथं वर्तमाने देहे तिष्ठन्नेव ब्रह्मभूतो भवति तत्राऽऽह—सर्वात्मनो इति। दृष्टान्तालोचनया दार्ष्टान्तिकेऽपि सदा ब्रह्मत्वं भातीति भावः । सदा ब्रह्मीभूतस्य मुक्तिर्नाम नास्तीति शङ्कित्वा परिहरति—स कथमिति । परिहारमेव स्फोरयितुं न तस्येत्यादिवाक्यार्थ-

इस प्रकार "तस्य" यानी अकामयमान उस पुरुष के कर्म का अभाव हो जाने से, गमनकारण का अभाव होने से "प्राणाः" अर्थात् वागादि प्राण "नोत्क्रामन्ति" अर्थात् देह से ऊपर को नहीं जाते। परमानन्द आत्मकाम होने से वह आप्तकाम विद्वान् यहीं वर्तमान देह में स्थित रहता हुआ ही ब्रह्मीभूत हो जाता है। "निश्चय ही वह यह इसका आप्तकाम, आत्मकाम और अकामरूप है" इस

---

१. प्राप्तपरमानन्दः। २. आत्मकामतयाऽऽप्तकाम इत्यन्वयः । ३. वर्तमानदेहे तिष्ठन्नेव। ४. ब्रह्माप्येतीति संवन्धः। ५. सौषुप्तं रूपम् । ६. तद्वा अस्येति—अस्य सुषुप्तौ सर्वात्मभावापन्नस्याऽऽत्मनः तदेतद्रूपम्। तस्य विशेषणानि आप्तकाममित्यादीनि। अकाममित्यस्यानन्तरं शोकान्तरमिति विशेषणान्तरम् शोकशून्यमिति तदर्थः। ७. आप्ताः कामाः सुखमिति यावत् यत्र तत्। आत्मैव कामः सुखसाक्षात्काररलक्षणो यत्र। अतएव काम्याभावादकामं तद्रूपमिति। ८. बृ. उ. ४. ३. २१। ९. उक्तात्मनः। १०. वद्धो हि मुच्यते। ११. न हीत्यतः प्राक्तनग्रन्थेन । १२. कथयितुम् ।

वाक्यद्वयं समर्थयते तन्न श्रौतेऽर्थे विवादो वैदिकानामितरे तु प्रत्युदस्ता इत्यर्थः। वाक्याक्षराणि व्याकरोति—यो वेदेति ॥ प्राणानामनुत्क्रमणं वाङ्मात्रब्रह्मविदो नात्रोच्यते किन्तु मनुष्योऽहमितिवदहं ब्रह्मेतिदृढप्रत्ययवतः सत्याभिसंधस्य तप्तपरशुग्रहणादिशपथसमर्थस्येत्यर्थः ॥ किमिति प्राणा ब्रह्मविदो नोत्क्रामन्ति दृश्यते हि तस्यापीतरवदुत्क्रमणमत आह—स्थितीति । उत्क्रमणादिहेतुत्वमविद्यादेरन्वयव्यतिरेकलभ्यमिति हिशब्दार्थः। तत्कार्यस्यास्थितिरिति शेषः ॥ उत्क्रान्तिस्थितिहेत्वभावे वाक्यार्थमुपसंहरति—यत इति ॥ आत्मयाथात्म्यज्ञानादज्ञानादिध्वस्तौ प्राणानामुत्क्रान्तिस्थितिनाशा न सिध्यन्तीत्यत्र दृष्टान्तमाह—रज्ज्वति । अज्ञातेति च्छेदः ॥ रज्जुरेव तत्र कल्पितसर्पस्य तत्त्वमित्युक्तं हेतुं प्रपञ्चयति—स्थितीति । एवमात्मज्ञानोत्तावन्यानवशेषान्न प्राणोत्क्रान्त्यादि सिध्यतीति शेषः ॥ अत्रैव समवनीयन्त इति माध्यंदिनश्रुतावत्रैवेत्यस्यार्थमाह—अविद्येति । उपसर्गार्थमाह—समितीति ॥ क्रियापदार्थमाह—अवनीयन्त इतीति। अन्वयव्यतिरेकाभावपरिहारेण प्राणानामात्ममात्रतया स्थितिरवनयनमित्येतदुपपादयति—प्रत्यगिति ॥ ननु सर्वस्याऽऽत्ममात्रत्वे साधकाभावादात्मासिद्धिर्न च शास्त्रात्तत्सिद्धिस्तस्याज्ञाते प्रवृत्तेर्न च सर्वस्याऽऽत्मत्वे ततोऽन्यदज्ञानमस्ति न चाज्ञानादि निवर्तते निवृत्तं चेति व्यवहारस्ते संभवत्यत आह—"इति वस्तु स्वतो बुद्धमज्ञानं चानुभूतितः ॥ निवर्तते निवृत्तं चेत्येतदप्यनुभूतितः" ॥ २९४-२९५ ॥ इति । न प्रत्यग्याथात्म्यमात्रत्वात्तन्मोहाद्यप्यशेषतः । यावदात्मनः साधकापेक्षा स्वप्रकाशत्वान्नापि तत्र शास्त्राप्रामाण्यमज्ञानस्य तत्रानुभवसिद्धत्वात्प्रत्यगितररूपाभावादविद्यादेस्त्रैकाल्यनिवृत्तिश्च विद्वदनुभवसिद्धा न विरुद्धेत्यर्थः ॥

[1]वंभूतो मुच्यत इत्युच्यते—यो हि सुषुप्तावस्थमिव निर्विशेषमद्वैतमलुप्तचिद्रूपज्योतिः स्वभावमात्मानं [2]पश्यति तस्यैवाकामयमानस्य कर्माभावो गमनकारणाभावात्प्राणा वागादयो नोत्क्रामन्ति। किंतु विद्वान्स [3]इहैव ब्रह्म यद्यपि देहवानिव लक्ष्यते, स ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति।

यस्मान्न हि तस्याब्रह्मत्व[4]परिच्छेदहेतवः कामाः सन्ति तस्मादिहैव ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति न शरीरपातोत्तरकालम्। न हि विदुषो मृतस्य [5]भावान्तरापत्ति[6]र्जीवतोऽन्यो भावो देहान्तर[7]प्रतिसंधानाभावमात्रेणैव तु ब्रह्माप्येती[8]त्युच्यते। [9]भावान्तरापत्तौ हि

मनुद्रवति—तस्यैवेति। ब्रह्मैव सन्नित्यस्यार्थमनुवदति—किंत्विति। विद्वानिहैव ब्रह्म चेत्कथं तस्य ब्रह्मप्राप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मैवेति।

यदुक्तं ब्रह्मैव सन्नित्यादि तदुपपादयति—यस्मादिति। प्रागपि ब्रह्मभूतस्यैव पुनर्देहपाते [10]ब्रह्मप्राप्तिरित्ययुक्तं विदुषो मृतस्य [11]भावान्तरापत्तिस्वीकारादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। कथं [12]तर्हि ब्रह्माप्येतीत्युच्यते तत्राऽऽह—देहान्तरेति। विदुषो भावान्तरापत्तिर्मुक्तिरिति पक्षेऽपि किं दूषणमिति चेत्तदाह—भावान्तरापत्तौ हीति। [12]तथा चोपनिषदामप्रामाण्यं विना हेतुना स्यादिति भावः। भावा-

---

श्रुति द्वारा दृष्टान्त रूप से ब्रह्म का वह सुषुप्तावस्था वाला स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। प्रस्तुत मन्त्र में "अथ अकामयमान:" इस वाक्य से उस दार्ष्टान्तिकभूत अर्थ का उपसंहार किया गया है। इस प्रकार साधनसम्पन्न वह किस प्रकार मुक्त हो जाता है, इस पर कहा जाता है। जो सुषुप्तावस्था में स्थित की भाँति आत्मा को निर्विशेष अद्वैत, अलुप्त, चिद्रूप, ज्योति स्वभाव देखता है, उस अकामयमान पुरुष के कर्मों का अभाव होने से उसके वागादि प्राण उत्क्रमण नहीं करते। किन्तु वह विद्वान् देह में स्थिति होते हुए ही ब्रह्म हो जाता है, यद्यपि वह प्राणधारी सा दिखायी देता है; वह ब्रह्म रहकर ब्रह्म को प्राप्त होता है।

क्योंकि उसके ब्रह्मभिन्नत्व रूप उपाय के परिच्छेद की हेतुभूता कामनाएं नहीं रहतीं, इसलिए वह यहीं ब्रह्म ही रहकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है, शरीर विनष्ट होने के बाद नहीं। मरकर विद्वान् को भावान्तर की प्राप्ति नहीं होती, जीवात्मा से भिन्न भाव ब्रह्माख्य भाव नहीं होता क्योंकि देहान्तर प्राप्ति के अभाव मात्र से ही—'यह ब्रह्म को प्राप्त होता है' ऐसा उपचरित होता है। भावान्तरापत्ति

---

१. अवतरणोक्तभूतः। २. पश्यतीति—एतावान् शङ्काग्रन्थ इत्यप्याहुः। ३. देहे तिष्ठन्नेव। ४. ब्रह्मभिन्नत्वरूपो यः परिच्छेदस्तद्धेतवः। ५. भावान्तरेति—भावान्तरापत्तिवादिनो हि परस्मादन्यो जीवोऽनतिशयज्ञानकर्मभ्यां ब्रह्माप्येतीति वेदयन्त इति वेदनीयम्। ६. भावान्तपदं स्वयमेव व्याचष्टे—जीवत इति। जीवात्मनः सकाशादन्यो भिन्नो भावो ब्रह्माख्यपदार्थः। ७. प्राप्तिरिति यावत्। ८. उपचर्यते। ९. भावान्तरापत्तिरूपत्वे। १०. अप्येतिनोक्ता। ११. भावान्तरेति—स्वस्माद्भिन्नस्य ब्रह्मपदार्थस्य प्राप्तिस्वीकाराद्। १२. तर्हि—प्रागपि ब्रह्मरूपस्य विदुषो मुक्तेर्भावान्तरापत्तिरूपत्वानभ्युपगमे। यद्वा जीवदवस्थायामितरत्र च विशेषाभावे इत्यर्थः। १२. तद्विवक्षितार्थबाधे।

मोक्षस्य सर्वोपनिषद्विवक्षितोऽर्थ आत्मैकत्वाख्यः स बाधितो भवेत् । कर्महेतुकश्च मोक्षः प्राप्नोति न ज्ञाननिमित्त इति । स चानिष्टोऽनित्यत्वं च मोक्षस्य प्राप्नोति । न हि क्रियानिर्वृत्तोऽर्थो नित्यो दृष्टः । नित्यश्च मोक्षोऽभ्युपगम्यते । “[1]एष नित्यो महिमा” इति मन्त्रवर्णात् ।

न च [2]स्वाभाविका[3]त्स्वभावादन्यन्नित्यं कल्पयितुं शक्यम् । स्वाभाविकश्चेदग्न्युष्णवदात्मनः स्वभावः[4] स[5] न शक्यते पुरुषव्यापारा[6]नुभावीति वक्तुम् । न ह्यग्नेरौष्ण्यं प्रकाशो वाऽग्निव्यापारानुभावी । अग्निव्यापारानुभावी स्वाभाविकश्चेति विप्रति-

---

न्तरापत्तिर्मुक्तिरित्यत्र दोषान्तरमाह— कर्मेति । इतिपदादुपरिष्टा[7]त्क्रियापदस्य संबन्धः । अस्तु कर्मनिमित्तो मोक्षो ज्ञाननिमित्तस्तु मा भूत्तत्राऽऽह—स चेति । ‘[8]प्रसङ्गः सर्वनाम्ना परामृश्यते । ‘[9]प्रतिषेधशास्त्रविरोधादिति भावः । मोक्षस्य कर्मसाध्यत्वे [10]दोषान्तरमाह—अनित्यत्वं चेति । [11]तत्रोपयुक्तां व्याप्तिमाह—न हीति । अस्तु [12]तर्हि प्रासादादिवत्क्रियासाध्यस्य मोक्षस्याप्यनित्यत्वं नेत्याह—नित्यश्चेति ।

कृतकोऽपि ब्रह्मभावो ध्वंसवन्नित्यः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । कृत्रिमस्वभावव्यावृत्त्यर्थं स्वाभाविकपदम् । ‘[13]अतोऽन्यदार्तम्’ इति हि श्रुतिः । ध्वंसस्य तु विकल्पमात्रत्वान्नित्यत्वमसंमतमिति[14] भावः । मोक्षोऽकृत्रिमस्वभावोऽपि कर्मोत्थः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—स्वाभाविकश्चेदिति । अग्नेरौष्ण्यवदात्मनो मोक्षश्च स्वाभाविकस्वभावश्चेन्न स क्रियासाध्यो व्याघातादित्यर्थः । दृष्टान्तं समर्थयते—न हीति । अरणिगतस्याग्नेरौष्ण्यप्रकाशौ नोपलभ्येते सति च [15]ज्वलने दृश्येते [16]तेन स्वाभाविकावपि

रूप मोक्ष के स्वीकार कर लेने पर तो सम्पूर्ण उपनिषदों का विवक्षित आत्मैक्यरूप अर्थ बाधित हो जायगा । ऐसे तो मोक्ष कर्मनिमित्तक हो जायगा, ज्ञाननिमित्तक नहीं रह जायगा । इस प्रकार मोक्ष में अनिष्टत्व और अनित्यत्व प्रसङ्ग आ जायगा । ‘क्रिया से सम्पादित होने वाला पदार्थ नित्य नहीं देखा जाता’’ और मोक्ष नित्य है, ऐसे स्वीकार किया जाता है । “यह त्यक्त सर्वेषणा ब्रह्मवेत्ता को ‘नेति नेति’ लक्षण विलक्षण स्वाभाविक महिमा है’’ ऐसा श्रुति उपपादित करती है ।

इसके अतिरिक्त अकृत्रिम स्वरूप से भिन्न कोई पदार्थ नित्य है—ऐसी कल्पना करनी संभव नहीं है । यदि अग्नि के उष्णत्व के समान मोक्ष आत्मा का स्वाभाविक रूप है, उसके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि वह पुरुषव्यापार साध्य है । अग्नि का उष्णत्व अथवा प्रकाश भी अग्निव्यापार साध्य है । अग्निव्यापार साध्य भी हो और स्वाभाविक भी हो; ऐसे कहने में परस्पर विरोध

---

१. बृ. उ. ४. ४. २३ । २. अकृत्रिमात् । ३. स्वरूपात् । ४. मोक्षः । ५. तर्हि । ६. साध्यः । ७. प्रसज्यत इत्यर्थकस्य प्राप्नोतीत्यस्य । ८. प्रसङ्गः—मोक्षे कर्महेतुकत्वप्रसङ्गः ज्ञाननिमित्तत्वाभावप्रसङ्गश्च । ९. प्रतिषेधेति—“न कर्मणा न प्रजया”, “न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्”, “नास्त्यकृतः कृतेन” “मोक्षस्य तु नाशास्ति वित्तेने”त्यादिप्रतिषेधशास्त्रम् । १०. प्रतिषेधशास्त्रविरोधरूपदोषापेक्षया । ११. तस्यानित्यत्वे । १२. तर्हि--क्रियासाध्यस्य नित्यत्वादृष्टौ । १३. आत्मनोऽन्यद्विनाशि । १४. इति कुतो दृष्टान्ततेति भाव इति पाठान्तरम् । १५. तदाख्यव्यापारे । १६. तेन—अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तयोर्ज्वलनव्यापारफलत्वेन ।

षिद्धम् । ज्वलनव्यापारानुभावित्वमौष्ण्यप्रकाशयोरिति चेत् । न । [1]अन्योपलब्धिव्यवधानापगमाभिव्यक्त्यपेक्षत्वात् । ज्वलनादिपूर्वकमग्निरौष्ण्यप्रकाशगुणाभ्यामभिव्यज्यते तत्रान्यपेक्षया किं [3]तर्ह्यन्यदृष्टेरग्नेरौष्ण्यप्रकाशौ धर्मौ व्यवहितौ कस्यचिद्दृष्ट्या त्वसंबध्यमानौ ज्वलनापेक्षया व्यवधानापगमे दृष्टेरभिव्यज्येते । तदपेक्षया भ्रान्तिरुपजायते ज्वलनपूर्वकावेतावौष्ण्यप्रकाशौ धर्मौ जाताविति ।

यद्यौष्ण्यप्रकाशयोरपि स्वाभाविकत्वं न स्यात् । [1]यः स्वाभाविकोऽग्नेर्धर्मस्तमुदाहरिष्यामः । न च स्वाभाविको धर्म एव नास्ति पदार्थानामिति शक्यं वक्तुम् । न च [4]निगड-

---

ता[5]वागन्तुकौ कादाचित्कोपलब्धिमत्त्वादिति शङ्कते—ज्वलनेति । न हि [6]सतोऽग्नेरौष्ण्यादि कादाचित्कं युक्तं [7]तद्दृष्टेर्व्यवधानस्य दार्वादिध्वंसे [8]मथनज्वलनादिना वह्न्यभिव्यक्तिमपेक्ष्य [9]तत्स्वभावस्यौष्ण्यादेर्व्यक्त्यभ्युपगमादिति परिहरति—नान्येति । [10]तदेव प्रपञ्चयति—ज्वलनादीति । मथनादिव्यापारवशा[11]त्प्रकाशादिना व्यज्यतेऽग्निरिति यदुच्यते[12] तदग्नौ सत्येव तद्गतव्यापारापेक्षया तदौष्ण्याद्यभिव्यक्तिवशान्न भवति किंतु [13]देवदत्तदृष्टेरग्निधर्मौ [14]व्यवहितौ न तु तौ कस्यचिद्दृष्ट्या संबध्येते ज्वलनादिव्यापारात्तु दृष्टेर्व्यवधानभङ्गे तयोरभिव्यक्तिरित्यर्थः । कथं [15]तर्हि ज्वलनादिव्यापारादग्नेरौष्ण्यप्रकाशौ जाताविति बुद्धिस्तत्राऽऽह—तदपेक्षयेति । ज्वलनादिव्यापाराद्दृष्टिव्यवधानभङ्गे वह्नेरौष्ण्यप्रकाशाभिव्यक्त्यपेक्षयेति यावत् ।

यथा वह्नेरौष्ण्यादिस्वाभाविकं न क्रियासाध्यं तथाऽऽत्मनो मुक्तिः स्वाभाविकी न क्रियासाध्येत्युक्तमिदानीमग्नेरौष्ण्यादि न स्वाभाविकमित्याशङ्क्याऽऽह—यदीति । उदाहरिष्यामो मोक्षस्याऽऽत्मस्वभावस्याकर्मसाध्यत्वायेति शेषः । अथाग्नेः स्वाभाविको न कश्चिद्धर्मोऽस्ति यो मोक्षस्य दृष्टान्तः स्यादत आह—न चेति । [16]लब्धात्मकं हि वस्तु वस्त्वन्तरेण संबध्यते । अस्ति च निम्बादौ तिक्तत्वादिधर्मो रित्यर्थः । भावान्तरापत्तिपक्षं प्रतिक्षिप्य पक्षान्तरं प्रत्याह—न चेति । न हि बन्धस्य [17]तथाभूतस्य

हो जायगा । यदि कहो कि अग्नि का उष्णत्व और प्रकाश ज्वलन व्यापार साध्य है; तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि वह अन्य उपलब्धि के व्यवधान निवृत्ति की अभिव्यक्ति की अपेक्षा से है। ज्वलनादि पूर्वक जो अग्नि उष्णता और प्रकाश रूप गुणों से अनुभव होता है; वह अग्नि की अपेक्षा से नहीं होता । तो कैसे होता है । अग्नि के उष्णत्व प्रकाशरूप धर्म अन्य की अपेक्षा व्यवहित हैं, अर्थात् किसी को दृष्टि से असंबद्ध हैं; ज्वलन की अपेक्षा से दृष्टि के व्यवधान हट जाने पर वे अभिव्यक्त हो जाते हैं । उस (अग्नि के औष्ण्य प्रकाश अभिव्यक्ति) की अपेक्षा से भ्रान्ति हो जाती है कि उष्णत्व और प्रकाश रूप धर्म ज्वलन व्यापार पूर्वक उत्पन्न हुए हैं ।

---

१. देवदत्तादिदृष्टिरिति यावत् । २. अन्यापेक्षयेति यावत् । ३. तर्हि । ४. ब्रह्मभावो मोक्षो न कर्मसाध्य इत्युक्तमन्ये तु तममृष्यमाणा बन्धध्वंसं मोक्षमाचक्षाणास्तस्य कर्मसाध्यतामाहुस्तान्प्रत्याह—निगडेति । शृङ्खलाध्वंसवदित्यर्थः । ५. आगन्तुकौ—आग्नेयज्वलनादिव्यापारसाध्यौ । ६. विद्यमानस्य । ७. देवदत्तादिदृष्टेरग्निदृष्टेरिति वा । ८. मथनज्वलनादिना ध्वंसे इत्यन्वयः । ९. अग्निस्वरूपस्य । १०. संगृहीतम् । ११. प्रकाशाद्यात्मना । १२. त्वया । १३. देवदत्तापेक्षया । १४. दार्वादिना । १५. उक्तरीत्या तयोरभिव्यक्तिस्वीकारे । १६. न चेति प्रतिज्ञायां हेतुमाह—लब्धात्मकं हीति । १७. पारमार्थिकस्य स्वाभाविकस्येति यावत् ।

इवाभावभूतो मोक्षो बन्धननिवृत्तिरुपपद्यते। [1]परमात्मैकत्वा[2]भ्युपगमात् "एकमेवा-
यम्" इति श्रुतेः। न चान्यो बद्धोऽस्ति यस्य निगडनिवृत्तिवद्बन्धननिवृत्तिर्मोक्षः
त्। परमात्मव्यतिरेकेणान्यस्याभावं विस्तरेणावादिष्म[3]। तस्मादविद्यानिवृत्तिमात्रे
व्यवहार इति [4]चावोचाम यथा रज्ज्वादौ सर्पाद्यज्ञाननिवृत्तौ [5]सर्पादिनिवृत्तिः।

ति [6]विरोधान्नाप्यन्यथा[7]भूतस्यान[8]वस्थानात्। न च [9]प्रसिद्धिविरोधो [10]दुर्निरूपध्वस्तिविषयत्वा-
ति भावः। किंच परस्मादन्यस्य बन्धनिवृत्ति[11]स्तस्यैव वा नाऽऽद्य इत्याह—न चेति। तत्र हेतुत्वेन
त्मैकत्वाभ्युपगमादित्यादिभाष्यं व्याख्येयम्। न द्वितीयस्तस्य नित्यमुक्तस्य त्वयाऽपि बद्धत्वानभ्यु-
दिति द्रष्टव्यम्। कथं परस्मादन्यो बद्धो नास्तीत्याशङ्क्य [12]प्रवेशविचारादावुक्तं स्मारयति
रमात्मेति। न चेदन्यो बद्धोऽस्ति कथं मोक्षव्यवहारः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति। अन्यस्य
स्याभावात्परस्य च नित्यमुक्तत्वादिति यावत्। यथा रज्ज्वादावधिष्ठाने सर्पादिहेतौ रज्ज्वज्ञानस्य
तौ सत्यां सर्पादेरपि निवृत्तिस्तथाऽविद्याया बन्धहेतोर्निवृत्तिमात्रेण तत्कार्यस्य बन्धस्यापि निवृत्ति-
हारो भवतीति चावोचामेति [13]योजना।

यदि उष्णत्व और प्रकाश अग्नि के स्वाभाविक धर्म नहीं हैं; तो जो भी अग्नि का धर्म हो,
को हम प्रस्तुत करेंगे। पदार्थों का कोई स्वाभाविक धर्म ही नहीं है—ऐसा कथन तो सिद्ध नहीं
ता। शृङ्खलाध्वंस के समान मोक्ष भी बन्धननिवृत्ति रूप अभावभूत धर्म है, ऐसा कहना भी
बनता क्योंकि (परमात्मा के भावरूप होने से तथा) मोक्ष को परमात्मैक्य स्वीकार किया
है। इसमें श्रुति का भी समर्थन प्राप्त है—"वह निरुपाधिक ब्रह्म एक ही अद्वितीय है" परमात्मतत्त्व
भिन्न दूसरा कोई बद्ध नहीं, जिसकी बन्धननिवृत्ति शृङ्खलाध्वंस के समान कर मोक्ष दिला
जाय। परमात्मा से व्यतिरिक्त अन्य वस्तु का सर्वथा अभाव है—यह हम (प्रथम अध्याय
ब्राह्मण में) विस्तार से प्रतिपादित कर चुके हैं। इमलिये अविद्या निवृत्ति मात्र से ही मोक्ष
हार होता है—ऐसा वहीं कहा जा चुका है। जिस प्रकार रज्जु आदि में सर्पादि अज्ञान की निवृत्ति
से सर्पादि की निवृत्ति हो जाती है।

---

[1] मोक्षस्य। [2] परमात्मनश्च भावत्वात्। [3] बृ. उ. १. ४. ७। [4] तत्रैव। [5] सर्पादिनिवृत्ति-
रिति—किं च नात्मातिरिक्ता तन्निवृत्तिः आविद्यकस्य बन्धस्यास्वातन्त्र्यात् न हि रज्ज्वविद्याकल्पितसर्पभावा-
भावौ रज्ज्वतिरेकेण भवतः। तथा च स्वरूपस्थितिरेव मुक्तिरिति भावः। [6] विरोधात्—निवर्त्यत्व-
स्वाभाविकत्वयोरेकत्र विरुद्धत्वात्। [7] अन्यथाभूतस्य—औपाधिकस्य अपारमार्थिकस्येति यावत्। [8]
अनवस्थानात्—निवृत्तेरपि बन्धतया तस्या अपि निवृत्तिः स्वीकार्येति अविश्रान्तनिवृत्तिधारापत्तेरित्यर्थं
इत्याहुः। [9] प्रसिद्धीति—वामदेवादीनां बन्धनिवृत्तिर्जातेति प्रसिद्धिविरोधः। [10] दुर्निरूपेत्यादि—
अनिर्वचनीयबन्धनिवृत्तेरुक्तप्रसिद्धिविषयत्वादित्यर्थः। यद्वा बन्धनिवृत्तिर्न सती द्वैतत्वापत्तेर्नाप्यसती ज्ञान-
साध्यत्वायोगात् नाप्युभयरूपाविरोधात् नाप्यनिर्वचनीयाऽनिर्वाच्यस्य सादेरज्ञानोपादानकत्वनियमेन मुक्तावपि
तदुपादानाज्ञानानुवृत्त्यापत्तेर्ज्ञाननिवर्त्यत्वापत्तेश्चात उक्तप्रकारचतुष्टयोत्तीर्णपञ्चमप्रकाराबन्धध्वस्तिरिति।
[11] परस्यैव। [12] बृ. उ. १. ४. ७। [13] योजनेति—अत्र रज्जोः स्वाज्ञानतत्कार्यसर्पादिध्वंसे रज्जु-
भाववत् आत्मनोऽपि स्वाविद्यातत्कार्यबन्धध्वंसे ब्रह्मत्वमुपचर्यत इति शेषः।

येऽप्याचक्षते मोक्षे विज्ञानान्तरमानन्दान्तरं चाभिव्यज्यत इति तैर्वक्तव्योऽभि
क्तिशब्दार्थः । यदि [1]तावल्लौकिक्येवोपलब्धिविषयव्याप्तिरभिव्यक्तिशब्दार्थः ।
वक्तव्यं किं ❀[2]विद्यमानमभिव्यज्यतेऽविद्यमानमिति वा । विद्यमानं चेद्यस्य मु

[4]मतान्तरमुद्भावयति—येऽप्याचक्षत इति । वैषयिकज्ञानानन्दापेक्षयाऽन्तरशब्दः । केयम
व्यक्तिरुत्पत्तिर्वा प्रकाशो वा । नाऽऽद्यो मोक्षे सुखाद्युत्पत्तौ तदनित्यत्वापत्तेरित्यभिप्रेत्याऽऽह—तैरि
द्वितीयमालम्बते—यदीति । तत्र दोषं वक्तुं विकल्पयति—तत इति । द्वितीये खरविषाणवदपरो
भिव्यक्तिर्न स्यादित्यभिप्रेत्याऽऽद्यमनुभाष्य दूषयति—विद्यमानं चेदिति । उपलब्धिस्वभाव

जो विचारक ऐसा मानते हैं कि मोक्ष में किसी विज्ञानान्तर या आनन्दान्तर की अभि
होती है, उन्हें 'अभिव्यक्ति' शब्द का वास्तविक अर्थ बतलाना चाहिये । यदि (घटज्ञान की त
लौकिक उपलब्धि या विषय व्याप्ति ही अभिव्यक्ति शब्द का अर्थ है तो फिर बतलाना चाहि
विद्यमान सुख की अभिव्यक्ति होती है अथवा अविद्यमान की ? यदि कहा जाय विद्यमान सु
अभिव्यक्ति होती है, तो जिस मुक्त के प्रति उस विद्यमान सुख की अभिव्यक्ति होती है, उसका

---

१. लौकिक्येवेति—लोकप्रसिद्धैव घटादेरिव ज्ञानविषयत्वं सुखादेरभिव्यक्तिरित्यर्थः । २. तादृशाभि
स्वीकारे इति यावत् । ३. सुखादि । ४. आत्मनो ब्रह्मत्वं मुक्तिरित्युक्तमथ वैषयिकसुखज्ञाना
सुखज्ञाने मोक्षे व्यज्येते ते च मिथो विषयविषयिभूते न ब्रह्मभावमात्रं मुक्तिरिति मतमवतार
मतान्तरमिति ।

❀ विद्यमानमित्यादि संभवतीत्यन्तभाष्ये वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"विज्ञानालम्बनप्राप्तिः किं सतो वा
ऽसतः । अभिव्यक्तिः सतश्चेत्स्याद्यस्य मुक्तस्य तत्सुखम् ॥ स्वरूपमेव तस्येति विशेषणमनर्थकम् ।
तद्व्यज्यते ज्ञानं सुखं चेति यदीरितम् ॥ स्वात्मभूतं हि यद्यस्य नैव तद्व्यवधीयते । आत्मनस्तत्स्वभावत
देति विनिश्चयः ॥ अमुक्तावथवा मुक्तौ विशेषोऽस्ति न कश्चन । प्रत्यगात्मस्वभावत्वात्सुखविज्ञानयोस्त
मुक्तौ तद्व्यज्यत इति विशेषवचनं मृषा । स्वसिद्धान्तविरोधेऽपि तदभिव्यक्तिवादिनः ॥ सत्कार्यवादिनो
भिव्यक्तिः प्रशस्यते । व्यज्यते सर्वमेवेदं सत्त्वात्सर्वस्य वस्तुनः ॥ आरम्भवादे त्विच्छादेः कार्यत्वादसदा
असतश्चाप्यभिव्यक्तिर्न युक्ता खरशृङ्गवत् ॥ व्यङ्ग्यव्यञ्जकसंबन्धः प्रदीपघटयोरिव । उभयोः सि
योगान्नेष्टा कारणकार्यता ॥ सुखविज्ञानयोश्चापि किमभेदोऽथवा भिदा । नैक्येऽभिव्यक्तिशब्दार्थः कथ
लभ्यते ॥ अथ भेदस्तयोरिष्टो व्यवधानं प्रसज्यते । तद्भेदाभेदतासिद्धौ न च मानमिहास्ति वः ॥ भेद
न नो मानमितोऽन्यत्रापि विद्यते । मेयमात्रावसायित्वात्सर्वमानस्य सर्वदा ॥ स्वमेयव्यतिरेकेण मेया
समाश्रयः । न व्यावृत्त्यनुवृत्त्यादिव्यापारोऽस्ति मितेः क्वचित् ॥ अभिव्यक्तिः सुखस्यास्तु कामं ज्ञानेन सं
ज्ञानव्यक्तौ तु किं मानं यतोऽभिव्यक्तिवागियम् ॥ प्रमाणानां प्रमाणत्वं न स्वरूपप्रमेयता । न च मानान्त
तयोस्तुल्यस्वभावतः ॥ अभिव्यक्तिर्मताऽश्चापि कादाचित्की न सर्वदा । तदन्तरायसद्भावादव्यक्तिः स्या
ध्रुवम् ॥ अन्तरायनिवृत्तौ च व्यपेक्षा वः प्रसज्यते । साधनान्तरविषया तज्ज्ञानव्यतिरेकतः ॥ उपल
नीडत्वे व्यवधानस्य कल्पना । न चोपपद्यते मानात्तयोरेकात्मकत्वतः ॥ एवं च सत्यभिव्यक्तिः
सुखबोधयोः । अभिव्यक्तिर्न चेदेवं नाभिव्यक्तिः सदा तदा ॥ इतोऽन्यथा कल्पनायां न प्रमाणं समी
नाप्येकाश्रयिणां लोके धर्माणां क्वचिदीक्ष्यते । मानमेयत्वसंबन्धो मिथोयोग्यत्वतस्तथा" ॥ ३२६-३४

भिव्यज्यते तस्याऽऽत्मभूतमेव [1]तदित्युपलब्धिव्यवधानानुपपत्तेर्नित्याभिव्यक्तत्वान्मुक्त-
भिव्यज्यत इति विशेषणवचनमनर्थकम् । अथ [2]कदाचिदेवाभिव्यज्यत [3]उपलब्धिव्यव-
नात्मभूतं [4]तदित्य[5]न्यतोऽभिव्यक्तिप्रसङ्गः । [6]तथाचाभिव्यक्तिसाधनापेक्षता । उप-
समानाश्रयत्वे [7]तु व्यवधानकल्पनानुपपत्तेः [8]सर्वदाऽभिव्यक्तिरनभिव्यक्तिर्वा । न त्व[9]न्त-
कल्पनायां प्रमाणमस्ति ।

तस्य विद्यमानं सुखादि व्यज्यते चेज्ज्ञानानन्दयोर्देशादिव्यवधानाभावादानन्दः सदैव व्यज्यत
मुक्तिविशेषणमनर्थकमित्यर्थः । चक्षुर्घटयोर्विषयविषयित्वप्रतिबन्धककुड्यादिवदधर्मादिप्रति-
नन्दो ज्ञानं च संसारदशायां न व्यज्यते मोक्षे तु व्यज्यते तदभावादिति शङ्कते—अथेति ।
ब्धिदेशाद्भिन्नदेशस्यैव घटादे''रुपलब्धिप्रतिबन्धदर्शनादनात्मभूतं सुखं न स्वभावभूतयोपलब्ध्या
त किंतु विषयेन्द्रियसंपर्कादित्युत्तरमाह—उपलब्धीति । अन्यतोऽभिव्यक्तौ किं स्यादिति
ह—तथा चेति । तत्साधनानि चेन्मुक्तौ स्युः संसारादविशेषः स्यादिति भावः । उपलब्धि-
धानमानन्दस्याङ्गीकृत्यो''क्तमिदानीं तदेव नास्तीत्याह—उपलब्धीति । कदाचिदभिव्यक्तिरन-
व्यक्तिश्च कदाचिदित्येवं कालभेदेनोभयं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति ।

स्वरूप ही है, इसलिये नित्य अभिव्यक्त होने से उसकी उपलब्धि में व्यवधान सिद्ध न होने से
मुक्त को अभिव्यक्त होता है, यह विशेषण वचन अनर्थक है । तथा यदि वह मोक्ष में ही कभी-कभी
व्यक्त होता है, वह सुख उपलब्धि स्वरूप होने से आत्मा का व्यवधान होने से अनात्मभूत है,
तो उसका इन्द्रियादि से अभिव्यक्त होने का प्रसङ्ग आ जायगा । इससे तो अभिव्यक्ति के साधन
भी अपेक्षा होती है । यदि आनन्द को उपलब्धि-समान-आश्रयत्व माना जाय तो व्यवधान
ना असिद्ध हो जाने से या तो उसकी सर्वदा अभिव्यक्ति होगी अथवा सर्वदा अनभिव्यक्ति होगी;
दोनों कल्पनाओं को छोड़कर कोई तीसरी कल्पना मानने में कोई प्रमाण नहीं है ।

---

२. मोक्षे एव । ३. उपलब्धि-
१. तद्—सुखादि स्यादिति शेषः । ततो भेदेनावस्थाने मानाभावादिति भावः ।
६. अवतरणोक्तार्थत्वात् । ७.
स्वरूपादात्मनो व्यवहितत्वात् । ४. सुखम् । ५. इन्द्रियादितः ।
प्रथमापत्तिस्तथाऽनभ्युपगमे तु
आनन्दस्य । ८. सर्वदेत्यादि—उपलब्ध्यव्यवहितं व्यज्यत एवेत्यभ्युपगमे
व्यवधानाव्यवधानमिति तृतीय-
द्वितीयेति भावः । ९. अन्तरालेति—व्यवधानाव्यवधानकल्पनयोर्मध्ये
उपलब्धिदेशादिति ।
कल्पनायामिति यावत् । १०. आनन्दस्योपलब्धिव्यवधानमभ्युपेत्योत्तरमवतारयति—
संसारादविशेषाख्यं दूषणमुक्त-
११. उपलब्धौ कुड्यादिप्रतिबन्धेति यावत् । १२. उक्तमिति—मुक्तौ
मित्यर्थः ।

इति । सुखादि विद्यमानमविद्यमानं वाऽऽत्मनो व्यज्यत इति विकल्पयति—विज्ञानेति । आद्यमनुभाष्य दूषयति—
अभिव्यक्तिरिति । आत्मनो विद्यमानं सुखादि मुक्तौ व्यज्यते चेत्तर्हि स्वरूपमेव मुक्तस्य स्यात्ततो भेदेनावस्थाने
मानाभावादतो नित्यव्यक्तेः सुखादेर्मुक्तौ व्यक्तिरिति । आत्मनो विद्यमानं सुखादि मुक्तौ व्यज्यते चेत्तर्हि
स्वरूपमेव मुक्तस्य स्यात्ततो भेदेनावस्थाने मानाभावादतो नित्यव्यक्तेः सुखादेर्मुक्तौ व्यक्तिरिति विशेषोक्ति-
रर्थिकेत्यर्थः ॥ संसारेऽनभिव्यक्तमपीत्यप्यर्थे चकारः ॥ स्वरूपत्वेन सदा सदपि तत्प्राङ्मुक्तेर्व्यवहितत्वादव्यक्त-
मित्याशङ्क्याऽऽह—स्वात्मेति । स्वरूपसुखादेर्न वास्तवं व्यवधानं स्वरूपत्वविरोधान्मानाभावाच्चावास्तवे तु
तस्मिन्मतभेदासिद्धिरित्यर्थः । यद्यस्य स्वरूपं न तत्तस्य व्यवहितं यथा प्रकाशो दीपस्येति व्याप्त्यर्थो हिशब्दः ॥

'न च समानाश्रयाणा'मेकस्याऽऽत्मभूतानां धर्माणामितरेतरविषयविष
संभवति । विज्ञानसुखयोश्च प्रागभिव्यक्तेः संसारित्वमभिव्यक्त्युत्तरकालं च मुक्तत्वं
सोऽन्यः परस्मान्नित्याभिव्यक्तज्ञानसुखस्वरूपादत्यन्तवैलक्षण्याच्छैत्यमिवौष्ण्यात् । पर

आनन्दज्ञानयोर्विषयविषयित्वमभ्युपेत्य कादाचित्की तावदभिव्यक्तिर्निरस्ता, संप्रति
न संभवतीत्याह—न चेति । आत्मभूतत्वं स्वाभाविकत्वम् । 'विमत न समानाश्रय'विषयं
'त्प्रदीपप्रकाशवदिति भावः । मुक्तावानन्दज्ञानाभिव्यक्तिपक्षे दोषान्तरं वक्तुं भूमिकां करोति
विज्ञानसुखयोश्चेति । 'तद्भेदापादनमिष्टमेवेत्याशङ्क्य विवक्षितं दोषमाह—परमात्मेति ।

समान आश्रय वाली एक ही वस्तु के आत्मभूत धर्मों का परस्पर विषय-विषयी भाव सम्भव
है। (इस पर पूर्ववादी कहता है—) विज्ञान और सुख की अभिव्यक्ति के पूर्व संसारित्व
अभिव्यक्ति के उत्तर काल में जिसका मुक्तत्व प्रतिपादित किया जाता है, वह अत्यन्त विलक्षण
होने के कारण, नित्य अभिव्यक्त ज्ञान स्वरूप होने के कारण परमात्मा उसी प्रकार भिन्न है,
उष्णता से शीतलता भिन्न है। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) परमात्मा से भेद की कल्पना

---

१. न चेति—विमतौ नान्योऽन्यगोचरावेकाश्रयत्वात् तथाविधरूपरसादिवत् तथा च मुक्तौ ज्ञानाद्यभिव्य
युक्तेति भावः । २. वस्तुनः । ३. सुखम् । ४. ज्ञानविषयम् । ५. प्रदीपेति—यथा प्रदीपप्र
स्वसमानाश्रयौष्ण्यविषयो न भवति तथा सुखमपि स्वसमानाश्रयज्ञानविषयो न भवति धर्मत्वादित्यर्थः ।
परापरभेदेति यावत् ।

बन्धमोक्षयोः सुखादेरतिशयाभावे मुक्तौ तद्व्यक्तिरिति विशेषोक्तिरनर्थिकेत्युक्तं निगमयति—अमुक्तावि
किंचासत्कार्यवादिनां सत्कार्यवादिनां वा मतमेतदिति विकल्प्याऽऽद्यं प्रत्याह—स्वसिद्धान्तेति ॥ तत्पक्षे वा
तत्प्रशंसेत्याशङ्क्य तन्मतमनुवदति—व्यज्यत इति ॥ असत्कार्यवादेऽपि कस्मादभिव्यक्तिरेव न भवति तत्रा
—आरम्भेति । नापि द्वितीयस्तत्र विशेषणवैयर्थ्यस्योक्तत्वादिति तुशब्दार्थः । विद्यमानसुखादेरभिव्यक्ति
निराकृत्य पक्षान्तरं निराकरोति—असतश्चेति ॥ तस्यापि तच्छब्दाद्व्यक्तिमाशङ्क्य तद्विशेषो नास्तीत्याह—
व्यङ्ग्येति । किंच व्यक्तिः सत्यसती वोभयथाऽपि कारणेन तस्य न कार्यता सतोऽसतश्च साध्यत्वादृष्टेरित्याह—
नेष्टेति ॥ व्यक्तिपक्षे दोषान्तरं वक्तुं विकल्पयति—सुखेति । आद्ये ज्ञानालम्बनत्वाख्या व्यक्तिर्न सिध्य
विषयविषयित्वायोगादित्याह—नेति ॥ कल्पान्तरमनूद्य निरस्यति—अथेति । सुखज्ञानयोर्भेदे देशादिव्यव
प्रसङ्गाद्घटादिवन्नित्यज्ञानाज्ज्ञानान्तरं सुखग्राहि स्यात्तथाच मुक्तावपि कार्यकारणप्रसक्तेः संसारादवि
इत्यर्थः । ज्ञानानन्दयोर्न केवलो भेदो नाप्यभेदः किंतु भेदाभेदावित्याशङ्क्याऽऽह – तदिति । इहेत्या
मुक्तिर्वोक्ता ॥ तयोर्भेदाभेदे मानाभावार्थं भेदस्याप्रामाणिकत्वं साधयति—भेदेति । घटादावपि न भेदा
मानमस्तीत्यत्र हेतुमाह—मेयेति ॥ स्वार्थं व्यञ्जयदेव मानमन्यस्माद्व्यावृत्तिमनुत्ति च तस्य व्यनक्ती
शङ्क्याऽऽह— स्वमेयेति । स्वार्थावसितव्यापाराणि मानानि न तस्यान्यतो भेदमभेदमुभयं वाऽवगाहन्ते स्वा
शूराणां तेषामन्यत्रौदासीन्यादित्यर्थः ॥ अस्तु वा यथाकथंचिज्ज्ञानेन संगत्या सुखव्यक्तिस्तद्व्यक्तिस्तु न सिध्य
तत्कुतो द्वयोर्मुक्तौ व्यक्तिरित्याह—अभिव्यक्तिरिति । ज्ञाने स्वयमेव मानमन्यद्वेति प्रश्नार्थः ॥ तत्राऽऽद्यं दूषयति—
प्रमाणानामिति । मानमेययोर्भेदप्रसिद्धेरित्यर्थः । द्वितीयं निराह—न चेति । इष्टं मानस्य मेयत्वमिति शेषः ।
किंच ज्ञानेन सुखव्यक्तिरनित्या नित्या वेति विकल्प्याऽऽद्यमादत्ते—अभिव्यक्तिरिति । अनित्या चेदानन्दाभिव्यक्ति

कल्पनायां च [1]वैदिकः कृतान्तः परित्यक्तः स्यात्। मोक्षस्ये[2]दानीमिव[3] निर्विशेषत्वे धिकयत्नानुपपत्तिः शास्त्रवैयर्थ्यं च प्राप्नोतीति चेन्न। [4]अविद्याभ्रमापोहार्थत्वात्। हि वस्तुतो मुक्तामुक्तत्व[5] विशेषोऽस्ति। आत्मनो नित्यैकरूपत्वात्। किंतु [6]तद्विषयाऽपोह्यते शास्त्रोपदेशजनितविज्ञानेन। प्राक्तदुपदेशप्राप्तेस्तदर्थश्च प्रयत्न उपपन्न एव।

ते सिद्धान्तेऽपि दोषद्वयमा[7]शङ्कते—मोक्षस्येति। मोक्षार्थो[8]ऽधिको यत्नः शमदमादिः। शास्त्रं विषयम्। मोक्षस्य निर्विशेषत्वेऽपि प्रत्यगविद्यातदुत्थानर्थध्वंसित्वेनोभयमर्थवदिति परिहरति—ति। [9]तत्र नञर्थं विवृणोति—न हीति। कथं [10]तर्हि शास्त्राद्यर्थवत्त्वमित्याह—किंत्विति। [11]तत्र स्यार्थवत्त्वं समर्थयति—तद्विषयेति। प्रस्तुतात्मविषयस्तच्छब्दः। संप्रति प्रयत्नस्यार्थवत्त्वं यति—प्रागिति। प्रथमस्तच्छब्दः शास्त्रविषयः। द्वितीयो मोक्षविषयः।

वैदिक सिद्धान्त का ही लोप हो जायगा। (इस पर पूर्ववादी कहता है—) संसार दशा में (इदानी-) इस समय की तरह मुक्ति में यदि कोई विशेषता न मानी जाय तो उसके लिए अधिक यत्न की द्धि एवं शास्त्रवैयर्थ्यरूप दोष भी प्राप्त होता है। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—)ऐसा कहना ठीक है। क्योंकि उन (यत्नाधिक्य और शास्त्रारम्भ) की अविद्यारूप भ्रम की निवृत्ति हाने के कारण की उपयोगिता सिद्ध है। परमार्थतः मुक्तत्व और अमुक्तत्व रूप विशेष नहीं है क्योंकि आत्मा नित्य रूप ही है। किन्तु शास्त्रोपदेशजनित विज्ञान से आत्मविषयक अविद्या का नाश होता है और शास्त्रोपदेशजन्य विज्ञान होने से पूर्व उसके लिए प्रयत्न करना उचित ही है।

---

१. वैदिक इति—"एको देवः सर्वभूतेषु", "एकमेवाद्वितीय" मित्यादिर्वैदिकः सिद्धान्त इत्यर्थः। २. इदानीमिति। अत्र वार्तिके—"नन्विदानीं यथा तद्वन्मुक्तौ चेदविशेषतेति" ॥ ३४६ ॥ ३. संसारदशायामिव। ४. अविद्येत्यादि—यत्नाधिक्यशास्त्रारम्भयोरिति शेषः। ५. रूपः। ६. आत्मविषया। ७. उक्तां युक्तिममृष्यमाणः। ८. लौकिकयत्नापेक्षया शास्त्रीयोऽधिकः। ९. मोक्षे प्रवर्तकमिति यावत्। १०. प्रतिज्ञाहेत्वोर्मध्ये। ११. वस्तुन्युक्तविशेषाभावे सति। १२. शास्त्रयत्नयोः।

सदा तस्य व्यवधेरव्यक्तिरेव मुक्तौ स्यात्तत्काले तद्धेत्वभावादित्याह— तदन्तरायेति। संसारदशायामानन्दाव्यक्तेरिष्टत्वमवष्टभ्य सदेत्युक्तम् ॥ मुक्तिदशायां व्यवधिभङ्गेन तद्व्यक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह अन्तरायेति। व्यवधेर्वस्तुत्वे ज्ञानस्यातद्ध्वंसित्वात्तदर्थं हेत्वन्तरमुपास्यं तदभावान्मुक्तौ व्यवधानाध्वस्तेरव्यक्तिरेव सुखस्येत्यर्थः ॥ व्यवधेरवस्तुत्वे तस्याज्ञानाख्यस्य ध्वस्तिर्नित्यादागन्तुकाद्वा ज्ञानादिति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—उपलब्धीति। यत्र ज्ञानं तत्रैव सुखमपीत्येकाश्रयत्वे तयोर्व्यवधानमप्रामाणिकमेकस्मिन्नात्मनि तयोः सदा सत्त्वाद्व्यवधानाज्ञानस्य नित्यज्ञानेन नित्यप्रतिहतेरित्यर्थः ॥ व्यवधानायोगे फलितमाह—एवं चेति। विपक्षे दण्डमाह—अभिव्यक्तिरिति ॥ यदि मुक्तावागन्तुकं ज्ञानमज्ञानाख्यं व्यवधिं धुनीते तत्राऽऽह—इतोऽन्यथेति। नित्यज्ञानं विना मुक्तावागन्तुकज्ञानकल्पनायां तत्र मात्रादि कल्प्यं तच्चायुक्तं बन्धादविशेषापत्तेर्मानाभावाच्चेत्यर्थः ॥ इतश्च मुक्तौ ज्ञानादिव्यक्तिरयुक्तेत्याह—नापीति। विमतौ नान्योन्यगोचरावेकाश्रयत्वात्तथाविधरूपरसवदित्यर्थः ॥

अविद्यावतोऽविद्यानिवृत्त्यनिवृत्तिकृतो विशेष आत्मनः स्यादिति चेत् । [1]अविद्याकल्पनाविषयत्वाभ्युपगमाद्रज्जूषरशुक्तिकागगनानां सर्पोदकरजतमलिनत्वादि दोष इत्यवोचाम । [2]तिमिरातिमिरदृष्टिवद[3]विद्याकर्तृत्वाकर्तृत्वकृत आत्मनो वि स्यादिति चेत् । न । ध्यायतीव लेलायतीवेति स्वतोऽविद्याकर्तृत्वस्य [5]प्रतिषिद्धत्वा अनेकव्यापार[6]संनिपातजनितत्वाच्चाविद्याभ्रमस्य । विषयत्वोपपत्तेश्च ।

---

[7]आत्मनः सदैकरूपत्वं प्रागुक्तमाक्षिपति—अविद्येति । आविद्यः सोऽपीति समाधत्ते— यथा रज्ज्वाद्यविद्योत्थसर्पादेस्तद्विद्यया ध्वंसाध्वंसयो रज्ज्वादेर्न वास्तवो विशेषस्तथाऽऽत्म स्वाविद्यामात्रोत्थविशेषवत्त्वेऽपि तद्ध्वंसाध्वंसयोर्न वास्तवो विशेषोऽस्तीत्यर्थः । अदोषः सविशे दोषराहित्यम् । प्रकारान्तरेण सविशेषत्वं शङ्कते—तिमिरेति । किमिदमविद्याकर्तृत्वं किं तज्जनक वा तदाश्रयत्वमिति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—न ध्यायतीवेति । आत्मनः स्वतोऽविद्याकर्तृत्वाभावे न्तरमाह—अनेकेति । [8]विषयविषय्याकारोऽन्तःकरणस्य तत्र चिदाभासो[9]दयश्चाऽऽत्मनो [10]व्यापार चानेकव्यापारसंनिपाते सत्यहं संसारीत्यविद्यात्मको भ्रमो जायते [11]तस्मान्न तस्याऽऽत्मकार्यत्व कल्पान्तरं प्रत्याह—विषयत्वेति । अविद्यादेरात्मदृश्यत्वान्न [12]तदाश्रयत्वं न हि [13]तद्गतस्य तद्ग्राह् मंशतः [14]स्वग्रहापत्तेरित्यर्थः ।

(इस पर पूर्ववादी आक्षेप करता है—) अविद्यावान् आत्मा का अविद्या की निवृत्ति अनिवृत्ति वाला भेद तो रहेगा । (इस पर सिद्धान्ती समाधान करता है —) ऐसा कहना ठीक नहीं आत्मा के अविद्याकल्पित भेद विषयत्व स्वीकार करने से जिस प्रकार रज्जु, ऊसर, शुक्ति और आ में भासने वाले सर्प, जल, रजत और मलिनता से उनमें कोई दोष नहीं आता; उसी प्रकार में अविद्या कल्पना से कोई दोष नहीं आता, ऐसा हम पहले ही बतला चुके हैं । (पुनः पूर्ववादी करता है—) दृष्टि के तिमिरकृत और अतिमिरकृत विशेष के समान अविद्यात्मक भ्रम से कर्ता अकर्ता होने से आत्मा में भी भेद हो जायगा । (इस पर सिद्धान्ती समाधान करता है—) ऐसा ठीक नहीं । क्योंकि "ध्यान करता हुआ सा, चेष्टा करता हुआ सा" इस श्रुति में स्वतः अविद्या का निषेध किया गया है । इसके अतिरिक्त अविद्या भ्रम तो अनेक व्यापारों के पुञ्ज से उत्पन्न है तथा उसका विषयत्व होना भी सिद्ध है ।

---

१. आत्मनोऽविद्याकल्पितविशेषविषयत्वस्वीकारादित्यर्थः । २. तिमिरातिमिरेति—दृष्टेस्तिमिरातिमि विशेषवदित्यर्थः । ३. अविद्येति—अविद्याशब्देनात्र तदात्मको भ्रमो गृह्यते । ४. स्वत इति—बुद्ध्याद्यु प्रयुक्तत्वं वारयति । ५. प्रतिषिद्धत्वादिति—"अजो न जायते नेति ध्यायतीवेति चाऽऽगमैः । निषेधः क्रि ऽशेषविकारादेरिहाऽऽत्मनि" ॥ वा० ३५६ ॥ विकारादेरित्यादिशब्देन विकारिग्रहणम् । इहेति मोक्षशास्त्रो ६. पुञ्जेत्यर्थः । ७. आत्मनो निर्विशेषत्वासिद्धिं चोदयति—अविद्येतीति पाठान्तरम् । ८. विषयवि —विषयविषयकोऽन्तःकरणस्याकारो वृत्तिरूपः दृष्टिसृष्टिपक्षे त्वन्तःकरणस्यैवोभयाकारत्वम् । ९. अभिव्यक्ति १०. कार्यविशेषः । ११. तस्मात्—उक्तभ्रमस्याविद्योपादानकत्वे सत्युक्तानेकव्यापारसंनिपातनिमित्तकत्व १२. नात्मधर्मत्वमिति यावत् । १३. आत्मधर्मस्यात्मग्राह्यत्वम् । १४. धर्मिग्रहपूर्वको हि धर्मग्रह धर्मधर्मिणोस्तादात्म्याद्वा स्वग्रहापत्तिः ।

[1]यस्य चाविद्याभ्रमो घटादिव[2]द्विविक्तो गृह्यते स [3]नाविद्याभ्रमवान् । [4]अहं न मुग्धोऽस्मीति प्रत्ययदर्शनादविद्याभ्रमवत्त्वमेवेति चेन्न । [5]तस्यापि [6]विवेकग्रहणात् । हि यो यस्य विवेकेन गृहीता स तस्मिन्भ्रान्त इत्युच्यते । तस्य [8]च विवेकग्रहणं न्नेव च भ्रम इति विप्रतिषिद्धम् । न जाने मुग्धोऽस्मीति दृश्यत इति ब्रवीषि तद्दर्शिज्ञानं मुग्धरूपता दृश्यत इति च [9]तद्दर्शनस्य विषयो भवति कर्मतामापद्यत इति कथं कर्मभूतं सत्कर्तृ[10]स्वरूपदृशिविशेषणाज्ञानमुग्धते स्याताम् । अथ दृशिविशेषणत्वं

---

[11]तदेव स्फोरयति—यस्य चेति । [12]अनुभवमनुसृत्य शङ्कते—अहं नेत्यादिना । साक्षिसाक्ष्यभेदाभ्युपगमान्नाऽऽत्मनोऽविद्याश्रयत्वमित्युत्तरमाह—न तस्यापीति । [13]तदेव स्पष्टयति—ति । अविद्यादेर्विवेकेन [14]ग्रहीतर्यपि तद्विषये भ्रान्तत्वे का हानिरित्याशङ्क्याऽऽह—तस्य चेति । नं मुग्धत्वं चाऽऽत्मनो न विशेषणमिति विधान्तरेण दर्शयितुं चोद्यवाक्यमनुवदति—न जान इति । चष्टे—तद्दर्शिनश्चेति । अज्ञानादिस्तच्छब्दार्थः । दृश्यमानत्वमेव विशदयति—कर्मतामिति । इति षीति संबन्धः । एवं परकीयं वाक्यं व्याख्याय फलितमाह—तत्कथमिति । [15]तत्र चोद्यवाक्यार्थे रीत्या स्थिते सति कर्तृविशेषणं नाज्ञानमुग्धते स्यातां तयोः प्रत्येकं कर्मभूतत्वादित्यर्थः । [16]विपक्षे माह—अथेति । कथं कर्म स्यातामित्येतदेव व्याचष्टे—दृशिनेति । [17]तत्रापि कथंशब्दः संबध्यते ।

जिस आत्मा के द्वारा अविद्याभ्रम घटादि के समान अपने से भिन्न ग्रहण किया जाता है; वह विद्याभ्रमवान् नहीं है (अपितु साक्षी ही है) । (इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) "मैं आप द्वारा ही हुई बात को नहीं जानता, मैं मूढ़ हूँ" ऐसा (लौकिक) अनुभव देखे जाने से आत्मा अविद्याभ्रम- न् ही सिद्ध होता है । (सिद्धान्ती स्पष्टीकरण करता है—) ऐसी बात नहीं है क्योंकि अविद्यादि का भेद से ग्रहण होता है । किसी वस्तु को भेदबुद्धि से ग्रहण करने वाला उस विषय में भ्रान्त नहीं जा सकता । उसी का ही भेद ग्रहण हो और उसी में ही भ्रम हो; ऐसी दोनों बातें परस्पर विरुद्ध । "मैं आपकी बात नहीं जानता, मूढ़ हूँ" ऐसा अनुभव होता है, यह जो तुम कहते हो और उसे खने वाले की अज्ञान और मुग्धरूपता देखे जाने की बात कहते हो—ऐसा स्वीकार करने से तो अज्ञान

---

१. पुंसः आत्मनः । २. स्वस्माद्भिन्नः । ३. नाविद्येति—अपितु साक्ष्येव स इति शेषः । ४. भवदुक्तम् । ५. अविद्यादेरपि । ६. भेदेन ग्रहणात् । ७. न हीत्यादि—अयं भावः न जाने मुग्धोऽस्मीत्यनया प्रतीत्याऽत्मन्यज्ञानमुग्धते आपाद्येते ते तु किंविषये इति वक्तव्यं न तावदात्मविषये ज्ञात्वैव त्वात्मानमहमिति प्रयोगात् । आत्मातिरिक्तस्य तु सर्वस्याप्यज्ञानकार्यादिरज्ञानरूपत्वान्न तद्विषये ते संभवतस्तयोस्तु विवेकेन ग्रहणादिति । आत्मातिरिक्तस्याज्ञानरूपत्वेऽपि तद्विषयं कुतो नाज्ञानादीत्यत आह—तयोस्त्वित्यादि । तथा चाज्ञानादेः साक्षिणा ग्रहणादेव नाज्ञानादि रूपस्यात्मातिरिक्तस्याप्यज्ञानं संभवतीति भावः । ८. एव । ९. द्रष्टुर्दर्शनस्य अज्ञानं मुग्धता च । १०. स्वरूपे दृशीति पाठान्तरं । ११. अविद्यादेरात्मदृश्यत्वमेव । १२. प्रतीचो युक्तितोज्ञानाद्याश्रयत्वं प्रत्युक्तं सा चानुभवबाधितेति मन्वानः शङ्काग्रन्थमवतारयति—अनुभवमिति । १३. संगृहीतमेव । १४. साक्षिणि । १५. तत् । १६. तयोः कर्तृविशेषणत्वे । १७. विवरणवाक्येऽपि ।

तयोः कथं कर्म स्यातां दृशिना व्याप्येते । कर्म हि कर्तृक्रियया व्याप्यमानं
अन्यश्च व्याप्यमन्यद्व्यापकं न तेनैव तद्व्याप्यते । वद कथमेवं सत्यज्ञानमुग्धते
विशेषणे स्याताम् । न चाज्ञानविवेकदर्श्यज्ञानमात्मनः कर्मभूतमुपलभमान उपल
धर्मत्वेन गृह्णाति शरीरे कार्श्यरूपादिवत्तथा ।

सुखदुःखेच्छाप्रयत्नादीन्सर्वो लोको गृह्णातीति चेत् । तथाऽपि ग्रहीतुर्लोकस्य वि
तैवाभ्युपगता स्यात् । न जानेऽहं त्वदुक्तं मुग्ध एवेति चेत् । भवत्वमज्ञो मुग्धो य
वंदर्शी तं ज्ञममुग्धं प्रतिजानीमहे वयम् । तथा व्यासेनोक्तम्—इच्छादि कृत्स्नं

एतदेव स्फुटयति—कर्म होति । एवं सति व्याप्यव्यापकभावस्य भेदनिष्ठत्वे सतीत्येतत् । किंचा
मुपलब्धृधर्मो न भवत्युपलभ्यमानत्वाद्देहगतकार्श्यादिवदित्याह—न चेति । अज्ञानव"तत्का
नाऽऽत्मधर्मः स्यादित्यतिदिशति—तथेति ।

अज्ञानोत्थस्येच्छादेरात्मधर्मत्वनिराकरणे प्रतीतिविरोधः स्यादिति शङ्कते—सुखेति ।
ग्राह्यत्वमङ्गीकृत्य परिहरति—तथाऽपीति । "आत्मनिष्ठत्वे सुखादीनां चैतन्यवदात्म"ग्राह्यत्वायोगा
द्ग्राह्याणां तेषां न "तद्धर्मतेति भावः । प्रकारान्तरेण निराकर्तुं निराकृतमेव चोद्यमनुद्रवति—न
इति । किं प्रमातुरज्ञानाद्याश्रयत्वमनुभवादभिदधासि "तत्साक्षिणो वा । तत्राऽऽद्यं प्रत्याह—भव
कल्पान्तरं निराकरोति— यस्त्विति । न हि यो यत्र साक्षी स तत्राज्ञो मूढो वेति । तथा च सर्व
नाज्ञानादिमान्भवतीत्यर्थः । आत्मनो मोहादिराहित्ये भगवद्वाक्यं प्रमाणयति—तथेति । "तस्य

और मुग्धता द्रष्टा के दर्शन के विषय हो जाते हैं और कर्मरूपता को प्राप्त हो जाते हैं । तब क
होकर वे अज्ञान और मुग्धता कर्तृस्वरूप में साक्षी विशेषण कैसे हो सकते हैं । और यदि वे साक्षी
विशेषण हैं तो उन दोनों के कर्म कैसे हो सकेंगे यानी साक्षी से किस प्रकार व्याप्त होंगे । कर्म का स्व
है कि वह कर्ता की क्रिया से व्याप्त होता है । व्याप्य और व्यापक दोनों भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं,
से अपने को व्याप्त नहीं किया जा सकता । बतलाइये ! इस प्रकार अज्ञान और मुग्धता साक्षी
विशेषण कैसे हो सकते हैं । अज्ञान को अपने से भिन्न देखने वाला यानी अज्ञान को अपना क
मानने वाला शरीरस्थ कृशता व रूपादि की तरह उसे स्वधर्मत्वेन ग्रहण नहीं करता ।

(इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) यदि कहो सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्न आदि (

---

१. स्वेनैव । २. स्वम् । ३. अज्ञानस्य स्वतो भेददर्शी । ४. स्वधर्मत्वेन । ५. तेषां ग्राह्यत्वे
६. त्वं प्रमाता । ७. यस्त्वेवंदर्शीति—"मूढाज्ञयोस्तु यः साक्षी नाऽसौ मुग्धोऽज्ञ एव वा ॥ लोकेऽपि य
साक्षी सम्यग्दर्श्येव तस्य सः । यथा लोके तथेहापि साक्षी सम्यक्प्रपश्यती"ति वार्तिकामृतम् ॥ ३६३-३६
८. इच्छादीति—"महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च । इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥
द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः । एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्" ॥ गी. १३. ५-६ ॥
ज्ञानोत्थस्य महाभूतादेः साक्षिणः सकाशात्क्षेत्रत्वेन पृथक्करणात्तत्कारणीभूतस्याज्ञानस्यापि तदस्पर्शसिद्धि
९. क्रियाऽव्याप्यत्वमेव क्रियाव्याप्यत्वासंभवनमेव । १०. भ्रमः । ११. आत्मधर्मत्वे । १२. ग्राह्य
योगादिति तन्निष्ठस्य तद्ग्राह्यत्वे चांशतः स्वग्रहापत्तिरित्युक्तमिति भावः । १३. आत्मग्राह्याणाम् ।
आत्मधर्मता । १५. प्रमातुः । १६. आत्मनः ।

क्षेत्री प्रकाशयतीति ।

“[1]समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तम्”

इत्यादि शतश उक्तम् । [2]तस्मा[3]न्नाऽऽत्मनः स्वतो बद्धमुक्तज्ञानाज्ञानकृतो विशेषोऽस्ति । सर्वदा समैकरसस्वाभाव्याभ्युपगमात् ।

ये [4]त्वतोऽन्यथाऽऽत्मवस्तु परिकल्प्य [5]बन्धमोक्षादिशास्त्रं [6]चार्थवादमापादयन्ति त उत्सहन्ते खेऽपि शाकुनं पदं द्रष्टुं खं वा मुष्टिनाऽऽक्रष्टुं चर्मवद्वेष्टितुम् । वयं तु

विशेषशून्यत्वे वाक्यान्तरमुदाहरति—सममिति । आदिपदेन समं पश्यन्हि सर्वत्र । ज्योतिषामपि तज्ज्योति”रित्यादि गृह्यते । आत्मनो निर्विशेषत्वे प्रामाणिके स्वमतमुपसंहरति—तस्मान्नेति ।

पक्षान्तरमनुभाषते—ये त्विति । अतो निर्विशेषस्वाभाव्यादिति यावत् । अज्ञानाद्बन्धो ज्ञानान्मुक्तिरिति शास्त्रमथवादः । आदिशब्देन ‘रुद्ररोदनाद्यर्थवादं दृष्टान्तं सूचयति । सोपहासं दूषयति—त उत्सहन्त इति । न हि सविशेषत्वं शक्यमात्मनः प्रतिपत्तुं निर्विशेषत्वप्रत्यायकागमविरोधादिति भावः । कथं “तर्हि भवद्भिरात्मतत्त्वमभ्युपगम्यते तत्राऽऽह—वयं त्विति । प्रमाणविरुद्धार्थदर्शनं तच्छब्देन

र्मों) को मनुष्यमात्र ग्रहण करता है । (सिद्धान्ती समाधान करता है—) उनके ग्राह्यत्व स्वीकार करने पर भी ग्रहीता की भिन्नता लोक में अङ्गीकृत है ही । और जो तुम ने कहा—“मैं नहीं जानता, मैं मूढ़ ही हूँ” ऐसे कहकर भले ही तुम अज्ञ या मूढ़ बने रहो, किन्तु जो मूढ और अज्ञ का साक्षी है; उसे हम ज्ञानी और अमुग्ध होने का वचन करते हैं । इसे व्यास जी ने भी कहा है—“इच्छादि सम्पूर्ण क्षेत्रों को क्षेत्री आत्मा प्रकाशित करता है” ।

“जो परमात्मा को सब भूतों में सर्वत्र एक रूप से स्थित, विनश्वर पदार्थों के नाश होने पर भी, नाश न होने वाला देखता है, वही परमार्थतः देखता है” इस प्रकार सैंकड़ों शास्त्र वचन हैं । इसलिए स्वयं आत्मा की बद्ध-मुक्त ज्ञान-अज्ञान होने से कोई विशिष्टता नहीं होती क्योंकि उसका सर्वदा सम, एकरस स्वरूप स्वीकृत किया गया है ।

किन्तु जो विचारक आत्मतत्त्व की सविशेष कल्पना कर बन्धमोक्षादि शास्त्र को अर्थवाद

---

१. सममित्यादि—विषमेषु भूतेषु समं चलत्सु तिष्ठन्तमित्यर्थः । २. तस्मादिति—“यत एवमतो नास्ति विशेषोऽत्र मनागपि । बन्धमोक्षादिरूपोऽयमात्मनीति विनिश्चयः” ॥ वा. ३६८ ॥ ३. अवतरणोक्तत्वात् । ४. सविशेषम् । ५. “यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयं गतो भवति यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवती”त्यादावज्ञानाद्बन्धो ज्ञानान्मुक्तिरिति शास्त्रे सति कथमात्मनो वस्तुतः सविशेषतेत्याशङ्क्याऽऽह—बन्धमोक्षेति । ६. अर्थवादेति—तथा चात्मनो बन्धमोक्षादिविभागो वास्तवोऽस्तीति तद्भावः । ७. त इति—“एवं परिहृतेऽप्याहुर्यथेच्छं दूषणं परे । विद्वद्भिस्त उपेक्ष्याः स्युर्बालोन्मत्तसमा जनाः” ॥ वा० ३७१ ॥ इति तात्पर्यम् । ८. इत्यादीत्यादिना—“यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत” “न तत्र सूर्यो भाति” “नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा” । “अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिरित्या”दिवाक्यानि गृह्यन्ते । ९. “सोऽरोदीदि”त्यादि । १०. कीदृक । ११. तर्हि—आत्मनः सविशेषत्वं प्रतिपत्तेरशक्यत्वे ।

तत्कर्ममशक्ताः सर्वदा सममेकरसमद्वैतमविक्रियमजमजरममरममृतमभयमात्मतत्त्वं ब्रह्मैव इत्येष सर्ववेदान्तनिश्चितोऽर्थ इत्येवं प्रतिपद्यामहे । [1]तस्माद्ब्रह्माप्येतीत्युपचारमात्रमेतद्विपरीतग्रहवद्देह[2]संततेर्विच्छेदमात्रं विज्ञानफलमपेक्ष्य ।। ६ ।।

स्वप्नबुद्धान्तगमनदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकः [3]संसारो वर्णितः । संसारहेतुश्च विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञा वर्णिताः । यैश्चोपाधिभूतैः कार्यकरणलक्षणैर्भूतैः परिवेष्टितः संसारित्वमनुभवति तानि चोक्तानि । [4]तेषां साक्षात्प्रयोजकौ धर्माधर्माविति पूर्वपक्षं कृत्वा काम एवेत्यवधारितम् । यथा च ब्राह्मणेनायमर्थोऽवधारित एवं मन्त्रेणापीति बन्धं बन्धकारणं चोक्त्वोपसंहृतं प्रकरणमिति नु कामयमान इति[5] । अथाकामयमान इत्यारभ्य

परामृश्यते । [6]सत्त्वादीनामिव साम्यं दूषयति—सर्वदेति । भेदाभेदमपवदति—एकरसमिति । तत्र हेतुमाह—अद्वैतमिति । द्वैताभावोपलक्षितत्वादित्यर्थः । ऐकरस्ये कौटस्थ्यं हेत्वन्तरमाह—अविक्रियमिति । तदुपपादयति—अजमित्यादिना । अमरं मरणायोग्यम् । तत्र सर्वत्राविद्यासंबन्धराहित्ये हेतुमाह—अभयमिति । ननु ब्रह्मैवंविधं न त्वात्मतत्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मैवेति । यथोक्तं प्रत्यग्भूतं ब्रह्मेत्यत्र प्रमाणमाह—इत्येष इति । [7]तत्रैव विद्वदनुभवं प्रमाणयति—इत्येवमिति । परपक्षनिरासेन प्रकृतं वाक्यार्थमुपसंहरति—तस्मादिति । उपचारनिमित्तमाह—विपरीतेति । आत्मा तत्त्वतः संसारीति विपरीतग्रहवती या [8]देहसंततिस्तस्या विच्छेदमात्रं ज्ञानफलमपेक्ष्योपचारमात्रमित्यर्थः ।।६।।

ब्राह्मणोक्तेऽर्थे मन्त्रमवतारयितुं ब्राह्मणार्थमनुवदति—स्वप्नेत्यादिना । अयमर्थः संसार-

---

प्रतिपादित करते हैं, ऐसे (उन्मत्त और अतत्त्वविद्) आकाश में भी पक्षी के पदचिह्न देखना चाहते हैं, आकाश को मुट्ठी से खींचना और चमड़े के समान लपेटना चाहते हैं। हम ऐसी कल्पना करने का साहस नहीं कर सकते। हम मानते हैं कि सर्वदा सम, एकरस, अद्वितीय, अविकारी, अजन्मा, अजर, अमर, अमृत, अभयरूप आत्मतत्त्व ब्रह्म ही है—यही सर्व वेदान्तों का निष्कर्ष है। इसलिये विपरीत ग्रह से होने वाली भावी देह संतति के विच्छेद मात्र विज्ञान के फल की अपेक्षा से "ब्रह्म ही होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है" यह श्रुतिवचन उपचार मात्र ही है ।। ६ ।।

स्वप्न और जागरितावस्था में गमनसंबन्धी दृष्टान्त का दार्ष्टान्तिक रूप जन्ममरणात्मक संसार का वर्णन कर दिया गया। संसार की प्राप्ति में हेतु विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा का भी प्रतिपादन कर दिया गया और जिन उपाधिभूत देह-इन्द्रिय लक्षण भूतों के द्वारा परिवेष्टित हो, संसारित्व अनुभव करता है, उनका भी निरूपण कर दिया गया। उन भूतों के साक्षात् प्रेरक धर्म और अधर्म हैं—इस प्रकार पूर्वपक्ष उपस्थापित कर "काम ही उनका प्रेरक है" ऐसा सिद्धान्त निर्धारित किया गया। जिस प्रकार ब्राह्मणभाग में अर्थ किया गया था; उसी अर्थ का मन्त्रभाग में निर्धारण किया गया। बन्ध और बन्ध के कारण को बतलाकर "इति नु कामयमानः" इस श्रुतिवाक्य से प्रकरण का

---

१. प्रतीचः सदा ब्रह्मत्वात् । २. भाविन्या देहसंततेरित्यर्थः । ३. जन्ममरणात्मकः । ४. भूतानाम् । ५. वाक्येन । ६. सत्त्वादिगुणानां यथा कदाचित्साम्यावस्था तद्वत्कादाचित्कं साम्यमित्यर्थः । ७. प्रत्यग्भूते ब्रह्मण्येव । ८. भाविनीदेहसंततिरिति यावत् ।

[1]तदेष श्लोको भवति। यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा
येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म

उसी विषय में यह मन्त्र भी है। जब इसके हृदय में स्थित समस्त कामनाएं मूल से नष्ट हो जाती हैं; तब यह मरणशील पुरुष अमर हो जाता है और इस वर्तमान शरीर में ही वह ब्रह्म को

षुप्तदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकभूतः सर्वात्मभावो मोक्ष उक्तः। मोक्षकारणं चाऽऽत्मकामतया यदाप्तकामत्वमुक्तम्। [2]तच्च सामर्थ्यान्नाऽऽत्मज्ञानमन्तरेणा[3]ऽऽत्मकामतया[4]ऽऽप्तकामत्वमिति सामर्थ्याद्ब्रह्मविद्यैव मोक्षकारणमित्युक्तम्। अतो यद्यपि कामो मूलमित्युक्तं तथाऽपि मोक्षकारणविपर्ययेण बन्धकारणमविद्येत्येतदप्युक्तमेव भवति। अत्रापि मोक्षो मोक्षसाधनं च ब्राह्मणेनोक्तम्। [6]तस्यैव दृढीकरणाय मन्त्र उदाह्रियते श्लोकशब्दवाच्यः—

[7]तत्तस्मिन्नेवार्थे एष श्लोको मन्त्रो भवति। यदा यस्मिन्काले सर्वे [8]समस्ताः

तद्धेतुश्च मन्त्रस्तदेव सक्तः सह कर्मणेत्यादिः। आत्मज्ञानस्य [9]तर्हि मोक्षकारणत्वमुपेक्षितमित्याशङ्क्याऽऽह—तच्चेति। अतो ब्रह्मज्ञानं मोक्षकारणमित्युक्तत्वादिति यावत्। मूलं बन्धस्येति शेषः। प्रवृत्ति मोक्षप्रकरणोक्तिः। बन्धप्रकरणं दृष्टान्तयितुमपिशब्दः। [10]उक्तेऽर्थे तदेष इत्याद्यक्षराणि व्याचष्टे—तत्तस्मिन्नेवेति। यस्मिन्काले विद्यापरिपाकावस्थायामित्यर्थः। [11]सुषुप्तिव्यावृत्त्यर्थं सर्वविशेषण-

---

उपसंहार कर दिया गया। पुनः "अथाकामयमानः" इस श्रुतिवाक्य से प्रारम्भ कर सुषुप्त दृष्टान्त का दार्ष्टान्तिकभूत सर्वात्मभाव मोक्ष कहा गया। यहाँ जो मोक्ष का कारण "आत्मकाम होने से जब आप्तकाम होता है" ऐसा कहा गया, वह प्रकरण सामर्थ्य से "आत्मकाम होने से आप्तकामत्व" बिना आत्मज्ञान के नहीं हो सकता; इसलिए सामर्थ्य से ब्रह्मविद्या ही मोक्ष में कारण है—ऐसा बतला दिया गया। यद्यपि "मूल में सभी काम ही है" ऐसा बतलाया था, तथापि मोक्ष कारण की विपर्ययात्मिका अविद्या ही बन्धन का कारण है, यह बात स्वतः ही उक्त हो जाती है। यहाँ भी मोक्ष और मोक्ष का

---

१. तत् तस्मिन् ब्राह्मणोक्ते मोक्षतत्साधनेऽर्थे एष श्लोको मन्त्रो भवति। अस्यात्मकामस्य विदुषो यदा यस्मिन् विद्यापाककाले हृदि श्रिता ये प्रसिद्धाः सर्वे इहामुत्रार्था इन्द्रियप्रवृत्तिभूताः कामा वासनात्मका मुच्यन्ते मूलतो विशीर्यन्ते। अथातो हेतोस्तदा मर्त्यो मरणधर्माऽपि सन् अमृतो भवति किं तदमृतत्वं क्व वेत्यत आह—अत्र अस्मिन्नेव शरीरे स्थितः सन् ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मभूतो भवतीत्यर्थः। २. तच्चेति—मोक्षकारणत्वेन श्रुतमात्मकामत्वप्रयुक्तमाप्तकामत्वं च सामर्थ्यात्—श्रुतार्थानुपपत्त्या यागोऽपूर्वमिव स्वद्वारं कल्पयतीति शेषः। ३. कल्पनास्वरूपमेवाभिनयति—नेत्यादिना। ४. आप्तकामत्वमित्यनन्तरं साक्षान्मोक्षसंपादकं स्वरूपभूतमोक्षव्यवध्यज्ञानानिवर्तकत्वादिति शेषः। इति सामर्थ्यात्—इत्याकारकश्रुतार्थानुपपत्त्येत्यर्थः। ५. ब्राह्मणोक्तार्थस्यैव। ६. श्रोतृप्रवृत्तिदार्ढ्याय। ७. ब्राह्मणोक्ते मोक्षतत्साधनरूपेऽर्थे। ८. समस्ता इति—विद्ययाऽविद्याध्वस्तौ कारणनाशात् कामाः संस्कारात्मनापि नावशिष्यन्त इति भावः। ९. तर्हि—आत्मकामत्वप्रयुक्तस्याप्तकामत्वस्य मोक्षकारणत्वाभ्युपगमे। १०. अनूदिते ब्राह्मणार्थे। ११. सुषुप्तीति—सुषुप्तौ हि अज्ञानरूपकारणावशेषात् कामा अपि संस्कारात्मनाऽवतिष्ठन्त इति न समस्तनाशस्तेषामिति भावः।

समश्नुत इति । तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदꣳ [1]शरीरꣳशेतेऽथायम[2]शरीरो-[3]ऽमृतः [4]प्राणो [5]ब्रह्मैव [6]तेज एव सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः ॥ ७ ॥

प्राप्त कर लेता हैं। इसमें दृष्टान्त यह है कि जैसे सर्प की केंचुली सर्प के निवासस्थान बिल के ऊपर मृत एवं सर्प द्वारा त्यागी हुई पड़ी रहती है, वैसे ही सर्पस्थानीय मुक्त पुरुष द्वारा यह अनात्म देह परित्यक्त हो मरे हुए के समान पड़ा रहता है और यह शरीररहित, अमर, प्राणपदवाच्य चेतन आत्मा तो ब्रह्म ही है, तेज ही है (अर्थात् देहाध्यास के कारण से प्रतीत होने वाला संसार उस तत्त्ववेत्ता को संतप्त नहीं करता)। इस पर विदेहराज जनक ने कहा—भगवन् ! वह मैं जनक आपको एक सहस्र गौएँ देता हूँ ॥ ७ ॥

कामास्तृष्णाप्रभेदाः प्रमुच्यन्ते । आत्मकामस्य ब्रह्मविदः [7]समूलतो विशीर्यन्ते । ये प्रसिद्धा लोके [8]इहामुत्रार्थाः पुत्रवित्तलोकैषणा लक्षणा अस्य प्रसिद्धस्य पुरुषस्य ❀ हृदि बुद्धौ श्रिता

मिति मत्वाऽऽह— समस्ता इति । कामशब्दास्या[9]र्थान्तरविषयत्वं व्यावर्तयति—तृष्णेति । क्रियापदं सोपसर्गं व्याकरोति—आत्मकामस्येति । [10]तानेव विशिनष्टि—ये प्रसिद्धा इति । कामानामा[11]त्माश्रयत्वं

साधन ब्राह्मणभाग द्वारा कहा गया है। उसी ब्राह्मणभागोक्त अर्थ की पुष्टि करने के लिए श्लोकशब्द-वाच्य मन्त्र प्रस्तुत किया जाता है।

"तदेष श्लोको भवति" अर्थात् उसी अर्थ में इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध में मन्त्रात्मक श्लोक है। "यदा" अर्थात् जिस समय "सर्वे कामाः" अर्थात् (विद्या से अविद्याध्वंस होने पर कारणनाश से संस्कारात्मक रूप से भी काम अवशिष्ट न रहने से) समस्त तृष्णा प्रभेद काम पूर्णतया छूट जाते हैं; आत्मकाम ब्रह्मवेत्ता के काम अज्ञानसहित समूल नष्ट हो जाते हैं। "ये" यानी जो लोक में प्रसिद्ध उभयलोक फल विषयक पुत्र-वित्त-लोकैषणासंज्ञक काम "अस्य" अर्थात् इस प्रसिद्ध पुरुष के "हृदि

---

१. शरीरं—स्थूलं सूक्ष्मं च जीवन्मुक्ते नानात्मभावेन त्यक्तम् । २. तत्र निर्ममाहंकृतिकत्वात् । ३. मरणस्य देहधर्मत्वात् । ४. साक्षी । ५. ब्रह्मरूपः । ६. किं तद्ब्रह्म तत्राह—तेज इति । विज्ञानज्योतिरेव । ७. मूलमज्ञानम् । ८. उभयलोकफलविषयकाः । ९. अर्थान्तरेति—मदनादीत्यर्थः । तथा च मेदिनी—"कामः स्मरेच्छयोः पुमान् रेतस्यापि निकामे च काम्येऽपि स्यान्नपुंसकम्" इति । १०. कामानेव । ११. तार्किकसम्मतम् ।

❀ हृदि बुद्धौ श्रिता इति । अत्र वार्तिकानि—"हृदि श्रिता इति वचः कामधर्म्यब्रवीन्मनः । कामः सङ्कल्प इत्येवं तथाच प्राक्श्रुतीरणम् ॥ इदं च हेतुवचनं प्रतिज्ञातस्य वस्तुनः । हृदि श्रिता यतः कामाः प्रमुच्यन्तेऽखिलास्ततः ॥ अविद्याया यतः कार्यमध्यात्मादिविशेषणम् । त्रयं वा इदमित्युक्तं वाङ्मनःप्राणभेदवत् ॥ अतोऽविद्यासमुच्छित्तौ तद्धेतुनामशेषतः । कामानामपि नाशः स्याद्ग्रहातिग्रहरूपिणाम् ॥ निःशेषजनिमद्धेतुः काम एवावधारितः । श्रिता अतिग्रहाः कामा इन्द्रियाणां प्रवर्तकाः । हृदि श्रिता इति वचस्तेषामवरुरुत्सया ॥ वेदव्यासोऽपि च

श्रिताः। अथ तदा मर्त्यो मरणधर्मा सन्कामवियोगात्समूलतोऽमृतो भवति। अर्थादना-विषयाः कामा [1]अविद्यालक्षणा मृत्यव इत्येतदुक्तं भवति। [2]अतो मृत्युवियोगे विद्वाञ्जीवन्नेवामृतो भवति। अत्रास्मिन्नेव शरीरे वर्तमानो ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मभावं मोक्षं तिपद्यत इत्यर्थः। [3]अतो मोक्षो न देशान्तरगमनाद्यपेक्षते। [4]तस्माद्विदुषो नोत्क्रामन्ति

राकरोति—हृदीति। समूलतः कामवियोगादिति संबन्धः। कामवियोगादमृतो भवतीतिनिर्देश-र्थ्यसिद्धमर्थमाह—अर्थादिति। तेषां मृत्युत्वे किं स्यात्तदाह—अत इति। अत्रेत्यादिना विवक्षित-मेमाह—अतो मोक्ष इति। आदिपदमुत्क्रान्त्यादिसंग्रहार्थम्। मुक्तेरतदपेक्षाभावो फलितमाह—तस्मा-

---

श्रिता:" अर्थात् बुद्धि के आश्रित हैं। "अथ" अर्थात् तब "मर्त्यः' अर्थात् मरणधर्मा होने पर भी कामनाओं के समूल नष्ट हो जाने से अमृत हो जाता है। अर्थात् अनात्मविषयक काम ही अविद्या उपादानक मृत्यु हैं; यह बात कह दी गयी है। इसलिये (काम रूप) मृत्यु के वियोग हो जाने पर यह विद्वान् पुरुष जीते हुए ही मुक्त हो जाता है। "अत्र" अर्थात् इस शरीर में वर्तमान रहते हुए ही "ब्रह्म समश्नुते" अर्थात् ब्रह्मभाव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसलिए मोक्ष में देशान्तरादिगमन की

मुनिर्जगादेमं यथोदितम्। श्रुत्यर्थमुररीकृत्य लोकानुग्रहकाम्यया॥ विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ एवं बुद्धे परं बुद्ध्वा संस्तभ्याऽऽत्मानमात्मना। जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्"॥ ३८०-३८७॥ इति। अस्य पुंसो ये कामा लोकद्वयविषयास्ते सर्वे ज्ञानान्नश्यन्तीत्युक्तं संप्रति हृदीत्यादेस्तात्पर्यमाह—हृदीति। तत्र त्व्यन्नाधिकारं संवादयति—काम इति॥ तर्हि तेनैव गतार्थत्वा-द्वयर्थमेतदित्याशङ्क्याऽऽह—इदं चेति। कामाः प्रमुच्यन्त इति प्रतिज्ञात वस्तुनो हृदि श्रिता इति हेतुवाक्य-मित्यमुमेव विभागं प्रकटयति—हृदीति। ननु ब्रह्मविदो विद्यया कामध्वस्तौ तेषां हार्दत्वं कथं हेतुर्न हि शुक्ति-विद्यया तदविद्याध्वस्तौ पुरुषनिष्ठत्वं तस्या हेतुः क्रियते तत्राऽऽह—अविद्याया इति। त्रिविधं वागादिकं जगदा-विद्यमिति त्रयं वा इदमित्यत्र यस्मादुक्तं तस्मादविद्याध्वस्तौ तज्जान्तःकरणध्वस्तेस्तदाश्रितानामपि कामानां सार्थानां सर्वथा ध्वस्तिरिति विदुषो विद्यया कामध्वस्तौ हृदिश्रितत्वोक्तिर्भवति हेतुरित्यर्थः। नन्वविद्याध्वस्तौ तत्कार्यध्वस्तेस्तदाश्रितकामध्वंसेऽपि कार्यान्तरं स्थास्यति ततःकुतो मुक्तिस्तत्राऽऽह—निःशेषेति। काममय एवायं पुरुषः कामबन्धनमेवेदमित्यादावविति शेषः। कामहेतुकत्वाद्धर्मादेर्विद्यया ध्वस्तौ कर्म विध्वंसते तथाच मुक्ति-प्रतिबन्धाभावात्तत्सिद्धिरित्यर्थः। कामशब्दस्यानेकार्थत्वात्कस्य जनिमद्धेतुत्वं तत्राऽऽह—श्रिता इति। बुद्धिस्था रागादिवासनाख्याः कामा द्विविधेन्द्रियप्रवर्तकाः सन्तो नानाक्रियामुत्पादयन्तो जगज्जनयन्ति धिया धिया जनयते कर्मभिरिति श्रुतेरित्यर्थः। रागादिवासनामत्र कामत्वे गमकमाह—हृदीति। रागादीनामत्र कामशब्देन संग्रहार्थमेतद्विशेषणं न हि मनोगतत्वं रागादिभ्योऽन्यत्र मुख्यमित्यर्थः॥ ब्रह्मविदो ज्ञानादशेषकामध्वस्तिरिति प्रतिज्ञाहेतुभ्यामुक्तं तत्र स्मृतिं प्रमाणयति—वेदव्यासोऽपीति॥ तदीयं वाक्यं पठति—विषया इति। तत्प्रावण्य-राहित्यं निराहारत्वं रसो रागः॥ तदीयं वाक्यान्तरमाह—एवमिति॥ ब्रह्मविदः कामा निवर्तन्त इति प्रति-ज्ञायामज्ञानोत्थबुद्धिस्थत्वात्तेषां तद्ध्वस्तौ ध्वस्तेरितिहेत्वर्थतया विशेषणं व्याख्यायार्थान्तरमाह—"अनाश्रित-नाऽऽश्रयापेक्षयैतत्स्याद्धृदीतीह विभागार्थमथवा तद्विशेषणम्। तेषु यत्नविधेयत्वात्सफलं स्याद्विशेषणम्॥

---

[1] अविद्योपादानकाः। [2] अवतरणोक्तत्वात्। [3] अतः—ज्ञानसमकालमेव ब्रह्मभावप्रतिपत्तेर्मन्त्रोक्तत्वात्। [4] अवतरणप्रोक्तत्वात्।

प्राणा यथावस्थिता एव स्वकारणे पुरुषे समवनीयन्ते । नाममात्रं ह्यवशिष्यत [1]इत्युक्त

कथं पुनः [2]समवनीतेषु प्राणेषु देहे च [3]स्वकारणे [4]प्रलीने विद्वान्मुक्तो[5]ऽत्रैव सर्वा
सन्वर्तमानः पुनः पूर्ववद्देहित्वं संसारित्वलक्षणं न प्रतिपद्यत इति । अत्रोच्यते—[6]दे
त्रायं दृष्टान्तो यथा लोकेऽहिः सर्पस्तस्य निर्ल्वयनी [7]निर्मोकः साऽहिनिर्ल्वयनी वल्मी
सर्पाश्रये वल्मीकादावित्यर्थः । [8]मृता प्रत्यस्ता प्रक्षिप्ता[9]ऽनात्मभावेन सर्पेण परित्य

दिति । तर्हि मरणासिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—यथेति । उत्क्रान्तिगत्यागतिराहित्यं यथावस्थितत्व
एतच्च पञ्चमे प्रतिपादितमित्याह—नाममात्रमिति ।

तद्यथेत्यादिवाक्यनिरस्यां शङ्कामाह—कथं पुनरिति । विदुषो विद्ययाऽऽत्ममात्रत्वेन प्राणादि
बाधितेष्वपि देहे चेदसौ वर्तते ततोऽस्य पूर्ववद्देहित्वाद्विद्यावैयर्थ्यमित्यर्थः । दृष्टान्तेन परिह
—अत्रेत्यादिना । देहे वर्तमानस्यापि विदुषस्तत्राभिमानराहित्यं तत्रेत्युच्यते । यस्यां त

अपेक्षा नहीं है । इसलिए विद्वान् के प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं; वे ज्यों के त्यों ही अपने कारण
में प्रविलीन हो जाते हैं । केवल नाममात्र ही शेष रह जाता है—ऐसा श्रुति में पहले (पाँचवें मन्त्र
प्रतिपादित किया जा चुका है ।

प्राणों के बाधित हो जाने पर और देह के अपने कारण में बाधित हो जाने पर विद्वान्
होकर ज्ञानाधिकरण देह में ही सर्वात्मा होकर वर्तमान रहते हुए पुनः पूर्ववत् संसारित्वलक्षण देह
को क्यों प्राप्त नहीं होता ? इस संबन्ध में यह कहा जाता है, वहाँ (जीवन्मुक्त देह और जीवन्मुक्त
यह दृष्टान्त है । जिस प्रकार लोकव्यवहार में "अहिनिर्ल्वयनी" यानी सर्प की केंचुली "वल्मी

---

१. बृ. उ. ३. २. १२ । २. बाधितेषु । ३. भूतपञ्चके परम्परयाऽधिष्ठाने आत्मनीति यावत् । ४.
बाधिते । ५. ज्ञानाधिकरणे देहे एव । ६. तत्रेति—जीवन्मुक्तदेहे जीवन्मुक्ते चेत्यर्थः । ७. निर्ल्व
इति—"समौ कञ्चुकनिर्मोकावि"त्यमरः । ८. मृता—अहिदेहविनिर्मुक्ता । तथा च वार्तिके—"अहिदे
वियोगोऽत्र मृतशब्देन भण्यते । वल्मीकाश्रयता तस्याः प्रत्यस्तेत्यभिधीयते" ॥ ५०७ ॥ इति । ९. अना
भावेनेति—आत्मात्मीयत्वाभिमानराहित्येनेत्यर्थः ।

विशेषणम् ॥ न हि हृद्व्यतिरेकेण कामानामाश्रयान्तरम् । श्रुतौ स्मृतौ वा न्यायाद्वा दृश्यतेऽपि प्रमान्तरात्
प्रवृत्तिः कामशब्दस्य भूयःस्वर्थेषु दृश्यते । कर्मादिषु जगत्यस्मिंस्तानपेक्ष्यात उच्यते । हृदि श्रिता इति व
नाऽऽश्रयान्तरवीक्षया" ॥ ४३७-४४० ॥ इति । लब्धसत्ताकाः कामास्तावद्बुद्धिमाश्रयन्ते नालब्धसत्ताकास्ता
न्व्यावर्तयितुं हृदिश्रितविशेषणमिति यावत् । कामाः प्रमुच्यन्त इत्येतावतैवेष्टसिद्धेर्लब्धसत्ताका इत्यनर्थकम
षामप्रस्तावात्तथा च विशेषणवैयर्थ्यमित्याशङ्क्याऽऽह—तेष्विति । आप्तकामेषु विषयदोषदर्शनादिना ध्व
यत्नातिशयस्य कार्यत्वात्तद्बोधनार्थं विशेषणमर्थवदित्यर्थः ॥ आश्रयान्तरस्थकामापोहार्थमेव तर्कि न स्यान्नेत्याह
—नाऽऽश्रयेति ॥ तत्र हेतुः—न हीति ॥ वर्तमानकामेषु यत्नाधिक्यविधानार्थमनाश्रितकामेभ्यो विभागं वद
विशेषणमित्युक्त्वाऽर्थान्तरमाह— प्रवृत्तिरिति । काम्यत इति वा काम्यतेऽनेनेति वा कामनमिति वा कामशब्द
स्यानेकार्थत्वं दृश्यते तत्र भावव्युत्पत्तिलब्धतृष्णाविशेषा हृदि श्रिता नेतरे करणादयस्तानपेक्ष्य तद्विशेष
नाऽऽत्मीयकामापेक्षया तदभावस्योक्तत्वादतः सर्वविषयेच्छाध्वस्तौ मुक्तिर्नान्यथेति वक्तुं विशेषणमित्यर्थः ।
नाऽऽश्रान्तरवीक्षयेत्यात्मनः कामाश्रयत्वाभाव उक्तः ॥

…ीत [1]वर्तेत । एवमेव यथाऽयं दृष्टान्त इदं शरीरं सर्पस्थानीयेन मुक्तेनानात्मभावेन …रित्यक्तं [2]मृतमिव शेते ।

अथेतरः सर्पस्थानीयो मुक्तः सर्वात्मभूतः [3]सर्पवत्तत्रैव वर्तमानोऽप्य[4]शरीर एव न …र्ववं [5]पुनः [6]सशरीरो भवति । *कामकर्मप्रयुक्तशरीरात्मभावेन हि पूर्वं सशरीरो …र्त्यश्च[7] । [8]तद्वियोगादथेदानीमशरीरोऽत एव [9]चामृतः । प्राणः प्राणितीति प्राणः ।

… नितरां लीयते सा निल्वंयनी सर्पत्वगुच्यते । [10]सर्पनिर्मोकदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकमाह …एवमेवेति ।

सर्पदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकं दर्शयति—अथेति । अज्ञानेन सह देहस्य नष्टत्वमशरीरत्वादौ …त्यशब्दार्थः । अथशब्दावद्योतितहेत्ववष्टम्भेनाशरीरत्वं विशदयति—कामेति । पूर्वमित्यविद्या- …ोक्तिः । इदानीमिति विद्यावस्थोच्यते । व्युत्पत्त्यनुसारिणं रूढं च [11]मुख्यं प्राणं व्यावर्तयति

…र्थात् सर्प के आश्रित बाँबी आदि पर "मृता प्रत्यस्ता" अर्थात् सर्प की देह से विनिर्मुक्त एवं सर्प …रा आत्माभिमानरहित भाव से परित्यक्त पड़ी रहती है । जिस प्रकार यह दृष्टान्त है, उसी प्रकार …सर्पस्थानीय मुक्त पुरुष के द्वारा आत्मभाव से रहित होने से परित्यक्त यह शरीर विद्वान् से वियुक्त …ी तरह पड़ा रहता है ।

एवं उससे परे जो सर्पस्थानीय सर्वात्मस्वरूप मुक्त पुरुष है, वह सर्प के समान वहीं रहता …आ भी अशरोर यानी निर्मम निरहं रहता है, पूर्ववत् अविद्यावस्था के समान पुनः विद्यादशा में …शरीर नहीं होता । कामकर्म से प्रेरित शरीरात्मभाव से पहले सशरीर और मर्त्य था, कामादि के …योग से अब वह अशरीर है । (शरीर के हो मरणधर्मी होने से) इसलिए वह अमृत है । "प्राणः"

---

[1] वर्तेतेति—सर्पश्च तत्र निर्ममाहंकृतिक इति शेषः । [2] विद्वद्वियुक्तमिव तिष्ठति । [3] सर्पवत्तत्रैव वर्तमानोऽपीति—बिलेऽहिरिव देहादावित्यर्थः । वस्तुतस्तु तत्रैव वर्तमानत्वं दृष्टान्तेनैव विवक्षितम् अपितु निर्मोके आत्माऽऽत्मीयत्वाभिमानशून्यत्वमात्रं विवक्षितं तत्रैव वर्तमानत्वं तु दार्ष्टान्तिक एवेति ध्येयम् । [4] तत्र निर्ममाहंकृतिकत्वात् । [5] पूर्ववत्—अविद्यादशायामिव । [6] पुनः—विद्यादशायाम् । [7] अभूत् । [8] कामादि । [9] शरीरस्यैव मरणधर्मित्वात् । [10] सर्पनिर्मोकेत्यादि—सर्पस्तन्निर्मोकश्चेति दृष्टान्तद्वयमत्रेष्टं तत्र सर्पनिर्मोको विद्वद्देहस्य दृष्टान्तस्तद्दार्ष्टान्तिकमाहेत्यर्थः । [11] पञ्चवृत्यात्मकम् ।

---

*कामकर्मेत्यादि चामृत इत्यन्तभाष्ये वार्तिककारपादास्तथाहि—"प्रत्यग्ज्ञानशिखिध्वस्ते मिथ्याज्ञाने सहेतुके । नेति नेतिस्वरूपत्वादशरीरो भवेत्ततः ॥ स्वतोऽदिग्देशकालादेः प्रत्यक्चिन्मात्रवस्तुनः । देशादिमच्छरीरेण न संबन्धस्तमो विना ॥ कल्पितेनाभिसंबन्धो न ह्यकल्पितवस्तुनः । अज्ञानकालेऽप्यस्तीह किमुताज्ञाननिह्नुतौ ॥ अनस्थिकगिरा स्थूलदेहस्येह निवारणम् । तथाऽशरीरशब्देन सूक्ष्मो देहो निषिध्यते ॥ सूक्ष्मदेहनिषेधोक्त्या स्थूलस्यापि निषेधतः । तन्निषेधाय यत्नोऽतः काण्वश्रुत्या न भण्यते ॥ यद्वाऽशरीरशब्देन तच्छ्रुतो लिङ्गनिह्नुतिः । स्थूलस्यामृत इत्युक्त्या निषिद्धत्वान्न निह्नुतिः" ॥ ५१७-५२२ ॥ इति । अथशब्दार्थमनूद्याशरीरविशेषणमादत्ते—प्रत्यगिति ॥ तस्यार्थमाह—स्वत इति । अदिग्देशकालादेरिति च्छेदः । देहयोगवियोगाद्यर्थं विशिनष्टि—तमो विनेति ॥ विदुषो देहयोगो नेत्युक्तं कैमुतिकन्यायेन साधयति—कल्पितेनेति ॥ अथायमनस्थिको-

प्राणस्य प्राणमिति हि वक्ष्यमाणे श्लोके[1]। “[2]प्राणबन्धनं हि सोम्य [3]मनः” इति च श्रु न्तरे । प्रकरणवाक्यसामर्थ्याच्च पर एवाऽऽत्माऽत्र प्राणशब्दवाच्यः । ब्रह्मै[4]व परमात्मैव किं पुनस्तत्तेज एव विज्ञानज्योतिर्येनाऽऽत्मज्योतिषा जगदवभास्यमानं [5]प्रज्ञानेत्रं विज्ञा ज्योतिष्मत्सद्[6]विभ्रद्वर्तते ।

—प्राणस्येति । श्लोके पर एवाऽऽत्मा यथा प्राणशब्दस्तथाऽत्रापीत्यर्थः । यथा च श्रुत्यन्तरे प्राण पर एवाऽऽत्मा तथाऽत्रापीत्याह—प्राणेति । किंच परविषयमिदं प्रकरणमथाकामयमान इति मो प्रक्रान्तत्वादथायमित्यादि वाक्यं च [7]तद्विषयमन्यथा ब्रह्मादिशब्दानुपपत्तेः । [8]तस्मादुभयसामर्थ्या पर एवाऽऽत्मा प्राणशब्दित इत्याह—प्रकरणेति । ❋[9]विशेष्यं दर्शयित्वा विशेषणं दर्शयति— वेति । ब्रह्मशब्दस्य कमलासनादिविषयत्वं वारयति—किं पुनरिति । तेजःशब्दस्य [10]कार्यंज्योति त्वमाशङ्क्याऽऽह—विज्ञानेति । [11]तत्र प्रमाणमाह—येनेति । प्रज्ञा प्रकृष्टा ज्ञप्तिः स्वरूपचैतन्यं नेत्र नेत्रं प्रकाशकमस्येति तथोक्तम् ।

अर्थात् प्राणन क्रिया करने से प्राण है । “वह प्राण का भी प्राण है” इसे श्रुति आगे प्रतिपादित करे “हे सोम्य ! साक्षी का बन्धन ही जीव है” ऐसा छान्दोग्य श्रुति कहती है । प्रकरण और वाक्य सामर्थ्य से यह परमात्मा ही प्राण शब्द का वाच्य है । “ब्रह्मैव” अर्थात् परमात्म रूप ही है; और क्या है, “तेज एव” अर्थात् विज्ञान ज्योति ही है, जिस आत्मज्योति से अवभासित होता हुआ प्रज्ञा नेत्र और विज्ञान ज्योतिमान् होकर सुस्थिर विद्यमान रहता है ।

---

१. बृ. उ. ४. ४. १८ । २. साक्षिबन्धनम् । ३. जीवः । ४. ब्रह्म । ५. अवभास्यमानत्वमेव वि दयति—प्रज्ञेति । ६. सुस्थिरम् । ७. परविषयम् । ८. प्रकरणाद्ब्रह्मादिशब्दाच्च । ९. विशेष्यं —प्राणशब्देन विशेष्यं साक्षिणं दर्शयित्वा ब्रह्मशब्देन तद्विशेषणं दर्शयतीत्यर्थः । एवं च सामानाधिकरण्या ज्जीवपरैक्यं प्रतिपादितम् भवतीति भावः । १०. आदित्यादि । ११. विज्ञानस्य तेजःशब्दत्वे ।

ऽशरीर इति माध्यंदिनपाठस्तत्रानस्थिकशब्दार्थमाह—अनस्थिकेति । अशरीरशब्दस्य तर्हि पुनरुक्ततेत्याशङ्क्या —तथेति ॥ तर्हि काण्वपाठे स्थूलदेहनिवारकाभावस्तत्राऽऽह—सूक्ष्मेति ॥ यश्चार्थादर्थो न स चोदनार्थ न्यायेन काण्वश्रुतौ स्थूलदेहनिषेधस्याविवक्षितत्वमाशङ्क्याऽऽह—यद्वेति । माध्यंदिनश्रुतौ विशेषणद्वयार्थो श्रुतौ पिण्डीकृत्योच्यते ॥

❋ विशेष्यं दर्शयित्वा विशेषणं दर्शयतीति । तदुक्तं—“साक्षिणः प्राणशब्देन विशेष्यस्याभिधेष्यते । ब्रह्म तु शब्देन तद्विशेषणमुच्यते ॥ साक्षिणः सद्वितीयत्वं ब्रह्मणश्च परोक्षताम् । तद्धेतुप्रतिषेधेन वाक्यमेतन्निषेधति नामोपक्रममाशान्तं प्राणकारणसंश्रयम् । प्राणो ब्रह्मेति वचसा तदात्मनि निषिध्यते ॥ ब्रह्मात्मनोश्च मा प्रापत्कृष्णसर्पवत् । इत्यर्थं तेज एवेति श्रुतिः संसर्गवारिणी । व्यावर्त्यभेदादाभाति भेदो ब्रह्मात्मशब्दयोः वस्तुतस्त्वेक एवाऽऽत्माऽमानित्वादिर्यथा तथा ॥ ब्रह्मैव तेज एवेति ह्युभयत्रावधारणम् । संसर्गप्रतिषेधार्थं भूनीलोत्पलादिवत् ॥ सर्वानर्थैकबीजस्य प्रत्यगज्ञानरूपिणः । कार्योऽत्र वचसा बाधः केवलो नान्य इष्यते । यस्मादेतत्स्वतो बुद्धमतः शुद्धमसंगतेः । मुक्तं चातः स्वतो वस्तु किमन्यत्कार्यमिष्यते । कृतं चिकीर्षितं सर्वं यच्च बुभुत्सितम् । आप्तं बोधात्तथाऽऽप्तव्यं वर्जनीयं च वर्जितम्” ॥ वा. ५२३-५३१ ॥ इति । यथोक्तस्य वि

य:[1] कामप्रश्नो विमोक्षार्थो याज्ञवल्क्येन वरो दत्तो [2]जनकाय [3]सहेतुको बन्धमोक्षालक्षणो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभूतः स एष निर्णीतः सविस्तरो जनकयाज्ञवल्क्याख्यायिकावधारिण्या श्रुत्या । [4]संसारविमोक्षोपाय उक्तः प्राणिभ्यः । इदानीं श्रुतिः स्वयमेवाऽऽह विद्यानिष्क्रयार्थं जनकेनैवमुक्तमिति । कथं सोऽहमेवं विमोक्षितस्त्वया भगवते तुभ्यं विद्यानिष्क्रयार्थं सहस्रं ददामीति हैवं किलोवाचोक्तवाञ्जनको वैदेहः । [5]अत्र कस्माद्विमोक्ष-

---

सोऽहमित्वादेस्तात्पर्यं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—यः कामप्रश्न इति । निर्णयप्रकारं संक्षिपति —संसारेति । सोऽहमित्यादिवाक्यान्तरमुत्थापयति—इदानीमिति । आकाङ्क्षापूर्वकं वाक्यमादाय विभजते—कथमिति । सहस्रदानमाक्षिपति—अत्रेति ।

याज्ञवल्क्य ने विमोक्ष के लिए राजा जनक को स्वच्छन्द प्रश्न रूप वर का आश्वासन दिया था, तत्र दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकभूत बन्ध-मोक्षार्थ लक्षण प्रश्न का जनक-याज्ञवल्क्य आख्यायिका वाली श्रुति ने सहेतुक (बन्ध के हेतु अविद्या काम कर्मादि एवं मोक्ष में हेतु संन्याससहित बोध का) विस्तार सहित निर्णय कर दिया। प्राणियों के लिए संसारप्राप्ति एवं विमोक्ष प्राप्ति के हेतु बतलाये गये; अब श्रुति स्वयं कहती है कि इस (गुह्य) विद्या का ऋण चुकाने के लिए जनक ने इस प्रकार कहा, आपके द्वारा इस प्रकार बन्धनमुक्त कराया हुआ मैं इस विद्यादान से किस प्रकार उऋण होऊं; इसलिए आप भगवान् श्री को एक सहस्र गौएँ देता हूँ—ऐसा विदेहराज जनक ने याज्ञवल्क्य से कहा। यहाँ मोक्ष पदार्थ का निर्णय हो जाने पर राजा जनक विदेह देशों का राज्य और अपने को याज्ञवल्क्य के

---

१. स्वच्छन्दप्रश्नः । २. स एष सहेतुकादि विशेषणको निर्णीत इत्यन्वयः । ३. सहेतुक इति—बन्धार्थलक्षणस्य हेतुरविद्याकामकर्मादिः । मोक्षार्थलक्षणस्य हेतुः ससंन्यासो बोध इति विवेकः । ४. उभयोरुपायो हेतुः । ५. उत्तरत्रत्यात्रशब्दवदस्यार्थः ।

ब्रह्मशब्दार्थमाह—ब्रह्मेति ॥ मुक्तस्यापनीतप्राणत्वान्न प्राणशब्दता युक्तेत्याशङ्क्याऽऽह—साक्षिण इति । न केवलं सद्वयत्वादेरेव समानाधिकृतपदद्वयतात्पर्यमाह—साक्षिण इति । तद्धेतुः सद्वितीयत्वादिहेतुरात्माज्ञानम् ॥ प्राणो ब्रह्मैप्राणो ब्रह्मेतिवाक्योत्थज्ञानान्निषेधः किंत्वन्यदपि सर्वं सकारणं निषिध्यते तेनेत्याह—नामेति ॥ वेत्युक्त्वा तेज एवेत्ययुक्तं तेजःशब्दस्याऽऽदित्यादौ रूढस्य साक्षिणी ब्रह्मण्ययोगादित्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मेति । प्राणः साक्षी तेज एवेति श्रुतिर्ब्रह्मात्मनोः संसर्गवारिणीति संबन्धः । तयोः संसर्गप्रसङ्गं दृष्टान्तेन दर्शयन्ती वारणप्रकारमितरभागेनाभिनयति न च तेजःशब्दस्य तस्मिन्नयोगस्तस्य भासेत्यादिश्रुतेः सर्वावभासकस्य तच्छब्दार्थत्वादिति भावः ॥ ब्रह्मात्मनोरभेदे कथं तद्भेदभानमत आह—व्यावर्त्येति । तच्छब्दयोस्तद्वतोरर्थयोरित्यर्थः ॥ कथं ब्रह्मैवेत्युक्त्वा तेज एवेत्युक्ते ब्रह्मात्मनोः संसर्गनिषेधस्तत्राऽऽह—ब्रह्मैवेति । एवकारद्वयसामर्थ्यात्संसर्गवारणमित्यर्थः । श्रुतेः सामर्थ्यादर्थसाधकत्वमन्यत्रापि प्रसिद्धमिति हिशब्दार्थः । तत्प्रतिषेधप्रकारमभिनयति —मा भूदिति ॥ अथेत्यादि पदशो व्याख्याय तत्तात्पर्यमुपसंहरति—सर्वानर्थेति । इहेति प्रत्यगात्मोक्तिः ॥ वाक्यीयज्ञानादनर्थहेत्वज्ञानहानं केवलं कर्तव्यं न तु सति ज्ञाने कार्यान्तरमस्तीत्यत्र हेतुमाह—यस्मादिति ॥ चिकीर्षा बुभुत्सा प्रेप्सा परिजिहीर्षा चेज्ज्ञानिनोऽपि दृश्यते तत्कथं तस्य कार्यान्तराभावस्तत्राऽऽह—कृतमिति । सर्वानर्थहेत्वज्ञानहानादेवोक्तार्थसिद्धेर्ज्ञानिनो न कार्यान्तरं तद्धीश्चाऽऽभासो दग्धपटवदित्यर्थः ॥

पदार्थे निर्णीते [1]विदेहराज्यमात्मानमेव च न निवेदयत्ये[2]कदेशोक्ताविव सहस्रमेव दर्श
तत्र कोऽभिप्राय इति।

[3]अत्र केचिद्वर्णयन्ति—अध्यात्मविद्या[4]रसिको जनकः [5]श्रुतमप्यर्थं पुनर्मन्त्रैः शुश्रू
षति। अतो न सर्वमेव निवेदयति। श्रुत्वाऽभिप्रेतं याज्ञवल्क्यात्पुनरन्ते [6]निवेदयिष्यामीति
हि मन्यते। यदि [7]चात्रैव सर्वं निवेदयामि निवृत्ताभिलाषोऽयं श्रवणादिति मत्वा
श्लोकान्न वक्ष्यतीति च भयात्सहस्रदानं [8]शुश्रूषालिङ्गज्ञापनायेति। सर्वमप्येतदसत्पुरुष
स्येव प्रमाणभूतायाः श्रुतेर्व्याजानुपपत्तेः। [9]अर्थशेषोपपत्तेश्च। विमोक्षपदार्थ उक्तेऽप्यात्म
ज्ञानसाधन आत्मज्ञानशेषभूतः सर्वैषणापरित्यागः संन्यासाख्यो [10]वक्तव्योऽर्थशेषो विद्यते।

सर्वस्वदानप्राप्तावपि सहस्रदाने हेतुमेकदेशीयं दर्शयति—अत्रेत्यादिना। कदा तर्हि गुरवे सर्वस्
राजा निवेदयिष्यति तत्राऽऽह—श्रुत्वेति। ननु पुनः शुश्रूषुरपि राजा किमिति [11]सम्प्रत्येव सर्वस्वं गुरो
न प्रयच्छति प्रभूता हि दक्षिणा गुरुं प्रीणयन्ती [12]स्वीयां शुश्रूषां फलयति तत्राऽऽह—यदि चेति।
[13]अनाप्तोक्तौ हृदयेऽन्यन्निधाय वाचाऽन्यनिष्पादनात्मकं [14]व्याजोत्तरं युक्तं श्रुतौ त्वपौरुषेय्यामपास्त
शेषदोषशङ्कायां न व्याजोक्तिर्युक्ता तदीय[15]स्वारसिकप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गादिति दूषयति—सर्वमपीति।
एकदेशीयपरिहारासंभवे हेत्वन्तरमाह—अर्थेति। तदुपपत्तिमेवोपपादयति—विमोक्षेति। [16]तस्यापि

प्रति पूर्ण समर्पित क्यों नहीं कर देता। एकदेश का उपदेश करने के समान बार-बार एक सहस्र गौएँ
देने का संकल्प करता है; इसका क्या अभिप्राय है।

यहाँ कुछ विचारक कहते हैं कि अध्यात्म विद्या के रस से आकृष्ट हुआ राजा जनक (ब्राह्मण
भाग के वाक्यों द्वारा) सुने हुए अर्थ को पुनः पुनः मन्त्रों द्वारा सुनने की इच्छा करता है। इसलिए
सर्वस्व अपण नहीं करता। वह सोचता है कि अभीष्ट आत्मतत्त्व को याज्ञवल्क्य से सुनकर पुनः अन्त
में सर्वस्व निवेदन करूँगा। यदि अभी सब कुछ दे दूंगा तो जनक को भय है कि याज्ञवल्क्य जी 'यह
अब श्रवण से निवृत्त होना चाहता है' ऐसा जानकर श्रुति मन्त्रों को नहीं कहेंगे। अतः यह सहस्र
गोदान स्वात्मक सुनने की इच्छाभिव्यक्ति को ज्ञापन करने के लिए है। किन्तु यह सब मिथ्या है
क्योंकि पुरुष के समान प्रमाणभूत श्रुति के लिए किसी बहाने की कल्पना करना संभव नहीं है। इसके
अतिरिक्त, वक्तव्य अर्थ का अवशेष सभव होने से ऐसा हो सकता है। मोक्षपदार्थ के निरूपण हो जाने
पर भी आत्मज्ञान का साधन और आत्मज्ञान का शेषभूत सब एषणाओं के परित्याग रूप संन्यास के
विषय में निरूपण तो अभी शेष रह ही जाता है। अतः मन्त्र श्रवण मात्र की इच्छा की कल्पना

---

१. विदेहानां देशविशेषाणां राज्यम्। २. मोक्षपदार्थैकदेशोक्तावित्यर्थः। ३. अवतरणोक्तत्वात्। ४.
रसाकृष्टः। ५. ब्राह्मणवाक्यैः। ६. बृ. उ. ४. ४. २३। ७. श्लोकात्प्राक्। ८. स्वात्मकशुश्रूषोर्
यावत्। ९. अर्थविशेषेति—वक्तव्यार्थविशेषसंभवाच्चेत्यर्थः। १०. बृ. उ. ४. ४. २३। ११. श्रोत्रो
पन्यासात्प्रागेव। १२. शिष्यस्य। १३. मिथ्यावाद्युक्तौ। १४. छलेनोत्तरम्। १५. स्वाभाविक
प्रामाण्यम्—स्वतःप्रामाण्यमिति यावत्। १६. संन्यासस्यापि।

स्माच्छ्लोकमात्रशुश्रूषाकल्पना[2]ऽनृज्वी । अगतिका हि गतिः पुनरुक्तार्थकल्पना । [3]सा युक्ता [4]सत्यां गतौ ।

न च [5]तत्स्तुतिमात्रमित्यवोचाम । नन्वेवं[6] सत्यत ऊर्ध्वं [7]विमोक्षायैवेति वक्तव्यम् । नैष [8]दोषः । आत्मज्ञानवदप्रयोजकः संन्यासः पक्षे प्रतिपत्तिकर्मवदिति हि मन्यते ।

सकृदुक्तेस्तदीयशुश्रूषाधीनं सहस्रदानमनुचितमित्याशङ्क्य शमादेर्ज्ञानसाधनत्वेन प्रागनुक्तेस्तेन भूयोऽपि संन्यासस्य [9]वक्तव्यत्वयोगात्तदपेक्षया[10] युक्तं [11]सहस्रदानमित्याह—अगतिका हीति ।

ननु संन्यासादि विद्यास्तुत्यर्थमुच्यते [12]महाभागा[13] हीयं [14]यत्तदर्थी [15]दुष्करमपि [16]करोतो नार्थशेषसिद्धिस्तत्राऽऽह—न चेति । न तावत्संन्यासो विद्यास्तुतिर्विदित्वा[17] व्युत्थायेति समानकर्तृनिर्देशादिति पञ्चमे स्थितं नापि शमादिर्विद्यास्तुतिस्तत्रापि विधे[18]र्वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः । अर्थशेषशुश्रूषया सहस्रदानमित्यत्र[19] जनकस्याकौशलं चोदयति—नन्विति । राज्ञः शङ्कितमकौशलं दूषयति—नैष इति । [20]तत्र हेतुमाह— आत्मज्ञानवदिति । यथा[21]ऽऽत्मज्ञानं मोक्षे प्रयोजकं न तथा [22]संन्यासो चास्मिन्पक्षे तस्याकर्तव्यत्वं [23]प्रतिपत्तिकर्मवदनुष्ठानसंभवादिति राजा यतो मन्यते ततः संन्यासस्य ज्ञानतुल्यत्वमतो[24] नात ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति पृच्छतीत्यर्थः । संन्यासस्य प्रतिपत्तिकर्मवत्कर्त-

---

ल्पना क्लिष्ट है । एक बार कहे हुए को पुनः कहना तो अगतिका गति है । उक्त न्याय से अपुनरुक्तार्थ संभव होने पर वह मानना उचित नहीं है ।

यह संन्यासादि स्तुति मात्र नहीं है—ऐसा हम पहले ही कह चुके हैं । (यहाँ शङ्का होती है—) न्तु यदि ऐसा होता तो "इसके पश्चात् मोक्ष के लिए ही कहिये" ऐसा जनक को कहना चाहिये था । (इसका समाधान दिया जाता है—) ऐसा प्रश्न न करने में कोई दोष नहीं है क्योंकि आत्मज्ञान के मान संन्यास, मोक्ष का साक्षात् साधन नहीं है (संन्यास तो ज्ञान द्वारा प्रयोजक होने से) प्रतिपत्तिर्म के समान (जातोपयोग का विधान से परित्याग करना प्रतिपत्ति कर्म है) उसका पाक्षिक अनुष्ठान या जा सकता है । स्मृति भी कहती है—"संन्यास के द्वारा शरीर का त्याग करे" । (विविदिषा-

---

१. उक्तार्थशेषस्य संभवात् । २. क्लिष्टेति यावत् ! ३. सा चेति—विद्यां श्रुतामेव श्लोकैः श्रोतुं सहस्रदानमित्येषा पुनरुक्तार्थकल्पनेत्यर्थः । ४. सत्यां गताविति—उक्तन्यायेनापुनरुक्तार्थसंभवे सतीत्यर्थः । ५. संन्यासादिस्तुतिरिति यावत् । ६. अवतरणस्योक्तत्वात् । ७. ननु यद्यर्थशेषोऽस्ति कस्माद्ब्रूते न पूर्ववत् 'विमोक्षायैव मे ब्रूहीति' इति । ८. अत ऊर्ध्वमित्यादिप्रश्नाकरणरूपः । ९. बृ. उ. ४. ४. २३ । १०. विशिष्टसंन्यासशुश्रूषया । ११. न त्वदुक्तनिमित्तात् । १२. महामहिमशालिनी । १३. महाभागा हीयमित्यादि—महाभागा महाप्रत्ययरूपा भागधेयं मतं भाग्ये भागप्रत्यययोः पुमानिति कोषः भाग्यं कर्मशुभाशुभमिति च "अंशभागौ तु वंटके" विभागे इति च । प्रत्यये महत्त्वं च महद्वस्तुविषयत्वम् । १४. विद्यार्थी । १५. वैराग्यशमादि । १६. संन्यासादेरर्थवादत्वात् । १७. बृ. उ. ३. ५. १ । १८. बृ. उ. ४. ४. २३ । १९. इत्यस्मिन्नभ्युपगते । २०. दोषाभावाख्ये प्रतिज्ञानार्थे । २१. आत्मज्ञानं हि साक्षात्प्रयोजकम् । २२. संन्यासस्तु ज्ञानद्वारा । २३. प्रतिपत्तीति—जातोपयोगस्य विधिना परित्यजनं प्रतिपत्तिकर्म यथाजातोपयोगानां कृष्णविषाणादीनां चात्वालादौ निक्षेपस्तथा कृतोपयोगानामग्निहोत्रादीनां विधिना परित्यागरूपानुष्ठानसंभवादित्यर्थः । २४. अतुल्यत्वात् ।

[1]तदेते श्लोका भवन्ति । अणुः पन्था विततः पुराणो माꣳ स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव । तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ॥ ८ ॥

उक्त विषय में ये मन्त्र हैं । यह ज्ञानमार्ग दुर्विज्ञेय होने के कारण सूक्ष्म है, विस्तीर्ण और वेदोक्त होने से पुरातन है । वह ब्रह्मविद्या रूप मोक्षमार्ग प्राप्त होने के कारण मुझे स्पर्श किया हुआ है तथा उसका फलसाधक आत्मज्ञान मैंने प्राप्त किया है । इसी मार्ग से अन्य ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस लोक में जीतेजी मुक्त हुए प्रारब्ध क्षय के बाद इस देह का त्याग कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥

"संन्यासेन तनुं त्यजेत्" इति स्मृतेः । [2]साधनत्वपक्षेऽपि नात ऊर्ध्वं विमोक्षायेति प्रश्नमर्हति मोक्षसाधनभूतात्मज्ञान[3]परिपाकार्थत्वात् ॥ ७ ॥

आत्मकामस्य ब्रह्मविदो मोक्ष इत्यं तस्मिन्नर्थे [4]मन्त्रब्राह्मणोक्ते [5]विस्तरप्रतिपादक

द्यत्वे प्रमाणमाह--संन्यासेनेति । ननु विविदिषासंन्यासमङ्गीकुर्वता न तस्य प्रतिपत्तिकर्मवदनुष्ठेयत्व मिष्यते तत्राऽऽह—साधनत्वेति । "त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम्' इत्युक्त दित्यर्थः ॥ ७ ॥

राज्ञोऽकौशलं परिहृत्य मन्त्रानवतारयति—आत्मकामस्येति । यदेत्याद्यतीतश्लोकेनाऽऽत्म

संन्यास ज्ञानफलरूप होने से) यदि उसे साधनपक्ष में माना जाय, तो भी उसके संबन्ध में "अब इसके पश्चात् माक्षविषयक उपदेश कीजिए" ऐसा प्रश्न करना उचित नहीं ठहरता है क्योंकि संन्यास मोक्ष के साधनभूत आत्मज्ञान के दाढर्च के लिए है ॥ ७ ॥

आत्मकाम (आप्तकाम हुए) ब्रह्मवेत्ता का मोक्ष होता है, मन्त्र और ब्राह्मण द्वारा कहे इस अर्थ में मोक्ष का विस्तार से प्रतिपादन करने वाले ये मन्त्र हैं । यह ज्ञानमार्ग (स्थूलादि निखिल

---

१. अथाकामयमान इत्यादिना ज्ञानसाध्यैव मुक्तिरिति संक्षिप्तार्थस्यैव विवरणभूताञ्छ्लोकानुदाहरति—तदे इति । तत्—तत्र आत्मकामस्य ब्रह्मविदो मुक्तिरित्युक्तेऽर्थे । श्लोकमन्त्राः—अणुः स्थूलादिनिखिलविशेषशून्य त्वात् दुर्विज्ञेयः सूक्ष्मः । विततो विस्तीर्णोऽनन्तात्मावगाहित्वात् । पुराणश्चिरन्तनः नित्यश्रुतिप्रकाशितत्वात् एवंभूतः पन्था ऐकात्म्यज्ञानलक्षणो मार्गो मां स्पष्टः शास्त्रादेः सकाशान्मामनुप्राप्तो मया लब्ध इति यावत् । च मयैवानुवित्तोऽपि । विद्यापरिपाकापेक्षया फलावसानलक्षणां निष्ठां नीतः । एवकारो नान्ययोगव्यवच्छेदार्थो भवतीत्यभिप्रेत्याह—तेनेति । अन्येऽपि ये ब्रह्मविदः प्रज्ञावन्तो धीरा निर्द्वन्द्वा जीवन्त एव विमुक्ताः सन्त इतो ऽस्माच्छरीरपातादूर्ध्वमनन्तरमेव तेन ब्रह्मविद्यामार्गेण स्वर्गं परमानन्दलक्षणं प्रकरणाल्लोकं स्वप्रकाशं गच्छन्तीत्यर्थः । २. साधनत्वेति—विद्वत्संन्यासो हि ज्ञानफलरूपो विविदिषासंन्यासस्तु तत्साधनभूत इति ध्येयम् । ३. दाढर्यार्थत्वात् । ४. मन्त्रेति । 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्त' इत्यादिमन्त्रेण "अथाकामयमान" इत्यादिब्राह्मणेन चोक्ते । ५. विस्तरेति—मन्त्रब्राह्मणाभ्यां ज्ञानादेव मुक्तिरिति संक्षिप्तोऽर्थो विव्रियते श्लोकैरिति यावत् । ६. संन्यासिनैव ।

श्लोका भवन्ति । श्रणुः सूक्ष्मः [1]पन्था [2]दुर्विज्ञेयत्वाद्विततो विस्तीर्णो [3]विस्पष्टहेतुत्वाद्वा वितर इति पाठान्तरान्मोक्षसाधनो ज्ञानमार्गः पुराणश्चिरंतनो नित्यप्रकाशितत्वान्न तार्किकबुद्धिप्रभव[4]कुदृष्टिमार्गवदर्वाक्कालिको मां स्पृष्टो मया लब्धः । यो हि येन लभ्यते स तं स्पृशतीव संबध्यते तेनायं ब्रह्मविद्यालक्षणो मोक्षमार्गो लब्धत्वान्मां स्पृष्ट इत्युच्यते । न केवलं मया लब्धः । किंत्वनुवित्तो मयैव । अनुनाम विद्यायाः परिपाकापेक्षया फलावसानता [5]निष्ठा प्राप्तिः । भुजेरिव तृप्त्यवसानता । [6]पूर्वं तु ज्ञानप्राप्तिसंबन्धमात्रमेवेति विशेषः ।

किमसावेव मन्त्रदृगेको ब्रह्मविद्याफलं प्राप्तो नान्यः प्राप्तवान्येनानुवित्तो मयैवे-

---

नामर्थपौनरुक्त्यं सूचयति—विस्तरेति । ज्ञानमार्गस्य सूक्ष्मत्वे हेतुमाह—दुर्विज्ञेयत्वादिति । र्णत्वं पूर्णवस्तुविषयत्वादवधेयम् । माध्यंदिनश्रुतिमाश्रित्याऽऽह—विस्पष्टेति । [7]प्रयत्नसाध्यत्वं पञ्चम्या विवक्ष्यते । कथं पुनरधुनातनो वैदिको ज्ञानमार्गश्चिरंतनो निरुच्यते तत्राऽऽह—नित्येति । वणप्रकाशितमर्थमुक्त्वा तस्य व्यवच्छेद्यमाह—न तार्किकेति । मन्त्रदृशा लब्धत्वेऽपि कुतो ज्ञानस्य तत्संस्पर्शित्वमित्याशङ्क्याऽऽह—यो हीति अनुवेदनलाभयोर्विशेषाभावात्पौनरुक्त्याशङ्क्या-ह—अनुवेदनमिति । पूर्वशब्देन पाठक्रमानुसारेण लाभो गृह्यते ।

एवकारमाश्रित्य शङ्कते—किमसाविति । [8]तथा च तद्यो यो देवानामित्याद्य[9]विशेषश्रुतिविरु-

---

षों से अतीत होने से) दुर्विज्ञेय होने के कारण "अण्डः" यानी सूक्ष्म है, "विततः" अर्थात् विस्तीर्ण "वितरः" यह पाठान्तर होने से मोक्ष साधन ज्ञानमाग संसारानर्थ सागर को तरने के लिए विस्पष्ट है। "पुराणः" अर्थात् श्रुति द्वारा नित्य प्रकाशित होने के कारण पुरातन है, नैयायिकों की बुद्धि त्पन्न भेदविषयकज्ञानमार्ग के समान अर्थात् "मुझे स्पर्श किए हुए है, मुझे प्राप्त है" इस प्रतीति तरह वाक् कालिक है । जो जिसके द्वारा प्राप्त किया जाता है, वह उसे स्पर्श सा करता है यानी संबद्ध रहता है । इसी से ब्रह्मविद्या लक्षण मोक्षमार्ग "मुझे प्राप्त होने से मुझे स्पर्श किए है" ऐसा कहा जाता है । मेरे द्वारा केवल प्राप्त किया हुआ ही नहीं, अपितु अनुवेदित किया भी है । विद्या के परिपाक की अपेक्षा से जो उसकी फलावसानता रूप परिपक्वता की प्राप्ति है, का नाम अनुवेदन है; जैसे भोजन करने का अवसान तृप्ति में होता है। (लाभ के अवसर) पूर्व वाक्य में केवल ज्ञानप्राप्ति का संबन्ध मात्र बतलाया गया है । यही उससे इसमें षता है ।

(इस पर शङ्का होती है—) क्या इस मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने अकेले ही ब्रह्मविद्या का फल प्राप्त

---

[1] ज्ञानमार्गः । [2] दुर्विज्ञेयत्वादिति—तत्त्वं च स्थूलाद्यशेषविशेषातीतत्वादिति बोध्यम् । [3] विस्पष्टेति । अत्र वार्तिके—"तरन्त्यनेन विस्पष्टं संसारानर्थसागरम् । यतोऽतो वितरः पन्थाः प्रत्यग्बोधोऽभिधीयते" ॥ ५४८ ॥ इति । [4] भेदविषयकज्ञानमार्गवत् । [5] परिपक्वतेति यावत् । [6] लाभावसरे तु । [7] प्रयत्नेति—यतो विस्पष्टतरणहेतुरतोऽसौ प्रयत्नेन मुमुक्षुभिः साधनीयः सम्पादनीय इत्याशयः । [8] मन्त्रदृश एव विद्याफलमित्यभ्युपगमे । [9] साधारणश्रुतिः ।

त्यवधारयति । नैष दोषः । [1]अस्याः फलमात्मसाक्षिकमनुत्तममिति ब्रह्मविद्यायाः स्तु परत्वात्[2] । एवं हि कृतार्थत्माभिमानकरमात्मप्रत्ययसाक्षिकमात्मज्ञानं किमतः परम त्स्यादिति ब्रह्मविद्यां स्तौति । न तु पुनरन्यो ब्रह्मवित्तत्फलं न प्राप्नोतीति । "तद्यो यो दे नाम्" इति सर्वार्थं श्रुतेः । [3]तदेवाऽऽह—*तेन ब्रह्मविद्यामार्गेण धीराः प्रज्ञावन्तोऽ

ध्येतेति शेषः । अवधारणश्रुतेर[4]न्यपरत्वेनान्ययोग[5]व्यवच्छेदकाभावमभिप्रेत्य परिहरति—नैष इति । स्तुतिपरत्वमेव प्रकटयति—एवं हीति । कृतार्थोऽस्मीत्यात्मन्यभिमानकरं स्वानुभव मात्मज्ञानं नास्मादन्यदुत्कृष्टं किंचिदित्येवं विद्यामवधारणश्रुतिः स्तौतीत्यर्थः । यथाश्रुतार्थत्वे दोषः स्यादिति चेत्तत्राऽऽह—न त्विति । इत्यवधारणश्रुत्या विवक्षितमिति शेषः । तत्र हेतुः—तद्यो इति । सर्वार्थश्रुतेर्ब्रह्मविद्या सर्वार्था सर्वसाधारणीति श्रवणादिति यावत् । ब्रह्मविद्यायाः सर्व वाक्यशेषं प्रमाणत्वेनावतार्य व्याचष्टे—तदेवेति । ननु मोक्षे स्वर्गशब्दो न युज्यते तस्यार्था

किया है; किसी अन्य ऋषि ने नहीं प्राप्त किया, जो कि यह निश्चय करता है कि मेरे द्वारा अनुवित्त है । (इसका समाधान किया जाता है—) इस कथन में कोई दोष नहीं है । क्योंकि श्रुतिवाक्य "ब्रह्मविद्या का अनुत्तम फल आत्मसाक्षिक है" इस प्रकार ब्रह्मविद्या स्तुतिपरक है। इस प्रकार आत्मा में कृतार्थता का अभिमान करने वाला और स्वानुभवसिद्धि आत्मज्ञान से उत्कृ कोई पदार्थ नहीं हो सकता—इस प्रकार श्रुति ब्रह्मज्ञान की स्तुति करती हैं । 'अन्य कोई ब्रह्मज्ञ मन्त्रद्रष्टा इसको नहीं जानता'—ऐसी बात नहीं है क्योंकि "देवताओं में से जिस-जिसने उसे जाना" ऐसा श्रुतिवाक्य सबकी कृतार्थता को बतलाता है । उसे ही कहा जाता है "तेन" अर्थात् उस ब्र

---

१. ब्रह्मविद्यायाः । २. अवतरणश्रुतिरिति यावत् । ३. अवतरणोक्तत्वात् । ४. स्तुतिपरत्वेन । ५ व्यवच्छेदकत्वेत्युचितम् ।

---

* तेनेत्यादि विमुक्ताः सन्त इत्यन्तभाष्ये वार्तिकानि—"तेनानेन पथा धीराः प्रत्यग्ध्वान्तच्छिदा सदा । ब्र पियन्ति निर्द्वंद्वा आप्तमेव तमोहृतेः ॥ आत्मैव ब्रह्म चाऽऽत्माऽपि ब्रह्मैव स्याद्यतः स्वतः । तद्याथात्म्या ज्ञानात्तद्विपर्ययधीरियम् ॥ निःशेषमिथ्याविज्ञानहेत्वविद्याविनाशकृत् । नान्योऽस्ति ब्रह्मसंबोधाच्छ्रुतिस्तेनेत्य ऽवदत् ॥ स्वर्गोऽयमेव प्रागुक्तः स्वर्गकामवचस्यपि । कर्मभिस्तदसिद्धेर्हि वेदान्तज्ञानसिद्धितः ॥ परमानन्द एव स्वर्गशब्देन भण्यते । मोक्षप्रकरणान्नित्यः क्रियोत्थोऽतो न गृह्यते ॥ इत उक्तात्मसंबोधमोहोच्छित्तेरनन्तरम् । स्वत एव यतो मुक्ता मुच्यन्तेऽतस्तमोहृतेः ॥ देहपातव्यपेक्षा स्याद्यत्र कारणसंगतिः । सर्वकारणविध्वस्तौ नान्यद्बोधादपेक्ष्यते ॥ मुक्तौ तमोतिरेकेण नान्तरायोऽन्य इष्यते । यतोऽतोऽज्ञानविध्वस्तौ मुक्तः सन्ना विमुच्यते । ब्रह्मैव सन्निति तथा प्रागपीदं श्रुतीरितम् । देहपातव्यपेक्षाऽतो न स्यादूर्ध्वश्रुतेरिह" ॥ ५५२-५६० ॥ इति । तेनेत्यादेरर्थमाह—तेनेति । धीरा इत्यस्य विवक्षितोक्तिर्निर्द्वंद्वा इति प्रज्ञावन्तः सदा द्वंद्वातीता इत्यर्थः । ब्रह्माद रागन्तुकत्वं परिहरति—आप्तमेवेति । तस्य कथमाप्तिस्तत्राऽऽह—तम इति ॥ प्राप्तस्यैवाज्ञानध्वस्त्या न प्राप्ति ब्रह्मात्मनोर्भेददृष्टेरित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मैवेति ॥ ब्रह्मणोऽविद्यातज्जध्वंसात्प्राप्तस्यैव प्राप्तावपि तद्व ज्ञानमेवेत्यत्र किं गमकमित्याशङ्क्याऽऽह—निःशेषेति ॥ स्वर्गलोकमित्यत्र स्वर्गशब्दार्थमाह—स्वर्ग इति । प्रक मेवात्र स्वर्गो विवक्षित एषोऽस्य परम आनन्द इत्यादौ यः परमानन्दोऽभिहित इति योजना । स्वर्गकामो य तेत्यत्र भोगभूमिविशेषः स्वर्गो गृहीतः स एवात्रापि ग्राह्यो लोकशब्दादित्याशङ्क्याऽऽह—स्वर्गेति । तत्राह

'तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलꣳ हरितं लोहितं

उस मोक्ष साधन रूप ज्ञानमार्ग में मुमुक्षुओं का वैमत्य है। कोई उसमें शुक्ल और कोई नील

विद इत्यर्थः। अपियन्त्यपिगच्छन्ति ब्रह्मविद्याफलं मोक्षं स्वर्गं लोकम्। स्वर्गलोक-
विष्टपवाच्यपि सन्निह प्रकरणान्मोक्षाभिधायकः। इतोऽस्माच्छरीरपातादूर्ध्वं
न्त एव विमुक्ताः सन्तः॥ ८॥

'तस्मिन्मोक्षसाधनमार्गे विप्रतिपत्तिर्मुमुक्षूणाम्। कथम्। तस्मिञ्शुक्लं शुद्धं 'विमल-

दत आह—स्वर्गेति। यथा ज्योतिष्टोमप्रकरणे श्रुतो ज्योतिःशब्दो ज्योतिष्टोमविषयस्तथा
प्रकरणे श्रुतः स्वर्गशब्दो मोक्षमधिकरोति। रूढ्यङ्गीकारे ब्रह्मविद्याया निकर्षप्रसङ्गादित
। जीवन्त एव मुक्ताः सन्तः शरीरपातादूर्ध्वं मोक्षमपियन्तीति संबन्धः॥ ८॥

तस्मिन्नित्यादि पूर्वपक्षमुत्थापयति—तस्मिन्निति। 'विप्रतिपत्तिमेव प्रश्नपूर्वकं विशदयति

का मार्ग से "धीराः" अर्थात अन्य भी प्रज्ञावान् ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मविद्या के फल "स्वर्गं लोकं"
मोक्ष पद को "अपियन्ति" अर्थात् प्राप्त करते हैं। 'स्वर्गलोक' शब्द 'देवलोक' का वाची होने
भी यहाँ प्रकरणानुसार मोक्ष का अभिधायक है। "इत ऊर्ध्वं विमुक्ताः" इस शरीर का नाश
के पश्चात् जीवित रहते हुए ही विमुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं॥ ८॥

पूर्व मन्त्र प्रतिपादित मोक्षसाधनरूप ज्ञानमार्ग में मुमुक्षुओं का विचारसाम्य नहीं है। यह

विप्रतिपत्तिं दर्शयति—तस्मिन्निति। ब्रह्मज्ञानलक्षणे

१. अस्मिन् ज्ञानमार्गो दुर्विज्ञेयत्वं द्योतयितुमुपासकानां विप्रतिपत्तिं दर्शयति—तस्मिन्निति। ब्रह्मज्ञानलक्षणे मोक्षमार्गे शुक्लं ब्रह्मेत्याद्याहुः। नीलं शरदाकाशवत्। हरितं वैदूर्यमणिवत्। सिद्धान्तमाह—एष इति। ज्ञान-मार्गः। ब्रह्मणा त्यक्तैषणेन ब्राह्मणेन, अनुवित्तः गुरुशास्त्रोपदेशानन्तरं निष्ठां गमितः तेन धीरा इत्युक्तं निगमयति—तेनेति मार्गेणान्योऽपि ब्रह्मविन्मोक्षमेति। ब्रह्मवित्त्वे हेतुमाह – तैजस इति। तेजसि शुद्धसत्त्वे भव-स्तैजसः विशुद्धान्तःकरणः। तत्राऽपि हेतुः—पुण्यकृदिति। पुण्यं स्वाश्रमोक्तं कर्म। २. पूर्वमन्त्रप्रदर्शिते।
३. रूपम्। ४. विप्रतिपत्तीरेव इति पाठान्तरम्।

दार्ष्टान्तिकादविशेषादित्यर्थः। तर्हि तत्र स्वर्गस्य
पाध्यवच्छिन्नः परमानन्द एव स्वर्गशब्देनोच्यते तन्नासौ दृष्टान्तो दार्ष्टान्तिकादविशेषादित्यर्थः। तर्हि तत्र स्वर्गस्य कर्मसाध्यत्वान्मोक्षस्यापि तच्छब्दस्य तदापत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मभिरिति। सोपाधिकस्वर्गस्य कर्मसाध्यत्वेऽपि निरुपाधिकस्य ज्ञानैकलभ्यत्वात्तदसाध्यत्वात्तेनेति श्रुतिरविरुद्धेत्यर्थः॥ अयमपि सोपाधिकस्वर्गो लोकत्वादितर-वदित्याशङ्क्याऽऽह—परमानन्द इति। तत्र लोकशब्दसंभवात्क्रियाफलस्यात्राग्रहात्प्रकरणविरोधादनुमानमनवका-शमित्यर्थः॥ इत इत्यादेरर्थमाह – इत इति॥ न मुक्ता मुच्यन्ते देहपातोत्तरभावित्वान्मुक्तेरिति चेन्नेत्याह—देहेति। यत्र सूत्रादिभावे चोच्यमाने कारणेनाज्ञानेन संबन्धो नापगतस्तत्र देहपातोऽपेक्ष्यत इह त्वज्ञानध्वंसे मोक्षे ज्ञानान्नान्यदपेक्ष्यमस्ति ज्ञानाज्ञानयोरेव विरोधप्रसिद्धेरित्यर्थः॥ ब्रह्मभावे मोक्षे व्यवधिभूततमोध्वस्तौ देहपातापेक्षेत्याशङ्क्याऽऽह – मुक्ताविति॥ ऊर्ध्वश्रुति-ज्ञानादर्थान्तरस्यानपेक्षत्वेऽपि व्यवधानान्तरध्वस्तौ देहपातापेक्षेत्याशङ्क्याऽऽह – मुक्ताविति॥ मुक्तस्यैव मुक्तत्वमिदमा परा-वशात्तदपेक्षा मोक्षस्येत्याशङ्क्याऽऽह – ब्रह्मेति। प्रकृतमन्त्रवदिति तथाशब्दार्थः। अनन्यथासिद्धवाक्यान्तरविरोधेऽन्यथा सिद्धा श्रुतिरनादेयेत्यर्थः। मृष्टम्। प्राचीनश्रुतिवशादित्यतःशब्दार्थः। इहेति मोक्षोक्तिः॥

च । एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च ॥ ९ ॥

वर्ण कहते हैं, तथा अपनी दृष्टि के अनुसार अन्य कोई मुमुक्षु उसमें पिङ्गल वर्ण, हरित और लोहित कहते हैं (वस्तुतः श्लेष्मादि रस से पूर्ण होने के कारण सुषुम्नादि नाड़ियों में साधक को उक्त हो जाती है) यह मार्ग साक्षात् ब्रह्म द्वारा अनुभूत है। उस मार्ग से पुण्य कर्म करने वाला पुरुष परमात्म तेज को प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

माहुः केचिन्मुमुक्षवो नीलमन्ये पिङ्गलमन्ये हरितं लोहितं च यथादर्शनम् । नाड्यस्त्वे सुषुम्नाद्याः श्लेष्मादिरससंपूर्णाः शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्ये[1]त्याद्युक्तत्वात् । आदित्यं व मोक्षमार्गमेवंविधं मन्यन्ते । “[2]एष शुक्ल एष नीलः” इत्यादिश्रुत्यन्तरात् । [3]दर्श मार्गस्य च शुक्लादिवर्णासंभवात् । सर्वथाऽपि तु प्रकृताद्ब्रह्मविद्यामार्गादन्य एते शुक्लादयः ।

ननु शुक्लः शुद्धोऽद्वैतमार्गः । न । नीलपीतादिशब्दैर्वर्णवाचकैः सहानुद्रवणात् ।

—कथमित्यादिना । पिङ्गलं वह्निज्वालातुल्यम् । लोहितं जपाकुसुमसंनिभम् । [4]सप्रपञ्चं शब्दस्पर्शरू रसादिमद्ब्रह्म तदुपासनमनुसृत्य तत्प्राप्तिमार्गे विवादो मुमुक्षूणामित्याह—यथादर्शनमिति । [5]तथा कथं ब्रह्मप्राप्तिमार्गे शुक्लादिरूपसिद्धिः । न हि ज्ञानस्य रूपादिमत्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—नाड्यस्त्विति । [6]तासामपि कथं यथोक्तरूपवत्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—श्लेष्मादीति । [7]तथाऽपि कथं शुक्लादिरूपवत्त्वमित्याशङ्क्य नाडीखण्डोक्तं स्मारयति—शुक्लस्येति । [8]नाडीपरिग्रहे नियामकाभावमाशङ्क्य पक्षान्तरमाह—आदित्यं वेति । एवंविधं शुक्लादिनानावर्णमित्यर्थः । तस्य तथात्वे प्रमाणमाह—एष इति । प्रकृते ज्ञानमार्गे किमिति मार्गान्तरं कल्प्यते तत्राऽऽह—दर्शनेति । [9]तर्हि नाडीपक्षो वाऽऽदित्यपक्षो वा कतरो विवक्षितस्तत्राऽऽह—सर्वथाऽपीति ।

शुक्लमार्गस्य ज्ञानमार्गादन्यत्वमाक्षिपति—नन्विति । शुक्लशब्दस्य नाद्वैतमार्गविषयत्वं नीलादिशब्दसमभिव्याहारविरोधादिति परिहरति—न नीलेति । संद्धान्तिक[10]मन्त्रभागं व्याख्यातुं

कैसे कहते हो ? कोई मुमुक्षु उसमें 'शुक्लम्' यानी शुद्ध विमल रूप कहते हैं, कुछ मुमुक्षु नील रूप, दूसरे पीला, अन्य हरित या रक्त; जैसा जिसके विचार में आता है । किन्तु ये श्लेष्मादि रस से परिपूर्ण सुषुम्नादि नाड़ियाँ ही हैं, क्योंकि उन्हीं के विषय में शुक्ल, नील और पिङ्गल पूर्व श्रुतिवाक्य में कहा जा चुका है । अथवा वे आदित्य रूप मोक्षमार्ग को ऐसा मानते हैं जैसा कि श्रुति कहती है—“यह शुक्ल है, यह नील है” । प्रकरणस्थ ज्ञानमार्ग के शुक्लादिवर्ण होने असम्भव हैं क्योंकि प्रस्तुत ब्रह्मविद्यामार्ग से यह शुक्लादि रूप सर्वथा ही भिन्न हैं ।

(इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) किन्तु शुक्ल अथवा शुद्ध तो अद्वैत (मोक्ष) मार्ग ही हो

---

[1] बृ. उ. ४. ३. २० । [2] छा. उ. ८. ६. १ । [3] प्रकृतज्ञानमार्गस्य । [4] श्रुतिभाष्यस्थचकारार्थमाह—सप्रपञ्चमिति । सगुणमित्यर्थः । [5] उक्तविवादेऽपि । [6] नाडीनाम् । [7] श्लेष्मपूर्णत्वेऽपि । [8] मोक्षमार्गत्वेन । [9] प्रकृतज्ञानमार्गस्य शुक्लादिवर्णासंभवे । [10] उत्तरार्धम् ।

ाञ्छुक्लादीन्योगिनो मोक्षपथानाहुर्न ते मोक्षमार्गाः संसारविषया एव हि ते । [1]चक्षुष्टो ा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य इति शरीरदेशान्निःसरणसंबन्धात् । ब्रह्मादिलोक-ापका हि ते । [2]तस्मादयमेव मोक्षमार्गो य आत्मकामत्वेनाऽऽप्तकामतया सर्वकामक्षये मनानुपपत्तौ प्रदीपनिर्वाणवच्चक्षुरादीनां कार्यकरणानाम[3]त्रैव समवनय इत्येष ज्ञानमार्गः ा *ब्रह्मणा [4]परमात्मस्वरूपेणैव ब्राह्मणेन त्यक्तसर्वैषणेना[5]नुवित्तः । तेन ब्रह्मविद्या-

---

ंसं दूषयति—याञ्छुक्लादीनिति । न केवलं देहदेशनिःसरणसंबन्धादेव नाडीभेदानां संसारविषयत्वं ु ब्रह्मलोकादिसंबन्धादपीत्याह—ब्रह्मादीति । आदित्योऽपि देवयानमध्यपाती ब्रह्मलोकप्रापकः ारहेतुरेवेति मन्वानो मोक्षमार्गमुपसंहरति—तस्मादिति । आप्तकामतया ज्ञानमार्ग इति संबन्धः । ं भूमिकां कृत्वैष इत्यस्यार्थमाह—सर्वकामेति । यथा तैलादिविलये प्रदीपस्य ज्वलनानुपपत्तौ [6]जोमात्रे निर्वाणमिष्यते तथा स्थूलस्य च सर्वस्यैव कामस्य ज्ञानात्क्षये सति गत्यनुपपत्तावत्रैव ्यात्मनि कार्यकरणानामे[7]कीभावेनावसानमित्ययमेषशब्दार्थ इत्यर्थः । पन्था इत्येतद्व्याचष्टे ानमार्ग इति । [8]इत्थंभावे तृतीयामाश्रित्याऽऽह—परमात्मेति । अनुवेदनकर्तृ[9]ब्राह्मणस्य संन्या-ं दर्शयति—त्यक्तेति । विप्रतिपत्तिं निराकृत्य मोक्षमार्गं निर्धार्य तेन धीरा अपियन्तीत्यत्रोक्तं

ता है। (इस पर सिद्धान्ती समाधान देता है) नहीं; क्योंकि इसका वर्णवाचक नील-पीतादि शब्दों िए प्रयोग किया जाता है । योगी लोग जिन शुक्लादि मोक्षमार्गों के विषय में कहते हैं, वे सब मार्ग नहीं है क्योंकि वे सब संसारविषयक हैं । "(आदित्यलोक प्राप्ति निमित्तक ज्ञान और कर्म से) चक्षु द्वारा, (ब्रह्मलोक की प्राप्तिनिमित्त ज्ञान और कर्म होने से) ब्रह्मरन्ध्र द्वारा (अन्य लोकों निमित्तक होने से) श्रोत्रादि अन्य शरीरावयवों द्वारा विज्ञानात्मा का उत्क्रमण कर (परलोक को ता है)" इस श्रुति के अनुसार उनका शरीर के भागों से निकलने का संबन्ध होने से वे ब्रह्मलोक प्राप्ति कराने वाले है । इसलिए यही मोक्ष मार्ग है जहाँ आत्मकाम से आप्तकाम होता है, इससे कामक्षय होता है, जिससे गमन को संभावना नष्ट हो जाती है, जहाँ दीपक बुझने के समान रादि कार्यकरणात्मक जगत् का विलय हो जाता है। "एष पन्थाः" अर्थात् यही मार्ग ज्ञानमार्ग है । "ब्रह्मणा" अर्थात् त्यक्त सर्व एषणा वाले परमात्म स्वरूप ब्रह्मवेत्ता के द्वारा ही प्राप्त किया ता है । "तेन" अर्थात् उस ब्रह्मविद्यामार्ग से ब्रह्मवित् एवं (उसके सङ्ग से) अन्य भी प्राप्त

---

१. बृ. उ. ४. ४. २ ।　२. तस्मात्—शुक्लादिमार्गाणां संसारविषयत्वेन मोक्षमार्गत्वाभावात् ।　३. माध्यंदिनपाठमाश्रित्याह—अत्रैव समवनय इति ।　४. परमात्मस्वरूपत्वेनेति यावत् ।　५. लब्धः ।　६. तेजोमात्रे—तेजः सामान्ये । निर्वाणमिति—अस्तंगमनमित्यर्थः । निर्वाणमस्तंगमने निवृत्तौ गजमज्जने संगमेऽप्यपवर्गे च विधाने इति विश्वहैममेदिन्यः निर्वाणोऽवाते, इति निष्ठानत्वम् ।　७. ब्रह्माभेदेन ।　८. कथं ब्रह्मशब्दस्य ब्राह्मणपरत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—इत्थंभावे तृतीयेति । तथा च ब्रह्मीभूते नेत्यर्थः । ब्रह्मभावस्य च योग्यताबलाद्-ब्राह्मणो धर्मी लभ्यत इति भावः ।　९. प्रतीचि कर्तृत्वादेर्वस्तुतोऽयोगादिति भावः ।

---

*ब्रह्मणा परमात्मस्वरूपेणैव ब्राह्मणेनेति । अत्र वार्तिकाचार्या आहुस्तथाहि—"यस्तु वेदोदितोपायक्षपिताशेष-कल्मषः । ब्रह्मणैवानुवित्तोऽयं तेन पन्था गुरूक्तितः ॥ अव्यावृत्ताननुगतब्रह्मरूपातिरेकतः । न रूपमात्मनो-ऽन्यच्च तिन्यायानुभूतितः । यतोऽतो ब्रह्मणैवायं पन्था ज्ञातः प्रमाणतः ॥ ब्रह्मणैवेति च ज्ञेया इत्थंभूता-

मार्गेण ब्रह्मविदन्योऽप्येति । कीदृशो ब्रह्मवित्तेनैतीत्युच्यते—पूर्वं [1]पुण्यकृद्भूत्वा पुनस्त्यक्त पुत्राद्येषणः परमात्मतेजस्यात्मानं [2]संयोज्य तस्मिन्नभिनिर्वृत्तस्तैजसश्चाऽऽत्ममूत इहै त्यर्थः । ईदृशो ब्रह्मवित्तेन मार्गेणैति ।

न पुनः पुण्यादिसमुच्चयकारिणो ग्रहणं विरोधादित्यवोचाम ।

“[3]अपुण्यपुण्योपरमे यं पुनर्भवनिर्भयाः ।

निगमयति—तेनेति । अन्योऽपि मन्त्रदृशः सकाशादिति शेषः । इहेति जीवदवस्थोक्तिः ।

'समुच्चयकारिणोऽत्र' ब्रह्मप्राप्तिर्विवक्षितेति 'केचित्तान्प्रत्याह—न पुनरिति । विरोधाज्ज्ञानकर्मणो रिति शेषः । किंच क्रमसमुच्चयो समसमुच्चयो वेति विकल्प्याऽऽद्यमङ्गीकृत्य द्वितीयं दूषयति—अपुण्येति

कर लेता है । उस मार्ग से ब्रह्मवित् किस प्रकार जाता है ? पहले निष्काम कर्म करके, पुनः पुत्रादि एषणात्रय का त्याग करके, परमात्म तेज में आत्मतेज को संयुक्त करके (आत्मा को तदभिन्न निश्चित करके), उसी में शान्त हो गया है अर्थात् जीते हुए ही परमात्म तेज से युक्त आत्मभूत हो गया है इस प्रकार उस ब्रह्मविद्या मार्ग से ब्रह्मवेत्ता जाता है ।

मन्त्र में “पुण्यकृत्” शब्द से ज्ञान-कर्म समुच्चयवादी विद्वानों का ग्रहण नहीं किया जाता क्योंकि ज्ञान और कर्म का परस्पर विरोध है । ऐसा हम कह चुके हैं ।

अनुस्मृति में कहा है—

“पाप और पुण्य से उपरत होने पर जिसे पुनर्जन्म होने से निर्भय हुए, शान्त संन्यासी लोग

---

१. निष्कामकर्मकृत् । २. संयोज्येति--तदभिन्नमात्मानं निश्चित्य विद्यापरिपाकात् तत्रैव फलावसानलक्षणां निष्ठां गत इति यावत् । ३. कर्मणां साक्षाज्ज्ञानेनासमुच्चये प्रमाणमाह—अपुण्येति । ४. विदुषः । मन्त्रे । ६. ब्रह्मवित्पुण्यकृदितिपदाभ्यां ब्रह्मवित्त्वे सति पुण्यकृत्त्वं मोक्षहेतुर्भाति तथा च ज्ञानकर्मसमुच्चयान्मोक्ष इत्यायातीति तेषामाशयः ।

र्थलक्षणा । तृतीयेयं न. कर्त्रादौ प्रतीचि तदसंभवात् ॥ क्रियाकारकभेदोऽयं प्रत्यगज्ञानहेतुजः । यतोऽतो तृतीयेयं कर्त्रादिविह युज्यते ॥ ब्रह्मात्मनोरभिन्नत्वं वस्तुतो यद्यपीक्ष्यते । अनन्तानर्थसंप्राप्तिस्तदा तदवबोधतः ॥ तथाच यदि नाम स्याद्यथोक्तज्ञानपूर्वकम् । पराक्सर्वार्थविज्ञानं वस्तुवृत्तानुरोधतः ॥ तथा 'ब्रह्मवित्तेन न कैवल्यं पथैति तत् । तेनैति ब्रह्मवित्तस्मान्नान्यः पन्था इति श्रुतेः” ॥ ५६९-५७५ ॥ इति कल्पितमोक्षमार्गाणां त्याज्यत्वं प्रदर्श्यैष पन्था इत्यादिसिद्धान्ते प्रथमपादस्यार्थमाह—यस्त्विति । यज्ञादिनिरस्तसमस्तपाप्माऽयं शुद्धधीरधिकारी तेन मुमुक्षुणा गुरूपदेशानन्तरमखण्डाद्वयप्रत्यग्ब्रह्मात्म मोक्षहेतुर्ज्ञानमार्गो लब्ध इत्यर्थः । ब्रह्मशब्देन ब्राह्मणो गृह्यते ॥ तेन च परस्माद्ब्रह्मणो ज्ञानमार्ग उपलब्ध इति चेन्नेत्याह—अव्यावृत्तेति । तत्त्वमसीत्याद्या श्रुतिरात्मनो ब्रह्मणोऽन्यत्वे पपत्तिर्न्यायोऽनुभूतिर्विद्वदनुभवः ॥ आत्मनो ब्रह्मातिरिक्तरूपाभावे फलितमाह —यत इति ॥ कर्तृकरणादिषु कस्मिन्नर्थे तृतीयेत्यपेक्षायामाह—ब्रह्मणेति । संधिस्तु सन्नापि न विवक्षितो विवक्षितस्य प्रवृत्तेः । हस्तेन शरेण रामेणेतिवत्कर्त्रादौ किं न स्यादत आह—नेति । तत्र हेतुः—प्रतीचीति ॥ साधयति—क्रियेति । आत्मनि कर्तृत्वादिभावस्य वस्तुतोऽयोगोऽतःशब्दार्थः ॥ नन्वात्मन्यज्ञानादपि कर्तृत्वादिसंभवस्तस्यासंसारिब्रह्माभिन्नत्वात्तथाच प्रतीचि न स्वाज्ञानात्क्रियाकारकभेदो नेत्याह—ब्रह्मात्मनो

शान्ताः संन्यासिनो यान्ति तस्मै मोक्षात्मने नमः ” ॥

इति च स्मृतेः । “[1]त्यज धर्ममधर्मं च ” इत्यादि [2]पुण्यापुण्यत्यागोपदेशात् ।

“[3]निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ।
अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ” ॥

ानस्य कर्मासमुच्चयेऽपि विवेकज्ञानेन समुच्चयोऽस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—त्यजेति । [4]ब्रह्मविदोऽपि स्तुत्यादृष्टे[5]स्तेन समुच्चयो ज्ञानस्येत्याशङ्क्याऽऽह—निराशिषमिति । काम्याननुष्ठानमनारम्भः । अक्षीणत्वं षिद्धानाचरणम् । क्षीणकर्मत्वं नित्यादिकर्मराहित्यम् । असमुच्चये वाक्यान्तरमाह—नेत्यादिना ।

ष करते हैं—उस मोक्षात्मा पुरुष को नमस्कार है” ।

“धर्म और अधर्म दोनों प्रकार की बुद्धि को छोड़कर प्रत्यगात्मा में बुद्धि को अवगाहन राने; का अभ्यास करना चाहिये” । इसमें मुमुक्षु के लिए भी पुण्य-पाप त्याग का उपदेश या गया है ।

“नमस्कार करते हुए लोगों को आशीर्वाद देने से दूर रहने वाले, अपने या परोपकार के ए घर व खेत के संपादन के लिए यत्न न करने वाले, मनुष्यविषयक नमस्कार और स्तुति से हित, अप्राप्ति में विषाद रूप दीनता का जिसमें अभाव हो, विधि-निषेध के अधीन न होने से क्षीण-र्मा को देवता लोग ब्रह्मवेत्ता कहते हैं” ।

इसी को महाभारत के शान्ति पर्व में भी कहा गया है—“ब्रह्मवेत्ता के लिए इससे उत्कृष्ट ोई धन नहीं है । जैसे कि एकाकी रहना, समभाव रखना, यथार्थ भाषण करना, शुभाचरण करना, र्यादा का अतिक्रमण न करना, अहिंसापरायण रहना, अकुटिलता रखना और फिर (ऐहिक और

---

१. त्यजेत्यादि—धर्माधर्मधियमपहाय प्रत्यङ्मात्रावगाहिनीमेव धियमभ्यसेदिति भावः । २. पुण्यापुण्यत्यागोपदेशादिति—मुमुक्षोरपीति शेषः । जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते इति स्मृतेः । योगस्य—मुक्तिसाधनज्ञानस्य विषयं ब्रह्मजिज्ञासुरपि ज्ञातुमिच्छुरपि मुमुक्षापरपर्यायायां शुभेच्छाख्यायां प्रथमभूमिकायां स्थितोऽपीति यावत् । शब्दब्रह्म—कर्मप्रतिपादकवेदम् । अतिवर्तते—अतिक्रम्य तिष्ठति कर्माधिकारातिक्रमणेन ज्ञानाधिकारी भवतीति यावत् । तथा च न विवेकज्ञानेनापि समुच्चयोऽभिमत इति । ३. निराशिषमिति—८१६ पृष्ठेऽस्यार्थष्टिप्पण्यां द्रष्टव्यः । ४. ज्ञानस्येति—मा भूद्विजातीयेन कर्मणा ज्ञानस्य समुच्चयो विरोधादयं धर्मोऽयं चाधर्म इति विवेकज्ञानेन तु सजातीयेन तस्य सोऽर्हत्येवेति भावः । ५. ब्रह्मवित्कर्तृकस्तुत्यादीत्यर्थः । ६. स्तुत्यादिना वाचिककर्मणा ।

रिति ॥ ननु[6],चिदात्मस्फूर्तिपूर्वकं सर्वस्य जडस्य स्फुरणमस्ति च तस्य सदा स्वरूपज्ञानेन स्फूर्तिस्तत्कथं तदवोधादनर्थाप्तिरत आह—तथाचेति । ब्रह्मात्मनोरभेदे सतीति यावत् ॥ वस्तुवृत्तानुरोधतोऽखण्डस्फुरत्स्वरूपस्याऽऽत्मनः सर्वप्रकाशकत्वस्वभाव्यादनात्मनश्च जडत्वादजडात्मापेक्षां विना स्फूर्त्ययोगादित्यर्थः ॥ स्वरूपस्फूर्तिरात्मनः सदेष्टा चेत्तर्हि ज्ञानाधीनमुक्तेरनायाससिद्धत्वान्नानर्थसंगतिस्तत्राऽऽह—तथाऽपीति । वाक्योत्थाखण्डाद्वयब्रह्माकारस्वरूपसाक्षात्कारं विना ज्ञानमात्रान्न मुक्तिरित्यर्थः । एष इत्यादि व्याख्याय तेनेत्यादि व्याचष्टे—तेनेति । प्रकृतज्ञानमार्गेण ब्रह्मविन्मोक्षं गच्छति तदितरस्तन्मार्गो नेति श्रुतिसिद्धत्वात्तस्मान्नाब्रह्मविन्मुक्तिभागित्यर्थः ॥

“[1]नैतादृशं [2]ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च ।
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः” ॥

इत्यादिस्मृतिभ्यश्च ।

उपदेक्ष्यति चेहा“[3]प्येष' नित्यो [4]महिमा [5]ब्राह्मणस्य न [6]वर्धते कर्मणा नो [7]कनीयान्” इति कर्मप्रयोजनाभावे हेतुमुक्त्वा तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त इत्यादिना सर्वक्रियोपरमम्। ‘[8]तस्माद्यथाव्याख्यातमेव पुण्यकृत्त्वम् । अथवा यो ब्रह्मवित्तेनैति स[9] पुण्यकृत्तैजसश्चेति

एकता निरपेक्षता सर्वोदासीनतेति यावत् । समता मित्रोदासीनशत्रुबुद्धिव्यतिरेकेण [10]सर्वत्र स्वस्मिन्नि दृष्टिः । दण्डनिधानम[11]हिंसापरत्वम् ।

“[12]अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च कामस्य वित्तं च वपुर्वयश्च ।
धर्मस्य यागादि दया दमश्च मोक्षस्य सर्वोपरमः क्रियाभ्यः” ॥

इत्यादि चतुर्विधे पुरुषार्थे साधनभेदोपदेशि वाक्यमादिशब्दार्थः । इत्यादिस्मृतिभ्यश्च न पुण्यादि-समुच्चयकारिणो ग्रहणमिति” संबन्धः ।

[14]तथाऽपि प्रकृते मन्त्रे समुच्चयो भातीत्याशङ्क्याऽऽह—उपदेक्ष्यतीति । वाक्यशेषादिपर्यालोच-नासिद्धमर्थमुपसंहरति—तस्मादिति । पूर्वं पुण्यकृद्भूत्वा पुनस्त्यक्तपुत्राद्येषणो ब्रह्मवित्तेनैतीति क्रमो

पारलौकिक प्रयोजन वाली) विभिन्न क्रियाओं से उदासीन हो जाना” ।

यहाँ भी आगे श्रुति में इसी बात का व्याख्यान किया जायगा । “यह ब्रह्मवेत्ता की (स्वरू-भूत) नित्य महिमा है, जो शुभ कर्म से न तो कभी बढ़ती है और न ही कभी घटती है” । इस प्रकार कर्मप्रयोजनाभाव में हेतु बतलाकर “आत्मा सर्वकर्मादि संसर्ग से शून्य है” ऐसा जानता हुआ बाह्येन्द्रिय व्यापार से उपशान्त अन्तःकरण, तृष्णा से निवृत्त, सर्वैषणविनिर्मुक्त (स्वकार्यकरणसंघात आत्मा में ही प्रत्यक् चेतयिता आत्मा को देखता है) इत्यादि वाक्य से सब क्रियाओं से उपरामता बतलायी है। इसलिए (अन्य प्रकार से समुच्चय संभव न होने के कारण) “पुण्यकृत्” का उपरोक्त प्रकारक निर्वचन ही उचित है । अथवा जो ब्रह्मवेत्ता उस ब्रह्मविद्यामार्ग से जाता है; वह (अपुण्यकृत् होने पर भी) पुण्यकृत् और

---

१. नैतादृशमिति—शान्तिपर्वमोक्षधर्मे १७५-३७ महाभारते । एकता—एकाकितेत्यप्याहुः । सत्यता यथार्थ-भाषिता शीलं शुभाचरणम् श्लाघनीयं वृत्तं वा । स्थितिर्मर्यादानतिक्रमोऽक्षोभता वा । शीलस्थितिरित्येकपदपाठे शीले निष्ठेत्यर्थः । आर्जवमकौटिल्यम् क्वचिदर्थविशेषे व्यवहारविशेषे वाप्यनाग्रह इति यावत् । ततस्तत इत्यादिः ऐहिकामुष्मिकप्रयोजनाभ्यः क्रियाभ्य उपरम औदासीन्यम् । एकतादीनां फलमेतदित्याहुः । २. ब्रह्मविदः । ३. बृ. उ. ४. ४. २३ । ४. महिमास्वस्वरूपभूतः । ५. ब्रह्मविदः । ६. शुभेन कर्मणा । ७. अशुभेन । ८. तस्मात्—वाक्यशेषादिपर्यालोचनया समुच्चयाऽसंभवात् । ९. अपुण्यकृदपि । १०. विषमेष्वपि प्राणिषु । ११. सर्वभूताभयदानं संन्यास इति यावत् । १२. अर्थस्येत्यादि—निकृतिः वाणिज्यादिलक्षणा क्रिया । शाठ्यं वा शाठ्यं कपटश्छलमिति यावत् । सत्यानृतमिथुनीकरणात्माव्यवहार इति स्थितेः । सर्वोपरमः—सर्वथोपरम इत्यर्थः । १३. पूर्वत्र । १४. उक्तरीत्या समुच्चया-संभवेऽपि ।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥ १० ॥

जो अविद्या (कर्म) की उपामना करते हैं, वे अन्धेरे में प्रवेश करते हैं और जो कर्मकाण्डात्मक विद्या में अनुरक्त रहते हैं; वे उससे भी अधिक अंधेरे में प्रवेश करते हैं अर्थात् उपनिषदर्थ को करने वाले दोनों ही अन्धकूप में गिरते हैं ॥ १० ॥

वित्स्तुतिरेषा । पुण्यकृति तैजसे च योगिनि [1]महाभाग्यं प्रसिद्धं लोके ताभ्यामतो वित्[2]स्तूयते [3]प्रख्यातमहाभाग्यत्वाल्लोके ॥ ९ ॥

अन्धम[4]दर्शनात्मकं तमः संसारनियामकं प्रविशन्ति प्रतिपद्यन्ते । के येऽविद्यां तोऽन्यां साध्यसाधनलक्षणामुपासते [5]कर्मानुवर्तन्त इत्यर्थः । ततस्तस्मादपि भूय इव

पुज्यतेऽश्र तत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—अथ वेति । स्तुतिमेवोपपादयति—पुण्यकृतीति । तेजांसि न्युपसंहृत्य स्थितस्तैजसो दहराद्युपासीनो योगी तस्मिन्नणिमाद्यैश्वर्यान्महानुभावत्वप्रसिद्धिः । यां पुण्यकृत्तैजसाभ्यामित्यर्थः । अतःशब्दपरामृष्टं स्पष्टयति—प्रख्यातेति । पुण्यकृत्तैजसयोः शेषः ॥ ९ ॥

[6]प्रस्तुत[7]ज्ञानमार्गस्तुत्यर्थं मार्गान्तरं [8]'निन्दति—अन्धमित्यादिना । विद्यायामिति प्रतीक-

---

है—यह ब्रह्मवेत्ता की स्तुति है । पुण्यकृत एवं तैजस होने से योगियों में महानुभावत्व लोक में प्रसिद्ध है। लोक में प्रसिद्ध महिमा वाले होने से इन दोनों विशेषणों से ब्रह्मवेत्ता की स्तुति की गयी है ॥९॥

"अन्धं तमः" अर्थात् संसारनियामक अदर्शनात्मक तम को "प्रविशन्ति" अर्थात् प्राप्त करते कौन "येऽविद्यामुपासते" अर्थात् विद्या से भिन्न साध्यसाधनरूप कर्म का ही अनुष्ठान करते हैं ।

---

१. महानुभावत्वम् । २. स्तूयत इति—सा च स्तुतिः मुमुक्षूणां ब्रह्मविद्योद्देशेन श्रवणादिप्रवृत्तावुपकरोतीति भावः । ३. प्रसिद्धमहिमत्वात् । ४. अदर्शनात्मकं तम इति—तमो हि बहुधा भिद्यत इति । इतरव्यावृत्तये विशेषणम्—अदर्शनात्मकमिति । तथा चोक्तं पुराणे—"तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः । अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः" इति । अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशा इत्युक्तानि पञ्चपर्वाणि । तत्र बुद्धिपुरुषयोरभेदाभिमानोऽस्मिता । साधनरहितस्यापि सर्वसुखजातीयं मे भूयादिति विपर्यय विशेषो रागः । दुःखसाधने विद्यमानेऽपि किमपि दुःखं मे मा भूदिति विपर्ययविशेषो द्वेषः । आयुर-भावेऽपि शरीरेन्द्रियादिभिरनित्यैरपि वियोगो मे मा भूदिति आ विद्वदङ्गनाबालं स्वाभाविकः सर्वप्राणिसाधारणो मरणत्रासरूपो विपर्ययविशेषोऽभिनिवेशः सोऽयमभिनिवेशोऽन्धतामिस्राख्यः प्रकृतेऽन्धं तम इति विवक्षित इति भावः । महात्मनः प्रजापतेः । ५. कर्मानुवर्तन्त इति—उपनिषद्भागमपीश्वरे प्रमाणतयाऽभ्युपगच्छन्तो मीमांसकाः श्रावृताः कर्मैवानुतिष्ठन्तीत्यर्थः । ६. उपक्रान्तेति भावः । ७. मोक्षहेतुः । ८. निन्दतीति—ऐकात्म्यदर्शनादुक्तादन्यद्दर्शनान्तरम् । "अन्धं तम" इति श्रुत्या "तदिहाऽपोद्यतेऽखिलम्" इत्युक्तेः । इह मुक्तौ ।

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाꣳसोऽबुधो जनाः ॥११॥

वे लोक सुखरहित तथा घोर अन्धकार से आवृत हैं, उन्हीं लोकों को वे अज्ञानी अवि लोग प्राप्त करते हैं अर्थात् आत्मज्ञान ही एकमात्र मोक्ष का साधन है ॥ ११ ॥

---

[1]बहुतरमिव तमः प्रविशन्ति । के । य उ [2]विद्यायामविद्यावस्तुप्रतिपादिकायां कर्मार्थ त्रय्यामेव विद्यायां रता [3]अभिरताः । विधिप्रतिषेधपर एव वेदो नान्योऽस्तीत्युपनिषद नपेक्षिण इत्यर्थः ॥ १० ॥

यदि तेऽदर्शनलक्षणं तमः प्रविशन्ति को [4]दोष इत्युच्यते—[5]अनन्दा अनान असुखा नाम ते लोकास्तेनान्धेनादर्शनलक्षणेन तमसाऽऽवृता व्याप्तास्ते तस्याज्ञानत गोचरास्तांस्ते प्रेत्य मृत्वाऽभिगच्छन्त्य[6]भियान्ति । के । येऽविद्वांसः । [7]किं [8]सामान्येना

मादाय व्याकरोति—अविद्येति । कथं पुनस्त्रय्यामभिरतानामधःपतनमित्याशङ्क्याऽऽह—वि ॥ १० ॥

मन्त्रान्तरमाकाङ्क्षाद्वारोत्थाप्य व्याचष्टे—यदीत्यादिना । अबुध इत्यस्य निष्पत्ति सू

"ततः" यानी उससे भी "भूय इव" यानी अधिकतर तम में प्रवेश करते हैं । कौन ? "य उ विद्या अर्थात् जो अविद्यारूप वस्तु का प्रतिपादिका कर्मार्थ त्रयीविद्या में ही "रताः" अर्थात् आसक्त हैं जो विधि-प्रतिषेधपरक वेदों से भिन्न कुछ तात्पर्यार्थ न समझकर उपनिषदर्थ की उपेक्षा करने वाले वे अधिकतर अन्धकार को प्राप्त करते हैं ॥ १० ॥

यदि वे अदर्शनलक्षण तम को प्राप्त करते हैं तो इसमें क्या अनिष्ट है ? (दोष को बताती है–) "अनन्दाः" अर्थात जिनमें आनन्द नहीं है, सुख नहीं है; ऐसे नाम वाले लोक जो नात्मक तम से "आवृताः" यानी व्याप्त हैं, "ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति" वे (अविद्या और उपासना करने वाले) मर कर अज्ञान तम के विषय लोकों को ग्रहण करते हैं । कौन ग्रहण करते हैं जो अविद्वान् होते हैं । क्या अवान्तर विशेषशून्य अविद्वत्ता मात्र से ही प्राप्त हो जाते हैं ? नहीं । पर श्रुति कहती है—"अबुधः" अर्थात् आत्मतत्त्व के ज्ञान से शून्य लोग ही उन्हें ग्रहण करते हैं ।

---

१. बहुतरमिति—मिथ्याज्ञानाधिक्यादविवेकबाहुल्यमित्यर्थः । कर्मजडा हि मीमांसका ईश्वरमपि नाङ्गी उपनिषदामपि विधिशेषत्वेनाक्रियार्थत्वादप्रामाण्यमातिष्ठन्त इति तेषामविवेकबाहुल्यम् । २. विद्यायामि नात्र विद्याशब्देन परविद्या विवक्षिता तत्स्तुतये मार्गान्तरं निषेद्धुं मन्त्रप्रवृत्तेः ततो भेददृष्टिरेवात्र विद्या लप्यते । ३. आसक्ताः । ४. संसारतमःप्रवेशेऽपि तेषां किमनिष्टमित्यर्थः । ५. दोषमेव विद्य अनन्दा इति । ६. अभियान्तीति—दुःखबहुलमात्मज्ञानप्रतिकूलं देहजातं गृह्णन्तीति निष्कर्षः । ७. क्षापूर्वकमबुध इति विशेषणतात्पर्यमाह—किमिति । ८. सामान्येन—अवान्तरविशेषशून्येन । ९. अतो तेषामधःपतनमिति ।

[1]आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। [2]किमिच्छ[3]न्कस्य [4]कामाय [5]शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ १२ ॥

मैं यह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव ब्रह्म हूँ। इस प्रकार विशेष रूप से आत्मा को साधक यदि जान लेवे, तो भला किस चीज को चाहता हुआ, किस भोग के लिये शरीर के पीछे होने लगे अर्थात् आत्मबोध के बाद सर्वात्मदर्शी को जन्म जरादि दुःख नहीं सताते ॥ १२ ॥

त्रेण। नेत्युच्यते—अबुधः। बुधेरवगमनार्थस्य धातोः क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपम्। त्मावगमवर्जिता इत्यर्थः। जनाः [6]प्रकृता एव [7]जननधर्मिणो वेत्येतत् ॥ ११ ॥

आत्मानं स्वं [8]सर्वप्राणिमनीषितज्ञं हृत्स्थमशनायादिधर्मातीतं चेद्यदि विजानीयात् सहस्रेषु कश्चित्। चेदित्यात्मविद्याया दुर्लभत्वं दर्शयति। कथमयं पर आत्मा सर्वप्राणिप्रत्ययसाक्षी यो नेति नेती[9]त्याद्युक्तो यस्मान्नान्योऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता[10] समः सर्वभूतस्थो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽस्मि भवामीति पूरुषः पुरुषः। स किमिच्छं-

---

मर्थमाह—बुधेरिति।

उक्तात्मज्ञानस्तुत्यर्थमेव [11]तन्निष्ठाय कायक्लेशराहित्यं दर्शयति—आत्मानमित्यादिना। आत्मनो वैलक्षण्यार्थं विशिनष्टि—सर्वेति। [12]ताटस्थ्यं व्यावर्तयति—हृत्स्थमिति। बुद्धिसंबन्धसंसारित्वं वारयति—अशनायादीति। प्रश्नपूर्वकं ज्ञानप्रकारं प्रकटयति—कथमित्यादिना। भूतसंबन्धप्रयुक्तं दोषं वारयितुं विशिनष्टि—नित्येति। इति विजानीयादिति संबन्धः। प्रयोजनाय

'बुध' धातु से क्विप् प्रत्यय सर्वापहारलोप होकर "बुधः" रूप बनता है। यहाँ "जनाः" से प्रकरणस्थ दशम मन्त्र में प्रतिपादित पुरुषों का ग्रहण है अथवा जन्ममरणशील वालों को 'जनाः' गया है ॥ ११ ॥

"आत्मानं चेद्विजानीयात्" अर्थात् यदि सहस्रों में से कोई सर्वजनाभीष्ट विज्ञाता, हृदयस्थ क्षुधापिपासादि धर्मों से अतीत अपनी आत्मा को विशेष रूप से जान जाय; "चेद्" इस अव्यय से विद्या की दुर्लभता दिखायी गयी है। किस प्रकार जाना जाय? यह पर आत्मा सम्पूर्ण प्राणियों अनुभवों का साक्षी जो 'नेति-नेति' इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रतिपाद्य है, जिससे भिन्न द्रष्टा, श्रोता, और विज्ञाता कोई नहीं है; विषयों में सम है, सम्पूर्ण भूतों में स्थित है, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त भाव है, वह मैं हूँ—ऐसे जो पुरुष जान जाय; "किमिच्छन्कस्य कामाय" वह अपनी अखण्ड स्वरूप

---

१. एवं मन्त्रद्वये नात्मज्ञानाभावे दोषमुक्त्वेदानीं प्रकृतमार्गस्यैव स्तुत्यर्थं तन्निष्ठस्य क्लेशहानिमाह—आत्मानमिति। अयं परमात्माख्यः पुरुषोऽहमेवास्मीत्यात्मानं चेत्कथंचित्सत्त्वशुद्धितो विजानीयादित्यन्वयः। शेषं स्पष्टं भाष्ये। २. आत्मातिरिक्तं फलभूतं वस्तु। ३. पुत्रादेः। ४. प्रयोजनाय। ५. शरीरमनुसंचरेदिति माध्यंदिनपाठः। तत्र शरीरान्तरं गच्छेदित्यर्थः। ६. प्रकृता इति—अन्धं तमो मन्त्रे प्रकृता इत्यर्थः। ७. जननमरणादिमात्रशालित्वेन ब्रह्मात्मबोधविधुरतामेव स्फोरयति—जननेति। ८. सर्वजनाभीष्टविज्ञातारम्। ९. इत्यादिवाक्यप्रतिपाद्यः। १०. विषमेषु। ११. आत्मज्ञाननिष्ठस्य। १२. स्वभिन्नत्वम्।

'यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्संदेह्ये गहने

इन अनेक अनर्थों से परिपूर्ण और विवेक विज्ञान के शत्रु विषम स्थान शरीर में प्रविष्ट

'स्ततस्वरूपव्यतिरिक्तमन्यद्वस्तु फलभूतं किमिच्छन्कस्य वाऽन्यस्याऽऽत्मनो व्यतिरिक्त कामाय प्रयोजनाय। न हि तस्याऽऽत्मन एष्टव्यं फलम्। न चाप्यात्मनोऽन्योऽस्ति 'कामायेच्छति सर्वस्याऽऽत्मभूतत्वात्। 'अतः किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरे भ्रंशेत्। शरीरोपाधिकृतदुःखमनु दुःखी स्यात्। शरीरतापमनुतप्येत। अनात्मदर्शिनो 'तद्व्यतिरिक्तवस्त्वन्तरेप्सोः। ममेद स्यात्पुत्रस्येदं भार्याया इदमित्येवमीहमानः पुनर्जननमरण''प्रबन्धारूढः शरीररोगमनु रुज्यते। सर्वात्मदर्शिनस्तु ''तदसं इत्येतदाह ॥ १२ ॥

किंच [12]यस्य ब्राह्मणस्यानुवित्तो''ऽनुलब्धः प्रतिबुद्धः साक्षात्कृतः कथमहमस्मि परं ब्रह्म

शरीरमनुसंज्वरेदिति संबन्धः। किमिच्छन्नित्याक्षेपं समर्थयते—न हीति। कस्य वा कामायेत्याक्षे पपादयति—न चेति। आक्षेपद्वयं निगमयति—अत इति। [14]तदेव स्पष्टयति—शरीरेति। विदुषस्ता भाव व्यतिरेकमुखेन(ण) विशदयति—अनात्मेति। वस्त्वन्तरेप्सोस्तापसंभव इति शेष.। स चे ध्याहृत्य ममेदमित्यादि योज्यम्। इत्येतदाह किमिच्छन्नित्याद्या श्रुतिरिति शेषः ॥ १२ ॥

न केवलमात्म''विद्यारसिकस्य कायक्लेशराहित्यं किंतु कृतकृत्यता चास्तीत्याह—किंचे

से व्यतिरिक्त दूसरी किस फलयुक्त वस्तु की इच्छा करता हुआ, आत्मव्यतिरिक्त पुत्रादिरूप प्रयोजन के लिए करे क्योंकि उस आत्मा के लिए कोई चाहने योग्य फल है ही नहीं और आत्मा से व्यतिरिक्त कोई पुत्रादि पदार्थ है, जिसके फल की वह इच्छा करे क्योंकि वह तो सब आत्मस्वरूप ही हो जाता है। अतः वह किस की इच्छा करता हुआ किसकी कामना के लिये के "अनुसंज्वरेत्" यानी पीछे भ्रष्ट हो। शरीररूप उपाधि के दुःख के पीछे दुःखी हो; शरीर के से अनुतापित हो। जिसे आत्मदर्शन नहीं होता, उसे ही आत्मव्यतिरिक्त वस्त्वन्तर की इच्छा है। "मुझे यह प्राप्त हो जाय, मेरे पुत्र को यह प्राप्त हो जाय, मेरी भार्या को यह मिल जाय" प्रकार अभिलाषा करता हुआ पुनः पुनः जन्म-मृत्यु के प्रवाह मे पतित हुआ शरीर के रोग से रोगी जाता है। सर्वात्मदर्शी को तो यह ताप होना असंभव है—इसे श्रुति यहाँ बतलाती है ॥ १२ ॥

इसके अतिरिक्त "यस्य" अर्थात् (समस्त कल्मष क्षीण कर ब्रह्मसाक्षात्कार के इच्छुक) ब्राह्मण को आत्मा 'अनुवित्तः" अर्थात् शास्त्र और आचार्य के प्रसाद से उपलब्ध है "प्रतिबुद्धः" साक्षात्कृत है; किस प्रकार ? "मैं परब्रह्म हूँ" इस प्रकार प्रत्यगात्मस्वरूप से साक्षात्कृत है; "

---

१. येनेत्यर्थः। २. स्वीयाखण्डस्वरूपेति भावः। ३. पुत्रादेः। ४. आत्मार्थम्। ५. पुत्रादि पदार्थः। ६. फलाय। ७. स्वातिरेकेणान्यस्याभावात्। ८. आत्मव्यतिरिक्ते यावत्। ९. अभिलष १०. प्रवाहपतितः। ११. तापासंभवः। १२. क्षपिताशेषकल्मषस्य ब्रह्मसाक्षात्कारार्थिनः। १३. शास्त्रा चार्यप्रसादादनु। १४. अनुभ्रंशनमेव। १५. तदेकनिष्ठस्य।

प्रविष्टः। स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव ॥ १३ ॥

आत्मा जिस ब्रह्मवेत्ता पुरुष को प्राप्त तथा अवगत हो गया है; वह कृतकृत्य हो गया, वह सभी कर्मों का कर्ता है। उसी का सारा लोक है और स्वयं भी वह लोक स्वरूप आत्मा ही है ॥ १३ ॥

स्यैवं प्रत्यगात्मत्वेनावगत आत्माऽस्मिन्संदेह्ये संदेहे[1]ऽनेकानर्थसंकटोपचये गहने विषमेऽनेकशतसहस्रविवेकविज्ञान[3]प्रतिपक्षे विषमे प्रविष्टो जलसूर्यकादिवदिति [4]स यस्य ब्राह्मणस्यानुवित्तः [6]प्रतिबोधेनेत्यर्थः। स विश्वकृद्विश्वस्य [7]कर्ता। [8]कथं विश्वकृत्त्वं तस्य किं विश्वकृदिति नामेत्याशङ्क्याऽऽह—[9]स हि यस्मात्सर्वस्य कर्ता न नाममात्रं न केवलं[10] विश्वकृत्परप्रयुक्तः सन्। किं तर्हि [11]तस्य [12]लोकः सर्वः[13]। किमन्यो लोकोऽन्योऽसावित्युच्यते—[14]स उ लोक एव। लोकशब्देनाऽऽत्मोच्यते तस्य [15]सर्व आत्मा स च सर्वस्याऽऽत्मे-

संदेहे पृथिव्यादिभिर्भूतैरु[16]पचिते शरीरे। संदेहत्वं साधयति—अनेकेति। विषमत्वं विशदयति—अनेकनेति। न नाममात्रमित्यत्र पुरस्तान्नञस्तस्मादिति पठितव्यं यस्मादित्युपक्रमाद्विश्वकृत्त्वमिति शेषः। शब्दो विद्याविषयः। विश्वकृत्कृतकृत्य इत्येतत्। लोकलोकिविभागेन भेदं शङ्कित्वा दूषयति-किमित्यादिना। यस्येत्यादिमन्त्रस्य तात्पर्यार्थं संगृह्णाति—य एष इति। [17]अस्त्वेवं किं तावतेत्या-

संदेह्ये” अर्थात् जहाँ नानाविधि अप्राथनीय दुःखों का पुञ्ज होने से सन्देह और ‘गहने” अर्थात् जहाँ अनेक शत-सहस्र आध्यात्मिक विवेक प्रतिपक्ष हैं; ऐसे विषम स्थान में जलसूर्यकादि के समान प्रविष्ट हुआ जो आत्मा है, वह जिस ब्राह्मण को संघात से विविक्त हुआ ज्ञात है, एवं प्रत्येक बुद्धिवृत्ति के साक्षी रूप से साक्षात्कृत है। “स विश्वकृत्” अर्थात् विश्व का कर्ता ईश्वर है। उसे विश्वकर्तृत्व कैसे कहते हो तथा क्या विश्वकृत् उस का नाम है? ऐसी आशङ्का होने पर श्रुति कहती है—(ज्ञान के फल में सब कुछ आ जाता है, इसलिए ज्ञानी सर्वकृत् या कृतकृत्य है) इसीलिए वह सब का कर्ता है। यह उस विद्वान् का केवल नाम ही नहीं है। वह किसी अन्य से प्रयुक्त होकर विश्वकृत् नहीं है। तो फिर कैसे है? उसी विद्वान् का सारा प्रपञ्च लोक अर्थात् आत्मा है। क्या यह लोक भिन्न है और वह भिन्न है? इस पर श्रुति कहती है—वही विद्वान् सर्वप्रपञ्च की आत्मा है। यहाँ ‘लोक’

---

१. अनेकेत्यादि—नानाविधानामप्रार्थनीयानां दुःखानामुपचयो यत्रेति विग्रहः। २. अनेकशतेत्यादि—अनेकशतसहस्राणि विवेकप्रतिपक्षा आध्यात्मिकादयो यत्र। ३. बहुव्रीहिः। ४. निरुक्त आत्मा। ५. संघाताद्विविच्य विज्ञातः। ६. प्रत्येकबुद्धिवृत्तिसाक्षित्वेन। ७. ईश्वरः। ८. कथमिति—न ब्रह्मविदो विश्वकर्तृत्वं विश्वाभावात्तथा च तस्य विश्वकृदिति नाममात्रमित्याशयः। ९. स हीति—ज्ञानफले सर्वस्यान्तर्भावाज्ज्ञानिना सर्वं कृतमिति भावः। कृतकृत्योऽसाविति यावत्। १०. विद्वान्। ११. विदुषः। १२. आत्मा। १३. प्रपञ्चः। १४. सोऽपि विद्वान् सर्वस्य प्रपञ्चस्याऽऽत्मैव। १५. सर्वशब्दो ब्रह्मपर इत्यप्याहुः। १६. संदिह्यत इति व्युत्पत्तेः दिह उपचये। १७. अस्त्वेवमित्यादि—उक्तरीत्या प्रतीचः परत्वमस्तु तस्य परत्वेऽपि प्रकृते किमायातमित्यर्थः।

[1]इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः । [2]ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥१४॥

हम इस अनर्थ पूर्ण शरीर में रहते हुए ही यदि उस आत्मतत्त्व को जान लेते हैं तो कृतकृत्य हो जाते हैं और यदि उसे नहीं जानते तो बड़ी भारी क्षति होती है (जिमकी पूर्ति अन्यत्र दुःशक्य है)। अतः जो साधक उसे जानकर उस तत्त्व को आत्मभावेन साक्षात् कर लेते हैं; वे अमर हो जाते हैं। इनसे भिन्न लोग जन्म मरणादि रूप दुःख को ही प्राप्त होते हैं ॥ १४ ॥

त्यर्थः । य [3]एष ब्राह्मणेन प्रत्यगात्मा प्रतिबुद्धतयाऽनुवित्त आत्माऽनर्थसंकटे[4] गहने प्रविष्टः स न संसारी किंतु पर एव । यस्माद्विश्वस्य कर्ता सर्वस्याऽऽत्मा तस्य च सर्वं आत्मा। एक एवाद्वितीयः पर एवास्मीत्यनुसंधातव्य इति श्लोकार्थः ॥ १३ ॥

किंचेहैवानेकानर्थसंकुले[5] सन्तो भवन्तोऽज्ञानदीर्घनिद्रामोहिताः सन्तः कथंचिदिव[6] ब्रह्मतत्त्वमात्मत्वेनाथ विद्मो विजानीमः । तदेतद्ब्रह्म[7] प्रकृतमहो वयं कृतार्था इत्यभिप्रायः । यदेतद्ब्रह्म विजानीमस्तन्न चेद्विदितवन्तो वयं वेदनं वेदो वेदोऽस्यास्तीति वेदी

शङ्कयाऽऽह—एक एवेति । यो हि परः [8]सर्वप्रकारभेदराहित्यात्पूर्णतया वर्तते स एवास्मीत्यात्माऽनुसंधातव्य इति योजना ॥ १३ ॥

ब्रह्मविदो विद्यया कृतकृत्यत्वे श्रुतिसंप्रतिपत्तिरेव केवलं न भवति किंतु [9]स्वानुभवसंप्रतिपत्तिरस्तीत्याह—किंचेति । अथेत्यस्य कथंचिदिवेति व्याख्यानम् । तदित्यस्य ब्रह्मतत्त्वमि[10]त्युक्तमर्थं स्फुटयति—तदेतदिति । ब्रह्मज्ञाने कृतार्थत्वं श्रुत्यनुभवाभ्यामुक्त्वा तदभावे दोषमाह—यदेतदिति । [11]तर्हि

शब्द से आत्मा का ग्रहण करना चाहिये। उसका ब्रह्म आत्मा है, वह ब्रह्म का आत्मा है। आत्मा अनर्थसंकट और विषम शरीर में प्रविष्ट है—इस प्रकार अपरोक्ष प्रत्यगात्मा का जिस ब्रह्मवेत्ता ने शास्त्र व गुरु की कृपा से साक्षात्कार प्राप्त कर लिया, वह संसारी नहीं है; किन्तु परब्रह्म ही है क्योंकि वह विश्व का कर्ता है, ब्रह्म का आत्मा है। उसका ब्रह्म आत्मा है। "मैं एक ही अद्वितीय परब्रह्म हूँ" ऐसा अनुसन्धान करना चाहिये—यही इस श्लोक का अर्थ है ॥ १३ ॥

इसके अतिरिक्त "इहैव" यानी अनेक अनर्थबहुल शरीर में "सन्तः" रहते हुए यानी अज्ञानरूपी दीर्घनिद्रा से मोहित हुए किसी तरह से भी (पापक्षय होने से) ब्रह्मतत्त्व को आत्मस्वरूप से "अथ विद्मः" यदि जान लें, तब तो हम ब्रह्म होकर कृतार्थ हो गये, यह अभिप्राय है। हम जिस ब्रह्म को

---

१. विदुषो न केवलं श्रौतं कृतकृत्यत्वं किंत्वानुभविकमपीत्याह—इहैवेति । एतस्मिन्नेव देहे। २. ये तद्विदुरिति मन्त्रार्थमुपसंहरन्ति स्म वार्तिके—"ब्रह्मैव सन्तो विज्ञानात्प्रागतो ब्रह्मबोधतः । भवामो ब्रह्म नान्यथा दशमो दशमं यथा" ॥ ६२६ ॥ इति। ३. अपरोक्षः। ४. शरीरे। ५. शरीर एव। ६. पापक्षयात् । ७. ब्रह्म वयमिति संबन्धः । ८. सजातीयादिभेदराहित्यात् । ९. विद्वदनुभवसंप्रतिपत्तिरिति यावत् । १०. इति व्याख्यानमिति संबन्धः। ११. परस्पराऽऽगते दोषेऽन्वयं विवक्षित्वाऽऽह—तर्हीत्यादि ।

[1]यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा । ईशानं भूत-

जिस समय भूत और भविष्य के शासक इस प्रकाशमय या कर्मफल दाता आत्मा को आचार्य

वेदेव वेदिर्न वेदिरवेदिः । ततोऽहमवेदिः स्याम् । यद्यवेदिः स्यां को दोषः स्यान्महत्यनन्तपरिणामा जन्ममरणादिलक्षणा विनष्टि[2]र्विनशनम्[3] । अहो वयमस्मान्महतो विनशनान्निर्मुक्ता यदद्वयं ब्रह्म विदितवन्त इत्यर्थः । यथा च वयं विदित्वाऽस्माद्विनशनाद्विप्रमुक्ता एवं[4] तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ये पुनर्नैवं ब्रह्म विदुस्त इतरे ब्रह्मविद्भ्योऽन्येऽब्रह्मविद इत्यर्थः । दुःखमेव जन्ममरणादिलक्षणमेवापियन्ति प्रतिपद्यन्ते न कदाचिदप्यविदुषां ततो विनिवृत्तिरित्यर्थः । [5]दुःखमेव हि त आत्मत्वेनोपगच्छन्ति ॥ १४ ॥

यदा पुनरेतमात्मानं कथंचित्परमकारुणिकं कंचिदाचार्यं प्राप्य ततो लब्धप्रसादः

महतो विनष्टिरिति संबन्धः । बहुत्वं [6]न विवक्षितं ज्ञानान्मोक्षोऽत्र विवक्षित इत्यभिप्रेत्य वेदिरित्यर्थमाह—वेदनमित्यादिना । [7]न चेद्ब्रह्म विदितवन्तो वयं ततोऽहमवेदिः स्यामिति योजना । विद्याभावे दोषमुक्त्वा विद्वदनुभवसिद्धमर्थं निगमयति—अहो वयमिति । इहैवेत्यादिना पूर्वार्धेनोक्तमेवार्थमुत्तरार्धेन [8]प्रपञ्चयति—यथा चेत्यादिना । दुःखाद्विदुषां विनिर्मोकाभावे हेतुमाह—दुःखमेवेति ॥ १४ ॥

किंच विदुषो विहिताकरणादिप्रयुक्तं भयं नास्तीति विद्यां स्तोतुमेव मन्त्रान्तरमादाय

जानते हैं, यदि उसको उस रूप में हमने न जाना होता; "वेदः" वेदन को कहते हैं, जिसे ज्ञान है, वह वेदी होता है, वेदी ही 'वेदि' समझना चाहिये, जो 'वेदि' नहीं है, वह अवेदि है । इस प्रकार मैं अवेदि होता । यदि न जाना होता, तो क्या दोष होता । "महती विनष्टिः" अर्थात् जन्म-मरणलक्षण अनन्त परिमाणरूप मरणात्मक विनाश हो जाता । अरे ! हम इस महान् विनाश से मुक्त हो गये हैं, जो हमने ब्रह्म को जान लिया है, यह इसका अर्थ है । जिस प्रकार हम इस ब्रह्म को जान कर इस मरणात्मक विनाश से सम्यक् मुक्त हो गये हैं; इसी प्रकार जो इस ब्रह्म को जान लेते हैं; वह अमृतत्व लाभ कर लेते हैं । "इतरे" यानी ब्रह्मविद् से अन्य अब्रह्मविद्, जो इसे नहीं जानते हैं; "दुःखमेवापियन्ति" यानी वे जन्म-मरणादि लक्षण दुःख को ही प्राप्त होते हैं । अब्रह्मविद् की कभी भी उस दुःख से निवृत्ति नहीं हो सकती—यह इस का अर्थ है । वे दुःखालय यानी कार्यकरणात्मसंघात को ही आत्मरूप से ग्रहण करते हैं ॥ १४ ॥

"यदा" अर्थात् फिर जब 'एतमात्मानम्" अर्थात् इस हृदयस्थ आत्मा को किसी प्रकार परम

---

[1] एतम् हृदयस्थम् । [2] विनशनमिति—तच्चात्र न ध्वंसः अभावे महत्त्वासंभवादपि त्वविद्यैव तत् सा च मरणादिरूपतया मरणादिजनकतया विनष्टिरित्यभिलप्यत इति स्पष्टं वार्तिके । [3] स्यात् । [4] ये । [5] दुःखालयं संघातमिति यावत् । [6] न विवक्षितमिति—बहुवचनेनोपक्रम्य पुनरेकवचनेनोपसंहारादिति भावः । [7] साक्षाद्दोषेऽप्यन्वयार्थं योजनान्तरं दर्शयति—न चेदित्यादिना । [8] प्रपञ्चयतीति—स्पष्टप्रतिपत्तय इति भावः । तत्रापि प्रथमपादार्थं तृतीयपादेन द्वितीयार्थं चतुर्थेनेति विभागः ।

भव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ १५ ॥

[1]यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते । तद्देवा ज्यो-

द्वारा शास्त्र श्रवण के बाद मनुष्य अपरोक्ष रूप से जान लेता है; उस समय अपने को सुरक्षित रखने की इच्छा नहीं करता अर्थात् ब्रह्मवेत्ता को भय के अभाव में सुरक्षा की इच्छा भी नहीं होती ॥ १५ ॥

जिसके नीचे संवत्सर अहोरात्रादि अपने अवयवों के साथ चक्कर काटता रहता है, उस आदित्यादि

सन्ननु [2]पश्चात्पश्यति साक्षात्करोति स्वमात्मानं देवं [3]द्योतनवन्तं दातारं वा सर्वप्राणि-कर्मफलानां यथाकर्मानुरूपमञ्जसा [4]साक्षादीशानं स्वामिनं भूतभव्यस्य कालत्रयस्येत्येतत् । न ततस्तस्मादीशानाद्[5]देवादात्मानं विशेषेण जुगुप्सते [6]गोपायितुमिच्छति । सर्वो हि लोक ईश्वराद्गुप्तिमिच्छति भेददर्शी । अयं त्वेकत्वदर्शी [7]न बिभेति कुतश्चन । अतो न तदा विजुगुप्सते । यदेशानं देवमञ्जसाऽऽत्मत्वेन पश्यति न तदा निन्दन्ति वा [8]कंचित् । सर्वमात्मानं हि पश्यति य एवं पश्यन्कमसौ निन्देत् ॥ १५ ॥

किंच यस्मादीशानादर्वाग्यस्माद[9]न्यविषय एवेत्यर्थः । संवत्सरः कालात्मा सर्वस्य

व्याचष्टे—यदा पुनरित्यादिना । उक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेन(ण) विशदयति—सर्वो हीति । जुगुप्साया निन्दात्वेन प्रसिद्धत्वात्कथमवयवार्थमादाय व्याख्यायते रूढिर्योगमपहरतीति न्यायादित्याशङ्क्याऽऽह—यदेति । तदेवोपपादयति—सर्वमिति ॥ १५ ॥

अथेश्वरस्यापि कालान्यत्वे[10] सति वस्तुत्वाद्घटवत्कालावच्छिन्नत्वान्न कालत्रयं प्रति युक्तमी[11]श्वरत्वमत आह—किंचेति । यस्मादीशानाद[12]र्वाक्संवत्सरो वर्तते तमुपासते देवा इति संबन्धः । ननु

कृपालु किसी आचार्य का पाकर उनकी कृपा से शास्त्राचार्य उपदेशानुसार साक्षात्कार कर लेता है अर्थात् स्वयंप्रकाश या अपने अपने कर्मों के अनुसार सभी प्राणियों को कर्म फल देने वाला देव, "ईशानं भूतभव्यस्य" अर्थात् कालत्रय का स्वामी इस अपनी आत्मा को साक्षात् जान लेता है। "न ततो विजुगुप्सते" अर्थात् स्वात्मभूत उस स्वामी और देव से अपने आप को विशेष रूप से सुरक्षित होने की इच्छा नहीं करता । भेदवादी सभी लोग ईश्वर से अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना करते हैं। यह ब्रह्मात्मैक्यदर्शी कहीं भी नहीं डरता । इसलिए यह अपनी सुरक्षा की इच्छा नहीं करता । जब यह ईशान व देव को साक्षात् आत्मत्वेन देखता है; तब अपने या दूसरे की निन्दा नहीं करता। वह सब जगह आत्मा ही देखता है, जो इस प्रकार देखने वाला है, वह किसकी निन्दा करे ॥ १५ ॥

इसी प्रकार 'यस्माद्' अर्थात् जिस ईशान से "अर्वाक्" अर्थात् अन्य ही विषय वाला संवत्सर

---

१. संवत्सराख्यः कालोऽयं न परिच्छिनत्तीत्यर्थः । २. शास्त्राचार्योपदेशानुसारेण । ३. स्वयंप्रकाशम् । ४. आत्मत्वेन । ५. स्वात्मभूतात् । ६. गोपायितुमिच्छतीति—ज्ञानबलादीशस्य प्रत्यक्त्वेन प्रतिपन्नत्वात् [illegible] भावः । ७. विदुषो भयाभावे मानमाह—न बिभेतीति । ८. कंचिदिति—[illegible]त्यर्थः । ९. संवत्सरः । १०. काले व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम् । ११. ईश्वरत्वं [illegible] । [illegible]दित्यनुवर्तते । १२. अधस्ताद् ।

तिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥ १६ ॥

'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥ १७ ॥

तियों के भी ज्योति स्वरूप अमरधर्मा परमेश्वर को देवता लोग "आयु" इस रूप से उपासना हैं अर्थात् आयुकाम पुरुष ब्रह्म की आयुरूप गुण के द्वारा उपासना करे ॥ १६ ॥

जिस ब्रह्म में (गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस या ब्राह्मणादि) पाँच पंचजन तथा कृत नामक आकाश भी प्रतिष्ठित हैं; उस आत्मा को ही मैं अविनाशी ब्रह्म मानता हूं (उससे आत्मा को मैं नहीं जानता) । अतः मैं इसे जानने वाला ब्रह्मवेत्ता अमृत ही हूँ ॥ १७ ॥

निमतः परिच्छेत्ता यमपरिच्छिन्दन्नर्वागेव वर्ततेऽहोभिः स्वावयवैरहोरात्रैरित्यर्थः । ज्योतिषां ज्योतिरादित्यादिज्योतिषामप्यवभासकत्वादा'युरित्युपासते देवा अमृतं ज्योतिरतोऽन्यन्म्रियते न हि ज्योतिः । सर्वस्य ह्येतज्ज्योतिरायुः । आयुर्गुणेन' यस्माद्- ज्योतिरुपासते तस्मादायुष्मन्तस्ते' । 'तस्मादायुष्कामेनाऽऽ(णाऽऽ)युर्गुणेनोपास्यं त्यर्थः ॥ १६ ॥

किंच यस्मिन्यत्र ब्रह्मणि पञ्च 'पञ्चजना गन्धर्वादयः पञ्चैव संख्याता गन्धर्वाः

संवत्सरोऽर्वागित्युच्यते कालस्य "कालान्तराभावेन पूर्वकालसंबन्धाभावादत आह—यस्मादिति । यस्तु पूर्ववत् । आत्मज्योतिषो गुणमायुष्ट्वलक्षणं स्पष्टयन्नुपासकस्य फलमाह—सर्वस्येति । क्तोपासने देवानामेवाधिकारो विशेषवचनादित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति ॥ १६ ॥

ज्योतिषां 'ज्योतिरमृतमित्युक्तं तस्यामृतत्वं सर्वाधिष्ठानत्वेन साधयति— किंचेति । एवका-

---

संवत्सर कालात्मा है. जो सभी उत्पन्न होने वाले पदार्थों का परिच्छेत्ता है, "अहोभिः परिवर्तते" उसका परिच्छेद न करता हुआ अहोरात्र रूप अपने अवयवों के द्वारा उससे नीचे ही रहता है। दित्यादि ज्योतियों के भी प्रकाशक होने से उन ज्योतियों की ज्योति को देवगण 'आयु' इस प्रकार सना करते हैं। वह ज्योति अमृत है; इससे भिन्न जो मरणभाव को प्राप्त होती है; वह ज्योति नहीं । यह ज्योति सबकी आयु है क्योंकि देवता लोग इस ज्योति की आयुरूप गुण के कारण उपासना ते हैं, इसी से वे आयुष्मान् प्रसिद्ध हैं। इसलिए आयुष्काम को 'आयु' गुण वाले इस ब्रह्म की सना करनी चाहिये ॥ १६ ॥

तथा "यस्मिन्" अर्थात् जिस ब्रह्म में पाँच पञ्चजनसञ्ज्ञक हैं; गन्धर्वादि पाँच गिनाये गये

---

१. यस्मिन् ब्रह्मणि पूर्ववाक्योक्तषष्ठ्यन्तज्योतिषा सह प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं मनश्चेति पञ्च पञ्च सङ्ख्याकाः पञ्चजनाः पञ्चजनसंज्ञकाः प्रतिष्ठिताः आकाशश्चाव्याकृताख्यः सूत्राधारभूतः प्रतिष्ठितः तमेवात्मानं ब्रह्मामृतं विद्वानहममृत इति मन्ये इत्यर्थः । २. आयुरित्येवमनुसंदधते । ३. विशिष्टम् । ४. प्रसिद्धाः । ५. तस्मात्—आयुर्गुणकब्रह्मोपासनायाः आयुष्मत्त्वफलस्य दैवप्रसिद्धत्वात् । ६. एतत्संज्ञकाः । ७. पूर्वकालेत्या-दिनाऽन्वयः । ८. ब्रह्म ।

भव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ १५ ॥

'[1]यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते । तद्देवा ज्यो-

द्वारा शास्त्र श्रवण के बाद मनुष्य अपरोक्ष रूप से जान लेता है; उस समय अपने को सुरक्षित रखने की इच्छा नहीं करता अर्थात् ब्रह्मवेत्ता को भय के अभाव में सुरक्षा की इच्छा भी नहीं होती ॥ १५ ॥

जिसके नीचे संवत्सर अहोरात्रादि अपने अवयवों के साथ चक्कर काटता रहता है, उस आदित्यादि

सन्ननु [2]पश्चात्पश्यति साक्षात्करोति स्वमात्मानं देवं [3]द्योतनवन्तं दातारं वा सर्वप्राणिकर्मफलानां यथाकर्मानुरूपमञ्जसा [4]साक्षादीशानं स्वामिनं भूतभव्यस्य कालत्रयस्येत्येतत् । न ततस्तस्मादीशानाद्[5]देवादात्मानं विशेषेण जुगुप्सते [6]गोपायितुमिच्छति । सर्वो हि लोक ईश्वराद्गुप्तिमिच्छति भेददर्शी । अयं त्वेकत्वदर्शी [7]न बिभेति कुतश्चन । अतो न तदा विजुगुप्सते । यदेशानं देवमञ्जसाऽऽत्मत्वेन पश्यति न तदा निन्दन्ति वा [8]कंचित् । सर्वमात्मानं हि पश्यति य एवं पश्यन्कमसौ निन्देत् ॥ १५ ॥

किंच यस्मादीशानादर्वाग्यस्माद[9]न्यविषय एवेत्यर्थः । संवत्सरः कालात्मा सर्वस्य

व्याचष्टे—यदा पुनरित्यादिना । उक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेन(ण) विशदयति—सर्वो हीति । जुगुप्साया निन्दात्वेन प्रसिद्धत्वात्कथमवयवार्थमादाय व्याख्यायते रूढिर्योगमपहरतीति न्यायादित्याशङ्क्याऽऽह—यदेति । तदेवोपपादयति—सर्वमिति ॥ १५ ॥

अथेश्वरस्यापि कालान्यत्वे[10] सति वस्तुत्वाद्घटवत्कालावच्छिन्नत्वान्न कालत्रयं प्रति युक्तमी[11]श्वरत्वमत आह—किंचेति । यस्मादीशानाद[12]र्वाक्संवत्सरो वर्तते तमुपासते देवा इति संबन्धः । ननु

कृपालु किसी आचार्य का पाकर उनकी कृपा से शास्त्राचार्य उपदेशानुसार साक्षात्कार कर लेता है अर्थात् स्वयंप्रकाश या अपने अपने कर्मों के अनुसार सभी प्राणियों को कर्म फल देने वाला देव, "ईशानं भूतभव्यस्य" अर्थात् कालत्रय का स्वामी इस अपनी आत्मा को साक्षात् जान लेता है। "न ततो विजुगुप्सते" अर्थात् स्वात्मभूत उस स्वामी और देव से अपने आप को विशेष रूप से सुरक्षित होने की इच्छा नहीं करता। भेदवादी सभी लोग ईश्वर से अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना करते हैं। यह ब्रह्मात्मैक्यदर्शी कहीं भी नहीं डरता। इसलिए यह अपनी सुरक्षा की इच्छा नहीं करता। जब यह ईशान व देव को साक्षात् आत्मत्वेन देखता है; तब अपने या दूसरे की निन्दा नहीं करता। वह सब जगह आत्मा ही देखता है, जो इस प्रकार देखने वाला है, वह किसकी निन्दा करे ॥ १५ ॥

इसी प्रकार 'यस्माद्' अर्थात् जिस ईशान से "अर्वाक्" अर्थात् अन्य ही विषय वाला संवत्सर

---

१. संवत्सराख्यः कालोऽयं न परिच्छिनत्तीत्यर्थः । २. शास्त्राचार्योपदेशानुसारेण । ३. स्वयंप्रकाशम् । ४. आत्मत्वेन । ५. स्वात्मभूतात् । ६. गोपायितुमिच्छतीति—ज्ञानबलादीशस्य प्रत्यक्त्वेन प्रतिपन्नत्वात् स्वनिष्ठेशितव्यत्वव्यावृत्तेरिति भावः । ७. विदुषो भयाभावे मानमाह—न बिभेतीति । ८. कंचिदिति—आत्मानं परं वा न गर्हतीत्यर्थः । ९. संवत्सरः । १०. काले व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम् । ११. ईश्वरत्वं नियन्तृत्वम् । अत्रापि घटवदित्यनुवर्तते । १२. अधस्तात् ।

तिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥ १६ ॥

[1]यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥ १७ ॥

तियों के भी ज्योति स्वरूप अमरधर्मा परमेश्वर को देवता लोग "आयु" इस रूप से उपासना ते हैं अर्थात् आयुकाम पुरुष ब्रह्म की आयुरूप गुण के द्वारा उपासना करे ॥ १६ ॥

जिस ब्रह्म में (गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस या ब्राह्मणादि) पाँच पंचजन तथा कृत नामक आकाश भी प्रतिष्ठित हैं; उस आत्मा को ही मैं अविनाशी ब्रह्म मानता हूं (उससे आत्मा को मैं नहीं जानता)। अतः मैं इसे जानने वाला ब्रह्मवेत्ता अमृत ही हूँ ॥ १७ ॥

निमतः परिच्छेत्ता यमपरिच्छिन्दन्नर्वागेव वर्ततेऽहोभिः स्वावयवैरहोरात्रैरित्यर्थः । ज्योतिषां ज्योतिरादित्यादिज्योतिषामप्यवभासकत्वादा[2]युरित्युपासते देवा अमृतं ज्योतिरतोऽन्यन्म्रियते न हि ज्योतिः । सर्वस्य ह्ये[3]तज्ज्योतिरायुः । आयुर्गुणेन[4] यस्माद् आसतज्ज्योतिरुपासते तस्मादायुष्मन्तस्ते[5] । [6]तस्मादायुष्कामेनाऽऽ(णाऽऽ)युर्गुणेनोपास्यं त्यर्थः ॥ १६ ॥

किंच यस्मिन्यत्र ब्रह्मणि पञ्च [7]पञ्चजना गन्धर्वादयः पञ्चैव संख्याता गन्धर्वाः

संवत्सरोऽर्वागित्युच्यते कालस्य [8]कालान्तराभावेन पूर्वकालसंबन्धाभावादत आह—यस्मादिति । न्वयस्तु पूर्ववत् । आत्मज्योतिषो गुणमायुष्ट्वलक्षणं स्पष्टयन्नुपासकस्य फलमाह—सर्वस्येति । क्तोपासने देवानामेवाधिकारो विशेषवचनादित्याशङ्कयाऽऽह—तस्मादिति ॥ १६ ॥

ज्योतिषां 'ज्योतिरमृतमित्युक्तं तस्यामृतत्वं सर्वाधिष्ठानत्वेन साधयति— किंचेति । एवका-

---

संवत्सर कालात्मा है. जो सभी उत्पन्न होने वाले पदार्थों का परिच्छेत्ता है, "अहोभिः परिवर्तते" उसका परिच्छेद न करता हुआ अहोरात्र रूप अपने अवयवों के द्वारा उससे नीचे ही रहता है। दित्यादि ज्योतियों के भी प्रकाशक होने से उन ज्योतियों की ज्योति को देवगण 'आयु' इस प्रकार पासना करते हैं। वह ज्योति अमृत है; इससे भिन्न जो मरणभाव को प्राप्त होती है; वह ज्योति नहीं है। यह ज्योति सबकी आयु है क्योंकि देवता लोग इस ज्योति की आयुरूप गुण के कारण उपासना रते हैं, इसी से वे आयुष्मान् प्रसिद्ध हैं। इसलिए आयुष्काम को 'आयु' गुण वाले इस ब्रह्म की पासना करनी चाहिये ॥ १६ ॥

तथा "यस्मिन्" अर्थात् जिस ब्रह्म में पाँच पञ्चजनसञ्ज्ञक हैं; गन्धर्वादि पाँच गिनाये गये

---

१. यस्मिन् ब्रह्मणि पूर्ववाक्योक्तषष्ठ्यन्तज्योतिषा सह प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं मनश्चेति पञ्च पञ्च सङ्ख्याकाः पञ्चजनाः पञ्चजनसंज्ञकाः प्रतिष्ठिताः आकाशश्चाव्याकृताख्यः सूत्राधारभूतः प्रतिष्ठितः तमेवात्मानं ब्रह्मामृतं विद्वानहममृत इति मन्ये इत्यर्थः । २. आयुरित्येवमनुसंदधते । ३. विशिष्टम् । ४. प्रसिद्धाः । ५. तस्मात्—आयुष्ट्वगुणकब्रह्मोपासनायाः आयुष्मत्त्वफलस्य दैवप्रसिद्धत्वात् । ६. एतत्संज्ञकाः । ७. पूर्वकालेत्यादिनाऽन्वयः । ८. ब्रह्म ।

*** [1]प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः । ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम् ॥ १८ ॥**

(ब्रह्म की शक्ति से अधिष्ठित नेत्रादि में दर्शन सामर्थ्य होने से) जो उस ब्रह्म को प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन जानते हैं; वे ही उस पुरातन तथा आगे रहने वाले ब्रह्म को जानते हैं ॥ १८ ॥

पितरो देवा असुरा रक्षांसि निषादपञ्चमा वा वर्णा आकाशश्चाव्याकृताख्यो यस्मि न्सूत्रमोतं[2] च प्रोतं च । [3]यस्मिन्प्रतिष्ठित [4]एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश [5]इत्यु तमेवाऽऽत्मानममृतं ब्रह्म मन्येऽहं न चाहमात्मानं ततोऽन्यत्वेन जाने । [6]किं तर्ह्यमृतो ब्रह्म विद्वान्सन्नज्ञानमात्रेण तु मर्त्योऽहमासं [7]तदपगमाद्विद्वानहममृत एव ॥ १७ ॥

किंच तेन हि चैतन्यात्मज्योतिषा[8]ऽवभास्यमानः [9]प्राण आत्मभूतेन [10]प्राणिति [11]ते प्राणस्यापि प्राणः [12]स तं प्राणस्य प्राणम् । तथा चक्षुषोऽपि चक्षुरुत श्रोत्रस्यापि श्रोत्रम्।

रार्थमाह - न चेति । यद्यात्मानं ब्रह्म जानासि [6]तर्हि किं ते तद्विद्याफलमिति प्रश्नपूर्वकमा —किं तर्हीति । कथं [7]तर्हि ते मर्त्यत्वप्रतीतिस्तत्राऽऽह—अज्ञानमात्रेणेति ॥ १७ ॥

प्रकृताः पञ्चजनाः पञ्च [8]ज्योतिषा सह प्राणादयो वा स्युरित्यभिप्रेत्याऽऽह—किंचेति।

हैं, गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद; ये पांच है तथा अव्याकृतसञ्ज्ञक आकाश जिसमें सूत्र ओत-प्रोत है, यानी जिसमें यह सब प्रतिष्ठित हैं। श्रुति भी कह चुकी है—"हे गार्गी ! इस अक्षर में ही आकाश ओत-प्रोत है, उसी आत्मा को मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ," अर्थात् मैं आत्मा को उससे भिन्न नहीं जानता । उसका फल तुम्हें क्या मिला ? उस ब्रह्म को जानने से मैं अमृत हो गया हूँ, मैं अज्ञान मात्र से ही अपने को मरणधर्मा मान बैठा था, अज्ञान के मिट जाने पर मैं विद्वान् अमृत ही हूँ ॥ १७ ॥

तथा उस आत्मभूत चैतन्यात्मज्योति से सत्ता-स्फूर्ति प्राप्त करता हुआ प्राण (जड़ होता हुआ भी) प्राणन क्रिया करता है. प्राण के अवभासक होने से वह प्राण का भी प्राण है । उस प्रत्यगात्मा को

---

१. प्राणितीति—प्राणनक्रियां करोतीत्यर्थः । २. कल्पितमिति यावत् । ३. सः । ४. तत्र प्रमाणमाह—एतस्मिन्निति । ५. बृ. उ. ३. ८. ११ । ६. किं तर्हीति—आत्मनि ब्रह्मत्वेन निश्चिते सति किं ते फल जातमिति प्रश्नार्थः । ७. अज्ञानापगमात् । ८. सत्तास्फूर्ती प्राप्यमाणः । ९. जडोऽपि सन् । १०. प्राणितीति—प्राणनक्रियां करोतीत्यर्थः । ११. प्राणावभासकत्वेन । १२. प्रत्यगात्मा । १३. ब्रह्मज्ञाने सति । १४. अमृतत्वे सति । १५. बृ. उ. ४. ४. १३ इति मन्त्रोक्तषष्ठ्यन्तज्योतिषा सहेत्यर्थः ।

---

* प्राणस्य प्राणमिति । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"यतः प्राणादिभावोऽयं प्राणादीनां तमेव ये । निचिक्युस्ते विदुः साक्षादग्र्यं ब्रह्म सनातनम् ॥ निरपेक्षात्मनैवेह सर्वस्याऽऽत्मवतो यतः प्राणादेरात्मवत्ता स्यात्प्राणस्य प्राणमित्यतः ॥ अनात्मा हि स्वतोऽसिध्यन्स्वतःसिद्धमपेक्षते । आत्मनस्तु स्वतः सिद्धेर्नापेक्षाऽनात्मसंश्रयात् ॥ अन्यतः संगतिः सेयमविचारितसिद्धिका । अविद्योत्सङ्गसंस्थैव तत्त्वज्ञानाद्विनश्यति ॥ अकार्यकारणात्मैव कार्यकार

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानाऽस्ति किंचन। मृत्योः
स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १९ ॥

(परमार्थ ज्ञान से शुद्ध) मन के द्वारा ही आचार्य उपदेशपूर्वक ब्रह्म को देखना चाहिए। ब्रह्म में नाना कुछ भी नहीं है, फिर भी जो उसमें नाना के समान देखता है; वह मरण से मरण को करता है अर्थात् अज्ञान के कारण ही उसे बार-बार मरना पड़ता है ॥ १९ ॥

वत्यधिष्ठितानां हि चक्षुरादीनां दर्शनादिसामर्थ्यं न स्वतः काष्ठलोष्टसमानि हि तानि न्यात्मज्योतिः[1]शून्यानि। मनसोऽपि मन इति ये विदुश्चक्षुरादिव्यापारानुमितास्तित्वं गात्मानं न विषयभूतं ये विदुस्ते निचिक्युर्निश्चयेन ज्ञातवन्तो ब्रह्म पुराणं चिरंतन-यमग्रे भवम्। "[2]तद्यदात्मविदो विदुः" इति ह्याथर्वणे ॥ १८ ॥

चक्षुरादित्वं ब्रह्मणः सिध्यति तत्राऽऽह—ब्रह्मशक्तीति। [3]विमतानि केनचिदधिष्ठितानि प्रवर्तन्ते त्वाद्दास्यादिवदिति चक्षुरादिव्यापारेणानुमितास्तित्वं प्रत्यगात्मानं ये विदुरिति योजना क्रियाविषयत्वं व्यावर्तयति—नेति। प्रत्यगात्मविदां कथं ब्रह्मवित्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह नदिति ॥ १८ ॥

प्राण का भी प्राण तथा चक्षु का भी चक्षु और श्रोत्र का भी श्रोत्र जानते हैं क्योंकि ब्रह्म की शक्ति अधिष्ठित चक्षुरादिकों में दर्शनादि का सामर्थ्य है, स्वतः नहीं। चैतन्यात्मज्योति से अनधिष्ठित वे ष्ठ था लोष्ठ के समान हैं। वह प्रत्यगात्मा मन का भी मन है, ऐसा जो जानते हैं अर्थात् चक्षु आदि व्यापार से जिसकी सत्ता की अनुमिति होती है, उस प्रत्यगात्मा को जो "वह इन्द्रियों का विषय हीं है" ऐसा जानते हैं—वे उस "पुराणम्" अर्थात् चिरन्तन तथा "अग्रचम्" यानी आगे होने वाले ह्म को "निचिक्युः" अर्थात् निश्चयपूर्वक जानते हैं। इसी को आथर्वण मुण्डक श्रुति बतलाती है "जिसे वह ब्रह्मात्मैक्यविद् जानते हैं" इत्यादि ॥ १८ ॥

---

[1] तदनधिष्ठितानि। [2] मुं० उ.। [3] प्राणादीनि।

वस्तुनः। तत्त्वमुक्तं पृथिव्यादेर्नभोऽन्तस्याक्षरं परम्" ॥ ६४३-६४७ ॥ इति। पूर्वमन्त्रे विद्वान्ब्रह्मेत्युक्तं सा विद्या कथं स्यादित्यपेक्षायां यथा त्वंपदार्थविदां वाक्यार्थधीरूपा सोदेतीत्येतमर्थं प्राणस्येत्यादिर्मन्त्रो दर्शयतीत्यर्थः ॥ प्राणादीनां प्राणादित्वं किमित्यात्मकृतं स्वाभाविकमेव चैतन्यवत्किं न स्यात्तत्राऽऽह—निरपेक्षेति। आत्मा-नात्मनोर्मध्ये प्राणादेरनात्मनः सर्वस्याऽऽत्मवतः स्वार्थेनाऽऽत्मनैव यस्मादात्मवत्ता तस्मात्प्राणस्य प्राणमित्यादि-वाक्यं युक्तमिति योजना ॥ किंचानात्मा जाड्यान्न स्वतः स्फुरत्यनात्मत्वाच्च न स्वतोऽस्त्यतः सन्तं स्फुरन्तं चाऽऽत्मानमपेक्ष्यासौ सिध्यतीति प्राणादीनां प्राणादित्वं तत्कृतं युक्तमित्याह—अनात्मेति। उक्तहेतुद्वयसिद्धयर्थो हिशब्दः। आत्मनोऽपि तुल्यं सापेक्षत्वं स हि विषयसंविदाश्रयत्वेन सिध्यति तत्कथमात्मना प्राणादेरात्मवत्त्वमत आह—अन्यत इति। आत्मानात्मसंबन्धस्य कल्पितत्वफलमाह—तत्त्वेति ॥ ततश्चेत्तत्संगतिर्नश्यति तौ तर्हि विश्लिष्टौ स्वतन्त्रौ स्यातामित्याशङ्क्य पाञ्चमिकं स्मारयति—अकार्येति ॥

[1]तद्ब्रह्मदर्शने साधनमुच्यते [2]मनसैव परमार्थज्ञानसंस्कृतेनाऽऽचार्योपदेशपू

मनसो ब्रह्मदर्शनसाधनत्वे कथं ब्रह्मणो वाङ्मनसातीतत्वश्रुतिरित्याशङ्क्याऽऽह—पर थेंति। केवलं मनो ब्रह्माविषयीकुर्वदपि श्रवणादिसंस्कृतं तदाकारं जायते [3]तेन द्रष्टव्यं [4]तदु एव वृत्तिव्याप्यं ब्रह्मेत्युपगच्छन्तीति भावः। अनुशब्दार्थमाह—आचार्येति। द्रष्टृद्रष्टव्या

उस ब्रह्मदर्शन का साधन निरूपित किया जाता है। (अन्य साधनों को छोड़) परमार्थ से संस्कृत मन से ही आचार्योपदेशपूर्वक उसका दर्शन करना चाहिये। उस दर्शनविषयक ब्रह्म में

---

१. ते निचिक्युर्ब्रह्मेत्युक्तस्य ब्रह्मणो दर्शनोपायः क इत्यपेक्षायामाह—तद्ब्रह्मेति। २. मनसैवेत्येव व्यासेधयति। तदुक्तम्—"अवदध्रे यतश्चेयं मनसैवेति च श्रुतिः। मनोऽतिरिक्तेऽपेक्षा नैवातः साधनान्तरे" इति। "मनसैवेदमाप्तव्यमिति" श्रुत्यन्तरसमुच्चयार्थश्चकारः। साधनान्तरानुपलम्भं समुच्चेतुं द्वितीयः। तदाकारेण मनसा। ४. ब्रह्म।

❀ मनसैव परमार्थज्ञानसंस्कृतेनेति। मनसो ब्रह्मदर्शनसाधनत्वे विवदमानं प्रत्याहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि— "आत्मानात्मपदार्थेषु विज्ञानोत्पत्तिसाधनम्। मनः साधारणं दृष्टं सर्वज्ञानैकहेतुतः॥ प्रत्यक्चिदाकृति सर्वदा धर्मधर्मिणोः। हेत्वन्तरानपेक्षत्वादात्मत्वात्संनिधेः सदा॥ आत्माकृतिरतो नित्या तद्धेतोः संभवात्त अज्ञानादेश्च चिद्रूपं तद्याथात्म्यान्न वार्यते॥ धर्माधर्माद्यपेक्षत्वादन्यत्वाच्चान्यवस्तुनः। शब्दाद्याकारता त्कादाचित्की धियो भवेत्॥ यद्यपीमौ जगत्यस्मिन्नात्मज्ञानपुरःसरौ। शब्दाद्यनात्मविज्ञानभावा स्वभावतः॥ तथाऽप्यनुभवादेव प्रत्यक्तत्त्वानभिज्ञता। अनात्मबोधवत्सिद्धाऽविद्याऽतः प्रत्यगात्मनि॥ स्यापि चोत्पत्तिः कूपाकाशादिवत्ततः। प्रत्यग्याथात्म्यबोधस्य व्युत्पत्तेर्गुरुशास्त्रतः" ॥ ६५०-६५६॥ आत्मज्ञाने मनसः साधनत्वं नास्मत्साध्यं तस्य सर्वज्ञानसाधारणकरणत्वस्य सर्वेष्टत्वादित्याह—आत्मेति। साधारणकरणत्वस्येष्टत्वे हेतुमाह—सर्वेति। सर्वत्र ज्ञानहेतूनां मध्ये मनसोऽन्यतमत्वेन हेतुत्वादिति मनश्चेदनात्मज्ञानवदात्मज्ञानेऽपि साधनं तर्हि तद्गम्यत्वादात्मनोऽपि जाड्यापत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—प्रत्य धर्मिणो बुद्ध्यादेस्तद्धर्मस्य च ज्ञानादेः सदा चिदाभासव्याप्तिरस्ति तस्य स्वरूपलाभातिरेकेण चिद्व्याप्तौ न्तरानपेक्षत्वात्तथा च तस्मिन्बुद्ध्यादौ साधकत्वान्नाऽऽत्मनो जाड्यमित्यर्थः। उक्तं हेतुं साधयति—आत्म दिति। बुद्ध्यादेः स्वरूपत्वेन सदा चिदात्मनस्तत्र संनिधानादित्यर्थः॥ न केवलं बुद्धितद्धर्मयोरेव श्चिदाभासः किंतु सर्वस्येत्याह—आत्मेति। अतः संभवादिति संबन्धः। सर्वस्याऽऽत्माकारो नित्यस्तत्र हेतो संनिधेः सर्वत्र नित्यभावादस्य सर्वस्य प्रत्यक्त्वादित्यर्थः। कथं सर्वस्याऽऽत्माकृतिर्नित्या संशयादेस्तदभावादि शङ्क्याऽऽह—अज्ञानादेश्चेति। तद्याथात्म्यात्तस्यैव चिद्धातोरज्ञानादिस्वरूपत्वादतिरिक्तत्वाभावादिति आत्मप्रसादादेव सर्वस्य सत्ता स्फूर्तिश्चेत्यात्मनो न जाड्यं तद्दर्शने मनसः साधनत्वोक्तिस्तु सदा तदाकारस्य श्रवणादिसंस्कारापेक्षया कादाचित्कतद्रूपपरिणामधारित्वादिति वार्तिकयोस्तात्पर्यार्थः॥ सर्वधीसाधार मनसः किमित्यात्माकृतिर्नित्येति विशेष्यते तस्याऽनात्माकृतिरपि तथेत्याशङ्क्याऽऽह—धर्मेति। मनसः शब्दा कारता न नित्याऽदृष्टाद्यपेक्षत्वात्तदाकारतायाः शब्दादेरप्रत्यक्तया मनसि सदासांनिध्याभावाच्च तस्मादना कृतिर्न नित्येत्यर्थः॥ मनसः शब्दाद्याकृतेरनित्यत्वेऽपि सर्वस्याऽऽत्माकारो नित्यश्चेदात्मस्फूर्तिपूर्वकत्वात्त दिज्ञानभावाभावयोर्नात्माज्ञानं कदाचिदपि संभवेदात्मस्फूर्तिव्याप्तमनोवृत्त्या तन्निवृत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—यद्यपीमौ अनात्माकारधीवृत्तिभावाभावयोरात्मचैतन्यव्याप्तत्वेऽपि तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थबुद्धिवृत्तिरेवाद्वयप्रत्यङ्मात्र तदविद्यामपनुदति वृत्त्यन्तरं चिदाकारमप्याकारान्तरोद्ग्राहित्वान्न तामपनेतुमर्हति तस्मात्प्रतीच्यज्ञानमनु

नुद्रष्टव्यम् । तत्र च दर्शनविषये ब्रह्मणि ❀नेह नानाऽस्ति किंचन किंचिदपि । असति
नात्वे नानात्वमध्यारोपयत्यविद्यया । स मृत्योर्मरणान्मृत्युं मरणमाप्नोति । कोऽसौ ।

न भेदमाशङ्क्याऽऽह—तत्र चेति । ¹एवकारार्थमाह—नेहेति । कथमात्मनि वस्तुतो भेद-
ऽपि भेदो भातीत्याशङ्क्याऽऽह—असतीति । नेहेत्यादेः संपिण्डितमर्थं कथयति

किंचन" अर्थात् कुछ भी नहीं है । नानात्व के न रहने पर भी अविद्या से उसमें नानात्व का जो
आरोप करता है ; वह "मृत्योः मृत्युमाप्नोति" अर्थात् मरण से मरण को प्राप्त होता है । वह कौन

---

१. एवकारार्थमाहेति—एवकारस्य योऽर्थोऽवधारणरूपस्तमाहेत्यर्थः । उत्तरवाक्ये अपिशब्दयोजनया द्रष्टृद्रष्ट-
व्यादिभेदाभावमवधारयतीति यावदिति गुरुपादाः । यद्वा एवकारार्थमिति—मनसैवेत्येवकारसूचितं द्रष्टृद्रष्ट-
व्यादिभेदाभावमित्यर्थः । मनसैवेत्येवकारेण हि द्रष्टृद्रष्टव्यभावो मनःप्रयुक्त एवात्मन्यौपाधिको न वस्तुत इति
सूच्यत इत्यलम् । एवकारस्यैवंकारार्थकत्वम् "एवा न इन्द्रोऽतिथिभिः" ऋ. ४ । ३३ । ७ इत्यादि वेदे दृश्यते
तदाश्रित्याह—एवकारार्थमिति । यद्वा ननु मनसैवानुद्रष्टव्यमित्युक्तं कथं द्रष्टव्यमिति दर्शनप्रकारस्तु नोक्त इत्य-
पेक्षायां मनसैवेत्येवकारोऽयमेवंकारार्थको भिन्नक्रमश्च किञ्चनेत्यनन्तरानुषङ्गीत्यभिप्रेत्य तदर्थपरम् (एवकारार्थ-
परं) भाष्यमवतारयति—एवकारार्थमाहेति । एवकारस्यैवंकारार्थकत्वमाह स्म वाचस्पतिः । 'एवमित्यर्थे चेति
उदाजहार चात्र वैदिकं वाक्यम् "एवा न इन्द्रो ति(थि)भिरिति" ऋ. ४. ३३. ७ । एवा एवम् । भा०—अत्र
वेदे एवानुदूर्वे प्रतनु इत्यादिवद्दीर्घं इति च । न चात्रैव दर्शनप्रकारस्य प्रदर्शितत्वे सत्येकधैवानुद्रष्टव्यमित्युत्तरत्र
तत्प्रदर्शनवैयर्थ्यमिति शङ्क्यम् एकधैवेतिविधिमुखेन प्रकारप्रदर्शनमिदं तु निषेधमुखेनेति विशेषात् । यद्वा एव-
कारार्थमिति मनसैवेत्येवकारसूचितं द्रष्टृद्रष्टव्यभेदाभावमित्यर्थः । मनसैवेत्येवकारेण हि द्रष्टृद्रष्टव्यभावो मनः-
प्रयुक्त एवात्मनि प्रतिभाति न वस्तुत इति सूच्यत इत्यलम् ।
('एवकारार्थमिति—मनसाऽनुद्रष्टव्यमिति पदत्रयं व्याख्यायावशिष्टमित्यादिः) ।

दुरपह्नवमित्यर्थः ॥ अनुभवप्राप्तमर्थं निगमयति—अनात्मेति । अतःशब्दोऽनुभवार्थः ॥ भवतु प्रतीच्यज्ञानं तथाऽपि
तन्निवर्तते न वा न चेदनिर्मोक्षो निवर्तते चेन्निवर्तकमस्ति न वा न चेत्सदा निवृत्तिरस्ति चेत्किं कर्म ज्ञानं वा
नाऽऽद्योऽनभ्युपगमाद्द्वितीयेऽपि स्वरूपज्ञानं ज्ञानान्तरं वा नाऽऽद्यः सदा निवृत्त्यनिवृत्त्योरन्यतरापत्तेः श्रवणादि-
वैयर्थ्यप्रसङ्गाज्ज्ञानान्तरमपि जडमजडं वाऽऽद्ये नाज्ञानं निवर्तयेदविरोधाद्द्वितीये तदात्मनोऽर्थान्तरं चेदपराद्धान्त
आत्मैव चेत्तस्यापि कादाचित्कत्वप्रसक्तिः स्वरूपज्ञानपक्षोक्तदोषश्चेत्याशङ्क्याऽऽह—उत्पन्नस्येति । यथा नित्य-
सिद्धस्यैवाऽऽकाशस्य कूपाद्यवच्छिन्नस्योत्पत्तिस्तथा प्रत्यग्याथात्म्यरूपबोधस्य सदालब्धात्मकस्यापि शास्त्रा-
चार्यबलादहमस्मि ब्रह्मेतिधीवृत्त्युत्पत्तेरनन्तरं तदुपहितस्यैवोत्पत्तिरिष्टा ततश्च स्वरूपज्ञानस्यैव वाक्योत्थधीवृत्त्यु-
पहितस्याविद्याध्वंसित्वोपगमान्नावद्यमित्यर्थः ॥

❀नेह नानास्ति किंचन किंचिदपीति । अत्राहुर्वार्तिककारपादास्तथाहि—"दृश्यं चेन्मनसैवैतद्द्रष्टृत्वादिप्रभेदतः ।
पुनः प्रसक्तं नानात्वं मैवं यस्मान्निषिध्यते ॥ नेह प्रमाणतो मेयं यस्मान्नानाऽस्ति किंचन । अज्ञातं यदि वा ज्ञातं
वस्तु नानात्वमाङ्न हि ॥ नानात्वबुद्धये नालममितोऽर्थो यतस्ततः । अज्ञातः संशयज्ञातो मिथ्याज्ञातो न भित्तये ॥
सम्यग्ज्ञातोऽपि नैवार्थो द्वैतबोधकृदिष्यते । द्वैतकारणबाधेन सम्यग्ज्ञातत्वसिद्धितः ॥ मेयव्याप्तिश्च मानानां नान्य-
व्यावृत्तिवर्त्मना । व्यावर्त्येष्वपि तत्सक्तेर्न चापि लभतेऽवधिम् ॥ मेयेनैव समाप्तत्वात्ततोऽन्या व्यापृतिर्न च । नातो
वस्त्वन्तरव्याप्ति व्यावृत्तिं वाऽश्नुते प्रमा । व्यावृत्तेश्चाप्यवस्तुत्वान्न सद्वस्तूपलम्भनैः । प्रमाणैरपि संबन्धः प्रत्यक्ष-

य इह [1]नानेव पश्यति। [2]अविद्याध्यारोपणव्यतिरेकेण नास्ति परमार्थतो द्वैत
त्यर्थः ॥ १९ ॥

—अविद्येति ॥ १९ ॥

है ? जो यहाँ मिथ्याभूत नाना वस्तु को सत्यत्वरूप से देखता है। अविद्याजनित अध्यारोप से

---

१. मिथ्याभूतं नानावस्तु सत्यत्वेन पश्यतीत्यर्थः। २. अविद्येति—"अज्ञानप्रभवा लोका वादाश्चाज्ञानसंभवाः
विदितात्मसत्तत्वस्य नेह नानाऽस्ति किंचनेति" स्मृतेः ॥

प्रमुखैः क्वचित् ॥ अभावमात्रबोधित्वान्नाभावादपि भेदधीः। भावाभावावभावेन प्रत्यक्षेणेव नेक्षते ॥ यो
प्रत्यक्षतोऽभावं वादी कश्चित्समीक्षते। तावन्मात्रावसायित्वादद्वैतं नासावपीक्षते ॥ प्रत्यक्षस्यानुवृत्तिं च
तद्भिदां च सः। प्रत्यक्षेणैव सं पश्येत्कथमित्यभिधीयताम् ॥ यतो मानं न हीहास्ति नानात्वप्रतिपत्ते
खकार्ष्ण्यंवदतस्तत्स्यादविचारितसिद्धिकम् ॥ अज्ञातवस्तुहेत्वेव यस्मान्नाना ततोऽवदत्। मृत्योः स मृत्युमाप्नो
योऽत्र नानेव पश्यति" ॥ ६५८-६६९ ॥ इति। नेहेत्यादिव्यांवर्त्यां शङ्कामाह—दृश्यं चेदिति। न ब्रह्मा
नानात्वं तस्य निषिध्यमानत्वादित्याह—मैवमिति ॥ निषेधमेव दर्शयन्वाक्यं योजयति—नेहेति। तस्मान्न द्वै
प्रसक्तिरिति शेषः। प्रतिषेधं प्रपञ्चयति—अज्ञातमिति ॥ अज्ञातं वस्तु वस्तुनः सकाशाद्वस्तुतो न नानात्वभा
त्येतत्साधयति—नानात्वेति। मानेनागृहीतस्य भेदो न प्रामाणिक इत्यर्थः ॥ ज्ञातं वस्तु वस्तुतो न नाना
भागित्युक्तं व्यनक्ति—सम्यगिति। प्रत्यगर्थो हि शास्त्राचार्यवशाद्यथावदधिगतो न भेदज्ञानं करोति नाना
हेत्वज्ञाननिरासेन तस्य सम्यग्ज्ञातत्वादित्यर्थः ॥ ज्ञातमज्ञातं वा वस्तु न नानात्वभाक्चेत्कथं प्रत्यक्षादीनि नाना
मुल्लिखन्तीत्याशङ्क्य विधिमुखेन निषेधमुखेन वा तानि नानात्वं गोचरयन्तीति विकल्प्य द्वितीयं प्रत्य-
मेयेति। घटः पटो नेत्यन्यनिवृत्तिद्वारा मानानां न मेयव्याप्तिः पटादिषु व्यावर्त्येष्वप्यन्यव्यावृत्तिप्रसक्तेर्न
क्वचिद्विश्राम्येदतो न निषेधद्वारा मानप्रवृत्तिरित्यर्थः ॥ कल्पान्तरं निरस्यति—मेयेनेति। ततो वस्तुबोधनादि
यावत्। वस्तुमात्रबोधनेनैव मानानामुपक्षीणत्वान्न भेदाभेदगोचरतेत्यर्थः ॥ व्यापारान्तराभावोऽतःशब्दा
किंचान्यव्यावृत्तिरेव भेदोऽर्थान्तरं वा प्रथमे भेदस्य प्रत्यक्षादिग्राह्यत्वानुपपत्तिरित्याह—व्यावृत्तेश्चेति। व्यावृ
वत्तदन्तर्भूतभेदस्यावस्तुत्वमपेरर्थः। क्वचिदिति देशकालविषयोक्तिः ॥ प्रत्यक्षादिपञ्चकस्य व्यावृत्त्यबोधित्वे
षष्ठं मानं तां बोधयिष्यत्यतो भेदस्यापि प्रामाणिकतेत्याशङ्क्याऽऽह—अभावेति। योग्यानुपलब्धेरभाव
बोधित्वान्न ततो भावरूपभेदधीर्न हि भेदोऽन्यव्यावृत्तिरेव तथा सति तदवस्तुत्वेनाद्वैतापातादेतेन कल्पान्तर
प्रत्युक्तं व्यावृत्त्यतिरिक्तभेदे मानाभावादिति भावः। अभावस्याभावमानमेयत्वमङ्गीकृत्य भेदस्याप्रामाणिकत्व
संप्रत्यङ्गीकारं त्यजति—भावेति। अभावश्चेदभावेन गृह्यते भावोऽपि तेन ग्रहीतव्यस्तयोर्धर्मधर्मित्वात्
धर्मिणमगृह्णन्मानं तद्धर्मं गृह्णाति न च शब्दादेराकाशाद्यग्रहेऽपि श्रोत्रादिग्राह्यता दृष्टेति वाच्यं तत्रापि विप्रति
पत्तेस्तुल्यत्वाद्दृष्टिमात्रानुसारे च यौक्तिकत्वव्याघातान्न चाभावेन मानेन भावाभावौ कश्चिदपि निश्चिनोति
प्रत्यक्षेण भावे गृह्यमाणेऽपि नाभावो गृह्यते तथाऽभावेनापि नोभयग्रहः स्वयमतो ग्राहकत्वायोगात्तस्मादभाव
न तद्ग्राह्यताऽपीत्यर्थः ॥ प्रत्यक्षाभाववादिपक्षे दृष्टान्तासिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—योऽपीति। तन्मतेऽपि प्रत्य-
क्षस्यान्यव्यावृत्तिरूपाभावमात्रविषयत्वान्न भेदविषयतेत्याह—तावन्मात्रेति ॥ अभावस्य धर्मिप्रतियोगि
घटितत्वात्तद्ग्राहि प्रत्यक्षं कथं न भेदं गृह्णातीत्याशङ्क्याऽऽह—प्रत्यक्षस्येति। भेदवादी सर्वनाम्ना प
मृश्यते। समुपसर्गस्तु क्रियापदेन योजनीयः। तस्य विषयेष्वनुवृत्तिस्तेभ्यो व्यावृत्तिरवान्तरभेद

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम् । विरजः पर
आकाशादज आत्मा महान्ध्रुवः ॥ २० ॥

आचार्योपदेश के बाद उस ब्रह्म को (आकाश के समान अन्तर बाह्य शून्य एक मात्र विज्ञान-रूप से ही) देखना चाहिए। यह ब्रह्म किसी प्रमाण का विषय नहीं, ध्रुव, निर्मल, आकाश से भी , अजन्मा, आत्मा, महान् और अविनाशी है ॥ २० ॥

यस्मादेवं तस्मादेकधैवैकेनैव प्रकारेण विज्ञानघनैकरसप्रकारेणाऽऽकाशवन्निरन्त- ानुद्रष्टव्यम् । यस्मादेतद्ब्रह्माप्रमयमप्रमेयम् । [3]सर्वैकत्वात् । अन्येन ह्यन्यत्प्रमीयत इदं ज्ञातोऽप्रमेयम् ध्रुवं नित्यं कूटस्थमविचालीत्यर्थः । ननु विरुद्धमिदमुच्यतेऽप्रमेयं

द्वैताभावे कथमनुद्रष्टव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—यस्मादिति । तमेवैकं ,प्रकारं प्रकटयति—विज्ञा- । परिच्छिन्नत्वं व्यवच्छिनत्ति—आकाशवदिति । एकरसत्वं हेतूकृत्याप्रमेयत्वं प्रतिजानीते—यस्मा- । एतद्ब्रह्म यस्मादेकरसं तस्मादप्रमेयमिति योजना । हेत्वर्थं स्फुटयति—सर्वैकत्वादिति । ऽपि कथमप्रमेयत्वं तदाह—अन्येनेति । [6]मिथो विरोधमाशङ्कते—नन्विति । विरोधमेव स्फोर-

---

र्थतः द्वैत नहीं है—यह इसका भाव है ॥ १८ ॥

क्योंकि ऐसा (प्रत्यगभिन्न ब्रह्म में परमार्थतः द्वैत का अभाव) हैं, इसलिए "एकधैव" एक ही प्रकार से यानी आकाश के सदृश निरन्तर उस ब्रह्म को विज्ञानघन, अद्वितीय, रस रूप देखना चाहिये क्योंकि यह ब्रह्म "अप्रमयम्" यानी सर्वाभिन्न अद्वितीय होने से अप्रमेय है। अन्य से

---

१. यस्मादिति—यस्मात्प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि परमार्थतो द्वैताभावस्तस्मादित्यर्थः ।, २. एकेनैवेति—इत्थंभावे तृतीया । तथा चोक्तं वार्तिके—"एकेनैव प्रकारेण भास्वच्चिन्मात्ररूपिणा । शास्त्रैकमानतो ब्रह्म द्रष्टव्यं प्रत्यगात्मना" ॥ ६७४ ॥ इति । ३. सर्वैकत्वात्—सर्वाभिन्नत्वात् सर्वात्मकत्वादद्वैतत्वादिति यावत् । ४. अद्वितीयमिति यावत् । ५. सर्वैकत्वेऽपि । ६. मिथ इति—द्रष्टव्यमप्रमेयमिति पदयोरित्यादिः ।

ध्यक्षगोचरोंशतःस्वग्रहापत्तेर्नं च तद्ग्राहि मानान्तरमनवस्थानादतो नाध्यक्षं विषयभेदमपि साधये- स्मादगृहीतभेदत्वात्तद्वदित्यर्थः ॥ न किंचिदपि प्रत्यक्षतो नानात्वभागीत्युक्त्वा मानान्तरं नानात्वावेदक- मित्याशङ्क्याऽऽह—यत इति । इहेति वस्तूक्तिः ॥ नेहेत्यादि व्याख्याय मृत्योरित्याद्युक्तमुपजीव्याऽऽदत्ते— नातेति । सप्तमी पूर्ववत् ॥ अनन्तरं वार्तिकचतुष्टयमपि द्रष्टव्यं तथाहि—"समस्तव्यस्तताद‍ृष्टिरेकधैवेतिवाक्यतः । मिथ्येति गम्यते श्रौतान्मृत्योरिति च निन्दनात् ॥ एतदप्रमयं ब्रह्म मृत्युहेतोर्निषेधनात् । मृत्युर्वै तम इत्युक्तं तच्च धान्निराकृतम् ॥ एकधैव यतस्तत्त्वं सर्वस्य जगतस्ततः । क्रियाकारकसंभेदधीर्मृषेत्यवधार्यताम् ॥ यत्र हि द्वैत- मित्येवं यत्र त्वस्येति च श्रुतिः । नानात्वदृष्टेर्मिथ्यात्वं स्वयमेवावदत्पुरा" ॥ ६७५-६७८ ॥ इति । वाक्यस्य श्रौतार्थमुक्त्वाऽऽर्थिकार्थमाह—समस्तेति । तत्रव भेददृष्ट्यपवादस्यानुग्राहकत्वमाह—श्रौतादिति ॥ एतदित्या- देस्तात्पर्यमाह—एतदिति । जन्ममृत्युप्रमुखसर्वबन्धहेत्वज्ञानस्य वाक्योत्थज्ञानेन निषेधात्तस्य वस्तुबोधित्वाभावा- द्वस्तुनो युक्तममेयत्वमित्यर्थः । मृत्युरेव हिरण्यगर्भाख्यो हेतुस्तस्य निषेधेऽपि कथं ब्रह्मणोऽप्रमेयत्वमिति प्रतिभासं व्यावर्तयति—मृत्युरिति । सर्वप्रत्ययवेद्यं ब्रह्मेति स्थितेः कथमप्रमेयमित्याशङ्क्याऽऽह—एकधैवेति । भेदबुद्धे- मिथ्यात्वात्तद्ग्राह्यत्वमपि तादृगेव न च केवलस्य सर्वप्रत्ययवेद्यत्वमौपनिषदत्वादित्यर्थः ॥ भेदधीमिथ्यात्वे वाक्या- र्थमन्वयव्यतिरेकानुवादि दर्शयति—यत्र हीति ॥

[1]ज्ञायत इति च । ज्ञायत इति प्रमाणैर्मीयत इत्यर्थोऽप्रमेयमिति च [2]तत्प्रतिषेधः।
दोषः । [3]अन्यवस्तुवदागमातिरिक्तप्रमाणप्रमेयत्वप्रतिषेधार्थत्वात् । [4]यथाऽन्यानि वस्तून्या
गमनिरपेक्षैः [5]प्रमाणैर्विषयी क्रियन्ते न तथैतदात्मतत्त्वं प्रमाणान्तरेण विषयीकर्तुं शक्यते
[6]सर्वस्याऽऽत्मत्वे केन कं पश्येद्विजानीयादिति प्रमातृप्रमाणादिव्यापारप्रतिषेधेनैवाऽऽगमोऽपि

यति—ज्ञायत इतीति । चोदितं विरोधं निराकरोति—नैष दोष इति । संगृहीतं समाधानं
यति—यथेत्यादिना । [7]तस्य मानान्तरं विषयीकर्तुमशक्यत्वे हेतुमाह—सर्वस्येति । इति सर्वद्वैतोपशान्ति
श्रुतेरिति शेषः । आगमोऽपि तर्हि कथमात्मानमावेदयेदित्याशङ्क्याऽऽह—प्रमात्रिति ।

अन्य की प्रमा होती है, यह ब्रह्म तो अद्वितीय है, इसलिए अप्रमेय है "ध्रुवम्" अर्थात् नित्य-कूटस्थ
अर्थात् स्वरूप में स्थित रहने वाला है ।(इस पर शङ्का होती है—) किन्तु ब्रह्म अप्रमेय भी है,
दर्शन करना चाहिये; इन दोनों बातों में परस्पर विरोध है । "जाना जाता है" इससे तो उस
प्रमाणमान सिद्ध हुआ और "वह अप्रमेय है" इससे उसका निषेध हो जाता है । (इस पर सिद्धान्ती
कहता है—) इसमें कोई दोष नहीं है क्योंकि 'अप्रमेय" यह कथन अनात्मवस्तु के समान
आगमातिरिक्त प्रमाण से प्रमेयत्व का प्रतिषेध करने के लिए है । जिस प्रकार अनात्मभूत अन्य वस्तु
आगम प्रमाण की अपेक्षा न रखते हुए प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय होती हैं, उसी प्रकार यह आत्मतत्त्व
प्रमाणान्तरों से विषय नहीं किया जा सकता । सभी दृश्यों के आत्मा होने पर "किस के द्वारा किसे

---

१. द्रष्टव्यमित्यस्यार्थोऽयम् । २. प्रमेयत्वप्रतिषेधः । ३. अनात्मवस्तुवत् । ४. अनात्मभूतानि ।
प्रत्यक्षादिभिः । ६. दृश्यस्य । ७. आत्मतत्त्वस्य ।

---

* नैष दोष इत्यारभ्योभयमप्यविरुद्धमेवेत्यवसानभाष्यान्तर्निहितार्थोद्घाटकं वार्तिकवृन्दमुपन्यस्यते—
मानसंबन्धे प्रमेय इति गीरियम् । प्रमाफलं त्वप्रमेयं यतो नातो विरुद्धता ।। अज्ञानवस्तुना योगो
यतस्ततः । ज्ञातस्य चाप्रमेयत्वान्नापेक्षा मानसंगतौ ।। फलात्मनैव तन्मानं न तु मात्रादिरूपतः । अभिव्यनक्ति
ज्ञातं नातोऽस्य स्यात्प्रमेयता ।। तरावेव च्छिदा यद्वद्द्वैधीभावे तु नेष्यते । प्रमेयत्वं तथाऽज्ञाते न तु
फलात्मता ।। आगमोऽपीममात्मानं तत्तमोध्वस्तिवर्त्मना । अवबोधयतीत्येवं भण्यते दृष्टितत्त्वतः ।। स्वतःसिद्ध
सिद्धिरज्ञातादपि चाऽऽत्मनः । सिद्ध्यसिद्ध्योः प्रमात्रादेस्तत्सिद्धौ किमपेक्षते ।। ज्ञानव्याप्तिर्हि शब्दादौ
प्रकृतित्वतः । अकार्यकारणे व्याप्तिः कथं स्यात्प्रत्यगात्मनि ।। शब्दप्रवृत्तिहेतूनां प्रत्यगात्मन्यसंभवात् ।
धानाभिधेयत्वसंगत्याऽतः प्रबोध्यते ।। प्रत्यगज्ञानहेतूत्थो यत्रानात्मा प्रसिध्यति । ज्ञातृज्ञेयप्रभेदः स्यात्तत्र
गनात्मनोः ।। यत्र त्वात्मैव मेयः स्यात्तत्र मेयातिरेकतः । कः प्रमाता प्रमाणं वा यमेवेति तथा श्रुतिः
मानापेक्ष्येव यो भावः स एवामानतो न सन् । मानानपेक्षसिद्धिस्तु कस्मान्मानमपेक्षते ।। मातृमानप्रमे
प्रत्यक्त्वादात्मवस्तुनः । नातः प्रमेयता तस्य स्वतश्चावगमात्मनः । प्रमातत्फलयोर्भित्तेर्नेह चोद्यस्य
क्रिययोर्हि प्रभेदे तत्किं पूर्वमिति चोद्यते ।। अपीतकरणग्रामः पुमान्यद्वत्सुषुप्तगः । शब्दान्निद्रामपास्याथ
वस्त्ववबोध्यते ।। अगृहीत्वैव संबन्धमभिधानाभिधेययोः । हित्वा निद्रां प्रबुध्यन्ते यथेहापि तथाऽऽत्मनि ।।
शक्तेरचिन्त्यत्वादात्मत्वाद्बोधरूपिणः । तत्साक्ष्यत्वाच्च निद्राया विघ्नस्तं मोहहानतः" ।। ६८३-६९८ ।।
यत्तु द्रष्टव्यमप्रमेयमिति विरोधवचनं तस्यापि पूर्वोक्तं परिहारं स्मारयन्सामान्यन्यायमाह —मेयस्येति ।।
प्रकृते किमायातं तदाह—यत इति । प्रमाणभूमिः सप्तम्यर्थः । चकारोऽवधारणार्थः सन्पञ्चम्यनन्तरं

ज्ञापयति 'न त्वभिधानाभिधेयलक्षणवाक्यधर्माङ्गीकरणेन । 'तस्मान्नाऽऽगमेनापि स्वर्ग-
र्वादिव 'तत्प्रतिपाद्यते । प्रतिपादयित्रात्मभूतं हि तत् । प्रतिपादयितुः' प्रतिपादनस्य
प्रतिपाद्यविषयत्वात् । भेदे हि सति तद्भवति ।

स्वर्गादि'वद्विषयत्वेनाऽऽगमप्रतिपाद्यत्वाभावे हेतुमाह—प्रतिपादयित्रेति । तथाऽपि किमिति विषयत्वे-
प्रतिपाद्यत्वं तत्राऽऽह—प्रतिपादयितुरिति । तदिति प्रतिपाद्यत्वमुक्तम् ।

वा जाने" इस प्रकार श्रुति भी प्रमाता-प्रमाणादि व्यवहार के प्रतिषेध द्वारा ही उसका बोध कराती
है; शक्तिमान् पदों द्वारा शक्यार्थों का लक्षण परस्पर संसृष्टतया बोधनात्मक वाक्यधर्म अङ्गीकार
करके नहीं। इसलिए (उस निःसामान्य विशेष रूप से सर्वथा अविषय होने के कारण) शास्त्र भी उस
ब्रह्म का स्वर्ग या मेरु आदि के समान प्रतिपादन नहीं करता, क्योंकि प्रतिपादन करने वाले का
प्रतिपादन तो प्रतिपाद्यविषयक होता है और यह प्रतिपाद्य भेद होने पर ही सम्भव है।

---

१. ननु स्वजन्यज्ञानविषयत्वेन (शक्त्या) एवागमः प्रत्यञ्चं विज्ञापयेदित्यत आह—न त्वभिधानाभिधेयेत्यादि । शब्दप्रवृत्तिहेतूनां जात्यादीनां प्रत्यगात्मन्यसंभवादिति शेषः । अभिधानाभिधेययोर्लक्षणः संबन्धः । वाक्यधर्म-आसत्तियोग्यताऽऽकाङ्क्षातात्पर्यज्ञानानि तयोः स्वीकारेण न तु विज्ञापयति इत्यर्थः । शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाद्य-थोक्तवाक्यधर्माद्यनपेक्ष्यैव स्वनामोद्घोषे निद्रितो यद्वदर्थमवबुध्योत्तिष्ठति तद्वदिति स्पष्टं वार्तिके । यद्वा अभिधानैः शक्तिमद्भिः पदैरभिधेयानां लक्षणं परस्परं संसृष्टतया बोधनं तदात्मकवाक्यधर्माङ्गीकारेणेत्यर्थ इत्याहुः ।
२. तस्य निःसामान्यविशेषत्वेन सर्वथाऽविषयत्वात् । ३. ब्रह्म । ४. कर्तरि षष्ठी । ५. शक्तिवृत्त्येति यावत् ।

कथममेयत्वे द्रष्टव्यत्वाधीना मेयतेत्याशङ्क्याऽऽह—फलात्मनेति । तद्धि स्वप्रकाशे प्रतीचि प्रवृत्तं प्रमाणविषय-
संविद्रूपतयैव तं नोऽस्माकं साक्षाद्बोधयति न तु मात्राद्यपेक्षया विषयी करोत्यतो वृत्तिव्याप्यत्वं कल्पितं फला-
व्याप्यत्वं तु वास्तवमित्यविरोध इत्यर्थः ॥ फलाव्याप्यत्वेऽपि वृत्तिव्याप्यत्वं वास्तवं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह
—तराविति ॥ आत्मनि फलव्याप्यत्वमपीतरवत्कल्प्यमौपनिषदत्वात्तस्येत्याशङ्क्याऽऽह—आगामोऽपीति । न हि
वृत्तिव्याप्यत्वादृते प्रतीचः संविद्व्याप्यत्वं कल्प्यं तदात्मत्वादित्यर्थः ॥ इतश्चाऽऽत्मनो न तद्व्याप्यतेत्याह—स्वतः-
सिद्धादिति । मात्रादिभावाभावयोर्यत्प्रसादात्सिद्धिस्तस्य स्वप्रकाशस्याज्ञातस्य मानजन्यवृत्तिव्याप्यतया सिद्धत्व-
व्यवहारे नान्यसंविदपेक्षेत्यर्थः ॥ किंच वृत्तिव्याप्यत्वमपि तस्य दुर्वचनमित्याह—ज्ञानेति । तत्रोभयसंप्रतिपत्त्यर्थो
हिशब्दः । शब्दादौ ज्ञानव्याप्तिरित्यत्र हेतुमाह—एकेति । शब्दादेर्बुद्धिवृत्तेश्चाविद्योपादानत्वादित्यर्थः । आत्मनि
तु न ज्ञानव्याप्तिरित्याह—अकार्येति । एकभूतप्रकृतित्वे सति रूपचक्षुषोर्ग्राहकत्वं दृष्टं न चाऽऽत्मनो ज्ञानेनैक-
प्रकृतिकत्वमकार्यकारणत्वात्तन्न तत्र वृत्तिरूपस्यापि ज्ञानस्य व्याप्तिरित्यर्थः ॥ आत्मनः शाब्दज्ञानाविषयत्वे
हेत्वन्तरमाह—शब्देति । अतोऽसंभवादिति संबन्धः । प्रतीचः संविदव्याप्यत्वे हेत्वन्तरं वक्तुं भूमिकां करोति—
प्रत्यगिति । यस्यां खल्वविद्यावस्थायामात्माज्ञानजोऽनात्मा ज्ञायते तत्र प्रतीचोऽनात्मनश्च ज्ञातृज्ञेयभावेन भेदप्रति-
भासो भवेद्यत्र हीत्यादिश्रुतेरतस्तत्राऽऽत्मनि न ज्ञानव्याप्तिरित्यर्थः ॥ विद्यावस्थायामुपन्यस्यति—यत्र त्विति ।
यस्यां विद्यावस्थायामात्मैवाद्वयो वाक्योत्थबुद्धिवृत्त्या व्याप्यते तत्राऽऽत्मातिरेकतो मात्रादेरभावान्न संविद्व्याप्यता
यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवेत्यादिश्रुतेरित्यर्थः । मात्राद्यभावे श्रुत्यन्तरं संवादयति—यमेवेति । यमेवैष वृणुते तेन

ज्ञानं च तस्मिन्परात्मभावनिवृत्तिरेव । न [1]तस्मिन्[2]साक्षादात्मभावः कर्तव्यो विद्यमानत्वादात्मभावस्य । [3]नित्यो ह्यात्मभावः सर्वस्यातद्विषय इव प्रत्यवभासते । [4]तस्मादतद्विषयाभासनिवृत्तिव्यतिरेकेण न तस्मिन्नात्मभावो विधीयते । [5]अन्यात्मभावनिवृत्तावात्मभावः [6]स्वात्मनि स्वाभाविको यः स [7]केवलो भवतीत्यात्मा ज्ञायत इत्यु

कथं [8]तर्हि [9]तस्मिन्नागमिकं ज्ञानं तत्राऽऽह—ज्ञानं चेति । परस्मिन्देहादावात्मभावस्याऽऽरोपितस्य निवृत्तिरेव वाक्येन क्रियते [10]तथा चाऽऽत्मनि परिशिष्टे स्वाभाविकमेव स्फुर प्रतिबन्धविगमात्प्रकटी भवतीति भावः । ननु ब्रह्मण्यात्मभावः श्रुत्या कर्तव्यो विवक्ष्यते न तु देहादा त्मत्वव्यावृत्तिरत आह—न तस्मिन्निति । ब्रह्मणश्चेदात्मभावः सदा मन्यते कथमन्यथा प्रये शङ्कयाऽऽह—नित्यो हीति । सर्वस्य पूर्णस्य ब्रह्मण इत्येतत् । अतद्विषयो [11]ब्रह्मव्यतिरिक्तविष इत्यर्थः । ब्रह्मण्यात्मभावस्य सदा विद्यमानत्वे फलितमाह—तस्मादिति । अतद्विषयाभासो देहादा त्मत्वप्रतिभासः । तस्मिन्ब्रह्मणीत्यर्थः । अन्यस्मिन्नात्मभावनिवृत्तिरेवाऽऽगमेन क्रियते चेत्तर्हि कथमात्मा तेन गम्यत इत्युच्यते तत्राऽऽह—अन्येति । यद्यागमिकवृत्तिव्याप्यत्वेनाऽऽत्मनो [12]मेयत्वमिष्यते कथं त

अनात्मवस्तुओं में अध्यारोपित आत्मभाव की निवृत्ति होने का नाम ज्ञान है । उस ब्रह्म में (परात्मभाव निवृत्तिव्यतिरेक से) साक्षात् आत्मभाव नहीं करना है क्योंकि आत्मभाव उसमें विद्यमान रहता है। ब्रह्म से आत्मभाव नित्य सिद्ध है, ब्रह्मातिरिक्त देहादिविषयक के समान वह भासता है। इसलि देहादि में आत्मत्व प्रतिभास की निवृत्ति के बिना ब्रह्म मे आत्मभाव का विधान नहीं किया जा सकता। देहादि में आत्मभाव की निवृत्ति होने पर स्वात्मभूत ब्रह्म में जो स्वाभाविक आत्मभाव है; वह अप्रतिबद्ध हो जाता है। इसीसे "आत्माज्ञान होता है" ऐसा कहा जाता है। किन्तु स्वयं वह अप्रमेय है, स्वरूप

---

१. ब्रह्मणि । २. परात्मभावनिवृत्तिव्यतिरेकेण । ३. सदातनः । ४. अवतरणोक्तत्वात् । ५. देहादिषु आत्मभावनिवृत्तौ । ६. स्वात्मभूते ब्रह्मणि । ७. असंकीर्णोऽप्रतिबद्धः । ८. तर्हि—आत्मनो विषयत्वेन प्रतिपाद्यत्वाभावे । ९. तस्मिन् आत्मनि । १०. तथा च—अध्यारोपितस्य देहात्मभावस्य निवृत्तिश्च । ११. ब्रह्मेति—ब्रह्मातिरिक्तो देहादिर्विषयो यस्येति विग्रहः । १२. मेयत्वमिति—द्रष्टव्यमितिपदेन सूचितमित्यर्थः । ज्ञायत इत्युक्तं च ।

लभ्य इति श्रुतेर्मात्रादिविभागाभावः । एष हि परो यमेवं साधकं मामयं प्रत्यक्त्वेन प्रतिपद्यतामित्यनुगृह्णा स तेन तथा शक्यो ज्ञातुमिति श्रुत्यर्थः । तत्कुतो मात्रादिभेदसिद्धिरित्यर्थः ॥ मानातिरेकि मेयमाक्षिप्यते चेत्तस्याऽऽत्मनोऽसत्त्वं मानसिद्धस्यैव सत्त्वादित्याशङ्क्याऽऽह—मानेति । आत्मनोऽपि वस्तुत्वादस्ति मानापेक्षेति चेन्नेत्याह—मानानपेक्षेति ॥ स्वप्रकाशस्य न मानापेक्षेत्यर्थः ॥ इतश्चाऽऽत्मनो न ज्ञानव्याप्यतेत्याह—मात्रेति । अतः प्रत्यक्त्वादिति संबन्धः । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—स्वतश्चेति । स्वरसतः स्फुरत्स्वरूपत्वादात्मनो न मानव्याप्यता वेदान्तास्तु तदाकारां वृत्तिमुत्पादयन्तस्तदज्ञाननिवर्तकतया तत्र प्रमाणमिति भावः ॥ ज्ञानाज्ञानध्वस्त्योरनिश्चितपौर्वापर्ये कथं तद्ध्वस्तिर्मानफलमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रमेति । न हि फलान्तरं मानस्याऽऽत्मनि संभाव्यते तत्प्रमायास्तत्फलस्य चाज्ञानध्वस्तेर्हेतुफलभावेन पौर्वापर्यस्य व्यवस्थितत्वादनयोर्मध्ये किं पूर्वमिति न वाच्यमित्यर्थः । तत्तर्हि कुत्र सावकाशमिति तत्राऽऽह—क्रिययोरिति । तत्क्रमस्यानिर्धारितत्वं हिशब्दार्थः । पौर्वापर्य

[1]तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।

बुद्धिमान ब्राह्मण को उस ब्रह्म को ही जानकर उसी में बुद्धि लगानी चाहिये । बहुत शब्दों

ते । स्वतश्चाप्रमेयः [2]प्रमाणान्तरेण न विषयी क्रियत इत्युभयमप्यविरुद्धमेव । [3]विरजो
गतरजो रजो नाम धर्माधर्मादिमलं तद्रहित इत्येतत् । परः परो [4]व्यतिरिक्तः सूक्ष्मो
पी वाऽऽकाशादप्यव्याकृताख्यात् । अजो न जायते [5]जन्मप्रतिषेधादुत्तरेऽपि भाव-
कारा: प्रतिषिद्धाः । सर्वेषां जन्मादित्वात् । आत्मा [6]महान्परिमाणतो महत्तरः [7]सर्व-
त् । [8]ध्रुवोऽविनाशी ॥ २० ॥

मेयत्ववाचो युक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—स्वतश्चेति । [9]वृत्तिव्याप्यत्वेन मेयत्वं स्फुरणाव्याप्यत्वेन
मेयत्वमित्युपसंहरति— इत्युभयमिति । यदुक्तं ध्रुवत्वं [10]तदुपस्कारपूर्वकमुपपादयति—विरज
दिना । कथं जन्मनिषेधादितरे विकारा निषिध्यन्ते तत्राऽऽह—सर्वेषामिति ॥ २० ॥

रिक्त अन्य प्रमाण का विषय नहीं होता । इसलिए अप्रमेय और ज्ञान दोनों उस ब्रह्म में रहने पर भी
ई विरोध नहीं आता । "विरजः" पद में "रज" नाम धर्माधर्मादि मल का है । उससे जो रहित हो;
से विरज अथवा विगतरज कहते हैं । "परः आकाशात्" अर्थात् अव्याकृत संज्ञक आकाश से भी
तिरिक्त सूक्ष्म अथवा व्यापक है । "अजः" अर्थात् जो जन्मता नहीं, जन्मप्रतिषेध करने से पाँच अन्य
व विकार भी ब्रह्म में प्रतिषिद्ध है क्योंकि सबका आरम्भ जन्म रूप विकार से होता है । आत्मा
आकाशादि सभी से "महान्" अर्थात् महत्तर परिणाम वाला है, "ध्रुवः" अर्थात् अविनाशी
है ॥ २० ॥

---

१. तमेवेति—विरजस्त्वादिविशेषणकमात्मानं विज्ञाय । तत्त्वंपदार्थयोः शुद्धिं संपाद्येति यावत् । प्रज्ञां वाक्यार्थ-
भूताम् । स्वरूपाभिव्यक्तिरूपां मोक्षसंपादिकाम् । कुर्वीत—तत्त्वमस्यादिवाक्यवशादेव सम्पादयेत् । २. स्वरूपा-
तिरिक्तप्रमाणेति यावत् । ३. विरजो विगतरज इति । रजशब्दः खल्वदन्तोऽपि भवतीति तथा प्रयुक्तः ।
तथा च अजयः "रजोऽयं रजसा सार्धं स्त्रीपुष्पगुणधूलिष्विति" कोशकृदाह । ४. विरजस्त्वादेव । ५.
अजविशेषणस्यार्थिकमर्थमाह—जन्मेति । ६. महान्—विशेषणत्रयविशिष्टत्वादेव । ७. सर्वस्मात्—यथोक्ता ।
काशादेः सकाशात् । ८. महत्त्वादेव च ध्रुवः । ९. वृत्तिव्याप्यत्वेनेत्यादि—"चक्षुः संनिहितं कुम्भं यथा
सूर्योऽवभासयेत् । चित्तवृत्त्या तथा व्याप्तं चिदात्मैव प्रकाशयेत् ॥ स्वयं प्रकाशं चिदात्मानं वृत्तिरात्मान्तरं विना ।
भासयेद्भास्करमिव चक्षुः सूर्यान्तरं विना ॥ वृत्तिव्याप्तिमपेक्ष्यैव वेद्यत्वं प्राहुरात्मनः । चिदन्तरानपेक्षत्वादवेद्यत्वं
तथाऽऽगमाः" ॥ इति हि स्मरन्ति । १०. हेतुपूर्वकमिति यावत् ।

तदित्युच्यते ॥ नन्वात्मनि शाब्दी प्रमैव नोत्पद्यते जात्यादिहीने तस्मिन्नगृहीतसंगतेः शब्दस्याबोधकत्वात्तद्दूरापेतं
प्रमातत्फलयोः पौर्वापर्यं तत्राज्ञातसंगतेरपि शब्दस्य बोधकत्वे दृष्टान्तमाह—अपीतेति । तदनुभवस्याऽनुभविकत्व-
द्योतकोऽयशब्दः ॥ दृष्टान्ते विवक्षितमंशमनूद्य दार्ष्टान्तिकमाह—अगृहीत्वेति ॥ दार्ष्टान्तिकं स्फुटयति—शब्देति ।
तस्य हि महिमा न प्राकृतोऽवसेयस्तस्यातीतानागतवर्तमानादिषु तुल्यत्वात् । उक्तं हि चोदना हि भूतं भवन्त-
मित्यादि । तदज्ञातशक्तिको न बोधयत्ययमित्यशक्यं निश्चेतुमित्यर्थः । किंच बोधस्य स्फुरद्रूपत्वाद्बोधका-
पेक्षैव नास्तीत्याह—आत्मत्वादिति । अज्ञातमात्मवस्तु वेदान्तवेद्यमित्यङ्गीकारस्तर्हि कथं तत्राऽऽह—तत्साक्ष्य-
त्वादिति ॥

नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनꣳ हि तदिति ॥ २१ ॥

का चिन्तन न करे क्योंकि वह तो वाणी का परिश्रम मात्र ही है ॥ २१ ॥

तमीदृशमात्मानमेव धीरो धीमान्विज्ञायोपदेशतः शास्त्रतश्च प्रज्ञां शास्त्राचार्योपदिष्टविषयां [1]जिज्ञासापरिसमाप्तिकरीं कुर्वीत ब्राह्मणः। एवं प्रज्ञाकरणसाधनानि संन्यासशमदमोपरमतितिक्षासमाधानानि कुर्यादित्यर्थः। नानुध्यायान्नानुचिन्तयेद्[2]बहून्प्रभूताञ्छब्दान्। तत्र बहुत्वप्रतिषेधात्[3]केवलात्मैकत्वप्रतिपादकाः स्वल्पाः शब्दा अनुज्ञायन्ते। "[4]ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्[5]" "[6]अन्या वाचो विमुञ्चथ" इति चाऽऽथर्वणे। वाचो विग्लापनं विशेषेण ग्लानिकरं [7]श्रमकरं हि यस्मात्तद्बहुशब्दाभिध्यानमिति ॥ २१ ॥

यथोक्ते वस्तुनि दर्शनं निगमयति—तमीदृशमिति। [8]नित्यशुद्धत्वादिलक्षणमिति यावत्। उक्तरीत्या प्रज्ञाकारणे कानि साधनानीति चेत्तानि दर्शयति—एवमिति। काम्यनिषिद्धत्यागः संन्यास उपरमो नित्यनैमित्तिकत्याग इति भेदः। बहूनिति विशेषणवशादायातमर्थं दर्शयति—तत्रेति। चिन्तनीयेषु शब्देष्विति यावत्। [9]तत्र श्रुत्यन्तरं संवादयति—ओमित्येवमिति। नानुध्यायादित्यत्र हेतुमाह—वाच इति। तस्माद्बहूञ्छब्दान्नानुचिन्तयेदिति पूर्वेण संबन्धः। इतिशब्दः श्लोकव्याख्यानसमाप्त्यर्थः ॥ २१ ॥

"धीरः" अर्थात् बुद्धिमान् ब्रह्मवेत्ता "तमेव" अर्थात् उस आत्मा को ही "विज्ञाय" अर्थात् आचार्योपदेश और शास्त्र से जानकर "प्रज्ञां कुर्वीत" शास्त्र-आचार्योपदिष्ट विषयक एवं सभी शोक और आकांक्षाओं को शमन करने वाली प्रज्ञा करे। इस प्रकार संन्यास, शम दम, उपरति तितिक्षा और समाधान इन प्रज्ञाकारक साधनों का अनुष्ठान करे। "बहून्" अर्थात् बहुत शब्दों का "नानुध्यायात्" अर्थात चिन्तन न करे। यहाँ बहुत्व का प्रतिषेध कर केवल आत्मैकत्व प्रतिपादक थोड़े शब्दों के चिन्तन की आज्ञा दी जाती है। आथर्वण मुण्डक श्रुति में भी कहा है—"उस आत्मा का 'ॐ' इस प्रकार से ध्यान करे", "अनात्मप्रतिपादिका अपरविद्या रूप वाणी का बोलना त्याग करे' इत्यादि। "वाचो विग्लापनं हि तत्" यानी बहुत शब्दों का अनुचिन्तन तो वाणी को विशेष रूप से ग्लानि अथवा श्रम उत्पन्न करने वाला है ॥ २१ ॥

---

१. अशेषशोकाकाङ्क्षादिशमनकरीम्। २. वहूञ्छब्दानिति—अनात्मबोधिन इति शेषः। शमादीनामुक्तप्रज्ञासाधनत्वेन विधास्यमानत्वादनात्मवाचिशब्दानुसंधानस्य च तद्विरोधित्वादिति भावः। बहुशब्दोपादानं स्वल्पानुवादार्थमनात्मवाचिशब्देषु बहुत्वस्य प्रसिद्धत्वादिति द्रष्टव्यम्। ३. केवलेत्यनात्मवाचिशब्दो व्यावर्त्यते। ४. मुमुक्षुणाऽनात्मवाचिकर्मकाण्डाख्यशब्दानुसंधानं न कार्यमित्यत्र श्रुत्यन्तरं प्रमाणयति—ओमिति। प्रणवावलम्बेनेत्यर्थः। ५. मुं. उ.। ६. अनात्मप्रतिपादिका अपरविद्यारूपाः। ७. नानात्मशब्दानुध्यानस्य श्रमातिरिक्तं फलमिति भावः। ८. ईदृशं विरजस्त्वादिविशेषणवन्तमित्यर्थं इत्यभिप्रेत्याह—नित्येति। ९. तत्रेति—आत्मैकत्वप्रतिपादकस्वल्पशब्दानुज्ञायाम्। अनात्मवाचिशब्दानुसंधानप्रतिषेधे चेत्यर्थः।

'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः

यह वह महान अजन्मा आत्मा है, जो कि यह प्राणों में विज्ञानमय स्वयं ज्योति स्वरूप है।

'सहेतुकौ बन्धमोक्षावभिहितौ मन्त्रब्राह्मणाभ्यां श्लोकैश्च पुनर्मोक्षस्वरूपं विस्त-

---

कण्डिकान्तरमवतारयितुं वृत्तं कीर्तयति—सहेतुकाविति। उत्तरकण्डिकातात्पर्यमाह

मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के द्वारा बन्ध और मोक्ष का सहेतुक प्रतिपादन किया गया। फिर कात्मक) मन्त्रों के द्वारा मोक्ष के स्वरूप का विस्तार से निरूपण किया गया। इस प्रकार इस

---

१. अथ विविदिषावाक्येन ब्रह्मात्मनि सर्वस्य वेदस्य विनियोगकथनार्थं तावदस्मिन्नध्याये उक्तं सफलमात्मज्ञानं वा एष इत्याद्यसंभेदायेत्यन्तेनानुवदति—स वा इति। स ज्योतिर्ब्राह्मणोक्तो जीवः एषोऽत्राव्यवहितोक्तः रमात्मा। एवमुक्तमैक्यं प्रकटीकर्तुमेषशब्देन विरज इत्याद्युक्तः परमात्माऽभिहितः इति द्योतयितुं तत्स्थं विशेषणद्वयमाह—महानज आत्मेति। सशब्देन ज्योतिर्ब्राह्मणोक्तो जीवोऽभिहित इति द्योतयितुं तत्स्थं विशेषणद्वयमाह—योऽयं विज्ञानमयः प्राणेष्विति। उभयोरैक्यलक्षणो वाक्यार्थः सामानाधिकरण्येनाभिहितः इति द्योतयितुमत्रैवोक्तमाह—य इति। संप्रसादसमये य एषोऽन्तर्हृदये आकाशः परमात्माख्यः बुद्ध्याद्याश्रयो वा तस्मिन् रूपेण विज्ञानमयः शेते एकीभूतो वर्तते बुद्ध्यादिसाक्षिरूपेण वा वर्तत इत्यर्थः। २. सहेतुकाविति—तदेव सक्तः सह कर्मणैतीत्यादि मन्त्रेण स यत्रायमात्माऽनल्पं न्येतीत्यादि ब्राह्मणेन च कामादिहेतुसहितो बन्धो मुमुक्षुणा हेयत्वेनाभिहितो "यदा सर्वे प्रमुच्यन्त" इत्यादिमन्त्रेण "अथाकामयमान" इत्यादिब्राह्मणेन च तेषानापेक्ष्यत्वेन सम्यग्धीहेतुको मोक्षोऽभिहितः। पुनश्च तत्स्वरूपं श्लोकैर्विप्रपञ्चितमित्यर्थः॥

स वा एष महानित्याद्यसंभेदायेत्यन्तोपनिषद्वाक्यतद्भाष्यान्तर्निहितार्थोद्घाटकं वार्तिकवृन्दमुपन्यस्यते। तथाह—"नानुध्यायाद्बहूञ्शब्दानिति कस्मादिहोच्यते। अल्पीयसां वा न त्यागः कस्मादित्यभिधीयताम्॥ यदि वा भिन्नवाक्यत्वस्याल्पीयसोऽत्यागे तत्र तावदिहोच्यते। हेतुस्त्रय्यास्तु संत्यागे तमेतमिति वक्ष्यते॥ यदि वा भिन्नवाक्यत्वात्कर्मविज्ञानकाण्डयोः। वेदान्तैः कर्मकाण्डस्य परस्परविरोधतः॥ हेतुतां प्रतिपद्यन्ते कर्माण्यपि विमुक्तये। बुद्धेः संस्कारकत्वेन यथा तदभिधीयते॥ पूर्वो भागः समस्तोऽपि वेदान्तार्थविबुद्धये। यथा भवति वेदस्य तथाऽथ प्रतिपाद्यते॥ वेदान्तार्थं यथायातमनूद्य श्रुतिरादरात्। स वा इत्यादिनोक्तार्थं प्रवक्तुमुपचक्रमे॥ परामर्शः सशब्देन पूर्वोक्तस्य प्रसिद्धितः। वैशब्दः स्मृतये तस्य मृतिजन्मादिधर्मिणः॥ ध्रुवान्तमन्त्राम्नायोक्त एष इत्यभिधीयते। महानज इति वचस्तद्विशेषणसिद्धये॥ अन्वयव्यतिरेकार्था योऽयमित्यादिका श्रुतिः। विशेषणविशेष्यार्थं सर्वस्येति तथा वचः॥ यदत्र किंचिद्वक्तव्यं तस्य प्रागेव चोक्तितः। सामानाधिकरण्यादेर्नेह तत्पुनरुच्यते॥ भूयान्स साधुना नेति ज्ञानस्य फलमुच्यते। एष सर्वेश्वरोक्त्या च यथोक्तस्यैव संस्तुतिः॥ एतदुक्तं भवत्यत्र योऽयमित्यादिनोदितः। विविक्तः कामकर्मादेः स्वयंज्योतिश्च शब्दितः। स एष ईश्वरः साक्षादिति श्रुत्या प्रदर्शितः। विशेषणविशेष्यत्वमीशितव्येशयोरिह॥ यमपेक्ष्येश्वरत्वं स्यात्तत्तावत्प्रतिषेधति। विशेषणविरोधित्वान्महत्त्वं कुम्भगं यथा॥ ईशितव्यापनुत्तौ च तदपेक्षैकसंश्रयात्। ईशित्वमपि निःशेषं प्रतीचो विनिवर्तते॥ विरुद्धयोरसंसर्गो घटाकाशो महाकाश इत्युक्ते कुम्भखह्नुतौ। आकाशमात्रताशेषो यथैवेह तथाऽऽत्मनि॥ विरुद्धयोरसंसर्गो यथैवमविरुद्धयोः। तदबोधसमुच्छित्तावक्यार्थोऽवशिष्यते॥ ऐदंपर्यमिदं तावत्पदार्थोऽथाधुनोच्यते। स वा इतिवचोर्थस्य व्याख्यातत्वान्न यत्यते। तद्व्याख्यानाय भूयोऽपि तस्य चेहानुवादतः॥ आकाशवचसा चोक्तः

प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स

जो यह हृदय में आकाश है उसमें यह पुरुष रहता है। वह सबको अपने वश में करने वाला शासक

रेण प्रतिपादितमेवमेतस्मि'न्नात्मविषये सर्वो वेदो यथो'पयुक्तो भवति 'तत्तथा वक्त

--एवमिति । विरजः पर इत्यादिनोक्तक्रमेणावस्थिते ब्रह्मणीति यावत् । तदित्युपयुक्तोक्ति

आत्मा के विषय में जिस प्रकार सारा वेद विनियुक्त होता है; उसे उस प्रकार बतलाना चाहिये।

---

१. आत्मेति—आत्मशब्दगोचरे प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणीत्यर्थः । २. उपयुक्तो विनियुक्तः । ३. उपयुक्त

परोऽज्ञातो जगद्गुरुः । जगज्जनिस्थितिध्वंसहेतुरात्मविशेषणम् ।। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेष स्वभावः प्राक्समीरि अप्रबुद्धात्मतत्त्वः सन्कारणात्मतया स्थितः ।। सर्वमस्य वशे यस्माद्वशी सर्वस्य तेन सः । उदासीनस्य स्याद्वशित्वमिति चेन्मतम् ।। वशित्वशक्तिसंबन्धान्मैवं यस्मात्पुनर्वचः । सर्वस्येशान एवेति सर्वस्येष्टे सदैव कुमारनृपवत्तस्यादीशानत्वं परात्मनः । इति चेन्नैतदेवं स्याद्यतोऽधिपतिरुच्यते ।। अधिष्ठायाऽऽत्मकार्यत्वादुत् स्थितिहानिषु । त्रिविधेनाऽऽधिपत्येन स जगत्पाति सर्वदा ।। धर्माधर्मसमायोगो लोकवच्छासनात्व प्राप्नोति चेन्न तत्प्राप्तिः स नेति वचसः श्रुतेः ।। स्वकर्तृफलदायित्वं स्वभावः कर्मणां मतः । कर्तृस्वामि विरहान्नेशस्य फलसंगतिः ।। कौटस्थ्यान्नास्य कर्तृत्वमकार्याकारणत्वतः । कार्यकारणभेदेन तदविद्यैव संसि अस्थूलं नेति नेतीति न जायत इति श्रुतिः । अपूर्वानपरेत्याद्या तथाच सति युज्यते ।। स्वस्वामित्वादिसं स्तथा नास्याद्वितीयतः । यत्र हि द्वैतमित्येवं तथाच श्रुतिशासनम् ।। जन्यादयो विकारा ये संबन्धा मताः । अविद्योपप्लुतस्यैव ते सर्वे स्युर्न तु स्वतः ।। यत एवमतो नेशो भूयान्स्यात्साधुकर्मणा । कनीयान् पापेन तदकर्तृत्वहेतुतः ।। क्षेत्रज्ञस्य सतो यद्वत्पुण्यपापभिसंगतिः कर्तृत्वाद्यभिमानित्वान्नेशस्य तदसंभवात् निर्हेतुत्वात्प्रतीचोऽस्य तमस्त्वित्वस्य सर्वदा । हानिवृद्धी न तस्यातो धर्माधर्मैरसंगतेः ।। न कार्यकारणं यत्कर्तृत्वादिकारणम् । स्वतोऽसङ्गस्वभावत्वान्निरंशैकत्वतस्तथा । स्वत एवंस्वभावोऽपि तदविद्यासमाश्र एष सर्वेश्वरो देव ईशितव्यव्यपेक्षया ।। एष सर्वेश्वर इति पुनरुक्तं किमुच्यते । वक्ष्यमाणबुभुत्साया वि प्रसिद्धये ।। अज्ञात एष एवाऽऽत्मा तावन्मात्रसतत्त्वतः । ईशादेर्विषयान्तस्य कल्पितत्वमतो भवेत् ।। द्यनभिसंबन्धे यदि वा हेतुरुच्यते । एष इत्यादिवचसा सर्वेशस्याऽऽत्मनः स्फुटः । धर्माधर्मादितन्त्रोऽयं स्व लिप्यते । विज्ञानात्मा न तु तथा सर्वेशत्वात्परो भवेत् । सर्वस्य कर्मणोऽप्येष कारकस्य च तत्कृत. । ईश्वरो यस्मान्नातो धर्मादितन्त्रता ।। भूतानि जनिमन्त्येष यतः पालयतीश्वरः ।। भूतपालस्ततो देवः कार्य कारणत्वतः ।। कारणेन हि पाल्यन्ते कार्याणीह यतस्ततः । तत्कार्यत्वाच्च भूतानां भूतपालत्वमात्मनः ।। भूत पतिशब्देन ब्रह्मा वाऽत्राभिधीयते । इन्द्रो लोकेश्वरश्चात्र वरुणाद्यात्मना तथा ।। लोकपालोऽपि चाप्येष कार्यस्य दर्शनात् । प्रशासिताऽपि चाप्येष तदेतदभिधीयते ।। लोकानां रचना यैषा क्षित्यादीनां व्यवस्थि सिद्धाऽसंकीर्यमाणेह साऽप्यस्यैवानुशासनात् ।। वर्णाश्रमादिहेतूनां व्यवस्थानामसंकरः । नैव सिध्येद्विना सेतुरेष इतीक्ष्यताम् ।। यथोदकप्रवाहस्य सेतुर्विधरणस्तथा । सर्वलोकव्यवस्थानां सेतुः स परमेश्वरः ।। सेतुरित्येवमाकाङ्क्षायां परं वचः । असंभेदाय लोकानामेषामित्यभिधीयते ।। असंभिन्नव्यवस्थाः स्युः यथोदिताः । तस्मै तस्मै फलायालं सेतुरीशो भवेत्ततः" ।।६६६-१०१७।। इति । स वा एष महानित्यादि

न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल

धिपति है। वह न तो शुभ कर्म से बढ़ता है और न अशुभ कर्म से घटता ही है। यह सर्वेश्वर
यह समस्त भूतों का अधिपति और पालक है। इन भूरादि लोकों की मर्यादा नष्ट न हो, इसीलिये

ति तदर्थेयं कण्डिकाऽऽरभ्यते। तच्च यथाऽस्मिन्प्रपाठकेऽभिहितं सप्रयोजनमनूद्या¹त्रैवो-

---

र्था ब्रह्मात्मनि सर्वस्य वेदस्य विनियोगप्रदर्शनार्थेति यावत्। ²ननु विविदिषावाक्येन(ण)
त्मनि सर्वस्य वेदस्य विनियोगो वक्ष्यते तथा च तस्मात्प्राक्तनं वाक्यं किमर्थमित्याशङ्क्याऽऽह
न्चेति। यथाऽस्मिन्नध्याये सफलमात्मज्ञानमुक्तं तथैव तदनूद्येति योजना। कथं यथोक्ते ज्ञाने

र इस मन्त्र का प्रारम्भ किया जाता है। इस प्रपाठक में सप्रयोजन आत्मज्ञान को जिस प्रकार कहा

---

१. अत्रैव—यथोक्ते ज्ञाने एव। २. नन्विति—यद्वा स वा इत्यादिना कर्मकाण्डस्य ज्ञानकाण्डशेषत्वं नोच्यते। तथा च तदर्थेयं कण्डिकेत्युक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्याऽऽह—तच्चेति।

चोदयति—नेत्यादिना। मुमुक्षुरधिकारी सप्तम्यर्थः॥ बहूनितिविशेषणादल्पीयसां तत्त्वमादिशब्दानामत्यागो दर्शितस्तत्र बुभुत्सितो हेतुस्तमेतमित्यतः प्राक्तनवाक्येनोच्यत इत्याह—शब्दस्येति। तत्र त्यागात्यागयोरिति यावत्। स वा एष इत्यादावात्मयाथात्म्यमनूद्यते तेन तद्विषयोपनिषद्भागेन भवितव्यं तस्यापि त्यागे तत्त्वज्ञानासिद्धेरित्येतत्तमेतमित्यस्मात्प्रागभिप्रेतमित्यर्थः। बहूञ्शब्दान्नानुध्यायेदिति कर्मकाण्डत्याग उक्तस्तत्र हेतूक्त्यर्थं तमित्यादिवाक्यमित्याह—त्र्यास्त्विति। प्रभूतायास्तस्याः कर्मकाण्डरूपायास्त्यागे तमित्यादिना हेतुर्वक्ष्यते तेन हि विविदिषायां कर्माणि विनियुज्यन्ते तथाचोत्पन्नविविदिषस्याफलत्वात्कर्मत्यागे तत्काण्डस्यापि त्यागः संसिध्यतीत्यर्थः॥ विविदिषावाक्यस्य तात्पर्यान्तरं प्रतिजानीते—यदि वेति। तदेव वक्तुं शङ्कयति—भिन्नेति। सिद्धसाध्यार्थतया काण्डयोर्भिन्नवाक्यत्वान्मिथो विरोधाच्च न शेषशेषितेति शङ्कार्थः। कर्मकाण्डस्य वेदान्तैः सह विरोधवत्तेषामपि तेन विरोधात्परस्परविरोध इत्युत्तरार्धयोजना॥ यथा कर्मवाक्यानां बुद्धिशुद्धिद्वारा ज्ञानवाक्यशेषता तथा वक्तुमुत्तरमित्युत्तरमाह—हेतुतामिति। ज्ञानवदित्यपेरर्थः॥ एवमेतस्मिन्नित्यादिभाष्यमुक्तेऽर्थे योजयति—पूर्वं इति। स वा इत्यादिना कर्मकाण्डस्योक्तरीत्या ज्ञानकाण्डशेषत्वं नोच्यते तथा च भाष्ये कण्डिकोक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्य तच्चेत्यादिभाष्यतात्पर्यमाह—वेदान्तेति। स वा इत्यादिना वेदान्तार्थमनूद्येति संबन्धः। अनुवादे हेतुमाह—यथेति। आगमप्रधानेन मधुकाण्डेनोपपत्तिप्रधानेन मुनिकाण्डेन वेदान्तार्थश्च प्राप्तं रूपमनतिक्रम्येति यावत्। श्रुतिस्तमेतमित्याद्या उक्तार्थं कर्मणां धीशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वम्॥ कण्डिकातात्पर्यमुक्त्वा विविदिषावाक्यात्प्राक्तनग्रन्थस्यावयवशस्तात्पर्यं दर्शयन्पदयोरर्थमाह—परामर्श इति। वैशब्दस्तस्यैव स्मृत्यर्थमित्यत्र हेतुः—प्रसिद्धित इति। त्वंपदलक्ष्यस्यापि प्रागुक्तत्वात्तस्य सशब्देन परामर्शमाशङ्क्याऽऽह—मृतीति॥ एषशब्देनापि तस्यैवोक्तिं व्यावर्तयति—ध्रुवेति। विरजः पर आकाशादज आत्मा ध्रुव इत्युक्तस्त्वंपदलक्ष्योऽर्थोऽत्रैष इत्युपदिष्ट इत्यर्थः। त्वमर्थस्य शोधनार्थमजशब्दः। शुद्धस्य तस्य ब्रह्मलक्षणविशेषणसिद्ध्यर्थं महानिति पदमित्याह—महानिति॥ योऽयमित्यादेस्तात्पर्यमाह—अन्वयेति। अन्वय-

एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय ¹तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन

वह इन्हें धारण करने वाले सेतु के समान सेतु है । उस इस आत्मा को ब्रह्मजिज्ञासु या

पयोगः कृत्स्नस्य वेदस्य काम्यराशिवर्जितस्येत्येवमर्थं उक्तार्थानुवादः स वा एष ²इत्यादि

सर्वो वेदो विनियोक्तुं शक्यते स्वर्गकामादिवाक्यस्य स्वर्गादावेव पर्यवसानादित्याशङ्क्य ³सं पृथक्त्वन्यायमनादृत्य विशिनष्टि - काम्यराशीति । उक्तस्य सफलस्याऽऽत्मज्ञानस्यानुवाद

गया है, उसी का अनुवाद करके वेद की काम्यकर्म विनियोग करने वाली राशि को छोड़कर सम्पूर्ण वेद का इसी में उपयोग है—यही प्रदर्शित करने के लिए "स वा एषः" इस मन्त्र में आत्म

१. एवमनुवादप्रयोजनीभूतं वेदविनियोगमाह—तमेतमिति । मन्त्रोक्तविशेषणकमौपनिषदं पुरुषं, वेदानु नित्यस्वाध्यायलक्षणेन । अन्तःकरणशुद्धिद्वारा विविदिषन्ति न तु विदन्त्येवेति भावः । एवं यज्ञेनेत्यादि

२. इत्यादिरिति असंभेदायेत्यवसान इति शेषः । ३. संयोगपृथक्त्वेति—"एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वं जै. सू. ४. ३. ५ । संयोगो वाक्यं तस्य पृथक्त्वं भेदः एकस्योभयार्थत्वे नियामक इति तदर्थः । यथा दध्ना दिति फलासंयुक्तवाक्येन क्रत्वर्थत्वेन विहितस्यापि दध्नो दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्यनेन फलाय वि पुरुषार्थत्वमपि भवति तथा ज्योतिष्टोमादीनां स्वर्गार्थत्वेन विहितानामपि यज्ञेनेत्यादि विविदिषावाक्येन वि साधनत्वमपि स्यादेवेति भावः ।

व्यतिरेकाभ्यां त्वंपदार्थपरिशोधनार्थेति यावत् । सर्वस्य वशीत्यादेस्तात्पर्यमाह—विशेषणेति । ब्रह्मणः विशेषणत्वेन यथा तस्य विशेष्यत्वं तथा ब्रह्मणोऽपि सर्वस्य वशीत्यादिविशेषणैर्विशेष्यत्वार्थं वाक्यमि ब्रह्मणो विशेषणत्वं प्रतीचश्च विशेष्यत्वं चेत्तर्हि पदयोः सामानाधिकरण्यं तदर्थयोर्विशेषणविशेष्यत्वं मात्रस्य लक्ष्यत्वमित्येतदपि वाच्यं न चात्र सामानाधिकरण्यादि स्वीकर्तुं शक्यं ब्रह्मप्रतीचोर्मिथो दित्याशङ्क्य ब्रह्मकण्डिकायामुक्तं स्मारयति—यदत्रेति । इहेत्यत्र च प्रकृतकण्डिकोक्तिः ॥ स न देस्तात्पर्यमाह—भूयानिति । एष सर्वेश्वर इत्यादेस्तात्पर्यमाह—एष इति । यथोक्तस्येति प्रत्यगु ब्रह्म त्वं विष्णुरित्यादिवदविद्यमानस्तुतिरेषेत्याशङ्क्य स्तुतिप्रकारमभिनयति—एतदिति । अत्रेति ब्राह्मणोक्तिः । तत्त्वमादिवाक्यादैक्यसिद्धेरेषा यथार्थस्तुतिरेवेति भावः ॥ तत्र विशेषणविशेष्यत्वविभागं —विशेषणेति । इहेति श्रुतिरुक्ता ॥ ईश्वरेण विशेषणेन जीवस्य विशेष्यत्वे फलमाह—यमिति । सर्वेश्वर विशेषणसामर्थ्याद्विशेष्यजीवस्थमीशितव्यत्वाद्यपगच्छतीत्यर्थः । निषेधकर्ता विशेषणविशेष्यभावस्तस्य कत्वे हेतुमाह—विशेषणेति । ईश्वरत्वेन विरोधित्वात्तेन विशेषितजीवगतेशितव्यत्वस्य निवृत्तिरि घटाकाशो महाकाश इत्युक्ते घटाकाशस्थपरिच्छिन्नत्वनिवृत्तिवदेष सर्वेश्वर इत्युक्ते जीवगतेशितव्यत्व रित्याह—महदिति ॥ ईशितव्यत्वनिवृत्तौ फलितमाह—ईशितव्येति । ततश्च निर्विशेषं प्रत्यङ्मात्रं भावः ॥ महदित्यादिनोक्तं दृष्टान्तं प्रपञ्चयति—घटेति । दार्ष्टान्तिकमाह—इहेति ॥ तदेव स्पष्टयति— योरिति । पदार्थद्वयस्थसद्वयत्वपरोक्षत्वयोर्न ब्रह्मात्मभ्यां संसर्गो मिथोविरुद्धत्वादेवं प्रत्यक्त्वाद्वय नान्योन्यमन्वयस्तयोरेकत्वादतो ब्रह्मात्माज्ञानध्वस्तावेकरसं वस्तु स्यादित्यर्थः ॥ उक्तवक्ष्यमाणयोः परिहरन्नुक्तमनूद्य वक्ष्यमाणं प्रतिजानीते—ऐदंपर्यमिति । पदार्थानामपि प्रागेवार्थादुक्तत्वात्तदवस्था

तपसाऽनाशकेनै[1]तमेव विदित्वा मुनिर्भवति।
एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः [2]प्रव्रजन्ति। [3]एतद्ध

ह्मण लोग वेदों के स्वाध्याय से यज्ञ, दान तथा निष्काम तप से जानना चाहते हैं। इसी को जानकर हो जाते हैं। इस आत्मलोक को चाहता हुआ त्यागी पुरुष सभी का परित्याग कर संन्यासी हो

इत्युक्तपरामर्शार्थः। कोऽसावुक्तः परामृश्यते [5]तं प्रति निर्दिशति [6]य एष [7]विज्ञानमय

वत्। उक्तानां भूयस्त्वे विशेषं ज्ञातुं पृच्छति—कोऽसाविति। विशेषणानर्थक्यमाशङ्क्य परिहरति

अनुवाद किया गया है—मन्त्र में 'स वै'' पद पूर्वोक्त परामर्श के स्मरण कराने के लिए है। पूर्वोक्त का परामर्श किया जा रहा है? उसके प्रति श्रुति द्वारा विशेष रूप से निर्देश किया जा रहा

---

[1] ननु वेदेनेच्छातः किं स्यादत आह—एतमित्यादि। [2] प्रव्रजन्तीति—पञ्चमलकारेण संन्यासो विधीयते। आग्नेयोऽष्टाकपालो भवतीतिवत्। [3] प्रव्रजन्तीति संन्यासविधिरित्येतत्कथं निश्चेतु शक्यत इत्याशङ्क्य तन्निर्णायकं तदर्थवादमाह—एतदिति। तदेतत्पारिव्राज्ये स्पष्टं कारणं ह किल वै स्मर्यते। शेषं भाष्यतो वगन्तव्यम्। [4] उक्तेति—तेन परामृष्टस्यैव स्मारको वैशब्दो द्रष्टव्यः। [5] तं प्रतीति—पूर्वोक्तं परामर्शयोग्यं विशेषरूपेण प्रदर्शयति श्रुतिरिति शेषः। [6] य एष इति—एषशब्दोऽयं योऽयमित्ययंशब्दस्थाने तत्पर्यायतयाऽऽपतित इति बोध्यम्। [7] विज्ञानमय इति—ज्योतिर्ब्राह्मणोक्तस्त्वंपदार्थ इत्यर्थः। [8] व्यावर्त्याभावादिति भावः।

रित्याशङ्क्याऽऽह—स वा इतीति। तथाऽपि कतम आत्मेत्यारभ्य यदुक्तं तेन पौनरुक्त्यमित्याशङ्क्य तस्यैव चात्रोपनिषद्भागात्यागेन हेतूक्त्यर्थत्वेनानुवादान्न पुनरुक्तिरित्याह—तस्येति ॥ आकाशशब्दार्थं स्मारयति—आकाशेति। जगद्गुरुत्वं स्फोरयति—जगदिति। तस्य ताटस्थ्यं व्यावर्तयति— आत्मेति ॥ जगत्कारणत्वफलं सर्वात्मत्वमिदं सर्वमित्यादावुक्तमिति स्मारयति—क्षेत्रेति ॥ सर्वस्य वशीत्यस्यार्थमाह—सर्वमिति। सर्वस्येशान इत्येतदाकाङ्क्षापूर्वकमादाय व्याकरोति—उदासीनस्येति ॥ सर्वस्याधिपतिरिति विशेषणमाशङ्कापुरःसरमवतार्यं व्याकरोति—कुमारेति ॥ उत्पत्तिस्थितिहानिप्रयोजकं त्रिविधमाधिपत्यं स खलु तिसृष्ववस्थासु जगदुक्तेनाऽऽधिपत्येनाधिष्ठाय सदा पालयति स्वकार्यत्वाज्जगतस्तस्मिन्नधिष्ठानपालनसिद्धेरिति द्वितीयवार्तिकयोजना ॥ स न साधुनेत्यादि शङ्काद्वारोत्थापयति—धर्मेति। तदपेक्षितामुपपत्तिं शास्त्रफल प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वादिति न्यायेनाऽऽह—स्वकर्त्रेति ॥ ईशस्य सर्वकर्तृत्वोपगमात्कर्तृत्वराहित्यमसिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—कौटस्थ्यादिति। तदुपपादयति—अकार्येति। कथं तर्हि तस्य कारणत्वं तदाह—कार्येति। कर्तृत्वाभावमीशस्योक्त्वा प्रतीचः स्वतो न कर्तृत्वं किंत्वविद्ययेत्यत्र श्रुतीनामानुकूल्यमाह—अस्थूलमिति ॥ तथा कार्यस्वामित्वाभावमाह—स्वस्वामित्वादीति। आदिशब्देन संबन्धान्तराणामपि कल्पितत्वं सूचयति। कर्तृत्वाद्यात्मनो कारणत्ववदित्यर्थः। आत्मनः संबन्धः सर्वोऽपि कल्पित इत्यत्र श्रुतिमाह—यत्र हीति ॥ आत्मनः स्वतः वस्तुतो नेत्युक्तमुपसंहरति—जन्यादय इति। जनिर्जन्म तदादयो विकारा विपरिणामादयः। अतःशब्दार्थं स्फुटयति—स्वामित्वाद्यभावमुक्तमुपजीव्य कर्मफलासंबन्धं वदन्वाक्यं योजयति—यत इति। त्रिशिष्टस्य कर्मतत्फलसंबन्धः नदकर्तृत्वहेतुत इति ॥ ईश्वरस्य कर्मतत्फलासंबन्धे हेत्वन्तरमाह—अहंज्ञस्येति। इतश्च नेशस्य कर्मादिसंबन्धित्वेत्याह—कर्ताऽहमित्याद्यभिमानित्वान्न तथोपलक्षितस्य तस्य तदभावादित्यर्थः ॥

स्म वै तत्पूर्वे विद्वाꣳसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं[1] लोक इति

जाते हैं। इस संन्यास में कारण यह है कि पहले विद्वान् संतान आदि की इच्छा नहीं करते थे, उन
निश्चय था कि हमें प्रजा से क्या लेना है। जिन हम मोक्षाभिलाषियों को यह आत्मलोक प्राप्त करना

इति। अतीतानन्तरवाक्योक्तसंप्रत्ययो मा भूदिति। य [2]एषः कतम एष इत्युच्यते विज्ञा

—अतीतेति। तद्धि विरजः पर इत्यादि तेनोक्तो यो महत्त्वादिविशेषणः परमात्मा तत्र सशब्द
तीतिर्मा भूदिति कृत्वा [3]तेन ज्योतिर्ब्राह्मणस्थं जीवं परामृश्य तमेव वैशब्देन स्मारयित्वा
[4]संनिहितेन परेणाऽऽत्मनैक्यमेषशब्देन निर्दिशतीत्यर्थः। विशेषणवाक्यस्थमेषशब्दं प्रश्नपू
व्याचष्टे—कतम इति। कथं जीवो विज्ञानमयः कथं वा प्राणेष्विति सप्तमी प्रयुज्यते

है—"वह यह विज्ञानमय है"। उक्त अतीत और अनन्तर वाक्यों में सम्भ्रम न हो जाए, इसलिए "य ए
कहा गया। यह कौन सा? इस पर श्रुति कहती है—"जो प्राणों में विज्ञानमय है"। यहाँ ज्यो

---

१. यः पुत्रादिसाध्य उच्यते। २. य एष इत्यत्रैष शब्दार्थक इत्यर्थः। ३. सशब्देन। ४. विर
वाक्योक्तेन।

निर्हेतुत्वादिति। अस्य प्रतीचस्तमस्वित्वं नामाज्ञानकृतमीशत्वं तस्याज्ञानोपाधिकस्याऽऽगन्तुकहेत्वनपेक्ष
सदाभावान्न धर्मादिभिः संगतिरतो न कर्मप्रयुक्तहानिवृद्धी परस्येत्यर्थः॥ ईशत्वाद्यात्मनः स्वीकृत्य तस्य धर्मा
संगतिमुक्त्वा तदेव तस्य नास्तीत्याह—नेत्यादिना। कर्तृत्वादिकारणस्य कार्यकारणस्य वाऽभावे हेतुमाह—
स्वत इति। अंशभेदेन कर्तृत्वमसङ्गत्वं च स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—निरंशेति। क्षेत्रज्ञस्य कर्तृत्वं परस्यासङ्ग
मित्याशङ्क्याऽऽह—एकत्वत इति॥ यथोक्तलक्षणत्वादात्मनो नेशत्वादीत्यर्थः॥ तर्हि कथमेष सर्वेश्वर इत्या
वाक्यमत आह—स्वत इति। एवंस्वभावोऽसङ्गत्वानंशत्वादिरूपोऽपीति यावत्। तदविद्यासमाश्रयादी
व्यव्यपेक्षयेति संबन्धः॥ सर्वस्येशान इत्यनेन पुनरुक्तिं चोदयति— एष इति। तस्यास्तात्पर्यं दर्शयन्परिहरति—
वक्ष्यमाणेति। प्रत्यगात्मैवाज्ञातो विविदिषाविषय इति वक्तुं पुनरुक्तिरेष इति हि प्रतीचो निर्देशस्तस्या
सर्वेश्वरशब्देन द्योत्यते स च बुभुत्साविषयो विवक्षित इत्यर्थवती पुनरुक्तिरित्यर्थः॥ अज्ञातत्वेन तद्विष
हरिहरादेरपि संभवति तत्कथं प्रत्यगात्मैव तथा प्रतिज्ञायते तत्राऽऽह—अज्ञात इति। नियमे हेतुः—
न्मात्रेति। प्रत्यङ्मात्रं कथं सर्वस्य सतत्त्वमीश्वरादेरपि लोके वस्तुत्वप्रसिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—ईशादेरिति।
जडस्वपरिच्छिन्नत्वादिरतःशब्दार्थः॥ पालनादिकर्तुरनुग्रहादिना कृतेन धर्मादिना योगो दुर्वारो लोके त
दृष्टत्वात्तत्कथं स नेत्यादिवाक्यमित्याशङ्क्य पुनरुक्तेरर्थान्तरमाह—साध्वादीति॥ कोऽसावबाधितोऽर्थ
हेतुस्तमाह—धर्मेति। कामकर्मविद्यातन्त्रो जीवस्तत्फलेन संबध्यते परस्तु तद्वन्न कर्मादितन्त्रः सर्वेश्वरत्वा
त्तस्मिन्नपि नियन्तृत्वादतो न तत्फलसंबन्धी स्यादित्यर्थः। इहशब्दो जीवेशयोर्निर्धारणार्थः॥ कथं सर्वेश्वरत्वे
कर्मतत्फलासंबन्धित्वं तत्राऽऽह—सर्वेति॥ पशुपतिर्वा श्रीपतिर्वा सर्वेश्वरो न प्रत्यगात्मेत्याशङ्क्यैष भूताधि-
पतिरिति विशेषणमित्यभिप्रेत्यैष भूतपाल इत्यस्यार्थमाह—भूतानीति। तत्र हेतुः—कार्याणामिति॥ यद्यपि
सर्वकार्याणां जन्मादिसूत्रमारभ्य तत्र तत्रोक्तन्यायेन कारणमीश्वरस्तथाऽपि कथं तस्य भूतपालत्वमत आह—
कारणेनेति। तेनोपेक्षितस्य कार्यस्य सत्त्वमेव नेति वक्तुं हिशब्दः। व्यवहारभूमिरिहेत्युक्ता। यतस्ततः
त्रेत्यर्थः। सामान्यन्यायं प्रकृते योजयति—तत्कार्यत्वादिति॥ भूताधिपतिशब्दस्यार्थान्तरमाह—भूतेति।

[1]ते [2]ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा

ष्ट है। अतः वे मुमुक्षु पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा से ऊपर उठकर फिर भिक्षाचर्या किया ते थे। जो भी पुत्रैषणा है; वह फलतः वित्तैषणा ही है, और जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है।

प्राणेष्विति । [3]उक्तवाक्योल्लिङ्गनं संशयनिवृत्त्यर्थम् । उक्तं हि पूर्वं जनकप्रश्नारम्भे आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेष्वित्यादि ।

—[5]उक्तेति । तदनुवादस्य [6]सशब्दार्थे संदेहापोहं फलमाह—संशयेति । उक्तवाक्योल्लिङ्गनमिं विवृणोति—उक्तं हीति ।

णोक्त वाक्य का अनुवाद संशयनिबृत्ति के लिए है। जनक ने प्रश्न आरम्भ में पहले यही जिज्ञासा की थी—"वह आत्मा कौन सा है, जो प्राणों में विज्ञानमय है" इत्यादि।

---

१. पूर्वे ब्राह्मणाः । २. तर्हि ते किं कृतवन्त इत्यत आह—ते ह स्मेत्यादि । तथा चोक्तार्थवाद एव प्रव्रजन्तीत्यस्य संन्यासविधित्वनिश्चायको विधिमन्तरेण तस्यानन्वयादिति भावः । ३. ज्योतिर्ब्राह्मणोक्तानुवदनम् । ४. बृ. उ. ४. ३. ७ । ५. उक्तेतीति—तथा चास्योक्तानुवादत्वात्पूर्ववादत एव तदवगन्तव्यं तत्रैवैतस्य समाहितत्वादिति भावः । ६. सशब्देति—सशब्दार्थः किमव्यवहितविरजवाक्योक्तः परमात्मा भवेद्व्यवहितोक्तो विज्ञानमयो वेति सशब्दार्थे संदेहस्तदपोहमित्यर्थः ।

ह्मा श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु सूत्रादिसंज्ञया विज्ञातः सोऽस्मिन्वाक्ये भूताधिपतिशब्देनोच्यते 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीदिति' श्रुति स चात्र परमात्मैव तत्प्रकरणत्वादित्यर्थः । 'एष लोकेश्वर' एष लोकपाल' इति माध्यंदिनास्तत्र लोकेश्वरशब्दं व्याकरोति—इन्द्र इति । लोकपालशब्दार्थमाह—वरुणादीति ॥ यथा परमात्मैवेन्द्रात्मना लोकेश्वरस्तथा स एव वरुणादिरूपेण लोकपालोऽपीत्यत्र हेतुः—तथेति । जगन्नियमनपालनादिकार्यस्येन्द्रादौ दर्शनादनीश्वरस्य तदयोगात्तत्तद्रूपेण स्थित्वा स एव तत्तकार्यं करोतीत्यर्थः । एष सेतुरित्याद्यवतारयति—प्रशासितेति । मर्यादाधारयितेति यावत् । द्वितीयोऽपिरवधारणे ॥ परस्मादन्योऽपि कश्चित्प्रशासिताऽस्तु तद्भेदप्रसिद्धेरिति चेन्नेत्याह—लोकानामिति । प्रशासित्रन्तरमतोऽन्यदार्तमित्यादिना प्रत्युदस्तमित्यर्थः ॥ परस्यैव प्रशासितृत्वेऽपि कथं सेतुशब्दस्तत्र प्रयुक्तस्तत्राऽऽह—वर्णेति ॥ परस्य सेतुत्वं दृष्टान्तेन साधयितुं विधरणविशेषणं व्याचष्टे—यथेति ॥ एषामित्याद्यादत्ते—किमर्थमिति ॥ किं तत्परं वचस्तदसंभेदायेति तद्व्याकरोति—असंभिन्नेति । यथोदिता वर्णाश्चाऽऽश्रमाश्च पृथिव्यादयश्च लोका इति यावत् । तत्तत्फलमसंकीर्णं तत्तदधीनं कार्यम् ॥

ॐ ते ह स्म पुत्रैषणायाश्चेत्यादि । अत्र वार्तिकानि—"पुत्रोत्पत्तिं समुद्दिश्य ह्येषणा दारसंग्रहः । पुत्रैषणेति सेहोक्ता यदि वाऽतोऽन्यथैषणा ॥ मनुष्यलोकसंप्राप्तिं समुद्दिश्यास्य येषणा । पुत्रोत्पत्त्येह तत्प्राप्तौ साऽत्र पुत्रैषणोच्यते ॥ दैवं च मानुषं वित्तं कर्मणो यत्प्रयोजकम् । देवतादिपरिज्ञानं दैवं पश्वादि मानुषम् ॥ संसारकारणध्वंसि यत्तु ज्ञानं विमुक्तिदम् । वित्तश्रुत्या न तद्ग्राह्यं तस्य कर्मविरोधतः ॥ यस्य साधनभावः स्यात्प्रवृत्तौ सर्वकर्मणाम् । गर्तादेरिव वित्तत्वं तस्य ज्ञानस्य कर्मसु ॥ कर्महेतुविरुद्धं तु न वित्तं ज्ञानमिष्यते ॥ कर्मप्रकरणाकाङ्क्षि ज्ञानं कर्मगुणो भवेत् । यद्धि प्रकरणे यस्य तत्तदङ्गं प्रचक्षते ॥ स्वरूपलाभमात्रेण यत्त्वविद्यां

सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः । 'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यते-

ये दोनों साध्य-साधन एषणा ही हैं । 'नेति नेति' इत्यादि वाक्य से बतलाया गया वह यह आत्मा अ है, इसलिये वह ग्रहण नहीं किया जाता। वह अशीर्य है, अतः उसका नाश नहीं होता । वह असंग अतएव वह कहीं संसक्त नहीं होता । वह कहीं बंधा हुआ नहीं है, इसीलिये वह दुःखी नहीं होता

एतदुक्तं भवति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेष्वित्यादिना वाक्येन प्रतिपादितः स्व ज्योतिरात्मा स एष कामकर्माविद्यानामनात्मधर्मत्वप्रतिपादनद्वारेण 'मोक्षितः 'परमात्म भावमापादितः पर एवायं नान्य इत्येष स साक्षान्महानज आत्मेत्युक्तः । योऽयं विज्ञान मयः प्राणेष्विति यथाव्याख्यातार्थ एव । य एषोऽन्तर्हृदये हृदयपुण्डरीकमध्ये य

योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु प्रागुक्तः स एष महानज आत्मेति जीवानुवादेन परमात्मभावो 'विहित इति वाक्यार्थमाह—एतदिति । परमात्मभावापादानप्रकारमनुवदति—साक्षादिति । विशेषणवाक्यस्य व्याख्येयत्वप्राप्तावुक्तवादयोर्लिङ्गनामित्यत्रोक्तं स्मारयति—योऽयमिति । वाक्य न्तरमवतार्य व्याचष्टे—य एष इति । कथं पुनराकाशशब्दस्य परमात्मविषयत्वमुपेत्य द्विती

कहने का तात्पर्य यह कि "जो यह प्राणों में विज्ञानमय है" इत्यादि श्रुतिवाक्य से जिस स्व ज्योति आत्मा का प्रतिपादन किया गया है, उस इस आत्मा के "काम, कर्म और अविद्या ये अनात्मध हैं" ऐसा कहकर उन धर्मों से शोधित कर दिया है । "यह परब्रह्म ही है; अन्य (संसारी) नहीं है" ऐ कह कर परमात्मभाव प्राप्त करा दिया है । इस प्रकार वही यह साक्षात् महान् अजन्मा, आत्मा है —ऐसा कहा गया है । "जो यह प्राणों में विज्ञानमय है " इस श्रुति की व्याख्या पूर्व मन्त्र (बृ उ ४-३-७) में की व्याख्या के समान समझ लेनी चाहिये । "य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छे

---

१. स एष इत्यादि न रिष्यतीत्यन्तं शाकल्यब्राह्मणोक्तार्थकम् । यः सूत्राश्रयान्तर्यामित्वकल्पनाधिष्ठानभूतः स परमात्मा एष प्रत्यगात्मैव मूर्तामूर्तब्राह्मणे नेति नेतीत्येवं सकलोपाधिनिषेधेन निर्दिष्टः । २. शोधितः । ३. प्रायः । ४. एवम् । ५. इत्यस्य । ६. बोधितः ।

निहन्ति नः । न तदङ्गं प्रधानं वा ज्ञानं स्यात्कर्मणः क्वचित् ॥ एतद्बलेन संन्यास एषणाभ्योऽवसीयते । देवलोकफलं ज्ञानमेषणैवेति गम्यते ॥ लोकैषणाग्रहेणैव वित्तान्लभावसिद्धितः । फलोद्देशेन या चेष्टा सं लोकैषणा यतः ॥ यत्तु चोदितमित्येव क्रियते कर्म निष्फलम् । वित्तैषणेति तां ब्रूमो जामित्वविनिवृत्तया ॥ लोकोद्देशेन या चेष्टा वाङ्मनःकायसाधना । लोकैषणेति तामाहुरेषणार्थविदो जनाः ॥ क्रियाकारकरूपाभ्य एषणाभ्यः प्रबोधतः । प्रातिलोम्येन यत्स्थानं व्युत्थानमिति तद्विदुः ॥ इत्येवमादि व्याख्येयं व्याख्यातं पूर्वमेव तु । कहोलब्राह्मणे नातस्तद्व्याख्यानाय यत्यते" ॥ १११६-११३२ ॥ इति । एतदित्यादि व्याख्याय वे हेत्यादौ पुत्रैषणाशब्दार्थमाह—पुत्रेति । यः प्रसिद्धः पुत्रोत्पत्तिमुद्दिश्य दारसंग्रहः सा खल्वेषणा पुत्रैषणेत्युक्ता श्रुतावुक्तेति संबन्धः । उक्तैषणातो विधान्तरेण प्रवृत्ता कदाचिदेषणा पुत्रैषणेति पक्षान्तरमाह—यदि वेति ॥

ऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतमु हैवैते न तरत

इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ

हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः ॥ २२ ॥

का नाश भी नहीं होता। केवल इस आत्मज्ञानी को ही ये दोनों (धर्माधर्म संबन्धी) हर्ष-शोक सताते। इसीलिये मैंने पाप किया है, ऐसा पश्चाताप; या मैंने पुण्य किया है, ऐसा हर्ष उसे नहीं ा, किन्तु इन दोनों को वह पारकर जाता है। इस तत्त्ववेत्ता का किया हुआ और न किया हुआ नैमित्तिकादि कर्म (फल प्रदान और प्रत्यवाय के द्वारा) ताप नहीं पहुँचाते ॥ २२ ॥

काशो बुद्धिविज्ञानसंश्रयस्तस्मिन्नाकाशे बुद्धिविज्ञानसहिते शेते तिष्ठति। अथवा सादकालेऽन्तर्हृदये य एष आकाशः पर एवाऽऽत्मा निरुपाधिको विज्ञानमयस्य स्वस्व-वस्तस्मिन्स्वस्वभावे परमात्मन्याकाशाख्ये शेते। चतुर्थे एतद्व्याख्यातं क्वैष तदा-दित्यस्य प्रतिवचनत्वेन। स च सर्वस्य ब्रह्मेन्द्रादेर्वशी। सर्वो ह्यस्य वशे वर्तते।

व्याख्यानं तस्यार्थान्तरे रूढत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—चतुर्थ इति। इत्थमुक्तं ज्ञानमनूद्य तत्फलमनु-ति—स चेत्यादिना। कथं पुनर्निरुपाधिकस्येश्वरस्य वशित्वं कथं च "तदभावे तदात्मनो विदुषस्त-

---

र्थात् हृदयकमल के मध्य जो बुद्ध्याख्य विज्ञानावच्छिन्न आकाश है, उसमें बुद्धि विज्ञानसहित बुद्ध्यादि साक्षी रूप से स्थित रहता है। अथवा सुषुप्ति अवस्था में हृदयकमल में जो आकाश है यानी विज्ञान-का अपना स्वरूप निरुपाधिक परमात्मा ही है, उस अपने-अपने स्वरूप आकाशख्य परमात्मा में कीभूत होकर) स्थित रहता है। चतुर्थाध्याय (बृहदारण्यक के द्वितीय अध्याय) में "यह उस समय था" इसके उत्तर रूप में इसकी व्याख्या की जा चुकी है। वह ब्रह्मीभूत विज्ञानमय ब्रह्मा-इन्द्रादि का वशी है क्योंकि सभी इसके वश में रहते हैं। इसी को श्रुति कहती है— हे गार्गी! इसी अक्षर

---

१. एतद्रूपस्य सर्वैषणाविनिवृत्तस्य किं स्यादित्यत आह—एतमिति। उक्तरूपं परमात्मभूतमात्मविदमित्यर्थः। २. बुद्ध्याख्यविज्ञानावच्छिन्नः। ३. अवच्छिन्ने। ४. तिष्ठतीति—बुद्ध्यादिसाक्षिरूपेण वर्तत इत्यर्थः। ५. शेत इति—अज्ञानस्यानुपरमादनेकोऽप्यन्तःकरणादिविक्षेपाभावादेकीभूतो वर्तत इत्यर्थः। ६. बृ. उ. २.१.१७। ७. स चेति—ब्रह्मीभूतो विज्ञानमय इत्यर्थः। यथा ब्रह्मणो विशेषणत्वं प्रतीचश्च विशेष्यत्वं तथा ब्रह्मणोऽपि सर्वस्य वशीत्यादिविशेषणैर्विशेष्यत्वार्थं वाक्यम्। तदुक्तं वार्तिके—"विशेषणविशेष्यार्थं सर्व-स्येति तथा वचः" ॥ ६७७ ॥ इति। ८. सर्वस्य वशीत्यस्यार्थान्तरमाहुः। तद्यथा—"अयं वा सकलैर्जीवैर्हृदि स्वस्य वशीकृतः। अपत्यैर्जननी यद्वत्स्वेषु स्निग्धा वशीकृतेति" ॥ ९. अद्वैतज्ञानम्। १०. ईश्वरस्य वशित्वाभावे।

विधान्तरं प्रकटयति—मनुष्येति। पुत्रोत्पत्त्या हेतुभूतया मनुष्यलोकासाविह पुत्रेणैवायं लोको जय्य इति-शास्त्रसिद्धा या तामुद्दिश्याज्ञस्यैषणा साऽस्मिन्वाक्ये पुत्रैषणेति योजना ॥ वित्तैषणाशब्दार्थमाह—दैवं चेति। तस्य विनियोगमाह—कर्मण इति। वित्तद्वयं विभजते—देवतादीति ॥ ब्रह्मज्ञानस्यापि दैववित्तान्तर्भावा-द्वित्तशब्दतेति केचित्तान्प्रत्याह—संसारेति। वित्तं हि कर्मप्रयोजकं तत्र विनियुक्तमिदं तु तद्विरोधित्वान्न

उक्तं चैतस्य[1] वा अक्षरस्य प्रशासन इति । न केवलं वशी सर्वस्येशान ईशिता च ब्रह्मे
प्रभृतीनामीशितृत्वं च कदाचिज्जातिकृतं यथा राजकुमारस्य बलवत्तरानपि भृत्यान्
तद्वन्मा भूदित्याह सर्वस्याधिपतिरधिष्ठाय[2] पालयिता स्वतन्त्र इत्यर्थः । न राजपुत्रवदमा
त्यादिभृत्यतन्त्रः । त्रयमप्येतद्वशित्वादिहेतुहेतुमद्रूपम् ।

यस्मात्सर्वस्याधिपतिस्ततोऽसौ सर्वस्येशानः । यो हि यमधिष्ठाय पालयति स

दुपपद्यते तत्राऽऽह—उक्तं चेति ।

विशेषणत्रयस्य हेतुहेतुमद्रूपत्वमेव विशदयति—यस्मादित्यादिना । 'तत्र प्रसिद्ध प्रमा
यति—यो हीति । न केवलमुक्तमेव विद्याफलं किंत्वन्यच्चास्तीत्याह— किंचेति । एवंभूतत्वं 'ज्ञात

की आज्ञा में सूर्य और चन्द्रमा नियमित रूप से चलते हैं" इत्यादि । केवल वशी ही नहीं, ब
"सर्वस्येशानः" अर्थात् ब्रह्मा इन्द्रादि पर शासन करने वाला है । प्रशासन कभी-कभी जन्म से भी हो
हैं । जैसे राजकुमार का बलशाली नौकरों पर भी शासन हुआ करता है, उसके समान यहाँ न हो
इसलिये श्रुति कहती है—"सर्वस्याधिपतिः" अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और लय करने में स्वतन्त्र है
राजपुत्र के समान मन्त्री और भृत्यों के अधीन नहीं है । (परमात्मा के लिए प्रयुक्त) ये वशित्वा
तीनों विशेषण हेतुहेतुमद्रूप हैं ।

क्योंकि यह सब का अधिपति है, इसलिए सब का ईशान है । जो जिसका अधिष्ठाता हो

---

[1] बृ. उ. ३. ८. ९ । [2] उत्पत्तिस्थितिलयेषु । [3] सर्वाधिपतेः सर्वेशानत्वे । [4] ज्ञातो यः परमा
तदभिन्नत्वम् ।

तच्छब्दार्हमित्यर्थः ।। देवतादिज्ञानस्यापि तर्हि ब्रह्मज्ञानवन्न तच्छब्दतेत्याशङ्क्य विशेषमाह—यस्येति ।
देरिवेत्याहवनीयरूपादि दृष्टान्त्यते । यद्वा गर्तकण्टकादेर्व्यावहारिकस्य कर्महेतुत्वान्न वित्तत्वं नैवं ब्रह्म
ज्ञानस्येति व्यतिरेको गवादेरिवेति पाठान्तरम् ।। ब्रह्मज्ञानं वित्तश्रुत्या न ग्राह्यं कर्मविरोधित्वादित्युक्तमनु
—कर्मेति ।। ब्रह्मज्ञानस्य कर्मतद्धेतुविरुद्धत्वमसिद्धं कर्माङ्गत्वादाज्यावेक्षणवदित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मेति ।
हेतुः—यद्धीति । विनियोजकप्रमाणाभावान्नेदं कर्माङ्गमित्यर्थः ।। अङ्गत्वाभावेऽपि प्राधान्येन ज्ञानस्य क
संबन्धः स्यादिति चेन्नेत्याह—स्वरूपेति । क्वचिदिति स्वरूपे फले वेत्यर्थः ।। ब्रह्मज्ञानस्य कर्मविरोधि
वित्तत्वमित्युक्त्वा तत्रैव हेत्वन्तरमाह—एतदिति । अतो नास्य वित्तत्वेन त्यागोऽस्तीति शेषः । ब्रह्मधीवदुपा
मपि हित्वा ज्ञानान्तरं वित्तश्रुत्या ग्राह्यमित्याशङ्क्याऽऽह—देवलोकेति । यस्य साधनभावः स्यादित्यत्र क
प्रयोजकं ज्ञानं वित्तमेवेत्युक्तमिह तूपास्तिरपीति विशेषो न हि यथोक्तफलं ज्ञानमेषणातोऽर्थान्तरं
लोकादिफलस्य कर्मादेरपि तथात्वापत्तेरिति भावः ।। लोकैषणाशब्देन वित्तैषणाशब्दस्य पौनरुक्त्यं शङ्क
लोकेति । तेनैव वित्तैषणा गृहीता लोकसाधनत्वेन वित्तस्य लोकैषणायामन्तर्भावसिद्धेरिति योजना ।
साधयति— फलेति । अतो लोकैषणाशब्देनैव लोकसाधनसर्वप्रकारकर्मग्रहाद्वित्तशब्देनापि तद्ग्रहे पुन
रित्यर्थः ।। अर्थभेदं दर्शयन्परिहरति—यत्त्विति । निष्फलं विध्युद्देशस्थफलविकलमिति यावत् । वित्त
नित्यं कर्म तत्साधनं च पुनरुक्तिपरिहारार्थं ग्राह्यमित्यर्थः ।। लोकैषणाशब्दार्थमाह—लोकेति । काम्यं क
तत्साधनं चात्र विवक्षितमिति न पौनरुक्त्यमित्यर्थः ।। व्युत्थायेत्यत्र प्रकृत्यर्थमाह—क्रियेति ।। अथेत्यादिवा
प्रत्याह—इत्येवमादीति । व्याख्याप्रकारं पृच्छन्तं प्रत्याह—व्याख्यातमिति ।।

ह एवेति प्रसिद्धम्। यस्माच्च सर्वस्येशानस्तस्मात्सर्वस्य वशीति। किञ्चान्यत्स भूतो हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषो विज्ञानमयो न साधुना शास्त्रविहितेन कर्मणा भूयान्भवति वर्धते पूर्वावस्थातः केनचिद्धर्मेण। नो एव शास्त्रप्रतिषिद्धेनासाधुना कर्मणा कनीयान्तरो भवति पूर्वावस्थातो न हीयत इत्यर्थः। सर्वो ह्यधिष्ठानपालनादि कुर्वन्परानुपीडाकृतेन धर्माधर्माख्येन युज्यतेऽस्यैव तु कथं तदभाव इति। उच्यते—यस्मादेष र्वेश्वरः सत्कर्मणोऽपीशितुं भवत्येव शीलमस्य तस्मान्न कर्मणा संबध्यते। किंचैष[2] ताधिपतिर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां भूतानामधिपतिरित्युक्तार्थं पदम्।

एष भूतानां [3]तेषामेव [4]पालयिता रक्षिता। एष [5]सेतुः। किंविशिष्ट इत्याह विधरणो र्णाश्रमादि[6][7]व्यवस्थाया विधारयिता। तदाहैषां भूरादीनां ब्रह्मलोकान्तानां लोकानामभेदायासंभिन्न[9]मर्यादायै। परमेश्वरेण सेतुवदविधार्यमाणा लोकाः संभिन्नमर्यादाः स्युः।

माभिन्नत्वम्। परिशुद्धत्वमर्थमनुवदति— हृदीति। ब्रह्मीभूतस्य विदुषः स्वातन्त्र्यादिवद्धर्माधर्मास्पर्शि फलमित्यर्थः। अधिष्ठानादिकर्तृत्वाद्विदुषोऽपि लौकिकवद्धर्मादिसंबन्धित्वं स्यादिति ङ्कते—सर्वो हीति। परतन्त्रत्वमु[10]पाधिरिति परिहरति—उच्यत इति। सर्वाधिपत्यराहित्यं चोपाधिरित्याह—किंचेति।

सर्वपालकत्वराहित्यं चोपाधिरित्याह—एष इति। सर्वानाधारत्वं चोपाधिरित्याह— इति। कथं विधारयितृत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—तदाहेति। तदेव साधयति—परमेश्वरेणेति।

सन करता है, वह उस पर शासन करता ही है। क्योंकि सब पर शासन करता है, इसलिए सबका शी है। तथा पुनः वह इस प्रकार हृदयस्थित ज्योतिःस्वरूप विज्ञानमय पुरुष "साधुना" अर्थात् शास्त्रविहित कर्म से "न भूयान्" अर्थात् अपनी पूर्वावस्था की अपेक्षा किसी धर्म से बढ़ नहीं जाता; न ही साधुना" अर्थात् शास्त्रप्रतिषिद्ध कर्म से "कनीयान्" अर्थात् अल्पतर होता है। पूर्वावस्था से कारभाव को प्राप्त नहीं होता। अधिष्ठान और पालनादि करने वाले सभी लोग दूसरों पर अनुग्रह धर्म एवं पीड़ा पहुंचाने से अधर्माख्य फल से युक्त होते हैं; इस आत्मा को वे फल क्यों प्राप्त नहीं ते। इसे ही श्रुति कहती है—क्योंकि वह सर्वेश्वर है, अतः इसका स्वभाव कर्म का शासन करने वाला है। इसलिये कर्म से इसका संबन्ध नहीं होता। तथा यह प्रत्यगात्मा "भूताधिपतिः" अर्थात् ब्रह्मा से कर स्तम्बपर्यन्त समस्त भूतों का अधिपति है—इस प्रकार इस पद का अर्थ पहले जा चुका है।

यह ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सभी भूतों का (सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करने से) रक्षिता है। ह सर्वलोक व्यवस्था के लिये सेतु के समान है। वह किन विशेषणों से विशिष्ट सेतु है?—"विधरणः" र्थात् वर्णाश्रमादि व्यवस्था का विधारक है। इसे श्रुति कहती है— "एषां लोकानाम्" अर्थात् इन

---

[1] वर्तते, तस्मात्। [2] प्रत्यगात्मा। [3] ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानाम्। [4] सत्तास्फूर्तिप्रदानेन। [5] सेतुरिति—सेतुरिव सेतुः। तदुक्तं वार्तिके—"यथोदकप्रवाहस्य सेतुर्विधरणस्तथा। सर्वलोकव्यवस्थानां सेतुः स परमेश्वरः" ॥ १०१५ ॥ इति। [6] आदिना भूरादिलोकग्रहः। [7] मर्यादायाः। [8] असंभेदायेति—था चासंभेदकत्वेन विधारयितृत्वमिति भावः। [9] मर्यादाऽसंकरायेति यावत्। [10] उक्तानुमाने।

[1]अतो लोकानामसंभेदाय सेतुभूतोऽयं परमेश्वरो यः स्वयं ज्योतिरात्मैव । [2]एवंवि
वशीत्यादि ब्रह्मविद्यायाः फलमेतन्निर्दिष्टम् । *[3]किंज्योतिरयं पुरुष' इत्येवमादिषष्ठप्रपाठ
विहितायामेतस्यां ब्रह्मविद्यायामेवंफलायां [4]काम्यैकदेशवर्जितं कृत्स्नं कर्मकाण्ड ताद

सर्वस्य वशीत्यादिनोक्तमुपसंहरति—एवंविदिति । सफलं ज्ञानमनूद्य विविदिषावाक्यमव
—किंज्योतिरिति । एवंफलायां सर्वस्य वशीत्यादिनोक्तफलोपेताया मति यावत् । ता

भूरादि लोकों से ब्रह्मलोक पर्यन्त लोकों के "असंभेदाय" यानी मर्यादा असंकर के लिये ।
परमात्मा सेतु के समान लोकों का विधारण न करें तो उनकी मर्यादा भग हो जाय । इसलिये लोकों
मर्यादा अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए सेतुभूत यह परमात्मा है, जो स्वयंज्योति आत्मा ही है ।
प्रकार जानने वाला सबका वशी है" यह श्रुति ब्रह्मविद्या के फल का निर्देश करती है । "यह
किस ज्योति वाला है" इस प्रकार षष्ठ प्रपाठक (उपनिषत् के चतुर्थ अध्याय) में विहित इस
फल वाली ब्रह्मविद्या में काम्यकर्मरूप एक देश को छोड़कर शेष सारा कर्मकाण्ड(धीशुद्धि

---

१. अतः—अतोऽन्यदार्तमित्यादिना विधारयित्रन्तरस्य प्रत्युदस्तत्वादित्यर्थः । २. एवंविदिति—स वा
महानज इत्यादि श्रुत्याऽनूदितमेतदध्यायोक्तं ब्रह्मात्मैक्यं वस्त्वेवंशब्दार्थः । ३. बृ. उ. ४. ३. २ । ४. का
कदेशेत्यादिविशेषणं संयोगपृथक्त्वन्यायमवधीर्येति पूर्वं टीकोक्तं न प्रस्मर्तव्यम् ।

---

* किं ज्योतिरमित्यादि विनियुज्यते इत्यन्तभाष्यमत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"एवं तावत्समासेन षष्ठाध्या
क्तमादरात् । श्रुत्याऽनूद्याखिलं वस्तु तस्याथ प्रतिपत्तये ॥ उपायतां यथा सर्वो वेदोऽयं प्रतिपद्यते । तमेत
वाक्येन तदेतदभिधीयते ।। एतं विविदिषन्त्युक्तं वेदानुवचनादिभिः । उपायैरीश्वरं साक्षादपेताशेषकल्पन
स्वातन्त्र्येणेशविषया बुभुत्साऽप्यतिदुर्लभा । गम्यते तदुपायानां विधानाद्यत्नतः श्रुतौ ॥ विनियोगप्रयत्ना
कर्मविज्ञानकाण्डयोः । गम्यते भिन्नवाक्यत्वं नैकत्र विनियोगगीः ॥ यद्बुभुत्साऽपि दुष्प्रापा वद तत्तत्वबोधन
ततोऽपि दुर्लभतरमुपायाल्लभ्यते कुतः ॥ बुभुत्सामात्र एवामी वेदानुवचनादयः । विनियुक्ता यतस्तस्मा
तज्ज्ञानसिद्धये । अत एव श्रुतिर्यत्नाच्छमादीनेव वक्ष्यति । उपायानात्मयाथात्म्यविज्ञानाय यमात्कान्
बुभुत्सासाधनेष्वेषु वेदानुवचनादिषु । अधिकारोऽविशेषेण ह्याश्रमाणां यथायुति ॥ यथायोगं यथाश्रद्धं तद्बुभु
प्रसिद्धये । सर्वाश्रमैरमी कार्या वेदानुवचनादयः" ॥ १०१८-१०२७ ॥ इति । वृत्तमनूद्य विविदिषावा
तात्पर्यमाह—एवं तावदिति । वस्तु ब्रह्मात्मैक्यमिति यावत् । श्रुत्या स वा एष महानित्यादिकयेत्यर्थः ।
पूर्णमित्येतत् । तस्येत्यैक्योक्तिः । तत्प्रतिपत्तेरुपायापेक्षाद्योतकोऽथशब्दः ॥ वेदशब्दः कर्मकाण्डार्थः ॥ विवि
वाक्यतात्पर्यमुक्त्वा तदक्षराणि योजयति—एतमिति । साक्षाद्विविदिषन्तीति संबन्धः । उक्तं विर
आकाशादित्यादावित्यर्थः । ईश्वरमित्यज्ञातस्य प्रतीचो विविदिषाविषयत्वं सूचयति । तस्यैव नि
नित्यमुक्तं रूपमाह—अपेतेति ॥ प्रतीचि ज्ञानेच्छाया लौकिकेच्छातो विशेषमाह—स्वातन्त्र्येणेति । लौकि
तावदिच्छा शोभनार्थधीकृता सुलभा प्रत्यग्विषया तु पुरुषस्य स्वातन्त्र्येण बुभुत्साऽपि न लभ्यते तज्ज्ञानं
सुतरामित्यर्थः ॥ विविदिषादौर्लभ्यस्य गमकमाह—तदुपायानामिति । बहूपायोपन्यासो यत्नः ॥ विवि
वाक्यालोचनया सिद्धमर्थमाह—विनियोगेति । यत्तु काण्डयोरेकवाक्यत्वं कैश्चिदुक्त तदयुक्तं त
वाक्यत्वमेव हि गम्यते कर्मणां विविदिषायां विनियोगे वाक्यतात्पर्यदर्शनान्न च काण्डयोर्वाक्यैक्येऽपि
तत्र विनियोगोक्तिर्युक्ता तद्विनियोगे लब्धविविदिषस्य कर्मत्यागप्रसङ्गादेकवाक्यत्वानवकाशादित्यर्थः ॥

युज्यते । [1]तत्कथमित्युच्यते—तमेतमेवंभूतमौपनिषदं पुरुषं वेदानुवचनेन मन्त्र-ध्ययनेन नित्यस्वाध्यायलक्षणेन विविदिषन्ति वेदितुमिच्छन्ति । के । ब्राह्मणाः । ग्रहणमु[2]पलक्षणार्थम् । अविशिष्टो [3]ह्यधिकारस्त्रयाणां वर्णानाम् । [4]अथवा कर्म-मन्त्रब्राह्मणेन वेदानुवचनेन विविदिषन्ति । कथं विविदिषन्तीत्युच्यते यज्ञेने-दि[8] ।

ये पुनर्मन्त्रब्राह्मणलक्षणेन वेदानुवचनेन प्रकाश्यमानं विविदिषन्तीति व्याचक्षते

रया ज्ञानोत्पत्तिशेषत्वेनेत्यर्थः । विनियोजकं वाक्यमाकाङ्क्षापूर्वकमादाय व्याचष्टे—तत्कथ-दिना । एवंभूतं श्लोकोक्तविशेषणमित्यर्थः । ब्राह्मणशब्दस्य क्षत्रियाद्युपलक्षणत्वे—अविशिष्टो हीति । संभावितं पक्षान्तरमाह—अथवेति । [1]तेन विविदिषाप्रकारं प्रश्नपूर्वकं ति—कथमित्यादिना ।

भर्तृप्रपञ्चप्रस्थानमुत्थाप्य प्रत्याचष्टे—ये पुनरित्यादिना । तत्र हेतुमाह—न हीति ।

तया ज्ञानोत्पत्ति के लिए विनियुक्त होता है । वह किस प्रकार ? इसे बतलाया जाता है—"तमेतम्" इस औपनिषद पुरुष को "वेदानुवचनेन" अर्थात्—नित्य स्वाध्याय लक्षण मन्त्र-ब्राह्मण ग्रन्थों के न से "विविदिषन्ति" अर्थात् जानने की इच्छा करते हैं । कौन करते हैं ? ब्राह्मण । यहाँ ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य का भी उपलक्षण कराने के लिए है क्योंकि ब्रह्मात्मावबोधन में ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य इन तीनों वर्णों का समान रूप से अधिकार है अथवा मन्त्रब्राह्मणात्मक कर्मकाण्डरूप वचन से उस ब्रह्म को जानने की इच्छा करते है । कैसे जानने की इच्छा करते हैं ? इस पर " इत्यादि मन्त्र से कहा जाता है ।

किन्तु जो (भर्तृप्रपञ्चादि विचारक) इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि मन्त्र ब्राह्मणरूप वचन के द्वारा प्रकाश्यमान आत्मा को जानने की इच्छा करते हैं । उनके अनुसार उपनिषद्मात्र

---

१. तत्कथमिति—निरुक्तं कर्मकाण्डं निरुक्तविद्यायां कथं विनियुज्यत इति प्रश्नार्थः । २. क्षत्रियवैश्ययोः । ३. ब्रह्मात्मावबोधने । ४. वेदानुवचनशब्दस्यार्थान्तरमाह—अथवेति । मन्त्रब्राह्मणात्मकं यत्कर्मकाण्डं वेदानुवचनेत्यर्थः । ५. यथोक्तकर्मकाण्डद्वारा यज्ञाद्यनुष्ठानेनेत्यर्थः । ६. आत्मानमिति शेषः । ७. द्वारेत्यर्थः । ८. यथोक्तकर्मकाण्डेन ।

यथा बुभुत्साऽपीत्यत्रापिना सूचितमर्थमाह—यदिति ॥ कर्मणां विविदिषायां विनियोगोक्तिमनुसृत्य काण्ड-कवाक्यत्वाभावमुक्त्वा विनियोगोक्तिवशादेव लब्धमर्थान्तरमाह—बुभुत्सेति ॥ विविदिषासाधनान्येव कर्माणि न ज्ञानसाधनानीत्यत्र वाक्यशेषस्यानुग्राहकत्वमाह—अत इति । 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' इति योगसूत्रानुसारेण शमादीन्विशिनष्टि—यमात्मकानिति ॥ अस्तु बुभुत्सासाधनान्येव कर्माणि केषां तेष्वधिकारस्तत्राऽऽह—बुभुत्सेति । अविशेषेणेति च्छेदः । तेषां तत्र स्वामित्वेन योग्यत्वं हिशब्दार्थः । वर्णाश्रमकर्मव्यवस्था तर्हि दुस्था स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—यथायुतीति । येन वर्णेनाऽऽश्रमेण वा यत्कर्म शास्त्रवशाद्युज्यते तां युतिमनतिक्रम्य तस्य तस्मिन्नधिकृतिरित्यर्थः ॥ तत्प्रपञ्चयति—यथायोगमिति । तद्-बुभुत्सा प्रत्यग्विविदिषा ॥

तेषामा[1]रण्यकमात्रमेव वेदानुवचनं [2]स्यात् । न हि कर्मकाण्डेन पर आत्मा प्रकाश्य तं त्वौपनिषदमिति विशेषश्रुतेः । वेदानुवचनेनेति चाविशेषितत्वात्समस्तग्राहीदं वचन न च तदेकदेशोत्सर्गो युक्तः । ननु [4]त्वत्पक्षेऽप्युपनिषद्वर्जमित्येकदेशत्वं स्यात् । नाऽऽद्य ख्यानेऽविरोधादस्मत्पक्षे नैष दोषो भवति । यदा वेदानुवचनशब्देन नित्यः स्वाध्या [5]विधीयते तदोपनिषदपि परिगृहीतैवेति वेदानुवचनशब्दार्थैकदेशो न परित्यक्तो भव यज्ञादिसहपाठाच्च[6] ।

यज्ञादीनि कर्माण्येवा[7]नुक्रमिष्यन्वेदानुवचनशब्दं प्रयुङ्क्ते । [8]तस्मा[9]त्कर्मैव वे

भवतूपनिषन्मात्रग्रहणमित्याशङ्क्य [10]वेदो वाऽनूच्यते गुरूच्चारणानन्तरं पठ्यत इति व्युत्पत्ते वचनशब्देन सर्ववेदग्रहे संभवति तदेकदेशत्यागो न युक्त इत्याह—वेदेति । दोषसाम्यमाश —नन्विति । सिद्धान्तेऽप्युपनिषदं वर्जयित्वा वेदानुवचनशब्दे कर्मकाण्डं गृहीतमिति कृत्वा वेदैकदेशविषयत्वं स्यात्ततश्च—

“ [11]यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः ।
नैकः [12]पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे” ॥

इति न्यायविरोध इत्यर्थः । नित्यस्वाध्यायो वेदानुवचनमिति पक्षमादाय परिहरति—वे दिना । वेदैकदेशपरिग्रहपरित्यागात्मकविरोधाभावं साधयति—यदेति । [13]तर्हि व्याख्यानान्तरमुपे मित्याशङ्क्य तदपि वाक्यशेषवशादपेक्षितमेवेत्याह—यज्ञादीति ।

संग्रहवाक्यं विवृणोति—यज्ञादीनि कर्माणीति । तर्हि प्रथमव्याख्याने कथं वाक्यशेषोप

ही वेदानुवचन है क्योंकि कर्मकाण्ड से परमात्मा (परोक्ष या अपरोक्ष रूप से) प्रकाशित नहीं होता। कि “मैं उस उपनिषत् प्रतिपादित पुरुष के विषय में पूछता हूँ” यह श्रुति है। किन्तु “वेदानुव यह पद विशेषणयुक्त न होने से समस्त वेदों का ही ग्रहण करने वाला है; उसके एक (कर्मकाण्ड) को छोड़ देना उचित नहीं है। (दोषसाम्य की शङ्का की जाती है—) किन्तु तुम्हारे मत में उपनिषत् को न ग्रहण कर एकदेशत्व हो ही जाता है। (सिद्धान्ती कहता है—) ऐसी बात है। पहले व्याख्यान में कोई विरोध न होने के कारण हमारे पक्ष में कोई दोष नहीं होता है जब ‘वेदानुवचन’ शब्द से नित्यस्वाध्याय का अभिधान किया जाता है तो उसमें उपनिषत् का समा हो जाता है, इससे वेदानुवचन शब्द के अर्थ का एकदेश नहीं छूटता। यज्ञादि के साथ पाठ होने भी इस प्रकार की अन्य व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है।

यज्ञादि कर्मों को अनुक्रम से ही दिखाते हुए श्रुति ‘वेदानुवचन’ शब्द का प्रयोग करती है

---

१. उपनिषन्मात्रम् । २. स्यादिति—तथा च सर्ववेदवाचिवेदानुवचनशब्देऽप्रामाणिक एव सङ्कोचः स्यादिति भावः । ३. परोक्षत्वेनापरोक्षत्वेन वा । ४. अथवेत्यादिना त्वदुक्तद्वितीयपक्षे । ५. अभिधी इति पाठान्तरम् । ६. व्याख्यानान्तरमप्यपेक्षितमेवेति शेषः । ७. अनुक्रमेण वदिष्यन्वेदः । ८. यज्ञादि साहचर्यात् । ९. कर्मकाण्डमेव । १०. वेदो वेति—वेदस्यानुवचनमिति व्युत्पत्तिमपेक्ष्यास्याव्युत्पन्नत्व द्वाशब्द इति ध्येयम् । ११. अर्थे । १२. प्रष्टव्यः । १३. तर्हि—निर्दोषत्वेन प्रथमव्याख्यानेऽङ्गी

वशब्देनोच्यत इति [1]गम्यते । [2]कर्म हि नित्यस्वाध्यायः । कथं पुनर्नित्यस्वाध्याया-भिः कर्मभिरात्मानं विविदिषन्ति । [3]नैव हि तान्यात्मानं प्रकाशयन्ति यथोपनिषदः । दोषः—कर्मणां विशुद्धिहेतुत्वात् । कर्मभिः संस्कृता हि विशुद्धात्मानः शक्नुवन्त्या-नमुपनिषत्प्रकाशितमप्रतिबन्धेन वेदितुम् । तथा ह्याथर्वणे—“विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं ते निष्कलं ध्यायमानः” इति । स्मृतिश्च “ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः”

याशङ्क्याऽऽह—कर्म हीति । वेदानुवचनादीनामात्मविविदिषासाधनत्वमाक्षिपति—कथमिति । निर्बाद्धूरिवाऽऽत्मा तैरपि ज्ञायतामित्याशङ्क्याऽऽह—नैवेति । कर्मणामप्रमाणत्वेऽपि परम्परया हेतुत्वाद्विविदिषाश्रुतिरविरुद्धेति समाधत्ते—नैष दोष इति । तदेव स्फुटयति—कर्मभिरिति । श्रुत्यन्तरं प्रमाणयति—तथा हीति । ततो *नित्याद्यनुष्ठानाद्विशुद्धधीरात्मानं सदा चिन्तयन्नुपनि-

---

दिसाहचर्य होने से कर्मकाण्ड ही ‘वेदानुवचन’ शब्द से कहा जाता है, इस प्रकार जाना जाता है कि नित्यस्वाध्याय भी वाचिक कर्म है। (यहाँ शङ्का होती है—) किन्तु नित्यस्वाध्यायादि कर्मों आत्मा को जानने की इच्छा किस प्रकार करते हैं। (प्रमाण प्रमेय का प्रकाशक हुआ करता है—) क्योंकि वे तो उपनिषदों के समान आत्मा को प्रकाशित नहीं करते। (इसका समाधान किया ता है—) ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है क्योंकि कर्म चित्तशुद्धि के हेतु हैं। कर्मों से संस्कृत हुए शुद्धात्मा पुरुष ही उपनिषदों में प्रकाशित आत्मा को बिना किसी प्रतिबन्ध के देख सकते हैं। थर्वण मुण्डकोपनिषत् में कहा है—“जब विशुद्धान्तःकरण वाला पुरुष ध्यानावस्थित हो उस निष्कल को देखता है”। स्मृति कहती है—“पापकर्मों के क्षय हो जाने से मनुष्यों को ज्ञान उत्पन्न होता है” इत्यादि।

---

१. संकोचेऽस्मन्मते गमकमिदमिति भावः । २. कर्म हीति—नित्यस्वाध्यायोऽपि वाचिकं कर्मैवेति न साहचर्यानुपपत्तिरिति भावः । ३. नैव हीति—प्रमाणं हि प्रमेयप्रकाशकं भवति कर्मणां चाप्रमाणत्वान्नैव तत्प्रकाशकत्वमिति भावः । ४. यथाऽऽदर्शतले प्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनीति स्मृतिशेषः । ५. तत्र कर्मभिः शुद्धबुद्धेर्विविदिषोर्ज्ञानमित्यत्रेत्यर्थः ।

---

* नित्याद्यनुष्ठानादिति—आदिना काम्यं कर्म गृह्यते । तथा च वार्तिके—“संसारानर्थहेतुत्वज्ञानायैव च कर्मणाम् । काम्यानामिह निर्देशस्तज्जिहासाप्रसिद्धये ॥ यद्वा विविदिषार्थत्वं काम्यानामपि कर्मणाम् । तमेतमिति वाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः” ॥ १०५१-१०५२ ॥ इति । शुद्धिद्वारा मुक्तिफलोपायत्वान्नित्यकर्मणामुत्तमपुमर्थान्वयमुक्त्वा काम्यकर्मणां तदन्वयप्रकारमाह—संसारेति । यदा वेदे काम्यानि कर्माण्युक्तानि गर्भवासाद्यनर्थहेतवो ज्ञायन्ते तदा तेषु जिहासोपवर्तते ततश्च नित्याद्यनुष्ठानात्परिशुद्धिबुद्धेर्विविदिषादिद्वारा मुक्तिरिति युक्ता तेषामपि प्रकृष्टफलान्वयितेत्यर्थः ॥ तेषां विधान्तरेण मोक्षान्वयित्वं संबन्धग्रन्थोक्तं स्मारयति—यद्वेति । कथं तानि फलान्तरोद्देशेन विहितानि विविदिषायामुपयुज्यन्ते तत्राऽऽह—संयोगस्येति ॥ ‘एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्’ (जै. सू. ४. ३. ५) इति जैमिनीयसिद्धान्तसूत्रम् । संयोगो वाक्यं तस्य पृथक्त्वं भेद एकस्योभयार्थत्वे नियामक इति तदर्थः । यथा दध्ना जुहुयादितिफलासंयुक्तवाक्येन क्रत्वर्थत्वेन विहितस्यापि दध्नो दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्यनेन फलाय विधानात्पुरुषार्थत्वमपि भवति । तथा ज्योतिष्टोमादीनां स्वर्गाद्यर्थत्वेन विहितानामपि यज्ञेनेत्यादिविविदिषावाक्येन विविदिषासाधनत्वमपि स्यादेवेति ॥

इत्यादिः ।

कथं पुनर्नित्यानि कर्माणि संस्कारार्थानीत्यवगम्यते "[1]स ह वा आत्मयाजी वेदेदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियत इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयते" इत्यादिश्रुतेः । सर्वेषु च स्मृ शास्त्रेषु कर्माणि संस्कारार्थान्येवाऽऽचक्षते [2]ऽष्टाचत्वारिंशत्संस्कारा इत्यादिषु । गीतासु च

"यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः" ॥

इति । यज्ञेनेति [3]द्रव्ययज्ञा [4]ज्ञानयज्ञाश्च संस्कारार्थाः । संस्कृतस्य च विशु

षद्भिस्तं पश्यतीत्यर्थः । आदिशब्देन [5]कषायपक्तिरित्यादिस्मृतिसंग्रहः ।

नित्यकर्मणां सस्कारार्थत्वे प्रमाणं पृच्छति—कथमिति । यद्यपि [6]श्रुतिस्मृतिभ्यां कर्मभि संस्कृतस्योपनिषद्भिरात्मा ज्ञातुं शक्यते तथाऽपि तेषां संस्कारार्थत्वे किं प्रमाणमिति प्रश्ने श्रु स्मृती प्रमाणयति—स ह वा इत्यादिना । किं पुनः स्मृतिशास्त्रं तदाह—अष्टाचत्वारिंशदि अष्टावनायासादयो गुणाश्चत्वारिंशद्गर्भाधानादयः संस्कारा इति विभागः । बहुवचनोपात्तं स्मृ न्तरमाह—गीतासु चेति । पदान्तरमादाय व्याचष्टे—यज्ञेनेतीति । तेषां संस्कारार्थत्वेऽपि ज्ञानसाधनत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—संस्कृतस्येति । दानेन विविदिषन्तीति पूर्वेण सबन्धः । कथं पु

किन्तु नित्य कर्म चित्तशुद्धि के लिए हैं; यह कैसे जाना जाता है ? (इसका समाधान हैं—) वही आत्मयाजी है, जो इस प्रकार जानता है कि "इस कर्म से मेरे अन्तःकरण का संस्का होता है, तथा इस कर्म से मेरे पुण्य की वृद्धि होती है" इत्यादि श्रुति इसके जानने के प्रकार में प्रमा है । सभी स्मृतिशास्त्रों में कर्मों को चित्तशुद्धि के लिए ही बतलाया गया है । संस्कार अड़तालीस हैं। गीता में भी कहा गया है—

"यज्ञ, दान और तप मनुष्यों को पवित्र करने वाले हैं, "यज्ञों के द्वारा जिसके पाप नष्ट हैं

---

[1] स ह वा इति—अनेन कर्मणा मेऽङ्गम् अन्तःकरणं संस्क्रियते उपधीयते पुण्येनोपचीयत इति विदित्वा कर्म चरति स आत्मशुद्ध्यर्थं यजन्नात्मयाजी स च देवयाजिनः काम्यकर्तुः श्रेयानिति श्रुत्यर्थः । [2] अष्टा चत्वारिंशदिति—तत्र अनायासः, अनसूया, दया, शौचम्, माङ्गल्यम्, अकार्पण्यम्, अस्पृहा, अन्तेष्टिः, इत्यष्टावात्म गुणा अनायासादयः । हुतं, प्रहुतम्, आहुतम्, शूलगवः, बलिहरणम्, प्रत्यवरोहणम्, अष्टकाहोमः, इति सप्तपाक यज्ञाः । अग्न्याधानम्, अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि, आग्रयणेष्टिः निरूढपशुबन्धः, सौत्रामणिः, इति सप्तहविर्यज्ञाः । अग्निष्टोमः, वाजपेयः, उक्थः, षोडशी, अतिरात्रः, अप्तोर्यामः, इति सप्तसोमयज्ञसंस्थाः । अग्निष्टो मानन्तरमत्यग्निष्टोमो द्रष्टव्यः । गर्भाधानम्, पुंसवनम्, सीमन्तः, विष्णुबलिः, जातकर्म, नामकरणम्, उपनिष्क्राम णम्, अन्नप्राशनम्, कर्णवेधः, चौलम्, अक्षरस्वीकरणम्, उपनयनम्, व्रतम्, समावर्तनम्, विवाहः, उपाकर्म, उत्सर्जनम्, वानप्रस्थम्, संन्यासः इत्येकोनविंशतिरितरे । [3] द्रव्ययज्ञः—यथाशास्त्रं द्रव्यपरित्यागः इष्टापूर्त दत्ताख्यं कर्मेति यावत् । [4] न्यायेन वेदान्तार्थनिश्चयो ज्ञानयज्ञः । [5] "कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः । कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते" ॥ इति समग्रम् । [6] श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यत्र विहितैरिति शेषयन्ति गुरुपादाः । वयं तु शक्यत इत्यनन्तरमित्यवगतमिति शेषमभ्यर्हं मन्महे ।

त्वस्य ज्ञानोत्पत्तिरप्रतिबन्धेन भविष्यत्यतो यज्ञेन विविदिषन्ति दानेन। दानमपि क्षयहेतुत्वाद्धर्मवृद्धि[1]हेतुत्वाच्च। तपसा तप इत्यविशेषेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिप्राप्तौ विशेषणमनाशकेनेति। कामानशनमनाशकं *न तु भोजननिवृत्तिः। भोजननिवृत्तौ म्रियत एव नाऽऽत्मवेदनम्।

तन्त्रं दानं विविदिषाकारणमत आह—दानमपीति। विविदिषाहेतुरिति शेषः। तपसेत्यत्रापि न्वयः। कामानशनं रागद्वेषरहितैरिन्द्रियैर्विषयसेवन यदृच्छालाभसंतुष्टत्वमिति यावत्। 'यथा-र्थत्वे का हानिरित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति।

हैं, वे सभी लोग यज्ञ का स्वरूप जानने वाले हैं" इत्यादि।

'यज्ञ' इस पद से द्रव्ययज्ञ (इष्टापूर्त दत्ताख्य कर्म) तथा (वेदान्तार्थनिश्चयरूप) ज्ञान-का ग्रहण करना चाहिये; ये संस्कार के प्रयोजक हैं। संस्कारयुक्त विशुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुष बिना किसी प्रतिबन्ध के ज्ञान की प्राप्ति होगी; इसलिए यज्ञ और दान द्वारा उसे जानने की च्छा करते हैं। दान भी पापक्षय एवं धर्मवृद्धि द्वारा ज्ञान का हेतु है। "तपसा" अर्थात् तप से न्यतः कृच्छ्रचान्द्रायणादि का ग्रहण हो जाता है। इसी स 'अनाशकेन' यह विशेषण दिया गया है। द्वेष रहित होकर इन्द्रियों द्वारा विषयों का सेवन करना कामानशन है; भोजन की निवृत्ति करना हीं। भोजन छोड़ देने से तो मनुष्य मर ही जाता है; इससे कोई आत्मज्ञान नहीं होता।

---

1. पापक्षयादिद्वारेति यावत्। 2. द्वारं किंचिदनपेक्ष्य। 3. संकल्पपूर्वकमामरणमशनवर्जनार्थत्वे।

---

*न तु भोजननिवृत्तिरिति। अत्राहुर्वार्तिककारपादास्तथाहि—"नियमाद्द्वन्द्वसंपातसहनं तप उच्यते। तस्यापि बुद्धिसंशुद्धिहेतुत्वं शास्त्रतो मतम्॥ विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म तपसैवेति च श्रुतिः। तपसा कल्मषं हन्तीत्यपि च स्मृतिशासनम्॥ यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्। सर्वं तत्तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥ अनाशकं चानशनं कामानशनलक्षणम्। रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिति चाऽऽह हि॥ कामानशनबोधार्थं वेदव्यासोऽपि यत्नतः। मृत्यवन्तं वा सनियमं तदप्यत्यन्तशुद्धिकृत्॥ प्रत्यग्विविदिषामात्रहेतुत्वान्न मृतेर्भयम्। अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो यातीति च स्मृतेः। भावितैः करणैश्चायं बहुसंसारयोनिषु। आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे॥ पृथूदकादितीर्थेषु तथाच मरणं स्मृतौ। श्रूयते मुक्तये साक्षान्न भयं स्यादतो मृतेः॥ साक्षात्तु वस्तुविज्ञाने श्रुत्या यत्र नियुज्यते। विद्वान्परिहरेत्तत्र मृतिहेतुं प्रयत्नतः॥ चतुर्णामाश्रमाणां वा वेदानुवचनादिना। श्रुत्येह ग्रहणं ज्ञेयं तद्बुभुत्साप्रसिद्धये॥ ब्रह्मचर्यान्तवाक्येन ब्रह्मचारिपरिग्रहः। तपसा तापसस्यैव यज्ञेन गृहिणस्तथा॥ श्रद्धानाशकवाक्यं तु सर्वार्थमिति गम्यते। एतमेव विदित्वेति पारिव्राज्यं च वक्ष्यति॥ सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते सेव्यमाना यथाविधि। यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम्॥ चतुर्भिराश्रमैरेभिर्यथाशास्त्रमनुष्ठितैः। अत्यन्तं क्षेममाप्नोतीत्यापस्तम्बोऽप्यभाषत" ॥ १०५४-१०६७ ॥ इति। तपःशब्दार्थमाह—नियमादिति। रागादिनिमित्तक्लेशसहिष्णुव्यवच्छेदार्थं नियमादित्युक्तम्। शास्त्रीयपारलौकिकजपोपवासादिविधिवशादिति यावत्। तेन कथं विविदिषासिद्धिस्तत्राऽऽह—तस्यापीति॥ तदेवोदाहरति—विजिज्ञासस्वेति अन्वयव्यतिरेकरूपं तपोऽत्र विवक्षितमित्याशङ्क्य चशब्दसूचितां स्मृतिमवतारयति—तपसेति॥ तत्रैव स्मृत्यन्तरमाह—यदिति। दुस्तरं दुष्परिहरं कुम्भीपाकादिदुःखम्। दुरापमाप्तुमशक्यं स्वर्गादिसुखम्। दुर्गमवगन्तुमशक्य-

वेदानुवचनयज्ञदानतपःशब्देन सर्वमेव नित्यं कर्मोपलक्ष्यते । 'एवं काम्यवर्जि नित्यं कर्मजातं सर्वमात्मज्ञानोत्पत्तिद्वारेण मोक्षसाधनत्वं प्रतिपद्यते । 'एवं कर्मकाण्डेना

भवतूपात्तानां' वेदानुवचनादीनामिष्यमाणे ज्ञाने विनियोगस्तथाऽपि कथं सर्वं नित्यं कर्म विनियुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—वेदानुवचनेति । उपलक्षणफलमाह—एवमिति । 'प्रणाड्या कर्म मुक्तिहेतुत्वे काण्डद्वयस्यैकवाक्यत्वमपि सिध्यतीत्याह—एवं कर्मेति । वाक्यान्तरमवतार्य व्याकरो —एवमिति । 'तस्यैवार्थमाह—यथोक्तेनेति । यज्ञाद्यनुष्ठानाद्विशुद्धिद्वारा विविदिषोत्पत्तौ गुरुपा

वेदानुवचन, यज्ञ, दान और तप इन शब्दों से सम्पूर्ण नित्यकर्म उपलक्षित होता है। (के उपलक्षक होने पर) इस प्रकार काम्यवर्जित सम्पूर्ण नित्यकर्म आत्मज्ञानोत्पत्ति के द्वारा मोक्ष साधन होते हैं। इस प्रकार कर्मकाण्ड से इस ज्ञानकाण्ड की एकवाक्यता हो जाती है। इस प्रकार

---

१. उपात्तस्योपलक्षकत्वे सति । २. अवतरणोक्तत्वात् । ३. ज्ञानकाण्डस्य । ४. श्रुत्या । ५. परम्परा
६. एवंशब्दस्य ।

मात्मादि । दुष्करं कर्तुमशक्यमश्वमेधादि । तपसा सर्वस्य साध्यत्वे हेतुमाह—तपो हीति । तपसा हि कु संभवेनाम्भोनिधिः सहसा चुलुकीकृतस्तत्र तस्य माहात्म्यं सुवचमिति भावः ।। अनाशकशब्दार्थमाह—अनाश चेति । रागद्वेषाभिनिवेशातिरेकेण परिमितशास्त्रीयविषयनिषेवणमनाशकमित्यत्र मानमाह—रागेति इन्द्रियमनोनिग्रहस्य प्रसादादिफलवचनं यत्नः । अनाशकशब्दस्य प्रसिद्धिमनुरुन्धानोऽर्थान्तरमाह—मृत्यन्तमिति नियमेन संकल्पेन सहितं मरणान्तमशनवर्जनमनाशकमित्यर्थः । किं तेनेति तदाह—तदपीति ॥ शुद्धि विविदिषाहेतुत्वं तस्य न सिध्यति जीवतो हि शुद्ध्यादिसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—प्रत्यगिति । अनाशकस्या विविदिषामात्रहेतुत्वान्न त्वैहिकविविदिषां तन्नियमोऽतो मृतिप्रयुक्तमनाशकस्याफलत्वं नाऽऽशङ्कनीयं जन्मा तस्य तद्धेतुत्वादित्यर्थः । ऐहिकमपि साधनं जन्मान्तरविविदिषाद्वारा मुक्तिहेतुरित्यत्र मानमाह—अनेकै सर्वानाश्रमाननुष्ठितवतो जन्मान्तरेऽपि मुक्तिरिति नियमं निराकुर्वन्वाक्यान्तरमाह—भावितैरिति ॥ वार्तमानिकं यज्ञादि जन्मान्तरे शुद्ध्यादिद्वारोपयुक्तं तथाऽपि कथं विशिष्टं मरणं तथेत्याशङ्क्याऽऽह— दीति । आदिपदेन प्रयागादिग्रहः । स्मृतौ 'ब्रह्मज्ञानेन मुच्यन्ते प्रयागमरणेन वे'त्याद्यामिति । तथाच कृतमनाशकस्याफलत्वविषयं भयं नास्तीति फलितमाह—नेति ।। सर्वैरपि तर्हि मुमुक्षुभिरनशनं मरणान्तम तत्कुतस्तेषां श्रवणादिविधिरित्याशङ्क्याऽऽह—साक्षादिति । यत्र ज्ञानमुद्दिश्य श्रवणादौ श्रोतव्यादिश्रुत्या नियुज्यते तत्र समर्थः साधनचतुष्टयसंपन्नो मरणकारणमनशनं दूरादेव त्यजेदनशनान्तरं चाऽऽद्रियेत मृतिहेतु विशेषणाच्छ्रवणादिसमर्थस्तु मरणान्तमनशनमाचरन्प्रत्यन्वेयात्त्वंपदार्थविवेकायेत्यादिस्मृतेरित्यर्थः ॥ वेदानु वचनादिशब्दानां कर्मपरत्वमुक्त्वाऽऽश्रमविषयत्वमाह—चतुर्णामिति ।। वेदानुवचनादिरूपया श्रुत्या स्मिन्वाक्ये ग्रहणमाश्रमाणामित्याशङ्क्याऽऽह—तदिति । सर्वेषामप्याश्रमाणां व्यवधानाव्यवधानाभ्यां प्रत्य दिषायामधिकारार्थं तेषां ग्रहणमित्यर्थः ।। केन शब्देन कस्याऽऽश्रमस्य ग्रहणमित्यपेक्षायां माध्यंदिनपाठ विभागमाह—ब्रह्मचर्यान्तेति । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा शकेनेति" हि ते पठन्ति । तथाऽपि त्रयाणामेवाऽऽश्रमाणामिह ग्रहश्चतुर्थाश्रमद्योतिशब्दाभावादित्याशङ्क्याऽऽ एतमेवेति ।। वेदानुवचनादिशब्दानामाश्रमविषयत्वं वदता विविदिषाद्वारा मोक्षोपायत्वमाश्रमाणामुक्तं प्रमाणमाह—सर्वेऽपीति ।। क्षेमशब्देन मोक्षं ग्रहीतुमत्यन्तविशेषणम् ।।

वाक्यतावगतिः । एवं यथोक्तेन न्यायेनैतमेवाऽऽत्मानं विदित्वा यथाप्रकाशितं मुनिर्भवति मननान्मुनिर्योगी भवतीत्यर्थः । एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति [1]नान्यम् । नन्वन्यवेदनेऽपि मुनित्वं स्यात्कथमवधार्यत एतमेवेति । [2]बाढमन्यवेदनेऽपि मुनिर्भवेत् । किंत्वन्यवेदने न मुनिरेव स्यात्किं तर्हि कर्म्यपि भवेत्सः । एतं त्वौपनिषदं पुरुषं विदित्वा

णं श्रवणादि चेत्यनेन क्रमेणेत्यर्थः । यथाप्रकाशितं [3]मोक्षप्रकरणे मन्त्रब्राह्मणाभ्यामुक्तलक्षण-त्यर्थः । योगिशब्दो जीवन्मुक्तविषयः । एवकारं व्याकरोति—एतमेवेति । अवधारणमाक्षिप्य मापद्यते—नन्वित्यादिना । एवकारस्तर्हि त्यज्यतामित्याशङ्क्याऽऽह—किंत्विति । आत्मवेदनेऽपि कर्मित्वं त्यादिति चेन्नेत्याह—एतं त्विति । कथमात्मविदोऽपि मुनित्वमसाधारणं तदाह—एतस्मिन्निति । इत-

---

धि से इस आत्मा को जान कर मोक्ष प्रकरण में प्रकाशित लक्षणानुसार मुनि हो जाता है । मनन रने से मुनि या योगी होता है, यह इसका अर्थ है । इसे जानकर ही मुनि होता है; कर्मादि अनात्म-दार्थों को जानकर नहीं । (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु मुनि तो अन्य वस्तु के ज्ञान से भी हो कता है, फिर यह क्यों कहते हो कि इतना मात्र जानने से मुनि होता है । (समाधान देते हैं—) ठीक है । दूसरे को जानने से भी मुनि हो सकता है, किन्तु अन्य को जानने से केवल मुनि ही नहीं होगा, र्मी भी होगा । इस औपनिषद पुरुष को जानकर तो केवल मुनि ही होगा; कर्मी नहीं । इसलिये

---

१. कर्मादिकमनात्मवर्गम् । २. सत्यम् । ३. अथाकामयमान इत्यादौ ।

※ नन्वन्यवेदनेपीत्यादि कुतः पुनः इत्यतः प्राक्तनभाष्ये वार्तिकान्युपन्यस्यन्ते—"यं तं विविदिषन्त्युच्चैर्यथोक्तैः साधनः परम् । एतमेव विदित्वाऽथ मुनिः स्यात्प्राग्यथोदितः ॥ पाण्डित्यबाल्ययोर्निष्ठां मुनित्वं प्रागवादिषम् । सर्वकर्ममुचां यस्मान्न तत्साधारणं ततः ॥ योगस्य च समस्तस्य प्रत्यग्विज्ञानजन्मने । उपयोगो यतस्तस्मान्ना-ऽत्मज्ञानोदयात्परः ॥ शमादीन्येव विद्यायाः साधनानि यतस्ततः । कुतोऽसंन्यासिनस्तत्स्यान्मुनित्वं निष्प्रमाण-कम् ॥ मननात्मकमेवास्य .कर्म नान्यद्यतस्ततः । मुनित्वं न्यासिनो युक्तं मौनाच्चाप्यस्य सर्वदा ॥ प्रत्यग्याथात्म्य-विज्ञाननिष्ठता मुनिता यतः । तज्ज्ञानजन्मनो नोर्ध्वं मुनिता तत्फलत्वतः ॥ एतमेवेत्यवधृतेरस्यैवैकस्य वस्तुनः । तदज्ञानैकहेतुत्वात्सर्वस्यानात्मवस्तुनः ॥ सामर्थ्याच्च ततोऽस्यैव प्रत्यग्याथात्म्यवेदिनः । मुनित्वं प्रत्यगज्ञानहेतु-कर्मापवर्जनात् ॥ किंचैतमेवमात्मानं सर्वानर्थैककारणम् । मोहमात्रव्यवहितमाप्तुमिच्छन्त आदरात् ॥ आत्म-याथात्म्यविज्ञानसर्वाविद्योपमर्दिना । सम्यग्ज्ञानप्रदीपेन प्रत्यक्प्रवणबुद्धयः ॥ विरक्ताः सर्वसंसारादाग्रजाद्बुद्धि-शुद्धितः । उत्पन्ननिखिलानर्थतित्यक्षा दोषदर्शनात् ॥ वाङ्मनःकायकर्मभ्योऽतः प्रव्रजनशीलिनः ॥ एतमेवेत्यव-धृतेर्न लोकत्रयकामिनाम् । पारिव्राज्येऽधिकारोऽस्तीत्ययमर्थोऽवगम्यते ॥ असाधारणसाध्यानि पुत्रादीनि यथा तथा । पुत्रादिकामत्यागोऽपि स्यादसाधारणोऽर्थवान् ॥ परस्परविरोधाच्च पराक्प्रत्यक्फलात्मनाम् । पुत्रादि-साधनानां च तत्त्यागस्य च वर्त्मनः ॥ पूर्वं समुद्रे यः पन्था न स गच्छति पश्चिमम् । एकः पन्था हि मोक्षस्येत्यपि व्यासोऽपि चावदत् ॥ प्रव्राजिनोऽत्र गृह्यन्ते प्रसिद्धेर्यदि वा परे । त्रिदण्डिनः समाख्यायास्तेष्वेवातिप्रसिद्धितः ॥ पराञ्चि खानीत्यादीनि श्रौतानि च वचांसि नः । तानि वा इति निन्दित्वा न्यासो ब्रह्मेति शासनात् ॥ उपायो न्यास एवातः प्रत्यग्ज्ञानस्य जन्मने । प्रत्यग्ज्ञानविरुद्धत्वान्मनोवाक्कायकर्मणाम् ॥ शब्दादिप्रकृतीन्येव कार्याणि करणानि च । प्रत्यग्ज्ञानाय नैवालमतस्तानि विरोधतः ॥ आत्मलोकपरीप्सायां तस्मात्साधनमुत्तमम् । त्याग एव हि विज्ञेयं मनोवाक्कायकर्मणाम् ॥ प्रतिसाध्यं सुतादीनि यथा लोकत्रयार्थिनाम् । नियतानि तथैवेह

मुनिरेव स्यान्न तु कर्मी । [1]अतो[2]ऽसाधारणं मुनित्वं विवक्षितम[3]स्येत्यवधारयत्येतमेवेति। [4]एतस्मिन्हि विदिते केन कं पश्येदित्येवं क्रियासंभवान्मननमेव स्यात् । किंचैतमेवा-ऽऽत्मानं स्वं लोकमिच्छन्तः [5]प्रार्थयन्तः प्रव्राजिनः [6]प्रव्रजनशीलाः प्रव्रजन्ति प्रकर्षेण व्रजन्ति सर्वाणि कर्माणि संन्यस्यन्तीत्यर्थः ।

आऽऽत्मविदो न कर्मित्वमित्याह—किंचेति । आत्मलोकमिच्छतां मुमुक्षूणामपि कर्मत्यागश्रवणा-त्मविदां न कर्मितेति किं वक्तव्यमित्यर्थः । ताच्छील्यं वैराग्यातिशयशालित्वम् ।

(आत्मवेत्ता में कर्मित्व का अभाव होने से) यहाँ (प्रत्यग् याथात्म्य ज्ञाता) असाधारण मुनि विवक्षित है । इसी से निर्णय किया जाता है—"उस आत्मा को जानकर (मुनि होता है)" इत्यादि । "इसके जान लेने पर कौन किसे देखे" इस श्रुति के अनुसार वहाँ क्रिया होनी असम्भव होने पर केवल मनन ही होगा । तथा "एतमेव" अर्थात् इसी अपनी आत्मा के लिए लोक को "इच्छन्तः" अर्थात् जानने की इच्छा वाले "प्रव्राजिनः" अर्थात् अखिल संसार से विरक्त होकर "प्रव्रजन्ति" अर्थात् पूर्ण रूप से संन्यासी हो जाते हैं; अर्थात् सभी कर्मों का संन्यास कर देते हैं ।

---

[1] आत्मविदः कर्मित्वाभावात् । [2] न तु सर्वाश्रमसाधारणम् । [3] प्रत्यग्याथात्म्यविदः । [4] औप-निषदपुरुषे । [5] विविदिषन्तः । [6] प्रव्रजनशीलाः आब्रह्मलोकमखिलसंसाराद्विरक्ताः प्रत्यक्प्रवणबुद्धय इति यावत् ।

प्रत्यग्लोकाप्तिमिच्छताम् ॥ सर्वकर्मपरित्यागः साधनं परमं मतम् । असंभवे हि कर्माणि विधीयन्तेऽस्य सर्वतः ॥ रागाद्याकृष्टचेतस्त्वान्न चेच्छक्नोत्यशेषतः । कर्माणि मानवस्त्यक्तुं स करोतु यथाविधि । कर्माणि कर्मसंत्याग-सामर्थ्यार्थं दिवानिशम् । न कर्मणामनारम्भात्तथा च स्मृतिशासनम् ॥ आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते । योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते" ॥ १०६८-१०९३ ॥ इति । एतमेव विदित्वेत्यादेरर्थमाह—यमिति । आत्मवेदनमुनिभावयोरव्यवधानार्थमथेत्युक्तम् । प्रागिति विविदिषावाक्योक्तिः । यथोदितः प्रत्यग्विविदिषा-वानित्यर्थः । तात्पर्यंवत्त्वमुच्चैरित्युच्यते ॥ प्रत्यञ्चं विविदिषुस्तमेव विदित्वा ज्ञानी भवतीत्युक्तम् । इदानी-मात्मवेदनान्मुनित्वं सर्वाश्रमसाधारणं विविदिषा हि श्रवणादिद्वारा ज्ञानहेतुः सा च सर्वाश्रमसाधारणी दर्शितेत्या-शङ्क्य पञ्चमोक्तं स्मारयति—पाण्डित्येति ॥ किंच कर्मणां विविदिषाद्वारा दूरोपकारित्वाज्ज्ञानादूर्ध्वमयोगा-त्कर्मत्यागिनामेव ज्ञानितेत्याह—योगस्येति । कर्मण इति यावत् । परो योग इति शेषः ॥ यदि कर्मणां ज्ञानो-त्पत्त्युपायत्वमिष्टं तर्हि कर्मिणोऽपि मुनित्वं तत्राऽऽह—शमादीनीति । अन्तरङ्गसाधनं विद्यायाः शमादिर्बहिरङ्ग-साधनं कर्मातः संन्यासिनामेव ज्ञानितेत्यर्थः । तेषामपि न ज्ञानित्वं स्वाश्रमकर्माक्षिप्तचित्तत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—मननेति । संन्यासिनो हि कर्म वेदान्तानामैक्यविषयमैदंपर्यं निश्चित्य तस्यैव तात्पर्यविषयस्य श्रौतयुक्त्यवष्टम्भेना-नवरतमनुसंधानमेव न तद्विरोधि कर्मान्तरं शौचादीनां बाधितानुवृत्तिमात्रत्वादतस्तस्य युक्ता मुनितेत्यर्थः । सततमतिनियतवागादिव्यापारत्वाच्च तस्य मुनित्वं युक्तमित्याह—मौनाच्चेति ॥ अन्ये तु शब्दोत्थब्रह्मज्ञान-मात्रान्न मुनित्वं तस्य संसृष्टपरोक्षत्वात्तदभ्यासोत्थसाक्षात्कारापेक्षं तदिति मन्यन्ते तान्प्रत्याह—प्रत्यगिति । आत्मस्वरूपविषयं शाब्दज्ञानं साक्षात्कारफलकमेवोत्पद्यते तथाविधज्ञानलाभो मुनित्वं तस्य फलरूपत्वादतः शाब्दज्ञानोत्तरकालमभ्यासकृतसाक्षात्कारमपेक्ष्य मुनित्वं न शङ्क्यमित्यर्थः ॥ इतश्च संन्यासिनामेव मुनितेति वक्तुमेवकारं व्याकरोति—एतमिति । अवधारणे हेतुः—तदज्ञानेति ॥ अस्त्वेवं प्रस्तुते किं जातं तदाह—

एतमेव लोकमिच्छन्त इत्यवधारणान्न [1]बाह्यलोकत्रयेप्सूनां पारिव्राज्येऽधिकार गम्यते । न हि [2]गङ्गाद्वारं प्रतिपित्सुः काशीदेशनिवासी[3] पूर्वाभिमुखः प्रैति । [4]तस्मा- ह्यलोकत्रयार्थिनां पुत्रकर्मापरब्रह्मविद्याः साधनम् । “पुत्रेणायं लोको जय्यो नान्येन र्मणा” इत्यादिश्रुतेः । अतस्तदर्थिभिः पुत्रादिसाधनं प्रत्याख्याय न पारिव्राज्यं प्रतिपत्तुं म् । अतत्साधनत्वात्पारिव्राज्यस्य । तस्मादेतमेव लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्तीति युक्तमव-

---

अवधारणसामर्थ्यसिद्धमर्थमाह—एतमेवेति । पारिव्राज्ये लोकत्रयार्थिनामनधिकारे दृष्टान्त- —न हीति । लोकत्रयार्थिनश्चेत्पारिव्राज्ये नाधिक्रियन्ते कुत्र तर्हि तेषामधिकारस्तत्राऽऽह—तस्मा- । स्वर्गकामस्य स्वर्गसाधने यागेऽधिकारवल्लोकत्रयार्थिनामपि तत्साधने पुत्रादावधिकार इत्यर्थः । दीनां बाह्यलोकसाधनत्वे प्रमाणमाह—पुत्रेणेति । पुत्रादीनां लोकत्रयसाधनत्वे सिद्धे फलितमाह त इति । अतत्साधनत्वं लोकत्रयं प्रत्यनुपायत्वम् । अवधारणार्थमुपसंहरति—तस्मादिति । लोक-

---

“इसी लोक के जानने की इच्छा करने वाले” ऐसा निश्चय करने से जाना जाता है कि त्मभूत बाह्य तीनों लोकों के इच्छुक के लिए परिव्रजन (संन्यास) में अधिकार नहीं है । काशीवासी द्वार यानी हरद्वार पहुँचने के लिए पूर्वदिशा की ओर नहीं चलता । अतः बाह्य लोकत्रय के च्छुक के लिए पुत्र, कर्म और अपर ब्रह्मविद्या साधन है । “यह लोक पुत्र से ही जीता जा सकता अन्य कर्म से नहीं” इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है । इसलिए उसके चाहने वालों के लिए पुत्रादि- धन को छोड़कर परिव्रजन करना उचित नहीं है क्योंकि परिव्रजन उनका साधन नहीं है । अतः लोक की इच्छा करने वाले सर्व कर्मों को छोड़ देते हैं—यह निर्णय करना ही ठीक है । अविद्या-

---

[1] अनात्मभूतलोकेति यावत् । [2] गङ्गाद्वारमिति—अद्यत्वे हरिद्वारं हरद्वारमिति वा प्रथमानम् । [3] अवतरणोक्तत्वात् । [4] बृ. उ. १. ५. १६ ।

सामर्थ्याच्चेति । आत्मैव वस्त्वनात्मा तदविद्याजन्यस्ततो वस्तुस्वरूपाभिज्ञस्यैव ज्ञानसामर्थ्यादज्ञानकृतकर्मत्याग- सिद्धेस्तस्यैवं मुनितेत्यर्थः ॥ तत्रैव हेत्वन्तरत्वेनोत्तरं वाक्यमादत्ते—किञ्चेति । प्रकृतमात्मानं शुद्ध्यादिद्वारा- प्तुमादरादिच्छन्तः प्रव्रजन्तीति संबन्धः । आत्मनः सदाऽऽप्तत्वात्कथमाप्तीच्छेत्याशङ्क्याऽऽह—सर्वेति ॥ तदाप्त्युपायमाह—आत्मेति । आत्मनो याथात्म्यमेव विज्ञानं तत्र सर्वप्रकाराविद्याविषयाश्रयान्तराभावात्तदु- पर्मादिसम्यग्ज्ञानसंज्ञो दीपस्तेनाऽऽत्मानमाप्तुमिच्छन्तीति योजना । प्रव्राजिन इत्यस्य तात्पर्यमाह—प्रत्यगिति ॥ कं स्वभावतो विषयाभिमुखानां प्रत्यक्प्रावण्यं पराञ्चि खानीति हि श्रुतेस्तत्राऽऽह—विरक्ता इति । नित्यकर्मा- नुष्ठानसिद्धिशुद्धिलब्धवैराग्यस्य विषयदोषधीसहकृतस्य फलमाह—उत्पन्नेति ॥ प्राप्तसर्वसंसारत्यागेच्छानामिच्छा- कार्यमाह—वागिति । यस्मादीदृक्षा मुमुक्षवोऽतः प्रत्यक्प्रवणबुद्धयः प्रव्रजन्तीति संबन्धः । एवकारार्थं दर्शय- नेतमेव लोकमित्यादिभाष्यार्थमाह—एतमिति ॥ विरक्तस्य पारिव्राज्यमुक्त्वा तस्यैव पारिव्राज्यं ज्ञानद्वारा मुक्तिहेतुरित्येतद्दृष्टान्तेनाऽऽह—असाधारणेति ॥ पुत्रादिसाधनसमुच्चितस्य पारिव्राज्यस्य कुतो न मोक्षहेतुतेत्या- शङ्क्याऽऽह—परस्परेति । मिथो विरोधे दृष्टान्तमाह—पूर्वइति । पारिव्राज्यस्यैव केवलस्य कैवल्यहेतुतेत्यत्र वृद्धसंमतिमाह—एक इति । श्रौतार्थे स्मृतिसमुच्चयार्थमपि चेत्युक्तम् । अपिशब्दस्त्याग एव हि सर्वेषां मोक्ष- साधनमुत्तममित्यादिवाक्यसमुच्चयार्थः ॥ प्रव्राजिनः प्रव्रजनशीला मुमुक्षव इत्येवंपरत्वेन व्याख्यातमिदानीं तस्यै- वार्थान्तरमाह—प्रव्राजिनोऽत्रेति । प्रसिद्धेरिति हेतुं स्फुटयति—समाख्याया इति । मुमुक्षवस्त्रिदण्डिनः पारमहंसीं

धारणम् । आत्मलोकप्राप्तिर्ह्यविद्यानिवृत्तौ स्वात्मन्यवस्थानमेव । तस्मादात्मानं चेल्लो मिच्छति यस्तस्य सर्वक्रियोपरम एवाऽऽत्मलोकसाधनं मुख्यमन्तरङ्गम् । यथा पुत्रादि बाह्यलोकत्रयस्य । पुत्रादिकर्मण आत्मलोकं प्रत्यसाधनत्वात् । असंभवेन च विरु त्वमवोचाम । 'तस्मादात्मानं लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्त्येव सर्वक्रियाभ्यो निवर्तेरन्नेवेत्यर्थः

त्रयार्थिनां पारिव्राज्येऽनधिकारादिति यावत् । आत्मलोकस्य स्वरूपत्वेन सदाप्तत्वात्कथं तत्रेच्छेत्या ङ्क्याऽऽह—आत्मेति । तस्याऽऽत्मत्वेन नित्यप्राप्तत्वेऽप्यविद्यया व्यवहितत्वात्प्रेप्सा संभवतीति भा भवत्वात्मलोकप्रेप्सा तथाऽपि किं तत्प्राप्तिसाधनं तदाह—तस्मादिति । अविद्यावशात्तदीप्सासंभ दित्यर्थः । तदिच्छाया दौर्लभ्यं द्योतयितुं चेच्छब्दः । 'मुख्यत्वं श्रुत्यक्षरप्रतिपन्नत्वम् । प्रनादि साधनेभ्यो वेदानुवचनादिभ्यो विशेषमाह—अन्तरङ्गमिति । पारिव्राज्यमेवाऽऽत्मलोकस्यान्तर साधनमिति' दृष्टान्तमाह—यथेति । तथा पारिव्राज्यमेवाऽऽत्मलोकस्य साधनमिति शेषः । पारिव्रा मेवेति नियमे हेतुमाह—पुत्रादीति । तस्यान्यत्र विनियुक्तत्वादिति शेषः । यद्यपि केवलं पुत्रादि नाऽऽत्मलोकप्रापकं तथाऽपि पारिव्राज्यसमुच्चितं तथा स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—असंभवेनेति । न हि प व्राजकस्य पुत्रादि तद्वतो वा पारिव्राज्यं संभवति । उक्तं च समुच्चयं निराकुर्वद्भिः 'सपरिकरस्य ज्ञान कर्मादिना विरुद्धत्वं तेन' कुतः समुच्चितं पुत्राद्यात्मलोकप्रापकमित्यर्थः । साधनान्तरासंभवे फलितमु

निवृत्तिपूर्वक स्वात्मा में स्थिति ही आत्मलोक की प्राप्ति है । इसलिये आत्मलोक की ही इच्छा उसके लिए सर्वविध कर्मानुष्ठान से उपरत होना ही आत्मलोक का मुख्य और अन्तरङ्ग साधन है जिस प्रकार अनात्मभूत बाह्य तीन लोकों के साधन पुत्रादि ही हैं क्योंकि पुत्रादि कर्म आत्मलोक लिए साधन नहीं हैं । दोनों का एक साथ होना असम्भव है—इसलिये इन्हें परस्पर विरुद्ध बत

---

१. तस्मात्—आत्मलोकप्राप्तौ पारिव्राज्यव्यतिरेकेण साधनान्तराऽभावात् (असंभवात्) । २. "शान्तो दा इत्यादिरपि श्रुतिः । ३. अत्र । ४. ससाधनस्य । ५. विरुद्धेन ।

वृत्तिं गृह्णन्तीति भावः ॥ कर्मिणामेव तेषां विवक्षितज्ञानलाभात्किं पारमहंस्येनेत्याशङ्क्य बहिर्मुखानां कर्मि ज्ञानमित्यत्र मानमाह—पराञ्चीति । पारमहंस्यमेव सम्यग्धीहेतुरित्यत्र श्रौतं लिङ्गमाह—तानीति । न्यास ए ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्मेत्युक्त्वा तानि वा एतान्यवराणि तपांसीति प्रकृतानि सत्यादीनि निर्दि न्यास एवात्यरेचयदिति परमहंससंन्यासस्यातिशायित्वोपदेशात्तस्य तत्त्वज्ञानं प्रत्यन्तरङ्गत्वं निश्चितमित्यर्थः वाङ्मनःकायकर्मणां संन्यास एवेति संबन्धः ॥ अवधारणे हेतुः—प्रत्यगिति ॥ विरोधं साधयति—शब्दादि देहेन्द्रियाणि भौतिकत्वात्प्रत्यग्विरोधीनि न तज्ज्ञानमुत्पादयितुमुत्सहन्ते तत्कार्यत्वात्कर्माण्यपि तथैवेत्यर्थः । कर्मत्यागो ज्ञानहेतुरित्युक्तमुपसंहरति—आत्मेति । तस्य ज्ञानसाधनत्वं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धमिति हिशब्दार्थः । तदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति—प्रतिसाध्यमिति । इहेति प्रतीचो लोकस्याऽऽप्तिरुक्ता ॥ कर्मत्यागो ज्ञानसाधनं चे पङ्कप्रक्षालनन्यायात्कर्मविधिवैयर्थ्यमित्याशङ्क्याऽऽह—असंभवे हीति । अविरक्तस्य संन्यासासंभवे सति क वैराग्योत्पत्त्यर्थं शुद्धिफलानि कर्माणि विधीयन्ते तस्मान्न पङ्कप्रक्षालनन्याय इत्यर्थः ॥ तदेव प्रपञ्चयति— रागादीति । कर्मणा संत्यागे सामर्थ्यं बुद्धिशुद्धिद्वारा वैराग्यं तदर्थमिति यावत् ॥ अज्ञस्याविरक्तस्य कर्मानु मित्यत्र मानमाह—नेति ॥ तर्हि कर्मिणामेव साक्षान्नैष्कर्म्यसाधनत्वं भगवतो मतमिति शान्तिकर्माणि वेदा दयस्तत्राऽऽह—आरुरुक्षोरिति । योगशब्देन चित्तशुद्धिज्ञानोदयो वोच्यते ॥

व बाह्यलोकत्रयार्थिनः प्रतिनियतानि पुत्रादीनि साधनानि विहितान्येवमात्मलोका-
ः सर्वैषणानिवृत्तिः पारिव्राज्यं ब्रह्मविदो विधीयत एव ।
'कुतः पुनस्त आत्मलोकार्थिनः प्रव्रजन्त्येवेत्युच्यते । तत्रार्थवादवाक्यरूपेण हेतुं
यति' । एतद्ध स्म वै तत् । तदेतत्पारिव्राज्ये कारणमुच्यते—ह स्म वै किल पूर्वेऽतिक्रान्त-
तीना विद्वांस आत्मज्ञाः प्रजां कर्मापरब्रह्मविद्यां च । प्रजोपलक्षितं हि त्रयमेतद्बाह्यलोक-
साधनं निर्दिश्यते प्रजामिति । 'प्रजां किं न' कामयन्ते पुत्रादिलोकत्रयसाधनं नानु-
ष्ठन्तीत्यर्थः । नन्वपरब्रह्मदर्शनमनुतिष्ठन्त्येव । तद्बलाद्धि व्युत्थानम् । 'नापवादात् ।
तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद सर्वं तं परादादित्यपरब्रह्मदर्शनमप्यपवदत्येव ।

रति—तस्मादात्मानमिति । प्रव्रजन्तीति वर्तमानापदेशान्नात्र विधिरस्तीत्याशङ्क्याग्निहोत्रं जुहोती-
द्विधिमाश्रित्याऽऽह—यथा चेति ।
पारिव्राज्यविधिमुक्त्वा तदपेक्षितमर्थवादमाकाङ्क्षापूर्वकमुत्थापयति—कुतः पुनरिति । उत्था-
तस्यार्थवादस्य तात्पर्यमाह—तत्रेति । आत्मलोकार्थिनां पारिव्राज्यनियमः सप्तम्यर्थः । अर्थवाद-
वाक्याक्षराणि व्याचष्टे – तदेतदिति । 'क्रियापदेन स्मेति सबध्यते । निपातद्वयस्यार्थमाह—किलेति ।
जां न कामयन्त इत्युत्तरत्र संबन्धः । प्रजामात्रे श्रुते कथं कर्मादि गृह्यते तत्राऽऽह— प्रजेति । आकाङ्क्षा-
क्रमन्वयमन्वाचष्टे—प्रजां किमिति । अकामयमानत्वस्य पर्यवसानं दर्शयति—पुत्रादीति । पूर्वे
द्वांसः साधनत्रयं नानुतिष्ठन्तीत्युक्तमाक्षिपति— नन्विति । एषणाभ्यो व्युत्तिष्ठतां किं तदनुष्ठाने-
त्याशङ्क्याऽऽह—तद्बलाद्धीति । आत्मविदामपरविद्यानुष्ठानं दूषयति—नापवादादिति । 'अथात्र

। अतः आत्मलोक की इच्छा रखने वाले प्रव्रजन ग्रहण कर लेते हैं । अर्थात् वे सब कर्मों से निवृत्त
जायँ । जिस प्रकार बाह्य लोकत्रय चाहने वाले के लिए पुत्रादि नियत साधनों का विधान किया गया
; इसी प्रकार आत्मलोक जानने की इच्छा वाले ब्रह्मवेत्ता के लिए सर्वैषणा-निवृत्तिरूप परिव्रजन
विधान किया गया है ।

फिर वे आत्मलोक के चाहने वाले प्रव्रजन (संन्यास) ग्रहण करते ही हैं —ऐसा क्यों कहा
ता है ? इसमें श्रुति अर्थवाद वाक्यरूप हेतु दिखाती है । "एतद्ध स्म वै तत्" यानी इस प्रव्रजन में
रण कहा जाता है—"पूर्वे" अर्थात् प्राचीन काल में होने वाले "विद्वांसः" अर्थात् आत्मतत्त्ववेत्ता
जा, कर्म और अपरब्रह्मविद्या की कामना नहीं करते थे । यहाँ 'प्रजा' पद से बाह्य तीनों लोकों के
तीनों साधनों का प्रजा मे उपलक्षित होना निर्देश किया जाता है । प्रजा का क्या करेंगे? अर्थात पुत्रादि-
लोकत्रय साधनों का "न कामयन्ते" अर्थात् अनुष्ठान नहीं करते हैं । (इस पर शङ्का होती है—)
किन्तु अपरब्रह्म के दर्शन के लिए अनुष्ठान तो करते हैं क्योंकि उसी के बल से एषणा की निवृत्ति
होती है । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उसकी तो निन्दा की
गई है । "ब्राह्मण जाति उसे परास्त कर देती है, जो ब्राह्मण जाति को अनात्मरूप से देखता है;

---

१. कुत इति—शिखायज्ञोपवीतादिभिः साधनैः सह तेऽखिलं कर्म त्यजन्त्येवेत्यत्र किं कारणमित्यर्थः । २. श्रुतिः । ३. अनात्मभूतलोकत्रयसाधनम् । ४. इयमाकाङ्क्षा । ५. इदमन्वयान्वाख्यानम् । ६. निन्दनात् । ७. कामयन्त इत्यनेन । ८. श्रुतौ ।

अपरब्रह्मणोऽपि 'सर्वमध्यान्तर्भावात् । यत्र नान्यत्पश्यतीति च । पूर्वापरबाह्या
दर्शनप्रतिषेधाच्चा 'पूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमिति' । तत्केन कं पश्येद्विजानीयादिति
'तस्मान्नाऽऽत्मदर्शनव्यतिरेकेणान्यद्व्युत्थानकारणमपेक्ष्यते ।

※कः पुनस्तेषामभिप्राय इत्युच्यते 'किं प्रयोजनं फलं साध्यं करिष्यामः प्रज

सर्वस्यानात्मनो दर्शनमेवापोद्यते न त्वपरस्य ब्रह्मणो दर्शनमत आह—अपरब्रह्मणोऽपीति । तदप
श्रुत्यन्तरमाह—यत्रेति । यस्मिन्भूम्नि स्थितश्चक्षुरादिभिरन्यन्न पश्यति न शृणोतीत्याविना च दर्शना
व्यवहारस्य वारितत्वादात्मविदो न युक्तमपरब्रह्मदर्शनमित्यर्थः । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—पूर्वेति । प्रति
प्रकारमभिनयति—अपूर्वमिति । इतश्चाऽऽत्मविदां नापरब्रह्मदर्शनमित्याह—तत्केनेति । अपरब्र
दर्शनासंभवे किं तेषामेषणाभ्यो व्युत्थाने कारणमित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति ।

साधनत्रयमननुतिष्ठतामभिप्रायं प्रश्नपूर्वकमाह—कः पुनरित्यादिना । कैवल्यमेव तस्मा

(क्योंकि परमात्मा ही सब की आत्मा है)", "सभी उसे परास्त कर देते हैं, जो सबको आत्मा
भिन्न देखता है" इस प्रकार श्रुति अपरब्रह्मदर्शन की निन्दा करती है क्योंकि अपरब्रह्म का (अना
अन्तः पाती होने से) सब के मध्य ही अन्तर्भाव है। "जहाँ अन्य को नहीं देखता" यह भी श्रुति है
तथा "ब्रह्म अकार्यरूप, अकारणरूप, निःसामान्य और निर्विशेष है" इस प्रकार ब्रह्म में कार्य, कार
सामान्य और विशेष दृष्टियों का निषेध किया है। "उस समय किसके द्वारा किसे देखे......किस
द्वारा किसे जाने" ऐसा भी श्रुति कहती है। अतः एषणात्रय से विमुक्ति के लिए आत्मदर्शन के लि
किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं की जाती है।

तो फिर उन (निखिल कर्मों का त्याग करने वाले आत्मलोक के इच्छुकों) का क्या अभिप्रा

---

१. अनात्मान्तःपातित्वात् । २. तदेतद्ब्रह्म । ३. बृ. उ. २. ५. १९ । ४. तस्मात् – अपरब्रह्मदर्शन
व्युत्थाने कारणत्वासंभवादात्मविदस्तद्दर्शनासंभवाच्च । ५. शिखायज्ञोपवीतादिसाधनैः सहाखिलं कर्म त्य
तामात्मलोकार्थिनाम् । ६. आक्षेपार्थः किंशब्दः ।

※ कः पुनः तेषामभिप्राय इत्यादि न कर्माऽऽरभेन्नित्यन्तभाष्ये वार्तिकानि – "कोऽभिप्रायोऽखिलं कर्म त्य
साधनैः सह । आत्मलोकार्थिनां पुंसामिति पृष्टेऽर्थं उच्यते ॥ एतद्ध स्मेति वचसा पारिव्राज्येऽभिधीयते । इदं
वादस्वरूपेण हेतुः श्रुत्या प्रयत्नतः ॥ तदेतत्कारणं स्पष्टं पारिव्राज्येऽभिधीयते । ऐतिह्यार्थं च स्मेति वेद
स्मरणाय च ॥ पूर्वेऽतिक्रान्तकालीना विद्वांसो ज्ञाततत्त्वकाः । तिसृणामेषणानां स्यात्प्रजामित्युपलक्षणम् ॥
कामयन्ते नेच्छन्ति पुत्रोत्पत्त्यादिलक्षणाः । एषणाः सकला एताः कस्मादित्यभिधीयते ॥ एषणास्त्यजतां तेषा
भिप्रायमिमं शृणु । एषणात्रितयस्यापि किमित्याक्षेप उच्यते ॥ प्रजया किं करिष्यामः कनीयःफलया वय
स्वतःसिद्धैकलो ह्यात्मा येषां लोको ध्रुवोऽक्षयः । आत्मत्वादेव चावाप्तः सर्वसाधननिःस्पृहः । वस्तूत्पत्त्यादिमद्व
त्साधनानि व्यपेक्षते ॥ यच्चोत्पत्त्यादिमद्वस्तु तत्तुच्छं स्वप्नवस्तुवत् । आत्मज्ञाने तु निःशेषफलान्तर्भावकारणात् ।
नाऽऽत्मलाभात्परो लाभः कृत्स्नेऽपि जगतीक्ष्यते । सर्वप्राप्यार्थसंप्राप्तेः सर्वहेयनिराकृतेः ॥ इति चेतसि संत
ह्याक्षिपन्ति प्रजादिकम् । नृलोकादिफलं सर्वमेषणात्रयमादरात् ॥ उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं चैषणाफलम् ।
तस्मिन्नेवं विधे कः स्यात्संतोषो विदुषामपि ॥ आत्मब्रह्मानुलोम्येन ह्येषणात्याग इष्यते । साधनं ब्रह्मविद
ब्रह्मज्ञानस्य जन्मने ॥ आप्ताशेषपुमर्थस्य प्रत्यग्याथात्म्यबोधिनः । दग्धात्मतमसः पुंसो नैषणाऽपेक्षितेष्यते ॥

नेन । प्रजा हि [1]बाह्यलोकसाधनं निर्ज्ञाता । स च बाह्यलोको नास्त्यस्माकमा-
तिरिक्तः । सर्वं ह्यस्माकमात्मभूतमेव सर्वस्य च वयमात्मभूताः । आत्मा च [2]न
मत्वादेव[3] न केनचित्साधनेनोत्पाद्य आप्यो विकार्यः संस्कार्यो वा । यदप्यात्मयाजिनः
कारार्थं [4]कर्मेति तदपि [5]कार्यकरणात्मदर्शनविषयमेव । इदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियत
ङ्गाङ्गित्वा[6]दिश्रवणात् । न हि विज्ञानघनैकरसनैरन्तर्यदर्शिनोऽङ्गाङ्गिसंस्कारो-

मित्याशङ्क्याऽऽह—प्रजा हीति । निर्ज्ञाता [7]सोऽयमित्यादिश्रुताविति शेषः । [8]स एव तर्हि प्रजया
तामिति चेन्नेत्याह—स चेति । आत्मव्यतिरिक्तो नास्तीत्युक्तमुपपादयति—सर्वं हीति । आत्म-
रिक्तस्यैव लोकस्य प्रजादिसाध्यत्वमिष्यतामिति चेन्नेत्याह—आत्मा चेति । आत्मयाजिनः
कारार्थं कर्मेत्यङ्गीकारादात्मनोऽस्ति संस्कार्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—यदपीति । अथाङ्गाङ्गित्वं
कार्यत्वं च मुख्यात्मदर्शनविषयमेव किं नेष्यते तत्राऽऽह—न हीति । आत्मविदां [9]प्रजादिसाध्याभाव-

है; उसे कहा जाता है। हम प्रजारूप साधन से किस प्रयोजन या फल को सिद्ध करेंगे,
तो बाह्य लोकों में साधन जानी गयी है और वह बाह्य लोक आत्मा से व्यतिरिक्त नहीं है।
रे लिए सब कुछ आत्मा ही है और हम भी सबके आत्मा ही हैं और हमारा आत्मा नित्यप्राप्त
के कारण किसी साधन से उत्पाद्य, आप्य, विकार्य या संस्कार्य नहीं है। एवं जो आत्मयाजी
संस्कार के लिए कर्म हैं; वह कार्यकरण सघातात्मदर्शी विषयक ही है—ऐसा स्वीकृत किया गया है।
के द्वारा मेरे इस अङ्ग का संस्कार होता है—इससे उसमें अङ्गाङ्गीभाव का श्रवण होता है। जो
न्तर, एक, विज्ञानघनरस स्वरूप आत्मा को ही देखता है, उसके लिए अङ्गाङ्गी संस्कारों का गुणारोप

---

[1] अनात्मलोकसाधनम् । [2] अस्माकम् । [3] आत्मत्वादेवेति—नित्यप्राप्त इति शेषः । न केन-
चिदित्यादि—सदा विद्यमानत्वादनुत्पाद्योऽनाप्यश्च कौटस्थ्यादविकार्यः । क्रियाऽनङ्गत्वान्निर्गुणत्वाच्चासंस्कार्यः
क्रियाङ्गं हि व्रीह्यादिः संस्कार्यो भवतीति । [4] कर्मेतीति—अङ्गीकृतमिति शेषः । उक्तं हि—कर्मभिः
संस्कृता हीत्यादि १२८३ पृष्ठभाष्ये । [5] संघातात्मदर्शिविषयकमेव । [6] आदिना संस्कार्यत्वग्रहः ।
[7] सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा । [8] स्वर्गादिर्बाह्यलोकः । [9] प्रजासाधनैः
साध्याभावम् ।

सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वैकात्म्यं प्रपश्यतः । आप्ताशेषपुमर्थस्य त्यक्ताशेषासुखस्य च । प्राप्तस्य परमं स्वास्थ्यं
वद किं स्यात्प्रजादिभिः । इति निश्चित्य निःसङ्गाः प्रव्रजन्त्येव सर्वतः ॥ धावतोऽविदुषो दृष्ट्वा मृगतृष्णोद-
कार्थिनः । तत्तोयतत्त्ववित्कश्चिन्न हि धावति मूढवत् ॥ यथैवं श्रुतितोऽशेषवाङ्मनःकायसाधन-प्रवृत्तिविषयप्रत्य-
याथात्म्यज्ञानिनामिह ॥ अविद्यापटसंवीतधिषणान्कामिनो नरान् । पुत्रोत्पत्त्यादिसाध्येषु प्रवृत्तान्वीक्ष्य यत्नतः ।
अस्माकं न प्रवृत्तिः स्यात्कृतार्थत्वाच्च कारणात् ॥ यदज्ञानात्प्रवृत्तिर्या तज्ज्ञानात्सा कुतो भवेत् । तस्मात्सर्वप्रवृ-
त्तीनां हानिः स्यादात्मबोधतः ॥ सदोत्पत्तेरनुत्पाद्योऽनाप्यश्चापि तथाऽऽत्मनः ॥ असंस्कार्योऽक्रियाङ्गत्वान्निर्गुणत्वा-
तथाऽऽत्मनः । कौटस्थ्यादविकार्योऽयं वद स्यात्कर्मणा हि किम् ॥ नोत्पत्त्यादि स्वतो यस्य स्वत एवास्ति यस्य तत् ।
न तस्य कर्मापेक्षास्ति कर्मापेक्षा ततोऽन्यतः ॥ उत्पत्त्यादौ समर्थं यद्धेतुमात्रमपेक्षते । फलवत्कर्म तत्रैव ततोऽन्यत्रा-
फलं भवेत् ॥ उक्तहेतुबलात्तस्माद्विदित्वाऽऽत्मानमात्मना । प्रव्रजेयुः समस्ताभ्य एषणाभ्यो द्रुतं बुधाः" ॥
१०६४-१११८ ॥ इति । इदानीमेतद्ध स्मेत्यादि प्रश्नपूर्वकमादत्ते—कोऽभिप्राय इति । साधनैः शिखायज्ञो-
पवीतादिभिरिति यावत् ॥ अभिप्रेतमर्थमुच्यमानत्वेन प्रतिज्ञातं प्रकटयति—एतदिति । अर्थवादस्वरूपेणैतदित्यादि-

[1]पधानदर्शनं संभवति। [2]तस्मान्न [3]किंचित्प्रजादिसाधनैः करिष्यामः। अविदुषां हि तत्प्रजा साधनैः कर्तव्यं फलम्। न हि मृगतृष्णिकायामुदकपानाय [4]तदुदकदर्शी प्रवृत्त तत्रोषरमात्रमुदकाभावं पश्यतोऽपि प्रवृत्तिर्युक्ता। एवमस्माकमपि परमार्थात्मलोकदर्शि प्रजादिसाधनसाध्ये मृगतृष्णिकादिसमे[5]ऽविद्वद्दर्शनविषये न [6]प्रवृत्तिर्युक्तेत्यभिप्रायः।

[7]तदेतदुच्यते—येषामस्माकं परमार्थदर्शिनां नोऽयमात्माऽशनायादिविनिर्मु

मुपसंहरति—तस्मान्नेति। केषां तर्हि प्रजादिभिः साध्यं फलं तदाह—अविदुषां हीति। केषांचित्प्र दिषु प्रवृत्तिश्चेत्तेनैव न्यायेन विदुषामपि तेषु प्रवृत्तिः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। तत्र प्रवृत्ति रिति संबन्धः। अविद्वद्दर्शनविषय इति च्छेदः।

उक्तेऽर्थे वाक्यमवतार्य व्याचष्टे—तदेतदिति। आत्मा चे[10]त्तदभिप्रेतं फलं तर्हि

देखना संभव नहीं है। इसलिए प्रजादि साधनों से हम कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं करेंगे। अविद्वानों ही उन प्रजादि-साधनों से फल प्राप्त करना होता है। मृगतृष्णा में जल देखने वाला जलपान के लिए प्रवृत्त होता है। इसलिए उसमें उसकी भी प्रवृत्ति होनी चाहिये; जो उसे ऊसर मात्र तथा जल का अभाव देखता है, किन्तु ऐसी बात नहीं होती। इसलिये जो अविद्वानों की भ्रान्ति का वि है और मृगतृष्णिका के समान है; उस प्रजादि साधन से साध्य फल में हम परमार्थात्म-लोकदर्शि की भी प्रवृत्ति होनी उचित नहीं है—ऐसा इसका तात्पर्य है।

इसी अर्थ को श्रुति कहती है—जिन हम परमात्मदर्शियों के लिए यह क्षुधा-तृषादि षड़ूर्मियों

---

१. उपधानं गुणारोपः। २. अवतरणोक्तत्वात्। ३. फलम्। ४. तस्यां मृगतृष्णिकायामुदकदर्शी ५. भ्रान्तज्ञानविषये। ६. यदज्ञानात्प्रवृत्तिर्या तज्ज्ञानात्सा कुतो भवेदिति वा। ७. उक्तमर्थं श्रुत्योच्यते ८. अविदुषाम्। ९. तेषां परमार्थात्मलोकदर्शिनाम्। १०. आत्माख्ये फले।

वचसा तात्पर्येण श्रुत्या पारिव्राज्ये हेतुरुच्यत इति योजना॥ तात्पर्यमुक्त्वा पदानि व्याकुर्वाणस्तदेतच्छब्दं संबन्धं दर्शयन्नपेक्षितं पूरयति—तदेतदिति। निपातत्रयं व्याकरोति—ऐतिह्येति॥ पदद्वयं व्याचष्टे— इति। प्रजां न कामयन्त इति संबन्धः। प्रजामित्येतच्छ्रूयते कर्मापरब्रह्मविद्यां चेति कथं भाष्यमित्याशङ्क्य —तिसृणामिति॥ नेत्यादेरर्थमाह—नेत्यादिना। वाच्यमुक्त्वा विवक्षितमाह—पुत्रेति। नेच्छन्तीति संबन्धः। पुत्रादिलोकसाधनं नानुतिष्ठन्तीतिभाष्यव्याख्याने हेतुं पृच्छति—कस्मादिति। किमित्यादि हेतुवाक्यं वतारयति—अभिधीयत इति॥ तस्य तात्पर्यमाह—एषणा इति। तेषामभिप्रायं दर्शयितुमेतद्वाक्यमित्यं किंशब्दस्य प्रश्नवितर्ककुत्सार्थत्वं व्यावर्तयति—एषणेति॥ आक्षेपं प्रकटयद्वाक्यं योजयति—प्रजयेति। स्माकं कूटस्थश्चिदात्मैव पुमर्थस्ते वयं प्रजादिना लोकत्रयहेतुना साध्यं नैव पश्याम इत्यर्थः। आक्षेपे हेतुस्तु नोक्तः॥ आत्माख्योऽपि पुमर्थः साधनसाध्यः स्वर्गादिवत्तत्कथमाक्षेपस्तत्राऽऽह—आत्मत्वादिति। साधननिरपेक्षत्वे हेत्वन्तरमाह—वस्त्विति। तस्मादुत्पत्त्यादिरहितमात्मवस्त्वनपेक्षमिति शेषः॥ अथोत्तत्त्वं मद्वस्त्वात्मनोऽन्यदनन्यद्वा प्रथमे वस्त्वन्तरस्वीकारादपसिद्धान्तो द्वितीये साधनानपेक्षत्वं नाऽऽत्मनः तत्राऽऽह—यच्चेति। तस्य तुच्छत्वे स्वर्गादिलाभो न पुमर्थः स्यात्ततोऽन्यस्य तत्त्वे चाऽऽत्मलाभादप्यर्थ तथात्वमित्यनवस्थेत्याशङ्क्याऽऽह—आत्मज्ञाने त्विति। तस्य पुमर्थता दुर्वारेति शेषः॥ तत्रैव हेत्वन्तरमाह— नेत्यादिना। आत्मज्ञाने निःशेषफलान्तर्भावे हेतुमाह—सर्वेति। एषणात्यागिनामभिप्रायं निगमयति—

वसाधुभ्यामविकार्योऽयं[2] [3]लोकः फलमभिप्रेतम् । न चास्याऽऽत्मनः साध्यसाधनादिसर्व-
रधर्मविनिर्मुक्तस्य साधनं किंचिदेषितव्यम् । साध्यस्य हि साधनान्वेषणा क्रियते ।
ाध्यस्य साधनान्वेषणायां हि जलबुद्ध्या स्थल इव [4]तरणं कृतं स्यात् । खे वा शाकुन-
न्वेषणम् । तस्मादेतमात्मानं विदित्वा प्रव्रजेयुरेव [5]ब्राह्मणा न कर्माऽऽरभेरन्नित्यर्थः ।
मात्पूर्वे ब्राह्मणा एवं विद्वांसः प्रजामकामयमानः ।

नेन भवितव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । क्व तर्हि साधनमेष्टव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—साध्य-
ति । विपक्षे दोषमाह—असाध्यस्येति । येषामित्यादिवाक्यार्थमुपसंहरति—तस्मादिति । ब्राह्मणानां
विदां प्रजादिभिः साध्याभावादिति यावत् ।

त, विहित प्रतिषिद्ध कर्म से अविकार्य, अपरोक्ष, स्वयंप्रकाश आत्मलोक रूप फल अभीष्ट है; साध्य-
नादि सम्पूर्ण संसारी धर्मों से रहित इस आत्मा को, किसी भी साधन की इच्छा नहीं है क्योंकि
के साधन की ही खोज की जाती है । असाध्य का साधन खोजने में तो जलबुद्धि से स्थल में तैरने
समान हो जायगा, आकाश में पक्षियों के पदचिह्न ढूंढने के समान हो जायगा । इसलिये इस आत्मा
जान कर ही ब्राह्मण प्रव्रज्या धारण करें अर्थात् किसी कर्म को प्रारम्भ न करें क्योंकि इस प्रकार
नने वाले पूर्वकालीन ब्राह्मण भी प्रजा की इच्छा नहीं करते थे ।

---

१. विहितप्रतिषिद्धकर्मभ्याम् । २. अपरोक्षः । ३. स्वयंप्रकाशः । ४. तरणमिवेत्यन्वयः एवेति वा पाठः । ५. अद्यतनाः ।

चेतसीति । आत्मज्ञाने सति प्राप्यस्य सर्वस्य प्राप्तेर्निराकर्तव्यस्य सर्वस्य निराकृतेस्तस्मिन्सर्वफलान्तर्भावादात्म-
लाभात्परो लाभो नेति मत्वा प्रजादिकं विद्वांसः समाक्षिपन्तीत्यर्थः । आक्षेपके सत्याक्षेपस्योपपत्त्यर्थो हिशब्दः ॥
आक्षेपे हेत्वन्तरमाह—उत्पाद्यमिति । एवंविधे सातिशये जन्मविनाशवतीत्यर्थः ॥ विदुषामपीत्युक्तत्वादज्ञस्यापि
विरक्तस्य पुत्राद्येषणात्यागो धीहेतुत्वेन सूचितः । इदानीं तत्त्यागस्य तद्धेतुत्वं दृष्टान्तेन साधयति—आत्मेति ।
यथा ब्रह्मविद्या प्रत्यग्भूतब्रह्मानुरूपत्वात्तत्प्राप्तिहेतुरेवमेषणात्यागोऽपि कर्मविरोधित्वेन नैष्कर्म्यब्रह्मज्ञानानुरूपत्वात्त-
ज्जन्मने साधनमिष्यते तस्मादज्ञस्यापि विरक्तस्य संन्यासो भवति फलवानित्यर्थः ॥ अविद्वत्संन्यासफलमुक्त्वा
विद्वत्संन्याससौलभ्यमाह—आप्तेति ॥ विदुषामेषणापेक्षा नास्तीत्येतत्प्रतिपादयति—सर्वभूतेति । ज्ञेयरूपमनूद्य
ज्ञानरूपमनुवदति—सर्वेति । तद्दृष्टिफलमाह—आप्तेति ॥ तं प्रति प्रजादीनामकिंचित्करत्वमाह—वदेति ।
उक्तरीत्या ज्ञानवतामेषणात्यागस्यानायासत्वमाह—इति निश्चित्येति ॥ तेषामेषणात्यागं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—
धावत इति । अविदुष इति च्छेदः ॥ दृष्टान्तानुसारेण दार्ष्टान्तिकमाह—यथेति । त्रिविधप्रवृत्तीनामालम्बनं देहादि-
स्तस्याप्यात्मा प्रत्यक्त्वेन स्थितस्तत्स्वरूपज्ञानिनस्तत्त्वमादिश्रुतिवशादेव ये तेषामस्माकज्ञानाच्छन्नबुद्धित्वाद्रागादि-
पराधीनान्पुत्रोत्पत्त्यादिषु विधिवशादेव यतमानान्मनुष्याभिमानिनो दृष्ट्वा न पुत्रोत्पत्त्यादौ प्रवृत्तिस्तत्त्वज्ञान-
विरोधादित्यर्थः ॥ न केवलमस्माकं ज्ञानमेव तत्फलं चास्त्यतोऽपि न प्रवृत्तिरित्याह—कृतार्थत्वादिति ॥ इतश्च
विदुषो न प्रवृत्तिरित्याह—यदज्ञानादिति । उक्तं सामान्यन्यायं प्रकृते योजयति—तस्मादिति ॥ आत्मनः कर्मान-
पेक्षत्वाच्च तद्रूपेण स्थितस्य विदुषो न प्रवृत्तिरित्याह—सदेत्यादिना । सर्वदाविद्यमानत्वादित्यर्थः ॥ किंच सतो-
सतो वा कर्मानपेक्षत्वादात्मनश्च सत्त्वात्तदनपेक्षतेत्याह—नेत्यादिना । कस्य तर्हि कर्मपेक्षा तत्राऽऽह—कर्मेति ॥

त एवं साध्यसाधनसंव्यवहारं निन्दतोऽविद्वद्विषयोऽयमिति कृत्वा किं कृत इत्युच्यते—ते ह स्म किल पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्था भिक्षाचर्यं चरन्तीत्यादि व्याख्यातम्[1] । *[2]तस्मादात्मानं लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति प्रव्रजे

वाक्यान्तरं प्रश्नद्वारेणावतार्य पाश्चमिकं व्याख्यानं तस्य स्मारयति—त एवमित्यादि यदर्थोऽयमर्थवादस्तं विधिं निगमयति—तस्मादिति । [3]महानुभावोऽयमात्मलोको यत्तदर्थिनो दु

इस प्रकार वे साध्य साधनरूप व्यवहार की निन्दा करते हुए 'यह सब अविद्वानों का विषय ऐसा समझ कर क्या करते थे। इस पर श्रुति कहती है। वे पुत्रैषणा वित्तैषणा, लोकैषणा से होकर भिक्षाटन करते थे। इस श्रुति की व्याख्या (बृ० उ० ३-५-१ में) की जा चुकी है। इसलिये आ लोक कर्म से असाध्य होने के कारण) आत्मलोक की इच्छा वाले 'प्रव्रजन्ति' अर्थात् प्रव्रजन

---

१. कहोलब्राह्मणे बृ० उ० ३. ५. १ । २. आत्मलोकस्य कर्मासाध्यत्वात् । ३. महामहिमा ।

तत्प्रपञ्चयति—उत्पत्त्यादाविति । सदसद्विलक्षणस्यानिर्वाच्यस्य कर्मापेक्षेत्यर्थः । निर्वाच्ये तु नित्यसद्रूपे कर्मानर्थकमित्याह—तत इति ॥ आत्मस्वरूपस्यैवंरूपत्वेऽपि प्रकृते पारिव्राज्ये किमायातं तदाह—उक्तं आत्मानं नित्यमुक्तत्वादिरूपेण ज्ञात्वा तस्य चतुर्विधक्रियाफलविलक्षणत्वलक्षणोक्तहेतुसामर्थ्यदिपणाभ्यो द्रुतं प्रव्रजेयुस्तस्मादविद्वत्संन्यासो ज्ञानाङ्गत्वेन विद्वत्संन्यासस्तत्फलत्वेन सिद्ध इत्यर्थः ॥

* तस्मादात्मानं लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति प्रव्रजेयुरित्येष विधिरर्थवादेन संगच्छते इति भाष्यमत्राहुर्वार्तिककारा —"ननु चाऽऽत्मप्रबोधेन विधिगोचरलङ्घिनः । कृतकृत्यस्य मुक्तस्य विधिरेष कथं भवेत् । परिहारोऽस्य चोद्य कहोलब्राह्मणेऽखिलः । यतोऽभाणि मया पूर्वं नेहातः पुनरुच्यते ॥ ब्रह्मचर्यं समाप्येतिप्रत्यक्षश्रुतिमूलत चतुर्णामाश्रमाणां स्यान्नोपेक्षाऽतोनुमानतः ॥ न च वेदैकमूलत्वविरहात्स्यात्प्रमाणता । आचारस्य स्मृतेर्वा बौद्धाद्याचारवद्ध्रुवम् ॥ धर्मस्य वेदमूलत्वादवेदस्य न धर्मता । इत्येवं न्यायवद्वाक्यमाहुर्वेदप्रमाणकाः ॥ वे शास्त्रानपेक्षत्वं स्मृतिशास्त्रस्य चेन्मतम् । निर्ग्रन्थिशास्त्रतुल्यत्वं स्मृतीनां वः प्रसज्यते ॥ नापि स्मृतिव्यपेक्षा श्रुतेः स्वातन्त्र्यकारणात् । स्मृत्यर्थस्यानुवादोऽयं पारतन्त्र्येऽसति श्रुतेः ॥ स्वतन्त्रयोर्मिथोऽपेक्षा नापि स्यात तन्त्रयोः । पारतन्त्र्यान्न चापेक्षा स्वतन्त्रस्य स्वतः क्वचित् ॥ स्मृत्यर्थं न श्रुतिस्तस्मादनुवक्तीह कुत्रचित् । स्मृ स्त्वनुवदत्येव श्रुत्यर्थं परतन्त्रतः" ॥ ११४६-११५४ ॥ इति ॥ संन्यासविधेयत्वमुक्तमाक्षिपति—न त्विति । तावदविदुषो विहितः संन्यासो विद्वत्प्रकरणविरोधान्नापि विदुषस्तस्य प्राप्तविद्याफलस्य विध्ययोग्यत्वाद्वैधसंन्या योगादित्यर्थः ॥ पञ्चमोक्तं स्मारयन्परिहरति—परिहारोऽस्येति । साक्षात्कारवतो वा वैधसंन्यासो निरा आपातज्ञानवतो वा नाऽऽद्यस्तस्य विद्याफलभूतसंन्यासस्याऽऽर्थिकत्वेन वैधत्वानुपगमान्न द्वितीयस्तस्य साक्षात्का द्देशेन संन्यासस्यानुष्ठेयतया विध्यपेक्षत्वादित्यर्थः ॥ ननु विदुषोऽविदुषो वा न संन्यास ऐकाश्रम्यस्मृतेर्गार्हस्थ्य तिरेकेणाऽऽश्रमान्तरायोगाद्यथाऽऽह गौतमः ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्येति तत्राऽऽह—ब्रह्मचर्य मिति । श्रुतिवशाच्चातुराश्रम्यसंभवादनुमानशब्दितैकाश्रम्यविषयस्मृतिबलान्नाऽऽश्रमान्तरोपेक्षेत्यर्थः ॥ तर्हि श्रुते चातुराश्रम्यं स्मृतेरैकाश्रम्यं चेति संशयः स्याद्द्वयोरपि प्रामाण्याविशेषादत आह—न चेति । तुल्यन्यायत्वादा चारग्रहणम् । अयं भावः । वेदमूलाः स्मृतयः प्रमाणं तन्मूलागमानां मानत्वान्न चैकाश्रम्यस्मृतेर्मूलं वेदोऽस्ति कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयान इत्यादि तु नाऽऽश्रमान्तरमपवदति किंत्वज्ञस्याविरक्तस्य गार्हस्थ्यमनुजाना न चास्यां स्मृतावाश्रमान्तरासत्त्वं विवक्षितं ब्रह्मचर्यस्याप्यपलापप्रसङ्गात्तस्याऽऽश्रमविकल्पमेके ब्रुवत इत्युक्त

विधि[1]रर्थवादेन संगच्छते । न हि सार्थवादस्यास्य[2] [3]लोकस्तुत्याभिमुख्यमुपपद्यते ।
जन्तीत्यस्यार्थवादरूपो ह्येतद्ध स्मेत्यादिरुत्तरो ग्रन्थः । [4]अर्थवादश्चेन्नार्थवादान्तरम-
। अपेक्षते त्वेतद्ध स्मेत्याद्यर्थवादं प्रव्रजन्तीत्येतत् ।

पारिव्राज्यं कुर्वन्तीति स्तुतिरत्र विवक्षिता न विधिरित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । [5]तदेव प्रपञ्च-
–प्रव्रजन्तीत्यस्येति । तथाऽपि प्रव्रजन्तीतिवाक्यस्यार्थवादत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह
र्थवादश्चेदिति ।

तः इस विधि की अर्थवाद से संगति बैठ जाती है । इस अर्थवाद सहित 'प्रव्रजन्ति' इस विधि-
का आत्मलोक की स्तुतिपरक होना संभव नहीं है । 'प्रव्रजन्ति' इस विधिवाक्य का अर्थवाद
'एतद्ध स्म' इत्यादि आगे का श्रुतिवाक्य है । यदि यह अर्थवाद ही होता, तो इसे दूसरे अर्थवाद
अपेक्षा नहीं हो सकती थी किन्तु 'प्रव्रजन्ति' इस वाक्य को 'एतद्ध स्म' इस श्रुतिवाक्य के अर्थवाद
अपेक्षा है ही ।

---

१. अर्थवादेनेति—प्रयोजकत्वं तृतीयार्थः । अर्थवादप्रयुक्त एष विधिः संगच्छत इत्यर्थ इत्याहुः । २. प्रव्रजन्तीति-
वाक्यस्य । ३. आत्मलोकस्तुतिपरत्वम् । ४. अर्थवादश्चेदित्यादि—सोऽरोदीदित्यादेरर्थवादस्य बर्हिषि रजतं
न देयमित्यादिविधिनैकवाक्यत्वदर्शनादर्थवादस्यार्थवादान्तरापेक्षा न युक्तेति स्थितमर्थवादाधिकरणे । ५. उक्ता-
नाभिमुख्यमेव ।

विरोधाच्च न चासावेकीयपक्षोपन्यासो न स्वमतमिति वाच्यं नियामकाभावाच्चातुराश्रम्यविषयबहुश्रुतिस्मृति-
विरोधाच्च तस्मादैकाश्रम्यस्मृतेर्मूलाभावादमानत्वान्न तद्वशादत्र संशयोऽवतरेदिति ॥ वेदमूला स्मृतिर्मानमित्यत्र
स्मृत्यधिकरणं प्रमाणयति—धर्मस्येति । अवेदस्य वेदाप्रमाणकस्य चैत्यवन्दनादेरिति यावत् । वेदप्रमाणकाः
शबरस्वामिप्रभृतयः । उक्तं हि शब्दमूलो हि धर्म इत्युक्तमिति ये त्वदृष्टार्थास्तेषु वैदिकशब्दानुमानमिति च
(जै. सू. १. ३. १; १. ३. २) ॥ श्रुतिमूला स्मृतिर्मानमित्युक्त्वा विपक्षे दोषमाह—वेदेति । निर्ग्रन्थयो दिगम्बरा-
दयः । यथाऽऽहुः—युक्तं श्रुतिविरोधात्स्मृतिरप्रमाणमितीति (जै. सू. १. ३. ३.) ॥ श्रुतिनिरपेक्षत्वे स्मृतिनाम-
प्रामाण्यप्रसङ्गात्प्रमाणं स्मृतिस्तत्सापेक्षेति नियम्यते चेदितराऽपि स्मृतिसापेक्षा किं न स्यात्साऽपि पौरुषेयी
मूलानपेक्षा न मानमित्याशङ्क्याऽऽह—नापीति । तत्र हेतुः – स्वातन्त्र्येति । अपौरुषेयतया निरस्तसमस्तदोषा-
शङ्कायाः श्रुतेः स्वार्थे स्वतन्त्रप्रमाणत्वान्नापेक्षेत्यौत्पत्तिकसूत्रे (जै. १. १. ५) स्थितम् । उक्तं हि—अतश्च
प्रमाणमनपेक्षत्वादिति । शब्दार्थसंबन्धापौरुषेयत्वमतःशब्दार्थः । ननु स्मृत्यर्थमनुवदन्ती श्रुतिः स्मृतिं कथं नापेक्षते
नेत्याह—स्मृत्यर्थस्येति ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानीत्याद्या हि श्रुतिर्ममैवांशो जीवलोक इत्यादिस्मृत्यर्थमनुवदति नेत्याह—स्मृत्यर्थस्येति ।
श्रुतेरसति पारतन्त्र्ये नास्ति स्मृत्यर्थानुवादित्वमिति पूर्वनञन्वयेन योजना ॥ श्रुतेः स्मृत्यनपेक्षत्वं दृष्टान्तेनाऽऽह
—स्वतन्त्रयोरिति । आत्माकाशयोर्वा घटपटस्थरूपरसयोर्वा मिथोपेक्षाभावावद्वेदस्यापि स्वतन्त्रस्य स्मृति-
शास्त्रात्परतन्त्रात्क्वचिदप्यर्थे स्वतोऽपेक्षा न युक्ता स्वतन्त्रस्य परतन्त्राधीनापेक्षावत्त्वव्याघातादित्यर्थः ॥ श्रुतेः
स्मृत्यनपेक्षत्वे फलितमाह—स्मृत्यर्थमिति । इहेति वैदिकव्यवहारभूमिरुक्ता । यत्तु पादोऽस्येत्यादिश्रुतिर्ममैवेत्यादि-
स्मृत्यर्थमनुवदतीति तत्र वैपरीत्यमाह—स्मृतिस्त्विति । उक्तं हि प्रमाणमेषा स्मृतिर्विज्ञातं तत्किमित्यन्यथा
भवतीति ॥

यस्मात्पूर्वे विद्वांसः प्रजादिकर्मभ्यो निवृत्ताः प्रव्रजितवन्त एव तस्मा धुनातना[1] अपि प्रव्रजन्ति प्रव्रजेयुरित्येव [2]संबध्यमानं न लोकस्तुत्यभिमुखं भवितुमर्हति विज्ञानसमानकर्तृकत्वोपदेशादित्यादिनाऽवोचाम । वेदानुवचनादिसहपाठाच्च । यथाऽऽ वेदनसाधनत्वेन विहितानां वेदानुवचनादीनां [3]यथार्थत्वमेव [4]नार्थवादत्वं तथा तत्रैव पठितस्य पारिव्राज्यस्याऽऽत्मलोकप्राप्तिसाधनत्वेनार्थवादत्वमयुक्तम् । फलविभागोपदेशाच्च एतमेवाऽऽत्मानं लोकं [5]विदित्वेत्यन्यस्माद्बाह्याल्लोकादात्मानं फलान्तरत्वेन प्रविभजति यथा पुत्रेणैवायं लोको जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोक इति[6] । न च प्रव्रज

अपेक्षाप्रकारमेव प्रकटयन्नस्य स्तुत्यभिमुखत्वाभावाद्विधित्वमेवेत्याह—यस्मादिति । वि विदित्वा व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्तीत्यत्र[7] विज्ञानेन समानकर्तृकत्वं व्युत्थानादेरुपदिश्यते विज्ञानं सर्वासूपनिषत्सु 'विधीयतेऽतो व्युत्थानमपि विधिमर्हतीत्युक्तं तथा चात्रापि व्युत्थानापरपर्यायं पारिव्रा विधेयमित्याह—विज्ञानेति । इतश्च पारिव्राज्यवाक्यमर्थवादो न भवतीत्याह—वेदेति । तदेव साव —यथेत्यादिना । पारिव्राज्यस्य विधेयत्वे हेत्वन्तरमाह—फलेति । पुत्रादिफलापेक्षया पारिव्राज्यस्य विभागेनोपदिश्यते तथा च फलवत्त्वात्पुत्रादिवत्पारिव्राज्यस्य विधेयत्वमसिद्धिरित्यर्थः । [9]तदेव विवृणो —एतमेवेति । प्रकृतमात्मानं स्वं लोकमापाततो विदित्वा तमेव साक्षात्कर्तुमिच्छन्तः प्रव्र न्तीति वचनात्पुत्रादिसाध्यान्मनुष्यादिलोकादात्माख्यं लोकं पारिव्राज्यस्य फलान्तरत्वेन यतः श्रुति विभज्याभिदधाति । अतस्तस्य विधेयत्वमप्रत्यूहमित्यर्थः । फलविभागोपदेशे दृष्टान्तमाह—यथेति । त पारिव्राज्येऽपि फलविभागोक्तेर्विधेयतेति दार्ष्टान्तिकमितिशब्दार्थः । पारिव्राज्यस्य स्तुतिपरत्वा हेत्वन्तरमाह—न चेति । यथा वायुर्वै क्षेपिष्ठेत्यादिरर्थवादः [11]प्राप्तार्थो देवतादिस्तुत्यर्थः स्थितो

क्योंकि प्रजादि कर्मों से निवृत्त हुए पूर्वकालीन विद्वान् प्रव्रजन ग्रहण करते ही इसलिए आजकल के विद्वान् ब्राह्मण भी प्रव्रजन ग्रहण कर लें; इस प्रकार अर्थवाद से संबन्ध वा 'प्रव्रजन्ति' यह वाक्य आत्मलोक की स्तुति के लिए होना सम्भव नहीं है । क्योंकि प्रव्रजन और विज्ञा का एक ही कर्ता है, ऐसा श्रुति का उपदेश है, यह हम कह चुके हैं । (इसके अतिरिक्त) वेदानुवचना के साथ इसका पाठ होने से यह केवल स्तुत्यर्थक नहीं है । जिस प्रकार आत्मज्ञान के साधन रूप विहित वेदानुवचनादि तात्पर्य विषयत्व हैं; स्तुत्यर्थत्व नहीं हैं; उसी प्रकार उनके साथ पठित होने पारिव्राज्य का भी आत्मलोक प्राप्ति का साधन होने से उसे स्तुत्यर्थक कहना अनुचित है । तथा फ विभाग के उपदेश दिये जाने से भी इसका स्तुत्यर्थक होना सिद्ध नहीं होता । 'इस आत्मलोक को जा कर' इस वाक्य से श्रुति अन्य बाह्य लोकों से आत्मा का फलान्तर रूप से विभाग करती है । इसी श्रुति कहती है—'पुत्र रूप साधन से यह आत्मलोक जीता जाने योग्य है, किसी अन्य कर्म से नहीं' तथा 'कर्म से ही पितृलोक जीता जाने योग्य है' इत्यादि । इसके अतिरिक्त प्रमाणान्तर से प्राप्त वायु आदि के

---

१. ब्राह्मणाः । २. अर्थवादेन सह संबध्यमानं प्रव्रजन्तीतिवाक्यम् । ३. तात्पर्यविषयत्वम् । ४. स्तुत्यर्थ त्वम् । ५. बृ उ. ४. ४. २२ । ६. बृ. उ. १. ५. १६ । ७. बृ. उ. ३. ५. १ । ८. विधेयसमान कर्तृकत्वोपदेशात् । ९. आत्मलोकाख्यम् । १०. संबध्यमानवाक्यम् । ११. आगमेतरप्रमाणप्राप्तार्थः

प्राप्तवल्लोकस्तुतिपरम्। प्रधानवच्चार्थवादापेक्षम्। सकृच्छ्रुतं स्यात्। ¹तस्माद्भ्रान्ति- लोकस्तुतिपरमिति।

न ²चानुष्ठेयेन पारिव्राज्येन³ स्तुतिरुपपद्यते। यदि पारिव्राज्यमनुष्ठेयमपि सदन्य- र्थं स्याद्दर्शपूर्णमासादीनामप्यनुष्ठेयानां स्तुत्यर्थता स्यात्। न ⁴चान्यत्र कर्तव्यता⁵ तस्मा- यान्निर्ज्ञाता यत इह स्तुत्यर्थो भवेत् यदि पुनः क्वचिद्विधिः परिकल्प्येत पारिव्राज्यस्य इहैव मुख्यो नान्यत्र संभवति। यदप्यनधिकृतविषये पारिव्राज्यं परिकल्प्यते तत्र

स्तुतिपरं तदवद्योतिशब्दाभावादित्यर्थः। किंच प्रधानस्य दर्शपूर्णमासादेर⁸र्थवादापेक्षावत्पारि- त्वमपि ⁹तदपेक्षमुपलभ्यते ¹⁰तेन तस्य दर्शादिवद्विधेयत्वं दुर्वारमित्याह—प्रधानवच्चेति। किंच पारि- सकृदेव श्रुतं चेदविवक्षितमन्यस्तुतिपरं स्यान्न चेद सकृदेव श्रूयते प्रव्रजन्तीत्युपक्रम्य प्रजां न यन्ते व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीत्यभ्यासादतोऽपि न स्तुतिमात्रमेतदित्याह—सकृदिति। न त्रापि संबध्यते, कथं तर्हि पारिव्राज्यस्य स्तुतिपरत्वप्रतीतिस्तत्राऽऽह—तस्मादिति।

अस्तु ¹¹तर्हि विधेयमपि पारिव्राज्यं स्तावकमपीति चेन्नेत्याह—न चेति। विपक्षे दोषमाह द्यतीति। ¹²अथ पारिव्राज्यं यज्ञादिवद¹³न्यत्र विधीयतामिह¹⁴ तु स्तुतिरेवेत्याशङ्क्याऽऽह—न चान्य- । आत्मज्ञाना¹⁵धिकारादन्यत्र पारिव्राज्यविध्यनुपलम्भादित्यर्थः। अन्यत्र विध्यनुपलम्भं समर्थ- —यदीत्यादिना। अन्यत्र कर्मप्रक्रियायामिति यावत्। कर्माधिकारे तत्त्यागविधेर्विरुद्धत्वादिति ः। भवत्विह¹⁶ पारिव्राज्ये विधि¹⁷स्तथाऽपि सर्वकर्मा¹⁸नधिकृतविषयः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—यद- । तत्र कर्मानधिकृते पुंसीत्येतत्। ¹⁹तत्र हेतुमाह—कर्तव्यत्वेनेति। कर्मानधिकृतेन कर्तव्यतया

भी 'प्रव्रजन्ति' यह वाक्य स्तुत्यर्थक नहीं हो सकता। तथा अन्य प्रधान कर्मों के समान यह अर्थ- र सापेक्ष है। यदि श्रुति में इसका भी श्रवण होता तो ऐसा कह सकते थे। इसलिये यह श्रुति आत्म- की स्तुतिपरक है—यह विचार भ्रान्तिपूर्ण ही है।

विधेय पारिव्राज्य से (आत्मा या उसके ज्ञान) किसी की स्तुति नहीं हो सकती। यदि विधान ने योग्य होकर भी पारिव्राज्य अन्य की स्तुतिपरक हो सकता है तो इसे दर्शपूर्णमासादि विधेय कर्म स्तुति के लिए सिद्ध होंगे। इस विद्या प्रकरण को छोड़कर और कहीं भी (कर्म प्रकरण में) इसकी ना ज्ञात नहीं हुई, जिसके कारण यहाँ स्तुतिपरक हो। यदि कहीं पारिव्राज्य विधि की कल्पना जाय तो वह यहीं मुख्य विधि होगी, अन्यत्र तो होगी नहीं। यदि अनधिकृत के विषय में पारि- की कल्पना की जाय तो वृक्षादि में आरोहणादि की भी पारिव्राज्य के समान कल्पना हो जायगी।

---

१. प्रस्तावकत्वेन विधित्वनिश्चयात्। २. विधेयेन। ३. आत्मनस्तज्ज्ञानस्य वेति शेषः। ४. कर्मप्रकरणे। ५. प्रकृतात्। ६. प्रकरणात् विद्याप्रकरणादिति यावत्। ७. तर्हि। ८. सुवर्गाय लोकायेत्याद्यर्थवादापेक्षावदित्यर्थः। ९. एतद्ध स्मेत्याद्यर्थवादम्। १०. अर्थवादसापेक्षत्वेन। ११. स्तावकमात्रत्वाभावे। १२. एकत्रोभयार्थत्वे वाक्यभेदोऽपीति मनसि निधायाऽऽह—अथेति। १३. कर्मप्रकरणे। १४. विद्याप्रकरणे। १५. प्रकरणात्। १६. विधिप्रकरणे। १७. पारिव्राज्यविधेयत्वेऽपि। १८. अन्धपङ्ग्वादिविषयः। १९. उक्तकल्पनायाम्।

वृक्षा[1]द्यारोहणाद्यपि पारिव्राज्यवत्कल्प्येत । कर्तव्यत्वेनानिर्ज्ञातत्वाविशेषात् । [2]तस्मा
त्वगन्धोऽप्यत्र[3] न शक्यः कल्पयितुम् ।

यद्ययमात्मा लोक इष्यते किमर्थं तत्प्राप्तिसाधनत्वेन कर्मण्येव नाऽऽरभ्ये पारिव्राज्येनेति । अत्रोच्यते—अस्याऽऽत्मलोकस्य कर्मभिरसंबन्धात् । यमात्मानमिच्छ प्रव्रजेयुः[4] स आत्मा साधनत्वेन फलत्वेन चोत्पाद्यत्वा[5]दिप्रकाराणाम[6]न्यतमत्वेनापि भिर्न संबध्यते । [7]तस्मात्स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यत इत्यादिलक्षणः । यस्मा लक्षण आत्मा कर्मफलसाधनासंबन्धी सर्वसंसारधर्मविलक्षणोऽशनायाद्यतीतोऽस्थूला धर्मवानजोऽजरो[8]ऽमरोऽमृतो[9]ऽभयः सैन्धवघनवद्विज्ञानैकरसस्वभावः स्वयंज्योतिरेक ए द्वयोऽपूर्वोऽनपरोऽनन्तरोऽबाह्य इत्येतदागमतस्तर्कतश्च स्थापितं विशेषतश्चेह जन

ज्ञातत्वं वृक्षारोहणादाविव पारिव्राज्येऽपि नास्ति [10]तथा चानधिकृतविषये पारिव्राज्यं कल्प चेत्तस्मिन्विषये वृक्षारोहणाद्यपि कल्प्येताविशेषादित्यर्थः । पारिव्राज्यस्याधिकृतविषयत्वे विधेयत्वे सिद्धे फलितमाह—तस्मादिति ।

सार्थवादं पारिव्राज्यं व्याख्याय स एष इत्यादि व्याकर्तुं शङ्कयति—यदीति । परिहर —अत्रेति । तदर्थिनो नाऽऽरभन्ते कर्माणीति शेषः । कर्मभिरसंबन्धमात्मलोकस्य साधयति—यमात् नमिति । तस्य कर्मासंबन्धे निष्प्रपञ्चत्वं फलतीत्याह—तस्मादिति । आत्मनो निष्प्रपञ्चत्वेऽपि तदर्थिनां पारिव्राज्यसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—यस्मादिति । निर्विशेषस्तत्र तत्र वाक्ये दर्शितस्वरूपो

क्योंकि कर्तव्य रूप से ज्ञात न होने में दोनों समान हैं । इसलिए 'प्रव्रजन्ति' इस वाक्य में स्तुतिपर होने की लेशमात्र भी कल्पना नहीं की जा सकती ।

(इस पर शङ्का होती है—) यदि आत्मलोक की इच्छा की जाती है तो उसकी प्राप्ति रूप से कर्मों का आरम्भ ही न करो; प्रव्रजन ग्रहण से क्या प्रयोजन है ? इस पर (सिद्धान्ती द्वा परिहार करते हुए) कहा जाता है—इस आत्मलोक का कर्म से कोई संबन्ध नहीं है । जिस आत्मा की इच्छा करते हुए मुमुक्षु प्रव्रजन ग्रहण करें; उस आत्मा का साधन, फल, उत्पाद्य, आप्यादि प्रकारों से किसी एक रूप से भी कर्मों का संबन्ध नहीं होता । इसलिए वह 'नेति नेति' इस प्रकार लक्षण वाल आत्मा "अगृह्यः" अर्थात् ग्रहण नहीं किया जा सकता क्योंकि इस प्रकार के लक्षण वाला आत्म कर्म के फल या साधन से असम्बद्ध, सम्पूर्ण सांसारिक धर्मों से विलक्षण, क्षुधादि से अतीत, अस्थूलादि धर्मवान्, अजन्मा, अजर, अपक्षयरहित, अमृत और निरविद्य, सैन्धवखण्ड के समान एकमात्र विज्ञानर स्वभाव, स्वयंज्योति, एक, अद्वितीय, अकार्य, अकारण, निःसामान्य एवं निर्विशेष है—ऐसा आगम और तर्क द्वारा निर्णय किया गया है; यहाँ जनक-याज्ञवल्क्य संवाद में इसका प्रतिपादन किया गया है ।

---

[1] आदिभ्यामग्निप्रवेशादि ग्राह्यम् । [2] अर्थवादान्वयादिलिङ्गात् अवतरणोत्वात् । [3] प्रव्रजन्तीतिवाक्ये । [4] मुमुक्षवः । [5] आदिनाऽऽप्यत्वादिग्रहः । [6] अन्यतमेनेति न्याय्यम् । [7] अवतरणोक्तत्वात् । [8] अपक्षयरहितः । [9] निरविद्यः । [10] तथा च—उभयत्र कर्तव्यत्वे न ज्ञातत्वाभावस्य तुल्यत्वे च ।

वल्क्यसंवादेऽस्मिंस्तस्मादेवंलक्षण आत्मनि विदित आत्मत्वेन, नैव कर्मारम्भ उपप-ते। [1]'तस्मादात्मा निर्विशेषः । न हि चक्षुष्मान्पथि प्रवृत्तोऽहनि कूपे कण्टके वा पतति। त्नस्य च कर्मफलस्य विद्याफलेऽन्तर्भावात् । न [2]'चायत्नप्राप्ये वस्तुनि विद्वान्यत्नमा-ष्ठति ।

"अङ्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ।
इष्टस्यार्थस्य संप्राप्तौ को विद्वान्यत्नमाचरेत्" ॥
"सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" ।

इति गीतासु । इहापि चैतस्यैव[3] परमानन्दस्य ब्रह्मवित्प्राप्यस्यान्यानि भूतानि त्रामुपजीवन्तीत्युक्तम् । [4]'अतो ब्रह्मविदां न कर्मारम्भः । यस्मात्सर्वैषणाविनिवृत्तः [5]'स एष नेति नेत्यात्मानमात्मत्वेनोपगम्य तद्रूपेणैव

त्येतदागमोपपत्तिभ्यां यथा पूर्वत्र स्थापितं तथैवात्रापि ब्राह्मणद्वये[6] विशेषतो यस्मान्निर्धारितं स्मादस्मिन्नात्मन्यापाततो ज्ञाते कर्मानुष्ठानप्रयत्नासिद्धिरिति योजना । उक्तात्मविषयविवेकविज्ञान-तो न कर्मानुष्ठानमित्यत्र दृष्टान्तमाह—न हीति । ब्रह्मज्ञानफले सर्वकर्मफलान्तर्भावाच्च तदर्थिनो मुक्षोर्न कर्तव्यं कर्मेत्याह—कृत्स्नस्येति । [7]'तथाऽपि विचित्रफलानि कर्माणीति विवेकी कुतूहलवशा-नुष्ठास्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । तत्र लौकिकं न्यायं दर्शयति—अङ्के चेदिति । पुरोदेशे मधु लभेत चेदिति यावत् । ज्ञानफले कर्मफलान्तर्भावे मानमाह—सर्वमिति । अखिलं समग्राङ्गोपेतमित्यर्थः । त्रैव श्रुतिं संवादयति—इहापीति । निषेधवाक्यतात्पर्यमुपसंहरति—अत इति ।

एतमित्यादि वाक्यं योजयति—यस्मादिति । उ हेति निपाताभ्यां सूचितोऽर्थो यस्मादित्यनु-

---

लिए इस प्रकार लक्षण वाले आत्मा को आत्मस्वरूप से जान कर कर्म का आरम्भ होना असम्भव है। इसलिये (कर्म से आत्मलोक के अत्यन्त असम्बद्ध होने के कारण) आत्मा निर्विशेष है। कोई भी -ज्योतिसम्पन्न व्यक्ति दिन में मार्ग में चलता हुआ कूप या काँटों में नहीं गिरता और समग्र तु बिना प्रयत्न के प्राप्य है क्योंकि कर्मफल का, विद्या के फल में अन्तर्भाव हो जाता है। अन्तर्भाव में ही प्राप्त होने पर उस वस्तु के लिए विद्वान् यत्न का अनुष्ठान नहीं करता ।

"यदि अपने पास ही मधु प्राप्त हो जाय तो मधु प्राप्ति के लिए पर्वत के पास क्यों जाय । ष्ट अर्थ की प्राप्ति हो जाने पर, विद्वान् यत्न का आश्रय क्यों ले" ।

"हे पृथापुत्र अर्जुन ! कर्म जितने भी हैं, सभी ज्ञान में जाकर परिसमाप्त हो जाते हैं" ऐसा ता का वचन है । इस बृहदारण्यक श्रुति में भी कहा है कि "ब्रह्मस्वरूप इस परमानन्द की विषयेन्द्रिय न्ध के समय प्रतीयमान एक कला के आश्रित दूसरे जीव रहते हैं" । इसलिए(कर्मानुष्ठान में कारण और फल के अभाव होने से) ब्रह्मवेत्ताओं के लिए कर्म का विधान नहीं है ।

---

१. निरुक्तात्मलोकस्यकर्मभिरत्यन्तमसंबन्धात् । २. अन्तर्भावमुद्रया लभ्ये इति यावत् । ३. बृ. उ. ४. ३. ३२ । ४. कर्मानुष्ठाने कारणफलयोरभावात् । ५. एषणाभ्यो विनिवृत्तौ हेतुमाह—स एष इति । ६. ज्योति-र्ब्राह्मणशारीरकब्राह्मणे । ७. तत्र तदन्तर्भावेऽपि ।

वर्तते तस्मादेतमेवंविदं नेति नेत्यात्मभूतमु हैवैते वक्ष्यमाणे न तरतो न प्राप्नुत युक्तमेवेति वाक्यशेषः । के ते इत्युच्यते—अतोऽस्मान्निमित्ताच्छरीरधारणादिहेतोः मपुण्यं कर्माकरवं कृतवानस्मि कष्टं खलु मम वृत्तमनेन पापेन कर्मणाऽहं नरकं पत्स्य इति योऽयं पश्चात्पापं कर्म कृतवतः परितापः स एनं नेति नेत्यात्मभूतं न तरति ❀तथाऽतः कल्याणं फलविषयकामान्निमित्ताद्यज्ञदानादिलक्षणं पुण्यं शोभन कर्म कृतवा स्मि । 'अतोऽहमस्य फलं सुखमुपभोक्ष्ये देहान्तर इत्येषोऽपि हर्षस्तं' न तरति" । उभे हैवैष ब्रह्मविदेते कर्मणी "तरति पुण्यपापलक्षणे ।

भाषितः । इतिशब्दस्यापेक्षितं पूरयति—युक्तमिति । आकाङ्क्षापूर्वकमुत्तरवाक्यमवतारयं व्याकरो —के ते इत्यादिना । यथोक्तात्मविदस्तापहर्षासंस्पर्शे हेतुमाह—उभे इति ।

सर्व एषणाओं से निर्मुक्त होकर "वह ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है" इस प्रकार आत्मा आत्मत्वेन जानकर तद्रूप हो जाता है । इसलिए यथोक्त आत्मविद इस 'नेति-नेति' आत्मभूत हुए को ये वक्ष्यमाण दोनों प्राप्त नहीं होते; यह ठीक ही है, यह वाक्य का पर्यवसित अर्थ है । वे क्या हैं इसे श्रुति बतला रही है—'अतः' अर्थात् इस शरीर-धारणादि निमित्त से 'पापमकरवम्' यानी अपुण्य कर्म किये हैं, "यह महान् कष्टजनक है कि अपने द्वारा आचरित इन अपुण्य कर्मों से मैं नरक जाऊँगा, इस प्रकार पापकर्म करने वाले का जो मरणावस्था में पश्चात्ताप है; उसे 'नेति-नेति' प्रकार आत्मस्वरूप को जानने वाला नहीं प्राप्त होता । इसी प्रकार "अतः कल्याणमकरवम्" मैंने फलविषयक कामना के निमित्त से मैंने यज्ञदानादि रूप पुण्य यानी शुभ कर्म किए हैं; इस शुभानुष्ठायी होने से मैं इसका दूसरी देह में फलात्मक सुख भोगूँगा; इस प्रकार का हर्ष विद्वान् स्पर्श नहीं करता । इस प्रकार वह ब्रह्मवेत्ता इन दोनों पुण्य-पापलक्षण कर्मों का अतिक्रमण जाता है ।

---

१. एवंविदम्—यथोक्तात्मविदम् । २. न प्राप्नुत इति—तयोरज्ञानकार्यत्वाद्विदुषश्च निष्प्रपञ्चात्मनि त्वादिति भावः । ३. धारणादीत्यादिनाऽविवेकप्रयुक्तरागादेर्ग्रहणम् । ४. महाकष्टजनकम् । ५. आचरितं वा । ६. मरणाद्यवस्थायाम् । ७. प्राप्नोति । ८. शुभानुष्ठायित्वात् । ९. विद्वांसम् । स्पृशति । ११. अतिक्रामति, कर्महेतोरविद्याया विद्यया बाधात् ।

❀ तथाऽतः कल्याणमित्याद्यतो ब्रह्मविदकर्मसंबन्धीत्यवसानभाष्ये वार्तिकानि—क्षयिष्णु पुण्यं चैतस्माद्धेतोरक पुरा । इत्येते विचिकित्से द्वे सर्वस्य भवतो मृतौ ।। एते न तरतोऽज्ञोत्थे तद्धेत्वज्ञानघस्मरम् । अशनायाद्यतिक्रा ब्रह्मस्मीत्यात्मवेदिनम् । कथं ते व्याप्नुतोऽविद्याहेतूत्थे ब्रह्मवेदिनम् ।। तापाय पुण्यमप्याहुः परिणामादिसंगतेः क्षयातिशययोगित्वात्तथा व्यासोऽप्यभाषत । तस्य स्थानवरिष्ठस्य सर्वे निरयसंज्ञिताः ।। न व्याप्नुतस्ते तं त्कर्मणी साध्वसाधुनी । इतिहेतूपदेशार्थमुभे इति परं वचः ।। उभे एते तरत्येष विद्वांस्तद्धेतुबाधनात् । उभे तरतोऽतस्तमुभे न तपतश्च तम् ।। कृतं फलप्रदानेन प्रत्यवायेन चाकृतम् । न तापयति कर्मैतन्नेति नेत्यात्म दर्शिनम् ।। पुण्यं वा यदि वा पापं न कर्मेहास्ति तादृशम् । लोकोऽस्य मीयते येन ब्रह्मविद्याप्रकाशितः ।। न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः । इति मन्त्रोऽपि चाऽऽनन्त्यमैकात्म्यस्यावदत्स्वयम्" ।। ११७१-११७८ ।। इति । अतः कल्याणमित्यादेरर्थमाह—क्षयिष्ण्विति । एतस्माद्रागादेरेवेत्यर्थः । तत्फलं च मरणान्तरं भोक्तव्यमि

एवं ब्रह्मविदः संन्यासिन [1]उभे अपि कर्मणी [2]क्षीयेते पूर्वजन्मनि कृते ये ते [3]इह न्मनि कृते ये ते चापूर्वे[4] च वाऽऽरभ्येते । किंच नैनं कृताकृते कृतं नित्यानुष्ठानमकृतं यंवाक्रिया ते अपि कृताकृते एनं न [5]तपतः । अनात्मज्ञं हि कृतं फलदानेनाकृतं प्रत्यवायोत्पादनेन तपतः । अयं तु ब्रह्मविदात्मविद्याग्निना सर्वाणि कर्माणि भस्मी करोति ।

पुण्यपापे तरतीत्युक्ते [6]पृथगवस्थानं तयोः [7]शङ्क्यते तन्निरस्यति—एवमिति । [8]निषेधवाक्योक्त- णेति यावत् । [9]इतश्चाऽऽत्मविदो धर्मादिसंबन्धो नास्तीत्याह—किंचेति । [10]तदेवानन्तरवाक्यव्याख्यानेन स्फोरयति—नैनमिति । [11]तयोस्तर्हि कुत्र तापकत्वं तदाह—अनात्मज्ञं हीति । पुरुषत्वाद्ब्रह्मविदुषोऽपि कृताकृतयोस्तापकत्वं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—अयं त्विति[12] । अत्र भगवद्वाक्यं प्रमाणयति

इस प्रकार ब्रह्मवेत्ता संन्यासी के जो पूर्वजन्म के कर्म हैं और (विद्योत्पत्ति से पूर्व) इस जन्म कर्म हैं; वे दोनों अनारब्धफलक पुण्य और पाप कर्म पृथक् नहीं रहते और ज्ञानोत्तर काल में नए ों का आरम्भ नहीं होता । तथा "नैनं कृताकृते तपतः" अर्थात् नित्य अनुष्ठान करने योग्य और अनुष्ठान न करने योग्य, ये दोनों (फल प्रदान प्रत्यवाय द्वारा) इसे स्पर्श नहीं करते ।

---

१. उभे पुण्यपापे अनारब्धफले । २. न पृथगवतिष्ठते । ३. विद्योत्पत्तेः प्राक् । ४. ज्ञानोत्तरकालम् । ५. फलप्रदानप्रत्यवायद्वारा । ६. तथा च द्वैतमवशिष्येतेति भावः । ७. शङ्क्येतेति पाठान्तरम् । ८. निषेधेति—नेति नेतीतिनिषेधवाक्यं तत्रोक्तः क्रमः १३०० पृष्ठभाष्ये "अत्रोच्यत" इत्यादिना प्रदर्शितो भाष्ये तेनेत्यर्थः । ९. टीकावसाने निर्गलिष्यमाणात् कारणात् । १०. कारणम् । ११. विदुष्यतापकत्वे । १२. अयं त्वितीति—उक्तानुमानेऽविद्यावत्त्वमुपाधिरिति शेषः ।

संकल्पयतीति शेषः । संकल्पद्वये कोऽधिकारीत्यपेक्षायामाह—इत्येते इति । तत्र समुच्चयानुष्ठायी यथोक्तचिकित्सावान्मृतेरूर्ध्वं सूक्ष्मदेहवेष्टितो देवयानेन पथा ब्रह्मलोकमासाद्य निर्वृणोति केवलेष्टादिकारित्वविशेषणः पितृयाणेन चन्द्रमसमासीदति । अनिष्टादिकारी पुनरुक्तविशेषणो भूतसूक्ष्मपरिवृतः संयमने यामीर्यातना भूयो भूयोऽनुभूय ततोऽवरुह्य तृतीयस्थानभाग्भवतीति भावः ॥ तर्हि ब्रह्मविदोऽपि स्यातामेते विचिकित्से तत्कारणे च सुकृतदुष्कृते नेत्याह—एते इति । धर्माधर्मयोर्ब्रह्मविदस्पर्शे हेतुमाह—कथमिति । न हि तं स्पृष्ट्वाऽदृष्टं तपति तस्याविद्याकार्यत्वात्तद्रहितेऽस्मिन्नयोगादित्यर्थः ॥ पापस्य तापकत्वेऽपि पुण्यस्य तस्य तदभावात्तन्न तपतीत्यप्रसक्तनिषेधोऽयमित्याशङ्क्याऽऽह—तापायेति । आहुः सूत्रकारभाष्यकारप्रभृतयः श्रुतयश्चेति शेषः । तस्य पापवत्तापकत्वे हेतुमाह—परिणामादीति । पुण्यस्य हि फले परिणामवृद्ध्यादिसंबन्धात्क्षयेणातिशयेन च युक्तत्वाद्युक्तं तस्यापि तापकत्वमित्यर्थः । तत्र स्मृतिं प्रमाणयति—तथेति । व्यासवाक्यमेव लेशतो दर्शयति—तस्येति । ब्रह्मलोकाख्यस्थानस्य मोक्षस्थानस्य वाऽधस्ताद्भाविनः सर्वे लोका दुःखबहुलत्वान्नरकशब्दिता इति वदन्पुण्यमपि तापकं सूचयति स्मेत्यर्थः ॥ पुण्यापुण्ये ब्रह्मविदं न स्पृशतो न तपतश्चेत्यत्र श्रुतिमुखेन हेतुं वक्तुं प्रश्नपूर्वकमुत्तरवाक्यमादत्ते—नेत्यादिना ॥ तद्व्याकरोति—उभे इति । तत्र हेतुः—तद्धेत्विति । कर्महेतोरविद्याया विद्यया बाधादिति यावत् । विदुषो धर्माद्यतिक्रमफलमभिलपन्नैनमित्यादेरर्थमाह—उभे नेति ॥ उभे न तपतस्तमित्येतत्प्रपञ्चयति—कृतमिति । तस्यातापकत्वे हेतुमाह—नेतीति ॥ यद्यपि कर्म विद्वांसं न तापयति तथाऽपि विद्यया सह तत्फलं परिच्छिनत्तीत्यस्ति विदुषोऽपि कर्माधीनतेत्याशङ्क्याऽऽह—पुण्यं वेति । षष्ठीसप्तमीभ्यां विद्वानुच्यते ॥ विद्याप्रकाशितात्मलोकस्यापरिच्छिन्नत्वे मानमाह—न तस्येति । तस्य तात्पर्यमाह—इति मन्त्रोऽपीति ॥

[1]तदेतदृचाऽभ्युक्तम् । एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् । तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति । [2]तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः * समाहितो भूत्वा-

ब्राह्मण के द्वारा कही गयी यह बात मन्त्र द्वारा भी प्रकाशित की गयी है। 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति द्वारा लक्षित यह ब्रह्मदर्शी की नित्य महिमा है। (दूसरी महिमा यह है कि) जो न तो घटती है और न बढ़ती ही है। अतः उस महिमा के स्वरूप को जानने वाला होना चाहिए। जानकर पुरुष धर्माधर्म रूप कर्म से लिप्त नहीं होता। अत. ऐसा जानने वाला बाह्य इन्द्रिय

"यथैधांसि समिद्धोऽग्निः" इत्यादिस्मृतेः । शरीरारम्भकयोस्तूपभोगेनैव क्षयः । ब्रह्मविदकर्मसंबन्धो । २२ ॥

तदेतद्वस्तु ब्राह्मणेनोक्तमृचा मन्त्रेणाभ्युक्तं प्रकाशितम् । [3]एष नेति नेत्यादिलक्ष

—यथेति । यद्यपि पूर्वोत्तरयोर्धर्माधर्मयोरनारब्धयोरात्मविद्यावशाद्विनाशाश्लेषौ तथाऽपि प्रारब्ध योरस्ति तयो[4]स्तापकत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—शरीरेति। प्रकृतं विद्याफलमुपसंहरति—अत इति। कार्यासंबन्धादिति यावत् ॥ २२ ॥

उक्ते विद्याफले मन्त्रं संवादयति—तदेतदिति । एष नित्यो महिमेत्यत्र नित्यत्वमुपपाद

अनात्मज्ञ को ही फलप्रदान के द्वारा कृत कर्म और प्रत्यवाय द्वारा अकृत कर्म स्पर्श करते हैं। यह ब्रह्मवेत्ता तो आत्मज्ञानरूप अग्नि से सारे कर्मों को भस्म कर देता है। "जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि लकडी को भस्म कर देता है, (उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सर्व कर्मों को भस्मसात् कर देता है) इत्यादि स्मृति इसमें प्रमाण है। (प्रारब्ध से) शरीरारम्भक पुण्य-पाप कर्मों का विनाश तो उपभोग से ही होता है। इसलिए ब्रह्मवेत्ता कर्म से कोई संबन्ध नहीं रखता ॥ २२ ॥

ब्राह्मण द्वारा कही हुई यह बात "ऋचा" अर्थात मन्त्र के द्वारा 'अभ्युक्तम्' अर्थात् प्रकाशित

---

[1] तद् सर्वकर्मातिगम् । एतत् संनिहितब्राह्मणेनोक्तं प्रत्यङ्मात्रमखण्डं ब्रह्म वस्त्वित्यर्थः । [2] एतद्वेदनं स्यादित्यत आह—तस्मादिति । यस्मादुक्तलक्षणो महिमा तस्मादेवंवित् सर्वकर्मादिसंसर्गशून्य आत्मेत्या जानन्नित्यर्थः । [3] नेतीत्यादिना प्रकृत इत्यर्थः । [4] जन्मान्तरीयभयप्रदत्वम् ।

---

* समाहितो भूत्वेति । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि —"साध्यस्य कर्मणस्त्यागात्सामर्थ्यादेव सिद्धतः । तत्साधन संत्यागे श्रद्धावित्तगिराऽत्र किम् ॥ मैवं दृष्टार्थविषये यत्कर्मास्यावशेषितम् । तत्साधनेष्वममताविधानार्थं वचो यतः ॥ श्रद्धैव वित्तमस्येति नान्यदस्य यतस्ततः । श्रद्धावित्तोऽयमित्युक्तः संन्यासी सर्वकर्मणाम् ॥ भूत्वेत्यस्यापि संबन्धः सर्वैः शान्तादिभिः पदैः । विधिनाऽस्यापि चाऽऽक्षेपाद्विधिमन्त्रत्वमिष्यते ॥ पाण्डित्यादि पुरोक्तं यत्तस्य मुपसंहृतिः । प्राक्तदात्मनमेवावेदिति यच्च समीरितम् । सेतिकर्तव्यताकोऽथ विधिस्तस्यायमुच्यते ॥ अन्वयव्यति रेकाभ्यां यथोक्तैः साधनैर्युतः ॥ आत्मन्येव तमात्मानं निष्कृष्यानात्मराशितः । पश्येदित्यभिसंबन्धः पश्यतीत्यत्र

ऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सो

शान्त अन्त:करण की तृष्णा से रहित होने के कारण दान्त, सम्पूर्ण एषणाओं से उपरत, द्वन्द्व को करने वाला तितिक्षु और समाहित चित्त हो आत्मा में ही आत्मा को देखता है। सभी को आत्मा ता है। उसे धर्माधर्म रूप पाप का स्पर्श नहीं होता। यह सम्पूर्ण पापों को पार कर जाता है। इसे और ताप दु:खी नहीं करते, बल्कि यही सम्पूर्ण पापों को संतप्त करता रहता है। यह पापरहित,

---

त्यो महिमा । अन्ये तु [1]'महिमानः कर्मकृता इत्यनित्याः । अयं तु तद्विलक्षणो महिमा भाविकत्वान्नित्यो ब्रह्मविदो ब्राह्मणस्य [2]त्यक्तसर्वैषणस्य । कुतोऽस्य नित्यत्वमिति

न्ये त्विति । तद्विलक्षणत्वमकर्मकृतत्वम् । अकर्मकृतो महिमा स्वाभाविकत्वान्नित्य इत्यत्राकर्मत्वेन स्वाभाविकत्वमसिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—कुतोऽस्येति । वृद्धिरपक्षयश्चेति विक्रियाद्वयाभावेऽपि

गई है। 'एषः' अर्थात् 'नेति-नेति" इत्याद्यात्मक नित्य महिमा है। अन्य ब्रह्मलोकादिपर्यन्त ने भी ऐश्वर्य विशेष हैं, वे सभी कर्मकृत होने से अनित्य हैं। यह उस सर्व एषणा त्यागी ब्रह्मवेत्ता उससे विलक्षण महिमा है, जो स्वाभाविक होने के कारण नित्य है। इसकी नित्यता क्यों है ?

---

[1] ब्रह्मलोकादिपर्यन्ता ऐश्वर्यविशेषाः । [2] ब्राह्मणशब्दस्य जातिपरत्वं व्यवच्छिनत्ति—त्यक्तेति ।

भवेत् ॥ विध्यर्थस्य पुरा प्राप्तेः काण्वानामनुवादतः । द्रष्टव्याद्युक्तितस्तस्मात्पश्यतीत्यभिधीयते ॥ आत्माऽनात्मप्रधानत्वाद्ब्रह्मरूपेण नेक्ष्यते ॥ विशेषणत्वं स्वार्थोऽपि सत्कार्ये कारणे गतः । स्वात्माविद्यासमुत्थेऽस्मिन्नात्माविद्यासमाश्रयात् ॥ देहेन्द्रियमनोधीभ्यो ह्यन्वयव्यतिरेकतः । मुञ्जेषीकावदुत्कृष्य पश्येदात्मानमात्मनि ॥ आत्मन्येव यदाऽऽत्मानं विभज्यानात्मनोऽखिलात् । प्रपश्यति तदाऽनात्मा न पृथग्व्यवशिष्यते" ॥ १२६७-१२७८ ॥ इति । तस्मादित्यादि समाहित इत्यन्तं व्याख्याय श्रद्धावित्तो भूत्वेति माध्यंदिनश्रुतिं व्याख्यातुं चोदयति—साध्यस्येति । श्रद्धैव वित्तमस्येति व्युत्पत्त्या वित्तान्तरत्यागो विवक्ष्यते स च कर्मत्यागेनैव गतस्तथाचोपरतादिश्रुत्या श्रद्धावित्तश्रुतेः पौनरुक्त्यात्प्रमादपाठोऽयमित्यर्थः ॥ परिहरति—मैवमिति । देहस्थितिदृष्टार्थंस्तद्विषये यत्कर्म भिक्षाटनादि पूर्वविशेषणैरनिषिद्धं संन्यासिनोऽवशेषितं तत्साधनेषु भिक्षापात्रादिष्वपि ममता न कार्येत्येतदर्थं श्रद्धावित्तपदमुक्तम् । उक्तं हि—'न कुट्यां नोदके सङ्गो न चैले न त्रिपुष्करे । नागारे नाऽऽसने नान्ने यस्य वै मोक्षवित्तु सः' इति । तस्मादपुनरुक्तेर्युक्ता माध्यंदिनश्रुतिरित्यर्थः ॥ उक्तेऽर्थे तां व्याचष्टे—श्रद्धेति । यतःशब्दात्पूर्वमितिशब्दस्य संबन्धः ॥ पाठद्वयेऽपि भूत्वेतिपदस्याव्यवहितेनैव संबन्धो न व्यवहितेन शान्त्यादिनेति शङ्कां निरस्यति—भूत्वेत्यस्येति । न हि संनिधिरेव संबन्धहेतुः किन्तु योग्यत्वादिरपीति भावः । शान्तः स्यादित्यादिर्विधिरत्रास्ति चेत्तर्हि शमादीनां स्वतन्त्रविधिविषयत्वान्न ज्ञानशेषतेत्याशङ्क्य पश्येदितिविधिसंनिधानान्मैवमित्याह—विधिनेति । उभयत्र विधिपदं पश्येदितिविधिविषयम् ॥ कहोलब्राह्मणादौ यथोक्तशमादेर्विहितत्वात्किमत्र तद्विधिनेत्याशङ्क्याऽऽह—पाण्डित्यादीति । आत्मन्येवेत्यादेस्तात्पर्यमाह—प्राणिति । तृतीयेऽध्याये तदात्मानमेवावेदित्यत्र वाक्यार्थज्ञानमुक्तं तस्योपाये त्वमर्थज्ञाने शमादीतिकर्तव्यतासहितो

ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडेनं प्रापितोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते विदेहान्ददामि मां चापि सह दास्यायेति ॥ २३ ॥

कामनारहित एवं संशयरहित ब्रह्मवेत्ता हो जाता है। हे राजन् ! यही ब्रह्मलोक है, इस लोक में
पहुंचा दिये गये हो—ऐसा याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा। तब जनक ने कहा—वह मैं आप श्रीमान्
विदेह देश देता हूं, साथ ही अपने आपको भी दास कर्म के लिये समर्पित करता हूँ ॥ २३ ॥

हेतुमाह—कर्मणा न वर्धते शुभलक्षणेन कृतेन वृद्धिलक्षणां विक्रियां न प्राप्नोति
अशुभेन कर्मणा नो कनीयान्नाप्यपक्षयलक्षणां विक्रियां प्राप्नोति। उपचयापचयहेतु
एव हि सर्वा विक्रिया इत्येताभ्यां [1]प्रतिषिध्यन्ते। [2]अतोऽविक्रियत्वान्नित्य एष महिमा
❀तस्मात्तस्यैव [3]महिम्नः स्यात्पदवित्पदस्य वेत्ता पद्यते गम्यते ज्ञायत इति महिम्

विक्रियान्तराणि भविष्यन्तीत्याशङ्क्याऽऽह—उपचयेति। एताभ्यां निषेधाभ्यामिति यावत्। आत्म
सर्वविक्रियाराहित्ये फलितमाह—अत इति। तस्य नित्यत्वेऽपि किं तदाह—तस्मादिति। अधर्मलक्ष

इसमें श्रुति हेतु बतलाती है—"न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्" अर्थात् किए हुए शुभ कर्मों से यह वृ
रूप विकार को प्राप्त नहीं होती, न ही अशुभ कर्मों से अपक्षयरूप विकार को प्राप्त होती है। जि
भी विकार हैं, सब वृद्धि और अपक्षय के हेतुभूत हैं, इसलिए ये प्रतिषिद्ध किये जाते हैं। इसलि
विक्रियारहित होने के कारण यह इस ब्राह्मण की नित्य महिमा है। इसलिये "तस्यैव स्यात्पदवि

---

[1] कार्याभावे हि कारणाभावोऽवगम्यते। [2] कर्मासाध्यत्वात्। [3] त्वंपदार्थभूतस्य।

विधिरात्मन्येवेत्यादिनोच्यते शमादिसंपन्नो हि त्वमर्थज्ञानी भूत्वा वाक्यार्थज्ञानवान्मुच्यत इत्यर्थः। वाक्यार्थज्ञा
मुक्तिहेतुत्वेनाऽऽवश्यकत्वद्योतनायाथेत्युक्तम् ॥ नायं वाक्यार्थज्ञाने विधिरिति स्फोरयितुं पदार्थज्ञाने विधिमनुवद
त्मनीत्यादि व्याकरोति—अन्वयेति ॥ शमादिभिर्युक्तोऽधिकारी चतुर्धाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामात्मानमनात्मनो
निष्कृष्य तमात्मन्येव पश्येदिति योजना। सप्तम्या संघातोक्तिः। द्वितीयया तत्साक्षिनिर्देशः। पश्येदिति मा
दिनपाठेनोक्तम् ॥ पश्यतीति वर्तमानापदेशात्काण्वपाठे पदार्थज्ञाने कुतो विधिरित्याशङ्क्याऽऽह—विधी
यद्यपि द्रष्टव्यादिवाक्यात्पदार्थज्ञानं काण्वमाध्यंदिनयोः सिद्धं तथाऽपि विशिष्टं तदप्राप्तमिति माध्यंदिनानां तद्वि
रिष्टः काण्वानां तु पदार्थज्ञानमनूद्य विशेषणविषयो विधिरिति वर्तमानापदेशात्कल्पितोऽर्थतो नोभयेषां वि
इत्यर्थः। ननु शमादिविशेषणमात्रविषयो विधिरात्मज्ञानस्य विधिमन्तरेणाहमिति सदा प्राप्तेरत आह—
आत्मेति। यद्यप्यहमात्मेक्ष्यते तथाऽपि परमार्थस्वरूपेण नायं लभ्यते देहादावात्माभिमानभाक्त्वा
स्त्वमर्थशुद्धिर्विधेयेत्यर्थः। कथमजडस्य चिद्धातोः स्वतन्त्रस्यानात्मप्राधान्यं तत्राऽऽह—विशेषणत्वमिति।
तस्मादित्यादिवाक्यार्थमुपसंहरति—देहेति। अन्वयव्यतिरेकयोर्विवेकहेत्वोश्चतुर्थे प्रसिद्धत्वार्थो हिशब्दः।
अन्वयादिना देहद्वयाद्विभज्य स्वमहिमंस्थात्मनो ज्ञाने रज्जुसर्पवत्कल्पित्वादनात्मनोऽनवशेषात्पूर्णत्वं प्रतीच
सिध्यतीति फलितमाह—आत्मन्येवेति ॥

❀ तस्मात्तस्यैव महिम्न इत्याद्युभयमपि पापकमेव विदुष इत्यन्तभाष्ये वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"महिमैवं

मेव 'पदं तस्य पदस्य वेदिता । किं तत्पदवेदनेन स्यादित्युच्यते—तं विदित्वा
हिमानं न लिप्यते न संबध्यते कर्मणा पापकेन धर्माधर्मलक्षणेनोभयमपि पापकमेव

वक्तव्ये किमिदं धर्माधर्मलक्षणेनेत्युक्तमत आह—उभयमपीति । संसारहेतुत्वाविशेषादित्यर्थः ।

उसी (त्वंपदार्थभूत) की महिमा से यह तत्पदार्थभूत ब्रह्म हो जाता है । पद का वेत्ता 'पदवित्'
थवा "जो जाता है, प्राप्त होता है, ज्ञात होता है" इस प्रकार व्युत्पत्ति से महिमा के स्वरूप को पद
हैं; उसका जानने वाला 'पदवित्' है । उस पद के जानने से क्या होता है ? इस पर श्रुति कहती
–'तं विदित्वा" अर्थात् उसकी महिमा जानकर 'कर्मणा पापकेन' अर्थात् धर्माधर्मलक्षण दोनों प्रकार

---

१. तत्पदार्थभूतं ब्रह्म ।

स्माद्ब्राह्मणस्यात आदरात् । पदवित्स्यान्महिम्नोऽस्य महत्तज्ज्ञानतः फलम् ॥ तत्त्ववित्स्यान्महिम्नोऽस्येत्येष
मन्त्रो विधित्सितः । फलवादोऽर्थवादः स्यादस्यैव तु विधेः परः ॥ महिम्नोऽस्यैव वा साक्षाद्वाक्यार्थप्रतिबुद्धये ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्यात्पदार्थविचक्षणः ॥ यतः पदार्थसंबोधन्नेति नेत्यादिलक्षणम् । महिमानं श्रुतेर्वेत्ति फलं
चेत्स्यात्ततोऽपि किम् ॥ तं विदित्वेत्यतः प्राह फलं वाक्यार्थबोधतः । यस्मादेवं फलं ज्ञानमेवंविद्यत्नतस्ततः ॥
शमादिसाधनो भूत्वा महिम्नः पदविद्भवेत् । इति मन्त्रोक्त एवार्थो ब्राह्मणेनापि वर्ण्यते ॥ धर्माधर्मसमायोगो
स्मात्प्रत्यग्धियः फलम् । एवंविदादरात्तस्मात्प्रत्यक्प्रवणधीर्नरः ॥ उत्पन्नात्मबुभुत्सुः सन्वेदानुवचनादिभिः ।
विरक्त आब्रजाल्लोकान्मोक्षादर्वाक्षु भूमिषु ॥ संशुद्धधिषणोऽत्यर्थं वैदिकैरेव साधनैः । पराङ्मुखीकृतः शुद्धया
तैस्तैः सांसारिकैः फलैः ॥ दुःखात्मकत्वात्सर्वेषां शिखिविन्यस्तहस्तवत् ॥ इत्येवं ध्वस्तनिःशेषकल्मषः पूर्वसाधनैः ।
उत्पन्नात्मबुभुत्सुः संस्त्यक्तसर्वपरिग्रहः ॥ रजस्तमोजरागादिदोषानाक्षिप्तशेमुषिः । मुमुक्ष्ववस्थां संप्राप्त एवं पूर्वोक्त-
साधनैः ॥ मन्त्रब्राह्मणरूपिण्याऽथेदानीं विनियुज्यते । श्रुत्याऽशेषतमोघातिप्रत्यग्ज्ञानस्य जन्मने ॥ एवं पूर्वोक्त-
मन्त्रार्थज्ञानतत्फलवित्सुधीः । शमादिसाधनो विद्यादन्वयव्यतिरेकतः । व्युत्थाप्यानात्मनः पश्येत्प्रविश्याऽऽत्मान-
मात्मना ॥ वाक्यादेव ततोऽसङ्गः सर्वमात्मेति वीक्षते । इत्येतद्ब्राह्मणेनेह प्रयत्नेन विधीयते ॥ दान्तो भूत्वा
ततः शान्तस्ततश्चोपरतो भवेत् । अर्थक्रमो बलीयान्स्याद्यतः पाठक्रमादिह ॥ क्रियानिवृत्तिविषये प्रयोगो जग-
वीक्ष्यते । अभिधानस्य शान्तादेः प्रत्यक्षेणेह सर्वतः ॥ बहिष्करणचेष्टाया निवृत्तौ दान्त उच्यते । दान्तोऽश्वो
गौर्गजो वाऽपि प्रयोगस्तत्र वीक्ष्यते ॥ अन्तःकरणचेष्टाया निवृत्तौ शान्त उच्यते । शान्तो भिक्षुस्तपस्वीति
तत्प्रयोगसमीक्षणात् ॥ नन्वप्राप्तौ विधिर्युक्तः प्राप्तास्त्वेते दमादयः । कुतस्तत्प्राप्तिरिति चेद्यथा प्राप्तिस्तथोच्यते ॥
प्रतिषिद्धं तथा काम्यं चापलं नित्यमेव च । इयदेव जगत्यस्मिन्पुंसां कर्म समीक्ष्यते ॥ निषिद्धस्य निषिद्धत्वात्कर्म-
काण्डेऽपि कर्मणः । कुतो वेदान्तविद्यायां तस्य प्राप्तिर्मनागपि ॥ मुक्तेरर्वाक्षु काम्येषु मुमुक्षुत्वाद्विरक्ततः । काम्य-
कर्मापि नैवेह मुमुक्षोः संभवत्यतः ॥ रजस्तमोतिवर्तित्वात्सत्त्वसंशुद्धिहेतुतः । चापलान्यपि कर्माणि नातः
सन्त्यस्य कानिचित् ॥ न पाणिपादचपल इत्युक्तेर्वा निषेधतः ॥ नातः संभाव्यते कर्म मुमुक्षोश्चापलं क्वचित् ॥
नित्यस्याकरणाद्यः स्यादनर्थः करणादपि । नित्यस्यावाप्यतेऽसौ चेद्वद किं नित्यकर्मणा । एवं नित्यानि
कर्माणि कुर्वतः शुद्धचेतसः । तित्यक्षा जायते पुंसो नित्येष्वपि च कर्मसु ॥ संसारमोक्षणायाऽऽशु नित्यं कर्म
न चेदलम् । कोऽर्थस्तेनेह पुंसः स्यादकृतेन कृतेन वा ॥ इति संजातवैराग्यो नित्यकर्मणः । स्वतस्त्यागं करोत्येव
प्राप्तास्तेन शमादयः ॥ यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः । यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ॥
सत्यमेवं शमादीनां प्राप्तत्वान्नेष्यते विधिः । प्राप्तानामेव तेषां तु साधनत्व विधीयते । प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञानजन्मने
श्रुतिवाक्यतः ॥ यथोक्तविषये तेषां साधनत्वं न मानतः । यतः प्राप्तमतः श्रुत्या साधनत्वं विधीयते ॥ निवृत्तिमात्रं

विदुषः ।

यस्मादेवमकर्मसंबन्ध्येष ब्राह्मणस्य महिमा नेति नेत्यादिलक्षणस्तस्मा

तस्मादित्यादिवाक्यं व्याचष्टे—यस्मादिति । एवंविदात्मा कर्मतत्फलसंबन्धशून्य इत्या

के पापकर्म से विद्वान् "न लिप्यते" अर्थात् सम्बद्ध नहीं होता ।

क्योंकि इस प्रकार "नेति-नेति" इत्यादि स्वरूप वाली उस सर्व एषणा त्यागी ब्राह्मण

प्राप्तं वा भवेदुक्तेन वर्त्मना । कर्तव्यता निवृत्तेस्तु न प्राप्तेति विधीयते" ॥ ११८८-१२२० ॥ इति । तं वेत्यादेरर्थमाह—महिमेति । एवंविधो वृद्धिहानिहीन इति यावत् । महिम्नस्त्वंपदार्थस्य पदं ब्रह्म तज्ज्ञः स्यान्मुमुक्षुरित्यर्थः । तं विदित्वेत्यादेस्तात्पर्यमाह—महदिति ॥ उक्तमेव विभजते—तत्त्वविदिति । तं विदित्वे दिर्विधेः परः फलवादोऽर्थवादः स्यादिति योजना ॥ यद्येष सार्थवादो विधिस्तर्हि वाक्यार्थज्ञाने विधीष्टेरपराद्ध इत्याशङ्क्य तस्येत्यादेरर्थान्तरमाह—महिम्न इति । महिम्नः पदं त्वमर्थरूपं तज्ज्ञानमत्र विधीयते तस्य पदवित्स्यादिति । किमर्थं तद्विधानं तत्राऽऽह—साक्षादिति । पदार्थज्ञानविधिमेवाभिनयति—अन्वयेति । वाक्यार्थज्ञानार्थं पदार्थज्ञानं न विधेयं वाक्यादेव तदर्थज्ञानसिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—यत इति । अज्ञातपदार्थस्य वाक्यार्थज्ञानायोगात्तादर्थ्येन पदार्थज्ञानमर्थितमित्यर्थः । वाक्यार्थज्ञानफलं पृच्छति—फलं चेदिति ॥ मन्त्रब्राह्मणे नोत्तरमाह—तमिति । तस्मादित्यादेस्तात्पर्यमाह—यस्मादिति । एवंफलमकर्मसंबन्धिस्वरूपावस्थानफलकमिति यावत् । एवंविदिति ज्ञानाद्यथोक्तफलत्वं विद्वानित्यर्थः । शमादेरायाससाध्यतां दर्शयितुं यत्नत इत्युक्तम् । 'एष नित्यो महिमे'त्यादिमन्त्रेणास्य पुनरुक्तिमाशङ्क्याऽऽह—इति मन्त्रेति । मन्त्रब्राह्मणाभ्यामुक्तोऽर्थो ब्राह्मणेनोपस्क्रियमाणो द्रढिमानमनुभवतीति भावः ॥ वाक्यतात्पर्यमुक्त्वा तत्पदार्थमाह—धर्मेति । तस्मादेवं वित्प्रत्यग्ज्ञानजन्मने विनियुज्यत इति संबन्धः । एवंविदित्यस्यार्थमाह—आदरादिति । आत्मज्ञानफलं कर्म तत्फलध्वस्तिरित्येवं जानन्नात्मधीः श्रद्धालुतया सदा प्रत्यक्प्रवणचित्तः स्यादित्यर्थः ॥ प्रत्यक्प्रावण्ये कारणमाह—उत्पन्नेति । तस्य पूर्वेण संबन्धः । बुभुत्सोत्पत्तौ वेदानुवचनाद्यधीनधीशुद्धि हेतुं सूचयति—वेदेति । नु तदनुष्ठानेऽपि न सोऽप्यावर्तते सर्वेषां स्वभावतो विषयप्रावण्यादुक्तं हि स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणीति तत्राऽऽह—विरक्त इति । वैराग्ये हेतुमाह—संशुद्धेति । शुद्धिफलं कथयति—पराङिति ॥ युक्तं सांसारिकेषु फलेषु पराङ्मुखत्वमित्याह—दुःखेति ॥ नित्यादि कर्मभिः शुद्धबुद्धेर्विवेककृतं वैराग्यं सिध्यतीत्युक्तमिदानीं विरक्तस्य पारिव्राज्यं विशेषणान्तरमाह—इत्येवमिति ॥ सर्वकर्मसंन्यासिनः शमादिसंपत्तिमाह—रज इति । उक्तं साधनत्रयमवेक्ष्य मुमुक्षुत्वं लम्भयति—मुमुक्ष्ववस्थामिति ॥ साधनचतुष्टयविशिष्टमधिकारिणमुक्त्वा तस्य विधिसंबन्धमाह—मन्त्रेति । तस्यैव स्यात्पदविदात्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येदिति श्रुत्या त्वंपदार्थविवेकादिसाधनेषूक्तोऽधिकारी नियुज्यते वाक्यार्थज्ञानार्थमित्यर्थः । तस्य यथोक्तसाधनातिरेकेणायोगोऽथशब्दार्थः । इदानीमिति वाक्यार्थज्ञानाकाङ्क्षादशोक्तिः ॥ कथमधिकारिणो यथोक्तसाधनेषु मन्त्रब्राह्मणाभ्यां विनियुज्यमानत्व मित्यपेक्षायां विनियोगप्रकारमाह—एवमिति । कर्मानुष्ठानशुद्ध्यादिक्रमेणैष नित्यो महिमेत्यादिमन्त्रार्थज्ञान तन्फलवेत्ता भूत्वा बुद्धिपूर्वकारी देहादेरन्वयव्यतिरेकाभ्यामात्मानं निष्कृष्य स्वेन पूर्णात्मना तमेव प्रविश्य तदैक्यमासाद्य पश्येदिति यदुच्यते तदयं विवेकशमादिसाधनः सन्विद्यादित्येवं विवक्षितमित्यर्थः ॥ पदार्थज्ञानम धिकृत्य मन्त्रेण विनियोगे फलितमाह—वाक्यादिति । पदार्थज्ञानानन्तरं देहाद्यभिनिवेशशून्योऽधिकारी तत्त्वमादि वाक्यादखण्डैकरसमात्मानमनुभवत्येवेत्यर्थः । ब्राह्मणेन तर्हि किमित्येष नियुज्यते तत्राऽऽह—इत्येतदिति । इति

च्छान्तो बाह्येन्द्रियव्यापारत उपशान्तस्तथा दान्तोऽन्तःकरणतृष्णातो निवृत्त

त्यर्थः।। विशेषणाभ्यामुत्सर्गतो विहितस्योभयविधकरणव्यापारोपरमस्य यावज्जीवादिश्रुति-
हितं कर्मापवादस्तस्माद्विरक्तस्यापि न नित्यादित्यागः। 'उत्सर्गस्यापवादेन बाधः कस्य न संमतः'

मा कर्म का संबन्ध रखने वाली नहीं है; इसलिए इस प्रकार जानने वाला "शान्तः" अर्थात् बाह्य
न्द्रिय के व्यापार से उपशान्त, "दान्तः" अर्थात् अन्तःकरण की तृष्णा से निवृत्त "उपरतः" अर्थात्

---

१. शान्त इत्यादि—अत्र व्याख्यानमेव शरणं वार्तिके त्वर्थक्रमस्य बलीयस्त्वेन पाठक्रममनादृत्य दान्तपदमेव
बाह्येन्द्रियोपरमपरत्वे पूर्वं न व्याख्यातं ततः शान्तपदमन्तःकरणोपरमत्वेनेति ध्येयम् ।

शब्देन शमाद्युच्यते तच्चेदं ब्राह्मणेन वाक्यार्थबुद्धावुद्देश्यानां तात्पर्येण विधीयते न च तन्मन्त्रेण विहितं न च
तद्विना वाक्यार्थधीरतस्तज्ज्ञानमुद्दिश्य शमादि विधातुं ब्राह्मणमित्यर्थः ॥ पदद्वयं व्याख्याय पदान्तराणि
व्याचिख्यासुरादौ पाठक्रमं भङ्क्त्वा क्रमान्तरमाह—दान्त इति । पाठक्रमभङ्गे हेतुः—अर्थेति । इहेति श्रौतं
पत्यानं निर्दिशति ॥ कोऽसावर्थक्रमो यस्य बलीयस्त्वमित्याशङ्क्य पदपञ्चकस्य साधारणमर्थमाह—क्रियेति ।
इह जगतीति संबन्धः । सर्वतः सर्वत्र व्युत्पत्तिभूमावित्यर्थः । प्रत्यक्षेण व्युत्पत्तिजनितस्वानुभवेनेत्यर्थः ॥ इदानीमर्थ-
क्रमेण दान्तपदं व्याचष्टे—बहिरिति । तत्र वृद्धप्रयोगं प्रमाणयति—दान्त इति । बाह्यकरणचेष्टादिनिवृत्तिः
समस्यर्थः ॥ शान्तशब्दं व्याकरोति—अन्तःकरणेति । तत्प्रयोगसमीक्षणात्तस्मिन्नन्तःकरणचेष्टानिवृत्तिविशिष्टे
पुंसि शान्तपदस्य प्रयोगदृष्टेरित्यर्थः । अयं भावः । बाह्यकरणानां विषयाभिनिवेशनिवृत्तिमन्तरेणान्तःकरणस्य
विषयासङ्गो न व्यावर्तते न हि विषयविमुखा धीर्बाह्यानि करणानि तदभिनिवेशभाञ्जीति युज्यते तदव्यावृत्ता-
वपि तदुपरमः संभवति 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्नि'ति स्मृतेस्तद्यथोक्तमर्थक्रममाश्रित्य
पाठक्रमातिक्रमो यदि तु शान्तदान्तशब्दयोर्भाष्योक्तोऽर्थो वृद्धप्रयोगमनादृत्योपेयते तदा पाठक्रमोऽपि स्यादिति ॥
शमादीनां विधेयत्वमाक्षिपति—नन्विति । शमादीनामपि तुल्यमप्राप्तत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—प्राप्तस्त्विति ।
प्रापकाभावाद्विधिं विना तेषां न प्राप्तिरित्याह—कुत इति । प्रापकोक्त्या प्राप्तिस्तेषां प्रदर्श्यत इत्याह—यथेति ॥
तदर्थमादौ कर्मणां चातुर्विध्यमाह—प्रतिषिद्धमिति । चापलं प्रामादिकं प्रायश्चित्तार्हं कर्म । कर्मान्तरसत्त्वं
निरस्यति—इयदेवेति ॥ संप्रत्युपपत्त्या शमादि प्रापयन्निषिद्धध्वस्तेर्विधिं विना प्राप्तिमाह—निषिद्धस्येति ।
वेदान्तविद्यायामिति ज्ञानकाण्डोक्तिः ॥ कर्मकाण्डाभिव्याहारात्काम्यकर्मणामपि ध्वस्तेर्विना विधिं प्राप्तिमाह—
मुक्तेरिति । मुक्त्यतिरिक्तकाम्येषु सूत्रादिपदेषु विरक्तत्वे हेतुमाह—मुमुक्षुत्वादिति । वैराग्यफलमाह—काम्येति ।
इहेति वेदान्तविद्योक्तिः ।। अतःशब्दो विरक्तत इत्यनेन संबध्यते ॥ चापलनिवृत्तेर्विधिमनपेक्ष्य प्राप्तिं दर्शयति
—रज इति । मुमुक्षोर्गुणद्वयातिवर्तित्वे हेतुमाह—सत्त्वेति । अतःशब्दोऽप्यत्रैव स्पृश्यते ।। 'न पाणिपादचपलो
न नेत्रचपलो भवेत् । न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः' ॥ इतिस्मार्तनिषेधानुरोधादपि विधिं विना चापल-
ध्वस्तिरित्याह—न पाणीति । वाशब्दश्चार्थे ॥ नित्यकर्मणामपि ध्वस्तिर्विध्यनपेक्षा सिध्यतीति वक्तुं तत्करणा-
करणयोरनर्थकरत्वमाह—नित्यस्येति । असावित्यनर्थो गर्भवासादिरुच्यते ॥ तर्हि तेषामत्यन्तमेवानादरो नेत्याह
—एवमिति । यावज्जीवश्रुतिवशेनेति दर्शयितुमेवमित्युक्तम् । कर्मान्तराणि दृष्टान्तयितुमपि चेत्युच्यते ॥
त्यागेच्छाप्रकारमभिनयति—संसारेति । आशु झटिति साक्षादिति यावत् । इहेति मोक्षोक्तिः ॥ तित्यक्षाफलमाह
—इति संजातेति । शमादीनां विधिं विनोपपत्त्या प्राप्तिमुक्तामुपसंहरति—प्राप्ता इति ॥ न केवलमुपपत्तितस्त-
प्राप्तिः किन्तु स्मार्तविधितोऽपीत्याह—यमानिति । देशकालावस्थाभिरनियता बुद्धिशुद्धिहेतवो ब्रह्मचर्यादयो
यमाः । उक्तं हि—'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा' इति । देशकालावस्थापेक्षिणः शुद्धिहेतवः

*'उपरतः सर्वैषणाविनिर्मुक्तः संन्यासी तितिक्षुर्द्वंद्वसहिष्णुः समाहित इन्द्रियान्तःकरण रूपाद्व्यावृत्त्यैकाग्र्यरूपेण समाहितो भूत्वा। तदेतदुक्तं² पुरस्ताद्बाल्यं च पाण्डि निर्विद्येति। आत्मन्येव स्वे कार्यकरणसंघात आत्मानं प्रत्यक्चेतयितारं पश्यति। तत्र तावन्मात्रं परिच्छिन्नं नेत्युच्यते—सर्वं समस्तमात्मानमेव पश्यति नान्यदात्मव्यतिरि

इत्यादिन्यायादित्याशङ्कयाऽऽह—उपरत इति। जीवनविच्छेदव्यतिरिक्तशीता³दिसहिष्णुत्वं तिति क्षुत्वम्। ⁴यत्र कर्तुः ⁵स्वातन्त्र्यं तेषां कर्मणां निवृत्तिः शमादि⁶पदैरुक्ता। यत्र तु सम्यग्धीविरोधि निद्रालस्यादौ⁷ पुंसो न स्वातन्त्र्यं तन्निवृत्तिः समाधानम्। समाहितो भूत्वा पश्यतीति संबन्धः ⁸पश्यतीति वर्तमानापदेशात्कथं विशेषणेषु संक्रामितो विधिरित्याशङ्क्याऽऽह—⁹तदेतदिति। यथोक्तं

सर्व एषणाओं से निवृत्त संन्यासी, "तितिक्षुः" अर्थात् द्वन्द्व-सहिष्णु "समाहितः" अर्थात् इन्द्रिय और अन्तःकरण के चलन रूप से व्यावृत्त होकर एकाग्रता पूर्वक समाहित होकर; इसी को पहले श्रुति में कहा जा चुका है, 'बाल्य और पाण्डित्य को निःशेष करके (मनन से मुनि निदिध्यासनशील हो जाता है)'। "आत्मनि एव" अर्थात् कार्यकरणसंघात अपने में ही "आत्मानम्" अर्थात् प्रत्यक् चेतयिता आत्मा को देखता है। क्या वह तावन्मात्र परिमाण से अवच्छिन्न आत्मा को देखता है। नहीं। इसी को श्रुति कहती है—"सर्वमात्मानं पश्यति" अर्थात् सभी कुछ आत्मा ही देखता है, आत्मा से व्यतिरिक्त बाला

---

१. उपरत इति—शमादिविधेरौत्सर्गिकस्यापवादतया प्रवृत्तयावज्जीवादिविधेरपवादार्थमुपरतश्रुतिरिति भावः। न च शमादिश्रुतेर्यावज्जीवादिश्रुतेश्च विपरीतमुत्सर्गापवादत्वं हिंसाऽहिंसा श्रुत्योरपि तथा प्रसङ्गात्, सामान्य विशेषविषयत्वेन तयोरुत्सर्गापवादत्वं तु प्रकृतेऽपि तुल्यम्। शमादिविधेरन्तर्बहिश्चेष्टामात्रनिवृत्तिविषयस्य सामान्य विषयत्वेनोत्सर्गत्वाद् यावज्जीवश्रुतेरग्निहोत्रादिविषयत्वेनापवादत्वात् तदपवादार्थमुपरतश्रुतिरिति युक्तमिति। २. बृ. उ. ३. ५. १ (८२० पृष्ठभाष्ये)। ३. आदिना दुर्वादताडनादि गृह्यते। ४. काम्यकर्मसु। ५. इच्छामात्रं कर्तुमकर्तुं वा शक्तत्वम्। ६. शान्तादिपदैः आदिना दमोपरमतितिक्षा गृह्यते। ७. आदिना मनोरथादि गृह्यते। ८. पश्यतीति वर्तमानेति—सति हि ज्ञाने विधौ तत्साधनेषु संक्रामेद्विधिरिति भावः। ९. तदेतदितीति—बाल्यं चेत्यादिग्रन्थे ज्ञानविधेरुक्तत्वान्नायं वर्तमानापदेशः किन्तु पञ्चमो लकार इत्यभिप्रायः।

क्रियाविशेषा देवताप्रणिधानादयो नियमाः। उक्तं च—'शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा' इति। उक्तस्य विधेरर्थवाद दर्शयति—यमानिति॥ प्राप्तत्वहेतुना शमादीनां स्वरूपे वा विधिर्निरस्यते तत्त्वज्ञानहेतुत्वे वेति विकल्प्याऽऽद्यमङ्गी करोति—सत्यमिति। द्वितीयं प्रत्याह—प्राप्तानामिति॥ ज्ञानसाधनत्वमपि प्राप्तत्वा विधेयमित्याशङ्क्याऽऽह—यथोक्तेति। प्रत्यग्याथात्म्यज्ञानजन्मनीति यावत्। श्रुत्या शमादिवाक्येनेत्यर्थः। इतश्च तेषां विधेयतेत्याह—निवृत्तीति। उक्तं वर्त्म निषिद्धस्य निषिद्धत्वादित्यादि। वाशब्दो विधान्तरद्योतनार्थः। यद्वा शमादीनां विनेयत्वमुपसंहरति—निवृत्तीति। वाशब्दोऽवधारणार्थः॥

* उपरतः सर्वैषणाविनिर्मुक्तः संन्यासीति। अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"ननु दान्तशमोक्त्यैव सर्वसंन्य कर्मणः। वारितत्वादुपरतश्रुत्याऽन्यत्किं विधीयते॥ बहिरन्तःक्रियातोऽन्या न क्रिया विद्यते यतः। नोत्सर्ग विधिना यस्मान्नापवादस्य बाधनम्॥ भूताहिंसाविधिर्यस्मान्नाग्नीषोमीयमारभित्। ऊर्ध्वं प्राणा उत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति॥ प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते। इत्यौत्सर्गिकमाचारं यथा ब्रह्मा प्रबाधते॥ आगच्छति गुरौ तूष्णीमासीनस्तद्वदत्र च। औत्सर्गिकत्यागविधिं नित्यकर्मविधिर्बलात्। तस्य जीवन्मा

लाग्रमात्रमप्यस्तीत्येवं पश्यति । एवं पश्यन्तं ब्राह्मणं नैनं पाप्मा पुण्यपापलक्षण-
तरति न प्राप्नोति । अयं तु ब्रह्मवित्सर्वं पाप्मानं तरत्यात्मभावेनैव व्याप्नोत्यतिक्रामति ।

पनं हृदितायां विद्यायां किं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति । तस्य पुण्यपापासंस्पर्शे हेतुमाह
अयं त्विति । इतश्च विदुषो न कर्मसंबन्धोऽस्तीत्याह—नैनमिति । किमिति पाप्मा ब्रह्मविदं न

त्र भी नहीं है" ऐसा देखता है । इस प्रकार देखते हुए ब्राह्मण को "नैनं पाप्मा तरति" अर्थात् पुण्य-
लक्षण पाप नहीं प्राप्त होता । यह ब्रह्मवेत्ता सकारण "सर्वं पाप्मानं तरति" अर्थात् सभी पापों को

हेतुत्वाद्बाधते ध्रुवम् ॥ नित्यकर्मविधेर्यस्माच्छमादिविधिना हृतिः । न संप्राप्तेरथतो यत्नात्प्रारब्धोपरतश्रुतिः ॥
इह चोपरतश्रुत्या तिष्ठत्यादिवदुच्यते । कर्माकर्मैव पुंसोऽस्य ह्यनुष्ठेयतयाऽऽ मृतेः ॥ अनुष्ठेयतया श्रुत्या निवृत्तिः
सर्वकर्मणाम् । यस्माद्विधीयते तस्मात्तत्त्यागी पतितो भवेत् ॥ इत्यत्र चोदयित्वैके परिहारं प्रचक्षते । नित्यानां
कर्मणां कस्मात्परित्यागो विधीयते ॥ काम्यादिकर्मवत्तेषां मनोव्याक्षेपहेतुतः । त्यागोऽतश्चोद्यते श्रुत्या नित्या-
नामपि कर्मणाम् ॥ भूत्वा समाहित इति समाधानं विधास्यते । चोद्यस्यासंभवोऽस्यात्र श्रुत्यैव विहितत्वतः ॥
साधनत्वेन शान्त्यादेः सम्यग्ज्ञानस्य जन्मने । नातश्चोद्यावकाशोऽत्र शमादेर्विहितत्वतः ॥ साध्यसाधनसंबन्ध-
विधाने सत्यसंभवः । स्वर्गादाविव यागादेर्विधानादेव कारणात् ॥ दोषान्तरप्रसङ्गार्थं परिहारः कृतस्ततः ।
चोद्यपूर्वक एतस्मिन्नन्यचोद्यस्य संभवात् ॥ यदि व्याक्षेपकारित्वान्नित्यं कर्म निषिध्यते । बहु भिक्षाटनाद्यस्ति
तत्कस्मान्न निषिध्यते ॥ वेदान्तश्रवणाद्यस्ति बहु व्याक्षेपकारि च । तन्नित्यकर्मवत्कस्माच्छ्रुत्येह न निषिध्यते ॥
नैष दोषः प्रधानार्थसमाप्तेरेव कारणात् । भिक्षाटनाद्यनुष्ठानं तादर्थ्यान्न निषिध्यते ॥ प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञान-
समाप्त्याऽपेक्षितत्वतः । वेदान्तश्रवणादीनां न त्यागोऽतोऽत्र भण्यते ॥ समाप्तिं न समायाति प्रधानं यदसंभवे ।
निषिद्धमपि तत्कार्यं तत्समाप्तिप्रयुक्तितः ॥ प्रधानचोदनैवास्य चोदनातोऽवगम्यते । भिक्षाटनादिना नर्ते प्रधानं
हि समाप्यते ॥ शेषभक्षं न कुर्वन्ति प्रधानार्थानुरोधतः । साक्षाद्विहितमप्येवं तादर्थ्यात्कर्म नो मवम् ॥ याः
काश्चिज्जीवता शक्यास्त्यक्तुं तित्यक्षता क्रियाः । ताः सर्वाः संपरित्यज्य निमेषादौ व्यवस्थितः ॥ उक्तविध्यर्थ-
विषयाद्याः क्रिया विषयान्तरे । निषिध्यन्तेऽत्र ताः सर्वा व्यघातायैव ता यतः" ॥ १२२१-१२४३ ॥ इति ।
शमादीनां विधेयत्वमाद्योपरतश्रुतिव्यावर्त्यां शङ्कामाह—नन्विति ॥ शान्तिदान्तिभ्यामानिवारितक्रियानिवारणार्थ-
मुपरतश्रुतिरित्याशङ्क्याऽऽह—बहिरिति । अतस्तयोर्वारितत्वादुपरतश्रुतिरनर्थिकेति शेषः । दूषयति—नेति ।
उपरतश्रुतेरपुनरुक्तं विषयं वक्तुं सामान्यन्यायमाह—उत्सर्गेति । एकस्य निषेधविधेः स्वविषयस्य क्रत्वर्थत्वेन
पुरुषार्थत्वेन च विनियोगे विरोधात्सामान्यविषयत्वे च पुरुषार्थहिंसासु सावकाशस्य न क्रत्वर्थहिंसाविषयत्वं
तदाऽधिकारान्तरानुप्रवेशित्वेन सापेक्षत्वप्रसङ्गादतो नोत्सर्गेणापवादस्य बाधोऽस्तीत्यर्थः ॥ तत्र श्रौतदृष्टान्त-
माह—भूतेति । न हिंस्यात्सर्वभूतानीति निषेधस्य निषेध्याधीननिरूपणत्वात्तस्य च रागप्राप्तत्वेन पुरुषार्थत्वात्त-
न्निषेधस्यापि तादर्थ्याद्रागप्राप्तहिंसानुवादेन नञर्थे विध्युपसंक्रान्तेर्यत्पुरुषार्थभूतहिंसनं तन्न कुर्यादिति वाक्यार्था-
वसानात्पुरुषार्थनिषेधो न क्रत्वर्थमप्यास्कन्दत्यन्यथा वाक्यभेदान्न हि न हिंस्यादिति क्रतुप्रकरणे तो न पशौ
करोतीतिवदाम्नातं तस्माद्भिन्नगोचरचारित्वान्न भूताहिंसाविधिरग्नीषोमीयहिंसाबाधक इति भावः । तत्रैव
स्मार्तदृष्टान्तमाह—ऊर्ध्वमिति ॥ तर्हि स्थविरदर्शी युवा कथं पुनर्जीवति तत्राऽऽह—प्रत्युत्थानेति । ऋत्विग्विशेषो
ब्रह्मन्प्रवर्ग्येणेत्यादौ संबोध्यमानो ब्रह्मेत्युच्यते ॥ स कथमौत्सर्गिकमाचारं बाधते तत्राऽऽह—प्रागच्छतीति ।
तस्य यागादिविसर्गे कर्मभ्रंशादित्यर्थः । दार्ष्टान्तिकमाह—तद्वदिति । अत्रेति शमादिवाक्योक्तिः । त्यागविधिः

---

1. सकारणम् ।

नैनं पाप्मा कृताकृतलक्षणस्तपतीष्टफलप्रत्यवायोत्पादनाभ्याम् । सर्वं पाप्मानमयं त ब्रह्मवित्सर्वात्मदर्शनवह्निना भस्मी करोति। स एष एवंविद्विपापो विगतधर्मा विरजो विगतरजो रजः कामो विगतकामोऽविचिकित्सश्छिन्नसंशयोऽहमस्मि सर्वात्मा ब्रह्मे ति निश्चितमतिर्ब्राह्मणो भवति ।

तपतीत्याशङ्क्याऽऽह—सर्वमिति ।

आत्मभाव से व्याप्त अथवा अतिक्रमण करता है, इसे इष्टफलप्रदान से कृत पाप और प्रत्यवायोत्पा से अकृत रूप पाप स्पर्श नहीं करता। यह ब्रह्मवेत्ता सभी पापों को सर्वात्मदर्शन रूप वह्नि से भस्म कर देता है। वह इस प्रकार जानने वाला "विपापः" अर्थात् धर्माधर्मशून्य ' विरजः" अर्थात् विगत "विचिकित्सः" अर्थात् संशयरहित और "ब्राह्मणः" अर्थात् 'मैं सर्वात्मा परब्रह्म हूँ' इस प्रकार निश्चि मति वाला हो जाता है।

शान्तो भवेदित्यादि। कथं यावज्जीवादिविधिस्तस्य बाधको द्वयोर्वैदिकविधित्वाविशेषात्तत्राऽऽह—तत्रेति शमादिविधेरौत्सर्गिकस्यापवादतया प्रवृत्तयावज्जीवादिविधेरपवादार्थमुपरतश्रुतिरिति फलितमाह—नित्येति उत्सर्गापवादयोरपवादस्य बलवत्त्वमतःशब्दार्थः । न च शमादिश्रुतेर्यावज्जीवश्रुतेश्च विपरीतमुत्सर्गापवाद हिंसाहिंसाश्रुत्योरपि तथा प्रसङ्गात्सामान्यविशेषविषयत्वेन तयोरुत्सर्गापवादत्वं प्रकृतेऽपि तुल्यं शमादिविधे र्बहिश्चेष्टामात्रनिवृत्तिविषयस्य सामान्यविषयत्वेनोत्सर्गत्वाद्यावज्जीवश्रुतेरग्निहोत्रादिविषयत्वेनापवादत्वात्त पवादार्थमुपरतश्रुतिरिति भावः । अतो यत्नादुक्तन्यायादगतार्थत्वसंभवादिति यावत् ॥ उपरतिर्विधि चेद्यागादिवत्कर्म स्याद्विधेर्भावार्थविषयत्वनियमात्तथाच तद्वदेव त्याज्यताऽन्यथा यागादेरप्युपादेयतेत्याशङ्क्य —इह चेति। यथा तिष्ठति स्वपितीत्यादिना क्रियानिवृत्तिरेवोच्यते तथोपरतश्रुत्या नित्यकर्मनिवृत्तिरूप यावन्मरणमनुष्ठेयमस्मिन्वाक्ये विवक्ष्यतेऽतो यागादिसदृशकर्मविध्यभावान्निषेधेष्विव विध्यवसानान्नोक्तानु रित्यर्थः ॥ अथोपरतश्रुतेरभिप्रायं दर्शयति—अनुष्ठेयतयेति । स्वीकृतपारमहंस्यो जीवन्नेव तत्य स निरयार्हः स्याद्बहिस्तूभयथाऽपीति न्यायादित्यर्थः ॥ उपरतश्रुतिर्नित्यकर्मनिवृत्त्यर्थेत्युक्तेऽर्थे चोद्य परकीयावुद्भावयति—इत्यत्रेति । कौ तावित्याकाङ्क्षायां चोद्यं तावद्दर्शयति—नित्यानामिति । याव श्रुतिचोदितानामकस्मात्त्यागायोगो न चोपरतश्रुतिस्तत्त्यागे हेतुस्तस्याः काम्यकर्ममात्रत्यागार्थत्वात्'काम्य कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदु'रिति स्मृतेः शमदमश्रुतिभ्यामेव तत्सिद्धेस्तद्वैयर्थ्ये सिद्धं नः समीहित भावः ॥ तत्र परकीयं समाधिमाह—काम्यादीति । अतःशब्दस्य पूर्वपञ्चम्या संबन्धः ॥ नित्यकर्मणां चि विक्षेपकत्वेऽपि तत्त्यागादृते मुमुक्षूणामपेक्षितज्ञानस्य काम्यादित्यागादेव सिद्धेस्तत्त्यागचोदना वृथेत्याशङ्क्या —भूत्वेति । ज्ञानार्थिनश्चित्तसमाधिविधेस्तद्विक्षेपस्य तद्विरोधित्वान्मुमुक्षुणा तद्धेतुधियमिच्छता चित्तविक्षेपक नित्यमपि कर्म त्याज्यमेवेत्यर्थः । परेषां चोद्यमाक्षिपति—चोद्यस्येति । आत्मनि धीहेतुत्वेन संन्यासादेः श्रुत विहितत्वान्नित्ययागायोगचोद्यमनवकाशं न च काम्यादिमात्रत्यागार्थोपरतश्रुतिः शमादिश्रुत्या पुनरुक्तेर्न चोपर वचनं प्रमत्तगीतं नोत्सर्गविधिनेत्यादिन्यायेन सति गत्यन्तरे वैदिकोक्तित्यागायोगात्तुल्यं हि सांप्रदायिक भावः ॥ तदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयितुमनुभाषते—नात इति । अत्राऽऽत्मनि ज्ञानमुद्दिश्य शमादेर्विहितत्वा चोद्यं सावकाशमित्यर्थः ॥ सत्यपि शमादिविधौ किमिति चोद्यं नोल्लसेदित्याशङ्क्याऽऽह—साध्यंति। यथा स्वर्गादौ साध्ये यागादेः साधनत्वं ज्योतिष्टोमादिवाक्येन विधीयते तथा सम्यग्ज्ञानोदयस्य कर्मत्यागस्य

अयं त्वे'वंभूत 'एतस्यामवस्थायां मुख्यो ब्राह्मणः प्रागेतस्माद्ब्रह्मस्वरूपावस्थाना-मस्य ब्राह्मण्यम् । एष ब्रह्मलोको ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोको मुख्यो निरुपचरितः त्मभावलक्षणो हे सम्राट् । एनं ब्रह्मलोकं परिप्रापितोऽस्यभयं' नेति नेत्यादिलक्ष-मिति होवाच याज्ञवल्क्यः ।

कथं ब्राह्मणो भवतीत्यपूर्ववदुच्यते प्रागपि ब्राह्मण्यस्य सत्त्वादित्याशङ्क्याऽऽह—अयं त्विति । त्वमबाधितत्वम् । सफलां विद्यां मन्त्रब्राह्मणाभ्यामुपदिश्योपसंहरति—एष इति । तत्र कर्म-यसमासं सूचयति—ब्रह्मैवेति । तथाविधसमासपरिग्रहे प्रकरणमनुग्राहकमभिप्रेत्याऽऽह—मुख्य । तथाऽपि किं मम सिद्धमिति तदाह—एनमिति ।

इस प्रकार ब्रह्मीभूत हुआ इस विद्यावस्था में यह ब्रह्मवेत्ता ही अबाधित ब्राह्मण है, इस ब्रह्म प में स्थिति होने से पूर्व गौण भावी वृत्ति से ही इसका ब्राह्मणत्व है । "एष ब्रह्मलोकः" अर्थात् यह ही लोक है । अतः मुख्य निरुपचरित सर्वात्मभाव रूप ब्रह्मलोक है । 'हे सम्राट् ! तू इस अभय, नेति आदि लक्षण वाले ब्रह्मलोक को प्राप्त हो गया है' ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा ।

---

१. ब्रह्मीभूतः । २. विद्यावस्थायाम् । ३. भाविवृत्त्येत्याहुः । ४. कूर्चब्राह्मणेऽभयं वै जनकेत्यादिना यदभयं विद्याफलमुक्तं तदेव ब्रह्मलोकत्वेनेहोच्यते नातो विद्याफले भेद इत्यभिप्रायेणाह—अभयमिति । ५. तस्य ब्रह्मलोकत्वेऽपि ।

ग्यसाधनत्वेन संबन्धविधौ श्रौते विधेरेव कर्मत्यागसंभवात्कथं नित्यत्यागायोगचोद्योल्लासोऽस्ति हि मुमुक्षो-रतः स्यादिति विधिस्तथाच ततो नित्यत्यागे चोद्यायोगान्न समाधिरपि साधीयानित्यर्थः ॥ सिद्धान्ती समाधत्ते —दोषान्तरेति । अस्यार्थः—यावज्जीवश्रुतिविहितनित्यकर्मत्यागो न युक्तिमानितिचोद्यपूर्वकमनोविक्षेपकत्वा-काम्यादिवत्त्यागो नित्यानामिति समाधौ चोद्यान्तरस्य संभवादसच्चोद्यमादावुद्भाव्य समाधिस्तस्य विहितस्ततो दोषान्तरमापाद्य समाधेयमिति परेषामिष्टमिति ॥ किं तच्चोद्यान्तरं यद्दोषान्तरप्रसङ्गरूपं परिजिहीर्ष्यते तदाह—यदीति । नित्यकर्मणश्चित्तविक्षेपकत्वादुपरतश्रुत्या निषेधे विक्षेपकत्वाविशेषाद्भिक्षाटनाद्याश्रमधर्मस्यापि निषेधः स्यात्तथाच तद्धीनः संन्यासी भ्रष्टो न पुरुषार्थाय स्यात् । 'आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा' इति भ्रष्टस्यासमाधेयपतनस्मृतेरित्यर्थः ॥ भिक्षाटनादेः श्रवणाद्यर्थत्वान्न निषेधोऽस्तीत्याशङ्क्य तस्यापि विक्षेपकत्वान्मुमुक्षुविषये निषेधप्राप्तमेवमित्याह—वेदान्तेति । नित्यकर्मवद्भिक्षाटनादेः श्रवणादेश्चोपरतश्रुत्या त्यागो न प्राप्नोतीत्याह—नैष इति । तत्र हेतुः—प्रधानेति । भिक्षाटनादेः श्रवणादेश्चोभयविधाद्धेतोर्ज्ञानाख्यार्थस्य प्रधानस्य सम्यगाप्तेर्न प्रधानार्थिनः संन्यासिनस्तत्त्यागसिद्धिः प्रधानविघातादित्यर्थः । यत्तावद्भिक्षाटनाद्युपरतश्रुत्या निषेध्यमिति तद्दूषयति—भिक्षेति । ज्ञानार्थत्वान्मुमुक्षुणा तदनुष्ठेयमन्यथा जीवनायोगात्प्रधानासिद्धेस्तन्नोपरतश्रुत्या तन्निषेध्यमित्यर्थः ॥ यत्तु वेदान्तश्रवणाद्यस्तीत्यादि तत्राऽऽह—प्रत्यगिति । अतःशब्दोऽपेक्षितत्वत इत्यनेन युज्यते । अत्रेति प्रकृतवाक्योक्तिः । श्रवणादित्यागे ज्ञानासिद्धेर्जिज्ञासोस्तत्त्यागायोगात्तद्विविधसाधनसंपादनकाले विक्षेपो भवन्नपि भुजिकालश्रमवत्प्रधानाविरोधीति भावः ॥ उपरतश्रुत्या प्रधानार्थत्वादनिषेधः श्रवणादेरित्युक्त्वा निषेधभङ्गीकृत्यापि मुमुक्षुणा तस्य कार्यत्व-माह—समाप्तिमिति ॥ तत्समाप्तिप्रयुक्तित इत्येतत्प्रपञ्चयति—प्रधानेति । ज्ञानोपदेश एव श्रवणादेः प्रापको मातीत्यत्रातःशब्दोक्तं हेतुं व्यनक्ति—भिक्षेति । न हि संन्यासिनो विना भिक्षादिना देहधारणं न च तद्विना

एवं ब्रह्मभूतो जनको याज्ञवल्क्येन ब्रह्मभावमापादितः प्रत्याह—'[1]सोऽहं ब्रह्मभावमापादितः सन्भगवते तुभ्यं विदेहान्देशान्मम राज्यं समस्तं ददामि मां च विदेहैर्दास्याय दासकर्मणे ददामीति चशब्दात्संबध्यते । [2]परिसमापिता ब्रह्मविद्या संन्यासेन साङ्गा सेतिकर्तव्यताका । [3]परिसमाप्तः परमपुरुषार्थः । [4]एतावत्पुरुषेण

आत्मीयं विद्यालाभ द्योतयितुं राज्ञो वचनमित्याह—एवमिति । सति वक्तव्यशेषे राज्ञो वचनमित्याशङ्क्याऽऽह—'परिसमापितेति । तथाऽपि परमपुरुषार्थस्य वक्तव्यत्वमित्याशङ्क्य —परिसमाप्त इति । कर्तव्यान्तरं वक्तव्यमस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—एतावदिति । 'तथाऽपि यत्र

इस तरह याज्ञवल्क्य द्वारा ब्रह्मभाव की प्राप्ति कराये जाने पर ब्रह्मीभूत जनक ने उत्तर "सोऽहम्" अर्थात् तुम्हारे द्वारा ब्रह्मभाव को प्राप्त कराया गया मैं आप भगवान्‌श्री को देश- का अपना समस्त राज्य देता हूँ एवं अपने आप को इसके साथ "दास्याय" दासरूप कर्म के समर्पित करता हूँ । 'च' अव्यय का 'ददामि' क्रिया से संबन्ध है । संन्यास, अङ्ग और इतिकर्तव्यता सहित ब्रह्मविद्या का व्याख्यान हो गया । ब्रह्मबोध से परम पुरुषार्थ होना भी कहा जा चुका । पुरुषको

---

१. सोऽहमिति—दक्षिणात्वेन राजा राज्यमात्मानं च गुरवे समर्पितवानिति वाक्यार्थः । २. परीत्यादि— विद्यावाक्यार्थज्ञानं तदुपायत्वात्त्वमर्थज्ञानं तदङ्गं शमादयः इतिकर्तव्यता संन्यासश्चोपाङ्गं त्वमर्थज्ञानो त्वंपदार्थविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणामिति स्मृतेरिति ध्येयम् । ३. ब्रह्मबोधादिति भावः । ४. ब्रह्म ५. निरतिशयानन्दस्य । ६. कर्तव्यान्तरसमाप्तावपि ।

तस्य ज्ञानमागन्तुकं युक्तं 'शरीरं मे विचर्षणमि'त्यादिश्रुतेर्नापि श्रवणाद्यभाव एव तत्त्वबोधो युक्तो श्रुतेस्तन्निषिद्धमपि प्रधानानुरोधि कार्यं तद्विधिनाऽऽक्षिप्ततया निषेधस्याकिंचित्करत्वादित्यर्थः ॥ प्रधा निषिद्धमपि प्रधानानुरोधादुपादानप्रमाणात्कर्तव्यमित्युक्तम् । इदानीं विहितमपि प्रधानविरोधि त्याज्य तार्तीयोदाहरणेन दर्शयति—शेषेति । अस्यार्थः—यदि राजन्यं वैश्यं वा याजयेत्स यदि सोमं बिभक्षयिषे ग्रोधस्तिभिनीराहृत्य ताः संपिष्य दधन्युन्मृज्य तमस्मै भक्षं प्रयच्छेदिति श्रुतेर्भक्षे स सोमं विकरोतीति श्रुत्या भक्षान्वयेऽपि यागशेषद्रव्यसंस्कारार्थतया तस्यावगतत्वात्फलचमसस्य यागसाधनत्वं विना तदयोगा शेषभक्षस्तथा कुर्यादित्यनया भङ्ग्या यागसंबन्धस्यैव विधानाद्भक्षणमपि सोमकार्यापत्त्याऽर्थप्राप्तमनूद्यत राद्धान्तितमिज्याविकारो वा संस्कारस्य तदर्थत्वादित्यत्र तत्र यथा तमस्मै भक्षं प्रयच्छेदिति साक्षाद्विहित शेषभक्षं प्रधानसोमयागविरोधाद्राजन्यादयो न कुर्वन्ति किन्तु तदनुरोधेनैव तमाचरन्ति न सोममिति च तथेहापि प्रधानवशाद्विहितस्यापि विरोधिनस्त्यागो नाविरुद्धस्येति । अथवाऽधिकारलक्षणे स्थितं निर्देशा भक्षोऽन्यप्रधानत्वाद्दर्शपूर्णमासयोर्ये शेषभक्षास्ते किमृत्विग्भ्योऽन्यैरेव कर्तव्याः किंवा तैरेवेति संशये सर्व कर्मकरत्वेन प्राप्तानामृत्विजां यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्तीति पुनरिडायाः श्रवणाद्भक्षान्तरपरिसंख्याना मेवैते भक्षयन्तीति नियमादन्येष्वन्यभक्षेष्वितर इति प्राप्ते यजमानस्याकर्मकरत्वेनाप्राप्तस्य प्रापकं यजमान पञ्चमा इत्यादिवचनमित्यङ्गीकाराद्भक्षान्तराणामपरिसंख्यातत्वात्तेष्वपि प्रकृतानामेव प्रधानकर्मानुरोधेन कर्तृ नान्येषामिति राद्धान्तितं तत्र यथा साक्षाद्विहितमपि शेषभक्षं प्रधानपूर्णमासानुरोधादृत्विग्भ्योऽन्ये न कुर्वन्ति जामेव दर्शपूर्णमासकर्तृतया तदीयशेषभक्षेऽपि कर्तृत्वनिश्चयात्तथा प्रकृते निषिद्धमपि प्रधानाविरुद्ध तद्विरुद्धं तु विहितमपि त्याज्यमिति । अथवाऽभिषुत्य हुत्वा भक्षयन्तीति समानकर्तृकत्वश्रुतेरभिषवादि

¹स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं ²वेद ॥२४॥

वह यह महान् अजन्मा ही समस्त अन्नों को भोक्ता एवं सम्पूर्ण भूतों का कर्म फल दाता है। कोई इस रूप से ब्रह्म की उपासना करता है; उसे सम्पूर्ण कर्मों का फल प्राप्त होता है ॥२४॥

या ³निष्ठैषा परा गतिरेतन्निःश्रेयसमेतत्प्राप्य कृतकृत्यो ब्राह्मणो भवत्येतत्सर्ववेदानुशासनमिति⁴ ॥ २३ ॥

योऽयं जनकयाज्ञवल्क्याख्यायिकायां व्याख्यात आत्मा स वा एष महानज आत्मा-

---

या तद्वाच्यमित्याशङ्कयाऽऽह—एषेति। तथाऽपि परमा निष्ठाऽन्याऽस्तीति चेन्नेत्याह—एषेति। श्रितं श्रेयोऽन्यदस्तीत्याशङ्कयाऽऽह—एतदिति। तथाऽपि कृतकृत्यतया मुख्यब्राह्मण्यसिद्ध्यर्थं वक्तव्यामस्तीत्याशङ्कयाऽऽह—एतत्प्राप्येति। किमस्यां प्रतिज्ञापरम्परायां नियामकमित्याशङ्कयाऽऽह एतदिति। निरुपाधिकब्रह्मज्ञानात्कैवल्यमिति गमयितुमितिशब्दः ॥ २३ ॥

संप्रति सोपाधिकब्रह्मध्यानाद⁵भ्युदयं दर्शयति—योऽयमित्यादिना। ईश्वरश्चेत्प्राणिभ्यः कर्मफलं

ज्ञान कर्तव्य है, यह ब्रह्मविद्या ही निष्ठा है, यही परा गति है, यही निःश्रेयस है। इसे प्राप्त कर ब्राह्मण कृतकृत्य हो जाता है, यही वेद की आज्ञा है ॥ २३ ॥

इस जनक-याज्ञवल्क्य आख्यायिका में जिस आत्मा का स्वरूप बतलाया गया है, वह यह महान्

---

१. अथ सोपाधिकब्रह्मध्यानं सफलं प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं श्रुतिरेवाह - स वै यो राजमुन्याख्यायिकयोक्तः। अयं रातेर्दातुरित्यस्य प्रपञ्चो द्रष्टव्यः। २. अहंग्रहेणोपास्ते। ३. ब्रह्मविद्या। ४. निष्ठा तत्साधनत्वादेवमग्रेऽपि। ५. बृ. उ. २. ५. १९। ६. ऐश्वर्यम्।

तत्साक्षाद्विहितमपि शेषभक्षं न प्रधानीभूतप्रयोजनानुरोधादनुतिष्ठन्ति न हि शेषभक्षप्रतिबद्धं किमपि फलमभिलप्यते किन्तु प्रतिपत्तिकर्मतया तमाचरन्ति तथा प्रतिपत्तिकर्मभूतसर्वकर्मत्यागं विरक्ता मुमुक्षवोऽनुतिष्ठन्तोऽपि प्रधानीभूतसम्यग्ज्ञानानुरोधादेव भिक्षाटनादि न त्यजन्तीति। अथवा होमादिवत्तुल्यकर्तृकत्वश्रुत्या मुखतो विहितमपि शेषभक्षणं न रौद्रस्येडामवद्यतीति रौद्रे गावीधुके चरौ प्रतिषेधान्न कुर्वन्ति प्रकृते तु प्रधानभूतसम्यग्ज्ञानानुरोधादनिषेधाच्च भिक्षाचर्याद्यविरुद्धमिति विरोधिनस्त्याग इति प्रधानार्थिना विहितमपि विरोधि त्याज्यं निषिद्धत्वादविरोध्यनुसर्तव्यमित्युक्तिद्वारा श्रवणादेर्ज्ञानोपायत्वादनुष्ठानावस्थायामर्थप्राप्तो विक्षेपो न ज्ञानोत्पत्तिविरोधीत्युक्तमिदानीं कर्मणोऽपि तादर्थ्यात्तदनुष्ठानकालिकमनोविक्षेपस्य तदविरोधित्वान्मुमुक्षुणा तदत्याज्यमित्याशङ्कयाऽऽह—एवमिति। यथा श्रवणादि ज्ञानसाधनं दर्शनमनूद्य तदुपायत्वेन विधानान्न तथा कर्म साक्षात्तत्साधनं विविदिषन्तीति व्यवधानश्रुतेस्तस्य चित्तशुद्ध्यर्थत्वादतः शुद्धबुद्धेर्मुमुक्षोस्त्याज्यमेव कर्म फलभावादित्यर्थः ॥ मुमुक्षोः श्रवणाद्यतिरिक्ताशेषकर्मत्यागे स्मृतिं प्रमाणयति—याः काश्चिदिति। शक्या भिक्षाटनादिव्यतिरिक्ता जीवतेति विशेषणात्तित्यक्षता त्यक्तुमिच्छता विरक्तेनेति यावत्। निमेषादौ काले स्थितो झटिति ताः सर्वास्त्यक्त्वा ज्ञानार्थी श्रवणादिपरः स्यादिति शेषः ॥ तस्यास्तात्पर्यमाह— उक्तेति। उक्तो विधिरूपोऽर्थः शान्तः स्यादित्यादिस्तस्य विषयस्तत्त्वज्ञानमुद्देश्यं तस्मादुद्देश्यान्तरे स्वर्गादौ या यागादिक्रियाः संभाव्यन्ते ताः सर्वाः सम्यग्ज्ञानस्य व्याघातायैव यतो भवन्त्यतोऽस्यां स्मृतौ निषिध्यन्ते श्रवणादयस्तु तद्धेतुत्वान्न निषेधमर्हन्तीत्यर्थः ॥

¹स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो

वही यह अजन्मा आत्मा, महान्, अजर, अमर, अमृत एवं अभय ब्रह्मरूप है। अभय ही ब्रह्म

ऽन्नादः सर्वभूतस्थः सर्वान्नानामत्ता वसुदानो वसु धनं सर्वप्राणिकर्मफलं तस्य दा प्राणिनां यथाकर्म फलेन योजयितेत्यर्थः । तमेतमजमन्नादं वसुदानमात्मानमन्नादवसुदा गुणाभ्यां युक्तं यो वेद स सर्वभूतेष्वात्मभूतोऽन्नमत्ति विन्दते च वसु सर्वं कर्मफल लभते सर्वात्मत्वादेव य एवं यथोक्तं वेद । अथवा दृष्टफलार्थिभिरप्येवंगुण उपास्य ²तेनान्नादो वसोश्च लब्धा दृष्टेनैव फलेनान्नात्तृत्वेन गोऽश्वादिना चास्य योगो भव त्यर्थः ॥२४ ॥

इदानीं समस्तस्यैवाऽऽरण्यकस्य ³योऽर्थ उक्तः स ⁴समुच्चित्यास्यां कण्डिका

ददाति तर्हि तस्य वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातामित्याशङ्क्याऽऽह—प्राणिनामिति । उपास्यस्वरूपं दर्शयि तदुपासनं सफलं दर्शयति —तमेतमिति । सर्वात्मत्वफलमुपासनमुक्त्वा पक्षान्तरमाह— अथवेति। फलमन्नात्तृत्वं धनलाभश्च । उक्तगुणकमीश्वरं ध्यायतः फलमाह—तेनेति । तदेव फलं स्पष्टयति— नेति । अन्नात्तृत्वं दीप्ताग्नित्वम् ॥ २४ ॥

निरुपाधिकब्रह्मज्ञानान्मुक्तिरुक्ता⁶ सोपाधिकब्रह्मध्यानाच्चाभ्युदय उक्तस्तथा⁶ च किमुत

अजन्मा आत्मा "अन्नादः" अर्थात् सर्वभूतस्थ होकर समस्त अन्नों का भोक्ता, "वसुदानः" अर्थात् या सम्पूर्ण प्राणियों के कर्मफल को देने वाला है अर्थात् प्राणियों को उनके कर्म के अनुसार फल से करता है। इस प्रकार अज, अन्नाद, वसुदान आत्मा को जो अन्नाद, वसुदान गुणों से युक्त जानता है वह सर्वभूतों में आत्मभूत होकर अन्न भक्षण करता है, "विन्दते वसुः" अर्थात् सर्वात्मक स्वरूप हों से ही सम्पूर्ण कर्मों के फलसमूह को प्राप्त करता है, जो "एवम्" अर्थात् यथोक्तरूप से जानता है अथवा दृष्ट फल के इच्छुक पुरुषों को भी ऐसे गुणों वाले ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। उपासना से वह अन्नाद और धनलाभ करता है अर्थात् दृष्ट अन्नाद और गो-अश्वादि फल के द्वा वह युक्त होता है ॥ २४ ॥

इस सारे आरण्यक में जो ब्रह्मात्मैक्य रूप अर्थ कहा गया है; उसी का अब (सुविधा के नि

---

१. अथ तिष्ठमानस्येत्याद्युक्तं निर्गुणब्रह्मज्ञानं सफलमाह—स वा एष इति । २. उपासनेन । ३. ब्रह्मात्मैक्य रूपः । ४. संक्षिप्योपसह्रियते सौकर्याय । ५. बृ. उ. ३. ९. २८ । ६. सफलयोर्ज्ञानध्यानयोरुक्तत्वे ।

❀ अज आत्माऽजरोऽमृतोऽभयो ब्रह्मेत्यादि । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"रज्जुः सर्पादिनेवाऽऽत्मा विनाऽविद्यां न जायते । कार्यात्मना यतस्तस्मादात्माऽज इति भण्यते ॥ सर्वभावविकाराणां जन्म मूलं यतस्ततः । सर्वं प्रतिषेधः स्यान्निषेधादात्मजन्मनः ॥ तथाऽपि तान्श्रुतिर्यत्नाज्जरादीन्प्रतिषेधति । स्वाभाविकत्वाशङ्काया: प्रति- षेधस्य सिद्धये ॥ कालात्मना ह्यवच्छेदान्नायं कालंजरत्वतः । देहादिवज्जरामेति तस्मादात्माऽजरः स्मृतः ॥ सर्वस्य परिणामस्य हानोपादानमात्रतः । जराजन्मनिषेधेन सर्वोऽस्तोऽत्र निषिध्यते ॥ परिणामोऽस्य

ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयꣳहि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद ॥२५॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥४॥

को उक्त आत्मा कोई अभय ब्रह्म समझता है; वह अभय ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है, इसमें किसी र का सन्देह नहीं ॥२५॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

दिश्यत एतावान्समस्तारण्यकार्थ इति । 'स वा एष महानज आत्माऽजरो न जीर्यत ति न 'विपरिणमत इत्यर्थः । अमरो यस्माच्चाजरस्तस्मादमरो न म्रियत 'इत्यमरः । यो जायते 'जीर्यते च स विनश्यति म्रियते च । अयं त्वजत्वादजरत्वाच्चाविनाशी तोऽत एवामृतः । यस्माज्जनिप्रभृतिभिस्त्रिभिर्भावविकारैर्वर्जितस्तस्मादितरैरपि भाव-

ङ्कयेत्याशङ्क्याऽऽह--इदानीमीति । अजत्वाच्चा'विनाशीति वक्तुं चशब्दः । कथं जन्मजराभाव-रमरत्वाविनाशित्वसाधकत्वं तदाह—यो हीति । अयं त्वजत्वादविनाश्यजरत्वाच्चामरोऽमरत्वाच्चा-नाशीति योजना । 'मरणायोग्यत्वमुपजीव्य 'मरणकार्याभावं दर्शयति—अत एवेति । जन्मापक्षय-नाशानामेव भावविकाराणामिह मुखतो निषेधाद्विवृद्ध्यादीनि विकारान्तराण्यात्मनि भविष्यन्ति षनिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञापरत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—यस्मादिति । इतरे सत्त्वविवृद्धिविपरिणामाः ।

अर्थ इस मन्त्र में कहा जाता है कि इतना ही सारे आरण्यक का अर्थ है। वह यह महान् जन्मा आत्मा "अजरः" अर्थात् जीर्णता या विपरिणाम को प्राप्त नहीं होता। "अमरः" अर्थात् अजर के कारण सान्वयनाश के लिए योग्य नहीं होने से अमर है। जो जन्म लेता है, वह जीर्ण होता है र विनाश या मरणभाव को भी प्राप्त होता है। यह तो अजन्मा और अजर होने के कारण क्योंकि नाशी है, इसीलिए अमृत है। क्योंकि यह जन्मादि तीन भाव विकारों से वर्जित है, इसलिये दूसरे

---

१. स वा एष महानिति—स प्रकृतब्राह्मणोपक्रमे स यत्रायमात्माऽबल्यमित्यादिनोक्तस्त्वंपदवाच्यार्थः संसार्यात्मा वैः स्मारणार्थः एष ब्रह्मलोकवाक्ये लोकशब्देन प्रकाशितस्त्वंपदलक्ष्यः । इत्थं त्वंपदलक्ष्यमुद्दिश्य तस्य ब्रह्मत्वं विदधाति महानिति सत्यज्ञानादिलक्षणं ब्रह्मेत्यर्थः । २. विपरिणमते— कालावच्छिन्नदेहादिवन्नापक्षीयत इत्यर्थः । ३. सान्वयनाशानर्हः । ४. जीर्यतीति न्याय्यम् । ५. निरन्वयनाशानर्हः । ६. सान्वयादि नाशद्वयानर्हत्वम् । ७. मरणरूपकार्याभावम् ।

त्येह प्रतिपिध्यते ॥ देहस्थितेरवसितिर्मृतिशब्देन भण्यते । तन्निषेधोऽमरोक्त्याऽत्र नित्यस्याऽऽत्मन उच्यते ॥
नाजस्यापरिणामस्य मरणं जगतीक्ष्यते । अजोऽजरश्च तेनोक्तोऽमरश्चैष ततः स्मृतः ॥ परिणामात्मको मृत्युर-
मरोक्त्या निवारितः । अमृतोक्त्याऽथ नाशोऽस्य वार्यते यो निरन्वयः ॥ अविनाशीत्यपि तथा विनाशद्वयमात्मनः ।
त्या निषिध्यते साक्षात्प्रत्यक्कौटस्थ्यसिद्धये ॥ कामकर्मतमोभावादमरोऽमृत एव च । तत एवाभयः प्रत्यङ्भयं
हि तदबोधतः । कारणस्य निषेधोऽतो भयकार्यनिषेधतः ॥ कुतोऽभयत्वसंसिद्धिः प्रतीच इति शङ्किते । ब्रह्मेत्याहा-

विकारैस्त्रिभिस्तत्कृतैश्च कामकर्ममोहादिभिर्मृत्युरूपैर्वर्जित इत्येतत् । अभयोऽत एव यस्माच्चैवं पूर्वोक्तविशेषणस्तस्माद्भयवर्जितः । भयं [1]चाविद्याकार्यं तत्कार्यप्रतिषेधेन भाव विकारप्रतिषेधेन चाविद्यायाः प्रतिषेधः सिद्धो वेदितव्यः । अभय आत्मैवंगुणविशिष्ट [2]किमसौ ब्रह्म परिवृढं निरतिशयं महदित्यर्थः । अभयं वै ब्रह्म । प्रसिद्धमेतल्लोकेऽभयं ब्रह्मेति । [3]तस्माद्युक्तमेवंगुणविशिष्ट आत्मा ब्रह्मेति ।

अत एवाभय इत्युक्तं विवृणोति—यस्माच्चेति । किं तद्भयं तदाह—भयं चेति । अविद्यानिषेधि षणाभावादात्मानं सा सदा स्पृशतीत्याशङ्क्याऽऽह—तत्कार्येति । विशेषणान्तरं प्रश्नपूर्वकमुत्था व्याकरोति—अभय इति । कथं पुनरभयगुणविशिष्टस्याऽऽत्मनो ब्रह्मत्वं तदाह—अभयमिति । वंश थंमाह—प्रसिद्धिमिति । लोकशब्दः शास्त्रस्याप्युपलक्षणम् ।

भी तीन भाव विकारों से तथा उनसे उत्पन्न होने वाले मृत्यु रूप काम-कर्म-मोहादि से भी रहित है— यह इसका अर्थ है। इसलिए अभय है (क्योंकि वह इस प्रकार पूर्वोक्त विशेषण वाला है, इसलिए भ रहित है)। 'भय' नाम अविद्या के कार्य कामादि का है। उस अविद्या के कार्य के प्रतिषेध से भाव विकारों के प्रतिषेध से अविद्या का प्रतिषेध भी सिद्ध हो जाता है—ऐसा जानना चाहिए। इ प्रकार के गुणों से विशिष्ट अभय आत्मा का क्या स्वरूप है। "ब्रह्म" अर्थात् सब ओर परि अर्थात् निरतिशय महान् है। अभय ही ब्रह्म है। लोक में प्रसिद्ध है कि ब्रह्म अभयस्वरूप है। इस लिए इस प्रकार के गुणों से विशिष्ट आत्मा ही ब्रह्म है—ऐसा कहना उचित ही है।

---

१. कामादिकार्यम् । २. किंस्वरूपः । ३. आत्मनो ब्रह्मलक्षणलक्षितत्वात् अभयत्वादिति यावत् ।

ऽऽत्मनस्तत्त्वं ब्रह्म त्वभयमेव हि ।। अहं ब्रह्मेत्यतः साक्षाद्यथोक्तेनैव वर्त्मना । भयहेतोर्निरासेन स ब्रह्माभयमश्नुते ।। १३२५-१३३७ ।। इति । अजशब्दं व्याचष्टे – रज्जुरिति ।। अजरादिविशेषणान्याक्षिपति —सर्वेति ।। निषेधादितरविकारनिषेधमङ्गीकृत्य समाधत्ते—तथाऽपीति । आर्थिकनिषेधस्याशाब्दिकत्वाज्जरादीनां पारमार्थि त्वाशङ्कायां तन्निरासार्थं मुखतो निषेध इत्यर्थः ।। अजरपद व्याकरोति—कालात्मनेति । यथा देहादि वच्छिन्नत्वाज्जीर्यते न तथाऽऽत्मा जरामेति कालंजरत्वादेव तदनवच्छिन्नत्वात्प्रतीचश्च कालंजरत्वमुक्तं तस्मा मजरः स्मृतो विद्वद्भिरित्यर्थः । कालंजरत्वस्याऽऽत्मनि प्रागुक्तत्वावद्योती हिशब्दः ।। जरादीनां स्वाभाविकं नि मजरादिविशेषणं चेत्तर्हि वृद्ध्यादेस्तथात्वाशङ्का तदवस्था तन्निषेधकविशेषणाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वेति अत्रेत्यात्मोक्तिः । हानोपादानमात्रतो जराजन्मान्तर्वर्तित्वादिति यावत् । अतःशब्दस्य पञ्चम्या संबन्धः ।। गमकमाह—परिणाम इति । इह वाक्ये जन्मजरानिषेधानन्तरमात्मनो नाशाख्योऽन्त्यो विकारोऽमृतश्रुत्या हेतुना निषिध्यते तेन मध्यवर्तिवृद्ध्यादिसर्वविकारनिषेधो विवक्षित इत्यर्थः ।। अमरपदं तर्हि किमर्थमित्याशङ्क्य प्राणत्यागरूपमरणनिषेधार्थमाह—देहेति । तन्निषेधे हेतुमाह—नित्यस्येति ।। अजत्वाद्युपजीव्यामरत्वं साधयति— नाजस्येति । यतोऽजस्तेनाजरो यतश्चाजरस्ततोऽमर इति योजना ।। अमरपदेनैवान्यविकारनिराससिद्धेर्व्यर्थममृत न च घटादिवन्नाशं निरसितुं तदिति युक्तमजरपदेन गतत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—परिणामेति । अमरोक्त्या प्राणत्या स्याजरोक्त्या च कारणसंसर्गस्य मृत्योर्निवारितत्वान्निरन्वयनाशं निरसितुममृतपदमित्यर्थः । अमृतपदस्यागतार्थ

य एवं यथोक्तमात्मानमभयं ब्रह्म वेद सोऽभयं हि वै ब्रह्म भवति। 'एष सर्वस्या
निषदः संक्षिप्तोऽर्थ उक्तः। एतस्यैवार्थस्य सम्यक्प्रबोधायोत्पत्तिस्थितिप्रलयादि-
ल्पना क्रियाकारकफलाध्यारोपणा चाऽऽत्मनि कृता तदपोहेन च नेति नेतीत्यध्यारोपित-
विशेषापनयद्वारेण पुनस्तत्त्वमावेदितम्। यथैकप्रभृत्यापरार्धसंख्यास्वरूपपरिज्ञानाय
रेखाध्यारोपणं कृत्वैकेयं रेखा दशेयं शतेयं 'सहस्रेयमिति ग्राहयत्यवगमयति संख्यास्वरूपं
केवलं न तु संख्याया रेखात्मत्वमेव यथा चाकारादीन्यक्षराणि विजिग्राहयिषुः पत्रमषी-
रेखादिसंयोगोपायमास्थाय वर्णानां सतत्त्वमावेदयति न पत्रमष्याद्यात्मतामक्षराणां

'वेद्यस्वरूपमुक्त्वा विद्याफलं कथयति—य एवमिति। कण्डिकार्थमुपसंहरति—एष इति।
ष्ट्यादेरपि 'तदर्थत्वात्किमित्यसाविह नोपसंह्रियते तत्राऽऽह—एतस्येति। सृष्ट्यादेरारोपितत्वे
कमाह—तदपोहेनेति। तच्छब्दः सृष्ट्यादिप्रपञ्चविषयः। तदपोहेनेति यदुक्तं तदेव स्फुटयति—
नेति। अध्यारोपापवादन्यायेन तत्त्वस्याऽऽवेदितत्वादारोपितं भवत्येव सृष्ट्यादिद्वैतमित्यर्थः।
ध्यारोपापवादन्यायस्य पङ्कप्रक्षालनन्यायविरुद्धत्वात्तत्त्वं विवक्षितं चेत्तदेवोच्यतां कृतं सृष्ट्यादिद्वैता-
शेत्याशङ्क्याऽऽह—यथेति। उदाहरणान्तरमाह—यथा चेति। दृष्टान्तद्वयमनूद्य दार्ष्टान्तिकमाचष्टे—

जो इस प्रकार पूर्वोक्त आत्मा अभय ब्रह्म का जानता है, वह निश्चय ही अभय ब्रह्म हो
जाता है। यह कूटस्थ, अद्वय, प्रत्यगभिन्न परमात्मा ही समस्त उपनिषदों का संक्षिप्त अर्थ है—ऐसा कहा
गया। इसी अर्थ के सम्यक् प्रबोध के लिये आत्मा में उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयादि की कल्पना तथा
क्रिया, कारक और फल का अध्यारोप किया गया है; उसे हटा कर अर्थात् "नेति-नेति" इस रूप से
अध्यारोपित विशेष की निवृत्ति द्वारा पुनः तत्त्व का ज्ञान कराया है। जिस प्रकार एक से लेकर
परार्ध पर्यन्त संख्या का स्वरूप ज्ञान कराने के लिए रेखाओं की कल्पना करके यह रेखा एक की द्योतिका
है, यह दश की द्योतिका है, यह सौ की द्योतिका है, यह सहस्र की द्योतिका है, इस प्रकार ग्रहण कराया
जाता है; इस प्रकार इन रेखाओं से केवल संख्या का स्वरूप बतलाया जाता है, संख्या का रेखा मात्र
ही स्वरूप नहीं है। जिस प्रकार अकारादि अक्षरों को समझाने की इच्छा वाला पुरुष, कागज, स्याही
और रेखादि के सयोग का सहारा लेकर वर्णों का स्वरूप ज्ञान करा देता है; कागज, स्याही आदि ही
अक्षर के स्वरूप हैं। ऐसा नहीं बतलाता, इसी प्रकार यहाँ उत्पत्ति आदि अनेक उपायों का आश्रय

---

१. कूटस्थोऽद्वयः प्रत्यगभिन्नः परमात्मा। २. अर्श आद्यच्। ३. ब्रह्मात्मैक्यम्। ४. उपनिषदर्थत्वात्।

द्योतनार्थोऽथशब्दः॥ मैत्रेयीब्राह्मणेऽप्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मेति श्रुत्या नाशद्वयमात्मनो निषिद्ध-
मित्याह—अविनाशीत्यपीति। प्रकृतश्रुत्यैवेति वक्तुं तथाशब्दः। तन्निषेधफलमाह—प्रत्यगिति॥ अमरत्वाद्युपजीव्या-
भयत्वमवतारयति—कामेति। तद्विभजते—भयं हीति। अनुभवानुसारार्थो हिशब्दः॥ आकाङ्क्षापूर्वकं विशेषणा-
न्तरमादत्ते—कुत इति। तथाऽपि कथमभयत्वमित्याशङ्क्याभयं वै ब्रह्मेत्यस्यार्थमाह—ब्रह्म त्विति। श्रौतीं प्रसिद्ध-
मनुरोद्धुं हिशब्दः॥ अभयं हीत्यादि व्याकरोति—अहमिति। इतिशब्दो ज्ञानपरामर्शार्थः। तस्य निमित्तत्वमतः-
शब्दार्थः। अपरोक्षज्ञानस्यैव सनिदानापरोक्षभ्रमध्वंसितेति दर्शयितुं साक्षादित्युक्तम्। ऐक्यज्ञानोदयोपायं
सूचयति—यथोक्तेनेति। अन्वयादिना पदार्थशोधनपूर्वकं श्रुतेन वाक्येनेत्यर्थः॥

ग्राहयति [1]तथा [2]चेहोत्पत्त्याद्यनेकोपायमास्थायैकं ब्रह्मतत्त्वमावेदितम्। पुनस्तत्कल्पितोपा जनितविशेषपरिशोधनार्थं नेति नेतीति तत्त्वोपसंहारः कृतः। तदुपसंहृतं पुनः परिशु केवलमेव, सफलं ज्ञानमभिहितमन्तेऽस्यां कण्डिकायामिति' ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थं
ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

(अथ चतुर्थाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम्)

आगमप्रधानेन [1]मधुकाण्डेन ब्रह्मतत्त्वं निर्धारितम्। [2]पुनस्तस्यैवोपपत्तिप्रधाने याज्ञवल्कीयेन काण्डेन पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहं कृत्वा विगृह्यवादेन विचारितम्। शिष्याचार्य

तथा चेति। इहेति मोक्षशास्त्रोक्तिः। तथाऽपि कल्पितप्रपञ्चसबन्धप्रयुक्तं सविशेषत्वं ब्रह्मणः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—पुनरिति। तस्मिन्नात्मनि कल्पितः सृष्ट्यादिरुपायस्तेन जनितो विशेष[6]स्तस्मि न्कारणत्वादिस्तस्य निरासार्थमिति यावत्। [7]तर्हि द्वैताभावविशिष्टं तत्त्वमिति चेन्नेत्याह—तदुपसंहृत मिति। परिशुद्धं भाववदभावेनापि न संस्पृष्टमित्यर्थः। केवलमित्यद्वितीयोक्तिः। सृष्ट्यादिवचनस्य गतिमुक्त्वा प्रकृतमुपसंहरति—सफलमिति। इतिशब्दः संग्रहसमाप्त्यर्थो ब्राह्मणसमाप्त्यर्थो वा ॥२५॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां चतुर्थाध्यायस्य
चतुर्थं शारीरकब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

समाप्ते शारीरकब्राह्मणे वंशब्राह्मणं व्याख्यातव्यं कृतं [8]गतार्थेन मैत्रेयीब्राह्मणेनेत्याशङ्क्य मधुकाण्डार्थमनुद्रवति—आगमेति। [9]पाञ्चमिकमर्थमनुभाषते—पुनरिति। तस्यैव ब्रह्मणस्तत्त्वनिर्वि शेषः। विगृह्यवादो जयपराजयप्रधानो जल्पन्यायः। [10]षष्ठे प्रतिष्ठापितमनुवदति—शिष्येति। प्रश्न

लेकर एक ब्रह्मतत्त्व का बोध कराया गया है। फिर उस आत्मा में कल्पित सृष्टयादि उपाय से जनित विशेष का निरास करने के लिए "नेति-नेति" ऐसा कहकर तत्त्व का उपसंहार किया है। फिर इस मन्त्र के अन्त में उस उपसंहृत (अभाव से असंपृक्त भाववान्) परिशुद्ध, अद्वितीय ब्रह्म को ही, एवं फल सहित ज्ञान को कहा गया है ॥ २५ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषत् के चतुर्थाध्याय चतुर्थ ब्राह्मणस्थ शाङ्करभाष्य का
हिन्दी-भाषानुवाद सम्पन्न हुआ ॥ ४ ॥

प्रथम और द्वितीय अध्यायस्थ आगमप्रधान मधुकाण्ड द्वारा ब्रह्मतत्त्व का निर्णय किया गया। फिर तीसरे में इसी का युक्तिप्रधान याज्ञवल्कीय काण्ड द्वारा पक्ष-प्रतिपक्ष का परिग्रह करके जल्प द्वारा

---

१. तथैव। २. तथा चोक्तम्—"असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते। उपायः शिक्षमाणानां बालाना मुपलालनेति" ॥ ३. इति संग्रह इत्यर्थः। ४. उपनिषत्क्रमेण प्रथमद्वितीयाध्यायाभ्याम्। ५. प्राधान्य शेषस्य युक्तेस्तदानन्तर्यं युक्तम्। ६. आत्मनि। ७. कारणत्वादि द्वैतनिषेधे। ८. पूर्वग्रन्थेन गतार्थत्वम्। ९. उपनिषदि तार्तीयीकम्। १०. उपनिषदि चतुर्थे।

संबन्धेन च षष्ठे प्रश्नप्रतिवचनन्यायेन सविस्तरं विचार्योपसंहृतम्। [1]अथेदानीं निगमनस्थानीयं मैत्रेयीब्राह्मणमारभ्यते। अयं च [2]न्यायो वाक्यकोविदैः परिगृहीतो हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनमिति[3]। अथवाऽऽगमप्रधानेन मधुकाण्डेन यदमृतत्वसाधनं ससंन्यासमात्मज्ञानमभिहितं तदेव तर्केणाप्यमृतत्वसाधनं ससंन्यासमात्मज्ञानमधिगम्यते। तर्कप्रधानं हि याज्ञवल्कीयं काण्डम्। तस्माच्छास्त्रतर्काभ्यां निश्चितमेतद्यदेतदात्मज्ञानं ससंन्यासम[4]मृतत्वसाधनमिति। [5]तस्माच्छास्त्रश्रद्धावद्भिरमृतत्वप्रतिपित्सुभिरेतत्प्रतिपत्तव्यमिति। आगमोपपत्तिभ्यां हि निश्चितोऽर्थः श्रद्धेयो भवत्य[6]व्यभिचारादिति। अक्ष-

---

प्रतिवचनन्यायस्तत्त्वनिर्णयप्रधानो वादः। उपसंहृतं तदेव तत्त्वमिति शेषः। संप्रत्युत्तरब्राह्मणस्या[9]गतार्थत्वमाह—अथेति। आगमोपपत्तिभ्यां निश्चिते तत्त्वे निगमनमकिंचित्करमित्याशङ्क्याऽऽह—अयं चेति। प्रकारान्तरेण [7]संगतिमाह—अथवेति। कथमिह[8] तर्केणाधिगतिस्तत्राऽऽह—तर्केति। मुनिकाण्डस्य तर्कप्रधानत्वे किं स्यात्तदाह—तस्मादिति। इति फलतीति शेषः। शास्त्रादिना यथोक्तस्य ज्ञानस्य निश्चितत्वेऽपि किं सिध्यति तदाह—तस्माच्छास्त्रश्रद्धावद्भिरिति। एतच्छब्दो यथोक्तज्ञानपरामर्शार्थः। इति सिध्यतीति शेषः। [10]तत्र हेतुमाह—आगमेति। अव्यभिचारान्मानयुक्तिगम्यस्यार्थस्य तथैव सत्त्वादिति यावत्। इतिशब्दो ब्राह्मणसंगतिसमाप्त्यर्थः। तात्पर्यार्थे व्याख्याते सत्यक्षर-

---

विचार किया गया, इसके पश्चात् इस षष्ठ प्रपाठक (उपनिषत् क्रम से चौथे अध्याय) में शिष्याचार्य-संबन्ध से प्रश्नोत्तर न्याय से विस्तृत विचार कर उपसंहार किया गया। इस (आगम उपपत्ति द्वारा तत्त्वनिश्चय करने) के बाद अब निगमनस्थानीय मैत्रेयी ब्राह्मण का आरम्भ किया जाता है। इस निगमनरूप न्याय को पञ्चावयव-वाक्य विचक्षणों के द्वारा भी परिगृहीत किया जाता है। (व्याप्तिविशिष्ट पक्ष धर्म रूप) हेतु का कथन कर (साध्यविशिष्ट पक्ष रूप) प्रतिज्ञातार्थ का पुनः प्रदर्शन करना निगमन है। अथवा आगमप्रधान मधुकाण्ड से जिस संन्यासयुक्त आत्मज्ञान को अमृतत्व का साधन बतलाया है; वही ससंन्यास आत्मज्ञान तर्क से भी अमृतत्व का साधन जाना जाता है। याज्ञवल्कीय काण्ड क्योंकि तर्क प्रधान है; इसलिए यह जो अमृतत्व का साधन संन्यासपूर्वक आत्मज्ञान है, वह शास्त्र और युक्ति दोनों के द्वारा निश्चित है। इसलिए शास्त्रों में श्रद्धा रखने वाले एवं अमृतत्व लाभ

---

१. आगमोपपत्तिभ्यां तत्त्वनिश्चयानन्तरम्। २. न्याय इति—न्यायस्य पञ्चावयवकस्यानुमानस्यान्त्यावयवो
निगमनाख्यः। वाक्ये पञ्चावयवके कोविदैर्विचक्षणैर्हेत्विति हेतोर्व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मस्य अपदेशात्कथना-
त्प्रतिज्ञायाः प्रतिज्ञातार्थस्य साध्यविशिष्टपक्षस्य पुनर्वचनं प्रदर्शनं निगमनं तथा च व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्महेतुकथन-
पूर्वकसाध्यविशिष्टपक्षप्रदर्शको न्यायावयवो निगमनमित्यर्थः। ३. न्या. सू. १. १. ३९। ४. अमृतत्वेति—
मधुकाण्डे या मैत्रेयीब्राह्मणेनागमबलादुक्ता मुक्तिसाधनीभूता संन्याससहिताऽऽत्मविद्या सैवाधुना न्यायप्रधाने
मुनिकाण्डेऽपि मुक्तौ हेतुत्वेन न्यायतो मन्तव्येत्येतद्ब्राह्मण प्रवृत्तमित्यर्थः। ५. अवतरणोक्तत्वात्। ६.
हिशब्दसूचितोऽयं हेतुः। ७. संगतिमिति पाठान्तरम्। सा च संगतिरवसराख्या। स चानन्तरवक्तव्यत्वं
भवति हि पूर्वावयवेभ्योऽनन्तरवक्तव्यं निगमनमिति। ८. संगतिमिति—एकविषयत्वरूपां शेषशेषित्वरूपां
वेत्यर्थः। तर्कस्यागमशेषत्वादिति ध्येयम्। ९. पञ्चमब्राह्मणे। १०. यथोक्तज्ञानस्य प्रतिपत्तव्यत्वे।

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन् ॥ १ ॥

यह बात प्रसिद्ध है कि याज्ञवल्क्य महर्षि की मैत्रेयी तथा कात्यायनी नाम वाली ये दो स्त्रियाँ थीं। उनमें मैत्रेयी ब्रह्मचर्चा करने वाली थी और कात्यायनी स्त्रियों की-सी (गृहसंबन्धी प्रयोजन) बुद्धिवाली थी। ऐसी स्थिति में याज्ञवल्क्य गार्हस्थ्य जीवन से भिन्न संन्यासचर्या को आरम्भ करना चाहते थे ॥ १ ॥

राणां तु चतुर्थे यथा व्याख्यातोऽर्थस्तथा प्रतिपत्तव्योऽत्रापि । यान्यक्षराण्यव्याख्यातानि तानि व्याख्यास्यामः ।

अथेति हेतुपदेशानन्तर्यप्रदर्शनार्थः । हेतुप्रधानानि हि वाक्यान्यतीतानि । तदनन्तरमागमप्रधानेन प्रतिज्ञातोऽर्थो निगम्यते मैत्रेयीब्राह्मणेन । हशब्दो वृत्तावद्योतकः ।

व्याख्यानप्रसक्तावाह—अक्षराणां त्विति । तर्हि ब्राह्मणेऽस्मिन्वक्तव्याभावात्परिसमाप्तिरेवेत्याशङ्क्याह—यानीति ।

ननु वाक्यानि पूर्वत्र व्याख्यातानि न हेतुरुपदिष्टस्तत्कथं तदुपदेशानन्तर्यं ससंन्यासस्यामृतत्वहेतोरात्मज्ञानस्याथशब्देन द्योत्यते तत्राऽऽह—हेतुप्रधानानीति । तदेव वृत्तं व्यनक्ति—याज्ञवल्क्यस्येति ।

के इच्छुक पुरुषों को इसे प्राप्त करना चाहिये क्योंकि शास्त्र और युक्ति द्वारा अवधारित अर्थ ही अव्यभिचरित होने से श्रद्धा का विषय होता है। इन अक्षरों के अर्थ का व्याख्यान जिस प्रकार चतुर्थ प्रपाठक (उपनिषत् के द्वितीय अध्याय) में किया गया है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। जो अक्षर वहाँ अव्याख्यात रह गये हैं, उनकी व्याख्या यहाँ की जायगी।

"अथ" यह (ससंन्यास आत्मज्ञान के) हेतु, (वैराग्यादि) उपदेश व आनन्तर्य प्रदर्शन के लिए है। इससे पूर्व हेतुप्रधान (शमादिप्रतिपादक) वाक्यों का निरूपण हो चुका है। तदनन्तर आगमप्रधान मधुकाण्डस्थ मैत्रेयी ब्राह्मण से (यथोक्त आत्मबोध रूप) प्रतिज्ञात अर्थ निगमन किया जाता है। 'ह' यह शब्द पूर्व सन्दर्भ का द्योतक है। याज्ञवल्क्य ऋषि की "द्वे भार्ये बभूवतुः" अर्थात् दो पत्नियाँ

---

१. अथेति—"मधुकाण्डे याज्ञवल्क्यकाण्डे विज्ञानमीरितम् । तत्सर्वमुपसंहर्तुं मैत्रेयीब्राह्मणं भवेत् ॥ वक्तव्यविशेषोऽत्र पूर्वोक्तादधिको न हि । इति सूचयितुं शेषस्तत्पाठः पुनरुच्यते" ॥ इति वा० सा. ४. ५. १-२ । २. द्वितीये । ३. शब्दः । ४. यथोक्तात्मज्ञानहेतुशमादिप्रतिपादकानि । ५. मधुकाण्डेन । ६. यथोक्तात्मबोधः । ७. भाष्यस्य ।

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति ॥ २ ॥

हे मैत्रेयि ! इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने (बड़ी पत्नी को लक्ष्य करके) कहा—मैं इस गार्हस्थ्य
जीवन से अन्यत्र सब कुछ त्याग कर जाना चाहता हूँ यानी संन्यास लेना चाहता हूँ। अतः तुम्हारी
नुमति लेना चाहता हूँ, तुम चाहो तो इस कात्यायनी के साथ तुम्हारा बँटवारा कर दूँ॥ २॥

याज्ञवल्क्यस्यर्षेः किल द्वे भार्ये पत्न्यौ बभूवतुरास्तां मैत्रेयी च नामत एकाऽपरा कात्या-
नी नामतः। तयोर्भार्ययोर्मैत्रेयी ह किल ब्रह्मवादिनी ब्रह्मवदनशीला बभूवाऽऽसीत्।
स्त्रीप्रज्ञा स्त्रियां योचिता सा स्त्रीप्रज्ञा सैव यस्याः प्रज्ञा गृहप्रयोजनान्वेषणालक्षणा सा
स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि तस्मिन्काल आसीत्कात्यायनी। अथैवं सति ह किल याज्ञवल्क्योऽन्यत्पूर्व-
स्माद्गार्हस्थ्यलक्षणाद्[1]वृत्तात्पारिव्राज्यलक्षणं वृत्तमुपाकरिष्यन्नुपाचिकीर्षुः सन् ॥ १ ॥

हे मैत्रेयीति ज्येष्ठां भार्यामामन्त्रयामास। आमन्त्र्य चोवाच ह प्रव्रजिष्यन्पारि-
व्राज्यं करिष्यन्वा अरे मैत्रेय्यस्मात्स्थानाद्गार्हस्थ्यादहमस्मि भवामि। मैत्रेय्य[2]नुजानीहि
मां हन्तेच्छसि यदि तेऽनया कात्यायन्या[3]ऽन्तं करवाणीत्यादि व्याख्यातम् ॥ २ ॥

थेत्यस्यार्थमाह—एवं सतीति। भार्याद्वये दर्शितरीत्या स्थिते स्वस्य च वैराग्यातिरेके सतीति
यावत् ॥ १ ॥

तस्या ब्रह्मवादित्वं तदामन्त्रणद्वारेण तां प्रत्येव संवादे हेतूकर्तव्यम्। [4]'तस्या ब्रह्मवादित्वं द्योत-
यितुमिच्छसि यदीत्युक्तम् ॥ २ ॥

थीं; मैत्रेयी और कात्यायनी। "तयोः" अर्थात् उन पत्नियों में मैत्रेयी "ब्रह्मवादिनी" अर्थात् ब्रह्मवदन-
शीला थी और कात्यायनी में "तर्हि" यानी उस समय "स्त्रीप्रज्ञा" अर्थात् स्त्री को जो उचित है,
सी बुद्धि थी अथवा गृह-प्रयोजन की ही खोज में रहने वाली बुद्धि थी। "अथ" अर्थात् ऐसा होने
पर याज्ञवल्क्य ने "अन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन्" अर्थात् गृहस्थ आश्रम से भिन्न चरित संन्यास रूप चरित
को वर्णन करने का इच्छुक हो कहा ॥ १ ॥

हे मैत्रेयी ! इस प्रकार कहकर (ब्रह्मवादिनी) ज्येष्ठ पत्नी को ही बुलाया। बुलाकर के कहा—
हे मैत्रेयी ! "अस्मात् स्थानात्" यानी मैं इस गृहस्थ आश्रम से "प्रव्रजिष्यन्" अर्थात् संन्यास ग्रहण
करने वाला हूँ। हे मैत्रेयी ! मैं तुम्हारी अनुमति की प्रार्थना करता हूँ। यदि तुम चाहती हो तो इस
कात्यायनी से तेरा द्रव्यविभागादि कर दूँ, इसकी व्याख्या की जा चुकी है ॥ २ ॥

---

१. चरिताद् आश्रमादिति यावत्। २. अनुजानीहि मामिति तत्रानुमतिं प्रार्थयामीत्यर्थः। ३. अन्त-
मित्यादि विच्छेदम्। द्रव्यविभागेन विभक्तां कृत्वा गमिष्यामीत्यर्थः। ४. ब्रह्मवादित्वादेव कदाचिन्नेच्छेद-
पीति भावः।

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु[1] म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्स्यां न्वहं तेनामृताऽऽहो३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितꣳ स्यादमृतत्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तेनेति ॥३॥

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥४॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया वै खलु नो भवती सती प्रियमवृधद्धन्त तर्हि भवत्येतद्व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥ ५ ॥

उस मैत्रेयी ने कहा—भगवन् ! यदि धन से संपन्न सारी पृथिवी मुझे मिल जाय तो उससे मैं अमर हो सकती हूँ ? याज्ञवल्क्य ने कहा—नहीं, भोगसामग्री से युक्त मनुष्यों का जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा भी जीवन हो जायगा । धन से अमर होने की आशा है ही नहीं ॥ ३ ॥

तब उस मैत्रेयी ने कहा—जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे मैं लेकर क्या करूँगी। आप जो कुछ भी अमरत्व का साधन जानते हो; उसी को मेरे लिए कहें ॥ ४ ॥

उन याज्ञवल्क्य महर्षि ने कहा—निःसन्देह तू पहले भी मेरी प्रिया रही है और अब भी तूने हमारी प्रसन्नता को बढ़ाया है । अतः मैत्रेयी ! मैं अत्यन्त संतुष्ट हो तुझसे उस अमरत्व के साधन की व्याख्या करूँगा, तू मेरे द्वारा बतलाये गये विषय का भली प्रकार चिन्तन करना ॥ ५ ॥

सैवमुक्तोवाच मैत्रयो सर्वेयं पृथिवी वित्तेन पूर्णा [1]स्यान्नु किं स्यां [2]किमहं वित्तसाध्येन कर्मणाऽमृताऽऽहो न स्यामिति । नेति होवाच याज्ञवल्क्य इत्यादि समानमन्यत् ॥ ३ ॥ ४ ॥

स होवाच प्रियैव पूर्वं खलु नोऽस्मभ्यं भवती भवन्ती सती[3] प्रियमेवावृधद्धित-

---

मैत्रेयी त्वमृतत्वमात्रार्थितामात्मनो दर्शयति—सैवमिति ॥ ३ ॥ ४ ॥

गुरुप्रसादाधीना विद्यावाप्तिरिति द्योतनार्थमाह—स होवाचेति । ज्ञानेच्छादुर्लभताद्योतनाय

इस प्रकार कहे जाने पर मैत्रेयी ने कहा—यदि धन से पूर्ण यह सम्पूर्ण पृथिवी मेरी हो जाय तो क्या मैं उस वित्तसाध्य कर्म से अमृत हो जाऊँगी अथवा नहीं । याज्ञवल्क्य ने कहा—'इससे अमर नहीं हो सकोगी' इत्यादि अन्य श्रुतिवाक्य की व्याख्या पूर्ववत् है ॥ ३-४ ॥

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—(हे मैत्रेयी !) तू पहले भी हमारी प्रिया रही है, अब भी तूने हमारे

---

[1] नु वितर्के । [2] मम भवेदित्यर्थः । [3] इदानीमपीति शेषः ।

स होवाच न वा अरे पत्यु [1]कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति। न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति। न वा अरे क्षत्त्रस्य कामाय क्षत्त्रं प्रियं

हे मैत्रेयि ! ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। इसमें सन्देह नहीं है कि पति के प्रयोजन के लिए पति नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये पति प्यारा होता है। स्त्री के प्रयोजन के लिये स्त्री नहीं होती, अपने ही प्रयोजन के लिये स्त्री प्यारी होती है। पुत्रों के सुख के लिये पुत्र प्यारे होते, किन्तु अपने ही सुख के लिये पुत्र प्यारे होते हैं। धन के प्रयोजन के लिये धन प्यारा नहीं किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये धन प्यारा होता है। पशुओं के प्रयोजन के लिये पशु प्यारा होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये पशु प्यारे होते हैं। ब्राह्मण के प्रयोजन के लिये ब्राह्मण नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय होते हैं। क्षत्रिय के सुख के लिये क्षत्रिय

ति। अतस्तुष्टोऽहं हन्तेच्छसि चेदमृतत्वसाधनं ज्ञातुं हे भवति ते तुभ्यं तदमृतत्वसाधनं ख्यास्यामि ॥५॥

आत्मनि खल्वरे मैत्रेयि दृष्टे। कथं दृष्ट आत्मनीति, उच्यते—पूर्वमाचार्याग-

---

त्युक्तम् ॥ ६ ॥

व्याख्यानप्रकारमेवाऽऽह—आत्मनीति। दृष्टे सर्वमिदं विदितं भवतीत्युत्तरत्र संबन्धः। केनो-नाऽऽत्मनि दृष्टे सर्वं दृष्टं भवतीत्युपायं पृच्छति—कथमिति। आत्मदर्शनोपायं श्रवणादिकं दर्शय-

---

को "अवृधत्" यानी बढ़ाया है, इसलिए मैं प्रसन्न हूँ। अब यदि तुम अमृतत्व का साधन जानने इच्छा करती हो तो हे प्रिये ! मैं तुझे उस अमृतत्व के साधन की व्याख्या करूँगा ॥ ५ ॥

हे मैत्रेयी ! निश्चय ही आत्मदर्शन हो जाने पर सर्वज्ञान होता है। किस प्रकार आत्मा का

---

[1] प्रयोजनाय सुखायेति यावत्।

भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्त्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदꣳ सर्वं विदितम् ॥ ६ ॥

प्यारा नहीं होता, किन्तु अपने ही सुख के लिये क्षत्रिय प्यारा होता है। लोकों के सुख के लोक प्यारे नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये लोक प्यारे होते हैं। दे प्रयोजन के लिए देव प्यारे नहीं होते हैं, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिए देव प्यारे हो वेदों के प्रयोजन के लिये वेद प्यारे नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये वेद प्यारे हो भूतों के प्रयोजन के लिये भूत प्यारे नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये भूत प्रिय हो (विशेष क्या कहें बस इतना ही समझो) सब के प्रयोजन के लिये सब प्रिय नहीं होते, किन्तु अ प्रयोजन के लिये सब प्रिय होते हैं। अतः हे मैत्रेयि! आत्मा ही दर्शनीय, श्रवण के योग्य, म योग्य और ध्यान करने योग्य है। हे मैत्रेयि! निःसन्देह आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन तथा वि हो जाने पर ये सभी विज्ञात हो जाते हैं (क्योंकि अधिष्ठान आत्मा से भिन्न यह अध्यस्त वस्तु भी नहीं है) ॥ ६ ॥

माभ्यां श्रुते पुनस्तर्केणोपपत्त्या मते विचारिते। श्रवणं त्वागम[1]मात्रेण मत उप

न्नुत्तरमाह—उच्यत इति। उक्तोपायफलं प्रश्नपूर्वकमाह—किमित्यादिना। इदं सर्वमित्यनूद्य त

दर्शन होने पर—इस पर कहा जाता है। पहले आचार्य और शास्त्र द्वारा श्रवण कर पुनः तर्क या यु से उस पर मनन और विचार करने पर (आत्मा का दर्शन होता है)। केवल शास्त्र से श्रवण,

---

१. मात्रशब्दस्तर्कं व्यावर्तयितुं न पुनराचार्यम्।

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद क्षत्त्रं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः क्षत्त्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो देवान्वेद वेदास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो वेदान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो भूनानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्त्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा ।७॥

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८ ॥

ब्राह्मण जाति उसे परास्त कर देती है, जो ब्राह्मण जाति को आत्मा से भिन्न समझता है। य जाति उसे परास्त कर देती है, जो क्षत्रिय जाति को आत्मा से भिन्न समझता है। लोक उसे त कर देते हैं, जो लोकों को आत्मा से भिन्न समझता है। देव उसे परास्त कर देते हैं, जो देवों आत्मा से भिन्न समझता है। वेद उसे परास्त कर देते हैं, जो वेदों को आत्मा से भिन्न समझता है। उसे परास्त कर देते हैं, जो भूतों को आत्मा से भिन्न जानता है। सभी उसे परास्त कर देते हैं, जो को भिन्न समझता है क्योंकि यह ब्राह्मण जाति, यह क्षत्रिय जाति, ये लोक, ये देव, ये वेद, त तथा ये सब जो कुछ भी है, यह सब आत्मा ही है ॥ ७ ॥

वहाँ पर दृष्टान्त यह है कि जैसे काष्ठादि के द्वारा आघात किये हुए नक्कारे के बाह्य शब्दों ग्रहण करने में कोई समर्थ नहीं होता, किन्तु नक्कारे या नक्कारे के आघात को ग्रहण कर लेने से का शब्द भी गृहीत हो जाता है ॥ ८ ॥

ाद्विज्ञात एवमेतन्नान्यथेति निर्धारिते। किं भवतीत्युच्यत इदं विदितं भवति। इदं र्वमिति यदात्मनोऽन्यत्। आत्मव्यतिरेकेणाभावात् ॥ ६ ॥

हु—यदात्मनोऽन्यदिति। तदात्मनि दृष्टे दृष्टं स्यादिति शेषः। कथमन्यस्मिन्दृष्टं भवति तत्राऽऽह—त्मव्यतिरेकेणेति ॥ ६ ॥

मनन और उसके बाद विशेष रूप से जान लेने पर "वह इस स्वरूप वाला है, दूसरी प्रकार का नहीं" इस प्रकार निर्धारित कर लेने पर फिर क्या होता है—इस पर कहा जाता है। "इदम्" अर्थात् सब जो कुछ है, आत्मा से अन्य भी है, ज्ञात हो जाता है क्योंकि आत्मा से व्यतिरिक्त कुछ भी हीं है ॥ ६ ॥

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥९॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ १० ॥

[1]स यथाऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं

वह दूसरा दृष्टान्त यह है कि जैसे बजाये गये शंख के बाह्य शब्दों को कोई समर्थ नहीं होता, किन्तु शंख या शंख के बजाने को पकड़ लेने से उसका शब्द भी जाता है ॥ ९ ॥

वह तीसरा दृष्टान्त है कि जैसे बजायी गयी वीणा के बाह्य शब्दों को ग्रहण करने समर्थ नहीं होता, किन्तु वीणा या वीणा के बजाने को ग्रहण करने पर उसका शब्द जाता है ॥ १० ॥

वह चौथा दृष्टान्त यह है कि जैसे जिसका ईंधन गीला है, ऐसे आदान किये गये नाना रंग के धुएँ निकलते हैं। हे मैत्रेयि ! वे ही ये ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद,

---

तमयथार्थदर्शिनं परादात्पराकुर्यात्कैवल्यासम्बन्धिनं कुर्यादयमनात्मस्वरूपे पश्यतीत्यपराधादिति भावः ॥ ७ । ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

[2]चतुर्थे शब्दनिश्वासेनैव लोकाद्यर्थनिश्वासः सामर्थ्यादुक्तो भवतीति पृथङ्

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरित्यादाविष्टं हुतमित्याद्यधिकं दृष्टं तस्यार्थमाह—चतुर्थ इति।

"तम्" अर्थात् उस अनात्मतत्त्वदर्शी को "यह मुझे अनात्मस्वरूप से देखता है" अपराध से "परादात्" अर्थात् परास्त कर देते हैं यानी कैवल्य से उसका संबन्ध देते हैं ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

चतुर्थ प्रपाठक (द्वितीय अध्याय के अन्त में मैत्रेयी ब्राह्मण) में शब्दनिःश्वास के द्वारा से लोकादि अर्थनिःश्वास भी कह दिये गये, उसका पृथक् प्रतिपादन नहीं किया। यहाँ तो

---

[1] स यथेत्यादिसृष्टिश्रुतेरित्थं विभागः तथाहि—ऋग्वेद इत्यारभ्य व्याख्यानानीत्यन्तेन परमात्मजमेतबिति इष्टं पायितमिति कर्मसृष्टिः। अयं चेत्यादिना रूपसृष्टिरिति। [2] द्वितीयाध्याय गतमैत्रेयीब्राह्मणे।

विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानी[1]ष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि ॥ ११ ॥

स यथा सर्वासामपाꣳ समुद्र एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ स्पर्शानां त्वगेकायनमेवꣳ सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रसानां जिह्वैकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रूपाणां चक्षुरेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ शब्दानाꣳ श्रोत्रमेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ सकल्पानां मन एकायनमेवꣳ सर्वासां विद्यानाꣳ हृदयमेकायनमेवꣳ सर्वेषां कर्मणाꣳ हस्तावेकायनमेवꣳ सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवꣳ सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवꣳ सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवꣳ सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥ १२ ॥

ण. विद्या, उपनिषद्, ब्राह्मण, वैदिक वस्तु संग्रह, वाक्यरूप सूत्र, सूत्रों की व्याख्या, मन्त्रों की ख्या, इष्ट (यज्ञ), हवन किया हुत, खिलाया हुआ, पिलाया हुआ, यह लोक, परलोक तथा संपूर्ण त हैं। ये सब इस परमात्मा के ही निःश्वास हैं ॥ ११ ॥

वह पाँचवाँ दृष्टान्त यह है कि जैसे समस्त जलों का समुद्र ही एकमात्र प्रलयस्थान है, वैसे समस्त स्पर्शों का त्वचा एक प्रलयस्थान है। ऐसे ही संपूर्ण गन्धों का दोनों नासिकाएँ एक अयन है। ऐसे ही संपूर्ण रसों का जिह्वा एक अयन है। ऐसे ही समस्त रूपों का चक्षु एक अयन है। ऐसे ही समस्त शब्दों का श्रोत्र एक अयन है। ऐसे ही समस्त संकल्पों का मन एक अयन है। ऐसे ही समस्त विद्याओं का हृदय एक अयन है। ऐसे ही समस्त कर्मों का दोनों हाथ एक अयन है। ऐसे ही समस्त आनन्दों का उपस्थ एक अयन है। ऐसे ही समस्त विसर्गों का गुदा एक अयन है। ऐसे ही समस्त मार्गों का दोनों पाद एक अयन है। तथा ऐसे ही समस्त वेदों का वाक् एक अयन है ॥१२॥

इह तु सर्वशास्त्रार्थोपसंहार इति कृत्वाऽर्थप्राप्तोऽप्यर्थः स्पष्टीकर्तव्य इति पृथगुच्यते ।।११।।

वंशून्यस्य शब्दस्यानुपपत्तेरित्यर्थः । नन्वत्रापि सामर्थ्यविशेषात्पृथगुक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्याऽऽह—इह

शास्त्रों के उपसंहारात्मक अर्थ को बतलाया जा रहा है। इसलिये अर्थतः प्राप्त अर्थ का स्पष्टीकरण

---

१. इष्टं यागनिमित्तं धर्मजातं हुतं होमनिमित्तं आशितमन्नदाननिमित्तं पायितं पेयदाननिमित्तम् । अयं लोक इदं जन्म परो लोकः प्रतिपत्तव्यं जन्म । इदं षडाचार्ये ४. १. २ ब्राह्मणे स्पष्टम् ।

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति [1]न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १३ ॥

इस विषय में छठा दृष्टान्त यह है—जैसे नमक का डला बाहर और भीतर सभी से परि रसघन ही है। हे मैत्रेयि ! ऐसे ही यह आत्मा भी बाह्यान्तर भेद से रहित परिपूर्ण प्रज्ञानघन ही है वह इन भूतों से अच्छी प्रकार उठकर उन्हीं के साथ नष्ट हो जाता है। इसलिये मर जाने पर इसं संज्ञा नहीं रह जाती। हे मैत्रेयि ! इस प्रकार मैं कहता हूँ, ऐसा याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा ॥ १३॥

॥ १२ ॥

सर्वकार्य[2]प्रलये विद्यानिमित्ते [3]सैन्धवघनवदनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन ए आत्माऽवतिष्ठते पूर्वं तु [4]भूतमात्रासंसर्गविशेषाल्लब्धविशेषविज्ञानः सन् । तस्मिन्प्रवि लापिते विद्यया विशेषविज्ञाने तन्निमित्ते च भूतसंसर्गे न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्येवं याज्ञव ल्क्येनोक्ता ॥ १३ ॥

रिति ॥ ११ ॥ १२ ॥

स यथा सैन्धवघन इत्यादिवाक्यतात्पर्यमाह—सर्वकार्येति । एतेभ्यो भूतेभ्य इत्यादेरर्थमाह—पूर्वं त्विति । ज्ञानोदयात्प्रागवस्थायामित्यर्थः । लब्धविशेषविज्ञानः सन्व्यवहरतीति शेषः । प्रविलापि [5]तस्येत्यध्याहारः ॥ १३ ॥

करना चाहिये। इसलिये उसका यहाँ पृथक् निरूपण किया जाता है ॥ ११ ॥ १२ ॥

विद्यानिमित्त होने पर सर्वकार्य के बाध हो जाने पर सैन्धवघन की तरह अन्दर बाहर रसघन, निःसामान्य, निर्विशेष, कृत्स्न, प्रज्ञानघन एक ही आत्मा स्थित रह जाता है। पहले वह आकाशादि भूतमात्रों के (आविद्यक) तादात्म्य से विशेष विज्ञान को प्राप्त होता है। फिर विद्या के द्वारा उस विशेष विज्ञान और तन्निमित्तक भूततादात्म्य को सर्वथा विलीन कर दिये जाने प मरणावस्था के बाद उसकी संज्ञा नहीं रहती। इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा ॥ १३॥

---

[1] अस्यां च कैवल्यावस्थायां विशेषज्ञानं नास्तीत्याह—नेति । प्रेत्य देहादेर्न्ह्यदृशा बाधानन्तरम् । संज्ञा विशेषविज्ञानमयममुष्य पुत्र इदं क्षेत्रमित्यादि । [2] बाधे । [3] सैन्धवेति । तथा च वार्तिके—"अन्त-र्बहीरसघनः सैन्धवस्य घनो यथा । विज्ञानघन एवायं विज्ञानात्मा तथैव च" ॥ ११ ॥ इति । [4] भूतेति—भूतानामाकाशादीनां मात्राः शरीरकरणविषयाकारपरिणामास्तैः संसर्गविशेष आविद्य तादात्म्य तस्मा-दित्यर्थः । [5] यः पूर्वं व्यवहरतीत्युक्तस्तस्य व्यवहर्तुरित्यर्थः ।

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवान्मोहान्तमापीपिपन्न वा अहमिमं विजानामीति स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्ति-[1]धर्मा ॥ १४ ॥

उस मैत्रेयी ने कहा—(मरने पर इसकी संज्ञा नहीं रहती है ऐसा कहकर) इस प्रज्ञानघन के विषय में ही श्रीमान् ने मुझे मोह में डाल दिया है । अत: उसे मैं विशेष रूप से नहीं समझ पा रही है। याज्ञवल्क्य ने कहा—अरी मैत्रेयि ! मैं मोह की बात नहीं करता हूँ, अरी ! यह आत्मा निःसन्देह अविनाशी है, और उच्छेद धर्म से सर्वथा शून्य है अर्थात् इसमें विनाश या उच्छेद रूप विकार नहीं होता ॥ १४ ।

सा होवाचात्रैव मा भगवानेतस्मिन्नेव वस्तुनि प्रज्ञानघन एव न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति[2] मोहान्तं मोहमध्यमापीपिपदापीपददवगमितवानसि संमोहितवानसीत्यर्थः । [3]अतो न वा अहमिममात्मानमुक्तलक्षणं विजानामि विवेकत इति । स होवाच नाहं [4]मोहं ब्रवीम्य-विनाशी वा अरेऽयमात्मा । यतो विन(नं)ष्टुं शीलमस्येति विनाशी न विनाश्यविनाशी विनाशशब्देन विक्रियाऽविनाशीत्य[5]विक्रिय आत्मेत्यर्थः । अरे मैत्रेय्ययमात्मा प्रकृतोऽनुच्छि-त्तिधर्मा । उच्छित्तिरुच्छेदः उच्छेदोऽन्तो विनाश उच्छित्तिर्धर्मोऽस्येत्युच्छित्तिधर्मा नोच्छित्ति-

---

पूर्वोत्तरविरोधं शङ्कित्वा परिहरति—सा होवाचेत्यादिना । अविनाशित्वं [6]पूर्वत्र हेतुरित्याह—न इति ॥ १४ ॥

वह मैत्रेयी बोली —"अत्रैव" अर्थात् उसी प्रज्ञानघन वस्तु के विषय में "मरणकाल होने पर इसकी यह संज्ञा नहीं रहती" इस वाक्य से आप भगवान्श्री ने मुझे "मोहान्तमापीपिपत्" यानी मोहावस्था को प्राप्त करा दिया है अर्थात् मैं संमोहित हो गयी हूँ। इसलिए मोहाविष्ट होने से मैं "इमम्" अर्थात् पूर्वोक्त लक्षण वाले आत्मा को "न विजानामि" अर्थात् विवेकपूर्वक नहीं जानती हूँ। वह याज्ञवल्क्य बोले— अरी मैत्रेयी ! मैं मोहजनक वचनों को नहीं बोल रहा हूँ; यह आत्मा अविनाशी है। जिसका स्वभाव विनष्ट होने वाला है, उसे विनाशी कहते हैं; और जो विनाशी नहीं हो; वह अविनाशी है अर्थात् विनाश विक्रिया का नाम है और अविनाशी अविकारी आत्मा है। अरी मैत्रेयी ! यह आत्मा अन्तरहित है। उच्छेद ही उच्छित्ति है। अन्त या विनाश उच्छेद का नाम है। जिसका उच्छित्ति धर्म हो वह उच्छित्तिधर्मा, और इससे भिन्न अनुच्छित्ति धर्मा है। भाव यह है

---

[1] इतोऽनन्तरं मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवतीत्यधिको माध्यंदिनशाखायां पाठः । [2] वाक्येन । [3] मोहाविष्टत्वात् । [4] मोहकं वचः । [5] अविक्रिय इति । अत्र वार्तिके—"परिणामनिषेधः स्यादविनाशिगिराऽऽत्मनः । अनुच्छित्तिगिरा नाशो वार्यते यो निरन्वयः" ॥ १३ ॥ इति । कारणसंसर्गः परिणामः । [6] नाहं मोहं ब्रवीमीत्यत्र ।

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरꣳ रसयते तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरꣳ स्पृशति तदितर इतरं विजानाति यत्र

हे मैत्रेयि ! जिस अविद्यावस्था में द्वैत-सा प्रतीत होता है वहाँ पर ही अन्य अन्य को देखता है, अन्य अन्य को सूँघता है, अन्य अन्य का रस लेता है, अन्य अन्य को कहता है, अन्य अन्य को सुनता है, अन्य अन्य का मनन करता है, अन्य अन्य को छूता है, अन्य अन्य को विशेष रूप से जानता है

धर्माऽनुच्छित्तिधर्मा नापि [1]विक्रियालक्षणो [2]नाप्युच्छेदलक्षणो विनाशोऽस्य विद्य इत्यर्थः ॥१४॥

चतुर्ष्वपि प्रपाठकेष्वेक आत्मा तुल्यो निर्धारितः परं ब्रह्म । [3]उपाय[4]विशेषस्तु तस्याधिगमेऽन्यश्चान्यश्च । उपेयस्तु स एवाऽऽत्मा यश्चतुर्थेऽथात[5] आदेशो नेति नेतीति [6]निर्दिष्टः । स एव पञ्चमे प्राणपणोपन्यासेन [7]शाकल्ययाज्ञवल्क्यसंवादे निर्धारितः । पुनः

---

[8]प्रत्यध्यायमन्यथाऽन्यथा प्रतिपादनादात्मनः सविशेषत्वमाशङ्क्य स एष इत्यादेस्तात्पर्यमाह—चतुर्ष्वपीति । केन प्रकारेण तस्य तुल्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—परं ब्रह्मेति । अध्यायभेदस्तर्हि कथमित्याशङ्क्याऽऽह—उपायेति । उपायभेदवदुपेयभेदोऽपि स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—उपेयस्त्वित । चातुर्थिकादर्थात्पाञ्चमिकस्यार्थस्य भेदं व्यावर्तयति—स एवेति । प्राणपणोपन्यासेन मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धपातोपन्यासात्प्राणाः [9]पणत्वेन गृहीता इति गम्यते । तेन शाकल्यब्राह्मणेन निर्विशेषः प्रत्यगात्मा निर्धारित इत्यर्थः । विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेत्यादावुक्तं स्मारयति—पुनरिति । पञ्चमसमाप्तौ [10]पुनर्विज्ञान-

---

कि न ही इसका कारणसंसर्गरूप सान्वयनाश होता है और न ही निरन्वयनाश होता है ॥ १४॥

चारों अध्यायों में एक समान ही निश्चय किया गया है; एक आत्मा है, वही परब्रह्म है। किन्तु उसके जानने के लिए (आगम-जल्प-वादात्मक न्याय रूप) उपाय विशेष भिन्न-भिन्न है। जिसके लिए उपाय किया जाता है, वह उपेय आत्मा ही है जिसका द्वितीय अध्याय में "यही उपदेश है कि (सर्वोपाधि विशेष के निरास से) वह आत्मा नेति नेति है" इस प्रकार निर्विकल्प निश्चित किया गया है। वही तीसरे अध्याय में शाकल्य-याज्ञवल्क्य संवाद में ("तुम्हारा शिरःपात हो जाएगा") हार्यत्व प्राण के उपन्यास से निर्धारित किया गया है। पुनः (विज्ञान, आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है,

---

[1] कारणसंसर्गरूपः सान्वयनाशः । [2] निरन्वयः । [3] आगमो जल्पवादात्मको न्यायश्चोपायविशेषः । [4] विशेष इति—प्रथमद्वितीययोरध्याययोरागमः तृतीये जल्पश्चतुर्थे वाद इति । [5] बृ. उ. २. ३. ६ । [6] निर्दिष्टः—निर्विकल्पत्वेनावधारितः । [7] बृ. उ. ३. ९. २६ । [8] ब्रह्मप्राप्त्युपायानां प्रत्यध्यायं भेदेन प्रतिपादनादनेकरसमात्मतत्त्वमित्यर्थः । [9] पणत्वेनेति—हार्यत्वेनेत्यर्थः । द्यूतादौ हार्यं वस्तु पण इति भण्यते । [10] बृ. उ. ३. ९. २८ ।

त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कꣳ रसयेत्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कꣳ शृणुयात्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कꣳ स्पृशेत्तत्केन कं विजानीयाद्येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्स एष नेति

विपरीत जहाँ पर इस विद्वान् की दृष्टि में सब आत्मा ही हो गया, वहाँ पर किससे किसको देखे, किसको चखे, किससे किसको कहे, किससे किसको सुने, किससे किसको मनन करे, किससे छूवे और किससे किसको जाने। पुरुष जिससे इस सबको जानता है; भला उसे किसके द्वारा

थमसमाप्तौ। पुनर्जनकयाज्ञवल्क्यसंवादे। 'पुनरिहोपनिषत्समाप्तौ। चतुर्णामपि प्रपानामे'तदात्मनिष्ठता नान्योऽन्तराले कश्चिदपि विवक्षितोऽर्थ इत्येतत्प्रदर्शनायान्त उपरः स एष नेति नेत्यादिः।

यस्मात्प्रकारशतेनापि निरूप्यमाणे तत्त्वे नेति नेत्यात्मैव 'निष्ठा नान्योपलभ्यते वाऽऽगमेन वा तस्मादेतदेवामृतत्वसाधनं यदेतन्नेति नेत्या'त्मपरिज्ञानं ससंन्यासत्येतमर्थमुपसंजिहीर्षन्नाह—एतावदेतावन्मात्रं यदेतन्नेति नेत्यद्वैतात्मदर्शनमिदं चान्यकारिकारणनिरपेक्षमेवारे मैत्रेय्यमृतत्वसाधनम्। यत्पृष्टवत्यसि यदेव भगवान्वेद तदेव

त्यादिना स एव निर्धारित इति योजना। 'कूर्चब्राह्मण'दावपि स एवोक्त इत्याह—पुनर्जनकेति। स्मिन्नपि ब्राह्मणे स एवोक्त इत्याह—पुनरिहेति। किमिति पूर्वत्र तत्र तत्रोक्तस्य निर्विशेषस्यानोऽवसाने वचनमित्याशङ्क्याऽऽह—चतुर्णामपीति।

पौर्वापर्यपर्यालोचनायामुपनिषदर्थो निर्विशेषमात्मतत्त्वमित्युपपाद्य वाक्यान्तरमवतार्य व्यातीति—यस्मादित्यादिना। इति ह्युक्त्वेत्यादिवाक्यमाकाङ्क्षापूर्वकमादाय व्याचष्टे—यत्पृष्टवत्य-

---

प्रकार) तृतीय अध्याय की समाप्ति पर कहा गया है। फिर जनक-याज्ञवल्क्य संवाद में और चतुर्थ अध्याय समाप्ति पर मैत्रेयी ब्राह्मण में कहा गया है। चारों प्रपाठकों का विवक्षित अर्थ विशेष आत्मनिष्ठ है। इसके अतिरिक्त और कोई विवक्षित अर्थ नहीं है, इसी को समझाने के श्रुति अन्त में "वह यह नेति-नेति है" इस प्रकार उपसंहार करती है।

क्योंकि सकड़ों मार्गों से निरूपित किये जाने पर भी तत्त्व की "नेति - नेति" इस प्रकार त्मा में ही निष्ठा है, युक्ति या शास्त्र से अन्यत्र (उसका पर्यवसान) नहीं देखा जाता। इसलिए नेति-नेति" इस वाक्य से आत्मा का संन्याससहित जो निर्विशेष ज्ञान है, वही अमृतत्व का साधन है। अर्थ को उपसंहार करने की इच्छा से याज्ञवल्क्य जी कहते हैं—हे मैत्रेयी! बस वह इतना ही जो कि "नेति-नेति" इस प्रकार अद्वितीय आत्मा का दर्शन करना है, यह अमृतत्वसाधन अन्य

---

१. बृ. उ. ३. ९. २८। २. मैत्रेयीब्राह्मणे। ३. निर्विशेषात्मनि। ४. मुक्तिः। ५. निर्विशेषात्मपरिज्ञानम्। ६. बृ. उ. ४. ३. ४। ७. आदिना शारीरकब्राह्मणोक्तिः बृ. उ. ४. ४. २२।

**नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो
न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे
केन विजानीयादित्युक्तानुशासनाऽसि मैत्रेय्येतावदरे**

जाने ? वह यह 'नेति नेति' इस प्रकार बतलाया गया आत्मा अगृह्य है, उसका ग्रहण नहीं होता।
है, उसका विनाश नहीं होता। असंग है, वह कहीं पर संसक्त नहीं होता। अबद्ध है, अतः वह
और क्षीण नहीं होता। हे मैत्रेयि ! विज्ञाता को किससे जाने ? इस प्रकार हमने तुझे उपदे

मे ब्रूह्यमृतत्वसाधनमिति 'तदेतावदेवेति विज्ञेयं त्वयेति हैव किलामृतत्वसाधनमात्म
प्रियायै भार्याया उक्त्वा याज्ञवल्क्यः किं कृतवान्यत्पूर्वं प्रतिज्ञातं प्रव्रजिष्यन्नस्मीति त
कार विजहार प्रव्रजितवानित्यर्थः। परिसमाप्ता ब्रह्मविद्या संन्यासपर्यवसाना। 'एतावा
देश 'एतद्वेदानुशासनमेषा' परमनिष्ठैष' पुरुषार्थकर्तव्यतान्त इति।

इदानीं विचार्यते शास्त्रार्थविवेकप्रतिपत्तये। यत 'आकुलानि हि वाक्या

सीत्यादिना। ब्राह्मणार्थमुपसंहरति—परिसमाप्तेति। तथाऽप्युपदेशान्तरं कर्तव्यमस्तीत्याशङ्क्या
—एतावानिति। किमत्र प्रमाणमिति तदाह—एतदिति। 'तथाऽपि परमा निष्ठा संन्यासि
वक्तव्येति चेन्नेत्याह—एषेति। आत्मज्ञाने ससंन्यासे सत्यपि पुरुषार्थान्तरं कर्तव्यमस्तीत्याशङ्क्या
—एष इति। इतिशब्दो ब्राह्मणसमाप्त्यर्थः।

ससंन्यासमात्मज्ञानममृतत्वसाधनमित्युपपाद्य संन्यासमधिकृत्य विचारमवतारयति—इदानी
मिति। 'तत्र तत्र प्रागेव विचारितत्वात्किं पुनर्विचारेणेत्याशङ्क्याऽऽह-शास्त्रार्थेति। विर
संन्यासो ज्ञानस्यान्तरङ्गसाधनं ज्ञानं तु केवलममृतत्वस्येति शास्त्रार्थे विवेकरूपा 'प्रतिपत्तिरपि प्र
सिद्धेति किं तदर्थेन विचारारम्भेणेत्याशङ्क्याऽऽह—यत इति। अतो विचारः कर्तव्यो ना

सहकारी कारणों से निरपेक्ष है। "हे भगवान् श्री ! जो कुछ भी आप अमृतत्व के साधन के वि
में जानते हैं, मुझे उपदेश कीजिए" इस प्रकार जो तुमने पूछा था; "वह संन्याससहित निर्विशेषा
ज्ञान केवल इतना मात्र है" ऐसा तुझे समझना चाहिये। अपनी प्रिय भार्या को इस प्रकार अमृत
साधन रूप आत्मज्ञान का उपदेश देकर याज्ञवल्क्य जी ने क्या किया ? जिस प्रकार उन्होंने प्र
की थी कि "परिव्रज्या ग्रहण करूँगा", उसी प्रकार किया अर्थात् सब कुछ त्याग दिया यानी संन्या
हो गये। संन्यास में पर्यवसित होने वाली इस ब्रह्मविद्या का प्रकरण सम्पन्न हुआ। संन्यासपूर्व
बोध की अवधि तक ही उपदेश है, संन्यासपूर्वक ज्ञान करना ही वेद की आज्ञा है, संन्याससहित वि
ही परम निष्ठा है, उक्त बोध में ही पुरुषार्थ कर्तव्यता का पर्यवसान है।

---

१. ससंन्यासं निर्विशेषात्मज्ञानमेव। २. ससंन्यासबोधावधिः। ३. ससंन्यासज्ञानम्। ४. ससं
विद्या। ५. उक्तो बोधः। ६. मिथो विरुद्धानि। ७. यथोक्तविद्योपदेशसमाप्तावपि। ८.
उ. ३. ५. १ इति कहोलब्राह्मणे। ९. संन्यासादेः। १०. असंकीर्णबोधः।

खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ॥१५॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्यायस्य
पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

। अरी मैत्रेयि ! बस, तू निश्चय जान ! इतना ही अमृतत्व है। ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य संन्यासी
ये ॥१५॥

॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

न्ते "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्" "यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत" "कुर्वन्नेवेह
णि जिजीविषेच्छतं समाः" "एतद्वै [1]जरामयं सत्रं यदग्निहोत्रम्" इत्यादीन्यैकाश्रम्य-
कान्यन्यानि चाऽऽश्रमान्तरप्रतिपादकानि वाक्यानि "[2]विदित्वा व्युत्थाय [3]प्रव्रजन्ति"
ह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्" "यदि [5]वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव
जेद्गृहाद्वा वनाद्वा" इति "द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः क्रियापथश्चैव

र्थविवेकः स्यादित्युपसंहारार्थो हिशब्दः। वाक्यानामाकुलत्वमेव दर्शयति—यावदिति। यद्वाग्न-
मित्यादीनीत्यादिशब्दादैकाश्रम्यं [6]त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्येति स्मृतिवाक्यं गृह्यते।
मेतावता' वाक्यानि व्याकुलानीत्याशङ्क्याऽऽह—अन्यानि चेति। विदित्वा व्युत्थाय भिक्षाचर्यं
न्तीति वाक्यं पाठक्रमेण विद्वत्संन्यासपरमर्थक्रमेण तु विविदिषासंन्यासपरमात्मानमेव लोक-
न्तः' प्रव्रजन्तीति तु विविदिषासंन्यासपरमेवेति विभागः। क्रमसंन्यासपरां श्रुतिमुदाहरति
ह्मचर्यमिति। अक्रमसंन्यासविषयं वाक्यं पठति—यदि वेति। कर्मसंन्यासयोः सन्यासस्याऽऽधिक्य-
नपरां श्रुतिं दर्शयति—द्वावेवेति। अनुनिष्क्रान्ततरौ शास्त्रे क्रमेणाभ्युदयनिःश्रेयसोपायत्वेन पुनः

(संन्यासपूर्वक आत्मज्ञान ही अमृतत्व का साधन है) अब (संन्यासविषयक) शास्त्र के अर्थ
विवेक समझने के लिये विचार किया जाता है क्योंकि (शास्त्रों में) परस्पर विरुद्ध वाक्य देखे
हैं। "जब तक जीए, अग्निहोत्र करे", "जीवनपर्यन्त दर्श और पूर्णमास याग करे", "यहाँ
करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे", "यह अग्निहोत्र जरा-मरण पर्यन्त अनुष्ठेय
इत्यादि शास्त्रवाक्य एकाश्रमी यानी जीवनभर गृहस्थाश्रमी रहने को बतलाते हैं। अन्य शास्त्र-
आश्रमान्तर अर्थात् संन्यासाश्रम का विधान करने वाले भी हैं। जैसे "उसे जानकर एषणात्रय
ऊपर उठकर संन्यास ग्रहण करे", "यदि वैराग्य प्रबल हो तो ब्रह्मचर्याश्रम से सीधे ही संन्यास
करे अथवा गृहस्थाश्रम से या वानप्रस्थ से संन्यास ग्रहण करे", "शास्त्र दो ही मार्गों को
प्रकार प्रतिपादन करता है—कर्ममार्ग और संन्यासमार्ग; उनमें संन्यासमार्ग को ही उत्कृष्ट कहा

---

१. जरामयं—जरामरणपर्यन्तमनुष्ठेयम्। सत्रं—यज्ञः। २. बृ. उ. ३. ५. १। ३. बृ. उ. ४ ४. २२।
४. जाबाले चतुर्थखण्डे। ५. सति वैराग्ये संन्यासे विशेषमाह—यदि वेति। ६. गौतमस्मृति-
तृतीयाध्यायावसाने। ७. ऐकाश्रम्यवाक्यप्रदर्शनमात्रेण। ८. बृ. उ. ४. ४. २२। ९. उत्कर्ष-
प्रदर्शनपराम्।

पुरस्तात्संन्यासश्च तयोः संन्यास एवा[1]तिरेचयति” इति “न कर्मणा न प्रजया त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः” इत्यादीनि। तथा स्मृतयश्च “ब्रह्मचर्यवान्प्रव्रजति” शीर्णब्रह्मचर्यो यमिच्छेत्तमावसेत्” “[2]तस्याऽऽश्रमविकल्पमेके ब्रुवते” तथा—

“वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण पुत्रपौत्रानिच्छेत्पावनार्थं पितॄणाम्।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत्”।
“[3]प्राजापत्यां निरुप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात्” इत्याद्याः॥

एवं व्युत्थानविकल्पक्रमयथेष्टाश्रमप्रतिपत्तिप्रतिपादकानि हि श्रुतिस्मृतिवाक्य शतश उपलभ्यन्तइतरेतरविरुद्धानि। आचारश्च तद्विदाम्। विप्रतिपत्तिश्च शास्त्र

पुनरुक्तावित्यर्थः। ज्ञानद्वारा संन्यासस्य मोक्षोपायत्वे श्रुत्यन्तरमाह—न कर्मणेति। “[4]तानि वा न्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्’ इत्यादिवाक्यमादिशब्दार्थः। यथा श्रुतयस्तथा स्मृ ऽव्याकुला दृश्यन्त इत्याह—तथेति। तत्राक्रमसंन्यासे स्मृतिमादावुदाहरति—ब्रह्मचर्यवानिति। ष्टाश्रमप्रतिपत्तौ प्रमाणभूतां स्मृतिं दर्शयति— अविशीर्णेति। आश्रमविकल्पविषयां स्मृतिं —तस्येति। ब्रह्मचारी षष्ठ्यर्थः। क्रमसंन्यासे प्रमाणमाह—तथेति। तत्रैव वाक्यान्तरं पठति—प्रा पत्यामिति। सर्ववेदसं सर्वस्वं दक्षिणा यस्यां तां निर्वर्त्येत्यर्थः। आदिपदेन '[5]मुण्डा '[6]निस्तन्तवश्चेत्या वाक्यं गृह्यते। इत्याद्याः स्मृतयश्चेति पूर्वेण संबन्धः।

व्याकुलानि वाक्यानि दर्शितान्युपसंहरति—एवमिति। इतश्च कर्तव्यो विचार इत्याह—आचा श्चेति। श्रुतिस्मृतिविदामाचारश्च विरुद्धो लक्ष्यते। केचिद्ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजन्ति। अपरे तु तत समाप्य गार्हस्थ्यमेवाऽऽचरन्ति। अन्ये तु चतुरोऽप्याश्रमान्क्रमेणाऽऽश्रयन्ते तथाच विना वि निर्णयासिद्धिरित्यर्थः। इतश्चास्ति विचारस्य कार्यतेत्याह—विप्रतिपत्तिश्चेति। यद्यपि बहु

जाता है”, “कर्म, प्रजा या धन से अमृतत्वप्राप्ति की है, केवल त्याग से ही की है”। इसी प्र स्मृतियाँ भी कहती हैं—“ब्रह्मचर्य से युक्त संन्यासी होता है”, “अक्षीणवीर्य ब्रह्मचारी जहाँ चाहे आश्रम में रहे”, “कोई-कोई उसके लिए आश्रम का विकल्प कहा करते हैं” तथा “ब्रह्मचर्य व्र वेदों का अध्ययन कर, पितृगण को पवित्र करने के लिए फिर पुत्र पौत्रों की इच्छा करे और वि पूर्वक अग्नि का आधान कर यज्ञानुष्ठान कर वानप्रस्थी होकर फिर संन्यासी होने की इच्छा क “सर्वस्व दक्षिणा में दिए जाने वाले प्राजापत्य यज्ञ को करके अग्नियों को आत्मा में आरोपण क ब्रह्मवेत्ता को गृहस्थाश्रम छोड़ कर संन्यासी हो जाना चाहिये” इत्यादि।

इस प्रकार संन्यास के विकल्प, क्रम और यथेष्ट आश्रमों को ग्रहण करने का प्रतिपादन क वाले परस्पर विरुद्ध सैंकड़ों श्रुति-स्मृति वाक्य उपलब्ध होते हैं। उनके जानने वालों के आचार

---

१. उत्कृष्यते। २. गौ. स्मृ. तृ. अ. ३ाक्रमे। ३. प्राजापत्यामिति—यजुर्वेदीयोपाख्यान सर्वस्वदक्षिणां प्रजापतिदेवताकां तदुक्तविधिनैव श्रौतानग्नीन् भस्मपानादिनाऽऽत्मनि समारोप्य गृहा भिधानाद्वानप्रस्थं श्रममनुष्ठायैव चतुर्थाश्रममनुतिष्ठेदित्यर्थः। ४. तानि वेति—चान्द्रायणादीनीत्यर्थः। ना यणोपनिषदि ७-८ खण्डे। अवराणि निकृष्टानि। ५. निःशिखाः। ६. निःसूत्राश्च।

तिपतॄणां बहुविदामपि । अतो न शक्यते शास्त्रार्थो मन्दबुद्धिभिर्विवेकेन प्रतिपत्तुम् । रिनिष्ठितशास्त्रन्यायबुद्धिभिरेव ह्येषां वाक्यानां विषयविभागः शक्यतेऽवधारयितुम् । स्मादेषां विषयविभागज्ञापनाय यथाबुद्धिसामर्थ्यं विचारयिष्यामः । यावज्जीवश्रुत्यादि-वाक्यानामन्यार्थासंभवा[3]त्क्रियावसान एव वेदार्थः । तं यज्ञपात्रैर्दहन्तीत्यन्त्यकर्मश्रवणा-ज्जरामर्यंश्रवणाच्च लिङ्गाच्च भस्मान्तं शरीरमिति । न हि पारिव्राज्यपक्षे भस्मान्तता शरीरस्य स्यात् । स्मृतेश्च—

"निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रै[4]र्यस्योदितो [5]विधिः ।
तस्य [6]शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्" इति ॥

स्त्रार्थंप्रतिपत्तारो जैमिनिप्रभृतयस्तथाऽपि तेषां विप्रतिपत्तिरुपलभ्यते केचिदूर्ध्वरेतस आश्रमाः सन्ती-त्याहुर्न सन्तीत्यपरे तत्कुतो विचाराहृते निश्चयसिद्धिरित्यर्थः । अथ केषांचिदन्तरेणापि विचारं शास्त्रार्थो विवेकेन प्रतिभास्यति तत्राऽऽह—अत इति । श्रुतिस्मृत्याचारविप्रतिपत्तेरिति यावत् । कैस्तर्हि शास्त्रार्थो विवेकेन ज्ञातुं शक्यते तत्राऽऽह—परिनिष्ठितेति । नानाश्रुतिदर्शनादिवशादुपपादितं विचारारम्भमुप-संहरति–तस्मादिति । विचारकर्तव्यतामुक्त्वा पूर्वपक्षं गृह्णाति—यावदित्यादिना । श्रुत्यादीत्यादि-शब्देन कुर्वन्नित्यादिमन्त्रवादो गृह्यते ऐकाश्रम्ये हेत्वन्तरमाह—तमिति । एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्नि-होत्रमिति श्रुतेश्च पारिव्राज्यासिद्धिरित्याह—जरेति । [7]तत्रैव हेत्वन्तरमाह—लिङ्गाच्चेति । पारिव्राज्य-पक्षेऽपि तदुपपत्तिमाशङ्क्याऽऽह—न हीति । इतश्च नास्ति पारिव्राज्यमित्याह—स्मृतेश्चेति । तस्या-

---

भिन्न-भिन्न हैं । उन शास्त्र के तात्पर्य जानने वालों के बहुज्ञ होने पर भी उनमें परस्पर मतभेद हैं । इसलिए मन्दबुद्धि पुरुषों के द्वारा शास्त्र के तात्पर्य की ठीक प्रकार समझना संभव नहीं है । जिनकी बुद्धि शास्त्र और तर्क में निष्णात है, वही इन परस्पर विरुद्ध श्रुति-स्मृति वाक्यों का विषयविभाग-पूर्वक निर्णय कर सकते हैं । इसलिये इनके विषय को बतलाने के लिये हम अपनी बुद्धि-सामर्थ्य के अनुसार विचार करेंगे । (इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) "जीवनपर्यन्त अग्निहोत्रादि कर्म करे" इत्यादि श्रुतिवाक्यों का कोई दूसरा अर्थ न हो सकने से वेद का तात्पर्यार्थ कर्म में ही पर्यवसित होता है । "उस अग्निहोत्री को यज्ञपात्रों सहित दाहसंस्कार करते हैं", इस प्रकार अग्निहोत्री का अन्त्यकर्म श्रवण होने से "जरामरणपर्यन्त अग्निहोत्र का अनुष्ठान करना चाहिये" इस प्रकार श्रवण होने से शरीरभस्मान्त है इस प्रकार ज्ञापक लिङ्ग होने से भी यही बात ज्ञात होती है । संन्यास पक्ष में तो शरीर की भस्मान्तता स्वीकार ही नहीं की जाती । स्मृति में इसी का समर्थन किया गया है—

"गर्भाधान से अन्त्येष्टि क्रिया पर्यन्त जिसके सभी (अड़तालीस) संस्कारों का विधान मन्त्रों द्वारा बतलाया गया है, इसी का इस वेद में अधिकार जानना चाहिए; अन्य किसी का नहीं" इत्यादि ।

---

१. निष्णातः । २. तस्मात्– विचारं विना यथोक्तवाक्यानां विषयविभागस्यावधारयितुमशक्यत्वादित्यर्थः । ३. क्रियावसान एव—क्रियानतिरिक्त एव क्रियानुष्ठानमेवेति यावत् । न तु तत्त्याग इत्येवकारार्थः । यद्वा क्रियायां क्रिययैव वाऽवसानं यस्येति व्युत्पत्त्या गार्हस्थ्यमेवेत्यर्थः । ४. पुंसः । ५. विधिः—विधीयत इति व्युत्पत्त्या अष्टाचत्वारिंशत् संस्काराः । ससंस्कारं कर्मेति यावत् । ६. वेदे । ७. पारिव्राज्ये अग्नि-होत्रम् ।

समन्त्रकं हि [1]यत्कर्म वेदेनेह[2] विधीयते [3]तस्य श्मशानान्ततां दर्शयति स्मृति [4]अधिकाराभावप्रदर्शनाच्चात्यन्तमेव श्रुत्यधिकाराभावोऽकर्मिणो गम्यते । [5]अग्न्युद्वासना वादाच्च "[6]वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते" इति ।

ननु व्युत्थानादिविधानाद्वैकल्पिकं क्रियावसानत्वं वेदार्थस्य । न, अन्यार्थत्वा व्युत्थानादिश्रुतीनाम् । "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" "यावज्जीवं दर्शपूर्णमासा यजेत्" इत्येवमादीनां श्रुतीनां जीवनमात्रनिमित्तत्वाद्यदा न शक्यतेऽन्यार्थता कल्पयि तदा व्युत्थानादिवाक्यानां कर्मानधिकृतविषयत्वसंभवात् । "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजी विषेच्छतं समाः" इति मन्त्रवर्णात्तथैतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रं जरया वा [8]ह्येवास्म

स्तात्पर्यमाह—समन्त्रकं हीति । नान्यस्य कस्यचिदित्यत्र सूचितमर्थं कथयति—अधिकारेति । गृहस्थ पारिव्राज्याभावे हेत्वन्तरमाह—अग्नीति ।

पूर्वपक्षमाक्षिपति—नन्विति । उभयविधिदर्शने षोडशिग्रहणाग्रहणवदधिकारिभेदेन विक युक्तो न तु क्रियावसान एव वेदार्थ इति पक्षपाते निबन्धनमस्तीत्यर्थः । तुल्यविधिद्वयदर्शने हि विक भवत्यत्र तु सावकाशानवकाशत्वेनातुल्यत्वान्नैवमित्याह—नान्यार्थत्वादिति । तदेव स्फुटयति- याव ज्जीवमित्यादिना । कर्मानधिकृतविषयत्वान्न वैकल्पिकमिति[7] संबन्धः । क्रियावसानत्वं वेदार्थस्ये शेषः । [9]तत्रैव हेत्वन्तराण्याह—कुर्वन्नित्यादिना । न वैकल्पिकमित्यत्र [11]पूर्ववदन्वयः । व्युत्थानादि

यहाँ वेद ने जिसके लिये मन्त्रसहित कर्म का विधान किया है, उस अधिकारी का कर्म श्मशान पर्यन्त होता है—ऐसा श्रुति बतला रही है । अधिकार का अभाव प्रदर्शित करने से अकर्मी का श्रुति में अधिकार नहीं है—ऐसा जाना जाता है । "जो अग्नि का उच्छेद करता है, वह देवताओं के द्वारा हनन किया जाता है, इस प्रकार अग्नि-परित्याग के निषेध करने पर भी यही सिद्ध होता है ।

(सिद्धान्ती कहता है—) किन्तु हमारे मत में तो संन्यासादि का विधान वैकल्पिक होने के कारण वेदार्थ का क्रिया में पर्यवसान होना वैकल्पिक है । (इस पर पूर्ववादी कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि संन्यासादि श्रुतियों का तात्पर्य कर्माधिकार-विषयत्व नहीं है । क्योंकि "जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र कर्म करे", "जीवनपर्यन्त दर्श और पूर्णमास से याग करे" इत्यादि श्रुतियाँ जीवन मात्र कर्मनिमित्तक होने से, जब अन्यार्थता की कल्पना ही नहीं की जा सकती, तब संन्यासादि वाक्यों का कर्म के अनधिकारियों के विषय में विकल्प संभव है । "यहाँ कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे" इस श्रुति से तथा "यह अग्निहोत्र सत्र जरा-मरणपर्यन्त अनुष्ठेय है; इस कर्म

---

१. यद्वा—यस्य कर्म यत्कर्मेति समस्तं तथा च तस्येत्यस्य कर्मिण इत्यर्थः । इहशब्दशून्यश्च पाठो ग्राह्यः । २. इह—अधिकारिणि । ३. तस्य कर्मण इत्याहुः । ४. अधिकाराभावेत्यादि—कर्महीनस्य श्रुत्यधिकारा भावेन श्रौतज्ञानेऽधिकाराभावाद्दूरनिरस्तं कर्मत्यजो ज्ञानार्थं पारिव्राज्यमिति भावः । ५. अग्निपरित्याग निषेधात् । ६. इन्द्रहन्ता स हि देवानां मध्ये वीरः । ७. कर्मानधिकृतविषयत्वादिति यावत् । ८. कर्मणः सकाशात् । ९. उत्तरत्र । १०. अवैकल्पिकत्व एव । ११. पूर्ववदन्वय इति—क्रियावसानत्वं वेदार्थस्येति शेषेणान्वय इत्यर्थः ।

मुच्यते मृत्युना वेति च जरामृत्युभ्यामन्यत्र कर्मवियोग[1]च्छिद्रासंभवात्कर्मिणां [2]श्मशानान्तत्वं न वैकल्पिकम् । काणकुब्जादयोऽपि कर्मण्यनधिकृता अनुग्राह्या एव श्रुत्येति[3] न्यासाद्याश्रमान्तरविधानं नानुपपन्नम् ।

पारिव्राज्यक्रमविधानस्यानवकाशत्वमिति चेत् । न । विश्वजित्सर्वमेधयोर्यावज्जीवविध्यपवादत्वात् । यावज्जीवाग्निहोत्रादिविधेर्विश्वजित्सर्व[4]मेधयोरेवापवादस्तत्र[5] क्रमप्रतिपत्तिसंभवो ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेदिति । विरोधानुपपत्तेः । न ह्ये[7]वंविषयत्वे पारिव्राज्यक्रमविधानवाक्यस्य कश्चिद्विरोधः क्रमप्रतिपत्तेः । न्यविषयत्वपरिकल्पनायां तु यावज्जीवविधानश्रुतिः स्वविषयात्संकोचिता स्यात् ।

वयानां कथमनधिकृतविषयत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—काणेति ।

अनधिकृतविषयत्वं तेषामशक्यं वक्तुं ब्रह्मचर्यं समाप्येत्यादावधिकृतविषये क्रमदर्शनादिति क्ते—पारिव्राज्येति । गत्यन्तरं दर्शयन्नुत्तरमाह—न विश्वजिदिति । यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोतीत्युक्तसंगस्तस्या[6]पवादो विश्वजित्सर्वमेधौ तदनुष्ठाने सर्वस्वदानादेव साधनसंपद्विरहात्पारिव्राज्यस्यावश्यंभावित्वाद्[7]तस्तद्विषयं क्रमविधानमित्यर्थः । तदेव स्फुटयति—यावज्जीवेति । कथं क्रमविधे[8]रेवंविषयत्वं कल्पकाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—विरोधानुपपत्तेरिति । गृहस्थस्यापि विरक्तस्य पारिव्राज्यमिति किमिति क्रमविषयो नेष्यते तत्राऽऽह—अन्यविषयेति । क्रमविधेरपि त्वत्पक्षे [9]संकोचः स्यादि-

---

ने जरा से मुक्त हो जाता है, मरण से मुक्त हो जाता है'' इस प्रकार जरा और मरण के सिवा अन्यत्र र्म का वियोग और अवसर संभव नहीं होने से कर्मियों के जीवनपर्यन्त होना वैकल्पिक नहीं है। र्म के लिए अनधिकृत अन्धे और कूबड़े लोगों पर अनुग्रह करने के लिए श्रुति तद्विषयत्व रूप से संन्यासादि आश्रमान्तर का विधान करती है; यह कहना असंगत नहीं है।

(इस पर सिद्धान्ती कहता है—) इससे तो संन्यास तक के आश्रमों के क्रमविधान का भी अवकाश नहीं होगा। (इस पर पूर्ववादी कहता है—) ऐसी बात भी नहीं है क्योंकि विश्वजित् और सर्वमेध यज्ञों में 'जीवनपर्यन्त अनुष्ठान करने का' अपवाद है। जीवनपर्यन्त अग्निहोत्रानुष्ठान की जो विधि है, उसका सर्वमेध और विश्वजित् याग के अनुष्ठाता में ही अपवाद है इसलिए वहाँ "ब्रह्मचर्यव्रत पूर्ण कर गृहस्थ धर्म स्वीकार करे, उसके बाद वानप्रस्थी होकर संन्यास ग्रहण कर ले" आश्रमों की क्रमशः प्राप्ति संभव है। इस प्रकार उन वाक्यों में कोई विरोध सिद्ध नहीं हो सकता। संन्यास क्रमविधानवाक्य का ऐसा विषय स्वीकार करने पर क्रमशः आश्रम प्राप्ति में कोई विरोध नहीं आता।

---

१. अवसरासंभवात् । २. श्मशानान्तत्वमिति—इतीति शेष इति हेतोरित्यर्थः । न वैकल्पिकमित्यत्र हेतुर-
पम् । एतद्द्वारा छिद्रासंभवोऽपि पूर्वोक्तस्तत्र हेतुः तद्द्वारा च पूर्वोक्तवाक्यद्वयात्मकं हेतुद्वयमपि तत्रैवेत्येवं
मति तत्रैव हेत्वन्तराण्याहेति बहुवचनमवतरणं संगच्छते क्वचित्त्वेकवचनघटितमेवावतरणमवलोक्यते । तत्र
त्वार्जवमेवेति विभजनीयम् । ३. तद्विषयत्वेन । ४. विषये । ५. विश्वजिदाद्यनुष्ठातरि । ६. अपवादो
विश्वजित्सर्वमेधाविति —अत्रैकत्वमपवादत्वान्वयि तथा चैकापवादत्ववन्तौ विश्वजित्सर्वमेधाविति बोधः ।
७. विश्वजित्सर्वमेधानुष्ठातृविषयम् । ८. विश्वजिदनुष्ठातृविषयत्वम् । ९. विश्वजिदादिकर्तृमात्रविषयत्वेन
संकोचः ।

क्रमप्रतिपत्तेस्तु विश्वजित्सर्वमेध[1]विषयत्वान्न कश्चिद्विरोधः। नाऽऽत्मज्ञानस्यामृतत्व हेतुत्वाभ्युपगमात्।

यत्तावदा[2]त्मेत्येवोपासीतेत्यारभ्य [3]स एष नेति नेत्येतदन्तेन ग्रन्थेन यदुपसंहृ मात्मज्ञानं तदमृतत्वसाधनमित्यभ्युपगतं भवता। [4]तत्रैतावदेवामृतत्वसाधन[5]मन्यनिरपेक्ष मित्येतन्न मृष्यते। तत्र भवन्तं पृच्छामि किमर्थमात्मज्ञानं मर्षयति भवानिति। शृणु त कारणं यथा स्वर्गकामस्य स्वर्गप्राप्त्युपायमजानतोऽग्निहोत्रादि स्वर्गप्राप्तिसाधनं ज्ञापय

त्याशङ्क्याऽऽह—क्रमप्रतिपत्तेस्त्विति। सति ज्ञाने कर्मत्यागो निषिध्यते सत्यां वा जिज्ञासायामि विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति सिद्धान्ती—नाऽऽत्मज्ञानस्येति।

विद्वत्संन्यासस्यावश्यंभावित्वान्न कर्मावसान एव वेदार्थ इति संगृहीतं वस्तु विवृणोति—यत्ता वदिति। विद्यासूत्रादारभ्य निषेधवाक्यान्तेन ग्रन्थेन यदात्मज्ञानमुपसंहृतं तत्तावन्मुक्तिसाधनमि भवताऽपि यस्मादभ्युपगतं 'पराङ्गं' चाऽऽत्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधारणादिति न्यायात्तस्माज्ज्ञाने स कर्मानुष्ठानं निरवकाशमित्यर्थः। अथाऽऽत्मज्ञानं कर्मसहितममृतत्वसाधनमिष्यते न केवलं तथा ज्ञानोत्तरकालमपि न कर्मत्यागसिद्धिरिति शङ्कते—तत्रेति। आत्मज्ञानस्यामृतत्वसाधनत्वे सत्यपि यावत्। कर्मनिरपेक्षत्वं चेदात्मज्ञानस्य भवान्न सहते किमिति तर्हि ज्ञानमेवोपगतमिति सिद्धान्ती पृच्छति—तत्रेति। तस्य कर्मानपेक्षत्वानङ्गीकारे सतीत्यर्थः। [7]तत्र पूर्ववादी शास्त्रीयत्वादात्मज्ञान ममृतत्वसाधनमभ्युपगतमिति शङ्कते—शृण्विति। ज्ञापयति वेद इति शेषः। शास्त्रानुसारेणाऽऽत्मज्ञान

उसको अन्यविषयत्व कल्पना करने पर जीवनपर्यन्त कर्मानुष्ठान का विधान करने वाली श्रुति का स्वकर्तृत्व मात्र विषय से संकोच कर देना पड़ेगा। क्रम-प्रतिपत्ति का विषय तो विश्वजित् और सर्वमेध ही है, इसलिए उसका कोई बाध नहीं होता। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि आत्मज्ञान को अमृतत्व का हेतु स्वीकृत किया गया है।

"आत्मा की ही उपासना करे" इस श्रुति से लेकर "वह आत्मा 'नेति-नेति' इस प्रकार निर्विकल्प है" इस श्रुति पर्यन्त अमृतत्व साधन जिस आत्मज्ञान का उपसंहार किया गया है, वह आपको स्वीकृत है। (इस पर पूर्ववादी कहता है—) किन्तु वहाँ "अन्य कर्मनिरपेक्ष केवल आत्मज्ञान ही अमृतत्व का साधन है" ऐसा कथन हमें इष्ट नहीं है। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) किन्तु मैं आप से पूछता हूँ कि आप आत्मज्ञान को ही किस लिए स्वीकार कर लेते हैं। (इस पर पूर्ववादी

---

[1] तत्कर्तृमात्रविषयत्वात्—एतावानेवास्य विषयोऽभ्युपगम्यत इति भावः। [2] बृ. उ. १. ४. ७। [3] बृ. उ. ४. ५. १५। [4] केवलमात्मज्ञानम्। [5] अन्येति—कर्मेत्यर्थः। पूर्वोक्तस्यैवैतद् व्यावर्त्यमिति ध्येयम्। [6] पराङ्गमित्यादेः—"सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते" इति पूर्वार्धम्। इदं च जै. सू. १. ३. २५। इति व्याकरणाधिकरणापरपर्याये शब्दसाधुत्वाधिकरणे तन्त्रवार्तिके स्थितं तथा च सूत्रं "प्र कृत्स्नविषयत्वादि"ति। शब्दसाधुत्वज्ञानस्य संस्कारत्वं पारार्थ्यं चोपपादयितुमाह—सर्वत्रैव हीति। यस्मा त्सर्वत्रैवाज्यावेक्षणादौ वाक्ये विज्ञानमाज्यावेक्षणादिरूपं संस्कारत्वेन पराङ्गत्वेन च गम्यतेऽवगम्यते तस्माच्छब्द ज्ञानमपि तथेत्यर्थः। पुरुषार्थस्यात्मज्ञानस्य पराङ्गत्वाभावादाह—आत्मविज्ञानादन्यत्रेति। इत्यवधारणात्— संस्कारत्वपरार्थत्वनिर्णयदिति वार्तिकार्थः। [7] एवं पृष्टे सति।

हाप्यमृतत्वप्रतिपित्सोरमृतत्वप्राप्त्युपायमजानतो यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूही- माकाङ्क्षितममृतत्वसाधनमेतावदर इत्येवमादौ वेदेन ज्ञाप्यत इति। एवं तर्हि यथा तमग्निहोत्रादि स्वर्गसाधनमभ्युपगम्यते तथेहाप्यात्मज्ञावम्। यथा ज्ञाप्यते तथा- मेवामृतत्वसाधनमात्मज्ञानमभ्युपगन्तुं युक्तम्। तुल्यप्रामाण्यादुभयत्र।

यद्येवं किं स्यात्। सर्वकर्म²हेतूपमर्दकत्वादात्मज्ञानस्य विद्योद्भवे कर्मनिवृत्तिः त्। दाराग्निसंबद्धानां तावदग्निहोत्रादिकर्मणां भेदबुद्धिविषयसंप्रदानकारकसाध्यत्वम्। बुद्धिपरिच्छेद्यां ह्यग्न्यादिदेवतां संप्रदानकारकभूतामन्तरेण न हि 'तत्कर्म निर्वर्त्यते। हि संप्रदानकारकबुद्ध्या संप्रदानकारकं कर्मसाधनत्वेनोपदिश्यते सेह विद्यया निवर्त्यते

कारे कर्मनिरपेक्षमेवाऽऽत्मज्ञानं मोक्षसाधनं सेत्स्यतीति परिहरति—एवं तर्हीति। उभयत्र ज्ञाने चेत्यर्थः। यद्वा ज्ञानस्यामृतत्वसाधनत्वे तस्य कर्मनिरपेक्षत्वे चेत्यर्थः। तुल्यप्रामाण्यात्प्रामा- तुल्यत्वाद्वेदस्येति शेषः।

यथाशास्त्रं ज्ञानाभ्युपगमेऽपि कथं 'तत्केवलं' कैवल्यकारणमिति पृच्छति—यद्येवमिति। नुसारेण ज्ञानमभ्युपगच्छन्तं प्रत्याह—सर्वकर्मेति। आत्मज्ञानस्य तदुपमर्दकत्वं दर्शयितुं कर्महेतुं दर्शयति—दाराग्नीति। अग्निहोत्रादीनां संप्रदानकारकसाध्यत्वं व्यतिरेकद्वारा साधयति न्येति। 'तथाऽपि कथमात्मज्ञानस्य कर्महेतूपमर्दकत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—यया हीति। इहेति

है—) इसका कारण सुनें। जिस प्रकार स्वर्गप्राप्ति के उपाय को न जानने वाले स्वर्गकामी को श्रुति बतलाती है कि अग्निहोत्रादिकर्म स्वर्गप्राप्ति के साधन हैं, उसी प्रकार यहाँ अमृतत्व- का साधन न जानने वाले, अमृतत्वप्राप्ति के इच्छुक को श्रुति के द्वारा "अरी मैत्रेयी! इतना ही अमृतत्व का साधन है", "हे भगवान्श्री! अमृतत्व साधन के विषय में जो कुछ आप हैं, वह मेरे प्रति कहिये" इत्यादि प्रकार से आकाङ्क्षित अमृतत्व के साधन का ज्ञान कराया है। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसे मानने पर तो, जैसे श्रुति द्वारा उपदिष्ट अग्निहोत्रादि के साधन माने जाते हैं; उसी प्रकार यहाँ आत्मज्ञान को भी स्वीकार करो, जिस तरह ज्ञान जाता है, उसी प्रकार ही आत्मज्ञान को अमृतत्व का साधन मानना ठीक है क्योंकि श्रुति का दोनों तरह के वाक्यों के लिए समान है।

(पूर्ववादी कहता है—) ऐसा मानने से क्या हो जायगा। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ज्ञान सभी कर्मों के (संप्रदानादि कारकभेद) हेतुओं का निवर्तक है, इसलिए ज्ञान के उत्पन्न होने कर्म की निवृत्ति हो जायगी। भार्या और अग्नि से संबद्ध जो अग्निहोत्रादि कर्म हैं; वे भेदबुद्धि विषय एवं संप्रदान कारक द्वारा साध्य हैं। भेदबुद्धिविषयभूत एवं संप्रदानकारकभूत अग्नि आदि के विना वह अग्निहोत्रादि कर्म संपन्न नहीं हो सकता। एवं जिस सप्रदानकारक-बुद्धि से दान कारक कर्मसाधन रूप से उपदेश किया जाता है; वह इस विद्या दशा में विद्या से निवृत्त

---

१. प्रकृतेऽपि। २. संप्रदानादिकारकभेदः। ३. भेदबुद्धिविषयभूताम्। ४. अग्निहोत्रादिकर्मेति यावत्।
५. ज्ञानम्। ६. कर्मनिरपेक्षम्। ७. कर्मणः कारकसाध्यत्वेऽपि।

"[1]अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" "[2]देवास्तं [3]परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो देवान्वे
"[4]मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" "[5]एकधैवानुद्रष्टव्यं" "[6]सर्वमात्म
पश्यति" इत्यादिश्रुतिभ्यः। न च देशकालनिमित्ताद्यपेक्षत्वं [7]व्यवस्थितात्मवस्तुवि
त्वादात्मज्ञानस्य। क्रियायास्तु पुरुषतन्त्रत्वात्स्याद्देशकालनिमित्ताद्यपेक्षत्वम्। ज्ञानं
वस्तुतन्त्रत्वान्न देशकालनिमित्ताद्यपेक्षते। यथाऽग्निरुष्ण आकाशोऽमूर्त इति तथाऽऽ
विज्ञानमपि।

नन्वेवं सति प्रमाणभूतस्य कर्मविधे[8]र्निरोधः स्यात्। न च तुल्यप्रमाणयोरितरेत

विद्यादशोक्तिः। विद्यायाः श्रुतिजन्यत्वेन बलवत्त्वं दर्शयति—अन्योऽसावित्यादिना। ननु शुचौ
दिवसादौ काले शास्त्राचार्यविवशादुत्पन्नं ज्ञानं पुमर्थसाधनम् 'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य' इत्यादि
[9]तथा च [10]कथं तस्य भेदबुद्ध्युपमर्दकत्वमत आह— न चेति। [11]यत्रैकाग्रता तत्राविशेषादिति न्याया
साधनस्य समाधेरपि न देशाद्यपेक्षा दूरतस्तु कूटस्थवस्तुतन्त्रस्य ज्ञानस्येति भावः। [12]विमतं दे
पेक्षं शास्त्रार्थत्वाद्धर्मवदित्याशङ्क्य पुरुषतन्त्रत्वमुपाधिरित्याह—क्रियायास्त्विति। [13]साधनव्याप्ति
यति—ज्ञानं त्विति। विमतं न देशाद्यपेक्षं प्रमाणत्वादुष्णाग्निज्ञानवदिति [14]प्रत्यनुमानमाह—यथे

आत्मज्ञानस्य सर्वकर्महेतूपमर्दकत्वे दोषमाशङ्कते—नन्विति। इष्टापत्तिमाशङ्क्याऽऽह—
चेति। कर्मकाण्डेन [15]काण्डान्तरस्यापि निरोधसंभवादित्यर्थः। साक्षादात्मज्ञानं कर्मविधिनिरो

हो जाता है, "जो ऐसा मानता है—'वह अन्य है, मैं अन्य हूँ' वह नहीं जानता" "उस अयथार्थ
को देवता 'यह मुझे अनात्मस्वरूप से देखता है' इस अपराध से कैवल्य पद से असंबद्ध कर देते हैं
"जो यहाँ मिथ्याभूत नानावस्तु सत्यात्मक भाव से देखता है, वह मरण से मरण को प्राप्त होता है
उस आत्मा को एक ही विज्ञानघन, एकरस प्रकार से देखना चाहिये", "आत्मा से व्यतिरिक्त वा
मात्र भी नहीं है, इसलिए सब कुछ आत्मा ही देखता है" इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण है। आत्म
का विषय इतरनिरपेक्ष, कूटस्थ, आत्म वस्तु है, इसलिये उसे देश, काल और निमित्तादि की अ
नहीं है। क्रिया के पुरुषाधीन होने के कारण उसकी देश, काल व निमित्तादि की अपेक्षा है, कि
ज्ञान के वस्तुतन्त्र होने से देश, काल और निमित्त आदि की अपेक्षा नहीं रखता। जिस प्रकार "अ
उष्ण है और आकाश अमूर्त है" इसके ज्ञान को देश-कालादि की अपेक्षा नहीं है, उसी प्रकार आत्म
भी निरपेक्ष है।

(इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) किन्तु ऐसा होने पर तो प्रमाणभूत कर्मविधि का
हो जायगा। श्रुति समर्थित समान प्रमाणों में से एक दूसरे का बाध करना उचित नहीं है। (इस

---

१. बृ. उ. १. ४. १०। २. बृ. उ. २. ४. ६। ३. बृ. उ. ४. ५. ७। ४. बृ. उ. ४. ४. १
५. बृ. उ. ४. ४. २०। ६. बृ. उ. ४. ४. २३। ७. इतरनिरपेक्षकूटस्थात्मवस्तुविषयत्वादिति।
बाधः। ९. तथा च—ज्ञानस्य देशादिभेदसापेक्षत्वे च। १०. कथमित्यादि—उपजीव्यविरोधा
भावः। ११. यत्रैकाग्रतेत्यादि–ब्र. सू ४. १. ११। यत्र दिशि देशे काले वा चित्तस्यैकाग्रता प्रत्ययप्रवाह
न्मुख्यं तत्रैवोपासीत दिगादिविशेषाश्रवणात्। यद्वा—उपासने (तदर्थं) दृष्टाया एकाग्रतायाः सर्वत्राविशे
दित्यर्थः। १२. आत्मज्ञानम्। १३. उपाधेः साधनव्यापकत्वम्। १४. सत्प्रतिपक्षताम्। १५. अ
काण्डस्य।

युक्तः । न । स्वाभाविकभेदबुद्धिमात्रनिरोधकत्वात् । न हि विध्यन्तरनिरोध-
त्मज्ञानं स्वाभाविकभेदबुद्धिमात्रं निरुणद्धि । [2]तथाऽपि [3]हेत्वपहारात्कर्मानुपपत्ते-
धिनिरोध एव स्यादिति चेत् । न । कामप्रतिषेधात्काम्यप्रवृत्तिनिरोधवददोषात् । यथा
र्गकामो यजेतेति[4] स्वर्गसाधने यागे प्रवृत्तस्य कामप्रतिषेधविधेः कामे विहते काम्ययागा-
नप्रवृत्तिर्निरुध्यते । न चैतावता काम्यविधिर्निरुद्धो भवति ।

कामप्रतिषेधविधिना [5]काम्यविधेरनर्थकत्वज्ञानात्प्रवृत्त्यनुपपत्तेर्निरुद्ध एव स्यादिति
। भवत्वेवं कर्मविधिनिरोधोऽपि । यथा कामप्रतिषेधे काम्यविधेरेवम् । अननुष्ठेयत्वे-

विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—नेत्यादिना । तदेव स्फुटयति—न हि विध्यन्तरेति । द्वितीयं
ते—तथाऽपीति । यथा न कामी स्यादिति निषेधात्कस्यचित्कामप्रवृत्तिर्न भवतीत्येतावता न
प्रति काम्यविधिर्निरुध्यते तथा कस्यचिदात्मज्ञानात्कर्मविधिनिरोधेऽपि न सर्वान्प्रत्यसौ निरुद्धो
ष्यतीति परिहरति—न कामेति । दृष्टान्तमेव स्पष्टयति—यथेत्यादिना । प्रतिषेधशास्त्रार्थानभिज्ञं
[6]तदुपपत्तेरिति भावः ।
अभिप्रायमविद्वानाशङ्कते—कामप्रतिषेधविधिनेति । [7]अनर्थकत्वज्ञानात्कामस्येति शेषः । प्रवृ-
नुपपत्तेः काम्येषु कर्मस्विति द्रष्टव्यम् । निरुद्धः स्यात्काम्यविधिरित्यध्याहर्तव्यम् । गूढाभिसंधिः
द्धान्तो ब्रूते—भवत्विति । पुनरभिप्रायमप्रतिपद्यमानश्चोदयति—एवमिति । ज्ञानेन कर्मविधिनिरोधे
तीति यावत् । [8]तत्प्रामाण्यानुपपत्तिरिति शेषः । तदेव चोद्यं विशदयति—अननुष्ठेयत्व इति । तेषा-
नुष्ठेयानामग्निहोत्रादीनां कर्मणां ये [9]विधयस्तेषामिति यावत् । सिद्धान्ती स्वाभिसंधिमुद्घाटय-

द्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि आत्मज्ञान आविद्यक भेदबुद्धि मात्र का बाध
ता है। वह अन्य विधि का बाध नहीं करता, वह केवल आविद्यक द्वैतबुद्धि का बाध करता है।
स पर पूर्ववादी कहता है—) ऐसे (साक्षात् विध्यन्तर के अबाधक) होने पर भी तो (फलेच्छा
या कारकादिभेदबुद्धि) हेतु की निबृत्ति से कर्मों का होना संभव न होने के कारण विधि का
हुआ। (इस पर सिद्धान्ती कहता है —) नहीं, काम प्रतिषेध से काम्य प्रवृत्ति के बाध के समान
में भी कोई दोष नहीं है। जिस प्रकार "स्वर्गकामी याग करे" इस श्रुतिवाक्य से जो पुरुष स्वर्ग-
के साधनरूप यज्ञ में प्रवृत्त है, उसकी कामना का कामप्रतिषेध विधि से बाध हो जाने पर
म्यकर्म यागानुष्ठान में प्रवृत्ति अवरुद्ध हो जाती है। किन्तु इतने ही से तो काम्यकर्मों के विधान
बाध नहीं हो जाता ।

(इस पर पूर्ववादी कहता है—) कामप्रतिषेधविधि द्वारा काम्यकर्मविधान से अनर्थकता का ज्ञान
जाने से प्रवृत्ति का होना संभव न होने से उसका बाध हो जायगा। (इस पर सिद्धान्ती कहता है —)
प्रकार कमविधि का बाध भले ही हो जाय। (इस पर पूर्ववादो कहता है—) जिस प्रकार कामना
प्रतिषेध होने पर काम्य विधि का निषेध हो जाता है; उसी प्रकार ज्ञान द्वारा कर्मविधि का

---

१. आविद्यकभेदेति यावत् । २. साक्षाद्विध्यन्तराबाधकत्वेऽपि । ३. फलेच्छाक्रियाकारकादिभेदधीश्च हेतुः । ४. वाक्येन । ५. पञ्चमीयम् । ६. काम्यविध्युपपत्तेः । ७. अनर्थजनकत्वज्ञानाद् । ८. कर्मविधेः । ९. अनुष्ठानविषयः ।

ऽनुष्ठातुरभावात्तदनुष्ठानविध्यानर्थक्यादप्रामाण्यमेव कर्मविधीनामिति चेत् । न, प्रागा ज्ञानात्प्रवृत्त्युपपत्तेः । [1]स्वाभाविकस्य क्रियाकारकफलभेदविज्ञानस्य प्रागात्मज्ञाना हेतुत्वमुपपद्यत एव । यथा [2]कामविषये दोषविज्ञानोत्पत्तेः प्राक्काम्यकर्मप्रवृत्तिहेतु स्यादेव स्वर्गादीच्छायाः स्वाभाविक्यास्तद्वत् ।

तथा [3]सत्यनर्थार्थो वेद इति चेत् । न । अर्थानर्थयोरभिप्रायतन्त्रत्वात् । मो मेकं वर्जयित्वाऽन्यस्याविद्याविषयत्वात् । पुरुषाभिप्रायतन्त्रौ ह्यर्थानर्थौ । मरणादिका ष्टिदर्शनात् । [4]तस्माद्यावदात्मज्ञानविधेरा[5]भिमुख्यं तावदेव कर्मविधयः । [6]तस्मान्नाऽऽत्म ज्ञानसहभावित्वं [7]कर्मणामित्यतः सिद्धमात्मज्ञानमेवामृतत्वसाधनमेतावदरे खल्वमृ

न्नुत्तरमाह—नेत्यादिना । उपपत्तिमेवोपदर्शयति—स्वाभाविकस्येति । [8]तदेव दृष्टान्तेन स्पष्ट —यथेति ।

अज्ञानावस्थायामेव कर्मविधिप्रवृत्तिरित्यत्रानिष्टमाशङ्कते—तथा सतीति । कर्मविधे पुरुषाभिप्रायवशात्पुरुषार्थोपयोगित्वसिद्धेर्नानिष्टापत्तिरित्युत्तरमाह—नार्थेति । अर्थस्य पुरुषाभिप्रा तन्त्रत्वे मोक्षस्यापि वास्तवं पुरुषार्थत्वं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—मोक्षमिति । अर्थानर्थयोरभिप्रा तन्त्रत्वं साधयति—पुरुषेति । मरणं महाप्रस्थानमित्यादि काम्यं [9]कृत्वा जीवदवस्थायामेव महाभारत दाविष्टिविधानं दृष्टमतोऽर्थानर्थावभिप्रायतन्त्रकावेवेत्यर्थः । कर्मविधीनामात्मज्ञानात्प्राचीनत्व प्रतिपादितमुपसंहरति—तस्मादिति । [10]तथाऽपि प्रकृते किमायातं तदाह—तस्मान्नेति । तत्र प्रमाण

बाध होने पर निषेध हो जाता है । कर्मों के अननुष्ठेय सिद्ध होने पर अनुष्ठाता का अभाव हो जाने उस अनुष्ठानविधि का आनर्थक्य होने से कर्मविधि अप्रामाण्य ही होगी । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) यह कहना उचित नहीं क्योंकि आत्मज्ञान से पूर्व कर्म में प्रवृत्ति संभव है । आविद्यक क्रिया कारक और फलरूप भेदज्ञान का आत्मज्ञान से पूर्व कर्म में हेतु होना संभव है । जिस प्रकार स्वर्गादि कामना के विषय में दोषभावना उत्पन्न होने से पूर्व स्वर्गादि की स्वाभाविक इच्छा ही काम्यकर्म प्रवृत्ति का हेतु है, इसी प्रकार यहाँ समझना चाहिए ।

(इस पर पूर्ववादी कहता है—) ऐसा होने पर वेद अनर्थफलक हो जायगा । (सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि अर्थ और अनर्थ अभिप्राय के अधीन हैं । केवल एक मोक्ष को छोड़कर बाकी सब अविद्या के विषय हैं । इसीलिए अर्थ और अनर्थ तो पुरुष के अभिप्राय के अधीन हैं । क्योंकि मरणादि की इच्छा से भी याग का विधान शास्त्र में देखा जाता है; इसलिए जब तक आत्मज्ञान विधि का अधिकारी नहीं हो जाता, तभी तक कर्म की विधियाँ हैं । इसलिए (कर्मविधि से पूर्वभावी होने से) कर्मों का आत्मज्ञान के साथ सहभाव नहीं हो सकता । इसलिए 'हे मैत्रेयी !

---

१. आविद्यस्य । २. स्वर्गादौ । ३. अनर्थफलकः अज्ञानावस्थायामनर्थरूपानात्मफलबोधकत्वात् । ४. तस्मादिति—आत्मज्ञानस्य सर्वकर्महेतूपमर्दकत्वेन तत्समये तदुत्तरसमये च कर्मविधीनां निरवकाशतया तद प्रागेव सावकाशत्वस्योपपादितत्वादित्यर्थः । ५. अधिकारिणः । ६. कर्मविधीनात्मज्ञानात्प्राग्भावित्वात् । ७. ज्ञानस्य कर्मापेक्षाऽभावात् । ८. यथोक्तहेतुत्वमेव । ९. कामविषयमापाद्य । १०. कर्मविधीना मात्मज्ञानात्प्राच्यत्वेऽपि ।

ति। कर्मनिरपेक्षत्वाज्ज्ञानस्य। अतो [1]विदुषस्तावत्पारिव्राज्यं सिद्धं [2]संप्रदानादि-रकजात्यादिशून्याविक्रियब्रह्मात्मदृढप्रतिपत्तिमात्रेण वचनमन्तरेणाप्युक्तन्यायतः। [3]तथा च व्याख्यातमेतद्येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति हेतुवचनेन पूर्वे विद्वांसः कामयमाना व्युत्तिष्ठन्तीति पारिव्राज्यं विदुषामात्मलोकावबोधादेव। [5]तथा च

इत्यत इति। अतःशब्दार्थं स्फुटयति—कर्मेति। ज्ञानस्य कर्मविरोधित्वे तन्निरपेक्षत्वे च सिद्धे तमाह—अत इति। 'आत्मज्ञानस्यामृतत्वहेतुत्वाभ्युपगमादित्यादेरुक्तन्यायादात्मसाक्षात्कारस्य कैवल्यकारणत्वसिद्धेः सति तस्मिञ्जीवन्मुक्तस्य कर्मानुष्ठानानवकाशा[7]त्तदुद्देशेन प्रवृत्तस्य वेदस्य विदितपदपदार्थस्य परोक्षज्ञानवतस्तन्मात्रेण प्रमाणापेक्षामन्तरेण सिद्धं सर्वकर्मत्याग-पारिव्राज्यमेष एव विद्वत्संन्यासो न त्वपरोक्षज्ञानवतः प्रारब्धफलप्राप्तिमन्तरेणानुष्ठेयं किंचि-ति भावः। विध्यविषयत्वाज्जातसाक्षात्कारस्य कथं पारिव्राज्यं तत्राऽऽह—वचनमिति। उक्त-शान्तादिवाक्यसूचितः। विधिं विनाऽपि फलभूतं पारिव्राज्यमित्यर्थः।

सत्यां जिज्ञासायां कर्मत्यागो न शक्यते निषेद्धुमिति वदन्विविदिषासंन्यासं साधयति—तथा दिना। एतत्पारिव्राज्यमिति संबन्धः। विदुषामात्मसाक्षात्कारार्थिनां तत्परोक्षनिश्चयवतामिति । आत्मलोकस्यावबोधोऽपि व्युत्थानहेतुः परोक्षनिश्चय एव। 'सतीतरस्मिन्फलावस्थस्य नाद्यनुष्ठानायोगा[10]त्तदन्तरेण [11]तत्प्राप्त्यभावाच्च। [12]उक्तं हि शमादिवदुपरतेरपि तत्त्वसाक्षा-नियतं साधनत्वं तदाह—तथा चेति। विविदिषुर्नामाधीतवेदो विचारप्रयोजका[13]पातिकज्ञानवा-

---

ही अमृतत्व का साधन है' इस श्रुति से आत्मज्ञान ही अमृतत्व का साधन सिद्ध हुआ क्योंकि कर्मनिरपेक्ष है। इसलिए प्रामाणिक वचन के बिना उक्त न्याय से संप्रदानादि कर्मों के कारक तुल्य अविकारी, ब्रह्म में ही सुदृढ़ आत्मज्ञान से ही विद्वान् के लिये संन्यास ग्रहण करना सिद्ध जाता है।

इसी प्रकार 'हमलोग जिन्हें यह आत्मलोक इष्ट है' इस हेतु वचन से भी साधन-भूत संन्यास की ख्या की जा चुकी है कि पूर्वकालीन विद्वान् प्रजा की कामना न करके संन्यास ग्रहण कर लेते थे; लिए आत्मलोक के बोध मात्र से विद्वानों के लिए संन्यास ग्रहण करना सिद्ध हो जाता है। 'इसलिए

---

१. विविदिषोरपि पारिव्राज्यमनुपदं साधयिष्यते इति सूचयति—तावदिति। आदावित्यर्थः। २. संप्रदानादिरूपं यदग्निहोत्रादिकर्मणः कारकमथ च जात्यादि तच्छून्येत्यर्थः। ३. तथा च—तथैव फलभूतपारिव्राज्य-वत्साधनभूतं च पारिव्राज्यं व्याख्यातमिति यावत्। ४. साक्षात्कारं प्रति उपरतेर्नियतत्वे सति। ५. विद्वत्संन्यासम्। ६. १३४० पृष्ठभाष्ये। ७. तदुद्देशेन—आत्मसाक्षात्कारोद्देशेन प्रवृत्तस्य अधीतवेदस्य विदित-पदपदार्थस्यातः पूर्वं परोक्षज्ञानवतः सतः तस्मिन्नात्मसाक्षात्कारे सति जीवन्मुक्तस्य कर्मानुष्ठानानवकाशात् तन्मात्रेण अपरोक्षज्ञानमात्रेण प्रमाणेत्यादीत्येवं योज्यम्। ८. अपरोक्षात्मनिश्चये सति। ९. विधिनानुष्ठेयव्युत्थानादीत्यर्थः। १०. व्युत्थानादि विना। ११. आत्मसाक्षात्कारासंभवात्। १२. शान्तो दान्त इत्यादिवाक्ये। १३. अप्रामाण्यशङ्कास्कन्दितज्ञानवान्।

विविदिषोरपि सिद्धं पारिव्राज्यम् । “[1]एतमेवाऽऽत्मानं लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति” वचनात् । कर्मणां चाविद्वद्विषयत्वमवोचाम[2] । [3]अविद्याविषये चोत्पत्त्याप्तिविकारसं रार्थानि कर्माणीत्यतः । [4]आत्मसंस्काराद्वारेणाऽऽत्मज्ञानसाधनत्वमपि कर्मणामवो यज्ञादिभिर्विविदिषन्तीति[5] ।

[6]अथैवं सत्यविद्वद्विषयाणामाश्रमकर्मणां बलाबलविचारणायामात्मज्ञा त्पादनं प्रति यमप्रधानानाममानित्वादीनां मानसानां च ध्यान[7]ज्ञानवैराग्यादीनां सं

न्मुमुक्षुर्मोक्षसाधनं तत्त्वसाक्षात्कारमपेक्षमाण‘स्तस्मिन्परोक्षनिश्चयेनापि ’शून्यो विवक्षितस्तस्य पारिव्राज्यमत आह—एतमेवाऽऽत्मानमिति । इतश्च विविदिषासंन्यासोऽस्तीत्याह–कर्मणां चेति । चाविद्याविरुद्धां विद्यामिच्छन्नशेषाणि कर्माणि शरीरधारणमात्रकारणेतराणि त्यजेदिति शेषः । दिषासंन्यासे हेत्वन्तरमाह—अविद्याविषये चेति । चतुर्विधफलानि कर्माण्यविद्याविषये "परं सं न त्वसाध्ये वस्तुनीत्यतो वस्तुजिज्ञासायां त्याज्यानि तानीत्यर्थः । कथं [13]"तर्हि कर्मणामुत्तम" फला स्तत्राऽऽह—आत्मेति । बुद्धिशुद्धिद्वारा ज्ञानहेतुत्वात्कर्मणामस्ति [14]"प्रणाड्या परमपुरुषार्थ इत्यर्थः ।

‘संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ’

इति स्मृतेर्विविदिषूणां मुमुक्षूणां कथं पारिव्राज्यस्यैव कर्तव्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह–अथेति [15]"यथा विद्वत्संन्यासस्तथा विविदिषासंन्यासेऽपि यथोक्तनीत्या संभाविते सतीति यावत् । आत्मज्ञानो त्पादनं प्रत्याश्रमधर्माणां बलाबलविचारणा नामान्तरङ्गत्वबहिरङ्गत्वचिन्ता तस्यां सत्यामित्यर्थः [16]"अहिंसास्तेयब्रह्मचर्यादयो यमाः । वैराग्यादीनामित्यादिशब्देन शमादयो गृह्यन्ते । इतरे [17]"नियमप्रधा आश्रमधर्मा बहुना क्लिष्टेन पापेन कर्मणा संकीर्णा हिंसादिप्राचुर्यात् ।

आत्मलोक की इच्छा करने वाले सब क्रियाओं से निवृत्त हो संन्यास ग्रहण कर लेते हैं’ इस श्रुति व से जिज्ञासु के लिए भी संन्यास ग्रहण करना सिद्ध हो जाता है । कर्मों का अविद्वानों को विषय स्वभाव होता है—ऐसा हम पहले ही कह चुके हैं । अविद्या के विषय अनात्म-पदार्थों में ही उत्प प्राप्ति, विकार और संस्कार के लिए कर्म होते हैं । इसलिए ‘हम यज्ञादि के द्वारा उस आत्मा को जा की इच्छा करते हैं’ ऐसे कहकर अन्तःकरण शुद्धि द्वारा कर्मों का आत्मज्ञान साधनत्व होना भी बता गया है ।]

ऐसा होने पर अविद्वानों के विषय आश्रमकर्मों के अन्तरङ्गत्व और बहिरङ्गत्व चिन्ता क पर निष्कर्ष यह निकलता है कि अमानित्वादि यमप्रधान तथा ध्यान-विवेक-वैराग्यादि मा

---

१. बृ. उ. ४. ५. २२ । २. १३४० पृष्ठभाष्ये । ३. अनात्मनीति यावत् । ४. अन्तःकरणशुद्धिद्वारेण । ५. बृ. उ. ४. ४. २२ । ६. अथशब्दः शङ्कायाम् । ७. विवेकवैराग्यादीनाम् । ८. आत्मतत्त्वे । ९. इदमभ्युपगमवादेन । १०. कर्मणामविद्वद्विषयत्वे च । ११. केवलम् । १२. विद्वद्विविदिषूभयानुग यत्वे । १३. मोक्षफलान्वयः । १४. परम्परया । १५. एवं सतीत्यस्यार्थमाह—यथेति । १६. अहिंसा नन्तरम् सत्येति ब्रह्मचर्यानन्तरं परिग्रहा इति चादिशब्दग्राह्यम् । १७. नियमेति—शौचसंतोषतपःस्वाध्या येश्वरप्रणिधानानि नियमा इति नियमसूत्रम् ।

कारकत्वम् । हिंसारागद्वेषादिबाहुल्याद्बहुक्लिष्टकर्मविमिश्रिता इतर [1]इत्यतः राज्यं मुमुक्षूणां प्रशंसन्ति—

"त्याग [2]एव हि सर्वेषामुक्तानामपि कर्मणाम् ।
वैराग्यं पुनरेतस्य मोक्षस्य परमो[3]ऽवधिः" ॥
"[4]किं ते धनेन किमु बन्धुभिस्ते किं ते दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि ।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं पितामहास्ते क्व गताः पिता च" ।

"[5]यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन्'

इति स्मृतेस्तस्मात्पूर्वेषामन्तरङ्गत्वमुत्तरेषां बहिरङ्गत्वमित्याशयेनाऽऽह—हिंसेति । कर्मयोगात्त्यागस्या[6]धिकारिविशेषं प्रति प्रशस्तत्वमुपसंहरति—इत्यत इति । तत्प्रशंसाप्रकारमेवाति—त्याग एवेति । उक्तानामाश्रमैरनुष्ठेयत्वेनेति शेषः । तत्त्यागे हेतुमाह—वैराग्यमिति । कर्मपरित्यागस्येत्यर्थः । उत्तमपुमर्थार्थिनः संन्यासद्वारा श्रवणादि कर्तव्यमित्यत्र वाक्यान्तररति—किं ते धनेनेति । अथ पित्रादिभिर्गतं [7]पन्थानमन्वेषयामि नाऽऽत्मानमित्याशङ्क्याऽऽह तामहा इति । विविदिषासंन्यासे सांख्यादिसंमतिमाह—एवमिति । यथाऽऽहुः सांख्याः—

आत्मज्ञान के उत्पादन में साक्षात् उपकारक हैं। एवं दूसरे कर्म हिंसा एवं राग-द्वेषादि की ना के कारण बहुत से क्लिष्ट कर्मों से मिले हुए हैं; इसलिये मुमुक्षु के लिए संन्यास की ही प्रशंसा ते हैं।

'इसलिए उक्त सभी कर्मों का त्याग करना ही श्रेष्ठ कहा जाता है क्योंकि इस मोक्ष का कारण वैराग्य है'।

'तुझे धन से क्या प्रयोजन है, बन्धुओं से क्या लेना है, हे ब्राह्मण ! भार्या से तेरा क्या स्वार्थ तुम्हारा मरण अवश्यम्भावी है। (इसलिए मरने से पूर्व ही) हृदयान्तर में (नित्य) प्रविष्ट उस मा को खोजो। तुम्हारे पिता और पितामह आदि कहाँ चले गये'?

उपरोक्त-श्रुति-स्मृति वचनों के समान सांख्य-योग शास्त्रों में भी आत्मज्ञान के प्रति संन्यास साक्षात् उपकारक कहा जाता है क्योंकि संन्यासियों की भोगों में प्रवृत्ति कामना पुरःसर नहीं हुआ नी। क्योंकि काम प्रवृत्ति का ज्ञान विरोधी होना सभी शास्त्रों में प्रसिद्ध है; इसलिए वैराग्ययुक्त आभिलाषी ज्ञान के बिना भी ब्रह्मचर्य से संन्यास ग्रहण कर ले—यह कहना सुसंगत है।

---

[1] इत्यतः नियमप्रधानाश्रमधर्मापेक्षया यमप्रधानाश्रमधर्माणां संनिपत्योपकारकत्वादित्यर्थः। [2] प्रशस्यत इत्यध्याहारः। [3] अवधिरत्र कारणम्। [4] मेधाविनामा ब्राह्मणपुत्रः स्वपितरं प्रत्याह—किमिति। महा० शा० मोक्षधर्म. १७५-३८। "यस्त्वं मरिष्यसि तस्य त" इति योज्यम्। जीवतो हि तत्सुखाय स्यात्तस्मान्मरणात्प्रागेव धनादिसर्वं परित्यज्य बुद्धिगुहां प्रविष्टं यथावदनभिव्यक्तमात्मानमन्विच्छ तत्स्वरूपान्वेषणमेव कुरु तत एव तेऽक्षयसुखप्राप्तिरित्यर्थः। मरणमवश्यंभावीत्यत्रमानमाह—पितामहा इति। [5] यमेति—"यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुध" इति पूर्वो भागोऽस्याः स्मृतेः। [6] अधिकारिविशेषम्— शमादिसंपन्नं मुमुक्षुमित्यर्थः। [7] अनुष्ठितं व्यवहारम्।

'एवं सांख्ययोगशास्त्रेषु च संन्यासो ज्ञानं प्रति [2]प्रत्यासन्न उच्यते । 'कामप्रवृ

'ज्ञानेन चापवर्गो [5]विपर्ययादिष्यते बन्धः' इति ।
'विवेकख्यातिपर्यन्तमज्ञानाच्चित्तचेष्टितम्' इति च ।
'अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्[6]' इति च ।

योगशास्त्रविदश्चाऽऽहुः '[7]अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' इति । तत्र वैराग्येण विषय खिली क्रियते । विवेकदर्शनाभ्यासेन कल्याणस्रोत [8]'उत्पाद्यत इति च । 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृ वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' इति च । इतश्च संन्यासो ज्ञानं प्रति प्रत्यासन्न इत्याह—कामेति । संन्या

(इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) 'जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र करे' इस श्रुति के वा

---

१. एवमिति—यथोक्तश्रुतिस्मृत्युपपत्तिवदित्यर्थः । २. संनिपत्योपकारकः । ३. संन्यासिनः काम सरं (भोगेषु) प्रवृत्त्यभावाच्च संन्यासो ज्ञानं प्रति प्रत्यासन्न इति संबन्धः । ४. कामप्रवृत्त्यभावान्चे प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वं सर्वसंमतम् । कामप्रवृत्तिश्च ज्ञानप्रतिबन्धिका तथा च कामप्रवृत्त्यभावे संन्यासो ज्ञानं प्रति प्रत्यासन्नो भवत्येवेति भावः । ५. विपर्ययादतत्त्वज्ञानात् । ६. "[11]ज्ञानेन च विपर्ययादिष्यते बन्धः । विवेकख्यातिपर्यन्तमज्ञाना[12]च्चित्तचेष्टितम् ।। [13]अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते मि"त्येतद्वाक्यत्रयमपि मुमुक्षुमुद्दिश्य ज्ञानसाधनविधानाभिप्रायं मन्तव्यमन्यथाऽनुवादमात्रत्वेनाप्रामाण्या ज्ञानसाधनं च श्रवणादि । तदुक्तं दृष्टवदानुश्रविक [14]इत्यादि द्वितीयकारिकाव्याख्योपान्ते मिश्रैः "एतदुक्तं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेभ्यो व्यक्तादीन् विवेकेन [15]श्रुत्वा शास्त्रयुक्त्या च [16]व्यवस्थाप्य दीर्घकाल"नैरन्त सेविताद्भावनामया[17]"द्विज्ञानादितीति" न च श्रवणादि कर्मत्यागमन्तरेण संभवति मुमुक्षुणा तत्या "[19]तद्विपरीतः श्रेयानिति" सूचितत्वात् [20]तथाच स्फुटं [21]निर्गलिता विविदिषासंन्यासे सांख्यसंमतिरिति अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध इति – न खल्वसंन्यस्तकर्मणा विवेकदर्शनाभ्यासः शक्यः कर्तुम् । न च वैराग्यः कर्मणि व्याप्रियते निरुद्धवृत्तिकश्चेति संन्यास एव समापतति ।। विषयस्रोतः खिलीक्रियत इति पराङ्मुखत्वं सूच्यते विषयस्रोतो हि [22]भोगेसाधनपरम्परा [23]ततो वैमुख्यमेव तत्खिलीकरणमिति । कल्या उत्पाद्यत (उद्घाटयत इति योगभाष्यपाठः) इत्यत्र कल्याणस्रोतः [24]कल्याणसाधनपरम्परा संन्यास संन्यासः संमतो भवति । वशीकारसंज्ञकवैराग्यवांश्च संन्यस्यत्येव दृष्टानुश्रविकविषयेषु वैतृष्ण्यादिति सुस्पं ८. उद्घाटयते ।

११. ज्ञानेनेत्यादि—धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमवस्ताद्भवत्यधर्मेणे"त्यार्यापूर्वार्धम् का. १. ४४ । १२. च्चित्तचेष्टितमित्यस्य स्थाने ज्ञेयं प्रकृतिचेष्टितमिति पाठान्तरम् प्रामाणिकमाहुः । १३. अविपर्ययादित्य "एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषमि"त्यार्यापूर्वभागः ।। का. २ ६४ । १४. स ह्यविशु क्षयातिशययुक्तः । तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानादि"त्यार्याशेषः आदिपदग्राहः । १५. इदं श्रवण १६. इदं मननम् । १७. इद निदिध्यासनम् । १८. विज्ञानादिति—तत्त्वसाक्षात्कारो जायत इति शेषः । तस्मादानुश्रविकाद्दुःखापघातकादुपायात् । सोमपानादेरविशुद्धादनित्यसातिशयफलाद् विपरीतो विशुद्धो हिं दिसंकराभावाद् असकृदपुनरावृत्तिश्रुतेर्नित्यनिरतिशयफलः सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययः साक्षात्कारो दुःखात्य हेतुः श्रेयानित्यर्थः । २०. उक्तवाक्यानां ज्ञानसाधनश्रवणादि विधानाभिप्रायत्वे तद्विपरीत इत्यादिना त्यागस्य सूचितत्वे चेत्यर्थः । २१. निष्कर्षलब्धेत्यर्थः । २२. भोगसाधनपरम्परेति भोगसाधनपरम्प चेतः प्रावण्यमिति यावत् । २३. ततो वैमुख्यम् तत्र प्रावण्याभावः । २४. तत्र चेतः प्रावण्यमिति या

भावाच्च । कामप्रवृत्तेर्हि ज्ञानप्रतिकूलता सर्वशास्त्रेषु प्रसिद्धा । तस्माद्विरक्तस्य मुमुक्षो- विनाऽपि ज्ञानेन ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदित्याद्युपपन्नम् ।

ननु सावकाशत्वादनधिकृतविषयमेतदित्युक्तं यावज्जीवश्रुत्युपरोधात् । नैष दोषः । नितरां सावकाशत्वाद्यावज्जीवश्रुतीनाम् । अविद्वत्कामिकर्तव्यतां ह्यवोचाम[1] सर्वकर्म- णाम् । न तु [2]निरपेक्षमेव जीवननिमित्तं कर्तव्यं कर्म । प्रायेण हि पुरुषाः कामबहुलाः । कामश्चानेकविषयोऽनेककर्मसाधनसाध्यश्च । [3]अनेकफलसाधनानि च वैदिकानि कर्माणि

कामप्रवृत्त्यभावेऽपि कथं संन्यासस्य ज्ञानं प्रति प्रत्यासन्नत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—कामप्रवृत्तेरिति । [4]"इति नु कामयमानः[5]" ।

"काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह[6] [7]वैरिणम्"

इत्यादीनि शास्त्राणि । विविदिषासंन्यासमुपसंहरति—तस्मादिति । यथोक्तस्याधिकारिणो दर्शितया विधया ज्ञानेन विनाऽपि संन्यासस्य प्राप्तत्वाद्ब्रह्मचर्यादेवेत्यादि विधिवाक्यमुपपन्नमिति योजना ।

अथ पारिव्राज्यविधानम[8]नधिकृतविषयमुचितं तथा सति सावकाशत्वान्न त्वधिकृतविषयं यावज्जीवश्रुतिविरोधात्तस्या निरवकाशत्वात्सावकाशनिरवकाशयोश्च निरवकाशस्यैव बलवत्वा- दित्युक्तं शङ्कते—नन्विति । यावज्जीवश्रुतेर्निरवकाशत्वं दूषयति—नैष दोष इति । कथमतिशयेन सावकाशत्वं तत्राऽऽह—अविद्वदिति । जीवनमात्रं निमित्तीकृत्य चोदितं कर्म कथं कामिना कर्तव्यं तत्राऽऽह—न त्विति । प्रत्यवायपरिहारादेरिष्टत्वादित्यर्थः । अनुष्ठातृस्वरूपनिरूपणायामपि न जीवनमात्रं निमित्तीकृत्य कर्म कर्तव्यमित्याह—प्रायेणेति । तथाऽपि नित्येषु कर्मसु न कामनिमित्ता प्रवृत्तिस्तत्र काम्यमानफलाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—कामश्चेति । प्रत्यवायपरिहारादेरपि कामितत्वं युक्तमिति भावः । तथाऽपि नित्ये कर्मणि काम्यमानं फलं [9]विध्युद्देशे किंचिन्न श्रुतमित्याशङ्क्याऽऽह

पर ('ब्रह्मचर्य से संन्यास ग्रहण करे' इस) अन्य श्रुति को अवकाश मिल जाता है, ऐसा कहा गया । (सावकाश और निरवकाश के प्रसङ्ग आने पर निरवकाश ही बलवान् होता है—इस न्याय से) अतः यही मानना उचित है कि संन्यास कर्म के अनधिकारी के लिए है । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है क्योंकि यावज्जीवन अग्निहोत्र का विधान करने वाली श्रुतियों को सदा ही अवकाश है एवं सभी कर्म कामनायुक्त अविद्वान् के लिए ही हैं · यह हम पहले ही कह आये हैं। प्रत्यवायपरिहारादि निरपेक्ष केवल जीवन के निमित्त कर्म की कर्तव्यता नहीं हुआ करती । प्रायः मनुष्यों के भीतर कामबाहुल्य होता है । काम अनेक विषयों का है एवं अनेक कर्मों और साधनों से

---

१. १३४० पृष्ठभाष्ये न प्रागित्यादिना । २. प्रत्यवायपरिहारादिनिरपेक्षमेव । ३. अनेकफलसाधनानीति —विध्युद्देशोक्तमात्रफलकान्येव नेति यावत् । ४. कामासाधारणकारणकं संसारमुपसंहरति—इतीति । एवं मन्त्रब्राह्मणाभ्यां प्रदर्शितरीत्या नु खलु कामयमानः संसरतीत्यर्थः । ५. बृ. उ. ४. ४. ६ । ६. इह संसारे अधिकारिषु वा । ७. वैरिणं—विवेकिनामिति शेषः । ८. अन्धपङ्ग्वाद्युद्देश्यकम् । ९. विधायक- वाक्ये ।

'दाराग्निसंबन्धपुरुषकर्तव्यानि'[2] पुनः पुनश्चानुष्ठीयमानानि बहुफलानि कृष्यादिवद्वर्ष-शतसमाप्तीनि च गार्हस्थ्ये वाऽरण्ये वा[3]ऽत[4]स्तदपेक्षया यावज्जीवश्रुतयः। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इति च मन्त्रवर्णः।

[5]'तस्मिंश्च पक्षे विश्वजित्सर्वमेधयोः[6] कर्मपरित्यागः[7]। [8]'यस्मिंश्च पक्षे यावज्जीवानुष्ठानं तदा श्मशानान्तत्वं[9] भस्मान्तता च शरीरस्य। [10]'इतरवर्णापेक्षया वा यावज्जीव-

---

—अनेकेति। कर्मभिरनेकैः साधनैर्यद्दुरितनिबर्हणादि साध्यं तदेवास्याश्रुतमपि विध्युद्देशे साध्यं भवति।

'यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्'

इति स्मृते[11]स्तद्व्यतिरेकेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेरतो[12] नित्येऽपि कामितं फलमस्तीत्यर्थः। ननु वैदिकानां कर्मणां [13]नियतफलत्वात्कामोऽपि नियतफलो युक्तस्तथाच नित्येषु [14]तदभावान्न [15]कामितं फलं सेत्स्यति तत्राऽऽह—अनेकफलेति। अथ तानि पुरुषमात्रकर्तव्यानीति कुतो विवक्षितसंन्याससिद्धिस्तत्राऽऽह—दारेति। नन्वविरक्तेनापि गृहिणा सकृदेव तान्यनुष्ठेयानि तावता विधेश्चरितार्थत्वा[16]त्तथापि कथं फलबाहुल्यमित्याशङ्क्याऽऽह—पुनः पुनश्चेति। यावज्जीवोपबन्धादावृत्तिसिद्धिरिति भावः। [17]तर्हि यावज्जीवश्रुतिवशादशेषाश्रमानुष्ठेयान्यनवरतमग्निहोत्रादीनीति कुतो यथोक्तसंन्यासोपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—वर्षशतेति। अविरक्तगृहिविषयत्वं श्रुतिमन्त्रयोरित्युपसंहरति—अत इति।

[18]"यत्तु यावज्जीवश्रुतेरपवादो विश्वजित्सर्वमेधयोरिति तदपि कामगृहिविषयत्वान्न ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदितिविध्यपवादकमित्याह—तस्मिंश्चेति। परोक्तं लिङ्गमपि तद्विषयत्वान्न सर्वस्य वेदस्य कर्मावसानत्वं द्योतयतीत्याह-यस्मिंश्चेति। यावज्जीवश्रुते[19]र्गत्यन्तरमाह—इतरेति। कथं [20]सा क्षत्रियवंश-

---

साध्य है। वैदिक कर्म भी अनेक फल के साधन हैं जो कि विवाहित और अग्निहोत्री पुरुष के लिए कर्तव्य है, बारम्बार अनुष्ठान किए जाने वाले वे कृषि आदि के समान बहुत से फल देने वाले हैं तथा गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ आश्रमों में सौ वर्षों में पूर्ण होने वाले हैं। इसलिए (कर्मविधि अविरक्त गृहस्थी का विषय होने से) अविरक्त गृहस्थ की अपेक्षा से 'यावज्जीवन अग्निहोत्र करे' तथा 'यहीं कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा करे' इस प्रकार श्रुतियाँ तथा मन्त्रवर्ण हैं।

उसी पक्ष में विश्वजित् और सर्वमेध यागों में कर्म परित्याग यानी संन्यास है और जिस प

---

१. पितृलोकप्रत्यवायपरिहारसत्त्वशुद्ध्यादिसाधनानि। २. न तु वीतरागपुरुषकर्तव्यानि। ३. अतः—कर्मविधेरविरक्तगृहस्थविषयत्वात्। ४. तदपेक्षया—अविरक्तगृहस्थापेक्षया। ५. कर्मविधीनां कामिगृहिविषयत्वपक्षे। ६. सतोः। ७. पारिव्राज्यम्। ८. कामित्वे सत्यशक्त्यादिना विश्वजिदाद्यननुष्ठानपक्षे। ९. कर्मणाम्। १०. ब्राह्मणेतरवर्णापेक्षया। ११. कामव्यतिरेकेण। १२. नित्येषु प्रवृत्तिदर्शनात्। १३. वाक्यैश्चोदितमेव फलं वैदिकानां कर्मणां भवति न त्वचोदितकल्पनोपनीतमित्येतदेव तेषां नियतफलत्वमिति ध्येयम्। १४. नित्यफलाभावात्। १५. कामितं कल्पनोपनीतं प्रत्यवायपरिहारादिरूपमित्यर्थः। १६. सकृदनुष्ठाने च। १७. तेषामसकृदनुष्ठीयमानत्वे। १८. यत्त्वित्यादि—कामिनां हि सति विश्वजिदादौ भवतु पारिव्राज्यविषयत्वमकामिविषये तु निरङ्कुशप्रसरत्वं ब्रह्मचर्यादेवेत्यादिविधेरिति भावः। १९. अविरक्तापेक्षया गत्यन्तरम्। २०. यावज्जीवश्रुतिः।

(अथ चतुर्थाध्यायस्य षष्ठं ब्राह्मणम्)

अथ वꣳशः पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात्कौशिकः

गौपवन से पौतिमाष्य ने, पौतिमाष्य से गौपवन ने, गौपवन से पौतिमाष्य ने, कौशिक से पवन ने, कौण्डिन्य से कौशिक ने, शाण्डिल्य से कौण्डिन्य ने, कौशिक तथा गौतम से शाण्डिल्य

तिः । न हि क्षत्त्रियवैश्ययोः पारिव्राज्यप्रतिपत्तिरस्ति । तथा [1]मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः । काश्रम्यं त्वाचार्या इत्येवमादीनां क्षत्त्रियवैश्यापेक्षत्वम् । तस्मात्पुरुषसामर्थ्यज्ञानवैराग्य-कामद्यपेक्षया व्युत्थानविकल्पक्रमपारिव्राज्यप्रतिपत्तिप्रकारा न विरुध्यन्ते । अनधिकृतानां व पृथग्विधानात्पारिव्राज्यस्य [2]स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वेत्या[3]दिना । स्मात्सिद्धान्याश्रमान्तराण्यधिकृतानामेव ॥ १५ ॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

विषयत्वेन प्रवृत्ता त्रैवर्णिकानामपि पारिव्राज्यपरिग्रहादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । यावज्जीवश्रुति-काश्रम्यप्रतिपादकस्मृतीनामपि क्षत्त्रियादिविषयत्वमाह—तथेति । श्रुतिस्मृतीनां कर्मतत्संन्यासार्थानां न्नविषयत्वे फलितमुपसंहरति—तस्मादिति । यत्तु काणकुब्जादयोऽपि कर्मण्यनधिकृता अनुग्राह्या व श्रुत्येति तत्राऽऽह—अनधिकृतानां चेति । सत्यामेव भार्यायां त्यक्ताग्निरुत्सन्नाग्निस्तस्यामसत्यां रित्यक्ताग्निरनग्निक इति भेदः । [4]आश्रमान्तरविषयश्रुतिस्मृतीनामनधिकृतविषयत्वाभावे सिद्धमर्थं गमयति—तस्मादिति ॥ १५ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां चतुर्थाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

ं यावज्जीवन कर्म के अनुष्ठान का विधान है, वहीं कर्मों को श्मशानान्तता तथा शरीर की भस्मान्तता क्ष है । अथवा ब्राह्मणेतर वर्णों के लिए यावज्जीवन कर्म करने का विधान है । क्षत्रिय और वैश्यों ो संन्यास की प्राप्ति नहीं होती । इसमें व्यास स्मृति प्रमाण है 'गर्भाधान से अन्त्येष्टि क्रिया पर्यन्त सके सभी संस्कारों का विधान मन्त्रों द्वारा बतलाया गया है, उसी का वेद में अधिकार समझना ाहिए; किसी अन्य का नहीं', 'आचार्यों ने इन्हें एकाश्रमी बतलाया है' इत्यादि वाक्य क्षत्रियों और श्यों की अपेक्षा से हैं । इसलिए पुरुष के सामर्थ्य, ज्ञान, वैराग्य और कामनादि की अपेक्षा से संन्यास कल्प तथा क्रम से संन्यास ग्रहण प्रकारों का विरोध नहीं है । 'व्रती हो अथवा अव्रती; उत्सन्नाग्नि ो अथवा अनग्नि' इत्यादि वाक्य द्वारा अनधिकारियों के लिए संन्यास का अलग विधान है । इस-िए यह सिद्ध हुआ कि गार्हस्थ्य इतर आश्रम अधिकारियों के लिए ही हैं ॥ १५ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषत् के चतुर्थ अध्यायस्थ पञ्चम ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का
हिन्दी भाषानुवाद सम्पन्न हुआ ॥ ५ ॥

---

[1] १३४० पृष्ठभाष्ये द्रष्टव्या स्मृतिः । [2] स्नातक इत्यादिः—अथ पुनरव्रती वा व्रती वेत्यादिः । अव्रती—अगृहीताध्ययनाङ्गव्रतः कृतविद्याव्रतान्तस्नानः स्नातकः । [3] आदिना "यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेदिति" श्रुतिशेषो ग्राह्यः । [4] गार्हस्थ्येतरविषयेत्यर्थः ।

कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥ १ ॥

आग्निवेश्यादाग्निवेश्यो गार्ग्याद्गार्ग्यो गार्ग्याद्गार्ग्यो गौतमाद्गौतमः सैतवात्सैतवः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणो गार्ग्यायणाद्गार्ग्यायण उद्दालकायनादुद्दालकायनो जाबालायनाज्जाबालायनो माध्यंदिनायनान्माध्यंदिनायनः सौकरायणात्सौकरायणः काषायणात्काषायणः सायकायनात्सायकायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥ २ ॥

घृतकौशिकाद्घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणः पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चाऽऽसुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आ-

ने और गौतम ने ॥ १ ॥

आग्निवेश्य से, आग्निवेश्य ने गार्ग्य से, गार्ग्य ने गार्ग्य से, गार्ग्य ने गौतम से, गौतम ने सैतव से, सैतव ने पाराशर्यायण से, पाराशर्यायण ने गार्ग्यायण से, गार्ग्यायण ने उद्दालकायन से, उद्दालकायन ने जाबालायन से, जाबालायन ने माध्यन्दिनायन से, माध्यन्दिनायन ने सौकरायण से, सौकरायण ने काषायण से, काषायण ने सायकायन से, सायकायन ने कौशिकायनि से, कौशिकायनि ने ॥ २ ॥

घृतकौशिक से, घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से, पाराशर्यायण ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने जातूकर्ण्य से, जातूकर्ण्य ने आसुरायण और यास्क से, आसुरायण ने त्रैवणि से, त्रैवणि ने औपजन्धनि से, औपजन्धनि ने आसुरि से, आसुरि ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने आत्रेय से, आत्रेय ने माण्टि से, माण्टि

अथान्तरं याज्ञवल्कीयस्य काण्डस्य वंश आरभ्यते यथा मधुकाण्डस्य वंशः । व्या-

---

तदेवं विचारद्वारा श्रुतिस्मृतीनामापाततो विरुद्धानामविरोधं प्रतिपाद्याथ वंश इत्यस्यार्थमाह —अथेति । साङ्गोपाङ्गस्य सफलस्या[1]ऽऽत्मविज्ञानस्य प्रवचनानन्तर्यमथशब्दार्थमाह—अनन्तरमिति । **यथा प्रथमान्तः शिष्यो गुरुस्तु पञ्चम्यन्त इति चतुर्थान्ते व्याख्यातं तथाऽत्रापीत्याह**—व्याख्यानं

अब आगे याज्ञवल्कीय काण्ड का वंश आरम्भ किया जाता है, जिस प्रकार मधुकाण्ड का वंश

---

[1] **आत्मविज्ञानस्य**—वाक्यार्थज्ञानस्येत्यर्थः । तदुपायत्वात्त्वमर्थज्ञानं तदङ्गम् । उपाङ्गशब्देन संन्यासोऽभिधीयते तस्य च वाक्यार्थज्ञानाङ्गत्वं त्वमर्थज्ञानोपायत्वात् "त्वंपदार्थविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणामिति" स्मृतेः । फलशब्देनामृतत्वमुच्यते ।

त्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद्गौतमो गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वꣳसनान्मृत्युः प्राध्वꣳसनः प्रध्वꣳसनात्प्रध्वꣳसन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः

गौतम से, गौतम ने गौतम से, गौतम ने वात्स्य से, वात्स्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कैशोर्य-
प्य से, कैशोर्यकाप्य ने कुमारहारित से, कुमारहारित ने गालव से, गालव ने विदर्भीकौण्डिन्य से,
दर्भीकौण्डिन्य ने वत्सनपाद् बाभ्रव से, वत्सनपाद् बाभ्रव ने पन्था सौरभ से, पन्था सौरभ ने अयास्य
ाङ्गिरस से, अयास्य आङ्गिरस ने आभूतित्वाष्ट्र से, आभूतित्वाष्ट्र ने विश्वरूपत्वाष्ट्र से, विश्व-
त्वाष्ट्र ने अश्विनीकुमारों से, अश्विनीकुमारों ने दध्यङ्ङाथर्वण से, दध्यङ्ङाथर्वण ने अथर्वा-दैव
, अथर्वा-दैव ने मृत्यु-प्राध्वंसन से, मृत्यु-प्राध्वंसन ने प्रध्वंसन से, प्रध्वंसन ने एकर्षि से, एकर्षि ने
प्रचित्ति से, विप्रचित्ति ने व्यष्टि से, व्यष्टि ने सनारु से, सनारु ने सनातन से, सनातन ने सनग से,
नग ने परमेष्ठी से एवं परमेष्ठी ने ब्रह्मा से (यह विद्या प्राप्ति की है) ब्रह्म स्वयंभु है, ब्रह्म को

ख्यानं तु पूर्ववत् । ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नम ॐमिति ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

रति । 'इत्थमागमोपपत्तिभ्यां ससंन्यासं सेतिकर्तव्यताकमात्मज्ञानममृतत्वसाधनं सिद्धिमित्युपसंह-
ॐमितिशब्दः । परिसमाप्तौ मङ्गलमाचरति—ब्रह्मेति ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

निरूपण किया गया था । इसका व्याख्यान पूर्व मधुकाण्ड की व्याख्या की तरह समझना चाहिये । ब्रह्म
स्वयंभु है (उससे आगे आचार्य परम्परा नहीं है) इसलिए उस ब्रह्म को नमस्कार है ॥ ६ ॥

---

१. अर्थक्रममाश्रित्य मङ्गलात्प्रागेवेतिशब्दं व्याचष्टे—इत्थमागमेत्यादिना ।

[1]परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥३॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्याये
षष्ठं ब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

इति श्रीबृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

बृहदारण्यकक्रमेण षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

नमस्कार है ॥ ३ ॥

॥ इति चतुर्थाध्यायः, षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

इति श्रीबृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य षष्ठं
वंशब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये
चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां चतुर्थाध्यायस्य
षष्ठं वंशब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमद्भगवदानन्दज्ञानविरचितायां श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य-
टीकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार डॉ. उमेशानन्द शास्त्री कृत बृहदारण्यकोपनिषत् के चतुर्थाध्यायस्थ
शाङ्करभाष्य की 'कुमुदतोषिणी' टीका सम्पन्न हुई ॥ ४ ॥

---

[1] परमेष्ठी विराड् ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाद्विद्यां प्राप्तः । ब्रह्मणश्च स्वयंप्रतिभातवेदत्वात्तत आचार्यपरम्परा नास्ति । यत्पुनर्ब्रह्म वेदाख्यं तत्स्वयंभु नित्यं परस्यैव वेदरूपेणावस्थानादित्यर्थः ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

ॐ [1]पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ॥ पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ ॐ खं ब्रह्म [2]खं पुराणं

आकाश ब्रह्म ओंकार रूप है (यहाँ खं शब्द से भौतिक आकाश नहीं समझना चाहिए)। अतः परमात्मस्वरूप है। जिसमें वायु रहता है; वह ही खं है, ऐसा कौरव्यायणी पुत्र ने कहा है

❀पूर्णमद इत्यादि खिलकाण्डमारभ्यते। अध्यायचतुष्टयेन यदेव साक्षादपरो- ह्म य आत्मा सर्वान्तरो निरुपाधिकोऽशनायाद्यतीतो नेति नेतीति व्यपदेश्यो रितो यद्विज्ञानं केवलममृतत्वसाधनमधुना तस्यैवा[3]ऽऽत्मनः सोपाधिकस्य[4] शब्दार्था-

पूर्वस्मिन्नध्याये [5]ब्रह्मात्मज्ञानं [6]सफलं साङ्गोपाङ्गं [7]वादन्यायेनोक्तमिदानीं [8]काण्डान्तरमवतार- -पूर्णमिति। पूर्वाध्यायेष्वेव सर्वस्य वक्तव्यस्य समाप्तत्वा[9]दलं खिलकाण्डारम्भेणेत्याशङ्क्य पूर्वत्रा- परिशिष्टं वस्तु खिलशब्दवाच्यमस्तीत्याह—अध्यायचतुष्टयेनेति। सर्वान्तर इत्युक्त इति शेषः। त्वसाधनं निर्धारितमिति पूर्वेण संबन्धः। शब्दार्थादीत्यादिशब्देन मानमेयादिग्रहः। दयां शिक्षे-

अब 'पूर्णमदः' इत्यादि श्रुति मन्त्रों से खिलकाण्ड का आरम्भ किया जाता है। पूर्व के चार यों में जिस साक्षात्, अपरोक्ष ब्रह्म तथा जिस आत्मा का, सर्वान्तर, निरुपाधिक, क्षुधादि-धर्मा- नेति-नेति द्वारा व्यपदेश्य होना बतलाया गया और जिसका ज्ञान होना ही केवल अमृतत्व का है (ऐसा निर्धारित किया गया है); अब शब्दार्थादि व्यवहार-विषयता को प्राप्त उसी (वस्तुतः

---

१. "गोत्ववन्नानुवृत्तं यन्न व्यावृत्तं च खण्डवत्। अनन्यमानमानन्दं पूर्णं तदभिधीयते" ॥ वा. १२ ॥ २. थ ब्रह्मण ओङ्कारावलम्बनत्वेन ध्यानमाह—ओङ्कं ब्रह्मेति। मन्त्रः। ओङ्कारः खं ब्रह्मेति ध्येयः शालग्रामो विष्णुरितिवत्। मन्त्रं व्याचष्टे खमित्यादि ब्राह्मणम्। पुराणं चिरन्तनं ब्रह्म अथवा वायुरं वायुमदाकाशं म् भूतात्मकम् तदवच्छिन्नं ब्रह्मोङ्कारावलम्बनम्। एवं प्रतीकपक्षमुक्त्वा यथोक्तब्रह्मण ओङ्कारवाच्यमिति क्षान्तरमाह—वेद इति। ३. वस्तुतो निरुपाधिकस्य। ४. अविद्यया। ५. वाक्यार्थज्ञानम्। ६. अमृतत्वफलसहितम्। ७. वादेति—तत्त्वबुभुत्स्वोर्वीतजयपराजयेच्छयोः सब्रह्मचारिणोर्गुरुशिष्ययोर्वा प्रमाणेन तर्केण च साधनदूषणात्मा पक्षप्रतिपक्षग्रहस्तत्त्वनिर्णयावसानो वादन्यायस्तेनेत्यर्थः। ८. खिलकाण्डम्। ९. अलं खिलकाण्डारम्भेणेति पूर्वत्रानुक्तस्य वक्तव्यत्वेनावशिष्टस्य खिलशब्दवाच्यत्वादिति भावः।

❀पूर्णमद इत्यादि। अत्राहुर्वार्तिककारपादास्तथाहि—"कार्यकारणसंबन्धव्याजमाश्रित्य तत्परम्। व्याख्यातं तः पूर्वमात्मज्ञानप्रसिद्धये ॥ चरितार्थत्वतस्तस्य कार्यकारणवस्तुनः। निषेधायेयमुक्तिः स्यात्पूर्णमित्येव- दिना ॥ न व्यावृत्तमिदं सर्वं पराक्प्रत्ययमानगम्। नानुवृत्तं तथैवैतन्नाप्यभावैकनिष्ठितम् ॥ अव्यावृत्ताननु-

वायुरं खमिति ह स्माऽऽह कौरव्यायणीपुत्रो वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यम् ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

अर्थात् खं शब्द का मुख्य अर्थ भूताकाश ही होता है। ब्रह्माकाश तो गौण अर्थ है। यह ओंकार वे
यानी नाम है, इसी से वेदितव्य वस्तु ब्रह्म का प्रकाश होता है। ऐसा ब्राह्मण जानते हैं, क्योंकि
वस्तु वेदितव्य है; उसका इसी ओंकार से बोध होता है ॥ १ ॥

॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

दिव्यवहार[2]विषयापन्नस्य पुरस्तादनुक्तान्युपासनानि [3]कर्मभिरविरुद्धानि प्रकृष्टाभ्यु
साधनानि [4]क्रममुक्तिभाञ्जि च यानि तानि वक्तव्यानीति परः संदर्भः [5]सर्वोपासनशे
[6]नोंकारो दमं दानं दयामित्येतानि च विधित्सितानि। पूर्णमदः पूर्णं न कुतश्चिद्व्या
व्यापीत्येतत्। [7]निष्ठा च कर्तरि द्रष्टव्या। अद इति [8]परोक्षाभिधायि सर्वनाम

दित्युक्तानीति शेषः। ॐकारादि यत्र साधनत्वेन विधित्सितं तत्पूर्वोक्तमैक्यज्ञानमनुवर्तते—पूर्णमि

निरुपाधिक किन्तु अविद्या द्वारा) सोपाधिक आत्मा की उन (त्रिविध) उपासनाओं का जो
वर्णन नहीं की गई हैं, जो कर्म की समृद्धि के लिए हैं, प्रकृष्ट अभ्युदय की साधन तथा क्रममुक्ति
प्रापिका हैं, उनको वर्णन किया जाना है; इसलिए आगे का सन्दर्भ है। अथवा सर्वोपासना का
ओङ्कार, दम, दान, और दया इनका विधान करना इष्ट है। 'पूर्णमदः' इस वाक्य में 'पूर्णम्' पद
अथ व्यापक है अर्थात् जो कहीं से व्यावृत न हो। यहाँ 'निष्ठा' प्रत्यय कर्ता अर्थ में समझना चाहि

---

१. ओङ्कारः। २. विषयतामापन्नस्य। ३. उपासनानि त्रेधा विभजते—कर्मभिरित्यादिना।
समृद्धयर्थानीति यावत्। ४. क्रममुक्तिकराणि। ५. ओङ्कारदीनां विधित्सितत्वे हेतुमाह—सर्वोपासने
६. वक्तव्यमर्थान्तरमाह—ओङ्कार इति। ७. निष्ठा चेति—'वादान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टच्छन्नज्ञप्ताः'
सूत्रे 'पूरी' आप्यायने इति दैवादिकस्य चौरादिकस्य च धातोरिड्भावेन पूर्णेति निष्ठान्तं निपात्यते
आप्यायनं च वृद्धिरिति तत्रार्थे स्वार्थणिजन्तत्वेनाकर्मकस्य चौरादिकस्यात्र रूपं ग्राह्यं गत्यर्थाकर्मकेति
नुसारेण ततः कर्तरि निष्ठाऽविरोधात्। दैवादिकात्तु प्रेरणाणिचि सकर्मकत्वेन तदसंभवात् न तद्ग्रहः
निष्ठायां पूतं इत्येव भवति 'न ध्याख्यापृमूर्छिमदामिति' निष्ठानत्वनिषेधात्। तथा च पूरयति निरतिशयं
इति पूर्णमिति व्युत्पत्तिः। कर्मणि निष्ठायां त्वन्येन वर्धितमित्यनिष्टं प्रसज्यत इति कर्तरि निष्ठा
ध्येयम्। ८. कार्यानुमेयेति यावत्।

गतमात्मप्रत्ययमीरितम्। यस्मात्पूर्णमिदं साक्षात्तादात्म्यं तेन वर्ण्यते ॥ अज्ञातमिथ्याविज्ञाततत्त्वमात्रैकनिह्नुत
सम्यग्ज्ञानं यतस्तस्मात्पूर्णं तज्ज्ञेयमुच्यते" ॥ ७-११ ॥ इति। काण्डारम्भमुक्त्वा पूर्णवाक्यस्य
तात्पर्यमाह—कार्येति। मिथ्याभूतं कार्यकारणसंबन्धमाश्रित्य तात्पर्येण ब्रह्मव्याख्यानस्य फलमाह—
सत्यात्मज्ञाने कार्यादिस्तादर्थ्येन कल्पितस्य कृतफलतया पुनरनुपयोगात्तन्निषेधार्थं पूर्णवाक्यमित्याह—

ह्मेत्यर्थः । [1]तत्संपूर्णमाकाशवद्व्यापि निरन्तरं निरुपाधिकं च । [2]तदेवेदं सोपाधिकं नामरूपस्थं [4]व्यवहारपन्नं पूर्णं [5]स्वेन रूपेण परमात्मना व्याप्येव नोपाधिपरिच्छिन्नेन विशेषात्मना । तदिदं विशेषापन्नं [6]कार्यात्मकं ब्रह्म पूर्णा[7]त्कारणात्मन उदच्यत उद्रिच्यत [8]उद्गच्छतीत्येतत् । यद्यपि कार्यात्मनोद्रिच्यते तथाऽपि यत्स्वरूपं पूर्णत्वं [9]परमात्मभावं तन्न[10] जहाति पूर्णमेवोद्रिच्यते । पूर्णस्य कार्यात्मनो ब्रह्मणः पूर्णं पूर्णत्वमादाय

वयवार्थमुक्त्वा समुदायार्थमाह— तत्संपूर्णमिति । **अदः पूर्णमित्यनेन लक्ष्यं तत्पदार्थं दर्शयित्वा त्वंपदार्थं दर्शयति**—तदेवेति । **कथं सोपाधिकस्य पूर्णत्वमित्याशङ्क्याऽऽह**—स्वेनेति । [11]**व्यावर्त्यमाह**—नोपाधीति । [12]**न वयमुपहितेन [13]विशिष्टेन रूपेण पूर्णतां वर्णयामः किंतु केवलेन स्वरूपेणेत्यर्थः । यौ तत्त्वंपदार्थावुक्त्वा तावेव वाच्यौ कथयति**—तदिदमिति । **कथं कार्यात्मनोद्रिच्यमानस्य पूर्णत्वमित्याशङ्क्याऽऽह**—यद्यपीति । **लक्ष्यपदार्थैक्यज्ञानफलमुपन्यस्यति**— पूर्णस्येति ।

“अदः” यह कार्यानुमेय सर्वनाम है । इसका अर्थ वह परब्रह्म है । ब्रह्म सम्पूर्ण है अर्थात् आकाश के समान व्यापक, निरन्तर और निरुपाधिक है । “इदम्” अर्थात् (उक्त तत्पदलक्ष्य) वही यह नामरूपादि उपाधिविशिष्ट शब्द-प्रत्ययगोचर “पूर्णम्” अर्थात् सोपाधिक पूर्ण है, अपने निरुपाधिक परमात्म स्वरूप से व्यापक है, उपाधि परिच्छिन्न विशेष रूप से व्यापक नहीं है । वही यह विशेषता को आपन्न (त्वंपदवाच्य) कार्यात्मक ब्रह्म “पूर्णात्” अर्थात् (तत्पदवाच्य) कारण ब्रह्म से “उदच्यते” अर्थात् उद्भव होता है यानी उत्पन्न होता है । यद्यपि यह कार्यरूप से उत्पन्न होता है; तदापि जो भी इसका परमात्म-

---

१. ब्रह्म । २. उक्तं तत्पदलक्ष्यम् । ३. सोपाधिकत्वमेव विशदयति—नामेति । नामाद्युपाधिविशिष्टमित्यर्थः । ४. शब्दप्रत्ययगोचरः । ५. निरुपाधिकेन । ६. त्वंपदवाच्यम् । ७. तत्पदवाच्यात् । ८. उद्गच्छति —उत्पद्यते घटाकाशो महाकाशादिवेत्यर्थः । ९. परमात्मभावं तन्न जहातीति—परमात्मभावात्मकं तत्पूर्णत्वं न जहातीत्यर्थः । १०. (पूर्ण)स्वभावत्यागायोगात् । ११. स्वेनेत्यादिविशेषणव्यावर्त्यम् । १२. नोपाधिपरिच्छिन्नेनेति भाष्यार्थमाह—न वयमुपहितेनेति । १३. विशेषात्मनेत्येतद्व्याचष्टे—विशिष्टेनेति । विलक्षणेनेत्यर्थः ।

इति ।। ननु कार्यादि ब्रह्मणि निषिद्धमिह निषिद्धघटवदन्यत्रास्तीति चेद्ब्रह्मणो न पूर्णता तस्य ब्रह्ममात्रत्वेऽपि स एव दोषः परिच्छिन्नाभिन्नस्य पूर्णत्वायोगात्तच्चेत्तुच्छमध्यक्षादिविरोधः स्यादित्याशङ्क्यान्यत्रास्तित्वकृतं दोषं तावन्निरस्यति—नेत्यादिना । न हीदं ब्रह्मणोऽन्यत्रास्ति भेदस्य दुर्निरूपत्वान्न च ततोऽर्थान्तरं स्वतः परतश्च सिध्यति जडत्वाच्चिदसंबन्धाच्चेत्यर्थः । अभेदप्रयुक्तदोषं प्रत्याह—परागिति । न हीदं प्रत्यगभिन्नं पराक्त्वेन भानादित्यर्थः । जडाजडयोर्भेदायोगाच्च न ब्रह्माभिन्नं तदित्याह—नेति । यथैतन्न व्यावृत्तं तथैवानुवृत्तमपि न भवतीत्यर्थः । तुच्छत्वनिमित्तदोषं निराह—नापीति । अपरोक्षप्रतीतेरर्थक्रियादृष्टेश्चेत्यर्थः ।। अन्वयव्यतिरेकाभावैर्जगतो दुर्निरूपत्वे फलितमाह—अव्यावृत्तेति । यस्मादिद जगदन्वयादित्यागेनाद्वयं स्वप्रकाशं ब्रह्मैव तस्मात्पूर्णस्येत्यादिवाक्येन यदैक्यं स्फुटमुच्यते तद्युक्तमित्यर्थः ।। ननु प्रत्यग्ब्रह्म ज्ञायते न वा न चेन्न पूर्णतानिश्चयो ज्ञायते चेज्ज्ञानस्य पृथग्भावान्न पूर्णत्वं तत्राऽऽह—अज्ञातेति । सर्वकल्पनाधिष्ठानतया तत्स्वरूपं ब्रह्म सम्यग्ज्ञानस्य विषयस्तस्य च वाक्यीयधीवृत्तिरूपस्य कार्यान्तर्गमाद्ब्रह्मैव यतो रूपमतोऽस्य युक्ता पूर्णतेत्यर्थः ।।

गृहीत्वाऽऽत्मस्वरूपैकरसत्वमापाद्य विद्ययाऽविद्याकृतं [1]भूतमात्रोपाधिसंसर्गजम[2]न्यत्वावभासं तिरस्कृत्य पूर्णमेवानन्तरमबाह्यं प्रज्ञानघनैकरसस्वभावं केवलं ब्रह्मावशिष्यते ।

यदुक्तं [3]ब्रह्म वा इदमग्र[4] आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीतित्तस्मात्तत्सर्वमभवदित्ये[5]षोऽस्य मन्त्रस्यार्थः । [6]तत्र ब्रह्मेत्यस्यार्थः पूर्णमद इति । इदं पूर्णमिति ब्रह्म वा इदमग्र आसीदित्यस्यार्थः । तथा च श्रुत्यन्तरम्—"[7]यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह" इति । [8]अतोऽदःशब्दवाच्यं पूर्णं ब्रह्म तदेवेदं पूर्णं कार्यस्थं नामरूपोपाधिसंयुक्तमविद्योद्रिक्तम् । तस्मादेव परमार्थस्वरूपादन्यदिव प्रत्यवभासमानम् । [9]तद्यदात्मानमेव परं पूर्णं ब्रह्म

उपक्रमोपसंहारयोरैकरूप्यमैक्ये श्रुतितात्पर्यलिङ्गं संगिरते—यदुक्तमिति । कथं पूर्णकण्डिकाया ब्रह्मकण्डिकया सहैकार्थत्वेनैकवाक्यत्वमित्याशङ्क्य तद्व्युत्पादयति—तत्रेत्यादिना । उपक्रमोपसंहारसिद्धे ब्रह्मात्मैक्ये कठश्रुतिं संवादयति—तथा चेति । ब्रह्मात्मनोरैक्यमुक्तमुपजीव्य वाक्यार्थमाह—अत इति । पूर्णं यद्ब्रह्मेति यच्छब्दो द्रष्टव्यः । उक्तमेव व्यनक्ति—तस्मादेवेति । संसारावस्थां दर्शयित्वा मोक्षावस्थां दर्शयति—तद्यदात्मानमिति । उक्ते विद्याफले वाक्योपक्रममनुकूलयति—तद्य

भावात्मक तत्पूर्णत्व है, उसे नहीं छोड़ता अर्थात् पूर्ण ही उत्पन्न होता है । "पूर्णस्य" अर्थात् कार्यात्मक ब्रह्म की "पूर्णम्" अर्थात् पूर्णता को ग्रहण कर, आत्मस्वरूप एकरसता को प्राप्त कर, विद्या के द्वारा अविद्याकृत कार्यकारण-संघात उपाधि के संसर्ग से होने वाले भेद प्रत्यय को तिरस्कृत कर "पूर्णमेव" अर्थात् अन्तरबाह्य-रहित, प्रज्ञानघन, एकरसस्वभाव केवल ब्रह्म ही शेष रह जाता है ।

जो पहले श्रुति में यह कहा गया है—'(परब्रह्म की सर्वभावापत्ति विद्या सापेक्ष न होने से) सृष्टि के पूर्व में हिरण्यगर्भ ही था, उसने केवल आत्मा को ही जाना, उससे उसे सर्वभाव की प्राप्ति हो गयी है' यही (पदार्थज्ञान-पुरःसर लक्ष्यार्थ की ऐक्यापत्ति रूप) इस मन्त्र का अर्थ है । वहाँ (ब्रह्म-कण्डिका में) 'ब्रह्म' इस पद का अर्थ है "पूर्णमदः" और "इदं पूर्णम्" यह (ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्) 'सृष्टि के प्रारम्भ केवल हिरण्यगर्भात्मक ब्रह्म था' इस श्रुति वाक्य का अर्थ है । ऐसी ही एक दूसरी श्रुति भी है 'जो चैतन्य वस्तु जीव उपाधि में सर्वबुद्धि की साक्षी रूप से रहती है; वही यहाँ ईश की उपाधि अज्ञान में रहती है और जो यहाँ रहती है; वही वहाँ रहती है' । इसलिए (ब्रह्मात्मैक्य उक्त होने से) जो 'अदः' शब्द वाच्य पूर्ण ब्रह्म है; वही "इदं पूर्णम्" अर्थात् कार्यरूप में स्थित नामरूपादि उपाधि विशिष्ट अविद्या से उत्पन्न है । इसलिए परमात्म स्वरूप से अन्य के समान प्रत्यवभासित

---

१. भूतमात्रा —कार्यकरणसंघातः । २. भेदप्रत्ययम् । ३. अग्रे प्रबोधात्प्रागपि इदं शरीरस्थं प्रमात्रादिसाक्षिभूतं त्वंपदलक्ष्यं ब्रह्मैवासीत् । ४. बृ. उ. १. ४. १० । ५. एष इति । तदुक्तं वार्तिके—"ब्रह्म वा इदमित्यादि मधुकाण्डे यदीरितम् । तदेव पूर्णमित्यादिवाक्येनेहोपसंहृतमिति" ॥ १७ ॥ एष इति—ब्रह्मकण्डिकोक्तः पदार्थज्ञानपुरःसरं लक्ष्यार्थयोरैक्यापत्तिरूप इत्यर्थः । ६. तत्र ब्रह्मेत्यादि—तत्र ब्रह्मकण्डिकायां ब्रह्मेति पूर्णमद इत्यस्यार्थ इत्येवं योजयन्ति । वस्तुतस्तूभयोरेकवाक्यत्वेन यथाश्रुतेऽपि नानुपपत्तिरिति ध्येयम् । ७. यदेवेहेति—यच्चैतन्यवस्तु जीवोपाधौ सर्वबुद्धिसाक्षितया वर्तते तदेवामुत्रेशोपाधावज्ञाने इत्यर्थः । ८. ब्रह्मकण्डिकायां ब्रह्मात्मदोरैक्यस्योक्तत्वात् । ९. तदात्मानमिति पाठः । १०. तृतीयाध्याये ।

विदित्वाऽहमदः पूर्णं ब्रह्मास्मीत्येवं पूर्णमादाय तिरस्कृत्यापूर्णस्वरूपताम विद्याकृतां [1]नामरूपोपाधिसंपर्कजामेतया ब्रह्मविद्यया *पूर्णमेव केवलमवशिष्यते। तथा चोक्तम् "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" इति।

यः सर्वोपनिषदर्थो [2]ब्रह्म स एषोऽनेन मन्त्रेणानूद्यत उत्तरसंबन्धार्थम्। ब्रह्मविद्या-

---

चोक्तमिति।

न केवलं ब्रह्मकण्डिकयैवास्य मन्त्रस्यैकवाक्यत्वं किंतु सर्वाभिरुपनिषद्भिरित्याह—यः सर्वोपनिषदर्थं इति। अनुवादफलमाह--उत्तरेति। तदेव स्फुटयति—ब्रह्मविद्येति। तस्माद्युक्तो ब्रह्मणो-

---

होता है। तब अपने को पूर्ण परब्रह्म जानकर 'मैं ही वह पूर्ण ब्रह्म हूँ' इस प्रकार पूर्णत्व को ग्रहण कर अविद्या उपादान नाम-रूपादि निमित्त अपूर्ण स्वरूपत्व को तिरस्कृत कर ब्रह्मविद्या के द्वारा केवल पूर्ण ही अवशिष्ट रह जाता है। कहा भी है—'इससे वह सर्वभावापन्न हो गया'।

जो सभी उपनिषदों का ब्रह्मात्मैक्य रूप अर्थ है; उसका इस मन्त्र में उत्तर ग्रन्थ से संबन्ध दिखाने के लिये अनुवाद किया जाता है। तथा जो खिलप्रकरण पठित होने से सामानाधिकरण्य से,

---

[1] अविद्योपादानिकां नामादिनिमित्तिकाम्। [2] ब्रह्मात्मैक्यमित्यर्थः। ब्रह्मशब्दरहितोऽपि क्वचित्पाठः।

---

*पूर्णमेव केवलमवशिष्यत इति। अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"क्षेत्रज्ञेश्वरभेदेन ह्यभिन्नं वस्त्वविद्यया। भिन्नं बोधात्तमोध्वस्तौ नेतीत्यस्माऽवशिष्यते॥ न भेदो न च संसर्गो नाप्यभावोऽवसीयते। तन्मूलाज्ञानविध्वस्तेर्यथोक्तागममानतः॥ स्रगज्ञानमनादाय तदुत्थैः संगतिः स्रजः। नैव संभाव्यते यद्वत्तथेहाऽऽत्मनि वीक्ष्यताम्॥ कार्यकारणयोर्ध्वस्तावपूर्वाद्युतिबोधतः। आत्मप्रत्ययमागम्यः स्वार्थ आत्माऽवशिष्यते॥ यादृगस्य हये रूपमात्मनैवावगम्यते। तावदेव हतान्ध्यस्य तदन्यानवशेषतः॥ यदेवेहेति च तथा मन्त्रोऽप्युच्चैर्जगाद नः। अन्यदेवेति च श्रुतिः कार्येतरनिषेधिनी॥ आत्मेतिदृष्टेर्मेयत्वं स्वार्थात्रगतितोऽपरम्। नान्यदुत्सहते वोढुमिति पूर्वम्वादिषम्"॥ २१-२७॥ इति। कथं तयोरैक्यधीर्भेदधीविरोधादित्याशङ्क्याऽऽह—क्षेत्रज्ञेति। वस्तुतः श्रुतिस्मृतियुक्तिप्रसिद्धेरभिन्नमपि वस्तु जीवेश्वरजगद्भेदेनाविद्यया भिन्नं प्रतिभाति ततश्च विद्ययाऽविद्याविध्वंसे निर्विशेषमेकमेवाऽऽत्मरूपं सिध्यतीत्यर्थः॥ निर्विशेषमात्मतत्त्वमवशिष्टमित्यश्लिष्टं भेदो वा संसर्गो वाऽन्यापोहो वा वाक्यार्थं इति स्थितेरित्याशङ्क्याऽऽह—नेत्यादिना। तत्र हेतुः—तन्मूलेति॥ वाक्योत्थज्ञानाद्भेदादिमूलाज्ञानाध्वंसेऽपि तत्संगतिरात्मनि स्वाभाविकी किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—स्रगिति। वीक्ष्यतामज्ञानोत्थैर्भेदादिभि. संगतिरज्ञानकृतैवेति शेषः॥ अज्ञानादात्मनि भेदादिसंबन्धेऽपि कथं तस्यैकरस्यमित्याशङ्क्याऽऽह—कार्येति। सकार्याविद्याध्वस्तावात्मा स्वरूपेणैव शिष्यते चेत्पूर्वकमन्यादृशतया सविशेषतेत्याशङ्क्याऽऽह—यादृगिति। देहादौ साक्षित्वलक्षण यद्रूपमविद्यादशायामस्य स्वरूपेणानुभूतं तदेव विद्यावस्थायां ध्वस्ताविद्यस्याऽऽत्मनो रूपं तद्ध्वस्तावन्यस्यानवशेषादतो युक्तमैकरस्यमित्यर्थः॥ तत्र श्रुतिं प्रमाणयति—यदेवेति। तदमुत्र यदमुत्र तदन्विहेति शेषसंग्रहश्चार्थः। तथेत्यैक्योक्तिः। अकार्यकारणं तत्त्वमित्यत्रापि श्रुतिमाह—अन्यदिति॥ आत्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीत्यात्मज्ञानेन सर्वस्य ज्ञेयत्वोपगमात्तन्निषेधश्रुतिः श्रुत्यन्तरविरुद्धेत्याशङ्क्याऽऽह—आत्मेति। तद्दृष्टिस्तावन्नानात्मानं गोचरयत्यात्मदृष्टित्वव्याघातान्न चानात्मा यद्विषयस्तत्त्वविरोधादात्मज्ञानेन सर्वज्ञानश्रुतिस्तु तदितरसर्वाभावात्तस्मात्कार्येतरनिषेधसिद्धिरित्यर्थः॥

साधनत्वेन हि वक्ष्यमाणानि साधनान्योंकारदमदानदयाख्यानि विधित्सितानि ' प्रकरणसंबन्धात्सर्वोपासनाङ्गभूतानि च ।

*अत्रैके वर्णयन्ति—पूर्णात्कारणात्पूर्णं कार्यमुद्रिच्यते । उद्रिक्तं कार्यं वर्तमान कालेऽपि पूर्णमेव परमार्थवस्तुभूतं द्वैतरूपेण । पुनः प्रलयकाले पूर्णस्य कार्यस्य पू

ऽनुवाद इति शेषः । कथं ²तर्हि सर्वोपासनशेषत्वेन विधित्सितत्वमोंकारादीनामुक्तमत आह—खिलेति

अद्वितीयं ब्रह्मेत्युत्सर्गप्रवृत्तं शास्त्रं प्रलयावस्थब्रह्मविषयं सृष्टिशास्त्रं तु विशेषप्रवृत्तं तद पवादस्ततो द्वैताद्वैतरूपं ब्रह्म सर्वोपनिषदर्थस्तदेव ब्रह्मानेन मन्त्रेण संक्षिप्यत इति भर्तृप्रपञ्चपक्षमुप पयति—अत्रेत्यादिना । कार्यकारणयोरुत्पत्तिकाले पूर्णत्वमुक्त्वा स्थितिकालेऽपि तदाह—उद्रि मिति । प्रलयकालेऽपि तयोः पूर्णत्वं दर्शयति—पुनरिति । कालभेदेन कार्यकारणयोरुक्तां पूर्णतां नि

समस्त उपासनाओं के अङ्गभूत हैं, उन वक्ष्यमाण ओङ्कार, दम, दान, दयासंज्ञक साधनों का ब्रह्मवि के साधन रूप से विधान करना अभीष्ट है ।

यहाँ (द्वैताद्वैत मत वाले भर्तृप्रपञ्चादि) कुछ विचारक ऐसा कहते हैं कि पूर्ण कारण से पू कार्य होता है । उत्पन्न हुआ कार्य वर्तमान काल में परमार्थ-वस्तुभूत द्वैतरूप से पूर्ण ही है । पुनः प्रल काल में पूर्ण कार्य की पूर्णता को लेकर अर्थात् आत्मा में धारण कर कारणरूप पूर्ण ही

---

१ एकप्रकरणपठितत्वेन सामानाधिकरण्यात् साहचर्यादिति यावत् । २. तर्हि—ओङ्कारादीनां ब्रह्मवि साधनत्वेन विधित्सितत्वाभ्युपगमे । ३. १३५६पृष्ठभाष्ये द्रष्टव्यम् ।

---

* अत्रैके वर्णयन्तीत्यारभ्य तदसदित्यतः प्राक्तनपूर्वपक्षभाष्यतात्पर्याविष्करणपराणि वार्तिकान्युपन्यस्यन्ते— "एवं यथोदिते तावत्प्रमाणार्थेऽप्यवस्थिते । अन्यथेदं वचः केचिद्व्याचख्युरतिनैपुणात् ॥ पूर्णमित्यादिवाक्य षष्ठान्त्यवचसा सह । वक्तुकामो हि संबन्धमेवं यत्नादचीक्लृपत् ॥ द्वैताद्वैतात्मकं ब्रह्म मैत्रेय्यै वर्णितं हि यत्र हि द्वैतमित्युक्त्या यत्र त्वस्येति चाऽऽदरात् ॥ यद्यद्वैतं परं ब्रह्म तत्र स्यात्परमार्थतः । कल्पितं प्रसक्तं तोयबुद्धिरिवोषरे ॥ मृषात्वाद्भेदजातस्य सर्गस्थित्याद्यसंभवात् । सर्गस्थितिलयानां स्यादन्वाख्यानं मृषैव श्रवणप्रतिपत्ती च व्यर्थे स्यातां तथाऽद्वये । अथ स्वेनैव रूपेण द्वैतमस्तीति भण्यते ॥ अन्वाख्यानं सर्गादीनां तथा भवेत् । तथाऽप्यद्वैतसंदृष्टेर्मृषात्वं स्याद्विरोधतः ॥ परिकल्पिततादोष एवमत्र प्रसक्ते तद्दोषापनुनुत्सायै पूर्णमित्यादिका श्रुतिः ॥ न कश्चिदपि दोषोऽत्र यथा तदभिधीयते । स्वानुभूत्यनुसारेण सुस्थं भवेदतः ॥ अदः परोक्षमत्यन्तं कारणं पूर्णमुच्यते । व्योमवद्व्यापि सद्ब्रह्म सर्वतोऽनवखण्डितं ब्रह्मणो याऽद्वयावस्था सैव तावदिहोदिता । एवं चेदद्वयं ब्रह्म द्वैतावस्था न सिध्यति ॥ इतिदोषनिषेधार्थं पूर्णमितीर्यते । यथोक्तावस्थयोर्मा भून्मृषात्वं ब्रह्मणः सदा ॥ पूर्णब्रह्मपरिज्ञानाव्यतिरेकत्वहेतुतः । अदोवत् मप्येतत्पूर्णमेवावसीयताम् ॥ पूर्णेनाभेदतः कार्यं पूर्णं स्यान्न मृषा श्रुतेः ॥ यद्यतो नातिरेकेण वर्तते निश्चितिः ॥ एवं तर्ह्येकरूपेऽस्मिस्तत्त्वे सत्ये समर्थिते । ततः सर्गाद्यभावः स्यादेकरूपतया स्थितेः ॥ नैवं श्रुतिः प्राह पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णात्कारणतः पूर्णं द्वैतमेतदुच्यते ॥ यस्मादुद्रिच्यमानं हि द्वैतं नैवातिरिच्यते तदेवोद्रेचनं चेत्स्याद्द्वैतस्येति मतं यदि ॥ नैतदेवं कुतो यस्माद्दृष्टहानं प्रसज्यते । प्रत्यक्षतो हि दृष्टोऽयं द्वैत विषयः स्फुटः ॥ तथा दर्शनतः सिद्धो विधितश्चावसीयते । प्रामाण्योच्छेद एव स्याच्छ्रुतेरेवं समर्थने पारमार्थ्यं क्वचिच्छास्त्रं क्वचिच्चाप्यनृतात्मताम् । विदधन्मानतां जह्यात्परस्परविरोधतः ॥ पूर्णत्वेनाजहद्द्वै

नादायाऽऽत्मनि धित्वा पूर्णमेवावशिष्यते कारणरूपम् । एवमुत्पत्तिस्थितिप्रलयेषु त्रिष्वपि कालेषु कार्यकारणयोः पूर्णतैव । सा चैकैव[1] पूर्णता कार्यकारणयोर्भेदेन [2]व्यप-

ति—एवमिति । कार्यकारणे द्वे पूर्णे चेत्तर्हि कथमद्वैतसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—सा चेति । कथं द्वयोरुक्तं पूर्णत्वं तदाह—कार्यकारणयोति । एका पूर्णता व्यपदिश्यते च द्वयोरिति स्थिते लब्ध-

ता है । इस प्रकार उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय रूप तीनों कालों में कार्य और कारण की पूर्णता ही है । भागसाधकाभाव होने से) वह एक पूर्णता ही कार्य-कारण भेद से उपपादित की जाती है । इस

---

[1] विभागसाधकाभावात्तस्याः । [2] कार्यकारणभेदतो भेदेन व्यपदेशार्हा ।

त्रिष्वप्यध्वसु वर्तते । द्वैताद्वैतात्मकं ब्रह्म पूर्णत्वेनाविभागतः ॥ कुतोऽविभागो मानाच्चेदुभयोरप्यवस्थयोः । पूर्णादित्यादिवचनान्महाप्रलय आत्मनि ॥ इदं च द्वैतमस्त्येव तथाऽदोऽद्वैतमेव च । पूर्णत्वाख्याजहद्वृत्त्या समुद्रोर्मिवदीक्ष्यताम् ॥ अग्रे चलत्वमूर्मीणां मध्य ईषच्चलात्मता । निष्कम्पत्वं तथा मूले समुद्रः सर्वरूपभृत् ॥ दर्शता यौगपद्येन वृत्तीरूर्मिभिरात्मनः । अनुभूयन्त एकत्र देवदत्तादिके तथा ॥ निष्कम्पा देवदत्तस्य वृत्तिः स्यात्परमात्मना । ईषत्प्रचलिता प्राणभावेनेत्यवगम्यते ॥ विराड्भावेनातितरां चण्डप्रचलितोर्मिवत् । ऊर्म्यं-शवत्पिण्डभावे नामरूपक्रियात्मना ॥ जनिस्थितिलयेष्वेवं त्रिषु कालेषु पूर्णता । कार्यकारणयोर्ज्ञेया द्वैताद्वैत-स्वभावयोः ॥ सा चैकैवाविभागत्वात्कार्यकारणभेदतः । भेदेन व्यपदेशार्हा सर्वमेवं समञ्जसम् ॥ आविर्भाव-तिरोभावैः कार्यकारणरूपिभिः । समुद्रवन्नृत्यति च प्रत्यवस्थं विभुः स्थितः ॥ एवं द्वैतस्य सत्यत्वे कर्म-काण्डस्य मानता । अनन्तपुरुषार्थाप्तिरिष्यते कर्मकाण्डतः ॥ यदा तु कल्पितं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः । उच्छिन्नं कर्मकाण्डस्य प्रामाण्यं विषयादृते । एकदेशस्य चामात्वे वेदस्याप्यप्रमाणता । सर्वनाशो भवेदेवं सर्वाप्रामाण्य-हेतुतः ॥ अतो विरोधानुत्त्यर्थं सत्यत्वप्रतिपत्तये । कार्यकारणयोः शास्त्रं पूर्णमित्यादिनाऽवदत् ॥ प्रत्यक्षादीनि मानानि भेदग्राहीणि सर्वदा । तेषां चाप्यप्रमाणत्वं प्रापदद्वैतवादिनः" ॥ २८-६२ ॥ इति । पूर्णवाक्यमखण्डा-द्वयप्रत्यग्ब्रह्मपरं व्याख्यातमिदानीं भर्तृप्रपञ्चव्याख्यानमुत्थापयति—एवमिति । प्रमाणं पूर्णवाक्यम् ॥ कथमन्यथा व्याख्यानमित्याशङ्क्य तदर्थं परोक्तसंबन्धमनुद्रवति—पूर्णमित्यादीति । पूर्णवाक्यस्य यत्र हीत्यादि-वाक्येन संबन्धं वक्तुमिच्छन्तस्तदर्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण विचार्य कल्पितवन्त इत्यर्थः । षष्ठाध्यायावसानिक-वाक्यप्रतीकवाक्यग्रहार्थो हिशब्दः ॥ कल्पितं वाक्यार्थं दर्शयति—द्वैतेति । किलेत्यसंमतिरुक्ता । मैत्रेयीब्राह्मणे भिन्नाभिन्नं ब्रह्मेति वाक्य नास्ति चेत्तत्राऽऽह—यत्र हीति । यत्र हि द्वैतमिति द्वैतात्मकं ब्रह्मोक्त्या यत्र त्वस्येत्यद्वैतात्मकं तदुक्तं तथाच वाक्याभ्यां भिन्नाभिन्नब्रह्मसिद्धिरित्यर्थः ॥ संबन्धं वक्तुकामैरर्थश्चेदित्थं कल्पितस्तर्हि कोऽसौ संबन्ध इत्याशङ्क्य तं वक्तुमाक्षिपति—यदीति । तत्रेति मैत्रेयीब्राह्मणोक्तिः । अद्वैतं द्वैतं वा वास्तवमिति विकल्प्याऽऽद्ये द्वैतस्य मृषात्वप्रसक्तिरित्युक्तं तत्र हेतुगर्भं दृष्टान्तमाह—तोयेति । ऊषरे तोयधीवद्द्वैतधियो भ्रमत्वादित्यर्थः ॥ इष्टमेव तस्य कल्पितत्वमित्याशङ्क्य निर्विषयतया सृष्ट्यादिश्रुतेर-प्रामाण्यप्रसक्तिदोषमाह—मृषात्वादिति ॥ तत्रैव दोषान्तरमाह—श्रवणेति । अद्वये वास्तवे सति मननादि-सहितं श्रवणं तत्पूर्णतावधिरनाधेयातिशयात्मन्यफले स्यातां तथाचोपनिषदप्रामाण्यमित्यर्थः ॥ द्वितीयमुत्थापयति अथेति ॥ द्वैतस्य स्वरूपेण सत्त्वे फलितमाह—अन्वाख्यानमिति । सर्गादिश्रुतेर्मानत्वमङ्गीकृत्य दूषयति—तथापीति । अद्वैतदृष्टेरपि द्वैतदृष्टिवत्प्रमात्वमाशङ्क्याऽऽह—विरोधत इति । नैकत्र ते दृष्टिप्रमाणे तमः-प्रकाशदृष्टिवदित्यर्थः ॥ कल्पद्वये दर्शितं दोषं निगमयति—परिकल्पितेति । अत्रेति कल्पद्वयोक्तिः । आक्षेपो-

दिश्यते । एवं च द्वैताद्वैतात्मकमेकं ब्रह्म । यथा किल समुद्रो जलतरङ्गफेनबुद्बुदाद्या एव । यथा च जलं सत्यं तदुद्भवाश्च तरङ्गफेनबुद्बुदादयः समुद्रात्मभूता एवाऽऽविर्भाव तिरोभावधर्मिणः परमार्थसत्याः । एवं सर्वमिदं द्वैतं परमार्थसत्यमेव जलतरङ्गा

मर्थमाह—एवं चेति। एकं ह्यनेकात्मकमिति विप्रतिषेधमाशङ्क्य दृष्टान्तेन निराचष्टे—यथा किले एवमेकं ब्रह्मानेकात्मकमिति शेषः । ब्रह्मणो द्वैताद्वैतात्मकत्वेऽपि सत्यमद्वैतमसत्यमितरदित्याशङ्

प्रकार द्वैत-अद्वैतात्मक रूप एक ही ब्रह्म है । जिस प्रकार समुद्र जल, तरङ्ग,फेन, बुद्बुद इत्यादि है । जिस प्रकार उसमें जल सत्य है, वैसे ही जल में उत्पन्न होने वाले आविर्भाव-तिरोभावधर्मी फेन, बुद्बुद आदि भी समुद्ररूप और परमार्थतः सत्य हैं । इस प्रकार यह जलतरङ्गादिस्थानीय समुद्रजलस्थानीय सारा द्वैत परमार्थतः सत्य ही है । इस प्रकार द्वैत के सत्य हो जाने पर कर्म

त्तरत्वेन मन्त्रमवतारयति—तद्दोषेति । शङ्कितदोषस्येष्यमाणापनोदार्थं पूर्णवाक्यमित्यर्थः ।। कथमत्र तन्निर मित्याशङ्क्याऽऽह—नेति । द्वैताद्वैतयोरन्यतरस्य मृषात्वप्रयुक्तो दोषो यथा न भवति तथा द्वयोरवस्थयोरे मस्मिन्मन्त्रे कथ्यतेऽतः स्वानुभवादद्वैतस्याद्वैतस्य च श्रुतिवशादिष्टत्वात्कर्मकाण्डप्रामाण्यादि संभवतीत्यर्थः तात्पर्यमुक्त्वा पूर्णमद इत्यस्यार्थमाह—अद इति ।। वाक्यमुपसंहरति—ब्रह्मण इति । पूर्णमिदमिति वा शङ्कापूर्वकमादत्ते—एवं चेदिति ।। द्वयोरवस्थयोर्वास्तवत्वं मन्त्रप्रकाश्यमित्युक्तं कथं निर्वहेदित्याशङ्क्याऽऽह यथेति । तत्र हेतुः—सदेति । तयोरवस्थयोः सदा सत्त्वादित्यर्थः ।। अद्वैतावस्था यद्यपि सदा सती वास्तवं तथाऽपि न द्वैतावस्था तथेत्याशङ्क्याऽऽह—पूर्णेति । ब्रह्मैव पूर्णं परितो ज्ञप्तिरूपं तस्मादव्यतिरेकात्तत्का वत्कार्यमपि पूर्णमेवेत्यर्थः ।। तथाऽपि कथं वास्तवमित्याशङ्क्याऽऽह—पूर्णेनेति । तस्य पूर्णाभिदे मानमाह— श्रुतेरिति । पूर्णमिदमितिश्रवणादित्यर्थः । पूर्णात्कार्यस्याव्यतिरेकेऽपि कथं वस्तुत्वं तत्राऽऽह—यद्यत इति अत्र घटशरावाद्युदाहरणम् ।। पूर्णादित्यादिवाक्यस्य व्यावर्त्यां शङ्कामाह—एवं तर्हीति । अवस्थाद्वयस्य कार्यकारणत्वव्यवस्थानुपपत्तिरित्यर्थः । एकरूपत्वमत्र द्वैताद्वैतात्मना द्रष्टव्यम् ।। तदुत्तरत्वेन वाक्यमवतार —नैवमिति । तां व्याकरोति- पूर्णादिति ।। अद्वैतकार्यत्वे द्वैतस्योक्ते सिद्धान्त्याशङ्कते—यस्मादिति । द्वैतस्याद्वै दुद्रेचनमुद्भवनमिष्टं चेत्तर्हि तस्माददैतादुद्गच्छन्न ततोऽतिरिच्यते किन्तु तत्र कल्पितं तदेव स्यान्न हि रज्जो रुद्गच्छन्नुरगस्तस्माद्भिद्यते तथाच विवर्तवादः स्यादित्यर्थः । दृष्टान्तद्योतको हिशब्दः । द्वैतस्य मिथ्यात्वानु पत्तेर्मैवमित्येकदेशी दूषयति—नैतदिति । मिथ्यात्वासंभवे हेतुं पृच्छति—कुत इति । एकदेशी हेतुमाह— यस्मादिति । प्रसङ्गं प्रकटयितुं दृष्ट व्याचष्टे—प्रत्यक्षतो हीति । उक्तदृष्टौ संप्रतिपत्त्यर्थो हिशब्दः । दृष्टत्ववि श्रुतत्वमपि तस्यास्तीत्याह—तथेति । तथा दर्शनतः सिद्धस्तथा विधितश्चेति योजना । द्वैतस्य रज्जुसर्पव न्मिथ्यात्वोक्तौ न दृष्टत्वहानिरेव किन्तु कर्मश्रुतेर्विषयाभावादप्रामाण्यं च स्यादिति फलितमाह—प्रामाण्यं तदप्रामाण्येऽपि का हानिर्ब्रह्मात्मवादिनामित्याशङ्क्य ज्ञानकाण्डस्यापि तत्प्रसक्तेर्मैवमित्याह—पारमार्थ्यमिति । अद्वैतविषयः प्रथमः क्वचिच्छब्दः ।। श्रुतावष्टम्भेनाद्वैतवद्द्वैतमपि पारमार्थिकमिति समर्थितमिदानीं तत्र हेत्वन्तरमाह—पूर्णत्वेनेति । ब्रह्म द्वैताद्वैतात्मकमुत्पत्तिस्थितिलयकालेषु त्रिष्वपि वर्तते पूर्णत्वेनावस्थाद्वय परित्यज्यैव सदावस्थानादन्यतरावस्थानत्यागे पूर्णत्वायोगात्तस्मात्तेन वस्तुरूपेणावस्थयोरविभागात्तयोरपि वास्तवत्वमित्यर्थः ।। अवस्थाद्वयस्य वस्तुरूपेणाविभागे मानं पृच्छति—कुत इति । परिहरति—पूर्णादित्या दीति । पूर्णात्पूर्णमुदच्यत इति द्वैताद्वैतयोः कार्यकारणत्वमुक्त्वा पूर्णस्येत्यादिना प्रलयावस्थायामात्मन्यवस्था

नीयं समुद्रजलस्थानीयं तु परं ब्रह्म। एवं च किल द्वैतस्य सत्यत्वे कर्मकाण्डस्य प्रामाण्यं
दा पुनर्द्वैतं द्वैतमिवाविद्याकृतं मृगतृष्णिकावदनृतमद्वैतमेव परमार्थतस्तदा किल कर्म-
ण्डं विषयाभावादप्रमाणं भवति । तथा च विरोध एव स्यात् । वेदैकदेशभूतोपनिष-
माणं परमार्थाद्वैतवस्तुप्रतिपादकत्वादप्रमाणं कर्मकाण्डमसद्द्वैतविषयत्वात् । तद्विरोध-

यथा चेत्यादिना । द्वैतस्य परमार्थसत्यत्वे कर्मकाण्डश्रुतिमनुकूलयति— एवं चेति । विपक्षे दोष-
यदा पुनरिति । अस्तु कर्मकाण्डाप्रामाण्यं नेत्याह—तथा चेति । विरोधोऽध्ययन[2]विधेरिति शेषः ।
विरोध साधयति—वेदेति । कथं [3]तर्हि विरोधसमाधिस्तत्राऽऽह—तद्विरोधेति ।

प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है । जब द्वैत केवल द्वैत सा तथा अविद्याकृत और मृगतृष्णा के समान
है, परमार्थतः अद्वैत ही सत्य है तो विषय के अभाव होने से कर्मकाण्ड अप्रामाणिक हो जाता
ऐसा होना पर परस्पर विरोध होने लग जायगा क्योंकि परमार्थ अद्वैत वस्तु का प्रतिपादन करने
वेद की एकदेश-भूत उपनिषदें प्रामाणिक हैं, किन्तु असत् द्वैतविषयक होने से कर्मकाण्ड अप्रामा-
है। अतः उस विरोध का परिहार करने की इच्छा से ही 'पूर्णमदः' इस श्रुति मन्त्र द्वारा समुद्र के

---

१. यदा पुनर्द्वैतमित्यादि—द्वैत परमार्थतोऽद्वैतमेव सदविद्याकृतं द्वैतमिव अविद्यया द्वैतमिव भवतीत्यर्थः । परमार्थतोऽन्यात्मकस्याविद्ययाऽन्यथाभाने दृष्टान्तमाचष्टे—मृगतृष्णिकावदिति । यथा परमार्थतो मरीचिकैव सत्यविद्यया तोयवद्भाति तथैवेत्यर्थः। ततश्चानृतमिति योजना । २. प्रमाणाप्रमाणयोरध्ययनविधानात् । ३. तर्हीति—द्वैतस्य मिथ्यात्वे यथोक्तविरोधश्चेत्तर्हीत्यर्थः ।

द्वयस्याविभागेनावस्थानं दर्शयता द्वैताद्द्वैतात्मकमेवाऽऽत्मवस्तु परिशिष्टमित्यर्थः ॥ प्रलयावस्थायामद्वैतावस्थै-
वास्ति नेतरा लीनत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—इदं चेति । भेदेनासदपि द्वैतं ब्रह्मरूपेणास्तीत्यत्र हेतुदृष्टान्तावाह—
पूर्णत्वेति । यथा समुद्रात्मन्यूर्म्यादिविभागस्य जलात्मत्वेनैकरूपत्वस्य च सदा सत्त्वं तथा पूर्णत्वाख्यवस्तुनो-
वस्थाद्वयमजहतः सदाऽवस्थानात्तत्रावस्थाद्वयं प्रलयेऽप्यस्तीत्यर्थः ॥ दृष्टान्तं प्रपञ्चयति—अग्र इति ॥ तमनूद्य
दार्ष्टान्तिकमाह—यथेति । आत्मनः समुद्रस्योर्मिद्वारा यौगपद्येनैताश्चलाचलत्वादिवृत्तयो यथाऽनुभूयन्ते तथैकत्र
मैत्रादिक्षेत्रज्ञे युगपदेता वृत्तीरालोचयेदित्यर्थः ॥ दार्ष्टान्तिकं व्याचष्टे—निष्कम्पेति । प्राणशब्दः सूत्रार्थः ॥
पिण्डभावश्चतुर्विधभूतग्रामत्वम् । अत्यन्तप्रचलितादपि प्रचलितत्वं व्यष्टिदेहग्रहे केनाऽऽकारेणेत्यपेक्षायामाह—
नामेति ॥ अवस्थाद्वयस्य वस्तुत्वमुपसंहरति—जनीति ॥ द्वैतावस्थायामन्या पूर्णताऽन्या च द्वैतावस्थाया-
मित्याशङ्क्याऽऽह—सा चेति । अविभागत्वाद्वस्तुतः पूर्णता विभागसाधकाभावादित्यर्थः । कारणं पूर्णं कार्यं
पूर्णमितिभेदोक्तिस्तर्हि कथमित्याशङ्क्याऽऽह—कार्येति । द्वैतमद्वैतं च वास्तवमित्युक्तं तन्निगमयति—सर्वमिति ॥
अद्वैतावस्था कारणं कार्यं द्वैतावस्थयोरेव तद्भावो ब्रह्म तूभयतो बहिरेकरसमित्याशङ्क्याऽऽह—आविर्भावेति ।
न हि स्वातन्त्र्यमवस्थयोरास्थातुं शक्यमिति भावः ॥ द्वैतस्य सत्यत्वे फलितमाह एवमिति । किं कर्मकाण्डस्य
मानत्वेनेति तदाह—अनन्तेति ॥ द्वैतस्य सत्यत्वे लाभमुक्त्वा तन्मिथ्यात्वे दोषमाह—यदेति ॥ तदप्रामाण्यो-
पगमे पारमार्थ्यं क्वचिदित्यादिनोक्तं दूषणमवतरेदित्यभिप्रेत्याऽऽह—एकदेशस्येति । उपनिषद्भागो वेदः ।
सर्वनाशः स्वर्गापवर्गयोरयोगः ॥ उक्तदोषनिरासस्तर्हि कथमित्याशङ्क्याऽऽह—अत इति । द्वैतसत्यत्वानङ्गीकारे
पूर्वोक्तदोषोऽतःशब्दार्थः । अवदत्पूर्णत्वमिति शेषः ॥ न केवलं श्रुतेरेव द्वैतसत्यत्वं किंत्वध्यक्षादेरपीत्याह—
प्रत्यक्षादीनीति ॥

परिजिहीर्षया श्रुत्यैतदुक्तं ❀कार्यकारणयोः [1]सत्यत्वं समुद्रवत्पूर्णमद इत्यादिनेति।

तदसत्। विशिष्टविषयापवादविकल्पयोरसंभवात्। न हीयं [2]सुविवक्षिता [3]कल्पना कस्मात्। यथा क्रियाविषय [4]उत्सर्गप्राप्तस्यैकदेशेऽपवादः क्रियते। यथा [5]ऽहिंसन्सर्वं भूतान्यन्य

प्राप्तं भर्तृप्रपञ्चप्रस्थानं प्रत्याचष्टे—तदसदिति। विशिष्टम[6]द्वितीयं ब्रह्म तद्विषयोत्सर्गाप दयोर्विकल्पसमुच्चययोश्चासंभवं वक्तुं प्रतिज्ञाभागं विभजते—न हीति। [7]तत्र प्रश्नपूर्वकं हेतुं विवृ —कस्मादित्यादिना। यथेत्यादिग्रन्थस्य न च तथेत्यादिना संबन्धः। क्रियायामुत्सर्गापवादसंभावना हरति—यथेत्यादिना। तथाऽन्यत्रापि क्रियायामुत्सर्गापवादौ द्रष्टव्याविति शेषः। वैधर्म्यदृष्टान्तस्य दा

समान इस कार्यकारण की सत्यता बतलायी गई है।

(इस पर सिद्धान्ती कहता है—) यह कहना मिथ्या है, क्योंकि निर्विकल्प ब्रह्म में विशि विषय अपवाद और विकल्प संभव नहीं हैं। द्वैताद्वैतात्मक ब्रह्म की यह कल्पना कोई सुशोभना क नहीं है। ऐसा क्यों कहते हो? जिस प्रकार क्रिया के विषय में उत्सर्ग से प्राप्त (हिंसानिषेधादि) हिं

---

१. सत्यत्वमिति। न केवलं श्रुतेरेव द्वैतसत्यत्वं किंत्वध्यक्षादेरपीत्युक्तं वार्तिके—"प्रत्यक्षादीनि मानानि भे ग्राहीणि सर्वदा। तेषां चाप्यप्रमाणत्वं प्रापदद्वैतवादिनः" ॥ ६२ ॥ इति। २. सुशोभना। ३. द्वै द्वैतात्मकं ब्रह्मेति कल्पना। ४. हिंसानिषेधादेः। ५. छा. उ. ८. १५. १। ६. विशिष्टशब्दार्थमाह— अद्वितीयमिति। ७. न हीति प्रतिज्ञायाम्।

❀ कार्यकारणयोः सत्यत्वमिति फक्किकाटिप्पणे प्रत्यक्षादीनि मानानि भेदग्राहीणीत्युक्तं तत्राहुर्वार्तिककृत —"भेदग्राहि न नो मानं लौकिकं वैदिकं च यत्। अविचारितसंसिद्धिस्तस्माद्भेदोऽवसीयताम् ॥ न स्व परतो वाऽयं भेदो वस्तुन ईक्ष्यते। सर्वस्यैव स्वतोऽभित्तेस्तदन्यस्याप्यभेदतः ॥ वस्तु वस्त्वन्तरं भिन्द्याद्योगाद् विभागतः। योगे नातिशयैकत्वात्तयोश्चाप्येकरूपतः ॥ विभागेऽपि न भेदः स्यात्तयोरेकात्मना स्थितेः। अ दीयोऽपि नान्यस्य भेदः स्यात्कल्पनां विना ॥ मेययाथात्म्यसंलेहि मानं मानत्वमश्नुते। भेदं न लभते मेयादन्यत्र न प्रमा ॥ सतो न व्यतिरेकेण भेदो नापि सदन्वयात्। यथैवं नासतोऽप्येवं भेदो नैवावसीयते सर्वं सदेव यस्येष्टमथवाऽसदिदं जगत्। भेदः किमाश्रयस्तस्य विरोधान्न द्वयाश्रयः ॥ अन्योपेक्षं पृथक्त्वं चेत्त एवापृथग्घटः। बलीयानन्तरङ्गत्वाद्बहिरङ्गं प्रबाधते ॥ द्रव्याद्भिन्नं पृथक्त्वं चेदनवस्थैति सत्वरा। द्रव्य पृथक्त्वं चेदपृथक्स्यादिदं जगत ॥ स्वतश्चेद्वस्तुनो भेदो वस्तु शून्यं प्रसज्यते। आपेक्षिकोऽपि क्लृप्तत्वान्न रज्जुसर्पवत् ॥ इत्येवमादि बहुशो भिन्नाभिन्नत्वदूषणम्। प्रागप्युक्तं तदत्रापि संधेयं वस्तुसिद्धये" ॥ ८४-९४ ॥ इति। यत्तु प्रत्यक्षादीनि भेदग्राहीणि तत्राऽऽह—भेदेति। अन्योन्याश्रयत्वादित्यर्थः। तद्धियो गतिमाह—अवि चारितेति। प्रामाणिकत्वाभावस्तच्छब्दार्थः ॥ किंच स्वस्मादेव भेदोऽन्यस्माद्वा नोभयथाऽपीत्याह—नेति। वस्तुनः स्वस्माद्भेदो न प्रामाणिकोऽस्तीत्यत्र हेतुमाह—सर्वस्येति। सर्वं वस्तु स्वस्मादभिन्नमन्यथा वस्त्वभाव प्रसङ्गादतो नाऽऽद्यो युक्त इत्यर्थः। परतो भेदोऽपि न प्रामाणिकोऽस्तीत्यत्र हेतुमाह—तदन्यस्येति। वस्तुनो ऽन्यत्वेनेष्टस्यापि न सत्त्वं भेदस्याद्याप्यसिद्धेस्तन्न द्वितीयोऽपीत्यर्थः ॥ किंच घटः संबन्धद्वारा पटं भिन्द्या त्स्वरूपेण स्थितो वेति विकल्पयति—वस्त्विति। नाऽऽद्य इत्याह—योग इति। घटस्य पटेन संबन्धो नाशो पटं भेत्तुमर्हत्यतिशयशब्दितसंबन्धस्यैकत्वाद्घटपटयोश्च प्रत्येकमैक्याद्भेदकान्तरस्य चाभावादित्यर्थः। अनतिशयै कत्वादिति पाठे भेदोऽतिशयस्तस्मादन्यस्तत्प्रयोजकसंबन्धोऽनतिशयस्तस्यैक्यान्न भेदः स्यादित्यर्थः ॥ कल्पान्त

ंभ्य इति हिंसा सर्वभूतविषयोत्सर्गेण निवारिता तीर्थे विशिष्टविषये ज्योतिष्टोमादावनु-यते। न च तथा वस्तुविषय इहाद्वैतं ब्रह्मोत्सर्गेण प्रतिपाद्य पुनस्तदेकदेशेऽपवदितुं यते। ब्रह्मणोऽद्वैतत्वादेवैकदेशानुपपत्तेः। तथा [1]विकल्पानुपपत्तेश्च। यथाऽतिरात्रे डशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति ग्रहणाग्रहणयोः पुरुषाधीनत्वाद्विकल्पो

कमाह—न चेति। [2]विषयभेदे सत्युत्सर्गापवादौ दृष्टौ न तावदद्वितीये ब्रह्मणि संभवतः। [3]न हि द्वयमेव जायते लीयते चेति संभावनास्पदमिति भावः। उत्सर्गापवादानुपपत्तिवद्ब्रह्मणि विकल्पानु-तेश्च तदेकरसमेषितव्यमित्याह—तथेति। विकल्पानुपपत्तिमुपपादयति—यथेत्यादिना। संप्रति

या का किसी एक देश में अपवाद कर दिया जाता है। जैसे 'तीर्थों को छोड़कर अन्यत्र सभी प्राणियों अहिंसा करता हुआ' इस श्रुतिवाक्य में सामान्यतः सब प्राणियों की हिंसा का जहाँ निषेध किया ता है; वहीं उसकी तीर्थ यानी ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ रूप विषय में उसकी आज्ञा दी जाती है। प्रकार उस वस्तु के विषय में यहाँ सामान्यतः अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन कर फिर उसके किसी देश में ब्रह्म का निषेध नहीं किया जा सकता। क्योंकि अद्वैत ब्रह्म में एकदेश का अभ्युपगम संभव हीं है। इसके अतिरिक्त द्वैताद्वैत ब्रह्म की कल्पना करना अनुचित है। जिस प्रकार (कर्मकाण्ड में) तिरात्र याग में षोडशी का ग्रहण करे', 'अतिरात्र याग में षोडशी का ग्रहण न करे' इस प्रकार

---

१. विकल्पेति—द्वैताद्वैतात्मकं ब्रह्मेति कल्पना न युक्तेति शेषः। २. विषयभेदे—अवान्तरभेदवति विषये इत्यर्थः। ३. नन्वद्वितीयेऽपि ब्रह्मण्युत्पत्त्यवच्छिन्नत्वप्रलयावच्छिन्नत्वाभ्यां भविष्यत्येवावान्तरभेदो नेत्याह —न हीत्यादिना।

प्रत्याह—विभागेऽपीति। घटपटयोरसंबन्धेऽपि मिथो न भेदः प्रत्येकं तयोरैकरूप्येण स्थितेरित्यर्थः। पटा-संबन्धोऽपि घटः स्वस्मिन्पटाद्भेदमावेदयतीत्याशङ्क्य स एव पटस्य भेदोऽन्यो वेति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—अन्यदीयोऽपीति। पटासंबन्धो घटो न स्वात्मनि ततो भेदावेदकः संबन्धाभावे धर्मिप्रतियोगित्वायोगादित्य-क्षरार्थः॥ द्वितीये स स्वभावो धर्मो वा नाऽऽद्यो वस्त्वभावप्रसङ्गादित्यभिप्रेत्य द्वितीयं निरस्यन्सामान्य-न्यायमाह—मेयेति। तथाऽपि प्रस्तुते किं जातं तदाह—भेदमिति। मानं मेयं विषयीकुर्वन्न तत्र भेदं गोचरयति तस्य तद्धर्मत्वेन ततोऽन्यत्वान्न च मेयादन्यस्मिन्नपि भेदे प्रमाणं प्रसरति मेयैकविषयत्वादतो धर्मभेदोऽपि न प्रामाणिक इत्यर्थः॥ किंच भेदः सतो भिन्नोऽभिन्नो वा नाऽऽद्योऽनवस्थानात्सतो भिन्नस्यासत्त्वेन सदद्वैता-पत्तेश्च द्वितीयोऽपि सदद्वैतमित्यभिप्रेत्याह—सत इति। भेदस्य सतो भेदाभेदाभ्यां दुर्निरूपत्ववदसतोऽपि तस्य तौ दुर्वचावित्यतिदिशति—यथेति। उक्तं न्यायं निगमयति—एवमिति॥ किंच सांख्यबौद्धक्षपणकपक्षेषु भेदो न सिध्यतीत्याह—सर्वमिति। पक्षद्वयेऽपि धर्मिप्रतियोगिविशेषाभावाद्भेदकाकाराभावात्तृतीये च विरोधान्न भेदसिद्धिरित्यर्थः॥ तार्किकपक्षेऽपि भेदासिद्धिरित्याह—अन्यापेक्षमिति॥ किंच पृथक्त्वं द्रव्याद्भिन्नमभिन्नं वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयति—द्रव्यादिति। अनवस्थाया मूलक्षयकरीत्वे दोषत्वं सूचयति—सत्वरेति॥ स्वतः परतो वा भेदो नास्तीत्युक्तमुपसंहरति—स्वतश्चेदिति॥ भेदस्यासकृन्निरस्तत्वादिह तन्निरासे पुनरुक्तिरित्या-शङ्क्याऽऽह—इत्येवमादीति। आदिशब्देन गुरुशिष्यादिव्यवस्थानुपपत्तिर्गृह्यते भेदाद्यवस्थायामभेदात्तदभावात्। प्रागिति संबन्धग्रन्थादावित्यर्थः। इहापि भर्तृप्रपञ्चव्याख्याने पूर्वोक्तन्यायस्यानुसंधानार्थमनुवादश्चेत्तदेव किमर्थ-मिति तत्राऽऽह—वस्त्विति। ब्रह्मात्मैकत्वस्यस्फुटीकरणार्थं परमतप्रत्याख्यानमित्यर्थः॥

भवति । न त्विह तथा वस्तुविषये द्वैतं वा[1] स्याददद्वैतं वेति विकल्पः संभवत्यपुरुषतन्त्र दात्मवस्तुनः । विरोधाच्च द्वैताद्वैतत्वयोरेकस्य । तस्मान्न सुविवक्षितेयं कल्पना ।

श्रुतिन्यायविरोधाच्च । सैन्धवघनवत्प्रज्ञानैकरसघनं निरन्तरं पूर्वापरबाह्याभ्यन्त भेदविवर्जितं सबाह्याभ्यन्तरमजं नेति नेत्यस्थूलमनण्वजमजरमभयममृतमित्येवमा श्रुतयो निश्चितार्थाः [2]संशयविपर्यासाशङ्कारहिताः सर्वाः समुद्रे प्रक्षिप्ताः स्युरकिंचित्क त्वात् । तथा न्यायविरोधोऽपि सावयवस्यानेका[3]त्मकस्य क्रियावतो नित्यत्वानुपपत्ते नित्यत्वं चाऽऽत्मनः स्मृत्यादिदर्शनादनुमीयते । तद्विरोधश्च प्राप्नोत्यनित्यत्वे । भवत्क

---

[4]समुच्चयासंभवमभिदधाति—विरोधाच्चेति । उत्सर्गापवादविकल्पसमुच्चयानामसंभवान्न युक्ता ब्रह्म नानारसत्वकल्पनेति फलितमाह—तस्मादिति ।

परकीयकल्पनानुपपत्तौ हेत्वन्तरं प्रतिज्ञाय श्रुतिविरोधं प्रकटीकृत्य न्यायविरोधं प्रक —तथेति । ब्रह्मणोऽनेकरसत्वे स्यादिति शेषः । नित्यत्वानुपपत्तेरात्मनो नित्यत्वाङ्गीकारविरोधः स्या दित्यध्याहारः । ननु तस्य नित्यत्वं नाङ्गी क्रियते मानाभावादिति प्रासङ्गिकीमाशङ्कां प्रत्याह—नित्य चेति । स्मृत्यादिदर्शनादित्यादिशब्देन [5]स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्य इत्यधिकरणोक्ता हेत गृह्यन्ते । [6]अनुमीयते कल्प्यते स्वी क्रियत इति यावत् । तद्विरोधश्च स्मृत्यादिदर्शनकृतात्मनित्यत्वानु नविरोधश्चेत्यर्थः । आत्मनोऽनित्यत्वे दोषान्तरमाह—भवदिति । कर्मकाण्डस्य [7]सत्यार्थत्वं प

ग्रहण करना और न करना पुरुष के अधीन होने के कारण विकल्प हुआ करता है । उस प्रकार वस्तु के विषय में 'वह द्वैत हो अथवा कभी अद्वैत हो' ऐसा विकल्प नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मव पुरुष के अधीन नहीं है । तथा एक ही वस्तु का द्वैत और अद्वैत होना परस्पर विरुद्ध है । इसलिए कल्पना सुसंगत नहीं है ।

इससे श्रुति और न्याय का भी विरोध हो जाता है । 'सैन्धवघन के समान प्रज्ञानैकरस स्वरूप, अकार्य, अकारण, निःसामान्य, निर्विशेष है', 'बाह्य-आभ्यन्तर युक्त और अजन्मा है', 'नेति ने स्वरूप है', 'अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अजर, अभय और अमृत है' इत्यादि श्रुतियाँ (उपासनापर होने से) निश्चितार्थ और संशयविपर्यास और आशङ्का से रहित हैं । उनसे कुछ कार्य न होने से सभी को समुद्र में फेंक देना पड़ेगा । तथा सावयव अनेक आत्माओं तथा क्रियावान् का नित्यत्व असंभव है; इससे न्याय में विरोध आता है । एवं स्मृत्यादि के दर्शन से भी आत्मा की नित्यता

---

[1] कदाचित् ।

[2] न चैतासामुपासनादि परत्वमित्याह—संशयेति ।

[3] आत्मनः ।

[4] युगपद्द्वै द्वैतात्मकत्वासंभवम् ।

[5] स एव त्विति—ब्र. सू. ३. २. ९ । यः सुप्तो जीवः स एवोत्तिष्ठति नान्य इ हेतवः कर्मेत्यादयः—दिनद्वयसाध्यकर्मणोऽर्धं कृत्वा पुनरुत्थायावशिष्टमर्धं कर्म करोति । अनुशब्देन प्रत्यभि गृह्यते । स्मृतिशब्देन स्मरणम् । पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्या द्रवतीत्यादिशब्दः । कर्मविद्याविषयो वि शब्दितः ।

[6] अनुमीयत इत्यादि वेदान्तनये तार्किकाभिमतव्यतिरेक्यनुमानस्थलेऽर्थापत्त्यभ्युपगमादनु मीयत इति पदं कल्प्यत इति विवृतम् । ननु त्वया कल्प्यमानमपि मया नाभ्युपगन्तव्यमिति चेत्तत्राह—स्वी क्रियत इति । प्रमाणातिक्रमे निर्मर्यादतापातात्त्वयाप्यभ्युपेतव्यमिति भावः । एवं च तद्विरोधश्चेत्यादावनु पदमर्थापत्तिपरं तथा स्वीकारपरं वा व्याख्येयमिति ध्येयम् ।

[7] अर्थो द्वैतम् ।

र्थक्यं च। स्फुटमेव [1]चास्मिन्पक्षे [2]कर्मकाण्डानर्थक्यम्। अकृताभ्यागमकृतविप्रणाश-ङ्गात्।

ननु ब्रह्मणो द्वैताद्वैतात्मकत्वे समुद्रादिदृष्टान्ता विद्यन्ते कथमुच्यते भवतैकस्य द्वैतात्वं विरुद्धमिति। न। अन्यविषयत्वात्। नित्यनिरवयववस्तुविषयं हि विरुद्धत्वमवोन द्वैताद्वैततत्वस्य न [3]कार्यविषये सावयवे। तस्माच्छ्रुतिस्मृतिन्यायविरोधादनुपपन्नेयं ल्पना। अस्याः कल्पनाया वरमुपनिषत्परित्याग एव।

अध्येयत्वाच्च न [4]शास्त्रार्थेयं कल्पना। न हि जननमरणाद्यनर्थशतसहस्रभेदसमाकुलं

यते तदानर्थक्यमात्मानित्यत्वे स्पष्टमापतेदित्युक्तमेव स्फुटयति—स्फुटमेवेति।

ब्रह्मणो [5]नानारसत्वे [6]विरोधमुक्तमसहमानः [7]स्वोक्तं स्मारयति—नन्विति। समुद्रादीनां कार्यवयवत्वाभ्यामनेकात्मकत्वमविरुद्धं ब्रह्मणस्तु नित्यत्वान्निरवयवत्वाच्च नानेकात्मकत्वं युक्तमिति यमादर्शयन्नुत्तरमाह—नेत्यादिना। ब्रह्मणो नानारसत्वकल्पनानुपपत्तिमुपसंहरति—तस्मादिति। नो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' इत्याद्याः स्मृतयः। ननु प्रत्यक्षाद्यविरोधेनोपनिषदां विषयसिद्ध्यर्थं या कल्पना क्रियते तथा च कथं साऽनुपपन्नेत्याशङ्क्याऽऽह—अस्या इति। [8]विरुद्धार्थत्वे कल्पितेऽपि प्रामाण्यानुपपत्तेरविशेषादिति भावः।

किं च ब्रह्मणो नानारसत्वं [9]लौकिकं वैदिकं वा। नाऽऽद्यः। तस्यालौकिकत्वात्तन्नानारसत्वे लोकस्य तटस्थत्वात्। न द्वितीयः। तन्नानारसत्वस्य ध्येयत्वेन ज्ञेयत्वेन वा शास्त्रेणानुपदेशादित्याह अध्येयत्वाच्चेति। तदेव स्फुटयति—न हीति। इत्थं नानारसं ब्रह्म [11]नोभयथाशास्त्रप्रकाश्य-

---

मान होता है। उसका अनित्यत्व मानने पर उस युक्तिसिद्ध नित्यत्व से विरोध आता है। आपकी ना व्यर्थ ही हो जाती है। हमारे आत्मा के नित्यत्व पक्ष में (परलोकसंबन्धी आत्मा का अभाव ने पर अनुष्ठान की असिद्धि होने से) कर्मकाण्ड की अनर्थकता स्पष्ट ही है क्योंकि आत्मा को अनित्य ने पर अकृत की फलप्राप्ति और कृत के फलनाश का प्रसङ्ग आ जायगा।

(इस पर पूर्ववादी कहता है—) किन्तु ब्रह्म के द्वैताद्वैतात्मक होने में समुद्रादि दृष्टान्त विद्यमान फिर आप ऐसा क्यों कहते हो। एक का वस्तु ही द्वैत-अद्वैत होना विरुद्ध है। (सिद्धान्ती कहता —) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उसका विषय दूसरा है। हमने द्वैताद्वैत तत्व का नित्य, निरवयव तु (ब्रह्म) के विषय में ही विरोध आ जाना बताया है, सावयव कार्य विषय में विरोध आने की बात हीं कही। इसलिए श्रुति, स्मृति और न्याय विरोध आ जाने से यह कल्पना असंगत है। इस कल्पना मानने की अपेक्षा उपनिषत् परित्याग ही श्रेयस्कर है।

इसके अतिरिक्त ध्येय रूप न होने से भी यह कल्पना शास्त्र प्रतिपाद्य, नहीं है। श्रुति ऐसे ब्रह्म विषय में ध्यान या ज्ञान संपादन के लिए नहीं कहती, जो जन्ममरणादि सैंकड़ों-हजारों अनर्थ रूप

---

१. आत्मानित्यत्वंपक्षे। २. परलोकसंबन्ध्यात्माभावेऽनुष्ठानाऽसिद्धेः। ३. हिरण्यगर्भादावस्तु नाम तद्विति भावः। ४. शास्त्रप्रतिपाद्या। ५. द्वैताद्वैतात्मकत्वे। ६. श्रुतिन्यायविरोधम्। ७. दृष्टान्तम्। ८. विरुद्धार्थत्व इति—न्यायादिभिरनुपद्यमानार्थकत्वे इत्यर्थः। उपनिषदामिति शेषः। ९. प्रत्यक्षाद्यधिगतम्। १०. प्रत्यक्षादिप्रमाणस्य। ११. उभयथा—ध्येयत्वज्ञेयत्वाभ्यामित्यर्थः।

समुद्रवनादिवत्सावयवमनेकरसं ब्रह्म ध्येयत्वेन विज्ञेयत्वेन वा श्रुत्योपदिश्यते । प्रज्ञा घनतां चोपदिशति । एकधैवानुद्रष्टव्यमिति च । अनेकधादर्शनापवादाच्च "मृत्योः स मृ माप्नोति य इह नानेव पश्यति" इति । यच्च श्रुत्या निन्दितं तन्न कर्तव्यम् । यच्च क्रियते न स शास्त्रार्थः । ब्रह्मणोऽनेकरसत्वमनेकधात्वं च द्वैतरूपं निन्दितत्वान्न द्रष्टव्यम् अतो न शास्त्रार्थः । यत्त्वेकरसत्वं ब्रह्मणस्तद्द्रष्टव्यत्वात्प्रशस्तं प्रशस्तत्वाच्च शास्त्रा भवितुमर्हति ।

यत्तूक्तं वेदैकदेशस्याप्रामाण्यं कर्मविषये द्वैताभावादद्वैते च प्रामाण्यमिति । तत्र यथाप्राप्तोपदेशार्थत्वात् । न हि द्वैतमद्वैतं वा वस्तु जातमात्रमेव पुरुषं ज्ञापयित्वा पश्चा

मित्याह—प्रज्ञानेति । चकारादुपदिशतीत्याकृष्यते । अनेकधादर्शनापवादाच्च नानारसं ब्रह्म शास्त्रा न भवतीति शेषः । भेददर्शनस्य निन्दितत्वे लब्धमर्थमाह—यच्चेति । अकर्तव्यत्वे प्राप्तमर्थं कथय —यच्च नेति । सामान्यन्यायं प्रकृते योजयति—ब्रह्मण इति । कस्तर्हि शास्त्रार्थस्तत्राऽऽह—यत्त्विति

ब्रह्मैकरस्ये प्रागुक्तं दोषमनुभाषते—यत्तूक्तमिति । कर्मकाण्डस्य कर्मविषये न प्रामाण्यमद्वैतविषयत्वाद्ब्रह्मकाण्डस्य त्वद्वैते प्रामाण्यं परमार्थाद्वैतवस्तुप्रतिपादकत्वात्तथा न विरोधोऽध्ययनवि रित्यनुवादार्थः । कर्मकाण्डाप्रामाण्यं प्रत्याचष्टे—तन्नेति । प्रसिद्धं भेदमादाय 'तत्रैव विधिनिषेधो देशस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिद्वाराऽर्थवत्त्वान्न कर्मकाण्डानर्थक्यमित्यर्थः । ननु शास्त्रमेवाऽऽदौ भेदं बोधयित्वा पश्चादभ्युदयसाधनं कर्मोपदिशति तथा च नास्ति भेदस्यान्यतः प्राप्तिरत आह—न हीति । यथा हि शास्त्रं जातमात्रं पुरुषं प्रत्यद्वैतं वस्तु ज्ञापयित्वा पश्चाद्ब्रह्मविद्यामुपदिशतीति नेष्यते तथा प्रथमं पुरुषं प्रति द्वैतं बोधयित्वा कर्म पुनर्बोधयतीत्यपि नाभ्युपेयं प्रथमतो भेदवेदनावस्थायामस्य 'शास्त्रा

भेद से संपन्न और समुद्र-वनादि की तरह सावयव और अनेक रस हो । उसके विषय में तो श्रुति प्रज्ञानघनत्व कहती है । 'भास्वत् चिन्मात्रमात्ररूप (शास्त्रैकप्रमाण) ब्रह्म को एक प्रकार से ही प्रत्यगात्मा द्वारा देखा जाना चाहिए', 'जो मिथ्याभूत नाना वस्तु को सत्यत्व भाव से देखता है, वह मरण से मरण को प्राप्त होता है'–इस प्रकार श्रुति उसे अनेक रूप देखने को निषेध करती है । जिसकी श्रुति निन्दा करती हो, उसे नहीं करना चाहिए । एवं जिसकी उपादेयता नहीं बताई जाती, वह शास्त्र का तात्पर्य अर्थ नहीं है । ब्रह्म का (अणु-स्थूलत्वादि) अनेकरसत्व एवं (द्वैताद्वैतरूप) अनेक प्रकारत्व द्वैत रूप निन्दा का विषय होने से उसे ब्रह्म में नहीं देखना चाहिए । अतएव वह शास्त्र का तात्पर्य अर्थ नहीं है । और जो ब्रह्म का एकरसत्व कहा गया है; उसी को देखना श्रेयस्कर है । इसके श्रेयस्कर होने से वही शास्त्र का तात्पर्य अर्थ हो सकता है ।

एवं जो यह कहा गया कि द्वैत का अभाव होने के कारण वेद के एकभाग कर्मकाण्ड की अप्रामाणिकता हो जायगी और अद्वैत में प्रामाणिकता होगी, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि यथाप्राप्त वस्तु का उपदेश करना शास्त्र का प्रयोजन है । शास्त्र ऐसा नहीं करता कि पैदा होते ही पुरुष

---

१. अणुस्थूलादित्वं द्वैताद्वैतत्वम् । २. यथोक्ते भेदे । ३. शास्त्रार्थस्य भेदस्यावगतत्वादेवेति भावः ।

वा ब्रह्मविद्यां वोपदिशति शास्त्रम् । न चोपदेशार्हं द्वैतं जातमात्रप्राणिबुद्धिगम्यत्वात् ।
न च द्वैतस्यानृतत्वबुद्धिः प्रथममेव कस्यचित्स्यात् । येन द्वैतस्य सत्यत्वमुपदिश्य
त्मनः प्रामाण्यं प्रतिपादयेच्छास्त्रम् । नापि पाषण्डिभिरपि प्रस्थापिताः शास्त्रस्य
ण्यं न गृह्णीयुः ।

[1]तस्माद्[2]यथाप्राप्तमेव द्वैतमविद्याकृतं स्वाभाविकमुपादाय स्वाभाविक्यैवाविद्यया
य रागद्वेषादिदोषवते यथाभिमतपुरुषार्थसाधनं कर्मोपदिशत्यग्रे पश्चात्प्रसिद्धक्रिया-

---

रित्वादित्यर्थः । द्वैतस्योपदेशार्हत्वमङ्गीकृत्योक्तं तदेव नास्तीत्याह—न चेति ।
ननु द्वैतस्य सत्यबुद्ध्यभावे श्रुत्युक्तानुष्ठानाय पुंसा प्रवृत्त्यनुपपत्तेः स्वप्रामाण्यसिद्ध्यर्थमेव
त्यत्वं श्रुतिर्बोधयिष्यति नेत्याह—न च द्वैतस्येति । द्वैतानृतत्ववादिषु [3]कर्मजडानां प्रद्वेषप्रतीतेर्न
तो द्वैतानृतत्वबुद्धिर्न च द्वैतसत्यत्वं श्रुत्यर्थस्तत्परिचयहीनानामपि द्वैतसत्यत्वाभिनिवेशादि-
। किंच न द्वैतवैतथ्यं शास्त्रप्रामाण्यविघातकं यतो बौद्धादिभिः श्रेयसे [4]प्रस्थापिताः स्वशिष्या द्वैत-
त्वावगमेऽपि स्वर्गकाम [5]इत्थं वन्देतेत्यादिशास्त्रस्य प्रामाण्यं गृह्णन्ति । तथाऽग्निहोत्रादिशास्त्रा-
प्रामाण्यं भविष्यति [6]साधनत्वशक्त्यनपहारादित्याह—नापीति ।
*काण्डद्वयस्य प्रामाण्योपपत्तिमुपसंहरति—तस्मादित्यादिना । प्रसिद्धो योऽयं क्रियादिरूपे

द्वैत या अद्वैत वस्तु का ज्ञान करा कर उसके बाद कर्मकाण्ड अथवा ब्रह्मविद्या का उपदेश करे ।
द्वैत को तो स्वभावतः प्राणी की बुद्धि समझ जाती है, इसलिये वह उपदेश देने के लिए उप-
नहीं है ।

इसके अतिरिक्त प्राणी की द्वैत में प्रारम्भ से ही मिथ्यात्व बुद्धि नहीं होती; जिससे शास्त्र द्वैत
त्यत्व का उपदेश कर, बाद में आत्मा की प्रामाणिकता का प्रतिपादन करे । तथा (बौद्धादि)
मतानुयायियों द्वारा कल्याणमार्ग में लगाये हुए शिष्य भी शास्त्र का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं ।
इसलिये अविद्याकृत लोकप्रसिद्ध स्वाभाविक द्वैत को ग्रहण कर जो स्वाभाविक अविद्या से युक्त
रागद्वेषादि दोषवान् है, ऐसे पुरुष को शास्त्र पहले यथाभिमत कर्मकाण्ड रूप साधन का उपदेश

---

१. कर्मकाण्डस्य प्रामाण्ये भेदसत्यत्वापेक्षाभावात् । २. यथाप्राप्त—लोकसिद्धम् । ३. कर्माभिनिविष्ट-
चेतसाम् । ४. स्वप्रस्थानेन प्रबोधिताः प्रवर्तिता प्रेरिता इति यावत् । ५. बुद्धप्रतिमाम् । ६. अग्नि-
होत्रादेः स्वर्गादिसाधनत्वेति यावत् ।

---

* काण्डद्वयस्य प्रामाण्योपपत्तिमिति । एतेन "एवं द्वैतस्य सत्यत्वे कर्मकाण्डस्य मानता । अनन्तपुरुषार्थाप्तिरिष्यते
कर्मकाण्डतः ॥ यदा तु कल्पितं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः । उच्छिन्नं कर्मकाण्डस्य प्रामाण्यं विषयादृते ॥ एकदेशस्य
चामात्वे वेदस्याप्यप्रमाणता । सर्वनाशो भवेदेवं सर्वाप्रामाण्यहेतुत. । अतो विरोधनुत्त्यर्थं सत्यत्वप्रतिपत्तये ।
कार्यकारणयोः शास्त्रं पूर्णमित्यादिनावदत्" ॥ ५८-६१ ॥ इति । तदुक्तमपास्तम् । किंचैकस्य चामात्वे वेदस्या-
प्यप्रमाणतेति यदुक्तम् तत्राधिकार्यभावात्फलाभावाद्विषयाभावाद्वा ज्ञानकाण्डाप्रामाण्यमिति विकल्प्याद्यं प्रत्याहु-
र्वार्तिककारचरणाः—"सर्वतस्तु विरक्तो यः कर्मभिः शुद्धधीर्नर । काम्यान. पूर्णफलमुत्पत्त्यादिविलक्षणम् ॥
तमोमात्रान्तरायत्वात्प्रतीचः पूर्णरूपिणः । स्वतःसिद्धत्वतस्तस्य व्यञ्जकान्नान्यदीक्ष्यते ॥ स्वतः प्राप्तस्यं संप्राप्तौ
वाक्यान्मोहप्रहाणतः । मानापेक्षा न भूयः स्यात्फलाप्तेस्तत्कृतार्थतः ॥ साध्ये हि साधनापेक्षा सिद्धेऽसौ विनि-

कारकफलस्वरूपदोषदर्शनवते तद्विपरीतौदासीन्यस्वरूपावस्थानफलार्थिने तदुपायभू
त्मैकत्वदर्शनात्मिकां ब्रह्मविद्यामुपदिशति। अथैवं सति तदौदासीन्यस्वरूपावस्था
प्राप्ते शास्त्रस्य प्रामाण्यं [1]प्रत्यर्थित्वं निवर्तते। तदभावाच्छास्त्रस्यापि शास्त्रत्वं त
निवर्तत एव।

[2]तथा प्रतिपुरुषं [3]परिसमाप्तं शास्त्रमिति[4] न शास्त्रविरोधगन्धोऽप्यस्ति।

द्वैते दोषः सातिशयत्वादिस्तद्दर्शनं विवेकस्तद्वते तस्माद्द्वैताद्विपरीतमौदासीन्योपलक्षितं स्वरूपं त
वस्थानं कैवल्यं तदर्थिने मुमुक्षवे साधनचतुष्टयसंपन्नायेत्यर्थः। किंच तत्त्वज्ञानादूर्ध्वं पूर्वं वा काण्
रोधः शङ्क्यते। नाऽऽद्य इत्याह—अथेति। [5]अवस्थाभेदादेकस्मिन्नपि पुरुषे काण्डद्वयस्य प्रामाण्
मित्येवं स्थिते सत्युपनिषद्भ्यस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं [6]नान्तरीयकत्वेन प्राप्ते कैवल्ये पुरुषस्य
काङ्क्ष्यं जायते न च निराकाङ्क्षं पुरुषं प्रति शास्त्रस्य शास्त्रत्वमस्ति।

"प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा [7]नित्येन [8]कृतकेन वा।
पुंसा येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते" ॥

इति न्यायात्कृतकृत्यं प्रति प्रवर्तकत्वादिविरहिणः शास्त्रत्वायोगादतो[9] ज्ञानादूर्ध्वं [10]धर्मभा
रोधासिद्धिरित्यर्थः।

[11]एकस्मिन्पुरुषे दर्शितन्यायं सर्वत्रातिदिशति—तथेति। ज्ञानादूर्ध्वं विरोधाभावमुपसं
—इति नेति। कल्पान्तरं प्रत्याह—अद्वैतेति। तत्त्वज्ञानात्पूर्वं भेदस्यावस्थितत्वात्तमाविद्यमादाय

करता है, उसके पश्चात् जो प्रसिद्ध इस क्रिया-कारक-फलस्वरूप द्वैत में दोष बुद्धि वाले, उस
विपरीत औदासीन्य स्वरूप कैवल्य स्थिति के इच्छुक (साधनचतुष्टय संपन्न) मुमुक्षु के लिए ही
उपायभूता आत्मैकत्वदर्शनात्मिका ब्रह्मविद्या का श्रुति उपदेश करती है। ऐसा होने पर
औदासीन्य स्वरूप में स्थिति रूप फल प्राप्त हो जाने पर विद्वान् की शास्त्र के प्रामाण्य के प्रति

---

[1] अर्थित्वमाकाङ्क्षा। विदुष इति शेषः। [2] विदं विदम्प्रतीत्यर्थः। [3] निवृत्तशास्त्रत्वम्। [4] ज्ञानिनं प्रतिशास्त्रस्य शास्त्रत्वाभावात्। [5] विवेकाविवेकाववस्थे। [6] ज्ञानसमनियतत्वेन। [7] —श्रुतिरूपेण। [8] अथ कृतकेन—स्मृतिरूपेण। [9] यथोक्तज्ञानानन्तरं कृतार्थस्य विदुषः शास्त्रानपे [10] विरोधधर्मिणोः शास्त्रयोरभावात्। [11] विदुषि। [12] एकस्मिन्नधिकारिणि विवेकाविवेक भेदात्।

वर्तते। किम्वसाध्ये समस्तस्य पूर्णत्वेन समाप्तितः" ॥ १०१-१०४ ॥ कामयानः कामयमान इति याव
साधनचतुष्टयसंपन्नोऽधिकारीति शेषः ॥ द्वितीयं निराह—तमोमात्रेति। सविलासाविद्याध्वस्तिरत्र फ
भावः। तृतीयं प्रत्याह—प्रतीच इति। अज्ञातस्य तस्य विषयत्वान्न तद्राहित्यमित्यर्थः। अज्ञानध्वस्तावपि
कर्मापेक्षां केचिदाहुस्तान्प्रत्याह—स्वत इति ॥ प्रतीचः स्वतः स्फुरणात्तदाच्छादकाज्ञानध्वंसार्थं मानमेव मुमु
पेक्षते न कर्मेत्यत्र हेतुमाह—स्वत इति। उत्पन्नमपि मानमभ्यस्यमानमज्ञानध्वंसीत्यपरे तान्निराकरो
मानेति। सकृदुत्पन्नादेव मानादज्ञानध्वस्तेस्तावतैव पुरुषस्य कृतकृत्यत्वान्न ज्ञानावृत्त्यपेक्षेत्यर्थः ॥ अन्ये
ब्रह्मप्राप्तावभ्यासापेक्षां मन्यन्ते तान्निरस्यति—साध्ये हीति। स्वर्गादौ तदपेक्षायां साध्ये सिद्धे च तदभा
दृष्टत्वं हिशब्दार्थः ॥

वसानत्वाच्छास्त्रशिष्यशासनादिद्वैतभेदस्य । [1]अन्यतमावस्थाने हि विरोधः स्याद-तस्येतरेतरापेक्षत्वात्तु शास्त्रशिष्यशासनानां नान्यतमोऽप्यवतिष्ठते । [2]सर्वसमाप्तौ तु विरोध आशङ्क्येताद्वैते केवले शिवे सिद्धे । नाप्यविरोधताऽत एव ।

[3]अथाप्यभ्युपगम्य ब्रूमः—द्वैताद्वैतात्मकत्वेऽपि शास्त्रविरोधस्य तुल्यत्वात् । पि समुद्रादिवद्द्वैताद्वैतात्मकमेकं ब्रह्माभ्युपगच्छामो नान्यद्वस्त्वन्तरं तदाऽपि भवदुक्ता-

---

तदवस्थाभेदाद्वा काण्डयोरविरोधसिद्धिरित्यर्थः । उक्तमेवोपपादयति—अन्यतमेति । शिष्यादीना-मन्यतमस्यैवावस्थानं चेदवस्थितस्येतरस्मिंश्च सापेक्षत्वान्न सोऽप्यवतिष्ठेत । न च ज्ञानात्प्रागन्यतम-वस्थानं सर्वेषामेव तेषां यथाप्रतिभासमवस्थानादतो न पूर्वं विरोधशङ्केत्यर्थः । [4]ऊर्ध्वं विरोध-भावमधिकविवक्षयाऽनुवदति—सर्वेति । कथं कैवल्यं विरोधाभावस्य सत्त्वादित्याशङ्क्याऽऽह तीति । अद्वैतत्वादेवाभावस्यापि तत्त्वनिमज्जनादित्याह—अत एवेति ।

अद्वितीयमेव ब्रह्म न द्वैताद्वैतात्मकमित्युपपादितमिदानीं ब्रह्मणो द्वैताद्वैतात्मकत्वाभ्युपगमेऽपि वो न शक्यते परिहर्तुमित्याह—अथापीति । तुल्यत्वात्तदभ्युपगमो वृथेति शेषः । उक्तमेवोपपाद-यदाऽपीति । द्वैताद्वैतात्मकं ब्रह्मेति पक्षे कथं विरोधो न समाधीयते द्वैताद्वैतं चाधिकृत्य काण्ड-माण्यसंभवादित्याक्षिपति—कथमिति । किं [5]ब्रह्मविषयः शास्त्रोपदेशः किं वा[6]ऽब्रह्मविषयः । प्रथमे

जाती है । उसका अभाव हो जाने पर तो विद्वान् के लिए शास्त्र का शास्त्रत्व भी मिट जाता है ।

इस प्रकार प्रत्येक विद्वान् पुरुष के प्रति शास्त्र का शास्त्रत्व निवृत्त हो जाता है, इसलिए शास्त्र-ध की तो गन्धमात्र भी नहीं है । क्योंकि शास्त्र, शिष्य और शासनादि द्वैतजनित भेद अद्वैतज्ञान पर पर्यवसित हो जाते हैं । अपेक्षित किसी एक के भी रहने पर उस अपेक्षित का कर्मकाण्ड या काण्ड से विरोध होता किन्तु शास्त्र, शिष्य और शासन के परस्पर अन्योन्याश्रित होने पर आत्मज्ञान पर इसमें से कोई भी स्थित नहीं रहता । इस प्रकार शास्त्रादि का सर्वविध द्वैत समाप्त होने पर एकमात्र शिव अद्वैत तत्त्व सिद्ध होने पर किसके विरोध की आशङ्का की जाय । इसलिए ही उसका से विरोधाभाव भी नहीं है ।

अब हम ब्रह्म का उभयात्मकस्वरूप मानकर बतलाते हैं । उसके द्वैताद्वैतात्मक होने पर भी का विरोध समान ही है । जब हम समुद्रादि के समान द्वैताद्वैतरूप एक ही ब्रह्म मान लेते हैं, व्यतिरिक्त कोई वस्तु नहीं मानते तो उस समय भी हम आप द्वारा कथित शास्त्र विरोध से मुक्त

---

[1] अन्यतमावस्थाने अपेक्षितस्यान्यतमस्यातवस्थाने अपेक्षितस्य यावतोऽसत्त्व इति यावत् । विरोधः काण्डयो-रिति शेषः । तथाहि शास्त्रद्वयमवतिष्ठते शिष्यद्वयं च न चेत्तदैकमेव शिष्यं प्रति मिथो विरुद्धमुपदिशतोः स्यादेव विरोधः काण्डयोरिति । अपेक्षितमन्यतममनादायान्यतमस्यावस्थानं परं न घटत इत्याह - अवस्थितस्येत्यादिना । नान्यतमोऽप्यवतिष्ठत इति — सर्वमेवापेक्षितमवतिष्ठत इति यावत् । [2] शास्त्रादि द्वैतसमाप्तौ । [3] अथापि —ब्रह्माद्वितीयमेव नोभयात्मकमित्युपपादनानन्तरं तस्योभयात्मकत्वं स्वीकृत्यापि वदामः । [4] तत्त्वज्ञाना-नन्तरम् । [5] ब्रह्म प्रति । [6] ब्रह्मभिन्नं जीवं प्रति ।

च्छास्त्रविरोधान्न मुच्यामहे । कथम् । *एकं हि परं ब्रह्म द्वैताद्वैतात्मकं तच्छोकमो तीतत्वादुपदेशं न काङ्क्षति । न चोपदेष्टाऽन्यो ब्रह्मणो द्वैताद्वैतरूपस्य ब्रह्मण ए वाभ्युपगमात् ।

अथ [1]द्वैतविषयस्यानेकत्वादन्योन्यो[2]पदेशो न ब्रह्मविषय उपदेश इति चेत् । द्वैताद्वैतात्मकमेकमेव ब्रह्म नान्यदस्तीति विरुध्यते । [3]यस्मिन्द्वैतविषयेऽन्योन्यो [4]सोऽन्य ऽद्वैतं चान्यदेवेति समुद्रदृष्टान्तो विरुद्धः । न च समुद्रोदकैकत्ववद्भिन्नानां

द्वैताद्वैतरूपस्यैकस्यैव ब्रह्मणोऽभ्युपगमात्तस्य च नित्यमुक्तत्वान्नोपदेशः संभवतीत्याह—एकं हीं तस्योपदेशाभावे हेत्वन्तरमाह—न चेति । उपदेष्टा हि ब्रह्मणोऽन्योऽनन्यो वा । नाऽऽद्योऽभ्युपगम धात् । न द्वितीयो भेदमन्तरेणोपदेश्योपदेशकभावासंभवादिति भावः ।

कल्पान्तरमुत्थापयति—अथेति । प्रतिज्ञाविरोधेन निराकरोति—तदेति । किंच सर्वस्य रूपत्वे यः समुद्रदृष्टान्तः स न स्यात्परस्परोपदेशस्याब्रह्मविषयत्वादित्याह—यस्मिन्निति । अथ फेनादिविकाराणां भिन्नत्वेऽपि समुद्रोदकात्मकत्वं तथा जीवादीनां भिन्नत्वेऽपि ब्रह्मस्वभावविज्ञान द्ब्रह्म सर्वमिति न विरुध्यते तत्राऽऽह—न चेति । सर्वस्य ब्रह्मत्वमङ्गीकृतं चेद्ब्रह्मविषय एवो

नहीं होते । यह कैसे कहते हो ? पर ब्रह्म द्वैताद्वैतात्मक एक ही है, वह क्षुधातृषादिधर्मों से अ होकर मोक्ष की आकाङ्क्षा नहीं रखता । तथा उपदेश से द्वैताद्वैतरूप ब्रह्म अन्य नहीं हो सकता क्यों द्वैताद्वैतरूप एक ही ब्रह्म स्वीकार किया गया है ।

यदि कहो कि भेदधर्मी जीव अनेक हैं; यह उपदेश परस्पर जीवों के लिए है, यह ब्र विषयक उपदेश नहीं है; तब तो 'द्वैताद्वैतात्मक एक ही ब्रह्म है, इससे भिन्न कोई नहीं है' इस क से विरोध होगा । जिस जीव के विषय में परस्पर उपदेश होता है; वह जीव अन्य है और अद्वैत अ

---

[1] भेदधर्मिणो जीवात्मनः । [2] परस्पर जीवानामुपदेशः । [3] जीवे । [4] जीवः ।
ब्रह्मभिन्नजीवविषयत्वात् ।

---

* एकं हि परं ब्रह्म द्वैताद्वैतात्मकमित्यादि । अद्वैते श्रुतिविरोधं निराकृत्य द्वैताद्वैतवादे तद्विरोधं प्रकारान्त पपादयन्ति स्म वार्तिककारपादाः—"द्वैताद्वैतात्मकं ब्रह्म यदाऽभ्युपगम्यते । तदाऽपि न विरोधोऽत्र केन द्विनिवार्यते ॥ समस्तव्यस्तभूतस्य ब्रह्मण्यवसितात्मनः । ब्रूत कर्मणि को हेतुः सर्वानन्यत्वदर्शिनः ॥ सर्वजा दिमत्त्वे च परस्परविरोधतः । व्याघातान्न प्रवृत्तिः स्यान्निषेधेऽथ विधौ तथा ॥ न चावच्छेदमानित्व विदु ऽस्त्यासुरत्वतः । विदुषोऽप्यासुरत्वे स्यान्निष्फलं ब्रह्मदर्शनम्" ॥ १०५-१०८ ॥ इति । कथं द्वैताद्वैतपक्षे श्रु विरोधो द्वैतापेक्षया कर्मकाण्डस्याद्वैतापेक्षया च काण्डान्तरस्य प्रामाण्यसंभवादित्याशङ्क्याऽऽह—समस्तेति विशिष्टजात्यादिमत्त्वमेव हेतुरित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वेति । द्वैताद्वैतात्मके ब्रह्मणि स्थितस्य विदुषः सर्वजा श्रमादियुक्तत्वे सति विशेषणभूतजात्यादीनां मिथो विरोधाद्ब्राह्मणत्वाद्बृहस्पतिसवे प्रवृत्तिः क्षत्रियत्वा वृत्तिश्चेत्यन्योन्यव्याघाद्विधिनिषेधयोर्न प्रवृत्तिनिवृत्ती स्यातां तथाच विश्रमप्रवृत्तिकमिति कर्मश्रुत्यप्रामा दुपनिषदामपि तत्स्यादिति भावः । किंच सर्वजात्यादिमत्त्वेऽपि विदुषस्तदनभिमानान्न प्रवृत्तिनिवृत्ति —न चेति । विपक्षे दोषमाह—विदुषोऽपीति । परिच्छेदाभिमानस्याऽऽसुरत्वमसुराणां ह्येषोपनिषदिति श्रु द्रष्टव्यम् ॥

ह्मणोऽन्यत्रोपदेशग्रहणादिकल्पना संभवति । न हि हस्तादिद्वैताद्वैतात्मके देवदत्ते कर्णयोर्देवदत्तैकदेशभूतयोर्वागुपदेष्ट्री कर्णः केवल उपदेशस्य ग्रहीता, देवदत्तस्तु नोपदेष्टा प्युपदेशस्य ग्रहीतेति कल्पयितुं शक्यते । समुद्रैकोदकात्मत्ववदेकविज्ञानवत्त्वाद्देवदत्तस्य । तस्माच्छ्रुतिन्यायविरोधश्चाभिप्रेतार्थासिद्धिश्चैवंकल्पनायां स्यात् । [1]तस्माद्यथाव्याख्यात वास्माभिः पूर्णमद इत्यस्य मन्त्रस्यार्थः ।

ॐ खं ब्रह्मेति मन्त्रोऽयं चान्यत्राविनियुक्त इह ब्राह्मणेन ध्यानकर्मणि [3]विनियुज्यते ।

भेदस्याविचारितरमणीयत्वादित्यर्थः । ननु नानारूपवस्तुसमुदायो ब्रह्म तत्प्रदेशभेदादुपदेश्योप कभावो ब्रह्म तु नोपदेश्यमुपदेशकं चेति तत्राऽऽह—न हीति । तत्र हेतुमाह—समुद्रेति । यथा समुद्र- दकात्मना फेनादिष्वेकत्वं तथा देवदत्तक्षेत्रज्ञस्य वागाद्यवयवेष्वेकत्वेन विज्ञानवत्त्वान्न व्यवस्था- वस्तथा ब्रह्मण्यपि द्रष्टव्यमित्यर्थः । मतान्तरनिराकरणमुपसंहरति—तस्मादिति । आत्मैकरस्यप्रति- दिका श्रुतिर्न्यायश्च सावयवस्यानेकात्मकस्येत्यादावुक्तः[4] । अभिप्रेतार्थासिद्धिर्भवत्कल्पनानर्थक्यं चेत्या- ना दर्शिता । एवंकल्पनायामेकानेकात्मकं ब्रह्मेत्यभ्युपगतावित्यर्थः । परकीयव्याख्यानासंभवे फलित- ाह—तस्मादिति ।

ध्यानशेषत्वेनोपनिषदर्थं [5]ब्रह्मानूद्य [6]तद्विधानार्थं [7]तस्मिन्विनियुक्तं मन्त्रमुत्थापयति—ॐ मिति । 'इषे त्वेत्यादिव[8]त्तस्य कर्मान्तरे विनियुक्तत्वमाशङ्क्याऽऽह—अयं चेति । विनियोजकाभावा- ति भावः । तर्हि ध्यानेऽपि नायं विनियुक्तो विनियोजकाभावाविशेषादित्याशङ्क्याऽऽह—इहेति । पुराणमित्यादि ब्राह्मणं तस्य च विनियोजकत्वं ध्यान[9] समवेतार्थप्रकाशनसामर्थ्यात् । यद्यपि मन्त्रनिष्ठं सामर्थ्यं विनियोजकं[11] तथाऽपि मन्त्रब्राह्मणयोरेकार्थत्वाद्ब्राह्मणस्य सामर्थ्यद्वारा विनियोजकत्वमविरु-

---

गा, इस प्रकार समुद्र दृष्टान्त की भी संगति नहीं बैठती । यदि समुद्र के जल की एकता के समान ज्ञान की भी एकता है, तो ब्रह्म से व्यतिरिक्त उपदेश ग्रहणादि कल्पना संभव नहीं होती । हस्तादि- द्वैताद्वैतात्मक देवदत्त में वाणी और कान देवदत्त के एक देश में उत्पन्न हैं, केवल वाणी ही उप- करने वाली है और अकेला कान उपदेश को ग्रहण करने वाला है, देवदत्त न तो उपदेष्टा है और ही उपदेश का ग्रहीता है— ऐसी कल्पना करनी संभव है क्योंकि जिस प्रकार समुद्र जल-रूप है; उसी कार देवदत्त भी विज्ञानवान् है । अतः उक्त कल्पना करने से श्रुति और युक्ति में विरोध तथा अभीष्ट र्थ की अप्राप्ति होगी । इसलिए अन्य व्याख्या के असंगत होने से "पूर्णमदः" इस मन्त्र का अर्थ जिस कार हमने व्याख्या की है, उसी प्रकार है ।

'आकाश ब्रह्म ओङ्कार है' इस श्रुति का अन्यत्र कहीं विनियोग न होकर यहाँ ब्राह्मण द्वारा ानकर्म में क्रममुक्ति प्राप्ति के लिए विनियोग किया जाता है । यहाँ इस मन्त्र में 'ब्रह्म' यह विशेष्य है

---

१. तस्मात्—द्वैताद्वैतात्मकस्य निरूपयितुमशक्यत्वेन ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वनिर्धारणात् । २. व्याख्यान्तर- स्यायुक्तत्वात् । ३. क्रममुक्त्यवाप्तये । ४. १३६७ पृष्ठभाष्ये । ५. पूर्णमन्त्रेण । ६. ध्यानविधानार्थम् । ७. ध्याने । ८. अयं यथापलाशशाखाच्छेदने । ९. मन्त्रस्य । १०. ध्येयार्थेति भावः । ११. भवति ।

अत्र च ब्रह्मेति विशेष्याभिधानं खमिति विशेषणम् । विशेषणविशेष्ययोश्च सामानाधिकरण्येन निर्देशो नीलोत्पलवत्खं ब्रह्मेति । ब्रह्मशब्दो बृहद्वस्तुमात्रा[1]स्पदो[2]ऽविशेषितोऽतो विशेष्यते खं ब्रह्मेति । यत्तत्खं ब्रह्म तदोंशब्दवाच्यमोंशब्दस्वरूपमेव वोभयथाऽपि सामानाधिकरण्यमविरुद्धम् ।

इह च ब्रह्मोपासनसाधनत्वार्थमोंशब्दः प्रयुक्तः । तथा च श्रुत्यन्तरात् "एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्' 'ओमित्यात्मानं युञ्जीत' "ओमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' इत्यादेः । अन्यार्थासंभवाच्चोपदेशस्य । यथाऽन्यत्रोमिति शंसत्योमित्युद्गायतीत्येवमादौ स्वाध्यायारम्भापवर्गयोश्चोंकारप्रयोगो विनियोगादवगम्यते न च तथाऽर्थान्तरमिहावगम्यते । तस्माद्ध्यानसाधनत्वेनैवेहोंकार-

---

द्धमिति भावः । अत्रेति मन्त्रोक्तिः । विशेषणविशेष्यत्वे 'यथोक्तसामानाधिकरण्यं हेतू करोति–विशेषणेति । ब्रह्मेत्युक्ते [10]सत्यकाङ्क्षाभावात्किं विशेषणेनेत्याशङ्क्याऽऽह–ब्रह्मशब्द इति । निरुपाधिकस्य सोपाधिकस्य वा ब्रह्मणो [11]विशेषणत्वेऽपि कथं तस्मिन्नोंशब्दप्रवृत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह–यत्तदिति ।

किमिति यथोक्ते ब्रह्मण्योंशब्दो मन्त्रे प्रयुज्यते तत्राऽऽह—इह चेति । ॐशब्दो ब्रह्मोपासने साधनमित्यत्र मानमाह—तथा चेति । सापेक्षं श्रेष्ठ्यं वारयति—परमिति । आदिशब्देन प्रणवो धनुरित्यादि गृह्यते । ॐ ब्रह्मेति सामानाधिकरण्योपदेशस्य ब्रह्मोपासने साधनत्वमोंकारस्येत्यस्मादर्थान्तरासंभवान्न तस्य तत्साधनत्वमेष्टव्यमित्याह—अन्यार्थेति । एतदेव प्रपञ्चयति—यथेत्यादिना । अन्यत्रेति तैत्तिरीयश्रुतिग्रहणम् । अपवर्गः स्वाध्यायावसानम् । अर्थान्तरावगतेरभावे फलितमाह—तस्मादिति ।

और "खं" यह विशेषण है । नीलकमल की तरह यहाँ विशेषण और विशेष्य का समानाधिकरण रूप से निर्देश किया है कि 'आकाश ब्रह्म (ओङ्कार) है' । ब्रह्म शब्द विशेषण के विना बृहत् वस्तु मात्र का गोचर है, इसलिए इसे "खं ब्रह्म" इस प्रकार विशेषित किया जाता है । जो वह "खं ब्रह्म" है; वह ओङ्कार शब्द वाक्य है, अथवा ओङ्कार शब्द स्वरूप ही है, दोनों ही प्रकार से मानने में सामानाधिकरण्य में कोई विरोध नहीं आता ।

यहाँ ब्रह्मोपासना में साधन रूप से ॐ शब्द का प्रयोग हुआ है । ऐसा ही दूसरी श्रुतियों में कहा गया है—'यह (ओङ्कार ही) श्रेष्ठ आलम्बन है, तथा यही उत्कृष्ट आलम्बन है', 'ॐ—इस प्रकार उच्चारण कर आत्मा को संयत करे', 'ओङ्कार अक्षर द्वारा ही उस परम पुरुष का ध्यान करे', 'ॐ—इस प्रकार आत्मा का ध्यान करे' इत्यादि । सामानाधिकरण्य उपदेश से ब्रह्मोपासना से भिन्न अर्थ यहाँ संभव नहीं है । जिस प्रकार 'ॐ' ऐसा कहकर श्रुति का पाठ करता है, 'ॐ' इस प्रकार कहकर उद्गान करता है—इत्यादि श्रुतिवाक्यों में स्वाध्याय के आरम्भ और समाप्ति में विनियोग से ओङ्कार का

---

१. गोचरः । २. विशेषणं विना । ३. क. उ. । ४. नारा. ७९. अ. । ५. प्र. उ. । ६. मु. उ. ।
७. सामानाधिकरण्योपदेशस्य । ८. ध्यानसाधनत्वात् मन्त्रे ओङ्कारस्य । ९. मन्त्रोक्तसामानाधिकरण्यम् ।
१०. विशेषणाकाङ्क्षाभावात् । ११. विशेषितत्वे विशेष्यत्व इति यावत् ।

ब्दस्योपदेशः ।

यद्यपि ब्रह्मात्मादिशब्दा ब्रह्मणो वाचकास्तथाऽपि श्रुतिप्रामाण्याद्ब्रह्मणो नेदिष्ठमभिधानमोंकारः । अत एव ब्रह्मप्रतिपत्ताविदं परं साधनम् । [1]तच्च द्विप्रकारेण [2]प्रतीकत्वेनाभिधानत्वेन च । प्रतीकत्वेन । यथा विष्ण्वादिप्रतिमाऽभेदेनैवमोंकारो ब्रह्मेति प्रतिपत्तव्यः । तथा ह्योंकारालम्बनस्य[3] ब्रह्म [4]प्रसीदति,

“[5]एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं [6]ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते” इति श्रुतेः ।

तत्र खमिति भौतिके खे प्रतीतिर्मा भूदित्याह—खं पुराणं चिरंतनं खं परमात्माकाशमित्यर्थः । यत्तत्परमात्माकाशं पुराणं खं तच्चक्षुराद्यविषयत्वा[7]न्निरालम्बनमशक्यं हीतुमिति श्रद्धाभक्तिभ्यां भावविशेषेण चोंकार [8]आवेशयति । यथा विष्णवङ्गाङ्कितायां

ननु शब्दान्तरेष्वपि ब्रह्मवाचकेषु सत्सु किमित्योंशब्दः एव ध्यानसाधनत्वेनोपदिश्यते तत्राऽऽह—यद्यपीति । नेदिष्ठं निकटतमं प्रियतममित्यर्थः । प्रियतमत्वप्रयुक्तं फलमाह—अत एवेति । साधनत्वेऽवान्तरविशेषं दर्शयति—तच्चेति । प्रतीकत्वेन कथं साधनत्वमिति पृच्छति—प्रतीकत्वेनेति । कथमित्यध्याहारः । परिहरति—यथेति । ॐकारो ब्रह्मेति प्रतिपत्तौ किं स्यात्तदाह—तथा हीति ।

मन्त्रमेवं व्याख्याय ब्राह्मणमवतार्य व्याचष्टे—तत्रेत्यादिना । मन्त्रः सप्तम्यर्थः । ननु यथोक्तं तत्त्वं स्वेनैव रूपेण प्रतिपत्तुं शक्यते किं प्रतीकोपदेशेनेत्याशङ्क्याऽऽह—यत्तदिति । भावविशेषो बुद्धेविषयपारवश्यं परिहृत्य प्रत्यग्ब्रह्मज्ञानाभिमुख्यम् । ओंकारे ब्रह्मावेशनमुदाहरणेन द्रढयति—यथेति ।

प्रयोग करना ज्ञात होता है' उसी प्रकार ध्यानसाधनत्व होने से यहाँ अर्थान्तर ज्ञात नहीं होता । इसलिए यहाँ ध्यान के साधनत्व रूप से ही ओङ्कार शब्द का प्रयोग हुआ है ।

यद्यपि ब्रह्म और आत्मादि शब्द ब्रह्म के वाचक हैं; तथापि श्रुतिप्रामाण्य से ब्रह्म का प्रियतम नाम ओङ्कार है । इसलिए ब्रह्म प्रतिपत्ति में यह परम साधन है । प्रतीक रूप एवं नाम रूप से प्रतीक ब्रह्मप्राप्ति के दो साधन हैं । प्रतीक का यह स्वरूप है–जैसे विष्णु आदि मूर्तियों में विष्णु से अभेद चिन्तन, इसी प्रकार 'ओङ्कार ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करनी चाहिए । तथा जो पुरुष ओङ्कार का अवलम्बन करता है; उससे ब्रह्म प्रसन्न होता है । श्रुति कहती है –

“यही श्रेष्ठ आलम्बन है, यही उत्कृष्ट आलम्बन है, इस आलम्बन की उपासना कर साधक ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित होता है” ।

यहाँ “खम्” इस पद से भौतिक आकाश के अर्थ की प्रतीति न हो—इस पर श्रुति कहती है । “खं पुराणम्” अर्थात् चिरन्तन आकाश या परमात्माकाश । जो वह चिरन्तन आकाश या परमात्माकाश है, वह चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय न होने से निरालम्बन है, उसे ग्रहण करना कठिन

---

१. ब्रह्मप्रतिपत्तिसाधनत्वं च । २. ब्रह्मदृष्ट्यालम्बनत्वेन तद्दृष्ट्यधिकरणत्वेनेति यावद् । ३. पुंसः । ४. झगिति फलति । ५. अत्र मानमाह—एतदिति । ६. उपास्य । ७. निरधिकरणम् । ८. आरोपयति । ९. अनाद्यनन्तपरमात्माकाशम् ।

शिलादिप्रतिमायां विष्णुं लोक एवम् । वायुरं खं [१]'वायुरस्मिन्विद्यत इति वायुरं खमात्रं खमित्युच्यते न पुराणं खमित्येवमाह स्म । कोऽसौ । कौरव्यायणीपुत्रः । वायु हि खे मुख्यः खशब्दव्यवहारस्तस्मान्मुख्ये संप्रत्ययो युक्त इति मन्यते । तत्र यदि पुरा खं ब्रह्म निरुपाधिस्वरूपं यदि वा वायुरं खं सोपाधिकं ब्रह्म [२]सर्वथाऽप्योंकारः प्रती त्वेनैव [३]प्रतिमावत्साधनत्वं प्रतिपद्यते । "एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकार इति श्रुत्यन्तरात् । केवलं खशब्दार्थे विप्रतिपत्तिः ।

वेदोऽयमोंकारो वेद विजानात्यनेन [४]यद्वेदितव्यम् । [५]तस्माद्वेद ॐकारो वाच ऽभिधानम्[६] । तेनाभिधानेन यद्वेदितव्यं ब्रह्म प्रकाश्यमानमभिधीयमानं वेद सा

---

[७]कल्पान्तरमाह—वायुरमित्यादिना । किमिति सूत्राधिकरणस्थमव्याकृतमाकाशमत्र गृह्यते तत्राऽऽह—वा हीति । [९]तदेव भूताकाशात्मना विपरिणतमिति भावः । [१०]तर्हि पक्षद्वये संप्लवमाने कः सिद्धान्तः स्यादि त्याशङ्क्याधिकारिभेदमाश्रित्याऽऽह—तत्रेति । श्रुत्यन्तरस्या[११]न्यथासिद्धिसंभवादोंकारस्य प्रतीकत्वेऽ विप्रतिपत्तिमाशङ्क्याऽऽह—केवलमिति । [१२]इतरत्र विप्रतिपत्तिद्योतकाभावादिति भावः ।

प्रतीकपक्षमुपपाद्याभिधानपक्षमुपपादयति—वेदोऽयमिति । [१३]तदेव प्रपञ्चयति—तेनेति । वेदे

है । इसलिये श्रुति श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भाव विशेष द्वारा उसका ओङ्कार में आरोप करती है जिस प्रकार लोकव्यवहार में विष्णु के अङ्गों से अङ्कित शिलादि की प्रतिमा में विष्णु का आरोप हुआ करता है । "वायुरं खम्" यानी जिसमें वायु विद्यमान हो, वह वायुर आकाश यहाँ "खम्" पद से आकाश मात्र ही कहा जाता है, उस चिरन्तन आकाश को नहीं, ऐसा क है । वह किसने कहा है—कौरव्यायणी पुत्र ने । 'खं' शब्द का मुख्य व्यवहार वायुर आका में है । इसलिये इसका मुख्य अर्थ जानना ही उचित है—ऐसा वह मानता है । वहाँ यदि 'खम्' पद का अर्थ चिरन्तन आकाश रूप निरुपाधिक ब्रह्म से हो अथवा यदि वायुर आकाश सोपाधिक ब्र से हो, दोनों ही प्रकार से उभयविध ब्रह्मोपासना में प्रतिमा के समान प्रतीक रूप से ओङ्कार साधनता सिद्ध होती है । अन्य श्रुति इसी को कहती है—'हे सोम्य ! यह निरुपाधिक परब्रह्म और सोपाधिक अपरब्रह्म ही ओङ्कार है' । यहाँ केवल 'खं' शब्दार्थ में सन्देह है ।

"वेदः" अर्थात् यह ओङ्कार ही वेद है क्योंकि जो वेदितव्य ब्रह्म है, वह इससे जाना जा है । (जिससे ब्रह्मवेदन साधनत्व है) इसलिये वेद ओङ्कार वाचक, आत्मा का नाम है । उस नाम

---

१. वायुरस्मिन्निति—वायुरत्र सूत्रं वायुरं चाव्याकृतमीश्वरः इति स्फुटिष्यते टीकातोऽग्रे । २. यथोक्तोभय प्रकारेणापि । ३. उभयविधब्रह्मप्रतिपत्तौ । ४. ब्रह्म । ५. ब्रह्मवेदनसाधनत्वाद् । ६. आलम्ब । ७. खशब्दस्यार्थान्तरम् । ८. अव्याकृताकाशे । ९. ननु खशब्दस्य भूताकाशे प्रसिद्धतरत्वात्तदेव किमिति न गृह्यतेऽत आह—तदेवेति । अव्याकृताकाशमेवेत्यर्थः । तथा च परिणामपरिणामिनोरभेदाद्भूताकाश वायुरशब्देन विवक्षितमिति भावः । १०. तर्हि—वायुरशब्देन भूताकाशस्य विवक्षितत्वे । ओङ्कारालम्बे प्रती कारणब्रह्मदृष्टिस्तस्मिन्नेव भूताकाशावच्छिन्नब्रह्मदृष्टिरितिपक्षद्वये प्राप्नुवति सतीत्यर्थः । ११. अन्यथानिर्दि संभवादिति । ओङ्कारस्यप्रतीकत्वानभ्युपगमेऽपि तदभिधानत्वेनापि सार्थक्यसंभवादित्यर्थः । १२. ओङ्कारस्य प्रतीकत्वे । १३. तस्याभिधानत्वमेव ।

ज्ञानात्युपलभते। [1]तस्माद्वेदोऽयमिति ब्राह्मणा विदुः। [2]तस्माद्ब्राह्मणानामभिधान-
ते [3]साधनत्वमभिप्रेतमोंकारस्य। अथवा वेदोऽयमित्याद्य[4]र्थवादः। कथमोंकारो ब्रह्मणः
तीकत्वेन विहितः। ॐ खं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्यात्तस्य[5] स्तुतिरिदानीं वेदत्वेन[6]।
र्वो ह्ययं वेद ॐकार एव। [7]एतत्प्रभव एतदात्मकः सर्व ऋग्यजुःसामादिभेदभिन्न[8] एष
ोंकारः "तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि[9]" इत्यादिश्रुत्यन्तरात्। इतश्चायं वेद ॐकारो
दितव्यं तत्सर्वं वेदितव्यमोंकारेणैव वेदैनेनातोऽयमोंकारो वेदः। इतरस्यापि [10]वेदस्य
दत्वमत एव। [11]तस्मा[12]द्विशिष्टोऽयमोंकारः साधनत्वेन [13]प्रतिपत्तव्य इति। अथवा वेदः
ः। कोऽसौ। यं ब्राह्मणा विदुरोंकारम्। ब्राह्मणानां ह्यसौ प्रणवोद्गीथा[14]दिविकल्पै-

---

ऽसौ तच्छब्दो द्रष्टव्यः। ब्राह्मणा विदुरिति विशेषनिर्देशस्य तात्पर्यमाह—तस्मादिति। प्रतीकपक्षे-
ि वेदोऽयमित्यादिग्रन्थो [15]निर्वहतीत्याह—अथवेति। विध्यभावे कथमर्थवादः संभवतीत्याशङ्क्य परि-
ति—कथमित्यादिना। वेदत्वेन स्तुतिमोंकारस्य संग्रहविवरणाभ्यां दर्शयति—सर्वो हीति। ॐकारे
स्य नामजातस्यान्तर्भावे प्रमाणमाह—तद्यथेति। [16]तत्रैव हेत्वन्तरमवतार्य व्याकरोति—इतश्चेति।
ेदितव्यं परमपरं वा ब्रह्म। 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये' इति श्रुत्यन्तरात्। [17]तद्वेदनसाधनत्वेऽपि कथमों-
ारस्य वेदत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—इतरस्यापीति। अत एव वेदितव्यवेदनहेतुत्वादेवेत्यर्थः। प्रतीकपक्षे
ाक्ययोजनां निगमयति—तस्मादिति। अभिधानपक्षे प्रतीकपक्षे चैकं वाक्यमेकैकत्र योजयित्वा पक्ष-
येऽपि साधारण्येन योजयति—अथवेति। तस्य पूर्वोक्तनीत्या वेदत्वे लाभं दर्शयति—तस्मिन्निति।

द्वेदितव्यम्" अर्थात् जो प्रकाश्यमान या अभिधीयमान ब्रह्म है, उसे साधक 'वेद' अर्थात् जानता या
प्त करता है। इसलिये ब्रह्म वेदन साधन होने से यह वेद है—ऐसा ब्राह्मण जानते हैं। इसलिए
(विशेषनिर्देश होने से) ब्राह्मणों को यह स्वीकृत है कि ब्रह्म उपासना में ओङ्कार अभिधान रूप से
ाधन है। अथवा 'यह वेद है' यह वाक्य स्तुतिपरक है। किस प्रकार ओङ्कार ब्रह्म के प्रतीक रूप से
िहित है। क्योंकि वह परमात्मा आकाश है, इस प्रकार उनका सामानाधिकरण्य है। अब उसकी
तुति वेदरूप से की जाती है। यह सारा वेद ओङ्कार ही है। इससे उत्पन्न एवं इसका स्वरूप ऋग्यजुः-
सामादिभेदों में विभक्त वेद भी यह ओङ्कार ही है। अन्य श्रुति में भी कहा है 'जिस प्रकार शङ्कु से
ंपूर्ण पत्ते और तृण व्याप्त रहते हैं'। यह वेद इसलिए भी ओङ्कार है क्योंकि जो वेदितव्य ब्रह्म है, वह
ब इस ओङ्कार रूप वेद से जाना जाता है, इसलिए यह ओङ्कार वेद है, इससे भिन्न ऋगादि वेद का
ी वेदत्व इसी से है। इसलिए गायत्री आदि आलम्बनों से प्रशंसित इस ओङ्कार में साधन रूप से
ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिये। अथवा वह वेद है। कौन वेद है? जिसे ब्राह्मण ओङ्कार जानते हैं क्योंकि यह
ओङ्कार ब्राह्मणों द्वारा प्रणव-उद्गीथ आदि विकल्पों से ग्राह्य है और उसके साधन रूप से प्रयोग करने

---

१. ब्रह्मवेदनसाधनत्वात्। २. विशेषनिर्देशात्। ३ ब्रह्मप्रतिपत्तौ। ४. स्तुतिः। ५ विधेरोमो वा।
६. क्रियते। ७ संग्रहवाक्यं विवृणोति—एतदिति। ८. वेदः। ९. संतृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक्
संतृण्णोङ्कार एव। छा. उ. २. २३. ३। १०. ऋगादेः। ११. यथोक्तनीत्या वेदत्वात्। १२. गायत्र्या-
द्यालम्बनेभ्यः प्रशस्तः। १३. तत्र ब्रह्मदृष्टिः कार्या। १४. आदिना प्रस्तावप्रतिहारौ ग्राह्यौ। १५.
उपयुज्यते। १६. वेदत्वेनोङ्कारस्तुतौ। १७. ब्रह्म।

अथ पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ।

[1]त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा

देव, नर और असुर; ये तीनों प्रजापति के पुत्र थे । उन्होंने पिता प्रजापति के पास शिष्य से ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास किया। ब्रह्मचर्यपूर्वक वास के बाद देवों ने प्रजापति से कहा–आप हमें उपदेश प्रजापति ने उन देवों से 'द' यह अक्षर कहा और पूछा–क्या आप लोग समझ गये ? इस पर देव

र्विज्ञेयः । तस्मिन्हि प्रयुज्यमाने साधनत्वेन सर्वो वेदः प्रयुक्तो भवतीति ।। १ ।।

इति श्रीबृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ।। १ ।।

[2]अधुना दमादि[3]साधनत्रयविधानार्थोऽयमा[4]रम्भः—त्रयास्त्रिसंख्याकाः प्राजापत्याः प्रजापतेरपत्यानि प्राजापत्यास्ते किं प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यं शिष्यत्ववृत्तेर्ब्रह्मचर्यस्य प्राधान्याच्छिष्याः सन्तो ब्रह्मचर्यमूषुरुषितवन्त इत्यर्थः । के ते विशेषतो, देवा मनुष्या

ॐकारस्य ब्रह्मोपास्तिसाधनत्वमित्थं सिद्धमित्युपसंहर्तुमितिशब्दः ।।

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ।। १ ।।

ब्राह्मणान्तरस्य तात्पर्यमाह—अधुनेति । तद्विधानं [5]सर्वोपास्तिशेषत्वेनेति द्रष्टव्यम् । आख्यायिकाप्रवृत्तिरारम्भः । पितरि ब्रह्मचर्यमूषुरिति संबन्धः । प्रजापतिसमीपे ब्रह्मचर्यवासमात्रेण किमित्यसौ देवादिभ्यो हितं ब्रूयादित्याशङ्क्याऽऽह—शिष्यत्वेति । शिष्यभावेन [6]वृत्तेः संबन्धिनो ये धर्मास्तेषां

पर सभी वेद प्रयुक्त हो जाता है ।। १ ।।

इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्थ प्रथम ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद संपन्न हुआ ।। १ ।।

(आभ्यन्तर सर्वोपास्ति साधन ओङ्कार को कह कर) अब दमादि (बाह्य) साधनत्रय के लिए यह आख्यायिका रूप अर्थवाद प्रारम्भ किया जाता है—"त्रयाः" अर्थात् तीन संख्या वाले "प्राजापत्याः" यानी प्रजापति के पुत्र थे। उन्होंने क्या किया ? "प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुः" अर्थात् पिता प्रजापति के पास 'शिष्यत्ववृत्ति से रहना ही ब्रह्मचर्य की प्रधानता है', इसलिए शिष्य होकर ब्रह्मचर्यपूर्वक वास किया। वे कौन थे ? विशेषतः देव, मनुष्य और असुर। उन्होंने ब्रह्मचर्य-

---

[1] त्रया इत्यादिरर्थवादोऽयम् । तदेतत्त्रयं शिक्षेदिति दमादिविधिशेषत्वात् । दमादयश्च सर्वोपास्तिसाधनम् । यदाहुः—"दान्तो दाता दयालुश्च सबाह्याभ्यन्तरः शुचिः । एवंविधोऽधिकारी स्यात्सर्वासूपास्तिभूमिषु" ।। वा. २ ।। इति । अतिसूक्ष्मे परात्मनि नान्यस्य ध्यानं सिध्यतीति भावः ।

[2] अधुनेति—आभ्यन्तरं सर्वोपास्तिसाधनमोङ्कारमुक्त्वा ।

[3] बाह्यसाधनेत्यर्थः ।

[4] आख्यायिकारूपोऽर्थवादः ।

[5] वक्ष्यमाणसर्वोपास्तीत्यर्थः ।

[6] वर्तनस्य व्यवहरणस्य ।

३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥१॥

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञा-

कहा-हाँ, हम लोग समझ गये । आपने 'इन्द्रिय दमन करो' ऐसा हमें उपदेश दिया है, (क्योंकि देवता भाव से अजितेन्द्रिय होते हैं; अतः उन्हें इन्द्रिय दमन की आवश्यकता होती है) तब प्रजापति ने हा—ठीक है, आप लोग समझ गये हो ॥ १ ॥

उसके बाद प्रजापति से मनुष्यों ने कहा —हमें आप उपदेश करें । प्रजापति ने उन्हें भी 'द' अक्षर ही बतलाया और पूछा —समझ गये ? मनुष्यों ने कहा—हाँ, हम सब समझ गये । आपने

सुराश्च । ते चोषित्वा ब्रह्मचर्यं किमकुर्वन्नित्युच्यते—तेषां देवा ऊचुः पितरं प्रजापतिम् । किमिति । ब्रवीतु कथयतु नोऽस्मभ्यं यद[1]नुशासनं भवानिति । तेभ्य एवमर्थिभ्यो हैतद- क्षरं वर्णमात्रमुवाच द इति । उक्त्वा च तान्पप्रच्छ पिता किं व्यज्ञासिष्टा इति । मयो- पदेशार्थमभिहितस्याक्षरस्यार्थं विज्ञातवन्त आहोस्विन्नेति । देवा ऊचुर्व्यज्ञासिष्मेति विज्ञातवन्तो वयम् । यद्येवमुच्यतां किं मयोक्तमिति । देवा ऊचुर्दाम्यतादान्ता यूय स्वभाव- तोऽतो दान्ता भवतेति नोऽस्मानात्थ कथयसि । इतर आहोमिति सम्यग्व्यज्ञासिष्टेति ।१। समानमन्यत् । स्वभावतो लुब्धा यूयमतो यथाशक्ति [2]संविभजत दत्तेति नोऽस्मा-

---

मध्ये ब्रह्मचर्यस्येत्यादि योज्यम् । तेषामिति निर्धारणे षष्ठी । ऊहापोहशक्तानामेव शिष्यत्वमिति द्योत- नार्थो हशब्दः । विचारार्था प्लुतिरित्यङ्गीकृत्य प्रश्नमेव व्याचष्टे—मयेति । ॐमित्य[3]नुज्ञामेव [4]विभ- जते-सम्यगिति ।

समानत्वेनोत्तरस्य सर्वस्यैवार्थवादस्याव्याख्येयत्वे प्राप्ते दत्तेत्यत्र तात्पर्यमाह—स्वभावत इति ।

पूर्वक रहकर क्या किया ? इस पर श्रुति कहती है— उन (तीनों पुत्रों) में से देवता अपने पिता प्रजापति से बोले ! क्या बोले ? "ब्रवीतु नो भवानिति" अर्थात् जो आपकी शिक्षा हो; वह हमारे प्रति कहिये । "तेभ्यः" अर्थात् उपदेश सुनने के इच्छुक उन देवों के प्रति "हैतदक्षरम्" अर्थात् इस 'द' वर्णमात्र का उच्चारण किया । इतना कहकर पिता ने उन देवताओं से पूछा— क्या समझ गये हो अर्थात् मेरे द्वारा उपदेशार्थ बताये गये 'द' इस अक्षर का तात्पर्य समझ गये हो अथवा नहीं । देवता बोले - "व्यज्ञासिष्मेति" अर्थात् हम समझ गये हैं । यदि ऐसा है, तो बताओ मेरे 'द' कहने का तात्पर्य क्या था ? देवता बोले—"दाम्यताम्" अर्थात् तुम लोग स्वभाव से अदान्त हो, इसलिए अब जितेन्द्रिय हो जाओ । ऐसा "न आत्थ" आप हमसे कह रहे हो । तब प्रजापति ने कहा - ठीक है ! आप अच्छी प्रकार समझ गये हो ॥ १ ॥

इस मन्त्र का अन्य अर्थ उपरोक्त मन्त्र के समान है । आप लोग स्वभाव से लोभी हो, इसलिए

---

१. शिक्षणम् । २. मन्त्रादिकमिति शेषः । ३. अङ्गीकारम् । ४. स्पष्टयति ।

सिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥ २ ॥

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच

हमें 'दान करो' ऐसा उपदेश किया है (क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही लोभी होता है) तब प्रजा ने कहा—हाँ, ठीक है, आप लोग समझ गये ॥ २ ॥

फिर प्रजापति से दैत्यों ने कहा—आप हमें उपदेश करें। प्रजापति ने दैत्यों से भी 'द' अक्षर ही कहा और पूछा—क्या आप लोग समझ गये ? दैत्यों ने कहा—हाँ, हम सब समझ गये। आ हमें 'दया करो' ऐसा कहा। तब प्रजापति ने कहा—हाँ ठीक है, आप लोग समझ गये। उस प्रजाप

नात्थ [1]किमन्यद्ब्रूयान्नो हितमिति मनुष्याः ॥ २ ॥

तथाऽसुरा दयध्वमिति। [2]क्रूरा यूयं हिंसादिपरा अतो दयध्वं प्राणिषु दयां कुरुतेति तदेतत्प्रजापतेरनुशासनमद्याप्यनुवर्तत एव। यः पूर्वं प्रजापतिर्देवादीननुशशास सोऽद्या प्यनुशास्त्येव दैव्या स्तनयित्नुलक्षणया वाचा। कथमेषा श्रूयते दैवी वाक्काऽसौ स्तनयि

दानमेव लोभत्यागरूपमुपदिष्टमिति कुतो निश्चितमन्यदेव हितं किंचिदादिष्टं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—किमन्यदिति।

यथा देवा मनुष्याश्च स्वाभिप्रायानुसारेण दकारश्रवणे सत्यर्थं जगृहुस्तथेति यावत्। दयध्व त्यत्र तात्पर्यमीरयति—क्रूरा इति। हिंसादीत्यादिशब्देन परस्वापहारादि गृह्यते। प्रजापतेरनुशास प्रागासीदित्यत्र लिङ्गमाह—तदेतदिति। अनुशासनस्यानुवृत्तिमेव व्याकरोति—यः पूर्वमिति। [3]द इ

यथाशक्ति अन्नादि का संविभाजन किया करो, दान किया करो—ऐसा अपने हमसे कहा है। (दा करना ही सर्वोत्तम हित की बात होने से) इससे अधिक हित की बात क्या कहोगे—ऐसा मनु बोले ॥ २ ॥

इसी प्रकार असुरों ने 'दया करो' ऐसा 'दकार' वर्ण का अभिप्राय समझा। क्योंकि तु स्वभावतः क्रूर हो, हिंसादिपरायण हो, इसलिए "दयध्वम्" अर्थात् प्राणियों में दया करो। प्रजाप का यह अनुशासन आज भी उसी प्रकार चल रहा है। जिस प्रजापति ने पहले देवादिकों को शिक्षा दी थी, वह आज भी मेघ देवता की दिव्य वाणी से शिक्षण कार्य करता है। यह दैवी वाणी कि

---

१. किमन्यदिति—सर्वोत्तमहितत्वाद्दानस्येति भावः। २. स्वभावतः। ३. द इति विसन्धिकरणमिति—द इतीत्यत्र गुणात्मकसन्ध्यकरणमित्यर्थः। सर्वत्रेत्यादि—सर्वत्र समानवर्णत्वबोधनार्थमिति यावत्। सन्धि-करणे हि तृतीयस्थाने दाकारोऽपि संभाव्येतेति भावः। दकारास्त्रयोऽपि निर्विभक्तिकाः प्रातिपदिकमात्रमिति ध्येयम्।

व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति [1]स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति [2]तदेतत्त्रयꣳ शिक्षेद्दमं दानं दयामिति ॥ ३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

नुशासन का मेघगर्जनरूपी दैवी वाणी 'द द द' इस प्रकार आज भी अनुवाद कर रही है अर्थात् न करो, दान करो और दया करो । अतः दमन, दान और दया इन तीनों को अपने अधिकारानुरूप ने सीख लिया ॥ ३ ॥

॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

र्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमित्येषां वाक्याना[3]मुपलक्षणाय त्रिर्दकार उच्चार्यंते-कृतिर्न तु स्तनयित्नुशब्दस्त्रिरेव, संख्यानियमस्य लोकेऽप्रसिद्धत्वात् । यस्माद्यापि जापतिर्दाम्यत दत्त दयध्वमित्यनुशास्त्येव तस्मात्कारणादेतत्त्रयम् । किं तत्त्रयमित्युच्यते मं दानं दयामिति शिक्षेदुपादद्यात्प्रजापतेरनुशासनमस्माभिः कर्तव्यमित्येवं मतिं कुर्यात् । था च स्मृतिः—

धिकरणं सर्वत्र वर्णान्तरभ्रमापोहार्थम् । यथा दकारत्रयमत्र[4] विवक्षितं तथा स्तनयित्नुशब्देऽपि त्वं विवक्षितं चेत्प्रसिद्धिविरोधः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—अनुकृतिरिति । दशब्दानुकारमात्रमत्र[5] विवक्षितं न तु स्तनयित्नुशब्दे त्रित्वं प्रमाणाभावादित्यर्थः । प्रकृतस्यार्थवादस्य विधि[6]पर्यवसायित्वं फलितह—यस्मादिति । उपादानप्रकारमेवाभिनयति—प्रजापतेरिति । श्रुतिसिद्धविध्यनुसारेण भगवद्वाक्यर्ति दर्शयति—तथा चेति ।

कार सुनी जाती है—'द द द' इस प्रकार मेघ देवता की वाणी 'दमन करो, दान करो, दया करो,—न वाक्यों के बोध के लिए तीन बार दकार अनुवृत्ति का उच्चारण करती है, मेघ देवता का शब्द तीन र ही होता है—ऐसी तीन बार आवृत्ति वाली संख्या का नियम लोक में प्रसिद्ध नहीं है । जिस रण आज भी प्रजापति 'दमन करो, दान करो, दया करो' इस प्रकार अनुशासन करता है, इसलिये न तीनों की शिक्षा दी । किन तीनों की ? इस पर श्रुति कहती है—दम, दान और दया । इन तीनों को "शिक्षेत्" ग्रहण करे अर्थात् हमें प्रजापति के अनुशासन को करना चाहिये, इस प्रकार बुद्धि करे । सी को स्मृति भी कहती है—

---

[1] मेघो देवः । [2] यं स्तोतुमर्थवादः प्रवृत्तस्तं विधेयमाह—तदेतदिति । शिक्षेदाधुनिकोऽपि मनुष्य इति भावः । [3] उपलक्षणायेति—नामेकदेशग्रहणन्यायेन बोधनायेत्यर्थः । [4] प्रजापतिवाक्ये । [5] स्तनयित्नुशब्दे । [6] शेषत्वम् ।

" त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् " इति ॥

अस्य हि विधेः शेषः [1]पूर्वः । तथाऽपि [2]देवादीनुद्दिश्य किमर्थं [3]दकारत्रयमुच्चारि वान्प्रजापतिः [4]पृथगनुशासनार्थिभ्यः । [5]ते वा कथं विवेकेन प्रतिपन्नाः प्रजापते[6]र्मनो समानेनैव दकारवर्णमात्रेणेति पराभिप्रायज्ञा विकल्पयन्ति ।

अत्रैक आहुरदान्तत्वादानत्वादयालुत्वैरपराधित्वमात्मनो मन्यमानाः शङ्किता [7]प्रजापतावूषुः किं नो वक्ष्यतीति । तेषां च [8]दकारश्रवणमात्रादेवा[9]ऽऽत्माशङ्कावशेन त

तदेतत्त्रयं शिक्षेदित्येष विधिश्चेत्कृतं त्रयाः प्राजापत्या इत्यादिना ग्रन्थेनेत्याशङ्क्य "यस्मा ·दिना सूचितमाह—अस्येति । सर्वैरेव त्रयमनुष्ठेयं चेत्तर्हि देवादीनुद्दिश्य दकारत्रयोच्चारणमनुपप शङ्कते—तथेति । दमादित्रयस्य सर्वैरनुष्ठेयत्वे सतीति यावत् । किंच पृथक्पृथगनुशासनार्थिनो देवा स्तेभ्यो दकारमात्रोच्चारणे नापेक्षितमनुशासनं सिध्यतीत्याह—पृथगिति । किमर्थमित्यादिना संबन्धः । दकारमात्रमुच्चारयतोऽपि प्रजापतेर्विभागेनानुशासनमभिसंहितमित्याशङ्क्याऽऽह—ते वे त्रयं सर्वैरनुष्ठेयमिति परस्य सिद्धान्तिनोऽभिप्रायस्तदभिज्ञाः सन्तो यथोक्तनीत्या विकल्पयन् योजना । पराभिप्रायज्ञा इत्युपहासो वा परस्य प्रजापतेर्मनुष्यादीनां चाभिप्रायज्ञा इति । "नगुले वा पाठः ।

एकीयं परिहारमुत्थापयति—अत्रेति । अस्तु तेषामेषा शङ्का तथाऽपि दकारमात्रा[12]त्कीदृ प्रतिपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—तेषां चेति । तदर्थो दकारार्थो दमादिस्तस्य प्रतिपत्तिस्तद्वारेणादान्तत्वा

"काम, क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं, जो आत्मा को पतन की ओर ले वाले हैं, इसलिए बुद्धिमान् को इन तीनों का त्याग कर देना चाहिये" ।

इस विधि का ही यह पूर्ववर्णित 'प्रजापति के तीन पुत्रों वाली आख्यायिका' शेष है। तो पृथक्-पृथक् उपदेश सुनने के इच्छुक (सबको निमित्त कर उच्चारण करने योग्य होते हुए भी) देव को उद्देश्य करके प्रजापति ने तीन दकारों का उच्चारण क्यों किया और उन देवताओं ने भी दकार मात्र वर्ण से प्रजापति के मनोगत (विभागपूर्वक) उपदेश को कैसे जान लिया ? इस दूसरों के अभिप्राय के जानने वाले वादी लोग विकल्प करते हैं ।

यहाँ किसी एक पूर्ववादी का मत है कि अजितेन्द्रिय, लोभी और निर्दयी होने के कारण अपने को अपराधी मानते हुए शङ्कित भाव से उन्होंने प्रजापति के यहाँ ब्रह्मचर्य वास किया कि

---

१. त्रयाः प्राजापात्या इत्यादिकोऽर्थवादः । २. देवादीनुद्दिश्येति—सर्वानुद्दिश्योच्चारयितव्ये इति भावः। दकारत्रयमिति— दाम्यतेत्यादिपदत्रये वक्तव्ये इति भावः । ४. इदमेव विशदयति—पृथगित्यादिना। देवादयः । ६. विभागेनानुशासनम् । ७. प्रजापतावूषुरिति—तथा च "नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयादि न्यायेन देवादीनेवोद्दिश्य दकारोच्चारणं न्याय्यमिति भावः । ८. दकारमात्रश्रवणात् । ९. प्रालब्धे रूप्येण । १०. १३८१ पृष्ठभाष्ये । ११. नगुल्लेखीति—पराभिप्रायानभिज्ञा इत्येवम् । १२. कीदृ —कथं तादृशीति यावत् ।

पतिरभूत्। लोकेऽपि हि प्रसिद्धं पुत्राः शिष्याश्चानुशास्याः सन्तो दोषान्निवर्तयितव्या ति। [1]अतो युक्तं प्रजापतेर्दकारमात्रोच्चारणम्। दमादित्रये च दकारान्वयादात्मनो नुरूप्येण देवादीनां विवेकेन प्रतिपत्तुं चेति। [2]फलं त्वेतदात्मदोषज्ञाने सति [3]दोषा- वर्तयितुं शक्यन्तेऽल्पेनाप्युपदेशेन यथा देवादयो दकारमात्रेणेति।

नन्वेतत्त्रयाणां देवादीनामनुशासनं देवादिभिरप्येकैकमेवोपादेयमद्यत्वेऽपि न तु मनुष्यैः शिक्षितव्यमिति। अत्रोच्यते—पूर्वैर्देवादिभिर्विशिष्टैरनुष्ठितमेतत्त्रयं तस्मा[4]न्म- रेव [5]शिक्षितव्यमिति। [6]तत्र दयालुत्वस्यानुष्ठेयत्वं स्यात्कथमसुरै[7]रप्रशस्तैरनुष्ठित-

---

तिरासीदित्यर्थः। किमिति प्रजापति[8]र्दोषज्ञापनद्वारेण ततो देवादीननुशास्या[9]न्दोषान्निवर्तयिष्यति ऽऽह—लोकेऽपीति। दकारोच्चारणस्य प्रयोजने सिद्धे फलितमाह—अत इति। यत्तूक्तं ते वा कथ- यादि तत्राऽऽह—दमादीति। प्रतिपत्तुं च युक्तं दमादीति शेषः। इतिशब्दः स्वयूथ्यमतसमाप्त्यर्थः। क्तं परिहारमङ्गीकृत्याऽऽख्यायिकातात्पर्यं सिद्धान्ती ब्रूते—फलं त्विति। निर्ज्ञातदोषा देवादयो यथा रमात्रेण ततो निवर्त्यन्त इति शेषः। इतिशब्दो दार्ष्टान्तिकप्रदर्शनार्थः।

विशिष्टान्प्रत्यनुशासनस्य प्रवृत्तत्वादस्माकं [10]तदभावादनुपादेयं दमादीति शङ्कते—नन्विति। देवादिभिरपि प्रातिस्विकानुशासनवशादेकैकमेव दमाद्यनुष्ठेयं न तत्त्रयमित्याह—देवादिभि- ति। यथा पूर्वस्मिन्काले देवादिभिरेकैकमेवोपादेयमित्युक्तं तथा वर्तमानेऽपि काले मनुष्यैरेकैकमेव यं पूर्वाचारानुसारान्न तु त्रयं शिक्षितव्यं तथा च [11]कस्यायं विधिरित्याह—अद्यत्वेऽपीति। आचार- ण्यमाश्रित्य परिहरति—अत्रेति इत्येकैकमेव नोपादेयमिति शेषः। दयालुत्वस्यानुष्ठेयत्वमाक्षि- —तत्रेति। मध्ये दमादीनामिति यावत्। असुरैरनुष्ठितत्वेऽपि दयालुत्वमनुष्ठेयं हितसाधनत्वाद्वा-

---

यह हमें क्या शिक्षा देते हैं। अपने दोष के अनुरूप जब उन्होंने दकारमात्र का श्रवण किया तो उसकी प्रतीति हुई। लोक में यह प्रसिद्ध है, पुत्रों व शिष्यों को अनुशासित करते हुए उनके दोषों निवारण करना चाहिये। इसलिये प्रजापति द्वारा (अपने पुत्रों के कल्याण के लिए) दकार मात्र उच्चारण करना ठीक ही है। तथा दमादि तीनों में दकार का अन्वय होने से अपने दोष के अनुरूप दिकों उन्हें अलग-अलग जान लेना भी उचित ही है। तात्पर्य यह है कि अपने दोष का ज्ञान होने अल्प उपदेश से ही दोष से निवृत्त कराया जा सकता है। जिस प्रकार देवादि 'दकार' मात्र उप- से ही दोष निवृत्त हो गये।

(पूर्ववादी शङ्का करता है—) किन्तु यह देवता आदि तीनों को उपदेश किया गया, देवता-

---

[1] अतः—दकारोच्चारणस्य यथोक्तरीत्या सफलत्वात्। [2] फलम्—आख्यायिकोल्लेखस्य तात्पर्यमित्यर्थः। [3] पञ्चमीयम्। [4] ननु पूर्वैर्देवादिभिर्यद्येकैकमनुष्ठितं किमिति तर्हि मनुष्यैस्त्रयमनुष्ठेयमित्याशङ्कां निरसितुं मनुष्यैरेवेत्येवकारः. पूर्वैः समुच्चित्यानुष्ठितमप्याधुनिकैस्तथैवानुष्ठेयम्। आधुनिकान्प्रति पूर्वेषां त्रयाणामपि ज्येष्ठत्वाविशेषात् ज्येष्ठमात्राचारस्य च कनिष्ठान्प्रति प्रामाण्यादिति भावः। [5] उपादेयम्। [6] न तावज्ज्येष्ठमात्राचारस्य प्रामाण्यं किं तर्हि। प्रशस्तज्येष्ठाचारस्यैवेत्यभिप्रयन्नाशङ्कते—तत्रेत्यादिना। [7] अप्रशस्तैरिति—शिष्टाचारस्यैव प्रामाण्यादिति भावः। [8] अदान्तत्वादि। [9] पञ्चमी। [10] विशिष्टत्वाभावात्। [11] कस्यायं विधिरिति—कस्य दमाद्यन्यतमस्येत्यर्थः।

त्वादिति चेत् । न तुल्यत्वात्त्रयाणामतो[1]ऽन्यो[2]ऽत्राभिप्रायः [3]प्रजापतेः पुत्रा देवादय पुत्रेभ्यश्च हितमेव पित्रोपदेष्टव्यम् । प्रजापतिश्च हितज्ञो नान्यथोपदिशति । तस्मा त्रानुशासनं प्रजापतेः परममेतद्धितम् । अतो [4]मनुष्यैरेवैतत्त्रयं शिक्षितव्यमिति ।

अथवा न देवा असुरा वाऽन्ये केचन विद्यन्ते मनुष्येभ्यः । मनुष्याणामेवाद येऽन्यैरुत्तमैर्गुणैः संपन्नास्ते देवा लोभप्रधाना मनुष्यास्तथा हिंसापराः क्रूरा असुरा एव मनुष्या [5]अदान्तत्वादिदोषत्रयमपेक्ष्य देवादिशब्दभाजो भवन्ती[6]तरांश्च गुणान्सत्त्वा

नादिवदिति परिहरति—नेत्यादिना । देवादिषु प्रजापतेरविशेषात्तेभ्यस्तदुपदिष्टमद्यत्वेऽपि सर्वमनु मित्यर्थः । हितस्यैवोपदेष्टव्यत्वेऽपि [7]तदज्ञानात्प्रजापति[8]रन्यथोपदिशतीत्याशङ्क्याऽऽह—प्रजापतिरे हितज्ञस्य पितुरहितोपदेशित्वाभावस्तस्मादित्युक्तः । विशिष्टैरनुष्ठितस्यास्मदादिभिरनुष्ठेयत्वे फ माह—अत इति । प्राजापत्या देवादयो विग्रहवन्तः सन्तीत्यर्थवादस्य यथाश्रुतेऽर्थे प्रामाण्यमभ्यु दकारत्रयस्य [9]तात्पर्यं सिद्धमिति वक्तुमितिशब्दः ।

संप्रति कर्ममीमांसकमतमनुसृत्याऽऽह—अथवेति । कथं मनुष्येष्वेव देवासुरत्वं तत्राऽऽह—म ष्याणामिति । अन्ये गुणा ज्ञानादयः । किं पुनर्मनुष्येषु देवादिशब्दप्रवृत्तौ निमित्तं तदाह—अदान्त दीति । [10]देवादिशब्दप्रवृत्तौ निमित्तान्तरमाह—इतरांश्चेति । मनुष्येष्वेव देवादिशब्दप्रवृत्तौ फलित

दिकों ने भी उन तीनों में से एक-एक की उपादेयता को स्वीकार किया। इसलिए आजकल मनुष्यों को उन तीनों की शिक्षा नहीं देनी चाहिये। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) यहां ता अर्थ यह कहा जाता है कि जिस प्रकार पूर्व समय में देवतादिविशिष्ट प्रजापति के पुत्रों ने इन तीनों अनुष्ठान किया, इसलिए मनुष्यों को इनका अनुष्ठान करना चाहिये। (फिर पूर्ववादी कहता है— किन्तु उन तीनों में दयालुता का अनुष्ठान तो करने योग्य नहीं है क्योंकि इसका अशिष्ट राक्षसों द्वा अनुष्ठान किया गया था। (सिद्धान्ती उक्त आक्षेप का परिहार करता है--) ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि तीनों उपदेश तुल्य ही हैं। अतः यहाँ दकारत्रय का दूसरा ही अभिप्राय है। देवतादि प्रजापति के पुत्र हैं और पिता द्वारा अपने पुत्रों को हितकारी बात की ही शिक्षा दी जानी चाहि प्रजापति उनके हितषी हैं, इसलिये उन्हें अहित का उपदेश नहीं करते। इसलिए प्रजापति द्वारा पु को दी हुई यह शिक्षा उनका परम हित है। इसलिये मनुष्यों को इन तीनों की शिक्षा देनी चाहिये।

अथवा देवता या असुर, मनुष्यों से अन्य नहीं हैं। मनुष्यों में ही जो, और तो सभी गुणों से सम्पन्न हैं किन्तु अदान्त हैं; वे देवता हैं, लोभप्रधान व्यक्ति मनुष्य कहे गये हैं और हिं

---

[1] अतोऽन्य इति अप्रशस्ताऽसुरानुष्ठितत्वेनानुष्ठेयं दयालुत्वमिति त्वदुक्ताभिप्रायादन्य इत्यर्थः । [2] प्रकृताख्यायिकायां दकारत्रये वा । [3] अभिप्रायमेव प्रकटयति—प्रजापतेरित्यादिना शिक्षितव्यमितीत्य यद्वा तुल्यत्वात्त्रयाणामित्युक्तं विवृण्वन्नभिप्रायमेव प्रकटयति—प्रजापतेरित्यादिना । [4] मनुष्यैरेवै देवादिषु प्रत्येकं व्यावृत्तत्रितयसमुच्चयावद्योत्येवकारः । [5] अदान्तत्वमदातृत्वमदयालुत्वमिति दोषत्र [6] इतरांश्च गुणान्सत्त्वेत्यादि—सत्त्वप्रधाना देवा इत्येवमादि बोध्यम् । [7] हिताज्ञानात् । [8] अहि [9] तात्पर्यम्—विशिष्टानुष्ठितत्वात्त्रयमप्यस्माभिरनुष्ठेयमित्येतत् । [10] मनुष्येषु ।

त्यपेक्ष्य। अतो मनुष्यैरेव शिक्षितव्यमेतत्त्रयमिति। [1]तदपेक्षयैव प्रजापतिनोप-
शाव्। तथा हि मनुष्या अदान्ता लुब्धाः क्रूराश्च दृश्यन्ते। तथाचस्मृतिः—"कामः
तथा लोभस्तस्मादेतन्त्रयं त्यजेत्" इति ॥ ३ ॥

इति बृहदारण्कोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

(अथ पञ्चमाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम्)

दमादिसाधनत्रयं[2] सर्वोपासनशेषं [3]विहितम्। दान्तोऽलुब्धो दयालुः सन्सर्वोपासने-
धिक्रियते। तत्र निरुपाधिकस्य ब्रह्मणो[4]दर्शन [5]मतिक्रान्तमथाधुना सोपाधिकस्य [6]तस्यै
युदयफलानि वक्तव्यानीत्येवमर्थोऽयमारम्भः—

इति। इतिशब्दो विध्युपपत्तिप्रदर्शनार्थः। मनुष्यैरेव त्रयं शिक्षितव्यमित्यत्र हेतुमाह—तदपेक्ष-
मनुष्याणामेव देवादिभावे [8]प्रमाणमाह—तथा हीति। त्रयं शिक्षितव्यमित्यत्र स्मृतिमुदाहरति
था चेति। इतिशब्दो ब्राह्मणसमाप्त्यर्थः ॥ ३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

———

सार्थवादेन विधिना सिद्धमर्थमनुवदति—दमादीति। [9]कथं तस्य सर्वोपासनशेषत्वं तदाह
दान्त इति। अलुब्ध इति च्छेदः। संप्रत्युत्तरसंदर्भस्य तात्पर्यं वक्तुं भूमिकां करोति—तत्रेति।
भ्युदयं सप्तम्यर्थः। अनन्तरसंदर्भस्य तात्पर्यमाह—अथेति। [12]"पापक्षयादिरभ्युदयस्तत्फलान्युपासना-

---

वह क्रूर लोग असुर कहे गये हैं। वही मनुष्य अदान्तत्व (अदातृत्व-अदयालुत्व) रूप दोषत्रय की
ा से तथा सत्त्व, रज और तमोगुण की अपेक्षा से देवतादि नाम धारण करते हैं। इसलिये यह
साधन मनुष्य द्वारा सीखने चाहिये क्योंकि मनुष्यों की अपेक्षा से ही प्रजापति ने इन तीनों का
न किया है। तथा मनुष्य भी अजितेन्द्रिय, लोभी और क्रूर स्वभाव वाले देखे जाते हैं। इसीलिए
कहती है—"काम, क्रोध और लोभ—इन तीनों का तो परित्याग कर देना चाहिये" ॥ ३ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्थ द्वितीय ब्राह्मण के
शाङ्करभाष्य का हिंदीभाषानुवाद संपन्न हुआ ॥ २ ॥

———

वक्ष्यमाण सर्वोपासना के शेषभूत दमादि साधनत्रय का विधान किया गया। दान्त, निर्लोभी
दयालु होने पर साधक का सब उपासनाओं में अधिकार होता है। वहाँ (मधुकाण्ड और याज्ञ-
काण्ड में) निरुपाधिक ब्रह्म के सम्यक् ज्ञान का प्रतिपादन किया गया। अब सोपाधिक ब्रह्म की
युदयफलक उपासनाएँ बतलानी हैं। इसलिए इस मन्त्र का वर्णन किया जाता है।

---

[1] मनुष्यापेक्षया। [2] वक्ष्यमाणम्। [3] विहितमिति अनन्तरब्राह्मणे इति शेषः। ततः पूर्वस्मिन्ब्राह्मणे प्रोङ्कारश्चोपास्त्याङ्गतया विहित इति द्रष्टव्यम्। [4] सम्यग ज्ञानम्। [5] उक्तम्। [6] ब्रह्मणः। [7] यमारम्भ इति—निरुपाधिकब्रह्मोक्त्यनन्तरं नत्प्रतिपत्त्यनधिकारि(णे)ण सोपाधिकब्रह्मोक्तिर्वाच्येति द्रष्टव्यम्। [8] प्रत्यक्षात्मकम्। [9] कथमित्यादि—दमादिहीनस्यापि मनोव्यापारात्मकोपासनसंभवादिति भाव आक्षेप्तुः। [10] दान्त इतीति—अतिसूक्ष्मे वस्तुनि (परस्मिन्) नान्यस्य ध्यानं सिध्यतीति भाव इति शेषः। [11] मधुकाण्डं मुनिकाण्डं च। [12] पुण्योदय आदिशब्दार्थः।

एष प्रजापतिर्यद्धृदयमेतद्ब्रह्मैतत्सर्वं तदेतत्त्र्यक्षरꣳ हृदयमिति हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य

जो "हृदय" है, वह प्रजापति है। वह ब्रह्म है क्योंकि वह सब का आत्मा है। अतएव
भी है। यह "हृदय" ऐसा तीन अक्षर नाम वाला है। "हृ" यह एक अक्षर है। जो ऐसा जा
उसके प्रति स्व (इन्द्रियाँ) और अन्य शब्दादि विषय बलि समर्पण करते हैं। "द" यह एक अ

एष प्रजापतिर्यद्धृदयं प्रजापतिरनुशास्तीत्यनन्तरमेवाभिहितम्। कः पुनर
शास्ता प्रजापतिरिति। [1]उच्यते—एष प्रजापतिः। कोऽसौ यद्धृदयं हृदयमिति हृद
बुद्धि[3]रुच्यते। यस्मिञ्छाकल्यब्राह्मणान्ते[4] नामरूपकर्मणामुपसंहार उक्तो दिग्विभाग
तदेतत्सर्वभूतप्रतिष्ठं सर्वभूतात्मभूतं हृदयं प्रजापतिः प्रजानां स्रष्टा। एतद्ब्रह्म बृह
त्सर्वात्मत्वाच्च ब्रह्म। [5]एतत्सर्वम्। उक्तं [6]पञ्चमाध्याये हृदयस्य सर्वत्वम्। तत्सर्वं यस्म
स्मादुपास्यं हृदयं ब्रह्म। तत्र हृदयनामाक्षरविषयमेव तावदुपासन[7]मुच्यते। तदेतद्हृ
मिति नाम त्र्यक्षरं त्रीण्यक्षराण्यस्येति त्र्यक्षरम्। कानि पुनस्तानि त्रीण्यक्षराण्युच्य

नीति शेषः। अनन्तरब्राह्मणमादाय तस्य संगतिमाह—एष इत्यादिना। उक्तस्य हृदयशब्दा
[8]पाञ्चमिकत्वं दर्शयन्प्रजापतित्वं साधयति—यस्मिन्निति। कथं हृदयस्य सर्वत्वं तदाह—उक्त
सर्वत्वसंकीर्तनफलमाह--तत्सर्वमिति। तत्र हृदयस्योपास्यत्वे सिद्धे सतीत्येतत्। फलोक्तिपु

यह जो हृदय है; वह प्रजापति है। प्रजापति अनुशासन करता है, यह पिछले ब्राह्मण में
जा चुका है। किन्तु यह अनुशासन करने वाला प्रजापति कौन है—इस पर श्रुति कहती है।
प्रजापति है"। कौन सा है? जो हृदय, हृदय से (लक्षणा द्वारा) बुद्धि का ग्रहण होता है।
ब्राह्मण के अन्त में जिसमें दिग्विभागपूर्वक नाम, रूप और कर्मों का उपसंहार बतलाया है, वह
समस्त प्राणियों में प्रतिष्ठित तथा सभी प्राणियों का आत्मभूत हृदय प्रजापति यानी प्रजा का उ
कर्ता है। "एतद्ब्रह्म" यानी बृहत्परिमाण और सर्वात्म होने से यह ब्रह्म है। यह सर्व है। प
अध्याय (उपनिषत् के तृतीय अध्यायस्थ शाकल्य ब्राह्मण) में हृदय का सर्वत्व वर्णन किया जा
है। क्योंकि यह सर्व है, इसलिये हृदयरूप ब्रह्म उपास्य है। अब 'हृदय' इस नाम की अक्षरविष
उपासना को (उपास्य हृदय की स्तुति के लिए) कहा जाता है। वह यह 'हृदय' ऐसा 'त्र्यक्ष
यानी तीन अक्षरों वाला है। वे तीन अक्षर कौन से हैं? वे बतलाये जाते हैं। 'हृ' यह एक

---

१. उच्यत इति—दक्षादिव्यावृत्तये एष इत्यादिवाक्यमिति भावः। २. हृदयं मांसखण्डविशेषः। ३.
लक्षणया। ४. बृ. उ. ३. ९. २०। ५. व्याख्येयमिदं पदम्। ६. तृतीये शाकल्ये ब्राह्मणे। ७.
इति—उपास्यहृदयस्तुत्यर्थमिति बोध्यम्। ८. पाञ्चमिकत्वं पञ्चमे (तृतीये)ऽध्याये प्रस्तुतत्वम्।

एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

कार जो उपासना करता है, उसे स्वजातीय और असंबद्ध पुरुष भी बलि समर्पण करते हैं। "यम्" क अक्षर है। इसे जो जानता है; वह स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है (जब नाम के अक्षर की ना करने वाले को भी विशिष्ट फल मिलता है, तो "हृदय" ब्रह्म की उपासना से प्राप्त होने वाले के विषय में कहना ही क्या है) ॥१॥

॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

इत्येकमक्षरम्। अभिहरन्ति हरतेराहृतिकर्मणो हृ इत्येतद्रूपमिति यो वेद यस्मा[1]द्धृदयाय णे स्वाश्चेन्द्रियाण्यन्ये च विषयाः शब्दादयः स्वं स्वं कार्यमभिहरन्ति [2]हृदयं च [3]भोक्त्र- र्थमभिहरति। अतो [5]हृदयनाम्नो हृ इत्येतदक्षरमिति यो वेदास्मै विदुषेऽभिहरन्ति स्वाश्च तयोऽन्ये चासंबद्धाः। बलिमिति वाक्यशेषः। विज्ञानानुरूप्येणैतत्फलम्।

तथा द इत्येतदप्येकमक्षरमेतदपि दानार्थस्य ददातेर्द इत्येतद्रूप हृदयनामाक्षरत्वेन बद्धम्। अत्रापि—हृदयाय ब्रह्मणेस्वाश्च करणान्यन्ये च विषयाः [6]स्वं स्वं वीर्यं ददति

करोति—अभिहरन्तीति। यो वेदास्मै विदुषेऽभिहरन्तीति संबन्धः। वेदनमेव विशदयति—यस्मा- त्यादिना। [7]स्वं कार्यं रूपदर्शनादि। [8]हृदयस्य तु कार्यं सुखादि। असंबद्धा ज्ञातिव्यतिरिक्ताः। चित्यमुक्ते फले कथयति—विज्ञानेति।

अत्रापीति दकाराक्षरोपासनेऽपि फलमुच्यत इति शेषः। तामेव फलोक्ति व्यनक्ति—हृदया-

---

। "अभिहरन्ति" यह हरण-आहृति अर्थ के द्योतक 'हृ' धातु का रूप है, जो ऐसा जानता है: क्योंकि य के प्रतीक ब्रह्म को "स्वाः" अर्थात् इन्द्रियाँ और 'अन्ये' अर्थात् शब्दादिविषय अपने-अपने कार्यों प्रति ले जाते हैं और ब्रह्मदृष्टिप्रतीक बुद्धि उपास्य चैतन्य के प्रति ले जाती है। इसलिए 'हृदय' म का 'हृ' यह एक अक्षर जो जानता है; उस विद्वान् को अपने बन्धु और अन्य असबद्ध पुरुष बलि हैं। बलि यह वाक्यशेष से अर्थ है। यह फल उपासना के अनुरूप ही है।

तथा 'द' यह भी एक अक्षर है। यह भी दानार्थक 'दा' धातु का 'द' यह रूप 'हृदय' के यवर्ती दकार से संबद्ध है। यहाँ भी हृदय ब्रह्म को अपनी इन्द्रियाँ और अन्य विषय अपने-अपने

---

[1] हृदयाय ब्रह्मणे इति—हृदयप्रतीकाय (हृद्युपास्याय) ब्रह्मणे इत्यर्थ। [2] हृदयं चेति ब्रह्मदृष्टिप्रतीको बुद्धिमात्रमित्यर्थः। [3] भोक्त्रर्थमिति—उपास्यचैतन्यार्थमित्यर्थः। [4] अभिहरतीति—स्वं कार्यमित्य- नुषङ्गः। [5] हृदयनाम्नो हृद इत्येतदिति—हरतेराहृतिकर्मण इत्युक्तमत्रानुमन्त्रेयम्। [6] स्वं स्वं वीर्यमिति—स्वस्वकार्योत्पादनसामर्थ्यमित्यर्थः। [7] स्वं कार्यमिति—इन्द्रियकार्यं विषयकार्यं चेत्यर्थः। तदु- भयोरपि एकस्मिन्दर्शनादि कार्ये करणविषयविधया निमित्तत्वादिति बोध्यम्। [8] हृदयकार्यं सुखादीति हृदयवृत्त्यात्मकसुखादेर्हृदयोपादानकत्वात्।

अथ पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

[1]तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमाँल्लोकाञ्जित इन्न्वसावसद्य एवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति

वही यह हृदय ब्रह्म ही वह है, जोकि सत्य ही है। जो कोई भी इस महत्पूज्य प्रथम उत्पन्न
'यह सत्य ब्रह्म है' इस प्रकार से उपासना करता है; वह इन लोकों को जीत लेता है, वह
वश में हो जाता है और वह असत् स्वरूप हो जाता है। जो इस प्रकार इस महत्पूज्यनीय

**हृदयं च भोक्त्रे ददाति स्वं वीर्यमतो दकार इत्येव यो वेदास्मै ददति स्वाश्चान्ये
तथा यमित्येतदप्येकमक्षरम् । इणो गत्यर्थस्य यमित्येतद्रूपमस्मिन्नाम्नि निबद्धमिति यो
स स्वर्गं लोकमेति । एवं [2]नामाक्षरादपीदृशं विशिष्टं फलं प्राप्नोति किमु वक्तव्यं
स्वरूपोपासनादिति हृदयस्तुतये नामाक्षरोपन्यासः ॥ १ ॥**

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

तस्यैव हृदयाख्यस्य ब्रह्मणः सत्यमित्युपासनं विधित्सन्नाह—तत्तदिति हृदयं

**येति । अस्मै विदुषे स्वाश्चान्ये च ददति । [3]बलिमिति शेषः । नामाक्षरोपासनानि त्रीणि हृदयस्व
पासनमेकमिति चत्वार्युपासनान्यत्र विवक्षितानीत्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति ।**

इति बृहदाराण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

ब्राह्मणान्तरमुत्थाप्याक्षराणि व्याचष्टे—तस्येत्यादिना । सत्यशब्दार्थं [4]सत्यज्ञानाविवा

कार्य उत्पादन का सामर्थ्य देते हैं। बुद्धि उपास्य चैतन्य को अपना उत्पादन सामर्थ्य देती है;
जो 'दकार' इस प्रकार से उसे जानता है; उसे स्वजन और अन्यजन भी बलि देते हैं। इसी
'यम्' यह भी एक अक्षर है। गत्यर्थक 'इण्' धातु का यम्' यह रूप हृदय इस नाम में निबद्ध
ऐसा जो जानता है, उसे स्वर्ग लोक प्राप्त होता है। इस प्रकार जब नाम के अक्षर मात्र द्वारा की
उपासना से ऐसा विशिष्ट फल प्राप्त कर लेता है, तो हृदय स्वरूप ब्रह्म की उपासना से जो
मिलेगा, उसके विषय में तो कहना ही क्या है! इस प्रकार उपास्य हृदय की स्तुति के लिए
नाम के अक्षरों का उपन्यास किया गया है ॥ ३ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चम अध्यायस्थ तृतीय ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य
का हिन्दीभाषानुवाद संपन्न हुआ ॥ ३ ॥

उसी हृदयसंज्ञक ब्रह्म की "सत्यम्" इस स्वरूप से उपासना करने की विधित्सा से
कहती है—"तत्" अर्थात् 'तत्' पद से हृदयात्मक ब्रह्म का निर्देश किया है। 'वा' यह

---

१. एतस्यैव हृदयब्रह्मण सत्यात्मनोपासनमाह—तद्वा इत्यादिना । २. तदुपासनात् । ३. बलिमिति—
दृष्टान्तानुरोधेनात्र दार्ष्टान्तिकेऽपि धनादिसामर्थ्यरूपं बलिमित्यर्थः । ४. "सत्यं ज्ञानमनन्तं
वा तै. उ ।

सत्यꣳ ह्येव ब्रह्म ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पचमाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥ -

त्पन्न हुए को 'सत्य ब्रह्म' इस प्रकार से उपासना करता है, उसे अवश्य पूर्वोक्त फल प्राप्त होता है क्योंकि सत्य ही ब्रह्म है। (अतः उपासना के अनुरूप फल मिलना उचित ही है) ॥१॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

परामृष्टम्। वा इति स्मरणार्थम्। तद्यद्धृदयं ब्रह्म स्मर्यत इत्येकस्तच्छब्दः। [1]तदेतदुच्यते प्रकारान्तरेणेति द्वितीयस्तच्छब्दः। किं पुनस्तत्प्रकारान्तरम्। [2]एतदेव तदित्ये[3]तच्छब्देन संबध्यते तृतीयस्तच्छब्दः। [4]एतदिति वक्ष्यमाणं बुद्धौ संनिधीकृत्याऽऽह। आस बभूव। [5]किं पुनरेतदेवाऽऽस यदुक्तं हृदयं ब्रह्मेति तदिति तृतीयस्तच्छब्दो [6]विनियुक्तः। [7]किं तदिति विशेषतो निर्दिशति [8]सत्यमेव सच्च त्यच्च मूर्तं चामूर्तं च सत्यं ब्रह्म पञ्चभूतात्मक- ाधिदैविकं तत्त्वं हिरण्यगर्भात्मकमित्येतत्। स यः कश्चित्सत्यात्मानमेतं [9]महन्महत्त्वा-

---

तं व्यावर्तयति—सच्चेति। सत्यस्य [10]चतुर्थे प्रस्तुतत्वं सूचयति—मूर्तं चेति। वेदन[11]मनूद्य फलोक्ति- मवतारयति—स य इति। प्रथमजत्वं प्रकटयति—सर्वस्मादिति। स यः कश्चिद्वेदेति संबन्धः। कैमु-

---

स्मरणार्थक है। "तत्" अर्थात् मन्त्र में प्रथम 'तत्' शब्द हृदयात्मक ब्रह्म के लिए है, जिसका स्मरण किया जा रहा है। स्मयमाण हृदयाख्य ब्रह्म को प्रकारान्तर से द्वितीय 'तत्' शब्द से कहा जाता है। वह प्रकारान्तर क्या है? वह प्रकारान्तर वाला यही है। इस प्रकार मूल मन्त्र में "एतत्" इस के साथ तृतीय 'तत्' को जोड़ दिया जाता है। "एतत्" इस शब्द से श्रुति उस वक्ष्यमाण रूप को बुद्धि धारण करते हुए कह रही है। 'आस' अर्थात् वह था। किन्तु वह कौन था? यही जिसका हृदयात्मक ब्रह्म कह कर निरूपण किया गया है। इसीलिए तृतीय 'तत्' शब्द 'एतत्' शब्द से संबद्ध है। वह क्या है? इस पर श्रुति उसका विशेषरूप से निरूपण करती है। वह (हृदयाख्य ब्रह्म) त्य ही है। सत् और त्यत्, मूर्त और अमूर्त सत्यात्मक ब्रह्म ही है, यही पञ्चभूतात्मक, आधि- दैविक, हिरण्यगर्भात्मक तत्त्व है। वह जो कोई भी "एतम्" अर्थात् इस सत्यात्मा 'महत्' अर्थात् परिच्छेद्य 'यक्षम्' अर्थात् पूज्य 'प्रथमजम्' अर्थात् सब संसारी लोगों से सर्वप्रथम उत्पन्न

---

१. तदेतदिति—स्मर्यमाणं हृदयाख्यं ब्रह्मेति तदेतदोरर्थः। २. एतदेव तदिति—तत्प्रकारान्तरमेवदेव वक्ष्य- माणमेवेत्यर्थः। ३. एतच्छब्देनेति—मूलस्थेनैवेत्यर्थः। ४. ननु वक्ष्यमाणस्य समीपतरवर्तित्वाभावे कथमेतच्छब्दत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—एतदिति। वक्ष्यमाणमपि बुद्धौ संनिधाप्य एतच्छब्देनाह वेदो भगवानित्यर्थः। ५. किं पुनरित्यादिनोक्तमेवार्थं प्रश्नोत्तराभ्यां विशदयति—किं पुनरिति। ६. विनियुक्त इति—एतच्छब्देन संबद्ध इत्यर्थः। ७. किं तदिति—तद्वक्ष्यमाणम्। एतत्पदोक्तं विशेषणं किमिति वीक्षायामित्यर्थः। ८. सत्यमेवेति—यद्ब्रह्म हृदयाख्यमुक्तं तत्सत्यमेवासेति वाक्यार्थः। ९. परिमाणतः अपरिच्छेद्यमिति यावत्। १०. बृ. उ. २. ३. १। ११. अनुवदन्नित्यर्थः।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ।)

[1]आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं

यह नामरूपात्मक जगत् पहले जल ही था, उसी ने सर्वप्रथम सत्य की रचना की। अ

द्यक्षं पूज्यं प्रथमजं प्रथमजातं सर्वस्मात्संसारिण एतदेवाग्रे जातं ब्रह्मातः प्रथमजं वे विजानाति सत्यं ब्रह्मेति । तस्येदं फलमुच्यते—यथा सत्येन ब्रह्मणेमे लोका आत्मसा त्कृता जिता एवं [2]सत्यात्मानं ब्रह्म महद्यक्षं प्रथमजं वेद स जयतीमाँल्लोकान् । किच जि वशीकृत इन्न्वित्थं [3]यथा ब्रह्मणाऽसौ शत्रुरिति वाक्यशेषः । असच्चासङ्कवेदसौ शत्रुर्जितो भवेदित्यर्थः । कस्यैतत्फलमिति पुन[4]र्निगमयति—य एवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति । [5]अतो विद्यानुरूपं फलं युक्तम् । सत्य ह्येव यस्माद्ब्रह्म ॥१॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४॥

तिकसिद्धं फलान्तरमाह—किचेति । वशीकृतस्य शत्रोः स्वरूपेण सत्त्वं वारयति—असच्चेति । स हैतमित्यादिना य एवमेतदित्यादेरेकार्थत्वात्पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—कस्यैतदिति । कथमस्य विज्ञा नस्येदं फलमित्याशङ्क्याऽऽह—अत इति । [6]पञ्चमीपरामृष्टं स्पष्टयति—सत्यं हीति ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४॥

अथवा क्योंकि यह ब्रह्म ही सबसे आगे उत्पन्न हुआ था; इसलिए प्रथम है, 'वेद' अर्थात् जो सम्यक् प्रकार से जानता है; कि ब्रह्म सत्यात्मक है; उसका फल बतलाते हैं—जिस प्रकार सत्यात्म ब्रह्म के द्वारा ये लोक आत्मसात् किये हुए हैं यानी जीते हुए हैं, इसी प्रकार जो सत्य स्वरूप, अपरि च्छेद, पूज्य और प्रथमजात ब्रह्म को जानता है, वह इन लोकों को जीत लेता है । उसके द्वारा शत्रु "जितः" अर्थात् वशीकृत हो जाता है । जिस प्रकार सत्याख्य ब्रह्म द्वारा यह अनृताख्य शत्रु व में हो जाता है, उसी प्रकार उपासक द्वारा भी वश में हो जाता है, यह वाक्य शेष है अर्थात् शत्रु के पराजित होने से उसके अस्तित्व का ही अभाव हो जाता है । यह किसका फल है—इसे श्रु उपसंहारव्याज से पुनः कहती है । जो इस प्रकार इस अपरिच्छेद्य, पूज्य, प्रथमजात, सत्यस्वरूप ब्र को जानता है (वह लोकजित् और शत्रुजित् होता है) । इस प्रकार उपासक के लिए यह विद्यानु फल होना उचित ही है क्योंकि ब्रह्म भी सत्य ही है ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्थ चतुर्थ ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का
हिन्दी-भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ४ ॥

---

१. आपः पयः सोमाद्यात्मिका हूयमानाः सूक्ष्मभूता भूतान्तरसहिता जगद्बीजभूता अव्याकृतात्मनाऽवस्थित एव । इदं सर्वं विकारजातं जगदग्रे सृष्टेः पूर्वमासुर्नान्यत् किंचित् । २. सत्यश्चासावात्मा तं सत्यस्व मित्यर्थः । ३. इत्थमित्युक्तमेव विवृणोति— यथा ब्रह्मणेति । यथा सत्याख्यब्रह्मणा असौ शत्रुरनृताख्यो व कृतस्तथोपासकेनापि वशीकृतो भवतीत्यर्थः । ४. उपसंहरति—उपसंहारव्याजेन पुनः कथयतीत्यर्थः । अत इति—यस्मात्सत्यमेव ब्रह्मोक्तरीत्या लोकजिच्छत्रुजिच्च तस्मादुपासकस्यापि विद्यानुरूपमुक्तं फलं यु मेवेत्यर्थः । ६. अत इति पञ्चमी ।

ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवाꣳस्ते देवाः सत्यमेवोपासते तदेतत्त्र्यक्षरꣳ सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं

त्य ब्रह्म है, ब्रह्म ने विराट् को और विराट् ने देवताओं को उत्पन्न किया। वे देवगण भी सत्य की ी उपासना करते हैं। वह यह सत्य तीन अक्षर वाला है। 'स' यह एक अक्षर है। ईकारानुबन्धहित 'ती' यह एक अक्षर वाला है और 'यम्' यह भी एक अक्षर वाला है। इनमें प्रथम और

सत्यस्य ब्रह्मणः [1]स्तुत्यर्थमिदमाह। महद्यक्षं प्रथमजमित्युक्तं तत्कथं प्रथमजत्वमिति। उच्यते—आप एवेदमग्र आसुः। आप इति कर्म[2]समवायिन्योऽग्निहोत्राद्याहुतयः। ग्निहोत्राद्याहुते[3]र्द्रवात्मकत्वादप्त्वम्। ताश्चाऽऽपोऽग्निहोत्रादिकर्मापवर्गोत्तरकालं केनचिद[4]दृष्टेन सूक्ष्मेणाऽऽत्मना कर्मसमवायित्वमपरित्यजन्त्य इतरभूतसहिता एव न केवलाः। र्मसमवायित्वात्तु [5]प्राधान्यमपामिति। सर्वाण्येव भूतानि प्रागुत्पत्तेरव्याकृतावस्थानि कर्तृ[6]सहितानि निर्दिश्यन्त आप इति। ता आपो बीजभूता जगतो[7]ऽव्याकृतात्मनाऽव-

---

इदमा ब्राह्मणं गृह्यते। [8]तस्यावान्तरसंगतिमाह—महदिति। आहुतिनामेव कर्मसमवायित्वं न त्वपामित्याशङ्क्याऽऽह—अग्निहोत्रादीति। यद्यप्याप: सोमाद्या हूयमानाः कर्मसमवायिन्यस्तथा[9]ऽप्युत्तरकाले कथं तासां [10]तथात्वं कर्मणोऽस्थायित्वादित्याशङ्क्याऽऽह—ताश्चेति। कर्मसमवायित्वमपरित्यजन्त्यस्तत्संबन्धित्वेनाऽऽपः प्रथमं प्रवृत्तास्तन्नाशोत्तरकालं सूक्ष्मेणादृष्टेनाऽऽत्मनाऽतीन्द्रियेणाऽऽत्मना तिष्ठन्तीति योजना। आप इति विशेषणं भूतान्तरव्यासेधार्थमिति भ्रान्तिं वारयति—इतरेति। कथं तर्हि तासामेव श्रुतावुपादानं तदाह—कर्मेति। इति तासामेवात्र ग्रहणमिति शेषः। विवक्षितपदार्थं निगमयति—सर्वाण्येवेति। [11]पदार्थमुक्तमनूद्य वाक्यार्थमाह—ता इति। या यथोक्ता आपस्ता एवेति यच्छब्दा-

---

सत्यस्वरूप ब्रह्म की स्तुति के लिए श्रुति यह कहती है। अपरिच्छेद्य, पूज्य और प्रथमजात ह पिछले ब्राह्मण में कहा गया, वह सत्यात्मक ब्रह्म प्रथमजात किस प्रकार है—इसे श्रुति बतलाती है। (सृष्टि से) पूर्व में यह जल ही था। "आपः" इस शब्द से कर्मसंसृष्ट अग्निहोत्रादि की आहुतियाँ कही गयी हैं। अग्निहोत्रादि की आहुतियाँ (पयः सोमाद्यात्मक) द्रवात्मक होने से जल हैं। अग्निहोत्रादि कर्म की पूर्णाहुति के पश्चात् वह जल किसी प्रत्यक्ष अगोचर सूक्ष्म रूप से अपनी कर्मसंसृष्टि को न छोड़ते हुए इतर भूतों के साथ रहते हैं; अकेले नहीं। क्योंकि कर्मसंसृष्टि होने से जल की प्रधानता है। उत्पत्ति से पूर्व अव्यक्त रूप में स्थित ईश्वरसहित (मूल कारण के रूप से) जल का

---

१. तथा च पूर्वोत्तरयोः स्तुत्यस्तावकभावः शेषिशेषभावो वा महासङ्गतिरिति बोध्यम्। २. संसृष्टाः। ३. पयःसोमाद्यात्मकत्वात्। ४. प्रत्यक्षागोचरेण। ५. प्राधान्यमिति—आहुतिमयी नाम पूर्वीभूतानामपां सर्वजगत्परिणामकारणत्वस्याग्निहोत्रप्रकरणे श्रुतत्वादपि प्राधान्यं बोध्यम्। ६. ईश्वरसहितानि—तथा च मूलकारणमेवाप्शब्देन विवक्षितमिति यावत्। ७. अनभिव्यक्तनामरूपात्मना। ८. साध्यसाधकभावरूपामुत्थाप्योत्थापकभावरूपामिति वा। ९. कर्मसमाप्त्यनन्तरम्। १०. कर्मसंसृष्टत्वम्। ११. अप्पदार्थम्।

मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतꣳ सत्यभूयमेव भवति नैवं विद्वाꣳसमनृतꣳ हिनस्ति ॥१॥ इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

अन्तिम अक्षर सत्य रूप है क्योंकि उनकी मृत्यु का अभाव है और बीच में तकार अनृत है, फिर भी वह यह अनृत तकार दोनों ओर सत्य से व्याप्त है। इसलिये यह सत्य बहुल ही है। इस प्रकार जानने वाले को मृत्यु रूप अनृत नहीं सताता अर्थात् ऐसे उपासक को कभी प्रमाद से कहा हुआ असत्य मारता नहीं ॥ १ ॥

॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

स्थितास्ता एवेदं सर्वं नामरूपविकृतं [1]जगदग्र आसुर्नान्यत्किंचिद्विकारजातमासीत्। ताः पुनरापः [2]सत्यमसृजन्त। तस्मात्सत्यं ब्रह्म प्रथमजम्। तदेतद्धिरण्यगर्भस्य सूत्रात्मनो जन्म यदव्याकृतस्य जगतो व्याकरणम्। तत्सत्यं ब्रह्म कुतः। महत्त्वात्। कथं महत्त्वमित्याह। यस्मात्सर्वस्य स्रष्टृ। कथम्। यत्सत्यं ब्रह्म तत्प्रजापतिं प्रजानां पतिं विराजं सूर्यादिकारणमसृजतेत्यनुषङ्गः। प्रजापतिर्देवान्स विराट्प्रजापतिर्देवानसृजत। यस्मात्सर्वमेवं क्रमेण सत्याद्ब्रह्मणो जातं तस्मान्महत्सत्यं ब्रह्म। कथं पुनर्यक्षमिति। उच्यते—त एवं सृष्टा देवाः पितरमपि विराजमतीत्य तदेव सत्यं ब्रह्मोपासते। अत एतत्प्रथमजं मद्यक्षम्।

नुबन्धेन योजना। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति श्रुतं सत्यं कथं भूतान्तरसहिताभ्योऽद्भ्यो जायते तत्राऽऽह —तदेतदिति। तस्य ब्रह्मत्वं प्रश्नपूर्वकं विशदयति—तत्सत्यमिति। सत्यस्य ब्रह्मणो महत्त्वं प्रश्नद्वारा साधयति—कथमित्यादिना। तस्य सर्वस्रष्टृत्वं प्रश्नद्वारेण स्पष्टयति—कथमिति। महत्त्वमुपसंहरति

निर्देश किया जाता है। जगत् का बीज कारणभूत वह जल अनभिव्यक्त-नामरूपात्मक था; वही पुनः नामरूप विकार भाव को प्राप्त हुआ। सूत्रोत्पत्ति के पूर्व में वही था, उससे भिन्न और कोई विकार-समुदाय नहीं था। उन जलों के सूत्रात्मा सत्य की सृष्टि की। इसलिये सत्यस्वरूप ब्रह्म ही प्रथमजात है। वही इस सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ का जन्म है जो कि अनभिव्यक्त जगत् का व्यक्त होना है। वह सत्यात्मक ब्रह्म है। किस प्रकार ? महत् परिमाण वाला अथवा अपरिच्छेद्य होने के कारण। महत् किस प्रकार है—उसे श्रुति कहती है। क्योंकि वह सब का स्रष्टा है। किस प्रकार ? जो सत्य ब्रह्म था। उसने "प्रजापतिम्" अर्थात् सूर्यादि इन्द्रियों वाले प्रजा के पति विराट् को उत्पन्न किया। "प्रजापतिर्देवान्" अर्थात् उस विराट् प्रजापति ने देवताओं की सृष्टि की। क्योंकि इस प्रकार का क्रम सब कुछ उस सत्यात्मक ब्रह्म से उत्पन्न हुआ, इसलिये सत्यात्मक ब्रह्म ही महानतम है। पुनः वह पूज्य किसलिए है ? इस पर श्रुति कहती है। वे इस प्रकार उत्पन्न हुए देवतागण अपने पति विराट् को छोड़कर उसी सत्य ब्रह्म की उपासना करते हैं। इसलिए यह प्रथमजात, अपरिच्छेद्य और पूज्य

---

[1] सूत्रोत्पत्तेः प्राक्। [2] सूत्रात्मानम्।

मात्सर्वात्मनोपास्यं तत्तस्यापि सत्यस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति तदेतत्त्र्यक्षरम् । कानि क्षराणीत्यत आह—स इत्येकमक्षरम् । तीत्येकमक्षरम् । तीतीकारानुबन्धो [1]निर्देशार्थः । मित्येकमक्षरम् । [2]तत्र [3]तेषां प्रथमोत्तमे अक्षरे सकारयकारौ [4]सत्यम् । [5]मृत्युरूपाभावात् । यतो मध्ये[6]ऽनृतम् । अनृतं हि मृत्युः । मृत्य्वनृतयो[7]स्तकारसामान्यात् । तदेतदनृतं कराक्षरं मृत्युरूप[8]मुभयतः सत्येन सकारयकारलक्षणेन परिगृहीतं व्याप्तमन्तर्भावितं त्यरूपाभ्यामतो[9]ऽकिंचित्करं [10]तत्सत्यभूयमेव सत्यबाहुल्यमेव भवति । [11]एवं सत्यबाहुल्यं [12]सर्वस्य मृत्योरनृतस्याकिंचित्करत्वं च यो विद्वांस्तमेवं विद्वांसमनृतं कदाचित्प्रमादोक्तं [13]हिनस्ति ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥५॥

स्मादिति । विशेषणत्रये सिद्धे फलितमाह—तस्मादिति । तस्यापीत्यपिशब्दो हृदयब्रह्म[14]दृष्टान्तार्थः । द्धिपूर्वकमनृतं [15]विदुषोऽपि बाधकमित्यभिप्रेत्य विशिनष्टि—प्रमादोक्तमिति ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

है। इसलिए वही सर्वविध उपासना करने योग्य है, उस सत्यस्वरूप ब्रह्म का नाम 'सत्य' है जिसमें तीन अक्षर हैं। वह कौन से तीन अक्षर हैं, इस पर श्रुति कहती है। 'स' यह प्रथम अक्षर है 'ती' यह दूसरा अक्षर है। "त्" होने से ईकारानुबन्ध उच्चारणार्थ के लिए है। "यम्" यह तीसरा है। "सत्यम्" इस पद में तीनों अक्षरों के मध्य प्रथम और अन्तिम अक्षर सकार और यकार अमृत है। क्योंकि इनमें मृत्यु का अभाव है। "मध्यतः" अर्थात् बीच का तकाराक्षर अनृत है क्योंकि अनृत ही मृत्यु है। क्योंकि मृत्यु और अनृत में (तकारघटित होने से) तकार की समानता है; वह यह मृत्युरूप अनृतपरक तकार' अक्षर पहले और अन्तिम दोनों ओर से 'सकार-यकार' रूप अमृत से "परिगृहीतम्" अर्थात् व्याप्त या सत्यरूप अक्षरों से अन्तर्भावित है। तकाराक्षर अमारक है, "सत्यभूयमेव" अर्थात् सत्यप्राय ही है। इस प्रकार जो 'सत्-यम् इस समुदाय अक्षर के सत्यप्राय और मृत्युरूप अनृत के अमारकत्व को जानता है, उस इस जानने वाले को कभी प्रमाद से बोला हुआ अनृत भी स्वफलदान में बाधक नहीं हुआ करता ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्थ पञ्चम ब्राह्मण के शाङ्कर-भाष्य
का हिन्दी-भाषानुवाद संपन्न हुआ ॥ ५ ॥

---

[1] निर्देशार्थं इति—उच्चारणार्थं इत्यर्थः । अत्र हल्मात्रतकारप्रदर्शनार्थं इति यावत् । [2] सत्यपदे । [3] त्रयाणामक्षराणां मध्ये । [4] अमृतम् । [5] सस्वरत्वादिति यावदित्याहुः । [6] तकाराक्षरम् । अनृतत्वं मृत्युत्वं तच्च निःस्वरत्वात्तकारस्येत्यपि वदन्ति । [7] उभयोस्तकारघटितत्वात् । [8] पूर्वोत्तरतः । [9] अमारकम् । [10] तकाराक्षरम् । [11] उक्तविभागस्योपासितसंबन्धं ब्रुवाणस्तत्फलमाह—एवमिति । [12] सर्वस्येति—सत्यमिति समुदायस्येत्यर्थः । यद्वा सर्वस्य मृत्योरिति । [13] न हिनस्तीति—स्वफलदानेन बाधकं न भवतीत्येतत् । [14] दृष्टान्तश्चायं नाम्नस्त्र्यक्षरत्वे बोध्यः । [15] उपासितुः ।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य षष्ठं ब्राह्मणम् ।)

तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणे क्षन्पुरुषस्तावेतावन्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरेषोऽस्मि-

वह जो सत्य है, वह यह आदित्य है। जो इस आदित्य मण्डल में पुरुष है और जो यह दाएँ नेत्र में पुरुष है; वे दोनों एक दूसरे में प्रतिबिम्बित हैं। रश्मियों द्वारा अनुग्रह करता यह आदित्य पुरुष चाक्षुष पुरुष में प्रतिष्ठित है और चाक्षुष पुरुष प्राणों के द्वारा उपकार करता

---

[1]अस्याधुना सत्यस्य ब्रह्मणः [2]संस्थानविशेष उपासनमुच्यते—तद्यत् । किं तत् ब्रह्म प्रथमजं किमसौ सः । कोऽसावादित्यः कः पुनरसावादित्यो य एष य एतस्मिन्नादि मण्डले पुरुषोऽभिमानी सोऽसौ सत्यं ब्रह्म । यश्चायमध्यात्मं योऽयं दक्षिणेऽक्षन्नक्षि पुरुषः । चशब्दात्स च सत्य ब्रह्मेति संबन्धः । तावेतावादित्याक्षिस्थौ पुरुषावेक सत्यस्य ब्रह्मणः [3]संस्थानविशेषौ यस्मात्तस्मादन्योन्यस्मिन्नितरेतरस्मिन्नादित्यश्चा चाक्षुषश्चाऽऽदित्ये प्रतिष्ठितौ । अध्यात्माधिदैवतयोरन्योन्योपकार्योपकारकत्वात् ।

ब्राह्मणान्तरमवतार्य व्याकरोति—अस्येत्यादिना । [4]तत्राऽऽधिदैविकं स्थानविशेषमुपन्यस्य —तदित्यादिना । संप्रत्याध्यात्मिकं स्थानविशेषं दर्शयति—यश्चेति । [5]प्रदेशभेदवर्तिनोः स्थान [6]भेदं [7]शङ्कित्वा परिहरति[8]—[9]तावेताविति । अन्योन्यमुपकार्योपकारकत्वेनान्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितत्वं प्र

अब उस सत्यात्मक की रूप भेद में उपासना बतायी जाती है। वह जो; कौन वह? वह प्रथमजात, सत्यात्मक ब्रह्म है; वह क्या है? वह यह है। वह कौन है? वह आदित्य है। किन्तु आदित्य कौन है? जो यह है। वह कौन है? जो इस आदित्य मण्डल में इसका अभिमानी पुरुष है वह यह सत्य स्वरूप ब्रह्म है। एवं जो यह अध्यात्म है; दक्षिण "अक्षन्" अर्थात् नेत्र में जो यह पुरुष है, वह भी ब्रह्म है। "यश्चायम्" यहाँ 'च' शब्द से सत्यस्वरूप ब्रह्म यह अर्थ लगाना चाहिये। क्योंकि वे (अधिदेव और अध्यात्म) आदित्यस्थ और नेत्रस्थ पुरुष एक सत्यात्मक ब्रह्म के आकृति विशेष हैं इसलिए "अन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ" अर्थात् एक दूसरे में यानी आदित्य पुरुष चाक्षुष में और चाक्षुष पुरुष आदित्य में प्रतिष्ठित है क्योंकि अध्यात्म और अधिदैव पुरुष एक दूसरे के उपकार्य-उपकारक

---

१. प्रथमजत्वादिविशिष्टसत्योपासनोक्त्यनन्तरम् । २. संस्थानविशेषे—रूपभेदे अध्यात्माधिदैवयोरक्ष्यादि स्थानयोः सत्यस्यैव ब्रह्मणो रूपविशेषं कल्पयित्वा तदुपास्त्युक्त्यर्थमुत्तरं ब्राह्मणमित्यर्थः । ३. आकृतिविशेषौ । ४. अध्यात्माधिदैवयोर्मध्ये । ५. प्रदेशेत्यादि—प्रदेशः स्थानं चाक्ष्यादित्यमण्डलरूपे बोध्ये । ६. भेदमिति उपास्ययोरित्यादिः । ७. शङ्कित्वेति—उपास्यभेदादुपासनमपि भिद्येतेति शङ्कितुराशयः । ८. आदित्याक्षि स्थानभेदाद्देवताभेदे ध्यानं भिद्येतेत्याशङ्क्याऽऽह—तावेतावितीति पाठान्तरम् । ९. तावेतावितीति—द्वा च वस्तुत एकस्यैव सूत्रात्मनः स्थानद्वयेऽवस्थानात्तावभिन्नावेवेत्यर्थः । स्थानमात्रभेदात्तु भेद औपाधिक इति भावः इति शेषः ।

न्प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन्स यदोत्क्रमिष्यन्भवति शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति नैनमेते रश्मयः प्रत्यायन्ति ॥१॥

आदित्य पुरुष में प्रतिष्ठित है। जिस समय यह आध्यात्मिक चाक्षुष पुरुष शरीर से उत्क्रमण ने लगता है; उस समय यह विज्ञानमय इस आदित्य मण्डल को चन्द्रमण्डल के समान रश्मिरहित ही दीखता है। फिर ये रश्मियाँ इसके पास आती नहीं (इस प्रकार परस्पर उपकार्य-उपकारक के कारण ये दोनों एक सत्यात्मा के ही अंश हैं) ॥१॥

ष्ठितावित्युच्यते—रश्मिभिः प्रकाशेनानुग्रहं कुर्वन्नेष आदित्योऽस्मिंश्चाक्षुषेऽध्यात्मे ष्ठितः। अयं च चाक्षुषः प्राणैरादित्यमनुगृह्णन्नमुष्मिन्नादित्येऽधिदैवे प्रतिष्ठितः। स्मिञ्छरीरे विज्ञानमयो यो भोक्ता यदा यस्मिन्काल उत्क्रमिष्यन्भवति तदाऽसौ दित्यपुरुषो रश्मीनुपसंहृत्य केवलेनौदासीन्येन रूपेण व्यवतिष्ठते। तदाऽयं विज्ञानमयः यति शुद्धमेव केवलं विरश्म्ये[1]तन्मण्डलं चन्द्रमण्डलमिव। [2]तदेतदरिष्टदर्शनं [3]प्रासङ्गिकं यते। [4]कथं नाम पुरुषः [5]करणीये यत्नवान्स्यादिति। नैनं चाक्षुषं पुरुषमुररीकृत्य तं

ं प्रकटयति—कथमित्यादिना। प्राणैश्चक्षुरादिभिरिन्द्रियैरिति यावत्। अनुगृह्णन्नादित्यमण्डलात्मानं काशयन्नित्यर्थः। प्रासङ्गिकमुपासनाप्रसङ्गागतमित्यर्थः। तत्प्रदर्शनस्य किं फलमित्याशङ्क्याऽऽह कथमिति। पुरुषद्वयस्यान्योन्यमुपकार्योपकारकत्वमुक्तं निगमयति—नेत्यादिना। पुनःशब्देन मृते-

---

ते हैं। किस प्रकार प्रतिष्ठित हैं? इस पर श्रुति कहती है—"रश्मिभिः" अर्थात् प्रकाश के द्वारा, ग्रह करता हुआ यह आदित्य पुरुष इस अध्यात्म चाक्षुष में प्रतिष्ठित है। "अयम्" अर्थात् यह षुष पुरुष प्राणों के द्वारा आदित्य का अनुग्रह करता हुआ इस अधिदैव आदित्य पुरुष में प्रतिष्ठित । "सः" अर्थात् इस शरीर में विज्ञानमय जो भोक्ता है, वह "यदा" यानी जिस समय उत्क्रमण ने लगता है, तब वह आदित्य पुरुष प्रकाश का उपसंहार करके केवल तटस्थ भाव से बैठ जाता है। यह विज्ञानमय रविमण्डल को चन्द्रमण्डल के समान "शुद्धम्" अर्थात् केवल रश्मिविहीन देखता । यह (मरणसूचक) अरिष्ट दर्शन चाक्षुषादित्य पुरुष के प्रसङ्ग से आया हुआ प्रदर्शित किया जाता

---

१. रविमण्डलम्। २. स यदेत्यादेस्तात्पर्यमाह—तदेतदिति। अरिष्टमशुभं मरणचिह्नमिति यावत्। ३. उपास्तिप्रस्तावे कथं तदुच्यते तत्राऽऽह—प्रासङ्गिकमिति। चाक्षुषादित्यपुरुषप्रसङ्गादागतमित्यर्थः। ४. कथमिति—ज्ञाताऽरिष्टः कथं नाम कुर्यादात्महितं पुमानिति वा। ५. स्वहिते। ६. प्रकाशयन्नित्यर्थं इति —यद्वा चक्षुरादीनीन्द्रियाणि करणस्वामिनं भोक्तारमुपनयन्ति स चादृष्टद्वाराऽऽदित्यमुत्पादयति। तथा च चाक्षुषस्य तत्रावस्थानोक्तिरिति शेषः। इन्द्रियाणि करणस्वामिनमात्मानं भोक्तारमुपनयन्ति जनयन्ति स्वसांनिध्येन भोक्तृत्वं प्रापयन्तीत्यर्थः। स च भोगानभिलष्यंस्तैरेवेन्द्रियैर्यागादिद्वारा दृष्टं निष्पादयति तेन च सूर्योत्पादः। भोक्तृवर्गनिर्वर्तितादृष्टकार्यत्वात् सूर्यादिसृष्टेः। एवं कारणत्वेन चाक्षुषस्यादित्येऽवस्थानोक्तिरिति तदर्थः।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य सप्तमं ब्राह्मणम् ।)

[1]य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकꣳ शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहरिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥१॥

इस मण्डल में जो यह सत्यनामा पुरुष है, उसका 'भूः' यह शिर है क्योंकि शिर एक है यह अक्षर भी एक है। 'भुवः' यह भुजाएँ दो हैं और अक्षर भी दो हैं। 'स्वः' यह चरण है पाद दो हैं और यह अक्षर भी दो हैं। 'अहः' यह उसका गोपनीय नाम है। जो ऐसा जानता है अहर्नामा ब्रह्म की उपासना करता है) वह पापों को मारता है और उसे त्याग देता है ॥१॥

प्रत्यनुग्रहार्थं ते रश्मयः [2]स्वामिकर्तव्यवशा[3]त्पूर्वमागच्छन्तोऽपि पुनस्तत्कर्मक्षयमनुरुध्यमा इव नोपयन्ति न प्रत्यागच्छन्त्येनम् । अतोऽवगम्यते परस्परोपकार्योपकारकभावात्सत्यस्यै वैकस्याऽऽत्मनोंऽशावेताविति ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य षष्ठं ब्राह्मणम् ॥६॥

तत्र [4]योऽसौ को य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः सत्यनामा तस्य व्याहृतयोऽवयवाः

रुत्तरकालो गृह्यते । रश्मीनामचेतनत्वादिवशब्दः । पुनर्नकारोच्चारणमन्वयप्रदर्शनार्थम् ।

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य षष्ठं ब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

तत्र स्थानद्वयसंबन्धिनः सत्यस्य ब्रह्मणो ध्याने प्रस्तुते सतीत्यर्थः । तत्रेति प्रथमव्याहृतौ शिरो

है क्योंकि (अरिष्ट को जानकर) आत्महितैषी पुरुष स्वहित के लिए कैसे इस में प्रयत्न करेगा चाक्षुष पुरुष को स्वीकार करके उसके अनुग्रह के लिए ये रश्मियाँ जो भोक्ता जीव के कर्तव्य व जीवित अवस्था में आया करती थीं, अब उसके कर्मक्षय से अवरोधित होकर "प्रत्यायन्ति" अर्थात् इसके पास नहीं आती । इससे सिद्ध होता है कि परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव के कारण ये दोनों एक सत्य स्वरूप आत्मा के ही अंश हैं ॥१॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्थ षष्ठ ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दी-भाषानुवाद संपन्न हुआ ॥ ६ ॥

---

१. अथैवमुक्तसत्यब्रह्मण एवं व्याहृत्यवयवकत्वेन ध्यानमाह—य एष इत्यादिना । तथा च वार्तिकम्—"शरीरं व्याहृतिमयं कल्प्यतेऽक्षिरविस्थयोः । तस्यैव सत्यनाम्नोऽथ तदुपासाप्रसिद्धये" ॥ १ ॥ इति । ब्राह्मणान्तर तात्पर्यमाह—शरीरमिति । अथशब्दो ब्राह्मणान्तरारम्भार्थः । २. भोक्ता जीवः स्वामी । ३. जीवद स्यायाम् । ४. योऽसाविति—सत्यत्वमहत्त्वप्रथमजत्वविशेषणकत्वेन प्रसिद्धो विप्रकृष्टः तस्येति संबन्ध।

योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकꣳ

जो यह दक्षिण नेत्र में पुरुष है उसका 'भूः' यह शिर है क्योंकि शिर एक है और यह अक्षर

यम् । भूरिति येयं [1]व्याहृतिः सा तस्य शिरः । प्राथम्यात् । तत्र सामान्यं स्वयमेवाऽऽह
ति:—एकमेकसंख्यायुक्तं शिरस्तथैतदक्षरमेकं भूरिति । भुव इति बाहू द्वित्वसामान्याद्द्वौ
हू द्वे एते अक्षरे । तथा स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे । प्रतिष्ठे पादौ प्रतितिष्ठ-
म्यामिति[2] । तस्यास्य[3] व्याहृत्यवयवस्य सत्यस्य ब्रह्मण उपनिष[4]द्रहस्यमभिधानम् ।
नाभिधानेनाभिधीयमानं तद्ब्रह्मा[6]भिमुखी भवति लोकवत् । [7]काऽसावित्याह—अहरिति ।
हरिति चैतद्रूप [8]हन्तेर्जहातेश्चेति यो वेद स हन्ति जहाति च पाप्मानं य एवं वेद ॥१॥

एवं योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिर इत्यादि सर्वं समानम् । तस्यो-

---

प्यारोपे विवक्षिते । तस्योपनिषदित्यादि व्याचष्टे—तस्येत्यादिना । यथा लोके गवादिः स्वेनाभिधाने-
भिधीयमानः संमुखी भवति तद्वदित्याह—लोकवदिति । [9]नामोपास्तिफलमाह—अहरिति चेति ॥१॥

यथा मण्डलपुरुषस्य व्याहृत्यवयवस्य सोपनिषत्कस्याधिदैवतमुपासनमुक्तं तथाऽध्यात्मं चाक्षुष-
पुरुषस्योक्तविशेषणस्योपासनमुच्यत इत्याह—एवमिति । चाक्षुषस्य पुरुषस्य कथमहमित्युपनिषदिष्यते

वहाँ (सत्यत्व-महत्त्व-प्रथमजत्व विशेषणक) जो यह है; वह कौन है ? जो इस
डल में सत्यनामा पुरुष है, उसके अवयव व्याहृतियाँ हैं । वह कैसे ? "भू" यह जो
हली व्याहृति है, वह उसका शिर है क्योंकि उसका स्थान प्रथम है । उनकी समानता
ति स्वयं बतलाती है । शिर भी एक है और "भूः" यह भी एक अक्षर है । 'बाहु'
भुवः" (दूसरी व्याहृति) उसकी भुजाएँ हैं क्योंकि उनमें द्वित्व संख्या की समानता है । 'बाहु'
और 'भुजा' इन दोनों शब्दों में दो-दो अक्षर हैं । तथा "स्वः" यह (तीसरी व्याहृति)
तिष्ठा है । दो प्रतिष्ठाएँ हैं, दो ही अक्षर हैं । "इनसे पुरुष प्रतिष्ठित होता है" इस व्युत्पत्ति से
तिष्ठा पाद का नाम है । "तस्य" अर्थात् इस रविमण्डल में स्थित व्याहृति रूप अवयवों वाले
त्यात्मक ब्रह्म का गुह्य नाम उपनिषत् है । जिस नाम से पुकारा जाता हुआ लोकव्यवहार के समान
साक्षात् प्रसन्न होता है । वह उपनिषत् क्या है ? इस पर श्रुति कहती है - "अहरिति" अर्थात् यह
अहर्' है । 'आङ्' पूर्व 'हन्' धातु अथवा औणादिक प्रत्यययुक्त 'हा' धातु से 'अहर्' यह निष्पन्न होता
है । जो इस प्रकार जानता है, वह पापों को मार देता है और छोड़ देता है (यह नामोपासना का
फल है) ॥ १ ॥

इसी प्रकार जो दक्षिण नेत्र में पुरुष है उसकी 'भूः' यह प्रथमा व्याहृति है, वह उसका शिर

---

[1] प्रथमा । [2] व्युत्पत्तेः । [3] रविमण्डले स्थितस्य । [4] गुह्यं नाम । [5] नामकरणे फलमाह—येनेति । [6] अभिमुखी भवति—साक्षात्प्रसीदति । [7] उपनिषत् । [8] हन्तेर्जहातेश्चेति—आङ्पूर्वस्य हन्तेर्जहातेर्वा औणादिके डसि कृते ह्रस्वत्वे चोपसर्गस्य टिलोपे चाहरिति पदं निष्पन्नं भवतीति वार्तिकटीकायामुक्तम् । [9] नामेति—अहर्नामविशिष्टसत्योपासकस्य फलमाहेत्यर्थः ।

शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहमिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य सप्तमं ब्राह्मणम् ॥ ७ ॥

भी एक है। 'भुवः' यह भुजाएँ हैं क्योंकि भुजाएँ दो हैं और यह अक्षर भी दो हैं। 'स्वः' यह प्रति है क्योंकि पाद दो हैं और अक्षर भी दो हैं। 'अहं' यह उसका गूढ़ नाम है क्योंकि यह प्रत्यगा स्वरूप है। जो ऐसा जानता है, वह पाप को मारता है और त्याग देता है ॥ २ ॥

॥ इति सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

पनिषदहमिति। प्रत्यगात्मभूतत्वात्। पूर्ववद्धन्तेर्जहातेश्चेति ॥२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य सप्तमं ब्राह्मणम् ॥७॥

[2]उपाधीनामनेकत्वादनेकविशेषणत्वाच्च तस्यैव प्रकृतस्य[3] ब्रह्मणो मनउपाधिविशिष्टस्योपासनं विधित्सन्नाह—

तत्राऽऽह—प्रत्यगिति। हन्तेर्जहातेश्चाहमित्येतद्रूपमिति यो वेद स हन्ति पाप्मानं जहाति चेति पूर्ववत्कल्वाक्यं योज्यमित्याह—पूर्ववदिति ॥ २ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य सप्तमं ब्राह्मणम् ॥ ७ ॥

ब्राह्मणान्तरमुत्थापयति—उपाधीनामिति। **अनेकविशेषणत्वाच्च प्रत्येकं तेषामिति** शेषः।

है—इत्यादि अर्थ पूर्व मन्त्र की तरह है। प्रत्यगात्मभूत होने से उसका 'अहम्' यह उपनिषत् है। पापों का मारना और छोड़ना रूप व्याख्या पूर्व मन्त्र के समान समझ लेनी चाहिये ॥ २ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्थ सप्तम ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दी-भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ७ ॥

उपाधियों के बहुत होने एवं उनके बहुत विशेषण होने से प्रकरणस्थ उसी सत्यस्वरूप ब्रह्म की मनरूप उपाधि विशिष्ट उपासना का विधान करने की इच्छा से श्रुति कहती है—

---

१. हन्तेरिति—अत्र 'डम्' प्रत्ययः अन्यत्पूर्ववत्। २. ननु किमिति मन उपाधिकमुपासनान्तरमु[1]च्यते तत्राह—उपाधीनामित्यादि। उपाधयस्तावदनेके सन्ति प्रत्युपाधिविशेषणान्यपि बहूनि ब्रह्मणस्तथा च येन येनोपाधिना यैश्च विशेषणैरुपासितुं शक्यं तेषामुपेक्षितुमनर्हत्वान्मनो विशिष्टस्याप्युपासनं विधीयत इत्यर्थः। [2]केनचिदुपाध्यादिनोपासितुमशक्नुवन्नपि कश्चिदधिकारी [3]केनचित्कदाचिच्छक्नुयादित्युपाध्यादीनामुपेक्षानर्हत्वमिति बोध्यम्। ३. सत्यस्य।

(१. उच्यत इति बहुविधोपासनस्य पूर्वमुक्तत्वादिति भावः। २. केनचिदिति एकेनेत्यर्थः। ३. केनचिदिति—अपरेणेत्यर्थः।)

(अथ पञ्चमाध्यायस्याष्टमं ब्राह्मणम्।)

मनोमयोऽयं पुरुषो भा:सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच ॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्याष्टमं ब्राह्मणम् ॥८॥

प्रकाश ही जिसका स्वरूप है, ऐसा भास्वर यह पुरुष मनोमय है। जैसे—धान या जौ सूक्ष्म ता है, वैसे ही सूक्ष्म परिणाम वाला उस अन्तर्हृदय में वह पुरुष रहता है। वही यह सबका स्वामी र सबका अधिपति **है** और जो कुछ भी यह जगत् है, सबका विशेष रूप से शासन करने वाला वही (उसकी जो उपासना करता है; वह सबका शासक हो जाता है) ॥ १ ॥

॥ इत्यष्टमं ब्राह्मणम् ॥

मनोमयो मनःप्रायो मनस्युपलभ्यमानत्वात्। मनसा चोपलभ्यत इति मनोमयोऽयं पुरुषो भा:सत्यो 'भा एव सत्यं सद्भावः स्वरूप यस्य सोऽयं भा:सत्यो भास्वर इत्येतत्। मनसः सर्वार्थावभासकत्वान्मनोमयत्वाच्चास्य भास्वरत्वम्। तस्मिन्नन्तर्हृदये हृदयस्यान्तस्तस्मिन्नित्येतत्। यथा 'व्रीहिर्वा यवो वा परिमाणत एवंपरिमाणस्तस्मि-

त्प्रायत्वे हेतुमाह—मनसीति। प्रकारान्तरेण तत्प्रायत्वमाह—मनसा चेति। 'तस्य भास्वरूपत्वं 'साध- ति—'मनस इति। तस्य ध्यानार्थं स्थानं दर्शयति—तस्मिन्निति। 'औपाधिकमिदं परिमाणं स्वाभा-

"मनोमयः" अर्थात् मन से अनुभूत होने के कारण यह मनोप्राय है। अथवा वह मन से प्राप्त या जाता है, इसलिए यह पुरुष मनोमय है। "भा:सत्यः" अर्थात् अजड प्रकाशसंज्ञक ज्योति ही त्य है, वही उसका स्वरूप होने वह "भासत्यः" यानी भास्वर है। मन की उपाधि का भी सर्वार्थ- भासकत्व होने से तथा मनोमय होने से इसकी भास्वरता सिद्ध है। वह "तस्मिन्नन्तर्हृदये" अर्थात् हृदय के मध्य भाग में; जिस प्रकार व्रीहि अथवा यव का परिणाम है, उतने परिमाण वाला अर्थात् स हृदय के मध्य योगियों द्वारा देखा जाता है। वह यह "सर्वस्येशानः" अर्थात् समस्त भेदजात

---

१. अजडप्रकाशाख्यं ज्योतिः। २. मनस इत्यादेरपरोऽर्थः। अस्य मनोमयत्वाद् मनसः सर्वार्थविभासकत्वा-
दस्य भास्वरत्वमित्यन्वयः। स्वयंप्रकाशस्य ब्रह्मणो मनसि प्रतिफलितत्वेनैव मनसो भासकता न स्वतो जडत्वा-
दिति मनसो भासकत्वान्यथाऽनुपपत्त्या तत्तादात्म्यापन्नस्य ब्रह्मणो भासुरत्वं निश्चेतव्यमिति। ३. मध्यम्।
४. तस्य भा:स्वरूपत्वमिति—ननु स्वतो भास्वरमपि कथमुपाधिविशिष्टमपि तथा नहि स्वतः शुद्धमपि गाङ्ग-
मम्भश्चण्डालघटिकागतं पानमर्हतीत्याशङ्क्येत्यादिः। ५. अर्थान्तरे साधयतीत्यस्य अर्थापत्त्या प्रमापयतीत्यर्थः।
६. मनस इतीति। मनसः उपाधेरपि भासुरत्वात्स्वतो भास्वरत्वं न व्येतीति भावः। इति शेषः। न व्येतीत्य-
नन्तरं प्रत्युत द्वैगुण्यारकाचापवरकगतदीपशिखावदित्यधिकं बोध्यम्। ७. औपाधिकमिति—बुद्ध्युपाधिव्यव-
च्छेदाद्व्रीह्यादिपरिमाणतेति वार्तिकोक्तेरिति भावः।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य नवमं ब्राह्मणम् ।)

[1]विद्युद्ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद्विद्युद्विद्यत्येनं पाप्मनो य एवं वेद विद्युद्ब्रह्मेति विद्युद्ध्येव ब्रह्म ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य नवमं ब्राह्मणम् ॥ ९ ॥

विद्युत् ब्रह्म है—ऐसा कहते हैं। अन्धकार का खण्डन या विनाश करने के कारण विद्यु ऐसे गुण वाले विद्युत् ब्रह्म की जो उपासना करता है; वह अपने प्रतिकूल सभी पापों का नाश कर है (क्योंकि यह फल उपास्य के अनुरूप ही है) अतः विद्युत् ही ब्रह्म है ॥ १ ॥

ह्रन्तर्हृदये योगिभिर्दृश्यत [2]इत्यर्थः। स एष सर्वस्येशानः सर्वस्य भेदजातस्येशा स्वामी। स्वामित्वेऽपि सति [3]कश्चिदमात्यादितन्त्रोऽयं तु न तथा किं तर्ह्यधिपतिरधि पालयिता। सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच यत्किंचित्सर्वं जगत्तत्सर्वं प्रशास्ति। [4]एवं मनो मयस्योपासनात्तथारूपापत्तिरेव फलम्[5]। तं यथा यथोपासते तदेव भवतीति ब्राह्मणम् ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्याष्टमं ब्राह्मणम् ॥८॥

[6]तथैवोपासनान्तरं सत्यस्य ब्रह्मणो [7]विशिष्टफलमारभ्यते—विद्युद्ब्रह्मेत्याहुः

विकं त्वानन्त्यमित्यभिप्रेत्याऽऽह—स एष इति। यदुक्तं सर्वस्येशान इति [8]तन्निगमयति—सर्वमिति [9]यथाऽन्यत्र तथाऽत्राफलश्रुतेरफलमिदमुपासनमकार्यमिति चेन्नेत्याह—एवमिति ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्याष्टमं ब्राह्मणम् ॥ ८ ॥

ब्राह्मणान्तरमुद्भाव्य विभजते—तथैवेत्यादिना । तमसो विदानाद्विद्युति संबन्धः। [10]तथै

वस्तुओं का स्वामी है। स्वामी होने पर भी जिस प्रकार कोई राजपुत्रादि मन्त्री आदि के अधी रह कर शासन करते हैं, वैसा यह नहीं है; तो कैसा है? "अधिपतिः" अर्थात् अधिष्ठापक होक पालन करने वाला है। "सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच" अर्थात् इस जगत् में जो कुछ भी है; उ सब पर प्रशासन करता है। इस प्रकार मनोमय ब्रह्म की उपासना से वैसे ही रूप की प्राप्ति होती है यही फल समझना चाहिये। "उसकी जो जिस-जिस प्रकार उपासना करता है, वही हो जाता है —ऐसा ब्राह्मण वाक्य में कहा गया है ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्थ अष्टम ब्राह्मण के शाङ्कर-भाष्य का हिन्दी-भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ८ ॥

मन-उपाधि विशिष्ट ब्रह्म की उपासना के समान ही सत्यस्वरूप ब्रह्म की (अशेष-दुरित-निवृत्ति

---

१. सत्यस्यैव ब्रह्मणोऽशेषपापध्वंसफलकमुपासनान्तरमाह—विद्युदित्यादिना। २. इति शेषः। ३. राज-पुत्रादिः। ४. एवमिति—यथोपासनान्तरेषु फलमुक्तमेवमित्यर्थः। ५. ऊह्यम्। ६. मनउपाधिविशिष्ट स्योपासनवदेव। ७. अशेषदुरितनिवृत्तिफलकम्। ८. उपसंहरति। ९. यथेत्यादि—उपासनान्तरे यथाफलमुक्तं तथाऽत्र फलोक्त्यभावादित्यर्थः। १०. निर्वचनमेव।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य दशमं ब्राह्मणम् ।)

[1]वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च हन्तकारं

वाग् (ऋग्, यजुः और सामवेद) रूप धेनु की उपासना करे। उस वाग्रूप धेनु के स्वाहाकार, कार, हन्त और स्वधाकार ये चार स्तन हैं। इनमें से स्वाहाकार और वषट्कार द्वारा देवताओं वि दी जाती है। 'हन्त' ऐसा कह कर मनुष्यों को अन्न देते हैं और स्वधाकार के द्वारा पितृगणों श्राद्ध के योग्य वस्तु देते हैं। (इन्हीं चारों स्तनों के द्वारा वाग् गौ के समान बछड़े स्थानीय देव-

---

तो ब्रह्मणो निर्वचनमुच्यते—विदानादवखण्डनात्तमसो मेघान्धकारं विदार्य ह्यव-तेऽतो विद्युत्। [2]एवंगुणं विद्युद्ब्रह्मेति यो वेदासौ विद्यत्यवखण्डयति विनाशयति [3]एनमात्मानं प्रति प्रतिकूलभूताः पाप्मानो ये तान्सर्वान्पाप्मनोऽवखण्डयतीत्यर्थः। एवं वेद विद्युद्ब्रह्मेति तस्यानुरूपं फलम्। विद्युद्धि यस्माद्ब्रह्म ॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य नवमं ब्राह्मणम् ॥९॥

पुनरुपासनान्तरं[5] तस्यैव ब्रह्मणो [6]वाग्वै ब्रह्मेति[7] वागिति शब्द[8]स्त्रयी तां वाचं

दर्यति—मेघेति। उक्तमेव फलं प्रकटयति—एनमिति ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य नवमं ब्राह्मणम् ॥९॥

ब्राह्मणान्तरमवतारयति—पुनरिति। तां धेनुमुपासीतेति संबन्धः। वाचो धेन्वाश्च सादृश्यं

) विशिष्ट फल वाली दूसरी उपासना आरम्भ की जाती है। 'विद्युत् ब्रह्म है'—ऐसा कहते हैं। द्युत् ब्रह्म की व्युत्पत्ति बतलायी जाती है। तम को विदीर्ण या अवखण्डन करने से यह विद्युत् नाम क्योंकि यह मेघ जन्य अन्धकार को मिटा कर प्रकाशित होती है। इस प्रकार तमो विदारण गुण शिष्ट विद्युत् ब्रह्म को जो कोई जानता है, वह पाप को "विद्यति" अर्थात् टुकड़े-टुकड़े कर देता है वा विनष्ट कर देता है। भाव यह है कि इस उपासक आत्मा के जितने प्रतिकूल भूत पाप होते हैं सभी (देवत्वप्राप्ति के प्रतिबन्धकस्वरूप) पापों का नाश कर देता है। जो 'विद्युत् ब्रह्म है' ऐसा जानता है, यह उसका अनुरूप फल है क्योंकि विद्युत् ही ब्रह्म है ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्थ नवम ब्राह्मण के शाङ्कर-भाष्य का
हिन्दी-भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ९ ॥

पुनः उस सत्यात्मक ब्रह्म की 'वाक् ही ब्रह्म है' ऐसी श्रुति समर्थित दूसरी उपासना का

---

[1] अथ पुनस्तस्यैव वाङ्मयधेनुसंबन्धेनोपासनमाह—वाचमिति। वाग् वेदत्रयीलक्षणा। [2] तमोविदारण-गुणम्। [3] उपासकात्मानम्। [4] पाप्मन इत्यादि—देवत्वाप्तिप्रतिबन्धकान् पाप्मन उपास्यं ब्रह्म नाशयतीत्यर्थः। [5] उच्यते। [6] बृ. उ. ४. १. २। [7] श्रुतेः। [8] त्रयीति—"वागित्यत्र त्रयी ग्राह्या न स्थानकरणादयः। स्वाहाकारादि नान्यत्र त्रय्याः संभाव्यते क्वचिदिति वार्तिके ॥ २ ॥

मनुष्याः स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य दशमं ब्राह्मणम् ॥ १० ॥

गणादिकों को कामना की सिद्धि करती है)। उस धेनु का वृषभ प्राण है क्योंकि प्राण के वाक् प्रसव करती है, मन उसका बछड़ा है (क्योंकि मन से ही आलोचना किये हुए विषय में की प्रवृत्ति होती है)।

॥ इति दशमं ब्राह्मणम् ॥

धेनुं धेनुरिव धेनुर्यथा धेनुश्चतुर्भिः स्तनैः स्तन्यं पयः क्षरति वत्सायैवं वाग्धेनुर्वक्ष्य स्तनैः पय इवान्नं क्षरति देवादिभ्यः। के पुनस्ते स्तनाः के वा ते येभ्यः क्षरति। एतस्या वाचो धेन्वा द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति वत्सस्थानीयाः। कौ तौ। स्वाहाकारं वषट्कारं च। आभ्यां हि हविर्दीयते देवेभ्यः। हन्तकारं मनुष्याः। हन्तेति मनुष्येभ्यो प्रयच्छन्ति। स्वधाकारं पितरः। स्वधाकारेण हि पितृभ्यः स्वधां प्रयच्छन्ति। धेन्वा वाचः प्राण [1]ऋषभः। प्राणेन हि वाक्प्रसूयते। मनो वत्सः। मनसा हि प्रस्राव्यते मनसा ह्यालोचिते विषये वाक्प्रवर्तते। [2]तस्मान्मनो वत्सस्थानीयम्। एवं वाग्धेनूपास

विशदयति—यथेत्यादिना। स्तनचतुष्टयं भोक्तृत्रयं च प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति—के पुनरित्यादिना। देवा यथोक्तौ स्तनावुपजीवन्ति तत्राऽऽह—आभ्यां हीति। हन्त यद्यपेक्षितमित्यर्थः। स्वधामन्नम्। व्यते प्रस्नुता क्षरणोद्यता क्रियते। मनसा हीत्यादिनोक्तं विवृणोति—मनसेति। फलाश्रवणादेतदुपा

निरूपण किया जाता है। 'वाक्' यह शब्द (स्वाहाकारादि) त्रयी है। उस वाणी को "धेनुमुपासीत" अर्थात् धेनु के समान उपासना करे। जिस प्रकार गाय अपने चारों स्तनों से बछड़े के लिए बहाती है, उसी प्रकार वाग्धेनु वक्ष्यमाण स्तनों से देवादि के लिए दूध के समान अन्न देती है। वे कौन से हैं तथा जिनसे वह दूध बहाती है, वे कौन-कौन से हैं। उस इस वाक्रूपी धेनु के दो के वत्सस्थानीय देवतागण उपजीवी है। वे कौन से दो हैं ? स्वाहाकार और बषट्कार। इन्हीं दो से देवताओं के लिए हवि दी जाती है। हन्तकार के उपजीवी मनुष्य हैं। 'हन्त' इस प्रकार कह मनुष्य को अन्न दिया जाता है। स्वधाकार के उपजीवी पितृगण हैं क्योंकि स्वधाकार के द्वारा को अन्न देते हैं। उस धेनुस्वरूपा वाणी का प्राण ऋषभ के समान उत्पादक है क्योंकि प्राण के वाक् उत्पन्न होती है। मन उसका बछड़ा है क्योंकि मन के द्वारा वाणी क्षरण के लिए तैयार होती है मन से चिन्तित विषय में ही वाक् प्रवृत्त होती है; इसलिए मन वत्सस्थानीय है। इस प्रकार

---

[1] ऋषभ इवर्षभ उत्पादक इत्यर्थः। [2] मनसो वाक्प्रस्रवणहेतुत्वात्।

(अथ पञ्चमाध्यायस्यैकादशं ब्राह्मणम्।)

[1]अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषꣳ शृणोति ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्यैकादशं ब्राह्मणम् ॥ ११ ॥

जो यह पुरुष के भीतर है, यह अग्नि वैश्वानर है। जिससे यह अन्न पकाया जाता है और किया जाता है, उसी जठराग्नि का यह घोष हुआ करता है, जिसे पुरुष अंगुलियों से दोनों नों को बन्द करके सुनता है। जब यह जीव उत्क्रमण करने वाला होता है, उस समय इस घोष को हीं सुनता है (अतः उस प्रजापति रूप वैश्वानराग्नि की उपासना करे) ॥१॥

॥ इत्येकादशं ब्राह्मणम् ॥

ताद्भाव्यमेव प्रतिपद्यते ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य दशमं ब्राह्मणम् ॥ १० ॥

अयमग्निर्वैश्वानरः पूर्ववदु[2]पासनान्तरमयग्निर्वैश्वानरः। कोऽयमग्निरित्याह—ऽयमन्तः [3]पुरुषे। किं शरीरारम्भको नेत्युच्यते—येनाग्निना वैश्वानराख्येनेदमन्नं यते। किं तदन्नम्। यदिदमद्यते भुज्यतेऽन्नं प्रजाभिर्जाठरोऽग्निरित्यर्थः। तस्य [4]साक्षा-

---

किंचित्करमित्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति। ताद्भाव्यं यथोक्तवागुपाधिकब्रह्मरूपत्वमित्यर्थः ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य दशमं ब्राह्मणम् ॥ १० ॥

ब्राह्मणान्तरमनूद्य तस्य तात्पर्यमाह—अयमिति। अन्नपानस्य पक्ता। तत्सद्भावे मानमाह

रूपा धेनु का उपासक वागुपाधि ब्रह्मरूपता को प्राप्त करता है ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्थ दशम ब्राह्मण के शाङ्कर-भाष्य का

हिन्दी-भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ १० ॥

"अयम् अग्निर्वैश्वानरः" इत्यादि ग्रन्थ से यानी यह अग्नि वैश्वानर है, इस श्रुति द्वारा पूर्ववत् न्य उपासना कही जाती है। यह अग्नि कौन सा है? श्रुति कहती है -- जो शरीर के भीतर है। या शरीरारम्भक अग्नि कहते हो? नहीं—जिस वैश्वानर अग्नि से यह अन्न पचाया जाता है, वह न्न क्या है? "यदिदमद्यते" अर्थात् जो यह अन्न खाया जाता है अर्थात् उस अन्न को पचाने वाला

---

१. प्रकृतस्यैव सत्यब्रह्मणो जाठराग्नित्वे नापरोक्षत्वं प्रदर्शयितुं तत्त्वेनोपासनमाह—अयमपरोक्षोऽग्निरित्यादिना। २. उच्यत इति शेषः। ३. शरीरे। ४. घोषरूपेण प्रत्यक्षज्ञानार्थम्। ५. अप्रयोजकम्।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य द्वादशं ब्राह्मणम् ।)

'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र

जब यह पुरुष इस लोक से प्रस्थान करता है, तब वह वायु को प्राप्त करता है। घनीभूत वह वायु उसके लिए छिद्रयुक्त हो जाता है और मार्ग दे देता है। वह छेद रथ के छेद के समान होता है। उस छेद के द्वारा वह उपासक ऊर्ध्व होकर जाता है, फिर वह सूर्य

दुप'लक्षणार्थमिदमाह—तस्यग्नेरन्नं पचतो जाठरस्यैष घोषो भवति। कोऽसौ। मेतदिति क्रियाविशेषणं कर्णावपिधायाङ्गुलीभ्यामपिधानं कृत्वा शृणोति तं मुपासीत वैश्वानरमग्निम्। अत्रापि ताद्भाव्यं फलम्। तत्र [2]प्रासङ्गिकमिदम'रिष्ट मुच्यते—सोऽत्र शरीरे भोक्ता यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषं शृणोति ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्यैकादशं ब्राह्मणम् ॥११॥

सर्वेषामस्मिन्प्रकरण उपासनानां 'गतिरियं फलं चोच्यते—यदा वै पुरुषो

—तस्येति। **क्रियायाः श्रवणस्यैतदिति विशेषणं 'तद्यथा भवति तथेत्यर्थः।** 'कौक्षेया'ग्न्युपाधिकस्य **स्योपासने प्रस्तुते सतीत्याह—**तत्रेति॥ १॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्यैकादशं ब्राह्मणम् ॥ ११ ॥

ब्राह्मणान्तरस्य तात्पर्यमाह—सर्वेषामिति। **फलं चाश्रुत'फलानामिति शेषः।** किमिति

जाठराग्नि ही अग्नि है। उसके साक्षात् ज्ञान के लिए श्रुति कहती है—उस अन्न पचाने वाले की यह ध्वनि होती है। कौन सी ध्वनि? "यं घोषमेतत्" अर्थात् जिस ध्वनि-क्रिया के श्रवण यह "कर्णावपिधाय" अर्थात् कानों को अँगुली से दबा कर सुनता है। उस वैश्वानर प्रजापति की उपासना करे। इसका तद्भावापत्ति रूप फल है। यहाँ घोष प्रकरण से प्राप्त रूप अरिष्ट लक्षण कहा जाता है, जिस समय शरीर में भोक्ता यहाँ उत्क्रमण करने वाला उस समय घोष को नहीं सुनता॥ १॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्थ एकादश ब्राह्मण के शाङ्कर-भाष्य का हिन्दी-भाषानुवाद पूर्ण हुआ॥ ११॥

इस प्रकरण में सभी उपासनाओं का मार्ग और इन (अश्रुत फल उपासनाओं) का यह

---

१. अथास्मिन्प्रकरण उक्तोपासनानां गतिमनुक्तफलं चाह—यदेत्यादिना। २. प्रासङ्गिकमिति— प्रसङ्गादागतमरिष्टमशुभं मरणचिह्नमिति यावत्। ३. ज्ञातारिष्टः कथं नाम कुर्यादात्महितं पुमानित्यर्थो फलम्। ४. मार्गः। ५. तदिति श्रवणमुच्यत इत्यूचुः। ६. कौक्षेयेति—'दृतिकुक्षिकलशिवस्त्य हेर्ढञ्' (पा सू. ४. ३. ५६) इत्यनेन ढञ् भवार्थे। ७. उदराग्नीत्यर्थः। ८. उपासनानाम्।

विजिहीते यथा लम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते सलोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन्वसति शाश्वतीः समाः ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य द्वादशं ब्राह्मणम् ॥ १२ ॥

पहुँच जाता है। वहाँ पर सूर्य भी उसके लिये वैसा ही छिद्रयुक्त हो मार्ग दे देता है। वह छेद डंबर नामक बाजे के छेद के समान होता है। उसमें प्रविष्ट हो वह उपासक ऊपर की ओर जाता है और वह चन्द्रलोक में पहुँच जाता है। वहाँ चन्द्रमा भी छिद्र युक्त हो उसे मार्ग दे देता है। वह छिद्र दुंदुभि के छिद्र के समान होता है। उस छिद्र के द्वारा ही वह उपासक ऊपर की ओर चढ़ता है। वहाँ पर वह मानसिक दुःख से हिमवर्जित अर्थात् शारीरिक ताप से रहित प्रजापति लोक में पहुँच जाता है और उसमें अनन्त वर्षों तक अर्थात् ब्रह्मा के अनेक कल्पों तक निवास करता है ॥१॥

॥ इति द्वादशं ब्राह्मणम् ॥

स्माल्लोकात्प्रैति शरीरं परित्यजति [1]स तदा वायुमागच्छत्यन्तरिक्षे [2]तिर्यग्भूतो वायुः [3]स्तिमितोऽभेद्यस्तिष्ठति। स वायुस्तत्र स्वात्मनि तस्मै [4]संप्राप्ताय विजिहीते स्वात्मावयवान्विगमयति च्छिद्री करोत्यात्मानमित्यर्थः। किंपरिमाणं छिद्रमिति। उच्यते—यथा रथचक्रस्य खं [5]छिद्रं प्रसिद्धपरिमाणम्। तेन च्छिद्रेण स विद्वानूर्ध्वं आक्रमत ऊर्ध्वः सन्गच्छति स आदित्यमागच्छति। आदित्यो ब्रह्मलोकं जिगमिषोर्मार्गनिरोधं कृत्वा स्थितः

वायुमागच्छति तमुपेक्ष्यैव ब्रह्मलोकं कुतो न गच्छतीत्याशङ्क्याऽऽह—अन्तरिक्ष इति। आदित्यं प्रत्या-

---

श्रुति कहती है—जब कोई विद्वान् पुरुष इस लोक से "प्रैति" अर्थात् शरीर छोड़ता है, उस समय वह उपासक वायु को प्राप्त होता है। आकाश में वह वायु वक्रगति से निश्चल और अभेद्य होकर स्थित है। वह वायु "तत्र" अर्थात् स्वात्मा में "तस्मै" यानी लोक भोग के लिए "विजिहीते" अर्थात् अपने अवयवों को मिटा देता है अथवा अपने को छिद्र-युक्त कर देता है। कितने परिणाम वाला छिद्रयुक्त करता है ? इस पर श्रुति कहती है—जिस प्रकार रथ के चक्र का "खं" यानी छिद्र होता है, वैसे प्रसिद्ध परिमाण वाला छिद्र कर देता है। उस छिद्र से वह विद्वान् 'ऊर्ध्वं आक्रमते" अर्थात् ऊपर की ओर होकर जाता है, वह आदित्यलोक प्राप्त करता है। आदित्य ब्रह्मलोक जाने के

---

[1] उपासकः। [2] वक्रगतिः। [3] स्तिमितो निबिडतया स्थिर इति यावत्। 'स्तिमितो निश्चलार्द्रयोः' इति मेदिनीकोशः। [4] लोकभोगार्थम्। [5] नाभिविलम्।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य त्रयोदशं ब्राह्मणम् ।)

[1]एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यꣳ

ज्वरादि से ग्रस्त पुरुष को जो ताप होता है, यह निःसन्देह परम तप है (क्योंकि ताप और
दोनों में समान क्लेश होता है । इस प्रकार चिन्तन करने वाले तथा रोगादि की निन्दा न करने वा

सोऽप्येवंविद उपासकाय द्वारं प्रयच्छति । तस्मै स तत्र विजिहीते । यथा [2]लम्बरस्य वादित्रविशेषस्य छिद्रपरिमाणं तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति । सोऽ तस्मै तत्र विजिहीते । यथा दुन्दुभेः खं प्रसिद्धं तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स लोकं प्रजाप लोकमागच्छति । किंविशिष्टम् । अशोकं मानसेन दुःखेन विवर्जितमित्येतत् । अहि हिमवर्जितं शारीरदुःखवर्जितमित्यर्थः । तं प्राप्य तस्मिन्वसति शाश्वतीर्नित्याः समा संवत्सरानित्यर्थः । ब्रह्मणो बहून्कल्पान्वसतीत्येतत् ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य द्वादशं ब्राह्मणम् ॥ १२ ॥

एतद्वै परमं तपः । किं तत् । यद्व्याहितो [3]व्याधितो ज्वरादिपरिगृहीतः सन्

गमने हेतुमाह—आदित्य इति । उक्तेऽर्थे वाक्यं पातयति—तस्मा इति । बहून्कल्पानित्यवान्तर-कल्पोक्तिः ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य द्वादशं ब्राह्मणम् ॥ १२ ॥

ब्रह्मोपासनप्रसङ्गेन फलवदब्रह्मोपासनमुपन्यस्यति—एतदिति । यद्व्याहित इति प्रतीकमादा

इच्छुकों का मार्ग रोककर स्थित है, वह भी इस प्रकार जानने वाले उपासक के लिए मार्ग दे देता है। उसके लिए वह अपने को छिद्रयुक्त करता है । जैसे डमरु प्रभेद 'लम्बर' नामक वाद्य विशेष के छिद्र का परिमाण होता है । उसके द्वारा वह ऊपर को ओर जाता है, वह चन्द्रलोक को प्राप्त करता है। वह चन्द्रमा भी उसके लिए अपने को छिद्रयुक्त कर देता है । जिस प्रकार दुन्दुभि का छिद्र प्रसिद्ध है उस छिद्र के बीच से वह ऊपर की ओर चढ़ता है । फिर वह प्रजापति लोक को प्राप्त करता है । उसकी विशिष्टता कैसी है ? "अशोकम्" अर्थात् यह मानस दुःख से शून्य है; "अहिमम्" अर्थात् हिम यानी शरीर के दुःख से शून्य है । उसे प्राप्तकर वह "शाश्वतीः" अर्थात् नित्य या अनन्त वर्षों तक वहीं रहता है अर्थात् ब्रह्मा के बहुत कल्पों तक वहीं रहता है ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्थ द्वादश ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ॥१२॥

यही परम तप है । वह क्या है ? "यद्व्याहितः" अर्थात् ज्वरादि से पीड़ित व्यक्ति जो दुःख

---

[1] अथ यादृच्छिकज्वरादिहेतुकमनात्मोपासनत्रयं सफलमाह—एतद्वा इत्यादिना । [2] डमरुकप्रभेदस्येत्याहुः ।
[3] व्याधितो अयं पाठः क्वचिन्न ।

हरन्ति परमꣳहैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति परमꣳहैव लोकं जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥ १३ ॥

ुरुष को) जो लोक प्राप्त होता है, वह परम लोक ही है, उसी लोक को वह जीतता है। मृत पुरुष को जो ऋत्विक् लोक अन्त्येष्टि कर्म के लिए ग्राम से बाहर वन में ले जाते हैं, निश्चय ही यह परम तप है (क्योंकि मृत पुरुष और तपस्वी दोनों को वन में जाना समान ही है)। जो मरणासन्न पुरुष ऐसा जानता है, वह परम लोक पर विजय कर लेता है। अन्त्येष्टि संस्कार के समय मृत पुरुष को जो सब ओर से अग्नि में रखते हैं, निःसन्देह यह उसका परम तप है। जो ऐसा जानता है, वह निश्चय ही परम लोक को जीत लेता है ॥१॥

॥ इति त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥

---

[1]तप्यते तदेतत्परमं तप इत्येवं [2]चिन्तयेत् । दुःखसामान्यात् । तस्यैवं चिन्तयतो विदुषः कर्मक्षयहेतुस्तदेव तपो भवत्यनिन्दतोऽविषीदतः । स एव च तेन विज्ञानतपसा दग्ध-किल्बिषः परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद । तथा मुमूर्षुरादावेव कल्पयति किमेतद्वै परमं तपो यं प्रेतं मां ग्रामादरण्यं हरन्ति ऋत्विजो[3]ऽन्त्यकर्मणे तद्ग्रामादरण्यगमनसामान्या-त्परमं मम तत्तपो भविष्यति । ग्रामादरण्यगमनं परमं तप इति हि प्रसिद्धम् । परमं हैव

व्याचष्टे—ज्वरादीति । कर्मक्षयहेतुरित्यत्र कर्मशब्देन पापमुच्यते । परमं हैव लोकमित्यत्र तपसोऽनुकूलं फलं लोकशब्दार्थः । अस्तु ग्रामादरण्यगमनं तथाऽपि कथं [4]तपस्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—ग्रामादिति ॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥ १३ ॥

अनुभव करता है, वही परम तप है, इस प्रकार (परमफल की इच्छा वाला) भावना करे क्योंकि तप और इस ताप दोनों में दुःख की समानता है। जो आग ज्वरादि दुःख की निन्दा नहीं करता तथा उससे दुःखी नहीं होता, उस इस विद्वान् का यही कर्म क्षय में हेतुक तप हो जाता है। जो इस प्रकार जानता है, वह उस विज्ञान रूप तप के द्वारा पापों को जलाकर के परम लोक पर विजय प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार मरणावस्था को प्राप्त व्यक्ति आरम्भ में ही सोचने लग जाता है। क्या कल्पना करने लगता है कि मर जाने पर मुझे ऋत्विज लोग अन्त्येष्टिकर्म अथवा संबन्धी लोग दाह संस्कार के लिये ग्राम से वन में ले जाएँगे, यह निश्चय ही परम तप है। इस प्रकार ग्राम से वनगमन में समानता होने से यह मेरा परम तप हो जायगा। ग्राम से जाकर अरण्य में वास करना परम तप है; यह लोक में प्रसिद्ध है। जो इस प्रकार जानता है, वह निश्चित ही परम लोक को प्राप्त कर लेता है।

---

१. दुःखमनुभवति । २. परमफलेप्सुः । ३. ज्ञातयो वा दाहाय । ४. तस्य ।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य चतुर्दशं ब्राह्मणम् ।)

[१]अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा पूयति वा अन्नमृते प्राणात्प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नादेते ह त्वेव देवते एकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतस्तद्ध स्माऽऽह प्रातृदः पितरं किꣳ स्विदेवैवं विदुषे साधु कुर्यां किमेवास्मा असाधु कुर्यामिति स ह स्माऽऽह पाणिना मा

कुछ लोग कहते हैं कि अन्न ब्रह्म है, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि प्राण के बिना सड़ जाता है और वह दुर्गन्ध को प्राप्त हो जाता है। ऐसे ही कुछ आचार्यों ने कहा है कि प्राण है पर यह बात भी ठीक नहीं क्योंकि अन्न के बिना प्राण सूख जाता है। अतः (इनमें से एक-एक ब्रह्मत्व सम्भव न होने के कारण) ये दोनों देव एकरूपता को प्राप्त होकर परम भाव अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है, ऐसा निश्चय कर प्रातृद नाम वाले ऋषि ने अपने पिता से कहा था। प्रकार जानने वाले का मैं क्या शुभ करूँ या क्या अशुभ करूँ ? (क्योंकि उस कृत-कृत्य हुए पुरुष शुभाशुभ कर्म से कुछ लाभ और हानि नहीं होती)। उसके पिता ने हाथ से रोकते हुए कहा—

लोकं जयति य एवं वेद । तथैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति । अग्निप्रवेश- सामान्यात् । परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥ १३ ॥

अन्नं ब्रह्मेति । तथैतदुपासनान्तरं विधित्सन्नाह—अन्नं ब्रह्मान्नमद्यते यत्तद्ब्रह्म

ब्राह्मणान्तरं गृहीत्वा तात्पर्यमाह—अन्नमिति । यथा पूर्वस्मिन्ब्राह्मणे [२]फलवद्ब्रह्मोपासन-मुक्तं तद्वदित्याह—तथेति । एतदिति ब्रह्मविषयोक्तिः । उपास्यं ब्रह्म निर्धारयितुं विचारयति—अन्नमि

जिस प्रकार मृतक को सब ओर से अग्नि में रखते हैं, यह भी परम तप है क्योंकि अग्नि प्रवेश से इसकी समानता है। जो इस प्रकार जानता है, वह परम लोक पर विजय प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्थ तेरहवें ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ १३ ॥

'अन्न ब्रह्म है' इस प्रकार (सोपाधिक ब्रह्म की) उपासनान्तर विधान करने की इच्छा से श्रुति कहती है—"अन्नं ब्रह्म इत्येक आहुः" अर्थात् जो खाया जाया है, वह अन्न ब्रह्म है—ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं, किन्तु इसका रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिये। अन्य आचार्य कहते हैं, प्राण ही

---

१. अथ पुनरन्नप्राणोपाधिकं वीरगुणकं ब्रह्मोपासनमेव विधातुं तावद्युक्ती आह—अन्नं ब्रह्मेत्यादिना । २.

एतद्वा इत्यादिकण्डिकात्रयेणेत्यादिः ।

मा प्रातृद कस्त्वेनयोरेकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतीति तस्मा उ हैतदुवाच वीत्यन्नं वै व्यन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि रमिति प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते सर्वाणि ह वा अस्मिन्भूतानि विशन्ति सर्वाणि भूतानि रमन्ते य एवं वेद ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य चतुर्दशं ब्राह्मणम् ।१४।

द! ऐसा न कहो, इन दोनों की एकता को प्राप्त कर किसने ब्रह्मभाव को प्राप्त किया है। इस र उक्त साधन का निषेध कर प्रातृद ऋषि से उसके पिता ने 'वि' ऐसा कहा। 'वि' यही समस्त का आश्रय होने से अन्न है क्योंकि 'वि' रूप अन्न में ही सभी प्राणी प्रविष्ट हैं। "रम्" यह प्राण योंकि इस रम् में ही ये सभी भूत रमण करते हैं। इस प्रकार समस्त भूतों के आश्रयरूप अन्न और समस्त भूतों के रमणरूप प्राण को जो जानता है, उसमें समस्त प्राणी प्रवेश करते और सभी भूत रमण करते हैं (क्योंकि उपास्य के गुणानुरूप ही उपासक को फल प्राप्त होता) ॥ १ ॥

॥ इति चतुर्दशं ब्राह्मणम् ॥

क आचार्या आहुस्तन्न तथा ग्रहीतव्यमन्नं ब्रह्मेति । अन्ये चाऽऽहुः प्राणो ब्रह्मेति तच्च था न ग्रहीतव्यम् । किमर्थं पुनरन्नं ब्रह्मेति न ग्राह्यम् । यस्मात्पूयति क्लिद्यते [1]पूति-भावमापद्यत ऋते प्राणात्तत्कथं ब्रह्म भवितुमर्हति । ब्रह्म हि नाम तद्यद[2]विनाशि । अस्तु र्हि प्राणो ब्रह्म । नैवम् । यस्माच्छुष्यति वै प्राणः [4]शोषमुपैति ऋतेऽन्नात् । अत्ता हि णः । अतोऽन्नेनाऽऽद्येन विना न शक्नोत्यात्मानं धारयितुम् । तस्माच्छुष्यति वै प्राण

दिना । अन्नस्य विनाशित्वेऽपि ब्रह्मत्वं किं न स्यादत आह—ब्रह्म हीति । कथमन्नं विना प्राणस्य

है, उसका भी उस रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिये। किन्तु 'अन्न ब्रह्म है' ऐसा ग्रहण क्यों नहीं ना चाहिये क्योंकि "पूयति" अर्थात् विकृत हो जाता है यानी जो प्राणों के विना विनाश-भाव को होता है, ब्रह्म कैसे हो सकता है ? ब्रह्म अविनाशी वस्तु का नाम है। (अन्न के ब्रह्मत्व संभव न से) प्राण ही ब्रह्म है, ऐसा मान लो। ऐसा भी कहते नहीं बनता क्योंकि "शुष्यति वै प्राणः" र्थात् अन्न के बिना प्राण का नाश हो जाता है, प्राण ही भोजन करने वाला है। इसलिए भक्ष्यार्ह जन के बिना प्राण को धारण नहीं किया जा सकता। इसीलिए बिना अन्न के प्राण नष्ट हो जाता

---

१. विनश्यतीति यावत् । २. "अविनाशीति" "अक्लेद्योऽयमि"त्यादि स्मृतेः । ३. अन्नस्य ब्रह्मत्वासंभवे ।
४. नश्यति ।

ऋतेऽन्नात् । अत एकैकस्य ब्रह्मता नोपपद्यते यस्मात्तस्मादेते ह त्वेवान्नप्राणदेवते एकधाभूयमेकधाभावं भूत्वा[1] गत्वा परमतां परमत्वं गच्छतो ब्रह्मत्वं प्राप्नुतः ।

[2]तदेतदेवम[3]ध्यवस्य ह स्माऽऽह स्म प्रातृदो नाम[4] पितरमात्मनः किंस्वित्किंस्विदिति वितर्के । यथा मया ब्रह्म परिकल्पितमेवं विदुषे किंस्वित्साधु कुर्यां साधु शोभनं पूजां त्वस्मै पूजां कुर्यामित्यभिप्रायः । किमेवास्मै विदुषे[5]ऽसाधु कुर्यां कृतकृत्योऽसावित्यभिप्रायः । अन्नप्राणौ [6]सहभूतौ ब्रह्मेति विद्वान्नासावसाधुकरणेन [7]खण्डितो भवति । नापि साधुकरणेन [8]महीकृतः । तमेवंवादिनं स पिता ह स्माऽऽह पाणिना हस्तेन निवारयन्मा प्रातृद मैवं वोचः । कस्त्वेनयोरन्नप्राणयोरेकधाभूयं भूत्वा परमतां कस्तु गच्छति न कश्चित् विद्वाननेन ब्रह्मदर्शनेन [9]परमतां गच्छति । तस्मान्नैवं वक्तुमर्हसि कृतकृत्योऽसाविति । यद्येवं ब्रवीतु भवान्कथं परमतां गच्छतीति । तस्मा उ हैतद्वक्ष्यमाणं वच उवाच ।

शेषप्राप्तिस्तत्राऽऽह—अत्ता हीति । प्रत्येकं नाशित्वमतःशब्दार्थः ।

किंस्विदित्यादिवाक्यस्यार्थं विवृणोति—अन्नप्राणाविति । कस्त्विति प्रतीकमादाय व्याकरोति —एनयोरिति । यद्येवमुक्तरीत्या परमत्वं यदि नास्तीत्यर्थः । उत्क्रमसंकीर्णं गुणद्वयं संक्षिप्याऽऽह—

है । इसलिये इनमें से पृथक्-पृथक् का ब्रह्मत्व सम्भव नहीं है; ये अन्न और प्राण दोनों "एकधाभूयं" अर्थात् एकीभाव से "भूत्वा" अर्थात् मिलकर "परमतां गच्छतः" अर्थात् परम पद यानी ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाते हैं ।

उसका(अन्नप्राणोपाधिक ब्रह्म उपास्य है) इस तरह निश्चय करके प्रातृद नामक किसी ऋषि के पुत्र ने अपने पिता से कहा । किंस्वित् अर्थात् कौन सा–यह वितर्क के लिए है । अर्थात् मैंने जिस प्रकार ब्रह्म की कल्पना की है, उस प्रकार जानने वाले विद्वान् का क्या तो मैं "साधु कुर्याम्" अर्थात् शोभन कार्य या पूजन करूँ; "किमेवास्मा असाधु कुर्याम्" और क्या मैं ऐसे विद्वान् का अशोभन कार्य या अपूजन करूँ । भावाशय यह है कि वह विद्वान् तो कृतकृत्य है । "अन्न और प्राण" ये मिलकर ब्रह्म हैं। इस प्रकार जो विद्वान् जानता है; वह अशोभनीय कर्म करने से तिरस्कृत नहीं होता, न ही शोभनीय कर्म करने से सम्माननीय होता है । इस प्रकार प्रातृद को बोलते हुए "सः" अर्थात् उस के पिता "पाणिना" अर्थात् हाथ मे मना करते हुए बोले—प्रातृद ! ऐसा मत कहो । इन अन्न और प्राण को एकीभूत मिला कर कौन ब्रह्मत्व को प्राप्त हुआ है । कोई भी विद्वान् इस (सोपाधिक) ब्रह्म के दर्शन से ब्रह्मत्व को नहीं प्राप्त हुआ । इसलिये इस प्रकार आप आग्रह नहीं कर सकते हो कि वह कृतकृत्य हो जाता है। यदि

---

[1] मिलित्वेति यावत् । [2] तदेतदेवमध्यवस्येति—अन्नप्राणोपाधिकं ब्रह्मोपास्यमित्येवं निश्चित्येत्यर्थः। ३. अध्यवस्येति—अन्तकर्मार्थकषोधातोर्घञर्थे कविधानमिति भावकान्तात्करोत्यर्थे णिचि ल्यपि च प्रयोगः। 'ओतः श्यनी'त्यत्र ओत इति योगो विभक्तव्यः । यद्वा क्षेपार्थकासुधातोर्ल्यप् 'शकन्ध्वादिषु पररूपं समाधेयम् । [4] कश्चनर्षिपुत्रः । [5] अशोभनमपूजाम् । [6] सहभूतौ—समुदितौ मिलितौ। ७. क्षतिकः तिरस्कृतः । [8] आदृतः । महीकृत इति महीङ्पूजायामिति कण्ड्वादिप्रकृतिकसुबन्ताच्च्वौ प्रयोगः। [9] ब्रह्मत्वम् ।

वीति । किं तद्वीति । उच्यते—अन्नं वै वि । अन्ने हि यस्मादिमानि सर्वाणि नि विष्टान्याश्रितान्यतोऽन्नं वीत्युच्यते । [1]किंच रमिति । रमिति चोक्तवान्पिता । पुनस्तद्रम् । प्राणो वै रम् । कुत इत्याह । प्राणे हि यस्मादबलाश्रये सति सर्वाणि तानि [2]रमन्तेऽतो रं प्राणः । सर्वभूताश्रयगुणमन्नं सर्वभूतरतिगुणश्च प्राणः । न हि श्चिदनायतनो निराश्रयो रमते । नापि सत्यप्यायतनेऽप्राणो दुर्बलो रमते । यदा त्वाय- वान्प्राणी बलवांश्च तदा कृतार्थमात्मानं मन्यमानो रमते लोकः । "युवा स्या[3]त्साधु- [4]ऽध्यायकः" इत्यादिश्रुतेः । इदानीमे[5]वंविदः फलमाह—सर्वाणि ह वा अस्मि- तानि विशन्त्यन्नगुणज्ञानात्सर्वाणि भूतानि रमन्ते प्राणगुणज्ञानाद्य एवं वेद ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य चतुर्दशं ब्राह्मणम् ॥ १४ ॥

ति । अन्नगुणं विना प्राणगुणादेतद्वचानं सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । प्राणगुणस्याप्यन्न- त्वसंभवादलं प्राणेनेत्याशङ्क्याऽऽह—नापीति । गुणद्वयस्य परस्परापेक्षामनुभवानुसारेण स्फोर- ति-यदा त्विति । आयतनवतो बलवतश्च कृतार्थतेत्यत्र तैत्तिरीयश्रुतिं संवादयति—युवा स्यादिति । शिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा [7]वित्तस्य पूर्णा '[8]स्यादि'[9]त्येतदादिशब्देन गृह्यते ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य चतुर्दशं ब्राह्मणम् ॥ १४ ॥

है तो आप बतलाइये–किस प्रकार वह ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है? उसके इस प्रकार पूछने पर पिता क्ष्यमाण वचन कहा । क्या कहा ? 'वि' इस प्रकार कहा । वह 'वि' क्या है । इस पर कहा जाता -अन्न ही 'वि' है क्योंकि सभी भूत प्राणी अन्न के ही "विष्टानि" अर्थात् आश्रित होते हैं । इसलिए को 'वि' कहा जाता है । (अन्न का दूसरा गुण कहते हैं । तथा "रम्" यह भी पिता ने कहा । 'रम्' क्या है । प्राण ही 'रम्' है । वह कैसे ? इस पर श्रुति कहती है । क्योंकि प्राण के बल के श्रय से ही सभी भूतप्राणी रुचि के अनुसार विहार करते हैं, इसलिये 'रम्' प्राण है । इस प्रकार समस्त भूतों के आश्रयरूप गुणवाला है और प्राण समस्त भूतों के रतिरूप गुण वाला है । ार में कोई भी प्राणी बिना आयतन या आश्रय के यथेष्ट विहार नहीं कर सकता र आश्रय के होने पर भी अप्राण या दुर्बल भी यथेष्ट विहार नहीं कर सकता । जब नी आश्रय युक्त और बलवान् होता है, तभी अपने को कृतार्थ मानता हुआ लोक में ष्ट विहार करता है । जैसा श्रुति में कहा है—'युवा और यथोक्तकारी युवा तथा अधीतवेद-वेदाङ्ग ला ही' । अब इस प्रकार यथोक्त ब्रह्मोपासक का श्रुति फल बतलाती है–उसमें अन्नगुण का ज्ञान होने सभी भूत उसमें प्रवेश करते हैं तथा प्राण गुण का ज्ञान होने से सम्पूर्ण प्राणी यथेष्ट विहार करते , जो इस प्रकार जानता है ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्थ चौदहवें ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य
का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ १४ ॥

---

१. द्वितीयं गुणमाह—किंचेति । २. यथेष्टं विहरन्ति । ३. साधुर्यथोक्तकारी चासौ युवा । ४. अधीत- वेदवेदाङ्गः । ५. यथोक्तब्रह्मोपासकस्य । ६. आशास्तृतमः आशुतमो वा । ७. वित्तेन । ८. वशे भवेत् । ९. स्यादित्यनन्तरं स एको मानुष आनन्द इति श्रुतिशेषः । स तस्य चित्तप्रसादः ।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य पञ्चदशं ब्राह्मणम् ।)

[1]उक्थं प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदँ सर्वमुत्थापयत्युद्धास्मादुक्थविद्वीरस्तिष्ठत्युक्थस्य सायुज्यँ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

"उक्थ" इस प्रकार प्राण की उपासना करे । इन्द्रियों में प्रधान होने से प्राण ही उ
क्योंकि प्राण ही इन सबको उठाता है । प्राणहीन कोई भी उठ नहीं सकता । इस उपासक से प्रा
वीर पुत्र उत्पन्न होते हैं । जो ऐसी उपासना करता है; वह प्राण के सायुज्य और सालोक्य को
लेता है ॥ १ ॥

**उक्थं तथोपासनान्तरमुक्थं [2]शस्त्रम् । तद्धि प्रधानं महाव्रते क्रतौ । किं पुनस्तदुक्थ
प्राणो वा उक्थम् । प्राणश्च प्रधान इन्द्रियाणामुक्थं च शस्त्राणामत उक्थमित्युपास
[4]कथं प्राण उक्थमित्याह—[5]प्राणो हि यस्मादिदं [6]सर्वमुत्थापयति । उत्थापनादुक्थं प्रा
न ह्यप्राणः कश्चिदुत्तिष्ठति । [7]तदुपासनफलमाह—उद्धास्मादेवंविद उक्थवित्प्राण**

अन्नप्राणयोर्गुणद्वयविशिष्टयोर्मिलितयोरुपासनमुक्तमिदानीं ब्राह्मणान्तरमादाय तात्पर्य
—उक्थमिति । सत्सु शस्त्रान्तरेषु किमित्युक्थमुपास्यत्वेनोपन्यस्यते तत्राऽऽह—तद्धीति । कस्मिन्
रोप्य कस्योपास्यत्वमिति प्रश्नद्वारा विवृणोति—किं पुनरिति । तस्मिन्नुक्थदृष्टौ हेतुमाह—प्राणश्चे
तस्मिन्नुक्थशब्दस्य [8]समवेतार्थत्वं प्रश्नपूर्वकमाह—कथमित्यादिना । उत्थानस्य [9]स्वतोऽपि संभव
प्राणकृतत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । उक्थस्य प्राणस्यैव [10]विज्ञानतारतम्यमपेक्ष्य सायुज्यं साल

इसी ब्रह्म की पुनः उक्थादिगुण-विशिष्टता कही जाती है । प्रगीत मन्त्र के साध्य गु
निष्ठ गुणाभिधान स्तोत्र उक्थ है । वही महाव्रत क्रतु में प्रधान होता है । वह उक्थ क्या है ? प्रा
ही उक्थ है । प्राण इन्द्रियों में प्रधान है, और उक्थ स्तोत्रों में प्रधान है । इसलिए प्राण उक्थ है
इस प्रकार प्राण की उपासना करे । वह प्राण उक्थ किस प्रकार है—इस पर कहा जाता है क्योंकि
प्राण होने पर इस सम्पूर्ण जगत् को कर्म द्वारा उत्पन्न करता है । उत्पादन करने से उक्थ प्राण है
कोई भी विना प्राण के उठ नहीं सकता । उस उक्थ गुण-विशिष्ट प्राण ब्रह्म की उपासना का फ

---

[1] अस्यैव ब्रह्मणः पुनरुक्थादिगुणविशिष्टत्वेनोपासनमुच्यते—उक्थमित्यादिना । [2] शस्त्रमिति—प्रगीत
मन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं स्तोत्रम् । अप्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधान शस्त्रमिति याज्ञिका
व्यवहार इति ध्येयम् । [3] उपासीतेत्यनन्तरं प्राणमिति शेषः । [4] कथमिति—उक्थं शस्त्रं तस्य प्राणत्व
प्रसिद्धमित्यभिप्रायः । [5] प्राणो हीति—प्राणे सति जीव इति यावत् । [6] जगत् उत्पादयति कर्मणे
[7] तदित्यदि—तस्य उक्थगुणविशिष्टप्राणब्रह्मण उपासनस्य फलं दृष्टादृष्टरूपम् । [8] अन्वर्थत्वम् ।
प्राणं विनापि । [10] विज्ञानतारतम्येति—विज्ञाने तारतम्यं त्वादरनैरन्तर्यादि साद्गुण्यवैगुण्याभ्यां प्रक
दार्ढ्यशैथिल्याभ्यां वेति ध्येयम् ।

[1]यजुः प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय यजुषः सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ २ ॥

"यजुः" इस प्रकार प्राण की उपासना करे। प्राण के रहने पर ही किसी से योग हो सकता ै। अतः प्राण ही यजुः है क्योंकि प्राण में ही इन सब भूतों का योग होता है। सभी भूत इसकी ठता के कारण श्रेष्ठ भाव से युक्त होते हैं। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह यजुःरूप प्राण के ायुज्य एवं सालोक्य को जीत लेता है ॥ २ ॥

ीरः पुत्र उत्तिष्ठति ह दृष्टमेतत्फलमदृष्टं तूक्थस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं ेद ॥ १ ॥

यजुरिति चोपासीत प्राणम्। प्राणो वै यजुः। कथं यजुः प्राणः। प्राणे हि[2] स्मात्सर्वाणि भूतानि [3]युज्यन्ते। न ह्यसति प्राणे केनचित्कस्यचिद्योगसामर्थ्यम्। [4]अतो ुनक्तीति प्राणो यजुः। [5]एवंविदः फलमाह—युज्यन्त उद्यच्छन्त इत्यर्थः। हास्मा एवंविदे सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्यं श्रेष्ठभावस्तस्मै श्रैष्ठ्याय श्रेष्ठभावायायं नः श्रेष्ठो भवेदिति। यजुषः प्राणस्य सायुज्यमित्यादि सर्वं समानम् ॥ २ ॥

व्याख्येयम् ॥ १ ॥

यजुःशब्दस्यान्यत्र[6] रूढत्वादयुक्तं प्राणविषयत्वमिति शङ्कित्वा परिहरति—कथमित्यादिना। सत्यपि प्राणे योगः संभवतीत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। [7]प्रकरणानुगृहीतप्राणशब्दश्रुत्या यजुःशब्दस्य ढिं त्यक्त्वा योगोऽङ्गी क्रियत इत्याह—अत इति ॥ २ ॥

तलाया जाता है—"य एवं वेद" यानी इस प्रकार के ज्ञाता को "उक्थवित्" अर्थात् प्राणवित् 'वीरः' र्थात् वीर पुत्र उत्पन्न होता है, यह दृष्ट फल है और अदृष्ट फल यह है कि वह उक्थ प्राण की ायुक्ति और सलोकता को प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

यजुःरूप से प्राण की उपासना करे। प्राण ही यजुः है। प्राण यजुः किस प्रकार है ? क्योंकि ाण के रहने पर ही समस्त भूत प्राणी एक दूसरे से संयुक्त रहते हैं। प्राण के न रहने पर किसी का किसी से संयुक्त रहने का सामर्थ्य नहीं रहता। (यजुः का रूढि अर्थ परित्याग करके) युक्त करता है, इसलिए प्राण यजुः है। इस प्रकार जानने वाले का फल कहा जाता है। इस प्रकार के ज्ञाता या उपासक े सभी भूतप्राणी "श्रैष्ठ्याय" अर्थात् श्रेष्ठभाव के लिए अर्थात् यह हम से श्रेष्ठ हो, इस निमित्त से "युज्यन्ते" अर्थात् परस्पर संहत होते रहते हैं। तथा वह यजुः रूप प्राण का सायुज्य लाभ करता है।

---

१. अथ यजुष्ट्वगुणविशिष्टं प्राणब्रह्मोपासनं विधत्ते—यजुरित्यादिना। २. सति। ३. मिथः संहन्यन्ते।
४. अतः श्रुतिप्रकरणाभ्यां यजुःशब्दे रूढ्यर्थपरित्यागात्। ५. एवंविदः यजुर्गुणविशिष्टं प्राणं ब्रह्मत्वेनोपासीनस्य। ६. वेदभेदे। ७. उपास्तिप्रकरणेति यावत्।

साम प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि सम्यञ्चि हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय कल्पन्ते साम्नः सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ ३ ॥

क्षत्त्रं प्राणो वै क्षत्त्रं प्राणो हि वै क्षत्त्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः [1]प्र क्षत्त्रमत्रमाप्नोति क्षत्त्रस्य सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य पञ्चदशं ब्राह्मणम् ॥ १५ ॥

'साम' इस प्रकार प्राण की उपासना करे। प्राण ही साम है क्योंकि प्राण में ही सम्पूर्ण भूत सुसङ्गत होते हैं। समस्त प्राणी उसके लिये सङ्गत होते हैं और उसकी श्रेष्ठता के लिए समर्थ होते हैं। जो इस प्रकार प्राण की उपासना करते हैं, वे साम के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

प्राण ही 'क्षत्र' है। इस प्रकार प्राण की उपासना करे। प्राण ही क्षत्र है, यह प्रसिद्ध है क्योंकि इस शरीर की शस्त्रादि-जनित पीड़ा से रक्षा प्राण ही करता है। अन्य किसी से त्राण न पाने वाले क्षत्र को प्राप्त करते हैं। जो इस प्रकार जानता है, वह क्षत्र के सायुज्य और सालोक्य को जीत लेता है ॥ ४ ॥

॥ इति पञ्चदशं ब्राह्मणम् ॥

सामेति चोपासीत प्राणम्[2]। प्राणो वै साम। कथं प्राणः साम। प्राणे हि यस्मात्सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि संगच्छन्ते संगमनात्साम्यापत्तिहेतुत्वात्साम प्राणः। सम्यञ्चि संगच्छन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि। न केवलं संगच्छन्त एव श्रैष्ठ्यभावाय चास्मै कल्पन्ते [3]समर्थ्यन्ते। साम्नः सायुज्यमित्यादि पूर्ववत्॥ ३॥

तं प्राणं क्षत्त्रमित्युपासीत। [4]प्राणो वै क्षत्त्रं प्रसिद्धमेतत्प्राणो हि वै क्षत्त्रम्।

संगमनादित्येतदेव व्याचष्टे—साम्येति ॥ ३ ॥

शेष व्याख्या पूर्वमन्त्र के समान है ॥ २ ॥

क्योंकि प्राण ही साम है, इसलिये प्राण की 'साम' इस रूप से उपासना करे। प्राण के होने पर ही सभी भूतप्राणी "सम्यञ्चि" अर्थात् सङ्ग जाते हैं। सङ्गमन अथवा साम्यप्राप्ति हेतु होने से साम ही प्राण है। इसके होने पर ही सभी प्राणी "सम्यञ्चि" से अर्थात् साम्य प्राप्त करते हैं। केवल

---

१. प्रोपसर्ग आप्नोतिक्रियान्वयी बोद्धव्यः। २. यतः प्राण एव सामातः प्राणं सामेत्युपासीतेत्यर्थः। ३. समर्थ्यन्त इति करोत्यर्थकणिजन्तात् कर्मकर्तरि प्रत्ययः। ४. यतः।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य षोडशं ब्राह्मणम्।)

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदेषु त्रिषु

भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौः, इस प्रकार ये आठ अक्षर हैं। गायत्री का पहला पाद भी आठ र वाला ही प्रसिद्ध है ("द्यौः" के यकार से ही आठ संख्या की पूर्ति होती है)। यह भूमि दि ही इस गायत्री का प्रथम पाद है। जो त्रैलोक्यात्मक रूप है, इस प्रकार इस गायत्री के

यं प्रसिद्धतेत्याह—त्रायते पालयत्येनं पिण्डं देहं प्राणः क्षणितोः शस्त्रादिहिंसितात्पुनर्सेनाऽऽपूरयति यस्मात्तस्मात्क्षतत्राणात्प्रसिद्धं क्षत्त्रत्वं प्राणस्य। विद्वत्फलमाह—प्र त्त्रमत्र न त्रायतेऽन्येन केनचिदित्यत्रं क्षत्त्रं प्राणस्तमत्रं क्षत्त्रं प्राणं प्राप्नोतीत्यर्थः। ाखान्तरे वा पाठात्क्षत्त्रमात्रं प्राप्नोति प्राणो भवतीत्यर्थः। क्षत्त्रस्य सायुज्यं सलोकतां यति य एवं वेद ॥ ४ ॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य पञ्चदशं ब्राह्मणम् ॥ १५ ॥

ब्रह्मणो [1]हृदयाद्यनेकोपाधिविशिष्टस्योपासनमुक्तमथेदानीं गायत्र्युपाधिविशिष्ट-

---

शाखान्तरशब्देन माध्यंदिनशाखोच्यते ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य पञ्चदशं ब्राह्मणम् ॥ १५ ॥

वृत्तमनूद्य गायत्रीब्राह्मणस्य तात्पर्यमाह—ब्रह्मण इत्यादिना। छन्दोन्तरेष्वपि विद्यमानेषु

म्य प्राप्ति ही नहीं करते; बल्कि इसमें श्रेष्ठ भाव के लिए "कल्पन्ते" अर्थात् समर्थ होते हैं। साम के सायुज्य को प्राप्त होता है–ऐसा इसके फल की पूर्ववत् व्याख्या समझनी चाहिये ॥ ३ ॥

क्योंकि 'प्राणो वै क्षत्त्रम्" अर्थात् यह प्राण ही प्रसिद्ध क्षत्त्र है; इसलिए उसकी "क्षत्त्र" रूप से उपासना करनी चाहिये। यह प्रसिद्धि क्यों है ? इसे श्रुति बतलाती है–"एनम्" अर्थात् पिण्ड देह को प्राण, "क्षणितः त्रायते" अर्थात् शस्त्रादि की हिंसा से रक्षा करता है, पुनः उसे मांस भर देता है, इसलिये चोट से बचाने के कारण प्राण का क्षत्रत्व लोकप्रसिद्ध है। इस प्रकार पासना करने वाले का फल श्रुति कहती है। "प्र क्षत्रमत्रमाप्नोति" अर्थात् इससे रक्षा न होने वाले अत्र-क्षत्र रूप प्राण को प्राप्त कर लेता है। पाठान्तरशाखा उपलब्ध होने से क्षत्र मात्र को प्राप्त होता अर्थात् प्राण हो जाता है। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह क्षेत्र के सायुज्य और सालोक्य प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्थ पंद्रहवें ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का
हिन्दी-भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ १५ ॥

अब हृदय आदि अनेक उपाधियों से विशिष्ट सोपाधिक ब्रह्म की उपासना बतलायी गयी। अब

---

[1] हृदयादीत्यादिना सत्यमनोविद्युद्वाग्धेनुकौक्षेयाग्निविरमिति गुणद्वयविशिष्टान्नप्राणोक्थादिगुणपूगविशिष्टप्राणा गृह्यन्ते।

लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ १ ॥

इस त्रैलोक्य रूप पाद को जानता है; वह उस सभी को जीत लेता है, जो इस त्रिलोक में जि
भी है ॥ १ ॥

स्योपासनं वक्तव्यमित्यारभ्यते[1] । सर्वच्छन्दसां हि गायत्रीछन्दः प्रधानभूतम् । तत्प्रयोक्
[2]गयत्राणाद्गायत्रीति हि वक्ष्यति[3] । न चान्येषां छन्दसां तत्प्रयोक्तृप्राणत्राणसामर्थ्यम्
[4]प्राणात्मभूता च सा सर्वच्छन्दसां चाऽऽत्मा प्राणः । प्राणश्च क्षतत्राणात्क्षत्त्रमित्युक्तम्
प्राणश्च गायत्री । तस्मा[5]त्तदुपासनमेव विधित्स्यते । द्विजोत्तमजन्महेतुत्वाच्च । गायत्र्
ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यमिति[6] द्विजोत्तमस्य द्वितीयं जन्म गायत्री
निमित्तम् । [7]तस्मात्प्रधाना गायत्री । [8]ब्राह्मणा व्युत्थाय, [9]ब्राह्मणा अभिवदन्ति,
ब्राह्मणो, [11]विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवतीत्युत्तमपुरुषार्थसंबन्धं ब्राह्मण

किमिति गायत्र्युपाधिकमेव ब्रह्मोपास्यमिष्यते तत्राऽऽह—सर्वच्छन्दसामिति । तत्प्राधान्ये हेतुमा
—तत्प्रयोक्त्रिति । तुल्यं प्रयोक्तृप्राणत्राणसामर्थ्यं छन्दोन्तराणामपीति चेन्नेत्याह—न चेति । [12]प्रमाणा
भावादिति भावः । किंच [13]प्राणात्मभावो गायत्र्या विवक्ष्यते प्राणश्च सर्वेषां छन्दसां निर्वर्तकत्वादात्मा
[14]तथा च सर्वच्छन्दोव्यापकगायत्र्युपाधिकब्रह्मोपासनमेवात्र विवक्षितमित्याह—प्राणात्मेति । तदात्मनू
गायत्रीत्युक्तं व्यक्ती करोति—प्राणश्चेति । तत्प्रयोक्तृगयत्राणाद्धि गायत्री । प्राणश्च वागादीनां त्राता ।
[15]ततश्चैकलक्षणत्वात्तयोस्तादात्म्यमित्यर्थः । प्राणगायत्र्योस्तादात्म्ये फलितमाह-तस्मादिति । गायत्री
प्राधान्ये हेत्वन्तरमाह—द्विजोत्तमेति । [16]तदेव स्फुटयति—गायत्र्येति । तत्प्राधान्ये हेत्वन्तरमा

आगे गायत्री आदि उपाधिविशिष्ट ब्रह्म की उपासना बतलानी है, इसलिए इस ब्राह्मण का आरम्
किया जाता है—सब छन्दों में प्रधानभूत छन्द गायत्री ही है । प्रयोक्ताओं के प्राणों की रक्षा करने
कारण वह गायत्री है—यह निर्वचन आगे किया जायगा । अन्य छन्दों में उसके प्रयोक्ता के प्राणों क
रक्षा करने की सामर्थ्य नहीं है । वह प्राण से तादात्म्यापन्न है और प्राण सब छन्दों की आत्मा है ।
तथा चोट से रक्षा करने के कारण क्षत्र प्राण है, ऐसा कहा जा चुका है । प्राण ही गायत्री है । इसलि
गायत्र्युपाधिक ब्रह्मोपासना का विधान करना इष्ट है । तथा विप्रजन्म के हेतु होने से भी उसका विधा
करना इष्ट है । 'गायत्री से ब्राह्मण, त्रिष्टुप् से क्षत्रिय और जगती से वैश्य की रचना की' ऐसी श्रुति
है । इससे विप्र का द्वितीय जन्म गायत्री के कारण है । विप्र के जन्म में हेतु होने से गायत्री प्रधान है ।

---

१. ब्राह्मणम् । २. गयाः प्राणाः प्रयोक्तारः । ३. बृ. उ. ५. १६. ४ । ४. प्राणतादात्म्यापन्ना ।
सर्वच्छन्दोव्यापकगायत्र्युपाधिकब्रह्मोपासनमित्यर्थः । ६. श्रुतेः । ७. विप्रजन्महेतुत्वात् । ८. बृ. उ.
३. ५. १ । ९. बृ. उ. ३. ८. ८ । १०. बृ. उ. २. ५. १ । ११. बृ. उ. ४. ४. २३ । १२. प्रमाणा-
भावादिति—गायत्र्यास्तु गयत्राणसामर्थ्यं श्रुतिरेव वक्ष्यतीति भावः । १३. प्राणतादात्म्यम् ।
प्राणतादात्म्येन गायत्र्याः सर्वच्छन्दसामात्मत्वे च । १५. ततश्च—उक्तरीत्योभयोस्त्रातृत्वात् ।
तद्धेतुत्वमेव ।

र्यति[1]। [2]तच्च ब्राह्मणत्वं [3]गायत्रीजन्ममूलमतो[4] वक्तव्यं गायत्र्याः [5]सतत्त्वम्। गायत्र्या यः सृष्टो द्विजोत्तमो[6] [7]निरङ्कुश एवोत्तमपुरुषार्थसाधनेऽधिक्रियतेऽतस्तन्मूलः परम-स्वार्थसंबन्धः। तस्मा[8]त्तदुपासनविधानायाऽऽह—भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्येतान्य[9]ष्टावक्ष-णि। अष्टाक्षरमष्टावक्षराणि यस्य तदिदमष्टाक्षरम्। ह वै प्रसिद्धावद्योतकौ। एकं थमं गायत्र्यै गायत्र्याः [10]पदम्। [11]यकारेणैवाष्टत्वपूरणम्। एतदु हैवैतदेवास्या गायत्र्याः

ब्राह्मणा इति। कथमेतावता[12] गायत्रीप्राधान्यं तत्राऽऽह—तच्चेति। अतो वक्तव्यमित्यत्रातःशब्दार्थ-ह—गायत्र्या हीति। अविकारित्व[13]कृतं कार्यमाह—अत इति। तच्छब्दो गायत्रीविषयः। गायत्री-वैशिष्ट्यं परामृश्य फलितमुपसंहरति—तस्मादिति। गायत्रीप्रथमपादस्य सप्ताक्षरत्वं प्रतीयते न त्वष्टा-रत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—यकारेणेति। गायत्रीप्रथमपादस्य त्रैलोक्यनाम्नश्च संख्यासामान्यप्रयुक्तं र्थमाह—एतदिति। गायत्रीप्रथमपादे त्रैलोक्यदृष्ट्यारोपस्य प्रयोजनं दर्शयति—एवमिति। प्रथमपाद-

---

ह्मण (पुत्र, वित्त और लोकैषणा से) पारिव्राज्य को प्राप्त कर (श्रवणादिशेष-काल देहस्थिति के लिए भिक्षाटन करते हैं)', 'उस ब्रह्मवेत्ता को ब्राह्मण अभिवादन करते हैं', 'वह ब्राह्मण कृतकृत्य हो जाता है', 'इस प्रकार जानने वाला धर्म और अधर्म से अतीत, कामरहित, निःसंशय, मैं ही सर्वात्मा पर-ब्रह्म हूँ—इस प्रकार निश्चितमति वाला ब्राह्मण हो जाता है' इस प्रकार उपरोक्त सभी श्रुतियाँ ब्राह्मण का उत्तम पुरुषार्थ से संबन्ध दिखाती हैं। इसलिये गायत्री का विशिष्ट स्वरूप बतलाना चाहिये। गायत्री के द्वारा जिस विप्र को बनाया गया है; वह अप्रतिबद्ध है। उसका उत्तम पुरुषार्थ साधन में अधिकार है। इसलिए परम पुरुषार्थ का संबन्ध गायत्री से ही है। इसलिए गायत्री-उपाधि-विशिष्ट ब्रह्म की उपासना के लिए श्रुति कहती है—भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक इनमें वर्ण विश्लेष से आठ अक्षर हैं। "अष्टाक्षरम्" यानी जिसके आठ अक्षर हों, उसे अष्टाक्षर कहा जाता है। 'ह' और 'वै' प्रसिद्धिद्योतक अव्यय हैं। 'एकम्' अर्थात् प्रथम पाद "गायत्र्यै" अर्थात् गायत्री के आठ अक्षर हैं। चौः" इसके यकार को ग्रहण करने से आठ अक्षरों की संख्या पूरी होती है। यही इस गायत्री का

---

१. श्रुतिः। २. उत्तमपुमर्थसंबन्धि। ३. गायत्र्याम्मतुः सकाशाद्यद्द्वितीयं जन्म तन्मूलकम्। ४. द्विजोत्तम-जन्महेतुत्वात्। ५. विशिष्टं स्वरूपम्। ६. सः। ७. अप्रतिबद्धः। ८. गायत्र्युपाधिकब्रह्मोपासन-विधानाय। ९. अष्टावक्षराणीति—त्रैलोक्यनामाक्षराणि अष्टौ द्यौरित्यत्र वर्णविश्लेषेणाष्टत्वमित्याहुः। विसर्गस्याक्षरत्वे तेनैव वाऽष्टत्वमिति ध्येयम्। १०. पादः। ११. यकारेणैवेति—तथा च 'इयादिपूरणः' (पिङ्ग. सू. ३।२९) इति। इदं च संस्काररत्नमालाव्याख्याने हलायुधेनोद्धृतम्। तथाहि—"चतुर्विंशत्यक्षरां तु गायत्रीं प्रजपन् हृदि। सर्वान् वर्णानभिध्यायेद्देवतामर्थमेव च" ॥ इति श्लोके। अक्षरशब्दः स्वरेषु वर्तते। तत्र यद्यपि स्वरास्त्रयोविंशतिरेव गायत्रीमन्त्रे वर्तन्ते तथापि ण्यमित्यत्र भावनया णियमिति स्वरद्वय ज्ञेयम्। उक्तं च पिङ्गलेन—'इयादिपूरण' इति पाद इत्यनुवर्तते इयादिः पूरणो यस्य स इयादिपूरणः आदिशब्देनो-वादयो गृह्यन्ते। तत्रायमर्थः यत्र गायत्र्यादौ छन्दसि पादस्याक्षरसंख्या न पूर्यते तत्रेयादिभिः सा पूरयितव्या। यथा "तत्सवितुर्वरेणियम्" "दिवं गच्छ सुवः पतेत्य"वमादय इति। १२. उत्तमपुरुषार्थसंबन्धप्रदर्शन-मात्रेण। १३. प्रयुक्तम्। १४. श्रेष्ठ्यम्।

ऋचो यजूꣳषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह व
एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावतीयं त्रयी
विद्या तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद । २ ॥

ऋचः, यजूँषि और सामानि ये त्रयीविद्या के आठ अक्षर हैं। आठ अक्षर वाली ही गा का दूसरा पाद प्रसिद्ध है। संख्या की समानता होने के कारण यह ऋगादि ही इस गायत्री का पाद है। इस प्रकार इस गायत्री के इस त्रयोविद्या रूप द्वितीय पाद को जो जानता है; वह उन को जीत लेता है, जितनी यह त्रयीविद्या है अर्थात् त्रयीविद्या से जितना फल प्राप्त किया सकता है ॥ २ ॥

पदं पादः प्रथमो भूम्यादिलक्षण[1]स्त्रैलोक्यात्मा। अष्टाक्षरत्वसामान्यात्। एवमेतत्त्रैलो क्यात्मक गायत्र्याः प्रथमं पद यो वेद तस्यैतत्फलम्—स विद्वान्यावत्किंचिदेषु त्रि लोकेषु [2]जेतव्यं तावत्सर्वं ह जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ १ ॥

तथर्चो यजूंषि सामानीति त्रयीविद्यानामाक्षराण्येतान्यप्यष्टावेव तथैवाष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदं द्वितीयमे[3]तदु हैवास्या [4]एतदृग्यजुःसामलक्षणमष्टाक्षरत्वसामान्या देव। स यावतीयं त्रयी विद्या त्रय्या विद्यया यावत्फलजातमाप्यते तावद्ध जयति योऽस्या

ज्ञाने विराडात्मकत्वं [5]फलतीत्यर्थः ॥ १ ॥

प्रथमे पादे त्रैलोक्यदृष्टिवद्द्वितीये पादे कर्तव्या त्रैविद्यदृष्टिरित्याह—तथेति। दृष्टिविधु योगित्वेन संख्यासामान्यं कथयति—ऋच इति। संख्यासामान्यफलमाह—एतदिति। [6]विद्याफ दर्शयति—स यावतीति ॥ २ ॥

भूमि आदि लक्षण विराडात्मा त्रैलोक्य प्रथम पाद है क्योंकि आठ अक्षर होने में इसकी सरूपता है। इस प्रकार गायत्री के त्रैलोक्यात्मक स्वरूप प्रथम पाद को जो जानता है, उसका यह फल है। जो इस प्रकार इसके इस पाद की उपासना करता है, इस त्रिलोकी में जितना जेतव्य (भोगसाधन) है, उस को प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

"ऋचः, यजूँषि, सामानि" ये त्रयी विद्या के अक्षर हैं, ये भी (वर्णविश्लेष से) आठ अक्षर हैं। जिस प्रकार गायत्री का प्रथम पाद अष्टाक्षर है, इसी प्रकार यह दूसरा पाद है। अष्टाक्षर सरूपता होने से इस ऋग्यजुःसामलक्षण द्वितीय पाद की त्रैविद्य की दृष्टि से उपासना करे। जो इस गायत्री के

---

[1] त्रैलोक्यात्मेति—गायत्र्याः प्रथमं पादं विराडात्मकत्रैलोक्यदृष्ट्योपासीतेति भावः।

[2] भोगसाधनम्।

[3] द्वितीयं पदमेव।

[4] त्रैविद्यदृष्ट्योपासीतेति यावत्।

[5] विराडात्मभावप्राप्तिः फलं प्रथमपादोपासनस्येति यावत्। अत्र च भूम्याद्युक्त्याऽशेषेण रूपराशिर्गायत्रीप्रथमपादात्मनोपसंहृत इति विवक्षितोऽर्थः।

[6] विद्याफलमिति—गायत्रीद्वितीयपादस्य त्रय्यात्मनोपासनस्य फलमित्यर्थः।

[1]प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदिदं प्राणि तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेदाथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति यद्वै

प्राण, अपान और व्यान, ये आठ अक्षर हैं। गायत्री का तृतीय पाद भी आठ अक्षर वाला है। प्राण आदि ही संख्या में समानता होने के कारण इस गायत्री का तृतीय पाद है। इस प्रकार त्री के इस तृतीय पाद को जो जानता है, वह उस सभी को प्राप्त कर लेता है, जितना यह प्राणी है और जो यह प्रकाशित होता है, वही इसका (आगे बतलाया जाने वाला) तुरीय दर्शत एवं रजा पद है। जो चतुर्थ होता है, उसी को तुरीय कहते हैं। "दर्शतं पदम्" इसका अर्थ यह है कि

गायत्र्यास्त्रैविद्यलक्षणं पदं [2]वेद ॥ २॥

तथा प्राणोऽपानो व्यान एतान्यपि प्राणाद्यभिधानाक्षराण्य[3]ष्टौ । तच्च गायत्र्यास्तृतीयं पदं यावदिदं प्राणिजातं तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं गायत्र्यास्तृतीयं पदं वेद । थानन्तरं गायत्र्यास्त्रिपदायाः शब्दात्मिकायास्तुरीयं पदमुच्यतेऽभिधेयभूतमस्याः कृताया गायत्र्या एतदेव वक्ष्यमाणं तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति । तुरीयत्यादिवाक्यपदार्थं स्वयमेव व्याचष्टे श्रुतिः—यद्वै चतुर्थं प्रसिद्धं लोके तदिह तुरीय-

प्रथमद्वितीयपादयोस्त्रैलोक्यत्रैविद्यदृष्टिवत्तृतीये पादे प्राणादिदृष्टिः कर्तव्येत्याह—तथेति । ु त्रिपदा गायत्री व्याख्याता चेत्किमुत्तरग्रन्थेनेत्याशङ्क्याऽऽह—अथेति । शब्दात्मकगायत्रीप्रकरणच्छेदार्थोऽथशब्दः । यद्वै चतुर्थमित्यादिग्रन्थस्य पूर्वेण पौनरुक्त्यमाशङ्क्याऽऽह—तुरीयमिति । इहेति नवाक्योक्तिः । योगिभिर्दृश्यत इवेति लक्ष्यते न तु मुख्यमीश्वरस्य दृश्यत्वमतीन्द्रियत्वादित्याह

विद्यलक्षण पाद को जानता है, "स यावतीयं त्रयी विद्या" अर्थात् वह जितना त्रयी विद्या द्वारा नसमूह प्राप्त किया जा सकता है; उसे प्राप्त कर लेता है ।। २ ।।

तथा प्राण, अपान और व्यान—ये प्राणादि के नाम भी आठ अक्षर वाले हैं। यह गायत्री का तीय पाद है। जो इस प्रकार के, गायत्री के तृतीय पाद को जानता है, वह यह जितना भी जगत् सभी को प्राप्त कर लेता है। (शब्दात्मक गायत्री कथन के अनन्तर) अब इसके पश्चात् शब्दात्मक पदा गायत्री का अभिधेयभूत चतुर्थ पाद कहा जाता है। प्रसङ्गप्राप्त उसी इस गायत्री का, जो ता है, वक्ष्यमाण तुरीय पाद 'दर्शत परोरजा' है। 'तुरीय' इस वाक्य के पदार्थ का श्रुति स्वयं ख्यान करती है। जो लोकव्यवहार में चतुर्थ शब्द से प्रसिद्ध है, उसी को यहाँ तुरीय कहा जाता

---

[1] तृतीयपादस्योक्तरूपनामात्मकोभयविधजगद्विधारकप्राणाद्यात्मत्वमाह—प्राण इत्यादिना । [2] अत्रापि ऋगाद्युक्त्याऽशेषेण नामराशिर्गायत्रीद्वितीयपादरूपेणोपसंहृत इति विवक्षितोऽर्थः । [3] अष्टाविति—अत्रापि प्राणाद्युक्त्याशेषकर्मराशिर्गायत्रीतृतीयपादात्मनोपसंहृत इति विवक्षितोऽर्थः । [4] अथेति—शब्दात्मकगायत्रीकथनानन्तरमित्यर्थः ।

चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतं पदमिति ददृश इव ह्येष परोरजा इति सर्वमु ह्येवैष रज उपर्युपरि तपत्येवꣳ हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ ३ ॥

मानो यह आदित्य मण्डलान्तर्गत पुरुष दीखता है । इसीलिये इसे दर्शत पद कहते हैं । 'परोरजा' पद का अर्थ यह है, यह सभी रज (लोकों) के ऊपर-ऊपर आधिपत्य स्थापित कर प्रकाशित हो (सभी लोक पर आधिपत्य दिखलाने के लिये ही इस मन्त्र में "उपरि उपरि" ऐसा दो बार कहा है) । जो गायत्री के इस चतुर्थ पद को इस प्रकार जानता है, वह उसी प्रकार शोभा और से प्रकाशित होता है जैसा कि यह आदित्य सर्वाधिपत्य रूप शोभा और कीर्ति से तप रहा है ॥

शब्देनाभिधीयते । दर्शतं पदमित्यस्य कोऽर्थ इत्युच्यते—ददृश इव दृश्यत इव ह्य मण्डलान्तर्गतः पुरुषोऽतो दर्शतं पदमित्युच्यते । परोरजा इत्यस्य पदस्य कोऽर्थ इत्यु च्यते—सर्वं समस्तमु ह्येवैष मण्डलस्थः पुरुषो रजो रजोजातं समस्तं लोकमित्यर्थः उपर्युपर्याधिपत्यभावेन सर्वं लोकं रजोजातं [1]तपति । उपर्युपरीति वीप्सा सर्वलोकाधिपत् ख्यापनार्था । ननु सर्वशब्देनैव [2]सिद्धत्वाद्वीप्साऽनर्थिका । नैष दोषः । येषामुपरिष्टा विता दृश्यते तद्विषय एव सर्वशब्दः स्यादित्याशङ्कानिवृत्त्यर्था वीप्सा । "[3]ये चामुष्मात्

—दृश्यत इवेति । 'लोका रजांस्यु[4]च्यन्ते' इति श्रुत्यन्तरमाश्रित्याऽऽह—समस्तमिति । आधिपत्यभा नेति कथं व्याख्यानमित्याशङ्क्याऽऽह—उपर्युपरीति । वीप्सामाक्षिपति—नन्विति । सर्वं रज तीत्ये[5]तावतैव सर्वाधिपत्यस्य सिद्धत्वाद्व्यर्था वीप्सेति चोद्यं दूषयति—नैष दोष इति । येषां लोका मिति यावत् । मण्डलपुरुषस्य निरङ्कुशमाधिपत्यमित्यत्र च्छान्दोग्यश्रुतिमनुकूलयति—ये चेति

है । 'दर्शतम्' इस पद का क्या अर्थ है, इस पर श्रुति कहती है । "स ह्येष" अर्थात् वह मण्डल अन्तर्गत पुरुष "ददृश इव" यानी दीखता हुआ सा है, इसलिए "दर्शतं पदम्" ऐसा कहा जाता है "परोरजाः" इस पद का क्या अर्थ है, इस पर श्रुति कहती है—"एषः" अर्थात् यह मण्डलान्त पुरुष "सर्वमु ह्येव रजः" अर्थात् समस्त रजोजात लोक को ऊपर-ऊपर आधिपत्य रूप से, रजोसमूह लोक को प्रकाशित करता है । 'उपरि उपरि" पदों में द्वित्व सर्वलोकों में आधिपत्य करने के लिए है । (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु अभिलषित सर्वाधिपत्य तो सर्वशब्द से ही सिद्ध हो जाता है । इसलिए 'उपरि उपरि' यह द्वित्व प्रयोग अनर्थक है । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है । जिनके ऊपर आदित्य दीखता है, सर्वशब्द उन्हीं के अर्थ में होगा, इस आशङ्का की निवृत्ति के लिए द्विरुक्ति की गयी है । इसीका अन्य श्रुति प्रतिपादन

---

१. तापयति प्रकाशयति च । २. अभिलषितसर्वाधिपत्यस्य । ३. बृ. उ. १. ६. ८ । ४. उच्य इति—"स इमाँल्लोकान् विचक्रमेऽथो देवानथो वाचमिति" श्रुतिशेषः । ५. सर्वपदसामर्थ्यादिव ।

सैषा गायत्र्येतस्मिꣳस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता यद्वै तत्सत्ये प्रतिष्ठितं चक्षुर्वै सत्यं चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्श-

पूर्वोक्त तीन पदों वाली वह यह गायत्री इस चतुर्थ दर्शत परोरजा पद में प्रतिष्ठित है । वह तुरीय पद सत्य में प्रतिष्ठित है । नेत्र ही सत्य है, नेत्र ही सत्य है (क्योंकि विवाद करने वाले की सत्यता त्र से देखने पर ही सिद्ध होती है) यह प्रसिद्ध है । इसीलिये यदि दो पुरुष "मैंने देखा है, मैंने सुना है" स प्रकार विवाद करते हुए आवें तो उनमें से "मैंने देखा है" ऐसा जो कहता है, उसी के प्रति हम

ञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च" इति श्रुत्यन्तरात् । [1]तस्मा[2]त्सर्वावरोधार्था वीप्सा । यथाऽसौ सविता सर्वाधिपत्यलक्षणया श्रिया यशसा च ख्यात्या तपत्येवं हैव [3]श्रिया यशसा च [4]तपति योऽस्या एतदेवं तुरीयं दर्शतं पदं [5]वेद ॥ ३ ॥

सैषा त्रिपदोक्ता या त्रैलोक्यत्रैविद्यप्राणादिलक्षणा गायत्र्ये[6]तस्मिंश्चतुर्थे तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता । मूर्तामूर्तरसत्वादादित्यस्य । रसापाये हि वस्तु नीरसम-

वीप्सार्थवत्त्वमुपसंहरति—तस्मादिति । चतुर्थपादज्ञानस्य फलवत्त्वं कथयति—यथेति ॥ ३ ॥

[7]अभिधानाभिधेयात्मिकां गायत्रीं व्याख्यायाभिधानस्याभिधेयतन्त्रत्वमाह—सैषेति । आदित्ये प्रतिष्ठिता मूर्तामूर्तात्मिका गायत्रीत्यत्र हेतुमाह—मूर्तेति । भवतु मूर्तामूर्तब्राह्मणानुसारेणाऽऽदित्यस्य तत्सारत्वं तथाऽपि कथं गायत्र्यास्तत्प्रतिष्ठत्वं पृथगेव सा मूर्ताद्यात्मिका स्थास्यतीत्या-

करती है—"जो कि इससें ऊपर के लोक हैं, यह मण्डल पुरुष उन देवताओं के अभीष्ट कामों का भी निरंकुश अधिपति है" । इसलिये सभी लोकों का अवरोध करने के लिए यह श्रुति है । जो पुरुष गायत्री के इस चतुर्थ पाद को ('सूत्रात्मक आदित्यान्तर्गत मैं हूँ') इस प्रकार जानता है; वह उसी प्रकार वसुलक्षणा श्री और कीर्ति से प्रकाशित होता है, जिस प्रकार यह आदित्य सर्वाधिपत्यलक्षणा श्री एवं ख्यातिलक्षणा कीर्ति से प्रकाशित होता है ॥ ३ ॥

पूर्वसंदर्भित त्रैलोक्य, त्रैविद्य और प्राणादिरूपा त्रिपदा गायत्री इस चतुर्थ तुरीय दर्शत परोरजा पाद में प्रतिष्ठित है । आदित्य मूर्तामूर्त रसस्वरूप होने से (यह गायत्री आदित्य में प्रतिष्ठित है) । रस के नष्ट हो जाने पर वस्तु उसी तरह नीरस और अप्रतिष्ठित हो जाती है, जिस प्रकार काष्ठादि

---

[1] तस्मादिति—वीप्सायाः सर्वशब्दार्थे संकोचशङ्कानिवृत्त्यर्थत्वात् । [2] सर्वलोकावरोधार्था । [3] वसुलक्षणया च । [4] अरीन् । [5] गायत्र्याश्चतुर्थः पादः सूत्रात्मक आदित्यान्तर्गतोऽहमस्मीत्येवम् । [6] एतस्मिन्—उक्तलक्षणे तुरीयादिपदवाच्ये मूर्तामूर्तरसे भानौ । [7] अभिधानेत्यादि—प्रथमपदमभिधानं तदभिधेयं त्रैलोक्यं द्वितीयपदात्मकाभिधानस्याभिधेयं त्रयी विद्या तृतीयपदाभिधानाभिधेयं सर्वप्राणादिरूप प्राद्यपदस्य त्रैलोक्यात्मत्वं द्वितीयस्य त्र्य्यात्मत्वं तृतीयस्य सर्वप्राणात्मत्वमिति व्याख्यातमित्यभिधानाभिधेयात्मिका गायत्रीत्यर्थः ।

महमश्रौषमिति य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम तद्वै तत्सत्यं बले प्रतिष्ठितं प्राणो प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलँ सत्यादोगीय

विश्वास करते हैं। निःसन्देह यह तुरीय पद का आश्रय सत्य, बल से प्रतिष्ठित है। अतएव कहते हैं सत्य की अपेक्षा अधिक ओजस्वी बल है। इस प्रकार यह गायत्री अध्यात्म प्राण में स्थित है इस गायत्री ने वागादि प्राण रूप गयों का त्राण किया था अर्थात् वागादि प्राण ही गय हैं। उनका

प्रतिष्ठितं भवति। यथा काष्ठादि [1]दग्धसारं तद्वत्। [2]तथा मूर्तामूर्तात्मकं जगत्त्रिपदा गायत्र्यादित्ये प्रतिष्ठिता [4]तद्रसत्वात्सह त्रिभिः [5]पादैः। तद्वै तुरीयं पदं सत्ये प्रतिष्ठितम्। किं पुनस्तत्सत्यमित्युच्यते—चक्षुर्वै सत्यम्। कथं चक्षुः सत्यमित्याह—प्रसिद्ध मेतच्चक्षुर्हि वै सत्यम्। कथं प्रसिद्धतेत्याह—तस्माद्यद्यदीदानीमेव द्वौ विवदमानौ विरुद्धं वदमानावेयातामा[6]गच्छेयातामहमदर्शं दृष्टवानस्मी[7]त्यन्य आहाहमश्रौषं यत्त्वया दृष्टं न तथा [8]तद्वस्त्विति तयोर्य एवं ब्रूयादहमद्राक्षमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम न पुनर्यो ब्रूयादहमश्रौषमिति। श्रोतुर्मृषा श्रवणमपि संभवति [9]न तु चक्षुषा मृषा दर्शनम्। [10]तस्मा-

शङ्कयाऽऽह—रसेति। तद्वदादित्यसंबन्धाभावे मूर्ताद्यात्मिका गायत्री स्यादप्रतिष्ठितेति शेषः। साराद् स्वातन्त्र्येण मूर्तादेर्न स्थितिरिति स्थिते फलितमाह—तथेति। आदित्यस्य स्वातन्त्र्यं वारयति—तद्र इति। सत्यशब्दस्यानृतविपरीतवाग्विषयत्वं शङ्काद्वारा वारयति—किं पनरित्यादिना। चक्षुषः सत्यत्वे प्रमाणाभावं शङ्कित्वा दूषयति—कथमित्यादिना। श्रोतरि श्रद्धाभावे हेतुमाह—श्रोतुरिति। द्रष्टुरपि [11]मृषादर्शनं संभवतीत्याशङ्कयाऽऽह—न त्विति। [12]क्वचि[13]त्कथंचि[14]त्संभवेऽपि श्रोत्रपेक्षया द्रष्टुर

भस्मीभूत हो जाते हैं। ऐसा होने पर मूर्तामूर्तात्मक जगत्स्वरूपा त्रिपदा (अभिधेयात्मिका) गायत्री (अभिधानभूत) तीनों पादों सहित आदित्य में प्रतिष्ठित है; क्योंकि आदित्य मूर्तादिरसस्वरूप है। वह तुरीय पाद सत्य में प्रतिष्ठित है, वह सत्य क्या है इस पर श्रुति कहती है–चक्षु ही सत्य है। चक्षुही सत्य क्यों है ? इसे बतलाया जाता है क्योंकि लोकव्यवहार में प्रसिद्ध है कि चक्षु सत्य है। ऐसी प्रसिद्धि क्यों है। इस पर श्रुति कहती है,इसलिये यदि इसी समय दो 'विवदमानौ' अर्थात् परस्पर विरुद्ध कहने वाले 'इयाताम्

---

१. भस्मीभूतमित्यर्थः। २. तथा सति अभिधानभूतम्। ३. अभिधेयात्मिका। ४. तद्रसत्वात्—आदित्यस्य मूर्तादिरसत्वात्। ५. अभिधानभूतैः। ६. आगच्छेयातामित्यात्मनेपदं मृग्यम्। ७. एकः। ८. गजादिकं वस्तु। ९. न त्विति—यद्यपि रजतादिदृष्टिरपि मृषा दृष्टा तथापि निर्दुष्टा दृष्टिर्न मृषा भवति निर्दुष्टा श्रुतिरपि न मृषा तथापि श्रुतेर्दृष्टिर्बलीयसी श्रुतवादिनो (सकाशात्) दृष्टवादिनि लोकस्य संप्रत्यय दर्शनादिति भावः। १०. तस्मात्—श्रुत्यपेक्षया दृष्टेः प्रबलत्वात्। ११. मृषादर्शनं—शुक्तिरूप्यादि विषयम्। १२. क्वचित्—रजतादौ। १३. कथंचित्—मात्रादिदोषेण। १४. रजतादिदर्शनस्य मृषात्व संभवेऽपीत्यर्थः।

इत्येवम्वैषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता सा हैषा गयाꣳस्तत्रे प्राणा वै गया[1]स्तत्प्राणाꣳस्तत्रे तद्यद्गयाꣳस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम स यामेवामूꣳ सावित्रीमन्वाहैषैव सा स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणाꣳस्त्रायते ॥ ४ ॥

न किया था, इसने गयों का त्राण किया था । इसीलिये तो इसका नाम गायत्री प्रसिद्ध हुआ है । उस चार्य ने आठ वर्ष के बटु का उपनयन कर उसे जिस सविता देव संबन्धी गायत्री का उपदेश किया , वह यही है । वह आचार्य जिस बटु को इस गायत्री का उपदेश करता है, यह गायत्री उस बटु के गादि प्राण रूप गय की नरकादि में गिरने से रक्षा करती है ॥ ४ ॥

श्रौषमित्युक्तवते श्रद्दध्याम । [2]तस्मात्सत्यप्रतिपत्तिहेतुत्वात्सत्यं [3]चक्षुस्तस्मिन्सत्ये चक्षुषि ह त्रिभिरितरैः पादैस्तुरीयं पदं [4]प्रतिष्ठितमित्यर्थः । उक्तं च [5]स आदित्यः कस्मिन्प्रति-ष्ठित इति चक्षुषीति ।

तद्वै तुरीयपदाश्रयं सत्यं बले प्रतिष्ठितम् । किं पुनस्तद्बलमित्याह—प्राणो वै बलं स्मिन्प्राणे बले प्रतिष्ठितं सत्यम् । तथाचोक्तं [6]सूत्रे [7]तदोतं च प्रोतं चेति । यस्माद्बले

श्वासो दृष्टो लोकस्येत्याह—तस्मान्नेति । विश्वासातिशयफलमाह—तस्मादिति । आदित्यस्य क्षुषि प्रतिष्ठितत्वं पञ्चमेऽपि प्रतिपादितमित्याह—उक्तं चेति ।

सत्यस्य स्वातन्त्र्यं प्रत्याह—तद्वा इति । सत्यस्य प्राणप्रतिष्ठितत्वं च पाञ्चमिकमित्याह—चेति । सूत्रं प्राणो वायुः । तच्छब्देन सत्यशब्दितसर्वभूतग्रहणम् । सत्यं बले प्रतिष्ठितमित्यत्र लोक-

र्थात् आयें, उनमें से एक कहता हो 'मैंने देखा है', दूसरा कहता हो, जो तुमने देखा है, उसे मैंने सुना , वह वस्तु वैसी नहीं है । उनमें से जो यह बोले कि मैंने यह वस्तु देखी है, उसी में लोग श्रद्धा करते , किन्तु जो इस प्रकार कहता है, मैंने सुना है, उस पर श्रद्धा नहीं करते । कानों द्वारा मिथ्या कथन श्रवण हो सकता है किन्तु चक्षु के द्वारा मिथ्या दर्शन संभव नहीं । इसलिए 'मैंने सुना है' इस कार कहने वाले पर श्रद्धा नहीं करते । इसलिये (श्रुति की अपेक्षा दृष्टि के प्रबल होने से) सत्यज्ञान हेतु होने के कारण चक्षु सत्य है, अर्थात् उस (प्रकाशकस्वभाव) सत्यस्वरूप चक्षु में अन्य तीनों दों के सहित चौथा पाद प्रतिष्ठित है । श्रुति में कहा भी है—वह आदित्य किसमें प्रतिष्ठित है ? चक्षु प्रतिष्ठित है ।

वह चतुर्थ पाद का आश्रयभूत सत्य बल में प्रतिष्ठित है । वह बल क्या है ? इस पर श्रुति

---

[1] ते च ते प्राणास्तान् । [2] तस्मात्—श्रोत्रपेक्षया द्रष्टरि विश्वासाधिक्यात् । [3] प्रकाशकस्वभावे ।
[4] प्रतिष्ठितमिति—एकस्वभावत्वादाधाराधेयत्वं चक्षुरादित्ययोर्युक्तमिति भावः । [5] बृ. उ. ३. ९. २० ।
[6] "यदिद सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीतीत्येतदेव" तृतीयाध्यायषष्ठब्राह्मणस्थवाक्यं शब्दान्तरेण स्मारयति—सूत्रे तदित्यादिना । [7] बृ. उ. ३. ६. ६ ।

सत्यं प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलं सत्यादोगीय ओजीय ओजस्तरमित्यर्थः । लोकेऽपि यस्मिन्हि यदाश्रितं भवति तस्मादाश्रितादाश्रयस्य बलवत्तरत्वं प्रसिद्धम् । न हि दुर्बलं बलवतः क्वचिदाश्रयभूतं दृष्टम् । एवमु[1]क्तन्यायेन उ [2]एषा गायत्र्यध्यात्ममध्यात्मे [3]प्राणे प्रतिष्ठिता । सैषा गायत्री प्राणः । [4]अतो गायत्र्यां जगत्प्रतिष्ठितम् । यस्मिन्प्राणे सर्वे देवा एकं भवन्ति । सर्वे वेदाः कर्माणि फलं च सैवं गायत्री प्राणरूपा सती जगत आत्मा । सा हैषा गयांस्तत्रे त्रातवती । के पुनर्गयाः । प्राणा वागादयो वै गयाः । [5]शब्द[6]करणात् । तांस्तत्रे सैषा गायत्री । तत्त्र[7] यद्यस्माद्गयांस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम । गयत्राणाद्गायत्रीति प्रथिता । स आचार्य उपनीय '[8]माणवकमष्टवर्षं यामेवामूं सावित्रीं सवितृदेवता-

---

प्रसिद्धिं प्रमाणयति— तस्मादिति । तदेवोपपादयति— लोकेऽपीति । तदेव व्यतिरेकमुखेनाऽऽ(णाऽऽ)ह— न हीति । [9]एतेन गायत्र्याः सूत्रात्मत्वं सिद्धमित्याह—एवमिति । [10]तस्मिन्नर्थे वाक्यं योजयति—सैषेति । गायत्र्याः प्राणत्वे किं सिध्यति तदाह—अत इति । तदेव स्पष्टयति—यस्मिन्नित्यादिना । गायत्रीनामनिर्वचनेन तस्या जगज्जीवनहेतुत्वमाह—सा हैषेति । प्रयोक्तृशरीरं सप्तम्यर्थः । गायन्तीति गया वागुपलक्षिताश्चक्षुरादयः । ब्राह्मण्यमूलत्वेन स्तुत्यर्थं गायत्र्या एव सावित्रीत्वमाह—स आचार्य इति ।

कहती है—प्राण ही बल है, उस "प्राणे" अर्थात् बल में प्रतिष्ठित है । कहा भी है—वह सब किसमें ओत-प्रोत भाव से युक्त है । सूत्रात्मा में । जिससे बल में सत्य प्रतिष्ठित है, इसी से कहा है, बल सत्य से "ओगीयः" अर्थात् ओजयुक्त अथवा ओजस्तर होता है । लोकव्यवहार में भी जिसका जो आश्रित होता है, उस आश्रित से आश्रयदाता का बलवत्तर होना प्रसिद्ध ही है । कहीं भी दुर्बल बलवान् को आश्रय देते हुए नहीं दिखायी देता । "एवम्" अर्थात् इस प्रकार उक्त न्याय से यह (त्रयात्मिका) गायत्री "अध्यात्मम्" अर्थात् शरीरस्थ प्राण में प्रतिष्ठित है, वही यह गायत्री प्राण है, इसलिये गायत्री में जगत् प्रतिष्ठित है । जिस प्राण में सभी देवता एक हो जाते हैं । सभी वेद, कर्म और फल भी एकीभूत हैं; वही गायत्री प्राणस्वरूपा होकर जगत् की आत्मा है । वह यह गायत्री "गयांस्तत्रे" अर्थात् प्राणों की रक्षा करने वाली है । वे प्राण क्या हैं ? वागादि ही "गयाः" यानी प्राण हैं क्योंकि "गै शब्दे" इस प्रकार उसकी निष्पत्ति होने से) वे शब्द करते हैं । उनकी रक्षा करती है, इसलिए वह यह गायत्री है । गायत्री प्रयोक्ता के शरीर में इसने प्राणों की रक्षा की थी, इसलिये इसका नाम गायत्री है । प्राणों का त्राण करने से वह गायत्री इस नाम से प्रसिद्ध हुई । उस आचार्य ने आठ वर्ष के बालक को यज्ञोपवीत देकर उसे

---

१. उक्तन्यायेन सैषा गायत्रीत्याद्युक्तमार्गेणेत्यर्थः । २. एषा त्रैलोक्यत्रैविद्यप्राणादित्रयात्मिकेत्यर्थः । ३. प्राणे—सर्वदेवाद्यात्मके सूत्रात्मनि । ४. अतः—गायत्र्याः सूत्रप्रतिष्ठितत्वेन सूत्रात्मत्वात् । ५. गैशब्दे । ६. शब्दनिष्पत्तिहेतुत्वात् । ७. तत्र गायत्रीप्रयोक्तुः शरीरे । ८. माणवकमिति—मनोरपत्यं मानवः "ब्राह्मणमाणववाडवाद्यत्" पा. ४. २. ४२ इति सूत्रे निपातनाण्णत्वम् ततोऽल्पार्थे कन् माणवको बालकः वम् । ९. एतेन—त्रिपदा गायत्र्यधिदैवमादित्ये प्रतिष्ठिता स चाऽऽदित्योऽध्यात्मं चक्षुर्द्वारा प्राणे प्रतिष्ठित इत्युक्तप्रकारेणेत्यर्थः । १०. गायत्र्याः सूत्रात्मत्वेऽर्थो सा हैषेत्यत्रत्य सैषेते पदद्वयात्मकं वाक्यम् ।

[1]ताᳫं हैतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वागनुष्टुबेतद्वाच-
मनुब्रूम इति न तथा कुर्याद्गायत्रीमेव सावित्री-
मनुब्रूयाद्यदि ह वा अप्येवंविद्बह्विव प्रतिगृह्णाति
न हैव तद्गायत्र्या एकंचन पदं प्रति ॥ ५ ॥

कुछ शाखा वाले इस ("तत्सवितुर्वृणीमहे, वयं देवस्य भोजनं, श्रेष्ठं सर्वधातमम् । तुरं भगस्य
हि") ऐसे अनुष्टुप् छन्द वाली सावित्री का उपदेश करते हैं । वाक् अनुष्टुप् है, उस सरस्वती का
श करते हैं । ऐसा न करे; (तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्) इस
त्री का ही उपदेश करे । यदि ऐसा जानने वाला अधिक प्रतिग्रह भी करे तो भी गायत्री के एक-
के बराबर भी वह प्रतिग्रह समुदाय नहीं हो सकता ॥५॥

न्वाह पच्छोऽर्धर्चशः समस्तां च [2]एषैव सा [3]साक्षात्प्राणो जगत आत्मा माणवकाय
र्पितेहेदानीं व्याख्याता नान्या स [4]आचार्यो यस्मै माणवकायान्वाहानुवक्ति तस्य माण-
कस्य गयान्प्राणांस्त्रायते नरकादिपतनात् ॥ ४ ॥

[5]तामेतां सावित्रीं हैके शाखिनोऽनुष्टुभमनुष्टुप्छन्दस्कामन्वाहुरुपनीताय । तदभि-

---

छः पादशः । [6]सावित्र्या गायत्रीत्वं साधयति—स इति । अतः [7]सावित्री गायत्रीति शेषः ॥ ४ ॥

मतान्तरमुद्भावयति—तामेतामिति । 'तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम् । श्रेष्ठं (वै) सर्व-
तमं तुरं भगस्य धीमहि' इत्यनुष्टुभं सावित्रीमाहुः । सवितृदेवताकत्वादित्यर्थः । उपनीतस्य माण-

---

स "गायत्रीम्" अर्थात् सवितृदेवतासंबन्धी सावित्री का पहले पदशः फिर आधी ऋचा करके,
र सम्पूर्ण ऋचा का उपदेश किया था; वही यह गायत्री जो प्राण जगत् की आत्मा है, उस बटु को
समर्पण की गयी थी । उसी की यहाँ व्याख्या की गई है; दूसरी की नहीं । गायत्र्युपासक, वह
चार्य जिस बालक के लिए "अन्वाह" अर्थात् उपदेश करता है, गायत्री उस बालक के "गयान्"
र्थात् प्राणों को नरकादि पतन से बचाती है ॥ ४ ॥

कुछ शाखा वाले यज्ञोपवीतधारी बटु को "अनुष्टुभम्" अर्थात् अनुष्टुप्-प्रभव या अनुष्टुप्

---

१. मन्त्रान्तरमनूद्य दूषयति—तामित्यादिना । २. सा सावित्री एषैव गायत्र्येव । ३. एषैवेत्येतद्विवृणोति
—साक्षादित्यादिना । ४. आचार्यो गायत्र्युपासकः । ५. अत्र वार्तिकम्—"माणवकस्योपनयनसमये
वेदवादिनाम् । छन्दः प्रति विवादोऽयं तन्निर्णीतो परा श्रुतिः" ॥ ४२ ॥ इति । उपनीताय माणवकायोपदेश्यामृचि
यच्छन्दस्तत्प्रतीति यावत् । ६. सावित्रीशब्दवाच्या गायत्रीत्वम् गायत्र्येव सावित्रीशब्दवाच्येति भावः ।
७. सावित्रीशब्दार्थो गायत्र्येव मान्येति यावत् ।

❀ यदि ह वा अप्येवंविदित्यादि । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"विज्ञानपुरुषस्येदं स्वभावादेव सर्वदा ।
आत्मैव हि जगत्कृत्स्नं साधारणविशेषवत् ॥ साधारणानि वस्तूनि तथाऽसाधारणान्यपि । नानुपादाय कृत्स्नानि
जन्तोः काचित्क्रियेष्यते ॥ अभिव्यक्तेः पुराऽप्येतद्रूपमासीत्स्वभावतः । अभिव्यक्तौ तु तत्साक्षात्समष्टिव्यष्टि-

प्रायमाह—'वागनुष्टुप्[1]। वाक्व शरीरे सरस्वती तामेव हि वाचं सरस्वतीं माणवकायानुब्रूम इत्येतद्वदन्तः। न तथा कुर्यान्न तथा विद्याद्यत्त[2] आहुर्मृषैव तत्। किं तर्हि गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयात्। कस्मात्। यस्मात्प्राणो गायत्रीत्युक्तम्। प्राण [3]उक्ते वाक्च सरस्वती चान्ये च [4]प्राणाः [5]सर्वं माणवकाय समर्पितं भवति। किंचेदं प्रासङ्गिकमुक्त्वा

वकस्य प्रथमतः सरस्वत्यां वर्णात्मिकायां सापेक्षत्वं द्योतयितुं हिशब्दः। दूषयति—नेत्यादिना। नन्वपेक्षितवागात्मकसरस्वतीसमर्पणं विना गायत्रीसमर्पणमयुक्तमिति शङ्कित्वा परिहरति—कस्मादित्यादिना। यदि हेत्यादेरुत्तरस्य ग्रन्थस्याव्यवहितपूर्वग्रन्थासंगतिमाशङ्क्याऽऽह—किंचेदमिति। 'साविज्या

छन्द वाली उस सावित्री का उपदेश करते हैं। उसी अभिप्राय को श्रुति बतलाती है। वाक् अनुष्टुप् है। वाक् ही शरीर में सरस्वती है, उसी वाक्स्वरूपा सरस्वती का हम ब्रह्मचारी के लिए उपदेश करते हैं--इस प्रकार कहते हुए उपदेश करते हैं। 'न तथा कुर्यात्' अर्थात् किन्तु ऐसा नहीं समझना चाहिये। ऐसे एकशाखीय जो कहते हैं, वह मिथ्या ही है। तो फिर क्या करना चाहिये? गायत्री छन्द वाली सावित्री का ही उपदेश करे। क्यों? क्योंकि प्राण गायत्री है---ऐसा कहा जा चुका है। प्राण अर्पित कर देने पर वाक् सरस्वती और अन्य चक्षु आदि सभी प्राण बटुक को समर्पित हो जाते

---

१. वागनुष्टुबिति—वाग् वा अनुष्टुबिति श्रुतेरिति भावः। २. एके शाखिनः। ३. अर्पिते। ४. चक्षुरादयः। ५. सर्वमिति—अनुष्टुभो निर्देशे सरस्वतीमात्रं प्राप्यते गायत्रीकथने तु सर्वमपि लभ्यते तेन सैव वक्तव्येत्यर्थः। वार्तिके यथा—"यथोक्तायां हि गायत्र्यां कृत्स्नं जगदुपाहितम्। तदुक्तौ सर्वमुक्तं स्याद्यत्पुमर्थाय साधनम्" ॥ ४७ ॥ सर्वस्य जगतो गायत्र्यामुपहितत्वं प्रागुक्तमित्यर्थः। ६. सावित्रीशब्दवाच्यस्य गायत्रीत्वम्।

लक्षणम् ॥ एवं सिद्धे महिम्न्यस्मिन्यथोक्तेनैव वर्त्मना। कनीयस्ता विवृद्धिर्वा नैव संभाव्यते मितेः ॥ ऊरीकृत्येममेवार्थं स य इत्यादिनोच्यते। महाप्रतिग्रहेणापि नैवंविद्दोषमृच्छति ॥ दर्शनस्य स्तुतिरियं स य इत्यादिनोच्यते। तादृक्प्रतिग्रहस्येह न क्वचित्संभवो यतः ॥ प्रतिग्रहस्य निन्दा वा विद्वन्मानात्प्रसक्तितः। निःशेषपुण्यमोषित्वान्निषेधार्थाय कुत्स्यते" ॥ ४८-५४ ॥ इति। भूमिरित्यादिना गायत्र्युपाधिकब्रह्मोपास्तिमुक्त्वा यदि हेत्यादिपदोक्तितात्पर्यं वक्तुं भूमिकां करोति—विज्ञानेति। तत्र श्रुतिप्रसिद्ध्यर्थो हिशब्दः ॥ कथं स्वभावतः सर्वस्य जीवस्य समष्टिव्यष्ट्यात्मकत्वं तदाह—साधारणानीति। मधुब्राह्मणे प्रपञ्चितमेतदिति भावः ॥ उपास्तेरूर्ध्वं समष्टिव्यष्टिरूपता जीवस्य न प्रागिति चेत्तत्राऽऽह—अभिव्यक्तेरिति ॥ किमर्थं तर्हि ध्यानमत आह—अभिव्यक्ताविति। प्रागेव ध्यानाधीनवस्तुव्यक्तेर्ध्यातुः स्वतः समष्टिव्यष्ट्यात्मत्वेऽपि तत्कृतायां तद्व्यक्तौ ध्येयमात्मरूपमुभयात्मकमपरोक्षं भवत्यतो ध्यानमर्थवदित्यर्थः ॥ अथ फलोक्तितात्पर्यमाह—एवमिति। स्वभावतः सर्वस्य चेतनस्य समष्टिव्यष्ट्यात्मत्वमित्युक्तन्यायेनाऽऽत्मरूपे सिद्धे तस्य पूर्वोक्तनीत्या गायत्र्युपासकस्य प्रामाणिकवृद्धिहान्योरयोगाद्बहुतरप्रतिग्रहेऽप्यदोष इत्यर्थः ॥ सामान्येन गायत्रीविदः फलं विधाय विशेषतो विधातुं वाक्यमवतारयति—ऊरीकृत्येति। आत्मनः स्वतो वृद्ध्यादि नेत्युक्तं स्वीकृत्यानन्तरवाक्यं प्रतिग्रहकृतदोषाभावो विदुषो विवक्ष्यत इत्यर्थः ॥ नन्वेवमसत्प्रतिग्रहस्यापि विद्वद्विषये निर्दोषत्वप्रसक्तेः शूद्राद्युपादानकप्रतिग्रहनिषेधकशास्त्रविरोधः स्यादत आह—दर्शनस्येति। तत्र हेतुमाह—तादृगिति ॥ तात्पर्यान्तरमाह—प्रतिग्रहस्येति। विद्वानहं मम तद्बलाद्दोषः सर्वो भस्मी भवतीत्यभिमानादसत्प्रतिग्रहस्यापि प्राप्तिर्विद्वानयमिति बहुमा-

स य इमाꣳस्त्रीँल्लोकान्पूर्णान्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्प्रथमं पदमाप्नुयादथ यावतीयं त्रयी विद्या यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतद् द्वितीयं पदमाप्नुयादथ यावदिदं प्राणि यस्ताव-

जो गायत्री उपासक गौ, अश्वादि धन से पूर्ण इन भूरादि तीन लोकों का दान स्वीकार करता उसका वह दान गायत्री के इस प्रथम पाद को व्याप्त करता है, अर्थात् वह प्रतिग्रह इससे अधिक ष उत्पन्न नहीं कर सकता और जितना यह त्रयीविद्या है, जो उतना दान स्वीकार करता हो तो ह दान इस गायत्री के उस द्वितीय पाद को व्याप्त कर लेता है; तथा ये जितने प्राणी हैं, इनका दान यत्री उपासक स्वीकार करता है, वह दान इस गायत्री के इस तृतीय पाद को व्याप्त करता है र्थात् पूर्वोक्त दान पादत्रय विज्ञान के फल मात्र के नाशक हो सकते हैं, अधिक दोष उत्पन्न नही

यत्रीविदं स्तौति—यदि ह वा अप्येवंविदेवं विद्वान्बह्विव न हि तस्य 'सर्वात्मनो बहु मास्ति किञ्चित्सर्वात्मकत्वाद्विदुषः प्रतिगृह्णाति न हैव तत्प्रतिग्रहजातं गायत्र्या एकं-वनैकमपि पदं प्रति पर्याप्तम् ॥ ५ ॥

स य इमांस्त्रीन्स यो गायत्रीविदिमान्भूरादींस्त्रीन्गोश्वादिधनपूर्णाँल्लोकान्प्रतिगृह्णी-यात्स प्रतिग्रहोऽस्या गायत्र्या एतत्प्रथमं पदं 'यद्व्याख्यातमाप्नुयात्प्रथमपदविज्ञानफलं 'तेन

गायत्रीत्वमिति यावत्। इवशब्दार्थं दर्शयति—न हीति। यद्यपि बहु प्रतिगृह्णाति विद्वानिति पूर्वेण संबन्धः। तथाऽपि न 'तेन प्रतिग्रहजातेनैकस्यापि गायत्रीपदस्य 'विज्ञानफलं भुक्तं स्यात्। दूरतस्तु दोषाधायकत्वं 'तस्येत्यर्थः ॥ ५ ॥

गायत्रीविदः प्रतिगृह्णतो दोषाभावं 'सामान्येनोक्त्वा विशेषतस्तदभावमाह—स य इति।

हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रासङ्गिक चर्चा को कर अब श्रुति गायत्र्युपासक की स्तुति करती है। यदि "एवंविद्" अर्थात् इस प्रकार जानने वाला विद्वान् "बह्विव" अर्थात् प्रतिग्रह भी ले ले; क्योंकि उस उस विद्वान् के सर्वात्मक होने के कारण उस उपासक के लिए अधिक कुछ नहीं है; तो भी वह प्रतिग्रहसमूह गायत्री के एक पाद के लिए भी पर्याप्त नहीं है ॥ ५ ॥

"स य इमाꣳस्त्रीँल्लोकान्" अर्थात् जो गायत्र्युपासक गो-अश्वादि धन से पूर्ण इन भूर्लोकादि तीन लोकों का प्रतिग्रह लेता है, वह प्रतिग्रह इस गायत्री के प्रथम पाद को व्याप्त करता

---

१. उपासकस्य। २. एतत्पदं व्याख्याति – यदिति। ३. प्रतिग्रहेण। ४. बहुना। ५. उपासन-फलम्। ६. प्रतिग्रहस्य। ७. यदि ह अप्येवंविदित्यादिवाक्येन।

प्रतिग्रहो निन्द्यते नाद्वा तस्मै बहुदानं प्राप्तं न च ब्रह्मसाक्षात्कारादृते सर्वदोषनिर्वर्हि किंचिदस्त्यतोऽनेन व्याजेन श्रेयानिति भावः। त्रैलोक्यादिपरिमितद्रव्यप्रतिग्रहकृतो भोगो न गायत्रीपदमात्रधीफलेनापि तुल्यस्तस्य प्रतिग्रहः किमर्थमिति स निन्द्यते तत्राऽऽह—निःशेषेति ॥

त्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्तृतीयं पदमाप्नुया[1]दथास्या एतदेव तुरीय दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केनचनाऽऽप्यं कुत उ एतावत्प्रतिगृह्णीयात् ॥ ६ ॥

कर सकते। ऐसी कल्पना गायत्री उपासना की स्तुति के लिए की गई है)। एवं यही इसका तुरीय दर्शत परोरजा पद है। जो यह अन्तरिक्ष में तपता है, यह किसी के प्राप्त करने के योग्य नहीं है क्योंकि इतना दान कोई वहाँ से कर सकता है (दान के अभाव में प्रतिग्रह का तो प्रसङ्ग ही नहीं होता, तात्पर्य यह है कि इस त्रिपद गायत्री की ही उपासना करना चाहिये)॥ ६ ॥

भुक्तं स्यान्न त्वधिकदोषोत्पादकः स प्रतिग्रहः। अथ पुनर्यावतीयं त्रयी विद्या प्रसिद्धा तावत्तदवच्छिन्नं वस्तु यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतद्द्वितीयं पदमाप्नुयात्। द्वितीयपदविज्ञानफलं तेन भुक्तं स्यात्। तथा यावदिदं प्राणि यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एत-

---

यथा त्रैलोक्या[2]वच्छिन्नस्य [3]त्रैविद्यावच्छिन्नस्य चार्थस्य प्रतिग्रहेण पादद्वयविज्ञानफलमेव भुक्तं नाधिकं दूषणं तथेति यावत्। प्रतिग्रहीता दाता वा नैवंविधः सभाव्यते किंतु स्तुत्यर्थं श्रुत्यैतत्कल्पितमित्याह—

है, जिसकी व्याख्या की जा चुकी है। अर्थात् उस प्रतिग्रह के द्वारा केवल प्रथम पाद के विज्ञान का फल भोगा जाता है, वह प्रतिग्रह उससे अधिक दोष का उत्पादक नहीं है। "अथ" अर्थात् तथा जितनी यह प्रसिद्ध त्रयीविद्या है, जो उतना प्रतिग्रह लेता है; वह इस गायत्री के उस प्रतिग्रह द्वारा द्वितीय पाद को व्याप्त करता है। उस प्रतिग्रह के द्वारा केवल द्वितीय पाद के विज्ञान का फल भोगा

---

[1] तुरीयपादविज्ञानफलस्य समष्टिरूपस्य प्राणस्य क्षयस्तु संभावितुमपि न शक्यते अनन्तत्वादित्याह—अथेत्यादिना। [2] घटकस्य। [3] त्रैविद्यप्रतिपाद्यस्य।

❀ अथास्या एतदेवेत्यादि। अत्राहुर्वार्तिककारपादास्तथाहि—"अन्तरङ्गविभक्तस्य यथोक्तैः स्यात्प्रतिग्रहैः। क्षयो नानन्तरूपस्य स्यात्समष्टिवपुर्भृतः॥ परिच्छिन्नेन सर्वत्र प्रतिमानं जगत्यपि। अन्तवद्विषयं दृष्टं न त्वनन्तस्य कुत्रचित्॥ अयं चानन्तमात्मानमक्षिसूर्यव्यवस्थितम्। अगादुपासनात्प्राणमात्मत्वेन दिवानिशम्॥ संभाव्यते क्षयस्तस्य न कुतश्चिदनन्ततः। अन्तवान्क्षीयते लोके न त्वनन्तः कुतश्चन॥ आवृत्ति क्षयशब्देन दुःखप्रायासु भूमिषु। कैवल्यावसितेर्नामौ स्यात्समष्टिवपुर्भृतः" ॥ ६२-६६ ॥ अण्डस्यान्तरित्यन्तरण्डोऽत्र एव विभक्तः परिच्छिन्नः पाठान्तरे शरीरस्थैः पाणिपादादिभिरङ्गैर्विभक्तः परिच्छिन्नोऽनुपासकस्तस्येत्यर्थः। चतुर्थपादज्ञानफलभूतस्योपासकस्यानन्त्यात्तत्क्षयो न संभवतीति यावत्॥ इतश्च तत्क्षयो नास्तीत्याह—परिच्छिन्नेनेति। सर्वत्रापि जगति घटादिवन्नश्यति स्वर्गादीति परिच्छिन्नेनान्तवद्विषयमुपासनमुपलब्धं न च चतुर्थपादधीफलस्यानन्तस्य क्षये दृष्टान्तोऽस्तीत्यर्थः॥ तदानन्त्यमसिद्धं ब्रह्मज्ञानफलातिरिक्तत्वात्स्वर्गादिवदित्याशङ्क्याऽऽह—अयं चेति। दिवानिशमात्मत्वेनोपासनादयमुपासकोऽनन्तं प्राणमात्मानमगादिति संबन्धः॥ उपास्तिफलानन्त्ये सिद्धं निगमयति—संभाव्यत इति। तदुपपादयति—अन्तवानिति॥ क्षयशब्दार्थोक्तिपूर्वकं फलावस्थोपासितुस्तदभावे हेत्वन्तरमाह—आवृत्तिरिति॥

तीयं पदमाप्नुयात् । तेन तृतीयपदविज्ञानफलं भुक्तं स्यात्[1] । कल्पयित्वेदमुच्यते । पाद-
यसममपि यदि कश्चित्प्रतिगृह्णीया[2]त्तत्पादत्रयविज्ञानफलस्यैव क्षयकारणं न त्वन्यस्य
षस्य [3]कर्तृत्वे क्षमम् । न चैवं दाता प्रतिग्रहीता वा [4]गायत्रीविज्ञानस्तुतये कल्प्यते ।
ता प्रतिग्रहीता च यद्यप्येवं[5] संभाव्यते नासौ प्रतिग्रहोऽपराधक्षमः । कस्माद्यतोऽभ्यधिक-
पि पुरुषार्थविज्ञानमवशिष्टमेव चतुर्थपादविषयं गायत्र्यास्तद्दर्शयति । अथास्या एतदेव
रीयं दर्शतं परोरजा य एष तपति । [6]तच्चैतन्नैव केनचन केनचिदपि प्रतिग्रहेणाऽऽप्यं नैव
प्यमित्यर्थः । यथा पूर्वोक्तानि त्रीणि पदानि । [7]एतान्यपि नैवाऽऽप्यानि केनचित्कल्पयि-
त्वमुक्तं परमार्थतः कुत उ एतावत्प्रतिगृह्णीयात्त्रैलोक्यादिसमम्[8] । [9]तस्माद्गायत्र्येवं-

---

यित्वेति । [10]उक्तमेव संगृह्णाति–पादत्रयेति । कल्पयित्वेदमुच्यत इति किमिति कल्प्यते मुख्यमेवं[11]त-
न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । कल्पनाऽपि [12]तर्हि किमर्थेत्याशङ्क्याऽऽह–गायत्रीति । [13]अङ्गी-
त्तरवाक्यमुत्थापयति—दातेति । [14]तदेवाऽऽकाङ्क्षापूर्वकमाह– कस्मादिति । [15]वागात्मकपदत्रय-
ानफलभोगोक्त्यानन्तर्यमथशब्दार्थः । नैव प्राप्यं प्रतिग्रहेण केनचिदपि नैव भुक्तं स्यादित्यर्थः ।
त्रैव वैधर्म्यदृष्टान्तमाह—यथेति । [17]तानि प्रतिग्रहेण यथा[18]ऽऽप्यानि न तथैतदाप्यमित्यर्थः । कुत
ादिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—एतान्यपीति । गायत्रीविदः स्तुतिरुक्ता तत्फलमाह—तस्मादिति ।

ता है । तथा इतना प्रतिग्रह लेता है, जितने यहाँ प्राणी हैं; वह इस गायत्री के तृतीय पाद को व्याप्त
रता है । उस प्रतिग्रह के द्वारा केवल तृतीय पाद के विज्ञान का फल भोगा जाता है, (वह इससे
धिक दोषोत्पादक नहीं है) । यह बात कल्पना करके कही गयी है । यदि कोई गायत्री के पादत्रय
समान भी प्रतिग्रह करे तो उसका वह प्रतिग्रहण पादत्रयविज्ञान के फल मात्र का क्षय करने का
कारण हो सकता है किन्तु और कोई दोष उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकता । न ही केवल
यत्रीविज्ञान की स्तुति के लिए दाता या प्रतिग्रहीता की कल्पना की गयी है । यद्यपि उक्तविध
ता और प्रतिग्रहीता संभव हो सकता है; किन्तु यह प्रतिग्रह दोषकारक नहीं है । ऐसा क्यों है ?
योंकि गायत्री के चतुर्थ पाद का विषयभूत पुरुषार्थ विज्ञान है, जो इससे भी अधिक है, उसका
ाख्यान अभी बाकी ही है; उसे श्रुति प्रदर्शित करती है । और यह जो तपता है. वही इस गायत्री
तुरीय दर्शत परोरजा पाद है । (चतुर्थपादविज्ञान का फल यह है कि) यह "केनचन" अर्थात्
सी भी प्रतिग्रह से "आप्यं नैव" अर्थात् प्राप्य नहीं है, जो पहले तीनों पाद बतलाये गये हैं । यह
न पाद भी किसी से प्राप्य नहीं हैं, कल्पना मात्र हैं, यह कहा गया है । वास्तव में त्रैलोक्यादि के

---

१. नत्वधिकदोषोत्पादक स इत्यनुवर्तते । २. प्रतिग्रहणम् । ३. जनने । ४. गायत्रीति—उक्तपादेष्वपि
ज्ञानं नैवालमपबाधितुम् । गायत्रीवेदिनो जन्तोरपि भूयान्प्रतिग्रह इति । ५. उक्तविधः । ६. चतुर्थपाद-
विज्ञानफलं च । ७. त्रीण्यपि पदानि । ८. प्रतिग्राह्यं वस्तु । ९. तस्मात्—गायत्रीविज्ञानस्य यथोक्त-
फलत्वात् । १०. स य इमानित्यादिनोक्तमर्थजातम् । ११. फलम् । १२. तर्हि—तादृशदातृप्रतिग्रही-
त्रोरभावे सति । १३. अङ्गीकृत्य—एतादृशदातृप्रतिग्रहीतारावभ्युपेत्य । १४. अपराधाक्षमत्वमेव । १५.
अभिधानात्मकेत्यर्थः । १६. चतुर्थपादविज्ञानफलस्याक्षयत्वे एव । १७. पदानि । १८. भुक्तानि ।

तस्या॰ उपस्थानं गा[illegible]त्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे। नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदो

उस गायत्री का इस मन्त्र से उपस्थान किया जाता है। हे गायत्री ! तू त्रैलोक्य रूप प्रथम पाद से एकपदी है, त्रयीविद्या रूप द्वितीय पाद से द्विपदी है और प्राणादि रूप तृतीय पाद से त्रिपदी है तथा तुरीय पाद से चतुष्पदी है। वस्तुतः निरुपाधिक होने से तू अपद है अर्थात् तेरा कोई पद नहीं है, जिससे तू जानी जा सकती है। अतः व्यवहार से अतीत संपूर्ण लोकों से ऊपर विद्यमान तेरे दर्शन के योग्य तुरीय पद को नमस्कार है। यह पापरूपी शत्रु इस विघ्न बाधा रूप कार्य में सफलता प्रा

प्रकारोपास्येत्यर्थः ॥ ६ ॥

तस्या उपस्थानं तस्या गायत्र्या उपस्थानमुपेत्य स्थानं नमस्करणमनेन [1]मन्त्रेण। कोऽसौ मन्त्र इत्याह—हे गायत्र्यसि त्वं भवसि [2]त्रैलोक्यपादेनैकपदी। त्रयीविद्यारूपेण द्वितीयेन द्विपदी। [3]प्राणादिना तृतीयेन त्रिपद्यसि। [4]चतुर्थेन तुरीयेण चतुष्पद्यसि। एवं चतुर्भिः पादैरुपासकैः पद्यसे ज्ञायसेऽतः परं परेण निरुपाधिकेन स्वेनाऽऽत्मनाऽपदसि।

एवंप्रकारा पादचतुष्टयरूपा सर्वात्मिकेत्यर्थः ॥ ६ ॥

[5]प्रकृतमुपासनमेव मन्त्रेण संगृह्णाति—तस्या इत्यादिना। ध्येयं रूपमुक्त्वा ज्ञेयं गायत्र्या रूपमुपन्यस्यति—अतः परमिति। चतुर्थस्य पादस्य पादत्रयापेक्षया [6]प्राधान्यमभिप्रेत्याऽऽह—अत इति।

समान प्रतिग्राह्य वस्तु को कोई कहाँ से प्रतिग्रहण करेगा। इसलिये (गायत्री विज्ञान के यथोक्त फल से) गायत्री की इस प्रकार उपासना करनी चाहिये ॥ ६ ॥

गायत्री उपासक के द्वारा उस गायत्री का "उपस्थानम्" अर्थात् उपासना या नमस्कार इस मन्त्र से करना चाहिये। वह मन्त्र कौन सा है ? उसे श्रुति बतलाती है—हे गायत्री ! तुम त्रैलोक्यात्मक रूप प्रथम पाद से एकपदी हो, त्रयीविद्यारूप द्वितीय पाद से द्विपदी हो, प्राणाद्यात्मक तृतीय पादसे त्रिपदी हो, मण्डलान्तर्गत पुरुष रूपसे चतुर्थ पाद द्वारा तुम चतुष्पदी हो; इस प्रकार चार पदों से तुम उपासकों के द्वारा "पद्यसे" अर्थात् जानी जाती हो। इससे परे तुम अपने सर्वोत्तम निरुपाधिक स्वरूप से अपद हो। तुम्हारा

---

[1] मन्त्रेणेति—कर्तव्यं गायत्र्युपासकेनेति शेषः। अत्र वार्तिके—"उपस्थानं यथोक्ताया गायत्र्याः श्रद्धयाऽन्वितः। गायत्र्यसीतिमन्त्रेण कुर्यादुक्तार्थवित्सदा" ॥ ६७ ॥ इति। गायत्र्युपस्थाने तदुपासकस्याधिकारं सूचयति—उक्तेति। तदुपस्थाने याहच्छिकत्वं वारयति—सदेति। [2] त्रैलोक्यात्मकेन प्रथमेन पादेन। [3] प्राणाद्यात्मकेन। [4] चतुर्थेनेति—मण्डलान्तर्गतपुरुषरूपेणेत्यर्थः। [5] उक्तविज्ञानसंग्राहकोऽयं मन्त्र ऐहिकादिफलोपायकथनार्थं इत्यभिप्रेत्य तद्भाष्यमवतारयति—प्रकृतमिति। [6] नमस्तेऽस्तु तुरीयायेत्युक्त्या तुर्यप्रधानतां गुणभावं यथोक्तस्य विद्यात्पादत्रयस्य तु।

मा प्रापदिति यं द्विष्यादसावस्मै कामो मा
समृद्धीति वा न हैवास्मै स कामः समृध्यते
यस्मा एवमुपतिष्ठतेऽहमदः प्रापमिति वा ॥ ७ ॥

करें। एवं यह उपासक जिससे द्वेष करता हो, उसकी कामना पूर्ण न हो। इस प्रकार मन्त्र पढ़ कर त्री का उपस्थान करे। इस प्रकार जिसके लिये उपस्थान किया जाता है, उसका अभीष्ट कभी नहीं होता। अथवा मैं इसे प्राप्त करूँ, ऐसी कामना से गायत्री का उपस्थान करे (वहाँ पर उक्त पदों का उपासक को इच्छानुरूप विकल्प हो सकता है) ॥ ७ ॥

विद्यमानं पदं यस्यास्तव [1]येन पद्यसे सा त्वमपदसि [2]यस्मान्नहि पद्यसे नेति नेत्यात्मत्। [3]अतो व्यवहारविषयाय नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोजसे। असौ शत्रुःमा त्वत्प्राप्तिविघ्नकरोऽदस्तदा[4]त्मनः कार्यं यत्त्वत्प्राप्तिविघ्नकर्तृ त्वं मा प्रापन्मैवप्नोतु। इतिशब्दो [5]मन्त्रपरिसमाप्त्यर्थः। यं द्विष्याद्यं प्रति द्वेषं कुर्यात्स्वयं विद्वांस्तं[6]त्यनेनोपस्थानमसौ शत्रुरमुकनामेति नाम गृह्णीयादस्मै[7] [8]यज्ञदत्तायाभिप्रेतः कामो मा

णोक्तनमस्कारस्य प्रयोजनमाह—असाविति। [9]द्विविधमुपस्थानमाभिचारिकमाभ्युदयिकं च तत्राऽऽद्यं धा व्युत्पादयति—यं द्विष्यादिति। नाम गृह्णीयात्तदीयं नाम गृहीत्वा च [10]तदभिप्रेतं मा प्रापदित्यने-

---

सा कोई पद नहीं है जिससे तुम्हारा ज्ञान हो, इसलिये तुम अपद हो क्योंकि नेति-नेति स्वरूप ली (अनन्त) होने के कारण तुम्हारा ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये (तुरीय से परे जानना संभव होने एवं तुरीय का प्राधान्य होने के कारण) व्यवहार के विषय तुम्हारे तुरीय दर्शत रोरजा पद को नमस्कार है। यह शत्रु पाप तुम्हारी प्राप्ति में विघ्न करने वाला है। "अदः" अर्थात् ह तेरी प्राप्ति में विघ्नकारी पापकार्य को "मा प्रापन्" अर्थात् प्राप्त न हो। 'इति' शब्द पापक्षयफल के उपस्थान मन्त्र की समाप्ति के लिये है। "यं द्विष्यात्" अर्थात् यह विद्वान् उपासक जिस के प्रति द्वेष करता हो, उस शत्रु को निमित्त करके उसके विघात के लिए उपस्थान है। "असौ" अर्थात् यह अमुकनामा शत्रु है—इस प्रकार उसका नाम ग्रहण करे। "अस्मै" अर्थात् शत्रु यज्ञदत्त के

---

२. यस्मान्नहीत्यादि। अत्र
१. पदमित्युक्तमेव पद व्युत्पादयति—येन पद्यस इति पद्यसे ज्ञायसे। न ह्यन्ततस्तेऽधिगम्यते" ॥ ६९ ॥
वार्तिके—"अपदसीत्यपि गिरा तस्या आनन्त्यमुच्यते। अन्वया चाक्षयाऽसीति स्वस्य पाप्मनः। ५. मन्त्रेति
इति। ३. अतः—तुरीयादूर्ध्वमनधिगमात्तुर्यस्य च प्राधान्यादित्यर्थः। ४. तदभिप्रेतविघातायेति यावत्।
—पापक्षयफलोपस्थानमन्त्रेत्यर्थः। ६ तं प्रतीति—तं शत्रुं निमित्तीकृत्येत्यर्थः। ८. शत्रवे। ९. पाप-
७. संप्रत्यभिचारिकोपस्थानस्य द्वितीयव्युत्पादनं दर्शयति—अस्मा इत्यादिना। यं द्विष्यादित्यादिभाष्य-
क्षयमात्रप्रयोजनमुपस्थानसामान्यमुक्त्वा संप्रति विशेषत उपस्थानद्वयं विविनक्तीत्यभिप्रेत्य अनेनाभिप्रेतस्य वस्तुनो
मवतारयति—द्विविधमित्यादिना। १०. तदभिप्रेतमिति—तद् अमुकमित्यर्थः।
विद्वज्ज्ञातत्वं सूच्यतेऽहमदः प्रापमित्यत्र ज्ञातत्वस्योपयोगादिति भावः।

एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिलमाश्वतराश्विमुवाच यन्नु हो तद्गायत्रीविदब्रूथा अथ कथꣳ हस्तीभूतो वहसीति मुखꣳ ह्यस्याः सम्राण्न विदांचकारेति होवाच तस्या अग्निरेव मुखं

उस गायत्री विज्ञान के विषय में विदेहराज जनक ने अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल से यही बात कही थी कि तूने जो अपने को गायत्रीतत्त्व का ज्ञाता बतलाया था तो फिर भला प्रतिग्रह दोष के कारण हाथी बनकर भार क्यों ढोता है। इस पर बुडिल ने कहा—हे राजन्! मैं इस गायत्री का मुख नहीं जानता था (अर्थात् एक अङ्ग को न जानने के कारण मेरा गायत्री विज्ञान निष्फल हो गया है)। तब जनक ने कहा—अग्नि ही इसका मुख है, यदि लौकिक पुरुष अग्नि में बहुत-सा ईंधन डाल देवें

समृद्धि समर्द्धि मा प्राप्नोत्विति[1] वोपतिष्ठते। न हैवास्मै देवदत्ताय स कामः समृध्यते। कस्मै। एवमुपतिष्ठते। अहमदो देवदत्ताभिप्रेतं [2]प्रापमिति वोपतिष्ठते। [3]असावदो मा प्रापदित्यादित्रयाणां मन्त्रपदानां यथाकामं विकल्पः ॥ ७ ॥

[4]गायत्र्या मुखविधानायार्थवाद उच्यते—एतद्ध किल वै स्मर्यते। तत्तत्र गायत्रीविज्ञानविषये जनको वैदेहो बुडिलो नामतोऽश्वतराश्वस्यापत्यमाश्वतराश्विस्तं किलोक्तवान्। यन्नु इति वितर्के हो [5]अहो इत्येत[6]त्तद्यत्त्वं गायत्रीविदब्रूथा गायत्रीविदस्मीति

नोपस्थानमिति संबन्धः। आभ्युदयिकमुपस्थानं दर्शयति—अहमिति। [7]'कीदृगुपस्थानमन्त्र' मन्त्रपदेन कर्तव्यमित्याशङ्क्य यथारुचि विकल्पं दर्शयति—असाविति ॥ ७ ॥

किं तद्गायत्रीविज्ञानप्रतिकूलमुपलभ्यते तदाह—अथेति। [9]'पूर्वापरविरोधावद्योतको-

---

लिए "कामो मा समृद्धि" अर्थात् अभिप्रेत कार्य समृद्धि को प्राप्त न हो, इस प्रकार मन्त्र से उपस्थान किया जाता है। ऐसा करने से इस देवदत्त की मनोकामना पूर्ण नहीं होती है। किसके लिए? जिसके उद्देश्य से इस प्रकार उपासना करता है—मैं यह देवदत्त की अभीष्ट प्राप्त कर लूँ, इस प्रकार उपस्थान करता है। "जिसे यह द्वेष करता है", "मन इच्छित" और "प्राप्त हो" इन तीन मन्त्र पदों का उपासक की कामनानुसार विकल्प हो सकता है ॥ ७ ॥

गायत्री का मुखविधान के लिए अर्थवाद कहा जाता है—इस गायत्री के विषय में इस प्रकार स्मरण किया जाता है। अश्वतराश्व के पुत्र आश्वतराश्वि बुडिल नाम के थे। विदेहराज जनक

---

१. मन्त्रेण। २. प्राप्नुयाम्। ३. असाविति—पूर्वमन्त्राद"दो मा प्रापदि"त्यस्यानुवर्त्यं "यं द्विष्याद-सावि"त्यसौशब्देनान्वयान्निष्पन्नो "योऽसावदो मा प्रापदिति" मन्त्रस्तदादित्रयाणामित्यर्थः। ४. एतद्धेत्यादेस्तात्पर्यमाह—गायत्र्या इति। ५. आश्चर्यमित्यर्थः। ६. तद्यत्त्वमित्यादि—तत्प्रसिद्धं तदानींतनं वा गायत्रीविदस्मीति यद्वचनमब्रूथास्तस्य वचसोऽननुरूपं प्रतिकूलमिदमाचरणं किं किमितीत्यर्थः। ७. कीदृक्—आभिचारिकमाभ्युदयिकं वा। ८. अत्र— आभिचारिकाभ्युदयिकयोर्मध्ये। ९. पूर्वेति—पूर्वं गायत्रीवित्त्व-वचनमपरं हस्तीभूत्वा वहनं तयोर्विरोधावद्योतीत्यर्थः।

यदि ह वा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधति’ सर्वमेव तत्संदहत्येवꣳ हैवैवंविद्यद्यपि बह्विव पापं कुरुते सर्वमेव तत्संप्साय शुद्धः पूतोऽजरोऽमृतः संभवति ॥ ८ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य षोडशं ब्राह्मणम् ॥ ८ ॥

वह अग्नि सभी को भस्म कर देती है। इसी प्रकार जो ऐसा जानता है, वह प्रतिग्रहादि बहुत-सा
करता रहा हो तो भी वह उस सबको भक्षण करके शुद्ध, पवित्र, अजर और अमर हो जाता है
र्तात् उक्त विज्ञान वाला गायत्री उपासक अग्नि के समान प्रतिग्रह दोष से लिपायमान नहीं
ता ॥ ८ ॥

॥ इति षोडशं ब्राह्मणम् ॥

द्ब्रूथाः किमिदं तस्य वचसोऽननुरूपम् । अथ कथं यदि गायत्रीवित्प्रतिग्रहदोषेण हस्ती-
तो वहसीति । स प्रत्याह राज्ञा स्मारितो मुखं गायत्र्या हि यस्मादस्या हे सम्राण्न
विदांचकार न विज्ञातवानस्मीति होवाच । एकाङ्गविकलत्वाद्गायत्रीविज्ञानं ममाफलं
ातम् । शृणु तर्हि तस्या गायत्र्या अग्निरेव मुखम् । यदि ह वा अपि बह्विवेन्धन-
ानावभ्यादधति लौकिकाः सर्वमेव तत्संदहत्येवेन्धनम’ग्निरेवं हैवैवंविद्गायत्र्या अग्नि-

---

थशब्दः । 'तथाऽपि गायत्रीविज्ञानस्य फलवत्त्वे सति प्रतिकूलमिदं हस्तीभूतस्य तव मां प्रति वहन-
त्याशङ्क्याऽऽह—एकाङ्गेति । राजा ब्रूते—शृण्विति । मुखविज्ञानस्य दृष्टान्तावष्टम्भेन फलमा-
ष्टे—यदीत्यादिना । इवशब्दोऽवधारणार्थः । पापसंस्पर्शराहित्यं शुद्धिस्तत्फलासंस्पर्शस्तु पूततेति

गायत्रीविज्ञान के विषय में बुडिल से कहा था। "यत्" और 'नु' अव्यय वितर्क अर्थ में हैं अर्थात्
हो बड़ा आश्चर्य है ! तुमने जो अपने को "गायत्रीविदब्रूथाः" अर्थात् 'मैं गायत्री को जानने वाला हूँ'
सा कहा था, तो तुम्हारे वचन के अनुरूप क्यों नहीं है। यदि गायत्री के जानने वाले हो तो
तिग्रह दोष से क्यों हाथी होकर भार ढोते हो ? राजा के द्वारा स्मरण दिलाये जाने पर बुडिल
उनसे कहा—हे सम्राट् ! क्योंकि मैं इस गायत्री का मुख "न विदाञ्चकार" अर्थात् नहीं जानता।
क यानी प्रधान अङ्ग से रहित हो जाने के कारण मेरा गायत्री विज्ञान विफल हो गया है। (तब
जा जनक ने कहा—) तो सुनो ! उस गायत्री का अग्नि ही मुख है। यदि लौकिक पुरुष अग्नि में
हुत सी लकड़ियाँ भी डालें, उन सब लकड़ियों को जिस प्रकार अग्नि भस्म कर देता है, इसी प्रकार
"एवंविद्" अर्थात् 'गायत्री का मुख अग्नि है' इस प्रकार जो जानता है, तथा स्वयं अग्निमुख होकर

---

१. अग्निरिति—यथेति शेषः । २. अथशब्द इति तर्हीत्यर्थक इति शेषः । २. तथाऽपि—तदीयमुखविज्ञानाभावेऽपीत्यर्थः ।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य सप्तदशं ब्राह्मणम् ।)

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् । तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये । पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् । समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि । [1]योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि । वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ

आदित्य मण्डलस्थ सत्य ब्रह्म का द्वार (स्वर्ण के समान चमकीले व्यष्टि और समष्टि अहङ्कार-रूप) ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। अतः हे पूषन् ! मुझ सत्य धर्म जिज्ञासु को उस सत्यात्मा ब्रह्म का दर्शन कराने के लिए तू उस आवरण को हटा दे। हे जगत्पोषक ! हे एकर्षे ! हे सूर्य ! हे प्राजापत्य ! तू अपने किरणों को हटा ले और तेज को समेट ले। जिससे कि तेरा जो अतिशय कल्याणमय रूप है, उसे मैं देख सकूँ। यह जो आदित्य मण्डलस्थ पुरुष है, वही मैं हूँ। अब मेरा प्राण (आध्यात्मिक-वायु) आधिदैविक-वायु रूप सूत्रात्मा को प्राप्त हो और यह शरीर भस्मान्त

मुखमित्येवं वेत्तीत्येवंवित्स्यात्स्वयं गायत्र्यात्माऽग्निमुखः सन् । यद्यपि बह्विव पापं कुरुते प्रतिग्रहादिदोषं तत्सर्वं पापजातं संप्साय भक्षयित्वा शुद्धोऽग्निवत्पूतश्च तस्मात्प्रतिग्रहदोषाद्गायत्र्यात्माऽजरोऽमृतश्च संभवति ॥ ८ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य षोडशं ब्राह्मणम् ॥ १६ ॥

[2]यो ज्ञानकर्मसमुच्चयकारी सोऽन्तकाल आदित्यं प्रार्थयति । अस्ति च [3]प्रसङ्गो

भेदः । गायत्रीज्ञानस्य क्रममुक्तिफलत्वं दर्शयति—गायत्र्यात्मेति ॥ ८ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य षोडशं ब्राह्मणम् ॥१६॥

ब्राह्मणान्तरस्य तात्पर्यमाह—यो ज्ञानकर्मेति । आदित्यस्याप्रस्तुतत्वात्कथं तत्प्रार्थनेत्या-

गायत्रीमय हो गया है, वह यद्यपि प्रतिग्रहादि दोष वाले बहुत से पाप करता है, उस सब पापसमूह को 'संप्साय' अर्थात् भक्षण करके अग्नि के समान शुद्ध प्रतिग्रह दोष से पवित्र होकर वह गायत्रीमय उपासक अजर और अमर हो जाता है ॥ ८ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्थ सोलहवें ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ १६ ॥

जो ज्ञान और कर्म का समुच्चय करने वाला है, वह अन्त समय में आदित्य की प्रार्थना करता

---

[1] योऽसावसाविति—अत्रत्यवार्तिकतट्टीकापर्यालोचनया तु योऽसावादित्ये पुरुष इति पाठः प्रतीयते । यथाश्रुतपाठे तु योऽसौ भूर्भुवःस्वरितिव्याहृत्यवयवकोऽसावादित्यस्थ इत्यर्थोऽवसेयः । [2] गायत्र्युपासनं तदुपस्थानं च सफलमुक्त्वा समुच्चयकारिणः सावित्रमाग्नेयं चोपस्थानं वक्तुं ब्राह्मणान्तरमित्याह—य इति । [3] प्रसङ्ग आदित्यस्येति शेषः ।

शरीरम् । ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर। अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य सप्तदशं ब्राह्मणम् ॥१७॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमोऽध्याय ॥५॥
बृहदारण्यकक्रमेण सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

ज।वे । हे मेरे सङ्कल्प-विकल्पात्मक-मन ! अब तू मेरे स्मरण के योग्य शुभ कर्म का स्मरण कर । ओम् ! हे क्रतो ! मेरे किये हुए का स्मरण कर। अब तू स्मरण कर। अपने किये हुए का स्मरण (क्योंकि स्मरण का समय आ गया है) । हे अग्नि ! हमें अपने कर्म फल भोग के लिये शुभमार्ग ले चलो । हे देव ! तू हमारे सम्पूर्ण ज्ञान एवं कर्म को जानने वाला है । अतः हमारे कुटिल कर्मों को से पृथक् कर दो । इस समय हम मरणासन्न हैं, तेरी अन्य कोई सेवा नहीं कर सकते हैं । अतः हम ी अनेकों नमस्कारमात्र से परिचर्या करते हैं ॥ १ ॥

॥ इति पञ्चमाध्यायः,सप्तदशं ब्राह्मणम् ॥

यत्र्यास्तुरीयः [1]पादो हि सः । तदुपस्थानं प्रकृतम[2]तः स एव प्रार्थ्यते । हिरण्मयेन ोतिर्मयेन मण्डलेन पात्रेण [3]यथा पात्रेणेष्टं वस्त्वपिधीयत एवमिदं सत्याख्यं [4]ब्रह्म ोतिर्मयेन मण्डलेनापिहितमिवासमाहितचेतसामदृश्यत्वा[5]त्तदुच्यते । [6]सत्यस्यापिहितं

ङ्क्याऽऽह—अस्ति चेति । [7]तथाऽपि कथमादित्यस्य प्रसङ्गस्तत्राऽऽह—तदुपस्थानमिति । नमस्ते ोयायेति हि दर्शितमित्यर्थः । आदित्यस्य प्रसङ्गे सति फलितमाह—अत इति । समाहितचेतसां यततां दृश्यत्वान्नापिहितमेव किंतु पिहितमिवेत्यत्र हेतुमाह—असमाहितेति । [8]जगतः पोषणाद्धर्म-

। यहाँ आदित्य का प्रकरण तो है क्योंकि वह गायत्री का चतुर्थ पाद है । उसके उपस्थान का प्रसङ्ग इसलिए सूर्य की इस प्रकार प्रार्थना की जाती है। “हिरण्मयेन” अर्थात् ज्योतिर्मय मण्डलरूप त्र से; जिस प्रकार पात्र से अभिलषित वस्तु ढकी जाती है, उसी प्रकार यह सत्यात्मक ब्रह्म सूर्य ोतिर्मय मण्डल से ढका हुआ है क्योंकि असमाहित चित्त वाले पुरुषों के लिए वह अदृश्य है । यही बात

ब्रह्मलोकमार्गद्वारत्वेनापि तस्य प्रस्तुतत्वमित्यपि द्रष्टव्यमित्याहुः ।

१. पादो हीति— स आदित्यमागच्छतीति ब्रह्मलोकमार्गद्वारत्वेनापि तस्य प्रस्तुतत्वमित्यपि द्रष्टव्यमित्याहुः । ३. तदुपस्थानोक्तिर्गायत्र्युपासनावसाने युक्तैवेति भावः ।

२. अतः—यथोक्तरीत्याऽऽदित्यस्य प्रस्तुतत्वात् तदुपस्थानोक्तिर्गायत्र्युपासनावसाने युक्तैवेति भावः । ४. रविः । ५. तदिति अपिहितमित्यर्थं पात्रवदाच्छादकेन दर्शनप्रतिबन्धकीभूतेनेत्यभिप्रेत्याह— यथेति । ४. रविः । ५. तदिति अपिहितमित्यर्थं

पात्रवदाच्छादकेन दर्शनप्रतिबन्धकीभूतेनेत्यभिप्रेत्याह— यथेति । ४. रविः । ५. तदिति अपिहितमित्यर्थं

इत्याहुः । न्याय्यं ब्रह्म । ६. सत्यस्य ब्रह्मणो रवेः । ७. तथाऽपि—गायत्र्यास्तुरीयपादत्वेऽपि । ८.

“जगत्पुष्णाति वृष्ट्याद्यैः पूषाऽऽदित्यस[illegible] स्मृतः” इति वार्तिके ॥ ४ ॥

[1]मुखं मुख्यं स्वरूपं तद्[2]पिधानं पात्रमपिधानमिव दर्शनप्रतिबन्धकारणं [3]तत्त्वं हे पूषञ्जगतः पोषणात्पूषा सवित्राऽपावृण्वपावृतं कुरु दर्शनप्रतिबन्ध[4]कारणमपनयेत्यर्थः। [5]सत्यधर्माय सत्यं धर्मोऽस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै[6] त्वदात्मभूतायेत्यर्थः। दृष्टये दर्शनाय। पूषन्नित्यादीनि नामान्या[7]मन्त्रणार्थानि सवितुः। एकर्ष एकश्चासावृषिश्चैकर्षिर्दर्शनादृषिः। स हि सर्वस्य जगत आत्मा चक्षुश्च सन्सर्वं पश्यत्येको वा गच्छतीत्येकर्षिः "सूर्य एकाकी चरति" इति मन्त्रवर्णात्। यम सर्वं हि जगतः संयमनं त्वत्कृतम्। सूर्य [8]सुष्ठ्वीरयते तोयादीन्रसान्रश्मीन्प्राणान्धियो वा जगत इति व्युत्पत्तेः।

[9]प्राजापत्य प्रजापतेरीश्वरस्यापत्यं हिरण्यगर्भस्य वा हे प्राजापत्य व्यूह [10]विगमय रश्मीन्। समूह [11]संक्षिपाऽऽत्मनस्तेजो येनाहं शक्नुयां द्रष्टुम्। तेजसा ह्यपहतदृष्टिर्न शक्नुयां

हिमवृष्ट्याविदानेनेति शेषः। अपावरणकरणमेव विवृणोति—दर्शनेति। सत्यं परमार्थस्वरूपं ब्रह्म धर्मः स्वभाव इति यावत्। ननु दर्शनार्थं [13]तत्प्रतिबन्धकनिवृत्तौ पूषणि नियुक्ते किमित्यन्ये[14] संबोध्य नियुज्यन्ते तत्राऽऽह—पूषन्नित्यादीनीति। दर्शनादृषिरित्युक्तं विशदयति—स हीति। 'सूर्य आत्मा [15]जगतस्तस्थुषश्च' इति मन्त्रवर्णमाश्रित्योक्तम्—जगत आत्मेति। 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः' इत्येतदाश्रित्याऽऽह—चक्षुश्चेति।

[16]स्वाभाविका रश्मयो न विगमयितुं शक्या इत्याशङ्क्याऽऽह—समूहेति। मदीयतेजः-

---

कही जाती है। "सत्यस्य मुखम्" अर्थात् सत्यब्रह्म रवि का मुख्य स्वरूप ढका हुआ है। उसके आवरक पात्र को, जो ढक्कन के समान है एवं आदित्यमण्डल के दर्शन में प्रतिबन्ध का कारण है; "पूषन्" अर्थात् जगत् के पोषण करने वाले हे पूषा सवितृ देव ! यथोक्त द्वार यानी दर्शन में प्रतिबन्धकारण को "अपावृणु" अर्थात् अनावृत कर दो अथवा हटा दो। "सत्यधर्माय" अर्थात् अपने स्वरूप मुझ (दर्शनार्थी) सत्यधर्मा के लिए "दृष्टये" अर्थात् दर्शन के लिए उसे अनावृत कर दो। सविता के "पूषन्" इत्यादि नाम उसके संबोधन के लिए हैं। "एकर्षे" अर्थात् 'ऋषिः दर्शनात्' इस निर्वचन से हे एकाकी मन्त्रद्रष्टा सूर्य ! क्योंकि वह सारे जगत् की आत्मा और चक्षु होकर सब कुछ देखता है, एकाकी जाता है; इसलिए एकर्षि है। "सूर्य एकाकी चलता है" ऐसी श्रुति भी है। "यम" अर्थात् सारे जगत का नियन्त्रण तुम्हारे द्वारा किया हुआ होने से यम है। 'सूर्य' संबोधन, जगत् के जलादि रस, रश्मि, प्राण और बुद्धि को सम्यक्तया प्रेरित करता है, इस व्युत्पत्ति से है।

"प्राजापत्य" अर्थात् ईश्वर अर्थात् हिरण्यगर्भ के पत्र होने के कारण हे प्राजापत्य ! रश्मियों

---

१. मुखं वा द्वारमाहुः। २. मण्डलमिति शेषः। ३. यथोक्तं मुखम्। ४. मण्डलम्। ५. सत्यधर्मायेति—सत्या अवितथाः सत्यसङ्कल्पादिश्रुत्युक्ता धर्मा यस्य ममेत्यपि व्याचक्रुः। ६. तव दर्शनार्थिने। ७. संमानानार्थानीत्याहुः। ८. सुष्ठ्विन्यादि—"स्वीरणाच्छीततोयादेः सूर्यस्तेनासि धर्मद" इति वार्तिके॥ ८॥ ९. प्राजापत्येति। अत्र वार्तिके—"प्रजापतिः परं ब्रह्म कारणं तदपत्यतः। प्राजापत्योऽसि तेन त्वं गीयसे विपुलश्रुतेः" ॥ ८ ॥ इति। १०. विनाशयेति यावत्। ११. संकोचय। १२. दर्शनप्रतिबन्धकनिवृत्तौ। १३. अन्ये—एकर्षिप्रभृतयः। १४ संबोध्य—आहूय। १५. जङ्गमस्य स्थावरस्य च। १६. स्वाभाविकस्य तत्त्वायोगादिति भावः।

त्स्वरूप[1]मञ्जसा द्रष्टुम्। विद्योतन इव रूपाणामत उपसंहर तेजः। यत्ते तव रूपं [2]सर्वकल्याणानामतिशयेन कल्याणं [3]कल्याणतमं तत्ते [4]पश्यामि। [5]पश्यामो वयं वचनव्यत्ययेन। योऽसौ भूर्भुवःस्वर्व्याहृत्यवयवः पुरुषः पुरुषाकृतित्वात्पुरुषाः सोऽहमस्मि भवामि। अहरहमिति चोपनिषद[6] उक्तत्वादा[7]दित्यचाक्षुषयोस्तदेवेदं परामृश्यते सोऽहमस्म्यमृतमिति संबन्धः। ममामृतस्य सत्यस्य शरीरपाते शरीरस्थो यः प्राणो [8]वायुः सोऽनिलं बाह्यं [9]वायुमेव प्रतिगच्छतु। तथाऽन्या [10]देवताः स्वां स्वां प्रकृतिं गच्छन्तु। अथेदमपि भस्मान्तं सत्पृथिवीं यातु [12]शरीरम्।

क्षेपं विनाऽपि ते मत्स्वरूपदर्शनं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तेजसा हीति। विद्योतनं विद्युत्प्रकाशस्त-न्सति रूपाणां स्वरूपमञ्जसा चक्षुषा न शक्यं द्रष्टुं तस्य चक्षु[13]र्मोषित्वात्तथेत्याह—विद्योतन वेति। तेजःसंक्षेपस्य प्रयोजनमाह—यदिति। किञ्च नाहं त्वा भृत्यवद्याचेऽभेदेन ध्यातत्वादित्याह—ऽसाविति। व्याहृतिशरीरे पुरुषे कथमहमिति प्रयोगोपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—अहरिति। तदेवेद-त्यहंरूपमुच्यते। ननु तव शरीरपातेऽपि नामृतत्वमाध्यात्मिकवाय्वादिप्रतिबन्धादत आह—ममेति। युग्रहणस्योपलक्षणत्वं विवक्षित्वाऽऽह—तथेति। देहस्थदेवतानामप्रतिबन्धकत्वेऽपि देहस्यैव [14]सूक्ष्मतां तस्य प्रतिबन्धकत्वान्न तवामृतत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—अथेति।

ो 'व्यूह' अर्थात् विनष्ट कर दो। 'तेजो समूह' अर्थात् अपने तेज को संकुचित कर दो, जिसने मैं म्हें देख सकूँ। (तुम्हारे) तेज से अपहृत दृष्टि वाला होकर तुम्हारे स्वरूप को रूपों में बिजली की मक की तरह साक्षात् देखने में असमर्थ हूँ, इसलिये तेज का उपसंहार कर दो। "यत्ते रूपं ल्याणतमम्" अर्थात् जो तुम्हारा रूप निखिल आनन्दों का आनन्द है, उसे मैं देखता हूँ। वचन-त्यय से 'हम देखते हैं' यह अर्थ है। जो यह 'भूः, भुवः और स्वः' इन व्याहृति रूप अवयवों वाला पुरुषः" अर्थात् पुरुषाकृतिक होने से पुरुष है, वह मैं ही हूँ। 'आदित्य' और 'चाक्षुष' पुरुष के 'अहर्' और 'अहम्' ये रहस्य नाम कहे गये हैं—उसी का यहाँ विचार किया जाता है। वह मैं अमृतस्वरूप —ऐसा इसका संबन्ध है। शरीर छूटने पर मुझ अमृतरूप सत्य का जो "वायुः" अर्थात् शरीरस्थ ाध्यात्मिक वायु प्राण है, वह "अनिलम्" अर्थात् आधिदैविक बाह्य वायु को प्राप्त हो। तथा अन्य

---

१. सम्यक्साक्षाद्वा। २. निखिलानन्दानाम्। ३. सत्यज्ञानादिलक्षणम्। ४. अनुभवामि। ५. अग्रे—अस्मानस्मद्विधेमेति बहुत्वोक्त्यनुरोधादत्रापि सैव मा भूत्पूर्वापरवैरूप्यमिति न्याय्येति मन्वान आह—पश्यामो वयमित्यादि। एवमस्मि भवामीत्यत्राप्यूहाम्। ६. रहस्यनाम्नः। बृ. उ. ५. ७. १-२। ७. आदित्यचाक्षुषयोरिति। मण्डलचक्षुर्गतयोः उपास्योपासकत्वाभ्यां भेदमाशङ्क्य समाहितं वार्तिके—"स्थानमात्राच्च तौ भिन्नौ वस्तुतो नाऽऽवयोर्भिदा" ॥ ११ ॥ इति। ८. आध्यात्मिकः। ९. आधिदैविकम्। १०. चक्षुरादिदेवताः। ११. भस्मान्तमिति—भस्मान्तलिङ्गात्कर्मिण एवैतदुपस्थानमिति गम्यते। तदुक्तं वार्तिके—"भस्मान्तमिति लिङ्गाच्च कर्मिणः स्यादुपस्थितिः। न तु संन्यासिनो न्याय्या दाहाऽसंभवहेतुतः" ॥ १३ ॥ इति। १२. मर्त्यत्वाधिकरणम्। १३. मोषित्वात्—चक्षुस्तिरस्कर्तृत्वात्तन्निमीलनशीलत्वादिति यावत्। १४. सूक्ष्मतामिति—कृशतामित्यर्थः। स्वस्थदेवताप्रयुक्तं सामर्थ्यरहितमिति यावत्। "सूक्ष्मं दभ्रं कृशं तन्वि"त्यमर इत्याहः। शून्यतामिति पाठं सम्यञ्च प्रतिपद्य।

अथेदानीमात्मनः [1]संकल्पभूतां मनसि व्यवस्थितामग्निदेवतां प्रार्थयते—ॐ क्रतो। [2]ॐमिति क्रतो इति च संबोधनार्थावेव। ॐकारप्रतीकत्वादोम्। [3]मनोमयत्वाच्च[4] [5]क्रतुः। [6]हे ॐ हे क्रतो स्मरो [7]स्मर्तव्यमन्तकाले हि [8]त्वत्स्मरणवशाद्धिष्टा गतिः प्राप्यते[9]ऽतः प्रार्थ्यते यन्मया [10]कृतं तत्स्मर पुनरुक्तिरादरार्था। किंच हेऽग्ने नय प्रापय सुपथा शोभनेन [11]मार्गेण राये धनाय कर्मफलप्राप्तय इत्यर्थः। न दक्षिणेन कृष्णेन पुनरावृत्तियुक्तेन किं तर्हि शुक्लेनैव सुपथा[12]ऽस्मान्विश्वानि सर्वाणि हे देव वयुनानि प्रज्ञानानि सर्वप्राणिनां [13]विद्वान्। किंच युयोध्यपनय वियोजयास्मदस्मत्तो जुहुराण [14]कुटिलमेनः पापं पापजातं सर्वम्। तेन

---

[15]मन्त्रान्तरमवतार्य व्याकरोति—अथेदानीमित्यादिना। अवतीत्योमीश्वरः सर्वस्य रक्षकस्तस्य जाठराग्निप्रतीकत्वेन ध्यातत्वादग्निशब्देन निर्देशः। एवमग्निदेवतां संबोध्य [16]नियुङ्क्ते—स्मरेति। इष्टां गतिं जिगमिषता किमिति स्मरणे देवता नियुज्यते तत्राऽऽह—त्वत्स्मरणेति। प्रार्थनान्तरं समुच्चिनोति—किंचेति। उक्तमेव व्यनक्ति—नेत्यादिना। अस्मान्नयेति पूर्वेण संबन्धः। प्रज्ञानग्रहणं [17]कर्मादीनामुपलक्षणम्। प्रार्थनान्तरं दर्शयति—किंचेति। पापवियोजनफलमाह—तेनेति। भवद्भिराराधितो

चक्षु आदि देवता अपनी-अपनी प्रकृति को प्राप्त हों, तथा यह शरीर भी भस्मीभूत होकर पृथिवी को प्राप्त हो जाय।

अब यहाँ मन में व्यवस्थित अपने ध्यानात्मक अग्नि देवता की स्तुति की जाती है—"ॐ क्रतो" यहाँ दोनों पद संबोधन के लिए हैं। ओङ्कार प्रतीक होने के कारण 'ॐ' है तथा मनोमय होने के कारण क्रतु (संकल्परूप) है। हे ॐ! हे क्रतु! 'स्मर' अर्थात् मत्कृत कर्मोपासना को स्मरण कर; अन्तकाल में तुम्हारे स्मरण से ही अभीष्ट गति प्राप्त की जाती है, इसलिए प्रार्थना की जाती है कि मैंने जो कर्मोपासना की है, उसका स्मरण कर। द्विरुक्ति आदर के लिए है। तथा हे अग्नि! हमें 'राये' अर्थात् धन अथवा कर्मफल की प्राप्ति के लिए "सुपथा" अर्थात् (पुनरावृत्ति रहित) सुन्दर मार्ग से 'नय' अर्थात् ले चलो। पुनरावृत्तियुक्त दक्षिण अथवा धूममार्ग से मत ले चलो; तो किस मार्ग से ले चलें? शुक्ल मार्ग से ही हमें ले चलो। हे देव! "अस्मान्" यानी अपने उपासकों के "विश्वानि वयुनानि" अर्थात् सभी प्राणियों के प्रज्ञानों को तुम जानते हो, हमारे "जुहुराणम्" अर्थात् कुटिल "एनः" अर्थात् सभी पापसमूहों को हमसे 'युयोधि' दूर अथवा अलग कर दो। तुम्हारे प्रसाद

---

१. ध्यानात्मकसंकल्पाप्यत्वात्। २. ओमित्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमुक्त्वा तदक्षराणि व्याचष्टे—ओमितीति। ३. मनोमयत्वात्—मनसा ध्यानेनैव लभ्यत्वान्मनोमयत्वम्। ४. बृ. उ. ५. ८. १। ५. संकल्परूपः। ६. पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—हे ओमिति। ७. मत्कृतकर्मोपासनम्। ८. प्रतीके प्रामादिकत्वच्छन्दरहितपाठाभिप्रायेणेदमिति बोध्यम्। ९. अतः—पुरुषानुष्ठितोपायस्य त्वत्स्मृतिविषयत्वे नैवोपेयप्राप्तिहेतुत्वादित्यर्थः। १०. कर्मोपासनं च। ११. मार्गेण—उत्तरेण पुनरावृत्ति रहितेनेत्यर्थः। १२. त्वदुपासकान्। १३. विद्वान्सन् विद्वत्त्वादिति हेतुरस्य गर्भः। १४. कुटिलत्वं देवयानप्राप्तिप्रतिबन्धकत्वम्। १५. मन्त्रान्तरमिति। अत्र पाठान्तरम् एवमादित्योपस्थानमुक्त्वा तदात्मकस्य "अयमग्नि"रिति प्रकृतस्याग्नेरुपस्थानं प्रस्तौति—अथेदानीमित्यादिनेति। १६. नियुङ्क्ते इति—स्मर्तव्यस्मरण इति शेषः। १७. कर्मादीनामिति—मादिना त्वदीयेति कर्तव्यतादयो ग्राह्याः।

पेन वियुक्ता वयमेष्याम उत्तरेण पथा त्वत्प्रसादात् । [1]किंतु वयं तुभ्यं परिचर्यां कर्तुं न क्नुमो भूयिष्ठां बहुतमां ते तुभ्यं नमउक्ति नमस्कारवचनं विधेम नमस्कारोक्त्या परिरेमेत्यर्थः । अन्यत्कर्तुमशक्ताः सन्त इति ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य

सप्तदशं ब्राह्मणम् ॥७॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये

पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

वतां यथोक्तं फलं साधयिष्यामीत्याशङ्क्याऽऽह—किंत्विति । बहुतमत्वं भक्तिश्रद्धातिरेकयुक्तत्वम् । दिनाऽपि परिचरणं क्रियतामित्याशङ्क्याऽऽह—अन्यदिति । संततनमस्कारोक्त्या परिचरेमेति र्वेण संबन्धः । अशक्तिश्च मुमूर्षावशादिति द्रष्टव्यम् । इतिशब्दोऽध्यायसमाप्त्यर्थः ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य

सप्तदशं ब्राह्मणम् ॥ १७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमद्भगवदानन्दज्ञानविरचितायां श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां

पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

उन पापों से रहित होकर हम (पुनरावृत्तिरहित) उत्तरायण पथ से जायँगे । किन्तु हम तुम्हारी (प्रसादानुकूल) पूजा करने में समर्थ नहीं हैं । "भूयिष्ठाम्" अर्थात् अनेक बार "ते" अर्थात् तुम्हें नमउक्ति विधेम" अर्थात् नमस्कार वचन कहें यानी नमस्कार उक्ति से तुम्हारी पूजा करें । (मरणकाल आसन्न होने से) अन्य कुछ भी करने में हम समर्थ नहीं है ।

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्थ शाङ्करभाष्य की डॉ० उमेशानन्द शास्त्री कृत 'कुमुदतोषिणी' टीका संपन्न हुई ॥ ५ ॥

---

१. किंतु वयमित्यादि । स्वास्थ्यावस्थायामेवास्माभिर्ज्ञानकर्मणोरनुष्ठितत्वादधुना च मुमूर्षदशायां कृत्यान्तरे चावशक्त्यभावान्मनसा भक्तिश्रद्धाभ्यां नमोमात्रं भवतेऽर्प्यंते तच्च सर्वाधिकत्वेन त्वया ग्राह्यमायुरवसाने चावसन्नानां क्षमाप्रसादौ कर्तव्यावित्यर्थः ।

॥ ॐ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

ॐ यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥१॥

जो कोई ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानता है, वह अपने सजातियों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है। प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। जो कोई इस प्रकार जानकर उपासना करता है, वह अपने सजातियों में तथा और भी जिन लोगों में ज्येष्ठ-श्रेष्ठ बनना चाहता है, उनमें भी वह ज्येष्ठ-श्रेष्ठ बन जाता है ॥ १ ॥

ॐ प्राणो गायत्रीत्युक्तम्[1] । कस्मात्पुनः कारणात्प्राणभावो गायत्र्या न पुनर्वागादिभाव इति[2] । यस्माज्ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च प्राणो न वागादयो ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यभाजः । कथं ज्येष्ठत्वं

ॐकारो दमादित्रयं ब्रह्माब्रह्मोपासनानि तत्फलं तदर्था गतिराबित्या[3]द्युपस्थानमित्येषोऽयं सप्तमे निवृत्तः । संप्रति प्राधान्येनाब्रह्मोपासनं सफलं श्रीमन्था[4]दिकर्म च वक्तव्यमित्यष्टममध्यायमारभमाणो ब्राह्मण[5]संगतिमाह—प्राण इति । तस्मात्प्राणो गायत्रीति युक्तमुक्तमिति शेषः । प्राणस्य ज्येष्ठत्वादि नाद्यापि निर्धारितमिति शङ्कित्वा परिहरति—कथमित्यादिना । प्रकारान्तरेण पूर्वोत्तर-

---

प्राण गायत्री है—ऐसा पहले कहा जा चुका है। तो फिर गायत्री का प्राणभाव किस कारण से है, वागादिभाव क्यों नहीं है ? क्योंकि प्राण ज्येष्ठ है, वागादि ज्येष्ठता और श्रेष्ठता के योग्य नहीं हो सकती। प्राण का ज्येष्ठत्व और श्रेष्ठत्व किसलिए है; इस आशङ्का को करके उसके निर्धारण

---

१. बृ. उ. ५. १६. ४ । २. इति जिज्ञासायामाह । ३. आदिना गायत्र्युपस्थानमाग्नेयं चोपस्थानं ग्राह्यम् । ४. आदिना पुत्रमन्थः । ५ उत्थाप्योत्थापकत्वरूपाम् ।

❀ यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेदेत्यादि। अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि–"समासः सप्तमोऽध्यायः प्रास्तावसर उच्यते। अष्टमः खिलकाण्डेऽस्मिन्पूर्वकाण्डेष्वनुक्तितः ॥ गायत्र्याः प्राणभावोक्तिः कस्माद्धेतोः पुरोदिता । न तु वागादिभावोऽस्यास्तत्र हेतुरिहोच्यते ॥ ज्येष्ठः श्रेष्ठो यतः प्राणो न तु वागादयस्ततः । प्राणात्मभाव एवोक्त आनन्तर्यार्थमेव तु ॥ उपास्त्यन्तरमेवैतत्फलवत्तु विवक्षितम् । न तूक्तशेषतैतस्या भिन्नोपास्तित्वकारणात् ॥ मन्थकर्मणि ये मन्त्राः पञ्च ज्येष्ठादयः श्रुताः । प्राणात्मवेदिनस्तेषां प्रयोगोऽत्रोपवर्ण्यते ॥ पृथग्वा फलनिर्देशाद्यो ह वा इति पञ्चधा । प्राणविद्या पृथङ्मन्थान्मन्यस्तु महिमार्थिनः ॥ फलेऽन्यस्मिन्ननिर्दिष्टे वाक्यशेषगतं फलम् । तस्मिन्सति हि सद्भावाद्वागादीनां न तं विना ॥ शास्त्रेनोक्ता शरीरेऽस्मिन्वृत्तिः प्राणस्य जीवनम् । पूर्वमाविशति प्राणो देहं पश्चाच्च मुञ्चति ॥ ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च सर्वेषां प्राणानामाश्रयो हि सः । श्रेष्ठता वक्ष्यमाणेन ग्रन्थेनास्य

ष्ठत्वं च प्राणस्येति' तन्निर्दिधारयिषये'दमारभ्यते। अथवोक्थयजुःसामक्षत्त्रादिभावैः ाणस्यैवोपासनमभिहितं सत्स्वप्यन्येषु चक्षुरादिषु। तत्र हेतुमात्रमिहाऽऽनन्तर्येण ंबध्यते। न पुनः पूर्वशेषता। विवक्षितं तु 'खिलत्वादस्य 'काण्डस्य पूर्वत्र यदनुक्तं विशिष्टफलं प्राणविषयमुपासनं तद्वक्तव्यमिति।

न्य'संगतिमाह—अथवेति। आदिशब्दाद'न्नवैशिष्ट्यादिनिर्देशः। तत्रेति प्राणस्यैव विशिष्टगुणकस्यो- ास्यत्वोक्तिः। हेतुर्ज्यैष्ठ्यादिस्तन्मात्रमिहानन्तरग्रन्थे कथ्यत इति शेषः। तदेवं पूर्वग्रन्थस्य हेतुमत्त्वा- ुतरस्य च हेतुत्वादानन्तर्येण पौर्वापर्येण पूर्वग्रन्थेन सहोत्तरग्रन्थजातं संबध्यत इति फलितमाह— ानन्तर्येणेति। वक्ष्यमाणप्राणोपासनस्य पूर्वोक्तोक्था'द्युपास्तिशेषत्वमाशङ्क्य गुणभेदात्फलभेदाच्च ंवमित्यभिप्रेत्याऽऽह—न पुनरिति। किमिति प्राणोपासनमिह स्वतन्त्रमुपदिश्यते तत्राऽऽह—खिल- ादिति। इतिशब्दो ब्राह्मणारम्भोपसंहारार्थः।

रने की इच्छा से यह ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है, अथवा चक्षु आदि अन्य इन्द्रियों के रहते हुए ी उक्थ, यजुः, साम और क्षत्त्रादि भावों से प्राण की उपासना बतलायी गयी है। विशिष्टगुणक ाण के (ज्येष्ठत्वादि) हेतु मात्र को यहाँ अनन्तर ग्रन्थ से कहा जाता है। पूर्व ग्रन्थ का यह शेष हीं है। इसका विवक्षित विषय विशिष्ट फलवती प्राणोपासना है। खिलकाण्ड होने के कारण जो उस ध्याय में नहीं, उसे इस अध्याय में बतलाना है।

---

१. आशङ्क्य। २. षष्ठाद्यब्राह्मणम्। ३. पञ्चमाध्यायमारभ्य खिलकाण्डम्। ४. हेतुहेतुमद्भावरूपाम्।
५. अन्नवैशिष्ट्यादीति—अन्नवैशिष्ट्यं च वीति गुणवत्त्वं सर्वभूताश्रयत्वमिति यावत्। अत्रत्यादिना प्राण-
वैशिष्ट्यं गृह्यते। तच्च रमिति गुणवत्त्वं सर्वभूतव्यवहारप्रयोजकत्वमिति यावत्। स्पष्टं चेदं बृ. उ. ५।१४।१।
इत्यत्र। ६. आदिना गायत्र्यादिग्राह्यम्।

ओङ्कारो दमादित्रयं ब्रह्माब्रह्मोविभाव्यते" ॥ १-६ ॥ इति। पूर्वोत्तराध्यायसंबन्धमाह—समाप्त इति। सप्तमस्तावदध्यायोऽस्मिन्खिलकाण्डेऽतिवृत्तः पासनानि तत्फलानि तदर्था गतिरादित्याद्युपस्थानमित्येवमर्थः। संप्रति प्राधान्येनाब्रह्मोपासनानि सफलानि श्रीमन्थादिकर्म चानुक्तं वक्तव्यमित्यष्टमोऽध्याय आरभ्यत इत्यर्थः। सप्तमादष्टमस्याऽऽनन्तर्ये हेतुमाह—प्राप्तेति। ब्रह्मोपासनसंबन्धे विचारे प्राधान्येन व्यतीते सत्यब्रह्मोपास्तिसंबन्धविचारं प्राधान्येन कर्तुमध्यायान्तरं न हि प्रधानविचारादृतेऽप्रधानविचारः संभवतीति भावः। खिलकाण्डस्यैवानुपयुक्तत्वात्कथमित्थमित्याशङ्क्याऽऽह—पूर्वकाण्डेष्विति। कर्मकाण्डेन सह बहूक्तिः। अपुनरुक्तार्थसद्भावादुपयुक्तं तदित्यर्थः॥ अध्यायसंबन्धमुक्त्वाऽऽद्यब्राह्मणस्यावान्तरसंबन्धं चोद्यपूर्वकमाह—गायत्र्या इति। तत्रेति वागादित्यागेन गायत्र्याः प्राणभावोक्ताविति यावत् इहेत्यनन्तरब्राह्मणोक्तिः॥ कोऽसौ हेतुरित्यपेक्षायामाह—ज्येष्ठ इति। यथोक्तप्राणोपासनस्यान्यशेषतेति चेत्तत्र किमुक्थाद्युपास्तिशेषता गायत्र्युपास्तिशेषता वा मन्थकर्मशेषता वेति विकल्प्याऽऽद्यं प्रत्याह—आनन्तर्यार्थमिति। वागादिषु सत्स्वपि तत्त्यागेन प्राणस्यैवोक्थादिगुणस्योपास्तिरुक्ता तत्र हेतुत्वेन ज्येष्ठत्वाद्युच्यते न चेयमुपास्तिरुक्थाद्युपास्तिशेषो ग्रन्थानन्तर्यघटनार्थमेव हि ज्येष्ठत्वादि तन्मात्रोपास्यत्वे हेतुत्वेन संबध्यते गुणभेदात्फलभेदाच्च नास्यास्तच्छेषतेति भावः॥ द्वितीयं दूषयति—उपास्त्यन्तरमिति। ज्येष्ठत्वादिगुणकप्राणोपास्तिः स्वतन्त्रेत्यत्र हेतुमाह—फलवदिति। एवकारार्थमाह—न त्विति। उक्तशब्देन गायत्र्युपास्तिर्गृह्यते। षष्ठी प्राणोपासनार्था। गुणभेदाच्च भिन्नत्वे सति नास्यान्य-

यः कश्चिद्ध वा इत्यवधारणार्थौ । यो [1]ज्येष्ठश्रेष्ठगुणं वक्ष्यमाणं वेदासौ भवत्येव ज्येष्ठश्च [2]श्रेष्ठश्च । एवं फलेन प्रलोभितः सन्प्रश्नायाभिमुखीभूत[3]स्तस्मै चाऽऽह[4]—प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च । कथं पुनरवगम्यते प्राणो ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चेति । यस्मान्निषेककाल एव शुक्रशोणितसंबन्धः [5]प्राणादिकलापस्याविशिष्टः । [6]तथाऽपि [7]नाप्राणं शुक्रं [8]विरोहतीति प्रथमो वृत्तिलाभः प्राणस्य चक्षुरादिभ्यः । [9]अतो ज्येष्ठो वयसा प्राणः । निषेककालादारभ्य गर्भं

एवं ब्राह्मणारम्भं प्रतिपाद्याक्षराणि व्याचष्टे—यः कश्चिदित्यादिना । यच्छब्दस्य पुनरुपादानमन्वयार्थम् । निपातयोरर्थमवधारणमेव प्रागुक्तं प्रकटयति—भवत्येवेति । प्रश्नाय कोऽसौ ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चेति प्रश्नस्तदर्थमिति यावत् । प्राणस्य ज्येष्ठत्वादिकमाक्षिपति—कथमिति । [10]तत्र हेतुमाह—यस्मादिति । तस्माज्ज्येष्ठत्वादिकं [11]तुल्यमेवेति शेषः । संबन्धाविशेषमङ्गीकृत्य ज्येष्ठत्वं प्राणस्य साधयति—तथाऽपीति । [12]उक्तमेव समर्थयते—निषेककालादिति । [13]तत्रापि विप्रतिपन्नं

"यः" इस मन्त्र में 'ह' और 'वा' यह दोनों अव्यय निर्धारण के लिए हैं । जो आगे बतलाये जाने वाले ज्येष्ठ-श्रेष्ठ गुण को जानता है, वह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ ही हो जाता है । इस प्रकार के फल से प्रलोभित हुआ शिष्य जब प्रश्न के लिए अभिमुख होता है तो उससे (आचार्य मुख से) श्रुति कहती है। प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है । यह किस प्रकार जाना जाता है कि प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है । बीजा-

---

१. ज्येष्ठश्रेष्ठगुणमिति—भावप्रधानो निर्देशो ज्येष्ठत्वश्रेष्ठत्वगुणमित्यर्थः । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । २. श्रेष्ठश्चेति—स्वानामिति शेषः । ज्ञातीनामिति तदर्थः । ३. शिष्यः । ४. आचार्यः । ५. न प्राणस्यैवेत्याशयः । ६. तथाऽपि—आनिषेकं कलापस्य शुक्रसंबन्धाविशेषेऽपि । ७. अप्राणम्—लब्धवृत्तिकप्राणसंबन्धशून्यम् । ८. न विरोहति—न कललबुद्बुदादिपरिणामं जनयतीत्यर्थः । ९. अतः प्रथमं वृत्तिलाभात् । १०. तत्र आक्षेपे । ११. कलापस्य । १२. उक्तमेव—प्राणस्य ज्येष्ठत्वमेवेत्यर्थः । १३. तत्रापि—प्राणस्य गर्भपोषकत्वेऽपि ।

शेषतेति हेत्वन्तरमाह—भिन्नेति ॥ तृतीयं शङ्कते—मन्थेति । प्राणात्मवेदिनो यन्मन्थाख्यं कर्म वक्ष्यते तत्र ज्येष्ठाय स्वाहेत्यादयो मन्त्राः श्रुतास्तेषामुपयोगोऽस्मिन्ब्राह्मणे कथ्यते तदर्थस्यात्रोपास्यत्वोक्तेरतो मन्थकर्मशेषता यथोक्तोपास्तेर्युक्तेत्यर्थः ॥ पञ्चेति च्छान्दोग्यश्रुत्यनुसारेणोक्तं दूषयति—पृथग्वेति । वाशब्दश्चोद्यनिरासार्थः । न हि मन्थकर्मशेषता प्राणोपास्तेर्युक्ता यो ह वै ज्येष्ठं चेत्यादिना मन्थकर्मणः पृथगेव तस्या बहुधा फलाभिलापात्तद्धैश्वर्यार्थिनो वित्तसिद्धये विधीयते तस्मात्पृथगेव प्राणविद्येत्यर्थः ॥ प्राणविदो मन्थाधिकारात्प्राणविद्याऽपि महत्त्वफलेत्याशङ्क्याऽऽह—फल इति । प्राणोपास्तेः स्वावाक्यस्थफलेनैव नैराकाङ्क्ष्यान्न वाक्यशेषस्थं महत्त्वं फलं न चाधिकृताधिकारादेकफलता दर्शाद्यधिकृतस्य गोदोहनाधिकारे तद्भेदादिति भावः । ब्राह्मणस्य स्वतन्त्रप्राणोपास्तिविषयत्वमुक्त्वा प्राणस्य ज्येष्ठत्वं व्युत्पादयति—तस्मिन्निति । प्राणविषयस्तच्छब्दः । न सत्त्वमिति शेषः । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राणज्येष्ठता सिद्धेत्यर्थः । अयमेवार्थो हिशब्देन द्योत्यते ॥ तत्रैव शास्त्रसंवादमाह—शास्त्रेणेति । शरीरे प्राणस्य जीवनं नाम वृत्तिर्वागादिवृत्तिस्तदपेक्षया शास्त्रेणोक्तेति योजना । तदेवोदाहरति—पूर्वमिति ॥ अन्वयादिना शास्त्राच्चोक्तं निगमयति—ज्येष्ठ इति । श्रेष्ठत्वं तस्य प्रतिजानीते—श्रेष्ठश्चेति । तत्र हेतुः—सर्वेषामिति । सर्वप्राणाश्रयता प्राणस्यासीद्धेत्याशङ्क्याऽऽह—श्रेष्ठतेति । तं हेत्यादिनेत्यर्थः ॥

पुष्यति प्राणः । प्राणे हि लब्धवृत्तौ पश्चाच्चक्षुरादीनां वृत्तिलाभः । [1]अतो युक्तं प्राणस्य ज्येष्ठत्वं चक्षुरादिषु । भवति तु कश्चित्कुले ज्येष्ठो गुणहीनत्वात्तु न श्रेष्ठः । मध्यमः कनिष्ठो वा गुणाढ्यत्वाद्भवेच्छ्रेष्ठो न ज्येष्ठः । न तु तथेहेत्याह—प्राण एव तु ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च । कथं पुनः श्रैष्ठ्यमवगम्यते प्राणस्य [2]तदिह संवादेन दर्शयिष्यामः । सर्वथाऽपि तु प्राणं ज्येष्ठश्रेष्ठगुणं यो वेदोपास्ते स स्वानां ज्ञातीनां ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च भवति । [3]ज्येष्ठश्रेष्ठगुणोपासनसामर्थ्या[4]त्स्वव्यतिरेकेणापि च येषां मध्ये ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च भविष्यामीति बुभूषति भवितुमिच्छति तेषामपि ज्येष्ठश्रेष्ठप्राणदर्शी ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च भवति । ननु वयोनिमित्तं ज्येष्ठत्वं तदिच्छातः कथं भवतीत्युच्यते । नैष दोषः । प्राणवद्वृत्तिलाभस्यैव ज्येष्ठत्वस्य

प्रत्याह—प्राणे हीति । ज्येष्ठत्वेनैव श्रेष्ठत्वे सिद्धे किमिति पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—भवति त्विति । श्रेष्ठत्वे सत्यपि श्रेष्ठत्वाभावमुक्त्वा तस्मिन्सत्यपि ज्येष्ठत्वाभावमाह—मध्यम इति । इहेति प्राणोक्तिः । प्राणश्रेष्ठत्वे प्रमाणाभावमाशङ्क्य प्रत्याह—कथमित्यादिना । [5]पूर्वोक्तमुपास्तिफलमुपसंहरति—सर्वथाऽपीति । [6]आरोपेणानारोपेण वेत्यर्थः । ज्येष्ठत्वस्य विद्याफलत्वमाक्षिपति—नन्विति । तस्य विद्याफलत्वं साधयति—उच्यत इति । इच्छातो ज्यैष्ठ्यं दुःसाध्यमिति दोषस्यासत्त्वमाह—नेति । तत्र हेतुमाह—प्राणवदिति । यथा प्राणकृताशनादिप्रयुक्तश्चक्षुरादीनां वृत्तिलाभस्तथा प्राणोपासकाधीनं जीवनमन्येषां स्वानां च भवतीति प्राणदर्शिनो ज्येष्ठत्वं न वयोनिबन्धनमित्यर्थः ॥ १ ॥

रोपण काल में ही यद्यपि प्राणादिसमूह का शुक्र और शोणित से संबन्ध है, तो भी विना प्राण के
कलल-बुद्बुद् आदि परिणाम को उत्पन्न नहीं करता । इस प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियों की अपेक्षा प्राण को
प्रथम वृत्तिलाभ होता है । इस प्रकार (प्राण के ही गर्भ वृद्धि में हेतु होने के कारण) आयु में प्राण
ज्येष्ठ है । गर्भाधान के प्रारम्भ से ही प्राण गर्भ का पोषण करता है । प्राण के वृत्तिलाभ हो जाने के
पश्चात् ही चक्षु आदि को वृत्तिलाभ होता है । अतः चक्षुरादि इन्द्रियों में प्राण का ज्येष्ठत्व होना उचित
ही है । ऐसा भी होता है, किसी के परिवार कोई आयु से ज्येष्ठ होता है किन्तु गुणहीन होने के कारण
नहीं माना जाता । अथवा मध्यम या कनिष्ठ गुणयुक्त होने के कारण श्रेष्ठ तो हो सकते है किन्तु उन्हें
आयु में ज्येष्ठ नहीं माना जाता । किन्तु यहाँ यह बात नहीं है । इसी को श्रुति कहती है । प्राण ही
ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है । प्राणों की श्रेष्ठता किस प्रकार जानी जाती है, उसे इस ब्राह्मण में 'ते हेमे
प्राणाः' इत्यादि संवाद से प्रदर्शित करेंगे । जो प्राण के ज्येष्ठ और श्रेष्ठ गुण की सदा 'वेद' अर्थात्
उपासना करता है वह 'स्वानाम्' अथवा अपने स्वजनों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है । ज्येष्ठ-श्रेष्ठ गुणो-
पासना के सामर्थ्य से अपने ज्ञातिजनों से भिन्न लोगों में भी ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाऊँ; इस प्रकार
'बुभूषति' अर्थात् होने की इच्छा करता है । उन में यह ज्येष्ठ-श्रेष्ठ प्राणोपासक ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता
है । किन्तु ज्येष्ठत्व तो आयु से ही होता है, इच्छा मात्र से ही किस प्रकार हो सकता है ? इस पर कहा

---

१. अतः—निषेककालमारभ्य चक्षुराद्यपेक्षया प्राणस्यैव गर्भवृद्धिहेतुत्वेन प्रथमं वृत्तिलाभात् । २. तद् श्रैष्ठ्यं । इह प्रकृतब्राह्मणे । संवादेन "ते हेमे प्राणाः" इत्यादिना । ३. उक्तफलोपसंहारानन्तरं फलान्तरमाह ज्येष्ठेति । ४. ज्ञातिव्यतिरेकेण । ५. उपक्रमोक्तम् । ६. प्राणे ज्येष्ठत्वश्रेष्ठत्वोरसत्त्वे आरोपेण सत्त्वे चानारोपेणेत्यर्थः ।

[1]यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानां भवति वाग्वै वसिष्ठा वसिष्ठः स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥२॥

जो वसिष्ठा को जानता है, वह अपने सजातियों में वसिष्ठ हो जाता है। वाक् ही वसिष्ठा है (क्योंकि अच्छे वक्ता धनादि संपन्न होकर सुख पूर्वक बसते हैं और सभा में दूसरों परास्त कर देते हैं)। जो ऐसी उपासना करता है, वह स्वजनों में तथा अन्य लोगों में भी वसिष्ठ हो जाता है, जिनमें वह वसिष्ठ बनना चाहता है ॥ २ ॥

विवक्षितत्वात् ॥ १ ॥

यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानां भवति। [2]तद्दर्शनानुरूपेण फलम्। येषां च ज्ञातिव्यतिरेकेण वसिष्ठो भवितुमिच्छति तेषां च वसिष्ठो भवति। उच्यतां तर्हि काऽसौ वसिष्ठेति। [3]वाग्वै वसिष्ठा। वासयत्यतिशयेन वस्ते वेति वसिष्ठा। वाग्मिनो हि धनवन्तो वसन्त्यतिशयेन। आच्छादनार्थस्य वा वसेर्वसिष्ठा। अभिभवन्ति हि वाचा वाग्मिनोऽन्यान्। तेन वसिष्ठगुणवत्परिज्ञानाद्वसिष्ठगुणो भवतीति दर्शनानुरूपं

वसिष्ठत्वमपि प्राणस्यैवेति वक्तुमुत्तरवाक्यमुत्थाप्य व्याचष्टे—यो हेत्यादिना। फलेन प्रलोभितं शिष्यं प्रश्नाभिमुखं प्रत्याह—उच्यतामित्यादिना। वाचो वसिष्ठत्वं द्विधा प्रतिजानीते—वासयतीति। वासयत्यतिशयेनेत्युक्तं विशदयति—वाग्मिनो हीति। वासयन्ति चेति द्रष्टव्यम्। वस्ते वेत्युक्तं स्फुटयति—आच्छादनार्थस्य वेति। आच्छादनार्थत्वमनुभवेन साधयति—अभिभवन्तीति। उक्तमुपास्तिफलं निगमयति – तेनेति ॥ २ ॥

जाता है। ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है क्योंकि प्राण के समान यहाँ भी वृत्तिलाभ ही ज्येष्ठत्व रूप से विवक्षित है ॥ १ ॥

जो वसिष्ठा को जानता है, वह अपने निजजनों में वसिष्ठ होता है। वागुपासना अनुरूप उसका फल भी है। अपने स्वजनों से व्यतिरिक्त लोगों में वह वसिष्ठ होने की इच्छा करता है, इसलिए उनमें भी वसिष्ठ हो जाता है। तो फिर बतलाइये कि वह वसिष्ठा क्या है? वाक् ही वसिष्ठा है। अतिशय रूप से वास देती है अथवा करती है, इसलिये वसिष्ठा है क्योंकि अच्छे व्याख्याता धनवान् होते हुए पूर्ण रूप से वास करते हैं। 'वस' धातु आच्छादनार्थक है, उससे भी वसिष्ठा शब्द की निष्पत्ति होती है। व्याख्याता अपनी वाणी से दूसरों को तिरस्कृत कर देते हैं। इसलिये वसिष्ठगुण युक्त पदार्थ की उपासना करने से वसिष्ठगुण वाला हो जाता है, यही इसकी उपासना

---

[1] इदानीं प्राणस्यैव वसिष्ठत्वप्रतिष्ठात्वसंपत्त्वायतनत्वप्रजातित्वलक्षणाः पञ्च गुणाः इति दर्शयितुं प्रथमं तेषामेकैकस्य क्रमेण वाक्चक्षुःश्रोत्रमनोरेतसां गुणत्वमाह—"यो ह वा" इत्यादिपञ्चकण्डिकाभिः। [2] वागुपासनानुरूपेण। [3] इत्युक्त आह—वाग्वा इति।

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे चक्षुर्वै प्रतिष्ठा चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेद ॥३॥

जो कोई प्रतिष्ठा को जानता है, वह समान देश-काल में प्रतिष्ठित होता है और दुर्गम्य तथा ादि विषम काल में प्रतिष्ठित होता है। चक्षु ही प्रतिष्ठा है क्योंकि चक्षु से ही समान और देश-काल में प्रतिष्ठित होता है। अतः जो प्रतिष्ठा गुण वाले चक्षु की उपासना करता है, वह और दुर्गम देश में प्रतिष्ठित होता है ॥ ३ ॥

॥ २ ॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठत्यनयेति प्रतिष्ठा तां प्रतिष्ठागुणवतीं यो वेद तत्फलं प्रतितिष्ठति [1]समे देशे काले च। तथा दुर्गे विषमे च [2]दुर्गमने च देशे दुर्भिक्षादौ ाले विषमे। यद्येवमुच्यतां काऽसौ प्रतिष्ठा। चक्षुर्वै प्रतिष्ठा। कथं चक्षुषः प्रतिष्ठात्यमित्याह—चक्षुषा हि समे च दुर्गे च दृष्ट्वा प्रतितिष्ठति। अतोऽनुरूपं फलं प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेदेति ॥ ३ ॥

गुणान्तरं वक्तुं वाक्यान्तरमादाय व्याचष्टे—यो ह वा इति। **समे प्रतिष्ठा [3]विद्यां ाऽपि स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—**तथेति। **विषमे च प्रतितिष्ठतीति संबन्धः। विषमशब्दस्यार्थमाह—**मने चेति। **इदानीं प्रश्नपूर्वकं प्रतिष्ठां दर्शयति—**यद्येवमिति। **प्रतिष्ठात्वं चक्षुषो व्युत्पादयति—**मित्यादिना। **विद्याफलं निगमयति—**अत इति ॥ ३ ॥

अनुरूप फल है ॥ २ ॥

जो कोई प्रतिष्ठा को जानता है; जिससे प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, उसे प्रतिष्ठा कहते हैं व्युत्पत्ति से) उस "प्रतिष्ठाम्" अर्थात् प्रतिष्ठागुणवती (चक्षु) को जो कोई जानता है, उसका फल है—वह (उच्च, नीच, गर्त कण्टकादिरहित) सम देश तथा (सुभिक्षादियुक्त) सम काल में ष्ठित होता है। तथा "दुर्गे" अर्थात् विषम और कण्टकादि से उपद्रुत देश में तथा दुर्भिक्षादि से विषम काल में भी प्रतिष्ठित होता है। यदि ऐसी बात है तो कहिये. वह प्रतिष्ठा क्या है? ही प्रतिष्ठा है। चक्षु का प्रतिष्ठात्व किस प्रकार है? इस पर श्रुति कहती है—चक्षु से सम र विषम देश-काल को देखकर प्रतिष्ठित होता है। इसलिये इसकी उपासना के अनुरूप फल है— इस प्रकार उपासना करता है, वह सम में भी प्रतिष्ठित होता है और विषम में भी प्रतिष्ठित हो ता है ॥ ३ ॥

---

१. समे देश इत्यादि—देशस्य समत्वमुच्चनीचगर्तकण्टकादिराहित्यम्। कालस्य सुभिक्षादियुक्तत्वमिति ध्येयम्।

२. दुर्गमने—कण्टकाद्युपद्रुते। ३. उपास्तिम्।

यो ह वै संपदं वेद सꣳ हास्मै पद्यते यं कामं काम-यते श्रोत्रं वै संपच्छ्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभि-सपन्नाः सꣳ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥ ४ ॥

यो ह वा आयतनं वेदाऽऽयतनꣳ स्वानां भवत्या-

जो संपद् को जानता है, वह जिस भोग को चाहता है, वही अच्छी प्रकार से उसे प्राप्त जाता है। श्रोत्र ही संपद् है क्योंकि श्रोत्र में ही ये सब वेद भली प्रकार निष्पन्न होते हैं (अर्था श्रोत्र वाला ही वेद का अध्ययन करता और वेदविहित कर्मों के अधीन ही सभी भोग हैं)। ऐसी उपासना करता है, वह जिस भोग को चाहता है, वही उसे सम्यक् प्रकार से मिल जा है ॥ ४ ॥

यो ह वै संपदं वेद संपद्गुणयुक्तं यो वेद तस्यैत्फलमस्मै विदुषे [1]संपद्यते ह किम्। यं कामं कामयते स कामः। किं पुनः संपद्गुणकम्। श्रोत्रं वै संपत्। कथं पुन श्रोत्रस्य संपद्गुणत्वमिति। उच्यते। श्रोत्रे सति हि यस्मात्सर्वे [2]वेदा [3]अभिसंपन्ना श्रोत्रेन्द्रियवतोऽध्येयत्वात्। वेदविहितकर्मायत्ताश्च [4]कामास्तस्माच्छ्रोत्रं संपत्। अतो विज्ञानानुरूपं फलम्। सं हास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥ ४ ॥

यो ह वा आयतनं वेद। आयतनमाश्रयस्तद्यो[2] वेदाऽऽयतनं स्वानां भवत्यायत

वाक्यान्तरमादाय विभजते—यो ह वै संपदमिति। **प्रश्नपूर्वकं [6]संपदुत्पत्तिवाक्यमुपादत्ते**— पुनरिति। **श्रोत्रस्य संपद्गुणत्वं व्युत्पादयति**—कथमिति। **अध्येयत्वमध्ययनार्हत्वम्।** [7]तथाऽपि क श्रोत्रं संपद्गुणकमित्याशङ्क्याऽऽह—वेदेति। **पूर्वोक्तं फलमुपसंहरति**—अत इति ॥ ४ ॥

वाक्यान्तरमादाय विभजते—यो ह वा आयतनमिति। **सामान्येनोक्तमायतनं प्रश्नपूर्वकं**

'यो ह वा संपदं वेद' अर्थात् संपद्गुणयुक्त को जो भी उपासक जानता है, उस विद्वान् को इसका यह फल प्राप्त हो जाता है। क्या प्राप्त हो जाता है? जिस कामना को करता है, वह कामनापूर्ति हो जाती है। तो वह संपद्गुणयुक्तता क्या है? श्रोत्र ही संपत् है। श्रोत्र की संपद्गुण-रूपता किस प्रकार है? इस पर श्रुति कहती है—श्रोत्रेन्द्रिय के रहने पर ही यह सारे वेद प्राप्त हो जाते हैं; क्योंकि वे श्रोत्रेन्द्रिय युक्त पुरुष द्वारा अध्ययन किये जाते हैं। काम संपत्तियाँ वेदविहित कर्म के अधीन हैं, इसलिए श्रोत्र ही संपत् है। इसलिए उपासना के अनुरूप ही फलप्राप्ति होती है। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह जो भी कामना करता है, उसे प्राप्त हो जाती है ॥ ४ ॥

'यो ह वा आयतनं वेद' अर्थात् आयतन नाम आश्रय का है, उस आश्रयरूप आयतन को 'जो

---

१. संपद्यते—प्राप्नोति। २. वेदा इमे प्रसिद्धाः। ३. प्राप्ता भवन्ति। ४. काम्यसंपत्तयः। ५. ह:।
६. संपत्स्वरूपमात्रबोधकं वाक्यम्। ७. तथाऽपि—वेदप्राप्तेः श्रोत्रनिमित्तकत्वेऽपि।

यतनं जनानां मनो वा आयतनमायतनꣳ स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद ॥ ५ ॥

यो ह वै प्रजातिं वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभी रेतो वै प्रजातिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥ ६ ॥

जो आश्रय को जानता है, वह स्वजनों का आश्रय होता है तथा अन्यजनों का भी आश्रय ता है। मन ही आयतन है (क्योंकि मनःसंकल्प के अधीन इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त होती हैं विषय से निवृत्ति भी होती हैं) जो इस प्रकार उपासना करता है, वह स्वजनों का आयतन होता अन्यजनों का भी आयतन होता है ॥ ५ ॥

जो कोई भी प्रजापति को जानता है, वह प्रजा और पशुओं से संपन्न होता है। रेत ही ति है (क्योंकि रेत से ही प्रजा की उत्पत्ति होती है)। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह और पशुओं से संपन्न होता है ॥ ६ ॥

नामन्येषामपि । किं पुनस्तदायतनमिति । उच्यते—मनो वा आयतनमाश्रय इन्द्रियां विषयाणां च । मन[1]आश्रिता हि विषया आत्मनो भोग्यत्वं प्रतिपद्यन्ते । मनःपवशानि चेन्द्रियाणि प्रवर्तन्ते च । [2]अतो मन आयतनमिन्द्रियाणाम् । अतो दर्शनाणेण फलमायतनं स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद ॥ ५ ॥

यो ह वै प्रजातिं [3]वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभिश्च संपन्नो भवति । [4]रेतो जातिः । रेतसा प्रजननेन्द्रियमु[5]पलक्ष्यते । [6]तद्विज्ञानानुरूपं फलं प्रजायते ह प्रजया

यति—किं पुनरिति । मनसो विषयाश्रयत्वं विशदयति—मन इति । इन्द्रियाश्रयत्वं तस्य यति—मनःसंकल्पेति । पूर्ववत्फलं निगमयति—अत इति ॥ ५ ॥

गुणान्तरं वक्तुं वाक्यान्तरं गृहीत्वा तदक्षराणि व्याकरोति—यो हेत्यादिना । वागादीणि तत्तद्गुणविशिष्टानि [7]शिष्ट्वा रेतो विशिष्टगुणमाचक्षाणस्य प्रकरणविरोधः स्यादित्याशऽऽह—रेतसेति । विद्याफलमुपसंहरति—तद्विज्ञानेति ॥ ६ ॥

जानता है, वह निजजनों और अन्यजनों का भी आश्रय हो जाता है। वह आयतन क्या है ? पर श्रुति कहती है—मन ही इन्द्रियों और विषयों का "आयतनम्" अर्थात् आश्रय है। मन से शित विषय ही आत्मा को भोग्यत्व रूप से प्राप्त होते हैं। मन के संकल्प के वशीभूत होकर याँ स्व-स्व विषयों में प्रवृत्त और निवृत्त होती हैं। इसलिए (इन्द्रियप्रवृत्तिप्रयोजक होने से) मन इन्द्रियों का आश्रय है। इसलिये उपासना के अनुरूप ही फल प्राप्ति होती है। जो इस रूप में

---

१. प्रकाशिताश्च ।
२. अतः—इन्द्रियप्रवृत्त्यादिप्रयोजकत्वात् ।
३. सः ।
४. तर्हि कोऽसावित्यत आह—रेतो वा इति ।
५. उपलक्ष्यत इति—इन्द्रियप्रकरणात् । प्रजोत्पत्तिहेतुत्वाच्चेति भावः ।
६. प्रजात्युपास्त्यनुगुणम् ।
७. उपदिश्य ।

ते हेमे प्राणा अहᳫं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुस्तद्धोचुः को नो वसिष्ठ इति तद्धोवाच यस्मिन्व उत्क्रान्त इदᳫं शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति ॥७॥

ये वागादि प्राण 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार विवाद करते हुए प्रजापति के पास गये पूछे जाने पर ब्रह्मा से ये बोले—भगवन् ! हममें से कौन वसिष्ठ है । ब्रह्मा ने कहा–तुममें से जिस शरीर से निकल जाने पर यह शरीर अत्यन्त पापी माना जाता हो, वही तुममें वसिष्ठ है (वसिष्ठ जानते हुए भी दूसरे को अप्रिय न लगे, इसी अभिप्राय से प्रजापति ने वसिष्ठ को स्पष्ट शब्दों नहीं कहा) ॥ ७ ॥

पशुभिर्य एवं वेद ॥ ६ ॥

ते हेमे[1] प्राणा वागादयोऽहंश्रेयसेऽहं [2]श्रेयानित्येतस्मै प्रयोजनाय विवदमाना विरु वदमाना ब्रह्म जग्मुर्ब्रह्म गतवन्तो ब्रह्मशब्दवाच्यं [3]प्रजापतिं गत्वा च तद्ब्रह्म होचुरुक्तवन्तः । को नोऽस्माक मध्ये वसिष्ठः कोऽस्माकं मध्ये वसति च वासयति च । तद्ब्रह्म तैः पृष्टं सद्धोवाचोक्तवद्यस्मिन्वो युष्माकं मध्य उत्क्रान्ते निर्गते शरीरादिदं शरीरं [4]पूर्व स्मादतिशयेन पापीयः पापतरं मन्यते लोकः । शरीरं हि नामानेकाशुचिसंघातत्वाज्जी

उक्ता वसिष्ठत्वादिगुणा न वागादिगामिनः किंतु [5]मुख्यप्राणगता एवेति दर्शयितुमाख्यायिकामधिकरोति—ते हेत्यादिना । ईयसुन्प्रयोगस्य तात्पर्यमाह—शरीरं हीति । किमिति शरीरस्य पापीय

उपासना करता है, वह स्वजनों और अन्यजनों का आश्रय होता है ॥ ५ ॥

जो प्रजाति को जानता है, वह प्रजा और पशुओं से 'प्रजायते' अर्थात् संपन्न होता है। वीर्य ही प्रजाति है। (प्रजा की उत्पत्ति का हेतु होने से) रेतस् शब्द से जननेन्द्रिय का ग्रहण होता है। प्रजाति उपासना के अनुगुण फल है। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह प्रजा और पशुओं से युक्त होता है ॥ ६ ॥

वे ये प्रकरणस्थ वागादि प्राण "अहंᳫश्रेयसे" अर्थात् (वसिष्ठत्वादि स्व-स्वगुणों से) 'मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रयोजन से 'विवदमाना' अर्थात् आपस में विरुद्ध बोलते हुए "ब्रह्म जग्मुः" अर्थात् ब्रह्म शब्द वाच्य विराट् के पास गये। उसके पास जाकर उस विराट् ब्रह्म को इस प्रकार "होचुः" यानी बोले कि हमारे में से कौन वसिष्ठ है, हममें से कौन वास करता है और कौन वास करवाता है। उन वागादि प्राणों के इस प्रकार पूछे जाने पर वह विराट् ब्रह्म बोला—तुममें से जिसके 'उत्क्रान्ते' अर्थात् निकल जाने पर इस शरीर को लोग पहले की अपेक्षा "पापीयः" अर्थात् अधिक पापी मानते हैं। अनेक अपवित्र वस्तुओं का समूह होने से जीवित पुरुष का शरीर पापरूप होता है, उससे भी अधिक पापी तब हो

---

१. इमे—प्रकृताः । २. वसिष्ठत्वादिभिः स्वस्वगुणैरिति शेषः । ३. विराजम् । ४. पूर्वावस्थातः ।
५. मुख्येति–सर्वेन्द्रियव्यापाराणां प्राणाधीनत्वादिति भावः । तथा च षड्भिरपि गुणैर्मुख्यप्राणस्यैवोपास्यत्वम् । तच्छेषत्वेन त्वितरेषाम् मुख्यप्राणश्च जीवदव्यतिरिक्त इति ध्येयम् ।

[1]वाग्घोच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथाऽकला अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह वाक् ॥ ८ ॥

पहले वाक् ने इस शरीर से उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष तक बाहर रहकर वापस कहा—तुम लोग मेरे बिना कैसे जीवित रह सके ? इस पर वे बोले—जैसा गूँगा वाणी से ते हुए, प्राण से प्राणन व्यापार करते हुए, नेत्र से देखते, कान से सुनते, मन से कर्त्तव्याकर्तव्य नते जननेन्द्रिय से प्रजा को उत्पन्न करते हुए जीते रहते हैं, वैसे ही हम लोग भी जीवत रहे। कर वाक् अपने को वसिष्ठ न समझ कर शरीर में प्रवेश कर गया ॥ ८ ॥

पि पापमेव ततोऽपि कष्टतरं यस्मिन्नुत्क्रान्ते भवति। वैराग्यार्थमिदमुच्यते—पापीय । स वो युष्माकं मध्ये वसिष्ठो भवति। जानन्नपि वसिष्ठं प्रजापतिर्नोवाचायं वसिष्ठ तरेषामप्रियपरिहाराय ॥ ७ ॥

त एवमुक्ता ब्रह्मणा प्राणा आत्मनो वीर्यपरीक्षणाय क्रमेणोच्चक्रमुः। तत्र वागेव हास्माच्छरीरादुच्चक्रामोत्क्रान्तवती। सा चोत्क्रम्य[2] संवत्सरं प्रोष्य प्रोषिता[3] भूत्वा ागत्योवाच—कथमशकत शक्तवन्तो यूयं मदृते मां विना[4] जीवितुमिति। त एवमुक्ता

च्यते तदाह—वैराग्यार्थमिति। शरीरे वैराग्योत्पादनद्वारा तस्मिन्नहंममाभिमानपरिहारार्थं र्थः। वसिष्ठो भवतीत्युक्तवानिति संबन्धः। किमिति साक्षादेव मुख्यं प्राणं वसिष्ठत्वादिगुणं नोक्त- जापतिः स हि सर्वज्ञ इत्याशङ्क्याऽऽह—जानन्नपीति ॥ ७ ॥

वाग्घोच्चक्रामेत्यादिस्तात्पर्यमाह—त एवमिति। उक्तेऽर्थे श्रुत्यक्षराणि व्याचष्टे—तत्रेत्या-

---

ता है, जब उत्क्रमण कर जाता है। 'अधिक पापी होता है' यह वैराग्य के लिए कहा जाता है। तुम में से वसिष्ठ है। विराट् प्रजापति ने वसिष्ठ जानते हुए भी, दूसरों के अप्रिय परिहार के 'यह वसिष्ठ है' ऐसा नहीं कहा ॥ ७ ॥

विराट् ब्रह्म द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर उन प्राणों ने अपने पराक्रम की परीक्षा के लिए श: एक-एक करके शरीर से उत्क्रमण करना प्रारम्भ किया। उनमें से पहले वाक् ने इस शरीर से च्चक्राम'' अर्थात् उत्क्रमण किया। शरीर से निकल कर उसने एक वर्ष पर्यन्त शरीर से अन्यत्र ोष्य'' अर्थात् प्रवास करके पुनः आकर कहा—'कथमशकत मदृते जीवितुमिति' अर्थात् तुम लोग

---

[1]. ध्येयनिर्णयार्था वागित्यादि श्रुतिर्न तु वागादीनां स्वातन्त्र्येणोत्क्रमणे तात्पर्यमसंभवादिति स्पष्टं वार्तिके।

[2]. शरीरान्निर्गत्य। [3]. प्रोषिता भूत्वा—शरीरादन्यत्र प्रवासं कृत्वा। [4]. अस्मिन्छरीरे। [5]. उक्त- वानित्यत्रोक्तवदिति व्याख्यं भाति।

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथाऽन्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ६ ॥

श्रोत्रꣳहोच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा बधिरा अशृण्वन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा

चक्षु ने शरीर से उत्क्रमण किया। एक वर्ष तक प्रवास कर लौटकर अन्य प्राणों से उस कहा—तुम लोग मेरे बिना कैसे जीवित रह सके ? अन्य इन्द्रियों ने कहा—जैसे अन्धे नेत्र से न देख हुए भी प्राण से प्राणन करते, वाक् से बोलते, कान से सुनते, मन से जानते, शिश्न से सन्तान उत्प करते हुए जीवित रहते हैं, वैसे ही हम भी जीवित रहे। यह सुनकर नेत्र शरीर में प्रवेश कर गया ॥

श्रोत्र ने उत्क्रमण किया। एक वर्ष तक बाहर रहकर लौटकर उसने कहा—तुम मेरे बि कैसे जीवित रहे ? अन्य प्राणों ने कहा—जैसे बहरे कानों से न सुनते हुए भी, प्राण से प्राणन कर

ऊचुर्यथा लोकेऽकला[1] मूका अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणनव्यापारं कुर्वन्तः प्राणेन पश्यन्तो दर्शनव्यापारं चक्षुषा कुर्वन्तस्तथा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा कार्याकार्यादिविषय प्रजायमाना रेतसा पुत्रानुत्पादयन्त एवमजीविष्म वयमित्येवं प्राणैर्दत्तोत्तरा वागात्मनोऽस्मिन्नवसिष्ठत्वं बुद्ध्वा प्रविवेश ह वाक् ॥ ८ ॥

दिना। कार्याकार्यादिविषयमित्यादिशब्देनोपेक्षणीयसंग्रहः। चक्षुरादिभिर्दत्तोत्तरा पुनर्वाक्किमकरोदिति

इस शरीर में मेरे बिना कैसे जीवित रहे। उससे इस प्रकार पूछे जाने पर वे बोले—जिस प्रकार लोग 'कला' अर्थात् मूक पुरुष वाणी से न बोलते हुए भी "प्राणन्तः प्राणेन" अर्थात् प्राण से प्राणन व्यापार करते हैं, "पश्यन्तश्चक्षुषा" चक्षु से दर्शन व्यापार करते हैं, श्रोत्र से सुनते हैं, मन से कार्य और अकार्यादि के विषय में विचार करते हैं, वीर्य से 'प्रजायमाना 'यानी पुत्र उत्पादन करते हैं—इस प्रकार सब कुछ करते हुए जीवित रहते हैं—उसी प्रकार हम भी जीवित हैं। इसी प्रकार प्राणों से इस प्रकार उत्तर सुनकर वाक् ने अपने को वसिष्ठ न समझकर पुनः इस शरीर में प्रवेश कर लिया ॥ ८ ॥

---

१. कलां इति पाठः।

पश्यन्तश्चक्षुषा विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ १० ॥

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा मुग्धा अविद्वाꣳसो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह मनः ॥ ११ ॥

रेतो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह रेतः ॥ १२ ॥

क् से बोलते, नेत्र से देखते, मन से मनन करते, शिश्न से प्रजा उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं, ही हम सब जीवित रहे। उसके बाद श्रोत्र ने भी देह में प्रवेश किया ॥ १० ॥

मन ने उत्क्रमण किया। एक वर्ष तक बाहर रहकर लौटने पर उसने अन्य प्राणों से कहा—म मेरे बिना कैसे जीवित रह सके ? उन्होंने कहा—जैसे मुग्ध पुरुष मन से न जानते हुए भी प्राण से णन करते, वाक् से बोलते, नेत्र से देखते, कानों से सुनते, शिश्न से प्रजा उत्पन्न करते हुए वित रहते हैं, वैसे ही हम लोग भी जीवित रहे। इसके बाद मन भी शरीर में प्रवेश कर गया ॥ ११ ॥

रेत ने उत्क्रमण किया। उसने भी एक वर्ष तक बाहर रहने के बाद लौट कर अन्य प्राणों से हा–तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके ? उन्होंने कहा—जैसे नपुंसक शिश्न से प्रजा न उत्पन्न रते हुए भी प्राण से प्राणन करते, वाक् से बोलते, नेत्र से देखते, कानों से सुनते और मन से जानते ए जीवित रहते हैं, ऐसे ही हम लोग भी जीवित रहे। यह सुनकर वीर्य ने भी पुनः शरीर में प्रवेश किया ॥ १२ ॥

था चक्षुर्होच्चक्रामेत्यादि पूर्ववत्। श्रोत्रं मनः 'प्रजातिरिति ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

त्राऽऽह—आत्मन इति ॥ ८ ॥

'उसी प्रकार चक्षु ने भी इस शरीर से उत्क्रमण किया' इत्यादि पूर्ववत् व्याख्या समझनी चाहिये। इसी तरह श्रोत्र, मन और उपस्थेन्द्रिय ने उत्क्रमण किया ॥ ९-१२ ॥

---

१. उपस्थेन्द्रियम्।

'अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीँशशङ्कून्संवृहेदेवꣳ हैवेमान्प्राणान्संववर्ह ते होचुर्मा भगव उत्क्रमीर्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति तस्यो मे बलिं कुरुतेति तथेति ॥ १३ ॥

उसके बाद जब मुख्य प्राण उत्क्रमण करने लगा (उसी समय वागादि प्राण अपने स्थान से विचलित हो गये)। जैसे सिन्धुदेश में उत्पन्न अच्छी जाति का घोड़ा परीक्षा के समय पैर बाँधने के खूँटों को उखाड़ डालता है, वैसे ही मुख्य प्राण ने भी इन वागादि प्राणों को अपने स्थान से विचलित कर दिया। उन वागादि ने कहा—हे भगवन्! आप उत्क्रमण न करें क्योंकि आपके बिना हम जीवित नहीं रह सकते। प्राण ने कहा—(तुम्हें मेरी श्रेष्ठता का पता लग गया है, अतः अब तुम लोग) मुझे भेंट दिया करो। वागादि प्राणों ने 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर प्राण को भेंट देना स्वीकार किया ॥ १३ ॥

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्नुत्क्रमणं करिष्यंस्तदानीमेव स्वस्थानात्प्रचलिता वागादयः। किमिवेत्याह—यथा लोके महांश्चासौ सुहयश्च महासुहयः शोभनो हयो लक्षणोपेतो महान्परिमाणतः सिन्धुदेशे भवः सैन्धवोऽभिजनतः[2] 'पड्वीशशङ्कून्पादबन्धनशङ्कून्पड्वीशाश्च ते शङ्कवश्च तान्संवृहेदुद्यच्छेद्युगपदुत्खनेदश्वारोह आरूढे परीक्षणाय। एवं हैवेमान्वागादीन्प्राणान्संववर्होद्यतवान्स्वस्थानाद्भ्रंशितवान्। ते वागादयो होचुर्हे भगवो

वागादिप्रकरणविच्छेदार्थोऽथशब्दः। उत्क्रमणं करिष्यन्यदा भवतीति शेषः। उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयन्नुत्तरवाक्यमवतारयति—किमिवेत्यादिना। प्राणस्य श्रेष्ठत्वं वागादिभिर्निर्धारितमित्याह—ते वागादय इति। 'तर्हि तत्फलेन भवितव्यमित्याह—यद्येवमिति। यथोक्तस्य प्राणसंवादस्य फल-

---

इस के बाद प्राण के 'उत्क्रमिष्यन्'' अर्थात् उत्क्रमण करने पर उसी समय वागादि प्राण अपने स्थान से च्युत हो गये। किस के समान हो गये? इस पर श्रुति कहती है—जिस प्रकार लोक में ''महासुहयः सैन्धवः'' अर्थात् जन्मभूमि से सिन्धु देश में होने वाले महान् परिमाण वाले और सुन्दर लक्षणों से युक्त घोड़े 'पड्वीशशङ्कून्' अर्थात् पैर बाँधने के खूँटों जो पड्वीश और शङ्कु हों, उनको परीक्षण के लिए सवार द्वारा घोड़े पर चढ़ते ही ''संवृहेत्'' अर्थात् उखाड़ देता है। इसी प्रकार वागादि प्राणों ने ''संववर्ह' अर्थात् उखाड़ दिया यानी अपने स्थान से विनष्ट कर दिया। वे वागादि प्राण बोले 'हे भगवो' अर्थात् 'हे भगवन्! आप इस शरीर से उत्क्रमण न करें क्योंकि

---

१. अथेति—वागादिपरीक्षणप्रकारप्रदर्शनानन्तरमित्यर्थः। २. अभिजन इति जन्मभूमित इत्यर्थः। ''भवेदभिजनः ख्यातौ जन्मभूम्यां कुलध्वजे। कुलेऽपि च पुमानिति'' मेदिनी। ३. पड्वीशेति—पदनशाला पदः पादास्तेषां संहतिः पड्वी तस्या ईशानियामकाः पड्वीशाः शङ्कवः तान्। ४. तर्हीत्यादि—यद्यहमेवात्र श्रेष्ठस्तर्हि मच्छ्रैष्ठ्यफलेन भाव्यमित्यर्थः।

सा ह वागुवाच यद्वा अहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति यद्वा अहं प्रतिष्ठाऽस्मि त्वं तत्प्रतिष्ठो-

उस वागिन्द्रिय ने कहा—मैं जो वशिष्ठा हूँ, वह वस्तुतः उस वशिष्ठत्व गुण से युक्त तुम्हीं हो। मैं जो प्रतिष्ठा हूँ, वह तुम्हीं उस प्रतिष्ठा से युक्त हो ऐसा नेत्र ने कहा। श्रोत्र ने कहा— मैं जो

भगवन्मोत्क्रमी[1]र्यस्मान्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते त्वां विना जीवितुमिति। यद्येवं मम श्रेष्ठता विज्ञाता भवद्भिरहमत्र[2] श्रेष्ठस्तस्य उ मे मम बलिं करं कुरुत [3]करं प्रयच्छतेति। अयं व प्राणसंवादः कल्पितो विदुषः श्रेष्ठपरीक्षणप्रकारोपदेशः। अनेन हि प्रकारेण विद्वान्को नु खल्वत्र[4] श्रेष्ठ इति परीक्षणं करोति। स एष परीक्षणप्रकारः संवादभूतः कथ्यते। न ह्यन्यथा[5] संहत्यकारिणां[6] सतामेषां[7] मञ्जसैव[8] संवत्सरमात्रमेवैकैकस्य निर्गमनाद्युपपद्यते। तस्माद्विद्वानेवानेन प्रकारेण विचारयति वागादीनां प्रधानबुभुत्सुरुपासनाय बलिं प्रार्थिताः न्तः प्राणास्तथे[9]ति प्रतिज्ञातवन्तः॥ १३॥

सा ह वाक्प्रथमं बलिदानाय प्रवृत्ता ह किलोवाचोक्तवती यद्वा अहं वसिष्ठाऽस्मि

निकत्वं दर्शयति—अयं चेति। कल्पनाफलं सूचयति—विदुष इति। तदेव स्पष्टयति—अनेन हीति। उपास्यपरीक्षणप्रकारो विवक्षितश्चेत्किं संवादेनेत्याशङ्क्याऽऽह—स एष इति। संवादस्य मुख्यार्थत्वाद- कल्पितत्वमाशङ्क्याऽऽह—न हीति। संवादस्य कल्पितत्वे फलितमाह—तस्मादिति। एवं प्राणसंवादस्य तात्पर्यमुक्त्वा प्रकृतमक्षरव्याख्यामेवानुवर्तयति[10]—बलिमिति॥ १३॥

सा ह वागिति प्रतीकमादाय व्याचष्टे—प्रथममिति। तेन वसिष्ठगुणेन त्वमेव वसिष्ठोऽसि तथा[11]

तुम्हारे बिना हम जीवित रहने समर्थ नहीं हैं। (प्राण बोला—)यदि ऐसा ही है तो आप ने मेरी श्रेष्ठता जान ली, 'मैं ही श्रेष्ठ हूँ'। इसलिए मुझ श्रेष्ठ के लिए 'बलिं कुरुत' अर्थात् कर दीजिए। यह प्राण संवाद कल्पनामात्र है यह श्रेष्ठता परीक्षा की प्रक्रिया का विद्वान् को उपदेश है। 'वागादि में कौन श्रेष्ठ है' इसकी विद्वान् इसी प्रकार परीक्षा करता है। वह यह परीक्षण प्रक्रिया संवाद रूप में कही गयी है। अन्यथा एकत्रित होकर ही क्रियाजनकत्व में समर्थ इन इन्द्रियों का स्वतन्त्रता से एक-एक करके एक वर्ष के लिए शरीर से निकल जाना संभव नहीं है। इसलिए वागादि प्राण में प्रधान कौन है? ऐसा जानने की इच्छा वाला विद्वान् उपासक ही उपासना के लिए इस प्रकार विचार करता है। प्राण द्वारा बलि माँगे जाने पर वागादिकों ने "हमें कर देना स्वीकार है" इस प्रकार प्रतिज्ञा की॥ १३॥

"स ह वाक्" अर्थात् प्रथम बलि देने के लिए प्रवृत्त उस वाक् ने "उवाच" अर्थात् कहा। "यद्वा

---

[1] त्वम्। [2] भवतां मध्ये श्रेष्ठस्य। [3] करं प्रयच्छतेति—पराजितैर्हि विजयिने करो दीयत इति प्रसिद्धं लोके इति भावः। [4] वागादिषु। [5] अन्यथा—संवादस्य काल्पनिकत्वानभ्युपगमे। [6] संहत्यकारिणाम्—मिलित्वा क्रियाजनकानाम्। [7] एषां—करणानाम्। [8] अञ्जसा—स्वातन्त्र्येण साक्षाद्वा। [9] तथास्त्वित्यङ्गीचक्रुः। [10] आश्रयति। [11] तथा चेति—तवैव वसिष्ठत्वगुणाश्रयत्वे सत्यहं वाक्त्वद्वासिष्ठतयैव वसिष्ठेति भावः।

ऽसीति चक्षुर्यद्वा अहꣳ संपदस्मि त्वं तत्संपदसीति श्रोत्रं यद्वा अहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति मनो यद्वा अहं प्रजातिरस्मि त्वं तत्प्रजातिरसीति रेतस्तस्यो

संपद् हूँ, वह तुम्हीं उस संपद् गुण से युक्त हो। मन ने कहा—जो मैं आयतन हूँ, वह वस्तुतः तुम्हीं आयतन हो। रेत ने कहा—मैं जो प्रजापति हूँ, वह भी वस्तुतः तुम्हीं उस प्रजातित्व गुण से युक्त हो। (प्राण ने कहा—कोरी वस्तु से क्या लाभ है, अब बतलाओ कि) ऐसे गुणों से युक्त होने पर मेरा अन्न

यन्मम वसिष्ठत्वं तत्तवैव तेन वसिष्ठगुणेन त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति। यद्वा अहं प्रतिष्ठाऽस्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसि या मम प्रतिष्ठा सा त्वमसीति। चक्षुरुवाचेति प्रत्येकं सर्वत्र संबध्यते। समानमन्यत्। संपदायतनप्रजातित्वगुणान्क्रमेण समर्पितवन्तः। यद्येवं साधु बलि दत्तवन्तो [1]भवन्तो [2]ब्रूत [3]तस्य उ मे एवंगुणविशिष्टस्य[4] किमन्नं किं वास इति[5]। आहुरितरे[6]—यदिदं लोके किंच किंचिदन्नं नामाश्वभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यः। यच्च श्वान्नं कृम्यन्नं कीटपतङ्गान्नं च तेन सह सर्वमेव यत्किंचित्प्राणिभिरद्यमानमन्नं [7]तत्सर्वं तवान्नं सर्वं प्राणस्यान्नमिति दृष्टिरत्र विधीयते।

च तद्वसिष्ठत्वं तवैवेति योजना। बलिदानमङ्गीकृत्यान्नवाससी पृच्छति—यद्येवमित्यादिना। एवंगुणविशिष्टस्य ज्येष्ठत्वश्रेष्ठत्ववसिष्ठत्वादिसंबद्धस्येत्यर्थः। यदिदमित्यादि वाक्यं व्याचष्टे—यदिदमिति। प्रकृतेन शुनामन्नेन कीटादीनां चान्नेन सह यत्किंचित्कृम्यन्नं दृश्यते तत्सर्वमेव तवान्नमिति योजना। तदेव स्फुटयति—यत्किंचिदिति। पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थं कथयति—सर्वमिति।

अहं वसिष्ठास्मि" अर्थात् मेरा जो वसिष्ठत्व है, वह तुम्हारा ही है अर्थात् उस वसिष्ठ गुण से तुम्हीं वसिष्ठ हो।' 'यद्वा अहं प्रतिष्ठास्मि "त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसि" अर्थात् जो मेरी प्रतिष्ठा है वह तुम ही हो। चक्षु बोला—इस प्रकार प्रत्येक के साथ संबन्ध समझना चाहिये। अन्य व्याख्या समान ही है। वागादि प्राणों ने अपने संपद् आयतन और प्रजातित्व गुणों को क्रमशः प्राणको अर्पित कर दिया। (प्राण बोला—)यदि यही ठीक है, तो बलि देते हुए आप मुझे बतलाइये कि मुझ (बुभुक्षु और नग्न) इस प्रकार गुणविशिष्ट का क्या अन्न है और क्या वस्त्र है। वागादि कहने लगे—लोक में कुत्ते, कृमि और कीटपतङ्गादि से लेकर जितना भी अन्न है अर्थात् कुत्ते, कृमि अथवा कीटपतङ्गों का अन्न है, उसके सहित मनुष्यों द्वारा खाया जाने वाला जितना अन्न है; वह सभी तुम्हारा अन्न है। यहाँ 'यह सब प्राण का ही अन्न है' इस प्रकार की निष्ठा का सम्पादन किया जाता है।

---

१. भवन्त इति शत्रन्तम्। २. ब्रूत यूयमित्यध्याहारः। ३. बुभुक्षोः। ४. नग्नस्येति शेषः। ५. इति प्राणवचः श्रुत्वा। ६. इतरे वागादयः। ७. तत्सर्वं तवान्नमिति—अत्र वार्तिके—"अन्नं तद्भवतः सर्वं वयं त्वच्छेषभोगिनः। जीवः प्राणोऽत्रसंसारी भोक्तेन्द्रियमनः परः" ॥ ३१ ॥ इति। 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहु'रिति श्रुतिं सूचयति—इन्द्रियमनः पर इति।

मे किमन्नं किं वास इति यदिदं किंचाऽऽश्वभ्य आ
कृमिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वास इति न
ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतं य

क्या है, वस्त्र क्या है ? वागादि ने कहा—लोक में कुत्ते, कृमि और कीट पतङ्गादि से लेकर यह जो कुछ भी है, वही सब तेरा अन्न है और जल ही तेरा. वस्त्र है। इस प्रकार जो प्राण के अन्न को जानता है, उसके द्वारा अभक्ष्य का भक्षण नहीं होता और न अभक्ष्य का प्रतिग्रह ही होता है। ऐसा

केचित्तु सर्वभक्षणे दोषाभावं वदन्ति प्राणान्नविदः[1]। तदसत् । शास्त्रान्तरेण प्रतिषिद्धत्वात् । [2]तेनास्य विकल्प इति चेत् । न । अविधायकत्वात् । न ह वा [3]अस्यानन्नं जग्धं भवतीति[4] सर्वं प्राणस्यान्नमित्येतस्य विज्ञानस्य विहितस्य स्तुत्यर्थमेतत् । [5]तेनैक-

अस्मिन्नेव वाक्ये पक्षान्तरमुत्थापयति—केचित्त्विति । न ह वा अस्येत्याद्यर्थवाददर्शनादित्यर्थः । तद्दूषयति—तदसदिति । शास्त्रान्तरेण क्रिमयो[6] भवन्त्यभक्ष्यभक्षिण इत्यादिनेत्यर्थः । प्राणविदतिरिक्तविषयं शास्त्रान्तरं सर्वभक्षणं तु प्राणदर्शिनो विवक्षितमतो व्यवस्थितविषयत्वात्प्रतिषेधेन सर्वभक्षणस्योदितानुदितहोमवद्विकल्पः स्यादिति शङ्कते—तेनेति । किं तर्हि[7] सर्वान्नभक्षणं विहितं न वा । न चेन्न तस्य निषिद्धस्यानुष्ठानं[8] प्राणविदि तत्प्रापकाभावाद्विहितं चेत्तर्हि किं यदिदमित्यादिना न हेत्यादिना वा विहितं नाऽऽद्य इत्याह—नाविधायकत्वादिति । यदिदमित्यादिना हि सर्वं प्राणस्यान्नमिति ज्ञानमेव विधीयते न तु प्राणान्नविदः सर्वान्नभक्षणं तदवद्योतिपदाभावान्न विकल्पोपपत्तिरित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—न ह वा इति । अस्येति विद्वत्परामर्शान्निपातयो[9]रर्थवादत्वावद्योतिनोर्दर्शनादेकवाक्यत्वसंभवे वाक्यभेदस्यान्याय्यत्वाच्चेति हेतुमाह—तेनेति । अर्थवादस्यापि स्वार्थे प्रामाण्यं [10]देवताधिकरण

'सभी प्राण का अन्न है' इस प्रकार जानने वाले के लिए सर्वभक्षण में कोई दोष नहीं हैं—ऐसा कुछ विचारक कहते हैं। वह मिथ्या है। (मरकर अभक्ष्यभक्षी कृमि होते हैं) अन्य शास्त्र इसका निषेध करते हैं। प्रतिषेध के साथ सर्वभक्षण का विकल्प है, ऐसा मानना भी ठीक नहीं क्योंकि यह विधिवाक्य नहीं हैं। 'इस प्राणोपासक के द्वारा अभक्ष्यभक्षण नहीं किया जा सकता, यह अग्रिम ग्रन्थ

---

१. सर्वं प्राणस्यान्नमितिविदः । २. तेनास्य—प्रतिषेधेन सह सर्वभक्षणस्येत्यर्थः । ३. अस्येत्यादि—प्राणविदोऽभक्ष्यं नैव भक्षितं भवतीत्यर्थः । ४. इत्येतद्वाक्यमित्यर्थः । ५. तेन—सर्वमन्नं प्राणस्येति विज्ञानविधायकेन यदिदं किंचेत्यादिवाक्येन । ६. क्रिमय इति—क्रिमि शब्दः कृमिपर्यायः । तथा च मेदिनी "क्रिमिर्नाक्रिमिवत्कीटे लाक्षायां कृमिलेखरे इति" । ७. तर्हि—विकल्पस्याभ्युपगमेऽपीत्यर्थः । ८. अनुष्ठानं प्राणविदि न प्राप्नोतीत्यन्वयः । ९. निपातयोः—ह वा इत्यनयोः । १०. देवतेति—संवादविसंवादाभावे सति यत्र मन्त्रादौ विग्रहादिरूपोऽर्थः सिध्यति स देवताधिकरणन्याय. यथा "वज्रहस्तः पुरंदर" इत्यत्र तात्पर्याविषयभूतमपि विग्रह वज्रहस्तत्वादिसिध्यति तात्पर्यविषयस्तु यज्ञप्राशस्त्यमेव तथा "न ह वा" इति वाक्यतात्पर्यस्य सर्वमन्नं प्राणस्येति विहितविज्ञानप्राशस्त्यविषयत्वेऽपि तदविषयोऽपि सर्वान्नभक्षणम् प्राणविदः सिध्यतीति ।

एवमेतदनस्यान्नं वेद [1]तद्विद्वाꣳसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाऽऽचामन्त्येतमेव [2]तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते ॥ १४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

जानने वाले श्रोत्रिय विद्वान् भोजन से पूर्व आचमन करते हैं और भोजन के पश्चात् भी। उसी को वे उस प्राण को अनग्न करना अर्थात् वस्त्र पहराना मानते हैं ॥ १४ ॥

॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

वाक्यतापत्तेः[3]। न तु शास्त्रान्तरविहितस्य बाधने सामर्थ्यमन्यपरत्वादस्य[4]। प्राणमात्रस्य सर्वमन्नमित्येतद्दर्शनमिह[5] विधित्सितं[6] न तु सर्वं भक्षयेदिति।

यत्तु सर्वभक्षणे दोषाभावज्ञानं तन्मिथ्यैव प्रमाणाभावात्। विदुषः प्राणत्वात्सर्वा[7]न्नोपपत्तेः [8]सामर्थ्याददोष एवेति चेत्। न। अशेषान्नत्वानुपपत्तेः। सत्यं यद्यपि विद्वा-

---

न्यायेन भविष्यतीत्याशङ्क्य न कलञ्जं भक्षयेदित्यादिविहितस्य भक्षणाभावस्य बाधने न हेत्यादेर्न सामर्थ्यं [9]दृष्टिपरत्वादस्य मानान्तरविरोधे स्वार्थे मानत्वायोगादित्याह—न त्विति। न हेत्यादेरन्यपरत्वं प्रपञ्चयति—प्राणमात्रस्येति।

[10]तत्र दोषाभावज्ञापना[11]तदेव विधित्सितमित्याशङ्क्याऽऽह—यत्त्विति। अर्थवादस्य मानान्तरविरोधे स्वार्थे मानत्वायोगस्योक्तत्वादिति भावः। प्रमाणाभावस्यासिद्धिमाशङ्कते—विदुष इति। सामर्थ्यात्प्राणस्वरूप[12]बलादिति यावत्। अदोषः सर्वान्नभक्षणे तस्येति शेषः। अर्थापत्तिं दूषयति—नेत्यादिना। अनुपपत्तिमेव विवृणोति—सत्यमिति। येनेत्यस्मात्प्राक्तथाऽपीति वक्तव्यं यद्यपीत्युपक्रमात्। [13]प्राणस्वरूप-

---

'सब प्राण का ही अन्न है' इस प्रकार विधान की गई उपासना की स्तुति के लिए है क्योंकि उसके इसकी एकवाक्यता की उपपत्ति है। उक्त श्रुतिवाक्य के अन्यपरक होने से शास्त्रान्तर द्वारा अर्थ का बाध करने की इसमें सामर्थ्य नहीं हैं। 'प्राण मात्र का यह सब अन्न है, इस दृष्टि का विधान करना यहाँ इष्ट है। यह बतलाना प्रयोजन नहीं है कि सर्वभक्षी हो जाय।

जो विचारक ऐसा कहते हैं कि सर्वभक्षी के दोषभाव का ज्ञान होता है; उनका विचार

---

१. तद्विद्वांस इति—यस्मात्प्राणस्यापो वासस्तत् तस्मादित्यर्थः। २. तदनमिति—तत् तेन उभयतोऽपां भक्षणेन। अनं प्राणम्। अनग्नम् आच्छादितमित्यर्थः। ३. उपपत्तेः। ४. अस्य न ह वा इत्यादिवाक्यस्य। ५. इह—"नह्वा" इति वाक्यस्य। ६. विधित्सितम्—एतद्दर्शनप्राशस्त्यं विवक्षितमित्यर्थः। ७. सर्वेति—सर्वान्नत्वसंभवादित्यर्थः। ८. एवमपि कथं सर्वभक्षणे दोषाभावाज्ञानस्य प्रमात्वमित्याशङ्क्योक्तरेव स्पष्टयति—सामर्थ्यादिति। ९. यथोक्तविहितविज्ञानप्राशस्त्येतात्पर्यात्। १०. सर्वभक्षणे। ११. सर्वभक्षणमेव। १२. विदुषः प्राणस्वरूपत्वान्यथाऽनुपपत्तेरित्यर्थः। १३. विदुषः।

णो येन कार्यकरणसंघातेन विशिष्टस्य विद्वत्ता तेन कार्यकरणसंघातेन कृमिकीट-
द्यशेषान्नभक्षणं नोपपद्यते । तेन [1]तत्राशेषान्नभक्षणे दोषाभावज्ञापनमनर्थकम् । अप्राप्त-
दशेषान्नभक्षणदोषस्य । ननु प्राणः [2]सन्भक्षयत्येव कृमिकीटाद्यन्नमपि । बाढम् । किंतु
तद्विषयः [3]प्रतिषेधोऽस्ति । [4]तस्माद्[5]दैवरक्तं किंशुकं [6]तत्र दोषाभावः । अत[7]स्तद्रूपेणा-
ान्नभक्षणे दोषाभावज्ञापनमनर्थकम् । अप्राप्तत्वादशेषान्नभक्षणदोषस्य । येन तु कार्य-
णसङ्घातसंबन्धेन प्रतिषेधः क्रियते तत्संबन्धेन त्विह नैव प्रतिप्रसवोऽस्ति । तस्मा-

---

र्थ्याद[8]नुपपत्तिरपि शाम्यतीति शङ्कते—नन्विति । किं [9]फलात्मना विदुषः सर्वान्नभक्षणं साध्यते किं
साधकत्वरूपेणेति विकल्प्याऽऽद्यमङ्गी करोति—बाढमिति । प्राणरूपेण सर्वभक्षणं तच्छब्दार्थः ।
प्रतिषेधाभावे सदृष्टान्तं फलितमाह—तस्मादिति । तथा [10]स्वारसिकं प्राणस्य सर्वभक्षणं [11]तत्र
तिषेधाद्दोषराहित्यमिति शेषः । तद्राहित्ये किं स्यादिति चेत्तदाह— अत इति । पञ्चम्यर्थमेव स्फोर-
—अप्राप्तत्वादिति । प्राणविदः साधकत्वाकारेण साध्यते सर्वान्नभक्षणमिति पक्षं प्रत्याह—येन
ति । इहेति प्राणविदुच्यते । [12]निमित्तान्तरादत्यन्ताप्राप्तविषयो विधिः प्रतिप्रसवो यथा ज्वरितस्या-
प्रतिषेधेऽप्यौषधं पिबेदिति तथा शास्त्राधिकारिणः सर्वाभक्ष्यभक्षणनिषेधेऽपि प्राणविदो विशेष-
विर्नोपलभ्यते [13]तथा च [14]तस्य भक्षणं दुःसाध्यमित्यर्थः । प्रतिप्रसवाभावे लब्धं दर्शयति—तस्मा-

---

प्रामाणिक होने से मिथ्या है। यदि कहो कि प्राणरूप होने से प्राणोपासक विद्वान् का सभी
न्न संभव है, ऐसी प्रमा के सामर्थ्य से सर्वभक्षण में कोई दोष नहीं होता—तो ऐसा कहना ठीक नहीं
योंकि सब कुछ ही उसका अन्न हो जाना सिद्ध नहीं होता। यद्यपि यह मानना उचित है कि प्राणो-
ासक विद्वान् प्राण ही है, तो भी जिस देहेन्द्रियसंघात से विशिष्ट पुरुष की विद्वत्ता स्वीकार की
ाती है; इस देहेन्द्रियसंघात द्वारा कृमि, कीट और देवादि (के लिए विभक्त) इन सभी के अन्नों को
भक्षण करना उससे सम्भव नहीं है। इसलिए यथोक्त संघात में सर्वविध अन्न भक्षण करना कोई दोष
नहीं है—ऐसा समझना मिथ्या है क्योंकि उसके प्रति सर्वान्नभक्षणरूप दोष तो प्राप्त ही नहीं होता।
किन्तु प्राण रूप से वह विद्वान् कृमि-कीटादि के अन्न को भी भक्षण करता ही है। ठीक है, किन्तु
उस प्राण के विषय में तो ('अभक्ष्यभक्षी कृमि होते हैं' —इस प्रकार) निषेध नहीं है। इसलिये यदि
पलाश-पुष्प स्वभाव से ही लाल है तो इसमें कोई दोष नहीं है। अतः प्राण रूप मे दोषाभाव बतलाना
निरर्थक है क्योंकि उसमें तो सर्वान्नभक्षण रूप दोष की प्राप्ति ही नहीं हो सकती। जिस देहेन्द्रिय के
संघात से प्रतिषेध किया जाता है, उसका संबन्ध रहने के कारण यहाँ उस प्रतिषेध का प्रतिप्रसव हो
ही नहीं सकता। इसलिए उस अभक्ष्यभक्षण का अतिक्रम करने से दोष ही होगा। क्योंकि 'न ह वा'

---

१. यथोक्तसङ्घाते । २. विद्वान् । ३. प्रतिषेध इति—क्रिमयो भवन्त्यभक्ष्यभक्षिण इत्ययं स्मार्तः प्रतिषेध इत्यर्थः । ४. तस्माद्—प्राणरूपेण सर्वभक्षणे प्रतिषेधाभावात् । ५ दैवेति—यथा प्रकृत्यैव रक्तं यत् किंशुकं पलाशपुष्पम् । ६. तत्र रक्तत्वाख्यो दोषो न भवतीत्यर्थः । ७. प्राणरूपेण । ८. कृम्याद्यशेषान्नभक्षणानुपपत्तिः । ९. प्राणरूपेण । १०. स्वाभाविकम् । ११. प्राणकर्तृकसर्वभक्षणं । १२. व्रतादिनिमित्तादन्यनिमित्तं निमित्तान्तरं ज्वरस्तस्मात् । १३. तथा च—प्रतिप्रसवानुपलब्धौ च । १४ तस्य—प्राणविदः सर्वभक्षणमित्यर्थः ।

[1]तत्प्रतिषेधातिक्रमे दोष एव स्यादन्यविषयत्वान्न ह वा इत्यादेः ।

न च ब्राह्मणादिशरीरस्य[2] सर्वान्नत्वदर्शनमिह विधीयते किंतु प्राणमात्रस्यैव । यथा च सामान्येन सर्वान्नस्य प्राणस्य[3] किंचिदन्नजातं [4]कस्यचिज्जीवनहेतुः । यथा वि विषजस्य क्रिमेस्तदेवान्यस्य प्राणान्नमपि सद्दृष्टमेव दोषमुत्पादयति मरणाविलक्षणम् तथा सर्वान्नस्यापि प्राणस्य प्रतिषिद्धान्नभक्षणे ब्राह्मणत्वादिदेहसंबन्धाद्दोष एव स्यात् [5]तस्मान्मिथ्याज्ञानमेवाभक्ष्यभक्षणे दोषाभावज्ञानम् ।

आपो वास इत्यापो भक्ष्यमाणा [6]वासःस्थानीयस्तव । [7]अत्र च प्राणस्याऽऽपो वा

दिति । [8]अर्थवादस्य [9]तर्हि का गतिरित्याशङ्क्याऽऽह—अन्यविषयत्वादिति । तस्य स्तुतिमात्रार्थत्वात् तद्वशान्निषेधातिक्रम इत्यर्थः ।

ननु "[10]विशिष्टस्य प्राणस्य सर्वान्नत्वदर्शनमत्र" विधीयते तथा च विदुषोऽपि "[12]तदात्मनः सर्वा भक्षणे न दोषो यथादर्शनं फलाभ्युपगमादत आह—न चेति । इतोऽपि सर्वं प्राणस्यान्नमित्येतदवष्टम्भे प्राणविदः सर्वभक्षणं न विधेयमित्याह—यथा चेति । प्राणस्य यथोक्तस्य स्वीकारेऽपि कस्यचित्कि चिदन्नं जीवनहेतुरित्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति । तथा सर्वप्राणिषु व्यवस्थयाऽन्नसंबन्धे दार्ष्टान्तिकमा —तथेति । प्राणविदोऽपि कार्यकरणवतो निषेधातिक्रमायोगे फलितमाह—तस्मादिति ।

वाक्यान्तरमादाय व्याकरोति—आप इति । "[13]स्मार्तादाचमनादन्यदेव श्रौतमाचमनमन्यतोऽप्राप्तं विधेयं तदर्थमिदं वाक्यमिति केचित्तान्प्रत्याह—अत्र चेति । वासःकार्यं परिधानम् । तत्र साक्षा-

---

यह अग्रिम ग्रन्थ विषयान्तर के लिए है ।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मणादि शरीर वाले विद्वान् को सर्वान्नत्वदृष्टि का विधान भी नहीं किया जाता किन्तु केवल प्राण की ही सर्वान्नत्व दृष्टि बतलायी गयी है । जिस प्रकार सामान्यतः 'सर्वान्न प्राण का ही है', इस प्रकार स्वीकार करने पर भी कोई अन्न किसी प्राणी के जीवन का हेतु है । जिस प्रकार विष से उत्पन्न कीड़े के लिए विष ही अन्न है किन्तु वही दूसरे के प्राणान्न होने पर भी उसकी तत्काल मृत्यु कर देता है । इसी प्रकार सर्वान्नभक्षी प्राण होने पर भी ब्राह्मणादि देह का संबन्ध होने के कारण अभक्ष्य अन्न भक्षण करने में दोष ही होगा । इसलिए अभक्ष्यभक्षण में दोषाभाव की प्रतीति होना मिथ्या प्रतीति ही है ।

'जल ही वस्त्र है' इस प्रकार भक्ष्यमाण जल में प्राण की वस्त्र दृष्टि सम्पादित करनी चाहिये प्रकृत वाक्य में प्राण का जल वस्त्र है—इस दृष्टि का विधान किया जाता है । वस्त्र के रूप में जल

---

१. अभक्ष्यभक्षणेति यावत् । २. विदुष. । ३. स्वीकारेऽपि । ४. प्राणिनः । ५. अवतरणोक्तत्वात् । ६. भक्ष्यमाणास्वासु प्राणवासो दृष्टिर्विधेयेति भावः । ७. प्रकृतवाक्ये । ८. "न ह वा" इत्यादेः । ९. प्रतिषेधोल्लङ्घने प्राणविदोऽपि दोषभाक्त्वे । का गतिरिति—वैयर्थ्यमिति भावः । १०. वागाद्यपेक्षया श्रेष्ठस्य शरीरविशिष्टस्य । ११. यदिदमिति वाक्यस्य । १२. प्राणात्मनः । १३. "द्विजो नित्यमुपस्पृशेद्" इत्यादिस्मृतिविहितात् ।

तद्दर्शनं विधीयते । न तु वासःकार्यं आपो विनियोक्तुं शक्याः । 'तस्माद्यथाप्राप्ते-क्षणे दर्शनमात्रं कर्तव्यम् । न ह वा अस्य सर्वं प्राणस्यान्नमित्येवंविदोऽनन्नमनदनीयं धं भुक्तं न भवति ह । यद्यप्यनेनानदनीयं भुक्तमदनीयमेव भुक्तं स्यान्न तु तत्कृत-षेण लिप्यत इत्येतद्विद्यास्तुतिरित्यवोचाम । तथा नानन्नं प्रतिगृहीतं यद्यप्यप्रतिग्राह्यं त्यादि प्रतिगृहीतं स्यात्तदप्यन्नमेव प्रतिग्राह्यं प्रतिगृहीतं स्यात्तत्राप्यप्रतिग्राह्यप्रति-दोषेण न लिप्यत इति स्तुत्यर्थमेव य एवमेतदनस्य प्राणस्यान्नं वेद । फलं तु प्राणा-भाव एव न त्वेतत्फलभिप्रायेण किं तर्हि स्तुत्यभिप्रायेणेति । नन्वेतदेव फलं मान्न भवति । न प्राणात्मदर्शिनः प्राणात्मभाव एव फलम् । 'तत्र च प्राणात्मभूतस्य त्मनोऽनदनीयमप्याद्यमेव । तथाऽप्रतिग्राह्यमपि प्रतिग्राह्यमेवेति यथाप्राप्तमेवोपादाय

विनियोगायोगे प्राप्तमर्थमाह—तस्मादिति । यदिदं किंचेत्यादावुक्तदृष्टिविधेरर्थवादमादाय वष्टे—नेत्यादिना । पुनर्नञनुकर्षणमन्वयाय । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—यद्यपीति । अभक्ष्य-णं तर्हि स्वीकृतमिति चेन्नेत्याह—इत्येतदिति । यथा प्राणविदो नानन्नं भुक्तं भवति तथेत्येतद् । मतस्तर्हि प्राणविदो दुष्प्रतिग्रहोऽपीत्याशङ्क्याऽऽह—तत्रापीति । असत्प्रतिग्रहे प्राप्तेऽपीत्यर्थः । मित्ययं स्तुत्यर्थवादः फलवाद एव किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—फलं त्विति । इतिशब्दः सर्वं णस्यान्नमितिदृष्टिविधेः सार्थवादस्योपसंहारार्थः । उक्तमेवार्थं चोद्यसमाधिभ्यां समर्थयते—नन्वि-दिना । यथाप्राप्तं प्रकृतवाक्यवशात्प्रतिपन्नं 'रूपमनतिक्रम्येति यावत् । वाक्यस्य विद्यास्तुतित्वे

प्रयोग नहीं किया जा सकता । इसलिये यथाप्राप्त जल भक्षण में केवल दृष्टि मात्र की भावना करनी चाहिये । 'सब अन्न प्राण का ही है', इस प्रकार जानने वाले इस विद्वान उपासक से 'अनन्नम्' र्थात् अभक्षणीय अन्न 'जग्धम्' अर्थात् भक्षण नहीं किया जा सकता । और कदाचित् यदि यह कोई अभक्ष्य खा ले, तो भी यह भक्ष्य ही होगी, उससे होने वाले दोष से लिपायमान नहीं होता, यह इस विद्या की स्तुति है– ऐसा हम पहले ही कह आये हैं । तथा इसके द्वारा अभक्ष्य अन्न का प्रतिग्रहण भी नहीं होता । यद्यपि यह हाथी आदि अप्रतिग्राह्य वस्तुओं को भी प्रतिग्रह में ले ले, ना भी वह प्रतिग्राह्य अन्न का ही प्रतिग्रहण होगा, वहाँ भी अप्रतिग्राह्य वस्तु को प्रतिग्रहण करने रूप दोष से यह लिप्त नहीं होता, यह स्तुति के लिए ही है । जो इस प्रकार इस "अनस्य" अर्थात् प्राण को अन्न जानता है, उसे प्राणतादात्म्य भाव रूप फल ही मिलता है । यह कथन इस यथाश्रुत फलाभिप्राय से नहीं है । तो किसलिए है ? स्तुति के अभिप्राय से है । किन्तु यही इसका फल क्यों नही है ? नहीं, क्योंकि प्राणात्मदर्शी का फल प्राणतादात्म्यभाव प्राप्ति ही है । ऐसा होने पर प्राणतादात्म्यभाव को प्राप्त हुए सर्वात्मा के लिए अभक्ष्य भी भक्ष्य ही है, तथा अप्रतिग्राह्य भी प्रतिग्राह्य ही है—इस प्रकार यथा-प्राप्त स्थिति को ग्रहण कर विद्या की स्तुति की जाती है । इसलिये वाक्य की फल विधि स्वरूपता

---

१. अवतरणोक्तत्वात् । २. कदाचिदभक्ष्यमपि । ३. एतदिति—यथाश्रुतफलाभिप्रायेण न "न ह वा" इत्यादिवाक्यमित्यर्थः । ४. तथा सति । ५. प्रतीयमानमर्थमिति यावद् ।

विद्या स्तूयते । अतो नैव फलविधिस्वरूपता वाक्यस्य ।

'यस्मादापो वासः प्राणस्य तस्माद्विद्वांसो ब्राह्मणाः श्रोत्रिया अधीतवेदा अशिष्यन्तो भोक्ष्यमाणा आचामन्त्यपोऽशित्वाऽऽचामन्ति भुक्त्वा चोत्तरकालमपो भक्षयन्ति तत्र तेषामाचामतां कोऽभिप्राय इत्याह—एतमेवानं प्राणमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते । अपि चैतद्यो यस्मै वासो ददाति स तमनग्नं करोमीति हि मन्यते । प्राणस्य चाऽऽपो वास इति ह्युक्तम् । यदपः पिबामि तत्प्राणस्य वासो ददामीति विज्ञानं कर्तव्यमित्येवमर्थमेतत् ननु भोक्ष्यमाणो भुक्तवांश्च [2]प्रयतो भविष्यामीत्याचामति । [3]तत्र च प्राणस्यानग्नताकरणार्थत्वे च द्विकार्यताऽऽचमनस्य [4]स्यात् । न च कार्यद्वयमाचमनस्यैकस्य युक्तम् । यदि

फलितमाह—अत इति ।

यदुक्तमापो वास इति तस्य शेषभूतमुत्तरग्रन्थमुत्थाप्य व्याचष्टे—यस्मादिति । तत्रेत्यशनत्प्रागूर्ध्वकालोक्तिः । उक्तेऽभिप्राये लोकप्रसिद्धिमनुकूलयति—अस्ति चेति । [5]तत्रैव वाक्योपक्रमस्यऽऽनुकूल्यं दर्शयति—प्राणस्येति । किमर्थमिदं सोपक्रमं वाक्यमित्यपेक्षायामत्र[6] चेत्यादावुक्तं स्मारय—यदप इति । दृष्टिविधानमसहमानः शङ्कते—नन्विति । अस्तु प्रायत्यार्थमाचमनं प्राणपरिधाना चेत्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति । [7]कुल्याप्रणयनन्यायेन द्विकार्यत्वाविरोधमाशङ्क्याऽऽह—न चेति । [8]तत्र प्रत्यक्षत्वात्कार्यभेदस्याविरोधेऽपि प्रकृते प्रमाणाभावाद्द्विकार्यत्वानुपपत्तिरित्यभिप्रेत्योक्तमुपपादयति —यदीति । ननु स्मार्तमाचमनस्य प्रायत्यार्थत्वं तस्यैवानग्नतार्थत्वं प्रकृतवाक्यादधिगतं [9]तथाच क

नहीं है।

क्योंकि जल प्राण का वस्त्र है; इसलिए "श्रोत्रियाः" अर्थात् वेदाध्ययन किये हुए, विद्वान् ब्राह्मण "अशिष्यन्तः" अर्थात् भोजन करने से पूर्व "आचामन्ति" अर्थात् जल का आचमन करते हैं, और "अचित्वा आचामन्ति" अर्थात् भोजन करने के बाद भी जल से आचमन करते हैं। वहाँ जल से आचमन करने का उनका क्या अभिप्राय है ? इस पर श्रुति कहती है—इस प्रकार उभयविध जल का आचमन करते हुए 'एनम्' अर्थात् प्राण को वस्त्र से आच्छादित करते हुए मानते हैं । ऐसा होता है कि जिसको वस्त्र देता है, वह 'उसे मैं अनग्न करता हूँ' ऐसा मानता है । जल प्राण का वस्त्र है—ऐसा कहा जा चुका है । जो जल पीता हूँ, वह प्राण को वस्त्र देता हूँ- ऐसी दृष्टि रूप उपासना करनी चाहिये, यही इसका तात्पर्य अर्थ है । इस पर शङ्का होती है कि भोजन करने वाला और कर चुकने वाला व्यक्ति केवल इसलिए आचमन करता है कि इससे मैं शुद्ध हो जाऊँगा । वहाँ यदि प्राण की नग्नता निवारण भी उद्देश्य रहे तो उस आचमन के दो कार्य होंगे । एक ही आचमन से दो कार्य

---

१. मूलस्थतत्पद व्याचष्टे—यस्मादित्यादिना । २. प्रयतः शुद्ध इत्यर्थः । "पवित्रः प्रयतः पूत" इत्यमरः । ३. आचमनस्य प्रायत्यार्थत्वे निश्चिते सति । ४. स्यादिति—सा चाऽयुक्ताऽसति बाधके एकस्य कर्मणोऽनेकार्थत्वासिद्धेः "एकस्य तस्य स्यादेकार्थत्वमित्युत्सर्गा"दिति भावः । ५. उक्ताभिप्राये एव । ६. १४५८पृष्ठभाष्ये । ७. कुल्येति—यथा कुल्याप्रणयनं सस्याभिषेकाय चाचमनाद्यर्थाय च भवति तथाऽऽचमनमपि प्रायत्यार्थं प्राणानग्नतार्थं च भवतु को विरोध इत्यर्थः । ८. कुल्याप्रणयने । ९. एवमुभयार्थत्वे ।

प्रायत्यार्थं नानग्नतार्थमथानग्नतार्थं न प्रायत्यार्थम् । यस्मादेवं तस्माद्द्वितीयमा[१]चमनान्तरं प्राणस्यानग्नताकरणाय भवतु । न, क्रियाद्वित्वोपपत्तेः । [२]द्वे ह्येते क्रिये [३]भोक्ष्यमाणस्य भुक्तवतश्च यदाचमनं स्मृतिविहितं तत्प्रायत्यार्थं भवति क्रियामात्रमेव न तु [४]तत्र प्रायत्यं दर्शनाद्यपेक्षते । तत्र चाऽऽचमनाङ्गभूतास्वप्सु [५]वासोविज्ञानं [६]प्राणस्येतिकर्तव्यतया चोद्यते । न तु [७]तस्मिन्क्रियमाणे आचमनस्य प्रायत्यार्थता बाध्यते ‘[८]क्रिया[९]न्तरत्वादाचमनस्य। [१०]तस्माद्भोक्ष्यमाणस्य भुक्तवतश्च यदाचमनं [११]तत्राऽऽपो वासः प्राणस्येति दर्शनमात्रं विधीयते ।

द्विकार्यत्वमप्रामाणिकमित्याशङ्क्य वाक्यस्य विषयान्तरं दर्शयति—यस्मादिति । द्विकार्यत्वदोषमुक्तं दूषयति—नेत्यादिना । तच्चाऽऽचमनं दर्शननिरपेक्षमित्याह—क्रियामात्रमेवेति । नन्वाचमने[१२] फलभूतं प्रायत्यं दर्शनमापेक्षमिति चेन्नेत्याह— न त्विति । [१३]क्रियाया एव तदाधानसामर्थ्यादित्यर्थः । तत्रेत्याचमने शुद्धयर्थे [१४]क्रियान्तरे सतीत्यर्थः । प्राणविज्ञानप्रकरणे वासोविज्ञानं चोद्यते चेद्वाक्यभेदः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—प्राणस्येति । [१५]सर्वान्नविज्ञानवदिति चकारार्थः । [१६]आचमनीयास्वप्सु वासोविज्ञानं क्रियते चेत्कथमाचमनस्य प्रायत्यार्थत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति । [१७]द्विकार्यत्वदोषाभावे फलितं दर्शनविधिमुपसंहरति—तस्मादिति । अप्राप्तत्वाद्वासोदृष्टेर्विधिव्यतिरेकेण प्राप्त्यभावाद्दृष्टेश्चात्र [१८]प्रकृतत्वा[१९]त्कार्या-

---

के निष्पन्न होने की संगति नहीं बैठती । यदि आचमन का उद्देश्य शुद्धिकरण होगा तो अनग्नता नहीं होगा । यदि ऐसा है तो (स्मार्त आचमन से भिन्न) दूसरा आचमन प्राण की अनग्नता करने के लिए हो जायगा । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि दो क्रियाओं का एक साथ होना संभव है । ये दोनों क्रियाएँ होती हैं; भोजन करने वाले एवं भोजन कर चुकने वाले का जो यह स्मृतिविहित आचमन होता है, वह केवल शुद्धि के लिए होता है, वह क्रिया मात्र ही है क्योंकि आचमन में शुद्धि को किसी दृष्टि आदि की अपेक्षा नहीं है । वहाँ आचमन के अङ्गभूत जल में प्राणविज्ञान के वस्त्रविज्ञान का इतिकर्तव्यता रूप से विधान किया जाता है । उसकी भावना से आचमन की शुद्धयर्थता का बाध होता हो—ऐसी बात नहीं है क्योंकि आचमन तो (दर्शन से) क्रियान्तर है । इसलिये भोजन करने वाले और कर चुकने वाले का जो आचमन है, उसमें ‘जल प्राण का

---

१. स्मार्ताचमनतो भिन्नम् । २. संग्रहवाक्यं विवृणोति— द्वे हीति । ३. आचमनाख्या ह्येका क्रिया आचमनाङ्गभूतास्वप्सु वासोदर्शनाख्या चापरा । एतदेवोपपादयति— भोक्ष्यमाणस्येत्यादिना । ४. आचमने । ५. द्वितीया क्रिया । ६. प्राणविज्ञानस्य । ७. आचमनाङ्गभूतवासोदर्शने । ८. क्रियेति—तथा च नोक्तोत्सर्गविरोध इति ध्येयम् । ९. दर्शनतः । १०. अवतरणोक्तत्वात् । ११. आचमने अङ्गभूताः । १२. आचमने दर्शनसापेक्षमिति संबन्धः । १३. आचमनक्रियाया एव प्राणाधानसामर्थ्यात् । १४. वासोविज्ञानक्रियातः । १५. सर्वान्नेति–तद्वदेव स्वातन्त्र्येण चोदनाभावान्न वाक्यभेद इति भावः । १६. शुद्धयर्थं विनियुक्तस्यैवाचमनस्य प्राणपरिधानार्थत्वे विनियुक्तविनियोगविरोधः स्यादित्याशयेन शङ्कते–आचमनीयास्विति । १७. क्रियाद्वित्वतः । १८. ब्र. सू. ३.३.१९ । १९. कार्येति—प्राणं प्रति वासस्त्वध्यानमेवापूर्वमप्राप्तं प्राणविद्याङ्गत्वेन विधेयं यथा सर्वान्नध्यानं न त्वाचमनमत्र विधेयम् । कुतः, कार्याख्यानात् स्मृत्या सर्वानुष्ठानेषु शुद्धयर्थं कार्यस्याचमनस्य प्राणविद्यायामपि प्राप्तस्य वासस्त्वविधानार्थमनुवादादिति संक्षेपतः सूत्रार्थः ।

अप्राप्तत्वादन्यतः ॥ १४ ॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये षष्ठाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

(अथ षष्ठाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ।)

श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेय इत्यस्य संबन्धः[1][2] । खिलाधिकारोऽयं तत्र यदनुक्तं तदुच्यते । [3]सप्तमाध्यायान्ते ज्ञानकर्म[4]समुच्चयकारिणाऽग्नेर्मार्गयाचनं कृतम् । अग्ने नय सुपथेति । तत्रानेकेषां पथां सद्भावो मन्त्रेण सामर्थ्यात्प्रदर्शितः । सुपथेति विशेषणात् । पन्थानश्च [5]कृतविपाकप्रतिपत्तिमार्गाः[6] । वक्ष्यति[7] च यत्कृत्वेत्यादि । [8]तत्र च कति कर्मविपाकप्रति-

---

ख्यानादपूर्वमिति च न्यायादित्यर्थः ॥ १४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां षष्ठाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणान्तरमादाय तस्य पूर्वेण संबन्धं प्रतिजानीते—श्वेतकेतुरिति । कोऽसौ संबन्धस्तमाह—खिलेति । तत्र [9]कर्मकाण्डे ज्ञानकाण्डे वा यद्वस्तु प्राधान्येन नोक्तं तदस्मिन्काण्डे वक्तव्यमस्य [10]खिलाधिकारत्वा[11]त्तथाच पूर्वमनुक्तं वक्तुमिदं ब्राह्मणमित्यर्थः । वक्तव्यशेषं दर्शयितुं वृत्तं कीर्तयति—सप्तमेति । समुच्चयकारिणो मुमूर्षोरग्निप्रार्थनेऽपि [12]किं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति । [13]अध्यायावसानं सप्तम्यर्थः । सामर्थ्यमेव दर्शयति—सुपथेतीति । विशेषणवशाद्बहवो मार्गा भान्तु किं पुनस्तेषां स्वरूपं तदाह—पन्थानश्चेति । [14]तत्र वाक्यशेषमनुकूलयति—वक्ष्यति चेति । संप्रत्याकाङ्क्षाद्वारा समनन्तर-

---

वस्त्र है' इस दृष्टिमात्र का विधान किया जाता है क्योंकि अन्य किसी भी प्रमाण से इसकी प्राप्ति नहीं होती ॥ १४ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में षष्ठाध्यायस्थ प्रथम ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दी-भाषानुवाद सम्पन्न हुआ ॥ १ ॥

अरुण का पुत्र आरुणेय श्वेतकेतु था। इस उपनिषद्वाक्य की पूर्वसन्दर्भ से व्याख्या कही जाती है । यह खिलकाण्ड है; इसमें जो पहले नहीं कहा गया—उसे अब कहा जाता है । सप्तम अध्याय (उपनिषत् के पञ्चम अध्याय) के अन्त में ज्ञानकर्म समुच्चयकारी मुमूर्षु द्वारा 'अग्ने नय सुपथा' इस मन्त्र से अग्नि से देवयान मार्ग की याचना की गई है । वहाँ मन्त्र के सामर्थ्य से अनेक मार्गों का

---

[1] संबन्ध इति—"सङ्गतिः शेषशेषित्वरूपा वोत्थापकादिता । बोध्या पूर्वेण संदर्भेणास्य वै खिलभावतः ॥ प्रकारास्तत्र भिद्यन्ते न तु सङ्गतिगा भिदा । ते च चत्वार एते स्युर्निगद्यन्ते यथाक्रमम् ॥ मार्गसंख्या भवेदाद्यः प्रकारोऽथ द्वितीयकः । देवयानादिभेदेन विवेको वर्त्मसङ्गतः ॥ ज्ञानमेवामृतत्वस्य हेतुरित्यत्र हेतुगः । तृतीयः स तुरीयोऽयं कर्तुः फलसमागमः ॥ तद्द्वारकश्च विद्यायामविकारिप्रवर्तनम्" । इति संक्षेपतो ज्ञेयं तत्प्रकारप्रदर्शनम् । [2] उच्यत इति शेषः । [3] पञ्चमाध्यायान्ते । [4] मुमूर्षुणा । [5] अनुष्ठितकर्मफलप्राप्तिसाधनस्वरूपा इत्यर्थः । [6] दक्षिणोदगग्रो मार्गाः । [7] बृ. उ. ६. २. २. । [8] तत्र चेति—सुपथेति विशेषणवशात्पथामनेकत्वे यथोक्तस्वरूपत्वे च सति पथामित्यर्थः । [9] प्रवर्ग्याख्याद्याध्यायद्वयरूपे । मधुमुनिकाण्डयोः । [10] खिलेति—खिलकाण्डत्वादित्यर्थः । अनुक्तार्थवत्त्वे नारब्धत्वादिति यावत् । खिलः शेषः । [11] अस्य खिलकाण्डत्वे सति । [12] सङ्गतो किमायातम् । [13] पञ्चमाध्यायेति यावत् । [14] मार्गेषु ।

त्तिमार्गा 'इति सर्वसंसारगत्युपसंहारार्थोऽयमारम्भः । एतावती हिं संसारगतिः । एता-
वान्कर्मणो विपाकः 'स्वाभाविकस्य शास्त्रीयस्य च सविज्ञानस्येति । यद्यपि द्वया ह प्राजा-
पत्या इत्यत्र 'स्वाभाविकः पाप्मा सूचितः । न च तस्येदं कार्यमिति विपाकः प्रदर्शितः ।
शास्त्रीयस्यैव तु विपाकः प्रदर्शितस्त्र्यन्नात्मप्रतिपत्त्यन्तेन' । ब्रह्मविद्यारम्भे 'तद्वैराग्यस्य

ाह्मणतात्पर्यमाह—तत्रेति । उपसंह्रियमाणां संसारगतिमेव 'परिच्छिनत्ति—एतावती हीति ।
दक्षिणोदगधोगत्यात्मिकेति यावत् । "कर्मविपाकस्तर्हि कुत्रोपसंह्रियते तत्राऽऽह—एतावानिति । इति-
शब्दो यथोक्तसंसारगत्यतिरिक्तकर्मविपाकाभावात्तदुपसंहारार्थं एवायमारम्भ इत्युपसंहारार्थः । अथो-
द्गीथाधिकारे सर्वोऽपि कर्मविपाकोऽनर्थं एवेत्युक्त्वा"त्परिशिष्टसंसारगत्यभावात्कथं "खिलकाण्डे
तन्निर्देशसिद्धिरत आह—यद्यपीति । कस्तर्हि विपाकस्तत्रोक्तस्तत्राऽऽह—शास्त्रीयस्येति । "तत्र सुकृत-
विपाकस्यैवोपन्यासे हेतुमाह—ब्रह्मविद्येति । अनिष्टविपाकात्तु वैराग्यं "सुकृताभिमुख्यादेव सिद्धमिति
न "तत्र तद्विवक्षा । इह पुनः शास्त्रसमाप्तौ खिलाधिकारे "तद्विपाकोऽप्युपसंह्रियत इति भावः । प्रकारा-
न्तरेण संगतिं वक्तुमुक्तं स्मारयति—तत्रापीति । शास्त्रीयविपाकविषयेऽपीत्यर्थः । उत्तरग्रन्थस्य

अस्तित्व प्रदर्शित किया गया है । क्योंकि 'सुपथा' यह विशेषण लगाया गया है । "पथ" अनुष्ठित-
कर्मफल प्राप्ति साधन स्वरूप मार्गों के नाम हैं । "जिसको अनुष्ठान कर देवयान पथ को प्राप्त
करते हैं"—इस प्रकार श्रुति आगे कहेगी । मार्गों के अनेक होने के कारण वहाँ अनुष्ठित कर्मफल
प्राप्तिसाधन स्वरूप मार्ग कौन से हैं, ऐसी आकांक्षा होने पर सम्पूर्ण संसार के मार्ग का उपसंहार
करने के लिए इस ग्रन्थ का आरम्भ किया जाता है । बस इतनी ही संसार की गति है और इतना
ही शास्त्रानाधेय और विज्ञानयुक्त शास्त्रीय कर्म (दक्षिणादि गत्यात्मक) परिणाम है । यद्यपि "प्रजा-

---

१. आकांक्षायाम् । २. दक्षिणादिगत्यात्मक एव । ३ शास्त्रानाधेयस्य । ४. बृ. उ. १. ३. १. । ५. शास्त्रानाधेयः । ६. कर्मणः । ७. प्रबन्धेन । ८. सुकृतविपाकेति भावः । ९. तस्याः परिमाणं कथयति । १०. अस्य ब्राह्मणस्य संसारगत्युपसंहारार्थत्वे । ११. कर्मविपाकातिरिक्तसंसारगत्याभावात् । १२. खिलस्यानुक्तोक्तिरूपत्वात् । १३. उद्गीथाधिकारे । १४. सुकृताभिमुख्यादिति—सुकृताद्विरञ्जनीयानामधिकारिणां सुकृतैकपरत्वादित्यर्थः । १५. उद्गीथधिकारे विपाकस्य वैशिष्ट्यात् । १६. अनिष्टविपाकः ।

❀ मार्गा इत्यादि । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"दक्षिणोदगधोमार्गा विहितप्रतिषिद्धयोः । विपाकाः कर्मणो वाच्यास्तद्वैराग्यप्रसिद्धये ॥ नाविरक्तस्य निःशेषसांसारिकपुमर्थतः । प्रवृत्तिर्मुक्तये तस्माच्छ्रुत्या यत्नात्तदुच्यते । शक्नुवन्ति न कर्माणि सर्वकामसमापनम् । निषेद्धुं वाऽखिलानर्थांस्तत्फलस्यातिफल्गुतः ॥ न कर्म कारणं मुक्तेर्नाग्निर्दाहज्वरापनुत् । कर्मभ्यो जन्म नियतं जन्म चेन्निवृंतिः कुतः ॥ न कर्मणा कनीयस्ता महत्त्वं चान्तात्मनः । इति बाहुमिवोद्धृत्य वेदान्तैर्घोषणा कृता ॥ न तत्र दक्षिणा यन्ति विद्ययैव तदाप्यते । इति श्रीयाज्ञवल्क्येन मुक्तकण्ठमुदाहृतम् । अतो मुक्ति परीच्छद्भिरुत्पत्त्यादिविरोधिनीम् । त्यक्त्वा कर्माण्यथैकात्म्यज्ञानं सर्वात्मनाऽऽश्रयेत् ॥ तमोन्तरायतो मुक्तेर्नान्तरायोऽपरोऽस्ति हि । तमोहृतिर्न कर्मभ्यो ज्ञानात्सा व्यञ्जकत्वतः" ॥ ५-१२ ॥ इति । के ते मार्गा येषां निरूपणमिष्यतेऽत आह—दक्षिणेति । तेषां स्वरूपमाह—विहितेति । तदुक्तिफलमाह—वाच्या इति । तच्छब्दः कर्मफलार्थः ॥ वैराग्योक्तिरकिंचित्करेति चेन्नेत्याह—नेत्यादिना । संसारगतिभेदेषु दुःखबहुलेषूक्तेषु विवेकिनो वैराग्यसिद्धिस्तच्च मुमुक्षुत्वहेतुरतः श्रुत्या कर्म-

विवक्षितत्वात् । तत्रापि केवलेन कर्मणा पितृलोको विद्यया विद्यासंयुक्तेन च कर्मणा देवलोक इत्युक्तम् । तत्र केन मार्गेण पितृलोकं प्रतिपद्यते केन वा देवलोकमिति नोक्तम् । [1]तच्चेह खिलप्रकरणेऽशेषतो वक्तव्यमित्यत[2] आरभ्यते । अन्ते च सर्वोपसंहारः शास्त्रस्येष्टः ।

अपि चैतावद[3]मृतत्वमित्युक्तं [4]न कर्मणो[5]ऽमृतत्वाशाऽस्तीति च तत्र हेतुर्नोक्तस्तदर्थश्चायमारम्भः । यस्मादियं [6]कर्मणो गतिर्न नित्येऽमृतत्वे व्यापारोऽस्ति तस्मादे[7]तावदेवामृत-

---

विषयपरिशेषार्थं पातनिकामाह—तत्रेति । लोकद्वयं सप्तम्यर्थः । प्रागनुक्तमपि देवयाना[9]द्यत्र वक्तव्यमिति कुतो नियमसिद्धिस्तत्राऽऽह—तच्चेति । वक्तव्यशेषस्य सत्त्वे फलितमाह—इत्यत इति । यत्तर्हि[10] प्रागनुक्तं तद्देवयानादि वक्तव्यं प्रागेवोक्तं तु ब्रह्मलोकादि" कस्मादुच्यते तत्राऽऽह—अन्ते चेति । शास्त्रस्यान्ते चेति संबन्धः ।

इतश्चेदं ब्राह्मणमगतार्थत्वादारभ्यमित्याह—अपि चेति । एतावदित्यात्मज्ञानोक्तिः । अमृतत्वं [12]तत्साधनमिति यावत् । चकारादुक्तमित्यनुषङ्गः ज्ञानमेवामृतत्वे हेतुरित्युक्तोऽर्थस्तत्रेति सप्तम्यर्थः । तदर्थो हेतुत्व[13]पदेशार्थः । कथं पुनर्वक्ष्यमाणा [14]कर्मगतिर्ज्ञानमेवामृतत्वसाधनमित्यत्र हेतुत्वं प्रतिपद्यते तत्राऽऽह—यस्मादिति । व्यापारोऽपि कर्मण इति शेषः । सामर्थ्याज्ज्ञानातिरिक्तस्योपायस्य संसारहेतु-

---

पति की देव और असुर द्विविध सृष्टि हुई"— इत्यादि पूर्व प्रतिपादित प्रसङ्ग में शास्त्रानाधेय पाप को सूचित किया गया है। किन्तु वहाँ यह 'यह उसका कार्य हैं' इस प्रकार (अनुष्ठित कर्म का) फल प्रदर्शित नहीं किया गया। 'त्र्यन्नात्मक प्राप्ति तक के' मन्त्र द्वारा केवल शास्त्रीय कर्म का ही फल दिखलाया गया है क्योंकि ब्रह्मविद्या के प्रारम्भ में उससे वैराग्य बतलाना अभीष्ट है । वहाँ भी केवल कर्म से पितृलोक और उपासना तथा उपासना सहित कर्म से देवलोक मिलता है—ऐसा कहा जा चुका है । पर किस मार्ग से पितृलोक की प्राप्ति होती है और किस मार्ग से देवलोक की प्राप्ति होती है, यह नहीं बतलाया गया । उस (पूर्व अनुक्त देवयानादि) को यहाँ खिलकाण्ड में पूर्णतया बतलाना है, इसलिए ग्रन्थ का

विवेकाद्वैराग्यं विवक्षितमित्यर्थः ।। कर्मवशादेवाशेषपुरुषार्थसंभवान्न तद्विपाकविषयं वैराग्यं युक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—शक्नुवन्तीति ।। तेषां मुक्तिफलत्वाद्धेत्वसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—नेति । तदेव साधयति—कर्मभ्य इति । आत्मरूपे मोक्षे कर्माफलमित्यत्र प्रमाणमाह—न कर्मणेति ।। तत्रैव स्मृतिमुदाहरति—न तत्रेति ।। मोक्षस्याकर्मायत्तत्वे फलितमाह—अत इति । त्याज्यानि कर्माणीति शेषः । तदनन्तरकार्यमर्थमाह—त्यक्त्वेति । श्रवणादिकार्यद्योतकोऽथशब्दः । सर्वात्मनेत्यन्तर्बहिर्व्यापारान्तराभाव द्योतयति । 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेती'ति हि श्रुतिः ।। मोक्षे कर्मानुपयोगेऽपि तद्व्यवधिभङ्गे तदुपयुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—तमोन्तरायत इति । अन्तरायान्तरस्याप्रमाणकत्वद्योतको हिशब्दः । कर्मणामव्यञ्जकत्वात्तेभ्यस्तमोहते रयोगाज्ज्ञानस्य व्यञ्जकत्वात्तस्मात्तत्सिद्धिर्व्यवधानान्तरं त्वप्रामाणिकमित्यर्थः । सुपथेतिविशेषणप्राप्तबहुमार्गनिरूपणाय ब्राह्मणमित्येकः संबन्धः । ज्ञानस्यैव मुक्तिहेतुता कर्मणां बन्धफलत्वेन तत्रानन्वयादिति वक्तुं तदित्यपरः ।।

---

१. प्रागनुक्तदेवयानादिवर्त्म । २. अवतरणोक्तत्वात् । ३. बृ. उ. ४. ५. १५ । ४. बृ. उ. ४. ५. ३ । ५. बृ. उ २. ४. २ । ६. वक्ष्यमाणं कर्मफलम् । ७. आत्मज्ञानादेव । ८. विभागार्थम् । ९. आदित्याह्य पितृयाणम् । १०. वक्तव्यशेषसत्त्वे । ११. अत्र । १२. अमृतत्वसाधनम् । १३. कथनार्थः । १४. कर्मफलम् ।

साधनमिति[1] सामर्थ्याद्धेतुत्वं संपद्यते । अपि चोक्तमग्निहोत्रे [2]न त्वेवैतयोस्त्वमुत्क्रान्ति र्गतिं न प्रतिष्ठां न तृप्तिं न पुनरावृत्तिं न लोकं प्रत्युत्थायिनं वेत्थेति । [3]तत्र [4]प्रतिवचने वा एते आहुती हुते उत्क्रामत इत्यादिना आहुतेः [5]कार्यमुक्तम् । तच्चैतत्कर्तुराहुति- क्षणस्य कर्मणः फलम् । न हि कर्तारमनाश्रित्याऽऽहुतिलक्षणस्य [6]कर्मणः स्वातन्त्र्येणो-

---

नियमादित्यर्थः । प्रकारान्तरेण ब्राह्मणतात्पर्यं वक्तुमग्निहोत्रविषये जनकयाज्ञवल्क्यसंवादसिद्धमर्थं- वदति—अपि चेत्यादिना । एतयोरग्निहोत्राहुत्योः सायं प्रातश्चानुष्ठितयोरिति यावत् । लोकं युत्थायिनं यजमानं [7]परिवेष्ट्य[8]मं लोकं प्रत्यावृत्तयोस्तयो[9]रनुष्ठानोपचितयोः परलोकं प्रति [10]स्वाश्र- यानहेतुं परिणाममित्येतदिति [11]प्रश्नषट्कमग्निहोत्रविषये जनकेन याज्ञवल्क्यं प्रत्युक्तमिति संबन्धः । त्या[12]क्षेपगर्भप्रश्नषट्कोक्तिः । ननु [13]फलवतोऽश्रवणात्कस्येदमाहुतिफलं न हि [14]तत्स्वतन्त्रं[15] संभवति ऽऽह—तच्चेति । कर्तृवाचिपदाभावादाहुत्यपूर्वस्यैवोत्क्रान्त्यादिकार्यारम्भकत्वान्न [16]तत्र कर्तृगामिक- मुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । किंच कारकाश्रयत्वात्कर्मणो युक्तं तत्फलस्य कर्तृगामित्व-

---

रम्भ किया जाता है । शास्त्र के अन्त में ही सब का उपसंहार करना इष्ट है ।

इसके अतिरिक्त 'हे मैत्रेयी! इतना ही अमृतत्व है' यह भी कहा गया है । तथा यह भी श्रुति हती है—"कर्मों के अनुष्ठान करते रहने में अमृतत्व की आशा नहीं है" । वहाँ इसका हेतु प्रति- दन नहीं किया गया था, इसलिये यह ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है । क्योंकि वक्ष्यमाण कर्मफल कर्म गति है; नित्य, अमृतत्व में कोई व्यापार नहीं है, इसलिए 'यही आत्मज्ञान ही अमृतत्व का साधन —इस वचन के सामर्थ्य से यह उसका हेतु हो जाता है । इसके अतिरिक्त अग्निहोत्र प्रकरण में हा है—"तू सायं-प्रातः अनुष्ठित इन अग्निहोत्र आहुतियों की न उत्क्रान्ति को जानता है, न गति , न प्रतिष्ठा को, न तृप्ति को, न पुनरावृत्ति को, न लाक के प्रत्युत्थान करने वाले यजमान को ही ानता है" । वह इसके उत्तर में कहा गया है—"वे ये दोनों आहुतियाँ हवन को जाने पर उत्क्रमण रती हैं" इत्यादि आहुति का कार्य कहा गया है । यह भी कर्ता के आहुति रूप कर्म का फल है योंकि कर्ता का बिना आश्रय लिये आहुति रूप कर्म (उससे होने वाले अपूर्व) का स्वतन्त्रता से त्क्रान्ति आदि कार्य आरम्भ करना संभव नहीं है । कर्म का कार्यारम्भ कर्ता के लिये होता है और

---

१. इत्यत्र कर्मगतिर्हेतुत्वं प्राप्नोतीत्यर्थः । २. न त्वेवैतयोरित्यादि–छान्दोग्ये ५ ४. १ इत्यत्र भाष्यटीकयोः. स्पष्टमेतत् । ३. तत्रेति—राजपृष्टार्थानां ज्ञानाभावाद्याज्ञवल्क्येन पुनस्तेष्वेव प्रश्नेषु जिज्ञासूभूय मुक्ताक्षेपं पृष्टेषु सत्स्वित्यर्थः । ४. प्रतिवचने—जनककर्तृके इति शेषः । स्पष्टमेतन्माध्यंदिनीयशतपथब्रा० ११ काण्डे ५ ब्रा. ५८२ इति पृष्ठे । ५. कार्यम्–तज्जन्यापूर्वद्वारकं फलं षड्विधं जगदित्यर्थः । ६. तज्जन्यापूर्वस्य । ७. आश्रित्य । ८. भूलोकम् । ९. अनुष्ठानेनापूर्वात्मकपरिणतियोग्यतां गमितयोः । १०. स्वाश्रयेति– आहुत्याश्रययजमानस्य परलोकगमनाभिमुख्यहेतुभूतमपूर्वमित्यर्थः । ११. प्रश्नषट्कमित्यादि–अग्निहोत्रविषये प्रष्टव्यषट्कं जनकेन साक्षेपं पुरस्ताद्याज्ञवल्क्यं प्रति पृष्टमित्यर्थः । १२ आक्षेपो यतो यस्मात्प्रश्नषट्का तस्या- क्षेपरहितस्य प्रश्नषट्कस्योक्तिरित्यर्थः । १३. फलस्वामिनः । १४. फलम् । १५. निःस्वामिकम् । १६. अग्निहोत्रप्रकरणे ।

श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं परिचारयमाणं तमुदी-

प्रसिद्ध आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु एक बार पाञ्चालों की सभा में आया। वह जीवल के पुत्र प्रवाहण नामक पाञ्चालराज के पास पहुँचा। उस समय वह राजा सेवकों से सेवा करा रहा था (राजा ने उसके विद्याभिमान और गर्व के विषय में पहले से ही सुन रक्खा था। अतः विनीत बनाने के लिये)

त्क्रान्त्यादिकार्यारम्भ उपपद्यते। कर्त्रर्थत्वात्कर्मणः कार्यारम्भस्य। साधनाश्रयत्वाच्च कर्मणः। तत्राग्निहोत्रस्तुत्यर्थत्वादग्निहोत्रस्यैव कार्यमित्युक्तं षट्प्रकारमपि। [1]इह तु तदेव कर्तुः फलमित्युपदिश्यते षट्प्रकारमपि कर्मफलविज्ञानस्य [2]विवक्षितत्वात्। [3]तद्द्वारेण च पञ्चाग्निदर्शनमिहोत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनं विधित्सितम्। एवमशेषसंसारगत्युपसंहारः। कर्मकाण्डस्यैषा[4] निष्ठेत्ये[5]तद्द्वयं दिदर्शयिषुराख्यायिकां प्रणयति।

मित्याह—साधनेति। [6]स्वातन्त्र्यासंभवादाहुत्योः सकर्तृकयोरेव गत्यादि विवक्षितं चेत्तर्हि कथं [7]तत्र केवलाहुत्योर्गत्यादि गम्यते तत्राऽऽह—तत्रेति। अग्निहोत्रप्रकरणं सप्तम्यर्थः। अग्निहोत्रस्तुत्यर्थत्वात्प्रश्नप्रतिवचनरूपस्य संदर्भस्येति शेषः। भवत्वेवमग्निहोत्रप्रकरणस्थितिः [8]प्रकृते तु किमायातं तत्राऽऽह—इह त्विति। किमिति विद्याप्रकरणे कर्मफलविज्ञानं विवक्ष्यते तत्राऽऽह—तद्द्वारेणेति। ब्राह्मणारम्भमुपपादितमुपसंहरति—एवमिति। संसार[9]गत्युपसंहारेण कर्मविपाकस्य सर्वस्यैवोपसंहारः सिद्धो भवति तदतिरिक्तनद्विपाकाभावादित्याह—कर्मकाण्डस्येति। [10]"यथोक्तं वस्तु दर्शयितुं [11]ब्राह्मणमारभ्यते चेत्तत्र" किमित्याख्यायिका प्रणीयते तत्राऽऽह—इत्येतद्द्वयमिति। [12]"सर्वमेव पूर्वोक्तं वस्तु दर्शयितुमिच्छन्वेदः सुखावबोधार्थमाख्यायिकां करोतीत्यर्थः।

कर्म साधन के आश्रित रहते हैं। (पूर्व श्रुति में) वहाँ अग्निहोत्र स्तुतिपरक होने के कारण यह छः प्रकार वाला अग्निहोत्र का कार्य बतलाया गया है। यहाँ विद्याप्रकरण में कर्मफल विज्ञान बतलाना अभीष्ट होने से 'वह छः प्रकार वाला कर्ता का ही फल है— ऐसा उपपादित किया जाता है। उसी कर्म फल विज्ञान के द्वारा ही यहाँ उत्तर मार्ग की प्राप्ति की साधनभूता पञ्चाग्नि दर्शन का विधान करना अभीष्ट है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण संसार गति का उपसंहार है और यही कर्मकाण्ड की निष्ठा है – इन्हीं दोनों बातों को दिखलाने के लिए श्रुति आख्यायिका का उपपादन करती है।

---

१. विद्याप्रकरणे। २. विवक्षितत्वादिति—कर्तुः फलसंबन्धाभावे यथोक्तविवक्षाया अकिंचित्करत्वादिति भावः। अन्यथाऽनुपपन्ना सती विवक्षा कर्तुः फलसंबन्धोपदेशे हेतुरिति ध्येयम्। ३. कर्मफलविज्ञानद्वारेण। ४. एषा संसारगतिः कर्मकलापस्य फलम्। ५. एतद्द्वयमिति—अग्निहोत्रप्रकरणोक्तं षट्प्रकारमपि फलं कर्तुरिति कर्मफलविज्ञानद्वारा चोत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनपञ्चाग्निदर्शनविधानमिति द्वयमित्यर्थः। ६. निःस्वामिकत्वासंभवात्। ७. अग्निहोत्रप्रकरणे। ८. विद्याप्रकरणे। ९. गतिः प्राप्तिः। १०. यथोक्तं वस्त्विति—अनन्तरब्राह्मणारम्भप्रयोजकत्वेन खिलाधिकारोऽयमित्यादि भाष्येणोक्तं कर्मविपाकप्रतिपत्तिमार्गसंख्यादिकमित्यर्थः। ११. ब्राह्मणे। १२. कर्तुः कर्मफलसबन्धः पञ्चाग्निदर्शनविधानं चेत्येतस्मिन्द्वये पूर्वोक्तस्य सर्वस्य मार्गसंख्यादिकस्यान्तर्भावमभिप्रेत्याह—सर्वमेवेति।

क्ष्याभ्युवाद कुमार इति स भो ३ इति प्रतिशुश्रावानु-
शिष्टो न्वसि पित्रेत्योमिति होवाच ॥१॥

से आते देखते ही प्रवाहण ने कहा—भो कुमार! उसने उत्तर दिया—भो! (ब्राह्मण के लिये क्षत्रिय को 'भो' शब्द से सम्बोधित नहीं करना चाहिये, फिर भी क्रोधावेश में उसने ऐसा किया) प्रवाहण ने हा—क्या पिता ने तुझे शिक्षा दी है? तब श्वेतकेतु ने कहा—हाँ, पिता ने मुझे शिक्षा दी है ॥१॥

श्वेतकेतुर्नामतोऽरुणस्यापत्यमारुणिस्तस्यापत्यमारुणेयः । हशब्द [1]ऐतिह्यार्थः । शब्दो निश्चयार्थः । पित्राऽनुशिष्टः सन्नात्मनो यशःप्रथनाय [2]पञ्चालानां परिषदमाजगाम । ञ्चालाः प्रसिद्धास्तेषां परिषदमागत्य [4]जित्वा, राज्ञोऽपि परिषदं जेष्यामीति गर्वेण स ाजगाम । जीवलस्यापत्यं जैवलिस्तं पञ्चालराजं प्रवाहणनामानं स्वभृत्यैः परिचारयमाण- त्मनः परिचरणं कारयन्तमित्येतत् । स राजा [5]पूर्वमेव तस्य विद्या[6]भिमानगर्वं श्रुत्वा विनेतव्योऽयमिति मत्वा तमुद्वीक्ष्योत्प्रेक्ष्याऽऽगतमात्रमेवाभ्युवादाभ्युक्तवान्कुमारा३ इति[7]

यदा कदाचिदतिक्रान्ते काले वृत्तार्थद्योतित्वं निपातस्य दर्शयति—हशब्द इति । यशःप्रथनं विद्वत्सु स्वकीयविद्यासामर्थ्यख्यापनं प्रसिद्धविद्वज्जनविशिष्टत्वेनेति शेषः । क्वचिज्जयस्य प्राप्तत्वं गर्वे हेतुः । किमिति राजा श्वेतकेतुमागतमात्रं तदीयाभिप्रायमप्रतिपद्य तिरस्कुर्वन्निव संबोधितवानित्या- शङ्क्याऽऽह—स राजेति । संबोध्य भर्त्सनं कृतवानिति शेषः । "तदवद्योति पदमिह नास्तीत्या-

---

"आरुणेयः श्वेतकेतुः" अर्थात् अरुण का पुत्र आरुणि, उसका पुत्र आरुणेय श्वेतकेतु नाम वाला था। "ह" शब्द परम्परागत उपदेश को बतलाने के लिए है। "वै" शब्द निश्चयार्थक है। पिता से ज्ञान प्राप्तकर अपना यश फैलाने के लिए पञ्चाल देश के ब्राह्मण-विद्वानों की सभा में गया; पञ्चाल जनपद के ब्राह्मण प्रसिद्ध हैं। 'उनकी सभा में जाकर उन्हें जीतकर, फिर राजा की सभा को भी जीत लूंगा' इस अहंकार से वह वहाँ गया। वह "जैबलिम्" अर्थात् जीवल के पुत्र जैवलि पञ्चालदेश के प्रवाहण नाम के राजा के पास पहुँचा, वह राजा "परिचारयमाणम्" अर्थात् अपने नौकरों से अपनी सेवा-पूजा करवा रहा था। उसके आने से पूर्व ही राजा ने उसका गर्वाधिक्य सुनकर 'इसे विनम्र करना चाहिये' ऐसा सोचकर "तमुदीक्ष्य" अर्थात् उसे देखकर आते ही 'अभ्युवाद' अर्थात् अभिवादन किया—हे कुमार! इस प्रकार बालक के समान सम्बोधन कर उसे "अभ्युवाद" अर्थात् अभिवादन किया। यहाँ "कुमारा ३" शब्द में प्लुत तिरस्कृत करने

---

१. ऐतिह्यार्थं इति—परम्परागतोपदेश ऐतिह्य तदर्थोऽयं हशब्दस्तथा चाचार्यपरम्परयेयमाख्यायिका श्रूयत इत्यर्थः। "पारम्पर्योपदेशे स्यादैतिह्यमिति हाव्यय"मित्यमरः । २. पञ्चालानाम्—देशविशेषाणामित्यर्थः । तद्गतब्राह्मणानामिति यावत् । ३. जनपदः । ४. जित्वेति—परिषदमित्यनुवर्तत एव सभ्यान् ब्राह्मणा- निति तदर्थः । जित्वा—आजगामेत्युत्तरत्र संबन्धः । ५. तदागतेः प्रागेव । ६. गर्वाधिक्यम् । ७. ब्राह्मण संशयमादिकमुचितमिति विनेतव्य इति मत्वा उत्पथगामी हि नृपेण प्रशासनीय इति भावः । ८. बाल- वत् । ९. ब्राह्मणसंसदि । १०. भर्त्सनम् ।

वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता ३ इति नेति होवाच वेत्थो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता ३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो यथाऽसौ लोक एवं बहुभिः पुनः पुनः प्रयद्भिर्न संपूर्यता३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो

जैसे मरने के बाद यह प्रजा विभिन्न मार्गों से जाती है, उसे क्या तू जानता है ? श्वेतकेतु ने कहा—नहीं। राजा ने पूछा—जैसे वह फिर इस लोक में लौट कर आती है, क्या तू उसे जानता है ? श्वेतकेतु ने कहा—नहीं। राजा ने पूछा—इस प्रकार बार-बार बहुतों के मर कर जाने पर भी जैसे वह

संबोध्य। भर्त्सनार्था प्लुतिः। एवमुक्तः स प्रतिशुश्राव भो३ इति। भो३ इत्यप्रतिरूपमपि क्षत्त्रियं प्रत्युक्तवान्क्रुद्धः सन्। अनुशिष्टोऽनुशासितोऽसि भवसि किं पित्रेत्युवाच राजा। प्रत्याहेतर ॐमिति बाढमनुशिष्टोऽस्मि पृच्छ यदि [1]संशयस्ते ॥ १ ॥

[2]यद्येवं वेत्थ विजानासि किं यथा [3]येन प्रकारेणेमाः प्रजाः प्रसिद्धाः प्रयत्यो म्रियमाणा विप्रतिपद्यन्ता३ इति विप्रतिपद्यन्ते विचारणार्था प्लुतिः। समानेन मार्गेण गच्छन्तीनां मार्गद्वैविध्यं [4]यत्र भवति [5]तत्र काश्चित्प्रजा अन्येन मार्गेण गच्छन्ति काश्चिदन्येनेति

शङ्कयाऽऽह—भर्त्सनार्थेति। भो ३ इति प्रतिवचनमाचार्यं प्रत्युचितं न क्षत्त्रियं प्रति तस्य हीनत्वादित्याह—भो३ इतीति। अप्रतिरूपवचने क्रोधं हेतू करोति—क्रुद्धः सन्निति। पितुः सकाशात्तव लब्धानुशासनत्वे लिङ्गं नास्तीत्याशङ्कयाऽऽह—पृच्छेति ॥ १ ॥

पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—समानेनेति। नाडीरूपेण साधारणेन मार्गेणा[6]भ्युदयं गच्छतां [7]यत्र मार्गविप्रतिपत्तिस्तत्किं जानासीति प्रश्नार्थः। विप्रतिपत्तिमेव विशदयति—तत्रेति। अधिकृत-

---

के लिए है। ऐसा अभिवादन करने पर उसने 'भो' इस प्रकार उत्तर दिया। 'भो' यह सम्बोधन क्षत्रिय के लिए उचित नहीं है, किन्तु श्वेतकेतु ने क्रुद्ध होकर ऐसा कहा। "अनुशिष्टो न्वसि पित्रेति" अर्थात् क्या तुम्हारे पिता ने तुम्हें शिक्षा दी है—ऐसा राजा ने कहा। इस पर श्वेतकेतु ने कहा—'ॐ' अर्थात् हाँ, मैं पिता द्वारा शिक्षा दिया गया हूँ, यदि तुम्हें सन्देह हो तो पूछ लो ॥ १ ॥

यदि ऐसा है तो "यथा" अर्थात् जिस कर्म विशेषात्मक कारण से यह प्रसिद्ध प्रजा "प्रयत्यः" अर्थात् मरने पर "विप्रतिपद्यन्ता ३" अर्थात् विप्रतिपन्न होती है, "वेत्थ" अर्थात् क्या तू वह जानता है। "विप्रतिपद्यन्ता ३" पद में प्लुत स्वर विचार के लिये है। समान मार्ग से जाती हुई प्रजा के जिस कारण से दो मार्ग हो जाते हैं, उन (अधिकारियों) में कुछ प्रजा अन्य मार्ग से जाती है, कुछ अन्य

---

[1] पित्राऽयमनुशिष्टो न वेति संशयशरीरम्। [2] यद्यस्यनुशिष्टः पित्रेत्यर्थः। [3] येन कर्मविशेषात्मककारणेनेति यावत्। [4] यस्मिन् कारणे सति। [5] तत्र—अधिकारिणां मध्ये। [6] पुण्यलोकभेदम्। [7] यस्मिन् कर्मविशेषे निमित्ते सति।

यतिथ्यामाहुत्याꣳ हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं

ोक भरता नहीं,उसे क्या तू जानता है ? श्वेतकेतु ने कहा—नहीं । राजा ने पूछा—कितने बार की ाहुति के हवन करने पर जल पुरुष संज्ञा को प्राप्त हो उठकर बोलने लगता है क्या तू जानता है ? वेतकेतु ने कहा—नहीं । राजा ने पूछा—देवयान मार्ग के कर्म रूप साधन या पितृयान मार्ग के कर्म प साधन को क्या तू जानता है, जिसे अनुष्ठान कर जीव देवयान या पितृयान को प्राप्त हो जाते हैं ?

विप्रतिपत्तिः । [2]यथा ताः प्रजा विप्रतिपद्यन्ते [3]तत्किं वेत्थेत्यर्थः । नेति होवाचेतरः । र्हि वेत्थ उ यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता३ इति पुनरापद्यन्ते यथा पुनरागच्छन्तीमं लोकम् । ति हैवोवाच श्वेतकेतुः । वेत्थो यथाऽसौ लोक एवं प्रसिद्धेन न्यायेन पुनः पुनर[4]सकृत्प्र- द्भिर्म्रियमाणैर्यथा [5]येन प्रकारेण न संपूर्यता३ इति न संपूर्यतेऽसौ लोक[6]स्तत्किं वेत्थ । ेति हैवोवाच । वेत्थो यतिथ्यां यत्संख्याकायामाहुत्यामाहुतौ [7]हुतायामापः पुरुषवाचः पुरुषस्य या वाक्सैव यासां वाक्ताः पुरुषवाचो भूत्वा पुरुषशब्दवाच्या भूत्वा । यदा पुरुषा-

---

प्रजानिर्धारणार्था सप्तमी । प्रथमप्रश्नं निगमयति—यथेति । प्रश्नान्तरमादत्ते—तर्हीति । [8]तदेव स्पष्टयति —यथेति । परलोकगताः प्रजाः पुनरिमं लोकं [9]यथाऽऽगच्छन्ति तथा किं वेत्थेति योजना । प्रश्नान्तर- प्रतीकमुपादत्ते—वेत्थेति । [10]तद्व्याकरोति—एवमिति । प्रसिद्धो न्यायो जराज्वरादिर्मरणहेतुः । प्रश्ना- न्तरमुत्थाप्य व्याचष्टे—वेत्थेत्यादिना । पुरुषशब्दवाच्या भूत्वा समुत्थाय वदन्तीति संबन्धः । कथमपां

मार्ग से जाती है; यह सन्देह हो जाता है । जिस कारण से प्रजाएँ विभिन्न मार्गों से जाती हैं; वह या कारण है; क्या तुम जानते हो ? श्वेतकेतु बोला—नहीं, मैं नहीं जानता । तो फिर प्रजा जिस प्रकार पुनः इस लोक में "आपद्यन्ता३" अर्थात् आती हैं—वह कारण क्या तुम जानते हो ? इस पर श्वेतकेतु बोला—नहीं, मैं नहीं जानता । तो क्या तुम जानते हो कि (जरा-ज्वरादि मरण में हेतु हैं) इस प्रसिद्ध न्याय से प्रजा के बहुत प्राणियों के पुनः-पुनः निरन्तर "प्रयद्भिः" अर्थात् मरने पर भी 'यथा' अर्थात् जिस निमित्त से "न सम्पूर्यता३" अर्थात् यह लोक नहीं भरता, सो क्या वह निमित्त तुझे मालूम है ? श्वेतकेतु बोला—नहीं, मुझे नहीं मालूम है । क्या तुम जानते हो कि "यतिथ्याम्" यानी जितनी संख्या वाली "आहुत्यां हुतायाम्" अर्थात् आहुतियों के हवन किये जाने पर जल "पुरुषवाचो भूत्वा" अर्थात् पुरुष की वाक् वाला होकर यानी पुरुषशब्द वाच्य अथवा जिस समय

---

१. विप्रतिपत्तिः—विभिन्नवर्त्मगतिरिति यावत् । २. येन कारणेन । ३. कारणम् । ४. बहुभिः प्राणिभिः । ५. निमित्तेनेति यावत् । ६. निमित्तम् । ७. हुताः सत्यः । ८. प्रश्नान्तरमेव । ९. मार्गेण हेतुना च येन । १०. प्रश्नान्तरम् ।

वाऽपि हि न ऋषेर्वचः श्रुतं द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानां ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेति नाहमत एकंचन वेदेति होवाच ॥२॥

यह वचन सुन रक्खा है अर्थात् पितरों के और देवों के दो मार्ग हमने सुने हैं, जो ये दोनों ही मनुष्य से संबन्ध रखने वाले हैं। इन दोनों मार्गों से जाने वाले लोग भली प्रकार से जाते हैं और ये द्युलोक और पृथिवी के मध्य में हैं, जिन्हें माता-पिता भी कहते हैं। इस पर श्वेतकेतु ने कहा--मैं इन प्रश्न समुदाय में से एक को भी नहीं जानता, मुझे किसी का पता नहीं ॥२॥

कारपरिणतास्तदा पुरुषवाचो भवन्ति। समुत्थाय सम्यगुत्थायोद्भूताः सत्यो वदन्ती इति। नेति हैवोवाच। [1]यद्येवं वेत्थ उ देवयानस्य पथो मार्गस्य [2]प्रतिपदं प्रतिपद्यते येन सा प्रतिपत्तां प्रतिपदं पितृयाणस्य वा प्रतिपदं प्रतिपच्छब्दवाच्यमर्थमाह[3]। यत्कर्म कृत्वा [4]यथाविशिष्टं कर्म कृत्वेत्यर्थः। देवयानं वा पन्थानं मार्गं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वा यत्कर्म कृत्वा प्रतिपद्यन्ते तत्कर्म प्रतिपदुच्यते तां प्रतिपदं किं वेत्थ देवलोकपितृलोकप्रतिपत्तिसाधनं किं वेत्थेत्यर्थः।

पुरुषशब्दवाच्यत्वं तदाह—यदेति। प्रश्नान्तरमवतारयति—यद्येवं वेत्थेति। पितृयाणस्य वा प्रतिपदं वेत्थेति संबन्धः। यत्कृत्वा प्रतिपद्यन्ते पन्थानं तत्कर्म प्रतिपदिति योजना। वाक्यार्थमाह—देवयानमिति। उक्तमर्थं संक्षिप्याऽऽह—देवलोकेति।

यह पुरुषाकार में परिणत होती हैं, उस समय पुरुषवाक् होनी हैं, इस प्रकार होकर "समुत्थाय" अर्थात् सम्यक् उठकर या उद्बुद्ध होकर बोलता है ? श्वेतकेतु बोला—नहीं, मैं नहीं जानता। यदि ऐसा है तो क्या तुम देवयान "पथः" यानी मार्ग के "प्रतिपदम्" अर्थात् प्राप्ति साधन को जानते हो तथा पितृयान मार्ग के प्राप्ति साधन को जानते हो ? "प्रतिपत्" शब्द का वाच्य अर्थ स्वयं श्रुति कहती है। "यत्कृत्वा" जिस शास्त्रविहित को यादृक्कर्तव्यता विशिष्ट करके देवयान अथवा पितृयान को प्राप्त होते हैं, वह कर्म 'प्रतिपत्' कहा जाता है। उस देवलोक-पितृलोक प्राप्ति साधन को क्या तुम जानते हो; यह इसका अर्थ है।

---

१. यद्येवमिति—अस्यापि प्रश्नस्याज्ञाने प्रश्नचतुष्टयमपि न जानासि चेदिति यावत्। २. प्रतिपदं प्राप्तिसाधनम् इष्टापूर्त्तदत्तोपासनारूपां क्रियामिति यावत्। ३. श्रुतिः स्वयमेव। ४. यथाविशिष्टमनतिक्रम्येत्यर्थः। विहितमिति यावदित्याहुः। यद्वा यथाविशिष्टं यादृशमित्यर्थः। यादृगिति कर्तव्यताकमिति यावत्।

अप्यत्रास्यार्थस्य प्रकाशकमृषेर्मन्त्रस्य वचो वाक्यं [1]नः श्रुतमस्ति । मन्त्रोऽप्यस्या-स्य प्रकाशको विद्यत इत्यर्थः । कोऽसौ मन्त्र इति । उच्यते—द्वे सृती द्वौ मार्गावशृणवं श्रुतवानस्मि तयोरेका पितृणां प्रापिका पितृलोकसंबद्धा तया सृत्या पितृलोकं प्राप्नो-तीत्यर्थः । अहमशृणवमिति व्यवहितेन संबन्धः । देवानामुतापि देवानां संबन्धिन्यन्या वान्प्रापयति सा । के पुनरुभाभ्यां सृतिभ्यां पितॄन्देवांश्च गच्छन्तीति । उच्यते—उतापि र्त्यानां मनुष्याणां संबन्धिन्यौ । मनुष्या एव हि सृतिभ्यां गच्छन्तीत्यर्थः । [2]ताभ्यां सृति-भ्यामिदं विश्वं समस्तमेज[3]द्गच्छत्समेति संगच्छते । [4]ते च द्वे सृती यदन्तरा [5]ययोरन्तरा दन्तरा पितरं मातरं च मातापित्रोरन्तरा मध्य इत्यर्थः । कौ तौ मातापितरौ द्यावा-

---

मार्गद्वयमेव [6]नास्ति त्वया [7]तूत्प्रेक्षामात्रेण [8]पृच्छ्यते तत्राऽऽह—अपीति । अत्रेति कर्मविपाक-क्रियोक्तिः । अस्यार्थस्य मार्गद्वयस्येत्येतद् । [9]तेषामेव मार्गद्वयेऽधिकृतत्वमिति वक्तुं हीत्युक्तं तदेव स्फुटयति—ताभ्यामिति । विश्वं [10]साध्यसाधनात्मकं संगच्छते [11]गन्तव्यत्वेन गन्तृत्वेन चेति शेषः ।

“आप हि न ऋषेर्वचः श्रुतम्” अर्थात् हमने इस अर्थ के प्रकाशक मन्त्र का वाक्य भी सुना है अर्थात् मन्त्र भी इसी अर्थ का प्रकाशक है । वह मन्त्र कौन सा है ? इस श्रुति कहती है—“द्वे सृती” अर्थात् दो मार्ग “अश्रृणवम्” मैंने सुने हैं । उनमें एक पितृलोक से सम्बद्ध पितृलोक की प्राप्ति कराने वाला है अर्थात् उस मार्ग से पितृलोक की प्राप्ति होती है, ‘मैंने सुना है’ इस प्रकार व्यवहित पदों का संबन्ध है । दूसरा मार्ग ‘देवानाम्’ अर्थात् देवताओं से सम्बद्ध है, जो देवताओं की प्राप्ति कराता है । किन्तु इन दोनों मार्गों से पितरों और देवताओं के समीप कौन जाते हैं । इस पर श्रुति कहती है—“उतापि मर्त्यानाम्” अर्थात् ये मनुष्यों से संबन्धित हैं । अर्थात् मनुष्य ही इन दोनों मार्गों से जाते हैं । “ताभ्याम्” अर्थात् उन मार्गों से यह सम्पूर्ण विश्व “एजत्” अर्थात् चल होकर “समेति” अर्थात् (गन्तव्यत्व और गन्तृत्व रूप से) सङ्गमन करता है । वे दोनों मार्ग “यदन्तरा पितरं मातरं च”

---

१. नः अस्माकम्–अस्माभिरिति यावत् । २. अधिकृतानां मार्गान्तरशङ्कां वारयति–ताभ्यामिति । ३. गच्छ-दिति–अनेन साध्यसाधनयोरुभयोरपि जगतश्चलत्वमुच्यते । ननु साधनस्य गन्तृत्वप्रसिद्धावपि कथं साध्यस्य जगतस्तथात्वमिति चेदित्थं साध्यं हि नाम पित्रादिलोकीय देह एव तस्य च तद्देहेन भुक्त तद्भोगस्य जीवस्य च कर्मक्षये पुनराभ्यां सृतिभ्यामिमं लोकं प्रत्यावर्तनस्य कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ब्र. सू. ३।१।९ इति न्यायसिद्धत्वादिति । ४. ते च सृती क्व वर्तेते इति वीक्षायामाह–ते चेति । ५. ययो-रिति—मातापितृस्थानीययोर्द्यावापृथिव्योरिति यावत् । ६. नास्ति–अप्रामाणिकमित्यर्थः । ७. उत्प्रेक्षा कल्पना । ८. पृच्छ्यते—मद्व्यामोहार्थमिति शेषः । ९. मनुष्याणामेव । १०. साध्येति–साध्यात्मकं जगद्गन्तव्यत्वेन साधनात्मकं च तद् गन्तृत्वेन ताभ्यां सृतिभ्यां संगच्छते संबध्यत इत्यर्थः । ११. यद्वा गच्छत्पदार्थमेव शेषच्छलेन समर्पयति–गन्तव्यत्वेनेत्यादिना । ननु गन्तृत्वस्य गच्छत्पदार्थत्वं न्याय्यं कुतस्तु गन्तव्यत्वस्य तत्त्वमिति चेद् गच्छत्पदस्य तन्त्रेण निर्देशादित्यवेहि तत्र चैकस्य कर्मकर्तरि लान्तत्वेन गन्तव्यार्थकत्व-संभवादिति ध्येयम् । यद्वा गच्छदिति गन्तृजगत एव विशेषणं न तु गन्तव्यजगतोऽप्यसंभवादत एव टीकाकृद्भि-स्तत्र कटाक्षितमित्यपि वदन्ति ।

अथैनं वसत्योपमन्त्रयाञ्चक्रेऽनादृत्य वसतिं कुमारः प्रदुद्राव स आजगाम पितरं तꣳ होवाचेति वाव किल नो भवान्पुराऽनुशिष्टानवोच इति कथꣳ सुमेध इति पञ्च

इसके बाद राजा ने श्वेतकेतु से विनयपूर्वक ठहरने के लिये प्रार्थना की, किन्तु वह कुमार उस निवास का अनादर कर अपने पिता के पास चला गया। वह अपने पिता के पास आया और अपने पिता से उसने समावर्तन संस्कार के समय की बात याद दिलायी। आपने समावर्तन के समय यही कहा

पृथिव्यावण्डकपाले। इयं वै माताऽसौ पितेति हि व्याख्यातं ब्राह्मणेन। अण्डकपालयोर्मध्ये [1]संसारविषये एवैते सृती नाऽऽत्यन्तिकामृतत्वगमनाय। इतर आह—नाहमतोऽस्मात्प्रश्नसमुदायादेकंचनैकमपि प्रश्नं न वेद नाहं वेदेति होवाच श्वेतकेतुः॥ २॥

अथानन्तरमपनीय [2]विद्याभिमानगर्वमेनं प्रकृतं [3]श्वेतकेतुं वसत्या [4]वसतिप्रयोजनेनोपमन्त्रयांचक्रे। इह वसन्तु भवन्तः [5]पाद्यमर्घ्यं चाऽऽनीयतामित्युपमन्त्रणं कृतवान्राजा। [6]अनादृत्य तां वसतिं कुमारः श्वेतकेतुः प्रदुद्राव प्रतिगतवान्पितरं प्रति। स चाऽऽज-

---

प्रकृतमन्त्रव्याख्यानग्रन्थो ब्राह्मणशब्दार्थः। यदन्तरेत्यादौ विवक्षितमर्थमाह—अण्डकपालयोरिति॥ २॥

श्वेतकेतोरभिमाननिवृत्तिद्योतनार्थं [7]बहुवचनम्। राजन्यदत्तवसत्यनादरे [8]हेतुमाह—कुमार

अर्थात् माता एवं पितृस्थानीय द्यावा-पृथिवी के मध्यवर्ती हैं। वे माता एवं पिता कौन हैं? द्युलोक और पृथिवी रूप ब्रह्माण्ड कपाल ही पिता और माता है। "यह पृथिवी ही माता और द्युलोक पिता है" इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थ में उपपादित हो चुका है। ब्रह्माण्ड कपालों के बीच में ये दोनों मार्ग केवल संसार रूप फल की प्राप्ति कराने वाले हैं, आत्यन्तिक अमृतत्व मोक्ष प्राप्ति कराने के लिए हैं। इस पर श्वेतकेतु बोला—"अतः" अर्थात् इस प्रश्नसमुदाय में से मैं "एकंचन" अर्थात् एक भी प्रश्न को "न वेद" अर्थात् नहीं जानता॥ २॥

इसके बाद श्वेतकेतु के विद्याप्रयुक्त दर्पोत्सेक को दूर कर (अब उसका अभिमान शान्त हुआ देखकर) उससे "वसत्या" अर्थात् निवास के लिए प्रार्थना की। आप यहाँ विराजिए, इस प्रकार श्वेतकेतु से निवेदन कर, नौकरों को पाद्य अर्घ्य लाने के लिए आज्ञा दी। उस निवास को (लज्जा और रोष से) अनङ्गीकार करके कुमार श्वेतकेतु "प्रद्रुद्राव" अर्थात् पिता के पास चल दिया। वह पिता के पास आया और बोला। किस प्रकार बोला? "नो भवान्" अर्थात् आपने मुझे "पुराऽनुशिष्टानवोच"

---

[1] संसारविषये इति—संसारैकफलिके न तु मोक्षसाधने इति यावत्। [2] विद्याप्रयुक्तं दर्पोत्सेकम्। [3] श्वेतकेतोरित्यादिः। श्वेतकेतुमिति—शान्तदर्पं समीक्ष्येति शेषः। [4] निवासार्थम्। [5] पाद्यमित्यादिक राज्ञो भृत्यान्प्रत्युक्तिः। [6] अनादृत्येति—अनङ्गीकृत्येत्यर्थः। लज्जारोषाभ्यामिति शेषः। [7] भवन्त इतीदम्। [8] कुमारत्वं बाल्यम्।

मा प्रश्नान्राजन्यबन्धुरप्राक्षीत्ततो नैकञ्चन वेदेति
कतमे त इतीम इति ह प्रतीकान्युदाजहार ॥३॥
स होवाच तथा नस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किंच

कि सभी विषयों की शिक्षा तुम्हें देदी गयी है। आरुणि ने पुत्र का उलाहना सुन कर कहा—हे
धारणा वाले ! तुम्हें इस प्रकार दुःख कैसे हुआ। पुत्र ने कहा—मुझ से एक क्षत्रियबन्धु ने
प्रश्न पूछे, पर मैं तो उनमें से एक को भी नहीं जानता। पिता ने कहा—वे प्रश्न कौन से हैं।
कहा—ये प्रश्न थे, ऐसा कह कर श्वेतकेतु ने राजा से पूछे गये प्रश्नों के संकेत बतलाए ।।३।।
(क्रुद्ध पुत्र को शान्त करने के लिये) उस पिता ने कहा—हे वत्स ! तू हमसे इतना निश्चित

पितरमागत्य चोवाच तं कथमिति वाव किलेवं[1] किल नोऽस्मान्भवान्पुरा समा-
कालेऽनुशिष्टान्सर्वाभिर्विद्याभिरवोचोऽवोचदिति । सोपालम्भं पुत्रस्य वचः श्रुत्वाऽऽह
ता । कथं केन प्रकारेण तव दुःखमुपजातं हे सुमेधः शोभना मेधा यस्येति सुमेधाः ।
णु मम यथा वृत्तं पञ्च पञ्चसंख्याकान्प्रश्नान्मा मां राजन्यबन्धू राजन्या बन्धवो
येति । [2]परिभववचनमेतद्राजन्यबन्धुरिति । अप्राक्षीत्पृष्टवां[3]स्ततस्तस्मान्नं कंचनैकमपि
वेद न विज्ञातवानस्मि । कतमे ते राज्ञा पृष्टाः [4]प्रश्ना इति पित्रोक्तः पुत्र इमे [5]त इति
प्रतीकानि [6]मुखानि प्रश्नानामुदाजहारोदाहृतवान् ।। ३ ।।

स होवाच पिता पुत्रं क्रुद्धमुपशमयंस्तथा तेन प्रकारेण नोऽस्मांस्त्वं हे तात वत्स

इति । एवं किलेति राजपराभवलिङ्गकं पितृवचसो मृषात्वं द्योत्यते । अज्ञानाधीनं दुःखं तवासंभावित-
मिति सूचयति—सुमेध इति ।। ३ ।।

अर्थात् पहले समावर्तन संस्कार के समय आपने यही कहा था कि तुम्हें सब विद्याओं की शिक्षा दी
जा चुकी—वह सब झूठ था। उपालम्भपूर्ण पुत्र के वचनों को सुनकर पिता ने कहा—"कथं सुमेध
इति" अर्थात् हे शोभन बुद्धि वाले पुत्र ! तुझे दुःख किस कारण से हुआ है। श्वेतकेतु बोला—जैसा
मेरे साथ हुआ है, उसे सुनिये। मुझसे एक "राजन्यबन्धुः" क्षत्रिय बन्धु राजा ने "पञ्च" अर्थात् पाँच
संख्या वाले प्रश्न "अप्राक्षीत्" यानी किये। "राजन्यबन्धु" यह विशेषण राजा के प्रति अनादरभाव का
सूचक है। "ततः" अर्थात् उनमें से मैं "एकंचन" अर्थात् एक भी "न वेद" यानी नहीं जानता हूँ। राजा
ने कौन से ऐसे प्रश्न पूछे थे जिसका उत्तर तुम न दे सके। श्वेतकेतु बोला—'वे ये प्रश्न थे' इस
प्रकार उन प्रश्नों को (विस्तार से न कहकर) संक्षेप से 'उदाजहार' अर्थात् बोला ।। ३ ।।
अपने क्रुद्ध पुत्र को शान्त कर वह पिता बोला—'तात' अर्थात् हे वत्स ! 'तथा' यानी इस

---

[1] एवं किलेति—इत्थं मिथ्यैवेत्यर्थः । इत्थमिति—परेणास्मत्पराभवहेतुरित्यर्थः । [2] अनादरवाक्यम् । [3] प्रश्नपञ्चकात् । [4] यांस्त्वं न ज्ञातवानिति शेषः । [5] प्रश्नाः । [6] मुखानीति—आदिमैकदेशानित्यर्थः । समासतः प्रश्नानवददित्यर्थः ।

वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोचं प्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं वत्स्याव इति भवानेव गच्छत्विति स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैवलेरास तस्मा आसनमाहृत्योदकमाहारयांचकाराथ हास्मा अर्घं चकार तꣳ होवाच वरं भगवते गौतमाय दद्म इति ॥ ४ ॥

जान कि जो कुछ मैं जानता था, वह सब तुझ से मैंने कह दिया था (राजा के इन प्रश्नों को तो मैं भी नहीं जानता अतः) अब चल, हम दोनों वहीं चलें और ब्रह्मचर्यपूर्वक उसके यहाँ निवास करें। पुत्र ने कहा—आप ही जाएँ (मैं तो उसका मुख भी देखना नहीं चाहता) तब वह गौतम जैवलि, प्रवाहण की जहाँ बैठक थी, वहाँ आया। राजा ने उस आरुणि के लिए उचित आसन देकर सेवकों से जल मँगवाया और पुरोहित द्वारा मन्त्र पूर्वक उसे अर्घ्यदान किया। फिर राजा ने कहा—मैं भगवान् गौतम को वर देता हूँ ॥४॥

जानीथा गृह्णीथा [1]यथा यदहं किंच विज्ञानजातं वेद सर्वं तत्तुभ्यमवोचमित्येव [2]जानीथाः। कोऽन्यो मम प्रियतरोऽस्ति त्वत्तो यदर्थं रक्षिष्ये। [3]अहमप्येतन्न जानामि यद्राज्ञा पृष्टम्। [4]तस्मात्प्रेह्यागच्छ तत्र प्रतीत्य गत्वा [5]राज्ञि ब्रह्मचर्यं वत्स्यावो विद्यार्थमिति[6]। स आह भवानेव गच्छत्विति नाहं तस्य मुखं निरीक्षितुमुत्सहे। [7]स आजगाम गौतमो गोत्रतो

सत्यं, किंचिदुक्तं[8] किंचित्तु विज्ञानमन्यस्मै प्रियतमाय दातुं रक्षितमित्याशङ्क्याऽऽह—कोऽन्य इति। राज्ञा यत्पृष्टं तन्मया न विज्ञातं तथा च तस्मिन्विषये त्वया वञ्चितोऽस्मीत्याशङ्क्याऽऽह—अहमपीति। [9]तर्हि तज्ज्ञानं कथं साध्यतामित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति ॥ ४ ॥

प्रकार हमसे तू "जानीथाः" अर्थात् जान कि जितना जिस प्रकार मैं जानता था, उतना सब मैंने तुझे बता दिया। ऐसा ही तुम निश्चय जानो। तुम से प्रिय मेरे लिए और कौन है, जिसके लिये कुछ अर्थ गोपनीय रखूंगा। राजा द्वारा पूछी गयी विद्या को तो मैं भी नहीं जानता। इसलिये "प्रेहि" अर्थात् आओ। "प्रतीत्य" अर्थात् राजा के समीप में जाकर विद्या के लिए ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास करेंगे। श्वेतकेतु बोला—आप ही जाइये; मैं तो उसका मुख देखना भी नहीं चाहता। "गौतमः" अर्थात् गोत्र

---

१. यत्किञ्चिद्यथाऽहं वेद तत्सर्वं तुभ्यं तथैवावोचमिति नस्त्वं विजानीथा इत्यन्वयमाहुः। २. इत्येव जानीथा इति—ब्राह्मणज्ञानतोऽन्यत्र विद्यां पप्रच्छ भूमिपः। नहि ब्राह्मणविज्ञाने किञ्चिदस्ति त्वयाऽऽगतमित्यभिप्रायः। ३. अहमपीति—राजपृष्टां तु विद्यामहमपि न जानामि तस्या राजवंशमात्रस्थत्वादिति भावः। ४. तस्माद—तद्विज्ञानस्य तन्मात्रस्थत्वात्। ५ राजसमीपम्। ६. इति पित्रोक्त इति शेषः। ७. स पुत्रेणैवमुक्तः स इत्यर्थः। ८. मह्यमिति शेषः। ९. तर्हि—राजपृष्टविज्ञानस्य तद्वंशमात्रस्थत्वे।

स होवाच प्रतिज्ञातो म एष वरो यां तु कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति ॥ ५ ॥

स होवाच दैवेषु वै गौतम तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति ॥ ६ ॥

उस गौतम ने कहा—आपने मुझे वर देने के लिये जो प्रतिज्ञा की है, उसके बदले में मैं यही हता हूँ कि मेरे पुत्र के समीप प्रश्न रूप में जो बात आपने कही थी, वही मुझ से कहिये ॥ ५ ॥

उस राजा ने कहा—हे गौतम ! वह वर तो देव संबन्धी वरों में से है, तुम मानुष वरों में कोई वर माँगो ॥ ६ ॥

ौतम आरुणिर्यत्र प्रवाहणस्य जैवलेराज्ञाऽऽसनमास्थायिका[1] षष्ठी[2] वा प्रथमार्थे[3] तस्मै ौतमायाऽऽगतायाऽऽसनमनुरूपमाहृत्योदकं[4] भृत्यैराहारयांचकार । अथ हास्मा अर्घं पुरोसा[5] कृतवान्मन्त्रवन्मधुपर्कं[6] च । कृत्वा चैवं पूजां तं होवाच वर भगवते गौतमाय तुभ्यं द्म इति गोश्वादिलक्षणम् ॥ ४ ॥

स होवाच गौतमः प्रतिज्ञातो मे ममैष वरस्त्वयाऽस्यां प्रतिज्ञायां दृढी कुर्वात्मानं यां तु वाचं कुमारस्य मम पुत्रस्यान्ते समीपे वाचमभाषथाः प्रश्नरूपां तामेव मे ब्रूहि स एव नो वर इति ॥ ५ ॥

विवक्षितविद्यागौरवं विवक्षित्वाऽऽह—अस्यामिति ॥ ५ ॥

से गौतम वह आरुणि, जहाँ राजा जैवलि प्रवाहण का "आस" अर्थात् दर्शन करने योग्य स्थान था, वहाँ आया । यहाँ प्रथमा के स्थान में षष्ठी है । तब राजा ने आये हुए गौतम को अनुरूप आसन देकर अर्घ्यार्थक जल नौकरों से मंगवाया और फिर पुरोहित द्वारा अर्घ्य एवं मन्त्रयुक्त मधुपर्क कराया । इस प्रकार पूजा करके प्रवहण ने गौतम से कहा—'मैं आप भगवान् गौतम का गो-अश्वादि रूप वर देता हूँ' ॥ ४ ॥

"सः" अर्थात् उस गौतम ने कहा—आपने 'मे' अर्थात् मुझे वर देने की प्रतिज्ञा की है । अब "कुमारस्यान्ते" अर्थात् मेरे पुत्र के समीप 'यां वाचम्' अर्थात् जिस प्रश्न रूपा वाणी को आपने बोला था, उसे ही मुझे कहिये; यही मेरा वर है । इस प्रतिज्ञा में अपने आपको सुदृढ़ कर लीजिए ॥ ५ ॥

---

[1] आस्थायिका—दर्शनयोग्यस्थानस्थितिः ।

[2] षष्ठी वेति—आस इत्यस्य बभूवेत्येवार्थः ।

[3] ततो राजा ।

[4] अर्घाद्यर्थम् ।

[5] पुरोधसा साकमिति शेषयन्ति ।

[6] मधुपर्कमिति—मधुना योगो यत्रेति मधुयुक्तं कांस्यपात्रस्थं कांस्यपात्रान्तरेणावृतं दधि सर्पिर्जलं क्षौद्रं सिता चैतैश्च पञ्चभिः प्रोच्यते मधुपर्कः ।

स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गो-अश्वानां दासीनां प्रवाराणां परिधानस्य मा नो भवान्बहोरनन्तस्यापर्यन्तस्याभ्यवदान्यो भूदिति स वै

उस गौतम ने कहा—आप जानते ही हैं, वह मनुष्य संबन्धी स्वर्णादि वर तो मेरे पास भी है, मुझे सुवर्ण, गौ, अश्व, दासी, परिवार और वस्त्रादि परिधान भी प्राप्त हैं। आप अनन्त और निस्सीम धन के दाता होकर भी केवल मेरे लिए अदाता न हों। राजा ने कहा—हे गौतम! शास्त्रोक्त विधि से उस विद्या को प्राप्त करने की इच्छा करो। गौतम ने कहा—अच्छी बात, मैं आपके प्रति

स होवाच राजा [1]दैवेषु वरेषु तद्वै गौतम यत्त्वं प्रार्थयसे [2]मानुषाणामन्यतमं प्रार्थय वरम् ॥ ६ ॥

स होवाच च गौतमो भवताऽपि [3]विज्ञायते ह ममास्ति [4]सः। न तेन प्रार्थितेन कृत्यं मम यं त्वं दित्ससि मानुषं वरम्। यस्मान्ममाप्यस्ति हिरण्यस्य [5]प्रभूतस्यापात्तं प्राप्तं गोऽश्वानामपात्तमस्तीति सर्वत्रानुषङ्गो दासीनां प्रवाराणां परिवाराणां [6]परिधानस्य च। न च यन्मम विद्यमानं तत्त्वत्तः प्रार्थनीयं त्वया वा देयम्। प्रतिज्ञातश्च वरस्त्वया, त्वमेव जानीषे यदत्र युक्तं प्रतिज्ञा रक्षणीया तवेति। मम पुनरयमभिप्रायो मम भूत्नोऽस्मानभ्यस्मानेव

तदिति [7]सामान्योक्त्या वरो निर्दिश्यते ॥ ६ ॥

ममास्ति स इति यदुक्तं तदुपपादयति—यस्मादित्यादिना। न च यन्ममेत्यत्र तस्मादिति पठितव्यम्। [8]किं तर्हि मया कर्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रतिज्ञातश्चेति। यत्तवाभिप्रेतं तदहं करोमीत्याशङ्क्याऽऽह—ममेति। मा भूदित्यन्वयं दर्शयन्प्रतीकमादाय व्याचष्टे—नोऽस्मानिति। वदान्यो दान-

उस राजा ने कहा— हे गौतम! जो वर तुम चाहते हो, वह तो देवप्रार्थनीय वरों में से है, (गवाश्वादिलक्षण) मनुष्य प्रार्थनीय वरों में से कोई वर माँगो ॥ ६ ॥

वह गौतम बोला—आप भी आप्तवाक्यादि से जानते हो कि गवाश्वादि मानुष वर तो मेरे पास है ही। आप जिस मानुष वर को मुझे देना चाहते हैं, उसे माँगने से मेरा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता क्योंकि मुझे बहुत सा सुवर्ण "अपात्तम्" अर्थात् प्राप्त है, तथा गो-अश्वादि भी प्राप्त हैं। इस प्रकार 'प्राप्त हैं' यह क्रिया पद सर्वत्र सम्बद्ध है। अर्थात् दासी, परिवार और वस्त्र, ये सब मुझे प्राप्त हैं। जो वस्तु मेरे पास विद्यमान नहीं है, उसी की ही मुझे प्रार्थना करनी चाहिये; एवं तुम्हें भी उसे ही देना चाहिये। आपने वर देने का वचन तो दिया है, यहाँ अब क्या करना उचित है, तुम ही जान सकते हो, वचन निभाना ही चाहिये। मेरी तो हार्दिक अभिलाषा है कि आप सर्वत्र दाता होकर

---

[1] दैवेष्विति— देवप्रार्थनीयेषु वरेषु (मध्ये) वर्तते इत्यर्थ—इत्याहुः। [2] गवाश्वादिलक्षणानाम्। [3] आप्तवाक्यादितः। [4] गवाश्वादिर्मानुषो वरः। [5] भावेऽत्र निष्ठा। [6] क्षौमदुकूलादेः। [7] लिङ्गविशेषाविवक्षया। [8] राजाऽऽह—किं तर्हीति। कीदृशस्तर्हि वरस्तुभ्यं दातव्यो मयेत्यर्थः।

गौतम [1]तीर्थेनेच्छासा इत्युपैम्यहं भवन्तमिति वाचा ह
स्मैव पूर्व उपयन्ति स होपायनकीर्त्योवास ॥ ७ ॥

शिष्यभाव से उपसन्न होता हूँ। पहले भी ब्राह्मण लोग आपत्ति काल में विद्या प्राप्ति के लिए क्षत्रियादि के प्रति जाते रहें हैं, सेवा पूर्वक नहीं। इस प्रकार उपसत्ति का वाणीमात्र से कथन करके गौतम वहाँ रहने लगे ॥ ७ ॥

केवलान्प्रति [2]भवान्सर्वत्र वदान्यो भूत्वाऽवदान्यो मा भूत्कदर्यो मा भूदित्यर्थः। बहोः प्रभूतस्या[3]नन्तस्यानन्तफलस्येत्येतत्। अपर्यन्तस्यापरिसमाप्तिकस्य पुत्रपौत्रादिगामिकस्येत्येतत्। ईदृशस्य वित्तस्य मां प्रत्येव केवलमदाता मा भूद्भवान्। न [4]चान्यत्रादेयमस्ति भवतः। एवमुक्त आह[5]—स त्वं वै हे गौतम तीर्थेन न्यायेन [6]शास्त्रविहितेन विद्यां मत्त इच्छासा इच्छस्वाऽऽप्तुमि[7]त्युक्तो गौतम आह—उपैम्युपगच्छामि शिष्यत्वेनाहं भवन्तमिति।

ीलो विभवे सत्यदाता कदर्य इति भेदः। [8]परिशिष्टं भागं व्याकुर्वन्वाक्यार्थमाह—बहोरित्यादिना। ां प्रत्येवेति [9]नियमस्य कृत्यं दर्शयति—न चेति। कोऽसौ न्यायस्तत्राऽऽह—शास्त्रेति। [10]उपसदनवाक्यं ाख्यमित्युच्यते। गौतमो राजानं प्रति शिष्यत्ववृत्तिं कुर्वाणः शास्त्रार्थविरोधमाचरतीत्या-

---

केवल हमारे प्रति "अवदान्यो मा भूत्" अर्थात् कृपण न हों। 'बहोः' अर्थात् बहुत सी, 'अनन्तस्य' अर्थात् अनन्त फल वाली 'अपर्यन्तस्य' अर्थात् समाप्त न होने वाली यानी पुत्र-पौत्रादिकों के लिए की जाने वाली, इस प्रकार की सम्पत्ति के दाता होकर भी मेरे लिये अदाता न हों। मुझे छोड़ किसी याचक के लिए आपको अदेय कुछ नहीं है। इस प्रकार कहे जाने पर राजा बोला—हे गौतम! तुम शास्त्रविहित शिष्य वृत्ति विधि से मुझसे विद्या प्राप्त करने की इच्छा करो। राजा के इस प्रकार

---

१. तीर्थेनेति—तीर्थमिह विद्यापात्रं ग्राह्यं तच्च षड्विधम्। यथाह स्वयमेव भगवती विद्या—"ब्रह्मचारी धनदायी मेधावी श्रोत्रियः प्रियः। विद्यया विद्यां यः प्राह तानि तीर्थानि षण्ममेति" ॥ अत्र ब्रह्मचारी शिष्यः। श्रोत्रियो यथोक्तकारी। प्रियः पुत्रः इत्यर्थः। २. भाग्यवान्—मदन्ययाचकेषु। ३. ननु प्रभूतमपि दैवं वित्तं दीयमानं क्रमादपगच्छति तत्कथं दातुं शक्यमित्याशङ्क्याऽऽह—अनन्तस्येति। अनन्तत्वादेवापर्यन्तमवसानहीनं तन्मानुषवित्तविलक्षणं दैवं वित्तं परस्मै दीयमानमधिकमापद्यतेऽदीयमानं च ह्रसति। तदुक्तम्—"अपूर्वः कोऽपि कोशोऽयं विद्यते तव भारति। व्ययतो वृद्धिमाप्नोति क्षयमायाति संचयात्" ॥ इति। ४. मदन्यस्मिन्। ५. राजा। ६. शिष्यवृत्त्येति यावत्। ७. इच्छस्वाऽऽप्तुमिति—वैदिकं लोण्मध्यमैकवचनान्तमिच्छासे इति रूपमित्येतत्स्फोरयितुं न्याय्यमपि परस्मैपदमिषुधातोरुपेक्ष्यात्मनेपदं प्रायुङ्क्तेत्यदोषः। ७. इत्युक्त इति—एवं राजा स्मारितशास्त्रार्थ इत्यर्थः। ८. परिशिष्टमिति—अत्र पाठान्तरम्। स वरो दातुमशक्यो लोभादित्याशङ्क्याऽऽहेति। ९. नियमस्य कृत्यमिति—एवकारस्य व्यावर्त्यमिति यावत्। १०. उपसदनवाक्यमिति तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् "समित्पाणिरिति" वमादि तत्"।

स होवाच तथा नस्त्वं गौतम माऽपराधास्तव च पितामहा यथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिꣳश्चन ब्राह्मण उवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि को हि त्वैवं ब्रुवन्तमर्हति प्रत्याख्यातुमिति ॥ ८ ॥

उसे दुःखी समझकर उस राजा ने कहा—हे गौतम ! हमारे अपराध को आप वैसे ही न मानें, जैसे आपके पितामहादि पूर्वजों ने हमारे पितामहों का अपराध नहीं माना था। इससे पूर्व यह विद्या किसी ब्राह्मण के यहाँ नहीं रही (इसे आप जानते भी हो, यह विद्या सदा क्षत्रिय परम्परा से आई है)। अब उसे मैं तुमसे कहता हूँ, क्योंकि इस प्रकार विनयपूर्वक बोलने वाले तुम्हें निषेध करने में कौन समर्थ हो सकता है अर्थात् योग्य अधिकारी के प्रति विद्या संप्रदान उचित ही है ॥ ८ ॥

वाचा ह [1]स्मैव किल पूर्वे ब्राह्मणाः क्षत्त्रियान्विद्यार्थिनः सन्तो वैश्यान्वा क्षत्त्रिया वा वैश्यानापद्यु[2]पयन्ति [3]शिष्यवृत्त्या ह्यु पगच्छन्ति नोपायनशुश्रूषादिभिः। अतः स गौतमो होपायनकीर्त्योपगमनकीर्तनमात्रेणैवोवासोषितवान्नोपायनं चकार ॥ ७ ॥

[4]एवं गौतमेनाऽऽपदन्तर उक्ते स होवाच राजा पीडितं[5] मत्वा क्षामयंस्तथा नोऽस्मान्प्रति माऽपराधा अपराधं मा [6]कार्षीरस्मदीयोऽपराधो न ग्रहीतव्य इत्यर्थः। तव च पितामहा अस्मत्पितामहेषु यथाऽपराधं न जगृहुस्तथा पितामहानां [7]वृत्तम-

---

शङ्क्या[8]ऽऽह—वाचा हेति। आपदि समादधिकाद्वा विद्याप्राप्त्यसंभवावस्थायामित्यर्थः। उपायनमुपगमनं पादोपसर्पणमिति यावत् ॥ ७ ॥

[9]विद्याराहित्यापेक्षया निहीनशिष्यभावोपगतिरापदन्तरम् । तथाशब्दार्थमेव विशदयति—तव चेति। सन्तु पितामहा यथा तथा किमस्माकमित्याशङ्क्याऽऽह—पितामहानामिति। किमिति

कहे जाने पर गौतम ने कहा—मैं शिष्य रूप से 'उपैमि' अर्थात् आपकी शरण में हूँ। विद्या की इच्छा वाले पूर्वकालीन ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्यों के प्रति अथवा क्षत्रिय, वैश्यों के प्रति 'उपयन्ति' अर्थात् वाणी द्वारा शिष्य वृत्ति से शरणापन्न होते थे; पादोपसर्पण अथवा शुश्रूषादि के द्वारा नहीं। इसलिये उस गौतम ने "उपायनकीर्त्या" अर्थात् उपसत्ति के कथन मात्र से वहाँ निवास किया, केवल पादोपसर्पणादि द्वारा वास नहीं किया ॥ ७ ॥

इस प्रकार 'मैं शिष्य भाव से आपकी शरण हूँ' यह गौतम के कहने पर उस ब्राह्मण को

---

१. स्मशब्दोऽयमुपयन्तीत्यनन्तरमन्वेति । २. उपयन्ति स्मेत्यन्वर्थः । ३. शिष्यवृत्त्या हीति—उद्दालकादीनामश्वपतौ प्रसिद्धामिदमुपगमनमिति हिशब्दार्थः । ४. एवमिति—उपैम्यहं भवन्तमित्युक्तरीत्येत्यर्थः । ५. ब्राह्मणम् । ६. त्वं हे गौतम । ७. समाचरणम् । ८. आहेति—श्रुति. स्वमुखेनास्मान्प्रत्याहेत्यर्थः । ९. विद्येति—विद्याराहित्यमेकाऽऽपद् निहीनेत्याद्युक्ताऽपरेत्यर्थः । समादधिकाद्वा विद्याप्राप्त्यसंभवावस्था प्रथमा निहीनेत्यादिरपरेत्यप्याहुः ।

[1]असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्याऽऽदित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फु-

हे गौतम ! यह द्युलोक ही अग्नि है (अग्नि न होने पर भी स्त्री और पुरुष के समान द्युलोक
अग्नि दृष्टि का विधान किया गया है)। आदित्य ही उसका ईंधन है, क्योंकि आदित्य से उसका

मास्वपि भवता रक्षणीयमित्यर्थः। [2]यथेयं विद्या त्वया प्रार्थितेतस्त्वत्संप्रदानात्पूर्वं
ङ्न कस्मिन्नपि ब्राह्मण उवासोषितवती तथा त्वमपि जानीषे सर्वदा क्षत्रिय-
रम्परयेयं विद्याऽऽगता सा स्थितिर्मयाऽपि रक्षणीया यदि रक्षितुं शक्यत इत्यभिप्रायेणोक्तं
वेषु गौतम तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति न पुनस्तवादेयो वर इतीतः परं न
क्यते रक्षितुम्। [3]तामपि विद्यामहं तुभ्यं वक्ष्यामि। को ह्यन्योऽपि हि यस्मादेवं
वन्तं त्वामर्हति प्रत्याख्यातुं न वक्ष्यामीति। अहं पुनः कथं न वक्ष्ये तुभ्यमिति ॥ ८ ॥

र्हीयं विद्या झटिति मह्यं नोपदिश्यते तत्राऽऽह—न कस्मिन्निति। [६]तर्हि भवता सा स्थिति रक्ष्यता-
हं तु यथागतं गमिष्यामीत्याशङ्क्याऽऽह—इतः परमिति। तवाहं शिष्योऽस्मीत्येवं ब्रुवन्तं भवन्तं
तोऽन्योऽपि न वक्ष्यामीति यस्मान्न प्रत्याख्यातुमर्हति तस्मादहं पुनस्तुभ्यं कथं न वक्ष्ये किंतु वक्ष्या-
म्येव विद्यामित्युक्तमुपपादयति—को हीत्यादिना ॥ ८ ॥

ीड़ित समझ कर उस राजा ने क्षमा कराते हुए कहा—हे गौतम ! आप 'नः' अर्थात् हमारे प्रति
'माऽपराधाः'' अर्थात् अपराध न करें अर्थात् हमारे अपराध उसी प्रकार ग्रहण न करें; जिस प्रकार
ुम्हारे पितामहों ने हमारे पितामहों के अपराध ग्रहण नहीं किये। अर्थात् आपको भी हमारे प्रति
अपने पितामहों के समाचरण की रक्षा करनी चाहिये। जिस प्रकार तुम्हारे द्वारा अभिलषित यह
विद्या "इतः पूर्वम्'' तुम्हें देने से पहले किसी ब्राह्मण के पास नहीं "उवास'' यानी रही; सो तुम्हें भी
यह विद्या सर्वदा क्षत्रियपरम्परा से आयी है। यदि रक्षा करने में समर्थ होता तो मुझे भी उस स्थिति
की रक्षा करनी चाहिये थी। इसी अभिप्राय से मैंने कहा था कि "हे गौतम ! यह वर दैव वरों में से
है। तुम मानुषवरों में से कोई वर मांगो। अब तुम्हारे लिए यह अदेय वर हो, ऐसी बात नहीं है। अब
इसके बाद इसको छिपाये रखना संभव नहीं है। (सर्वदा राजकुलस्था अति गोपनीया) उस विद्या को
भी मैं तुम्हारे प्रति कहे देता हूँ क्योंकि तुम्हें इस प्रकार (शरणापन्न शिष्यभाव स्वीकार करना)
कहते हुए को मेरे अतिरिक्त दूसरा कौन है, जो 'मैं नहीं कहूँगा' इस प्रकार निषेध करने में समर्थ हो
सके। मैं तुम्हें वह विद्या क्यों न कहूँगा, अर्थात् अवश्य कहूँगा ॥ ८ ॥

---

१. असाविति—हे गौतम वै प्रसिद्धोऽसौ द्युलोकोऽग्निराहवनीयाख्य इति दृष्टिः कर्तव्येत्येवमग्रेऽपि दृष्टिरेव सर्वत्र विधेया। २. ननु ब्राह्मणप्रवरे गौतमे राजानमासाद्य विद्यामर्थयमाने तामप्रयच्छतस्तस्यापराधोऽवश्यं ग्रहीतव्य इत्याशङ्क्याऽऽह—यथेति। ३. तामपि—सर्वदा राजकुलस्थामतिगोप्यामपीत्यर्थः। ४. तर्हि—तस्या ब्राह्मणेष्वभावे। ६. तर्हि—उक्तमर्यादाया अवश्यं रक्षणीयत्वे सतीत्यर्थः।

लिङ्गास्तस्मिन्ने[1]तस्मिन्नग्नौ [2]देवाः [3]श्रद्धां जुह्वति [4]तस्या आहुत्यै सोमो [5]राजा [6]संभवति ॥ ९ ॥

उद्दीपन होता है। किरणें धूप हैं, दिन ज्वाला है, उपशम में समानता होने से दिशाएँ अङ्गारे हैं तथा विस्फुलिङ्गों के समान बिखरी हुई होने के कारण अवान्तर दिशाएँ चिनगारियाँ हैं। ऐसे गुणों से युक्त इस द्युलोक रूप अग्नि में इन्द्रादि देव श्रद्धा का हवन करते हैं। उस आहुति से पितरों और ब्राह्मणों का राजा सोम उत्पन्न होता है ॥ ९ ॥

असौ वै लोकोऽग्निर्गौतमेत्यादि[7]चतुर्थः प्रश्नः प्राथम्येन निर्णीयते। क्रमभङ्गस्त्वेतन्निर्णयायत्तत्वादितरप्रश्ननिर्णयस्य। असौ द्यौर्लोकोऽग्निर्हे गौतम द्युलोकेऽग्निदृष्टिरनग्नौ विधीयते यथा योषित्पुरुषयोस्तस्य द्युलोकाग्नेरादित्य एव समित्समिन्धनात्। आदित्येन हि समिध्यतेऽसौ [8]लोकः। रश्मयो धूमः समिध उत्थानसामान्यात्। आदित्याद्धि रश्मयो निर्गताः। समिधश्च धूमो लोक उत्तिष्ठति। अहरर्चिः प्रकाशसामान्यात्। दिशोऽङ्गारा [10]उपशमसामान्यात्। अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गवद्विक्षेपात्। [12]तस्मिन्नेतस्मि-

असावित्यादिना यतिथ्यामित्यादिचतुर्थप्रश्नस्य प्राथम्येन निर्णये क्रमभङ्गः स्यात्तत्र[13] च कारणं वाच्यमित्याशङ्क्याऽऽह—क्रमभङ्गस्त्विति। [14]मनुष्यजन्मस्थितिलयानां चतुर्थप्रश्ननिर्णयाधीनतया तस्य प्राधान्यात्प्राथम्ये सत्यर्थक्रममाश्रित्याविवक्षितस्य पाठक्रमस्य भङ्गः कृत इत्यर्थः। इन्द्रा-

'हे गौतम! यह द्युलोक ही अग्नि है' इस मन्त्र से चतुर्थ प्रश्न का उत्तर पहले दिया जाता है। क्योंकि इस प्रश्न के निर्णय के अधीन अन्य प्रश्नों का उत्तर निर्भर है, इसलिये क्रम भंग किया गया है। हे गौतम! यह द्युलोक अग्नि है। स्त्री और पुरुष में अनग्नि के समान ही द्युलोक में अग्नि दृष्टि की भावना का विधान किया गया है। "तस्य" अर्थात् उस द्युलोक अग्नि का सम्यक् दीप्तिकारक होने से आदित्य ही समिध् है क्योंकि आदित्य से ही यह लोक प्रकाशित होता है। रश्मि धूम है क्योंकि ईन्धन से ऊपर उठना रूप समानता दोनों में है। आदित्य से ही रश्मियाँ निकली हैं और लोक व्यवहार में समिध से धुआँ निकला है। प्रकाश साम्य होने से दिन ज्वाला है। ज्वालाद्यभाव होने से दिशाएं अङ्गारे हैं। विस्फुलिङ्ग के समान विक्षेप करने से विदिशाएँ विस्फुलिङ्ग हैं।

---

१. एवंगुणविशिष्टे। २. इन्द्रादयः। ३. द्रव्यस्थानीयाम्। ४. पञ्चम्यर्थे चतुर्थ्यौ। ५. अधिपतिः पितॄणां ब्राह्मणानां च। ६. उत्पद्यते। ७. इत्यादीत्यन्तेन कण्डिका प्रतीकमुपादाय तस्यास्तात्पर्यमाह—चतुर्थ इत्यादिना। ८. लोक इति—यथा समिद्भिः प्रसिद्धोऽग्निरिति शेषः। ९. दिनम्। १०. ज्वालाद्यभावः। ११. विदिशः। १२. विश्लिष्टप्रत्ययवेद्यत्वसाम्यात्। १३. क्रमभङ्गे च। १४. उत्पत्तेस्तदधीनत्वाज्जन्मायत्ता स्थितिस्तथा स्थित्यपाये प्रयाणं च श्रुत्याऽभेदि क्रमस्तत इति वार्तिकं विवृण्वन् भाष्यं योजयति—मनुष्येत्यादिना। तदधीनत्वात् तुरीयप्रश्ननिर्णयायत्तत्वात्।

वंगुणविशिष्टे द्युलोकाग्नौ देवा इन्द्रादयः श्रद्धां जुह्वत्याहुतिद्रव्यस्थानीयां प्रक्षिपन्ति । या आहुत्या आहुतेः सोमो [1]राजा पितॄणां ब्राह्मणानां च [2]संभवति । तत्र के देवाः यं जुह्वति किं वा श्रद्धाख्यं [3]हविरित्यत उक्तमस्माभिः [4]संबन्धे । [5]नत्वेवैनयोस्त्वमुत्क्रामित्या[6]द्विपदार्थषट्कनिर्णयार्थमग्निहोत्र उक्तम् । [7]ते वा एते अग्निहोत्राहुती हुते त्यावुत्क्रामतः । ते अन्तरिक्षमाविशतः । ते अन्तरिक्षमाहवनीयं कुर्वाते वायुं समिधं रीचीरेव शुक्रामाहुतिम् । ते अन्तरिक्षं तर्पयतः । ते तत उत्क्रामतः । ते दिवमाविशतः । दिवमाहवनीयं कुर्वाते आदित्यं समिधमि[8]त्येवमाद्युक्तम् ।

ां [9]कर्मानधिकारित्वाद्द्युलोकस्य चाऽऽहवनीयत्वाप्रसिद्ध्या होमाधारत्वायोगा[10]त्प्रत्ययस्य च श्रद्धाया म्यत्वानुपपत्ते[11]स्तस्मिन्नित्यादि वाक्यमयुक्तमिति शङ्कते—तत्रेति । होमकर्म सप्तम्यर्थः । अस्य णस्य संबन्धग्रन्थे समाधानमस्य[12] चोद्यस्यास्माभिरुक्तमित्याह—अत इति । [13]तदेव दर्शयितुमग्निप्रकरणे वृत्तं स्मारयति—नत्विति । किं तदुक्तमिति चेत्तदाह—ते वा इति । आहुत्योः स्वतन्त्रयोरुन्त्यादि कथमित्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति ।

तस्मिन्नेतस्मिन्" अर्थात् ऐसे गुणों से युक्त उस इस द्युलोकरूप अग्नि में इन्द्रादि देव आहुति द्रव्यथानीय श्रद्धा को "जुह्वति" अर्थात् हवन करते हैं । उस आहुति से पितरों और ब्राह्मणों का राजा ोम उत्पन्न होता है । वह देवता कौन हैं ? कैसे हवन करते हैं ? वह श्रद्धाख्य हवि क्या है ? इसीलिये सके संबन्धभाष्य को हम कह चुके हैं कि "तू इन सायं-प्रातः अग्निहोत्र की इन दोनों आहुतियों की त्क्रान्ति को नहीं जानता है" इत्यादि । इसी प्रकार उत्क्रान्ति आदि षट्पदार्थ का निर्णय करने के लिए ग्निहोत्र प्रकरण में कहा गया है—'वे ये अग्निहोत्र की दोनों आहुतियाँ हुत होकर (यजमान के आश्रय से) ऊपर उत्क्रमण करती हैं; धूमादि के द्वारा अन्तरिक्ष में प्रवेश करती हैं। वे अन्तरिक्ष को आहवनीय करती हैं; वायु को समिध् करती हैं और किरणों को शुक्र आहुति करती हैं; वे अन्तरिक्ष को तृप्त करती हैं, वे इससे भी ऊपर चली जाती हैं; वे द्युलोक में प्रवेश करती हैं, वे द्युलोक को आहवनीय करती हैं और आदित्य को समिध् करती हैं इत्यादि (याज्ञवल्क्य जनक संवाद वृ. उ. ५.४.१ में) कहा जा चुका है ।

---

१. अधिपतिः । २. उत्पद्यते । ३. हविरिति—कथं चोक्तहोमात्सोमोत्पत्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । ४. याज्ञवल्क्यं प्रति जनकः । ५. सायं प्रातरनुष्ठितयोरग्निहोत्राहुत्योः । ६. आदिना गतिः प्रतिष्ठातृप्तिः पुनरावृत्तिः लोकं प्रत्युत्थायी च गृह्यन्ते । ७. ते वा एते इत्यादि—अपूर्वरूपे खल्वाहुतीयजमानमुत्क्रामन्तमाश्रित्य उत्क्रामतः । धूमादिना यजमानेऽन्तरिक्षमाविशतः इत्यादि बोध्यम् । ८. इत्येवमादीत्यादिना—ते पूर्ववद्दिवं तर्पयतः ते तत आवर्तेते इमामाविश्य तर्पयित्वा पुरुषमाविशतः ततः स्त्रियमाविश्य लोकं प्रत्युत्थायी भवतीति गृह्यते । स्पष्ट चैतच्छां० भा० ५-४-१ । ९. कर्मानधिकारित्वादिति—होतृत्वानुपपत्तेरिति शेषः । १०. सार्वविभक्तिक तसि मत्वाऽत इत्यस्यार्थमाह—अस्य चोद्यस्येति । ११. उक्तहोमाच्चन्द्रमस उत्पत्त्यसंभवादित्यपि द्रष्टव्यम् । १२. अन्तःकरणवृत्तिविशेषस्य । १३. उक्तमेव ।

तत्राग्निहोत्राहुती[1] ससाधने एवोत्क्रामतः । यथेह यैः साधनैर्विशिष्टे[2] ये ज्ञायेते आहवनीयाग्निसमिद्धूमाङ्गारविस्फुलिङ्गाहुतिद्रव्यैस्ते [3]तथैवोत्क्रामतोऽस्माल्लोकादमुं लोकम् । [3]तत्राग्निरग्नित्वेन समित्समित्त्वेन धूमो धूमत्वेनाङ्गारा अङ्गारत्वेन विस्फुलिङ्ग विस्फुलिङ्गत्वेनाऽऽहुतिद्रव्यमपि पयआद्याहुतिद्रव्यत्वेनैव सर्गादाव[4]व्याकृतावस्थायामपि [5]परेण सूक्ष्मेणाऽऽत्मना व्यवतिष्ठते । तद्विद्यमानत्वमेव ससाधनमग्निहोत्रलक्षणं कर्मापूर्वेणाऽऽत्मना व्यवस्थितं सत्तत्पुनर्व्याकरणकाले [6]तथैवा[7]न्तरिक्षादीनामाहवनीयाद्यग्न्यादिभावं कुर्वद्विपरिणमते । [8]तथैवे[9]दानीमप्यग्निहोत्राख्यं कर्म ।

यजमानस्य मृतिकालः सप्तम्यर्थः । ससाधनयोरेव तयोरुत्क्रान्तिर्न स्वतन्त्रयोरित्येतदुपपादयति—यथेत्यादिना । इहेति जीवदवस्थोच्यते । नष्टानामग्न्यादीनाम[10]व्याकृतभावापन्नत्वेना[11]विशेषप्रसङ्गान्न[12] तैः[13] सहाऽऽहुत्योरुत्क्रान्त्यादिसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—तत्राग्निरिति । नाशादूर्ध्वमपि [14]प्रातिस्विकशक्तिरूपेणाग्न्यादिरवतिष्ठते तथा चाविशेषप्रसङ्गाभावादाहुत्योः ससाधनयोरेवोत्क्रान्त्यादिसिद्धिरित्यर्थः । [15]यथोक्तयोराहुत्योरुत्क्रान्त्यादिसमर्थनेनाग्निहोत्राद्यपूर्वस्य जगदारम्भकत्वमुक्तं भवतीत्याह—तद्विद्यमानमिति । विद्यमानत्वमेव विशदयति—अपूर्वेणेति । अथ यथोदितया विधया [16]कथमपि पूर्वकल्पीयं कर्म प्रलयदशायामव्याकृतात्मना स्थितं पुनर्जगदारभतां तथाऽपीदानींतनमग्निहोत्रादिकं कर्म कथं जगदारम्भकं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—तथैवेति । विमतमारम्भकं [17]तच्छक्तिमत्त्वात्संप्रतिपन्नवदिति भावः ।

(यजमान के मरने के समय) अग्निहोत्र की दोनों आहुतियाँ साधन के सहित उत्क्रमण करती हैं । जिस प्रकार यहाँ ये दोनों आहुतियाँ जिन आहवनीय, अग्नि, समिध्, धूम, अङ्गार, विस्फुलिङ्ग और आहुतिद्रव्य रूप साधन से विशिष्ट जानी जाती हैं, उन्हीं साधनों से विशिष्ट होकर वे इस लोक से उस लोक के प्रति उत्क्रमण करती हैं । वहाँ (नाशोत्तरकाल में) सर्ग के प्रारम्भ में अव्यक्त अवस्था (प्रलय) में भी अत्यन्त सूक्ष्म रूप से अग्नि अग्नित्व रूप से, समिध् समित्त्व से, धूम धूमत्व से, अङ्गार अङ्गारत्व से, विस्फुलिङ्ग विस्फुलिङ्गत्व से, आहुतिद्रव्य दुग्ध आदि भी आहुतिद्रव्यत्व से स्थित रहते हैं । साधन सहित वह अग्निहोत्र रूप कर्म अपूर्वात्मक व्यवस्थित होकर विद्यमान रहता हुआ ही जगत् के पुनः व्याकृति के समय पूर्वकल्प के समान ही अन्तरिक्षादि का आहवनीयादि अग्न्यादिभाव करता हुआ विकार को प्राप्त हो जाता है । उसी पूर्वकल्पीय कर्म के समान ही आजकल अग्निहोत्र संज्ञक कर्म है ।

---

१. आहुती । २. यथोक्तसाधनवैशिष्ट्येन । ३. नाशोत्तरकाले । ४. प्रलयेऽपि । ५. अत्यन्तम् । ६. पूर्वकल्पवदेव । ७. अन्तरिक्षादीनित्यादौ—प्रथमेनादिशब्देन द्युपृथ्वीपुरुषयोषितां ग्रहणं द्वितीयेन गार्हपत्यदाक्षिणात्ययोः तृतीयेनादित्यसमिदादीनाम् । ८. तथैव—पूर्वकल्पीयकर्मवदेव । ९. इदानीमपि—इदानींतनमपीत्यर्थः । १०. अनभिव्यक्तनामरूपत्वेति भावः । ११. अविशेषप्रसङ्गात्—एकत्वापत्तेः । १२. न तैरिति—सहोत्क्रामन्तेर्भिन्नधर्मिकत्वादिति भावः । १३. साधनैः । १४. प्रातिस्विकशक्तिरूपेणेति—स्वीयस्वीयासाधारणसूक्ष्मरूपेणेत्यर्थः । १५. ससाधनयोः । १६. कथमपीति—श्रुत्याद्यनिर्धारितप्रमाणविशेषेणेति यावत् । १७. आरम्भकशक्तिमत्त्वात् ।

एवमग्निहोत्राहुत्यपूर्वविपरिणामात्मकं जगत्सर्वमि[१]त्याहुत्योरेव स्तुत्यर्थत्वेनो-
क्रान्त्याद्या लोकं प्रत्युत्थायितान्ताः षट् पदार्थाः कर्मप्रकरणेऽधस्तान्निर्णीताः । [२]इह तु
र्तुः कर्मविपाकविवक्षायां द्युलोकाग्न्याद्यारभ्य पञ्चाग्निदर्शनमुत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनं
विशिष्टकर्मफलोपभोगाय विधित्सितमिति द्युलोकाग्न्यादिदर्शनं प्रस्तूयते । तत्र य [३]आध्या-
त्मिकाः [४]प्राणा [५]इहाग्निहोत्रस्य [६]होतारस्त एवाऽऽधिदैविकत्वेन परिणताः सन्त इन्द्रादयो
वन्ति त एव तत्र होतारो द्युलोकाग्नौ । ते चेहाग्निहोत्रस्य फलभोगायाग्निहोत्रं
तवन्तः । त एव [७]फलपरिणामकालेऽपि तत्फलभोक्तृत्वात्तत्र [८]तत्र होतृत्वं प्रतिपद्यन्ते
था तथा विपरिणममाना देवशब्दवाच्याः सन्तः । अत्र च यत्पयोद्रव्यमग्निहोत्र[९]कर्माश्रय-

अग्निहोत्रप्रकरणस्यार्थं संगृहीतमुपसंहरति—एवमिति । उक्तमुपजीव्य प्रकृतब्राह्मणप्रवृत्ति-
कारं दर्शयति—इह त्विति । उत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनं विधित्सितमिति संबन्धः । [१०]किमित्युत्तरमार्ग-
तिपत्तिस्तत्राऽऽह—विशिष्टेति । ब्राह्मणप्रवृत्तिमभिधायासौ वै लोकोऽग्निरित्यादिवाक्यप्रवृत्ति-
कारमाह—इति द्युलोकेति । इत्थं ब्राह्मणे स्थिते सतीत्येतत् । [११]भवत्वेवं तथाऽपि के देवा इति
श्नस्य किमुत्तरं तत्राऽऽह—तत्रेति । उक्तनीत्या पञ्चाग्निदर्शने प्रस्तुते सतीत्येतत् । इहेति व्यवहार-
मिग्रहः । कथं तेषां तत्र होतृत्वं तदाह—ते चेति । [१२]तथाऽपि कथं द्युलोकेऽग्नौ तेषां होतृत्वं तदाह—
त एवेति । तत्फलभोक्तृत्वादित्यत्र तच्छब्दोऽग्निहोत्रादिकर्मविषयस्तद्भोक्तृत्वं च प्राणानां
जीवोपाधित्वादवधेयम् । तथा तथा [१३]द्युपर्जन्यादिसंबन्धयोग्या[१४]कारेणेति यावत् । के देवा इति प्रश्नो
निर्णीतः संप्रत्यवशिष्टं [१५]प्रश्नद्वयं निर्णेतुमाह—अत्र चेति । जीवदवस्थायामिति यावत् । सह कर्त्रेत्यत्र

इस प्रकार यह सारा जगत् अग्निहोत्र की आहुति से हुए अपूर्व का विकार रूप है, अतः
आगे कर्मप्रकरण में उन आहुतियों की स्तुति के लिए उत्क्रमण से लेकर पुनः प्रत्युत्थान होने तक छः
पदार्थों का निर्णय किया गया है। प्रकृत ब्राह्मण में कर्ता के कर्मफल की विवक्षा होने पर द्युलोकाग्नि
आदि से लेकर, विशिष्टफल के उपभोग के लिये उतरमार्ग की प्राप्ति की साधनस्वरूपा पञ्चाग्नि
विद्या का विधान करना अभीष्ट है, इसलिये द्युलोकाग्न्यादिदर्शन प्रस्तुत किया जाता है। वहाँ जो
यजमान के शरीरवर्ती जो वागादि प्राण हैं, जाग्रत् अवस्था में अग्निहोत्र के ऋत्विक् स्थानीय होते
हैं। वही आध्यात्मिक रूप से परिणत होकर इन्द्रादि होते हैं, वे ही वहाँ द्युलोकाग्नि में हवन करने
वाले हैं। उन्होंने ही जाग्रदवस्था में अग्निहोत्र का फल भोगने के लिए अग्निहोत्र किया था। फल के

---

१. इति स्तुत्यर्थत्वेनेति—आहुत्यपूर्वस्य निमित्तमात्रत्वेऽपि परिणामितया स्वातन्त्र्यस्फोरणादियं स्तुतिरिति ध्येयम् । २. प्रकृतब्राह्मणे । ३. यजमानशरीरवासिनः । ४ वागादयः । ५. जीवदवस्थायाम् । ६. ऋत्विक्स्थानीयः । ७. फलपरिणामेति—अग्निहोत्रादिकर्मापूर्वस्य फलात्मना परिणामकालेऽपीत्यर्थः । ८. द्युलोकाद्यग्नौ । ९. क्रियाकर्माश्रयभूतम् । १०. किमर्था । ११. भवत्वेवमिति—यथोक्तप्रकारेण पञ्चाग्निदर्शनस्य प्रस्तुतत्वं भवतु । तथापि—पूर्वोक्तरीत्या पञ्चाग्निदर्शने प्रस्तुतेऽपि । १२. इह तेषां होतृत्वेऽपि । १३. द्युपर्जन्यादीत्यादिना पृथिवीपुरुषयोषितो ग्राह्याः । १४. स्वरूपेण । १५. प्रश्नद्वयमिति—कथं द्युलोकस्याहवनीयत्वं कथं वा श्रद्धाया होम्यत्वमित्येतद्द्वयम् ।

भूतमिहाऽऽहवनीये प्रक्षिप्तमग्निना भक्षितम[1]दृष्टेन सूक्ष्मेण रूपेण विपरिणतं सह कर्त्रा यजमानेनामुं लोकं धूमादिक्रमेणान्तरिक्षमन्तरिक्षाद्द्युलोकमाविशति । [2]ताः सूक्ष्मा आप आहुतिकार्यभूता अग्निहोत्रसमवायिन्यः कर्तृसहिताः [3]श्रद्धाशब्दवाच्याः सोमलोके कर्तुः शरीरारम्भाय द्युलोकं [4]प्रविशन्त्यो हूयन्त इत्युच्यन्ते । [5]तास्तत्र द्युलोकं प्रविश्य सोममण्डले कर्तुः शरीरमारभन्ते । [6]तदेतदुच्यते देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो

[7]तच्छब्दो द्रष्टव्यः । अमुं लोकमाविशतीति संबन्धः । आवेशप्रकारमाह—धूमादीति । कथमे[8]तावता किं पुनः श्रद्धाख्यं हविरिति प्रश्नो निर्णीतस्तत्राऽऽह—ताः सूक्ष्मा इति । [9]तथाऽपि कथं जुह्वतीति प्रश्नस्य [10]कथं निर्णयस्तत्राऽऽह—सोमलोक इति । [11]तथाऽपि [12]तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवतीति कथमुच्यते तत्राऽऽह—तास्तत्रेति । निर्णीतेऽर्थे श्रुतिमवतारयति—तदेतदिति । कथं पुनरापः

परिणाम काल में वे ही उस फल के भोक्ता होने से द्युलोकादि अग्नि में वैसे-वैसे रूप से परिणत होकर देवशब्दवाच्य हुए होतृत्व को प्राप्त होते हैं। एवं यहाँ अग्निहोत्र क्रिया का आश्रय भूत दुग्धरूप द्रव्य जो आहवनीय अग्नि में डाला गया था, वह अग्नि द्वारा ग्रहण किया जाता हुआ अपूर्व सूक्ष्म रूप में परिणत हो कर्ता यजमान के सहित धूमादि क्रम से उस अन्तरिक्ष लोक में और फिर अन्तरिक्ष लोक से द्युलोक में प्रवेश करता है। अपूर्वीभूत वह आहुति का कार्यभूत, श्रद्धा शब्द वाच्य अग्निहोत्र संबन्धी सूक्ष्म आप (जल) सोमलोक में कर्ता के शरीर का आरम्भ करने के लिए कर्ता के सहित द्युलोक में प्रवेश करते हुए "हवन किया जाता है" इस प्रकार कहा जाता है। वे वहाँ द्युलोक में प्रविष्ट होकर सोम मण्डल में कर्ता का शरीर आरम्भ करते हैं। उक्त रीति से निर्णीत वस्तु को श्रुति

---

१. अपूर्वापरपर्यायेण । २. अपूर्वीभूताः । ३. श्रद्धाशब्दवाच्या इति । अत्र वार्तिकम्—"आहुत्योः परिणामोऽयमूर्ध्वंसोऽपूर्वमित्यपि । तस्य श्रद्धैकहेतुत्वाच्छ्रद्धा नामेति कीर्त्यते" ॥८६॥ अग्निहोत्रादिकर्मापूर्वं श्रद्धाकार्यत्वादुपचारतः श्रद्धाशब्दितमिति भावः । ४. प्रविशन्त्य इत्यादि—श्रद्धाशब्दितानां भूतान्तरसहितानां सोमाद्यात्मिकानामपूर्वात्मना परिणतानामपां कर्तुः शरीरारम्भाय द्युलोकप्रवेशनमेव होम इत्यर्थः । ५. सूक्ष्मा आपः । ६. तदेतत्—उक्तरीत्या निर्णीतमेतद्वस्तु श्रुत्योच्यत इत्यर्थः । ७. तत् पयोद्रव्यम् । ८. एतावता—यथोक्तपयोद्रव्यस्य कर्तृसहितस्य धूमादिक्रमेण द्युलोकावेशकथनमात्रेण । ९. तथाऽपीति—किंवा श्रद्धाख्यं हविरिति प्रश्ने निर्णीतेऽपीत्यर्थः । १०. कथं निर्णय इति—अपूर्वस्यापि श्रद्धाख्यस्य न होम्यता संभवतीत्यभिप्रायः । ११. तथाऽपीति—इत्थं श्रद्धाया होम्यत्वसिद्धावपीत्यर्थः १२. तस्याः श्रद्धारूपाया आहुतेः सकाशात् ।

❀ शरीरमारभन्त इति । तथा च वार्तिकम्—"तस्याभिवृद्धिः संभूतिर्न त्वभूतजनिर्यतः" ॥ ८७ ॥ "आकृष्टं रश्मिभिस्तोयमादित्ये प्रतितिष्ठति । तस्मादादित्यगः सोमः क्षीण आप्यायते पुनः ॥ परिणामो ह्यपां सोमः शीतांशुस्तेन सोऽम्मयः । श्रद्धाहुतेर्हि सोमस्य संभवः शास्त्र उच्यते ॥ अङ्गाराश्चन्द्रमास्तस्मिन्हुतेऽग्नौ सोमसंभवः । सोमचन्द्रमसोरेवं भेदः शास्त्रेण दर्शितः ॥ चन्द्रमा मण्डलं स्वच्छं चन्द्रकेण मितो हि सः । सोमस्तु मण्डले श्वेतो वर्धते ह्रसते च यः ॥ चन्द्रमाः पर आदित्यादर्वाक्सोमः श्रुतेर्मतः । आदित्याच्चन्द्रमित्याह नैते संवत्सरं तथा ॥ सोमचन्द्रमसोस्तस्माद्भेदः समवगम्यते । देशाभेदादभिन्नौ तावेष सोम इति श्रुतेः ॥ भिन्नौ च धर्म-

राजा संभवतीति । "श्रद्धा वा आपः" इति श्रुतेः ।

वेत्थ यतिथ्यामाहुत्यां हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्तीति प्रश्नस्तस्य च निर्णयविषयेऽसौ वै लोकोऽग्निरिति प्रस्तुतम् । [1]तस्मादापः [2]कर्मसमवायिन्यः कर्तुः शरीरारम्भिकाः श्रद्धाशब्दवाच्या इति निश्चीयते । भूयस्त्वादापः पुरुषवाच इति यपदेशो न त्वितराणि भूतानि न सन्तीति कर्मप्रयुक्तश्च शरीरारम्भः । कर्म चाप्सम-

---

द्धाशब्दवाच्या न हि लोके श्रद्धाशब्दं तासु प्रयुञ्जते तत्राऽऽह—श्रद्धेति ।

उपक्रमवशादप्यापोऽत्र श्रद्धाशब्दवाच्या इत्याह—वेत्थेति । अपामेव पुरुषशब्दवाच्यानां रीरारम्भकत्वान्न [3]भूतान्तराणामिति कृत्वा [4]तस्य पञ्चभूतारब्धत्वाभ्युपगमभङ्गः स्यादिति न्नेत्याह—भूयस्त्वादिति । अपां पुरुषशब्दवाच्यत्वे हेत्वन्तरमाह—कर्मेति । [5]अथाकर्मप्रयुक्तमपि

हती है—"देवगण श्रद्धा को होम देते हैं, उस आहुति से राजा सोम होता है" । तथा 'श्रद्धा ही जलत्व है' इस श्रुति से भी यही सिद्ध होता है ।

"क्या तुम जानते हो कि कितनी आहुतियों के हवन किये जाने पर 'आप' पुरुष शब्द वाच्य कर उठकर बोलने लगता है" यह प्रश्न है, उसके निर्णय के लिए 'यह द्युलोक ही अग्नि है' इस कार आरम्भ किया जाता है । इसलिये यह निश्चय होता है कि कर्ता के शरीर का आरम्भक कर्म-वन्धी आप श्रद्धा शब्द वाच्य है । अन्य भूतों से जल की बहुलता होने से 'आप पुरुष शब्द वाच्य ' ऐसा व्यपदेश किया जाता है, इससे अन्य भूतों का अभाव सिद्ध नहीं हो जाता क्योंकि शरीरारम्भ

---

१. तस्मादिति—उपक्रमानुरोधादित्यर्थः । प्रश्ने ह्यापः पुरुषवाचो भवन्तीत्युक्तमत्र चोत्तरे श्रद्धाहुतिस्तदर्थत्वेनोच्यमानाऽपामेव श्रद्धाशब्दत्वं गमयति—अन्यथा प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यादिति भावः । २. कर्मसंबन्धिन्यः । ३. शरीरारम्भकत्वम् । ४. शरीरस्य । ५. यद्वा देवादिपूज्यतमशरीराणामकर्मप्रयुक्तत्वं मत्वा शङ्कते—अथेति ।

भेदेन तस्मादुभयथा श्रुतिः ॥ ६१-६७ ॥ इति । तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवतीत्यत्र कीदृशी सोमस्य
संभूतिस्तत्राऽऽह—तस्येति । तत्र हेतुमाह—न त्विति । सोमस्य प्रागेव सिद्धेरसतो जन्मायोगाद्वृद्धिरेव संभूतिः
सा च सोमलोके कर्तृभोगाय देहान्तरारम्भकता 'तास्तत्र द्युलोकं प्रविश्य सोममण्डले कर्तुः शरीरमारभन्त' इति
हि भाष्यमित्यर्थः ॥ श्रद्धाहुतेः सोमस्य संभूतिर्वृद्धिरित्युक्तं कथं निर्वहतीत्याशङ्क्याऽऽह—आकृष्टमिति ।
तच्छब्दस्तोयार्थः । कृष्णपक्षे क्षीयमाणः सोमोऽमावास्यायामादित्यान्तर्गतस्तद्गततोयेन शुक्लपक्षे क्रमेणा-
ऽऽप्यायते सेयं वृद्धिः सोमस्य संभूतिः । "विवस्वानंशुभिस्तीक्ष्णैरादाय जगतो जलम् । सोमे मुञ्चत्यथेन्दुश्च
वायुनाडीमयैर्द्विज" ॥ इत्यादिस्मृतेरित्यर्थः ॥ ये तु सोमस्य तैजसत्वमाहुस्तेषां तस्या आहुत्यै सोमो राजा
संभवतीति विरोध इत्याह—परिणामो हीति । श्रुतिप्रसिद्ध्यर्थो हिशब्दः । प्रत्यक्षं च तस्याऽऽप्यत्वमित्याह—
शीतांशुरिति । किंच श्रद्धाख्यानामपां हुतेः सोमस्य संभवो यः शास्त्रे कथ्यते स सोमलोके कर्तृभोगार्थं देहान्त-
रारम्भ एव तथा च तस्य तैजसत्वेऽपि न क्षतिरिति विवक्षन्नाह—श्रद्धाहुतेरिति ॥ ननु द्युलोकाग्नौ श्रद्धाहुतेः
सोमोत्पत्तिश्चेत्तत्कथं तस्य मनुष्यलोकाग्नावङ्गारत्वं चन्द्रमा अङ्गारा इति हि श्रुतिरित्याशङ्क्य सोमचन्द्रमसो-
र्भेदं साधयति—अङ्गारा इति । तस्मिन्निति द्युलोकाग्नेरुक्तिः । कारकभूतश्चन्द्रमाः फलभूतः सोम इति
भेद इत्यर्थः । तत्र प्रमाणं प्रकटयति—सोमेति । शास्त्रमत्र चन्द्रमा अङ्गारास्तस्या आहुत्यै सोमो राजेत्यादि ॥

वायि । [1]ततश्चापां प्राधान्यं शरीरकर्तृत्वे । [2]तेन चाऽऽपः पुरुषवाच इति व्यपदेशः। कर्म[3]कृतो हि जन्मारम्भः सर्वत्र । तत्र यद्यप्यग्निहोत्राहुतिस्तुतिद्वारेणोत्क्रान्त्यादयः प्रस्तुताः षट्पदार्था अग्निहोत्रे तथाऽपि वैदिकानि सर्वाण्येव कर्माण्यग्निहोत्रप्रभृतीनि

प्रकृष्टं जन्मास्ति तत्कथमपां सर्वत्र पुरुषशब्दवाच्यत्वं तत्राऽऽह—कर्मकृतो हीति । [4]‘अन्यथा’ तत्र तत्र सुखदुःखप्रभेदोपभोगासंभवादिति भावः । यदि कर्मापूर्वशब्दवाच्यं [6]‘भूतसूक्ष्मं सर्वत्र शरीरारम्भकं कथं [7]तर्हि पूर्वमग्निहोत्राहुत्योरेव व्यक्तं जगदारम्भकत्व‘मुक्तं तत्राऽऽह— तत्रेति । लक्ष्यन्तेऽग्निहोत्रा-

---

कर्मनिमित्तक है और कर्म आप संबन्धी है । इसलिए शरीर सृष्टि में जल की प्रधानता है । इसलिए भी आप पुरुषशब्दवाच्य है—ऐसा व्यपदेश किया जाता है । जन्म का आरम्भ सर्वत्र कर्म प्रयुक्त ही हुआ करता है । वहाँ अग्निहोत्र के प्रकरण में यद्यपि अग्निहोत्र की आहुतियों की स्तुति के द्वारा उत्क्रमण आदि छः पदार्थ वर्णित किये गये हैं तो भी उससे अग्निहोत्रादि सभी वैदिक कर्म लक्षित होते हैं । स्त्री और अग्नि से सम्बद्ध पाङ्क्त कर्म प्रस्तुत करके श्रुति में कहा गया था—‘कर्म से पितृलोक होता है’ । तथा इसी को श्रुति आगे भी कहेगी—‘जो यज्ञ, दान और तप से लोकों को जीतते

---

१. ततश्चेति—शरीरारम्भककर्मणोऽप्समवायित्वादेवेत्यर्थः । २. तेन चेति —अपां तत्कर्तृतायां प्राधान्येन हेतुनेत्यर्थः । ३. प्रयुक्तः । ४. अन्यथेति—देवादिदेहानामकर्मप्रयुक्तत्वे । तत्र तत्र—देवादिदेहे । सुखेति—श्रूयते च तेषां तदुपभोगः पुराणादिभ्य इति भावः । ५. ईश्वरत्वेन स्वीयकर्माप्रयुक्तमपि कृष्णाद्यवतारजन्म-साधुदुष्कृतां कर्मप्रयुक्तमेव नेतरथा तत्तदवतारप्रयुक्तस्तेषां सुखदुःखोपभोगः संभवतीत्यभिप्रायेणाह—अन्यथेति। अन्यथा—अवतारदेहानां कर्माप्रयुक्तत्वे । तत्र तत्र—तत्तदवतारविग्रहे सति । सुखेति—साधुदुष्कृतामित्यादिः। ६. भूतसूक्ष्ममित्यादि—अववारदेहानाम् भौतिकत्वमेवेति मतेनेदम् । ७. अग्निहोत्रप्रकरणे । ८. न त्वेवंन-योरित्यादिना ।

पदार्थालोचनायामपि भेदसिद्धिरित्याह—चन्द्रमा इति । मण्डले चन्द्रमःशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमाह—चन्द्रकेणेति। अभ्रकेण तुलित इत्यर्थः । सशब्दो मण्डलार्थः । मण्डलान्तर्वर्तिनि पुरुषे सोमशब्दप्रवृत्तिमाह—सोमस्त्विति। तत्र निमित्तमाह—वर्धत इति । लतारूपे वृद्धिह्रासदृष्टेरस्मिन्नपि पक्षभेदेन तद्भावात्तच्छब्दप्रवृत्तिः । न च मण्डलस्यैव वृद्धिह्रासौ नियामकाभावादेवमेनांस्तत्र भक्षयन्तीति च श्रुतेर्न च साऽपि मण्डलार्था तन्मात्रस्या-भोग्यत्वादित्यर्थः ॥ भेदकान्तरमाह—चन्द्रमा इति । आदित्यात्प्रागूर्ध्वं च श्रुतयोः सोमचन्द्रमसोर्भेदः श्रौत-श्चेत्काऽसौ श्रुतिरित्याशङ्क्याऽऽह—आदित्यादिति । उत्तरमार्गगाः संवत्सरद्वाराऽऽदित्यं गतास्तस्माच्चन्द्रं गच्छन्तीति श्रुतिरादित्यात्पराञ्चं चन्द्रं ब्रूते । एते दक्षिणमार्गगा न संवत्सरमापद्यन्ते किंतु मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रमेष सोमो राजेत्यादिश्रुतिरादित्यादर्वाञ्चं सोममाह । न च चन्द्रस्याऽऽदित्यात्पराचीनत्वे तदन्त-र्वर्तिनः सोमस्य तस्मादर्वाचीनत्वानुपपत्तिरैश्वर्यवशाद्देवतायास्तथात्वसंभवादनेकप्रतिपत्तिन्यायादित्यर्थः ॥ फलितं भेदं निगमयति—सोमेति । तयोरत्यन्तभेदश्चेत्कथमभेदोक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—देशेति । स्वरूपभेदे सत्येव देशाभेदेन पितृलोकाच्चन्द्रमेष सोमो राजेत्यभेदश्रुतिः सोमस्य मण्डलस्थत्वाद्देशान्तराभावादित्यर्थः ॥ कथं तर्हि भेदश्रुतिस्तत्राऽऽह—भिन्नौ चेति । धर्मभेदेन स्वरूपभेदेनेति यावत् । देशाभेदादभेदश्रुतिः स्वरूपभेदाद्-भेदश्रुतिरित्युपसंहरति—तस्मादिति ॥

पर्जन्यो वा अग्निर्गौतम तस्य संवत्सर एव समिदभ्राणि धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳ राजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टिः संभवति ॥१०॥

हे गौतम ! मेघ ही अग्नि है, संवत्सर ही उसका ईंधन है, क्योंकि संवत्सर के द्वारा ही
घरूप अग्नि प्रदीप्त होता है । बादल धूम है, बिजली ज्वाला है, इन्द्र का वज्र अङ्गार हैं, मेघगर्जन
नगारियाँ हैं। इस अग्नि में देवगण सोमराज को हवन करते हैं। उस सोम की आहुति से वर्षा
होती है ।।१०।।

क्ष्यन्ते । दाराग्निसंबद्धं हि [1]'पाङ्क्तं कर्म [2]'प्रस्तुत्योक्तम्—[3]'कर्मणा पितृलोक इति ।
वक्ष्यति च– अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्तीति ।। ९ ।।

[5]'पर्जन्यो वा अग्निर्गौतम द्वितीय आहुत्याधार [6]'आहुत्योरा[7]वृत्तिक्रमेण । पर्जन्यो
नाम वृष्ट्युपकरणाभिमानी देवतात्मा । [8]'तस्य संवत्सर एव समित् । संवत्सरेण हि
शरदादिभिर्ग्रीष्मान्तैः स्वावयवैर्विपरिवर्तमानेन पर्जन्योऽग्निर्दीप्यते । अभ्राणि धूमः । [10]'धूम-

---

हुत्येति शेषः । लक्षणायां [11]'पूर्वोत्तरवाक्ययोर्गमकत्वमाह—दाराग्नीति ।।९।।

आद्यमाहुत्याधारमेवं निरूप्याऽऽहुत्याधारान्तराणि क्रमेण निरूपयति—पर्जन्यो वा
अग्निरित्यादिना । कुतो[12]ऽस्य द्वितीयत्वमिति शङ्कित्वोक्तम्—आहुत्योरिति । अस्ति खल्वभ्राणां
धूमप्रभवत्वे [13]'गाथा 'धूमज्योतिःसलिलमरुतां संनिपातः क्व मेघः' इति ।।१०।।

हैं (वे धूम को प्राप्त होते हैं)' इत्यादि ।।९।।

हे गौतम ! आहुतियों की आवृत्ति के क्रम द्वितीय आहुति का आधार मेघ ही अग्नि है ।
वृष्टि उपकरण के अभिमानी देवता का नाम पर्जन्य है। उसका संवत्सर समित् है । शरदादि से
ग्रीष्मपर्यन्त अपने अवयवों द्वारा विभिन्न रूप से परिवर्तित हुए संवत्सर के द्वारा ही मेघ रूप अग्नि
प्रदीप्त होता है । बादल धूम हैं; क्योंकि धूम से उत्पन्न होते हैं और धूम की तरह दिखायी देते हैं।

साध्यं वा
१. पाङ्क्तमिति—मनोवाक्प्राणचक्षुःश्रोत्रैः पञ्चभिः साध्यम् आत्मजायाप्रजावित्तविद्याभिः
कर्म पाङ्क्तम् । २. बृ. उ. १. ४. १७ । ३. बृ. उ. १. ५. १६ । ४. बृ. उ. ६. २. १६ । ५. ससोमः
पर्जन्याग्नौ हुतः सन् वृष्टिरूपेण परिणमत इत्याह—पर्जन्य इति । पर्जन्यो नाम वृष्ट्युपकरणाभिमानिदेवतात्मा-
ऽग्निः । स च द्युलोकादावर्तनसमये द्वितीय आहुत्याधार इत्यर्थः । ६. आहुत्योरपूर्वात्मिकयोः । ७. आवृत्ति-
क्रमेण—द्युलोकादेतं लोकं प्रत्यागमनक्रमेण । ८. पर्जन्याग्नेः । ९. शरदादीति—आदिना हेमन्तशिशिर-
वसन्ता ग्राह्याः । १०. अभ्राणाम् । ११. पूर्वोत्तरेति—पञ्चाग्निप्रकरणापेक्षया पूर्वोत्तरत्वं वाक्यत्वात्कर्म-
संदर्शितत्वं तद्गताहुतिलक्षणागमकमिति ध्येयम् । १२. अस्य पर्जन्याग्निरूपस्याधारस्य । १३. कथा-
काव्यम् ।

अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्य पृथिव्येव समिदग्निर्धूमो रात्रिरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फु-

हे गौतम ! यह लोक ही अग्नि है, पृथिवी इसका ईंधन है, अग्नि धूम है, रात्रि ज्वाला है, चन्द्रमा अङ्गार है और नक्षत्र चिनगारियाँ हैं। इस अग्नि में देवगण वर्षा का हवन करते हैं। उस आहुति से अन्न उत्पन्न होता है। (समिधा के संबन्ध से ज्वाला और धूम उत्पन्न होता है)। अतः

प्रभवत्वाद्धूमवदुपलक्ष्यत्वाद्वा। विद्युदर्चिः । प्रकाशसामान्यात्। अशनिरङ्गाराः। उपशान्तत्वकाठिन्यसामान्याभ्याम् । ह्रादुनयो ह्लादुनयः स्तनयित्नुशब्दा विस्फुलिङ्गाः। विक्षेपानेकत्वसामान्यात् । तस्मिन्नेतस्मिन्नित्याहुत्यधिकरणनिर्देशः[3] । देवा इति [4]त एव होतारः सोमं राजानं जुह्वति । योऽसौ द्युलोकाग्नौ श्रद्धायां हुतायामभिनिर्वृत्तः सोमः स द्वितीये पर्जन्याग्नौ हूयते । तस्याश्च सोमाहुतेर्वृष्टि संभवति ॥ १० ॥

[5]अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम । अयं लोक इति प्राणिजन्मोपभोगाश्रयः क्रियाकारकफलविशिष्टः स तृतीयोऽग्निः । तस्याग्नेः [6]पृथिव्येव समित् । पृथिव्या [7]ह्ययं लोकोऽनेक-

---

[8]एतल्लोकपृथिव्योर्देहदेहिभावेन भेदः । पृथिवीछायां हीति । [9]एतानि हि चन्द्रं रात्रेस्तमसो

विद्युत् ज्वाला है क्योंकि प्रकाश से उसकी समानता है। वज्र अङ्गारे हैं क्योंकि इनमें उपशान्तत्व और काठिन्य की समानता है। "ह्रादुनयः" अर्थात् स्तनयित्नु शब्द विस्फुलिङ्ग हैं क्योंकि विश्लिष्ट-प्रत्ययवेद्यत्व दोनों में समान है। उस इस पर्जन्य अग्नि में इस प्रकार कहकर आहुति के अधिकरण का निर्देश किया गया है। "देवाः" अर्थात् यजमान वागादि प्राण ही आधिदैविक इन्द्रादिशब्दवाच्य होता राजा सोम को होमते हैं। जो यह द्युलोक में श्रद्धा का हवन करने पर निष्पन्न हुआ सोम था, उसे ही इस द्वितीय पर्जन्यरूप अग्नि में होमा जाता है। इस सोम की आहुति से वृष्टि होती है ॥१०॥

हे गौतम ! यह लोक ही अग्नि है। "अयं लोकः" अर्थात् प्राणियों के जन्म और उपभोग का

---

१. अशनिः—वज्रापरपर्यायः प्रकाशाश्रयः। २. विक्षेपो विश्लिष्टप्रत्ययवेद्यत्वम् । ३. पर्जन्याग्नौ । ४. त एवेति—प्रागुक्ता यजमानप्राणा वागादय एवाधिदैविकभूता इन्द्रादिशब्दवाच्या होतारस्तत्र भोक्तृत्वलक्षणं होतृत्वमापद्यन्ते इत्यर्थः। ५. एवमुत्पन्नवृष्टिरस्मिंल्लोके हुता सत्यन्नरूपेण परिणमत इत्याह—अयं वा इति। हे गौतम अयं वै लोकः पृथिव्यभिमानिदेवताया देहभूतस्तृतीयोऽग्निः तस्याग्नेः पृथिव्येव पृथिव्यभिमानिदेवतैव सत् तया ह्ययं लोक समिध्यते। ६. पृथिवीदेवतैव। ७. हीति—देहिना देहस्य प्रसिद्धा दीप्तिरिति हेतूक्तं हिशब्दः। ८. नन्वयं लोकोऽग्निः पृथिवी च तस्य समिदित्ययुक्तमेतल्लोकपृथिव्योरैक्यादेकस्मिश्चाग्निसमिद्भावायोगादित्याशङ्कयाऽऽह—एतल्लोकेति। एतल्लोको दृश्यमाना पृथ्वीदेहः पृथिवी च तदभिमानिदेवता देहीति भेद इत्यर्थः। ९ एतानीत्यादि—एतानि हि प्रसिद्धानि ज्योतींषि नक्षत्राणि। रात्रेस्तमसस्तमोभूताया रात्रेर्मृत्योर्मारकात् प्रकाशविरोधिन इति यावत् बिभ्यतं को हि मत्क्षयपक्षे लोकमिममाह्लादयेदिति चिन्तया भीतप्रायं चन्द्रमत्यपारयन् भवत्क्षयपक्षे वयमेव संभूय करिष्यामो भावत्कं यथाशक्तिकार्यमित्याश्वासनेन समर्थमकुर्वन्निर्मुक्तचिन्तमभावयन्निति यावत्।

लिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नꣳ संभवति ॥११॥

र्थिव द्रव्यरूप इंधन से अग्निरूप धूम की छायारूप रात्रि (अन्धकार) उत्पन्न होता है। अङ्गारे के मान होने से चन्द्रमा को अङ्गार कह दिया गया है।.११॥

पन्नया समिध्यते। अग्निर्धूमः। [1]पृथिव्याश्रयोत्थानसामान्यात्। [2]पार्थिवं हीन्धनद्रव्यमाश्रित्याग्निरुत्तिष्ठति। यथा समिदाश्रयेण धूमः। रात्रिरर्चिः। समित्संबन्धप्रभवसामान्यात्। ग्नेः समित्संबन्धेन ह्यर्चिः संभवति। तथा पृथिवीसमित्संबन्धेन शर्वरी। पृथिवीछायां ह शार्वरं तम आचक्षते। चन्द्रमा अङ्गाराः। [3]तत्प्रभवत्वसामान्यात्। [4]अर्चिषो ह्यङ्गाराः भवन्ति तथा रात्रौ उपशान्तत्वसामान्याद्वा। नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः। विस्फुलिङ्ग-

---

योर्बिभ्यतस्तत्यपारयन्' इति श्रुते रात्रेस्तमस्त्वावगमात्तस्य च [5]'मृत्युर्वै तमश्छाया मृत्युमेव तमश्छायां तरतीति [6]'भूछायात्वं श्रुतम्। [7]'तमो राहुस्थानं तच्च भूछायेति हि प्रसिद्धम्—

"उद्धृत्य पृथिवीछायां निर्मितं मण्डलाकृति। स्वर्भानोस्तद्बृहत्स्थानं तृतीयं यत्तमोमयम्"

ति स्मृतेरित्यर्थः। [8]'सोमचन्द्रमसोराश्रयाश्रयिभावेन भेदः ॥११॥

आश्रयभूत एवं क्रिया, कारक और फल से विशिष्ट यह लोक ही तृतीय अग्नि है। उस अग्नि का पृथिवी देवता ही समिध् है। पृथिव्यभिमानी देवता से ही जो प्राणियों के अनेक उपभोगसामग्रियों से सम्पन्न है, यह लोक दीप्त होता है। अग्नि देवता ही धूम है क्योंकि पृथिवी रूप आश्रय से ऊपर उठने में इनकी समानता है। पार्थिव ईंधन द्रव्य को आश्रित करके अग्नि ऊपर उठता है, जिस प्रकार समिध् के आश्रय से धूम उठता है। रात्रि ज्वाला है क्योंकि समिध् के संबन्ध से उत्पन्न होना रूप समानता दोनों में है। समिध् के संबन्ध से अग्नि में ज्वाला उठती है, इस प्रकार पृथिवी रूप समिध् के संबन्ध से रात्रि होती है। पृथिवी की छाया को रात्रि का अन्धकार कहा जाता है। चन्द्रमा अङ्गार है क्योंकि रात्रि और अर्चि से उत्पन्न होने से दोनों में समानता है। ज्वाला से ही अङ्गारे उत्पन्न होते हैं. इसी प्रकार रात्रि में चन्द्रमा होता है अथवा उपशान्तत्व गुण दोनों में समान है। नक्षत्र विस्फुलिङ्ग हैं क्योंकि

---

१. पृथिव्याश्रयेति—उभयो पार्थिवद्रव्याश्रितत्वेनोत्थानसामान्यादिति यावत्। २. तदेव स्पष्टयति—पार्थिवं हीति। ३ तत्प्रभवत्वेति—चन्द्रमोऽङ्गारयो रात्र्यर्चिभ्यामुद्भवप्रकाशाश्रयत्वादिसामान्यादित्यर्थः। ४. तदेव स्पष्टयति—अर्चिष इति। ५. मृत्युर्वै तमश्छाया प्रकाशविरोधिरात्रिरूप तमश्छायैवेत्यर्थः। तत्प्रकाशविरोधिच्छायाभूतं तमः कर्म। तेनैव ज्योतिषा नक्षत्रपरिवारेण चन्द्रमसैव तरति लोकोऽतिक्रामतीत्यर्थः। ६. नन्तु च्छायामात्रत्वं श्रुतं न तु भूच्छायात्वमित्याशङ्क्याऽऽह—तमो राहुस्थानमिति भूछायात्वं श्रुतमिति। ७. ननु च्छायामात्रत्वं श्रुतं न तु भूच्छायात्वमित्याशङ्क्याऽऽह—तमो राहुस्थानमिति रात्रिरूपं तम एव हि राहोः स्थित्यधिकरणं तच्चोद्धृत्येत्यादिस्मृतिबलाद्भूच्छायेति सिद्धं रात्रिरूपस्य तमसो भूच्छायात्वमिति भावः। ८. ननु पूर्वं द्युलोकाग्नौ श्रद्धाहुतेः सोमोत्पत्तिरुक्ता तत्कथमिदानीं तस्यैव मनुष्यलोकाग्नावङ्गारत्वमुच्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—सोमचन्द्रमसोरिति। सोम आश्रयी चन्द्रमा आश्रय इति स्पष्टं प्रकृतब्राह्मणवार्तिके (६२) इत्यादौ।

पुरुषो वा अग्निर्गौतम तस्य व्यात्तमेव समित्प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुत्यै रेतः संभवति ॥ १२ ॥

हे गौतम ! (हस्तपादादि अवयवों वाला) प्रसिद्ध पुरुष ही अग्नि है, उसका खुला हुआ मुख ही समिधा है, प्राण धूम है, वाणी ज्वाला है, (क्योंकि ज्वाला के समान वाणी से ही वस्तु का प्रकाश होता है) नेत्र अङ्गार हैं और श्रोत्र चिनगारियाँ हैं। इस पुरुषाग्नि में देवगण अन्न का हवन करते हैं। उस आहुति से अन्न का परिणाम वीर्य उत्पन्न होता है ॥ १२ ॥

वद्विक्षेपसामान्यात् । तस्मिन्नेतस्मिन्नित्यादि [1]पूर्ववत् । वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुते[2]रन्नं संभवति वृष्टिप्रभवत्वस्य प्रसिद्धत्वाद्व्रीहियवादेरन्नस्य ॥ ११ ॥

[3]'पुरुषो वा अग्निर्गौतम प्रसिद्धः शिरःपाण्यादिमा[4]न्पुरुषश्चतुर्थोऽग्निस्तस्य व्यात्तं विवृतं मुखं समित् ; विवृतेन हि मुखेन दीप्यते पुरुषो वचनस्वाध्यायादौ । यथा समिधाऽग्निः । प्राणो धूमस्तदुत्थानसामान्यात् । मुखाद्धि प्राण उत्तिष्ठति । वाक्शब्दोऽर्चिर्व्यञ्जकत्वसामान्यात् । अर्चिश्च व्यञ्जकम् । तथा वाक्शब्दोऽभिधेयव्यञ्जकः । चक्षुरङ्गारा उपशमसामान्यात्प्रकाशाश्रयत्वाद्वा । श्रोत्रं विस्फुलिङ्गा विक्षेपसामान्यात् । [5]'तस्मिन्नन्नं जुह्वति । ननु नैव देवा अन्नमिह जुह्वतो दृश्यन्ते । नैष दोषः । प्राणानां

योग्यानुपलब्धिविरोधमाशङ्कते—नन्विति । इहेति पुरुषाग्निनिर्देशः । शङ्कितं विरोधं

विस्फुलिङ्ग के समान विश्लिष्ट प्रत्यय वेद्य हैं। 'उस इस अग्नि में' इत्यादि व्याख्या पूर्वमन्त्र के समान समझ लेनी चाहिए। इसमें वृष्टि को होमते हैं, उस आहुति से भक्षण करने योग्य अन्न होता है क्योंकि व्रीहि-यवादि अन्न का वृष्टि से होना प्रसिद्ध ही है ॥ ११ ।

हे गौतम ! पुरुष ही अग्नि है। हाथ पाँव आदि से युक्त प्रसिद्ध पुरुष शरीर ही चतुर्थ अग्नि है; उसका "व्यात्तं" यानी खुला हुआ मुख ही समिध् है। बोलने व स्वाध्याय आदि में खुले मुख से पुरुष उसी प्रकार प्रकाशित होता है, जिस प्रकार समिध् से अग्नि। प्राण धूम है क्योंकि समिध् से ऊपर उठने के कारण दोनों में समानता है। मुख से प्राण ऊपर उठता है। व्यञ्जकत्व समानता से "वाक्" अर्थात् शब्द ज्वाला है। ज्वाला वस्तु की प्रकाशिका होती है। इसी प्रकार 'वाक्' यानी शब्द भी वाच्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला होता है। उपशम अथवा प्रकाशाश्रय में समानता होने के

---

१. पूर्ववदिति—एतल्लोकाग्नौ देवा यजमानप्राणा वागादय एवाधिदैविकभूता इन्द्रादिदेवशब्दवाच्या वृष्टिमित्यादि । २. अन्नम्—अदनीयं व्रीहियवादि । ३. तदन्नं पुनः पुरुषाग्नौ हुतं सद्रेतो रूपेण परिणमत इत्याह—पुरुषो वा इति । ४. पुरुषदेहः । ५. तस्मिन्निति—तस्मिन्नेतस्मिन्नेवंगुणविशिष्टे पुरुषाग्नौ देवा आध्यात्मिका वागादयो यजमानप्राणा अन्नं जुह्वतीत्यर्थः ।

योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गा[1]स्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवति स जीवति यावज्जीवत्यथ यदा म्रियते ॥ १३ ॥

हे गौतम ! स्त्री ही होमाधिकरण रूप अग्नि है । उपस्थ ही उसकी समिधा है, योनि ज्वाला है और जो मैथुन व्यापार करता है, वह अङ्गार है, आनन्दलेश चिनगारियाँ हैं । इस योषाग्नि में देवगण वीर्य का हवन करते हैं । उस आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है, वह पुरुष (तब तक) जीवित रहता है; जब तक उसके प्रारब्ध क्षीण नहीं होते । प्रारब्ध क्षीण होने पर वह मर जाता है ॥ १३ ॥

देवत्वोपपत्तेः । अधिदैवमिन्द्रादयो देवास्त एवाध्यात्मं प्राणास्ते चान्नस्य पुरुषे प्रक्षेप्तारः । तस्या आहुते रेतः संभवति । अन्नपरिणामो हि रेतः ॥ १२ ॥

[2]योषा वा अग्निर्गौतम । योषेति स्त्री पञ्चमो होमाधिकरणोऽग्निस्तस्या [3]उपस्थ एव समित् । तेन हि सा समिध्यते । लोमानि धूम[4]स्तदुत्थानसामान्यात् । [5]योनिरर्चिर्वर्ण-

---

निराकरोति—नैष दोष इति । **उपपत्तिमेव दर्शयति**—अधिदैवमिति ॥१२॥

कारण चक्षु अङ्गार हैं । विश्लिष्टप्रत्यय वेद्यत्व समानता होने से श्रोत्र विस्फुलिङ्ग हैं । इस प्रकार के गुणों से विशिष्ट पुरुषाग्नि में आध्यात्मिक देवगण वागादि यजमान के प्राण अन्न को होमते हैं । (यहाँ शङ्का होती है—) किन्तु देवता लोग तो इस अग्नि में हवन करते हुए दिखाई नहीं देते । (सिद्धान्ती परिहार करता है—) इसमें कोई दोष नहीं है क्योंकि प्राणों को देव माना जाना सिद्ध है । इन्द्रादि अधिदेव ही अध्यात्म प्राण हैं, वे ही इस पुरुषाग्नि में अन्न डालते हैं । उस अग्नि से रेतस् होता है क्योंकि रेतस् होना अन्न का परिणाम है ॥ १२ ॥

(वही रेतस् पुनः योषित् अग्नि में डालने से पुरुषाकार परिणाम होता है—इससे) हे गौतम ! स्त्री ही अग्नि है । "योषा" अर्थात् स्त्री—यह पाँचवां होमाधिकरण अग्नि है । उपस्थेन्द्रिय ही उसका समिध् है । उसी से वह प्रदीप्त होती है । समिध् से उठने (एवं वर्ण) की समानता होने के कारण लोम ही धूम है । वर्ण में समानता होने के कारण (उपस्थेन्द्रियाश्रय प्रदेश) योनि ज्वाला है । जा

---

[1] तस्मिन्नेतस्मिन् यथोक्तगुणविशिष्टे योषिदग्नौ देवाः आध्यात्मिकवागादयो यजमानप्राणा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेः पुरुषः शिरः पाण्यादिमान् संभवति इत्येवं क्रमेण चतुर्थप्रश्ननिर्णय उक्तः । एवमुत्पन्नस्य स्वाभाविकं व्यापारमाह—स एवं क्रमेण जातः पुरुषो जीवतीति । [2] तद्रेतः पुनर्योषाग्नौ हुतं सत्पुरुषाकारेण परिणमत इत्याह—योषेति । [3] उपस्थ इतीन्द्रियं ग्राह्यम् । [4] तदुत्थानसामान्यादिति—वर्णसामान्याच्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । [5] योनिरिति—उपस्थेन्द्रियाश्रयप्रदेश इत्यर्थः ।

सामान्यात् । यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अन्तः करणं मैथुनव्यापारस्तेऽङ्गारा वीर्योपशमहेतुत्वसामान्यात् । [1]वीर्याद्युपशमकारणं मैथुनम् । तथाऽङ्गारभावोऽग्नेरुपशमकारणम् । अभिनन्दाः [2]सुखलवाः [3]क्षुद्रत्वसामान्याद्विस्फुलिङ्गाः । तस्मिन्रेतो जुह्वति । तस्या आहुतेः पुरुषः संभवति । एवं द्युपर्जन्यायंलोकपुरुषयोषाग्निषु क्रमेण हूयमानाः श्रद्धासोमवृष्ट्यन्नरेतोभावेन [4]स्थूलतारतम्यक्रममापद्यमानाः [5]श्रद्धाशब्दवाच्या आपः पुरुषशब्दवाच्यं शरीरमारभन्ते । यः प्रश्नश्चतुर्थो वेत्थ यतिथ्यामाहुत्यां हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती३ इति स एष निर्णीतः । पञ्चम्यामाहुतौ योषाग्नौ हुतायां रेतोभूता आपः पुरुषवाचो भवन्तीति । स पुरुष [6]एवं क्रमेण जातो जीवति । कियन्तं कालमिति । उच्यते—यावज्जीवति यावदस्मिञ्छरीरे स्थितिनिमित्तं कर्म विद्यते तावदित्यर्थः । अथ तत्क्षये

तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवतीति व्याकरोति—एवमिति । पञ्चाग्निदर्शनस्य चतुर्थप्रश्ननिर्णायकत्वेन प्रकृतोपयोगं दर्शयति—यः प्रश्न इति । निर्णयप्रकारमनुवदति—पञ्चम्यामिति । यथोक्तनीत्या जाते देहे [7]कथं पुरुषस्य जीवनकालो [8]नियम्यते तत्राऽऽह—स पुरुष इति । [9]पञ्चाग्निक्रमेण जातोऽग्निलयश्चाहं तेनाग्न्यात्मेति ध्यानसिद्धये षष्ठमग्निमन्त्याहुत्यधिकरणं प्रस्तौति—अथेति । जीवननिमित्तकर्मविषयस्तच्छब्दः ॥१३॥

भीतर करता है, वह अङ्गार हैं क्योंकि भीतर डालना रूप मैथुन व्यापार ही वे अङ्गार हैं क्योंकि वीर्य स्खलन होने में उसकी समानता है । (वीर्य भी तेजः स्वभाव है) मैथुन वीर्यादि के स्खलन का हेतु है । उसी प्रकार अङ्गार भाव भी अग्नि के उपशम का कारण है । मैथुन जन्य "अभिनन्दाः" सुखलव ही विस्फुलिङ्ग हैं क्योंकि क्षणिकत्व की इनमें समानता है । इसलिये इस योषाग्नि में वीर्य का होम करते हैं । उस आहुति से पुरुष होता है । इस प्रकार द्युलोक, मेघ, इहलोक, पुरुष और योषाग्नियों में क्रमशः होमे गए श्रद्धा, सोम, बृष्टि, अन्न और वीर्य रूप से उत्तरोत्तर स्थूलता को प्राप्त करता हुआ श्रद्धाशब्द वाच्य भूतसूक्ष्म लक्षण 'आप' पुरुषशब्दवाच्य शरीर को आरम्भ करता है । 'क्या तुम जानते हो कि कितनी आहुतियों से हवन किये जाने पर 'आप' पुरुषशब्दवाच्य होकर उठकर बोलने लगता है', इस पर चतुर्थ प्रश्न का निर्णय हो गया कि योषाग्नि में पाँचवी आहुति के होम किये जाने पर वीर्यभूत आप (जल) पुरुषशब्दवाच्य होता है । वह पुरुष इस क्रम से उत्पन्न हुआ जीवित रहता है । कितने समय तक जीता है ? इस पर श्रुति कहती है—'यावज्जीवति' अर्थात् जब तक जीवन धारण निमित्तक कर्म इस शरीर में रहता है, तब तक जीवित रहता है । 'अथ' अर्थात् उनके क्षीण हो जाने पर 'यदा' यानी जिस समय मर जाता है ॥ १३ ॥

---

१. वीर्यमपि तेजःस्वभावम् । २. मैथुनजन्याः । ३. क्षणिकत्वसामान्यात् । ४. स्थूलतारतम्येत्यादि—उत्तरोत्तरं स्थौल्यं प्राप्नुवत्य इति यावत् । ५. भूतसूक्ष्मलक्षणाः । ६. एवं क्रमेणेति—द्युपर्जन्यायंलोकपुरुषयोषाग्निष्वाहुतिक्रमेणेत्यर्थः । ७ कथंशब्दः प्रश्नार्थोऽयम् । ८. नियम्यते—नियतो ज्ञायत इति यावत् । ९. पञ्चाग्नीति—अत्र यद्वा पञ्चाग्निविदो गतिं विवक्षुर्वक्ष्यमाणगत्युपयोगिदेहप्रदर्शनार्थमन्त्येष्टिविषयं वाक्यं प्रस्तौतीत्यवतरणान्तरं द्रष्टव्यम् ।

अथैनमग्नये हरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समिद्धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्न[1]ग्नौ [2]देवाः पुरुषं जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषो [3]भास्वरवर्णः संभवति ॥ १४ ॥

तब इस मृत पुरुष को अग्नि के लिए ऋत्विक्गण ले जाते हैं। उस पुरुष का प्रसिद्ध अग्नि ही
माधिकरण अग्नि होता है, कोई कल्पित अग्नि नहीं। प्रसिद्ध समिधा ही समिधा होती है, धूम धूम
ता है, ज्वाला ज्वाला होती है, अङ्गारे अङ्गारे होते हैं। प्रसिद्ध विस्फुलिङ्ग ही विस्फुलिङ्ग होते हैं।
र्थात् पूर्व के जैसे उक्त सभी कल्पित नहीं होते। उस इस अग्नि में देवगण पुरुषरूप अन्तिम आहुति
हवन करते हैं। आहुति से (गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक के सभी संस्कार से सम्पन्न हो जाने
कारण) पुरुष अत्यन्त दीप्तिमान् हो जाता है ॥ १४ ॥

दा यस्मिन्काले म्रियते ॥ १३ ॥

**अथ तदेनं मृतमग्नयेऽग्न्यर्थमेवान्त्याहुत्यै हरन्ति ऋत्विजस्तस्याऽऽहुतिभूतस्य
सिद्धोऽग्निरेव होमाधिकरणं न परिकल्प्योऽग्निः । प्रसिद्धैव समित्समिद्धूमो धूमोऽर्चिर-
रङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गा यथाप्रसिद्धमेव सर्वमित्यर्थः । तस्मिन्पुरुष-
मन्त्याहुतिं जुह्वति तस्या आहुत्या आहुतेः पुरुषो भास्वरवर्णोऽतिशयदीप्तिमान्निषेकादि-
भिर[5]न्त्याहुत्यन्तैः कर्मभिः संस्कृतत्वात्संभवति निष्पद्यते ॥ १४ ॥**

**[6]वक्ष्यमाणकीटादिदेहव्यावृत्तये भास्वरवर्णविशेषणम् । दीप्त्यतिशयवत्त्वे हेतुमाह—निषेका-
दिभिरिति ॥ १४ ॥**

"अथैनम्" अर्थात् तब इस मृत पुरुष को 'अग्नये' अर्थात् अन्तिम आहुति के प्रयोजन से
अग्नि के लिए ही ऋत्विक् लोग ले जाते हैं। आहुतिभूत उस पुरुष का प्रसिद्ध अग्नि ही होमाधिकरण
है; कोई कल्पित अग्नि नहीं। प्रसिद्ध समिध् ही समिध् है; धूम धूम है, अर्चि अर्चि है, अङ्गार अङ्गार
होते हैं, विस्फुलिङ्ग विस्फुलिङ्ग होते हैं अर्थात् ये जिस प्रकार प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार होते हैं।
उसमें पुरुष रूप अन्त्य संस्कार सिद्धि के लिए आहुति डालते हैं। उस आहुति से पुरुष गर्भाधान
संस्कार से लेकर अन्त्येष्टि संस्कार पर्यन्त कर्मों से संस्कारयुक्त होने के कारण "भास्वरवर्णः संभवति"
अर्थात् अतिशय दीप्ति युक्त हो जाता है ॥ १४ ॥

**१. प्रसिद्धे । २. ऋत्विजः । ३. भास्वरवर्णं इति—सात्त्विकरूपवानित्यर्थः । तदुक्तं वार्तिके—"राजसं
तामसं रूपमितो ह्यन्यत्र वक्ष्यते" ॥ ११६ ॥ इति । विद्वद्रूपात्सात्त्विकादिति इत्युक्तम् । अन्यत्र कर्मण्युभयभ्रष्टे
वेत्यर्थः । ४. अन्त्याहुतिं जुह्वतीति—अन्त्यसंस्कारसिद्ध्यर्थं पितृमेधोक्तविधानतः प्रक्षिपन्तीत्यर्थः । ५.
अन्त्याहुतिरन्तेष्टिः । ६. बृ. उ. ६. २. १६ ।**

[1]ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धाꣳ सत्यमुपासते
तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्य-
माणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देव-

वे जो (गृहस्थ इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से) इस पञ्चाग्नि विद्या को जानते हैं और जो संन्यासी या वानप्रस्थी श्रद्धायुक्त हो वन में हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं, वे सभी ज्योति के अभिमानी देव को प्राप्त होते हैं। ज्योति के अभिमानी देव से दिन के अभिमानी देव को, दिन के अभिमानी देव से शुक्ल पक्ष के अभिमानी देव को, शुक्ल पक्ष के अभिमानी देव से उन उत्तरायण के छः महीनों के

इदानीं प्रथमप्रश्न[2]निराकरणार्थमाह—ते। के। [3]य एवं [4]यथोक्तं पञ्चाग्निदर्शन-मेत[5]द्विदुः। एवंशब्दादग्निसमिद्धूमार्चिरङ्गारविस्फुलिङ्गश्रद्धाविशिष्टाः पञ्चाग्नयो निर्दिष्टास्तानेवैतान्पञ्चाग्नीन्विदुरित्यर्थः। [6]नन्वग्निहोत्राहुतिदर्शनविषयमेवैतद्दर्शनम्। [7]तत्र

पञ्चाग्निविदो गतिं विवक्षुरुत्तरग्रन्थमवतारयति—इदानीमिति। ये विदुस्ते[8]ऽर्चिरभिसंभवन्तीति संबन्धः। एवंशब्दस्य प्रकृतपञ्चाग्निपरामर्शित्वं स्फुटीकर्तुं चोदयति—नन्विति। एवमेतद्विदुरिति श्रुतमेतद्दर्शनमित्युक्तम्। [9]तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञापकं दर्शयति—तत्र हीति। आदिपदमादित्यं

अब प्रथम प्रश्न के समाधान के लिए कहा जाता है। "ते" इत्यादि। वे कौन? जो त्रैवर्णिक गृहस्थ तत्तत्समिदादियुक्त पञ्चाग्नि विद्या का अनुष्ठान करते हैं। 'एवं' शब्द अग्नि, समिध्, धूम, ज्वाला, अङ्गार, विस्फुलिङ्ग और श्रद्धादिविशिष्ट पाँचों अग्नियों का है, जो उनका इस प्रकार अनुष्ठान करते हैं। (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु यह दर्शन तो अग्निहोत्र आहुतियों की उपासना के विषय में ही है। है। वहीं अग्निहोत्र प्रकरण में उत्क्रान्ति आदि छः पदार्थों का निर्णय करते हुए—"द्युलोक को ही आहवनीय करते हैं"—इत्यादि कहा गया है। पञ्चाग्नि प्रकरण में भी 'इस लोक का अग्नित्व और

---

[1] एवं पञ्चाग्निविदो मृतस्य गतिं वक्तुं मार्गविप्रतिपत्तिः (विभिन्नमार्गगति.) तत्साधनयोः प्रथमपञ्चमप्रश्नयोर्निर्णयार्थमाह—ते य एवमेतद्विदुरिति। ये गृहिणस्त्रैवर्णिका एवमुक्तसमिदादिविशिष्टान् पञ्चाग्नीन् विदुर्ये चामी वानप्रस्थाः श्रवणाद्यनधिकृता आश्रमधर्ममात्रनिरताः संन्यासिनश्चारण्ये स्त्रीजनासंकीर्णे देशे श्रद्धापूर्वकं सत्यं हिरण्यगर्भाख्यं ब्रह्मोपासते ते पञ्चाग्निविदः सत्यब्रह्मविदश्च, अर्चिस्तदभिमानिनीं देवतामातिवाहिकीं प्रतिपद्यन्त एवमग्रेऽपि योज्यम्। वैद्युतम् विद्युद्देवताम्। वैद्युतान् विद्युद्देवताप्राप्तान् उपासकान्। मानसो ब्रह्मणा मनसा सृष्टो ब्रह्मलोकनिवासी कश्चित्पुरुषः। ते ब्रह्मलोकं प्राप्ता उपासका परा उत्कृष्टाः सन्तः। परावतः—ब्राह्ममानमितान् संवत्सरान् शतसंख्याकान् वसन्ति। [2] निराकरणमिह समाधानं सामर्थ्यात्। [3] ये त्रैवर्णिका गृहस्थाः। [4] तत्तत्समिदादियुक्तम्। [5] अनुतिष्ठन्ति। [6] नन्वित्यादि—अग्निहोत्राहुत्युपासनशेषमेवैतदुपासनमिति शङ्कितुराशयः। [7] अग्निहोत्रप्रकरणे। [8] अर्चिषमिति प्रमादपाठः अर्चिरभिसंभवन्तीत्यस्यैव न्याय्यत्वात्। [9] तदेवेदमिति—अग्निहोत्राहुतिदर्शनमेवेदं पञ्चाग्निदर्शनमित्यर्थः।

लोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान्वैद्युतान्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान्गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ॥ १५ ॥

भिमानी देव को प्राप्त होते हैं, जिन छः महीनों में सूर्य उत्तर की ओर होकर चलता है। पुनः छः
स के अभिमानी देवों से देवलोक को, देवलोक से आदित्य को और आदित्य से विद्युत् के अभिमानी
वों के पास (ब्रह्मा के द्वारा मन से रचा हुआ ब्रह्मलोकवासी) एक मानस पुरुष आकर इन्हें ब्रह्मलोकों
ले जाता है। वे लोग उन ब्रह्मलोकों में अनेक वर्षों तक रहते हैं, उनका पुनरागमन नहीं होता
॥ १५ ॥

ग्रुत्क्रमु[1]त्क्रान्त्यादिपदार्थषट्कनिर्णये दिवमेवाऽऽहवनीयं कुर्वति इत्यादि। [2]इहाप्यमुष्य लोक-
ग्न्याग्नित्वमादित्यस्य च समित्त्वमित्यादि बहु साम्यम्। [3]तस्मात्तच्छेषमेवैतद्दर्शनमिति।
त, यतिथ्यामितिप्रश्नप्रतिवचनपरिग्रहात्। यतिथ्यामित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनस्य च
यावदेव परिग्रहस्तावदेवैवंशब्देन परामृष्टुं युक्तम्। अन्यथा प्रश्नानर्थक्यान्निर्ज्ञातत्वाच्च

समिधमि[4]त्यादि संग्रहीतुम्। रश्मीनां धूमत्वमह्नोऽर्चिष्ट्वमित्यादि ग्रहीतुं द्वितीयमादिपदम्। प्रत्यभिज्ञा-
फलमाह—तस्मादिति। प्रश्नप्रतिवचनविषयस्यैव [5]प्रकृतस्यै[6]वंशब्देन परामर्शान्न षट्प्रश्नीयं दर्शनमिह
परामृष्टमिति परिहरति—नेत्यादिना। संगृहीतं परिहारं विवृणोति—यतिथ्यामित्यस्येति। व्यधि-
परामृष्टमिति परिहरति—नेत्यादिना।
करणे षष्ठ्यौ। यावदेव वस्तुपरिग्रहो विषय इत्यर्थः। षट्प्रश्नीयमेव व्यवहितं दर्शनमत्र[7] परामृष्टं
चेत्तदा यतिथ्यामिति प्रश्नो व्यर्थः स्यात्। षट्प्रश्नीनिर्णीतदर्शनशेषभूतदर्शनस्य प्रश्नादृते [8]'प्रवचन-

---

आदित्य लोक का समित्त्व' इत्यादि उससे बहुत कुछ समानता है, इसलिये यह विद्या अग्निहोत्र
आहुति दर्शन का ही शेष है। (इसका समाधान देते हैं—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इससे
"यतिथ्याम्" इस प्रश्न के उत्तर का परिग्रह होता है। "यतिथ्याम्" इत्यादि प्रश्न और उसके उत्तर का
जितना भी परिग्रह है, उतना ही 'एवं' शब्द से विचार करना उचित है; अन्यथा प्रश्न की व्यर्थता
सिद्ध हो जायगी। अग्निहोत्रसंबन्धी पदार्थों की संख्या सम्यक् ज्ञात रहने से अग्नियों की सख्या ही
प्रतिपादित करनी चाहिये। (इस पर शङ्का होती है—) अच्छी तरह से ज्ञात वस्तु का भी तो पुनः
कथन (अनुवाद) किया जाता है। (सिद्धान्ती इसका परिहार करता है—) अनुवाद तो यथाप्राप्त

---

[1] उत्क्रान्त्यादीत्यादिना गतिप्रतिष्ठातृप्तिपुनरावृत्तिलोकं प्रत्युत्थायिनो ग्राह्याः। [2] पञ्चाग्निप्रकरणेऽपि।
[3] उक्तप्रत्यभिज्ञावशात्। [4] इत्यादीत्यादिना मरीचीरेव शुक्रामाहुतिमित्यादि ग्रहः। [5] पञ्चाग्निदर्शनस्य।
[6] विदुः पदान्वितेनेति ध्येयम्। [7] प्रकृतवाक्ये। [8] प्रवचनसंभवादिति—अन्यदाशेषिण एव पूर्त्यं-
योगादिति भावः। न हि दर्शपौर्णमासप्रयाजादिप्रवचनयोरन्तरेति प्रश्न इति द्रष्टव्यम्।

संख्याया अग्नय एव वक्तव्याः । अथ निर्ज्ञातमप्यनूद्यते । यथाप्राप्तस्यैवानुवदनं युक्तं न त्वसौ लोकोऽग्निरिति । अथोपलक्षणार्थः । तथाऽप्याद्येनान्त्येन चोपलक्षणं युक्तम् । श्रुत्यन्तराच्च । [1]समाने हि प्रकरणे छान्दोग्यश्रुतौ पञ्चाग्नीन्वेदेति पञ्चसंख्याया एवोपादानाद[2]नग्निहोत्रशेषमेतत्पञ्चाग्निदर्शनम् । यत्त्वग्निसमिदादिसामान्यं तदग्निहोत्रस्तुत्यर्थमित्यवोचाम । तस्मान्नोत्क्रान्त्यादिपदार्थषट्क[3]परिज्ञानादर्चिरादिप्रतिपत्तिः ।

संभवादित्याह—अन्यथेति । किंच [4]पूर्वस्मिन्ग्रन्थे प्रचयशिष्टतया पञ्चत्वसंख्याया निश्चितत्वात्तदवच्छिन्नाः सांपादिकाग्नय एवात्रैवंशब्देन [5]परामृष्टुमुचिता इत्याह—निर्ज्ञातत्वाच्चेति । अग्निहोत्रप्रकरणे निर्ज्ञातमेवाग्न्यादि[6] पूर्वग्रन्थेऽप्यनूद्यते तथा चाग्निहोत्रदर्शनमव्यवहितमेवंशब्देन किं न परामृष्टमिति शङ्कते—अथेति । अग्निहोत्रदर्शनं पूर्वग्रन्थेऽनूद्यते चेत्तत्प्रकरणे प्राप्तं रूपमनतिक्रम्यैवान्तरिक्षादेरप्यत्रानुवदनं स्यान्न तु तद्वैपरीत्येनानुवदनं युक्तम् । अनुवादस्य पुरोवादसापेक्षत्वात् । न चात्रान्तरिक्षाद्यनूद्यते [7]तस्मादेवंशब्दो नाग्निहोत्रपरामर्शीति परिहरति—यथाप्राप्तस्येति । द्युलोकादिवादस्यान्तरिक्षाद्युपलक्षणार्थत्वात्पूर्वस्यानुवादत्वसंभवादेवंशब्दस्याग्निहोत्रविषयत्वसिद्धिरिति चोदयति—अथेति । [8]प्रापकाभावादुपलक्षणपक्षा[9]योगेऽप्यङ्गीकृत्य पञ्चाग्निनिर्देशवैयर्थ्येन दूषयति—तथाऽपीति । इतश्च [10]स्वतन्त्रमेव पञ्चाग्निदर्शनमेवंशब्दपरामृष्टमित्याह—श्रुत्यन्तराच्चेति । समिदादिसाम्यदर्शनादग्निहोत्रदर्शनशेषभूतमेवैतद्दर्शनमित्युक्तमनूद्य दूषयति—यत्त्वित्यादिना । [11]अवोचामाग्निहोत्रस्तुत्यर्थत्वादग्निहोत्रस्यैव कार्यमित्युक्तमित्यत्रेति शेषः । एवंशब्देनाग्निहोत्रपरामर्शासंभवे फलितमाह—तस्मादिति । तच्छ-

---

का करना उचित होता है, ऐसा अनुवदन संभव नहीं कि वह द्युलोक अग्नि है । (यहाँ शङ्का होती है—) यह द्युलोकादि का अनुवदन अन्तरिक्षादि के उपलक्षण के लिए हो सकता है । (सिद्धान्ती परिहार करता है—) तो भी उपलक्षण करना प्रारम्भ अथवा अन्त के पर्याय से संभव है । अन्य श्रुति से यही सिद्ध होता है । तुल्यविषयक प्रकरण में छान्दोग्य श्रुति में "इन पाँच अग्नियों की जो

---

१. तुल्यविषयके । २ तत्र षडग्निसंबन्धादिति भावः । ३. उपासनात् । ४. प्रकृतवाक्यादनन्तरे । ५. परामृष्टुमुचिता इति— तेषामेवाव्यवहितत्वादिति भावः । नन्वस्त्वव्यवहितत्वे न तेषां परामर्शस्तथापि तद्दर्शनस्याग्निहोत्रस्तुतित्वेन तच्छेषत्वे किं बाधकमित्यतस्तद्वक्तुं सांपादिकाग्नीन् विशिनष्टि—तदवच्छिन्ना इति । पञ्चत्वसंख्याविशिष्टा इत्यर्थः । तथा च नैतेषां दर्शनमग्निहोत्रदर्शनशेषतामभ्यर्हत्यस्य पञ्चभिरग्निभिरमुष्य च षड्भिः संबन्धेन वैरूप्यादिति भावः । नन्वत्राप्यथैनमग्नये हरन्तीति षष्ठश्रवणात्कथं पञ्चत्वमत आह – पञ्चत्वसंख्याया निश्चितत्वादिति । अत्र हेतुः— प्रचयशिष्टतयेति । प्रचयो नाम बहुत्वव्याप्यसंख्याविशेषपरिचायकशब्दो यथा त्रयश्चत्वारस्तृतीयश्चतुर्थ इत्यादिः । तेनोपदिष्टत्वादुपास्यानामग्नीनामित्यर्थः । प्रकृते चोत्तरानुसारेण पञ्चमीत्वाभिप्रायको यतिथ्यामिति प्रश्नगतः प्रचयः । षष्ठस्त्वग्निः प्रश्नबहिर्भावादसांपादिकत्वाच्च दर्शनागोचर इति ध्येयम् । नन्वयुक्तमेतत् षष्ठोऽग्निर्दर्शनागोचर इति तस्याप्यग्निलयोऽहमिति दृष्टिशेषत्वेन ध्येयत्वाभ्युपगमादिति नाग्निहोत्रदर्शनेनास्य वैरूप्यमुभयत्र संख्यासामान्यादित्यभिप्रयन्पुनराशङ्कयति— अग्नीत्यादिना । सांपादिकाः संपादनसिद्धाः कल्पिता इति यावत् । ६. संख्या समिदाद्यादिग्राह्यम् । ७ यथाप्राप्तस्याननुवदनात् । ८. प्रापकं हि प्रमाणम् भवति । ९. अयोगेऽपीति—अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति भावः । १०. अनन्यशेषमेव । ११. १४६६ पृष्ठभाष्ये ।

एवमिति प्रकृतोपादानेनार्चिरादिप्रतिपत्तिविधानात् ।

के पुनस्ते य एवं विदुर्गृहस्था एव । ननु तेषां यज्ञादिसाधनेन धूमादिप्रतिपत्तिविधित्सिता । न, अनेवंविदामपि' गृहस्थानां यज्ञादिसाधनोपपत्तेः । भिक्षुवानप्रस्थयोश्चारण्यसंबन्धेन ग्रहणात् । 'गृहस्थकर्मसंबद्धत्वाच्च पञ्चाग्निदर्शनस्य । अतो नापि ब्रह्मचारिण एवं विदुरिति गृह्यन्ते । तेषां तूत्तरे पथि प्रवेशः स्मृतिप्रामाण्यात्—

दार्थमेव स्फुटयति—एवमितीति । प्रकृतं पञ्चाग्निदर्शनं तच्च स्वतन्त्रमित्युक्तं तद्वतामर्चिरादिप्रति-
पत्तिर्न 'केवलकर्मिणामित्यर्थः ।

प्रश्नपूर्वकं वेदितृविशेषं निर्दिशति—के पुनरित्यादिना । गृहस्थानां यज्ञादिना पितृयाणप्रति-
पत्ते'र्वक्ष्यमाणत्वान्न देवयाने पथि प्रवेशोऽस्तीति शङ्कते– नन्विति । पञ्चाग्निविदां गृहस्थानां देवयाने
पथ्यधिकारस्तद्रहितानां तु तेषामेव यज्ञादिना पितृयाणप्राप्तिरिति विभागोपपत्तेर्न वाक्यशेषविरोधो-
ऽस्तीति समाधत्ते—नेत्यादिना । एवं विदुरिति 'सामान्यवचनात्परिव्राजकादेरप्यत्र ग्रहणं स्यादिति
चेन्नेत्याह—भिक्षुवानप्रस्थयोश्चेति । 'विधान्तरेण तयोरुत्तरमार्गे प्रवेशान्न पञ्चाग्निवित्त्वेन ग्रहणं
पुनरुक्तेरित्यर्थः । गृहस्थानामेव पञ्चाग्निविदां 'तत्र ग्रहणमित्यत्र हेत्वन्तरमाह—गृहस्थेति । ब्रह्म-
चारिणां ''तर्हीह ग्रहणं भविष्यति नेत्याह—अत इति । पञ्चाग्निदर्शनस्य गृहस्थकर्मसंबन्धादेवेत्येतत् ।
कथं ''तर्हि नैष्ठिकब्रह्मचारिणां देवयाने पथि प्रवेशस्तत्राऽऽह—तेषां त्विति । ''अर्यम्णः संबन्धी यः

उपासना करता है''—इस प्रकार पाँच संख्या का ही ग्रहण करने के कारण यह पञ्चाग्निदर्शन
(षडग्निसंबन्ध से) अग्निहोत्र का शेषत्व नहीं हो सकता तथा इसका जो अग्नि और समिधादि रूप
साम्य है, वह तो अग्निहोत्र की स्तुति के लिये है—ऐसा हम पहले कह चुके हैं । अतः उत्क्रान्ति आदि
पदार्थों की उपासना से ही अर्चि आदि मार्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि यहाँ 'एवम्'
इस शब्द से प्रकृति के उपादान करने से अर्चि आदि मार्ग की प्राप्ति का विधान किया है ।

किन्तु जो इस प्रकार जानते हैं, वे कौन हैं, त्रैवर्णिक गृहस्थ ही । (यहाँ शङ्का होती है—)
किन्तु उन गृहस्थ त्रैवर्णिकों के लिए यज्ञादि साधन के द्वारा धूमादि मार्ग प्राप्ति का विधान करना
इष्ट है । ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि इस प्रकार न जानने वाले गृहस्थों के लिए यज्ञादि साधन
हो सकते हैं । संन्यासी और वानप्रस्थी का अरण्य के संबन्ध से ग्रहण किया गया है । पञ्चाग्नि दर्शन
गृहस्थ के नित्यादि रूप कर्म से संबद्ध है । इसलिये "एवं विदुः" से (ब्रह्मचर्याश्रमस्थ) ब्रह्मचारियों
का भी ग्रहण नहीं किया जा सकता । उनका तो इस स्मृति के प्रमाण से उत्तर मार्ग में प्रवेश
होता है—

---

१. त्रैवर्णिकाः । २. गृहस्थानाम् । ३. एवंविद्दृष्टान्तार्थोऽपिशब्दः । ४. गृहस्थकर्मेति—नित्यादिरूप
तदित्याहु यदन्तः करोतीत्यादिकं तु प्रचकास्ति । ५. नाप्यग्निहोत्राहुत्युपासिनामित्यपि बोध्यम् । ६.
बृ. उ. ६. २ १६ । ७. सामान्यवचनादिति—सर्वनामयच्छब्देन कर्तृनिर्देशादिति यावत् । ८ विधान्तरेण
—पञ्चाग्निविद्यापेक्षयाऽरण्यवासादिसाधनान्तरेणेति यावत् । ९. य एवं विदुरित्यत्र । १०. भिक्षुवान-
प्रस्थयोरग्रहे । ११. ब्रह्मचारिणामग्रहे । १२. सूर्यस्य ।

"अष्टाशीतिसहस्राणामृषीणामूर्ध्वरेतसाम् ।
उत्तरेणार्यम्णः पन्थास्तेऽमृतत्वं हि भेजिरे" इति ॥

[1]तस्माद्ये गृहस्था एवमग्निजोऽहमग्न्यपत्यमित्येवं क्रमेणाग्निभ्यो जातोऽग्निरूप इत्येवं ये विदुस्ते च ये चामी अरण्ये [2]वानप्रस्थाः परिव्राजकाश्चारण्यनित्याः श्रद्धां श्रद्धायुक्ताः सन्तः सत्यं ब्रह्म हिरण्यगर्भात्मानमुपासते न पुनः श्रद्धां चोपासते ते सर्वे[3]ऽर्चिरभिसंभवन्ति ।

यावद्गृहस्थाः पञ्चाग्निविद्यां सत्यं वा ब्रह्म न विदुस्ताव[4]च्छ्रद्धाद्याहुतिक्रमेण पञ्चम्यामाहुतौ हुतायां ततो योषाग्नेर्जाताः पुनर्लोकं[5] प्रत्युत्थायिनोऽग्निहोत्रादि-

पन्थास्तमासाद्य तेनोत्तरेण पथा ते यथोक्तसंख्या ऋषयः सापेक्षममृतत्वं प्राप्ता इति स्मृत्यर्थः । [6]आश्रमान्तराणां पञ्चाग्निवित्त्वेनात्राग्रहणे फलितमाह—तस्मादिति । अग्निजत्वे फलितमाह—अग्न्यपत्यमिति । अग्निजत्वं साधयति—एवमिति । अग्न्यपत्यत्वे किं स्यात्तदाह—अग्नीति । इत्येवं ये गृहस्था विदुस्ते चेति योजना । अरण्यं स्त्रीजनासंकीर्णो देशः । परिव्राजकाश्चेति त्रिदण्डिनो गृह्यन्ते[7]ऽन्येषामेषणाभ्यो व्युत्थितानां सम्यग्ज्ञाननिष्ठानां देवयाने [8]पथ्यप्रवेशादा[9]श्रममात्रनिष्ठा वा [10]तेऽपि गृह्येरन्निति द्रष्टव्यम् । श्रद्धाऽपि स्वयमुपास्या कर्मत्वश्रवणादित्याशङ्क्य [11]प्रत्ययमात्रस्य सापेक्षत्वादुपास्यत्वानुपपत्तेर्मैवमित्याह—न पुनरिति । सर्वे पञ्चाग्निविदः सत्यब्रह्मविदश्चेत्यर्थः ।

विनाऽपि विद्याबलमर्चिरभिसंपत्तिः स्यादिति चेन्नेत्याह—यावदिति । कर्म कृत्वा लोकं

"अट्ठासी हजार नैष्ठिक ब्रह्मचारी ऋषियों का मार्ग सूर्य से उत्तर की ओर है, वे सापेक्ष अमृतत्व को प्राप्त किए हैं" ।

इसलिये जो गृहस्थ 'मैं अग्नि से उत्पन्न, अग्नि की सन्तान हूँ' इस तरह क्रमशः अग्नि से उत्पन्न अग्निरूप अपने को जानते है, वे और "अमी अरण्ये" अर्थात् निरन्तर वन में रहने वाले वानप्रस्थ और संन्यासी "श्रद्धां" यानी श्रद्धायुक्त होकर "सत्यमुपासते" अर्थात् हिरण्यगर्भ ब्रह्म की उपासना करते हैं । श्रद्धा की उपासना करते हैं; ऐसा नहीं समझना चाहिये । वे सब अर्चि अभिमानी अतिवाहिकी देवता को प्राप्त कर लेते हैं ।

जब तक गृहस्थ लोग पञ्चाग्नि अथवा सत्यात्मक ब्रह्म को नहीं जानते; तब तक वे श्रद्धादि (सोम, वृष्टि, अन्न, वीर्यरूप) आहुतियों के क्रम से पञ्चम आहुति के हवन किये जाने पर उससे योषाग्नि में उत्पन्न होकर, पुनः लोक में उत्थान करने वाले होकर अग्निहोत्रादि कर्मों के अनुष्ठान

---

१. अवतरणोक्तत्वात् । २. वानप्रस्था इति—यद्यपि श्रद्धापूर्वकं सत्योपासनस्य गृहस्थेष्वपि संभवस्तथापि ये चेत्यादौ वानप्रस्थानाममुख्ययतीनां च ग्रहणमरण्यविशेषणस्य तेष्वेव संभवादित्यवधेयम् । ३. अर्चिरभिसंभवन्तीति—अर्चिरभिमानिनीमातिवाहिकीं देवतां प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । ४. श्रद्धादीत्यादिना सोमवृष्ट्यन्नरेतांसि गृह्यन्ते । ५. लोकं प्रतीति—परलोकं प्रति गमनशीलाः सन्तः । ६. भिक्षुवानप्रस्थब्रह्मचारिणाम् । ७ अन्येषाम्--परमहंसपरिव्राजकानामित्यर्थः । ८. पथ्यप्रवेशादिति—"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीत्यादि" श्रुतेरिति भावः । ९. धर्ममात्रनिष्ठा । १०. परमहंसपरिव्राजका अपि । ११. प्रत्ययसापेक्षवृत्तिर्हि विषयसापेक्षा न हि निर्विषया भवति वृत्तिरिति भावः ।

कर्मानुष्ठातारो भवन्ति। तेन कर्मणा [1]धूमादिक्रमेण पुनः पितृलोकं[2] पुनः [3]पर्जन्यादिक्रमेणे-[4]ममावर्तन्ते। ततः पुनर्योषाग्नेर्जाताः पुनः कर्म कृत्वेत्येवमेव घटीयन्त्रवद्गत्यागतिभ्यां पुनः पुनरावर्तन्ते। यदा त्वेवं[5] विदु[6]स्ततो घटीयन्त्रभ्रमणाद्विनिर्मुक्ताः सन्तोऽर्चिरभिसंभवन्ति। अर्चिरिति नाग्निज्वालामात्रं किं तर्ह्यर्चिरभिमानिन्यर्चिःशब्दवाच्या देवतोत्तरमार्गलक्षणा [7]व्यवस्थितैव तामभिसंभवन्ति। न हि परिव्राजकानामग्न्यर्चिषैव साक्षात्संबधोऽस्ति। [8]तेन देवतैव परिगृह्यतेऽर्चिःशब्दवाच्या। अतोऽहर्देवताम्। मरणकालनियमानुपपत्तेरहः[9]शब्दोऽपि देवतैव। आयुषः क्षये हि मरणम्।[11] नह्येवं[10]विदाऽह्न्येव मर्तव्यमित्यहर्मरणकालो नियन्तुं शक्यते। न च रात्रौ प्रेताः सन्तोऽहः प्रतीक्षन्ते। “[12]स”

प्रत्युत्थायिन इति पूर्वेण संबन्धः। केवलकर्मिणां देवयानमार्गप्राप्तिर्नास्तीत्युक्तं निगमयति—इत्येवमेवेति। विदुषामेव देवयानप्राप्तिमुपसंहरति—यदा त्विति। नन्वर्चिषो ज्वालात्मनोऽस्थैर्यात्तदभिसंपत्तिर्न फलाय कल्पते तत्राऽऽह—अर्चिरितीति। अर्चिःशब्देन यथोक्तदेवताग्रहे लिङ्गमाह—न हीति। अतोऽर्चिर्देवतायाः सकाशादिति यावत्। अहःशब्दस्य कालविषयत्वमु[14]क्तदोषाभावादिति चेन्नेत्याह—मरणेति। नियमाभावमेव व्यनक्ति—आयुष इति। विद्वद्विषये नियममाशङ्क्याऽऽह—न हीति। ननु रात्रौ मृतोऽपि विद्वानहरपेक्ष्य फली संपत्स्यते नेत्याह—न चेति।

करने वाले होते हैं। उस कर्म से वे दक्षिणायन और उत्तरायण क्रम से पुनः पितृलोक को प्राप्त करते हैं। पुनः पर्जन्य, पृथिवी, अन्न, पुरुष और योषित् क्रम से इस लोक में लौट आते हैं। फिर योषाग्नि में उत्पन्न होकर पुनः कर्म करते हुए, इस प्रकार घटीयन्त्र के समान उनका आवागमन बराबर लगा रहता है। जब यथोक्त समिधादि विशिष्ट पञ्चाग्नि विद्या को जानते हैं; तब घटीयन्त्र के के भ्रमण के छूट कर अर्चि को प्राप्त होते हैं। अग्नि की ज्वालामात्र ही अर्चि नहीं है। तो क्या है? अर्चि का अभिमानी अर्चिशब्दवाच्य देवता है, वह उत्तरमार्गरूपा और स्थिरा ही अर्चि है, उसे प्राप्त होते हैं। संन्यासियों का अग्नि अर्चि से साक्षात् संबन्ध नहीं है। इसलिए अर्चिशब्दवाच्य देवता ही ग्रहण किये जाते हैं। यहाँ से “अहर्” देवता को प्राप्त होते हैं। मरने के समय में कोई नियम न होने से ‘अहर्’ शब्द से “अहर्”शब्दवाच्य देवता का ग्रहण होता है। आयु के क्षीण होने पर मृत्यु होती है। यथोक्त पञ्चाग्नि उपासक को दिन में ही मरना चाहिये, इस पर दिन में ही मरणकाल को नियन्त्रण कर पाना संभव नहीं है। रात्रि में मरे हुए उपासक (आगे जाने के लिए)

---

१. धूमादीत्यादि—शब्दानि रात्रिकृष्णपक्षदक्षिणायनानि। २. प्राप्नुवन्ति। ३. पर्जन्यादीत्यादिशब्द-ग्राह्यत्वं पृथिव्यन्नपुरुषयोषिताम्। ४. लोकम्। ५. एवंविदुः—यथोक्तसमिदादिविशिष्टान् पञ्चाग्नीन् विदुः। ६. ततः यथोक्तवेदनात्। ७. स्थिरैव। ८. तेन—परिव्राजकानामग्न्यर्चिषा साक्षात्संबन्धाभावेन। ९. शब्दः शब्दवाच्या। १०. यथोक्तपञ्चाग्निविदः। ११. न ह्येवंविदोऽह्न्येवेत्यादि। अत्रेदमवधेयम्—भीष्मकालप्रतीक्षास्मृतिस्तत्पितृस्तुतिपरैव महानुभावोऽयं शन्तनुर्यद्वरात्स्वच्छन्दमरणोऽभूद्भीष्म इति। अदृष्टनिमित्तैव तु देहस्थितिरिति। १२. स यावदिति—स उत्क्रमिष्यन् विद्वान् यावता कालेन मनसः क्षेपः स्यात्तावता कालेनादित्यं प्राप्नोतीत्यर्थः। अतिक्षिप्रं गच्छतीति विवक्षितं न तु तावतैव कालेनेति ध्येयम्। १३. छा. उ. ८. ६. ५। १४. उक्तदोषेति—न हि परिव्राजकानामित्याद्युक्तदोषेत्यर्थः।

यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति" इति श्रुत्यन्तरात् ।

अह्न आपूर्यमाणपक्षमहर्देवतयाऽतिवाहिता[1] आपूर्यमाणपक्षदेवतां प्रतिपद्यन्ते शुक्लपक्षदेवतामित्येतत् । आपूर्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङुत्तरां दिशमादित्यः सवितेति तान्मासान्प्रतिपद्यन्ते शुक्लपक्षदेवतयाऽतिवाहिताः सन्तः । मासानिति बहुवचनात्संघचारिण्यः षडुत्तरायणदेवतास्तेभ्यो मासेभ्यः षण्मासदेवताभिरतिवाहिता देवलोकाभिमानिनीं देवतां प्रतिपद्यन्ते । देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं विद्युदभिमानिनीं देवतां प्रतिपद्यन्ते । विद्युद्देवतां प्राप्तान्ब्रह्मलोकवासी पुरुषो ब्रह्मणा मनसा सृष्टो मानसः कश्चिदेत्याऽऽगत्य ब्रह्मलोकान्गमयति । ब्रह्मलोकानित्यधरोत्तरभूमिभेदेन भिन्ना इति गम्यन्ते बहुवचनप्रयोगात् । [2]उपासनतारतम्योपपत्तेश्च । [3]ते तेन पुरुषेण गमिताः सन्तस्तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः प्रकृष्टाः सन्तः स्वयं परावतः प्रकृष्टाः समाः संवत्सराननेकान्वसन्ति ब्रह्मणो[4]ऽनेकान्कल्पान्वसन्तीत्यर्थः । तेषां ब्रह्मलोकं गतानां नास्ति पुनरावृत्तिरस्मि[5]न्संसारे न

एकस्मिन्नेव ब्रह्मलोके कथं बहुवचनमित्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मे ति । ब्रह्मलोकानिति बहुवचनप्रयोगादिति संबन्ध । [6]अत्र ब्रह्मलोका विशेष्यत्वेन गृह्यन्ते । बहुवचनोपपत्तौ हेत्वन्तरमाह—उपासनेति। कल्पशब्दोऽत्रा[7]वान्तरकल्पविषयः । तेषामिह न पुनरावृत्तिरिति [8]क्वचित्पाठादस्मिन्नित्यादिव्याख्यान-

---

दिन की प्रतीक्षा करते हों—ऐसी बात नहीं है । "उत्क्रमण करते हुए वह विद्वान् जितने समय में मन आदित्य के पास पहुँचता है, उतनी देर में आदित्य लोक पहुँच जाता है" ऐसा अन्य श्रुति में भी कहा है ।

"अह्न आपूर्यमाणपक्षम्" अर्थात् अहर् देवता से ऊपर गये उपासक आपूर्यमाणपक्षदेवता से यानी शुक्लपक्षदेवता को प्राप्त होते हैं । आपूयमाणपक्षदेवता से जिन छः महीनों में "आदित्यः" अर्थात् सूर्य "उदङ्" अर्थात् उत्तर दिशा की ओर चलता है, उन मासों को शुक्लपक्षदेवता द्वारा ऊपर जाने पर प्राप्त करते हैं । मन्त्र में "मासान्" इस बहुवचन प्रयोग से छः उत्तरायण देवता संगठित होकर चलते हैं, उन "मासेभ्यः" अर्थात् छः मास देवताओं से ऊपर ले जाये जाने पर वे देवलोकाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं । देवलोक से आदित्य, आदित्य से "वैद्युतम्" यानी विद्युत् के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं । विद्युत् देवता को प्राप्त हुए इन उपासकों के ब्रह्मा के द्वारा "मानसः' अर्थात् कोई मन से रचा हुआ पुरुष "एत्य" आकर इन्हें ब्रह्मलोकों को ले जाता है। मन्त्र में 'ब्रह्मलोकान्' इस प्रकार वहुवचन प्रयोग से नीची. ऊँची भूमि भेद से भेद होना संभव है।

---

[1] उपासकाः । [2] उपासनेत्यादेः—साधनतारतम्यात्फलतारतम्यं गृहीत्वा बहूक्तिरिति भावः । [3] ते—पञ्चाग्निविदः सत्यब्रह्मविदश्च तेन मानसेन पुरुषेण गमिता ब्रह्मलोकं प्रापिताः । [4] भूतानां स्थितिं कल्पयन्तीति कल्पाः । अनेकान् कल्पानिति—ब्रह्मणोऽनेकानि दिनानीत्यर्थः । "कल्प. शास्त्रे विधौ न्याये संवर्ते ब्रह्मणो दिने" इति मेदिनीकारः । संवर्तः प्रलयः । [5] कल्पे । [6] अत्रेति—प्रकृतवाक्ये । भिन्ना इत्यस्य विशेषेणत्वे वेत्यर्थः । [7] अवान्तरकल्पविषय इति—अस्मदवान्तरप्रलयावधिकब्रह्मदिनपर इत्यर्थः । [8] माध्यन्दिनशाखायाम् ।

रागमनमिहेति [1]शाखान्तरपाठात् । [2]इहेत्याकृतिमात्रग्रहणमिति चेच्छ्वोभूते पौर्णमासी-
ति यद्वत् । न, इहेतिविशेषणानर्थक्यात् । यदि हि नाऽऽवर्तन्त एवेहग्रहणमनर्थकमेव

क्तमिति शङ्कते—इहेति । यथा [3]श्वोभूते पौर्णमासीं यजेतेत्यत्रा[4]ऽऽकृतिः पौर्णमासीशब्दार्थः
भूतत्वं च न [5]व्यावर्तकं [6]'पौर्णमासी'[7]पदलक्ष्येष्टेः प्रतिपद्येव कर्तव्यता'[8]नियमात्तथे'[9]हाऽऽ[10]कृतेरि[11]हशब्दा-
वा[12]न्निरङ्कुशैवानावृत्तिरत्र सिध्यतीत्यर्थः । परिहरति—नेत्यादिना । परोक्तं दृष्टान्तं [13]विघटयति—

सना तारतम्य से फल का तारतम्य ग्रहण कर ऐसा प्रयोग संभव है । 'ते' अर्थात् उस पुरुष से लिवाये
हुए वे उपासक उन ब्रह्मलोकों में "परा:" अर्थात् स्वयं प्रकृष्ट होकर "परावतो वसन्ति" अर्थात्
क संवत्सरों तक वहाँ रहते हैं अर्थात् ब्रह्म के अनेक कल्पों तक रहते हैं। "तेषाम्" अर्थात्
ब्रह्मलोक को प्राप्त करने वालों को "नास्ति पुनरावृत्तिः" अर्थात् इस कल्प में पुनः आगमन
हीं होता । "यहाँ पुनरागमन नहीं होता" ऐसा माध्यन्दिन शाखा का भी प्रमाण है। (इस पर
वादी कहता है —) परन्तु "इह" पद से तो आकृति मात्र का ग्रहण होता है। जैसे "प्रातःकाल
ने पर पौर्णमास याग करे" यहाँ भी सभी प्रातःकाल का ग्रहण होता है। (इस पर सिद्धान्ती
हता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसे में "इह" इस विशेषण का होना व्यर्थ हो
यगा । यदि उनकी कभी पुनरावृत्ति होती ही नहीं तो "इह" ग्रहण व्यर्थ ही होगा । 'प्रातःकाल होते
पौर्णमास याग करे' इस वाक्य में "प्रातःकाल" यह विशेषण अनुक्त में लगाया जाय तो उसका

---

१. माध्यन्दिनशाखान्तरपाठात् । २. इहेत्याकृतिमात्रग्रहणमिति—आकृतिर्जातिस्तथा चैतत्संसारव्यक्तिनिष्ठं
यत्संसारत्वं जातिस्तदवच्छिन्नसंसारजातोपस्थापक इहशब्दोऽयमित्यर्थः । एवं च संसारत्वावच्छिन्नाधिकरणता-
निरूपिताधेयतावदावृत्त्यभावाधिकरणं विद्वान् आवृत्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववानिति यावदिति फलतीत्य-
भिप्रायः । एतेन इहशब्दोऽयमावृत्तिव्यावर्तक इह नावर्तन्त इत्युक्त्यैतत्संसारावच्छिन्नावृत्त्यभावप्रतीतेरिति
निरस्तम् । जातिशब्दस्य विशेष्यमात्रसमर्पकत्वेन व्यावर्तकत्वासंभवाद् यथाहुः—जातितद्भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तक-
शब्दानां जातिप्रवृत्तिनिमित्तक एव विशेष्यवाचक इति नियम इति । जातिशब्दस्य गुणक्रियाशब्दसमभिव्याहारे
विशेष्यसमर्पकतैवेति च । अन्यथा नीलोत्पलमितिवदुत्पलनीलमित्यपि स्यात् । पाचकब्राह्मण इत्येव न तु
ब्राह्मणपाचक इत्यपीति प्रयोगव्यवस्थाया अभावप्रसङ्गादिति च तत्र गमकमाहुः । खञ्जकुब्जः कुब्जखञ्जः
इत्येव गुणशब्दयोः क्रियाशब्दयोर्गुणक्रियाशब्दयोश्च पौर्वापर्ये प्रयोगानियम एवेत्यन्यदेतत् । ३. श्वोभूते इति—
अनागताहोरूपावसर इत्यर्थः । ४. आकृतिरिति जातिरित्यर्थः पौर्णमासीत्वावच्छिन्नमिति यावत् । ननु तत्रा-
कृतिवचनोऽप्यस्त्येव व्यावर्तकः श्वोभूतशब्दस्तद्वदत्रेहशब्दो व्यावर्त्तक एवेत्याशङ्क्याऽऽह—श्वोभूतत्वं च न
व्यावर्तकमिति जातिशब्दवाच्यत्वादित्यभिप्रायः । ननु तत्राकृतिवचनोऽपीति पराभिप्रायेणैवैतत् सिद्धान्ते
श्वोभूतत्वस्य जातित्वानभ्युपगमादिति ध्येयम् । ५. विशेषणम् । ६. पौर्णमासीपदं लक्षणया इष्टिविशेष-
परमित्यभिप्रायेणाह—पौर्णमासीपदलक्ष्येष्टेरिति । ७. व्यावृत्तेर्निष्प्रयोजनत्वं चेत्याह—पौर्णमासीपदेति ।
८. नियमादिति—अनुष्ठातृवर्गपरम्परयैव निश्चितत्वादिति यावत् । अनुष्ठातृवर्गपरम्परयैवेति—याज्ञिकपरिपाट्यै-
वेति यावत् । ९. इह दार्ष्टान्तिकवाक्ये । १०. आकृतेरिति जातेरित्यर्थः । ११. असङ्कुचितैव । १२.
विघटयति—अपवदतीत्यर्थः । पूर्वपक्ष्युक्तार्थाघटितमापादयतीति यावत् ।

[1]अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूमम-

पूर्वोक्त उपासकों से भिन्न जो केवल कर्मी यज्ञ, दान और तप के द्वारा लोकों को जीतते हैं

स्यात् । श्वोभूते पौर्णमासीमित्यत्र पौर्णमास्याः श्वोभूतत्वमनुक्तं न ज्ञायत इति युक्तं विशेषयितुम् । न हि [2]तत्राऽऽकृतिःश्वःशब्दार्थो विद्यत इति श्वःशब्दो निरर्थक एव प्रयुज्यते । यत्र तु विशेषणशब्दे प्रयुक्ते[3]ऽन्विष्यमाणे विशेषणफलं चेन्न गम्यते तत्र युक्तो निरर्थकत्वेनोत्स्रष्टुं विशेषणशब्दो न तु सत्यां विशेषणफलावगतौ । [4]तस्मादस्मात्कल्पादूर्ध्वमावृत्तिर्गम्यते ॥ १५ ॥

श्वोभूत इति । [5]कृतसंभारदिवसापेक्षं हि श्वोभूतत्वं [6]पौर्णमासीदिने चातुर्मास्येष्टौ कृतायां कदा पौर्णमासीष्टिः कर्तव्येति विना वचनं न ज्ञायते [7]तत्र श्वोभूतत्वं विशेषणं भवत्यन्यव्यावर्तकं तद्वदिहेति विशेषणमपि व्यावर्तकमेवेति नाऽऽत्यन्तिकानावृत्तिसिद्धिरित्यर्थः । यत्तु पौर्णमासीशब्दवदिहशब्दस्याऽऽकृतिवाचित्वादव्यावर्तकत्वमिति तत्राऽऽह—न हीति । यद्यपि प्रकृते वाक्ये पौर्णमासीशब्दो भवत्याकृतिवचनस्तथाऽपि श्वःशब्दार्थोऽपि काचिदाकृतिरस्तीत्यङ्गीकृत्याव्यावर्तकः श्वोभूतशब्दो नैव प्रयुज्यते तथा[8]ऽत्रापि विशेषणशब्दस्य व्यावर्तकत्वमावश्यकमित्यर्थः । [9]सुषिरमाकाशमित्यादौ व्यावर्त्याभावेऽपि विशेषणप्रयोगवदत्रापि विशेषणं स्वरूपानुवादमात्रमित्याशङ्क्याऽऽह—यत्र त्विति । विशेषणफलमुपसंहरति—[10]तस्मादिति ॥ १५ ॥

ज्ञान नहीं होता, इसलिए विशेषण पद उचित ही है। वहाँ दृष्टान्त वाक्य में यदि आकृति "श्व" का शब्दार्थ विद्यमान न हो तो "श्व" शब्द का प्रयोग करना निरर्थक ही हो जायगा। जहाँ विशेषण शब्द के प्रयोग करने पर अन्वेषण करने से उस विशेषण प्रयोग का कोई फल न दीखता हो, तो निरर्थक होने से उस विशेषण शब्द का प्रयोग हटा देना चाहिए। विशेषण के फलबोध हो जाने पर उस विशेषण पद को हटाना उचित नहीं है। इसलिए ('इह' शब्द का विशेषण होने से) इस कल्प के बाद उसकी पुनरावृत्ति हो सकती है—ऐसा जाना जाता है ॥ १५ ॥

---

१. अथेत्यादि । अत्र वार्तिकम्—"देवयानः समासेन पन्था यत्नात्प्रपञ्चितः । व्याख्याऽथ पितृयाणस्य सम्यगारभ्यतेऽधुना" ॥ १४६ ॥ समासोऽल्पग्रन्थः । यत्नोऽर्चिरादिपर्वणां प्रत्येकमुपन्यासः । अथशब्दो देवयानोक्त्यनन्तरं पितृयाणोक्तेरवसरार्थः । २. दृष्टान्तवाक्ये । ३. अन्वेषणे क्रियमाणे । ४. तस्मादिति—इहशब्दस्य विशेषणत्वादित्यर्थः । ५. कृतसंभारेति—कृतः अनुष्ठितः संभारः चातुर्मास्येष्ट्यादिरूपः पौर्णमासीष्टेः साधनकलापो यत्र तद्दिवसापेक्षमित्यर्थः । ६. तदेतच्छ्वोभूतत्वं न विनोक्तिमवगम्यत इत्याह—पौर्णमासीदिन इत्यादिना । ७. तत्रेत्यस्य दृष्टान्तवाक्य इत्यर्थमाहुस्तत्रात इत्यादिः वस्तुतस्तूक्तिं विना कालविशेषस्याज्ञायमानत्वे इति युक्तं पश्यामः । ८. अत्रापि विशेषणशब्दस्येति—दार्ष्टान्तिकवाक्येऽपीहशब्दस्येत्यर्थः । ९. छिद्रम् । १०. इहशब्दस्य व्यावर्तकत्वादिति यावत् ।

भिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिꣳ रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान्षण्मासान्दक्षिणाऽऽदित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्र ते चन्द्रं प्राप्या[1]न्नं भवन्ति ताꣳस्तत्र देवा यथा[2] सोमꣳ राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनाꣳस्तत्र [3]भक्षयन्ति

रने पर धूमाभिमानी देव को प्राप्त होते हैं। धूम से रात्रि के अभिमानी देव को, रात्रि से कृष्ण के अभिमानी देव को, कृष्ण पक्ष के अभिमानी देव से छः माम के अभिमानी देवों को प्राप्त हैं। जिन छः मास में सूर्य दक्षिण की ओर होकर चलता है। छः मास के अभिमानी देव से लोक को, पितृलोक से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। उस चन्द्रमा में पहुँच कर वे अन्न हो जाते हैं। पर देवगण इन्हें ऐसे ही भक्षण कर जाते है, जैसे ऋत्विक् लोग 'आप्यायस्व अपक्षीयस्व"

अथ पुनर्ये नैवं[4] विदुरुत्क्रान्त्याद्यग्निहोत्रसंबन्धपदार्थषट्कस्यैव वेदितारः [5]केवलर्मिणो यज्ञेनाग्निहोत्रादिना [6]दानेन बहिर्वेदि [7]भिक्षमाणेषु [8]द्रव्यसंविभागलक्षणेन तपसा हिर्वेद्येव [9]दीक्षादिव्यतिरिक्तेन [10]कृच्छ्रचान्द्रायणादिना [11]लोकाञ्जयन्ति। लोकानिति बहु-

---

देवयानं पन्थानमुक्त्वा [12]पथ्यन्तरं वक्तुं वाक्यान्तरमादाय पदद्वयं व्याकरोति—अथेत्यादिना। थं ते फलभागिनो भवन्तीत्याकाङ्क्षायामाह—यज्ञेनेति। ननु दानतपसी यज्ञग्रहणेनैव [13]गृहीते न यग्रहीतव्ये तत्राऽऽह—बहिर्वेदीति। दीक्षादीत्यादिपदेन पयोव्रतादियज्ञाङ्गसंग्रह.। तत्रेति पितृ-

---

एवं जो इस प्रकार नहीं जानते, उत्क्रान्ति आदि अग्निहोत्रसंबन्धी छः पदार्थों को जानने ाले केवल कर्मी हैं तथा अग्निहोत्रादि यज्ञ, "दानेन" अर्थात् वेदी से बाहर यज्ञ के अनङ्गभूत ाचकों को द्रव्य का बाँटना रूप दान, "तपसा" अर्थात् वेदी से बाहर ही दीक्षादि व्यतिरिक्त कृच्छ्र-

---

३. भक्षयन्ति—उपभुञ्जते सेवकमिव
१. अन्नं भवन्ति—भोग्यत्वं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः। २. ऋत्विजः।
राजेत्यर्थः। ४. यथोक्तसमिदादिविशिष्टान् पञ्चाग्नीन्नविदुः। ५. केवलकर्मिण इति—पञ्चाग्निसत्य-
ब्रह्मविद्याव्यवच्छेदीह केवलशब्दः। ६. दानेनेति—"दातव्यमिति यद्दानमि"त्यादिस्मृतेर्विशिष्टदेशकालपात्र-
विशिष्टमेव दानं लोकजयहेतुरिति द्रष्टव्यम। ७. भिक्षमाणेषु—यज्ञानङ्गभूतप्रदेशे ये याचकास्तेष्वित्यर्थः।
८. यज्ञानङ्गभूतेनेति यावत। ९. दीक्षादीति—दीक्षाशब्दार्थमाहुस्तान्त्रिकाः। तथाहि—"दीयते विमलं ज्ञानं
क्षीयते कर्मवासना। तेन दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिरिति"। तथा चाभीष्टदेवमन्त्रग्रहण दीक्षा-
तदुपदेशोऽपि। उपनयनसंस्कारेऽपि दीक्षाशब्दः। प्रकृते तु यज्ञाङ्गभूतनियमभेदो मन्त्रजपाद्यनुकूलो दीक्षेति ज्ञेयम्।
मन्त्रजपादीत्यादिना मन्त्रग्रहणादिग्रह.। तदनुकूलो नियमश्च करणसंयमादिरूपो बोध्यः। दीक्षाशब्दार्थेष्वेषु
बृहच्छब्दाभिधानं वाचस्पत्यं मानम्। तत्र हि नियमोपनयनमन्त्रग्रहास्तदर्था उक्ताः। १०. कृच्छ्रेति—"तपसा
कल्मषं हन्तीति" स्मृतेर्नि.शेषपापध्वंसिना यज्ञानङ्गभूतेन तपसेति यावत्। ११. पितृलोकान्। १२.
पितृयाणम्। १३. गृहीते इति—तयोर्यज्ञाङ्गत्वेन यज्ञे सत्त्वादिति भावः।

[1]तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथेममेवाऽऽकाशमभिनिष्पद्यन्त आकाशाद्वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते लोकान्प्रत्युत्थायिनस्त एवमेवानुपरिवर्तन्तेऽथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते [2]कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् ॥ १६ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

ऐसा कहकर सोम राजा को भक्षण करते हैं और जब उनके कर्म क्षीण हो जाते हैं, तब वे इस प्रसिद्ध आकाश को ही प्राप्त हो जाते हैं। आकाश से वायु को, वायु से वृष्टि को और वृष्टि से पृथिवी को प्राप्त होते हैं। पृथिवी को प्राप्त कर वे कर्मी अन्न हो जाते हैं। पुनः वे पुरुष रूप अग्नि में हवन किये किये जाते हैं, उससे वे लोक के प्रति उत्थान योग्य होकर स्त्री रूप अग्नि में उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार वे बार-बार आते-जाते रहते हैं। पूर्वोक्त दोनों से भिन्न जो इन मार्गों को नहीं जानते; वे कीट, पतङ्ग और डाँसे, मच्छर आदि योनियों को प्राप्त होते हैं (इस प्रकार पुनरावृत्ति रूप दूसरे प्रश्न और उस लोक का न भरना रूप तीसरे प्रश्न का उत्तर हो गया) ॥ १६ ॥

॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

वचनात्तत्रापि [3]फलतारतम्यमभिप्रेतम्। ते [4]धूममभिसंभवन्ति। उत्तरमार्ग इवेहापि देवता एव धूमादिशब्दवाच्या धूमदेवतां प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः। [5]आतिवाहिकत्वं च देव-

लोकोक्तिः। अपिशब्दो ब्रह्मलोकदृष्टान्तार्थः। धूमसंपत्तेरपुरुषार्थत्वमाशङ्क्योक्तम्—उत्तरमार्ग इवेति। इहापीति पितृयाणमार्गेऽपीत्यर्थः। तद्वदेवेत्युत्तरमार्गगामिनीनां देवतानामिवेत्यर्थः।

चान्द्रायण व्रत आदि तप के द्वारा पितृलोक को जीतते हैं। मन्त्र में "लोकान्" पद में बहुवचन होने के कारण वहाँ भी फल का तारतम्य अभीष्ट है। वे धूमाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। उत्तरमार्ग के समान यहाँ भी देवता ही धूमादिशब्द वाच्य है अर्थात् वे धूमाभिमानी देवता को

---

[1] एवं ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी, यज्ञेनेत्यादिना चोभयमार्गप्रतिपत्तिसाधनोक्त्या पञ्चमं प्रश्नं तेऽर्चिरभिसंभवन्ति ते धूममभिसंभवन्तीत्यादिना चोत्तरदक्षिणमार्गप्रदर्शनेन प्रथमं प्रश्नं च निर्णीयेदानीमेतल्लोकप्राप्तिप्रकारप्रदर्शनेन द्वितीयतृतीयप्रश्नयोर्निर्णयमाह—तेषामिति। [2]. कीटा इत्यादि—एवं परलोकं गतानामाकाशादिद्वारा पुनरावृत्तिकथनेन द्वितीयतृतीयप्रश्नौ निर्णीताविति ध्येयम्। [3]. फलतारतम्यमिति—यज्ञादिसाधनोत्कर्षापकर्षप्रयुक्तभोगोत्कर्षापकर्षानुकूलप्रदेशनानात्वमित्यर्थः। [4]. तदभिमानिनीं देवता प्रतिपद्यन्ते। [5]. गमयितृत्वम्।

ां तद्वदेव। धूमाद्रात्रिं रात्रिदेवतां [1]ततो[2]ऽपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षदेवतां ततो षण्मासान्दक्षिणां दिशमादित्य एति तान्मासदेवताविशेषान्प्रतिपद्यन्ते।

मासेभ्यः [3]पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रम्। [4]ते चन्द्रं प्राप्यान्नं[5] भवन्ति तांस्तत्राग्नभू-यथा सोमं [6]राजानमिह यज्ञ ऋत्विज आप्यायस्वापक्षीयस्वेति भक्षयन्त्येवमेनांश्चन्द्रं तान्कर्मिणो भृत्यानिव स्वामिनो भक्षयन्त्यु[7]पभुञ्जते देवाः। आप्यायस्वापक्षीयस्वेति न्त्रः किं तर्ह्याप्याय्याऽऽप्याय्य चमसस्थं भक्षणेनापक्षयं च कृत्वा [8]पुनः पुनर्भक्षयन्ती-र्थः। एवं देवा अपि सोमलोके लब्धशरीरान्कर्मिण उपकरणभूतान्पुनः पुनर्विश्रामयन्तः र्मानुरूपं फलं प्रयच्छन्तः। तद्धि तेषामाप्यायनं सोमस्याऽऽप्यायनमिवोपभुञ्जत उपकरण-

तत्रेति [9]प्रकृतलोकोक्तिः। कर्मिणां तर्हि देवैर्भक्ष्यमाणानां चन्द्रलोकप्राप्तिरनर्थायैवेत्याशङ्क्याऽऽह उपभुञ्जत इति। [10]अन्यथाप्रतिभासं व्यावर्तयति—आप्यायस्वेति। एवं देवा अपीति संक्षिप्तं दार्ष्टा-कं विवृणोति—सोमलोक इति। कथं पौनःपुन्येन विश्रान्तिः [11]संपाद्यते तत्राऽऽह—कर्मानुरूपमिति। ान्तवद्दार्ष्टान्तिके किमित्याप्यायनं नोक्तं तत्राऽऽह—तद्धीति। पुनः पुनर्विश्रमा[12]भ्यनुज्ञानमिति

त होते हैं। इन देवताओं की आतिवाहिकता भी उन्हीं के समान है। धूम से "रात्रि" यानी त्रि देवता को, रात्रि देवता से "अपक्षीयमाणपक्षम्" अर्थात् कृष्णपक्ष देवता को और वहाँ से न छः मासों में सूर्य दक्षिण दिशा में होकर चलता है, उन मासाभिमानी देवता विशेषों को प्राप्त ते हैं।

उन मासाभिमानी देवताओं से पितृलोक को, और पितृलोक से चन्द्रमा को जाते हैं। वे कर्मी द्रलोक में पहुँच कर (भोग्यता रूप) अन्न हो जाते हैं। "तांस्तत्र" अर्थात् जिस प्रकार यहाँ में ऋत्विज लोग "भरे जाओ, समाप्त कर दो" इस प्रकार कहते हुए चमसस्थ राजा सोम का क्षण करते हैं; इसी प्रकार इस चन्द्रमा को प्राप्त हुए कर्मियों को, जिस प्रकार स्वामी भृत्यों से सेवा राता है; उसी प्रकार देवता लोग "भक्षयन्ति" अर्थात् उपभोग करते हैं। "भरे जाओ, समाप्त कर दो" ह मन्त्र नहीं है, तो क्या है? सोम को चमस में भर-भरकर उसे भक्षण के द्वारा समाप्त करके : पुनः भक्षण करते हैं, यह इसका अर्थ है। इस प्रकार देवता भी चन्द्रलोकप्राप्त शरीर वाले पने उपकरणभूत उन कर्मियों को पुनः पुनः विश्राम देते हुए, उन्हें अपने कर्मानुसार फल देते हुए पभोग करते हैं। सोम को भरने के समान यही उनका भरना है, इस प्रकार आप्यायन करके उन

---

[1] रात्रिदेवतायाः। [2] कृष्णपक्षदेवताम्। [3] पितृलोकं पितरो यत्र शेरते तं न तु पितृलोकदेवताम्। [4] कर्मिणः। [5] भोग्यतामापद्यन्ते। [6] चमसस्थम्। [7] सेवकमिव राजेति भावः। [8] पुनः पुनरपक्षयं च कृत्वेति संबन्धः। एतेन क्रियासमभिहारेऽयं लोडिति ध्वनयति। समुच्चयेऽन्यतरस्यामिति तु न्याय्यः प्रतिभाति लोट्। अन्यथा द्वित्वापत्तेः। सामान्यवचनानुप्रयोगाभावश्छान्दस इति ध्येयम्। [9] चन्द्रलोकेति यावत्। [10] अन्यथाप्रतिभासमिति—शिरस्कत्वेन मन्त्रत्वभ्रमम्। मन्त्रत्वे हि इति मन्त्रमुच्चार्य सोमं भक्षयन्तीत्यर्थः स्याद्। [11] देवैः। [12] विश्रम्यतां विश्रम्यतामित्येवम्।

मूतान्देवाः । तेषवं कर्मिणां यदा यस्मिन्काले तद्यज्ञदानादिलक्षणं सोमलोकप्रापकं पर्यवैति परिगच्छति परिक्षीयत इत्यर्थः । [1]अथ तदेममेव प्रसिद्धमाकाशम[2]भिनिष्पद्य यास्ताः श्रद्धाशब्दवाच्या द्युलोकाग्नौ हुता आपः सोमाकारपरिणता [3]याभिः सोमलं कर्मिणामुपभोगाय शरीरमारब्धमम्मयं ताः कर्मक्षयाद्धिमपिण्ड इवाऽऽतपसंपर्कात्प्रवि यन्ते । प्रविलीनाः सूक्ष्मा [4]आकाशभूता इव भवन्ति [5]तदिदमुच्यत इममेवाऽऽकाशमभि ष्पद्यन्त इति ।

ते पुनरपि कर्मिण[6]स्तच्छरीराः सन्तः पुरोवातादिना इतश्चामुतश्च नीयन्तेऽन्तरि

ऋवत् । [7]लोकद्वयप्रापकौ पन्थानावित्थं व्याख्याय पुनरेतल्लोकप्राप्तिप्रकारमाह—तेषामित्यादि कथं चन्द्रस्थलस्खलितानां कर्मिणामाकाशतादात्म्यमित्याशङ्क्याऽऽह—यास्ता इति । सोमाकारप णतत्वमेव स्फोरयति—याभिरिति । [8]तस्य झटिति द्रवीभवनयोग्यतां दर्शयति—अम्मयमिति । [9]सा व्यापत्तिरुपपत्तेरिति न्यायेनाऽऽह—आकाशभूता इवेति ।

आकाशाद्वायुप्राप्तिप्रकारमाह—ते पुनरिति । [10]अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापादिति न्यायेनाऽऽह

अपने उपकरणभूत कर्मियों का उपभोग करते हैं। "तेषाम्" अर्थात् उन कर्मियों का "यदा" अ जिस समय "तत्" अर्थात् यज्ञदानादि लक्षण सोमलोक प्रापक कर्म "पर्यवैति" अर्थात् सब ओर चला जाता है यानी क्षीण हो जाता है; तब कर्मी इसी प्रसिद्ध आकाश को प्राप्त करत हैं। जो द्युलोकाग्नि में हवन किया हुआ श्रद्धाशब्दवाच्य आप सोम के आकार में परिणत हुआ रहता जिस आप (जल) के द्वारा सोमलोक में कर्मियों के उपभोग के लिए जलमय शरीर की रचना जाती है, वह आप कर्मों के क्षय होने पर आतप से संयुक्त हिमखण्ड के समान विलीन हो जाता वह विलीन होकर सूक्ष्म आकाश रूप सा हो जाता है। इसी से कहा जाता है कि कर्मी इस प्रसि

---

१. अथ तदेति—"कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं चे"ति ३।१।८ न्यायादनुशयस्यागतिहेतु सूचकश्चाथशब्दो निपातानामनेकार्थत्वादि द्रष्टव्यम् । २. प्राप्नुवन्ति कर्मिणः । ३. अद्भिः । ४. आका भूता इव भवन्तीति—ता आप आकाशसदृश्यो यदा भवन्ति तदा तदुपहिता जीवा अप्याकाशसमा भवन्ती भावः । ५. उक्तेऽर्थे वाक्यं योजयति—तदिदमिति । प्रदर्शितमर्थवृन्दमभिप्रेत्य श्रुत्योच्यते । ६. तच्छरी इति—आकाशशरीरा इत्यर्थः । आकाशतादात्म्ये न तत्तुल्यतामापन्ना इति. यावत् । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । ब्रह्मलोक (पितृ) चन्द्रलोकप्रापकौ । ८. शरीरस्य । ९. साभाव्येति—ब्र. सू. ३।१।२२ किं स्वर्गादवरोह जीवा आकाशादिस्वरूपतां प्रतिपद्यन्त उत तत्साम्यमिति संशये (भवति) अभिनिष्पत्तिश्रुतेर्मुख्यत्वानुरो दाकाशादिस्वरूपतापत्तिरेव जीवानामिति प्राप्ते ब्रूमः—जीवानामाकाशादिभिः साभाव्यापत्तिः । साम्यापत्ति कुतः । उपपत्तेः । लोके हि क्षीरस्य दधिभावो युक्तः क्षीरकाले दध्यभावादिह तु पूर्वं विद्यमानाकाशादिभा जीवस्य दुरुपपादः किं च जीवस्याकाशतापत्तौ वाय्वादिक्रमेणावरोहाभाव प्रसङ्ग इत्यादियुक्तिवशाद (भवति अभिनिष्पत्तिश्रुतेर्गौणत्वमङ्गीकर्तव्यमित्याकाशादिसंबन्धमात्रमेव जीवानाम् । संबन्धश्च सादृश्यमेवेति सिद्ध १०. अन्येति—अन्यैर्जीवैरधिष्ठिते व्रीह्यादौ संसर्गमात्रं कर्मिणां भवति । कुतः । पूर्ववदभिलापात् । आकाशादिष्वि व्रीह्यादावपि कर्मपरामर्शमन्तरेण संसर्गमात्रस्यैव श्रुत्योक्तत्वान्न ते तत्र सुखदुःखभाज इत्यर्थः । ब्र. ३. १. २४ ।

दाह—आकाशाद्वायुमिति । वायोर्वृष्टिं प्रतिपद्यन्ते । तदुक्तम्—[1]'पर्जन्याग्नौ सोमं तं जुह्वतीति । ततो वृष्टिभूता इमां पृथिवीं पतन्ति । ते पृथिवीं प्राप्य व्रीहियवा- भवन्ति । तदुक्तस्मिँल्लोकेऽग्नौ वृष्टिं [3]'जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नं संभवतीति । तः पुरुषाग्नौ हूयन्तेऽन्नभूता रेतस्सिचि । ततो रेतोभूता योषाग्नौ हूयन्ते ततो ते लोकं प्रत्युत्थायिनस्ते लोकं प्रत्युत्तिष्ठन्तोऽग्निहोत्रादिकर्मानुतिष्ठन्ति । ततो दिना[4] पुनः पुनः सोमलोकं[5] पुनरिमं लोकमिति । त एवं कर्मिणोऽनुपरिवर्तन्ते घटी- वच्चक्रीभूता बंभ्रमतीत्यर्थः । उत्तरमार्गाय सद्योमुक्तये वा यावद्[6]ब्रह्म न [7]विदुः । नु कामयमानः संसरतीत्युक्तम् ।

थिवीमिति । 'रेतस्सिग्योगोऽथेति''[10] न्यायमाश्रित्याऽऽह—ते पुनरिति । ''योनेः शरीरमिति''[12] मनुसृत्याऽऽह—तत इति । उत्पन्नानां केषांचिदिष्टादिकारित्वमाह—लोकमिति । ष्ठानानन्तरं तत्फलभागित्वमाह—ततो धूमादिनेति । सोमलोके फलभोगानन्तरं पुनरेतल्लोक- माह—पुनरिति । पौनःपुन्येन विपरिवर्तनस्यावधि सूचयति—उत्तरमार्गायेति । प्राग्ज्ञानात्संसरणं वि व्याख्यातमित्याह—इति न्विति ।

श को प्राप्त करते हैं ।

वे आकाशशरीर हुए अन्तरिक्ष में जाने वाले कर्मी फिर भी पूर्व वायु आदि से इधर-उधर ले जाते हैं । इसी से श्रुति कहती है—आकाश से वायु को प्राप्त होते हैं । वायु से वृष्टि को प्राप्त हैं । इसी से पीछे (इसी ब्राह्मण के दशवें मन्त्र में) कहा गया है—"देवगण पर्जन्याग्नि में राजा को होम करते हैं" । इसके बाद वृष्टि से पृथिवी को प्राप्त होते हैं । पृथिवी पर पहुँच कर -यवादि अन्न संसर्गी होते हैं । इसी से एकादश मन्त्र में कहा है—देवतालोग इस लोक रूप में वृष्टि को होमते हैं, उस आहुति से भक्ष्य व्रीहि-यवादि अन्न होता है । अन्न होकर वे वीर्य न करने वाले पुरुषाग्नि में होम किये जाते हैं । फिर वीर्यरूप होकर योषाग्नि में होम किये हैं । इसके बाद वे परलोक जाने के लिए तैयार होकर जन्म लेते हैं । वे इस प्रकार परलोक के लिए तैयार होकर अग्निहोत्रादि कर्म का अनुष्ठान करते हैं । तब धूमादिमार्ग, पुनः सोमलोक प्राप्त होते हैं और फिर इस लोक को प्राप्त होते रहते हैं । "ते एवं" यानी वे कर्मी इस प्रकार नुपरिवर्तन्ते" अर्थात् घटीयन्त्र के समान चक्राकार होकर घूमते हैं, जब तक वे ब्रह्म को नहीं ते; तब तक उत्तरमार्ग अथवा सद्योमुक्ति के लिए इस प्रकार भटकते रहते हैं । "इस प्रकार दिविषयकस्थूल कामना युक्त हुआ पुनः पुनः इस लोक में संसरण करता है" ऐसा श्रुति कह

---

१. बृ. उ. ६. २. १० । २. अन्नसंसर्गिणो भवन्ति । ३. बृ. उ. ६. २. ११ । ४. मार्गेण । ५. यन्ति । ६. ब्रह्म—सगुणं निर्गुणं च । ७. विदुः—उपासते विदन्ति चेत्यर्थः । ८. बृ. उ. ४. ४. ६ । ९. रेत सिगिति—अथ व्रीह्यादिभावानन्तरं तेषां कर्मिणां रेतःसिग्योगः पितृशरीरप्रवेशः "यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवतीति" छां. उ. ५. १. ६ श्रुतावाम्नायते । १०. ब्र. सू. ३. १. २६ । ११. योनेरिति—योनौ रेतसि प्रविष्टे सति ततः शरीरमनुशयिनामनुशयाख्यकर्मभोगाय जायत इत्याह शास्त्रं तद्य इह रमणीयचरणा इत्यादि । १२. ब्र. सू. ३. १. २७ ।

अथ पुनर्ये उत्तरं दक्षिणं चैतौ पन्थानौ न विदुरुत्तरस्य दक्षिणस्य वा प
प्रतिपत्तये ज्ञानं कर्म वा नानुतिष्ठन्तीत्यर्थः। ते किं भवन्तीति। उच्यते—ते कीट
पतङ्गा यदिदं यच्चेदं दन्दशूकं दंशमशकमित्येतद्भवन्ति। एवं हीयं [1]संसारगतिः क
ऽस्यां निमग्नस्य पुनरुद्धार एव दुर्लभः। तथा च श्रुत्यन्तरम्—“[2]तानीमानि क्षुद्राण्य
कृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्व” इति। [3]तस्मात्सर्वोत्साहेन यथाश
[4]स्वाभाविककर्मज्ञानहानेन दक्षिणोत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनं शास्त्रीयं कर्म ज्ञानं वाऽनुति
ष्ठेदिति वाक्यार्थः। तथा चोक्तम् “[5]अतो वै खलु [6]दुर्निष्प्रपतरं [7]तस्मा[8]ज्जुगुप्सेत” इ
श्रुत्यन्तरान्मोक्षाय प्रयतेतेत्यर्थः। [9]अत्राप्युत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधन एव महान्यत्नः कर्त
इति गम्यते। एवमेवानुपरिवर्तन्त इत्युक्तत्वात्। एवं प्रश्नाः सर्वे निर्णीताः। प्रश्नौ

---

[10]स्थानद्वयमावृत्तिसहितमुक्त्वा स्थानान्तरं दर्शयति—अथेत्यादिना। स्थानद्वयात्तृतीये स्था
विशेषं कथयति—एवमिति। तृतीये स्थाने छान्दोग्यश्रुतिं संवादयति—तथा चेति। अमुष्या गतेरति
कष्टत्वे परिशिष्टं वाक्यार्थमाचष्टे—तस्मादिति। सर्वोत्साहो वाक्कायचेतसां प्रयत्नः। यदुक्तमस
निमग्नस्य पुनरुद्धारो दुर्लभो भवतीति तत्र श्रुत्यन्तरमनुकूलयति—तथा चेति। अतो व्रीह्यादिभाव
दित्यर्थः। तस्मादित्यतिकष्टात्संसारादित्यर्थः। दक्षिणोत्तरमार्ग[12]प्राप्तिसाधने यत्नसाम्यमाशङ्क्याऽऽह-
अत्रापीति। पञ्च प्रश्नान्प्रस्तुत्य किमिति प्रत्येकं तेषां निर्णयो न कृत इत्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति
निर्णीतिप्रकारमेव संगृह्णाति—असावित्यादिना। प्राथम्येन निर्णीत इति संबन्धः। देवयानस्येत्या

चुकी है।

इस तरह जो इन उत्तर और दक्षिण मार्गों को नहीं जानते अर्थात् उत्तर या दक्षिण मा
प्राप्ति के लिए ज्ञान अथवा कर्म का अनुष्ठान नहीं करते। वे क्या होते हैं ? इसे कहा जाता है—
कीट, पतङ्ग “यदिदं दन्दशूकं” यानी जो ये डाँस और मच्छर होते हैं; इस प्रकार होते हैं। इ
संसार की गति बड़ी कष्टमयी है, इसमें निमग्न हुए का पुनरुद्धार ही दुर्लभ है। इसी का अन
श्रुति प्रतिपादन करती है—“वे ये क्षणिक और निरन्तर आते-जाते रहने वाले जीव होते है
जन्म लो और मर जाओ”। इसलिए पूर्ण प्रयत्न के साथ शास्त्रानाधेय कर्म और ज्ञान को छोड़क
यथाशक्ति दक्षिण और उत्तर मार्ग प्राप्ति के हेतु शास्त्रीय कर्म या ज्ञान का अनुष्ठान करना चाहिये
यह इस श्रुतिवाक्य का अर्थ है। “इन से छूटना बड़ा कठिन है”, “इसलिए उस विषय में कुत्सितत
बुद्धि करे; उनमें रमण न करे”, इन अन्य श्रुतियों से भी यह अर्थ निकलता है कि मोक्ष के लिए प्रयत
करे। प्रकृत वाक्य में भी उत्तरमार्ग की प्राप्ति के साधन में ही महान् प्रयास करना चाहिये—ऐस
जाना जाता है क्योंकि दक्षिणमार्ग को प्राप्त करने वाले निरन्तर आवागमन के चक्कर में प

---

[1] तृतीया। [2] बृ. उ. ५. १०. ८। [3] अवतरणोक्तत्वात्। [4] शास्त्रानाधेयकर्मेति यावत्।
बृ. उ. ५. १०. ६। [6] दुर्निष्क्रमणतरम्। [7] बृ. उ. ५. १०. ८। [8] तस्माज्जुगुप्सेतेति—“जुगुप्सा
विरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानमि”त्यपादानत्वम्। तद्विषये कुत्सितत्वबुद्ध्या न रमेतेत्यर्थः। [9] प्रकृतवाक्येऽपि
[10] ब्रह्मलोकं चन्द्रलोकं च। [12] कर्मोपासनात्मके।

लोक इत्यारभ्य पुरुषः संभवतीति चतुर्थः प्रश्नो यतिथ्यामाहुत्यामित्यादिः प्राथम्येन। पञ्चमस्तु द्वितीयत्वेन देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वेति दक्षिणोत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनकथनेन। तेनैव च प्रथमो[1]ऽप्यग्नेरारभ्य केचिदर्चिः प्रतिपद्यन्ते केचिद्धूममिति विप्रतिपत्तिः। पुनरावृत्तिश्च द्वितीयः प्रश्न आकाशादिक्रमेणेमं लोकमागच्छन्तीति। तेनैवासौ लोको न संपूर्यते कीटपतङ्गादिप्रतिपत्तेश्च केषांचिदिति तृतीयोऽपि प्रश्नो निर्णीतः ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये षष्ठाध्यायस्य
द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

पञ्चमः प्रश्नः। स तु द्वितीयत्वेन दक्षिणादिमार्गापत्तिसाधनोक्त्या निर्णीत इत्यर्थः। तेनैव मार्गद्वयप्राप्तिसाधनोपदेशेनैवेति यावत्। मृतानां प्रजानां [2]विप्रतिपत्तिः प्रथमप्रश्नस्तस्य निर्णयप्रकारमाह—अग्नेरिति। द्वितीयप्रश्नस्वरूपमनूद्य तस्य निर्णीतत्वप्रकारं प्रकटयति—पुनरावृत्तिश्चेति। आगच्छन्तीति निर्णीत इत्युत्तरत्र संबन्धः। तेनैव पुनरावृत्तेः सत्त्वेनेत्यर्थः। अमुष्य लोकस्यासंपूर्तिर्हि तृतीयः प्रश्नः। स च [3]द्वाभ्यां हेतुभ्यां प्रागुक्ताभ्यां निर्धारितो भवतीति भावः ॥ १६ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां षष्ठाध्यायस्य
द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

रहते हैं। इस प्रकार सब प्रश्नों का निर्णय हो चुका। "हे गौतम! इस उस द्युलोक अग्नि में आहवनीय दृष्टि करनी चाहिये" यहाँ से आरम्भ कर "पुरुष होता है" इस स्थल तक 'कितनी संख्या वाली आहुतियों के हवन किये जाने पर आप बोलने लगता है' इत्यादि चतुर्थ प्रश्न का पहले उत्तर दिया है। देवयान मार्ग एवं पितृयान मार्ग की प्राप्ति का साधन क्या है, इस पञ्चम प्रश्न को दक्षिण और उत्तर मार्ग की प्राप्ति का साधन बतलाकर द्वितीय उत्तर द्वारा कहा गया है। उसी से प्रथम प्रश्न का उत्तर हो जाता है। (फिर से अग्नि में ले जाते हैं—इस श्रुति से) षष्ठाग्नि की प्राप्ति के बाद फिर वहाँ से कोई अर्चिरादि मार्ग को प्राप्त होते हैं और कोई धूमादिमार्ग को प्राप्त होते हैं, इस प्रकार पृथक्-पृथक् मार्गों की प्राप्ति होती है। पुनरागमन द्वितीय प्रश्न है, उसका समाधान दिया है कि आकाशादि क्रम से इस लोक में आते हैं। इससे वह लोक भरता नहीं है तथा कुछ कीट पतङ्गादि की योनियों को प्राप्त करते हैं, इसलिए भी नहीं भरता। इस प्रकार तृतीय प्रश्न का भी उत्तर हो गया ॥ १६ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में षष्ठाध्यायस्थ द्वितीय ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का
हिन्दी-भाषानुवाद संपन्न हुआ ॥ २ ॥

---

[1] अग्नेरारभ्येति—अथैनमग्नये हरन्तीति षष्ठाग्न्याप्त्यनन्तरमित्यर्थः। [2] विभिन्नमार्गगमनम्। [3] द्वाभ्यामिति। तथा वार्तिकम्—"कीटादीनामगमनाद्गतानां चाऽऽगतेस्तथेति" ॥ १६३ ॥

(अथ षष्ठाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ।)

स यः कामयेत महत्प्राप्नुयामित्यु[1]दगयन [2]आपूर्यमाणपक्षस्य पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे कꣳसे चमसे वा सर्वौषधं फलानीति संभृत्य परिसमुह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधाय [3]परिस्तीर्या[4]ऽऽवृता[5]ऽऽज्यꣳ सꣳस्कृत्य [6]पुꣳसा नक्षत्रेण [7]मन्थꣳ [8]संनीय [9]जुहोति

धन और कर्म का अधिकारी जो ऐसा चाहता है कि मैं महत्त्व को प्राप्त होऊँ तो वह उत्तरायण में शुक्लपक्ष की पुण्यतिथि पर बारह दिन तक पयोव्रती होकर गूलर की लकड़ी के कटोरे या चमस पात्र में सभी ओषधियों को, फल तथा अन्य सामग्रियों को एकत्रित कर वेदी को कुशों से बुहार कर गोबर तथा जल से उसे लीपकर अग्नि का संस्थापन करे। पुनः अग्नि के चारों ओर कुशा बिछाकर गृहसूत्र में बतलायी गयी विधि से घृत का संस्कार करके पुँल्लिङ्ग नाम वाले (हस्तादिक)

स यः कामयेत । [10]ज्ञानकर्मणो[11]र्गतिरुक्ता । तत्र ज्ञानं स्वतन्त्रं [12]कर्म तु दैवमानुषवित्तद्वयायत्तं तेन कर्मार्थं वित्तमुपार्जनीयम् । तच्चाप्रत्यवायकारिणोपायेनेति तदर्थं मन्थाख्यं

ब्राह्मणान्तरमवतार्य [13]संगतिमाह—स य इति । तत्रेति निर्धारणे सप्तमी । कथं [14]तर्हि वित्तोपार्जनं संभवति तत्राऽऽह—तच्चेति । तदर्थं वित्तसिद्ध्यर्थमिति यावत् । ननु महत्त्वसिद्ध्यर्थमिदं

"वह यदि ऐसा चाहता हो" यह मन्त्र का आरम्भ है। इससे पूर्व उपासना और कर्म का फल कहा गया। इनमें उपासना तो स्वतन्त्र है और (दृष्ट-अदृष्टार्थ) कर्म, दैव और मानुष—इन दो

---

१. उदगयन इति—उदीच्यादित्यस्यायनं गमनं यस्मिन् काले तस्मिन्नित्यर्थः । २. तत्रापि शुक्लपक्षस्य पुण्याहे पुण्यदिवसे कर्मसिद्धिकरे अनुकूलचन्द्रतारके इति यावत् । यस्मिन् कर्मचिकीर्षितं ततः प्राक् पुण्याहमेवारभ्य द्वादशाहं द्वादशदिवसपर्यन्तमुपसद्व्रती भूत्वेत्यादि स्पष्टं भाष्यादौ । ३. परिस्तीर्य—प्रागग्रानुदगग्रान्वा दर्भानास्तीर्याग्निं परित इत्यर्थः । ४. आवृता—स्थालीपाकोक्तेतिकर्तव्यतया । ५. आज्यं विलापनादिना संस्कृत्य । ६. पुंसा पुंनाम्ना हस्तादिना नक्षत्रेण युक्ते पुण्याहे । ७. मन्थं—वक्ष्यमाणसर्वौषध्यादीनां पिष्टम् । ८. संनीय—अग्नेः स्वस्य च मध्ये दक्षिणाश्रिते देशे संस्थाप्य संस्कृतमाज्यं गृहीत्वा । ९. जुहोति जुहुयात् । १०. उपास्तिकर्मणोः । ११. फलम् । १२. दृष्टादृष्टार्थम् । १३. संगतिं शेषशेषित्वरूपाम् उत्थाप्योत्थापकत्वरूपां वा । १४. कर्मणो वित्तायत्तत्वे ।

❀ उदगयन इत्यादि वाक्यं तत्तात्पर्यमाहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"कालो विधीयते चास्य मन्थाख्यस्येह कर्मणः । श्रुत्योदगयनाद्युक्त्या कर्मसिद्ध्यै प्रयत्नतः ॥ प्रार्थनीयः पुरा कालो विशुद्धिश्चाऽऽत्मनस्ततः । द्रव्याण्योषधयश्चैव देशश्च तदनन्तरम् ॥ कालादीनां गुणानां च कर्मण्यस्मिन्समुच्चयः । न विकल्पः समृद्धिः स्यात्कर्मणोऽस्य

यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान्। तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा। या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति तां त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳराधनीमहꣳस्वाहा ॥ १ ॥

नक्षत्र में मन्थ को (अपने और अग्नि के) बीच में रखकर (निम्नाङ्कित मन्त्र से) हवन करता है।
मन्त्रार्थ यह है—हे अग्निदेव ! तेरे अधीन जितने देवता वक्र-बुद्धि होकर पुरुष की कामनाओं का
विघात करते हैं, उनके उद्देश्य से इस आज्य भाग का मैं होम करता हूँ। वे देव तृप्त होकर मुझे
संपूर्ण भोगों द्वारा तृप्त करें, स्वाहा (स्वाहा शब्द से आहुति दे देवे)। मैं सबकी मृत्यु को धारण करने
वाला हूँ, ऐसा समझकर जो वक्र-बुद्धि देव तेरा आश्रय करके रहता है, सभी भोगों को देने वाले
उस देव के लिये मैं घृत की धारा से यजन करता हूँ ('स्वाहा' ऐसा कहकर अग्नि में घृत की आहुति
दे डाले) ॥ १ ॥

कर्माऽऽरभ्यते[1] महत्त्वप्राप्तये। महत्त्वे च सत्यर्थसिद्धं हि वित्तम्। तदुच्यते—स यः
कामयेत स यो वित्तार्थी। कर्मण्यधिकृतो[2] यः कामयेत। किम्। महन्महत्त्वं प्राप्नुयां महा-

---

कर्माऽऽरभ्यते महत्प्राप्नुयामिति श्रुतेस्तत्कथमन्यथा प्रतिज्ञातमिति शङ्कते—महत्त्वेति। परिहरति—
महत्त्वे चेति। उक्तेऽर्थे श्रुत्यक्षराणि योजयति—तदुच्यत इत्यादिना। स यो वित्तार्थी कामयेत
[3]तस्येदं कर्मेति शेषः। यस्य कस्यचिद्वित्तार्थिनस्तर्हीदं कर्म स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मण्यधिकृत इति।

वित्तों के अधीन है। इसलिए कर्म के लिए वित्त का उपार्जन करना चाहिये। वह भी प्रत्यवायमुक्त
उपाय से करना चाहिये। इसलिए (इस ब्राह्मण द्वारा) महत्त्वप्राप्ति के लिए मन्थाख्य कर्म का
समारम्भ किया जाता है, महत्त्व के प्राप्त हो जाने पर वित्त तो स्वतः प्राप्त हो जाता है। इसी से
श्रुति कहती है—"सः यः कामयेत" अर्थात् वह यदि वित्तार्थी और कर्म का अधिकारी गृहस्थी जीव

---

१. अनेन ब्राह्मणेन। २. प्राणविद्गृही। ३. तदनुष्ठेयम्।

समुच्चितौ ॥ कर्मणश्चास्य निष्पत्तौ विद्वत्ताऽपि समाश्रिता। यतोऽतः सूत्रित नेद सूत्रकृद्भिर्यथोदितम् ॥ यो ह
वै ज्येष्ठमित्युक्त्या विद्वत्ता या पुरोदिता। तस्यां सत्यामिदं कर्म ज्येष्ठायेत्यादिलिङ्गतः" ॥ ६-१० ॥ इति।
उदगयन इत्यादिवाक्यतात्पर्यमाह—काल इति। इह गृहिणी वित्तार्थिनीति यावत्। काले कर्म विधीयते नाकाल
इति न्यायमाश्रित्य कर्मण इत्युक्तम्। तद्विधिफलमाह—कर्मेति। प्रयत्नत इत्यभ्यासं दर्शयति ॥ यस्मिन्कस्मिश्चि-
त्कालादौ कर्माऽऽरम्यानन्तरं विशिष्टकालाद्यनुसंधानेन निवर्तनमाशङ्क्याऽऽह— प्रार्थनीय इति। पयोघृतादीनि
द्रव्याणि। ओषधयो व्रीहियवाद्याः ॥ देशादीनामन्यतमसंपत्त्याऽपि कर्मारम्भसंभवान्न सर्वं पूर्वं निरूप्यमित्या-
शङ्क्याऽऽह—कालादीनामिति। शुद्धिश्रद्धादयो गुणाः। विकल्पेऽपि का हानिरित्याशङ्क्य समुच्चयस्वीकार-
फलमाह—समृद्धिरिति ॥ अग्निहोत्रादिवदिदं कर्म वैदिकं चेत्किमिति कल्पसूत्रकारैर्नं सूत्रितमित्याशङ्क्याऽऽह
—कर्मणश्चेति। पूर्वोक्तकालवदित्यपेरर्थः ॥ कीदृशी विद्वत्ता तत्रोपयुक्तेति तत्राऽऽह—यो हीति। प्रकृतकर्म-
समवेतमन्त्रसामर्थ्यात्प्राणविदो यथोक्तं कर्माधिगतमित्यर्थः ॥

न्स्यामितीत्यर्थः। तत्र मन्थकर्मणो विधित्सितस्य कालोऽभिधीयते—उदगयन आदित्यस्य तत्र सर्वत्र प्राप्तावापूर्यमाणपक्षस्य शुक्लपक्षस्य। तत्रापि सर्वत्र प्राप्तौ पुण्याहेऽनुकूल आत्मनः [1]कर्मसिद्धिकर इत्यर्थः। द्वादशाहं यस्मिन्पुण्येऽनुकूलेऽहनि कर्म चिकीर्षति ततः प्राक्पुण्याहमेवाऽऽरभ्य द्वादशाहमुपसद्व्रती। उपसत्सु तमुपसद्व्रतमुपसदः प्रसिद्धा ज्योतिष्टोमे। तत्र च स्तनोपचयापचयद्वारेण [2]पयोभक्षणं तद्व्रतम्। अत्र च तत्कर्मानुपसंहारात्केवलमि[3]तिकर्तव्यताशून्यं पयोभक्षणमात्रमुपादीयते। ननूपसद एव व्रतमिति यदा विग्रहस्तदा सर्वमितिकर्तव्यतारूपं ग्राह्यं भवति तत्कस्मान्न परिगृह्यत इति। उच्यते—स्मार्तत्वात्कर्मणः। स्मार्तं हीदं मन्थकर्म। ननु श्रुतिविहितं सत्कथं स्मार्तं भवितुमर्हति।

तत्र वित्तार्थिनि [4]पुंसीति यावत्। उपसदो नामेष्टिविशेषाः। ज्योतिष्टोमे [5]प्रवर्ग्याहेष्विति शेषः। किं पुनस्तासु व्रतमिति तदाह— तत्र चेति। यदुपसत्सु स्तनोपचयापचयाभ्यां पयोभक्षणं यजमानस्य प्रसिद्धं तदत्रोपसद्व्रतमित्यर्थः। [6]प्रकृतेऽपि [7]तर्हि स्तनोपचयापचयाभ्यां पयोभक्षणं स्यादिति चेन्नेत्याह —अत्र चेति। मन्थाख्यं कर्म सप्तम्यर्थः। तत्कर्मेत्युपसद्रूपकर्मोक्तिः। केवलमित्यस्यैवार्थमाह—इतिकर्तव्यताशून्यमिति। समासान्तरमाश्रित्य शङ्कते—नन्विति। कर्मधारयरूपं समासवाक्यं तदित्युक्तम्। मन्थाख्यस्य कर्मणः स्मार्तत्वादत्र[8] श्रुत्युक्तानामुपसदामुपसंग्रहाभावान्न कर्मधारयः सिध्यतीत्युत्तरमाह—उच्यत इति। मन्थकर्मणः स्मार्तत्वमाक्षिपति—नन्विति। परिसमूहनपरिलेपनाग्न्युपसमाधानादेः स्मार्तार्थस्यात्रोच्यमानत्वादियं श्रुतिः स्मृत्यनुवादिनी युक्ता तथा चैतत्कर्म भवत्येव स्मार्तमिति

इच्छा करे। क्या? "महत्प्राप्नुयाम्" अर्थात् महत्त्व या महानता को प्राप्त करूँ। उस गृही के लिए विधित्सित मन्थ कर्म का काल बतलाया जाता है—"उदगयने" अर्थात् आदित्य के उत्तरायण में आने पर, क्योंकि उस समय सब कुछ प्राप्ति होने पर (उसमें भी) "आपूर्यमाणपक्षस्य" अर्थात् शुक्ल पक्ष में, उसमें सर्वत्र प्राप्ति होने पर "पुण्याहे" अर्थात् चन्द्र-नक्षत्र के अनुकूल अपने कर्म के सिद्धिकारक शुभ दिन में, "द्वादशाहम्" अर्थात् जिस शुभ अनुकूल दिन में कर्म करना चाहे, उससे पूर्व शुभ दिन से ही बारह दिन पर्यन्त "उपसद्व्रती" अर्थात् उपसदों में व्रती होकर। उपसद् की ज्योतिष्टोम में प्रसिद्धि है। वहाँ स्तनोपचय और अपचय के द्वारा (वाणी संयम, भूमिशयन, ब्रह्मचर्य का उपलक्षण रूप) दुग्धभक्षण रूप व्रत है। यहाँ उस मन्थ कर्म में कर्म का उपसंहार न होने से केवल (अपचय-उपचय रूप) इतिकर्तव्यता से रहित दुग्धपान मात्र का उपपादन किया जाता है। (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु "उपसदों का ही व्रत" इस प्रकार यदि विग्रह किया जाय तब तो सारा इतिकर्तव्यता रूप ग्रहण करना चाहिये, उसे क्यों नहीं ग्रहण करते हो? इसका समाधान कहा जाता है—क्योंकि कर्म स्मार्त है। यह मन्थ कर्म स्मृतिप्रतिपादित है। (इस पर पूर्ववादी कहता है—) किन्तु श्रुतिप्रतिपादित

---

[1] अनुकूलचन्द्रतारके। [2] पयोभक्षणमिति—वाग्यमभूशयनब्रह्मचर्याणामुपलक्षणम्। [3] स्तनोपचयापचयादिरितिकर्तव्यता। [4] प्राणविदि गृहिणि। [5] प्रवर्ग्याहेष्विति—प्रवर्ग्याख्यकर्मानुष्ठानदिनेष्वित्यर्थः। [6] मन्थकर्मणि। [7] तर्हि—यथोक्तभक्षणस्योपसद्व्रतत्वे। [8] स्मार्ते कर्मणि।

त्यनुवादिनी हि श्रुतिरियम् । श्रौतत्वे हि प्रकृतिविकारभाव[1]स्ततश्च प्राकृतधर्मग्राहित्वं
कारकर्मणो न त्विह श्रौतत्वम् । [2]अत एव चा[3]ऽऽवसथ्याग्नावेतत्कर्म विधीयते । सर्वा
ऽऽवृत्स्मार्तैवेति । उपसद्व्रती भूत्वा पयोव्रती सन्नित्यर्थः ।

औदुम्बर उदुम्बरवृक्षमये[4] कंसे चमसे वा[5] तस्यैव विशेषणं कंसाकारे चमसाकारे
दुम्बर एव । [6]आकारे तु विकल्पो नौदुम्बरत्वे । अत्र सर्वौषधं सर्वासामो[7]षधीनां समूहं
थासंभवं यथाशक्ति च सर्वा ओषधीः समाहृत्य तत्र ग्राम्यास्तु दश नियमेन ग्राह्या

रिहरति—स्मृतीति । ननु श्रुतेर्न स्मृत्यनुवादिनीत्वं वैपरीत्यादतो[8] भवतीदं श्रौतमित्याशङ्क्याऽऽह—
तत्वे हीति । यदीदं कर्म श्रौतं तदा ज्योतिष्टोमेनास्य प्रकृतिविकृतिभावः स्यात् । समग्राङ्गसंयुक्ता
कृतिर्विकलाङ्गसंयुक्ता च विकृतिः । प्रकृतिविकृतिभावे च विकृतिकर्मणः प्राकृतधर्मग्राहित्वादुपसद
व व्रतमिति विगृह्य सर्वमितिकर्तव्यतारूपं शक्यं ग्रहीतुं न चात्र[9] श्रौतत्वमस्ति परिलेपनादिसंबन्धात् ।
च पूर्वभाविन्याः श्रुतेरुत्तरभाविस्मृत्यनुवादित्वासिद्धि[10]स्तस्यास्त्रैकाल्यविषयत्वाभ्युपगमाविति भावः ।
न्थकर्मणः स्मार्तत्वे लिङ्गमाह—अत एवेति । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—सर्वा चेति । मन्थगतेतिकर्तव्यता-
आऽऽवृदित्युच्यते । उपसद एव व्रतमिति विग्रहासंभवादुपसत्सु व्रतमित्यस्मदुक्तं सिद्धमित्युपसंहर्तु-
मितिशब्दः । पयोव्रती सन्वक्ष्यमाणेन क्रमेण जुहोतीति संबन्धः ।

[11]ताम्रमौदुम्बरमिति शङ्कां वारयति—उदुम्बरवृक्षमय इति । तस्यैवेति प्रकृतपात्रपरामर्शः ।
औदुम्बरत्वे[12]ऽपि विकल्पमाशङ्क्याऽऽह—आकार इति । अत्रेति पात्रनिर्देशः । असंभवादशक्यत्वाच्च
सर्वौषधं समाहृत्येत्ययुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—यथासंभवमिति । ओषधिषु नियमं दर्शयति—तत्रेति ।

होकर भी यह स्मार्त कर्म कैसे हो सकता है ? (इसका परिहार करते हैं—) क्योंकि यह श्रुति
स्मृति द्वारा उक्त अर्थ का अनुवाद करती है। यदि इसे श्रौत स्वीकार करें तो प्रकृतिविकार-
भाव हो जायगा, ऐसे में विकारभूतकर्म में प्राकृत धर्मों का ग्रहण करना अनिवार्य हो जायगा,
किन्तु यह श्रौत कर्म नहीं है। इसलिये इस कर्म का विधान आवसथ्याग्नि में है। तथा इसमें
समस्त मन्थगत इतिकर्तव्यतारूप आवृत स्मार्त ही है। "उपसद्व्रती भूत्वा" अर्थात् पयोव्रती होकर
(अग्नि स्थापित करता है)।

"औदुम्बरे" अर्थात् उदुम्बरवृक्षमय पात्र में "कंसे चमसे वा" अर्थात् यह उसी के विशेषण हैं
अर्थात् कंसाकार अथवा चमसाकार उदुम्बरवृक्षमय पात्र में ही। यहाँ विकल्प केवल आकार में ही है;
औदुम्बर रूप में नहीं। उसमें "सर्वौषधं" यानी सब औषधियों के समूह को अर्थात् यथासंभव सभी औष-
धियों को लाकर उनमें ग्राम्य औषधियों में से वक्ष्यमाण व्रीहि-यवादि दश औषधियाँ तो अवश्य लानी

---

१. स्यादिति शेषः । २. अत एव—मन्थकर्मणः स्मार्तत्वादेव । ३. आवसथ्येति—अग्निमुपसमाधायेति-
श्रुतेरेकाग्निसंबद्धमेतत्कर्म । उपसदस्तु ज्योतिष्टोमादौ प्रवर्ग्यहि श्रूयमाणास्त्रेताग्निगामिन्यस्तथा च स्मार्तैकाव-
सथ्याग्निसंबद्धत्वात् स्मार्तमेवेदं कर्मेति स्फुटी भविष्यति चैतदग्निमुपसमाधायेति श्रुतिव्याख्यानावसरे । ४.
पात्रे । ५. इतीति शेषः । ६. आकारे त्विति—आकारे विकल्प आकारिणि त्वौदुम्बरत्वे तु नियमः ।
७. ओषधीनाम्—वक्ष्यमाणव्रीह्यादिधान्यानाम् । ८. अतः—श्रुतेः स्मृत्यनुवादकत्वाभावात् । ९. मन्थकर्म ।
१०. श्रुतेः । ११. "अथ ताम्रकं शुल्व म्लेच्छमुखं द्व्यष्टवरिष्ठौदुम्बराणि" चेत्यमरः । १२. आकार-
वदित्यपिशब्दार्थः ।

व्रीहियवाद्या वक्ष्यमाणाः[1] । अधिकग्रहणे तु न दोषः ग्राम्याणां [2]फलानि च यथासंभव यथाशक्ति च । इतिशब्दः [3]समस्तसंभारोपचयप्रदर्शनार्थः । [4]अन्यदपि यत्संभरणीयं तत्स संभृत्येत्यर्थः । क्रमस्तत्र गृह्योक्तो द्रष्टव्यः । परिसमूहनपरिलेपने [5]भूमिसंस्कारः । [6]अग्निमुप समाधायेति वचनादा[7]वसथ्येऽग्नाविति गम्यते । एकवचनादुपसमाधानश्रवणाच्च । विद्य मानस्यैवोपसमाधानम् । [8]परिस्तीर्य दर्भाना[9]वृता स्मार्तत्वात्कर्मणः [10]स्थालीपाकावृत्परिगृ ह्यते तयाऽऽज्यं [11]संस्कृत्य पुंसा नक्षत्रेण पुंनाम्ना[12] नक्षत्रेण [13]पुण्याहसंयुक्तेन मन्थं[14] सर्वौष- धफलपिष्टं [15]तत्रौदुम्बरे चमसे [16]दधनि मधूनि घृते चोपसिच्यै[17]कयोपमन्थन्योपसंमथ्य संनीय

---

[18]परिसंख्यां वारयति—अधिकेति । इति संभृत्येत्यत्रेतिशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वे फलितं वाक्यार्थं कथयति— अन्यदपीति । [19]ओषध्यादीनां संभरणानन्तरं परिसमूहनादिक्रमे किं प्रमाणमित्याशङ्क्याऽऽह—क्रम इति । तत्रेति [20]परिसमूहनाद्युक्तिः । होमाधारत्वेन [21]त्रेताग्निपरिग्रहं वारयति—अग्निमिति । आव- सथ्येऽग्नौ होम इति शेषः । कथमेतावता[22] त्रेताग्निपरित्यागस्तत्राऽऽह—एकवचनादिति । कथमुपसमा- धानश्रवणं त्रेताग्निनिवारकं तत्राऽऽह—विद्यमानस्येति । आहवनीयादेश्चा[23]ऽऽधेयत्वान्न प्रागेव सत्त्व-

---

चाहिएँ, अधिक ग्रहण में कोई दोष नहीं। "फलानीति" अर्थात् यथासंभव यथाशक्ति ग्राम्य फल लाने चाहिएँ। 'इति' शब्द और भी ग्रहण करने योग्य अनुक्त और उपयुक्त वस्तुओं के प्रदर्शन के लिये है अर्थात् और भी जो संग्रह करने योग्य हो, उसका संग्रह करके; इसका क्रम गृह्यसूत्रों में देखना चाहिये। बुहारना और लीपना भूमि की शुद्धि के लिए है। इस प्रकार शुद्ध प्रदेश में अग्नि संस्थापित करके इस वाक्य से "प्राकृताग्नि में होम करे" यह जाना जाता है क्योंकि यहाँ अग्नि एकवचन है और उपसमाधान श्रुत है। विद्यमान अग्नि ही स्थापित की जा सकती है। दर्भों को बिछाकर, इति- कर्तव्यता प्रकार से; यह स्मार्त कर्म है। इसलिये यहाँ स्थालीपाक ग्रन्थोक्त आवृत् का परिग्रहण होता है। इससे आज्य का (विलापनादि के द्वारा) संस्कार कर, "पुंसा नक्षत्रेण" यानो पुँल्लिङ्ग नाम वाले (हस्त आदि) नक्षत्र से, ऐसे नक्षत्र से युक्त शुभ दिन में "मन्थम्" अर्थात् वक्ष्यमाण सर्वौषधि फल के पिष्ट को उस औदुम्बर चमसाकार पात्र में दही, मधु और घृत में डाल कर (वक्ष्यमाण मथानी-द्वय

---

[1] बृ. उ. ६. ३. ७-१२। [2] फलानीति—मादकामेध्यवर्जं ग्राह्याणीति ध्येयम्। [3] अनुक्तोपयुक्तसंभरणीय- जातेति भावः। [4] अन्यदपीति—"तण्डुलान् फलपुष्पाणि पिष्ट्वा पात्रे निवापयेत्। दध्ना च मधुना पिष्टं सम्यगालोड्य पात्रगम्। स्थापयेत्कृतरक्षं सच्छुचौ देशे प्रयत्नतः" ॥ इति भावः। [5] भूमिसंस्कार इति— उल्लेखनोद्धरणाभ्युक्षणान्यप्यत्र द्रष्टव्यानि। [6] संस्कृतभूदेशे संस्थाप्य। [7] प्राकृताग्नौ। [8] परि- स्तीर्येति—स्थापिताग्नि परितः प्रागग्रानुदगग्रान् वा दर्भानास्तीर्येत्यर्थः। [9] आवृदितिकर्तव्यता प्रकार इति यावत्। [10] स्थालीपाकग्रन्थोक्ता। [11] विलापनादिना। [12] हस्तादिना। [13] तादृशनक्षत्रवति पुण्याहे इति यावत्। [14] वक्ष्यमाणेति यावत्। [15] पूर्वोक्ते। [16] तैस्तमासिच्येति यावत्। [17] एकयेति—वक्ष्यमाणोपमन्थनीद्वयमध्ये एकयेत्यर्थः। [18] उक्तेतरनिषेधः परिसंख्या। [19] ओषध्या- दीनामिति—ओषध्यादीनां संभरणानन्तरमेव परिसमूहनादिकर्तव्यमिति क्रमे किं मानमित्यर्थः। [20] परि- समूहनम्—मार्जन्या भूमार्जनम्। [21] त्रेताग्नीति—आहवनीयाद्यग्नित्रयेत्यर्थः। [22] वचनेन। [23] आधेयत्वात्—आधानसंस्कारेण निष्पाद्यत्वादित्यर्थः।

[1]ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति चक्षुषे स्वाहा संपदे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति श्रोत्राय स्वाहाऽऽयतनाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे

"ज्येष्ठाय स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा" इस मन्त्र से गृह अग्नि में हवन करके स्रुवा में बचे घृत पिष्टपिण्ड रूप मन्थ में डाल देता है। "प्राणाय स्वाहा, वसिष्ठाय स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि होम करके स्रुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है। "वाचे स्वाहा, प्रतिष्ठायै स्वाहा" मन्त्र से अग्नि में होम करे, स्रुवा के बचे हुए घृत को मन्थ में डाले। 'चक्षुषे स्वाहा, संपदे स्वाहा" मन्त्र से अग्नि में होम करके शेष घृत को मन्थ में डाल देता है। "श्रोत्राय स्वाहा, आयतनाय हा" इस मन्त्र से होम करके संश्रव को मन्थ में डाल देते हैं। "मनसे स्वाहा, प्रजात्यै स्वाहा"

ध्ये संस्थाप्यौदुम्बरेण स्रुवेणाऽऽवापस्थान [2]आज्यस्य जुहोत्येतैर्मन्त्रैर्यावन्तो देवाः त्याद्यैः ॥ १ ॥

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यारभ्य द्वे द्वे आहुती हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति ।

ति भावः । मध्ये स्वस्याग्नेश्चेति शेषः । आवापस्थानमाहुतिविशेषप्रक्षेपप्रदेशः । [3]भो जातवेदस्त्वधीना यावन्तो देवा वक्रमतयः सन्तो ममार्थान्प्रतिबध्नन्ति तेभ्योऽहमाज्यभागं त्वय्यर्पयामि ते च तेन ता भूत्वा सर्वैरपि पुरुषार्थैर्मां तर्पयन्तु । [4]अहं च त्वदधीनोऽर्पित इत्याद्यमन्त्रस्यार्थः । जातं जातं तीति वा जाते[5] जाते [6]विद्यत इति वा जातवेदाः । या देवता कुटिलमतिर्भूत्वा सर्वस्यैवाहमेव धारत्रीति मत्वा त्वामाश्रित्य वर्तते तां सर्वसाधनीं देवतामहं घृतस्य धारया यजे स्वाहेति पूर्ववदेव तोय[7]मन्त्रार्थः ॥ १ ॥

से) एक मथानी से मथकर फिर "संनीय" अर्थात् अपने और अग्नि के मध्य स्थापित करे। फिर दुम्बर स्रुवा से "यावन्तो देवाः" इत्यादि मन्त्रों से आवापस्थान (आहुति विशेष प्रक्षेप प्रदेश) में घृत हवन करे ॥ १ ॥

"ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहा" इन मन्त्रों से प्रारम्भ कर दो-दो आहुतियाँ हवन करके

---

१. अथ षड्द्वन्द्वाहुतीः प्रतिद्वन्द्वं संस्रवावनयनयुक्ताः समन्त्रा आह—ज्येष्ठायेत्यादिना रेतस इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । २. आज्यं जुहुयादिति यावत् । ३. यावन्तो देवा इत्यादि मन्त्रौ व्याचष्टे—भो इति । ४. स्वमात्मानमाह यस्यामिति योगमभिप्रेत्य स्वाहापदं व्याचष्टे—अहं चेति । आत्मानमपि त्वदधीनत्वेन समर्पयामि त्वदधीनं करोमीति यावत् । ५. प्राणिनि । ६. जाठरत्वेन । ७. मन्त्रार्थ इति—आहुतिद्वये संस्रवावनयनं न कर्तव्यमश्रुतत्वादिति शेषः ।

सꣳस्रवमवनयति मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे स स्रवमवनयति [1]रेतसे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ॥ २ ॥

अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति
सोमाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति
भूः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे स स्रवमवनयति
भुवः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति
स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति
भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति
ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति
क्षत्त्राय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति
भूताय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति

इस मन्त्र से होम करके स्रुवा से बचे हुए घृत को मन्थ पर डाल देता है। "रेतसे स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है (औषधियों के पीसे हुए पिण्ड को मन्थ कहते हैं, उसी में अवशिष्ट घृत को डालने के लिए कहा गया है। अतः उक्त मन्त्रों में आई हुई क्रिया का 'डाले' ऐसा अर्थ भी किया जाता है) ॥ २ ॥

"अग्नये स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। "सोमाय स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। "भूः स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में होम करके संस्रुव को मन्थ में डाल देता है। "भुवः स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके संस्रव को मन्थ पर डाल देता है। "स्वः स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके संस्रव को मन्थ पर डाल देता है। "भूर्भुवः स्वः स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। "ब्रह्मणे स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। "क्षत्त्राय स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। "भूताय स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। "भविष्यते स्वाहा" इस मन्त्र से

स्रुवावलेपनमाज्यं मन्थे संस्रावयति। एतस्मादेव ज्येष्ठाय श्रेष्ठायेत्यादिप्राणलिङ्गा-

---

ज्येष्ठायेत्यादिमन्त्रेषु ध्वनितमर्थमाह—एतस्मादेवेति । द्वे द्वे आहुती हुत्वेत्युक्तं [2]तत्र सर्वत्र

संस्रव को मन्थ (द्रव्य) में डाल देता है। अर्थात् स्रुवा से लगे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है। इस "ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय" इत्यादि प्राण के ज्ञापन से यह सिद्ध होता है कि इस कर्म में ज्येष्ठ-श्रेष्ठादिरूप

---

१. रेतस इत्यारभ्याऽऽतृतीयकण्डिकासमाप्तेश्चतुर्दशाहुतीः प्रत्येकं संस्रवावनयन युक्ताः समन्त्रा आह—रेतस इति। २. आहुतिमात्रे।

भविष्यते स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति
विश्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति
सर्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति
प्रजापतये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ॥३॥

[1]अथैनमभिमृशति भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्ये[2]कसभमसि हिंकृतमसि हिंक्रियमाणमस्युद्गीथ-

अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। "विश्वाय स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। "सर्वाय स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ पर डाल देता है। "प्रजापतये स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके संस्रव को मन्थ पर डाल देता है (उक्त सभी मन्त्रों से आहुतियाँ डालकर स्रुवा में लगे हुए घृत को मन्थ में डालता जाता है और दूसरी उपमथानी से उसका मन्थन करता है ॥ ३ ॥

इसके बाद इस मन्थ को "भ्रमदसि" इत्यादि मन्त्र के द्वारा स्पर्श करता है (अपने अधिष्ठातृ देव प्राण रूप से एक होने के कारण वह मन्थ द्रव्य सर्वात्मक है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—) तुम प्राणरूप से सभी देहों में घूमते हो। अग्नि रूप से सभी जगह प्रज्वलित होते हो। ब्रह्मरूप से परिपूर्ण हो, आकाश रूप से निष्कम्प हो। किसी के भी विरोधी न होने के कारण तुम यह विश्वरूप एक सभा के

ज्ज्येष्ठश्रेष्ठादिप्राणविद एवास्मिन्कर्मण्यधिकारः। रेतस इत्यारभ्यैकैकामाहुतिं हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयत्य[3]परयोपमन्थन्या पुनर्मंथनाति ॥ २ ॥ ३ ॥

अथैनमभिमृशति भ्रमदसीत्यनेन मन्त्रेण ॥४॥

द्वित्वप्रसङ्गं प्रत्याचष्टे—रेतस इत्यारभ्येति। संस्रवः स्रुवावलिप्तमाज्यम् ॥ २ ॥ ३ ॥
मन्थद्रव्यस्य प्राणदेवताकत्वात्प्राणेनैकीकृत्य सर्वात्मकत्वं तथाच सर्वदेहेषु प्राणरूपेण त्वं

प्राणोपासक का ही अधिकार है। "रेतसे स्वाहा" इस मन्त्र से प्रारम्भ कर एक-एक आहुति से हवन कर स्रुवा में लगे घी को मन्थ में डालता है, फिर दूसरी उपमथानी से उसका मथन करे ॥ २-३ ॥

फिर मन्थ द्रव्य को आलोडन करने के बाद मन्थ को "भ्रमदसि" इत्यादि मन्त्र द्वारा हाथ से स्पर्श करे ॥ ४ ॥

---

[1] अथ मन्थद्रव्यालोडनानन्तरमेनं मन्थं हस्तेनाभिमृशति मन्त्रं पठन् तदर्थं च स्मरन् पाणिनाऽभिमर्शं कुर्यादित्यर्थः। [2] एकशफमसीति पाठान्तरम्। [3] चतुर्दशाहुतीर्हुत्वा द्वितीययोपमन्थन्या तन्मन्थद्रव्यं पुनर्मंथनीयं तस्या अन्यत्र विनियोगादर्शनादित्याशयेनाह—अपरयेति।

मस्युद्गीयमानमसि श्रावितमसि प्रत्याश्रावितमस्यार्द्रे संदीप्तमसि विभुरसि प्रभुरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति ॥४॥

[1]अथैनमुद्यच्छत्यामꣳस्यामꣳहि ते महि स हि राजेशानो-

तुल्य हो। यज्ञ के प्रारम्भ में प्रस्तोता द्वारा यज्ञ में किये जाने वाले "हिङ्क्रियमाण" भी तुम ही हो। यज्ञ के आरम्भ में उद्गाता द्वारा उच्चस्वर से गान किया गया "उद्गीथ" तुम ही हो एवं यज्ञ के मध्य में उद्गाता द्वारा "उद्गीयमान" भी तुम ही हो। अध्वर्यु द्वारा श्रावित तथा आग्नीध्र द्वारा प्रत्याश्रावित तुम ही हो। मेघ में अच्छी प्रकार से प्रकाशमान तुम ही हो। विविध रूप धारण करने वाले विभु तुम ही हो और सब कुछ करने में समर्थ प्रभु तुम ही हो। तुम अग्नि रूप से ज्योति हो, कारण रूप से सबका प्रलय स्थान हो और सबका संहारक होने से संवर्ग तुम ही हो ॥ ४ ॥

"आमंसि आमंहि" इत्यादि मन्त्र से पात्र सहित मन्थ को ऊपर उठाता है। हे मन्थ! तुम सब जानते हो, मैं भी तेरी महिमा को अच्छी प्रकार जानता हूँ। वह प्राण राजा ईशान और अधिपति है।

अथैनमुद्यच्छति सह पात्रेण हस्ते गृह्णात्यामंस्यामंहि ते महीत्यनेन[2] ॥५॥

भ्रमदसि प्राणस्य चलनात्मकत्वात्तद्रूपत्वाच्च। तत्राग्निरूपेण च त्वं ज्वलदसि प्रकाशात्मकत्वादग्नेस्तद्रूपत्वाच्च। तव ब्रह्मरूपेण त्वं पूर्णमसि। नभोरूपेण प्रस्तब्धं निष्कम्पमसि सर्वैरविरोधित्वात्सर्वमपि जगदे[3]कसभं दात्मन्यन्तर्भाव्यापरिच्छिन्नतया स्थितं वस्तु त्वमसि। प्रस्तोत्रा यज्ञारम्भे त्वमेव हिंकृतमसि। तेनैव यज्ञमध्ये हिंक्रियमाणं चासि। उद्गात्रा च यज्ञारम्भे तन्मध्ये चोद्गीथमुद्गीयमानं चासि। अध्वर्युणा त्वं श्रावितमसि। आग्नीध्रेण च प्रत्याश्रावितमसि। आर्द्रे मेघोदरे सम्यग्दीप्तमसि[4]। विविधं भवतीति विभुः। प्रभुः समर्थो, भोग्यरूपेण सोमात्मना स्थितत्वादन्नं भोक्तृरूपेणाग्न्यात्मना ज्योतिः कारणत्वान्निधनं [5]लयोऽध्यात्माधिदैवयो[6]र्वागादीनामग्न्यादीनां च संहरणात्त्वं संवर्गोऽसीत्यभिमर्शनमन्त्रस्यार्थः ॥ ४ ॥

❀आमंसि त्वं सर्वं विजानासि। वयं च ते तव महि महत्तरं रूपमामंहि मन्यामहे। [7]स हि

अभिमर्शन के अनन्तर मन्त्रपूत मन्थ को "आमꣳस्यामꣳहि ते महि" इत्यादि मन्त्र से ऊपर

---

[1] अथ—अभिमर्शनानन्तरमेनं मन्थं मन्त्रपूतं स चमसमुद्यच्छति हस्ते गृह्णाति। गृह्णीयात्—आमꣳसीत्यादिना मन्त्रेण। [2] मन्त्रेणेति शेषः। [3] एकसभेति—एका चासौ सभा एकसभम्। [4] विद्युद्रूपेण। [5] लयाश्रयः। [6] अध्यात्मं प्राणरूपेण वागादीनां अधिदैवं च वायुरूपेणाग्न्यादीनां आत्मनि संहरणादित्यर्थः। [7] स हि प्राण इति—स हि प्राणात्मा मन्थो भवान्।

❀ आमंसि त्वं सर्वं विजानासीत्यादि। अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"आमंसीति भवेद्रूपं ज्ञानार्थस्यैव मन्यतेः। लेटयाङ्पूर्वस्य संसिद्धं शल्लुकीत्यवधारणात् ॥ आसमन्ताद्विजानासि सूक्ष्मादि जगति स्थितम्। ज्ञेयं यावज्जगत्किंचिदामंसीति ततः सदा ॥ यथाऽस्मांस्त्वं विजानासि तथैव त्वां वयं सदा। मन्यामहे वरीयांसं गुणावद्भ्यो गुणाधिकम् ॥ महि महत्त्वं जानीम आमोऽसि त्वं तथा प्रभो। न त्वं पाकसमायोगात्फलवन्नाशमृच्छसि ॥ आमोऽपक्वं त्वयि गतं महत्त्वमपि भण्यते। यस्माद्राजाऽस्य सर्वस्य मां च देवः स सर्वदा" ॥ ३७-४१ ॥ इति।

ऽधिपतिः स माꣳ राजेशानोऽधिपतिं करोत्विति ।।५।।
अथैनमाचामति तत्सवितुर्वरेण्यम् । मधु वाता ऋता-
यते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ।
[1]भूः स्वाहा । भर्गो देवस्य धीमहि । मधु नक्तमुतोषसो
मधुमत्पार्थिवꣳ रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता । [2]भुवः

वह मुझे राजा ईशान और अधिपति बनावे, अर्थात् अपने समान गुणों से युक्त मुझ यजमान को भी बनावे ।। ५ ।।

इसके बाद "तत्सवितुर्वरेण्यम्" इत्यादि मन्त्र से इस मन्थ का भक्षण करता है। सूर्य के उस वरण करने योग्य श्रेष्ठ पद का मैं ध्यान करता हूँ। हवा शीतल-मन्द-सुगन्ध गति से बह रही है। नदियाँ शहद के समान मधुर रस से युक्त हो बह रही हैं। सभी औषधियाँ हमारे लिए मधुर रसप्रद हों। भूः स्वाहा (उक्त अर्थवाले मन्त्रों का उच्चारण कर मन्थ का प्रथम ग्रास भक्षण करे) हम सविता

---

[3]अथैनमाचामति भक्षयति गायत्र्याः प्रथमपादेन मधुमत्यै[4]कया व्याहृत्या च

प्राणो [5]राजादिगुणः स च मां तथाभूतं करोत्वित्युद्यमनमन्त्रस्यार्थः ।।५।।

[6]तत्सवितुर्वरेण्यं वरणीयं श्रेष्ठं पदं धीमहीति संबन्धः । वाता वायुमेदा मधु सुखमृतायते [7]वहन्ति ।

उठाये हुए हाथ से ग्रहण करे ।। ५ ।।

इस प्रकार उद्यमन के अनन्तर हाथ में रखे इस मन्थ को "आचामति" अर्थात् भक्षण करे ।

---

१. भूः स्वाहेति—भूर्लोकः स्वाहेति मन्त्रेण प्रथमं ग्रासं भक्षयित्वेति ज्ञेयम् । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । २. भुवर्लोकः स्वाहेति द्वितीयं ग्रासं भक्षयित्वा । ३. अथ—उद्यमनानन्तरमेनं हस्तधृतं मन्थं भागशो भक्षये-दित्यर्थः । ४. प्रथमया । ५. राजादिगुण इति—आदिना ईशानाधिपत्योर्ग्रहः । ६. सवितुः सर्वप्रसव-हेतोः सर्वसाधकस्येति यावत् । तद्भजनीयं पदं स्वरूपं वयं ध्यायेमेत्यर्थः । ७. प्रत्यस्मान् ।

पदार्थं वक्तुमादौ पदनिष्पत्तिप्रकारमाह—आमंसीतीति । मन ज्ञान इत्यस्य धातोराङ्पूर्वस्य लेटि शपो लुकि सत्येतद्रूप सिद्धं स्यादिति योजना । तत्र वैयाकरणप्रक्रियां प्रमाणयति—इत्यवधारणादिति ।। इदानीं पदार्थमाह—आसमन्तादिति । यावत्किंचित्सूक्ष्मादि ज्ञेयमस्मिञ्जगति स्थितं तत्सर्वं सर्वतो यतः सदा जानास्यतो जगदामंसीति व्यवह्रियस इत्यर्थः ।। मन्थस्य प्राणात्मतया सर्वज्ञत्वमुक्त्वाऽऽमंहि त इत्यस्यार्थमाह—यथेति । वरीयांसमित्यस्य व्याख्या । गुणवद्भ्य इति ।। महीत्यस्यार्थमाह—महीति । आमंहीत्यखण्डं पदमादायार्थमुक्त्वा पदद्वयं गृहीत्वाऽऽममित्यस्यार्थमाह—आमोऽसीति । तथा महत्त्वज्ञानानुरूप्येणेति यावत् । आमत्वमुपपादयति—न त्वमिति ।। हिशब्दार्थमाह—आम इति । त्वयि व्यवस्थित महत्त्वमपि त्वामिवाऽऽममविनाशि विद्वान्निश्चिनोतीत्यर्थः । महत्त्वस्याविनाशित्वमुपजीव्य स हीत्यादेरर्थमाह—यस्मादिति ।।

स्वाहा । धियो यो नः प्रचोदयात् । मधुमान्नो वनस्पति-र्मधुमाꣳ अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः । [1]स्वः स्वाहेति[2] । सर्वां च सावित्रीमन्वाह सर्वाश्च मधुमती-रहमेवेदꣳ सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहे[3]त्यन्तत

देव के तेज का ध्यान करते हैं। वे हमारे लिये दिन-रात सुखप्रद हों। पृथिवी के रजकण भी हमें उद्वेग-प्रद न हों। भुवः स्वाहा (उक्त अर्थ वाले मन्त्र से मन्थ का द्वितीय ग्रास भक्षण करे)। जो सविता देव हमारी बुद्धियों का प्रेरक है, वह हमारे लिये मधुर रसमय सोम होवे। सूर्य हमारे लिए मधु वाला होवे। किरणें, दिशाएँ, गौएँ हमारे लिए सुखप्रद हों। स्वः स्वाहा (उक्त अर्थ वाले मन्त्रों से तृतीय ग्रास खावे)। इसके बाद सम्पूर्ण गायत्री मन्त्र और उक्त समस्त ऋचा तथा "अहमेवेदं सर्वं भूयासम्"

प्रथमया प्रथमग्रासमाचामति । तथा गायत्रीद्वितीयपादेन मधुमत्या द्वितीयया द्वितीयया च व्याहृत्या द्वितीयं ग्रासम् । तथा तृतीयेन गायत्रीपादेन तृतीयया मधुमत्या तृतीयया च व्याहृत्या तृतीयं ग्रासम् । सर्वां सावित्रीं सर्वाश्च मधुमतीरुक्त्वाऽहमेवेदं सर्वं भूयासमिति चान्ते भूर्भुवः स्वः स्वाहेति समस्तं भक्षयति । यथा चतुर्भिर्ग्रासैस्तद्द्रव्यं सर्वं परिसमा-

---

सिन्धवो नद्यो मधु क्षरन्ति मधुररसा[4]न्स्रवन्ति । ओषधीश्चास्मान्प्रति माध्वीर्मधुररसाः सन्तु । देवस्य सवितुर्भर्गस्तेजोऽन्नं वा [5]प्रस्तुतं पदं चिन्तयामः । नक्तं रात्रिरु[6]तोषसो दिवसाश्च मधु प्रीतिकराः[7] सन्तुः । [8]पार्थिवं रजो मधुमदनुद्वेगकरमस्तु । द्यौश्च पिता नोऽस्माकं मधु सुखकरोऽस्तु । यः सविता नोऽस्माकं धियो बुद्धीः प्रचोदयात्[9]प्रेरयेत्तस्य तद्वरेण्यमिति संबन्धः । वनस्पतिः [10]सोमोऽस्माकं [11]मधुमानस्तु । गावो रश्मयो [12]दिशो वा माध्वीः सुखकराः सन्तु । अन्तशब्दादितिशब्दाच्चोपरिष्टादुक्त्वेत्यनुषङ्गः । एवं ग्रासचतुष्टये निर्वृत्ते सत्यवशिष्टे द्रव्ये किं कर्तव्यं तत्राऽऽह—यथेति ।

गायत्री के प्रथम पाद प्रथम मधुमती ऋचा द्वारा और प्रथम व्याहृति से प्रथम ग्रास भक्षण करे। तथा गायत्री के द्वितीय पाद द्वितीय मधुमती ऋचा और द्वितीय व्याहृति से दूसरा ग्रास भक्षण करे और गायत्री के तृतीय पाद, तृतीय मधुमती और तृतीय व्याहृति से अन्त में तीसरा ग्रास भक्षण करे। फिर समस्त गायत्री, सभी मधुमती ऋचा और "मैं ही यह सब कुछ हो जाऊँ" इस प्रकार कह कर और फिर अन्त में "ॐ भूर्भुवः स्वः स्वाहा" इस प्रकार मन्त्र उच्चारण करते हुए समस्त मन्थ द्रव्य को

---

१. लोकः। २. तृतीयं ग्रासं भक्षयित्वा। ३. अन्तत इति—यथोक्तमन्थद्रव्यभक्षणान्ते इत्यर्थः। ४. स्रवन्तीति—तृप्तामोदामहे येनेति तत् स्रवणफलं द्रष्टव्यम्। ५. मन्थद्रव्यात्मकं स्वरूपम्। ६. अपि। ७. अस्माकम्। ८. पार्थिव रज इति—"लोका रजांसीत्युच्यन्त" इति श्रुतेः। मातृरूपः पृथिवीलोक आह्लादकृन्नोऽस्तु सर्वदेत्यर्थः। ९. प्रेरयेच्छुभे कर्मणीति शेषः। १०. सोमपदेनात्र चन्द्रो विवक्षितो "वनस्पतीनां चन्द्रो देवता सोम ओषधीनामिति" श्रुतेः। ११. अनुद्वेगकृत्। १२. रश्मीनां सूर्यादेव सिद्धेराह—दिशो वेति।

आचम्य पाणी प्रक्षाल्य [1]जघनेनाग्निं प्राक्शिराः संविशति प्रातरादित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासमिति यथेतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो [2]वꣳशं जपति ॥ ६ ॥

ह सब मैं ही हो जाऊँ) "भूर्भुवः स्वः स्वाहा" इत्यादि मन्त्र का उच्चारण कर अन्त में अवशेष पूर्ण मन्थ को खाकर दोनों हाथ धोकर अग्नि के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख होकर बैठे। फिर तःकाल "दिशामेकपुण्डरीकमस्यहम्" (तू दिशाओं में एक पुण्डरीक है, मैं मनुष्यों में एक अखण्ड ष्ठ होऊँ) इत्यादि मन्त्र द्वारा आदित्य को नमस्कार करे, तत्पश्चात् जिस मार्ग से गया था, उसी र्ग से लौटकर अग्नि के पश्चिम भाग में बैठे और आगे कहे जाने वाले वंश का जप करे ॥ ६ ॥

ते तथा पूर्वमेव 'निरूपयेत्'। यत्पात्रावलिप्तं तत्पात्रं सर्वं निर्णिज्य तूष्णीं पिबेत्। ाणी प्रक्षाल्याप आचम्य जघनेनाग्निं पश्चादग्नेः प्राक्शिराः [5]संविशति। [6]प्रातःसन्ध्यामुपा- याऽऽदित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमित्यनेन मन्त्रेण। यथेतं यथागतमेत्याऽऽगत्य घनेनाग्निमासीनो वंशं जपति ॥ ६ ॥

ात्रावलिप्तस्य परित्यागं वारयति—यदिति। निर्णिज्य प्रक्षाल्येति यावत्। [7]पाणिप्रक्षालनवचन- ामर्थ्यात्प्राप्तं शुद्धयर्थं स्मार्तमाचमनमनुजानाति—अप आचम्येति। एकपुण्डरीकशब्दोऽ[8]खण्ड- ेष्ठवाची ॥६॥

क्षण करे। जिसप्रकार यह मन्थ द्रव्य चार ग्रासों में पूर्ण हो जाय, इसको पहले से ही विभाजन र ले। जो पात्र में लगा रह जाय, उस पात्र को धोकर उस सबको मौन होकर पी ले। फिर दोनों ाथों को धोकर जल से आचमन कर "जघनेनाग्निम्" अर्थात् अग्नि के पश्चिम देश में पूर्व की ओर शिर करके शयन करे। (शयन से उठकर शौचादि से निवृत्त होकर) प्रातःकालिक सन्ध्योपासना कर "दिशामेकपुण्डरीकमसि—" इत्यादि मन्त्र से आदित्य का उपस्थान करे। फिर "यथेतम्" यानी जिस मार्ग से गया था, उसी से "एत्य" अर्थात् लौटकर अग्नि के पश्चिम भाग में बैठकर आचार्य- रम्परा का जप करे ॥ ६ ॥

---

१. जघने नाग्निमिति—अग्नेः पश्चिमदेशे इत्यर्थः। २. वंशमिति—एतद्विद्योपदेशकाचार्यपरम्परां मनसि गृणाति। जपेदिति यावत्। ३. विभजेत्। ४. प्रकृताचमनस्य स्मार्तत्वात् स्मार्तचमनस्य च पाणिप्रक्षा- लनोत्तरत्वेन विहितत्वान्मूलक्रमं भङ्क्त्वाऽऽह—पाणी प्रक्षाल्याप आचम्येति। ५. संविशति—शेते शयीतेति यावत्। ६. प्रातरिति—शयनादुत्थाय बहिर्गत्वा (शौचादि विधाय) सन्ध्यामुपास्य भक्तिश्रद्धाभ्यामुदयसमये सवितुरुपासनं कुर्यादित्यर्थः। ७. पाणिप्रक्षालनेति—स्मृतौ हि भोजनोत्तरहस्तप्रक्षालनानन्तरमाचमनं शुद्धयर्थं विधीयते। प्रकृते च भोजनोत्तरकालीनपाणिप्रक्षालनश्रवणात्तदविनाभूतत्वेनोपस्थित शुद्धयर्थं स्मार्तमाचमनं पाणिप्रक्षालनोत्तरकालानुष्ठेयत्वेनाचष्ट इति यावत्। ८. अखण्डेति—अद्वितीयश्रेष्ठवाचीत्यर्थः। नास्य समोऽन्यः श्रेष्ठ इत्यर्थक इति यावत्। वस्तुतस्त्वखण्ड इति भिन्नं पदं तथा च रूढ एवायं शब्द इत्यर्थः।

[1]तꣳहैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥७॥ [2]एतमु हैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥८॥ एतमु हैव मधुकः पैङ्ग्यश्चूलाय भागवित्तयेऽन्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥९॥

उस इस मन्थ का उद्दालक आरुणि ने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्य के प्रति उपदेश करके कहा था, यदि कोई इस मन्थद्रव्य को सूखे ठूँठ पर डाल देगा, तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायेंगी और पत्ते निकल आयेंगे ॥ ७ ॥

उस मन्थ का वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य मधुक पैङ्ग्य को उपदेश करके कहा था, यदि कोई इस मन्थ को सूखे ठूँठ पर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उग आयेंगी और पत्ते निकल आयेंगे ॥ ८ ॥

उस इस मन्थ का मधुक पैङ्ग्य ने अपने शिष्य चूल भागवित्ति को उपदेश करके कहा था; यदि कोई इस मन्थ को सूखे ठूँठ पर डालेगा तो उसमें शाखाएँ फूट आयेंगी और पत्ते निकल आयेंगे ॥ ९ ॥

---

[1]तं हैतमुद्दालक इत्यादि सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरन्नेवास्मिञ्शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीत्येवमन्तमेनं मन्थमुद्दालकात्प्रभृत्येकैकाचार्यक्रमागतं सत्यकाम आचार्यो बहुभ्योऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाच । किम[4]न्यदुवाचेत्युच्यते—अपि [5]य एनं शुष्के [6]स्थाणौ गतप्राणेऽप्येनं मन्थं भक्षणाय

"उस (इस मन्थ को) उद्दालक ने" (याज्ञवल्क्य को उपदेश कर कहा था) इत्यादि श्रुतिवाक्य से आरम्भ होकर "उसे ही सत्यकाम जाबाल ने अपने शिष्यों को उपदेश कर कहा था" इस श्रुतिवाक्य पर्यन्त उद्दालक से लेकर (जप्य) वंशपरम्परागत एक-एक आचार्य के क्रम से सत्यकाम जाबाल ने इस मन्थ का अपने बहुत से शिष्यों को उपदेश करके कहा—"जो भी कोई इस मन्थ को सूखे ठूँठ पर

---

१. जप्यं वंशमाह—तमित्यादिना तमेतं यथोक्तं मन्थमित्यर्थः । २. उक्तकर्तव्यताकं मन्थम् । ३. तमित्यारभ्यान्तमित्यन्तं प्रतीकोद्धरणं विज्ञेयम् । ४. अन्यदिति—मन्थापेक्षायाऽन्यदित्यर्थः । ५. प्राणोपासकः । ६. स्थाणौ—छिन्नविटपस्य प्रकाण्डे ।

एतमु हैव चूलो भागवित्तिर्जानकय आयस्थूणायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥१०॥

एतमु हैव जानकिरायस्थूणः सत्यकामाय जाबालायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥११॥

एतमु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति तमेतं नापुत्राय वाऽनन्तेवासिने वा ब्रूयात् ॥१२॥

उस इस मन्थ का चूल भागवित्ति ने अपने शिष्य जानकि आयस्थूण को उपदेश करके कहा था कि यदि कोई इस मन्थद्रव्य को सूखे ठूँठ पर डाल देगा तो उसमें भी शाखाएँ फूट निकलेंगी और पत्ते निकल आयेंगे ॥ १० ॥

उस इस मन्थ का जानकि आयस्थूण ने अपने शिष्य सत्यकाम जाबाल के लिए उपदेश करके कहा था यदि कोई इस मन्थ को सूखे ठूँठ पर डाल देगा, तो उसमें शाखाएँ उग आयेंगी और पत्ते निकल आयेंगे ॥ ११ ॥

उस इस मन्थ का सत्यकाम जाबाल ने अपने शिष्यों को उपदेश करके कहा था, यदि कोई इस मन्थ को सूखे ठूँठ पर डाल दे, तो उसमें भी शाखाएँ फूट आयेंगी और पत्ते निकल आयेंगे । उस इस मन्थ का उपदेश उसे न करे जो पुत्र या शिष्य न हो (शिष्य, वेद पढ़ने वाला श्रोत्रिय, मेधावी, धनदाता, प्रियपुत्र और एक विद्या सीखकर दूसरी विद्या सिखाने वाला ये छः विद्या के अधिकारी होते हैं। उनमें से इस प्राण दर्शन युक्त मन्थ विज्ञान को पुत्र और शिष्य दो ही को देने के लिये कहा गया है) ॥ १२ ॥

संस्कृतं निषिञ्चेत्प्रक्षिपेज्जायेरन्नुत्पद्येरन्नेवास्मिन्स्थाणौ शाखा अवयवा वृक्षस्य प्ररोहेयुश्च पलाशानि पर्णानि यथा जीवतः स्थाणोः किमुतानेन कर्मणा कामः सिध्येदिति ।

डाल देगा तो उसमें शाखाएँ निकल आएँगी और पत्ते उग आएँगे । मन्थ से भिन्न क्या कहा—इसे बतलाया जाता है । जो भी प्राणोपासक भक्षण के लिए संस्कृत किए हुए इस मन्थ को शुष्क "स्थाणौ" अर्थात् कटे बृक्ष के तने पर भी "निषिञ्चेत्" अर्थात् डाल दे तो इस स्थाणु में यानी "शाखाः" वृक्ष के अवयव "जायेरन्" अर्थात् उत्पन्न हो जायेंगे और "पलाशानि" यानी पत्ते उग आएँगे। जैसे हरे-भरे पत्ते जीवित स्थाणु में रहते हैं, फिर इस मन्थकर्म से यदि इष्टकामना की पूर्ति हो जाय

[1]चतुरौ[2]दुम्बरो भवत्यौ[3]दुम्बरः स्रुव औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्या उपमन्थन्यौ [4]दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियंगवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान्पि-

यह मन्थकर्म चार औदुम्बर काष्ठ के पदार्थ से युक्त होता है। इसमें गूलर की लकड़ी का स्रुवा, गूलर की लकड़ी का चमस, गूलर की लकड़ी का इध्म और उसी काष्ठ की दो उपमन्थनी होती हैं (इसीलिये इस मन्थ कर्म को चतुरौदुम्बर कहते हैं)। इसमें धान्य, जौ, तिल, उड़द, साँवा, काँगनी, गेहूँ, मसूर, बाल और कुलथी ऐसे दस ग्रामीण अन्न होते हैं (इसके अतिरिक्त यज्ञसंबन्धी अन्य

ध्रुवफलमिदं कर्मेति कर्मस्तुत्यर्थमेतत्। विद्याधिगमे [5]षट्तीर्थानि तेषामिह सप्राणदर्शनस्य मन्थविज्ञानस्याधिगमे द्वे एव तीर्थे अनुज्ञायेते पुत्रश्चान्तेवासी च ॥७॥८॥९॥ ॥१०॥११ ॥१२॥

चतुरौदुम्बरो भवतीति व्याख्यातम्[6]। दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति ग्राम्याणां तु धान्यानां दश नियमेन ग्राह्याणीत्यवोचाम। तान्येतानि निर्दिश्यन्ते—व्रीहियवास्तिल-

तमेतं नापुत्रायेत्यादेरर्थमाह— विद्येति। शिष्यः श्रोत्रियो मेधावी धनदायी प्रियः [7]पुत्रो विद्यया विद्यादातेति षट्तीर्थानि [8]संप्रदानानि ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

तो इसमें कौन सी बड़ी बात है। यह कर्म निश्चित फलदायक है, इससे यह कर्म की स्तुति के लिए है। विद्या प्रदान के छः अधिकारी हैं; उनमें से प्राणदर्शन युक्त मन्थविद्या का प्रदान पुत्र और शिष्य इन दो ही अधिकारियों को करना चाहिये। ७ ॥ ८॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

जिस मन्थ के चार औदुम्बर हैं, इसे ("औदुम्बरः स्रुवः" इत्यादि वाक्यों से श्रुति ने स्वयं) प्रतिपादन कर दिया है। (व्रीहि-यवादि) दश ग्राम्य धान्य होते हैं और दश ग्राम्य धान्यों को अवश्य ग्रहण करना चाहिये, ऐसा हम पहले कह चुके हैं। उन इन धान्यों को निरूपित किया जाता है—

---

१. चत्वार औदुम्बरा यस्य मन्थस्येति विग्रहः। २. सर्वौषधत्वेन सामान्यत उक्तं सम्प्रति विशेषतः सोपस्कारं प्रकटयति—चतुरौदुम्बर इत्यादिना। उदुम्बरस्य विकार औदुम्बरः स चतुःसंख्याको भवतीत्यर्थः। ३. के ते चत्वार औदुम्बरा इत्याकाङ्क्षायामाह—औदुम्बर स्रुव इत्यादि। ४. मन्थोपादानद्रव्याण्याह दश ग्राम्याणीत्यादिना। अणुः मोदीयमिति विन्ध्याचलप्रदेशे प्रसिद्धम्। प्रियंगवः कङ्गुशब्दवाच्याः। खल्वा निष्पावाः वल्लशब्दवाच्याः। खलकुलाः कुलत्थाः। ५. षट्तीर्थानि—षट्पात्राणि। अधिकारिण इति यावत्। यथाहुः—"ब्रह्मचारी धनदायी मेधावी श्रोत्रियः प्रियः। विद्यया विद्यां यः प्राह तानि तीर्थानि षण्मम" ॥ इति विद्याधिष्ठातृदेवतोक्तिरिति। अत्र ब्रह्मचारी शिष्यः। श्रोत्रियो यथोक्तकारी। प्रियः पुत्रः। ६. औदुम्बरः स्रुव इत्यादिना श्रुत्यैव स्वयमित्यर्थः। ७. स्मृतिघटकप्रियपदार्थमाह—पुत्र इति। ८. संप्रदानानीति—विद्याप्रदानपात्राणीत्यर्थः। तदुक्तं—"तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रपात्रोपाध्यायमन्त्रिषु। अवतारर्षिजुष्टाम्भः स्त्रीरजःसु च विश्रुतमिति" ॥

ष्टान्दधनि मधुनि घृत उपसिञ्चत्याज्यस्य जुहोति ॥१३॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

(अथ षष्ठाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम्।)

[1]एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः ॥ १ ॥

ओषधियाँ भी यथाशक्ति मिलाई जाती हैं) इन्हें पीस करके दही, मधु और घृत में मिलाकर घृत से होम करता है ॥ १३ ॥

॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

इन स्थावर जङ्गम संपूर्ण भूतों का सारतत्त्व पृथिवी है, पृथिवी का सार जल है, जल का सार औषधियाँ हैं, औषधियों का सार पुष्प है, पुष्प का सार फल है, फलों का सार पुरुष है तथा पुरुष का सार वीर्य है ॥ १ ॥

माषा अणप्रियंगवोऽणवश्चाणुशब्दवाच्याः। क्वचिद्देशे प्रियंगवः प्रसिद्धाः कङ्गुशब्देन। खल्वा निष्पावा वल्लशब्दवाच्या लोके खलकुलाः कुलत्थाः। एतद्व्यतिरेकेण यथाशक्ति सर्वौषधयो ग्राह्याः फलानि चेत्यवोचामा[2]याज्ञिकानि वर्जयित्वा ॥ १३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये षष्ठाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

[3]याद्दग्जन्मा यथोत्पादितो यैर्वा गुणैर्विशिष्टः पुत्र [4]आत्मनः पितुश्च [5]लोकयो

॥१३॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां षष्ठाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥३॥

प्राणोपासकस्य वित्तार्थिनो मन्थाख्यं कर्मो[6]क्त्वा ब्राह्मणान्तरमुत्थापयति—याद्दगिति।

व्रीहि, यव, तिल, माष, अणु, प्रियङ्गु; अणु (चावल भेद) अणुशब्दवाच्य है। प्रियङ्गु को कहीं-कहीं कङ्गु शब्द से भी कहा जाता है। खल्व अथवा निष्पाव लोक में "वल्ल" शब्द से भी कहे जाते हैं; खलकुल कुलत्थ का नाम है। इसके अतिरिक्त लशुनादि अमेध्य को त्यागकर यथाशक्ति सभी ओषधियों और फलों का ग्रहण करना चाहिए—ऐसा हम पहले ही कह चुके हैं ॥ १३ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में षष्ठाध्यायस्थ तृतीय ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ३ ॥

---

[1] तत्रादौ पुत्रोत्पत्तिहेतुरेतो बीजं प्रथमकण्डिकया स्तौति—एषामित्यादिना।

[2] अयाज्ञिकानि—अमेध्यानि लशुनप्रभृतीनि।

[3] शुभजन्मविशिष्ट इति यावत्।

[4] स्वस्य।

[5] लोकाय हितः।

[6] उक्त्वेत्यनन्तरं तस्यैव विशिष्टपुत्रार्थिनः पुत्रमन्थाख्यं कर्म वक्तुमिति शेषः।

भवतीति तत्संपादनाय ब्राह्मणमारभ्यते । [1]प्राणदर्शिनः श्रीमन्थं कर्म कृतवतः पुत्रमन्थेऽधिकारः । यदा पुत्रमन्थं चिकीर्षति तदा श्रीमन्थं कृत्वर्तुकालं पत्न्याः प्रतीक्षत इत्येतद्रेतस ओषध्यादिरसतमत्व[2]स्तुत्याऽवगम्यते । एषां वै चराचराणां भूतानां पृथिवी रसः सारभूतः । [3]सर्वभूतानां [4]मध्विति ह्युक्तम्[5] । पृथिव्या आपो रसः । अप्सु हि पृथिव्योता च प्रोता च । अपामोषधयो रसः । [6]कार्यत्वाद्रसत्वमोषध्यादीनाम् । ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि । फलानां पुरुषः । पुरुषस्य रेतः । "सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतम्" इति श्रुत्यन्तरात् ॥ १ ॥

उक्तगुणः [7]स कथं स्यादित्यपेक्षायामिति शेषः । तच्छब्दो यथोक्तपुत्रविषयः । यदस्मिन्ब्राह्मणे पुत्रमन्थाख्यं कर्म वक्ष्यते तद्भवति [8]सर्वाधिकारविषयमित्याशङ्क्याऽऽह—प्राणेति । पुत्रमन्थस्य कालनियमाभावमाशङ्क्याऽऽह—यदेति । किमत्र गमकमित्याशङ्क्य रेतःस्तुतिरित्याह—इत्येतदिति । पृथिव्याः सर्वभूतसारत्वे मधुब्राह्मणं प्रमाणयति—सर्वभूतानामिति । तत्र [9]गार्गिब्राह्मणं प्रमाणमित्याह—अप्सु हीति । अपां पृथिव्याश्च रसत्वं कारणत्वाद्युक्तमोषध्यादीनां कथमित्याशङ्क्याऽऽह—कार्यत्वादिति । [10]रेतोऽसृजतेति [11]प्रस्तुत्य रेतसस्तत्र तेजःशब्दप्रयोगात्तस्य पुरुषे सारत्वमैतरेयके विवक्षितमित्याह—सर्वेभ्य इति ॥१॥

जिस प्रकार शुभजन्मविशिष्ट जिस शुभविधि से उत्पादित एवं जिन शुभ गुणों से विशिष्ट पुत्र अपने तथा पितृलोक के हित के लिए रहता है, उसे प्रतिपादित करने के लिए इस ब्राह्मण का आरम्भ किया जाता है। प्राण के उपासक श्रीमन्थ कर्म सम्पादन किये पुरुष का ही पुत्रमन्थ कर्म में अधिकार है। जब उपासक पुत्रमन्थ करना चाहे तो वह श्रीमन्थकर्म का अनुष्ठान कर चुकने पर पत्नी के ऋतुकाल की प्रतीक्षा करे, इसे वीर्य को औषधि आदि का रसतम बतलाने वाली "एषां वै रेतः"—इस श्रुति से की गई स्तुति द्वारा जाना जाता है। इन चराचर भूतों का सारभूत रस पृथिवी है। "सब प्राणियों का कार्य है" ऐसे पहले श्रुति कह चुकी है। पृथिवी का रस जल है। जल में पृथिवी ओत-प्रोत है, जल का रस औषधियाँ है। जलादि का कार्य होने के कारण औषधियों को उसका रस बतलाया है। औषधियों का रस पुष्प है। पुष्पों का रस फल है और फलों का रस पुरुष है। पुरुष का रस वीर्य है। अन्य श्रुति में भी कहा गया है—"यह वीर्य पुरुष के संपूर्ण अङ्गों से उत्पन्न हुआ तेज है" ॥ १ ॥

---

१. प्राणोपासकस्य । २. स्तुत्या—एषामित्यादिना कृतया । ३. कार्यम् । ४. बृ. उ. २. ५. १ । ५. उक्तमिति—तदग्रतनवाक्योक्तं कारणत्वं वाऽत्रानुसंधेयम् । ६. अबादिकार्यत्वात् । ७. पुत्रः । ८. सर्वाधिकारविषयमिति—सर्वेषामधिकारस्य विषयम् । सर्वानुष्ठेयमिति यावत् । ९. बृ. उ. ३. ६. १ । १०. शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेत इत्येतदुपक्रमस्थं रेतःपदं सृष्टिप्रस्तावानुगुण्येनाह—रेतोऽसृजतेति । प्रस्तुत्येति—रेतस आप इत्येतन्मध्ये परामर्शगतं रेतस इति पदमादत्ते रेतस इति । यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजःसंभूतमिति द्वितीयाध्यायस्थं वाक्यमाचष्टे—तत्र तेजःशब्दप्रयोगादिति । यत्—शिश्नाद्रेत इति प्रस्तुतम् । एतत्—रेतस आप इति मध्ये परामृष्टमित्यर्थः । ११. प्रस्तुत्य—रेतस्तत्रेत्येव साधीयान्

[1]स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति स स्त्रियᳬ ससृजे ताᳬ सृ ऽध उपास्त तस्मात्स्त्रियमध उपासीत स एतं प्राञ्चं ग्रावाणमात्मान एव समुदपारयत्तेनैनामभ्यसृजत् ॥ २ ॥

उस प्रसिद्ध सृष्टिकर्ता प्रजापति ने विचार किया कि इस सारतत्त्व को स्थापना के लिए किसी योग्य आधार भूमि का निर्माण करना चाहिये। उन्होंने स्त्री की सृष्टि की, उसकी सृष्टि करके अधोभाग की उपासना की, अर्थात् मैथुन कर्म किया। अतः उत्तम सन्तान उत्पत्ति मात्र के लिये स्त्री के अधोभाग का सेवन सद्गृहस्थ करें। (इस मैथुन कर्म में वाजपेय यज्ञ की समानता दिखलायी गयी है) प्रजापति ने इस उत्कृष्ट गतिशील (सोमरस निकालने के लिये) पत्थर के सदृश अपने जननेन्द्रिय को मैथुन काल में कठोर बना दिया और स्त्री की योनि की ओर प्रेरित किया, अर्थात् उससे उस स्त्री का संसर्ग किया (स्मरण रहे यह संतान उत्पत्ति विज्ञान प्रजा उत्पादन योग्य गृहस्थ आश्रम में तरुणों के लिये ही बतलाया गया है; अन्य के लिये नहीं। इस विज्ञान में अश्लील शब्दों का आना अनिवार्य है। अतः पाठक विश्व कल्याण की भावना से इस प्रसङ्ग को पढ़ें) ॥ २ ॥

यत एवं सर्वभूतानां सारतममेतद्रेतोऽतः का नु खल्वस्य [2]योग्या प्रतिष्ठेति स ह स्रष्टा प्रजापतिरीक्षांचक्रे। ईक्षां कृत्वा स स्त्रियं ससृजे। तां च सृष्ट्वाऽध उपास्त मैथुनाख्यं कर्माधउपासनं नाम कृतवान्। तस्मात्स्त्रियमध [3]उपासीत। श्रेष्ठानुश्रयणा हि प्रजाः। अत्र [4]वाजपेयसामान्यक्लृप्तिमाह—[5]स एतं प्राञ्चं [6]प्रकृष्टगतियुक्तमात्मनो ग्रावाणं [7]सोमा-

---

श्रेष्ठमनुश्रयन्तेऽनुसरन्तीति श्रेष्ठानुश्रयणाः। पशुकर्मणि [8]स्वारस्येन प्राणिमात्रस्य प्रवृत्तेर्वृथा विधिरित्याशङ्क्या[9]ऽऽह—अत्रेति। अवाच्यं कर्म सप्तम्यर्थः ॥२॥

यदि इस प्रकार यह वीर्य संपूर्ण भूतों का सारतम तत्त्व है, इसलिए (जिसमें प्रतिष्ठित होकर पुंस्त्व प्राप्त करे, वैसी) इसकी योग्य प्रतिष्ठा क्या है? इसे श्रुति कहती है—"स ह" अर्थात् उस स्रष्टा प्रजापति ने विचार किया। विचार करके उसने स्त्री की सृष्टि की। उसकी सृष्टि करके "अध उपास्त" अर्थात् मैथुनाख्य कर्म ही अधोभाग उपासना का नाम है, उस कर्म को निष्पन्न किया। इसलिए (अब भी) स्त्री के अधोभाग की उपासना करे। प्रजा श्रेष्ठ लोगों का ही अनुसरण किया करती है। इस व्यवायकर्म में वाजपेय यज्ञ के सादृश्य की कल्पना करते हैं। "सः" यानी उस प्रजापति

---

१. स ह प्रजापतिर्विराडात्मा। अस्मै सर्वसारभूताय रेतसे। प्रतिष्ठामधिकरणम्। स्त्रियमिति—ततः पतिश्च पत्नी चाभवतामित्यत्र पत्नीशब्देनोक्तां शतरूपामित्यर्थः। २. योग्येति—यस्यां प्रतिष्ठितं रेतः पुंस्त्वमापद्यते तादृशीत्यर्थः। ३. उपासीतेति—अद्यतनोऽपि जन इति शेषः। ४. वाजपेयेति—अवाच्यकर्मणि वाजपेयसंपत्तिश्च "स यावान् हेत्यादिवक्ष्यमाणपुरुषार्थसंपत्तय" इति ध्येयम्। ५. स प्रजापतिः। ६. प्रकृष्टगतियुक्तमिति—ऋजुतया दीर्घीकरणमत्र विवक्षितम्। ७. सोमकण्डनसाधनोपलस्थानीयम्। ८. स्वभावतः। ९. आहेति—पशुकर्मणि वाजपेयदृष्टिकरणार्थं तत्साधर्म्यकल्पनामाहेत्यर्थः।

[1]तस्या • वेदिरुपस्थो लोमानि बर्हि[2]श्चर्माधिषवणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ [3]स यावान्ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति

उस स्त्री की उपस्थ इन्द्रिय वेदी है, वहाँ के रोएँ कुशा हैं, योनि का मध्य भाग लाल वर्ण के कारण प्रज्वलित अग्नि है, योनि के पार्श्व भाग में दो कठोर माँस खण्ड मुष्क हैं, वे दोनों मुष्क ही चर्माधिषवण नाम से प्रसिद्ध चमड़े के बने सोमफलक हैं। वाजपेय यज्ञ अनुष्ठान से यजमान को जितना पुण्यलोक प्राप्त होता है, उतना ही इस मैथुन विज्ञान के जानने वाले उपासक को इस कर्म से

भिषवोपलस्थानीयं काठिन्यसामान्यात्प्रजननेन्द्रियमुदपारयदुत्पूरितवा[4]न्स्त्रीव्यञ्जनं प्रति [5]तेनैनां स्त्रियमभ्यसृजदभिसंसर्गं कृतवान् ॥ २ ॥

❀ तस्या वेदिरित्यादि सर्वं [6]सामान्यं प्रसिद्धम् । [7]समिद्धोऽग्निर्मध्यतः स्त्रीव्यञ्जनस्य तौ मुष्कावधिषवणफलके इति व्यवहितेन संबध्यते । वाजपेययाजिनो यावाँल्लोकः प्रसिद्ध-

मुष्कौ वृषणौ योनिपार्श्वयोः कठिनौ मांसखण्डौ तत्राधिषवणशब्दितसोमफलकदृष्टिः । यच्चाऽऽनडुहं चर्म सोमकण्डनार्थं तद्दृष्टी रहस्यदेशस्य चर्मणि कर्तव्येत्याह—ताविति । उपास्तिप्रकार-

ने "एतं प्राञ्चम्" ऋजुरूप से दीर्घ किये हुए "ग्रावाणम्" अर्थात् सोम निकालने के साधक प्रस्तरखण्ड को, काठिन्य गुण की समानता वाले शिश्न को "उदपारयत्" अर्थात् स्त्री योनि के अभिमुख किया। उस पाषाण के समान कठिन शिश्न से इस स्त्री का "अभ्यसृजद्" अर्थात् चारों या सब ओर से बार-बार व्यवाय किया ॥ २ ॥

"स्त्री की योनि ही वेदी है—" इत्यादि मन्त्र में सब (दूर्वाधिकरणत्वादि रूप) साधर्म्य प्रसिद्ध है। स्त्री योनि के मध्य देश में प्रदीप्त अग्नि की भावना करे, योनि के वे दोनों मुष्क अधिषवण (सोम अभिषव के लिये आनडुह चर्म) हैं। इस प्रकार "चर्माधिषवणे" का "मुष्कौ" इस दूरस्थ पद से

---

१. तस्या इति—यस्यामुक्तो ग्रावोदपूरितस्या उपस्थे वेदिदृष्टिः कार्या । वेदिर्हि दूर्वादर्भैरास्तीर्णा योनिश्च लोमभिरिति साधर्म्यं दृश्यम् । २. चर्मेति—योनिस्थे चर्मणि आनडुहचर्मदृष्टि कार्या सोमाभिषवार्थं हि क्रतावानडुहं चर्म प्रसिद्धम् । ३. पशुकर्मणि वाजपेयदृष्टिफलमाह—स यावानित्यादिना । ४. स्त्रीति—स्त्रीयोनिमभिमुखी कृतवानिति यावत् । ५. तेनैनामिति—पाषाणवत् कठिनेन शिश्नेम । अभ्यसृजद्—अभितः समं ततो मुहुर्मुहुः संसर्गं चोदनां कृतवानित्यर्थः । ६. दूर्वाधिकरणत्वादिरूपं साधर्म्यम् । ७. समिद्ध इति—योनिमध्यप्रदेशे दीप्ताग्निदृष्टिर्विधेयेत्यर्थः ।

❀ तस्या वेदिरित्यादि सर्वं सामान्यं प्रसिद्धमिति । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"अन्नानि संभ्रियन्ते हि दश सप्त च भागशः । वाजपेये क्रतावन्नकामस्य स विधीयते ॥ रेतसोऽन्नरसस्यैव यत्रान्नाहुतिरीक्ष्यते । वाजपेयाभिसंपत्स्यान्मैथुनाख्यक्रतोरतः । सामान्यादिति विज्ञेयं वाजपेयफलार्थिनाम्" ॥ १३-१४ ॥ पशुकर्माङ्गेषु वाजपेयाङ्गाध्यासेऽपि कथं तत्र तदध्यासः साम्याभावादित्याशङ्क्य साम्यार्थं वाजपेयस्यान्नत्वं साधयति—अन्नानीति । सप्तदश प्राजापत्यान्पशूनालभत इति श्रुतेरसांकर्येण तत्तद्देवतोद्देशेन वाजपेयेऽन्नानि संपाद्यन्ते स च सर्वान्नकामस्य

य एवं विद्वानधोपहासं चरत्यासाꣳ स्त्रीणाꣳ सुकृतं वृङ्क्तेऽथ य इदमविद्वानधोपहासं चरत्याऽस्य स्त्रियः सुकृतं वृञ्जते ॥ ३ ॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिरा[1]हैतद्ध स्म वै

भी प्राप्त होता है। जो इस प्रकार जानने वाला पुरुष मैथुन का आचरण करता है। वह विद्वान् इन स्त्रियों के पुण्य को अवरुद्ध कर लेता है, इसके विपरीत जो इसे जानना नहीं और यदि वह मैथुन का सेवन करता है, तो उस अज्ञानी के पुण्य को स्त्रियाँ अवरुद्ध कर लेती हैं ॥ ३ ॥

निश्चय ही मैथुन कर्म को वाजसनेय संपन्न ज्ञाता, अरुणनन्दन उद्दालक पूर्वोक्त रीति से

स्तावान्विदुषो मैथुनकर्मणो लोकः फलमिति स्तूयते । तस्माद्बीभत्सा नो कार्येति । य एवं विद्वान[2]धोपहासं चरत्यासां स्त्रीणां सुकृतं वृङ्क्त [3]आवर्जयति । अथ पुनर्यो [4]वाजपेयसंपत्ति न जानात्यविद्वान्रेतसो रसतमत्वं चाधोपहासं चरति । आऽस्य स्त्रियः सुकृतमावृञ्जतेऽविदुषः ॥३॥

मुक्त्वा फलोक्तेस्तात्पर्यमाह—वाजपेयेति । स्तूयते मैथुनाख्यं कर्मेति शेषः । स्तुतिफलमाह—तस्मादिति । इतिशब्दः [5]स्तुतिफलदर्शनार्थः । उपास्तेरधिकं[6] फलमाह— य एवमिति । अविदुषो [7]दुर्व्यापारनिरतस्य प्रत्यवायं दर्शयति— अथेति ॥३॥

संबन्ध है। वाजपेय याग करने वाले को जितने फल की प्राप्ति होती है, उतना ही "लोकः" अर्थात् फल मैथुन कर्म करने का उपासक को होता है, इस प्रकार मैथुन कर्म की स्तुति की जाती है। इसलिए इससे घृणा नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार जानने वाला जो मैथुन कर्म का आचरण करता है, वह इस स्त्रियों के पुण्य को "वृङ्क्ते" अर्थात् ग्रहण कर लेता है। एवं जो इस मैथुन में वाजपेय संपत्ति को नहीं जानता है अर्थात् वीर्य का रसतमत्व न जानकर मैथुनकर्म में प्रवृत्त होता है; उस अविद्वान् के पुण्य को स्त्रियाँ ही ग्रहण कर लेती हैं ॥ ३ ॥

---

[1] आह स्मेत्यन्वयः । एवमुत्तत्रापि । [2] मैथुनम् । [3] आदत्ते । [4] मैथुने । [5] स्तुतिफनेति— मैथुने घृणाकर्तव्यत्वाभावप्रदर्शनार्थं इति यावत् । [6] अधिकं वाजपेयापेक्षयाऽधिकमित्यर्थः । [7] मैथुननिरतस्य ।

विधीयते स्वाराज्यभोज्यत्वेनान्नाव्यतिरिक्तस्य तत्फलत्वात्तस्मादन्नात्मकः स इत्यर्थः ॥ पशुकर्मणोऽपि तदात्मत्व-माह—रेतस इति । यत्र क्रतावन्नरसस्य रेतसोऽन्नरूपैवाऽऽहुतिरिष्यते तस्य मैथुनाख्यस्य योग्यत्वेनान्नत्वादस्मादेव सामान्यादस्मिन्कर्मणि वाजपेयसंपत्तिः स्यादित्यर्थः । यद्वा यस्मिन्पुरुषेऽन्नाहुतिरिष्टा तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वतीति श्रुतेस्तस्य पुंसो रेतो भुक्तान्नरसस्तस्यैव यस्मिन्कर्मणि हूयमानत्वं तस्य पूर्ववदन्नत्वात्तस्मिन्वाज-पेयदृष्टिरित्यर्थः । उपास्तेः सर्वाधिकारित्वमाशङ्क्याऽऽह—इति विज्ञेयमिति । उक्तरीत्योपासनं वाजपेयानुष्ठानं विना तत्फलार्थिनामिति यावत् ॥

तद्विद्वान्नाको मौद्गल्य आहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्कुमारहारित आह बहवो मर्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रया [1]विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रयन्ति य इदमविद्वाꣳसोऽधोपहासं चरन्तीति बहु वा इदꣳ सुप्तस्य वा जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति ॥ ४ ॥

कहते हैं। इसे उक्त रूप में जानने वाले मुद्गल ने पुत्र नाक कहते हैं तथा इसे उक्त रूप से जानने वाले कुमारहारित भी कहते हैं कि बहुत से ऐसे मरणशील मनुष्य नाममात्र के ब्राह्मण हैं जो असंयत इन्द्रिय पुण्यकर्म रहित अर्थात् मैथुन कर्म में आसक्तिपूर्वक प्रवृत्त होते हैं। वे इस लोक से प्रस्थान करने पर परलोक से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। (जो ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक 'पत्नी के ऋतुकाल की प्रतीक्षा करता है') उस प्राण उपासक का यदि राग की प्रबलता के कारण ऋतुकाल प्राप्त होने से पूर्व अधिक या कम मात्रा में सोते या जागते समय वीर्य गिर जाता है (तो वह निम्नाङ्कित प्रायश्चित करे—) ॥ ४ ॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराहाधोपहासाख्यं मैथुनकर्म वाजपेयसंपन्न विद्वानित्यर्थः। तथा नाको मौद्गल्यः कुमारहारितश्च। किं त आहुरित्युच्यते—बहवो मर्या मरणधर्मिणो मनुष्या ब्राह्मणा अयनं येषां ते ब्राह्मणायना [2]ब्रह्मबन्धवो [3]जातिमात्रोपजीविन इत्येतत्। निरिन्द्रिया [4]विश्लिष्टेन्द्रिया विसुकृतो विगतसुकृतकर्माणोऽविद्वांसो मैथुनकर्मासक्ता इत्यर्थः। [5]ते किमस्माल्लोकात्प्रयन्ति परलोकात्परिभ्रष्टा[6] इति। मैथुनकर्मणोऽत्यन्तपापहेतुत्वं दर्शयति—य इदमविद्वांसोऽधोपहासं चरन्तीति। अतोऽनर्थं

अविदुषामतिगर्हितमिदं [7]कर्मेत्यत्राऽऽचार्यपरम्परासंमतिमाह—एतद्धेति। पशुकर्मणो वाजपेयसंपन्नत्वमिदंशब्दार्थः। अविदुषामवाच्ये कर्मणि प्रवृत्तानां दोषित्वमुपसंहर्तुमितिशब्दः। विदुषो[8]

अरुण के पुत्र उद्दालक "निश्चय ही अधोपहासाख्य मैथुनकर्म वाजपेय यज्ञ की सम्पत्ति से सम्पन्न है", ऐसा जान कर कहते हैं। उसी प्रकार मुद्गल के पुत्र नाक और कुमारहारित भी इसे उसी प्रकार जानकर कहते हैं। वे क्या कहते हैं—इस पर श्रुति कहती है। "बहवो मर्या ब्राह्मणायनाः" अर्थात् ऐसे बहुत से मरणधर्मा लोग हैं जो नाममात्र के ब्राह्मण या ब्राह्मणाभास हैं; ब्राह्मण जाति का नाम लेकर जीने वाले हैं। "निरिन्द्रियाः" अर्थात् अतिविषय सेवन से कामान्ध हैं, "विसुकृतः" अर्थात् (केवल कामातिरेक से) मैथुन कर्म में आसक्त हैं, पुण्य कर्म को विनष्ट करने वाले वे अविद्वान् हैं। वे क्या फल प्राप्त करते हैं? "अस्माल्लोकात्प्रयन्ति" अर्थात् परलोक से परिभ्रष्ट होकर नरकगमन

---

१. विसुकृत इति—परलोकभ्रष्टाः सन्तो नरकं गच्छन्तीत्यर्थः। २. ब्राह्मणाभासाः। ३. जातीति—कामातिरेकात् स्त्रीभिरपहृतकल्याणतत्साधनब्रह्मचर्यादिज्ञाना इति यावत्। ४. अतिविषयसेवातोऽन्धत्वाद्यापन्नाः। ५. ते किमिति—ते किं फलमश्नुवत इति वीक्षायामाह—अस्मादिति। ६. परिभ्रष्टाः सन्तो नरकं गच्छन्तीति शेषः। ७. मैथुनकर्मेति यावत्। ८. मैथुनकर्मणि।

[1]तदभिमृशेदनु वा मन्त्रयेत यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदपः। इदमहं तद्रेत आददे पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः। पुनर[2]ग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्तामित्यनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामादायान्तरेण स्तनौ वा भ्रुवौ वा [3]निमृज्यात् ॥ ५ ॥

उस वीर्य को हाथ से स्पर्श करे और स्पर्श करते समय इस प्रकार अभिमन्त्रित करे—आज
जो मेरा वीर्य स्खलित होकर पृथिवी पर गिरा है, जो पहले कभी अन्न में भी गिरा और जल में पड़ा
है, उस इस रेत को मैं ग्रहण करता हूँ; ऐसा कहकर अनामिका और अंगुष्ठ से उस वीर्य को ग्रहण
कर दोनों स्तनों और भौहों के बीच में लगावे, उस समय यह मन्त्र पढ़े। वह इन्द्रिय पुनः मेरे पास
लौट आवे, जो वीर्य स्खलित रूप में बाहर निकल गयी थी, मुझे पुनः तेज और सौभाग्य की
प्राप्ति हो। जिनका स्थान अग्नि है, वे देवगण फिर से मेरे शरीर में उस रेत को यथास्थान स्थापित
कर दें ॥ ५ ॥

कृत्वा पत्न्या ऋतुकालं [4]ब्रह्मचर्येण प्रतीक्षते यदीदं रेतः [5]स्कन्दति बहु वाऽल्पं वा सुप्तस्य
वा जाग्रतो वा रागप्राबल्यात् ॥४॥

[1]तदभिमृशेदनुमन्त्रयेत वाऽनुजपेदित्यर्थः। यदाऽभिमृशति तदाऽनामिकाङ्गुष्ठाभ्यां
तद्रेत आदत्त आदद इत्येवमन्तेन मन्त्रेण पुनर्मामित्येतेन निमृज्यादन्तरेण मध्ये भ्रुवौ

लाभमविदुश्च दोषं दर्शयित्वा [7]क्रियाकालात्प्रागेव रेतस्खलने प्रायश्चित्तं दर्शयति—श्रीमन्थमिति। यः
प्रतीक्षते तस्य रेतो यदि स्कन्दतीति योजना ॥४॥

मे ममाद्याप्राप्तकाले यद्रेतः पृथिवीं प्रत्यस्कान्त्सीद्रागातिरेकेण स्कन्नमासीद्यदोषधीः प्रत्यप्य-
सरदगमद्यच्चापः स्वयोनिं प्रति गतमभूत्तदिदं रेतः संप्रत्या[8]ददेऽहमित्यादानमन्त्रार्थः। केनाभिप्रायेण
तदादानं तदाह—पुनरिति। तत्पुना रेतोरूपेण बहिर्निर्गतमिन्द्रियं मां प्रत्यैतु समागच्छतु। तेजस्त्वग्गता

जो इस रहस्य को न जानने वाला
करते हैं। मैथुनकर्म अत्यन्तपाप का हेतु है, इसे श्रुति बताती है—जो इस रहस्य को न जानने वाला
विद्वान् मैथुनकर्म में प्रवृत्त होता है। (वित्तलाभ के लिए) श्रीमन्थ करके जो ब्रह्मचर्यपालन पूर्वक पत्नी
से समागमयोग्य काल की प्रतीक्षा करता है। सोते या जागते समय राग की प्रबलता से यदि थोड़ा या
बहुत उसका वीर्यस्खलन हो जाय (तो अग्रिम मन्त्र से प्रार्थना करे—) ॥ ४ ॥

स्खलित हुए वीर्य को हाथ से संस्पर्श करे और उसके पश्चात् इस मन्त्र का जाप करे। जब
वीर्य का स्पर्श करे तो "यन्मेऽद्य रेतः आददे—" इस श्रुति मन्त्र से अनामिका और अङ्गुष्ठ अङ्गुली

---

[1] तदिति—तद् स्कन्नं रेतो हस्तेन संस्पृशेत्पश्चाच्च मन्त्रमुच्चारयेदित्यर्थः। [2] अग्निर्धिष्ण्या इत्यत्र रेफश्छान्दसः। [3] लिम्पेदिति यावत्। [4] प्राणोपासितुः श्रीमन्थं कृतवतो न यदा कदाचिद्भार्योपगतिरित्यभिप्रेत्याह—ब्रह्मचर्येणेति। [5] निर्गच्छति। [6] स्कन्नं रेतः। [7] मैथुनक्रियाकालात्। [8] गृह्णामि।

अथ यद्युदक आत्मानं पश्येत्तदभिमन्त्रयेत मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणꣳ सुकृतमिति श्रीर्ह वा एषा स्त्रीणां यन्मलोद्वासास्तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनीमभिक्रम्योपमन्त्रयेत ॥ ६ ॥

यदि भूल से जल में रेत स्खलित हो जाय तो वहाँ पर अपनी छाया को देख लेवे और "मयि तेज:" इत्यादि मन्त्र से जल को अभिमन्त्रित करे। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे देवगण! आप मुझमें तेज, वीर्य, यश, धन और सत्कर्म की प्रतिष्ठा करें। (उसके बाद जिसके गर्भ से पुत्र की उत्पत्ति करनी हो, उस पत्नी की स्तुति इस प्रकार करे—) यह पत्नी समस्त स्त्रियों में लक्ष्मीस्वरूपा है, क्योंकि रजस्वला होने के कारण इसके वस्त्र में रज के चिह्न स्पष्ट दीखते हैं। तत्पश्चात् रजस्वला तथा यशस्विनी पत्नी के तीन रात्रि के बाद स्नान कर चुकने पर उसके पास जाकर कहे। आज हम दोनों को वही करना है, जिससे पुत्र उत्पन्न होवे ॥ ६ ॥

भ्रुवोर्वा स्तनौ स्तनयोर्वा ।।५।।

अथ यदि कदाचिदुदक[2] आत्मानमात्मच्छायां पश्येत्तत्राप्यभिमन्त्रयेतानेन मन्त्रेण मयि तेज इति। [3]श्रीर्ह वा एषा पत्नी स्त्रीणां मध्ये यद्यस्मान्मलोद्वासा [4]उद्गतमलवद्वासा-

कान्तिः। भगः सौभाग्यं ज्ञानं वा। तदपि सर्वं रेतोनिर्गमात्तदात्मना बहिर्निर्गतं सन्मां प्रत्यागच्छतु। अग्निर्धिष्ण्यं स्थानं येषां ते देवास्तद्रेतो यथास्थानं [5]कल्पयन्त्विति [6]मार्जनमन्त्रार्थः ।।५।।

अयोनौ रेतस्खलने प्रायश्चित्तमुक्तं [7]रेतोयोनावुदके रेतःसिचश्छायादर्शने प्रायश्चित्तं दर्शयति—अथेत्यादिना। [8]निमित्तान्तरे प्रायश्चित्तान्तरप्रदर्शनप्रक्रमार्थोऽथशब्दः। मयि तेजःप्रभृति देवाः कल्पयन्त्विति मन्त्रयोजना। [9]प्रकृतेन रेतःसिचा यस्यां पुत्रो जनयितव्यस्तां स्त्रियं स्तौति—श्रीरित्यादिना। कथं सा यशस्विनी न हि तस्याः ख्यातिरस्ति तत्राऽऽह— यदिति। रजस्वलाभिगमनादि प्रति-

द्वारा उसे हाथ में ले ले, फिर "पुनर्माम्......" इस मन्त्र से उस वीर्य को "भ्रुवौ" अर्थात् भौंहों के मध्य, "स्तनौ" अर्थात् हृदय के बीच में लगावे ॥ ५ ॥

तथा यदि कभी (प्रमाद से) जल में वीर्य स्खलन हो जाय तो "आत्मानम्" अर्थात् अपनी छाया को देखे, तब "मयि तेजः..." इत्यादि मन्त्र से वीर्यसिक्त जल को अभिमन्त्रित करे। यह मेरी पत्नी सब स्त्रियों में श्रीमती है, "मलोद्वासा" अर्थात् जो रजोदर्शन मल से रहित शुद्ध है अथवा जो

---

१. तद्—सिक्तशुक्रमुदकम्। २. उदक इति प्रमादाद्रेतःसिक्त्वेति शेषः। ३. श्रीः—श्रीमती यशस्विनीति यावत्। ४. उद्गतमलवद्वासा इति। अत्र वार्तिकम्—"उद्गतं मलवद्वासश्चतुर्थेऽहनि यद् स्त्रियाः। तां मलोद्वाससं पत्नीमाहुस्तत्कर्मकारिणः" ।।२८।। इति।। तत्कर्मेति—मैथुनकर्मकारिणो गृहस्था इति यावत्। ५. गमयन्तु। ६. लेपनं मार्जनम्। ७. रेतोयोनौ— रेतसः कारणीभूते उदक इत्यर्थः। ८. निमित्तान्तर इति—अयोनौ रेतःस्खलनरूपनिमित्तादन्यस्मिन् निमित्ते सति। ९. प्रकृतेनेति—प्राणोपासकत्वे सति श्रीमन्थपुत्रमन्थकर्मकर्तृत्वं प्रकृतत्वम्।

सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीणीयात्सा चेदस्मै नैव दद्यात्काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेदि[1]न्द्रियेण ते यशसा यश आदद इत्ययशा एव भवति ॥ ७ ॥

वह धर्म-पत्नी यदि इस पति को मैथुन न करने दे, तो पति उसे उसकी इच्छानुसार वस्त्रादि ेकर उस पर अपना प्रेम प्रकट करे । इस पर भी यदि वह इसे मैथुन का अवसर न देवे, तो वह पति स्वेच्छानुसार डण्डे का भय दिखला कर उसके साथ बलपूर्वक समागम करे । यदि वह भी संभव न ो, तो "मैं तुझे शाप देकर वन्ध्या बना दूंगा" ऐसा कह कर उसके पास जावे और "मैं अपनी यशः स्वरूप इन्द्रिय द्वारा तेरे यश को छीन लेता हूँ । इस मन्त्र का पाठ करे । उस अभिशाप से वह निश्चित वन्ध्या या दुर्भगा शब्द से कही जाने वाली अयशस्विनी हो ही जाती है ।। ७ ।।

स्तस्मात्तां मलोद्वाससं यशस्विनीं श्रीमतीमभिक्रम्याभिगत्यो[2]पमन्त्रयेते[3]दमद्याऽऽवाभ्यां कार्यं यत्पुत्रोत्पादनमिति [4]त्रिरात्रान्त आप्लुताम् ।। ६ ।।

[5]सा [6]चेदस्मै न दद्यान्मैथुनं कर्तुं [7]काममेनामवक्रीणीयादाभरणादिना ज्ञापयेत् । तथाऽपि सा नैव दद्यात्काममेनां [8]यष्ट्या वा [9]पाणिना [10]वोपहत्या[11]तिक्रामेन्मैथुनाय । शप्स्यामि

षिद्धमित्याशङ्क्य विशिनष्टि— त्रिरात्रेति ।।६।।

ज्ञापयेदात्मीयं प्रेमातिरेकमिति शेषः । [12]बलादेव वशीकृतां भार्यां पशुकर्मार्थं कथमुपगच्छेदित्याकाङ्क्षायामाह—[13]शप्स्यामीति ।।७।।

चतुर्थ दिन स्नान कर शुद्ध हो चुकी है, उस यशस्विनी और श्रीमती के पास "अभिगत्य" अर्थात् जाकर अपने को अभिमुख कर उससे बोलने लगे—आज हमें वो मैथुन कर्म करना है, जिससे पुत्र की उत्पत्ति हो ।। ६ ।।

प्रेम से विश्वास दिलायी हुई भी यदि वह स्त्री मैथुन कर्म करने के लिए अवसर न दे तो इसे "अवक्रीणीयात्" अर्थात् आभरणादि प्रदान के द्वारा अपना प्रेमातिरेक प्रकट करे । तो भी यदि वह सम्प्रयोग करना स्वीकार न करे तो इसे दण्ड या हस्त से प्रताडित कर मैथुन कर्म करवाए ।

---

१. इन्द्रियेणेत्यादि—यशस यशोहेतुनेन्द्रियेणोपस्थेन ते तव यशो यशोहेतुपुत्रोत्पत्तिकरं रेतोऽहमाददे गृह्णामीति मन्त्रेण शपेच्छापमारभेतेति यावत् । २. उपमन्त्रयेतेति—आत्मनोऽभिमुखीभावे वाग्यत्नोऽत्रोपमन्त्रणम् । ३. उपमन्त्रणमेव व्यनक्ति—इदमिति । ४. चतुर्थेऽहनि स्नाताम् । ५. सा प्रेम्णोपमन्त्रितापि । ६. पत्ये । ७. अवसरम् । ८. दण्डेन । ९. हस्तेन । १०. संताड्य । ११. अतिक्रामेन्मैथुनायाऽऽक्रामेदित्यर्थः । ऋतुकालातिक्रमणायोगादित्यभिप्रायः । १२. बलादेवेति—अत्र बलादप्यवशीकृतामिति बलाच्चेदवशीकृतामिति वा पाठो लेखकप्रमादादन्यथाभूत इति प्रतिभाति । यथाश्रुते तु बलादेव वशीकृतां कथंभावतोऽपि वशीकृत्योपगच्छेदिति व्याख्येयम् । १३. शप्स्यामीतीति—यथोक्तशापभयाद्भावतोऽपि सा वश्या भवत्येवेति भावः इति शेषः ।

सा चेदस्मै दद्यादिन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामीति यशस्विनावेव भवतः ॥ ८ ॥

स यामिच्छेत्कामयेत मेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेदङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे। स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमाममूं मयीति ॥ ९ ॥

यदि वह पत्नी उस पति को समागम का अवसर दे, तो पति उसे आशीर्वाद देते हुए कहे—मैं अपनी यशःस्वरूप इन्द्रिय से तुझमें यश का आधान करता हूँ। इससे वे दोनों दम्पति यशस्वी यानी सन्तान वाले होते ही हैं ॥ ८ ॥

वह पुरुष अपनी जिस पत्नी के संबन्ध में ऐसा चाहे कि यह मेरे प्रति कामनायुक्त हो, मुझे मन से चाहने लगे, तो उसकी योनि में अपने जननेन्द्रिय को स्थापित कर उसके मुख से अपना मुख मिला कर उसके उपस्थ भाग का स्पर्श करते हुए इस मन्त्र का जप करे। हे वीर्य ! तुम मेरे प्रत्येक अङ्ग से उत्पन्न होते हो, विशेष रूप से हृदयस्थ नाड़ी द्वारा तुम प्रकट होते हो, तुम मेरे अङ्ग के सार हो। अतः जैसे विषाक्त बाण से घायल हुई मृगी मूर्छित हो जाती है, ऐसे ही तुम मेरी इस पत्नी को मेरे प्रति पागल बना दो, अर्थात् मेरे अधीन इसे कर डालो ॥ ९ ॥

त्वां दुर्भगां करिष्यामीति [2]प्रख्याप्य तामनेन मन्त्रेणोपगच्छेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदद इति। सा तस्मात्तदभिशापाद्वन्ध्या दुर्भगेति ख्याताऽयशा एव भवति ॥ ७ ॥

सा चेदस्मै दद्यादनुगुणैव स्याद्भर्तुस्तदाऽनेन मन्त्रेणो[3]पगच्छेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामीति [4]तदा यशस्विनावेवोभावपि भवतः ॥ ८ ॥

स यां स्वभार्यामिच्छेदियं मां कामयेतेति [5]तस्यामर्थं प्रजननेन्द्रियं निष्ठाय निक्षिप्य

भर्तुर्भार्यावशीकरणप्रकारमुक्त्वा पुरुषद्वेषिण्यास्तस्या[6]स्तद्विषये प्रीतिसंपादनप्रक्रियां दर्शयति—

(यदि इतने पर भी असमर्थ रहे तो) "मैं तेरा अहित करूँगा तुझे अभागी बना दूँगा" इस प्रकार कहकर "मैं अपनी यशो स्वरूप (पुत्रोत्पत्तिकर) उपस्थ इन्द्रिय से तेरा यश ले लेता हूँ" इस मन्त्र से उसका अभिगमन करे। उस अभिशाप से वह वन्ध्या या दुर्भगा शब्द से कही जाने वाली अयशस्विनी ही होती है ॥ ७ ॥

वह भार्या यदि मैथुन के लिए आत्मसमर्पण कर दे यानी पति के अनुकूल ही रहे तो "मैं अपनी यशोहेतुक उपस्थ इन्द्रिय से तुझ में यश संस्थापित करता हूँ" इस मन्त्र से उसका अभिगमन करे

---

१. इमां—मद्विद्वेषिणीमिति यावत्। २. उक्त्वा। ३. शापं निवर्तयेत्। ४. शापविमोके। ५. तदीय-मंत्रो। ६. पुरुषविषये।

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायाभिप्राण्यापान्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद इत्यरेता एव भवति ॥१०॥

पुरुष अपनी जिस पत्नी के विषय में चाहे, यह गर्भवती न हो, तो उसकी योनि में अपने जननेन्द्रिय को स्थापित करके उसके मुख से मुख मिलाकर अभिप्राणन कर्म करके अपानन क्रिया इस मन्त्र के द्वारा करे—"इन्द्रिय स्वरूप वीर्य के द्वारा मैं तेरे रेत को ग्रहण करता हूँ" ऐसा करने पर वह गर्भिणी नहीं होती ॥ १० ॥

मुखेन मुखं संधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेदिमं मन्त्रमङ्गादङ्गादिति ॥९॥

अथ यामिच्छेन्न[1] गर्भं दधीत न धारयेद्गर्भिणी मा भूदिति तस्यामर्थमिति पूर्ववत् । अभिप्राण्याभिप्राणनं प्रथमं कृत्वा पश्चादपान्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद इत्यनेन मन्त्रेणारेता एव भवति न गर्भिणी भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

स यामित्यादिना । हे रेतस्त्वं मदीयात्सर्वस्मादङ्गात्समुत्पद्यसे [2]विशेषतश्च हृदयाद[3]न्नरसद्वारेण जायसे स त्वमङ्गानां कषायो रसः सन्विषलिप्तशरविद्धां मृगीमिवामूं मदीयां स्त्रियं मयि मादय मद्वशां कुर्वित्यर्थः ॥९॥

[4]तस्याः स्वविषये प्रीतिमापाद्यावाच्यकर्मानुष्ठानदशायाम[5]भिप्रायविशेषानुसारेणानुष्ठानविशेषं दर्शयति—अथेत्यादिना । तत्र तत्राथशब्दस्तत्तदुपक्रमार्थो नेतव्यः । पशुकर्मकाले प्रथमं स्वकीय[6]पुंस्त्वद्वारा तदीय[7]स्त्रीत्वे वायुं [8]विसृज्य [9]तेनैव द्वारेण [10]"तत"[11]स्तदादानाभिमानं कुर्यादित्याह—अभिप्राण्येति ॥१०॥

(शाप की निवृत्ति कर दे); तब (शाप के छूट जाने से) वे दोनों यशस्वी होते हैं ॥ ८ ॥

यदि पुरुष चाहे कि मेरी भार्या मेरे विषय में (अतिशय) कामयुक्त हो तो उसकी योनि में "अर्थम्" अर्थात् लिङ्ग को "निष्ठाय" करके मुख से मुख सटाकर उसकी योनि का स्पर्श करते हुए "अङ्गादङ्गात्..." इत्यादि मन्त्र का जप करे ॥ ९ ॥

यदि पुरुष चाहे कि मेरी भार्या को "न गर्भं दधीत" अर्थात् गर्भ धारण न हो यानी वह गर्भिणी न हो तो उसकी योनि में लिङ्ग का संवेशन कर इत्यादि व्याख्या पूर्ववत् ही है । "अभिप्राण्य" अर्थात् पहले अभिप्राणन करने के बाद "इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आददे" इस मन्त्र से अपानन करे ।

---

१. न गर्भं दधीतेति—अत्र वार्तिकम्—"रूपभ्रंशो हि भवति यतो गर्भस्य धारणे । तथा यौवनहानिश्च तस्मादेवं स कामयेदिति" ॥४१॥ २. अधिजायसे इत्यधिशब्दार्थमाह—विशेषतश्चेति । ३. अन्नरसद्वारेणेति—जग्धान्नपरिणामो रसः प्रथमः शोणितं द्वितीयस्तृतीयो मांसमित्यादिक्रमेणेत्यर्थः । ४. स्वपत्न्याः । ५. गर्भधारणादीच्छाविशेषानुसारेणेत्यर्थः । ६. शिश्नद्वारा । ७. योनौ । ८. विसृज्य—विसर्गाभिमानं कृत्वा । ९. तेनैव द्वारेण—शिश्नद्वारा । १०. ततः—तदीयस्त्रीत्वात् । ११. तदादानं वाय्वादानमित्यर्थः ।

अथ यामिच्छेद्दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायापान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति ॥ ११ ॥

[1]अथ यस्य जायायै जारः स्यात्तं चेद्द्विष्यादा[2]मपात्रे-

पुरुष अपनी जिस पत्नी के विषय में चाहे कि वह गर्भवती हो, वह उसकी योनि में अपनी जननेन्द्रिय को स्थापित कर उसके मुख से अपना मुख मिला कर पहले अपानन क्रिया करे। तत्पश्चात् अभिप्राणन क्रिया करते समय इस मन्त्र का पाठ करे—"मैं इन्द्रिय रूप वीर्य के द्वारा तेरे रेत का आधान करता हूँ" ऐसा करने से वह गर्भवती निश्चय ही हो जाती है ॥ ११ ॥

जिस गृहस्थ विद्वान् की पत्नी का कोई जार पति हो, उस जार पति से द्वेष भाव रखकर वह उसे

अथ यामिच्छेद्दधीत गर्भमिति तस्यामर्थमित्यादि पूर्ववत्। पूर्वविपर्ययेणापान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति ॥ ११ ॥

अथ पुन[3]र्यस्य [4]जायायै जार उपपतिः स्यात्तं चेद्द्विष्यादभिचरिष्याम्येनमिति

भर्तुरेवाभिप्रायान्तरानुसारिणं विधिमाह—अथ यामित्यादिना। स्वकीयपञ्चमेन्द्रियेण तदीयपञ्चमेन्द्रियाद्रेतः स्वीकृत्य तत्पुत्रोत्पत्तिसमर्थं कृतमिति [5]मत्वा स्वकीयरेतसा सह [6]तस्मिन्निक्षिपेत्तदिदमपाननं प्राणनं च तत्पूर्वकं [7]रेतःसेचनम् ॥ ११ ॥

संप्रति [8]प्रासङ्गिकमाभिचारिकं कर्म कथयति—अथ पुनरिति। द्वेषवतानुष्ठितमिदं कर्म-

इससे वह "अरेता एव भवति" अर्थात् गर्भिणी नहीं होती है ॥ १० ॥

यदि पुरुष चाहे कि मेरी भार्या गर्भ धारण करे तो "उसकी योनि में लिङ्ग प्रवेश कर" इत्यादि व्याख्या पूर्ववत् है। पूर्व प्रक्रिया से विपरीत यहाँ पहले अपानन क्रिया करके फिर "इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामि" इस मन्त्र से अभिप्राणन कर्म करे, इससे वह स्त्री गर्भ धारण कर लेती है ॥ ११ ॥

तथा यदि प्राणवेत्ता पति की भार्या का "जारः" अर्थात् उपपति हो; यदि वह पति उससे द्वेष

---

[1] अभिचारकर्मारम्भार्थोऽथशब्दः। न च न हिंस्यादिति श्रुतिविरोधाद्धिंसार्थो विधिरयुक्त इति शङ्क्यम्—साध्यसाधनसंबन्धबोधनमात्रे वेदस्य तात्पर्याद्यथाहुः—"उपायत्वे न विज्ञप्त्यै श्येनवन्न विधीयत" इति। उपायविज्ञापनमात्रं वेदेन क्रियते न तु हिंसा विधीयत इति भाव.। [2] आमपात्रे—अपक्वमृन्मयभाजने परिसमूहनोपलेपनोल्लेखनोद्धरणाभ्युक्षणलक्षणभूसंस्कारपूर्वकमग्निमुपसमाधाय संस्थाप्य। प्रतिलोमं दक्षिणाग्रं पश्चिमाग्रं वा यथा स्यात्तथा शरमयं बर्हिः कुशांस्तीर्त्वाऽऽस्तीर्य तस्मिन्नग्नावेताः प्रसिद्धाः शरभृष्टीः शरेषिकाः प्रतिलोमा विपरीताग्राः सर्पिषाक्ता घृताक्ता जुहुयादित्यर्थः। [3] प्राणविदः। [4] जायायाः। [5] संचिन्त्य। [6] तदीयपञ्चमेन्द्रिये। [7] तत्पूर्वकं रेतःसेचनमिति—अपाननप्राणनपूर्वकं रेत.सेचनं तावदिदमेव। तच्च इन्द्रियेण ते रेतसेत्यादि मन्त्रमुच्चार्य कार्यं मन्त्रोऽपि अपान्याभिप्राण्यादित्यारभ्य स्वकीयपञ्चमेत्यादिना व्याख्यातो वेदितव्यः। [8] प्रासङ्गिकेति—पशुकर्मप्रसङ्गादागतमुपपतिहिंसार्थिनः साधनत्वेनाभिचारिकं कर्मानन्तरवाक्येनोच्यते।

ऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमꣳ शरबर्हिस्तीर्त्वा तस्मि-
न्नेताः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सर्पिषाऽक्ता जुहुयान्मम
समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसाविति मम
समिद्धेऽहौषीः पुत्रपशुꣳस्त आददेऽसाविति मम

दण्ड देना चाहे, तो वह मिट्टी के कच्चे बर्तन में (पंच भूसंस्कार पूर्वक) अग्नि की स्थापना करके विपरीत क्रम से अर्थात् दक्षिणाग्र या पश्चिमाग्र रूप से सरकण्डों का बर्हिष् बिछा कर उस पर बाणाकार उनकी सींकों को घी से गीला कर उनके अग्रभाग को विपरीत दिशा में रखते हुए उस स्थापित अग्नि में उनकी चार आहुतियाँ निम्नाङ्कित मन्त्रों से देवे । मन्त्रार्थ यह है कि अरे दुष्ट ! यौवनादि से प्रज्वलित मेरी पत्नी रूप अग्नि में तूने वीर्य रूप आहुति डाली है, अतः तुझ पापी के प्राण अपान को मैं समाप्त कर देता हूँ । "मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददे" इसका उच्चारण तथा फट् शब्द को बोलकर पहली आहुति दे और "असौ मम शत्रुः" ऐसा कहकर शत्रु का नाम लेवे । इसी प्रकार चारों

मन्येत तस्येदं कर्म । आमपात्रेऽग्निमुपसमाधाय सर्वं प्रतिलोमं कुर्या[१]त्तस्मिन्नग्ना[२]वेताः शरभृष्टीः शरेषीकाः [३]प्रतिलोमाः सर्पिषाऽक्ता घृताभ्यक्ता जुहुयान्मम समिद्धेऽहौषीरित्याद्या आहुतीरन्ते सर्वासामसाविति नामग्रहण प्रत्येकम् । स एष एवंविद्यं ब्राह्मणः शपति स

फलवदिति वक्तुं द्विष्यादित्यधिकारिविशेषणम् । आमविशेषणं पात्रस्य [४]प्रकृतकर्म[५]योग्यत्वख्यापनार्थम् । अग्निमित्येकवचनादु[६]पसमाधानवचनाच्चा[७]ऽवसथ्याग्निरत्र विवक्षितः । सर्वं परिस्तरणादि [८]तस्य प्रतिलोमत्वे कर्मणः [९]प्रतिलोमत्वं हेतूकर्तव्यम् । मम स्वभूते योषाग्नौ यौवनादिना समिद्धे रेतो हुतवानसि ततोऽपराधिनस्तव प्राणापानावाददे फडित्युक्त्वा होमो निर्वर्तयितव्यः । [१०]तदन्ते चासावित्यात्मनः शत्रोर्वा नाम गृह्णीयात् । इष्टं श्रौतं कर्म सुकृतं स्मार्तम् । आशा [११]प्रार्थना वाचा [१२]यत्प्रतिज्ञातं कर्मणा नोपपादितं प्रतीक्षा पराकाशः । यथोक्तहोमद्वारा शापदानस्य फलं दर्शयति—स एष इति । एवंवित्त्वं

करे तथा 'इस जार के अनिष्ट के लिए प्रयोग करूँगा' ऐसी धारणा करे तो उसके लिए यह कर्म है । कच्ची मिट्टी बर्तन में अग्नि संस्थापित करके सारी क्रिया विलोम क्रम से करे । उस पात्र में स्थापित अग्नि में "शरभृष्टीः" अर्थात् सरकण्डे की सींकें विपरीत ढंग से आगे करके रखते हुए "सर्पिषाऽक्ताः" घी में भिगोकर आहुति दे । "मम समिद्धेऽहौषीः" अर्थात् मेरी अपनी योषाग्नि में तुमने वीर्य का होम किया

---

१. आमपात्रस्थापिते । २. प्रसिद्धाः । ३. विपरीताग्राः । ४. हिंसाकर्म । ५. योग्यन्वेति—शत्रुर्हि भिदुरत्वमापादनीयो भिदुरं चामपात्रमिति । ६. विद्यमानस्य ह्युपसमाधिः । ७. आवसथ्याग्निर्लौकिकोऽग्निर्विवक्षितो न तु त्रेताग्निरित्याशयः । ८. बर्हिःपरिस्तरणादेः । ९ हिंसार्थत्वम् । १०. प्रत्येकाहुतिप्रक्षेपावसाने । ११. प्रार्थनेति—अनिर्ज्ञातप्राप्येष्टार्थविषयिणीति बोध्यम् । १२. वाचा यत्प्रतिज्ञातं संपादयिष्यामीति न च कर्मणा साधित तादृशराज्यादिनिर्ज्ञातप्राप्येष्टार्थप्रतीक्षापराकाश इति यावत् ।

समिद्धेऽहौषीरिष्टासुकृते त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ त आददेऽसाविति स वा एष निरिन्द्रियो विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रैति यमेवंविद्ब्राह्मणः शपति तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित्परो भवति ॥१२॥

[1]अथ [2]यस्य जायामार्तवं विन्दे[3]त्र्यहं [4]कंसे [5]न पिबेद[6]हतवासा नैनां वृषलो न वृषल्युपहन्यात्त्रिरात्रान्त

मन्त्रों में पहले मन्त्र से प्राण और अपान को, दूसरे मन्त्र से पुत्र और पशुओं को, तीसरे मन्त्र से यज्ञ और पुण्य को तथा चौथे मन्त्र से प्रार्थना एवं प्रतिज्ञापूर्ति को प्रतिज्ञा को नष्ट करने के लिए कहा गया है। इस प्रकार मन्थ कर्म को जानने वाला प्राणदर्शी विद्वान् ब्राह्मण जिसे शाप देता है, वह इन्द्रियरहित एवं पुण्य कर्म से शून्य होकर इस लोक से चला जाता है। अतः परस्त्रीगमन के ऐसे भयङ्कर परिणाम को जानने वाला पुरुष किसी श्रोत्रिय विद्वान् की पत्नी से परिहास की भी इच्छा न करे, फिर समागम की तो बात दूर ही रही, क्योंकि ऐसे अभिचार को जानने वाला विद्वान् उसका शत्रु बन जाता है ॥ १२ ॥

जिस पत्नी को रजोधर्म प्राप्त हो, वह पत्नी तीन दिन तक काँसे के बर्तन में न खावे और चौथे दिन स्नान करके ऐसा वस्त्र पहने जो फटा न हो और स्वच्छ हो। स्नान के बाद और पहले भी

विसुकृतो विगतपुण्यकर्मा प्रैति । [7]तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेन्नर्मापि न कुर्यात्किमुत[8]धोपहासं हि यस्मादेवंविदपि तावत्परो भवति शत्रुर्भवतीत्यर्थः । १२ ॥

[9]मन्थकर्मद्वारा प्राणविद्यावत्त्वम् । तस्मादेवं[10]वित्त्वं परदारगमने [11]यथोक्तदोषज्ञातृत्वम् । तच्छब्दोपात्तं हेत्वन्तरमाह—एवंविदपीति ॥१२॥

है, इत्यादि मन्त्र से चार आहुतियां दे और सबके अन्त में प्रत्येक आहुति के साथ "असौ" बोल कर शत्रु के नाम का उच्चारण करे। इस प्रकार जानने वाला ब्राह्मण जिसे शाप देता है, वह "विसुकृतः" अर्थात् पुण्य कर्म क्षीण हो जाने पर परलोक से भ्रष्ट हो नरक में जाता है। इसलिये परस्त्रीगमन के ऐसे बीभत्स परिणाम को जानने वाला पुरुष वेदविद् ब्राह्मण की पत्नी से "नोपहासमिच्छेत्" अर्थात् परिहास की इच्छा न करे फिर मैथुन की तो बात ही क्या है। ऐसे (परस्त्रीगमन में उक्त दोष को) जानने वाला विद्वान् भी "परो भवति" अर्थात् उसका शत्रु हो जाता है ॥ १२ ॥

---

१. अथेति—प्रासङ्गिककर्मोक्त्यानन्तर्यार्थः । प्रकृतकर्मापेक्षितधर्मोपक्रमार्थश्चाथशब्दः । २. यस्य—मन्थविधिज्ञस्य । ३. त्र्यहं त्रीण्यहानि । ४. कंसे कांस्यपात्रे । ५. न पिबेत्—पानभोजने न कुर्याज्जाया । ६. अहतवासाः शुद्धवस्त्रा च स्यात् । ७. उक्ताद्वक्ष्यमाणाच्च हेतोः । ८. मैथुनम् । ९. मन्थकर्मकर्तृत्वे सतीति यावत् । १०. विदित्यत्रैवम् । ११. उक्तवक्ष्यमाणदोषज्ञातृत्वम् ।

आप्लुत्य व्रीहीनवघातयेत् ।।१३।।

स य इच्छेत्पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति क्षीरौदनं [1]पाचयित्वा सर्पिष्मन्त-

उस ऋतुमती स्त्री को शूद्रा या शूद्र स्पर्श न करे। वह रजस्वला स्त्री तीन दिन के बाद जब स्नान करले, तब उसे धान कूटने के काम में लगावे ।। १३ ।।

जो पुरुष चाहता हो मेरा पुत्र शुक्ल वर्ण का उत्पन्न हो, एक वेद का अध्ययन करे और पूर्ण आयु सौ वर्ष तक जीवित रहे; तो वे पति-पत्नी दूध और चावल पकाकर उसमें घी डालकर खीर

अथ यस्य जायामार्तवः विन्देदृतुभावं प्राप्नुयादित्येवमादि[2]र्ग्रन्थः श्रीर्हं वा एषा स्त्रीणामित्यतः पूर्वं द्रष्टव्यः सामर्थ्यात् । त्र्यहं कंसे न पिबेद[3]हतवासाश्च स्यात् । नैनां [4]स्नातामस्नातां च [5]वृषलो वृषली वा नोपहन्यान्नोपस्पृशेत् । [6]त्रिरात्रान्ते त्रिरात्रव्रतसमाप्तावाप्लुत्य स्नात्वाऽहतवासाः स्यादिति [7]व्यवहितेन संबन्धः । तामाप्लुतां व्रीही[8]नवघातयेद्व्रीह्यवघाताय तामेव विनियुञ्ज्यात् ।। १३ ।।

स य इच्छेत्पुत्रो मे शुक्लो वर्णतो जायेत वेदमेकमनुब्रुवीत सर्वमायुरियाद्वर्षशतं

आभिचारिकं [9]कर्म प्रसङ्गागतमुक्त्वा [10]पूर्वोक्तमृतुकालं ज्ञापयति— अथेति । श्रीर्हं वा एषा स्त्रीणामित्येतदपेक्षया पूर्वत्वम् । [11]पाठक्रमाद[12]र्थक्रमस्य बलवत्त्वे हेतुमाह—सामर्थ्यादिति । [13]अर्थवशादिति यावत् ।।१३।।

किं पुनरवघातनिष्पन्नैस्तण्डुलैरनुष्ठेयं तदाह— स य इति । [14]बलदेवसादृश्यं वा [15]शुद्धत्वं वा

तथा जिसकी भार्या "आर्तवं विन्देत्" अर्थात् मासिकधर्म को प्राप्त हो जाय, इत्यादि ग्रन्थ को सामर्थ्य से "श्रीर्हं वा एषा स्त्रीणाम्" अर्थात् तुम स्त्रियों के मध्य श्रीमती हो, इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतिवाक्य से समझ लेना चाहिये। वह तीन दिन तक कांस्य पात्र में पेय पदार्थ और भोजन मेवन न करे, शुद्ध वस्त्र धारण करे। स्नात हो या अस्नात; इसे कोई भी शूद्र या शूद्रा "नोपहन्यात्" अर्थात् स्पर्श न करे। चौथे दिन प्रातःकाल त्रिरात्रव्रत की समाप्ति होने पर "आप्लुत्य" स्नान कर शुद्ध वस्त्र धारण करे। इस प्रकार पूर्व व्यवहित पद से इसका संबन्ध है। "व्रीहीनवघातयेत्" अर्थात् स्नान कर शुद्ध हुई उस स्त्री को (चरु पकाने के निमित्त) धान कूटने के कार्य में नियुक्त करे ।। १३ ।।

वह उपासक यदि चाहे कि मेरा पुत्र गौरवर्ण (अथवा दुर्गुणरहित) हो, एक वेद का अध्ययन

---

१. पाचयित्वेति हुत्वा चेति शेषः ।
२. ग्रन्थः पूर्वं द्रष्टव्य इत्येव पाठटीकानुगुणः ।
३. शुद्धवस्त्रा त्र्यहःस्विति शेषः ।
४. स्नानात्पूर्वोत्तरम् ।
५. वृषलः शूद्रः पापकृन्मात्रोपलक्षणमेतत् ।
६. चतुर्थेऽहनि प्रातः ।
७. पूर्वत्र ।
८. चरुपाकार्थम् ।
९. सफलम् ।
१०. श्रीर्हं वा एषेत्यत्रोक्तम् ।
११. पाठक्रमात्—अर्थमनपेक्ष्य यथाश्रुतग्रन्थक्रमात् ।
१२. अर्थक्रमस्य—अर्थानुरोधिनो ग्रन्थक्रमस्य ।
१३. अर्थवशादिति—अर्थस्यान्यथाऽनुपपन्नत्वादिति यावत् ।
१४. गौराङ्गत्वम् ।
१५. दुर्गुणरहितत्वम् ।

मश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१४॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे [1]कपिलः[2]पिङ्गलो जायेत द्वौ वेदावनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१५॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादित्यु[3]दौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१६॥

खावें। इससे वे दोनों वैसे पुत्र को उत्पन्न करने में समर्थ हो जाते हैं ॥ १४ ॥

जो पुरुष चाहे कि मेरा पुत्र कपिल या पिङ्गल वर्ण का हो, दो वेदों का अध्ययन करे, पूर्ण आयु सौ वर्ष तक जीवित रहे; तो वे दोनों पति-पत्नी दधि के साथ भात पकाकर घी डालकर खावें। इससे वे उक्त योग्यता वाले पुत्र को उत्पन्न कर सकते हैं ॥ १५ ॥

जो पुरुष चाहे कि मेरा पुत्र श्याम वर्ण लाल नेत्र वाला हो, तीन वेदों का अध्ययन करे और पूर्ण आयु सौ वर्ष तक जीवित रहे तो वे दोनों पति पत्नी केवल जल में चावल पकाकर घी मिलाकर खावें। इससे वे उक्त योग्यता वाले पुत्र को उत्पन्न कर सकते हैं ॥ १६ ॥

क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ समर्थौ जनयितवै जनयितुम् ॥ १४ ॥

दध्योदनं दध्ना [4]चरुं पाचयित्वा द्विवेदं चेदिच्छति पुत्रं तदैवमशननियमः ॥१५॥

[5]केवलमेव स्वाभाविकमोदनम्। उदग्रहणमन्यप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थम् ॥ १६ ॥

शुक्लत्वम् ॥१४॥

॥१५॥

स्वाभाविकमोदनं पाचयति चेत्किमर्थमुदग्रहणं तद्व्यतिरेकेणौदनपाकसंभवादित्याशङ्क्याऽऽह—उदग्रहणमिति। [6]क्षीरादेरिति शेषः ॥१६॥

करे, पूरे सौ वर्ष की आयु जीए तो वे दोनों पति-पत्नी दूध की खीर पकाकर (और हवन कर) घी डाल कर खाएँ। इससे "ईश्वरो जनयितवै" अर्थात् उपरोक्त गुणयुक्त पुत्र उत्पन्न करने में वे समर्थ होते हैं ॥ १४ ॥

"दध्योदनम्" अर्थात् दही से चरु पकाकर (हवन कर) उसे ही भक्षण करने का विधान है,

---

[1] वर्णतः। [2] पिङ्गलाक्षः। [3] उदौदनम् —उदके ओदनं पाचयित्वेत्यर्थः। [4] चरुमिति—होमार्थं पाच्यमन्नं चरुः। यथाहुर्याज्ञिकाः—"अनवस्रावितानन्तरूष्मपाक ओदनश्चरुरिति' इति वाचस्पत्याभिधाने। [5] केवलमेव स्वाभाविकमिति—क्षीरादिविशेषणवर्जितं लोकप्रसिद्धमेवौदनमित्यर्थः। [6] क्षीरदध्नोः काम्यभेदे विनियुक्तत्वेन प्रसक्त्यभावादन्यत्वप्रतियोगिताश्रयं दर्शयति—क्षीरादेरिति। शेषेण क्षीरदधिभ्यामन्यस्येक्षुरसादेः प्राप्तिनिरासार्थमिति तदर्थः।

अथ य इच्छेद्दुहिता मे पण्डिता जायत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१७॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विगीतः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति [1]माꣳसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वाऽऽर्षभेण वा ॥१८॥

जो पुरुष चाहे कि मेरी पुत्री (गृह शास्त्र में निपुण हो) विदुषी हो जावे और पूर्ण आयु सौ वर्ष तक जीवित रहे, तो वे पति-पत्नी तिल और चावल की खिचड़ी बनाकर खावें। इससे वे उक्त योग्यता वाली कन्या को उत्पन्न कर सकते हैं ॥ १७ ॥

जो पुरुष चाहे कि मेरा पुत्र लोकविख्यात, पण्डित, विद्वानों की सभा में निर्भीक होकर जाने वाला तथा रमणीय संस्कृत सार्थक वाणी बोलने वाला हो, संपूर्ण वेदों का अध्ययन करे और पूर्ण आयु सौ वर्ष तक जीवित रहे, तो वे दोनों पति-पत्नी हलके फल के गूदे से मिश्रित चावल को पकाकर उसमें घी मिलाकर खावें। इससे वे उक्त योग्यता वाले पुत्र को उत्पन्न करने में समर्थ हो सकते हैं। उक्षा या ऋषभ नामक औषधि के गूदे के साथ खाने का नियम किया गया है, न कि साँड या बैल के माँस के साथ ॥ १८ ॥

दुहितुः पाण्डित्यं गृहकृत्यविषयमेव वेदेऽनधिकारात्। तिलौदनं [2]कृशरम् ॥१७॥ विविधं गीतो विगीतः प्रख्यात इत्यर्थः। समितिंगमः सभां गच्छतीति प्रगल्भ इत्यर्थः। पाण्डित्यस्य पृथग्ग्रहणात्। शुश्रूषितां श्रोतुमिष्टां रमणीयां वाचं भाषिता

वेदविषयमेव तत्पाण्डित्यं किं न स्यादत आह—वेद इति ॥१७॥ पाण्डित्यस्येति। सर्वंशब्दो समितिर्विद्वत्सभा तां गच्छतीति विद्वानेवोच्यतामिति चेन्नेत्याह—

यदि दो वेदों को जानने वाले पुत्र प्राप्ति की इच्छा हो ॥ १५ ॥
यदि दो वेदों को जानने वाले पुत्र प्राप्ति की इच्छा हो ॥ १५ ॥ दूध और दही से वियुक्त केवल लोक प्रसिद्ध भात (पकाकर) भक्षण करे। "उदौदनम्" पद में 'उद' ग्रहण अन्य प्रसङ्ग की निवृत्ति के लिए है ॥ १६ ॥

वेद में अधिकार न होने से पुत्री का पाण्डित्य गृहकृत्य के विषय में ही समझना चाहिये। "तिलौदनम्" नाम तिल और चावल की बनी खिचड़ी का है ॥ १७ ॥

"विगीतः" यानी विविध रूप जिसका गान हो अर्थात् प्रख्यात "समितिंगमः" नाम सभा में जाने

---

[1] मांसोदनमिति—"तण्डुलान् मांससंमिश्रान् पक्त्वा मांसोदनं विदुः"।

[2] कृशरमिति—"ओदनस्तिलसंमिश्रः कृशरः परिकीर्तित" इति स्मृतेः।

अथाभिप्रातरेव स्थालीपाकावृताऽऽज्यं चेष्टित्वा स्थालीपाकस्योपघातं जुहोत्यग्नये स्वाहाऽनुमतये स्वाहा देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नाति प्राश्येतरस्याः प्रयच्छति प्रक्षाल्य

तत्पश्चात् चौथे दिन नित्य क्रिया से निवृत्त हो प्रातः काल ही कूटने से तैयार हुए चावलों को लेकर स्थालीपाक की विधि से घृत का संस्कार करके स्थाली में से थोड़ा-थोड़ा अन्न लेकर "अग्नये स्वाहा, अनुमतये स्वाहा, देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा" इत्यादि मन्त्रों से तीन प्रधान आहुतियाँ देवे। इस प्रकार आहुति देकर स्थाली पाक से बचे हुए चरु को एक पात्र में निकाल कर उसमें घी मिला

संस्कृताया अर्थवत्या वाचो भाषितेत्यर्थः। मांसमिश्रमोदनं मांसौदनम्। [1]तन्मांसनियमार्थमाह—[2]औक्षेण वा मांसेन। उक्षा [3]सेचनसमर्थः पुंगवस्तदीयं मांसम्। ऋषभस्ततोऽप्यधिकवयास्तदीयमार्षभं मांसम् ॥ १८ ॥

[4]अथाभिप्रातरेव काले[5]ऽवघातनिवृत्तांस्तण्डुलानादाय स्थालीपाकावृता स्थालीपाकविधिनाऽऽज्यं चेष्टित्वा[6]ऽऽज्यसंस्कारं कृत्वा चरुं श्रपयित्वा [7]स्थालीपाकस्याऽऽहुतीर्जुहोत्यु-

---

वेदचतुष्टयविषयः। औक्षेणेत्यादितृतीया [8]सहार्थे। देशविशेषापेक्षया कालविशेषापेक्षया वा [9]मांसनियमः। [10]अथशब्दस्तु पूर्ववाक्येषु यथारुचि विकल्पार्थः ॥१८॥

कदा पुनरिदमोदनपाकादि कर्तव्यं तदाह—अथेति। कोऽसौ स्थालीपाकविधिः कथं वा [11]तत्र

वाले प्रगल्भ पुरुष का है क्योंकि विद्वान् का पृथक् ग्रहण किया गया है। "शुश्रूषितां वाचं भाषिता" अर्थात् सुनते रहने योग्य रमणीय सुशोभना और अर्थवती बोली हुई वाणी। "मा꣹सौदनम्" नाम माँस मिश्रित कर पकाये हुए ओदन का है। ओदन विशेषण माँस में नियम के लिए श्रुति कहती है —उक्षा के माँस के साथ। वीर्य का सेचन करने में समर्थ साँड ही उक्षा है। उसके माँस के साथ ओदन मिश्रित कर। ऋषभ उससे अधिक आयु वाले साँड का नाम है, उसके माँस के साथ मिश्रित ओदन को (खाकर ऐसा पुत्र उत्पन्न करे) ॥ १८ ॥

चौथे दिन प्रातःकाल ही कूटने से तैयार हुए चावलों को लेकर "स्थालीपाकावृता" अर्थात्

---

[1] ओदनविशेषणमांसनियमार्थम्। [2] 'औक्षमनपत्ये' इति अणि टिलोपो निपात्यते। [3] रेतसः सेचनसमर्थः। [4] चतुर्थेऽहनि। [5] भार्याकण्डितान्। [6] विलापनादिसंस्कारम्। [7] स्थालीपाकस्य — स्थाल्यां पक्वस्य चरोरिति कर्मणि षष्ठी उपघातमित्यत्रान्वयः। [8] सहार्थे इति—तथा सति औक्षेणार्षभेण वा मांसेन सहौदनं पाचयित्वेत्यर्थः। [9] मांसनियम इति—अद्यत्वे त्वार्यास्तन्मांसं कृष्णमृगस्य च्छागस्य वाऽनुमन्वत इति स्पष्टं वार्तिके। [10] अथ य इच्छेदित्यादि बहुवारमथशब्दप्रयोगस्य तात्पर्यमाह—अथशब्दस्त्विति। [11] तत्र—मन्थकर्मणि।

पाणी उदपात्रं पूरयित्वा तेनैनां त्रिरभ्युक्षत्युत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सहेति ॥१९॥

[1]अथैनामभिपद्यतेऽमोऽहमस्मि सा त्वꣳसा त्वमस्य-मोऽहं सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि

कर पति पहले स्वयं भोजन करे, शेष उच्छिष्ट अपनी पत्नी को देवे। इसके अनन्तर हाथ-पैर धोकर शुद्ध आचमन करके जलपात्र को भरकर उसी जल से अपनी पत्नी का "उत्तिष्ठातः" इत्यादि मन्त्र से तीन बार अभिषेक करे, पर मन्त्र एक ही बार पढ़े ॥ १९ ॥

इसके बाद पति अपनी कामना के अनुसार पत्नी को खीर आदि भोजन कराने के पश्चात् उसके साथ शयन करे। उस समय "अमोऽहमस्मि" इत्यादि मन्त्र का उच्चारण कर अपनी पत्नी का आलिङ्गन करे। मन्त्रार्थ यह है—हे देवि! मैं प्राण हूँ, तुम वाक् हो, तुम वाक् हो, मैं प्राण हूँ। मैं साम

पधातमु[2]पहृत्योपहृत्याग्नये स्वाहेत्याद्याः। गार्ह्यः सर्वो विधिर्द्रष्टव्योऽत्र हुत्वोद्धृत्य चरुशेषं प्राश्नाति स्वयं प्राश्येतरस्याः पत्न्यै प्रयच्छत्युच्छिष्टम्। [3]प्रक्षाल्य पाणी आचम्योदपात्रं पूरयित्वा तेनोदकेनैनां त्रिरभ्युक्षत्यनेन मन्त्रेणोत्तिष्ठात इति सकृन्मन्त्रोच्चारणम् ॥ १९ ॥

[4]अथैनाम[5]भिमन्त्र्य क्षीरौदनादि [6]यथापत्यकामं भुक्त्वेति क्रमो द्रष्टव्यः। संवेशन-

---

होमस्तत्राऽऽह—गार्ह्य इति। गृह्ये प्रसिद्धो गार्ह्यः। अत्रेति पुत्रमन्थकर्मोक्तिः। अतो मद्भार्यातः सकाशाद्धो विश्वावसो गन्धर्व त्वमुत्तिष्ठान्यां च जायां प्रपूर्व्यां तरुणीं पत्या सह संक्रीडमानामिच्छाहं पुनः स्वामिमां जायां समुपैमीति मन्त्रार्थः ॥१९॥

अभिपत्तिरालिङ्गनम्। कदा क्षीरोदनादिभोजनं तदाह—क्षीरेति। भुक्त्वाऽभिपद्यत इति

स्थालीपाक विधि से "आज्यं चेष्टित्वा" अर्थात् विलापनादि के द्वारा घी का संस्कार करके चरु को पकाकर स्थालीपाक की आहुति दे। उसमें से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करके "अग्नये स्वाहा" इत्यादि तीन मन्त्रों से हवन करे। यह सब विधि गृह्यसूत्रों में वर्णन की गई है। हवन करके अवशिष्ट चरु को एक पात्र में निकालकर पति "प्राश्नाति" अर्थात् स्वयं भोजन करे, "प्राश्येतरस्याः" अर्थात् खाकर पत्नी को उच्छिष्ट भाग को दे दे। फिर हाथों को धोकर, शुद्ध जल से आचमन कर, जलपात्र को भरकर उसी जल से पत्नी का तीन बार "उत्तिष्ठातः" इत्यादि मन्त्र के द्वारा अभिषेक करे। उक्त मन्त्र का एक बार ही पाठ करना चाहिये ॥ १९ ॥

इसके बाद इसे आलिङ्गन के लिए प्रार्थना करके अभीष्ट गर्भाधान के लिए क्षीरौदनादि

---

१. अथेति—एवं गन्धर्वं प्रस्थाप्य यथाकामं क्षीरौदनादिभोजनान्तरम्। २. स्वल्पं स्वल्पं गृहीत्वेति यावत्। ३. प्रक्षाल्य पाणी इति—शुद्धाचमनं विधायेति यावत्। ४. अथेति—गन्धर्वप्रस्थापनानन्तरमालिङ्गने प्रतिबन्धाभावोऽथशब्दार्थः। ५. आलिङ्गनार्थं संप्रार्थ्यं। ६. अभीष्टगर्भाधानार्थम्।

सꣳरभावहै सह रेतो दधावहै पुꣳसे पुत्राय वित्तय इति ॥२०॥

[1]अथास्या ऊरू [2]विहापयति विजिहीथां द्यावापृथिव इति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳसधाय त्रिरेनामनुलोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिꣳशतु। आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते।

तुम ऋक् हो, मैं आकाश हूँ, तुम पृथिवी हो। अतः आओ, हम दोनों दम्पति परस्पर आलिङ्गन करें। एक साथ रेत धारण करें जिससे कि हम लोगों को पुरुषत्वविशिष्ट पुत्र की प्राप्ति हो ॥ २० ॥

उसके बाद पत्नी के दोनों जंघों को एक दूसरे से पृथक् करे। उस समय "विजिहीथां द्यावापृथिवी" इत्यादि मन्त्र का पाठ करे। अर्थात् हे जंघारूप आकाश और पृथिवी! तुम दोनों पृथक् हो जाओ। इसके बाद पत्नी की योनि में जननेन्द्रिय स्थापित कर उसके मुख से अपना मुख मिलाकर अनुलोम क्रम से (मस्तक से लेकर पैर तक के) पत्नी के अङ्गों का तीन बार मार्जन करे। उस समय "विष्णुर्योनिं कल्पयतु" इत्यादि मन्त्र का पाठ करे। अर्थात् हे प्रिय! व्यापक परमात्मा पुत्र की उत्पत्ति के लिये तेरी जननेन्द्रिय को सार्थक बनावें। भगवान् सूर्य तेरे तथा जनने वाले बालक के अङ्गों को विभागपूर्वक पुष्ट एवं दर्शन के योग्य बनावें। विराट् प्रजापति तुझ में अभिन्न भाव से स्थित हो

कालेऽमोऽहमस्मीत्यादिमन्त्रेणा[3]भिपद्यते ॥ २० ॥

अथास्या ऊरू विहापयति विजिहीथां द्यावापृथिवी इत्यनेन[4]। तस्यामर्थमित्यादि

संबन्धः। अहं पतिरमः प्राणोऽस्मि सा त्वं वागसि कथं तव प्राणत्वं मम वाक्त्वमित्याशङ्क्य वाचः प्राणाधीनत्ववत्तव मदधीनत्वादित्यभिप्रेत्य सा त्वमित्यादि पुनर्वचनम्। ऋगाधारं हि साम गीयते। अस्ति च मदाधारत्वं [5]तव। [6]तथा च मम सामत्वमृक्त्वं च तव। द्यौरहं पितृत्वात्पृथिवी त्वं मातृत्वात्तयोर्मातापितृत्वसिद्धेरित्यर्थः। तावावां संरभावहै संरम्भमुद्यमं करवावहै। एहि त्वमागच्छ। कोऽसौ संरम्भस्तमाह—सहेति। पुंस्त्वयुक्तपुत्रलाभाय रेतोधारणं कर्तव्यमित्यर्थः ॥२०॥

ऊर्वोः संबोधनं द्यावापृथिवी इति। विजिहीथां विश्लिष्टे भवेतं युवामित्यर्थः। विष्णुर्व्यापनशीलो भगवान्भवत्या योनिं कल्पयतु पुत्रोत्पत्तिसमर्थां करोतु। त्वष्टा सविता [7]तव रूपाणि पिंशतु विभागेन दर्शनयोग्यानि करोतु। प्रजापतिर्विराडात्मा मदात्मना स्थित्वा त्वयि रेतः समासिञ्चतु

का भोजन करके, इत्यादि क्रम समझना चाहिये। संवेशन काल में "अमोऽहमस्मि..." इत्यादि मन्त्र से आलिङ्गन करे ॥ २० ॥

इसके बाद "विजिहीथां द्यावापृथिवी" इस मन्त्र से पत्नी की दोनों जाँघों को एक दूसरी से

---

१. आलिङ्गनानन्तरम्। २. विश्लेषयेत्। ३. अभिपद्यते—आलिङ्गेदित्यर्थः। ४. मन्त्रेण। ५. तवेति—अवाच्यकर्मणीति शेषः। ६. तथा चेति—ऋक् पत्न्योर्गानावाच्यकर्मसमये साम पुरुषयोराधारत्वसामान्ये सति। ७. त्वद्गर्भावयवानिति यावत्।

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके । गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥२१॥

हिरण्मयी अरणी याभ्यां निर्मन्थतामश्विनौ । तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतये । यथाऽग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी । वायुर्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधामि तेऽसाविति ॥२२॥

तुझ से गर्भ का आदान करे एवं धाता तेरे गर्भ का धारण पोषण करे। जिसकी अत्यन्त स्तुति की जाती है, वह सिनीवाली (अमावस्या) तुम हो। अतः इस गर्भ को धारण करो। सूर्य तथा चन्द्रदेव अपनी रश्मि रूप कमलों की माला पहिन कर अभिन्न भाव से तुझमें स्थित हों, तुझमें गर्भ का आधान करें॥ २१ ॥

प्राचीन काल में अरणि तेजोमयी थी, जिनसे अश्विनीकुमारों ने मन्थन किया। उसी से प्रकट हुए उस अमृत रूप गर्भ को मैं तुझमें स्थापित करता हूँ। इसे तू दशवें मास में उत्पन्न कर। जैसे पृथिवी का गर्भ अग्नि है, जैसे स्वर्ग-भूमि इन्द्र से गर्भवती है, जैसे वायु दिशाओं का गर्भ है, वैसे ही मैं तुझमें पुत्र रूप गर्भ का आधान करता हूँ। हे अमुकदेवि! (अन्त में पत्नी का नाम उच्चारण करे)॥ २२ ॥

पूर्ववत् । त्रिरेनां शिरःप्रभृत्यनुलोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिमित्यादि प्रतिमन्त्रम् ॥ २१ ॥

अन्ते नाम गृह्णात्यसाविति तस्याः ॥ २२ ॥

प्रक्षिपतु। धाता पुनः सूत्रात्मा त्वदीयं गर्भं त्वदात्मना स्थित्वा दधातु धारयतु पुष्णातु च। सिनीवाली दर्शाहर्देवता त्वदात्मना वर्तते। पृथुष्टुका विस्तीर्णस्तुतिर्भोः सिनीवालि पृथुष्टुके गर्भमिमं धेहि धारय। अश्विनौ देवौ सूर्याचन्द्रमसौ स्वकीयरश्मिमालिनौ तव गर्भं [1]त्वदात्मना स्थित्वा समाधत्ताम् ॥ २१ ॥

ज्योतिर्मय्यावरणी प्रागासतुर्याभ्यां [2]गर्भमश्विनौ निर्मथितवन्तौ तं तथाभूतं गर्भं ते जठरे दधावहै दशमे मासि प्रसवार्थम्। आधीयमानं गर्भं दृष्टान्तेन दर्शयति—यथेति। इन्द्रेण सूर्येणेति यावत्। असाविति पत्युर्वा निर्देशः। तस्या नाम गृह्णातीति पूर्वेण संबन्धः ॥ २२ ॥

वियुक्त करे। उसकी यानि में अपना लिङ्ग प्रवेश करके—इत्यादि व्याख्या पूर्ववत् ही है। "विष्णुर्योनिं कल्पयतु" इत्यादि मन्त्रों में से प्रत्येक को पढ़कर पत्नी के शिर प्रभृति सभी अङ्गों का स्पर्श करे॥ २१ ॥

मन्त्र में "असौ" पद 'पत्नी को गर्भाधान कर अन्त में उसके नाम का उच्चारण करे' इसलिए ग्रहण किया गया है॥ २२ ॥

---

१. मदात्मनेति पाठान्तरम् । २. अमृतरूपम् ।

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति । यथा वायुः पुष्करिणीꣳ समिङ्गयति सर्वतः । एवा ते गर्भ एजतु सहावैतु जरायुणा । इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गलः सपरिश्रयः । तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सावराꣳ सहेति ॥२३॥

जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय कꣳसे पृषदाज्यꣳ संनीय पृषदाज्यस्योपघातं जुहोत्यस्मिन्सहस्रं पुष्यासमेधमानः

प्रसव काल में सुखपूर्वक प्रसव के लिए प्रसव करने वाली स्त्री के ऊपर "यथा वायुः" इत्यादि मन्त्र का उच्चारण कर जल सींचे। मन्त्रार्थ यह है—जैसे वायु तालाब के जल को सभी ओर से चञ्चल कर देता है, वैसे ही तेरा गर्भ अपने स्थान से चले एवं जेर से सहित बाहर आ जावे। प्रसूति वायु रूप इन्द्र के लिये यह योनि मार्ग बना है, जो गर्भ वेष्टन से युक्त है। हे इन्द्र! उस मार्ग पर पहुँच जा और गर्भ एवं माँसपेशियों के साथ बाहर निकल आ ॥ २३ ॥

पुनर्जन्म होने पर पिता उसे अपनी गोद में लेकर अग्नि की स्थापना कर काँसे के कटोरे में दधि मिला हुआ घी रखकर थोड़ा-थोड़ा अंश ले करके "अस्मिन् सहस्रम्" इत्यादि मन्त्र द्वारा अग्नि

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति प्रसवकाले सुखप्रसवनार्थमनेन मन्त्रेण। यथा वायुः [2]पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः। एवा ते गर्भ एजत्विति ॥ २३ ॥

[3]अथ जातकर्म। जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय पुत्रं कंसे पृषदाज्यं संनीय

समिङ्गयति स्वरूपोपघातमकृत्वैव चालयतीत्येतत्। एवा त एवमेव तव स्वरूपोपघातमकुर्वन्नेजतु गर्भश्चलतु। जरायुणा गर्भवेष्टनमांसखण्डेन सहावैतु निर्गच्छतु। इन्द्रस्य [4]प्राणस्यायं[5] व्रजो मार्गः सर्गकाले गर्भाधानकाले वा कृतः। सार्गल इत्यस्य व्याख्या सपरिश्रय इति, परिवेष्टनेन जरायुणा सहित इत्यर्थः। तं मार्गं प्राप्य त्वमिन्द्र गर्भेण सह निर्जहि निर्गच्छ। गर्भनिःसरणानन्तरं या मांसपेशी निर्गच्छति [6]सावरा तां च निर्गमयेत्यर्थः ॥ २३ ॥

घृतमिश्रं दधि पृषदाज्यमित्युच्यते। उपघातमित्याभीक्ष्ण्यं पौनःपुन्यं विवक्षितम्। पृषदाज्य-

---

प्रसवप्राप्त भार्या को प्रसवकाल में सुखप्रसव के लिए "यथा वायुः पुष्करिणीꣳसमिङ्गयति सर्वतः। एवा ते गर्भ एजतु..." इत्यादि मन्त्र से जल छिड़के ॥ २३ ॥

अब जातकर्म का निरूपण करते हैं। पुत्र के होने पर अग्नि को संस्थापित करके पुत्र को गोद में लेकर काँस्य पात्र में घृतमिश्रित दधि रखकर दही को घी में मिलाकर पृषदाज्य को थोड़ा-थोड़ा

---

१. सोष्यन्तीम्—प्रसवं प्राप्नुवतीं भार्याम्। २. पुष्करिणीम्—तडागम्। ३. अथेति—जातकर्मणो जन्माव्यवधानार्थोऽथशब्दः। कुमारे जाते सति पिता तमुत्सङ्गे आरोप्य। आवसथ्याग्निं कांस्यपात्रे दधिमिश्रं घृतमवस्थाप्य। पृषदाज्यस्य उपघातं स्वल्पं स्वल्पं गृहीत्वा जुहोति। तन्मन्त्रानाह—अस्मिन्निति। ४. प्राणस्य—प्रसूतिवायोः। ५. अयं प्रसिद्धो योन्याख्यः। ६. सावराख्या या मांसपेशी मांसपिण्डी निर्गच्छति तामित्यन्वयः।

स्वे गृहे । अस्योपसन्द्यां मा च्छैत्सीत्प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा । मयि प्राणाꣳस्त्वयि मनसा जुहोमि स्वाहा । यत्कर्मणाऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान्स्विष्टꣳ सुहुतं करोतु नः स्वाहेति ॥२४॥

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग्वागिति त्रिरथ दधि मधु घृतꣳ संनीयान्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयति ।

में आहुति डाले । मन्त्रार्थ यह है—मैं अपने इस घर में पुत्र रूप से वृद्धि को प्राप्त हुआ सहस्रों मनुष्यों का भरण-पोषण करने वाला होऊँ। मेरी इस संतति में पूजा और पशुओं के सहित संपत्ति का कभी भी विच्छेद न हो, स्वाहा । मुझमें जो प्राण है, उन्हें मैं तुझ पुत्र में होमता हूँ—स्वाहा । मैंने अनुष्ठेय कर्म के साथ कुछ अधिक या न्यून कार्य किया होगा तो मेरे उस कर्म को जानने वाले अग्नि देव अभीष्ट साधक होकर न्यूनातिरिक्त दोष से रहित कर दे—स्वाहा ॥ २४ ॥

"स्विष्टकृत" होम के बाद पिता बालक के दाहिने कान को अपने मुख के पास ले जाकर वाक्-वाक् ऐसे तीन बार कहे (अर्थात् तेरी बुद्धि में वेदत्रयी रूप वाणी पुष्ट हो जावे)। इसके अनन्तर

संयोज्य दधि घृते पृषदाज्यस्योपघातं जुहोत्यस्मिन्सहस्रमित्याद्या[1]वापस्थाने ॥ २४ ॥

[2]अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय स्वं मुखं वाग्वागिति त्रिर्जपेत् । अथ दधि मधु

स्याल्पमल्पमादाय पुनः पुनर्जुहोतीत्यर्थः । अस्मिन्स्वे गृहे पुत्ररूपेण वर्धमानो मनुष्याणां सहस्रं पुष्यासमनेकमनुष्यपोषको भूयासमस्य मत्पुत्रस्योपसन्द्यां संततौ प्रजया पशुभिश्च सह श्रीर्मा विच्छिन्ना भूयादित्याह—अस्मिन्निति । मयि पितरि ये प्राणाः सन्ति तान्पुत्रे त्वयि मनसा समर्पयामीत्याह—मयीति । अत्यरीरिचमित्यतिरिक्तं कृतवानस्मीह कर्मण्यकरमकरवं तत्सर्वं विद्वानग्निः स्विष्टं करोतीति स्विष्टकृद्भूत्वा स्विष्टमनधिकं सुहुतमन्यूनं चास्माकं करोत्वित्यर्थः ॥ २४ ॥

अस्य जातस्य शिशोरित्यर्थः । त्रयीलक्षणा वाक्त्वयि प्रविशत्विति जपतोऽभिप्रायः । एतैर्मन्त्रै-

---

लेकर "अस्मिन् सहस्रम्......" इत्यादि मन्त्र से अग्नि के आहुति विशेष प्रक्षेपस्थान में आहुति दे ॥ २४ ॥

जातकर्म करने के अनन्तर इस उत्पन्न शिशु के दाहिने कान को अपने मुख के पास लेकर "वाग्वागिति" इस मन्त्र का तीन बार जाप करे। फिर दधि, मधु और घृत को इकट्ठे मिलाकर

---

१. आवापस्थाने—आहुतिविशेषप्रक्षेपप्रदेशे । २. अथेति—स्विष्टकृद्धोमानन्तरं जातकर्मानन्तरमिति वार्थः ।

भूस्ते दधामि भुवस्ते दधामि स्वस्ते दधामि भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामीति ॥२५॥

अथास्य नाम करोति वेदोऽसीति तदस्य तद्गुह्यमेव नाम भवति ॥२६॥

[1]अथैनं मात्रे प्रदाय स्तनं प्रयच्छति यस्ते स्तनः सशयो

काँसे के कटोरे में दधि, मधु और घृत लेकर दूसरे धातु से न मिलने वाले विशुद्ध सोने की चम्मच से "भूस्ते" इत्यादि मन्त्र पढ़ कर बालक को चटावे। मन्त्रार्थ यह है—मैं तुझमें "भूर्लोक" की स्थापना करता हूँ, "भुवर्लोक" की स्थापना करता हूँ, "स्वर्लोक" की स्थापना करता हूँ, "भूर्भुवः स्वः" उन सभी लोकों की तुझमें स्थापना करता हूँ ॥ २५ ॥

इसके बाद शिशु का नामकरण करे। 'तुम वेद हो' अतः वेद यह उस बालक का गोपनीय नाम ही होता है ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् इस बालक को माता के गोद में देकर "यस्ते स्तनः" इत्यादि मन्त्र उच्चारण करते

घृतं [2]संनीयानन्तर्हितेना[3]व्यवहितेन जातरूपेण हिरण्येन प्राशयत्येतैर्मन्त्रैः प्रत्येकम् ॥२५॥

[4]अथास्य नामधेयं करोति [5]वेदोऽसीति। तदस्य तद्गुह्यं नाम भवति वेद इति ॥ २६ ॥

अथैनं मात्रे प्रदाय स्वाङ्कस्थं तनयं स्तनं प्रयच्छति यस्ते स्तन इत्यादिमन्त्रेण

भूंस्ते दधामीत्यादिभिरिति शेषः ॥ २५ ॥

वेदनाम्ना व्यवहारो लोके नास्तीत्याशङ्क्याऽऽह—तदस्येति। यत्तद्वेद इति नाम तदस्य गुह्यं भवति। वेदनं वेदोऽनुभवः सर्वस्य निजं स्वरूपमित्यर्थः ॥ २६ ॥

[6]हे सरस्वति यस्ते स्तनः सशयः शयः [7]फलं तेन सह वर्तमानो यश्च [8]सर्वप्राणिनां स्थितिहेत्व-

---

"अनन्तर्हितेन" अर्थात् वस्त्रादि वस्त्वन्तर के व्यवधान रहित "जातरूपेण" अर्थात् सोने की चम्मच से "भूस्ते दधामि..." इत्यादि मन्त्रों से प्रत्येक को जपकर चटावे ॥ २५ ॥

हिरण्यप्राशन के अनन्तर इस शिशु का नामकरण करे। तुम सब की प्रत्यगात्मा वेद हो। अतः वेद उस नवजात शिशु का गुह्य नाम है ॥ २६ ॥

नामकरण से बाद अपनी गोद में स्थित पुत्र को माता की गोद में देकर "यस्ते स्तनः" इत्यादि

---

१. अथ—नामकरणानन्तरम्। एन स्वाङ्कस्थं सुतम्। तन्मातुरङ्के दत्वा मातुः स्तनं कुमारमुखे प्रयच्छति पिता। स्तनप्रदानमन्त्रमाह—यस्त इति। २. संनीय एकीकृत्य। ३. अव्यवहितेन—वस्त्रादिवस्त्वन्तरव्यवधानरहितेन। ४ अथ हिरण्यप्राशनानन्तरम्। अस्य शिशोः। ५. वेदोऽसि—सर्वस्य प्रत्यगात्मा त्वं भवसीत्यर्थः। ६. हे सरस्वतीति। अत्रेदं बोध्यम्—यावत्यः कृष्यादिविद्यास्ते सर्वे सरस्वत्या स्तनास्तेषां च सशयादित्वं प्रसिद्धमेवेति। ७. शेतेऽस्मिन् कर्तेति शयः कर्मफलम्। ८. मयोभूरित्यस्यार्थमाह—सर्वप्राणिनामिति। मयोऽन्नम्।

यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः । येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे करिति ॥२७॥ अथास्य मातरमभिमन्त्रयते । इलाऽसि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनत् । सा त्वं वीरवती भव याऽस्मा-

हुए बालक के मुख में स्तन देवे । मन्त्रार्थ यह है—हे सरस्वति ! तेरा जो स्तन दुग्ध का अक्षय भण्डार तथा जीवन का आधार है, जो रत्नों की खानि के जैसे है एवं संपूर्ण धन का जानने वाला उदार दाता है और जिससे तुम समस्त वरणीय वस्तुओं का पोषण करती हो । इस शिशु के जीवनार्थ उस स्तन को मेरी पत्नी के शरीर में प्रविष्ट कर दो । बालक के मुख में स्तन दे देवे ॥ २७ ॥

इसके बाद "इलाऽसि" इत्यादि मन्त्रों से इस बालक की माता को अभिमन्त्रित करे । मन्त्रार्थ यह है—हे देवि ! तू स्तुति के योग्य अरुन्धति है । हे वीरे ! तूने वीर पुत्र का जन्म दिया है । अतः

॥ २७ ॥

[1]अथास्य मातरमभिन्त्रयत इलाऽसीत्यनेन[2] । तं वा [3]एतमाहुरित्यनेन विधिना जातः पुत्रः पितरं पितामहं [4]चातिशेत इति श्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन परमां निष्ठां प्रापदित्येवं

स्वभावेन जातो यश्च [5]रत्नधा अन्नस्य पयसो वा धाता यश्च वसु कर्मफलं तद्विन्दतीति वसुवित् । यश्च सुष्ठु ददातीति [6]सुदत्रो येन च स्तनेन विश्वा विश्वानि वार्याणि वरणीयानि देवादीनि भूतानि त्वं पुष्यसि तं स्तनं मदीयपुत्रस्य धातवे पानाय मदीयभार्यास्तने प्रविष्टं कुर्वित्यर्थः ॥ २७ ॥

इला स्तुत्या भोग्याऽपि । मित्रावरुणाभ्यां संभूतो मैत्रावरुणो वसिष्ठस्तस्य भार्या मैत्रावरुणी सा चारुन्धती तद्वत्त्वं तिष्ठसीति भार्यां संबोधयति—मैत्रावरुणीति । वीरे पुरुषे मयि निमित्तभूते भवती वीरं पुत्रमजीजनत् । सा त्वं वीरवती [7]जीवबहुपुत्रा भव । या भवती वीरवतः पुत्रसंपन्नानस्मानकर-

---

मन्त्र से उस माता का स्तन बालक के मुख में दे देवे ॥ २७ ॥

स्तन के अनन्तर "इलाऽसि..." इत्यादि मन्त्र से बालक की माता की प्रार्थना करे । "तं वा एतमाहुः" इस मन्त्र द्वारा उक्त विधि से उत्पन्न पुत्र पितां और पितामह को अतिक्रमण कर प्रतिष्ठित होता है । इस प्रकार तू लक्ष्मी, कीर्ति तथा ब्रह्मचर्य के द्वारा पराकाष्ठा को पहुँच गया; इस प्रकार

---

१. अथ—स्तनदानानन्तरम् । २. मन्त्रेण । ३. उक्तविधिनोत्पन्नं पुत्रम् । ४. अतिक्रम्य वर्तते । ५. रत्नधेति—रत्नस्य रमणीयस्येति शेषः । ६. कल्याणप्रदः । ७. जीवद्बहुपुत्रेति पाठान्तरम् ।

न्वीरवतोऽकरदिति । तं वा एतमाहुरतिपिता बताभूरतिपितामहो बताभूः परमां बत काष्ठां प्रापच्छ्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन [1]य एवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायत इति ॥२८॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

वीरवती हो, ऐसे पुत्र से तूने मुझे भी वीरवान् बना दिया । इस पुत्र को देखकर दूसरे लोग कहें, तू तो अपने पिता से भी बढ़ गया निःसन्देह तू अपने पितामह से भी आगे निकल गया । तू लक्ष्मी, कीर्ति तथा ब्रह्मतेज के द्वारा उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया है । ऐसा विशिष्ट ज्ञान से संपन्न पुत्र जिस ब्राह्मण को होता है, तो वह पिता उस पुत्र की भाँति स्तुति का पात्र हो जाता है ॥ २८ ॥

स्तुत्यो भवतीत्यर्थः । यस्य [2]चैवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायते [3]स चैवं स्तुत्यो भवतीत्यध्याहार्यम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये षष्ठाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

त्कृतवतीति मन्त्रार्थः । पितरमतीत्य वर्तत इत्यतिपिता । अहो महानेष विस्मयो यत्पितरं पितामहं च सर्वमेव वंशमतीत्य सर्वस्मादधिकस्त्वं जातोऽसीत्यर्थः । न केवलं पुत्रस्यैवेयं स्तुतिरपि तु यथोक्तपुत्रसंपन्नस्य पितुरपीत्याह—यस्येति ॥ २८ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां षष्ठाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

लोग उसकी स्तुति करते हैं । मन्थकर्मानुष्ठाता प्राण का उपासक जिस ब्राह्मण को ऐसा पुत्र होता है वह पिता भी इस पुत्र की भाँति स्तुति करने योग्य हो जाता है; ऐसा अध्याहार कर लेना चाहिये ॥ २८ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में षष्ठाध्यायस्थ चतुर्थ ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दी भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ४ ॥

---

[1] यस्यैवंविद इत्येव पाठो भाष्यादवगम्यते । [2] एवंविदः—मन्थकर्मानुष्ठातुः प्राणोपासकस्य । [3] स च—पिता । एवं—पुत्रवत् ।

(अथ षष्ठाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम्।)

अथ वꣳशः। पौतिमाषीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात्कात्यायनीपुत्रो गौतमीपुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्रा-

(अब समस्त प्रवचन वंश की आचार्य वंशपम्परा का वर्णन किया जाता है—) पौतिमाषी पुत्र ने कात्यायनी पुत्र से, कात्यायनी पुत्र ने गौतमी पुत्र से, गौतमी पुत्र ने भारद्वाजी पुत्र से, भारद्वाजी

'अथेदानीं समस्तप्रवचनवंशः। 'स्त्रीप्राधान्यात्। गुणवान्पुत्रो भवतीति प्रस्तुतम्।

सांनिध्यात्खिलकाण्डस्य वंशोऽयमिति शङ्कां निवर्तयन्वंशब्राह्मणतात्पर्यमाह—अथेति। 'विद्या-
भेदादतीतस्य काण्डद्वयस्य प्रत्येकं वंशभाक्त्वेऽपि नास्य पृथक्तद्भागित्वं खिलत्वेन 'तच्छेषत्वात्।
'तथा च 'समाप्तौ पठितो वंशः समस्तस्यैव प्रवचनस्य 'भविष्यतीत्यर्थः। पूर्वौ वंशौ पुरुषविशेषितौ
तृतीयस्तु 'स्त्रीविशेषितस्तत्र किं कारणमित्याशङ्क्याऽऽह– स्त्रीप्राधान्यादिति। 'तदेव स्फुटयति—गुण-

---

इसके बाद काण्डत्रयात्मक वेद की आचार्यपरम्परा का क्रम कहा जाता है। (पुत्रवैशिष्ट्य
प्रयोजक) पूर्वोक्त स्त्रीवैशिष्ट्य प्रकाशनार्थक होने से इसका प्रतिपादन करना आवश्मक है। (पुत्रमन्थ

---

१. श्रौताथशब्दार्थमाह—इदानीमिति। कृत्स्नप्रवचनसमाप्त्यवसरे। समस्तप्रवचनेति—समस्तस्य प्रकृतस्य काण्ड-
त्रयात्मकस्य वेदस्य। वंश आचार्यपरम्पराक्रम उच्यत इति शेषः। २. स्त्रीप्राधान्यादिति—पूर्वत्र गुणवत्पुत्रहेतु-
त्वेन। प्राधान्यतः स्त्रीणामेव प्रस्तुतत्वादित्यर्थः। पुत्रवैशिष्ट्यप्रयोजकपूर्वोक्तस्त्रीवैशिष्ट्यप्रकाशनार्थत्वात्प्राधान्यतो
ऽस्य वंशस्येति यावत्। ३. विद्याभेदादतीतस्य काण्डद्वयस्येति। अत्रेदं बोध्यम्—अतीतं काण्डद्वयं मधुमुनिकाण्ड
यद्यपि एकब्रह्मविद्याविषयकमेव न तु तयोर्ब्रह्मविद्या भिद्यते तथापि विद्याप्रयोजकभेदद्वारकविद्याभेदमादाय काण्ड-
भेदमभ्युपेत्य प्रत्येकं वंशभाक्त्वमिति। तत्र मधुकाण्डे ह्यागमो विद्याप्रयोजकस्तस्यागमप्रधानत्वात्। मुनिकाण्डे
चोपपत्तिर्विद्याप्रयोजिका तस्य तत्प्रधानत्वात्। यथाहुर्भाष्यकृतः—मधुकाण्डं ह्यागमप्रधानं याज्ञवल्कीयं चोप-
पत्तिप्रधानमिति। ४. तच्छेषत्वादिति—शेषस्य च शेषिवंशेनैव वंशवत्त्वादिति भावः। ५. तथा च—
शेषस्य पृथग्वंशानपेक्षत्वेन अस्य वंशस्य खिलैकशेषत्वाभावे चेत्यर्थः। ६. समाप्तौ—समस्तस्य प्रवचनस्येति
शेषः। ७. शेषः। ८. स्त्रीविशेषितपुत्रविशेषणकः। ९. स्त्रीप्राधान्यमेव।

❀ अथेदानीं समस्तप्रवचनवंश इति भाष्यमत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"संभावितं न यत्पूर्वं कृत्स्नेऽस्मि-
न्ब्राह्मणेऽपि तत्। खिलकाण्डे तदखिलं पुत्रमन्थान्तमीरितम्॥ पूर्वकाण्डैकदेशत्वात्खिलकाण्डं न वंशभाक्।
पूर्वत्र विद्यासंभेदाद्भिन्नौ वंशाविहोदितौ॥ पूर्वैश्चतुर्भिरध्यायैस्त्वाष्ट्रं कक्ष्यं च यन्मधु। व्याख्यातं तदशेषेण
वंशस्तत्र तदर्थभाक्॥ मधुकाण्डागमार्थस्य यथावत्प्रतिपत्तये। काण्डं स्याद्याज्ञवल्कीयं वंशस्तद्विषयस्तथा॥
अयं तु वंशो विज्ञेयः कृत्स्नप्रवचनाश्रयः। समाप्तौ ब्राह्मणस्योक्तेरयमर्थोऽवसीयते॥ उक्तवेदार्थविज्ञानसाकल्य-
प्रतिपत्तये। जपो वंशस्य येनातः श्रुत्या वंश इहोदितः॥ सर्वज्ञानां यतो वंशास्त्रयोऽप्येते यथोदिताः। अतस्त-
त्स्मृतितः सम्यग्ज्ञानभानूदयो भवेत्॥ पुत्रमन्थेन संस्कारः स्त्रीणामेवेह वर्णितः। यतोऽतः स्त्रीप्रधानोऽयं
पुत्राणां वंश उच्यते॥ अन्यतोऽन्यत एवायं संप्रदायो यथाऽभवत्। न तथा ब्रह्मणस्तस्मात्तत्स्वयंम्भिवति शब्द्यते॥
अन्येषां वेदतो ज्ञानं भूरिसाधनसंश्रयात्। स्वतो वेदात्मनस्तस्मात्सर्वज्ञानमयो हि सः॥ सर्वस्यैष वशीत्यादि

**द्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्र औप-
स्वस्तीपुत्रादौपस्वस्तीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रः
कात्यायनीपुत्रात्कात्यायनीपुत्रः कौशिकीपुत्रात्कौशिकी-
पुत्र आलम्बीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्राच्च वैयाघ्र-
पदीपुत्रः काण्वीपुत्राच्च कापीपुत्राच्च कापीपुत्रः ॥१॥**

पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने औपस्वस्ती पुत्र से, औपस्वस्ती पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने कात्यायनी पुत्र से, कात्यायनी पुत्र ने कौशिकी पुत्र से, कौशिकी पुत्र ने आलम्बी पुत्र से और वैयाघ्रपदी पुत्र से, बैयाघ्रपदी पुत्र ने काण्वी पुत्र से तथा कापी पुत्र से, कापी पुत्र ने ॥१॥

[1]अतः [2]स्त्रीविशेषणेनैव [3]पुत्रविशेषणादाचार्यपरम्परा कीर्त्यते । तानीमानि शुक्लानीत्य-

वानिति । कीर्त्यते ब्राह्मणेनेति संबन्धः । शुक्लानि यजूंषीत्यस्य व्याख्यानमव्यामिश्राणीति दोषैर॰

विद्या में स्त्रीप्राधान्य होने से ही) गुणवान् पुत्र होता है–ऐसा कहा जा चुका है । इसलिये स्त्रीवैशिष्ट्य-प्रयुक्त वैशिष्ट्य के समान पुत्रों की विशेषता को ग्रहण कर इस आचार्यपरम्परा का पाठ किया जाता

---

१. अत इत्येतत्स्त्रीप्राधान्यादित्यनेन समानार्थकम् । २. स्त्रीविशेषणे नैवेत्यादि—स्त्रीवैशिष्ट्यप्रयुक्तवैशिष्ट्यवत्पुत्रानेव विशेषणत्वेनादायेयमाचार्यपरम्परा पठ्यत इत्यर्थः । ३. पुत्रविशेषणादित्येषा ल्यब्लोपे पञ्चमी मन्तव्या ।

तथाऽपि प्रागवादिषम् । परैव देवता वेदो यच्च किंचिच्चराचरम् ॥ प्रतिपाद्याऽऽत्मनाऽऽत्मनं नामरूपादिसाधनः । एति पूर्णात्मतां साक्षाद्धियां वाचामगोचरम् ॥ त्रय्यैव ब्राह्मणो विद्वानात्मनैवाद्वयं परम् । विदित्वा निर्वृतिं याति कार्यकारणयोः पराम् ॥ वेदोऽसीत्यत एवास्य नाम जातस्य कुर्वते वेदात्मना कथं नाम परं ब्रह्म प्रपत्स्यते ॥ वाजिशाखासु सर्वासु ह्यासुरायणपूर्वकाः । समाना वंशर्षयोऽमी ह्या समाप्तेरितीक्ष्यताम् ॥ आदित्येन हि प्रोक्तानि यजूंष्येतानि यानि तु । आदित्यानीत्यतस्तानि सम्यगाचक्षते बुधाः ॥ वेदात्मनो रवेरेवं संप्रदायोऽयमागतः । परमेष्ठ्यादिकान्सर्वान्पारंपर्येण मानुषान् ॥ असंसृष्टं परं ब्रह्म सर्वदोषविवर्जितम् । एतदादित्यगं भाति तद्वेदानां परं वपुः ॥ उत्सन्नमपि यद्ब्रह्म तदादित्ये न नश्यति । तदार्षेणैव विन्दन्ति तपस्तप्त्वा महर्षयः ॥ वेदब्रह्मण आरभ्य सर्वेषामपि शाखिनाम् । सांजीवीसूनुपर्यन्तो वंश एको न भिद्यते ॥ सांजीवीपुत्रतस्त्ववक्प्रतिशाखं पृथक्पृथक् । आचार्यभेदाद्भिद्यन्ते वंशा वाजसनेयिनाम्” ॥ १२१ ॥ इति । वंशब्राह्मणार्थकथनार्थं वृत्तं संकीर्तयति—संभावितमिति । यत्तत्पूर्वं काण्डद्वये सर्वत्रापि ब्राह्मणे वक्तुं न संभावनोपनीतं वक्तव्यत्वेन शिष्टं तत्सर्वमस्मिन्काण्डे पुत्रमन्थावसानमुक्तमित्यर्थः ॥ प्रत्येकं मधुमुनिकाण्डयोर्वंशभावत्ववदस्यैवायं वंशः संनिधानात्तथाच कथं समस्तप्रवचनवंश इति भाष्यमित्याशङ्क्याऽऽह—पूर्वेति । तदेकदेशत्वं तत्रानुक्तस्य वक्तव्यत्वेनावशिष्टस्यात्रोक्तेरिति द्रष्टव्यम् । कथं पूर्वोक्तयोरपि प्रत्येकं वंशभाक्त्वं तत्राऽऽह—पूर्वत्रेति । इहेति चतुर्थान्तं षष्ठान्तं चाऽऽह ॥ कथं काण्डद्वयस्य भिन्नविद्याविषयत्वं न हि ब्रह्मविद्योभयत्र भिद्यते भेदकाभावादित्याशङ्क्य मधुकाण्डार्थं दर्शयन्वंशस्य तत्रार्थवत्तामाह —पूर्वैरिति । द्वितीयस्तच्छब्दस्तस्मादर्थः । अर्थभाक्चतुर्थान्ते वंशो

आत्रेयीपुत्रादात्रेयीपुत्रो गौतमीपुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रो वात्सीपुत्राद्वात्सीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद्वार्कारुणीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद्वार्कारुणीपुत्र आर्तभागीपुत्रादार्तभागीपुत्रः शौङ्गीपुत्राच्छौङ्गीपुत्रः सांकृतीपुत्रात्सांकृतीपुत्र आलम्बायनीपुत्रादालम्बायनीपुत्र आलम्बीपुत्रादालम्बीपुत्रो जायन्तीपुत्राज्जायन्तीपुत्रो माण्डूकायनीपुत्रान्माण्डू-

आत्रेयी पुत्र से, आत्रेयी पुत्र ने गौतमी पुत्र से, गौतमी पुत्र ने भारद्वाजी पुत्र से, भारद्वाजी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने वात्सी पुत्र से, वात्सी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने वार्कारुणी पुत्र से, वार्कारुणी पुत्र ने वार्कारुणी पुत्र से. वार्कारुणी पुत्र ने आर्तभागी पुत्र से, आर्तभागी पुत्र ने शौङ्गी पुत्र से, शौङ्गी पुत्र ने सांकृति पुत्र से, सांकृति पुत्र ने आलम्बायनी पुत्र से, आलम्बायनी पुत्र ने आलम्बी पुत्र से, आलम्बी पुत्र ने जायन्ती पुत्र से, जायन्ती पुत्र ने माण्डूकायनी पुत्र से, माण्डूका-

---

व्यामिश्राणि ब्राह्मणेन । अथ ताऽयातयामानीमानि यजूंषि तानि शुक्लानि शुद्धानीत्येतत् ।

संकीर्णानि 'पौरुषेयत्वदोषद्वाराभावादित्यर्थः । अयातयामान्यदुष्टान्य'गतार्थानीत्यर्थः । पाठक्रमेण मनुष्यादि।

हैं । वे ये बृहदारण्यक वाक्य और शुक्ल-यजुःश्रुतियाँ ब्राह्मण याज्ञवल्क्य द्वारा प्राप्त की गई हैं—ये

---

१. पौरुषेयत्वेति—पौरुषेयत्वरूपं यद्दोषाणां द्वारं प्रयोजकं तदभावादित्यर्थः । २. अगतार्थानीति—अन्यैरज्ञातानि आदित्याद्याज्ञवल्क्येतरैरलब्धानीति यावत् ।

इत्यर्थः ।। मुनिकाण्डप्रवृत्तिप्रदर्शनपूर्वकं वंशान्तरनिर्दिश्यमानो मधुद्वयस्याऽऽगमसंप्रदायप्रतिपादनार्थत्वात्फलवानित्यर्थः ।। मुनिकाण्डप्रवृत्तिप्रदर्शनपूर्वकं वंशान्तर-

निर्दिश्यमानो मधुद्वयस्याऽऽगमसंप्रदायप्रतिपादनार्थत्वात्फलवानित्यर्थः ।।

स्यार्थवत्त्वमाह—मध्विति । यथावत्प्रतिपत्तिन्यायद्वयेन विप्रतिपत्तिनिरासेनावगतिस्तथा सति तद्विषयकस्य ज्ञानस्य तर्कसंप्रदायप्रतिपादको द्वितीयो वंशो भवत्यर्थवानित्यर्थः ।। तृतीयोऽपि वंशस्तृतीयकाण्डस्यैव किं न स्यादित्याशङ्कया पूर्वकाण्डैकदेशत्वादित्यत्रोक्तमुपजीव्याऽऽह—अयं त्विति । तत्र गमकमाह—समासाविति । प्रवचनसमासावस्य वंशब्राह्मणस्योक्तेरयं वंशः सर्वप्रवचनशेषो भातीत्यर्थः ।। पूर्ववदस्य फलवत्त्वाभावादवक्तव्यत्वमाशङ्कयाऽऽह—उक्तेति । इहेति प्रवचनसमासावित्यर्थः ।। इतश्च वंशत्रयसंकीर्तनं कर्तव्यमित्याह—सर्वं ज्ञानामिति । 'यस्य देवे परा भक्ति'रित्यादिश्रुतेः । पूर्वौ वंशौ पुरुषविशेषितौ तृतीयः स्त्रीविशेषितस्तत्र किं कारणमित्याशङ्कय स्त्रीप्राधान्यादित्यादिभाष्यतात्पर्यमाह—पुत्रेति । इहेत्यनन्तरब्राह्मणोक्तिः ।। ब्रह्म स्वयंम्विति ब्रह्मणि स्वयंभुशब्दप्रयोगे निमित्तमाह—अन्यत इति । ब्रह्मशब्दार्थं व्याचक्षाणस्तस्याऽऽचार्यानपेक्षत्वं साधयति—परमात्मा वेदोपाधिब्रह्म न च तस्याऽऽचार्यपेक्षा सर्वज्ञानमयत्वादन्येषामिति । भूरिसाधनं प्रभूतं श्रवणादि ।

कायनीपुत्रो माण्डूकीपुत्रान्माण्डूकीपुत्रः शाण्डिलीपुत्राच्छाण्डिलीपुत्रो राथीतरीपुत्राद्राथीतरीपुत्रो भालुकीपुत्राद्भालुकीपुत्रः क्रौञ्चिकीपुत्राभ्यां क्रौञ्चिकीपुत्रौ वैदभृतीपुत्राद्वैदभृतीपुत्रः कार्शकेयीपुत्रात्कार्शकेयीपुत्रः प्राचीनयोगीपुत्रात्प्राचीनयोगीपुत्रः सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रः प्राश्नीपुत्रादासुरिवासिनः प्राश्नीपुत्र आसुरायणादासुरायण आसुरेरासुरिः॥२॥

यनी पुत्र ने माण्डूकी पुत्र से, माण्डूकी पुत्र ने शाण्डिली पुत्र से, शाण्डिली पुत्र ने राथीतरी पुत्र से, राथीतरी पुत्र ने भालुकी पुत्र से, भालुकी पुत्र ने क्रौञ्चिकी के दो पुत्रों से, क्रौञ्चिकी के दोनों पुत्रों ने वैदभृती पुत्र से, वैदभृती पुत्र ने कार्शकेयी पुत्र से, कार्शकेयी पुत्र ने प्राचीनयोगी पुत्र से, प्राचीनयोगी पुत्र ने साञ्जीवी पुत्र से, साञ्जीवी पुत्र ने आसुरिवासी प्राश्नी पुत्र से, प्राश्नी पुत्र ने आसुरायण से, आसुरायण ने आसुरि से, आसुरि ने ॥ २ ॥

प्रजापतिमारभ्य यावत्पौतिमाषीपुत्रस्तावदधोमुखो नियताचार्यपर्वक्रमो वंशः समानमा

प्रजापतिपर्यन्तो वंशो व्याख्यातः। संप्रत्यर्थक्रममाश्रित्याऽऽह—प्रजापतिमिति। [1]अधोमुखत्वं पाठक्रमापेक्षयोच्यते। [2]तत्रापि प्रजापतिमारभ्य सांजीवीपुत्रपर्यन्तं वाजसनेयिशाखासु [3]सर्वास्वेको [4]वंश इत्याह—

दोषों से रहित हैं। अथवा ये आदित्य और याज्ञवल्क्य को छोड़कर दूसरों से अप्राप्त होने से ये बृहदारण्यक और यजुःश्रुतियाँ "शुक्लानि" अर्थात् शुद्ध हैं। प्रजापति से लेकर पौतिमाषी पुत्र तक तो

दित्यर्थः॥ परस्य तन्मयत्वे लिङ्गमाह—सर्वस्येति। न हि वशित्वादि सर्वज्ञानमयत्वं विना सिध्यतीत्यर्थः। तस्य सर्वज्ञत्वं यः सर्वज्ञः सर्वविदित्यादिश्रुत्यन्तरेऽपि प्रसिद्धमित्यपेरर्थः। परस्य वेदोपाधेर्ब्रह्मशब्दत्वं चेदुपाधितद्भावेन भेदादद्वैतहानिरित्याशङ्क्याऽऽह—परैवेति॥ कथं तर्हि प्रतिपाद्यप्रतिपादकत्वमुपाधितद्वत्त्वं च वेदब्रह्मणोरिष्टं तत्राऽऽह—प्रतिपाद्येति। कल्पितभेदेन तत्संभवान्न वास्तवाद्वैतहतिरिति भावः। निष्प्रपञ्चत्वं साक्षादिति विवक्षितमत एव धियामित्यादि विशेषणम्॥ वेदस्य कल्पितभेदस्याऽऽत्मप्रतिपादकत्वे प्रमाणान्तरस्यापि तत्संभवादन्ययोगव्यवच्छेदासिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—अन्येति। न हि प्रत्यक्षादिना तद्धीस्तदयोग्यत्वादतो मुमुक्षुर्वेदेनैवाऽऽत्मतयोक्तेन स्वस्वरूपं विदित्वैव निर्वृणोति तमेव विदित्वेत्यादि श्रुतेरित्यर्थः। अद्वयत्वं विशदयितुं निर्वृतिं विशिनष्टि—कार्येति। स्वरूपभूतवेदेन परस्य प्रतिपत्तिरित्यत्र युक्त्यन्तरमाह—वेदोऽसीति। आत्मभूतवेदस्य स्वरूपबोधकत्वमत.शब्दार्थः। जातस्य शिशोर्वेदोऽसीति नाम कुर्वतामभिप्रायमाह—वेदात्मनेति। ब्रह्म स्वयं-

---

[1] मुखत्वमाद्यत्वं तथा चाधोमुखं यस्येति व्युत्पत्त्या पौतिमाषीपुत्रस्याद्यत्वं लभ्यते तस्य तत्त्वं च प्रजापतिमारभ्य न संभवतीत्यत आह—अधोमुखत्वं पाठक्रमापेक्षयेति। पौतिमाषीपुत्रस्य मुखत्वं तदपेक्षयेति यावत्। [2] अर्थक्रमेऽपि। [3] सर्वास्विति—(प्रकृत) पञ्चदशसंख्याकास्वित्यर्थः। [4] वंशस्तृतीयोऽयम्।

याज्ञवल्क्या[1]द्याज्ञवल्क्य उद्दालकादुद्दालकोऽरुणादरुण उपवेशेरुपवेशिः कुश्रेः कुश्रिर्वाजश्रवसो वाजश्रवा जिह्वावतो बाध्योगाज्जिह्वावान्बाध्योगोऽसिताद्वार्षगणादसितो वार्षगणो हरितात्कश्यपाद्धरितः कश्यपः शिल्पात्कश्यपाच्छिल्पः कश्यपः कश्यपान्नैध्रुवेः

याज्ञवल्क्य से, याज्ञवल्क्य ने उद्दालक से, उद्दालक ने अरुण से, अरुण ने उपवेशि से, उपवेशि ने कुश्रि से, कुश्रि ने वाजश्रवा से, वाजश्रवा ने जिह्वावान् बाध्योग से, जिह्वावान् बाध्योग ने असित वार्षगण से, असित वार्षगण ने हरित कश्यप से, हरित कश्यप ने शिल्प कश्यप से, शिल्प कश्यप ने कश्यप नैध्रुवि से,

---

सांजीवीपुत्रात् । ब्रह्मणः प्रवचनाख्यस्य । तच्चैतद्ब्रह्म प्रजापतिप्रबन्धपरम्परयाऽऽगत्या-

---

समानमिति । **प्रवचनाख्यस्य वंशात्मनो [2]ब्रह्मणः संबन्धात्प्रजापतिर्विद्यां लब्धवानित्याह**—ब्रह्मण इति । [3]**तस्याधिकारिभेदादवान्तरभेदं दर्शयति**—तच्चेति । **प्रजापतिप्रमुखप्रबन्धः प्रपञ्चः सैव परम्परा**

यह अधोमुखवंश नियत आचार्य परम्परा क्रम से है । सांजीवीपुत्रपर्यन्त सब आचार्य (वाजसनेयिशाखा के होने से) एक ही वंश के हैं । प्रजापति ने प्रवचनाख्य ब्रह्म (वेद) के संबन्ध से विद्या प्राप्त की । वह

---

[1] वाजसनेयेत्यविशेषणात्तादृशवक्ष्यमाणादन्योऽयं याज्ञवल्क्यः । [2] ब्रह्मण इति—वेदस्येत्यर्थः । प्रजापतेः स्वयं प्रतिभातवेदत्वादिति भावः । [3] वेदब्रह्मणः ।

ष्वित्यत्र ब्रह्मशब्दार्थमुक्त्वा पूर्ववंशद्वयस्थमवान्तरविशेषमाह—वाजिशाखास्विति । पञ्चदशसंख्याकासु सर्वास्वेव तासु वंशद्वयस्यर्षयः पाठक्रमेणाऽऽसुरायणपुरःसरा वेदाख्यब्रह्मपर्यन्तास्तुल्या आसुरायणात्पूर्वे तु प्रतिशाखमुभयत्र मनुष्यास्ते भिद्यन्ते तद्भेदश्रुतेरित्यर्थः । वंशर्षीणां तुल्यत्वमध्यापकप्रसिद्धमित्याद्यो हिशब्दः । तत्सामान्यस्य पाठानुसारेणानुभवयोग्यत्वमिति द्वितीयो हिशब्दः ॥ आदित्यानीमानीत्यत्र यजुषामादित्यत्वं श्रुतं तत्साधयति—आदित्येनेति । तेन वाजिशाखावच्छिन्नं यजुषां प्रोक्तत्वं याज्ञवल्क्येन प्राप्तत्वं च पुराणेषु प्रसिद्धमिति हिशब्दार्थः ॥ इतश्च तेषामादित्यात्मत्वमित्याह—वेदेति । स हि वेदात्मा हिरण्यगर्भस्ततः परमेष्ठिनो विद्यासंप्रदायोऽतस्तदादिकान्सर्वानिव प्रति पारंपर्येणाऽऽगतोऽयं संप्रदायस्तस्मादेवाऽऽदित्यत्वं यजुषामित्यर्थः । एवमिति वंशब्राह्मणाधीतक्रमकथनम् ॥ न केवलं तेषामेवाऽऽदित्यत्वं किंतु सर्वस्यैव वेदस्य तस्य त्रयीमयत्वप्रसिद्धेरित्याह—असंसृष्टमिति । 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एक' इत्यादि श्रुतेर्वेदरूपस्य परस्याऽऽदित्ये प्रतिष्ठितत्वात्तस्य सर्वस्याऽऽदित्यता युक्तेति भावः ॥ तत्रैव हेत्वन्तरमाह—उत्सन्नमिति । 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत' इत्यादि श्रुतेर्निःश्वासवत्परस्मात्प्रवृत्तमपि वेदाख्यं ब्रह्माऽऽदित्यात्मनि तस्मिन्प्रलयावस्थायामस्तीत्यत्र प्रमाणमाह—तदार्षेणेति । 'युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षयः । लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा' । इत्यादिवाक्यमत्र मानमित्यर्थः ॥ वंशद्वयस्थं विशेषं यजुषामादित्यत्वं चोक्त्वा समानमित्यादि व्याकरोति वेदेति । सर्वेषां कृतपञ्चदशसंख्याकवाजिशाखाध्येतॄणामिति यावत् ॥ वंशस्तृतीय आ सांजीवीपुत्रादिति विशेषणसामर्थ्यलभ्यमर्थमाह—सांजीवीति । वाजसनेयिनां प्रतिशाखं सांजीवीपुत्रादुपक्रम्य मनुष्यपर्यन्तमन्तिमा वंशाः पृथग्भिद्यन्त आचार्यभेदोपलम्भादिति योजना ॥

कश्यपो नैध्रुविर्वाचो वागम्भिण्या अम्भिण्यादित्यादा[1]दित्यानी[2]मानि शुक्लानि [3]यजूꣳषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येना[4]ऽऽख्यायन्ते ॥३॥

समानमा सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रो माण्डूकायनेर्माण्डूकायनिर्माण्डव्यान्माण्डव्यः कौत्सात्कौत्सो माहित्थेर्माहित्थिर्वामकक्षायणाद्वामकक्षायणः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यो वात्स्याद्वात्स्यः कुश्रेः कुश्रिर्यज्ञवचसो राजस्तम्बायनाद्यज्ञवचा राजस्तम्बायनस्तुरात्कावषेयात्तुरः कावषेयः प्रजापतेः प्रजापतिर्ब्रह्मणो ब्रह्म

कश्यप नैध्रुवि ने वाक् से, वाक् ने अम्भिनी से, अम्भिनी ने आदित्य से। अतएव आदित्य से प्राप्त हुई ये शुक्ल यजुःश्रुतियाँ वाजसनेयी याज्ञवल्क्य द्वारा प्रसिद्ध की गयी हैं ॥ ३ ॥

साञ्जीवी पुत्र पर्यन्त यह एक ही वंश है। साञ्जीवी पुत्र ने माण्डूकायनी से, माण्डूकायनी ने माण्डव्य से, माण्डव्य ने कौत्स से, कौत्स ने माहित्थि से, माहित्थि ने वामकक्षायण से, वामकक्षायण ने शाण्डिल्य से, शाडिल्य ने वात्स्य से, वात्स्य ने कुश्रि से. कुश्रि ने यज्ञवचा राजस्तम्बायन से, यज्ञवचा राजस्तम्बायन ने तुरकावषेय से, तुरकावषेय ने प्रजापति से और प्रजापति ने ब्रह्मा से यह

स्मास्वनेकधा विप्रसृतमनाद्यनन्तं स्वयंभु ब्रह्म [5]नित्यं तस्मै ब्रह्मणे नमः। नमस्तदनुवर्तिभ्यो

तयेति यावत्। [6]तस्य परमात्मरूपस्वयंभूत्वमभिदधाति—अनादीति। [7]तस्यापौरुषेयत्वेनासंभावितदोषतया प्रामाण्यमभिप्रेत्य विशिनष्टि—नित्यमिति। आदिमध्यान्तेषु कृतमङ्गला ग्रन्थाः प्रचारिणो

यह वेदब्रह्म प्रजापतिप्रधान प्रपञ्च वाली परम्परा से आकर हम सबमें अनेक रूप से फैला हुआ है। वह अनादि, अनन्त, स्वयम्भु ब्रह्म नित्य है, उसको नमस्कार है, उसका अनुसरण करने वाले आचार्यों को

---

[1] आदित्यानि—आदित्येन सूर्येण याज्ञवल्क्याय प्रोक्तानीत्यर्थः। [2] इमानि—बार्हदारण्यकानि वाक्यानि। [3] यजूंषि—याजुषाणीत्यर्थः। [4] वाजसनेयिशाखाध्येत्रा याज्ञवल्क्येन मुनिना प्रकाश्यन्त इत्यर्थः। [5] नित्यमिति—परस्यैव वेदरूपेणावस्थानादित्याशयः। [6] वेदस्य। [7] वेदस्य।

स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥५॥

इति वाजसनेयके बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

इति वाजसनेयकबृहदारण्यकक्रमेणाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

विद्या ग्रहण की है। ब्रह्मा स्वयंभु है, उस स्वयंभु ब्रह्मा को अनेकों बार नमस्कार है ॥ ४ ॥

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पदवाक्यप्रमाणपारावारीण श्रीकैलासपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्त श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य रचित "विद्यानन्दी मिताक्षरा" टीका पूर्ण हुई ॥

गुरुभ्यः ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये षष्ठाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
श्रीशङ्करभगवतः कृतौ बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये
षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

भवन्तीति मन्वानः सन्नाह—तस्मै ब्रह्मणे नम इति ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां षष्ठाध्यायस्य पञ्चमं वंशब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

नमो [1]जन्मादिसंबन्धहेतुविध्वंसहेतवे ।
हरये परमानन्दपरिज्ञानवपुर्भृते ॥ १ ॥
नमस्त्रय्यन्तसंदोहसरसीरुहभानवे ।
गुरवे परपक्षौघध्वान्तध्वंसपटीयसे ॥ २ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यभगवदानन्दज्ञानकृतायां बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

भी नमस्कार है ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में षष्ठाध्यायस्थ शाङ्करभाष्य की वैयाकरणाचार्य विद्यावारिधि डॉ० उमेशानन्द शास्त्री कृत "कुमुदतोषिणी" टीका संपन्न हुई ॥ ६ ॥

---

[1] जन्मादिसंबन्धहेतुरज्ञानम् ।

"अधीत्या स्यादगुरोरेतामलेखि गुरुटिप्पनी । आनन्दविष्णुदेवान्वगिरिकर्मन्दिनाऽऽश्रमे" ॥
एतामुपनिषदमाश्रमेऽस्मिन् कैलासाभिधे । संवत् १९९५ चैत्रकृष्णदशमीगुरुघस्रेऽस्याः समाप्याऽध्ययनम् ।

समाप्तेयं सटिप्पणटीकाद्वयसंवलितशाङ्करभाष्यसमेता बृहदारण्यकोपनिषत् ।

॥ ॐ तत्सत् ॥

अथ शुकाष्टकम् ।

व्याख्यासहितम् ।

आनन्दसिन्धुमजमक्षरमद्वितीयमात्मानमच्युतशिवं स्वगुरुं प्रणम्य ।
कुर्वे समस्तजननिर्वृतिसौख्यसिद्धयै श्रीमच्छुकाष्टकसरोजविबोधभानुम् ॥

इह खल्वनेकजन्मसञ्चितानन्तसुकृतपरिपाकवशात्प्रक्षीणसर्वरागादिदोषविशुद्धान्तःकरणोऽनेकजन्मानुष्ठितनित्यनैमित्तिकादिसत्कर्मोपासनक्रमार्जितविवेकवैराग्यशमदमादिसाधनसम्पन्नो मुमुक्षुर्मोक्षसाधने 'तरति शोकमात्मविद्' इति श्रुतेर्बोधिते आत्मतत्त्वज्ञाने समुदिताभिलाषः प्राग्जन्मन्यभ्यस्तेष्वपि श्रवणमनननिदिध्यासनेषु बलवत्तरप्रतिबन्धादनुत्पन्नतत्त्वसाक्षात्कारः संपरेतः 'प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकान्' इत्यादि भगवद्दर्शितदिशा शुद्धानां श्रीमतां गेहेऽभिजातानां पौर्वदेहिकबुद्धिसंयोगप्राप्तानां तत्त्वनिष्ठापरायणानां ब्रह्मजिज्ञासूनां योगाच्चलितमानसानां संशुद्धकिल्बिषानामात्मतत्त्वमुपदिशति—भेदाभेदावित्यादिना ।

भेदाभेदौ सपदि गलितौ पुण्यपापे विशीर्णे
मायामोहौ क्षयमधिगतौ नष्टसंदेहवृत्तेः ।
शब्दातीतं त्रिगुणरहितं प्राप्य तत्त्वावबोधं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ १ ॥

त्रिभिः सत्त्वरजस्तमस्संज्ञैर्गुणै रहितम् । त्रिगुणात्मिकया सकार्याविद्यया शक्त्या रहितमिति यावत् । अत एव शब्देभ्यो लौकिकेभ्यो वैदिकेभ्यश्चातीतमतिक्रान्तं तदविषयमित्यर्थः । पञ्चविधा हि शब्दाः, जातिवचना गुणवचनाः क्रियावचनाः संज्ञाभूताः संबन्धिशब्दाश्चेति । यथा गौः शुक्ला धावति, भद्रको भारवाह इति जात्यादयश्च त्रैगुण्यविषय एव प्रसिद्धा न निस्त्रैगुण्य इति शब्दप्रवृत्तिनिमित्ताभावाच्छब्दातीतम् । तथाविधं तत्त्वावबोधं तत्त्वमबाधितवस्तु तद्रूपम् । अवगतो बोधः अवबोधः । साक्षात्कारवृत्तीद्धस्वप्रकाशपूर्णसच्चिदानन्दैकरसम्, भूमाख्यं ब्रह्म प्राप्य विस्मृतकण्ठचामीकरन्यायेन बोधमात्रेण लब्ध्वा । नष्टसन्देहवृत्तेः सर्वसन्देहबीजभूताज्ञाननाशादेव नष्टा इष्टानिष्टसाधनहेयोपादेयगोचरसन्देहवृत्तयो यस्य । अत एव निस्त्रैगुण्ये निर्गतास्त्रैगुण्यास्तामसा विषयिणः राजसाः कर्मिणः सात्त्विका उपासकाश्च, यस्मात्तथाविधे निर्विकल्पपरमसमाधिरूपे सप्तमयोगभूमिकालक्षणे पथि विचरतः स्वच्छन्दं विहरतो मम को विधिः पुनरग्निहोत्रादिकर्मसु प्रवर्तयेत् को वा निषेधो नैष्कर्म्यस्वरूपावस्थितेर्निवर्तयेत् न कश्चिदपि तत्समर्थः इत्यर्थः । ये हि त्रैगुण्यपथिका देहाद्यहंभावाः पुण्यफलरागिणः पापफलभीरवः साध्यसाधनेतिकर्तव्यताभेददर्शिनः कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावमात्मानं मन्यमानाः पूर्णसच्चिदानन्दाद्वयब्रह्मात्मभावादर्शिनस्तान् हीष्टानिष्टफलकीर्तनेन रागभयोद्दीपनपुरस्सरं तत्साधनेषु प्रवृत्तये निवृत्तये वा विधिनिषेधौ वशी कुर्यातां न तु माम् । अतो मम तद्धेतुभेदाभेदौ भेदश्चाभेदश्च भेदाभेदौ, प्रतिदेहं मौढ्यकल्पित आत्मभेदः भिन्नस्य तस्य देहादौ तादात्म्या-

द्यासलक्षणोऽभेदश्च। तौ हि रागद्वेषाभिमानादिद्वारा सर्वानर्थहेतू। तौ सपदि तत्त्वसाक्षात्कारसमकालमेव गलितौ। यावद्धि भेददर्शनं तावदेव भयार्तिरागद्वेषादयः। "द्वितीयाद्वै भयं भवति" "मृत्योस्स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" "यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति। एवं धर्मान्पृथक् पश्यंस्तानेवानु विधावति" "स योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद। यथा पशुरेवं स देवानाम्", "स वै नैव रेमे स द्वितीयमैच्छत्। सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्येतावान्वै काम" इत्यादिश्रुतिभ्यः। एवं देहाद्यभिन्नात्मदर्शनमप्यनर्थहेतुः। "अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे" इत्यादि मृत्युवचनात्। स्मृतिरपि—

"देहाभिमानाद्यत्पापं न तद्गोवधकोटिभिः"।
"प्रायश्चित्ताद्भवेच्छुद्धिर्नृणां गोवधकारिणाम्"।
देहाभिमानिनां पुंसां प्रायश्चित्तं न विद्यते"॥ इति।

अत एव हि पुण्यपापे पुण्यं धर्मानुष्ठानजन्यमपूर्वम्। पापमधर्मानुष्ठानजन्यमपूर्वम्। तेऽपि विशीर्णे शिलाप्रहतलोष्ठपांशुरिव विध्वस्ते। "तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशावि"ति ब्र. सू. ४-१-१३ सूत्रवचनात्। "तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेते"त्यादिश्रुतेश्च। तत्कुतः, यतो मायामोहौ क्षयमधिगतौ मोहोऽद्वितीयात्मनः पूर्णसच्चिदानन्दब्रह्मात्मस्वरूपतिरोधायकावरणशक्तिप्रधानाऽविद्या। माया तु आवृतस्य तस्यैवान्यथाप्रतिभासनिमित्तविक्षेपशक्तिप्रधाना। स एकस्या एवाविद्यायास्तमोगुणप्रधानांश आवरकत्वान्मोह इत्युच्यते। रजोगुणप्रधानस्तु विक्षेपहेतुत्वान्मायेति। तौ मायामोहौ सत्त्वोत्कर्षप्रयुक्तशमदमादिसंपत्तिपूर्वकेणात्मतत्त्वसाक्षात्कारेण क्षयं सह कार्येणात्यन्तिकबाधमधिगतौ प्राप्तौ। तथा च विधिनिषेधशास्त्रयोः सर्वप्रमाणप्रमेयव्यवहारस्याविद्यावद्विषयत्वात्; निरस्ताविद्यस्य पूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मभूतस्य मम न विधिनिषेधशास्त्रविषयत्वमित्येतत्सिद्धमिति भावः॥ १॥

आत्मतत्त्वज्ञाने विधिनिषेधगोचरप्रवृत्तिनिवृत्तिविषयसाध्यसाधनेतिकर्तव्यतादिसर्वद्वैतोपमर्दाद्वा स्वस्य विधिनिषेधानाक्रमणीयमित्याह—यद्वेति।

यद्वात्मानं सकलवपुषामेकमन्तर्बहिस्थं
दृष्ट्वा पूर्णं खमिव सततं सर्वभाण्डस्थमेकम्।
नान्यत्कार्यं किमपि च ततः कारणाद्भिन्नरूपं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः॥ २॥

यद्वेति। प्रकारान्तरेणोक्तार्थोपपत्तिद्योतनार्थम्। ननु भेदाभेदयोर्बोधमात्रात्कथं निवृत्तिः, तत्त्वज्ञानस्य सत्यार्थनिवर्तनासामर्थ्यात्। न हि बोधमात्राद्वस्तुतो भिन्नोऽप्यभिन्नत्वमापद्यते। भेदश्च प्रतिशरीरमात्मनां सुखदुःखव्यवहारव्यवस्थादर्शनाल्लोकतः शास्त्रतश्च सत्योऽवगम्यते। ऐकात्म्ये हि एकस्य सुखे दुःखे वा सर्वे सुखिनो दुःखिनो वा स्युः। तथा च भगवता गौतमेनाप्युक्तं "नानात्मानो व्यवस्थात" इति लौकिकवैदिकव्यवहारव्यवस्था चैकात्म्ये नोपपद्यते। न हि मित्रार्युदासीनमध्यस्थादिगोचरो रागद्वेषोपेक्षादिप्रयुक्तो लोकसम्मतो व्यवहारः। परदारपरद्रव्यपरद्रोहादिवर्जनविषय आचार्यपितृवृद्धाद्यनुगमनपूजादिविषयः श्रौतः स्मार्तश्च व्यवस्थित उपपद्यते, तस्मान्नानात्मतैवेत्याशङ्कामपाकुर्वन्नाह—सकलवपुषामेकमिति। सकलवपुषां जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाप्यतैजसवायव्यमानसप्रभेदा-

ष्टधाभिन्नानां शरीराणामन्तर्बहिस्थमेकमभिन्नमित्यर्थः । अयं भावः—न तावद्भेदादेः सत्यता प्रमाणावेद्यत्वे सति वेद्यत्वाच्छुक्तिरूप्यादिवत् । यथा च भेदस्य प्रमाणावेद्यत्वं तथोपपादितमस्माभिः स्वाराज्यसिद्धौ । एवमात्मनो देहेन्द्रियादितादात्म्यलक्षणोऽभेदो न प्रमाणवेद्यः स्वात्मनि नानात्वाननुभवात् । देहादीनाञ्च नानात्वात् । बालाद्यवस्था भेदेनान्ध्यबाधिर्यादिना च देहेन्द्रियादेर्व्यभिचारेऽप्यात्मन्यबाधितप्रत्यभिज्ञयैकत्वनिश्चयेन तैः सर्वैस्तस्याभेदायोगात् । एकैकतादात्म्ये विनिगमनाविरहादतिरिक्तत्वसिद्धेरिति । ननु कथं सकलवपुषामेक आत्मा, स हि "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः" "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य" इत्यादिश्रुतिभिरणुतरनाडीछिद्रोपसर्पणलिङ्गैश्चाणुपरिमाणो विज्ञायते । यदि च सर्वाङ्गीणशैत्याद्युपलम्भा"त्समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेने"त्यादिश्रुत्या च देहपरिमाणोऽभ्युपगम्येत तथापि देहद्वयान्तरालविच्छिन्नवृत्तिर्न सकलवपुषामेकः स इत्याशङ्कयाऽऽह —अन्तर्बहिस्थमिति । देहस्यान्तर्बहिश्च स्थितं विभुमित्यर्थः । "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्" "आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टात्" "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेणे"त्यादिश्रुतेः । "सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवमि"त्यादिस्मृतेरैकात्म्यश्रुतिलिङ्गाच्चात्मनोऽपरिच्छिन्नत्वसिद्धिरिति भावः । अणुपरिमाणत्वाभिप्राया नाणुरात्मेतिश्रुतिः किन्तु आकाशवत्सौक्ष्म्याद्दुर्लक्ष्यत्वाभिप्राया । बालाग्रेत्यादि श्रुतिरपि वाक्यशेषानुरोधाच्छ्रुत्यन्तरानुरोधाच्चौपाधिकपरिच्छेदानुवादिनीति "तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवदि"ति ब्र. सू. २-३-२९ सूत्रे बादरायणादिभिर्व्यवस्थापिता । औपाधिकविच्छेदादेव विच्छेदप्रत्ययोऽप्युपपन्न इति न वास्तवात्मैक्यस्य तेन बाधः । एतेन शास्त्रीयोऽप्यात्मभेदव्यवहारार्थं क्रियादिभेदोऽन्तःकरणाद्युपाधिभिरेवोपपादनीयः । यथैकस्यैवाकाशस्य सूचीपाशकुम्भकुसूलादि उपाधिभेदादेव सीवनबन्धनजलाहरणधान्यावपनाद्यर्थंक्रियाणामसङ्करः, तत्तत्कर्णशष्कुल्यवच्छेदाच्छ्रोत्रनानात्वादिव्यवस्था च तद्वद्व्यवस्थोपपत्तेरित्याशयेन दृष्टान्तमाह—खमिवेति । एतेनैकस्य दुःखे सर्वेषां तत्प्रसङ्गोऽपि निरस्त इति "नानात्मानो व्यवस्थात" इति हेतुरप्रयोजकः । नन्वेवं सति औपाधिकमेव भेदमालम्ब्य ज्ञानिनामपि श्रौतस्मार्तविधिनिषेधाधिकारः किं न स्यादिति चेत् । भवेदेव यदि तेषामज्ञानिनामिवोपाधितादात्म्यसंसर्गाद्यारोपौ न बाधितौ स्याताम् । नत्वेवम्, यतस्तेषां कारणाद्भिन्नरूपं भेदकोपाध्याद्यात्मनोऽन्यन्नास्ति । "अथात आदेशो नेति नेति" "वाचारम्भणं विकारो नामधेय"मित्यादिश्रुतिशतैः कारणाद्भिन्नस्य कार्यस्य प्रतिषिद्धत्वेन मिथ्यात्वात् । तत्त्वसाक्षात्कारेण समूलमुपमर्दितत्वादिति ॥ २ ॥

एवं जीवस्य तत्त्वतो विमर्शेऽशनायाद्यतीतापेतब्रह्मक्षत्रादिभेदनिरतिशयानन्दैकरसब्रह्ममात्रैकरससत्वादपि स्वस्य न कर्माधिकार इति दर्शयितुं तत्त्वमस्यादिवाक्यतात्पर्यरहस्यमुद्घाटयति—हेम्न इति ।

हेम्नः कार्यं हुतवहगतं हैममेवेति यद्वत्
क्षीरे क्षीरं समरसतया तोयमेवाम्बुमध्ये ।
एवं सर्वं समरसतया त्वंपदं तत्पदार्थे
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ३ ॥

यथा हेम्नः सुवर्णस्य कार्यं कटककुण्डलग्रैवेयकाङ्गुलीयकादि, हुतवहे अग्नौ गतं ध्मायमानं द्रवीभूतं समरसतया एकीभूतं कटककुण्डलादि नामरूपभेदं जहत् न भूयः कटककुण्डलाद्यर्थंक्रिया-

समर्थं किन्तु हैमं सर्वहेमसंबन्धिसामान्यस्वभावमेव यद्वद्भवति । यथा वा क्षीरे निक्षिप्तं क्षीरमविभक्तं क्षीरसामान्यमेव भवति । यथा वा अम्बुमध्ये निषिक्तं तोयं जलं तोयसामान्यमेव समरसतया ऐकरस्येन भवति । एवं सर्ववियदादिभुवनान्तं सर्वं तत्पदं तत्पदवाच्यार्थभूतं जगत् "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" इति सूत्रेणोपदर्शितसत्परम्परावधिपरमार्थसन्मात्रैकरूपपरिशेषात्समरसतया तदेकरसतया अपरिच्छिन्नसच्चिन्मात्रात्मना प्रविलापनेन यदा सम्पन्नं तदा त्वंपदं त्वंपदवाच्यमपि जीवरूपं तत्पदार्थे तत्पदलक्ष्ये प्रागुक्ते समरसतया पूर्णानन्दभूतात्मनैव सम्पन्नम् । तथाविधे प्रत्यक्चिन्मात्रात्मके निस्त्रैगुण्ये परमात्मस्वभावे पथि विचरतो मम विधिनिषेधफलप्रदेश्वरादेः पृथगपरिशेषादपि न विधिनिषेधशास्त्राधिकार इत्यर्थः ।। ३ ।।

उक्तमेवार्थं पुनर्दृष्टान्तान्तरैरपि विशदयन् तादृशभूमानन्दस्वरूपप्रतिष्ठस्य स्वस्य न कर्माधिकारप्रसक्तिरित्याह—यस्मिन्निति ।

यस्मिन्विश्वं सकलभुवनं सामरस्यैकभूत-
मुर्वीह्यापोऽनलमनिलखं जीवमेवं क्रमेण ।
यत्क्षाराब्धौ समरसतया सैन्धवैकत्वभूतं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ।। ४ ।।

यस्मिन्पूर्णात्मनि सकलं समस्त कलाभिः स्वावयवप्रदेशभेदैः सहितं, भुवनं भूर्भुवःस्वरिति सप्तधा चतुर्दशधा वा भिन्नं ब्रह्माण्डोदरकोष्ठप्रभेदरूपं लोकजातम् । तथा उर्वी पृथिवी आपः अनलमग्निश्छान्दसं क्लीबत्वम् । अनिलो वायुः खमाकाशम्, तथा जीवयतीति जीवं स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयमित्येवं क्रमेणाधिलोकमधिभूतमध्यात्मञ्चेति त्रिधा भिन्नं विश्वं कृत्स्नं जगत्, यातीति यत् विलयं प्राप्नुवत्सत् क्षाराब्धौ क्षिप्तं सैन्धवमिव समरसतया ऐकरस्येनैकत्वं भूतं प्राप्तम् । तस्मिन्निस्त्रैगुण्ये पथीत्यादि पूर्ववत् । क्षाराब्धौ सैन्धवैकत्वभूतमिति सापेक्षत्वादसमर्थस्य सैन्धवपदस्य समासश्छान्दसः ।। ४ ।।

उपाधीनां प्रविलयेन सामरस्ये उपहितस्य न पृथगवशेषोऽस्तीति जीवस्याखण्डब्रह्मात्मता अर्थात्सिद्धैवेति न तत्र प्राग्दृष्टान्तो दर्शितः । इदानीं तु तत्रापि "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्य"मिति श्रुतिसिद्धं दृष्टान्तं दर्शयन्सर्वभेदप्रत्ययास्तमयेनाद्वितीयब्रह्मैकरस्याद्विधिनिषेधशास्त्राधिकारप्रसक्तिरेव स्वस्य नास्ति इत्याह—यद्वदिति ।

यद्वन्नद्यौदधिसमरसौ सागरत्वं ह्यवाप्तौ
तद्वज्जीवा लयपरिगतौ सामरस्यैकभूतम् ।
भेदातीतं परिलयगतं सच्चिदानन्दरूपम्
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ।। ५ ।।

नद्या नदीद्वारा आ उदधि समुद्रदेशपर्यन्तं कालभेदेन प्राप्तौ समौ रसौ जलप्रवाहौ परस्परमेलनेन सागरत्वमेवावाप्तौ । हीत्यवधारणे प्रसिद्धौ च । आदाङि 'ओमाङोश्चे'ति पररूपविषये वृद्धिश्छान्दसी । अथवा उदधिना समरसस्यायं औदधि समरसप्रवाहः, नदी च औदधिसमरसश्च नद्यौदधिसमरसौ । यद्वा उदधिश्चासौ समश्च उदधिसमः उदधिसमस्यायमौदधिसमः नदी च औदधिसमश्च नद्यौ-

दधिसमौ नद्योदधिसमयोः रसौ जले मेलनेन सागरत्वमैकरस्यं यद्वदवाप्तावित्यर्थः । यथायं दृष्टान्तस्तद्वज्जीवश्च आलीयते अस्मिन्नुपाधिमात्रमित्यालयं ब्रह्म तयोः परिगतौ उपाधिविलयादैक्ये स हि सामरस्येन एकभूता अखण्डभावेन स्थिताः । अवच्छेदभेदवद्बिम्बप्रतिबिम्बभेदस्याप्युपाधिकृतत्वात्तत्परिलयेन गतं स्वस्थान एव विस्मृतकण्ठचामीकरवदधिगतं सत्सर्वभेदातीतं सच्चिदानन्दैकरूपं स्वात्मानं प्राप्तस्य निस्त्रैगुण्ये इत्यादि प्राग्वत् । नद्योऽम्बुधिसमरसा इति पाठस्तु स्पष्टः ॥ ५ ॥

किञ्च त्वंपदार्थस्य तत्पदलक्ष्यसन्मात्रतावधारणात्तत्पदार्थस्य च त्वंपदलक्ष्यस्वप्रकाशप्रत्यङ्मात्रत्वावधारणादुभयैक्येन पूर्णानन्दमात्रपरिशेषान्न पुनर्विधिनिषेधवश्यताप्राप्तिरित्याह—दृष्ट्वेति ।

दृष्ट्वा वेद्यं परमथपदं स्वात्मबोधस्वरूपं
बुद्ध्वाऽऽत्मानं सकलवपुषामेकमन्तर्बहिस्थम् ।
भूत्वा नित्यं सदुदिततया स्वप्रकाशस्वरूपं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ६ ॥

वेद्यं संन्यासेन सर्वस्वमपि विहाय महाप्रयत्नेनावश्यवेदनीयं परंब्रह्मस्वात्मबोधमात्रस्वरूपम् । बुद्ध्वाऽऽत्मानं प्रत्यञ्चं सकलवपुषामन्तर्बहिस्थमेकमद्वितीयसन्मात्रं बुद्ध्वा सदैकरस्येन सदुदिततया स्वप्रकाशपूर्णानन्दस्वरूपं भूत्वा निस्त्रैगुण्य इत्यादि प्राग्वत् ॥ ६ ॥

कार्याकार्ये किमपि सततं नैव कर्तृत्वमस्ति
जीवन्मुक्तस्थितिमवगतो दग्धवस्त्रावभासः ।
एवं देहे प्रविलयगते तिष्ठमानो विमुक्तो
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ७ ॥

किञ्च सति कार्ये तद्रागात्तदर्थप्रवृत्तौ कर्ता स्यात् । स्वभावश्च विधिशास्त्रेऽधिक्रियेत । सत्यकार्ये पापे तत्फले द्वेषात्ततो निवर्तमानस्तत्कर्ता सन् निषेधशास्त्राधिकारी स्यात् । ननु कार्याकार्ये किमपि तुच्छे एवं च सति सततं सदैव प्रागिदानीमग्रे च नैव कर्तृत्वमस्ति । यदि नास्ति तर्हि जीवनार्थे भिक्षाटनादौ तत्त्वोपदेशसमाध्यादौ च कथं व्यवहरतीति चेत्तत्राह–जीवन्मुक्तेति । अतोऽहं दग्धवस्त्रं संस्काराद्वस्त्राकारमिदं पूर्वसंस्काराद्व्यवहरन्निवावभासे इति दग्धवस्त्रावभासः । वस्तुतस्तु जीवन्नेव मुक्तस्थितिः । एवमुक्तरीत्या ज्ञानाग्निदग्धत्वाद्देहे भस्मीभूतपटवत्प्रविलयगते तिष्ठमानः प्रकाशमानोऽप्यहं "प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च" इति आत्मनेपदं विमुक्त एव अतो निस्त्रैगुण्ये इत्यादि प्राग्वत् ॥७॥

किञ्च यावन्न विमृश्यते तावदेव द्वैतं सदिव भासते, विमर्शे तु नाभ्यन्तरस्य बाह्यस्य द्वैतस्य स्वरूपं कदाचित्केनचिदपि निरूपयितुं शक्यमिति दर्शयति—कस्मादिति ।

कस्मात्कोऽहं किमपि च भवान्कोऽयमन्यः प्रपञ्चः
स्वं स्वं वेद्यं गगनसदृशं पूर्णतत्त्वप्रकाशम् ।
आनन्दाख्ये समरसघने बाह्यमन्तर्विहीने
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ८ ॥

अहमिति परिच्छिन्नमहङ्कारात्मकं यदात्मस्वरूपं भाति तत् कस्मात्कश्च कारणतः स्वरूपतश्च दुर्निरूपमित्यर्थः । तथाहि—तच्चागन्तुकं स्यान्नित्यं वा आद्ये कस्मादुपादानात्तदागतं न तावज्जडतः चेतनात्मरूपत्वानुभव विरोधात्, जडस्य चेतनोपादानत्वायोगात् । नापि चितः, चितेरपरिणामिस्वभावत्वात्परिणामायोगात् । यदि विवर्ततां ब्रूषे तर्हि तस्य मृषात्वमेव स्यान्नित्यत्वे कामादिपरिणामविरोधः । तथा कोऽहं कोऽयमहंकारात्मेत्यर्थः । न तावज्जडः, आत्मत्वानुभवविरोधात् । नापि चित्परिच्छेदविषयत्वानुभवविरोधात् जडदेहापक्षपातविरोधाच्च । तस्मादहंकारात्मा दुर्वाच्य एवेत्यर्थः । किञ्च भवान् त्वमपि किमनात्मवस्त्वात्मवस्तु वा आद्ये चेतनत्वविरोधो द्वितीये ममपरत्वानुभवविरोधः । अत्रावयोः प्रतीयमानः प्रपञ्चः कः किं स्वतः सिद्ध उत परत आद्ये जाड्यानुभवविरोधः, आत्मवच्चिद्रूपत्वापत्तौ भेदकरूपान्तरापरिशेषादखण्डपूर्णचिन्मात्रैकरसस्यप्रसङ्गश्च । द्वितीयेऽपि स परः केन सिद्धः किं परतः स्वतो वा । आद्येऽनवस्थापत्तिः, द्वितीये स्वप्रकाशस्य तस्य परसाधकता तत्संबन्धाद्वाच्या । स संबन्धः किं तादात्म्यमुत संयोगः । नाद्यः चिज्जडयोरैक्यघटिततादात्म्यायोगात् । नापि द्वितीयः, अक्रियाया निरवयवायाश्च चितेः संयोगायोगात् । समवायाभ्युपगमे चानवस्थाद्यापत्तेरयुतसिद्ध्यदर्शनाच्च । एवञ्च स्वम् आत्मस्वरूपं स्वं स्वात्मैकनिष्ठं न स्वासंबद्धं परं साधयितुं शक्नोतीति ।

वेद्यं जगद्रूपं गगनसदृशं शून्यमेव । यदि तु गगनमपि न शून्यमप्रामाण्यप्रसङ्गात्तर्हि पूर्णं यत्तत्त्वमबाधितसन्मात्रं स एव स्वात्मप्रकाशो यस्य तथाविधमपरिच्छिन्नस्वप्रकाशचिन्मात्रमित्यर्थः । तत्कुतः यत इदं वेद्यजातमतः स्वातिरिक्तवस्तु विहीने अत एव समरसघने सैन्धवघनवज्ज्ञानैकरसघने भूमानन्दाख्ये, अबाह्यं बहिरनवस्थितिमतस्तादृशनिस्त्रैगुण्ये नित्यमुक्तात्मैकस्वभावे पथि विचरतो ममान्यस्य वा सर्वथा विधिनिषेधघटितकर्माधिकारो न केनापि संपादयितुं शक्य इति पूर्ववत् ॥ ८ ॥

इदानीं सर्वोपकाराय स्वोपदिष्टाष्टकाभ्यासस्यापि महाफलताप्रदर्शनमुखेन तदर्थानुसन्धानस्य मोक्षफलतां दर्शयति—सत्यमिति ।

सत्यं सत्यं परममृतं सर्वकल्याणरूपं
मायारण्ये दहति मलिने शान्तिनिर्वाणदीपम् ।
तेजोरूपं निगमसदनं व्यासपुत्राष्टकं यः
प्रातःकाले पठति मनसा याति निर्वाणमार्गे ॥ ९ ॥

इति शुकाष्टकस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥ ॐ ॥

इदं व्यासपुत्रस्य वाक्यामृतरूपमष्टकमेव परमामृतसाधनत्वात्परममृतं सर्वेषां प्राणिनां कल्याणरूपमाध्यात्मिकादितापभयदहनैः सदा दह्यमानत्वेऽपि मोहध्वान्तपिहितत्वान्मलिने जगन्मायालक्षणेऽरण्ये मायाध्वान्तस्य तापत्रयानलानाञ्च शान्त्या प्रशमनेन निर्वाणस्य मोक्षसुखस्य प्रकाशकत्वाद्दीपभूतं निगमा वेदान्ताः सदनं प्रकाशगृहं यस्य तथाविधं यत्तेजः प्रभास्थानीयोऽर्थप्रकाशस्तं रूपयतीति रूपम् । ईदृशं व्यासपुत्राष्टकमिदं यः पुरुषोऽर्थानुसन्धानपरेण मनसा प्रातःकाले पठति स तस्यानुग्रहात्क्रमाज्ज्ञानं प्राप्य निस्त्रैगुण्ये प्रागुक्तनिर्वाणमार्गेऽवश्यं याति मुच्यत इत्यर्थः ॥ ९ ॥

श्रीमच्छुकाष्टकस्येयं व्याख्या बुद्धिसरोरुहम् ।
भानुप्रभेव भुवनं प्रबोधयति सन्मतेः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्रामचन्द्रसरस्वतीपूज्यपादशिष्यगङ्गाधरेन्द्रसरस्वत्याख्यभिक्षुणा कृतं शुकाष्टकं सम्पूर्णम् ॥

अथ बृहदारण्यकोपनिषत्कण्डिकाद्यपदानां वर्णानुक्रमः ।

कण्डिकाद्यपदानि	अ०	ब्रा०	क०	पृ०
अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा	६	३	३	१५१६
अत्र पिताऽपिता भवति	४	३	२२	१११२
अथ य इच्छेत्पुत्रो मे कपिलः पिङ्गलो	६	४	१५	१५४०
अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो... ...	६	४	१८	१५४१
अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामो	६	४	१६	१५४०
अथ य इच्छेद्दुहिता मे पण्डितो... ...	६	४	१७	१५४१
अथ यद्युदक आत्मानं	६	४	६	१५३२
अथ यस्य जायामार्तवं	६	४	१३	१५३८
अथ यस्य जायायै	६	४	१२	१५३६
अथ यामिच्छेद्दधीतेति	६	४	११	१५३६
अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीतेति... ...	६	४	१०	१५३५
अथ ये यज्ञेन दानेन	६	२	१६	१५०३
अथ वꣳशः। पौतिमाषी०	६	५	१	१५५१
अथ वꣳशः। पौतिमाष्यो	४	६	१	१३५१
अथ ह प्राणं उत्क्रमि०	६	१	१३	१४५२
अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे	४	५	१	१३२२
अथ ह वाचक्नव्युवाच	३	८	१	८४८
अथ हैनमसुरा ऊचु०	५	२	३	१३८०
अथ हैनमुद्दालक आ०	३	७	१	८३१
अथ हैनमुषस्तश्चाक्रा०	३	४	१	७७६
अथ हैनं कहोलः कौ०	३	५	१	७९०
अथ हैनं गार्गी वाच०	३	६	१	८२४
अथ हैनं जारत्कारव	३	२	१	७११
अथ हैनं भुज्युर्लाह्या०	३	३	१	७६४
अथ हैनं मनुष्या ऊचु०	५	२	२	१३७९
अथ हैनं विदग्धः शा०	३	९	१	८८०
अथ होवाच ब्राह्मणा	३	९	२७	९२१
अथाभिप्रातरेव स्थाली०	६	४	१९	१५४२
अथास्य दक्षिणं कर्णम०	६	४	२५	१५४७
अथास्य नाम करोति	६	४	२६	१५४८
अथास्य मातरमभिम०	६	४	२८	१५५०
अथास्या ऊरू विहाय०	६	४	२१	१५४४
अथैतद्वामेऽक्षणि	४	२	३	९६१
अथैनमग्नये	६	२	१४	१४९३
अथैनमभिमृशति	६	३	४	१५१७
अथैनमाचामति	६	३	६	१५१८
अथैनमुद्यच्छत्यामꣳ	६	३	५	१५१८
अथैनं मात्रे प्रदाय	६	४	२७	१५४९
अथैनं वसत्योपमन्त्रया०	६	२	३	१४७२
अथैनामभिपद्यते	६	४	२०	१५४३
अनन्दा नाम ते लोका	४	४	११	१२५०
अन्धं तमः प्रविशन्ति	४	४	१०	१२४९
अन्नं ब्रह्मेत्येक आहु०	५	१४	१	१४०८
अयमग्निर्वैश्वानरो	५	११	१	१४०३
अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम	६	२	११	१४८८
असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम	६	२	९	१४७९
अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किंज्योति०	४	३	३	९८३
अस्तमित आदित्ये...चन्द्रमस्यस्तमिते किंज्योतिरेवा०	४	३	४	९८४
अस्तमित आदित्ये शान्तेऽग्नौ	४	३	५	९८४
अस्तमित आदित्ये... शान्तायां वाचि	४	३	६	९८६
अहल्लिकेति होवाच	३	९	२५	९१२
आकाश एव यस्याय०	३	९	१३	८९५
आग्निवेश्यादाग्निवेश्यो	४	६	२	१३५२
आत्मानं चेद्विजानीयाद०	४	४	१२	१२५१
आत्रेयीपुत्रादात्रेयीपुत्रो	६	५	२	१५५३
आप एव यस्यायतनꣳ	३	९	१६	८९८
आप एवेदमग्र आसु०	५	५	१	१३९०
आराममस्य पश्यन्ति	४	३	१४	१०६५
इन्धो ह वै नामैष	४	२	२	९६०
इहैव सन्तोऽथ विद्म०	४	४	१४	१२५८
उक्थं प्राणो वा उक्थं	५	१५	१	१४१२

कण्डिकाद्यपदानि	अ०	ब्रा०	क०	पृ०
ऋचो यजूꣳषि	५	१६	२	१४१८
एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्र०	४	४	२०	१२६३
एकी भवति न पश्यती०	४	४	२	११८५
एतद्ध वै तज्जनको	५	१६	८	१४३२
एतद्ध स्म वै तद्विद्वानु०	६	४	४	१५२९
एतद्वै परमं तपो	५	१३	१	१४०६
एतमु हैव चूलो	६	३	१०	१५२३
एतमु हैव जानकिराय०	६	३	११	१५२३
एतमु हैव मधुकः	६	३	९	१५२२
एतमु हैव वाजसनेयो	६	३	८	१५२२
एतमु हैव सत्यकामो	६	३	१२	१५२३
एतस्य वा अक्षरस्य	३	८	९	८६१
एष प्रजापतिर्यद्	५	३	१	१३८६
एषां वै भूतानां पृथिवी	६	४	१	१५२५
कतम आत्मेति योऽयं	४	३	७	१००१
कतम आदित्या इति	३	९	५	८८५
कतम इन्द्रः कतमः	३	९	६	८८५
कतमे ते त्रयो देवा	३	९	८	८८७
कतमे रुद्रा इति	३	९	४	८८४
कतमे वसव इत्यग्निश्च	३	९	३	८८३
कतमे षडित्यग्निश्च	३	९	७	८८६
कस्मिन्नु त्वं चात्मा	३	९	२६	९१३
काम एव यस्यायतनꣳ	३	९	११	८९३
किंदेवतोऽस्यामुदीच्यां	३	९	२३	९०९
किंदेवतोऽस्यां दक्षिणायां	३	९	२१	९०६
किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायां	३	९	२४	९१०
किंदेवतोऽस्यां प्रतीच्यां	३	९	२२	९०८
किंदेवतोऽस्यां प्राच्यां	३	९	२०	९०३
क्षत्त्रं प्राणो वै क्षत्त्रं प्राणो	५	१५	४	१४१४
खं ब्रह्म ।,खं पुराणं	५	१	१	१३५५
घृतकौशिकाद्घृतकौशिकः	४	६	३	१३५२
चक्षुर्वै ग्रहः	३	२	५	७१५
चक्षुर्होच्चक्राम	६	१	९	१४५०
चतुरौदुम्बरो भवत्यौदु०	६	३	१३	१५२४
जनको ह वैदेह आ०	४	१	१	९३९
जनको ह वैदेहः कूर्चा०	४	२	१	९५५

कण्डिकाद्यपदानि	अ०	ब्रा०	क०	पृ०
जनको ह वैदेहो बहु०	३	१	१	६७७
जनकꣳ ह वैदेहं याज्ञ०	४	३	१	९७६
जात एव न जायते	३	९	२८	९२६
जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क	६	४	२४	१५४६
जिह्वा वै ग्रहः	३	२	४	७१५
ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय	६	३	२	१५१५
तदभिमृषेदनु वा	६	४	५	१५३१
तदाहुर्यदयमेक इवैव	३	९	९	८८८
तदेतदृचाभ्युक्तम् । एष	४	४	२३	१३०४
तदेते श्लोका भवन्ति । अणुः पन्था विततः	४	४	८	१२४०
तदेते...स्वप्नेन	४	३	११	१०६२
तदेष...तदेव सक्तः सह	४	४	६	१२११
तदेष...यदा सर्वे	४	४	७	१२३१
तद्यत्तत्सत्यमसौ	५	६	१	१३९४
तद्यथा तृणजलायुका	४	४	३	११९६
तद्यथानः सुसमाहित०	४	३	३५	११६६
तद्यथा पेशस्कारी पेश०	४	४	४	११९८
तद्यथा महामत्स्य उभे	४	३	८	१०८६
तद्यथा राजानमायान्त०	४	३	३७	११७३
तद्यथा राजानं प्रयि०	४	३	३८	११७५
तद्यथास्मिन्नाकाशे	४	३	१९	१०८८
तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा	४	३	२१	११०३
तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं	३	८	११	८७३
तद्वै तदेतदेव	५	४	१	१३८८
तम एव यस्यायतनꣳ	३	९	१४	८९६
तमेव धीरो विज्ञाय	४	४	२१	१२६७
तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः	४	४	९	१२४३
तस्य प्राची दिक्प्राञ्चः	४	२	४	९६७
तस्य वा एतस्य पुरुषस्य	४	३	९	१०४६
तस्या उपस्थानं गायत्र्य०	५	१६	७	१४३०
तस्या वेदिरुपस्थो	६	४	३	१५२८
तꣳ हैतमुद्दालक	६	३	७	१५२२
तान्होवाच ब्राह्मणा	३	१	२	६७९
ता वा अस्यैता हिता	४	३	२०	१०९३
ताꣳ हैतामेके	५	१६	५	१४२५

कण्डिकाद्यपदानि	अ०	ब्रा०	क०	पृ०
ते य एवमेतद्विदु०	६	२	१५	१४९४
ते हेमे प्राण अहꣳ श्रेयसे	६	१	७	१४४८
त्रयाः प्राजापत्याः	५	२	१	१३७८
त्वग्वै ग्रहः	३	२	९	७१६
त्वच एवास्य रुधिरं	३	९	२-२८	९२२
न तत्र रथा न रथ०	४	३	१०	१०५७
पर्जन्यो वा अग्निर्गौतम	६	२	१०	१४८७
पुरुषो वा अग्निर्गौतम	६	२	१२	१४९०
पूर्णमदः पूर्णमिदं	५	१	१	१३५५
पृथिव्येव यस्यायतन०	३	९	१०	८९०
प्राणस्य प्राणमुत चक्षुष०	४	४	१८	१२५८
प्राणेन रक्षन्नवरं कुलाय	४	३	१२	१०६३
प्राणोऽपानो व्यान	५	१६	३	१४१९
प्राणो वै ग्रहः	३	२	२	७१४
ब्रह्म तं वेदास्तं	४	५	७	१३२७
भूमिरन्तरिक्षं	५	१६	१	१४१५
मनसैवानुद्रष्टव्यं	४	४	१९	१२५९
मनोमयोऽयं पुरुषो	५	८	१	१३९९
मनो वै ग्रहः	३	२	४	७१६
मनो होच्चक्राम	६	१	११	१४५१
मांसान्यस्य शकराणि	३	९	३-२८	९२३
मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः	४	५	२	१३२३
यः पृथिव्यां तिष्ठन्	३	७	३	८३८
यः प्राणे तिष्ठन्	३	७	१६	८४४
यः श्रोत्रे तिष्ठ०	३	७	१९	८४४
यः सर्वेषु भूतेषु	३	७	१५	८४३
य आकाशे तिष्ठन्	३	७	१२	८४२
य आदित्ये तिष्ठन्	३	७	९	८४१
य एष एतस्मिन्मण्डले	५	७	१	१३९६
यजुः प्राणो वै यजुः प्राणे	५	१५	२	१४१३
यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृण०	४	१	२	९४१
यत्र वा अन्यदिव	४	३	३१	११४३
यत्र हि द्वैतमिव...पश्यति	४	५	१५	१३३२
यत्समूलमावृहेयु०	३	९	६-२८	९२५
यथा वृक्षो वनस्पति०	३	९	१-२८	९२१

कण्डिकाद्यपदानि	अ०	ब्रा०	क०	पृ०
यदा वै पुरुषो०	५	१२	१	१४०४
यदेव ते कश्चिद्ब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्म उदङ्कः	४	१	३	९४६
यदेव ते गर्दभीविपीतो	४	१	५	९५०
यदेव ते...बर्कुर्वार्ष्ण०	४	१	४	९४९
यदेव ते विदग्धः	४	१	७	९५३
यदेव ते...सत्यकामो	४	१	६	९५२
यदैतमनुपश्यत्यात्मानं	४	४	१५	१२५५
यद्वृक्षो वृक्णो रोहति	३	९	४-२८	९२४
यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन् वै	४	३	२४	११३४
यद्वै तन्न पश्यति पश्य०	४	३	२३	११२५
यद्वै तन्न मनुते	४	३	२८	११३६
यद्वै तन्न रसयते	४	३	२५	११३४
यद्वै तन्न वदति	४	३	२६	११३५
यद्वै तन्न विजानाति	४	३	३०	११३७
यद्वै तन्न शृणोति	४	३	२७	११३५
यद्वै तन्न स्पृशति	४	३	२९	११३७
यश्चक्षुषि तिष्ठꣳ	३	७	१८	८४४
यश्चन्द्रतारके	३	७	११	८४२
यस्तमसि तिष्ठꣳ	३	७	१३	८४२
यस्तेजसि तिष्ठꣳ	३	७	१४	८४३
यस्त्वचि तिष्ठꣳ	३	७	२१	८४५
यस्मादर्वाक्संवत्सरो०	४	४	१६	१२५६
यस्मिन्पञ्च पञ्चजना	४	४	१७	१२५७
यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध	४	४	१३	१२५२
याज्ञवल्क्य किंज्योतिरयं	४	३	२	९७८
याज्ञवल्क्याद्याज्ञवल्क्य	६	५	३	१५५५
याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्य ब्रह्मा	३	१	९	६९९
याज्ञवल्क्येति...द्यर्भि	३	१	७	६९५
याज्ञवल्क्येति...कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन्	३	१	८	६९७
याज्ञवल्क्येति...द्योद्गाता०	३	१	१०	७०१
याज्ञवल्क्येति...यत्रायं पुरुषो म्रियत	३	२	११	७१९
याज्ञवल्क्येति...म्रियते	३	२	१२	७२२

कण्डिकाद्यपदानि	अ०	ब्रा०	क०	पृ०
याज्ञवल्क्येति...यत्रास्य पुरुषस्य	३	२	१३	७२३
याज्ञवल्क्येति...यदिदमन्तरिक्षं	३	१	६	६९१
याज्ञवल्क्येति...सर्वमहोरात्राभ्यां	३	१	४	६९६
याज्ञवल्क्येति...मृत्युना०	३	१	३	६८१
याज्ञवल्क्येति...मृत्योरन्नं	३	२	१०	७१७
याज्ञवल्क्येति पूर्वपक्षा०	३	१	५	६८९
याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो	३	९	१९	९०२
योऽग्नौ तिष्ठन्	३	७	५	८४०
यो दिक्षु तिष्ठन्	३	७	१०	८४२
यो दिवि तिष्ठन्	३	७	८	८४१
योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्	३	७	६	८४०
योऽप्सु तिष्ठन्	३	७	४	८४०
यो मनसि तिष्ठन्	३	७	२०	८४५
योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुष०	५	७	२	१३९७
यो रेतसि तिष्ठन्	३	७	२३	८४६
यो वा एतदक्षरं	३	८	१०	८७१
यो वाचि तिष्ठन्	३	७	१७	८४४
यो वायौ तिष्ठन्	३	७	७	८४१
यो विज्ञाने तिष्ठन्	३	७	२२	८४५
योषा वा अग्निर्गौतम	६	२	१३	१४९१
यो ह वा आयतनं वेद	६	१	५	१४४६
यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च	६	१	१	१४४०
यो ह वै प्रजातिं वेद	६	१	६	१४४७
यो ह वै प्रतिष्ठां वेद	६	१	३	१४४५
यो ह वै वसिष्ठां वेद	६	१	२	१४४४
यो ह वै संपदं वेद	६	१	४	१४४६
रूपाण्येव यस्यायतनं...य एवायमादर्शे	३	९	१५	८९७
रूपाण्येव...एवासावादित्ये	३	९	१२	८९४
रेत एव यस्यायतनꣳ	३	९	१७	८९९
रेतस इति मा वोचत	३	९	५-२८	९२४

कण्डिकाद्यपदानि	अ०	ब्रा०	क०	पृ०
रेतो होच्चक्राम	६	१	१२	१४५१
वाग्घोच्चक्राम	६	१	८	१४४९
वाग्वै ग्रहः	३	२	३	७१५
वाचं धेनुमुपासीत	५	१०	१	१४०१
विद्युद्ब्रह्मेत्याहु०	५	९	१	१४००
वेत्थ यथेमाः प्रजाः	६	२	२	१४६८
शाकल्येति होवाच	३	९	१८	९००
श्रोत्रं वै ग्रहः	३	२	६	७१५
श्रोत्रꣳ होच्चक्राम	६	१	१०	१४५०
श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः	६	२	१	१४६६
समानामा सांजीवीपुत्रात्	६	५	४	१५५६
स य इच्छेत्पुत्रो मे	६	४	१४	१५३९
स य इमाꣳ स्त्रीँल्लोकान्	५	१६	६	१४२७
स यः कामयेत	६	३	१	१५१०
स यथायमणिमानं न्येति	४	३	३६	११६८
स यत्रायमात्माबल्यं	४	४	१	११७८
स यथा दुन्दुभेर्हन्यमा०	४	५	८	१३२७
स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य	४	५	११	१३२८
स यथा वीणायै वाद्य०	४	५	१०	१३२८
स यथा शङ्खस्य ध्माय०	४	५	९	१३२८
स यथा सर्वासामपाꣳ	४	५	१२	१३२९
स यथा सैन्धवघनो	४	५	१३	१३३०
स यामिच्छेत्कामयेत	६	४	९	१५३४
स यो मनुष्याणाꣳ	४	३	३३	११५१
सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो	४	३	३२	११४४
स वा अयमात्मा ब्रह्म	४	४	५	१२०१
स वा अयं पुरुषो जायमानः	४	३	८	१०४२
स वा एष एतस्मिन्बु०	४	३	१७	१०८२
स वा एष...संप्रसादे	४	३	१५	१०७२
स वा एष एतस्मिन् स्वप्नान्ते	४	३	३४	११६१
स वा एष एतस्मिन् स्वप्ने	४	३	१६	१०८०
स वा एष महानज आत्माऽजरो०	४	४	२५	१३१६
स वा...आत्मान्नादो	४	४	२४	१३१५
स वा...आत्मा योऽयं	४	४	२२	१२६९

कण्डिकाद्यपदानि	अ०	ब्रा०	क्र०	पृ०
स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे	६	४	२	१५२७
स होवाच तथा नस्त्वं	६	२	८	१४७८
स होवाच...तात	६	२	४	१४७३
स होवाच दैवेषु वै	६	२	६	१४७५
स होवाच...पत्युः	४	५	६	१३२५
स होवाच प्रतिज्ञातो	६	२	५	१४७५
स होवाच महिमान	३	९	२	८८३
स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि... आकाश एव	३	८	७	८५६
स होवाच...आकाशे	३	८	४	८५२
स होवाच...वै खलु	४	५	५	१३२४
स होवाच वायुर्वै गौतम	३	७	२	८३६
स होवाच विज्ञायते	६	२	७	१४७६
स होवाचैतद्वै तदक्षरं	३	८	८	८५७
स होवाचोवाच वै सो०	३	३	२	७६८
स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो	३	४	२	७७९
सा चेदस्मै न दद्यात्का०	६	४	७	१५३३
सा चेदस्मै दद्यादि०	६	४	८	१५३४
साम प्राणो वै साम	५	१५	३	१४१४
सा ह वागुवाच	६	१	१४	१४५३
सा होवाच नमस्तेऽस्तु	३	८	५	८५४
सा होवाच ब्राह्मणा	३	८	१२	८७५
सा होवाच...वित्तेन पूर्णा स्यात्स्यां	४	५	३	१३२४
सा होवाच मैत्रेयी येनाहं	४	५	४	१३२४
सा होवाच...भगवान्मो०	४	५	१४	१३३१
सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञ०	३	८	३	८५१
सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञ०	३	८	६	८५५
सा होवाचाहं वै त्वा	३	८	२	८४९
सैषा गायत्र्येतस्मिꣳस्तुरीये	५	१६	४	१४२१
सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति	६	४	२३	१५४७
स्वप्नान्त उच्चावचमीय०	४	३	१३	१०६४
हस्तो वै ग्रहः	३	२	८	७१६
हिरण्मयी अरणी	६	४	२२	१५४५
हिरण्मयेन पात्रेण	५	१७	१	१४३४

समाप्तोऽयं बृहदारण्यकोपनिषत्कण्डिकाद्य-
पदानां वर्णानुक्रमः ।